हमारा शब्द

सबद हमारा षरतर षांडा
रहणि हमारी साची ।
लेषे लिखी न कागद माडी
सो पत्री हम बाची ॥

हमारा शब्द ज्ञानोपदेश तेज तलवार है। यह सत्स्वरुप परमात्मा में प्रतिष्ठित है, जो लिपिबद्ध नहीं है, न किसी ग्रन्थ में अंकित है, वह तो स्वसंवेद्य है।

गोरखबानी सबदी २६४



महायोगी गोरखनाथ

गोरखबानी

टीकाकार तथा सम्पादक :

राम लाल श्रीवास्तव

गोरखनाथ मन्दिर

गोरखपुर

प्रकाशक :

गोरखनाथ-मन्दिर

गोरखपुर

पहला संस्करण :

विजया दशमी २०३५ वि.

दूसरा संस्करण :

अक्षय तृतीया २०५१ वि.

मूल्य ४० रुपये

प्राप्तिस्थान :

गोरखनाथ-मन्दिर, गोरखापुर

फोन नं० : ३३६०३१

मुद्रक :

दी इउरेका प्रिंटिंग वर्क्स (प्रा०) लिमिटेड

गीता प्रेस रोड, गोरखपुर

फोन नं० : ३३५३१०

गोरखबानी

विषयानुक्रम

गोरखबानी

शिवगोरक्ष योगेश्वर गोरखनाथजी की योगसिद्धिस्वरूपिणी रहनी ही लोकमानस में प्रतिष्ठित 'गोरखबानी' है । यह हठयोगविद्या का ही अक्षर वाङ्‌मय नही, सम्पूर्ण योगदर्शन का प्राणामृत भी है, जिसके रसास्वादन से जीव शिवस्वरूप हो जाता है, अमृतत्व में स्वस्थ हो जाता है । गोरखनाथजी सिद्धयोगदेह में अमर हैं, जीवों पर अहेतुकी कृपा करने के लिए, संसार-सागर से पार उतारने के लिये वे परमकारूणिक समय-समय पर अपने श्रीविग्रह से प्रकट होकर लोगों को महायोगज्ञान प्रदान करते हैं, सदुपदेश से कृतार्थ करते हैं । 'गोरखबानी' उनके सदुपदेश का योगशास्त्र है, 'गोरखबानी' की यही विशिष्टता है । नाथयोगपरम्परा भगवान् शिव द्वारा सप्तश्रृगं पर पार्वती के प्रति निरूपित महायोगज्ञान से समृद्ध है, जिसे श्रवण कर योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथजी को प्रदान किया । उसी सदुपदेश को गोरखनाथजी ने अपनी रहनी और कहनी (अनुभूति) के रूप में अपनी संस्कृत रचनाओं और लोकवाणी में अभिव्यक्त किया । हिन्दी साहित्य के इतिहास के मध्यकाल के पहले चरण से ही अनेक सिद्धों, योगियों, संत-महात्माओं ने गोरखनाथजी की सबदियों, पदों तथा अन्यान्य उपदेशों को श्रद्धापूर्वक संग्रह करते रहने का जो प्रयास किया है, उसी का सफल रूप डा0 पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत और सम्पादित तथा हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा प्रकाशित 'गोरखबानी' है । विभिन्न प्राचीन प्रामाणिक प्रतियों के पाठ के अनुरूप स्वनामधन्य डा0 बड़थ्वाल ने जिस निष्ठा और श्रद्धा से 'गोरखबानी' का प्रस्तुतीकरण किया, वह एक महती प्रेरणा और तपोमयी शोधवृत्ति का परिचायक है । डा0 पीताम्बरदत्त ने इस दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया । उन्होंने गोरखनाथजी की लोकवाणी और नाथसिद्धों के पदों, सबदियों आदि को जोगेसुरी बानी के रूप में प्रकाशित करने का संयोजन किया था । 'गोरखबानी', जोगेसुरी बानी के प्रथम भाग के रूप में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग से उनके जीवन-कालम में ही सम्बत् 1999 वि0 में प्रकाशित हुई और अन्य नाथसिद्धों की बानी का वे प्रकाशन नहीं कर सके । इस जोगेसुरी बानी, द्वितीय भाग का सम्पादन पण्डित हजारीप्रसाद द्विवेदी ने किया और

नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी से सम्वत् 2014 वि0 में उसका प्रकाशन और मुद्रण सम्पन्न हुआ ।

'गोरखबानी' अद्भुत योगवाङ्मय है । इसकी निरन्तर माँग बढ़ती देखकर गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त अवेद्यनाथजी महाराज ने नाथयोग-प्रचार के सन्दर्भ में इच्छा व्यक्त की कि 'गोरखबानी' का एक परिमार्जित संस्करण प्रकाशित किया जाय तथा उसका विशद भाष्य भी प्रस्तुत किया जाय, जिससे लोक-मानस को योगेश्वर गोरखनाथ की योग-पद्धति, महायोगज्ञान आदि समझने में विशेष सुविधा हो । ऐसे तो गोरखनाथ-मंदिर से प्रकाशित 'योगवाणी' मासिक पत्र में अपने सम्पादकत्व में उसके पहले वर्ष के दूसरे अंक से ही मैंने 'गोरखबानी' से प्रत्येक अंक में 'गोरखवाणी' स्तम्भ के अन्तर्गत अपने भाष्यसहित सबदियों को देने का मांगलिक क्रम आरम्भ कर दिया था, पर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज की इच्छा से मुझे 'गोरखबानी' को संशोधित और परिमार्जित रूप में सम्पादित तथा उसके अधिकांश अंशों पर अपना भाष्य प्रस्तुत करने की विशेष प्रेरणा मिली और भगवान् शिवगोरक्ष की विभूति के रूप में 'गोरखबानी' का यह नया कलेवर प्रकाशित हो सका । 'गोरखबानी' के संग्रह और सम्पादन में डा0 बड़थ्वाल ने मध्यकाल की जिन हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया, उनमें पौड़ी-गढ़वाल के पण्डित तारादत्त गैरोला को जयपुर से प्राप्त प्रति 'पौड़ी हस्तलेख', जोधपुर दरबार पुस्तकालय की प्रति, जोधपुर के श्रीशुभकरण चारण से प्राप्त सम्वत् 1825 की प्रति, मंदिर बाबा हरिदास, नारनौल, पटियाला की सम्वत् 1794 की प्रति, पुरोहित हरिनारायण, जयपुर से प्राप्त सम्वत् 1715 वि0 की प्रति आदि प्रमुख हैं । पौड़ी हस्तलेख का चौथा भाग संत रज्जब द्वारा संकलित सर्वांगी है, जिसमें गोरखनाथजी से लेकर संत तुलसीदास तक अनेक प्रसिद्ध संत-महात्माओं की वाणी उपलब्ध है । साथ-ही-साथ डा0 बड़थ्वाल ने योगियों की रचनाओं के एक संस्कृत हस्तलिखित अनुवाद की भी सहायता ली थी, जो मध्यकाल की है तथा काशी के सरस्वती भवन में सुरक्षित है । 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर का मूल पाठ डा0 बड़थ्वाल की 'गोरखबानी' पर आधारित है, यद्यपि कहीं-कहीं मुझे पाठान्तर भी स्वीकार करना पड़ा है और उपर्युक्त प्रतियों के

पाठ के आधार पर ही पाठ संशोधित हैं, पर यह अल्पांश ही है । सबदी, पदों तथा अन्य संग्रहीत रचनाओं का भाष्य मैंने स्वयं किया हे और यथाशक्ति उसे विस्तृत करने का भी प्रयास किया है, पर यह स्वीकार करने में आपत्ति नहीं है कि डा0 बड़थ्वाल के भाष्य से मेरे कार्य में बड़ी सुविधा हुई है । अनेक रचनाओं का भाष्य उपलब्ध नहीं था, उसका भी मैंने भाष्य दे दिया है, किन्हीं-किन्हीं का सारांश ही देकर काम चलाया है ।

'गोरखवानी' के इस नये कलेवर से गोरखनाथजी के नाम से प्रचलित प्रसिद्ध कृति 'ग्यान चौतीसा' के, जो अप्राप्त कहीं जाती रही है, सम्बन्ध में विद्वानों और शोध -जगत् में व्याप्त भ्रक का निवारण हो गया । वह कृति तो संग्रह के रूप में डा0 बड़थ्वाल द्वारा संग्रहीत 'गोरखबानी' में ही उपलब्ध हैं, पर इसका पता डा0 बड़थ्वाल को भी नहीं था, उन्हें भी अपने संग्रह की भूमिका में स्वीकार करना पड़ा था - 'इनमें से ग्यान चौंतीसा' 'च' प्रति में है और 'छ' तथा 'अ' में उसका समर्थन हो जाता है. । परन्तु उसको मैं समय पर प्राप्त करने में समर्थ न रहा । फिर भी आशा है कि शीघ्र ही वह भी अवश्य साहित्यिकों को उपलब्ध हो जायेगा ।' डा0 बड़थ्वाल की इस स्वीकृति से लोगों के मन में 'ग्यान चौंतीसा' के प्रति उत्सकुकता का भाव जागना स्वाभाविक ही है । जनवरी 1977 में 'योगवाणी' का 'गोरख विशेषांक' प्रकाशित हुआ, उसके पृष्ठ 85 पर अगरचन्द नाहटाजी ने अपने लेख में मत अभिव्यक्त किया कि राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जयपुर के संग्रह में पुरोहित हरिनारायणजी का संग्रह सुरक्षित है, उसकी सूची 'विद्याभूषणग्रन्थ-सूची' के नाम से प्रकाशित हुई है । उसके अनुसार 'गोरखबानी' में प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त गोरखनाथजी की अप्रकाशित बारह रचनाओं के नाम और भी हैं, नौ के नाम 'गोरखबानी' की भूमिका में आ चुके हैं, यद्यपि वे उस ग्रन्थ में प्रकाशित नहीं है, पर वे सम्पादक की जानकारी में आ चुकी थीं । इनमें से 'ग्यानचौंतीसा'. को मैंने 'सप्तसिन्धु' मासिक में प्रकाशित करा दिया था । मैंने 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर के सम्पादन में 'ग्यान चौंतीसा' का उपयोग करना चाहा, नाहटाजी को पत्र लिखा । उनका पत्रोत्तर मिला कि रचना 'सप्तसिन्धु' में नहीं, 'साहित्य'

पत्र में प्रकाशित करायी गयी थी और उन्होंने कृपापूर्वक उसकी प्रति नकल करवा कर मेरे पास भेज दी । प्रतिलिपि 'जैन बड़े भाण्डार' की सम्वत् 1770 वि0 की हस्तलिखित (नाथ सम्प्रदायी) गुटका से करवायी गयी थी । मैं नाहटाजी द्वारा प्रेषित 'ग्यान चौंतीसा' की प्रतिलिपि देखकर आश्चर्यचकित हो गया । 'गोरखबानी' में ही डा0 बडथ्वाल ने परिशिष्ट 1क -क (6) के अन्तर्गत पृष्ठ 241 से 243 पर 'कुछ पद' शीर्षक से तीन पदों में उसे दिया है तथा 'गोरखबानी' में ही पृष्ठ 120 पर पद संख्या 27 वाँ भी ग्यान चौंतीसा का अन्तिम अंश है । मैंने 'गोरखबानी' के इस नये कलेवर में 'ग्यान चौंतीसा' में इनका अपने भाष्यसहित संकलन कर दिया है । इस संकलन में क्रम सं0 12, 13, 17, 18, 19 की दस पंक्तियाँ नाहटाजी द्वारा प्रेषित 'ग्यान चौंतीसा' की प्रति से ली गयी हैं, क्योंकि मुझे 'गोरखबानी' के सम्मेलन वाले संस्करण में ये नहीं मिली । लगता है कि 'ग्यान चौंतीसा' गोरखनाथजी के चार पदों का संकलन है, जिसे किसी श्रद्धालु शिष्य ने इस नाम से 34 सबदियों में अथवा दो-दो पंक्ति के पदों में संग्रहीत कर दिया । कहीं डा0 बड़थ्वाल को यह पता होता कि 'गोरखबानी' में ही 'ग्यान चौतीसा' संग्रहीत है तो उनकी आत्मा को कितना संतोष होता । श्रीअगरचन्द नाहटाजी का सौजन्य चिरस्मरणीय है, मैं उनका कृतज्ञ हूँ, आभारी हूँ ।

'गोरखबानी' के प्रस्तुतीकरण में हमें गोरखपुर विश्वविद्यालय के सेवानिवृत्त हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ0 गोपीनाथजी से समय-समय पर अमित प्रोत्साहन मिलता रहा । मैं उनके स्नेहसिक्त सौजन्य के प्रति आभार प्रकट करता हूँ । 'गोरखबानी' की सामग्री के टंकन-कार्य में महन्त अवेद्यनाथजी महाराज के विशिष्ट कृपापात्र पं0 द्वारिका प्रसाद तिवारी ने जो श्रम किया तथा योगदान दिया, वह सराहनीय है । इउरेका प्रेस के व्यवस्थापक श्रीपरेश दत्त को इस महनीय कृति के यथाशक्ति शुद्ध मुद्रण और समलंकरण के लिए धन्यवाद देना मैं नहीं भूल सकता । मैं महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज के आशीष और अनुग्रह से कृतार्थ हूँ । उनकी प्रेरणा से 'गोरखबानी' ऐसी दिव्य- अक्षर विभूति के प्रकाशन-यज्ञ में तत्पर होने का मुझे सौभाग्य मिला । भगवान् गोरखनाथ की कृपा-विभूति से लोक-लोकान्तर का मंगल हो ।

आनन्दसदन, गोरखपुर **रामलाल श्रीवास्तव**

विजयादशमी, सं0 2035 वि0



महन्त अवैद्यनाथ

(गोरक्षपीठाधीश्वर)

भगवान् योगेश्वर शिवगोरक्ष गोरखबानी ने लोक-लोकान्तर के प्राणियों को सत्स्वरूप के योगज्ञान में प्रतिष्ठित करने के लिये योगदेह धारण कर (शिवोपदिष्ट) महायोगज्ञान का भगवती पार्वती के प्रति सप्तश्रृंगपर निरूपण किया । यही हमारे सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथयोग की मांगलिक परम्परा है । संस्कृत (देववाणी) और लोकवाणी में उन परम कारुणिक द्वारा उपदिष्ट योगामृत ज्ञान प्राणीमात्र को कायिक, वाचिक और मानसिक अन्धकार से बाहर निकाल कर परमात्मस्वरूप में स्वस्थ करने का यौगिक बीजमन्त्र हैं । योगेश्वर गोरखनाथ जी के योगज्ञान का चरम प्रतिपाद्य साक्षात् अलख-निरंजन है । उन्होंने निश्चित मत अभिव्यक्त किया कि निरंजन का ध्यान ही सर्वोपरि है । 'सिष्ट-पुराण' में उनका कथन है- 'निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं' । अपनी प्रसिद्ध रचना 'ग्यांनतिलक' में गोरखबानी ने निरंजन के साक्षात्कार पर प्रकाश डाला है ।

अंजन माहिं निरंजन भेट्या, तिलमुख भटया तेलं ।
मूरति माहिं अमूरति परस्या, भरा निरंतरि षेलं ।।
(ग्यांनतिलक-4।)

भगवान् गोरखनाथ की योगसिद्धि सर्वात्मबोध के विचार-धरातल पर ही जीवन में चरितार्थ करने से मायिक प्रपंच और स्वरूप विस्मृति से आक्रान्त जीवात्मा के लिये संसार-सागर से पार उतारने की नौका है । उन्होंने भवसंतरण के लिये निर्देश दिया है कि अहंकार का नाशकर सद्गुरू की खोज करनी चाहिए । योगमार्ग के ज्ञान की अवहेलना नहीं करनी चाहिये, यह मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता है, इसलिये सिद्ध पुरूष से मिलकर उनसे अपने निरंजन स्वरूप के साक्षात्कार का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये ।

आपा भांजिबा सतगुर षोजिबा जोग पंथ न करिबा हेला ।
फिरि-फिरि मनिषा जनम न पायबा करिलै सिध पुरसि सूं मेला ।।
(गोरखबानी : सबदी 203)

योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं सुखम् ।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगमार्गात्परं न हि ।।

(योगबीज 66, 87)

इसी तरह अपनी अत्यन्त सारगर्भित संस्कृत रचना (सिद्धसिद्धान्तपद्धति 5 । 21-22) में उनका कथन है कि सत्स्वरूप के अभिज्ञान अथवा विज्ञान के लिए योगमार्ग से बढ़कर दूसरा मार्ग भासित ही नहीं होता ।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।।

गोरखनाथजी के योगज्ञान का यही स्वारस्य है कि यह सत्स्वरूप का परम अभिज्ञान है, दर्शनशास्त्र है । उनकी सबदी ।53 है :

बदंत गोरष सति सरूप । तत विचारै ते रेष न रूप ।।

गोरखनाथजी ने महायोगरहस्य का भेदन करते हुए कहा है कि योगदर्शन के स्तर पर शून्यावस्था में केवल अनाम (निरंजन), अव्यक्त, शून्यस्थ शिव ही सम्पूर्ण अशेष विद्यमान रहते हैं ।

अव्यक्तं च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति । । 4)

घट-घट में प्रत्येक जीवात्मा के भीतर अलख-निरंजन, नाथकी विद्यमानता की अनुभूति ही गोरखनाथजी की योगदृष्टि में योगारम्भ है । गोरखनाथजी का वचन है :

जोगारंभ की गाही वांणी ।
सब घटि नाथ एकै करि जांणी ।।

(दयाबोध - ।)

भगवान गोरखनाथ के योगज्ञान के धरातल पर शरीर का संशोधन, निर्मलीकरण साधना का अनिवार्य और अत्यन्त उपादेय अंग है । 'गोरखबानी' के तेइसवें पद की पंक्ति है - 'कायागढ़ जीतैगा बिरला कोई ।' काया के भीतर ही गोरखनाथजी ने निर्वाणपद की खोज पर बल दिया है । कर्मफल के रूप में पाप - पुण्य के सोच-विचार में मन को भ्रमित करना अज्ञान है । हरि-अलख-निरंजन, परब्रह्म शिव के स्वरूपभूत होने पर, तादात्म्य प्राप्त करने पर ही परम कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति सहज सिद्ध है । काया में ही कैवल्य की प्राप्ति अनायास होती है । गोरखनाथजी ने उपदेश दिया है :

पाप पुंन करम का बासां । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।।
जोगजुक्त जब पाओ ग्यांन । काया षोजौ पद नृबांन ।।
(प्राणसंकली 2)

कुण्डलिनी महाशक्ति का प्रबुद्ध होकर ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव में अन्तर्लीन हो जाना ही कायायोग की सिद्धि है, अमृतत्व है । उन्होंने एक सबदी में नाथयोग का सम्पूर्ण मर्म भर दिया है ।

अदेषि देषिबा देषि विचारिबा अदिसिटि राषिवा चीया ।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा तहाँ विमल बिमल जल पीया ।।
(गोरखबानी सबदी 2)

शरीर-शोधन और प्राणायाम की साधना से तथा बिन्दु (वीर्य) के ऊर्ध्वाकर्षण से मन की उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है, उन्मनी समाधि लग जाने पर मन अपने शिवस्वरूप में संस्थित हो जाता है । गोरखनाथजी ने मनोविजय को बड़ा महत्व दिया है, मन के अमनस्क होने पर अलख-निरंजन का स्वबोध सिद्ध होता है । गोरखनाथजी ने कहा है :

यह मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत्व का जीव ।।
यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोक की बातां कहै ।।
(गोरखबानी सबदी 50)

भगवान् गोरखनाथजी ने संसार के सम्बन्धों से, प्रपंचों से अतीत होने की सीख दी है । उनकी भाषा में यही अमृतत्व है, मृत्यु-विजय है और इस तरह जीते जी, आत्मा के परमात्मा में अन्तलीन होने पर ही अमायिक निरंजन तत्व प्रकाशित हो उठता है । गोरखनाथजी का संकेत मात्र है :

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणी मरौ, जिस मरणी गोरष मरि दीठा ।।
(गोरखबानी सबदी 26)

नाथयोग की सिद्धि के मार्ग में सद्गुरू की प्राप्ति आवश्यक है तथा उनके द्वारा उपदिष्ट ज्ञान के प्रकाश में ही शिवस्वरूप की प्राप्ति होती है । भगवान् गोरखनाथजी ने कहा है कि गुरू के उपदिष्ट ज्ञान-मार्ग पर चल कर राजा भर्तृहरि और राजा गोपीचन्द्र ने अभय-पद प्राप्त किया, परमात्मसाक्षात्कार किया । अनेक राजाओं ने परमानन्द प्राप्त किया ।

मान्यां सबद चुकाया दंद । निहचै राजा भरथरी परचै गोपीचंद ।।
(गोरखबानी सबदी 15)

गोरखनाथजी का स्पष्ट मत है कि बिना गुरू के स्वरूप-ज्ञान नहीं हो सकता है ।

गुरू कीजै गहिला निगुरा न रहिला ।
गुरू बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ।।
(गोरखबानी पद - 34)

गोरखनाथजी ने कहा कि जो अंजन (माया) का परित्याग कर निरंजन में स्वस्थ रहता है, वही योगी है । सबदी 230 में उनकी उक्ति-"अंजन छोड़ि निरंजन रहे । ताकूं गोरष जोगी कहे ।।' - योगी के वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन करती है । योगी को सिद्धि-प्राप्ति की दिशा में गोरखनाथजी ऐसे सद्गुरू योगी और उनके योगज्ञान की सदा अपेक्षा है ।

मलिक मुहम्मद जायसी ने चार सौ साल पहले ठीक ही कहा था :

बिन गुरू पंथ न पाइय, भूलै सो जो भेट ।
जोगी सिद्ध होइ तब, जब गोरख सौं भेंट ।।
(पदमावत 217)

'गोरखबानी' में सारगर्भित और सहज सरल लोकभाषा में उपदिष्ट भगवान् गोरखनाथ का योगज्ञान भरा-पड़ा है । हमारी वड़ी अभिलाषा थी कि 'गोरखबानी' का एक शुद्ध और परिमार्जित-विशद भाष्ययुक्त संस्करण गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर से प्रकाशित हो । हमारे संकल्प की पूर्ति में हमारे गोरक्षपीठ से प्रकाशित 'योगवाणी' के सम्पादक रामलाल श्रीवास्तव नें जिस श्रद्धा और तन्मयता का परिचय दिया है, वह भगवान् गोरखनाथ की दिव्य विभूति से ही सत्प्रेरित है, मैं उन्हें हृदय से स्नेहसिक्त आशीर्वाद देता हूँ ।

सच्चिदानन्द तत्व, योगामृतोद्भूत परमेश्वरतत्व अचिन्त्य अवाच्य होते हुए भी शिवगोरक्ष का साक्षात् तेजस्वरूप है, उस ज्योतिर्मय नाथ तेज की जय हो, वही हमारा गुरू है । 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' प्रमाण है ।

अवाच्यमुच्येत कथं पद तत्,
अचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचिन्तये ।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै,
नमो स्तु कस्मै बत नाथतेजसे ।।

गोरखनाथ मन्दिर
गोरखपुर
विजयादशमी, 2035 वि0

महन्त अवेद्यनाथ

सद्‌गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की वन्दना

श्रीगुरू परमानंद तिनको दंडवत् है । है कैसे परमानन्द आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को । जिन्हि के नित्य गाये ते सरीर चेतन्नि अरू आनन्दमय होतु हैं । मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत् करत हौं । हैं कैसे वे मछंदरनाथ । आत्मा जोति निस्चल है अंतहकरन जिनि कौ अरू मूल द्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानै अरू जुग काल कल्प इनि की रचना तत्व जिनि गायो । सुगंध को समुद्र तिनि कौ मेरी दंडवत । स्वामी तुमे तो सतगुय अम्है तो सिष सबद एक पुछिबा दया करि कहिबा मनि न करिबा रोष ।

\- गोरखनाथ

सबदी

बसती न सुन्यं सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा ।
गगन-सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा ।। । ।।

परमतत्व, परमात्मा अगम और अगोचर है । न तो वह भाव (सत्) है और न अभाव (असत्) ही है, सत्-असत्, दोनों से अतीत पद में वह चैतन्य, सिच्चदानन्दघन परमात्मा स्वतः अभिव्यक्त है । वह बालक की तरह निष्प्रपंचतम अभिज्ञान से परिलक्षित निष्पक्ष-निर्मल चेतन ब्रह्म, पापपुण्य-विकार से सर्वथा परे, जीवन-मरण की अवस्था से सदैव अबाधित, रूप-नाम से रहित परमात्म चैतन्य ही योगियों, परमज्ञान से युक्त सिद्ध संत-महात्माओं और आत्मविज्ञानियों का ध्येय तथा साध्य है ।

अदेषि देषिबा देषि बिचारिबा अदिसिटि राषिबा चीया ।
पाताल की गंगा ब्रह्मंड चढ़ाइबा तहां बिमल बिमल जल पीया ।। 2 ।।

परब्रह्म परमात्मा अलख है, निरंजन और सर्वथा त्रिगुणातीत-निर्गुण और निराकार है । उसका अनुभव करने के बाद उसे चित्त में अधिष्ठित, सुव्यक्त कर लेना चाहिये । ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये मणिपूरचक्र, पाताल में स्थित गंगा, परम ज्योति (योग-शक्ति कुण्डलिनी) को ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार अथवा सहस्त्रदलकमल) में उन्मुख (प्रबुद्ध) कर वहाँ परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिये । ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी के सम्मिलन से अमृत, अमता अथवा सनातन, अक्षय-अव्यय ब्रह्मपद का रसानुभव सुगम हो जाता है ।

इहां ही आछै इहां ही अलोप । इहां ही रचिलै तीनि त्रिलोक ।
आछै संगै रहै जू धा । ता कारिण अनंत सिधा जोगेस्वर हूवा ।। 3 ।।

वह परमात्मा इस शून्य स्थान-ब्रह्मरन्ध्र में निर्विकार चेतन तत्व के रूप में निराकार है, अभिव्यक्त होकर अनभिव्यक्त-सा है । यह ब्रह्मरन्ध्र,

हे काजी ! परमात्मा के सन्देशवाहक रसूलमुहम्मद साहब के विचार बड़े ही निगूढ़ और रहस्यपूर्ण थे । उनके पवित्र शब्दों का रहस्य अत्यन्त मार्मिक है । मुहम्मद साहब ने तो भगवत् प्रेम का मार्ग प्रशस्त किया, उन्होंने जीव की हिंसा का प्रतिपादन नहीं किया, उनके हाथ में जो छूरी (शस्त्र) थी, वह लोहे या इस्पात की बनी हुई नहीं थी, वह तो प्रेम (प्राणिमात्र के प्रति कल्याण) से निर्मित दिव्य शब्दों की शक्ति थी ।

सबदै मारी सबदैं जिलाई ऐसा महंमद पीरं ।
ताकै भरमि न भूलौ काजी सो बल नहीं सरीरं ।। 10 ।।

हे काजी ! इस्लाम के प्रवर्तक मुहम्मद साहब ने अपने शब्दों में शुद्ध अध्यात्म का प्रतिपादन किया, उनके आध्यात्मिक दिव्य सदुपदेशों से जीवात्मा की भौतिक, मायिक आसक्ति का नाश होता है तथा आत्मा की शक्ति प्राप्त होती है । सदुपदेश अथवा शब्द की ओट लेकर स्थूल बुद्धि से उनकी नकल (अनुकरण) करने से उद्देश्य सिद्ध नही होगा । तुम्हारे तो शरीर में वह बल नहीं है, जो आध्यात्मिक बल कहा गया है और जो मुहम्मद साहब को सहज प्राप्त था ।

नाथ कहंतां सब जग नाथ्या गोरष कहतां गोई ।
कलमा का गुर महंमद होता पहलैं मूवा सोई ।। ।। ।।

केवल शब्द मात्र रटते रहने से उसमें अनुस्यूत आध्यात्मिक तत्व से वंचित होना पड़ता है । 'नाथ' शब्द बहुत ही मार्मिक है, नाथ का तात्पर्य है उस परमात्मा से, परब्रह्म शिव से, जो माया को नियंत्रित कर अपने वश में रखता है पर 'नाथ' मात्र के उच्चारण से कोई यह सोचे कि वह माया के बन्धन से मुक्त है, तो यह युक्तिसंगत नही है, 'गोरख' शब्द का तात्पर्य है उस महान् यौगिक शिवब्रह्म से, जिनके द्वारा अध्यात्म का तत्व सुरक्षित रहता है और जिनके नाम के उच्चारण मात्र से अन्तर्जीवन जाग उठता है पर जो लोग 'गोरख' का नाम लेते हैं, वे केवल शब्द मात्र का उच्चारण करते हैं, इसलिये उनके लिये आध्यात्मिक तत्व का अनावरण अथवा प्रकाशन नही

हो सकता । इसी तरह, (हे काजी,) मुहम्मद साहब ने, इस्लाम के प्रवर्तक ने 'कलमा' का प्राकट्य किया, यह 'कलमा' दिव्य शक्तिप्रदाता, आध्यात्मिक जीवनदाता पवित्र वचन है पर केवल इसके उच्चारण मात्र से ही काम नहीं चल सकता । कलमा से अन्तर्जीवन का मर्म प्रकाशित करना चाहिए । मुहम्मद साहब का पार्थिव शरीर तो नहीं रह गया है पर उनका कलमा अमर है, अक्षर है, परमात्मतत्व का प्रकाशक है ।

सारमसारं गहन गंभीरं गगन उछलिया नादं ।
मानिक माया फेरि लुंकाया झूठा बाद-बिबादं ।। ।2 ।।

योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी, प्राण-ज्योति को जगाते हुए सहस्त्रार में उसके प्रवेश करने पर अनाहत नाद, शब्द-ब्रह्म के स्वरूप अथवा बोध का रसास्वादन करता है, अनाहत शबद निगूढ़तम है - यही परम वस्तुतत्व है । अनाहत शब्द के द्वारा ब्रह्मानुभव व्यक्तिगत (योग) साधना का अमृत फल है, अनाहत शब्द से ब्रह्मस्वरूपानुभवरूपी माणिक्य, अमूल्य वस्तुरत्न, की प्राप्ति होती है और यह बात पूर्ण रूप से समझ में आ जाती है कि मुख्य वस्तु ब्रह्मानुभूति, परमात्मपद में रमण है, इससे इतर अन्य ज्ञान मिथ्या वाद-विवादमात्र है ।

कोई बादी कोई बिबादी जोगी कौं बाद न करनां ।
अठसठि तीरथ समंदि समावैं यूँ जोगी कौं गुरूमुषि जरनां ।। ।3 ।।

योगी को अपने सिद्धान्त और मत के प्रतिपादन के लिये किसी दूसरे दार्शनिक विचार और मत-मतान्तर में उलझे प्रतिवादियों की तरह एक - दूसरे की मान्यता का खण्डन कर तथा अपनी विचारधारा का मण्डन कर पृथक्तावादी दृष्टिकोण नहीं अपनाना चाहिए । गुरू द्वारा उपदिष्ट परमात्मज्ञान अप्रतर्क्य है, निर्विवाद और सम्पूर्ण स्वानुभवगम्य है । जिस तरह अड़सठ तीर्थ का जल-प्रवाह, स्रोत समुद्र में समाविष्ट हो जाता है, ठीक उसी तरह गुरूप्रदत्त परमात्म ज्ञानोपदेश के महासमुद्र में प्रपत्ति-स्वरूप साक्षात्कार ही

योगी की सिद्धि है, यही योगी का परम ध्येय है, उसकी आत्मदृष्टि की यह अबाध गति है ।

उतपति हिन्दू जरणां जोगी अकलि पीर मुसलमांनी ।
ते राह चीन्हों हो काजी मुलां ब्रह्मा बिस्न महादेव मांनी ।। ।4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि हमने हिन्दू के घर में जन्म लिया, अथवा हम शरीर से हिन्दू हैं पर योगाग्नि में उस देह को परिपक्व कर योगी है और गुरू के ज्ञान-प्रकाश में हम साधना के पथ पर अग्रसर हैं । जिस तरह इस्लाम के अनुयायियों के सर्वस्व (गुरू) पीर होते हैं और सभी मुसलमान उनका सम्मान करते हैं, उसी तरह गहन निष्ठा के द्वारा हम अपने गुरू का सम्मान करते हुए योगमहाज्ञान से आत्मस्वरूप के मनन, चिन्तन और ध्यान में निरन्तर तत्पर हैं । हे काजी और मुल्लाओ ! उस योगमार्ग पर चलो और योग साधना करो, जिसको ब्रह्मा (सृष्टिकर्ता), विष्णु (पालनकर्ता) और महादेव (संहारकर्ता) ने भी अपनाया है ।

मांन्यां सबद चुकाया दंद । निहचै राजा भरथरी परचै गोपीचंद ।।
निहचै नरवै भए निरदंद परचै जोगी परमानंद ।। ।5 ।।

श्रद्धापूर्वक गुरू के उपदेश के अनुसार आचार-विचार अपनाने पर साधक द्वन्द्वावस्था, सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, मोक्ष-बन्धन, प्रकाश-अन्धकार के सांसारिक प्रपंच में व्यामोह की अवस्था से परे होकर आत्मज्ञान प्राप्त करता है। राजप्रासाद के विषय-सुख से ऊब कर महराज भर्तृहरि और राजकीय ऐश्वर्य में विभ्रान्त महाराजा गोपीचन्द (गोविन्दचन्द्र) ने योगसिद्धि प्राप्त कर आपको योगिराजपद पर अभिषिक्त होने का परमगुरू, योगिगुरू से आत्मोपदेश प्राप्त किया । गुरूज्ञान प्राप्ति में निश्चय, संकल्प ने अनेक विषय-भोग में आसक्त राजाओं को निर्द्वन्द्व बनाकर आत्म-साक्षात्कार प्रदान किया है ।

अहनिसि मन लै उनमन रहै, गम की छांड़ि अगम की कहै ।
छांड़ै आसा रहै निरास, कहै ब्रह्मा हूँ ताका दास ।। ।6 ।।

योगसाधक को रात दिन निरन्तर विषय-भोग तथा सांसारिक प्रलोभनों और ममता-मोह के अज्ञानान्धकार में ग्रस्त मन को अन्तर्मुखी करना चाहिए, उन्मनावस्था में लीन मन के द्वारा ही वह आत्मसाक्षात्कार में समर्थ हो सकता है । जो साधक भौतिक और विनश्वर जागतिक पदार्थो और प्राणियों तथा परिस्थितियों से प्रभावित न होकर आध्यात्मिक जीवन को श्रेयकर समझकर आत्मज्ञान में रमण करता है, वही मन की चंचलता को नष्ट कर स्वरूपानन्द का योग प्राप्त करता है । ऐसा साधक ही योगी कहलाने का अधिकारी है । इस तरह का योगी (वेदज्ञानी) ब्रह्मा से भी उच्चस्थानीय कहा जाय तो इस कथन में किसी तरह का संशय नहीं किया जा सकता है ।

अरधै जाता उरधै धरै, कांम दगध जे जोगी करै ।
तजै अल्यंगन काटै माया, ताका बिसनु पषालै पाया ।। 17 ।।

योगाभ्यास में रत साधक, योगी के लिये वीर्य, बिन्दु की रक्षा उसकी योगसाधना का परम आवश्यक अंग है, वह सम्पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत का अखण्ड रूप से पालन करने पर ही विषयभोगगामिनी वीर्य-धारा को काम-परायण अथवा अधोमुखी होने से रोक पाता है । ऐसा ब्रह्मचर्यव्रती साधक ही ऊर्ध्वरेता कहा जाता है । आशय यह है कि जो साधक कामिनी के भोगास्वादन, विषयसुखरपक सेवन के सुखानुभव का परित्याग कर माया, सांसारिक अवद्यिामूलक बन्धन-प्रवृत्ति को छिन्न-भिन्न कर देता है, वही योगसिद्ध कहलाता है, ऐसे योगव्रती का चंरण धोने के लिये विष्णु भी लालायित रहते हैं ।

अजपा जपै सुंनि मन धरै, पांचौं इंद्री निग्रह करै ।
ब्रह्म अगनि मैं होमै काया, तास महादेव बंदै पाया ।। 18 ।।

जो योगसाधक, योगी अजपा-जाप करता है, जिसकी चितवृत्ति तैलधारावत् अनवरत 'ॐ' 'सोऽहं' तथा परमात्मा के इष्ट नाम-मंत्र के जप में लगी रहती है, जिसका मन ब्रह्मरन्ध्र (शून्य पद) में रमण करता है अर्थात् ऊर्ध्वमुखी रहता है, जिसके इन्द्रिय समूह चंचलता को छोड़कर स्ववश

(साधक के वश में) रहते हैं, जो विनश्वर शरीर को ब्रह्मानुभूतिरूपी अग्नि में परिशुद्ध कर देता है, उस (योगसिद्ध) पुरूष की चरण वन्दना साक्षात् योगेश्वर भगवान् शिव भी करते हैं ।

धन जोवन की करै न आस, चित्त न राखै कांमनि पास ।
नाद बिंद जाकै घटि जरै, ताकी सेवा पारबती करै ।। 19 ।।

धन और यौवन सदा साथ नहीं देते, मन को कामिनी के भोगास्वाद में आसक्त नही करना चाहिए । नाद और बिन्दु, परमात्म (शिवपरक) महाज्ञान अनाहत नाद और वीर्य शरीर रहते आत्मसात् कर लेना चाहिए, जो साधक इस तरह साधना में रत रहता है, आद्या शक्ति भगवती कल्याणस्वरूपिणी पार्वती महामाया उस पर प्रसन्न रहती हैं, उसे समस्त सिद्धियों से सम्पनन कर देती हैं । ध्यातव्य है कि शक्ति ही नाद है, शिव ही बिन्दु है । कुण्डलिनी जागरत होकर जब शून्य पद में परम शिव का योग पाती है, तब योगी अमृतरस का पान करता है । कहा जाता है कि इच्छा ही नाद है, सगुण या सकल परमात्मा में इच्छा ही स्पन्द है, कम्पन है, इसका स्थूल कर्ण से नहीं, बौद्धिक ज्ञान से आस्वादन होता है । इच्छा के साथ जो क्रिया हे, वह बिन्दु है । शिव की शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है । शिवस्वरूप बिन्दु और बीजस्वरूप शक्ति का सम्बन्ध ही नाद है । वीर्य की रक्षा (बिन्दु की रक्षा) और नादानुसन्धान से योगी जीवन्मुक्त होकर सिद्ध देह में स्थित रहता है । शक्ति स्वरूपिणी पराम्बा जगदीश्वरी शिवा उसकी रक्षा करती हैं ।

बालै जोबनि जे नर जती, काल दुकालां ते नर सती ।
फुरतैं भोजन अलप अहारी, नाथ कहै सो काया हमारी ।। 20 ।।

बाल्यावस्था और जवानी के समय जो मनुष्य संयमित जीवन व्यतीत करते हैं, मन को वश में रखते हैं तथा इन्द्रियों पर निग्रह रखते हैं, जो समय-असमय, दोनों तरह की परिस्थितियों में सद्ज्ञान का आश्रय लेकर सदाचारपरायण रहते हैं, जो जीवन को स्थित रखने के लिए ही अल्प आहार

करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं । ऐसे लोग भौतिक भोगसुख में अपने समय का दुरूपयोग न कर आध्यात्मिक उन्नतिपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहते हैं, वे आत्मस्वरूप में रमण करते हैं, साक्षात् परमात्मस्वरूप हो जाते हैं ।

सबदहिं ताला सबदहिं कूँची, सबदहि सबद जगाया ।
सबदहिं सबद सूं परचा हूआ सबदहिं सबद समाया ।। 2। ।।

योगाभ्यास में शब्द-साधना का पर्याप्त महत्व है । योग-साधना की दृष्टि से शब्द ही ताला है क्योंकि यह परमात्म तत्व को गुप्त रखता है । शब्द की धारा ही सूक्ष्म परमात्म तत्व पर स्थूल आवरणों को बाँधकर सृष्टि का संयोजन तथा निर्माण करती है । मूल अधिष्ठान तक पहुँचने के लिए शब्द की धारा पकड़ कर वापस आना पड़ता है, इसलिए शब्द कुंजी भी है । इसके द्वारा परमात्मरहस्य अभिव्यवत होता है । गुरू-शब्द में परमात्म तत्व अधिष्ठित रहता है, गुरू-उपदेश से ही शब्द (नाद) का जागरण होता है, जीव-आत्मा शब्द का स्थूल और सूक्ष्म स्तरक्रम से श्रवण कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाता है । नादानुसन्धान के फलस्वरूप अनाहत ध्वनि सुनायी पड़ती है, स्थूल शब्द का सूक्ष्म शब्द में यही लय है, प्राणवायु के सुषुम्ना-पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने पर क्षुद्रघण्टिका, वंशीवीणा भ्रमरादि के नाद की तरह सूक्ष्मतर नाद सुनायी पड़ते हैं । इसके उपरान्त योगी की समाधि-अवस्था आती है । प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और योगी शून्यपद में आत्मामृतपान कर शिव का साक्षात्कार लाभ करता है । उपाधिरहित शब्द-तत्व के रूप में ओंकार, प्रणव अथवा ब्रह्म का प्रकाश होने पर जीवात्मा परमात्मा में अभेद हो उठता है ।

पंथ बिन चलिबा अगनि बिन जलिबा, अनिल तृषा जहटिया ।
संसबेद श्रीगोरख कहिया बुझिल्यौ पंडित पढ़िया ।। 22 ।।

योग-मार्ग कठिन साधना-मार्ग है, इस मार्ग में अनुभव, बोध के प्रकाश में ही चला जाता है । इस मार्ग में अग्नि (स्थूल अग्नि), प्राण का संयमन है, जिसके द्वारा नाड़ी - जाल का मल-शोधन होता है और समस्त विकार

तथा आवरण अपने आप नष्ट हो जाते हैं । इस मार्ग में कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा (प्राण) वायु के सुषुम्ना पथ से चक्र-भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र, शून्यपद गगन में झरते चन्द्रमामृत के पान से ही आत्मा तृप्ति प्राप्त करता है, अमृतपद में स्थित हो जाता है । योग-मार्ग स्वसंवेद्य मार्ग है, स्वानुभवगत है, यह (योगतत्वज्ञ महाज्ञानसिद्ध गुरू के द्वारा उपदिष्ट) योग-मार्ग अनुभवगम्य है । हे शास्त्र में पारंगत विद्वानो ! योग, साधना से ही सिद्ध होता है, इसे जीवन में उतारना पड़ता है, योग जीवन है, सत्स्वरूप में स्थित रहने की साधन-प्रक्रिया है ।

गगन मंडल मैं ऊँधा कूबा तहां अंमृत का बासा ।
सगुरा होइ सु भरि भरि पीवै निगुरा जाइ पियासा ।। 23 ।।

गगन-मंडल, सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में एक ऐसा कुंआ है, जिसका मुख औंधा है, इसमें अमृत का वास है । इस अमृत का पान वही प्राणी कर सकता है, जो सद्गुरू की शरणागति में स्थित है, सद्गुरू ही अमृत पान का उपाय बतलाते हैं । जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नही हो सकी है और साधना के पथ पर अकेला भटक रहा है, उसे अमृत पीने को नहीं मिल सकता, वह प्यासा ही रह जाता है । योग-पथ का प्रदर्शक सद्गुरू प्राणायाम की शक्ति को बढ़ाते हुए मूलाधार चक्र में स्थित सोई विद्युत-प्रभा के समान कुण्डलिनी को सुषुम्णा नाड़ी के माध्यम से जाग्रत करते हुए शून्य पद, ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साक्षात्कार के द्वारा अमृतपान कराता है । जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नहीं है, वह निगुरा है, उसे आत्मतृप्ति, साधना में सिद्धि नहीं मिलती है, वह अमृतपान से वंचित रह जाता है ।

गगने न गोपंत तेजे न सोषंत पवने न पेलंत बाई ।
मही भारे न भाजंत उदके न डूबन्त कहौ तौ को पतिआई ।। 24 ।।

आत्मा सर्वव्यापक है, सर्वत्र है, अविनाशी है, साक्षात् परमात्मा का ही अभिन्न अद्वय रूप है । यद्यपि गगन का अमित विस्तार है, तथापि यह असीम और अनन्त आत्मा को अपने में आविष्ट नहीं करता है, यह आत्मा

तेज (अग्नि) के द्वारा शोषित नहीं किया जाता है, इसी तरह वायु में इतनी शक्ति नही है कि आत्मा को इधर-उधर कर अस्थिर कर दे, यह आत्मतत्व जल में भी लीन होकर अस्तित्वहीन नही हो सकता, इसी तरह पृथ्वी की भार-शक्ति इस आत्मा को खण्डित नहीं कर सकती । आशय यह है कि आत्मा, आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथ्वी के विनश्वर गुण का धर्मवाला नही है, यह इन पाँच भूतों से परे चिन्मय परम सत्ता है ।

बास सहेती सब जग बास्या, स्वाद सहेता मीठा ।
साच कहूँ तौ सतगुर मांनैं रूप सहेता दीठा ।। 25 ।।

सच्चिदानन्दघन स्वरूप परब्रह्म परमात्मा, परमशिव सौन्दर्यसार-सर्वस्व हैं, उनकी दिव्यता, माधुर्य और ऐश्वर्य की रसानुभूति योगसिद्ध सद्गुरू की कृपा से ही जीवात्मा के लिए सहज अनायास उपलब्ध है । परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है, उनकी दिव्य अनन्त माधुरी में जो स्वाद, आनन्द है, जो मादक सुगन्ध है, वह उन्हीं का अखण्ड स्वरूप है, समस्त जगत् इस मादकता से आप्यायित है, उनके दिव्य-चिन्मय माधुर्य का स्वाद-भोग समस्त जगत् को माधुर्य-ही-माधुर्य में रूपान्तारित कर देता है । ब्रह्मानन्द-रस का आस्वादन करने वाले प्राणी के लिये समस्त जगत् ब्रह्मानन्दमय हो उटता है, परमात्म सौन्दर्य का आकार हो जाता है । यह सत्यानुभव है पर इसका विवेक सद्गुरू की कृपा से सम्भव है, सौन्दर्यमाधुर्यऐश्वर्यनिधि अनन्त परमात्मा का साक्षात्कार, दर्शन सद्गुरू प्रदत्त विवेक प्रकाश में ही होता है ।

मरौ वे जोगी मरौ, मरण है मीठा ।
तिस मरणीं मरौ, जिस मरणीं गोरष मरि दीठा ।। 26 ।।

हे योगी । मरो, जीवन्मुक्ति अवस्था में स्थित होकर अमृतपद प्राप्त कर लो, इस तरह जीते जी संसार की दृष्टि में मर कर अमृतपद में प्रतिष्ठित हो जाना बड़ा ही मधुर है, मीठा है, इस मधुरामृत का वर्णन हो ही नहीं सकता । हे योगी ! उस मृत्यु, अमरता का वरण करो, जिसके द्वारा मैंने (गोरखनाथ ने) अमृतपद प्राप्त कर, जीवन्मुक्त होकर परब्रह्म परमात्मा,

परमशिव का अपने दिव्य चक्षु, आत्मविवेक से दर्शन अथवा साक्षात्कार कर लिया, यह मरण सामान्य मरण नहीं है, इस मरण द्वारा योगी पार्थिव तत्व का, भौतिक शरीर का दिव्यीकरण, परमात्मीकरण कर अमृतरस का निरन्तर पान कर अमर हो जाता है ।

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चालिबा, धीरैं धारिबा पावं ।
गरब न करिबा सहजैं रहिबा, भणत गोरष रावं ।। 27 ।।

(योगी का जीवन पूर्ण रूप से संयमित और विनियमित होना चाहिए) आचार-विचार और संयम तथा युक्त-उचित व्यवहार से परम श्रेयस्कर जीवन ही सफल जीवन है, बिना सोचे-समझे, अपने विचार और कार्य का परिणाम-दर्शन किये बिना ही अचानक किसी विषय में बोल नहीं उठना चाहिए । चलने में भी सावधान रहना चाहिए कि पैर किसी ऐसी दिशा की ओर न उठ पड़े, जिधर पथ कुश-कण्टक से आकीर्ण हो, रास्ते में गड्ढे हों, क्षण-क्षण में पतन, गिर पड़ने की सम्भावना हो, इसलिये सोच-विचार कर धीरे-धीरे अपने अभीष्ट कार्य-पथ पर अग्रसर होने वाला ही युक्त जीवन से सम्पन्न कहा जाता है । मन में उन्माद नहीं आने देना चाहिए, इससे अभिमान, मिथ्या अहंकार और गर्व उत्पन्न होता है । योगसाधक को सामान्य जीवन, स्वाभाविक जीवन अपनाना चाहिए, साधक की यही सहज अवस्था है, जो संयम, आचार-विचार और विनियम से युक्त है । (महायोगी गोरखनाथ का कथन है कि) यह मेरा (गोरखनाथ का) उपदेश है ।

भर्‍या ते थीरं झलझलंति आधा ।
सिधें सिध मिल्यारे अवधू बोल्या अरू लाधा ।। 28 ।।

योगसिद्ध पुरूष गम्भीर होते हैं । वे यत्र-तत्र, इधर-उधर अपने अध्यात्मज्ञान अथवा योगसिद्ध जीवन का प्रचार करते नहीं फिरते । जो आत्मज्ञान से पूर्ण हैं, वे शान्त रहते हैं । जो अधकचरे हैं, जिन्हें आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती है, केवल इधर-उधर सुनकर थोड़ा-बहुत योगाभ्यास कर आत्मतत्व का प्रकाशन करते हैं, उनसे आत्मज्ञानी - योगानुभवी अथवा

योगसिद्ध पुरूष वाद-विवाद कर अपनी शान्ति भंग नही करते हैं, वे तो सिद्धों के मिलने पर आत्मज्ञान की चर्चा करते हैं, परस्पर एक दूसरे के आत्मबोधामृत का रसास्वादन कर संतुष्ट होते हैं और परमानन्द का अनुभव करते हैं । हे अवधूत ! सिद्धपुरूष के इस मिलन अथवा समागम में ही आत्मसाक्षात्कार का लाभ सहज-सुलभ होता है ।

नाथ कहै तुम सुनहु रे अवधू दिढ़ करि राषहु चीया ।
काम क्रोध अंहकार निबारौ तौ सबै दिसंतर कीया ।। 29 ।।

अनेक योगी देश-देशान्तर में भ्रमण कर अपनी भ्रमण-लालसा की पूर्ति करते हैं, ऐसे योगियों को (महायोगी गोरखनाथ का) उपदेश है कि वे वास्तविक देशान्तर की स्थिति का लाभ सहज रूप से कर सकते हैं, यदि उनको काम, क्रोध, अंहकार नही सताते, ये ही साधना में विघ्न हैं । गुरू गोरक्षनाथ अवधूतयोगी से कहते हैं कि हे अवधूत ! चित्त को समाहित और स्थिर कर लोभ-काम-क्रोध, अहंकाररूपी विघ्नों को नष्ट कर वैराग्य के राज्य में रमण करना चाहिए ।

स्वामी बंन षंडि जाउं तो षुध्या व्यापै नग्री जाउं त माया ।
भरिभरि षाउं त बिंद बियापै क्यों सीझति जल ब्यंद कः काया ।। 30 ।।

योग-साधना के पथ में क्षुधा, भूख की निवृत्ति, साधक के लिये एक महती समस्या है, जिसके समाधान के बिना वह स्वस्थचित्त और सावधान होकर योगाभ्यास में सफलता नहीं पाता । साधक अपनी समस्या को प्रस्तुत करते हुए कहता है कि हे स्वामी ! आत्मयोगानुभवी गुरूदेव ! जब मैं वैराग्य की भावना को दृढ़ करने के लिये एकान्त सेवन की दृष्टि से वन-प्रान्त में जाता हूँ तो वहाँ आहार की उचित व्यवस्था के अभाव में भूख शरीर को प्रभावित कर उसे क्षीण और दुर्बल बनाती है, यदि मैं नगर में भिक्षा माँग कर जीवन यापन करते हुए साधना में तत्पर होने का यत्न करता हूँ तो (नगर में) इन्द्रिय-सुख, विषय-भोगासक्ति और कृत्रिम वैषयिक जीवन

के प्रति मन में राग उत्पन्न होता है । हे देव । मैं ऐसी स्थिति में रज और वीर्य से उत्पन्न शरीर को किस प्रकार स्वस्थ रखूँ, विकारों और दोषों से बचा कर योग-साधना में इसका सदुपयोग करते हुए आत्मसाक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त करूँ ?

धाये न षाइबा भूषे न मरिबा अहनिसि लेबा ब्रह्म अगनि का भेवं ।
हठ न करिबा पड़्या न रहिबा यूँ बोल्या गोरष देवं ।। 31 ।।

योगी के लिये युक्त-समुचित आहार-विहार से जीवन-यापन करना बड़ा आवश्यक है । शरीर अन्नमय है, इसका पोषण उचित आहार से ही होता है, ऐसी स्थिति में भूख लगने पर सामान्य रूप से उतना ही भोजन ग्रहण करना चाहिए, जितना शरीर की यात्रा के लिये आवश्यक है, उपवास उतनी ही मात्रा में आवश्यक है, जितनी से शरीर का तेज बढ़ता हो, यदि शरीर की शक्ति-क्षीण होती हो और उस स्थिति में भी योगाभ्यासी भूखा रहने का हठ करता है तो निस्सन्देह उसकी योग-साधना में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं । योगी को उतनी ही साधना करनी चाहिए, उतनी ही मात्रा में योगाभ्यास में रत रहना चाहिए, जितनी उसकी उत्तरोत्तर सफलता, अभ्यास की दृढ़ता के लिये आवश्यक है । न तो उसे अभ्यास अधिक बढ़ा देना चाहिए और न तो नितान्त कम ही कर देना चाहिए, जिससे साधना की गति मन्द पड़ जाय । साधना में युक्त विवेक की बड़ी आवश्यकता है, अन्यथा गोरखनाथ की उक्ति है कि योगाभ्यासी को लाभ के बदले हानि हो सकती है । साधना संयमित होनी चाहिए ।

थोड़ा बोलै थोड़ा षाइ तिस घटि पवनां रहै समाइ ।
गगन मंडल मैं अनहद बाजै प्यंड पड़ै तौ सतगुर लाजै ।। 32 ।।

योगी को अल्पाहार करना चाहिए, अल्पाहार के साथ-ही-साथ उसके लिये मितभाषी भी होना परमावश्यक है । जिस योगी की वाक्-शक्ति संयमित और आहार अल्प होता है, वही प्राण और अपान वायु का सन्तुलन का सुषुम्ना आदि नाड़ियों का शोधन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र से झरते चन्द्रामृत का

पान कर अमृतत्व-लाभ करता है, ऐसे ही योगी को नादानुसन्धान की प्रक्रिया के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नाद सुनायी पड़ता है । वाक् संयम और स्वल्पाहार के अभाव में यदि योगी का शरीर-पात हो जाता है, तो यही समझना चाहिए कि उसने गुरू के द्वारा विधिपूर्वक प्रदत्त उपदेश (ज्ञान) की उपेक्षा कर दी है, यह उसके लिये निस्संदेह बड़ी लज्जा की बात है, यह गुरू-ज्ञान का साक्षात् अनादर है ।

अवधू अहार तोड़ौ निद्रा मोड़ौ कबहुँ न होइगा रोगी ।
छठै छमासै काया पलटिबा ज्यूँ को को बिरला बिजोगी ।। 33 ।।

हे अवधूत ! योगाभ्यास में लीन रहने वाले योगी ! तुम युक्त आहार-विहार का अभ्यास करो । अधिक मात्रा में भोजन करने से योग साधना में विघ्न पड़ता है । इसी तरह रात में अधिक सोने से साधना खंडित होती है । आत्मचिन्तन तथा परमात्म-चिन्तन में विक्षेप आ जाता है । साथ - ही - साथ वर्ष में कम-से-कम छः-छः माह के अन्तर से आयुवेद के निर्देशानुसार कायाकल्प करने से शरीर आरोग्य लाभ करता है, उसमें नयी प्राण-शक्ति और दीप्ति तथा स्फूर्ति आती है । अच्छे वैद्य की देख-रेख में विहित शीशे और टिन के भस्म अथवा वनस्पति, जड़ी - बूटी के सेवन से कायाकल्प सिद्ध हो सकता है । आम्रकल्प और तक्र के (मट्ठे के) कल्प की भी आयुर्वेद में विधि निर्दिष्ट है । मित आहार, यथोचित निद्रा, और अर्धवार्षिक कायाकल्प के द्वारा शरीर को नीरोग रखते हुए योगी अपनी साधना में सिद्धि प्राप्त करता है, पर यह कार्य इतना दुष्कर है कि विरले कोई-कोई योगी ही इसमें सफल होते हैं ।

देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला अहारं ।
मन पवना लै उनमनि धरिबा ते जोगी तत सारं ।। 34 ।।

योगी साधक को अष्टांग योग, - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-के अभ्यास से देव कला प्राप्त होती

है । इन्हीं के द्वारा देवकला-दिव्य-शक्ति से जीवन संयमित होता है । भूतकला (भौतिक शक्ति) पांचभौतिक शरीर के आरोग्य की शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये युक्त आहार का सेवन आवश्यक है । आत्मबल और शरीर के आरोग्य से सम्पन्न योग-साधक अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध कर मूलाधार से उत्थित कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करते हुए प्राण (वायु) को सुषुम्ना नाड़ी के पथ से प्रवाहित करते हुए मन को ब्रह्मरन्ध्र - शून्य परम पद में समाहित कर देता है, यही मन का उन्मन होना है, यही उन्मनी अवस्था है । मन के उन्मन होने पर और प्राण के वश में होने पर योगी मन-पवन की विजय द्वारा परम वस्तुतत्व, परमात्म पद का साक्षात्कार कर लेता है ।

अवधू निद्रा कै घरि काल जंजालं अहार कै घरि चोरं ।
मैथुन कै घरि जुरा गराजै अरध-उरध लै जोरं ।। 35 ।।

हे अवधूत ! अधिक सोने से योग-साधक अपने अमूल्य समय का सदुपयोग आत्मतत्व, परमात्मतत्व के चिन्तन में नहीं कर पाता है, वह मृत्यु के पाश में फँस जाता है । योगाभ्यासी को आहार-विहार में पूरा सावधान रहना चाहिए । पौष्टिक और स्वाद के लिये किये गये अधिक आहार से शरीर में बल बढ़ता है और उसमें चोर कामदेव प्रवेश कर काम-विकार उत्पन्न करता है, इससे वह कामोपभोगपरायण हो जाता है, काम-वासना की तृप्ति करते-करते, जरा-वृद्धावस्था-से शरीर जर्जर हो जाता है, वह साधना के योग्य नहीं रह जाता है, इसलिये योगाभ्यासी के लिये पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत में स्थित रह कर शरीर को जराग्रस्त होने से बचाना चाहिए । यह तभी हो सकता है, जब वह वीर्य को अधोगामी न बनाकर ऊर्ध्वगामी कर दे, (वीर्य के) अधोगमन का आशय कामोपभोग और स्त्री-समागम में वीर्य का अपव्यय करना है, ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी ही वास्तविक योगी है ।

अति अहार यंद्री बल करै नासै ग्यांन मैथुन चित धरै ।
ब्यापै न्यंद्रा क्षंपै काल ताकै हिरदै सदा जंजाल ।। 36 ।।

अधिक आहार ग्रहण करने से इन्द्रियाँ बलवती हो जाती हैं और उनके बलवती होने पर मन में विषय-भोग और काम-वासना (मैथुन) की तृप्ति की इच्छा जागती है । योगी का विवेक नष्ट हो जाता है । वह वासना में रत हो जाता है । इस तरह वह काल के वश में होता जाता है, उस पर मृत्यु का आक्रमण किसी भी समय होने की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है । वह व्यर्थ के चिन्ता-जंजाल में उलझ जाता है और साधना में सफलता का स्वारस्य उसे नहीं मिलता है । वह जीवन में योग-साधना के फलस्वरूप आनन्द -लाभ से वंचित हो जाता है । योगाभ्यास में संयमित अल्प आहार का ही पक्ष लेना चाहिए, इससे इन्द्रियों में भौतिक बल के स्थान पर आध्यात्मिक स्फूर्ति आती है ।

घटि घटि गोरख बाही क्यारी । जो निपजै सो होइ हमारी ।
घटि घटि गोरष कहै कहांणी । काचै भांडै रहै न पांणी ।। 37 ।।

शरीर क्षेत्र (खेत) है, इस खेत की क्यारी में शुद्ध योगकर्म ही उपज है । यह शरीर में सूक्ष्म रूप से विद्यमान ब्रह्म का प्रकाश है । गोरखनाथ प्रत्येक शरीर में विद्यमान होकर आत्मज्ञान का उपदेश करते हैं । उनके द्वारा उपदिष्ट योगज्ञान-प्राप्ति का परम फल योगाभ्यास से परिपक्व शरीर में फलित होता है, वह योगसाधनारहित शरीर में स्थिर नहीं रह सकता है । जिस तरह मिट्टी के कच्चे घड़े में पानी नहीं ठहरता, वह बह जाता है, घड़ा फूट जाता है, इसी तरह अपरिपक्व शरीर जरा-रोग आदि विकारों से जर्जर हो जाता है, उसमें ब्रह्मज्ञान नहीं पच पाता । योगसाधना में सिद्ध प्राणी के ही शरीर, प्राण और मन तथा हृदय में (गोरखनाथ के द्वारा उपदिष्ट) योगज्ञान-आत्मज्ञान, परमात्मज्ञान स्थित होता है ।

घटि घटि गोरष फिरै निरूता । को घट जागे को घट सूतां ।
घटि घटि गोरष घटि घटि मींन । आपा परचै गुर मुषिचींन्ह ।। 38 ।।

प्रत्येक प्राणी के शरीर में उसकी आत्मा के अभिन्न स्वरूप गोरखनाथ व्याप्त हैं । किसी-किसी प्राणी के शरीर में वे (ज्ञानस्वरूप योगेश्वर

गोरखनाथ) जाग रहे हैं और किसी-किसी के शरीर में वे (उसकी अविद्या के कारण) आवरित से हैं, सोते से लगते हैं । इसका आशय यह है कि कोई-कोई आत्मज्ञानी योगी उनकी व्यापकता का अनुभव कर पा रहा है और कोई प्राणी भौतिकता में ही मुग्ध होने के कारण उनके आत्मा में विद्यमान रहते हुए भी उन्हें नही जान पा रहा है । वे अपने गुरू परम योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथजी की कृपा से उनसे प्राप्त आत्मबोध के द्वारा उन्हीं के अभिन्न रूप होकर घट-घट में विचरण करते हैं । प्रत्येक प्राणी को वे उपदेश देते हैं कि मेरा (गोरखनाथ का) यही मार्ग-दर्शन है कि जीवात्मा गुरू के सम्मुख होकर निजानन्दस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय ।

पावड़ियाँ पग फिसलै अवधू लोहै छीजंत काया ।
नागा मूनी दूधाधारी एता जोग न पाया ।। 39 ।।

यहाँ योग साधना में वाह्य वेश-भूषा पर अधिक बल देने का निषेध किया गया है । गोरक्षनाथ का कहना है कि पादुकाओं के सेवन करने वाले बड़े-बड़े ज्ञानियों और सिद्धों के पैर फिसल जाते हैं, वे पतनोन्मुख हो जाते हैं । इसी तरह केवल मात्र लोहे की जंजीर लंगोटीरूप में पहनने से शरीर दुर्बल और शक्तिहीन हो जाता है, इस विधि से यौगिक साधना में सिद्धि नहीं मिलती है । नग्न रहने वाले (नागा) केवल वाक्शक्ति के संयम पर आध्यात्मिक साधना के लिये निर्भर रहने वाले मौनी महात्मा, जिनमें चंचलता, इन्द्रियों की संयमहीनता, विषयानुगामिता बनी रह सकती है, योगसाधक नहीं कहला सकते हैं, उनमें निश्चात्मिका बुद्धि प्रायः नहीं रहती और आहार, एक मात्र सात्विक आहार, गाय के दूध का सेवन करने वाले पयोहारी भी केवल पयोहार मात्र के ही आश्रय से आत्मज्ञान की प्राप्ति से दूर रह सकते हैं । यह आवश्यक नही है कि दिगम्बर (नंगे रहने वाले संन्यासी), मौंनी और पयोहारी, शरीर में लोहे की जंजीर मात्र धारण करने वाले यती और खड़ाऊँ पर चलने वाले तपस्वी उपर्युक्त साधनाओं से योगसिद्ध हो जायं । यद्यपि इन साधनाओं से सद्विवेकी योगी योगाभ्यास में उत्तरोत्तर प्रगतिशील होता है तथापि योग का मर्म तो विचित्र ही है, दिव्य ही है, योग-ज्ञान का उदय सुदृढ़तापूर्वक यौगिक साधनों, यम-नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार,

धारणा, ध्यान-समाधि से ही होता है, आत्मविवेकी ही योगसम्पन्न होता है। सहज वैराग्य से ही योग-सिद्धि होती है।

दूधाधारी पर धरि चित। नागा लकड़ी चाहै नित।।
मौनी करै म्यंत्र की आस। बिनु गुर गुदड़ी नही बेसास।। 40।।

योगाभ्यास में साधक के लिये स्वाश्रय ही सहज वैराग्य का बोधक है। साधना में पराश्रय, दूसरों से प्राप्त वस्तु के द्वारा शरीर-यात्रा के निर्वाह की इच्छा अत्यन्त बाधक है। पयोहारी को सदैव इस बात की चिन्ता बनी रहती है कि किसी के घर से शुद्ध स्वच्छ दूध की प्राप्ति हो जाय, इस तरह वह अनिकेत नहीं कहा जाता, क्योंकि उसकी दृष्टि दूसरे के निकेत (घर) पर दूध की प्राप्ति के लिये लगी रहती है। दिगम्बर, नग्न रहने वाला नागा सन्यासी भी शरीर को शीत आदि से सुरक्षित रखने के लिये धूनी को निरन्तर प्रज्वलित करते रहने की दिशा में दूसरे से लकड़ी की अपेक्षा रखता है, पराश्रयी होता है। इसी तरह वाक्शक्ति को संयमित करने वाले मौनी महात्मा का भी अपने मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिये एक सहायक, साथी की अपेक्षा रहती है। इसलिये मौनी भी पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर नहीं हो पाता और स्वात्म-प्रकाश की प्राप्ति से, अलख दिव्य परमात्मज्योति के साक्षात्कार से किसी-न-किसी अंश में न्यूनाधिक वंचित रह जाता है। सहज वैरागय तो गुरू की कृपा से ही सुलभ होता है, गुरूप्रदत्त वेश (ज्ञान) गुदड़ी को अपना कर यथालाभसन्तोष की दृष्टि से सम्पूर्ण सांसारिक हलचलों में तटस्थ रहते हुए गुरूज्ञान के प्रकाश में योगी आत्मसाक्षात्कार के परम आधार योगविवेक से सम्पन्न होता है।

दषिणी जोगी रंगा चंगा, पूरबी जोगी बादी।
पछमी जोगी बाला भोला, सिधजोगी उतराधी।। 41।।

(इस सबदी में योगेश्वर गोरखनाथ की योग-साधना से सम्बन्धित प्रमुख स्थान हिमालय आदि की ऐतिहासिकता और पवित्रता तथा आध्यात्मिक दिव्यता पर प्रकाश पड़ता है, उनका कथन है) दक्षिण-नर्मदा नदी के

तटवर्ती, अथवा विन्ध्याचल के क्षेत्र से रामेश्वरम् तक के भूमिभाग में योग-साधना करने वाले योगी आहार-विहार और विषय-सुख प्रदान करने वाले पदार्थों के सेवन से मायामय जीवन से युक्त होते हैं। वे पद्मिनी स्त्रियों के रूप-जाल में मुग्ध होकर योगज्ञान से हाथ धो बैठते हैं । पूर्वक्षेत्र-विशेषतः आसाम-उड़ीसा और बंगाल प्रदेश के योगी शक्ति-साधना के वातावरण में साधना करते हुए अपने आपको तान्त्रिक-मान्त्रिक आकर्षण और सम्मोहन से दूर नहीं रख पाते हैं, अपने जीवन का अमूल्य समय वाद-विवाद में खो देते हैं । पश्चिम दिशा-काश्मीर, पंजाब, सिंध, गुजरात और राजस्थान-के योगी निर्गुण निराकार परमात्मा के स्वरूप-चिन्तन में निर्मल आत्मज्ञान और प्राप्ति को प्रमुखता देते हुए योग के अभ्यास को गौणता प्रदान करते हैं, इसी कारण उन्हें असमय मृत्यु का शिकार भी हो जाना पड़ता है । उत्तराखण्ड-हिमालय के वातावरण के तिब्बत, नेपाल, गंगोत्री, यमुनोत्री तथा बदरी क्षेत्र-में योग-साधक का मन शान्त, एकान्त, निर्मल स्थान में साधना में लग जाता है, वे चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोध करते हुए संयमित और योगानुशासित जीवन-यापन करते हुए आत्मज्ञान और परमात्मचिन्तन में लगे रहकर योगसिद्ध महात्मा हो जाते हैं । हिमालय की रमणीय उपत्यकाओं में एकान्त सेवन करते हुए वे सिद्धयोगी हो जाते हैं ।

अवधू पूरब दिंसि ब्याधि का रोग, पछिम दिसि मिर्तु का सोग ।
दक्षिण दिसि माया का भोग, उत्यर दिसि सिधका जोग ।। 42 ।।

हे अवधूत । योग-साधना के लिये पूर्व प्रदेश-आसाम, उड़ीसा और बंगाल-का वातावरण तंत्रमत और कौलाचार तथा शाक्त साधना से प्रभावित होने के कारण उपयुक्त नही है । यहाँ योगी साधक को व्याधियों से ग्रस्त होना पड़ता है । पश्चिम दिशा,-काश्मीर, पंजाब, राजस्थान और सिंध प्रदेश-के भी योगसाधनानुकूल वातावरण में, कहीं शीत का प्रकोप है, तो कहीं मरूस्थल की नीरसता है, कहीं भयानक हिमपात होता है, इस प्रकार यहाँ मृत्यु का प्रकोप प्राणियों की चिन्ता का महान् विषय है । दक्षिणांचल मे रमणियों के रूप-जाल में उलझ कर योगी विषय-भोग में आसक्त होकर अपनी योग-साधना का मूल उद्देश्य, परमात्म साक्षात्कार अथवा शिवात्मैक्य

का विस्मरण कर देते हैं । योगसाधना और योगसिद्धि के एकमात्र अनुकूल एकान्त पुण्यक्षेत्र उत्तरांचल, हिमालय प्रदेश की उपत्यकायें हैं, उत्तराखण्ड हिमालय ही सिद्धों के योगानुभव की शान्तिपूर्ण तपोभूमि है ।

धूतारा ते जे धूतै आप, भिष्या भोजन नही संताप ।
अहूठ पटण मैं भिष्या करै । ते अवधू सिवपुरी संचरै ।। 43 ।।

योगी सदाचारी और सत्यवादी होते हैं और वे किसी भी प्राणी के साथ कपट नहीं करते, उनके व्यवहार में निश्छलता रहती है । वे अहंकार को अपने मन में रंचमात्र भी ठहरने नही देते हैं, वे अहंकार का धूनन करते हैं, उपेक्षा करते हैं, उनकी अहंकार से मैत्री रहती ही नही है । वे जितने से पेट भर जाय, उतना ही भोजन माँग कर क्षुधा की तृप्ति करते हुए सन्तोषपूर्वक आत्मचिन्तन और परमात्मा के ध्यान में समाहित रहते हैं । आधिदैविक और आधिभौतिक तथा आधिदैहिक ताप उन्हें संतप्त तथा क्लान्त नही करते हैं । वे अपने शरीर के भीतर अन्तरात्मा का ध्यान करते हैं, उसी साढ़े तीन हाथ (अहुठ) वाले नगर में उनकी आध्यात्मिक जिज्ञासा, साधना अथवा सिद्धि-प्राप्ति की पिपासा शान्ति होती है । शरीर ही उनका नगर (पत्तन-पटण) है, उसी में संस्थित रहकर, बाह्य वृत्तियों का निरोध करते हुए योगी कुण्डलिनी - जागरण, षट्चक्र-भेदन और नाड़ी-शोधन तथा आसन और प्राणायाम के अभ्यास से स्वस्थ रहते हैं । वे इस तरह शरीर रूपी नगर के भीतर स्थित शिवलोक, ब्रह्मरन्ध्र, में शिव का साक्षात्कार कर जीवनामृत का रसास्वादन करते हैं । (गोरखनाथ महायोगी का कथन है,) हे अवधूत ! ऐसे योगी ही परमातमा का साक्षात्कार कर महेश्वर आदिनाथ का स्वरूपानुभव करते हैं ।

घरबारी सो घर की जाणै । बाहरि जाता भीतरि आणै ।।
सरब निरंतरि काटै माया । सो घरबारी कहिए निरंजन की काया ।। 44 ।।

योगी वैराग्य के अभय राज्य का नागरिक होता है, जिसमें निवास करने वाला प्राणी संन्यास-धर्म का पालन करता है, वह अनिकेत होता है ।

योगी का घर तो शरीर ही है, वह इसे यम-नियमपूर्वक आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, षट्चक्रभेदन और नाड़ी-शोधन के द्वारा प्रत्येक क्षण पवित्र और निर्मल रखता है, वह अपने घर की पूरी देखभाल रखता है, उसमें कहीं भी छिद्र, सूराख नहीं होने देता अन्यथा सांसारिक विषय-वृष्टि से उसका घर ढह जाता है । प्राणवायु को वह संयमित करते हुए प्राणशक्ति, जीवन-शक्ति को अक्षुण्ण बनाये रखता है तथा निरन्तर ब्रह्मचर्य में स्थित रहता है, वह माया-इन्द्रियों की विशेषसेवन-प्रवृत्ति का नाश कर देता है, उसे माया प्रभावित नहीं कर पाती है, अमृत की शीतल ज्योत्सना से उसकी काया और मन, दोनों स्वस्थ और नीरोग रहते हैं । ऐसे पवित्र शरीर से सम्पन्न योगी के चित्त में परम शिव का रमण होता है । वह परमात्मा शिव का ही चिन्मय विग्रह हो जाता है, साक्षात् शिवस्वरूप हो जाता है ।

गिरही सो जो गिरहै काया । अभि अंतरि की त्यागै माया ।
सहज सील का धरै सरीर । सो गिरही गंगा का नीर ।। 45 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि सच्चा गृही वह है जो अपने शरीर रूपी गृह की बड़ी तत्परता से रक्षा करता है, आसन और प्राणायाम, खेचरी आदि मुद्रा तथा जालन्धर आदि बन्धों की सिद्धि कर वह अपने घर की सदा देखभाल करता है । उसके घर में, शरीर के अन्तःकरण में माया ज्ञानरत्न, वस्तुतत्व की तस्करी नहीं करने पाती, माया का जाल कट जाता है, अन्तःकरण में आध्यात्मिक ज्योत्सना से अमृतरस प्रवाहित होता रहता है । वह योगी शीलमर्यादित जीवन के आचार-विचार से सम्पन्न होनें के लिये सम्पूर्ण शीलविग्रह हो जाता है, ऐसा शरीरसाधक, गृही योगी गंगा-जल की तरह पवित्र जीवन से पूर्णतया सम्पन्न होता है, दूसरों के पाप-ताप उसके चरण-संस्पर्श और सन्निधान से मिट जाते हैं और वह अपने सम्पर्क में आये हुए लोगों को पवित्र बना देता है ।

अमरा निरमल पाप न पुंनि । सत रज बिबरजित सुंनि ।।
सोहं हंसा सुमिरै सबद । तिहिं परमारथ अनंत सिध ।। 46 ।।

'सोऽहम्' शब्द, मंत्र का निरन्तर जप-स्मरण करते हुए योगी हंस, परमात्मास्वरूप हो जाता है, उसका तन, मन और हृदय-सब कुछ 'सोऽहम्' मंत्र से अभिमन्त्रित हो उठता है । ज़ो साधक, योगाभ्यास में रत जीवात्मा (प्राणी) निर्गुण, सत्, रजस्, और तमस् के बन्धन से विवर्जित (रहित) है अर्थात् त्रिगुणों से ऊपर उठ जाता है, जो पाप और पुण्य के परिवेश (सीमा) से अतीत हो जाता है, जिसे दुःख, लोभ-मोह, हर्ष-शोक के द्वन्द्व परिश्रान्त नही करते हैं, जो अनासक्त और निष्प्रपंच है, निर्मल मन और अन्तःकरण से युक्त है, 'सोऽहम्-हंस' आ र शब्द-मंत्र का अनवरत जप करते हुए अर्थात् अजपाजाप में तत्पर रहते हुए अपने स्वरूप-चिन्तन में लगा रहता है, उसे समस्त जगत् स्वरूपगत दीख पड़ता है ।

पाषंडी सो काया पषालै । उलटि पवन अगनि प्रजालै ।।
व्यंद न देई सुपनैं जाण । सो पाषंडी कहिए तत्त समांन ।। 47 ।।

योगी पाखंडी नहीं होता है, वह तो मन, वचन और कर्म से निर्मल तथा पवित्र अन्तःकरणवाला होता है । यदि यौगिक क्रियायें पाखण्ड हैं तो वह पाखंडी अवश्य होता है, पाखंडी योग की क्रियाओं, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा तन को निर्मल रखता है, मन को वश में रखता है, वह पवन को उलट कर (प्राणायाम के द्वारा) योगाग्नि को प्रज्वलित करता है । योगी बिन्दुपात नही होने देता है, वह उर्ध्वरेता होता है, वीर्यस्खलन नहीं होने देता । इस तरह का योगी ही पाखण्डी-पवित्र आचार-विचार से सम्पन्न कहा जाता है, वह परमात्मस्वरूप का अनुभव करता है, आत्मतत्वज्ञ होता है ।

मनवां जोगी काया मढ़ी । पंच तत्त ले कंथा गढ़ी ।
षिमा षड़ासण अघारी । सुमति पावड़ी डंड बिचारी ।। 48 ।।

यह शरीर मन्दिर, मठ (मढी) है । इस शरीर रूपी मढ़ी में मनरूपी योगी निवास करता है, मन महान्योग-साधक है। जिस तरह योगी के शरीर पर कन्था (गुदड़ी, चिथड़ों से गुँथा वस्त्र) रहती है, उसी तरह मनरूपी योगी पाँच

तत्व पृथ्वी जल, तेज, गगन और वायु के संयोग से निर्मित परिधान से आवेष्टित रहता है, मनरूपी योगी के लिये क्षमा ही षड़ासन है । षड़ासन के सहारे योगी को खड़े-खड़े बैठने का सुख मिलता है, इसी प्रकार जिसके मन में क्षमा है, वह साधन में सफलता पाता है । मनरूपी योगी ज्ञानकी अधारी का उपयोग करता है । (काठ के डंडे में लगे पीढ़े को अधारी कहा जाता है) इसे योगी सहारे के लिये रखता है । ज्ञान से ही मन योग-पंथ में अग्रसर होता है । वह सुमति-सद्‌बुद्धि की पादुका का उपयोग करता है, यदि मन में सद्‌बुद्धि, सद्‌विवेक न हो तो पतन की आशंका रहती है । जिस तरह योगी डंडा लिये रहता है,. इसी तरह मनरूपी योगी विचाररूपी डंडा का उपयोग कर पथ में, साधना के मार्ग में, भ्रमित होने से बच जाता है । काया-मन्दिर में रहने वाले मनरूपी योगी के लिये क्षमा, ज्ञान, सद्‌बुद्धि और विचार की निरन्तर अपेक्षा रहती है अथवा वह निरूद्धवृत्ति वाला नहीं हो सकता है ।

चालत चंदवा षिसे-षिसे पड़ै । बैठा ब्रह्म अगनि परजलै ।
आडै आसणि गोटिका बंघ । जावत प्रथिमी तावत कंध ।। 49 ।।

योगी कुण्डलिनी-जागरण और षट्‌चक्र-भेदन के परिणामस्वरूप सहस्त्रदल-सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से झरते अमृत का पान कर इसी शरीर से प्रलयपर्यन्त अमर हो जाता है । चंचलता से चन्द्रद्रव, प्राणामृत खिसक-खिसक कर क्षरित हो जाता है, स्थिरता से ब्रह्माग्नि प्रज्वलित होती है, ज्ञानदीप्ति स्थिर रहती है । तिरछी अवस्था में, चल और अचल के मध्य की अवस्था में (आदि) अभ्यास से गोटिकाबन्ध-सिद्धि की प्राप्ति होती है, जिससे योगी इच्छानुसार सूक्ष्म शरीर धारण कर अदृश्य हो जाता है । (कहा जाता है कि सिद्ध योगी अभिमंत्रित गुटिका, गोली मुख में रख कर अदृश्य हो जाता है) इस तरह वह अमरत्व प्राप्त कर लेता है, अमृतपद में स्थित हो जाता है और जब तक पृथ्वी स्थिर रहती है, तब तक उसका शरीर बना रहता है ।

यहु मन सकती यहु मन सीव । यहु मन पांच तत्त का जीव ।
यहु मन ले जै उनमन रहै । तौ तीनि लोक की बातां कहै ।। 50(क) ।।

योग-साधना में सिद्धि मन को सम्पूर्ण वश में करने का चरम फल है । मन योग-क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है, यही मन परम शक्ति, जागृत कुण्डलिनी महामाया है, तो यही मन परमशिव का रूप ग्रहण कर लेता है । यही मन पांचभौतिक शरीर में निवास करनेवाला जीवात्मा है । इस मन को योगी उन्मन रखता है, परमात्म चिन्तन के अभिमुख रखता है, वह तीनों लोक, आकाश, पाताल, और मृत्युलोक का रहस्य समझ लेता है ।

अवधू नव घाटी रोंके लै बाट । बाई बणिजै चौसठि हाट ।
काया पलटै अबिचल बिध । छाया बिबरजित निपजै सिध ।। 50 (ख) ।।

हे अवधूत ! प्राणायाम की सिद्धि के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि शरीर के नवों द्वार, एक मुख, दो नेत्र, दो कान, दो नासिका रन्ध्र, उपस्थ और गुदा पर संयम रखे । इसका सुपरिणाम यह होगा कि शरीर भीतर वायुको पचा लेने में समर्थ होगा और शरीर की चौसठ सन्धियों में वायु का व्यापार सुव्यवस्थित ढंग से होगा, वायु में विकार नहीं आयेगा और प्राणायाम में सिद्धि मिलेगी । शरीर में पूर्ण आरोग्य का लाभ होगा, यह एक प्रकार का कायाकल्प है, इससे योग-साधक सिद्धावस्था में पहुँच जायेगा, उसके शरीर की छाया नही पड़ेगी, वह सर्वत्र गमन करने में सक्षम होगा ।

अवधू दंग कौं गांहबा उनमनि रहबा, ज्यूं बाजबा अनहद तूरं ।
गगन मंडल मैं तेज चमंकै, चंद नहीं तहां सूंर ।। 5। ।।

हे अवधूत ! प्राण का संयम करना चाहिए । दम अथवा प्राण का संयम प्राणायाम के अभ्यास से ही सिद्ध होता है । प्राण को नियन्त्रित करने पर मन पूर्णतया वश में हो जाता है, उन्मनावस्था सिद्ध होती है । नव द्वार, मुख, नेत्र, नासारन्ध्र, कान, उपस्थ, गुदा तो प्रत्यक्ष हैं पर ब्रह्मरन्ध्र दसवां द्वार अप्रत्यक्ष है । दशम द्वारा में ही योगी उन्मन होता है, नाद बिन्दु के मेल से उत्पन्न अनाहत नाद का श्रवण कर वह निराकार परब्रह्म शिव के प्रकाश का ब्रह्मरन्ध्र में दर्शन करता है । ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य और चन्द्रमा की ज्योति के बिना ही अलख निरंजन, चिन्मय तत्व भासित होता है ।

सास उसास बाइ कौं भषिबा, रोकि लेहु नव द्वारं ।
छठै छमासि काया पलटिबा, तब उनमैंनी जोग अपारं ।। 52 ।।

कुम्भक प्राणायाम के द्वारा शरीर के भीतर श्वासोच्छ्वास का भक्षण करना चाहिए, इस कार्य में जितनी अधिक सफलता मिलेगी, उतनी ही प्राणशक्ति अक्षुण्ण होती जायेगी और मृत्यु का भय दूर होता जायेगा । नवों द्वारों को रोक कर वायु को शरीर में पचा लेने से कायाकल्प तो अनायास हो ही जाता है, पर साथ-ही-साथ सालभर में दो बार, छः-छः माह की अवधि में यौगिक विधि से कायाकल्प करने से शरीर में नये प्राण दौड़ने लगते हैं, इससे उन्मन योग सिद्ध होता है । मन स्थिर हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र, दसवाँ द्वार के खुल जाने, पर निष्कल निरंजन, चिन्मय परमात्मतत्व अभिव्यक्त हो उठता है, इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है ।

अवधू सहंस्र नाड़ी पवन चलैगा, कोटि झमंकै नादं ।
बहतरि चंदा बाई सोष्या किरणि प्रगटी जब आदं ।। 53 ।।

हे अवधूत । ब्रह्म्रन्ध्र, दसवें द्वार में मन के स्थिर तथा उन्मनी अवस्था में सिद्ध होने पर शरीर प्राणामृत से परिपूर्ण हो उठता है । शरीर को समस्त नाड़ियों का मल निकल जाता है, शरीर में फैली सहस्र नाड़ियों में पवन का संचार होने पर करोड़ों नाद के समान अनाहत नाद प्रस्फुटित हो उठता है, इस तरह ब्रह्म के मूल प्रकाश (आदि ज्योति) के प्रकट होने पर वायु बहत्तरों चन्द्रमाओं को सोख लेती है । प्राणायाम के सफल प्रयास से ही शरीर की नाड़ियों में पवन का संचरण होता है और मन की चंचलता मिट जाती है । इस तरह उन्मनी अवस्था सिद्ध होती है और योगाभ्यासी सहज समाधि में परब्रह्म-निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

अमावस के घरि झिलिमिलि चंदा, पूनिंम कै घरि सूरं ।
नादकै घरि ब्यंद गरजै, बाजंत अनहद तूरं ।। 54 ।।

षट्चक्र-भेदन तथा महाशक्ति कुण्डलिनी की जागृति की पूर्व स्थिति ही अज्ञानान्धकार, अमावस्या है । कुण्डलिनी इसी अवस्था में सुप्त रहती हैं ।

जब जीव बिन्दु (चन्द्र)-रज (सूर्य) के संयोग के मार्ग पर चलते हुए मूलाधार स्थित परमशक्ति कुण्डलिनी को जगाते हुए मूलाधारचक्र, मणिपुर, स्वाधिष्ठान आदि चक्रों का भेदन करते तथा सुषुम्णा-मार्ग में स्थित प्राण-शक्ति को ऊर्ध्वमुख करते हुए सहस्रार में परम शिव के सान्निध्य में उपस्थित होता है तो अमावस्या पूर्णिमा में परिवर्तित होती है, इस तरह सहस्रार में चन्द्रमा और सूर्य अथवा बिन्दु और रज अथवा शिव और शक्ति के महायोग के पर्व पर जीवात्मा अमृत पान करता है, प्राण अमर परब्रह्म से भी अतीत परमशिव अलख निरंजन शून्य पद में संस्थित हो जाता है । प्राणायाम की सम्पूर्ण सिद्धि होने पर शरीर को चौसठ सन्धियों में वायु के वेगवान प्रवाह से नाद में बिन्दु, (चन्द्रमा) शुक्र के प्रवेश से जीवात्मा अमरता की दिशा में ऊर्ध्वमुख हो उठता है, उसकी उन्मनावस्था सिद्धि होती है और सहज अनाहतनाद का श्रवण होने लगता है ।

उलटंत नादं पलटंत ब्यंद, बाई के घरि चीन्हसि ज्यंद ।
सुनि . मंडल तहाँ नीझर झरिया , चंद सुरजि ले उनमनि धरिया ।। 55 ।।

प्राण-शक्ति का संयम ही अमरत्व है, अमृतत्व है । चन्द्र (बिन्दु) और सूर्य (रज) के योग से अथवा शिव और शक्ति के समागम से उन्मनावस्था की सिद्धि होती है । मन पाँचभौतिकक्षेत्र, शरीर से अमनस्क होकर सहस्रार की ओर गमन करता है । चन्द्र और सूर्य के योग से शून्य मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अमृत का निर्झर झरने लगता है और नाद उलट जाता है नाद सूक्ष्म-शब्द तत्व का क्रियमाण स्वरूप है और यह क्रमशः स्थूल रूप में परिणत होकर सृष्टि का कारण होता है । नाद का सृष्टि-निर्मायक स्थूल स्वरूप अपने मूल स्रोत की ओर लौट पड़ता है और अधोगामी बिन्दु ऊर्ध्वगामी हो जाता है ।

अवधू प्रथम नाड़ी नाद झमंकै, तेजंगनाड़ी पवनं ।
सीतंग नाड़ी ब्यंद का बासा, कोई जोगी जानत गवनं ।। 56 ।।

योग-साधना की सिद्धि के मार्ग में निर्मल नाड़ियों से प्रवाहित वायु, प्राण-शक्ति के सुषुम्णा नाड़ी में स्थित होने पर नाद अपने सूक्ष्म स्वरूप में

सहज निनादित होकर श्रवणगत होने लगता है । सूर्य (रज), यह प्राण का शोषण करता है परन्तु इस पिंगला (सूर्य)- नाड़ी-पवन का संचार होने पर शरीर में अमृतरस को पचाने की शक्ति बढ़ती है, शीतल (इड़ा) चन्द्र-नाड़ी में बिन्दु, वीर्य के समाहित होने पर मन उन्मन होने लगता है, इस तरह नाद-बिन्दु का व्यापार सुषुम्णा के द्वारा पिंगला और इड़ा में यौगिक विधि से आरम्भ होने पर और मन के उन्मन होने पर प्राण-शक्ति शरीर में प्रवाहित होती है । यह योगानुभव किसी महान् योगी को ही सुलभ होता है ।

उठंत पवनां रवी तपंगा, बैठंत पवनां चंदं ।
दहूँ निरंतरि जोगी बिलंबै, बिंद बसै तहाँ ज्यंदं ।। 57 ।।

सूर्य नाड़ी (पिंगला) में पवन की गति बड़ी तीव्र होती है, जब श्वास बाहर निकलता है तब सूर्य नाड़ी चलती है और जब श्वास भीतर आता है तब चन्द्र (इड़ा) नाड़ी में स्थिर होता है । नाड़ी से वायु के इस बहिर्गमन तथा उसमें अन्तर्गमन से परे होकर योगी सुषुम्णा नाड़ी में समाश्रित होकर बिन्दु को स्थिर करता है क्योंकि सुषुम्णा में ही बिन्दु का निवास होता है । इस बिन्दु-साधन से योगी अमरत्व का लाभ करता है, बिन्दु का क्षरण ही मृत्यु है, बिन्दु का संरक्षण ही अमृतत्व है ।

केता आवै केता खाई, केता मांगे केता जाई ।
केता रूष विरष तलि रहै, गोरष अनभै कासौं कहै ।। 58 ।।

योग की बात योगी ही समझते हैं । घर का त्याग कर, पारिवारिक बन्धन से विरक्त होरक इधर-उधर अनेक स्थानों पर परिभ्रमण करते रहने से ही कोई योगी नही बन जाता है, संचय और संग्रह की वृत्ति का परित्याग, भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करना मात्र ही योग-साधना नहीं है, इसी तरह गांव और नगर से दूर होकर अरण्य में या वृक्ष के नीचे आवास बदलते रहने से और अनिकेत कहलाने मात्र से कोई योगी नहीं हो जाता । (गोरखनाथजी का कथन है) अभयपद ज्ञान का अनुभव, महायोग का निरूपण मैं किसके प्रति करूँ, मुझे वास्तविक योगी तो दीख ही नहीं पड़ते हैं ।

पढ़ि देखि पंडिता रहि देषि सारं । अपणी करणी उतरिवा पारं ।
बदंत गोरखनाथ कहि धू साषी । घटि घटि दीपक (बलै) षणि पसू न
(पेषे) आंषी ।। 59 ।।

शास्त्र-बचन पढ़ने मात्र से ही कराल भवसागर, माया-मोह-व्याधिग्रस्त संसारसागर से पार उतरना सम्भव नही है, इस ज्ञान को अपने जीवन में उतारने से, उसके अनुसार सद्‌गुरू के सान्निध्य में जीवन बनाने से ही ज्ञानियों में जीवन के रस का अनुभव पाया जाता है, (गोरखनाथजी का कथन है,) प्रत्येक घट, शरीर में आत्मज्योति प्रकाशित है, मैं इसके लिये किसे साक्षी बनाऊँ, साक्षी की आवश्यकता नहीं है । इस ज्ञान दीपक-ज्योति, आत्मप्रकाश का दर्शन आँख रहते भी पशु, योगानुभवशून्य प्राणी को नही हो पाता है ।

सुसबदे हीरा बेधिलै अवधू जिम्या करि टकसालं ।
औगुंन मध्ये गुंन करिले, तौ चेला सकल संसारं ।। 60 ।।

जिह्वा टकसाल के समान है, इसमें 'सोऽहम्'-जप के द्वारा परमतत्वरूपी हीरे का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । अमृतवचन में ही परमात्मा का निवास है । अमृतवचन, मधुरवाणी से असार संसार में, जो अवगुण अथवा दुर्गुण का स्थान है, गुण (सुन्दर जीवन का परिचय देकर) को अपना लेने से जीवन निस्सन्देह सार्थक और परम कृतार्थ हो उठता है । शब्द-साधना में सिद्ध योगी के पीछे-पीछे परमात्मज्ञान से लाभ के लिये सारा संसार चलने लगता है ।

अभरा था ते सूभर भरिया नीझर झरता रहिया ।
षांडे थैंधुरसाण दुहेला, यूँ सतगुरि मारग कहिया ।। 61 ।।

जो ज्ञान से रिक्त रहता है, वह प्राणी भी योगाभ्यास के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है । योग-साधना से सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत का स्राव निरन्तर होने लगता है पर यह सद्‌गुरू मार्ग, सद्‌गुरू की कृपा से ही अनुभवगम्य योगमार्ग, खड्‌ग, कृपाण की धार से भी सूक्ष्म और

और दुस्साध्य है, इस पर चलते समय तनिक भी पद के पतित हो जाने पर, पैर के फिसल जाने पर निरापद महाज्ञान से हाथ धोना पड़ता है, इस पर बड़ी सावधानी से चलना चाहिए ।

प्यंडे होई तौ पद की आसा, बंनि निपजै चौतारं ।
दूध होई तौ घृत की आसा, करणी करतब सारं ।। 62 ।।

निस्सन्देह परमात्मा वन के जीव-जन्तुओं में उसी तरह सहज व्याप्त है, जिस तरह पिण्ड मात्र में उसके विद्यमान होने की आशा की जाती है । शरीर में, वन में, सब जगह परमात्मा है पर उसको पाने की युक्ति होती है, बिना युक्ति के वह प्रकाशित नही होता है । यह सच है कि दूध में जिस तरह घृत की आशा की जाती है, उसी तरह पिण्ड में ब्रह्म है ही परन्तु उसकी खोज करनी चाहिए । दूध को बिना मथे जिस तरह घी नहीं मिला करता, उसी तरह योग-साधना में ही सारवस्तु है, योगानुभव से ही परमात्म साक्षात्कार होता है ।

मन मैं रहिणां भेद न कहिणां, बोलिबा अंमृत बांणी ।
आगिला अगनी होइबा अवधू, तौ आपण होइबा पांणी ।। 63 ।।

सच्चे योगी साधक को मन में ही स्थिर रहना चाहिए और अपनी साधना की बात किसी से प्रकाशित नही करनी चाहिए । सबसे मधुर बचन बोलना चाहिए, इस अमृतवाणी से किसी के मन में क्षोभ नहीं होता है और साधना बिना किसी विघ्न के सफलता की दिशा में बढ़ती रहती है । यदि सांसारिक अथवा लोक-व्यवहार में हमारे ऊपर कोई अज्ञानवश क्रोध करे, आलोचना करे, कड़ी बात कहे तो हमें सदा शान्त रहना चाहिए । इससे हमारा विरोध करने वाला स्वतः शान्त हो जाता है । योग-मार्ग का रहस्य है, कोई आग बने, तो हम पानी बन जाँय, मन में उद्वेग आने ही न दें ।

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा, पीयबा नीझर पांणी ।
लंका छाड़ि पलंका जाइबा, तब गुरमुष लेबा बांणी ।। 64 ।।

योगी को उन्मनावस्था में रहना चाहिए, सदा सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत का पान करना चाहिए, उसे जगत् के प्रपंचों से ऊपर उठ जाना चाहिए और अपनी आत्ममुखी अन्तरंग साधना का रहस्य किसी भी व्यक्ति से नहीं कहना चाहिए । जो प्रपंची और सांसारिक माया-मोह में ग्रस्त होता है, वह योग-साधना का स्वारस्य नहीं समझ सकता है । गुरू के वचन में पूर्ण श्रद्धा रखकर योगी को जगत् के माया-मोह का बन्धन तोड़ देना चाहिये और इससे परे अमायिक, आध्यात्मिक विचार का गुरू की कृपा से परिशीलन करना चाहिए । ऐसा योगी ही सद्गुरूनिष्ठ होता है ।

नग्री सोभंत बहु जल मूल बिरषा, सभा सोभंत पंडिता पुरषा ।
राजा सोभंत दल प्रवांणी, यूँ सिधा सोभंत सुधि-बुधिकी बांणी ।। 65 ।।

नगर की शोभा उसमें स्थित अनेक उद्यानों और तड़ागों से बढ़ती है, इसी तरह सभा की शोभा विद्वानों से सार्थक होती है, राजा तभी शक्तिमान् कहा जाता है, उसे जब अपनी सेना का विश्वास प्राप्त रहता है अन्यथा वह नाममात्र का राजा होता है और निर्बल तथा शक्तिहीन समझा जाता है । ठीक इसी तरह योगसिद्ध पुरूषों की शोभा आध्यात्मिक सत्ता की परिचायिका निर्मल शुद्ध बुद्धियुक्त विवेकमयी वाणी है, जिसके श्रवणमात्र से इस बात का परिज्ञान हो जाता है कि यह सिद्ध पुरूष की अनुभूति की ही प्रकाशिका है ।

विरला जाणंति भेदांनिभेद बिरला जाणंति दोइ पष छेद ।
बिरला जाणंति अकथ कहांणी,
बिरला जाणंति सुधि बुधि की बांणी ।। 66 ।।

अभेद-अखण्ड अलख निरंजन शून्य पद, परमपद अथवा परमात्मा के रहस्य को कोई-कोई ही जान पाते हैं, परमात्मा अद्वैत, निराकार, निर्विकार और केवल शून्य है, अपनी योग माया के प्रभाव से वह द्वैत रूप में प्रतिभासित होता है । इस द्वैत का निरसन किसी बिरले विवेकी सद्-असद्

के निर्णायक के ही द्वारा हो पाता है । उसकी इस अकथनीय कथा का तात्पर्य किसी विरले योगसिद्ध की वाणी में परिलक्षित होता है ।

उत्तरखंड जाइबा सुंनिफल खाइबा, ब्रह्मअगनि पहरिबा चीरं ।
नीझर झरणैं अंमृत पीया, यूं मन हूबा थीर ।। 67 ।।

योगी को उत्तर खण्ड सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी को जागृत करते हुए स्थित होना चाहिए, वहाँ शून्यपद का अनुभव प्राप्त होता है, अलख निरंजन की ज्योति का साक्षात्कार होता है । योगी उस सहस्रार में स्थिति होकर ब्रह्माग्निरूपी चीर (वस्त्र) धारण करता है, समस्त संकल्पों का होम कर परमात्मज्ञान की महाज्योति का वरण करना ही उसका परिधान धारण करना है । इस तरह योगी सहस्रार में स्थित चन्द्रामृत के पान के द्वारा अपनी आध्यात्मिक ज्ञानसिद्धि की चिर पिपासा की तृप्ति कर लेता है । (गोरखनाथजी का कथन है ।) इस तरह की शून्य अन्तरंग साधना के द्वारा मेरा मन स्थिर अथवा उन्मन हो गया ।

हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत ।
जोगी ध्यावै परम पद जहा देहुरा न मसीत ।। 68 ।।

हिन्दू मन्दिर में परमात्मा के श्रीविग्रह की प्राण प्रतिष्ठा कर उसके स्वरूप का ध्यान करते हैं । मुसलमान, इस्लाममत के अनुयायी मसजिद में निराकार ईश्वर के स्वरूप का आवाहन और चिन्तन करते हैं, पर योगी के लिये यह परम पद सर्वत्र है, देवालय, मन्दिर, मसजिद, सब जगह उसे परमात्मा का सहज बोध सुलभ होता है । योग का परम तात्पर्य यही है कि जीवात्मा-परमात्मा के अभिन्न सामरस्य की सिद्धि हो ।

हिन्दू आषैं अलष कौं तहां राम अछै न षुदाइ ।। 69 ।।

हिन्दू राम के नाम से अपने उपास्य परमात्मा का ध्यान करते हैं । वे परमात्मा को राम कहते हैं, इसी तरह इस्लाम में विश्वास रखने वाले मुसलमान अपने परमात्मा को अल्लाह और खुदा के सम्बोधन से स्मरण और

चिन्तन करते हैं । यह राम, यह खुदा (अल्लाह) परमात्मा घट-घट में व्यापक अलख निरंजन चैतन्यस्वरूप परब्रह्म है, यही योगियों का परम ध्येय परमशिव है ।

प्यंडे होई तौ मरै न कोई, ब्रह्मांडे देषै सब लोई ।
प्यंड ब्रह्मंड निरंतर बास, भणंत गोरष मछ्यंद्र का दास ।। 70 ।।

परमात्मा, निराकार अलख निरंजन, शून्यपद में स्थित अदृश्यब्रह्म है सर्वत्र परिव्याप्त है, वह शरीर में आत्मारूप में हैं पर शरीर भौतिक है, परमात्मा चिन्मय है, यदि शरीर सम्पूर्ण चिन्मय अथवा परमात्म होता तो उसका नाश नही होता, परमात्मा ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं पर ब्रह्माण्ड स्थूल हैं, आँखों से प्रत्यक्ष दीख पड़ता है, उसमें सूक्ष्मामातिसूक्ष्म स्वरूपस्थ परमात्मा निराकार होने के कारण प्रत्यक्ष (साकार) नही हो पाता है । यह नितान्त सच है कि शरीर ब्रह्माण्ड में समान रूप से परमात्मा विद्यमान है । वह सच्चिदानन्द-स्वरूप परमशिव अलक्षित है । ऐसा मत्स्येन्द्रनाथ के दास गोरखनाथ का ही स्वतः सिद्धः सत्य है, अनुभव है ।

बैठा अवधू लोह की षूंटी, चलता अवधू पवन की मूंठी ।।
सोवता अवधू जीवता मूवा, बोलता अवधू प्यंजरै सूवां ।। 71 ।।

योगी जब योगासनों से सुदृढ़ अभ्यास में सफल अथवा सिद्ध हो जाता है तो वह अपनी इन्द्रियों की कार्य-विधि पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखता है । जिस तरह लोहे की खूँटी को उखाड़ना अथवा हिला-डुलाकर निकाल लेना आसान नही है ठीक उसी तरह आसनसिद्ध योगी को किसी प्रलोभन के द्वारा चंचल चित्तवाला नही बनाया जा सकता है । अभ्यास में सिद्ध योगी जब प्राणायाम में सफल होता है, प्राण पर विजय प्राप्त कर लेता है तो वह आकाश में पवन के द्रुत वेग के समान उड़ता रहता है । वह क्षणमात्र में संकल्प करते ही समय और स्थान के बन्धन से परे होकर मनोवांछित स्थान में पहुँच जाता है । जो अवधूत अथवा योगी योगाभ्यास से विमुख होकर, इन्द्रियों के वश में होकर, भोग-सुख और वैषयिक रसास्वादन में कालक्षेप करता है, आलस्यवस होकर उद्बोधन की शक्ति का त्याग कर निद्राभिभूत

(सोता) रहता है, उसे जीते जी मृतक के समान ही समझना चाहिए, जो योगी साधना-सिद्ध होकर शरीर, आत्मा और परमात्मा का सद्विवेक प्राप्त कर मौन नही धारण कर लेता, वह उस सुग्गे के समान है, जो पिंजरे में डाल दिया जाता है और उसी में चहचहाता रहता है । ऐसे योगी के शारीरिक - मानसिक बन्धन का अन्त नही होता, वह बद्ध ही रहता है ।

गोरष कहै सुणह रे अवधू जग मैं ऐसैं रहणां ।
आंषैं देषिबा कांनैं सुणिबा मुष थैं कछू न कहणां ।। 72 ।।

(गोरखनाथजी का कहना है) हे अवधूत, यह संसार द्वन्द्वात्मक है, इसमें सुख-दुख, स्तुति-निन्दा, शीत और उष्णता, दिन-रात, ये सभी प्रपंच चलते रहते हैं, योगी को इनके प्रति तटस्थ रहकर इनकी गति-विधि का द्रष्टा मात्र रहना चाहिए । द्रष्टा बने रहने का तरीका यह है कि जो कुछ संसार के सम्बन्ध में वार्ता चले, उसे सुने, जो दृश्य हों, उन्हें देखे, पर इनके सम्बन्ध में अपना मत न व्यक्त करे, सर्वथा तटस्थ और मौन रहे, संसार की माया, मोह से परे रहना ही युक्त जीवन है, योगसाधना है ।

नाथ कहै तुम आपा राषौ, हठ करि वाद न करणां ।
यहु जुग है कांटे की बाड़ी, देषि देषि पग धरणां ।। 73 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे योगी, आत्मरक्षा करनी चाहिए, शरीर-धर्म अथवा भौतिकता का वरण करने से श्रेयस्कर आत्मधर्म नष्ट हो जाता है, व्यर्थ वाद-विवाद में पड़ने से सद्वस्तु हाथ नही लगती । यह संसार कंटकमय है, यह कांटे के खेत के समान है, जिसमें चलने पर पद-पद पर कांटे गड़ने की सम्भावना बनी रहती है । इसमें सोच-विचार कर एक-एक पग सावधानी से रखते हुए चलना चाहिए । अन्यथा भौतिक प्रपंच में उलझने का भय है ।

गोरष कहै सुणौं रे अवधू सुसूपाल थैं डरिये ।
ले मुदिगर की सिर मैं मेलै तो बिनही षूटी मारिये ।। 74 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे योगी सदा योग-साधना में तत्पर रह कर आत्मचिन्तन करना चाहिये, मृत्यु (सुसपाल) से निरन्तर सावधान रहना चाहिये, यह किसी भी समय और किसी भी परिस्थिति में शरीर पर आक्रमण कर उसे अपना ग्रास बना सकती है, इसमें किसी भी तरह का आश्चर्य नही करना चाहिये, यह नहीं देखती है कि आयु में कितने दिन बाकी रह गये है, यह तो किसी भी समय सिर पर अपने मुद्गर से आघात अथवा प्रहार कर सकती है ।

दृष्टि अग्रे दृष्टि लुकाइबा सुरति लुकाइबा कांनं ।
नासिका अग्रे पवन लुकाइबा, तब रहि गया पद निरबांनं ।। 75 ।।

योगी के लिए प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रिय-निग्रह अनिवार्य है । नेत्र का कार्य देखना है, प्रपंच-विकार (भौतिकरूपरस) में आसक्त रहने का नेत्र का स्वभाव, दृष्टिन्यास रूपान्तरित कर देना चाहिये, इसी तरह कान का धर्म सुनना है उसके, प्रपंच अथवा (लोक)-चर्चा, व्यर्थ प्रलाप सुनने की शक्ति को अनाहत नाद-श्रवण में नियोजित कर परमानन्द का अनुभव करना चाहिये, नाक से निकलने वाले श्वास-प्रश्वास को प्राणायाम से नियंत्रित कर प्राण को सबल बनाना चाहिये । इसह तरह अभ्यास में तत्पर होने पर परमपद, कैवल्य की सिद्धि होती है ।

अवधू मनसा हमारी गोंद बोलिये, सुरति बोलिये चौगानं ।
अनहद ले षेलिबा लागा, तब गगन भया मैदानं ।। 76 ।।

हे योगी, योग-साधना चौगान का खेल है, इसमें मन गेंद है, सुरति, मन का उन्मन होना, ही चौगान अथवा बल्ला है, जिससे मन को अपने वश में किया जाता है । शब्दातीत अनहदनाद ही घोड़ा है, जिस तरह घोड़े पर सवार होकर मैदान में चौगान खेला जाता है, ठीक उसी तरह अनहदनाद के श्रवण के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र (शून्य गगन) रूपी मैदान में योगी, योगसिद्धि प्राप्त करता है ।

पंच तत्त सिधां मुड़ाया तब भेटिलै निरंजन निराकरं ।
मनमस्तहस्ती मिलाइ अवधू, तब लूटिलै अषै भंडारं ।। 77 ।।

हे योगी, पाँचों तत्व, क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन को यौगिक प्रक्रियां अथवा साधना के द्वारा धारण कर उन पर विजय पा जाने से, उन्हें वश में कर लेने से, अलख निरंजन निराकार परब्रह्म (परमशिव) का साक्षात्कार सहज सुलभ हो जाता है । इसी तरह मनरूपी गज को साधना के अंकुश से अपने वश में कर लेने पर तथा मन को उन्मन कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर उसमें विलीन कर देने पर अक्षय भण्डार, सहस्रार से झरता चन्द्रामृत उपलब्ध हो जाता है ।

अरध-उरध बिचि धरी उठाई, मधि सुंनि मैं बैठा जाई ।
मतवाला की संगति आई, कथंत गोरषनाथ परमगति पाई ।। 78 ।।

मूलाधार में स्थित सुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जागरत करते हुए मैंने षट्चक्रों का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अपनी प्राणचेतना, जीवनी-शक्ति प्रतिष्ठित कर ली अथवा-अपान प्राणवायु को संयमित कर या कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास करते हुए (शून्य) गगन, ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर परमशिव से सायुज्य प्राप्त कर लिया अथवा महाशक्ति कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर परमशिव में अन्तर्भूत हो गयी, ऐसा होने पर मैंने अलख निरंजन का साक्षात्कार कर लिया, कैवल्य पद पा लिया ।

डंडी सो जे आप डंडै, आवत जाती मनसा षंडै ।
पंचौ इन्द्री का मरदै मांन, सो डंडी कहिये तत्त समांन ।। 79 ।।

दण्डधारी संन्यासी वह होता है, जो अहंकार के वश में नहीं रहता, अहंकार का दमन कर देता है, तथा क्षणिक, चंचल कामनाओं से छोटी-छोटी इच्छाओं की पूर्ति में अपने जीवन का दुरूपयोग नहीं करता है । दण्डी अपनी पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को वैषयिक सुखोंपभोग में आसक्त होने से रोकता है, उसी विषयासक्ति की शक्ति का मर्दन कर देता है, इस तरह अहंकार, इच्छाओं और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर दण्डी (संन्यासी) ब्रह्मपद अथवा परमात्मपद, सत्य का साक्षात्कार करता है ।

पाया लो भल पाया लो, सबद थांन सहेती थीति ।
रूप संहेता दीसण लाया, तब सर्व भई परतीति ।। 80 ।।

मुझे तत्वबोध हो गया, मैंने अच्छी तरह स्वरूप समझ लिया, शब्द की साधना, नादानुसन्धान के द्वारा मैंने ब्रह्मपद में प्रवेश कर शिवैक्य की स्थिति प्राप्त कर ली, मुझे पिण्ड और ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमशिव अथवा परब्रह्म का, अलख निरंजन शून्य पद में समाहित परमात्मतत्व का साक्षात्कार अथवा निर्मल-निर्विकार दर्शन हो गया। मुझे इस बात पर तनिक भी संशय नहीं है कि मुझे तत्वबोध नहीं हो सका।

अरधंत कवल उरधंत मध्ये प्रांण पुरिस का बासा।
द्वादस हंसा उलटि चलैगा, तबही जोति प्रकासा ।। 8। ।।

मूलाधार में स्थित कमल (चक्र) में सुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति का जागरण करते हुए द्वादश प्रणवात्मक जप, प्राणाभ्यास के द्वारा ऊपर के अन्य चक्रों (कमलों) का भेदन करते हुए जब सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य पद में प्राण पुरूष जीवात्मा निवास कर परमशिव का सायुज्य अथवा अलख निरंजन ब्रह्म का सहज साक्षात्कार करता है, तब परमात्मज्योति सम्पूर्ण कलाओं से प्रकाशित हो जाती है और जीवात्मा अपने अभिन्न कैवल्य स्वरूप में संस्थित हो जाता है, प्राणवायु जो, बाहर उत्क्रमित होती है, कुम्भक की विधि से भीतर कर उसकी गति ऊर्ध्वमुखी करने से आत्महंस जो कुण्डलिनी से समाश्रित रहता है, ऊर्ध्वमुखी हो उठता है, हंस प्राण के आधारभूत होता है, और वह प्राण द्वादस अंगुल के परिमाण का होता है। अजपा (गायत्री) जप द्वारा (प्रणवात्मक हंस को ऊर्ध्वमुख करते हुए) जब जीवात्मा ऊर्ध्व कमलों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी के जागरण द्वारा शून्यपद -ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है तो वहाँ उसे परम ज्योति का सहज दर्शन होने लगता है।

आसण बैसिबा पवन निरोधिबा, थांन मांन सब धंधा।
बदंत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूं जल दीसै चंदा ।। 82 ।।

(गोरखनाथ का कहना है,) योगाभ्यास की सिद्धि का परमफल है आत्मचिन्तन और आभ्यन्तर साधना। जब तक आत्मा का विचार नहीं किया जाता, आत्मतत्व के परिशीलन में दृष्टि नहीं रहती, तब तक आसन, प्राणायाम

और प्रत्याहार आदि बहिरंग साधनों का कोई महत्व ही नही है, वे तो योग की सिद्धि की दिशा में बाह्य उपकरण (धंधा)· है, आत्मतत्व का विचार करने से यह पता चल जाता है कि सारा दृश्य (जगत्) ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है, जिस तरह जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब वास्तविक चन्द्रमा नही है, उसी का प्रतिबिम्ब मात्र है, उसी तरह जगत् परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है, जगत् ब्रह्म नही है, ब्रह्म से प्रतिबिम्बित दृश्य मात्र है ।

गोरष बोलै सुणि रे अवधू पंचौं पसर निबारी ।
अपणी आतमां आप बिचारी, तब सोवौ पान पसारी ।। 83 ।।

(गोरखनाथ के वचन हैं,) हे अवधूत, हे योगी, सदा आत्मा का ही चिन्तन करना चाहिए ! शरीर नश्वर है, जड़ है और इसमें विद्यमान पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को उनके भौतिक विषयों (रूप, रस, स्पर्श, गन्ध, शब्द,) से प्रत्याहारित कर आत्मा के चिन्तन की ही ओर मोड़ना चाहिये । ज्ञानेन्द्रियों के इस तरह अन्तर्मुखी हो जाने पर जीवात्मा अनायास ही परमात्मपद में प्रतिष्ठित हो जायेगा । उसका आत्मचिन्तन उसे जीवन्मुक्त बना देगा और वह भौतिक सम्बन्धों की हानि और बियोग की चिन्ता से सम्पूर्ण मुक्त होकर निर्भय पद में निश्चिंत और निश्चल हो जायेगा । वह पैर पसार कर (पूर्ण अभय यपद में स्थित होकर) परमात्मा में विश्राम करेगा ।

अहार न्यंद्रा बैरी काल, कैसे कर रखिबा गुरू का भंडार ।
अहार तोड़ो, निंद्रा मोड़ौ, सिव सकती लै करि जोडौं ।। 84
तब जानिबा अनाहद का बंध, ना पड़ै त्रिभुवन नहीं पड़ै कंध ।
रकत की रेत अंग थैं न छूटै, जोगी कहतां हीरा न फूटै ।। 84 ।।

योगी को अल्पाहारी होना चाहिए । अधिक भोजन कर लेने से नींद सताती है, समय काल बन जाता है, समय बीत जाता है और योग-साधना नही हो पाती है । जिस तरह सोने वाले की सम्पत्ति चोरों के द्वारा अपहृत कर ली जाती है, ठीक उसी तरह भौतिक विषय और निद्रा में आसक्त होने से आत्मज्ञान की रक्षा करना कठिन हो जाता है । इसका तो एक मात्र उपाय

यह है कि योगी कम-से-कम आहार ग्रहण करे और समय का आत्मचिन्तन में उपयोग करते हुए योगाभ्यास में तत्पर रह कर कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परम शिव से संयुक्त कर अलख निरंजन का साक्षात्कार करे । अत्यल्पाहार से इन्द्रियों में स्फूर्ति बनी रहेगी, नाड़ियों के मल का प्राणनिरोध अथवा प्राणायाम के अभ्यास से शोधन होगा, नाड़ियों में सम्यक् प्राण-संचार और चक्रों के भेदन से अनाहत नाद-श्रवण होगा । परमात्मा की ज्योति प्रकाशित होगी । यह उसी अवस्था में सिद्ध समझना चाहिए, जब योगी का शरीर-पात न हो, वह पक्व देह, सिद्ध देह की प्राप्ति कर ले और तीनों लोकों में उसकी प्राणायाम की सिद्धि के द्वारा (आकाश-मार्ग से) अबाध गति, आना-जाना हो, वीर्य, लाल रक्त का सारतत्व अधोगामी न होकर ऊर्ध्वगामी हो जाय और पूर्ण ब्रह्मानुभव प्राप्त हो गया, ऐसा योगी कह पड़े ।

सबद एक पूछिबा कहौ गुरू दयालं, बिरिधि थैं क्यूं कांरे होइबा बालं ।
फूल्या फूल कली क्यूं होई, पूछैं कहै तो गोरष सोई ।। 86 ।।

गुरू के चरण में शिष्य की एक शब्द में जिज्ञासा है कि शरीर में जीर्ण-शीर्ण होने पर वृद्धावस्था आने पर किस तरह उसे नव यौवन प्रदान कर तरूणावस्था का रसास्वादन किया जा सकता है, क्या यह सम्भव है कि पूर्ण विकसित फूल अपनी प्रारम्भिक अवस्था (कलीरूप) में परिणत हो जाय । शिष्य के इस एक शब्द की जिज्ञासा में षडंग-योग अथवा हठयोग का सम्पूर्ण सारतत्व अन्तर्निहित है, जिसके समाधान में जीवन का अविकल अमृततत्व भरा पड़ा है, इस रहस्य का, जिज्ञासा का समाधान करनेवाले गुरू ही जितेन्द्रिय सर्वसमर्थ महायोगी गोरखनाथ हैं (इस सबदी का यही महत्व है) ।

सुणौं हो देवल तजौ जंजालं, अमिय पीवत तब होइबा बालं ।
ब्रह्म अगनि सीचत मूलं, फूल्या फूल कली फिरि फूलं ।। 87 ।।

हे नाथसाधक, श्रद्धापूर्वक इस बात को सुनो कि सहस्रार में स्थित परम शिवपद की अनुभूति के लिये इन्द्रिजन्य विषयभोगों के रसास्वादन का

त्यागकर जगत् के प्रपंचों और बन्धनों से मुक्त होने पर ही शुद्ध परिपक्व शरीर की इसी जीवन में फिर प्राप्ति हो जाती है । इस साधना में सहस्रार से द्रवित अथवा स्रावित चन्द्रामृत का पान और ब्रह्मअग्नि अथवा ब्रह्मानुभूतिमयी अग्नि अथवा तेज के प्रति पूर्ण निष्ठा अथवा श्रद्धामयी समर्पण-भावना अमित सहायक स्वीकार की गयी है । चन्द्रामृत - पान शारीरिक यौवन अथवा पुष्टि और आरोग्य के लिये आवश्यक है। इड़ा - चन्द्रनाड़ी है, सुषुम्ना अग्निनाड़ी है, प्राण को विपरीत कर, उलटकर सूर्यनाड़ी द्वारा अमृत का शोषण रोक देना ही अमृतपान की सिद्धि है । जब तक प्राण या पवन संयमित नहीं होता, तब तक सांसारिक भोग में रुचि रहती है । इस पवन के प्रत्यावर्तन से शरीर में आरोग्य बढ़ता है, इसके विपरीतकरण से योगाग्नि का प्रज्वलन होता है तथा इसके ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश से परमतत्व का साक्षात्कार होता है । सुषुम्ना द्वारा पवन की विपरीतकरण-स्थिति में अमृतपान सहज सुलभ हो जाता है । गुरू की कृपा से अपने भीतर ज्ञान प्रकाशित होता है, ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है । पिण्डगत पवन से ही ब्रह्माग्नि का प्रज्वलन होता है । ब्रह्माग्नि आभ्यंतरिक अग्नि है, जिस तरह बाह्य हवन में आहुति दी जाती है, उसी तरह ब्रह्माग्नि में श्रद्धापूर्वक भाव समर्पित किया जाता है । शरीर अथवा दिव्य काया से ब्रह्म-साक्षात्कार होता है । दिव्य काया प्राप्त करना ही फूलेफूल की फिर से कली की अवस्था की प्राप्ति है । आशय यह है कि योग की युक्ति से अमृत का पान करने से बालक का तरूण होना सम्भव है तथा ब्रह्माग्नि से मूल प्राण को सीचने से खिला फूल भी कली हो जाता है । यही अमरकायत्व है ।

उलट्या पवनां गगन समाइ तब बाल रूप परतषि होई ।
उदै ग्रहि अस्त हेम ग्रहि पवनमेला, बंधिलै हस्तिय निज साल मेला ।। 88 ।।

शरीर को परिपक्व करने, नित्य तारूण्य, यौवन अथवा अमरकायत्व प्रदान करने का एकमात्र उपाय यह है कि प्राणवायु (पवन) को उलट कर अथवा प्रत्यावर्तित कर उसे सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा परमशिव के निवास-स्थान शून्यपद में सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर दिया जाय । इससे वहाँ से द्रवित चन्द्रमामृत का पान करने से शरीर परिपक्व हो जाता है, उसमें

जरा-मृत्यु का भय नहीं रह जाता है । मूलाधार, उदय के घर में सूर्य को अस्त कर देना चाहिए, उसका प्रभाव निर्मूल कर देना चाहिए, जिससे वह ऊर्ध्वमुख (उत्क्रमित) होकर चन्द्रामृत (प्राणामृत) का शोषण न कर सके, और इसी तरह चन्द्रमा के निवास-स्थान ब्रह्मरन्ध्र में पवन को अधोमुख होने से प्रत्याहारित अथवा उलटकर सुषुम्नानाड़ी में संचारित कर प्राणामृत का, चन्द्रामृत-द्रव का निरन्तर पान करना चाहिए, पवन अथवा प्राण के संयमित अथवा स्थिर होने पर मनरूपी मतंग योगी के वश में हो जाता है, और योगी अपनी योग-साधना में सिद्धि प्राप्त करता है ।

बारा कला सोषै सोला कला पोषै, चारे कला साधै अनंत कला जीवै ।
ऊरम धूरम जोती ज्वाला सीधि साधंत चारि कला पीवै ।। 89 ।।

मूलाधार में स्थित बारह कला वाले सूर्य (अपान वायु की उष्णता) को सोख लेने से, प्रभावहीन कर देने से योगी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सोलह कला वाले चन्द्रमा का पोषण करने में समर्थ होता है । इस तरह बारह कलावाले सूर्य के प्रभावहीन होने पर सोलह कला से युक्त चन्द्रमा की चार कलायें विशेषता से अमृतदायिनी हैं और इन चार कलाओं से पुष्ट अमृत के द्वारा अनन्त कलामयी, शक्तिमयी ब्रह्मानुभूति प्राप्त होती है । ऐसी स्थिति में महत् चैतन्य तेज, ज्योतिस्वरूप परमात्मा के अभिव्यक्त होने पर योगसाधक चार कला से युक्त अथवा विशिष्ट चन्द्रद्रवपान कर परमानन्द में मग्न रहता है ।

असाध सांधत गगन गाजंत, उनमनी लागंत ताली ।
उलटंत पवनं पलटंत बांणी, अपीव पीवत जे ब्रह्मग्यांनी ।। 90 ।।

ब्रह्मज्ञान, परमात्मसाक्षात्कार के लिए योगी को अपने चंचल मन को वश में करने की असाध्य साधना करनी चाहिए । इसी तरह प्राणायाम के द्वारा मलरहित शुद्ध नाड़ियों से पवन (प्राण) संचारित करते हुए नादानुसन्धान भी ब्रह्मानुभूति के लिये आवश्यक है । ब्रह्मरन्ध्र में नाद (अनाहत नाद) के गर्जन से तथा षट्चक्र-भेदन करते हुए कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण

के द्वारा उन्मनी समाधि सिद्ध होने से ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है । पवन को अधोमुखी होने से रोक कर उसे सुषुम्ना (सरस्वती अथवा अग्नि) नाड़ी के मार्ग में उलट कर लगा देने से, स्थिर कर देने से ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान सहज सुलभ हो जाता है ।

अलेष लेषंत अदेष देषंत अरस परस ते दरस जांणी ।
सुंनि गरजंत बाजंत नाद अलेष लेषंत ते निज प्रवांणी ।। 91 ।।

अलख निरंजन, शून्यपद में स्थित परब्रह्म परमशिव परमात्मा अक्षर है, वह वर्णन में नही आता, वह नेति-नेति शब्द द्वारा श्रुति में प्रतिपादित है । वह निराकार है, उसे चक्षु-इन्द्रियों से देखा नहीं जा सकता है पर वह विज्ञानचक्षु द्वारा आभ्यन्तरिक अनुशीलन में दर्शनीय है । ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी उसकी महिमा और वयापकता का शब्दांकन करते हैं, वे वर्णनातीत परब्रह्म का निरूपण करते हैं, पर यह निरूपण उनकी परमात्म अनुभूति का ही परम फल है, यह निर्विवाद है, समस्त ब्रह्माण्ड में व्यापक ब्रह्म पिण्ड में अनुभवसंवेद्य है । परब्रह्म का साक्षत्कार, स्वरूप-चिन्तन अनुभवगम्य है ।

निहचल घर बैसिबा पवन निरोधिबा कदे न होइबा रोगी ।
बरस दिन मैं तीनि बार काया पलटिबा, नाग बंग बनासपती जोगी ।। 92 ।।

योगी को आत्मस्थ होकर प्राणायाम की साधना करनी चाहिए और शारीरिक आरोग्य की प्राप्ति के लिए पूरे एक वर्ष में तीन बार, चार-चार मास के अन्तर पर कायाकल्प करते रहना चाहिए । आयुर्वेद शास्त्र में निर्दिष्ट विधि से चार-चार मास के अन्तर से नाग (सीसे) के भस्म, बंग (टीन) के भस्म तथा वानस्पतिक आहार (आम के रस आदि) का क्रमशः सेवन करते हुए कायाकल्प के द्वारा शरीर का पोषण करना चाहिए । इस प्रकार आत्मशक्ति, मनोबल और शारीरिक आरोग्य के द्वारा योगी को सदा स्वस्थ रहना चाहिए ।

षोड़स नाड़ी चंद्र प्रकास्या द्वादस नाड़ी भांनं ।
सहंस्त्र नाड़ी प्रांण का मेला, जहां असंष कला सिव थांनं ।। 93 ।

अमृत की वर्षा करने वाली नाड़ी इड़ा है । वह चन्द्रनाड़ी है, ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन से इस चन्द्रनाड़ी से निरन्तर अमृत की निर्झरिणी बहती है, यह चन्द्रनाड़ी सोलह कला से युक्त है । सूर्य नाड़ी पिंगला है, वह सदा अमृत को सोखती है, इसलिए योगी इसे मूलाधार में समाहित कर चन्द्र की चार कलाविशिष्ट नाड़ी से झरते अमृत का पान करता है । सहस्त्र नाड़ी सुषुम्ना है । यही सरस्वती नाड़ी कहलाती है, योगी अपने प्राण-पवन को अधोमुखी से ऊर्ध्वमुखी कर (इसमें संस्थित कर) मन को वश में कर असंख्य कला से युक्त परम शिव का सहस्रार में अनुभव अथवा साक्षात्कार करता है ।

अवधू ईडा मारग चंद्र भणीजै, प्यंगुला मारग भांनं ।
सुषमनां मारग बांणी बोलिये त्रिय मूल अस्थांनं ।। 94 ।।

हे अवधूत योगी, इड़ा नाड़ी ही चन्द्रनाड़ी है, यह अमृतवर्षिणी हैं और पिंगला भानु अथवा सूर्यनाड़ी है । इसके द्वारा अमृत का शोषण होने पर योगी जरा-मृत्यु के वश में हो जाता है । सुषम्नानाड़ी सरस्वती नाड़ी कही जाती है । इसमें ऊर्ध्वमुख प्राण स्थित होकर (योगी को) अमृत पीने में सहायता करता है । ये तीन नाड़ियाँ (योगी द्वारा) मूल स्थान, ब्रह्मरन्ध्र में शिव के साक्षात्कार के माध्यम का कार्य सम्पादित करती हैं ।

अवधू काया हमारी नालि बोलिये दारू बोलिये पवनं ।
अगनि पलीता अनहद गरजै ब्यंद गोला उड़ि गगनं ।। 95 ।।

हे अवधूत (योगी), शरीर बन्दूक की तरह है, उसमें बारूद का कार्य प्राण-वायु द्वारा सम्पन्न होता है और अनाहतनाद ही अग्नि का पलीता है, जिसके द्वारा धड़ाका सुन पड़ता है । जिस तरह बारूद अग्नि के पलीते से धड़ाका करती हुई बन्दूक से गोले को आकाश की ओर उड़ा देती है, ठीक

उसी तरह शरीर में प्राण की साधना करते हुए तथा अनाहतनाद का श्रवण करते हुए योगी अपने बिन्दु (वीर्य) को ऊर्ध्वगामी कर गगन ब्रह्मरन्ध्र में प्रतिष्ठित कर लेता है । इस तरह वह ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी हो जाता है और सहज ही शिवपद में स्थित होकर अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करने में सफल होता है ।

काजी मुलां कुरांण लगाया, ब्रह्म लगाया बेदं ।
कापड़ी संन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नृबांण पद का भेवं ।। 96 ।।

मुसलमानों के काजी और मुल्ला 'कुरान' को सब कुद मानते हैं । मन्त्र द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी ऋषि तत्वबोध के लिए वेदों के अध्ययन पर बल देते हैं । कापड़ी (गंगोत्री से गंगा जल लेकर चलने वाले तीर्थ यात्री) और सन्यासी तीर्थ यात्रा को महत्व देते हैं । गुरू गोरक्षनाथ का मत है कि इनमें से किसी ने परमतत्व का रहस्य नही समझा है । परमपद या निर्वाण मात्र पुस्तक ज्ञान या तीर्थ-भ्रमण से प्राप्त नही होता । वह साधना गम्य है ।

देवलजात्रा सुंनि जात्रा, तीरथ जात्रा पांणी ।
अतीत जात्रा सुफल जात्रा, बोलै अमृत बांणी ।। 97 ।।

तीर्थ-यात्रा और देव-दर्शन की तुलना में आत्मज्ञान का महत्व प्रतिपादित करते हुए गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं, वास्तव में तीर्थ और देवालय-देव-दर्शन से कही महत्वपूर्ण आत्मज्ञान-प्राप्ति की यात्रा है, यही अतीत यात्रा है, यही सत्संग है, इस पुण्य-यात्रा में संत सद्गुरू ब्रह्मनिष्ठ महात्माओं, परमात्मा के तत्वज्ञों और बड़े-बड़े योगियों और संन्यासियों की अनुभववाणी सुनने का सौभाग्य मिलता है । संत महात्मा साक्षात् तीर्थ और चलते-फिरते देवालय हैं । इस अतीत यात्रा का फल है कि साधक भी अमृत वाणी बोले । यह सत्संग का फल है ।

अधरा धरे बिचारिया, धर या ही मैं सोई ।
धर अधर परचा हूवा तब उत नाही कोई ।। 98 ।।

परमात्मा समस्त ब्रह्माण्ड में, प्रत्येक पिण्ड में घट-घट में विद्यमान अथवा व्यापक है । मैंने (गोरखनाथ) अधर, शून्य ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार में उस (परम तत्व) का अनुभव किया । सहस्रार (शून्य) में अलख निरंजन स्वरूप में वह है ही, पर वही धरा (मूलाधार) में भी विद्यमान है । उसकी व्यापकता के विचार के माध्यम से सहस्रार में जब कुण्डलिनी (मूलशक्ति) प्रबुद्ध होकर शिव की प्राप्ति करती है (शिव-शक्ति का मिलन हो जाता है), तब साधक के लिए अपने अनुभव ज्ञान से बाहर कुछ विचारणीय ही नही रह जाता, वह ब्रह्मानुभूति के द्वारा परमज्योतिमय अलख-निरंजन तत्व का साक्षात्कार कर लेता है ।

ऊभा मारूं बैठा मारूं, मारूं जागत सूता ।
तीनि लोक भग जाल पसार्‌या, कहां जाइगौ पूता ।। 99 ।।

गोरखनाथ जी का कथन है कि काल कहता है कि मुझसे बचकर अमर होना कठिन है, मैं यह नहीं देखता कि सोते हो या जागते हो, खड़े हो या आसन लगाकर बैठे हो, तीनों लोक में मेरा प्रभुत्व स्थापित है, आकाश पाताल और पृथ्वी के समस्त जीवजन्तु क्षण-क्षण में मेरे ग्रास बनते रहते हैं, मैंने सर्वत्र योनिरूप जाल पसार रखा है । उसमें गिर कर प्राण से हाथ धोना ही पड़ेगा, तीनों लोगों में कही कोई भी ऐसा स्थान नही है, जहाँ मेरा अभाव हो, मुझसे बच कर रहोगे कहाँ ?

ऊभा षंडौं बैठा षंडौं जागत सूता ।
तिहूं लोक तैं रहूँ निरंतरि तौ गोरख अवधूता ।। 100 ।।

महाकालस्वरूप शिवगोरक्ष योगिराजेश्वर गोरखनाथ काल (मृत्यु) का समाधान करते हैं कि तुम आत्मा को नही मार सकते, आत्मा अमृत है । मैंने कुण्डलिनी महाशक्ति को प्रबुद्धकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में परमशिव का सायुज्य प्राप्त कर लिया, इसलिए मेरे शरीर और प्राण पर तुम्हारा वश नही चल सकता । मैं आसन-सिद्धि के द्वारा प्रत्येक अवस्था में खड़े-सोते जागते-बैठते तुम्हारा खण्डन कर तीनों लोकों में पसारे गये योनिरूप

जाल से सर्वदा मुक्त, अलग (निरन्तरि) और परे हो जाऊँ, तो मुझे योगसिद्धि अमरकाय गोरख अवधूत जानो अर्थात् मैं स्वयं तुम्हारा काल हूँ, तुम्हारा अस्तित्व क्षीण करने में सर्वथा समर्थ योगी हूँ ।

न्यंद्रा कहै मैं अलिया, ब्रह्मां विष्न महादेव छलिया ।
न्यंद्रा कहै हूं षरी बिगूती, जागै गोरष हूँ पड़ि सूती ।। ।01 ।।

निद्रा (अविद्या) का कथन है कि त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी, मेरे मायावी प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके । बड़े आश्चर्य की बात है कि मेरी अविद्या-तामिस्त्रा अथवा माया या स्वरूप-विस्मृतिकारिणी शक्ति शिवगोरक्ष योगेश्वर गोरखनाथ को अपने वश में नहीं कर सकी, उन्होंने मेरे रूप को, स्वभाव को ही, निष्प्रयोजन और विकृत करके छोड़ दिया, वे अलख-निरंजन के शून्य पद से भी परे कैवल्य पद में स्वरूप से ही आत्मलीन होकर जागते हुए, शाश्वत चैतन्य में सम्पूर्ण प्रबुद्ध रहते हुए योगसिद्धि में स्थित हैं और मैं ही उनकी योगशक्ति से बिमोहित होकर, अपना स्वभाव भूल कर निष्क्रिय हो उठी । उन योगब्रह्म गोरखनाथ को मैं नहीं छल सकी ।

जोगी सो जे मन जोगवै बिलाइत राज भोगवै ।
कनक कांमनी त्यागें दोइ, सो जोगेस्वर निरभै होइ ।। ।02 ।।

योगी वह है, जिसका मन पर एकच्छत्र राज्य स्थापित हो जाता है । योगी मन को वश में कर योग की साधना में सिद्धि प्राप्त करता है । वह विलाइत राज्य का (शून्य पद में स्थित होकर) अधिकार भोग करता है अथवा परमात्मा के सायुज्य में स्वराज्य की स्थापना कर परब्रह्मपद में, कैवल्यपद में, तल्लीन हो जाता है । वास्तव में योगसिद्धि का अधिपति योगीन्द्र वह है, जो कनक और कामिनी के विषय-भोग में अनुरक्त नहीं रहता, उसकी आसक्ति से परे होकर वैराग्य के राज्य में निर्भय और स्वच्छन्द होकर विचरण करता है ।

संन्यासी सोई करै सर्वनास, गगन मंडल महि माँडै आस ।
अनहद सूं मन उनमन रहै, सों संन्यासी अगम की कहै ।। ।03 ।।

(गोरखनाथजी संन्यासी के स्वरूप और स्वभाव, स्थिति तथा गुण अथवा धर्म का वर्णन करते हुए कहते हैं कि) संन्यासी वह है, जो अपने सर्वस्व (जगत् के सम्बन्धियों और पदार्थो) का मन से पूर्णरूप से त्याग कर शून्यपद, अलख निरंजन परमशिव में स्वस्थ हो जाता है । वह अनाहतनाद का श्रवण करता हुआ मन को उन्मन अथवा परमात्म चिन्तन में तल्लीन कर अमनस्कयोग की साधना में निरन्तर - तत्पर रहता है । स्वाध्याय अथवा स्वानुभव की वाणी में वह अगम-अलख निरंजन परब्रह्म परमशिव का तात्विक विवेचन करता है ।

लाल बोलंती अम्हे पारि उतरिया, मूढ़ रहै उर वारं ।
थिति बिहूंणां झूठा जोगी, ना तस वार न पारं ।। ।04 ।।

(गोरखनाथजी का वचन है कि) योगी लालनाथ का दावा है, विश्वास है कि मैं (लालनाथ) संसार-सागर से योगसाधना के बल से पार उतर गया पर जो अविद्याग्रस्त और अज्ञानी और आधी राह तक ही आकर भटकने वाले योग-साधक हैं, वे केवल संसार-सागर से पार उतरने की बात करते हैं पर वास्तव में न वे संसार में ही अपना प्रयोजन सिद्ध कर सकते हैं और न संसार बन्धन से मुक्त होकर आत्मज्ञान के सहारे परमात्मा का ही साक्षात्कार कर सकते हैं, वे न इधर रहे हैं न उधर (उस पार) ही पहुँच सके हैं ।

उलटिया पवन षटचक्र बेधिया, तातै लोहै सोषिया पांणी ।
चन्दसूर दोऊ निज घरि राष्या, ऐसा अलख बिनांणी ।। ।05 ।।

योगी अलख-निरंजन तत्व का मर्मज्ञ होता है, वह अलखविज्ञानी है । वह प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मल-शोधन कर प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी बनाता है, वह प्राणवायु निरूद्ध होकर जब सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में यथाक्रम उत्थित होती है, तब शरीर में स्थित षट्चक्र, का भेदन होता है और इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ियाँ सुषुम्ना में स्थित हो जाती हैं, मूलाधार स्थित सूर्य ब्रह्मरन्ध्र (सहस्त्रार) से द्रवित चन्द्रामृतद्रव का शोषण

नहीं कर पाता तथा योगी परमशिव का मन को उन्मन कर सायुज्य प्राप्त कर लेता है ।

नाद हमारै बावै कवन, नाद बजाया तूटै पवन ।
अनहद सबद बाजता रहै, सिध संकेत श्रीगोरष कहै ।। 106 ।।

श्रीगोरखनाथजी का संकेत है कि योगसिद्ध पुरूष अनाहतनाद-श्रवण में पूर्णतन्मय होकर अपनी योगसाधना में सदा तत्पर रहता है और इस नादानुसन्धान के द्वारा वह आभ्यन्तर आत्मानुभूति में निरन्तर रमण करता है, उसे बाह्य वाद्यध्वनि आदि के श्रवण की आवश्यकता ही नहीं रहती । श्रृंगीनाद बजाने का उसे अवकाश ही नहीं मिलता है । श्रृंगीवाद बजाने से प्राण की गति टूट जाती है। वह प्राणवायु का संयम कर नाड़ियों का मल-शोधन करने के बाद सुषुम्ना-मार्ग से प्रस्फुटित नाद का श्रवण करता है । नादानुसन्धान में कान, नेत्र, नासारन्ध्र तथा मुख आदि को निरूद्ध कर इन्द्रियों और मन को एकाग्र किया जाता है । योगसाधक घंटा, भेरी, मर्दल, वंशी-वीणा आदि की ध्वनि का श्रवण यथाक्रम करता रहता है तथा इस नाद-श्रवण से चित्त का एकाग्र होकर परमशिव के चिन्तन अथवा साक्षात्कार में तन्मय हो जाना ही राजयोग है ।

सुणि गुणवंता सुणि बुधिवंता, अनंत सिधां की बांणी ।
सीस नवावत सतगुर मिलिया, जागत रैंणि विहांणी ।। 107 ।।

हे गुणवानो, हे बुद्धिमानो ! अनन्त (असंख्य) सिद्धों के बचन को श्रवण करो, उन्होंने अपनी अनुभूति की वाणी में योग-साधना में सिद्धि-प्राप्ति की ओर संकेत करते हुए इस सत्य का प्रतिपादन किया है कि सद्‌गुरूदेव की कृपा से साधक में अविद्या अन्धकार का नाश होता है । साधना के क्षेत्र में सिद्धि-प्राप्ति का एकमात्र उपाय है गुरू-सद्‌गुरू के चरण में श्रद्धापूर्वक प्रणति, इस विनम्रता के वरण से ही साधक महत्तम परमात्मा में अनुरक्त होने का गुरू की कृपा से सौभाग्य प्राप्त करता है ।

भिष्या हमारी कामधेनि बोलिये, संसार हमारी बाड़ी ।
गुर परसादे भिष्या षाइबा, अंति कालि न होइगी भारी ।। 108 ।।

योगी अपरिग्रही होता है, वह लोक-संग्रह की भावना से भी अपने आप को मुक्त रखकर अत्यन्त निष्काम भाव से भिक्षा माँग कर जीवन यापन करता है, उसकी भिक्षा-वृत्ति अक्षुण्ण रहती है, जिस प्रकार कामधेनु सर्वदा दूध देती रहती है, योगी भिक्षावृति पर निश्चिन्त रहता है तथा समस्त संसार उसकी खेती का रूप धारण कर अक्षय भण्डार बन जाता है । गुरूकृपा से जो कुछ वह भिक्षा माँग कर लाता है, प्रसाद के रूप में उसे ग्रहण कर वह जीवन धारण करता है । इस तरह निष्काम प्रवृत्ति, पूर्ण निवृत्ति का वरण कर योगी अपनी योगसाधना में तत्पर रह कर जीवन को सांसारिक सम्बन्धों और वस्तुओं के क्षणभंगुर भोगास्वाद से मुक्त रखकर अन्तकाल में, देहावसान के समय जीवन्मुक्त अवस्था परमपद, कैवल्य में स्थित हो जाता है ।

बड़े-बड़े कूले मोटे-मोटे पेट, नही रै पूता गुरू सौं भेट ।
षड़ षड़ काया निरमल नेत, भई रे पूता गुय सों भेट ।। 109 ।।

योगी का शरीर योगाग्नि में पक्व होकर सर्वथा निर्मल और स्वस्थ होता है । यदि उसके कूल्हे बड़े-बड़े हैं (कमर के पेडू के निकट की हड्डियां दृढ़ और अत्यधिक बड़ी हैं) और पेट बढ़ गया है, तोंद बढ़ी है तो यही समंझना चाहिए कि वह साधनारत. नही है, योगसाधक तो वह है, जिसकी काया निर्मल है जो क्षीणकाय है तथा जिसने नेति कर्म के द्वारा वात-पित्तकफ, त्रिदोष से छुटकारा पा लिया है अथवा जिसके नेत्र में तेज है । उस योगी को ही सद्गुरू का ज्ञानोपदेश प्राप्त हुआ है, यह समझना चाहिए ।

निरति न सुरति जोगं न भोगं, जुरा मरण नही तहाँ रोगं ।
गोरष बोलैं एकंकार, नहि तहँ बाचा ओअंकार ।। 110 ।।

परम शून्य, अलखनिरंजन के परमानुभव-पद में निवृत्ति, निर्विकल्प समाधि तथा सुरति, नादानुसन्धान और परमशिव का ध्यान आदि कुछ भी नही है, वहाँ न योग है, न भोग। उसमें जरा, मृत्यु और रोग का भी प्रभाव नही पड़ता । वहाँ वाणी की भी पहुँच नही है, उस निर्विकल्प समाधि से परे कैवल्य पद का वर्णन वाणी के द्वारा नही हो सकता और यह पद ओंकार-अ, उ, म- तीनों अक्षरों से सर्वथा परे सहज शून्य है । यह एकाकार कैवल्यपद अलख-निरंजन परमशिव की मौन अभिव्यक्ति मात्र है ।

उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन ।
सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुषम न अस्थूल ।। ।1। ।।

समस्त ब्रह्माण्डनायक अलख निरंजन परमात्मा सर्वव्यापक हैं, वह महान् से महान् और अणु से भी अणु है - ऐसा भी कहना उचित नहीं दीखता है, क्योंकि न तो वह सूक्ष्म है और न स्थूल ही है, वह सर्वाकार है, वह काल और देश से सर्वथा अतीत है । वह सार्वकालिक और सर्वाकार है, उस परब्रह्म विराट्पुरूष के लिए यही संकेतमात्र सम्भव है, वह कालातीत है, वह अकाल पुरूष है, वह जिस स्थिति में है, उसमें सूर्य के उदय और अस्त, दोनों का अभाव है, इसलिए रात और दिन की कालावधि से वह अतीत है । उसकी व्यापकता अथवा विस्तृति या सृष्टिमयता से उसकी आकृति को वाणी से व्यक्त नही किया जा सकता, वह शून्य है, मूल से भी परे है, उत्पत्ति-धर्मी है ही नहीं । वही (योगियों का) परमाराध्य अलख निरंजन है ।

ब्रह्मांड फूटिबा नगर सब लूटिबा, कोई न जांणवां भेवं ।
बदंत गोरषनाथ प्यंड दर जब घेरिबा, तब पकड़िबा पंच देवं ।। ।2 ।।

गोरखनाथ का वचन है कि मूलाधार में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा, चक्रों का भेदन करते हुए तथा नाड़ियों का प्राणायाम द्वारा मल-शोधन करते हुए योग-साधक को ब्रह्मरन्ध्र फोड़ना चाहिये, कुण्डलिनी का परमशिव से संगम

चाहिए, (शरीर के विभिन्न शक्ति-केन्द्रों) पर साधक का अधिकार हो जाता है, यह बड़े रहस्य का विषय है, इसका भेद कोई दूसरा नही जान पाता है । पाँचों भूत- छिति, जल, पावक, वायु और आकश -की योगिक धारणा करने से पाँचों देव सहज जीत लिये जाते हैं और मन पर भी योगी का सम्पूर्ण अधिकार हो जाता है ।

अहंकार तूटिबा निराकार फूटिबा, सोषीला गंग जमन का पानी ।
चंद सूरज दोऊ ...षि राषिला, कहो हो अवधूत तहांकी सहिनांणी ।। ।।3 ।।

जब योगी को अपनी पृथक् सत्ता के होने का अहंकार या बोध नही रह जाता तब शरीर में व्याप्त परब्रह्म अलख निरंजन, निराकार परमात्मा प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त हो उठता है, इड़ा (चन्द्र) नाड़ी और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का प्राणायाम के द्वारा सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी में विलय अथवा संगम कर कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार के अभिमुख कर उसे शिव के योग से, सम्मिलन से पूर्ण प्रबुद्ध क़र देने से योगी को सहज सिद्धिपद कैवल्य की अनुभूति हो जाती है । मूलाधार स्थित सूर्य सहस्रार स्थित कमलयोनि से द्रवित चन्द्रद्रव, चन्द्रामृत का शोषण करता है । योगी इस सूर्य को चन्द्रामृत का पान करके संरुद्ध करता है । विपरीतकरिणी मुद्रा के द्वारा नाभि में स्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुखी करता है और तालुमूल में स्थित चन्द्र को अधोमुखी कर स्वयं अमृत का पानकर जरा और मृत्यु से शरीर की रक्षा करता है । ऐसा होने पर अवधूत परब्रह्म शून्यस्थ अलखनिरंजन परमात्मा की प्रत्यक्षानुभूति में रमण करता है ।

चेता रे चेतिबा आपानरेतिबा, पंच की मेटिबा आसा ।
बदन्त गोरष सतिते सूरिवां, उनमाने मन मैं बासा ।। ।।4 ।।

इस सबदी में अमनस्कयोग की साधना पर प्रकाश डाला गया है । गोरखनाथ का कथन है कि वीरात्मा योगी साधक वह है, जो चंचल मन का सम्पूर्ण निग्रह अथवा नियंत्रण कर इन्द्रियजन्य विषय-भोगों के बन्धन से मुक्त होकर मन को विषयातीत अथवा उन्मन कर देता है । गोरखनाथ सावधान

करते हैं कि योगी का विषय-सुख की कामना नहीं करनी चाहिए। पंचेन्द्रियों से मिलने वाले विषय-सुख की आशा का परित्याग करने से ही सहज स्थिति की प्राप्ति होती है।

सिध क संकेत बुझिलै सूरा, गगन अस्थांनि बाइलै तूरा।
मीमा के मारग रोपीलै भांणं, उलट्या फूल कली मैं आणं।। ।।5।।

(योगेश्वर गोरखनाथ ने इस सबदी में योगीन्द्र मत्स्येन्द्रजी द्वारा प्रतिपादित हठयोग की साधना का संकेत मीनमार्ग कह कर किया है। गोरखनाथ जी का कथन है) हे शूर वीर योगसाधक, यह योगसिद्ध पुरूष का संकेत है, इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिये। हे साधक, शून्य गगन, ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत नाद का श्रवण कर कैवल्यपद में स्थित रहना चाहिए। नाभि में स्थित सूर्य (अग्नि) तालुमूल में द्रवित चन्द्रामृत का शोषण न करने पाये, इसके लिये विपरीतकरिणी मुद्रा का अभ्यास कर अमृत का पान करना चाहिए। जिस तरह मछली नदी की धारा के विरूद्ध चल देती है, किन्तु इसका पता किसी को नहीं चलता है, क्योंकि यह कार्य पानी के तल में होता है, इसलिये इस विपरीतकरिणी के द्वारा सूर्य को चन्द्र के सम्मुख करने की हठयोग की प्रक्रिया का पता दूसरे को नहीं लगता है। योग का मार्ग अत्यन्त गुप्त है। इस तरह यह मीन मार्ग कहा गया है। इससे फूल कली में बदल जाता है, योगाग्नि में शरीर को पक्व कर योगी चन्द्रामृत का पान कर नवयौवन प्राप्त करता है, नित्य स्वस्थ रहता है, वृद्धावस्था तरूणावस्था में परिणत हो जाती है।

बास बसंत तहां प्रगट्या षेलं। द्वादस अंगुल गगन घरि मेलं।
बदंत गोरख पूतां होइबा चिराई। न पडंत काया न जंम घरि जाई।। ।।6।।

गोरखनाथ का कथन है कि जो योगी ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा अनुभव से सुवासित हो जाता है, सौरंभित रहता है, उसके लिये (वहाँ) उस शून्य कैवल्य पद, परमात्मपद की ज्योति का दर्शन सहज हो जाता है। योगी प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मलशोधन कर द्वादस अंगुल तक नासिका

के बाहर प्रसरित प्राण (वायु) को सुषुम्ना के मध्यवर्ती मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट कर जन्ममृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है । वह योगाग्नि में शरीर को पक्व कर दीर्घ आयु का भोग करता है, न तो उसके शरीर का पात (नाश) होता है और न उसे यमराज के प्रकोप का शिकार होना पड़ता है ।

अंन का मास अनिल का हाड़ तत का बंद भषिबा बाई ।
बदंत गोरषनाथ पूता होइबा चिंराई न पड़ै घट न जंम घरि जाई ।। ।।7 ।।

इस सबदी में प्राण-साधना का निरूपण किया गया है । गोरखनाथ का योगसाधक को निर्देश है कि हे वत्स ! यह शरीर अन्न से बने माँस और वायु से बनी हड्डी से निर्मित है, इसमें निवास कर तत्व (ज्ञान और अमृत पान) का बन्ध देकर संजीवन प्रदान कर वायु (प्राण) की साधना करनी चाहिये, इससे प्राण शरीर में स्थिर रहता है, श्वास-प्रश्वास की क्षीणता-विच्छिन्नता से वह प्रभावित नहीं होता है । शरीर का इस प्राण-साधना से नाश, पतन नहीं होता है, वह स्वस्थ रहता है तथा यम (मृत्यु) का भय समाप्त हो जाता है ।

ऊं लोहा पीर । तांबा तकबीर ।
रूपा महंमद सोना षुदाई । दुहु बिचि दुनिया गोता षाई ।
हम तो निरालंभ बैठे देखत रहैं, ऐसा एक सुषन बाबा रतन हाजी कहै ।। ।।8 ।।

(गोरखनाथजी का इस सबदी में संकेत है कि) बाबा रतननाथजी सिद्धपुरूष की यह उक्ति है कि गुरू लोहे के समान है, उसके द्वारा उपदिष्ट योग की युक्ति ताँबे के समान है । मोहम्मद चाँदी के समान है और खुदा (परमात्मा) सोने के समान है । दुनिया के लोग जबतक सद्गुरू से योगज्ञान नहीं प्राप्त करते हैं, तब तक वे ईश्वरीय ज्ञान और ईश्वर को समझ नहीं पाते हैं । उनके मन में भ्रम बना रहता है, वे गोता खाते रहते हैं । पार तो सद्गुरू की कृपा से ही परमात्मज्ञान देने वाले और परमात्मा के सन्निधान में जीवात्मा हो पाता है । हम तो योगी हैं, अलख निरंजन परब्रह्म परमशिव का चिन्तन करते रहते हैं ।

कहणि सुहेली रहणि दुहेली कहणि रहणि बिन थोथी ।
पढया गुंण्या सूबा बिलाई षाया पंडित के हाथि रह गई पोथी ।। ।19 ।।

कहना या कोरा उपदेश देना या ज्ञान की बात करना सरल है, पर उसके अनुरूप आचरण करना या उस ज्ञान को जीवन में उतारना कठिन है, दुर्लभ है । यदि करनी नहीं है, आचरण नहीं है, तो कहना केवल बकवाद है, जिस तरह पिंजड़े में बन्द सुग्गा (शुक पक्षी) बड़े बड़े ज्ञान की बात रटता है पर सावधान न रहने पर पिंजड़े का द्वार खुलते ही बिलार का ग्रास बन जाता है, ठीक इसी तरह पण्डित के हाथ में ज्ञान की पोथी (शास्त्र) पड़ी रहती है, वह शब्द मात्र का उच्चारण करता रहता है, पर उसके अनुसार जीवन यापन न करने पर वह मृत्यु का ग्रास बन जाता है ।

कहणि सुहेली रहणि दुहेली बिन षायां गुड़ मीठा ।
खाई हींग कपूर बषांणै गोरष कहै सब झूठा ।। ।20 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि कहना या कोरा उपदेश देना आसान है पर उपदेश को अपने जीवन में धारण कर दूसरों के लिये आदर्श या उदाहरण प्रस्तुत करना कठिन है । यदि कोई व्यक्ति गुड़ को बिना खाये ही उसके मीठे स्वाद का बखान करता है तो यह उसका दूसरों को धोखा देना है, यह बात तो ऐसी ही है कि कोई खाय हींग और कहता फिरे कि मैंने कपूर का रसास्वाद लिया है । इसी तरह जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान की बात करता है, योग का उपदेश करता है और रहता है सांसारिक बन्धन में आसक्त विषयी पुरूष की तरह या भोग में रचा-पचा रहता है, उसका कहना प्रपंचमात्र है ।

मूरिष सभान बैसिबा अवधू पंडित सों न करिबा बादं ।
राजा संग्रामे झूझ न करबा हेलै न षोइबा नादं ।। ।21 ।।

हे योगी, मूर्खो की सभा में कभी नहीं बैठना चाहिये, जो व्यक्ति अपने आप को पण्डित कहता है तथा पोथियों को पढ़-पढ़ कर ज्ञान तो बढ़ा लिया है पर जिसने उसे जीवन में अनुभूत नहीं किया है, उससे वाद-प्रतिवाद

नही करना चाहिये, हे योगी, राजा के साथ युद्ध या उसके विरोध में संलग्न नहीं रहना चाहिए । कभी अनाहतनाद-श्रवण से प्राप्त चित्त की ब्रह्मरन्ध्र में लयावस्था की अवहेलना नही करनी चाहिए, परमशिव के चिन्तन में सदा लगे रहना चाहिए ।

हिरदा का भाव हाथ मैं जाणिये यहु कलि आई षोटी ।
बदंत गोरष सुणौं रे अवधू करवै होई सु निकसै टोटी ।। ।22 ।।

गोरखनाथ का वचन है कि अवधूत योगी, सुनो, यह भयानक कलिकाल है, इसमें असत्य व्यवहार-अनाचार और मिथ्याचरण की ही प्रबलता होती है । इस कलिकाल में जिसके हृदय में जो भाव रहता है, वह उसके हाथ (कर्म) से प्रकट हो जाता है । यह निर्विवाद है कि जलपात्र (करवे) में जो द्रव (जल या अन्य पेय) रहता है, वही उसमें लगी टोटी से बाहर आ जाता है, करवा में विषैला द्रव हो तो निर्मल पेयजल नही आ सकता, इसलिये योगी को तटस्थ हो कर साधना में तत्पर रहना चाहिए ।

जल कै संजमि अटल अकास अन कै संजमि जोति प्रकास ।
पवनां संजमि लागे बंध, व्यंद कै संजमि थिर ह्वै कंध ।। ।23 ।।

जल का संयम करने से आकाश, (ब्रह्मरन्ध्र) में योगसाधक की सुदृढ़ स्थिति होती है तथा अन्न का संयम करने से ज्योति प्रकाशित होती है । प्राण का संरोध अथवा संयम करने से, (प्राणायाम करने से) नाड़ियों का मल-शोधन होता है और शरीर के नवद्वारों को अवरूद्ध कर योगी प्राण के बल से निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर परमात्मा का साक्षात्कार करता है । इसी तरह बिन्दु (वीर्य) के संयम से वह मृत्यु-भय से सर्वथा मुक्त हो जाता है । उसका शरीर स्थिरं और स्वस्थ रहता है, शरीर पात नही होता ।

सबद बिंदौ रे अवधू सब बिंदौ रे अवधू सबद बिंदौ थांनमांन सब धंधा ।
आतमांमधे प्रमातमा (परमात्मा) दीसै ज्यौं जल मधे चंदा ।। ।24 ।।

हे अवधूत, शब्द की प्राप्ति करो, शब्द ही सारतत्व है, अनवरत अनाहतनाद-श्रवण से परमतत्व का रहस्य समझ में आता है, यही अन्तरंग साधना का मूल है, साधना के बाह्य उपकरण, स्थान आदि में मन को उलझाने से तत्व की प्राप्ति दुर्लभ और अगम हो जाती है । आत्मा में परमात्मा की साक्षात् अभिव्यक्ति है, यह परमात्मा आत्मा में उसी तरह प्रतिभासित है, जिस तरह जल के मध्य में चन्द्रमा प्रतिबिम्बित होता है ।

आसण दिढ़ अहार दिढ़ जे न्यंद्रा दिढ़ होई ।
गोरष कहै सुणौं रे पूता मरै न बूढ़ा होई ।। ।25 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि हे वत्स, शिष्य, योगी को युक्त आहार-विहार से ही योग-साधना में सिद्धि सुलभ होती है । यदि वह अपने आसन में दृढ़ है, अल्प मात्रा में शरीर के निर्वाह-मात्र के लिये भोजन लेता है और निद्रा को वश में रखता है, तो वह बुढ़ापा का शिकार नहीं बनता और दीर्घायु प्राप्त करता है, उसे जरा और मृत्यु का भय आतंकित नहीं करता है ।

कोई न्यंदै कोई ब्यंदै कोई करै हमारी आसा ।
गोरष कहै सुणौं रे अवधू यहु पंथ षरा उदासा ।। ।26 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि हे अवधूत, सुनो, हमारा योग-पंथ, सिद्धामृत मार्ग अनुपम है, यह पूर्ण वैराग्य, और सांसारिक प्रपंचों से सर्वथा उदासीन और तटस्थ योगमार्ग है । कोई हमारे मार्ग की निन्दा करता है, कोई हमारे मार्ग की प्रशंसा करता है, तो कोई हमसे वरदान और सिद्धियों को पाना चाहता है । किन्तु हमारा योगमार्ग तो तटस्थता, अनासक्ति और पूर्ण वैराग्य का मार्ग है । यह न निन्दा से प्रभावित होता है न स्तुति से ।

इक लष सीगणि नव लष बांन । बेध्या मीन गगन अस्थांन ।
बेध्या मीन गगन कै साथ । सति सति भाषंत श्रीगोरषनाथ ।। ।27 ।।

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित लक्ष्य, शून्यस्थ कैवल्य पद का भेदन अमित कठिन है, मीन मार्ग, योगी मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा निर्धारित लक्ष्य उतना ही दुर्गम है, जितना एक लाख प्रत्यंचाओं पर नव लाख (असंख्य) बाण के संधान से गगन (उच्चातिउच्चस्थान) में प्रतिष्ठित मीन (लक्ष्य) का भेदन कठिन है । गोरखनाथ का यह सत्य वचन है कि हठयोग की साधना द्वारा ब्रह्मरन्ध्र अथवा शून्य गगन में स्थित परमशिव अलख-निरंजन अथवा पूर्णतम कैवल्य पद की प्राप्ति सहज हो गयी है ।

तूटी डोरी रस कस बहै । उनमनि लागा अस्थिर रहै ।
उनमनि लागा होइ अनंद । तूटी डोरी बिनसै कंद ।। ।28 ।।

योगसाधना की परमफलरूपा सिद्धि योग के अन्तिम अंग 'समाधि' में ही पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है, यदि समाधि टूट जाती है, तो सद्वस्तु-परमात्मतत्व का रस ध्यानावस्था से बह जाता है, और साधक दिव्य (रसौ वे सः) रूपी सच्चिदानन्दधन के आस्वादन से वंचित हो जाता है । मन के अमनस्क अथवा उन्मन होने से-मन के ब्रह्मरन्ध्र में विलय से प्राप्त समाधि (उन्मनी अवस्था की समाधि) में स्थिरता होती है, इस तरह की उन्मनी समाधि से योगसाधक परमानन्द की प्राप्ति करता है । समाधि टूट जाने पर योगसाधना का स्वारस्य नष्ट हो जाता है और शरीर का पतन (अवसान) हो जाता है ।

सबद बिन्दौ अवधू सबद बिन्दौ सबदे सीझंत काया ।
निनांणवै कोड़ि राजा मस्तक मुड़ाइले परजा का अंत न पाया ।। ।29 ।।

हे अवधूत । शब्द की प्राप्ति अथवा परमानुभूति करनी चाहिये । शब्द की प्राप्ति अर्थात् अनाहत नाद के अनुसंधान से शरीर की समस्त नाड़ियों में प्राणामृत का संचार होता है । शब्द ब्रह्म परमात्मा में विलीन चित्तवृत्ति (उन्मनी समाधि) में योगी सिद्ध देह की प्राप्ति करता है, उसका शरीर अमृत के रसायन से परिपक्व हो उठता है, उसे कायसाधन की सिद्धि होती है । इस कायसिद्धि और अनाहत नाद के स्वारस्य की परमानुभूति के लिये

निन्यानबे करोड़ (असंख्य) ऐश्वर्यशाली राजाओं ने योगमार्ग की दीक्षा ग्रहण की तथा कितने लोगों ने इस मार्ग का अनुशीलन किया । यह कहना असम्भव है ।

षरतर पवनां रहै निरंतरि । महारस सीझै काया अभिअंतरि ।
गोरख कहै अम्है चंचल ग्रहिया । सिव सक्ती ले निजघरि रहिया ।। ।30.।।

प्राणायाम, बन्ध (मूलबन्ध, उड्डियान और जालन्धर बन्ध) तथा मुद्रा के अभ्यास से शरीर में प्राण स्थिर हो जाता है । शरीर में प्राण के स्थिर होने पर मन की चंचलता का सहज निरोध हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने शरीर में महारस की सिद्धि कर मन को अपने वश में कर लिया, महाशक्ति कुण्डलिनी को जगाकर उसे सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित कर परमशिव से उसका सामरस्य, अभिन्नत्व सम्पादित कर मैं अपने आप में, स्वरूप में, अलख निरंजन (शून्य) कैवल्य पद में, स्थित हो गया ।

पेट कि अगनि बिबरजित दिष्टि की अगनि षाया ।
ग्यांन गुरू का आगैं ही होता पणि बिरलै अवधू षांया ।। ।31 ।।

हे अवधूत । मैंने (गोरखनाथ ने) क्षुधा, भूख को नियंत्रित किया, जठराग्नि की वृद्धि नहीं होने दी । मैंने भ्रूमध्य में स्थित ज्ञान-नेत्र की अग्नि-ज्योति से, ज्ञान की दीप्ति से मायारूपी अविद्या-अन्धकार का अन्त कर दिया और सद्विवेकपूर्वक परमात्मा में स्वस्थ होकर योगसिद्धि प्राप्त कर ली। यह सद्ज्ञान ही गुरूज्ञान है, यह ज्ञान पहले से ही प्राप्त रहता है पर इसकी प्रतीति सबको नहीं हो पाती, किसी बिरले साधक अथवा योग-साधना में रत प्राणी को गुरूज्ञान का सद्बोध उपलब्ध होता है ।

अगम अगोचर रहै निहकांम । भंवर गुफा नांही बिसराम ।
जुगति न जांणैं जागैं राति । मन काहू कै न आवै हाथि ।। ।32 ।।

परमात्मा - परमशिव अलख निरंजन परब्रह्म अगम है, यह अगोचर है, इन्द्रियों के द्वारा इसकी अनुभूति अथवा साक्षात्कार सम्भव नही है । जब

तक कुण्डलिनी को जगाते हुए तथा प्राण को सुषुम्ना की मध्यनाड़ी (बह्मनाड़ी) में स्थापित अथवा स्थिर करते हुए षट्चक्र का भेदन कर उन्मनी समाधि के द्वारा जीवात्मा, योगसाधक ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर विश्राम नहीं करता स्थिर नहीं होता, तबतक उसकी साधना निष्फल है, केवल रात भर जागते हुए साधना में रत रहने से सिद्धि नहीं मिल सकती, जबतक मन उन्मन अथवा ऊर्ध्वमुख होकर स्थिर और विषयातीत नहीं होता, तबतक अमनस्कता अथवा निर्विकल्पसमाधि की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

नव नाड़ी बहोतरि कोठां । ए अष्टांग सब झूठा ।
कूंची ताली सुषमन करै उलटि जिभ्या ले तालू धरै ।। ।33 ।।

योग की साधना का चरम-परम फल आभ्यन्तरिक अनुभूति है, जो ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के, अलख निरंजन ब्रह्म के साक्षात्कार और सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृतपान के आधारभूत है । शरीर में कितनी नाड़ियाँ हैं, कितने कोठे हैं, अष्टांगयोग-साधना के अन्तर्गत इन विषयों के ज्ञान से किसी भी तरह की यौगिक सिद्धि की उपलब्धि नहीं हो सकती । मूलाधारस्थित कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा इड़ा-पिंगला नाड़ियों के प्राण को सुषुम्ना में स्थित करते हुए षट्चक्रों के भेदन द्वारा योगी को ब्रह्मरन्ध्र में चित्तवृत्ति निरूद्ध कर परमशिव से आत्मा का सामरस्य स्थापित करना चाहिए तथा विपरीतकरिणी मुद्रा के द्वारा नाभिस्थित सूर्य से सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत को अमृतरसायन को बचाकर जिह्वा को उलट कर तालुमूल में स्थित कर स्वयं उस (अमृत) का पान कर योगी को सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये ।

पंडित ग्यांन मरौ क्या झूझि । औरे लेहु परम पद बूझि ।
आसण पवन उपद्रह करैं । निसिदिन आरम्भ पचि पचि मरैं ।। ।34 ।।

शास्त्रों में वर्णित ज्ञान केवल सिद्धान्त मात्र हैं, मात्र उन्हीं पर निर्भर रहकर व्यर्थ शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) में उलझे रहने से अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान महाज्ञान मिलना कठिन है, यह कैवल्यपद (परमात्मपद) आभ्यन्तर अनुभूतिगम्य है । बाह्य साधन, आसनों और प्राणायाम के अभ्यास

तबतक व्यर्थ हैं, जबतक उनके अभ्यास से योगी आत्मज्ञान के द्वारा परमपद की प्राप्ति की प्रक्रिया में अग्रसर नहीं होता । इस बाह्य साधन से साधक सदा आरम्भ में ही अटका रहेगा, वह परमात्मा की प्राप्ति नहीं कर सकता ।

उनमन जोगी दसवैं द्वार । नाद ब्यंद ले धूं धूं कार ।
दसवे द्वारे देइ कपाट । गोरख षोजी औरै बाट ।। ।35 ।।

योग-साधना की सिद्धि योगी के लिए दसवें द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) में समाधिस्थ होकर, मन को उन्मन कर अथवा उन्मनी समाधि में नाद-बिन्दु को एकीभूत अथवा समरस कर अनाहतनाद, महाशब्द का श्रवण है । बिन्दु साक्षात् शिवस्वरूप है । नाद से प्राण की उत्पत्ति होती है । पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित कर देने से नाद-बिन्दु, दोनों की स्थिरता होती है । बिन्दु (वीर्य) का ऊर्ध्वगमन, ब्रह्मरन्ध्र में (उसका वहाँ) पहुँचना तथा नाद का उसमें गर्जन ही योग-साधना की पूर्णता है । (गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने ब्रह्मरन्ध्र में नाद बिन्दु के सामरस्य के परे ब्रह्मरन्ध्र-दसवें द्वार को बन्द कर अलख निरंजन परमशिव की खोज की और उनका सहज साक्षात्कार लाभ किया ।

आरम्भ जोगी कथीला एकसार । षिणषिण जोगी करै सरीर विचार ।
तलबल व्यंद धरिबा एक तोल । तब जांणिबा जोगी आरंभ का बोल ।36

(हठयोग की साधना में) आरम्भ योगी वह है, जो सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए बिना किसी व्यतिक्रम के एकरस होकर साधन और योग के अभ्यास में तत्पर रहता है, आरम्भ योगी अपनी दृष्टि शरीर के प्रत्येक अंग पर केन्द्रित रख कर उसकी नीरोगता और कार्य की शक्ति पर प्रत्येक क्षण विचार करता रहता है, इसके साथ-ही-साथ आरम्भ योगी वीर्य की पूर्ण रूप से रक्षा करता है, क्योंकि वह समझता है कि बिन्दुपात से ही शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है । ऐसा होने पर ही यह बात समझनी चाहिये कि योगसाधक घट-साधन अथवा काययोग में प्रवृत्त है ।

घट ही रहिबा मन न जाई दूर । अहनिस पीवै जोगी बारुणी सूर ।
स्वाद विस्वाद बाई कालछीन । जांनिबा जोगी घटकालछीन ।। ।37 ।।

काययोग अथवा घट-दशा की विद्यमानता अथवा उत्पत्ति या आगम योगी में तब समझना चाहिये, जब वह पिण्ड, शरीर में ही ब्रह्माण्ड की शक्तियों और विस्तार का अनुभव करता हो तथा उसका मन बाह्य विषयों में न भटककर स्थिर हो गया हो । ऐसा योगी शरीर में स्थिर कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाते हुए तथा षट्चक्रों के भेदन द्वारा प्राण को सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित करते हुए सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत, अमरवारुणी का रात-दिन निरन्तर आस्वादन करता है । योगी कुम्भक की विधि से प्राण को संयमित कर सुख-दुख, स्वाद-विस्वाद आदि द्वन्द्वों से परे होकर परमानन्द में तल्लीन होकर परब्रह्मपरमात्मा का चिन्तन करता है । उसकी यह स्थिति उसकी घट अवस्था के लक्षणों की उपस्थिति सूचित करती है ।

परचय जोगी उनमन षेला । अहनिसि इंछया करै देवता स्यूं मेला ।
षिन षिन जोगी नानां रूप । तब जानिबा जोगी परचय सरूप ।। ।38 ।।

परिचय योगी मन और पवन की साधना कर उन्मनी समाधि में लीन होकर अमनस्क योग के अभ्यास से सच्चिदानन्द स्वरूप परमशिव, अलख निरंजन की अभिन्नता अथवा तादात्म्य लाभ करता है । वह अष्टसिद्धियों पर ध्यान, धारणा, और समाधि की साधना के द्वारा विजय प्राप्त कर लेता है, कभी सूक्ष्म, लघु रूप धारण कर अन्य लोगों की दृष्टि से अदृश्य रहता है तो कभी आकाश मार्ग से लोकलोकान्तर में भ्रमण करता है । वह ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मन कर देता है, स्थिर कर देता है । यही परिचय योगी का लक्षण है ।

निसपती जोगी जानिबा कैसा । अगनी पांणीं लोहामांनै जैसा ।
राजा परजा समि करि देष । तब जांनिबा जोगी निसपति का भेष ।। ।39 ।।

आरम्भ योगी, घट योगी और परिचय योगी की दशा से भी उत्कृष्ट दशा निष्पत्ति-प्राप्त योगी की होती है । जिस तरह लोहा को अग्नि से

तपा कर उसे पानी में डालकर निर्मल अथवा शुद्ध किया जाता है, ठीक उसी तरह अनेकानेक कठोर योगसाधना के द्वारा योगी अपने शरीर, नाड़ियों, प्राण को शुद्ध करता है, योगाग्नि से पक्व अथवा सिद्ध देह की प्राप्ति कर उन्मनी समाधि की सिद्धि के द्वारा निष्पत्ति-कैवल्य पद की अनुभूति करता है तथा प्रत्येक प्राणी में आत्मभाव रख कर समदृष्टि से सम्पन्न रहता है । इस तरह का योगी ही निष्पत्ति-प्राप्त कहा जाता है ।

अवधू षारै षिरै षाटै झरै मीठै उपजै रोंग ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू अंनै पांणी जोग ।। ।40 ।।

हे अवधूत । योगसाधना की सिद्धि के लिये सात्विक आहार का सेवन बड़ा ही उपयोगी होता है । भोजन के पदार्थो में नमकीन का सेवन नही करना चाहिए, अधिक नमक का सेवन करने से वीर्य नष्ट हो जाता है और यदि खटाई अथवा खट्टे पदार्थ का उपयोग किया जाता है तो वीर्य पतला और शक्तिहीन रहता है, इसी तरह अधिकाधिक मीठे पदार्थो का सेवन आरोग्य का नाश करता है और शरीर में अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । हे अवधूत । सात्विक आहार में तो केवल अन्न से सिद्ध पदार्थ और जल ही पर्याप्त है, जहाँ तक हो सके, सादा भोजन ही करना चाहिए ।

बजरी करंतां अमरी राषै अमरि करंतां बाई ।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै ते गोरष का गुरभाई ।। ।41 ।।

योगी के लिए ही नहीं, भोगी के लिये भी यह आवश्यक है कि वीर्य की रक्षा करें, शरीर वीर्य के स्थिर रहने पर स्वस्थ रहता है, क्षीण नहीं होने पाता है । वीर्य की रक्षा के लिए वज्रोली मुद्रा और उसकी सहायिका अमरोली मुद्रा का अभ्यास किया जाता है । वज्रोली और अमरोली का अभ्यास करते हुए योगसाधक को अपानवायु को उर्ध्वगामी करना चाहिये तथा प्राण को सुषुम्ना में स्थापित कर पवन-विजय का अभ्यास करना चाहिए । इससे प्राण स्थिर होता है तथा विन्दुपात नहीं होता है, साधक का वीर्य शरीर में स्थिर रहता है । गोरखनाथ का वचन है कि स्त्री के सहवास-काल में जो

योगी वीर्यस्खलित न होने देकर स्वयं उसको ऊर्ध्वस्थ रखता है और प्राण का संयमन करता है, वह महायोगी है, मेरा गुरूभाई है अथवा योगाभ्यास में मेरे समकक्ष है ।

भग मुषि ब्यंद अगनि·मुषि पारा। जो राषै सो गुरू हमारा ।। ।42 ।।

वह प्राणी महान् योगी है, जो भोगकाल में अपने वीर्य को स्खलित न होने देकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर सुषुम्ना में प्राण को स्थिर कर शरीर को क्षीण अथवा नष्ट होने से बचा लेता है । जिस तरह अग्नि के ताप से पारद की रक्षा कठिन है, उसी तरह रमणोन्मुख प्राणी का वीर्य-संयमन कठिन है पर जो वीर्य की रक्षा कर लेता है, वह योगसिद्ध साक्षात् गुरू है ।

जिभ्या स्वाद तत तन षोजै हेला करै गुरू बाचा ।
अगनि बिहूँणां बंध न लागै ढलकि जाइ रस काचा ।। ।43 ।।

जो योगी जीभ के स्वाद के लिए अनेक स्वादिष्ट, नमकीन और खट्टे भोज्य पदार्थ का सेवन करता है और गुरू के उपदेश की उपेक्षा कर मनमाने ढंग से साधना करता है, वह कभी यौगिक सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है । जबतक शरीर को योगाग्नि में पक्व कर पुष्ट नहीं किया जाता है, तबतक वीर्य क्षीण रहता है, इन्द्रियाँ चंचल रहती हैं और कामवासना साधक को सताती रहती है । प्रत्येक क्षण पतन की सम्भावना बनी रहती है और क्षीण वीर्य शरीर में नहीं ठहर पाता है । वह ढलक जाता है, बाहर निकल जाता है, शरीर निर्बल हो जाता है ।

अवधू ईस्वर हमारै चेला भणींजै मछींद्र बोलिये नाती ।
निगुरी पिरथी परलै जाती तार्थे हम उल्टी थापना थापी ।। ।44 ।।

हे अवधूत । योगमहाज्ञान, जो शिवप्रदत्त कहा गया है, मूल-स्वरूप (शिवगोरक्ष-रूप) मुझसे ही प्रकट है । परमाराध्य ईश्वर, जो योगज्ञान के प्रतिपाद्य हैं, इस दृष्टि से हमारे ही शिष्य हैं और उनसे महायोगी (हमारे

गुरू) मत्स्येन्द्रनाथ ने महायोगज्ञान श्रवण किया था, उन्हें हमारा पौत्र शिष्य स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है । मैंने गुरू की गरिमा सुरक्षित और मर्यादित रखने के लिये ही गोरक्षनाथ के रूप में प्रकट होकर मत्स्येन्द्रनाथ को अपना पथप्रदर्शक गुरू बनाया, यदि मैं ऐसा नहीं करता तो गुरूतत्व से रहित पृथ्वी का नाश हो गया होता, इसलिये हमने गुरू होकर भी शिष्य का वेश अपना कर उलटा (विपरीत) अनुक्रम स्थापित किया ।

भरि भरि षाइ ढरि ढरि जाइ । जोग नहीं पूता बड़ी बलाइ ।
संजंम होइ बाइ संग्रहौ । इस विधि अकल पुरिस कौ गहौ ।। ।45 ।।

योगसाधक को युक्ताहार-विहार का सेवन करना चाहिए । भर-भर पेट भोजन करने से कामवासना की तीव्रता बढ़ जाती है, वीर्य का नाश होता है, यह योग नहीं है, हे वत्स । यह तो योगसाधना के नाम पर बला है, व्यर्थ का दिखावा और प्रपंच है । योगी के लिये संयम बहुत आवश्यक है, आहार-विहार में संयम रखकर प्राणायाम करने से नाड़ियों का मलशोधन होता है, मन की चंचलता मिट जाती है, वह उन्मन हो जाता है, कुण्डलिनी शक्ति जाग जाती है और योगसाधक षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार में अकल-निष्कल पर परब्रह्म शिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

षयि भी मरिये अणषयि भी मरिये । गोरष कहैं पूता संजमि ही तरिये ।
मधि निरंतर कीजै बास । निहचल मनुवा थिर होइ सास ।। ।46 ।।

योगी साधक के लिये अत्यधिक शरीर पोषण और अत्यधिक व्रत उपवास दोनों ही हानिकर है उसे मध्यम मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर है, उसे स्वल्पाहार से काम चलाना चाहिए, इस संयम के फलस्वरूप वह साधना में सिद्धि प्राप्त कर लेगा और परमशिव का साक्षात्कार कर कैवल्य पद में स्थित हो जायगा, उसका मन स्थिर रहेगा तथा शरीर में प्राण भी स्थिर रहेगा, प्राण के क्षीण न होने पर वह मुद्राबन्ध, आसन, कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन की साधना में पारंगत रहेगा ।

पवन ही जोग पवन ही भोग। पवन ही हरै छतीसौं रोग।
या पवन कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ।। ।47 ।।

योगसाधना का एक प्रमुख अंग पवन का संयम है। प्राणायाम के साधन से योग-भोग दोनों में निपुणता और सिद्धि मिलती है। जिसका शरीर प्राण का संयम करने से स्वस्थ और निर्विकार रहता है। उसके छतीसों (सारे) रोग नष्ट हो जाते हैं। जो साधक प्राण को अपने शरीर में स्थिर रखता है और इसका रहस्य समझ लेता है, वह सिद्ध हो जाता है, वह सृष्टि करने की शक्ति रखता है और शिव स्वरूप हो जाता है।

ब्यंद हीं जोग ब्यंद ही भोग। ब्यंद ही हरै चौसठि रोग।
या बिंद का कोई जांणै भेव। सो आपैं करता आपैं देव ।। ।48 ।।

योगी साधक के लिए वीर्य (बिन्दु) की रक्षा अनिवार्य है। वीर्य रक्षा से योग और भोग दोनों की सिद्धि होती है। वीर्य के पुष्ट होने पर शरीर की शक्ति बनी रहती है और वह सदा स्वस्थ और नीरोग रहता है, उसके सभी (चौसठों) रोग नष्ट हो जाते हैं। जो योगी या साधक वीर्य का रहस्य समझ लेता है, वह स्वयं सृष्टि कर सकता है, ब्रह्म है और स्वरूप में स्थित परब्रह्म परमात्मा में अभिन्न हो जाता है।

साच का सबद सोना का रेख। निगुरां कौं चाणक सगुरा कौं उपदेश।
गुर का मुंड्या गुंण मैं रहै। निगुरा भ्रमै औगुण गहै ।। ।49 ।।

सत्य शब्द सत्स्वरूप में स्थिति का मूल आधार है। सत्य की साधना खरा सोना है, जो समस्त कसौटियों, परीक्षाओं में धूमिल नहीं होता है। यह सत्य शब्द उन्हीं को प्राप्त होता है अथवा इसको धारण करने के वे ही अधिकारी हैं, जो गुरू की कृपा - दृष्टि से कृतार्थ और अनुगृहीत हैं। जो व्यक्ति गुरू से हीन होते हैं, निगुरे होते हैं, वे चालाकी से अपनी सिद्धि का ढोंग करते रहते हैं। जिस व्यक्ति को गुरू, ज्ञाननिष्ठ महायोगी अपनी शरण में स्वीकार कर दीक्षा प्रदान करते हैं, वही वास्तव में सत्यज्ञान का

अधिकारी है और साधना - सम्बन्धी समस्त गुणों को ग्रहण कर लेता है । जो निगुरे हैं वे अवगुण ग्रहण करते हैं और भ्रमित होते हैं ।

अवधू बूझना ते भूलना नही अनबूझ मग हारै ।
सूंने जंगल भटकत फिरहीं, मारि लिहीं बटमारैं ।। ।50 ।।

हे अवधूत । गुरूपदेश जब अच्छी तरह समझ जाये, तब फिर किसी भी स्थिति में इस गुरूज्ञान और इसके प्रभाव की विस्मृति न होने पाये, इस बात का ध्यान रखना चाहिए । जो साधक इस महान् गुरूज्ञान को भूल जाता है, वह साधना के पथ में गिर पड़ता है । यह संसार एक भयानक जंगल है, इसमें काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह आदि बटमार, डाकू साधना-निधि को लूट लेने की ताक में हैं, वे अवसर पाते ही टूट पड़ेंगे और उसका सर्वस्व अपहरण कर लेंगे, जो गुरूज्ञान को भूलकर इस संसार में भटकता फिर रहा है ।

गुरू की बाचा षोजैं नाहीं, अहंकारी अहंकार करै ।
षोजी जीवैं षोजि गुरू कौं, अहंकारी का प्यंड परै ।। ।51 ।।

योगसाधक को अहंकार से दूर रहना चाहिए । जब तक साधक गुरूपदेश और गुरू के बचन के अनुसार आत्मतत्व का चिन्तन नहीं करता है, तबतक वह अज्ञान में भटकता है और अहंकार करता है कि मैं अध्यात्मतत्व का रहस्य समझ गया । जो आत्मा के खोजी हैं, वे गुरू की खोज करते हैं, क्योंकि बिना गुरू की प्राप्ति कें परमार्थ-सिद्धि नहीं हो सकती । अहंकारी अज्ञानी है, वह आत्मज्ञान के अभाव में विनाश को प्राप्त है उसका शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है ।

यंद्री का लड़बड़ा जिभ्या का फूहड़ा । गोरष कहै ते पर्तषि चूहड़ा ।
काछ का जती मुष का सती । सो सत्पुरूष उतमो कथी ।। ।52 ।।

जो व्यक्ति शिश्नइन्द्रिय पर नियंत्रण नहीं रखता और अपनी जिह्वा को असंयमित वाणी और असत्यभाषण तथा अशिष्ट और व्यर्थ वचनों से दूषित करता है, वह तो प्रत्यक्ष भंगी है, विषयवासना के मैल से उसकी चित्तवृत्तियाँ ढँकी रहती हैं । गोरखनाथ का कथन है कि जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन करता है, और जिसकी वाणी में सत्य होता है, वही सत्पुरूष उत्तम कहा जाता है ।

अवधू मन चंगा तो कठौती ही गंगा । वांध्या मेल्हा तो जगत्र चेला ।
बदंत गोरष सति सरूप । तत विचारैं ते रेष न रूप ।। ।53 ।।

हे अवधूत । मन के शुद्ध और संयमित तथा पवित्र विचारों से सबल होने पर कठवत का जल भी गंगाजल है । माया ही मन को अपवित्र बनाती है, वह निर्मल नहीं हो पाता और बन्धन में बँधा रहता है, यदि इस तरह मायाबद्ध दूषित मन को सद्विचार और सदाचार के द्वारा मुक्त कर लिया जाय तो व्यक्ति अपने आत्मस्वरूप में स्थित हो जायेगा, और तीनों लोक, आकश,पाताल और पृथ्वी के समस्त प्राणी उससे सद्ज्ञान प्राप्त करेंगे । गोरखनाथ का कथन है कि मन का दोषमुक्त होकर शुद्ध हो जाना ही सत्स्वरूप में जीवात्मा का अवस्थान है । इस सत्स्वरूप अथवा कैवल्य का विचार करते-करते प्राणी रूप-रेखा, रूप और नाम की उपाधि से सर्वथा परे होकर अपने आप (स्वयं) में स्वस्थ हो जाता है ।

सीषि सीषि बिसाह्या बुरा । सुपिनैं मैं धन पाया पड़ा ।
परषि परषि ले आगैं धरा । नाथ कहै पूता षोटा न षरा ।। ।54 ।।

जिस तरह स्वप्न में द्रष्टा धन की राशि देखता है और द्रव्य उसके नेत्रों के सामने एकत्र रहता है, पर वह असत् हैं, आँख खुलने पर अदृश्य हो जाता है, व्यर्थ सिद्ध होता है, ठीक उसी तरह ज्ञाननेत्र के खुल जाने पर, शास्त्र और ग्रन्थादि के शब्दों का कोई महत्व नहीं रहता, क्योंकि यह वस्तुतत्व है ही नहीं, न तो यह सत्य है और न खोटा ही है, क्योंकि वास्तविक ज्ञान (धन) है ही नहीं । ग्रन्थों में वर्णित ज्ञान के शब्द तो एक निकम्मा सौदा है, व्यर्थ की खरीद हैं ।

आओ देवी बैसो । द्वादिस अंगुल पैसो ।
पैसत पैसत होइ सुष । तव जनम मरन का जाइ दुष ।। ।55 ।।

(गोरखनाथ जी का कथन है,) हे देवि कुण्डलिनी। द्वादस अंगुल प्राणवायु को वहन करने वाली सुषुम्ना नाड़ी में अपने जागरत रूप में प्रवेश करके चक्रों के स्थान से ऊर्ध्वमुख होते हुए सहस्रार में परमशिव में मिल जाओ । इस मिलन से परमानन्द की प्राप्ति होती है और योगी (जीवात्मा) साधना में सिद्धि लाभ कर आवागमन, जन्म लेने और पार्थिव शरीर के मरने, के बन्धन से मुक्त होकर परमशून्य कैवल्यपद गोक्षस्वरूप अलखनिरंजन तत्व में स्वस्थ हो जाता है ।

स्वामी काची बाई काचा जिंद । काची काया काचा बिंद ।
क्यंकरि पाकै क्यूंकरि सीझै । काची अगनी नीर न षीजै ।। ।56 ।।

योग साधना में काया-साधना अनिवार्य है । यदि काया कच्ची है (योगाग्नि में तपाकर सिद्ध नहीं की गई है) तो प्राण वायु भी कच्ची रह जायेगी और बिन्दु (वीर्य) भी कच्चा रहेगा और योगी का जीवन भी कच्चा रह जायेगा । योगाग्नि में पक जाने पर शरीर सुदृढ़ होता है । शरीर में योगाग्नि के सिद्ध होने पर ही शरीर, वीर्य, जीवन और प्राण की स्थिरता होती है । जब तक योगाग्नि के द्वारा इन्हें पक्व नहीं किया जाता, तबतक साधन में लाभ नहीं मिलेगा, कच्ची अग्नि से पानी नहीं पक सकता, सिद्ध नहीं हो सकता ।

तौ देबी पाकी बाई पाका जिंद । पाकी काया पाका बिंद ।
ब्रह्मअगनि अषंडित बलै । पाका अगनी नीर परजलै ।। ।57 ।।

हे महाशक्ति कुण्डलिनी देवि । हठयोग की साधना से प्राण शुद्ध हो जाता है, जीवन पवित्र हो जाता है, शरीर नीरोग और वीर्य पुष्ट हो जाता है । इन चारों की पुष्टि अथवा परिपक्वता का आधार है निरन्तर ब्रह्माग्नि अथवा योगाग्नि का शरीर के भीतर प्रज्वलित रहना । यही योगाग्नि ही

ज्ञानाग्नि है । सूर्य और चन्द्र, प्राण और अपान वायु के संयोग से इड़ा-पिंगला की भट्टी में योगाग्नि प्रज्वलित होती है, इसके तेज से हमारे जीवन का रस, वीर्य परिपक्व होता है और हमें कायसाधनयोग में सिद्धि सुलभ होती है ।

सोवत आडां ऊभां ठाढां । अगनी ब्यंद न बाई ।
निस्चल आसन पवनां ध्यानं । अगनी ब्यंद न जाई ।। ।58 ।।

यदि योगसाधक तिरछा सोता है, सीधा सामान्य अवस्था में खड़ा होता है, तब वह शरीर की स्थिरता और प्राण की संयमन-शक्ति के अभाव में अपने शरीर में अपान-प्राणवायु के संयोग से योगाग्नि प्रज्वलित नहीं रख सकता और न तो वीर्य और प्राण की रक्षा ही कर सकता है, इसलिये योगसाधक को साधनोपयोगी योगासनों में स्थिर रहना चाहिए । इससे ज्ञानग्नि, योगाग्नि की दीप्ति से शरीर अथवा पिण्ड पुष्ट होगा और साधक पूर्णरूप से वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर ब्रह्मचर्य में स्थित रहेगा, क्योंकि योगाग्नि और वीर्य ही योगासाधना के आधार हैं ।

उगवंत सूर पत्र पूर काल - कंटक जाइ दूर ।
नाथका भंडार भरपूर रिजक रोजी सदा हजूर ।। ।59 ।।

मूलाधार स्थित कुण्डलिनी और सहस्रार स्थित शिव के सामरस्य से पिंड में ब्रह्मतेज का उदय होने पर मृत्युरूपी कण्टक, अविद्या-अन्धकार और आत्मविनाश का भय समाप्त हो जाता है । परब्रह्म शिव-माया से परे अनादि रूप में स्थापित आकाश, पाताल और पृथ्वी से नाथ शब्द की सार्थकता चरितार्थ होती है, यह नाथ परब्रह्म हमारे पिंड में पूर्ण प्रकाशित है, अक्षय है, उसका आश्रय ग्रहण करने पर योगी अथवा योगसाधना में रत प्राणी अमृत हो जाता है, वह शाश्वत ब्रह्म अथवा कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

थांन मांन गुर ग्यांन । बेधां बोध सिधां परग्रांम ।
चेतनि बाला भ्रम न बहै । नाथ की कृपा अषंडित रहै ।। ।60 ।।

आकाश, पाताल, मृत्युलोक में सर्वत्र ही अनादि परब्रह्म परमात्मा नाथ-परमशिव परिव्याप्त है, उसकी कृपा निरन्तर समस्त सृष्टि का अभिषेक करती रहती है । नाथ सिद्ध महायोगी गुरू की शरणागति में महाज्ञानोपदेश प्राप्त कर शिष्य अविद्या-अन्धकार, अज्ञान में न तो भ्रमित होता है और न विमुग्ध रहता है । वह इस संसार में सिद्धों की सिद्धि आदि से सर्वथा निर्लिप्त रहकर एकान्त में आत्मचिन्तन कर स्वबोध प्राप्त करता है । सद्‌गुरू श्रीनाथ महायोगेश्वर शिव की कृपा और प्रसन्नता से वह कृतार्थ हो जाता है ।

अधिक तत्त ते गुरू बोलिये हींण तत ते चेला ।
मन मांनैं तो संगि रमौ नहीं तौ रमौ अकेला ।। ।6। ।।

गुरू गुरूता से सर्वथा सम्पन्न रहता है ओर शिष्य उससे गुरूता, गुरूज्ञान प्राप्त कर अपनी कमी, हीनता का नाश कर गुरूपद में अभय होकर स्थित रहना चाहता है, गुरू और शिष्य का यही अन्योन्याश्रय शाश्वत सम्बन्ध है । गुरू से ज्ञान प्राप्त कर लेने पर वह उसके सत्संग में रहकर आत्मज्ञान में रमण कर सकता है या गुरू की कृपा से वह इतना समर्थ हो जाता है कि वह असंग होकर उसके ज्ञान के प्रकाश में स्वेच्छा से जीवनयापन कर जीवन्मुक्तावस्था का अनुभव कर सकता है ।

चलंत पंथा तूटंत कंथा उडंत षेहा बिचलंत देहा ।
छूटंत ताली हरि सूंनेहा ।। ।62 ।।

हठयोग की साधना में योगाग्नि से पक्व शरीर, प्राण और बिन्दु, वीर्य का अमित तथा असाधारण महत्व है । शरीर वस्त्र की तरह है, इसके जीर्ण-शीर्ण होने पर जीवात्मा इसका या तो परित्याग कर देता है या उसके साधन और अभ्यास छूट जाते हैं । यदि साधक की चित्तवृत्ति चंचल है, शरीर सुदृढ़ नहीं रह सकता है, जीवन-यात्रा में साधक भटकता रहेगा तो शरीर कपड़े की तरह जीर्ण हो जायेगा और शरीर की जीर्णता का अर्थ यह है कि वह धूलि में मिल जायेगा, नाश को प्राप्त होगा । ऐसा होने पर साधक की धारणा-ध्यान द्वारा सिद्ध समाधि टूट जायेगी । वह परमशिव,

परब्रह्म परमात्मा के सरस प्रेम की प्राप्ति से, अनुग्रह और कृपा की अनुभूति से वंचित हो जायेगा । वह भ्रमित हो उठेगा और हरि की स्नेह-प्राप्ति उसके लिये दुर्लभ हो जायेगी ।

पंथि चले चलि पवनां तूटै नाद बिंद अरू बाई ।
घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहाँ भ्रमै रे भाई ।। ।63 ।।

योगसाधक को अपनी चित्तवृत्तियों का निरोध करते हुए अन्तस्साधना में तत्पर रह कर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति करनी चाहिए । अन्तर्मुखी साधक को बाहर बाह्य तीर्थो में सद्ज्ञान-प्राप्ति करने के लिये भटकते रहने से व्यर्थ श्रम होता है और वह स्वरूपबोध से दूर रहता है । समस्त (अड़सठों) तीर्थ हमारे शरीर में ही हैं और उन्हीं में चित्त को लगाते हुए हम परमात्म-साक्षात्कार और जीवन्मुक्ति की सिद्धि कर सकते हैं ।

जोगी होइ पर निंद्या झषै । मद मांस अरू भांगि जो भषै ।
इकोतरसै पुरिषा नरकहि जाई । सति सति भाषंत श्री गोरषराई ।। ।64 ।।

योगी वह है, जो अपनी जिह्वा और वाणी पर पूरा-पूरा नियंत्रण रखता है । वह कभी दूसरे प्राणी की (राग) द्वेषवश (स्तुति) निन्दा नहीं करता । वह मद, मांस और भांग का सेवन नहीं करता । परनिन्दक और मदिरा-मांस आदि का सेवन करने वाले प्राणियों के पितर वैकुण्ठ और स्वर्ग से च्युत होकर नरकगामी होते हैं । अपनी सन्तान के पाप और असत्कर्म से उनकी दुर्गति होती है । योगी का स्वभाव तो सद्ज्ञान और पवित्र आचरण के परिशीलन का फल है । (यह गोरखनाथ का) सत्यवचन है ।

अवधू मांस भषंत दया धरम का नास । मद पीवत तहाँ प्रांण निरास ।
भांगि भषंत ग्यांन ध्यांन षोवंत । जम दरबारी ते प्रांणी रोवंत ।। ।65 ।।

मांस-भक्षण हिंसा को प्रोत्साहन देता है और उससे प्राणी में दया-भाव और दूसरे के प्रति सद्-व्यवहार अथवा सदाचार-सत्कर्तव्य का नाश

होता है । इसी तरह जो प्राणी मदिरा का सेवन करता है, उसकी प्राणशक्ति क्षीण होती है, शरीर विकारग्रस्त होता है और जो प्राणी भाँग का सेवन करता है, वह ज्ञान और ध्यान दोनों से वंचित होता है । हे अवधूत । मांस- भक्षण, मदिरा-भाँग-सेवन से मनुष्य की बुद्धि विकृत होती है, वह अपने पापकर्म के विपाककेरूप में नरक में जाता है, यमराज की यातनाओं से प्रताड़ित होकर निरन्तर शोकसंविग्न होकर रोता रहता है ।

चालिबा पंथा कै सीबा कंथा । धरिबा ध्यांनं कै कथिबा ग्यानं ।
एकाएकी सिधके संग । बदंत गोरषनाथ पूता न होयसि मन भंग ।। ।66 ।।

योगी के लिए मन की एकाग्रता अनिवार्य है । मन भंग न हो, इसके लिये या तो वह अकेला रमता रहे या एकान्त स्थान में बैठकर अपनी गुदड़ी सीता रहे (शरीर का शोधन करता रहे) अथवा अपने इष्टदेव परब्रह्म परमात्मा अथवा परमशिव के ध्यान में तल्लीन रहे या अनुभव से प्राप्त आत्मज्ञान का दूसरों के हित और मार्ग-दर्शन के लिये उपदेश करता रहे । गोरखनाथ का कथन है कि ऐसा करने से मन चंचल नहीं होगा और साधना सुचारू रूप से चलती रहेगी ।

पढ़ि देषे पंडिता ब्रह्मगियानं । मूवाँ मुकति बैकुंठा थांन ।
गाडया जौल्या चौरासी मैं जाई । साति साति भाषंत गोरष राइ ।। ।67 ।।

हे विद्वानों ! शास्त्र में वर्णित आत्मज्ञान, परमात्मज्ञान आदि को पढ़कर उसका अपने जीवन में अनुभव करना चाहिए । पार्थिव शरीर से प्राण के निकल जाने पर मुक्ति की प्राप्ति या बैकुण्ठ में निवास आदि की बात का आत्मज्ञान के अभाव में कोई महत्त्व नहीं है । शरीर निष्प्राण होने पर गाड़ दिया जाता है, समाधि में सुरक्षित किया जाता है या चिता पर रखकर जला दिया जाता है, जीवात्मा अपने कर्मो के अनुसार अगणित (चौरासी लाख) योनियों में जन्म लेता रहता है तथा शरीर छोड़ता रहता है, इसलिये परब्रह्म

का ज्ञान, स्वरूप का अनुभव करना चाहिए । अपरोक्षानुभूति का ही मार्ग सिद्धिप्रद है ।

आकाश तत सदासिव जांण । तिस अभिअंतरि पद निरबांण ।
प्यंड परचांनै गुरमुषि जोइ । बाहुड़ि आवागवन न होइ ।। 168 ।।

हमारे शरीर में षट्चक्रों के ऊपर सहस्रार स्थित है, यह आकाश, शून्य-गगन है, यह कैलाश है, इसमें परम शिव सदाशिव निवास है, जिसके साक्षात्कार से अथवा मूलाधारस्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति के शिव में सामरस्य से, जागरत अवस्था में मिलन से कैवल्यपद का सहस्रार में अवस्थान होता है । इस परमतत्व का परिज्ञान सद्गुरू के मुख से श्रवण करना चाहिए, उनकी कृपा से कैवल्यपद में स्थित होकर परमनिर्वाण स्वरूप सदाशिव का साक्षात्कार करना सुलभ होता है, जिससे बार-बार शरीर में जन्म लेना और मरना समाप्त हो जाता है, जीवात्मा नित्यमुक्त हो जाता है ।

ऊरम धूरम ज्वाला जोति । सुरजि कला न छीपै छोति ।
कंचन कवल किरणि परसाइ । जल मल दुरगंध सरब सुषाइ ।। 169 ।।

मूलाधारस्थित प्रसुप्तकुण्डलिनी महाशक्ति जागरत होने पर षट्चक्रों को प्रकाशित करती हुई ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर अपनी पूर्ण प्रदीप्ति से उसे प्रकाशित कर परमशिव में अभिन्न हो उठती है, अध्यात्मसूर्य की यह कला, प्रज्वलित परमज्योति आधिभौतिक मल से आच्छन्न नहीं हो सकती, इस अखण्ड सूर्यकला से ब्रह्मरन्ध्र स्थान, सहस्रार (कमल) पूर्ण रूप से खिल जाता है, उसके स्पर्श से प्रकाशित हो उठता है । सूर्य की प्रभा से जिस तरह अपवित्र जल सूख जाता है, उसी तरह सहस्रार से प्रकाशित महाशक्ति के तेज से मायिक विकार मिट जाते हैं, आत्मकला अथवा आत्मशक्ति प्रकाशित हो उठती है ।

घटि घटि सूण्यां ग्यांन न होइ । बनि बनि चंदन रूष न कोइ ।
रतनरिधि कवन कै होइ । ये तत बूझै बिरला कोइ ।। 170 ।।

यह नितान्त असंदिग्ध है कि सभी वनों में चन्दन के पेड़ नहीं होते हैं, किन्हीं-किन्हीं वन में उनकी उत्पत्ति होती है, ठीक इसी तरह

रत्न-ऋद्धि, परमात्मज्ञान की समृद्धि किन्हीं बिरले अधिकारी में प्रकाशित होती है । परमात्मज्ञान का श्रवण कर उसे स्वानुभूति के धरातल पर प्रकाशित करने के अधिकारी सभी नहीं होते, यह सौभाग्य तो (परमात्मा के अनुग्रह से) किन्हीं-किन्हीं को ही उपलब्ध होता है ।

नीझर झरणैं अमींरस पीवणां षटदल बेध्या जाइ ।
चंद बिहूंणां चांदिणां तहाँ देष्या श्रीगोरष राइ ।। ।71। ।।

(इस सबदी में गोरखनाथजी की योगसाधना की सम्पूर्ण सिद्धि की, फल-प्राप्ति की उन्हीं की अमृतवाणी में सहज अभिव्यक्ति परिलक्षित है ।) सहस्रार में अमृत का प्रपात द्रवित होता है, ब्रह्मरन्ध्र, शून्य आकाश के सहस्रार पद्म के मूल में योनि नाम का त्रिकोण चक्र है, वहीं चन्द्रमा का स्थान है, इसी से सदा अमृत झरता रहता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने कुण्डलिनी महाशक्ति को जगाकर षट्चक्र का भेदन करते हुए सहस्रार से द्रवित निर्झर के अमृत रस को पी लिया और वहाँ निरालम्ब शून्य गगन में निराधार, स्वरूपस्थ अलख निरंजन की परमज्योति का स्वयं साक्षात्कार कर लिया, जो ऐसी अमृतचन्द्रिका है कि उसका उद्गम वह स्वयं है, उसमें अन्याश्रय अथवा अन्य आधार में निर्भरता नहीं है । कारणरहित स्वतः प्रकाशित परब्रह्म परमशिव का मैंने स्वयं साक्षात्कार कर लिया ।

कै मन रहै आसा पास । कै मन रहै परम उदास ।
कै मन रहै गुरू के ओलै । कै मन रहै कांमनि कै षोलै ।। ।72 ।।

मन स्वभाव से चंचल है, या तो यह सदा आशान्वित रहकर अतृप्त अवस्था में यत्र-तत्र चंचल रहता है, या आशा, अभिलाषा-पूर्ति की वासना के पाश में आबद्ध रहता है या परम उदास हो जाता है, या यह विषयरत और कामोपभोग-परायण रहकर कामिनी की रति में आसक्त रहता है, या सद्गुरू की शरणागति का वरण कर यह विषय-प्रपंच से परे होकर वैराग्यरस में निमग्न होकर परमात्म साक्षात्कार में जीवात्मा की सहायता करता है ।

दाबि न मारिबा षाली न राषिबा जांनिबा अगनि का भेवं ।
बूढीहीं थै गुरबानी होइगी सति सति भाषंत श्रीगोरष देवं ।। ।73 ।।

मन को वश में करने के लिये उसे अवारित रखना चाहिये, उसे वारित करने, रोकने, प्रताड़ित करने या हठपूर्वक प्रत्याहारित करने से साधना में विघ्न उपस्थित होने की आशंका सदा विद्यमान रहती है । इसका आशय यह नहीं है कि उस पर संयम ही न किया जाय, असंयमित मन तो और भी अस्थिर और चंचल रहता है, इसलिये उसे सदा अभ्यास में तत्पर रखकर योगाग्नि के ज्ञान से अपने आप को सम्पन्न रखना योगसाधक का महान् कर्तव्य है । इस तरह योगाग्नि से शरीर के पक्व होने पर साधक में आत्मज्ञान स्वरूपस्थिति के साक्षात्कार की जिज्ञासा का उदय होता है, आदिशक्ति, अनादि पुराणपुरूष परब्रह्म की संगिनी, अभिव्यक्ति शक्ति मूलमाया अविद्यारूपिणी न होकर विद्यास्वरूपिणी हो जाती है, गोरखनाथ का यह अनुभवसिद्ध सत्यवचन है कि यह विद्यास्वरूपिणी माया परम बोधस्वरूप साक्षात् गुरूवाणी है और गुरूज्ञान की चिरसंगिनी ब्रह्मविद्या है । मन की शक्ति से इस महाविद्या का अनुग्रह मिलता है ।

बाहरि न भीतरि नेड़ा न दूर । षोजत रहे ब्रह्मा अरू सूर ।
सेत फटक मनि हीरै बीधा । इहि परमारथ श्रीगोरष सीधा ।। ।74 ।।

गोरखनाथजी का कथन है कि परमात्मतत्व न केवल मात्र भीतर खोजने से, न बाहर (पिण्ड के बाहर) देखने से, न देश-काल से परे दूर अथवा अपने स्वरूप में सन्निकट समझने से उपलब्ध हो सकता है, इस महत्तम का परिज्ञान ब्रह्मा (वेदज्ञ) और सूर्य तक भी न पा सके । आत्मा ही निर्मल स्फटिक मणि है, जो परमात्म हीरकरत्न का भेदन कर सकता है, आत्मा ही परमात्मा का साक्षात्कार करता है, यही परमार्थ है, इसी को मैंने (गोरखनाथ ने) आभ्यन्तरिक साधना के स्वरूपस्थ सिद्ध किया । इस महाज्ञान का परिशीलन ही योगसाधना का चरम परम फल है ।

आवति पंच तत कूं मोहै जाती छैल जगावै ।
गोरष पूछै बाबा मछिंद्र या न्यंद्रा कहाँ थैं आवै ।। ।75 ।।
गगन मण्डल मैं सुंनि द्वार बिजली चमकै घोर अंधार ।
ता महि न्यंद्रा आवै जाइ । पंच तत मैं रहै समाइ ।। ।76 ।।

गोरखनाथ जी अपने परमगुरू, महायोगज्ञान के सिद्ध अधीश्वर मत्स्येन्द्रनाथ से जड़तत्वविमोहिनी निद्रा की जिज्ञासा करते हैं कि हे गुरूदेव! यह निद्रा क्या है, जिससे पंचतत्व के शरीर में स्थित जीवात्मा संज्ञाशून्य होकर (सुषुप्ति का वरण कर) अचेतन-सा हो जाता है और जिसके चले जाने पर परमात्मानन्द का भोगी, शाश्वत चेतन, रसिक जीवात्मा संज्ञा में स्थिर होकर जागृति-अवस्था में समाहित हो जाता है। (श्री मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से उन्हें बोध सुलभ होता है कि) यह निद्रा, सुषुप्ति शून्य गगन, ब्रह्मरन्ध्र से आती है और वहीं समा जाती है, गगनमण्डल सहस्रार में शून्यद्वार स्थित है, यही ब्रह्मरन्ध्र है, यहाँ गहनतम प्रलयान्धकार है और रह-रहकर परम चेतना, विद्युल्लता (अपनी कनक आभा में) चकमती रहती है। इसी ब्रह्मरन्ध्र से अविद्यास्वरूपिणी महामोहमयी निद्रा पंचतत्व के शरीर में प्रवेश कर उसके जीवात्मा को संज्ञाशून्य कर देती है पर यह स्थिति परिवर्तनशील है, क्योंकि निद्रा चंचल प्रकृति की है, अविद्या अथवा असत् की अभिधा का स्वभाव अस्थिर होता है, इसलिए निद्रावश जीव सोता है और निद्रा से परित्यक्त अथवा उन्मुक्त होने पर अपने सनातन स्वरूप के परिज्ञान में जाग जाता है।

ऊभां बैठां सूतां लीजै। कबहूँ चित भंग न कीजै।
अनहद सबद गगन मैं गाजै। प्यंड पड़े तो सतगुर लाजै।। ।77।।

अनाहतनाद का गर्जन सहस्रार गगन-मण्डल में अनवरत हो रहा है, इसे योग-साधक को निरन्तर श्रवण करना चाहिए। इस अनाहतनाद को सोते, बैठते और खड़े होते - समस्त स्थितियों में साधक को सुनना चाहिए, इस नादानुसन्धान से जीवात्मा सहज समाधि में समाहित हो जाता है, यह सहस्रार में द्रवित अमृत का पान करता है तथा उसका वीर्यरस योगाग्नि में पक जाता है और शरीर स्थिर रहता है। यदि नादानुसन्धान के अभाव में, वीर्य के योगाग्नि से पकने के अभाव में, शरीर स्थिर नहीं रहता, मृत्यु का ग्रास बन जाता है, तो साधक अपने गुरू से प्राप्त ज्ञान की अवहेलना करता है, वह उस महाज्ञान को लज्जित करता है।

एकलौ बीर-दूसरौ धीर, तीसरौ षटपट चौथौ उपाध।
दस पंच तहाँ बाद विवाद।। ।78।।

वह साधक वीरात्मा है, जो एकान्त में निवास कर जन-सम्पर्क से सर्वथा अप्रभावित और दूर रहकर योगाभ्यास करता है । वह साधक धीर है, जो अपने साथ में एक सहायक भी रखता है और उसकी उपस्थिति में अपनी साधना में किसी भी तरह का विघ्न नहीं होने देता । जब साधक के सम्पर्क में दो व्यक्ति आ जाते हैं, तब तीन की संगति से परस्पर कलह आरम्भ होता है और साधना में विघ्न पड़ता है तथा साधक के साथ जब तीन संगी रहकर साधना करते हैं तो साधना-स्थल की शान्ति भंग हो जाती है और आपस में चारों उत्पात करते हैं और जब योगसाधक के आश्रम में दसपाँच जन एकत्र हो जाते हैं, तब तो साधना के नाम पर राग-द्वेष के वातावरण में एक - दूसरे को नीचा दिखाने के लिये पारस्परिक संघर्ष और उपद्रव का बोलबाला होता है ।

एकाएकी सिधनांउं दोइ रमति ते साधवा ।
चारि पंच कुटुम्ब नाउं दस बीस ते लसकरा ।। ।179 ।।

अध्यात्म की साधना की सिद्धि एकान्तवास से ही होती है । वास्तव में जो एकान्त में अकेले साधना करता है । वही सिद्ध नाम को चरितार्थ करता है । एक से दो होने पर साधारण स्तर पर साधना में तल्लीन योगसाधक साधु कहे जाते हैं और जो साधक चार-पाँच लोगों के साथ रहकर साधना और योगाभ्यास करता है, वह तो एक कुटुम्बी है, इसके कुटुम्ब और सांसारिक गृहस्थों के परिवार के राग-द्वेष के बन्धन समान होते हैं और जो दस-बीस लोगों को एकत्र कर आध्यात्मिक साधना में लगता है, वह तो एक सेना ही एकत्र कर लेता है, जिससे लाभ के स्थान पर हानि की ही सम्भावना रहती है ।

मन मुषि जाता गुरमुषि लेहु । लोही मास अगनि मुषि देहु ।
मात पिता की मेटौ धात । ऐसा होइ बुलावै नाथ ।। ।80 ।।

मन बड़ा चंचल है, उसकी वृत्तियाँ चंचल रहती हैं, अमनस्क योग की साधना करते हुए उसकी वृत्तियों को गुरूज्ञान से अन्तर्मुखी कर उनका (हठयोग) साधना में उपयोग करना चाहिए । रक्त-मांस से निर्मित शरीर को

योगाग्नि में शुद्ध कर लेना चाहिए । माता की रज और पिता के वीर्य के संयोग से युक्त शरीर को पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत के पालन से निर्विकार और निर्दोष कर लेना चाहिए, ऐसा करने से साधक अनायास नाथ, परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

नादा नाद सब कोइ कहै । नादहिं लै को बिरला रहै ।
नाद बिंद है फीकी सिला । जिहिं साध्या ते सिधैं मिला ।। ।ठ। ।।

नाद का अनुसन्धान साक्षात् ऊँस्वरूप शब्द ब्रह्म परमात्मा की उपासना है, केवल नाद, नाद रटने से साधना की सिद्धि नहीं होती, इसमें मन को सम्पूर्ण एकाग्र कर, अमनस्क कर चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध कर नाद की अन्तिम अवस्था, शब्दातीत अवस्था में प्रवाहित अनाहत ध्वनि में अपने आत्मस्वरूप को लय कर परमात्मा में तादात्म्य स्थापित किया जाता है, यह साधना कोई बिरला योगी ही कर पाता है । नाद बिन्दु, दोनों सूखे पाषाण-खण्ड के समान हैं पर उनकी साधना से आत्मरस-परमामृततत्व के बोध में योगसाधक सिद्धावस्था में समाहित अथवा स्वरूपस्थ हो जाता है ।

दरवेस सोइ जो दर की जांणै । पंचे पवन अपूठां आंणै ।
सदा सुचेत रहै दिन राति । सो दरवेस अलह की जाति ।। ।82 ।।

दरवेश वह है, जो परमात्मा के प्रेमस्वरूप में आत्मा को तदाकार कर देता है । इस महाज्योति के साक्षात्कार के लिये वह पंच प्राण-अपान, उदान, प्राण, व्यान, और समान-को नियंत्रित कर समस्त विषयसुखों में पूर्ण वैराग्य का वरण कर सर्वथा अनासक्त हो जाता है । रात-दिन वह निरन्तर परमात्मा, प्रियतम के ध्यान में सावधान रहता है, वह प्रियतम परमात्मा के स्वरूप में ध्यान करते-करते उन्हीं की आकृति में अभिव्यक्त हो उठता है । दोनों प्रेमस्वरूप हो जाते हैं, यही उसकी सजातीयता है । यह स्वरूपस्थिति ही परम कैवल्यपद की प्राप्ति है और दरवेश की यही श्रेय-सिद्धि है ।

बैसंत पूरा रमंति सूरा, एकरसि राषंति काया ।
अंतरि एकरसि देषिबा बिचरंति गोरषराया ।। ।83 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि जिस योगी ने सहस्रार स्थित अलख निरंजन परब्रह्म का कुण्डलिनी महाशक्ति के जागरण द्वारा साक्षात्कार कर लिया और कैवल्यपद में स्वरूपस्थिति प्राप्त कर ली, वह पूरा सिद्ध है । इसी तरह जो साधक साहसपूर्वक साधनागत विघ्नों और प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त कर शरीर को एकरस स्थिर रखते हैं, वे वीर हैं; पर मैं (गोरखनाथ) परमात्मा परब्रह्म अलख निरंजन, शून्य गगनस्थ अमृतब्रह्म के सहज साक्षात्कार, स्वरूप-बोध के लिये निरन्तर आभ्यन्तर साधना में सावधान रहता हूँ ।

नाद बिंद बजाइले दोऊ पूरिले अनहद बाजा ।
एकंतिका बासा सोधिले भरथरी कहै गोरष मछिंद्र का दासा ।। ।84 ।।

गोरखनाथ, महायोगीश्वर परम सद्‌गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के सेवक का योगिराज भर्तृहरि के प्रति योगोपदेश है कि हे भर्तृहरि ! प्राणायाम के द्वारा नाड़ियों का मलशोधन कर तथा चित्तवृत्ति को निरूद्ध कर नाद-बिन्दु की साधना में तत्पर हो जाना चाहिये । हे भर्तृहरि, इस तरह नाद-बिन्दु की साधना में निरन्तर तत्पर रहकर एकान्त स्थान में निवास कर अथवा सहज शून्य गगनस्थ सहस्रार में आत्मा का लय (परमशिव से ऐक्य) कर सिद्धावस्था में रमण करना चाहिए । नाद-बिन्दु की साधना ही पूर्ण योग-सिद्धि का साधन-पथ है ।

सूर माहिं चंदचंद माहिं सूर । चपंपि तीनि तेहुड़ा बाजल तूर ।
भणन्त गोरषनाथ एक पद पूरा । भाजंत भौंदू सार्धति सूरा ।। ।85 ।।

जब 'ह' सूर्य (पिंगला नाड़ी) और 'ठ' चन्द्र (इड़ा नाड़ी) अथवा मूलाधार में स्थित सूर्य का सहस्रार स्थित चन्द्रमा से मेल हो जाता है, (और विपरीतकरिणी मुद्रा सिद्ध हो जाती है) और सत्, रज, तम तीनों गुणों की वृत्तियों में साधक का मन चंचल नही होता है, तब सहस्रार में अनाहद नाद का श्रवण होने पर साधक सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है । इस तरह की सुदृढ़ योगसाधना में वीर साधक-तपस्वी ही सफलता का सौभाग्य पाता है, जो अज्ञानी है और साधना न कर, केवल शब्दमात्र का प्रलाप करता है, वह कायर कभी योगसिद्ध नही हो सकता ।

छत्र पवन निरंतर रहै, छीजै काया पंजरा रहै ।
मन पवन चंचल निजि गहिया बोलै नाथ निरंतरि रहिया ।। ।86 ।।

शरीर में प्राण वायु, छत्र पवन की निरंतर अवस्था से नाड़ियों का मल-शोधन होता है, शरीर में स्थित दोष और विकार नष्ट हो जाते हैं, शरीर क्षीण और निर्मल होने पर एक पंजरमात्र सा दीख पड़ता है । योगसाधक मन और पवन तथा चंचल इन्द्रियों को अपने वश में कर लेता है, और इस तरह वह तपस्वी योगी (निरन्तरि=अलग) एकान्त रहनी से जीवन्मुक्त अवस्था को प्राप्त हो जाता है ।

इकटी बिकुटी त्रिकुटी संधि पछिम द्वारे पवनां बंधि ।
षूटै तेल न बूझै दीया बोलै नाथ निरन्तरि हूवा ।। ।87 ।।

निरन्तर स्थिति, जीवन्मुक्ति अवस्था की सिद्धि अथवा सिद्धदेह या अमरकायत्व की प्राप्ति का मूलाधार शरीर में प्राण की स्थिरता है, जिसका प्रवाह इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना नाड़ियों की निर्मलता और ग्रहणशीलता के आधारभूत है । इकटी का आशय पहली नाड़ी इड़ा से है, यह नासिका के बायें भाग में स्थित है, दायें भाग में पिंगला है और इन दोनों के बीच में सुषम्ना नाड़ी स्थित है । इन तीनों का मूल, उद्‌गम, मूलाधार पद्‌म (चक्र) की कर्णिका के त्रिकोण में है । उनके वायें कोण से इड़ा, दायें कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से पिंगला और पश्चिम कोण से सुषुम्ना की उत्पत्ति है, ये तीनों नासिका-छिद्रों में प्रवाहित हैं और सुषुम्ना ब्रह्‌मरन्ध्र में प्रवेश करती है । इन्हीं तीन नाड़ियों से प्राणायाम की साधना कर अमरता की प्राप्ति की जाती है । सुषुम्ना-मार्ग में पवन का निरोध होने पर साधक अमर हो जाता है । उसकी प्राण-ज्योति उसी तरह स्थिर रहती है, जिस तरह दीपक में तेल रहने तक उसकी दीप्ति बनी रहती है, इस तरह प्राण अपान का सुषुम्ना में संगम कर साधक नित्यस्वरूप जीवन्युक्त होकर अमरकाय हो जाता है ।

ज्यू ज्यूं भुयंगम आवै जाई सुरही घरि नहीं गरड़ रहाइ ।
तब लग सिध दुर्लभ जोग तोयं अहार बिन ब्यापै रोग ।। ।88 ।।

यह श्वास भुजंग के समान है । सुषुम्ना ही इसका संरोध-स्थान है । जिस तरह सर्प को गरूड़ नियंत्रित करता है, सर्प का प्रभाव समाप्त हो जाता है, उसी तरह सुरही (सुरभी) गाय के घर-सुषुम्ना-में प्राण का स्थैर्य ही गरूड़ की विद्यमानता है, बाहर आते-जाते श्वासरूपी भुजंग को सुषुम्ना में संरोध करना ही योगसिद्धि का पथ प्रशस्त करना है । जल के आहार के बिना, वीर्य को ऊर्ध्वगामी या सुरक्षित क्रिये बिना शरीर पुष्ट और नीरोग नहीं होता हैं । इसलिए ब्रह्मचर्य के द्वारा वीर्य को ऊर्ध्वस्थ करते हुए श्वासभुजंगम को सुषुम्ना में निरूद्ध कर, स्थिर कर योगसिद्धि की प्राप्ति योगाभ्यासी का लक्ष्य है ।

ग्यांन सरीषा गुरू न मिलिया चित्त सरीषा चेला ।
मन सरीषा मेलू न मिलिया तीथैं गोरष फिरै अकेला ।। ।89 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कथन है कि ज्ञान, आत्मतत्व ही गुरू है, जिस तरह गुरू के सदुपदेश से शिष्य का अज्ञान, अविद्या अथवा मायामोहग्रस्त जीवन में ज्ञान का प्रकाश होता है, उसी तरह मेरा (गोरखनाथ का मत्स्येन्द्ररूप में अभिव्यक्त) आत्मज्ञान ही गुरू है और इस आत्मज्ञान को ग्रहण करने वाला चेला ही मेरा चित्त है, मुझे अपनी अन्तस्साधना के लिये योगमहाज्ञानस्वरूप मत्स्येन्द्ररूप गुरूज्ञान से ही संतोष है, उस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए मेरा चित्त ही योग्य शिष्य है और मन ही गुरू और शिष्य, ज्ञान और चित्त में सामंजस्य स्थापित करने वाला सहायक है, इसलिए ज्ञान, चित्त और मन के सहारे मैं अकेला, स्वरूपस्थित होकर साधना में तत्पर हूँ ।

सांग का पूरा ग्यांन का ऊरा। पेट का तूटा डिंभ का सूरा।
बदंत गोरखनाथ न पाया जोग । करि पाषंड रिझाया लोग ।। ।90 ।।

जो योगी वेश-भूषा और ब्रह्माडम्बर मात्र का सहारा लेता है और ज्ञान से (ऊरा) अधूरा है, खाली है, सद्ज्ञान की प्राप्ति नहीं कर सका है, जिसका क्षुधा पर अधिकार नहीं है, भूख लगने पर अत्यधिक मात्रा में आहार ग्रहण करता है और जो दम्भ करने में कुशल है, वह योग की साधना में सिद्धि से वंचित रहता है, ऐसा गोरखनाथ का वचन है । वह पाखण्डी है,

स्वांग बनाकर और अपने अज्ञान को आडम्बर के सहारे छिपा कर लोगों का योगसाधना के नाम पर मन बहला कर योगी कहलाने का मिथ्या गौरव पाता है ।

अगनि हीं जोग अगनि हीं भोग । अगनि हीं हरै चौंसठि रोग ।
जो इहि अगनि का जाणै भेव । सो आप ही करता आप ही देव ।। ।91 ।।

शरीर में स्थित दिव्य तेज, अग्नि ही योगसाधना, भोगास्वाद और आरोग्य का मूलाधार है । जिस प्राणी के शरीर में प्राणवायु से निरन्तर शुद्ध अग्नि प्रदीप्त है, वही साधना, भजन और युक्ताहार-विहार में जीवन का सदुपयोग कर सकता है । देहस्थ अग्निमण्डल शरीर में त्रिकोण के आकार में विद्यमान है, मध्यस्थान गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर स्थित है, यहीं से सारे शरीर में अग्नि व्याप्त रहती है । यह अग्नि पाँच प्रकार की है, मूल अग्नि से शरीर नीरोग होता है, रक्त पित्त के विकार का शमन होता है, भुजंगम अग्नि से प्राण की स्थिरता रहती है, रूद्र अग्नि से बहिर्मुख वृत्तियाँ नष्ट होती हैं और साधन में मन लगता है । कालाग्नि से त्रिभुवन का ज्ञान होता है और ब्रह्माग्नि से जीवात्मा सहस्रार में परमात्मा का साक्षात्कार करता है । जो योगाभ्यासी इस अग्नि-साधना के महत्व और रहस्य का व्यावहारिक रूप समझ जाता है, वह सिद्धदेह प्राप्त कर जीवन्मुक्तावस्था से अमरकाय होकर ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, उसमें सृष्टि, स्थिति (पालन) और संहार की दिव्य शक्ति आ जाती है ।

जीवता जोगी अमीरस पीवता अहनिस अषंडित धारं ।
दिष्टि मधे अदिष्टि बिचारिबा ऐसा अगम अपारं ।। ।92 ।।

जीवन्मुक्त योगी जीते-जी सिद्ध देह, अमरकायत्व की प्राप्ति कर परमात्मस्वरूप में, अलख निरंजन, अगम अपार परमतत्व में समाहित अथवा निरन्तर समाधिस्थ रहता है । वह सहस्रार में स्थित योनि नामक त्रिकोण चक्र (चन्द्र स्थान) से स्रवित अमृत रस का निरन्तर पान करता है । वह दृश्य में अदृश्य अलख निरंजन की परिव्याप्ति का बोध पाता है । बाह्य सृष्टि ही हमारे शरीर में, पिण्ड में भी विद्यमान है, इस बाह्य सृष्टि के नियामक परब्रह्म शाश्वत चैतन्य, अगम, अपार, अलख निरंजन का वह

चिन्तन, विचार करता है । पाताल की गंगा-कुण्डलिनी शक्तिरूपी परमज्योति को ब्रह्माण्ड, ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित कर योगी चन्द्रामृत का निरन्तर पान करते हुए जीवन्मुक्त अथवा अमर हो जाता है ।

जीवता बिछायवा मूंवां वोढ़िबा कबहु न होयमा रोगी ।
बरसवै दिन काया पलटिबा यूं कोई कोई बिरला जोगी ।। 193 ।।

आसन से जड़ शरीर को निर्विकार और सुदृढ़ तथा निर्दोष करना चाहिये और प्राण को स्थित रखकर संयमित अथवा शरीर में निरुद्ध कर निरन्तर जीवन-शक्ति का संवर्धन करना चाहिये । कोई-कोई बिरला योगी शरीर (मूवां-जड़) को आसनों के अभ्यास से पुष्ट करता है तथा प्राण (जीवता) का संयम अथवा संरोध करता है, इस तरह साधना करते रहने से शरीर क्षीण नहीं होता, प्राण पर मृत्यु का भय नहीं रहता, प्रत्येक वर्ष पूरा होते रहने पर यह साधना कायाकल्प की भूमिका निभाती है । काया संशोधित और प्राणवती बनी रहती है ।

सूरजे षायबा चंद्र सोयबा उभै न पीबा पांणी ।
जीवता कै तलि मूंवा बिछायबा यूं बोल्या गोरष बांणी ।। 194 ।।

सूर्य (पिंगला) नाड़ी से दायाँ स्वर चलने पर ही हमें भोजन करना चाहिये, इसी तरह चन्द्र (इड़ा) नाड़ी से बायां स्वर चलने पर ही हमें शयन करना चाहिये, दोनों स्वरों के चलने पर पानी नहीं पीना चाहिये । आत्मा (जीवता) के नीचे शरीर (मूंवा) को बिछाना चाहिये, इसका आशय यह है कि आत्मचिन्तन के लिये, योग-साधना के लिये शरीर आधार है, उसके नीरोग रहने पर ही परमात्म चिन्तन होता है, ऐसा गोरखनाथ का वचन है ।

जहां गोरष तहां ग्यांन गरीबी दुंद बाद नहीं कोई ।
निसप्रेही निरदावै षेलै गोरष कहीयै सोई ।। 195 ।।

जहाँ महायोगी गोरक्षनाथ हैं वहाँ न किसी प्रकार का दैन्य है, न द्वन्द्व । वहाँ पुस्तकीय ज्ञान को लेकर चलने वाला पण्डितों का वाद-प्रतिवाद भी नहीं है । नाथ योगी निस्पृह भाव से बिना किसी

शर्त के ज्ञान-साधना में लीन रहता है । पूर्ण ज्ञान या आत्मबोध ही गुरू गोरक्षनाथ के स्वरूप का प्रतिमान है ।

गिगनि मंडल मैं गाय बियाई कागद दही जमाया ।
छांछि छांणि पंडिता पीवी सिधां माषण षाया ।। ।96 ।।

सिद्धों ने हठयोग की साधना में स्थित होकर (मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर, षट्चक्रों के भेदन और नाद-बिन्दु की साधना में सुदृढ़ रह कर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान करते हुए परब्रह्म परमात्मा, परम शिव, अलख निरंजन की) परमानुभूति प्राप्ति की, यह परमानुभूति ही गाय द्वारा वत्सामृत पय अथवा दूध देना है, जिस तरह दूध का सारतत्व खीचकर दही जमाया जाता है और उससे छांछ-माखन, दोनों प्राप्त होते हैं, ठीक इसी तरह सिद्धों ने परमानुभूति प्राप्त कर उसका सारतत्व (दूध) निगमागम, उपनिषदादि में भर दिया । शब्द ज्ञान में उलझने वाले पंडित केवल छांछ पीते हैं । परमानुभूति रूपी सारतत्व (माखन) तो सिद्ध योगी ही प्राप्त करते हैं ।

गूदड़ी जुग च्यारि तैं आई । गूदड़ी सिध साधिकां चलाई ।
गूदड़ी मैं अतीत का बासा । भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का दासा ।। ।97 ।।

योगी योगसाधना में पूर्ण वैराग्य और पूर्ण अपरिग्रह (लोकसंग्रह में निःस्पृहता) और दैन्य का प्रतीक गूदड़ी को धारण करता है, यह परंपरा युग-युग (चारों युगों से) से चली आ रही है । गुदड़ी में ही, मूर्तिमान् वैराग्य अथवा अकिंचनता तथा दैन्य से ही परमात्मा की प्राप्ति एवं अनुभूति होती है। गुदड़ी में ही अतीत (अलख निरंजन परब्रह्म शिव) की अभिव्यक्ति तथा परिव्याप्ति है । योगीन्द्र मत्स्येन्द्र के सेवक (परमयोगिगुरू) गोरखनाथ का यह अनुभव है ।

असाध कंद्रप बिरला साधंत कोई ।
सुर नर गण गंध्रप व्याप्या बालि सुग्रीव भाई ।
ब्रह्मा देवता कंद्रप व्याप्या । यंद्र सहंस्र भग पाई ।। ।98 ।।

अठ्यासी सहंस्र रषीसर कंद्रप ब्याप्या असाधि विष्न की माया ।
यंन कंद्रप ईस्वर महादेव नाटारंभ नचाया ।। 199 ।।
विष्न दस अवतार थाप्या असाधि कंद्रप जतीगोरषनाथ साध्या ।
जनि नीझर झरंता राष्या ।। 200 ।।

कामदेव पर विजय पाना बड़ा कठिन है, कोई बिरला महायोगी ही इसको अपने वश में कर पाता है । देवता इसके आकर्षण से नहीं बच सके, मनुष्य तो इसके प्रभावशाली आकर्षण से बच ही नहीं सकता । यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, सभी इस कामदेव के द्वारा प्रशासित हैं । काम के वशीभूत बालि और सुग्रीव भी थे । ब्रह्मा भी पुष्पधनुष के टंकार से सदाचार की मर्यादा को तिलांजलि देकर अपनी अंगजा सरस्वती का ही कामोपभोग के लिये वरण करने में अपने मन को चंचल होने से न बचा सके । स्वर्ग-वैभव के विलासी शचीपति इन्द्र तक ने महर्षि गौतम की तपस्विनी गृहिणी अहल्या के सौन्दर्य का कामप्रेरित होकर उपभोग किया और महर्षि के शाप से सहस्रभगयुक्त शरीर वाले हो गये । इतना ही नहीं, असंख्य तपस्वी ऋषि मुनि भी कामोपभोग की परायणता से अपने आपको विरक्त न कर सके । उन पर विष्णु, (श्रीराम) की मोहिनी, सौन्दर्य-माया का रंग चढ़ गया । महादेव ने इस कामदेव को जला कर अनंग कर दिया था पर नटराज भगवान् शिव ने (रति की प्रार्थना पर) पार्वती का पाणिग्रहण कर, दाम्पत्यजीवन के नाटक का समारम्भ कर कामदेव का, अनंग का, वरण किया । विष्णु ने दस अवतार लिये और प्रत्येक अवतार में उन्होंने अपनी लीलाशक्ति, लक्ष्मी, सीता, राधा, पद्मावती, पृथ्वी आदि) का वरण किया । असाध्य काम पर विजय करने में योगी गोरखनाथ (मैं) ने कठिन योगसाधना का वरण किया, सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत-प्रवाह को नाभिस्थिति सूर्य के तेज से शोषित होने से बचा कर और बिन्दु को ऊर्ध्वगामी कर पूर्ण ब्रह्मचर्य में स्थित होकर काम के विकार से शरीर को अप्रभावित रखकर योगसिद्धि प्राप्त की ।

आसति छै हो षंडिता नासति नाहीं अनभै होय परतीति निरंतरि माहीं ।
ग्यान षोजि अमे बिग्यांन पाया सतिसति भाषंत सिध सति नाथ राया ।: 201 ।।

अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा है (आसति-अस्ति) । हे विद्वानों! परमार्थतत्व नहीं है, (नास्ति-नासति) ऐसा कहना सम्भव नहीं है, उसका

कहीं भी कभी अभाव नहीं है, अनुभव से यह विश्वास अटल हो गया है कि हमारे भीतर वह निरन्तर विद्यमान है, मैंने ज्ञान-दृष्टि से उस परमतत्व की खोज कर महाज्ञान, विज्ञान की प्राप्ति कर ली । यह सत्य वचन है, सत्य वचन है, यह सिद्धों की वाणी है । सिद्ध सत्यनाथ का भी ऐसा ही अनुभव है, अथवा बड़े बड़े सिद्धेश्वरों ने भी अपने अनुभव में परमात्मतत्वरूपी विज्ञान पाया ।

माता हमारी मनसा बोलिये पिता बोलिये निरंजन निराकरं ।
गुरू हमारे अतीत बोलिये जिनि किया पिंड का उधारं ।। 202 ।।

हमारी उत्पत्ति अनादि है, इसकी उत्पत्ति (मनसा) अथवा (माया-प्रधान-प्रकृति) से ही कही जानी चाहिये, निरंजन निराकार शून्यपद, पिता से ही इसकी स्थिति है अथवा यह परमात्मा का ही स्वरूप है । आत्म विवेक ही हमारा गुरू है । इस आत्मविवेकरूपी गुरू के ज्ञान-प्रकाश में ही हम शरीर और आत्मा का भेद समझ सके और उसी समझ के फलस्वरूप (हमने हठयोग की साधना पर) पिण्ड में ब्रह्माण्ड की विद्यमानता का अनुभव कर शरीर रहते जीवन्मुक्ति प्राप्त कर ली ।

आपा भांजिबा सतगुर षोजिबां जोगपंथ न करिबा हेला ।
फिरिफिरि मनिषा जनम न पायबा करि लै सिध पुरिस सूं मेला ।। 203 ।।

'यह मेरा है', 'यह मैं हूँ' - इस अहंकार (आपा) को तोड़ देना चाहिये, इस सीमित बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने के लिये सद्‌गुरू, परमात्मज्ञानी की खोज करनी चाहिये । यह योगमार्ग ही ऐसा है, जो निर्मल और निष्पक्ष है इसलिये इस पुण्यमार्ग की कभी उपेक्षा या अवहेलना (हेला) नहीं करनी चाहिये । मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों के पुण्य का फल है, यह बार-बार नहीं मिलता है । मनुष्य - जन्म पाकर योग की साधना कर लेनी चाहिये, योग की सिद्धि सिद्ध पुरूष, परमार्थज्ञानी के सत्संग से ही सुलभ है ।

थंभ बिहूँणी गगन रचीलै तेल बिहूँणी बाती ।
गुरू गोरष के बचन पतिआया तब धौंस नहीं तहाँ राती ।। 204 ।।

(शाम्भवी मुद्रा की साधना से यह तथ्य ज्ञात होता है कि) व्यापक शून्य, निरालम्ब आकाश, (ब्रह्मरन्ध्र) में परमात्मा का पूर्ण प्रकाश प्रकट होता है । गोरखनाथ ने गुरुज्ञान के प्रकाश में गुरुपद में स्थित होकर यह जान लिया, और उनके वचन में यह विश्वास हो गया कि सहज उन्मनी समाधि, मन की ब्रह्मरन्ध्र में लयावस्था में, निरालम्ब आकाश की अमनष्क समाधि में बिना तेल और बत्ती, (साधन) के ही ब्रह्म निरन्तर प्रकाशित रहता है । न उस शून्य में भाव (सत्) है और न अभाव (असत्) ही है, सत्-असत्रूपी द्वन्द्वों से परे सहज-शून्य निरालम्ब गगन में अक्षय परमात्म प्रकाश की ही सत्ता है । निर्विकल्प समाधि में स्वरूपस्थिति का ही बोध है और इस बोध में विश्वास करना ही गोरखनाथ ऐसे गुरु योगसिद्ध के वचन में (गुरु) ज्ञान-प्रकाश में स्थित रहना है ।

षंडित ग्यानी षरतर बोलै सांति का सबद उछेदै ।
काया के बलि करड़ा बोलै भीतरि तत्त न भेदै ।। 205 ।।

पाण्डित्य तो आत्मज्ञान से होता है, पण्डित-(विद्वान्) वह है, जो आत्मज्ञान के बल पर भौतिक शरीर को अपना स्वरूप नहीं मानता बल्कि उसमें स्थित (जीव) आत्मा को परमात्मा में अभिन्न अनुभव करता है । जो अधूरा ज्ञानवाला है, जिसने शरीर को ही अपना रूप समझ लिया है, वह व्यर्थ तर्क-वितर्क का आश्रय लेकर रूखे और निरर्थक कड़े, असह्य शब्दों का वाग्जाल प्रस्तुत कर अपने अज्ञान को छिपाता है, वह आन्तरिक चैतन्यतत्व का भेदन नहीं कर पाता ।

महमां धरि महमां कूँ मेटै सति का सबद बिचारी ।
नांन्हां होइ जिनि सतगुर षोज्या तिन सिर की पोट उतारी ।। 206 ।।

वास्तव में महिमावान् अथवा यशस्वी तो वह है, जो प्रभुता और महनीयता से यशस्वी अथवा सम्पन्न होते हुए भी अपने आपको महिमावान् नहीं समझता है । ऐसा प्राणी ही सद्ज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी होता है, वह अत्यन्त विनम्र (नन्हा) और लघु होकर महान् सद्गुरुदेव के चरणाश्रय से सद्ज्ञान प्राप्त कर सिर की गठरी उतार फेंकता है, साक्षात् मुक्ति का वरण कर निर्द्वन्द्व और स्वस्थ हो जाता है ।

एक कांमध्येनि बारि सिंधि कै गगन सिदर लै बांधी ।
लागि जीव ऊपरि बारि सिंधे की ल्यौ निरंजन सू सांधी ।। 207 ।।

सृष्टि, स्थिति और संहार की मूलशक्ति महामाया कुण्डलिनी योगसिद्ध पुरूष की साक्षात् कामधेनु है, जिसके द्वारा वह आध्यात्मिक अनुभूति का निरन्तर रसास्वादन करता रहता है, इस महाशक्ति को उसने सुप्त अवस्था से जगाकर षट्चक्रों का भेदन करते हुए परमशिव के द्वार, (ब्रह्मरन्ध्र) शून्य गगन में पहुँच कर प्रतिष्ठित कर दिया । जीवात्मा आसन, प्राणायाम, नाड़ी-मलशोधन, षट्कर्म आदि के द्वारा उत्तरोत्तर साधना में सफलता प्राप्त करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश का अधिकारी हो जाता है, उसकी चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध हो जाती हैं और वह कुण्डलिनी के शाश्वत प्रकाश में ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजन परमशिव का साक्षात्कार कर लेता है ।

आफू षाय भांगि भसकावै । ता मैं अकलि कहाँ तै आवै ।
चढ़तां पित्त ऊतरतां बाई । तातैं गोरष भांगि न षाई ।। 208 ।।

जो मनुष्य अफीम और भाँग का सेवन करता है, उसकी बुद्धि, सोचने-समझने और सदसत् के विवेक की शक्ति नष्ट हो जाती है । भाँग के सेवन से पित्त का प्रकोप बढ़ता है, पित्त चढ़ता है और वायु की गति नीचे की ओर होने से प्राण-अपान का सामरस्य नष्ट हो जाता है, शरीर रोगी हो जाता है, वह साधना के योग्य नहीं रह पाता है । यही कारण है कि गोरखनाथ ने भाँग का सेवन नहीं किया अथवा गोरखनाथ का वचन है कि भाँग का सेवन नहीं करना चाहिए ।

म्यंदर छाड़ै कुटी बंधावै । त्यागै माया और मंगावै ।
सुन्दरि छाड़ै नकटी बासै । ताते गोरष अलगै न्हासै ।। 209 ।।

साधक को निष्प्रपंच होना चाहिए । यदि वह अपने प्रति ममता का त्याग कर एकान्त में जाकर कुटी बनाकर गृहस्थ की तरह रहते हुए साधना करता है तो यह तो वैराग्य नहीं है । इसी तरह यदि वह माया का परित्याग कर रूपये-पैसे आदि के संग्रह के प्रति निष्काम होकर साधना-काल में अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करता है कि वे द्रव्य आदि

का संग्रह कर उसे अर्पित करें तो यह साधना के नाम पर ढोंग है । यदि वह कामिनी के बन्धन से अपने आप को मुक्त करके शिष्य-शिष्याओं को अपने आश्रम में निवास करने की अनुमति देकर अपनी इन्द्रियजन्य कामनाओं की पूर्ति करता है तो वह वास्तविक त्यागी नहीं है । गोरखनाथ के लिये तो एकान्त साधना में प्रवृत होकर सम्पूर्ण त्याग और वैराग्य का वरण कनक-कामिनी के बन्धन से परे होकर योगपथ पर अकेला चलते रहना ही श्रेयस्कर है ।

त्रिया न सांति, ब ९ रोगी, रसायणी अर जाचि षाय ।
बूढ़ा न जोगी सूरा न पाठि पाछैं घाव यतनां न मानैं श्रीगोरषराय ।। 210 ।।

स्त्री, (कामस्वरूपा रमणी) से भोगासक्ति बढ़ती रहती है, वह कामिनी है, चंचला है, मनुष्य अपनी वृत्तियों को उसके सहवास में कभी भी निरूद्ध करने में सफल नहीं हो सकता, उसे शान्ति, की उपलब्धि नहीं हो सकती है । जो वैद्य है, जिसे शरीर के आरोग्य का ज्ञान है, वह कभी असंयमित जीवन-यापन के द्वारा रोगी नहीं हो सकता । यह बात सम्भव ही नहीं है कि रसायनी (रसायन के द्वारा ताम्बे-लोहे को स्वर्ण में रूपान्तरित करने वाला) कभी भिक्षा माँगकर शरीर का पोषण करे । योगी सिद्धदेह प्राप्त कर सदा नीरोग रहता है । कभी उसका शरीर जीर्ण ही नहीं होता, वह बूढ़ा नहीं हो सकता है । इसी तरह जो शूर है, वह शत्रु के सामने रहता है, कभी पीठ उसकी ओर (पीछे) कर उस पर घाव नहीं होने देता है । गोरखनाथ यह मान नहीं सकते कि स्त्री के साथ रहकर कोई शान्ति का जीवन बिताये, वैद्य रोगी रहे, रसायनी भिक्षा माँगकर भूख की निवृत्ति करे, योगी बूढ़ा हो तथा वीर अपनी पीठ पर शत्रु का प्रहार झेले ।

हंड ब्रह्मण्ड चहोड़ीया मानूं बेस्या अंन ।
कोई कोई कोरड़ रह गया यूं भाषै नाथ रतंन ।। 21। ।।

(गोरखनाथजी का वचन है कि) हा़जी बाबा रतननाथजी कहते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड माया से चारों ओर (चहोड़ीया) प्रभावित है । माया नर्तकी के समान है, वह वेश्या है । जिस तरह वेश्या के अन्न पर पलनेवाला प्राणी बिना घर-बार के होता है, न तो उसके माता-पिता का पता

रहता है, न उसके वर्ण-गोत्र का ही परिचय मिलता है, उसी तरह माया, असत् वस्तु की चमक और मोहिनी शक्ति से प्रभावित प्राणी परमात्मा के सान्निध्य और साक्षात्कार से दूर होकर जन्म-मरण और सुख-दुःख तथा विषय-भोग के द्वन्द्व में भ्रमित रहता है । माया के प्रभाव से कोई बिरला ही बच पाता है, वह सभी का स्पर्श कर सद्वस्तु से विमुख बना देती है ।

निंद्रा सुपनैं बिंद कूं हरै । पंथ चलंतां आतमां मरै ।
बैठां षटपट ऊभां उपाधि । गोरख कहै पूता सहज समाधि ।। 2।2 ।।

योगसाधना में निद्रा, भ्रमण, व्यर्थ बैठे और खड़े रहना, सब-के-सब बाधक हैं । गोरखनाथजी का कथन है कि हे शिष्य, वत्स, सहज समाधि में ही स्थित रहना श्रेयस्कर है । निद्रा में स्वप्न-दोष के द्वारा वीर्यपात होने का भय बना रहता है, ब्रह्मचर्य खण्डित होता है । इसी तरह, व्यर्थ भ्रमण करते रहने से भी योगी आत्मस्थ नहीं हो पाता । आसन लगाकर बैठने से ही योग-साधना की सिद्धि नहीं हो जाती, न खड़े रहकर तपस्या आदि करने से ही कार्यसिद्धि हो सकती है । उत्तम मार्ग तो यह है कि साधक स्वरूप में स्थित होकर आत्मचिन्तन करते हुए कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाय । यही सहज समाधि है, जो स्वानुभूति की अनायास देन है ।

सूकै कंठ अरू भूष संतापै । देह बिसर अर निंद्रा ब्यापै ।
बुधि बिन बकै बिकल होय जाय । तातैं गोरष भांगि न षाय ।। 2।3 ।।

भाँग का सेवन करने से शरीर के स्नायुओं में शुष्कता आती है, गला सूखने लगता है और बड़े जोर की भूख लगती है, अधिक भोजन कर लेने से पाचन-शक्ति का ह्रास होता है, देह में जो चेतना रहती है, वह क्षीण होने लगती है, उसमें संज्ञा-शून्यता अथवा जड़ता आ जाती है और भाँग खाने वाले प्राणी को निद्रा के सिवा कुछ भी अच्छा नहीं लगता है, इस तरह उसकी बुद्धि भी जड़ बन जाती है, वह व्यर्थ बकवास करता है । यही कारण है कि गोरखनाथ भाँग का सेवन नहीं करते ।

रूसता रूठा गोला-रोगी । भोला भछिक भूषा भोगी ।
गोरष कहै सरबटा जोगी । यतनां मैं नही निपजै जोगी ।। 2।4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि योगी क्रोध नहीं करता, चिड़चिड़ा (रूठा) नहीं होता, वह वायु (गोला) का रोगी नहीं होता । योगी बुद्धिमान् होता है, अधिक खानेवाला (भछिक) नहीं होता और न भूखा ही रहता है। वह भोगों में आसक्त नहीं रहता, केवल जटा रख कर (बढ़े बालवाला, सरबटा) योगी होने का स्वांग नहीं बनाता है । योगी तो शान्त, स्वस्थ, आत्मचिन्तन में तत्पर, अल्पाहारी और कृत्रिम वेश-भूषा तथा आडम्बरों से परे होता है । इसके विपरीत आचरण में योगी पैदा (निपजै) ही नहीं हो सकता ।

अवधू अहार कूं तोड़िबा पवन कूं मोड़िबा ज्यौ कबहु न होयबा रोगी।
छठे छमासि काया पलटंत नाग बंग बनासपती जोगी ।। 215 ।।

हे अवधूत ! अल्पाहार के सेवन और प्राणायाम के अभ्यास (निरोध) से योगी का शरीर नीरोग रहता है और वह योग की साधना में तत्पर रहता है । शरीर को निर्दोष, शुद्ध और स्वस्थ रखने के लिये उसे साल में कम-से-कम दो बार कायाकल्प करना चाहिए । यह कायाकल्प रासायनिक भस्म, सीसे (नाग) और टिन (वंग) के भस्म की आयुर्वेद में वर्णित विधि द्वारा सम्पन्न होता है तथा वनस्पति (आम्र आदि के रस) के प्रयोग से भी किया जाता है ।

सूरां का पंथ हार्‍यां का बिसराम सुरता लेहु बिचारी ।
अपरचै पिंड भिष्या षात है अंति कालि होयगी भारी ।। 216 ।।

योग की साधना यही है कि इसमें बिना पंथ के ही चलना होता है, (पंथबिन चलिबा-सबदी 22) चलना-ही-चलना, निरन्तर परम शिव के साक्षात्कार का अनुभव ही योग का परम प्रतिपाद्य है, यह मार्ग वीरों का है, जो इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, इस योग-पंथ पर हार मान कर ठहरने वाला, विश्राम करने वाला, माया, मोह - इन्द्रियों के भोगास्वाद में अटकने वाला कायर है, पराजित अथवा विवश है ! हे श्रोताओं! जिज्ञासुओं !! इस बात का अच्छी तरह विचार कर लो, इसको समझ लो । जो साधक पिंड में व्याप्त, परमशिव का साक्षात्कार नहीं कर लेता है और भिक्षा

माँग-माँग कर शरीर के ही पोषण में लगा रहता है, उसका पिंडपात होना, मृत्यु होना निश्चित, है, उसे कर्मविपाक का भोग करना ही पड़ेगा । अन्ततः उसके लिए कर्मफल का भार भारी पड़ेगा ।

उलटी सकति चढ़ै ब्रह्मण्ड नषसष पवनां षेलै सरबंग ।
उलटि चन्द्र राह कूं ग्रहै । सिध संकेत जती गोरष कहै ।। 217 ।।

योगी गोरखनाथ का संकेत है कि योगसिद्ध पुरूष सहस्रार में स्थित चन्द्र के मूलाधार में स्थित सूर्य द्वारा शोषित होने वाले अमृत को प्रत्याहरित कर लेता है । योगसिद्ध प्राणायाम के द्वारा कुण्डलिनी को जगाकर उसकी गति ऊर्ध्वमुखी कर सुषुम्ना मार्ग के द्वारा उसे षट्चक्रों का भेदन करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देता है और इस तरह उसके अंग-प्रत्यंग समस्त (नखशिखपर्यन्त) शरीर में प्राणवायु स्थिर हो जाती है, प्रत्येक नाड़ी और स्नायु में प्राण शक्ति भर उठती है, ऐसा होने पर योगी के सहस्रार में योनिनामक त्रिकोणच्रक में स्थित चन्द्रमा से द्रवित अमृत मूलाधार में स्थित सूर्य का ग्रास होने से बच जाता है, यह प्रत्याहरित हो जाता है, इस तरह चन्द्रमा सूर्य का शोषणकारी प्रभाव समाप्त कर देता है । यही चन्द्रमा द्वारा सूर्य को अपना ग्रास बना लेना है ।

धरे अधर बिचारीयां धरी याही मैं सोय ।
धरे अधर परचा हूवा तब दुतीया नाही कोय ।। 218 ।।

जीवात्मा के पिंड (धरे - धरा, पांचभौतिक शरीर) में ही ब्रह्म (अधर - पंचभूत में परमात्मा) व्याप्त है । पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड का मूलाधार ब्रह्म है, जो दोनों में व्याप्त है । योग की साधना से हठयोग के द्वारा शरीर के अन्तर अवयवों के सूक्ष्म विश्लेषण से स्वरूपानुभूति के प्रकाश में पिंड में ब्रह्म की विद्यमानता का रहस्य ज्ञात होने पर सभी तरह का द्वैत समाप्त हो जाता है ।

जिभ्या इन्द्री एकैं नाल । जो राषैं सो बंचै काल ।
पंडित ग्यांनी न करसि गरब । जिभ्या जीती जिन जीत्या सरब ।। 219 ।।

गोरष कहै हमारा षरतर पंथ । जिभ्या इन्द्री दीजै बन्ध ।
जोग जुगति मैं रहै समाय । ता जोगी कूं काल न षाय ।। 220 ।।

जो साधक अपनी जीभ (वाणी) को वश में रखकर एकमात्र परमेश्वर परमशिव (एकै नाल) के आश्रित रखता है, वह काल का भी वंचन (मृत्यु-विजय) कर लेता है । हे पण्डितों । ज्ञानियों । शास्त्रज्ञान को जीवन में बिना आचरित किये वाद-विवाद में ही कालक्षेप करने वालो । अपनी जानकारी का गर्व मत करो, यह तो व्यर्थ प्रलाप है और जिह्वा का दुरूपयोग है । वास्तव में जिसने जिह्वा को स्वाद के पीछे भटकने न देकर मिताहार से शरीर का पोषण कर लिया और व्यर्थ शास्त्रज्ञान का ढिढोरा न पीटकर प्रभु, परमेश्वर के चिन्तन में लगा दिया - उसने समस्त साधन सम्बन्धी विघ्नों पर विजय पा ली । हमारा (हठ) योग-मार्ग सूक्ष्म है, अनुभवगम्य और सर्वग्राह्य तथा निर्मल है, निष्पक्ष है और इस मार्ग का सबसे उत्कृष्ट साधन यह है कि साधक स्वादवृत्ति और वाणी को संयमित रखकर योग की युक्ति (साधना) में लग जाय, ऐसे योग-साधक योगी को मृत्यु का भय नहीं रहता । गोरखनाथ का वचन है कि हमारा योगमार्ग अनुभूति का मार्ग है, (लेषै लिषी न कागद माड़ी सो पत्री हम बाचीं: सबदी 264) हमारे योगमार्ग पर चलने में मृत्यु का भय मिट जाता है ।

बरष एक देखिलै हो पंडिता तत एक चीन्हिबा सबदैं सुरति समाई ।
गोरखनाथ बोलै भ्रम न भूलिबा रे भाई ।। 221 ।।

हे ज्ञानियो (पंडिता), यह जगत् (वरष = वृक्ष) परमात्मा में अधिष्ठित है, उत्पन्न है, भीतर-बाहर एक ही परब्रह्म परमात्मतत्व की परिव्याप्ति का ज्ञान प्राप्त कर परमात्मा में चित्त की वृत्ति (सुरति) का लय कर देना चाहिए, अज्ञान में भटकने से लाभ नहीं होगा, भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए । इस सबदी में शब्द सुरति योग का आख्यान किया गया है । नाथ-सिद्धों की इस साधना का सन्त साहित्य पर व्यापक प्रभाव पड़ा है । मन की उन्मनी अवस्था सिद्ध होने पर शब्द का शून्य में लय ही शब्द में सुरति का समा जाना है । गोरखनाथ सावधान करते हैं कि हे ज्ञानियो । अविद्यावश भूल में नहीं पड़ना चाहिए, स्वरूप की विस्मृति नहीं करनी चाहिए, सूक्ष्म नादस्वरूप

परब्रह्म अलख निरंजन परमशिव में सुरति, चित्तवृत्ति की लयावस्था से ही स्वरूपबोध होता है ।

अबूझि बूझिलै हो पंडिता अकथ कथिलै कहांणी ।
सीस नवांवत सतगुर मिलीया जागत रैंण बिंहाणी ।। 222 ।।

हे विद्वानों । अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा ज्ञान-विज्ञान से परे परमतत्व है, वह अज्ञेय है पर अन्तर्चक्षु ज्ञाननेत्र से उनके स्वरूप का साक्षात्कार होता है, यह साक्षात्कार कर लेना चाहिए । वह शब्द से परे हैं (वेद की ऋचायें नेति-नेति के द्वारा उसके स्वरूप-चिन्तन में विवशता प्रकट करती हैं) हे ज्ञानियो, उसका रूप यद्यपि वाणी का विषय नहीं है तथापि अनुभव करने वाले अपनी अनुभूति का वर्णन करते ही हैं, इसलिये उसका वर्णन कर लेना गुरू के प्रति श्रद्धावनत होकर परमतत्व का बोध किया जा सकता है । इसलिए गुरू के चरण पर नतमस्तक होकर श्रद्धापूर्वक गुरूज्ञान की प्राप्ति, गुरू के उपदेश की प्राप्ति से परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार कर लेना चाहिये । गुरूज्ञान मे ही संसाररूपी रात जागते-जागते कट जायेगी, अविद्या अन्धकार का नाश हो जायेगा और परमात्म ज्ञान का प्रभात प्रकाशित हो उठेगा ।

विद्या पाढ़ै र कहावै ग्यांनी । बिनां अविद्या कहै अग्यांनी ।
परम तंत का बोध न मरमी । गोरष कहै ते महा अधरमी ।। 223 ।।

जबतक परमतत्व परमात्मा का तत्वबोध-स्वरूपानुभव नहीं होता, तबतक ज्ञान-अज्ञान, दोनों ही समान हैं । यद्यपि विद्या की प्राप्ति आवश्यक है, तथापि परमात्म ज्ञानशून्य विद्या पढ़कर ज्ञानी कहलाने से ही कोई ज्ञानी नहीं हो जाता । इसी तरह जिसने विद्या नहीं पढ़ी, वह यद्यपि लोकदृष्टि में अज्ञानी है पर ऐसा भी सम्भव है कि बिना विद्या पढ़े ही वह परमात्मज्ञानी हो जाय, वस्तुतः तत्वबोध के लिए पुस्तकीय ज्ञान के होने न होने का कोई अर्थ नहीं है । गोरखनाथ का वचन है कि जो परमात्मा का मर्मज्ञ, नहीं वह महा अधर्मी है ।

पंथ चले चलि पवनां तूटै तन छीजै तत जाई ।
काया तैं कछू अगम बतावे ताकी मूंडूं भाई ।। 224 ।।

पिण्ड में ही समस्त ब्रह्माण्ड तत्वतः समाविष्ट है, जो कुछ सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, सरिता, समुद्र आदि ब्रह्माण्ड में हैं, वे ही हमारे पिण्ड में समान रूप से अधिष्ठित हैं । योगी को चाहिये कि वह पिण्ड में ही ब्रह्माण्डनायक, अलख निरंजन का योगयुक्ति से साक्षात्कार कर ले, इधर-उधर जिज्ञासावृत्ति से भ्रमण करने से इन्द्रियाँ चंचल हो उठती हैं, शरीर में प्राण की शक्ति क्षीण होती हैं, शरीर निस्तेज और दुर्बल हो जाता है और आत्मज्ञान अथवा परमात्मबोध की प्राप्ति में बाधा पड़ती है । शरीर परमात्मा के स्वरूपानुभव का माध्यम है । वह बाहर-भीतर सर्वत्र है । यह कोई सिद्ध नहीं कर सकता कि परमात्मा का स्वरूपबोध शरीर से परे अथवा अगम है । मैं ऐसा सिद्ध करने वाले शिष्यत्व ग्रहण कर सकता हूँ पर यह असम्भव है, ऐसा सिद्ध करने वाला अज्ञान, अविद्या का ही परिचय देगा । यह स्वतः सिद्ध है कि शरीर में हम परब्रह्म परमात्मा अलख निरंजन का स्वरूपानुभव करते हैं ।

महमंद महमंद न करि काजी महमंद का बौहोत बिचारं ।
महमंद साथि पैंकंबर सीधा ये लष असी हजारं ।। 225-26 ।।

हे काजी, न्याय प्रस्तुत करते समय मुहम्मद साहब के पवित्र शब्दों का मर्म समझे बिना बार-बार उनके नाम का उल्लेख मत करो, मुहम्मद साहब ने निष्पक्ष और निर्मल अमृतवाणी में कुरान में जीवन तत्व, मर्म अथवा सिद्धान्त निरूपित किया है । उनके वचन का मर्म समझने के लिये एक लाख अस्सी हजार पैगम्बरों ने, असंख्य सिद्ध महात्माओं ने कठोर साधना की और आत्मचिन्तन किया । मुहम्मद साहब के विचारों का रहस्य तो परमात्मा के अनुग्रह से ही प्रकट हो सकता है ।

जीव सीव संगे बासा । बधि न षाइबा रूध्र मासा ।
हंस घात न करबा गोतं । कथंत गोरष निहारि पोतं ।। 227 ।।

जीवात्मा ओर परमात्मा में भेद नही है, वे एक साथ निवास करते हैं, वे दो नहीं हैं, परमात्मा प्रत्येक जीवधारी के शरीर में भीतर-बाहर सर्वत्र

परिव्याप्त है, ऐसी स्थिति में किसी भी जीवकी हत्या कर उसके शरीर और रक्त-मांस को अपना आधार नहीं बनाना चाहिए । जीव-हिंसा महान् पाप है, प्राण का घात करना, किसी को मारना अपकर्म है । जिस तरह हम अपने पुत्र आदि का प्राणघात नहीं करते, उसी तरह हमें अन्य जीवधारियों को भी नहीं मारना चाहिए । गोरखनाथ का कथन है कि अपने पुत्र आदि को देखकर इस तरह विवेक से काम लेना चाहिए ।

जीव क्या हतिये रे प्यंड धारी । मारिलै पंच भू म्रगला ।
चरै थारी बुधि बाड़ी । जोग का मूल है दयादाण ।।
कथंत गोरष मुकतिलै मानवा मारिलै रे मन द्रोही ।
जाकै बप बरण मास नहीं लोही ।। 228 ।।

हे पिण्डधारी । जीव-हत्या क्यों करते हो ? वह तुम्हारे ही समान शरीरधारी हैं । तुम्हें मृगया का शौक हो, तो अपने मन को मारो । यह पांच भौतिक मृग है, यह मृग बुद्धिरूपी उपवन को सुषमा और हरीतिमा को नष्ट कर देता है, योग-साधना का आधार तो दया है, शुभ कर्म है, परोपकार है । यदि बुद्धि परोपकार से शून्य है तो ऐसा इसलिये है कि चंचल मृगरूपी मन ने इसकी विशिष्टता अथवा शक्ति का नाश कर दिया है । वास्तव में मुक्ति - प्राप्ति तो मन को अमन, अस्तित्वहीन करने से ही सम्भव है, इस मन को मारने में हिंसारूपी अधर्माचरण का पाप भी नहीं लगेगा, क्योंकि मन रक्त और मांस का शरीरवाला है ही नही । गोरखनाथ का यह अनुभवपूर्ण कथन है कि मन मारने से पुण्य होता है, मनोनाश से स्वबोध अथवा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

जिनि मन ग्रासे देव दाण ।
सो मन मारिले गहि गुरू ग्यांन बांण ।। 229 ।।

मन को मारना (जीत लेना अपने वश में कर लेना) बहुत ही कठिन है (पर योगयुक्ति से यह वश में हो जाता है, मर जाता है अथवा उन्मन हो जाता है) मन (रूपी मृग) देवता और दानव, दोनों को अपने शासन में पराधीन रखता है, इसको अपने वश में करने अथवा मारने का उपाय है गुरू का उपदेश, उनके शब्दरूपी बाण को (अपने विवेकरूपी धनुष) से संधानित

करने पर मन का अस्तित्व समाप्त हो जाता है, इसलिये गुरू के शब्द, उपदेश, ज्ञानरूपी बाण का आश्रय लेकर मन को मार डालना, नष्ट कर देना अथवा उन्मन या अमनस्क कर देना चाहिए ।

जोगी सो जो राषै जोग । जिभ्या यंद्री न करै भोग ।
अंजन छोड़ि निरंजन रहै । ताकू गोरष जोगी कहै ।। 230 ।।

योग अमूल्य रत्न है, योगी वह है, जो परमात्मा में, स्वरूप में सदा युक्त रहता है । यदि योगसाधक जिह्वा-इन्द्रिय की तृप्ति के लिये भोगास्वाद में आसक्त हो जाता है, आहार की विधि का उल्लंघन कर देता है, तो यह योग की साधना नहीं कर सकता, वह तो माया (अंजन) के वशीभूत होकर शरीर के पोषण और भौतिकता में तल्लीन हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि योगी तो वह है, जो माया के वशीभूत न होकर, अमायिक (निरंजन, परब्रह्म पद, परमशिव) स्वरूप में स्वस्थ रहता है ।

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप । सुंनि निरंजन आपै आप ।
सुंनि कै परचै भया सथीर । निहचल जोगी गहर गंभीर ।। 231 ।।

अनाहत नाद-श्रवण की अन्तिम निष्पत्ति अवस्था तथा उन्मनी समाधि के परे की अवस्था ही शून्य है, कैवल्यपद है, यही योगसिद्ध पुरूष की स्वरूप में स्थिति का अधिष्ठान है । यही अलख निरंजन मायातीत परब्रह्म परमात्मा परमशिव की स्वाभिव्यक्ति है, इस शून्य समाधि में परिचय (आत्मस्वरूपज्ञान अथवा स्वरूप बोध) से ध्रुव, अटलपद, स्थैर्य्य की प्राप्ति होती है । योगी अचंचलता अथवा सम्पूर्ण निरूद्धचित्तावस्था, उन्मनी समाधि में, गाम्भीर्य (गहर) में अथवा 'तद्धाम परमं मम' के अनुरूप परमपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

तजौ कुलती मेटौ भंग । अह निसि राषौ ओजुद बंधि ।
सरब संजोग आवे हाथि । गुरू राषै निरबाण समाधि ।। 232 ।।

हे योगसाधक ! योगसाधना की परम-चरमसिद्धि कैवल्यपद की प्राप्ति है, कुलती, कुण्डलिनी की साधना, जागृति, षट्चक्रभेदन और प्राण के

स्थैर्य तथा नाद बिन्दु की साधना की सर्वथा अपेक्षा है, पर कुल, पृथ्वी-तत्व में प्रसुप्त अथवा लीन, मूलाधार चक्र में स्थित महाशक्ति (स्त्री) के सहस्रार में स्थित सकल शिव के सायुज्य से भी परे अलख निरंजन परमशिव विराजमान है, उसके स्वानुभवबोध में अवरोध (भंग) को मिटा देना चाहिए । अनवरत रात-दिन तैलधारावत् शरीर (ओजुद) को संयमित कर सहज शून्य समाधि में (अभंग पद में) कैवल्यानुभव करना चाहिए, इससे सम्पूर्ण योगसिद्धि की अनुभूति होगी और गुरू निस्सन्देह अनुग्रह करेंगे, वे रक्षा करेंगे । (इस सबदी में कुलती, कुलथी की दाल और भांग के सेवन के त्याग का भी संकेत है । कुलथी से वायु विकार और भांग से पित्त-विकार होता है ।)

अकुच कुचीया बिगसिया पोहा ।
सिधि परिजलि उठी लागिया धुवा ।।
कहै गोरषनाथ धुवा प्राण । ऐसे पिंड का परचा जाणै प्राण ।। 233 ।।

इन्द्रियजन्य विषयभोगों में चंचल (अकुंचित) मन प्रत्याहार के अभ्यास के द्वारा स्थिर (कुंचित) हो गया है और ऐसा होने पर जीवात्मा रूपी पुष्प (पोहा) प्रफुल्लित हो उठा है, खिल गया है, योगसाधना की शिक्षा में उत्तरोत्तर उन्नत होते हुए पूर्ण रूप से योगानुभव में परब्रह्म अलख निरंजन शिव के साक्षात्कार में सावधान है । यही योगसिद्धि है, इस सिद्धिरूपी अग्नि का परिचायक प्राण (का संयम) है । जिस तरह धुवाँ देखकर यह निश्चित हो जाता है कि अग्नि विद्यमान है, इसी तरह प्राण के ऊपर उठने से सुषुम्ना के पथ से ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर होने से पता चल जाता है कि योगसाधक सिद्धि में स्थित है ।

अवधू यों मन जात है याही तैं सब जांणि ।
मन मकड़ी का ताग ज्यूं उलटि अपूठौ आंणि ।। 234 ।।

मन बड़ा ही चंचल है, इसका निग्रह बहुत ही कठिन है, क्षण-क्षण में अस्थिर होता रहता है । हे अवधूत ! इसका निग्रह करना आवश्यक है, क्योंकि समस्त सृष्टि उसके अधिष्ठाता और अधिष्ठात्री इसी मन के ही स्वरूप, अरूप और रूप हैं । सावधानी की बात यह है कि इसे पीठ की ओर (अ-पूठौ), पीछे जहाँ से इसकी चंचलता आरम्भ होती है, वापस ले जाना

चाहिए चंचल नहीं होने देना चाहिए, मकड़ी के तार की तरह इसे वापस लाना चाहिए, जिससे यह स्थिर हो जाय ।

जे आसा तो आपदा जे संसा तो सोग ।
गुर मुषि बिना न भाजसी ये दून्यों बड़ रोग ।। 235 ।।

आशा और संशय, ये दोनों-के-दोनों भयंकर रोग हैं । आपदा का कारण है, इससे मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्' इस सिद्धान्तवाक्य में विश्वास कर परमात्मा का आश्रय ग्रहण करना ही निरापद है । इसी तरह संसार के असत् रूप को सत् मान लेना ही महान् संशय है । इस संशय से साधक के मन में विषाद होता है, शोक होता है, वह आनन्द-स्वरूप का विस्मरण कर देता है । गुरू के ज्ञानोपदेश से ही साधक के ज्ञान नेत्र खुलते हैं और संशय तथा आशा का नाश हो जाता है ।

इस ओजुदा मैं मारि लै गोता, कछु मगज भीतरि ष्याल रै ।
पंच कटार है भीतरि निमस करि बेहाल रै ।। 236 ।।

(हठ) योग की साधना से अपने पिण्ड में परिव्याप्त परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए, जो ब्रह्माण्ड हमें शरीर के बाहर स्थित दीख पड़ता है, वही तत्वतः हमारे शरीर में विद्यमान है । (ओजुदा) में ही गीता लगाने से योगसिद्धिरूपी रत्नावली की प्राप्ति हो जाती है, अध्यात्म का सागर शरीर में लहरा रहा है । मस्तिष्क (मगज) में विचार करना चाहिए, और पंच इन्द्रियसहित मन को बुद्धिरूपी कटार (शस्त्र) से शक्तिहीन कर, क्षणमात्र में विवश (बेहाल) कर आत्मज्ञानं के प्रकाश में चैतन्यघन परमानन्दस्वरूप अलख निरंजन का बोध अथवा अनुभव प्राप्त कर लेना मानवजीवन अथवा मानव-शरीर की प्राप्ति की सार्थकता है ।

ब्यंद ब्यंद सब कोई कहै । महाब्यंद कोइ बिरला लहै ।
इस ब्यंद भरोसे लावै बंघ । असथिरि होत न देषो कंध ।। 237 ।।

महाबिन्दु (सम्पूर्ण वीर्य सिद्धि) की प्राप्ति कोई बिरला ही करता है, ऐसे तो सभी लोग कहते हैं कि वीर्य (बिन्दु) की रक्षा से शरीर स्थिर होता

है, इसका पात (मृत्यु) नहीं होता, परन्तु वीर्य को ऊर्ध्वगामी करते हुए सहस्रार में नाद के साथ उसका संयोजन करने से परिपक्व रस, योगाग्नि से सिद्ध महारसायन (महाबिन्दु) को प्राप्त करना सबके वश की बात नहीं है, इसी महाबिन्दु से अमरकायत्व की प्राप्ति होती है । शरीर स्थित वीर्य के भरोसे बिना उसको योगाग्नि में सिद्ध किये शारीरिक (यौगिक) क्रिया, मुद्राबन्ध आदि, से शरीर स्थिर होते नहीं देखा गया है ।

उलटै मूल डाल नहीं रहै । फाड़ि कछौटा रात्यौं बहै ।
न वोह छीजै ना वोह गलै । ब्यंद नहीं सो भगमुष ढलै ।। 238 ।।

बिन्दु की साधना, वीर्य की रससिद्धि (हठ) योग-साधना का एक आवश्यक अंग है, जिसके सिद्ध होने पर अमरकायत्व और ब्रह्मानुभूति की प्राप्ति होती है । जो वीर्य कामोपभोग में, स्त्री के संभोगसुख की पूर्ति में भगमुखी, स्त्री की योनि में अधोमुखी, हो जाता है, वह अपक्व और निस्सार वीर्य है, जिसके द्वारा योगी सिद्धि के वंचित रह जाता है । इस वीर्य को ऊर्ध्वगामी करने से, इसके मूल को, उद्गम को उलट देने से कामोपभोगपरायणताजन्य चंचल मानसिक वृत्तियों का नाश हो जाता है, यह वीर्य ऊर्ध्वमुखी होने पर योगी के द्वारा वस्त्र (कछौटा) त्याग देने से, कामोपभोग रूपी वस्त्र (लज्जा, आवरण) को उतार कर निरावरण दिगम्बर होने पर, जो अधोमुखी होता है, ऊर्ध्वमुखी हो जाता है, यह न गलता है, न ढलता है, न क्षीण होता है और न नष्ट होता है । यह पक्व अथवा सिद्ध वीर्य ब्रह्मानुभूति का प्रशस्त माध्यम हो जाता है ।

बिणि बैसंदर जोति बलत है गुर प्रसादे दीठी ।
स्वामी सीला अलुणी कहिये जिनि चीन्हा तिन दीठी ।। 239 ।।

शरीर में वही ब्रह्मज्योति है, जो घट-घट में, जड़-चेतन में विद्यमान है । मैंने (गोरखनाथ ने) गुरू की प्रसन्नता (कृपा) से इस ज्योति का, अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा के स्वप्रकाश का अपने शरीर के भीतर साक्षात्कार कर लिया, यह ज्योति बिना अग्नि के ही प्रकाशित है, इसका आधार पांचभौतिक तेज नहीं है, इस ज्योति का दर्शन तीसरे नेत्र (तिन दीठी) से, ज्ञाननेत्र से उन वैराग्य-रसिकों को होता है, जो संसार के प्राणी, पदार्थ और

परिस्थिति से परे होकर शीलोछंवृत्ति से ही जीवनधारण करते हैं, (खेत की फसल कट जाने पर उसके स्वामी द्वारा अन्न ग्रहण कर लेने के बाद खेत में जो अन्न के दाने, शिल बच जाते हैं, अलुणी, उंछ, (त्यक्त) रह जाते हैं, उन्हें अयाचित वृत्ति से एकत्र कर उनसे जीविका चलाते हुए पूर्ण वैराग्यमय जीवन का वरण शरीर की रक्षा करने वाले) त्यागी महात्मा ही आन्तरिक साधना से परब्रह्म ज्योति का साक्षात्कार करते हैं ।

ऊजल मीन सदा रहै जल मै सुकर सदा मलीना ।
आतम ग्यांन दया बिणि कछु नाही कहा भयौ तन षीणा ।। 240 ।।

किसी के स्वभाव की निन्दा-स्तुति व्यर्थ है । मछली सदा जल में रहने से निर्मल रहती है और सूकर कीचड़ में रहने से मैला रहता है । इसी तरह योग-साधक की बात है, केवल काय साधन, कुण्डलिनी-जागरण करते हुए षट्चक्रभेदन, प्राणायाम, आसन-मुद्राबन्ध से शरीर को शोधित कर लेने से ही कोई योग में सिद्धि प्राप्त नहीं कर लेता । मूल बात यह है कि जीवमात्र के प्रति हमारे भीतर आत्मभाव होना चाहिए, हमारी चित्तवृत्ति में दूसरों के प्रति दया रहनी चाहिए, वास्तविक आत्मज्ञानी वही है, योगसिद्ध वही है, जिसके हृदय में दया और करूणा है, अन्यथा तप करके शरीर शोधित कर लेने मात्र से कोई आत्मविज्ञानी नही कहला सकता ।

धोतरा न पीवो रे अवधू भांगि न षाऔ रे भाई ।
गोरष कहै सुणौ रे अवधू या काया होयगी पराई ।। 241 ।।

हे अवधूत । इस मनुष्य-शरीर की प्राप्ति बड़ी दुर्लभ है । इस शरीर की चेतन वृत्तियों को धतूर-सेवन कर तथा भाँग खाकर दुर्बल नही करना चाहिये । इन मादक द्रव्यों के सेवन से स्नायु निर्बल हो जाती है और मन चंचल हो जाता है, बुद्धि क्षीण हो जाती है, यह काया काम, क्रोध, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं द्वारा आक्रान्त हो जायेगी और जीवन निष्फल हो जायेगा ।

साइं सहेली सुत भरतार सरब सिसटि कौ एकौ द्वार ।
पैसता पुरसि निकसता पूता ता कारणि गोरष अवधूता ।। 242 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि इस संसार में स्वामी, सखा, सहेली, पुत्र, पति, सब को गर्भ में प्रवेश कर शरीर धारण करना पड़ता है और जन्म लेने का, अथवा शरीर धारण करने का सकल सृष्टि का एक ही द्वार है, स्त्री की योनि से (चौरासी लाख योनियों में) जन्म लेकर कर्म का विपाक भोगते हुए मनुष्य जन्म लेता है, इसलिये अवधूत होने पर, वैराग्य का मार्ग ग्रहण करने पर, कामोपभोग परायणता के परिणाम स्वरूप जीवात्मा माता के गर्भ में प्रवेश करने से बच जाता है । इसलिए मैं (गोरखनाथ) ने वैरागय का ही वरण कर लिया, जिससे बार-बार जननी के जठर में निवास कर मलमूत्र से निर्मित शरीर में गर्भस्थ रहने से बच गया ।

राष्या रहै गमाया जाय सतिसति भांषंत श्रीगोरषराय ।
येकै कहि दुसरै मानी गोरष कहै वो बड़ौं ग्यांनी ।। 243 ।।

यह गोरखनाथ का सत्य वचन है, ज्ञानोपदेश है । एक कहता है, और दूसरा गुरूवचन सदृश उसके ज्ञान को स्वीकार कर अपने जीवन में चरितार्थ करता है । यह परम्परागत सत्यवचन है कि किसी वस्तु की रक्षा करने से वह सुरक्षित रहती है और उसको गवाँ (खो) देने से वह सदा के लिये हाथ से निकल जाती है । कहने वाला गुरू ज्ञानसम्मत उपदेश देने वाला और उस उपदेश को जीवन में उतारने वाला, दोनों ही निस्सन्देह उत्तम कोटि के (बड़े) ज्ञानी हैं ।

च्यंत अच्यंत ही उपजै च्यंता सब जुग षीण ।
जोगी च्यंता बीसरै तौ होई अच्यंतहि लीन ।। 244 ।।

किसी भी तरह की साधना में, चाहे यौगिक हो या आध्यात्मिक हो, चिन्ता एक बहुत बड़ी बाधा है, यह अनायास ही उत्पन्न हो जाती है, किसी भी तरह के अभाव के दुःख की अनुभूति अथवा धारणा से चिन्ता की उत्पत्ति होती है । चिन्ता की आग में जलता हुआ समस्त जगत् नैराश्य की स्थिति में निर्बल, उदास, और विपन्न हो जाता है, यह निर्विवाद है कि योगी को चिन्ता नही सताती है, क्योंकि वह स्वरूपानुसन्धान में तत्पर रह कर परमात्मा के आश्रय में स्थित हो जाता है और इस तरह अलख निरंजन परब्रह्म शिव के (अचिन्त्य निष्कल परमेश्वर के) चिन्तन में, ध्यान और विचार में तल्लीन रहता है ।

गिरही को ग्यांन अमली को ध्यांन । बूचा को कान बेश्या को मान ।
बैरागी अर माया स्यूं हाथ या पांचां को एको साथ ।। 245 ।।

गृहस्थाश्रम के प्रपंच में आसक्त रहकर स्वरूपानुसन्धान तथा आत्मा और परमात्मा का चिन्तन गृहस्थ नहीं कर पाता है । इसी तरह (अमली) व्यसनी को जिस बात का व्यसन हो जाता है अथवा जिस पदार्थ के सेवन में उसे सुख मिलता है, वह उसे नहीं छोड़ पाता, अमली, व्यवसनी का जीवन सदाचार-परायण नहीं हो सकता । जो प्राणी बूचा है अथवा जिसका कान कट गया हो, उसके लिये कान का महत्व ही नहीं रह जाता है और वेश्या कितनी भी सुन्दरी क्यों न हो, कितना भी धन उसने (वेश्यावृत्ति) से क्यों न कमा लिया हो उसे समाज में वह प्रतिष्ठा नहीं मिल सकती जो एक साध्वी-सती गृहस्वामिनी को मिलती है । जो वैराग्य के पथ पर चल रहा है, अथवा विरक्त है, वह कभी माया में, लोक-संग्रह और धन आदि के संचय के प्रपंच में नहीं पड़ सकता, विरक्त माया में आसक्त होने से नष्ट हो जाता है । अतः यह निश्चित सत्य है कि प्रपंच में गृहस्थ, व्यसनी, कान से हीन बूचा, व्यभिचारिणी वृत्तिवाली वेश्या और माया में फँसा सन्यासी, यती अथवा विरक्त, ये पाँचों-के-पाँचों समानधर्मी हैं, अपनी मर्यादा से रिक्त हैं, कदापि सम्मानित नहीं कहे जा सकते हैं ।

गिरही होय करि कथै ग्यांन, अमली होय करि धरै ध्यान ।
बैरागी होय करै आसा, नाथ कहै तीन्यों षासा पासा ।। 246 ।।

सांसारिक विषयभोगों में आसक्त गृहस्थ आध्यात्मिक तत्व की चर्चा नहीं कर सकता, इसी तरह जो इन्द्रियजन्य सुखों का व्यसनी हैं, वह परमात्मा या अपने इष्ट उपास्य देव का ध्यान नही कर सकता क्योंकि उसकी चित्तवृत्ति तो व्यसनों की मृगमरीचिका में उलझ जाती है । संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों का आश्रय न ग्रहण कर तथा वैराग्य का वरण कर जो संसार के लोगों से जीवन-निर्वाह की आशा करता है, वह वास्तविक वैराग्ययुक्त पुरूष नहीं है । ये तीनों-के-तीनों ही बन्धन में जकड़े तथा मायामुग्ध हैं ।

रांड मुवा जती, धाये भोजन सती धन त्यागी ।
नाथ कहै ये तीन्यौ अभागी ।। 247 ।।

यति, सत्यवादी (सती) और त्यागी (वैराग्यवान्) यदि इन तीनों के जीवन में क्रमशः संयम, सदाचार और वैराग्य का अभाव हो जाता है, तो तीनों-के-तीनों अपने मार्ग से पतित हो जाते हैं । यदि स्त्री के मर जाने पर कोई यति (योगी) होने का स्वाँग रचता है, तो वह यति नहीं हैं, इस तरह साधु का वेश धारण, कर भिक्षा माँग कर पेट की आग शान्त करके ही जो जीविका चलता है, वह सदाचारी साधु नहीं है तथा धन के रहते जो दान-पुण्य में अभिरूचि नहीं रखता और उसके नष्ट या क्षय हो जाने पर त्यागी कहलाने के मिथ्या गौरव में सुख मानता है, वह वास्तविक त्यागी नहीं है । नाथ (गोरखनाथ) का कथन है कि इस तरह के योगी, साधु और संन्यासी (त्यागी) तीनों-के-तीनों अभागे हैं ।

पढ़ि पढ़ि पढ़ि केता मुवा कथि कथि कहा कीन्ह ।
बढ़ि बढ़ि बढ़ि बहु घट गया पारब्रह्म नहीं चीन्ह ।। 248 ।।

ग्रन्थों के पठन-पाठन, शास्त्रों के अध्ययन और अध्यात्म आदि के निरूपण का प्रयोजन ही यह है कि मनुष्य परमात्मा के केवलानुभवानन्द स्वरूप का रसास्वादन करें, शास्त्र-चिन्तन और अध्यात्म ज्ञान-कथन इस पुण्यकर्म के साधन हैं पर यदि मनुष्य केवल शास्त्र ही पढ़ता रहे और आध्यात्मिक चर्चा ही करता रहे और वह परमात्मा के साक्षात्कार और अनुभव से रिक्त या शून्य रहे तो वह जीवन के वास्तविक लाभ से वंचित हो जाता है । उसकी उन्नत स्थिति क्षीण हो सकती है, इसलिये उसकी प्रगति का कोई महत्व नहीं है । परब्रह्म परमात्मा का अनुभव प्राप्त करना ही मानव-जीवन का परम लाभ है ।

सति सति बोलै गोरष राणा ।
तीनि जणै का संग निवारौ नकटा बूचा काणा ।। 249 ।।

गोरक्षनाथ का यह अनुभव - सिद्ध सत्य कथन है कि यदि किसी नकटे, कनकटे और काने व्यक्ति ने वैराग्य धारण किया है तो उसके साहचार्य का निवारण करना चाहिए क्योंकि ये तीनों हीनता-ग्रंथि से पीड़ित होने के कारण विरक्त हुए हैं । इनका वैराग्य विवेकजन्य नहीं है ।

कदैन सोभै सुन्दरी सनकादिक के साथि ।
जब तक कलंक लगाइसी काली हांडी हाथि ।। 250 ।।

स्त्री का संग योगसाधना में भयानक बाधा उपस्थित करता है । यह निर्विवाद है कि ब्रह्मचर्य व्रती, आजीवन बालयोगी सनक, सनातन, सनन्दन, सनत्कुमार के साथ सुन्दरी रमणी नहीं शोभित हो सकती है, उपयोगी हो नहीं सकती है । जिस तरह आग पर जली हाँडी, मिट्टी के बर्तन की कालिख (कालिमा) हाथ में धारण करने पर हाथ को कभी-न-कभी काला कर ही देती है, ठीक इसी तरह यति के साथ यदि स्त्री रहे तो उसे कामोपभोग-परायण बना सकती है, यह बात असंदिग्ध है । योगी को स्त्री के संग का परित्याग कर देना चाहिये अन्यथा उसके विषयवासना में पतित होने की आशंका सदा बनी रहती है ।

पासि बैठी सोभै नहीं साथि रमाई भुंडि ।
गोरष कहै असतरी कहा सलह कह मुण्डि ।। 251 ।।

योगसाधना और विशेष रूप से हठयोग-साधना में स्त्री के सम्पर्क में रहना सर्वथा निषिद्ध है, क्योंकि स्त्री के संग में रहने से मन की वृत्तियाँ चंचल रहती हैं । ऐसी स्थिति में साधक नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा परमात्मसाक्षात्कार करने में असमर्थ हो जाता है, स्त्री चाहे सीधी हो, चाहे भोड़ी हो या दीक्षित हो, (योगमार्ग में साधनारत हो), प्रत्येक स्थिति में, उसके संग का त्याग करना ही योगसाधक के लिये सर्वथा श्रेयस्कर है ।

जरणा जोगी जुगि जुगि जीवै झरणा मरि मरि जाय ।
षोजै तन मिलैं अविनासी अगह अमर पद पाय ।। 252 ।।

योगी के लिये ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है । जो योगी अपने शरीर में वीर्य को स्थिर रखकर उसे प्राणायाम की साधना द्वारा ऊर्ध्वमुखी कर लेता है और वीर्यरस को शरीर में सिद्ध अथवा जीर्ण कर लेता (पचा लेता) है, वह पक्व योगी (जरणा योगी) अथवा सिद्ध योगी है । जो साधक वीर्य की रक्षा नहीं करता है और कामेन्द्रियजन्य विषयसुख की प्राप्ति में उसका क्षरण

कर देता है, वह तो योगी नहीं है, सच्चा योगी शरीर में नाद-बिन्दु की साधना करते हुए परमात्मा की खोज, प्राप्ति अपने पिण्ड में ही कर लेता है और दुर्लभ अग्राह्य (अगह) पद कैवल्य में प्रतिष्ठित होकर योगसिद्धि का रसास्वादन करता है ।

जप तप जोगी संजम सार । बाले कंद्रप कीया छार ।
येहा जोगी जग मैं जोय । दूजा पेट भरै सब कोय ।। 253 ।।

इस संसार में वास्तविक योगी तो वह प्राणी है, जो जप और तप तथा संयम के अभ्यास से अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहारित कर विषयोन्मुखी बनने से रोकता है और काम को जलाकर क्षारकर देता है । जिस साधक का आचरण जप तप संयम के विपरीत है, विमुख है, वह तो नाममात्र के लिये योगी है, उसने भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने और पेट भरने के लिये योगी का वेश धारण किया है, वास्तविक योगी तो जपी, तपी, संन्यासी अथवा संयमी और अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रती होता है, वह परमशिव में स्वस्थ रहता है ।

जोगेसर की इहै परछ्या, सबद बिचार्‌या षेलैं ।
जितना लाइक बासणा होवैं, तेती तामैं मेल्है ।। 254 ।।

शब्द ब्रह्म है, शब्द ही गुरू का सदुपदेश है, यही नादब्रह्म की उपासना का प्रतीक है । योगसिद्ध योगेश्वर की परख अथवा लाक्षणिक परिचय यह है कि वह बड़े विवेक से शब्द-विचार कर, अनुभव-निरूपण कर शिष्य को योगसाधना में नियोजित कर उसका साधक-जीवन कृतार्थ और श्रेयस्कर कर देता है । सद्‌गुरू योगेश्वर वह है, जो शिष्य की योग्यता और पात्रता का ध्यान रखकर उसे उतना ही ज्ञान प्रदान करता है, (मेल्है) देता है, जितना उसे साधन-पथ में बढ़ाते रहने में पर्याप्त होता है । गुरूप्रदत्त सदुपदेश की यही महत्ता है कि वह योग्य शिष्य की पात्रता अथवा योग्यता के अनुरूप हो । योगेश्वर ही ऐसा सद्‌गुरू होता है ।

चांपि भरै तो बासण फूटै बारै रहै तौ छीजै ।
बसत धणेरी बासण योछौ कहो गुर क्या कीजे ।। 255 ।।

अवधू सहजै लैणा सहजै देणा सहजै प्रीती ल्यौ लाई ।
सहजै सहजै चलेगा रे अवधू तौ बासण करैगा समाई ।। 256 ।।

(इन सबदियों में योग की सहज स्वाभाविक साधना का प्रक्रम निरूपित किया गया हैं ।) योगसाधक शिष्य अपने योगिगुरू के चरणों में निवेदन करता है कि शिष्य गुरूज्ञान को प्राप्त करने के योग्य किस तरह हो, यदि वह ज्ञान प्राप्त करने का सुयोग्य पात्र नहीं रहता है तो कितना भी हठपूर्वक ज्ञान प्रदान कि[illegible] [illegible], उसमें योग्यता न होने से, ज्ञान नहीं ठहर पाता । साथ-ही-साथ [illegible] पूरा ज्ञान न प्रदान कर अल्पमात्र का उपदेश देता है और शेष ज्ञान बाहर ही रह जाता है, तो वह भी क्षीण अथवा नष्ट हो जाता है । शिष्य दैन्यपूर्वक निवेदन करता है कि हे गुरूदेव इस स्थिति में क्या करना चाहिये ।

गुरू का विवेकपूर्वक उत्तर है कि योग्य गुरू शिष्य की योग्यता का विवेक रखता है और वह धीरे-धीरे उसे साधनपथ में अग्रसर कर स्वाभाविक रूप से साधना में पारंगत करने की कृपा अथवा अनुग्रह करता है । ऐसा करने से शिष्य की साधना में रूचि बढ़ जाती है, उसकी चित्तवृत्ति ईश्वर-प्रणिधान में लग जाती है, उसे अपने स्वरूपबोध[illegible] में प्रीति हो जाती है और वह परमात्म साक्षात्कार में लग जाता है । इस तरह सहज रूप से, स्वाभाविक गति से यथाविधि यथाक्रम साधना करते हुए गुरू के अनुग्रह से शिष्य की योग्यता अपने-आप बढ़ जाती है ओर वह पूर्णात्पूर्ण परमात्मपद में स्वस्थ अथवा स्वरूपस्थ होने में सक्षम हो जाता है ।

तूंबी में तिरलोक समाया त्रिबेणी रबि चंदा ।
बूझौ रे ब्रंभ गियानी अनहदनाद अभंगा ।। 257 ।।

अलख, निरंजन, शुद्ध (मायातीत) परब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार अथवा निर्मल स्वरूपानुभव अनाहतनाद (ध्वनि) के श्रवण से होता है । माया की तूंबी में बीजरूप से समस्त त्रैलोक्य, त्रिकुटी (त्रिवेणी) और रवि तथा चन्द्र आदि समाये हुए हैं और उनके द्वारा परब्रह्म केवलानुभवानन्द स्वरूप परमशिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता । हे ब्रह्म ज्ञानियों ! ब्रह्म के

स्वरूप का (ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, इस तत्व का) विचार करनेवालो, अभंग अनाहत नाद का, जो निरन्तर सहज अभिव्यक्त होता रहता है, श्रवण करो । माया के बन्धन से छूटने और ब्रह्मानुभव का एकमात्र साधन अनाहत नाद श्रवण ही है ।

सत्यो सीलं दोय असनांन त्रितीये गुर बायक ।
चत्रथे षीषा असनान पंचमे दया असनान ।
ये पंच असनान निरमला नितिप्रति करत गोरखबाला ।। 258 ।।

बालयति (योगी) गोरखनाथ का वचन है कि मैं पाँच प्रकार के स्नान नित्य करता हूँ, ये सत्य, शील, गुरूपदेश-चिन्तन, स्वाध्याय (षीषा, सीषा-शिक्षा) और दया हैं । इनको आचरण में उतारने से तन, मन, बुद्धि सबकी शुद्धि हो जाती है । इन पाँच स्नानों से योगी का जीवन सदा संयमित और पुण्यशाली होता है । इस सबदी में इस बात पर बल दिया गया है कि वस्तुतः चित्त का परिष्कार ही वास्तविक स्नान है ।

त्रियाजीत ते पुरिषा गता मिलि भानंत ते पुरिषा गता ।
बिसासघातगी पुरिषा गता कायरौ तत ते पुरिषा गता ।। 259 ।।

अभष भषंते पुरिषा गता । सबद हीण ते पुरिषा गता ।
उदिक राषंत ते पुरिषा गता । परत्रिया राचंत ते पुरषा गता ।।
सति सति भाषंत गोरष बाला इतना त्यागि रहो निराला ।। 260 ।।

जो पुरूष स्त्री के द्वारा जीत लिया जाता है, स्त्री के वश में हो जाता है, वह नष्ट (गता) हो जाता है, जो पुरूष एक दूसरे से अपना (सहृदयतापूर्ण) सम्बन्ध तोड़ लेता है, (भानंत) और वैरभाव को अपना लेता है, वह नष्ट हो जाता है । जो विश्वासघाती होता है, वह नष्ट हो जाता है, जो पुरूष कायर है, अपने कर्तव्य से विमुख रहता है, उसका जीवन व्यर्थ है । जो युक्ताहार से विमुख होकर अभक्ष्य तामसिक पदार्थो का भोजन के रूप में उपयोग करता है, वह नष्ट हो जाता है, जो अपने गुरू के उपदेश के अनुसार जीवन और आचार-विचार नहीं बनाता और पथभ्रष्ट होकर अपकर्म में लग जाता है, उसका भी अस्तित्व व्यर्थ है, वह किसी काम का नहीं रह जाता । इसी तरह जो पुरूष कामोपभोगसुख में आसक्त होकर वीर्य

का स्त्री के संभोग में क्षरण करता है, वीर्य (उर्दिक-उदक) रस को शरीर में पचा नही लेता, उसे भी नष्ट ही समझना चाहिये । जो परस्त्री पर कुदृष्टि रखता है, वह पतित है, उसे भी नष्ट ही जानना चाहिये । गुरू गोरक्षनाथ सत्य कहते हैं कि उपर्युक्त पुरूषों का त्याग करके इनसे सर्वथा अलग रहना चाहिए ।

पंडित भंडित अर कलवारी । पलटी सभा विकलता नारी ।
अपढ़ बिपर जोगी घरबारी । नाथ कहै रे पूता इनका संग निबारी ।। 261 ।।

जो पण्डित होकर भाँड़ के समान केवल प्रलाप मात्र करते हुए अपने ज्ञान का प्रदर्शन करता है, उसका, जो कल-कल्य मदिरा का सेवन करने वाला है, उसका अथवा शराब की दुकान (कलवारी) का और जो सभा समाप्त हो गयी है, उसका, कामातुर, कामविह्वल स्त्री, का, अपढ़ ब्राह्मण (विप्र) का और जो योगमार्ग में दीक्षित होकर योगी का वेष धारण कर, वैराग्य और त्याग की उपेक्षा कर घर में आसक्त रहता है, (घरवारी है) इन सभी से योगसाधक को दूर रहना चाहिये । गोरखनाथ का अपने शिष्यों को सदुपदेश है कि हे वत्स, उपर्युक्त सभी व्यक्ति सर्वथा त्याज्य हैं ।

राति गई अध राति गई बालक एक पुकारै ।
है कोई नगर मैं सूरा बालक का दुःख निवारै ।। 262 ।।

यह सांसारिक जीवन अज्ञानमयी रात्रि है । जीवात्मा शुद्ध बुद्ध रूप में रहता है, जिस तरह एक बालक निष्प्रपंच होता है, वह सांसारिक दुःख-दोष से अप्रभावित रहता है, उसी तरह आत्मा शाश्वत चैतन्य, शुद्धस्वरूप है । संसार में शरीर धारण कर जन्म लेने वाला जीवात्मा अपनी आन्तरिक मनोव्यथा व्यक्त करता है कि क्या इस संसार में रात के अन्धकार में (अज्ञान में) ज्ञान प्रकाश देने वाला (आत्मा के स्वरूप का परिचय कराने वाला) समर्थ वीरात्मा (योगी गुरू) है, जो बालक का दुःख मिटा दे, उसे अज्ञान-अन्धकार में भटकने से उबार ले ।

दिसटि पड़े ते सारी कीमति कीमति सबद उचारं ।
नाथ कथै अगोचर बाणी ताका वार न पारं ।। 263 ।।

शब्द ब्रह्म का बोध अगम है, अपार है, शब्द बड़ा कीमती है, अमूल्य है, उसकी सार्थकता तो इस बात में है कि शब्द में अभिव्यक्त (स्वरूपस्थ) ब्रह्म, अलख निरंजन परब्रह्म साधक (योगसाधक अथवा योगी) की दृष्टि में पड़ जाय, साधक उसका साक्षात्कार अथवा बोध प्राप्त कर अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाय । नाथ (गोरखनाथ) ऐसी वाणी बोलते हैं, जिसका श्रवण-इन्द्रियों से स्वारस्य नहीं ग्रहण किया जा सकता, यही योगवाणी इन्द्रियातीत परा वाक् है, शब्द ब्रह्म के व्यापक स्वरूप से, अनाहत नाद में स्थित हो जाने पर ही योगी इस परावाक् के, (नाथोक्त) वाणी के वर्णातीत अक्षरज्ञान के अनुभव में स्वरूपस्थ होता है । यह परावाक् निर्विकल्प समाधि का विषय है । वहाँ मन का प्रवेश नहीं है, यह अपार है ।

सबद हमारा षरतर षांडा, रहणि हमारी साची ।
लेषै लिषी न कागद माडी, सो पत्रीं हम बाची ।। 264 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हमारी कथनी और करनी में पूर्ण संगति (अभिन्नता) है । हमारे योगमार्ग में शब्द, गुरू से प्राप्त उपदेश तथा अनुभव-वाणी की ही विशिष्टता है, शब्द तेज तलवार है, जिससे अज्ञान का नाश कर हम परमात्मज्ञान में, स्वरूपबोध में स्वस्थ रहते हैं । हमारा सबसे बड़ा शास्त्र है अनुभव वचन, गुरू का उपदेशामृत । यह ज्ञानामृत वचन साक्षात् भगवान् शिव का सप्त श्रृंग पर पार्वती को प्रदत्त उपदेशामृत है । हमने इसी पत्री (पुस्तक), खुले पत्र का पाठ किया है, यह लिपिबद्ध नहीं है, न (ग्रन्थ के) कागज पर अंकित है । यह तो हमारे जीवन में अनुस्यूत है ।

मन बांधूंगा पवन स्यूं पवन बांधूंगा मन स्यूं ।
तब बोलैगा कोवत स्यूं ।
मन तेरा की माई मूंड्यूं, पवना दउं र बहाई ।
मन पवन का गम नहीं, तहां रहै ल्यौ लाई ।। 265 ।।

योग को चित्तवृत्ति का निरोध कहा गया है । मन बहुत चंचल है । योगसाधक इन मन को इन्द्रिय के विषयों से मोड़कर आत्म चिन्तन में प्रवृत्त करते हैं । इसी तरह प्राण को भी शरीर में स्थिर करने से योगी का शरीर मृत्यु का ग्रास नहीं बनता है । चित्त का पवन में लय और मन का चित्त में लय हो जाने से योगी को उन्मनी समाधि सुलभ होती है और मूलाधार में सुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति जाग जाती है । मन-पवन के पारस्परिक लय से शक्ति-(कोवत-कूबत)-मय, समर्थ शब्द, अनाहतनाद होने लगता है । साधक कहता है कि मैं मन को माया को मुण्डित कर, मूड़कर उसे अपने वश में कर लूँगा, चेली बना लूँगा, वह मेरी दासी हो जायगी और पवन को सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में समाहित करने पर उन्मनी अवस्था, समाधि के परे परमात्म साक्षात्कार, अलख-निरंजन का स्वारूपानुभव, सहज कैवल्यपद प्राप्त हो जायेगा । यह पद, यह अनुभव, मन और पवन से परे हैं, प्राण और मन का वहाँ प्रवेश ही नही है ।

कोण देस स्यूं आये जोगी, कहा तुम्हारा भाव ।
क़ौण तुम्हारी बहण भाणजी, कहाँ धरोगो पांव ।। 266 ।।
पछिम देस स्यूं आये जोगी, उतर हमारा भाव ।
धरती हमारी बहण भाणजी, पापी के सिरि पाव ।। 267 ।।

हे योगी ! तुम किस देश से आये, तुम तो निर्विकार जीवात्मा हो, तुम्हारे शरीर की किस तरह उत्पत्ति हुई, तुम शाश्वत चैतन्य चेतनस्वरूप हो, तुम्हारी क्या इच्छा है, तुम्हारे सगे-सम्बन्धी, बहन और भानजी कौन हैं और तुम कहाँ पैर धरोगे अर्थात् किसका दमन करोगे । योगी का इस प्रश्न के सन्दर्भ में उत्तर है कि हम पशिचम देश माया से आये हैं, अर्थात् हम तो निर्मल चेतन जीवात्मा हैं, पर हमने माया, पंचतत्वमयी प्रकृति से शरीर की प्राप्ति की है अथवा पशिचम-मार्ग, सुषुम्ना में प्राण ही हमारा जीवस्वरूप है । हम उत्तर की ओर, सहस्रार में स्थित परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा के स्वरूप में प्रतिष्ठित होना चाहते हैं । धरती अथवा कुण्डलिनी-शक्ति (जिसका निवास-स्थान मूलाधार से मणिपूरचक्र पर्यन्त स्थान भी धरती के नाम से जाना जाता है) ही हमारी बहन-भानजी है, जिससे हमने योग की (साधना की सिद्धि के लिए) भिक्षा प्राप्त की है, हम पापी के सिर पर पाँव धरते हैं

(रखते हैं) अथवा सांसारिक त्रयताप से पीड़ित बद्ध पापी को बन्धनमुक्त कर उसे स्वरूप में, परमात्मा में प्रतिष्ठित करते हैं, हम पाप का दमन कर जीवात्मा को उसके परम निर्मल शुद्ध चैतन्य स्वरूप में प्रतिष्ठित करते हैं।

सकति अहेड़ै मिस रिध, कोस बल स्यूं बागो ।
गोरष कहै चालती मारूं, कान गुरू तौ लागो ।। 268 ।।

माया-शक्ति बड़ी चंचल है । वह अपनी ऋद्धि और सम्पत्ति (सामर्थ्य) के बल से मृगया के बहानें जीवात्मा पर, अपने मिथ्या वैभव और विमोहक प्रभाव से हल्ला (वागो) बोल देती है, वह साधना-पथ में पतित हो जाता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने गुरू से दीक्षा ग्रहण की है और अपने गुरूज्ञान के प्रकाश में समाहित हूँ, वह मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ पाती है ।

नाथ कहै मेरा दून्यौ पंथ पूरा । जत नहीं तौ सत का नीसूरा ।
जत सत किरिया रहणि हमारी । और बलि बाकलि देवि तुम्हारी ।। 269 ।।

हे मायादेवि ! तुम्हारा वश मुझ पर नहीं चल सकता है । गोरखनाथ का कथन है कि (गुरू की कृपा से उनके ज्ञान प्रकाश में) मैं सजग हूँ, मेरा शारीरिक संयम (यत) पूरा है, इसी तरह मेरे हृदय में सत्य की शक्ति है, मेरा सत्य पूरा है । सत्य का पालन वही करता है, जिसका संयम पूरा रहता है, शरीर पूर्ण रूप से संयमित होता है । हमारे आचार-विचार, रहनी अथवा जीवन में संयम और सत्य, दोनों समान रूप से विद्यमान हैं । हे माया ! मुझ पर तुम्हारा जादू नहीं चल सकता है । तुम्हारी बलि के लिये तो बकरे (बाकलि) ही होते हैं, जिनमें सत्य का अभाव होता है, उन्हीं पर तुम्हारा प्रभाव पड़ता है और साधन-पथ से पतित होकर अपने जीवन की बलि चढ़ा देते हैं, नष्ट हो जाते हैं ।

कथणी कथै सों सिष बोलिये, बेद पढ़ै, सो नाती ।
रहणी रहै सो गुरू हमारा, हम रहता का साथी ।। 270 ।।

जो गुरू से उपदेश प्राप्त कर कथन करता रहता है, वह शिष्य है। जो वेद पढ़ता है, केवल उनके पाठ मात्र से सन्तुष्ट हो जाता है । वह शिष्य से नीचे की अवस्था में है, जो जीवन में महायोग के ज्ञान को चरितार्थ कर परमात्मा का साक्षात्कार करता है और निरन्तर अपनी साधना में लगे रहकर योगसिद्धि कर लाभ करता है, उसकी रहनी ही सार्थक है, हमारी मैत्री उसी (रहनी से सम्पन्न, जीवन के प्रयोगात्मक विधा से संयमित) व्यक्ति से ही होती है, हम उसी के साथ हैं ।

रहता हमारै गुरू बोलिये, हम रहता का चेला ।
मन मानै तौ संगि फिरै, नहितर फिरै अकेला ।। 271 ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कथन है कि जो गुरू के शब्द-बोध पर पूरी तरह आचरण करता है, वह गुरू-रूप है । उसी रहनी वाले पुरूष (रहता) का ही जीवन सद्ज्ञान से परिपूर्ण है, वास्तव में उससे हमें जीवन यापन (रहनी) की प्रेरणा लेनी चाहिए, वह गुरू है, हम ऐसे के सत्संग (साथ) का समर्थन करते हैं, ऐसे गुरू स्वरूप आचार-विचार युक्त प्राणी के संग में रहने से साधना में उत्तरोत्तर लाभ की प्राप्ति होती है, साथ रहने वाले में दोष या विकार नहीं उत्पन्न होते । ऐसे रहनी वाले प्राणी के जीवन क्रम से प्रेरित होकर साधक को अकेला निवास करने अथवा भ्रमण करते रहने में किसी प्रकार की साधनागत विकृति नहीं आती ।

दरसण माई दरसण बाप । दरसण माही आपै आप ।
या दरसण का कोई जाणै भेव । सो आपै करता आपै देव ।। 272 ।।

दर्शन, स्वरूप में स्थिति का अनुभव अथवा परमात्मसाक्षात्कार अथवा उन्मनी समाधि से परे सहज शून्यस्थ कैवल्य, आध्यात्यिक जीवन की सम्पूर्ण सिद्धि अथवा शाश्वत चैतन्यस्वरूप में प्रतिष्ठा, सब-के-सब एक ही वस्तुतत्व के अनेक अभिव्यक्ति माध्यम हैं । दर्शन अपने आप में निगूढ़तम कैवल्य अथवा मोक्ष पदार्थ है । इसमें स्वयं परमात्मा समग्रतः व्याप्त है । इस दर्शन का गूढ़ मर्म (रहस्य) कोई विरला मर्मी साधक ही जानता है । यह दर्शन ज्ञान विज्ञान से परे महायोगज्ञान का पुण्यफल है, यह साधना का मूल (उद्गम) है और यही साधना की सिद्धि अथवा पर्यवसान है, जिसका वाणी के माध्यम से

अभिव्यक्ति न कर अनुभव में आस्वादन किया जाता है । इस दर्शन का भेदज्ञ, मर्मज्ञ, साक्षात् परमात्म स्वरूप हो ज़ाता है, वही परमेश्वर है और वही अपने परमेश्वरत्व का स्वानुभवी है, अपने आपका कर्ता है, अपने आप ही देव है ।

(नाथयोगी की भाषा में इस दर्शन का अभिप्राय ब्रह्मानुभूति अथवा स्वरूपबोध ही है । बाह्य रूप से नाथ योगी कानों में मुद्रा धारण करता है । मुद् और रा को क्रमशः जीवात्मा-परमात्मा का प्रतीक कहा गया है, और जीवात्मा की परमात्मा में स्वरूप-प्राप्ति मुद्रा है, यही अलख-निरंजन का साक्षात्कार है । मुद्रा दो प्रकार की कही जाती है, कुण्डल और दर्शन । अनेक योगी अनेक प्रकार के धातुओं की बनी मुद्रा धारण करते हैं और अनेक स्वर्णनिर्मित मुद्रा धारण करते हैं ।) दर्शन (कान में मुद्रा, छोटा कुण्डल) धारण करने वाला ब्रह्म-साक्षात्कार से सम्पन्न कहा जाता है । दर्शनी योगी स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, कैवल्यपद में प्रतिष्ठित हो जाता है ।

जिनि जाण्या तिनि षरा पहैचाण्या, वा अटल स्यूं लोलाई ।
गोरष कहै अमैं कानां सुणता, सो आंष्या देष्या रै भाई ।। 273 ।।

गोरखनाथ का अनुभवपूर्ण कथन है कि जिन्होंने योगसाधना से ब्रह्म का साक्षात्कार किया, उन्होंने परब्रह्म परमात्मा को ठीक-ठीक जान लिया, वे उसके स्वरूपभूत हो गये । उन्होंने शून्यपद, ब्रह्मरन्ध्र में सम्पूर्ण अभिव्यक्त अलख-निरंजन में आत्मा का लय कर कैवल्यपद का अनुभव कर लिया । मैंने गुरूपदेश का श्रवण कर यह ज्ञान, महायोगज्ञान प्राप्त किया । मैंने उस ज्ञान के चिन्मय प्रकाश में परमशिव का अपने ज्ञाननेत्र से प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया ।

बैठां बारै चलत अठारै, सूतां तूटै तीस ।
कई थन करंतां चौसटि तूटै, क्यों भजिबो जगदीस ।। 274 ।।

यह निर्विवाद है कि जब तक शरीर में साँस है, प्राण स्थिर है, तभी तक जीवन है और मृत्यु से शरीर अभय है, इसलिए प्राण को स्थिर रखना बड़ा आवश्यक है, बैठते, चलते, सोते, हमारी सांसें व्यर्थ निकल जाती हैं, अस्थिर होकर टूट जाती हैं और हमारी आयु व्यर्थ समाप्त हो जाती है ।

बैठते समय बारह, चलते समय अट्ठारह, सोते समय तीस और अन्य अनेक स्थितियों में चौसठ साँसें क्रमपूर्वक व्यर्थ टूटती रहती हैं, जिनका उपयोग भगवच्चिन्तन में होता । इसलिए नाथ योगी प्राणायाम की प्रक्रिया से प्राण वायु को स्थिर कर लेता है । इसके लिए उसे 'ह' कार के साथ बाहर जाने वाली और 'स' कार के साथ भीतर जाने वाली प्राण वायु को नियंत्रित कर अजपा जाप करना पड़ता है । इस जाप के द्वारा बिना साँस टूटे निरन्तर परमात्मा का स्मरण होता रहता है ।

नासिका अग्रे भ्रूमंडले अहनिस रहिबा थीरं ।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयबा षीरं ।। 275 ।।

(इस सबदी में सम्पूर्ण योगसाधना की सिद्धि के परम फल कैवल्य अथवा मोक्षपद में स्वरूपतः स्थिति का निरूपण किया गया है ।) भ्रूमध्य में चित्त का लय कर उसमें जीवात्मा का स्थिर अथवा ध्यानस्थ हो जाना और नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर रखना ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर परमशिव का साक्षात्कार कर लेना है । आज्ञाचक्र में भौंहों के मध्य में जीवात्मा अपने शिव स्वरूप का साक्षात्कार करता है, कैवल्य मोक्ष मिलता है । माता के गर्भ से शिशु रूप से प्रकट होकर, जन्म लेकर दूध नहीं पीना पड़ता, जन्म-मरण का चक्र समाप्त हो जाता है, इसलिए जीवात्मा को भ्रूमध्य में चित्त लय कर तथा स्वरूपतः ध्यानस्थ होकर मोक्ष की प्राप्ति करनी चाहिए। यह मोक्ष ही सहस्रारस्थ शिव के साक्षात्कार का परम पद है ।

।।इति।।

(पद)

(राम रामग्री)

(1)

चारि पहर आलंगन निद्रा, संसार जाइ बिषिया बाही ।
ऊभी बांह गोरषनाथ पुकारै, मूल न हारौ म्हारा भाई ।। टेक ।।
अमावस पड़िवा मन घट सूंनां, सूंनां ते मंगलवारे ।
भणतां गुंणता ब्राह्मण बेद बिचारै, दसमी दोष निबारै ।। 1 ।।
पड़वा आनन्दा बीजसि चंदा, पांचौ लेबा पाली ।
आठमि चौदसि ब्रत एकादसी, अंगि न लाऊं बाली ।। 2 ।।
संभी सांझैं सोइबा मंझै जागिबा, तृसंधि देणांपहरा ।
तीनि पहर पर दोइ घट जाइबा, तिंहा छै काल का हेरा ।। 3 ।।
बांमां अंगे सोइबा जम का भोगिबा, संगे न पीयबा पांणी ।
इमतौ अजसंवर होइ मछिंद्र, बोल्यौ गोरष बांणी ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(यह टीका सम्वत् 1825 वि० की जोधपुर में प्राप्त प्राचीन किसी निरंजनी साधु संग्रहीत प्रति से यथा पदानुक्रम प्रस्तुत है । आलिंगन कामनींद । ।टेक। अमावस अग्यांन करि मन सूंनौ।घट ही सूनौ।मंगल झूठा। दस दोष की काया।पड़िबा उजालौ ग्यान तो आनंद । पंच वसिबौ ही ठांम । ससि पहलौ पहरौ । बीचि कौ पहरौ त्रिगुणी माया । तीन पहरा गया । धांम देह । दूजा घट परमेस्वर बामौ अंग माया । जम भै भांगौ ।।)

योगी को निरन्तर ब्रह्मचर्य में स्थित रहकर अपने शरीर के अमृत स्वरूप वीर्य की रक्षा करनी चाहिए । वीर्य का पात ही मृत्यु है । शरीर का अन्त है । गोरखनाथ ने कहा कि हे गुरूदेव । संसार में कामोपभोगपरायण प्रायः सभी लोग रात-दिन, चारों पहर स्त्री के संभोग, आलिंगन, परिरम्भण में अपने दुर्लभ मानव-जीवन का नाश कर रहे हैं, संसार विषय के प्रवाह में वहा जा रहा है । मैं बांह उठाकर (ऊंभी बाह) आप से प्रार्थना करता हूँ,

आपका ध्यान सिद्धमत, नाथयोग की ओर आकृष्ट करता हूँ । यह शास्त्रसम्मत तथ्य है कि प्रायः सभी तिथियाँ, व्रत, उपवास, संयम से जुड़ी हैं, इसलिए उन सभी तिथियों पर हमें दृढ़तापूर्वक योगसाधना के द्वारा परमानन्द स्वरूप अलख निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । अमावस्या और प्रतिपदा (पड़िवा) को शास्त्रादिग्रंथों का अनाध्याय किया जाता है, योगी के लिये शून्य (ब्रह्मरन्ध्र) में मन को उन्मन करना और शरीरगत शक्तियों को, प्राणादि को मुद्राबन्ध, आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा स्थिर करना ही अमावस्या और प्रतिपदा का अनाध्याय है । मंगलवार को व्रत रखने का भी यही उद्देश्य है । दशमीव्रत की महत्ता का विचार वेदज्ञ ब्राह्मण करते हैं, पर दशों यम-नियमादि (सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, और स्वाध्याय, तप, शौच, संतोष, ईश्वर प्रणिधान आदि) के द्वारा शरीर और मन की शुद्धि ही योगी के लिये दशमी तिथि के व्रत के आचार-विचार के रूप में ग्राह्य है । प्रतिपदा को अध्ययन न करने का आशय है पूर्ण शान्तिमय उन्मनी अवस्था में, ब्रह्मानन्द में, योगी का मग्न रहना । द्वितीया (बीजसि) तिथि को चन्द्रदर्शन का अभिप्राय है, पंच ज्ञानेन्द्रियों को उनके रूप, रस, स्पर्श, शब्द, गन्ध आदि विषय-सुख में आसक्त होने से रोक कर अमृतव्रत का रसास्वादन करना, इसी तरह अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी को स्त्री के आलिंगन से, स्पर्श से अपने शरीर की रक्षा करना, जिससे शरीर में वीर्य स्थिर रहकर ऊर्ध्वगामी हो जाय । योगी को दिन-रात सावधान रहना चाहिए, सायंकाल होते ही उसे परमात्मा के ध्यान में नेत्र मूँद लेना चाहिए, रात के पहले, मध्य और अन्तिम पहर में जागना चाहिए, त्रियामा रात के बीतते ही काल की दृष्टि योगी पर लगी रहती है कि ब्राह्म मुहूर्त में चिन्तन-ध्यान में न लगे और मृत्यु का ग्रास बन कर नष्ट हो जाय, ब्राह्ममुहूर्त में योगी को परमात्मा का ध्यान करना चाहिए । गोरखनाथ का वचन है कि हे गुरूदेव ! स्त्री के आलिंगन में आयु नष्ट करना यमराज का ग्रास बनना है, उसके साथ तो बैठकर पानी तक नहीं पीना चाहिए, प्रत्येक क्षण पतन की आशंका रहती है । इस तरह सदा सावधान रहकर अमर हो जाना चाहिए ।

(2)

छाँटै तजौ गुरू छाँटै तजौ-तजौ लोभ मोह माया ।
आत्मां परचै राषौ गुरूदेव सुन्दर काया ।।टेक।।
कांन्ही पाव भेटीला गुरू, बिद्यानग्र सैं ।
तार्थें मैं पाइला गुरू, तुम्हारा उपदेसैं ।। । ।।
एतैं कछू कथीला गुरू, सर्बै भैला भोलै ।
सर्व रस षोईला गुरू बाघंनी के षोलै ।। 2 ।।
नाचत गोरषनाथ घूंघरी चें घातैं ।
सबै कमाई षोई गुरू बाघनी चैं राचैं ।। 3 ।।
रस-कुस बहि गईला, रहि गई छोई ।
भणत मछिंद्रनाथ पूता, जोग न होई ।। 4 ।।
रस-कुस बहि गईला रहि गईला सारं ।
बदंत गोरषनाथ गुर जोग अपारं ।। 5 ।।
आदिनाथ नाती मछिन्द्रनाथ पूता ।
षटपदी भणीलै गोरष अवधूता ।। 6 ।।

हे योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ ! आप महायोगज्ञान के स्वामी हैं, आप सिद्धमत, नाथयोग के सद्गुरू हैं । आप लोभ, मोह और माया को पृथक् कर (छाँटै-छाँट कर, अलग कर) इनका त्याग कर दीजिए । आप आत्मा के साम्राज्य के अधिपति हैं, आत्मज्ञान-महायोगज्ञान में स्वरूपस्थ हो जाइए, आप आत्मा के योगी हैं, गुरूपद पर प्रतिष्ठित योगेश्वर हैं । विद्यानगर (विजयनगर) के योगिराजेन्द्र सम्मान्य कृष्णपाद (कान्हीपांव-कानिपा) से मुझे यह उपदेश (सन्देश) मिला कि आप ने कामरूप के रमणीराज्य में योगिनीकौलमत की साधना में आसक्त होकर सिद्धामृत ज्ञान का विस्मरण कर दिया है । यह निर्विवाद है कि योगज्ञान से आप विमुख नहीं हो सकते, आप को कामनियों के सौन्दर्य ने भ्रमितमात्र कर दिया और आप को योगज्ञान के शुद्ध स्वरूप में भ्रम-सा हो गया है । हे गुरूदेव ! आपने माया (बांधनी, बाघनी) को क्रोड़ (षोलै-गोंद) में आलिंगित कर अमृतरस नष्ट कर दिया है, आपने माया नर्तकी के नृत्य पर उसकी नूपुरध्वनि से मूर्च्छित होकर उसके राग में बन्धन स्वीकार कर लिया और इस तरह महायोगज्ञान की साधना की सिद्धिरूपी

कमाई (सम्पत्ति) खो दी है । आप के शरीर से रस (वीर्य) अधोगामी होकर रमणी के आलिंगन से बाहर निकल गया । केवल निस्सार तत्व ही शेष है । मैं, आपका शिष्य (मछिन्द्रनाथपूता, पुत्र) कहता हूँ कि योग की साधना की शक्ति आप में अब नहीं रह गयी । वीर्य के अधोगामी हो जाने पर भी आप में आत्मामृत, सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृतरस सुरक्षित है, यह अपार अगम महायोगतत्व है, मैं अवधूत गोरखनाथ योगी, इस षट्पदी में सिद्धामृतमार्ग अथवा नाथयोगमत के अमृतत्व का प्रतिपादन करता हूँ ।

(3)

सुणौं हो मछिन्द्र गोरष बोलै, अगम गवन कह हेला ।
निरति करी नैं नीका सुणिज्यों, तुम्हें सतगुर मैं चेला ।।टेक।।
कांमनी बहतां जोग न होई, भंगमुष परलै केता ।
जहाँ उपजै तहाँ फिरि आवटै, च्यंतामनि चित एता ।। । ।।
द्वादस षोड़ि षटांणां नौसत, जीव सीव ना बासा ।
चौदह ब्रह्मांड नौ एक दंम है, इम हीं जाइ निरासा ।। 2 ।।
पवन का नीर ले अंबर धोवै स्वासैं उसासै आया ।
भणत गोरषनाथ इम होइ निरंतर, बीजैं बटक समाया ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(चिंतामणि सरीषौ चित । द्वादस नैं षोड़ि । षट नैं षोड़ि । नौ द्वारै नै षोड़ि । चवदै ब्रह्मंड का मोल एक दम । पवन ही जल । अंबर आत्मां । बीज ब्रह्म । बटक प्रांण ।)

हे योगीन्द्र गुरूदेव, मत्स्येन्द्रनाथजी ! गोरखनाथ का (आप के चरण में) निवेदन है, विनय है कि अगम, अचिंत्य अलख-निरंजन के साक्षात्कार, परमानुभव में प्रमाद (हेला, उपेक्षा,) नहीं करना चाहिए । आप मेरे सद्गुरू हैं, मैं आप का शिष्य हूँ । आप के अनुग्रह से ही मुझे इस महाज्ञान का अनुभव हुआ है कि योगानन्द (निरति) परमात्मा में स्वरूपानुभूति ही उत्तम (नीका) है, ऐसा मैंने आप के मुखारबिन्द से योगानुभूति का रहस्य-श्रवण किया है । हे गुरूदेव ! यह नितान्त सच है कि कामिनी के आलिंगन, परिरम्भण,

मायिक रूपजाल में पतित होने से योगी योग की साधना नहीं कर सकता है। न जाने कितने लोग भगमुखी (कामोपभोगपरायण) होकर, स्त्री के संभोग में आसक्त होकर योगज्ञान से हाथ धो बैठे। यह चित्त चिन्तामणि है, चित्त को सदा सचेत या सावधान करते रहने से वह शिवमयी शक्ति से सम्पन्न रहता है, चित्त को समझांना चाहिए कि कामोपभोग में आसक्त रहने से जिस भग से, योनि से शरीर की उत्पत्ति होती है, उसी में फिर गर्भस्थ होकर चक्कर काटना पड़ता है। सूर्य (द्वादश कला वाले) के दोष को, पिंगला नाड़ी के विकार को सोलह (नौसत-नव+सात) कलावाली चन्द्रनाड़ी, इड़ा की शीतलता, अमृतत्व से शमित करना चाहिए। जीवात्मा को शिव में निवास करना चाहिए, चौदहों भुवनों, ब्रह्माण्डों का प्राण परब्रह्म परमेश्वर है, वही चैतन्यधन सर्वत्र विद्यमान है। इस तरह जीव और शिव की एकता हो जाने पर मृत्यु (इम-यम) का भय समाप्त हो जाता है, पवन प्राण को सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वमुख कर ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार, शून्य गगन, अम्बर का निर्मल स्वरूप प्रकाशित करना चाहिए। विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा सूर्य के दोष को नष्ट कर चन्द्रद्रव का स्वयं पान करते हुए शिवपद में स्थित होना चाहिए। यह सनातन सत्य है कि जिस तरह बीज में बट का वृक्ष समाया रहता है, उसी तरह माया आत्मा में लीन हो जाती है, माया की भिन्न सत्ता ही नही है।

(4)

बोल्या गोरष घर जोई, ये तत बूझै बिरला कोई, मेरे गयांनी ।।टेक।।
जोज्यौ जोज्यौ रे जहूँबा बन जोज्यौ, तत राष्यौं त्रियाली ।
आसण इन्द्री जेणै आप बसि राष्यां, तेणै पाया सर्ब निरंतर, मेरे ग्यांनी ।। ।।
मन माँहैं तेणैं तन तारयां मन बिसवासैं मिलणां ।
मन मैं कुंभ कलस रस भरिया, तेणैं मनवै अलष लषाया, मेरे ग्यांनी ।। 2 ।।
पैर जोई ने एद्वा पुरिष पधारया, पुरिष नी पारिषा पाई ।
पुरिषै मिलि पुरिष रस राष्या, पुरिषैं पुरिष निपाया, मेरे ग्यांनी ।। 3 ।।
जिहि धरि चंद सूर नहिं ऊगै, तिहिं धरि होसी उजियारा ।
तिंहा जे आसण पूरै तौ सहज का भरौ पियाला, मेरे ग्यांनी ।। 4 ।।

मन मांहिला हीरा बीघा सो सोधीनै लीणां,
सो षांणां सो पीवणां मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या,
बिमल रस जोई जोई नै मिलणां, मेरे ग्यांनी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(घर हिरदा । तत आत्मां ।।टेक।। त्रियाली त्रिगुणी माया । आसण मन यंद्री । मन मैं तन बसि कीया । मन मैं कुंभ काया बसी । कलश कंवल । पैर षोंज । पुरषै पुरष निपाया । जिहिं तटि ताता सीला न ऊगै । तौ ग्यान न उदै होय । तहां आसण करै । मन मांहिला हीरा । साध सोधि लीणां तत ग्यांनी । बिमल नृमल ।)

हृदय (घर) को देखकर, हृदय में परमात्मा का विचार कर गोरखनाथ बोलते हैं कि जो इसमें निवास करने वाले परमात्मा को समझता है, जानता है, वह कोई विरला है । हे मेरे ग्यानी, योग की साधना करने वाले ! यह बात नितान्त सच है । जिन-जिन लोगों ने इसको देखा, अनुभव किया, उन्होंने इसको सुरक्षित कर त्रिगुणी, सत्व-रज-तमोगुणी माया (त्रियाली) से परे निर्मल परमात्मतत्व का विचार किया, उसे मायाग्रस्त नहीं होने दिया । जिन्होंने (सिद्धासन, पद्मसान आदि) आसनों के अभ्यास से इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) को अपने वश में रखा और मन को उन्मन अथवा अमनस्क कर परमात्मा अथवा स्वरूप का चिन्तन किया, उन्होंने ही समस्त मायिक विकारों से परे (सर्व निरंतर-अतीत) स्वरूप अथवा कैवल्य की प्राप्ति अथवा अनुभूति की, मन के स्थिर होने पर, उन्मन होने पर शरीर की शक्ति मन की शक्ति के रूप में परिणत होकर योग-साधना की सिद्धि में, परब्रह्म के साक्षात्कार में सहायक बनती है । मन में तन के बस जाने, समा जाने पर, मन से तन के मिलने अथवा मन के द्वारा शरीर की शक्ति के सही दिशा में, सत्य प्राप्ति की दिशा में अग्रसर होने का विश्वास ही योगसाधक की मन की शक्ति में आस्था का प्रतीक है, वह साधना पथ पर आत्मानुभूति के द्वारा परमशिव में स्वरूपस्थ हो जाता है । हे मेरे ज्ञानी ! मन ही शिव है, यही मन पंचतत्व से निर्मित शरीर में निवास करने वाला जीव है, यही शक्ति है । शरीररूपी कुम्भ, कलश अमृतरस से भरा है, वीर्य-रसामृत से यह सुरक्षित और सुगठित है । इस शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा अपने हृदय-कमल में

परमात्मा को प्रतिष्ठित कर उसकी अभिन्नता की रसानुभूति अथवा उसमें तादात्म्य-स्थापना से ब्रह्मानन्द की सहज प्रत्यक्ष दिव्यता अथवा चिन्मयता या स्वरूपानन्द सुरक्षित कर उसमें मग्न रहता है । कहा जाता है कि द्वादशदल कमलचक्र, अनाहतचक्र (हृदय) में परमात्मा का निवास है और पाप-पुण्य से विवर्जित आत्मा-जीवात्मा उसका साक्षात्कार या प्राप्ति करता है । जीवात्मा जिस शरीर में निवास करता है, उसके सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र रूपी घर में बिना सूर्य और चन्द्रमा के ही परमात्मा की दिव्य ज्योति स्वतः अभिव्यक्त रहती है । उस सहस्रारपद, शून्यगगन, ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा के द्वारा अपना चित्त लय कर देने पर ब्रह्मानन्द का सहज अनुभव होता है । वह सहजामृत, सहस्रार के चन्द्रमण्डल से द्रवित अमृत रस का आस्वादन करता है । मन के द्वारा जीवात्मा परमात्मारूपी हीरे को प्राप्त करता है । यही साधक का सर्वस्व है, आहार-विहार और स्वात्मरमण है । गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से गोरखनाथ का कथन है कि इस परमात्मरूपी हीरक के प्रकाश में निर्मल-सहज रसानन्द मिलता है ।

(5)

गोरष जोगी तोला तोलै, भिड़ि भिड़ि बाधीलै रतन अमोलै ।।टेक।।
आछै आछै बिंद न पंडिबा कंध ।
लाष तोला मोल जाये जे एक षिसै बिंद ।। । ।।
जैसी मन उपजै तैसा करम करै ।
कांम क्रोध लोभ लै संसार सूंनां मरै ।। 2 ।।
गगन सिषर आछै अंबर पांणी ।
मरतां मूढां लोकां मरम न जांणी ।। 3 ।।
पूनिम महिला (मैला) चंदा जिमनारी संगै रहणां ।
ग्यांन रतन हरि लीन्ह परांणां ।। 4 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता ।
ब्यंद तोलै राषी लै गोरष अवधूता (औधूता) ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(तोला मन तोलै पवन। ग्यांन सूं बांधे। तब अमोल। टेक। जे बिंद छै तौ। कंद आत्मां न पड़े। बिंद पड्यां कोटि मोल जाय। जैसी उपजै भली बुरी तैसा करम करै। गगन ब्रह्म। अमररामंरस। पून्यं चंद विषै रत कीजै। बिंद तोला तोलि लै।)

श्री गोरखनाथ का कथन है कि यह संसार एक बाजार है, इसमें परमात्मारूपी अमूल्य रत्न का भाव लगाकर मैं उसे प्राप्त करने की (योग) साधना में लगा हुआ हूँ। मैं बड़ी सावधानी से परमात्मारूपी अनमोलरत्न को अथवा वीर्य को बड़े विवेक से मन और पवन को स्थिर कर अपनी गाँठ में सबसे आगे होकर बाँधता हूँ, जिससे वह खो न जाय (इस पद में रत्न परमात्मा और वीर्य, दोनों का ही वाचक है)। वीर्य के एक कण का भी पतन होने से अमूल्य रत्न हाथ से निकल जाता है, अमृत क्षीण हो जाता है और साधक मृत्यु के मुख में चला जाता है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, चाहे तो वह पुण्याचरण से अमरत्व प्राप्त कर ले या पापकर्म से नष्ट हो जाय। सबसे बड़ा सदाचार यही है कि परमात्मा का साक्षात्कार हो अथवा शरीर में अमृतरस वीर्य सुरक्षित रहे, ब्रह्मचर्य का पालन हो। योगी (हठ) योग की साधना के द्वारा पवन और मन पर विजय प्राप्त करते हुए, कुण्डलिनी-जागरण के द्वारा षट्चक्रों को भेदन करते हुए सहस्रार में चित्त का लय कर परमानन्दरस का आस्वादन करता है, गगनशिखर, त्रिकुटी (ब्रह्मरन्ध्र) अथवा सहस्रार में त्रिकोण योनिचक्र में स्थित चन्द्रमा से अमृतरूपी निर्मल जल प्रवाहित होता रहता है, जिसका पानकर योगी अमरकायत्व में स्थित होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। गगन, ब्रह्मरन्ध्र में ही इस सहज रामरस-भगवद्रस अथवा अलख-निरंजन शिव, सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा के रसामृत की उपलब्धि होती है। जो अज्ञानी पुरूष योग ज्ञान से रहित हैं, मूढ़ हैं, वह इस रस का मर्म नहीं जानता है, इसका अनुभव नहीं कर पाता है। स्त्री के संग में उसके सम्भोग में आसक्त होने पर, उसके रमणरस के आस्वादन में वीर्य का शोषण होता है, इसलिये योग की युक्ति से योगी को स्त्री के संग से दूर रहकर अमृत-प्राप्ति की साधना करनी चाहिए, स्त्री के

संग रहने से ज्ञानरत्न, परमात्मसाक्षात्कार नही हो पाता और वीर्य के शरीर से बाहर निकल जाने पर प्राणान्त हो जाता है । आदिमहादेव आदिनाथ के महायोगज्ञान में दीक्षित और सद्गुरू योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य, मैं (गोरखनाथ) ने वीर्य को शरीर में ऊर्ध्वगामी कर, सिद्धकर अमृतत्व प्राप्त कर लिया, वीर्य तौल कर उसका मूल्य समझ लिया ।

(6)

सोनांल्यौ रस सोनां ल्यौ, मेरी जाति सुनारी रे ।
धंमणि धमी रस जांमणि जांम्या,
तब गगन महारस मिलिया रे ।।टेक।।
आपैं सोनां नै आप सुनारी, मूलचक्र अंगीठा ।
अहरणि नाद नै ब्यंद हथौड़ा, घटिस्यूं गगन बईठा ।। ।।
अषै आरण नै विषै कोइला, सहज फूक द्रोनलियां ।
चंद सूर दोऊ समि करि राष्या आपै आपजु मिलिया ।। 2 ।।
रती का कांम मासे की चोरी, रती मैं मासा चौरै ।
मासा चोरि रहै मासे मैं, इहि विधि गरथैं जौरै ।। 3 ।।
अरधे सोनां उरधै सोनां, मध्ये सोनं सोनां ।
तीनि सुन्यं की रहनी जानैं, ता घटि पाष न पुंनां ।। 4 ।।
उनमनि डांडी मन तराजू, पवन कीया गदियांनां ।
आपै गोरषनाथ जोषण, बैठा, तब सोनां सहज समांनां ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(सुनारी कुनारी नही । सास उंसास धमणि । गगन अंतहकरण ।।टेक ।। मूल नाभि नाद अहरणि । बिंद काया । गगन ब्रह्म । अषै गगन आसण । विषै कोयला । ताता सीला गुण न लीया । चंद सूर मन पवन सम । काम रती कौ स्वाद मासौ मन उनमन मैं रहै । अरध उरध मन । तीन सुंनि ब्रह्म मैं । उनमनी डोरी । मन तराजू । पवन गदियांनां । तौल्यौ ब्रह्म बराबरि ।)

(इस पद में गोरखनाथ ने अपनी उपमा स्वर्णकार से दी है और अपनी योगसिद्धि को स्वर्णरस की सिद्धि के रूप में वर्णित किया है । गोरखनाथ का वचन है, अरे सिद्ध, स्वर्णरस, आत्मामृतरस ले लो, मैं स्वर्णकार की जाति का हूँ । मैंने प्राण, श्वास की क्रिया से, धौकनी से इस रस को जमाया है, शुद्धकर सिद्ध किया है, अजपाजप के द्वारा हंसमंत्र की शक्ति से चंचलमन को ब्रह्मरन्ध्र में उन्मन कर अथवा मन की उन्मनी समाधि सिद्ध कर इस निर्मल स्वर्णरस की सिद्धि की है, इसके द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में, सहस्रार में स्थित योनिनाम के त्रिकोणचक्र से द्रवित चन्द्रामृत, महायोगरसामृत, परब्रह्मरसामृत की प्राप्ति होती है । ब्रह्मरन्ध्र (गगन) में महायोगामृत निरन्तर प्रवाहित रहता है, झरता रहता है । यह स्वर्णरस मेरा ही स्वरूप है, परमतत्व है, मैं स्वर्णकार हूँ, स्वर्ण और स्वर्णकार में नाममात्र का अन्तर अथवा भेद नहीं है। मूलचक्रस्थ नाभि ही अंगीठी है, जिसमें अग्नि (सूर्यतेज) प्रज्वलित है । अनाहतनाद ही निहाई (अहरणि-अहरन) है, वीर्य, बिन्दु ही हथौड़ी है। मैं इस स्वर्णरस को ब्रह्मरन्ध्र में शून्य गगन में आसन लगाकर नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा पक्व, आकारित करता हूँ, गढ़ता हूँ (घटिस्यूं), अक्षय, अनन्त अरण्य में (शून्य में) विषयरूपी कोयला, को जलाकर प्राणाग्नि को इड़ा-पिंगलारूपी दो श्वास-नलिकाओं से दहकाता रहता हूँ । (अर्षआरण के स्थान पर अषैआसण भी पाठ लिया जा सकता है ।) मैंने इस प्रक्रिया में चन्द्रमा और सूर्य का, अपान और प्राणवायु का सामरस्य स्थापित कर सहज-सनातन ज्योति, परब्रह्म-प्रकाश का साक्षात्कार कर लिया है । पंचतत्वनिर्मित स्थूल शून्य ही रत्ती के बराबर (अल्पमात्रा में) है मासा परब्रह्म परमात्मा उसमें व्याप्त है । शरीर में परमात्मा का अनुभव करना ही दोनों ग्रथित करना है । (गरथै जोरै) अधः (मूलाधारचक्र), मध्य (अनाहतचक्र, हृदय) और ऊर्ध्व (सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र), तीनों केन्द्रों में परमतत्व, परमात्मारूपी स्वर्ण विद्यमान है । जो साधक इन तीनों स्थानों में व्याप्त परमात्मा के स्वरूप का रहस्य जान लेना है, वह पापपुण्य के फल-भोग से परे हो जाता है । आत्मामृतरूप स्वर्ण को परखने अथवा तौलने के लिये तराजू, तुला का डंडा (डाड़ी) मन की उन्मनी अवस्था अथवा उन्मनी समाधि है और मन ही तराजू है, पवन प्राण ही इस तराजू पर सोने को तौलने का बांट (गदियांना-छः मासे का तौलने का बांट, जिसका उल्लेख शार्गंधर संहिता । । । । 4। और योगचिन्तामणि । । ।03 में है) है । गोरखनाथ ने मन को उन्मन कर,

उन्मनी समाधि लगाकर इस स्वर्णरस को, प्राणरस को सुषुम्नामार्ग में प्रवाहित कर परब्रह्म रस में अन्तर्भूत, स्वरूपभूत कर दिया, आशय यह है कि परब्रह्म अलख निरंजन की प्राप्ति कर ली ।

(7)

जांणा ने जोसी जोओ ने बिचारी, पहलां पुरिष कै नारी जी ।।टेक।।
बाइ नही तहूँवां बादल नाही, बिन थाभां बाबै मंडप रचीया ।
तिहां आप उपांवन हारी जी ।। । ।।
बाप नही होतौ तिह्या बैठण डेरे, माता बाल कुंवारी जी ।
पीवर्नें पौढ़्यों माझौ पालनैं, तिंहा हूँ हीज हिडोलँन-हारी जी ।। 2 ।।
ब्रह्मा बिष्न नैं आदि महेस्वर, ये तीन्यूं मैं जाया ।
इन तिहवां नी मैं घर धरणीं ह्वैकर मोरी माया जी ।। 3 ।।
गंग जमुन मोरी षाटलड़ी रे, हंसा गवन तुलाई जी ।
धरणि पाथरणौं नैं आभ पछेव्ड़ौ, तौ भी सोडी न माई जी ।। 4 ।।
षांडतड़ी मांझौ जनम बदीतौ, चांवल सांवि न सारी जी ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, ये तत जोओ बिचारी जी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(बाय नहीं थेकर बादल घट । तारा गुण । तेज त्रिगुण । थंभौ सबद । बाप बप । माया माया । पीव प्रांण माहिं डालै । ह्वैकर माया गंगाजमुन सास-उसास । बिचि षाट षट । पांच यंद्री छठौ मन । हंस प्राण बिछाय । दोष गुण तलै ऊपरि चावल चोषौ ।)

हे ज्योतिषी, जानने का दावा करने वाले विज्ञानी, अच्छी तरह अपने ज्योतिषशास्त्र को देखकर विचारो कि किससे किसकी उत्पत्ति हुई है, जो कुछ भी दीख पड़ता है, जो कुछ भी सृष्टि दृष्टिगोचर है, उससे यही आभासित होता है कि निराकार परमेश्वर ने बिना वायु और बादल के जिस शून्य गगनरूपी मण्डप की रचना की है, उसकी अभिव्यक्ति माया के उपाश्रय से है । यद्यपि माया परमात्मा की सृजन-इच्छा, सिसृक्षा की प्रतीक है तथापि यह कहना आसान नहीं है कि उसका रूप किस तरह अभिव्यक्त है,

देखने से तो यही लगता है कि उसका कोई पिता, जनक नही है और वह सदा कुँवारी है, उसका कोई पति अथवा स्वामी नहीं प्रतीत होता है । वह अपने पति को, पुरूष को स्वयं बालरूप में पालने में पौढ़ाती है और हिंडोले में झुलाती रहती हैं । माया द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन होता है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश (शिव) मुझसे उत्पन्न हैं । सृष्टि, स्थिति और संहार के कार्य मेरे संकेत और मेरी शक्ति से ही चलते रहते हैं, ऐसा माया संकेत करती है, इनके दोनों हाथों में मेरी ही शक्ति है - आशय यह है कि इनकी समस्त क्रिया मेरे द्वारा सम्पादित है । इड़ा, पिंगला मेरी चारपाई (खाटलड़ी) हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और छठें मन (षाट-खाट-षट्) से इड़ा-पिंगलारूप श्वास-उच्छ्वास द्वारा निर्मित इस चारपाई पर जीव या प्राण (हंस) ही रजाई (तुलाई) है । पृथ्वी, पत्थर और पानी-सारी सृष्टि मेरा पक्षपट (पक्षयोड़ा) है पर मेरे बिछाने की चादर (सौड़ी, सौर) के रूप में पर्याप्त नहीं है, इसी सृष्टि को देखने मात्र से ही यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि मेरा विस्तार केवल इतना ही है । सृष्टि तो मेरी शक्ति के विस्तार का, क्रियाकलाप का अंश मात्र है । जीवात्मा (मनुष्य) मेरे बन्धन में विमुग्ध होकर अज्ञानवश संसार में शरीर धारण कर सुख-दुःखरूपी कर्मो से पराधीन है । इस तरह ओखली (खांडतड़ी) में पड़े धान के चावल की तरह वह आज तक स्वच्छ, मुक्त नहीं हो सका, संवर (संबि) नहीं सका, जन्म-जन्म से बन्धन में पड़ा है । मत्स्येन्द्रनाथ के कृपाप्राप्त शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि इस तत्व का पूरा-पूरा विचार कर जीवात्मा को माया की विमुग्धकारिणी लीला के बन्धन से मुक्त होकर अपने निर्मल शाश्वत चैतन्यस्वरूप में अवस्थित होना चाहिए ।

(8)

चाल्यो रे पांचौ भाइला तेणैं बन जाइला
जहाँ दुष सुष नांव न जानिये ।। टेक ।।
षेती करौं तौ मेह बिन सूके, बनिज करौ तौ पूंजी तूटे ।। । ।।
अस्त्री करौं तो धरभंग हवेला । मित्र करौं तो बिसहर भैला ।
जुवटै षैलौं तो बैठड़ौं हारौं, चोरी करौं तो प्यंडड़ौं भारौं ।। 3 ।।

बन षंड जाऊं तौ बिरछ न फलना । नगरी मैं जाऊं तौ भिष्या न मिलनां ।। 4 ।।
बोल्या गोरषनाथ मछिंद्र का पूता । छांड़े नैं माया भया अवधूता ।। 5 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि) हे ज्ञानेन्द्रियों ! उस वन का आश्रय लो, जिसमें द्वन्द्वात्मक सुख-दुःख नहीं सताते । इस संसार में किसी भी युक्ति से सुख (परमानन्द) की प्राप्ति नहीं हो सकती । यहाँ खेती करने से मन उसके सूख जाने की द्विविधा में रहता है, व्यापार करने से पूंजी (आयु) समाप्त हो जाती है, परन्तु परमात्मारूपी पदार्थ, अमूल्य रत्न हाथ में नहीं आता । स्त्री के साथ गृहस्थी नहीं चल पाती है । घर में अनेक प्रकार के कलह उत्पन्न हो जाते हैं । सगे-साथी परमार्थ में सहायक नहीं होते, स्वार्थ में धक्का लगने पर वे साँप की तरह काट लेते हैं, साक्षात् बिसहर (विषधर) हैं वे । सांसारिक जीवन जुआ है, सर्वस्व दाँव पर लगा देने पर भी हार-ही हार है । इसी तरह छल-प्रपंच (चोरी) करने से शरीर प्रापग्रस्त होकर नष्ट हो जाता है, यदि इस संसार के सम्बन्ध से पीछा छुड़ा कर वन का सेवन किया जाता है, तो वहाँ न वृक्ष है, न फल है अर्थात् न तो परमात्मा की ही प्राप्ति होती है और न जीवन ही सुखी और शान्त रहता है । नगर में भ्रमण कर भिक्षा माँग कर जीवन-यापन करने में अनेक बाधायें हैं, लोग खरी-खोटी आलोचना करते हैं और भिक्षा की समुचित व्यवस्था के अभाव में साधन नहीं हो पाता है । सद्गुरूमत्स्येन्द्रनाथ के वात्सल्य (ज्ञानस्नेह) से पोषित गोरखनाथ ने इसीलिये अवधूत-मार्ग का वरण कर लिया और माया का साथ छोड़ दिया ।

(9)

गुरदेव स्यंभदेव सरीर भींतरिये ।
आत्मां उत्तिंम देव ताही की न जांणौ सेव ।
आंन देव पूजि-पूजि इमही मरिये ।।टेक।।
नवे द्वारे नवे नाथ, तृबेणी जगन्नाथ, दसवें द्वारि केदारं ।। । ।।
जोग, जुगतिसार तौ भौ तिरिये पारं ।
कथंत गोरषनाथ विचारं ।। 2 ।।

यह शरीर ही अनादि शिव (जो ज्ञान स्वरूप गुरू हैं) का अधिष्ठान है । शरीर स्थित आत्मा ही सर्व श्रेष्ठ देवता है । इस तत्व को न जानकर लोग व्यर्थ ही अन्य देवताओं की पूजा करते हैं । हमारे शरीर में नवद्वार हैं, इनमें शिवस्वरूप नवोंनाथ अधिष्ठित हैं, इड़ा, पिंगला के संगमस्थान सुषुम्ना में साक्षात् जगन्नाथ देव का निवास है और दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव निवास करते हैं, यह दसवाँ द्वार ही केदार धाम है, केदारनाथ भगवान् शिव, अलख-निरंजन, का केवलानुभवस्वरूप परमशिव का यहीं साक्षात्कार होता है । गोरखनाथ का सुदृढ़ मत है कि योगमार्ग ही मोक्ष प्रद मार्ग है, यह समस्त युक्तियों, साधनाओं का सारतत्व हैं, इसका आश्रय लेकर जीवात्मा भवसागर से पार हो जाता है ।

(10)

मनसा मेरी ब्यौपार बांधौ, पवन पुरषि उतपनां ।
जाग्यौ जोगी अध्यात्म लागौ, काया पाटण मैं जांनां ।।टेक।।
इकवीस सहंस षटसां आदू, पवन पुरिष जप माली ।
इला प्यंगुला सुषमन नारी, अहनिसि बहै प्रनाली ।। । ।।
षटसां षोडि कवल दल धारा, तहां बसै ब्रह्मचारी ।
हंस पवन ज झूलन पैठा, नौ सै नदी पनिहारी ।। 2 ।।
गंगातीर मतीरा अवधू, फिरि-फिरि बणिजां कीजै ।
अरघ बहन्ता उरधैं लीजै, रवि ससि मेला कीजै ।। 3 ।।
चंद सूर दोऊ गगन बिलूधा, भईला घोर अंधारं ।
पंच बाहक जब न्यंद्रा पौढ्या, प्रगट्या पौलि पगारं ।। 4 ।।
काया कंथा, मन जोगोटा, सत गुर मुझ लाषाया ।
भणंत गोरषनाथ रूढ़ा राषौ, नगरी चोर मलाया ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(मनसा ब्यौपार पार ब्रह्म सूं कीयौ । पवन करि पुरूष । मन बिनसतौ उपज्यौ । मनसा कहै रे जोगी मन अध्यात्म लागौ काया पटण मैं ।टेक । यकीस हजार छसै दम आदि का पुरष मन कै हाथि । जप माला दीनी ।

यड़ा मन पिंगुला पवन । सुषुमनां सुरति । अहनिस राति दिन । प्रनाली नाड़ि उलटि बहै । षटछह सांसू षोड़ि. काया । कँवल मैं दहै करि परिसिध । पर-ब्रह्मचारी प्रांन । हंस ही पवन । जल ब्रह्म नौसै नाड़ि नदी सोई । पणिहारी आत्मां । गंगातीर तहिं कै तटि । बणिज ब्रह्म सूं । चंद सूर मन पवन । गगन ब्रह्मद्वार । घोर अंधार गुणां कौ हूवै (पंच यंद्री पौढ़ी । सुंनि प्रगट्या दसवै द्वार । काया हो कन्था । मन जगोटा ।।)

हे मेरी मनसा ! (इच्छा) योगसाधना (व्यापार) में तत्पर होकर ब्रह्मानुभूति प्राप्त करने का समय आ गया है । प्राणपुरूष उत्पन्न हो गया है, मन और पवन का संयोग सम्भव हो गया है । (मन और पवन के योग अथवा प्राणायाम से) जागा हुआ (सचेत- सावधान) योगी आध्यात्मिक साधना में तल्लीन है । वह शरीर में ही विद्यमान परमात्मा के साक्षात्कार के लिये मन को, उन्मन करने में लग गया है, वह शरीररूपी नगर (काया-पाटण) में प्रवेश कर उसमें विद्यमान परमात्मा की प्राप्ति द्वारा योगसिद्धि में सफल होना चाहता है । प्राणपुरूष अर्थात् बाहर-भीतर जाती हुई सांस ही उसकी जपमाला है और निरन्तर अजपाजाप में रत होकर वह हंस मंत्र सिद्ध करता है । इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ी में निरन्तर पवन प्रवाहित है । स्वाधिष्ठान चक्र (षटसां-षट्दलकमल) और विशुद्ध चक्र (षोडिकवलदल-षोडशदलकमल) की धारा में ब्रह्मपुरूष, आत्मा का निवास है । (सूक्ष्म तत्व की धारा से स्थूल का निर्माण हुआ है) स्वाधिष्ठान और विशुद्ध आदि चक्रों का निर्माण इसी धारा से हुआ है । नौ सौं नाड़ियाँ-नदियाँ पनिहारिन के रूप में प्राणधारा से हंस को सींचती हैं, जिससे आत्मारूपी वेलि पुष्पित होती है और इड़ा, गंगा के तट पर मतीरा - तरबूज, शीतलदायक अमृतोपम ज्ञान उत्पन्न होता है, इस ज्ञान का बार-बार जीवन में (व्यापार) करना चाहिए । नीचे बहने वाली अमृत-धारा को ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में ले जाना चाहिए (पाताल की गंगा का यही ब्रह्माण्ड में चढ़ाया जाना है), इस तरह इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का सुषुम्ना में लय करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र में इन दोनों नाड़ियों के लय से और सुषुम्ना की प्रधानता से (बाह्यार्थो के लिए) घोर अन्धकार हो गया, जिससे पंचेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों की गति (उसमें प्रवेश के

लिए) अवरूद्ध हो गयी, वे सो गयी और जीवात्मा के लिए ब्रह्मरन्ध्र, सहस्रार में प्रवेश करने का सिंहद्वार, प्रधान द्वार (पौलि-पौर, पगार-परकोटा-परकोटे का द्वार) प्रकट हो गया अर्थात् आध्यात्मिक जीवन के रसास्वादन का मार्ग खुल गया । मुझे गुरू से यह रहस्य विदित हो सका कि मनरूपी योगी की गुदड़ी कंथा उसकी काया है । मन जोगौटा (योगपट्ट) धारण कर उन्मनी समाधि में, ब्रह्म में अभिन्न हो उठता है । गोरखनाथ का ऐसा कथन है कि शरीररूपी नगर में काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, ये छः शत्रु घूम रहे हैं, उनसे सदा सावधान रहकर परमात्मा, अलख-निरंजन परब्रह्म परमशिव का अजपाजप से हंसमंत्र की सिद्धि का साक्षात्कार कर लेना चाहिए।

(11)

अवधू बौल्या तत बिचारी, पृथ्वी मैं बकबाली ।
अष्टकुल परबत जल बिन तिरिया, अदबुद अचंभा भारी ।।टेक।।
मन पवन अगम उजियाला, रवि ससि तार गयाई ।
तीनि रांज त्रिबिधि कुलं नांहीं, चारि जुग सिधि बाई ।। । ।।
पांच सहस में षट अपूठा, सप्त दीप अष्टनारी ।
नव षंड पृथी इकबीस मांही, एकादसि एक तारी ।। 2 ।।
द्वादसी त्रिकुटी यला पिंगुला, चवदसि चित मिलाई ।
षोड़स कवल दल सोल बतीसौ, जुरा मरन भौ गमाई ।। 3 ।।
दसवें द्वार निरंजन उनमन बासा, सबदैं उलटि समांनां ।
भषंत गोरषनाथ मछींद्र नां पूता अविचल थीर रहांनां ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(अवधू बौल्या तत्व विचारी । तत्व ईश्वर बिचार । पृथी काया बंक सुरति बली समाई । अष्टकुली परबत काया । जल माया ।टेक। मन पवन परे अगन ईस्वर । रवि ससि पार गियाई । रवि ससि मन पवन तार तिमिर गियाई । (गिधाय-यथादृष्ट) गया । तीन गुण त्रिविध संसार नहीं । चारि जुग

में बाई। सिधिकरतां आया। पंच सहस मैं षट अपूठा। पंच सहस सुर कवंल बाय, षट प्राण कवंल सपत धात आठई बाय। मनी मनारी। द्वादस बाय कलात्रिकुट के बिषै। चवदैतबक ऊपरै चित मेल्यौ। षोडस कवल बतीस पंषुड़ी समझ्या जुरा गई। दसवै उनमनी। सम तति हूवा सबद ।।)

अवधूत ने अच्छी तरह विचार कर तत्व निरूपण किया है कि इस काया में (पृथ्वी में) ही समस्त ब्रह्माण्ड का ध्यान करना चाहिए, (इस पद में पूर्णिमा और अमावास्या को मिलाकर 16 तिथियों के बहाने योग का वर्णन किया गया है।) प्रतिपदा तिथि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, पर इसकी अभिव्यक्ति की गयी है कि सबसे पहले तो यह आश्चर्य की बात है कि अष्टकुल पर्वत बिना जल के तैर गये, पार उतर गये। अष्टकुल पर्वत स्थूल काया है. और जल माया है, काया में माया और आत्मा दोनों हैं, माया से रहित होकर योगसाधना से काया में ही परब्रह्म की प्राप्ति हो गयी, जीवात्मा कैवल्यपदमें स्थिर होकर जीवन्मुक्त हो गया। मन और पवन के संयम से, मन को उन्मन करने और प्राण का सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में लय करने पर अलख-निरंजन की ज्योति का दर्शन होता है, मन और पवन द्वितीया तिथि के प्रतीक हैं, इनके संयम से अगम अपार परमात्म ज्योति के प्रकट होने पर सूर्य, चन्द्रमा, तारे निस्तेज हो जाते हैं। तृतीया तिथि का महत्व यह है कि त्रिगुण, सत्व, रज और तम की माया का राज्य समाप्त हो गया। योगसाधक त्रिगुणों के विकार से निर्मल होकर अपने शुद्ध आत्मस्वरूप में रमण करता है और चतुर्थी (चौथे) का महत्व यह है कि चारों ओर सिद्धि का डंका बज गया, योगसिद्धि की बात फैल गयी। पंचमी का लक्षण यह है कि सहस्रार में स्थिति हो गयी और छठी का प्रतीक यह है कि जीवन की धारा उलट गयी (अपूंठा, पीठ की ओर हो गयी) साधक की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति हो गयी। सप्तमी का लक्षण यह है कि अलख ज्योति का दीप जल उठा और अष्टमी के रूप में कुण्डलिनी (नारी) महाशक्ति का शिव में लय (अभिन्नत्व) हो गया। नौमी का आशय यह है कि काया के भीतर ही नवखण्ड पृथ्वी और इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थित हैं। शरीर में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, सात द्वीप, सात लोक और सात समुद्र स्थित हैं, इनको शरीर में जानकर इनका ध्यान करने से इनके साक्षात्कार की सामर्थ्य मिलती है। नवखण्डों की स्थिति शरीर के नवों द्वार में हैं, एकादशी की प्रतीक एकतार

अथवा एकरस समाधि है । द्वादशी का अभिप्राय है इड़ा-पिंगला का त्रिकुटी में सुषुम्ना द्वारा मेल अथवा लय । (त्रयोदशी का उल्लेख नहीं है ।) चतुर्दशी का अभिप्राय है कि चित्त ब्रह्म में लीन हो गया है । पूर्णिमा अथवा अमावस्या का अभिप्राय यह है कि षोडश दलवाले कमल, विशुद्ध चक्र के सिद्ध होने पर योगी को बत्तीसों लक्षण प्राप्त हो गये और वह जरा-मरण तथा संसार के भय से मुक्त हो गया । दशमी तिथि, जिसका संकेत पहले न कर, अन्त में किया गया है, साधना की सम्पूर्ण सिद्धि की प्रतीक है कि उन्मनी समाधि के द्वारा योगी निरंजन स्वरूप में स्थित होकर दसवें द्वार में, शब्दब्रह्म में, अन्तर्लय में तल्लीन है, शिव और जीव की एकतानुभूति में अन्तर्हित है । इस तरह गोरखनाथ का कथन है कि जीवात्मा अपने मूल, परमात्मा में स्वस्थ हो गया ।

(12)

ऊं नमो सिवाई बाबू ऊं नमो सिवाइ ।
अह निसि बाइ मंत्र कोर्णै रे उपाइ ।।
भ्यंने भ्यंने अष्यरे जे देवै रे बुझाइ,
ताका मैं चेला बाबू सो गुरू हमारा ।।टेक।।
ऊंकार आछै बाबू मूल मंत्र धारा,
ऊंकार व्यापीले सकल संसारा ।
ऊंकार नाभी हृदै देवगुर सोई,
ऊंकार साधे बिना सिधि न होई ।। 1 ।।
नादैं लीना ब्रह्मा नादैं लीना नरहरि,
नादै लीना ऊमापति जोग ल्यो धरि-धरि ।
नाद ही तो आछै बाबू सव कछू, निधांनां,
नाद ही तैं पाइये परम निरबांनां ।। 2 ।।
बाई बाजै बाई गाजै बाई धुनि करै,
बाई षटचक्र बेघै अरधैं उरधैं मांधे फिरै ।
सोहं बाई हंसा रूपी प्यंडै बहै,
बाई कै प्रसादि ब्यंद गुरमुष रहै ।। 3 ।।

मन मारै मन म्रै मन तारै मन तिरै ।
मन जै अस्थिर होइ तृभुवन भरै ।
मन आदि मन अंत मन मधे सार ।
मन ही तैं छूटै बाबू विषै विकार ।। 4 ।।
सक्ति रूपी रज आछै सिव रूपी ब्यंद ।
बारह कला रवि आछै सोलह कला चंद ।।
चारि कला रवि की जे ससि धरि आवै ।
तौ सिव सक्ती सम होवै, अन्त कोई न पावै ।। 5 ।।
एही राजा राम आछै सर्वे अंगे बासा ।
ये ही पांचौ तत बाबू सहजि प्रकासा ।
ये ही पांचौ तत बाबू समझि समांनां ।
बदंत गोरष हम हरिपद जांनां ।। 6 ।।

प्राचीन टीका

:

(अह निस राति दिन बाई ईश्वर बिनां बहै है । कौंण मंत्र कौंण उपाय बसि हो । ताका रे मैं चेला ।।टेक।। गुरू कहै ऊंकार जो छै सू मूल मंत्र छै । ताहि करिं संसार पंडित छै । नाभि हृदा बिचि बहै तो देवगुरू बतावा । सोते साधे बिना सिंधि नाहीं । ऊंकार करि नरहरि ब्रह्मा महादेव प्रसिधि है । नाद सबकौ निधांन । षटचक्रा कू बेधिवे कूं बाई ही संम्रथ है । बाई ही स्रोहं द्वैं बित रष नहीं पिंड, विषै असधि बहै । बिंदू कूं बाई जीते मन कूं मन मारै । त्रिभुवन में मन-मन देषै । आदि मन हीं समाइसी (समदिसी-यथादृष्ट)। अति सुधि मनह । समझ्या काम । मन ही सूं विषै छूटै अनि करणी नाहीं । बिंद रज की भांड है । बारा कला सूरज, सोला कला ससि । रज रेत सम जे ह्वै तब परम गति होय । यती समिं कीयां आपे आप है । पंच तत्व की समझि है ।)

ऊंकारस्वरूप (आदिनाथ) शिव का नमस्कार है, रातदिन प्राणवायु के चलते रहने से बराबर 'सोहं-हंस' मंत्र का जाप साँस के द्वारा होता रहता है, प्राणहंस मंत्र का यह अजपाजप अनवरत हो रहा है । प्राणवायु हकार की ध्वनि से बाहर और सकार की ध्वनि से भीतर आती जाती रहती है ।

(यही अजपा गायत्री है ।) इस प्राणविद्यास्वरूप हंस-मंत्र का मूल कौन है, कहाँ से यह मंत्र उत्पन्न है, यह बड़े रहस्य का विषय है । इसके भिन्न-भिन्न दोनों अक्षरों के रहस्य का उद्घाटन अथवा प्रकाशन योगसिद्ध गुरु के द्वारा ही होता है, निस्सन्देह जो इस हंस-मंत्र का स्वरूपबोध प्रदान कर दे, वही हमारा गुरु है । इस प्राण-मंत्र (प्राणहंस) की उत्पत्ति ऊँकार से ही है । समस्त सृष्टि, जगत् के प्राकट्य का मूल ऊँकार ही है । ऊँकार ब्रह्म ही हमारे नाभिदेश (स्वाधिष्ठान चक्र) और हृदय (अनाहतचक्र) में स्वाभिव्यक्त अथवा सहज विद्यमान है । ऊँकार ही देवता (परमशिव महादेव) है, ऊँकार ही गुरु है । योगसिद्धि ऊँकार की उपासना से ही सम्भव है । मूल ऊँकार का अभिव्यक्त रूप नाद है, नाद ही में ब्रह्मा, नरहरि (विष्णु) और उमापति (महादेव महेश्वर) लीन हैं, उनकी लीला-भिव्यक्ति का माध्यम ऊँकारस्वरूप नाद ही है, इस नाद में ही लव लगाकर (चित्तवृत्ति का लय कर) योग की साधना से ऊँकाररूपी परमधन, कैवल्यपद (निर्वाण) को प्राप्त करना चाहिए । प्राणवायु इड़ा और पिंगला नाड़ी से प्रवाहित होकर सुषुम्ना की मध्यवर्तिनी ब्रह्मनाड़ी में प्रवेश कर शरीर की चौसठ सन्धियों को निनादित करती हुई सहस्रार में प्रवेश कर अनाहतनाद में लीन हो जाती है और सहस्रार में संरचण करती रहती है और इस तरह षट्चक्रों के भेदन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निबाहती है । यह प्राणवायु सोहं रूप में अभिव्यक्त होकर हंस-मंत्र का रूप धारण कर लेती है और इसके (प्राण-अपान के) समरसत्व के फलस्वरूप बिन्दु ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है और इस तरह योगसाधक का शरीर मृत्यु का ग्रास होने से बच जाता है । वायु, प्राण को शरीर में स्थिर करने पर मन भी स्थिर हो जाता है, वह मर जाता है (उन्मन हो जाता है), इस तरह मन ही मारनेवाला है और स्वयं अपने (मन के) मरण का साधन भी है, वह अमनस्क होकर जीवात्मा को मुक्त करता है और स्वयं उन्मन हो जाता है (तर जाता है), मन के स्थिर होने पर त्रिभुवन तर जाता है, मन ही शिव (आदि) है, मन ही समस्त षट्चक्रभेदन आदि अन्तर्साधनाओं का माध्यम है और वही अन्तिम (कैवल्य) अवस्था, परममुक्ति प्रदान करने का भी अमोघ साधन है । बाह्य विषय-विकारों का अन्त मन को ही वश में करने से सम्भव हो जाता है, रज ही शक्ति है, शिव बिन्दु है । मूलाधारस्थ अमृतशोषक सूर्य बारह कलाओंवाला है और सहस्रार में स्थित

अमृतस्रावक चन्द्रमा सोलह कलाओं का है, विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से बारह कलावाले शक्तिमान सूर्य को ऊपर और तालुमूल में स्थित अमृतमय चन्द्र को नीचे कर शेष चार कलाओं के द्वारा योगी अमृतपान कर दिव्य देह की प्राप्ति करता है । बिन्दुरूपी शिव ही चन्द्रमा हैं और रजरूपिणी शक्ति ही सूर्य है । इन दोनों के समरसत्व से योगी अमरकायत्व प्राप्त करता है । यही शरीर में व्याप्त परब्रह्म राजाराम के सहज स्वरूप का बोध है । पाँचों तत्व का यथोचित प्रकाशन इसी परमात्मानुभूति का फल है । पाँचों तत्व इस बोध के परिणामस्वरूप परब्रह्म में अन्तर्लय प्राप्त कर उसी में प्रविष्ट हो जाते हैं । गोरखनाथ का वचन है कि यही हरिपद, परमपद की प्राप्ति है, महायोगज्ञान है ।

(13)

अवधू जाप जपौ जपमाली चीन्हौं, जाप जप्यां फल होई ।
अगम जाप जपीला गोरष, चीन्हत बिरला कोई ।।टेक।।
कवल बदन काया करि कंचन, चेतनि करौ जपमाली ।
अनेक जनम का पातिग छूटै, जपंत गोरष चवाली ।। । ।।
एक अषीरी एकंकार जपीला, सुंनि अस्थूल दोइ वांणी ।
प्यंड ब्रह्माण्डसमि तुलि ब्यापीले, एक अषिरी हम गुरमुषि जांणीं ।। 2 ।।
द्वै अषिरी दोई पष उधारीला, निराकार जापं जपियां ।। 3 ।।
जे जाप सकल सिष्टि उतपंनां, ते जाप श्रीगोरषनाथ कथियां ।। 3 ।।
त्रिअषिरी त्रिकोटी जपीला, ब्रह्मकुंड निज थांनं ।
अजपाजाप जपंता गोरष, अतीत अनुपम ग्यांनं ।। 4 ।।
चौ अक्षरी चतरवेद थापिला, चारि षोंणी चारि वांणी ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, अजपा जपिला धीर रहांणी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(जाप समझौ तिहि करि अगम जपीए ।टेक। बदन प्रांन सुसम भजतां । काया कंचनी बसि होवै । तौज होय चवै कहै । एक अक्षर यड़ाकार कुंभक सुंनि नाभि बांणी बसि हुई जो पिंड-ब्रह्माण्ड में समतत हैं । द्वै

अक्षरी दूजी नाड़ी। दोय पष पांन अपांन। तिहि कारे भौ पार उतरे। त्रे अक्षरी सुषमन त्रेमंत्र जपी। ब्रह्मकुण्ड ब्रह्मद्वार चौ अक्षरी परा चारे षांणी चारि बांणी बसि हुई।)

हे अवधूत ! दुर्लभ मनुष्य-शरीर की प्राप्ति का पुण्य फल है कि सदा अगम सर्वातीत अलख-निरंजन परमात्मा का चिन्तन होता रहे, यही जप है। यह चैतन्यघन परमात्मा ही जपमाला है, इसका अच्छी तरह तत्वतः ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए। परमात्मारूपी जपमाला पर चित्त की वृत्ति का लगा रहना परमफल है। इसका रहस्य विरला (योगसिद्ध) ही समझ पाता है। जप की माला परमेश्वर है, कमल (चक्र), जो शरीर में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र के रूप में विद्यमान हैं, जप करते रहने के लिये मुख हैं, प्राण-अपान का सामरस्य इन्हीं चक्रों के भेदन का फल है और प्राण का इस तरह सहस्रार में पहुँच जाना ही जप का फल है, यह कंचनकाया ही इस माला के मनके के रूप में हमें प्राप्त है। इस तरह की माला पर अगम का जप करते हुए गोरखनाथ का कथन (चवाली) है कि जन्म-जन्म के पातकों का, परमात्मा से विमुखतारूपी अपकर्मों का कुफल नष्ट हो जाता है और, गोरखनाथ जी का कथन है कि हम पंचाक्षर, द्वादशाक्षर, षोडशाक्षर आदि मंत्रों का जप नहीं करते हैं, हमारा मंत्र तो केवल एकाक्षरी है, अलख-निरंजन अगम परमशिव के स्वरूप का वाचक, स्थूल और आभ्यन्तर (शून्य तथा स्थूल), दोनों तरह की वाणियों से परे अथवा अतीत है। यह शून्याकार महत्तत्व अलख के ध्यान में चित्तवृत्ति का लय कर देने वाला सूक्ष्म से भी सूक्ष्म प्राणविद्या, महाविद्या, अथवा एकाक्षर (एकमात्र परमात्मबोधक) महामंत्र है। एक चैतन्यमंत्र स्वरूपतः पिंड और समस्त ब्रह्माण्ड में समान रूप से व्याप्त है। निराकार से ही साकार सृष्टि उत्पन्न है। अक्षर मंत्र के जप से हमने (गोरखनाथ ने) त्रिकुटी में ब्रह्मकुण्ड, ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में अजपाजप (प्राणहंसगायत्री मंत्र के जप) से परम शिव, अलख-निरंजन का अनुभव कर लिया है। सृष्टि में उद्भिज, उष्मज, अण्डज और पिण्डज-चार प्रकार के प्राणियों में परब्रह्म व्याप्त है। पिण्ड में यथाक्रम रोमावली, हड्डी, नेत्र और वीर्य के रूप में अवस्थित है, इनमें परमात्मा, चैतन्य, पुरूष, प्राणपुरूष, परमहंस, अलख

निरंजन विद्यमान है, इसी तरह परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी वाणी के रूप में शरीर में सहज, संयम, सुपाइ, अतीत की विद्यमानता है । वैखरी साधक की क्रिया-शक्ति मध्यमा, (ज्ञानमयी) बुद्धिवृत्ति अथवा ज्ञानशक्ति, परम परमेश्वर की प्राप्ति अथवा स्वरूपानुभूति की वृत्ति का द्योतन करती है । यह समरसावृत्ति है । गोरखनाथ की महार्थमंजरी रचना 49 में स्वीकृति है - 'वैखरी नाम क्रिया ज्ञानमयी भवति मध्यमा वाक् । इच्छा पुनः पश्यन्ती सूक्ष्मा (परा) समरसावृत्तिः ।।'

मत्स्येन्द्रनाथ के कृपापात्र गोरखनाथ का कथन है कि यही चतुरक्षरी मंत्र है । शरीर में प्राण की यही सार्थकता है कि वह निरन्तर परमात्मा के चिन्तन का साधन बनते हुए जीवात्मा को भवसागर से पार उतारने का सम्बल बन जाय । यही एकाक्षरी मंत्र की सहज सिद्धि है ।

(14)

रमि रमिता सौं गहि चौगानं, काहे भूलत हौ अभिमांनं ।
धरंन गगन बिचि नहीं अंतरा, केवल मुक्ति मैदांनं ।।टेक।।
एक मैं अनंत अनंत मैं एकै एकै अनंत उपाया ।
अंतरि एक सौं परचा हूवा, तब अनंत एक मैं समाया ।। 1 ।।
अहरणिनाद नैं ब्यंद हथौड़ा, रवि ससि षाला पवनं ।
मूल चापि डिढ़ आसण बैठा, तब मिटि गया आवागवनं ।। 2 ।।
सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगांग चित चवका ।
चेतनि असवार ग्यांन गुरू करि, और तजौ सब ढबका ।। 3 ।।
तिल कै नाके तृभवन सांध्या, कीया भाव विधाता ।
सौतौ फिर आपणही हूवा, जाकौ ढूंढण जाता ।। 4 ।।
आस्तिकहूँ तो कोइ न पतीजै, बिन आस्ति (अनंतसिध) क्यूं सीधा ।
गोरष बोलै सुणौ मछिंद्र, हीरै हीरा बीघा ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(अहरणि नाद-बिंद की काया । ताती सीली नाड़ी ए पवन । मूल द्वार पाचौ आसन करि ।।टेक।। सहज ही पलांण । पवन का घोड़ा । ल्यौ

लगाम । चित्त चाबक । चेतन असवार । ग्यांन गुरू । तिलं ब्रह्मद्वार हीरौ पांन । अहीर अपान) ।

जीवन चौगान का खेल है, (चौगान के खेल में लकड़ी के बल्ले से गेंद को उछाला जाता है ।) हमारे शरीर में परब्रह्म अलख निरंजन परमाशिव परिव्याप्त है, उससे जीवात्मा का अभिन्नत्व-स्थापन ही चौगान खेल की, योग-साधना की सिद्धि है, शरीर ही ब्रह्मसाक्षात्कार का विस्तृत क्रीड़ाक्षेत्र है, इसमें रमण करनेवाले राम, परब्रह्म अन्तर्लय ही जीवात्मा के जीवन की सिद्धि अथवा विजय है । (गोरखनाथ सावधान करते हैं कि) अहंकार ही अविद्या है, जो परमात्मा और जीवात्मा के सामरस्य में आवरण है, इस अहंकार को, मिथ्या कर्तृत्व के अपने आप पर आरोपण को नष्ट कर देने से परमात्मा की प्राप्ति होती है । धरा (मूलाधार) और गगन (सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र) के बीच दूरी नहीं है, सर्वत्र समान रूप से अलख निरंजन चैतन्य, सच्चिदानन्द परब्रह्म व्याप्त है, इस विस्तृत क्षेत्र को ही मुक्ति-प्राप्त का कैवल्यपद की सिद्धि का असीम और आवरण-रहित मैदान कहा जाता है । इस विस्तृत पिण्ड में सम्पूर्ण ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म की निरन्तर क्रीड़ा होती रहती है । सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म अभिव्यक्त है । जीवात्मा (योगसाधक) उससे सर्वथा अभिन्न हैं, एकरस सम्बद्ध है । यह क्रम सदा बना रहता है । इसी क्रम को सदा अभिन्न रखने की युक्ति यह है कि मूलबन्ध में आसन लगाकर, सिद्धासन में स्थित होकर जीवात्मा मूलाधार में स्थित प्रसुप्त कुण्डलिनी महाशक्ति को षट्चक्र के भेदन द्वारा जगाते हुए सहस्रार में स्थित परम शिव में अभिन्न कर जन्म-मरण, आवागमन (बार-बार शरीर धारण करने) से मुक्त होकर, जीवन्मुक्त अवस्था में स्थित होकर अमरकायत्व प्राप्त कर ले । प्राणायाम के बल से नाद-बिन्दु को सहस्रार में एकात्मकर जीवन्मुक्ति का वरण करना चाहिए । बिन्दु (वीर्य) रूपी हथौड़े से नाद की निहाई पर रवि-शशिरूपी नलिकाओं से (इड़ा-पिंगला नाड़ियों से) प्राण को प्रवाहित कर सहस्रार में नाद-बिन्दु की एकता स्थापित कर परमात्मा का साक्षात्कार ही स्वर्णकाररूपी जीवात्मा का अभीष्ट है । इस चौगान के खेल में सफलता प्राप्त करने का साधन यह है कि योगसाधक पवनरूपी घोड़े पर (प्राणायाम में) सहज के जीन पर स्थित होकर लय की लगाम लगाये और चित्त को चाबुक बनाकर

क्रीड़ा-क्षेत्र में (योग-साधना के क्षेत्र में) उतर पड़े, प्रवेश करे, गुरू के पथ-प्रदर्शन में क्रीड़ा करते हुए, खेल खेलते हुए (जीवात्मारूपी असवार) अन्य उपायों को त्यागकर सफलता प्राप्त करें । (गोरखनाथ की प्रेरणा है कि) चेतन, जीवात्मा इस तरह गुरू के ज्ञान प्रकाश में योगसाधना कर परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो जाये । मैंने ब्रह्मानुभव प्राप्त कर लिया, ब्रह्म मुझसे (जीवात्मा से) तिलमात्र भी भिन्न नहीं हैं, मैंने त्रिभुवन में उसका संधान किया, खोज की पर वह अपने भीतर ही व्याप्त, अनुभवानंदस्वरूप में अभिव्यक्त है । परमेश्वर के अनुग्रह से (हृदय में परमात्मा की कृपा की ज्योति प्रकट होने पर) मैं वही हो गया, जिसे मैं त्रिभुवन में खोजता फिरा, मुझे पता चल गया कि मैं परब्रह्म ही हूँ, अलख निरंजन परमशिव में, कैवल्यपद में स्वस्थ हूँ । परमात्मा है, वह हमारे भीतर हैं, ऐसा कहने मात्र से लोग विश्वास नहीं कर लेते हैं, वह अनुभवगम्य है, अगम होते हुए सहज सुगम है पर उसके साक्षात्कार के लिये ज्ञाननेत्र का उन्मीलन आवश्यक है । गोरखनाथ का अपने गुरू से निवेदन है कि आत्मा से ही परमात्मा की पहचान, परख होती है, काया के राज्य में भ्रमण न कर आत्मराज्य में विचरण करना चाहिए । परमात्मा के साक्षात्कार का आधार आत्मा है ।

(15)

तत बणिजील्यौ ततबणिजील्यौ, ज्यूं मोरामन पतियाई ।।टेक।।
सहज गोरषनाथ बणिज कराई । पंच बलद नौ गाई ।
सहज सुभावै वाषर ल्याई । मोरै मन उडियांनी आई ।। । ।।
सुरहट घाट अम्हे बणिजारा । सुंनि हमारा पसारा ।
लेण न जाणौं देण न जाणौं, ऐसा बणज हमारा ।। 2 ।।
भणंत गोरषनाथ मछिंद्र का पूता ऐसा बणिज ना अरथी ।
करणी अपणी पार उतरणां, बचने लेणां साथी ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(तत नाम । पंचभूत नौ गाय । मन बछौ (वत्स) । नौ द्वार बाखर बरह वरत । उडियान अडिग । सिरांकौ हाट सुंनि । अभ्यास बनिज । कूड़ा

(गोरखबानी

लैन दैन ।)

परमात्मतत्व (रूपी रत्न) ही इस जगत् में अमूल्य पदार्थ है, मैं उसी का वाणिज्य करता हूँ । (हे अवधूत) इस परमात्मतत्व को सदा सुरक्षित रखना चाहिए, इससे मन में यह विश्वास हो जायेगा, यह सहज ज्ञान का व्यापार है । मैं बनजारा हूँ । इस सहज ज्ञान को मैं अपने पाँच ज्ञानेन्द्रियरूपी बैलों पर तथा शरीर में स्थित नव द्वाररूपीगायी के सहारे करता हूँ । पाँचों ज्ञानेन्द्रिय और नवोंरन्ध्र शरीर रूपी बखार (पदार्थ सुरक्षित रखने के स्थान) से इस पदार्थरत्न को जागतिक मायामोह में लुप्त नहीं होने देते हैं । ये उपकरण ही हमारे व्यापार के सहज साधन हो गये हैं, ये बाह्य विषयों में प्रवाहित न होकर निरन्तर प्राण का संयमन करते हुए परमतत्व के साक्षात्कार में (जीवात्मा को) प्रवृत्त करते हैं । मेरा मन ऊँची उड़ान लेता है, उन्मन होता जाता है, मैं ऊँचे घाट (सुरहट) सहस्रार प्रदेश, ब्रह्मरन्ध्र और शून्य का व्यापारी हूँ, शून्यस्थ परब्रह्म का ही व्यापार होता है, इसके बदले में लेन-देन की बात ही नहीं है, यह स्वतः स्वरूपबोध है । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि अपनी साधना और सदाचार के बल पर इस व्यापार में जीवन्मुक्ति अवस्था की प्राप्ति कर स्वरूप में स्थित होकर ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लेना चाहिए ।

(16)

मांहरा रे बैरागी जोगी, अहनिसि जोगी जोगणि संग न छोड़े ।
मानसरोवर मनसा झूलंती आवे, गगनमंडल मठ माड़े रे ।।टेक।।
कौंण अस्थांनिकि तोरा सासू नै ससुरा, कौंण अस्थान का तोरा बासा ।
कौंण अस्थांन क तूनै जोगणि भेंटी, कहाँ मिल्या घर बासा ।। 1 ।।
नाम अस्थांन -क मोरा सासू नै ससुरा, ब्रह्म अस्थांन -क मोरा बासा ।
इडाप्यंगुला जोगणा भेंटी, सुषमन मिल्या घर बासा ।। 2 ।।
कांम क्रोध बाली चूनां कीधा, कद्रप कीया कपूर ।
मन पवन दो काथ सुपारी, उनमनी तिलक सींदूरं ।। 3 ।।
ग्यांन गुरू दोऊ तूबा अम्हारे, मनसा चेतनि डांडी ।
उनमनी तांती बाजन लागी, यहि बिधि तृष्णां षांडी ।। 4 ।।

एण सतगुरि अम्है परणाब्यां, अबला बाल कुंवारी ।
मछिंद्र प्रसाद श्रीगोरषबोल्या, मायानां भौटारी ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(जोगणि मनसा । मन जोगी । मन सरोवर ईश्वर । गगन ब्रह्म । मठ आसन ।टेक। सासू सुरति ससुरौ सबद । जोगणि मनसा । नाभि बसै ब्रह्म अस्थांन के बास ।)

हमारा विरागी, वैराग्यराज का निवासी योगी मन है, यह मन रात-दिन योगिनी (महामाया कुण्डलिनी) के साथ भोगासक्त रहता है, निरंतर वैराग्यरस का आस्वादन करते हुए कुण्डलिनीरूपी योगिनी के सहवास में परमानन्द, सच्चिदानन्द, ब्रह्मानन्द में निमग्न रहकर कैवल्य पद में अलख-निरंजन परमशिव का साक्षात्कार करता है । यह इच्छास्वरूपिणी-दिव्यकामस्वरूपिणी महामाया कुण्डलिनी पराम्बा मनरूपी मानसरोवर में झूलती (विहार करती) है और गगनमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में अपने निवास के लिये, परम शिव के मिलनसुख के योग के लिये अपनी मढ़ी (मठ) या मन्दिर बना लेती है, उन्मनी समाधि में स्थिर होकर सहस्रार में प्रकाशित अथवा अपने मूल स्वरूप (आदिनाथ) में अभिव्यक्त हो उठती है ।

(गोरखनाथ का मनरूपी योगी से प्रश्न है कि) हे योगी । तुमने जिस योगिनी का (कुण्डलिनी, मायाशक्ति का) संग प्राप्त किया है, उसके पिता और माता कौन हैं अर्थात् तुम्हारे सासु-ससुर कौन हैं, कुण्डलिनी योगिनी से भेंट होने पर तुम उसके साथ किस स्थान पर रहते हो । (जीवात्मारूपी) योगी का उत्तर है कि (यद्यपि महामाया आदिमाया है, उसके माता-पिता नहीं है, वह मूल माया और अक्षतयोनि बालकुमारी है तथापि) जिस योगिनी का मुझे सहवास प्राप्त है, वह मूलाधार चक्र में निवास करती है; वहाँ स्वयंभूलिंग को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर वह विराजमान रहती है, इस मूलाधार के अधिपति देवता ब्रह्मा हैं, इसलिये प्रकारान्तर से उन्हें इस योगिनी का जनक, पिता कहा जा सकता है, मणिपूर अथवा नाभिचक्र महाविद्या, ब्रह्मा की प्राणसंगिनी प्राणविद्या गायत्री ही उसकी माँ है, जननी स्वीकार की

जा सकती है । रूप की (स्थूलाकार) दृष्टि से (क्योंकि कुण्डलिनी तो स्वाभिव्यक्ति है, अपने आप में ही उसकी स्वरूपस्थिति है) नाभि में प्राणवायु प्राणहंस का जप ही अजपाजाप महागायत्री है, इसी के द्वारा कुण्डलिनी महामाया प्रबुद्ध होती है और इसके प्रबुद्ध स्वरूप के साथ सुषुम्ना में मेरा विहार, रमण आरम्भ हो जाता है, सुषुम्ना में ही मैं निवास करता हूँ और त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र में मूलमाया योगिनी (कुण्डलिनी) का परम शिव से साक्षात्कार होने पर मैं तादात्म्य अथवा अन्तर्लय प्राप्त करता हूँ । (मनरूपी योगी का कथन है कि मैंने काम, क्रोध को जलाकर चूना (भस्म) बना डाला और इस तरह मुझे काम-विकार विमुग्ध अथवा पतनोन्मुख नहीं कर सका, मन को मैंने कत्था, पवन (प्राण) को सुपारी बना डाला तथा उन्मनी समाधि की अवस्था मेरे भाल का सिन्दूरी तिलक बन गयी, ज्ञान और गुरू, (आत्मज्ञान और गुरूपदेश) इन दोनों को मैंने तूँबा बनाकर तथा उन्हें मनसा (इच्छा) की डांडी पर उन्मनी समाधिरूपी ताँत से कसकर तम्बूरा का रूप प्रदान किया, इस तम्बूरे पर (वैराग्य का) महाराग, संगीत प्रस्फुटित हो उठा, मैं नाद ब्रह्म में तल्लीन हो गया और मेरी तृष्णा-वासना, भौतिक जगत् के विषयसुखोपभोग में रमण की कामना का अन्त हो गया । इस तरह आत्म-ज्ञान के प्रकाश में सद्गुरू देव के अनुग्रह और स्नेह-वात्सल्य से मैंने आजीवन कुमारी, पराशक्ति, पराम्बा, महाकुण्डलिनी शिव योगिनी से अपने शिवस्वरूप में चिरसम्बद्ध हो गया । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि इस तरह मनरूपी योगी ने माया को शिवस्वरूप में स्थित होकर अपने वश में कर लिया और भवबाधा, माया के अविद्यारूप से उत्पन्न भय का नाश हो गया । कैवल्यपद की प्राप्ति हो गयी, मन की उन्मनी समाधि में ।

(17)

ततबेली लो ततबेली लो, अवधू गोरषनाथ जांणी ।
डाल न मूल पहुप नही छाया, बिरधि करै बिन पांणी ।।टेक।।
काया-कुंजर तेरी बाड़ी अवधू, सतगुर बेलि रूपांणी ।
पुरिष पांणती करै धणियांणौं नीकै बालि धरि आंणी ।। । ।।

मूल एद्वा जेद्वा ससिहर अवधू, पांन एद्वा जद्वा भांणं ।
फल एद्वा जेद्वा पूनिम चंदा, जोउ-जोउ जांण सुजांणं ।। 2 ।।
बेलड़ियां दौं लागी अवधू, गगन पहुँची झाला ।
जिम-जिम बेली दाझबालागी, तब मेल्है कूंपल डाला ।। 3 ।।
काटत बेली कूँपलमेल्ही सीचतड़ाँ कुमलाये ।
मछिंद्र प्रसादे जती गोरष बोल्या, नितनबेलड़ी थाये ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(तत बेले आत्मां । डाल करम । मूल मन प्रकृत, छाया नहीं । माया जल बिनां बधै ।टेक। कुंजर मन । काया वाड़ी । बेलि आत्मा सुबधि । धरती रोपी पुरष प्रांन । मूल एद्वा । ससि चंद्र पांन भांण । सूरिज पवन । फल पूनिम । चंद ग्यांन गगन ब्रह्म । झाल बिरह । दाया लहै काटत कूंपल-मेल्है । स्वाद सीच्य कुमलावे ।)

आत्मा अथवा परमात्मा को आच्छादित करने वाली तत्ववेलि को, माया को मैंने (गोरखनाथ ने) समझ लिया है । हे अवधूत ! यह माया हमारे शरीर में और समस्त लोकलोकान्तर, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और नित्य स्थित है । यह बन्धनकारिणी मायावेलि विचित्र है, न तो इसका मूल है (उत्पत्ति का पता है), न इसके डाल-पुष्प और छाया का ही पता है, यह बिना सीचे ही अपने आप बढ़ती रहती है । हे अवधूत ! इस काया-कुंज की रमणीय फुलवारी, वाटिका में सद्गुरू ने इस तत्ववेलि का रोपण किया है, जिसका ज्ञान प्राप्त कर मनुष्य स्वरूप में स्थित होता है और इसमें नहीं उलझता है अर्थात् सद्गुरू-ज्ञान के प्रकाश में यह पता चला कि इस शरीर में तत्वबेलि है । इस माया को, तत्वबेलि को परमात्मसाक्षात्कार का साधन भी कहना संगत है । इस तत्वबेलि का मूल सहस्रारस्थित चन्द्रमा में है और इसका पूर्ण विस्तार, प्रसार और पुष्पित-पल्लवित रूप मूलाधार चक्र में स्थित सूर्य में है । यह मांया ऊर्ध्वमूल और अधः शाख है । चन्द्रमा शीतल आत्मज्ञानामृत का बोधक है और सूर्य भौतिकता, सांसारिक विषय-सुख के विस्तार का प्रतीक है । विलक्षण बात तो यह है कि कोई-कोई बिरले ज्ञानी ही माया के मूलअधिष्ठानं, सहस्रारस्थित चन्द्रमा के अमृत, ज्ञानामृत का

आस्वादन (सदुपयोग) कर पाते हैं । माया-बेलि भव-दुःख की अग्नि से प्रज्वलित होने पर ऊपर बढ़ती है, विकसित होती है । ज्यों-ज्यों यह जलने लगती है, त्यों-त्यों इसकी शाखाओं में नई-नई कोंपलें आने लगती हैं। यह मायावेलि काटने पर नष्ट नहीं होती, इसके विपरीत वह अत्यधिक पल्लवित होती है, और जितना ही ज्ञानामृत से इसका सिंचन किया जाता है, उतनी ही कुम्हलाती जाती है । यह माया-वेलि-संसार के प्राणियों के लिये निरन्तर बन्धनकारिणी है । अध्यात्म-साधक अपने स्वरूप की प्राप्ति कर इसको प्रभावहीन कर देता है । सद्‌गुरुमत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से गोरखनाथ का वचन है कि यह मायावेलि नित्य नवीन बनी रहती है । यह माया संसार में फँसाती है और संसार से मुक्ति भी देती है ।

(18)

बूझौ पंडित ब्रह्म गियांनं, गोरष बोलै जाण सुजांनं ।।टेक।।
बीज बिन निसपती मूलबिन बिरषा पांन फूल बिन फलिया ।
बांझ केरा बालूड़ा, प्यंगुल तरवरि चढ़िया ।। । ।।
गगन बिना चंद्रम ब्रह्माण्ड बिन सूरं, झूंझ बिन रचिया थांनं ।
ए परमारथ जे नर जांणैं ता घटि परम गियांनं ।। 2 ।।
सुंनि न अस्थूल लिंग नहीं पूजा, धुंनि बिन अनहद गाजै ।
बाड़ी बिन पहुप-पहुप बिन साइर पवन बिन भृंगा छाजै ।। 3 ।।
राह बिन गिलिया अगांने बिन जलिया, अंबर बिन जलहर भरिया ।
यहु परमारथ कहौ हो पंडित, रूग जुज स्यांम अथरबन पढ़िया ।। 4 ।।
ससंमवेद सोहं प्रकासं, धरती गगन न आदं ।
गंग जुमन बिच षेलै गोरष, गुरू मछिंद्र प्रसादं ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(बीज कांम । निसपती ग्यांन । मूलमाया बिनां पांण तरवर । पांन परकीरति । फूल कांमनां । बांझ का पूत ग्यांन । लिंग प्रांण । बाड़ी काया रहत ईश्वर । कँवंल काया । भृंग मन । स्वांसवेद । सोहं बाणी । गंगजमनां स्वास उसास । बिचि गोरष षेलै ।)

हे विद्वानो । ब्रह्मज्ञान को समझो, यह परमार्थ है, यह साधना से साध्य और अनुभवगम्य है, शब्दातीत है, मैं (गोरखनाथ) ने इस परमार्थ का (अपने गुरूप्रदत्त महायोगज्ञान के प्रकाश में) योगसाधना के द्वारा अनुभव कर अलख-निरंजन परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया है । परमात्मा की उत्पत्ति नहीं होती, यह निर्बीज है । यह निर्मूल है, मूलमाया प्रकृति से इसकी उत्पत्ति नही है, मूलमाया तो इसका स्वयं उपाश्रय करती है और यह शाश्वत चेतन शक्ति के रूप में आभासित होता है । वह सकाम होकर भी पूर्ण निष्काम है, प्रकृति का अधिष्ठान होकर भी, स्वाश्रय होकर उससे परे हैं, यही इस परमात्मवृक्ष का पुष्प और पत्र के बिना फलना है । स्वज्ञानस्वरूप परमात्मा परब्रह्म अलख-निरंजन कारणरहित है, चिन्मय निराकार होकर साकार और कार्य ब्रह्म-सा प्रतीत होता है । यद्यपि यह प्रतीतिमात्र ही है, उसके स्वरूप में विकृति (प्रकृति की परिणति) है ही नहीं यह सम्भव नहीं है कि बन्ध्या पुत्र पैदा करे, पुत्र की उत्पत्ति में रज़-बिन्दु (वीर्य), प्रकृति पुरूष के स्त्रीत्व-पुरूषत्व की प्रधानता है, केवल यह कथन मात्र है कि बन्ध्या पुत्र-प्रसव करती है । इस तरह यह असम्भव है कि ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन हो सके, क्योंकि ब्रह्मज्ञान तो शब्दातीत है, अनुभवगम्य है । सूर्य (प्यंगुल) का चन्द्रमा के घर में (सहस्रार) में चढ़ना, जीवात्मा का परमात्म्-साक्षात्कार कर लेना अनुभवस्वरूप है, शब्दसाक्ष्य नहीं है । सूर्य-चन्द्रमा का समरसैक्य असाधारण बात है । बिन्दु शिव है, चन्द्रमा है, सूर्य रज है, प्राण-वायु के द्वारा शक्ति (कुण्डलिनी) का चालन होने पर रज का बिन्दुरूपी चन्द्र से सामरस्य सिद्ध होने पर सहज स्वरूप में स्थिति हो जाती है । (तरवरि, तरूवर) चन्द्रमा के घर में यही सूर्य का चढ़ना है, और इस तरह जीवात्मा - परमात्मा परब्रह्म शिव के अमृतस्वरूप में स्थित हो जाता है । यह परमात्मज्ञान अथवा परमात्मतत्व ऐसा चन्द्रमा है, जो गगन (आकाश) में निराधार है, निरालम्ब है, शून्य है, परमात्मा ऐसा सूर्य है, जो ब्रह्माण्ड से परे है । वह ऐसे कर्तृत्व का शक्ति-केन्द्र है, जिसका क्षेत्र असीम है, वह युद्धक्षेत्र से परे युद्धकार्य का कर्ता है, उसका कर्तृत्व युद्ध-क्षेत्र की सीमा से परे का कार्य है । अलख-निरंजन परमशिव का यही परमात्मतत्व है, इसी परमात्मज्ञान को परमार्थ कहा जाता है, जो इस परमार्थ को जान जाता है, जो सद्गुरूदेव द्वारा कृपापूर्वक प्रदत्त योगज्ञान से परमात्मा

में अपना अभिन्नत्व समझ लेता है, उसी के भीतर (हृदय में) परमात्मज्ञान अथवा परमज्ञान अभिव्यक्त अथवा प्रकाशित हो उठता है । परमात्मा न शून्य है, न स्थूल है (साकार) है, उसका लिंग, कोई आकृतिपरिचायक लक्षण भी नहीं हैं, न पूजा ही है, अथवा पूजा से (स्वकर्म द्वारा उसकी अभ्यर्चना से) सिद्धि, कामना-पूर्ति, आत्म-साक्षात्कार तो हो जाता है, पर उसकी प्राप्ति पूजा से नहीं होती है, परमात्मा सिद्धि अथवा आत्मसाक्षात्कार की स्थिति का आलम्बन तो है पर परमात्मा निरालम्ब है, इसलिये पूज्य होकर भी वह पूजा से परे है । वह यद्यपि शब्दाकार (भी) है, शून्य में आकृतिवान है, शून्याभिव्यक्त है; तथापि ऊँकार (शब्द मंत्र) से परे परम सत्ता के रूप में शब्द, वेद से भी परे होकर, नेति-नेति की सहज अनाहत धारा में स्थित है, महाभावस्वरूप है, अपनी परमाह्लादिनी शक्ति में सहज विद्यमान है । वह रमणीय उपवन का पुष्प है, पर यह उपवन लोकोत्तर, अलौकिक, चिन्मय है, यह परमात्मपुष्प ऐसे सौरभ का सन्निधान है, जिसका आधार-पुष्प प्रकृति सौन्दर्य से परे है, इस सौरभ की गति वायु अथवा पवन के अधीन नहीं है, इस सौरभ से आकृष्ट होकर असंख्य साधकों के मनरूपी भृंग पुष्प-रस (कमल-पुष्प के मकरन्द) के लोभ से, परमात्मरस की अनुभूति के लिए इसके अभिमुख रहते हैं । इसकी सर्वत्र गति है, यह परमात्मा अलख-निरंजन किसी विशेष निर्दिष्ट पथ पर प्रकट नहीं है, गतिमान नहीं है, सहज शून्य में स्थित, परमाकाश में विराजमान शाश्वत चैतन्य है, गति से परे है, यह सम्पूर्ण तेज है, अग्नि का अधिष्ठान है, इसके तेज से समस्त सृष्टि प्रकाशित है अथवा समस्त विकृति का उच्छेद हो जाता है, यह ऐसा बादल है, जो शून्यस्थ, आकाशस्थ नहीं है, शून्य से भी परे हैं और इसके रस से चराचर संतृप्त और अमृतत्व में स्थित हैं । हे वेद के विद्वानों ! इस परमार्थ का रहस्य कहो, यह रहस्य वेद भी नहीं कह सकते । यह परमात्मा स्वसंवेद्य है, यह स्वप्रकाश है, यह धरती, आकाश, और जल तत्व से परे परमात्महंस, प्रकाशब्रह्म अनुभव से साक्षात्कार का विषय बनता है, इड़ा, पिंगला, गंगा-यमुना (नाड़ियों) में प्राण को प्रवाहित कर सुषुम्ना (सरस्वती) में संगम के फलस्वरूप त्रिकुटी, ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा के प्रकाश का स्वानुभव होता है, इसी संगम में (गोरखनाथ) मैं सद्गुरू योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से

नित्य बिहार करता हूँ, प्रकृति से परे होकर अकुल साधना-एकमात्र शिव अलख निरंजन का शून्यपद-सहस्रार में यौगिक ज्ञाननेत्र से दर्शन करता हूँ, निस्सन्देह परमात्मा सर्वाधार, निराधार निरंजन परब्रह्म शिव है ।

(19)

बदत गोरषनाथ दसवीं द्वारी सरग नै केदार चढ़िया ।
इकबीस ब्रह्मण्ड ना सिषर ऊपरि, ससमवेद ऊचरिया ।।टेक।।
द्वादसदल भींतरि रवि सक्ती, ससि षोडस सिवथांनं ।
मूल सहंसर जीव सींव धरि उनमनी अचल धियांनं ।। 1 ।।
नाद अनाहंद गरजै गगणं (गेणं), पछिम ऊंग्यां भाण ।
दक्षिण डीबी उत्तर नाचै, पाताल पूरब तांणं ।। 2 ।।
चंद सूर नी मुद्रा कीन्ही, धरणि भस्म जल मेला ।
नादी ब्यंदी सींगी आकासी, अलख गुरू नां चेला ।। 3 ।।
तीन सै साठि थेगली कंथा, इकवीस सहंस छ सै धागा ।
बहतरि नाड़ी सुई नवासी, बावन बीर सीया लागा ।। 4 ।।
इली सोधि धरि प्यंगुली पूरी, सुषमनी चढ़ी असमांनं ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, निरंजन सिधि के थांन ।। 5 ।।

प्राचीन टीका

(स्वरगरंध्र के पुरुष चढ़या । यकीस ब्रह्मण्ड ऊपरि ससमवेद ।टेक। द्वादस अंगुल की बाई । रज बीरज की सकति बस हुई । ससिम षोडसु सरकंवल । सिव थांनं सहंस पषुड़ी । थांनं जीव सीव धरि । अनहद सबद । पछिम ऊँचे भाणं ग्यानं । डीबी मनसा । पाताल गुणां परै । चंद सूर तातासीला । धरया का गुण भस्म किया । नादी बिंदी नाद बिंद सींगी । आकास आत्मां । थेगली काया । छ सै सहंस स्वास । बहतरि नाड़ी । सूइ सुरति । बावन वीर मन । यड़ा पिंगुला सुषमनी । आसमांन ब्रह्मद्वार ।)

(गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने शरीर के नव द्वारों को पार कर दसवें दरवाजे में स्थित परमानन्दस्वरूप केदार धाम में अलख-निरंजन का

साक्षात्कार कर लिया । मैंने मूलाधार से ललाटपर्यन्त समस्त नवद्वारों को पार कर लिया, मूलाधार में प्रसुप्त महाकुण्डलिनी शक्ति को जगाया, इड़ा-पिंगला नाड़ी में प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना की ब्रह्मनाड़ी में स्थित कर, नाद-बिन्दु की साधना के द्वारा सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत से अमरकायत्व प्राप्त कर ब्रह्मरन्ध्र, केदार में अलख निरंजन केवलानुभवस्वरूप परब्रह्म, परमशिव का, वेदातीत शब्द (नाद) ब्रह्म के ऊँकारस्वरूप में स्थित सूक्ष्मवेदगत, स्वसंवेद्य महंत् चैतन्य के पद में स्थित हो गया । अपने पिंड में स्थित (सप्त पाताल सहित) इक्कीस ब्रह्माण्डों के शिखर पर चढ़कर स्वसंवेद्य (सुषमवेद, सूक्ष्मवेद) ऊँकारस्वरूप में अलख निरंजन का मैंने उच्चारण अथवा मंत्र-दर्शन किया । सूर्य की मूलाधारस्थ बारहकलाओं में शक्ति का निवास है, और सहस्रार में चन्द्रमा की सोलह कलाओं में शिव का अधिवास है । उन्मनी समाधि में मैंने शिव-शक्ति का तादात्म्य-अनुभव कर लिया, शक्ति शिव में मिल गयी है, अन्तर्लीन है, मैंने ध्यान में स्थित होकर यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है । गगन (त्रिकुटी अथवा ब्रह्मरन्ध्र) में अनाहतनाद का गर्जन हो रहा है, सूर्य का पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) में उदय हो गया है, चन्द्रमा से सूर्य के मिलन का उपक्रम हो रहा है, दक्षिण (मूलाधार चक्र और स्वाधिष्ठान) में स्थित प्रसुप्त शक्ति महाकुण्डलिनी मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रों से होती हुई ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में प्रवेश कर अपनी पूर्ण ज्योति में अभिव्यक्त हो उठी है (नाच रही है) । मैंने चन्द्र और सूर्य, इड़ा-पिंगला, दोनों नाड़ियों को मूँद दिया है अथवा उनमें प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना नाड़ी (अग्नि नाड़ी अथवा सरस्वती) में प्रवाहित कर दिया है, यह हमारा मुद्राबन्ध है । पृथ्वी (सांसारिकता) का भस्म जल में मिल गया है अर्थात् शरीर में वीर्य (रस) की सिद्धि हो गयी है, वह उसमें जीर्ण हो गया है और इस तरह शरीर दिव्य हो गया है । निरंजन की साधना, अलख-निरंजन परब्रह्म की प्राप्ति ही योग का परम-चरम प्रतिपाद्य है । इसके लिए पिण्ड को योगाग्नि में पक्व करना ही श्रेयस्कर है । इस शरीर के प्रति सदा सावधान रहने की आवश्यकता है क्योंकि इसी में परमपुरूष, परमात्मा के अधिवास का, स्वरूप का अनुभव प्राप्त होता है, अलख-निरंजन का साक्षात्कार होता है, समस्त ब्रह्माण्ड इसी में अभिव्यक्त है, हठयोग, सूर्य और चन्द्र के सहस्रार में सामरस्य का अमृतत्व इसी में विद्यमान है, यह जीवात्मा रूपी योगी का कन्था

है, गुदड़ी है, जिसके सहारे वह योगसिद्धि, कैवल्यपद, परमामृत स्वरूप की प्राप्ति करता है । यह कन्था शरीर में स्थित तीन सौ साठ हड्डियों से निर्मित है, ये हड्डियाँ ही (थेगली, थिगली) चकतियाँ हैं, जिनसे देहरूपी गुदड़ी बनती है, इस गुदड़ी को सीनेवाली (ठीक रखने वाली) इक्कीस हजार छः सौ साँस ही धागे हैं, बहत्तर नाड़ियाँ ही असँख्य (नवासी) सुइयाँ हैं, जिनसे शरीररूपी कन्था को बावनवीर, चेतन जीवात्मा अथवा मनरूपी दर्जी निरन्तर सीता रहता है, अन्यथा गुदड़ी के (शरीर के) फट जाने, नष्ट हो जाने की आशंका सदा बनी रहती है । इस शरीर, गुदड़ी में स्थित जीवात्मारूपी योगी को इड़ा-पिंगला नाड़ियों में प्रवाहित प्राण का शोधन कर सुषुम्ना मार्ग में उसे संस्थित कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर, प्रवेश कर परम शिव अलख-निरंजन, योगब्रह्म, परब्रह्म शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । इस तरह मैं (गोरखनाथ) ने निरंजन की सिद्धि का स्थान ब्रह्मरन्ध्ररूपी दसवें द्वार केदार का दर्शन कराया है, बतलाया है और स्वयं परमानन्द का आस्वादन किया है ।

(20)

आंबलियौ थलि मौरियौ ऊपरि नींब बिजौरै फलियौ ।
सो फल षातां लागै मीठौ, जांणै रे जिन गुरू प्रसादै दीठौ ।।टेक।।
ऊँट सिचार्णै जब ग्रह्यौ जाइ कैरो डाली बैठौ ।
बांझै बेटा जनमियूं नेणै पुरिष न दीठौ ।। । ।।
लाकड़ डूबै सिलतिरै, देषतां जग जाइ ।
ऊँटप्रनालै बहिगयो, सुसिल्यौ पौली न माइ ।। 2 ।।
डूंगरि मंछा जलि सुसां, पांणी मैं दौं लागा ।
अरहट बहै तुसालवौं, सूलै कांटा भागा ।। 3 ।।
एक गाइ नौ बछड़ा, पंच दुहेबा जाइ ।
एक फूल सोलह करंडियां मालनि मन मैं हरिष न माइ ।। 4 ।।
पगां बिहूनड़ै चोरी कीधी, चौरी नै आंणी गाई ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, दूझै पाणीन ब्याई ।। 5 ।।

(आंबलीयौ आत्मा । थल ब्रह्म । नींब बपु । बिजौरा बिचारा ।टेक। ऊँट सिंचाणै जब ग्रह्यौ । ऊँट आंपौ । सिंचाणौ सबद । कैरूं करम । बांझ आत्मां । बेटौ ग्यांन । पुरिष न दीठौं । पुरिष परमेस्वर बिना और पुरिष । लाकड़ बूड़े सिलातिरै । लाकड़ कठोर सिला सुध । ऊँट आपौ । प्रनालौ प्रीति । सुसलौ सांसौ । मछ मन । डूंगर ब्रह्म । जल संसार । ससौ सांसौ । पांणी बूंद । ब्रह्म अगनि । रहट रटणि । सूल बिरह । कांटा (करम) क्रम, गाय आत्मा नौ नाड़ि पंच भू । फूल कवंल । करंडीया कली । पग करम बिनां चोरी । गाय मनसा धरया मैं ब्यावै नहीं ।)

परब्रह्म परमात्मा, मूलअधिष्ठान स्वरूप यद्यपि माया मूलप्रकृति (प्रधान) के वश में नहीं है तथापि उसकी साकार अभिव्यक्ति का उपाश्रय यह प्रकृति ही है, इस परमात्मारूपी, आत्मब्रह्मरूपी अधिष्ठान (थलि-स्थल) अथवा थाले में जीवात्मा (मौरियौ) प्रकट हो गया पर वह मायारूपी निबौरी, नीम के बीज से आवृत्त हो गया, जो खाने में, आस्वादन में बड़ा ही मधुर है, इसका आस्वाद तो जीवात्मा करता ही है, पर गुरू की कृपा होने पर वह इसकी कड़ुवाहट से बंच सकता है । इस मनरूपी जीवात्मा को (अपने अज्ञान और स्वरूप-विस्मृति के कारण) सचान, (सिचाणै) बाज (यम) पकड़ लेता है, अपने पाश में बाँध लेता है तो मन अपनी शक्ति (परमात्मा में अन्तर्लीनता की शक्ति) से हाथ धोकर संसाररूपी कटीले वृक्ष की शाखा (कैरो डाली) का आश्रय लेता है, दुःख-सुख में आस्था रखकर जागतिक मायाजाल में फँस जाता है । दुःख-भोग के बाद उसे सम्यक् विवेक की प्राप्ति होती है, ब्रह्म से नितान्त विमुख जागतिक माया बाँझ (बन्ध्यास्त्री) उसे ब्रह्म की ओर प्रेरित करती है, वह स्वरूप का अनुसन्धान करते हुएँ ब्रह्मानुभव (वन्ध्यापुत्र) के द्वारा स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है । इस भवसागर में विपरीत बात यह है कि लकड़ी तो डूब जाती है, पर शिला तैर कर पार हो जाती है । लकड़ी में चंचलता है, शिला में स्थिरता है, इस तरह संसार नष्ट हो जाता है, समाप्त हो जाता है, स्थूल माया, जो ऊँट के समान है, नेहर में बह जाती है और सूक्ष्म माया (आत्मप्रपंच में स्वरूप की प्राप्ति की व्यामोहवृत्ति) जो खरहा (खरगोश) के समान दरवाजे (पौलि-पौर) तक आकर भी भीतर प्रवेश

नहीं कर पाती, अर्थात् स्थूल (अविद्यास्वरूपिणी) माया और सूक्ष्म माया, दोनों का प्रभाव नष्ट हो जाता है और जीवात्मा स्वरूप में स्थिति का विवेक प्राप्त करने के परिणामस्वरूप जन्म-मरणरूपी दुःख के बन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाता है । मछली (मन) पहाड़ी (डूँगर) पर (ऊँची दशा में) पहुँच जाती है। पानी में आग लग जाने पर जिस तरह मछली डूँगर-भीटें या छोटी पहाड़ी पर चढ़ जाती हैं, खरहा सूक्ष्म माया जल में समा जाता है, उसी तरह भवसागर की जलरूपी माया जल जाती है, जीवात्मा पर संसार का प्रभाव नहीं पड़ता है । सत्-असत् का (यह ब्रह्म है, यह माया है, इसका) पहले विवेक पैदा होता है और इसके बाद असत् का नाश होता है । सूक्ष्म माया का नाश होने पर केवलमात्र रहट की तरह मुमुक्षुओं को चिरतृप्त करने के (पिपासुओं की पिपासा की निवृति के) लिये ब्रह्मानुभूति रह जाती है । इस तरह विवेक रूपिणी, सत्स्वरूपिणी सूक्ष्म माया के द्वारा अविवेकस्वरूपिणी, अविद्या अथवा माया का अन्त हो जाता है, माया से ही माया मिट जाती है, यह कार्य ऐसा है मानो कण्टक से ही कण्टक नष्ट हो गया है । तृसालवाँ का आशय है तृषालु जन अथवा मुमुक्षु लोग, जो निरन्तर ब्रह्मानुभूति से चिरतृप्ति प्राप्त करना चाहते हैं । भवसागर में आग लग जाने पर, माया का अस्तित्व मिट जाने पर मन उन्मन हो जाता है और जीवात्मा अपने सत्स्वरूप में परब्रह्म का अनुभव पाता है, उसी में तादात्म्य लाभ कर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है । मनरूपी मछली का डूँगर (भीटा) ब्रह्मरन्ध्र है, मन ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर उन्मनी समाधि में तल्लीन जीवात्मा का, अमायिक निरंजन ब्रह्म का अनुभव प्राप्त करने में सहायक होता है । हमारे शरीर में (जीव-) आत्मा गाय है और शरीर के नवों रन्ध्र इस जीवात्मारूपी गाय के बछड़े हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ इस गाय को निरन्तर दुहती (शक्तिहीन करती) रहती हैं, इस तरह जिस साधक की दृष्टि केवल शारीरिक पोषण और माया-मोह में ही, असत् सम्बन्ध में ही लगी है, वह कभी आत्मिक (आध्यात्मिक) उन्नति नहीं कर सकता । शरीर में व्याप्त (जीव) आत्मा योगसाधना के द्वारा सहस्रार में स्थित चन्द्रमारूपी पुष्प के रस (अमृत) का कुण्डलिनी जागरण और षट्चक्रभेदन तथा नादानुसन्धान आदि यौगिक प्रक्रियाओं द्वारा पानकर परमात्मा, अलख-निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार कर सकता है । यह फूल सोलह कलाओं (करंडियों) का है, इसका रसामृत पान

कर जीवात्मारूपी मालिन के मन में अपार आनंद उमड़ पड़ता है । बिना पैरों की आहट के (चोरी-चोरी) उन्मनी समाधि के द्वारा आत्मारूपी गाय का परब्रह्म परमात्मा से ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार लाभ, तादात्म्य अथवा स्वरूपानुभव हो जाने पर वह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाती है, उसे शरीर धारण कर नव (बछड़ों के) द्वार से पंचेन्द्रियों द्वारा फिर दुहे जाने का, शक्ति से हीन होने का भय नहीं रहता है । आवागमन से मुक्ति मिल जाती है तथा इस तरह जीवात्मारूपी गाय ब्रह्मानुभूतिरूपी (चन्द्रामृतस्वरूपिणी) मुक्ति में स्वरूपस्थ हो जाती है, जीवात्मा कैवल्यपद की प्राप्ति कर लेता है । सद्गुरू योगिराजेन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह प्राप्त शिष्य का यह अनुभव है, वचनामृत है ।

(21)

गोरष लो गोपालं लो, गगन गाय दुहि पीवै लो ।
मही बिलोय अमीरस पीजै, अनभै लागा जीजै लो ।।टेक।।
ममिता बिनां माइ मुइ, पिता बिनां मूवा छोरूलो ।
जाति बिहूनां लाल ग्वालिया, अहनिस चारै गोरू लो ।। 1 ।।
अनहद सबदै संष बुलाया, काल महादल दलिया लो ।
काया कै अंतरिं गगन मंडल मैं, सहजै स्वामी मिलिया लो ।। 2 ।।
ऐसी गावत्री धरबारि हमारै, गगन मंडल मैं लाधी लो ।
इहि लागि रह्या परिवार हमारा, लेइ निरंतरि बांधी लो ।। 3 ।।
कानां पूछां सींग बिबरजित, बरन बिबरजित गाई लो ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, तहाँ रहै ल्यो लाई लो ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(गोष्ट थी पाली । गगन की गाय मनसा । मही मन । अनभै ईस्वर ।टेक। ममित मिट्यो । तब माया मुंई । बाप बपु । छोरू यंद्री । लाल गवाल प्रांन । गाय मनसा । अनहद ईस्वर सबद । संष असत काया । गगन कँबल । सुंनि असथांन गगन । गाय मनसा । परवार मन पवन । सुरति निरंतरि प्रांण धरि । वरण रहत मनसा गाय ।)

गोरखनाथ का कथन है कि मैं ग्वाला हूँ, जिस तरह ग्वाला गाय का दूध दुहकर पीता है, उसी तरह मैं उन्मनी समाधि में स्थित होकर सहस्रार स्थित चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत का पान करता हूँ । अर्थात् परमशिव का साक्षात्कार करता हूँ । यह शुद्ध ब्रह्मामृत है । मैंने इस दूध में स्थित छाँछ, मट्ठे (निस्सार मायिक द्रव) को बुद्धि की मथानी. से मथकर, बिलोकर अलग कर दिया है, अभयपद में स्थित होकर जीवन का आनन्द ले रहा हूँ । सांसारिक, प्राणी, पदार्थ और परिस्थितियों में आसक्त होने से जो असत् स्वीकृति, ममता उत्पन्न होती है, वह मुझमें नाममात्र को भी नहीं रह गयी है । इस तरह माया प्रभावहीन हो गयी है, माया के प्रभावहीन होने से अहंकार भी नष्ट हो गया है । यही शरीर का बाप है और माया ही शरीर की माँ है, माया, अहंकार तथा उसके षड्विकारों से परे होकर जीवात्मा स्वरूपानुसन्धान में लगकर उन्मनी समाधि सिद्ध कर परब्रह्म के निवास स्थान, गगन मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में संस्थित होकर रसमयी ब्रह्मामृतानुभूति का पान कर जीवन्मुक्त हो जाता है । जन्म-मरण से परे होकर (जातिविहीनता अथवा चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने और मरने की क्रिया की समाप्ति से) लाल (बाल) ग्वाल, बालगोपाल, बालयोगी गोरखनाथ, अखण्डब्रह्मचर्यव्रती योगी रात-दिन गो-चारण करता है, इन्द्रियों को संयत रखकर साधना की सिद्धि में अनवरत सावधान रहता है । गोरूपिणी इन्द्रियों को मृत्यु विनाश की ओर नहीं ले जाने पाती, इस संसाररूपी वन में मैं (गोरखनाथ) शंखनादकरता हूँ, अनाहतनाद, ध्वनि के द्वारा अमृतत्व की साधना कर यमराज की सेना, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का वीरता और निर्भीकतापूर्वक दमन करता हूँ और इस तरह सहस्रार में स्थित परब्रह्म ऊँकारस्वरूप अलख-निरंजन की सहज प्राप्ति कर लेता हूँ । हमारा घर गगनमण्डल सहस्रार है, ब्रह्मरन्ध्र इसका दरवाजा है, इस दरवाजे पर ब्रह्मानुभूतिरूपिणी अमृतप्रदायिनी गाय (गायत्री) बंधी हुई है, हमारी आत्मरक्षिणी है, अजपाजप, महाविद्या, प्राणविद्या की सिद्धि है और इसने हमें अमृतत्व में प्रतिष्ठित कर जन्म-मरण के चक्र से सर्वथा मुक्त कर दिया है । मेरा सारा परिवार (ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और अन्तःकरण आदि) इस गाय की सेवा में संयत है, तत्पर है, इसी ब्रह्मानुभूतिरूपिणी गाय से पता चलता है

कि जगत् अलख निरंजन का अधिष्ठान है, वह पिण्ड और समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है, यह गाय सींग, कान, पूँछ और रूपरंग से परे हैं, इसका आशय यह है कि यह ब्रह्म की निरंजन अमायिक, निर्विकार, निराकार, निर्गुण सत्ता की अभिव्यक्ति है । गोरखनाथ का वचन है कि परमगुरू मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से मैं इस ब्रह्मानुभूति में सदा लवलीन, स्वस्वरूपस्थ रहता हूँ ।

(22)

अवधू ऐसा ग्यांन बिचारि, तामैं झिलिमिल जोति उजाली ।टेक।
जहाँ जोग तहाँ रोग न व्यापै, ऐसा परषि गुर करनां ।
तन मन सूंजे परचा नाहीं, तौ काहे को पचि मरनां ।। 1 ।।
काल न मिट्या जंजाल न छूट्या, तप करि हूवा न सूरा ।
कुल का नास करै मति कोई, जै गुरू मिलै न पूरा ।। 2 ।।
सप्त धात का काया पींजरा, ता माहिं जुगति बिन सूवा ।
सतगुरू मिलै तो ऊबरै बाबू, नहीं तौ परलै हूवा ।। 3 ।।
कंद्रप रूप काया का मंडण, अँबिरथा कांइ उलीचौ ।
गोरष कहै सुणौं रे भौंदू, अरंड अंमी कत सींचौं ।। 4 ।।

हे अवधूत मैंने (साक्षात् शिवस्वरूपप्रदत्त योगमहाज्ञान के स्वामी मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह से) अपने शरीर के भीतर ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजन, की झिलमिल ज्योति का दर्शन कर लिया है । यह निर्मल ज्योति ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर झिलमिलाती रहती है, यह सत्य है कि जहाँ योग है, वहाँ जन्ममरणरूपी रोग का सर्वथा अभाव है । सोच-विचार कर योगज्ञान में निष्णात सद्‌गुरू का चरणाश्रय ग्रहण करना चाहिए, जिससे भवरोग नष्ट हो जाय, अमृतत्व, योग, शाश्वत चैतन्याधार, आत्मसंबल बन जाय । यदि शरीर और मन के सहारे अपने भीतर व्याप्त स्वरूपानुभव नहीं होता है तो साधना व्यर्थ और निस्सार है, अर्थहीन और श्रममात्र है । योगसाधना में सिद्धि का फल है मोक्ष की प्राप्ति और मृत्युभय का समाप्त हो जाना तथा भवबन्धन, (जगत् के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति के प्रति असत् सम्बन्ध की स्वीकृति) के जाल अथवा (प्रपंच) जंजाल का अन्त हो जाना पर यह अध्यवसाय और साधना में सतत लगे रहने से ही सम्भव होता है, यह कठोर तप है और

वीरात्मा योगी इस तरह की योग-साधना रूपी तप में तत्पर हो पाता है । जबतक सद्गुरू सर्वसमर्थ का चरणाश्रय नहीं प्राप्त हो जाता, तब तक योग-साधना के परम उद्देश्य, अलख निरंजन का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसलिये अधूरे ज्ञानवाले गुरू के आश्रय में योगसाधना करना शरीर और मन को थकाना मात्र है, यह निष्फल है । साधक को अधकचरे गुरू के फेर में पड़कर कुल का नाश नहीं करना चाहिए, अपने आश्रमसम्बन्धी (गृहस्थाश्रम के) आचार-विचार में लगे रहना चाहिए । यह शरीर रस-रक्त, मांस, मज्जा, मेद, अस्थि और शुक्र, सात धातुओं से निर्मित पिंजरा है, जिसमें जीवात्मा योगयुक्ति से हीन होकर मुक्ति प्राप्ति के ज्ञान से शून्य होकर सुग्गे के समान तड़फड़ा रहा है, यदि सद्गुरू, का आश्रय सुलभ होता, तब तो वह शारीरिक बन्धन से ऊपर उठकर सहस्रार ब्रह्मरन्ध्ररूपी गगनमण्डल में उड़कर मुक्त हो सकता है, अन्यथा मृत्यु का ग्रास बन जाता है । हे अवधूत ! परमात्मा की कृपा से कामदेव के शरीर के समान सुन्दर काया (देह) की प्राप्ति हुई, इसको व्यर्थ नहीं चले जाने देना चाहिए, अधूरे गुरू के योगज्ञान में इस शरीर को साधनारत करना उसी तरह व्यर्थ और निष्प्रयोजन है, जिस तरह रेड़ के वृक्ष को अमृत से सीचना अज्ञान है ।

(23)

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई ।
प्यंड ब्रह्मण्ड षोजंता, अम्हे सब सिधि पाई ।।टेक।।
कायागढ़ भीतरि नव लष खाई ।
दसवै द्वारि अवधू ताली लाई ।। । ।।
कायागढ़ भीतरिं देव देहुरा कासी ।
सहज सुभाइ मिले अविनासी ।। 2 ।।
बदंत गोरषनाथ सुणौ नर लोई ।
काया गढ़ जीतैगा बिरला कोई ।। 3 ।।

अलख निरंजन, घट-घट में विद्यमान परमात्मा साक्षी है कि मैं स्वरूपतः उसमें स्वस्थ हूँ । (परमात्मा और जीवात्मा में मायिक भेद का समाप्त हो जाना ही परम कैवल्य अथवा स्वरूपानुभव है ।) मैं मुक्त हो गया

हूँ, मेरी काया जन्म-मृत्यु से परे हो गयी है, मैं जीवन्मुक्तावस्था में शरीर से अमर होकर, कायारूपीगढ़ पर विजय प्राप्त कर आवागमन से मुक्त हो गया हूँ। अपने शरीर (पिण्ड) के भीतर व्याप्त समस्त चराचर विश्व, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है। सम्पूर्ण सिद्धियों की सिद्धि परमात्मा के स्वरूप का मैंने अपने ब्रह्मरन्ध्र में अनुभव कर लिया, निरंजन की ज्योति का मुझे दर्शन हो गया। शरीर में नवरन्ध्र हैं, ये नवों दरवाजे हमारे चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने और मरने के अनेकानेक संस्कारों से भरे पड़े हैं, जीवात्मारूपी योगी इन दरवाजों को तोड़ कर, इनको अवरुद्ध करने वाले संस्कारों (नव लाख खाइयों) का भेदन करते हुए दसवें दरवाजे (ब्रह्मरन्ध्र) में प्रवेश कर परमशिव का साक्षात्कार करता है। (नव लाख खाइयों की स्थिति का आशय यह भी है कि हमारे शरीर के भीतर बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, ये मल से भरी-पड़ी हैं, षोडशआधार, षट्चक्र, पंच व्योम आदि अन्यान्य भी इसी शरीर में स्थित हैं, ये नव लाख खाइयाँ (असंख्य खाइयाँ) हैं, आसन, प्राणायाम, षट्कर्म, चक्रभेदन, मुद्राबन्ध आदि के अभ्यास तथा नाद-बिन्दु-सामरस्य से इन खाइयों को पार किया जाता है। इस कायागढ़ में परम पदार्थ, महारत्न परमात्मा का अधिवास है, वह स्वरूपतः अभिव्यक्त है, । इसी में ब्रह्मा, विष्णु, महेश, शक्ति, सूर्य, चन्द्रमा, देवालय, त्रिकुटी, (काशी, केदार, कैलाश) गंगा, यमुना, सरस्वती आदि विद्यमान हैं। इन तीर्थो के दर्शन से अलख-निरंजन, निराकार, सनातन, शाश्वत सच्चिदानन्द परमात्मा की सहज अनुभूति प्राप्त हो जाती है। परमात्मा अपने पूर्ण स्वरूप में इसी कायागढ़ में अपनी समस्त शक्तियों में अभिव्यक्त है। यह कायागढ़-विजय बहुत कठिन काम है, वीरात्मा योगी ही इस पर अपना अधिकार, प्रभुत्व स्थापित कर पाते हैं। गोरखनाथ का कथन है कि हे सज्जनों। मेरा अनुभव यही है कि कोई बिरला आत्म-शक्तिसम्पन्न (योगाभ्यासी) प्राणी ही अमरकायत्व का सौभाग्य पाता है, कायागढ़ को जीतता है।

(24)

पवनां रे तूं जासी कौनें बाटी।
जोगी अजपाजपै त्रिवेणीं कै घाटी ।।टेक।।

चंदा गोटा टीका करिलै, सूरा करिलै बाटी ।
मनी राजा लूगा धोवै, गंग जमुन की घाटी ।। । ।।
अरधैं उरधैं लाइलै कूंची, थिर होवै मन तहाँ थाकीले पवनां ।
दसवां द्वार चीन्हिलै, छूटै आवागवनां ।। 2 ।।
भणत गोरखनाथ मछिंद्रना पूता, जाति हमारी तेली ।
पीड़ी गोटा काढ़ि लीया, पवन षलि दीयां ठेली ।। 3 ।।

(इस पद में प्राण-मन की विजय पर बल दिया गया है, प्राणवायु के द्वारा ही जीवात्मा शरीर में स्थित रहता है, अपान, उदान, समान, व्यान और प्राण में प्राण ही ज्येष्ठ अथवा प्रधान है । गोरखनाथ जी प्राण से पूछते हैं कि हे प्राण (पवन), तुम शरीर के किस रास्ते (दरवाजे) से बाहर जाओगे, शरीर के नवों द्वार, दोनों नेत्र, दोनों नासारन्ध्र, मुख, दोनों कर्णरन्ध्र और उपस्थ एवं पायु मुद्रित (बन्द) हैं और दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र भी मुद्रित है, इसलिए तुम्हारे बाहर निकलने का भय (मृत्यु का भय) समाप्त हो चला है । हे प्राण । तुम शरीर को नहीं छोड़ सकते । यह शरीर मैला हो चला है । इसे मन राजा (धोबी) गंगा (इड़ा) और यमुना (पिंगला) के घाट, सुषुम्ना में आज्ञाचक्र में स्थित अथवा उन्मन होकर निर्मल कर रहा है, प्राणापान के सामरस्य के द्वारा शुद्ध कर रहा है । अपान और प्राणवायु, दोनों का एकरसत्व स्थापित हो गया है, चन्द्रमा ही साबुन की टिकिया है और सूर्य पाटा है, इस तरह चन्द्रमा और सूर्य, इड़ा और पिंगला के संगम, सुषुम्ना के घाट पर मन द्वारा शरीर धुलकर साफ किया जा रहा है । यह शरीररूपी वस्त्र (लूगा) अथवा कपड़ा निर्मल हो गया है, इसकी अनेकानेक नाड़ियों में मल एकत्र हो जाने पर इसके जीर्ण हो जाने का भय रहता है और जीवात्मा (प्राणहंस) इसके बाहर चला जाता है । निःश्वास और प्रश्वास (अपान और प्राणवायु) को ताली लगा कर, एकरस कर कुम्भक द्वारा प्राण को रोक लेने पर यह स्थित हो जाता है और पवन का नीचे-ऊपर, अधः-ऊर्ध्व का आकर्षण, अपान का प्राण की ओर खिंचना और प्राण का अपान की ओर जाना बन्द हो जाता है । पवन थक कर ठहर जाता है और सुषुम्ना के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर (त्रिकुटी में) अजपाजाप में तत्पर योगी (जीवात्मा) का ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान अलख-निरंजन शिव के साक्षात्कार में मन सहायक

होता है । वह त्रिकुटी में पहुँचते-पहुँचते उन्मन अथवा अमनस्क हो उठता है । (पद में 'अरधै-उरधै लाइलै कूंची' का आशय मूलाधार-स्थित परम शक्ति कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर ऊर्ध्व, सहस्रार, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परमशिव में अन्तर्लीन (समाधिस्थ) करना भी हो सकता है ।) दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा का साक्षात्कार (परिचय) प्राप्त करने पर आवागमन, जन्म-मरण के चक्र से जीवात्मा मुक्त हो जाता है अथवा जीवन्मुक्त होकर अमरकायत्व प्राप्त कर कालदण्ड का खण्डन कर लोक-लोकान्तर में विचरण करता रहता है । मन, प्राण, शरीर-तीनों की शुद्धि से ही जीवात्मा को सहस्रार में ब्रह्म सच्चिदानन्द का अनुभव प्राप्त होता है । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि मेरा काम तेली का है । जिस तरह तेली तिल के पिंडों को (कोल्हू में) पेर-पेर कर तेल निकाल लेता है और खली को निस्सार तत्व को अलग कर देता है, उसी तरह योग-साधना की विधियों को सिद्धकर मैंने शरीर को पूर्णतः निर्मल कर लिया । निस्सार पदार्थों को अलग कर इसमें स्थित परमतत्व का साक्षात्कार कर लिया ।

(25)

अवधू गागर कंपै पांणींहारी, गवरी काधैं नौरा (नवरा) ।
घर का गुसांई कौतिग चाहै, काहेन बंधौ जौरा ।।टेक।।
लूँणकहै अलूंणां बाबू, धृत कहै मैं रूषा ।
अनील कहै मैं प्यासा मूवा अंन कहै मैं भूखा ।। । ।।
पावक कहै मैं जाडण मूवा, कपड़ा कहै मैं नागा ।
अनहद मृदंग बाजै, तहाँ पांगुल नाचन लागां ।। 2 ।।
आदिनाथ बिहबलिया बाबा, मछिंद्रनाथ पूता ।
अभेद-भेद भेदीले जोगी, बदंत गोरष अवधूता ।। 3 ।।

(इस पद में निगूढ़तम हठयोगसाधन-प्रक्रिया का निरूपण किया गया है । मत्स्येन्द्र के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने अन्तस्साधना पर प्रकाश डाला है ।) हे अवधूत ! पानी भरने वाली (पनिहारिन) के कन्धे पर गागर काँप रहा है । जिस तरह कुएँ से रस्सी के सहारे पानी कलश में भर कर

पनिहारिन अपने कान्धे पर घट रख लेती है और जब तक उसे रखने का पूरा अभ्यास नहीं सध जाता है, गागर रह-रह कर हिल जाता है, उसी तरह ब्रह्मरन्ध्र से निरन्तर अमृत की वृष्टि होती रहती है, यह अमृतधारा ही पनिहारिन है, सहस्रार में योनि नामक त्रिकोण चक्र है, वही चन्द्रमा का स्थान है, यह चन्द्रमा ही अमृत का कलश है, अमृतधारारूपी पनिहारिन के कन्धे पर यह तब तक अस्थिर रहता है, जबतक योगी इसे निरन्तर प्रवाहित करने में पूर्ण समर्थ नही होता है । कुण्डलिनी को जगाकर षटचक्रों का भेदन करते हुए प्राणवायु का सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में लय कर देने से चन्द्रमारूपी घट से अमृतधारा झरती है । अमृत धारा (पनिहारिन) नित्य नवेली, नवयुवती (नौरा) गौरवर्ण, ज्योत्स्ना (गवरी, गौरी, गौरवर्णवाली) है । धारारूपी युवती कन्धे पर अमृतघट रखकर नित्य नृत्य करती रहती है । सहस्रार में स्थित शिव, अलख-निरंजन परमात्मा इस कौतुक (तमाशे) को देखता रहता है । इस अमृतधारारूपी युवती का उपभोग करते हुए जरा (जौरा) को नियंत्रित कर लेना (बाँध लेना) चाहिए । यहाँ जोरा का आशय यम अथवा मृत्यु से भी है । अमृत का पान करने से, अमृतधारा रूपी युवती के सहवास से योगी को मृत्यु को वश में करना चाहिए । जौरा का आशय भुइधरा, भँवरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र से भी है, ब्रह्मरन्ध्र में अमृतधारारूपी रमणी को सुरक्षित कर लेना चाहिए । (पनिहारिन सहस्रार में स्थित परमशिवय में अन्तर्लीन जागरत कुण्डलिनी, महाशक्ति नित्यतरूणी के भी प्रतीक के रूप में स्वीकार की जा सकती है । पनिहारिन को जीवात्मा भी कहा गया है, कुण्डिलिनी को गागर कहा गया है । 'तलि गागरि ऊपर पनिहारिन ।' पद 47।5) जीवनमुक्त योगी के लिए लवण के लवणत्व की शक्ति समाप्त हो जाती है, लवण का स्वाद उसके लिये निष्प्रयोजन हो जाता है, घी की रससिक्तता शक्तिहीन हो जाती है, हवा कहती है कि मैं स्वयं प्यासी हूँ, मेरी शोषणशक्ति समाप्त हो गयी, अन्न में भूख मिटाने की क्षमता नहीं रह जाती है, योगी प्रांणायाम के सहारे शरीर में स्थित रहता है, वह अणिमा आदि सिद्धियों पर शासन करता है । उसके लिए अग्नि की शक्ति भी समाप्त हो जाती है, अग्नि स्वयं जड़ा उठती है, इसी तरह शरीर को कपड़े से ढकने की प्रवृत्ति मिट जाती है । इन वस्तुओं और शक्तियों का आत्मा पर प्रभाव समाप्त हो जाता है । ब्रह्मरन्ध्र में निष्पति-अवस्था में अनाहत

नादरूप मृदंग के बज उठने पर मन सर्वथा उन्मन हो जाता है, आनन्दमग्न होकर नाच उठता है, अमनस्कता में परमानन्द का अनुभव कर आत्म-विभोर हो उठता है । मन इन्द्रियों का साथ छोड़ देता है, इसलिये वह पंगु हो जाता है विषयास्वाद के क्षेत्र में । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि मैंने अमृत-पान कर सहस्रार में अलख-निरंजन शिव का साक्षात्कार कर लिया, परम निगूढ़ परमात्मतत्व का रहस्य-भेदन कर लिया ।

(26)

अवधू अहूठ परबत मझार, बेलड़ी माडयौ बिस्तार ।
बेली फूल बेली फल, बेंलि अछे मोत्याहल ।।टेक।।
सिष्टि उतपनी बेली प्रकाश, मूल न थी चढ़ी अकास ।
उरध गोढ़ कियो बिसतार, जांण मैं जोसी करै विचार ।। 1 ।।
आइसौं भील पारधी हाथ नही, पाई प्यंगुलो मुष दांत न काही ।
हयो हयो मृधलौ धुणही न तंही, घंटा सुर तिहां नाद नाहीं ।। 2 ।।
भीलड़ै तिहां ताणियौ बांण मन ही मृधलौ बेधियो प्रमांण ।
हयों हयों मृधलो बेधियौं बांण, धुणही बांण न थी सरतांण ।। 3 ।।
भीलड़ी मातंगी रांणी, मृधलौ आंणी ठांणी ।
चरंण बिहूणौं मृधलौं आण्यौं, सीस सींग मुष जाइ न जाण्यौं ।। 4 ।।
भणत गोरषनाथ मछिंद्र ना पूता, मारयो मृध भया अवधूता ।
याहिं हियाली जे कोई बूझै, ता जोगी को तृभुवन सूझै ।। 5 ।।

हे अवधूत ! यह पार्थिव शरीर एक पर्वत के समान है । इस साढ़े तीन हाथ (अहूँठ) के पर्वत रूपी शरीर में मायारूपी वेलि फैली हुई है, मूलमाया की मनोमोहिनी वेलि का विस्तार दर्शनीय है । यह माया ही इस शरीर में फूल और फल है, (मायारूपी बेलि अच्छी तरह फल-फूल गयी है) इस मायाबेलि से मुक्ताफल (मोक्ष) की भी प्राप्ति होती हैं । इस बेलि की शक्ति अथवा प्रकाश से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है, इसका मूल नहीं है, फिर भी यह ऊपर-ही-ऊपर चढ़ती गयी है, फैलती गयी है । इस माया का विस्तार ऊर्ध्वस्थल ब्रह्मरन्ध्र तक में हो गया है, इस माया का वहाँ भी विस्तार हो जाने पर योगी परमात्मानुभूति नहीं कर पाता है, क्योंकि अविद्या-

रूपिणी माया की तमिस्रा अथवा घनी छाया से ब्रह्मरन्ध्र आवरित हो गया है, तमसाच्छन्न है । शास्त्रज्ञान के प्रकाश में परमात्मतत्व की खोज कर करने वाले विद्वानों, ज्योतिषियों को इस रहस्य पर विचार चाहिये । इस शरीररूपी पर्वत की प्राकृतिक रमणीयता से अलंकृत मायारूपी बेलि की हरीतिमा और मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता में मनरूपी मृग (चंचल मन) विहार कर रहा है । इस मृग को मारने के लिये जीवात्मारूपी पारधी, भील (योग-साधक अथवा आत्मा) निरन्तर उसके पीछे पड़ा हुआ है और अब मारता है कि तब मारता है, ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है । इस आत्मारूपी शिकारी के (मनरूपी मृग का वध करने के लिये) न तो हाथ है, न पैर है, न मुख में दाँत हैं, और न धनुष है, न मृग को आकृष्ट करने के लिये सुरीला नाद, घण्टा, ध्वनि आदि ही हैं, फिर भी आत्मारूपी पारधी ने बाण ताना और इच्छा करते ही (मन से ही) मृग, मन को मार डाला (उसने जो बाण ताना था, वह भी बाण नहीं था, बिना धनुष और बाण के ही शरीररूपी पर्वत की मायारूपिणी बेलि की हरीतिमा को विकृत करने वाला मन मारा गया, यह मृग बिना चरण के ही दौड़ता रहता है ।) यह मृग चरणहीन है । मतवाली, आनन्दोन्मादित आत्मशक्तिरूपी भीलनी, उस उन्मन मन को, अपने स्थान (परमात्मा और शक्ति के मिलन-स्थान) ब्रह्मरन्ध्र में ले आयी । न उस मनरूपी मृग के सींग था, न पूछ थी, न सिर ही दीख पड़ता था । वह मन परम शिव में मुक्तिस्वरूप हो गया । आशय यह है कि कुण्डलिनी महाशक्ति, परमेश्वरी चक्रों के भेदन द्वारा प्रबुद्ध हो उठी और विषय-भोगों में आसक्त मन के स्वतः उन्मन होने पर उसे उन्मनी में अन्तर्लीन कर उस महाशक्ति मूलमाया ने उसे शिवस्वरूप प्रदान किया । मनरूपी मृग विरक्त योगी हो गया । मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि इस हियाली (यह एक छन्द है) को समझ लेने पर शरीर में ही व्याप्त त्रिभुवन का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है ।

(27)

अवधू ऐसा नग्र हमारा, तिहाँ जोवौ ऊजूद्वार ।
अधर-उरध बजार मंड्या है, गोरष कहै विचारं ।।टेक।।
हरि प्रांण पातिसाह, साह बिचार काजी ।
पंच तत ते उजहदौर मनः पवन दोऊ हस्ती घोड़ा,
गिंनान ते अषै भंडारं ।। ।।

काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदारं ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं ।। 2 ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सोलह षणिलै षाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसैं, दसवाँ लष्या न जाई ।। 3 ।।
अठारह भार कोट कंठजरा जाइलै, बहतर कोठड़ी निपाई ।
नव सुत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब काया गढ़ लिया न जाई ।। 4 ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै परम जोति दुइ दीपक लाई ।
काम क्रोध दोइ ग ।न मारिलै,
ऐसी अदली पातिसाही, बाबै आदम चलाई ।। 5 ।।
तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा, षिमां भगति द्वै दाई ।
आदिनाथ नाती मछिं ।थ पूता, काया नगरी गोरष बसाई ।। 6 ।।

गोरखनाथ का कथन है कि मैंने शरीररूपी नगर को बसाया है, जिस तरह नगर की सुरक्षा की जाती है, उसी तरह योगसाधना के द्वारा मैंने कायागढ़, शरीर पर विजय प्राप्त कर ली है, मैंने अमरकायत्व की सिद्धि कर ली है । हे अवधूत । हमारे कायानगर के महाद्वार का, ब्रह्मरन्ध्र का दर्शन करो, इसका दर्शन करने पर ही इस नगर के निर्माण और सुरक्षा तथा इसकी वस्तुओं और रक्षकों तथा स्वामी का पता लग सकता है । इस कायानगर में श्वास-प्रश्वास (अरध-उरध) का बाजार लगा है अथवा मूलाधार चक्र से सहस्रार तक के क्षेत्र में असंख्य नाड़ियाँ, दस प्राण, मन, सूर्य और चन्द्रमा, अनेक प्रकार के नाद आदि का विस्तार देखते ही बनता है । मैंने ज्ञाननेत्र से इस बाजार को देख लिया और नगर का पूरा-पूरा दर्शन कर लेने के बाद ही अपना विचार प्रकट कर रहा हूँ । हमारा प्राणप्रियतम परमात्मा, साक्षात् हरि इस कायानगर का राजराजेश्वर (बादशाह) है, (सद्विवेक) विचार ही इस नगर का न्यायाधीश (काजी) है, जब तक हम सद्विवेक में स्थित हैं, इस नगर में अधर्म और पाप का आतंक नहीं रह सकता है, पाँचों तत्व, छिति, जल, पावक, गगन, समीर ही वजीर हैं, मंत्री हैं अथवा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, विषयों के अधिपति पाँचों ज्ञानेन्द्रिय ही वजीर हैं, उनके संकेत और बुद्धि के बल पर ही इस घर का ठीक-ठीक शासन चलता है । यदि ये

ज्ञानेन्द्रिय सत्पथ से भटक जायँ तो शासन बिगढ़ जाता है और कायागढ़ ढह जाता है, इसलिये ज्ञानेन्द्रिय ही वजीर (उजहदार) हैं । इस नगर की रक्षा के लिये मन और पवन (प्राण) हाथी और घोड़े हैं, इन पर सदा अंकुश रखना पड़ता है, इस बाजार का अक्षय भण्डार ज्ञान (आत्मविवेक) है, जो कभी नष्ट ही नही होता है, मन इस नगर का रक्षक सेनापति (हुजँदार) है । वह अपार शक्तिशाली है, इस नगर का प्रहरी चेतन आत्मा है, वही नगररक्षक कोतवाल है, उसके देखते काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि चोर तथा रागद्वेष आदि परिपंथी (बटमार) कायानगर में प्रवेश नहीं कर पाते हैं । यह कायागढ़ बहुत अच्छी तरह निर्मित है । तीन सौ हड्डियाँ ही इस नगर के ढाँचे के लिये प्रयुक्त हैं, वे ही पाषाण-भित्ति हैं और गहरी-गहरी सोलह खाइयों से यह नगर पूर्ण सुरक्षित है, ये सोलह खाइयाँ ही शरीर के भीतर स्थित सोलह आधार हैं, षादांगुष्ठ, मूलाधार, गुह्याधार, बज्रगर्भनाड़ी, उड्डियानबन्धाधार, नाभिमण्डलाधार, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार-जिह्वामूलाधार, जिंह्वाअधोभागाधार, ऊर्ध्वदन्तमूलाधार, नासिकाग्राधार, नासिकामूलाधार भ्रूमध्यआधार और नेत्राधार - इन आधारों का ध्यान करने से योगसिद्धि के द्वारा कायागढ़ को वश में रखना सम्भव होता है । इस कायानगर में नौ दरवाजे तो स्पष्ट दीख पड़ते हैं, पर दसवाँ दरवाजा ब्रह्मरन्ध्र नहीं दीख पड़ता है, यही महाद्वार है और इसमें प्रवेश कर जीवात्मा रूपी योगी अलख-निरंजन परब्रह्म शिव के स्वरूप में अभिन्नता का सम्पूर्ण अनुभव करता है । इस नगर की सुरक्षा की दृष्टि से, कोट अथवा गढ़ को सुरक्षित रखने के लिये (अठारह भार योगसाहित्य में काठ के लिए प्रयुक्त) कटहरे लगाये गये हैं और (72 हजार नाड़ियों) बहत्तर कोठरियों को इन कटहरों से छाया गया है और इसके नवों द्वारों पर जंजीरें (सूत्र) चढ़ा दी गयी हैं, ये नवों द्वार प्राणायाम के द्वारा मुद्रित हैं, मूँद दिये गये हैं तथा बड़े-बड़े नवरन्ध्रों, दरवाजों पर बड़े-बड़े यंत्र लगा दिये गये हैं, कोई भी विजातीय विषय, विरोधी तत्व कायागढ़ में प्रवेश कर उसे नष्ट नहीं कर सकता है । इस गढ़ के भीतर निरन्तर नाद होता रहता है, घण्टे बजते रहते हैं, इसलिए निरन्तर सावधानी रहती है और काम-क्रोध आदि भीतर प्रवेश कर साधना में विघ्न नहीं डाल सकते हैं । इस विशाल गढ़ में परमात्मा के सगुण-निर्गुण

अभिव्यक्तिरूपी दो दीपक प्रकाशित हैं और चारों ओर ज्ञान का प्रकाश फैला है । इसमें परमात्मा का शासन है, उसकी आज्ञा है कि किसी भी तरह काम, क्रोध इस गढ़ में प्रवेश न कर पायें । इस गढ़ की महारानी सत्य (की शक्ति) है, निष्काम भाव से साधना की जाती है, सन्तोष ही इस साधना का फल (राजपुत्र) है और इस फल की देख-रेख दो दाइयाँ, धाय, क्षमा तथा भक्ति करती हैं, साधक क्षमा की शक्ति से विकारों को जीत लेता है और परमात्मा की भक्ति से साधना की सिद्धि का फल, स्वरूपानुभव का आस्वादन करता है । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र और आदिनाथ के पौत्र, गोरखनाथ (मैं) ने इस कायागढ़ को बसाया है, सिद्धदेह की प्राप्ति की है ।

(28)

ईकीस ब्रह्मण्ड भाठी चिगावै, पीवत सदा मतिवालं,
मनसा कलालिनि भरि भरि देवै आछा आछा मदना प्यालं ।।टेक।।
अमृतदाषी भाठीं भरिया, ता मधे गुड़ झकोल्या ।
मन महुवा तन धाहुबा, बनासपती अठारै मेल्यां ।। । ।।
भ्रमर गुफा मैं मन थरि ध्यानै बैस्या आसण बाली ।
चेतनि रावल मद भरि छाक्या, जुग-जुग, लागो ताली ।। 2 ।।
तृकुटी संग कूपी भरिया मदनीपज्या अपार ।
कुसमल होंता ते झड़ि पड़िया, रहि गया तहाँ तत सारं ।। 3 ।।
एवहां मद श्रीगोरष क़ेवट्या, बदंत मछिंद्र ना पूता ।
जिनि कैवट्या तिनि भरि-भरि पीया, अमर भया अवधूता ।। 4 ।।

हमारे शरीर में निरन्तर अमृतवारूणी सिद्ध होती है और जीवात्मारूपी (आत्मानन्दी) मतवाला योगी इसका पान करता है । अमृतवारूणी मदिरा के चुआने के लिये शरीर में स्थित इक्कीस ब्रह्माण्ड ही भट्ठी हैं, जिस तरह भट्ठी में आग प्रज्वलित कर मदिरा, महुवा, अंगूर आदि का अर्क निकाला जाता है, उसी प्रकार इक्कीस ब्रह्माण्ड की भट्ठी है और उनमें अमृतवारूणी सिद्ध की जाती है । इच्छा ही कलालिनी है, वह अच्छा-अच्छा प्याला मदिरा से भर कर देती रहती है । इस अमृतवारूणी के, अमृतानुभूति के निर्माण के लिये भट्ठी पर पात्र में अंगूर (दाष, द्राक्षा) रखा जाता है और

उसमें गुड़ मिलाकर मनरूपी महुवा और तनरूपी धाहुवा (धाहुड़ अथवा धव, एक वनस्पति, जिससे औषधि बनायी जाती है अथवा घौर, एक तरह की सफेद ईख) तथा अठारह (अनेक) तरह की वनस्पतियाँ डाली जाती हैं । इस तरह अमृतवारूणी तैयार की जाती है । चेतनआत्मारूप रावलयोगी ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मन कर उसमें स्वरूपस्थ होकर अथवा आसन लगा कर इस अमृतासव का पान कर आनन्द में निमग्न हो जाता है । आज्ञाचक्र में इड़ा-पिंगला, चन्द्रनाड़ी और सूर्य नाड़ी के सुषुम्ना में संगम, त्रिकुटीरूपी कूपी में पूर्ण रूप से यह अमृतासव भर उठता है, वहीं यह उत्पन्न होता है । सारे पाप, (कश्मल, कुसमल, गन्दगी) का अन्त हो जाता है, चेतन आत्मारूपी योगी इस अमृतवारूणी के संगम त्रिकुटी में स्नान कर परम पवित्र, निर्मल हो जाता है । इस मद, अमृतासव को मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने इक्कीस ब्रह्माण्डों की भट्ठी पर चुआ कर उतारा है, सिद्ध किया है । जिन सिद्धों और योगस्थ पुरूषों ने इस तरह अपने शरीर के भीतर इस मदिरा को, अमृतवारूणी को उतारा (केवट्या) और अच्छी तरह प्याला भर-भर कर उसका पान किया, वे जीवन्मुक्त होकर, शरीर से अमर हो गये ।

(29)

सति सति भाषंत श्रीगोरष जोगी, अमे तौरहिबा रंगै ।
अलेष पुरसि जिनि गुरमुषि चीन्ह्यां, रहिबा तिसकै संगै ।।टेक।।
सतजुग मधे जुग एक रचीला, बिसहरएक निपाया ।
ग्यांन बिहूणां गण गंध्रप अवधू, सबही डसि-डसि षाया ।। । ।।
त्रेता जुग मधे जुग दोइ रचीला, राम रमांइणा कीन्हां ।
नरबंदर सब लड़ि-लड़ि मूए, तिन भी ग्यांन न चीन्हां ।। 2 ।।
द्वापर जुग मधे जुग तीनि रचीलै, बहुडम्बर बहुभारं ।
कैरों पांडौ लड़ि-लड़ि मूए, नारद कीया संघारं ।। 3 ।।
कलिंजुग मधे जुग चारि रचीला, चूकिला चार बिचारं ।
धारे-धारे दंदी धारे-धारे बादी, धारे-धारे कथण हारं ।। 4 ।।
चौहु जुग मधे जुगचारि थापिला, ग्यांन निरालंब रहिया ।
मछींद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, कोई बिरला उतरिया पारं ।। 5 ।।

गोरखनाथ योगी का यह सत्य वचन है, कि मैं निराकार, निर्विकार, निर्गुण अलख-निरंजन परमेश्वर के रंग, स्वरूप में स्वस्थ हो गया। जिस योगात्मा ने महायोगज्ञानोपदेश के प्रकाश में सद्‌गुरू (के अनुग्रह) से अलेख-रूपरंगरहित अथवा अलख, ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि से परे अन्तर्बोधगम्य, निरंजन का परिचय प्राप्त किया है, मैं उसी के सत्संग में, सन्निधान में सदा निरन्तर निवास करना ही जीवन का परम श्रेय समझता हूँ। अलख पुरूष अकाल हैं, युगसापेक्ष उसका स्वरूप रूप में अभिव्यक्त तो होता है, पर यह उसकी सनातन अखण्डता का ही परिचायक है। परमात्मा का अखण्ड स्वबोध सनातन है, कालविशिष्ट नहीं है। यह सच है कि युगानुक्रम से सत्युग (आदियुग) में घट-घट में व्याप्त शाश्वत चैतन्य की अभिव्यक्ति का विशेष रूप से अनुभव किया गया, पर उसमें अहंकाररूपी विषधर साँप, सकाम कर्मफल की प्राप्ति की ऐषणा ने यक्ष, किन्नर, गन्धर्व,-जो आत्मज्ञान, स्वबोध से शून्य थे, सभी को डँस लिया। सत्ययुग के बाद त्रेतायुग का क्रम है, इसमें परब्रह्म ने दिव्य प्रकृति, परम दैवी सम्पत्ति के संरक्षण के लिये रामरूप में लीला की, अपने चरित, रामायण का प्रकाश किया, पर नर-बन्दर का घोर संग्राम छिड़ गया, दोनों पक्षों की महती हानि हुई, भयंकर संहार हुआ, पर सगुण-साकार ब्रह्म के अभिव्यक्त होने पर भी उसके वास्तविक साक्षात्कार, अनुभव अथवा बोध या सत्स्वरूप का परिज्ञान दैवी और आसुरी शक्ति में संघर्षरत प्राणियों को न हो सका। इसी तरह तीसरे युगानुक्रम द्वापर में साक्षात् परमात्मा की कृष्णरूप में साकार अभिव्यक्ति हुई। उस समय लोग अहंकारजन्य आडम्बर और पारस्परिक कलह (नारद) के कारण एक-दूसरे को नीचा दिखाने में आसक्त हो गये। कौरव और पाण्डव ने भीषण संहार का दृश्य उपस्थित किया और सत्स्वरूप का बोध दुर्लभ हो गया। चौथे युगानुक्रम, कलियुग में तो प्राणी आचार-विचार से हीन ही है, प्राणियों में द्वन्द्व है, ज्ञान-अज्ञान, सत् और असत् विद्या-अविद्या के वास्तविक रूप को समझने की उनमें शक्ति ही नहीं है, व्यर्थ वाद-विवाद और प्रलापमात्र में उलझ कर वे सद्ज्ञान से शून्य हैं। चारों युगों की विशिष्टता को दृष्टि में रखकर यही बात समझ में आती है कि एकमात्र निराधार, सर्वाधार, घट-घट में, सचराचर में व्याप्त अलख-निरंजन परमात्मा का ही अनुभव करना

चाहिए । मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रह प्राप्त शिष्य गोरखनाथ का वचन है कि कोई बिरला पुरूष ही अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर संसार-सागर से पार उतर जाता है ।

(30)

ऐसा जाप जपौ मन लाई, सोहं सोहं अजपागाई ।।टेक।।
आसण दिढ़ करि धरौ धियानं, अहनिस सुमिरौ ब्रह्म गियानं ।
जाग्रत न्यंद्रा सुलप अहारं, काम-क्रोध अहंकार निवारं ।। । ।।
नासा अग्र निपुज्यौ बाई, इड़ा प्यंगुला मधि समाई ।। 2 ।।
छ सै सहंस इकीसौ जाप, अनहद उपजै आपहि आप ।
बंक नालि मैं ऊगै सूर, रोम-रोम धुनि बाजै तूर ।। 3 ।।
उलटै कंवल सहंसदल वास, भ्रमर गुफा महि जोति प्रकास ।
मछिंद्र प्रताप जती गोरष रहै, परम तत कोई बिरला कहै ।। 4 ।।

परमात्मतत्व के साक्षात्कार का यौगिक साधन यह है कि पहले पद्मासन, सिद्धासन, अथवा योगासन में दृढ़तापूर्वक स्थित हो जाओ और मन की वृत्ति, चित्तवृत्ति को परब्रह्म के स्वरूप (ब्रह्मज्ञान) में संयोजित कर परमात्मा का स्मरण करो । चित्त को परमेश्वर के ध्यान में लगा दो । प्राण (जीवात्मा) का उत्थान, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश अजपाजप की सिद्धि से सम्भव होता है । रात-दिन में प्राण का इक्कीस हजार छः सौ बार शरीर में उत्थान होता है, प्रत्येक श्वास को, हंस को सोहं के जाप में स्थिर कर दो । प्राण हकार की ध्वनि से बाहर जाता है और सकार की ध्वनि से भीतर आता है । इस तरह सदा हंस-हंस मंत्र का जप होता है । यही अजपागायत्री अथवा अजपाजाप है, जिसके द्वारा जीवात्मा को सोऽहं, अपने परब्रह्मस्वरूप में स्वस्थिति का बोध होता है । निद्रा आने पर जागते रहो, निद्रा से साधना में अवरोध उत्पन्न होता है, इसी तरह अल्प मात्रा में आहार ग्रहण करो, क्योंकि अधिक भोजन करने से आलस्य उत्पन्न होता है, प्राणवाहिनी नाड़ियों में विजातीय द्रव्य (मल) एकत्र हो जाता है और साधक प्रमाद करने लगता है, प्राण इड़ा और पिंगला नाड़ियों से नाभि से समुस्थित होकर बायें और दायें नासारन्ध्रों के मार्ग से नासाग्र तक गति कर आज्ञाचक्र में, त्रिकुटी में जब प्रवेश

करता है, तब अनाहतनाद सोऽहं मंत्र की अजपाजाप द्वारा सिद्धि से स्वतः उत्पन्न हो जाता है, इसलिये इस नाद में अन्तर्लीन होने के लिये काम, क्रोध और अहंकार का भाव मन में कभी नहीं पैदा होने देना चाहिए, ये तीनों साधना में भयानक रूप से बाधक हैं । अनाहतनाद के सहज उत्पन्न होने से बंकनालि, सुषुम्ना में सूर्योदय, आत्मज्ञानोदय हो जाता है और रोम-रोम में तूर्यनाद का श्रवण होने लगता है, अंग-अंग में अनाहतनाद का संचार हो उठने पर सच्चिदानन्दस्वरूप की परिव्याप्ति का शरीर के भीतर अनुभव होने लगता है । भ्रमरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र में, जहाँ शून्य-ही-शून्य गहनतम नीरवता है, प्रकाश छा जाता है , परमशिव का प्रबुद्ध कुण्डलिनी महाशक्ति से सायुज्य स्थापित हो जाता है । नाभिस्थान में रहने वाला प्राणहंस उलटकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है, जीवात्मा परमात्मा में अन्तर्लय अथवा तादात्म्य में आत्मरमण करता है । महायोगसिद्ध सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि यह परमात्मानुभव, महत्तत्व का ज्ञान किसी बिरले को ही होता है ।

(31)

जागा जोगी कनक रावलिया, गुरूदेव मैंहली बूठौं ।
षोजतां षोजतां सतुगरू पाया, सहजै नैं भावै तूठौ ।।टेक।।
उतर देस मैं मेंह धड़क्या, दक्षिण बादल छाया ।
पूरब देस थी पाणिग बिछूटी, पछिम खेत्र मैं पाया ।। । ।।
मन पवना धोरी जोतावो सतनां सांतीड़ा समधावो ।
दयाधर्म ना बीज अणावो, इणी परि षेत्रे जावो ।। 2 ।।
षांता न षूटै, देतां न निठै, जम बार नहीं जाई ।
मछीद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या, नित नवेरडौं थाइ ।। 3 ।।

रससिद्ध रावलयोगी (राजयोगी) साधना में सावधान हैं, जग गया हैं, उसने सिद्ध गुरू का चरणाश्रय ग्रहण कर लिया, (रसायन के द्वारा लोह का स्वर्ण में परिवर्तन करने की विद्या के द्वारा जीवन-यापन करने से ऊब कर) उसने खोजते - खोजते जिज्ञासा की तृप्ति के लिये सद्गुरू की खोज की और उसकी साधना गुरू-प्राप्ति में सफल हो गयी, उसे सद्गुरू मिल गये । गुरू की

प्रसन्नता और कृपा से उसका जीवन सफल, सार्थक और कृतार्थ हो गया । गुरु ने मेघ के रूप में दयामृत की वृष्टि की । अथक परिश्रम और बड़ी खोज के फलस्वरूप उसे सद्गुरु की प्राप्ति हो सकी और उसकी साधना से वे कृपामय, अनुग्रह-विग्रह सहज संतुष्ट हो गये, उत्तर दिशा, (कनकरावल योगी के) ब्रह्मरन्ध्र में अमृत के बादल घहर-घहर कर दक्षिण दिशा (स्वाधिष्ठान चक्र) में छा गये । प्राण हंस साधन-मार्ग पर, ब्रह्मरन्ध्र में उस अमृत का पान करने के लिए अग्रसर हो उठा, इस तरह पूर्व दिशा, इड़ा-पिंगला नाड़ियों से प्राणामृत की धारा छूट पड़ी, प्रवाहित हो उठी और पश्चिम दिशा (सुषुम्ना) में पहुँच गयी । इस तरह योग-साधना में तत्पर योगी को मन और पवनरूपी दो धवल, निर्मल बैलों को जोतना चाहिए और नाथने की रस्सी (प्राणायाम की साधना, सांतीड़ा) से उन्हें नाथ कर वश में कर लेना चाहिए । मन और पवन ही शरीररूपी खेत को जोत कर साधन-क्षेत्र में परिवर्तित करते हैं । दया और धर्म ही बीज हैं, सत्य ही नाथने की रस्सी (सांतीड़ा) है । जीवन में दया और धर्म के आचरण से अक्षय पुण्य की प्राप्ति होती है । इसलिए दया और धर्म की ही सदा हरी-भरी रहने वाली, हरीतिमा से लहलहाती रहने वाली खेती करनी चाहिए । इस पुण्यमयी खेती से प्राप्त दया और धर्मरूपी अन्न-भण्डार का जितना ही परोपकार में उपयोग होता है, उतना ही यह बढ़ता है । इस तरह प्राण-साधना करने पर योगी, योग-साधक यमराज के द्वार पर नहीं जाता, उसका शरीर मृत्यु को नहीं प्राप्त होता । मत्स्येन्द्रनाथ के अनुग्रहप्राप्त शिष्य गोरखनाथ का कथन है कि शरीर नित्य-नवीन (नवेरडो) बना रहता है ।

(32)

जीव सीव न संगै बासा, ना बधि षाइवा रे रूध्र मासा ।।टेक।।
धाव न धातिबा हंस गोतं, बदंत गोरषनाथ निहारि पोतं ।। 1 ।।
मारिबा रे नरा मन द्रोही, जाकै बप बरण नही मांस लोही ।। 2 ।।
सब जग ग्रासिया देव दाणं, सो मन मारीबा रे ।
गहि गुरूग्यांन बांण ।। 3 ।।
पसू क्या हतिये रे प्यंडधारी, मारिये पंच भू मृघला जे चरै बुधि बाड़ी ।
जोग का मूल है दया दानं, भणत गोरषनाथ ए ब्रह्म ग्यांन ।। 4 ।।

परमात्मा बड़े करूणामय हैं, वे अन्तर्यामी हमारे शरीर में और सभी प्राणियों के शरीर में विद्यमान हैं । सभी जीवात्मायें, अपने ही स्वरूप हैं, इसलिए मृगया में किसी पशु-पक्षी तक का भी वध नहीं करना चाहिए, न उनके इस तरह मृत शरीर के मांस और रूधिर का ही भोजन के लिए उपयोग करना चाहिए, सचराचर आत्मरूप है । जो प्राण हमारे पुत्र, पौत्र के शरीर में है, वही दूसरे के शरीर में है । इस तरह सभी से आत्म सम्बन्ध है, अपने पुत्र-पौत्र को देखकर दूसरों के वध से निवृत्त होकर हृदय में सभी के प्रति दया का भाव रखना चाहिए । पर-पीड़ा से बढ़कर दूसरा कोई महापाप है ही नहीं । हे मनुष्यो ! यदि मृगया का ही शौक है, तो इसके लिए अपने मन को मारो, मन पर विजय प्राप्त करो, यह भी तो मृग है, चंचल है, न इसके शरीर है, न मांस है और न रक्त है, इसलिए इसे मारने से वह पाप नहीं लगेगा, जो जीव की हत्या अथवा वध करने से लगता है । इस मनरूपी मृग ने देव-दानव, सभी को अविद्याग्रस्त कर दिया है, मुग्ध कर दिया है, इसे मारने का उपाय है गुरूज्ञानरूपी बाण । गुरू के शब्द, उपदेश को जीवन में उतारने पर ही मनरूपी मृग अपने आप मर जाता है, उन्मन अथवा अमनस्क होकर ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमशिव के साक्षात्कार का साधन बन जाता है । शरीरधारी पशुओं का बध करना हिंसा है, जीवहिंसा करने से किसी तरह का आध्यात्मिक, पारमार्थिक लाभ नहीं मिलता है, तो पांचभौतिक शरीर में निवास करने वाले चंचल मन को मारना चाहिए, यह मन हमारे बुद्धिरूपी, सद्विवेक रूपी उपवन को श्रीहीन कर देता है, विषयवासना में बुद्धि को भ्रमित कर परमेश्वर के भजन में विघ्न डालता है । योग की साधना का परम फल यही है कि हमारे हृदय में प्राणीमात्र के प्रति सद्भाव हो, यह सद्भाव ही दया अहेतुकी करूणा का रंगमंच है, दयाभाव का पोषण करना ही योगज्ञान, जीवात्मा और परमात्मा के अभिन्नत्व, अखण्डत्व, निरंशता, निर्विकल्पता और निश्चयात्मक स्वरूप का प्रतिपादक है, यही ब्रह्मज्ञान है, अलख-निरंजन परम शिव के स्वरूप का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान है । सर्वात्मदर्शन ही ब्रह्मज्ञान है ।

(33)

ऐसा रे उपदेस दाषै श्रीगोरष राया ।
जिंनि जगचतुर बरन राह लाया ।।टेक।।

पढ़िलै संसवेद । कारिलै बिधे नषेद ।
जांणिलै भेदांन भेद । पूरिलै आसा उमेद ।। । ।।
विषमी संधि मंझारी । संझाया पंची वषत सारि ।
रहिबा दसवैं दुवारि । सेइबा पद निराकार ।। 2 ।।
जपि लै अजपाजाप । विचारि लै आपै आप ।
छुटिला सबै बियाप । लिपे नाही तहां पूनि पाप ।। 3 ।।
अहो निसि समो ध्यांन । निरंतर रमेबाराम ।
कथै गोरषनाथ ग्यांन । पाईला परम निधांन ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(स्वास सुसमवेद । बिदि हदि । अजपाजाप । विषमी संधी नाभि विषनाड़ी सुषमन ।)

(शिवगोरक्ष योगेश्वर) गोरखनाथ का बचन है कि मेरा यह योगज्ञान प्राणीमात्र के लिये हितकारी और कल्याण स्वरूप है । यह (मेरे) ऐसे योगी का योगानुभव, योगज्ञान है, जिसने चारों वर्णो के लोगों के लिये, समस्त जगत् के प्राणियों के लिये योग की साधना के मार्ग पर (बिना किसी भेदभाव के) चलने की सत्प्रेरणा प्रदान की है, (गोरखनाथ का उपदेश है कि) चारों स्थूल वेद, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के ही पढ़ने मात्र से आत्मज्ञान और परमात्मानुभव की प्राप्ति नही हो जाती है, इसलिए स्वसंवेद्य तत्व, अलख-निरंजन, निजाशक्ति में स्वरूपस्थ ऊँकार ब्रह्म का अनुभव, योगसाधना, कुण्डलिनी, षट्चक्रभेदन, नादानुसन्धान और सहस्रार में सुषुम्ना के मार्ग से मन-पवन के लय द्वार से भी परे स्वसंवेद्य परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । इस स्वसंवेद्यानुभूति के प्रकाश में शरीर और आत्मा के सम्बन्ध और रूप, दोनों में भेद का ज्ञान हो जाता है, पिण्ड में ही व्याप्त महासाकारपिण्ड पद ब्रह्म का अनुभव हो जाता है । योगसाधना में सिद्धि-प्राप्ति का यही सुगम और सहज मार्ग है । इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ विपरीत दिशागामिनी हैं, ये विषम नाड़ियाँ हैं, एक चन्द्रनाड़ी शीतल है, तो दूसरी सूर्यनाड़ी उष्ण है, इन दोनों में संचारित होने वाले श्वास को सुषुम्ना, विषमीसन्धि नाड़ी में संस्थित कर गंगा, यमुना, सरस्वती के तट पर स्थित होकर प्राणहंस, जीवात्मा को संगम-स्नान कर लेना चाहिए, त्रिवेणी में स्नान कर जीवात्मा को, मन को

उन्मन कर, उन्मनी समाधि लगाकर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर अलख-निरंजन के ध्यान, चिन्तन और भजन में समाहित हो जाना चाहिए। सुषुम्ना में स्थित होकर पाँचों समय की संध्या पूरी करनी चाहिये। पाँचों समय की संध्या का तात्पर्य पंचज्ञानेन्द्रिय से है, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अन्तर्लीन कर परमात्मा के अभिमुख कर देना ही पंच संध्या का अनुष्ठान है। नाभिस्थान में उत्थित प्राणहंस की, शरीर की प्राणवाहिनी नाड़ियों में इक्कीस हजार छः सौ बार आवृत्ति, पुनरावृत्ति होती रहती है, प्राण हकार ध्वनि से बाहर आता है, सकार ध्वनि से भीतर जाता है, सोऽहं-सोऽहं का जप निरन्तर चलता रहता है, यही हंसगायत्री महाविद्या, प्राणविद्या है, अजपाजप के द्वारा, सहज जप के द्वारा हंस-मंत्र की सिद्धि कर जीवात्मा को आत्मस्वरूप का चिन्तन करना चाहिए, परमात्मा से अभिन्न सम्बन्ध का अनुभव करना चाहिए। इस स्वरूपज्ञान से जीवात्मा को पाप-पुण्य, विधि-निषेध से परे स्वसंवेद्य, ऊँकारस्वरूप निरंजन ब्रह्म में तल्लीन होकर रात-दिन, सब समय (समौ) समाधिस्थ होकर ध्यानस्थ रहना चाहिए। अलख-निरंजन, घट-घट में रमण करने वाले आत्माराम में ही रमण करना चाहिए। गोरखनाथ का बोध-वचन है कि इस तरह की साधना के द्वारा मैंने परम पद, सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति कर ली।

(34)

गुर कीजै गहिला निगुरा न रहिला,
गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला ।।टेक।।
दूधैं धोया कोइला ऊजला न होइला,
कागा कंठे पहुप माल हंसला न भैला ।। 1 ।।
अभाजै सी रोटली कागा ले षाइला,
पूछो म्हारा गुरू नैं कहाँ बैसि षाइला ।। 2 ।।
उतर दिस आविला, पछिम दिस जाइला,
पूछौ म्हारा सत गुरू नैं, तिहां बैसि षाइला ।। 3 ।।
चोटी केरा नेत्र में गज्येंद्र समाइला,
गावड़ी के मुष में बाघला बिवाइला ।। 4 ।।
बारैं बरसैं बंझ ब्याई, हाथ पाव टूटा,
बदंत गोरखनाथ मछिंद्र नापूता ।। 5 ।।

(कायेला मन । दूध तीरथ । काग मंन । पहुंप पुरांन । आभा काया । काग काल । उतर सबद में । पछिम पाछिली बुधि । दूजा अरथ । उतर माया । पाछिल परमेश्वर । चींटी मनसा । गजिंद्र मन । गाय आत्मां । बोध ग्यांन ।)

(इस पद में गहिला का आशय अज्ञान में भटकने वाले और मानसिक विकार से ग्रस्त प्राणी से है ।) हे अज्ञानी, मूढ़, मायाग्रस्त मनुष्य ! बिना गुरू के शरणागत हुए आत्मज्ञान का प्रकाश नहीं मिलेगा, गुरू ही आत्मा और परमात्मा के अभिन्नस्वरूप का प्रतिपादक ज्ञान-प्रकाश प्रदान करते हैं । निगुरा (जिसे सद्गुरू की प्राप्ति नहीं हो सकी है) अज्ञान के अन्धकार से बाहर निकलने में समर्थ नहीं हो सकता, निगुरा नहीं रहना चाहिए, संसारसागर से पार उतरने और परमात्मा की प्राप्ति अथवा योगानुभूति के लिये गुरूमुख (गुरूज्ञानप्रकाश के सम्मुख) रहना चाहिए । हे भाई, गुरू ही जगत् के असत् सम्बन्ध और मोहान्धकार से निवृत्त, मुक्त करने में समर्थ है । यह लोकप्रसिद्ध बात है कि (काले) कोयले को, जिसका सहज नैसर्गिक रंग ही काला है, उजले द्रव, दूध में धोने से उस में धवलता नहीं आ सकती, वह उजला नहीं हो सकता, कौए को पुष्पों की माला पहना देने मात्र से ही वह हंस नहीं कहला सकता, इसी तरह मनरूपी कौए को केवल उपदेशों के श्रवणमात्र से ही निर्मल नहीं बनाया जा सकता । जीवात्मारूपी काग सम्पूर्ण अखण्ड ब्रह्मानुभूतिरूपी रोटी (जो काग का भक्ष्य है, भोज्य है) को खाता है, परमात्मानुभूति का आस्वादन करता है । यह जीवात्मा परमात्मा ही का स्वरूप है, अभिन्न रूप है, कर्म-विपाक के भोगवश अपने अंशी परमात्मा से अभिन्न-सा प्रतीत होता है, यह कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन तथा अजपाजप के द्वारा प्राणहंस सोऽहं मंत्र की सिद्धि कर ब्रह्मरन्ध्र, उत्तर दिशा में स्थित होकर परम कैवल्य की अनुभूति करता है । हमारे सद्गुरू से ही इस सत्य का प्रकाशन होता है । उनके अनुभव से विदित होता है कि पश्चिम दिशा, सुषुम्णा के मार्ग से ही वह अपने स्वरूप, ब्रह्मरन्ध्रस्थ शिव में ही अधिष्ठित होता है । जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में ही पुनः उन्मनी समाधि में स्थित होकर पूर्ण ब्रह्मानुभूति का रसास्वादन करता है । यद्यपि यह असम्भव है कि चींटी के नेत्र में हाथी प्रवेश करें, समा जाय, तथापि इस तरह

की सम्भावना के पोषण का आशय है कि आत्मतत्व अत्यन्त सूक्ष्म है, अणु से भी अणु है और उसमें सारा स्थूल प्रपंच सन्निविष्ट है । जिस तरह गाय के मुख में बाघिन के बच्चा देने का आशय है गाय का बाघिन से नष्ट हो जाना, इसी तरह मायारूपी गाय में आध्यात्मिक ज्ञान का उदय होता है और इस तरह ज्ञान के प्रकाश में अविद्या-अज्ञान का अन्धकार स्वतः नष्ट हो जाता है । मायिक जीवन निष्फल है, माया में ज्ञान का, आत्मज्ञान का प्रकाश होना कठिन है, यह माया बाँझ स्त्री के समान है, बाँझ पुत्र-प्रसव कर ही नहीं सकती । माया में (बारह वर्ष के बाद, सुदीर्घ काल तक योगाभ्यास करने के बाद) जीवात्मा को आत्मज्ञान, स्वरूपबोध मिलता है तो मिल जाता है, माया में यह ज्ञानोदय ही बाँझ का पुत्र-प्रसव है । यह आत्मज्ञान होने पर माया के हाथ-पैर की शक्ति नष्ट हो जाती है, उसका वन्ध्यापन समाप्त हो जाता है, हाथ-पैर के टूटने का आशय है माया का अपंग हो जाना । योगीन्द्र मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने यह अनुभव किया है, योगसिद्धि में सद्गुरूज्ञान के प्रकाश में परमात्मा का साक्षात्कार कर अच्छी तरह समझ लिया है कि आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति में मन का निर्मल होना आवश्यक है, तन का योगाग्नि में पकना आवश्यक है । ऐसा होने पर ही गुरू के अनुग्रह से जीवात्मा कैवल्य अथवा परमपद में स्वस्थ होकर अलख-निरंजन का साक्षात्कार करता है'।

(35)

कहा बुझै अवधू राई गगन न धरनीं
चंन न सूर दिवस नहीं रैनी ।।टेक।।
ऊंकार निराकार सूछिम न अस्थूलं,
पेड़ न पत्र फलैं नहीं फूलं ।। । ।।
डाल न मूल न वृष न बेला, साषी न सबद गुरू नहीं चेला ।। 2 ।।
ग्यानें न ध्यानें जोगे न जुक्ता, पापे न पुंने मोषे न मुक्ता ।। 3 ।।
उपजै न बिनसै आवै न जाई, जुरा न मरण वांके बाप न माई ।। 4 ।।
भणत गोरखनाथ मछींद्र ना दासा,
भाव भगति और आस न पासा ।। 5 ।।

हे अवधूतराज । योगसिद्धपुरुष, वह परमेश्वर ज्ञान का विषय नहीं है, नादबिन्दुकलातीत है, वह धरती और गगन, चन्द्रमा और सूर्य, दिन और रात-दिक्कालातीत, अणु से अणु, महान्-से-महान्, सूक्ष्म, विराट् है । यह ओंकार ब्रह्म न गगन (ब्रह्मरन्ध्र) में ही अपने स्वरूप में सीमित है, न धरणी, पृथ्वी (मूलाधार) में ही है, यह तो पृथ्वी से आकाश, स्थूल से सूक्ष्म, सभी में व्याप्त है, यह न चन्द्रमा (सहस्रारस्थित अमृतज्योति तत्व) और न सूर्य (नाभि में स्थित तेजस्तत्व) ही से प्रकाशित है, यह स्वयंप्रकाश है, यह दिवस और रात्रि के भेद से भी प्रभावित नहीं है, दिन और रात की सीमा से अप्रमेय है, यह निराकार ब्रह्म अनादि है, मूलरहित है, यह न वृक्ष है और न उसकी आश्रित बेलि-माया है, यह पत्र, पुष्प-फल भी नहीं है, इसके स्वरूप का अनुभव तो है पर स्वरूप के वर्णन का कोई साखी नहीं है, वह साखी और शब्द के अतीत है, यह न चेला है, न गुरु है । यह उपास्य, उपासक, ज्ञेय और ज्ञाता, सभी भावों से परे और असीम है । वस्तुस्थिति तो यह है कि परमात्म सत्य का साक्षात्कार ज्ञान-ध्यान का भी विषय नहीं है, योग और युक्ति (यौगिक साधना) से भी यह तत्व अभिव्यक्त नहीं होता है, यह पाप-पुण्य के द्वन्द्व में सर्वथा निर्लिप्त है, यह सर्वतंत्र स्वतंत्र परम सत्ता है और कर्म की गति इसका स्पर्श ही नहीं कर सकती है, मोक्ष और मुक्ति से भी सहज शून्य है यह परमतत्व । न इसका जन्म होता है, न इसकी मृत्यु होती है, उत्पत्ति और विनाश के नियम इसके आकार अथवा स्वरूप-निश्चय में निष्प्रयोजन और निरर्थक है । न तो यह अपने पद से च्युत होता है, न अपने आकार के बाहर होता है, यह अच्युत है, निजाकार अथवा स्व है । यह जन्म और मृत्यु से परे है, न उसको जन्म देने वाला कोई पिता है, न पोषण और पालन करने वाली माँ है, वह सकल सृष्टि का स्वामी, नियामक और स्वयं उत्पत्ति और लय का अनादि, सनातन कारण है । उसे भाव (प्रेम) और भक्ति (श्रद्धा-विश्वास) से भी नहीं समझा जा सकता, उसमें उपास्य और उपासक-भाव की यद्यपि उसके रूप (सौन्दर्य-माधुर्य) के आस्वादन की दृष्टि से सार्थकता है तथापि वह इससे परे है, वह आशापाश (माया के जाल) में आवृत्त नहीं होता है, मत्स्येन्द्र योगेश्वर के शिष्य गोरखनाथ का यह सत्य अनुभव है, परमात्मा स्वसंवेद्य है ।

(36)

आवो माई घरि-घरि जावो, गोरष बाला भरि-भरि खावो ।।टेक।।
झरै न पारा बाजै नाद, ससिहर सूर न बाद-बिबाद ।। । ।।
पवन गोटिका रहणि अकास, महीयल अतंरि गगन कविलास ।। 2 ।।
पयालनीं डीबी सुंनि चढ़ाई, कथंत गोरषनाथ मछींद्र बताई ।। 3 ।।

प्राचीन टीका

(घरि-घरि घरया की तासीर जाई । टेक । पारा बिंद । नाद सबद; ससि सूर ताता सीला । पवन गोटिका । आकास ब्रह्म । गगन कँवल । डीबी मनसा । सुंनि समाधि ।)

हे माताओं ! मैं भिक्षा के लिये फेरी लगा रहा हूँ, बालयोगी, बालयती (गोरखनाथ) से अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये आशीर्वाद प्राप्त करो, मुझे भिक्षा दो, दरवाजे पर आकर भिक्षा रख दो और मुझे आदेश दो कि हे गोरखनाथ बालयोगी ! भिक्षा ग्रहण करो और इससे भोजन सिद्ध कर अपने शरीर को योगाचरण में लगाये रहो । हे माताओं ! मैं अखण्ड ब्रह्मचर्य का व्रत ग्रहण कर योगाभ्यास में तत्पर हूँ, मैंने बिन्दु (शरीर के रस, पारा) को क्षरित होने से बचा कर उसे ऊर्ध्वमुख कर प्राणायाम के द्वारा शरीर में जीर्ण कर, पचा कर (शरीर की) चौसठ सन्धियों और सभी प्राणवाहिनी नाड़ियों को शुद्ध कर, आज्ञाचक्र में स्थापित कर ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया है । यह आज्ञाचक्र ही नाद की उत्पत्ति का स्थान है । ('आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदा ज्ञाचक्रमुच्यते'-गोरक्षसंहिता) प्राण और अपान, ह और ठ, सूर्य और चन्द्र का समरसत्व करने से वीर्य अपने आप ऊर्ध्वगामी होकर ब्रह्मरन्ध्र में नाद से मिल जाता है और जीवात्मारूपी योगी परमशिव का साक्षात्कार करता है । हे माताओं ! मैंने प्राणविद्या की सिद्धि कर, भगवती गायत्री के अनुग्रह से हंसमंत्र को अभिमंत्रित कर पवन गुटिका के सहारे ब्रह्मरन्ध्र, आकाश में प्रवेश किया है, हंसमंत्र, सोऽहं-सोऽहं मंत्र का जप ही पवन-गुटिका (गोटिका) है, इस तरह मेरा निवास ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में है, शिवलोक, ब्रह्मरन्ध्र ही कैलाश है, जिसमें परमात्मा परब्रह्म अलख-निरंजन अपनी निजाशक्ति में नित्य विद्यमान है और हठयोग ही नहीं,

सम्पूर्ण योगविद्या का परम प्रतिपाद्य है । ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) कैलाश, शरीर में (पृथ्वी पर) ही विद्यमान है । मैंने पाताल (पयाल) की शक्ति (डौबी), मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी को षट्चक्रों के भेदन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध, नादसन्धान आदि से जागरत कर शून्य आकाश में ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा लिया है । यही महायोगज्ञान है कि ब्रह्मरन्ध्र में कुण्डलिनी शक्ति को जागरत करते हुए स्थापित कर योगी परमशिव का साक्षात्कार करें । मेरे गुरूदेव महामति योगाधीश्वर सद्गुरू मत्स्येन्द्रनाथ ने कृपापूर्वक मुझे इस महायोगज्ञान की सिद्धि का उपाय बताया है ।

(37)

कैसे बोलौं पंडिता देव कौने ठांई,
निज तत निहारतां अम्हें तुम्हें नाहीं ।।टेक।।
पषांण की देवली पषांण का देव,
पषांण पूजिला कैसैं फटीला स्नेह ।। । ।।
सरजीव (तेड़िया) तोड़ीला निरजीवी पूजीला,
पाप की करणी कैसैं दूतर तिरीला ।। 2 ।।
तीरथि-तीरथि सनांन करीला,
बाहर धोये कैसैं भीतर भेदीला ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता,
निज तत निहारै गोरष अवधूता ।। 4 ।।

हे पण्डितों ! परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप में सर्वत्र विद्यमान है, सर्वव्यापक है, ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ वह विद्यमान नहीं है, इसलिये किसी एक स्थान पर उसे विद्यमान कहना निरा अज्ञान है । निज तत्व (आत्मा) की व्यापकता का सर्वत्र ज्ञान (दर्शन) हो जाने पर 'मैं' 'तुम' का भेद उसी स्थल (परमात्म) दर्शन में अन्तर्लीन हो जाता है । हे पण्डित ! परमात्मा के सगुण रूप के उपासको, पाषाण का मन्दिर बना कर उसमें पाषाण की इष्ट देव की प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा मात्र से ही सर्वव्यापक महाशक्तियुक्त परमेश्वर के ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य के प्रति हृदय में स्नेह नहीं प्रस्फुटित हो सकता । प्राषाण प्रतिमा निर्जीव है । पत्र-

पुष्प आदि सजीव हैं । इन्हें तोड़कर निर्जीव प्रतिमा पर चढ़ाने में पाप लगता है । यह पाप कर्म करके तुम दुस्तर भव सागर का संतरण कैसे कर सकते हो ? तीर्थों में जाने और उनमें स्नानादि सत्कर्म द्वारा शरीर तप-पूर्वक शुद्ध ओर संस्कारित कर लेने मात्र से ही जीवन के परम-चरम प्रतिपाद्य परमात्मा के स्वरूपानुभव की प्राप्ति नहीं हो जाती, मन और हृदय के भाव की परिशुद्धि आवश्यक है । बाह्य शुद्धि के साथ आन्तरिक शुद्धि होने पर ही परमात्मा का साक्षात्कार होता है, शरीर के भीतर स्थित ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रूद्रग्रन्थियों का भेदन होने पर ही जीवात्मा ब्रह्मरन्ध्र में उन्मनी समाधि में परमतत्व का बोध पाता है । कुण्डलिनी के जाग्रत होकर सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश करने पर ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है, कुण्डलिनी विद्युत्रेखा के समान सुषुम्ना में चढ़ने लगती है, वह अनाहतचक्र (हृदय) में पहुँच कर विष्णुग्रन्थि और आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) में प्रवेश कर रूद्रग्रन्थि का भेदन करती है । इस प्रकार ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचकर शिव में मिल जाती है । बाह्य (तन की) शुद्धि के साथ-ही-साथ आन्तरिक शुद्धि (मन शरीर की प्राणवाहिनीनाड़ियों की शुद्धि) आवश्यक है, ऐसा होने पर ही परमात्म दर्शन होता है । मत्स्येन्द्रनाथजी के शिष्य (पुत्र) गोरखनाथ ने इस तरह स्वरूपबोध, परमात्मा का अन्तर्दर्शन प्राप्त किया ।

(38)

पंडित जण जण बाद न होई, अणबोल्या अवधू सोई ।।टेक।।
पत्रे ब्रह्मा कली बिसना, फल मध्ये रूद्रमदेवा ।
तीनि देव का छेद किया, तुम्हें करहु कौन की सेवा ।। 1 ।।
येक डंडी दुडंडी त्रियडंडी भगवान हूवा ।
विष्न को तिन पार न पायौ, तीरथां भ्रमि भ्रमि मूवां ।। 2 ।।
येक काल मुहां जटाधारी, ल्यंग उपासिका हूवा ।
महादेव को तिन पार न पायो, राष रौलि रौलि मूवां ।। 3 ।।
चारि महधर बारह चेला, येकंकारी हूवा ।
कायम को तिन पार न पायो, जोति बालि बालि मूवां ।। 4 ।।
चौदसियांने पूनमिया, जैन ब्रतधारी हूवा ।
अरहंत को तिन पार न पायो केस लोंचि लोंचिमूवां ।। 5 ।।

येक मुलांनमदोइ कुरांनम, ग्यारह षुरसांणी हूवा ।
अलह को तिन पार न पायौ, बंग देइ देइ मूवां ।। 6 ।।
नौ नाथ नै चौरासी सिधा, आसणधारी हूवा ।
जोग को तिन पार न पाया, बनषंडा भ्रमे भ्रमे मूवां ।। 7 ।।
पंच तत्त की काया बिनसी राषि न सक्या कोई ।
कालदेवन जब ग्यान प्रकास्या, बदंत गोरष सोई ।। 8 ।।

हे पंडितो, ज्ञानियो, अलख-निरंजन, परमेश्वर अप्रतर्क्य है । अवधूत योगी, योगसिद्ध पुरूष उसका अनुभव करता है और अपनी अनुभूति से दूसरे लोगों को परमात्मा की अपरोक्षानुभूति से कृतार्थ करता हैं, वह वाद-विवाद से ब्रह्म की सिद्धि नहीं करता है । पत्र, पुष्प, फल में ब्रह्मा, विष्णु, महादेव व्याप्त हैं, उन्हें तोड़कर, परमदेव को समर्पित कर उसकी उपासना अथवा पूजा (सेवा) में विघ्न और विच्छेद उपस्थित करना मात्र है, इससे परमतत्व का साक्षात्कार नहीं होता है, इस बाह्य पूजोपकरण से उनकी अनुभूति नहीं होती है, यह शरीर ही पत्र है, मन ही पुष्प है, हृदय ही फल है, तन-मन और हृदय के समर्पण में ही परमात्मा की पूजा सिद्ध होती है । यद्यपि तीर्थो में भ्रमण कर तन-मन की शुद्धि की जाती है और सत्संग के द्वारा सत्स्वरूप के बोध में सहायता मिलती है, पर इस बाह्याचार में अटके रहने से सर्वव्यापक विष्णु का साक्षात्कार नहीं होता है । दण्ड धारण कर यतिवेष में भ्रमण करने वाले एकदण्डी (हंस) तथा दो दण्ड और त्रिदण्ड धारण करने वाले त्रिदण्डी संन्यासी का संन्यासग्रहण तभी सार्थक होता है, जब अपने भीतर व्याप्त परमेश्वर की निरन्तर अनुभूति होती है । वास्तव में दण्डी तो वह है, जो अहंकार का नाश करता है और कामना का खण्डन करता है । इन्द्रियों की विजय कर परमतत्व का साक्षात्कार करता है । कालमुख जटाधारी, लिंगोपासक शैव योगी शरीर पर राख पोत-पोत कर मर गए किन्तु वे महादेव (परमशिव) का अनुभव नहीं कर सके, क्योंकि उन्होंने भी बाह्य वेष आदि को ही विशेष महत्त्व दिया । अद्वैतब्रह्मनिष्ठ (एकंकारी), ऊँकार ब्रह्म के उपासक योगस्थ सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन तथा उनके बारह शिष्य (अनेक शिष्य, नारद, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़भरत, वसिष्ठ आदि) भी आत्मज्योति प्रज्ज्वलित करके (ज्ञानज्योति, के द्वारा) भी परब्रह्म (कायम-मूलस्वरूप) का रहस्य नहीं प्राप्त कर सके । इसी तरह

साधनमय जीवन में अर्हन्त पद (कैवल्य) की प्राप्ति के लिये तीर्थंकर पद में स्थित होने के लिये चौदह व्रतों को धारण करने वाले (चौदसिया) श्रावक अथवा उपासक और पूर्णव्रत धारण करने वाले (पूनमिया) श्रमण भी कठोर- से-कठोर तपस्या में रत होकर केश लोंच कर, अहिंसाव्रत में स्थित रह कर भी अर्हन्तपद का अनुभव न कर सके । वे तप और बाह्य साधन को ही विशेष महत्व देते रह गये और स्वबोध, कैवल्य, परमतत्व के तादात्म्य में स्थिर न रह सके । इसी तरह इस्लाम में परमेश्वर, परम-महान्, परमज्योति की अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है और पवित्र ग्रंथ कुरान में अपने परमात्मसाक्षात्कार अथवा परमज्योति के रसूल- (ईश्वरीय ज्ञान के सन्देशवाहक) मुहम्मद साहब ने अनुभव वर्णन किया है, पर उनकी आन्तरिक परमात्मानुभूति पर विशेष बल न देकर एक अल्लाह के माननेवाले अनुयायियों में भी दो सम्प्रदाय हो गये और बारह नबियों ने, तत्वज्ञों ने अपनी-अपनी साधना के अनुरूप एकही तत्व की व्याख्या की, इस तरह अल्लाह के (परमात्मा के) तत्व का उन्हें सम्यक् वास्तविक बोध न मिला, वे इस बोध के लिये, परमात्मज्योति के साक्षात्कार के लिये बाँग देते रह गये, पर शब्द में ही उलझने पर आन्तरिक परमात्मानुभव न हो सका । यही दशा नवनाथों और चौरासी सिद्धों की है, वे महायोगज्ञान के प्रकाश में परब्रह्म का (अलख-निरंजन का) साक्षात्कार अथवा अनुभव करने के लिये स्थित हो गये, आसनस्थ हो गये, पर स्वरूप में स्थित न हो पाये और अपने-अपने अनुभव के आधार पर परमात्मज्ञान को शब्दों में व्यक्त किया, स्वरूपानुभव अथवा योग का रहस्य वन-खण्ड में घूम-घूम कर, वैराग्य की धूनी प्रज्ज्वलित कर वे नाथयोगी भी न समझ सके । (जिसने समझा, वह मौन हो गया, स्वरूपस्थ हो गया ।) परमतत्व का अनुभव सिद्धदेह, योगाग्नि में पक्व शरीर की प्राप्ति से होता है और योगी अमरकायत्व का लाभ कर जीवन्मुक्ति अवस्था में काल-दण्ड का खण्डन कर लोक-लोकान्तर में योगबल से विचरण करता है । पाँच तत्व, क्षिति, जल, पावक, समीर, और गगन से निर्मित शरीर देखते-देखते मृत्यु का ग्रास बन जाता है, इसको कोई रख नहीं पाता है, यह नष्ट हो जाता है । गोरखनाथ का वचन है कि काल-देवता के द्वारा ही यह ज्ञान प्रकाशित हो सका है कि शरीर नश्वर है, इसके रहते परमतत्व का अनुभव करना चाहिए, मैं इसी ज्ञान-प्रकाश में शरीर को योगसिद्धि कर परमात्मा के साक्षात्कार पर बल देता हूँ ।

भणंत गोरषनाथ कायागढ़ लेबा,
कायागढ़ लेबा जुगे जुगी जीबा ।।टेक।।
कायागढ़ भीतरि नौ लख षाई,
जंत्र (चक्र) फिरै गढ़ लीयौ न जाई ।। । ।।
ऊंचे-नीचे परबत झिलमिलि षाई,
कोठड़ी का पांणी पूरण गढ़ जाई ।। 2 ।।
इहां नही, उहां नही त्रिकुटी मँझारी,
सहज सुंनि मैं रहनि हमारी ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता,
कायागढ़ जीतिले गोरष अवधूता ।। 4 ।।

शरीर को योगाग्नि में पका कर, सिद्ध देह की प्राप्ति करना योगसाधना की सिद्धि है, इसमें व्याप्त परमात्मा के साक्षात्कार अथवा अलख-निरंजन के दर्शन के लिये, स्वरूपबोध के लिये यह आवश्यक है कि शरीर शक्तिहीन और जीर्ण न हो । शरीर को जरा जीर्णता से सुरक्षित रखना ही कायागढ़ को विजय करना है । योगी साधक के लिये यह विजय अनिवार्य है । गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं, कि योगी को कायागढ़ पर अवश्य विजय प्राप्त करनी चाहिए । अन्यथा प्राणहंस, जीवात्मा के इसमें से बाहर निकर जाने पर इसकी उपयोगिता अथवा सार्थकता नष्ट हो जाती है । इस कायागढ़ को वश में कर लेने पर इसमें दीर्घकाल तक जीवन्मुक्त होकर कालवंचन (कालदण्ड का खण्डन) कर योगी निवास कर अपने स्वरूप में स्थिर रहता है । इस तरह कायागढ़ पर अधिकार कर इसमें निवास करना चाहिए । इस कायागढ़ में नवद्वार की नवलाख (असंख्य) खाइयाँ हैं, जिन्हें योगाभ्यास द्वारा मुद्रित कर गढ़ की सुरक्षा की जाती है, ये नवों रन्ध्र भीतर प्रवेश कर स्थिर हो जाने में जीवात्मारूपी योगी को बाधा पहुँचाते हैं, उसके काम में विघ्न डालते हैं, प्राणायाम की शक्ति से इन रन्ध्रों को बन्द कर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने से ही स्थिति सुदृढ़ होती है । इसमें जगह-जगह पर यंत्र हैं, चक्र हैं, उन चक्रों का भेदन कर इसमें प्रगति की जाती है । इस दुर्ग में ऊँचे-नीचे अनेक पर्वत हैं, इस गढ़ के ऊपर सहस्रार में स्थित योनि नामक

त्रिकोण चक्र है. यह चंद्रमा का स्थान है. यहाँ से अमृतद्रव (जल) निरन्तर झरता रहता है और पूरे गढ़ का उसके द्वारा पोषण होता है. गढ़ में जीवन ठप्प नहीं होने पाता है । आज्ञाचक्र में त्रिकुटी है. यह भ्रूमध्य में स्थित है. यहाँ मन का लय होता है । अन्य नीचे के पाँच चक्रों में (मूलाधार. स्वाधिष्ठान. मणिपूर. अनाहत. विशुद्ध में) इन्द्रियों का लयस्थान है । इस त्रिकुटी के मध्य में सहज-शून्य ब्रह्मरन्ध्र में मन को उन्मनी समाधि में स्थिर कर मैं (गोरखनाथ योगी) अपने स्वरूप में. अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा में तादात्म्य लाभ कर निरन्तर अमृतपान करते हुए. शरीर को मृत्यु का ग्रास होने से बचा कर (अमरकायत्व प्राप्त कर) इसी ब्रह्मरन्ध्र में निवास करता हूँ और अमृत की कोठरियों पर. जहाँ से सारे शरीर में अमृत की धारा पहुँचती रहती है. मैंने पूरा-पूरा अधिकार कर लिया है । योगेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ अवधूत. योगी ने कायागढ़ पर विजय प्राप्त कर ली है. और इसी तरह योगाग्नि से पक्व सिद्धदेह. योगदेह में रहकर अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर लिया है ।

(40)

बदंत गोरषराई परसि ले केदारं.
पांणी पीवो पूता तृभुवन सारं ।।टेक।।
ऊंचे-ऊंचे परबत विषम के घाट.
तिहां गोरषनाथ कै लिया सबाट ।। । ।।
काली गंगा धौली गंगा झिलमिल दीसै.
काउरू का पांणी पुनिर गिरि पईसै ।। 2 ।।
अरघै जोगेस्वर उरधै केदारं भोला लोक न जानै मोख दुवारं ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता.
काया केदार साधीले गोरष अवधूता ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(केदार ब्रह्मद्वार । पांणी रामरस ।टेक। ऊँचा परबत । रागदोष । ता आगें बाट । यला पिंगुला । झिलमिल पवन । काँवरू काया । पूरण गिरि दसवौ द्वार ।)

हे वत्स (शिष्य) कायसाधन द्वारा शरीर में ही ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर चन्द्रामृत का पान करते हुए अलख-निरंजन परमात्मा का साक्षात्कार कर लेना चाहिए। इस काय-साधन की सिद्धि के लिये, ब्रह्मद्वार, स्वर्गद्वार, केदार का स्पर्श कर लेना चाहिए, ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परम परमेश्वर, शिव (लिंग) स्वरूप का स्पर्श भी साक्षात्कार अथवा दर्शन के साथ-ही-साथ आवश्यक है । त्रिभुवन, स्वर्ग, मृत्युलोक और पाताल में परमामृत-जो अमृतमन्दाकिनी त्रिपथगा का त्रिकुटी में स्थित रसद्रव है, का पान करना चाहिए । गोरखनाथ ने प्रत्यक्ष ज्ञाननेत्र से देख लिया है कि काया में स्थित ऊँचे-ऊँचे (राग-द्वेष आदि) पर्वत हैं बड़ी विकट घाटियाँ हैं, परन्तु उनको पार करने के बाद सपाट मैदान-ही-मैदान हैं, जिनमें वाम भाग में बहने वाली इड़ा नाड़ी (गंगा) और दक्षिण भाग में बहने वाली पिंगला नाड़ी (यमुना) का भ्रूमध्य में सुषुम्ना नाड़ी में संगम हो जाता है । ये तीनों नाड़ियाँ मूलाधार में स्थित मूलकन्द से ही प्रवाहित होती हैं । सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का मूलाधार में सूर्य के द्वारा जो शोषण होता है, उसे धवल गंगा इड़ानाड़ी और काली गंगा (यमुना) पिंगलानाड़ी ऊर्ध्वमुखी करती हुई भ्रूमध्य में सुषुम्ना से मिल जाती हैं, इस तरह कावरू का पानी ऊपर आ जाता है, कावरू कामरूप है। मूलाधार चक्र (ब्रह्मचक्र) में कामरूपपीठ है और यहाँ पावकाकार शक्ति का ध्यान करने से प्राण ऊर्ध्वमुख होता है, कुण्डलिनी जागकर ऊर्ध्वमुखी होती है, इड़ा-पिंगला से प्राणामृत प्रवाहित हो उठता है, यही कावरू-कामरूपपीठ से अमृत (पानी) का ऊपर चढ़ना है और यह अमृतमयी शक्ति सुषुम्नामार्ग से आकाश चक्र में स्थित सहस्रार के ऊर्ध्वभाग में मध्य में सोलहदल कमलवाली कर्णिका में पूर्ण गिरि पीठ पर पहुँच कर परमशिव में अन्तर्लीन होकर जीवात्मारूपी योगी का जीवन अलख-निरंजन परमशिव के प्रकाश से अभिव्यक्त कर देती है । ब्रह्मरन्ध्र ही स्वर्गद्वार केदार है, यही मोक्ष का द्वार है, इसे अबोध लोग, जिन्हें परमात्मतत्व का अनुभव नही है, नहीं जानते हैं । मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ का कथन है कि हमारे शरीर में ही केदारेश्वर-दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्वरूपस्थ है, इस काया में ही इड़ा-पिंगला के सहारे प्राणामृत को सुषुम्ना-मार्ग से प्रवाहित करते हुए दसवें द्वारा केदार में प्रवेश की साधना कर लेनी चाहिए । परमशिव केदार में, ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान है ।

(41)

कासौं झूझौं अवधू राइ, विपष न दीसै कोई ।
जासौं अब झूझौरे आत्मा रामा सोई ।।टेक।।
आपण ही मछ कछ अपण ही जाल,
आपण ही धीवर आपण ही काल ।। । ।।
आपण ही सिंध बाघ आपण ही गाय,
आपण ही मारीला, आपण ही षाय ।। 2 ।।
आपण ही टाटी फड़िका, आपण ही बंध,
आपण ही मृतग आपण ही कंध ।। 3 ।।
न्हाइबे कौं तीरथ न पूजिबे कूं देवा,
भणंत गोरषनाथ अलख अभेवा ।। 4 ।।

गुरू गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे अवधूत राज सम्पूर्ण विश्व में एक ही परमतत्व विद्यमान है । किसे प्रतिपक्षी मानकर युद्ध करूँ । सर्वत्र आत्मा राम रम रहा है । आत्मा ही मछ (मछली), कच्छप (कछुआ), जाल है, वही मछली और कच्छप को पकड़नेवाला मछुवा (धीवर) है । और वही जाल भी है, जिसमें मछ और कछ पकड़े जाते हैं । इस आत्मसत्ता में राग-द्वेष (किसी भी प्रकार के वैर-विरोध और द्वन्द्व) के लिये तिल मात्र भी अवकाश नही है, यही बाघ में है, यही सिंह में है और यही गाय में है । यही मारने-वाला और यही खानेवाला भी है । यही पशु है (जीवात्मा है), यही पाश है (बन्धन है) और यही पशुपति है (शिवस्वरूप है), यह आत्मा ही छप्पर है, बाँस का ठट्टर है और यही फरका (फड़का) भी है, जिससे ठट्टर को (छान के ढाँचे) को छाया जाता है । ठट्टर और फरका (छान) को बाँधनेवाला बन्धन (रस्सी की गाँठ) भी आत्मा है । यह आत्मा जीवात्मा में स्वयं मारने वाला है, शरीररूप में मरनेवाला है अर्थात् आत्मा ही जीवात्मा और शरीर (कन्ध) है । आत्मा (अपना शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप) ही तीर्थ है और आत्मा ही परमपूज्य परमात्मा है, (समस्त तीर्थो में आत्मा है, समस्त स्थापित देव-मन्दिरों में (परमात्मस्वरूप में) इष्ट आत्मा ही प्रतिष्ठित है । वह अलख-निरंजन और एक है, वही एक सर्वत्र है ।

मेरा गुरू तीनि छंद गावै ।
ना जांणौं गुर कहां गैला, मुझ नींदड़ी नआवै ।।टेक।।
कुम्हरा के घरि हांड़ी आछै, अहीरा कै घर सांड़ी ।
बभना कै घरि रांडी आछै, रांडी सांडी हांडी ।। । ।।
राजा कै घरि सेल आछै, जंगल मधें बेल ।। 2 ।।
तेली के घरि तेल आछै तेल बेल सेल ।। 2 ।।
अहीर कै घरि महकी आछैं, देवल मधें ल्यंग ।
हाटी मधे हींग आछैं, हींग ल्यंग स्यंग ।। 3 ।।
एकै सुत्रैं नाना बणियां, बहुँ भांते दिखलावै ।
भणंत गोरषि त्रिगुणीं माया, सतगुरू होइलाषावै ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(त्रिगुणी माया ।टेक।। कुंभार काय कै वसि । हांडी ही माया । अहीर कै महकी माया । ब्राह्मण कै ब्राह्मणी माया । राजा कै सेल माया । वाणियां कैं हींग माया । तेली कै तेल माया । जंगलि बेलि माया । एक ऊँकार नांना प्राण पोया ।।)

मेरे गुरूदेव ने महायोग ज्ञान में स्वस्थ, अलख-निरंजन आदिनाथ शिव के स्वरूप योगीन्द्र (मत्स्येन्द्र) ने मुझे माया के रूप को तीन-तीन उदाहरण देकर (अच्छी तरह) समझाया है और सद्ज्ञान प्रदान किया है । वे कहाँ अदृश्य हो गये, उनके दर्शन के बिना मुझे पलमात्र भी विश्राम नहीं मिलता है, नींद ही नही आती है । यह माया कुम्हार के घर मिट्टी से ही आकारित बर्तन-हाँड़ी के रूप में विद्यमान है, पृथ्वीतत्व है पर आकारित होने के नाते उसकी सत्ता भिन्न प्रतीत होती है, सत्ता की भिन्न प्रतीति ही माया है । अहीर के घर में दूध की साढ़ी (मलाई) के रूप में मायां विद्यमान है, यद्यपि साढ़ी दूध की आकृति है, उससे भिन्न नहीं है, पर साढ़ीरूप में आकारित दूध की भिन्न सत्ता की प्रतीति ही माया है, इस तरह साढ़ीरूपिणी माया सत्स्वरूप दूध का ज्ञान नहीं देती है । यही माया ज्ञानी के घर में स्त्री के रूप में विद्यमान है । ज्ञानी (ब्राह्मण, ब्रह्म का चिन्तन करने वाले) के लिये यह स्त्री

मायारूपिणी हो जाती है । इस तरह हाँड़ी, साढ़ी और स्त्री (रांड़ी) में एक ही आत्मा व्याप्त है, पर भिन्न-भिन्न आकृति में उनमें भिन्न होने की प्रतीति होती है । माया राजा के घर में बरछे अथवा बांण (सेल-शल्य अथवा शर) के रूप में विद्यमान है । उसे वह अपनी शक्ति समझता है । जंगल में (वृक्षों से लिपटी) लता-वेलि है, इसका मूल उसी में है, जिसमें उसके आश्रय वृक्ष का मूल है, संसाररूपी जंगल में यह मायारूपिणी लता-वेलि अपने ही मूल के वृक्ष से भिन्न दीखती है । लता-वेलि की भिन्न आकृति की यह प्रतीति ही माया है । तेली के घर में तेल है, यह तेल तिल का ही रूप है, इस तेल की तिल से अलग सत्ता ही नहीं है, तेल अलग हो जाने पर उसकी भिन्न आकृति अथवा सत्ता की प्रतीति ही माया है, (सेल, बेल, तेल) लोहे से बने बरछे या बांण, जंगल की वेलि और तिल के तेल में एकही सत्ता अभिभूत है, व्याप्त है । अहीर के घर में भैस है, भैंस दूध देती है, देवालय में मूर्ति (लिंग) स्थापित है, उसमें परमात्मा की व्याप्ति है, हाट, बाजार में हींग है, उसमें से सुगन्ध निकलती है, भैंस, मूर्ति, और हींग से दूध, परमात्मसत्ता (दिव्यता) और सुगन्ध में एक ही आत्मसत्ता (परमात्मा) की परिव्याप्ति है । (स्यंग का आशय है सींगवाली भैंस-श्रृंगी) इसी प्रकार एक ही सूत्र से नाना रूप बने हैं । बहुविध आकृतियों में सूत्र एक ही है । गोरखनाथ का कथन है कि सद्गुरू ही कृपापूर्वक त्रिगुणी माया के अन्धकार से ग्रस्त जीवात्मा को अपनी मूल सत्ता (परमात्मा) का बोध देते हैं ।

(43)

गुरुजी ऐसा करम न कीजै, ताथैं अमी महारस छीजै ।।टेक।।
दिवसै बांधणि मन मोहै राति सरोवर सोषै ।
जाणि बूझि रे मूरिष लोया धरि-धरि बाघणि पोषै ।
नदी तीरै बिरषा नारी संगै पुरषा अलप जीवन की आसा ।
मन थैं उपज मेर षिसि पड़ई ताथैं कंध बिनासा ।। 1 ।।
गोड़ भए डगमग पेट भया ढीला, सिर बगुलां की पंषियां ।
अमी महारस बांधणी सोष्या घोर मथन जैसी अषियां ।। 2 ।।
बाधनी कौ निदिलै बाधनीं कौ बिंदिलै बाधनी हमारी काया ।।
बाधनी घोषै सुरनर षाये भणंत गोरष राया ।। 3 ।।

घोषि

हे गुरूदेव ! स्त्री के सहवास में योगी को नहीं रहना चाहिए, उसकी कामोपभोगपरायणता में प्रवृत्ति होने पर शरीर में विद्यमान जीवनरस, प्राणामृत (वीर्य) क्षीण हो जाता है और भोगी का शरीर मृत्यु का ग्रास बन जाता है। हे गुरूदेव ! स्त्री (कामिनी) रात-दिन योग की साधना में विघ्न डालती है, इसके सहवास में तो जीवन का नाश-ही-नाश है। वह दिन में अपने हावभाव, कामुक प्रवृत्ति और साज-श्रृंगारयुक्त सुन्दर शरीर के प्रति योगी के मन में आकर्षण पैदा करती हैं, अपनी मोहिनी माया में मुग्ध करती है और रात में, जब योगी साधना में प्रवेश करना चाहता है, अपने आलिंगन, परिरम्भण से सद्‌विवेक का अपहरण कर लेती है, वह इस तरह वीर्यरूपी अमृत के सरोवर को सोख लेती है, यह स्त्री वाघिन है। लोग जानते हुए मूर्खता वश घर-घर में इसका पोषण करते हैं। जिस तरह नदी के किनारे का वृक्ष कभी भी गिर सकता है, उसके बने रहने की प्रायः सम्भावना नहीं रहती है, ठीक उसी तरह जो पुरूष स्त्री में कामासक्त होता है, उसका शरीर अब ढहे, तब ढहे, किसी भी शरीर का प्राणरहित होना सम्भव हो जाता है। सहस्रार में योनिनामक त्रिकोणचक्र ही चन्द्रमा का स्थान है, वहाँ से शरीर का पोषण करने के लिये अमृतद्रव निरन्तर प्रवाहित होता है, वीर्य हमारे मन में उत्पन्न कामदेव का आस्वाद्य है, ज्यों ही हमारे मन में काम-विकार उत्पन्न होता है, त्यों ही वीर्य अधोमुखी होकर स्खलित हो जाता है, उसका ऊर्ध्वगमन रूक जाने पर शरीर में उसकी जीवन-पोषकतत्व के रूप में महत्ता समाप्त हो जाती है और मेरूशिखर (सुषुम्ना के उर्ध्वमुख ब्रह्मरन्ध्र) से अमृत का स्राव रूक जाता है, शरीर ढीला हो जाता है, नष्ट हो जाता है, पैर डगमगाने लगते हैं, शक्ति में निर्बलता आती है और बुढ़ापा आ जाता है। उसके केश सफेद हो जाते हैं मानो बगुला के सफेद पंख हों। मन को मथने वाली अपने कटाक्षबाण से पुरूष को बिद्ध करनेवाली आँखों से युक्त बाघिन (स्त्री) इस तरह अमृत के सरोवर को सोखकर उसे निष्क्रिय और निर्बल बना देती है। इस बाघिन को दलित कर देना चाहिए, इसके रूपजाल में न पड़ने से यह शक्तिहीन हो जाती है। इस तरह इसे बाँध रखना चाहिए अथवा अपने साधन-अंकुश अथवा संयम से इसे बिद्ध करना चाहिए, जिससे यह शरीर का नाश न कर सके। इस बाघिन से सुर-नर, कोई भी नहीं बच सका, इसने

सबाका आवाहन कर सभी को नष्ट कर दिया । वह इस काया को नष्ट कर देती है । गोरखनाथ का वचन है कि इस कुरमणी से सदा दूर रहना चाहिए ।

(44)

भोगिया सूते अजहूँ न जागे । भोग नहीं रे रोग अभागे ।।टेक।।
भोगिया कहै भल भोग हमारा । मनसइनारि किया तन छारा ।। 1 ।।
एक बूंद नरनारी रीधा । ताही मैं सिधसाधिक सीधा ।। 2 ।।
भोगिया सोइ जो भगर्थे न्यारा । राजस-तामस झरै न पारा ।। 3 ।।
भणंत गोरषनाथ सुणो नर लोई । कथणी बदणी जोग न होई ।। 4 ।।

(गोरखनाथजी का कथन है कि यह बड़े ही आश्चर्य की बात है कि भोगियों की अभी मोहमयी निद्रा का अन्त न हो सका । वे अब भी संसार में ठोकरें खाकर भी होश में नहीं आ सके । वे ऐसे भोगियों को सम्बोधित करते हैं कि हे अभागे ! सद्वस्तु परमात्मा से विमुख भोगी, जिसे तुमने आनन्द माना है, वह आनन्द नहीं है, वह दुःख से भरा सुखरूपी रोग है । हे भोगियो ! जागो, योग में तत्पर होकर सच्चिदानन्दस्वरूप की प्राप्ति करो । तुम भोगी न बने रहो, क्योंकि भोगी तो यह कहता है कि हमारा भोग ही, असत् में सुख का क्षणभंगुर संयोग ही अच्छा है, भला है । इस तरह इन भोगियों ने रमणी के भोगास्वाद की इच्छा करके अपने वीर्य को अधोगामी और स्खलित कर शरीर को (चिन्ता की अग्नि में) जला कर भस्म कर डाला है, नष्ट कर दिया है । वीर्य के एक बूँद के स्खलन से प्राप्त भोगसुख में स्त्री-पुरूष आसक्त होकर जीवन नष्ट करते रहते हैं और इस बिन्दु को प्राणायाम तथा मुद्राबन्ध आदि की साधना के द्वारा ऊर्ध्वगामी कर शरीर में जीर्ण कर लेने (पचा लेने) से तथा उसे सहस्रार के मूल अमृतस्रोत में प्रतिष्ठित कर देने से असंख्य सिद्धों और योगसाधकों ने योगसाधना में सिद्धि प्राप्त की तथा अलख-निरंजन का दर्शन किया, स्वरूपानुभव में वे स्वस्थ हो गये । वास्तव में आनन्द का भोगी, वास्तविक योगी तो वह है, जो तमोगुणी अज्ञान से विमुग्ध होकर रजोगुणी काम-प्रवृत्ति से दूर रहता है और कामोपभोग की तृप्ति में

वीर्य (पारा) को क्षरित नही होने देता है, गोरखनाथ का कथन है कि हे भाइयों । मनुष्यो । ज्ञान के कथन और श्रवण मात्र से योग की सिद्धि नही होती है, यह तो साधना और अनुभव का विषय है तथा शरीर में व्याप्त वीर्यरस को सुरक्षित रखने से ही योगसिद्धि सुलभ होती है ।

(45)

मारौ मारौ स्रपनीं निरमल जल पैठी,
त्रिभुवन डसती गोरषनाथ दीठी ।।टेक।।
मारौ स्रपणी जगाईल्यो भौंरा,
जिनि मारी स्रपणी ताकौ कहा करै जौरा ।। । ।।
स्रपणी कहै मैं अबला बलिया,
ब्रह्मा बिष्न महादेव छलिया ।। 2 ।।
माती माती स्रपनी दसौं दिसि धावै,
गोरषनाथ गारड़ी पवन बेंगि ल्यावै ।। 3 ।।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता,
स्रपणी मारिलै गोरष अवधूता ।। 4 ।।

असत् में सत् की प्रतीति ही अविद्या है, यही माया है, यह माया-सर्पिणी के समान है । इसके विषाक्त दर्शन से प्रायः सभी लोग मूर्छित और अचेत हैं, इसने त्रिभुवन को डस लिया है । (गोरखनाथ का कथन है कि) मैंने इसे तीनों लोकों को डँसते देखा है । इस सार्पिणी से, विषैली माया के दर्शन से बचने का उपाय है, निर्मल जल में प्रवेश करना, सहस्रार में स्थित योनि नामक त्रिकोण चक्र से प्रवाहित चन्द्रामृत का पान करते रहने से ही माया सर्पिणी नही डँसेगी, इस सर्पिणी को मार डालना चाहिए और भ्रमरगुफा, ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान परमशिव का, शाश्वत सच्चिदानन्दघन अलख-निरंजन परमेश्वर का बोध प्राप्त कर लेना चाहिए । जिसने ब्रह्ममंत्र को सिद्धकर सर्पिणी को मार डाला है, वह मृत्यु का ग्रास नही बन सकता । उसके अमृतमय शरीर को यमराज (जौरा) नष्ट नही कर सकता है । इस मायारूपी सर्पिणी का वचन है कि मैं कहने मात्र के लिये अबला हूँ, माया हूँ, मैं अत्यन्त प्रबल हूँ और त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश, सभी को मैंने काटा है

और वे मेरे विष से अचेत हैं, वे मेरे चक्र में भ्रमित हैं । यह सर्पिणी चारों और मदोन्मत्त होकर घूमती रहती है, गारूड़ी पवन (मन, इन्द्रियों को वश में करने वाले आसन, मुद्राबन्ध, प्राणायाम और नादसन्धान) ही इस सर्पिणी को निर्विष कर देता है, नष्ट कर देता है, वह जीवात्मा को काटने में असमर्थ हो जाती है, मैं (गोरखनाथ) ने इसे निर्विष कर दिया हैं, गारूड़ी पवन, योगसाधना की सिद्धि कर इसकी शक्ति नष्ट कर दी है । आदिनाथ के पौत्र और मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र (शिष्य) गोरखनाथ ने इस मायारूपी सर्पिणी को मार डाला है । इस अविद्या का अन्त कर दो, माया को मार डालो ।

(46)

थान दे गोरीए गोरष बाला माई बिन प्याले प्याला ।
गिनांन ची डालहीला पालंषू गोरष बाला पौढ़िला ।।टेक।।
देव लोकची देव कंन्या, मृत लोकची नारी ।
पाताल लोकची नागकन्या, गोरष बाला भारी ।। । ।।
माया मारिली मावसी तजीली, तजीला कुटंव बन्धु ।
सहंसर कवल तहाँ गोरष बाला, जहाँ मन मनसा सुर संधू ।। 2 ।।
आसा तजीला, तजीला मनसा माई । तृसना तजीला
नौ षंड पृथ्वी फेरि ने आलौं गोरष रहीला मछिंद्र ठांई ।। 3 ।।

हे कामिनियों ! यति गोरखनाथ तुम्हारे शरीर के नश्वर सौन्दर्य-भोग में कभी भी आसक्त नहीं हो सकता । मैंने उन्मनी समाधि में स्थित होकर योगाग्नि में पक्व सहस्रार से द्रवित अमृतवारूणी से भरा प्याला पी लिया है, हे कामिनी ! मेरा रास्ता मत रोको, मुझे योगमार्ग में बढ़ने दो, मेरे लिए जगह छोड़ों, मेरा रास्ता रोकने से, मेरी साधना में विघ्न डालने से तुम्हें कुछ न मिलेगा, क्योंकि मेरा ज्ञाननेत्र उन्मीलित है, मुझे मायिक सौन्दर्यजाल में विमुग्ध नही किया जा सकता है ! मैंने ज्ञान की पालकी में अपने लिये स्थान बना लिया है, मैं उस पालकी में आरूढ़ हूँ । देवलोक की नित्य तरूणी, दिव्य कन्याएँ, मृत्युलोक की रमणियों और पाताल की नागकन्याओं के वश की बात नहीं हैं कि वे मुझे अपने सौन्दर्य से विमुग्ध कर परमशिव के साक्षात्कार, स्वरूप और शून्यस्थ सहज कैवल्य से विमुख कर सकें । मैंने माया को

शक्तिहीन कर दिया है, वह मेरे लिये बन्धनकारिणी नहीं हो सकती है । मैंने, कुटुम्ब, भाई, बन्धु, गृहस्थ-जीवन, सभी का त्याग कर दिया है । मेरा निवास-स्थान सहस्रदल कमल-सहस्रार है, मैंने दसवें दरवाजे से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर शाश्वत पद, कैवल्य में अपना निवास स्थान बना लिया है, मेरा मन उन्मन हो गया है, चित्तवृत्ति (मनसा) - इच्छा उन्मनी समाधि में तल्लीन है और प्राण सुषुम्ना के ब्रह्ममार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में समा गया है, इस तरह मन, इच्छा और प्राण, तीनों का सहस्रार में संगम हो गया है, मैं जीवन्मुक्त और अमरकाय होकर अलख-निरंजन परमेश्वर के स्वरूप में स्वस्थ हूँ । आशा, तृष्णा और कामना में आसक्ति ही बन्धनकारिणी होती है, मैंने तीनों का त्याग कर दिया है । मैंने नवखण्डोंवाली समग्र पृथ्वी का भ्रमण कर लिया है, मुझे कहीं भी सत्स्वरूप-सच्चिदानन्द परब्रह्म की वास्तविक अनुभूति नही हो सकी । मैंने उसकी प्राप्ति महायोगज्ञानके मर्मज्ञ योगीन्द्र गुरूदेव मत्स्येन्द्रनाथ के चरणकमलों में की और गुरूपद में सदा के लिये मैंने आत्मसमर्पण कर परमात्मस्वरूप की सहज अनुभूति कर ली । मुझे जागतिक नश्वर मायामोह का भय नहीं है, मैं अभयपद में स्थित हूँ ।

(47)

नाथ बोलै अमृत बांणीं, बरिषैगी कंबली भीजैगा पांणीं ।।टेक।।
गाड़ि पडरबा बांधिलै षूंटा, चल दमांमां बाजिले ऊँटा ।। । ।।
कउवा की डाली पीपल बासै मूसा के सबद बिलइया नासै ।। 2 ।।
चले बटावा थाकी बाट, सावै डुकरिया ठौरै षाट ।। 3 ।।
ढूकिले कूकर भूकिले चोर, काढै घणी पुकारै ढोर ।। 4 ।।
मगरी परि चूल्हा घूंधाइ, पीवणहारा कौं रोटी खाइ ।। 6 ।।
कामिनि जलै अंगीठी तापैं, बिचि बैसंदर थरथर कांपै ।। 7 ।।
एक जु रढिया रढ़ती आई, बहू बियाई सासू जाई ।। 8 ।।
नगरी कौं पांणी कूइ आवै, उलटी चरचा गोरष गावै ।। 9 ।।

प्राचीन टीका

(कांमलि काया । पाणी प्राण ।टेक। पडरवा परकीरति । षूंटा मन । दमांगा दम, ऊंट काया । कऊवा काल, डारी बसु भली । पीपल पारब्रह्म ।

मूंसामंन । बिलाई कुबुधि । बटाऊँ प्राण । चलै ब्रह्मपंथ । चौरासी बाट थाकी डोकरी आत्मां । षाट षट । कूकर मन । चोर संसार । धणी ईस्वर काढ़े । ढोर संसार । ऊजड़ गुण नही । बली ब्रह्म, गागरि गुण । पणिहारी आत्मां । कामनि कामना, अंगीठी आत्मां । बैसंदर विकार । मगरी माया । चूल्हौ चित । रोटी रटणि । पौवे कुमति रंडीया आत्मां । बहु बुधि । सासू सुरति । नगरी काया । प्राणी प्राण । कूई कंवल ।।)

गोरखनाथ की यह अमृतवाणी है कि अविद्यास्वरूपिणी माया से प्रेरित जो शारीरिक और मानसिक कर्म योगी को अमृतवर्षा में भीगने से बचाते रहते हैं, वे सद्ज्ञान से शुद्ध और निर्मल हो गये हैं और अमृतजल में निर्मित अस्तित्व के ऊपर बरस रहे हैं, यही कंबली का बरसना है और जल का, (जिसका स्वभाव बरसना है) भींगना है । शरीर ही कंबली है, प्राण ही पानी है, शरीर प्राण से जीवित रहता है, पर उलटी बात यह है कि प्राण का स्थैर्य्य शरीर के अधीन है । शरीर में बिन्दु (वीर्य) को ऊर्ध्वमुख कर योगाग्नि में उसे पकाया जाता है और जल-बिन्दु, सहस्रार में द्रवित अमृत का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, सिद्धदेह की प्राप्ति होती है और प्राणामृत भीगता है । खूँटा बाँधने में उपयुक्त होता है और पड़रवा, गाय का बछवा या भैस का पड़रवा बाँधा जाता है, गोरखनाथ जी मायारूपी गाय या भैंस के बछवे और पड़रवे को अविवेक कहते हैं, जो बाँधा जाता है और माया उसे बाँधती है, पर माया को ही खूँटा बना कर उसमें अविवेक को बाँध देना ही उचित योगसाधना है । व्यवहार में तो यह देखा जाता है कि ऊँट की पीठ पर दमामा रखकर बजाया जाता है, साधना में यह दम-अनाहतनाद निरन्तर प्रवाहित है और ऊँट (काया अथवा मन) पर तड़ातड़ मार पड़ रही है, शब्द निनादित हैं । ऐसे तो शरीर पर मृत्यु का अधिकार रहता है, काया नश्वर होती है, पर वास्तविक बात तो यह है कि शरीररूपी पीपल कौवारूपी काल पर विराजमान है, मृत्यु पर अमृतत्व अथवा सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म का अमृतत्व विराजमान है । संसार में चूहे को बिलार खाती है, पर योगसाधना में योगी का मन ही, जो पहले मूस के समान आबद्ध रहता है, बिलाररूपी कुबुद्धि पर हावी है, यह विचित्र बात है कि रास्ता थकता है और ज्ञानमार्ग का बटोही राहगीर चलता रहता है । जीवात्मा ज्ञानमार्ग पर चलकर जब मोक्ष प्राप्त कर लेता है तो ज्ञानमार्ग थक जात

है । चलना बन्द हो जाता है । इसका आशय यह भी है कि प्राणरूप जीवात्मा सदा सनातन काल से ब्रह्म की प्राप्ति में संलग्न है । प्राण का यही चलते रहना है और ब्रह्मपथ-ब्रह्म प्राप्ति भले ही कैवल्य में आकारित हो जाय पर जीवात्मा को सत्स्वरूप में निरन्तर गाते करना रहता है । जो जीवात्मा माया के अधीन रहता है, वह अब माया को वश में कर लेता है, जीवात्मा को खाट बना कर माया (डुकरिया) पहले विश्राम करती है, पर अब वह खाट ही माया को वश में करके निश्चित और स्वस्थ हो जाता है । यह विचित्र बात है कि कुत्ता तो छिपता है, और चोर भूँकता है कुत्ता मन है, वह आत्मज्ञान को चोर की तरह पहले भगाता है, पर अब मन निर्बल है, छिप गया है और आत्मज्ञान, जो उसके लिये चोर बना रहा है, भौतिकता और माया को भगाता है । ईश्वर ही धनी है, स्वामी है । वह जीवात्मा के उद्धार में प्रवृत्त है और संसार (ढोर) अस्तित्वहीन हो चला है । इस कायानगरी की स्थिति विचित्र दीखती है । इसमें मगरी, (राजस्थानी भाषा में जंगल की लकड़ी) जल नहीं रही है, चूल्हा (जिसके संसर्ग में जीव जलता था,) स्वयं जल रहा है । इन्द्रियों का विभव समाप्त हो गया है, उन्हें विषयों का खाद्य नहीं मिल रहा है, यह कायानगर गुणहीन है, उसका पूर्वरूप समाप्त है । सामान्य बात तो यह है कि कुँआ नीचें होता है, गगरी कुँए के ऊपर होती है, पर इस कायानगर में मूलाधार, पृथ्वी पर, नीचे गगरी है, कुण्डलिनी महाशक्ति है और ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म परमामृतरूप परमात्मा है, उसमें जीवात्मारूपी (पनिहारिन) स्वस्थ है । कामिनी, कामना, जो जलाती रहती है, स्वयं जल रही है, आत्मा उसके जलने को प्रत्यक्ष देख रहा है । अग्नि का कार्य जलाना है, पर इस कायानगर में विकाररूपी अग्नि (बैसंदर) थर-थर काँप रही है, विषय-विकार भी नष्ट हो चले हैं । रोटी पोने वाली को रोटी खा जाती है, इसका आशय यह है कि माया से ही अनेक मायिक भेद उत्पन्न हैं और वे ही मायिक भेद माया को खा जाते हैं, जीव ही रोटी है, यह जीवात्मा सद्विवेक के प्रकाश में माया को मार कर, खाकर अपने शुद्ध स्वरूप ब्रह्म में स्वस्थ हो जाता है । कुमति आत्मा को विकृति नहीं कर सकती है, बुद्धिरूपी बहू से ज्ञान प्रगट हो गया है और यह सुरतिरूपी सासु की संतति है । इस कायागनर में स्थित जल कुँए में (ब्रह्मरन्ध्र में) आता है । सामान्य बात तो यह है कि कुँए से सारे नगर में जल पहुँचता है और पिपासुओं की तृप्ति

होती है । इस कायानगर की बात विपरीत है, कुण्डलिनीरूपी नगरी को जीवात्मारूपी पनिहारिन अपने कन्धे पर रखकर कुँए में, ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, शरीर का जल (वीर्य) योगाग्नि में सिद्ध होकर सहस्रार में ऊर्ध्वगमन कर अमृतस्वरूप होकर जीवात्मा को परमामृत, परमात्मा में स्वरूपस्थ करता है। यह संसार की बुद्धि से विपरीत चर्चा गोरखनाथ करते हैं ।

(48)

भग राकसिलो, भग राकसिलो, बिण, दंतां जग षाया लो ।
ग्यांनी हुता सु ग्यांनमुषरहिया, जीवलोक आपै आप गंवायालो ।।टेक।।
दिन-दिन बाघिनी सीयां लागी, राति सरीरै सोषै ।
बिषै लुबधी तत न बूझै, धरि लै बाघिनी पोषै ।। १ ।।
भणंत गोरषनाथ द्वै कर जोड़ी, भिडैं आगै चावड़ तोड़ी ।
चामै चांम घसंता लोई, दिन दिन छीजै काया ।
आपा परचै गुरमुषिन चिन्हैं, फाड़ि फाड़ि बांघणी षाया ।। २ ।।
बाघनी उपाया बाघनी निपाया बाघनी पाली काया ।
बाघनी डाकरै जीरियों पाषरै, अनुभुइ गोरष राया ।। ३ ।।

गुरू गोरक्षनाथ का कहना है कि स्त्री की योनि (भग), राक्षसी है, जिस तरह राक्षसी रात में अपना प्रभाव अधिक बढ़ा लेती हैं और वह निशाचरी कही जाती है, ठीक उसी तरह पुरूष रात में ही भोगास्वाद के लिये स्त्री के आलिंगन में आबद्ध होकर जीवन का रस-बिन्दु (वीर्य) क्षरित कर देता है और जीवन से हाथ धो बैठता है । यह भग (वाली स्त्री) बिना दाँत के ही जगत् के प्राणियों को खा लेती है । जिस मनुष्य में ज्ञान होता है, जो आत्मा और शरीर का भेद समझ कर परमात्मा की प्राप्ति के लिये प्रवृत्त रहता है और आत्म-विवेक से काम लेता है, वह इस राक्षसी से बच जाता है, पर अन्य लोग तो मूढ़तावश मायिक और नश्वर रमणी के रूप से मुग्ध होकर भग के शिकार बन जाते हैं । वह बाघिन (स्त्री) दिन में सोती है, अधिकाधिक निष्क्रिय ही रहती है, पर रात में मनुष्य में कामतृप्ति की प्रबल इच्छा जागने पर यह भी जागती रहती है, सक्रिय रहती है और शरीर का शोषण कर लेती है । विषयासक्त मनुष्य बाघिन को (स्त्री को) स्वयं पालता-पोषता रहता है ।

गोरखनाथ का कथन है कि इस बाघिन के दाँत तोड़ देने चाहिए, उसका जबड़ा (चाबड़, जाबड़, जबड़ा), तोड़ देना चाहिए । इस तरह यह बाघिन निष्क्रिय हो जायेगी, इसका आशय यह है कि उसके नश्वर शरीर के रूप के कामोन्माद को नष्ट कर देना चाहिए । स्त्री के आलिंगन में बँधे संभोगपरायणपुरूष की काया दिन-प्रति-दिन क्षीण होती जाती है । उन्हें गुरूमुख से आत्मज्ञान का परिचय नहीं प्राप्त है, सत्स्वरूप में प्रवृत्ति और स्थिर न होने के नाते ही उन्हें बाघिन (माया) फाड़-फाड़ कर, बिदीर्ण कर खा जाती है । मनुष्य की उत्पत्ति इस बाघिन (स्त्री) से ही होती है, वह शैंशवकाल से उसके शरीर को पालते-पोषते हुए बड़ा करती है, वही बाघिन स्त्री उसके लिये कालरूप बन जाती है, यह कामोन्मादिनी तरूणी रमणी बाघिन की तरह यमराज की बगल में ही दहाड़ती रहती है और पुरूष को निर्बल तथा क्षीणकाय बना देती है । गोरखनाथ का यह अनुभव है कि स्त्री के साथ कभी नहीं रहना चाहिए, उससे सावधान रहकर योगमार्ग में आरूढ़ रह कर अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर की प्राप्ति करनी चाहिए, माया का त्याग कर देना चाहिए ।

(49)

रूपे-रूपे कुरूपे गुरदेव, बाघनीं भोले-भोले,
जिन जननीं संसार दिषाया, ताकौं ले सूते षोले ।।टेक।।
गुरू षोजौ गुरदेव गुरू षोजौ, बदंत गोरष ऐसा,
मुषते होइ तुम्हें बंधन पड़िया, ये जोग है कैसा ।। । ।।
चांम ही चांम धसंता गुरदेव दिन-दिन छीजै काया,
होठ कंठ तालुका सोषी काढ़ि मिजालू षाया ।। 2 ।।
दीपक-जोति पतंग गुरदेव, ऐसी भग की छाया,
बूढ़े होइ तुम्हें राज कमाया, नां तजी मोह माया ।। 3 ।।
बदंत गोरषनाथ सुनहु मछंदर तुम्हें ईस्वर के पूता,
ब्रह्म झरंता जे नर राषै, सो बोली अवधूता ।। 4 ।।

हे गुरूदेव ! यह स्त्री, रमणी देखने में तों बाहर से बड़ी सीधी-सादी और भोली होती है, चाहे वह रूपमती हो, चाहे कुरूपा हो, पर यह मायाविनी बाघिन है, जो देखते-ही-देखते मनुष्य के शरीर को खा जाती है, निर्बल, निस्तेज और वीर्यरहित कर देती है, सारे शरीर का रस सोख लेती है । यह

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह जन्म देनेवाली और पालन-पोषण करने वाली माँ है, और इसी मां को तरूण होने पर मनुष्य सम्भोग के साधन के रूप में आलिंगन में आबद्ध कर, गोद में चिपका कर कामवासना की तृप्ति करता है। हे गुरूदेव ! इसके सहवास में, संभोग में प्रवृत्त होने पर शरीर से प्राणामृतरस, वीर्य बाहर निकल जाता है और शरीर निर्बल और क्षीण हो जाता है, ओंठ, कण्ठ और तालु, सबके-सब रसरहित हो जाते हैं, सूख जाते हैं और बाघिन स्त्री, कामिनी शरीर के मज्जा, मेद (मिजाल) तक को खा जाती है, नष्ट कर देती है। हे गुरूदेव ! आप तो मुक्त हैं, आप पर माया का वश ही नहीं चल सकता। मुक्त होकर भी आप स्त्री के रमणराज्य में नश्वर सौन्दर्य-भोग और उसकी कामवासना की तृप्ति के लिये, उसके आलिंगन में बँध गये, यह तो बंधन है, यह भोग नहीं है। जिस तरह दीपशिखा से आकृष्ट होकर पतंगे जल जाते हैं, उसी तरह स्त्री के रूप-सौन्दर्य से मनुष्य आकृष्ट होकर, भोग में आसक्त होकर विनष्ट हो जाता है। आपने सदा मोह, माया और जागतिक ऐश्वर्य के त्याग की ही शिक्षा दी है। आप ज्ञानवृद्ध हैं, आपके लिये यह उचित नहीं है कि आप नश्वर जागतिक वैभव में आत्मस्वरूप का विस्मरण कर महायोगज्ञानसम्पत्ति गवाँ दे। हे गुरूदेव ! आप जानते हैं कि जो पुरूष अधोगामी, कामवृत्ति में क्षरित होने वाले वीर्यरस को ऊर्ध्वगामी कर लेता है, ब्रह्म (वीर्य) की सुरक्षा करता है, वही अवधूत है, सिद्ध है। हे गुरूदेव ! आप स्त्रीरमणसुख का परित्याग कर शिवस्वरूप में स्थित हो जाएँ।

(50)

सखा रे सखा त्रिभुवन ते गखा। पांणी तैं पतला पहुप तैं हलवा।।टेक।।
काया थैं मन जांन न देह। राति दिवस अभिअंतरिं लेह।
मन मुद्रा कै रूप न रेष। जगत रूप मन ही मन देषि।। 1 ।।
उलटैगा पवनां तब काया कौं गहैगा। काच गहे कंचन ह्वै रहेगा।
यहु तन साच साचका धरवा रूध्र पलट अमीरस भरवा।। 2 ।।
अतीत पुरस ग्यांन पद परसै। अविचल होइ सरीरं दरसै।
जुरा मृतु काल का भछिण। निसपति जोगी जोगी का लछिन।। 3 ।।

गरड़ भुवंगम संमि करि सूता । देव द्वार रस मरदौ पूता ।
मर्दत मर्दत ह्वै है पीठी । ते बात गोरष प्रतषि दीठी ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(मन त्रिभवन सारिषौ । टेक । जगत मन कौ पसारौ । मन काया गहै । उलटि फिरि षीर होय । निसपती जोगी काल भषै । गरूड़ मन, भुवंगम । पांन अपांन नान्हौ कीयौ ।)

गोरखनाथ का अमृतोपदेश है कि त्रिभुवन, आकाश पाताल, मृत्युलोक, समस्त ब्रह्माण्ड में सर्वत्र परमात्मतत्व व्याप्त है । यह सच्चिदानन्द अलख-निरंजन तत्व ही सर्वोपरि मूर्धन्यतत्व है । यह महान्-से-महान् गुरूतत्व (गरवा) है और यही सूक्ष्म से सूक्ष्म है, अणु से अणु भी है । पानी और पुष्प के गन्ध से भी सूक्ष्म (हलवा-हलका) है । इसका न कोई रूप है, न रेखा अथवा आकृति है, यह रूपरंग से परे निराकार-निर्विकार चैतन्यघन सत् है । इस परमतत्व की अनुभूति उन्मनी समाधि में होती है, उस समाधि में मन का प्रवेश नहीं है, वह उन्मन अथवा अमनस्क हो जाता है, मन परम तत्व में आकारित हो उठता है । मन को इन्द्रियों के बाह्य विषयगत रूप, स्पर्श, शब्द गन्ध और रस में बहिर्मुखी नहीं होने देना चाहिए । उसे निरन्तर अन्तर्मुखी रखकर विषयातीत कर स्वरूप-प्राप्ति की दिशा में ब्रह्मरन्ध्र की ओर उन्मुख करना चाहिए क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है । दिन-रात मन पर दृष्टि रखनी चाहिए और बाह्य विषयों में उसकी दौड़-धूप का अन्त कर देना चाहिए। मन की मुद्रा की कोई स्थूल आकृति अथवा वर्णन नहीं है । मन की साधना सूक्ष्म साधना है, अन्तर्जगत् में योगसाधना का विषय है । मन को वश में करने के लिए पवन-विजय आवश्यक है । प्राण को अधोमुखी नहीं होने देना चाहिए, प्राण-साधना की योगनिर्दिष्ट विधि से रेचक, पूरक, कुम्भक के द्वारा शरीर में उसे प्राणवाहिनी नाड़ियों में प्रवाहित करते हुए सुषुम्ना, ब्रह्मनाड़ी के मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए । पवन के स्थिर होने पर शरीर स्थिर होता है, प्राणाग्नि में तप्त होकर शरीर पक्व होता है और मन-पवन के साथ ब्रह्मरन्ध्र में अन्तर्लीन हो उठता है । जिस योगसाधक के

द्वारा मनऔर पवन वश में कर लिये जाते हैं, वह व्यक्ति योगसिद्ध हो उठता है और परमपदार्थ-परमात्मतत्व उसके हस्तगत हो जाता है । वह काँच अथवा मिट्टी का स्पर्श कर दे. तो वह सोना हो जाता है । यह शरीर-व्यष्टि-पिण्ड, अखिल ब्रह्माण्डनायक परमशिव का अधिवास है । यह सत्य का स्थान है, घर है, इसमें परमात्मा निरन्तर विद्यमान है, प्राण को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करना चाहिए । योगाग्नि में शरीर के पक्व होने पर, मन-पवन के स्थिर होने पर जीवात्मारूपी योगी ब्रह्मरन्ध्र में परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है । आत्मज्ञान की अनुभूति द्वारा परम पद का स्पर्श मिलता है । योगी जरा, मृत्यु और काल को खा जाता है, वह निष्पत्तियोगी कहा जाता है, मुक्तिपद अथवा स्वरूप में स्थित हो जाता है । उसकी प्रसुप्त कुण्डलिनी, सोयी सर्पिणी-शक्ति जाग जाती है और पवनरूप गरूड़ के साथ बह्मरन्ध्र में प्रवेश कर समरस हो जाती है, प्राण और कुण्डलिनी का समरसत्व स्थापित हो जाने पर ब्रह्मरन्ध्र में मन का अन्तर्लय हो जाता है । मन का मर्दन हो जाता है, मन को मूर्छित कर ब्रह्मामृतरस की सिद्धि कर ली जाती है और योगी रससिद्ध होकर सच्चिदानन्दस्वरूप में विहार अथवा रमण करता है । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने अपने जीवन में इस रससिद्धि का प्रत्यक्ष अनुभव किया है । मन की उन्मनी समाधि में अन्तर्लीनता ही मन का मारण है, इससे अमृतत्व प्राप्त होता है ।

(51)

बांधौ बांधौ बछरा पीओ षीर ।
कलि अजरावर होय सरीर ।।टेक।।
आकास की धेन बछा जाया । ता धेन के पूछ न पाया ।। । ।।
बारह बछा सोलह गाइ । धैनु दुहावत रैंनि बिहाई ।। 2 ।।
अचरा न चरै धन कचरा न षाई ।
पंच ग्वालियां कौं मारण धाई ।। 3 ।।
याही धेनका दूध जु मीठा । पीवै गोरषनाथ गगन बईठा ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(बछरो यंद्री । षीर यम्रतरस । अजरांवर मारै न ।।टेक।। आकास ऊँची

दसा ।। धेनि आत्मा । त्रिभुवन त्रिगुणी काया । राजा जीव पूछ परकीरति नाहीं । बारह बछरा सो बारह कला सूरज की सो बांधों । सोलह कला चंद्रमा की सो यंम्रत सखै । धेनि आत्मां । रैणि चेतन आयुबल । अचर ब्रह्म । कचरा माया । विषै रस । पाँच ग्वालियाँ पाँच यंद्री । आत्मां धेनि । अमृतरस । गगन ब्रह्म ।)

(इस पद में योगि-राजेश्वर गोरखनाथजी ने अमृतपान की साधना पर प्रकाश डाला है ।) सहस्रार में योनि नामक त्रिकोणचक्र में ही चन्द्रमा का स्थान है, इस चन्द्रमा से निरन्तर अमृत प्रवाहित होता है, पर मूलाधार अथवा नाभि-स्थान में स्थित द्वादश कलावाला सूर्य इस अमृत को पी लेता है और शरीर के अंग-प्रत्यंग में अमृत यथाविधि नही पहुँच पाता है । यह सूर्य भी ब्रह्मरन्ध्र से ही उद्भूत है अथवा सहस्रारस्थ चन्द्रमा का पोषित बछड़ा (वत्स) है । इसको बाँध कर योगी को ब्रह्मानुभूतिरूपी गाय का अमृत स्वयं पीना चाहिए । सूर्य रूपी बछड़े को बाँधने का आशय यह हे कि सहस्रार में स्थित चन्द्रमा और मूलाधारस्थ सूर्य का मेल हो जाय । विपरीतकरणी मुद्रा के अभ्यास से योगी को बारह कलावाले सूर्य का मुख ऊपर और सोलह कलावाले चन्द्रमा का मुख नीचे की ओर कर शेष चार कलाओं में स्थित अमृत को पीना चाहिए । आकाश की धेनु, बह्मानुभूति निरंजन है, निराकार है, न इसके पैर हैं, न पूछ है, यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूति है । बारह कलावाला सूर्यरूपी बछड़ा सोलह कलावाली चन्द्ररूपी गाय का दूध, अमृत पीता रहता है, योगी को युक्तिपूर्वक इस दूध को स्वयं पीना चाहिए । इस गाय को दुहते-दुहते मायारूपी रात का अन्धकार मिट जाता है और ज्ञान का अमृतोदय, अरूणोदय (प्रकाश) हो गया है । यह गाय, ब्रह्मानुभूति अचल है, यह माया (कचरा) का भोग नहीं करती है, यह चंचल नहीं है, स्थिर है और शरीर की पाँच ज्ञानेन्द्रिय ही पाँच ग्वाले हैं, जिन्हें यह अपना अमृत नहीं लेने देती है, उन्हें मारने दौड़ती है, यह अमृत पाँच ज्ञानेन्द्रियों और मन से परे उन्मनी समाधि में स्थिर होने पर ही जीवात्मारूपी योगी पीता रहता है । वह ब्रह्मानुभूतिरूपी गाय, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के वश में नहीं रह सकती है, वे विषयभोग में इसके दूध (अमृत) का उपयोग नहीं कर सकती हैं । यह अमृतस्वरूपिणी ब्रह्मानुभूति बड़ा मधुर दूध (अमृत) देती रहती है और इसका पान करते रहने से शरीर कभी क्षीण नहीं होता है, मन चंचन नहीं होता है तथा इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रिय)

विषयानुगामिनी नहीं हो पातीं, वे संयमित रहती हैं । गोरखनाथ ने (कुण्डलिनी-जागरण, षट्चक्रभेदन, मुद्राबन्ध और प्राण की साधना कर) ब्रह्मरन्ध्ररूपी आकाश में निर्विकल्प सहज समाधि में स्थित होकर ब्रह्मानुभूति के अमृतरस का पान किया है ।

(52)

आवै संगै जाइ अकेला । ताथै गोरष रांभ रमेला ।। टेक ।।
काया हंस संगि ह्वै आवा । जाता जोगी किनहुँ न पावा ।। 1 ।।
जीवत जग मैं मूवां मसांण । प्राण पुरिस कत कीया पयांण ।। 2 ।।
जांमण मरणां बहुरि बिओगी । ताथै गोरष भैला जोगी ।। 3 ।।

यह बड़े आश्चर्य की विषय है कि शरीर से सर्वथा भिन्न शाश्वत चेतन जीवात्मा इस शरीर के साथ आता है, पर इसके क्षीण हो जाने पर अथवा रोगाक्रान्त होकर निष्प्राण हो जाने पर जीवात्मा इसका त्याग कर विलीन हो जाता है, शरीर निर्जीव होकर पड़ा रहता है । यही कारण है कि गोरखनाथ आत्माराम परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा के स्वरूप में ही रमण करते हैं । हंस-प्राणस्वरूप जीव शरीर के साथ आता है, यह शरीर भौतिक है, आत्मस्वरूप नहीं है, इसलिये प्राणहंस, जीवात्मा के इससे बाहर हो जाने पर यह बात बुद्धि में नहीं आती है कि आत्मा कहाँ गया और यही कारण है कि सर्वसाधारण आत्मज्ञान से, स्वरूपबोध से दूर रहते हैं, उन्हें आत्मविवेक की प्राप्ति नहीं होती है । इस शरीर में जब तक जीवात्मा निवास करता है, तब तक यह जीवित ही दीख पड़ता है और आत्मा के, प्राणहंस जीवात्मा के निकल जाने यही शरीर मृतक, श्मशानस्वरूप हो जाता है । यह पता नहीं चलता है कि प्राण-पुरूष ने कहाँ प्रयाण किया । जन्म-मरण का होते रहना बड़ा ही क्लेशकर है, यह महान् दुःख है, जन्म-मरण की स्थिति से विमुक्त होकर गोरखनाथ ने योगी होकर, परमात्मा में स्थित होकर जीवन्मुक्ति का अमरकायत्व द्वारा वरण कर लिया ।

(53)

चेला सब सूता नाथ सतगुर जागै । दसवैं द्वारि अवधू मधुकरी मांगै ।।टेक।।
सहजै षपरा सुषमनें डंडा । पाँच संगाती मिलि षेलै नवषंडा ।। 1 ।।

गंग-जमन मधि आसण बालौ । अनहदनादकाल भैटालौ ।। 2 ।।
गगन मंडल में रमूं अकेला । उरध मुषि बंकनालि अमीरस झेला ।। 3 ।।
कथंत गोरषनाथ गुरू उपदेसा । मिल्यां संत जनटल्या अंदेसा ।। 4 ।।

गुरू साक्षात् आदिनाथ परब्रह्म शिवस्वरूप है, वह निरन्तर सद्ज्ञान-प्रकाश में जागता रहता है । शिष्य तब तक सोता ही रहता है, जब तक अविद्यास्वरूपिणी माया-निद्रा, असत्सम्बन्ध में व्यामोहित है । गुरू के शब्द से संसार-निशा में सोने वाले शिष्य जाग जाते हैं और परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाते हैं । आदिनाथस्वरूप गुरू संसार में भिक्षाटन नहीं करता है, वह शरीर में अन्तर्मुखी वृत्तियों में शान्तचित्त होकर उन्मनी समाधि में स्थित होकर दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में अमृत की मधुकरी का आस्वादन करता है, यह नाथयोगी गुरू सहज ज्ञान का खप्पर धारण करता है, इस सहज ज्ञान से ही अमृत को सुरक्षित रखता है, उसे नाभिस्थित सूर्य के द्वारा शोषित नहीं होने देता है, इस योगी का दण्ड सुषुम्ना ही है, चक्रों का भेदन पूरा होने पर यह सुषुम्ना नाड़ी, जो मेरूदण्ड में स्थित है, सीधी हो जाती है और इस सद्गुरू योगी के पीछे (शिष्य रूप में) पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ चलती रहती हैं । वे विषयों में उसे (योगी को) आसक्त कर उसके लिये विरोधिनी नहीं सिद्ध होती हैं, उनके साथ नाथस्वरूप सद्गुरू नवों खण्डों में (शरीर के नवों द्वारों में) खेलता (विहार करता) रहता है, ये नवों द्वार संसार के लोगों के लिये मुद्रित (बन्द) रहते हैं, वे आत्मज्ञान का प्रकाशन नहीं होने देते हैं, पर योगीगुरू के लिये वे सदा खुले रहते हैं । हे साधकों । इसी तरह आसन, प्राणायाम, और मुद्राबन्ध आदि के द्वारा इड़ा (चन्द्र) नाड़ी और पिंगला (सूर्य) नाड़ी के द्वारा प्राण की साधना करते हुए प्राण को सुषुम्ना (सरस्वती) में स्थिर कर देना चाहिए, यही गंगा और यमुना में आसन लगाना है । इस तरह प्राण को स्थिर करने पर अनाहत चक्र में उत्पन्न अनाहतनाद का श्रवण करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर चन्द्रामृत का पान कर मृत्यु पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । मैंने (गोरखनाथ ने) इसी तरह की योगसाधना की है और अलख निरंजन परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप में ब्रह्मरन्ध्र में रमण करता हूँ । गोरखनाथ का कथन है कि मैंने गुरू का उपदेश ग्रहण किया ओर संतजनों की कृपा से मेरा संशय नष्ट हो गया, मुझे सत्स्वरूप का बोध हो गया ।

रे मन हीरै हीरा बेधिला, तौ काया केणैं जाई ।
गिगन सिषर चंदा रहिबौ समाई ।।टेक।।
सात पाच तीनि नव घरि लै उपाई ।
विपरीतकरणी करिलै ज्यू थिर ह्वै बाई ।।
बाई जबथिर ह्वै महारस सीझै ।
कोट्यां मधे गुरू देवा गोटा एक बूझै ।। । ।।
कांने रातां डोरौ गाटाक्रिणि मीर मूलैं ।
सदा अभ्यास रहे जोगी गंगा जमुन कूंले ।।
गंगा जमुना कूंले पैसि करिले असनानं ।
चांपीला मूले अवधू घरीला धियांनं ।। 2 ।।
मेर डंड थिरि करै स्यौ सकती जोड़ै ।
कोई गुरू आराधीला जो ब्रह्मगांठि छोड़ै ।
छूटे जब ब्रह्म गांठि भरिये मेर नाला ।
सहजे पांचे चूरा भया पूरण कला ।। 3 ।।
चंदा गोटा षूटा करिलै सूरिज करिले पाटी ।
अहनिसि धोबी धोवे त्रिवेणी की घाटी ।।
तलै एक चंदा गोटा पाटी गोटा आछै (षै)
भौजल नदी पारि उतरीया सिध गोरष भाछै (माषै) ।। 4 ।।

सिद्ध योगी गोरक्षनाथ का कथन है कि हे मन ! जब हीरे ने हीरे को बेध लिया अर्थात् आत्मा और परमात्मा में जब पूर्ण अद्वैत हो गया तो फिर काया को कौन महत्व देने जाय । काया को महत्व देने पर परमात्म तत्व का विस्मरण हो जाता है । परमात्म तत्व के बोध के लिए आवश्यक है कि साधक गगन शिखर, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अमृतस्वरूप चन्द्रमा में साधक अन्तर्लीन हो जाय । सप्त धातु, से निर्मित शरीर, पंचज्ञानेन्द्रिय, सत्व, रज, तम-तीनों गुणों और मुद्राबन्ध द्वारा नवों द्वारों पर अधिकार कर लेना चाहिए । इसके बाद विपरीतकरणीमुद्रा की सिद्धि के द्वारा नाभिस्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुख और सहस्रार स्थित चन्द्र को अधोमुख कर सूर्य-चन्द्र के सामरस्य द्वारा अमृत की शेष चार

कलाओं का पान करते हुए प्राणसाधना के द्वारा प्राण को इड़ा-पिंगला से प्रवाहित करते हुए आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में स्थिर कर देना चाहिए । इस तरह प्राण के सुषुम्ना में स्थिर हो जाने पर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान सहज सुलभ हो जाता है अथवा शरीर में महारस (वीर्य) जीर्ण होकर पच जाता है, ऊर्ध्वमुख होकर अमृत में बदल जाता है । कोटि-कोटि प्राणियों में केवल मात्र गुरूदेव इस प्राणगुटिका का रहस्य जानते हैं, प्राण को सुषुम्ना में रख लेने से, स्थिर कर लेने से अमृतस्वरूप में जीवात्मा की स्थिति हो जाती है । केवल बाह्य वेश से, कान में कुण्डल और लाल डोरा (सेल्ही) धारण करने से ही आत्मसिद्धि हाथ नहीं लग जाती है, इन्हें धारण करने की सार्थकता तो इसमें है कि जीवन की वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाय और परमात्मस्वरूप की प्राप्ति में अपनी भूमिका निबाहे । योगी को अपने प्राण को कुम्भक की विधि से इड़ा (चन्द्रनाड़ी, गंगा) और पिंगला (सूर्यनाड़ी यमुना) में, प्रवाहित करना चाहिए, यही उसका गंगा-यमुना में स्नान करना है और इस तरह प्राण-साधना करते हुए उसे परमात्मा में ध्यान लगाना चाहिए । इस ध्यान की दृढ़ता के लिये मूलबन्ध आवश्यक है, गुदाद्वार का बार-बार संकोचन-आकुंचन कर प्राण को मेरूदण्ड में प्रवाहित सुषुम्ना में स्थापित करते हुए दसवें द्वार ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करना चाहिए । मेरूदण्ड के सीधा होने पर अथवा प्राण-साधना से वंकनाल, सुषुम्ना नाड़ी के उत्थित होने पर महाशक्ति कुण्डलिनी का ब्रह्मरन्ध्र में शिव से तादात्म्य अथवा मिलन होता है । गुरू की आराधना करने से ही, ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है और योगी को सत्स्वरूप की प्राप्ति होती है । बिना ब्रह्मग्रन्थि का भेदन हुए (जीवात्मारूपी) योगी सहस्रार अथवा ब्रह्मरन्ध्र में शिव के परम पद का स्पर्श ही नहीं कर सकता, अलख-निरंजन का साक्षात्कार अथवा दर्शन ही नही कर सकता । ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होने पर गुरू द्वारा ब्रह्मगाँठि छुड़ाए जाने पर कैवल्यपद का दरवाजा खुल जाता है । इड़ा-पिंगला नाड़ी सुषुम्ना में समा जाना ही मेरूदण्ड का प्राण से पूरित होना है और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ भी मन को चंचल करने का अपना स्वभाव छोड़ देती हैं, मन उन्मन हो जाता है और चन्द्रमा का पूर्ण प्रकाश प्रकट हो जाता है, अलख-निरंजन ज्योतिब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार होता है । जिस तरह धोबी पाटे पर पटक-पटक कर जल से कपड़े को धोता है और उसका मैल

छुड़ाने के लिये खूँट (मूँगरी) से (कपड़े को) पीटता है, उसी तरह साधक के लिये यह चन्द्रमा ही खूँटा है और सहस्रार से प्रवाहित अमृत ही जल है, सूर्य पाटा है, इसी सूर्यरूपी पाटे पर चन्द्रमारूपी खूँटे से अमृतरूपी जल में काया को निर्मल कर लेना चाहिए । सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के अमृत में मूलाधारस्थ सूर्यस्वरूप प्राणहंस (प्राणवायु) को सुषुम्ना से प्रवाहित करते हुए समरस कर शेष चार कलायुक्त अमृत का पान कर शरीर को अमरकायत्व प्रदान करना चाहिए, यही चन्द्रमारूपी खूँटे द्वारा अमृतरूपी जल से सूर्यरूपी पाटे पर शरीर का निर्मलीकरण है । चन्द्रमा और सूर्य के रूप में गोटा और पाटा (पाटी) हमें इस शरीर में उपलब्ध हैं, इनका योग-साधना में सदुपयोग कर भवसागर से पार उतर जाना चाहिए । गोरखनाथ का कथन है कि मैं इस तरह योगसाधना में तत्पर होकर अमृतपान से अमरकायत्व प्राप्त कर भव जल सरिता से पार उतर गया ।

(55)

जागौ हो जोगी अध्यात्म लागौ जागतड़ामूल न हारौ म्हारा भाई रे ।
अंदरि बैठौ अपणौ साहिब, देषै सोधै सकल कमाई रे ।।टेक।।
दासी नैं नारी अरूधर द्वारी, तुम्हें बेस्यांन करमन कीज्यो रे ।
विधवा नारी नौ संग करेस्यौ, तौ रोमि रोमि नरक पड़ीस्यो रे ।। 1 ।।
एक बूँदि के कारणि आप सवारथि, तुम्हें बाल हत्या फललेस्यौ रे ।
नरनारी दोन्यूँ नरकि पड़िस्यौ, घाणी घालि पड़ेस्यौ रे ।। 2 ।।
अंजनि भूला निरंजन चूका तुम्हें लीया सालिम बालौ रे ।
मछिंद्र प्रसादै जती गोरष बोल्या जीती सारि न हारौ रे ।। 3 ।।

हे योगी । जागो, इस नश्वर क्षणभंगुर संसार की वैषयिक माया-निद्रा में सोने का समय नहीं है, भौतिक जीवन में सुख नहीं है, अध्यात्म में ही स्थित होकर निरन्तर ज्ञान-प्रकाश में जागते रहो । परमात्मा (साहब) हमारे शरीर में विराजमान है, और हमारे कर्मफल (कमाई) का शोधन करता रहता है । हे योगी, योग का मूल सांसारिक विषयों में वैराग्य और अनासक्ति का वरण है, योगी कहीं भी कभी भी अपने सत्स्वरूप से विमुख होकर अविद्या-स्वरूपिणी माया और अज्ञान के अन्धकार में जीवन नष्ट नही होने देता है ।

हे योगी, । कभी भी सेविकाओं, स्त्रियों, घरबार आदि के कार्यों में नहीं फँसना चाहिए । योगी के जीवन का ध्येय तो अलख-निरंजन परमात्मा का साक्षात्कार है, उसे विवाह कर गृहस्थी चलाने, दासियों को सेवा-कार्य में रखने और मकान आदि बनाने से किसी भी तरह का पारमार्थिक लाभ नहीं हो सकता, ऐसा करना तो वेश्या के कर्म में प्रवृत्त होना है, मन की चंचलता और अपनी भोगैषणा का परिचय देना मात्र है । विधवा से दूर रहना चाहिए, उनका संग करने से योगी अपने साधनमार्ग से भ्रष्ट हो जाता है । शरीर से कामवासना की तृप्ति करने के लिये वीर्य के एक बूँद को भी क्षरित होने देना बालहत्या के समान है, यह महान् पाप है और अपने आप को मृत्यु के मुख में डाल देना है । नर और नारी, दोनों को ही नरक की यंत्रणा भोगनी होगी, एक ही घानी में दोनों डाले जायेगें । हे योगी, माया (अंजन) में आसक्त होकर निरंजन, परब्रह्म परमात्मा को भूल जाना ऐसा है, मानो धान की बालि, हरी फसल में आग लगा कर जला देना है । इसका आशय यह है कि जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र में स्थित परमशिव अलख-निरंजन का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । यही साधना की परमचरम सिद्धि है । योगिराजेश्वर सद्‌गुरू श्रीमत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं गोरखनाथ योगी, अपना अनुभव व्यक्त करता हूँ कि माया में फँस जाना, स्त्री और दासी रखने और घर बनाने में आसक्त हो जाना जीती बाजी को हार जाना है, योग मार्ग से भ्रष्ट होना है । श्रेय तो यही है कि निरंतर योगी अध्यात्म में स्थित रहे ।

(56)

चलि रे अबिला कोयल मौरी, धरती उलटि गगन कूँ दौरी ।टेक।
गईयां बपड़ी सिंध नै धैरै । मृतक पसू सूद्र कूं उचरै ।
काटै ससत्र पूजै देव । भूप करै करसा की सेव ।। । ।।
तलि करि ढकणी ऊपरि झाल । नछीजैगा महारस बंचेगाकाल ।
दीपक बालि उजाला कीया । गोरष के सिरि परबत दीया ।। 2 ।।

यह पद एक तरह की उलट बासी है । सामान्यतः मनुष्य की मनोवृत्ति माया की ओर दौड़ने की है किन्तु जब मन में ज्ञान उदय होता है तब स्थिति बदल जाती है । यहाँ 'अविला' (आम) और 'माया' कोयल

मनोवृत्ति, का प्रतीक है । मन में ज्ञान का प्रकाश हो चुका है । इसलिए अब मन (कोयल) माया (अविला) की ओर प्रवृत्त नहीं हो सकता । गोरखनाथ माया को सावधान करते हैं कि हे माया । जीवात्मा अपने ज्ञान-प्रकाश में स्थित है, उसे तुम अपनी ओर आकृष्ट कर बन्धन में नहीं डाल सकती, धरती (कुण्डलिनी) आकाश की ओर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर चढ़ गयी है, सुषुम्ना नाड़ी में उत्थित होकर कनकाभा से युक्त विद्युज्ज्योतिमयी महाशक्ति का ब्रह्मरन्ध्र में शिव से मिलन हो गया है, जीवात्मा साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप हो गया, इसलिये हे माया । अब तुम्हारा त्रिगुणात्मक आकर्षण, सम्मोहन उसे प्रभावित नहीं कर सकता, तुम स्वयं सत्स्वरूपिणी महाविद्या मूलमाया हो, अपने आनन्दआश्रय में प्रतिष्ठित हो जाओ । संसार में देखा तो यह जाता है कि गाय सिंह से भयभीत रहती है, मनुष्य की अन्तर्मुखी शान्तिमयी सात्त्विक प्रवृत्ति ही गाय है, और उसकी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मदमत्सरमयी बाह्य वृत्ति ही सिंह है, अब ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर यह सिंह परास्त हो गया है । शरीर मृत होने पर यमराज द्वारा अपहृत कर लिया जाता है, पर अब तो परिस्थिति बदल गयी है । यह अमृतस्वरूप शरीर ही अब मृत्यु (यमराज) को चुनौती दे रहा है । अभी तक तो यही क्रम रहता आया है कि भोग-कामनाओं की तृप्ति के लिये अन्य देवों की (सत्स्वरूप से भिन्न मानते हुए) प्रसन्नता के लिए बलि होती रही, अब बलिवाले शस्त्र निरर्थक हो गये आत्मदेव की, अलख-निरंजन की पूजा में, ज्ञान-प्रकाश में तृप्ति प्राप्त करने वाले जीवात्मा के लिये भोगपूर्ति के समस्त साधन परमात्मा की पूजा के उपकरण हो गये, इन्द्रियाँ (पंचज्ञानेन्द्रिय) और मन आदि सत्स्वरूप की प्राप्ति के साधन हैं । हमारी नाभि में स्थित बारह कलावाला सूर्य सहस्रार में स्थित सोलहकला वाले चन्द्रमा के अमृत का शोषण करता है, विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा ब्रह्मरन्ध्ररूपी पात्र को, जिसमें चन्द्रमा का अमृत प्रवाहित होता है, नीचे की ओर करना चाहिए और सूर्य को ऊपर कर देना चाहिए, इस तरह सूर्य-चन्द्र (ह और ठ) हठ के योग से शेष चार कलावाले अमृत का पान करना चाहिए, इससे महारस का नष्ट होना रुक जाता है और काल-वंचन होता है । कुण्डलिनी, परम ज्योतिमयी शक्ति ऊर्ध्वमुख होकर मूलाधार में स्थित कामरूपपीठ से उत्थित होकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित पूर्ण गिरिपीठ पर स्थित हो जाती है । इस तरह पर्वत पर दीपक का प्रकाश जल उठता है ।

गोरखनाथ ने इस कुण्डलिनी महाज्योति को ब्रह्मरन्ध्र में जगाकर प्रतिष्ठित कर दिया है।

(57)

सांभलि राजा बोल्या रे अवधू । सुणौ अनोपम बांणी जी ।
निरगुण नारी सूं नेह करंता । झबकै रैणि बिहांणी जी ।।टेक।।
डाल न मूल पत्र नहिं छाया । बिण जल पिंगुला सींचै जी ।
बिण ही मढीयां मंदला बाजै । यण बिधि लोका रीझै जी ।। । ।।
चींट्यां परबत ढोल्यारे अवधू । गायां बाघ विडारया जी ।
सुसलै समदां लहरि मनाई । मृघां चीता मारया जी ।। 2 ।।
ऊझड़ मारिग जाता रे अवधू । गुर बिण नहीं प्रकासा जी ।
जीत्या गोरष अब नहीं हारे । समझि रराले पासा जी ।। 3 ।।

(जागतिक ऐश्वर्य और वैभव तथा भोगसुख में आसक्त, भौतिक सम्पत्ति के स्वामी को अवधूत योगी उपदेश देता है कि) हे राजा ! सावधान होकर अनुपम वाणी, का श्रवण करना चाहिए । प्राणी इस संसार की माया में रागासक्त होकर सोते हुए जीवन बिता रहे हैं, सोते-सोते ही रात बीत गयी, आयु समाप्त हो रही है । यह माया उस वृक्ष के समान है, जिसका न मूल है न शाखा है, न पत्ते हैं, इसकी छाया भी नहीं है कि इसके तले (इसकी छाया में) बैठ कर विश्राम किया जाय । इस माया-वृक्ष को सींचने वाला पंगु है, आत्मा है, आत्मा के न हाथ है, न पैर है, वह निराकार है । यह माया ऐसा मृदंग है, जो मढ़ा तक नहीं गया है । जिस तरह बिना चमड़े से मढ़े मृदंग को बजाने पर किसी भी तरह की ध्वनि नहीं निकल सकती, उसी तरह इस माया से आत्मज्ञान नहीं हो सकता । (गोरखनाथ का योगमार्ग पर चलनेवालों से कथन है कि) हे अवधूत, हे योगी, यह माया एक साधारण चींटी है पर यह आत्मरूप पर्वत को ढहा देती है । देखने में तो यह गाय के समान सीधी लगती है, पर आत्मारूपी बाघ को, शक्तिमान् को अपने पंजों से दबोच देती है । यह बात तो ऐसी है कि मानो समुद्र की अतल लहरियों को सुसलै (खरगोश) ने अपने वंश में कर लिया तथा मृग (मन) ने चीते को मार डाला है । हे योगी ! योगमार्ग ऊबड़-खाबड़ है, यह कठोर साधना का पथ है और

इस पर जो सावधान होकर नहीं चलता है, उसका पतन हो जाता है, गुरू के उपदेशामृत के (ज्ञान) प्रकाश में ही इस मार्ग पर चल कर श्रेय की प्राप्ति की जाती है । गोरखनाथ तो समझ-बूझ कर पासा फेंकते हैं, दाँव लगाते हैं, जीती बाजी हार जाना ठीक नहीं है । मैंने गुरू की कृपा से माया पर विजय प्राप्त कर ली है । अब गुरू ही रक्षक है, मेरे पतन की आशंका ही नहीं है ।

(58)

तुंझि परिवारी हो अणघड़ीया देवा ।
घड़ी मूरति कूं सब कोई सेवै, ताहिन जाणै भेवा ।।टेक।।
तू अबिनासी आदू कहीए, मोहि भरोसा पड़ीया ।
सब संसार घड्या है तेरा, तू किनहूँ नहिं घड़ीया ।। 1 ।।
दस औतार औतिरीया तिरिया, वै पणि रामन होई ।
कमाई अपणी, उनहूँ पाई, करता औरै कोई ।। 2 ।।
तूं पूरण ब्रह्म पुरूष प्रिथमी का सूरति मूरति सारा ।
श्रवणां सुण्यां न नैनां देष्यां, तेरा घड़णैं हारा ।। 3 ।।
तूं तौ आप तैं हूवा, तूं देष्यां उजियारा ।
गोरष कहै गुरू कै सबदां तूं ही घड़नैं हारा ।। 4 ।।

हे (अलख निरंजन) स्वेच्छा अथवा निजा शक्ति में स्वरूपस्थ परब्रह्म निराकार परमेश्वर, मैं आप की बलिहारी लेता हूँ । मैं आपके स्वरूप का स्तवन करता हूँ । आप के साकार रूप की उपासना तो सभी लोग करते हैं, पर वह किस तरह आकारित है, किस तरह निजाशक्ति, पराशक्ति, अपराशक्ति, सूक्ष्मशक्ति और कुण्डलिनी शक्ति के समस्त गुणों से अभिव्यक्त है, इसका लोगों को पता नहीं रहता है । आप आदि पुरूष अविनाशी हैं । इस बात में मुझे पूरा भरोसा है । आपने समस्त जगत् का सृजन किया है, आप को सृजन करने में कोई भी समर्थ नहीं है । यह संच है कि (शास्त्र के अनुसार) आप ने दस अवतार लिये, पर हे राम, निरंजन, आप उनसे (मायातीत) अतीत हैं । वे अवतरित होकर लीला कर गये और वे आप के ही स्वरूप हैं, पर आप निराकार अलख ब्रह्म हैं, वे साकार ब्रह्म हैं । समस्त जगत् आप के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यक्त है । आप सम्पूर्ण हैं, इसलिये आप का कोई स्रष्टा ही नहीं हो सकता है । न मैंने आप के स्रष्टा का (ज्ञाननेत्र से) दर्शन किया है और न उनके सम्बन्ध में सुना ही है । आप

आप अपनी इच्छा, निजाशक्ति में ही अभिव्यक्त हैं । आप अपने आप प्रकट हैं । मैं (गोरखनाथ) गुरू ज्ञान के प्रकाश में कहता हूँ कि आप ही अपने स्रष्टा अविनाशी परब्रह्म परमात्मा हैं ।

(59)

(राग रामश्री)

मन रे राजा राम हौइलै नृदंद, मूलै कमलै साजिलै रविचंद ।।टेक।।
अनहद भौरौ भव तृबेणी कै घाट,
पीयलै महारस फाटिलै कपाट ।। । ।।
चंदा करिलै षूटा सूरजि करि लै पाट ।
नित उठि धोबी धोवै तृबेणी के घाट ।। 2 ।।
भरिलै नाड़ी षोड़ी, पुरिलै बंक नालि,
बदंत गोरषनाथ अवधू इम उतरिबौ पार ।। 3 ।।

हे मन । इन्द्रियजन्य विषय-भोगासक्ति से परे होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर, अमनस्क होकर अथवा उन्मनी समाधि में स्थित होकर अपने अलख निरंजन, रामरूप में, निराकार स्वरूप को प्राप्त कर लेना चाहिए । मूलाधार चक्र (कमल) में स्थित द्वादश कलावाले सूर्य को विपरीतकरणी मुद्रा से ऊर्ध्वमुख कर और सहस्रार में योनि नामक त्रिकोण में स्थित चन्द्रमा को अधोमुख कर उसकी सोलह कला में चार कलावाले अमृत को बचा कर पान करना चाहिए, इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना में प्राण का स्थैर्य्य ही त्रिवेणी है और इस त्रिकुटी में, हृदय में उत्थित ऊँकारस्वरूप अनाहतनाद रूप भौंरा गूँज रहा है । आज्ञाचक्र में सहस्रार से चन्द्रमा का अमृत बरस रहा है, झर रहा है, ब्रह्मरन्ध्र दसवें द्वार को खोल कर इस महारस का पान कर स्वरूपानन्द में मग्न हो जाना चाहिए आज्ञाचक्र में, हे मन । स्थित होकर आत्मस्वरूप का ध्यान करना चाहिए, त्रिवेणी में स्नान करना चाहिए । सूर्य को पाटा बनाना चाहिए । चन्द्रमा को कपड़ा पीटने का खूँटा (लकड़ी) बना लेना चाहिए और शरीर के पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और प्राण (वायु) को धोकर निर्मल बना लेना चाहिए । जिस तरह धोबी पाटे पर कपड़ा रखकर जल में भिगोकर लकड़ी-खूँटे अथवा मुँगरी से पीट-पीट कर उसका मैल निकाल देता है, धो देता है, उसी तरह त्रिकुटी में, त्रिवेणी में तन और प्राण को निर्मल बनाकर ब्रह्मद्वार, दसवें द्वार का भेदन

कर परम शिव का साक्षात्कार कर लेना चाहिए । प्राणवाहिनी नाड़ियों को प्राणायाम से शुद्ध करना चाहिए । इड़ा - पिंगला से प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना के ब्रह्ममार्ग में स्थापित कर शुद्ध कर लेना चाहिए । वंकनाल-सुषुम्ना में प्राण के स्थिर हो जाने से, अमृतत्व की प्राप्ति होती है ! गोरखनाथ का कथन है कि हे मन ! इस तरह जीवन को अमृतत्व प्रदान कर संसार-सागर से पार उतर जाना चाहिए, यही मोक्षपद है ।

(60)

गोरष बालूड़ा बोलै सतगुरू बांणी रे ।
जीवता न परण्यां तेन्हैं अगनि न पांणी ।।टेक।।
षीली दूझै भैंसि बिरौलै सासूड़ीपालनड़ै बहुड़ी हिंड़ौलै ।। । ।।
कोयल मोरी आंबौ बास्यौ गगन मछलड़ी बगलौं गरास्यौ ।। 2 ।।
करसन पाकु रषवालू षाधू, चरि गया मृघला पारधी बांधू ।। 3 ।।
सींगी नादै जोगी पूरा, गोरषनाथ परन्यां तिहां चंद न सूरा ।। 4 ।।

प्राचीन टीका

(गोरष बालूड़ा जीवन परण्या नहीं । अगनि ब्रह्म । पांणी रामरस ।।टेक।। षीलौ मन । भैंसि (भींसि) काया । बिरौलै विचार । सासू सुरति । बहू बुंधे । कोयल बांणी । आंब आत्मा । गगन ब्रह्म । मछली मनसा । बगुलौ काल । करसण कांम पाकौ । रषबालौ काल । मृघला मनोरथ । पारधी मन । सींगी सुरति । नाद सबद ।)

अपने सद्गुरू का शिष्य (बालक) योगी गोरखनाथ अपने गुरू से प्राप्त सदुप-देशामृत का वर्णन करते हैं कि परमतत्व, अलख-निरंजन परमात्मा परम शिव से मैंने सत्सम्बन्ध स्थापित कर लिया है, गाँठ जोर ली है । इस गठ जोड़ (विवाह) के लिये भौतिक विवाह की तरह हवन (अग्नि) और पानी (चरण-प्रक्षालन के जल) की आवश्यकता नहीं रहती है । मैंने अग्नि और जल से अतीत होकर अपने स्वामी का वरण किया है । पहले माया असत्स्वरूपेणी और तामसी वृत्तियों की पोषिका रहती है, पर परमात्मा से जीवात्मा का वैवाहिक सम्बन्ध हो जाने पर वह सद्विवेक के प्रकाश में

सतोगुणी हो जाती है । माया की खूँटी पर बँधी इच्छारूपी भैंस पहले लौकिक आनन्दरूप दूध देती है, पर अब माया का तमोरूप समाप्त हो जाने पर स्वरूपानन्द का अमृत (दूध) देती है, जिसे इच्छारूपी (मनसा) भैंस बिलो रही है, ब्रह्मतत्वरूप मक्खन (नवनीत) निकाल रही है । माया सास की बहू ब्रह्मानुभूति है, जिससे उसके पुत्र (जीवात्मा) ने विवाह किया है, ब्रह्मानुभूति के प्रकट होने पर माया की दशा एक बालक की तरह होती है, निर्बल और शक्तिहीन हो जाती है तथा ब्रह्मानुभूति के वश में हो जाती हैं । यही बहू द्वारा (ब्रह्मानुभूति द्वारा) सास (माया) को हिंडोले में झुलाना है । मनसा, इच्छा ही कोयल है, जो पहले माया (आम) के बौरने पर आनन्दमग्न हो जाती है पर परमात्मा से जीवात्मा का परिणय हो जाने पर यह मनसा ही अन्तर्मुखी हो जाने से स्वयं ब्रह्मानुभूति से पुष्पित और पल्लवित हो जाती है और माया अपने निर्मल सात्विक रूप में आनन्द मनाती है । पहले बगुला, अहंकार-चेतना को निगल जाता है और अब ब्रह्मानुभूति प्राप्त होने पर चेतना रूपी मछली गगन, ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर हो गयी है, वह मायिक, जल-प्रकृति से मुक्त होकर अमृतरस में पहुँच गयी है और अहंकार रूपी बगुले का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है । समाधि ही (करसनपाकु) पकी हुई खेती है, उसमें अहंकार जीवात्मा को प्रवेश करने से रोकता है, रखवाली करता है । अब ब्रह्मानुभूतिमयी समाधि सिद्ध हो गयी है, इस पकी खेती ने अहंकार का भक्षण कर लिया । अहंकार समाधि में विलीन हो गया और पहले कालपारधी ही मनरूपी मृग को अपना शिकार बनाता है, पर मनरूपी मृग के उन्मन हो जाने पर कालरूपी पारधी स्वयं मर गया है, मृत्यु की ही मृत्यु हो गयी है । परब्रह्मानुभूति के पहले योगी सींगी बजा कर नाद का रसास्वादन करता है, पर जीवात्मा का परमात्मा से पाणिग्रहण हो जाने पर वह अनाहतनाद में स्वयं रमण करता है । गोरखनाथ का कथन है कि अलख-निरंजन की ज्योति में अन्तर्लीनता के लिये सूर्य-चन्द्रमा साक्षी नहीं हैं, वे दोनों प्रकाशहीन हैं, परब्रह्म के प्रकाश में उनकी भिन्न गति नहीं है, परमात्मा से जीवात्मा का प्रेम - सम्बन्ध हो गया है ।

(61)

आरती

नाथ निरंजन आरती गाऊँ । गुरदयाल अग्यां जो पाऊँ ।।टेक।।
जहाँ अनन्त सिंधा मिलि आरती गाई । तहां जम की बाच न नैड़ी आई ।। । ।।
जहाँ जोगेसुर हरि कूं ध्यावैं । चंद सूर तहां सीस नवावैं ।। 2 ।।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरषनाथ आरती गावै ।। 3 ।।
नूर झिलमिलि दीसै तहाँ अनत न आवैं ।। 4 ।।

अलखन-निरंजन ब्रह्म, शाश्वत अखण्ड ज्योति, सनातन परमात्मा की आरती हो रही है, इस आरती का मैं प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ । इस चिन्मय आरती का गान, योगीन्द्र सद्‌गुरू (मत्स्येन्द्रनाथ) की कृपा से ही करने में समर्थ हो सकता हूँ । अनन्त (असंख्य) सिद्ध, योगसिद्ध इस परमपद, परम ज्योति-स्वरूप में अन्तर्लीन होकर, अमृतपद में अथवा स्वरूप में स्थित होकर आदिनाथ निरंजन देव की आरती गा रहे हैं, बड़ी भव्य झाँकी है, यह अविनाशी पद है, इस परम धाम में यम, मृत्यु के स्वामी, काल की गन्ध तक नहीं है, क्योंकि महाकाल परमशिव के पद में यमराज का प्रवेश ही नहीं है, बड़े-बड़े योगेश्वर ध्यान कर रहे हैं । परमशक्तिमान् परमेश्वर के प्रणिधान और चिन्तन में लीन हैं, श्रीहरि के चरणदेश में, परमपद में, प्रकाश के देवता सूर्य-चन्द्र अपने-अपने तेज का समर्पण कर रहे हैं, प्रणत हैं, इस ब्रह्म स्थान, ब्रह्मरन्ध्र में सूर्य (पिंगला) और चन्द्र (इड़ा) नाड़ी ब्रह्म मार्ग में, सुषुम्ना में स्थित होकर योगी के वश में हो गये हैं अथवा मूलाधारस्थ सूर्य और सहस्रारस्थ चन्द्रमा का सामंजस्य स्थापित हो गया है । मैं योगेश्वर परम गुरू (सिद्धनाथ) मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से परमात्मा में, अभिन्न स्वरूप में योगस्थ होकर, अपना अनुभव शब्दांकित करता हूँ, अलख-निरंजन की आरती का, चिन्मय सच्चिदानन्द प्रकाश का वर्णन करता हूँ ।

(62)

नाथ निरंजन आरती साजै । गुर के सबदूं झालरि बाजै ।।टेक।।
अनहदनाद गगन मैं गाजै । परम जोति तहाँ आप बिराजै ।। । ।।

दीपक जोति अषंडत बाती । परम जोति जगै दिन-राती ।। 2 ।।
सकल भवन उजियारा होई । देव निरंजन और न कोई ।। 3 ।।
अनत कला जाके पार न पावै । संष मृदंग धुनि बेनि बजावै ।। 4 ।।
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ । निरति सुरति ले पहुप चढ़ाऊँ ।। 5 ।।
निज तत नांव अमूरति मूरति । सब देवां सिरि उदबुदि सूरति ।। 6 ।।
आदिनाथ नाती मछेन्द्रनाथ पूता । आरती करै गोरष औधूता ।। 7 ।।

आदिनाथ, अलख-निरंजन, परब्रह्म परमप्रकाशस्वरूप, शाश्वत ज्योतिर्मय की आरती हो रही है, गोरखनाथ आरती कर रहे हैं, आरती सजाते हैं । ब्रह्मरन्ध्र में विराजमान परमेश्वर की आरती की प्रत्यक्ष अनुभूति के स्तर पर (योगिराजेश्वर गोरखनाथ का) शब्दांकन है कि अलख निरंजन की मैं आरती कर रहा हूँ, गूरू का उपदेश ही झाँझ है, अनाहतनाद बज रहा है, (मृदंग निनादित है) तथा निरंजन ज्योतिस्वरूप परब्रह्म विराजमान है । ज्ञाननेत्र ही दीपक है, आज्ञाचक्र में स्थित तृतीय नेत्र, शिवनेत्र में प्राणवाहिनी सुषुम्ना नाड़ी में (इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना के संगम), त्रिवेणी में अमृतस्वरूप प्रकाश ज्योतित है, यह अखण्ड रूप से प्रकाशित है, इस ज्योति से अखिल-ब्रह्माण्ड, सचराचर ज्योतित है और एकमात्र अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर ही अपनी पूर्ण ज्योति में सर्वत्र अभिव्यक्त हैं । यह ज्योति रात-दिन प्रकाशित है, पलमात्र के लिये भी इसकी गति का अवरोध नहीं होता है । परब्रह्म परमेश्वर की अनन्त कलायें हैं, शक्तियाँ हैं, उनका पार नहीं पाया जा सकता है । इस अखण्ड आरती में अनवरत शंख, मृदंग, बाँसुरी की मीठी ध्वनि, अमृतध्वनि प्रवाहित होती रहती है । अलख-निरंजन को अर्घ्य प्रदान करने के लिए मेरा शरीर ही पवित्र कलश है, जिसमें सहस्रार से द्रवित (परम निर्मल, जल, स्वाति नक्षत्र का अमृत जल) है, मैं इस अमृत को उसके चरण पर प्रणतिपूर्वक समर्पित करता हूँ अथवा आत्मज्ञानामृत से उसका चरण-प्रक्षालन करता हूँ । मैं उस परब्रह्म को वैराग्य और सुरतिरूपी पुष्पांजलि अर्पित करता हूँ । वह निराकार है, समस्त जगत् में व्याप्त है, पर रूप-रंग से परे अलख-निरंजन परमेश्वर है, वह निज तत्व हैं, निजाशक्ति में अभिव्यक्त है । आदिनाथ का पौत्र शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ के गुरुज्ञान में अनुग्रहीत गोरखनाथ अलख-निरंजन की आरती करता है ।

(इति)

ऊँ अबिगत उतपतते ऊँ। ऊँ उतपतते आकासं। आकासंउतपतते बाई। बाई उतपतते तेज। तेज उतपतते तुया। तुया उतपतते मही। मही रूप देवी का रंग। जल रूप ब्रह्मा का वरण। तेज रूप विश्न की माया। पवन रूप ईश्वर की काया। आकास रूप नाद की छाया। नादरूप अबिगत उपाया। सुंनि निरंजन भूचर देव। भूचर का नही पाया भेव। अगम अगोचर। अनंत तरवर। अनन्त साषा। ससंवेद परम भेद। भेदांनि भेद आत्मा घ्यांन ब्रह्म ग्यांन। षेचरी मुंद्रा। भूचरी सिधि। चाचरी निधि। अगोचरी बुधि। उनमनी अवस्था। अनभै करामाति। अतीत देवता। अबिगत पूजा। अनील आश्रम आध्यात्म विद्या। गगन आसन अमृत प्याला। मनसा माई। पंचभू चेला। मन रावल, पवन भोगी। दसवैं द्वारि प्राणंनाथ जोगी। सहजि आवंणां। अवधू संजमें जाणां। सुषमनां नदी। निहिकेवल जल। तृबेणी सनांन। तृकाल संझ्या। अजपा गावत्री। अनूंपम मंत्र।

निरंजन माला, निराकार ज्वाला। कवल गरजै सबद उजियाला।
छसै सहंस इकवीस मेला। नष सष पवन ले बंधिबा मेलां।
नाद अनाहद निहसबद बांणी। जीव थैं सीव होइबा प्रांणी।
देही बदेही अविचल थीरं। रूंध्र उलटि फिरि होइबा षीरं॥
दिष्टि बिदिष्ट जोइबा नैनं। पवन निरंजन बोलिबा बैनं।
सबद निहसबद तब होइबा थूलं। आदि का आदि सो होइबा मूलं॥
नाद ब्यंद गांठिबा पवन अकास। पड़ै घट न होइबा नासं।
धरणि गगन परिमाध न कोई। जंत्र चलै तहं काल न होई॥
अषंड मढ़ी तहां जोतिबा ध्यानं, जुग जुग तालीकथिबा ग्यांनं।
मूलच्रक तहां प्रगटै ज्यंदू। पलटै काया थिरह्वै कंघू।
मूलबन्ध बज्र कछोटा पकड़िबा थीरं। सत उडियांणी बंधिबा बीरं॥
जत जगोटा आसणपूरं, अमृत धारा कमंडल होइबा सूरं।
कुंभ पात्रे पीयबा नीरं। चेतनां बिभूति अंगि सरीरं॥
अजर कथा नहिं बाद बिबादं। अनाहद सींगी बजायबा नादं।
संतोष तिलक तहां पद नृबाणं। ब्रह्म कवल टोपी पहरिबा त्राणं॥
मन बैराग मुद्रा जोई रूपं। बदंत गोरष ए तत अनूपं।

दया दंड तहां तृकुटी ध्यानं । छिमा लाठी टेकिबा मांनं ।।
चंद सूर भाटी उजेबा धारं । झुरै गगन तहां होइ मतिबारं ।
सो जोग्यंद्र जोग जुगता अबिचलं सारं । छछंद मुक्ता भै भ्रम पारं ।।
दोइ पछि ब्रह्म बिधवा सूलं । गुर बचन अनाहद मानिबा मूलं ।
अनंत सिधा तहाँ सारमसारं । निस्चल थीरं तब होई निरालं ।।
अजाचीक भिष्या आइबि थानं । गुरू मछींद्रनाथ नी सिछ्या पहरिबा कानं ।
अकलप डीबी झोली निरासं । सजीवन मात्रा बीरजनांसं ।।
एकांति रहीबा अवधू बेधिबा थूलं । नहि होवै आवागमन का मूलं ।
बारह कला देवी सोलह कला देवं । सुषुमना नाड़ी बंधिबा भेवं ।।
नौ से जोगणी चालिबा साथ । बुरिज बहतरि गाइबा नाथं ।
नव षंड प्रिथमी मांगिबा भिछ्या । त्रिलोक मथैन होइबी विप्यष्या ।।
चवदह ब्रह्मंड तहां जोइबा द्वारं । षट दरसन ए पंथ लै सारं ।
दार बहनी ज्यूं होइबा भेवं । असषं दल पंषुडी गगन करि सेवं ।।
बदंत गोरष अबिचल जापं । लिपै नहीं तहां पुंन न पापं ।
सुनि ध्यांन सोलह कला सपूरण माला । आपण स्यंभू श्रीगोरषबाला ।।

(सारांश)

अलख-निरंजन परब्रह्म परमेश्वर से शब्द-ब्रह्म ऊंकार अभिव्यक्त है । ऊँसे आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज (अग्नि), तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति है । पृथ्वी का रूप देवी के स्वर्णिम (पीताभ) वर्ण का है । जल का रूप ब्रह्मा के वर्ण के समान (कुन्द धवल) श्वेत है । तेज (अग्नि) का रंग विष्णु की माया (लक्ष्मी) के वर्ण के समान लाल (रक्तवर्ण) है । पवन का रंग ईश्वर की काया के समान (धूम्रवर्ण) है और आकाश काला अथवा श्वेत हैं, शब्द की छाया है । अलख अनादि ब्रह्म से नाद उत्पन्न है । शून्य निरंजन ही देव है । यह अगम, अगोचर और अनन्त है । यह स्वानुभवगम्य, स्वसंवेद्य है, वेद इसका वर्णन नहीं कर पाते हैं । इस एक के अनेक भेद हैं, स्वरूपतः यह सहज शून्य अनादि शाश्वत चैतन्यतत्व है । आत्मा का ध्यान ही ब्रह्मज्ञान है । खेचरी आदि-मुद्राओं के अभ्यास से उन्मनी समाधि में अतीत-देवता अलख-निरंजन परब्रह्म का अनुभव होता है । उसकी

प्राप्ति ही उसकी (सूक्ष्मातिसूक्ष्म) पूजा है । प्राणवायु ही आश्रम है, जिसमें जीवात्मारूपी योगी निवास करता है । अध्यात्मविद्या है, ब्रह्मरन्ध्र अथवा गगन ही आसन है, सहस्रार से द्रवित अमृत से भरा प्याला पीकर जीवात्मा अमर हो जाता है । इच्छा ही माया है । पाँचों भूत चेला हैं । मन राजा है, रावल योगी है और प्राण ही भोगी है । ब्रह्मरन्ध्र में जीवात्मा योगी शिव का साक्षात्कार करता है । सुषुम्ना नदी है, त्रिकुटी में ही इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना के संगम में स्नान है, अनुपम ऊँमंत्र अथवा हंसगायत्री का जप चलता रहता है । निरंजन का ध्यान ही माला है, ब्रह्मरन्ध्र में निराकार, शाश्वत चैतन्यज्योति सदा प्रकाशित है । सहस्रदल कमल में नाद का गर्जन होता है । बिजली चकमती है । इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास शरीर में व्याप्त रहते हैं, अनाहत नाद होता रहता है । जीवात्मा शिवस्वरूप में स्थित हो जाता है । शरीर में प्रवाहित रुधिर वीर्यरस के रूप में सहस्रार में प्रवेश कर अमृत हो जाता है । नाद-बिन्दु का मेल होता है, प्राण ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाता है । मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए, वज्र कौपीन धारण कर कुम्भक प्राणायाम की विधि से शरीर के भीतर प्राण को स्थिर करना चाहिए तथा उड्डियान बन्ध लगाना चाहिए । दया का दंड ग्रहण कर वैराग्यमय जीवन में स्थित होकर त्रिकुटी में अलख-निरंजन परब्रह्म का ध्यान करना चाहिए । माया और ब्रह्म में द्वैतभाव का निरसन कर शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप का आश्रय ग्रहण करना चाहिए । द्वैताद्वैतविवर्जित तत्व का चिन्तन करना चाहिए । गुरू के उपदेशामृत को ही अनाहतनाद समझना चाहिए । गुरू मत्स्येन्द्रनाथ की शिक्षा के अनुसार योगज्ञान के प्रकाश में जीवन सार्थक करना चाहिए । एकान्त में निवास करना चाहिंए । हे अवधूत ! आवागमन स मुक्त होने का यही उपाय है कि चित्त वृत्ति परमात्मा के स्वरूप में लीन रहे । बारह कलावाले सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर तथा सोलह कलावाले सहस्रारस्थ चन्द्रमा को अधोमुख कर अमृत पीते हुए अजपाजाप में स्थिर रह कर शिवस्वरूप हो जाना चाहिए ।

इति श्रीगोरष सिष्या पढ़ंते गुणंते, कथंते, करंते, पापे न लिपंते, पुन्ने न हारंते, ऊंनमो सिवाइ, ऊँ नमो सिवाइ, गुरू मंछीद्रनाथ पादुका नमस्तते । एवं सिष्या दरसण जोग ग्रंथ सास्त्र संपूरण समाप्तः ।

प्रथमे प्रणऊँ गुर के पाया । जिन मोहि आत्मब्रह्म लषाया ।
सतगुरू सबद कह्या तैं बूझया । तृहूँ लोक दीपक मनि सूझ्या ।। । ।

सबसे पहले मैं अपने गुरूदेव (योगिराजेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ) के चरण (कमल) में प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने (कृपापूर्वक) मुझे अपने ही शरीर में विद्यमान आत्मब्रह्म अलख-निरंजन, परमशिव का (ज्ञाननेत्र से) साक्षात्कार अथवा दर्शन कराया । सद्‌गुरू के शब्द (उपदेशामृत) से मुझे (ज्ञान) दीपमणि की प्राप्ति हो गयी और तीनों लोक मेरे ज्ञाननेत्र में प्रकाशित हो गये ।

पाप पुंन करम का बासा । मोष मुक्ति चेतहु हरि पासा ।
जोग जुक्त जब पाओ ग्यांना । काया षोंजौ पद नृबाना ।। 2 ।।
सप्तदीप नवखंड ब्रह्मण्डा । धरती आकास देवा रवि चंदा ।
तजिबा तिहुँ लोक निवासा । तहाँ निरंजन जोति प्रकासा ।। 3 ।।

पाप और पुण्य, दोनों तरह के कर्म बन्धनकारक हैं, मोक्ष, मुक्ति अथवा स्वरूप-स्थिति में निरन्तर चित्त को लय करने से कर्म बन्धनकारक नहीं होते । परब्रह्म परमेश्वर हरि का ही चिन्तन करना चाहिए । मुक्ति बाह्यवृत्तियों में चित्त को लगाये रहने से नहीं मिलती है । अपने शरीर में अखिलब्रह्माण्डनायक जगदीश्वर अलख-निरंजन विद्यमान है । उसकी खोज भीतर ही करनी चाहिए, निर्वाणपद की प्राप्ति अपने शरीर में ही योग-साधना के द्वारा करनी चाहिए । सातों द्वीप और नव खण्ड, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारे शरीर में ही विद्यमान है । अलख-निरंजन परमेश्वर, सूर्य और चन्द्र हमारे शरीर में ही हैं । बाह्यवृत्तियों को समेट कर शरीर के भीतर ही इनमें व्याप्त परब्रह्म का साक्षात्कार करना चाहिए ।

दिवस न रात बरषे न मासा । गरजै मेघ गगन कबिलासा ।
अगम सुगम गढ़ रच्या बिनांणी । अगनि पवन खेह जल सांणी ।। 4 ।।
तीस पौलि तेरह प्रवांणी । तीनि गुप्त दस प्रकट जांणी ।
नौ नाटिका कोटड़ी बहतरि । चोर पचास पचीस पंच धरि ।। 5 ।।

चीरा लगा तीनि सै साठी । नौ सै षाई नाटिक गांठी ।
नदी अठारह गंडिक बहई । मगर मच्छ जल पैरत रहई ।। 6 ।।
अट्ठठ कोटि बनासपती माला । सहज कमलदल पदंमनी नाला ।
भेदि षट चक्र बसै नागंणी । कोटणी सत मोहि फणी ।। 7 ।।
सबद एक जै प्रकट कहूँ सतगुर होई लषावै ।
गृहज्य नाम अमीरस मीठा जो षोजै सो पावै ।। 8 ।।

परब्रह्म अलख-निरंजन परमेश्वर दिक्काल से परे परमपद में स्वस्थ हैं । इसमें दिन, रात, वर्ष और मास नहीं है, यह निराकार और अकाल है । ब्रह्मरन्ध्र शून्यगगन ही परमशिव का निवास-स्थान है, निरन्तर मेघ का गर्जन, अनाहतनाद (निष्पत्ति अवस्था में) होता रहता है । अग्नि, पवन, जल, पृथ्वी (और आकाश) से विज्ञानी द्वारा ज्ञानस्वरूप परब्रह्म का निवास-स्थान, यह सामान्यतः अगम्य किन्तु योग साधना से सुगम कायागढ़ रचा गया है । उसके (तीस-तिसके) तेरह प्रामाणिक फाटक अथवा द्वार हैं, जिनमें दस प्रकट हैं और तीन गुप्त हैं । गुदा-उपस्थ, मुख, दो आँख, दो कर्णरन्ध्र और दो नासारन्ध्र, इन नवों द्वारों के सहित दसवाँ द्वार ब्रह्मरन्ध्र प्रगट है । ब्रह्मरन्ध्र के परे तीन परम गुप्त द्वार हैं, जिनको योगियों ने शब्दों के द्वारा प्रकाशित करना उचित नहीं समझा । ब्रह्मरन्ध्र निर्वाणचक्र कहा जाता है, इसके ऊपर ग्यारहवाँ द्वार सहस्रार अथवा आकाश (कैलाश है), जहाँ निरन्तर चन्द्रामृत द्रवित होता रहता है, यही पूर्णगिरि पीठ है, जिसमें परमशून्य अलखनिरंजन का ध्यान कर योगी सर्वेच्छा की सिद्धि प्राप्त करता है । यह निरालम्ब अवस्था है, देहात्मबोध समाप्त होकर शून्य का भेदन करने पर महाशून्य का भेदन होता है, इसके बाद अतिशून्य का भेदन होता है । यह साधना की चरमसिद्धि है और अन्तिम तेरहवें द्वार का यही भेदन है, जिससे पूर्ण स्वरूपबोध होता है । हमारे शरीर में प्राण जीवत्व-शक्ति-वाहिनी नौ नाड़ियाँ और बहत्तर कोठे हैं । ये नौ नाड़ियाँ इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, और शंखिनी हैं, ये सब दसवी प्रधान केन्द्रीय नाड़ी सुषुम्ना में मिलती हैं, इसलिए सुषुम्ना के अतिरिक्त ये नौ नाड़ियाँ हमारे कायागढ़ को स्वच्छ, निर्मल और सुदृढ़ रखती हैं । हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, उनमें बहत्तर प्रधान हैं । ये ही बहत्तर नाड़ियाँ शरीर के बहत्तर कोठे हैं । इस

कायागढ़ में पचास, पचीस और पाँच मुख्य चोर हैं, षट्चक्रों के पचासदल, पचीस प्रकृति और पाँच तत्वों-क्षिति, जल, पावक, गगन और वायु, इन चोरों को वश में करने से ही (इनके वश में न होने से ही) शरीरगढ़ स्थित रहता है, आशय यह है कि षट्चक्रों का भेदन करना चाहिए, पचीस प्रकृतियों को वश में करना चाहिए । इस कायागढ़ का निर्माण तीन सौ साठ हड्डियों से हुआ है, इन्हीं पर यह गढ़ खड़ा है । इस शरीर में नौ नाड़ी ही प्रधान खाई हैं, जिनसे गढ़ सुरक्षित है । ऐसे तो अठारह गण्डा (चार की संख्या को गण्डा कहा जाता है), बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ हैं, पर मुख्य बहत्तर हैं । ये बहत्तर नाड़ियाँ इस शरीररूपी गढ़ में बहने वाली नदियाँ हैं, जिनमें मगर-मच्छ, अज्ञान और अहंकार आदि प्राण में, जीवन में निरन्तर प्रभावी रहते हैं । इन नाड़ियों से उठने वाले साढ़े तीन करोड़ रोम ही वनस्पतिमालायें हैं, ये नाड़ियाँ एक-दूसरे से ग्रथित होकर कोठरी का काम देती हैं । ये कोठरी अथवा ग्रंथियाँ षट्चक्र कही गयी हैं । ये नाल दलयुक्त कमल हैं, कुण्डलिनी जाग्रत् होने पर इन चक्रों का भेदन करती हुई, इनसे परे दसवें द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर सहस्रार में स्थित परमशिव का साक्षात्कार कर उससे अभिन्न हो जाती है । यह कुण्डलिनी अपने मोहरूप फणों से सत्यस्वरूप-परब्रह्म का निर्मल स्वरूप सुरक्षित रखती हैं । इस परमात्म रहस्य का अनुभव सद्गुरू के उपदेशामृत से ही हो पाता है । अमृतत्व अत्यन्त गुह्य पदार्थ हैं, इस मधुर अमृतरसका आस्वादन वही कर पाता है, जो इसकी योगमार्ग में आरूढ़ होकर, सत्यनिष्ठा, श्रद्धा और तत्परता से खोज करता है । यह परमामृत, परमात्मत्वरूपी अमृत महायोगज्ञान के प्रकाश में गुरू का अनुग्रह प्राप्त करने पर ही सुगम हो पाता है ।

गंगा जमुना तृबेणी संधी । अजपा जपौ गावत्री बन्धी ।
पदयां नीर उरध अस्थानां । हिरदा पंकज मैं रहे समांना ।। 9 ।।
नाद बिद गांठि प्रबांनां । कवणघटि जोति कवण अस्थांना ।
कहां निरंजन बासा करही । कहां काली नागनी मीड़क धरहीं ।। 10 ।।
कहां जलधर पवनां मेला । उद्र कहाँ बिलइया धेरा ।
सीगी नाद कहाँ जोगी पूरा । जीत्या संग्राम पुरिष भया सूरा ।। 11 ।।
पूंनम चंदा कैसैं, छीनां । रबि ससि फेरि पवन घरि कीन्हां ।
सुपिनैं इंद्री कांम न गहई । ता कारणि जोगेस्वर परलै ढहई ।। 12 ।।

सप्त गाँठि सरीर की नाड़ी, अरध उरध मैं लाइलै ताली ।
बिचबिच लागी नौ नौ काली । अष्ट कंवल बत्तीस पाषुंडी ।। ।3 ।।
नाद रहया सरबत्र पूरि । गंगनमण्डल मैं षोजौ अवधू वस्तु अगोचर मूर ।
नगर कोटि की बहु विधि गली । सुन्दिर एक राजंदरि खड़ी ।। ।4 ।।
पंच महारिषि तहाँ कुटवाल । तिन की तृया महा झूझारि ।
इनहि मारे जे लागै पंथा । सुन्दिर जीतै लौक सौं कंथा ।। ।5 ।।
इड़ा प्यंगुला सुषमनां नाड़ी । छूटै भ्रम मिलै बनवारी ।
पंच तत विष अंमृत बसई । गुरू बचने अमृतभया अंचई ।। ।6 ।।

इड़ा (चन्द्र) और पिंगला (सूर्य) नाड़ी का आज्ञाचक्र में सुषुम्नानाड़ी से संगम होता है, इड़ा गंगा है, पिंगला यमुना है और सुषुम्ना सरस्वती है । अजपाजाप द्वारा हंस गायत्री मंत्र की सिद्धि कर इड़ा - पिंगला से प्रवाहित प्राण को सुषुम्ना में स्थापित करना ही योग-साधक के लिये त्रिवेणी-स्नान कहा जाता है । (पदया सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मनाड़ी अथवा ब्रह्मपथ या शून्यपदवी से) ऊर्ध्वगामी करते हुए नीर (वीर्य) को ब्रह्मरन्ध्र में अनाहत-नाद में एकीभूत करना चाहिए, नाद-बिन्दु के इस सामरस्य से साधक को चित्त की वृत्ति समाहित अथवा संयमित कर हृदयकमल (अनाहतचक्र) में अपने इष्टदेव का ध्यान करना चाहिए । इससे शरीर में दिव्यता बढ़ती है और जीवात्मारूपी योगी ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव के साक्षात्कार में सफल होता है । नादबिन्दु का (ब्रह्मरन्ध्र में) ऐक्य स्थापित करना चाहिए । किस वट में परब्रह्म की ज्योति हैं, कहाँ निरंजन (परमशिव) का निवास है, कहाँ काली सर्पिणी माया जीवात्मारूपी मेढक को पकड़ कर खाया करती है, कहाँ अमृत बरसनेवाले मेघ का पवन से मेल, सामंजस्य स्थापित होता है, कहाँ जीवरूपी चूहे (उद्र) को कायारूपिणी बिल्ली घेरती है, जोगी कहाँ सींगीनाद (अनाहतनाद) बजाता है, कहाँ योगसाधकवीरात्मा संग्राम (योगसाधना) सिद्धि अथवा विजय प्राप्त करता है, चन्द्रमा, जिससे सहस्रार में अमृतस्राव होता है, किस तरह क्षीण होता है, सूर्य चन्द्रमा को लौटा कर पवन के घर पर अधिकार स्थापित कर लेता है, स्वप्न में इन्द्रियों को विषयवासना (कामना) से ग्रस्त होने नहीं देना चाहिए । इन्हीं सब साधनाओं के परिचय के लिये तथा योगज्ञान में पारंगत होने के लिये योगेश्वर मन को अमनस्क अथवा उन्मनी अवस्था में अन्तलीन करते हैं । शरीर

के मूलकन्द से प्रवाहित मेरूदण्डस्थित सुषुम्ना नाड़ी के ब्रह्ममार्ग में सात गाँठ-चक्र (कमल) स्थित हैं, वे मूलाधार चक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, मणिपूरचक्र, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, आज्ञाचक्र तथा निर्वाण चक्र (ब्रह्मरन्ध्र) और आकाशचक्र सहस्रार हैं । मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को प्रबुद्ध कर ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए, इस तरह (अरध) मूलकन्द से (उरध) ब्रह्मरन्ध्र तक अपान और प्राण को समरस कर उलट देना चाहिए । शरीर में नव द्वार हैं, उन्हें मुद्रित कर आठों कमलों (चक्रों) को भेदन कर परमशिव से साक्षात्कार करना चाहिए । ब्रह्मरन्ध्र और सहस्रार से परमशून्य स्थान आठवाँ कमल कैवल्यपद है, इन आठों कमलों के बत्सीस (लक्षण) पंखुड़ियाँ हैं । हे अवधूत ! सारे शरीर में, प्रत्येक सन्धि में प्राण प्रवाहित है और अनाहतनाद हो रहा है । आकाशमण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में जीवनधन परमपदार्थ परमात्मा का ध्यान कर उसकी स्वरूपानुभूति करनी चाहिए । इस शरीररूपी नगर में अनेक गलियाँ हैं, यह नगर प्राचीरों से सुरक्षित हैं । इस नगर के मुख्य द्वार को रोककर कुण्डलिनी स्थित है, वह भीतर अलख-निरंजन का ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार करने में बाधा उपस्थित करती है । इस नगर में पाँच (कर्मेन्द्रियाँ) कोतवाल हैं, वे मन की सहायता से जीवात्मा को भौतिक विषयभोगों में बाँधे रहते हैं और परमशिव तक पहुँचने में बाधक बनते हैं । इन कोतवालों की शक्ति (मनसा) बड़ी बलवती है । इन पाँचों इन्द्रियों को अपने वश में करने पर उसकी शक्ति भी साधक के वश में हो जाती है, जो साधक पाँचों कर्मेन्द्रियों को जीत लेता है, उसके वश में सारा जगत् और शरीर हो जाता है, (शरीर को योगियों की भाषा में कंथा अथवा गुदड़ी कहा गया है) माया पर विजय प्राप्त करनी चाहिए । इड़ा, पिंगला नाड़ियों को आज्ञाचक्र में सुषुम्ना से मिलाकर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान करना चाहिए । इससे सारे भ्रम छूट जाते हैं और परम पद की सिद्धि होती है । पंचतत्व के निर्मित शरीर में जो अमृत विषरूप में मायाबन्धन का कारण बनता है, जीवात्मा को विषयभोग में बाँधता है, वहीं गुरू के उपदेशरूप में जीवात्मा के लिये अमृत हो जाता है । अपरिपक्व शरीर में अमृत विष का कार्य करता है, पर परिपक्व शरीर में वह गुरू के उपदेश से अमृत हो जाता है ।

(इति श्रीगोरषनाथ विरंचते प्रांण संकली सरीर विचारण, एवं प्राण संकली जन्य विचारंत, पापे न लिंपन्ते पुंने न हरंते मृतलोके भये अस्थित अमर लोकपु गछिते ।। ऊँ नमो सिवाई, गुरू मछींद्रनाथ पादुका नमस्तते इती प्रांण संकली ग्रंथ सास्त्र संपूरण समापतः ।

बतीस लछन

ग्यांन पारछ्या निरलोभी, निहचल, निरवासिक, निहिसबद ।
विचार पारछ्या निरमोही, निरबंध, निसंक, निरबांन ।
बमेक पारछ्या सरबंगी, सावधान, सति, सारग्राही ।
संतोष पारछ्या अजाचीक, अवांछीक, अमांनीक, अस्थिर ।
निरबल पारछ्या निहितरंग, निहपरपंच, निरदुंदी, निरलोप ।
सहज पारछ्या सुमती सुद्दी, सीतल, सुषदाई ।
सील पारछ्या सुचि, संजम, सति, श्रौता ।
सुंनि पारछ्या ल्यौ, लषि, ध्यांन, समाधि ।
एती अष्टांग जोग पारछ्या, भगति का लछिन ।
सिधां पाई साधिका पाई जे जन उतरे पारं ।

(इति)

सुणौ हो नरवै सुधि-बुधि का विचार ।
पंच तत ले उतपनां सकल संसार ।।
पहलै आरम्भ घट परचा करौ निसपती ।
नरवै बोध कथंत श्रीगोरष जती ।। । ।।
पहलै आरम्भ, छाड़ौ काम क्रोध अहंकार । मन माया विषै विकार ।
हंसा पकड़ि घात जिनि करो । तृस्नां तजौ लोभ परहरौ ।। 2 ।।
छाड़ौ दंद रहौ निरदंद । तजौ अल्यंगन रहौ अबंध ।
सहज जुगति लै आसण करौ । तन मन पवनां दिढ़ करि धरौ ।। 3 ।।
संजम चित ओ जुगत अहार । न्यंद्रा तजै जीवन का काल ।
छाड़ौ तंत मंत बैदंत । जंत्र गुटिका धात पाषंड ।। 4 ।।
जड़ी बूटी का नांव जिनि लेहु । राजदुवार पाव जिनि देहु ।
थंमन मोहन बसि करन छाड़ौ सकल अवचाट ।
सूणौ हौ जोगैसरौ जोगारम्भ की बाट ।। 5 ।।
और दसा परहरौ छतीस । सकल विधि ध्यावो जगदीस ।
बहु विधि नाटारम्भ निवारि । काम क्रोध अहंकारहि जारि ।। 6 ।।

हे नृपति ! (नरवै) राजा, योगसाधना के सम्बन्ध में विचार (उपदेश) सुनो और इसको सदा अपने ध्यान में रखो, बुद्धि में विचार करो ! यह संसार क्षिति, जल, पावक, समीर और गगन, पाँच तत्वों से उत्पन्न है । यह योग चार प्रकार का है,-आरम्भ, घट, परिचय, और निष्पत्ति । मैं (गोरखनाथ) इस नृपतिबोध (नरवैबोध) का वर्णन करता हूँ । योगारम्भ की अवस्था में योगसाधक को सबसे पहले काम, क्रोध और अहंकार का त्याग करना चाहिए । मायिक विषय-विकार में आसक्त भोगमुखी मन को योगमुखी बनाना चाहिए । जीवमात्र के प्रति अहिंसा-व्रत धारण करना चाहिए, जीव को पकड़ कर उसको न मारना चाहिए, न उसे दुःख पहुँचाना चाहिए, साधना की प्रगति में तृष्णा और लोभ बहुत बाधक हैं । इन दोनों को त्याग देना चाहिए । सुख-दुःख, शीत-उष्ण, अनुकूल-प्रतिकूलआदि सभी द्वन्द्वों से ऊपर उठकर निर्द्वन्द्व हो जाना चाहिए । स्त्री के रूपजाल में पड़कर कामवासना की तृप्ति के लिये उसके आलिंगन का त्याग कर सदा स्वरूपानन्द में ही रमण करना चाहिए । सहज युक्ति से,

शरीर को बिना क़ष्ट दिये आसनों का अभ्यास करना चाहिए, प्राण की साधना कर तन, मन और प्राण को स्थिर और जीवनोपयोगी बनाना चाहिए। यम-नियमों का पालन करते हुए युक्ताहार-विहार का सेवन करना चाहिए। नींद तमोगुणी है, ज़ीवन का काल है, मृत्यु है, इसके वश में होकर आलस्य-प्रमाद में जीवन का दुरूपयोग नहीं करना चाहिए, तंत्र, मंत्र (झाड़-फूँक, टोटका) और हानिकर दवाओं के सेवन से दूर रहना चाहिए। यंत्र आदि धारण करने अथवा गुटिका मुख में रखकर आकास आदि में उड़ते हुए अदृश्य होने से तथा अनेक धातु (वैद्यक भस्म अथवा तामा, लोहा आदि की अंगूठियों) के सेवन आदि से किसी भी तरह के यश और लाभ की आशा नहीं करनी चाहिए। राजा के दरवाजे पर जीविका-निर्वाह के लिए भिक्षा- प्राप्ति की आशा से कभी नहीं जाना चाहिए। स्तम्भन, मोहन, मारण, वशीकरण और उंच्चाटन आदि की विधियों से दूसरों को प्रभावित कर कार्यसिद्धि की भावना का परित्याग करना चाहिए। हे योगेश्वरों ! योगारम्भ का मार्ग यह है कि समस्त पराश्रयों का त्याग कर परब्रह्म परमात्मा जगदीश्वर का ध्यान करना चाहिए। हे राजा ! (छत्तीस, क्षितीश अथवा पृथ्वीपति) बाहरी दिखाओं और साधना सम्बन्धी बाह्य वेश-वूषा और कृत्रिमताओं को दूर करना चाहिए, काम, क्रोध और अहंकार-ये तीनों साधनमार्ग के महान शत्रु हैं, इनको जीत कर परमात्मा का ध्यान करना ही योगसाधना है।

नैणं महारंस फिरौ जिनिदेस। जटा भार बंधौ जिनि केस।
रूष बिरष बाड़ी जिनि करौ। कूवा निवांण षोदि जिनि मरौ ।। 7 ।
टूटै पवनां छीजै काया। आसण दिढ़ करि बैसौ राया।
तीरथ वर्त कदै जिनि करौ। गिर परबतां चढ़ि प्रान मति हरौ ।। 8 ।
पूजा पाति जपौ जिनि जाप जोग माँहिं विटंबौ आप।
छाड़ौ बैद बणज-ब्यौपार। पढ़िबा गुणिबा लोकाचार ।। 9 ।।
बहु चेला का संग निवारि। उपाधि मसांण बाद बिष टारि।
येता कहिये प्रतक्षि काल। एकाएकी रहौ भुवाल ।। 10 ।।
सभा देषि भांड़ौ मति ग्यांन। गूंगा गहिला होइ रहौ अजांण।
छाड़ौ राव रंक की आस। भिछ्या भोजन परम उदास ।। ।। ।।

महारस-अमृत अपने ही पास (नैण-निकट है अथवा) नैण-नेत्र में है। परब्रह्म अपने ही भीतर हैं, देश-देशान्तर में घूमने से कोई लाभ नहीं है, सिर पर केश बढ़ा कर जटा रखने से कोई लाभ नहीं है, यदि परमतत्व का ज्ञानामृत नहीं प्राप्त होता है। वृक्ष की छाया में कुटी बनाकर न रहो। ये सभी व्यर्थ हैं, यदि अपने आत्मस्वरूप का बोध अथवा अलखनिरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं हो पाया। दान-पुण्य, गहरे कूप आदि खनाना भी परमात्मज्ञान की अनुभूति के अभाव में, शून्यता में व्यर्थ है। इधर-उधर भ्रमण करने से तथा व्यर्थ श्रम करने से प्राण शरीर में स्थिर नहीं रह पाता है, काया क्षीण हो जाती है। हे राजा! एक आसन में दृढ़ होकर बैठ जाना चाहिए। परमात्मतत्व की प्राप्ति के लिए तीर्थव्रत करना या पर्वतों पर चढ़कर प्राण देना व्यर्थ है। पूजा-पाठ तथा तरह-तरह के जाप आदि करके योग मार्ग की विडम्बना न करो। यह सब वाह्याचार हैं। वाह्याचार से सहज तत्व बोध नहीं होता। मन तो उन्मन, योग से ही हो पाता है। शास्त्र आदि के पठन-पाठन केवल लोकाचार मात्र हैं, ये तो विधि-निषेधात्मक आचार-विचार व्यापार मात्र है। योगसाधना में अनेक शिष्यों का समुदाय बनाना भी हानिकारक है, उपाधि और वाद तो साक्षात् मरण (मसान-श्मशान भाव) और विष हैं, इनसे दूर रहना चाहिए। हे राजा! इन सभी व्यापारों, कृत्रिम पूजा-पाठ, व्यवहार, लोकाचार आदि से दूर रहकर एकान्त में, असंग स्थिति में निवास कर योग की साधना में तत्पर रहना चाहिए। विद्वानों की सभा में अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए, व्यर्थ तर्क और बकवाद से साधना में विघ्न पड़ता है, वाणी से मौन धारण करना चाहिए और अपने-आप को ऐसा प्रकट करना चाहिए कि तद्विषयक किसी भी तरह की जानकारी ही नहीं है। राजा-रंक, सब की समान गति है, किसी का भी आश्रय ग्रहण किये बिना भिक्षाटन करते हुए योगसाधना का पक्ष लेना चाहिए। समस्त द्वन्द्वों में अनासक्त रहकर उदासीनवृत्ति का परिचय देना चाहिए।

सींगी नाद पयांना देहु। देव कला के लछिन लेहु।
बगज्यूंध्यान माडि जिनि रहौ। स्वान जती की निंद्रा गहौ।। ।2।।
रसरसाइनगोटिका निवारि। रिधि परिहरौ सिधि लेहु बिचारि।।
परहरौ सुरापांन अरूभंग। तातैं उपजै नाना रंग।। ।3।।

नारीसारी कींगुरी । तीन्यूं सतगुर परहरी ।
आरंभ घट परचै निसपती । नरवै बोध कथंत श्री गोरषजती ।। ।4।

सींगीनाद की क्या सार्थकता है, यदि शरीर के भीतर दिव्यशक्ति, दिव्यज्योति, परमात्मशक्ति का अनुभव नही हो पाया । सींगीनाद के बजाने से प्राण टूटता है, अनाहत-नादानुसन्धान करना चाहिए । योगी को बकध्यानी नहीं बनना चाहिए, हे राजा । श्वान और यती की तरह निद्रा के सेवन के समान ही साधन-भजन में प्रत्येक क्षण सावधान रहना चाहिए । रासायनिक प्रयोग द्वारा लोहे को स्वर्ण में परिवर्तित करने की विद्या तथा मुख में यंत्रित और अभिमंत्रित गुटिका रखकर अदृश्य हो जाने की कला आदि से दूर रहना चाहिए, ये प्रपंच हैं, ऋद्धि-सिद्धि के फेर में नहीं उलझना चाहिए, ऋद्धियों का त्याग कर देना चाहिए और सिद्धियों से भी अन्तस्साधना में बाधा पड़ती है, इसका भी विचार कर लेना आवश्यक है । इस तरह कनक-कामिनी का त्याग कर देना चाहिए । स्त्री के संग का त्याग करना चाहिए, सारिका (सारी) को नाम पढ़ा कर बाहर से साधन-प्रवृत्ति प्रकट कर भीतर स्वरूपज्ञान से दूर रहने की भावना का त्याग करना चाहिए, सारंगी (कींगरी) बजा कर मनोरंजन करने से कोई लाभ नहीं है, नादानुसन्धान से मन को उन्मन करना चाहिए । हमारे सद्गुरू देव ने इन सभी बाह्याचारों के त्याग का उपदेश दिया है और योग की चार अवस्थाओं, आरम्भ, घट, परिचय, और निष्पत्ति के अनुसार साधना में प्रवृत्त रहने पर ही बल दिया है ।

इति श्रीगोरषनाथ विरचंते, नरवैबोध ग्रंथ, पठंते गुणंतेकथंते, पापे न लिप्यंते पुण्ये न हरंते, ऊँ नमो सिवाई ऊँ नमो सिवाई गुरू मछीन्द्रनाथ पादुका नमस्तते इति श्री नरवै बोध-ग्रंथ जोगसास्त्रपूरण समापत ।

व्रत

एक बरत गुरू मुषि लहै भेवा । दूजा ब्रत संतोष सेवा ।
तीजा ब्रत दया चित रहै । चौथा ब्रत ब्रह्म को लहै ।। । ।।
एक ब्रत जो इंद्री गहै । दूजा ब्रत राम मुष कहै ।
तीजा ब्रत मिथ्या नहि भाषै । चौथा ब्रत दया मनि राषै ।। 2 ।।

सांचौं ब्रत कहे ये चारी । जिस भाव सो लेहु बिचारी ।
और सकल जग का ब्यौहारा । तासौ कदे.न पावै पारा ।। 3 ।।
सील संतोष सुमिरण ब्रत करै । ताकै भुषी कौंण कहि मरै ।
मन इन्द्रियन को अस्थिर राषै । राम रसाइन रसना चाषै ।। 4 ।।
इन ब्रत समि ब्रत नहीं कोई । बेद अरू नाद कहै मति दोई ।
ताथै ए ब्रत हिरदय धारौ । गुरू साधौ की साष बिचारौ ।। 5 ।।
सील ब्रत संतोष ब्रत छिमा दया ब्रत दान ।
ये पांचों ब्रत जो गहै, सोइ साध सुजांन ।।
इन ब्रतां का जांणै भेव । आपै करता आपै देव ।
मन पवनां लै उनमन रहै । ऐते ब्रत गोरंषनाथ जी कहै ।। 7 ।।

इति

आत्मबोध

ऊँ आसण करि पदम आसण बंधि । पिछलै आसण पवनां संधि ।
मन मुछावै लावै ताली । गगन सिषर में होइ उजाली ।। । ।।
प्रथम बैसि बाई दर बंधि । पवनां षैलै चौसठ संधि ।
नव दरवाजा देवै ताली । दसवां मधें होइ उजाली ।। 2 ।।
ऐसा भुवंगम जोगी करै । धरती सोषै अंबर भरै ।
गगने सुर पवनें सुरतांणि । धरती की पांणी अंबरि आंणि ।। 3 ।।
ता जोगी की जुगति पिंछाणि । मन पवन ले उनमनि आंणि ।
मन पवन ले उनमनि रहै । तौ काया गरजै गोरष कहै ।। 4 ।।
चढ़ै महारस अमरा भरै । ऐसा आरम्भ जोगी करै ।
उलटी सक्ति चढ़ै ब्रह्मण्ड । नष सष पवनां षेलैं नव षंड ।। 5 ।।

ऊँकार स्वरूप का ध्यान करते हुए पहले पद्मासन में स्थित हो जाना चाहिए । इसके बाद प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । ऐसा करने से मन की चंचलता मिट जाती है, और गगनशिखर में अलख निरंजन की ज्योति प्रकाशित हो उठती है । जिस तरह घाटियों में वायु का वेग बढ़ जाता है,

उसी तरह आसन लगाकर प्राणायाम करने से शरीर की विभिन्न नाड़ियों में वायु प्रवाहित होने लगती है, शरीर की गाँठों और जोड़ों, चौसठ सन्धियों में प्राण का यथाविधि संचार होता है, इस तरह शरीर में प्राण को स्थिर कर मन को उन्मन करते हुए साधक के शरीर के नवों द्वारों को मुद्रित (बन्द) करना चाहिए। ऐसा करने से दसवें दरवाजे, ब्रह्मरन्ध्र में प्रकाश हो जाता है और साधक अलखनिरंजन परमशिव का साक्षात्कार करता है। अपान और प्राणवायु का मेलन कर सुषुम्नामार्ग से प्रवाहित करने पर मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी-शक्ति (भुजंगम), का प्रबोध होता है, इस तरह योगी (भुवंगम) कुण्डलिनी को जगाता है, धरती (मूलाधार) का रस (वीर्य) ऊर्ध्वगामी करते हुए ब्रह्मरन्ध्र में बिन्दु और नाद का मिलन करता है, अम्बर (ब्रह्मरन्ध्र) महारस-वीर्यरूपी अमृत से परिपूर्ण हो उठता है। गगन की ओर पवन का खिंचाव (तणि-तान) होता है, मन-पवन उन्मन हो जाते हैं, इस तरह योगी मन-पवन की साधना कर धरती (मूलाधार में) स्थित पानी (वीर्य) को आकाश में ऊर्ध्वगामी करता है। मन और पवन से ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करने पर अनाहत नाद का गर्जन होता है। महारस (वीर्य) अधोगामी न होकर, आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) की ओर ऊँचे स्थान पर चढ़ता है। इस तरह योगसाधना का योगी आरम्भ करता है, धरती में स्थित मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनी जाग उठती है, वह ब्रह्माण्ड (ब्रह्मरन्ध्र) में परमशिव के निवास-स्थान में प्रवेश कर, उससे मिलकर समरस अथवा एक हो जाती है, सारे शरीर के नवों खण्डों में पवन का संचार हो उठता है।

उलटै चन्द्र राह कौं ग्रहै। सूरज उलटि केत संग्रहै।
ससि द्वार सूरज थिर रहै। तत्व भांण जोगेस्वर कहै ॥ 6 ॥
अरधै जाता उरधै गहै। द्वादस पवनां उनमन रहै।
अहनिसि बाई धुंनि मैं बाजै। पछिम द्वारै पवनां गाजै ॥ 7 ॥
अभि अंतरि ब्रह्म अगनि परजाले। पंच चोर ले ग्यांन संभालैं।
जोगी अपणौ घरि दिवाला दीपै। ता जोगी की काया काल न छीपै ॥ 8 ॥
हलि हलिं पवनां काया गरजै। सूरा होइ अभिअंतरि झूझै।
ग्यांनषडग ले झूझिबाद्वारं। अजीतजीतिबा पंच गहि सारं ॥ 9 ॥
अष्ट परबत असाध साधिबा। नव दरवाजा दिढ़ करि बाँधिबा।
दसवैं दरवाजै कूची सार। मैमंत हस्ती बाँधिबा बार ॥ 10 ॥

भीतरि राजा झूझण हार । चहुँ दिसि जाता राष्या मार ।
राजा झूझै विषमैं धाइ । मन पवन ले रहै समाइ ।। ।। ।।

कुण्डलिनी-शक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है । सूर्य और चन्द्र उलट कर राहु-केतु को ग्रस लेते हैं, आशय यह है कि सूर्य ऊर्ध्वमुख होने पर (विपरीतकरणी मुद्रा द्वारा) प्रभावहीन हो जाता है, इसी तरह चन्द्रमा अधोमुख हो उठता है, योगी सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत को स्वयं पी लेता है । चन्द्रमा और सूर्य का मेल हो जाता है, ब्रह्मरन्ध्र में तत्वप्रकाशित हो उठता है, इस तरह योगसिद्ध पुरूष, योगेश्वर अपना अनुभव व्यक्त करता है । नीचे की ओर प्रवाहित अपानवायु का ऊर्ध्वाकर्षण करते हुए प्राण में उसे एकीभूत कर अथवा मिलाकर सुषुम्ना में स्थापित कर देना चाहिए, इस तरह द्वादशांगुल प्राणवायु को आयामित अथवा नियंत्रित कर योगसाधक को उन्मनी अवस्था में स्थित रहकर स्वरूप अथवा परमशिव का चिन्तन करना चाहिए । सुषुम्ना में वायु के स्थैर्य से अनाहतनाद होने लग जाता है, इस तरह प्राणायाम की साधना कर साधक को शरीर के भीतर ब्रह्मअग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। ब्रह्मअग्नि की साधना आज्ञाचक्र में ब्रह्मनाल, सुषुम्ना में की जाती है, यही से शक्ति, कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र अथवा सहस्रार में प्रवेश करती है । पंच ज्ञानेन्द्रियों को पांचभौतिक विषयों में आसक्त न होने देकर उन्हें परमात्म चिन्तन का साधना बनाना चाहिए । योगी को अपने शरीर के भीतर अलख-निरंजन की ज्योति प्रकाशित करनी चाहिए, जो योगी इस तरह परब्रह्म में तल्लीन हो जाता है, वह मृत्यु को अपने वश में कर लेता है, काल उसका बाल बाँका नहीं कर सकता है । प्राण शरीर की प्रत्येक सन्धि में प्रवेश कर गरजता है, अनाहतनाद उत्पन्न होता है, इस नाद से प्रोत्साहित होकर वीरात्मा योगी अपने भीतर ही भयानक संघर्ष कर विषय-वासनाओं पर विजय प्राप्त करता है, युद्ध ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा करना चाहिए, दुर्निग्रह मन को जीत लेना चाहिए और पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर अधिकार कर लेना चाहिए । शरीर में आठ पर्वत स्थित हैं, इनकी चढ़ाई बड़ी दुर्गम हैं । शरीर के नव द्वार हैं । शरीर के नवों द्वारों को मुद्रित कर अन्तः साधना के द्वारा अलखनिरंजन का दसवें द्वार में प्रवेश कर ब्रह्मरन्ध्र में साक्षात्कार करना चाहिए, मदमत्त हाथी के समान मन ब्रह्मरन्ध्र अथवा दसवें द्वार पर बाँध लेना चाहिए, उन्मन करना

चाहिए । हमारे भीतर ही आत्मारूपी राजा निरन्तर योगसंग्राम में तत्पर है, उसने मन को वश में कर लिया है, वह विषयेन्द्रियों के अनेक आक्रमण का निवारण करते हुये घाव-पर-घाव सहता रहता है, वह मन और पवन को उलट कर ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित योगसंग्राम में विजयी होता है । कर

मन पवन की विषमी संधि । चंद सूर द्वै समि करि बंधि ।
नवसै नवासी सायर सोषै । जोगी सोषै सदा भरि पोषै ।। ।2 ।।
बिन पुस्तक बंचिबा पुरांण । सुरसती उचरे ब्रह्मगियांन ।
अझर सोषै बजर करै । सरब दोष काया ले हरै ।। ।3 ।।
षैरै षोजै लावै बंध । तौ अजरावर थिर ह्वै कंध ।
सोषै पोषै जालैं बालैं । अहनिसि ब्रह्मअगनि पर जालै ।। ।4 ।।
अहनिसि अगनि पाप कूंषाझ । संधै संधै पवन लुकाइ ।
मन ह्वै धीर थीर बहै पवनं । सिवपुरी जीता राषै कवनं ।। ।5 ।।
ब्रह्मसागर सोषै बंध ज्यंद । षीर सागर सोषै अजरांवर कंद ।
बजर कछोटा आसण करै । रोगव्याधि षुध्या सब हरै ।। ।6 ।।

अपान और प्राण का सुषुम्ना में संयोग कठिन होता है । इड़ा और पिंगल से प्रवाहित प्राण को आज्ञाचक्र में सुषुम्ना में स्थिर करने अथवा प्राण-अपान को समरस करके सूर्य और चन्द्र को समरस कर दो । योगी नव सौ नवासी (असंख्य) नाड़ियों में प्राण को उत्थित करते हुए वीर्य-महारससागर को सोख लेता है, ऊर्ध्वगामी कर ब्रह्मरन्ध्र में नाद-बिन्दु का सामरस्य स्थापित कर देता है, योगी खाली नाड़ियों को वीर्य से भर देता है, इस तरह निरन्तर वीर्य को ऊर्ध्व करने की क्रिया होती रहती है । योगी के हृदय में साक्षात् सरस्वती निवास कर ब्रह्मज्ञान का उच्चारण करती है और वह परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है । योगी को यौगिक क्रियाओं से अपनी काया निर्मल और निर्दोष बना लेना चाहिए, इससे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति अथवा अनुभूति में बड़ी सुविधा होती है । क्षरित होने वाले वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर, अझर (न झरने वाला) कर उसे शरीर में सोख लेना चाहिए, वज्रोली मुद्रा के अभ्यास द्वारा योगी को शरीर का शोधन करना चाहिये और सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत के पान में सफल होना चाहिए । वीर्य को कभी अधोगामी होकर क्षरित नहीं होने देना चाहिए । मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध तथा जालन्धर आदि बन्धों के द्वारा इसे

ऊर्ध्वमुख कर रससिद्ध करना चाहिए, वीर्य महारस है, यही परिपक्व होकर सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का स्वरूप ग्रहण कर लेता है, इस वीर्य को शरीर में सोख लेना चाहिए, जीर्ण कर लेना चाहिए, पचा लेना चाहिये, इससे ज्ञानदीप्ति प्रकाशित हो जाती है, सुषुम्ना में आज्ञाचक्र में ब्रह्मअग्नि प्रज्वलित हो जाती है, योगी को इस ब्रह्माग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखना चाहिये। ब्रह्मकुण्ड में प्रज्वलित ब्रह्माग्नि से ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव अपने पूर्ण प्रकाश में अभिव्यक्त हो उठता है। यह ब्रह्माग्नि पाप का नाश करती है। इस ब्रह्माग्नि के शरीर में प्रज्वलित होने पर प्राण भी क्षीण नहीं होता, प्राणवायु शरीर की समस्त सन्धियों में यथास्थान स्थिर हो जाती है। नाड़ियाँ मलरहित हो जाती हैं और मन स्थिर अथवा उन्मन हो जाता है, उसकी चंचलता मिट जाती है, जीवात्मा शिवपुरी में प्रवेश कर अलख-निरंजन परब्रह्म शिव का साक्षात्कार करने में सफल हो जाता है। ब्रह्मसागर वीर्य को सोख लेने से, ऊर्ध्वगामी करने से प्राण शरीर में स्थिर होता है, इससे योगी को वीर्य को ऊर्ध्वगामी करना चाहिये, सहस्रार में द्रवित चन्द्रामृत-क्षीर-सागर का पान करने से शरीर अजर और अमर हो जाता है, इसलिये योगी को अमृत का पान करना चाहिये। योगी को वज्रकोपीन धारण करना चाहिए, और वज्रासन में स्थित रहने का अभ्यास करना चाहिए, इससे व्याधि और रोग नष्ट हो जाते हैं, भूख नहीं सताती हैं। (दोनों जाँघों को वज्र के समान दृढ़ कर दोनों पैरों को गुदा के पार्श्व-भाग में जमाकर बैठना ही वज्रासन है-घेरण्डसंहिता 2।।।)

जड़ी बूटी भूलै मति कोइ। पहली रांड बैद की होइ।
जड़ी बूटी अमर ज करै। तो बैद धनन्तर काहे मरै ।। ।7 ।।
सोने रूपै सीझै काज। तो कत राजा छाड़ै राज।
पसुवा होइ जपै नहिं जाप। सो पसुवा मोषि क्यूं आप ।। ।8 ।।
रिधि सकेलै रोलांणी धरै। गुरू न षोजै मुरिष मरै।
रोलाणी आगै बैसै फूलि। गुरू की बाचा गया जे भूलि ।। ।9 ।।
अकल पुरिस कै सकल नियाव। मीठा बोलै झूठा भाव।
सत बोलै सोई सतबादी। झूठ बोलैं सो महापापी ।। 20 ।।
देषत भौंदू विषिया षाई। झूठा बोलैं मरि-मरि जाई।
जैसा करैं सो तैसा पाय। यकोतर से पुरिषा नरकिलैं जाय ।। 2। ।।

एक पुरिष बहुं भांति नारी । सरब निरन्तर आत्मां सारी ।
सरब निरंतर भरि पूरि रहिया । आत्मांबोध सपूरण कहिया ।
पाप न पुन्ने लिपे न काया । आत्मांबोध कथंत श्रीगोरष राया ।। 22 ।।

योगासाधक को जड़ी-बूटी के सेवन के फेर में नही पड़ना चाहिए, इससे शरीर अजर-अमर नहीं हो सकता । यदि जड़ी-बूटी के सेवन से ही कोई अमर हो जाता तो वैंद्य की स्त्री विधवा नही होती, वैद्य धन्वन्तरि की मृत्यु नही होती योग की सिद्धि के लिये स्वर्ण और चाँदी का संग्रह भी व्यर्थ है, यदि इन दोनों से सिद्धि मिल जाती तो राजा (महाराज भर्तृहरि और महाराज गोपीचन्द्र) राजकार्य का त्याग कर वैराग्य के पथ में अग्रसर होकर योगमार्ग में नही प्रवृत्त होते । अज्ञानी मनुष्य तो पशु है, जो जड़ी-बूटी और सोने-चाँदी में विश्वास कर अजपाजप द्वारा हंसगायत्री मंत्र को सिद्ध नही कर पाता और मोक्ष-प्राप्ति अथवा आत्मस्वरूप बोध तथा परमात्म साक्षात्कार से सर्वथा दूर हो जाता है । बिना गुरू की प्राप्ति के आत्मबोध नही प्राप्त हो सकता । सोना-चाँदी का संग्रह कर, घर बसाकर रावलिन योगिनी के संग में निवास करना भ्रममात्र हैं, जो प्राणी अपने शरीर में ब्रह्मरन्ध्र में निष्कल-निराकार परब्रह्म परमेश्वर का स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, वह समस्त प्राणी में अलख-निरंजन परमात्मा की विद्यमानता का अनुभव करता है, उसके जीवन में राग-द्वेष, द्वन्द्वादि के लिए स्थान नही रहता, उसका सब काम सद्व्यवहार ही होता है । वह सत्य बोलता है, मीठा बोलता है, वह सत्यवादी है, झूठ बोलनेवाला पापी होता है । असत्यभाषी भोंदू हैं, अज्ञानी है, असत्य बोलकर मृत्यु का ग्रास बनता है, सत्यवादी अमृत में निवास करता है । यह सनातन सत्य है कि जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है, इसलिए असत्य-भाषण से सभी पितर नरक में पतित हो जाते हैं, सारे प्राणी ही नारीरूप में एक पति परमेश्वर के उपासक हैं, सभी का स्वामी परमेश्वर है । आत्मा ही सर्वव्यापक परमात्मा है, पूर्ण है, सचराचर परमात्मा में स्वस्थ है, यही आत्मबोध है, इससे काया पा-पुण्य में लिप्त नही होती, प्राणी आत्मरूप होता हैं ।

इति श्रीगोरष आतमबोध, पठंते करंते गुणंते कथंते । पापे न लिपंते पुंने न हरंते । ऊँ नमो सिवाई । ऊँ नमो सिवाई, गुरूमछिंद्रनाथ पादुका नमस्तते । इति श्रीआतमांबोध ग्रंथ जोगशास्त्र संपूरण समापतः ।

आदिनाथदि पारब्रह्म ऊँ सिव सकती । नाद-बिन्द लेकाया उतपती ।
नाद-बिंद रूपी बोलिए ऊँकार ।
बिंदरूपी बोलिए काया । प्रथम आदि उतपती माया ।। 1 ।।
उदै भईला सूर अस्त भईला चंदा । दुहु बिच कल्पना काल का फंदा. ।
उदै ग्रह अस्त एक करि बासा । तब जानबा जोगींद्र जीवन आसा ।
बारह कला रबि सोलह कला ससी । चारि कला गुरूदेव निरंतर बसी ।। 2 ।।
हीण पद सुराया लागा डंसा । तन का तेज ले उड़िया हंसा ।
हंस का तेज लैथिर रहै काया । काल का भेद कहौ गुरराया ।। 3 ।।
द्वैपष छेदि एक ह्वै रहणां । चंद सूर दोउ सम करि गहणां ।
ऊँच भै उपरै मध्य निरंतरै ता तलि भाठि जराई ।। 4 ।।

सीजि अमीरस कंचन हुआ । यहि बिधि पिंजरै बानवै सुआ ।
उपजंत दीसंत निपजंत नाहीं । आबरण नास्ति संसार माहीं ।। 5 ।।
बूझि लै सतगुर बुद्धि भेद सिद्ध संकेत । परचा जाणि लगावो हेत ।
उरम धूरम जोती झाला । नौ कोटि षिड़की पूर ले वाला ।। 6 ।।
ताला न टूटै षिड़की न भाजै । पिंड षडै तौ सतगुर लाजै ।
भरे सागर धुनि धूसर कूंची । तहाँ सकल विघ्न है सोई सूची ।। 7 ।।
इहिं बिधि जोगी अतीत होई । अमर पद ध्यावत बिरला कोई ।
सहज मरे अष्ट पग धरणां । ग्यान खड़ग ले काल संहरणां ।। 8 ।।
अमर कोट काया एक ब्रह्म मध्ये । जीतले जमपुरी राषि ले कंधे ।
आतमा झूझ जती गोरषनाथकिया । संसार बिणास्या आपण जिया ।। 9 ।।

आदिनाथ परमेश्वर ही ऊँकारस्वरूप है । 'ना' का आशय है अनादि और 'थ' का आशय है भुवनत्रय । अनादि ब्रह्म में भुवनत्रय का स्थापित होना ही ओंकार स्वरूप अलखनिरंजन परब्रह्म का आदिनाथरूप है । नाद-बिन्दु से काया की उत्पत्ति होती है । (नाथ का अंश नाद है, नाद का अंश प्राण है, शक्ति का अंश बिन्दु है और बिन्दु का अंश शरीर है । शक्ति-अंश-बिन्दु के प्रसर से सृष्टि होती है, शिवांश-बिन्दु का प्रसरण नहीं है । बिन्दु के आदि स्पन्द से सृष्टि के विकास अथवा निर्माण की क्रिया

होती है ।) ओंकार नाद-बिन्दु-स्वरूप हैं । नाद-बिन्दु का लय ही ऊँकाररूप है । सगुण ब्रह्म में इच्छा ही नाद है । इच्छा के साथ क्रिया बिन्दु है, ऊँकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति का कारण नाद-बिन्दु की यही अन्तरलीनता है । अतः ऊँकार-नाद बिन्दुरूप है । मनुष्य के शरीर की उत्पत्ति मूलाधार बिन्दु से है । इस तरह पहले माया (मण्डल) की उत्पत्ति होती है शरीर की उत्पत्ति के साथ ही नाभिस्थान में सूर्य (अग्नि) की उत्पत्ति होती है और सहस्रारस्थ अमृतस्वरूप चन्द्रमा क्षीण होने लगता है । इस तरह उदय और अस्त के मध्य में शरीर की मृत्यु अथवा काल की स्थिति होती है । सूर्य बारह कला का है, चन्द्रमा सोलह कला का है । चार शेष कला ही शरीर को अमृत प्रदान करती है । हे गुरूदेव । हे योगीन्द्र ।। चन्द्रमा के शेष चार कलारूपी अमृत के पान से ही जीवन के स्थिर रहने की आशा की जाती है । हीनपद में स्थित रहने से शरीर क्षीण हो जाता है और प्राण (हंस) शरीर के बाहर हो जाता है, प्राण से ही शरीर स्थित रहता है, इसलिए प्राण की साधना करनी चाहिए । द्विविधा (माया) द्वैत-अद्वैत के विचार में न पड़कर अपने परमात्मस्वरूप, द्वैताद्वैतविवर्जित परमात्मतत्व का चिन्तन करते हुए अमृत का पान कर अमरकायत्व प्राप्त करना चाहिए ।

अमृत-रस को सिद्ध करने का उपाय यह है कि शरीर के भीतर स्थित अनेक चक्ररूपी भट्टियों को प्राणवायु के स्थैर्य से, अपान और प्राण के सामरस्य से प्रज्वलित किया जाय । मूलाधारबन्ध लगा कर अपान वायु को (चन्द्र को) प्राण (सूर्य) से मिला कर उसे सुषुम्ना नाड़ी में प्रवाहित किया जाय, इस तरह प्राण ऊपर उत्क्रमित होकर अग्निमण्डल में प्रवेश करता है । कुण्डलिनीशक्ति चक्रों का भेदन करती हुई ऊपर उठती है, वीर्य (रस) और मन भी ऊर्ध्वगामी होते हैं । अपान मूलबन्ध के अभ्यास से ऊपर उठ कर नाभि के नीचे त्रिकोण जठराग्नि में प्रवेश करता है । इस तरह अपान और अग्नि, दोनों प्राण में मिल जाते हैं । चक्रों की भट्टी प्रज्वलित हो उठती है । प्राण की साधना के द्वारा कुण्डलिनी को प्रबुद्ध करते हुये शरीर के रस (वीर्य) को मन के साथ उर्ध्वगामी कर सहस्रार में संचित करना चाहिए और जालन्धर बन्ध सिद्ध कर स्वय अमृत का पान करना चाहिए । इस अमृतरस की सिद्धि से ही शरीर कंचन बन जाता है, अमरत्व प्राप्त करता है और इस

पिंजरे में (शरीर में) प्राणहंस (शुक्र) ठहर जाता है । यह जीवन्मुक्त हो जाता है, न पैदा होता है, न उत्पन्न होता है, मायां का आवरण सदा के लिये समाप्त हो जाता है और जीवात्मा परमशिव का स्वरूप हो जाता है । सद्‌गुरूदेव । यही सिद्ध का संकेत है । परमात्मा के साक्षात्कार (परिचय) का यही तरीका है । इससे मन (ऊरम) और पवन (धूरम) ज्योतित हो उठते हैं, चिन्मय प्रकाश से सारा शरीर पूर्ण हो उठता है । नवों द्वारों को बन्द कर लेने से उन्मनी समाधि में अलख निरंजन परमात्मा की ज्योति का सम्पूर्ण दर्शन होता है, शरीर में अमृत भर उठता है, नवों दरवाजों का ताला नहीं टूटता है, समाधि लगी रहती है, इतना होने पर भी यदि पिण्डपात हो जाय, शरीर की मृत्यु हो जाय तो इससे सिद्ध होता है कि सद्‌गुरूज्ञान का आदर नहीं किया गया है, आशय यह है कि शरीर मृत्यु का ग्रास बनता ही नहीं है । सहस्रार में अमृतसागर में अनाहतनाद की तरंगें उठती हैं । चारों ओर पवित्रता-ही-पवित्रता अथवा निर्मलता और निरंजनता का ही दर्शन होता है, उन्मनी समाधि में स्थित योगी कैवल्यपद में अतीत, स्वरूपस्थ हो जाता है । कैवल्यपद अथवा अमर पद का ध्यान कोई बिरला ही कर पाता है । अष्ट पद (पग) धूर्म ब्रह्माण्ड (ललाट), आकाश ब्रह्माण्ड (मस्तक सन्धि), शून्यब्रह्माण्ड (सहस्रदल कमल), परमशून्य ब्रह्माण्ड (तालु), अकल्पित ब्रह्माण्ड (तालुऊर्ध्व), निरंजन ब्रह्माण्ड (भ्रमरगुहा), निराकार ब्रह्माण्ड (शिखामण्डल) तथा निराधार ब्रह्माण्ड या अष्टचक्र, आधारचक्र, दृष्टिचक्र, मणिपूर, अनाहतचक्र, विशुद्धचक्र, अग्निचक्र, ज्ञानचक्र, सूक्ष्मचक्र में सहज परब्रह्म व्याप्त है । परमात्मज्ञानरूपी खगं से काल को जीत लेना चाहिए, मृत्यु को मार डालना चाहिए, मृत्यु का संहार ही जीवन में महाकाल परमशिव का, अमृतब्रह्म का साक्षात्कार है । ब्रह्म में अमरकायत्व ही कायागढ़ की विजय है । मृत्यु को जीत कर शरीर को अमर कर लेना चाहिए, गोरखनाथ का कथन है कि यही आत्मयुद्ध है, संसार (असत्) का अन्त कर शाश्वत जीवन में मैं स्थित हो गया ।

झूंझति सूरा बुझंति पूरा अमरपद ध्यावंत गुरू ग्यान बंका ।
दल को मारि जंजाल को जीतिले, निर्भय होइ मेटिले मन की संका ।।
अझूझि झूझि लै पैसदरिया । मूल बिन वृष अमीरस भरिया ।। 10 ।।
तन मन लै करि शिव पुर मेला । ग्यांन गुरू जोगी संसार चेला ।
मन राइ चंचल थांन थिति नाहीं । बांधि लै पंच भूत आत्मां माही ।

अलष अकथ चछुबिन सूझिया । सिद्ध का मारग साधके बूझिंया ।। ।। ।।
परख बिन गुर करै जुगते बिन बाहे मरे । बिचार उपरांते कछु ग्यांन नाहीं ।
भ्रमि भूले ते बहि चलै पंडिता । उतरे पार ते फिरे समाही ।। ।2 ।।
सबद की पारेखा निहसबद हुवा । ग्यांन का पारिखा जीवता मुवा ।
रहते करणी मुखैं प्रकास । नासेका जाणांति पहुप की बास ।। ।3 ।।
उलटि यंत्र धरे सिषर आसण करे, कोटि सर छूटतां घाव नाहीं ।
सिलहट मध्ये कांवरू जीत लै, निर्मल धुनि गगन माहीं ।। ।4 ।।
मन की भ्रमना तब छूटंत होइ जोगीन्द्र, जब बिचारंत निहसब्द की बांणी ।
नैण के दांता सार धरि पीसिबा, तब जोग पद दुर्लभ सत्य करि जाणी ।। ।5 ।।
उलटि गंगा चलै धरणि ऊपर मिलै नीर में पैसि करि अग्नि जालै ।
घटहि मैं पै सिंकर कूप पानी भरै, तब पाइ परि पुरूषा आप उजालै ।
ग्यांन के प्रगटे श्रीस्यंभूनाथ पाया । अकल अकथ जती गोरषनाथ ध्याया ।। ।6 ।।
संसार में भ्रम्या सरब भ्रम सोई । निज पद पीवतां बिनस्या न कोई ।
बजरंग कोटडी पर दल पूरा । पच मुवा सब जग पहुँचा स सूरा ।। ।7 ।।
मन सौ जूझणा खांड़ा न लागै । सुन्य गढ़ रमि रहे तौ दीप धुनि जागै ।
धरणी न सोषै अगनी न षाई । बेलि का रस लै भौंरा न जाई ।। ।8 ।।
कथणी कथी हो पंडिता रहणी न पाई । आचार के बंधै मनसा गमाई ।
कथंत श्रीस्यम्भु नाथ सुणौ नर लोई । भ्रम में भूल्या सो बहुरा न कोई ।। ।9 ।।

असत् सम्बन्ध की स्वीकृति और अविद्यारूपिणी माया के बन्धन में जकड़ा जीवात्मा सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है, वह निरंतर संघर्ष करता है, इस तरह वह आत्मयुद्ध में उतर कर अमरपद, परमात्मयपद का कैवल्यपद का ध्यान करता है । ऐसा आत्मवीर गुरूज्ञान (गुरू से प्राप्त उपदेशामृत) का चिन्तन करता रहता है । चारों ओर इन्द्रियजन्य विषयभोगों में रागासक्त करने वाली शत्रु-सेना खड़ी हैं, मनोबल के सहारे सारी शंकाओं को मिटा कर इस युद्ध को जीतकर जीवन को निर्भय कर लेना चाहिए । बिना युद्ध किये ही युद्ध करना आत्मयुद्ध है, यह आत्मसाधना है । शून्यपद में स्थित सहस्रारूपी वृक्ष चन्द्रामृतद्रव से परिपूर्ण है, यह निराधार; सर्वाधार अलख निरंजन परमात्मा परमशिव इसमें नित्य स्वरूप में विराजमान हैं । इस सहस्रार में जीवात्मा का परमात्मा से अभिन्नत्व ही योगसिद्धि है । ब्रह्मरन्ध्र, शिवपुर में तन, मन को प्रतिष्ठित कर देना चाहिए । प्राण-साधन के द्वारा मन को

उन्मन कर उन्मनी समाधि में स्थित रह कर चन्द्रामृत का पान कर सिद्धदेह की प्राप्ति कर लेनी चाहिए, यही जीवन्मुक्ति है । गुरूयोगी ही महायोग ज्ञानी है, महायोगज्ञानी का सारा संसार शिष्यत्व ग्रहण कर लेता है । मन चंचल है, स्वतंत्र और कही एक जगह स्थिर नहीं रह पाता, इसको उन्मन अथवा अमनस्क कर क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर को यौगिक धारणाओं से अथवा पांचभौतिक शरीर को अमृतरस के पान से आत्मा के निवास का अविनश्वर स्थान बना लेना चाहिए । इस तरह (योग) सिद्धि के मार्ग पर ाधक को चलना चाहिए, यह योगज्ञान-मार्ग है, अनुभवगम्य है, वाणी से इसका र्णन नहीं हो सकता है, न चक्षु से यह दीखता ही है, इसका बोध तो ाज्ञाचक्र में स्थित ज्ञानचक्षु, (शिवनेत्र अथवा तृतीय नेत्र) से ही होता है । ह्मरन्ध्र अथवा शिवपुरी में प्रवेश के लिए पवन और मन को उत्क्रमित करने े साथ ही साथ विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास कर चन्द्रमा से द्रवित अमृत ा पान करने से जीवन में विजय प्राप्त हो जाती है । अच्छी तरह परख र ही गुरू बनाना चाहिये, यदि युक्ति, साधन की प्रक्रिया का अभाव है तो ाधक नष्ट हो जाता है । आत्मविचार से श्रेष्ठ कोई ज्ञान नहीं है । हे ैद्धानों । भ्रम में नही रहना चाहिये । संसार-सागर से पार उतर जाना ाहिये । नादब्रह्म का साधन कर सहज शून्यस्थ अलख निरंजन का ाक्षात्कार करना चाहिये । आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त हो जाता है । रहनी से ही रनी का पता चलता है, नासिका ही पुष्प-गन्ध ग्रहण करती है । यन्त्र को लटा कर दिया जाता है, और शीर्षासन किया जाता है, इसका आशय यह है ि हमारे मूलाधार चक्र में कुण्डलिनी प्रसुप्त रहती है, मूलबन्ध और अपान के त्क्रमण द्वारा उसे जगाया जाता है कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर ऊपर उठती ाती है । हमारे नाभि-स्थान में द्वादश कलावाला सूर्य (अग्नि) रहता है, वह हस्रार में स्थित चन्द्रमा के द्रव को सोख लेता है और शरीर अमृत से वंचित रहता है, विपरीतकरणी मुद्रा से सूर्य का मुख ऊपर हो जाता है और चन्द्रमा का नीचे हो जाता है, अमृत का शोषण रूक जाता है, अग्नि के ऊर्ध्वमुख हो जाने से अधोमुख चन्द्रामृत बच जाता है और इसका पान करने से अमरकायत्व का लाभ होता है । इस तरह यन्त्र उलट देने से और शीर्षासन में स्थित हो जाने से जीवात्मा मन और इन्द्रियों के आघात से प्रभावित नही होता, अनेक विषयबाण छूटते रहते हैं पर जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है ।

ब्रह्मरन्ध्र (सिलहट) में कुण्डलिनी महाशक्ति मूलाधार में स्थित कामरूप-पीठेश्वरी का शिव से साक्षात्कार, मिलन करा देना चाहिए । यही सिलहट में काँवरूँ को जीतना है । निर्मल अनाहतनाद ब्रह्मरन्ध्र में ध्वनित हो रहा है, मन की चंचलता इस ब्रह्मरन्ध्र में उन्मनी समाधि, शून्य सहज समाधि में अथवा निर्विकल्प एवं निर्बीज समाधि में समाप्त हो जाती है । सहजशून्यस्थ शब्दब्रह्म-ऊँकार स्वरूप परम शिव का साक्षात्कार करते ही योगीन्द्रपद की प्राप्ति हो जाती है । सूक्ष्माति-सूक्ष्म का दर्शन होता है और दुर्लभ योगपद प्राप्त होता है । गंगा उल्टी बहने लगती है, प्राण-वायु सुषुम्ना-मार्ग से प्रवाहित होकर ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, और धरती कुण्डलिनी आकाश (ब्रह्मरन्ध्र) में मिल जाती है । अमृत में प्रवेश से अग्नि-ज्योति प्रज्वलित अथवा प्रकाशित हो उठती है, (घट) शरीर में ही कूप (ब्रह्मरन्ध्र में संचित अमृत) प्रवेश करता है, और सम्पूर्ण शरीर के भीतर निरंजन परब्रह्म की ज्योति अभिव्यक्त हो उठती है । परमात्मज्ञान अथवा योगज्ञान प्रकाशित हो जाने पर परब्रह्म आदिनाथ शिव की प्राप्ति होती है, यह निष्कल और अचिन्त्य अकथ ब्रह्म है । योगी गोरखनाथ ने इसको ध्यान में प्राप्त किया, अथवा इसका ध्यान किया । संसार के मायामोह के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये । स्वरूप में स्थित होने पर जीवात्मा विनष्ट नहीं होता है । योगाग्नि में सिद्ध देह को प्राप्त कर वज्रांगरूपी कोठड़ी में विषयगामी पंच इन्द्रियों के शक्तिहीन हो जाने पर, मर जाने पर वीरात्मा अपने पद में पहुँच जाता है, स्वरूप-बोध प्राप्त कर लेता है । मन से ही कायागढ़ में युद्ध (साधना) करना चाहिये, तलवार की इसमें आवश्यकता नहीं है । मन के उन्मन हो जाने पर अनाहत नाद का श्रवण होता है तथा ब्रह्मरन्ध्र में अलख निरंजनरूपी दीपक प्रकाशित हो उठता है । शरीर में अमृतरस प्रवाहित हो उठता है, मूलाधार (धरती) में स्थित सूर्य इसे नहीं सोखता है, पंचेन्द्रियरूपी भौंरा इसे बाहर नहीं ले जाता है। हे विद्वानों ! केवल (शास्त्रज्ञान के) कथन मात्र से ही ज्ञान-प्राप्ति नहीं हो सकती । आचार, व्रत आदि का पालन करने पर भी यदि स्वरूपबोध नहीं होता तो यह निरर्थक है । शिवस्वरूप गोरखनाथ का कथन है कि जो माया में भ्रमित रहता है वह सद्ज्ञान नहीं पाता है ।

भूल्या सो भूल्या बहुरि चेतना। संसार के लोहै आपा न रेतना ।
भेष तजि भ्रम तजि राषि सत्य सोई । तत बिचारता देवता होई ।। 20 ।।

आपा सोधौ ब्रह्म निरोधौ सहज पलटौ जोती ।
काया के भीतर मषि माणिक निपजै, तहाँ धुनि-धुनि बरषै मोती ।। 2। ।।
अरध उरध संपुष्टि करीजै। संषणि नाल अमीरस पीजै।
अषंड मंडल तंह नाद मेरीलै। हरिं आसण तह भगति करीलै।। 22 ।।
अलेष मन्दिर तंह सिव सक्ति निवासा। सहज सुन्न भया प्रकासा ।
तहाँ चंद बिना चाँदण अगिन बिन उजाला। एतन भेदंतबृद्ध से बाला ।। 23।।
करतार तजिहूँ साकत हूँ न जाई । मन मृग राषिले बाड़ी न पाई ।
आकास बाड़ी पाताल कूंआ। भरि-भरि सीचता जो सिद्ध हुआ ।। 24 ।।
अवधू अमर कोट काया अलेष दरवाजा ।
ग्यांन गढ़ आसण प्राण भयो राजा ।। 25 ।।
अवधू फेरि ले तौ तत सार बुद्धि साँच ।
नहीं तौ लोहा गढ़िले तौ कंचन नहीं तौ काँच ।। 26 ।।
अवधू सिद्धा पाया साधक पाया ते उतरिया पारं ।
कथंत जती गोरषनाथ जेते न जानंत विचारं, ते जलि भये अंगारं ।। 23 ।।

हे अवधूत । मनुष्य-शरीर की प्राप्ति बहुत दुर्लभ कही गयी है, इसमें जन्म लकर जो परमात्मा का स्वरूपानुभव नहीं कर लेताहै, उसका जीवन व्यर्थ चला जाता हैं और जीवन के इस तरह व्यर्थ और निस्सार चले जाने का एक मात्र कारण है अज्ञान, इस अज्ञान में ही अनेक भूले होती रहती हैं । जो भूल हो गयी, वह हो गयी, ज्ञान-प्रकाश में सावधान हो जाना चाहिए, जाग जाना चाहिए, चेतना चाहिये । संशय नही करना चाहिये, संशय (लोहे की रेती) से आत्मा को नष्ट नहीं करना चाहिए । केवल (योगी का) भेष धारण कर लेने से भ्रम का नाश नहीं होता है, भेष और भ्रम से सद्ज्ञान मिलने में असुविधा होती है । आत्म-तत्व का विचार करते-करते परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । अपने आत्मा के मायिक आवरण और विकारों का शोधन करना चाहिए, शुद्ध आत्मस्वरूप पर विचार कर शरीर में ब्रह्म का अनुभव करना चाहिए, परमात्मा हमारे भीतर विराजमान है, मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए । काया के भीतर मणि-माणिक्य भरे पड़े हैं, उसमें अनेक (ज्ञान) रत्न उत्पन्न होते हैं, उसमें सहस्रार में स्थित चन्द्रमा के अमृतकण, मुक्तामणि आदि ब्रह्मरन्ध्र (आकाश) से झरते रहते हैं । शंखिनी-नाल से अमृत रस पीना चाहिए । अपान और प्राण को

उत्क्रमित कर सुषुम्ना नाड़ी से उनको (प्राण के रूप में) ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट करना चाहिए अथवा नाभिस्थित सूर्य को ऊर्ध्वमुख कर तथा सहस्रारस्थ चन्द्र को अधोमुख कर तालु में द्रवित अमृत का स्वयं पान करना चाहिए । शून्य आकाश-मण्डल, ब्रह्मरन्ध्र में अनाहतनाद में आत्मलय कर परब्रह्म परमेश्वर का करना चाहिए, उसकी भक्ति के रस में समाधिस्थ हो जाना चाहिए । वह शून्य गगन ब्रह्मरन्ध्र अरूप और अलेख है, निराधार है, उसमें शक्ति-शिव का निवास है, अलख-निरंजन की सहज ज्योति प्रकट है । वहाँ बिना चन्द्रमा के चाँदनी (सच्चिदानन्दमयी), ब्रह्मज्योति है, बिना अग्नि के प्रकाश है । इस आकाश-मण्डल का भेदन कर उसमें प्रवेश कर (चन्द्रमामृत का पान करने से) वृद्ध बालक हो जाता है । उसे अमरकायत्व के रूप में चिरतारूण्य की प्राप्ति हो जाती है । मनरूपी मृग को आकाशरूपी उपवन से बाहर नहीं जाने देना चाहिए अथवा मन को ब्रह्मरन्ध्र में उन्मन कर लेना चाहिए । सिद्ध पाताल के कुएँ के जल से वीर्य-(रस) से आकाशरूपी उपवन को सींचते हुए योग-सिद्धि प्राप्त करते हैं । हे अवधूत । इस तरह अमरत्व में स्थित कायागढ़ में योगी निवास करता है, वह नवों द्वारों को बन्द कर दसवें द्वार, ब्रह्मरन्ध्र में स्थित होकर उन्मनी समाधि सिद्ध कर लेता है । ज्ञानगढ़ में आसन लगाकर प्राण ही राजा बन जाता है, (गुरू) ज्ञानगढ़ में अमृत शरीर में प्राण का राज्य है । प्राण इस शरीर से बाहर नहीं हो पाता है, क्योंकि शरीर चन्द्रामृत से पोषित है, अमृतस्वरूप है । शरीर में ज्ञानाग्नि प्रज्वलित है, लोहा से स्वर्ण बना लेना चाहिए, यही रससिद्धि है, अन्यथा यह शरीर शीशे की तरह से विदीर्ण हो जायेगा । सिद्ध और साधक सब-के-सब, ज्ञान के प्रकाश में भवसागर से पार उतर गये । गोरखनाथ का कथन है कि जिन्होंने गुरू-ज्ञानं-प्रकाश से शरीर को अमृतत्व में स्थित कर परमशिव का साक्षात्कार नहीं कर लिया, वे जल कर अंगारे के समान बुझ कर राख हो गये, नष्ट हो गये । अमर-जीवन प्राप्त करना चाहिए ।

अवधू ऐसा नग्र हमारा । तिहाँ जोवौ ऊजूद्वारं ।
अरध-उरध बजार मंड्या है । गोरष कहै बिचारं ।। 28 ।।
हरि प्राण पातिसाह, साह बिचार काजी ।
पंच तत ते उजहदारं, मन पवन दोंऊ हस्ती घोड़ा,
गिनान ते अषै भडार ।। 29 ।।

काया हमारै सहर बोलिये, मन बोलिये हुजदार ।
चेतनि पहरै कोटवाल बोलिये, तौ चोर न झंकै द्वारं ।। 30 ।।
तीनि सै साठि चीरा गढ़ रचीले, सोलह षणिलै षाई ।
नव दरवाजा प्रगट दीसै, दसवां लष्या न जाई ।। 31 ।।
अठारह भार कोट कठंजरा लाइलै, बहत्तर कोठड़ी निपाई ।
नव सत्र ऊपरै जंत्र फिरै, तब कायागढ़ लिया न जाई ।। 32 ।।
अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइ लै परम जोति दुइ दीपक लाई ।
काम क्रोध दोइ गरदनि मारिलै,
ऐसी अदली पातिसाही, बाबै आदम चलाई ।। 33 ।।
तहाँ सत्य बीबी संतोष साहिजादा, षिमा भगति द्वै दाई ।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, काया नगरी गोरष बसाई ।। 34 ।।

विशेष : 28 से 34 पदों का अर्थ पृष्ठ 175-176 पर देखना चाहिए ।

इति श्रीग्यांन चौतीसा पठंते गुणंते करंते पापे न लिपयते ।
पुंने न हारंते ऊँ नमो सिवाइ ऊँ नमो सिवाइ ।
गुरू मछिंन्द्रनाथ पादुका नमोऽस्तु ते ।

अष्ट चक्र

ऊँ गोरष देव अष्ट चक्र बोलिये घट भीतर । ये कौंण कौंण बोलिये । अवधू प्रथमें आधार चक्र बोलिए गुदा अस्थांने, चत्र दल कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि द्रिष्ट चक्र, लिंग अस्थांने षट दल कंवल षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि मणिपुर चक्र, नाभि अस्थांने, दस दल कंवल, षट सै सांस । तिस चक्र ऊपरि अनहद चक्र, हिरदा सथांने द्वादस कंवल, षटसै सांस । तिस चक्र ऊपरि विसुध चक्र, कंठ सथांने षोडस कंवल, एक सहंसर सांस, अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन । तिस चक्र ऊपरि अगनि चक्र, नेत्र सथांने षोडस दल कंवल एक सहंस्र सांस अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन । तिस चक्र ऊपरि गिनांन चक्र ब्रह्मण्ड सथांने एक सहंस्र दल कंवल एक सहंस्र सांस । अजपा गायत्री पारब्रह्म ध्यांन।

तिस चक्रऊपरि सुक्षिम चक्र, बिग्यांन सथांने एक बीस सहस्र दल कंवल । ए अष्ट कमल का जांणौ भेव । आपै करता आपै देव ।

इती अष्ट चक्र कथंत जती गोरषनाथ संपूर्ण

ग्यांन तिलक

ऊँ सबदहि ताला सबदहि कूची सबदहिं सबद भया उजियाला ।
कांटा सेती कांटा षूटै कूंची सेती तला ।।
सिध मिलै तो साधक निपजै, जब घटि होय उजाला ।। । ।।
अलख-पुरूष मेरी दृष्टि समाना, सो सा गया अपूठा ।
जब लग पुरूषा तन मन नहीं निपजै, कथै बदै सब झूठा ।। 2 ।।
सहज सुभाव मेरी तृष्ना फीटी, सींगी नाद संगि मेला ।
यंम्रत पीया विषै रस टारया गुर गारड़ौ अकेला ।। 3 ।।

ऊँस्वरूप परब्रह्म अलख-निरंजन परमेश्वर अपनी निजाशक्ति में, इच्छाशक्ति में अप्रकट है, उसके प्राकट्य का अनुभव गुरू के उपदेशामृत (शब्द) से होता है, जिस तरह ताला खोलने में कुंजी की आवश्यकता है, बिना उसके वह खुल नहीं पाता, इसी तरह शब्द ब्रह्म का बोध गुरू के शब्द अथवा उपदेशामृत से ही होता है । यह निर्विवाद और सहज सामान्य तथ्य है कि काँटे से ही काँटा निकलता है, इसी तरह इसमें तनिक भी संशय नही है कि शब्द ब्रह्मरूपी ताले का रहस्यभेदन गुरूशब्दरूपी कुंजी, उपदेश से होता है । योगसिद्ध गुरू की प्राप्ति होने पर ही योगमार्ग पर चलनेवाले साधक साधना में लगते हैं और इसकी कसौटी यह है कि गुरू के उपदेश से साधक के शरीर के भीतर आत्मज्ञान प्रकाशित हो उठता है । जब मुझे गुरू की कृपा से पता चल गया कि परब्रह्म परमेश्वर अलख-निरंजन परम पुरष परमात्मा मेरे तन और मन में ही व्याप्त हैं, विद्यमान है तो परब्रह्म में मुझे निजस्वरूप की अभिन्नता का ज्ञान हो गया, मैं उससे अभिन्न हो गया । मेरी ज्ञानदृष्टि में परब्रह्म समा गया और मुझे अपने निर्विकार सच्चिदानन्दस्वरूप का ज्ञान हो गया । जब तक साधक के आत्मदर्शन के स्तर पर स्वसंवेद्य परमात्मा की

व्यापकता नहीं प्रकाशित होती, तब तक कोरा आत्मज्ञान कथन बकवाद मात्र है, मेरी तृष्णा-विषयभोगासक्ति मिट गयी है और मैंने अनाहतनाद के (निष्पत्ति, सूक्ष्म शब्दलयावस्था में) सहज श्रवण के फलस्वरूप नाथपंथ की योगसाधना में सीगीनाद धारण कर लिया है, मैं अभय हो गया हूँ, मुझे गरूड़मंत्र के मर्मज्ञ, सिद्ध गुरूदेव ने माया अथवा कामना, तृष्णा (मनसा) के विषय-रसरूप विष से मुक्त कर सहस्रार से द्रवित अमृतरस का पान कराया है, अथवा गुरू के उपदेशामृत का पान करने से मुझ पर मायारूपी सर्पिणी का विष नहीं चढ़ सकता हैं, मैंने आत्मस्वरूप में स्थित होकर अमृतब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है ।

सरंप मरै बांबी उठि नाचै, कर बिन डैरू बाजै ।
कहै नाथ जो यहि बिधि जीतै, पिंड पड़े तो सतगुर लाजै ।। 4 ।।
दरपन माहीं दरसन देष्या, नीर निरंतरि झांई ।
आपा माहीं आपा प्रगट्या, लखै तौ दूर जाई ।। 5 ।।
चकमक ठरकै अगनि झरै यूं, दध मथि घृत करि लीया ।
आपा माहीं आपा प्रगट्या, तब गुरू सन्देसा दीया ।। 6 ।।

शरीर में कुण्डलिनी सर्पिणी उसी तरह सोती है, जिस तरह अपने बिल में सर्पिणी पड़ी रहती है । पर उसके मरते ही बिल में अभय का वातावरण छा जाता है, ठीक उसी तरह अविद्या-मायारूपिणी कुण्डलिनी के मरते ही (ज्ञानस्वरूप में प्रबुद्ध होते ही) सारे शरीर में नवजीवन का प्रकाश छा जाता है, रोम-रोम में नाड़ियों में प्राणसंजीवनी प्रवाहित हो उठती है, शरीर उठ कर नाचने लगता है - शरीर में आनन्द छा जाता है । अनाहतनाद का गर्जन होने लगता है, ऐसा लगता है कि बिना हाथ से ग्रहण किया गया डमरू ही किसी अदृश्य शक्ति से बज रहा है । इस तरह योगसंग्राम में अविद्या-सर्पिणी माया को मार कर जीवात्मा प्राणसाधना के द्वारा शरीर को योगाग्नि में पक्व कर ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव में स्वरूपस्थ हो जाता है । यदि साधक के शरीर का पात हो जाता है तो यह स्पष्ट है कि उसने गुरूज्ञान की उपेक्षा और अवहेलना कर साधना के नाम पर अहंकार का पोषण ही किया । शरीर निस्संदेह अमर हो जाता है । दर्पण में जो रूप या प्रतिबिम्बि देखा जाता है, वह देखने वाले की ही आकृति है, उससे भिन्न नहीं है, स्थूलाकृति है, इसी तरह आत्मा

में शाश्वतचैतन्यघन परमात्मा व्याप्त हैं, उसकी अभिव्यक्ति ज्ञानेन्द्रिय और मन में नहीं हो सकती है । चेतन में ही चेतन की अभिव्यक्ति-स्वरूप अभिव्यक्ति है । जिसे स्वरूपबोध हो जाता है, जिसे परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, वह फिर अन्यत्र भटकनेवाला भिन्नरूप ही नहीं रह जाता है । जिस तरह चकमक पत्थर में रगड़ लगने से अग्नि-स्फुलिंग का प्राकट्य होता है, उस स्फुलिंग और अग्नि में भेद नहीं है, उसी तरह आत्मा-परमात्मा में भेद नहीं है, दधि मथ कर घृत निकाला जाता है, दधि और घृत, दोनों दूध ही हैं । अभिन्न हैं, पर घृत निकालने का साधन किया जाता है, इसी तरह आत्मा में परमात्मा का प्राकट्य होता है, पर ऐसा गुरू-ज्ञानामृत से ही समभव है ।

सुरति गहौ संसै जिनि लागौ, पूंजी हांन न होई ।
एक तत सूं एता निपजै, टारया, टरै न सोई ।। 7 ।।
निहिचा ह्वै तो तेरा निपजै, भया भरोसा नेरा ।
परचा ह्वै तौ ततषिन निपजै, नहीं तर सहज न बेरा ।। 8 ।।
जे लूट्या जिनि षबरि न पाई, कसि करि यंद्री डांडी ।
तन मन की कछु षबरि न पाई, सुरति बिगोया रांडी ।। 9 ।।
बिंद और भगबाघणि औरै, बिन दांता जग षाया ।
प्रांण पुरूष का मर्म न पाया, छोड़ि बिगूते माया ।। 10 ।।

परमात्मा अव्यय, सनातन और अनन्त है, सदा उसके स्मरण और ध्यान में चित्त को लगाये रखना चाहिए । बुद्धि को संशय-अज्ञान और भ्रम में नहीं डालना चाहिए । आत्मा ऐसी पूंजी है, जिसका कभी क्षय नहीं होता है, यह अक्षय है, इस परमात्मतत्व के निश्चय, सनातन में समग्र विश्वास से स्वरूप-बोध की प्राप्ति होती है, निश्चय साधना-सिद्धि का परम-फल है, इस परंमात्मतत्व में परिचय अथवा साक्षात्कार का तात्कालिक तत्क्षण फल है,परमात्मा में निर्द्धन्द्वता पूर्वक जीवात्मा की संस्थिति-अभिन्नता । यदि माया इसमें बन्धनकारिणी बनती है, जीवात्मा विषय-प्रपंच में लिप्त होकर आत्मविस्मरण करता है तो उसका सहज परमात्मसम्बन्ध से भिन्नत्व स्थापित होता है, वह सहज स्वरूपस्थिति तक नहीं पहुँच पाता है, भटक जाता है, अक्षय परमात्म धन नहीं मिलता । माया के द्वारा जो जीवात्मा परमात्मज्ञान से विमुख कर दिया

जाता है, विषय-भोग में अज्ञानपूर्वक बाँध दिया जाता है, उसे पता ही नहीं रहता है कि इन्द्रिय-जन्य विषय-भोगों की तृप्ति से परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती । उसका शरीर भोग-तृप्ति और काम-वासना की पूर्ति में निरन्तर क्षीण होता रहता है और मन चंचल रहता है, चित्तवृत्तियाँ निरूद्ध नहीं हो पाती । वह योगमार्ग से विमुख होकर माया के चक्कर में पड़ कर अपनी आध्यात्मिक निधि खो देता है । (हठ) योग की साधना का आधार है वीर्य की रक्षा, शरीर में वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर उसे महारस में परिणत कर देने से दुर्लभ अमृतपान का योगी अवसर प्राप्त करता है । बिन्दु अमूल्य है, रत्न है, पर वह भगमुखी (स्त्री के आलिंगन परिरम्भण में पुरूष की कामवासना की तृप्ति का आधार) बन जाता है, स्त्री का भग बाघिन से भी भयानक रूपवाला है, बाघिन तो दाँत से चबा कर अपने शिकार को खाती हैं, पर भग तो बिना दाँत के ही पुरूष का सर्वनाश कर देता है । वह कामुकता में प्रवृत्त होकर अपना पुरूषतत्व नष्ट कर देता है और मृत्यु का ग्रास बन जाता है । ऐसे कामुक को प्राण-पुरूष (अन्तर्यामी परब्रह्म) के रहस्य, तत्व का ज्ञान नहीं होता है, वह माया के द्वारा विनष्ट हो जाता है ।

सौंट्यौ लाकड़ि ज्यूं घुण लागै, लोहै लागै काई ।
बिन परतीति कहा गुरू कीजै, काल जग्रास्यां जाई ।। ।। ।।
रांडी तज्यां न षसिया जीवै, पुरूष तज्यां नहीं नारी ।
कहै नाथ ये दोनयूं बिनसे, धोषा की असवारी ।। ।2 ।।
बैसन्दरमुषि ब्रह्म जो होते, सुद्र पढ़ाऊँ बानी ।
असमेद बिधि ब्रह्म जग निपजां, नै जुगति जमाया पांनी ।। ।3 ।।
तौ जुग रांड्या जोगेस्वर ब्याह्या, सिवसकती सूं फेरा ।
जा पद मिंदर पुरूष बिलंव्या, वहि मिंदर घर मेरा ।। ।4 ।।

जिस प्रकार सूखी लकड़ी को घुन खा जाते हैं और उपेक्षित लोहे में जंग लग जाती है उसी तरह आस्था हीन शिष्य को काल खा जाता है, गुरू उसकी रक्षा नहीं कर सकता । स्त्री के रूपजाल से पुरूष अपने-आप को नही मुक्त कर सकता है । इसी तरह स्त्री भी बिना पुरूष से अपनी कामाग्नि को शीतल किये अथवा तृप्त किये रह नहीं सकती । इस तरह एक-दूसरे के संग में रहकर पुरूष और स्त्री, दोनों-के-दोनों धोखे में हैं और दोनों एक-दूसरे

से आकृष्ट होकर अपने जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर पाते हैं । जो योगाग्नि में अपने प्राण (ब्रह्म, आत्मा-परमात्मा को उपनिषदों में प्राण कहा गया है) का हवन कर दे अथवा शरीर में योगाग्नि प्रकाशित कर ब्रह्म की उपासना, करे, वही सद्शिष्य है । चाहे ऐसा शिष्य शूद्रवर्ण का भी क्यों न हो । ऐसे शिष्य का जीवन यद्यपि एक यज्ञ है तथापि योगाग्नि में जीवन को परिशुद्ध करने का उसका संकल्प साक्षात् महापुण्यस्वरूप अश्वमेध यज्ञ है, जिसके लिए वीर्य (महारस) को ऊर्ध्वगामी कर अमृत में रूपान्तरित कर दिया जाता है । माया ने (स्त्री के प्रति आकर्षण ने) साक्षात् महादेव को भी, काम को जलाकर छार कर देने वाले को भी, प्रभावित कर दिया, शिव ने महामाया स्वरूपिणी जगदीश्वरी उमा का पाणिग्रहण किया । परमपद, ब्रह्मरन्ध्ररूपी मन्दिर के इष्टदेव परमशिव भी माया से विमुग्ध होकर अपने निष्कल रूप से सकल-साकार रूप में अभिव्यक्त हो गये पर उसी ब्रह्मरन्ध्र में मैं निष्कल, अकुल शिव का साक्षात्कार कर अलख-निरंजन ब्रह्म में समा गया, अभेद हो गया । स्त्री के रूपजाल में मैं आसक्त नहीं हो सका ।

या रहनी मैं घर बासा, जोग जुगति करि पाया । घर
सिव समाधि पंच घर मेला, गोरष तहां समाया ।। 15 ।।
हाली भीतरि षेंत निदांणै, बगु मैं ताल समाई ।
बरषै मोर कुहूकै सावण, नदी अपूठी आई ।। 16 ।।
गऊ पद मांही पहौकर फकदै, दादर भर्य्य झिलारे ।
चात्रिग मैं चौंरासी बोलै, ऐसा समा हमारे ।। 17 ।।
आसा तृष्णां थिर ह्वै बैठी, पद परचैसुष पाया ।
सुकै तरवर कूंपल मेल्ही, यहि बिधि निपजी काया ।। 18 ।।

मैंने स्त्री रहित (मायारहित) रहनी से योग की साधना के द्वारा वास्तविक घर-ब्रह्मरन्ध्र की प्राप्ति कर ली । पंच-ज्ञानेन्द्रियाँ भी स्त्री द्वारा काम-तृप्ति की प्राप्ति की दिशा में सहायता कर योग-प्राप्ति के मार्ग में शत्रु के समान हो जाती है, मैंने उनकी शक्ति का ब्रह्म-प्राप्ति में उपयोग किया है, वह ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो गयी, मेरी बाह्यवृत्ति समाप्त हो गयी और मैं अलख-निरंजन परमशिव से अभिन्न हो उठा । जीवात्मारूपी किसान सदा अपने शरीररूपी खेत की खर-पतवार, घास आदि नष्ट कर रक्षा करता है ।

जिस तरह किसान (हलवाला - हाली) खेत को निराता है और उसमें फसल लहलहा उठती है, ठीक इसी तरह सावधान योगसाधक षट्कर्म, आसन-प्राणायाम और मुद्राबन्ध आदि से शरीर के दोष दूर करता है और इस तरह अपने भीतर आध्यात्मिक जीवन लहलहा उठता है । यह मन बगुला है, यह किसी भी समय साधक की सात्विक वृत्ति को उसी तरह नष्ट कर देता है, किन्तु योग साधना के पश्चात् मन का आधार ही समाप्त हो गया, मानो सारा तालाब ही बगुले में समा गया हो । सारी बातें अन्तर्मुखी और विपरीत हो गयी । सामान्य रूप से मायारूप से मायारूप सावन बरसता है और मन-मयूर आनन्द-मग्न होकर नृत्य करता है पर अन्तर्मुखी वृत्ति होने से मन साक्षात् ब्रह्मामृत स्वरूप हो गया और माया उलटे (अपूठा) परब्रह्मस्वरूपिणी हो गयी, शिवमयी हो गई । जिस तरह गोपद में पुष्कर (पोहकर) जलाशय समा जाता है, स्पन्दित हो उठता है, उसी तरह योगसाधक का स्थूल (बाह्य) अस्तित्व अन्तर्मुखी हो जाता है, सूक्ष्म होकर परमशिव में आकारित हो उठता है । उस सूक्ष्म जीवन में- अमृत स्वरूप अस्तित्व में सूक्ष्म मन, शिवस्वरूप उन्मनी अवस्था में बिलीन मन जो दादुर-मेढक और भर्रय-बर्हि (मोर) के समान है, आनन्दमग्न हो उठता है । इस चौमासे (पावन ऋतु अथवा योगसिद्धि की अवस्था) में आत्मारूपी चातक स्वातिधनस्वरूप प्राणेश्वर परमात्मा के अभिमुख हो उठता है, साक्षात् शिव हो उठता है । इस तरह की रमणीय छवि (दृश्य) उपस्थित हो उठती है । आशा तृष्णा की अस्थिरता समाप्त हो जाती है । साधक का जीवन ब्रह्मानन्दस्वरूप अमृत से परिपूर्ण हो उठता है । माया का वृक्ष सूख जाता है, आध्यात्मिकता की कोपलें निकल पड़ती हैं, काया की सार्थकता प्रगट हो जाती है, शरीर के भीतर परब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है ।

पूरब देस पछाहीं घाटी, (जनम) लिष्या हमारा जोगं ।
गुरू हमारा नांवगर कहीए, भेटै भरम विरोगं ।। 19 ।।
नव ग्रहमारि अगनि मुषि झौक्या, दुदरहि लग्या डोरी ।
परम पुरूष पिंजरि बिलंब्या, भई अगम गति मोरी ।। 20 ।।
अकथ कथ्या अन अष्षिर बांच्यां, अगम गवन करि लीया ।
हंस बिलंव्या बूंद न ढ़लकै, वहि सरवर बंध दीया ।। 21 ।।

बोलै नाथ गगन घर बासा, अंतरि बसीया जाई ।
परम पुरस मेरै कागद मांड्या, दिन दिन कला सवाई ।। 22 ।।

हमारे पिण्ड के भीतर प्राण ही हमारा (चेतन आत्मारूपी योगी गोरखनाथ का) पूर्वदेश है, (शाश्वत चैतन्य आत्मा का), निवास स्थान है और मेरूदण्ड में स्थित सुषुम्ना नाड़ी (पछाहीं घाटी) ही हमारे आने जाने का मार्ग है । (इसी में प्राणहंस आता है, जाता है) हमारे भाग्य में (विधाता ने) योग लिखा है । संसार-सागर से पार उतारने के लिये हमें सद्गुरू (मत्स्येन्द्रनाथ) के रूप में एक अनुभवी नाविक की प्राप्ति हो गयी है । उन्होंने हमारे अज्ञानजन्य भ्रम-रोग का नाश कर दिया है, गुरू के ज्ञान-प्रकाश में मुझे इस बात का पता चल गया है कि मेरे अमृतस्वरूप जीवन पर क्रूर और अनुकूल दोनों प्रकार के (नवों) ग्रहों की चाल का लेश मात्र प्रभाव भी नहीं है । माया से उत्पन्न द्वन्द्वों का भी पता लग गया है, मुझे इन्द्रिजन्य विषय भोगों में पूरी-पूरी उपरति हो गयी है । मेरा प्राणहंस मेरे शरीर में स्थित हो गया है और मुझे अलख-निरंजन की स्वरूपानुभूति हो गयी है । कैवल्यपद की प्राप्ति हो गयी है । इस तरह अगम-अपार परमगति, मुक्ति में मैं स्वस्थ हूँ । ब्रह्मप्राप्ति का वर्णन शब्दसापेक्ष नहीं है, नाद (शब्द) से भी परे अलख-निरंजन के स्वरूप का मुझे बोध मिल गया है, यह स्वसंवेद्य बोध है, मैंने गुरू के अनुग्रह से ज्ञानोदय के प्रकाश में इस अकथ, शब्दातीत रहस्य को पढ़ लिया है, बाँच लिया है । इस अकथ परमात्मपद में परब्रह्मस्वरूप में मेरा प्राणहंस स्वस्थ हो गया है । मेरे शरीर में महारस (वीर्य) का एक कण भी क्षरित नहीं हो पाया, वीर्यरस अमृत में परिणत हो गया है, मैं पूर्ण ब्रह्मचर्यपद में प्रतिष्ठित होकर अलख-निरंजन ब्रह्मस्वरूप हो गया । गोरखनाथ का वचन है कि गगनरूप-आकाशचक्ररूप घर में अथवा ब्रह्मरन्ध्र में हमने शिव से तादात्म्य प्राप्त कर लिया है, ब्रह्मरन्ध्र में ही हमारा निवास है । परमपुरूष-शब्दातीत अलख-निरंजन ब्रह्म ही मेरी भाग्य-लिपि है, जन्मपत्र है, जिससे मेरी शक्ति निरन्तर बढ़ती चली जा रही है, मुझे आत्मस्वरूपबोध हो गया है ।

ऐसे रमहुं जैसे नष सिष भेदै, संक्या सरीर न लूटै ।
चलत फिरत पद माहिं समावै, जांमण मरण न छूटै ।। 23 ।।

मरि मरि जाय सुसंसा मांही, तन का मरम न पाया ।
समझया होय तो पदपंथ औरै खोषै जनम गमाया ।। 24 ।।
या पद की कठिन है करनी, केवल-मतापुरूष की रहनी (सोई) ।
या रहनी तैं पारस निपजै लोहा कंचन पद भेट्यां पद होई ।। 25 ।।
नींझरनीर अगनि मुषि बरषै, सींचै बाग हमारा ।
या रहनी तैं पैंकंबर निपजै, तिसिया मरै संसारा ।। 26 ।।

(पूर्ण योगसिद्धि तो यही है कि) साधक को अलख निरंजन की स्वरूपानुभूति में इस तरह रमण करना चाहिए, लीन रहना चाहिए कि नखशिख पर्यन्त पूरे शरीर के भीतर ब्रह्मानुभूति-ही-ब्रह्मानुभूति व्याप्त हो गयी है । शरीर पर माया का तनिक भी प्रभाव न रह जाय, सोते-जागते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, निरन्तर ही ब्रह्मानुभूति में चित तल्लीन हो जाय और जन्म-मरण का भय छूट जाय, जीवन्मुक्ति मिल जाय । यही कैवल्यपद की प्राप्ति कही गयी है । संशय का अन्त कर देने से ही सद्ज्ञान के द्वारा शरीर के भीतर परमात्मा का (ब्रह्मरन्ध्र में) साक्षात्कार होता है, शरीर योगसिद्धि का महान् साधन है । जो इस बात को नहीं समझता है, वह संशय और अज्ञानजनित भ्रम के द्वारा आत्मज्ञान नष्ट कर देता है । कैवल्यपद की प्राप्ति के लिये साधना में निरन्तर लगे रहने वाले साधक की करनी (अभ्यास) अत्यन्त कठिन और श्रमसाध्य है । इस रहनी-कैवल्यपदप्राप्ति में, तल्लीनता में, अलखनिरंजन परमात्मरूपस्पर्शमणि (पारसमणि) की प्राप्ति होती है । इस पारसमणि से शरीररूप लोहा-मरणशील जीवन अमृतत्वरूपी स्वर्ण में परिणत हो जाता है । (आसन, प्राणायाम, मुद्राबन्ध आदि के द्वारा कुण्डलिनी जागरण और वीर्यरस के ऊर्ध्वीकरण से सहस्रार में निरन्तर (चन्द्रमा का) अमृत बरसता रहता है । चन्द्रमा का अमृत सोलह कला से पूर्ण है, सूर्य का अग्नि तेज (विष) बारह कलावाला है, साधक इस अमृत (शेष चार कलावाले पोषकरस) का सूर्यमुख से वंचन कर स्वयं पीता है, इससे सारे शरीर में चेतनता प्रवाहित रहती है । यह शरीर एक उपवन है, हरा-भरा बाग है । यह इस अमृत से सदा पालित-पोषित अथवा सजीव रहता है । ब्रह्मानुभूति के फलस्वरूप योगसिद्ध पुरूष पैदा होते हैं, और उनके उपदेशामृत और अनुभवामृत से असंख्य लोग योगमार्ग में प्रवृत्त होकर जीवन में परमानन्द का रसास्वादन करते हैं ।

ब्रह्मानुभूति से सांसारिकता का नाश होता है, अविद्यारूपिणी माया मर जाती है।

यंद्र मिल्या तैं धरती निंपजै, यंद्री वरषै देही।
गुरू हमारा बांनी बोली, माणिक चुगि चुगि लेही ।। 27 ।।
पाथर मैं पारस अबिनासी, ज्यूं अस्ट धात मैं सोना।
यूं सब जग माँहि समझि अबिनासी, ताघटि पाप न पूनां ।। 28 ।।
बहती नदी भाव भरि थांभी, सूरिज देषि पछांहीं।
दुलभ देवल मन अगोचर, ता बेल्यां फल षाँही ।। 29 ।।
नव लख किरणि अपूठी प्रकटी, कोटि किरणि मुषि आगै।
कहै नाथ धरम का पैंडा, संसै बूंद न लागै ।। 30 ।।

जलवृष्टि का देवता इन्द्र है। इन्द्र पानी बरसाता है, तब धरती में (अन्नादि की) उपज होती है, इसी तरह हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ जब अन्तर्मुखी हो उठती हैं, तब देह में आत्मज्ञान उत्पन्न होता है। हमारे गुरू का उपदेशा मृत है कि ऐसा होने पर साधक अपने शरीर में ही परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार करता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है। जिस तरह पत्थर में पारस (स्पर्शमणि की) सूक्ष्मसत्ता-शक्ति अन्तर्हित रहती है, जिस तरह आठों धातु (अष्टधातु) में स्वर्ण विद्यमान रहता है, उसी तरह हमारे शरीर में अविनाशी परब्रह्म अलख-निरंजन परमात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वरूप में विद्यमान है। जो साधक शरीर में ही अविनाशी परब्रह्म का अनुभव कर लेता है, वह साक्षात् ब्रह्मरूप होता है, उसके कर्म पाप-पुण्य के परे हो जाते हैं। प्राण-अपान का संयोग अथवा मेल हो गया है। मुद्राबन्ध और प्राण-साधना के परिणामस्वरूप कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर नाभिस्थित सूर्य सुषुम्ना, पश्चिममार्ग से सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से मिलने के लिये ब्रह्मरन्ध्र-दसवें द्वार से अमृतलोक में पहुँच गया है। ऐसी स्थिति में बहिर्मुख मनोवृत्ति रूप नदियाँ स्तम्भित हो गयी हैं अथवा निरूद्ध हो गयी हैं, साधक की वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी हैं। अमरकायत्व की प्राप्ति हो गयी है तथा मन अलख-निरंजन परब्रह्मस्वरूप हो गया है, अविद्या, अन्धकारमयीमाया विलुप्त हो गयी और ज्ञानप्रकाश फैल गया है, विद्यास्वरूपिणी मायावेलि का अमृतफल-

योगसिद्धिपद योगी को प्राप्त हो गया है । योगमार्ग पर जीवन को सार्थक करना ही धर्ममार्ग का आश्रय है, इस मार्ग पर चलने से साधक को अपने शरीर के भीतर अलखनिरंजन स्वरूप का बोध हो जाता है । उसके मन में तनिक भी संशय नहीं रह जाता है, वह आत्मविवेक से सम्पन्न होकर शिवस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । उसे आगे-पीछे, भीतर-बाहर, नीचे-ऊपर सर्वत्र परमात्मज्योति प्रकाशित अथवा अभिव्यक्त दीख पड़ती है, उसके ज्ञाननेत्र में प्रकट हो जाती है । (अपूठी में अशब्द निरर्थक है, पूठी का अभिप्राय है पीठ पीछे) इस तरह आगे-पीछे नौ लाख-असंख्य किरणें, परमात्मज्योति की आभायें प्रकट हो जाती हैं । गोरखनाथ का वचन है कि परब्रह्मप्रकाश में जीवात्मा का तादात्म्य ही योगपथ का स्वारस्य अथवा परमलाभ है ।

गिरही कै घरि जनम हमारा, संगति सुरति दिढांणी ।
कहै नाथ जीव ब्रह्म एकै, जब सिव घरि सक्ति समांणी ।। 31 ।।
अनहदधुनि मैं रहनि हमारी, तत्तदेखि मन लागा ।
आपा मांही आपा प्रकट्या, जब जाय धोषा भागा ।। 32 ।।
जे नर जोनि अजोनी सिंभू, सिध पुरिष सूं मेला ।
जा रहनी मैं थान हमारा, ता घटि पुरिष अकेला ।। 33 ।।
उरधै भरे सो थिर ह्वै पीवै, सूधै घटि संवारी ।
अंधै लोचन सब जग सूझै, सालिम सब अंधियारी ।। 34 ।।
तूंबी मैं तिरलोक समाणा, तिरबेणी रवि चंदा ।
बूझौ हो कोइ ब्रह्म गियानी, अनहदनाद अभंगा ।। 35 ।।

हमारा जन्म तो गृहस्थ के घर हुआ, पर हमें सौभाग्य से सत्पुरूषों के संग में रहकर महायोगज्ञान (सुरति) प्राप्ति करने का अवसर मिला । गोरखनाथ का कथन है कि जब मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी शक्ति जाग कर सुषुम्नामार्ग से ऊर्ध्वमुखी होती हुई ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश करती है, तब शिव में वह अभिन्न अथवा स्वरूपस्थ हो उठती है, शिव अलख-निरंजन परमात्मा का यही जीवात्मा से साक्षात्कार अथवा तादात्म्य है । शिव और शक्ति के मिल जाने पर मैं अनाहतनाद में स्थित हो गया हूँ, नाद की अन्तिम अवस्था (निष्पत्ति) में मुझे ऊँकारब्रह्म अलखनिरंजन शिव का साक्षात्कार हो गया है तथा मुझे अपने

शिवस्वरूप का (परमात्मतत्व का) बोध हो गया है, जब मुझे आत्मा (जीवात्मा) और परमात्मा की तद्रूपता अथवा स्वरूप का पता चला, तब कहीं मायाजन्य अविद्यास्वरूप अहंकारमय अज्ञान-अन्धकार अथवा भ्रम नष्ट हो पाया । इस नर-योनि, दुर्लभ मनुष्य-शरीर में अज, अविनाशी अयोनि, परब्रह्म अलख-निरंजन का निवास है, सिद्धपुरुषों-महायोगियों के सत्संग से ही इस अलख-निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार होता है । इसी तरह के परमात्मसाक्षात्कार में हम अन्तलीन हैं । जो सिद्ध पुरुष के सत्संग और उपदेशामृत-योगज्ञान-प्रकाश में स्वरूपबोध प्राप्त कर लेता है, निस्सन्देह उसके (ब्रह्मरन्ध्र में) भीतर परब्रह्म अलख निरंजन (केवल-मुक्तिस्वरूप, निराकार ब्रह्म) अभिव्यक्त हो उठता है, ऐसा योगी सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान कर अमरकायत्व लाभ करता है । (इसी पाताल की गंगा को आकाश में चढ़ाना कहा जाता है ।) जो साधक घड़ा को सीधा रखता है, वह अमृत पान नहीं कर पाता है, स्वारस्य तो औंधे घड़े में ही अमृत भरने का है । यह बाह्य नेत्र को देखने का विषय नहीं है, ज्ञाननेत्र से ही इस परम सत्य का अनुभव होता है, जो बाह्य आँख से ही-बाह्यवृत्ति से ही अन्तर्मुखता का आनन्द लेना चाहता है, उसके लिए चारों ओर घोर अन्धकार है, उसे स्वरूपानुभव का प्रकाश-दर्शन नहीं हो सकता है । इस शरीर में - पिण्ड में ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड विद्यमान है, समाया हुआ है । जो पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में है । इसी शरीर में इड़ा (गंगा), पिंगला (यमुना) और सुषुम्ना (सरस्वती) नाड़ियाँ बहती हैं, जिनका आज्ञाचक्र में भ्रूमध्य में त्रिवेणीरूप संगम हुआ है । सूर्य (नाभिस्थानीय अग्नितेज) और चन्द्रमा (सहस्रार-स्थानीय अमृतत्व) इसी शरीर के भीतर प्रकाशित हैं । ब्रह्मरन्ध्र में निरन्तर अनाहतनाद अपनी अन्तिम लयावस्था-निष्पत्ति में हो रहा है । उसमें परब्रह्म की अनुभूति योगी कर रहा है । ब्रह्मज्ञानी को योग-प्रतिपादित इस द्वैताद्वैतविवर्जित महाज्ञान-अलख-निरंजन के बोध का मर्म समझना चाहिए ।

आवागवण भरम का मारग पुरषां पथ बताया ।
सबद अतीत अनाहत बोलै, अतरि गीत समाया ।। 36 ।।
बिमल पंथ बीजल ज्यूं चमकै, घुरहरती घन गाजै ।
तो रहनी मै जोगी का घर, अनहद बाजा बाजै ।। 37 ।।

जा पद मिंदर धजा फरहरै, मढी सवारे चेला ।
कोटि कला जहाँ अनाहद बांणी, गावैं पुरिष अकेला ।। 38 ।।
नौ लष पातरि आगैं नाचैं, पीछैं सहज अषाणां ।
ऐसे मन लै जोगी षेलै, तब अंतरि बसे भंडारा ।। 39 ।।
ग्यांन कहै तो त्रिस्ना हारै, सूरज देषि पछांही ।
सतगुरू मिलै तो सांसा भागै, मूल बिचार्या मांही ।। 40 ।।

योग मार्ग की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए गोरक्षनाथ कहते हैं । योगमार्ग स्वसंवेद्य अनुभव का अन्तर्मुखी साधना-पथ हैं । वह बाह्यसाधना-मार्ग है ही नहीं, जिस पर चलने से जन्म-मरण के दुःख से, आवागमन के चक्र से मुक्ति नहीं मिलती है । सिद्ध पुरूष अनाहत नाद की लयावस्था के माधुर्य में निष्पन्न अथवा निमग्न होकर शब्दातीत स्वसंवेद्य कैवल्यपद में स्थित हो गये हैं, उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित सिद्धामृत सिद्धान्त का वरण कर योगसाधना के द्वारा भवसागर से पार उतर कर योगसाधक को जन्म-मरण के दुःख से मुक्त हो जाना चाहिए । यह मार्ग अथवा शिवशक्ति का मिलन-स्थान, ब्रह्मरन्ध्र परमात्मज्योति से बिजुली की तरह प्रकाशित है, इस मार्ग में बादल घहरा रहा है, बिजुली चमक रही है, अनाहदनाद हो रहा है, उसी ब्रह्मरन्ध्र में योगी निवास करता है, और अपने अमृत-स्वरूप में, स्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है । ध्वजायुक्त मन्दिर के समान कैवल्यपद शून्य स्थान अथवा ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान है । हे शिष्य, उसी कैवल्यपद को अपना निवास-स्थान अथवा योगमठ बनाना चाहिए ! उस परमपद में अपनी करोड़ों-करोड़ों (असंख्य) कलाओं अथवा शक्तियों सहित ऊंकारस्वरूप परब्रह्म अनाहतनाद में अभिव्यक्त है, यह अनाहतनाद का गान करता है, जो शब्दातीत और स्वसंवेद्य अथवा अनुभवगम्य है । योगी द्वन्द्वात्मक संक्षोभ से परे होता है, उसे न विषय-भोग व्यामोहित कर सकते हैं, न साधन-सम्बन्धी सिद्धियों और तप, त्याग और वैराग्य की साधना मात्र में ही वह अपने लक्ष्य को भूल सकता है । चाहे असंख्य वारागनायें नृत्य करती हों, राग-रंग आदि अनेक मनोरंजन हों, चाहे-ज्ञान-वैराग्य का अखाड़ा हो, वह इनमें से किसी में भी अपनी बुद्धि भ्रमित नहीं होने देता है, इस तरह की अमनस्कस्थिति में रहने वाले योगी की भीतरी अन्तर्मुखी साधन-सम्पत्ति सदा सुरक्षित रहती है । नाभिस्थित सूर्य का

सुषुम्ना-मार्ग से (पश्चिम मार्ग से) सहस्रार में स्थित चन्द्रमा से मिलने के लिए ऊर्ध्वगमन होने पर योगसाधक में अन्तर्मुखी वृत्तियों के द्वारा आत्मज्ञान (परमात्मविवेक) उदित होता है, इनसे विषयभोगों की तृप्ति की कामना, तृष्णा नष्ट हो जाती है । इसी तरह महायोग-ज्ञान से सम्पन्न सद्गुरु की शरणागति से योगी अपने हृदय में मूलतत्व-अलख-निरंजन के स्वरूप का संचार करता है और इसके परिणामस्वरूप उसका संशय (व्यामोह) नष्ट हो जाता है ।

अंजन माहि निरंजन भेट्या, तिल मुष भेट्या तेलं ।
मूरति माँहि अमूरति परस्यां, भरा निरंतरि षैलं ।। 41 ।।
जहां नहीं तहां सब कछु देष्या, कह्यां न को पतिआई ।
दुविधा भाव तबै ही गइया, बिरलां पदां:समाई ।। 42 ।।
दिषणि हमारी डीबी पाकै, अगनि बलै मुलतानं ।
ऐसे हम जोगेस्वर निपनां, प्रगट्या पद निरबानं ।। 43 ।।
बाफ न निकसै बूंद न ढलकै सहज अंगीठी भरिभरि रांधै ।
सिध समाधि योग अभ्यासी, तब गुरू परचै सांधै ।। 44 ।।
धीरजि थंभि ज डोरि धुनि समानां, असमानं ।
अटल दुलीचा अषै पद, जहां गोरष का दीवानं ।। 45 ।।

जिस तरह तिल पेरने से तेल की प्राप्ति हो जाती है, उसी तरह अंजन में योग ज्ञान के प्रकाश में मैंने निरंजन ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है मैंने साकार में निराकार का - मूर्ति में अमूर्त परमात्मा का स्पर्श (अनुभव) कर लिया है । यह निगूढ़ (निरंतरि-मायाव्यतिरिक्त) लीला सनातन है, सच्चिदानन्दघन अलखब्रह्म ही सर्वत्र अभिव्यक्त हैं । मैंने शून्य में, जिसे 'नहीं' कहा गया है, अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्मअलख-निरंजन का दर्शन किया है, मैंने आकाशचक्र ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव का स्वरूपानुभव किया है । शून्यस्वरूप परब्रह्म का साक्षात्कार ही कैवल्य (विरला) पद की प्राप्ति है, उसमें समाकर, तादात्म्य लाभ कर मेरा द्वैतभाव मिट गया, मुझे परमशिव में और अपने आप (आत्मस्वरूप) में भेद का लेश मात्र भी भाव नहीं रह गया है, मूलाधारचक्र (दक्षिण) में हमारी कुण्डलिनी शक्ति (डीबी) योगाग्नि से पक रही है, ज्योतिर्मय रूप में सुषुम्नामार्ग से ब्रह्मरन्ध्र की ओर उठती जा रही है और यह योगाग्नि उत्तर दिशा (मुलतान) में ब्रह्मरन्ध्र में जल रही है, चन्द्रमा से

सूर्य का मेल हो गया है और हमें निर्वाण (कैवल्यपद) की प्राप्ति हो गयी है। इस तरह योगाग्नि में अपनी शक्ति सिद्धकर युक्त कर हम योगेश्वर पद-परमशिवस्वरूप में स्वस्थ हो गये। जिस तरह अंगीठी में आग प्रज्वलित कर सावधानी से भोजन सिद्ध किया जाता है और इस बात पर निरन्तर दृष्टि रखी जाती है कि भोजन पात्र में से न भाप निकले और न जल की बूंद गिरे जिससे अंगीठी की आग बुझ जाय अथवा नष्ट हो जाय, ठीक उसी तरह सहज योगाग्नि शरीररूपी अंगीठी में प्रज्वलित कर अधोगामी वीर्य को ऊर्ध्वगामी कर महारस सहस्रार से द्रवित अमृत के रूप में योगसाधक सिद्ध करता है। यदि वीर्य का एक भी कण क्षरित होकर शरीर से बाहर निकल जाता है तो यह साक्षात् मृत्यु है। योगसाधक इस बात की सावधानी रखता है कि उसका मन मद, मोह, काम, क्रोध, लोभ आदि से क्षुब्ध न होने पाये, ऐसी दूषित भावनायें चित्त में विकार न उत्पन्न करें। ऐसा होने पर ही योगसाधक उन्मनी समाधि में सहज स्थित होने पर गुरुज्ञान में सम्निष्ठ होता है। संयम और साधना में धैर्य तथा तल्लीनता (श्रद्धा) अथवा लगन से सिद्धिप्रद, शून्य निरालम्ब ब्रह्मरन्ध्ररूपी आसमान यथास्थित है अन्यथा योगसाधक साधना के सोपानों से उस पर पहुंच ही नहीं सकता है। यह आसमान अथवा शून्यपद गलीचा है, जिसपर गोरखनाथ का दीवान (दरबार) लगता है, इस निरालम्ब शून्य आकाशपद-ब्रह्मरन्ध्र में ही योग की परमसिद्धि अलख-निरंजन के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की अनुभूति होती है।

इति ग्यानतिलक

पंच अग्नि

मूलि अगनि ([illegible]) [illegible] भावै। सोषि लेहु रक्त पीत अरु आंव।
पेट पूठ दोउ सम रहै। तौ मूल अगनि जलै गोरष कहै।
भुयंगम अगनि का भुयंगम मांस [illegible] सजिवा भिछ्या (भोजन ग्रास)।
मूल की मूल अमीर (स्थिर)। तिसकूं कहिए छी सिधी पवनै का सरीर)।
अगनि ब्रह्म मली धरि लेउ जांणं

उलटंत पवनां रवि ससि गिगन समांन ।
ब्रह्म अगनि मधे सोझिबा कपूर । तिस कूं देषि मन जायबा दूरं ।
सिव धारं संकति अहेनिस रहै । ब्रह्म अगनि जती गोरष कहै ।।
काल अगनि तीनि भवन प्रवानी । उलटंत पवनां मोषंत पानी ।
षाया पीया षाषं होय रहै । काल अगनि जती गोरष कहै ।।
रूद्र अगनि का त्राटिका नाम । सोषि लेव होठ कंठपेट पूठि नव ठांम ।
उलटंत कंस षलटंत चाम । तिसकूं कहिये हो सिधो त्राटिका नांम ।।
रूद्र रेवंती संजम षिवंती । जोग जुगति करि साधंत जोगी ।
पंच अगनि भरि पूर रहै । सिध संकेत श्रीगोरष कहै ।।
पूरिको पीवत वायु कुंभं को कोया सोधनं ।
रेचको तजतं विकार त्राटिको आवागवण बिबरजंत ।।
सिधका का मारग कोई साधू जांणे । पंच अगनि श्रीगोरषनाथ बषांणैं ।
पांचौं अगनि संपूरण भई अनंत सिधां मधे जती गोरष कही ।

इति श्री पंच अगनि पठंते सुणंते कुथंते करंते पापे नह लिपंते पुंने न हारंते । ऊँ नमो सिवाय ऊँ नमो सिवाय । गुरू मछंद्रनाथ के पादुका नमस्तुते ।

ऊँ अकल पंथ, अकलि का मारग, सतभोमि, सहजआसन, प्रांण जोगी पवन गुटिका, निज भुवन गुफा, संजम कोपीन, मरजादा मेषली, निहकेवुल जगौटा, जुगति उड़यांणीं, साचमुद्रा, सीलकंथा, षिमां टोपी, जरनां अधारी, अंतरिगति झोली, धीरज डंड, बमेक फाहुड़ी, तप चक्र, मूल कमंडल, मन उदिक, महाअमृतभोजन, दया रहरासि, विचार पुसतक, जिम्यारसांयन, सरबंगी कला, विद्याकालबंचणी, नृपै नग्री, अकल बनषंड, निरास मढ़ी, अतीत देवता, गिनांन दीपक, अकलपरहनी, आजाचीक भिक्ष्या, सबद सींगी, अनहदकींगुरी, स्याम सरोवर, अमृत प्याला, निहंचल रिधी, सति करामाति, मुक्ति सिधि, अलेष ध्यांन, अटल समाधि, निराकर तरवर, जुग पल्लव, अमीं फल ।

सारांश

ऊँकारस्वरूप निष्कल निराकार अलख-निरंजन का योगानुभव ही पथ है । साधना का मार्ग सहज अथवा निरालम्ब है । सत्यस्वरूप ही साधनाभूमि है । सहज आसन में स्थित प्राणयोगी पवन-प्राणायाम की साधना करता है । उसका निवास-स्थान भ्रमर गुफा-ब्रह्मरन्ध्र है । संयम ही कौपीन है । मर्यादा की मेषला ही आरवंद है, क़ैवल्यपद ही योगपट्ट अथवा जगौटा है । (जगौटा एक प्रकार का वस्त्र है, जिससे ध्यान-काल में योगी शरीरं को ढक लेता है) । उड्डियानबन्ध ही मुक्ति है । सत्यही मुद्रा है, शील ही गुदड़ी है, क्षमा ही टोपी है, वीर्य को शरीर में जीर्ण करते रहना, पचाना अथवा ऊर्ध्वमुख करना ही अधारी है । (अधारी काठ के दंड में लगा हुआ पीढ़ा है, इसे जहाँ-कहीं रख कर योगी बैठ जाता है ।) अन्तर्मुखीवृत्ति ही झोली है, धैर्य दंड है, ऊँ नमः शिवाय अथवा बम-बम का उच्चारण ही फाहुड़ी है, तप ही चक्र है । (चक्र हाथ में पहनने की एक प्रकार की अंगूठी है ।) मूल बंध को लगाना ही कमण्डलु है, उससे मन को स्थिर रखना ही उदक है । सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत ही भोजन है, दया ही आदेश है । विचार करते रहना, आत्मतत्व का चिन्तन ही पुस्तक अथवा योगशास्त्र है । जीभ ही रसायन है । रस-सिद्ध का साधन है, सर्वांगी ही कला है । मृत्यु को जीतना ही विद्या है......स्वरूप में स्थित रहना वनखण्ड है, निराशा ही मठ है,

अलख-निरंजन ब्रह्म ही इष्टदेव है, ज्ञान ही दीपक है, निर्विकल्प समाधि में ही स्थिति है, अमृत ही सहज द्रवित भिक्षा है, शब्द ही सींगीनाद है, अनाहतनाद ही किंगरी है, शिव ही सरोवर है, अमृत शरीररूपी प्याले में भरा रहता है, निश्चलता ही ऋद्धि है, सत्य ही सिद्धि है, मुक्ति की प्राप्ति ही कैवल्य है, अलख-निरंजन का ही ध्यान है । निर्बीज समाधि लगी रहती है, निराकार ब्रह्मवृक्ष में जगत् ही पल्लव है, अमृत ही फल है ।

सिष्ट पुराण

ऊँ एक उपरांति लेष नाहीं । दोय पाषै सिष्टि नाहीं । आपा पाषै परचा नाहीं । काया उपरांति क्षेत्र नाहीं । सील उपरांति व्रत नाहीं । चक्षु उपरांति द्रष्टि नाहीं । श्रवण ऊपरि सुरति नाहीं । निर्भय उपरांति अभय नाहीं । संजम उपरांति सुचि नाहीं । संतोष उपरांति सुख नाहीं । अमर उपरांति सिद्धि नाहीं । अभय उपरांति करामति नाहीं । माता उपरांति जन्म नाहीं । गर्भ उपरांति नरक नाहीं । षलंत उपरांति हरिण नाहीं । चित चंचल उपरांति रोग नाहीं । ब्रिध उपरांति मृत्यु नाहीं । काल उपरांति बैरी नाहीं । नासिका उपरांति रूप नाहीं । दया उपरांति धरम नाहीं । ध्यान उपरांति ग्रंथ नाहीं । चंदन उपरांति काष्ट नाहीं । बिंद उपरांति उत्पत्ति नाहीं । समुद्र उपरांति गंभीर नाहीं । पाताल उपरांति अर्ध नाहीं । सूरज उपरांति तप्त नाहीं । काया उपरांति रतन नाहीं । सच उपरांति सास्त्र नाहीं । अजप उपरांति जाप नाहीं । अघोर उपरांति मंत्र नाहीं । नारायण उपरांति इष्ट नाहीं । निरंजन उपरांति ध्यान नाहीं ।

सारांश

ऊँकार, शब्द ब्रह्म ही एक मात्र अक्षर है । आत्मस्वरूप का ज्ञान ही परिचय अथवा परमात्म साक्षात्कार है । काया ही योगसाधना का महान् क्षेत्र है । शील ही व्रत है, चक्षु ही दृष्टि है, श्रवण ही सुरति योग है, निर्भय पद से श्रेष्ठ और कोई अभेद पद ही नहीं है । संयम ही सदाचार है, संतोष ही परम सुख है । अमरकायत्व ही सर्व-श्रेष्ठ योगसिद्धि है । अभयपद की प्राप्ति ही परमसिद्धि है । जन्म का कारण माँ है । गर्भवास ही नरक है- चिन्ता की चंचलता ही रोग है, जरा ही मृत्यु है - काल ही सबसे बड़ा शत्रु है, दया ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है, इष्टदेव का ध्यान ही ग्रन्थ (का अवलोकन) है,

चन्दन से श्रेष्ठ कोई काष्ठ नही है, पाताल ही निम्नतम है, सूर्य के तेज से बढ़कर दूसरा कोई तेज नही है, शरीर ही सर्वश्रेष्ठ रत्न है, सत्य ही सर्वश्रेष्ठ शास्त्र है । अजपाजाप ही सर्वश्रेष्ठ जाप है, अघोरमंत्र (शिवमंत्र) ही सर्वश्रेष्ठ मंत्र है । नारायण ही सर्वश्रेष्ठ इष्टदेव है, निरंजन का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ ध्यान है ।

दयाबोध

आओ सिद्धौ षोज बताऊँ । आदिनाथ का पूत कहाऊँ ।।
जोगारंभ की याही बांणी । सब घटि नाथ एकै करि जांणी ।। 1 ।।
जोगारंभ हिरदा मैं मांडौ । दया उपावो जूती छांड़ौ ।
नांगां पांवां जे नर मूंवां । ताका कारज पहिलै हूवा ।। 2 ।।
आप सवारथ धालौ धूंई । तामैं चींटी केती मूई ।
तजौ कहरि नजरि भभूत । बटवा फाउड़ि जिनि लेउ हाथ ।
एता आरंभ परिहरौ सिद्धौ । यों कथंत जती गोरषनाथ ।। 3 ।।
मारग चलंता धरणि दिष्टि लागै । ताकै कांटा कंद न लागै ।
पहिले आरंभ हम भी करते । जीवजन्तु बहोतेरे हतते ।। 4 ।।
आरम्भ तजौ गूदड़ी चलावौ । निरति सुरति अविनासी सूं लावौ ।
अबिनासी पुरूष का लागा रंग । रिद्धि-सिद्धि ताहीं कै संग ।। 5 ।।
रिधि छाड़या सिधि पाइए । सिधि संकर कै हाथि ।
छाड़ौ सकल अकल कूंध्याबौ । यों कथंत जती गोरषनाथ ।। 6 ।।
आसन तजि अनत जिनि जावौ । अकलप भिछ्या बैठा खाऔ ।
कनक न पकड़े मोरौ न झेलै । काई सिधि त्यौं जोगी खेलै ।
हरया तिणांका न सतावैं जीव । सो जोगी कहिये [illegible] सीव ।
चकमक कफ नांव न धरौ । आत्मा परिखा जिनि करौ ।
अगनि न बालौ धुंआ न घोटौ । भिछ्या [illegible]
ग्वांड़ा बिच आसण जिनि मांडौ । [illegible] जिनि मांडौ ।
बाई बावड़ी को मन नहिं दीजै । [illegible] दिष्टि [illegible]
पंडित पढ़ि गुणि करै न आसा । [illegible]

काहे कौं पढ़ि गुणि भला कहावै । जब लगि हिरदै दया न आवै ।
जब लगि हिरदै दया न आई । जब लगि कहिये सुद्ध कसाई ।। ।। ।
कनक न पकड़े सबदन वाहे । जोगी कागद कहां ते लावै ।
तन मेरे पोथी मन मेरे लेषनि । एती निज तत निसपती ।। ।2 ।।
यो कथंत गोरष जती ।।
वहां चलिबे का करौ बिचार । अगम अगोचर सुलप आकार ।
घड़ा देवरा औघड़ देव । तहां जोगेस्वर लाग्या सेव ।। ।3 ।।
पंच चेला मिलि पूरयानाद । धरणि गगन बिच भई अवाज ।
दीपक एक अखंडित बिन बाती । तहां जोगेस्वर थापनां थापी ।। ।4 ।।
अगम अगोचर सकल ब्रह्मण्ड । ता दीपक कै चरण प्यंड । न
सिषा न नैन सीस नहिं हाथ । सो दीपक देख्या जती गोरखनाथ ।। ।5 ।।
तादीपक कै डाल न मूल । तादीपक कै कली न फूल ।।
तादीपक कै रंग न रूप । तादीपक कै छांहन धूप ।। ।6 ।।
तादीपक कै सबद न स्वादं । तादीपक के विद्या न बादं ।
तादीपक के मोह न मायां । सो दीपक सूनै सून समाया ।। ।7 ।।

सारांश

हे सिद्धों ! आओ ! मैं अनुभव कहता हूँ । मैं आदिनाथ परमशिव का आत्मास्वरूप (पुत्र-'आत्मा वे जायते पुत्रः') हूँ । यही योगसाधना का आरम्भ है कि घट-घट में, प्रत्येक जीवात्मा में एकही नाथ-परमात्मा को विद्यमान जानना चाहिये । योगसाधना बहिर्मुखी नहीं, अन्तर्मुखी है, इसका हृदय में अभ्यास करना चाहिए, हृदय में प्राणी मात्र के प्रति दयाभाव पैदा करना चाहिए, सांसारिक साज-श्रृंगार से दूर रह कर योगसाधना करने वाले को ही सिद्धि मिलती है । धूनी प्रज्वलित कर उसके सामने बैठकर योगसाधना करने से क्या लाभ है, उसमें तो अनेक चींटी जल जाती हैं, बाहरी टीमटाम को छोड़कर साधना में लगना चाहिए । जो योगसाधक मार्ग में चलते समय देखता रहता है, उसके पैर में काँटे नहीं गड़ते, न पैरों तले दब कर जीवंजन्तु ही मरते हैं । साधना के आरम्भ में मुझसे भी असावधानी हो गयी थी, अनेक जीवजन्तु मर गये । अविनाशी अलख निरंजन का ही ध्यान करना चाहिए । जिसका मन अविनाशी के रंग में, ध्यान-चिन्तन में लग जाता है, उसके

पीछे-पीछे ऋद्धि-सिद्धि चलने लगती है । ऋद्धि का त्याग करने पर ही योगसिद्धि की प्राप्ति होती है । यह शंकर के अनुग्रह का फल है । निष्कल निराकार, अलख-निरंजन का ध्यान करना चाहिए, माया-उपाधियुक्त सकल पुरूष की उपासना की अपेक्षा ब्रह्म के ध्यान से योगसिद्धि अनायास मिलती है । ऐसा योगी गोरखनाथ का वचन है । हे सिद्धो । आसन का त्याग कर कहीं नहीं जाना चाहिए । जो भिक्षा प्राप्त हो जाय, उसी से जीवन-यात्रा पूरी करनी चाहिए । सोना (धन) को नहीं पकड़ना चाहिए, नहीं रखना चाहिए, ऋद्धि की प्राप्ति होने पर योगी उसे त्याग देता है । जीव को नहीं सताना चाहिए । ऐसा आचरणवाला योगी साक्षात् शिवस्वरूप हैं । अग्नि जला कर भोजन सिद्ध करने से क्या लाभ है, जब भिक्षा से काम चल जाता है, गाँव की सीमा में (निकट) आसन नहीं लगाना चाहिए, मोहबन्धन से दूर रहना चाहिए । बापी, बावली आदि खुदाने के पुण्य के चक्कर में समय को नहीं बिताना चाहिए । देखते-ही-देखते शरीर क्षीण हो जाता है । इसका साधन में उपयोग करना चाहिये । पंडित-विवेकी को पढ़ और गुन कर किसी की आशा नहीं करनी चाहिये । एकान्त-सेवन करना चाहिये, तथा परमात्मा के शरणागत रहकर संसार के प्राणी, पदार्थ और परिस्थिति में पूर्ण निराशा का वरण करना चाहिए । पढ़-सुन कर अच्छा कहलाने से क्या लाभ है, यदि हृदय में दया नहीं है । दयाहीन पुरूष निरा कसाई है । सोना का संग्रह कर बही-खाता के चक्कर में, हिसाब-किताब रखने के जंजाल में नहीं पड़ना चाहिए । योगी कागज कहाँ पायेगा । तन ही पोथी है, मन ही कलम है, उसमें निष्पत्ति अथवा मुक्ति ही अक्षरलिपि है । ऐसा योगी गोरखनाथ का कथन है । सदा अगम-अलख निरंजन के ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए । निरंजन ही परम देवता है और बड़े-बड़े योगेश्वर उसके ध्यान में लीन रहते हैं । पंच ज्ञानेन्द्रिय ही शिष्य हैं, वे नाद प्रकट करते हैं, इन्द्रियों के संयम से मन और प्राण योगी के वश में हो जाते हैं, अनाहतनाद उत्पन्न होता है, यह मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक निनादित हो उठता है । बिना बत्ती के अखण्ड दीपक जल रहा है, अलख-निरंजन (प्रकाश ब्रह्म) की ज्योति प्रकट है । यह समस्त ब्रह्माण्ड में स्वज्योतित है, इसका न रूप है, न आकार है, न शिखा है, न नेत्र है, न सिर है, न हाथ है, इस दीपक का दर्शन गोरखनाथ ने किया है । इस दीपक की न शाखा है, न मूल है, यह अनादि है, अनन्त है, सनातन है,

इसकी न कली है, न फूल है, यह रंगरूप से अतीत है, इसकी न छांह (छाया) है, न धूप है । इसका न शब्द है, न स्वाद है, इसका वर्णन करना कठिन है । यह मोह माया से परे परम मुक्तिस्वरूप है । यह दीपक शून्य में सहज स्थित है ।

(इति दयाबोध संपूर्ण)

रहरासि

ऊँ आदेस आदेस अलष अतीतं । तदा न होती धरती न आकासं ।।
तदा काले सिंभू भई उतपन्य ।
माता न लेबी दस मास भारं । पिता न करिबा आचार बिचारं ।।
जोनी न आयबा, नाभि न कटायबा । पुस्तग पोथी ब्रह्मा न बचायबा ।।
तहाँ अलेष पुर पटणि अनोपम सिला तहां बैठे गोरषराई ।।
तुम दमड़ी चमड़ी का संग्रह करौ । गुर का सबद ले ले दोजिग भरौ ।।
गुप्ती चक्र चलावौ हथियार । षंडित बुद्धि बहोत अहंकार ।।
ऊभा ते सिध बैठा पाषांण । श्री गोरष बाचा परबांण ।।
अनंत सिधां मैं रहरासि कही । गोदावरी के मेलै ऐसी भई ।।

(इति)

पन्द्रह तिथि

बंदै गौरष एककार । पंद्रह तिथि का करहुं बिचार ।।टेक।।
अमावस दिढ़ आसण होइ । आतम परचै मरै न कोइ ।
मूल सहस्र पवनां बहै । बंक नालि तब बहत रहै ।। । ।।
पड़िवा है द्वै पष की आदि । सतगुरू सबदां सहज समाधि ।
गगन मंडल मैं रहै समाई । तौ चारि जुग लौं हेलै टलि जाई ।। 2 ।।
दुतिया द्वै कुल उधरन धीर । उनमन मनवां अखलि सरीर ।
बाहरि भीतरि एकंकार । गुरू प्रसादै भौ निधि पार ।। 3 ।।
तृतीया तृबेणी करौ स्नान । पाप पुंनि दोउ देउ दान ।
तब जोग जुगति पाऔ बिसवास । जुरा मरण नहीं कंध बिनास ।। 4 ।।
चौथे चंचल निहचल करौ । काल विकराल दूर परहरौ ।

जम जौरा का मर्दौ मांन । सतगुर कथिया पद निरबांन ।। 5 ।।
पंचमि पंच तत की संधि । माता मैंगल राषौ बंध ।
अमीं महारस छिन-छिन पीवौ । गुर परसादै जुगि-जुगि जीवौ ।। 6 ।।
छटि षट चक्र बिचारौ सार । रिधि सिधि बुधि मति अषिल भंडार ।
अरथ दरब को छाड़ौ आस । काया कांमिनि भोग बिलास ।। 7 ।।
सातन सतरज तम गुण बांधे । पाबौ जीवण मरण की सांधे ।
अबिहड़ अजर अमर पद गहौं । मन पवन ले अनमन रहौ ।। 8 ।।
आटमि अष्ट भैरो नवनाथ । अनंत सिधां सौ मिल्यौ संघात ।
अचंभ बांणी कथी न जाइ । झरत महारस गगन समाइ ।। 9 ।।
नवमीं नव निधि काया मंझारि । पाप पुंनि देषौ पट तारि ।
बूड़े पाप तिरै सत धरम । काया बाहरि जाति न जनम ।। 10 ।।
दसमी दह दिसि लागै बंध । जत सत संजम थिर ह्वै कंध ।
धरम करम गुर बाचा लीन । ग्यांन बिचषन बाजै बीन ।। 11 ।।
एकादसी अग्यारह रूद्र । मांणक पायो काया समुद्र ।
अलष रतन गुरि दीयौ बताइ । एकादसी तिथि की राइ ।। 12 ।।
द्वादसी दिनकर तपै अकास । पसरै किरण होइ प्रकास ।
तहां चढ़ि भवरा रह्या समाइ । सतगुरि कथिया जीवन उपाइ ।। 13 ।।
तेरसि तृकुटी समि करि मेलि । चंद सूरज दो संमि करि भेलि ।
एक सिंध रूध्या नव घाट । सत गुर षौजौ ऊजू बाट ।। 14 ।।
चौदसि चौदह रतन बिचार । काल बिकाल आवता निवारि ।
आपै आप देषौ पट तारि । उतपति परलै काया मंझारि ।। 15 ।।
पून्यं पूगी मन की आस । माया मोह तजि भये उदास ।
सोलह कला सपूरण चंद । गुर परसादे थिर भया कंधि ।। 16 ।।
पंद्रह तिथि कला की संधि । मछींद्र प्रसादे थिर भया कंध ।
भया थिर तब आछे धीर । अनंत सिधा श्री गोरष पीर ।। 17 ।।

सप्तवार

जोग मूल गहि बारंबार । सतगुरु सबदां सहज बिचार ।।टेक।।
आदित सोधौ आवागवन । घट मैं राषौ दिढ़ करि पवन ।
स्यौ पूजा करि बसवै द्वारि । तौ गुरू पावौ आदीत वार ।। 1 ।।
सोमवार मन धरिवा सुंनि । निहचल काया पाप न पुंनि ।
ससिहर बरिषै अंवर भरै । तौ सोमवार गुंण एता करै ।। 2 ।।
मंगल बिषमी माया बांधे । चंद सूर दोऊ समि कर संधि ।
जुरा मरण बंचौ भौ काल । तौ गुर पावौ मंगल वार ।। 3 ।।
बुधवार गुर दीन्ही बुधि । बिवरौं काया पावौ सिधि ।
सिव धरि सकती पांणी भरै । तौ बुधवार गुन एता करै ।। 4 ।।
बृसपति वार विषम मन धरौ । पांचौं इंद्री निग्रह करौ ।
संषणी लै रूंध्या द्वार । तौ गुर पावौ बृसपति वार ।। 5 ।।
सुक्रवार सोधिवा सरीर । कहाँ बसै अंमृत कहां बस षीर ।
नव बहतरि पवनां बहै । तौ सुक्रवार गुण बिरला लहै ।। 6 ।।
थावर थिर करि आसण देहु । बारह सोलह गिणिगिणि लेहु ।
ससि हर कै धरि आवै भांण । तौ दिन दिन थावर गगँन सनन ।। 7 ।।
सातौं आंन्या एकै रास । काला भौंरा बेधै पास ।
प्यंडे प्रांणी परचा भया । सप्त बार श्रीगोरष कह्या ।। 8 ।।

इति

मछींद्र-गोरष-बोध

गोरषोवाच-स्वांमी तुम्हें गुरू गुसांई अम्हें जु सिष ।
(सबद एक पूछिबा) दया करि कहिबा मनांहे न करिबा रोस ।
आरंभि चेला कैसैं रहै । सतगुर होइ सो बूझया कहै ।। 1 ।।
मछिंद्र उवाच - अवधू रहिबा हाटै बाटैं रूष वृष की छाया ।
तजिबा काम क्रोध तृष्णां संसार की माया ।।
आप सौं गोष्टी अनन्त विचार ।
षंडित निद्रा सुछिम अहार ।। 2 ।।

गोरष-स्वांमी कौन देषिबा कौन विचारिबा कौंन ले धरिबा सारं ।
कौंन दोष मस्तक मुडाइबा कौंन ले उतरिबा पारं ।। 3 ।।
मछिंद्र-अवधू । आपा देषिबा अनंत बिचारिबा तत ले धरिबा सारं ।
गुरू का सबद देषि मसतग मुड़ाइबा, ब्रह्म ग्यांन ले उतरिबा पारं ।। 4 ।।
गोरष-स्वांमी आदेस का कौन उपदेस सुंनि का कथं वास ।
सबद का कौन गुरू, पूछंत गोरषनाथ ।। 5 ।।
मछिंद्र-अवधू आदेस का अनूषम उपदेस, सुंनि का निरंतर बास ।
सबद का परचा गुरू, कथंत मछिंद्र नाथ ।। 6 ।।
गोरष-स्वांमी मन का कौन रूप, पवन का कौन आकार ।
दंम की कौन दसा साधिबा कौंन द्वार ।। 7 ।।
मछिंद्र-अवधू मन का सुंनि रूप, पवन का निरालंभ आकार ।
दंभ की अलेष दसा, साधिबा दसवै द्वार ।। 8 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन पेड़ि बिन डाल कौन पंषि बिन सूवा ।
कौन पालि बिन नीर, कौन बिन कालहिं मूवा ।। 9 ।।
मछिंद्र-अवधू पवन पेड़ि बिन डाल, मन पंषि बिन सूवा ।
धीरज पालि बिन नीर, निद्रा बिन कालहिं मूवा ।। 10 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन बीरज कौंन षेत्र । कौंन सरवंण कौंन नेत्र ।
कौंन जोग कौंन जुगति । कौंन मोक्षि कौंन मुकति ।। 11 ।।
मछिंद्र-अवधू मंत्र बीरज मति षेत्र । सुरति श्रवण निरति नेत्र ।
ऊरम जोग धूरम जुगति । जोति मोक्षि ज्वाला मुकति ।। 12 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मूल कौंण बेला । कौंण गुरू कौंन चेला ।
कौंण षेत्र कौण मेला । कौण तत्व ले रमै अकेला ।। 13 ।।
मछिंद्र-अवधू मन मूल पवन बेला । सबद गुरू सुरति चेला ।
त्रिकुटी षेत्र उलटि मेला । नृवांण तत्व ले रमौ अकेला ।। 14 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण घरि चंद कौंण घरि सूर कौण घरि काल बजावै तूर ।
कौंण धरि पंच तत्व समि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 15 ।।
मछिंद्र-अवधू मन घरि चंद पवन घरि सूर । सुन्नि घरि काल बजावै तूर ।
ग्यांन घरि पंच तत्व समि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 16 ।।
गोरष-स्वांमी कौण अमावस कौण सु पड़िबा । कहां का महारस कहां ले चढ़िबा ।
कौंण अस्थांने मन उनमन रहै । सतगुर होइ सु बुझ्या कहै ।। 17 ।।

मछिंद्र-अवधू रवि अमावस चंद सु पड़िबा । अरध का महारस उरध ले चढ़िबा ।
गगन अस्थांने मन उनमन रहै । ऐसा विचारि मछिंद्र कहै ।। 18 ।।
गोरष-स्वांमी कुसबद का कौण ग्रास । सुसबद का कथं बास ।
द्वादस अंगुल बाई कौण मुषि रहै । सतगुर होई सु बूझ्या कहे ।। 19 ।।
मछिंद्र-अवधू कुसबद का सुसबद ग्रास । सुसबद का निरंतर बास ।
द्वादस अंगुल बाई गुरमुषि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 20 ।।
गोरष-स्वांमी आदि का कौंण गुरूं । धरती का कौंण भरतार ।
ग्यांन का कौंण अस्थांन । सुंनि का कथं द्वार ।। 21 ।।
मछिंद्र-अवधू आदि का अनादि गुरू । धरती का अम्बर भरतार ।
ग्यांन का अस्थांन चैतनि । सुंनि का परचा द्वार ।। 22 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण परचै माया मोह टूटै । कोंण परचै ससि घ फूटै ।
कौंण परचै लागै बंध । कौंण परचै थिर ह्वै कंध ।। 23 ।।
मछिंद्र-अवधू मन परचै माया मोह टूटै । पवन परचै ससि घर फूटै ।
ग्यांन परचै लागै बन्ध । गुरू परचै अजरावर कन्ध ।। 24 ।।
गोरष-स्वांमी कहां बसै मन कहां बसै पवन । कहां बसै सबद कहां बसैं चंद ।
कौंण अस्थाने ए तत रहै । सतगुर होय सु पूछ्या कहै ।। 25 ।।
मछिंद्र-अवधू हिरदै बसै मन नाभी बसै पवन,
रूप बसै सबद गंगन बसै चंद ।
उरध सथांने ए तत रहे । ऐसा बिचार मछिन्द्र कहै ।। 26 ।।
गोरष-स्वामी हिरदै न होता, तब कहां रहिता मन ।
नाभि न होती तब कहां रहिता पवन ।।
रूप न होता तब कहाँ रहिता सबद ।
गगन न होता तब कहां रहिता चंद ।। 27 ।।
मछिंद्र-अवधू हिरदा न होता तब सुंनि राता मन ।
नाभी न होती तब निराकार रहिता पवन ।।
रूप न होता तब सुंनि रहिता सबद ।
गगन न होता तब अन्तरष रहिता चंद ।। 28 ।।
गोरष-स्वांमी राति न होती दिन कहां थैं आया ।
दिन प्रसरया राति कहाँ समाया ।।
दिया बुझांनां जोति कहां लीया बास ।
प्यंड न होता तब प्रांण का कौंण बेसास ।। 29 ।।

मछिंद्र-अवधू राति न होती दिन सहजै आया ।
दिन प्रसरया राति सहजै समाया ।।
दिवा बुझांनां जोति निरन्तरि लीया बास ।
प्यंड न होता तब प्राण का सुंनि बेसास ।। 30 ।।
गोरष-स्वांमी काया मधे कै लष चंद । पुहुप मधे कहां बसै गंध ।
दुध मधे कहां बसै घीव । काया मधै कहां बसै जीव ।। 31 ।।
मछिंद्र-अवधू काया मधे द्वे लख चंद । पहूप मधे चेतनि गंध ।
दूध मधे निरंतर बसै घीव । काया मधै सरब व्यापीक जीव ।। 32 ।।
गारेष-स्वांमी कहां बसै चंद कहां बसै सूर । कहाँ बसै नाद बिंद का मूर ।
कहाँ होइ हंसा पीवै पांणी । उलटी सक्ति आप धरि आंणी ।। 33 ।।
मछिंद्र-अवधू उरधै बसै चंद अरधै बसै सूर ।
हिरदै बसै नाद बिंद का मूर ।।
गगन चढ़ि हंसा पीवै पाणी । उलटी सक्ति आप धरि आंणी ।। 34 ।।
गोरष-स्वांमी कथं उतपन्यों नादं, कथं नाद समभवते ।
कौंण ले थापते नादं, कथं नादं बिलीयते ।। 35 ।।
मछिंद्र-अवधू ऊँकार उतपतते नादं नाद सुन्नि समिभवते ।
स्रवन ले थापते नादं, नादं निरंजन बिलीयते ।। 36 ।।
गोरष-स्वांमी नादेन नादिबा बिंदिन बिंदबा, गगनेन लाइबा आसा ।
नाद बिंद दोऊ न होइगा, तब प्रान का कहां होइगा बासा ।। 37 ।।
मछिंद्र-अवधू नादे भी नादिबा बिंदे भी बिंदबा, गगने भी लाइबी आसा ।
नाद बिंद दोऊ न होइगा, तब प्राण का निरंतर होइगा बासा ।। 38 ।।
गोरष-स्वांमी आकार छूटिसी निराकार होइसी, पवन न होसी पांणी ।
चंद सूर दोऊ न होसी, तब हंस की कौन सहनांणी ।। 39 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज हंस का षेल भणीजै, सुंनि हंस का बास ।
सहजै ही आकार निराकार होइसी, परम जोति हंस का निवास ।। 40 ।।
गोरष-स्वांमी अमूल का कौंण मूल, मूल का कथं बास ।
पद का कौंण गुरू, पूछंत गोरषनाथ ।। 41 ।।
मछिंद्र-अवधू अमूल का सुंनि मूल, मूल का निरंतर बास ।
पद का निरबांन गुरू, कथंत मछिंद्रनाथ ।। 42 ।।

गोरष-स्वांमी जी कथं उतपदिते प्रांण, कथं उतपदिते मन ।
कथं उतपदिते बाचा, कथं बाचा बिलीयते ।। 43 ।।
मछिंद्र-अवधू अबगति उतपदिते प्रांण, प्रांण उतपदिते मन ।
मन उतपदिते बाचा, बाचा मन बिलीयते ।। 44 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सरोवर कौंण सनाल । कौंण मुष होइ बचिये काल ।
लोक अगोचर कैसे लिव लहै । मन पवन कैसें समि रहै ।। 45 ।।
मछिंद्र-अवधू मन सरोवर पवन सनाल । उरघ मुष होइ बंचिये जंम काल ।
अरघउरघ अगोचर लिव लहे । मन पवन ऐसैं समि रहै ।। 46 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सो विषभी कौंण सो संधि । कौंणे चक्री लागै बंध ।
कौंणे चेतनि मन उनमनि रहै । सतगुर होइसु बूझां कहै ।। 47 ।।
मछिंद्र-अवधू अनली बिमली विषमी संधि । चाकी ऊपरि लागै बंध ।
सदा चेतनि मन उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 48 ।।
गोरष-स्वामी कहां उतपन्यां व्यापक, कहाँ आदि की अस्तुत समाई ।
ए तत्व कहौ गुरू गुसाई जहां हमारी उत्पति रहाई ।। 49 ।।
मछिंद्र-अवधू तिल मधैं जथा तेलं, काष्ट मधै हुतासन ।
पहुप मधै जथा बासं देही मधै तथा देवता ।। 50 ।।
गोरष-स्वांमी सापणि कुहकै कौंणे भाइ, बंक नालि हूवै कौंणै ठांइ ।
जब यहि प्रांणी निद्रा करै, पिंड मधे प्रांण कहां होइ रहै ।। 51 ।।
मछिंद्र-अवधू सापिणी कुहकै सहज सुभाइ । बंक नालि हूवै नाभी ठांइ ।
जब यहि प्रांणी निद्रा करै, पिण्ड मधै प्राण अपरछन रहै ।। 52 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणैं चक्र दिढ़ करि चंद । कौंणैं चक्रै लागै बन्ध ।
कौंणैं चक्रै निपावै निरोध । कौंणैं चक्रै मन प्रमोध ।।
कौंणैं चक्रै धरिये ध्यानं कौंणैं चक्रै लीजै विश्रांम ।। 53 ।।
मछिंद्र-अवधू अरधै चक्रै दिढ़ करि चंद । उरधै चक्रै लागै बन्ध ।
पछम चक्रै निपावै निरोध । हिरदा चक्र में मन प्रमोध ।।
कांठै चक्रै धरिये ध्यांन । ग्यांनै चक्रै लीजै विश्रांम ।। 54 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन उदैं माया सुन्नि । नौ ग्रह कैंसे पाप न पुन्नि ।।
कौंन ग्रह लै उनमन रहै । सतगुर होइ सु बुझ्यां कहै ।। 55 ।।
मछिंद्र-अवधू बोलता जैसे माया सुंनि नवग्रह बिचारै पाप न पुंनि ।
सिव सकती ले उनमन रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 56 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण धर कौंण बास । कौंण गरभि रहूया दस मास ।
कौंण मुषि पांणी कौंण मुषि अस्तुति षीर,
कौंण, दिसा भई उतपति सरीर ।। 57 ।।
मछिंद्र-अवधू अनील गृह अबिगत बास, अतीत गरभि रह्या दस मास ।
मन मुषि पांणी पवन मुषि अस्तुति षीर,
ओंकार दिसा भइ उतपति शरीर ।। 58 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण नालि सिव संचरया, कौंण मुषि पईठा जीव ।
कौंण गरभि बसंतडां, कौंण नालि रस पीव ।। 59 ।।
मछिंद्र-अवधू संषनि नालि सिव संचरया, सुषमनि पईठा जीव ।
माता गरभि बसंतडां, बंक नालि रस पीव ।। 60 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सुंनि उतपनां आइ । कौंण सुंनि सतगुरू बुझाइ ।
कौंन सुंनि मैं रह्या समाइ । ए तत्वा गुरू कहौ समुझाइ ।। 61 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज सुनि उतपनां आइ । समि सुंनि सतगुरू बुझाइ ।
अतीत सुंनि मैं रह्या समाइ । परम तत्व मैं कहूं समझाइ ।। 62 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि लागै समाधि । कौंण मुषि छूटै उपाधि ।
कौंण मुषि ले तुरिया बन्ध । कौंण मुषि अजरावर कंध ।। 63 ।।
मछिंद्र-अवधू मन मुषि बाला लागै समाधि । पवन मुषि बाला छूटै उपाधि ।
सुरति मुषि बाला तुरिया बन्ध । गुर मुषि बाला अजरावर कन्ध ।। 64 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौवै कौंण जागै । कौंण दहदिसि जाइ ।
कहां थै उठंत कहां होइ होठ कण्ठ तालुका बजाइ ।। 65 ।।
मछिंद्र-अवधू मन सौवै पवन जागै । कलपनां दह दिसि जाइ ।
नाभी थै उठंत पवनां, आगै होठ कंठ तालुका बजाइ ।। 66 ।।
गोरष-स्वांमी कहां थै करै मन गुंणधणां ।
कहां थै करै पवन आवागवनां ।।
कौंण मुषि चंदा नीझर झरै । कौंण मुषि काल निद्रा करै ।। 67 ।।
मछिंद्र-अवधू हृदा थै मन करै गुंण घणां । नाभी थैं करै पवन आवागवनां ।
आप मुषि चंदा नीझर झरै । मन मुषि काल निद्रा करै ।। 68 ।।
गोरषस्वांमी कौंण तेज थै जोति पलटैं । कौंण सुंनि थै बाचा फुरै ।

कौंण सुंनि थै त्रिभुवन सार । कौंण सुंनि थै उतरिबा पार ।। 69 ।।

मछिंद्र-अवधू उग्र तेज थै जोति पलटै । अभय सुंनि थैं बाचा फुरै ।

परम सुंनि थै त्रिभुवन सार । अतीत सुंनि उतरिबा पार ।। 70 ।।

गोरष-स्वांमी कथं उतपनी षुध्या, कथं उतपनां अहार ।

कथं उतपनीं निद्रा, कथं उतपनां काल ।। 71 ।।

मछिंद्र-अवधू मनसा उतपनी षुध्या, षुध्या उतपनां अहार ।

अहार उतपनी निद्रा निद्रा, उतपनां काल ।। 72 ।।

गोरष-स्वांमी सति सति भाषंत हो गुरू पंडिता, मन पवन कौंण दिसा ।

कौंण द्रिष्टि कौंण बिधि ग्यांन, नृगंथापार पार उतरिबा किसा ।। 73 ।।

मछिंद्र-अवधू द्रिष्टि थैं दिव द्रिष्टि होइबा, गिनांन थैं गिनांन होइबा ।

तथा गुरू सिख की एकै काया, परचा होइ तौं बिहड़ि न जाया ।। 74 ।।

गोरष-स्वांमी कहां थै उठंत सास उसासं । कहां परमहंस का बासं ।

कौंण घर मन थिर होइ रहै । सतगुर होइ सु बूझयां कहैं ।। 75 ।।

मछिंद्र-अवधू अरधै उठंत सास उसासं । उरधै परमहंस का बासं ।

सहज सुन्नि मैं मन थिर रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 76 ।।

गोरष-स्वांमी कैंसे आवैं कैंसें जाइ । कैंसें चीया रहै समाइ ।

कैंसे मन तन सदा थिर रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 77 ।।

मछिंद्र-अवधू सुंनै आवै सुंनै जाइ । सुंनै चीया रहै समाइ ।

सहज सुंनि मन तन थिर रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 78 ।।

गोरष-स्वांमी कहां बसै सक्ती कहां बसै सीव । कहां बसै पवनां कहां बसै जीव ।

कहां होइ इनका परचा लहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 79 ।।

मछिंद्र-अवधू अरधै बसै सक्ती उरधै बसै सीव । भीतरि बसै पवनां अंतरी बसै जीव ।

निरंतर इनका परचा लहै । ऐसा विचार मछींद्र कहै ।। 80 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण मुषि बैठै कौण मुषि चलै । कौंण मुषि बोलै कौंण मुषि मिलै ।

क्यूं करि स्वांमी नृभै रहै । सतगुर होइ सुबूझ्यां कहै ।। 81 ।।

मछिंद्र-अवधू सुरति मुषि बैठे सुरति मुषि चलै । सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै ।

सुरति निरति मैं नृभैं रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 82 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सो सबद कौंण सो सूरति । कौंण सो बंध कौंण सो निरति ।

दुबध्या भेटैं कैसैं रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 83 ।।

मछिंद्र-अवधू सबद अनाहद सुरित सोचित । निरति निरालम्भ लागै बंध ।
दुबध्या मेटि सहज मैं रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 84 ।।
गोरष-स्वांमीं कौंण सो आसण कौंण सो ग्यांन । किहिं बिधि बाला धरै धियानं ।
कैसै अबिगत का सुष लहैं । सतुगर होइ सु बूझ्या कहै ।। 85 ।।
मछिंद्र-अवधू संतोष सो आसण विचार सो ग्यानं । काया तजि करि धरिये ध्यान ।
गुरमुष अबिगत का सुष लहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 86 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण संतोष, कौंण विचार । कौंण ध्यान काया कै पार ।
कैसै इन मैं मनसा रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 87 ।।
मछिंद्र-नृभै संतोष अनभै बिचार । दुह मैं ध्यांन काया कै पार ।
गुर मुषि मनसा इन मैं रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 88 ।।
गोरष-स्वांमी पाइ बिन कौंन मारग । चक्षि बिन कौंन दृष्टि ।
करण बिन कौंण श्रवण । मुष बिन कौंण सबद ।। 89 ।।
मछिंद्र-अवधू पाइ बिन बिचार मारग । चक्षि बिन निरति द्रिष्टि ।
करण बिन सुरति श्रवण मुष बिन लय सबद ।। 90 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो धोवती कौंण सो आचार ।
कौंण जाप मन तजै बिकार ।
कौंण भाव थैं नृभै रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 91 ।।
मछिंद्र-अवधू ध्यांन सो ब्रह्म आचार । अजपा जाप मन तजै बिकार ।
आतम भाव थै नृभै रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 92 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो ऊं कौंण सो आप । कौंण सो माई कौंण सो बाप ।
कैसे मन में दरियाव रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 93 ।।
मछिंद्र-अवधू सबद सो ऊँ जोति सो आप ।
सुंनि सोई माई चेतनि बाप ।
निहचल मन में दरियाव रहैं ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 94 ।।
गोरष-स्वामी कौंण सो चेतनि कौंण सार । कौंण निद्रा कौंण काल ।
कौंण महि पाँचों तत्व समि रहै ।
सतगुर होइ सु बुझ्यां कहै ।। 95 ।।
मछिंद्र-अवधू जोति चेतनि निरभै सार । जागिबा उतपत निद्रा काल ।
जोति महि पाँचौ तत्व समि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 96 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण बोलै कौंण सोवै । कौंण रूप में आपा जोवै ।
कौंण रूप में जुगि जुगि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 97 ।।
मछिंद्र-अवधू सबद बौलै सक्ति सोवै । अदेष रूप में आपा जोवै ।
अरूप रूप में जुगि जुगि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 98 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि रहणी कौन मुषि ध्यान,
कौंण मुषि अमी रस कौंण मुषि पांन ।
कौंण मुषि छेदि बदेही रहै ।
सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 99 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज मुषि रहणी सक्ति मुषि ध्यांन,
गगन-मुंषि अमीरस चित मुषि पांन ।
आसा मुषि छेदि बदेही रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 100 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण मुषि आवैं कौंण मुषि जाइ ।
कौंण मुषि होइ काल कौंण षाइ ।
कौंण मुषि होई जोति मैं रहै । सतगुर होइ सो बूझ्यां कहै ।। 101 ।।
मछिंद्र-अवधू सहज मुषि होइ आवै सक्ति मुषि होइ जाइ ।
निपष होइ काल कौं षाइ ।।
निरास मुषि होइ जोति में रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 102 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो काया कौंण सो प्रांण,
कौंण पुरिस का करिये ध्यांन ।
कौंण अस्थानं घरि काल सौं रहै,
सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 103 ।।
मछिंद्र-अवधू पवन सो काया मन सो प्रांण,
परम पुरिस का धरिये ध्यांन ।
सहज अस्थानं धरि काल सौं रहै, ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 104 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो कूंची कौंण सा ताला,
कौंण सो बूढ़ा कौंण सो बाला ।
कौंण अस्थानं मन चेतनि रहै । सतगुर होइ सु बूझ्या कहै ।। 105 ।।
मछिंद्र-अवधू निहसबंद कूंची सबद ताला । अचेत बूढ़ा चेतनि बाला ।
ग्यांन अस्थांन मन चेतनि रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 106 ।।

गोरष-स्वांमी कौंण सौ साधिक कौंण सो सिधि,
कौंण सो माया कौंण सो रिधि ।
कैसे मन की भ्रांति नसाइ । गुरू गुसांइ कहौं समझाइ ।। 107 ।।
मछिंद्र-अवधू सुरति सो साधिक सबद सो सिधि ।
आप सौं माया पर सो रिधि ।
दुहुँ कौ मेटि निरति मैं रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 108 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो सांचा कौंण सो रांग । कौंण आभूषण चढ़ै सुरंग ।
तामैं निहचल कैसे रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 109 ।।
मछिंद्र-अवधू ज्ञान सौ सांचा प्राणा सौ रांग जत आभूषण चढ़ै सुरंग ।
तामहिं निहचल उनमन रहैं । ऐसा बिचारि मछिंद्र कहै ।। 110 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ मन्दिर कौंण सौ देव । कहां बैसि करि कीजै सेव ।
कौंण सौ पाती किहि बिध रहै, सतगुर होइ सुबूझ्यां कहै ।। 111 ।।
मछिंद्र-अवधू सुंनि सौ मन्दिर मन सौ देव । बैसि निरंतर कीजै सेव ।
पाचौ पाती उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 112 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सो मन्दिर कौंण सो द्वार । कौंण सो मूरति कोंण अपार ।
कौंण रूप मन उनमन रहै ।। सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 113 ।।
मछिंद्र-अवधू सुंनि सौ मन्दिर सबद सौ द्वार । जोति सौ मूरति ज्वाला अपार ।
रूप अरूप मन उनमनि रहै । ऐसा विचार मछिंद्र कहै ।। 114 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ दीवा कौंण प्रकास । कौंण बाती तेल निवास ।
कैसे दीवा अबिचल रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 115 ।।
मछिंद्र-अवधू ग्यांन सौ दीवा सबद प्रकास । संतोष बाती तेल निवास ।
दुबध्या मेटि अषंडित रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 116 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ बैठा कौंण सौ चल्या । कौंण सौ फिर्या कौंण सौ मिल्या ।
कौंण सो धरि मैं निरभै रहै । सतगुर होइ सु बूझ्यां कहै ।। 117 ।।
मछिंद्र-अवधू धीरज बैठा चल्या बिकार । सुरति सौ फिर्या मिल्या सोइ सार ।
सदा अतीत धरि निरभै रहै । ऐसा बिचार मछिंद्र कहै ।। 118 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सौ जौगी केसे रहै । कौंण सौ भोगी कैसे लहै ।
सुष मैं कैसे उपजै पीर । तामैं कौंन बधावै धीर ।। 119 ।।
मछिंद्र-अवधू मन जोगी जै उनमनि रहै । उपजै महारस सब सुष लहै ।

रस ही माँहिं अखंडित पीर। सतगुर सबद बंधावै धीर।। ।20।।
गोरष-स्वांमी कौंण सु आत्मां आवै जाइ। कौंण सु आत्मा रहै समाइ।
कौंण सौ आत्मा त्रिभुवन थीर। कौंण परचै बांवन बीर।। ।21।।
मछिंद्र-अवधू पवन सौ आत्मा आवै जाइ। मन सौ आत्मा सुंनि समाइ।
ग्यांन सौ आत्मां त्रिभुवन थीर। सबद परचै बावन बीर।। ।22।।
गोरष-स्वांमी मन का कौंण जीव, जीव का कौंण बेसास।
वैसास का कौंण आधार, आधार का कौंण रूप।। ।23।।
मछिंद्र-अवधू मन का पवन जीव, पवन का सुंनि बेसास।
बेसास का ब्रह्म आधार, ब्रह्म का अच्यंत रूप।। ।24।।
गोरष-स्वांमी कौंण चक्र थिर हौवै कंध। कौंण चक्र अगोचर बंध।
कौंण चक्र मैं हंस निरोधै। कौंण चक्र मैं मन परमोधै।
कौंण चक्र मैं लहै सवाद। कौंण चक्र मैं लागै समाध।। ।25।।
मछिंद्र-अवधू मूल चक्र थिर हौवै कंद। गुदा चक्र अगोचर बंध।
मणि चक्र मैं हंस निरोधै। अनाहद चक्र मैं चित्त परमौधै।।
बिसुध चक्र मैं लहै सवाद। चंद चक्र मैं लागै समाध।। ।26।।
गोरष-ए षटचक्र का जांणैं भेव। सौ आपै करता आपै देव।
मन पवन साधै ते जोगी। जुरा पलटै काया होइ निरोगी।। ।27।।

पापे न लिप्यते पुन्ये न हरंते ऊँनमो सिवाइ
ऊँनमो सिवाइ। श्रीमछिंद्रनाथ पादुका नमस्तते।।

इति

अष्ट मुद्रा

स्वामीजी अष्ट मुद्रा बोलिए घट भींतरि, ते कौंण कौंण।
अवधू यंद्री मध्ये मूलनी मुद्रा, कांम त्रिष्णा ले उतपनी काम।
कांम त्रिष्णा समो कृतवा, मुद्रा, तौ भई मूलनी।।
नाभी मधे जलश्री मुद्रा, काल क्रोध ले उतपनी।

काल क्रोध समो कृतवा, मुद्रा तौ भई जलश्री ।
हृदा मधे षीर नी मुद्रा, ग्यांन दीप ले उतपनी ।
ग्यांन दीप समो कृतवा, मुद्रा तौ भई षीर नी ।
मुष मध्ये षेचरी मुद्रा, स्वाद विस्वाद ले उतपनी ।
स्वाद विस्वाद समो कृतवा, मुद्रा तौ भई षेचरी ।।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा, गंध विगंध ले उतपनी ।
गंध विगंध समो कृतवा, मुद्रा तौ भई भूचरी ।
चषि मध्ये चाचरी मुद्रा, दिष्टि विदिष्ट ले उतपनी ।
दिष्टि विदिष्टि समो कृतवा, मुद्रा तौ भई चाचरी ।।
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा, सबद कुसबद ले उतपनी ।
सबद कुसबद समो कृतवा, मुद्रा तौ भई अगोचरी ।
ब्रहमंड असथांनि उनमनी मुद्रा, परम जोति लै उतपनी ।
परम जोति समो कृतवा, मुद्रा तौ भई उनमनी ।।
यती अष्ट मुद्रा का जाणै भेव, सौ आपै करता आपै देव ।।

इती अष्ट मुद्रा कथंत श्रीगोरषनाथजती संपूरण समापत सिवाय ।

रोमावली

सत पिता रज माता तम करि गाड़ी पाई,
लोह मास तुचा नाड़ी ये चारि धात माता की बोलिये,
बीरज हाड गूद्र ये तीनि धात पिता की बोलिये,
ए सप्त धात का सरीर बोलिये ।
द्वै हाथ द्वै पैर छाती लिलाट घाट अष्टांग जोग बोलिये ।
बंद भेद मुद्रा तीन्यूं साधंति ते सिधा बोलिये ।
कौंण बंधि बाँधिये, कौंण भेद भेदिये, कौंण मुंद्रा मुंदिये ।
ये बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
मन बन्धि बांदिये पवन भेद भेदिये बिंद मुंद्रा मुंदिये ।
कौंण विमल बिचारै कौंण षिरै कौंण झरै ।

मन बिमल बिचारै सूरज थिरै चंद्र झरै ।
हिंद पीर जिंद पीर ए बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
हिंद पीर बोलिये मन, जिंद पीर बोलिये पवन ।
षेचरी भूचरी गुपत प्रगट । ते कौंण कौंण ।
षेचरी बोलिये मन, भूचरी बोलिए पवन ।
गुपत बोलिये ग्यांन, प्रगट बोलिये सरीर ।
सरीरारथ परमारथ, गूढ़ारथ । ते कौंण कौंण ।
सरीरारथ बोलिये सरीर भेद, परमारथ बोलिये प्रांण भेद,
गूढ़ारथ बोलिजै विचार ।
चारी पीर बोलिजै घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
मन मछिंद्रनाथ पवन ईश्वरनाथ, चेतना चौरंगीनाथ, ग्यांन श्रीगोरषनाथ ।
चारि तकबीर बोलिजै घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
दृष्टि कहै क्यूं लीजै दीजै, सुरति कहै क्यूं बोलिये सुणिये,
नासका कहै क्यूं सुगन्ध बांस परमलादि लीजै, जिभ्या कहै क्यूं षाटी मीठी षाइये ।
चारि दिसा बोलिये धन भीतरि । ते कौंण कौंण ।
सबद बोलिये उत्तर, पवन बोलिए पछिम ।
दृष्टि बोलिये दषिण सूरति बोलिए पूरब ।
चारि आप कला बालये घट भीतरि । ते कौंण कोंण ।
ऊरम धूरम जोति ज्वाला ।
ऊरम बोलिये मन, धूरम बोलिये पवन,
जोति बोलिये नेत्र, ज्वाला बोलिये श्रवन ।
चारि षांणी बोलिजै घट भीतर । ते कौंण कौंण ।
स्वेतरज अंडरज जेरज उदबीरज ।
सेतरज बोलिये हाड़, जेरज बोलिये बीरज, अण्डरज बोलिये नेत्र,
उदबीरज बोलिये रोमावली ।
चारि बांणी बोलिये घट भीतरि । ते कौंण कौंण ।
सहज संजम सुपाइ अतीथ ।
सहज बोलिये सरीर, संजम बोलिये पवन, अतीत बोलिये परमपद ।
महा मुद्रा महां अजाच नग्री महां जोगणी स्वयंभू बोलिये ।

जे बांणी षांणी कौ बिचारैं ते निराकार बोलिये, ऊँकार मधे जोति जांणियै ।
ऊरम धूरम जोति ज्वाला । भेदी रवि का चाइयूं कला ।
मन करि हस्ती विमल जल पीवै । द्वै पष चीन्है तौ सोलह कला जीवै ।
बारह कला सूरज, सोलह कला चंद ।
गुरू जिसका लषावै नही चेला तिसका अंध ।
बारह कला सूरज की, ताकौ गुण घट भीतरि ब्यापै । ते कौंण कौंण ।
चिंता, तरंग इ्यंम, माया, परग्रहणै, परपंच हेत, बुधि ।
काम, क्रोध, लोभ, दृष्टि ये बारह कला सूरज बारह की बोलिये ।
सोलह कला चन्द्रमा की ताकै गुण घट भीतरि राषैं । ते कौंण कौंण ।
सांति, नृवर्त, क्षिमा, नृमल, निहचल, ग्यांन सरूप, पद,
नृबांण, नृबिष, निरंजन, अहार, निद्रा, मैथुन, बाई, अमृत
ये सोलह कला चंद्रमा की बोलिये ।
ए चारि कला सूरज की साधै तो सोलह कला चंद्रमा की पावै ।
एती एक रोमावली ग्रंथ जोग कथितं श्रीगोरषनाथ ।

(इति)

गोरष-गणेश गुष्टि

गणेस पूछै गोरष कहै ।
तुम्हें स्वामी कहाँ थे आव्या, कहा तुम्हारा नाम ।
अम्हें निरंतरि थैं बर आंव्या, जोगी अम्हारा नाम ।
स्वांमी जोगी तौ ते बोलिए जिन एता मेर मेषला रच्या ।
तुम्हें कोण जोगी ।
अम्हें निरंजन जोगी अतीत गुर चेला ।
स्वांमी ते क्यूं जाणिये ।
रहति करि जाणिये, सबद करि प्रवांणिये ।
स्वांमी रहति ते क्या बोलिये, सब्द ते क्या बोलिये ।
सब्द बोलिये सब थैं बिबरजित, रहति बोलिये तृगुण रहित ।

स्वांमी सब थैं निरन्तर ते क्या बोलिये ।
सरब थैं व्यबरजित बोलिये अवधू सुछिम,
त्रिगुण बोलिये सत रज तम ।
तौ स्वांमी सुक्षम ते क्या बोलिये, सतरजतम ते क्या बोलिये ।
सुछिम ते बोलिये अवधू दिष्टि न देखिये मुष्ट न आवै ।
सतगुन बोलिये पवन रजगुन बोलिये पानी ।
तृगुण बोलिये तामसरूपी । पंच तत्त पचीस परकीरती बोलिये आदम ।
तौ स्वांमी पंचतत्व ते क्या बोलिये । पचीस परकीरती ते क्या बोलिये ।
पंच तत्त बोलिये पृथ्वी आप तेज बाई आकास,
येक-येक तत्त संजुगत पंच-पंच परकीरती बोलिये ।
प्रथम पृथ्वी प्रकीरती बोलिये (1) अस्त (2) मास (3) तुचा (4) नाड़ी (5) रोम
एती पृथ्वी की प्रकीरती बोलिये ।। 1 ।।
दुतिये आप प्रकीरती बोलिये (1) लाल (2) मूत्र (3) प्रसेद (4) सुकल
(5) सुनीत । एती आप की प्रकीरती बोलिये ।। 2 ।।
तृतीये तेज प्रकीरती बोलिये (1) पुहया (2) तृसा (3) न्यंद्रा (4) आलस
(5) क्रोध । एती तेज प्रकीरति बोलिये ।। 3 ।।
चतुरथे बाई प्रकीरति बोलिये (1) गाँवण (2) धावण (3) बलगण (4) ग्यांन
(5) अगोचरि, एती बाई प्रकीरति बोलिये ।। 4 ।।
पंचमें आकास प्रकीरति बोलिये (1) माया (2) मोह (3) लज्जा (4) राग
(5) द्वेष । एती पंच तत्त पचीस परकीरति का भेद बोलिये ।। 5 ।।
स्वांमी पृथ्वी का कौंण बरण, आप का कौंण बरण,
तेज का कौंण बरण, बाई का कौंण बरण, आकास का कौंण बरण ।।
पृथ्वी का पीत बरण, आप का सेत बरण, तेज का रक्त बरण,
बाई का नील बरण, आकास का काला बरण ।।
स्वांमी पृथ्वी का कौंण स्वाद, आप का कौंण स्वाद,
तेज का कौंण स्वाद, बाई का कौंण स्वाद, आकास का कोंण स्वाद ।।
पृथ्वी का मधुर स्वाद, आप का षारा स्वाद, तेज का तीषा स्वाद,
बाई का षाटा, स्वाद, आकास का मिलबला स्वाद ।
तौ स्वामी पृथ्वी का कौंण सुभाव, आप का कौंण सुभाव,

तेज का कौंण सुभाव, बाई का कौंण सुभाव, आकास का कौंण सुभाव ।
पृथ्वी का बैठा सुभाव, आप का सीतल सुभाव, तेज का ताता सुभाव,
बाई का चंचल सुभाव, आकास का ऊभा सुभाव ।
तौ स्वांमी आकास का कौंण घर, कौंण द्वार,
कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
बाई का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
आप का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
तेज का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
पृथ्वी का कौंण घर, कौंण द्वार, कौंण आहार, कौंण बिहार, कौंण ब्यौहार ।
आकाश का ब्रहमण्ड घर, श्रवन द्वार, सुंने सु आहार
जिह्वा बिहार दिम्भ पाषंड ब्यौहार ।
बाई का घर नाभी, नासिका द्वार, बासना आहार
निरबासीक बिहार, अहं क्रोध, ब्यौहार ।
तेज का पीता घर, चछू द्वार, द्रिष्ट देषै सु आहार
हरष बिहार, प्रीती मोहब्यौहार ।
आप का लिलाट घर, यन्द्री द्वार स्त्री, आहार
बिंद बिहारमैथुन ब्यौहार ।
पृथ्वी का घर कलेजी, मुदा द्वार, षाइ सु आहार
अमरीबजरी बिहार लोभ लालच ब्यौहार ।
तौ स्वांमी पृथ्वी का कौंण गुरू, आप का कौंण गुरू, तेज का कौंण गुरू,
बाई का कौंण गुरू, आकास का कौंण गुरू ।
पृथ्वी का गुरू मन, देवता बाचासरूपी, आप का गुरू चन्द्र-देवता बुधि सरूपी,
तेज का गुरू सूरज देवता अनादि सरूपी
आकास का गुरू श्रीगोरष जती अविगति सरूपी ।
स्वांमीं जी प्रिथी की कौंण भारिज्या । आप की कौंण भारिज्या ।
तेज की कौंण भारिज्या, बाय की कौंण भारिज्या । आकास की कौंण भारिज्या ।
अवधू प्रिथी की भारिज्या आसा धनवंती । आप की भारिज्या मनसा चोरटी ।
तेज की भारिज्या कलपनां चंडाली । बाय की भारिज्या चिंता डाकणी ।
आकास की भारिज्या संध्या सीलवंती ।

स्वांमीजी प्रिथी कौंण गुणी । आप कौंण गुणां ।
तेज कौंण गुणां बाय कौंण गुणां । आकास कौंण गुणां ।
अवधू प्रिथी मूल गुणी । आप बृध गुणां । तेज रूप गुणां ।
बाय प्रमल गुणा । आकास मैथुन गुणां ।
तौ स्वांमी पंच तत्त की कथं उतपती, कथं षपती ।
अबिगत उतपना ऊँ । ऊँ उतपदितें आकास । आकास उतपनी बाई । बाई उत्पन्यां तेज । तेज उत्पन्यां तोया । तोया उत्पनी मिट्टी । मिट्टी ग्रासंत तोया । तोया ग्रासंत तेज । तेज ग्रासंत बाई । बाई ग्रासंत आकास । आकास ग्रासंत ऊँ । ऊँ ग्रासंत ते अबिगत । अबिगत गति रहेत । आवते न जावते एवं पंच तत पचीस प्रकीरति का भेद बोलिये । निरंजन देवता । पांणी का जामन । अगनि का पुट । पवन का थंमा । सुरति निरति सोध्या सुंनि में समाया । अबिगत सरूपी एवं उचितम् ।

पापे न लिप्यतें पुन्ये न हारंते जोगारम्भे भवे सिधां आवागवन निबर्तते । ऊँ नमो सिवाई ऊँ नमो सिवाई श्री स्यम्भुनाथ पादुका नमस्तुते ।

वौउं अनादि बोलंत षरतर पंथ। जिभ्या इंद्री दीजै बंध।
जौग जुगुति मैं रहै समाइ। सो जोगी सिर भद्र कराइ।। ।।।
द्वादस मंदिर सिव थांन। तेहूँ उत्तम ब्रह्म ग्यांन।
द्वादस निहचल एक भै रहै। तै जोगी सिर टोपौ बहै।। 2।।
देषै ये तत सून्य अकास। पंच तत मैं महा पुरिस का बास।
पंच तत्त लै अनमनि रहै। अछ्या होइ तौ जोगेंद्र कहै।। 3।।
पंच तत्त का करौहु बिचार। बाहर भीतर येकंकार।
भिछया मांगै नग्री द्वार। माया मोहूँ तजै जंजार।। 4।।
अरघ उरघ बीची कंमली भोग। सुणौं हो अवधू अध्यातम जोग।
मनमूंडे तौ मस्त मूंडी। नहीं तर पड़ौ नरक की कूंडी।। 5।।
ये तौ येक अवघू पंच तत्त मात्रा का बिचार। बदंत गोरष दसवै द्वारि।
आदि संष अनिल उपाया। अनंत सिधां लैं मस्तकि लायां।। 6।।
कान सुणाय गुरं दीन्ही दीष्या नवषंड प्रथी मांगों भीष्या।
भिछया मांगि निरंतरि रहै। ते जोगी कानां मुद्रयां बहै।। 7।।
अहुँठ हाथ गल कंथा पाई। चंद सूर दौउ थंगली लाई।
अहुँठ कोटि दस धागा भरौ। गुरू परसादे दुतिर तिरौ।। 8।।
काया षड़ासण मन जोगौटा पांचों इन्द्री करौ कछौठा।
जत सत क्रीया संजम चलवौ। डंडा लाठी डीबी पावौ।। 9।।
पछिम उत्तर दछिण पूरब। वै तौ जोगी जोगौटा चलावौ।
माथे जटा दरसन विकराल। तौ अवघू जोगी बंचौ काल।। 10।।
सींमी सेली अर जपमाला। बाई फेरो गगन मंझारा।
नव बैहैतर पवनां मूल। षट चक्रं गंगा गौरी तिरसूल।। 11।।
अलष पुरिष तहां कू ध्याया। नग्र कोट उरध थी आया।
चीत चक्र में जै पवनां गहे। ब्रह्म अगिनि प्रगट जल रहै।। 12।।
बीस्नं बीस्नं करै सब कोय। बिना निरंजन मुकति न होय।
मूल चक्र तहां सहस्र दल बाट। मन पवन लै षौलौ कपाट।। 13।।
गोरष बिस्न लागा बाद। गोरष लेय बजाया नाद।

बीस्न कीया मृघ का रूप मार्‌या मृघ ध्याया अवधूत ।। ।4 ।।
पूरब जाता पछीम हांस । मार्‌या मन मृघ भषीलै मांस ।
नांली चांपी सीगी नाद बजाया । यही सीगी नाद गगन कूं जाइ ।। ।5 ।।
गगन मंडल मैं रहै समाइ । अनंत सिघां पाई जोग बाई ।
सीगी नाद गगन कूं जाई । अह निसि चंदा (रहै) गगन समाइ ।। ।6 ।।
पांचूं इन्द्री पूरै स्वाद । तै अवधू बजावै सीगी नाद ।
अनहद नांद उरध का मूल । चंद सूर सुषमन अस्थूल ।। ।7 ।।
वारि गंगा पारि गंगा, मंझी जोगौटा ध्यांन ।
गंग जमन लै मेर चढ़ाई, तहां प्रगट्या ब्रह्म गियांन ।। ।8 ।।
सीगी सेली और षड़ासण, अनंत सीघां लीन्हा जाइ ।
द्वादस डीबी उरघ का मेला । अलेष मंढ़ी तांहा गगन समाइ ।। ।9 ।।
सोना रूपा ग्रही कूं दीन्हा । आदी पत्र लै ईस्वर कूं दीन्हा ।
जोगारंभ तहां सीध समाइ । आदि धंरम सुरग उतपना आइ ।। 20 ।।
बारा बरस का मुवा समांण, । श्री गोरषनाथ जगाया ।
चौसठि जोगणि भ्याष्या पूरै, अनंत सिघां आदि पत्र पाया ।। 2। ।।
आदी पत्र आदी उत्यंम अनादि धरम संकर कूं पेस ।
निगुरा कूं गड़बड़ बौलिये सुगरा कू उपदेस ।। 22 ।।
येता येक पंच मात्रा का ऊचार अनंत सीधां तहां सुण्या बिचार ।
मच्छंद्र प्रसादै जती गौरष कहै । ते अवधू पंच भू आत्मा लहै ।। 23 ।।
जे जौगी जाणै पंच मात्रा का भेव । सौ आपै करता आपै दैव ।
ये पंच मात्रा जोगी बूझै । ताकूं त्रिभुवन सूं सकल देवता पूजैं ।। 24 ।।

इति श्री पंच मात्रा पठंत गुणंत कथंते करंते पापेन लिपंते पुन्ये न हरंते आवागवण बिब्रजते अमरलोकी सगछते । वो उं नमसिवाय । उन्मोस्यवाय गुरू मछंद्रनाथ पादुका नमस्ते । इति श्री गोरषनाथजी की पांच मात्रा ग्रंथ जोगसास्त्र संपूरण समाप्ता ।

ईश्वरोवाच ऊँ, अबिगत उतपते इच्छा । इच्छा उतपते आकास । आकास उतपते वाय । वाय उतपते तेज । तेज उतपते तोयम । तोयम उतपते मही ।

अबिगत ते इच्छा । इच्छा तैं आकास । आकास नाम, स्याम वरण, दसवैं द्वार बासा, दाहिणे पैसार, वामं श्रवण निकास, नाद सुनै सो आहार दंभ बड़ाई ब्यौहार । राग दोष हर्ष शोक मोहादिक ये पाँच प्रकृति आकास की बोलिये । इन आकास मारग जीव अनुसरै तौ सेतरंज षानि भोगवै ।

आकास से वायु नाम, नील वरण, नाभि बासा, इला पैसार, पिंगुला निसार, गंधं बासना आहार, क्रोध व्यवहार । गावण, धावण, बलगन, संकोचन, पसारणये पाँच प्रकृति वायु की बोलिये । इन वायु मारग जीव अनुसरै तौ अण्डरज षानि भोगवै ।

वायु से तेज नाम, रक्त वरण, त्रिकुटीवासा, दाहिणै नेत्र पैंसार, बामें निसार, दृष्टि देषै सो आहार, मोह ब्यौहार । क्षुधा, त्रिषा, निद्रा, आलस, क्रांति, ये पाँच प्रकृति तेज की बोलिये । इन तेज मारग जीव अनुसरै तौ रज षानि भोगवै ।

तेज ते आप नाम, स्वेत वरण, ललाट वासा, जिभ्या पैसार, इन्द्री निकास, स्त्री-आहार, काम ब्यौहार । लाल, मूत्र, प्रस्वेद रूधिर, मज्जा-ये पाँच प्रकृति आप की बोलिये । इन आप मारग जीव अनुसरै तौ उदबीरज षानि भोगवै ।

आप ते पृथ्बी नाम, पीत वरण, कलेजे वासा, मुष पैंसार, मूल द्वार निकास, षावे पीवे सो आहार, लोभ लालच ब्यौहार । अस्थि, मांस, त्वचा, नाड़ी, रोम, ये पाँच प्रकृति पृथ्वी की बोलिए । इन पृथ्बी मारग जीव अनुसरै तौ पिंडरज षानि भोगवै ।

इति पंच प्रकृति, पंच घर, दस द्वार, पंच अहार, पंच ब्यौहार, पंच वरण,

पंच षानि चौरासी लाष जीव जोनि भ्रमते । तथा ये पंच कर्मानि बोलिये सुनो गोरष अवधूत । ईश्वरो कथंति । महा ग्यांन कर्म पटल प्रथमो अध्याय ।

इश्वरोवाय पंच तत्वभेव कथितं । पृथ्वी ग्रासन्ति तोया । तोया ग्रासन्ति तेज । तेज ग्रासन्ति वायु । वायु ग्रासन्ति आकास । आकास ग्रासंति इच्छा । इच्छा ग्रासन्ति अबिगत । अविगत रहत, आवते न जाते । जैसा है तैसा हो रहते । असंष मनि नाम । अवरण वरण । हिरदै वासा ।

भाव घर, अदृष्टि द्वार, सहज पैसार । समाधि निकास, अमी आहार, अर्थ ब्यौहार, इन मन मारग जीव अनुसरै तौ सायोज्य मुक्ति भोगवै ।

असंष बुद्धि नाम । अवरण वरण, निर्मल वासा, विचार घर, अनाहद द्वार, निहशब्द पैसार, अनभैं निकास, रस आहार, अगह ब्यौहार, इन बुद्धि भार्ग अनुसरै तौ सागीप मुकति भोगवै ।

सहज सून्य चिन्ता नाम, अवरण वरण, त्रिकुटी वासा, विवेक घर, अजपा द्वार, निहकाम पैसार, सन्तोष निसार, कमरन्द अहार, अगम ब्यौहार । इन चित्त मारग जीव अनुसरै तौ स्वरूप मुक्त भोगवै ।

परम ध्यानं अहंकार नाम, अवरण वरण, विषमी वासा, विवेक लय घर, नृनासीक द्वार, अगम पैसार, अगोचर निसार, अजर अहार, अगाध ब्यौहार । इन अहंकार मारग चित्त अनुसरै तौ सालोक मुक्ति भोगवै ।

प्रांण अंतहकरण नाम, अवरण वरण, अस्थिति वासा, धीर घर, अकिल द्वार ग्यांन पैसार, बिग्यांन निसार, अमरा अहार, अबंध ब्यौहार । इन अन्तहकरण मारग जीव अनुसरै तौ महामुक्ति (भोगवै) आत्मा परमात्मा भवति । जोगेस्वर जीव एक भवन्ति । परम सून्य भावे स्थिति । पारब्रहम भवे लीनं । सत्यंसत्यं च वदाम्यहम । तत्व ग्यांन श्रीशम्भूनाथ अकथ कथितं सुनो हो गोरष अवधूतं परम जोग संप्रापितं जोगी । ईस्वरो कथंत महाग्यांन इति ग्यांन इन्द्रादि बोलिये । इति ग्यांन पटल द्वितीयो अध्याय ।

(इति गोरष-महादेव सम्वाद)

गोरष जोगी कथै बिचारं । ये तत जीतै सातौ वारं ।।टेक।।
आदित बार ब्यौरि ले आप आपा व्यौरत पुंनि न पाप ।।
दुहुं पषां सों आरंभ करै । अनभै करि जमपुर परहरै ।।
सोमवार ससि षटण भरौ । सतगुरू षोजौ दूतरि तिरौ ।।
दसवें द्वारि दीजै बंध । तौ अजरावर थिर हवै कंध ।।
मंगलवार अम्हे पाया भेव । आतमां अछै निरंजन देव ।।
पंच पुहुप लै पूजा करौ । मति बुधि लै सिवपुरी संचरौ ।।
बुधिवार मति बुधि प्रकास । अहि निसि रहिबा जोग अभ्यास ।।
दिढ़ करि लोचन आसा पास । सिधि साधौ अमरापुरि वास ।।
ब्रहसपति बार विषम मन लिया । ग्यान षड़ग लिया बिग्रह किया ।।
अठ्ठ कोटि दल दीया पयाणां । जम मस्तकि बाजै निस्राणां ।।
सुक्रवार सूषिम जल साधि । लहरि न पसरै सहज समाधि ।।
माया मारि मरि थिर जु होइ । आत्मा परचै मरै न कोइ ।।
थिरि थावर जु सनीचर बार । काया मध्ये सातौं बार ।।
सतगुरू षोजौं उतरौ पार । सुसमवेद सुषमना बिचार ।।
वेद पुरान पढ़ै चित लाइ । विद्या ब्रह्म कंध थिरि थाइ ।।
मछिंद्र प्रसादैं जती गोरष कहै । सप्त वार कोई बिरला लहै ।।
आदित आंष्यां सोम श्रवण, मंगल मुष परवांण ।।
बुध हिरदै बृहस्पति नाभी, सुक्र ते इंद्री जांण ।।
सनि गुदा वाय राह ते मंन, केत ते नासिका रहै ।।
सप्तवार नवग्रह देवता काया भीतरि श्रीगोरष कहै ।।

(इति)

चौबीस सिद्धि

चौबीस सिद्धि बोलिये प्रिथी के विषै ते कौंण कौंण । प्रथम अनूमां सिधि ताकौं लछिन, माया सुंनि सूझै । महिमां सिधि ताकौ लछिन, लघु दीरघ होय दिखावै । गरीमा सिधि ताकौ लछिन, ब्रहम कौ रूप दिषावै । लघुमां सिधि ताकौ लछिन, अनेक रूप धरै । प्रापति सिधि ताकौ लछिन, यंछै सो करै । प्रकासक सिधि, ताकों लछिन, सरब सूझै । असत्या सिधि ताकौ लछिन, उपावै षपावै । आवस्या सिद्धि ताकौ लछिन, ब्रह्मादिक अग्या में रहै । एती अष्ट भूतान सिद्धि, मनोजा सिधि ताकौ लछिन, सरब कांमनां की जाण । छुछुमुक्ता सिधि, ताकौ लछिन, मन मानै वहाँ सरीर छाड़ै । अनूरा सिधि ताकौ लछिन, सीत उसन तै रहित होय । परकाया प्रबेस सिधि, ताकौ लछिन, और काया प्रवेस करै । सूरज बसि सिधि, ताकौ लछिन, सूरज आग्या मैं रहै, जल बसि सिधि ताकौ लछिन, जल आग्या में रहै । दूरि श्रवण सिधि, ताकौ लछिन, दूरि की सुणै । दूरि दरसण सिधि, ताकौ लछिन, दूरि की दरसै । कांस कांमोद सिधि, ताकौ लछिन, कांमनां यंछे सो करै । अप्रहता सिधि, ताकौ लछिन, मन मांनै तहां जाय । देवता सैल सिधि, ताकौ लछिन, सर्व देवतां सूं केला करि आवै । रूपसेल देवता सिधि, ताकौ लछिन, सरब देवता का रूप धरै । हारै नाहीं सिधि ताकौ लछिन, कहूँ प्रकार हारै नाहीं । त्रिकाल सिधि, ताकौ लछिन, छमास की आगली कहै छमास की पाछली सूझै । अगनि बसि सिधि ताकौ लछिन, अगनि मैं जलै नहीं । सबद बसि सिधि ताकौ लछिन, सबद फुरै ।

यती चौबीस सिधि ब्रह्म ग्यांनी कै आड़ी आवै । यती चौबीस सिधि सिधि आई होय तौं सतगुरू प्रसाद तै तयागै । सोई जोगेस्वर, सोई ब्रह्म ग्यांनी । बल अपार जती गोरषनाथ समझावै । यती चौबीस सिधि त्यागै । सोई परम जोति कूं पावै ।

(इति)

(गोरष-दत्त गुष्टि)

गोरष-स्वांमी कि तुम्हें ब्रह्मा कि ब्रह्मचारी, कि तुम्हें बांभण पुस्तक कि डंडधारी ।
कि तुम्हें जोगी कि जोग जुगता, कौंण प्रसादैं रमो छछंद मुक्ता ।। । ।।
दत्तात्रेय-अवधू न अम्हें ब्रह्मा न ब्रह्मचारी, न अम्हें ब्राह्मण पुस्तक न डंडधारी ।
न अम्हें जोगी न जोग जुगता, आप प्रसादैं रमौ छछंद मुक्ता ।। 2 ।।
गोरष-आपा मेटण सतगुरू थापणां, अनपरचै जग षाया ।
गोरष कहै सुणौ हो स्वामी, तुम्हें कौंण कहां थै आया ।। 3 ।।
दत्त - अवधू होता गुपत गुपत थै प्रगट, रहता पुरूष की छाया ।
दत्त कहै सुणौ हो गोरष, हम गैबी पुरस गैब थै आया ।। 4 ।।
गोरष-स्वांमी अजर ब्यंद असाध बाई, अप्रबल बिष्न की माया ।
गोरष कहै सुणौ हो दत्तात्रेय क्यू घूं सीझंति जल ब्यंद की काया ।। 5 ।।
दत्त - अवधू कन्द्रप न बाई अप्रबल न माया, आकार निराकार सूषिम निकाया ।
जलो न जलविंबो दरपनों न छाया, दत्त न गोरष काया न माया ।। 6 ।।
गोरष-कौंणस्य आवै कौंणसि जाय, जो बोलै सो कहां समाइ ।
जोगमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुनौ दतदेव ।। 7 ।।
दत्त - अवधू न कोई आवै न कोइ जाई, कांसा नाद मधि समाई ।
येकैं सूत्रैं प्रोया हार, सांभलि हो गोरष कहूँ विचार ।। 8 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणस्य माता कौंणस्य पिता, कौंणस्य गुरू उपदेस स्थिता ।
कौंणस्य आसण करौ बिश्रांम, कौंण घर सौ दाषौ ठांम ।। 9 ।।
दत्त - अवधू षमा माता सत पिता, ग्यांन गुरू परचाया स्थिता ।
अलेष आसण तहां विश्राम, सांभलि गोरष दाषूं ठांम ।। 10 ।।
गोरष-स्वांमी कोंण मुकत कौंण दुष सहै, कौंण सि बिणसैं कौंण अजरावर रहै ।
जो गमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 11 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म मुकता प्रकीरति दुष सहै, प्रकीरति बिनसै ब्रह्म अजरावर रहै ।
गुहय ग्यांन कथिलै अपार, सांभलि गोरष कहौं बिचार ।। 12 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणसि सुषिम कौंण अस्थूल, कौंणस्य डाला कौंणस्य मूल ।

जो गमि होइ सु कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 13 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म सूषिम तत सथूल, पवनस्य डाला मनस्य मूलं ।
गुरहि ग्यांन कथिले अपार, सांभलि गोरष कहौं बिचार ।। 14 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणस्य गुर कौंण सि चेला, किहि बिधि होय अनंत सिधां सौं मेला ।
ब्रह्म कमल का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 15 ।।
दत्त - अवधू परमात्मा सि गुर आतम चेला, सहज सुंनि होइगा अनंत सिधा सूं मेला ।
ब्रह्म कमल उरध मुष षिला, सांभलि गोरष उनमन कला ।। 16 ।।
गोरष-स्वांमी कौंणस्य कला, किस बिधि षूठैं त्रिकुटी ताला ।
नाद बिन्द का कहियै भेव, गोरष कहै सुणो दतदेव ।। 17 ।।
दत्त - अवधू उनमनि ध्यांन पवन विधि काया, नाभ दम षूठैं त्रिकुटी ताला ।
दसवैं द्वारि ब्यंद का बास, सांभलि-गोरष नाद का प्रकास ।। 18 ।।
गोरष-स्वामी कौंणसि कंटक कौंण उचाट, किहिं बिधि षूलै ब्रह्म कपाट ।
अगम पंथ का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौ दत देव ।। 19 ।।
दत्त - अवधू कंटक सोई जिहिं अतिवंत क्रोध, उचाट सोई आत्मा बिरोध ।
गुरूगमि षूलैं ब्रह्म कपाट, सांभलि गोरष ऊजू बाट ।। 20 ।।
गोरष-स्वामी कौंनसि दया कौन सि धन, कौंणसि बूडण कौंण सि तिरण ।
कौंन सि ग्यांन करम का भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 21 ।।
दत्त - अवधू बूडण सोइ ज कंटक षुधि, तिरण सोई जु निरमल बुधि ।
ध्यांन सोइ जो दया धरम, ग्यांन सोइ बिबरजित करम ।। 22 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण स्य बंधा कौंण स्य मुकता, कौंण सि जोगी कौंण सि जुगता ।
देव कला का कहिये भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 23 ।।
दत्त - बंध्या सोई जु करमहि बंध, मुकता सोई रहै निरदंद ।
जोगी सोई जुगति मन रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 24 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण स्य जुगता कौंण स्य जोग, कौंण स्य काया व्यापै रोग ।
इनका हमसे कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 25 ।।
दत्त - अवधू जुगती सोई जो जुगि-जुगि ताला, जुगति सोई जो विषै निराला ।
जोगी सोई मन भ्रम न रहै गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 26 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि भरम कौंण स्य धरम, कौंण सि निसचल कौंण अधरम ।
अगम ग्यांन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 27 ।।

दत्त - अवधू भ्रम सोई जिहिं ब्यापे संसा, धरम सोई दरसण आदेसा ।
निसचल सोई जो ल्यो सू रहै, अधरम सोई जो मिथ्या कहै ।। 28 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि मिथ्या कौंण सि सांच, कौंण सि षरा कौंण सी कांच ।
कौंण कि कहै सबद का भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 29 ।।
दत्त - अवधू माया मिथ्या ब्रह्म सु साचा, सबद सुषरा प्यंड को काचा ।
सबद बिचारी जहाँ मन रहै, गोरष पूछै दत्तातृय कहै ।। 30 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि काया कौंण सि माया, कौंन सि भ्रम जग धन्धै लाया ।
अपार धंद का कहै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 31 ।।
दत्त - अवधू मन कलपत लागी माया, करम आचरै तहां लूं काया ।
ध्यान बिना जगुधंद अपार, सांभलि गोरष कहूँ विचार ।। 32 ।।
गोरष-स्वांमी कौंन सिं ध्यांन, कौंन सिं ग्यांन, कौंन सि मन, कोंन सि आसांन ।
ग्यांन ध्यांन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 33 ।।
दत्त - अवधू ध्यान सो ब्रह्म सू रहै, ग्यांन सोई जो सब गमि कहै ।
मन सोइ जहां मनहिं समांन, आपण जाणौ सोई आसांन ।। 34 ।।
गोरष-स्वामी कौंन सि मानै कौन सि जानै, ससिहर सूर कौन संभि ठानै ।
प्रकास अगोचर कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 35 ।।
दत्त - अवधू जानै सोइ परचै जग, नाथ न जांणै सोइ बिषियारत ।
ससिहर सूर अगोचर बासा । सांभलि गोरष कहूँ प्रकासा ।। 36 ।।
गोरष-कौंन अगोचर कौंन प्रकास, कौंर धरि षेलै निरास ।
कौंन सिघा का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 37 ।।
दत्त - अवधू ब्रह्म अगोचर मन प्रकास, परचै धरि षेलै निरास ।
परम जोति यहाँ सिध गहि रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 38 ।।
गोरष-स्वांमी कौंण सि परचै, कौंण प्रतीत, कैसे थिर चंचल चीत ।
मन पवन का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 39 ।।
दत्त - अवधू गुर परिचय मन प्रतीत, निसचल अस्थीर चंचल चीत ।
पवन थिरंता मन थिर रहै, गोरष पूछै दत्तात्रय कहै ।। 40 ।।
गोरष-कौन सि निसचल ले बंधे बंद, जुरामरण अजरावर कंद ।
गगन पद का कहियै भेव, गोरष कहै सुणौ दतदेव ।। 41 ।।
दत्त - अवधू निसचल सो जो न पडै काया, तृगुण रहत सो गगन समाया ।

सहज पद परम नृबांन, सांभलि गोरष ए परवांन ।। 42 ।।

गोरष-स्वांमी कौन सकति कौन सीव, कौन तीनि भुवन का जीव ।

कौंण सि आसा पुरवई भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 43 ।।

दत्त - अवधू सकति सोइ जो सबही सोषै, सीव सोइ जो सब को पोषै ।।

जीव इक तीनि भुवन जगनाथ, सोइ संग जो पूरइ आस ।। 44 ।।

गोरष-स्वांमी कौन कौन ले कथिबा ग्यांन, कौंण तत्त ले धरिबा ध्यांन ।

कौंण समाधी तुम्हें लागे भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 45 ।।

दत्त - अवधू आत्मा चिनंति कहा कथिबा ग्यांन तत्व बिचारिबा कहा धरिबा ध्यांन ।

दत्त कहै हम सहज समांन, सांभलि गोरष पद निरबांन ।। 46 ।।

गोरष-स्वांमी कौंन तत तुम रहौ समाई, कौन तत तुम मधे आई ।

कौंन परचै तुम्हें कहियै भेव, गोरष कहै सुणौं दतदेव ।। 47 ।।

दत्ता - अवधू दत्त जु लागा तत सो, तत दत्त ही मांहि ।

दत्त तत्त परचा भया, तब दूजा कहणां नाहिं ।। 48 ।।

गोरष-स्वांमी त्वमेव दत्तं, त्वमेव देवं, आद मधे तुम्हें जान्या भेवं ।

तुम्हें नारायण तुम्ह कृपाल, तुम्ह हो सकल बिस्ब के पाल ।। 49 ।।

दत्त - स्वामीं तुमेव गोरष तुमेव रछिपाल, अनंत सिधां माही तुम्हें भोपाल ।

तुम हो स्यंभूनाथ नृबांण, प्रणवे दत्त गोरष प्रणांम ।। 50 ।।

गोरष-स्वांमी दरसण तुम्हारा देव, आदि अंति मधि पाया भेव ।

गोरष भणई दत्त प्रणांम, भोग जोग परम निधांन ।। 51 ।।

ज्ञानदीप बोध ग्रंथ जोग सास्त्रं, पढ़ंते हरंते पापं, श्रुत्वा मांषि सभ्यते जोगारम्भे भवे सिधा आवागवन निवरतते । येवं ग्यांन दीष बोध संवादे ज्रोग स्रास्त्र संपूरण समाप्त । ऊँ नमो सिवाये ऊँ नमो सिवाये गुरू मछिंद्र पादुका नमस्तते ।

समापन

गुरू गोरष बचन प्रवाणंजी

नहीं आऊँ कांमणी नहीं आऊं लो ।
नहीं आऊँ राजभार लेबा तोर ।। टेक ।।
एवां नैरां कां कौन बसेषू ।
मारिबा नांयक जमागं ।।
हूं तोहिं पूछू मार्‌हा पढ़िया रे पंडित ।
कांई मरिबा ना लौ लागं ।।
मन पवन मार्‌हा हस्ती रे घोड़ा ।
गिनांन ते अषै भंडार ।।
बर ले कांमणि षोलै बैठा ।
ताथैं षरा डराऊं ।
बूढ़ा था सो बाला हूवा ।।
इब मैं काई जाणां जी ।
सतगुरू सबदूं राजा भरथरी सीधा रे ।
गुरू गोरष बचन प्रवाणं जी ।।

--योगिराज भ

(नाथसिद्धों की बानियाँ 597

सम्बोधन

ा भंजिबा सतगुर षोजिबा जोग पंथ न करिबाहेला ।
फिरि मनिषा जनम न पायबा करिलै सिध पुरिस सूंमेला ॥

यह मेरा है, यह मैं हूँ, इस अहंकार (आपा) को तोड़ देना चाहिये। त बन्धन से जीवात्मा को मुक्त करने के लिये सद्गुरु, परमात्म ज्ञानी त करनी चाहिये। यह योगमार्ग ही ऐसा है, जो निर्मल और निष्पक्ष है, इस पुण्य मार्ग की कभी उपेक्षा या अवहेलना (हेला) नहीं करनी मनुष्य का जन्म नहीं मिलता है। मनुष्य का जन्म अनेक जन्मों के पुण्य है, यह बार-बार नहीं मिलता है। मनुष्य का जन्म पाकर योग की लेनी चाहिये। योग की सिद्धि सिद्ध पुरुष परमार्थ ज्ञानी के सत्संग लभ है।

गोरखबानी सबदी -२०३

नाथ निरंजन की आरती

नाथ निरंजन आरती साजै ।
गुर के सबदूं झालरि बाजै । टेक ।
अनहद नाद गगन में गाजै ।
परम जोति तहां आप बिराजै । १ ॥
दीपक जोति अषंडत बाती ।
परम जोति जगै दिन - राती । २ ॥
सकल भवन उजियारा होई ।
देव निरंजन और न कोई । ३ ॥
अनँत कला जाके पार न पावै ।
संष मृदंग धुनि बेनि बजावै । ४ ॥
स्वाति बूंद लै कलस बंदाऊँ ।
निरति सुरति लै पहुप चढ़ाऊँ । ५ ।
निज तत नांव अमूरति मूरति ।
सब देवां सिरि उदबुदि सूरति । ६ ।
आदिनाथ नाती मछेन्द्र नाथ पूता ।
आरती करै गोरष औधूता । ७ ।

[महायोगी गोरखनाथ (गो०बा० पद-६२)]

ॐश्रीमदमृतमूर्तये शंकराय नमः

अथ

अमरौघशासनम् ।

श्रीगोरक्षनाथसिद्धविरचितम् ।

ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधःशक्तिकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातः कन्दचतुष्टयेन ज्ञायते ।

यच्चन्द्रप्रभवं वराम्बरगतं यल्लिङ्गसंज्ञं जलं
स प्राणस्तदधः स्थिरं च कमलं धत्ते मुखोर्ध्वं हृदि ।
बद्ध्वा कुम्भकमात्मगाढरचितं तद्ब्रह्मनाडीगतं
ह्यानेतुं वदने षडध्वगकला सैवंविधा सारणा ॥

षडध्वगा कथ्यते

घण्टाकोटिकपोलकोटरकुटीजिह्वाग्रमध्याश्रया-
च्छङ्खिन्यागतराजदन्तविवरं प्रान्तोर्ध्ववक्रेण यत् ।
संप्राप्तं हनुरन्ध्रमूलविधिना यच्चन्द्रतोयं मुखे
तत्सर्वं रविकालरूपसदने रक्षेत्परा सारणा ॥

कर्मान्तरेण परा सारणा कथ्यते

नृत्यन्नित्योर्ध्वजिह्वो यदि पिबति पुमान्वक्रधारामृतौघं
सुस्वादं शीतलाङ्गं दुरितभयहरं क्षुत्पिपासाविनाशि ।
पिण्डस्थैर्यं यदस्माद्भवति बत महामृत्युरोगा द्रवन्ते
दौर्भाग्यं याति नाशं हरति विषजरां याति काले भ्रमित्वा॥

सारणानन्तरं सारणा कथ्यते

जिह्वाग्रं त्वथ राजदन्तविवरं नीत्वा ततो घण्टिकां
संस्थाप्य प्रतिजिह्वपर्वं शशिनो मार्गे कलां च क्षिपेत् ।
एवंसारणिके पतन्ति च सुधाधाराः पुनः षण्मुख-
गान्धाराप्यथ तत्कलापमथनं नाडीमुखोज्जृम्भणम् ॥

सारणानन्तरं प्रतिसारणा कथ्यते

प्राणवातेन नीत्वोर्ध्वं कोटरे चन्द्रजां कलाम् ।
मन्थितां दिव्यजातां च तेन गान्धारकर्मणा ॥

गान्धारानन्तरं प्रतिसारणा कथ्यते

नासापश्चिममार्गवाहपवनात्प्राणेऽतिदीर्घीकृते
चन्द्राम्बु प्रतिसारणां सुकृतिनः प्राग्घण्टिकायाः पथः ।
सिञ्चन्कालविशालवह्निवशगं भूत्वा स नाडीशतं
तत्कार्यं कुरुते पुनर्नवतनुं जीर्णद्रुमस्कन्धवत् ॥

प्रतिसारणानन्तरं शङ्खसारणा कथ्यते

प्रोत्क्षिप्तं वृषणस्य गोलकयुगं मध्ये ध्वजं प्रोद्धृजं
नित्योर्ध्वे बत शङ्खसारणविधौ वक्रं विधेयं निजम् ।

सर्वस्थानशरीरबन्धनवशात्स्कन्धोद्धृतानां यथा
नाडीनां मुखतः सुधानिधिजलं सिञ्चन्नधो गच्छति ॥

कर्मान्तरेण शङ्खसारणा कथ्यते

वृषणाकर्षणं कार्यमथवा शङ्खसारणा ।
बोधनं चैव कुण्डल्यास्तिष्ठेच्चैवोत्कटासनम् ॥

शङ्खसारणानन्तरं महासारणा कथ्यते

पश्चादासनशुद्धवातनिकरानादाय कण्ठव्रणात्
संस्थाप्या रविमण्डले तु भुजगी संभूतनाडीत्रयात् ।
देवी मध्यपथोदिता प्रकुरुते कम्पं ततो मूर्च्छनां
दूराकर्षणदर्शनं श्रुतिगणांश्चान्या महासारणा ॥

कर्मान्तरेण महासारणा कथ्यते

आधाराम्बुजकोशकन्दभुजगी संभूय नाडीत्रयात्
चन्द्रार्कोद्भवनाडिकोर्ध्वयुगलं चाद्वैतपथ्यागतम् ।
तत्रैवाङ्गुलिभिर्निपीड्य क्रमशः शान्तिं मनो मारुतं
चन्द्रो याति रविं ततश्च भुवने तुल्या महासारणा ॥
सूर्यान्तः शशिवीचिदन्तवदन[ने]प्रान्तप्लवौघोरगी
संप्राप्ते पवनातिसङ्गहरणे क्षिप्रं ततो धाविता ।
श्रीमन्मध्यपथान्ततो विदधती कम्पादि कोपान्विता
तस्यैवाश्रययायिनोऽपि शशिनो दत्ता सुधा संमता ॥
आदौ शोषणिकोऽत्र सारणमतः कार्यं महासारणं
कर्तव्यं प्रतिसारणं च गुरुणा निर्दिष्टमार्गे क्रमात् ।
पश्चादेव च शङ्खसारणविधौ कार्यं महासारणं
संमूर्च्छा विततार्कृतिः प्रतिदिनं वेलात्रयं दीयताम् ॥

आकुञ्चयागजकामरूपमचलं बन्धत्वजातं तनौ
नात्यूर्ध्वे चतुरङ्गुलाग्रविदिते स्थाने हृदा प्राणिते ।
दन्तैर्बन्धुरिते च वातयुगले प्रश्लेषणाश्लेषणात्
नाभिग्रन्थिविमोक्षपातसहजे मार्गे मनःसिद्धयः ॥

दूराकारविसर्पिते च पवने नाभेश्च मार्गस्थिते
बन्धेषु त्रिषु सत्सु सोऽपि शिथिले मध्यप्रबोधे सति ।
क्षिप्रं च ध्रियते द्विपीठमरुतोऽप्यूर्ध्वक्रमाकर्षणे
संयुक्तो गतिचित्तशोषणमतः प्राप्येऽनिले तिष्ठति ॥

मूले मूलोर्ध्वचक्रे वृषणकुलतले वह्निमातङ्गकूले
कम्पक्षोभभ्रमाढ्ये ध्वनितपरिचयं घर्मपातोर्ध्वरोम ।
भूमित्यागं कवित्वं परपुरविशनं वश्यमाकर्षणं च
ह्येवं वा चेतनाप्ता प्रभवति निखिला खेचरत्वप्रतिष्ठा ॥

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत् ।
हृदये परमे धाम्नि मध्ये तु रविचन्द्रमाः ॥

नादं तु तं गृहीत्वा च चैतन्यं तत्र योजयेत् ।
द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च तत् ॥

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ।
अन्यत्सर्वं परित्यज्य शब्दब्रह्म सदाभ्यसेत् ॥

स्वसंवेद्यमसंवेद्यं शब्दब्रह्म द्विधा स्थितम् ।
चिनोति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिनोति द्वितीयकः ॥

विवरश्च तृतीयः स्याच्छङ्खशब्दश्चतुर्थकः ।
पञ्चमो मेघनिर्घोषः षष्ठमेतदुदीरणम् ॥

सप्तमं कांस्यतालाख्यं मेघशब्दस्तथाष्टमम् ।
नवमोऽप्यग्निदाहश्च दशमो दुन्दुभिस्वनः ॥

अनाहतनिनादोऽयं पवनान्तविनिर्गतः ।
ध्वनितेन विना यस्तु नादश्चैवमपण्डितः ॥

चिनोति रसमुद्धृत्य चिञ्चिनोति भगाश्रितम् ।
विरसांशेन संप्राप्तं मेघशब्देन चाविशेत् ॥

मज्जां पतति निर्घोषः संस्थितोदधिभीषणः ।
कांस्यताले नभःशब्दः प्राणमेघध्वनिः क्रमात् ॥

जीवश्चैवाग्निदाहः स्यान्मोक्षः समरसो भवेत् ।
विशुद्धमित्थमात्मानं पश्येत चात्मनात्मनि ॥

प्रथमे जनवात्सल्यं द्वितीये रोगनाशनम् ।
तृतीयेन कवित्वं च दूराकर्षं चतुर्थके ॥

पञ्चमे वाचि कामित्वं षष्ठे भूमिं परित्यजेत् ।
सप्तमे दूरमालोक्य चाष्टमे वज्रवद्भवेत् ॥

नवमे स्फुरते कायो दशमे सामरस्यकम् ।
पृथ्वीमध्ये भवेत्पृथ्वी चापामापस्तथैव च ॥

तेजोमध्ये भवेत्तेजो वायुर्वायौ प्रलीयते ।
आकाशे लीयते सर्वः सतत्त्वः पिण्डसंग्रहः ॥

अनाहतो दिवारात्रौ ध्वनते तु धनञ्जयः ।
तत्रारूढो यदा योगी प्राप्नुयात्परमं पदम् ॥

अयं प्रकृतिभेदः, पृथ्वी आपः तेजः वायुः आकाशश्च — इति शरीरे पञ्च गुणाः महाभूतानि

भवन्ति, तत्रैव तानि पञ्चविधानि भवन्ति । अस्थि मांसं त्वक् नाडी रोमाणि इति पञ्च-गुणा पृथिवी । लालामूत्रासृनिःस्वेदप्रस्वेदाः—इति पञ्चगुणा आपः । क्षुधा तृष्णा निद्रा आलस्यं कान्तिश्च—इति पञ्चगुणं तेजः । धावनं वल्गनम् आकुञ्चनं प्रसारणं निरोधश्च—इति पञ्चगुणो वायुः । रागो द्वेषो लज्जा भयं मोहश्च—इति पञ्चगुण आकाशः—इति पञ्चगुणालङ्कृतानि पञ्चतत्त्वानि । शब्दः स्पर्शः रसः रूपं गन्धश्च—इति पञ्च भूतगुणाः । शृङ्गारादिनवनाट्यरसाः इति हास्यादिभावाः शृङ्गारादीनाम् । कटुक-तिक्त-कषायाम्लमधुर-लवणाश्च—इति षट् आस्वादाः । शुभमशुभं च—इति कर्मद्वयम् । प्राणापान-समानो-दान-व्याना, नाग-कूर्म-कृकर-देवदत्त-धनञ्ज-याश्च—इति दश वाताः । इडा-पिङ्गला-सुषुम्ना-गान्धारी-हस्तिजिह्वा-यशस्विनी-पूषालम्बुसा-कुहू-शङ्खिनीप्रभृतयः द्वासप्ततिर्नाडीसहस्राणि । उत्पत्ति-स्थिति-प्रलयाश्च—इति मार्गत्रयम् । अ-

स्थिसंचयं षष्ठ्यधिकं शतत्रयम् अस्त्यस्य प्राणेन संबन्धः। काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मानाहङ्काराश्च—इति सप्त बन्धनानि। विवेक-बोधसन्तोष-हर्ष-पुलक-क्षमोपशम-ध्यान-ज्ञानोत्सव-राग-वैराग्यानन्द-कम्प-मूर्च्छा-विकार-मनोवासनादीनि प्रकृतिस्वरूपाणि। रोम्णां कोटित्रयं सार्धं। वात-पित्त-श्लेष्माण — इति प्रकृतित्रयम्। वातः प्राणप्रकृतिः, पित्तं हुताशनोद्भूतं, श्लेष्मा निरोधात् भवति। त्वक् अस्टक् मांसं मेदः अस्थि मज्जा शुक्रं प्राणो जीवः शक्तिः — इति दश धातवः। घ्राणरन्ध्रद्वयं लोचनरन्ध्रद्वयं कर्णरन्ध्रद्वयं मुखरन्ध्रद्वयम् उत्सर्गरन्ध्रद्वयम्—इति दश द्वाराणि। अथ दशमद्वारं द्विविधं शुक्रमार्गममृतं, कालमार्गश्च — इति ब्रह्मदण्डमूले रविशशिमध्ये भगाकारमस्ति, तस्मादागतब्रह्मदण्डाश्रितं पश्चिमलिङ्गमस्ति, पश्चिमशब्देन स्थानमस्ति, तस्य मध्ये लिङ्गाकारमस्ति। अत्र पुरुषाणां रेतोमार्गः स्त्रीणां रजोमार्गः, सहैव तेन ब्रह्मदण्डरेखाश्रितपुष्पसमये सर्व-

व्यापकनाडीसमूहागतं कामिनीरजः स्रवति । तत्रैव कामविषहरनिरञ्जनानां संयोगं बीज-पातात् आनन्दागमः प्रलयकाल-विषकालयोः कर्ता निरञ्जनश्च इति ।

शक्तित्रयविनिर्भिन्ने चित्ते बीजनिरञ्जनात् ।
वज्रपूजापदानन्दं यः करोति स मन्मथः ॥
चित्ते तृप्ते मनोमुक्तिरूर्ध्वमार्गाश्रितेऽनले ।
उदानचलितं रेतो मृत्युरेखाविषं विदुः ॥

चित्तमध्ये भवेद्यस्तु बालाग्रशतधाश्रये ।
नानाभावविनिर्मुक्तः स च प्रोक्तो निरञ्जनः ॥

निरञ्जनाश्रिता शक्तिः सूक्ष्मशक्त्या तयाश्रितम् ।
मनस्याश्रयतामेति ज्ञेयं शक्तित्रयं तु तत् ॥
शक्तित्रयोद्भवं बीजं बीजात्कामो विषं ततः ।
कामः सृष्टितया प्रोक्तो विषं मृत्युपदं भवेत् ॥

किं बहुना, काम-विषहर-निरञ्जनानां ब्रह्म-दण्डमूलाङ्कुरे निवासः एभिर्यदसुखो [एभि-र्यदा मुक्तिः स] मोक्षः भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनकार्यं नास्ति । अहो मूर्खता लो-कस्य, केचिद्वदन्ति – शुभाशुभकर्मविच्छेदनं मोक्षः । केचिद्वदन्ति – वेदपाठाश्रितो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – निरालम्बनलक्षणो मोक्षः । के-

चिद्वदन्ति – ध्यानकलाकरणसंबद्धप्रयोगसंभवेन रूपबिन्दुनादचैतन्यपिण्डाकाशलक्षणो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – पूजापूजकमद्यमांसादिसुरतप्रसङ्गसानन्दलक्षणो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – मूलकन्दोल्लासितकुण्डलिनीसंचारलक्षणो मोक्षः । केचिद्वदन्ति – सुसमदृष्टिनिपातलक्षणो मोक्षः, इत्येवंविधभावनाश्रितलक्षणो मोक्षो न भवति । अथ मोक्षपदं कथ्यते – यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः । कामविषहरस्थानं मानसोद्भवः मनोमध्ये कारणं कारणात् उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः प्रवर्तन्ते । उक्तं च भगवता महेश्वरेण ।

'जीवन्मुक्तिपदे देवि चित्तं बीजनिरञ्जनम् ।
मृत्युमार्गस्थितो योगी ज्ञात्वा कर्म समभ्यसेत् ॥'

उम्मजन्त मरण हकारण मरणहजं मइ ।
अब सुजीवनमरण इसरण गतकन्दुनाबिहत इतासु॥

इति जीवन्मुक्तिपदम्, अनेन मार्गेण स्थिरत्वं भवति । अथाधारणकर्मोदितशङ्खिनीभेदव्यवस्थाव्याख्या – गुदमेढ्रान्तरे त्रिकोणत्रिधा-

वर्तभगमण्डलमुच्यते, तत्र आधारग्रन्थय एकद्वित्रयश्च इति, एकद्वित्रयाणां मध्ये ग्रन्थीनामुपान्तरे चतुष्पत्रं पद्मम् अधोमुखं तिष्ठति, तत्र कर्णिकामध्ये मृणालसूत्रपरिमाणा शङ्खावर्ता तत्र प्रवालाङ्कुरसन्निभा द्वित्रिनाडीभूता कुण्डलिनी शक्तिः चैतन्यबीजमुखं गत्वा सुप्ता ।

तत्र त्रिपथमध्ये तु सूक्ष्मीभूता व्यवस्थिता ।
ऊर्णातन्तुनिभाकारा गता सा नाभिमण्डलम् ॥
चतुरङ्गुलमानेनाप्यष्टधा कुटिलाकृतिः ।
स्फुरिता नाभिमध्ये तु शाखाशाखमनेकधा ॥
दशनाड्याश्रितं चक्रं नाभिमध्ये प्रकीर्तितम् ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥
ऊर्ध्वमार्गस्थिता ह्येता बृहच्छाखावलम्बिताः ।
जयन्त्यलम्बुसा चैका बृहच्छाखावलम्बिनी ॥
प्रणीता सा ह्यनेकैस्तु ब्रह्मावर्तेन संस्थिता ।

ब्रह्मदण्डचक्रेणासौ कपालकर्परं यावत्, तस्मिन् कपालकर्परे चन्द्रमण्डलान्तर्गतं कपाललिङ्गं लम्पिकास्थानोर्ध्वेऽमृतधारामभिस्रवति, मस्तकमध्ये गर्भे तिष्ठति तदेवामृतं राजदन्तमये शङ्खिनी ब्रह्मदण्डतले दमयित्वा

स्रवति। एकं मुखरन्ध्रं राजदन्तान्तरे, एतदेव शङ्खिनीमुखं 'दशमद्वारम्' इत्युच्यते। यत्र च मूलभगमण्डलान्ते कुण्डलिनी शक्तिर्विनिर्गता तत्र वामभागोद्भवसोमनाडिका, दक्षिणभागोद्भवसूर्यनाडिका, चन्द्रो वामाङ्गव्यापकः, सूर्यो दक्षिणाङ्गव्यापकः, चन्द्रो वामाङ्गे वामनासापुटं, सूर्यो दक्षिणाङ्गे दक्षिणनासापुटम्—इत्येवं सूर्यचन्द्रौ व्यवस्थितौ। यत्र मूलकन्दे पवनोदयः, मनस उदयः, तपनोदयः, जीवोदयः, शब्दोदयः, मातृकाक्षरोदयश्च—इति। मनोमध्ये निद्राविषयम् इच्छाकार्यो निरञ्जनः परमात्मा।

मूलकन्दोद्यतो वायुः सोमसूर्यपथोद्भवः।
शक्त्याधारास्थितो याति ब्रह्मदण्डकभेदकः॥
मूलकन्दे तु या शक्तिः कुण्डलाकाररूपिणी।
उद्गमावर्तवातोऽयं प्राण इत्युच्यते बुधैः॥
कन्ददण्डेन चोद्दण्डैर्भ्रामिता या भुजङ्गिनी।
मूर्च्छिता सा शिवं वेत्ति प्राणैरेवं व्यवस्थिता॥

जन्मावस्थानादधो लिङ्गः स चाधारकन्दजातिमध्यस्थितो गुह्य ऊर्ध्वे भवति, तस्योर्ध्वे

लिङ्गस्थानं स्वाधिष्ठानं नाभिमण्डले मणिपूरकस्योर्ध्वभागेऽनलकः तेनोद्दण्डकाद्यं समागच्छति, अधःप्रदेशे मणिपूरकस्य दक्षिणपश्चिमवर्ति अमेध्यस्थानम्, मध्ये नाभेःकन्दः, तत्र पद्माकृतिः, तत्र शरीरनाडीनामाधारः कथ्यते, हृदये पृथिवीतत्त्वं पीतवर्णं, मध्ये कदम्बगोलकाकृति, तत्र चित्तविश्रान्तिस्थानं तदेव अनलचक्रम्, कण्ठे चोदकप्रवाहपूर्णमात्मतत्त्वं तत् विशुद्धिस्थानम्, तालुमध्ये दीपशिखाकारः सदोद्द्योतः तत्तेजस्तत्त्वम्, कपालकन्दराङ्कुरे वायुतत्त्वम्, नासाग्रे आकाशतत्त्वम्, तस्योर्ध्वे आज्ञास्थानम्, आज्ञास्थानान्तरे ग्रन्थिषोडशान्तरे अमृता षोडशी कला, तदन्तरे वालाग्रशतधाश्रया अन्ते तस्योर्ध्वे कलान्ते बिन्दुः, बिन्दुभेदादनन्तरं श्रृंगाटकाकृतिर्मस्तकस्योद्देशः, तस्मिन् चित्तलयस्थानम्, चित्तस्य शरीरबन्धनाद्वयोपेतस्त्रैलोक्यविहारः, तस्याश्रिता ज्ञानशक्तिः, एवं शक्तित्रयालंकृतश्चिद्दर्पणप्रतिबिम्बः समो विविधभावकलाक-

लितः संसारचेष्टावलोकनकुशलः सुप्तावस्थायां रूपी जलचन्द्रवत् दृश्यते यः स परमात्मा सर्वव्यापी महेश्वरः चतुर्दशविधभूतग्रामकर्ता च इति, सोऽयं परमात्मा ॥

इति श्रीगोरक्षनाथविरचितं परमरहस्योपदेशमहाज्ञान-
ममरौघशासनं संपूर्णम् ॥

सद्विद्यानां संश्रये ग्रन्थविद्वद्-
व्यूहे ह्रासं कालवृत्त्योपयाते ।
तत्तत्सद्धर्मोद्दिधीर्षैकतान-
सत्प्रेक्षौजःशालिना कर्मवृत्त्यै ॥ १ ॥

श्रीमत्कश्मीराधिराजेन मुख्यै-
र्धर्मोद्युक्तैर्मन्त्रिभिः स्वैर्विवेच्य ।
प्रत्यष्ठापि ज्ञानविज्ञानगर्भ-
ग्रन्थोद्धृत्यै मुख्यकार्यालयो यः ॥ २ ॥

तत्राजीवं निर्विशद्भिर्मुकुन्द-
रामाध्यक्षत्वाश्रितैः सद्भिरेषः ।
पूर्त्या शुद्ध्या व्याख्यया संस्कृतः स्तात्
पूर्णो ग्रन्थः श्रेयसे सज्जनानाम् ॥ ३ ॥

(तिलकम्)

श्रीमदमरेशशिवार्पणं भूयात् ।

अध्याय–द्वितीय

गोरखनाथ

व्यक्तित्व एवं कृतित्व

<u>अध्याय–द्वितीय</u>

गोरखनाथ : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

गोरखनाथ का व्यक्तित्व

गोरखनाथ नाथ सम्प्रदाय के प्रवर्तक के रुप में हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं। परन्तु इनके नाम के विषय में अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ हैं। कोई इन्हें गोरक्षनाथ कहता है तो कोई गोरखनाथ। साधारण तौर पर इनका प्रचलित नाम गोरखनाथ ही है। गोरक्ष या गोरखनाथ अपने युग के सबसे महान् धर्मनेता थे। उनकी संगठनशक्ति–अपूर्व थी। जिस युग में इनका प्रादुर्भाव हुआ उस समय भारतीय धर्म साधना की विचित्र अवस्था थी। शुद्ध जीवन सात्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य उन दिनों अपनी न्यूनतम सीमा तक पहुँच चुकी थी। गोरखनाथ ने साधु और गृहस्थ दोनो की कुरीतियों की आलोचना की। लोक जीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धो से आकर अपने पारमार्थिक उद्देश्यों से विमुख हो रही थी, उसे गोरखनाथ ने नई जीवन शक्ति से अनुप्राणित किया। उन्होंने तत्कालीन प्रचलित समस्त साधना पद्धतियों में उचित समन्वय किया। वे ज्ञान के उपासक थे उनके द्वारा उपदिष्ट वाक्य साधना के स्वर हैं।

गोरक्ष–रचित कही जाने वाली रचनाओं में गोरखनाथ के विभिन्न नामों के दर्शन होते हैं। लामा तारानाथ उन्हें बौद्ध–रुप में अनंगवज्र एवं हरप्रसाद शास्त्री जी रमणवज्र के नाम से भी परिचित कराते हैं, पर गोरखनाथ जी मूलतः शैव है। बौद्धों की सूची में उनका नाम परिगणित होना उनके महिमाशाली व्यक्तित्व का ही द्योतक है। नाथ योगियों एवं परवर्ती बौद्धों में जो साम्य दृष्टिगत होता है वह तंत्र प्रभाव के नाते हैं। गोरखनाथ

की सारग्राही दृष्टि ने तत्कालीन सभी साधन सम्प्रदायों के सार्थक एवं उपयोगी तत्वों को संग्रहीभूत कर एक ऐसे योगपरक मार्ग का प्रवर्तन किया जिसमें साधन की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्तिमत्ता एवं आडम्बर–रहित जीवन की महिमा का उद्घोष था।

नाथ योगियों में यह परम्परा रही हैं कि दीक्षा–ग्रहण के समय उनकी बाल्यावस्था का नाम महत्वहीन समझ गुरु स्वेच्छा से किसी अन्य नाम से शिष्य को सम्बोधित करता था। वही नाम लोक विद्युत हो जाता था। नाथ सिद्ध अपना पारिवारिक परिचय गोपनीय रखते थे। वंश परम्परागत लौकिक बन्धनो को सर्वथा त्याग कर 'आत्मतत् सर्वभूतेषु' की भावना को साकार करने का आदर्श उनके सम्मुख था। गोरखनाथ का यह नामकरण वंशपरम्परागत था अथवा दीक्षागत, यह कहना कठिन है, पर उनका यह 'गोरक्षनाथ' नाम सार्थक अवश्य था। 'गोरक्ष' शब्द प्रायः दो अर्थो में गृहीत है–गौ–रक्षक एवं इन्द्रिय–रक्षक। गोरक्षनाथ का अपनी इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण था, यह विषय तो निर्विवाद है, साथ ही गोरक्ष अथवा गोसेवक के रुप में भी उनके व्यक्तित्व का भी परिचय मिल जाता है अनेक किबदन्तियाँ गोरक्षनाथ के गोपालक रुप से सम्बद्ध है। नेपाल स्थित काठमाण्डू नगर की मृगस्थली गोरक्षनाथ की तपो भूमी बतायी जाती है। अनुश्रुति है कि नेपाल (काठमाण्डू) में द्रव्यनारायण शाह गायों की सेवा किया करते थे। उन्हें उपकृत करने के लक्ष्य से गोरक्षनाथ ने उनसे दुग्ध की भिक्षा ग्रहण की और उन्हे नेपाल का राज्य हस्तगत कराया काठमाण्डू स्थित मृगस्थली के सन्निकट का क्षेत्र आज भी 'गोशाला' नाम से सम्बोधित किया जाता है। नेपाल में 'गोबध' घोरतम अपराध माना जाता है। वप्पा रावल के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं। गोसेवक के रुप में वप्पा को गोरक्षनाथ ने कृतार्थ किया था। योगी सम्प्रदाय विष्कृति में उल्लेख है कि गोरखनाथ दीक्षाग्रहण करने से पूर्व स्वयं गोपालकों के साथ गायों की देखभाल के लिए वन मे जाया करते थे। नाथयोगी वर्तमान समय मे भी गायों को मातृवत सम्मान देते हैं। नाथ मठो एवं मन्दिरो में ऐसी

व्यवस्था है कि गौ के लिए नियमित रुप से ग्रास (भोजन का अन्न) निकाल कर आदर के साथ उसे ग्रहण कराया जाता हैं।

व्यक्ति और व्यक्तित्व के अनुरुप ही गोरक्षनाथ की उत्पत्ति भी दो रुपों में देखी गयी है। व्यक्तित्व के रुप में गोरक्षनाथ शिवावतार है। महाकाल योग शास्त्र में शिव ने स्वयं स्वीकार किया है कि मै 'योगमार्ग का प्रचारक गोरक्ष हूँ हठयोग प्रदीपिका में उल्लेख है कि आदिनाथ शिव ने योग–मार्ग के प्रचारार्थ गोरक्ष का रुप ग्रहण किया था। 'गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह' मे गोरक्षनाथ को ईश्वर संतान कहा गया है। बंगीय काव्य 'गोरक्ष–विजय' के अनुसार गोरक्षनाथ महादेव जी की जटा से प्रकट हुए।[1] नेपाल दरबार ग्रंथालय में प्राप्त 'गोरक्ष सहस्रनाम' से ज्ञात होता है कि गोरक्षनाथ दक्षिण मे बड़ब नामक देश में महामन्त्र के प्रसाद से प्रकट हुए थे।[2] 'तहकीकाक चिश्ती' नामक पुस्तक मे उल्लेख है कि शिव के एक भक्त ने सन्तानोत्पत्ति की इच्छा से शिव–धूनी से भस्म प्राप्त कर अपनी पत्नी को ग्रहण करने के लिए दिया पर लोक–लज्जा के भय से उस स्त्री ने उस भस्म को घूर में डाल दिया। वह भस्म व्यर्थ न गया और उसी स्थान पर एक होनहार बालक उत्पन्न हुआ। शिव ने उसका नाम गोरक्ष रखा।[3] वर्तमान समय में भी गोरक्षनाथ को नाथ योगी लोग 'शिव–गोरक्ष' के रुप में ही मान्यता देते है। 'योग सम्प्रदाय विष्कृति' में भी इसी प्रकार का उल्लेख हुआ है। यहाँ गोरक्षनाथ की उत्पत्ति मत्स्येन्द्रनाथ जी की कृपा से बतायी गयी है। कहा गया है कि मत्स्येन्द्रनाथ जी ने एक सदाचार निष्ठ ब्राह्मण दम्पत्ति सुराज एवं सरस्वती को जो निःसंतान थे, पुत्र प्राप्ति कराने की इच्छा से भस्म प्रदान किया उन्ही से गोरक्षनाथ अविर्भूत हुए।[4]

व्यक्ति के रुप में गोरक्षनाथ के माता–पिता अथवा जन्म स्थान के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद दृष्टिगत होता है। महार्थमंजरी के त्रिवेन्द्रम संस्करण से ज्ञात होता है कि वे चोल देश के निवासी थे। उनके पिता का नाम माधव और गुरु का नाम महाप्रकाश था। अवध की परम्परा में

गोरक्षनाथ जायस नगर के एक पवित्र ब्राह्मण कुल में उत्पन्न माने जाते हैं।[5] ब्रिग्स ने गोरक्ष को पंजाब का मूल निवासी बताया है।[6] ग्रियर्सन ने उनका पश्चिमी हिमालय का निवासी होना स्वीकार किया है तो डॉ० मोहनसिंह पेशावर के निकट रावलपिण्डी जिले के एक ग्राम 'गोरखपुर' को उनकी मातृभूमि बताते है।

डॉ० रांगेयराघव का मत है कि गोरखनाथ का जन्मस्थान पेशावर का उत्तर–पश्चिमी पंजाब है।[7] पं० परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि गोरख का जन्म पश्चिमी भारत अथवा पंजाब प्रान्त के किसी स्थान में हुआ था और उनका कार्य–क्षेत्र नेपाल, उत्तरी भारत आसाम, महाराष्ट्र एवं सिन्ध तक फैला हुआ था।[8] नेपाल पुस्तकालय से उपलब्ध ग्रन्थ "योगिसाम्प्रदायविष्कृति" के अनुसार गोरक्ष की जन्मभूमि गोदावरी नदी के तट पर स्थित 'चन्द्रगिरि' नामक स्थान है। डॉ० अशोक प्रभाकर का मत है कि महाराष्ट्र मे त्रियादेश की स्थापना बताकर तथा नाथपंथ की कतिपय गुफाओं व प्रतीकों को आधार बनाकर गोरक्षनाथ की जन्मभूमि महाराष्ट्र–स्थित 'चन्द्रगिरि' को बताते है।[9] पर ऐतिहासिक तथ्यों का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि गोरक्षनाथ को 10वीं शताब्दी में उत्तरभारत में ही विशाल संगठन करने की आवश्यकता पड़ी थी। मुस्लिम आक्रमण ने उत्तर भारत को ही अपना लक्ष्य बनाया था। दक्षिण में कर्नाटक कोणार्क आदि के मन्दिर अब भी अपनी संस्कृति और कला के परिचायक है। सम्भव है उत्तर भारत के संगठनकर्ता गोरक्षनाथ उत्तर भारत के ही रहे हों उत्तर भारत के साधना सम्बन्धी अनेक मठ–मन्दिरो को उनकी तपोभूमि के रुप में पहचाना जाता है। यह अन्य बात है कि स्वधर्म प्रचारार्थ उन्हें महाराष्ट्र, गुजरात आदि प्रान्तों में भी जाना पड़ा हो। अक्षयकुमार बनर्जी का मत है कि मत्स्येन्द्र गोरक्ष आदि ने सर्वप्रथम हिमालय प्रदेश–नेपाल, तिब्बत आदि देशों में अपनी योग साधना आरम्भ की और सम्भवतः इन्हीं स्थानो में वे प्रथम देव सदृश पूजे गये। उनका स्थान देवाधिदेव पशुपतिनाथ शिव को छोड़कर अन्य सभी देवताओं से ऊँचा था उन्ही स्थानो में मत्स्येन्द्र–गोरक्ष से सम्बन्धित अनेक जनश्रुतियाँ भी प्रचलित

हैं। तिब्बत व नेपाल के क्षेत्र से ही योग साधना का आन्दोलन पूर्व में काम–रुप (आसाम) बंगाल, मनीपुर तथा निकटवर्ती क्षेत्रो में फैला। पश्चिम में कश्मीर, पंजाब पश्चिमोत्तर प्रदेश, यहाँ तक कि काबुल और फारस तक पहुँचा उत्तर प्रदेश हिमालय के समीप होने के कारण अधिक प्रभावित हुआ। दक्षिण पश्चिम और दक्षिण पूर्व में भी गोरखनाथ तथा अन्यान्न नाथ योगियों की शिक्षाएं तथा उनकी आश्चर्यजनक शक्ति सम्बन्धी कहानियाँ प्रचार पाती रही जो धीरं–धीरे धार्मिक देश के कोने–कोने में फैल गयीं।

गोरक्षनाथ की जाति के सम्बन्ध में भी प्रायः विद्वान एक मत नहीं हैं 'दविस्तान' के लेखक ने गोरक्ष को मोहम्मद का पालक पिता एवं शिक्षा–गुरु स्वीकार किया है तथा गोरक्ष का मुस्लिम नाम 'रीन हाजी' बताया है सिन्ध–प्रदेश में गोरक्षनाथ जामिलशाह नाम से परीचत कराये जाते हैं।[10] आसामी परम्परा उन्हे जुलाहा जाति का होना बताती है।[11] जायस की परम्परा गोरक्ष को ब्राह्मण कुलोत्पन्न होने का संकेत देती है। गोरक्षनाथ स्वयं को 'अतिवर्णाश्रमी' कहकर सम्बोधित करते हैं। वास्तव में गोरक्षनाथ से पूर्व भी योगियों के चमत्कारो का जाल सर्वत्र छाया हुआ था। बंगाल के योगियों के कुछ गोत्र यह प्रकट करते हैं कि गोरखनाथ से पूर्व कुछ योगी हो चुके थे जिनमें काश्यप, आदिनाथ, अनादि, बतुक,वीरभैरव, मत्स्येन्द्र, मीन सत्य आदि के नाम लिये जा सकते हैं।[12] श्री मजुमदार का मत है कि योगी जाति चिरकाल के आर्यभावी श्रेष्ठ ब्राह्मण जाति के समकक्षस्थान पाती रही। अतः प्राचीनतम् पुराणों अथवा स्मृतियो आदि में इस जाति का स्वतंत्र उल्लेख नहीं हुआ है। प्राचीन भारत में ब्राह्मण जाति से भिन्न कोई जाति योग–साधना नहीं करती थी[13] हैमिल्टन का मत है कि सेन राजाओं की कुदृष्टि परिणामस्वरुप नाथ योगी हिन्दू समाज में हीन समझे जाने लगे। नाथ मतानुयायियों में मुसलमान लोग भी शामिल हुए। डॉ० उपाध्याय का मत है कि नाथ योगी जन वर्ण–व्यवस्था के विरोधी होने के कारण हिन्दू जाति के लोगो से तथा इस्लामेतर धर्मावलम्बी होने के नाते मुस्लिम वर्ग के द्वारा हेय दृष्टि से देखे जाने लगे[14] हर प्रसाद ने 'प्रवासी' नामक पत्रिका

में एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया है कि अभी कुछ दिन पहले जो शैव, कौल, बौद्ध योगीगण भारत के बाहर भारत का गौरव–प्रचार कर रहे थे उनको हम लोग 'युगी' कहकर घृणा करते हैं।[15] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी नाथ योगियो को बंगाल की 'युगी' जाति से सम्बद्ध बताते हैं। जी०एस० घुरे का मत है कि धार्मिक आन्दोलनों के परिणाम स्वरुप अनेक प्रकार की जातियाँ एवं वर्ग उत्पन्न हो गये जो पहले साम्प्रदायिक व धार्मिक समूह के रुप मे ही थे।[16] वस्तुतः योगी परम्परा के लोग ही आगे चलकर 'युगी' जाति के रुप में आबद्ध जान पड़ते हैं। उच्चवर्गीय समाज द्वारा इन्हे उपेक्षा का ही भाव मिला पर इसका अर्थ यह नहीं कि योगी जनो में उच्च वर्ग के लोग थे ही नहीं। वर्ग भेद को अमान्य घोषित करने वाले इन योगियों में निश्चय ही उच्च व्यक्तित्व एवं प्रतिभाशाली साधक थे। गोरखनाथ सम्भवतः इसी परम्परा के सफल साधक थे– गोरखनाथ का तात्विक स्वरुप तो अलौकिक है ही, पर एक व्यक्ति के रूप में भी इनका व्यक्तित्व मध्ययुगीन साधकों में अखिल भारतीय है। मध्यकाल में विकृत होती हुई भारतीय साधनाओं के स्वरुप तत्वों को आत्मसात कर योगी–गुरु गोरखनाथ ने नाथ योग को नयी शक्ति प्रदान की थी। बौद्ध धर्म की तांत्रिक परिणति एवं–तन्त्र साधना में वाममार्गीय प्रवृत्तियों के प्रवेश के बाद भारतीय साधना क्षेत्र में विकृतियाँ आ गयी थी। साधना के नाम पर साधक अनेक प्रकार के कुत्सित यौन–आचारों में प्रवृत्त हो जाते थे। मद्य–माँस, मैथुन आदि का सेवन साधना का अंग बन गया था। इस विकृति से साधको को मुक्त करते हुए गोरखनाथ जी ने नाथ–योगियों को राष्ट्र की नैतिक शक्ति के रूप में अखिल भारतीय स्तर पर पुनः संगठित करने का अभूतपूर्व कार्य किया।

उनके व्यक्तित्व में निर्भीकता, मस्ती एवं अक्खड़पन समाहित है। उन्होंने न केवल वज्रयानी सिद्धों द्वारा अनुमोदित साधनाओं के बदले अपने काया–साधन प्रधान संयत जीवन को ही प्रतिष्ठित किया अपितु विधिध तांत्रिक शैव सम्प्रदायों के भीतर लक्षित होने वाली अनेक विड़म्बनाओं की

निःसारता सिद्ध करते हुए उनमें अपने ढंग की समन्वयात्मक चेतना जागृत करने में कोई कमी नहीं आने दी आचरण की शुद्धता के साथ–साथ जॉति–पॉति की निःसारता, बाह्यचार एवं तद्मूलक श्रेष्ठता के प्रति फटकार की भावना गोरक्षनाथ में लक्ष्य की जा सकती है–

मूरिष सभा न बैसिवा अवधू,
पंड़ित सौ न करिवा वादं।
राजा संग्रामे झूझ न करवा,
हेले न षोड्या नादं।।

गोरखनाथ ने योगी–जीवन को वाद–विवाद से परे देखने का प्रयास किया। उन्होंने योगी के लिए 'षिमा' ही 'घडाषण' और 'ग्यान' ही 'अधारी' बताया। कार्य की सात्विकता और झूठ के महापाप के प्रति गोरक्ष ने चेतावनी दी है–

'जैसा करै सो तैसा पाय'
'झूँठ बोलै सो महापापी।[17]

गोरक्षनाथ का जीवन उदात्त था, जिनमें सत्याचरण, ईमानदारी एवं कथनी–करनी का मेल था योग को उन्होंने 'दया दान का मूल' कहा। 'सहजशील' का शरीर धारण करने का उपदेश दिया। उनका चरित्र बहुमुखी था। बालको से उन्हें स्नेह था स्त्री को उन्होंने माता के रूप में देखा। युवती स्त्रियों को गृहस्थ धर्म में लीन एक पतिव्रता के रूप में देखना चाहते थे। सामान्य जनों को संयमित जीवन व्यतीत करने का मध्य मार्ग ग्रहण करने का तथा शीलाचरण का आदेश गोरक्षनाथ ने दिया है–

हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा सहजै रहिबा भणत गोरष रावं।।

सिद्धों के यहाँ कामिनी का बड़ा महत्व था, वही उनकी योगिनी हुआ करती थी। गोरक्ष को स्त्री के कामिनी रुप से अपार घृणा थी। अतः

उन्होंने बिन्दू–रक्षा तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य पर अधिक बल दिया। कंचन और कामिनि को सर्वथा त्याज्य समझा बंशीय काव्य 'गोरख विजय' में उल्लेख है कि महादेव से अनुमति ले देवी ने सभी सिद्धों की परीक्षा ली। उनकी विकट परीक्षा में गोरखनाथ ही खरे उतरे।[18] पांडित्य को उन्होंने कभी महत्व नहीं दिया, पर उनकी 'अमरोघशा सनम्' एवं 'महार्थमंजरी' जैसी कृतियाँ उन्हें भारतीय दर्शनों का एक अच्छा ज्ञाता होने का संकेत देती है। गोरक्ष ने हिन्दुओं के 'वेद' ओर मुसलमानों के 'कतेब' का समन्वय करने का प्रयास किया जिस 'परमपद' का ध्यान योगी करता है वह हिन्दू–मुस्लिम संकीर्णता से ऊपर हैं अतः अन्य सम्प्रदायों के लिए इसमें पर्याप्त आकर्षण था। गोरक्ष–प्रवर्तित पंथ में अनेकानेक सम्प्रदायों का अन्तर्भुक्त हो जाना उसकी लोक प्रियता का ही परिचायक है। भारत की यह प्राचीन परम्परा रही है कि गुरु के बिना ज्ञान तथा ज्ञान के बिना जीवन व साधना में सफलता नहीं मिल सकती। नाथ–योग में गुरु की प्राप्ति योग– साधना का प्राण है आपा भजिबा सतगुरु खोजिबा जोग पंथ न करिबा हेला।[19] गुरु के अभाव में ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं 'गुरु बिन ग्यान न पायला रे भाई ला।[20]

मद्य–मांस के निषेध पर गोरखनाथ ने स्पष्ट रूप से कहा है–

जोगी होई न निद्या झषै भाद मांस अरु
भांगि जो भषै।
इको तरसै पुरिया नरकहि जाई।
सति सति भाषंत श्री गोरषराई।।

व्यवस्था के कुचालों को दूर करने के लिए उन्हें कहना पड़ा था।[21]

बड़े–बड़े कूल मोटे–मोटे पेट,
नहीं रे पूता गुरु सौं भेंट।

गोरक्षनाथ के अलौकिक एवं महिमामय व्यक्तित्व से जुड़ी हुई अनेक गाथायें भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त में प्रचलित है। उनके व्यक्ति की महानता

ने ही उन्हें देवत्व तक पहुँचा दिया। मन के सम्बन्ध में विचार करते हुए कबीर ने उन्हें गोविन्द के स्तर पर महत्व दिया–

'मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड़ होई, तो जायसी ने मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार किया कि योगी तभी सिद्ध हो सकता है जब उसकी भेंट गोरखनाथ से हो–

जोगी सिद्ध होई तब, जब गोरक्षसौं भेंट।[22]

गोरखनाथ की सुन्दरता के विषय में प्रसिद्ध है कि इन्हे विजित करना स्त्रियों के लिए स्पर्धा का विषय था तथा जब ये स्त्री वेश में कदलीवन गये तो स्त्रियों ने इनकी सुन्दरता को देखकर इन्हे मत्स्येन्द्रनाथ से मिलने नहीं दिया परन्तु अपने सौन्दर्य के प्रति इन्हे कोई आसक्ति नहीं थी क्योकि वह उसे असत्य समझते थे।

डॉ० रांगेय राघव के अनुसार इनका चरित्र बहुमुखी था और प्रायः कहीं भी वे निर्बल नहीं थे[23] स्त्रियों के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा थी तथा उन्हें माता के समान आदर देते थे। इनका काव्य योगपंथ में डूबा हुआ है तथापि उसमें अनेक उत्कृष्ट स्थल भी है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इन के चरित्र की विशेषताओं के आधार पर इन्हें शंकराचार्य के बाद दूसरा महिमाशाली व्यक्तित्व वाला महापुरुष घोषित किया है क्योकि जिस समय भारतवर्षीय धर्म सम्प्रदायो में वामाचार, पंचमकार के परम परिशुद्ध और साधनों का दुरुपयोग और कुरुपोप स्थापन होने लगा और उसे मनुष्य की विगर्हित वासनाओं की पुर्ति का साधन समझा जाने लगा था, उस समय साधना की पवित्रता, चरित्र की परमोच्चता, संयमपूर्ण जीवन की शक्ति मत्ता और आडम्बर रहित जीवन की महिमा का उद्‌घोष इन्होनें ही किया था।

महायोगी गोरखनाथ का व्यक्तित्वदर्शन साक्षात् नाथयोग का स्वरुप दर्शन है। नाथ सम्प्रदायगत परम्परा और अनुश्रुति के अनुसार अभिनवशिव गोरखनाथ जी को चारो युगो में विद्यमान कहा गया है। इस तरह उनका देहसिद्ध अथवा अमर होना युक्तिसंगत ठहराया जाता है।

महामति बिग्स ने अपनी 'गोरखनाथ' एण्ड दि कनफटा योगीज पुस्तक में एक ऐसी ही परम्परा के उल्लेख में यह निरुपित किया है कि गोरखनाथ जी सत्युग में पंजाब में प्रकट हुए। त्रेतायुग में वे गोरखपुर में अधिष्ठित थे, द्वापर में वे द्वारिका (हरमुज) में थे और कलियुग में उनका प्राकट्य सौराष्ट्र में काठियाबाड़ के गोरखमढ़ी स्थान में हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि गोरखनाथ जी अमर है और चारो युगो को अपनी योगसिद्धि से उन्होनें कृतार्थ और प्रभावित किया है। उपर्युक्त स्थल उनकी तपः स्थली है समाधि नहीं।

नाथ–सम्प्रदाय की प्राचीनता और गोरखनाथजी की अयोनिज उत्पत्ति का एक अनुश्रुति से पता चलता है। इसमें कहा गया है कि जब विष्णु कमल में प्रकट हुए तब गोरखनाथ जी पाताल में तपस्या कर रहे थे। सृष्टि–कार्य के लिये उन्होने अपनी धूनी से विभूति दी, क्योकि विष्णु चारो ओर जल–ही–जल की समस्या से चिन्तित थे। सृष्टि कार्य सुगम हो गया। बिग्स महोदय ने अपने ग्रन्थ में (गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज में पृ० 228 पर) इस अनुश्रुति का उल्लेख किया है गोरखनाथ जी की उत्पत्ति की कथा फैजुल्ला–रचित 'गोरख विजय' बंगला काव्य मे भी वर्णित है जिसमे उनके अयोनिज स्वरुप प्राकट्य पर प्रकाश पड़ता है इसमें कहा गया है कि शिव की नाभि से मत्स्येन्द्रनाथ, हाड़ से हाड़िपा, कान से कानपा (ललाट) से गोरखनाथ की उत्पत्ति हुई।

> **नाभि से जन्मिल मीन गुरु मच्छन्दर साक्षाते सिद्धारवेश धरे कलेवर। हाड़इते हाड़िफा जन्मिया निकलिल, सर्वाग सिद्धारवेश ताइते आछिल। कर्ण हइते जन्मिल कानफा जुगाइ अति खरतर हइल सिधाइ। जटा भेद निकलिल जति गोरखनाथ।।**

यद्यपि यह बंगीय कथा एक रुपक मात्र है तथापि लोकमानस में ये चारों नाथसिद्ध अयोनिज हैं। ऐसे तो गोरखनाथजी साक्षात् शिव स्वरूप

ही हैं, पर उन्होंने समय–समय पर भारत के विभिन्न स्थानों में तपस्या की, जिसका प्रामाणिक विवरण जोधपुराधीश महाराज मानसिंह द्वारा संग्रहीत 'श्रीनाथतीर्थावलीग्रन्थ' में यथाक्रम उपलब्ध होता है। सौराष्ट्र पंजाब, उत्तराखंण्ड में हिमालय के अनेक स्थान में, कर्नाटक तथा बंगाल आदि में उनके साधनापीठ–योगकेन्द्र विद्यमान हैं, उत्तर प्रदेश का प्रसिद्ध नगर गोरखपुर तो उन्हीं के नाम से गौरवान्वित है और यह नगर उनकी तपः–स्थली है। मत्स्येन्द्रनाथजी के सन्मार्गदर्शन में उन्होने कठोर तप का पवित्र आचरण अपनाया। मत्स्येन्द्रनाथजी ने कहा कि अपने आप को देखना चाहिये और अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य और सौन्दर्य से सम्पन्न चिन्मय शिव तत्व का विचार करना चाहिये आत्मज्ञान की प्राप्ति से ही चेतना का रहस्य जाना जाता है। परम ज्योति– परब्रम्ह परमात्मा में ही जीव सदा निवास करता है। शिव और शक्ति की कृपा–प्राप्ति ही योगी की पूर्ण सिद्धि है। गोरखनाथजी ने अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ जी के योगसिद्धान्त और उपदेशों के अनुरुप ही अपना जीवन परिष्कृत किया उन्होंने माया पर विजय पायी, सांसारिक जीवन के बंधन से अपने आप को मुक्त कर अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किया। उन्होने आशा तृष्णा और इच्छा का परित्याग कर दिया। देवलोक की अप्सराओं मृत्युलोक की नवरमणियों और पाताल की नागकन्याओ को उन्होने विस्मरण कर दिया। वे पहाड़ी गुफाओं और सघन वनों में तथा हिमालय की शीतल निर्जन कन्दराओ में तप करने लगे। उन्होने उस जीवात्मा के स्वरुप की गहरी खोज की, जो जगत में शरीर के साथ आता है और उसका त्याग कर चला जाता है। उन्होने अनुभव व्यक्त किया।

आवै संगै जाइ अकेला।

ताथैं गोरख राम रमेला। काया हंस संगि है आवा।

जाता जोगी किन हूँ न पावा।

जीवन जग में मूवा मसाण। प्राण पुरिस कत कीया पयाणं।

जामण मरणां बहुरि वियोगी। ताथैं गोरख भैला जोगी[25]

जीव के स्वरुप का परिज्ञान प्राप्त कर गोरखनाथ ने योगी का स्वरुप अपनाया। उन्होंने प्राणपुरुष का अन्वेषण कर जगत में जन्म–मरण के बन्धन से छूटने का रास्ता समझ लिया। उनकी वाणी है कि ज्ञान ही सबसे बड़ा गुरु है, चित्त ही सबसे बड़ा चेला है। ज्ञान और चित्त का योग सिद्ध कर जीव को जगत में अकेला रहना चाहिये। यही श्रेय अथवा आत्मकल्याण का पथ है।

ग्यांन सरीखा गुरु न मिलिया, चित्त सरीखा चेला।
मन सरीखा मेलू न मिलिया, तीर्थे गोरख फिरै अकेला।।[26]

महायोगी गोरखनाथ को एकान्त वास का जीवन परम प्रिय था। उन्होने घट–घट में अपने आप को ही व्याप्त पाया। मत्स्येन्द्रनाथ के प्रसाद से उन्हे कैवल्य पद–स्वरुपावस्थान ही प्राप्ति हुई वे निन्दा–स्तुति से ऊपर उठ गये और उनकी समस्त वृत्तियाँ अन्तर्मुखी हो गयी। उन्होने आत्मसाक्षात्कार की भाषा में कहा कि मैने पिण्ड में ब्रह्माण्ड को ढूँढ कर सारी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हैं। देव, देवालय, तीर्थ आदि इसी शरीर में है। मैनें शरीर के भीतर अनिवासी परमात्मा अलख निरंजन की अनुभूति प्राप्त कर ली है कायागढ़ को जीतना वीर का काम है। उनका कथन है–

आऊँ नहीं जाऊँ निरंजन नाथ की दुहाई। प्यण्ड ब्रह्मण्ड खोजता अम्हे सब सिधि पाई।। काया गढ़ भीतरि नव लख खाई। दसवैं द्वारि अवधू ताली लाई।। काया गठ भीतरि नव लख खाई दसवै द्वारि अवधू ताली लाई।। काया गढ़ भीतरि देव देहुरा कासी। सहज सुभाइ मिले अबिनासी।। बदंत गोरखनाथ सुणौ नर लोई कायागढ़ जीतेगा बिरला कोई[27]

गोरखनाथजी ने नेपाल, गिरिनार, ज्वालादेवी की स्थली आदि में

अमित समय तक तपस्या की। उन्होने सतयुग में झेलम नदी के किनारे गोरखटिल्ला में तपस्या की। त्रेतायुग में उन्होने भगवती इरावती (राप्ती) के तट पर गोरखपुर तपःस्थली में रघुवंशी नरेश रघु अज और राम ने उनका दर्शन कर अपने आप को कृतार्थ किया था। द्वापर युग में जूनागढ़ राज्य में प्रभास पट्टन के समीप गोरखमण्ढ़ी में उन्होने तप किया था। कलि में पेशावर के किले में गोरख–हट्टी उनकी तपस्या से समलंकृत है। यहाँ प्रत्येक वर्ष असंख्य श्रद्धालु इस स्थान पर एकत्र होकर उनको अपनी श्रद्धा–भक्ति समर्पित करते है।

नेपाल में गोरखनाथ जी शिवगोरक्ष के रुप में पूज्य है। निःसन्देह उन्होंने अपनी साधना और तपस्या से नेपाल के जनजीवन को अमित प्रभावित किया। नेपाल में मृगस्थली उनकी योगसाधना की भौमप्रतीक है। नेपाल में वागमती नदी के तटवर्ती सिद्धांचल पर मृगस्थली में गोरखनाथजी ने विकट तप किया था।

गोरखनाथ जी ने नेपाल और भारत की सीमा पर स्थित प्रसिद्ध शक्ति पीठ पाटन में भगवान शिव की इच्छा की पूर्ति के रुप में तपस्या की थी दक्ष के यज्ञ के विनाश के बाद सती के प्राण–रहित शरीर को लेकर महादेवजी के भ्रमण करते समय देवी का पट वामस्कन्ध के सहित पुष्यक्षेत्र पाटन में गिरा था। इस सम्बन्ध में श्लोक प्रसिद्ध हैं–

गोरखनाथजी ने नेपाल और भारत की सीमा पर स्थित प्रसिद्ध शक्ति पीठ पाटन में भगवान शिव की इच्छा की पूर्ति के रुप में तपस्या की थी। दक्ष के यज्ञ के विनाश के बाद सती के प्राण–रहित शरीर को लेकर महादेवजी के भ्रमण करते समय देवी का पट वामस्कन्ध के सहित पुण्यक्षेत्र पाटन में गिरा था। इस सम्बन्ध में श्लोक प्रसिद्ध है–

पटेन सहितः स्कन्धः पपात यत्र भूतले।

तत्र पाटेश्वरी नाम्ना ख्यातिमाप्ता महेश्वरी।।

पाटेश्वरी पीठ की स्थापना का श्रेय गोरखनाथजी को ही है। उन्होने भगवान शिव की आज्ञा से पीठ स्थापित कर भगवती की आराधना और योग की साधना की थी। देवीपाटन में उपलब्ध 1874 ई० के शिलालेख में उल्लेख है–

महादेवसमाज्ञाप्तः सतीस्कन्धवि–भिषिताम।

गोरखनाथ योगीन्द्रस्तेन पाटेश्वरीमठभ।।

गोरखनाथ जी के समग्र भारत में अनेकानेक स्थान उनकी तपस्या के स्मारकरुप में पूज्य हैं। पंजाब, राजस्थान, सौराष्ट्र, कर्नाटक, बंगाल आसाम, उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश में और उत्तरांचल के अनेक प्रखण्डों और नेपाल आदि में उनके श्रीविग्रह प्रस्थापित हैं तथा चरणयुगल–प्रतिमायें अंकित हैं और उनकी पूजा सम्पन्न होती है। गोरखनाथ जी ने झोपड़ी से महल, रंक से राजा, सभी को अपनी योगसाधना और तपस्या से प्रभावित किया।

महायोगी गोरखनाथ जी के कांगड़ा के ज्वाला देवी स्थान से गोरखपुर आने तथा तपस्या और योगसाधना करने के सन्दर्भ में नाथसम्प्रदाय में ही नहीं, लोकमानस में भी एक ऐतिहासिक परम्परा सम्मानित है। महायोगी गोरखनाथ एक बार हिमांचल प्रदेश के कागड़ा स्थान में ज्वालादेवी का दर्शन करने पहुँचे। देवी ने उन्हें वहां ठहरने की प्रेरणा दी इस पर उन्होने कहा कि आप के स्थान पर तामसी पदार्थो का भोग लगता है हमारे लिये यहाँ आहारग्रहण की उचित व्यवस्था नही हो सकती है। विशेष आग्रह पर गोरखनाथजी ने कहा कि अच्छा आप चूल्हा जला कर खिचड़ी के लिए पात्र में जल गर्म करने हेतु रख दें, मै भिक्षा माँग कर (खिचड़ी का) अन्न स्वंय लाता हूँ। इस पर देवी ने पात्र में जल भर कर आग पर चढ़ा दिया, देवी का चूल्हा आज भी जल रहा है परन्तु गोरखनाथजी उस स्थान पर आजतक नहीं पहुँच सके। वे भ्रमण करते हुए गोरखपुर आ पड़े जो उन्ही के नाम से विश्रुत है। यहाँ की हरीतिमा और प्राकृतिक रमणीयता पर

विमुग्ध होकर गोरखनाथजी इस स्थान को अपनी तपःस्थली का रुप प्रदान कर तपस्या में तत्पर हो गये। श्रद्धालु जनता ने उनके खप्पर को खिचड़ी से भरने का प्रयत्न किया पर वह नहीं भरा जा सकता इस तपोमयी घटना की स्मृति में गोरखनाथ–मन्दिर में प्रत्येक वर्ष मकरसंक्रान्ति के महापर्व पर विशाल खिचड़ी मेला का आयोजन होता है। गोरखपुर में गोरखनाथ मंन्दिर में महायोगी गोरखनाथ की भव्य प्रतिभा प्रतिष्ठित है। जिसकी नित्य यथासमय यथाक्रम पूजा सम्पन्न होती है। महायोगी गोरखनाथ की तपोभूमि होने के नाते यह मन्दिर नाथयोगियो सिद्धो संत–महात्माओं एवं जनसामान्य के सतत आकर्षण का केन्द्र होने का गौरव प्राप्त करता आ रहा है। यह सिद्ध योगपीठ के रुप में परिगणित है। गोरखनाथ जी की दिव्य तपो भूमि में अक्षय सलिला भगवती राप्ती के तट पर स्थित गोरखपुर का गोरखनाथ मन्दिर अपनी समस्त गरिमा और महिमा से अलंकृत होकर चिरकाल से त्रयताप से संतप्त प्राणीमात्र को योगामृत प्रदान करता आ रहा है। इस मन्दिर में गोरखनाथ का व्यक्तित्व अभिव्यक्त है। गोरखनाथजी ने त्रेतायुग में तपस्या करते समय अखण्ड ज्योति प्रज्वलित की थी, आज भी मंन्दिर के गर्भगृह में अनवरत अनेक झंझावातों एवं प्रलयकारी परिस्थितियों के आघात–प्रतिघात का प्रतिरोध करती हुई यह ज्योति अखण्ड रुप से जल रही है। त्रेतायुग में ही गोरखनाथ जी ने अखण्ड धूना भी जलाया था, जो आज भी दर्शनीय है। कहा जाता है कि भगवान राम के राज्याभिषेक उत्सव मे पधारने के लिए गोरखनाथ जी से प्रार्थना की गयी थी, तप में तत्पर होने के कारण केवल उनका आशीर्वाद ही प्रेषित किया जा सका। ठीक इसी तरह यह अनुश्रुति गोरखनाथ जी के व्यक्तित्व से युक्त हैं कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में पधारने के लिए पाण्डव वीर भीमसेन गोरखनाथ जी के चरण में निमन्त्रण समर्पित करने आये थे उस समय महायोगी गोरखनाथ जी गहन समाधि में तल्लीन थे इसलिए भीमसेन ने कुछ समय तक यहाँ विश्राम किया था। कहा जाता है कि उनके शरीर के भार से एक सरोवर बन गया। यह सरोवर मन्दिर के प्रांगण में दर्शनीय है। भीमसेन

की शयन मुद्रा में विश्राम करती एक विशाल प्रतिमा भी दर्शनीय है। महायोगी गोरखनाथ के अमर, अखण्ड और अमृतमय व्यक्तित्व का प्रण उनका तपोमय जीवन है। उन्होंने योग का तप स्वरूप अभिव्यक्त कर उसे आचार–सदाचार अथवा रहनी से समृद्ध किया। अपनी तपस्या से उन्होंने योग का तप स्वरूप अभिव्यक्त कर उसे आचार सदाचार अथवा रहनी से समृद्ध किया। अपनी तपस्या से अन्होने शुद्ध शैवयोगशास्त्रसम्मत नाथयोग को प्राणशक्ति प्रदान की।

कहा जाता है कि गोरखनाथ जी एक बकुल वृक्ष के निचे ध्यानस्थ थे। आकाश – मार्ग से सिद्ध कृष्णपाद कही जा रहे थे। गोखनाथ जीने उन्हें योग बल से नीचे अतारा। कृष्णपाद (कन्हीपाव – कानिपा) ने कहा कि आप के गुरू कदली वन में सोलह सौ सेविकाओं द्वारा सेवित महारानी कमला और मंगला के साथ महाज्ञान भूलकर कामोपभोग में व्यस्त हैं उनकी आयु के केवल तीन दिन शेष है। गोरखनाथ जी मत्स्येन्द्रनाथ को स्त्रीराज्य से मुक्त करने चल पड़े। गोरखनाथ जी ने लंग और महालंग नामक दो शिष्यों को लेकर कदली वन में प्रवेश किया। लोगों ने उनसे आशीष मांगे। सिद्ध की वाणी थी, फलवती होनी लगी। उन्होने योगी का वेष धारण किया। कदलीवन के एक सरोवर के किनारे बैठी एक नवरमणी उनके दिव्य सौन्दर्य से मुग्ध हो गयी। उसने उन्हे मत्स्येन्द्रनाथ जी का पता बताकर कहा कि महारानी मंगला और कमला के राज्य में योगी का प्रवेश निषिद्ध है, केवल नर्तकी जा सकती है। गोरखनाथ जी ने नर्तकी का वेष धारण किया। वे राज – द्वार पर जाकर मर्दल – ध्वनि करने लगे–

छाटै तजौ गुरू छाटै तजौ, लोभ मोहमाया आत्मा परचैं राखौ गुरूदेव, सुन्दर काया। कान्ही पाव भेंटीला गुरू, विद्यानग्र सै। ताथैं में पाइला गुरू, तुम्हारा उपदेशै।। एतै कछ् कथीला गुरू, सर्वे भैला भौलै। सर्व रस खोइला गुरू बांधनी के षोलै।। नाचत गोरखनाथ धूंधरी चे घातैं। सबै कमाई खोई गुरू बाधनी चै राचैं।। रस कुस बहि गईला रहिगई छोई। भणत मछिद्रनाथ पूता, जोग न होई।। रस

कुस बहि गईला रहि गईला सारं। बदंत गोरखनाथ गुरू जोग अपारं।। आदिनाथ नाती मच्छिन्द्रनाथ पूता।। षटपदी भणीं लै गोरष अवधूता।।[28]

शिवगोरक्ष महायोगी गोरखनाथ जी ने नेपाल में वागमती नदी के तट के पर स्थित सिद्धांचल पर मृगस्थली में कठोर तप किया था। मृगस्थली मन्दिर में उनकी तपस्या का भौम स्मारक है। नेपाली बौद्ध कथा में उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथजी को अवलोकितेश्वर समझा गया है। मत्स्येन्द्रनाथय जी एक पर्वत पर रहते थे। गोरखनाथजी उनके दर्शन के लिए गये। पर्वत पर चढ़ना दुष्कर समझकर नवनागों को बांधकर तथा अपने आसन के नीचे छानबे करोड़ मेघमालाओं को दबाकर बैठ गये। उपर्युक्त आख्यान का ऐसा भी वर्णन मिलता हैं कि गोरखनाथ जी पर्वत पर वर्षा के देवता कर्कोटक नाग को दबाकर आसनस्थ हो गये। नेपाल में कर्कोटक नाग अथवा नवनागों अथवा छानबे करोड़ मेघमाला को दबाने का परिणाम यह हुआ कि बारह साल तक वर्षा नहीं और भीषण अकाल पड़ गया। सारे नेपाल में हाहाकार मच गय। राजा नरेन्द्रदेव के गुरु (बुद्धदत्त) ने अकाल का कारण समझ लिया। गोरखनाथ जी के गुरु मत्स्येन्द्रनाथय को गोरखनाथजी के सामने लाने का निश्चय किया गया। यह विचार किया गया कि जब अपने गुरुदेव की प्रणाम करने के लिये आसन से गोरखनाथ जी उठेंगे, तब मेघमालायें स्वतः मुक्त हो जायेंगी। यथोचित अनुष्ठान द्वारा अवलोकितेश्वर मत्स्येन्द्रनाथजी गोरखनाथ जी के समक्ष मृगस्थली में लाये गये । वे आसन से उठे नहीं, गुरु को मानसिक प्रणाम करते समय उनका बायॉ घुटना कुछ हिल गया और मेघमालायें मुक्त हो गयीं। जलवृष्टि हुई और अकाल का संकट टल गया। मत्स्येन्द्र नाथजी के आगमन के स्मरण में प्रत्येक वर्ष रथयात्रा उत्सव मनाया जाता हैं। गोरखनाथ जी के मेघमालासनीकृत रुप के संस्तवन मे उनके शिवगोरक्षरुप को रमणीय झांकी मिलती है–

चन्द्रार्कद्रु हिणाच्युताम्बुजलसल्लोकेशकंसा रिभिः काली भैरव

सिन्धुरास्य हनुमत्कोड़ैः परीवारितम्। वन्देतं नवनाथसिद्ध महितं मेघाहिमालासनं माला पुस्तक शूल डिण्डिमधरं गोरक्षमृत्युन्जयम्।।

महायोगी गोरखनाथ जी ने उड़ीसा के योगी मल्लिकानाथ जी को अपने व्यक्तित्व और प्रत्यक्ष दर्शन से कृतार्थ किया था। योगिराज मल्लिका नाथ उड़ीसा के निवासी थे उनका पूर्व नाम विबुधेन्द्रमल्ल था। वे क्षत्रिय योद्धा थे एक बार आखेट के समय कृपामुर्ति गोरखनाथ जी का उन्हे दर्शन हुआ। उन्होने योगेश्वर के चरणदेश में प्रणाम किया। आशीर्वाद न पाकर उन्होने गोरखनाथ जी के मस्तक पर खड्ग से प्रहार किया। जटाजूट से टकराकर खडग के टूट जाने पर राजा को पश्चाताप हुआ। उन्होने योगबल से प्रभावित होकर गोरखनाथ जी से योगदीक्षा ली। तथा शिष्य बन गये। उन्होने चक्रार्चन मे उत्तरसाधिका के रुप में एक कन्या का वरण कर सिद्धिलाभ किया था। उसका नाम मल्लिका था। इसलिये वे मल्लिकानाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। गोरखनाथ जी ने उन्हे पिण्ड में आत्मा की स्थिरता,जन्म–मृत्यु से परे होने की अवस्था, शरीर की अमृतपान द्वारा अमरतादेहसिद्धि और मन–पवन की साधना का उप देश दिया। मल्लिकानाथ यद्यपि तांत्रिक थे पर गोरखनाथ के प्रभाव से वे महान नाथयोगी के रुप में प्रसिद्ध हुए।

महामति ब्रिग्स ने अपनी पुस्तक गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज में गोरखनाथ के व्यक्तित्व तथा विलक्षण और यौगिक सिद्धियों पर प्रकाश डाला है। गोरखनाथ जी का प्रकृति की शक्तियों और पंचभूता पर अद्भुत नियन्त्रण था। उन्होंने गोपीचन्द की माता और योगिराज भर्तृहरि की बहन मयनावती को वरदान दिया था कि तुम पानी में नही डूब सकती। ब्रिग्स ने लिखा है कि कहा जाता है कि धर्मराज युधिष्ठिर के महाप्रस्थान के समय हिमांचल के भयानक हिमपात से भीमसेन आगे बढ़ने में असमर्थ और 'संज्ञाशून्य हो गये। गोरखनाथ जी ने उन्हे दर्शन दिया और गंगोत्तरी से भूटान तक विस्तृत भूमि भाग का राजा बना दिया। 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज'ग्रन्थ में ही उनकी सिद्धियों की झोली का वर्णन है।

वह अद्‌भुत शक्तिमयी थी। गोरखनाथ जी उसमें से सेब, अंगूर, पुष्प फल, रत्न तथा अनेक दुर्लभ पदार्थ प्रकट कर लोगो को देते थे। उनकी झोली की विभूति से असंख्य स्त्रियो ने पुत्र प्राप्ति की गरीब धनी हो गये, असहाय और विपन्न सम्पन्न हो गये कहा जाता है कि गोरखनाथ जी ने अपनी झोली से कीमती साड़ियाँ, बहुमूल्य आभूषण आदि प्रकट कर अपने शिष्य गूँगा का विवाह कराया था। चौरंगीनाथ जी को योगदीक्षा के समय उसी झोली से कुण्डल प्रकट कर उनके कान में पहनाये गये थे। इसी झोली से चावल और अंगूर निकाल कर गोरखनाथ जी ने चौरंगीनाथ की विमाता लूना को संतान प्राप्ति के लिए खाने को दिया था। इसी झोली की विभूति से उन्होने एक उजड़े बगीचे की हरा–भरा कर दिया था। गोरखनाथ जी योग–सिद्धियों के स्वामी थे। ब्रिग्स ने 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज' में उल्लेख किया है कि 'गोरखनाथ जी के शिष्यो ने चौरंगीनाथ जी से निवेदन किया था कि गोरखनाथ जी शिव के परम प्रिय है उनकी कृपा से सारे मनोरथ पूरें होते है वे बड़े सुन्दर है, भारत भूमि में उनसे सुन्दर कोई नहीं है, वे मानसरोवर के राजहंस हैं। गोरखनाथ जी मूर्तिवान योग है महायोग ज्ञान के परम तत्वज्ञ योगिराजेश्वर है। उन्होने अपने योग सिद्धान्त हठयोग की साधना और सिद्धि के माध्यम से 'सच्चिदानंद स्वरुप परब्रह्म परमात्मा शिव का आत्मा से एकात्मबोध सिद्ध किया। उन्होने शास्त्रसम्मत योगज्ञान से जनचेतना को जागृत कर सत्य और शिव के तत्व से उसे समृद्ध किया, यही उनकी अमरता की आधार शिला है।

गोरखनाथ–कृतित्व

गोरख–विरचित कही जाने वाली रचनाओ का सुव्यवस्थित सम्पादन डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्थवाल ने 'गोरखवानी' के अन्तर्गत जोगेसुरी बानी प्रथम भाग के रुप में 1942 ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से किया था। डॉ० बड़थ्थवाल अन्य नाथ सिद्धों की बानियों का प्रकाशन न कर सके थे कि अनका देहावसान हो गया उस कार्य को डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सम्पन्न किया। यह कृति 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' के अर्न्तगत जोगेसुरी बानी द्वितीय भाग के रुप में नागरी प्रचारिणी सभा काशी से सन् 1957 में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक मे 25 नाथसिद्धों की बानियाँ तीन हस्तलिखित ग्रन्थों से संगृहीत हैं। कुछ नाथसिद्धों के नाम पौराणिक है। जिनका उल्लेख नाथ सिद्धो की सूची में उपलब्ध नहीं होता महादेव, पार्वती, रामचन्द्र जी के नामों से प्राप्त रचनाओं के वास्तविक रचयिता का पता नही चलता। डॉ० द्विवेदी का अनुमान है कि किसी सिद्ध ने ही देवताओ के उपदेशो को देशी भाषा में लिख डाला है। सर्वप्रथम पं० तारादत्त गैरोला ने गोरक्षनाथ के 17 ग्रन्थों की सूचना दी थी इनमे से कुछ रचनाओं को उन्होने गोरक्षकृत स्वीकार नही किया था।[29]

सन् 1954 में डॉ० मल्लिक ने नाथयोगियों की रचनाओं का सम्पादन 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति एण्ड अदर वर्क्स आव नाथ योगीज' नामक संग्रह ग्रन्थ में किया। इसमें उन्होंने गोरखनाथ' गोरख उपनिषद नाम की रचना प्रकाशित की जो गोरखाबानी में प्रकाशित न हो सकी थी। इस रचना में पहली वार मंत्स्येन्द्र, भरथरी और गोपीचन्द की हिन्दी रचनाओं का परिचय मिला।[30] डॉ० मल्लिक ने सिद्ध–सिद्धान्त–पद्धति, मीन नाथकृत 'योगविषय' गोरखचरितः अमरौध प्रबोध' और 'योगमार्तण्ड' नामक संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन किया। 'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति का सर्वप्रथम वैज्ञानिक सम्पादन करते हुए उन्होने 'अमरौध –प्रबोध और 'योग मार्तण्ड' को भी गोरक्ष विरचित स्वीकार किया है। ब्रिग्स ने सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति को नित्यानन्द सिद्ध कृत बताया पर एक अन्य स्रोत से इसे गोरक्षकृत भी कहा गया।[31] अगरचन्द नाहटा ने अपने सम्पादित ग्रन्थ 'राजस्थान में हिन्दी के हस्त लिखित ग्रन्थो की खोज– भाग–4 पृ० 39 में गोरक्ष रचित 'योग–चिन्तामंणि' नामक 185

पद्यों की अपनी संग्रह प्रति का विवरण दिया था। उन्होने पृ० 440 और 445 में संतवाणी संग्रह के दो बड़े गुटको का विवरण प्रकाशित किया था। जिनमें गोरखनाथ की 25 के करीब रचना मिली थी। इसके पश्चात् प्रकाशित राजस्थान के हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों में महावीर तीर्थ के 'जैन साहित्य शोध संस्थान' से प्रकाशित जैनशास्त्र भण्डारों की सूचियों में एक ऐसे गुटके का विवरण है जिसमे गोरक्षनाथ की रचनाएं लिखित है। राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जयपुर के संग्रह मे पुरोहित हरिनारायण जी का महत्वपूर्ण संग्रह सुरक्षित है। उसकी सूची 'विद्या–भूषण ग्रन्थ संग्रह सूची' के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें गोरक्षनाथ की रचनाओ की कई हस्तलिखित प्रतियां है। उक्त सूची के अनुसार 'गोरखबानी' में प्रकाशित ग्रन्थों के अतिरिक्त गोरखनाथ की अप्रकाशित 12 रचनाओं के नाम और भी हैं उनमे से नौ के नाम गोरखबानी की भूमिका में लिए जा चुके हैं यद्यपि इनका प्रकाशन उस ग्रन्थ में नही हुआ है। शेष तीन रचनाएं– **1.** सांख्यदर्शन योग, **2.** कंठडबोध (कंथडबोध), **3.** अष्टदल कमल का भेद, विद्याभूषण ग्रन्थ की सूची में उल्लिखित हैं पर 'गोरखवानी' की भूमिका में इनका उल्लेख नहीं हुआ। नाहटा जी को वीकानेर के 'भारतीय विद्या–मंन्दिर शोध–संस्थान' से एक गुटका प्राप्त हुआ जिसमे गोरखनाथ की 25 रचनाएं हैं। इनमें 22 तो गोरखवानी में प्रकाशित है तथा आत्मबोध नं०. 2 का उल्लेख गोरखवानी की भूमिका में मिलता हैं साडोक्खरी (षडाक्षरी) और ज्ञानमाला का उल्लेख बड़थ्थवाल ने नही किया। पुरोहित हरिनारायण की सूची के पृ०.15 में 'ज्ञानमाला' का उल्लेख हैं पर षडाक्षरी बाकी है। 'राजस्थान में हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज' के चौथे भाग में नाहटाजी ने जिस बड़े गुटके की सूची प्रकाशित की है उसमे उसका नाम 'षड़छिरी' मिलता है।[32] नाहटाजी ने दो जैन ग्रन्थो का भी उल्लेख किया हैं जिनमें कुछ पंथ गोरखनाथ के नाम से है। पहला ग्रन्थ हैं– शुभशील रचित 'विक्रमचरित्र' जिसकी रचना 1499 में हुई है। इस ग्रन्थ में गोरखनाथ के चार पद्य उद्धृत है। दूसरा ग्रन्थ 17 वी शताब्दी के जैन कवि बनारसी दास की रचनाओं का संग्रह 'बनारसी विलास' के नाम से है जिसमे गोरखनाथ सात चौपाइयाँ है।[33] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल द्वारा प्रकाशित 'गोरखवानी' के बीस वर्ष पूर्व

महाराष्ट्र में गोरक्ष–पदावली का संकलन और मुद्रण हुआ है। 'श्री शीलनाथ–शब्दामृत' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ इंदौर के निकट देवास नामक मराठी रियासत में शीलनाथ के शिष्यों ने संकलित किया था सन् 1923 में मुद्रित इस ग्रन्थ में नाथ पंथीय दर्शन को स्पष्ट करने वाले गोरक्षनाथ की नाममुद्रा से अंकित कुल 55 पद और गोरखनाथ की साम्प्रदायिक आरती प्राप्त है।[34] राजस्थान में गोरखनाथ के नाम से प्रचलित अनेक प्रतियाँ लक्ष्य की जा सकती है जो प्रायः 18 वी शताब्दी के बाद की लिखी हुई हैं 'राजस्थानी शोध' संस्थान चौपासनी में गुटका सं० 16522 में 'गोरखावली' नामक रचना, जो 19 वीं श० में लिखित हैं, गोरखनाथ के नाम से प्रचलित है। यही 5115 संख्या के गुटके में 'गोरख प्रश्नावली' नामक रचना गोरखनाथ के नाम पर है। इसकी भाषा राजस्थानी है। गुटका सं० 3285 में 19वीं शताब्दी का एक हस्तलेख उपलब्ध होता है जिसमें लेखक ने 'अर्थ गोरक्षनाथ बावनी लिख्यते' का उल्लेख कर अपने 67 छन्दो को उसके अन्तर्गत रखा है। इन छन्दो में योगियो के लिए उपदेश दिये गये है। गुटका सं०11602 के अन्तर्गत 'गोरखनाथ जीरौ' शीर्षक से 18 छन्दो का उल्लेख है। राजकीय सुमेर पुस्तकालय जोधपुर में पुस्तक योग क्रमसंख्या 167 ने खडी बोली में लिखित रचना 'विराटपुराण' के लेखक गोरखनाथ के नाम से पायी जाती है। 'प्राच्यशोध विद्या–प्रतिष्ठान जोधपुर' में गुटका सं०10898 में गोरख छंद नामक रचना के अन्तर्गत 29 छन्द संगृहीत है। यही गुटका संख्या 31000 में 'गोरख–सुकनावली' रचना एक पृष्ठ की है जिसमें चारों दिशाओं चार पहर एवं 12 तिथियों को कब किधर प्रस्थान करने से क्या लाभ–हानि सम्भव है, इस तथ्य का परिचय कराया गया है। एस०पी० चन्दोला ने अपने शोध प्रबन्ध के अन्तमें नाथयोगियों की कुछ रचनाएं प्रकाशित की हैं, जिनमें से कुछ तो शोध–प्रबन्ध लिखे जाने से पूर्व ही डॉ० मल्लिक ने अपने संग्रह–ग्रन्थ में प्रकाशित कर दिया था। अधिकांश रचनाएं बाद में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने संग्रह–ग्रन्थ में प्रकाशित की। 'सिद्ध हड़ताली जी की सबदियाँ 'काफर बोध : 'अवलिमीर का लवलिसिलूक' ग्रन्थ अभी उसी शोध–प्रबन्ध में सुरक्षित है। उनके हस्तलेखों का विवरण शोध–प्रबन्ध में उपलब्ध नहीं होता।[35]

'गोरखबानी' के संग्रह और सम्पादन में डॉ० बड़थ्थवाल ने मध्यकाल की जिन हस्तलिखित प्रतियों का उल्लेख किया, उनमें 'पौड़ी हस्तलेख' जोधपुर–पुस्तकालय की प्रति, मन्दिर बाबा हरिदास, नारनौल, पटियाला की प्रति एवं पुरोहित हरिनारायण जयपुर से प्राप्त 1751 वि० की प्रति आदि प्रमुख हैं। डॉ० बड़थ्थवाल ने गोरक्षनाथ की हिन्दी रचनाओं को 'गोरखबानी' में निम्नलिखित क्रम से सम्पादित किया है–

गोरखबानी–
1. **सबदी** 2. **पद (राग सामग्री)**
3. **सिष्यादर्शन** 4. **प्राणसंकली**
5. **नरवैबोध** 6. **आत्मबोध**
7. **अभैमात्रायोग** 8. **पन्द्रहतिथि**
9. **सप्तवार** 10. **मछीन्द्र–गोरखबोध**
11. **रोमावली** 12. **ग्यानतिलक**
13. **पंचमात्रा**

परिशिष्ट–1 (क–1) गोरख–गणेश गुष्टि
(क–2) ज्ञानदीप बोध (गोरख–दत्तगुष्ठि)
(क–3) महादेव गोरख गुष्टि
(क–4) सिष्टपुराण
(क–5) दया बोध
(क–6) कुछ पद

परिशिष्ट–2 (ख–1) सप्तवार–विग्रह (ख–2) व्रत
(ख–3) पंचअग्नि (ख–4) अष्टमुद्रा
(ख–5) चौबीस सिद्धि (ख–6) बतीस लक्षन
(ख–7) अष्टचक्र (ख–8) रहरासि

परिशिष्ट–3 'घ' प्रति के परिशेष में गोरखनाथ के 27 पदों का सुन्दर तिलक

किसी निरंजन साधुकृत प्रतीत होता है। डॉ० बड़थ्थवाल ने प्रथम पंक्ति देकर तिलक दे दिया है।[36]

'ज्ञान चौतीसा' समय से न उपलब्ध होने के कारण गोरखबानी में प्रकाशित न हो सका। गोरखबानी में प्रकाशित प्रथम तेरह रचनाएं एवं ज्ञान चौंतीसा को लेकर कुल 14 रचनाएं डॉ० बड़थ्थवाल द्वारा प्रामाणिक मानी गयी।[37] यद्यपि गोरखबानी की भूमिका में उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है कि ये रचनाएं जैसी हमें उपलब्ध हो रही है, ठीक वैसी ही उस समय की हैं, यह नहीं कहा जा सकता परन्तु इसमें में भी प्राचीनता के प्रमाण विद्यमान हैं। डॉ० द्विवेदी जी का मत है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें अनेक प्रकार से परिवर्तित परिवर्द्धित एवं विकृत होती हुई आजतक चली आ रही हैं। इनमें कुछ न कुछ गोरखनाथ की वाणी अवश्य रह गयी है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं।[38] **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** देशभाषा में रचित गोरखनाथ की इन रचनाओं को वि० सं० 1400 के आस–पास का मानते हैं। साखी एवं बानी की कुछ रचनाओं के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल गोरक्षकृत होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।[39]

18वीं शताब्दी और उसके बाद लिपिबद्ध पृथ्वीनाथ की रचनाओं की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं। इनमें उनकी छोटी–बड़ी 29 रचनाओं का पता चला है। उनके "जुक्ति स्वरूप सिधा संकेत जोगग्रन्थ" में 50 छन्द हैं। प्राप्त सभी प्रतियों में ग्रन्थ का पाठ और छन्द संख्या समान है। इनमें चार–पाँच छन्दों के अतिरिक्त यह सारा का सारा ग्रन्थ गोरखबानीमें उसी रूप में 'ज्ञानतिलक' नाम से गोरखनाथ की रचना मानकर छाप दिया गया है।[40] 'ज्ञानतिलक' गोरक्षनाथ एवं रामानंद दोनों के नामों से ही प्रचलित बताया जाता है। 'सिष्टपुराण', 'दयाबोध', निरंजनी सेवादास की मानी गयी है। प्रतिलिपिकार ने 'गोरख–गणेश', 'महादेव–गोरख गुष्टि' ओर 'निरंजनपुरान' को भी सेवादास की रचनाएं बताया है। 'जाती भौरावली' गोरक्ष की स्तुति होने के नाते उनकी नहीं हो सकती। 'अवलिसिलूक' और 'काफिर–बोध' कबीर का भी बताया जाता है। 'मूलगर्भावली' एवं 'खाणी–वाणी' पौराणिक रचनाएं होने के कारण ही दी गयी हैं। 'गोरखवचन' की भाषा आधुनिक है।[41] डॉ० मल्लिक के मतानुसार 'गोरखवचन' 17वीं श०

में बनारसी दास नामक जैन दिगम्बर पुरोहित द्वारा प्रणीत है। 'गोरखसत' संस्कृतग्रन्थ, सप्तवार, सप्तवार नवग्रह, व्रत, पंचअग्नि एवं रहरासि रचनाएं परवर्ती हैं जो गोरखनाथ के उपदेशों को उद्धृत करने के कारण उन्हीं के नाम के साथ जोड़ दी गयी हैं। मछीन्द्र गोरखबोध, गोरखगणेश गुष्टि गोरखदत्त गुष्टि तथा महादेव गोरखगुष्टि गोरखनाथ के परवर्ती शिष्यों द्वारा रचित हैं, जो संवादों की पुरानी परम्परा पर लिखी गयी हैं। रोमावली, अष्टमुद्रा, चौबीससिद्धि तथा अष्टचक्र भी शिष्य–परम्परा से उद्भूत रचनाएं हैं। प्राणसंकली प्रन्द्रहतिथि, पंचमात्रा भी परवर्ती ग्रन्थ हैं। तिलक या सूत्र रूप में लिखी गयी रचनाएं–शिष्यादर्शन, अभैमात्राजोग, बतीस लछन या अष्टपारछ्या नितान्त परवर्ती रचनाएं हैं। परिशिष्ट तीन के पदों की प्रथम पंक्तियों में से अनेक 'पद' आ चुकी है।

निष्कर्ष रूप में डॉ० रांगेय राघव यह स्वीकार करते हैं कि गोरक्ष के नाम से प्रचलित रचनाओं में आज बहुत कम के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहा जा सकता है। उनकी मूल रचनाओं का रूप सद्यः प्राप्त रचनाओं का ही कोई पुराना स्वरूप होगा। डॉ० बड़थ्थवाल ने भी स्वीकार किया है कि जो आज प्राप्त है वह भी शिष्यों की श्रद्धा भक्ति के कारण है, जिसने अधिक से अधिक यह प्रयत्न किया कि मूल रूप वैसा ही बना रहे।[42]

डॉ० बड़थ्थवाल ने 'सबदी' को गोरखनाथ की सर्वाधिक प्रामाणिक रचना माना है। सबदी में कुछ छन्द अन्य लोगों के भी पद संकलित हो गये हैं, जिसकी सम्भावना को डॉ० बड़थ्थवाल ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने विशेषकर उन सबदियों को अधिक प्रामाणिक माना जो सभी प्रतियों में समान है (189 साखी तक) दो एक सखियों को जो स्पष्ट रूप से अन्य लोगों की है, इसलिए उन्होंने नहीं निकाला कि उनके आगे पीछे के कुछ अंश भी उन कवियों के हो सकते हैं, जिनकी वे जान पड़ती हैं।

बड़थ्थवाल जी ने सबदी 104 को लालनाथ की 118,221 को रतननाथ की तथा सबदी 250 को कबीर द्वारा रचित माना है।[43] डॉ० रांगेयराघव ने गोरखबानी में संग्रहीत रचनाओं में सम्भात्य परवर्ती सम्प्रदायों का प्रभाव, परवर्तियों का उल्लेख, अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण एवं

उठते हुए तथा दृढ़तर होते हुए ब्राह्मणवाद का प्रभाव। इन तत्वों की गवेषणा करते हुए डॉ० राघव ने 36 सबदियों एवं 11 पदों के परवर्ती होने का अनुमान किया है।[44] डॉ० हीरालाल माहेश्वरी का मत है कि वर्तमान समय में प्रचलित नाथों की अधिकांश वाणियाँ उन नाथों की नहीं है, जिनकी वे बतायी जाती हैं। ऐसी अधिकांश वाणियों का संकलन–संग्रह विक्रम की 17वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ जान पड़ता है।[45] डॉ० माहेश्वरी का मत है कि जाम्भोजी की 'सबदवाणी' की ही कुछ रचनाएं 'गोरखबानी' में संकलित कर दी गयी हैं। सबदी संख्या 9,225 तथा साखी 14 की गणना इन्हीं में उन्होंने की है। डॉ० राघव भी इन सबदियों को परवर्ती ही मानते हैं। गोरक्षनाथ के अतिरिक्त अन्य नाथसिद्धों काणेरीपाव और भरथरी के नाम से भी 'सबदवाणी' की कतिपय पंक्तियाँ कुछ हेर–फेर के साथ प्रचलित हैं। डॉ० माहेश्वरी ने ऐसी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत भी की है। 'गोरखबानी' की सबदी सं० 19 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में पार्वती जी के नाम से प्रचलित है।[46] 'सबदवसणी' की कुछ पंक्तियाँ जालंधरी पांव और चरपटनाथ के नाम से भी 'नाथसिद्धों की बानियाँ' में मिल जाती है। भरथरी जी की सबदी के अनेक छंद विष्णोई कवि कालू की भरथरी विषयक साखियों के है। 'नाथ सिद्धो की बानियाँ' में संग्रहीत गोपीचंद जी की सबदी (पृ० 13–16) विष्णोई कवि हरिनाम (कवि 62) कृत तद्विषयक साखी है गोपीचन्द का 'पदसंवाद' भी (नाथसिद्धों की बानियाँ पृ० 20–21) गोपीचन्द की कृति न होकर उनसे सम्बन्धित एक प्राचीन राजस्थानी लोक गीत है। डॉ० हीरालाल माहेश्वरी का निष्कर्ष है कि नाथों की वाणियों की अधिकांश प्राचीन और प्रामाणिक समझी जाने वाली हस्तलिखित प्रतियाँ राजस्थान से ही उपलब्ध हुई है। उनमें से कोई भी विक्रम की 18 वीं शताब्दी से पूर्व की नहीं हैं।[47] गोरखबानी में संग्रहीत पद संख्या 12,30,31,38 को डॉ० रागेय राघव ने परवर्ती घोषित किया हैं।[48] डॉ० द्विवेदी के मतानुसार गोरखबानी के इस पदों मे से कई दादूदयाल कबीर एवं नानक के नाम पर भी पाये गये है, कुछ पद लोकोक्ति, जोगीड़ा एवं अनुभव सिद्ध ज्ञान के रुप में चल पड़े है।[49] गोरक्षनाथ की वाणियों के सम्बंध में डॉ० अशोक प्रभाकर का मत है कि 'उदारधर्म विचार को समुचे भारतवर्ष में प्रचारित करते हुए निरन्तर घुमक्कड़ व्रत को अपनाने

वाले उस महापुरुष को ग्रन्थ–रचना करने की फुर्सत ही कहाँ थी ? और ग्रन्थ कर्त्तव्य की हवस तो उनके स्वभाव के ही प्रतिकूल रही। गोरक्ष–साहित्य की वास्तविकता तो यह है कि वह महान रमता योगी अपनी 'जोगेसुरी बानी' गाता हुआ घुमता रहा उसके उदात्त स्वर समस्त देश में गूजते रहे । सदियों की दासता के कारण पीड़ित बहुजन समाज ने उन प्रेरक शब्दो की हृदय–मंन्दिर में स्थान दिया और गुरु गोरक्षनाथ के असख्य पद लाकोक्ति का रुप धारण कर गये ।[50]

वस्तुतः गोरक्षनाथ के नाम पर जो भी परवर्ती साहित्य उपलब्ध होता है उससे उनके व्यक्तित्व का ही बोध होता हैं। 19वीं शताब्दी में लिखित 'दीपदान क्रम–विधि' आदि पुस्तके उनके देववत्व को ही द्योतित करती है। 'आदि गोरक्ष' के ही विचार जो किसी समय लुप्तप्राय होते हुए भी क्षीण दशा में श्रुति–परम्परा से चले आ रहे थे अनुकूल अवसर पाकर लगभग 10 वीं शताब्दी के अन्त एवं 11वीं शताब्दी के प्रारम्भ में उसी परम्परा के सुयोग्य संगठनकर्ता 'परवर्ती गोरक्ष' के द्वारा अधिकाधिक सुनियोजित एवं सुव्यवस्थित ढंग से जन–जीवन में प्रचार व प्रसार पा सके। सम्भव है परवर्ती गोरक्षनाथ ने यथा– समय लेखनी भी उठायी हो पर अधिक सम्भव यही जान पड़ता है कि उनके किसी सहयोगी अथवा श्रद्धालु भक्त ने उनके विचारो को लिपिबद्ध करने का प्रयास किया हो । यह प्रयास उत्तरोत्तर होता रहा। गोरक्षनाथ के प्रति अपनी असीम श्रद्धा के नाते ग्रन्थ – कर्तव्य का श्रेय गोरक्षनाथ जी को ही दिया जाता रहा वे विचार मूलतः गोरक्षनाथ के ही थे। ऐसा करने से ये रचनाएं समाज में श्रद्धा की दृष्टि से भी देखी जाती रहीं आज भी यह क्रम पूर्णतः बन्द नहीं है।

यथासमय 'आदिगोरक्ष' के विचारों में परिवर्तन परिवर्द्धन व संशोधन भी होते हैं। विभिन्न सम्प्रदाय–प्रवर्तको के नाम से उनके अनुयायी जनों ने अनेक रचनाएं प्रचलित कर दी है। गोरखनाथ इसके अपवाद नहीं हैं। गोरक्षनाथ की 'सबदी' और 'पद' में विशेषकर उनके प्राचीन व मौलिक विचार किसी न किसी रुप मे सुरक्षित हैं। गोरखनाथ के नाम से प्रचलित रचनाओं का संक्षिप्त परिचय दे देना आवश्यक समझते हुए पहले हम 'गोरखबानी' में संग्रहीत सबदी के सम्बंध में निवेदन करना चाहेगें–

सबदी

'गोरखबानी' में संग्रहीत सबदियों की संख्या कुल 275 है। ये सबदियाँ विशेषकर योगी–जनो के लिए उपादेय है। इनमें दर्शन, साधना एवं आध्यात्म विषयक विचार प्रस्तुत किये गये है। मुक्तक रचना होने के नाते इनमे परस्पर सम्बन्ध नहीं हैं। इनमें वर्णित सभी विषय मुख्यतः योग और ज्ञान में अन्तर्भूत दीख पड़ते है। परमोपास्य के स्वरुप–निर्वचन से लेकर साधना की गम्भीर क्रियाओं तक के संकेत इन सबदियों में उपलब्ध हो जाते हैं। ये सबदियाँ वाह्याडम्बर–निषेध, आत्मा संयम की घोषणा करती हुई जन सामान्य को सफल जीवन व्यतीत करने हेतु नीति विषयक उपदेश भी देती है। गृहस्थवर्ग को लक्ष्य करके कहा गया है 'गिरही सो जो गिरहे काया।[51] योगी साधक को 'मन में रहने' 'अमृत वाणी बोलने' एवं 'जल के समान शान्त रहने' के उपदेश दिये गयें हैं। अवधूत की रहनी के सम्बन्ध में कहा गया है कि– 'आँषै देसिबा कांने सुणिवा मुखथै कछू न कहणा'[52] साधनायुक्त विवेक पर ध्यान देते हुए कहा गया है कि ईश्वर प्राणिधान के लिए साधक को उतनी ही मात्रा में साधना रत रहना चाहिए जिससे उसका उत्तरोत्तर अभ्यास दृढ़ होता रहे । वह शरीर–पोषण के लिए अल्पाहार करे । उसे भूखे मरने की आवश्यकता नहीं। उसके उपवास करने कि लक्ष्य शरीर–तेज की वृद्धि करना हो, शरीर को क्षीण करना नहीं। भूखे रहने का हठ करना साधना में विघ्न उपस्थित करना है।[53]

थाए न षाइवा भूषे न मरिबा अहनिसि लेवा ब्रह्म अगिनि का मेवं।
हठ न करिबा पड़या न रहिबा यूँ बोल्या गोरव देवं ।। 31।।

2. पद

'गोरखबानी' में कुल 62 पद संग्रहीत हैं। बहुत से पदो में साधना मूलक पदो की अपेक्षा लेखक के नैतिक विश्वास का भी पता चलता है। अनेक पदों में सम्बोधनात्मक पद्धति अपनायी गई है। इन पदों में बिन्दू रक्षा, वाक् संयम्, शारीरिक शौच, मानसिक शुद्धता, ज्ञान के प्रतिनिष्ठा, बाह्माचरणों के प्रति अनादर एवं मद्य मांसादि के पूर्ण बहिष्कार पर जोर दिया गया है। पद संख्या 2,43,49, इस तथ्य, की पुष्टि होती है कि

मत्स्येन्द्रनाथ कहीं स्त्री जाल में आबद्ध हुए थे और वहाँ से उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने उनका उद्धार किया था।

3. *शिष्यादर्शन*

शिष्यादर्शन (शिक्षादर्शन) का आरम्भ सूत्र जैसे वाक्यों से होता हैं। पंचतत्वों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यहाँ कहा गया हैं कि अलखनिरंजन परब्रह्म से शब्दब्रह्म ऊंकार की अभिव्यक्ति हुई है ऊँ से आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज (अग्नि) तेज से जल और जल से पृथ्वी की उत्पति हुई। आत्मा का ज्ञान ही ब्रह्मज्ञान है। प्राणवायु ही आश्रय है जिसमें जीवात्मा रूपी योगी निवास कर ब्रह्मरंध्र में आसन लगाता है। सहस्रार से द्रवित अमृत – रस को पीकर जीवात्मा अमर हो जाती है। ब्रह्मरंध में जीवात्मा योगी शिव का साक्षात्कार करता है। त्रिकुटी में ही इड़ा, पिगंला और सुषुम्ना के संगम का स्नान है। अवधूत के लिए आवागमन से मुक्ति प्राप्ति हेतु मात्र एक ही मार्ग है कि वह मूलबन्ध का अभ्यास कर वज्र कौपीन धारण करे, प्राणायाम – विधि से प्राण को शरीर से भीतर स्थिर करे तथा उड्डीयान बन्ध लगा द्वैता – द्वैत बिवर्जित तत्व का चिन्तन करे। गुरू के उपदेश को ही अनाहत नाद समझे – गुरू वचन अनाहद मानिवा मूल।[54]

4. *प्राणसंकली*

इस रचना के प्रारम्भ में ही स्वीकार किया गया है कि गुरू कृपा से ही आत्मब्रह्म परमशिव का साक्षात्कार सम्भव है। पापकर्म अथवा पुण्यकर्म दोनों ही बन्धनकारक है। परमात्मचिन्तन में निरंतर चित्त को लय किए रहने से ये कर्म बन्धन कारक नहीं होते। त्रयलोक में एक मात्र विद्यमान सच्चिदानन्द , ब्रह्म के दर्शन हमें घट में स्थित ब्रह्मरंध्र में ही करना चाहिए। शरीर को एक गढ़ के रूप में चित्रित करते हुए इसमें 13 द्वार , नौ नाड़ियो, 72 कोठे, 5 मुख्यचोर, 360 हड्डियाँ आदि के संकेत दिये गये है। शिवत्व की प्राप्ति इस काया – गढ़ में ही सम्भव बतायी गयी है।[55]

तीस पौलि तेरह प्रवांणी। तीनि गुप्त दसप्रकर जांणी। नौ नाटिका कोटडी बहतरि। चोर पचास पचीस पंथ धरि।।5।।

चीरा लगा तीनि सै साठी। नौ सै धाइ नाटिका गांठी।

नदी अठारह गांडिक बहई। मगर मच्छ जल पैरत रहई।। 6।।

5. नरवै बोध

इस रचना के अर्न्तगत कुल 14 छंद संग्रहीत है। प्रथम पाँच छन्दों में कहा गया है कि यह संसार पंचतत्व को लेकर उत्पन्न हुआ। व्यक्ति को काम, क्रोध मोह लोभ, अहंकार आदि को त्याग कर समस्त द्वन्द्वजाल से परे रहना चाहिए। सहजयुक्ति से तन–मन को प्राणायाम के माध्यम से दृढ़ करना चाहिए। संयमित जीवन युक्त आहार, पाखण्ड़ – त्याग एवं वैभव–विलास से पूर्णतः उदासीन हो योगारम्भ करना चाहिए। छठें से 14 वें छन्द तक जगदीश के अहर्निश ध्यान, बाह्य आडम्बरों से दूर रहने एवं आसन पवन को दृढ़ करने के निर्देश दिये गये है। तीर्थ व्रत, पूजा–जाप, वेदशास्त्र, व्यापार वाणिज्य अथवा लोकाचार की निस्सारता बतायी गयी है। योगी को एकाकी जीवन–व्यतीत करने, राजा–रंक की आशा छोड़ने तथा आकर्षक वेश–भूषा त्यागने के उपदेश दिये गये है[56]–

पूजा पाति जपौ जिनि जाय, जोग माहिं विटबौ आप।

छाडौ वेद वणज–व्यौपार, पढ़िवा गुणिबा लोकाचार ।।9।।

सभा देषि भांडौ मति ग्यांन।

गूंगा गहिला होई रहौ अजांण।

छाडौ राव रंक की आस।

भिछ्या भोजन परम उदास।।11।।

6. आत्म बोध

'आत्मबोध' नामक रचना में आसन और प्राणायाम की साधना से मन का निःश्चल होना बताया गया है। आसन, मन और पवन को नियंत्रित कर लेने पर तथा आत्मब्रह्म का ध्यान करने पर गगन शिखर में अलखनिरंजन की ज्योति प्रकाशित हो उठती है। कुण्डलिनी–जागरण कर साधक मूलाधर का रस (वीर्य) उर्ध्वगामी करते हुए ब्रह्मरंध में बिन्दू और

नाद का मेल करता है। मूलाधार में प्रसुप्त कुण्डलिनि जागृत होकर ब्रह्मरंध में शिव के साथ तादात्म्य की अनुभूति करती है। ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुएं पिण्ड में ही विद्यमान है। जो प्राणी अपने पिण्डस्थ परब्रह्म का स्वरुप–बोध कर लेता है वह समस्त प्राणियो में उस अलखनिरंजन की विद्यमानता का अनुभव करता है।

7. अभैमात्रा जोग

इस रचना में रुपक के मानस से योगी की बाहरी वेश–भूषा को उसके अन्तवर्ती संयमित जीवन का ही प्रतीक बताया गया है योगी के लिए ऊँकार स्वरुप परब्रह्म का योगानुभव ही पथ है। सत्यस्वरुप ही साधना भूमि है सहजासन में स्थित प्राणायाम की साधना करते हुए प्राणयोगी के लिए ब्रह्मरंध ही उसका निवास स्थान है। इसी प्रकार संयम को कौपीन, मर्यादा को मेषला, कैवल्य पद को जागोटा (एक प्रकार का वस्त्र है, जिससे ध्यान–काल में योगी शरीर को ढ़क लेता है) उड्डीयानबन्ध को मुक्ति, सत्य को मुद्रा, शील को गूदडी, क्षमा को टोपी, वीर्य को शरीर में धारण किये रहना अधारी, अन्तर्मखी वृत्ति को झोली बताया गया है। इसी क्रम में धैर्य ही दण्ड, ऊँ नमः शिवाय फाहुड़ी तप ही चक्र, मूल बन्ध लगाना ही कमण्ड, मनस्थैर्य ही उदक, सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत ही भोजन, दया ही आदेश, आत्मतत्व का चिन्तन ही योगशास्त्र, जीभ ही रसायन मृत्यु को जीतना ही विद्या,आत्मस्वरुप में स्थिर रहना ही वनखण्ड, निराशा ही मठ, अलख निरंजन ब्रह्म ही इष्टदेव, ज्ञान ही दीपक निर्विकल्प सहजसमाधि ही स्थिति, अमृत ही सहज द्रवित भिक्षा, शब्द ही सिंही नाद, अनाहतनाद ही किंगरी, शिव ही सरोवर , निश्चलता ही रिद्धि एवं सत्य ही सिद्धि है। निराकार ब्रह्मवृक्ष में जगत ही पल्लव है और अमृत ही उसका फल है।

8. पन्द्रह तिथि :–

कुल 17 छंदो की इस लघु रचना में पन्द्रह तिथियों पर साधक के लिए पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान बताये गये है। प्रथमा तिथि से लेकर अमावस्या तक योगी साधक को क्रमशः निर्दिष्ट विभिन्न प्रक्रियाओं को अपनाते हुए अपना योगसाधना को दृढ़तर बनाना चाहिए।

9. सप्तार

सप्तवार मे योगी साधक सात दिनों के लिए सात प्रकार की चर्या का निर्देश किया गया है।

10. मछिन्द्रगोरख–बोध

डॉo मल्लिक का मत है कि 'गोरक्षबोध' प्राचीन हिन्दी भाषा में रचित हैं। टेसीटरी के मतानुसार यह 14 वीं शताब्दी की रचना है।[57] 126 छन्दों की यह रचना मछिन्द्र गोरख के संवाद से भरी पड़ी हैं। संवाद की यह परम्परा संस्कृत ग्रन्थों से ही चली आ रही है। इस ग्रन्थ में प्रश्नकर्ता गोरक्षनाथ मन, पवन, बन्ध, कन्ध आदि के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न करते हैं। उन प्रश्नो के उत्तर उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ जी देते है। हिन्दी पदों के बीच कहीं–कहीं संस्कृत के छन्द भी देखे जाते है।[58]

गुरुजीः कथमुत्पद्यते नादः? कथं नादः समोभवेत ?

कथं संस्थाप्यते नाद ? कथं नादो विलीय ते ?।।37।।

डॉo द्विवेदी ने इसे मत्स्येन्द्र के सिद्धान्तों का व्याख्याता ग्रंथ बताया है। परवर्ती होते हुए भी बाद के योगियों का विश्वासपरक ग्रन्थ है। गोरखदत्तगुष्टि, गोरखगणेश गोष्ठी, महादेव, गोरख गोष्ठी, नरवैबोध आदि रचनाओं की भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।[59]

11. रोमावली

रोमावली में मानव–शरीर को सप्तसाधुओं से निर्मित बताया गया है जिनमें से चार धातुएं–रक्त, मांस त्वचा और नाड़ी माता की तथा तीन धातुएं– वीर्य, हाड़ और गुदा पिता की हैं। बन्ध, मुद्रा एवं भेद के सम्यक अभ्यास से मन को नियंत्रित कर पवन का भेद न करना चाहिए तथा बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये गये हैं और संक्षेप में उनका हल भी ढूढा गया है।

12. ज्ञानतिलक

कुल 45 छन्दों की रचना 'ज्ञानतिलक' की प्रारम्भिक पंक्तियाँ इस तथ्य पर प्रकाश डालती हैं कि 'नादब्रह्म' का रहस्याभिव्यंजन गुरु के शब्द

प्रकाश में ही होता है। शब्द ब्रह्म रुपी ताला गुरु–शब्द रुपी कुंजी से ही खोला जा सकता है। गुरु वह माध्यम है, जिसके द्वारा यौगिक प्रक्रिया की सूक्ष्म जानकारी प्राप्त होती है। ज्योति–स्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति हेतु साधक अपने को उसमें तन्मय कर लेता है। जो शिष्य गुरु के उपदेशामृत की अपेक्षा कर देता है और शरीर की (योगाग्नि में) पक्वता और मनः स्थिरता की ओर ध्यान नहीं देता है, उसका मन विषय भोगों में आसक्त हो उठता है। उसका शरीर क्षीण हो जाता है और वह काल के वशीभूत हो जाता है। ज्ञानतिलक के 45 छन्दों में लेखक ने अपने यौगिक अनुभवों की जानकारी दी है। तथ्यों को अधिक स्पष्ट करने के लिए जगह–जगह दृष्टान्त भी दिए गए हैं।

13. पंचमात्रा

पंचमात्रा के अन्तर्गत 24 छन्द संग्रहीत हैं। इनमें बताया गया है कि पंचतत्व में ही शिव का निवास है। इन्हें नियंत्रित कर उन्मनी अवस्था में विचरण करने वाला साधक ही 'योगीन्द्र' है। मन को नियंत्रित किए बिना जिसने अपना मूड मुड़ा लिया वह नरक का भागीदार है। सच्चे साधक ही काया ही 'षडासन' और मन ही 'जंगोटा' है वह पंचेन्द्रियों की ही 'कछोटी' बाँधता है। योगीसाधक सहस्रार तक पहुँचने के लिए मूलाधार चक्र से अपनी यात्रा आरम्भ करता है। इस मार्ग की सही जानकारी मन–पवन के नियंत्रण पर ही सम्भव है। योगीसाधक प्राणायाम के सम्यक् अभ्यास से मन को नियंत्रित कर सुषुम्ना–मार्ग से प्राणवायु को ब्रह्मरंध्र में प्रवेश कराता है। अनाहद नाद का श्रवण करता है। चन्द्रामृत–पान करता है और ब्रह्म की अनुभूति करता है।

14. ज्ञानचौंतीसा

ऊँकार स्वरुप आदिनाथ परमेश्वर अपनी निजाशक्ति में लीन रहता है। निजा, परा, सूक्ष्मा ओर कुण्डलिनी शक्ति के गुणों में अभिव्यक्त ऊँकार ब्रह्म शक्ति स्वरुप शिव है। ऊँकार नाद–बिन्दु स्वरुप है। मानव शरीर की उत्पत्ति मूलाधार बिन्दू से है। शरीर की उत्पत्ति के साथ ही नाभि स्थान में सूर्य (अग्नि) की उत्पत्ति होती है और सहस्रार में स्थित अमृतस्वरूप चन्द्रमा

क्षीण होने लगता है इस तरह उदय और अस्त के मध्य मृत्यु की स्थिति है। चन्द्रमा की 16 कलाएं सूर्य की 12 कलाओं से चार अधिक हैं। चंद्रमा की चार विशेष कलारुपी अमृत के पान से ही जीवन स्थिर रखा जा सकता है। शरीर की स्थिति प्राण से है। अतः प्राण साधना अभीष्ट है। अविद्यारुपिणी माया–पाश में जकड़ी हुई जीवात्मा अपने सत्स्वरूप की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहती है। उनका निरन्तर संघर्षरत् रहना ही आत्मयुद्ध है। काम–क्राधादि के रूप में जो शत्रु सेना उसके सामने है, उस पर विजय प्राप्त करने के लिए ऊँचे मनोबल की आवश्यकता है।

परिशिष्ट–(1) (क–1) गोरखगणेशगुष्टि–

गोरक्ष–गणेश के सम्वाद रूप में लिखी गयी इस रचना में प्रश्नकर्ता गणेश तथा उत्तर देने वाले गोरक्षनाथ है। गणेश जी तीन गुण, पंचतत्व एवं उनके वर्ण, स्वाद, स्वभाव, घर–द्वार एवं आहार–विहार के सम्बन्ध में गोरक्षनाथ जी से प्रश्न करते हैं और उनका समाधान पाते हैं। पुनः उसी क्रम में उन्होंने पंचतत्वों के गुरु भार्या, पंचतत्वों के गुण उत्पत्ति एवं विलय के सम्बन्ध में प्रश्न कर गोरक्षनाथ से समुचित हल प्राप्त किया है।

(क–2) ज्ञानद्वीप प्रबोध (गोरखदत्त गुष्टि)

गोरक्ष–दत्तात्रेय के संवाद रूप में 51 छन्दों की इस रचना में गोरक्षनाथ प्रश्न करते हैं और दत्तात्रेय उत्तर देते हैं। गोरक्ष के प्रश्न साधक की कुतूहल पूर्ति करने वाले हैं। दत्तात्रेय की वाणी में परमाद्वैत का सिद्धान्त विवेचित है।

(क–3) महादेव–गोरखगुष्टि

महादेव–गोरक्ष के संवाद–रूप में यह सिद्ध रचना दो पटल में विभक्त है। वक्ता महादेव और स्रोता गोरक्षनाथ है। प्रथम पटल में पंच–प्रकृति, पंचधर, दस द्वारा, पंचआहार, पंचव्यवहार, पंचवरण एवं पंच वानि की गणना करते हुए यह बताया गया है कि इनमें चौरासी लाख जीव–योनियाँ भ्रमण करती हैं। दूसरे पटल में महादेव के वचन है कि पृथ्वी को जल ग्रसित कर लेता है, जल को तेज को वायु, वायु को आकाश, आकाश को इच्छा और इच्छा को अलखनिरंजन परब्रह्म ग्रसित कर लेता

है। तदुपरान्त सायुज्यमुक्ति सामीप्य मुक्ति, स्वारुप्य, सालोक्य एवं महामुक्ति का उपभोग करने के लिए अलग–अलग मार्ग–निर्देशित किए गए हैं।

(क–4) सिष्टपुराण

लेखक ने इस रचना में रुपक के माध्यम से अपने विचारों को प्रस्तुत करते हुए कहा है कि ऊँकार शब्द ब्रह्म ही एक मात्र–अक्षर है। आत्म स्वरूप का ज्ञान ही परमात्म–साक्षात्कार है। काया ही योगसाधन का महान् क्षेत्र है। शील ही व्रत चक्षु ही दृष्टि, श्रवण ही सुरतियोग एवं निर्भय पद ही श्रेष्ठ अभेदपद है। इसी प्रकार संयम, संतोष, अमरकायत्व दया आदि की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। चित्त की चंचलता, रोग एवं काल आदि की हीनता बतायी गयी है।

(क–5) दयाबोध

सत्रह छन्दों की इस रचना में योगी साधकों को उपदेश देते हुए कहा गया है कि 'नाथ' का निवास घट–घट में मानते हुए सांसारिक प्रपंचों से दूर हो, एकान्त स्थान में अलखनिरंजन के ध्यान में तल्लीन रहना चाहिए। इन्द्रियों को संयमित कर तथा मन और प्राण को नियंत्रित कर अनाहत ध्वनि का श्रवण करना चाहिए।

(क–6) कुछ पद– (ड़) के आधार पर तीन पद दिए गए हैं। इन पदों में सिद्ध–पथ की ओर संकेत किया गया है।

(ख–1) सप्तवार नवग्रह

इस रचना के अन्तर्गत योगी साधक को सात दिनों और नवग्रहों पर विजय प्राप्त करने के लिए निर्देश दिए गए हैं।

(ख–2) व्रत

कुल सात छंदों की इस लघुरचना में भीतरी व्रत को ही अभीष्ट बताया गया है। साधक को गुरुपदिष्ट सेवा–संतोष एवं ब्रह्म प्राप्ति की लगन आदि के प्रति सचेष्ट रहना चाहिए।

(ख–3) पंचअग्नि

यहाँ अग्नि के पाँच प्रकार तथा उनके गुण–दोष विवेचित है। पंच अग्नियों में मूलअग्नि, भुयंगम, ब्रह्मअग्नि, कलाग्नि, रुद्राग्नि की गणना की गयी है।

(ख–4) अष्टमुद्रा

'अष्टमुद्रा' में आठ प्रकार की मुद्रायें उनके स्थान व कार्य निर्देशित हैं। इनकी जानकारी रखने वाला साधक स्वयं देवता कहा गया है।

(ख–5) चौबीस सिद्ध

इस रचना में 24 सिद्धियों के त्याग का उपदेश दिया गया है। इन्हें परित्याग करने वाला साधक योगी बालयोगेश्वर अथवा ब्रह्मज्ञानी बताया गया है।

(ख–6) बतीस लक्षण

इस रचना में आठ प्रकार की परीक्षाएं तथा प्रत्येक के चार–चार लक्षण बताये गये हैं। इन्हें जानने वाला साधक भव से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

(ख–7) अष्टचक्र

यहाँ आठ चक्र एवं उनके स्थान शरीर के अन्तर्गत निर्देशित हैं इन अष्टचक्रों के भेद को जानने वाला 'आपै करता आपै देव' कहा गया है।

3/ब/2– गोरखनाथ की संस्कृत रचनाएं

गोरक्षनाथ के नाम से प्रचलित हिन्दी रचनाएं जहाँ योग–साधना की परम्परा में उपदेश प्रधान रचनाएं हैं वहीं उनके नाम से प्रचलित संस्कृत रचनाएं योग–विद्या के ग्रन्थ हैं। मिश्रबन्धुओं ने गोरक्ष के नाम से नौसंस्कृत ग्रन्थों का परिचय दिया–गोरक्षशतक, चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगचिन्तामणि, योगमहिमा, योगमार्त्तण्ड, योगसिद्धान्त पद्धति, विवेक मार्तण्ड तथा सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति।[60] योगनाथ स्वामी ने गोरक्षनाथ के 20 संस्कृत ग्रन्थों का उल्लेख किया है– अमनस्क योग अमरौधशासनम्, सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति,

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, सिद्ध–सिद्धान्त से संग्रह, महार्थ मंजरी, विवेक मार्त्तण्ड, गोरक्षपद्धति, गोरक्षसंहिता, योगबीज, योग चिन्तामणि, हठयोग संहिता, श्रीनाथ–सूत्र, योगशास्त्र चतुश्षीत्यासन, गोरक्षचिकित्सा, गोरक्षपंचय, गोरक्षगीता, गोरक्षकौमुदी, गोरक्षकल्प।[61]

ब्रिग्स ने नाथपंथी ग्रन्थों की जो लम्बी सूची दी है उसमें संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों का विभेद नहीं किया गया है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने गोरक्ष विरचित कही जाने वाली 28 ग्रन्थों की एक सूची प्रस्तुत की है–

1. अमनस्क योग	2. अमरौधशासनम्	3. अवधूतगीता
4. गोरक्षकल्प	5. गोरक्षकौमुदी,	6. गोरक्षगीता
7. गोरक्षचिकित्सा	8. गोरक्षपंचय	9. गोरक्षपद्धति
10. गोरक्षशतक	11. गोरक्षशास्त्र	12. गोरक्षसंहिता
13. चतुरशीत्यासन	14. ज्ञान प्रकाश	15. ज्ञानशतक
16. ज्ञानामृत योग	17. नाड़ीज्ञान प्रदीपिका	18. महार्थ मंजरी
19. योगचिन्तामणि	20. योगमार्त्तण्ड	21. योगबीज
22. योगशास्त्र	23. योगसिद्धान्त पद्धति	24. विवेक मार्तण्ड
25. श्रीनाथ–सूत्र	26. सिद्ध–सिद्धान्तपद्धति	27. हठयोग
28. हठसंहिता।		

द्विवेदी जी ने स्वयं स्वीकार किया है कि उन पुस्तकों में अधिकांश के कर्त्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।[62] डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने 15 ग्रन्थों की गोरक्षकृत होने की सम्भावना व्यक्त की है–

1. अमरौधशासनम्	2. अवधूतगीता	3. गोरक्षगीता
4. गोरक्षशतक	5. विवेकमार्त्तण्ड	6. महार्थमंजरी
7. सिद्ध–सिद्धान्तपद्धति	8. चतुरशीत्यासन्	9. ज्ञानामृत

10. योगमहिमा 11. योग–सिद्धान्तपद्धति 12. गोरक्ष कला

13. गोरक्षसहस्रनाम 14. गोरक्षपिष्टिका 15. योगबीज

पर सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति, महार्थ मंजरी, गोरक्षसंहिता एवं अमरौघशासनम्–इन चार ग्रन्थों को उपाध्यायजी ने प्रामाणिक एवं महत्वपूर्ण माना है।[63] प्राच्यशोध विद्यासंस्थान जोधपुर (राजस्थान) में 'छुरिका–मंत्र' नामक एक पृष्ठ की हस्तलिपि गोरक्ष के नाम से बतायी जाती है। यहीं पर 'ज्ञान–सागर' नामक रचना गोरक्ष की बतायी जाती है। 20 पेजों की इस रचना के अन्त में कहा गया है– **'गोरक्षनाथेन कथितमिदं मत्स्येन्द्रनाथस्य श्रृणवतः।। गुरु–शिष्यौ परमानंदौ लब्ध्वाविजहतुरिति।।'** निरंजन पुराण के सम्बन्ध में कहा गया है– 'निरंजन पुराण नामकों ग्रन्थ विरचितो गोरक्षनाथेन।' तीन सौ बत्तीस श्लोकों की रचना 'सर्वज्ञान' गोरक्ष विरचित बतायी गयी है। 19वीं शताब्दी की रचना 'दीपदान–क्रमविधिं गुटका संख्या 39290 के अन्तर्गत संग्रहीत है, जिसमें गोरक्ष की अर्चना, दीपदान के मंत्र आदि बताये गये हैं। कहना न होगा कि ये रचनाएं नितान्त परवर्ती हैं। गोरक्षनाथ के प्रति श्रद्धा–भक्ति की ही परिचायिका है। यद्यपि गोरक्षनाथ के योग विषयक विचारों के पोषक कुछ संस्कृत ग्रन्थ हैं, पर उनकी वाणी का मौलिक रुप जनभाषा में ही अधिक सुरक्षित रहा होगा।

इस दृष्टि से गोरक्षनाथ की 'सबदी एवं 'पद' विशेष महत्वपूर्ण है। कहने का यह आशय कदापि नहीं है कि गोरक्ष के नाम से प्रचलित संस्कृत ग्रन्थों का कोई महत्व नहीं। इन संस्कृत ग्रन्थों में गोरक्षनाथ की योगविषयक प्रक्रियाएं व मान्यताएं व्यवस्थित रूप में मिल जाती हैं। अतः कुछ प्रमुख संस्कृत रचनाओं की चर्चा यहाँ आवश्यक है।

(1) सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति (गोरक्षोपनिषद्)

सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति के प्रथम श्लोक से इस रचना के गोरक्ष–विरचित होने का संकेत मिलता है। डॉ० उपाध्याय के मतानुसार यह ग्रन्थ गोरक्षसिद्धान्त संग्रह एवं सिद्ध–सिद्धान्त संग्रह से पूर्व लिखा जा चुका था, क्योंकि इन ग्रन्थों में सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं।[64] गोरक्षसिद्धान्त–संग्रह के अनुसार गोरक्षोपनिषद् के रचयिता को

कभी–कभी श्रीनाथ तथा नित्यनाथ भी कहा गया है। हठयोग प्रदीपिका में नित्यनाथ का नाम आता है। इन्हें 'रसरत्नाकर' का लेखक भी बताया जाता है। बाग्भट्ट के 'रसरत्नसमुच्चय' में इन्हें इन्द्रजाल तत्व का रचयिता बताया गया है।[65] नित्यनाथ को नित्यानन्द के नाम से भी परिचित कराया जाता है। नेपाल की राजकीय लाइब्रेरी में नेवारी सं० 835 (सन् 1718 ई०) में लिपिबद्ध सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति नेवारी लिपि में देखने को मिली थी। उसे 'नन्द' नामधारी किसी व्यक्ति ने लिपिबद्ध किया था। सम्भव है गोरक्ष के वे विचार जो सदियों से पूर्व जन–मानस में प्रचलित थे अथवा क्षीण योगी परम्परा के माध्यम से चले आ रहे थे, उन्हें नित्यनाथ अथवा नित्यानन्द नामक किसी नाथसिद्धि ने लिपिबद्ध करने का प्रयास किया हो।

'सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति' कुल छः उपदेशों (अध्यायों) में विभक्त है। प्रथम उपदेश के अन्तर्गत यह बताया गया है कि निरपेक्ष, भेदातीत एवं शाश्वत परमात्मा किस प्रकार स्वरुपभूत शक्ति के द्वारा दिक्काल सीमित' वैविध्यपूर्ण ब्रह्मण्ड एवं असंख्य पिण्डों के रूप में रुपायित होता है। और स्वयं उनमें अन्तर्यामी बनकर निवास भी करता है। दूसरे उपदेश में अष्टांग योग की चर्चा करते हुए पिण्डस्थ नौचक्र षोडश आधार, तीन लक्ष्य तथा पंचव्योम का परिचय कराया गया है। शरीर के विशिष्ट भागों में उनकी स्थिति बतायी गयी है। उन पर ध्यान करने की विधि समझाई गयी है। तीसरे उपदेश में ब्रह्मण्ड की सभी वस्तुओं को व्यष्टिपिण्ड में विद्यमान बताया गया है। दोनों की मूलभूत एकता स्थापित की गयी है। चौथे में समस्त मानवपिण्डों का अन्तिम आधार परमशक्ति को बताया गया है, जो अपने मूलरूप में अद्वैत परमात्मा शिव से अभिन्न एवं तद्‌रूप है। पाँचवें उपदेश में समरसत्व की उपलब्धि के साधनों पर प्रकाश डाला गया है जिसकी प्राप्ति के बाद पदार्थ–आत्मा, ससीम–असीम अथवा आत्मा–अनात्मा का भेद शमित हो जाता है। ऐसी स्थिति में योगी सबकुछ शिवमय अनुभव करता है। छठें उपदेश में योगी के चरित्र एवं आचरणों का उल्लेख है। समरसत्व की प्राप्ति कर लेने वाला, समस्त बन्धन मुक्त, भेद–भाव परित्यक्त, दिव्य प्रकाशयुक्त योगी ही अवधूत है। उसे ही सही अर्थों में 'नाथ' कहा जाता है और वही सद्‌गुरु होने के योग्य है।[66]

2. गोरक्षशतक

ब्रिग्स ने गोरक्षशतक को सर्वाधिक प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हुए ज्ञानशतक एवं ज्ञान प्रकाश शतक को नामान्तर बताया है। ब्रिग्स का मत है कि गोरक्षशतक टीका, गोरक्षशतक टिप्पण, गोरक्षकल्प, गोरक्षपद्धति, योग सिद्धान्त पद्धति और सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति नामक ग्रंथ गोरक्षशतक के ही भाष्य, परिशिष्ट टिप्पणी आदि है। डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय का मत है कि गोरक्ष संहिता से इस ग्रन्थ की तुलना करने पर गोरक्षसंहिता अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन लगती है। गोरक्षसंहिता आदि को आधार बनाकर गोरक्षशतक को गोरक्ष के नाम से प्रचलित कर दिया गया है। यह ग्रंथ गोरक्षसंहिता की अपेक्षा बहुत बाद को लिखा गया है।[67]

नेपाल के राष्ट्रीय अभिलेखालय में नेवारी सं० 825 (सन् 1705 ई०) में लिपिबद्ध 'गोरक्षशतकम्' देखने को मिला था जो सिद्ध सिद्धान्त–पद्धति (सन् 1718) के पूर्व का सिद्ध होता है। नेपाल स्थित मृगस्थली गोरक्ष–पीठ में उपलब्ध गोरक्षशतक के एक प्राचीन हस्तलेख में कुल 204 श्लोक दिये गये हैं। समय का विवरण यहाँ अनुपलब्ध है। पुस्तक के अन्त में लिखा गया है–

"श्रीमत्सदानन्दायते नमः सततम्।'

गोरक्षशतक का आरम्भ गुरु–वन्दना से होता है। योग को मुक्ति के परमसाधन के रूप में स्वीकार करते हुए उसे 'श्रुतिकल्पतरु का 'फल' कहा गया है। षंडांग योग की चर्चा करते समय आसनों के विवेचन के बाद चक्र, षोडशाधार आदि का ज्ञान कराया गया है। नाड़ी एवं वायु के प्रकार का परिचय देते हुए प्रमुख नाड़ियों एवं वायु की महत्ता प्रदिपादित की गई है। कुण्डलिनी–जागरण एवं मुद्रा–सिद्धि की विस्तृत विवेचना यहाँ उपलब्ध है। ऊँकारों पासना की महत्ता बताते हुए लेखक का कहना है कि, 'ऊँ' वह परम् ज्योति है, जिसमें भूः भुः स्वतः, सूर्य–चन्द्र–अग्नि, इच्छा–ज्ञान–क्रिया, ब्राह्मनी–वैष्णव, रुद्री, अ–उ–म् अर्थात लोक–त्रय, कालत्रय, देवत्रय एवं वेदत्रय सभी विद्यमान हैं प्राणसंरोध का विवेचन करते हुए कहा गया है कि जब–तक शरीर में वायु निरुद्ध है, चित्त

असंक्षुब्ध है, भ्रूद्वय में दृष्टि स्थिर है तबतक मृत्यु का भय नहीं। प्रायः– निरोध नाड़ी–साधन से ही सम्भव है। योगी को आसनस्थ ही पूरक–रेचक और कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए।

3. गोरक्ष संहिता

राय दिनेशचन्द्र सेन ने अन्य संस्कृत ग्रंथों की तुलना में गोरक्ष संहिता को श्रेष्ठ माना है।[68] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के मतानुसार गोरक्ष संहिता को पं० प्रसन्नकुमार कविरत्न ने सं० 1497 में छपाया था। इसकी एक प्रति द्विवेदी जी को नेपाल दरबार लाइब्रेरी में भी मिली थी। जिसका कुछ अंश डॉ० बागची ने कौलावलि निर्णय की भूमिका में उद्धृत किया हे। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के गायकवाड़ ग्रंथालय में इसका एक दूसरा संस्करण भी डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय को मिला था, जिसकी टंकित प्रति भी उनके पास है। उन्हीं के मतानुसार यह संस्करण इन्द्रजी शर्मा द्वारा सन् 1950 में प्रकाशित हुआा था, जिनका प्रकाशन काठियावाड़ के प्रभासपाटण में तथा मुद्रण अहमदाबाद में हुआ था।[69] गोरक्षसंहिता के दो प्रकरण उपलब्ध होते हैं– आदि और भूति। इसके बहुत से श्लोक गोरक्ष–विरचित कहे जाने वाले अन्य ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं।[70]

गोरक्ष संहिता के कादि प्रकरण में 27 पटलों का निर्देश है, वहाँ रेखामात्र दे दी गयी है। गोरक्षसंहिता की सूची में प्रत्येक पटल के सामने सम्पादक ने यद्यपि पटलों का नाम शुद्ध करके रखने का प्रयास किया है फिर भी कुछ पटलों का वस्तु–निर्देश नहीं किया जा सकता है। प्रथम पाँच पटलों के अन्तर्गत तंत्रानुकूल भैखस्थान एवं स्वरुप–वर्णन, पीठाधार हिमवत की स्थिति, पूर्ण पीठ तथा कामरुप पीठ का अपूर्व वर्णन प्रस्तुत है। कामदेव के दहनोपरान्त पार्वती–ग्रहण के लिए देवों द्वारा शिव की स्तुति शिव–परिणय, पश्चिम आम्नाय सिद्धों का संतान विषयक पार्वती–प्रश्न, माहेश्वरी आदि षड़मातृ मूर्तियों का स्वरुप वर्णन तथा शव–साधन प्रकार एवं मालिनी चक्रपूजन की विधि विवेचित की गयी है।

पाँचवें पटल में कौमारी, वैष्णवी, बाराही ऐन्द्री, चामुण्डा, आग्नेयी माताओं की पदसंख्या, वर्णसंख्या, षड्विधि न्यासमार्ग, स्वाभाविक न्यास से

चक्रभेदन एवं चल–चक्रभेदन के प्रकार वर्णित हैं। छठें से लेकर 10वें प्रकरण तक देवीचक्र, वर्ण, न्यास, उपक्रम, त्रिशिखा, पद्म, योनि–तीन मुद्राओं एवं इनके तीन–तीन भेदों पर प्रकाश डाला गया है। इनके साधनक्रम, स्वरूप एवं फलों की चर्चा की गयी है। जालंधरनाथ की उत्पत्ति तथा उनका मंत्र, यंत्र, ध्यान एवं पूजा विधि बतायी गयी हे। दसवें पटल में समयोंद्धार एवं वक्रागोद्धार की विवेचना है। एकादश से लेकर 27वें पटल तक शिरोदूती निर्णय, साधन, शिखादूती, समुद्धार, कुला–कुल निर्णय शिखास्वच्छद निर्णय, आज्ञाधिकार, द्वादश श्लोक निर्णय, योगिनी चक्रनिर्णय, खेचरी चक्र निर्णय, वज्रगहरोद्धार में समस्त विद्या निर्णय, षोडान्यास, छोम्मासवाच लक्षण, पंचाशुद्रध्यान वर्णन, चौबीस द्वीप द्वीपाधिप क्षेत्रपाल ध्यान–विधान क्रम, परमदूतियो एवं षोड़श दित्य योगिनियों की विवेचना की गयी है। खण्डित स्थलों पर सम्पादक ने सुसम्बद्ध अनुमित पाठकोष्ठ के अन्तर्गत दे दिया है।

गोरक्ष संहिता का 'कादि प्रकरण' तंत्र विद्या का ग्रन्थ है तो उसका भूति प्रकरण रसायन विद्या से सम्बद्ध है। देह के स्थिरीकरण की सामर्थ्य केवल पारद में है। पारद में ही सभी द्रव्यों का लय होता है। पारद का विशद् विवेचन एवं उसके विविध प्रयोग एवं उपयोग की चर्चा यहाँ उपलब्ध है। गोरक्ष संहिता के भूति प्रकरण में नौ पटल है। प्रथम पटल के अन्तर्गत रसकर्म में अपेक्षित सहाय निरूपण, रस महिमा एवं उसके आठगुण, रस संस्करणजन्य पुण्य, फल एवं उसका उपयोग आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। श्लोक संख्या एक सौ ग्यारह से 123 तक रस–प्रणेताओं एवं उनके ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय पटल में रसों–उपरसों के नाम एवं लक्षणों का स्फुट निर्देश तथा उनके अशुद्ध होने पर उनके निष्फलत्व की भी विवेचना की गयी है। तृतीय पटल में रस के अष्टादश संस्कार एवं उनकी विधि, धातु एवं रत्नों की शुद्धि, अथकादि सत्वपातन एवं स्वर्णरजत कारक बीज–विधान निर्देशित है। चौथे पटल में जीवोत्सर्ग के समय का विधान, रस–बन्धन की प्रक्रिया एवं रसों के संयोग से रस बीजत्व का वर्णन है विभिन्न पदार्थों के बीजों का वर्णन करने के उपरान्त कालबेधी रस से लेकर स्पर्शबेधी पर्यन्त रसों का प्रतिपादन किया गया है।

अनेक प्रकार के सत्वों का निःसारण, रसशाला ओर रसकर्म में क्रिया कुशल शास्त्रज्ञों की नियुक्ति का विधान बताया गया है। पाँचवें पटल में अभ्रक–ग्रास का रस में विधान, विविध धातुओं और औषधियों के योग से रस–बन्धन एवं उनके उपयोग में आने वाली 64 महौषधियों के नाम, गर्भविवरण, विविध सुवर्णों की उत्पत्ति, रस–कामधेनु एवं अभ्रक–भक्षण से बल–प्राप्ति का वर्णन किया गया है। षष्ठम् पटल में उत्तम स्वर्ण की उत्पत्ति, का विधान, रस–भक्षण से बल–आयु की प्राप्ति, गन्धक शोधनोपयोगी दस औषधियों के नाम आदि विषयों का सविस्तार वर्णन है। 7वें पटल में 64 दिव्य औषधियों के नाम, लक्षण और कर्मों का प्रतिपादन सविषा और निर्विषा–दो प्रकार की लताएँ, अम्लवेतस की उत्पत्ति स्वरूप, लक्षण कर्म एवं गुण, रसायन सेवन के समय पथ्यापथ्य विचार निर्देशित है। आठवें पटल में अयसकान्तमणि की उत्पत्ति, लक्षण, पराक्रम एवं उसके रसबन्ध का वर्णन है। कान्तायसंयुक्त रसायन के उपयोग से अनेक रोगों के नाश की विधि और उनके अनुमान का विधान किया गया है। नवें पटल में शास्त्रानुसार औषधियों के प्रयोग की विधि रसमंत्रोंच्चार एवं उसकी फलश्रुति का वर्णन है।[71]

4. *महार्थ मंजरी*

महार्थ मंजरी नामक रचना माहेश्वरानन्द–प्रणीत बतायी जाती है। इसके दो संस्करण उपलब्ध है–एक कश्मीरी सिरीज में प्रकाशित है तो दूसरा त्रिवेन्द्रम् सिरीज में। कश्मीरी सिरीज में प्रकाशित संस्करण से लेखक के माता–पिता गुरु एवं निवास–स्थान का कुछ पता नहीं चलता परन्तु त्रिवेन्द्रम, संस्करण से ज्ञात होता है कि माहेश्वरानन्द चोल–देश के निवासी थे, उनके पिता का नाम माधव और गुरु का नाम महाप्रकाश था। गुरु ने ही उनका माहेश्वरानन्द रखा था, लोकदृष्टि से उनका नाम गोरक्ष था।[72] महार्थ मंजरी के श्लोक महाराष्ट्रीय प्राकृत में है और उन पर परिमल नामक टीका संस्कृत में है। काश्मीरी संस्करण के प्रथम श्लोक का अर्थ 'परिमल' में दिया गया है। यहाँ 'महाप्रकाश' शब्द 'परमशिव' के लिए प्रयुक्त हुआ है, न कि किसी मानव गुरु के लिए। डॉ० अवस्थी का मत है कि त्रिवेन्द्रम संस्करण का बाद में किसी के द्वारा परिवर्तन हुआ है अतः उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। महार्थ मंजरी के त्रिवेन्द्रम संस्करण में कुल 71

मूल श्लोक हैं। 70वें श्लोक में कहा गया हे कि, 'इसी महार्थ–युद्ध का उपदेश आरम्भ में पाण्डुपुत्र को सोलह सहस्र शक्तियों में सम्पन्न देव माधव श्रीकृष्ण ने दिया था। 52वें श्लोक में टीकाकार ने श्री शिवानन्द, श्रीमहाप्रकाश और माहेश्वरानन्द को योगीन्द्र कहा है। अतः टीकाकार कोई अन्य व्यक्ति जान पड़ता है। वह माहेश्वरानन्द का शिष्य भी हो सकता है। यहाँ पर महाप्रकाश का भी मानव गुरु के रूप में उल्लेख है।[73] डॉ० अवस्थी का अनुमान है कि यदि शिवानन्द तंत्रालोक के टीकाकार जयरथ के द्वारा उल्लिखित शिवन्द्रनाथ हैं। तो ये काश्मीरी क्रमदर्शन, शाक्त दर्शन के उद्भावक हो सकते हैं, जो विक्रम की 8वीं शताब्दी में विद्यमान थे। महार्थमंजरी के काश्मीरी संस्करण में टीका या मूल गाथाओं में कहीं भी गोरक्ष का नाम नही मिलता।[74]

महार्थमंजरी में महाप्रकाश को चरमतत्व बताते हुए कहा गया है कि इसी 36 तत्वमय संसार का उदय होता है। इस महार्थ दर्शन में मुमुक्षु को शिवयोगी कहा गया है। यामली सिद्धि ही यहाँ पुरुष की मुक्ति है। विमर्शरूपता का ध्यान, जप, प्राणायाम आदि आतंकरहित पूर्ण अनुभव शिवयोगियों की यामली सिद्धि या मोक्ष हैं ब्रह्माण्ड का अनुकरण रूप यह स्वशरीरात्मक पिण्ड ही पीठ है। इसमें इन्द्रियात्मककरण देवियाँ स्फुरित हो रही है और इसके बीच में ज्ञाननिधि परमशिव विराजमान है। इनकी अर्चना का विधान है। ब्राह्मपूजा को आन्तरिक पूजा का अनुकल्प माना गया है। इसके अतिरिक्त श्रीचक्रपूजन, आणवोपाय, शाक्तोपाय और शाम्भवोपाय का निरुपण हुआ है। इस प्रकार क्रम, कुल एवं प्रत्यभिज्ञा तीनों दर्शनों का इस ग्रन्थ में समन्वय लक्ष्य किया जा सकता है।[75]

5. अमनस्क योग

अमनस्कयोग की एक अपूर्ण एवं त्रुटिपूर्ण प्रति योगनाथ स्वामी की कन्नड़ भाषा में लिखी हुई मिली थी, जिसमें 98 श्लोक थे। शोध प्रयास से उन्हें 211 श्लोक उपलब्ध हो सके। डॉ० गोपीनाथ कविराज के सहयोग से उसकी अपूर्णता एवं अशुद्धियाँ दूर की जा सकीं। इस कन्नड़ प्रति को संस्कृत में लिपिबद्ध करने का श्रेय एक कन्नड भाषी को ही हैं बाद में

योगनाथ स्वामी को अमनस्क योग की कुछ जीर्ण पोथियाँ भी प्राप्त हुई और उनमें उस ग्रन्थ के विभिन्न नाम भी पाये गये।[76] ग्रन्थ के सम्पादक योगनाथ स्वामी का मत है कि यह गोरक्षनाथ द्वारा रचित ग्रन्थ है पर डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं पंडित गोपीनाथ कविराज जैसे गम्भीर विचारकों ने इसकी प्रामाणिकता में सन्देह व्यक्त किया है।[77]

अमनस्क योग ग्रंथ पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध– दो भागों में विभक्त हैं पूर्वार्द्ध के 98 श्लोकों में 'तारक योग' का विवरण उपलब्ध है तो उत्तरार्द्ध के 113 श्लोकों में अमनस्क योग का सविशेष व्याख्यान किया गया है। अमनस्क योग की प्रस्तावना लिखते हुए पं० गोपीनाथ कवि राज ने बताया है कि जिस प्रकार पतंजलि के सम्प्रज्ञात भूमि में वन का अस्तित्व बना रहता है पर असम्प्रज्ञात में नहीं, उसी प्रकार तारक योग (पूर्वयोग) में मन की सत्ता रहती है पर अमनस्क योग (उत्तर योग) में नहीं।[78] अमनस्क ग्रंथ ईश्वर एवं बामदेव–सम्वाद के रूप में लिखा गया है। बामदेव को भगवान महादेव ने जिस जीवन–मुक्ति–प्रद उपाय का उपदेश किया वह तारक योग था, जिसके दो विभागों–पूर्व एवं उत्तर में उत्तर तारक ही अमनस्क योग है। पूर्वतारक बहिर्योग है तथा उत्तर तारक अमनस्क अन्तर्योग है। बामदेव के प्रति भगवान शिव का कथन है कि पवित्र स्थान में सुखासनपूर्वक बैठकर, लगभग एक हाथ की दूरी तक, दृष्टि स्थिर कर, निश्चल शरीर एवं निश्चिन्त मन वाला होकर परमतत्व का अभ्यास करना चाहिए। परमतत्वावबोध कर लेने पर योगी इस पंचभौतिक शरीर से ऊपर उठ जाता है। ऐसी अवस्था में उसके बाहर–भीतर सर्वत्र परमतत्व का स्फुरण होने लगता है। चित्त–लय के साथ वायु का भी लय हो जाता है और योगी इन्द्रिय विषयों से मुक्त हो जाता है। वह सर्वसम हो व्यापार–रहित हो जाता है, परब्रह्म में लीन हो जाता है। अमनस्क योग की साधना करने से योगी चिरकाल तक लयस्थ रह जाता है तो उसे आठों सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है वह सम्पूर्ण जगत को वश में कर लेता है। योगी मनचाहा स्वरूप बनाकर ब्रह्माण्ड को हथेली पर रखे हुए मोती के समान देख सकता है।[79] इस महातत्व में अधिष्ठित योगी का पता नहीं होता भले ही ब्रह्मा–विष्णु–महेश आदि का प्रलय क्यों न हो जाय–

ब्रह्माविष्णुमहेशाना प्रलयेष्वपि योगिनाम्।
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्वे विवर्तिनाम्।।

6. अवधूत गीता

अवधूत गीता दत्तात्रेय कृत बतायी जाती है। दत्तात्रेय ने इसे उपदेश के रूप में कार्तिकस्वामी को सुनाया था। सम्भवतः प्रारम्भिक श्लोकों में गोरक्षनाथ का नाम जोड़ देने का श्रेय किसी नाथ सिद्ध को ही है।[80] अवधूत गीता के सभी अध्याय आत्मसविति के उपदेश से भरे पड़े हैं। सविति से अभिप्राय पूर्वज्ञान से है। आत्मा परमात्मा जीव एवं शिव की एकता का पूर्णज्ञान प्रतिपादित करना अवधूत गीता का मुख्य विषय है।

आत्मा ही सबकुछ है। वह भेद–अभेद से परे हैं। स्वभावतः निर्मल और शुद्ध स्वरूप है। वह अत्यय अनंत एवं द्वन्द्व–रहित है। आत्मा का जन्म नहीं होता अतः उसकी मृत्यु का प्रश्न ही नहीं। आत्मा चैतन्य रूप व अनादि है। वह आदि मध्य एवं अन्त की अवस्थाओं से रहित है। अतः वह बन्धन मुक्त है।[81]

न बद्धौ नैव मुक्तो हं न चाहं ब्रह्मणः पृथक।
न कर्ता न च भोक्ताहं व्याप्य व्यापक वर्जितः।।

आत्मतत्व ही कल्याण स्वरूप शिव है। यही गुण रंग से मुक्त, ज्ञान–अज्ञान से परे, निष्काम–निःसंग तथा निःसार है। वह न तो स्थूल है और न तो सूक्ष्म है। वह सभी अवस्थाओं से परे आदि अंत रहित देशकाल से परे है। इस सर्वव्यापक चेतनस्वरूप आत्मा की पूजा पान–फूल आदि से नहीं की जा सकती। वह मन–बुद्धि एवं इन्द्रियों से परे है। न बाहर है और न भीतर है न तो उसका कोई मित्र है और न ही कोई उसका शत्रु। इस प्रकार अवधूत गीता के सभी अध्याय आत्मपरमत्म तत्व के ऐक्य भाव की ही पुष्टि करते दीख पड़ते हैं।

7. अमरौधशासनम्

शैवागमों से शैवनाथमत का सम्बन्ध निरुपण करने के लिए अमरौध–शासनम् एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। सन् 1919 ई० में कश्मीर ग्रंन्थागार

के संस्कृत सिरीज में प्रकाशित 'जन्म–मरण–विचार' में अमरौध शासनम् नामक संस्कृत पुस्तक को गोरक्षकृत बताया गया है।[82] इस ग्रन्थ की रचना तिथि तथा लिपिकाल है। काश्मीर के महाराजा श्री प्रताप सिंह द्वारा प्रतिस्थापित 'प्रयत्नविद्याप्रकाश' (रिसर्च) कार्यालय में उसके अध्यक्ष पं० मुकुन्दराम शास्त्री ने इसका संग्रह संशोधन एवं पर्यायांकन कर प्रकाशित कराया। शास्त्री जी ने स्वयं भी ग्रन्थ कराया। शास्त्री जी ने स्वयं भी ग्रन्थ–रचनाकाल एवं ग्रन्थ–कर्ता के सम्बन्ध में अनभिज्ञता प्रकट की है। इस पुस्तक में योग–प्रक्रिया का उल्लेख उपदेशात्मक ढंग से किया गया है।

'अमरौध प्रबोध' नामक रचना उद्बोधनात्मक ढंग से लिखी गयी मिलती है, जिसका विषय है क्रियात्मक अष्टांग योग। पिण्ड–ब्रह्माण्ड का समरसीकरण यहाँ भी काम्य है। कहा जाता है कि उक्त दोनों पुस्तकें काश्मीर अमरकण्टक की अमरनाथ गुहा में गोरखनाथ द्वारा लिखी गयी थी।

8. गोरक्ष पद्धति

डॉ० मल्लिक ने 'गोरक्षपद्धति' की उत्पत्ति 'गोरक्षशतक' और 'गोरक्षसंहिता'–दोनों के मिश्रण से माना है। उसके प्रथम सौ श्लोक गोरक्षशतक के अनुरुप है, द्वितीय शतक में प्राणायाम प्रत्याहार आदि का वर्णन है।[83] डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने गोरक्ष पद्धति के प्रथम शतक अथवा द्वितीय शतक को गोरक्षनाथ की मूल रचना मानने से इन्कार किया है।[84] गोरक्ष पद्धति में गोरक्ष–संहिता का उल्लेख कई बार आया है अतः यह ग्रंथ गोरक्ष–संहिता के बाद का जान पड़ता है। उपाध्याय जी गोरक्ष–पद्धति को एक स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में मान्यता देते हैं।[86]

गोरक्ष पद्धति दो शतकों में विभक्त है। प्रथम शतक को 'योगांग पूर्वाभ्यास विधि' तथा दूसरे शतक को 'मुक्ति सोपान उत्तर शतक' के नाम से अभिहित किया गया है। प्रथम शतक के अन्तर्गत आसन, षट्चक्र निरुपण, दशनाड़ी वर्णन, दस वायु वर्णन, शक्ति चालन एवं उसकी विशेष विधि मुद्रा, बन्ध, महावेध, विपरीतकरण, प्रणवाभ्यास, प्राणायाम प्रकार एवं नाड़ी शोधन आदि विषय विवेचित है। द्वितीय शतक में षट्कर्मों द्वारा शरीर को दोष–रहित

बना आसन–प्रणायाम के सम्यक् अभ्यास निर्देश दिया गया है। आसन् प्राणायाम के उपरान्त प्रत्याहार एवं उसकी विधि तथा अमृत–रसपान की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात धारणा के सम्बन्ध में विचार स्पष्ट करते हुए लेखक ने पृथ्वी धारणा, वारुणी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी तथा नभोधारणा– इन पाँच प्रकार की धारणाओं की गणना की है तथा उनके फलों से परिचित कराया है। उसी क्रम में सगुण–निर्गुण दो प्रकार के ध्यान बताये गये हैं। ध्यान–विधि की यहाँ विस्तृत विवेचना उपलब्ध है। कहा गया है कि ध्यानावस्था में स्थिर रहते हुए योगी के कर्ण आदि इन्द्रियों में शब्दादि विषयों का सूक्ष्म भाग भी जब प्राप्त होता है तभी तक ध्यानावस्था कहलाती है, पर जब आत्मा में पंचेन्द्रिय वृत्ति लीन हो जाय तो आत्मा में अर्थ मात्र का भान रहने वाली अवस्था समाधि कहलाती है। इस द्वन्द्वतीत अवस्था में आत्मा–परमात्मा के ऐक्य की अनुभूति होती है जीव और परब्रह्म का सांसारिक दशा में उपाधि द्वारा भेद होने पर भी दोनों चिद्रूप होकर एकत्व की प्राप्ति करते हैं।

9. *गोरक्ष सिद्धान्त–संग्रह*

गोरक्षसिद्धान्त–संग्रह की एक अपूर्ण मातृका पं० गोपीनाथ कविराज को मिली थी। इसे महत्वपूर्ण समझकर उन्होंने सन् 1925 में सरस्वती भवन ग्रंथ माला पुष्प 18 के अंतर्गत इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित किया। फिर भी कई वर्षो तक यह दुष्प्राप्य ही बना रहा। एक दूसरी मातृका जनार्दन शास्त्री पाण्डेय को उनके एक मित्र से मिली थी, जिसे संशुद्ध कर एक अन्य संस्करण उन्होंने सन् 1973 ई० में सरस्वती भवन ग्रन्थ माला 110 के अन्तर्गत प्रकाशित किया।[87]

ग्रन्थ के आरम्भ में 'नाथ' की स्तुति की गयी है। तदुपरान्त अवधूत का स्वरूप एवं लक्षण योगी के मुख्य चिन्ह मुक्तिरूप परमपुरुषार्थ में अवधूतों की विशेषता नाथ लक्षण, अन्य मतवादियों की तत्व–प्राप्ति में असमर्थता, भोग की अपेक्षा योग की श्रेष्ठता, कापालिक मत की उत्पत्ति, 'नाथ' द्वारा शैव–शाक्त मत का प्रवर्तन, अवधूत की सर्वश्रेष्ठता, योगी तथा योगमत की श्रेष्ठता ज्ञानियों की मरणोत्तर गति का निरुपण सभी दर्शनों का स्वरूप–दर्शन में समन्वय, नादानुसंधान से राज योग की प्राप्ति,

नाथसिद्धान्त का महत्व एवं स्वरूप अजपाजाप, महाभूत धारणा गोरक्ष शब्द की निरुक्ति, स्तवन एवं गोरक्ष मंत्र के बिना कर्म की सिद्धि असम्भव, चारों युगों में 'नाथ' की उपस्थिति एवं चार प्रकार की मुक्ति, नवनाथों की वास भूमि, रसायनी महाविद्या, सिद्धि प्रकार प्रणव महिमा एवं परमधर्म निर्णय, शिव की श्रेष्ठता एवं ललिता–महिमा, शास्त्राभ्यास, की अपेक्षा योगाभ्यास का प्रतिपादन भर्तहरि एवं नागेश की शाप–प्रदान, आचार की अपेक्षा विचार का प्राधान्य, गुरु–वचन का महात्म्य स्मार्त्त आदि का मिथ्या धर्मत्व, अवधूतों के त्याग, योग एवं शक्ति का निरुपण निर्गुण–सगुण की अपेक्षा 'नाथ' की सर्वोपरिता साम्प्रादायिक ग्रंथों की अनुपयोगिता आदि अनेक विषय विवेचित है।

10. हठ्योग प्रदीपिका

डॉ० मल्लिक का मत है कि हठयोग प्रदीपिका की रचना स्वात्माराम अथवा चिन्तामणि आदि ने 15वीं श० में की जिसका मूल 'गोरक्ष पद्धति' अथवा 'गोरक्षशतक' आदि ग्रंथ हैं।[88] सुरेशचन्द्र नाथ मजुमदार तथा ब्रिग्स ने भी हठयोग प्रदीपिका को 15वीं श० की रचना माना है। गोरक्षशतक के कुछ श्लोक हठयोग प्रदीपिका में भी यंत्र–तंत्र पाये जाते हैं।[89] प्राच्य शोधविद्या–प्रतिष्ठान जोधपुर में इस ग्रन्थ की कई प्रतियाँ देखने को मिली थी, जो सभी 19वीं श० की लिपिबद्ध थीं। गुटका सं० 8656 में संग्रहीत इस ग्रन्थ का लिपि समय 1844 ई० अनुमानित है। लिपिकर्ता निर्मलगिरि बताये गये हैं तथा ग्रंथकर्त्ता स्वात्माराम। सन् 1915 ई में पंचमसिंह ने इनका अंग्रेजी अनुवाद भी किया जो इलाहाबाद के 'दी सिक्रेट ब्रुक्स आप दी हिन्दुज' द्वारा प्रकाशित हुई।[90]

'हठयोग प्रदीपिका' कुल चार उपदेशों में विभक्त है। प्रथम उपदेश में आदिनाथ की वन्दना के उपरान्त योगी साधक के लिए योग्य कुटीनिर्माण, यम–नियम, आसन, पथ्यापथ्य विचार आदि का विधान बताया गया है। द्वितीय उपदेश में कहा गया है कि साधक को आसन–सिद्धि कर हितकारी मिताहार करते हुए योगी गुरु द्वारा निर्देशित मार्ग से प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम की विधि बताते हुए लेखक ने युक्त अयुक्त प्राणायाम से उत्पन्न लाभ–हानि की भी चर्चा की है। शरीर–शुद्धि के लिए षट्कर्मो का निर्देश है। तृतीय उपदेश में कुण्डलिनी शक्ति की सभी प्रकार के योगों

की धारिका बताया गया है। कुण्डलिनी–जागरण में मुद्रा–बेध आदि की उपयोगिता सिद्ध की गयी है। चतुर्थ उपदेश में समाधि को विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हुए राजयोग की प्रशंसा की गयी है। 'नाद' की चार अवस्थाओं में आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था एवं निष्पत्ति अवस्था की गणना की गयी है। प्रारम्भावस्था में साधक को अनेक प्रकार की ध्वनियाँ सुनायी पड़ती है। अभ्यास ज्यों–ज्यों दृढ़तर होता जाता है सूक्ष्म ध्वनियाँ के रूप में जो कुछ सुनाई पड़ता है वह शक्ति ही अर्थात् नाद ही शक्ति है और जहाँ तत्व का लय होता है वहीं निराकार ब्रह्म है। ध्यान की एकरूपता हेतु प्राण और बिन्दु का स्थिर होना अभीष्ट है। इसी से जीवात्मा तथा परमात्मा में ऐक्य की सिद्धि सम्भव है।[91]

11. घेरेण्य संहिता

घेरेण्य संहिता के लेखक घेरेण्य नामक एक बंगाली वैष्णव माने गये हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन कलकत्ता से भुवनचन्द्रवसाक के सम्पादन में 1877 ई० में सम्पन्न हुआ।[92] घेरेण्ड संहिता का द्वितीय संस्करण 1921 ई० में 'फैक्वाइर एण्ड फैक्वार्टन' के नाम से प्रकाशित हुआ रीचैण्ड सेट मिड्ट ने जर्मन भाषा में इसका अनुवाद प्रस्तुत किया।[93] स्वामी रामचरण पुरी जी ने इसका हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किया है। उसी को मूल संस्कृत संहिता, पंडित धर्मदत्त त्रिपाठी (दूध–विनायक काशी) ने प्रकाशित किया है।[94]

घेरेण्ड संहिता के सात प्रकरणों में हठयोग का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है। प्रथम उपदेश में षट्कर्म– विधान तथा दूसरे उपदेश में आसनों का विवरण प्रस्तुत है। तृतीय उपदेश में विभिन्न मुद्राओं के अभ्यास एवं उनके अनेक प्रकार के रोगों से मुक्ति बतायी गयी है। शाम्भवी मुद्रा के ज्ञातायोगी को स्वयं नारायण के समकक्ष बताया गया है। चौथे और पाँचवें उपदेश में प्रत्याहार व प्राणायाम के नियम निर्देशित हैं। छठें उपदेश में ध्यानयोग का संक्षिप्त वर्णन देते हुए ग्रंथकार ने स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान, सूक्ष्मध्यान तीन प्रकार के ध्यान की बात बतायी है। सातवें उपदेश में समाधि–सुख का वर्णनहै। समाधि प्रकारों में ध्यान योग समाधि, नाद योग, रसनानन्दयोग समाधि, लय सिद्धियों समाधि, भक्ति योग समाधि एवं राजयोग समाधि की गणना की गयी है।

12. विवेक मार्त्तण्ड

विवेकमार्त्तण्ड की विभिन्न मुद्रित प्रतियों की श्लोक संख्या में अन्तर परिलक्षित होता है। कल्याणी मल्लिक द्वारा मुद्रित प्रति में 188 श्लोक हैं क्षेमराज की मुद्रित प्रति में 201 श्लोक, जोधपुर से प्राप्त प्रति में कही 203 तथा कहीं 204 श्लोक हैं। बीकानेर से प्राप्त प्रति में 197 श्लोक हैं। इन प्रतियों की अन्तिम पंक्तियों में भी भिन्नता पायी जाती है। वि०सं० 1976 में राजा महीन्द्र की प्रेरणा एवं भीकम्म भट्टा तथा भीष्मट्ट के सहयोग से योगितोषिणी टीका संहित इस ग्रन्थ का प्रस्तुतीकरण किया गया। 2015 वि० में चन्द्रनाथ योगी ने इसे काशी गोरक्षटिल्ला योग–प्रचारिणी से प्रकाशित कराया है।[95]

विवेकमार्तण्ड में सर्वप्रथम गुरु परमानन्द की वन्दना की गयी है। तत्पश्चात् यम–नियम, आसन, चक्र प्राणायाम आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अजपाजाप गायत्री को योगियों के लिए मोक्षदायिनी कहा गया है। योगिसाधक को युक्त आहार का ध्यान रखते हुए कुण्डलिनी–जागरण से मोक्ष–द्वार को खोलना चाहिए। इसी प्रसंग में मुद्रा–बन्ध लगाने की विधियों का भी निर्देश किया गया है। वायु–निरोध कर शनैः–शनैः सूर्यनाड़ी से प्राणवायु की आकर्षण कर उदर–पूरण करना चाहिए। इसी प्रसंग में मुद्राबन्ध लगाने की विधियों का भी निर्देश किया गया है। वायु–निरोध कर शनैः–शनै सूर्यनाड़ी से प्राणवायु की आकर्षण कर उदर–पूरण करना चाहिए तथा योग–विधान से कुम्भक कर चन्द्रनाड़ी से रेचन करना चाहिए। नाड़ी शोधन, ध्यान–धारणा एवं प्रत्याहार की विवेचना करते हुए कहा गया है कि घटिकाओं के अभ्यास से धारणा, साठ घड़ियों के अभ्यास से ध्यान तथा बारह दिनों के प्राण–संयम से समाधि–दशा की प्राप्ति होती है–

धारणां पंचनाड़ीमिर्ध्यानं स्यात् षष्टिनाडिभिः।
दिन द्वादशकेनैव समाधिः प्राण संयमात्।।

'विवेकमार्त्तण्ड' के अन्तिम श्लोक में एकात्मभाव से ब्रह्मचिन्न की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि, जिसका मन क्षणभर के

लिए भी ब्रह्मविचार में धैर्य प्राप्त करता है उसने समस्त तीर्थों के जल में स्नान कर लिया, हजारों यज्ञ कर लिए, तैंतीस कोटि देवताओं की सम्यक् रीति से पूजा कर ली उसने समस्त, पितरों का तर्पण कर उन्हें स्वर्ग में भेज दिया यह सत्य है।[96]

13. योगबीजम्

कर्णाटक निवासी श्री कड़वशम्भु शर्मा की नाथ–सिद्ध–साहित्य पर विशेष रुचि है। उन्होंने योगबीजम्, अमरौधशासनम्, गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, सिद्ध–सिद्धान्त पद्धति, अमनस्क योग, चर्षटशतकम्, कद्रीमंजुनाथ माहात्म्य, विज्ञान शतकम् आदि अनेक ग्रंथों को मूल तथा व्याख्या सहित सम्पादित कर गोरक्षगंथमाला के पुष्प–रूप में प्रकाशित कराया है।[97]

योगबीजम् में कुल 190 श्लोक हैं। पूरी रचना माहेश्वर–गौरी–संवाद के रुप में लिखी गयी है। देवी को मुक्ति का उपाय बताते हुए शिवजी का कथन है कि केवल ज्ञान से सिद्धि नहीं होती, ज्ञान–हीन योग मोक्ष दिलाने में सक्षम नहीं है। योगाभ्यास से अहं भाव का नाश होता है। योगदेह को आकाश से भी निर्मल, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर तथा स्थूल से स्थूलतर तथा जड़ से जड़ एवं चेतन से चेतन बताया गया है।[98]

यहाँ समस्त द्वन्द्व–जालों के संयोग को ही 'योग' कहा गया है। नाथमार्ग में योग और ज्ञान का भेद नहीं है। पार्वती की जिज्ञासा का समाधन करते हुए इस ग्रन्थ में माहेश्वर द्वारा कुण्डलिनि जागरण, वायु–आकर्षण, कंठ संकोचन एवं बन्धों की उपयोगिता एवं लक्षण बताये गये हैं इसी प्रसंग में अजपा गायत्री के जाप तथा सिद्धि प्राप्त योगी के लक्षणों का भी निर्देश है।

14. योगसारावली

26 श्लोकों की रचना में नादानुसंधान की महत्ता बताते हुए कहा गया है कि राजयोग में लयस्थ योगी के लिए सम्पूर्ण विश्व दृश्य होता है। राजयोग की सहज अमलताजन्य स्थिति में राजयोगी निर्विकल्प समाधि में विचरण करता है। वह गुण–दोष–विवर्जित होता है। प्राणवायु को ब्रह्म में प्रविष्ट करा अनाहत ध्वनियों का श्रवण कर योगी साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है–

यदायं शृणुते नादं तदा मुक्तो न संशयः।[99]

15. गोरक्षगीता

गोरक्षगीता शक सं० 1721 में गंगनाथ नामक सिद्ध द्वारा लिखी गयी। गंगनाथ को नाथ परम्परा का ही सिद्ध बताया जाता है– आदिनाथ मछिन्द्रनाथ–चौरंगीनाथ, गोरक्ष–गहिनी, निवृत्ति–ज्ञाननाथ–सोपाननाथ–मुकुन्दनाथ आवृत्तिनाथ–अच्युतनाथ–नृसिंहनाथ–आलक्षनाथ–जनार्दननाथ–रघुनाथ।[100] गोरक्षगीता में भगवत गीता के सिद्धान्तों से मिलता–जुलता गोरक्षनाथ के षडांगयोग का विशद वर्णन उपलब्ध है।

इस तरह योग विषयक विभिन्न ग्रन्थ चाहे वे हिन्दी हो अथवा संस्कृत के, गोरक्ष के बहुत बाद लिखे हुए भी उपलब्ध होते हैं निश्चय ही ये परवर्ती ग्रन्थ गोरक्षनाथ के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करते हुए उनकी परम्परा के नाम सिद्धों द्वारा लिखे गये हैं।

ये साम्प्रादायिक ग्रन्थ विभिन्न भाषाओं में ही उपलब्ध होते हैं। राजस्थानी शोध–संस्थान, चोपासनी में राजस्थानी भाषा में लिखित, 'गोरक्षनाथ जीरौ खंद' में गोरखनाथ की महिमा का वर्णन है। यहाँ पर 'गोरखप्रश्नावली' गुटका संख्या 5151 गोरखनाथ की रचना बतायी गयी है, यह पुस्तक की राजस्थानी भाषा में ही लिखित है। सुवर्णाचार्य विरचित 'श्रीगोरक्षनाथ स्तोत्रम्' के अन्तर्गत 22 श्लोक संग्रहीत है। गंगानाथ कृत 'श्रीगुरुगोरक्षनाथाष्टक' 92 श्लोकों की रचना है 1861 में रचित 'श्रीमद्गोक्षनाथाष्ठकम्' भी उपलब्ध होता है।[101] सं० 2009 में रचित 'श्रीगोरक्ष योग–शास्त्रे मुक्ति सोपान' के रचयिता केशरी पंडित हैं, इसमें कुल एक सौ एक श्लोक हैं। 193 श्लोक की रचना 'गकारादि गोरक्षसंहग्रनाम' भी उपलब्ध होती है। 'अमृतवाक्य' नामक रचना गोरक्षनाथ की बतायी गयी है। इसने निर्वाण प्राप्ति विषयक उपदेश दिये गये हैं। इसका प्रथम श्लोक गोरखबानी का ही प्रथम श्लोक है। मात्र इसकी भाषा में रंचमात्र परिवर्तन कर दिया है–

वसतिर्नशून्यं शून्यं न वसतिरगम्यमगोचरमेता।
गगन शिखरे बालको वदति तस्य नाम कीदृशंधर्त्रत्यमिति।।1।।

प्राच्य–शोध–विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर में गुटका संख्या 12159 में सं० 1965 में लिखित 'गोरक्ष सहस्रनाम स्तोत्र' की एक हस्तलिखित प्रति देखने को मिली थी संस्कृत भाषा में लिखित इस रचना में गोरक्षनाथ के अनेकशः पर्यायवाची नामों की गणना की गयी है। 'आत्मबोध' गोरक्षनाथ का भी बताया जाता है, पर इसी शोध प्रतिष्ठान में गुटका सं० 7757 में पृ० 210 से 219 के अन्तर्गत संग्रहीत 69 श्लोकों की यह रचना शंकराचार्य विचरित बतायी गयी है। 19वीं शताब्दी में लिपिबद्ध 'ज्ञानप्रदीकम्' का विषय ज्योतिष है। 19वीं शताब्दी में ही लिपिबद्ध कुल 5 पृष्ठों की रचना 'गोरखजती की आड़' गुटका सं० 39246 में संग्रहीत है। 'कायाबोध' नामक डेढ़ पेज की रचना के अंत में कहा गया है कि गोदावरी क्षेत्र में इसका उपदेश गोरक्षनाथ ने सिद्धों को दिया था।

मात्र गोरखनाथ के नाम पर ही नहीं अपितु अन्य प्रभावशाली नाथ सिद्धों–जालधंर, मीननाथ, चर्पट, भर्तृहरि आदि के नाम से भी अनेक परवर्ती रचनाएं जोड़ दी गयी हैं, वस्तुतः ऐसा जान पड़ता है कि मध्यकाल में विशेषतः दर्शन से सम्बन्धित विचारधाओं के लेखन में समय और सीमा का ध्यान कम रखा गया। उन महत्वपूर्ण विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए लोग उनकी प्रतिलिपियाँ तैयार किया करते थे। आज भी यह परम्परा पूर्णतः बन्द नहीं है। दर्शन एवं चिन्तन की दृष्टि से नाथपंथीय साहित्य का विशेष महत्व है। गोरक्षनाथ अपने सम्प्रदाय के अन्तर्गत अनन्त सत्ता के प्रतीक है। उन्हें सीमा में बाँधा नहीं जा सकता उनके भक्तों अथवा अनुयायियों ने सम्भवतः इसी भाव से प्रेरित हो गोरक्षनाथ के ही विचारों को स्वयं लिखकर भी उसका श्रेय बार–बार उन्हीं को दिया है। यह बात भी प्राचीन भारतीय परम्परा के ही अनुरूप है, जिसमें महान् ग्रन्थों की रचना करने वालों ने कहीं अपना उल्लेख तक नहीं होने दिया है।

* * *

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

1. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन एवं साधना प्रणाली—डॉ० कल्याणी मल्कि पृ० 30—33.
2. योगवाणी वर्ष—2 फरवरी— 1977, अंक 3 पृष्ठ 18—19.
3. गोरक्षनाथ एण्ड कनफटा योगीज—ब्रिग्स पृ० 182.
4. योगीसम्प्रदाय विस्कृति— पृ० 22—30.
5. योगवाणी— वर्ष 2 फरवरी 1977, अंक 2 पृ० 19.
6. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज—ब्रिग्स, पृ० 229.
7. गोरक्षनाथ और उनका युग—रांगेय राघव, पृ० 44—45.
8. उत्तरी भारत की संतपरम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० 60—61.
9. महाराष्ट्र के नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य डॉ० अशोक प्रभाकर कामत, पृ० 88—89.
10. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली—कल्याणी मलिक, पृ० 30—33.
11. गोरक्षनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 99.
12. गोरखनाथ और उनका युग— रांगेय राघव, पृ० 32—34.
13. गोरखनाथ (नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) डॉ० नागेन्द्रनाथ उपध्याय, पृ० 61.
14. वही, पृ० 56—57.
15. राजगुरु योगिवंश—सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 39.
16. नाथ और सन्त साहित्य, तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेन्द्र उपाध्याय, पृ० 56—58.
17. गोरखबानी—आत्मबोध, पृ० 21—22.
18. नाथ साहित्य का इतिहास दर्शन और साधना—प्रणाली—कल्याणी मल्लिक, पृ० 137—50

19. गोरखबानी–सबदी, पृ० 203.

20. वही, पद 34 (टेक)

21. गोरखनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृ० 49.

22. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक 1, पृ० 96–97.

23. डॉ० राघेय राघव– गोरखनाथ और उनका युग, पृ० 55.

24. डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 93.

25. गोरखबानी–पद 52.

26. गोरखबानी सबदी 189.

27. गोरखबानी–पद 23.

28. गोरखबानी–पद 2.

29. गोरक्षविशेषांक–वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक–1, पृ० 44.

30. नाथ और संत साहित्य : तुलनात्मक अध्ययन डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 31.

31. गोरखनाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 45.

32. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक 1, पृ० 85–86.

33. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी–1977, अंक 1, पृ० 87.

34. महाराष्ट्र में नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य–डॉ० अशोक प्रभाकर कामत, पृ० 62.

35. नाथ और संत साहित्य–तुलनात्मक अध्ययन, डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 32.

36. गोरखनाथ और उनका युग– रांगेय राघव, पृ० 166–67.

37. महाराष्ट्र में नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य–डॉ० अशोक प्रभाकर कामत, पृ० 194.

38. नाथ सम्प्रदाय–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 108.

39. दक्खिनी हिन्दी का साहित्य–डॉ० श्रीराम शर्मा, पृ० 46.

40. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग, पृ० 25–26.

41. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेय राघव–193.

42. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास–दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी मल्लिक, पृ० 123.

43. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेय राघव, पृ० 200–201.

44. महन्त दिग्विजयनाथ स्मृतिग्रन्थ–सं० भगवती प्रसाद सिंह, पृ० 334–335.

45. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेय राघव, पृ० 194–200.

46. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग–भूमिका, पृ० 1–2–3.

47. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग–भूमिका, पृ० 421–425.

48. जाम्भोजी, विष्णोई सम्प्रदाय और साहित्य, पहला भाग, पृ० 425.

49. गोरखनाथ और उनका युग–रांगेयराघव, पृ० 199.

50. नाथ सम्प्रदाय डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 122.

51. महाराष्ट्र के नाथपंथीय कवियों का हिन्दी काव्य–डॉ० अशोक प्रभाकर का मत, पृ० 194.

52. गोरखबानी–सबदी–63.

53. गोरखबानी–सबदी–72.

54. गोरखबानी–सबदी–31, पृ० 14.

55. गोरखबानी विशेषांक वर्ष 4, 1979, सं० रामलाल श्रीवास्तव, शिष्यादरसन, पृ० 327.

56. गोरखबानी विशेषांक, वर्ष–4, 1979, सं० रामलाल श्रीवास्तव शिष्या दरसन, पृ० 330.

57. गोरखबानी विशेषांक– वर्ष 4, 1979, नरवैबोध, पृ० 337.

58. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी मल्लिक, पृ० 123.

59. राजगुरु योगिवंश– सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 44.

60. नाथ सम्प्रदाय–डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० 221.

61. नाथ और संत साहित्य–तुलनात्मक अध्ययन डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, पृ० 27.

62. अमनस्क योग–श्री योगनाथ स्वामी, पृ० 7.

63. नाथ सम्प्रदाय– डॉ० द्विवेदी, पृ० 109–111.

64. अमनस्क योग– योगनाथ स्वामी, पृ० 8.

65. नाथ और संत साहित्य तुलनात्मक अध्ययन डॉ० ना० ना० उपाध्याय, पृ० 29.

66. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक–1, पृ० 221–222.

67. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977, अंक–1, पृ० 221–222.

68. नाथ और संत–साहित्य–तुलनात्मक अध्ययन डॉ० ना०ना० उपाध्याय, पृ० 28–29.

69. राजगुरु योगिवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 42.

70. अमनस्क योग–भूमिका, डॉ० ना०ना० उपाध्याय, पृ० 21.

71. गोरक्ष संहिता, प्रथमोभाग सं० भगीरथ प्रसाद त्रिपाठी, पृ० ट, ठ.

72. गोरक्ष संहिता– द्वितीयोभागः (भूतिप्रकरण) जनार्दन शास्त्री पाण्डेय.

73. गोरक्षो लोकधिया देशिक दृष्टिया महेश्वरानन्दः।

उम्मीलयामि परिमलमन्तर्ग्राह्मयं महार्थमंजर्याम।। (महार्थमंजरी–व्रजवल्लभद्विवेदी पृ० 129)

74. महार्थमंजरी– ब्रजबल्लभ द्विवेदी, पृ० 129.

75. गोरख विशेषांक– वर्ष 2 जनवरी 1977 अंक–1, पृ० 271.

76. वही, पृ० 273–274.

77. अमनस्क योग– पृ० 9.

78. योगवाणी वर्ष–2 मार्च 77, अंक 3, पृ० 29.

79. अमनस्क योग–पृ० 17–18.

80. ब्रह्माण्डं सकलं पश्येत करस्थमिव भौक्तिकम्

आत्मकाय स्वरुपं च निर्धार्याथ यथेप्सितम्।। अमनस्क योग–95.

81. अमनस्क योग– योगनाथ स्वामी, पृ० 8.

82. नाथ सम्प्रदाय उदय व विस्तार, प्र०न० जोशी, पृ० 380.

83. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास–दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी–मल्लिक.

84. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास–दर्शन और साधना–प्रणाली–कल्याणी–मल्लिक, पृ० 124.

85. नाथ और संत साहित्य तुलनात्मक अध्ययन डॉ० ना०ना० उपाध्याय, पृ० 29.

86. अमनस्क योग, पृ० 20.

87. गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, पृ० (67).

88. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास, दर्शन और साधना प्रणाली, कल्याणी–मल्लिक, पृ० 124.

89. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज–ब्रिग्स, पृ० 253.

90. राजगुरु योगीवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 44.

91. हठयोग पदीपिका, पृ० 97–200.

92. नाथ सम्प्रदाय का इतिहास दर्शन और साधन–प्रणाली, डॉ० मल्लिक, पृ० 123.

93. राजगुरु योगीवंश–सुरेशचन्द्रनाथ मजुमदार, पृ० 44.

94. सरस्वती, सचित्र मासिक पत्रिका, भाग–13, 1 अक्टुबर 1912, आश्विन कृष्ण 5, 1969.

95. विवेक मार्तण्ड– सम्पादकीय, विवेक मार्तण्ड, पृ० 65, श्लोक 203.

96. योगसारावली, पृ०–11.

97. यथाकाशस्तथा देह आकाशदीप निर्मलः।

सूक्ष्मात्मसूक्ष्मरो देहः स्थूलात्स्थूलो जडाज्जडः।। (योगबीजम्–53)

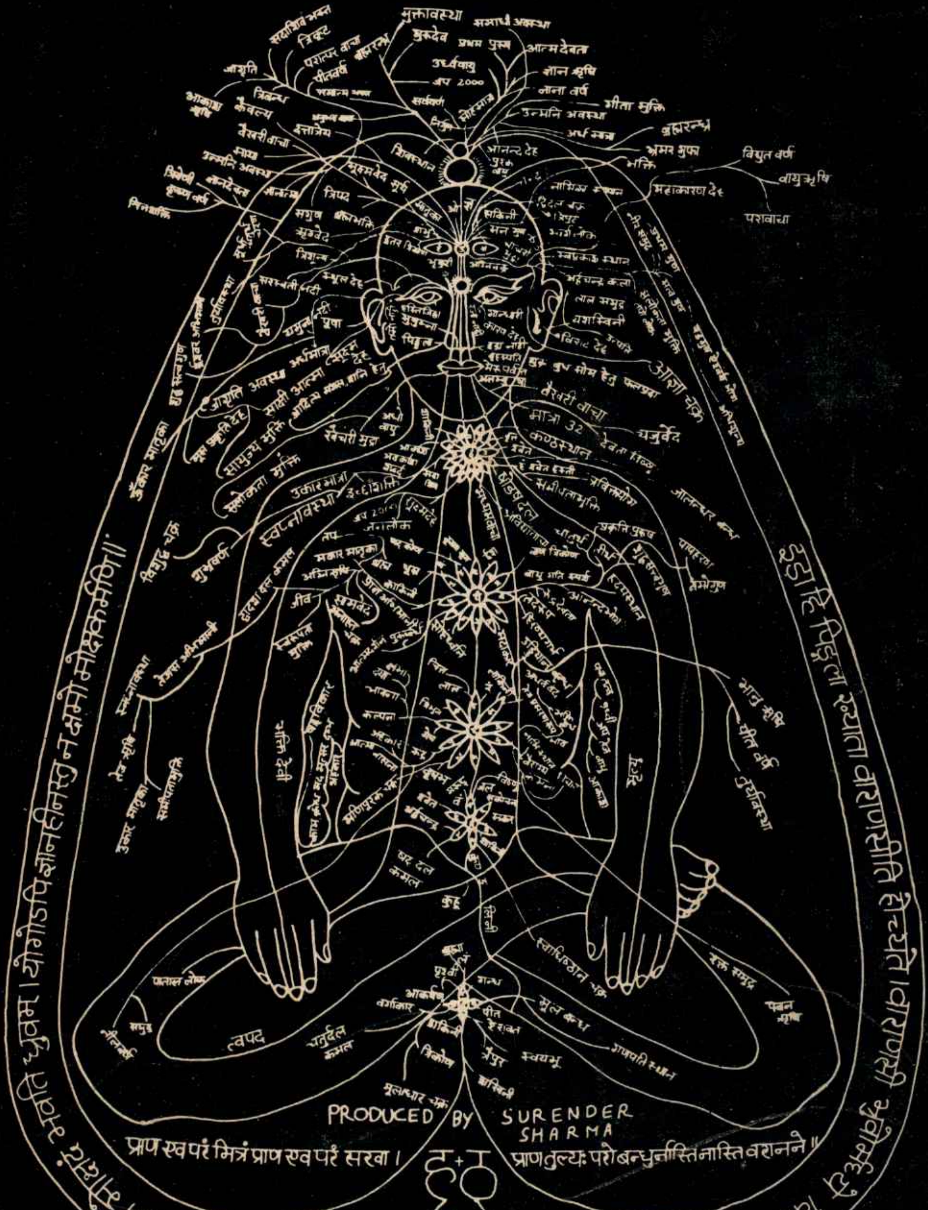
98. योगसारावली–श्लोक, पृ० 26.

99. नाथ सम्प्रदाय उदय व विस्तार, प्र०न० जोशी, परिशिष्ट–1, पृ० 650.

100. नाथ सम्प्रदाय उदय व विस्तार, प्र०न० जोशी, परिशिष्ट–1, पृ० 665–671.

* * *

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः



सुरेन्द्र कुमार शर्मा

बलभद्रविरचितः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक:
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

प्रथम संस्करण : १९८६
मूल्य : रु० ८०.००

मुद्रक :
अमर प्रिंटिंग प्रेस, (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८/२५, विजयनगर (डबल स्टोरी), दिल्ली-११०००६

कल्पान्तक्रूरकेलिः क्रतुकदनकरः कुन्दकर्पूरकान्तिः
क्रीडन्कैलासकूटे कलितकुमुदिनीकामुकः कान्तकायः ।
कङ्कालक्रीडनोत्कः कलितकलकलः कालकालीकलत्रः
कालिन्दीकालकण्ठः कलयतु कुशलं कोऽपि कापालिको नः ॥

देवा दिक्पतयः प्रयात परतः खं मुञ्चताम्भोमुचः
पातालं व्रज मेदिनि प्रविशत क्षोणीतलं भूधराः ।
ब्रह्मन्नुन्नय दूरमात्मभुवनं नाथस्य नो नृत्यतः
शंभोः संकटमेतदित्यवतु वः प्रोत्सारणा नन्दिनः ॥

शवारूढां महाभीमां घोरदंष्ट्रां वरप्रदाम् ।
हास्ययुक्तां त्रिनेत्रां च कपालकर्तृकाकराम् ॥
मुक्तकेशीं लोलजिह्वां पिबन्तीं रुधिरं मुहुः ।
चतुर्बाहुयुतां देवीं वराभयकरां स्मरेत् ॥

(सङ्कलित)

पुरोवाक्

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज द्वारा संपादित एवं सरस्वतीभवन टेक्सट्स (१३) वाराणसी से १९२५ ई० में प्रकाशित 'सिद्धसिद्धान्तसंग्रह' आचार्य बलभद्र की योग विषयक एक विलक्षण कृति है जो सात उपदेशों में तान्त्रिक योगसाधना के निखिल सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत करती है। सुरेन्द्र कुमार शर्मा ने योगसाधना पर उपलभ्यमान विपुल सामग्री का मन्थन कर उसकी सहायता से परम निगूढ़ रचना सिद्धसिद्धान्तसंग्रह का अध्ययन प्रस्तुत किया है जो प्रकृत पुस्तक के रूप में हमारे समक्ष है। साधना-मार्ग के अन्वेषकों, जिज्ञासुओं एवं तन्त्रविद्या के मनीषियों को इससे परिचित कराने के लिए इन शब्दों को लिखने में मुझे अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

भारतीय निखिलवाङ्मय का मर्म अध्यात्म है चाहे वह निगम, आगम जैन या बौद्ध किसी भी परम्परा में रचित है। इसमें कोई विसम्वाद नहीं कि आध्यात्मिकता ही वास्तव में भारतीयता है। यही वह सूत्र है जो विविध प्रकार के आहार-विहार, रहन-सहन, वेष-भूषा तथा देश-भाषा आदि अनेकताओं में विभक्त समाज एवं जनमानस को एकता में पिरोये हुए है। पर यह आध्यात्मिकता कोई बाह्य वस्तु नहीं जिसका सहजरूप से साक्षात्कार किया जा सके, न ही यह कोई ऐसा तत्त्व है जो युक्ति एवं तर्क से बुद्धिगम्य हो, अपितु यह एक अनुभव का विषय है जो मात्र साधनागम्य है। इसीलिए ऋषियों, मुनियों एवं आचार्यों ने इसे दुरूह एवं गुरुकृपा से उपलम्भनीय बताया है। केवल इतना ही नहीं अपितु जिस किसी को भी मात्र जिज्ञासा या कुतूहल से इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं क्योंकि इसके लिए संयम एवं सदाचरण सर्वथा अपेक्षित होते हैं, किसी सत्पात्र में ही इस विद्या के आधान की परम्परा रही है। अतएव इसे गुह्य माना गया है।

उपर्युक्त सभी परम्पराओं में साधना के अपने विशेष प्रकार हैं पर लक्ष्य सबका एक ही है—परमतत्त्व का साक्षात्कार। अतएव उपर्युक्त चारो ही परम्पराओं में इस विषय पर रचित साहित्य उपलब्ध होता है जो यद्यपि बहुत विपुल नहीं है तथा जो भी उपलब्ध है वह विशिष्ट विद्वानों के लिए भी बोधगम्य नहीं है। अतः इस विषय पर कोई शोधकार्यात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना एक बड़ा ही कठिन कार्य है, विशेषतः सिद्धसिद्धान्तसंग्रह जैसी कृति के लिए जो अत्यन्त ही संक्षेप तथा साधनाविषयक पारिभाषिक पदावली में उपनिबद्ध है।

योगसिद्धान्त के अनुसार परम सत्ता एक ही है जिसे चित् अर्थात् चैतन्य कहते हैं, उसी का स्फुरण निखिल-ब्रह्माण्ड है। मानव-शरीर एक ऐसी इकाई है जिसमें निखिल-ब्रह्माण्ड सूक्ष्मतः कलात्मक ढंग से निहित है––

"ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा"

परम तत्त्व का ब्रह्माण्ड और पिण्ड उभयत्र सन्निहित होना ही उसकी कला है। परमपद को ही शिव और उसकी इस कला को ही शक्ति कहा गया है। योगी-साधक निजपिण्ड में व्याप्त उसी चित्-शक्ति को उद्बुद्ध कर निखिल-ब्रह्माण्ड में विराट्रूप से विद्यमान परमशिव का अनुभवात्मक साक्षात्कार करता है। इस पिण्ड में चिच्छक्ति के उद्बोधक कुछ स्थल विशेष हैं, जिन्हें साधनामार्ग में चक्र कहते हैं तथा इनकी संख्या नौ है। प्रथम मूलाधारचक्र सुषुम्ना के निचले छोर पर गुदा और ध्वजमूल के मध्य स्थित है और अन्तिम नवम ब्रह्मचक्र है जो पिण्ड के ऊपरी भाग कपाल प्रदेश में सहस्रदल-कमल के समान अधोमुख अवस्थित है। कुण्डलिनी मूलाधारचक्र में साढ़े-तीन कुण्डल मार कर पूँछ को मुख में देकर सोई हुई सर्पिणी के समान निश्चेष्ट बनी रहती है। उसी को जाग्रत कर नौ चक्रों में क्रमशः प्रवेश कराते हुए सहस्राधार तक पहुँचाना ही योगी का कार्य है, जिससे वह कौंधती हुई बिजली के समान सुषुम्ना मार्ग का अनुसरण करती हुई नीचे से ऊपर और ऊपर से नीचे गमनागमन करने लगती है और नौ चक्रों को परस्पर सम्पृक्त कर देती है। इसके परिणामस्वरूप साधक में एक ऐसी क्षमता का आविर्भाव होता है जिससे वह न केवल पिण्ड में अपितु निखिल-ब्रह्माण्ड में व्याप्त परम-तत्त्व का अनुभव करने लगता है। यह क्षमता ही शक्ति है और परमतत्त्व शिव जो दोनों ही एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न होते हैं। यौगिक साधना का यही निर्गलित है।

मेरे अन्तेवासी सुरेन्द्र ने सिद्धसिद्धान्तसंग्रह की शाब्दिक व्याख्या न कर इसका एक अध्ययन प्रस्तुत किया है जिससे इसके वर्ण्यविषय की सङ्गति लग जाती है और इसके व्यापक परिवेश का भी पता चल जाता है। इस प्रकार इनका यह प्रयास सर्वथा श्लाध्य है जो एतद्विषयक जिज्ञासुओं को पूर्ण तृप्ति चाहे भले न प्रदान करे पर उनकी इस विद्या में प्रवृत्ति को सुतराम् प्रोत्साहित करता है। इस पुस्तक को पढ़कर व्यक्ति के मन में यह इच्छा जाग्रत होती है कि वह भी इस मार्ग में प्रवृत्त हो और साधना के द्वारा आत्मानुभूति करके अपने जन्म को कृतकृत्य एवं सफल बनाये।

मेरी यह निश्चित धारणा है कि पाठकों को इस पुस्तक से मार्गदर्शन मिलेगा एवं साधनामार्ग में प्रवृत्ति होगी। मैं इस लघुग्रन्थ के लेखक सुरेन्द्र कुमार शर्मा को हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि ये इसी प्रकार इस तन्त्रविद्या के रहस्योद्घाटन में निरन्तर लगे रहें और एक के बाद एक उत्तमोतम ग्रन्थों की रचना करें।

ब्रजमोहन चतुर्वेदी
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय दिल्ली-७

मकरसंक्रन्ति
२०४२

भूमिका

आन्तरिक एवं बाह्य मलों का क्षालन क्रमशः अज्ञान के निराकरण और यौगिक-क्रिया द्वारा सम्भव है और इन्हीं दोनों का मञ्जुल समन्वय साधना सिद्धान्तों में दृष्टिगोचर होता है। इसी अत्यन्त शक्तिशाली एवं भाव-पूर्ण विचारधारा ने भारतीय सन्तों, तन्त्रों, पन्थों, धर्मों, दर्शनों एवं सम्प्रदायों के चिन्तन में अपना विशिष्ट स्थान बनाया और दोनों ही प्रकार के मलों का क्षालन भारतीयों ने प्राचीन मनीषियों द्वारा परिवर्धित वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा रूपी त्रिपथगा से किया। वेदान्तादि षड् दर्शन तथा जैन और बौद्ध एवं द्वैत (शैव), द्वैताद्वैत (वीरशैव) और अद्वैत (काश्मीर शैव) दर्शनों का समावेश क्रमशः वैदिक, अवैदिक और आगमिक परम्परा में किया जाता है। ये सभी दर्शन तथा इनसे सम्बद्ध सम्प्रदाय निश्चित एवं किसी न किसी रूप में धर्म साधना की नींव पर प्रतिष्ठित हैं। इन सभी धर्म साधनाओं में आगममूलक और विशेष रूप से नाथ-योगसाधना का अपना एक अलग एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है।

इस नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा में भक्ति, ज्ञान एवं क्रिया का मनोहर सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है और यह परम्परा कोई अर्वाचीन नहीं, अपितु ईसा की कई शताब्दी पूर्व से प्रवाहित होती चली आ रही है। समय, स्थान और परिवेश वश चाहे इसका नामकरण अवधूत-मत, अवधूत-सम्प्रदाय, कन-फटा-योगी, सिद्ध-मार्ग, सिद्ध-मत, योग-सम्प्रदाय और नाथ-सम्प्रदाय इत्यादि हो गया हो। इस प्रकार अनेक नामों से प्रचलित साधना-सम्प्रदाय के सिद्धों के सिद्धान्तों का संग्रह ही सिद्धसिद्धान्तसंग्रह है। इस सम्प्रदाय में सिद्धान्त से अभिप्राय वादी तथा प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ न होकर सिद्धों द्वारा

व्याख्यात ही सिद्धान्त हैं ।[1] इस परम्परा में सिद्ध अथवा अवधूत वही होता है जो समस्त प्राकृत सम्बन्धों से मुक्त एवं समरस में सदा स्थित हो, अर्थात् 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों का जो लक्ष्यार्थ हो, वही अवधूत कहलाता है ।

इस प्राचीन परम्परा की लोकप्रियता महायोगी गोरक्षनाथ तथा उनके परवर्त्ती काल में अपने प्रकर्ष के चरम पर थी। केवल शुष्क चिन्तन से कल्पनातीततत्त्व के रहस्यों को समझ पाना जब असम्भव लगने लगा तो उसमें साधना पथ का मञ्जुल समन्वय किया गया। उस समय शैव और शाक्त साधनाएँ एक दूसरे में समा चुकी थीं परिणामतः शिव-शक्ति में अविनाभूत सम्बन्ध मान लिया गया। शक्ति के अभाव में शिव शव हो चले थे और शिव के अभाव में शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ। पातञ्जलयोग-दर्शन में उपलब्ध न होने वाली ब्रह्माण्ड-व्यापिनी चिद्रूपा शक्ति की स्थिति व्यष्टिपिण्ड में कुण्डलिनी के रूप में एवं शिव जीव रूप में मान लिए गये। सर्वत्र ही इस सम्प्रदाय का उद्घोष होने लगा था क्योंकि इस सम्प्रदाय के सिद्धों ने मात्र दार्शनिक चिन्तन के आधार पर उपलब्ध न होने वाले तर्कातीत का ज्ञान और उत्कृष्ट साधना द्वारा पिण्ड में ही अनुभवात्मक साक्षात्कार खोज निकाला था तथा यह एक ऐसा विशिष्ट मार्ग था जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक प्रकार की परम्पराओं का समावेश लिए हुए था।

इस प्रकार अनेक सम्प्रदायों को अपने में अन्तर्भूत करते हुए इस सिद्ध-सम्प्रदाय की समस्त मूर्धन्य व्यवहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक आदर्शों का चरम लक्ष्य उस परम लक्ष्य की प्राप्ति था जो कि शाङ्कर, कपिल और पातञ्जल के अनुरूप न होकर अद्वैतवादी आगमानुसार था। सिद्ध-सिद्धान्तसंग्रह में उद्धृत ललितस्वच्छन्द और तत्त्वसार सदृश ग्रन्थों के उद्धरणों से यह प्रमाण और भी पुष्ट हो जाता है। इस सम्प्रदाय का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण पिण्डसिद्धिसिद्धान्त महर्षि पतञ्जलि के काय-संयत से भिन्न है क्योंकि "पिण्ड सिद्धि को परम पद के दर्शन का फल तथा सामरस्य की पूर्व स्थिति माना गया है, जबकि महर्षि पतञ्जलि के काय-संयत का चरम लक्ष्य केवल शरीर शुद्धि तक ही है। इसे पुरुष की स्वाभाविक शुद्धि के समान नहीं माना जा सकता अतः यह प्रकृति का एक स्वाभाविक लक्षण ही रह जाता है।"[2]

---

१. सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थ एव सिद्धान्तो न तु वादि-प्रतिवादि-भिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः । गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः—पृ० १४

२. डॉ० गोपीनाथ कविराज, प्रस्तावना—गोरख-दर्शन पृ० ५

अवधूतों के द्वैताद्वैतविलक्षण के सिद्धान्त का परमादर्श है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा तथा जिसके लिए समरसीकरण के व्युत्थान का अभाव आवश्यक है और जो पिण्ड-संवित्ति (देह पिण्ड का ज्ञान) के अभाव में कभी पूर्ण नहीं हो सकती। देह पिण्ड का ज्ञान चित्तविश्रान्ति के अनन्तर होता है और इसके कारण हैं स्वसंवेद्य गुरु। चित्तविश्रान्ति होने पर ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का निराकरण तथा स्वसंवेद्य आत्मतत्त्व का साक्षात्कार। इस अवस्था में व्युत्थान के अभाव में परमपद का उदय फलस्वरूप स्वपिण्ड का ज्ञान अर्थात् पिण्ड सिद्धि। इस प्रकार व्यष्टि पिण्ड को भली प्रकार जान लेने पर उसका समष्टि पिण्ड के साथ, पिण्डों का शक्ति के साथ और इन सबका परमपद के साथ एकीकरण ही समरसक्रिया है और इसी का अभाव, अर्थात् इस क्रिया से च्युत होने का अभाव ही आत्यन्तिक निरुत्थान कहलाता है।

समष्टि ब्रह्माण्ड व्यष्टि पिण्ड में अभिव्यक्त है जो केवल चेतना के उच्चतम स्तर पर ही अनुभूत होता है क्योंकि पशु की व्यष्टि चेतना ऐन्द्रिकानुभवों तक ही सीमित रहने के कारण उसका बोध नहीं कर सकती और जब इस व्यष्टि चेतना का ऐन्द्रिकावरण हट जाता है तो स्वसंवेद्य और अत्यन्ताभासाभासकमय परमपद का उदय होता है। व्यष्टि अनुभव की समस्त सीमाओं से परे अत्यन्त उच्चतम सीमा पर अनुभूत स्वानुभवैकगम्य परम तत्त्व की प्रकाशिका पिण्डाधार शक्ति है और यही चिद्रूपा शिव का प्रापञ्चिक स्तर है। इसी महामाया का प्रसार और सङ्कोच होता है। यही चिच्छक्ति जगत् के रूप में प्रकट होती है और इसी का सङ्कोच ही शिव है। इसको हम इस प्रकार से भी कह सकते हैं कि शिव का प्रसार शक्ति और शक्ति का संकोच शिव है। शिव-शक्ति प्रकाश और विमर्श की भाँति स्थित हैं तथा निरुत्थानावस्था में शक्ति, शिव और व्युत्थानावस्था में शिव, शक्ति हो जाते हैं। अखण्ड-आत्मावबोध ही आत्म जागरण है और अष्टांग योग एक ऐसा अनुशासित पथ जिस पर गमन कर पथिक (योगी) व्यष्टि चेतना के धरातल से ऊपर उठ जाता है उस ब्रह्माण्डातीत से एकीकरण हेतु जिसकी संस्थिति व्यष्टि पिण्ड में है।

इस प्रकार इतनी सुदीर्घ दर्शन परम्परा को कारिका पद्धति में निबद्ध करने वाले इस महान् दार्शनिक आचार्य बलभद्र का समय अद्यावधि पूर्णरूप से ज्ञात नहीं हो पाया है। प्रस्तुत ग्रन्थ की एक कारिका से यह ज्ञात होता है कि काशी के राजा श्री कृष्णराज की आज्ञा से ग्रन्थकार ने प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन किया। गोरक्षपीठाधीश्वर आचार्य महन्त अवेद्यनाथ जी ने इस ग्रन्थ

का रचनाकाल आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्वीकारा है।[1] जबकि आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसका समय अट्ठारहवीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना है।[2] किन्तु आचार्य अक्षय कुमार बनर्जी के अनुसार यह एक प्राचीन ग्रन्थ है।[3] सम्भवतः अन्तिम मत अधिक उचित प्रतीत होता है जिसकी प्रामाणिकता मूलग्रन्थ के पाठ के आधार पर भी सिद्ध होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह सात उपदेशों में विभक्त है जिनमें क्रमशः पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपरमपदसमरसीकरण तथा अवधूत लक्षण का प्रतिपादन है और अन्तिम सप्तम उपदेश में समस्त विवेचन का निर्गलितार्थ प्रस्तुत किया गया है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम सम्पादन परम श्रद्धेय महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज जी ने (सन् १९२५) में किया था। इस ग्रन्थ की उपयोगिता को अनुभव करते हुए ही पुनः इसका सम्पादन किया जा रहा है।

ग्रन्थ के दुर्बोध विषय का यथार्थ अवगम श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के स्निग्ध निर्देशन के कारण ही सम्भव हो सका है। अत्यन्त व्यस्त होते हुए भी उन्होंने ग्रन्थ का पुरोवाक् लिखने की कृपा की, इसके लिए उनका कृतज्ञ हूँ।

मैं पूज्य गुरु आदरणीय डॉ० बलदेवराज शर्मा रीडर संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का हृदय से अनुगृहीत हूँ। यह ग्रन्थ उन्हीं की अपार कृपा व असीम स्नेह का परिणाम है।

मित्रवर हरीश कौशिक, रमण कुमार शर्मा एवं सत्यकाम शर्मा का इस कार्य में सहयोग के लिए अत्यन्त आभारी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय के श्री जे० बी० खन्ना, श्री कल्याण सिंह, श्री रघुवीर सिंह, श्री हरमिन्दर पाल और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। अन्त में प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने अल्प समय में इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की कृपा की।

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

---

१. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—पृ० १
२. नाथ-सम्प्रदाय—पृ० १
३. गोरख-दर्शन—पृ० ३२

विषयानुक्रमणी

संकेतिका

अहि० सं०	अहिर्बुध्न्य संहिता
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
जा० द० उ०	जाबालदर्शनोपनिषद्
तैत्ति० उ०	तैत्तिरीयोपनिषद्
पा० यो० द०	पातञ्जलयोगदर्शन
बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
भा० दर्शन	भारतीय दर्शन
भा० द० और मु० मी०	भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा
श्वेता०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
सि० सि० प०	सिद्धसिद्धान्तपद्धति
सि० सि० सं०	सिद्धसिद्धान्तसंग्रह

प्रथम-पुष्प

प्रथमोपदेश

विचार जब बुद्धिमार्ग से उद्भूत होते हैं तो दर्शन का जन्म होता है जो जिज्ञासा से प्रारम्भ होकर परम तत्त्व के अनुसन्धान पुनश्च उसके साथ सायुज्य में अवसित होता है। अनुसन्धान की इस प्रक्रिया में बुद्धि का स्पर्श होते ही तर्क का जन्म होता है परन्तु बुद्धि और तर्क की सीमा उस असीम और तर्कातीत तत्त्व का इदमित्थम् के रूप में व्याख्यान नहीं कर पाती।[1] फिर ध्यान और साधना के मार्ग से उसे दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है[2] और जीव परम तत्त्व के दर्शन कर कृतकृत्य हो जाता है।[3] उपनिषद् का ब्रह्म; योग का ईश्वर तथा वैष्णव और शैव तन्त्रों का परम तत्त्व इसी प्रक्रिया से साक्षात्कृत होता है।

उपनिषद् का ब्रह्म अनिर्वचनीय, अव्यय एवं नेति-नेति से अभिहित है।[4] वह परम आन्तरिक एवं बाह्य भेद रहित एकमात्र अद्वैत है।[5] वह माया शक्ति द्वारा समस्त सांसारिक नामरूपवस्तुजात में प्रकट हो रहा है।[6] इसी शक्ति द्वारा जगत् के रूप में आभासित होता है और उसी में व्याप्त है।[7]

---

१. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
—मुण्डकोपनिषद् ३।१।८

२. दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ गीता ११।८

३. ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।३

४. स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न गृह्यतेऽशीर्यो न शीर्यतेऽसङ्गो न सज्यतेऽसितो न व्यथ्यते न रिष्यति।
—बृहदारण्यकोपनिषद्

५. तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्, अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः, इत्यनुशासनम्। वही २।५।१९

६. क. इन्द्रो मायाभिः पुरुरुप ईयते —वही २।५।१९
ख. य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः।
—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१

७. अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः —बृ० उ०

यद्यपि उपनिषदों का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्म है किन्तु सगुण का भी वर्णन दृष्टिगत होता है। छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित है कि ब्रह्म मनोमय, प्राणशरीर, भारूप और सत्यसङ्कल्पादि है।[1] श्वेताश्वतरोपनिषद् में उक्त है कि सृष्टि के आरम्भ में परब्रह्म निज शक्ति द्वारा प्रयोजन रहित अनेकों वर्ण धारते हैं।[2]

'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' में यद्यपि शक्ति का समावेश निश्चित रूप से सर्वमान्य है, किन्तु आगमिक विचारधारा ने वेदों में अंकुरित एवं उपनिषदों में पल्लवित चैतन्य ब्रह्म को विशेषकर ज्ञान प्रधान न मानकर परम तत्त्व को ज्ञान एवं क्रिया दोनों रूपों में समान रूप से स्वीकारा है। अर्थात् एक ही परम तत्त्व शक्ति रूप होकर सर्वाकारों में स्फुरित है। वह परम विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है। केवल निष्क्रिय मात्र नहीं, अपितु स्पन्दशील है। वह प्रकाशात्मक होते हुए भी विमर्शात्मक है, क्योंकि केवल प्रकाशमय होता तो शिव, शक्ति रहित एवं जड़ होता।[3] और शिव-शक्ति का समन्वित रूप ही वास्तव में परम तत्त्व है।

"प्रत्येक तान्त्रिक रहस्यमयी साधना में चाहे वे ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णव) हों या ब्राह्मणेतर (बौद्धादि),—यह समान रूप से स्वीकार किया जाता है कि मूलतत्त्व (प्रत्येक दृश्यमान विशेष का सामान्य रूप) दो तत्त्वों का समरस रूप है। इन दोनों पक्षों में एक अभावात्मक है और दूसरा भावात्मक, एक निष्पन्द और दूसरा सस्पन्द, एक निष्क्रिय और दूसरा सक्रिय, एक निवृत्त और दूसरा प्रवृत्त, एक प्रकाशमय और दूसरा विमर्शमय, एक भोक्ता और दूसरा भोग्य, एक पुरुष और दूसरा स्त्री अर्थात् संसार के समस्त दृश्यमान द्वैतभावापन्न विशेषों को आत्मसात् करने वाले दो तत्त्वों का समरस और सामान्य रूप ही वह मूल तत्त्व है। उस निरपेक्ष परम तत्त्व में ये दोनों तत्त्व या दोनों पक्ष समरसीभूत होकर अद्वय रूप में विराजमान रहते हैं।

---

१. मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभिव्याप्तः।

—छान्दोग्योपनिषद् ३।४।२

२. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ४।१

३. यदि निर्विमर्शः स्यात् अनीश्वरो जडश्च प्रसज्येत। (परा प्रावेशिका)

इसीलिए आगम-सम्मत तमाम साधनाओं में उसके लिए अद्वय,[१] मिथुन,[२] युगनद्ध[३], यामल,[४] समरस,[५] युगल[६] अथवा सहज[७]—आदि संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। शान्त एवं सुस्थिर समुद्र की भाँति निष्पन्द पड़े हुए मूल तत्त्व के वक्षःस्थल पर उसकी स्पन्दात्मा आत्मशक्ति अपने स्पन्दमय स्वभाव को समस्त अणुओं में और अपने समरस पर दृष्टि या सृष्टि काल में विषम रह चिन्मय स्वरूप की अपेक्षाकृत सन्निहित समस्त जीवों में सदा प्रकाशित कर रही है। इस तथ्य या सत्य की पुष्टि भूतविज्ञान और प्राणि-विज्ञान भी कर रहे हैं।"[८]

यथा वट-बीज में पत्र-फलादि यहाँ तक कि समस्त वृक्ष ही समाया हुआ है, उसी प्रकार समस्त जगत्-प्रपञ्च उस परम तत्त्व में बीज रूप से विद्यमान है।[९] उसी परम तत्त्व विषयक ज्ञान की चर्चा के सन्दर्भ में यह नितान्त आवश्यक है कि भारतीय चिन्तकों के उस परम सत्ता विषयक चिन्तन पर हम एक सामान्य दृष्टिपात करें जिससे सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में निर्दिष्ट परम तत्त्व का स्पष्टीकरण हो सके।

परम तत्त्व का स्वरूप वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परि-प्रेक्ष्य में—

१ वैष्णव दर्शनाचार्य श्री रामानुज तत्वों की परिकल्पना कर चित्

---

१. "तन्त्रालोक भाग २ अ० ३।२०३, २०४..."शिवशक्त्यद्वयात्मनि"।
२. शिवशक्तिमिथुनपिण्ड...कामकलाविलास, कारिका ५ पृ० ७
३. युगनद्ध इति ख्यातः "पञ्चक्रम"।
४. तन्त्रालोक, प्रथमाह्निक, पृ० ४ "तयोर्यद्यामलं रूपम्......"।
५. जाते समरसानन्दे... .. ...बोधसार, पृ० २००-२०॥
६. सर्वेश्वर (पत्रिका) पृ० २८९ (वर्ष-२० अङ्क २-७)
७. श्रीकृष्णप्रसङ्ग —पृ० ३७७
८ तन्त्र और सन्त, पृ० ४०-४१ से उद्धृत।
९. क. यथा न्यग्रोधबीजस्थ शक्तिरूपो महाद्रुमः।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम्॥

—परा प्रावेशिका पृ० ११

ख. मयूराण्डरसे सर्वशिख्यवयवानुप्रविष्टवर्होपवर्हादिपूर्ण रेखादि-वैचित्र्यशिल्पनाकौशलवद् अवधानधनैः सूक्ष्मेक्षिकयावधार्यम्।

—वही पृ० ११

(जीव) और अचित् (प्रकृति) इन दोनों तत्त्वों से युक्त ईश्वर नामक तीसरे तत्त्व की एकमात्र स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। क्योंकि ईश्वर इन दोनों तत्वों में अन्तर्भूत होकर रहता है। यह कल्पना श्वेताश्वतरोपनिषद् से अभिभूत है।[१] यह विशिष्टाद्वैत की विशेषता है कि इनका ब्रह्म कभी भी विशिष्टता से हीन नहीं होता। प्रलयावस्था में जीव और जगत् सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म चित् और अचित् से विशिष्ट ही रहता है।[२] यही रामानुजाचार्य का संक्षिप्त सार है।[३]

२ **माध्वमत** में विष्णु ही साक्षात् परमात्मा है,[४] जो कि अनन्तगुण-परिपूर्ण है। इनके गुण निरवधिक और निरतिशय हैं। उनमें सजातीय उभयविध आनन्त्य है। यह सत् शक्तियों से परिपूर्ण, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य, असाधारण चित् तथा किसी के द्वारा नियमित नहीं होता है।[५] भगवान् ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष का कर्ता है। इनके समस्त मत्स्यादि अवतार स्वयं में परिपूर्ण हैं।[६]

३. **निम्बार्क** मत में **ब्रह्म** सगुण तथा अविद्यास्मितादि रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याण गुणों का निधान है। जगत् के दृष्टिगोचर अथवा श्रुतिगोचर में भगवान् सबके भीतर और बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता

---

१. 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्'
—श्वेताश्वतरोपनिषद् १।१२

२. भा० दर्शन पृ० ३६०-३६२

३. समस्तचिदचिद्वस्तुशरीरायाऽखिलात्मने ।
श्रीमते निर्मलानन्दोदन्वते विष्णवे नमः ॥
—(रामानुजकृत वेदान्तसार)

अशेषचिदचिद्वस्तुशेषिणे शेषशायिने ।
निर्मलानन्तकल्याणनिधये विष्णवे नमः ॥ (वेदार्थसंग्रह)

४. परस्य ब्रह्मणो विष्णोः प्रसादाद् इति वा भवेत् ।
—ब्रह्मसूत्रभाष्य १।१।१

५. सर्वत्राखिलसच्छक्तिः स्वतन्त्रोऽशेषदर्शनः ।
नित्यस्तादृशचिच्चेत्ययन्ता इष्टो रमापतिः ॥ तत्त्वोद्योत

६. भा० दर्शन पृ० ४०२-४०३

है ।[1] विष्णु ही इस चराचर जगत् के उपादान एवं निमित्त कारण हैं ।[2] भगवान् नारायण स्वेच्छा से जगत् की सृष्टि आदि व्यापार का सम्पादन करते हैं ।

४. **वल्लभ** मत के अनुसार ब्रह्म सर्व धर्म विशिष्ट है । शुद्धाद्वैत के इस मत में ब्रह्म माया से अलिप्त एवं नितान्त शुद्ध है । यह समस्त संसार ब्रह्म की लीलाओं का विकास मात्र है । ईश्वर जगत् का समवायिकारण है ।[3] वल्लभानुसार ब्रह्म तीन प्रकार का है—

१. आधिदैविक (परब्रह्म) २. आध्यात्मिक (अक्षरब्रह्म) और ३. आधिभौतिक (जगत्) । जगत् रूप कार्य का ब्रह्म कारण है, और कार्यकारण में अभेद होने से जगत् ब्रह्म रूप ही है । इस मत के अनुसार ब्रह्म ही जगत् के कर्ता स्वभाव से ही हैं । उनके कर्त्तापन में माया का व्यापार बिल्कुल भी नहीं होता । सृष्टि और प्रलय उनकी लीला विलास मात्र ही हैं । यह जगत् ब्रह्म रूप एवं ब्रह्म सदृश नित्य है ।[4]

५. **चैतन्य** मत अद्वैत मत के अनुरूप ही ब्रह्म को सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद से शून्य मानता है । उस परम में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति होने के कारण वह नानात्मक प्रतीत होने पर भी एकात्मकता युक्त रहता है । इसी शक्ति के कारण परमात्मा मूर्त होकर भी विभु है ।[5] इस विशेष[6]

---

१. यच्च किञ्चिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य नारायण स्थितः ।
—सिद्धान्तजाह्नवी, पृ० ५३

२. जन्माद्यस्य यतः —वेदान्त पारिजात १।१।२

३. तद्ब्रह्मैव समवायिकारणम् । समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात् ।
अस्ति भातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणान्वयात् । नामरूपयोः कार्यरूपत्वात् —अणुभाष्य १।१।३

४. भा० दर्शन पृ० ४१२-४१३

५. पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसम्प्रगम्यो, वायोरथापि मनसो मुनिपुङ्गवानाम् ।
सोऽप्यस्ति यत् प्रपदसीम्न्यविचिन्त्यतत्त्वे गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥
—ब्रह्मसंहिता ५।४३

६. 'विशेषनिर्भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषबलात्' ।
—सिद्धान्तरत्न, पृ० २३

संज्ञक शक्ति की परिकल्पना माध्वमत से गृहीत है।[1]

६. **पाञ्चरात्र** मत में परब्रह्म अद्वितीय, दुःखविहीन, अनादि और अनन्त है। त्रिविध परिच्छेद शून्य वह निर्विकारी समस्त जगत् में व्याप्त होता हुआ प्रत्येक प्राणी में निवास करता है। उभय गुण सम्पन्न यह परब्रह्म अपनी शक्ति लक्ष्मी का आश्रय लेकर ही निर्गुण से सगुण रूप में प्रकट होता है, किन्तु इन दोनों रूपों में विद्यमान रहने पर भी उसका मूल रूप एक ही है। ज्ञान स्वरूप[2] यह परब्रह्म, सर्व उपाधि विवर्जित है तथा शक्ति, ऐश्वर्य, वल, वीर्य और तेज इन पाँच गुणों से युक्त अर्थात् ज्ञान समेत षड्गुण्य रूप है।[3]

७. **श्रीमद्भागवत** मत में श्रीकृष्ण ही परम तत्त्व हैं। तथा वे विशुद्ध परमार्थ रूप, परिपूर्ण और सर्वथा निर्विकार हैं। परम तत्त्व रूप भगवान् को लोग वासुदेव कहते हैं।[4] श्रीमद्भागवत में अद्वैत का प्रतिपादन करते हुये भगवान् स्वयं कहते हैं कि सृष्टि से पूर्व मैं ही था और कोई क्रिया नहीं थी। इस समस्त सृष्टि का प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में एकमात्र मैं ही अवशिष्ट रहूंगा।[5]

८. **पाशुपत** मत में महेश्वर ही जगत् की सृष्टि एवं संहार का कारण हैं। पशुपति विप्र, रुद्र, ऋषि और शिव आदि इनके पर्याय हैं। स्वतन्त्र कर्त्ता

---

१. भा० दर्शन पृ० ४२०

२. ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते॥ नारदपाञ्चरात्र २.५७

३. (क) सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।
षाड्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्॥
—अहिर्बुध्न्य संहिता २।५३

(ख) एते शक्त्यादयः पञ्च गुणा ज्ञानस्य कीर्तिताः।
ज्ञानमेव परं रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः॥
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिवृंहितम्॥

४. वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते॥ भागवत १।१।११

५. अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥ वही २।६-३२

शिव में ज्ञान शक्ति होने से वह परमेश्वर[1] है और क्रीड़ा हेतु जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव करता है।[2]

९. **रसेश्वर** दर्शन महेश्वर (शिव) को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करने वाले दार्शनिक ही माहेश्वर कहलाते हैं। इन माहेश्वरों में रसेश्वर का अपना विशिष्ट स्थान रहा है। इस दर्शन में 'रस' (पारद)[3] को ईश्वर कहा जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद्[4] इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाता है जिसे प्राप्त कर साधक आनन्द का अधिकारी बन जाता है।[5]

१०. **व्याकरण** सिद्धान्त में स्फोट रूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है। व्याकरण सिद्धान्त मत में ज्ञान मात्र ही वाक् स्वरूप है और यही वाक्य परम तत्त्व है।[6]

११ **वीरशैव** सिद्धान्त में परम शिव नित्य स्वरूप, आद्यन्तरहित, सर्वव्यापक और सर्वशक्ति समन्वित हैं। उन्हीं से शक्ति का स्फुरण

---

१. "सार्वकामिक इत्याचक्षते" – पाशुपत सूत्र २।६
कौण्डिन्य भाष्य – 'तत्र कामी ईश्वरः। कामोऽस्येच्छा। काम्यं विद्यादि-कार्यम्। तदक्रमेण क्रमशो वा यथेष्टमुत्पादयति। कस्मात्? कामित्वात्। अकर्मापेक्षित्वं चास्यात एव सिद्धम्। कर्मकामिनश्च महेश्वर-मपेक्षन्ते, न तु भगवानीश्वरः कर्म पुरुषं वापेक्षते। आतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः।' —वही.

२. भा० दर्शन, पृ० ४५९-४६०

३. शिवाङ्गात् प्रच्युतं रेतः पतितं धरणीतले।
तद्देहसारजातत्वाच्छुक्लमच्छमभूच्च तत्॥
अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम्।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तु भवेत् क्रमात्।
ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रस्तु खलु जातितः।
—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३७६

४. रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
—तैत्ति० उ० २।७।१

५. भा० दर्शन पृ० ४६३

६. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्यपदीय १।१

हुआ।[१] अर्थात् परशिव में अविनाभाव सम्बन्ध से वर्तमान विमर्श शक्ति का स्फुरण ही तत्त्व रूप से परिणत होता है। इस मत में छत्तीस तत्वों की परिगणना की गई है, जिसमें मुख्य शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहङ्कार हैं। ज्ञान शक्ति से एकाकार होने पर परम शिव 'शिवतत्त्व तथा क्रिया शक्ति में लीन होने पर 'शक्ति तत्त्व' कहलाता है। शिव में अपृथक् सिद्धि विशेषण से वर्तमान शक्ति के सङ्कोच और विकास से जगत् का तिरोभाव और आविर्भाव होता है। इसी कारण इस मत में परशिव ब्रह्म 'स्थल' कहलाते हैं।[२] अर्थात् यह समस्त चराचर जगत् जिसमें उत्पत्ति और लय को प्राप्त होता है, वही ब्रह्म 'स्थल' नाम से अभिहित है। यही स्थल स्व लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नामों से पुकारा जाता है।[3] "इसी तरह लिङ्ग और अंग के भी तीन-तीन भेद होते हैं। यद्यपि इन विभिन्न अङ्ग और लिङ्गों की सत्ता भिन्न दिखायी देती है; परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अङ्ग नामक जीव का लिङ्ग नामक शिव में सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिङ्गांग-सामरस्य' कहलाता है। यही है 'शिव तथा जीव का ऐक्य' और यही शक्ति विशिष्टाद्वैत मत का सार है।"[४]

१२. **शैव** मत में तीन पदार्थ स्वीकृत हैं—पति (शिव) पशु (जीव) और पाश (मल, कर्म आदि अर्थपञ्चक)।[५] स्वातन्त्र्य[६] =और सर्वज्ञत्व पर शिव के असाधारण गुण हैं। शिव की सत्ता अनुभवातीत है। इसे शब्द और विचार के परे कहा गया है, अतएव यह किसी के द्वारा ज्ञात नहीं हो

---

१. यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्नचासच्छिब एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

२ स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
यद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः।

३. (क) भा० दर्शन० पृ० ४६६
(ख) भा० द० और मु० मी० पृ० २६५

४. भा० दर्शन, पृ० ४६६

५. शैवागमेषु मुख्यं पतिपशुपाशा इति क्रमात्त्रितयम्।
तत्र पतिः शिव उक्तः पशवो ह्यणवोऽर्थपञ्चकं पाशाः।
श्रीशैवसिद्धान्त परिभाषा

६. 'पत्युः स्वातन्त्र्यमेवासाधारणो धर्मः'। वही, पृ० २३

सकता।[1] मुक्त जीवों तथा विद्येश्वरादिकों में शिवत्व का वास है, किन्तु ये परशिव के अधीन हैं। सृष्टि, स्थिति, संहार तिरोभाव और अनुग्रहकरण इन कृत्यपञ्चक के कर्त्ता साक्षात् शिव हैं।[2] शिव की दो अवस्थाएं लयावस्था और भोगावस्था हैं। शक्ति के समस्त व्यापारों को समाप्त कर केवल रूप मात्र में अवस्थान से शिव शक्तिमान कहलाते हैं, यही लयावस्था है और जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के निमित्त अभिमुख और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है वही शिव की भोगावस्था है।[3] इस मत में शिव को पूर्ण, असीम, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, ज्ञान स्वरूप तथा आत्म-चेतना से युक्त कहा गया है।[4] शिव की ज्ञान शक्ति संवित रूपा है, इससे वे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का ज्ञान करते हैं और दूसरी क्रिया शक्ति कुण्डलिनीरूपा है, जिससे संसार का निर्माण-कार्य सम्पादित होता है।[5]

१३. **प्रत्यभिज्ञादर्शन** और शाक्त दर्शन दोनों ही अद्वैतवाद के प्रतिष्ठापक हैं। इन दोनों के मत में एक अद्वैत परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का सामरस्य रूप है। चैतन्य स्वरूप आत्मा निर्विकार रूप से समस्त पदार्थों में अनुस्यूत हैं।[6] शिव आत्मा ही है, जिसकी सत्ता स्वतः सिद्ध है।[7] इसी का नाम चैतन्य; परासंवित् और परमशिव है।

---

१. शैव-सिद्धान्त दर्शन पृ० ४०
२. तत्त्वप्रकाशिका, कारिका ७
३. भा० दर्शन पृ० ४७१-७२
४. शैव-सिद्धान्तदर्शन पृ० ४२
५. द्वे शक्ती समवायिन्यौ शिवे ज्ञान-क्रियात्मिके।
आद्या तु संविद्विज्ञानं क्रिया कुण्डलिनी परा॥
ज्ञानशक्त्या विजानाति क्रियया कुरुते जगत्।
क्रिया हि फलदा पुंसां न ज्ञानं स्यात्फलप्रदम्॥
—रत्नत्रयकारिका १२७-१२८
६. भा० दर्शन ४७५
७. तेन आत्मादेर्निराकरणे साधने वापि अवश्यमेव साधयिता पूर्वकोटावातिनः सिद्धः। नहि साधयितारमन्तरेण अर्थानां साध्यतैव स्यात् स च स्वतःसिद्धः प्रकाशात्मा परमार्थरूपः परमेश्वरः शिव एव।
—तन्त्रालोक १।५६ टीका

परम शिव के दो रूप हैं—(१) विश्वात्मक स्वचित् शक्ति के समस्त विश्व को व्याप्त करने वाला और (२) विश्वोतीर्ण ग्राह्य-ग्राहक भाव से रहित। परम शिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक होते हुए भी स्व विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों का अतिक्रमण करता है। यह समस्त चराचर जगत् परम से अभिन्न और उसी का स्फुरण मात्र है।[1] विश्वोत्तीर्ण, विश्वस्वरूप परमानन्दमय तथा प्रकाशैकघन परम शिव का, शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त निखिल जगत् उनसे अभिन्न रूप में ही विस्फुरित होता है। ग्राह्य एवं ग्राहक, वस्तुतः और कुछ नहीं है प्रत्युत परमशिव ही अपने को विभिन्न एवं सहस्रों रूपों में प्रस्फुरित करते हैं।[2] शक्तिसम्पन्न परमशिव स्वेच्छया स्वभित्ति में, स्वाधार पर जगत् का उन्मीलन करते हैं। प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उक्त है कि (चिति) अपनी इच्छा से अपनी भित्ति पर विश्व का उन्मीलन करती है।[3] जगत् की विद्यमानता पूर्व थी, केवल उसका प्रकटीकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है।[4] उनकी ज्ञानशक्ति विषयों को प्रकाशित और क्रिया शक्ति पदार्थों का निर्माण करती है।[5]

१४. **त्रिपुरा** मत में ३६ तत्त्व माननीय हैं और इनसे परे एक ऐसा पदार्थ है जो विश्व में व्यापक होता हुआ भी विश्व से पृथक् है। शक्ति तत्त्व

---

१. तन्नाना अनुरूपग्राह्यग्राहकभेदात्।

—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् सूत्र ३

२. "श्रीमत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्णविश्वात्मकपरमानन्दमयप्रकाशैकघनस्य एवंविधमेव शिवादिधरण्यन्तमखिलम् अभेदेनैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहकं वा। अपि तु श्रीपरमशिवभट्टारक एव इत्थं नानावैचित्र्यसहस्रैः स्फुरतीति अभिहितप्रायम्"। वही

३. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति।　　　—प्रत्यभिज्ञाहृदयम् २

४. भा० दर्शन पृ० ४७५

५. क. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया॥

ख. अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥

—महार्थमञ्जरी सपरिमल पृ० ३९

का ही यह विश्व उन्मेष है।[1] इस मत में "महाशक्तिस्थानीया एवं अनन्त नामरूपात्मिका है। इसका स्वरूप सूक्ष्म, इन्द्रियातीत है। यह साक्षात् ब्रह्म स्वरूपा एवं मोक्षप्रदायिका है।[2] शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। शिव तत्त्व में शक्ति भाव गौण और शक्ति तत्त्व में शिव भाव गौण रहता है तत्त्वातीत दशा में प्रधान गौण भाव से रहित दोनों की साम्यावस्था होती है किन्तु यही सामरस्य है। इसी को शैव परम शिव और शाक्त पराशक्ति से अभिहित करते हैं।[3] "कोटि कोटि संख्या में प्रविभक्त चराचर विश्व, उस पराशक्ति की देह से स्फुरित होने वाली किरणें हैं। वे सबके अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर भासित होती हैं, बिना उनके कुछ भासित नहीं होता।[4] "प्रत्यभिज्ञादर्शन में वर्णित शिव और शक्ति तत्त्व ही त्रिपुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी तथा गौडीय वैष्णव मत में श्रीकृष्ण और राधा हैं। त्रियुरा मत में कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य को 'सुन्दरी' या 'त्रिपुरासुन्दरी' के नाम से अभिहित करते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा सत्यरूपा 'समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्रीललिताम्बिका है।"[5]

---

१. भा० दर्शन, पृ० ४८२

२. "मोक्षैकहेतुर्विद्याश्रीः श्रीविद्या नात्र संशयः"।
—भा० द० और मु० मी० पृ० ३३८

३. (क) सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्शनिर्मलादर्शः॥
—कामकलाविलास २

(ख) सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतिरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवा शिवे॥
—लुप्तागमसंग्रह पृ० ४१

(ग) भा० दर्शन पृ० ४८२

४. तद्भासा रहितं किञ्चिन्न च यच्च प्रकाशते।
तस्याश्च शिवशक्तेश्च चिद्रूपायितं विना॥
—भा० द० और मु० मी० पृ० ३३९

५. भा० दर्शन पृ० ४८२

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में परम तत्त्व एवं शक्ति तत्त्व—

आचार्य बलभद्र विरचित प्रस्तुत ग्रन्थ, सिद्धसिद्धान्त पद्धति में निरूपित विषय का ही अनुमोदन करता है। प्रथमोपदेश के प्रथम श्लोक में वर्णित है कि जिनके चरणकमल की रज के स्पर्श से मन रजोगुणशून्य हो जाता है। वे ही कृपा सागर श्री गुरुनाथ मुझ पर कृपा करें। क्योंकि श्रीकृष्ण* की तुष्टि हेतु ही सिद्धसिद्धान्तपद्धति के विषय का ही संग्रह सिद्धसिद्धान्तसंग्रह है।

सप्त उपदेशों में विभक्त प्रस्तुत ग्रन्थ में पिण्डोत्पत्ति, पिण्डविचार, पिण्डसंवित्ति, पिण्डाधार, पिण्डपदसमरसभाव, श्री अवधूत मत और अन्तिम उपदेश में समस्त ग्रन्थ का सार प्रस्तुत है। पिण्डोत्पत्ति विषयक ज्ञान की परिचर्चा करने से पूर्व परम तत्त्व के स्वरूप की द्योतना की गई है।[1] जहाँ वर्णित है कि समस्त सृष्टि प्रक्रिया से पूर्वकार्य-कारण और कर्तृत्व का सर्वथा अभाव एवं कुल (व्यक्त अथवा शक्तिक्रम) और अकुल (अव्यक्त, ब्रह्म की कारणता का निषेध अथवा शिव) भी नहीं था तब केवल सजातीय, विजातीय और स्वगत भेद रहित एकमात्र अव्यक्त (ब्रह्म ही विद्यमान था। अर्थात् उस अवस्था में शिव कार्य-कारण, कुल-अकुल भेद रहित अव्यक्तावस्था में विद्यमान रहते हैं। इसी कारण उस अवस्था का नाम 'स्वयं' है।[2] हठयोगप्रदीपिका में वर्णन है कि सृष्टि का मूल बीज एक ही है। जबकि टीकाकार ब्रह्मानन्द के अनुसार सृष्टिरूप जो प्रणव (ॐ) नामक बीज है, वही मुख्य है। जैसाकि माण्डूक्य उपनिषद् में कहा गया है कि यह जगत् ॐ अक्षर रूप है।[3] कुल और अकुल से तात्पर्य है—शक्ति और शिव। साधक को योग द्वारा शक्ति (कुण्डलिनी) को ऊर्ध्वगामी कर सहस्रार स्थित शिव से मिला देना चाहिए। कौल सम्प्रदाय से अभिप्राय है कि कुल से अकुल का

कृष्णराजाज्ञया काश्यां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तृष्यतु ॥ सि० सि० सं० ६।१७

१. वही १।१-३

२. वही १।४

३. एकं सृष्टिमयं बीजम् —हठयोगप्रदीपिका—३।५४
टीका—सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम्। तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्'—वही

सम्बन्धस्थापन।[1] अतएव कुल और अकुल को मिलाकर समरस बनाना ही कौल साधना का लक्ष्य है और कुल और अकुल की सामरस्य स्थिति अर्थात् समरस होना ही कौल ज्ञान है। संक्षेप में यहाँ इतना ही कहना उचित होगा कि कुल से तात्पर्य शक्ति और अकुल से तात्पर्य शिव है। शिव को अकुल इसलिये कहा जाता है क्योंकि शिव का कोई कुल गोत्र नहीं है।[2] डा० गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "कौलों में भी पूर्वकौल और उत्तरकौल—ये दो अवान्तर विभाग थे। पूर्व कौलों के मत से शिव और शक्ति आनन्दभैरव और आनन्द भैरवी नाम से परिचित हैं। इस मत से शिव और शक्ति में शेषशेषिभाव स्वीकृत हैं। किन्तु उत्तरकौल मत में यह स्वीकृत नहीं। उत्तरकौलों का कहना है कि शक्ति की ही सदा प्रधानता रहती है, इसलिए शक्ति कभी शेष नहीं होती। शिव तत्त्वरूप में बदलते हैं पर शक्ति सदैव तत्त्वातीत रहती है। शक्ति जब सभी कार्यात्मक प्रपञ्चों को अपने में खींच लेती है, तो उनका नामकरण होता है। इसी का पारिभाषिक नाम है 'आधारकुण्डलिनी"।[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ का परम तत्त्व दो रूपों में प्रकट है जिसे परासंवित् और निजा शक्ति से अभिहित किया गया है। निजा शक्ति ही परासंवित् का एक ऐसा अभिन्न अङ्ग है जो अपने आपको विश्व-ब्रह्माण्ड के लिये प्रकट करती है। अव्यक्त परम में सिसृक्षा होने पर वह सगुण कहलाता है। और यही सिसृक्षा शक्ति है। जिसकी उत्पत्ति के साथ शिव और शक्ति दो तत्त्व

---

१. क. कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते।
कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते॥
सौभाग्यभास्कर पृ० ५३

ख. 'कुलामृतैकरसिका' शब्द के 'सौभाग्यभास्कर' भाष्य में भास्करार्य ने लिखा है—"कुलं सजातीयसमूहः। स च एकविज्ञानविषयत्वरूप-साजात्यापन्नज्ञातृज्ञेयज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्।" इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिद्गगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्"।
—भारतीय दर्शन पृ० ६३७

२. नाथ सम्प्रदाय पृ० ६७

३. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त पृ० २२

हो जाते हैं, जो भिन्नता रहित हैं। परम तत्व केवल मात्र सच्चिदानन्द ही नहीं अपितु वह गतिशील है जो कि शक्ति है।

प्राचीन काल से अनवरत प्रवाहित ज्ञान गंगा के अद्वैत और द्वैत प्रधान दो तटों के मध्य प्रवाहित द्वैताद्वैतविलक्षणवाद रूपी अमृतसार ही इस मत का वास्तविक ध्येय प्रतीत होता है जिससे परम में शक्ति की स्थापना से द्वैत-अद्वैत, निर्गुण-सगुण और सत्-असत् में समन्वय स्थापित हुआ। परम ही शक्ति द्वारा जगत् की विविधता में अभिव्यक्त होता है। अपनी शक्ति द्वारा समस्त जागतिक प्रपञ्च में लिप्त होता हुआ भी वह परम सर्वथा मुक्त एवं निर्लेप ही है।

इस मत में शिव स्वयं प्रकाश और अपरिवर्तनीय तो है लेकिन एक पक्ष से और दूसरे पक्ष में वह शक्ति रूप होकर जगत् में विलासवान हो रहा है। शक्तिमान् और शक्ति में अभेद सम्बन्ध है। इस शक्तिमान् की शक्ति सांख्य की प्रकृति की तरह न तो भौतिक है और न ही जड़ तथा न ही अद्वैत प्रतिपाद्य माया की तरह अनिर्वचनीया एवं मिथ्या है क्योंकि इस मत की शक्ति अद्वैत वेदान्त की माया से सर्वथा भिन्न एवं चिद्रूपिणी और अनन्त शक्ति सम्पन्न है। वास्तव में जगत् इसी का परिणाम है।

इस मत का नैकट्य काश्मीर शैव दर्शन से स्पष्ट है क्योंकि इस ग्रन्थ में काश्मीर शैव ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा अपने मत की पुष्टि की गई है। शक्ति को चिद्रूपिणी स्वीकार कर अद्वैत-वेदान्त से स्पष्ट मतभेद स्थापित किया गया है और परमशिव एवं शक्ति इत्यादि की परिकल्पना भी त्रिक् दर्शनानुसार ही है। द्वैताद्वैतविलक्षणवाद के सिद्धान्त का अनुमोदन करने वाला यह मत परम तत्वों को द्वैत एवं अद्वैत इन दोनों से परे मानता है।

इस ग्रन्थ का विषय प्राचीन अद्वैतवादी आगमों के अनुरूप अगर स्वीकारा जाए तो कोई दोष सम्भवत: उत्पन्न नहीं होगा। शिव धर्मी एवं शक्ति धर्म अभिन्न है क्योंकि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास स्वयं श्री बलभद्र जी ने माना है।[1] जब यह शक्ति वार्धक्य को प्राप्त करती है तब सृष्टि होती हैं और जब शिव अपनी शक्ति का सङ्कोच अर्थात् अपने में लीन

---

१. शिवस्याभ्यन्तरे शक्ति: शक्तेरभ्यन्तरे शिव:।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

—सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रह ४।३७

करता है, तब सृष्टि का सङ्कोच होता है। इस प्रसार और सङ्कोच की साम्यावस्था ही परममुक्ति है।[१] "इस प्रसार और सङ्कोच का जो आदि और अन्त है, वही साम्यावस्था है और वही निराभास है, वही शिवावस्था है। जब यह साम्य भङ्ग होता है, अर्थात् शक्ति के स्फुरण या प्रसर में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है, तब शक्ति परिणाम लाभ करती है या जगत् आभासित होता है। शक्ति की सङ्कोचन क्रिया के अवसान काल तक जगत् क्रमशः स्थूल-सूक्ष्म-भेद से आभासित होता है। अतएव जगत् का आभास ही शक्ति भाव और निराभास ही शिवभाव है। शिव, एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति का तिरोभाव ही जगत् का लय है। फिर भी शिव और शक्ति सूर्य और सूर्यकिरण के समान अभिन्न हैं। अतएव शक्ति की उपासना से शिव की उपलब्धि होती है। शक्ति उपासना साधन है और शिवत्वलाभ उसका फल। विमर्श ही शिव की शक्ति है।[२]" इस मत के परिप्रेक्ष्य में महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी ने अनेक निर्देश दिये हैं, जिनसे पाठक गण अधिकाधिक लाभ उठा सकते हैं।[3]

---

१. प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगराट् शिवः॥ वही ६।६

२. ना० सं० द० सा० प्र०, पृ० २२८-२९ के शब्द गोरक्षनाथ नाथ सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में पृ० ११७ से उद्धृत।

3. "The Supreme Ideal of yoga-Sādhanā as conceived in this school seems to differ essentially from the conceptions of Patañjali, of the earlier and some later Buddhistic systems and even to a great extent of Śaṅkara's Vedānta. Nevertheless we must observe that the Nātha ideal is analogous to what we find in the Āgamic systems of non-dualistic thought in ancient and medieval India.

This ideal is described in one word as Sāmarasya, which implies obliteration of traces of all kinds of existing differences, not by a process of transcendence as in Sāṅkhya, or of sublation as in Vedāntic Māyāvāda, but by a positive process of what may be described as mutual interpretation. This ideal underlies the principle of unification between Puruṣa and Prakṛti, or between

शक्ति का संकेत किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही उपलब्ध होता आया है। चाहे वह ऋग्वेद[1] हो अथवा उपनिषद्[2] और गीता।[3] "साधना के क्षेत्र में महाशक्ति की कल्पना भवानी, काली, दुर्गा आदि रूपों में की गई है। वह परमेश्वर की ही शक्ति है जो भोग में भवानी योग में कुण्डलिनी कोप में काली और समर में दुर्गा है।"[4] नाना प्रकार से अनुभूत यह समस्त जगत् प्रपञ्च वस्तुत: शक्ति का ही आत्मप्रकाश है। सुसूक्ष्म, लिङ्गात्मक और इन्द्रियगोचर स्थूल जगत् शक्ति के ही विभिन्न विकास हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में विद्यमान है, वही शक्ति का परम रूप है।[5]

"ऋग्वेद के रात्रिसूक्त, देवीसूक्त तथा श्रीसूक्त में एवं अथर्ववेद के 'देव्यथर्वशीर्ष' में भगवती की शक्ति और आराधना का विकसित रूप विद्यमान है। वैदिक प्राकृतिक सौन्दर्य-बोध शक्ति की भावानुभूति का ही प्रतीक है। यही प्रकृति-परक उपासना शक्ति की उपासना में परिवर्तित हो गयी है। शाक्त मत में परमेश्वर को स्त्री रूप माना गया है।"[6] वैष्णव शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों ने इस शक्ति को किस-किस रूप में स्वीकृत किया है, इस विषय पर एक सामान्य दृष्टि प्रस्तुत है।

Śiva and Śakti. The attainment of this ideal is the Supreme Unity of Parama Śiva, where Śiva and Śakti are one Undivided and indivisible whole. It is called Mahā-Śakti in the language of the Śāktas and represents the Absolute of the Śākta Āgamas....." (A prefactory Note by Gopinath Kaviraj on the philosophy of Gorakhnath).

१. अग्ने यत्ते दिवि वर्च्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वायजत्र।
येनान्तरिक्षं भुवति तन्वन्वेषं सा भानुरर्णवो नृचक्षाः॥
—ऋग्वेद

२. माण्डूक्योपनिषद् ३।२४, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८

३. गीता ७।२५, १४।३

४. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६२

५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पृ० ८५

६. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६२

शक्ति तत्त्व का स्वरूप वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में—

१. **रामानुजाचार्य** – चित्, अचित् और ईश्वर इन तीन नित्य पदार्थों में अचित् तत्त्व के तीन भेदों—शुद्ध, मिश्र और सत्त्व में से मिश्र तत्त्व ही माया, अविद्या या प्रकृति है।[1] माया (अद्भुत पदार्थों की सृष्टि करने वाली शक्ति) द्वारा ही ईश्वर जगत् की सृष्टि करता है। जहाँ शङ्कराचार्य विवर्तवाद को मानते हैं, वहीं रामानुजाचार्य परिणामवादी हैं।[2] माया से तात्पर्य है—विभिन्न पदार्थों की उत्पादिका त्रिगुणात्मिका प्रकृति। इसके अतिरिक्त अनादि, अनिर्वचनीय, भावरूपा माया, अविद्या या अज्ञान कुछ नहीं। 'माया'' शब्द प्रकृति का वाचक है और विचित्र सृष्टि रचने के कारण ही प्रकृति को माया कहा जाता है।[3]

२. **माध्व** मत में—परमात्मा की शक्ति लक्ष्मी परमात्मा के अधीन एवं उससे भिन्न है।[4] तन्त्र मत के विपरीत इस मत में शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद भाव नहीं रहता। अपितु शक्ति शक्तिमान् से गुणादिकों में कुछ न्यून रहती है। यह ईश्वर के समान नित्य मुक्ता, नानारूपधारिणी भगवान् की भार्या है। भौतिक आकार से रहित यह अप्राकृत देहधारिणी है। इस अक्षरा से ईश्वर जगत् को उत्पन्न, स्थित एवं विलीन करते हैं। शक्ति गुण में शक्तिमान् से न्यून तथा देश और काल की दृष्टि से उसके समान ही व्यापक है।[5]

३. **निम्बार्क** मत में—निग्रह और अनुग्रह दो ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। स्वक्रीड़ा हेतु ब्रह्म, जीव को बन्धन में डालने के लिए निग्रह शक्ति का आश्रय लेता है और अनुग्रह शक्ति से जीव की मुक्ति होती है। निग्रह गुण और अनुग्रह स्वरूप शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में पर पुरुष अपनी आह्लादिनी

---

१. वल्लभ-वेदान्त पर एक दृष्टि, पृ० ४२
२. भा० दर्शन, पृ० ३६६
३. भा० द० और मु० मी०, पृ० १६६-२००
४. 'परमात्मभिन्ना तन्मात्राधीना लक्ष्मीः'—म० सि० सा०, पृ० २६
५. (क) द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।
देशतः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावजौ॥ भागवततात्पर्यनिर्णय
(ख) भा० दर्शन, पृ० ४०३
(ग) द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, पृ० ८८

शक्ति जागरित करने के पश्चात् अपनी प्रकृति (माया) शक्ति को जागरित करते हैं।[1]

परमात्मा की यह अपूर्वा शक्ति माया ही उसके स्वरूप गत आनन्द की प्रकाशिका है। दशश्लोकी में प्रकृति के तीन (सत्त्व, रजस् और तमस्) गुण बताए हैं। अचेतन (अविद्या), अप्राकृत और काल रूप से यह तीन प्रकार की है। वह प्राकृत ही माया, प्रधान आदि नामों से कही गई है, जिसके शुक्ल, रक्त और पीत आदि रूप भी हैं।[2] अपने में विद्यमान चिच्छक्ति के कारण ही ब्रह्म अनन्त रूपों में दिखायी पड़ते हैं।[3] जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार हेतु ही परम पुरुष श्रीकृष्ण इन तीन गुणों के आश्रय से ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर रूप धारते हैं।[4] भगवान् श्रीकृष्ण विज्ञानमात्र, कर्मबन्धन से रहित, निर्मल और साक्षात् सच्चिदानंदघन परमेश्वर हैं। इनकी सच्चिदानन्दमय सूक्ष्म सृष्टि के अन्दर शुद्ध सत्त्व गुण का अवलम्बन करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गौण ईश्वर रूप माने जाते हैं। ये ईश्वर तथा उनकी शक्तियाँ विश्व के कल्याणार्थ परब्रह्म श्रीकृष्ण और आह्लादिनी शक्ति श्री राधा के अंश से प्रकट होती हैं। श्रीकृष्ण सर्वोच्च ब्रह्म हैं।[5] राधा ही श्रीकृष्ण की परम शक्ति है। इस मत में शक्ति और शक्तिमान् का भेदाभेद सम्बन्ध है।

४. **वल्लभ** मत में—माया को परब्रह्म की शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में माया को सर्वभवनसामर्थ्यरूपा, आत्ममाया और अन्यानुपजीवन माना है।[6] "वल्लभाचार्य ने माया के दो रूप माने हैं—

---

१. श्रीनिम्बार्क वेदान्त, पूर्वार्ध, पृ० ९०

२. अप्राकृतं प्राकृतं रूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम्।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र॥
—दशश्लोकी—६

३. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म वरं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्॥
—वही २

४. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ९०

५. वही, पृ० ९०

६. 'माया हि भगवतः शक्तिः सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता। यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्। तेन स्वसामर्थ्येन अन्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्च कृतवान् इति फलितम्—'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध

(१) विद्या माया—विद्या-माया के द्वारा जीव संसार के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करता है। माया का प्रभाव जीव पर ही पड़ता है।

(२) अविद्या माया—अविद्या-माया शक्ति के द्वारा जीव अपने ही द्वारा कल्पित संसार में कर्म बन्धन आदि चक्र में पड़ जाता है। इससे वह अनन्त दुखों का भागी बनता है।[1] आचार्य ने श्रीमद्भागवत की सुबोधिनी में माया के दो रूपों का वर्णन किया है—

(क) व्यामोहिका माया[2]—यह माया भगवान् की चरणदासी के रूप में है अतएव वह भगवान् के सेवकों के समीप जाने में लज्जा का अनुभव करती है।

(ख) करण माया[3]—इसके द्वारा भगवान् जगत् की उत्पत्ति, पालन और संहार करते हैं।"[4]

कुछ विद्वानों ने शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय में माया के तीन भेदों को स्वीकारा है।

(क) "एक परब्रह्म की अन्तरंग शक्तिरूपा माया है, जिसे पांचरात्र आदि तन्त्रग्रन्थों में लक्ष्मी या रमा शब्द से भी कहा गया है।

(ख) दूसरा माया का स्वरूप है भगवान् परब्रह्म का सामर्थ्य, जिससे वे सम्पूर्ण जगत् का निर्माण किया करते हैं।

(ग) तीसरी माया है जीवों को मोह कराने वाली भगवान् की शक्ति जिसे अविद्या शब्द से कई स्थानों पर कहा गया है। इसका ही त्याग करने के लिए भागवत की वेद स्तुति के आरम्भ में भगवान् से प्रार्थना की गई है।"[5]

---

१. (क) विद्याऽविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिते।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता॥
—तत्त्वार्थदीपनिबन्ध कारिका-३१

(ख) विद्याविद्ये मम तनू।
—श्रीमद्भागवत, ११।११।३

२. सुबोधिनी, श्रीमद्भागवत, २।७।४७

३. वही, १०।५७।१५

४. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १२९

५. दर्शन अनुचिन्तन, श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ० ७७ के शब्द वल्लभ वेदान्त पर एक दृष्टि, पृ० २०५ से उद्धृत।

५. चैतन्य मत के अनुसार भगवान् की तीन शक्तियाँ स्वीकृत हैं—

१. स्वरूपशक्ति (२) तटस्थशक्ति और (३) मायाशक्ति। विष्णुपुराण में उक्त है कि विष्णु शक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ नामक शक्ति अपरा है और कर्म नाम की तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है।[1]

१. स्वरूप शक्ति—इसी का नाम चित्त शक्ति तथा अन्तरङ्ग शक्ति है। भगवान् की यह शक्ति तीन रूपों में प्रकाशित होती है। विष्णुपुराण[2] में वर्णन है कि सबके आधारभूत आप में ह्लादिनी (निरन्तर आह्लादित करने वाली) और सन्धिनी[2] (विच्छेदरहित), संवित् (विद्याशक्ति) अभिन्नरूप से रहती हैं। आप में (विषयजन्य) आह्लाद या ताप देने वाली (सात्त्विकी या तामसी) अथवा उभयमिश्रा (राजसी) कोई भी संवित् नहीं है क्योंकि आप निर्गुण हैं।[3]

२. तटस्था—इसे जीव शक्ति भी कहते हैं। इससे नाना प्रकार के जीवों का आविर्भाव होता है। "इससे विशिष्ट भगवान् के अंश ही विविधांश कहलाते हैं।

३. माया शक्ति—अन्तरङ्ग चिच्छक्ति की छायास्वरूपा।"[4] "माया शक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव साधन होता है।"[5]

उपर्युक्त तीन शक्तियों का समुच्चय ही पराशक्ति कहलाता है। प्रमेय-रत्नावली में उक्त है कि विष्णु की तीन शक्तियों में से पराशक्ति से भगवान् अभिन्न हैं।[6] "भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और

---

१. विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा।
अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥
—विष्णु पुराण ६।७।६१

२. 'सदात्मापि यथा सत्तां धत्ते ददाति च, सा सर्वदेशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिनी'।

३. ...ह्लादिनी संवित्त्वय्येका सर्वसंस्थितौ।
ह्लादतापकरी मिश्रा त्वयि नो गुणवर्जिते॥
—विष्णुपुराण १।१२।६९

४. भा० द० और मु० मी० पृ० २४२

५. भा० दर्शन पृ० ४२१

६. विष्णोः स्युः शक्तयस्तिस्रस्तासु या कीर्तिता परा।
सैव श्रीशादभिन्नेति प्राह शिष्यान् प्रभुर्महान्॥
—प्रमेयरत्नावली १।१२

माया जीव शक्तियों से उपादान कारण हैं। इस प्रकार माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं।"[1]

६. **पाञ्चरात्र मत** में शक्तिमान् अपनी शक्ति लक्ष्मी का आश्रय तब लेते हैं, जब वह निर्गुण से सगुण बनते हैं। अद्वैत प्रतीत होता हुआ शक्तिमान् और शक्ति का सम्बन्ध वास्तव में अद्वैत नहीं है। केवल ऐक्य की प्रतीति ही होती है।[2] 'धर्म-धर्मी, अहन्ता-अहं, चन्द्रिका-चन्द्रमा और आतप सूर्य के सदृश परम और शक्ति में भेद अवश्य रहता है'।[3] परम की यह स्वतन्त्र शक्ति सभी कार्यों को सम्पादित करती हुई जगत् में उन्मेष-निमेष को प्राप्त करती है।[4] "स्थूल जगत् के रूप से लक्षित होने के कारण यही लक्ष्मी है। विष्णु का आश्रयण करने के कारण यह श्री है। विष्णु की सामर्थ्य होने के कारण यह शक्ति है। जगत् का पालन करने के कारण उनकी पत्नी है। फिर जगत् को अपने में संकुचित करने के कारण यही 'कुण्डलिनी' कहलाती है "जगदाकारसंकोचात्स्मृता कुण्डलिनी बुधैः"। भक्तों पर अनुग्रह करके उन्हें संसार से तारने के कारण यह तारा है। समस्त विकारों का उपशम होने के कारण यह शान्त है। संसार में सत्ता और निषेध के जितने भी पदार्थ हैं, उन सब में अनुस्यूत होकर रहती है, ऐसी दिव्य और सर्वाङ्गपूर्ण यह विष्णु की माया शक्ति[5] है"।[6] इसी शक्ति के सृष्टि काल में दो रूप हो जाते हैं—

१. भा० दर्शन पृ० ४२१

२. व्यापकावतिसंश्लेषादेकं तत्त्वमिव स्थितौ। —अहि० स० ४।७८

३. (क) देवाच्छक्तिमतो भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।

—अहिर्बुध्न्यसंहिता ३।२५।२७

(ख) भा० दर्शन पृ० ४३६

४. (क) स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी॥

—अष्टावक्रसंहिता ३।६

(ख) स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥

—अहिर्बुध्न्यसंहिता ५।४

५. विष्णोः सर्वाङ्ग-सम्पूर्णा भावाभावानुगामिनी।
शक्तिर्नारायणी दिव्या सर्वसिद्धान्तसम्मता॥

—वही ३।२४

६. भा० द० और मु० मी०, पृ० २४८

१. क्रिया शक्ति और २. भूति शक्ति।[1] ईश्वर की सिसृक्षा का नाम क्रिया शक्ति तथा जगत् की परिणति भूति शक्ति है।[2]

७. **श्रीमद्भागवत में**—माया ही भगवान् की शक्ति है। माया से अभिप्राय है कि वास्तविक, वस्तु के विना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती।[3]

---

१. लक्ष्मीमयः समुन्मेषः स द्विधा व्यवतिष्ठते। क्रिया भूति......
—वही ३।२८

२. क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः द्रोणरूपो विष्णोः सङ्कल्प उच्यते॥ वही ३।२१

३. (क) ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद् विद्यादात्मनो मायां यथा भासो तथा तमः॥
—श्रीमद्भागवत २।९।३३

(ख) 'एवं चिदचिद्विलक्षणस्य परमात्मनः परस्वरूपमुक्त्वाऽवरशब्दोक्तमङ्गतया ज्ञातव्यं चिदचित्स्वरूपमाह। ऋतेऽर्थमिति। प्रकृत्यनुसन्धाने केवलं तस्यां प्रतीयमानायां सत्यामिति शेषः। यदचिद्वस्तु अर्थं चित्तत्वम् ऋते विना प्रतीयेत सर्वकालं जडमेव। न स चैतन्यमिति ज्ञायते इत्यर्थः। आत्मस्वरूपानुसन्धानवेलायामिति शेषः। आत्मनि केवले चित्स्वरूपे प्रतीयमाने सति तु यच्चित्तत्त्वं तच्च प्रतीयेत। न तु केवले चित्तत्वमित्यर्थः। तत्र यच्चित्स्वरूपं वस्तु सर्वकालचेतनतावदेव तत्त् यदचित्स्वरूपं वस्तु तज्जडमेव, एवं सति तयोर्मध्ये यदचित् तद् आत्मनो मम मायां विद्यात्। एवं चित्प्रकाशस्वरूपम् अचिदप्रकाशस्वरूपमिति तयोर्लक्षणे अभिहिते। अथ चित्प्रकाशे चिदचितोः प्रकाशनं यदभिहितं तच्च विरुद्धाकारवेदनतस्ततस्तद्दृष्टान्तेन समर्थयते यथाभासः यथा तम इति तेजसि सति पर्वतादौ तेजस्तमश्चेत्युभयमपि प्रकाशमानं जायते। तमसि तेजः प्रकाशमानं न जायते उभयोर्विरुद्धाकारत्वादिति भावः। —वही, भक्तमनोरञ्जनी पृ० १३९

इसी माया से मोहित होकर जीव अपने आपको त्रिगुणात्मक समझता हुआ ही अनर्थों का भोग करता रहता है।[१]

पाशुपत मत में—"परमेश्वर की शक्ति अचिन्तनीय है, उसकी क्रिया शक्ति अव्याहत है (कहीं भी कुण्ठित नहीं होती) जो उसकी इच्छा का ही अनुसरण करती है। परमेश्वर की इस शक्ति में कोई भी कार्य करने की शक्ति है। सम्प्रदाय के वेत्ताओं ने कहा है—चूंकि वह (ईश्वर) कर्मादि से निरपेक्ष (स्वतन्त्र) है, अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करने वाला है इसी कारण से शास्त्र में उसे सभी कारणों का कारण कहा गया हैं।"[२] भगवान् कौण्डिन्य ने महेश्वर की शक्ति को सनातनी के रूप में स्वीकारा है।[3]

६. वैयाकरण सिद्धान्त में विद्यमान शक्ति अविद्या है जो वेदान्तियों के समान अनादि एवं भावरूपा न होकर वासनारूपा है। इस शक्ति के माया, प्रकृति आदि पर्याय हैं। तथा यह ब्रह्म के संरक्षण में रहती है। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद सम्बन्ध है किन्तु शक्ति भेद को लेकर पदार्थ भेद की प्रतीति होती है पर वास्तव में भेद नहीं है। जल के विभिन्न विकारों की भाँति विलक्षण कार्यों के उदय से विलक्षण शक्तियाँ ब्रह्म की एकता में बाधक नहीं हैं।[४] अतः विभिन्न ४ रूपों में स्फुरित शब्दशक्ति भेदप्रतीति का कारण है और संस्कृत वाणी के प्रयोग से इसकी निवृत्ति सम्भव है।[५]

---

१. मायासम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम्।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते॥
—श्रीमद्भागवत १।७।५

२. "अचिन्त्यशक्तिकस्य परमेश्वरस्य इच्छानुविधायिन्या अव्याहतक्रिया-शक्त्या कार्यकारित्वाभ्युपगमात्। तदुक्तं सम्प्रदायविद्भिः—
कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम्।
ततः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम्॥"
—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३१७-३१८

३. भगवतो महेश्वरस्य शक्तिः सनातनी—कौण्डिन्यभाष्य २।६

४. एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात्।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्यः पृथक्त्वेनेव वर्तते॥
—वाक्यपदीय ८०

५. भा० द० और मु० मी० पृ० ३१८

(१०) **वीरशैवसिद्धान्त** में परमशिव में अपृथक् रूप से वर्तमान सिद्ध विशेषण ही शक्ति है। शक्तिमान् और शक्ति में अविनाभाव होने से शिव बिना शक्ति और शक्ति बिना शिव अपूर्ण है। शक्तिविशिष्टाद्वैत[1] के इस सिद्धान्त में शक्ति के दो प्रकार स्वीकृत हैं—

सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति (परम के साथ अभिन्नत्व रूप में विद्यमान और स्थूलचिदचिद्विशिष्ट शक्ति (जीव और जगत् का बोध कराने वाली)। धर्म (शक्ति) और धर्मी (शिव) में अभिन्नत्व है। यह शक्ति ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से विद्यमान है, तथा नित्य है।[2] 'मं' से शक्ति रूप ब्रह्म का बोध होता है और अनायास ही उसे पाकर सदा उसमें निवास हेतु यह माया है।[3] परब्रह्म स्थित विमर्श शक्ति ही सूक्ष्म चिदचिदात्मिका कहलाती है। तथा इसी से परमशिव समस्त पदार्थों के ज्ञाता होने से सर्वज्ञ कहलाते हैं।[४] ।"अतः परमशिव की शक्ति स्वभावसिद्ध है। वह ज्ञानशक्ति क्रियाशक्ति आदि के रूप में विविध नामों से पुकारी जाती हैं।"[५]

(११) **शैव मत**—शक्ति को अत्यन्त महत्वपूर्ण सत्ता के रूप में स्वीकार करता है। यह शिव में समवेत अर्थात् यह परमशिव में अविभाज्य एवं

---

१. 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ, शक्तिबिशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाऽद्वैतम्'।

२. (क) तदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥

(ख) तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा।
समस्तलोकनिर्माणसमवायत्वरूपिणी॥
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी॥
—सिद्धान्तशिखामणि परिच्छेद २

(ग) भा० द०, पृ० ४६६

३. मं शिवं परमं ब्रह्म प्राप्नोतीति स्वभावतः।
मायेति प्रोच्यते लोके ब्रह्मनिष्ठा सनातनी॥
—भा० द० और मु० मी०, पृ० २६४

४. यथा चन्द्रे स्थिता ज्योत्स्ना विश्ववस्तुप्रकाशिनी।
तथा शक्तिर्विमर्शाख्या प्रकाशे ब्रह्मणि स्थिरा॥ वही.

५. 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च'।
—वही

तादात्म्य सम्बन्ध से विद्यमान है । शक्ति से रहित शिव अचिन्त्य हैं । शक्ति ही शिव के स्वरूप को अभिव्यक्त करती है एवं इसी के द्वारा शिव के रूप का निर्माण होता है । अपनी इस गति के विना शिव स्वकृत्यों का सम्पादन नहीं कर सकता । यही शक्ति बन्धन और मोक्ष का कारण है । इसी के कारण शिव जीवों की सृष्टि, स्थिति और संहार का कार्य सम्पादित करता है ।[1] शिव की यह शक्ति चेतन एक और पराशक्ति से अभिहित है । यह नाद से पृथ्वी पर्यन्त सभी तत्त्वों की नियन्त्रिका है । शिव-शक्ति से सृष्ट सभी वस्तुयें उन्हीं के रूप हैं । शक्ति को हम शिव की ऊर्जा कह सकते हैं ।[2]

शिव की दो (समवायिनी और परिग्रहरूपा) शक्तियाँ हैं । प्रथम शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी तथा द्वितीय परिग्रहरूपा; अचेतन और परिणामशालिनी है; यही विन्दु कहलाती हैं । इसके दो भेद (१) शुद्ध (शुद्ध विन्दु का नाम महामाया) और (२) अशुद्ध (माया) हैं । महामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है । स्वसमवायिनी शक्ति द्वारा परमात्मा जब बिन्दु पर आघात करते हैं तब उसमें क्षोभ होता है परिणामतः शुद्ध जगत् की सृष्टि और माया के क्षोभ से अशुद्ध प्राकृत जगत् की उत्पत्ति होती है ।[3] "ज्ञान और क्रिया शक्ति पाँच प्रकार से कार्य करती हैं । जब ईश्वर ज्ञान शक्ति से कार्य करता है, वह शिव कहा जाता है, जब क्रिया शक्ति से कार्य करता है, उसे शक्ति कहा जाता है । जब वह ज्ञान और क्रिया के बराबर शक्ति से कार्य करता है, उसे सदाशिव कहा जाता है ।[4] जब ज्ञानात्मक पक्ष घटता है जबकि क्रियात्मक पक्ष बढ़ता है, वह महेश्वर कहा जाता है । जब ज्ञान पर क्रिया का प्राधान्य होता है, उसे शुद्ध विद्या कहा जाता है ।"[5]

---

१. शैव सिद्धान्त दर्शन, पृ० ५५
२. वही पृ० ५६-५७
३. 'माया के रूप में जो बिन्दु है जिसे 'शिवतत्त्व' भी कहते हैं वही पञ्चम पाश है । जिस मुक्ति में शिवपद की प्राप्ति ही जाय वही परम मुक्ति है । इसकी अपेक्षा करने से तो विन्दु पाश ही है ।—"विन्दोर्मायात्मनः शिवतत्त्वपदवेदनीयस्य शिवपदप्राप्तिलक्षणपरममुक्त्यपेक्षया पाशत्वेऽपि...।

—सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ३४३

४. भा० द०, पृ० ४७१
५. शैवसिद्धान्तदर्शन, पृ० ५६

प्रत्यभिज्ञादर्शन— इस मत में सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में एक शक्ति तत्त्व है जिनके अभिव्यक्त होने के अनेक रूप हैं। सृष्टि, स्थिति और संहार करने में शिव शक्ति के बिना असमर्थ है। अनन्त शक्ति सम्पन्न परम की पाँच शक्तियाँ विशेष रूप से मान्य हैं—

(१) चित् (२) आनन्द (३) इच्छा (४) ज्ञान और (५) क्रिया। चिद् शक्ति प्रकाशरूपा, जिससे परम प्रकाश्याभाव में भी स्वतः प्रकाशित रहते हैं। जिससे परम निरतिशय आनन्द का, बाह्य वस्तु की बिना अपेक्षा किए, स्वयं अनुभव करता है, स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है।[1] निज को स्वतन्त्र बोध करना एवं अविघात इच्छा-सम्पन्न मानना ही 'इच्छा' शक्ति है। 'ज्ञानशक्ति' आमर्ष (वेद्य पदार्थ का साधारण ज्ञान)[2] रूपा है। सर्वाकार धारण योग्यता ही 'क्रिया शक्ति' है।[3] इन्हीं शक्तियों से परम अपने को, स्वभित्ति पर जगत् रूप से परिणत करते हैं।[4] शिवसूत्रविमर्शिनी में शिव को चैतन्य कहा है।[5] चिद्रूपता, विमर्शात्मकता, स्वतन्त्रता आनन्दैकघनता और महेश्वरता ये सब उनके पर्याय हैं। इसको हम यह भी कह सकते हैं कि ये सब उनकी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित गुण हैं। इन्हीं से वे समस्त पदार्थों को अवभासते हैं। शिव की ज्ञानशक्ति विषयों को प्रकाशित और क्रियाशक्ति पदार्थ निर्मात्री है।[6] यह शक्ति कुण्डलिनी[7] शब्द से अभिहित है जिसका

---

१. आनन्दः स्वातन्त्र्यम्, स्वात्मविश्रान्तिस्वभावाह्लादप्राधान्यात्।
—तन्त्रसार

२. आमर्षं ईषत्तया वेद्योन्मुखतरः।

३. सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः —तन्त्रसार, ।[1] प्रथम आह्निक।

४. भा० द० पृ० ४७६

५. चैतन्यमात्मा—शिवसूत्रविमर्शिनी—१।१
वार्तिक—चैतन्यमात्मनो रूपं सिद्धं ज्ञानक्रियात्मकम्।
तस्यानावृतरूपत्वाच्छिवत्वं केन वार्यते॥ वही पृ० ४

६ इत्थं तया घटपटाद्याकारजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया॥

७. (क) सात्र कुण्डलिनी बीजजीवभूता चिदात्मिका।
तज्जं भ्रुवेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः॥
—सिद्धामृत

स्थान मूलाधार है। इस कुण्डलिनी के बोध, नाद और प्राण कुण्डलिनी तीन स्तर हैं तथा ये स्तर भी शक्ति की अभिव्यक्ति के ही विभिन्न स्तर हैं। बोध कुण्डलिनी स्पन्दरूप है जो शिव के स्वरूप में निहित तथा नाद और प्राण-कुण्डलिनी ज्ञान और क्रिया के स्तर हैं। यह एक है किन्तु शिव की अभिव्यक्तियों हेतु अनेक रूपों में प्रकाशित होती है। शक्तिमान् की अभिव्यक्तियाँ ही शक्ति की अभिव्यक्तियाँ हैं। इसके बिना शिव अभिव्यक्त नहीं हो सकते क्योंकि निष्क्रिय, शक्तिहीन शिव जड़ पदार्थ सदृश ही होगा। इस मत में शिव-शक्ति की परिकल्पना है।[1] "यह शक्ति अपने को अशेष शक्तिजाल के रूप में विकसित कर लेती है तथा खेचरी, गोचरी, दिग्चरी तथा भूचरी आदि रूपों में पशु प्रमाता के हृदय में भेद की भावना को दृढ़ करती है तथा परमेश्वर के पारमार्थिक स्वरूप का गोपन कर लेती है। वे ही दिग्चरी चिद्गगनचरी आदि देवियाँ पति प्रमाता के हृदय में अभेदप्रतीति उत्पन्न करके उसके हृदय को विकसित करके अपने स्वरूप का प्रस्फुरण करती हैं।"[2]

(१३) **त्रिपुरा मत**—इस सिद्धान्त के अनुसार शक्ति तत्त्व का ही यह विश्व उन्मेष है। शक्ति और शिव में तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण ही शक्ति की अन्तर्मुखता शिव (अन्तर्लीनविमर्शः) और शिव की बहिर्मुखता शक्ति है।[3] परमानन्दतन्त्र में कहा गया है कि प्रपञ्चवासना शक्ति और निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिव है।[4] शिव तत्त्व में शक्ति और शक्ति तत्त्व में

(ख) सा परमेश्वरी संविन्मात्ररूपा विसर्गशक्तिरेव गर्भीकृतनिखिल-विश्वत्वात् कुण्डलिनीशब्दव्यपदेश्या अनच्ककलारूपा वाच्यवाचकात्मनि अत्र विश्वतः अविद्यादेः तत्कारणत्वे दूरापास्तत्वाद् बीजभूता; तत्त्वेऽपि संविन्निष्ठत्वात् सर्वव्यवस्थितीनां जीवभूता नहि संविदमन्तरेण किञ्चिदपि स्फुरेदिति भावः।

—शिवसूत्रविमर्शिनी पृ० ६५

१. काश्मीर शैव दर्शन—पृ० ६३
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् की भूमिका, पृ० ५१
३. भा० द० पृ० ४८२
४. परमानन्दतन्त्रे—

प्रपञ्चवासनारूपा शक्तिरित्यभिधीयते।
निष्प्रपञ्चचिदेकात्मा शिवतत्त्वं समीरितम्॥

शिवस्य विश्वसिसृक्षाशक्तिः 'शक्तितत्त्व'मिति

शिव भाव गौण रहता है और तत्त्वातीत दशा में दोनों तत्त्वों की साम्यावस्था होती है। यही शिवशक्ति का सामरस्य है और इसी को शैव परमशिव तथा शाक्त पराशक्ति कहते हैं।[1] "शाक्तमत स्वतन्त्राद्वैतवाद है। इस मत में कोई भाव तद्व्यतिरिक्त नहीं माना जाता। यद्यपि सभी सब हैं, अर्थात् शिव भी शक्ति है और शक्ति भी शिव है, तथापि प्रकाश कदापि विमर्श-क्रियता छोड़ता नहीं तथा विमर्श भी प्रकाशकर्तृत्व का त्याग नहीं करता। इसलिए, शिव और शक्ति का वास्तविक रूप ऐक्य स्वभाव है। 'कोमलवल्लीस्तव' में सिद्ध महेश्वरानन्द ने भगवती को लक्ष्य करके कहा है—

त्वं यथा शिवमयी तथा शिवस्त्वन्मयो हि शिवयोरभेदिनोः।
तत्त्वमेकमबहिर्मुखास्पदं यत्र भिन्न इव विश्वविक्रिया॥"[2]

यह तान्त्रिक विशेषता है कि इसने महामाया के साम्राज्य का विवेचन किया है जहाँ वैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोकों की सत्ता है।[3]

शाक्त शक्ति की उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। सोलह कलाएँ सम्पन्न इसे नित्यषोडशिका के नाम से भी जाना जाता है। प्रथम पन्द्रह कलाओं का उदय-अस्त होता रहता है किन्तु अन्तिम कला सर्वदा नित्य है जिसे अमृता कला कहते हैं। शाक्त मत में शक्ति को चित्स्वरूपा माना है। यहाँ पूर्ण

रामेश्वरः परशुरामकल्पसूत्रटीकायामवदत्—निर्गुण एव शिवो यो "बहु स्यां प्रजायेय" इतीच्छाशक्त्या युक्तः सृष्ट्युन्मुखः स एव शिवः शक्तिपदवाच्योऽभवत्"—शाक्तदर्शन पृ० ६०

१. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः॥
—कामकलाविलास

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ६

३. सदाशिवेन सम्पृक्ता सर्वतत्त्वातिगा सती।
शक्रं त्रिपुरसुन्दर्याः ब्रह्माण्डाकारमीश्वरी॥
पञ्चभूतात्मकञ्चैव तन्मात्रात्मकमेव च।
इन्द्रियात्मकमेवं च मनस्तावात्मकं यथा॥
मायादि तत्त्वरूपं च तत्त्वातीतं च बैन्दवम्।
वैन्दवे जगदुत्पत्ति-स्थिति-संहार कारिणी॥
सदाशिवेन सम्पृक्ता तत्त्वातीता महेश्वरी।
ज्योतिरूपा पराकारा यस्या देहोद्भवा शिवे॥
—लुप्तागमसंग्रह, पृ० ४१

अद्वैतवाद और भक्ति का मञ्जुल समन्वय दृष्टिगत होता है। कुलार्णव तन्त्र में इस साधना के अन्तिम फल का निरूपण प्राप्त होता है।[1]

इस मत का सारांश यह है कि शक्ति रहित शिव सामर्थ्यहीन है और इससे रहित होने पर शिव में न तो कोई क्रिया हो सकती है और न ही ब्रह्माण्ड संचालन रूप स्पन्दन। शिव-शक्ति के अनादि संयोग को बिन्दु कहते हैं। किन्तु यही एक तरह का निस्पन्द शिव का अहंकार है जिससे सत्त्व, रजस् और तमस् की उत्पत्ति होती है। इन तीनों की निरन्तर समता ही महामाया, महामाया के नीचे माया और उसके बाद प्रकृति है। ये तीनों ही परमेश्वरी की अचित् शक्ति के विभाग हैं। इन तीनों के ऊपर चित् शक्ति या पराशक्ति है। यह शरीर जिन छः तत्त्वों से निर्मित है, वे त्रिपुरासुन्दरी के ही तत्त्व हैं। अर्थात् छः तत्त्वों को लेकर ही भगवती विश्वरूपी देह में परिणत हुई है।[2] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में स्पष्टोक्त है कि शक्ति का प्रसार एवं संकोच ही जगत् की सृष्टि एवं लय है।[3] कामकला विलास में इस शक्ति को विमर्श-रूपिणी कहा है।[4]

---

१. भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥
—भा० द० पृ० ४८३

२. भा० द० और मु० मी० पृ० ३३९-३४०

३. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते॥
—सि० सि० सं० ४।२४

४. विद्यापि तादृगात्मा सूक्ष्मा सा त्रिपुरसुन्दरी देवी।
विद्यावेद्यात्मकयोरत्यन्ताभेदमामनन्त्यार्याः॥
एक एव प्रकाशाख्यः परः कोऽपि महेश्वरः
यस्य शक्तिर्विमर्शाख्या सा नित्या गीयते बुधैः॥
विमर्शाख्या च सा देवी पाञ्चविध्यं समागता।
आकाशानिलसप्तार्चिः सलिलावनिभेदतः॥
एकैकगुणवृद्धा तु तिथिसंख्यात्वमागता।
विमर्शरूपिणी विद्या षोडशी या प्रकीर्तिता।
गता सा षोडशैर्भेदैस्त्रिपुरा परमेश्वरी॥
विचित्रान्तं समन्ततः।
स्वागमादेव बौद्धव्यमिति संकल्पमात्रतः॥
—कामकलाविलास, पृ० १९-२०

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में उस अव्यक्त[1] परम तत्त्व की सत्यसंकल्पमयी इच्छामात्र रूपी धर्म को धारण करने वाली एवं समस्त जीवों के सुख-दुःख निमित्तार्थ सृष्टि एवं प्रलय की एकमात्र कारणभूता निजा शक्ति की विद्यमानता थी। अर्थात् शक्तिमान् और शक्ति में अभिन्नत्व था। शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास था। यह निजा शक्ति ही संकल्प अथवा इच्छा शक्ति है। इस निज शक्ति को शिव की अभिव्यक्ति भी कह सकते हैं। तदनन्तर सकलज्ञानोत्पादक परा नामक शक्ति उन्मुख हुई। इस पराशक्ति के स्पन्दनमात्र से उसमें प्रसुप्त समस्त जगत् की उत्पादिका क्रिया प्रधान धर्मा अपरा शक्ति जाग्रत हुई। इसी को सिसृक्षामयी भी कहते हैं। उस अपरा शक्ति से परमेश्वर में अहंकार से सूक्ष्मा शक्ति प्रकट हुई अर्थात् परम शिव की अहंभाव प्रधान सूक्ष्मा शक्ति प्रकट हुई और अन्त में चिच्छिला कुण्डलिनी शक्ति प्रकट हुई।[2] इसको इस क्रम द्वारा भी अभिव्वक्त किया जा सकता है बीज, अंकुर, काण्ड, शाखा और पत्र एवं फल। यह चिच्छिला अन्तरूपा और अनन्तशक्तिस्वरूपा है। यही शक्ति जगत् रूप में परिणत होती है। अर्थात् वस्तुतः परम शक्ति एक ही है, किन्तु जब वह सृष्टि हेतु उन्मुख होती है तो क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल होकर जगत् रूप में प्रकट होती है। यही जगत् की कारण है। निज विभिन्न-२ स्वरूपों को धारण करती हुई अन्त में साकार शक्ति, सृष्टिकुण्डलिनी अथवा स्थूल शक्ति के रूप में प्रकट होती है। पराशक्ति की सहायता से परमशिव सृष्टि प्रक्रिया को सम्भालने में समर्थ होते हैं, क्योंकि इससे रहित होने पर शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं तथा इससे युक्त होने पर वे सब कुछ कर सकते हैं।[3]

इस प्रकार उस अव्यक्त परम तत्त्व की पाँच शक्तियाँ पाँच-पाँच गुणों से युक्त थीं। अर्थात् प्रत्येक शक्ति के पाँच-पाँच गुण थे। जो इस प्रकार से हैं—

---

१. ततः सम्पूर्णसर्वाङ्गो जातोऽभ्युदित उच्यते।
पुरुषः प्रलये चेष्टैः पुनर्भावैर्वियुज्यते॥
—चरकसँहिता, शरीरस्थानम् १।६६

२. सि० सि० सं० १।५-६

३. परो हि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन।
अतस्तु परमेशानि शक्त्या युक्तो तदा भवेत्॥
—वामकेश्वरतन्त्र ४।६

निजा

निराकृतित्व नित्यत्व निरन्तरत्व निष्पन्दत्व निरुत्थत्व

परा

अस्तित्व अप्रमेयत्व अभिन्नत्व अनन्तता अव्यक्तता

अपरा

स्फुरता स्फारता स्फुटता स्फोटता स्फूर्तिता[१]

सूक्ष्मा

निरन्तरत्व नैरंश्य नैश्चल्य निश्चयत्व निर्विकल्पत्व

कुण्डलिनी

पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रकृतिरूपता प्रत्यङ्मुखता औचल्यता

इस प्रकार प्रत्येक शक्ति के पाँच-पाँच गुणों (कुल पच्चीस)[१] के समुदाय से परपिण्ड की उत्पत्ति हुई, ऐसा सिद्धान्ततत्त्ववेत्ता कहते हैं।[२] अर्थात् पञ्च शक्तियों के इन गुणों के समुदाय से सगुण परमेश्वर के पिण्ड का आविर्भाव होता है। परपिण्ड की उत्पत्ति शक्ति के संयोग से होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि परपिण्ड को प्रथम या आद्य पिण्ड नहीं कहा गया है क्योंकि आद्य या प्रथम कहने से वह संख्या उपाधि युक्त हो जाती है। अतएव पर तत्त्व को एक संख्या द्वारा भी सूचित नहीं किया जा सकता। वह उससे भी अतीत अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जन है।[3]

काश्मीर शैव दर्शन में शक्ति भेद मुख्यतया दो प्रकार से किया गया है। एक वे जो शिव के स्वरूप में निहित हैं तथा दूसरे वे जिन्हें शिव सृष्टि की

---

१. सि० सि० सं० १।७-९

२. वही, १।१०-१२

३. निखिलोपाधिहीनो वै यदा भवति पूरुषः।
तदा विवक्षतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः॥
—शिवसंहिता १।९८ नाथ सम्प्रदाय पृ० १२२-१२३

अभिव्यक्ति के क्रम में स्फुटित करता है अथवा जो शिव के स्वातन्त्र्य पर आश्रित हैं। चित् और आनन्द शक्ति से शिव विमर्श एवं आनन्दरूप है। इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों को शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति कह सकते हैं, जिन्हें वह सृष्टि की अभिव्यक्ति हेतु प्रकट करता है।[1] "चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पञ्च शक्तियों से भरित होने के कारण शिव पूर्ण हैं। अन्य की आकांक्षा या अपेक्षा न होने के कारण स्वतन्त्र; चिन्मात्र स्वरूपता के कारण निराशंस रूप में शिव को अभिहित किया जाता है। अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से वे पूर्वोक्त शक्तिपञ्चक की शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या रूप तत्त्व दशा का आभासन करते हैं।"[2]

पूर्वोक्त पञ्च (निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी) शक्तियों में शक्ति चक्र क्रम (प्रत्येक शक्ति के विकास से एक-एक पिण्ड का प्रादुर्भाव और इन पिण्डों के पञ्च देव होते हैं शक्ति चक्र त्रिकोण जिसके मध्य बिन्दु है अर्थात् अविकृत कारण परमब्रह्म। जब सदाशिव की शक्ति का विकास होता है तब वह शक्ति एक साथ तीन आकारों को धारण करती है और वे तीन आकार इच्छा, ज्ञान और क्रिया अथवा रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा अथवा गौरी, और सरस्वती अथवा सत्त्व, रजस् और तमस्। शैव मत में इच्छा से बिन्दु में तनाव, ज्ञान से बिन्दु में क्षोभ और ज्ञानशक्ति द्वारा प्रेरित बिन्दु स्व उत्तेजित रूप में शिव कहलाता है। यही बिन्दु का प्रथम परिवर्तन है। बिन्दु अपने तार में कुण्डलिनी और शिव अपनी जाग्रतावस्था में वही कुण्डलिनी है।)[3] द्वारा सदाशिव आविर्भूत हुआ।[4]

अनादि पिण्ड—पञ्च शक्ति सम्पन्न पञ्च देवताओं का क्रम –

१. अपरम्पर-सदाशिव—विद्यमानता, अपूर्वता और अचितायुक्त। निजा शक्ति के अधिष्ठाता।

---

१. काश्मीर शैव दर्शन पृ० ६६

२. स्वान्त्र्यभासितभिदा पञ्चधा प्रविभज्यते।
चिदानन्देषणाज्ञानक्रियाणां सुस्फुटत्वतः॥
शिवशक्तिसदेशानविद्याख्यं तत्त्वपञ्चकम्॥

—तन्त्रालोक ९।५०

काश्मीर शैव दर्शन पृ० ५२ से

३. (क) सि० सि० प० पृ० ६१
(ख) शैव-सिद्धान्त दर्शन पृ० १२१

४. सि० सि० सं० १।१३

२. परम-ईश्वर—स्वसंवेदनाभास युक्त । परा शक्ति के अधिष्ठाता ।

३. शून्य-रुद्र—स्वेच्छा मात्र । अपरा शक्ति के अधिष्ठाता ।

४. निरञ्जन-विष्णु—सत्तामात्र (अहंकार) युक्त । सूक्ष्मा शक्ति के अधिष्ठाता ।

५. परमात्मा-ब्रह्मा—समष्टिपिण्डयुक्त । कुण्डलिनी शक्ति के साक्षी ।[1]

सम्भवत: सूक्ष्म दृष्टि से अगर षट् चक्रों में से पञ्च चक्रों का पर्यालोचन किया जाए तो इन पञ्च चक्रों के देवताओं का भी यही क्रम प्रतीत होता है—

१. विशुद्ध चक्र – सदाशिव

२. अनाहत चक्र—ईश

३. मणिपूरक चक्र – रुद्र

४. स्वाधिष्ठान चक्र—विष्णु

५. मूलाधार चक्र—ब्रह्मा ।

यहाँ यह निर्दिष्ट किया जा सकता है कि सूक्ष्म से स्थूल जगत् की उत्पत्ति में ये पाँचों देव अपने-अपने विशेषणों से युक्त समष्टि (ब्रह्माण्ड) से व्यष्टि (पिण्ड) की ओर उन्मुख होते हैं । स्थूल जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा के स्थान मूलाधार चक्र से कुण्डलिनी शक्ति को ऊर्ध्वगामी करना अर्थात् स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख होना ही वास्तविक मुक्ति है । क्योंकि साकार का विनाश हो जाता है किन्तु निराकार कभी नष्ट नहीं होता, अतएव प्रयत्नपूर्वक साकार का परित्याग करना चाहिए ।[2] ऊर्ध्वमूल और अध:शाखारूप इस वृक्षाकार कलेवर में महामाया रूपवासुकी का वास रहता है और वह ब्रह्माण्ड संज्ञक शिव से मिलने हेतु सदा व्याकुल रहता है । जब वह वासुकी स्वर्गषट्क को भेदकर उत्थित होता है तो पिण्डस्थ

---

१. सि० सि० सं०, १।१४-१५

२. ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥
निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत् ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत् ॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् २९-३०

सभी नदियाँ ऊर्ध्वगामी हो जाती हैं।[1]

सिसृक्षावस्था में पूर्वोक्त वर्णित देवताओं का क्रमिक विकास एवं आरोहण में इनका विपरीत क्रम उत्पन्न होता है और अन्त में केवल स्वयं अथवा अनाम तत्त्व ही विद्यमान रहता है।

पञ्च देवताओं के पाँच-पाँच गुणों का निरूपण—

अपरम्पर
- अकलत्व
- असंशयत्व
- अनुमतत्व
- अन्यपारता
- अमरत्व

परम
- निःकलत्व
- अलोलत्व
- असंख्येय
- अक्षयत्व
- अभिन्नता

शून्य
- नीलता
- पूर्णता
- मूर्छा
- उन्मनी
- लयता

निरञ्जन
- सहजत्व
- सामरस्य
- सत्यत्व
- सावधानता
- सर्वगत्व

परमात्मा
- अभयत्व
- अभेद्यत्व
- अच्छेद्यत्व
- अनाश्यता
- अशोष्यत्व

---

१. श्रृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगसारं समासतः।
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वृक्षाकारं कलेवरम्॥
ब्रह्माण्डे यानि तीर्थानि तानि सन्ति कलेवरे।
बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम्॥
वासुकी या महामाया भुजगाकाररूपिणी।
सार्धत्रिवलाकारा पातालतलवासिनी॥
सत्यलोके महाविष्णुं शिवं ब्रह्माण्डसंज्ञकम्।
तस्य संदर्शनार्थाय वासुकी व्याकुला सदा॥
स्वर्गषट्कं भेदयित्वा उत्थिता वासुकी यदा।
सर्वाः समुद्रगामिन्य ऊर्ध्वस्रोता भवन्ति हि॥

तोडलतन्त्रम्—२।१, २, ५, १०, ११

इस प्रकार पञ्चशक्ति-समन्वित चेतन ही अनाद्य-पिण्ड कहलाता है और विद्वद्जनों द्वारा इस पिण्ड के पाँच तत्त्वों तथा उनके पच्चीस गुणों का वर्णन किया गया।[1] अन्त में यह समस्त चराचर जगत् महाशक्ति के गर्भ में स्थित होता है और वह चेतनस्वरूपा शक्ति भी चेतनस्वरूप परम से अभिन्न रहती है। तब केवल निर्गुण तत्त्व था। सृष्टि-प्रक्रिया के साथ सर्व-प्रथम पञ्च-पञ्च गुणों से युक्त पञ्च महाशक्तियों में एक-एक शक्तियुक्त एक-एक देव का आविर्भाव हुआ। इन सब शक्तियों से युक्त चेतन ही अनाद्य पिण्ड है और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव के नाम से विख्यात है, उसी सर्वेश्वर के अपरम्पद, परमपद, शून्य, निरञ्जन और परमात्मा ये अवयव रूप हैं।[2]

सृष्टि के सम्बन्ध में अनागमिक सृष्टि, स्थिति और संहार इन तीन स्थितियों को स्वीकार करते हैं जबकि वैष्णव, शैव और शाक्तों ने इनसे सम्बद्ध निग्रह और अनुग्रह भी माना है। ये दोनों शक्ति के विलास हैं। निग्रह स्वेच्छावश संकोच और अनुग्रह परमेश्वर की शक्ति जिससे वह पुनः अभेदमय निजस्वरूप हेतु अग्रसर होता है। 'पञ्चकृत्यकारी' परतत्त्व की निजा शक्ति अन्तःस्थ प्रपञ्च बहिः प्रसारित होकर समस्त ब्राह्मणागमों में त्रिधा विभक्त है—शुद्ध अर्थात् अभेद दशा, शुद्धाशुद्ध अर्थात् भेदाभेद दशा और अशुद्ध अर्थात् भेद दशा।[3] "शक्ति शिवता है और शिवता शिव का स्वभाव है। अतः सृष्टि-संहार स्वभावतः हो रहा है—स्वभावसिद्ध कार्य में निमित्त का प्रश्न ही नहीं खड़ा होता।"[4]

शिव निज सिसृक्षा शक्ति के कारण जगत् के रूप में परिणत होता है। सभी पिण्डों में उस परम तत्त्व की विद्यमानता है। स्वयं ग्रन्थकार ने कहा है कि जो कुछ भी ब्रह्माण्ड में है वह सभी पिण्ड में है।[5] तोडलतन्त्रम् और

---

१. सि० सि० सं०, १।१६-२१

२. सि० सि० प० पर हिन्दी टीका, पृ० ६७-६८

३. तन्त्र और सन्त, पृ० ५०

४. महाप्रकाशरूपाहि येयं संविद् विजृम्भते।
सा शिवः शिवतैवास्य वैश्व रूप्यावभासिता॥
—तन्त्रालोक, भाग ६

आ० १५।२६५, २६६, तन्त्र और सन्त पृ० १५०-१५१

५. ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसंवित्तिरुच्यते॥
—सि० सि० सं० ३।२

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् में भी इसी प्रकार के संकेत उपलब्ध होते हैं।[1]

इस मत में जगत् अद्वैत वेदान्त की भाँति मिथ्या प्रतीति नहीं, अपितु वह स्वयं को अपनी शक्ति से इस व्यावहारिक जगत् रूप में अभिव्यक्त करता है। शिव-सिसृक्षा से सृष्टि होती है और यही जगत् का कारण है। वैष्णव, शैव एवं शाक्तों में सृष्टिविचारपरक एक दृष्टि यहाँ प्रस्तुत है—

सृष्टि-विचार वैष्णव, शैव एवं शाक्त सम्प्रदायों के परिप्रेक्ष्य में—

१. **रामानुजाचार्य**—सृष्टिविषयक प्रसङ्ग हेतु उपनिषदों का ही अनुसरण करते हैं। आचार्य ब्रह्म में चित् एवं अचित् तत्त्वों की विद्यमानता मानते हैं तथा उपनिषदों, पुराणों एवं स्मृति ग्रन्थों में प्रतिपाद्य प्रकृति के रूप को स्वीकार करके उसे ईश्वर का अंश और उसी के द्वारा परिचालित मानते हैं। इस मत में प्रकृति ईश्वर की अध्यक्षता में ही सृष्टि कार्य का सम्पादन करती है।[2] नित्य एवं अनादि प्रकृति का यह जगत् परिणाम होने से अनादि है। क्योंकि रामानुजाचार्य ईश्वर, चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) इन तीन पदार्थों की नित्यता मानते हैं।[3] ईश्वर की इच्छा से ही प्रकृति तीन तत्त्वों (तेज, जल और पृथिवी) में विभाजित हो जाती है। इनमें क्रमशः सत्त्व, रजस् और तमस् की प्राप्ति होती है। समस्त स्थूल पदार्थों का निर्माण इन तीनों तत्त्वों के नाना प्रकार के संयोगों से ही सम्पादित होता है।[4]

---

१. (क) बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम् ॥

—तोडलतन्त्रम्, २।२

(ख) ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम्।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥

—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २६

२. भा० द०, पृ० ३६६

३. एष हि तस्य सिद्धान्तः—चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामक-भेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्था इति। तदुक्तम्—
ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः।
ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित्पुनः ॥

—सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० १८७

४. भा० द०, पृ० ३६६

२. द्वैतवादी माध्वों के अनुसार जगत् के जन्मादि व्यापार में परमात्मा निमित्त और प्रकृति उपादान कारण है। अर्थात् प्रकृति ईश्वर के अधीन है और वही जगत् का उपादान कारण है।[1] जगत् ईश्वर से भिन्न एवं सत् है तथा उसकी सत्ता प्रामाणिक है। "सृष्टि ईश्वर के जगत् से, आठ प्रकार के सम्बन्धों में से, प्रथम सम्बन्ध है। इस प्रकार सृष्टि-प्रक्रिया ईश्वर के अधीन है। प्रकृति में प्रवेश एवं उसे परिणमित करके वहाँ परिणाम एवं नियमन आदि के कारण वह उसका स्वामी है।"[2] माध्व मत सत्त्वाभिमानी श्री, रजोऽभिमानी भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा को स्वीकारते हैं।[3]

प्रकृति प्रत्यक्ष रूप से काल एवं त्रिविध गुणों की कारण और अप्रत्यक्ष रूप से महत् अहङ्कार की कारण है। प्रकृति के चौबीस तत्त्वों से यह ब्रह्माण्ड बनता है। सृष्टि-प्रक्रिया के सांख्य सिद्धान्त को स्वीकार कर मध्व ने सृष्टि को ब्रह्म का परिणाम अथवा विवर्त नहीं माना है।[4]

३. श्री निम्बार्क—मत में जगत् मिथ्या अथवा भ्रम नहीं अपितु परमात्मा का स्वाभाविक परिणाम है।[5] इस मत में जगत् के विवर्त्तवाद का खण्डन किया गया है क्योंकि जगत् की वास्तविक सत्ता को स्वीकार न करने पर जगत् के निर्माता की वस्तुस्थिति असम्भव है। जीव, जगत् और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध है। जीव और जगत् परमात्मा के आश्रित होने से अभिन्न हैं।[6] जब परमात्मा सृष्टि करना चाहते हैं तब तीनों गुणों की साम्यावस्था प्राकृत माया में विक्षोभ होता है और उसी से महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है। दशश्लोकी में वर्णित है कि 'अचेतन (अविद्या) अप्राकृत, प्राकृत और काल रूप से तीन प्रकार की है। वह प्राकृत ही माया, प्रधान आदि नामों से

---

१. ब्रह्मसूत्रभाष्य, २।१।१५

२. 'मध्व—'प्रकृतावनुप्रविश्य, तां परिणाम्य, तत्परिणामनियामकतया, तत्र स्थित्वा आत्मनो बहुधाकरणात्।' ब्रह्मसूत्रभाष्य, १।१४।२७
द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन, पृ० १९६

३. भा० द०, पृ० ४०४

४. द्वैत वेदान्त का तात्विक अनुशीलन, पृ० १९९

५. सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेद विन्मतं त्रिरूपतापि श्रुतसूत्र साधिता।
—दशश्लोकी, ६

६. श्रीनिम्बार्क वेदान्त पर डा० राधाकृष्णन के विचार, पृ० १४-१५

कही गई है और उसी के शुक्ल, रक्त, पीत आदि रूप भी हैं'।[1] प्रकृति, महत्, अहङ्कार, मन, दश इन्द्रिय, पञ्चतन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत ये २४ तत्त्व हैं (जो कि प्राकृत सृष्टि है)। अप्राकृत माया स्वर्गादि लोकों की है। काल स्वरूप माया में सम्पूर्ण सृष्टि निर्धारित है।[2]

४. **वल्लभ मत**—जगत् को अद्वैत वेदान्तियों की भाँति मायिक तथा असत्य न मानकर ब्रह्मरूप[3] और ब्रह्मसदृश नित्य मानता है। जगदुत्पत्ति के विषय में वल्लभाचार्य अविकृत परिणामवाद (दूध का दही में परिवर्तन विकृत परिणाम और पुनः अपने वास्तविक रूप में आना अविकृत परिणाम)[4] के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। इस मत के अनुसार जगत् की उत्पत्ति और विनाश न होकर जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। ईश्वर की इच्छामात्र से सदंश के प्रकट होने पर जगत् का आविर्भाव तथा चिद् और आनन्द के तिरोभाव से जगत् का तिरोभाव समझना चाहिए।[5] यह भी कहा जा सकता है कि अनुभव योग्य होना जगत् का आविर्भाव और अनुभव योग्यता रहित होने पर जगत् का तिरोभाव होता है।[6] पट की भाँति ही जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है।[7] २८ तत्त्वों को इस मत में जगत् का कारण माना है। तत्त्वों की संख्या इस प्रकार से है—सत्त्व, रजस्,

---

१. अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतं।
माया प्रधानादि पद प्रवाच्यं शुक्लादिभेदाश्च समेऽपितत्र॥
—दशश्लोकी, ६

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, उत्तरार्ध, पृ० २७१

३. तदेवैतत्प्रकारेण भवतीति श्रुतेर्मतम्।
—सिद्धान्तमुक्तावली षोडश ग्रन्थाः ५

४. यथा सुवर्णं सुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्मयस्य। तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत्। श्रीमद्भागवत
—भा० द०, पृ० ६३३

५. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त पृ०, १२४

६. 'अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः, तदविषयत्वयोग्यता तिरोभावः—विद्वन्मण्डल, पृ० ७—भा० द०; पृ० ६३३

७. पटवच्च—अणुभाष्य; ब्रह्मसूत्र २।१।१९

तमस्, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत, पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्चकर्मेन्द्रियाँ, और मनस्।[1]

५. **चैतन्य मत**—में जगत् एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह बहिरङ्ग शक्ति का ही विलास है और यह शक्ति प्रभु के अधीन है। भगवान् ने ही सम्पूर्ण सृष्टि की है। अतएव यह जगत् सत्य है। जगत् की सत्यता की उद्घोषणा ईशावास्योपनिषद्[2] श्वेताश्वतरोपनिषद्[3] विष्णुपुराण[4] और महाभारतादि[5] में की गई है। 'जिस प्रकार उपवन में पक्षीगण लीन रहते हैं उसी प्रकार यह विश्व प्रलय काल में वनविलीन विहंगवत् परमात्मा में लीन रहता है। इस प्रकार जगत् मिथ्या नहीं अपितु सत्य ही है।'[6]

६. **पाञ्चरात्र मत**—में भगवान् निर्गुण (अप्राकृत गुणों से रहित) होकर भी सगुण (जगत् व्यापार हेतु षड्गुण-ज्ञान,[7] शक्ति, ऐश्वर्य, बल,

---

१. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, सर्वनिर्णयप्रकरण, वल्लभाचार्य, कारिका, ९४-९६, वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १२६

२. स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरम् शुद्धमपापविद्धम् ;
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यधाच्छाश्वतीभ्यः
समाभ्यः ॥ —ईशावास्योपनिषद्, ८

३. य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता०, ४।१

४. तदेतदक्षरं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्।
आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ॥
—विष्णुपुराण; १।२२।६६ पृ० १२२

५. ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यं चैव प्रजापतिः।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत् ॥
—महाभारत अश्वमेधपर्व, ३५।३४

६. (क) प्रलयेऽपि जगत्सत्स्याद्वनलीनविहङ्गवत्।
वैराग्यार्थमसत्त्योक्तिरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥
नवरत्न—२२

(ख) भा० द०, पृ० ४२१

(ग) चैतन्य-सम्प्रदाय सिद्धान्त और साहित्य, पृ० १०३

७. ज्ञानं नाम गुणं प्राहुः प्रथमं गुणचिन्तकाः।
स्वरूपं ब्रह्मणस्तच्च गुणश्च परिगीयते ॥
—नारदपाञ्चरात्र, २।५७

वीर्य और तेज युक्त)[१] हैं। शक्तिमान् की आत्मभूताशक्ति प्रारम्भ में किसी अचिन्त्य कारण से उन्मेष पाती है तथा सृष्टि-प्रक्रिया में प्रवृत्त होती है।[२] शक्तिमान् की शक्ति लक्ष्मी-संज्ञक है तथा इन दोनों में अभेद नहीं है। वह स्वतन्त्र रूप से जगत् में निमेष-उन्मेष को प्राप्त होती है।[३] उन्मेष द्वारा दो भागों में विभक्त यह शक्ति क्रिया एवं भूति-शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। परम की सिसृक्षा क्रियाशक्ति[४] और जगत् की परिणति भूतिशक्ति अभिहित है।[५] शक्तिमान् और शक्ति में भेद होने पर भी भगवान् ही जगत् की आत्मा है और वास्तव में क्रिया एवं भूति उनकी कलाएँ हैं।[६] जगत् हेतु भगवान् स्वयं चार रूपों की सृष्टि करते हैं—व्यूह, विभव, अर्चावतार और अन्तर्यामी अवतार। शुद्ध सृष्टि के आधार शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है।

सृष्टि क्रम—प्रद्युम्न; कूटस्थ पुरुष, मायाशक्ति, नियति, काल, सत्त्व, रजस्, तमस् बुद्धि, अहंकार (वैकारिक-तैजस और भूतादि क्रमशः सात्त्विक, राजस और तामस) सात्त्विक से बुद्धीन्द्रिय, मन, कर्मेन्द्रिय और तामस से पञ्चतन्मात्रा स्थूलभूत। इस मत में प्रकृति, पुरुष की अध्यक्षता में सृष्टि की उत्पादिका है।[७]

---

१. एते शक्त्यादयः पञ्च गुणा ज्ञानस्य कीर्तिताः।
ज्ञानमेव परं रूपं ब्रह्मणः परमात्मनः॥
षाड्गुण्यं तत्परं ब्रह्म स्वशक्तिपरिबृंहितम्॥

२. स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चित् क्वचित् सोन्मेषमृच्छति।
आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता ५।४

३. स्वातन्त्र्यरूपा सा विष्णोः प्रस्फुरत्ता जगन्मयी।
उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषरूपिणी॥
—अष्टावक्रसंहिता, ३-६

४. क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः।
लक्ष्मीमयः प्राणरूपी विष्णोः संकल्प उच्यते॥
—अहिर्बुध्न्य-संहिता ३।२१

५. भा० द०

६. भा० द० और मु० मी०, २४६

७. भा० द० पृ०, ४३६-४४१

(७) **श्रीमद्भागवत मत**—में परब्रह्म सृष्टि-हेतु पुरातन पुरुष के रूप में प्रकट हुआ और यही प्रथम अवतार है—'आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य' (भा० ११।४।३)। अन्य तत्त्वों की उत्पत्ति इसी से समझनी चाहिए। वे स्वांश रूप से समस्त जड़-चेतन में प्रविष्ट होते हैं, तो जीव, जगत्, ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर आदि रूपों में स्फुरित होने लगते हैं।[1] अर्थात् जीव और जगत् ईश्वर के ही रूप हैं। एक ही परब्रह्म शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि विविध धर्मों से समन्वित है। परब्रह्म ही विविध अहङ्कार (वैकारिक, राजस और तामस), पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियाँ और उनके अधिष्ठातृ देवता बनते हैं तथा स्वयं प्रकाश वे इन उपाधियों के संयोग से जीव कहलाते हैं।[2]

८. **पाशुपत मत**—में शिव ही पशुपति[3] तथा समस्त पदार्थ उनके पशु हैं। ये पशुपति ही उनके स्वामी हैं।[4] इस मत में कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त ये पञ्च पदार्थ स्वीकृत हैं।[5] विद्या, कला और पशु[6] कार्य के तीन प्रकार हैं। जिनमें से विद्या जीव का गुण, कला जड़ स्वभावा और परतन्त्रा

---

१. भा० द० और मु० मी०, २५६

२. वही २५६

३. हितार्थमखिलं येन सृष्टं ब्रह्मादिकं जगत्।
प्रणम्य तं पशुपतिं शिरसा सदसस्पतिम्॥
अर्थातिशयसम्पन्नं ज्ञानातिशयमुत्तमम्।
पञ्चार्थं क्रियते भाष्यं कौण्डिन्येनानुपूर्वशः॥
पाशुपत सूत्र, पृ० १

४. ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च देवदेवस्य शूलिनः।
पशवः परिकीर्त्यन्ते समस्ताः पशुवर्तिनः॥

५. (क) 'एवं सदुःखान्तः कार्यं कारणं योगो विधिरिति पञ्चैव पदार्थाः समासत उद्दिष्टाः।'
—पाशुपत सूत्र पर कौण्डिन्य भाष्य, १।१

(ख) ज्ञानमात्रे यथाशास्त्रं साक्षाद् दृष्टिस्तु दुर्लभा।
पञ्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्त्वनिश्चयः॥
—सर्वदर्शनसंग्रह

६. क्रीडावानेव भगवान् विद्याकलापशुसंज्ञकं त्रिविधमपि कार्यमुत्पादयति अनुगृह्णाति तिरोभावयति च उक्तं हि—'अप्रचोद्यः प्रचोद्यैस्तु कामकारकरः प्रभुः। क्रीडते भगवान् लोकैर्बालः क्रीडनकैरिव'।
पाशुपतसूत्र, पृ० १४-१५

के दो प्रकार—कार्य कला (पञ्च महाभूत तथा इनके सूक्ष्म गुण) और कारणकला (पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहङ्कार और मन)। इन्हीं दोनों से युक्त आत्मा पशुता को पाता है।

९. **वैयाकरण**—मत में एकमात्र सत्यभूत पदार्थ शब्द-ब्रह्म का ही यह जगत् विवर्त है।[1] शारदातिलक में वर्णन है कि समस्त भूतों में विद्यमान चैतन्य स्वरूप तत्त्व शब्द-ब्रह्म ही है जो प्राणियों के मध्य वर्तमान कुण्डलिनी रूप को पाकर गद्य-पद्य भेदात्मक वर्णरूपों में आविर्भूत होता है।[2]

(१०) **वीरशैव मत**—में जगत् ब्रह्म का विवर्त न होकर परिणाम है। जगत् की सत्यता इस कारण सिद्ध है क्योंकि इसकी सृष्टि परब्रह्म की शक्तियों द्वारा होती है। इस मत में परब्रह्म की शक्ति का विकास और संकोच होता है।[3] इसी कारण जगत् का आविर्भाव और तिरोभाव होता है। शिव की 'स्थल' संज्ञा का भी यही कारण है।[4] शिव की विमर्श शक्ति ही इच्छा शक्ति के रूप में परिणत हो जाती है। जिसकी अन्तरङ्ग-स्थानीया ज्ञानशक्ति है तथा क्रिया-शक्ति बहिरङ्ग स्थानीया है। ज्ञानशक्ति के साथ अहङ्कार का संयोग होने से परम शिव 'शिव', शिव की क्रियाशक्ति के साथ अहङ्कार का योग होने से 'शक्ति तत्त्व' कहलाते हैं। इच्छा शक्ति की अन्तरङ्ग-स्थानीया ज्ञानशक्ति से प्रपञ्च के उत्पादक 'सदाशिव' कहलाते हैं। स्थूल जगत् के निर्माण का अभिमान होने से 'ईश्वर'[5] और अन्तःकरण उपाधि

---

१. विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।
—वाक्यपदीय, १।१

२. चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्॥
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः॥
—शारदातिलक, १।१३-१४

३. आत्मशक्तिविकासेन शिवो विश्वात्मना स्थितः।
कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वस्य प्रसारणात्॥
—रेणुकाचार्य

४. स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम्।
तद्ब्रह्मस्थलमित्युक्तं स्थलतत्त्वविशारदैः॥

५. ज्ञानं क्रियेति द्वयोरपि प्रथमोन्मेषे सदाशिवो देवः।
द्वितीयाया उल्लेखे द्वितीयः स भवतीश्वरो नाम॥
—महार्थमञ्जरी, पृ० ४०

सहित होने पर 'जीव' कहलाते हैं। जीव और शिव में अन्तर यह है कि शिव शुद्ध चित् या चैतन्य हैं।

परम शिव विविध शक्तियों के आश्रय से ही विश्व की रचना करते हैं।[1] इस मत में ३६ तत्त्वों की परिगणना की गई है—

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, बुद्धि, अहङ्कार, मन, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च तन्मात्राएँ और पञ्च महाभूत। इन्हीं तत्त्वों से जगत् की उत्पत्ति होती है।

११. **शैव सिद्धान्त मत**—'जहाँ अद्वैत-वेदान्त ब्रह्म को शुद्ध ज्ञानस्वरूप, निष्क्रिय अथवा साक्षी मात्र मानता है वहीं काश्मीर-शैव और शैवदर्शन सृष्टि प्रक्रिया में शिव का सक्रिय होना स्वीकारते हैं। काश्मीर-शैवानुसार शिव स्वयं को ही जगत् के रूप में आभासित करते हैं, वहीं शैव मत में आत्माओं की भलाई हेतु शिव जगत् की सृष्टि, स्थिति और संहार करते हैं। इसके अतिरिक्त जहाँ अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के विश्वोत्तीर्ण होने पर अधिक बल देकर विश्वमय पर उतना अधिक प्रयास नहीं किया गया, वहीं इन दोनों दर्शनों में शिव के विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय, दोनों पहलुओं पर समान रूप से बल दिया है।'[2] काश्मीरशैव और शैवसिद्धान्त में मौलिक विभेद यह है कि काश्मीर शैव, अभिन्ननिमित्तोपादान-कारणता तथा शिव से ही सम्पूर्ण सृष्टि-क्रम को आभासवादी व्याख्या करता है, किन्तु शैवसिद्धान्त निमित्त और उपादानकारण का भेदकर, शिव को निमित्त और माया को उपादान कारण मानकर एक यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाता है।[3]

शैव सिद्धान्त का सृष्टि-क्रम इस प्रकार है—शिव, शक्ति, सदाशिव, महेश्वर, शुद्धविद्या, कार्य माया, काल, नियति, कला, विद्या, राग, पुरुष, प्रकृति, मन, अहङ्कार, बुद्धि, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, पञ्च-

---

१. (क) अनादिनिधनाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात्।
इच्छाशक्तिर्विनिष्क्रान्ता ततो ज्ञानं ततः क्रिया॥
यत्रोत्पन्नानि भूतानि भुवनानि चतुर्दश॥
—महार्थमञ्जरी सपरिमल, पृ० ३६

(ख) भा० द० और मु० मी०

२. शैव-सिद्धान्त दर्शन, पृ० ४

३. वही, पृ० १११

तन्मात्राएँ और पञ्चमहाभूत ।[१]

(१२) **प्रत्यभिज्ञा दर्शन**—के अनुसार सृष्टि एकमात्र परमशिव का ही आत्म प्रसार है अर्थात् उस परम तत्त्व का स्पन्द अथवा लीला-विलास ही सृष्टि है । सम्पूर्ण जगत् सिसृक्षा अवस्था में उसी से प्रकट होता है ।[२]

सिसृक्षा में परम के दो रूप हो जाते हैं—शिव और शक्ति ।

सृष्टि की अभिव्यक्ति एवं उसका लय ही शिव और शक्ति, प्रकाश और विमर्श का ही प्रसार और सङ्कोच है ।[3] शिव प्रकाशरूप एवं शक्ति विमर्श-(पूर्ण अकृत्रिम अहं की स्फूर्ति और यह स्फूर्ति सृष्टिकाल में विश्वाकार स्थिति में विश्व प्रकाश और संहार काल में विश्वसंहरण के रूप में होना) रूपिणी है ।[४] "प्रमा के दो रूप हैं—अहमंश और इदमंश । अहमंश ग्राहक शिव हैं और इदमंशग्राह्य शक्ति है । विमर्श के द्वारा प्रकाश का अनुभव और प्रकाश में विमर्श की कल्पना न्याय्य है ।"[५] स्वकीय कार्य में धर्म समुदाय में, या स्वसमान गुणवाली वस्तु में, सामान्य रूप से व्यापक पदार्थ को

---

१. श्रीशैवसिद्धान्तपरिभाषा ।

२. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥
—पराप्रवेशिका, पृ० ११

यथेति, यथा वटबीजे तत्समुचितेनैव वपुषा अङ्कुरपत्रफलानि तिष्ठन्ति एवं नानाविधतनुकरणादिवैचित्र्यशालि विश्वमिदं हृदयबीजान्तः-स्थितं । मयूराण्डरसे सर्वशिख्यवयवानुप्रविष्टबर्होपवर्हादिपूर्ण रेखादि—वैचित्र्यशिल्पकल्पनाकौशलवत् अवधानधनैः सूक्ष्मेक्षिकयावधार्यम् ।
—वही, पृ० ११

३. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११६

४. (क) इह खलु परमेश्वरः प्रकाशात्मा, प्रकाशश्च विमर्शस्वभावः विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेन विश्वसंहरणेन च अकृत्रिमाहमिति विस्फुरणम्—परा प्रावेशिका पृ० १-२

(ख) 'तस्य अन्तर्लीनत्वं नाम अन्तर्मुखत्वम्' ।
—कामकलाविलास, पृ० २

५. भा० द०, पृ० ४७७-४७८

ही तत्त्व कहते हैं।[1]

चैतन्य की अभिव्यक्ति के तत्त्वों की निश्चित संख्या के विषय में शैव दार्शनिकों में मतभेद है। उत्पलाचार्य तत्त्वों की संख्या छत्तीस मानते हैं किन्तु अभिनवगुप्त शिव के आध्यात्मिक और भौतिक रूपों के आधार पर तत्त्वों की संख्या सैंतीस बताते हैं।[2]

पराप्रवेशिका में कहा गया है कि परमशिव ही छत्तीस तत्त्वात्मक प्रपञ्च है।[3] आचार्य सोमानन्दानुसार शक्तियुक्त शिव ही निजेच्छा से पदार्थों का निर्माण करते हैं। शिव तथा शक्ति में अभेद है।[4] इस सृष्टि क्रम का प्रारम्भ सदाशिव से होता है।[5]

प्रत्यभिज्ञा का सृष्टि-क्रम इस प्रकार से है—

शुद्धाध्व के तत्त्वों का क्रम—

(१) शिव—चित् शक्ति का प्राधान्य।

(२) शक्ति—आनन्दशक्ति का प्राधान्य।

(३) सदाशिव—इच्छाशक्ति का प्राधान्य 'अहमिदम्' भाव।

(४) ईश्वर—ज्ञानशक्ति का प्राधान्य 'इदमहम्' भाव।[6]

---

१. एवं जलादितत्त्वेषु वाच्यं यावत्सदाशिवे।
स्वस्मिन् कार्येऽथ धर्मौघे यद्वापि स्वसदृग्गुणे॥
आस्ते सामान्यकल्पेन तननाद् व्याप्तृभावतः।
तत् तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः॥ तन्त्रालोक ६/४-५

२. काश्मीर शैव दर्शन, पृ० ११६

३. एवं च शब्दराशिमयपूर्णाहन्तापरामर्शसारत्वात् परमशिव एव षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मकः प्रपञ्चः॥ पराप्रावेशिका, पृ० ६

४. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
शिवः शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते॥
—सोमानन्द शिवदृष्टि ३।२।३

५. श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
—भास्करी, भा० २ पृ० २१६

६. ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः।
—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, ३।१।३

(५) सद्विद्या—क्रियाशक्ति का प्राधान्य —समधृतपुटतुलान्यायेन 'अहम् इदम्'[1] की समतुल्यता।

शुद्धेतराध्व के तत्त्व—

(६) माया—प्रमातृस्वरूप की आवश्यक और अपने आगे के तत्त्वों की कारण।

(७) से (११) पञ्चकञ्चुक—कला, विद्या, राग, काल और नियति।

(१२) पुरुष—जीवावस्था—सांख्य पुरुष से भिन्न क्योंकि सांख्य के असंख्य पुरुष स्वतन्त्र सताएँ हैं, किन्तु इस मत में वे परमात्मा के ही विभिन्न आभास हैं। इसके अतिरिक्त त्रिक का पुरुष 'पुष्करपलाशवत् निर्लेप चेतन' नहीं है। यह चेतन तो है किन्तु परिस्थितियों से सर्वथा अप्रभावित नहीं रहता।

(१३) प्रकृति—समस्त कार्यों एवं कारणों की कारण। सांख्य की प्रकृति से त्रिक की प्रकृति में दो भेद—

क—सांख्यदृशा यह अनेक कार्यों के लिए स्वतन्त्र है और त्रिकानुसार यह कार्य तभी करती है जब अनन्त द्वारा प्रेरित हो।

ख—सांख्य एक प्रधान है एवं त्रिक अनेकों।

(१४) मन—सङ्कल्पादि का कारण।

(१५) बुद्धि—अध्यवसायात्मिका।

(१६) अहंकार—ग्राह्यग्राहकाभिमान रूप।

(१७) से (२१)—पञ्च बुद्धीन्द्रिय—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण।

(२२) से (२६)—पञ्च कर्मेन्द्रिय—पाणि, पाद, पायु, वाक् और उपस्थ।

(२७) से (३१)—पञ्च महाभूत—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और आकाश।

---

१. प्ररूढभेदस्य इदन्तांशस्य समधृततुलापुटन्यायेन अहमंशस्फुरणायां शुद्धविद्यातत्त्वम्। अत्र विश्वस्य स्फुटतरं परामर्शनात् क्रियाशक्तिः प्रधाना। इयति च शुद्धस्वातन्त्र्यमेव तत्तद्वैचित्र्येण प्रस्फुरति इति शुद्धोध्वा। —षट्त्रिंशत् तत्त्वसन्दोह—४ पर राजानक आनन्द कवि की टीका

(३२) से (३६)—पञ्च सूक्ष्म कार्य—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध।[1]

इस शुद्धेतर अवस्था में ग्राह्यग्राहक भाव स्फुट होता है।'[2]

(१३) **त्रिपुरा मत**—त्रिक एवं शाक्त इन दोनों दर्शनों को ३६ तत्त्व मान्य हैं। इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है, जो विश्वात्मक और विश्वोत्तीर्ण हैं। तत्त्वातीत दशा में शिव और शक्ति की साम्यावस्था होती है। इसी सामरस्य स्थिति को शैव 'परमशिव' और शाक्त 'पराशक्ति' कहते हैं।[3] शाक्तों में श्रीविद्या ही पराशक्ति का पर्याय है। इस सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, ब्रह्मस्वरूपा और मोक्षप्रदायिका[4] शक्ति से ही समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति होती है। यह समस्त चराचर जगत् उस पराशक्ति की देह से स्फुरित होने वाली किरणें हैं। सांख्य के पच्चीस तत्त्वों के साथ शिव, शक्ति, ईश्वर, प्राणादि पञ्चक और गुण-त्रय भी माने जाते हैं। यहाँ प्रधान और गुण-त्रय पृथक्-पृथक् माने गए हैं। पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार के समुदाय से निर्मित पिण्ड में चैतन्य शिव, जीवरूप में विराजते हैं। परन्तु ब्रह्मस्थानीया पराशक्ति और परमशिव की तादात्म्यावस्था से ही यह समस्त जगत् प्रकाशित होता है। तत्त्वातीत शिव शक्ति का संयोग अनादि है।[5] पाँचवाँ मकार मैथुन भी इसी का बोधक है।[6]

---

१ अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनापि भूतेशः।
गगनमलिनश्च तेजः सलिलं भूमिश्च पञ्चभूतानि॥
—षट्त्रिंशतत्त्वसन्दोह १८
'अत्यन्तसङ्कोचग्रहणात् अचिद्रूपतामवभास्य आकाशादीनि पञ्चभूतानि।
—राजानकानन्द टीका १८

२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्। —श्रीविशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० ४६-४७

३. सा जयति शक्तिराद्या निजसुखमयनित्यनिरुपमाकारा।
भाविचराचरबीजं शिवरूपं विमर्श-निर्मलादर्शः॥
—कामकलाविलास, भा० द०, पृ० ४८२

४. 'मोक्षैकहेतुर्विद्याश्रीः श्रीविद्यानात्र संशयः'।

५. भा० द० और मु० मी०, पृ० ३३८-३३९

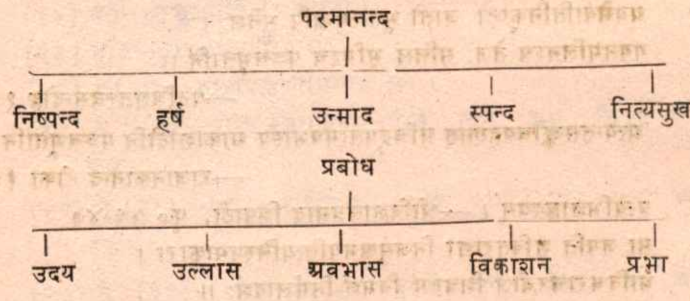
६. 'मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम्॥
मैथुनक्रिया सृष्टि-स्थिति-लयानां कारणं परमं तत्त्वम्। मैथुनक्रियायोगे सिद्धिलाभो जायते। तस्माच्च सुदुर्लभं ब्रह्मज्ञानमुत्पद्यते।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में—आद्य पिण्ड पुरुष–पञ्च तत्त्व तथा उनके गुण—

पूर्वोक्त तत्त्वों के सगुण समवेत द्वारा आद्य पिण्ड उत्पन्न हुआ, जिसकी अभिव्यक्ति के पाँच तत्त्व हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहम् भाव । अर्थात् आद्य पिण्ड पुरुष में इन पाँचों का प्रादुर्भाव हुआ । ये सब आद्यपिण्ड की अभिव्यक्तियाँ हैं । "सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिए इस प्रकार अहन्ता की प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर होती है । इन अवस्थाओं को आनन्द कहते हैं । पाँच आनन्द हैं—परमानन्द, प्रबोध, चिदुदय, प्रकाश और सोऽहं । इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः जीव-रूप की ओर अग्रसर होते हैं ।"[1]

महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज के अनुसार "शक्ति के स्फुरण की पूर्वावस्था में ब्रह्म निर्गुण है––शक्ति की स्फूर्त्ति तथा गुणों का आविर्भाव समार्थक है । शक्ति के सदृश अनादि पिण्ड भी स्वरूपतः निर्गुण है, परन्तु शक्ति-विभाग के साथ-साथ उससे क्रमशः गुणमय परमानन्द, प्रबोध, चिद्रूप प्रकाश तथा सोऽहं भाव का विकास होता है । यहाँ भी प्रत्येक भाव में पाँच-पाँच गुणों का आविर्भाव होता है । इसीलिए, सृष्टिमार्ग में अनादि पिण्ड भी पंचविंशतिगुणविशिष्ट हो जाते हैं ।"[2]

इनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुण इस प्रकार से हैं—



अपि च —

कुलकुण्डलिनी शक्तिर्देहिनां देहधारिणी ।
तया शिवस्य संयोगो मैथुनं परिकीर्तितम् ॥'

—शाक्त-दर्शन, पृ० १२८

१. नाथ सम्प्रदाय, पृ० ११६
२. भारतीय संस्कृति और साधना, प्रथम खण्ड, पृ० १५२

चिदुदय

सद्भाव | विचार | कर्तृत्व | ज्ञातृत्व | स्वातन्त्र्य

प्रकाश

निर्विकार | नैष्कल्य | सद्बोध | समता | विश्रान्ति

सोऽहं भाव

अहन्ता | खण्डितैश्वर्य* | स्वानुभूति | समर्थता | सर्वज्ञता[1]

इस प्रकार इन पञ्च तत्त्वों के गुणों से युक्त आद्य पिण्ड कहलाता है और इसी सूत्रात्मा आद्यपिण्ड से महाकाश, महाकाश से महानिल, महानिल से महातेज, महातेज से महावारि और महावारि से महाधरा उत्पन्न हुई।[2] चरक-संहिता में पञ्चमहाभूतों का वर्णन कर, यह निर्दिष्ट किया गया है कि आकाश आदि पाँच गुणियों में से प्रथम गुणी आकाश में एक गुण शब्द होता है। इसके पश्चात् के भूतों में एक-एक गुण क्रमशः बढ़ता जाता है।[3]

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् में भी इसी क्रम का तथा विपरीत क्रम का उल्लेख प्राप्त होता है। और अन्त में केवल निरञ्जन ही शेष रह जाता है।[4]

---

* ऐश्वर्यों से निर्लेप
अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः ॥ भागवत

१. सि० सि० सं०—१।२२-२८ —नोट—ग्रन्थ में प्रबोध के पञ्च गुणों का निरूपण परमानन्द के गुणों से पूर्व निर्दिष्ट है।

२. वही, १।२९-३०

३. महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा।
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धाश्च तद्गुणाः ॥
तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे।
पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणिषु स्मृतः ॥
—चरकसंहिता-शरीरस्थानम्, अ० १/२६-२७

४. आकाशाज्जायते वायुर्वायोरुत्पद्यते रविः।
रवेरुत्पद्यते तोयं तोयादुत्पद्यते मही ॥
मही विलीयते तोये तोयं विलीयते रवौ।
रविर्विलीयते वायौ वायुर्विलीयते तु खे ॥

पञ्चमहाभूतों के पांच-पांच गुणों का निरूपण—

महाकाश

अवकाश | छिद्र | अस्पृश्यत्व | रव | नीलवर्ण

महानिल

संचार | चालन | स्पन्द | शोषण | धूम्रता[1]

महातेज

दाहकत्व | पावकत्व | सूक्ष्मत्व | रूपभासिता | रक्तवर्णत्व

महावारि

प्रवाह | आप्यायन | रस | द्रव | श्वेतवर्णता

महाधरा

स्थूलत्व | नानाकृतिता | काठिन्य | गन्ध | पीतवर्णता

इस प्रकार पञ्च महाभूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का समूह ही महासाकारपिण्ड कहलाता है।[2] यह महासाकार-पिण्ड शिवात्मक है। अर्थात् इन सब का सम्मिश्रण ही शिव है।

महासाकार पिण्ड की अष्टमूर्ति—महासाकार पिण्ड रूप में प्रकट साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है, उस साकार शिव की आठ मूर्ति अर्थात् रूप हैं। उसी को शिव कहते हैं। उसी शिव से भैरव, भैरव से श्रीकण्ठ, श्रीकण्ठ से सदाशिव, सदाशिव से ईश्वर, ईश्वर से रुद्र, रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा उत्पन्न हुये। इस प्रकार महासाकार पिण्ड की आठ मूर्तियों का विभाग

पञ्चतत्त्वाद् भवेत् सृष्टिस्तत्त्वात् तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वात् परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम्॥

ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २५-२७

१. सि० सि० सं०, १।३०-३१

२. वही, १।३२-३५

जानना चाहिए और इन्हीं देवों के द्वारा समस्त जगत् का संचालन होता है।

नरनारी रूप प्राकृत पिण्ड—जगत् के स्रष्टा ब्रह्मा के संकल्प से नर-नारी रूप प्राकृत पिण्ड की उत्पत्ति हुई। यह प्राकृत पिण्ड पञ्चभूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों के कारण पञ्चभूतात्मदेह कहलाता है।[1] अतएव शरीरगत पञ्चभूतों के पच्चीस गुणों का निरूपण इस प्रकार से है—

पृथ्वी

अस्थि	त्वक्	मांस	लोम	नाड़ी

अप्

लाला	मूत्र	असृक्	स्वेद	शुक्र

तेज

क्षुधा	तृषा	आलस्य	निद्रा	कान्ति

वायु

धावन	चलन	रोध	प्रसार	आकुञ्चन

आकाश

राग	द्वेष	भय	लज्जा	मोह

इस प्रकार पञ्च भूतों के पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों से प्राकृत

---

१. (क) सि० सि० सं०, १।३६-३७

(ख) पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः।
काठिन्यात्पृथिवी ज्ञेया पानीयं यद्द्रवाकृतिः॥
दीपनं तु भवेत्तेजः स्पर्शो वायोस्तथा भवेत्।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता॥
—अमरौघप्रबोध, ५६, ५७

पिण्ड की संरचना होती है। अर्थात् प्राकृत्-पिण्ड में पञ्चभूत अपने सभी गुणों सहित विद्यमान रहते हैं[1]*।

अन्तःकरणपञ्चक—अन्तःकरण के भेदों का निरूपण करते हुए निर्दिष्ट है कि मन, बुद्धि, अहङ्कार, चित्त और चैतन्य भेद से यह पाँच प्रकार का है। इनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार से है—

मन

संकल्प विकल्प जड़ता मूर्छना मनन

बुद्धि

विवेक वैराग्य परा प्रशान्ति क्षमा

अहंकार

मान ममत्व सुख दुःख मोह

१. सि० सि० सं०, १।३७-४१

*. तुलनीय—उमा पृच्छति हे देव पिण्डब्रह्माण्डलक्षणम्।
पञ्चभूतं कथं देव गुणाः के पञ्चविंशति॥
अस्थि मांसं नखं चैव त्वङ्लोमानि च पञ्चमम्।
पृथ्वी पञ्चगुणा प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
शुक्रशोणितमज्जा च मलं मूत्रं च पञ्चमम्।
अपां पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
निद्रा क्षुधा तृषा चैव क्लान्तिरालस्यपञ्चमम्।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
धारणं चालनं क्षेपं संकोचं प्रसरं तथा।
वायोः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
कामं क्रोधं तथा मोहं लज्जा लोभञ्च पञ्चमम्।
नभः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भासते॥
(ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, १९-२४)

चित्त

मति | धृति | संस्मृति | उत्कृति | स्वीकार

चैतन्य

विमर्ष | हर्ष | धैर्य | चिन्तन | निःस्पृहत्व[1]

कुलपञ्चक—

अन्तःकरण धर्मों का निरूपण कर मन, बुद्धि और इन्द्रिय व्यापार के सञ्चालन में मुख्य सत्त्व, रजस्, तमस्. काल और जीव रूप कुलपञ्चक तथा उनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गणों का निरूपण इस प्रकार है--

सत्त्व

दया | धर्म | क्रिया | भक्ति | श्रद्धा

रजस्

दान | भोग | शृंगार | स्वार्थ | आदान

तमस्

मोह | प्रमाद | निद्रा | हिंसा | क्रूरता

काल

विवाद | कलह | शोक | बन्ध | वञ्चन

जीव

जाग्रत | स्वप्न | सुषुप्ति | तुर्य्यक | तुरीयातीत[2]

व्यक्तिपञ्चक एवं उनके गुण—कुलपञ्चकवर्णनोपरान्त व्यक्ताख्य शक्ति पञ्चक एवं उनके पाँच-पाँच (कुल पच्चीस) गुणों का निरूपण इस प्रकार है—

व्यक्तिपञ्चक—इच्छा, कर्म, विमोहिनी, प्रकृति और वाक्।

---

१. सि० सि० सं०, १।४२-४५

२. वही, १।४६-४६

इच्छा

उन्मेष वासना वीप्सा चिन्ता चेष्टा

कर्म

स्मृति उद्यम उद्वेग कार्य निश्चय

माया

मद मात्सर्य कपट कर्त्तव्य असत्य

प्रकृति

आशा तृष्णा कांक्षा स्पृहा मृषा

वाक्

परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी मातृका[1]

प्रत्यक्षकरणपञ्चक एवं उनके गुण—'जिन प्रधान साधनों द्वारा जीव को इस जगत् में सुख-दुःख का उपभोग करना पड़ता है, उनकी संख्या पाँच है—कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि। बिन्दु रूप शरीर के निमित्त-कारण कर्म और वासना माने जाते हैं। यह संसार अग्निषोमात्मक कहलाता है। कारण सोमरस भोग्य और अग्नि शोषक भोक्ता है तथा इन दोनों के संयोग से जगत् की स्थिति मानी जाती है, केवल एक के रहने पर नहीं। यथा भोज्य पदार्थ जठराग्नि के रहने पर भी शान्त हो जाने से शरीर की स्थिति असम्भव है तथैव केवल अग्नि मात्र से भी स्थिति नहीं हो सकती। इन दोनों के समीकरण से ही जगत् की स्थिति सम्भव होती है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सूर्य और अग्नि को दो पृथक् रूपों में स्वीकार किया गया है। सूर्य की बारह कलाएँ और अग्नि की दस कलाएँ भोक्ता हैं। तथा सोम की सोलह कलाएँ भोग्य हैं। इन्हीं दोनों के संयोग से समस्त जगत् बनता है। इस शरीर का

---

१. सि० सि० सं०, १।५०-५३

माता के रज और पिता के वीर्य से निर्माण होता है। रज सोम और वीर्य अग्नि और सूर्य रूप है। अतः शरीर का उपादान कारण अग्नि और सूर्य हैं। यद्यपि सोम और अग्नि ये दोनों सर्वत्र ही रहते हैं तथापि जिसका अंश जहाँ अधिक रहता है, उसका उसी पद से व्यवहार होता है। कला शब्द से अभिप्राय है—चित्त से मिली हुई शक्ति'।[1]

इस प्रकार काम, कर्म, अग्नि, चन्द्र और सूर्य रूप प्रत्यक्षकारी पञ्चक के गुण इस प्रकार हैं—

१. काम

(१) रति, (२) प्रीति, (३) लीला, (४) आतुरत्व (५) अभिलाषा।

२. कर्म

(१) शुभ, (२) अशुभ, (३) कीर्ति, (४) अकीर्ति, (५) इच्छागत।

३. चन्द्र

(१) उल्लोल, (२) कल्लोल, (३) उच्चलत्व, (४) उन्माद, (५) ऊर्मि, (६) विलेपन (७) लहरी, (८) विलोला, (९) विलेलिहास, (१०) प्रसरा, (११) प्रवृत्ति, (१२) स्रवन्तिका, (१३) नामवती, (१४) प्रवाहा, (१५) सौम्या और (१६) प्रसन्ना। (इस प्रकार चन्द्र की सोलह कलाएँ तथा सत्रहवीं उसकी स्व अमृत कला है।)

४. सूर्य

(१) तपिनी, (२) ग्रासिनी, (३) क्रूरा, (४) कुञ्चनी, (५) शोषणी, (६) बोधिनी, (७) स्मरा, (८) कर्षिणी, (९) अर्थसन्तुष्टिवर्धिनी, (१०) ऊर्मिरेखा, (११) किरणिनी और (१२) प्रभावती। (तेरहवीं कला स्वप्रकाशिका कला है और यह सूर्य की निज कला है)।

५. अग्नि

(१) बीजिनी, (२) दीपिका, (३) ज्वाला, (४) विस्फुलिङ्गा,

---

१. सि० सि० प०—पृ०, ९७

(५) प्रचण्डिका, (६) पाचिका, (७) रौद्रिका, (८) दाहा, (९) रोचिनी और (१०) शोषिणी। (ये अग्नि की दस कलाएँ हैं और ज्योति उसकी ग्यारहवीं निज कला है।) इस प्रकार प्रत्यक्षकरण के पाँच भेद तथा उनके गुणों एवं कलाओं का निरूपण समाप्त हुआ।[1]

दश मुख्य नाड़ियाँ तथा उनका स्थान—दश मुख्य नाड़ियों तथा दश मुख्य द्वारों के प्रसंग में यह बता देना अनिवार्य होगा कि लिङ्ग के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के समान समस्त नाड़ियों का उद्गम स्थान मूलकन्द है। शिवस्वरोदय में कहा गया है कि नाड़ियाँ नाभिस्थान के कन्द से ऊपर अंकुर के समान निकली हैं तथा देह मध्य बहत्तर सहस्र नाड़ियाँ हैं। नाड़ी में स्थित तथा सर्प सदृश कुण्डलिनी शक्ति है, उससे ऊपर दश और नीचे दश नाड़ियाँ हैं। दो-दो नाड़ियाँ तिरछी गई हैं। इस प्रकार इन चौबीस नाड़ियों में दश नाड़ियाँ प्रधान हैं और दश वायु प्रवाहिका हैं। उन दश नाड़ियों में तीन इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना श्रेष्ठ हैं।[2] इसी प्रकार का उल्लेख योगमार्तण्ड,[3] योगचूडामण्युपनिषद्[4] और ध्यानबिन्दूपनिषद्[5] में भी प्राप्त होता है।

इन सब नाड़ियों में सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है क्योंकि सुषुम्ना अग्नि, चन्द्र और सूर्य स्वरूपा कही गई है और इसी सुषुम्ना के अन्तर्गत विद्यमान ब्रह्मनाड़ी का ध्यान करना चाहिए।[6] सुषुम्ना नाड़ी के प्रवाह में भोग और मुक्ति फल के देने वाले कार्यों को ही करना चाहिए।[7] इस परम्परा के अतिरिक्त अन्य भारतीय परम्पराओं में भी नाड़ी-ज्ञान विषयक सन्दर्भ का उल्लेख प्राप्त होता है। जहाँ कहा गया है कि "हृदय के अनाहत चक्र में

---

१. सि० सि० सं० १।५४-६१
२. शिवस्वरोदय, ३२-३६
३. ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति (निः) खगांडवत्।
   तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्तति॥
   तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
   प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥
   —योगमार्तण्ड, १६-१७
४. योगचूडामण्युपनिषद्, १४-२१
५. ध्यानबिन्दूपनिषद्, ५०-५८
६. चक्रकौमुदी, १।१३
७. शिवस्वरोदय, ६१

कमल के आकार का मांस पिण्ड है जो कि सुषुम्ना नाड़ी पर स्थित है। वह मांस पिण्ड आँतों से घिरा होने के कारण 'पुरीतत' कहलाता है। इस पुरीतत के मध्य में आकाश है, उसी में उपासना ध्यान करने का विधान है। सुषुम्ना नाड़ी से सम्बद्ध ७२ हजार नाड़ियाँ हैं जिन्हें उपनिषद् में 'हिता' नाड़ियाँ कहा गया है। वहाँ हिता का तात्पर्य सहयोगी या उपकारी किया गया है। इन हिता नाड़ियों के अनेक रङ्ग कहे गए हैं।[1] सुषुम्ना नाड़ी से विशेष सम्बन्धित अंकुरित होने वाली कुहू, वरुणा, यशस्विनी, पिंगला, पूषा, पयस्विनी, सरस्वती, शंखनी, गांधारी, इडा, हस्तिजिह्वा, विश्वोदरा आदि १२ नाड़ियाँ हैं। ये सुषुम्ना की विशेष हितैषी नाड़ियाँ हैं। हृदय के अनाहत चक्र में आठ दल का अरुण (लाल) वर्ण का कमल है जिसके मध्य में छः कोण हैं। मध्यवर्त्ती कोण का रंग धूम्र है। इस अनाहत यन्त्र के ईशान कोण से जिस प्रधान नाड़ी का सम्बन्ध है उसी से इस यन्त्र का संचालन होता है।[2] ईशान कोण की नाड़ी में ही मुख्य प्राण तत्त्व का स्थाई निवास है। यह प्राण ही अयास आंगिरस है, जो कि अङ्गों का सार रूप प्रधान रस तत्त्व है। सम्पूर्ण नाड़ियाँ इसकी अंग हैं।[3] हृदय से सम्बद्ध १०१ मुख्य नाड़ियाँ हैं। इनमें सुषुम्ना ही प्रधान है।"[४]*

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में नाड़ियों का स्थान निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि इड़ा और पिङ्गला क्रमशः दोनों नासिकाओं में, सुषुम्ना मध्य में, गान्धारी और हस्तिजिह्वा दोनों कर्णों में, शंखिनी लिङ्गद्वार में, पूषा और अलम्बुषा दोनों नेत्रों में, पयस्विनी मुख द्वार में रहती है और कुहू नाड़ी का स्थान गुदा प्रदेश है।[५] सिद्धसिद्धान्तपद्धति, शाण्डिल्योपनिषद् और योगचूडामण्युपनिषद् में नाड़ी स्थान में भेद प्राप्त होता है।[६] शिवस्वरोदय शास्त्र में नाड़ी स्थान

---

१. बृह०, ४।४।२०, कौषीतकि ब्राह्मण, ४।४।१६

२. बृह०, ६।३।५

३. वही, १।३।१९

४. छान्दोग्योपनिषद्, ८।७।६।६

\+ श्री निम्बार्क वेदान्त—पूर्वार्ध – पृ० १२१-१२२

५. सि० सि० सं०, १।६२-६४

६. (क) सि० सि० प०, १।६७,
(ख) शाण्डिल्योपनिषद्, १।९-११
(ग) योगचूडामण्युपनिषद्, १४-२१

निर्धारित करते हुए वर्णित है कि इडा वाम भाग में, पिंगला दक्षिण भाग में, सुषुम्ना मध्यदेश में, गान्धारी वाम नेत्र में, हस्तिजिह्वा दक्षिण नेत्र में, पूषा दक्षिण कर्ण में, यशस्विनी वाम कर्ण में, अलम्बुषा मुख में, कुहू लिङ्ग देश में और गुदास्थान में शंखिनी नाड़ी जाननी चाहिये।[1] "श्री निम्बार्क मत में सुषुम्ना श्री राधा हैं। ललिता पिङ्गला नाड़ी है तथा रंगदेवी इड़ा नाड़ी है। पिङ्गला चन्द्र नाड़ी तथा इडा सूर्य नाड़ी है। चन्द्र नाड़ी पोषण करती है तो इड़ा उन्मीलन (प्रेरणा) करती है। "उन्मीलनी तु साज्ञेया विशेषेण हरिप्रिया" पद्मपुराण-६।३६।३४ उन्मीलनी को ही हरिप्रिया समझना चाहिए।[2] इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना का उल्लेख तोडलतन्त्रम् में भी प्राप्त होता है।[3]

बौद्ध मत में "बांई से ललना और दाहिनी नासिका से रसना नामक प्राणवायु को वहन करने वाली नाड़ियाँ चलती हैं। जिनमें पहली प्रज्ञा-चन्द्र है और दूसरी उपाय सूर्य। प्रज्ञा और उपाय नाथपंथियों की इच्छा और क्रिया शक्ति की समशीला हैं। मध्यवर्ती नाड़ी अवधूती है जो नाथपंथियों की सुषुम्ना की समशीला है। इस नाड़ी से प्राणवायु ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है तो ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए अवधूती नाड़ी को ग्राह्यग्राहकवर्जिता कहा जाता है।"[4]

दश वायु एवं उनका स्थान—नाड़ियों के आश्रय वायु भी दस माने गए हैं—यथा प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त

---

१. इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्मृता।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे।
यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलम्बुषा॥
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शंखिनी।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः॥ शिवस्वरोदय, ३८-४०

२. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ७७

३. एवं क्रमेण देवेशि शरीरे नाड्यः स्थिताः।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना मध्यवर्तिनी॥ तोडलतन्त्रम्, २।१२

४. ललना प्रज्ञा स्वभावेन रसनोपायसंस्थिता।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता॥
हे वज्र—नाथ सम्प्रदाय, पृ० १०२

और धनञ्जय। इनमें हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और सम्पूर्ण शरीर में व्यान वायु का वास रहता है। उद्‌गार में नाग, नेत्रों के उन्मीलन में कूर्म, छींकने में कृकल, विजृंभण में देवदत्त और सर्व-शरीर में व्यापी धनञ्जय वायु मृतशरीर का भी त्याग नहीं करता। जीवरूप ये दश वायु नाड़ियों में भ्रमण करते हैं।[1]

इसी प्रकार का वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। जहाँ निर्दिष्ट है कि आहार हेतु हृदय में प्राण, कुम्भक-स्तम्भन हेतु गुदा में अपान, जठराग्नि प्रदीप्त हेतु नाभि में समान, नाड़ी विशुद्धि हेतु कण्ठ में उदान और अशन तथा जल्प हेतु तालु समाश्रय व्यान है।[2]

व्यान हेतु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित है कि समस्त शरीर के अङ्गों में व्याप्त होकर व्यान वायु रहता है और समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलिन, मज्जादि का शोषण भी वही करता है तथा शरीर में बल-वृद्धि का भी कारक है।[3] अमृतनादोपनिषद् में कहा गया है कि प्राणवायु लोहित मणि, अपान इन्द्रगोप, समान गोदुग्ध, उदान धूसर और व्यान अग्नि शिखा के समान वर्ण एवं तेज वाला है।[4]

---

१. नामानि नाडिकानां तु वातानां तु वदाम्यहम्।
प्राणोऽपानः समानश्च उदानोव्यान एव च॥
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनञ्जयः।
हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः।
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधाना दश वायवः॥
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः।
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम्॥
उद्‌गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः।
कृकलः क्षुतकृतज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवरूपिणः॥ शिवस्वरोदय, ४२-४७

२. सि० सि० सं०, १।६६

३. सि० सि० प० — पृ० १०३-१०४

४. अमृतनादोपनिषद्— ३४-३७

मोडनोच्चाटन हेतु नाग सर्वाङ्गव्यापी, उन्मेषार्थ नेत्रों में कूर्म, भूख और उद्गार हेतु नासिका में कृकल, विजृम्भण हेतु मुखाग्र देवदत्त और अव्यक्त शब्द की उद्घोषणा हेतु कण्ठ से नीचे धनञ्जय की विद्यमानता है।[1] इस प्रकार इन दश वायुओं का निरूपण हुआ। अनेक ग्रन्थों में इन दश वायुओं में से प्रथम पाँच को मुख्य प्राणवायु एवं बाद के पाँच वायुओं को उपप्राण वायु कहा गया है।

गर्भपिण्ड—गर्भ पिण्डोत्पत्ति के निरूपण में निर्दिष्ट है कि ऋतुकाल में बिन्दु और रज के आश्रय से स्थूल जीव की उत्पत्ति होती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाने वाला शक्ति-विशिष्ट चैतन्य ही वास्तव में बिन्दु है क्योंकि बिन्दु शिव रूप और बीज शक्ति रूप है तथा उसी के समवाय को नाद कहते हैं।[2] योगचूडामण्युपनिषद् में उक्त है कि बिन्दु ब्रह्मा है और रज शक्ति है, बिन्दु चन्द्र है और रज सूर्य रूप है। इन दोनों के संगम में परम पद की प्राप्ति होती है। जब वायु से चालित रज बिन्दु से मिलकर एक हो जाता है तो देह दिव्य हो जाती है।[3]

रज और बिन्दु के सम्मिश्रण से उत्पन्न जीव की गर्भावस्था में विकासावस्था को दर्शाते हुए वर्णित है कि प्रथमावस्था में रज-वीर्य में गाढ़ापन, एक सप्ताह में बुलबुले सदृश और पक्षान्तर वह बुलबुला गोलाकार रूप हो जाता है। प्रथम मास में वही गोला कठिन अवस्था में, द्वितीय मास में उसी गोले से शिर; तृतीय मास में हाथ पैर आदि, चतुर्थ मास में नेत्र, चक्षु आदि, पंचम मास में पृष्ठ और उदर, षष्ठ मास में केश, नख, रोम आदि, सप्तम मास में चेतना युक्त, अष्टम मास में बाल लक्षण, नवमास में तत्त्वज्ञान (अर्थात् पूर्व जन्मों के संस्कारों एवं गर्भ नरक से मुक्ति की प्रार्थना से युक्त*) और

---

१. सि० सि० सं० १।६७-७०

२. बिन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः।
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः॥

३. योगचूडामण्युपनिषद्, ६२-६३

* उस समय गर्भ में जीव सोचता है कि अपने हजारों जन्मों को देखा और उनमें विभिन्न प्रकार के भोजन किये तथा विभिन्न योनियों में स्तन पान किया। मैं अनेक बार जन्मा और मृत्यु को प्राप्त हुआ। उन-उन जन्मों में किये शुभ एवं अशुभ कर्मों को विचार कर मैं अब अकेला ही दग्ध हो रहा हूँ। जब मैं इस गर्भ-नरक से मुक्त हो जाऊँगा तो महेश्वर

दश मास में योनि स्पर्श से नष्ट ज्ञानवान् अज्ञानी जीव उत्पन्न होता है। गर्भ में वीर्य की अधिकता से पुरुष एवं रज की अधिकता से स्त्री और इन दोनों के समभाव होने पर जीव नपुंसकत्व को प्राप्त करता है।[1] इसी प्रकार चरक-संहिता में भी गर्भ की विकासावस्था पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है।[2]

रतिकाल में स्त्री एवं पुरुष के चित्त की प्रतिकूलता से जीव (शरीर) छोटा, कुबड़ा और अंगहीन होता है। वीर्य का रोधक गति से पतन अधिक जीवों की उत्पत्ति का कारण होता है। गर्भस्थ बालक के शरीर में साढ़े तीन पल वीर्य, बीस पल रक्त, दस पल मेद, लगभग इतनी ही मज्जा, शत पल माँस, दस पल पित्त, तीन सौ साठ अस्थियाँ, इतनी ही सन्धियाँ और साढ़े तीन करोड़ रोम कूप होते हैं। इस प्रकार रज और वीर्य संयोग के परिणाम से मज्जा, अस्थि, मेद इत्यादि दस धातुमय गर्भपिण्ड का निर्माण होता है।[3]

प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह के प्रथमोपदेश में सूक्ष्मता से स्थूलता का विकासोन्मुखी निरूपण समाप्त हुआ।

की शरण जाऊँगा। जब मैं इस गर्भ-नरक से मुक्त हो जाऊँगा तो नारायण का आश्रय लूंगा अथवा सांख्य-योग की साधना करूँगा। ब्रह्म चिन्तन में समय व्यतीत करूँगा। इस प्रकार से विचार करता हुआ जीव बड़े कष्ट से जन्म ले पाता है, किन्तु जन्मोपरान्त माया के स्पर्श से पूर्व जन्मों और मृत्युओं को भूल जाता है। उसे अपने गर्भ-नरक का भी बोध नहीं रहता और उसके शुभ-अशुभ कर्मों का भी लोप हो जाता है। —गर्भोपनिषद्, ४

१. सि० सि० सं०-१।७२-७४
२. चरक-संहिता—शरीर स्थानम्—अध्याय ४
३. सि० सि० सं०, १।७३-७८

द्वितीयोपदेश:

पिण्डोत्पत्ति प्रकरणानन्तर पिण्डविचारविमर्शान्तर्गत विषय वासना से चलायमान मन को अवरुद्ध करने के निमित्त पिण्डस्थ नवचक्रों,* सोलह आधारों, त्रिविध लक्ष्यों एवं अष्टांग योग का वर्णन अत्यन्त युक्तियुक्त एवं संक्षिप्त और लक्षणों सहित किया गया है। चक्रनिरूपण के प्रसंग में सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर देना नितान्त अनिवार्य है कि चक्रों की संख्या में इस परम्परा में कुछ मतभेद अवश्य रहे होंगे। सिद्धसिद्धान्तपद्धति,[1] योगराजोपनिषद्[2], षडाम्नायतन्त्र[3] इत्यादि ग्रन्थों में जहाँ नवचक्रों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं गोरक्षपद्धति,[4] शिवमहापुराण,[5] योगचूडामण्युपनिषद्[6] और सौन्दर्यलहरी[7] इत्यादि ग्रन्थों में षट्चक्रों का ही उल्लेख प्राप्त होता है। ग्रन्थानुसार यहाँ

---

* प्रस्तुत ग्रन्थ में शरीरस्थ नवचक्रों की विद्यमानता निर्दिष्ट है, किन्तु यहाँ सात चक्रों के ही श्लोक उपलब्ध हैं। —सि० सि० सं०, २।१

१. पिण्डे नवचक्राणि। सि० सि० प०, २।१

२. नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः॥ योगराजोपनिषद्, ५

३. नवचक्राः कलाधाराः त्रिशून्यं पञ्चव्योमकम्।
—षडाम्नायतन्त्रम्, ४।४३

४. षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गोरक्षपद्धति, १।१३

५. मूलादिब्रह्मरन्ध्रान्तं षट्चक्रं परिचिन्तयेत्।
विद्युत्कोटिसमप्रख्यं सर्वतेजोमयं परम्॥ शिवमहापुराण, ६।४।७

६. षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
योगचूडामण्युपनिषद्, ३

७. महीं मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवहं
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथं
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि॥ सौन्दर्यलहरी, ९

शरीरस्थ नवचक्रों का ही उल्लेख किया जा रहा है—प्रथम ब्रह्म चक्र (मूलाधार चक्र)[1] का निरूपण करते हुए निर्दिष्ट है कि यह चक्र मूलाधार में तीन वलयों से आवृत, भगमण्डल सदृश है, उसी के समीप मूलकन्द में अग्नि* सदृश देदीप्यमान शक्ति का ध्यान करना चाहिए। इसी को कामरूपपीठ कहते हैं तथा इसके ध्यान से सर्वकामनाओं की पूर्त्ति होती है।[2] गोरक्षपद्धति में वर्णन है कि मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के मध्य योनिस्थान को ही कामरूप पीठ कहते हैं।[3] षट्चक्रनिरूपण में निर्दिष्ट है कि गुदा से ऊपर और लिङ्गमूल से नीचे मूलाधार पद्म है। जिसके चार सुवर्णाभा सदृश व से स तक के वर्णरूप पत्र हैं।[4]

---

१. वस्तुतः शरीरस्यैवाधारः सा, तां विना शरीरस्य स्थितिरेव दुर्लभा किन्तु बालानां बोधाय घटे मृत्तिकेतिवत् मूलस्याधार इति व्युत्पत्ति प्रदर्श्यते तत्राध्यात्मिकप्राणवायुसहिता चित् शक्ति शरीरकारणत्वात् ब्रह्मचक्रम्, त्रिधावर्तम्, त्रिवलयान्वितम् क्वचित् सार्धत्रिवलयान्वितम् इत्युपलभ्यते न तेन विरोधश्चतुष्ट्वसंख्यापूर्तिषर्यन्तं त्रिपदेनैव कथ्यते यथाऽमर कोश आदशतः संख्या संख्येय इत्यत्र दशपदेनाऽष्टादश पर्यन्तं गृह्यते (भगमण्डलाकारम्) अधोमुख त्रिकोण यन्त्रम् तत्रेत्यौपश्लेषिका सप्तमी तथा च तत्समीपे किंचिदूर्ध्वदेशे मूलकन्दः पक्ष्यण्डसरूपं एतस्मादेव सर्वानाड्यः प्ररोहन्ते"

—सि० सि० प० पर श्रीद्रव्येश झा कृत संस्कृत टीका

* अग्नि—मानव देह में तप्त सुवर्णाभा सदृश तीन, चार पैर वाले पशुओं में चार, पक्षियों में गोल, सर्प जाति में छः और स्वेदजों में आठ कोण वाला अग्नि विद्यमान रहता है।

—त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, ५६-५७

२. सि० सि० सं०, २।२-३

३. आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते॥ गोरक्षपद्धति, १।१७

४. अथाधारपद्मं सुषुम्णास्यलग्नं ध्वजाधो गुदोर्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत् सुवर्णाभवर्णैर्वकारादिसान्तैर्युक्तं वेदवर्णैः॥

षट्चक्रनिरूपणम्, पृ०-७

शिवपुराण[1] और चक्रकौमुदी[2] में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है। त्रिकोण की चर्चा करते हुए चक्रकौमुदीकार कहते हैं कि इस चक्र की चतुर्दल कर्णिका में अतिसुन्दर ऊर्ध्वकोण त्रिकोण है; उसके ऊर्ध्व कोण में सुषुम्ना, वाम में इडा और दक्षिण में पिङ्गला की स्थिति है।[3] यह मत षट्चक्रनिरूपण से सम्भवतः गृहीत है।[4] योगराजोपनिषद् में वर्णित है कि प्रथम चक्र भगाकृति युक्त तीन बार आवृत ब्रह्मचक्र है। अपान स्थल में मूलकन्द, जिसे कामरूप कहते हैं, उसी को वह्निकुण्ड तथा कुण्डलिनी कहा जाता है। मुक्ति हेतु उस ज्योति स्वरूप जीव का ध्यान परमावश्यक है।[5]

योगशिखोपनिषत् में भी कुण्डलिनी का स्थान मूलाधार त्रिकोण ही निर्दिष्ट है।[6] हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पृथ्वी के आधार सर्पों के अधिपति शेषनाग की भाँति सम्पूर्ण योग-तन्त्रों की आधार यह कुण्डलिनी जब गुरु के प्रसाद से जागृत हो उठती है, तब सभी पद्म और सभी ग्रन्थियाँ

---

१. शिवपुराण-७।२।३८।६९

२. चक्रकौमुदी-१।६

३. कर्णिकायामूर्ध्वकोणं त्रिकोणमतिसुन्दरम्।
ऊर्ध्वकोणे सुषुम्णाख्या वामदक्षिणयोः क्रमात्॥
इडाख्यापिङ्गलाख्या हि वीणातन्तुवदास्थिता।
इडा तु चन्द्रनाडी स्यात् पिङ्गला सूर्यनाडिका॥ वही, १।११-१२

४. षट्चक्रनिरूपण-६।६

५. नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः।
प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तभगाकृति॥
अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः।
तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा॥
तां जीवरूपणीं ध्यायेज्ज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे॥
—योगराजोपनिषद्, ५-७

६. गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते।
यत्र कुण्डिलनी नाम पराशक्तिः प्रतिष्ठिता॥
—योगशिखोपनिषद्, १।१६८-१६९

स्वयमेव ही खुल जाती हैं।[1] प्रसुप्त सर्पाकृति सदृश यह शक्ति नित्य है और इसी को प्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति जब सत्त्व, रजस् और तमस् की साम्यावस्था से युक्त होती है तब चित्कला से सम्बोधित होती है। और जब इसके अर्द्धांश में ब्रह्म संश्लिष्ट होते हैं तब यह ईश्वरी कहलाती है। सत्त्व, रजस् और तमस् इसके तीन वलय और अर्धवलय ब्रह्मांश कहलाता है। इसी को शब्दब्रह्म कहते हैं एवं यही समस्त वर्णों के रूप में उपस्थापित होकर गद्य-पद्य भेद से समस्त भूमि मण्डल में परिव्याप्त है।[2]

शिव-संहिता में इस चक्र के निरूपण के प्रसङ्ग में वर्णित है कि गुदा से दो अङ्गुल ऊर्ध्व और मेढ़्र से एक अंगुल अधः, चार अङ्गुल प्रमाण के कन्द में कुण्डलिनी का वास है। यह कुण्डलिनी सभी नाड़ियों को आवृत्त कर साढ़े तीन वलय लगाकर मुख में पूँछ को धारण कर सुषुम्ना विवर में ठहरती है। यह शक्ति सर्पाकृति, निज प्रकाश से प्रकाशित, वाग्देवी बीज संज्ञक है। भगवान् विष्णु की यह शक्ति तपाये हुए सुवर्णाभा युक्त त्रिविध* गुणों की उत्पादिका है। इसी स्थान पर बन्धूक पुष्प सदृश रक्तवर्ण की आभा लिये हुये कामबीज स्थित है। इसी कामबीज के साथ सुषुम्ना की विद्यमानता है। बीजसंज्ञक त्रिपुर भैरवी (कुण्डलिनी, कामबीज और सुषुम्ना का एकीकरण) क्रिया एवं ज्ञानशक्ति से समन्वित होकर सम्पूर्ण शरीर में विचरती है। यही बीज प्रज्वलित वह्नि सदृश आभामय होकर बिन्दुरूप से योनिस्थान में स्वयंभूलिंग की संज्ञा पाता है। यही आधार पद्म है और जिसके मध्य की योनि में कुण्डलिनी है। जिसके ऊपर अत्यन्त तेजस्वी कामबीज भ्रमण करता है। इस चक्र के ध्यान से साधक को दादुरी वृत्ति,

---

१. सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च॥
—हठयोगप्रदीपिका-३।१-२।

२. चक्रकौमुदी, १।२२-२७

* तीन लोक, तीन वेद, तीन संध्या, तीन स्वर, तीन अग्नि और तीन गुण
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्रः संध्यास्त्रयः स्वराः॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेऽप्यर्धमक्षरम्॥
—योगतत्त्वोपनिषद्, १३४-१३५

आकाशमार्गी की सामर्थ्य, शरीर में कान्ति और जठराग्नि प्रदीप्त होती है।[1] स्वामी विवेकानन्द जी के मतानुसार "प्राणायाम से पहले त्रिकोणमण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आँखें बन्द करके इसके चित्र को मन-ही मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पनाशक्ति जितनी अधिक है, वो फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है।"[2]

कुण्डलिनी के उत्थापन से समस्त जागतिक साधनाएँ उसी प्रकार से दग्ध प्रायः हो जाती हैं जिस प्रकार काष्ठस्थ अग्नि काष्ठ को स्वयमेव दग्ध कर डालती है। डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्वलित की जाती है अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधना मात्र······अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्रयोगादि......यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषाकारसापेक्ष अथवा कर्तृत्वाभिमान जन्य है। यह कर्तृत्व-बोधक्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है और कर्त्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जाग्रत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिये पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।"[3]

---

१. शिव-संहिता, ५।७४-८७

२. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ०, २१

३ भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज

द्वितीय चतुर्दल युक्त (अन्य ग्रन्थों में इसे षड्दल युक्त कहते हैं)[1] स्वाधिष्ठान चक्र है, वहाँ प्रवाल (मूंगा) की आभा वाले पराङ्मुख शिवलिङ्ग का ध्यान करना चाहिए। वहीं उड्डीयान पीठ है। इस शिव-लिङ्ग के ध्यान से जगदाकर्षण की सामर्थ्य साधक को सिद्ध होती है।[2] गोरक्षपद्धति में वर्णन है कि रक्तवर्णी इस षट्दलकमलकर्णिका में निर्गुण अथवा सगुण ज्योतिःस्वरूप आत्मा को नासाग्रदृष्टि करके ध्यान से योगी को आनन्दावस्था की प्राप्ति होती है।[3]

यहाँ स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है, इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिङ्गमूल) है। प्राण का अधिष्ठान होने से उसे ही मेढ़ कहा जाता है।[4] योगराजोपनिषद् में उक्त है कि द्वितीय स्वाधिष्ठान चक्र है, जो मध्य में स्थित है। वहाँ पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग प्रवालाङ्कुर सदृश है। उड्डीयाण पीठों में उसका ध्यान कर समस्त जगत् का आकर्षण करना चाहिए।[5] षट्चक्र-निरूपण में इसकी शक्ति राकिनी निर्दिष्ट है।[6]

शिवसंहिता में द्वितीय चक्र हेतु निर्दिष्ट है कि द्वितीय कमल लिङ्गमूल में छः दलों वाला रक्तवर्णी है। इसके स्थान में बाण संज्ञक सिद्ध और राकिणी नाम अधिष्ठातृ देवी प्रतिष्ठित है। इसका देवता ब्रह्मा है। इस पद्म पर ध्यान से साधक के प्रति अङ्गनाएँ आकर्षित होती हैं तथा वह अश्रुत शास्त्रों पर भी व्याख्यान कर सकता है। उसे आरोग्य सिद्धि और भय से मुक्ति प्राप्त होती है। वह किसी के द्वारा मारा नहीं जा सकता। उसे अणिमादि ऐश्वर्यों के साथ-साथ शरीर में वायु-संचार और उसके शरीर में रस की अभिवृद्धि होती है।[7]

---

१. (क) गोरक्षपद्धति—१।१५, २।६५
(ख) योगचूडामण्युपनिषद्, ४
(ग) लिङ्गमूले स्मरेत्पद्मं सिन्दूराभन्तु षड्दलम्।
बादिलान्तयुतन्तस्मिन् मण्डलं ध्येयमम्भसः॥
—चक्रकौमुदी, २।२

२. सि० सि० सं०, २।४-५

३. गोरक्ष पद्धति, २।६५

४. स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते॥ वही, १।२२

५. योगराजोपनिषद्, ७-८

६. षट्चक्रनिरूपणम्, ६।१८

७. शिवसंहिता, ५।९८-१०३

भूतशुद्धितन्त्रम् में स्वाधिष्ठान चक्र का निरूपण अत्यन्त युक्तियुक्त किया गया है।[1]

तृतीय नाभिचक्र है जिसको अन्य ग्रन्थों में मणिपूरक चक्र से अभिहित किया गया है। उस पंचावृत्त प्रातःकालीन सूर्य की प्रभा सदृश कुटिल आकार[2] वाली कुण्डलिनी का ध्यान करना चाहिए।[3] योगराजोपनिषद् में इस चक्र के सन्दर्भ में कहा गया है कि तृतीय चक्र नाभि में है जिसमें संसार की विद्यमानता द्योतित है। वहाँ पंचावृत* विद्युत् सदृश मध्यशक्ति का चिन्तन करने से साधक को सर्व सिद्धियों की उपलब्धि होती है।[4] शिव-संहिता में इसकी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि नाभि-मण्डल स्थित इस चक्र की आभा स्वर्ण सदृश है। दश दल वाले इस कमल की पंखुड़ियों में 'ड' से 'फ' तक के वर्णाक्षर विद्यमान हैं। इस पद्म के ध्यान से पाताल सिद्धि, इच्छाओं की पूर्ति, रोगों का नाश, काल-वञ्चन, परकाया प्रवेश योग्यतादि और निधियों के दर्शन का गुण प्राप्त होता है।[5] शिव-संहिता में वर्णित इस नाभि

---

१ तदूर्ध्वं ध्वजमूले तु पङ्कजं षड्दलं परम्।
स्वाधिष्ठानाख्यमाश्चर्यं सूक्ष्मं सर्वगुणान्वितम्॥
बभमैर्यवलैर्युक्तमारक्तं राकिणीस्थितम्॥
श्यामां शूलाग्रहस्तां डमरूकरयुतां तीक्ष्णटङ्कं वहन्तीम्।
उग्रां रक्तां त्रिनेत्रां शुचिकुटिललसच्चोग्रदंष्ट्रां प्रभाति।
दीप्तां तां देवदेवीं त्रितयकमलगां रक्तधारैकनाथां
शुक्लान्ने सक्तचित्तामभिमतफलदां राकिनीं चिन्तयेत् ताम्॥
रं बीजं कर्णिकायां तु तदन्ते विष्णु लिङ्गकम्॥
—भूतशुद्धितन्त्रम्—१।२०-२२

२. तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते।
दण्डाहतभुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्॥
—योगकुण्डल्युपनिषत्—१।४५

३. सि० सि० सं०-२।६

* मूलाधार में तीन वलयों में और मणिपूरक-चक्र में यह पंचावृत्त होती है।

४. योगराजोपनिषद्, ९-१०

५. शिव-संहिता, ५।१०४-१०८

पद्म के ध्यान से रोगों का नाश होता है।[1] इस तथ्य की पुष्टि जाबाल-दर्शनोपनिषद् से हम यहाँ कर सकते हैं, जहाँ कहा गया है कि इडा-पिङ्गला से वायु का रेचन कर उसका नाभि में अवरोध करने से सभी रोगों का नाश होता है।[2]

चतुर्थ अष्टदल युक्त हृदय चक्र है जिसकी कर्णिका में परमोज्ज्वला शिवलिङ्ग रूपी कान्ति का ध्यान करना चाहिए। सर्व इन्द्रियों को वश में करने वाली यह ज्योति हंसकला संज्ञक है। इसके विधिवत् ज्ञान से योगी सर्वलोक को वशीभूत कर सकता है।[3] शिवयोगदीपिका में भी लिङ्गाकार ज्योति के ही ध्यान का निर्देश दिया गया है।[4] योगराजोपनिषद् में कहा गया है कि चतुर्थ, अधोमुखी चक्र को हृदय में जानना चाहिए और वहाँ प्रकाश स्वरूप हंस (परम ब्रह्म) का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए। इससे सर्व जगत् साधक के वशीभूत हो जाता है, इसमें संशय नहीं है।[5]

अष्टदल कमल के लिए पद्मपुराण में कहा गया है कि हृदय के सूक्ष्माकाशस्थ अष्टदलकमल के मध्य में श्रीराधा कृष्ण की युगलमूर्ति विराजमान है। उनके "सम्मुख के दल पर ललिता, वायुकोण पर श्यामला, उत्तर में धन्या, ईशनकोण में हरिप्रिया, पूर्व में विशाखा, अग्निकोण में शैव्या, दक्षिण में पद्मा, नैऋत्य में चन्द्रावली क्रमशः विराजती हैं। ये अष्ट सखियाँ कृष्ण की पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार आदि आठ प्रकृति की प्रतीक हैं। हरिप्रिया, रङ्गदेवी अहङ्कार की प्रतीक हैं, यही श्री निम्बार्क है।"[6]

---

१. वही.

२. 'नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः' ॥

—जबालदर्शनोपनिषद्-२८

३. सि० सि० सं०, २।७-८

४. अधोमुखाष्टपत्राब्जयुतं हृच्चक्रमिष्टदम्।
तन्मध्ये कर्णिकां ज्योतिर्लिङ्गाकारमिमं स्मरेत्।

—शिवयोगदीपिका, ३।११

५. योगराजोपनिषद्-१०-११

६. संमुखे ललितादेवी श्यामला वायुकोणके।
उत्तरे श्रीमती धन्या ऐशान्यां श्रीर्हरिप्रिया॥
विशाखा च तथा पूर्वे शैव्या चाग्नौ ततः परं।
पद्मा च दक्षिणे पश्चान्नैऋते क्रमशः स्थिता॥

योगदर्शन में यही अष्ट प्रमुख आठ नाड़ियाँ हैं।[1]

पंचम चक्र चार अंगुल परिमाण वाला कण्ठ में स्थित है। जिसके वाम भाग में चन्द्र और दक्षिण भाग में सूर्य नाड़ी स्थित है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी का ध्यान करना चाहिए। योगियों के मन्तव्यानुसार अनाहत सिद्धि प्रदायक वही अनाहत कला के नाम से प्रसिद्ध है।[2] इसी प्रकार का वर्णन शिवयोगदीपिका में भी प्राप्त होता है।[3] योगराजोपनिषद् में कहा गया है कि पञ्चम कण्ठचक्र के वाम और दक्षिण भाग में इडा और पिङ्गला नाड़ियाँ स्थित हैं तथा उनके मध्य सुषुम्ना नाड़ी की विद्यमानता है। वहाँ सर्वसिद्धिप्रदायक परम ज्योति का ध्यान करना चाहिए।[4] श्रीनिम्बार्क वेदान्त पारिजातसौरभ ब्रह्मसूत्र के अधिकरण आठ में कहा गया है कि "एक सौ एक हृदयसम्बद्ध नाड़ियों में मूर्द्धा तक जाने वाली एक विशेष नाड़ी है, उसी से निष्क्रमण कर उपासक अमृतत्त्व को प्राप्त करता है।[5] इस प्रकार श्रुति में कही गई सुषुम्ना नाड़ी विशेष है। उसी नाड़ी को उपासना के सामर्थ्य से और उसके प्रभाव से गमनकाल का ज्ञान हो जाने से प्रसन्न भक्त जब परमात्मा से अपने को अनुगृहीत मानता है, तब उसका तेज हृदय के अग्रभाग में प्रज्वलित हो जाता है, तब परमेश्वर से प्रकाशित सुषुम्ना रूप उस मार्ग को जानकर उसी मार्ग से निष्क्रमण करता है। उपासक मूर्द्धा से जाने वाली सुषुम्ना नाड़ी से निकलकर सूर्य की किरणों के सहारे ऊपर जाता है। जैसा

योगपीठे केदाराग्रे चारु चंद्रावली प्रिया।
अष्टौ प्रकृतया पुण्याः प्रधानाः कृष्णवल्लभाः॥
—पद्मपुराण—५।७०।५-७

श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ७६ से

१. वही, ७७

२. सि० सि० सं०, २।९-१०

३. पञ्चमं कण्ठचक्रं च तत्राङ्गुलिचतुष्टये।
इड़ापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नां सुस्थितां स्मरेत्॥
—शिवयोगदीपिका—३।१२

४. योगराजोपनिषद्—१२-१३

५. कठोपनिषद्—२।३।१६

कि "उस सूर्य की रश्मि द्वारा;' इस प्रसङ्ग से ज्ञात होता है।"[1]

षष्ठ तालु चक्र है और वहाँ पर स्थित चन्द्रमण्डल से अमृत स्राव स्रवित होता रहता है। इस अमृत स्राव का प्रवाह शरीर की समस्त नाड़ियों में विद्यमान रहता है। इस चक्र के समीप लिङ्गाकार घण्टिका से लेकर राजदन्त पर्यन्त विवर—जिसको दशम द्वार या शंखिनी विवर भी कहते हैं, पर शून्य के ध्यान से मन का लय करना चाहिए।[2] नाभिमूल में सूर्य और तालुमूल में चन्द्र नाड़ी का वास है। सहस्रार से अमृत धारा का प्रवाह प्रवाहित होता रहता है। सूर्य नाड़ी द्वारा उस अमृत को ग्रसने से मृत्यु और चन्द्र नाड़ी द्वारा ग्रहण करने पर अमरत्व की प्राप्ति होती है।[3] जहाँ से अमृत का स्राव स्रवित होता है, वहाँ पर ध्यान से चित्त का लय हो जाता है। शिवयोग-दीपिका में भी इसी प्रकार का निरूपण प्राप्त होता है।[4] योगराजोपनिषद् में भी इसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि छठा तालुचक्र जिसको घण्टिका स्थान कहा जाता है और जो दशम द्वार का मार्ग है उसे राजदन्त कहते हैं। वहीं शून्य में मन का लय करने से मुक्ति प्राप्त होती है।[5]

सप्तम और अष्टम चक्रों का उल्लेख प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं होता। कराल काल अथवा अन्य किसी हेतु पर दोषारोपण करने की जगह; इन दोनों चक्रों का उल्लेख अन्य ग्रन्थों की सहायता से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

सप्तम चक्र दो दलों से युक्त भ्रूचक्र है। इसी भ्रूमध्य चक्र में दीपशिखा के आकार सदृश अंगुष्ठ परिमाण का ज्ञान नेत्र है, वहीं पर साधक द्वारा

---

१. (क) सू०—तदेकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारोविद्यासामर्थ्यात्तच्छेष-गत्यनुस्मृतियोगाच्चहार्दानुग्रहीतशताधिकया।
(ख) रश्म्यनुसारी। ब्रह्मसूत्र, ४।२।१६-१७
(ग) श्री निम्बार्क वेदान्त, उत्तरार्ध पृ० १६८

२. सि० सि० सं०—२।११

३. नाभिमूलेवसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः॥ घेरण्डसंहिता—३।३३

४. शिवयोगदीपिका, ३।१३

५. योगराजोपनिषद्, १३-१४

ध्यान लगाने से वाक् सिद्धि प्राप्त होती है।[1] योगराजोपनिषद् के अनुसार सप्तम चक्र भ्रूचक्र है, जिसे बिन्दु स्थान कहा जाता है। यहाँ वर्त्तुलाकार ज्योतिपुञ्ज के ध्यान से साधक मुक्त हो जाता है।[2] शिवसंहिता में दो दलों वाले भ्रूमध्य स्थित चक्र को आज्ञाचक्र माना है। इस पर तीन पीठ विराजित हैं जिन्हें नाद, बिन्दु और शक्ति कहते हैं। इसके ध्यान से साधक मोक्षाधिकारी होता है।[3]

अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्र में सूचिका के अग्रभाग सदृश धूमशिखा के आकार वाला निर्वाण चक्र कहलाता है। जिसके ध्यान से मुक्ति प्राप्त होती है, वहीं पर जालन्धर पीठ है।[4] योगराजोपनिषद् के अनुसार अष्टम चक्र ब्रह्मरन्ध्र परं मोक्ष का संज्ञक है। उस धूम्रवर्ण सूचिका का ध्यान कर योगी मोक्ष पाता है। उसे जालन्धर समझना चाहिए जो नीलवर्णी एवं मोक्ष-प्रदायक है।[5]

---

१. (क) सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रम् ।
दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति ॥
—सि० सि० प०, २।७

(ख) भ्रूचक्रं सप्तमं त्वेकं नालं कन्दं सुवाक्प्रदम् ।
ध्यायेद्दीपशिखाकारं तन्मध्ये ज्ञानलाञ्छनम् ॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१४

२. भ्रूचक्रं सप्तमं विद्याद् बिन्दुस्थानं च तद्विदुः ।
भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ॥
—योगराजोपनिषद्, १५

३. शिव-संहिता, ५।१२२-१४८

४. (क) अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रं सूचिकाग्रभेद्यं, धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति ॥
—सि० सि० प०, २।८

(ख) ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं निर्वाणाख्यं सुसूक्ष्मकम् ।
तत्र जालन्धरं धूमशिखाभं मोक्षदं स्मरेत् ॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१५

५. अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम् ।
तं ध्यात्वा सूचिकाग्राम धूमाकारं विमुच्यते ॥
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसाम् ॥
—योगराजोपनिषद्, १६-१७

नवम चक्र सहस्रदलयुक्त ब्रह्मचक्र है। वहाँ गोक्षीराभा वाले हंस के ध्यान से योगी का परमपुरुष से एकाकार होता है।[1] सिद्धसिद्धान्त पद्धति के अनुसार नवम चक्र आकाश-चक्र है। वह सहस्रदल कमल के ऊपर मध्य भाग में सोलहदल सहित और ऊर्ध्वमुखी है। इसकी मध्य कर्णिका में त्रिकोणाकार ऊर्ध्वमुखी पराशक्ति का ध्यान करने से साधक की समस्त कामकाएँ पूर्ण होती हैं। इसी का नाम पूर्णगिरि है।[2] शिवयोगदीपिका में भी इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है।[3] योगराजोपनिषद् के अनुसार नवम व्योमचक्र सोलह दल वाले के मध्य पराशक्ति स्थित है। उस पूर्णगिरि में पूर्णशक्ति के ध्यान से योगी मुक्त हो जाता है। इस प्रकार इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक चक्र के ध्याम से योगी को प्रतिदिन मुक्ति से युक्त सभी सिद्धियों की उपलब्धि होती है। जो योगी ज्ञान चक्षु से कदम्बगुच्छ के सदृश गोलाकार मध्यस्थित दण्ड को देखता है वह ब्रह्मलोक का अधिकारी है। ऊर्ध्व शक्ति के निपात तथा अधः शक्ति के संकोचन और मध्य शक्ति को जागृत करने पर परम सुख की उपलब्धि होती है।[4] शिव-संहिता में वर्णन है कि शिर में स्थित कपाल विवर में सोलह कलाओं से युक्त एवं अमृत कलाओं से सम्पन्न हंसाख्या संज्ञक निरञ्जन के ध्यान से उसका साक्षात्कार होता है।[5] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में प्रयुक्त हंस शब्दार्थ ज्ञान हेतु उपनिषदों का विश्लेषण अत्यावश्यक हो जाता है। ब्रह्मविद्योपनिषद् के अनुसार हंस रूपी विद्यामृत सदृश इस मर्त्यभूमि में नित्यत्व का अन्य कोई साधन नहीं है। जो इस हंस संज्ञक परमेश्वरी विद्या को प्रदान करता है, उसकी सेवा सदैव करनी चाहिए।[6] हंसोपनिषद् के अनुसार सर्वप्रथम गुदा का आकुञ्चन कर आधार

---

१. सि० सि० सं०, २।१२

२. नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छा सिद्धिर्भवति इति। —सि० सि० प०, २।९

३. आकाशचक्रं नवमं प्रशस्तं त्रिकूटकं पूर्णगिरीशपीठम्।
तत्रोर्ध्वशक्तिं शुभदां सुशून्यां ध्यायेद्द्वयाष्टारसरोजमध्ये॥
—शिवयोगदीपिका, ३।१६

४. योगराजोपनिषद्, १७-२१

५. शिव-संहिता, ५।१७५-१८५

६. ब्रह्मविद्योपनिषद्, २६-२७

चक्र की वायु का बहिर्गमन कर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणा कर मणिपूरक चक्र में जाकर अनाहत चक्र का अतिक्रमण कर विशुद्ध चक्र में प्राण का अवरोध कर आज्ञाचक्र का ध्यान कर, ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान लगाना चाहिए। इस प्रकार त्रिमात्रा आत्मा मैं हूँ, ऐसा ध्यान होने पर आधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त नाद होता है। वही स्वच्छ स्फटिक तुल्य परमात्मा है।......एतदुपरान्त अष्टदल हृदयपद्म में हंसात्मा का ध्यान करना चाहिए। अग्नि और सोम हंस के पंख, ओंकार मस्तक, बिन्दु नेत्र, रुद्र सुख, रुद्राणी चरण, काल बाहु और दोनों बगलें अग्नि स्वरूप हैं। पश्यन्ती तथा अनाकार (सगुण और निर्गुणब्रह्म) दोनों पार्श्व रूप हैं। ऐसा जो परम-हंस है, वह करोड़ों सूर्य सदृश प्रकाशवान और सभी उससे व्याप्त हैं।[1] पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में उक्त है कि छियानवे तन्तुओं के रूप में व्यक्त, चित् के तीन सूत्रों से चिन्मय, नौ तत्त्वों से तिगुणा, ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूप तीन अग्नियों से युक्त, चिद्ग्रन्थि से बँधा, अद्वैतग्रन्थियुक्त, यज्ञ के साधारण अंगरूप में बाह्य और आन्तरिक का प्रकाशक यज्ञोपवीत हंस ही है।[2]

मुख्य उपनिषद् श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् को वशीभूत करने वाला हंस रूपी परमात्मा ही इस नव इन्द्रियों से युक्त इस देह के अन्दर और बाह्य जगत् में लीला करता है।[3]

नादबिन्दूपनिषद् के अनुसार 'प्रणव' को यदि हंस माना जाए तो 'अकार' उसका दाहिना पंख, 'उकार' उनका बायाँ पँख, 'मकार' पूंछ और अर्द्धमात्रा सिर है। सतोगुण शरीर, रजस् और तमस् दोनों पैर, नाभि में महर्लोक, कटि में स्वर्लोक, जानुओं में भुवर्लोक और पैरों में भूलोक है। इसी प्रकार जन, तप और सत्य लोक क्रमशः उसके हृदय, कण्ठ और ललाट में स्थित हैं। अतः प्रणव रूपी हंस पर चढ़कर उसके ध्यान से साधक मोक्ष पाता है।[4] उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी इस शब्द का निरूपण प्राप्त होता है। चक्रकौमुदी के अनुसार 'हंस' में हम् पुरुष और सः प्रकृति का वाचक है। अतः हंस शब्द में पुरुष और प्रकृति दोनों का एक साथ बोध

---

१. हंसोपनिषद्, ५-२१
२. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, १४-१५
३. नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ३।१८
४. नादबिन्दूपनिषद्, १-५

होता है।[1] जीवन लक्ष्य और साधना में काशी खण्ड के एक पद्य[2] को उद्धृत करते हुए कहा गया है कि "केवल प्राण अर्थात् हंस शब्द से जीव का सम्बन्ध होना चाहिए। यह हंस प्रवाह मणिपूरचक्र से मायाचक्र तक है। इसमें सत्त्व-गुणात्मक चैतन्य ईश्वर का वास है और जीव मणिपूरचक्र के नीचे अपानवायु के साथ सोऽहं प्रवाह में प्राप्त होता है और इन दोनों प्रवाहों की एक दूसरे के परस्पर आकर्षण से विषमगति होती है।[3]"

चक्रों का विस्तृत निरूपण करते हुए जीवन लक्ष्य और साधना में कहा गया है कि "मनुष्य के पृष्ठ भाग के बीचोबीच जो लम्बी हड्डी है उसको मेरुदण्ड कहते हैं। वह खोखला है। उसके भीतर एक सुषुम्ना नाड़ी है वह भी खोखली है, उसके भीतर कमल के फूल हैं, उन फूलों की कर्णिका भेदकर वज्रा नाड़ी का प्रवाह है, उस वज्रा नाड़ी के भीतर जो शून्य है उसमें त्रिकोण है। उन त्रिकोणों को भेदकर चित्रा नाड़ी प्रवाहित होती है इसी को वेद में त्रिवृत कहा है "त्रिवृतोऽसि" उस चित्रा नाड़ी के सबसे नीचे आधार चक्र है, उसके ऊपर मूलाधार; स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहद, विशुद्धाख्या, माया, आज्ञा, ललना और सहस्रार यह सब दश चक्र हैं। उन्हीं चक्रों को भेदकर ब्रह्मनाड़ी अर्थात् चैतन्य का प्रवाह है। इनमें मूलाधारादि पाँच चक्रों को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष के नाम से शास्त्र में व्यवहार करते हैं। इनमें क्रम से गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द यह पंचतन्मात्राएँ हैं तथा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश यह पंचीकृत पंच महाभूत हैं। यह मूलाधारादि पंचचक्र ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के लीला क्षेत्र हैं।

जीव तत्काल में इस पञ्चचक्र के लीलाक्षेत्र के मनोमय कोष में रहता है और उसका स्थूल शरीर से सम्बन्ध होता है, इसी कारण पाँच वस्तुओं का बोध होता है, स्वप्नावस्था में विज्ञानमय कोष में सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध होने

---

१. हंसौ तौ पुम्प्रकृत्याख्यौ हम्पुमान् प्रकृतिस्तु सः।
अजपा कथिता ताभ्यां जीवो यामुपतिष्ठते ॥
—चक्रकौमुदी १/३१

२. षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
सव्यापसव्यमार्गेण प्रयाणात्प्राण उच्यते ॥

३. अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति।
सोऽहं हंसः पदे नैव जीवो जपति सर्वदा ॥
—(जीवनलक्ष्य और साधना पृ० ५२-५३)

के कारण उस समय उन्हीं पाँच वस्तुओं का बोध होता है। सुषुप्ति अवस्था में आनन्दमय कोष में कारण-शरीर के साथ सम्बन्ध होने के कारण जड़वस्तु का अभाव हो जाता है। इसी से चैतन्य वस्तु का तत्काल बोध होता है किन्तु जीव उसको व्यक्त नहीं कर सकता। क्योंकि चैतन्य वस्तु इन्द्रियातीत है। यह तीनों कोष मणिपूर, अनाहत, विशुद्धाख्या चक्र में हैं। मनोमय कोष में चित् शक्ति मनोरूपा इच्छा शक्ति स्वरूप से संशय करती है, विज्ञानमय कोष में वही शक्ति बुद्धिरूपा ज्ञानशक्ति स्वरूप से निश्चय करती है और आनन्दमय कोष में वही शक्ति क्रियाशक्ति स्वरूप से अभिमान करती है। इसी को संशयात्मक मन निश्चयात्मक बुद्धि और अभिमाननामकोऽहङ्कार कहा गया है। चित् शक्ति को मिलाकर यही अन्तःकरण चतुष्टय हो जाता है। शक्ति के क्रियाशील होने के कारण जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्था में यह चक्र बराबर दक्षिणावर्त व वामावर्त में घूमा करता है। सुषुप्ति अवस्था में तीनों चक्र ठहर जाते हैं तब बोध नहीं होता।"[1]

नवचक्रनिरूपणोपरान्त सोलह आधारों का वर्णन इसलिए किया जा रहा है, क्योंकि आधारों द्वारा ही नव चक्रों का विभाग जानना चाहिए। चक्र आन्तरिक लक्ष्य और आधार बाह्य लक्ष्यान्तर्गत आते हैं। सोलह आधारों का क्रम इस प्रकार से निर्दिष्ट है—

(१) पादांगुष्ठाधार—इसके अग्रभाग पर स्थित तेजोमय अग्नि के ध्यान से दृष्टि निर्मल और स्थिर होती है।

(२) मूलाधार—इसमें स्थित (सीवनी) नाड़ी को पैर की एड़ी से दबाने पर अग्नि प्रदीप्त होता है।

(३) गुदाधार—गुदा के विकास और सङ्कोच से अपान वायु स्थिर होता है।

(४) लिङ्गाधार—लिङ्ग के सङ्कोच द्वारा वीर्य का स्तम्भन एवं ऊर्ध्वगामिता। फलस्वरूप वज्रदेह और कामदेव सदृश रूप की प्राप्ति। वज्रोली नाम संज्ञक।

(५) नाड्याधार—मन का लय और योगियों के मल और मूत्र का शीघ्र बिनाशक।

(६) नाभ्याधार—इसमें एकाग्रचितता से प्रणवोच्चारण द्वारा नाद का लय।

---

१. जीवन लक्ष्य और साधना, पृ० १९-२०

(७) हृदयाधार—इसमें प्राणवायु के निरोध से हृदय कमल का विकास।

(८) कण्ठाधार—कण्ठकूप को चिबुक से दबाकर अर्थात् जालन्धर बन्ध लगाने पर इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में प्राणवायु स्थिर होता है।

(९) घण्टिकाधार—अमरत्व हेतु ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित अमृत स्राव का जिह्वा द्वारा पान। यह क्रिया खेचरी मुद्रा की सहायिका है।

(१०) तात्वन्ताधार—जिह्वा को चालन और दोहन क्रियाओं से दीर्घ कर पुनः मुख में विपरीत रीति से प्रवेश कराना। इससे योगी काष्ठ सदृश निश्चल हो जाता है।

(११) रसाधार – जिह्वामूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगाने से परमानन्दोत्पादिका कविता की उत्पत्ति।

(१२) ऊर्ध्वरदाधार—रस ग्रन्थि में जिह्वाग्र को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। इससे साधक की व्याधियों का क्षणमात्र में ही नाश हो जाता है।

(१३) नासिकाधार—नासिका के अग्रभाग पर ध्यान लगाने से मन में स्थिरता आती है।

(१४) नासामूलाधार—कपाट संज्ञक इस आधार पर ध्यान लगाने से छः मास में दृष्टि द्वारा ज्योति का दर्शन होता है।

(१५) भ्रूवाधार—ऊर्ध्व नेत्रों द्वारा भ्रूमध्य पर ध्यान लगाने से उज्ज्वल किरणाकार का दर्शन होता है।

(१६) नयनाधार--इसके ध्यान से दिव्य ज्योति का प्रत्यक्ष अवभासित होना।[1*]

इस प्रकार सोलह आधारों का वर्णन कर अन्तर, बाह्य और मध्य भेद से तीन लक्ष्यों (ध्येयों) का वर्णन इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया है—

(१) अन्तर्लक्ष्य—मूलकन्द से उत्पन्न और मूलाधार चक्र से होकर सुमेरु दण्ड तक लग्न सित प्रभावान् ब्रह्मनाड़ी का ध्यान करना चाहिये। सुषुम्ना के मध्य कमलतन्तु और उज्ज्वल विद्युत् सदृश मूर्तिस्वरूपा कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करना चाहिए। यह शक्ति सर्वसिद्धिप्रदायिनी है। अथवा ललाट के

१. सिं० सि० सं०, २।१३-३०

* तुलनीय—शिवयोगदीपिका, ३।१७-३२

ऊपर गुह्याट पर ध्यान लगाना चाहिए। अथवा भ्रमर गुफा में रक्तवर्णी भ्रमर का ध्यान या मुख और कर्णों को भली प्रकार बन्दकर सिर में घुं घुं इस प्रकार के नाद पर मन का लय अथवा नेत्रों के मध्य पुतलियों के सदृश नील ज्योति का ध्यान करना चाहिए।[१]

(२) बहिर्लक्ष्य—बहिर्लक्ष्य के निरूपण के प्रसंग में यह यहाँ स्पष्ट कर देना नितान्त उचित ही होगा कि बहिर्लक्ष्य में दृष्टि को बाहर की ओर शून्य में स्थिर कर पञ्च तत्त्वों की अवधारणा करनी पड़ती है। सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में इन तत्त्वों के प्रसंग में जहाँ यह निर्दिष्ट है कि नासिका से एक अंगुल पर आकाश, बारह अंगुल पर पृथ्वी, सोलह अंगुल पर वायु अथवा आकाश के सन्मुख होकर आकाश का लक्ष्य करना अथवा ऊर्ध्व दृष्टि कर जहाँ तक दृष्टि की गति हो उसके आधे भाग पर ज्योतिपुञ्ज को दृष्टिगत करना चाहिए। अथवा शिर को ऊर्ध्व कर बारह अंगुल से प्रारम्भ कर अठारह अङ्गुल पर्यन्त शून्य में ज्योति पुञ्ज का दर्शन करना चाहिए। इस प्रकार बहिर्लक्ष्य अनेक प्रकार का है।[२] शिवयोगदीपिका में बहिर्लक्ष्य को अत्यन्त स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट किया गया है। जहाँ वर्णित है कि नासिकाग्र से चार, छः, आठ, दस, और बारह अङ्गुल पर्यन्त क्रमशः नील, धूम्र, रक्त इत्यादि वर्णी पञ्च तत्त्वों को दृष्टिगत करना चाहिए। अथवा सन्मुख आकाश को जो स्थिरदृष्टि से देखता है, ऐसे योगी को ज्योति पुञ्ज के दर्शन होते हैं। दृष्टि के अग्रभाग में अथवा दृष्टि के कोनों में तप्त सुवर्णाभा सदृश भूमि को जो योगी लक्ष्य कर दृष्टि को स्थिर करता है। अथवा शिर को ऊर्ध्व कर बारह अङ्गुल पर्यन्त पर निराकार ज्योतिपुञ्ज का लक्ष्य करता है, वह योगी मुक्त हो जाता है। जो-जो जिसका लक्ष्य हो, योगी को चाहिए कि वहीं-वहीं दृष्टि को स्थिर करे। आकाश का लक्ष्य करने से चित्त उसी की भाँति निर्मल और व्यापक हो जाता है।[3] इसके अतिरिक्त बहिर्लक्ष्य का स्पष्ट निरूपण सिद्धसिद्धान्त पद्धति[४] एवं अद्वयतारकोपनिषद्[५] में भी दृष्टिगोचर होता है।

---

१. (क) सि० सि० सं०, २।३१-३६
(ख) तुलनीय—शिवयोगदीपिका, ४।३६-४१

२. सि० सि० सं०, २।३७-४३

३. शिवयोगदीपिका, ४।४२-४७

४. सि० सि० प०, २।२८

५. अद्वयतारकोपनिषद्, ६

भगवान् शङ्कराचार्य के अनुसार वृत्ति को ज्ञानमयी करके संसार को ब्रह्ममय देखे। यही ब्रह्माकारवृत्ति अति उत्तम है, नासिका के अग्रभाग को देखने वाली दृष्टि वास्तव में दृष्टि नहीं है। जिस ब्रह्म में द्रष्टा, दर्शन और दृश्य इस त्रिपुटी का लय हो जाता है वही वृत्ति करनी चाहिए। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि सही नहीं है।[1]

मध्य लक्ष्य– वस्तु अथवा पदार्थ आदि की सीमाओं से अतीत निरवयव श्वेत, पीत, रक्त, हरित अथवा श्यामलवर्णी, प्रदीपाकार, धूमशिखातुल्य स्फुरज्ज्योतीरूप, चन्द्रकिरणाकृति अथवा सूर्याकाररूप यह योगियों के ध्यान का विषय है।[2]

इस प्रकार तीन लक्ष्यों के अनन्तर पञ्चाकाश का निरूपण निर्दिष्ट है क्योंकि आत्मतत्त्व वस्तुतः अति व्यापक मान्य है। और उस स्वरूप की अभिव्यक्ति के निमित्त ध्येय रूप पञ्चाकाश का प्रविधान है। ध्येय रूप के ध्यान से चित्त की तादृशावस्था होती है।[3] इस तादृशावस्था से चित्त आकाश सदृश निराकारत्व को प्राप्त कर व्याप्य-व्यापक भाव से स्वयं भी व्यापकत्व को प्राप्त करता है। इस पञ्चाकाश को इस प्रकार से दृष्टिगत करना चाहिए—कि देह घट के बाह्य और आभ्यन्तर उज्ज्वल शून्याकाश, अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश, प्रद्योत रूप महाकाश, आत्मतत्त्व स्वरूप तत्त्वाकाश और कोटि सूर्य सदृश सूर्याकाश का ध्यान करने से जीव आकाश सदृश निर्मल अन्तःकरण युक्त और निराकार* भाव को प्राप्त करता है। इस प्रकार जो

---

१. दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी॥
द्रष्टृ—दर्शन – दृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी॥
(अपरोक्षानुभूतिः— ११६-११७)

२. सि० सि० सं०, २।४४

३. यः पश्यति नरो लक्ष्ये स व्योमसदृशो भवेत्।
—शिवयोगदीपिका, ४।५०

*. निराकारं मनो यस्य निराकारसमो भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साकारं तु परित्यजेत्॥
(ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्— ३०)

नवाङ्ग षोडशाधार, त्रिलक्ष्य और व्योमपञ्चक को नहीं जानता वह केवल मात्र नाम का ही योगी है।[1]

इसके अनन्तर अन्त में अष्टाङ्ग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। योगाङ्ग के विषय में यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अङ्गों के विषय में यह परम्परा एक मत नहीं है। जहाँ गोरक्ष संहिता[2] योगमार्तण्ड[3] अमृतनादोपनिषद्[4], ध्यानबिन्दूपनिषद्[5] क्षुरिकोपनिषद्[6] और योगचूडामण्युपनिषद्[7] में योग के षड्भेद मान्य हैं, वहीं घेरण्ड संहिता[8] में सात। किन्तु अष्टाङ्ग योग ही अधिक प्रचलित है। इसको मानने वाले ग्रन्थों के अन्तर्गत पातञ्जल योगदर्शन,[9] दत्तात्रेय योगशास्त्र,[10] सिद्धसिद्धान्तपद्धति,[11] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्[12] जाबालदर्शनोपनिषद्,[13] वराहोपनिषद्[14], शाण्डिल्योपनिषद्[15], योगतत्त्वोपनिषद्[16], और शिवयोगदीपिका[17] आते हैं।

कहीं-कहीं अङ्गों की संख्या पन्द्रह मान्य है यथा अपरोक्षानुभूति[18] और

---

१. सि० सि० सं० २।४५।४८
२. गोरक्षसंहिता १।६
३. योगमार्तण्ड २
४. अमृतनादोपनिषद् ६
५. ध्यानबिन्दूपनिषद् ४१
६. क्षुरिकोपनिषद्-सम्पूर्ण
७. योगचूडामण्युपनिषद् २
८. घेरण्ड संहिता १।६-११
९. पातञ्जल योग दर्शन २।२६
१०. दत्तात्रेययोगशास्त्र—श्लोकार्धसंख्या ५२-५६
११. सि० सि० प० २।३२
१२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १।२
१३. जाबालदर्शनोपनिषद् ४-५
१४. वराहोपनिषद् ५।११-१२
१५. शाडिल्योपनिषद् १।२
१६. योग तत्त्वोपनिषद् २४-२५
१७. शिवयोगदीपिका २।४-८
१८. अपरोक्षानुभूतिः १०२-१४४

तेजोबिन्दूपनिषद्।[1] इन दोनों ग्रन्थों में उपलब्ध पन्द्रह अङ्गों के श्लोकों का निरूपण करने वाली कारिकायें प्रायः समान हैं। इन दोनों ग्रन्थों के पौर्वापर्य का निर्णय किए बिना किसी एक की उत्तमर्णता अथवा अधमर्णता का निश्चयन सम्भव नहीं। शिवमहापुराण में जहाँ अष्टाङ्ग[2] योग को माना है वहीं पर आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को संक्षेप में योग के षडङ्ग[3] माने हैं। इस विषय पर अधिक न जाते हुए सिद्धसिद्धान्त-संग्रह में निर्दिष्ट अष्टाङ्ग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) योग[4] का ही वर्णन यहाँ प्रस्तुत है—

(१) **यम**—दुःखादि द्वन्द्वों को सहन करना ही यम कहलाता है।[5] सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति के अनुसार अपने-अपने विषयों से सब इन्द्रियों को हटाकर शान्ति प्राप्ति ही यम है।[6] पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह यम है।[7] भोजवृत्तिटीकाकार इनकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि उनमें प्राणों का शरीर से वियोग करने के लिए जो कार्य किया जाता है, वह हिंसा कहलाती है। वह हिंसा सर्वरूपों वाली अनर्थ का कारण है। उसका अभाव अहिंसा है। हिंसा का सर्वकाल में त्यागने योग्य होने से प्रथम उसके अभाव रूप अहिंसा का निर्देश किया है। सत्य यह है कि वाणी और मन दोनों की यथार्थता, अर्थात् जैसा अर्थ है उसी के अनुसार ही कहना और मन में धारण करना। दूसरे के धन का हरण करना चोरी है। उसका अभाव चोरी का त्याग कहलाता है। उपस्थेन्द्रिय के रोकने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। भोग साधनों का स्वीकार न करना अपरिग्रह कहलाता है।[8] श्रीविज्ञानभिक्षु योगारुरुक्षु गृहस्थादियों के लिए अष्टाङ्गयोग

---

१. तेजोबिन्दूपनिषद्, १।१५-५१
२. शिवमहापुराण, ७।२।३७-१४-१५
३. वही, ७।२।३७-१६
४. सि० सि० सं०, २।४६
५. वही, २।५०
६. यम इति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः-शनैः साधयेत्। —सि० सि० प०, २।३२
७. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। —पा० यो० द०, २।३०
८. वही, २।३०

का विधान करते हुए यम के पाँच अङ्गों का वर्णन करते हैं ।[१] शाण्डिल्योपनिषद् में यम के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दस अङ्ग निर्दिष्ट हैं ।[२] शिवयोगदीपिका[३] और दर्शनोपनिषद्[४] में भी यम के दस अङ्ग कहे गये हैं ।

यम हेतु भगवान् शंकराचार्य कहते हैं कि 'सब ब्रह्म है' इस निश्चय से इन्द्रियों का नियन्त्रण यम कहलाता है और इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए ।[५]

इस परम्परा से किञ्चित् हटकर योगतत्त्वोपनिषद्,[६] दत्तात्रेय योगशास्त्र[७] एवं हठयोगप्रदीपिका[८] में मिताहार की यम में एवं अहिंसा की नियम में परिगणना की गई है । सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थकारों ने किसी अन्य हठयोग परम्परा का अवलम्बन किया हो, क्योंकि हठयोग की दो परम्पराओं का उल्लेख प्राप्त होता है ।[९]

(२) **नियम**—मानसिक वृत्तियों का नियमन नियम कहलाता है । जिनमें सन्तोषादि आते हैं ।[१०] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार मन की समस्त वृत्तियों का नियन्त्रण करना अर्थात् जिन-जिन विषयों की ओर मन जाए उन सब

---

१. अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ ।
यमाः संक्षेपतः प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदा नृणाम् ।।
—योगसारसंग्रह, पृ० १६

२. शाण्डिल्योपनिषद्, १।१।४

३. शिवयोगदीपिका, २।६

४. दर्शनोपनिषद्, १।६-२५

५. सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।।
—अपरोक्षानुभूति, १०४

६. योगतत्त्वोपनिषद्, २८-२६

७. दत्तात्रेययोगशास्त्र —श्लोकार्ध संख्या, ६४-६५

८. हठयोगप्रदीपिका, १।३८

९. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः ।
अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ।।

१०. सि० सि० सं०, २।५१

विषयों में दोष देखकर मन को रोकना तथा एकान्तवास करना, मित्र और शत्रु में भी रागद्वेष रहित, सन्तोषयुक्त और निज गुरु के चरणों में दृढ़भक्ति होना ही नियम का लक्षण है ।[१]

शिवयोगदीपिका में गुरु की अनन्य-भक्ति, परमपद में अनुरक्ति, निःसङ्गतादि को नियम में परिलक्षित किया गया है ।[२] पा० यो० दर्शनानुसार शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान यह पाँच नियम हैं ।[3] ईश्वरप्रणिधान को स्पष्ट करते हुए व्यास जी लिखते हैं कि शय्या अथवा आसन पर बैठा हुआ व मार्ग में चलता हुआ अपने स्वरूप में स्थित वितर्करूप जाल को नष्ट किए हुए संसार बीज के नाश का विचार करता हुआ नित्य परमात्मा में युक्त हुआ अमृत भोग का भागी होता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है ।[४]

भोजवृत्तिटीकानुसार शौच दो प्रकार का है—बाह्य और आन्तरिक । मिट्टी, जलादि से काया का धोना बाह्य और मैत्र्यादि के द्वारा चित्त मलों का धोना आन्तरिक शौच है । तृप्ति को सन्तोष कहते हैं । शास्त्रों में कहा हुआ तप है, जो कृच्छ्र चान्द्रायणादि हैं । मन्त्रों के पूर्व में ओंकार लगाकर जप करना स्वाध्याय कहलाता है । और क्रियाओं को फल की अपेक्षा से रहित उस परम गुरु में अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है । इनको क्रिया-योग भी कहते हैं ।[५] विज्ञानभिक्षु भी इनका निरूपण करते हैं ।[६]

---

१. नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमिति एकान्तवासो निःसंगतौदासीन्यं यथा-प्राप्ति-सन्तुष्टिर्वैरस्य गुरुचरणावरूढत्वमिति नियमलक्षणम् ॥
—सि० सि० प०, २।३३

२. भक्तिर्गुरौ परमतत्त्वपदेऽनुरक्तिर्निःसङ्गता स्वयमुपागतलाभतुष्टिः ।
एकान्तवासपरता च मनोनिवृत्तिर्वैराग्यभाव इति ये नियमास्त एव ॥
(शिवयोगदीपिका, ४।५)

३. शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।
—पा० यो० दर्शन, २।३२

४. शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्कजालः
संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृतभोगभागी ॥
—व्यासभाष्य, वही

५. भोजवृत्तिटीका, २।३२, २।१

६. तपः स्वाध्यायसन्तोषाः शौचमीश्वरपूजनम् ।
समासान्नियमाः प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिनः ॥—योगसारसंग्रह, पृ० २०

दर्शनोपनिषद्[१], शाण्डिल्योपनिषद्[२] और शिवयोगदीपिका[३] में नियम के दस अंग स्वीकृत हैं। अपरोक्षानुभूति में वर्णित है कि सजातीय-प्रत्ययों का प्रवाह और विजातीय का तिरस्कार यही परमानन्द रूप नियम है। मुमुक्षु-गण इसका नियमपूर्वक अभ्यास करते हैं।[४]

(३) **आसन**—स्वस्वरूप में सदा स्थित होना आसन कहलाता है। यह आसन, सुख, स्वस्थ, अम्बुजादि के भेद से अनेक प्रकार का माना गया है।[५] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार सदा स्वस्वरूप चेतनमात्र आत्मा में स्थित होना ही आसन का द्योतक है। बहुधा प्रकार के आसनों में स्वस्तिक, पद्म और सिद्धासन ये तीनों योग-साधना हेतु अत्यन्त उपकारक हैं।[६] पा० यो० दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता और सुख हो वही आसन है।[७] व्यास भाष्य के मत में उस विषय में जैसे पद्मासन, वीरासन, भद्रासनादि जो जिसको इष्ट हो वही करे परन्तु जिसमें शरीर कम्पादि न हो और सुख हो इसका विचार करना चाहिए।[८] भोजवृत्तिटीकानुसार जिसके द्वारा बैठा जाए वह आसन कहलाता है। वह पद्मासन, दण्डासन, स्वस्तिकासनादि हैं। जब आसन स्थिर अर्थात् निष्कम्प, सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है, तब योगाङ्गता को प्राप्त होता है।[९] आत्मपूजोपनिषद् के अनुसार निश्चल ज्ञान ही आसन है।[१०]

---

१. तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥
—दर्शनोपनिषद्, २।१

२. शाण्डिल्योपनिषद्, १।१।११

३. संतोष आस्तिक्यगुणो मतिश्च तपो व्रतं शंकरपूजनं च।
ह्रीर्योगशास्त्रश्रवणं जपश्च प्रदानमेते नियमा दश स्मृताः॥
—शिवयोगदीपिका, २।१०

४. सजातीय-प्रवाहश्च विजातीय-तिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः॥
—अपरोक्षानुभूतिः, १०५

५. सि० सि० सं०, २।५२

६. सि० सि० प०, २।३४

७. स्थिरसुखमासनम्—पा० यो० दर्शन, २।४६

८. व्यासभाष्य—वही

९. भोजनवृत्तिटीका—वही

१०. निश्चिलज्ञानमासनम्—आत्मपूजोपनिषद्

शाण्डिल्योपनिषद् में आसन के आठ प्रकार वर्णित हैं।[1] जबकि दर्शनोपनिषद् में इसके नौ प्रकार स्वीकृत हैं।[2] यहाँ आसनों की विकासावस्था पर अधिक न जाते हुए केवल कुछ प्रमुख ग्रन्थों का नामोल्लेख करना ही उचित होगा, क्योंकि '**आसनानि समस्तानि यावत् जीवजन्तवः।**' विज्ञानभिक्षु तीन (स्वस्तिक, पद्म और अर्धासन) आसनों की ही योग साधना में अत्यधिक उपयोगी बताते हैं।[3] शिवयोगदीपिका में आसनों के दस भेद मानकर उनमें तीन को ही उत्तम माना है।[4]

भगवान् शङ्कराचार्य के मत में जिस आसन में सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन हो सके उसे ही आसन जानना चाहिए, दूसरा आसन नहीं है क्योंकि वे सब सुखनाशकर्ता होने से। जो समस्त भूतों का आदि कारण है, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान है और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं, उसे ही सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[5]

(४) **प्राणायाम**—प्राणों की स्थिरता का हेतु ही प्राणायाम कहलाता है।[6] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार प्राण वायु की स्थिरता का कारण प्राणायाम कहलाता है और वह रेचक, पूरक, कुम्भक और संघटकरण (वायुओं का योग) भेद से चार प्रकार का है।[7] पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार आसन के होते हुए श्वासप्रश्वास की गति का रोकना प्राणायाम कहलाता है तथा इसके चार भेदों को स्वीकार किया गया है।[8] व्यास जी के मत में आसन के होते हुए बाहर वायु को अन्दर खींचना 'श्वास' कहलाता है। उदर में वायु का बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है, उन दोनों की

---

१. शाण्डिल्योपनिषद्, १।३।१
२. दर्शनोपनिषद्, ३।१
३. आसनं स्वस्तिकं प्रोक्तं पद्ममर्धासनं तथा।
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम्॥
—योगसारसंग्रह, पृ० २१
४ शिवयोगदीपिका, १।१२-१३
५. अपरोक्षानुभूतिः, ११२-११३
६. सि० सि० सं०, २।५३
७. सि० सि० प०, २।३५
८. तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।
—पा० यो० दर्शन, २।४९-५१

गति को रोकना अर्थात् उन दोनों का अभाव 'प्राणायाम' कहलाता है ।[1] दर्शनोपनिषद् में प्राणायाम के रेचक, पूरक और कुम्भक तीन भेद माने हैं। इन तीनों को वर्णत्रयात्मक मानकर इनका सविस्तर वर्णन प्रस्तुत किया गया है ।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में प्राणायाम का निरूपण (समस्त नाड़ियों सहित) प्राप्त होता है ।[3] शिवयोगदीपिका में प्राकृत; वैकृत और केवल कुम्भक भेद से त्रिविध प्राणायाम मान्य है ।[4] इस परम्परा से हटकर अन्य ग्रन्थों में भी प्राणायाम का निरूपण प्राप्त होता है यथा याज्ञवल्क्य-संहिता ।[5] पशुपत दर्शन के प्रमुख ग्रन्थ गणकारिका की टीका में प्राणायाम का वर्णन अत्यन्त युक्तियुक्त दृष्टिगत होता है ।[6]

---

१. व्यासभाष्य, २।४६

२. दर्शनोपनिषद्—सम्पूर्ण षष्ठ प्रकरण

३. शाण्डिल्योपनिषद्, १।७ खण्ड

४. शिवयोगदीपिका, २।२०-२५

५. प्राणायामपरः सर्वे प्राणायामपरायणः ।
प्राणायामैर्विशुद्धा ये ते यान्ति परमां गतिम् ॥
प्राणायामादृते नान्यत्तारकं नरकादिव ।
संसारार्णवमग्नानां तारकं प्राणसंयमः ॥
—याज्ञवल्क्यसंहिता

६. "उपस्पर्शनेनाक्षपितकलुषक्षापणार्थं प्राणायामः । कोष्ठ्यस्य वायोर्गतिनिरोधः प्राणायामः । तत्रोपस्पृश्य कारणतीर्थकरगुरूननुप्रणम्य प्राङ्-मुख उदङ्मुखो वा पद्मकस्वस्तिकादीनामन्यतमं यथासुखमासनं बद्ध्वा कृतमुन्नतं च कृत्वा शनैः संयतान्तः करणेन रेचकादीन् कुर्यात् । कलुषाभावेऽपि चित्तस्यातिनिर्मलत्वापादनार्थमभ्यासार्थं नित्यं कुर्यात् ।"
उक्तं हि—
"प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ॥
प्रणायामेन युक्तस्य विप्रस्य नियतात्मनः ।
सर्वे दोषाः प्रणश्यन्ति सत्त्वस्थश्चैव जायते ॥
जलबिन्दुकुशाग्रेण मासे मासे च यः पिबेत् ।
संवत्सरशतं साग्रं प्राणायामैकतत्समम् ॥"

आदि शङ्कराचार्यानुसार चित्तादि सर्ववृत्तियों में ब्रह्मरूप से ही भावना करने से सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध प्राणायाम कहलाता है। नानारूपात्मक प्रपञ्च का निषेध करना रेचक प्राणायाम है और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसी जो वृत्ति है, वह पूरक-प्राणायाम कहलातो है। फिर उस ब्रह्माकार वृत्ति की निश्चलता ही कुम्भक प्राणायाम है। प्रबुद्ध पुरुषों के लिए तो यही प्राणायाम है, अज्ञानियों के लिए घ्राणपीडन प्राणायाम है।[1]

श्री लाहिड़ी महाराज वेदान्त व्याख्या में लिखते हैं कि "हृदयस्थ वायु ही प्राण है, वह वायु ही बल है और वही मनुष्य का जीवन है। इस प्राणवायु के ही स्थानभेद से प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नाम हो जाते हैं। इस प्राण-अपान के द्वारा ही होम करना पड़ता है। होम करने में अग्नि की आवश्यकता होती है। क्रिया द्वारा प्राण के ऊर्ध्वमस्तक में गमन करने से ही ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित होती है।

प्राण—अपानादि समस्त प्राण क्रियाओं को उसमें होम करना पड़ता है, तभी यज्ञविशेष क्रिया की परावस्था प्रकाशित होती है और यह क्रिया की परावस्था ही ब्रह्म है। इसमें जिसका मन लीन हो जाता है उसे ही "सर्वं ब्रह्ममयं जगत्" की अवस्था प्राप्त होती है। ब्रह्मरन्ध्र को भेदकर प्राण की गति होती है। प्राण ही कूटस्थ है और उसी के होने से सब कुछ होता है। यह कूटस्थ प्राण ही मुख्य प्राण है, यह समस्त इन्द्रियों से अतीत है, इस मुख्य प्राण का कोई रूप नहीं है। क्रिया की परावस्था में स्थिति प्राप्त होते ही मुख्य प्राण अथवा आत्मा का परिचय प्राप्त होता है। आत्मा के विभिन्न

प्राणायामविशुद्धात्मा यस्मात् पश्यति तत्परम् ।
तस्मात्किञ्चित्परं नास्ति प्राणायामादिति श्रुतिः ॥
... ...
"अह्ना रात्र्या च याञ्जन्तून्निहन्त्यज्ञानतो यतिः ।
तेषां स्नात्वा विशुद्ध्यर्थं प्राणायामान् षडाचरेत् ॥"
(आचार्य-भासर्वज्ञ-विरचित, गणकारिका, पृ० १२-१३

१. चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥
—अपरोक्षानुभूति, ११८-१२०

अभिप्राय इन्द्रिय-द्वारों पर ही व्यक्त होते हैं। प्राण का भेद ही इन्द्रियों की विभिन्नता है। ऐसा होने पर ही पञ्च प्राण, मन और इन्द्रियाँ फूट उठती है, किन्तु ये समस्त मुख्य प्राण (क्रिया की परावस्था) से भिन्न होते हैं। चञ्चल प्राण स्थिर होने पर ही आत्मा अथवा ब्रह्म का ज्ञान होता है। क्रिया करने से ही प्राण स्थिर होते हैं।

क्रिया करते-करते जो क्रिया की परावस्था में पहुँच जाते हैं वे प्रथम ही तृतीय नेत्र कूटस्थ को पाकर शिवरूप हो जाते हैं, और फिर उस कूटस्थ के स्थिर होने पर ही विष्णु हो जाते हैं।

चेष्टाशील साधक प्रयत्न करने पर ही इस अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। जो साधन का क्लेश सहन कर प्रयत्नपूर्वक क्रिया करते चलते हैं उनकी कुलकुण्डलिनी मूलाधार में जागृत हो जाती है, उन्हीं का हृदयस्थ काम नष्ट हो जाता है और वे ही समस्त इच्छाओं से मुक्त हो जाते हैं। ये समस्त योगी लोग अमृत-पान करते हैं।"[1]

"कुण्डलिनी शक्ति के जागरण के मूल में प्राण और अपान शक्तियों का साम्य स्थापन होता है। प्राण और अपान के द्वारा यावत् विरुद्ध शक्तियों का संग्रह समझना चाहिए। विरुद्ध शक्तियों में साम्य होना ही समान वायु की क्रिया का फल है। इस समय निद्रित कुण्डलिनी-शक्ति जाग उठती है। योगी का मन इस जाग्रत कुण्डलिनी-शक्तिरूपा अग्नि के साथ मिलकर एक हो जाता है। इस कुण्डलिनी-शक्ति को जाग्रत करने के लिए प्राणायाम रूप योग कौशल को जानना चाहिये। प्राणायाम के द्वारा ही श्वास चैतन्य युक्त होता है, इससे सुषुम्ना का मुंह खुल जाता है। इससे मन का त्राण होता है अर्थात् चाञ्चल्य रहित होकर स्थिरता प्राप्त करने के कारण यहाँ मन्त्र के मन्त्र नाम की (मननात् त्रायते) सार्थकता दृष्ट होती है। तन्त्र में लिखा है।क—

शिव से लेकर कृमि पर्यन्त प्राणियों के प्राणवर्तन रूप श्वास-प्रश्वास को मन्त्र कहते हैं। मन्त्र का यथार्थ मानी है, श्वास और उसको चैतन्य करने का उपाय श्वास-क्रिया या प्राणायाम"।[2]*

---

१. जीवन-लक्ष्य और साधना पृ० ८८ से

२. शिवादिकृमिपर्यन्तं प्राणिनां प्राणवर्तनम्।
निःश्वास-श्वासरूपेण मन्त्रोऽयं वर्तते प्रिये॥

* जीवन लक्ष्य और साधना, पृ० ११-१२

(५) प्रत्याहार—चित्तवृत्तितरङ्गों का विषयों से निवर्तन ही प्रत्याहार कहलाता है तथा यह चित्त विकारों को ग्रसने वाला है।[1] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार देहरूपी रथ के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्व रूपी इन्द्रियों की स्व-स्व विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से प्रसिद्ध है। उन इन्द्रियों को विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार कहलाता है।[2] पातञ्जल योग दर्शन के अनुसार इन्द्रियों का अपने विषयों को त्याग कर चित्तस्वरूपानुकूल होना ही प्रत्याहार कहलाता है।[3] व्यास जी लिखते हैं कि अपने विषय के संयोग से रहित चित्त स्वरूप के अनुकूल ही होना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। चित्त के रोकने पर चित्त के समान इन्द्रियों का भी रुक जाना। इन्द्रियजय के समान अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करते अर्थात् आवश्यकता नहीं होती। जैसे मधु-निर्माणकर्त्री रानी मक्खी के उड़ते हुए उसके पीछे सब मक्खियाँ उड़ती हैं और प्रवेश करती हुई के पीछे प्रवेश करती हैं। उसी प्रकार इन्द्रियाँ चित्त निरोध होने पर निरुद्ध हो जाती हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है।[4] गीता में प्रत्याहार हेतु कूर्म को साक्ष्य ठहराया है।[5] दत्तात्रेय योगशास्त्र के अनुसार साधक जब कुम्भक लगाकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है, तो उसे प्रत्याहार कहते हैं।[6] शाण्डिल्योपनिषद् में इसकी चर्चा करते हुए वर्णित है कि विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेना प्रत्याहार है। जो-जो देखता है वह सब आत्मा ही है, ऐसा विचार प्रत्याहार है। नित्यकर्म फल का त्याग, सर्व विषयों से विमुख, अठारह मर्म स्थलों में क्रम से धारण, पैर का अंगूठा, गुल्फ, जानु, जङ्घा, गुदा, लिङ्ग, नाभि, हृदय, कण्ठकूप, तालु, नासिका, नेत्र,

१. सि० सि० सं०, २।५४
२. सि० सि० प०, २।३६
३. स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥
—पा० यो० दर्शन, २।५४
४. व्यास भाष्य, २।५४
५. यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥
—गीता, २।५८
६. इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरति स्फुटम् ।
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ॥
—दत्तात्रेय योगशास्त्र श्लोकार्ध संख्या, १८६-१८७

भ्रूमध्य, ललाट और मूर्धा इन स्थानों में आरोहण और अवरोहण क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए।[1] शिवयोगदीपिका में प्रत्याहार को अन्तरङ्गाङ्ग के रूप में स्वीकार करते हुए प्रत्याहार का पालन करने वाले को संयतात्मा के रूप में स्वीकारा है।[2] अपरोक्षानुभूति के अनुसार विषयों में आत्मभाव करके अन्तःकरण को चेतन में डुबो देने को ही प्रत्याहार जानना चाहिए। मुमुक्षुओं के द्वारा इसी का अभ्यास श्रेयस्कर है।[3]

(६) **धारणा**—वृत्तियों का निर्विकार में धारण ही धारणा है।[4] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार शरीर के बाह्य और आभ्यन्तर सर्वत्र एक ही आत्मा को व्यापक मानते हुये मानसिक भावना करनी चाहिये और जैसा भी भूत-भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है, उस सबको निज आत्मरूप निराकार में ही धारण करे कि यह सब प्रपञ्च समुद्रतरङ्गवत् ब्रह्म में ही कल्पित है। तथा उस परब्रह्म से अभिन्न आत्मा को वायु रहित दीप के समान निश्चल चित् प्रकाश रूप से ध्यान करें। यही धारणा है।[5] पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का देश विशेष में बाँधना अर्थात् रोकना धारणा कहलाती है।[6] व्यास भाष्य मत में नाभिचक्र—हृदयकमलमूर्धज्योति में नासिका के अग्रभाग में अथवा जिह्वा के अग्रभागादि शरीर देशों में अथवा किसी बाह्य विषय में चित्त की वृत्तिमात्र का रोकना धारणा कहलाती है।[7] दत्तात्रेय

---

१. शाण्डिल्योपनिषद् प्रथम अध्याय, अष्टम खण्ड।

२ संकोचमाचरति कूर्म इहाङ्गकाना-
मङ्गे यथा भुवि तथा निखिलेन्द्रियाणि।
प्रत्याहरस्व नियतात्मनि संयतात्मा-
मन्यामहे परमतत्त्वमिदं तदेव ॥ —शिवयोगदीपिका, ३।३

३. विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चिति मज्जनम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥
— अपरोक्षानुभूति, १२१

४. सि० सि० सं०, २।५५

५. सि० सि० प०, २।३७

६. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। पा० यो० दर्शन, ३।१

७. व्यास भाष्य वही.

योगशास्त्र[1] शिवयोगदीपिका[2] और जाबालदर्शनोपनिषद्[3] में धारणा के पञ्च* (पञ्चमहाभूतों के) प्रकार निर्दिष्ट हैं।

अपरोक्षानुभूति के अनुसार जिस-जिस पदार्थ में मन जाए, उसी-उसी में उसके अधिष्ठान ब्रह्म का दर्शन करते हुए मन को स्थिर करना ही उत्तम धारणा है।[4]

(७) **ध्यान**—द्वन्द्वता रहित परमात्मा और आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा समझकर परमात्मस्वरूपानुरूप अन्तर्वृत्ति का होना ही ध्यान कहलाता है।[5] सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार, जिसका नाम रूप से निर्देश न किया जाये ऐसा जो सर्वान्तर्यामी व्यापक अद्वैत ब्रह्म है, उसी की जो सर्वत्र व्यापक चिद् रूप सत्ता है वह इन्हीं सब का व्यापकरूपात्मा है। मुझ और उस व्यापक आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध को छोड़कर कुछ भी भेद नहीं है। अतः जो-जो वस्तु जैसे-जैसे प्रतीत हो उसको सर्वत्र आत्मरूप जानकर ऐसी भावना करनी चाहिए कि यह मेरी ही आत्मा है और ब्रह्म से लेकर सभी स्थावर जङ्गम प्राणियों में समदर्शी हो जाना ही ध्यान है।[6] पातञ्जल के अनुसार उस प्रदेश में अर्थात् जिस विषय में

---

१. दत्तात्रेय योगशास्त्र—श्लोकार्ध संख्या, २२०-२४२

२. धारिणी वारुणी चैव आग्नेया मारुती तथा।
नभोमयीति कथ्यन्ते सूरिभिः पञ्च धारणा॥
—शिवयोगदीपिका, ३।३६

३. अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रतः।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने॥
—जा० द० उ०, ८।१-२

* पञ्च धारणा की विस्तृत व्याख्या हेतु द्रष्टव्य—दर्शनोपनिषद् एवं जाबालदर्शनोपनिषद् का अष्टम खण्ड।

४. यत्र तत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता॥
—अपरोक्षानुभूति, १२२

५. सि० सि० सं०, २।५६

६. सि० सि० प०, २।३८

धारणा की गई है उसी ध्येय विषयक ज्ञान वृत्तियों का समान प्रवाह ध्यान है। समान प्रवाह से अभिप्राय है कि दूसरा ज्ञान मध्य में न हो।[1] व्यास मतानुसार 'उस देश में जिसमें धारणा की गई ध्येय-स्वरूप आलम्बन वाले ज्ञान की एकतानता अर्थात् समान प्रवाह अन्य ज्ञानों से रहित ध्यान कहलाता है। सदृश प्रवाह का अभिप्राय यह है कि जिस ध्येय विषयक पहली वृत्ति हो उसी विषयक दूसरी और उसी विषयक तीसरी इस प्रकार ध्येय से अन्य का ज्ञान मध्य में न हो सो सदृश प्रवाह का अभिप्राय है।'[2] भोजवृत्ति टीका के मत में जिस प्रदेश में चित्त एकाग्र किया गया हो, उसमें प्रत्यय अर्थात् ज्ञान की जो एकतानता विपरीत परिणाम के त्याग द्वारा जो वह धारणा में आलम्बन किया है, उस आलम्बनता से ही सर्व ध्यान काल में ज्ञान उत्पत्ति ध्यान है।[3] ध्यानबिन्दूपनिषद् में ध्यान का अत्यन्त विस्तर निरूपण दृष्टिगोचर होता है। वहाँ वर्णित है कि पर्वत सदृश अनेक योजनपर्यन्त यदि पाप भी हो तो वे ध्यान योग द्वारा नष्टता को प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है।[4] अपरोक्षानुभूति के अनुसार 'मैं ब्रह्म ही हूँ' इस सद्वृत्ति से जो निरालम्ब स्थिति है वही 'ध्यान' शब्द से प्रसिद्ध है और यह वृत्ति परमानन्द प्रदायिका है।[5]

(८) **समाधि**—सर्व तत्त्वों की समावस्था ही समाधि की द्योतक है। इस अवस्था में अन्य बाह्य व्यापारादियों का अवरोध होने पर अनायास ही परमात्मा से एकीकरण हो जाता है।[6] पा० यो० दर्शन के अनुसार वह ध्यान ही अर्थमात्र भासित होना चाहिए जिसमें अर्थात् ध्येय का स्वरूप ही भासित

---

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्—पा० यो० दर्शन, ३।२

२. व्यास भाष्य, ३।२

३. भोजवृत्तिटीका —वही.

४. यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन।
—ध्यानबिन्दूपनिषद्, १

५. ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी॥
—अपरोक्षानुभूति, १२३

६. सि० सि० सं०, २।५७

हो, जिसमें योगी अपने स्वरूप से शून्य सा हुआ अर्थात् अपना स्मरण योगी को न रहे, इस समान गति को समाधि कहते हैं।[1] व्यासभाष्यानुसार ध्याता-ध्येय-ध्यान इन तीनों के भेदपूर्वक ध्यान होता है। उस भेद से रहित समाधि होती है। यह ध्यान और समाधि में अन्तर है। इस समाधि के अङ्ग ध्यान के अङ्गि सम्प्रज्ञात योगादि में भेद है। जब इस ध्यान में चिन्तारूप होने के कारण सम्पूर्णता से ध्येय का स्वरूप भासित नहीं होता। उस ध्यान के अङ्गि सम्प्रज्ञात योग में जानने योग्य जो ब्रह्मस्वरूप उसके साक्षात्कार होने पर समाधि के अविषय अर्थात् ब्रह्मस्वरूप से भिन्न अन्य सर्व पदार्थ भी विषय रूप से भासित होते हैं अर्थात् जाने जाते हैं।[2]

भोजवृत्ति के अनुसार 'ऊपर निर्दिष्ट जो ध्यान है वह जिसमें अर्थमात्र का भान हो, अर्थ के रूपाकार का अपने ज्ञान में प्रवेश होने से अपना ज्ञान स्वरूप दब जाने से अर्थ का स्वरूप उद्भूत होने के कारण स्वरूप शून्य की समानता को प्राप्त होता है। वह समाधि है, ऐसा कहा जाता है यथार्थता से धारण किया जाता अर्थात् एकाग्र किया जाता, विक्षेपों को हटाकर मन जिसमें वह समाधि कही जाती है।'[3] दत्तात्रेय योगशास्त्र के अनुसार जीव और परमात्मा की समता अवस्था समाधि है।[4] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करने से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इस त्रिपुटी रहितता से परमानन्दस्वरूपशुद्धचैतन्यावस्था ही समाधि है।[5] संक्षेप में यही कहना उचित है कि परमात्मा और आत्मा का जल और सैन्धव की भाँति एकाकार होना ही समाधि है।

इस प्रकार प्रकृत ग्रन्थ के द्वितीय उपदेश में नवचक्रों, सोलह आधारों, त्रिविध लक्ष्यों एवं अष्टाङ्ग योग का निरूपण अत्यन्त युक्तियुक्त और संक्षेप से किया गया है।

---

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः —पा० यो० दर्शन, ३।३
२. व्यासभाष्य, वही.
३. भोजवृत्तिटीका, वही.
४. दत्तात्रेय-योगशास्त्र श्लोकार्ध—२५०
५. अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्द-स्वरूप शुद्धचैतन्यात्मिका भवति।
—शाण्डिल्योपनिषद्, १।११

तृतीयोपदेशः

पिण्ड विचारानन्तर पिण्ड-संवित्ति (सम्पूर्ण भूत-भौतिक, जड़-चेतन के ज्ञान) की आवश्यकता का अनुभव इसलिए आवश्यक है क्योंकि पिण्ड-संवित्ति के आश्रयीभूत जीव को शीघ्र ही तत्त्वों का बोध हो जाता है। जो ब्रह्माण्ड में है वही सब इस देह में विद्यमान है, ऐसा हठयोग के आचार्यों का ही नहीं अपितु तान्त्रिक मत का भी कथन है।[1] शिव-संहिता में वर्णित है कि यह शरीर ब्रह्माण्ड संज्ञक है।[2] देहविज्ञानियों के अनुसार यह शरीर सर्वमय है। केवलमात्र यही नहीं अपितु सब कुछ से परे जो कुछ है वह भी इस देह में विद्यमान है। केवलमात्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड में अभिन्नता ही नहीं अपितु ब्रह्माण्डातीत तत्त्व का प्रकाश भी इसी देह में प्राप्त होता है।[3] पिण्डसंवित्ति के आश्रय से सभी तत्त्वों का ज्ञान शीघ्र हो जाता है तथा ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी है वही सब इस देह पिण्ड में है ऐसा निश्चय ही पिण्डसंवित्ति कहलाता है।[4]

---

१. (क) शृणु देवि प्रवक्ष्यामि योगसारं समासतः ।
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षाकारं कलेवरम् ॥
ब्रह्माण्डे यानि तीर्थानि तानि सन्ति कलेवरे ।
बृहद्ब्रह्माण्डं यद्रूपं तद्रूपं क्षुद्ररूपकम् ।
ब्रह्माण्डे वर्तते तीर्थं सार्द्धकोटित्रयात्मकम्
द्विसप्तति सहस्राणि प्रकाशं वीरवन्दिते ॥ —तोडलतन्त्रम्, २।१-३

(ख) ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वं देहमध्ये व्यवस्थितम् ।
साकाराश्च विनश्यन्ति निराकारो न नश्यति ॥
—ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्, २६

२. ब्रह्माण्डसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थितः ।
मेरुशृङ्गे सुधारश्मिर्बहिरष्टकलायुतः ॥
—शिव-संहिता, २।५

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि, पृ० १३५

४. सि० सि० सं०, ३।१-२

सिद्धसिद्धान्तपद्धति में उक्त है कि जो साधक इस देह पिण्ड में समस्त भूत-भौतिक, जड़-चेतन जगत् को जानता है उसका नाम पिण्ड संवित्ति होता है। अर्थात् वह योगी व्यष्टि और समष्टि रूप दोनों ही प्रकार के शरीर पिण्डों का तत्त्ववेत्ता होता है। व्यष्टि सृष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव हैं और समष्टि में विराट् हिरण्यगर्भादि हैं। तथा शरीर रूप पिण्डों का भी दोनों सृष्टियों में प्रादुर्भाव होता है। भेद केवल यह है कि समष्टि शरीर व्यापक, अधिक शक्तिशाली और चिरस्थायी है। और वह शरीराभिमानी सर्वेश्वर सत्य-सङ्कल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है। व्यष्टि पिण्ड क्षणभंगुर तथा विनश्वर है और उसका अभिमानी जीव भी कर्मपाश में बँधा हुआ बार-बार पहले शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को धारण करता है। अतः दुःख बन्धन से जीवों का उद्धार करने की इच्छा से योगाचार्य व्यष्टि और समष्टि रूप पिण्ड के अभेद अभिप्राय से समष्टि पिण्ड-गत कार्य को भी व्यष्टि शरीर में ही समझाते हैं। जिससे कि उक्तपिण्ड के यथार्थ ज्ञानपूर्वक योग ध्यान द्वारा सार्वभौम ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुआ यह जीव परम शान्त और अखण्डानन्द श्री आदिनाथ स्वरूप मोक्षधाम को प्राप्त हो।[1]

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज जी के शब्दों में "व्यष्टि तथा समष्टि के भेद से यह देह दो तरह की है। व्यष्टिदेह को पिण्ड या पिण्डाण्ड (Microcosm) कहते हैं, समष्टिदेह का दूसरा नाम ब्रह्माण्ड (Macrocosm) है। समष्टि और महासमष्टि के भेद से ब्रह्माण्ड की भी दो तरह की स्थिति है। एक पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड के रूप में और दूसरी है—सब ब्रह्माण्डों की समष्टि के रूप में। इस प्रसङ्ग में हम प्रकृत्यण्ड (जो ब्रह्माण्डों की समष्टि से भी विशाल है।) मायाण्ड (जो प्रकृत्यण्ड की समष्टि से भी विशाल है)। एवं शाक्ताण्ड (जो मायाण्ड से भी अनन्तगुण विशाल है) आदि की आलोचना नहीं करेंगे। समग्र ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब का सब पृथक्-पृथक् रूप से इस छोटी-सी नरदेह में भी है, इसलिए यदि ठीक तरह से इस मानव-देह का परिचय प्राप्त हो जाये, तो ब्रह्माण्ड की बात तो क्या, समग्र विश्व का परिचय प्राप्त हो सकता है। उपनिषदों में कही गई 'दहरविद्या' पर विचार करने पर ज्ञात होता है कि बाहरी आकाश में जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब मानव

---

१. सि० सि० प० पर हिन्दी टीका, ३।१

के अन्तराकाशरूपी हृदय-पुण्डरीक में विद्यमान है। अतएव, बाहर की ओर दृष्टि न डालकर अन्तर्मुख दृष्टि के द्वारा हृदय की ओर लक्ष्य निविष्ट करना ही ऋषियों का मुख्य उपदेश था।"[१]

संक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यह छोटी सी देह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रतिबिम्ब है। सृष्टिकर्त्तारूप अत्यन्त निपुण चित्रकार ने माया के काँच द्वारा पञ्चभूत के बने इस अत्यन्त छोटे पत्र पर अनन्त कोटि योजन विस्तार के ब्रह्माण्ड को चित्रित कर दिखाया है।[२] सर्वप्रथम सप्त पातालों की स्थिति निरूपित करते हुए वर्णित है कि कूर्म पादतल में स्थित है जो व्यष्टि शरीर का आधार है।[3] सप्ततलों का क्रम इस प्रकार है—

अँगुष्ठतल में पाताल, अँगुष्ठ के अग्रभाग में तलातल, पादपृष्ठ में महातल,

---

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि पृ०, १२४-१२५

२. यस्मिन्दर्पणबिम्बजृम्भितपुरीसंदर्भतुल्यं जगत्।
भातं यत्परसंविदो यत् इदं रूप्यादिवल्लीयते॥
यस्याज्ञानविजृम्भिता परभिदा वारीन्दु भेदादिवत्।
तं भूमानमुपास्महे हृदि सदा वामार्धजानिं शिवम्॥
—षट्चक्र निरूपण, पृ० ३-४ से सम्पादक श्री हंसस्वरूप

३ भुवनाधारः कूर्मावतार इति प्रसिद्धम् पुराणेषु। तस्यायं गूढाभिसन्धिः। शक्ति सहितस्य शिवस्यैव सृष्ट्यादावस्थाविशेषः कूर्म इवेति, सादृश्यं चात्र यथा कूर्मादङ्गानि निःसरन्ति तत्रैव च संकुचन्ति तथा तत एव च सर्वे प्राणिनः निःसरन्ति तत्रैव काले संकुचन्ति च सर्वेषामाधारः वेदोप्याह (स दाधार पृथिव्यां, द्यामुतेमाम्) गीतायां 'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' अतः सुष्ठूक्तम् कूर्मः पादतले वसति। ननुपादाधारस्तु पृथिवी दृश्यते कथमाह कूर्म इति चेत् शृणु रहस्यम् यदा ब्रह्माण्डपिण्डयोरभेदो ज्ञायते, य एव ब्रह्माण्डः स एव पिण्ड इति तदा कथं ब्रह्माण्डाधार कूर्मो मदीय पिण्डाधारो नेति निषेद्धुं शक्यम्, इति हृदय सङ्कोचं विहायोदारचेतसा विवेक्तव्यम् तत्रांगुष्ठान्त्यदेशमारभ्योरूपर्यन्तं पातालादि सप्तलोक भावना विधेयेति निष्कर्षः। मूले यत्र यस्य स्थितिः प्रतिपादिता तत्क्रमेणैव ज्ञेया नतु व्युत्क्रमेणान्यत् स्पष्टम्। अस्य सप्तपातालस्याधिपति देवो रुद्रः स एव पिण्डे क्रोध रूपः समष्टौ कालाग्नि रुद्रः प्रलयकारकः॥ सि० सि० प० पर श्री द्रव्येश झा कृत् संस्कृत टीका ३।२

गुल्फ में रसातल, जंघा में सुतल, जानुदेश में वितल और मूल में अतल[1] का वास है। इन सप्ततलों के अधिपति रुद्र हैं जो इस व्यष्टि देह में क्रोध रूपी भाव है वही कालाग्नि रुद्र है।[2]

तोडलतन्त्रम् में इन्हीं सप्ततलों का क्रम यहाँ वर्णित क्रम से विपरीत बताया गया है।[3] प्रस्तुत ग्रन्थ में इक्कीस ब्रह्माण्ड स्थानों का निरूपण प्रस्तुत किया गया है, जो इस प्रकार से है—

ब्रह्माण्ड	स्थान	देवता	स्वभाव
१. भूः लोक—	मूलाधारे	=देवता इन्द्र, जो इन तीनों का नियन्ता है तथा समस्त इन्द्रियों का नियामक है।	
२. भुवः लोक—	लिङ्गाग्रे		
३. स्वः लोक—	लिङ्गमूले		
४. महः लोक—	मेरुदण्डाग्रे	=देवता ब्रह्मा, जो शिव-शक्ति की आत्माभिव्यक्ति है।	
५. जनः लोक—	मेरुदण्डकुहरे		
६. तपः लोक--	मेरुदण्डतले		
७. सत्यलोक—	मेरुदण्डमूले		
८. विष्णुलोक—	नाभि—	विष्णु—	रक्षण-पोषण करना।
९. रुद्र लोक—	हृदय—	रुद्र—	उग्र।

---

१. **अतल न०** अस्य भूखण्डस्य तलं पृषो० इदमोऽत्वम्। सप्तपातालमध्ये प्रथमखण्डे भूमेरधोभागे। तल्लोकाश्च सप्त, अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल, पातालसंज्ञका अधोधस्तिष्ठन्ति तेषां निवेश-स्थानञ्च "स्वादूदकान्तर्वडयानलोऽसौ पाताललोकाः पृथिवीपुटानीति" सि० शि० गो० उक्तम्। विशेषस्तत्तच्छब्दे वक्ष्यते। तलशून्ये त्रि नास्ति तलः प्रतिष्ठा यस्य। अप्रतिष्ठेत्रि० [गभोरे]।

—वाचस्पत्यम्, भाग १

२. सि० सि० सं०, ३।३-५

३. अतलं वितलञ्चैव सुतलञ्च तलातलम्।
महातलञ्च पातालं रसातलमतः परम्॥
रसातलाच्च सत्यान्तं महाधीरा प्रतिष्ठिता।
मेरुमध्यस्थिता नाडी महाधीरा च मुक्तिदा॥

—तोडलतन्त्रम्, २।८-९

ब्रह्माण्ड	स्थान	देवता	स्वभाव

१०. ईश्वर लोक—वक्षःस्थल—ईश्वर देव—तृप्ति स्वरूप ।
११. सदाशिव लोक—कण्ठ—सदाशिव—सौम्य स्वभावी ।
१२. श्रीकण्ठलोक—कण्ठमध्य—श्रीकण्ठ—सनातनत्व ।
१३. भैरव लोक—लम्बिका मूल—भैरव—उद्यम ।
१४. शैवलोक—तालुद्वार—शिव—विश्ववन्द्य ।
१५. सिद्धलोक—तालोरभ्यन्तर—महासिद्ध—प्रबोधात्मा ।
१६. अनादिलोक—ललाट—अनादिदेव—पराहन्ता स्वरूप ।
१७. कुललोक—शृङ्गाट प्रदेश—शक्तियुक्त कुलेश्वर—आनन्दस्वरूप ।
१८. अकुलेश लोक—शङ्ख नाड़ी के ऊपर मध्य नलिनी स्थान में—अकुलेश्वर-अभिमानावस्थारहित ।*
१९. परब्रह्मलोक—ब्रह्मरन्ध्र—परब्रह्मदेवता—परिपूर्ण स्वरूपवान् ।
२०. परापर लोक—सहस्रदलकमल—परेश्वर—अस्तित्वरूप ।
२१. शक्तिलोक—त्रिकुट—पराशक्ति—सर्वकर्तृत्व की सामर्थ्ययुक्ता ।[1]

उपर्युक्त लोक ईश्वर के ब्रह्माण्ड-शरीर के अन्तर्गत व्यावहारिक अस्तित्वों के ही विभिन्न स्तरों में मान्य हैं । ये सभी इन्द्रियानुभवों से परे हैं तथा इनमें से कुछ तो मानसिक व बौद्धिक धारणाओं के क्षेत्र से भी बहुत ऊपर हैं । किन्तु जब व्यावहारिक चेतना तत्त्वज्ञानालोकित हो जाती है तब शरीर के अन्तर्गत उन सभी स्तरों का अनुभव प्राप्त हो जाता है ।[2]

चार-वर्ण— ब्राह्मण—सदाचार तत्त्व में ।
क्षत्रिय—शौर्य में ।
वैश्य—उद्यम (व्यवसाय) में ।
शूद्र—सेवा भाव में ।[3]

---

* इस लोक का वर्णन प्रस्तुत पुस्तक में उपलब्ध नहीं है । अतएव इसका निरूपण सिद्धसिद्धान्तपद्धति के अनुसार किया गया है ।
मूल—शंखमध्ये नलिनीस्थानेऽकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । —सि० सि० प०, ३।५

१. सि० सि० सं०, ३।६-२०
२. गोरख-दर्शन, पृ० १९५-९६
३. (क) सि० सि० सं०, ३।२१
(ख) ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः ।
ऊरू तदस्ययद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ।। ऋग्वेद

तथा चौसठ कलाओं में चौसठ तरह के व्यवसायी जन स्थित हैं ।[1]*

सप्त-द्वीप

	द्वीप	—	स्थान
१.	जम्बू	—	मज्जा
२.	शाल्मली	—	अस्थि
३.	प्लक्ष	—	नाड़ी
४	कुश	—	माँस
५.	क्रोञ्च	—	त्वचा
६.	गोमय	—	रोम
७.	श्वेत	—	नख[2]

सप्त-समुद्र

	समुद्र	—	स्थान
१.	क्षार	—	मूत्र
२.	इक्षु	—	शुक्र
३.	दधि	—	कफ
४.	घृत	—	मेद
५.	मधु	—	वसा
६.	वारि	—	लार
७.	अमृत	—	रक्त[3]

नव-खण्ड

ये नव खण्ड शरीर के नवद्वारों में स्थित हैं। यद्यपि इनका वर्णन प्रस्तुत ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता तो भी इस क्षति पूर्ति हेतु सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित नवखण्डों को यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—

---

१. सि० सि० सं०, ३।२७

* यह खण्ड (३।२७)वें श्लोक का प्रथम खण्ड है जो (३।२१)वें श्लोक के अनन्तर ही आना चाहिए था, जैसा कि यहाँ प्रस्तुत किया गया है सम्भवत: यह खण्ड किसी कारण विशेष से अभिभूत होकर यहाँ से च्युत होकर अप्रासङ्गिक जगह उपस्थित हो गया होगा।

२. वही, ३।२२

३. सि० सि० सं०, ३।२३

नवखण्ड

खण्ड		स्थान
१. भारत खण्ड	—	मूल
२. कर्फर खण्ड	—	लिङ्ग
३. काश्मीर खण्ड	—	मुख
४. श्री खण्ड	—	दक्षिण नासिका
५. शङ्ख खण्ड	—	वाम नासिका
६. एकपाद खण्ड	—	दक्षिण कर्ण
७. गान्धार खण्ड	—	वाम कर्ण
८. कैवर्त्तक खण्ड	—	दक्षिण नेत्र
९. महामेरु खण्ड	—	वाम नेत्र[1]

अष्टकुलपर्वत

पर्वत	—	स्थान
१. सुमेरु	—	मेरुदण्ड
२. कैलाश	—	मस्तक
३. हिमाद्रि	—	पीठ
४. मलयाचल	—	वाम स्कन्ध
५. मन्दराचल	—	दक्षिण स्कन्ध
६. विन्ध्याचल	—	दक्षिण कर्ण
७. मैनाक	—	वाम कर्ण
८. श्रीपर्वत	—	ललाट में स्थित है। तथा अन्य उपपर्वत हस्ताङ्गुलियों में विद्यमान हैं।[2]

निर्वाण-तन्त्र में भी कहा गया है कि मध्य में मेरु पर्वत तथा अन्य सात कुलपर्वत शरीर में स्थित हैं।[3]

---

१. सि० सि० प०, ३।९

२. सि० सि० सं, ३।२५-२७

३. मेरुः पर्वतस्तन्मध्ये तथा सप्त-कुलाचलाः ।
मूलादि-मस्तकान्तं वै सुमेरुर्नाम पर्वतः ॥

—निर्वाण-तन्त्र, प्रथम पटल

नव-नदी

१.	गङ्गा	ये मुख्य नदियाँ देहस्थ प्रधान नाड़ियों में तथा अन्य उपनदियाँ शरीरस्थ बहत्तर हजार नाड़ियों में प्रवाहित होती हैं। जिनका साक्षात्कार केवल तत्त्वज्ञाता ही कर सकता है।[1]
२.	सरयू	
३.	यमुना	
४.	चन्द्रभागा	
५.	सरस्वती	
६.	वितस्ता	
७.	शतरुद्रा	
८.	नर्मदा	
९.	इरावती	

इनके अतिरिक्त (अश्विनी, भरणी, कृत्तका, पुनर्वसु इत्यादि सत्ताईस) नक्षत्र, (मेष, वृष, धनु इत्यादि बारह) राशियाँ, (सूर्य, चन्द्र, बुध इत्यादि नव) ग्रह, तारागण और तिथियाँ ये सभी शरीर के कोष्ठों में वास करते हैं। अनेक तारागण नेत्रान्त ज्योतिपुञ्ज के और तेंतीस करोड़ देवता शरीर के रोम कूपों के आश्रयीभूत होकर रहते हैं। अनेक मुनि कक्षरोम में एवं सर्वपीठ (मुख्य देवोपासना स्थान) और उपपीठों का स्थान श्मश्रु है। भूत-प्रेत, पिशाच राक्षस, दैत्य और दानवों का वास अस्थि-सन्धियों में है। समस्त तूपनागादि उदरस्थ रोमों में, गन्धर्व, किन्नरगण, अप्सराएँ और यक्ष आदि विविध प्रकार के अवयवों में और परा देवतादि का वास वाच्य रश्मिवितताओं में है। अनेक प्रकार की आकाश में विचरण करने वाली, उग्र मातृ-शक्तियाँ* शरीरस्थ वायु वेग में, मेघ आँसुओं में, तीर्थ-मर्मस्थानों में, बुद्धि के प्रकाश में सिद्ध, नेत्रों में सूर्य और चन्द्र, लता, गुल्म और तृणादि जङ्घाओं के रोमों में और अनेक प्रकार के कीट, पतङ्गादि पुरीष (विष्ठा) में वास करते हैं। शरीरस्थ सुख-दुःख स्वर्ग-नरक हैं। निर्विकल्पता से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अखण्ड आत्मबोध ही आत्म जागरण है। इस

---

१. सि० सि० सं०, ३।२८-२९

* ये गिनती में आठ हैं—ब्राह्मी माहेश्वरी चंडी वाराही वैष्णवी तथा।
कौमारी चैव चामुंडा चर्चिकेत्यष्टमातरः॥

कुछ के मत में इनकी संख्या सात हैं—
ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा।
माहेन्द्री चैव वाराही चामुंडा सप्त मातरः॥ (संस्कृत-हिन्दी कोश)
वामन शिवराम आप्टे, पृ० ७९१

प्रकार अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूप महेश्वर घट-घट में चित्प्रकाशस्वरूप से सर्वत्र विद्यमान हैं।[1]

"महायोगी गोरक्षनाथ जी कहते हैं कि यह विश्वरूप प्रत्येक व्यष्टि-शरीर में वस्तुत: विद्यमान रहता है तथा एक पूर्णतया तत्त्वज्ञानालोकित योगी इसका दर्शन न केवल दिव्यपुरुष श्रीकृष्ण के शरीर में ही कर सकता है, वरन् अपने शरीर तथा दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी कर सकता है। परमात्मा द्वारा व्याप्त ब्रह्माण्ड-शरीर प्रत्येक व्यष्टि रूप में अभिव्यक्त है और पूर्ण तथा असंख्य अंशों में भेद अनावश्यक है। जब तक व्यष्टि-चेतना भौतिक-ऐन्द्रिक अनुभव स्तरों पर विचरण करती है तथा इनके द्वारा निर्मित आवरणों को दूर नहीं कर सकती, ये भेद प्रमुख प्रतीत होते हैं, पूर्ण अंशों की ओट में वह विशिष्ट वास्तविक विशेषों में अन्तर्निहित एक सामान्य सिद्धान्त के रूप में वह छिपा रहता है। आध्यात्मिक दृष्टि के समक्ष पूर्ण प्रत्येक अंश में स्पष्ट दिखाई देता है, असीम प्रत्येक ससीम में अभिव्यक्त प्रतीत होता है।"[2]

इस प्रकार समष्टि और व्यष्टि रूप से ब्रह्माण्ड और पिण्ड का ज्ञान ही पिण्ड-संवित्ति कहलाता है।

---

१. सि० सि० सं०, ३।३०-४०

२. गोरख-दर्शन, पृ० १९७

चतुर्थोपदेशः

पिण्ड-संविति के अनन्तर इस प्रकरण में शक्ति रूप पिण्डाधार (पिण्ड के आधार के रूप में, यथा शरीर के रक्षक इत्यादि) का निरूपण प्रस्तुत किया गया है। यह शक्ति मूल में परम से अभिन्न एवं उसी के रूप वाली है तथा यही शक्ति समस्त देहों का आधार है। इसी चित् एवं कार्य-कारण और कर्तृत्व की अवस्था को स्फुटित करने वाली शक्ति के सन्दर्भ में प्रथम अध्याय में निरूपित पञ्चत्व (निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुण्डलिनी) की गणना को प्रकाशित कर शक्ति और शिव रूप कुलाकुल के सामरस्य को प्रकाशित करने वाली अपरम्परा शक्ति का निरूपण इस प्रसङ्ग में किया गया है। यह शक्ति समस्त जड़-चेतन पदार्थों का उसी प्रकार एकमात्र आधार है यथा नाना प्रकार के तन्तु एकमात्र पट के आश्रयीभूत होकर विराजते हैं।[1]

गोरख-दर्शन में उक्त है कि "शिव को शक्ति का पारमार्थिक रूप कहा जा सकता है और शक्ति को शिव का प्रापंचिक स्तर। शिव से भिन्न और स्वतन्त्र, शक्ति का कोई अस्तित्व नहीं है और यदि शक्ति की अवहेलना की जाए तो शिव की आत्माभिव्यक्ति, उनका नानात्मक आत्म-प्रकाशन सम्भव नहीं और आत्मचेतना से सम्पन्न उनका कोई व्यक्तित्व भी सम्भव नहीं।"[2] यह शक्ति देह-पिण्ड के प्रत्येक परमाणु में व्याप्त है। प्रत्येक प्राणी इसे इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप में अनुभव करता है। समस्त ब्रह्माण्ड में विद्यमान यह शक्ति देह पिण्ड में कुण्डलिनी रूप से स्थित है। केवल इस शक्ति का जागरण ही साधक का लक्ष्य नहीं, अपितु लक्ष्य है शिव और शक्ति का सामरस्य रूप सहज समाधि।[3]

---

१. सि० सि० सं०, ४।१-३

२. गोरख-दर्शन, पृ० ६६

३. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० १२४

मायातन्त्र[1] और षडाम्नायतन्त्र[2] जैसे ग्रन्थों में भी इस शक्ति का वर्णन अत्यन्त युक्तिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति की व्याख्या में उक्त है कि 'जीव का शिव और शक्ति के साथ ज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरस रूप मोक्ष है, जो कि लक्ष्य है तथा साधन जिसका योग है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञानस्वरूप बुद्धि आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्यप्रकाश रूप और सकल चराचर जगत् की आधारभूत परमेश्वर की निजा शक्ति वेदादि शास्त्र और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। वह शक्ति शरीरादि कार्य तथा उनके पाँच सूक्ष्म कारण और जीव, इनकी जो अच्छी प्रकार से अभिव्यक्ति अवस्था है उस अवस्था रूप अङ्कुर के प्रकाश से सकल विश्व के कर्त्ता हिरण्यगर्भादि को भी उत्पन्न करती है, इसलिए वह चिद्रूप शक्ति शिव की अत्यन्त अन्तरङ्ग है। वही शक्ति भूत भौतिक प्रपञ्च की अपेक्षा आधार कहलाती है। इसी से वह सबका उपादानकारण है। वह शक्ति केवल स्वप्रकाश स्वरूप है। अतः निज अनुभव से ही जानने योग्य और लोक तथा

---

१. शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तस्याश्चाराधनं महत्।
या चित्छक्तिः सैव माया सा दुर्गा परिचक्ष्यते ॥
या दुर्गा सा महाकाली तारिणी बगलामुखी।
अन्नपूर्णा च सा माया गृहिणां कल्पशाखिनी ॥
भोगदा मोक्षदा देवी तस्मात् पूर्णेति चक्ष्यते।
माया गुणवतां देवी निर्गुणानां चिदात्मिका ॥
यदि सा बहुभिः पुण्यैः प्रसीदति जनान् प्रति।
तदैव कृतकृत्यास्ते संसारात् ते बहिष्कृता ॥
दुरन्ता चावशा माया मुनीनामपि मोहिनी।
श्रीकृष्णं मोहयामास राधा च गोकुले स्थिता ॥

—मायातन्त्रम्, २।३-७

२. चित्छक्तिः परमाराध्या मायाशक्त्यपि पूजिता।
गुणशक्तिः सृष्टिरूपा पूजापूज्या द्विधा मता ॥
पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिस्त्रिविधा बहुधा मता।
चिद्घनो ह्यच्युतानन्दः सकला परमेश्वरी ॥

—षडाम्नायतन्त्रम्, ३।५, ८

शास्त्र सम्बन्धी बुद्धि वृत्ति को देखने वाली जो चिद्रूपशक्ति है वही परमेश्वर आदिनाथ की पराशक्ति कही जाती है। वही पराशक्ति जब प्रलयकाल में स्वभाव से अपने शुद्ध रूप में विकसित होती है, तब शिव रूप भी हो जाती है। अर्थात् महाप्रलय में विलीन होकर समस्त जगत् जिसमें शयन करता है, उसको शिव कहते हैं। वास्तव में उस समय शिव से शक्ति का किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहता।'[1] गोरक्ष-वचन-संग्रह में जल-बुद्बुदवद् शिव-शक्ति के अभिन्नत्व को प्रतिपादित किया गया है।[2]

जब यह शिव की अभिव्यक्ति समस्त स्थावर एवं जङ्गम रूप प्रापंचिक स्तरों सहित अपने आपको लीन करती है तो उस दशा को निरुत्थान दशा कहते हैं जिसकी संज्ञा शिव है।[3] अर्थात् निरुत्थान दशा में शक्ति का स्वरूप शिव हो जाता है और व्युत्थान दशा में शिव शक्ति के रूप में आभासित होते हैं। परन्तु परम सत्ता के इन दोनों रूपों में भेद का सर्वथा अभाव है। डा० गोपीनाथ कविराज जी तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन में लिखते हैं कि ज्ञान और क्रिया शक्ति में मूलतः कोई भेद नहीं और जो प्रतीत होता है वह केवल औपाधिक है, वस्तुतः शक्ति एक ही है। जब शक्ति समस्त व्यापारों का उपसंहार कर स्वरूप-मात्र में उपस्थित होती है, तो शिव को शक्तिमान् कहा जाता है। क्रियाशक्ति उस समय मुकुलिका सदृश शिव में अवस्थान करती है। यही शिव की पूर्ववर्णित लयावस्था है।[4]

सृष्टि के प्रसार और सङ्कोच की आदि और अन्त की अवस्था ही साम्यावस्था अथवा निराभास अथवा शिवावस्था है। साम्यभङ्ग अर्थात् शक्ति के स्फुरण में स्तरानुसार विश्व का आविर्भाव होता है। जगत् का आभासित होना ही शक्ति और निराभास होना शिव है जो एकरस और अपरिणामी हैं। शक्ति साधन और शिवत्वलाभ उसका फल है। विमर्श ही शिव की शक्ति है। सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रिय की एकावस्था ही नाथस्वरूप है।[5]

---

१. सि० सि० प० पर सारदीपिका टीका ४।१

२. अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति।
जलवुद्वुद्वद् न्यायात् एकाकारः परः शिवः॥
—गोरक्ष-वचन-संग्रह, ८

३. सि० सि० सं०, ४।५

४. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन, पृ० २७

५. ना० स० द० सा० प्र० के शब्द गोरक्षनाथ नाथ-सम्प्रदाय के परिप्रेक्ष्य में, पृ० ११७

यह शक्ति कुल और अकुल दोनों (शिव के लौकिक एवं पारलौकिक स्वरूपों) का सामञ्जस्य प्रदर्शित करने वाली है। इसी कारण इसे कुलाकुल स्वरूपिणी कहते हैं। इस प्रकार अपने स्वभाव से चिद्रूप यह शक्ति मोक्षावस्था में आत्मस्वरूप में ही उद्बुद्ध होती है। अतः कुलाकुल की सामरस्य स्थिति ही शिव-शक्ति की अभेदावस्था का द्योतन करती है। जिसको प्रकाशित करते हुए कहा गया है कि विश्व के आधार की एकमात्र द्योतक वह शक्ति परा, सत्ता, अहन्ता, स्फुरता और कला रूप पाँच प्रकारों से अभिव्यक्त होती है, जिसे कुलशक्ति कहते हैं।

परा—स्वयं चेतनप्रकाशरूपा होने से समस्त जड़प्रकाश को प्रकाशित करने वाली।

सत्ता—परम की सर्वव्यापकता को अङ्गीकार करने वाली।

अहन्ता—आदि और अन्त रहित तथा बुद्धि ज्ञान से अज्ञेय प्रकाशस्वरूप मैं ही हूँ, इस प्रकार परमात्म-आत्म की अभेदावस्था के प्रकाश की प्रकाशिका।

स्फुरता—परमात्मा और आत्मा की अभेदावस्था की ज्ञान दशा को अभिव्यक्त कराने वाली।

कला—शुद्धबुद्धस्वभाववान् आत्मा के स्वरूप के ज्ञान की अवबोधिका।[1]

अकुल—वर्ण और गोत्रादि से रहित प्रलयावस्था में एकमात्र अकुल (परम तत्त्व) ही शेष रहता है। शिव को अकुल इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसका कोई कुल गोत्र नहीं है तथा वह आदि और अन्त रहित है। शिव अनन्य, अखण्ड, अद्वय, अविनश्वर, निर्धर्म और अनङ्ग होने से अकुल कहलाता है और शक्ति सृष्टि का हेतु और समस्त प्रापञ्चिक स्तरों की प्रवर्तिका होने से कुल कहलाती है।[2] तात्पर्य यह है कि "अकुल (अद्वैत आत्मा) की आन्तरिक प्रवृत्ति स्वयं को कुल (लौकिक द्वैतताओं) के रूप में अभिव्यक्त करके विलास करने की है और चूँकि अद्वैत आत्मा एवं समस्त द्वैततायें सत्यतः एक ही हैं, अतः अद्वैत आत्मा से एकाकार होने की समस्त द्वैतताओं की आभ्यंतरिक प्रवृत्ति होती है। द्वैत और अद्वैत का सम्बन्ध प्रकट करने के लिए गोरखनाथ बुद्बुदों और जल का उदाहरण देते हैं।"[3]

---

१. सि० सि० सं०, ४।६-९

२. वही, ४।१०-१३

३. गोरख-दर्शन पृ०, ७४

दर्शनमाला में भी इस समस्त जगत् प्रपञ्च का आधार शक्ति को माना है ।[1]

नाथ-सम्प्रदाय की कुलाकुल रूप शक्ति समरस को स्फुट करने हेतु पाँच प्रकार की कुलावस्था एवं अखण्डादि रूप अकुलावस्था से तत्पर होती है। अपरम्परा, निजा आदि संज्ञाओं से प्रसिद्ध यह शक्ति महाप्रलय में सकलाधार रूप से अवशिष्ट रहती है। इसके अनन्तर अपरम्परा पदार्थ के निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहना नितान्त उचित ही होगा कि समस्त भूत-भौतिक विश्व-प्रपञ्च को जो परम में सम्पादित करती हुई एक कर देती है उसी शक्ति का नाम अपरम्परा है तथा इसी को आज्ञावती भी कहते हैं। महाप्रलय में शिव के साथ अभिन्नत्वरूप से विद्यमान रहने के कारण अकुल तथा जब यह शक्ति प्राणियों के कर्मों के साथ मिलकर परा, अपरा, सूक्ष्मादि भेद से कुल रूप व्यक्तावस्था को धारण करती है तब यह कुल कहलाती है। और पुनः प्रलयावस्था में अकुलावस्था-युक्त हो जाती है। जिस प्रकार जल का स्वकार्य की अपेक्षा से फेन, तरङ्ग, बुबबुला आदि नाम हो जाता है और जल भी कहलाता है किन्तु तत्त्व की दृष्टि से वह केवल जल ही होता है उसी प्रकार द्वैत एवं अद्वैत से रहित सर्वाधिष्ठान समरस रूप द्वैताद्वैतविलक्षण ही सत् है।[2] इस अभेद रूप समरस से ब्रह्म ही सर्वत्र विद्यमान है और वही स्वशक्ति से नित्य सम्बद्ध होकर शक्तिमान् कहलाता है। वही सभी स्थावर-जङ्गम, जड़-चेतनादि में व्यवहार की दृष्टि से भासित होने पर भी वास्तव में वह स्वस्वरूप प्रतिष्ठा में सदा स्थित रहता है। वही सबका आधार है किन्तु उसका कोई आश्रय नहीं है। दृष्टि भेद से शिव-शक्ति का आधार भले ही भासित हो, किन्तु यथार्थ में आधाराधेयभाव भी नहीं है क्योंकि शिव-शक्ति का नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है। समस्त जड़-चेतन में वह जल के बुद्बुदों के सदृश भासित होता है और अन्त में निज व्यापक चिदखण्डस्वरूप से एकमात्र

---

१. प्रागुत्पत्तेरिदं स्वस्मिन् विलीनमथ वै स्वतः ।
बीजादङ्कुरवत् स्वस्य शक्तिरेवासृजत्स्वयम् ॥
—दर्शनमाला, १।३

२. अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् ॥
—गोरक्ष-वचन-संग्रह, १

ही अवशेष रहता है।[1]

सर्वशक्तिमान् होने से ही शिव समस्त प्रापञ्चिक स्तरों के परम कारण हैं। शक्ति रहित होने पर शिव कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और शक्ति युक्त होने पर वह सर्वसमर्थ हैं। अर्थात् निज शक्ति से वे सभी के सृजनकर्ता एवं प्रकाशक हो जाते हैं।[२] "शक्ति के बिना शिव कुछ भी करने में असमर्थ हैं। इकार शक्ति का वाचक है और शिव में से इकार निकाल देने से वह शव हो जाता है।[3] इसीलिए शक्ति ही उपास्य है। इस शक्ति की उपासना करने वाले शाक्त लोग ही कौल हैं। यह मत बौद्ध धर्म साधना से मूलतः भिन्न है। इस साधना के तीन लक्ष्य हैं—अखण्ड, अद्वय और अविनश्वर शिव और बौद्ध साधना का लक्ष्य है नैरात्म्य भाव। वे लोग किसी अविनश्वर सत्ता में विश्वास नहीं रखते। कौलज्ञाननिर्णय में भी शिव और शक्ति के उपर्युक्त सम्बन्ध का प्रतिपादन है।[४] कहा गया है कि जिस प्रकार वृक्ष के बिना छाया नहीं रह सकती, अग्नि के बिना धूम नहीं रह सकता। उसी प्रकार शिव और शक्ति अविच्छेद्य हैं, एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती।"[५]

यह तो नितान्त स्पष्ट ही है कि शक्ति रहित शिव असमर्थ हैं और स्व-शक्तियुक्त होने पर ही वह अभासी भासवान् हो जाता है। अर्थात् नित्य शक्तिमान् वह परमेश्वर सर्वविश्व का एकमात्र आधारभूत अधिष्ठान होने से सर्वव्यापी कहलाता हुआ जगत् रूप हो जाता है। सिद्धों के मत में इस जगत्

---

१. (क) सि० सि० प०, ४।१०-१२
(ख) तुलनीय सि० सि०, सं० ४।१२-१५

२. सि० सि० सं०, ४।१६

३. शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
—(देवीभागवत)

४. अकुलं तु इमं भद्रे यत्राहं तिष्ठते सदा—कौलज्ञाननिर्णय १६।४१

५. न शिवेन बिना शक्तिर्न शक्तिरहितः शिवः।
अन्योऽन्यं च प्रवर्तन्ते अग्निधूमौ यथा प्रिये।
न वृक्षरहिता छाया न च्छायारहितो द्रुमः॥
—वही, १७।८-९ नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ६८ से

से उस परम शिव की भेद सत्ता नहीं है। शिव की यही निजा शक्ति कुण्डलिनी शक्ति रूप होकर देह में विराजमान हो जाती है।[1]

तन्त्र और सन्त में इसकी विस्तृत विवेचना करते हुए वर्णित है कि "विश्व के आधार की भाँति व्यक्ति पिण्ड में भी इसकी संस्थिति स्वीकार की गई है। वैष्णवों में यही महाशक्ति विष्णु की महालक्ष्मी, बौद्धों में प्रज्ञापार-मिता अथवा प्रज्ञा तत्त्व है। इस प्रसुप्त शक्ति का प्रबोध ही समस्त आगमिक साधनाओं का लक्ष्य है। इसके जागरण हेतु शैवों, शाक्तों एवं वैष्णवों के यहाँ परमेश्वर अनुग्रह माना गया है। बौद्धों के यहाँ भी गुरु कृपा से पृथक् जन, 'स्रोतापन्न' हो जाता है। परमेश्वर शक्तिपात के शक्ति उद्‌बोधन में यदि कुछ कमी रह जाए तो उसकी पूर्ति गुरु-दीक्षा और साधक द्वारा किए जाने वाले उपायों द्वारा की जा सकती है। शक्तिपात, दीक्षा एवं विभिन्न प्रयोगात्मक उपायों द्वारा जागरित कुण्डलिनी अद्वैत, अद्वैताद्वैत एवं द्वैत के स्तरों को पार करती हुई सङ्कोचों या कञ्चुकों को विलीन करती हुई समस्त प्रकार को उपसंहृत करती हुई अन्ततः सामरस्य अद्वयावस्था को प्राप्त करती है। बौद्धों का बिन्दु का उद्‌बोधन और कुण्डलिनी जागरण एक ही बात है। गुह्य प्रक्रिया अथवा महामुद्रा साधना द्वारा साधक यत्नपूर्वक बिन्दु को क्षुब्ध एवं ऊर्ध्व संचारी करता है। इसके ऊर्ध्वगामी होने पर बिन्दु में से पार्थिव, जलीय, आग्नेय एवं वायवीय अंश समाप्त हो जाता है और अन्त में वह गगनोपम बोधिचित्त हो जाता है। बौद्धागमों में ब्राह्मण तन्त्रों की भाँति चक्रों की प्रक्रिया को आत्मसात् किया गया है। इनके यहाँ निर्माण, धर्म, सम्भोग और उष्णीषचक्र स्वीकृत है तथा बिन्दु का क्षोभ निर्माणचक्र में ही होता है। इस क्षुब्ध बिन्दु का ऊर्ध्वसंचार मध्यवर्तिनी अवधूतिका नाड़ी द्वारा होता है। ऊर्ध्वसञ्चार से अभिप्राय है समस्त विरोधी प्रवाहों का एकरस होकर ऊर्ध्व प्रवाह। कुण्डलिनी के ऊर्ध्व संचार और अधः संचार वृत्त पूरा होने की भाँति ही बौद्धों में बिन्दु का उष्णीष कमल तक सञ्चार होकर पुनः जब निर्माण चक्र में प्रतिष्ठा होती है तब वह स्थिर निर्वात दीपशिखा की भाँति निष्कम्प और स्थिर हो जाता है। यहाँ चित्त शोधन वृत्त पूरा हो जाता है और शून्यताकरुणाभिन्न बोधिचित्त की महासुखात्मा निज दशा की स्थिर स्थिति हो जाती है।"[2]

१. सि० सि० सं०, ४।१७-१८

२. तन्त्र और सन्त, पृ० ५३-५४ से उद्धृत।

सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में इस शक्ति की चर्चा के प्रसंग में निर्दिष्ट है कि परापर स्वरूपा शब्द और अर्थ सृष्टि की उत्पादिका यह कुण्डलिनी सर्वत्र व्यापक है किन्तु देह में इसकी विशेष अभिव्यक्ति है। यह चेतनात्मिका शक्ति प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की है। अर्थात् यह शक्ति चेतन* स्वभाव वाली है किन्तु जब तक यह शरीर में सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है, तब तक प्राणियों के लिए शोकमोहादि बन्धन का हेतु है और अज्ञानियों के लिए जन्ममरण रूप विपरीत फल की प्रदायिका बनी रहती है और जब यह मूलाधारस्था अधोमुखी प्रयत्नपूर्वक उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है, तब यह साधक के सभी अशुभ कर्मों और मन के सभी विकारों को नष्ट करती हुई सहज समाधि की प्रकाशिका कहलाती है।[1] हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है कि जब यह प्रसुप्त कुण्डलिनी जग जाती है, तब सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[2] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान आचरण करता रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[3] इस विमर्श विद्या को ऊर्ध्व शक्ति के नाम से भी जाना जाता है। क्योंकि यह शक्ति समग्र भूत-भौतिक प्रपञ्चों की रचयिता एवं सब पदार्थों की अधिष्ठातृ रूप में सर्वत्र विद्यमान होने के कारण देह में व्याप्त आत्मावबोधक की कारण है।

देह पिण्ड में स्थित जीव की यह मार्मिक शक्ति वस्तुतः एक ही है किन्तु स्थान भेद के कारण यह तीन अवस्थाओं का अवलम्बन करती है। प्रथमावस्था में यह मूलाधार चक्रस्थ अज्ञान स्वरूप में विराजित होती है और यही इसकी अधोगति कहलाती है। जब इसका मूलबन्ध इत्यादि मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से जागरण किया जाता है तब यह शक्ति अपानवायु के घर्षण से उद्वेलित होकर मणिपूरकचक्र में पहुँच जाती है, जहाँ इसका स्वरूप ज्ञानवान् हो जाता है। यही इसकी मध्यमावस्था है। एतदनन्तर जब

---

* परम शिव धर्मी तथा उसकी शक्ति धर्म होने के कारण चेतन की शक्ति चेतन ही होगी। अन्यथा जगत् की उपादान शक्ति के जड़ होने पर समस्त जगत् प्रपञ्च जड़ ही होगा।

१. सि० सि० सं०, ४।१६-२१

२. हठयोगप्रदीपिका, ३।२

३. घेरण्ड-संहिता, ३।५०

यह प्राण-अपान के संयोग से सहस्रदल तक पहुँच जाती है, तब सर्वेन्द्रियों के व्यापारों के अवरुद्ध होने पर जीव को परमपद को प्राप्त कराती हुई बोध जनक स्वरूप होकर ऊर्ध्वा कहलाती है । यही इसकी तीन (अधः, मध्य और ऊर्ध्व) संज्ञाएँ हैं। अमरौघशासन में भी इसी प्रकार का निरूपण किया गया है।[1]

प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में कहा गया है कि मध्य के विकसित होने से चिदानन्द की प्राप्ति होती है।[2] जिसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'मध्य में भगवती संवित् ही है, क्योंकि वह सभी के रूप में विद्यमान रहती है तथा उसकी भित्ति में संलग्न हुए बिना अपने (वास्तविक) स्वरूप का ज्ञान नहीं होता । उसी (संवित्) ने माया की स्थिति में उस रूप में होते हुए भी (अपने) स्वरूप को छिपाकर "पहिले जो संवित् थी वही अब प्राण के रूप में परिणत हो गयी" इस विचार के द्वारा प्राणशक्ति-भूमि को स्वीकार करके अपने अवरोहण काल में देहादि भूमियों में विश्राम करती हुई सहस्रों नाड़ियों के मार्ग का अनुसरण किया है। और वहाँ भी वह संवित् पलाशपर्णमध्यशाखा-न्याय से ब्रह्मरन्ध्र से लेकर अधोवक्त्र पर्यन्त प्रधानतया प्राणशक्ति के रूप में ब्रह्म के आश्रय मध्य नाड़ी में स्थित है। उसी के द्वारा सभी वृत्तियों का उदय भी होता है और वहीं वे विश्रान्त भी हो जाती हैं। इस रूप में होते हुए भी यह पशु (प्रमाता) से (अपने) स्वरूप को छिपा लेती है और जब उक्त योग-साधना-काल में सभी के अन्तरतम में मध्यरूप में विद्यमान भगवती संवित् विकसित होती है अथवा मध्यरूपा ब्रह्मनाड़ी विकसित होती है तो उसी के विकास से उक्त चिदानन्द की प्राप्ति होती है और उसी के पश्चात् उपर्युक्त जीवन्मुक्ति'।[3]

मूलाधार की चर्चा के प्रसङ्ग में यह स्पष्ट करना उचित ही होगा कि समष्टि-व्यष्टि में अभिन्नत्व स्थापित कर यह समस्त जड़ और चेतन पदार्थों का जनक है मूलाधार होने से। इस पीठ के ध्यान और कुण्डलिनी के उत्थान से जीव ज्ञानी कहलाता है। यद्यपि मूलाधारादि पूर्वोक्त नव चक्रों में नव शक्ति की विद्यमानता है किन्तु वस्तुतः वह उसी प्रकार से एक ही है यथा

---

१. ऊर्ध्वशक्तिनिपाताच्च तथाधः शक्तिनिकुञ्चनात् ।
मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखम् ॥

—अमरौघशासनम्, पृ० १

२. मध्यविकासात् चिदानन्दलाभः । प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १७

३. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—सम्पादक श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी, पृ० १२६-१२९

महाकाश के उपाधि भेद से घटाकाश, और मठाकाशादि। मूलाधारस्थ इसी शक्ति के प्रसार और सङ्कोच से जगत् की सृष्टि और विनाश होता है, इसमें संशय नहीं करना चाहिए. क्योंकि जगत् के समस्त कार्यों की उत्पादिका होने के कारण ही यह मूल शक्ति है तथा उसी शक्ति के मूलाधार में प्रबुद्ध होने पर योगियों को सिद्धियों की प्राप्ति होती है।[1] तोडलतन्त्र में भी इसका वर्णन उपलब्ध होता है।[2] आगमों में निर्दिष्ट शक्ति जड़ नहीं, अपितु यह स्वतन्त्र चिति है जो विश्व की सिद्धि में कारण है।[3] यह चिति जब अपना विस्तार करती है तब विश्व का उन्मीलन और अवस्थान तथा जब यह अपने विस्तार को रोक लेती है तब विश्व भी निमीलित हो जाता है।[4] परम से अभिन्न इस शक्ति का प्रकृति एवं माया के सदृश परिणाम नहीं होता अपितु सृष्टि के इस मूल कारण का प्रसार एवं सङ्कोच होता है। आगमों की माया अशुद्धाध्वा की प्रथम अवस्था है जो बिना किसी प्रकाश के अनेकता का प्रकाशन करती है।[5]

श्रीसर्वमङ्गल में शक्ति और शक्तिमान् केवल दो पदार्थ स्वीकृत हैं।[6] न्याय और वैशेषिक शक्ति के जड़त्व को स्वीकार नहीं करते, मीमांसक और

---

१. सि० सि० सं०, ४।२०-२५

२. नाडीद्वयेन देवेशि समीरं पूरयेद् यदि।
ततस्तु प्राणमन्त्रेण कुण्डलीचक्रमं चरेत् ॥
सहस्रारे महापद्मे नित्ये चाव्ययपङ्कजे।
त्रासयुक्ता कुण्डलिनी प्रविशेन्नित्यमन्दिरम् ॥
सर्वाः पातालगामिन्य ऊर्ध्वस्रोता भवन्ति हि।
एतस्मिन् समये देवि वर्णमालां विचिन्तयेत् ॥
—तोडलतन्त्रम्, २।१३-१५

३. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धिहेतुः। प्रत्यभिज्ञाहृदयम्, १

४. वही, टीका

५. माया च नाम देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ॥
—तन्त्रालोक, ६

६. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ॥'
—(शिवसूत्र-विमर्शिनी, पृ० ८९ से)

अद्वैत वेदान्तियों ने भी शक्ति को जड़ और अनिर्वचनीया या मिथ्या माना है। यह मायारूपा शक्ति अचिन्त्य तथा दुर्घट अर्थ का सम्पादन करने वाली है, जो प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध है। 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' इत्यादि स्थलों से ज्ञात होता है कि एक के बहु होने में मूल में इस शक्ति की क्रिया मानी जाती थी। वास्तव में यह परमेश्वर की अचिन्त्य महिमा है। उपनिषदों में वर्णित है कि "एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः"। इन स्थलों से यह ज्ञात होता है कि शक्ति पुरुषाभिन्न है। कहीं-कहीं शक्ति के चिद्रूप के उदाहरण भी प्राप्त होते हैं। सांख्य और पातञ्जल दर्शनों में 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' का उद्घोष हुआ है। अद्वैत का अनुकरण करने वाले संक्षेपशरीरकार सर्वज्ञात्ममुनि 'अमला चितिशक्ति' की बात कहते हैं। इन स्थलों में शक्ति ब्रह्माभिन्न है। अर्थात् प्रथम स्थल में वर्णित शक्ति पुरुष एवं द्वितीय स्थल में वर्णित शक्ति ब्रह्म के लिए प्रयुक्त नामान्तर है।[1] सिद्धसिद्धान्तसंग्रह में वर्णित शक्ति शिव से अभिन्न है तथा इसी के प्रसार और संकोच से जगत् की सृष्टि और लय होता है।[2]

मध्य कुण्डलिनी के निरूपण में उक्त है कि यह शक्ति चिद्रूप होने से जीव का ही रूप है और जब तक जीव उस अपने में प्रतिष्ठित मध्यम शक्ति का उत्थान नहीं करता, तब तक वृथा ही जन्म-मरण के पाश में बँधा रहता है।[3] यह शक्ति भोगादि में आसक्त जीव को अपने चेतन रूप स्वप्रकाश में धारण करने में सर्वदा समर्थ है। भेद विषय से यह मध्यमा शक्ति स्थूला और सूक्ष्मा दो प्रकार की वर्णित है। शब्दात्मक स्थूल जगत् प्रपञ्च एवं पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि को उत्पन्न करने पर यह स्थूल कहलाती है। इस स्थूल कारण शक्ति के कार्य रूप में प्रकट होने पर यह शक्ति इन्द्रियगोचर होती है, जिससे इसे साकार मध्य शक्ति कहते हैं। महामहोपाध्याय डा०

१. (क) तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, प्रस्तावना पृ० ३, ४
(ख) तन्त्र और सन्त, पृ० ३९-४०

२. शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते॥
—सि० सि० सं० ४।२४

३. कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिर्मुक्तिरूपाऽथ योगिनाम्।
बन्धाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित्॥
—योगशिखोपनिषद्, ६।५५

गोपीनाथ कविराज लिखते हैं कि "यह अनन्त वैचित्र्यमय विश्व, जिसे हम निरन्तर नाना प्रकार से अनुभव करते हैं, वस्तुतः वह शक्ति के आत्मप्रकाश के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सुसूक्ष्म कारणजगत् लिङ्गात्मक सूक्ष्म जगत् और इन्द्रियगोचर जगत्, शक्ति के ही विभिन्न विकासमात्र हैं। इस विश्व के मूल में जो पूर्ण सत्ता पारमार्थिक रूप में वर्तमान है, वही शक्ति का परम रूप है। विशुद्ध चैतन्य के नाम से वर्णन करने पर भी, इसका ठीक-२ निर्देश नहीं किया जा सकता। इस वाणी और मन के अगोचर अनिर्देश्य अवर्णनीय परमार्थसत्ता को ही शास्त्र में 'परमपद' कहा गया है। यह सत् है या असत्—यह विषय लौकिक विचार के विषयीभूत होने पर भी विचार-दृष्टि से देखने पर आलोचना-प्रसङ्ग से यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इसमें प्रकाश और विमर्श—ये दोनों अंश अविनाभूत रूप में वर्त्तमान हैं। प्रकाश के बिना जिस प्रकार विमर्श असम्भव है, उसी प्रकार विमर्श को त्याग कर प्रकाश की स्थिति भी सम्भव नहीं है यह शिवशक्ति-स्वरूप प्रकाश और विमर्श का नित्य सम्बन्ध ही, चैतन्यरूप से महापुरुषों की अनुभूति में आता है तथा शास्त्रों में प्रचारित होता है। परन्तु चैतन्य होने पर भी वह प्रकाश और विमर्श की साम्यावस्था में अव्यक्त ही रह जाता है। इसी अवस्था का दूसरा नाम 'परमपद' है, इसमें सन्देह नहीं............। कहने की आवश्यकता नहीं कि अखण्ड परमार्थस्वरूप शिव, शक्ति से अभिन्न रूप होते हुए भी, स्वातन्त्र्य-जनित विक्षोभ के कारण उसके द्वारा अथवा उसी में भेदमय विश्वप्रपञ्च का उदय होता है। अतएव, त्रिविधविभागविशिष्ट (निष्कल, निष्कल-सकल और सकल) समस्त विश्व मूलतः शक्ति का ही विकास है, यह सुनिश्चित है।"[१]

पूर्वोक्त साकार मध्य शक्ति अर्थात् महामाया जब इस सम्पूर्ण जगत् कार्य-कलाप का त्याग कर सर्वत्र व्यापक रूप से विद्यमान एवं प्रबुद्ध रूप होकर योगियों के देह में विद्यमान है तब यह आनन्दस्वरूपा आत्मावबोधक सूक्ष्मा शक्ति कहलाती है। तात्पर्य यह है कि मूलाधार में स्थित यह कुण्डलिनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म है किन्तु शब्दात्मक-स्थूल जगत् एवं पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि की उत्पादिका होने से यह स्थूल कहलाती है। सृष्टि रूपी कार्य में यह कुण्डलिनी कारण रूप से विराजमान है। इसी कारण यह साकार स्थूल शक्ति कहलाती है और नाभि-स्थान में विद्यमान यह शक्ति निज चतन्य

१. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ८५-८६

स्वरूप से साधक को अखण्ड आत्मा का बोध कराती है। यह प्रबुद्ध शक्ति सूक्ष्म रूप से निराकार और सर्वत्र व्यापक रहती है। तात्पर्य यह है कि यह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार की है। स्थूल जगत् की उत्पादिका होने से यह स्थूल कहलाती है और नाभिचक्र में प्रबुद्ध होने पर यह सर्वव्यापक, सूक्ष्म और व्याप्तिव्यापक भाव से रहित है तथा विषय वासना से मोहित जन उसके भेद को नहीं जान सकते ।[1] भाव यह है कि मूलाधारस्थ यह कुण्डलिनी सृष्टि-कुण्डलिनी के नाम से प्रसिद्ध है तथा यही समस्त जीवों के जीवन का निर्वाह करती है। और नाभिचक्र में ध्यान द्वारा प्रबुद्ध एवं ऊर्ध्वगामिनी यह शक्ति व्याप्य-व्यापक भाव का त्याग कर सूक्ष्मा तथा उपाधि और अवयव विहीन होकर अखण्ड की द्योतक हो जाती है। विषयासक्त जन इसके यथार्थ स्वरूप को न जानकर जन्म-मरण रूपी दुःख दावाग्नि में सदा दग्ध रहते हैं। अतः इसके यथार्थ स्वरूप का सम्यक् ज्ञान कर इस मध्य शक्ति महेश्वरी को प्रयत्नपूर्वक ऊर्ध्वगामिनी करना चाहिये जिसके फलस्वरूप जीव स्वस्वरूप का ज्ञाता बन जाता है क्योंकि "योगदर्शन में साधनाओं द्वारा पराशक्ति प्राणवायु को मणिधारचक्र से उठाकर हृदय के अनाहतचक्र में स्थिर कर देने पर पश्यन्ती अवस्था होती है, यही ज्ञान शक्ति का कोण है। इसमें बीजाङ्कुर होता है, जिसे समाधि की प्रथमावस्था कहते हैं। फिर उस बीज से दो पत्तियाँ निकलती हैं जो कि आपस में चिपकी रहती हैं, यह मध्यमा अवस्था है। यही इच्छाशक्ति का कोण है, जिसे समाधि की मध्यम अवस्था कहते हैं। दो पत्तियों के पारस्परिक संघर्षण से जो रस क्षरण होता है, वह क्रियाशक्ति का कोण है। इसे समाधि की चरमावस्था कहते हैं, यही निर्जीव निर्विकल्प समाधि है, इसमें ब्रह्म के प्रकाश की अनुभूति होती है।"[2]

ज्ञानस्वरूप व्यापक पूर्वोक्त इस सूक्ष्मा शक्ति को आत्माभिव्यक्ति हेतु ऊर्ध्वोन्मुखी करना परमावश्यक है क्योंकि इसके प्रबोधन से योगियों को पिण्ड की सिद्धि होती है। कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश ही ऊर्ध्वशक्तिनिपात कहलाता है जिसके प्रसंग में निर्दिष्ट है कि समस्त जागतिक प्रपञ्चों के ऊपर की स्थिति ही ऊर्ध्व कहलाती है। उस परमपद के स्वरूप को अभिव्यक्त

---

१. सि० सि० सं०, ४।२५-३२
२. श्री निम्बार्क वेदान्त, पृ० ११६

करने वाली शक्ति ही ऊर्ध्वशक्ति है। जीव जब बन्धन के हेतु अज्ञान की अवस्था में पर और स्व को द्वैत भावना से देखता हुआ घोर दु:खदावाग्नि से सदा दग्ध रहता है, तब यह प्रबुद्ध सर्वव्यापी शक्ति उस भेद का निराकरण कर अखण्ड का ज्ञान कराती है।[1]

हठयोगपरम्परा में शिव-शक्ति का अभेद सम्बन्ध है क्योंकि कूटस्थ परमशिव भी स्वरूप से सर्वत्र व्यापक है तथा समस्त विश्व को धारण करने वाली शक्ति भी सर्वत्र व्यापक है। शिव में शक्ति निहित है, शक्ति में शिव निहित है। दोनों वस्तुतः चिद्रूप हैं तथा उन दोनों में उसी प्रकार का अभेद सम्बन्ध है यथा चन्द्रमा और उसकी चन्द्रिका में क्योंकि विरल प्रकाश रूपी चन्द्रिका के प्रकाश पिण्ड समुदाय को ही चन्द्रमा कहते हैं। इन (विरल एवं पिण्ड) धर्मों के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है। "इस दृष्टान्त में महा-योगी चन्द्रमा को अतिशय घनीभूत शान्त ज्योति, जो अपने भीतर स्वतः प्रकाशित है, के रूप में देखते हैं और चन्द्रिका को उसके चारों ओर समस्त दिशाओं में छिटकी हुई किरणों के रूप में, उसकी आत्माभिव्यक्ति मानते हैं।"[2]

दर्शनमाला में भी एक ही की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है।[3] नाथमत में कूटस्थ सर्वव्यापक चेतन ब्रह्म और सृष्टि प्रक्रिया के सन्दर्भ में संकोच एवं विकास वाली शक्ति चिद्रूप है। ये दोनों अभिन्न सर्वव्यापक और चिद्रूप हैं। डा० गोपीनाथ कविराज जी लिखते हैं कि "तान्त्रिकों की दृष्टि में शिव तथा शक्ति में कोई भेद नहीं है। मूलतः दोनों एक ही हैं। जो परम शिव है, वही परमा शक्ति है। शक्ति के बिना शिव इच्छाहीन, ज्ञानहीन, क्रियाहीन और स्पन्दन में असमर्थ, शवमात्र है, और प्रकाशात्मक शिव के बिना शक्ति आत्म प्रकाश में भी असमर्थ है। दोनों ही चिद्रूप होने के कारण स्वरूपतः अभिन्न हैं, एवं एक को छोड़कर दूसरा रह भी नहीं सकता। वस्तुतः चित्स्वरूप में लिङ्गभेद नहीं है, इसीलिए वह अलिङ्ग होकर भी सर्वलिङ्ग रूप में प्रकाशित होता है तथा नाना लिङ्ग-रूप में प्रकट होने पर भी अलिङ्ग

---

१. सि० सि० सं०, ४।३३-३६
२. गोरख दर्शन, पृ० ६८
३. एकस्यैवास्ति सत्ता चेदन्यस्यासौ क्व विद्यते।
सत्यास्त्यात्माश्रयो यद्यप्यसति स्यादसंभवः॥ — दर्शनमाला—२।६

है।[1] यह यथानिर्दिष्ट श्वेताश्वतरोपनिषद् की ही प्रतिध्वनि है।[2] यह मूलगत परम साम्य ही अद्वैत स्थिति है। यही सामरस्य है, जिसके सम्बन्ध में श्रुतियों में भी कहा गया है।[3] यह स्थिति अभेदात्मक है, इसमें भेद नहीं है। परन्तु भेद न रहने पर भी दृष्टि भेद से विलक्षण है।.......... समयी कहते हैं कि शिव और शक्ति में पाँच प्रकार का साम्य विद्यमान है (१) अधिष्ठान-साम्य (२) अनुष्ठान-साम्य (३) अवस्थान-साम्य (४) रूप-साम्य और (५) नाम-साम्य। दोनों के साम्य में सम-प्राधान्य ही है, शेष-शेषिभाव नहीं है।"[4]

इस प्रकार परासंवित्स्वरूप शिवशक्ति के सामरस्य से अभिप्राय यह है कि चिद्रूप सर्वत्र व्यापक अनादि शिव ही निजा, परा इत्यादि शक्ति-रूपों के द्वारा समस्त ब्रह्माण्डों एवं पिण्डों का आधार मात्र है। इन दोनों तत्त्वों की सामरस्य स्थिति को समझकर सकलपिण्ड की आधारभूता कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना ही मुक्ति है क्योंकि समस्त जगत् प्रपञ्चावयवों की रचना करने वाली परम से अभिन्न शक्ति ही सर्वत्र विराजित है। चेतन रूप समस्त तत्त्वों में पर महिमा युक्त सर्वत्र प्रकाशित है। भाव विषयक वस्तुओं में प्रकाश की तरह व्यापक एवं समस्त जागतिक विषयों में अनुगत यह संवित् है। स्वात्मानुभूति का हेतु भी यही है।[5]

चतुर्थ उपदेश का उपर्युक्त अन्तिम पद्य सम्भवतः गोरक्षनाथ जी रचित सिद्धसिद्धान्तपद्धति में से लिया गया है। सिद्धसिद्धान्तपद्धति में इस पद्य की व्याख्या करते हुए वर्णित है कि परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। क्योंकि समस्त भूत-भौतिक द्रव्यों के अवयवों की रचना करने वाली परम से अभिन्न शक्ति सर्वत्र है। चेतन के बिना जड़ वस्तु की स्थिति सर्वथा असम्भव है अतः

---

१. शिवो देवः शिवा देवी शिवं ज्योतिरिति त्रिधा।
अलिङ्गमपि तत्तत्वं लिङ्गभेदेन कथ्यते॥
(कुमार कृत् तत्त्वप्रकाश-व्याख्या)

२. नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं (स्यात्) नपुंसकः॥
—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५।१०

३. "परमं साम्यमुपैति दिव्यम्"।

४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ३-४

५. सि० सि० सं०, ४।३८-३९

सबका आधार चेतन है। प्रकृति मायादि तत्त्वों में पर-महिमा-सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशमान हो रही है। एवं भाव रूप स्थिर वस्तुओं में सूर्यप्रभा की तरह व्यापक और सकल कार्यों में अनुगत रूप से यह संवित् शक्ति ही भासमान है और सकल प्राणियों की बुद्धिवृत्ति में निश्चय रूप से बढ़ी हुई भी यह संविद् शक्ति ही है। इसी से प्राणी स्व-स्व कार्यों में तत्पर रहते हैं। या ज्ञान, ध्यानादि में स्थिति कराने वाली भी यही शक्ति है। अतः सर्वत्र व्यापक सर्वाधार महासिद्ध योगियों के ध्यान से ही गम्य चेतन ब्रह्म नाना आकार से प्रकाशमान हो रहा है।[1]

बङ्गाल के शाक्त सन्त (सन् १७१८ ई०) श्री रामप्रसाद सेन कहते हैं कि "मां तारा, मां काली ! क्या ऐसा दिन भी आयेगा जब तारा-तारा पुकारते मेरी आंखों से आंसू की धारा उमड़ पड़ेगी ? हृदय-कमल खिल उठेगा, मन का अन्धकार दूर हो जायेगा और मैं धरती पर लोट-लोटकर तुम्हारे नाम को जपते-जपते आकुल हो जाऊँगा। भेद-भाव छोड़ दूंगा, मन की खिन्नता मिट जाएगी। अरे सौ-सौ वेद की ऋचाओ। मेरी मां तारा निराकार है, वह घट-घट में विराजमान है। ऐ अन्धे ! देखो न, माँ अन्धकार को हटाती हुई अँधेरे में ही विराज रही है।"[2] यह तो है शाक्त वाणी और गोरक्षनाथ "परा-संवित्' (शुद्ध चैतन्य) का वर्णन करते हुए कहते हैं (पुनः उसी अन्तिम पद्य का अनुवाद कुछ भेद से गोरखदर्शन पृ० ५२ से उद्धृत) कि "एक संवित् समस्त प्रकार के पदार्थों की समस्त व्यवस्थाओं के अंगों और गुणों को

---

१. सि० सि० प० ४।२८

२. ए मन दिन कि हबे तारा।
जब तारा तारा तारा बले ॥
तारा बये पड़बे धारा ॥
हृदि पद्म उठ्बे फुटे मनेर आँधार जाबे घुटे,
तखन धरातले पड़ब लूटे, तारा बले हब सारा ॥
त्याजिब सब भेदाभेद, घुचे जाबे मनेर खेद,
ओरे शत शत सत्य वेद, तारा आमार निराकार ॥
श्रीरामप्रसाद रटे, मा विराजै सर्व्वं घटे,
ओरे आखि अन्ध, देख माके तिमिरे तिमिर-हरा ॥
(सन्त वाणी अंक—कल्याणाङ्क संख्या (२९) सन् १९५५)
पृ० ३३८

एकत्रित करने वाला तथा समस्त प्रकार की सत्ताओं की व्यवस्थाओं में सर्व-गौरवपूर्ण अकेला प्रकाशमान है। वह एक संवित् समस्त व्यावहारिक सत्ताओं के सीमित, परिवर्तनशील तथा नानावस्तुरूपों में स्वयं को प्रकट कर रहा है। सब प्रकार के मानसिक अनुभवों में स्वयं को अनेक प्रकार के आत्मगत रूपों में प्रकट करता हुआ कौशल से यह एक संवित् अनेक सीमित विशेषताओं को धारण कर लेता है।"[1]

इन सब प्रमाणों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि परम, निजा, परा इत्यादि शक्तियों से ही इस ब्रह्माण्ड रूप समष्टि एवं पिण्ड रूप व्यष्टि में समाया हुआ है। उसकी अपनी शक्ति का प्रसार और सङ्कोच ही सृष्टि और लय है। यही शक्ति कुण्डलिनी रूप से देह पिण्ड में विद्यमान है, इसका प्रबुद्ध होना ही आत्मावबोध है। क्योंकि उस शक्ति के प्रबुद्ध होने से यह परम और जीव की द्वैत भावना का निराकरण कर अखण्डाद्वैत को प्रकाशित करती है। यही है योगियों की सहज समाधि।

---

१. सत्त्वे सत्त्वे सकल रचना राजते संविद् एका,
तत्त्वे तत्त्वे परम महिमा संवित् एवावभाति।
भावे भावे बहुल तरला लम्पटा संविद् एका,
भासे भासे भजन चतुरा बृंहिता संबिद् एव॥
—सि० सि० प०, ४।२८

पञ्चमोपदेश

इस उपदेश में योगियों की साधना के अन्तिम आदर्श **'समरसकरण'** को उपस्थापित किया गया है। व्यष्टि पिण्ड का समष्टि पिण्ड के साथ, पिण्डों का शक्ति के साथ और इन सबका परमपद के साथ एकीकरण ही समरसीकरण कहलाता है। साधक के द्वारा व्यष्टि पिण्ड और समष्टि पिण्ड का सम्यक् ज्ञान होने पर कूटस्थ शिवशक्ति रूप परमपद में समरस की भावना करनी चाहिए। जिसके फलस्वरूप **'ज्ञाते द्वैतं न विद्यते'** अर्थात् समस्त पदार्थों का और आत्मा का भेद नष्ट हो जाता है। जीव ही शिवस्वरूप हो जाता है। समस्त ब्रह्माण्ड के शिवमय होते ही **' न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ।'**[1]

इस सम्प्रदाय की योग साधना का चरम लक्ष्य पतंजलि के पूर्व या परवर्ती कुछ बौद्ध मतों तथा शाङ्कर वेदान्त की धारणाओं से मूलतः भिन्न है और प्राचीन व मध्यकालीन अद्वैतवादी आगमों के अनुरूप है। इसी आदर्श को सामरस्य कहते हैं, जिससे अभिप्राय है कि समस्त भेदात्मक स्थितियों से ऊपर उठकर समरस हो जाना। यह प्रक्रिया सांख्यदर्शन की परातत्परता तथा वेदान्तिक मायावाद की उदात्तता इन दोनों से ही भिन्न है। पुरुष-प्रकृति अथवा शिव-शक्ति के मध्य एकत्व ही इसका सिद्धान्त है। इस अवस्था में शिव-शक्ति समरस होकर अभिन्न एवं अविभाज्य बन जाते हैं,[2] यथा अग्नि और दाहकता। वैषम्य से रहित अवस्था ही समरस भाव है, इसे अद्वयावस्था भी कहा जाता है क्योंकि इस अवस्था में दो या बहुतों का भेद तो रहता ही नहीं अपितु वैषम्य के बीज का भी अभाव हो जाता है। यही अवस्था चिदानन्दमयी अद्वैत निष्ठा है। इसके परे जो अवस्था है वह अनाम, बुद्धि के अतीत, अव्यक्त और स्वयम्प्रकाश है। वह निर्विकल्प निरुत्थान निर्द्वन्द्व स्थिति है।[3] दर्शनमाला में श्री नारायण गुरु ने निर्वाण को शुद्ध और

---

१. मुक्त होने पर पुरुष पुनः लौटकर नहीं आता।

—छान्दोग्योपनिषद् ८।१५।१

२. प्रस्तावना—गोरख दर्शन—डा० गोपीनाथ कविराज

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १८४-८५

अशुद्ध भेद से दो प्रकार का कहा है।[1]

नाथमत में वह साधक श्रेष्ठ नहीं जो केवल एक ही पिण्ड व्यष्टि अथवा समष्टि को जानता है, अपितु श्रेष्ठ साधक वही है जो व्यष्टि पिण्ड और समष्टि पिण्ड को सम्यक् ज्ञात कर उनका परमपद में समभाव करता है। इस मत में पिण्ड सिद्धि सामरस्य की पूर्व स्थिति निर्दिष्ट है। परमपद और समष्टि-व्यष्टि पिण्डों का समरस करने वाले योगनिष्ठ साधक की समस्त इच्छाओं का नाश हो जाता है। यह कठोरतम साधना गुरु निर्देशन के अभाव में कभी सफल नहीं हो सकती।

गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग के अनुसार परपिण्ड और स्वपिण्ड को चित्त में धारण कर परमपद में उनका रससाम्य करना चाहिए। वह परमपद स्वसंवेद्य एवं अत्यन्ताभासाभासकमय है।[2] द्वैताद्वैतविवर्जित वह परमपद स्वानुभवैकगम्य है। वह स्वसंवेद्य और स्वप्रकाशरूप है। अर्थात् परमपद स्वयं चेतन प्रकाशमय होने के कारण अन्य जड़ प्रकाश से प्रकाशित न होकर उन (जड़) प्रकाशों को प्रकाशित कर स्वयं भासित होता है। कठोपनिषद् और मुण्डकोपनिषद् में वर्णित है कि उस स्वप्रकाश परब्रह्म के समीप यह सूर्य प्रकाशित नहीं होता। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होने पर खद्योत का प्रकाश लुप्त हो जाता है, उसी प्रकार सूर्य का तेज भी उस असीम तेज के सामने लुप्त हो जाता है। चन्द्र, तारागण और विद्युत् भी वहाँ नहीं चमकते फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या? समस्त जगत् के

---

१. निर्वाणं द्विविधं शुद्धमशुद्धञ्चेति तत्र यत्।
शुद्धं निर्वासनं तद्वदशुद्धं वासनान्वितम्॥
अतिशुद्धं शुद्धमिति शुद्धं च द्विविधं तथा।
अशुद्धशुद्धञ्चाशुद्धमशुद्धाशुद्धमुच्यते॥
अतिशुद्धं त्रिधापश्चाद्वरे चैकं वरीयसि।
एकमेकं वरिष्ठेऽथ शुद्धं ब्रह्मविदि स्थितम्।
अशुद्धशुद्धं विरजस्तमोऽन्यत्सरजस्तमः।
मुमुक्षौ प्रथमं विद्याद् द्वितीयं सिद्धिकामिषु॥
दग्ध्वा ज्ञानाग्निनां सर्वमुद्दिश्य जगतां हितम्।
करोति विधिवत्कर्म ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥
(वेदान्तदर्शन, दर्शन माला-१०।१-५)

२. सि० सि० सं०, ५।१-३

प्रकाशशील तत्त्व उसी परमतत्त्व की प्रकाश शक्ति के अंश को पाकर ही प्रकाशित होते हैं।[1]

आगम मत में परम शिव की अवस्था ही पूर्णता की परिचायक चरमावस्था है, जिसमें शिव और शक्ति का साम्य प्रकट होता है। शिव भाव अभिव्यक्त भाव का प्रकाश है, जिसके कारण सब कुछ प्रकाशित होता है और कुछ भी न रहने पर जो स्वप्रकाश से प्रकाशित होता रहता है। इसी प्रकाश की अहंरूप विमर्शन ही शक्ति है।[२]

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि परम-पद बुद्धि और मन से भी अतीत है, स्वरूप में स्थित कराने वाली कला भी उसका निर्वचन नहीं कर सकती, ऊहापोह और तर्क-वितर्क भी जहाँ नहीं पहुँच सकते वहाँ वाणी तो कर ही क्या सकती है। जब वह परमपद मन और वाणी से अतीत है तो गुरु भी उसका उपदेष्टा किस प्रकार से बन सकता है, अतएव स्वयं महेश्वर ने उस परमपद को स्वसंवेद्य कहा है।[3] उस परम को योग-समाधि द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है या वह परम उसके लिए लभ्य है, जिसके लिए वह अपने यथार्थ स्वरूप को प्रकट करता है।[४]

वह परमपद विविध प्रकार के विचारों में निपुण विद्वानों की चर्चा के प्रसङ्ग से भी अलभ्य है। उस निरुपाधि परम को उपाधि रहित गुरु ही स्वसंवेद्यता के आधार पर बता सकता है क्योंकि सन्मार्ग (योग-मार्ग) को जानने वाले गुरु द्वारा स्वसंवेद्य स्वरूप का बोध होता है।[५] शिव-शक्ति सदृश गुरु-शिष्य के सामरस्य की भी आवश्यकता होती है।[६]

---

१. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं,
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
—कठोपनिषद्, २।२।१५, मुण्डकोपनिषद्, २।२।१०

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० ६०

३. सि० सि० सं०, ५।४-५

४. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
—कठोपनिषद् १।२।२३

५. सि० सि० सं०, ५।६

६. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९२

सामरस्य की प्राप्ति से पूर्व स्वविश्रान्ति अत्यन्त आवश्यक है और जिसके कारण है स्वसंवेद्य गुरु।[1] गुरु की कृपापूर्ण दृष्टि से एक क्षण में ही चित्त विश्रान्त हो जाता है।[2] चित्तविश्रान्ति के अनन्तर परम का सक्षात्कार और इसके बाद परमपद में अपने पिण्ड का समरसीकरण होता है। तब उत्पन्न होती है आत्यन्तिक निरुत्थानदशा।[3]

परम्परा से प्राप्त सन्मार्ग (योग-मार्ग) प्रदर्शन की योग्यता में समर्थ ही वास्तव में गुरु संज्ञक हैं क्योंकि वास्तविक आत्मविश्रान्ति (स्वसंवेद्य स्वरूप अथवा अखण्ड व्यापक आत्मज्ञान) के प्रदाता की सामर्थ्य उन्हीं में है। अतएव गुरु का देवभाव से चिन्तन करना चाहिए। यहाँ सन्मार्ग का अभिप्राय योग-मार्गातिरिक्त मार्ग का निषेध है। उस गुरु के निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करने के अनन्तर स्वसंवेद्य होता है, क्योंकि उस क्षण जब परमपद प्राप्ति के उपाय सन्मार्ग का अवलोकन कराने वाले गुरु आत्मज्ञानोपदेष्टा के रूप में उपस्थापित होते हैं तब आत्मसाक्षात्कार सहित अष्ट सिद्धियों का आविर्भाव होता है। इसी हेतु गुरु को आत्मविश्रान्ति के रूप में उपस्थापित किया गया है। अतः यह स्पष्टोक्त है कि ज्ञानहीन गुरु का त्याग[4] और सन्मार्ग के उपदेष्टा गुरु का देव भाव से चिन्तन करना चाहिए।[5] इस प्रकार के गुरु की करुणार्द्र कटाक्ष से मुनि लोग सब सिद्धियों के फलों का त्याग कर स्वात्मैकवेद्य रूप से निरुत्थानत्व की प्राप्ति के उपरान्त कृतार्थ होते हैं और स्वपिण्ड को परपिण्ड के साथ शुद्धचैतन्य का निश्चल अभेदानुभव द्वारा समरस की योग्यता में सामर्थ्य पाते हैं। अर्थात् जब योगी योग्य गुरु के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण कर परपिण्ड को समस्त चराचर सहित स्वपिण्ड में अभेदानुभव की योग्यता को प्राप्त कर लेता है, तब ध्येय और ध्यान की अभिन्नत्वावस्था से निजावेश (समष्टि और व्यष्टि तथा जीवात्मा और परमात्मैकता की भावना से निजदेहाभिमान अर्थात् निज पिण्ड के सञ्चालन सदृश परपिण्ड

---

१. सि० सि० सं०, ५।७

२. किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्बिना गुरुकृपां पराम्॥

३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६

४. सि० सि० सं०, ५।३८

५. वही, ५।८

सञ्चालन की योग्यता का होना) होता है।[1] छान्दोग्योपनिषद् में भी सम्भवतः इसी दशा की ओर संकेत करते हुए वर्णित है कि वही (भूमा) नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर में है। वही यह सब है। अब उस (भूमा) का अहङ्कार आदेश है। मैं नीचे, ऊपर, पश्चिम, पूर्व, दक्षिण और उत्तर में हूँ। मैं ही यह सब हूँ। अब उस (भूमा) का आत्मा आदेश है। आत्मा ही नीचे, ऊपर, पीछे, आगे, दक्षिण और उत्तर है, आत्मा ही यह सब है। निश्चय वह यह (विद्वान्) इस प्रकार देखता, मनन एवं जानता हुआ तथा आत्मा में ही क्रीड़ा, रत, योग और आनन्द प्राप्त करता हुआ स्वतन्त्र अधिपति होता है। उसकी सब लोकों में स्वतन्त्र गति होती है। यह निश्चय है कि इस प्रकार देखने, मनन और जानने वाले उस विद्वान् को आत्मा ही से यह सब प्राप्त होता है। आत्मा से ही प्राण, आशा, स्मृति, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान ध्यान, चित्त, सङ्कल्प, मन, वाणी, नाम, मन्त्र और कर्म आत्मा ही से सब प्राप्त होते हैं।[2]

निजावेश से स्थायी महानन्दावस्था और अमलानन्दमय प्रकाश का उद्भव होता है। इस परम प्रकाश के अनुभव से द्वैत-भावना रूपी भेद के नष्ट होने पर स्वसंवेद्यानुभवाधार से अभिन्न, अद्वैत, अपारचैतन्यभासक परमपद का उदय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि स्वचित्तविश्रान्ति होने पर ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है। यही महानन्दावस्था है। तब केवल स्वसंवेद्य, स्वप्रकाश, स्वप्रबोध आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है और साधक उस अवस्था में नित्य अस्खलित भाव से विराजमान हो जाता है, फलस्वरूप अभिन्न परमपद का उदय होता है। परमपद के अनुभव के प्रभाव से भली प्रकार स्वपिण्डज्ञान उत्पन्न होता है और स्व का परम में निर्वाण और ऐक्य प्राप्त होता है। इसके पश्चात् स्वरश्मिपरावृत्ति नाम का द्वितीय उन्मेष प्रकट होता है और उसका त्याग होना ही समरस क्रिया है। तब निज किरण-पुंजों का स्वस्वरूप से साक्षात्कार होता है।[3] सिद्धसिद्धान्तपद्धति में वर्णित है कि व्यष्टिपिण्ड को सम्यक् प्रकार से जानकर उसे परम में एकीकृत कर और उस परमपद को अपने व्यष्टि-पिण्ड में एकात्मस्वरूप कर निरन्तर एकता की आवृत्ति करनी चाहिए। इससे साधक परमपद का अनुभव करते हैं। उनके व्यष्टि-पिण्ड में ही सर्वभौम ऐश्वर्य और परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है। इसके अनन्तर स्वपिण्डपरीक्षा करते हुए कहा गया है कि निज

१. सि० सि० सं०, ५।९-१०
२. छान्दोग्योपनिषद्, ७।२५-२६ खण्ड।
३. सि० सि० सं०, ५।११-१४

शरीर में भी परमात्मस्वरूपकिरणरूप आनन्द का ही विस्तृत विकास होता है। उस आनन्द विकास को पुनः स्वपिण्ड में समेट लेना ही समरसकरण कहलाता है।[1] इस स्थिति में अद्वय का बोध होता है जिससे द्वैत और अद्वैत की एकता हो जाती है। ब्रह्मविद्योपनिषद् में कहा गया है कि मैं प्रज्ञाता, प्रशान्त, प्रकाशरूप परमेश्वर हूँ तथा द्वैत और अद्वैत से भिन्न मैं ही एकमात्र चिन्तनीय हूँ।[2] सिद्ध जालन्धर जी ने भी नाथ को द्वैताद्वैतविलक्षण कहा है।[3]

एक ही तत्त्व की उद्घोषणा परवर्ती उपनिषदों में भी की गई है। ब्रह्मोपनिषद् में वर्णित है कि उस आत्मा अर्थात् ब्रह्म में लोक, लोक स्वरूप में नहीं है, माता, माता रूप में नहीं है, भार्या, भार्या रूप में नहीं है, चाण्डाल, चाण्डाल रूप में नहीं है, भील, भील रूप में नहीं है, सन्यासी, संन्यासी रूप में नहीं है और वानप्रस्थी, वानप्रस्थी रूप में नहीं है। परन्तु वह ब्रह्म सदा एक ही रहकर निर्वाण स्वरूप में प्रकाशित होता है।[4] ब्रह्मविद्योपनिषद् में निर्दिष्ट है कि मैं नित्य, निर्दोष, निष्क्रिय, निरञ्जन, निर्मल, निर्विकल्प, निराख्यात और निश्चल हूँ।..... ....। मैं परामृत एवं पुरातन, पूर्णानन्द, एकबोधरूप तथा एकरस रूप हूँ।[5]

समरस भाव की चर्चा बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध होती है। इनकी सहजावस्था में प्रज्ञा और उपाय का भेद समाप्त हो जाता है। इस दशा में हीन, मध्य और उत्कृष्ट सभी भाव सत्त्व भाव से समरूप हो जाते हैं। समर-

---

१. सि० सि० प०, ५।१०-११

२. प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः॥

—ब्रह्मविद्योपनिषद्, १०१

३. बन्दे तन्नाथतेजो भुवनतिमिरमहं भानुतेजस्करं वा।
सत्कर्तृव्यापकं त्वा पवनगतिकरं व्योमवन्निर्भरं वा।
मुद्रानादविशूलैर्विमलरुचिधरं खर्परं भस्ममिश्रं
द्वैतंवाऽद्वैतरूपं द्वय उतपरं योगिनं शंकरं वा॥

४. ब्रह्मोपनिषद्, २

५. ब्रह्मविद्योपनिषद्, ९७-१००

सता की चर्चा हेवज्रतन्त्र के अतिरिक्त भी प्राप्त हो जाती है।[1] प्रज्ञा और उपाय का सामरस्य ही वज्रयोग है।...............यह समरसता अद्वय भाव की द्योतक है।[2]

पूर्वोक्त पिण्डसिद्धि के अनन्तर योगियों में सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु साधक को उन प्राप्त सिद्धियों में आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि सर्वत्र व्यापक परमपद को जान लेने पर समस्त जागतिक प्रपञ्च अनायास ही जाना जाता है। अतएव परमपद को ही जानना चाहिए और वह सहज, संयमयुत, सोपाय और साद्वय क्रम से परिलक्षित होता है। इन ज्ञानों के सिद्ध होने पर साधक को स्वविश्रान्ति होती है[3] और तब होती है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा।

सहज—यद्यपि परमपद विश्व से अतीत हैं किन्तु स्वशक्ति से नाना रूप धारण कर विश्व में व्याप्त है। तत्त्व की दृष्टि से वह एक ही है। ऐसा स्वाभाविक ज्ञान सहज कहलाता है।[4] "यह विश्वातीत परमेश्वर की विश्व-रूप में अवस्थिति अथवा आत्मा में विश्वदर्शन है।"[5] श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि जो निज शक्तियों से सभी लोकों पर प्रभुत्व रखता है, वह रुद्र एक ही है। सभी देहधारियों में स्थित होकर लोक की रचना करता हुआ सबका रक्षणीय है और प्रलयावस्था में सबको अपने भीतर समेट लेता है।[6] जबकि पाशुपतब्राह्मणोपनिषद् में कहा गया है कि तत्त्व की दृष्टि से एक ही तत्त्व वास्तविक है तथा व्यावहारिक दृष्टि से सब कुछ आभास मात्र है। यह सब अद्वैत ही है।[7]

---

१. समं तु तुल्यमित्युक्तं तस्य चक्रे रसः स्मृतः।
समरसं त्वेकभावत्वमेतेनात्मनि भण्यते॥

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९७-१९८

३ सि० सि० सं०, ५।१५-१७

४. वही, ५।१८

५. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६

६. श्वेताश्वतरोपनिषद्।

७. तत्त्वदृष्टया तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम्।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः॥
प्रकाश एव सततं तस्माद्द्वैत एव हि।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः॥
पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्, उत्तरकाण्ड, १९-२०

ससंयम—देह में स्थित विषयों के प्रति जाने वाली वृत्तियों को विषयों से निवृत्त कर संयत भाव से आत्मा में लगाना ही संयम कहलाता है।[१] "देदीप्यमान सब वृत्तियों को आत्मा में संयतभाव से धारण करना।"[२]

सोपाय—प्रकाशमय आत्मा को सर्वत्र व्यापक रूप से एक जानकर उसी में स्थित रहना सोपाय ज्ञान कहलाता है।[3] इस ज्ञान से अखण्ड आत्मा का बोध होता है। "प्रकाशमय आत्मा को स्वयं ही स्वरूपतः एक कर लीला-भाव से स्थिति।"[४]

साद्वय—अजाति का सत्त्वदर्शन ही साद्वय कहलाता है।[५] इस दशा में आत्मा की परमात्मा में अभेदता हो जाती है। अद्वयतारकोपनिषद् में वर्णित है कि जीव और ईश्वर को मायिक जानते हुए अन्य सबको नेति-नेति कहते हुए जो कुछ शेष रहता है वही अद्वय ब्रह्म है।[६]

ये चारों भाव परमपद प्राप्ति के हेतु हैं। तब योगी निरुत्थान भाव से परमात्मस्वरूप में सदा तृप्त होता रहता है। और साधक निरुत्थान दशा में स्थित हो जाता है। परमपद प्राप्ति के इन चारों साधनभूत उपायों को संक्षेप में इस प्रकार से कहा जा सकता है कि जीव और परम का अभेद सहज, इन्द्रिय-निग्रह संयम, स्वविश्रान्ति सोपाय और परमपद अद्वैत है। इसको सद्गुरु के मुख से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्र ग्रन्थों द्वारा, न कर्तृत्व न विज्ञान, न हठपूर्वक वेदपाठ, न वैराग्य, न निराशा, न प्राणायाम, न मुद्रा धारणा, न मौनव्रत धारण, न औदासीन्य, न निर्वाण, न कायक्लेश, न दास्यता, न सन्देश, न नानाव्रतों के पालन, न षड्दर्शन, न वेषधारण, न मुण्डन और न ही अनन्त उपायों के द्वारा परमपद का बोध होता है। अपितु सद्गुरु की कृपादृष्टि होने पर ही परमभक्त शिष्य को परमपद का बोध होता है। यह शिक्षा औपदेशिक अथवा दृष्टिपात अथवा करुणा-वलोकन से पूर्ण होती है।[७] इस उपाय को शक्तिपात कहते हैं। इसका दूसरा

१. सि० सि० सं०, ५।१९
२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
३. सि० सि० सं०, ५।२०
४. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ० १९६
५. सि० सि० सं०, ५।२१
६. 'जीवेश्वरौ मायिकाविति विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म'। अद्वयतारकोपनिषद्-३
७. सि० सि० सं०, ५।२२-३०

नाम कृपा या भगवदनुग्रह है।[1] यह शक्तिपात सद्गुरु ही कर सकता है। इस कृपा के परिणामस्वरूप साधक परमपद को प्राप्त करता है।

इसके अनन्तर सद्गुरु लक्षण के अन्तर्गत निर्दिष्ट है कि सम्यक् आनन्दोत्पादक सद्गुरु कहलाता है। क्योंकि सद्गुरु के चतुर्थांश निमेष दृष्टिपात से शिष्य आत्मानन्द स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसे सम्यक् ज्ञान के उपदेष्टा गुरु को नमस्कार है। स्वस्वरूपानन्द ज्ञान बोधक उपदेशों से नाना संकल्प-विकल्प रूपी उद्वेगों को शान्त करने वाला ही सद्गुरु है न कि परमपद के स्वरूप से वञ्चित कराने वाला मिथ्यावादी। जो शिष्य को सम्यक् चैतन्य विश्रान्ति का उपदेश प्रदान करे, वही सद्गुरु है क्योंकि उससे परमपद प्राप्त होता है।

जिसकी करुणापूर्ण दृष्टि से पारा भी स्थिरता प्राप्त करता है, ऐसे करुणामय परमनिधि गुरु में ही मन मग्न होना चाहिये न कि अन्य वाद और तर्क-वितर्क रूपी मकरों के उछलने से अत्यन्त भयदायक और अभेद्य भ्रमों को धारण करने वाले अत्यन्त कठोर संसार रूपी लवण सागर में। सद्गुरु के सम्यक् उपदेशों से ही परमपद प्राप्त हो सकता है अन्य उपाय तो केवल नामधारक मात्र ही हैं।[2] शैव और शाक्त सम्प्रदायों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदायों में भी गुरु की महिमा का गुणगान किया गया है। 'श्री हरि भक्ति विलास' में वर्णित है कि 'जो परम भागवत है अर्थात् जो पूर्णरूप से वैष्णव धर्म में रत है, ऐसा ब्राह्मण ही जनों का गुरु होता है और वह श्री-हरि सदृश ही सभी लोकों में पूजनीय है। जो शिष्य से सेवा तथा धनादि प्राप्त करने का इच्छुक होता है, वह गुरु कहलाने योग्य नहीं है। जो कृपा-सिन्धु एवं सब प्रकार से परिपूर्ण, सबका उपकारक, निःस्पृह, सिद्ध, सर्व-विद्याविशारद, संशयों का भेद करने वाला और आलस्य रहित हो, वही

---

१. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त, पृ० ७८
इसकी विस्तृत जानकारी के लिए द्रष्टव्य—वही, ७८-९८, लेखक—महामहोपाध्याय प० गोपीनाथ कविराज, तथा भारतीय दर्शन, पृ० ४१३-४१४, ४७४-४७५, लेखक—आचार्य बलदेव उपाध्याय, और भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा पृ० २८३, २९०-२९१ लेखक—डा० किशोरदास स्वामी।

२. सि० सि० सं०, ५।३१-३७

वास्तव में गुरु कहलाता है।[1]

आत्मनिष्ठ गुरु ही सम्यक् ज्ञान का उपदेष्टा हो सकता है अन्य नहीं क्योंकि उसी की कृपा से साधक शिष्य को परमपद की प्राप्ति होती है। जो गुरु आत्मनिष्ठ न हो उसका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। स्वयं ग्रन्थकार कहते हैं कि भ्रमोत्पादक, मिथ्यावादी और ज्ञानरहित गुरु त्याज्य है, क्योंकि जो स्वयं ही स्वविश्रान्ति को नहीं जानता वह दूसरों के लिये कर ही क्या सकता है। वैसे भी शिला के संग शिला कभी भी पार नहीं पा सकती जो स्वयं पार करना जानता हो, वही दूसरों को पार लगा सकता है। इसी प्रकार स्वविश्रान्ति से रहित गुरु भी शिष्य को स्वविश्रान्ति नहीं करा सकता। अतएव बन्धनमुक्त ही दूसरों के बन्धनों को काट सकता है। विषयवासना तरंगों वाले इस संसार सागर को पार कराकर परमपद को प्राप्त कराने वाला ही वास्तव में गुरु संज्ञक है क्योंकि उसकी कृपा से शिष्य ब्रह्मस्वरूपमय होकर निश्चित ही स्थिरता को पाता है। सिद्ध गुरु तो असंख्य कुलों को भी क्षणमात्र में इस संसार सागर से पार लगा देता है। तथा जो शिष्य अपने गुरु के दृष्टिपात अथवा औपदेशिक अथवा करुणावलोकन को धारण कर लेता है, वह शिष्य इस संसार से पार तथा स्वस्वरूप में स्थिर हो जाता है। अतः संसार के जन्म-मरण रूपी बन्धनों से जो मुक्त करा देता है, ऐसे सद्गुरु को तीनों कालों में अभिवादन करना चाहिए। शिष्य को चाहिए कि वह सहस्रकोटिशास्त्रों से भी निराकरण न होने वाली भ्रान्तियों के निवारणार्थ गुरु के समीप बड़ी विनम्रता से उपस्थित हो। इस प्रकार गुरु की परम कृपा से समस्त इन्द्रियों को मन सहित जीतने वाले और परम शान्ति को प्राप्त स्वस्वरूपात्मानन्द में मग्न योगियों का विशेष रूप से निरुत्थान होता है। और तब अर्धपल मात्र में ही दुर्लभ परमपद भासित हो जाता है। उस भासित परमपदपिण्ड में व्यष्टिपिण्ड सहसा लीन हो जाता है अर्थात् समष्टि-व्यष्टि का समरस। पिण्ड में लीन होने पर योगी सर्वसिद्धियों में

---

१. महाभागवतश्रेष्ठो ब्राह्मणो वै गुरुर्नृणाम्।
सर्वेषामेव लोकानामसौ पूज्यो यथा हरिः॥
परिचर्यायशोलाभलिप्सुः शिष्याद् गुरुर्नहि।
कृपासिन्धुः सुसम्पूर्णः सर्वसत्त्वोपकारकः॥
निःस्पृहः सर्वतः सिद्धः सर्वविद्याविशारदः।
सर्वसंशयसंछेत्ताऽनलसो गुरुराहृतः॥
श्री हरिभक्तिविलास कल्याणाङ्क, १९५८ पृ० ७११

सिद्ध हो जाता है, अर्थात् योगी में परमतत्त्व सदृश समस्त सिद्धियों का आविर्भाव हो जाता है। वह योगी इच्छावेगी, सबका कर्त्ता और जन्म-मरण से रहित हो जाता है। वह देव और दैत्यों से अबध्य होकर भगवान् भैरव सदृश क्रीड़ा करता हुआ निश्चित ही लीला से सब कुछ प्राप्त कर लेता है। सब असाध्य सिद्धियाँ ईश्वर द्वारा प्रोक्त हैं, इसमें संशय नहीं करना चाहिए। प्रथम वर्ष में साधक रोगों से मुक्त और सर्वलोकप्रिय हो जाता है। उस नित्य-आत्मरूप में स्थित रहने वाले के सभी दर्शन करना चाहते हैं। द्वितीय में काव्य और तत्त्वभाषा में नैपुण्य। तृतीय में देवसदृश दिव्यदेह। चतुर्थ में दूरश्रावी। पंचम में वाक् और परकायप्रवेश सिद्धि। षष्ठ में शस्त्र और वज्रपात के भय से रहित देह वाला। सप्तम में वायुसदृश वेगवान्, पृथ्वी-त्यागी और दूरदर्शी। अष्टम में अणिमादि अष्ट महासिद्धियों से युक्त। नवम में वज्रकाय, आकाशगामी और दिक्चर, अर्थात् समस्त दिशाओं में अबाध गति से विचरण करने वाला। दशम में पवन से अधिक वेगवान् होकर जहाँ जाना चाहे जा सकता है। एकादश में सर्वज्ञ और सर्वसिद्धियों से युक्त और द्वादश वर्ष में शिवतुल्य स्वयं ही समस्त विश्व का कर्त्ता-हर्त्ता होकर तीनों लोकों में पूजित होता है। यह कथन एकदम सत्य और भगवान् भैरव द्वारा प्रोक्त है। इस प्रकार साधक सद्गुरु के चरणों के प्रसाद से द्वादशवर्षपर्यन्त महाबलशाली हो जाता है। अतः जो साधक निजविश्राम का स्वयं अनुभव करना चाहता हो वह श्री गुरु-चरणकमलों का ही आश्रय ले, क्योंकि उनके द्वारा निर्दिष्ट विधि के पालन से शीघ्र ही समरसकरण होता है। इस प्रकार सद्गुरु की कृपा के बिना निरुत्थान असम्भव है। परमपद की प्राप्ति केवल गुरु के प्रसाद से ही सम्भव है, यह नितान्त सत्य है।[1] डा० गोपीनाथ कविराज के शब्द यहाँ उचित प्रतीत होते हैं—"शिव और शक्ति के सामरस्य के तुल्य गुरु और शिष्य का सामरस्य भी आवश्यक है। प्रभुदेव ने अपने वचनामृत में कहा है कि शिष्य जिस प्रकार गुरु-स्वरूप में विश्रान्ति प्राप्त करता है, गुरु भी ठीक उसी प्रकार शिष्य-स्वरूप में विश्रान्त होते हैं। शिष्य जैसे गुरु में आत्मसमर्पण कर अपने को खो डालता है अथवा गुरु में स्थिति लाभ करता है, ठीक वैसे ही गुरु भी शिष्य को आत्मसमर्पण करते हैं, तभी तो शिष्य गुरु-स्वरूप को प्राप्त हो सकता है।...............यह सामरस्य अवस्था में पहुँचने की सीढ़ी है।"[2]

---

१. सि० सि० सं०, ५।३८-५६

२. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, पृ०, १९२-१९३

षष्ठोपदेश:

पिण्डपद और परमपद के समरसीकरण के उपरान्त अवधूत योगी के स्वरूप की चर्चा की गई है। अवधूत रूप अधिकारी का लक्षण करते हुए वर्णित है कि जो सभी प्रकृतिजन्य विकारों का विधूनन करता है, अर्थात् समस्त प्राकृत सम्बन्धों से मुक्त रहकर एकमात्र समरस में स्थित रहने वाला योगी ही अवधूत कहलाता है।[1] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है कि समाधि के निरन्तर अभ्यास से जनित ब्रह्मरूप अमृतपान में परायण सन्यासी परमहंस अवधूत होता है। उसके दर्शनमात्र से ही समस्त जगत् पवित्र हो जाता है। उसकी सेवा करने से अज्ञ भी मुक्त हो जाता है तथा उसके एक सौ एक कुल तर जाते हैं।[2] अवधूतोपनिषद् में कहा गया है कि जो अविनाशी श्रेष्ठ, बन्धन-मुक्त और तत्त्वमसि आदि वाक्यों के लक्ष्यार्थ हो, वह अवधूत कहलाता है। जो साधक आत्मा में सदा रत हो वह अवधूत कहलाता है।[3]

संस्कृत ग्रन्थों में इस नाथ-सम्प्रदाय के विभिन्न नामों का उल्लेख प्राप्त होता है। यथा "सिद्ध-मत (गो० सि० सं०, पृ० १२) सिद्धमार्ग (योगबीज) योगमार्ग (गो० सि० सं०, पृ० ५, २१), योग-सम्प्रदाय (गो० सि० सं०, पृ० ५८) अवधूत मत (पृ० १८), अवधूत-सम्प्रदाय (पृ० ५६) इत्यादि।"[4]

इस अवधूत लक्षण के उद्धरण देते हुए निर्दिष्ट है कि जिसने अविद्या इत्यादि क्लेश तरङ्गों का उच्छेदन कर उनका त्याग किया है, तथा जो सभी अवस्थाओं से मुक्त हो गया हो उसे अवधूत कहते हैं। कटिप्रदेश में कौपीन धारक अवधूत कहलाता है।[5] निर्वाणतन्त्र में शिव अवधूत के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिसका अङ्गभूषण भस्म हो, वह अवधूत

---

१. सि० सि० सं०, ६।१-२
२. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ५।६
३. अवधूतोपनिषद्—१, २
४. नाथसम्प्रदाय, पृ० १
५. सि० सि० सं०, ६।३-४

कहलाता है।[1] मुक्ति द्वार पर जिसकी मति अत्यन्त प्रकाशवती हो जाती है तथा जो माया विकारों से रहित हो वह सात्त्विक कहलाता है। चित्तवृत्तियों के निरोध से राग-द्वेष को त्याग कर जिसने निर्मल आकाश में चित्त को मग्न कर लिया हो, अर्थात् चित्त को निर्मल आकाश सदृश समस्त जागतिक प्रपञ्चों से निर्लेप कर लेता है, वह क्षपणक कहलाता है। समस्त भ्रान्तियों को निरस्त कर जिसका ध्यान सहस्रार में सदा रत रहता है, ऐसा बोध-ज्ञाता प्रबुद्ध कहलाता है। सृष्टि का प्रसार शक्ति और सङ्कोच शिव है जो साधक इस प्रसार और सङ्कोच का संयोगकर्त्ता हो वह योगिराज कहलाता है[2] क्योंकि प्रसार और सङ्कोच की साम्यावस्था ही परम मुक्ति है। शिव और शक्ति अन्योन्याश्रयभूत हैं, शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, और वही अखण्डतत्त्व शिव-शक्ति रूप में प्रकट होता है। शक्ति का प्रसार और सङ्कोच ही जगत् की सृष्टि और लय है। वास्तविक दृष्टि से शिव-शक्ति अभिन्न हैं और व्यावहारिक दृष्टि से शक्ति का प्रसार सृष्टि, शक्ति का सङ्कोच लय है और अवशिष्ट रहता है केवल शिव, इस प्रसार और संकोच का संयोग करने वाला ही सिद्धयोगी कहलाता है। यही है सामरस्य। गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह में वर्णित है कि शक्ति विश्व का सृजन, शिव परिपालन, काल संहार और नाथ मुक्ति प्रदाता हैं।[3] विश्वातीत विश्व में विराजमान परमशिव से जो संयोग करता है, अर्थात् समाधि में जो साधक उससे अभिन्नत्व स्थापित करता है वह सिद्धयोगी कहलाता है। जो समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों की विसृति करता है वह सिद्धसिद्धान्त में महाबलशाली सिद्धयोगी कहलाता है। जो समस्त जागतिक प्रपञ्चों से उदासीन, शान्त-चित्तस्वरूप का प्रकाशक और महानन्दमय धीर युक्त हो उसे सिद्धयोगि-राज जानना चाहिए। जो आप्तकाम से सदा प्रसन्न रहता है, सबका प्रदाता है ऐसे निर्भरानन्द विश्रान्तात्मा को ही सिद्धयोगिराज जानना चाहिए। हर्ष-

---

१. "वीरस्य मूर्ति देवेशि ! सदा भस्माङ्गभूषणाम्"
निर्वाण-तन्त्र-चतुर्थ पटल

२. सि० सि० सं०, ६।५-६

३. शक्त्या तु सृज्यते विश्वः शिवेन परिपाल्यते।
कालेन संह्रियते च मुक्तिर्नाथेन दीयते॥
—गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह, पृ० ४४

शोक में सम, नित्यानन्द, नित्यपरिपूर्णात्मा में संलग्न योगी ही कालपाश से सदा मुक्त रहता है। इस प्रकार इन उपदेशों का पृथक्-पृथक् ज्ञान जब हो जाता है तब योगी सुख-दुःख रहित पूर्णविश्रान्ति का लाभ पाता है। अर्थात् चित्त विश्रान्त हो जाता है।[1]

इस उपदेश के अन्त में ग्रन्थकार स्व एवं ग्रन्थ सम्बन्धी परिचय देते हुए लिखते हैं कि शिवनगरी काशी में राजा श्रीकृष्णराज की आज्ञा से शाण्डिल्य गोत्र में उत्पन्न बलभद्र ने प्रस्तुत ग्रन्थ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह का प्रणयन किया।[2]

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि समरसकरण को पूरा करने वाला योगी ही अवधूत कहलाता है। ऐसा योगी जो सभी अवस्थाओं से मुक्त होकर स्वात्मानन्दरूप से विचरण करता है अवधूत कहलाता है। जो समस्त जागतिक प्रपञ्चों को करता हुआ भी सहज समाधि में सदा स्थित रहता है अवधूत कहलाता है।

—०—

१. सि० सि० सं०, ६।१०-१५
२. वही, ६।१६-१७

सप्तमोपदेशः

अवधूतरूप अधिकारी के विस्तृत विवेचन के अनन्तर इस उपदेश में सिद्धमत की स्थापना की गई है। इस सिद्ध से अभिप्राय यह है कि जिसने समरसीकरण कर लिया हो। अन्य प्रकार की कष्ट साधनाओं के साधक केवल कुछ क्षण का ही सुख प्राप्त करते हैं परन्तु वे आत्यन्तिक निरुत्थानत्व की प्राप्ति से सदा ही वञ्चित रहते हैं। इस दशा हेतु परमावश्यक है सामरस्य, जिसकी स्थापना इस ग्रन्थ में की गई है। सिद्धमत की स्थापना से पूर्व अन्य मतों का खण्डन करते हुए वर्णित किया गया है कि लौकिक तर्क निपुण, स्वदेह को आत्मा मानने वाले, प्रत्यक्ष प्रमाणवादी चार्वाक परलोक से वञ्चित होकर इस असार संसार से कभी भी पार नहीं पा सकते। इसी प्रकार पाप में रत निर्दय यवन भी इस लोक के क्षणिक सुख हेतु परमपद से वञ्चित हो जाते हैं। सम्पूर्ण पदार्थों के कोष रूप सहस्रारचक्र के ऊर्ध्वभाग में स्थित त्रिकोणयन्त्र के छिद्र ब्रह्मरन्ध्र के ध्यान से तथा उससे अधःस्थित ललाट, भ्रूमध्य, नेत्र, नासिकाग्र, श्रोत्र, कण्ठमूल, कण्ठ, हृदय, नाभिमूल, त्रिकोणकमल, और स्वाधिष्ठान आदि के ध्यान से भी परमपद रूप निरुत्थान पद की प्राप्ति नहीं होती। जो सर्वप्रथम पूरक, कुम्भक और रेचक विधि से नाड़ी पथ का शोधन कर हृदयपद्म में चित्त को एकाग्रकर अव्यय, अक्षय, परकल और शुभ ओंकार रूप दीपक को निरन्तर ध्याते हैं, उन्हें भी बिना समरस के निरुत्थान की प्राप्ति नहीं होती है।[1]

गोहाट में दीप्तिपुञ्ज का, सिन्धुजालन्धर स्थान में प्रलयकालीन अग्नि सदृश का, शृङ्गाट में (सर्वोपरिभाग में), ब्रह्मनाड़ी के अभ्यन्तर, कालान्त में, विद्युत् सदृश प्रभा वाले करोड़ों सूर्यों के समान भास्वान्, उससे उच्च जो 'सत्' जन विद्युत् के समान एकमात्र ज्योति का नित्य ध्यान करते हैं, उनको भी निरुत्थानदशा की प्राप्ति नहीं होती।

---

१. सि० सि० सं० ७।१-२

मन और पवन को एककर लिङ्ग से लेकर मेरुदण्ड तक ले जाते हुए ब्रह्मग्रन्थि को भेदकर, वज्रोलि मुद्रा द्वारा बिन्दु को भ्रमर गुहा में स्थापित कर जो साधक सदा व्यापक नाद का श्रवण करते हैं वे केवल कष्ट ही पाते हैं और उनको भी परमपदरूप निरुत्थान दशा की प्राप्ति नहीं होती। सम्यक् प्रकार से चालन और दोहन क्रियाओं द्वारा जिह्वा को दीर्घ कर तालु के भीतर प्रवेश कराकर दशमद्वार में संयुक्त कर सहस्रार से स्रवित होने वाले षट् प्रकार के अमृतस्राव को ग्रहण करने वालों को भी परमपद की प्राप्ति नहीं होती। मूलाधार से लेकर दोनों पश्चिम और पूर्व मार्गों को निरुद्ध कर अर्थात् इड़ा और पिङ्गला दोनों नाड़ियों को अवरुद्ध कर मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना मार्ग से प्राणवायु को ऊर्ध्वगामी कर समाधि हेतु नाना प्रकार के अभ्यास से जो नाड़ी कुहर में वायु के गतागत में लगे रहते हैं, वे भी दुःख रूप जल में सदा मग्न रहते हैं, किन्तु परमपद को प्राप्त नहीं कर सकते। मूलाधार को सम्यक् प्रकार से दबाकर तत्रस्थ अग्नि के उद्दीपन से और अपानवायु को ऊर्ध्वगामी कर जब इन दोनों का परस्पर घर्षण होता है, तब कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। और साधक उस प्रबुद्ध कुण्डलिनी शक्ति को मूर्धस्थान में स्थित पूर्णगिरि-संज्ञक सहस्रदलकमल रूप ब्रह्म स्थान पर ले जाकर ध्यान लगाते हैं और ध्यान की समाप्ति पर पुनः उस शक्ति को उसके स्थान पर वापस ले आते हैं तथा माया जाल से आबद्ध होकर सांसारिक क्रिया-कलापों में पुनः संलग्न हो जाते हैं। इस प्रकार के खण्ड-ज्ञानवान् साधकों को अखण्ड की प्राप्ति नहीं होती। तीनों बन्ध, नवचक्र-भेदन, मुद्राओं, कण्ठकूप का अवरोध, चन्द्र-सूर्य का सुषुम्ना में संयोग, शम-दमादि नियमों के पालन, नाद और बिन्दु का सहस्रार में स्थापित और मन द्वारा उन्मनी योग से युक्त योगी भी स्वात्मानन्द सुख से वञ्चित होकर कर्मरूप दुःखान्धकार के भागी ही रहते हैं। परमपद की प्राप्ति उन्हें नहीं होती। यमनियमादि अष्टाङ्गयोगमार्गानुपालन, कुण्डलिनी द्वारा मूला-धारादि चक्रभेदन, ऊर्ध्व, अधः, बाह्य और मध्य में रविकिरण सदृश सर्वतो-व्यापक आभा अथवा दृष्टि के अग्रभाग पर निर्मल जल समान नीलवर्णी आकाश की भावना कर जो साधक ध्यान लगाते हैं। वे अज्ञानी केवल कष्ट को ही भोगते हैं, स्वविश्रान्ति को कभी नहीं पाते। जो साधक आकाश, पराकाश और महाकाश धारणा को सिद्ध करने के उपरान्त प्रत्येक तत्त्वाकाश धारणा को लक्ष्य कर विधिबल से दृष्टि को निर्मल करते हैं तथा षट्कर्मादि हठयोग क्रियाओं द्वारा केवल शरीर को सन्तुलित करते और कराते रहते हैं,

वे केवल संसार-चक्र में भ्रमित और माया से सदा बाधित ही रहते हैं, निरुत्थान की प्राप्ति उन्हें कदापि नहीं होती। शङ्खक्षालनोपरान्त अर्थात् शङ्खनाड़ी को शोधित कर रसना द्वारा तालु, ओष्ठ एवं अमरीपान, खर्पर धारण, स्वबिन्दु का ग्रास और विलेपन करने वालों को भी मुक्ति प्राप्त नहीं होती।[1]

इस प्रकार अन्य मतों का निराकरण करते हुए कहा है कि घण्टा, ढोल, मृदङ्ग और महाभेरी निनाद सदृश अनाहत नाद का जो साधक स्वपिण्ड में तथा ब्रह्माण्ड में सम्यक् तथा निरन्तर श्रवण करते हैं उन्हीं को सिद्धपद की प्राप्ति होती है और उन्हीं को परमपद प्राप्त होता है।[2] मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में वर्णित है कि विषयासक्त मन बन्धन और निर्विषयक मन मुक्ति का हेतु होता है। अतः समस्त प्रपञ्च चित्त के ही विषय हैं। यदि चित्त निराश्रय हो जाए तो मन लय योग्य बन जाता है और लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास आवश्यक है चूँकि मन लय का कारण 'अहम्' ही है। अनाहत शब्द की जो ध्वनि होती है उसके अन्दर ज्योति रहती है और उसी ज्योति में मन की विद्यमानता है। इसी मन से इस जगत् की तीन स्थतियों का कर्म सम्पादित होता है। उस मन का जिसमें विलय होता है, उसी को विष्णु का परमपद जानना चाहिए। इस परमपद में मन के विलय से शुद्ध अद्वैत तत्त्व की सिद्धि के अनन्तर सब भेदों का अभाव हो जाता है।[3]

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि वैराग्य अमृतरूप पल्लव से (वैराग्य भाव से) सलिल, कन्द, फूल, मूल को भोगकर जो वनों अथवा देशदेशान्तरों में रमण करता है तथा स्थिर निश्चय से रात्रिन्दिवा परमतत्त्व का दर्शन करता है वह, समस्त जागतिक भावों को त्यागकर एकमात्र और निर्मल आत्मपद को प्राप्त करता है।[4]

इस प्रकार इस अन्तिम अध्याय में विभिन्न दर्शनों और अनेक साम्प्रदायिक क्रिया-कलापों का निरास कर अपने मत का प्रतिपादन किया

---

१. सि० सि० सं०, ७।४-१२
२. वही, ७।१३
३. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ५।१-६
४. सि० सि० सं०, ७।१४

है । सम्पूर्ण ग्रन्थ की विषय वस्तु का पर्यालोचन कर यही तथ्य हमारे समक्ष उपस्थित होता है कि गुरु की असीम कृपा के फलस्वरूप चित्तविश्रान्त हो जाता है । तदनन्तर आविर्भाव होता है परमानन्द ज्योति का । शक्ति के प्रकाश से पिण्ड सिद्धि । स्वपिण्ड, ब्रह्माण्ड और शक्ति का परमपद से एकत्व स्थापन । यही है समरसीकरण और इसकी निरन्तरता से प्राप्त होती है आत्यन्तिक निरुत्थान दशा । डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार "नाथ पंथ का आदर्श है—पहले पिण्ड सिद्धि द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करना और तत्पश्चात् समरसीकरण द्वारा परामुक्ति"[1]

१. महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथकविराज-प्रस्तावना, गोरख-दर्शन, पृ० ५

उपसंहार

उपर्युक्त सात उपदेशों में निरूपित सिद्धमत का परमतात्पर्य न तो अद्वैत-वेदान्त के निरुपाधिक-ब्रह्म सदृश विशुद्ध ज्ञान में है और न ही द्वैत-वेदान्तियों के सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्म की अधीनता में ही इसकी शक्ति निहित है। सांख्यों के समान ये किसी ऐसे अव्यक्त तत्त्व में भी आस्था नहीं रखते जिसका परिणाम यह जगत् है, अपितु अलुप्तशक्तिमान् परम विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक है।

चन्द्र-चन्द्रिका सदृश शिव-शक्ति एक दूसरे में निहित हैं। शक्तिरहित शिव, शव और शिव रहित शक्ति आत्मप्रकाशन में असमर्थ तथा ज्ञान-प्रधान होने के साथ-साथ शिव क्रिया-प्रधान और जगत् चेतन-शिव से अभिन्न चिद्रूपाशक्ति का ही प्रसार और सङ्कोच है। प्रसार शक्ति और सङ्कोच शिव और इस प्रकार विश्वोत्तीर्ण ही विश्वमय है। अवरोहण में शिव ही जीवत्व को प्राप्त करते हैं और महाशक्ति कुण्डलिनी रूप में।

द्वैताद्वैतविलक्षणवाद के इस सिद्धान्त में समरसता ही अद्वय है, जिसकी अनुभूति गुरु द्वारा शक्तिपातजन्य स्वविश्रान्ति के अनन्तर ही सम्भव है। व्यष्टिपिण्ड को समष्टिपिण्ड से एकीकृत कर क्रमशः शक्ति और परमपद में विलीन करना पड़ता है। प्रकाशात्मा शिव की विमर्शशक्ति ही शिव की प्रकाशिका बन जाती है। परमपद के साथ सामरस्य स्थिति और इसी के व्युत्थान का अभाव है—आत्यन्तिक निरुत्थान दशा अर्थात् शब्दब्रह्म से अतीत स्थिति। यही है शवारूढ़ा, चिद्रूपा, जगत्व्यामोहिनी, महामाया, महाकाली का नृत्य शिव के वक्षःस्थल पर।

——:o:——

सन्दर्भग्रन्थसूची

१. अपरोक्षानुभूति—आदिशङ्कराचार्य, सम्पादक – पं० मनोहरलाल शर्मा, प्रकाशक – श्री मनोहरलाल शर्मा, १९२, चित्तरंजन एवेन्यू—कलकत्ता-७, सम्वत्—२०२१

२. अमरौघ-प्रबोध – श्रीमद्गोरक्षनाथ विरचित सिद्धसिद्धान्तपद्धति ऐण्ड अदर वर्क्स ऑव दि नाथयोगीज़
सम्पादिका—डॉ० कल्याणी मल्लिक, पूना ओरियन्टल बुक हाउस, पूना, १९५४

३. अष्टोत्तरशतोपनिषत्सु, योग-उपनिषदः—श्री उपनिषद्ब्रह्मयोगिविरचित-व्याख्यायुताः, आ० महादेवशास्त्रिणा संपादिताः, अड्यार—पुस्तकालयार्थे प्रकटीकृताश्च, १९२०

४. ईशादिदशोपनिषदः—शाङ्करभाष्यसमेतम्, प्रकाशक — मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४

५. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

६. एक सौ आठ उपनिषद्—सम्पादक – पं० श्री रामजी शर्मा आचार्य, प्रकाशक—संस्कृति-संस्थान, ख्वाज़ा कुतुब, वेद नगर, बरेली—१९७८

७. उपनिषत्सङ्ग्रहः—सम्पादक—पं० जगदीश लाल शास्त्री
प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली—१९८०

८. ऋग्वेद – म० म० श्री दामोदर सातवलेकर, प्रकाशक – वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय-मण्डल, भारत मुद्रणालय, किल्ला पारडी (जि० बरसाड), गुजरात राज्य, सन्-१९७८

९. कठोपनिषद्—ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१०

१०. कल्याणाङ्क—सन्त वाणी अङ्क, गीता प्रेस, गोरखपुर, सन्-१९५५

११. कल्याणाङ्क – श्री हरिभक्तिविलास, गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५८

१२. काश्मीर शैव दर्शनः मूल सिद्धान्त—डॉ० कैलाशपति मिश्र—अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी-१९८२

१३. गणकारिका – आचार्य-भासर्वज्ञविरचित, सम्पादक– श्रीचिमनलाल, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा-१९६६

१४. गोरक्षनाथ (नाथ-संप्रदाय के परिप्रेक्ष्य में) – डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सम्वत्-२०३३

१५. गोरक्षपद्धति—अनुवादक – पं० महीधर शर्मा, प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास 'श्री वेंकटेश्वर' स्टीम प्रेस, ७वीं खेतवाड़ी, बम्बई, सम्वत्-२०२४

१६. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह—सम्पादक—श्री जनार्दनशास्त्री पाण्डेय, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (११०), वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, सन्—१९७३

१७. गोरक्ष-संहिता प्रथम भाग—सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (११०) प्रधान सम्पादक —डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सम्पादक—श्री जनार्दन पाण्डेय, प्रकाशक—सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९७६

१८. गोरक्ष संहिता द्वितीय भाग—प्रधान सम्पादक— डॉ० भागीरथ प्रसाद त्रिपाठी, सम्पादक—श्री जनार्दन पाण्डेय, वही, १९७७

१९. गोरक्ष-वचन-संग्रह —प्रकाशक—महंत अवेद्यनाथ, दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर

२०. गोरख-दर्शन—लेखक, श्री अक्षय कुमार बनर्जी, सम्पादक—डॉ० भगवती प्रसाद सिंह, प्रकाशक - महंत अवेद्यनाथ दिग्विजयनाथ न्यास, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सम्वत्-२०२८

२१. घेरण्ड-संहिता —सम्पादक-श्री श्रीशचन्द्र वसु, अड्यार, मद्रास-१९३३

२२. चक्रकौमुदी — श्री बदरीनाथ विरचित, सम्पादक —श्री जीवेश्वर झा, गङ्गानाथ झा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद-१९७९

२३. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०, १९९३

२४. चैतन्य सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य—डॉ० नरेश चन्द्र बंसल, प्रकाशक—विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा—१९८०
२५. छान्दोग्योपनिषद्—आर्य पुस्तकालय, अनारकली, लाहौर
२६ छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०—२०२३
२७. जीवन लक्ष्य और साधना—लेखक, श्री रामावतार प्रसाद विशारद, प्रकाशक—श्री रामावतार प्रसाद विशारद, डी० ३८।४, हौज़ कटोरा, वाराणसी
२८. ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम्—योगतन्त्र ग्रन्थ माला (४) तन्त्रसंग्रह भाग २ सम्पादक—डॉ० गोपीनाथ कविराज, सं०—२०२६
२९. तत्त्व प्रकाशिका – ब्रह्मसूत्रभाष्य पर श्री जयतीर्थयति कृत टीका, सम्पादन—पूर्णप्रज्ञा रिसर्च इन्स्टिट्यूट—१९६७
३०. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण)—श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत प्रकाश संस्कृतटीका तथा अभिनव स्नेह प्रपूरणी हिन्दी व्याख्या सहित, व्याख्याकार—श्री केदारनाथ मिश्र, प्रकाशक—भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९७१
३१. तन्त्र और आगमशास्त्रों का दिग्दर्शन—श्री गोपीनाथ कविराज, अनुवादक—पं० हंसकुमार तिवारी, प्रकाशक, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९७७
३२. तन्त्र और संत—डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, साहित्य भवन (प्रा०) लिमिटेड, इलाहाबाद-३ । १९७५
३३. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-१९६३
३४. तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त—म० म० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ४ । १९७९
३५. तैत्तिरीयोपनिषद्—शाङ्करभाष्य सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० २०१९
३६. तोडलतन्त्रम्—योगतन्त्र ग्रन्थमाला (४), तन्त्रसंग्रह-भाग (२), सम्पादक—डॉ० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, सं० २०२६
३७. दत्तात्रेय योगशास्त्र—सम्पादक एवं व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योगसंस्थान-८।३, रूपनगर, दिल्ली-७, सन्—१९८२

३८. दशश्लोकी--श्री निम्बार्क वेदान्त, प्रकाशक—श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सं०-२०२०

३९. द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन—डा० कृष्णकान्त चतुर्वेदी, प्रकाशक—विद्या प्रकाशन मन्दिर, १६८१, दरियागंज, दिल्ली-६। सन् १९७१

४०. नाथ-सम्प्रदाय—श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य निकेतन, वाराणसी-५, सन् १९६६

४१. निर्वाण तन्त्र—सम्पादक - पं० रमादत्त शुक्ल, प्रकाशक—पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक कल्याण मन्दिर, प्रकाशन, प्रयाग-६

४२. पातञ्जल योगदर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित, अनुवादक—श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास, चंडक, अजमेर नगर, सम्वत्-२०१८

४३. पातञ्जल योगदर्शन—श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य कृत बंगला-भाष्यानुवाद और टीका का मूल सहित हिन्दी रूपान्तर।
सम्पादक—श्री भगीरथ मिश्र, श्रीहरिकृष्ण अवस्थी, श्री ब्रजकिशोर मिश्र, प्रकाशक—लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

४४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्—(क्षेमराजकृत), सम्पादक—श्री विशालप्रसाद त्रिपाठी, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६९

४५. ब्रह्मसूत्रभाष्यम्—श्री जयतीर्थकृत-तत्त्व प्रकाशिका टीका, श्री राघवेन्द्र-यतिकृत भावदीपा टिप्पणी, सम्पादक—आर० एस० पंचमुखी, प्रकाशक—राघवेन्द्र तीर्थ प्रतिष्ठान, कर्नाटक हिस्टोरिकल रिसर्च सोसाइटी धरवाद (Dharwad), १९८०

४६. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य—श्री स्वामी सत्यानन्द सरस्वती विरचित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दी-दीपिका सहित, प्रकाशन स्थान--गोविन्द-मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत्-२०३५

४७. ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तमुक्तावलिः—श्रीवनमालिविरचिता, प्रकाशित स्थान—आनन्दाश्रम मुद्रणालय, सन्-१९४२

४८. भारतीय दर्शन और मुक्ति मीमांसा—डॉ० किशोरदास स्वामी, प्रकाशक, महालक्ष्मी ग्लास वर्क्स प्रा० लि०, बम्बई, पुस्तक प्राप्ति स्थान—श्री साधुबेला उदासीन आश्रम, १८ ए० बी० देसाई रोड, बम्बई—१९८०

४९ भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, सप्तम संस्करण-१९६६

५० भारतीय संस्कृति और साधना—प्रथम खण्ड—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज, बिहार-राष्ट्र-भाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण-१९७३

५१ भारतीय संस्कृति और साधना—महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज, द्वितीय खण्ड, द्वितीय संस्करण, बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-१९७९

५२. महार्थमञ्जरी—योगतन्त्र ग्रन्थमाला भाग (५) सम्पादक—पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी, ख्रिस्ताब्दे-१९७२

५३. माण्डूक्योपनिषद्—ईशादिदशोपनिषदः- मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-१९६४

५४. मुण्डकोपनिषद्—वही

५५. मायातन्त्रम्—तन्त्र संग्रह चतुर्थ भाग, सम्पादक—श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, १९८१

५६. याज्ञवल्क्यस्मृतिः—निर्णयसागर, बम्बई।

५७. योगमार्तण्ड—सम्पादिका—डॉ० कल्याणी मल्लिक, पूना, सन् १९५४

५८. योगसारसंग्रह—श्रीविज्ञानभिक्षु प्रणीत, सम्पादिका—डॉ० पवन कुमारी, प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, न्यू चन्द्रावल रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-७, सन् १९८१

५९. लुप्तागम संग्रह—भाग १, सं०--श्री गोपीनाथ कविराज, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी सन्—१९७०। भाग-२ सं० पं० वज्रवल्लभ द्विवेदी, वही, सन्-१९८३

६०. वल्लभ वेदान्त पर एक दृष्टि—(प्रस्थान रत्नाकर पर आधारित), लेखिका—स्नेहलता, प्रकाशक, श्री गुरु मन्दिर, सी-५५, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली-११००२६, सन्-१९८०

६१. वल्लभ सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त—डॉ० (श्रीमती) राधारानी सुखबाल, प्रकाशक—पं० रामप्रताप शास्त्री, चैरिटेबल ट्रस्ट, ३४, रामप्रताप शास्त्री, मार्ग, ब्यावर (राजस्थान)—१९८०

६२. वाक्यपदीयम् - श्रीभर्तृहरि विरचित, सम्पादक—श्री रामगोविन्द शुक्ल, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी, सम्वत्-२०३७

६३. वाचस्पत्यम् —(बृहद् संस्कृताभिधानम्) चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी-१ श्री तारानाथ भट्टाचार्य १९६२

६४. विष्णु पुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-१९९३

६५. वेदान्त पारिजात सौरभ—ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यम्—पं० ढुण्ढिराजशास्त्रिणा संशोधितम्, प्रकाशक-चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस-१९३२

६६. वेदान्त पारिजात सौरभ—ब्रह्मसूत्र-श्री निम्बार्क वेदान्त, प्रकाशक—श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सम्वत् २०२०

६७. शाक्त दर्शनम्—पं० श्री चक्रेश्वर भट्टाचार्य दत्तै, गोहाटी-१९७०

६८. शारदातिलकम्—प्रकाशक—श्री जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा-संस्कृत-सीरीज़ ऑफिस, बनारस सिटी— १९३४

६९. शिव पुराण—सम्पादक—श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली—१९६८

७०. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक—हरिशङ्कर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, सन्-१९७५

७१. शिवयोगदीपिका—सदाशिव योगीश्वर विरचित, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावलिः, ग्रन्थाङ्कः-१३९ द्वितीयावृत्तिः

७२. शिव-संहिता—सम्पादक, डॉ० चमनलाल गौतम, प्रकाशक—संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब (वेदनगर), बरेली (उ० प्र०), १९८२

७३. शिव-संहिता—सम्पादक—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक—श्री सत्गुरु प्रकाशन, एस० एस० पी०, सन्-१९८१

७४. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक—ठाकुरदास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन् १९८०

७५. शैव-सिद्धान्त दर्शन—डॉ० कैलाशपति मिश्र, प्रकाशक—स्वामी रामनरेश, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन २७, दीनदयाल नगर कालोनी नवाब गंज, वाराणसी-१०, सन् १९८२

७६. श्रीतन्त्रसार—सम्पादक, पं० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, ग्रन्थाङ्क १७, सन् १९१८

७७. श्री निम्बार्क वेदान्त—आचार्य ललित कृष्ण गोस्वामी, प्रकाशक—श्री निम्बार्क पीठ, १२ महाजनी टोला, इलाहाबाद-३, सम्वत्-२०२०

७८. श्रीमदणुभाष्यम् - पाठकोपाह्वश्रीधरशर्मविरचितया, बालबोधिन्याख्य-टीकया समेतम्, भण्डारकर-प्राच्यविद्या-संशोधनमन्दिराधिकृतैः प्रकाशितम् सन् १९२६

७९. श्रीमद्देवीभागवत—सम्पादक, पं० रामतेजपाण्डेय, पण्डित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, बनारस २०१२

८०. श्रीमद्भगवद्गीता—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं०-२०२६

८१. श्रीमद्भागवत भक्त मनोरञ्जनी—श्री भगवत् प्रसादाचार्य विरचिता, सम्पादक—श्रीकृष्णशङ्कर शास्त्री, वि० सं०-२०२५

८२. श्री शिवदृष्टिः—श्री सोमानन्दनाथरचिता, श्रीमदुत्पलदेवकृतवृत्त्युपेता, सम्पादक—पं० मधुसूदन शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि—काश्मीर, सन्-१९३४

८३. श्रीशैवसिद्धान्त परिभाषा—श्री कविराजशेखर सूर्यभट्टारक विरचिता, प्रकाशक—तलकाडु आगमिक कृष्णदीक्षित 'श्रीमनोन्मनीकृपा' बेंगलोर, १९५८

८४. षट्चक्रनिरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक—श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक - बी० घोष, आगमानुसन्धान समिति कलकत्ता-१९४१

८५. षट्चक्रनिरूपण—सम्पादक, श्री स्वामी हंसस्वरूप, प्रकाशक—विज्ञान मन्दिर (विज्ञान प्रेस), ऋषिकेश (देहरादून) उ० प्र०, सन्-१९८०

८६. षडाम्नायतन्त्रम्—तन्त्रसंग्रह चतुर्थभाग, सम्पादक—श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, सन्-१९८१

८७. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक—श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशक—श्री राम कृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश

८८. सर्वदर्शन-सङ्ग्रह—श्रीमन्माधवाचार्य, सम्पादक—डॉ० उमाशंकर शर्मा ऋषि, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी—१९६४

८९. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—गोरक्षनाथ, प्रकाशक—श्री १०८ पूर्णनाथ जी, संस्कृत टीकाकार—श्री पं० द्रव्येश झा शास्त्री । भाषाकार—पं० योगिभीष्मनाथ जी, संशोधक--पं० ज्ञानिराम शास्त्री वि० सं०—१९९६

९०. सिद्धसिद्धान्तपद्धति—सम्पादक, श्री रामलाल श्रीवास्तव, गोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर, सं० २०३८
९१. सौन्दर्यलहरी (श्री शंकराचार्य विरचिता, श्रीलक्ष्मीधर व्याख्यासमलङ्कृता, भावोपनिषद्, श्रीभास्करराजभाष्य सहिता देवीपञ्चस्तरी च), सम्पादक—पं० एन० एन० गणपति, मैसूर-१९५३
९२. संस्कृत-हिन्दी कोश—वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-७, सन् १९६६
९३. हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका—सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रकाशक—ईस्टर्न बुक लिंकर्स, ५८२५, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली, सन् १९८५

योग-उपनिषद्

९४. अद्वयतारकोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् १९८०
९५. अमृतनादोपनिषद्—वही।
९६. अवधूतोपनिषद्—वही
९७. क्षुरिकोपनिषद्—वही
९८. गर्भोपनिषद्—वही
९९. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही
१००. तेजोबिन्दूपनिषद्—योग-उपनिषदः—सम्पादक, अ० महादेव शास्त्री, अड्यार पुस्तकालय मद्रास, १९२०
१०१. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०२. दर्शनोपनिषद्—वही
१०३. ध्यानबिन्दूपनिषद्—वही
१०४. नादबिन्दूपनिषद्—वही
१०५. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०६. ब्रह्मविद्योपनिषद्—वही
१०७. ब्रह्मोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह, सम्पादक, प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास—दिल्ली, सन् १९८०
१०८. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही
१०९. योगकुण्डल्युपनिषद्—योग-उपनिषदः, अड्यार, १९२०
११०. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
१११. योगतत्त्वोपनिषद्—वही

११२. योगराजोपनिषद्—उपनिषत्-संग्रह, मोतीलाल बनारसी दास-दिल्ली, सन् १९८०

११३. योगशिखोपनिषद्—योग-उपनिषदः, सम्पादक अ० महादेव शास्त्री, अड्यार, मद्रास-१९२०

११४. वराहोपनिषद्—वही

११५. शाण्डिल्योपनिषद्—वही

११६. हंसोपनिषद्—वही

117. Bhāskarī—Vol. I, A Commentary on the Iśvarapratyabhijñāvimarśini of Abhinava Gupta—Edited by K. A. Subramnia Iyer and Dr. K. C. Pandey, Allahabad—1983.

118. Haṭha-Yoga Pradipikā of Sh. Svātmārāma Svāmin, English Translation by Yogi Śrinivāsa Iyangār, The Theosophical Publishing House, Adyar Madras, India. Third Edition – 1949.

119. Kāmakalāvilās of Puṇyā Nanda with Comm. Edited with Notes of Māhāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shāstri. Kashmir Series of Texts and Studies No. XII—1918.

120. Kāmakalāvilās by Puṇyānanda Natha with the Commentary of Natanānanda-Natha, Translated with commentary by Arthur Avalon (Sir John Woodroffe), Ganesh & Co. (Madras) Private Ltd. Madras-17, 1961

121. Parā Prāveshikā of Kṣhēmarāja—Edited with notes by Mahāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shārtri, Kashmir Series of Texts and Studies. No.—XU. 1918.

122. Pāśupata Sūtram : with Pañchārtha-Bhāṣya of Kauṇḍinya, Translated with an Introduction on the History of Śaivism in India. Sh. Haripada chakraborti. (1970) Academic Publishers – II Panchanan Ghosh Lane Calcutta.

123. Pāśupata Sūtras : with Pañchārtha-Bhāṣya of Kauṇḍinya, Edited by Sh. R. Anantha Krishna Shastri, Published

by—The Oriental Manuscripts Library of the University of Travancore. Trivandrum—1940.

124. Philosophy of Gorakhnath with Gorakshavachan Sangraha by Sh. Akshaya Kumar Benerjea, Published by—Mahant Dig Vijai Nath Trust, Gorakhnath Temple, Gorakhpur—1962.

125. Ṣaṭtriṁśattattva-Sandoha (A Text of Trika Philosophy of Kashmir) with the Commentary of Rājānaka Ānanda Kavi, Translated into English with explanatory notes and Introduction by—Dr. Debabrata Sen Sharma, B.N. Chakravarty, University, Kurukshetra—1977.

126. Siddhānta Bindu—A Commentary on the Daśaślokī of Śaṁkarācārya : Edited with an Original Commentary by Mahāmahopādhyaya Vasudev Shastri Abhyankar, 1928. Second Edition by MM. K. V. Abhyankar, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-4, 1962.

127. Siddha-Siddhānta-Paddhati and other works of the Nāth Yogīs—by Smt. Kalyani Mallik. Poona Oriental book House, 330 A, Sadashiv Peth, Poona—First impression, 1954.

128. Sīva Svarodaya—Text with English Translation by Sh. Ram Kumar Rai—Prachya Prakashan, Varanasi. 1980.

129. Tantrā Loka of Abhinava Gupta with Comm. by Rājānaka Jayaratha—Edited with Notes by Pandit Madhusudan Kaul Shastri, Kashmir Series of Texts and Studies. No. XXIX—1921.

130. The Bṛhadāraṇyaka Upniṣad : with the Commentary of Śankarācārya, Translated by Swāmī Mādhavānanda. Published by Swami Yogeshwarananda Advaita Ashrama, Mayavati Almora, Himalayas—1950.

131 The Shiva Sūtra Vimarshinī being The Sūtras of Vasu Gupta with the Commentary called Vimarshinī by Kshemarāja—Kashmir Series of Texts and Studies Vol. I—1911,

132. The Siddhānta Ratna with Comm. of Baladeva Vidyābhūṣaṇa, Edited with Introduction Etc. by Sh. Gopinath Kaviraj -1927, Benares Saraswati Bhavana Texts No.(10).

133. The Spanda Sandoha of Kṣhēmarāja—Edited with Notes by Māhāmahopādhyaya Paṇdit Mukunda Rāma Shāstrī. Published under Sir Pratāp Singh Sāhib Bahādur—Jammu and Kashmir State—1917.

134. The Tantrā Loka of Abhinava Gupta : with Comm. by Rājānaka Jayaratha, Edited with notes by Mahāmahopādhyāya Pandit Mukunda Rām Shāstrī.
Printed at the Indian Press—1918.

135. Vedānta Darśanam—Vision of Vedānta—Sh. R. Karunakaran.
Sri Śankara Sanskrit Vidyapeetham, Edakkadom, Quilon, S. India—1980.

अनुक्रमणिका

ब

म

म

य

ह

———

द्वितीय-पुष्प

श्रीः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

श्रीगणपतिचरणारविन्दाभ्यां नमः ।

यत् पादाब्जरजःस्पर्शादरजस्कं मनो भवेत् ।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम् ॥१॥

अर्था ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः ।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णपुष्टये ॥२॥

पिण्डसम्भवविचारसंविदाधारतत्पररसैक्यभूमयः ।
तीक्ष्णधीभिरवधूत इत्ययं दर्शितः खलु निरूप्य संग्रहः॥३॥

कार्य्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परमं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥४॥

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक् ।
निजा शक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याङ्का परोत्थिता ॥५॥

ततः स्पन्दनमात्रा स्यादपरेति स्मृता ततः ।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः ॥६॥

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरतया तथा ।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्च गुणाः स्मृताः ॥७॥

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता ।
अव्यक्ततेति पञ्च स्युः परायां सम्मता गुणाः ॥८॥

स्फुरत्ता स्फारतायुक्ता स्फुटता स्फोटता तथा ।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः ॥९॥

निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम् ।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्मायां गुणपञ्चकम् ॥१०॥

पूर्णत्वं प्रतिविम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता ।
प्रत्यङ्मुखत्वमौच्चल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः ॥११॥

शक्तिपञ्चकसम्भूतपञ्चविंशतिसंश्रयात् ।
परपिण्डसमुत्पत्तिः सिद्धान्तज्ञैः समीरिता ॥१२॥

उक्तं च—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥१३॥

तन्नोऽस्तितापूर्वमर्चिमात्रं स्यादपरं परम् ।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥१४॥

स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम् ।
तस्मात्ततः स्वसाक्षाद्भूः परमात्मपदं मतम् ॥१५॥

अकलत्वासंशयत्वानुमतत्वान्यपारता ।
अमरत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्चापरे पदे ॥१६॥

निःकलत्वमलोलत्वमसंख्येयाक्षयत्वके ।
अभिन्नतेति पञ्चोक्ता गुणाः स्युः परमे पदे ॥१७॥

नीलता पूर्णता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी ।
शून्ये पञ्च गुणाः प्रोक्ताः सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥१८॥

सहजत्वं सामरस्यं सत्यत्वं सावधानता ।
स्वर्गगत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च निरञ्जने ॥१९॥

अभयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमनाश्यता ।
अशोष्यत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च परात्मनि ॥२०॥

तत्त्वपञ्चकमाख्यातमाद्यपिण्डस्य पण्डितैः ।
एवं तथा गुणाः प्रोक्ताः पञ्चविंशतिसंख्यकाः ॥२१॥

सगुणैः समवेतैस्तैरादिपिण्डः समुद्भवेत् ।
आदेस्तु परमानन्दः प्रबोधः स्यात्ततस्ततः ॥२२॥

भवेच्चिदुदयस्तस्मात् प्रकाशः सोऽहमित्यतः ।
उदयः स्यात्तथोल्लासोऽवभासोऽथ विकाशनम् ॥२३॥

प्रभेति स्युर्गुणाः पञ्च प्रबोधस्य प्रकीर्त्तिताः ।
निष्पन्दहर्षावुन्मादः स्पन्दो नित्यसुखं तथा ॥२४॥

इति पञ्च गुणाः प्रोक्ताः परमानन्दसंज्ञके ।
सद्भावोऽत्र विचारश्च कर्तृत्वं ज्ञातृता तथा ॥२५॥

स्वातन्त्र्यमिति पञ्चैव गुणाश्चिदुदयस्य च ।
निर्विकारत्वनैष्कल्ये सद्बोधः समता तथा ॥२६॥

विश्रान्तिरेवं संप्रोक्तं प्रकाशगुणपञ्चकम् ।
अहन्ता खण्डितैश्वर्यं स्वानुभूतिः समर्थता ॥२७॥

सर्वज्ञतेति पञ्चोक्ताः सोऽहम्भावगुणा इमे ।
इत्याद्यपिण्डः संपृक्तः तत्त्वपञ्चकगैर्गुणैः ॥२८॥

पञ्चविंशतिसंख्याकैरिमैरेव समुत्थितः ।
आद्यादभून्महाकाशं ततो जातो महानिलः ॥२९॥

तस्मात्तेजो महत्तस्मान्महत् कं तन् महा धरा ।
अवकाशं तथा छिद्रमस्पृश्यत्वं तथा रवः ॥३०॥

नीलवर्ण इति प्रोक्ता गुणाः पञ्च महाम्बरे ।
सञ्चारश्चालनं स्पन्दः शोषणं धूम्रवर्णता ॥३१॥

इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावायौ मनीषिभिः ।
दाहकत्वं पावकत्वं सूक्ष्मत्वं रूपभासिता ॥३२॥

रक्तवर्णत्वमेवं स्युः गुणाः पञ्च महानिले ।
प्रवाहाप्यायनरसद्रवाश्च श्वेतवर्णता ।
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावारिणि पण्डितैः ॥३३॥

स्थूलत्वनानाकृतिते काठिन्यं गन्धपीतते ।
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ता महामह्यां महर्षिभिः ॥३४॥

इति साकारपिण्डस्य तत्त्वपञ्चकमिष्यते ।
पञ्चविंशतिसंख्याका गुणास्तैर्मिलितैः शिवः ॥३५॥

शिवाद्भैरव एतस्माच्छ्रीकण्ठोऽतः सदाशिवः ।
ईश्वरोऽस्माद्रुद्र आसीत्ततो विष्णुस्ततो विधिः ॥३६॥

महासाकारपिण्डस्य सूर्त्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
ब्रह्मणः प्राक्कृतं दृष्ट्वा नरनार्य्यात्मपिण्डकम् ॥३७॥

पञ्चपञ्चात्मकं तच्च शरीरमिदमुच्यते ।
अस्थित्वङ्मांसलोमानि नाड्यः पृथ्व्यंशका इमे ॥३८॥

लालामूत्रे असृक्स्वेदौ शुक्रमित्यंशका अपाम् ।
क्षुधातृषालस्यनिद्राकान्तयोंऽशा विभावसोः ॥३९॥

धावनं चलनं रोधः प्रसाराकुञ्चने तथा ।
वाय्वंशा उदिता एते पञ्च सिद्धान्तवेदिभिः ॥४०॥

रागद्वेषौ भयं लज्जा मोह एवं नभोगुणाः ॥
इति प्राकृतपिण्डे स्युः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ॥४१॥

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यथ ।
सिद्धसिद्धान्तगैरुक्तमन्तःकरणपञ्चकम् ॥४२॥

संकल्पश्च विकल्पश्च जडता मूर्छना तथा ।
मननं चेति संप्रोक्ता गुणाः स्युः पञ्च मानसाः ॥४३॥

विवेकवैराग्यपरा प्रशान्तिक्षमा गुणा बुद्धिगता भवन्ति ।
मानो ममत्वं सुखदुःखमोहा गुणा इमेहंकृतिवर्तिनःस्युः॥४४॥

मतिर्धृतिः संस्मृतिरुत्कृतिश्च स्वीकार इत्थं खलु पञ्च चैताः ।
चैतन्यनिष्ठास्तु विमर्षहर्षौ धैर्यं गुणाश्चिन्तननिःस्पृहत्वे ॥४५॥

अन्तःकरणधर्मा ये त एते संप्रदर्शिताः ।
सत्त्वं रजस्तमः कालो जीवश्च कुलपञ्चकम् ॥४६॥

दया धर्मः क्रिया भक्तिः श्रद्धेत्थं सत्त्वगा गुणाः ।
दानं भोगश्च शृङ्गारः स्वार्थादाने रजोगुणाः ॥४७॥

मोहप्रमादौ निद्रा च हिंसाक्रौर्ये तमोगुणाः ।
विवादः कलहः शोको बन्धो वञ्चनमेव च ॥४८॥

एवं पञ्च गुणाः प्रोक्ताः कालस्य मुनिपुङ्गवैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्य्यकतुरीयाऽतीतसंज्ञा गुणाः ॥४९॥

जीवस्था इह कीर्तिता इति भवेज्जीवेऽपि तत्पञ्चकम् ।
इच्छा कर्म विमोहिनी प्रकृतियुक् वाक् चेति पञ्चाऽपि ते ॥५०॥

व्यक्ताख्याधरशक्तिपञ्चकगुणाः सन्तीति सिद्धान्तवाक् ।
उन्मेषो वासना वीप्सा चिन्ता चेष्टैच्छिका गुणाः ॥५१॥

स्मृत्युद्यमोद्वेगकार्य्यनिश्चयकारिणी क्रिया ॥
मदमात्सर्यकपटकर्त्तव्यासत्यसंज्ञकाः ॥५२॥

प्राकृता मायिका आशा तृष्णा काङ्क्षा स्पृहा मृषा ।
परास्ति पश्यन्त्यथ मध्यमा च वैखर्य्यपीष्टाक्षरमातृका च ।
एते गुणा वाचि भवन्ति पञ्च प्रपञ्चनिर्मुक्तजनोपदिष्टाः ॥५३॥

पञ्चविंशतिरेते स्युर्व्यक्तिशक्तिगुणा इह ।
कालकर्माग्निचन्द्रार्काः प्रत्यक्षकृतिहेतवः ॥५४॥

इति प्रीतिलीलातुरत्वाभिलाषा
गुणाः पञ्च कामे वसन्तीत्यगन्ति ।
शुभं चाशुभं कीर्त्यकीर्त्ती तथेच्छा-
गताः कर्मणि ब्रह्मनिष्ठास्तथा ते ॥५५॥

उल्लोलकल्लोलसमुच्चलत्वप्रोन्मादवत्यूर्मिविशेषवत्यः ।
विलेपयन्ती लहरीविलोला विलेलिहासप्रसरा प्रवृत्तिः ॥५६॥

स्रवन्तिका नामवती प्रवाहा सौम्या प्रसन्नेति कलाः सुधांशोः ।
उदीरिता षोडश तस्य चान्या न वृत्तिसंज्ञामृतनाम तस्याः ॥५७॥

तपिनी ग्रासिनी क्रूरा क्रुञ्चनी शोषणी तथा ।
बोधिनी घस्मरार्कांषिण्यर्थसन्तुष्टिवर्द्धिनी ॥५८॥

ऊर्मिरेखाकिरणिनी प्रभावत्यंशुमालिनः ।
इमा कला द्वादश स्युरन्याप्यस्ति प्रकाशिका ॥५९॥

वीजिनी दीपिका ज्वाला विस्फुलिङ्गा प्रचण्डिका ।
पाचिका रौद्रिका दाहा रोचिनी शोषिणीति ताः ॥६०॥

फला दश भवन्त्यग्नेर्ज्योतिर्निजकला परा ।
इति प्रत्यक्षकारिणो गुणाः स्युः सिद्धसम्मताः ॥६१॥

द्वाराणि द्वादशोक्तानि नाडीनां यानि तान्यथ ।
दर्श्यन्ते सिद्धसिद्धान्तनिर्णीतानि यथामतम् ॥६२॥

इडापिङ्गले नासिकारन्ध्रगे द्व
सुषुम्णा भवेत्तालुमूलेजरन्ध्रम् ।
समे तावधीकृत्य गान्धारिकाख्या
तथा हस्तिजिह्वा श्रवोयुग्मके स्यात् ॥६३॥

भवेच्छङ्खिनी लिङ्गवक्त्रादिदण्डा-
ध्वनापद्मजद्वारमाप्ताथ पूषा ।
तथालम्बुषा चक्षुषोः सन्तगास्या-
ग्रगा स्यात्पयस्विन्यपाने कुहूश्च ॥६४॥

दश नाड्यो दशद्वारवर्त्तिन्य इति कीर्त्तिताः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्योऽन्या रोमकूपगाः ॥६५॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानो नाभिगामी समानकः ।
उदानः कण्ठनिलयो व्यानस्तालुसमाश्रयः ॥६६॥

सर्वाङ्गव्यापको नागः कूर्मोऽक्षिण कृकलो नसि ।
देवदत्तो मुखाग्रस्थः कण्ठाधः स्याद्धनञ्जयः ॥६७॥

आहाराकाङ्क्षकः पूर्वो द्वितीयः स्तम्भकुम्भकः ।
तृतीये दीपनं पाकस्तुर्ये नाड़ीविशोधनम् ॥६८॥

आप्यायनं रुचिश्चैव पञ्चमेऽशनजल्पने ।
मोडनोच्चाटने षष्ठे मेषोन्मेषौ च सप्तमे ॥७६॥

क्षुदुद्गारावष्टमे स्तां जृम्भणं नवमे भवेत् ।
दशमे नादघोषौ तु स्युरेते दश वायवः ॥७०॥

अवलोकनपिण्डस्य समुत्पत्तिरितीरिता ।
नरनारीरूपमाहुरिदमेव मुनीश्वराः ॥७१॥

गर्भपिण्डसमुत्पत्तिमथ वक्ष्यामि सम्मताम् ।
ऋतौ स्त्रीतरयोर्योगे जीवो बिन्दुरजाश्रयात् ॥७२॥

पूर्वस्मिन् कलिलं ततो रविदिनैः स्याद् बुद्बुदाभं ततः ।
पक्षाद्गोलकसन्निभं कठिनताभाङ्मासमात्राद्भवेत् ॥
तद्द्वन्द्वेन शिरस्त्रिभिः करपदाद्यं स्याच्चतुर्भिः श्रुती ।
नेत्रे घ्राणगुदास्यमेढ्रकमथो पृष्ठोदरं पञ्चभिः ॥७३॥

षड्भिर्गात्ररुहाणि सप्तभिरथो स्याच्चेतनालक्षणा-
न्यष्टाभिर्यदि जायते सुविरहस्तत्तत्त्वलाभस्ततः ॥
मासेज्ञो दशमेऽथ योनिसमयाच्छुक्राधिकत्वे पुमान् ।
शुक्रस्याधिकतान्वये तु वनिता साम्ये तयोः क्लीबकः ॥७४॥

अन्योन्यचित्तप्रतिकूलभावात्
स्त्रीपुंसयोर्वामनकुब्जखञ्जाः ।
अन्धादयोङ्गाविनिपीडना स्या-
द्रेतोविभावात्सुतयुग्मता च ॥७५॥

शुक्रं सार्द्धपलत्रयं निगदितं रक्तं पलाविंशतिः ।
तस्यार्द्धं खलु मेदसोरविपला मज्जा शतं मांसकम् ॥

पित्तं रावणवक्त्रसम्मितपलं षष्ट्युत्तरा स्याच्छत-
त्रय्यस्थामथ सन्धयस्तदुपमाः सार्द्धत्रिकोटचः कचाः ॥७६॥

मज्जास्थिमेदांसि सशुक्रकाणि
भवन्ति वीर्य्याज्जनकस्य पुत्रे ।
मांसासृजी गात्ररुहाणि वातः
पित्तं कफस्तद्द्वययोगतः स्यात् ॥७७॥

दशधातुमयो देह इत्थं भवति निश्चितः ।
गर्भपिण्डोत्पत्तिरेवं सिद्धसिद्धान्तसम्मता ॥७८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे षड्विधपिण्डोत्पत्तिः प्रथमोपदेशः ॥

द्वितीयोपदेशः

नव चक्राणि देहेस्मिन् भवन्तीति विनिश्चितम् ।
तेषां विभागो ज्ञातव्य आधारादिक्रमादथ ॥१॥

ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलकाकृति ।
आधारे तदधः कन्दे ध्यायेच्छक्तिं हुताशभाम् ॥२॥

कामरूपाभिधं पीठं सर्वकामप्रदायि तत् ।
तदत्र भवतीत्युक्तं सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥३॥

स्वाधिष्ठानाभिधं चक्रं द्वितीयं यच्चतुर्दलम् ।
पद्मं तत्र प्रवालाभं लिङ्गं ध्यायेत् पराङ्मुखम् ॥४॥

तत्रैवोड्यानपीठं स्याज्जगदाकर्षसिद्धिदम् ।
भवतीति महासिद्धाः सिद्धान्तं चक्रिरे पुरा ॥५॥

तृतीये नाभिचक्रे तु पञ्चावर्तादिसन्निभे ।
ध्यायेत् कुण्डलिकाकारे बालार्कद्युतिकुण्डलीम् ॥६॥

तुर्यं हृदयचक्रं यत्तत्राष्टदलवारिजे ।
लिङ्गं ध्यायेत् कर्णिकान्तर्ज्योतिर्मत्परमोज्ज्वलम् ॥७॥

सैव हंसकला ख्याता सर्वेन्द्रियवशङ्करी ।
योगिभिर्विधिवद् ज्ञाता सर्वलोकान् वशं नयेत् ॥८॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं तु चतुरङ्गुलबिन्दुभम् ।
तद्वामदक्षचन्द्रार्कनाडचोर्ध्यायेत् सुषुम्णिकाम् ॥९॥

अनाहतकला सैव विख्याता योगिनां मते ।
अनाहतमहासिद्धिविश्राणनधुरन्धरा ॥१०॥

तालुचक्रं षष्ठमत्र सुधाधाराप्रवाहभृत् ।
घण्टिका राजदन्तान्तर्ध्यायेत् शून्यं मनोलये ॥११॥

नवमं ब्रह्मचक्रं यत्सहस्रदलवारिजम् ।
ध्यायेद्गोक्षीरभं तत्र हंसं तत्तन्मयो भवेत् ॥१२॥

नवचक्रविचारोऽयं कथितः परमार्थदः ।
अथाहं षोडशाधारान् वक्ष्यामि कृपया गुरोः ॥१३॥

पादाङ्गुष्ठात्परं ध्यायेत्तेजस्वत्प्रथमं यदि ।
दृष्टिः स्थैर्य्यं समायाति नैरन्तर्य्येण निर्मला ॥१४॥

मूलसूत्रं समालम्ब्य स्थातव्यं पादपार्ष्णिना ।
यदा तदानीमाधारो द्वितीयोऽग्निप्रदीपनः ॥१५॥

विकाससङ्कोचनतो गुदमाकुञ्चयेद्यदा ।
तृतीयाधार उक्तस्तदपानस्थैर्य्यकारकः ॥१६॥

सङ्कोचनेन मणिकस्य परत्र तुर्य्ये
दण्डाध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम् ।
वज्रोदरे सगतिबन्धनभेदिदर्प्यां
भृङ्गस्य चेद्हृदिदरे (?)खलु बिन्दुबन्धः ॥१७॥

एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ।
ज्ञानादेव भवेदस्याः सिद्धमार्गः प्रकाशितः ॥१८॥

नाड्याधारे पञ्चमे तु सन्निवेश्य मनोनिलम् ।
जारणं भवति क्षिप्रं योगिनां मलमूत्रयोः ॥१९॥

नाभ्याधारे तथा षष्ठे प्रणवोच्चारणक्रियाम् ।
कृत्वैकाग्रेण मनसा नादोदयमुपैत्यलम् ॥२०॥

सप्तमे हृदयाधारे प्राणवायुं निरोधयेत् ।
यदा तदैवाम्बुरुहं विकासमधिगच्छति ॥२१॥

कण्ठाधारेऽष्टमे कण्ठं चिबुकेन निपीडयेत् ।
इडापिङ्गलयोर्वायुस्थैर्यभावस्तदा भवेत् ॥२२॥

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वां सङ्घट्टयेत् क्रमात् ।
सुधाकलापरिस्त्रावस्तदा स्यादमरत्वदः ॥२३॥

जिह्वां चालनदोहाभ्यां दीर्घीकृत्य निवेशयेत् ।
दशमाधारताल्वन्तः काष्ठा भवति सा परा ॥२४॥

एकादशे रसाधारे जिह्वाग्रमथनात्स्फुटम् ।

परमानन्दसन्दोहकारिणी कविता भवेत् ॥२५॥
द्वादशोर्द्धरदाधारे जिह्वाग्रं ग्रन्थयेद्द् दृढम् ।
व्याधयः क्षणमात्रेण परिक्षीणा भवन्त्यलम् ॥२६॥

त्रयोदशो नासिकाख्य आधारो यः प्रकीर्तितः ।
तदग्रं लक्षयेन्नित्यं मनो भवति सुस्थिरम् ॥२७॥
कपाटाकारमाहुर्यन्नासामूलं चतुर्दशम् ।
तत्र दृष्टिनिबन्धेन षण्मासाज्ज्योतिरीक्षणम् ॥२८॥

भ्रुवाधारं पञ्चदशं पश्येच्चेदूर्ध्वचक्षुषा।
पुरोऽवलोकयेच्छ्रीमान् किरणाकारमुज्ज्वलम् ॥२९॥

षोडशं नयनाधारमूर्द्धभागे प्रचालयेत् ।
अङ्गुल्या चेदपाङ्गे स्वे ज्योतिःपुञ्जं प्रपश्यति ॥३०॥

सदा कृन्तनमेवाऽथ लोकयेन्निर्मलाशयः ।
इत्युक्ताः षोडशाऽऽधारा लक्ष्यत्रयमथोच्यते ॥३१॥
मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं सितप्रभाम् ।
ब्रह्मरन्ध्रावधि ध्यायेत् तन्मध्ये विद्युदुज्ज्वलाम् ॥३२॥
मूर्ति तां लक्षयेन्नित्यं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सर्वसिद्धिप्रदाने सा कल्पवल्लीयते सताम् ॥३३॥
ललाटोर्ध्वेऽथवा ताराकारं गुह्याटमण्डलम् ।
लक्षयेद्वालिकुहरे रक्तं मधुकराकृतिम् ॥३४॥

तर्जनीमुखनिरुद्धकर्णको योऽथवा भवति पूरुषोत्तमः ।
मूर्द्धमध्यगतसिंहहाटके तस्य नाद उदयेत घुंध्विति ॥३५॥

चक्षुर्मध्ये पुत्तलीसन्निभं वा
नीलज्योतीरूपमुद्यत् प्रकाशम् ॥
नैरन्तर्य्याल्लक्षयेदेतदुक्तं
प्राज्ञैरन्तर्लक्ष्यमल्लब्धचित्तैः ॥३६॥

एकाङ्गुलचतुर्मार्गे नासाग्राद्बहिरम्बरम् ।
श्यामलज्योतिरुपमं नैरन्तर्य्येण लक्षयेत् ॥३७॥

नासाग्रतो बहिर्व्यापि सततं द्वादशाङ्गुले ।
लक्षयेद्धरितालाभं पुरः पार्थिवमण्डलम् ॥३८॥

वायुतत्वं धूम्रवर्णं नासाग्रात् षोडशाङ्गुलम् ।
लक्षयेत्तन्मुखं वा खं स्थिरदृग्गोकुलेक्षणे ॥३९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे निर्मलीकरणम् ॥

ऊर्द्धदृष्टयान्तरालम्बे लक्षयेत्सिद्धवर्त्मगः ।
ज्योतिर्मयूखा दृश्यन्ते तदाऽकस्मादितस्ततः ॥४०॥

अथवा यत्र कुत्रापि व्योमैव परिलक्षयेत् ।
आलम्बते स्थिरत्वं दृक् योगिनोऽभ्यासतः सदा ॥४१॥

द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टादशाङ्गुलकावधि ।
शिरस्यूर्द्धेऽथवा पश्येज्ज्योतिःपुञ्जं विमुक्तिदम् ॥४२॥

दृष्टयग्रे तप्तभर्माभां लक्षयेद्वा वसुन्धराम् ।
दृष्टिः स्थिरत्वमेतीति बहिर्लक्ष्यमनेकधा ॥४३॥

सितं पीतं रक्तं हरितमथवा श्यामलनिभं
प्रदीपाकारं वाधिगततुलनं धूमशिखया ।
स्फुरज्ज्योतीरूपं हिमकिरणबिम्बाकृति तथा
दिनेशाकारं वा नवयवकमीक्षेत मनसा ॥४४॥

मध्यलक्ष्यमिदं प्रोक्तमिति लक्ष्यत्रयोरिता ।
सिद्धसिद्धान्तविज्ञातं व्योमपञ्चकमुच्यते ॥४५॥

बाह्याभ्यन्तरदेशमुज्ज्वलतमं शून्यं खमालोकयेत्
ध्वान्ताकारधरं परं खमथवा कल्पान्तकालाग्निभम् ।
आहोस्विद् गमनं महत्पदमुत प्रद्योतरूपं नभ-
स्तत्त्वाद्यं दिनरत्नकोटिरुचि वा सूर्य्याम्बरं सन्ततम् ॥४६॥

व्योमपञ्चकविलोकनात् पुमान् जायते कुलिशतुल्यविग्रहः ।
इत्यवेत्य विमलेन चेतसा व्योमपञ्चकमिदं प्रपञ्चितम् ॥४७॥

नवाङ्गं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
समानं यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥४८॥

इति प्राचीनोक्तिः ॥

योगाङ्गानि भवन्त्यष्टौ यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारः स्यादथ धारणा ॥४९॥

ध्यानं समाधिरेतेषां पृथगर्थानथ ब्रुवे ।
द्वन्द्वदुःखादिसहनं यम इत्यभिधीयते ॥५०॥

वृत्तीनां मानसीनां हि यैः स्यान्नियमनं स्फुटम् ।
नियमास्ते प्रकीर्त्यन्ते सन्तोषप्रमुखा बुधैः ॥५१॥

स्वस्वरूपे सदासन्नभाव आसनमुच्यते ।
सुखस्वस्थाम्बुजादीनां भेदात्तद् बहुधा मतम् ॥५२॥

प्राणानां स्थैर्यहेतुर्यः स प्राणायाम इष्यते ।
निःश्वासतारे चक्राद्यैः सम्पुटीकरणं यथा ॥५३॥

चेतोवृत्तितरङ्गाणां विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारः स उत्पन्नो विकारग्रासकारकः ॥५४॥

उत्पन्नोत्पन्नवृत्तीनां निर्विकारे हि धारणम् ।
धारणेति समाख्याता नियम्यैकाऽवधारणा ॥५५॥

परमात्माऽस्ति निर्द्वन्द्वः स्वात्मारामोऽत्र यद्भवेत् ।
यत्तत्स्वरूपमित्यन्तर्वृत्तिर्ध्यानमिति स्मृतम् ॥५६॥

सर्वतत्त्वसमावस्था समाधिरिति कीर्तितः ।
निरुद्यमत्वानायासावेकशीलैकभावते ॥५७॥

निर्विकल्पत्वमेते ते सन्ति भेदाः समाधिजाः ।
अष्टाङ्गयोग इत्येष निरूपित इह स्फुटम् ॥५८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डविचारे द्वितीयोपदेशः ॥

——:०:— —

अथ तृतीयोपदेशः

पिण्डसम्वित्तिरधुना कथ्यते योगिसम्मता ।
यस्याः समाश्रयाद् भाति तत्त्वज्ञानमदूरतः ॥१॥

ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसम्वित्तिरुच्यते ॥२॥

कूर्मः पादतलेऽङ्गुष्ठतले पातालमुच्यते ।
तलातलं पुरोऽङ्गुष्ठात्पादपृष्ठे महातलम् ॥३॥

गुल्फे रसातलं प्रोक्तं जङ्घायां सुतलं मतम् ।
वितलं जानुदेशे स्यादतलं मूल इष्यते ॥४॥

ऊद्र्ध्वः स्वभावो यः पिण्डे स स्यात्कालाग्निरुद्रकः ।
पातालपदवाच्यानां सत्त्वानामधिदेवता ॥५॥

भूरादिलोकत्रितयं गुह्ये लिङ्गाग्रमूलयोः ।
तत्राधिदेवता शक्रः पिण्डेऽथत(?)विनायकः ॥६॥

वण्डाग्रे दण्डकुहरे महर्लोको जनस्तथा ।
तपो दण्डतले सत्यं मूले योमान(?)एतदीट् ॥७॥

अनेकव्यापकः पिण्डे धर्मोऽयमहसो(?)च्युतः ।
स्वर्लोकभूतकुक्षेः स देवतात्वेन सम्मतः ॥८॥

हृदये रुद्रलोकोऽस्ति रुद्रस्तत्राधिदेवता ।
उग्रः स्वमावो यः पिण्डे तत्स्वरूपः स सम्मतः ॥९॥

वक्षसीश्वरलोकोऽस्ति तत्राधीश्वर ईश्वरः ।
पिण्डे तृप्तिस्वरूपेण तिष्ठतीति मतं सताम् ॥१०॥

कण्ठं सदाशिवनिवासमुदाहरन्ति
तत्राधिनायकतया स सदाशिवोऽस्ति ।
पिण्डे जितेन्द्रियगणैरनुभूयमानः
सौम्यस्वभाव इति यः प्रथितप्रतिष्ठः ॥११॥

श्रीकण्ठलोकः खलु कण्ठमध्ये श्रीकण्ठ एवात्र भवेदधीशः ।
सनातनत्वात्मकतां दधानः पिण्डान्तरे वाविकृताधिवासः ॥

लम्बिकामूलके भैरवोऽधीश्वर-
स्तत्र यत्कीर्त्तितस्तस्य लोको बुधैः ।
प्राणिनां सर्वदा सर्वकार्य्योद्यमो
भैरवाख्याधरः पिण्डमध्ये मतः ॥१३॥

तालुद्वारे शैवलोकः प्रसिद्धः
तत्राधीशः स्याच्छिवो विश्ववन्द्यः ।
विद्वद्वर्य्यैर्योगशान्तिः प्रतीता
तद्रूपोऽसौ पिण्डमध्ये विभाति ॥१४॥

तालोरभ्यन्तरे भाति सिद्धलोकोऽत्र देवता ।
महासिद्धः प्रबोधात्मा पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥१५॥

ललाटेऽनादिलोकोऽस्ति तत्रानादिरधीश्वरः ।
पराहन्तास्वरूपेण पिण्डमध्येऽवतिष्ठते ॥१६॥

शृङ्गाटे कुललोकोऽस्ति तत्र देवः कुलेश्वरः ।
पिण्डमध्ये सदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥१७॥

ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्राधिदेवता ।
परब्रह्माभिधा पिण्डे परिपूर्णस्वरूपतः ॥१८॥

परापरस्य लोकोऽस्ति तत्र देवः परेश्वरः ।
अस्तित्वरूपतः सोऽयं पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥१९॥

त्रिकूटे शक्तिलोकोऽस्ति परा शक्तिस्तु देवता ।
सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यपरावस्थात्मता तनौ ॥२०॥

पिण्डे सप्ततलानि स्युर्लोकाश्चात्रैकविंशतिः ।
वृत्ते विप्रो नृपः शौर्य्ये उद्यमे विड् भयेङ्घ्रिजः ॥२१॥

स्युर्जम्बूशाल्मलीप्लक्षकुशक्रौञ्चकगोमयाः ।
श्वेतोमज्जास्थिनाडीषु मांसे त्वचि कचे नखे ॥२२॥

मूत्रं शुक्रं कफो मेदो वसा प्रस्वेदरेतसी ।
क्षारेक्षुदधिसर्पींषि मधुवारिपयांसि च ॥२३॥

नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन् ।
अथ शैलादिकान् ब्रूमो यथाभागमवस्थितान् ॥२४॥

मेरुदण्डे मेरुरस्ति कैलासो ब्रह्मशङ्कके ।
पृष्ठे हिमाद्रिर्मलयो वामेंऽशे मन्दरः परः ॥२५॥

विन्ध्याद्रिर्दक्षिणे कर्णे वामे मैनाकपर्वतः ।
श्रीपर्वतो ललाटे स्यादेवमष्टौ कुलाचलाः ॥२६॥

चतुःषष्टिर्मता वर्णा योगिन्यः सकलास्तथा ।
हस्ताङ्गुलिषु राजन्ते सर्व एवोपपर्वताः ॥२७॥

गङ्गा सरयूर्यमुना चन्द्रभागा सरस्वती ।
वितस्ता शतरुद्रा च नर्मदैरावती शिराः ॥२८॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नद्यो याः परिकीर्तिताः ।
अन्या नद्युपनद्याद्यास्ता ज्ञेयास्तत्त्वदर्शिभिः ॥२९॥

नक्षत्रराशिग्रहतारकाणि तथा तिथीनां वलयेऽत्र कोष्ठाः ।
द्वासप्ततिर्ये विलसन्ति तेषु निवासमाहुः श्रुतितत्त्वविज्ञाः ॥३०॥

अनेकतारानेत्रान्तस्तेजःपुञ्जे कृताश्रयाः ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवा रोमकूपसमाश्रयाः ॥३१॥

अनेकमुनिसङ्घाताः कक्षरोमकृताश्रयाः
पीठोपपीठा येऽनेके श्मश्रुस्थाने वसन्ति हि ॥३२॥

भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणा दैत्यास्तथा दानवाः
सर्वे कीकससन्धिसङ्गतिकराः सन्तीति सिद्धोदितम् ।

नागा अक्षितनूरुहेषु सकला ये तूपनागा मताः
तेषामस्ति निवासभूमिरुदरप्रोद्भूतरोमोद्गमे ॥३३॥

नानाविधेष्ववयवेषु वसन्ति चान्ये
गन्धर्वकिन्नरगणाप्सरसोऽथ यक्षाः ।
याः स्युः परा इह सदा खलु देवताश्च
वाच्येषु रश्मिविततेषु समुल्लसन्ति ॥३४॥

खेचर्य्यो मातरश्चान्या डाकिन्याद्युग्रदेवताः ।
वायुवेगे वसन्त्यत्र जलदा अश्रुपातगाः ॥३५॥

मर्मस्थानेष्वनेकेषां तीर्थानामस्ति संश्रयः ।
मतिप्रकाशेष्वावासः सिद्धानामपि कीर्तितः ॥३६॥

सूर्य्यचन्द्रमसोर्वासो नेत्रद्वय उदीरितः ।
लतागुल्मतृणादीनां जङ्घारोमसु संश्रयः ॥३७॥

कृमिकीटपतङ्गाद्याः पुरीषे कृतसंश्रयाः ।
यत्सुखं स भवेत्स्वर्गो यद्दुःखं नरकं हि तत् ॥३८॥

निर्विकल्पो भवेन्मोक्षो निद्रादौ जागरोत्तरम् ।
स्वस्वरूपदशेत्युक्तं पिण्डसंवित्तिहेतवे ॥३९॥

अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः ।
घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम् ॥४०॥

॥ इति पिण्डसंवित्तिस्तृतीयोपदेशः ॥

अथ चतुर्थोपदेशः

पिण्डाधारमथो वक्ष्ये यज्ज्ञानादात्मतत्त्ववित् ।
पिण्डाधारो भवेच्छक्तिः चित्प्रबुद्धाऽपरम्परा ॥१॥

कार्यकारणकर्तॄणामुत्था(?)वस्थाकरं स्फुटम् ।
कर्त्तुं शक्नोति यत्तस्माच्छक्तिरित्यभिधीयते ॥२॥

नानासूत्रस्वरूपेण पटे तन्तुर्यथाश्रयः ।
तद्वदाधारतां सेति देहे नानांशुभिर्जडे ॥३॥

अत्यन्तस्वप्रकाशैकवेद्याभावैकसाङ्ख्यभूः ।
प्रत्यक्षसाक्षिणी या तां भावयेदपरम्पराम् ॥४॥

सहजेनात्मलीना सा यदा सञ्जायते तदा ।
निरुत्थानदशेत्युक्ता शिवसंज्ञापि तत्र हि ॥५॥

कुलाकुलस्वरूपाऽसौ सामरस्यस्वभूमिका ।
सत्ताहन्ता परा भासा स्फुरत्ता च कुलाकुलम् ॥६॥

परस्परनिराभासभासि सम्यक् प्रकाशिका ।
पराभासैकमेवास्तीत्येका सत्ता निरुच्यते ॥७॥

अनादिनिधना मेयस्वभावांशुसुखाऽस्म्यहम् ।
इत्यहन्ताज्ञानदशा स्फुरणात्मा स्फुरन्तिका ॥८॥

शुद्धबुद्धस्वरूपस्य कलयत्यात्मवित्पदम् ॥
यतस्ततः कलेत्युक्ता कुलपञ्चकमस्त्यदः ॥९॥

वर्णगोत्रादिराहित्यादेकमेवाकुलं मतम् ।
उमामहेशसम्वादादर्थोऽयमवगम्यताम् ॥१०॥

तथा च—

अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात् ।
निर्धर्मत्वादनङ्गत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम् ॥११॥

कुलस्य सामरस्येति सृष्टिहेतुः प्रकाशभूः ।
सा चापरम्परा शक्तिराज्ञेशस्यापरं कुलम् ॥१२॥

प्रपञ्चस्य समस्तस्य जाग्रद्रूपप्रवर्त्तनात् ।
एकैव कर्त्तुं यच्छक्ता तस्मादाज्ञेचरीह सा ॥१३॥

उक्तं ललितस्वच्छन्देन—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलाद्व्यवहृतिर्भवेत् ।
अतः कुलाकुलस्थित्यानीश ईशोपि शङ्क्यते ॥१४॥

अलुप्तशक्तिमान्नित्यस्सर्वाकारतया स्वयम् ।
प्रस्फुरन्तं पुनः स्वेन स्वयमेकं प्रपश्यति ॥१५॥

शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्तो न किञ्चन ।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्यभासाद्भासको भवेत् ॥१६॥

शक्तितत्त्वानन्दनित्यशक्तिमान् परमेश्वरः ।
सम्विद्रूपोऽस्ति विषय इति सिद्धिमतं सताम् ॥१७॥

परम्परास्वरूपा सा पिण्डाधारतया श्रुता ।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी ॥१८॥

बुद्धाऽबुद्धा द्विधा प्रोक्ता द्वितीया चेतनात्मिका ।
नानाविचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा ॥१९॥

सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनी मता ।
पूर्वास्तविकृतेः पुंसो निवृत्युद्यमरूपिणी ॥२०॥

ऊर्द्ध्वगामित्वमेतस्यामूर्ध्वाकुञ्चनतो भवेत् ।
तदप्याकुञ्चनं मूलाधारबन्धेन सिद्ध्यति ॥२१॥

चिदचिद्रूपमेतद्यज्जगद्भवति सन्ततम् ।
मूलाधारकसंवित्तिप्रसरत्वेन तन्मतम् ॥२२॥

मूलाधारादिसकलचक्रेषु नव शक्तयः ।
नाथेन यदपि प्रोक्तास्तथाप्येकास्ति तत्र सा ॥२३॥

शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती ।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते ॥२४॥

मलाधारे प्रबुद्धे तु सिद्धिर्भवति योगिनाम् ।
नियतोपाधिजीवात्मा वृथा भ्रान्तिरपि स्वयम् ॥२५॥

मध्ये स्वरूपतापन्नो यया सा मध्यकुण्डली ।
सूक्ष्मासूक्ष्मस्वरूपेण द्विविधा सा प्रतीयते ॥२६॥

निश्चला निश्चलग्राह्या स्थूलान्या ध्यानरूपिणी ।
अर्थान्तरपरिभ्रान्तिहेतुः सर्वस्वरूपिणी ॥२७॥

सर्वत्रास्तीति साकारा मध्यशक्तिः प्रकीर्तिता ।
सैव प्रसरसङ्कोचात्पर्य्यावृत्तिमुपागता ॥२८॥

नित्यानन्दतया लोला सूक्ष्माख्या तिमिराकृतिः ।
बुद्धेति सिद्धास्तामाहुः प्रसिद्धाः सिद्धवर्त्मनि ॥२९॥

तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरूपणपदे कृतः ।
यथा—
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा ॥३०॥

बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका ।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता ॥३१॥

तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ।
ततः सूक्ष्मा परा संविन्मध्यशक्तिर्महेश्वरी ॥३२॥
स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता ।
प्रबोधनात्पिण्डसिद्धिस्तस्या भवति योगिनाम् ॥३३॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातोऽथ मुमुक्षूणां कृतेष्यते ।
सर्वतत्त्वोर्ध्ववृत्तित्वान्निर्नाम परमं पदम् ॥३४॥
तत्त्वसम्वेदसाक्षाद्भूः पिशुनोक्तोर्ध्वशक्तिका ।

निपातः स्वरवरूपे नित्यथा(?) निरसनं मतम् ॥३५॥
निरुत्थाने स्वस्वरूपाखण्डैव प्रतिभाति सा ॥३६॥

उक्तञ्च—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥३७॥

नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः ।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥३८॥

अत्र सङ्ग्रहश्लोकः—
सत्त्वे सत्त्वे सकलरचनासंविदेका विभाति
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ।
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका ॥३९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे चतुर्थोपदेशः ।

——:o:——

अथ पञ्चमोपदेशः

समरसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति ॥१॥

परपिण्डसुखं स्वपिण्डकान्तं प्रथमोक्तक्रमतो विधाय चित्ते ।
परमेण पदेन तस्य कुर्य्याद्रससाम्यं मतिमान् गुरूक्तिदृष्ट्या ॥२॥

परमं पदमात्मवेद्यमेकं निखिलात्यन्तविभासिमात्रमुक्तम् ।
अयमर्थ उदाहृतोऽस्ति दृष्टो जठराख्याधरसंहितानिबन्धे ॥३॥

यथा—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति सत्ता संवित्परा कला ।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥४॥

वाङ्मात्राद् गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसम्वेद्यं परं पदम् ॥५॥

नानाविचारचातुर्य्यचर्वाधिक्याद्घनाश्रयात् ।
निरुपाधितयोपाधिशून्यत्वात्तत्स्ववेद्यता ॥६॥

पारम्पर्य्याप्तसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता ।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रामकारणम् ॥७॥

तेन सन्दर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम् ।
भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत् ॥८॥

तद्दृक्सरोजकरुणार्द्रकटाक्षपातात्
स्वात्मैकवेद्यकतया मुनिभिः स्वपिण्डम् ।

सर्वं स्वसिद्धिफलवर्गमपास्य लब्ध-
नैरुत्थ्यतः समरसं क्रियते कृतार्थैः ॥९॥

सिद्धान्तमेतमनुशास्य निरुत्थितिश्री-
लाभाभ्युपायकथने कुरुतेऽथ यत्नम् ।
स्वस्वाशयप्रलयकर्ममुखानुसन्धे-
रावेशतो भवति कश्चन तत्र नैजः ॥१०॥

निजावेशान्निबिडतमनैरुत्थ्यविधिव-
न्महानन्दावस्था स्फुरति वितता कापि सततम् ।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमक-
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥११॥

साक्षात्तयास्य कलनात् स्फुरति प्रकामं
चैतन्यभासकमभिन्नमपारमङ्गे ।
पुंसः पदं परमनाम समभ्युदेति
यस्यानुभूतिबलतो निजपिण्डवित्तिः ॥१२॥

विज्ञाय पिण्डमथ सम्यगिति प्रकारा-
दारात्पदे परमनाम नितं (?) विधाय ।
ऐक्यं विधाय निजरश्मिपरावृतात्मा-
ऽवभ्याससून्मिषिरुदेति ततो द्वितीया ॥१३॥

तदुन्मेषप्रत्याहरणभवमाहुः समरस-
क्रियाभूतं यस्मान्निजकिरणपुञ्जं निजतया ।
प्रपश्यन्तस्तस्मान्निखिलमनुसन्धाय मुनयः
स्वरूपेऽङ्गीकृत्य स्वतःफलसिद्ध्यै व्यवसिताः ॥१४॥

मुनीनां पिण्डसंसिद्धौ सिद्धयः सन्ति सन्निधौ ।
एतमर्थं विनिश्चित्य कश्चिश्छ्लोकेन चोक्तवान् ॥१५॥

यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं प्रसिद्धं भाति लीलया ।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ॥१६॥

सहजं संयमयुतं सोपायं साद्वयं क्रमात् ।
ज्ञानं संसाधयेत्तच्च स्वविश्रान्तिरितीरितम् ॥१७॥

विश्वातीतः परेशानो विश्वरूपेण तिष्ठति ।
इत्येकं सहजं त्वन्यद्विश्वस्यात्मनि दर्शनम् ॥१८॥

प्रस्फुरद्रूपवृत्तीनां कृत्वा संयममात्मनि ।
यद्धारणं तदेवात्र ससंयममिति स्मृतम् ॥१९॥
प्रकाशमयमात्मानं स्वयमेव स्वरूपतः ।
एकीकृत्य सदा लौल्यात्स्थित्तिः सोपायशब्दभाक् ॥२०॥
अजातिमत्त्वदृक् प्राज्ञैः सा द्वितीयमिति स्मृतम् ।
चत्वार एते भावाः स्युः परमोदयहेतवः ॥२१॥
तथा च परमो योगी सुतृप्तो निर्विकल्पकः ।
सदा निरुत्थापनया तिष्ठतीति प्रसिद्ध्यति ॥२२॥
परमस्य पदस्याप्तौ साधनं केनचित्पुरा ।
यत्र श्लोकाष्टके प्रोक्तं तदिदं दृश्यतामिह ॥२३॥
सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः ।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥२४॥
ज्ञात्वैवं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न कर्तृत्वान्न विज्ञानान्न बलाद्वेदपाठनात् ॥२५॥
न ज्ञानान्न च वैलक्ष्यात्कर्त्रभ्यासान्न वासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्याद् घटनात्प्राणधारणात् ॥२६॥
न मुद्राधारणाद्वा स्यान्न मौनवचनाश्रयात् ।
औदासीन्यान्न निर्वाणान्न कायक्लेशमोचनात् ॥२७॥
न दास्यान्न च सन्देशान्न नानाव्रतधारणात् ।
न षड्दर्शनवेषादिधारणान्न च मुण्डनात् ॥२८॥
अनन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम् ।
गुरुदृक्पातमात्राणां हठानां सत्यवादिनाम् ॥२९॥
कथनाद् दृष्टिपाताद्वा सान्निध्याद्वावलोकनात् ।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥३०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सार्द्धश्लोकद्वयोक्तितः ॥
श्रीगुरोर्लक्षणं प्राह यज्ज्ञानान्मुच्यते भयात् ॥३१॥

सम्यगानन्दजननं सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥
निमिषार्द्धं तदर्द्धं वा यद्वाक्यस्यावलोकनात् ।
आत्मानं स्थिरमाप्नोति तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥३२॥

नानाविकल्पविश्रान्तिं कथनात्कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविकल्पकः ॥३३॥

परपदमधिगन्तुमुत्सुकानां
यदमलदृक्करुणाकटाक्षमाला ।
जयति दृढतराधिरोहणश्रीः
परमनिधिः स ममास्ति देशिकेन्द्रः ॥३४॥

सम्यक् चैतन्यविश्रान्तेरुपदेशस्तु सम्मतम् ।
यथा स्यात्सामरस्याख्यं तत्परं परमं पदम् ॥३५॥

यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ ।
नान्यस्मिन्बहुवादतर्कमकरोच्छालातिभीतिप्रदे
दुर्भेदभ्रमधारकेऽतिकठिने क्षारोदधौ लौकिके ॥३६॥

उपदेशो निगरणपदवाच्यतयोच्यते ।
तद् करोति यतस्तस्माद् गुरुरित्यभिधीयते ॥३७॥

गुरुदोषगुणनिरूपणपुरःसरं गुरुसेवाफलं
विंशतिश्लोकैः कश्चिदाह —

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः ।
स्वविश्रांतिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥३८॥

शिलायाः किं परं पारं शिलासङ्घातप्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ स परं तारयत्यलम् ॥३९॥

विकल्पजागराद् घोराच्चिन्ताकाले न दुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनावर्त्तात्कलाजालसमाकुलात् ॥४०॥

वासनालहरीवेगात्स्वस्थस्तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थैर्येणोपदेशेन लोनो(?)त्थानेन तत्क्षणात् ॥४१॥

परानन्दमयो भूत्वा निश्चयः स्थिरतां व्रजेत् ।
कुलानि कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥४२॥

धारयत्येव दृक्पातात्कथनाद्वावलोकनात् ।
तारणेच्छुर्वरं दत्ते स्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥४३॥

अतोऽसौ मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
अतस्तं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवादयेत् ॥४४॥

सर्वाङ्गप्रणिपातेन शिक्षां कृत्वा गुरुर्भवेत् ।
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ॥४५॥

लब्धविश्रामवित्तानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्यनिमग्नानां निरुत्थानां विशेषतः ॥४६॥

निमिषार्द्धात् स्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
तस्मिन्पिण्डे भवेल्लीनं सहसा नात्र संशयः ॥४७॥

लीने पिण्डे भवेद्योगी सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।
इच्छावेगी स्वयं कर्त्ता लीलयैवाजरामरः ॥४८॥

अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चयो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥४९॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभाषितम् ।
प्रथमे रोगनिर्मुक्तः सर्वलोकप्रियो भवेत् ॥५०॥

काङ्क्षते दर्शनं तस्य स्वात्मा गूढस्य नित्यशः ।
द्वितीये वत्सरे काव्यं कुरुते तत्त्वभाषया ॥५१॥

प्रजायते दिव्ययोगी दूरश्रावी न संशयः ।
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ॥५२॥

षड्भिर्न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ।
वायुवेगो क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ॥५३॥

महासिद्ध्यष्टकं सम्यगष्टमे वत्सरे भवेत् ।
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ॥५४॥

दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र गच्छति ।
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग् भवेत् ॥५५॥

द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत् ।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं भैरवभाषितम् ॥५६॥

एवं द्वादशवर्षे तु सिद्धयोगी महाबलः ।
जायते सद्गुरोः पादप्रसादान्नात्र संशयः ॥५७॥

अनुबुभूषति योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात्परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः ॥५८॥

अनन्यभावेन निरुत्थितिश्रीलाभेन चाञ्चल्यविधूननेन ।
अवस्थितिः श्रीकरुणासुधाब्धिगुरुप्रसादाद्भवतीति सत्यम् ॥५९॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डपरमपदयोः समरसकरणं
नाम पञ्चमोपदेशः ।

अथ षष्ठोपदेशः

निरूप्य सर्वं विषयमधिकारी निरूप्यते ।
अवधूतो भवेत्सोऽत्र तल्लक्षणमिदं यथा ॥१॥

प्रकृतिजन्यविकारविधूननं कलयितुं भजतीह समर्थताम् ।
यदवधूततया तदुदीर्यते रचितसंसृतिपारगतिर्जनः ॥२॥

लक्षणान्तरमप्याह कश्चित् –
केशपाशतरङ्गाणां व्रजं येन विकुण्ठितम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥३॥

सकलोच्चं स्थिरं पीनं संवेद्यं वासनोक्तितम् (?) ।
कौपीनकं कटौ यस्य सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥४॥

कस्य भावमयैः सूत्रैः स्वीकारस्थैर्य्यतां गतैः ।
कन्था विरचिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

मुक्तिद्वारे मतिर्यो वै प्राप्तकोषप्रकाशकः ।
मायाविकारानापन्नः स सात्त्विक उदाहृतः ॥६॥
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योममग्नो यस्तस्मात् क्षपणको भवेत् ॥७॥

भ्रान्तिकौरं जनं कृत्वा यो रक्तविवरे सदा ।
प्रबुद्धो यः स्वयं बुद्धः सद्यः सोऽत्राभिधीयते ॥८॥

प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः ।
तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥९॥

विश्वातीतं यदा विश्वमेकमेवावभासते ।
संयोगेन यदा यस्य सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥१०॥

सर्वासां निजवृत्तीनां विसृतिं भजते तु यः ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥११॥

उदासीनवदासीनः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥१२॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वप्रदोऽपरः ।
निरुत्थो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१३॥

गतेन शोकेन भयेन वीप्साप्राप्तेन हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाधते कालपथो न नित्यम् ॥१४॥

एतेषामुपदेशानां सूचितानां पृथक् पृथक् ।
जायते तत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिश्च जायते ॥१५॥

यो गङ्गापदपद्मभक्तिविमलः शाण्डिल्यगोत्रोद्भवः
चञ्चच्छारदचन्द्रिकासहचरीं कीर्त्तिन्नयन्विष्टपे ।
शौर्य्यौदार्यमुखैर्गुणैरविरलैरालम्ब्यमानोऽनिशं
स श्रीकृष्णविभुः स्मरारिनगरे ग्रन्थं मुदाचीकरत् ॥१६॥

कृष्णराजाज्ञया काश्यां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः ।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तुष्यतु ॥१७॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहेऽवधूतादिलक्षणः षष्ठोपदेशः ।

अथ सप्तमोपदेशः

चार्वाकाश्चतुराः स्वतर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः
सर्वे सन्धिरताः सदैव परताधानाश्रिताः सात्त्विकाः ।
कर्त्तारं प्रभजन्ति चैव यमनाः पापे रता निर्दया-
स्तेषामैहिकमल्पमेव हि सुखं सत्यं न मोक्षः परम् ॥१॥

सीहट्टे मस्तकान्ते त्रिकुटपुटबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथवरे घण्टिकाराजदण्डे ।
कण्ठे हृन्नाभिमूले त्रिकमकुहरे ह्युड्डियानेऽथ शूले
ये त्वेवं स्थानमग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥२॥

आदौ पूरककुम्भरेचकविधौ नाडीपथं शोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे च सहसा चित्तं समं मूर्छितम् ।
तस्मादव्ययमक्षयं परकलं चोङ्कारदीपं शुभं
ये पश्यन्ति समाहिताः पदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥३॥

गोहाटे दीप्तिपुञ्जं प्रलयशिखिनिभं सिन्धुजालन्धरे च
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ।
कालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचण्डे
ये नित्यं संशयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥४॥

लिङ्गाच्चण्डाकुलान्ते मनपवनगमे(?) ब्रह्मग्रन्थ्यादिभेदे
कृत्वा बिन्दुं नयन्ते भ्रमरपदमहाशङ्खमम्भोदरोधे ।
नेत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण
ये कुर्वन्तीह कष्टात्परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥५॥

सम्यक्चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
तालव्भ्यन्तरदर्शितान्तदशमद्वारोदरे शङ्खिनीम् ।
प्राप्तां मध्यमसम्पुटे (?) पुटां सप्तादशीं कोटरां
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः ॥६॥

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुद्धानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा-
घेनास्यैव नयन्ति ये भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः ॥७॥

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीपकरणं चाधारसम्पीडनात्
ज्ञात्वा कुण्डलिनीप्रबोधनमनो नादादिना मूर्द्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमनः कुर्वन्ति ये स्वाश्रये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां ह्यदूरं परम् ॥८॥

बन्धं भेदं च मुद्रां गलबिलचिबुकं मध्यमार्गं सुषुम्णां
चन्द्रार्कें सामरस्यं शमदमनियमैर्नादबिन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं कलयन्ते तदनु च मनसामुन्मनी योगयुक्तं
तेषां लोकामयन्ते निजसुखविमुखाः कर्मदुःखौघभाजः ॥९॥

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेद-
मूर्ध्वाधो बाह्यमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ।
दृष्ट्यग्रे वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं तमो वा
एवं ये भावयन्ते विमलमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥१०॥

आदौ सारणशङ्खसारणमतः कृत्वा महासारणं
सम्पूर्णं प्रतिसारणं विधिबलाद्दृष्टिस्तथा निर्मला ।
आज्ञालो हठयोगयोगकलया सद्दीप्तसन्तूलिकां
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति बाधन्ति च ॥११॥

शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया तात्वोष्ठलीलासमं
वीते तूल्लुठनं कवाटममरीपानं त्रिधा खर्परी ।
वीर्यंद्रावितमात्मजं विकलये ग्रासं च लेपञ्च वा
कुर्वे तीर्थजले स्यात् (?) तेन हि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥१२॥

घण्टाकालहमर्द्दलं त्वथ महाभेरीनिनादं यथा
सम्यङ् नादमनाहतं ध्वनियुतं शृण्वन्ति ये तादृशम् ।
पिण्डे सिद्धिपरं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽथ वा
तेषां सिद्धमतेस्कतेः(?) समुदितं सत्यं परं लभ्यते ॥१३॥

वैराग्यामृतपल्लवेन सलिलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवास एव रमते चाऽनेकदेशान्तरे ।
स्थित्वा सादितनिश्चयेन मनसा रात्रौ दिने वीक्ष्यते
स त्यक्त्वाखिलभावमेकममलं प्राप्नोत्यहो स्वं पदम् ॥१४॥

इति श्रीसिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे सप्तमोपदेशः समाप्तिमगमत् ।

शुद्धिपत्रम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
१	४	पुष्टये	तुष्टये
,,	७	कार्य्यंकारणकर्तृत्वं	कार्य्यकारणकर्तृत्वं
,,	१२	अर्धामात्रा	अर्धमात्रा
,,	१६	अव्थक्तता	अव्यक्तता
२	३	निरन्तरत्बं	निरन्तरत्वं
,,	१७	अक्षयत्वके	अक्षयत्वेक
,,	२२	स्वर्गगत्वम्	सर्वगत्वम्
४	१६	नथा	तथा
,,	२३	ल्युः	स्युः
,,	२५	ममत्दं	ममत्वं
,,	,,	वर्तिनः	वर्त्तिनः
५	२	हर्षौं	हर्षौं
,,	२१	काल	काम
,,	२२	इति	रति
६	१	समुच्लत्व	समुच्चलत्व
,,	११	फला	कला
,,	१५	द्व	द्वे
८	२	अस्थाम्	अस्थ्नाम्
१०	२५	निरोघयेत्	निरोधयेत्
१२	६	नावाग्रतो	नासाग्रतो
,,	१३	ऊर्द्ध	ऊर्द्ध्व
१५	१	यीगि	योगि
,,	१३	वण्डाग्रे	दण्डाग्रे
,,	१८	स्वमावो	स्वभावो
१६	४	स्वनाव	स्वभाव

१६	६	सनातनत्ब	सनातनत्व
,,	,,	अविकृत	अधिकृत
,,	१०	घर:	धर:
,,	१७	अस्त्ति	अस्ति
,,	२२	परिपूर्णं	परिपूर्ण
,,	२६	सर्वकर्तृत्द	सर्वकर्तृत्व
२०	२	निर्धमंत्वाद्	निर्धर्मत्वाद्
२१	१	चक्रषु	चक्रेषु
,,	५	मलाधारे	मूलाधारे
२५	४	स्थित्तिः	स्थितिः
३१	१२	तेपां	तेषां
३२	१२	ह्यदूरं	हि दूरं
,,	२३	आज्ञालो	आज्ञाली

श्लोकानुक्रमणी

—o—

THE

PRINCESS OF WALES

SARASVATI BHAVANA TEXTS

No. 13

THE

SIDDHA SIDDHĀNTA SANGRAHA

GOVERNMENT SANSKRIT LIBRARY,

BENARES.

1925

THE

PRINCESS OF WALES

SARASVATI BHAVANA TEXTS

EDITED BY

GOPĪ NĀTHA KAVIRĀJA

No. 13

THE

SIDDHA SIDDHĀNTA SANGRAHA

Printed by

JAI KRISHNA DASS GUPTA,

at the VIDYA VILAS PRESS,

Gopal Mandir Lane,

Benares City.

1925

बलभद्रविरचितः

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः

THE

SIDDHA SIDDHĀNTA SANGRAHA

OF

Balabhadra

WITH INTRODUCTION

BY

GOPĪ NĀTH KAVIRĀJ, M. A.,

OFFG. PRINCIPAL, GOVERNMENT SANSKRIT COLLEGE,

BENARES.

1925

INTRODUCTION

The text of Siddhasiddhānta Saṅgraha published for the first time in the following pages represents a summary of the Siddhasiddhānta paddhati, attributed to Nityanātha. It is a work on Yoga and contains a brief exposition of some of the most important doctrines associated with the name of Gorakṣanātha.

As the doctrines of this sect are not known to any but the members of its esoteric circle I may be excused for attempting a brief analysis of the contents of this work here. But those who wish to have a detailed account are referred to my forthcoming tract on "Studies in Nathism." The book is divided into seven sections (उपदेशाः), which treat of the following topics—

Section I—Origin of six-fold body (पिण्डोत्पत्ति).
Section II–Discussion of body (पिण्ड विचार).
Section III–Knowledge of body (पिण्डसंवित्ति).
Section IV–The Foundation (आधार) of body.
Section V–Equation of body (पिण्ड) and Supreme Reality (परम पद).
Section VI–Definition of Avadhūta.
Section VII–Conclusion.

The first section deals with the gradual formation of six piṇḍas, designated here as Para or Ādi, Sākāra, Mahāsākāra, Prākṛta, Avalokana and Garbha. The physical body with which we are familiar represents in its incipient condition the last type named in the list, viz. garbha, and is the outcome of physical procreation. An interesting account of embryonic growth in furnished, showing its different stages in order and also distinguishing the contributions of each of the

parents to this growth. The other 5 piṇḍas stand for subtler and subtler states of the garbha and exhibit how and under what circumstances the Supreme Reality evolves itself into the material organism. It may be of interest to note that each piṇḍa is supposed to comprise five factors, and as each factor is said to display five qualities, each piṇḍa represents an aggregate of 25 qualities.

The second section dwells upon the 9 chakras, 16 ādhāras, 3 lakṣyas & 5 vyomans-principles with which one must be familiar in order to be a Yogī in the true sense of the word. The 8 yogāṅgas also have been briefly described. The nine chakras include, besides the well-known six psychic centres, Ghaṇṭikā, Manolaya and Brahmachakra or the thousand-petalled lotus. It may not be out of place to note here that this scheme does not exactly tally with the usual account. The first chakra, for instance, is called here Brahmachakra like the last one, & is described as a three-folded triangular region, below which is kanda where S'akti is located. This is known as Kāmarūpa Pīṭha. The second chakra is said to be a four-petalled lotus, which represents the Uḍḍiāna Pīṭha in the body. The next chakra is the locus of the Kuṇḍalinī. The Anāhata chakra is usually described as a lotus of 12 petals, but here it is called an eight-petalled lotus, within which is a bright liṅga, known as Hansakalā. The Suṣumṇā, lying between Iḍā and Piṅgalā, is the Anāhatakalā. The usual Ājñā chakra is replaced by Tālu chakra, from which the current of nectar is said to flow. The sixteen ādhāras mentioned here are so many places

within the body on which the mind has to be fixed for attainment of different results. The three lakṣyas are connected with three kinds of gazing, ऊर्द्ध्व मध्य and अधः । The 5 vyomans indicate the Supreme Ākāśa in varying stages of its purity.

The third section treats of the identity of the microcosm with the macrocosm, and shows that whatever exists in the world outside is present also in the human body. Thus the 7 nether regions are located in the region below the bottom of the spinal column, and the 21 heavens in the upper regions of the body. In the 9 avenues are the 9 Khaṇḍas. The hills, rivers, stars, planets, tithis, devas, munis, bhūtas, pretas, piśachas, rākṣasas, daityas, dānavas, &c have their counterparts in the body. These include khecharas, ḍākinīs, sun, moon, clouds, tīrthas, creepers, plants & insects. Heaven, hell & also mokṣa are realisable in the body itself.

The fourth section treats of the support (आधार) of the body which is S'akti. This S'akti is known as S'iva when it is unruffled & quiet. She is both kula and akuḷa. Kula is fivefold—i) Parā ii) Bhāsā iii) Sattā iv) Ahantā, and v) Kalā.

Akula is unique. It assumes kula & thence descends into vyavahāra. S'iva without S'akti is impotent.

As the support of the piṇḍa she is called Kuṇḍalinī, & is either sleeping or waking. In the latter state alone she is conscious. Owing to upward tension, effected by the so-called mūlabandha, she rises upwards. The sentient & insentient world illustrates the different degrees of expansion or self-revelation of this Power. There are said to be 9 minor śaktis in the 9 chakras, but the Primal S'akti is one. As creation and dissolution of the world follow from her expansion and contraction, she is usually described as the Mūla or Root of the Universe. The Madhya Kuṇḍalī is two-fold, one being lower & gross, and the other higher & subtle. The stability and purity of body (देहसिद्धि)

are possible only when she is roused. Difference between S'iva and S'akti is unreal & due to ignorance.

The 5th section deals with the manner how the piṇda and the supreme pada may be equilibrated. The establishment of their equilibrium is known as Piṇḍa-siddhi. The Grace of Guru–which is nothing but the Supreme Transcendent Reality beyond words–enables the aspirant to shake off all siddhis & other fruits, realise the निरुत्थान state & obtain Union (सामरस्य) of the body with Itself. This attempt leads to Supreme Delight through the revelation of the Self (निजावेश), thence to awaking of an awareness causing the flavour of pure and eternal joy, to loss of duality, realisation of the highest state of the Puruṣa & knowledge of one's own Piṇḍa. Knowledge of one's own piṇḍa is followed by unification with the Supreme Reality (परमं पदं).

The sixth section gives a brief account of the Avadhūta who alone deserves to be called a kṣapaṇaka, yogī and siddha.

The seventh section contains miscellaneous matter.

The work claims to have been compiled at Benares by one Balabhadra at the bidding of Kṛṣṇarāja. Balabhadra was of S'āṅdilya gotra. His time is not known. There is a reference in the work to the following authors and books–Lalita Svachchhanda (p. 24), Tattvasāra (p. 26) and Jaṭhara Saṁhitā nibandha (p. 28). But as the dates of these latter are not known the reference is of no use in determining the author's age.

The edition is based upon a single incorrect manuscript. There are numerous errors, some due to the carelessness of the scribe and some caused through inadvertence of the author himself. The importance of the book, as representing a hitherto unknown system of culture, has presuaded me to present it with all its errors, in the hope that it will prove a useful contribution to our knowledge of the subject.

Sanskrit College, Benares. — GOPINATH KAVIRAJ

॥ श्रीः ॥

सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः ।

श्रीगणपतिचरणारविन्दाभ्यां नमः ।

यत् पादाब्जरजःस्पर्शादरजस्कं मनो भवेत् ।
स एव गुरुनाथो मे कृपासिन्धुः प्रसीदताम् ॥ १ ॥

अर्था ये सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सुनिरूपिताः ।
संग्रहं तनुते तेषां कश्चिच्छ्रीकृष्णतुष्टये ॥ २ ॥

पिण्डसम्भवविचारसंविदाधारतत्पररसैक्यभूमयः ।
तीक्ष्णधीभिरवधूत इत्ययं दर्शितः खलु निरूप्य संग्रहः ॥ ३ ॥

कार्यकारणकर्तृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परमं तत्त्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ॥ ४ ॥

तस्यावस्थामात्रधर्माधर्मिणीति प्रसिद्धिभाक् ।
निजा शक्तिरभूत् तस्या औन्मुख्याख्या परोत्थिता ॥ ५ ॥

ततः स्पन्दनमात्रा स्यादपरेति स्मृता ततः ।
सूक्ष्माहन्तार्धार्धमात्रा चिच्छिलाकुण्डलिन्यतः ॥ ६ ॥

निराकृतित्वान्नित्यत्वान्निरन्तरतया तथा ।
निष्पन्दत्वान्निरुत्थत्वान्निजाः पञ्च गुणाः स्मृताः ॥ ७ ॥

अस्तित्वमप्रमेयत्वमभिन्नत्वमनन्तता ।
अव्यक्ततेति पञ्च स्युः परायां सम्मता गुणाः ॥ ८ ॥
स्फुरत्ता स्फारतायुक्ता स्फुटता स्फोटता तथा ।
स्फूर्तिरेवं पञ्च गुणा अपरायामपि स्मृताः ॥ ९ ॥
निरन्तरत्वं नैरंश्यं नैश्चल्यं निश्चयत्वकम् ।
निर्विकल्पत्वमेव स्यात् सूक्ष्मायां गुणपञ्चकम् ॥ १० ॥
पूर्णत्वं प्रतिबिम्बत्वं तथा प्रकृतिरूपता ।
प्रत्यङ्मुखत्वमौचल्यं पञ्चैते भोगिनां गुणाः ॥ ११ ॥
शक्तिपञ्चकसंभूतपञ्चविंशतिसंश्रयात् ।
परपिण्डसमुत्पत्तिः सिद्धान्तज्ञैः समीरिता ॥ १२ ॥

उक्तं च—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः पिण्डः परः शिवे ॥ १३ ॥
ततोऽस्तितापूर्वमर्चिर्मात्रं स्यादपरं परम् ।
तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परमं पदम् ॥ १४ ॥
स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरञ्जनम् ।
तस्मात्ततः स्वसाक्षादभूः परमात्मपदं मतम् ॥ १५ ॥
अकलत्वासंशयत्वानुमतत्वान्यपारता ।
अमरत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्चापरे पदे ॥ १६ ॥

निःकलत्वमलोलत्वमसंख्येयाक्षयत्वेक ।
अभिन्नतेति पञ्चोक्ता गुणाः स्युः परमे पदे ॥ १७ ॥
नीलता पूर्णता मूर्छा उन्मनी लयतेत्यमी ।
शून्ये पञ्च गुणाः प्रोक्ताः सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥१८॥
सहजत्वं सामरस्यं सत्यत्वं सावधानता ।
सर्वगत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च निरञ्जने ॥ १९ ॥
अभयत्वमभेद्यत्वमच्छेद्यत्वमनाश्यता ।
अशोष्यत्वमिति प्रोक्ता गुणाः पञ्च परात्मनि ॥ २० ॥
तत्त्वपञ्चकमाख्यातमाद्यपिण्डस्य पण्डितैः ।
एवं तथा गुणाः प्रोक्ताः पञ्चविंशतिसंख्यकाः ॥ २१ ॥
सगुणैः समवेतैस्तैरादिपिण्डः समुद्भवेत् ।
आदेस्तु परमानन्दः प्रबोधः स्याच्चतस्ततः ॥ २२ ॥
भवेच्चिदुदयस्तस्मात् प्रकाशः सोऽहमित्यतः ।
उदयः स्यात्तथोल्लासोऽवभासोऽथ विकाशनम् ॥ २३ ॥
प्रभेति स्युर्गुणाः पञ्च प्रबोधस्य प्रकीर्त्तिताः ।
निष्पन्दहर्षावुन्मादः स्पन्दो नित्यसुखं तथा ॥ २४ ॥
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ताः परमानन्दसंज्ञके ।
सद्भावोऽत्र विचारश्च कर्तृत्वं ज्ञातृता तथा ॥ २५ ॥

स्वातन्त्र्यमिति पञ्चैव गुणाश्चिदुदयस्य च ।
निर्विकारत्वनैष्कल्ये सद्बोधः समता तथा ॥ २६ ॥
विश्रान्तिरेवं संप्रोक्तं प्रकाशगुणपञ्चकम् ।
अहन्ता खण्डतैश्वर्य्यं स्वानुभूतिः समर्थता ॥ २७ ॥
सर्वज्ञतेति पञ्चोक्ताः सोऽहम्भावगुणा इमे ।
इत्याद्यपिण्डः संपृक्तः तत्त्वपञ्चकगैर्गुणैः ॥ २८ ॥
पञ्चविंशतिसंख्याकैरिमैरेव समुत्थितः ।
आद्यादभून्महाकाशं ततो जातो महानिलः ॥ २९ ॥
तस्मात्तेजो महत्तस्मान्महत् कं तन् महा धरा ।
अवकाशं तथा छिद्रमस्पृश्यत्वं तथा रवः ॥ ३० ॥
नीलवर्ण इति प्रोक्ता गुणाः पञ्च महाम्बरे ।
सञ्चारश्चालनं स्पन्दः शोषणं धूम्रवर्णता ॥ ३१ ॥
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावायौ मनीषिभिः ।
दाहकत्वं पावकत्वं सूक्ष्मत्वं रूपभासिता ॥ ३२ ॥
रक्तवर्णत्वमेवं स्युः गुणाः पञ्च महानिले ।
प्रवाहाप्यायनरसद्रवाश्च श्वेतवर्णता ।
इमे पञ्च गुणाः प्रोक्ता महावारिणि पण्डितैः ॥ ३३ ॥

स्थूलत्वनानाकृतिते काठिन्यं गन्धपीतते ।
इति पञ्च गुणाः प्रोक्ता महामह्यां महर्षिभिः ॥ ३४ ॥
इति साकारपिण्डस्य तत्त्वपञ्चकमिष्यते ।
पञ्चविंशतिसंख्याका गुणास्तैर्मिलितैः शिवः ॥ ३५ ॥
शिवाद्भैरव एतस्माच्छ्रीकण्ठोऽतः सदाशिवः ।
ईश्वरोऽस्माद्रुद्र आसीत्ततो विष्णुस्ततो विधिः ॥ ३६ ॥
महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकमिदं स्मृतम् ।
ब्रह्मणः प्राक्कृतं दृष्ट्वा नरनार्य्यात्मपिण्डकम् ॥ ३७ ॥
पञ्चपञ्चात्मकं तच्च शरीरमिदमुच्यते ।
अस्थित्वङ्मांसलोमानि नाड्यः पृथ्व्यंशका इमे ॥३८॥
लालामूत्रे असृक्स्वेदौ शुक्रमित्यंशका अपाम् ।
क्षुधातृषालस्यनिद्राकान्तयोऽशा विभावसोः ॥३९॥
धावनं चलनं रोधः प्रसाराकुञ्चने तथा ।
वाय्वंशा उदिता एते पञ्च सिद्धान्तवेदिभिः ॥ ४० ॥
रागद्वेषौ भयं लज्जा मोह एवं नभोगुणाः ॥
इति प्राकृतपिण्डे स्युः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ॥४१॥
मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यथ ।
सिद्धसिद्धान्तगैरुक्तमन्तःकरणपञ्चकम् ॥४२॥

संकल्पश्च विकल्पश्च जडता मूर्छना तथा ।
मननं चेति संप्रोक्ता गुणाः स्युः पञ्च मानसाः ॥४३॥
विवेकवैराग्य परा प्रशान्तिक्षमा गुणा बुद्धिगता भवन्ति ।
मानो ममत्वं सुखदुःखमोहा गुणा इमेहं कृतिवर्त्तिनःस्युः४४
मतिर्धृतिः संस्मृतिरुत्कृतिश्च स्वीकार इत्थं खलु पञ्च चेताः
चैतन्यनिष्ठास्तु विमर्षहर्षौ धैर्यं गुणाश्चिन्तननिःस्पृहत्वे ४५
अन्तःकरणधर्मा ये त एते संप्रदर्शिताः ।
सत्त्वं रजस्तमः कालो जीवश्च कुलपञ्चकम् ॥४६॥
दया धर्मः क्रिया भक्तिः श्रद्धेत्थं सत्त्वगा गुणाः ।
दानं भोगश्च शृङ्गारः स्वार्थादाने रजोगुणाः ॥४७॥
मोहप्रमादौ निद्रा च हिंसाक्रौर्ये तमोगुणाः ।
विवादः कलहः शोको बन्धो वञ्चनमेव च ॥ ४८ ॥
एवं पञ्च गुणाः प्रोक्ताः कालस्य मुनिपुङ्गवैः ।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्य्यकतुरीयाऽतीतसंज्ञा गुणाः ॥४९॥
जीवस्था इह कीर्तिता इति भवेज्जीवेऽपि तत्पञ्चकम् ।
इच्छा कर्म विमोहिनी प्रकृतियुक् वाक् चेति पञ्चाऽपि ते ५०
व्यक्ताख्यधरशक्तिपञ्चकगुणाः सन्तीति सिद्धान्तवाक् ।
उन्मेषो वासना वीप्सा चिन्ता चेष्टेच्छिका गुणाः ॥५१॥

स्मृत्युद्यमोद्वेगकार्य्यनिश्चयकारिणी क्रिया ॥
मदमात्सर्यकपटकर्त्तव्यथासत्यसंज्ञकाः ॥ ५२ ॥
प्राकृता मायिका आशा तृष्णा काङ्क्षा स्पृहा मृषा
परास्ति पश्यन्त्यथ मध्यमा च वैखर्य्यपीष्टाक्षरमातृका च ।
एते गुणा वाचि भवन्ति पञ्च प्रपञ्चनिर्मुक्तजनोपदिष्टाः ॥५३॥
पञ्चविंशतिरेते स्युर्व्यक्तिशक्तिगुणा इह ।
कालकर्माग्निचन्द्रार्काः प्रत्यक्षकृतिहेतवः ॥ ५४ ॥

इति प्रीतिलीलातुरत्वाभिलाषा
गुणाः पञ्च कामे वसन्तीत्यणान्ति ।
शुभं चाशुभं कीर्त्यकीर्त्ती तथेच्छा-
गताः कर्मणि ब्रह्मनिष्ठास्तथा ते ॥ ५५ ॥

उल्लोलकल्लोलसमुच्चलत्वप्रोन्मादवत्यूर्मिविशेषवत्यः ।
विलेपयन्ती लहरीविलोला विलेलिहासप्रसरा प्रवृत्तिः॥५६॥
स्रवन्तिका नामवती प्रवाहा सौम्या प्रसन्नेति कलाः सुधांशोः।
उदीरिता षोडश तस्य चान्या न वृत्तिसंज्ञामृतनाम तस्याः५७
तपिनी ग्रासिनी क्रूरा कुञ्चनी शोषणी तथा ।
बोधिनी घस्मराकर्षिण्यर्थसन्तुष्टिवर्द्धिनी ॥ ५८ ॥
ऊर्मिरेखाकिरणिनी प्रभावत्यंशुमालिनः ।
इमा कला द्वादश स्युरन्याप्यस्ति प्रकाशिका ॥ ५९ ॥

वीजिनी दीपिका ज्वाला विस्फुलिङ्गा प्रचण्डिका ।
पाचिका रौद्रिका दाहा रोचिनी शोषिणीति ताः ॥ ६० ॥
कला दश भवन्त्यग्नेर्ज्योतिर्निजकला परा ।
इति प्रत्यक्षकारिणो गुणाः स्युः सिद्धसंमताः ॥ ६१ ॥
द्वाराणि द्वादशोक्तानि नाडीनां यानि तान्यथ ।
दर्श्यन्ते सिद्धसिद्धान्तनिर्णीतानि यथामतम् ॥ ६२ ॥

इडापिङ्गले नासिकारन्ध्रगे द्वे
सुषुम्णा भवेत्तालुमूलेजरन्ध्रम् ।
समे तावधीकृत्य गान्धारिकाख्या
तथा हस्तिजिह्वा श्रवोयुग्मके स्यात् ॥६३॥
भवेच्छङ्खिनी लिङ्गवक्त्रादिदण्डा-
ध्वनापद्मजद्वारमासाथ पूषा ।
तथाऽलम्बुषा चक्षुषोः सन्तगास्या-
ग्रगा स्यात्पयस्विन्यपाने कुहूश्च ॥ ६४ ॥

दश नाड्यो दशद्वारवर्त्तिन्य इति कीर्त्तिताः ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्योऽन्या रोमकूपगाः ॥ ६५ ॥
हृदि प्राणो गुदेऽपानो नाभिगामी समानकः ।
उदानः कण्ठनिलयो व्यानस्तालुसमाश्रयः ॥ ६६ ॥
सर्वाङ्गव्यापको नागः कूर्मोऽक्षिण कृकलो नसि ।
देवदत्तो मुखाग्रस्थः कण्ठाधः स्याद्धनञ्जयः ॥ ६७ ॥

आहाराकाङ्क्षकः पूर्वो द्वितीयः स्तम्भकुम्भकः ।
तृतीये दीपनं पाकस्तुर्ये नाडीविशोधनम् ॥ ६८ ॥

आप्यायनं रुचिश्चैव पञ्चमेऽशनजल्पने ।
मोडनोच्चाटने षष्ठे मेषोन्मेषौ च सप्तमे ॥ ६९ ॥

क्षुद्द्वारावष्टमे स्तां जृम्भणं नवमे भवेत् ।
दशमे नादघोषौ तु स्युरेते दश वायवः ॥ ७० ॥

अवलोकनपिण्डस्य समुत्पत्तिरितीरिता ।
नरनारीरूपमाहुरिदमेव मुनीश्वराः ॥ ७१ ॥

गर्भपिण्डसमुत्पत्तिमथ वक्ष्यामि संमताम् ।
ऋतौ स्त्रीतरयोर्योगे जीवो बिन्दुरजाश्रयात् ॥ ७२ ॥

पूर्वस्मिन् कलिलं ततो रविदिनैः स्याद् बुद्बुदाभं ततः ।
पक्षाद्गोलकसन्निभं कठिनताभाङ्मासमात्राद्भवेत् ॥
तद्द्वन्द्वेन शिरस्त्रिभिः करपदाद्यं स्याच्चतुर्भिः श्रुती ।
नेत्रे घ्राणगुदास्यमेढ्रकमथो पृष्ठोदरं पञ्चभिः ॥ ७३ ॥

षड्भिर्गात्ररुहाणि सप्तभिरथो स्याच्चेतनालक्षणा- ।
न्यष्टाभिर्यदि जायते सुविरहस्तत्तत्त्वलाभस्ततः ॥
मासेऽङ्गो दशमेऽथ योनिसमयाच्छुक्राधिकत्वे पुमान् ।
शुक्रस्याधिकतान्वये तु वनिता साम्ये तयोः क्लीबकः॥७४॥

अन्योन्यचित्तप्रतिकूलभावात्
स्त्रीपुंसयोर्वामनकुब्जखञ्जाः ।
अन्धादयोऽङ्गातिनिपीडना स्या-
द्रेतोतिभावात्सुतयुग्मता च ॥ ७५ ॥

शुक्रं सार्द्धपलत्रयं निगदितं रक्तं पलाविंशतिः ।
तस्यार्द्धं खलु मेदसोरविपला मज्जा शतं मांसकम् ॥
पित्तं रावणवक्त्रसंमितपलं षष्ट्युत्तरा स्याच्छत- ।
त्रय्यस्न्थामथ सन्धयस्तदुपमाः सार्द्धत्रिकोट्यः कचाः॥७६॥

मज्जास्थिमेदांसि सशुक्रकाणि
भवन्ति वीर्य्याज्जनकस्य पुत्रे ।
मांसासृजी गात्ररुहाणि वातः
पित्तं कफस्तद्द्वययोगतः स्यात् ॥ ७७ ॥

दशधातुमयो देह इत्थं भवति निश्चितः ।
गर्भपिण्डोत्पत्तिरेवं सिद्धसिद्धान्तसंमता ॥ ७८ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे षड्विधपिण्डोत्पत्तिः प्रथमोपदेशः ॥

नवचक्राणि देहेऽस्मिन् भवन्तीति विनिश्चितम् ।
तेषां विभागो ज्ञातव्य आधारादिक्रमादथ ॥ १ ॥
ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलकाकृति ।
आधारे तदधःकन्दे ध्यायेच्छक्तिं हुताशभाम् ॥ २ ॥
कामरूपाभिधं पीठं सर्वकामप्रदायि तत् ।
तदत्र भवतीत्युक्तं सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ॥ ३ ॥
स्वाधिष्ठानाभिधं चक्रं द्वितीयं यच्चतुर्दलम् ।
पद्मं तत्र प्रवालाभं लिङ्गं ध्यायेत् पराङ्मुखम् ॥ ४ ॥
तत्रैवोड्यानपीठं स्याज्जगदाकर्षसिद्धिदम् ।
भवतीति महासिद्धाः सिद्धान्तं चक्रिरे पुरा ॥ ५ ॥
तृतीये नाभिचक्रे तु पञ्चावर्तादिसन्निभे ।
ध्यायेत् कुण्डलिकाकारे बालार्कद्युतिकुण्डलीम् ॥ ६ ॥
तुर्यं हृदयचक्रं यत्तत्राष्टदलवारिजे ।
लिङ्गं ध्यायेत् कर्णिकान्तर्ज्योतिर्मत्परमोज्ज्वलम् ॥ ७ ॥
सैव हंसकला ख्याता सर्वेन्द्रियवशङ्करी ।
योगिभिर्विधिवद् ज्ञाता सर्वलोकान् वशं नयेत् ॥ ८ ॥
पञ्चमं कण्ठचक्रं तु चतुरङ्गुलविन्दुभम् ।
तद्वामदक्षचन्द्रार्कनाड्योर्ध्यायेत् सुषुम्णिकाम् ॥ ९ ॥
अनाहतकला सैव विख्याता योगिनां मते ।
अनाहतमहासिद्धिविश्राणनधुरन्धरा ॥ १० ॥

तालुचक्रं षष्ठमत्र सुधाधाराप्रवाहभृत् ।
घण्टिका राजदन्तान्तर्ध्यायेत् शून्यं मनोलये ॥ ११ ॥
नवमं ब्रह्मचक्रं यत्सहस्रदलवारिजम् ।
ध्यायेद्गोक्षीरभं तत्र हंसं तत्तन्मयो भवेत् ॥ १२ ॥
नवचक्रविचारोऽयं कथितः परमार्थदः ।
अथाहं षोडशाधारान् वक्ष्यामि कृपया गुरोः ॥ १३ ॥
पादाङ्गुष्ठात्परं ध्यायेत्तेजस्तत्प्रथमं यदि ।
दृष्टिः स्थैर्य्यं समायाति नैरन्तर्य्येण निर्मला ॥ १४ ॥
मूलसूत्रं समालम्ब्य स्थातव्यं पादपार्ष्णिना ।
यदा तदानीमाधारो द्वितीयोऽग्निप्रदीपनः ॥ १५ ॥
विकाससङ्कोचनतो गुदमाकुञ्चयेद्यदा ।
तृतीयाधार उक्तस्तदपानस्थैर्य्यकारकः ॥ १६ ॥

सङ्कोचनेन मणिकस्य परत्र तुर्य्ये
दण्डाध्वनैव चरमेण निवेश्य चित्तम् ।
वज्रोदरे सगतिबन्धनभेदिदर्प्या
भृङ्गस्य चेद्दुदिदरे(?)खलु बिन्दुबन्धः ॥१७॥

एषा वज्रोलिका प्रोक्ता सिद्धसिद्धान्तवेदिभिः ।
ज्ञानादेव भवेदस्याः सिद्धमार्गः प्रकाशितः ॥ १८ ॥
नाड्याधारे पञ्चमे तु सन्निवेश्य मनोनिलम् ।
जारणं भवति क्षिप्रं योगिनां मलमूत्रयोः ॥ १९ ॥

नाभ्याधारे तथा षष्ठे प्रणवोच्चारणक्रियाम् ।
कृत्वैकाग्रेण मनसा नादोदयमुपैत्यलम् ॥ २० ॥
सप्तमे हृदयाधारे प्राणवायुं निरोधयेत ।
यदा तदैवाम्बुरुहं विकासमधिगच्छति ॥ २१ ॥
कण्ठाधारेऽष्टमे कण्ठं चिबुकेन निपीडयेत् ।
इडापिङ्गलयोर्वायुस्थैर्य्यभाववस्तदा भवेत् ॥ २२ ॥
नवमे घण्टिकाधारे जिह्वां सङ्घट्टयेत् क्रमात् ।
सुधाकलापरिस्रावस्तदा स्यादमरत्वदः ॥ २३ ॥
जिह्वां चालनदोहाभ्यां दीर्घीकृत्य निवेशयेत् ।
दशमाधारताल्वन्तः काष्ठा भवति सा परा ॥ २४ ॥
एकादशे रसाधारे जिह्वाग्रमथनात्स्फुटम् ।
परमानन्दसन्दोहकारिणी कविता भवेत् ॥ २५ ॥
द्वादशोर्द्धरदाधारे जिह्वाग्रं ग्रन्थयेद दृढम् ।
व्याधयः क्षणमात्रेण परिक्षीणा भवन्त्यलम् ॥ २६ ॥
त्रयोदशो नासिकाख्य आधारो यः प्रकीर्तितः ।
तदग्रं लक्षयेन्नित्यं मनो भवति सुस्थिरम् ॥ २७ ॥
कपाटाकारमाहुर्यन्नासामूलं चतुर्दशम् ।
तत्र दृष्टिनिबन्धेन षण्मासाज्ज्योतिरीक्षणम् ॥ २८ ॥
भ्रुवाधारं पञ्चदशं पश्येच्चेदूर्ध्वचक्षुषा ।
पुरोऽवलोकयेच्छ्रीमान् किरणाकारमुज्ज्वलम् ॥ २९ ॥

षोडशं नयनाधारमूर्द्धभागे प्रचालयेत् ।
अङ्गुल्या चेदपाङ्गे स्वे ज्योतिःपुञ्जं प्रपश्यति ॥३०॥
सदा कृन्तनमेवाऽथ लोकयेन्निर्मलाशयः ।
इत्युक्ताः षोडशाऽऽधारा लक्ष्यत्रयमथोच्यते ॥ ३१ ॥
मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं सितप्रभाम् ।
ब्रह्मरन्ध्रावधि ध्यायेत् तन्मध्ये विद्युदुज्ज्वलाम् ॥ ३२ ॥
मूर्तिं तां लक्षयेन्नित्यं बिसतन्तुतनीयसीम् ।
सर्वसिद्धिप्रदाने सा कल्पवल्लीयते सताम् ॥ ३३ ॥
ललाटोर्ध्वेऽथवा ताराकारं गुह्याटमण्डलम् ।
लक्षयेद्वालिकुहरे रक्तं मधुकराकृतिम् ॥ ३४ ॥
तर्जनीमुखनिरुद्धकर्णको योऽथवा भवति पूरुषोत्तमः ।
मूर्द्धमध्यगतसिंहहाटके तस्य नाद उदयेत घुंध्विति ॥३५॥

चक्षुर्मध्ये पुत्तलीसन्निभं वा
नीलज्योतीरूपमुद्यत् प्रकाशम् ॥
नैरन्तर्य्याल्लक्षयेदेतदुक्तं प्राज्ञै-
रन्तर्लक्ष्यमलुब्धचित्तैः ॥ ३६ ॥

एकाङ्गुलचतुर्भागे नासाग्राद्बहिरम्बरम् ।
व्योमज्योतिरूपमं नैरन्तर्य्येण लक्षयेत् ॥ ३७ ॥
नासाग्रतो बहिर्व्यापि सततं द्वादशाङ्गुले ।
लक्षयेद्धरितालाभं पुरः पार्थिवमण्डलम् ॥ ३८ ॥

वायुतत्त्वं धूम्रवर्णं नासाग्रात् षोडशाङ्गुलम् ।
लक्षयेत्तन्मुखं वा खं स्थिरदृग्गोकुलेक्षणे ॥ ३९ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे निर्मलीकरणम् ॥

ऊर्द्ध्वदृष्ट्यान्तरालम्बे लक्षयेत्सिद्धवर्त्मगः ।
ज्योतिर्मयूखा दृश्यन्ते तदाऽकस्मादितस्ततः ॥ ४० ॥
अथवा यत्र कुत्रापि व्योमैव परिलक्षयेत् ।
आलम्बते स्थिरत्वं दृक् योगिनोऽभ्यासतः सदा ॥४१॥
द्वादशाङ्गुलमारभ्याष्टादशाङ्गुलकावधि ।
शिरस्यूर्द्ध्वेऽथवा पश्येज्ज्योतिःपुञ्जं विमुक्तिदम् ॥ ४२ ॥
दृष्ट्यग्रे तप्तभर्माभां लक्षयेद्वा वसुन्धराम् ।
दृष्टिः स्थिरत्वमेतीति बहिर्लक्ष्यमनेकधा ॥ ४३ ॥
सितं पीतं रक्तं हरितमथवा श्यामलनिभं
प्रदीपाकारं वाधिगततुलनं धूमशिखया ।
स्फुरज्ज्योतीरूपं हिमकिरणबिम्बाकृति तथा
दिनेशाकारं वा नवयवकमीक्षेत मनसा ॥ ४४ ॥
मध्यलक्ष्यमिदं प्रोक्तमिति लक्ष्यत्रयीरिता ।
सिद्धसिद्धान्तविज्ञातं व्योमपञ्चकमुच्यते ॥ ४५ ॥
बाह्याभ्यन्तरदेशमुज्ज्वलतमं शून्यं खमालोकयेत्
ध्वान्ताकारपरं परं खमथवा कल्पान्तकालाग्निसमम् ।

आहोस्विद् गमनं महत्पदमुत प्रद्योतरूपं नभ-
स्तत्त्वाद्यं दिनरत्नकोटिरुचि वा सूर्य्याम्बरं सन्ततम् ।४६।
व्योमपञ्चकविलोकनात् पुमान् जायते कुलिशतुल्यविग्रहः ।
इत्यवेत्य विमलेन चेतसा व्योमपञ्चकमिदं प्रपञ्चितम् ।४७।
नवाङ्गं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
समानं यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥४८॥

इति प्राचीनोक्तिः ॥

योगाङ्गानि भवन्त्यष्टौ यमो नियम आसनम् ।
प्राणायामस्तथा प्रत्याहारः स्यादथ धारणा ॥४९॥
ध्यानं समाधिरेतेषां पृथगर्थानथ ब्रुवे ।
द्वन्द्वदुःखादिसहनं यम इत्यभिधीयते ॥५०॥
वृत्तीनां मानसीनां हि यैः स्यान्नियमनं स्फुटम् ।
नियमास्ते प्रकीर्त्यन्ते सन्तोषप्रमुखा बुधैः ॥५१॥
स्वस्वरूपे सदासन्नभाव आसनमुच्यते ।
सुखस्वस्थाम्बुजादीनां भेदात्तद् बहुधा मतम् ॥५२॥
प्राणानां स्थैर्यहेतुर्य्यः स प्राणायाम इष्यते ।
निःश्वासतारे चक्राद्यैः सम्पुटीकरणं यथा ॥ ५३ ॥
चेतोवृत्तितरङ्गाणां विषयेभ्यो निवर्तनम् ।
प्रत्याहारः स उत्पन्नो विकारग्रासकारकः ॥५४॥

उत्पन्नोत्पन्नवृत्तीनां निर्विकारे हि धारणम्।
धारणेति समाख्याता नियमस्यैकाऽवधारणा ॥५५॥
परमात्माऽस्ति निर्द्वन्द्वः स्वात्मारामोऽत्र यद्भवेत्।
यत्तत्स्वरूपमित्यन्तर्वृत्तिर्ध्यानमिति स्मृतम् ॥५६॥
सर्वतत्त्वसमावस्था समाधिरिति कीर्तितः।
निरुद्यमत्वानायासात्वेकशीलैकभावते ॥५७॥
निर्विकल्पत्वमेते ते सन्ति भेदाः समाधिजाः।
अष्टाङ्गयोग इत्येष निरूपित इह स्फुटम् ॥५८॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डविचारे द्वितीयोपदेशः॥

अथ तृतीयोपदेशः ।

पिण्डसंविचित्तिरधुना कथ्यते योगिसंमता ।
यस्याः समाश्रयाद् भाति तत्त्वज्ञानमदूरतः ॥ १ ॥
ब्रह्माण्डवर्त्ति यत्किञ्चित्तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।
इति निश्चय एवात्र पिण्डसंविचित्तिरुच्यते ॥ २ ॥
कूर्मः पादतलेऽङ्गुष्ठतले पातालमुच्यते ।
तलातलं पुरोऽङ्गुष्ठात्पादपृष्ठे महातलम् ॥ ३ ॥
गुल्फे रसातलं प्रोक्तं जङ्घायां सुतलं मतम् ।
वितलं जानुदेशे स्यादतलं मूल इष्यते ॥ ४ ॥
ऊर्ध्वः स्वभावो यः पिण्डे स स्यात्कालाग्निरुद्रकः ।
पातालपदवाच्यानां सत्त्वानामधिदेवता ॥ ५ ॥
भूरादिलोकत्रितयं गुह्ये लिङ्गाग्रमूलयोः ।
तत्राधिदेवता शक्रः पिण्डेऽप्यत्रिनायकः ॥ ६ ॥
दण्डाग्रे दण्डकुहरे महर्लोको जनस्तथा ।
तपो दण्डतले सत्यं मूले योमान(?) एतदीट् ॥ ७ ॥
अनेकव्यापकः पिण्डे धर्मोऽयमहसो(?)च्युतः ।
स्वर्लोकभूतकुक्षेः स देवतात्वेन संमतः ॥ ८ ॥

हृदये रुद्रलोकोऽस्ति रुद्रस्तत्राधिदेवता ।
उग्रः स्वभावो यः पिण्डे तत्स्वरूपः स संमतः ॥ ९ ॥
वक्षसीश्वरलोकोऽस्ति तत्राधीश्वर ईश्वरः ।
पिण्डे तृप्तिस्वरूपेण तिष्ठतीति मतं सताम् ॥ १० ॥

कण्ठं सदाशिवनिवासमुदाहरन्ति
तत्राधिनायकतया स सदाशिवोऽस्ति ।
पिण्डे जितेन्द्रियगणैरनुभूयमानः
सौम्यस्वभाव इति यः प्रथितप्रतिष्ठः ॥ ११ ॥

श्रीकण्ठलोकः खलु कण्ठमध्ये श्रीकण्ठ एवात्र भवेदधीशः ।
सनातनत्वात्मकतां दधानः पिण्डान्तरे वाधिकृताधिवासः ॥

लम्बिकामूलके भैरवोऽधीश्वर-
स्तत्र यत्किञ्चितस्तस्य लोको बुधैः ।
प्राणिनां सर्वदा सर्वकार्योद्यमो
भैरवाख्याधरः पिण्डमध्ये मतः ॥ १३ ॥

तालुद्वारे शैवलोकः प्रसिद्धः
तत्राधीशः स्याच्छिवो विश्वबन्द्यः ।
विद्वद्वर्यैर्योगशान्तिः प्रतीता
तद्रूपोऽसौ पिण्डमध्ये विभाति ॥ १४ ॥

तालोरभ्यन्तरे भाति सिद्धलोकोऽत्र देवता ।
महासिद्धः प्रबोधात्मा पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥ १५ ॥

ललाटेऽनादिलोकोऽस्ति तत्रानादिरधीश्वरः ।
पराहन्तास्वरूपेण पिण्डमध्येऽवतिष्ठते ॥ १६ ॥
शृङ्गाटे कुललोकोऽस्ति तत्र देवः कुलेश्वरः ।
पिण्डमध्ये सदानन्दस्वरूपेणावतिष्ठते ॥ १७ ॥
ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्मलोकस्तत्राधिदेवता ।
परब्रह्माभिधा पिण्डे परिपूर्णस्वरूपतः ॥ १८ ॥
परापरस्य लोकोऽस्ति तत्र देवः परेश्वरः ।
अस्तित्वरूपतः सोऽयं पिण्डमध्येऽनुभूयते ॥ १९ ॥
त्रिकूटे शक्तिलोकोऽस्ति परा शक्तिस्तु देवता ।
सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यपरावस्थात्मता तनौ ॥ २० ॥
पिण्डे सप्ततलानि स्युर्लोकाश्चाप्येकविंशतिः ।
वृत्ते विप्रो नृपः शौर्ये उद्यमे विड् भयेऽङ्घ्रिजः ॥ २१ ॥
स्युर्जम्बूशाल्मलीप्लक्षकुशक्रौञ्चकगोमयाः ।
श्वेतोमज्जास्थिनाडीषु मांसे त्वचि कचे नखे ॥ २२ ॥
मूत्रं शुक्रं कफो मेदो वसा प्रस्वेदरेतसी ।
क्षारेक्षुदधिसर्पींषि मधुवारिपयांसि च ॥ २३ ॥
नवसु द्वारदेशेषु नवखण्डान्यकीर्त्तयन् ।
अथ शैलादिकान् ब्रूमो यथाभागमवस्थितान् ॥ २४ ॥
मेरुदण्डे मेरुरस्ति कैलासो ब्रह्मशङ्कके ।
पृष्ठे हिमाद्रिर्मलयो वामेंऽशे मन्दरः परः ॥ २५ ॥

विन्ध्याद्रिर्दक्षिणे कर्णे वामे मैनाकपर्वतः ।
श्रीपर्वतो ललाटे स्यादेवमष्टौ कुलाचलाः ॥ २६ ॥
चतुःषष्टिर्मता वर्णा योगिन्यः सकलास्तथा ।
हस्ताङ्गुलिषु राजन्ते सर्वे एवोपपर्वताः ॥ २७ ॥
गङ्गा सरयूर्यमुना चन्द्रभागा सरस्वती ।
वितस्ता शतरुद्रा च नर्मदैरावती शिराः ॥ २८ ॥
द्वासप्ततिसहस्राणि नद्यो याः परिकीर्तिताः ।
अन्या नद्युपनद्याद्यास्ता ज्ञेयास्तत्त्वदर्शिभिः ॥ २९ ॥
नक्षत्रराशिग्रहतारकाणि तथा तिथीनां वलयेऽत्र कोष्ठाः ।
द्वासप्ततिर्ये विलसन्ति तेषु निवासमाहुः श्रुतितत्त्वविज्ञाः ३०
अनेकतारानेत्रान्तस्तेजःपुञ्जे कृताश्रयाः ।
त्रयस्त्रिंशत्कोटिदेवा रोमकूपसमाश्रयाः ॥ ३१ ॥
अनेकमुनिसंघाताः कक्षरोमकृताश्रयाः ।
पीठोपपीठा येऽनेके श्मश्रुस्थाने वसन्ति हि ॥ ३२ ॥
भूतप्रेतपिशाचराक्षसगणा दैत्यास्तथा दानवाः ।
सर्वे कीकससन्धिसङ्गतिकराः सन्तीति सिद्धोदितम् ॥
नागा अक्षितनूरुहेषु सकला ये तूपनागा मताः ।
तेषामस्ति निवासभूमिरुदरप्रोद्भूतरोमोद्गमे ॥ ३३ ॥
नानाविधेष्ववयवेषु वसन्ति चान्ये
गन्धर्वकिन्नरगणाप्सरसोऽथ यक्षाः ।

याः स्युः परा इह सदा खलु देवताश्च
वाच्येषु रश्मिविततेषु समुल्लसन्ति ॥ ३४ ॥
खेचर्य्यो मातरश्चान्या डाकिन्याद्युग्रदेवताः ।
वायुवेगे वसन्त्यत्र जलदा अश्रुपातगाः ॥ ३५ ॥
मर्मस्थानेष्वनेकेषां तीर्थानामस्ति संश्रयः ।
मतिप्रकाशेष्वावासः सिद्धानामपि कीर्तितः ॥ ३६ ॥
सूर्य्यचन्द्रमसोर्वासो नेत्रद्वय उदीरितः ।
लतागुल्मतृणादीनां जङ्घारोमसु संश्रयः ॥ ३७ ॥
कृमिकीटपतङ्गाद्याः पुरीषे कृतसंश्रयाः ।
यत्सुखं स भवेत्स्वर्गो यद्दुःखं नरकं हि तत् ॥३८॥
निर्विकल्पो भवेन्मोक्षो निद्रादौ जागरोत्तरम् ।
स्वस्वरूपदशेत्युक्तं पिण्डसंवित्तिहेतवे ॥ ३९ ॥
अखण्डपरिपूर्णात्मा विश्वरूपो महेश्वरः ।
घटे घटे चित्प्रकाशस्तिष्ठतीति प्रबुध्यताम् ॥ ४० ॥

॥ इति पिण्डसंवित्तिस्तृतीयोपदेशः ॥

——:०:——

अथ चतुर्थोपदेशः ।

पिण्डाधारमथो वक्ष्ये यज्ज्ञानादात्मतत्त्ववित् ।
पिण्डाधारो भवेच्छक्तिः चित्प्रबुद्धाऽपरम्परा ॥ १ ॥
कार्यकारणकर्तृणामुत्था(?)वस्थाकरं स्फुटम् ।
कर्त्तुं शक्नोति यत्तस्माच्छक्तिरित्यभिधीयते ॥ २ ॥
नानासूत्रस्वरूपेण पटे तन्तुर्यथाश्रयः ।
तद्वदाधारतां सेति देहे नानांशुभिर्जडे ॥ ३ ॥
अत्यन्तस्वप्रकाशैकवेद्याभावैकसांख्यभूः ।
प्रत्यक्षसाक्षिणी यातां भावयेदपरंपराम् ॥ ४ ॥
सहजेनात्मलीला सा यदा सञ्जायते तदा ।
निरुत्थानदशेत्युक्ता शिवसंज्ञापि तत्र हि ॥ ५ ॥
कुलाकुलस्वरूपोऽसौ सामरस्यत्वभूमिका ।
सत्ताहन्ता परा भासा स्फुरत्ता च कुलाकुलम् ॥ ६ ॥
परस्परानिराभासभासि सम्यक्प्रकाशिका ।
पराभासैकमेवास्तीत्येका सत्ता निरुच्यते ॥ ७ ॥
अनादिनिधना मेयस्वभावांशुसुखोऽस्म्यहम् ।
इत्यहन्ताज्ञानदशा स्फुरणात्मा स्फुरन्तिका ॥ ८ ॥

शुद्धबुद्धस्वरूपस्य कलयत्यात्मवित्पदम् ॥
यतस्ततः कलेत्युक्ता कुलपञ्चकमस्त्यदः ॥ ९ ॥
वर्णगोत्रादिराहित्यादेकमेवाकुलं मतम् ।
उमामहेशसंवादादर्थोऽयमवगम्यताम् ॥ १० ॥

तथाच—

अनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनाशनात् ।
निर्धर्मत्वादनङ्गत्वादकुलं स्यान्निरन्तरम् ॥ ११ ॥
कुलस्य सामरस्येति सृष्टिहेतुः प्रकाशभूः ।
सा चापरंपरा शक्तिरज्ञेशस्यापरं कुलम् ॥ १२ ॥
प्रपञ्चस्य समस्तस्य जाग्रद्रूपप्रवर्त्तनात् ।
एकैव कर्त्तुं यच्छक्ता तस्मादाज्ञेचरीह सा ॥ १३ ॥

उक्तं ललितस्वच्छन्देन—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलमद्व्यवहृतिर्भवेत् ।
अतः कुलाकुलस्थित्यानीशईशोऽपि शङ्क्यते ॥ १४ ॥
अलुप्तशक्तिमान्नित्यस्सर्वाकारतया स्वयम् ।
प्रस्फुरन्तं पुनः स्वेन स्वयमेकं प्रपश्यति ॥ १५ ॥
शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्त्तुं शक्तो न किञ्चन ।
शिवः स्वशक्तिसहितो ह्याभासाद्भासको भवेत् ॥ १६ ॥
शक्तितत्त्वानन्दनित्यशक्तिमान् परमेश्वरः ।
संविद्रूपोऽस्ति विषय इति सिद्धिमतं सताम् ॥ १७ ॥

परंपरास्वरूपा सा पिण्डाधारतया श्रुता ।
भवेत्कुण्डलिनी यद्वत् पिण्डसंसिद्धिकारिणी ॥ १८ ॥
बुद्धाऽबुद्धा द्विधा प्रोक्ता द्वितीया चेतनात्मिका ।
नानाचित्रक्रियोद्योगप्रपञ्चमयविग्रहा ॥ १९ ॥
सर्पकुण्डलिनीभावाल्लोके कुण्डलिनी मता ।
पूर्वास्तत्विकृतेः पुंसो निवृत्त्युद्यमरूपिणी ॥ २० ॥
ऊर्ध्वगामित्वमेतस्यामूर्द्धाकुञ्चनतो भवेत् ।
तदप्याकुञ्चनं मूलाधारबन्धेन सिद्ध्यति ॥ २१ ॥
चिदचिद्रूपमेतद्यज्जगद्भवति सन्ततम् ।
मूलाधारकसंवित्तिप्रसरत्वेन तन्मतम् ॥ २२ ॥
मूलाधारादिसकलचक्रेषु नव शक्तयः ।
नाथेन यदपि प्रोक्तास्तथाप्येकास्ति तत्र सा ॥ २३ ॥
शक्तिप्रसरसङ्कोचौ जगतः सृष्टिसंहृती ।
भवतो नात्र सन्देहस्तस्मात्तन्मूलमुच्यते ॥ २४ ॥
मूलाधारे प्रबुद्धे तु सिद्धिर्भवति योगिनाम् ।
नियतोपाधिजीवात्मा वृथा भ्रान्तिरपि स्वयम् ॥ २५ ॥
मध्ये स्वरूपतापन्नो यया सा मध्यकुण्डली ।
सूक्ष्मासूक्ष्मस्वरूपेण द्विविधा सा प्रतीयते ॥ २६ ॥
निश्चला निश्चलग्राह्या स्थूलान्या ध्यानरूपिणी ।
अर्थान्तरपरिभ्रान्तिहेतुः सर्वस्वरूपिणी ॥ २७ ॥

सर्वत्रास्तीति साकारा मध्यशक्तिः प्रकीर्तिता ।
सैव प्रसरसंङ्कोचात्पर्य्यावृत्तिमुपागता ॥ २८ ॥
नित्यानन्दतया लोला सूक्ष्माख्यातमिराकृतिः ।
बुद्धेति सिद्धास्तामाहुः प्रसिद्धाः सिद्धवर्त्मनि ॥ २९ ॥
तत्त्वसारेऽयमेवार्थो निरुपणपदे कृतः ।
यथा—
सृष्टिस्तु कुण्डली ख्याता सर्वभावगता हि सा ॥३०॥
बहुधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्ययात्मिका ।
अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापकवर्जिता ॥ ३१ ॥
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ।
ततः सूक्ष्मा परा संविन्मध्यशक्तिर्महेश्वरी ॥ ३२ ॥
स्वस्वरूपदशायां सा बोधनीया गुरुश्रिता ।
प्रबोधनात्पिण्डसिद्धिस्तस्या भवति योगिनाम् ॥ ३३ ॥
ऊर्ध्वशक्तिनिपातोऽथ मुमुक्षूणां कृतेण्यते ।
सर्वतत्त्वोदूर्ध्ववृत्तित्वान्निर्नाम परमं पदम् ॥ ३४ ॥
तत्स्वसंवेदसाक्षाद्भूः पिशुनोक्तोदर्ध्वशक्तिका ।
निपातः स्वस्वरूपे नित्यथा(?) निरसनं मतम् ॥३५॥
निरुत्थाने स्वस्वरूपाखण्डैव प्रतिभाति सा ॥ ३६ ॥
उक्तञ्च—
शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।

अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ ३७ ॥
नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः ।
पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥३८॥

अत्र सङ्ग्रहश्लोकः—

सत्त्वे सत्त्वे सकलरचनासंविदेका विभाति
तत्त्वे तत्त्वे परमरचना संविदेका विभाति ।
ग्रासे ग्रासे बहलतरला लम्पटा संविदेका
भासे भासे भजति भवता बृंहिता संविदेका ॥ ३९ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहे चतुर्थोपदेशः ।

अथ पञ्चमोपदेशः ।

मम रसकरणं वदाम्यथाहं परमपदाखिलपिण्डयोरिदानीम् ।
यदनुभवबलेन योगनिष्ठा इतरपदेषु गतस्पृहा भवन्ति॥ १॥
परपिण्डसुखं स्वपिण्डकान्तं प्रथमोक्तक्रमतो विधाय चित्ते ।
परमेण पदेन तस्य कुर्य्याद्रससाम्यं मतिमान् गुरूक्तिदृष्ट्या॥ २॥
परमं पदमात्मवेद्यमेकं निखिलात्यन्तविभासि मातमुक्तम् ।
अयमर्थ उदाहृतोऽस्ति दृष्टो जठराख्याधरसंहितानिबन्धे॥ ३॥

यथा—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति सत्ता संवित्परा कला ।
ऊहापोहौ न तर्कश्च वाचा तत्र करोति किम् ॥ ४ ॥
वाङ्मात्राद् गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीर्य्यते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥ ५ ॥ इति ॥
नानाविचारचातुर्य्यचर्चाधिक्याद्घनाश्रयात ।
निरुपाधितयोपाधिशून्यत्वात्तत्स्ववेद्यता ॥ ६ ॥
पारंपर्य्याप्तसन्मार्गदर्शने यस्य योग्यता ।
स गुरुर्भवति श्रीमानात्मविश्रामकारणम् ॥ ७ ॥
तेन संदर्शिते मार्गे स्वसंवेद्यस्य दर्शनम् ।

भवतीति गुरुं देवभावेन परिचिन्तयेत ॥ ८ ॥

तद्दृक्सरोजकरुणार्द्रकटाक्षपातात्
स्वात्मैकवेद्यकतया मुनिभिः स्वपिण्डम् ।
सर्वं स्वसिद्धिफलवर्गमपास्य लब्ध-
नैरुत्थ्यतः समरसं क्रियते कृतार्थैः ॥ ९ ॥

सिद्धान्तमेतमनुशास्य निरुत्थितिश्री-
लाभाभ्युपायकथने कुरुतेऽथ यत्नम् ।
स्वस्वाशयप्रलयकर्ममुखानुसन्धे-
रावेशतो भवति कश्चन तत्र नैजः ॥ १० ॥

निजावेशान्निबिडतमनैरुत्थ्यविधिव-
न्महानन्दावस्था स्फुरति वितता कापि सततम् ।
ततः संविन्नित्यामलसुखचमत्कारगमक-
प्रकाशप्रोद्बोधो यदनुभवतो भेदविरहः ॥ ११ ॥

साक्षात्तयास्य कलनात् स्फुरति प्रकामं
चैतन्यभासकमभिन्नमपारमङ्के ।
पुंसः पदं परमनाम समभ्युदेति
यस्यानुभूतिबलतो निजपिण्डवित्तिः ॥ १२ ॥

विज्ञाय पिण्डमथ सम्यगिति प्रकारा-
दारात्पदे परमनाम नितं (?) विधाय ।

ऐक्यं विधाय निजरश्मिपरावृतात्मा-
श्चभ्यासस्तुन्मिषिरुदेति ततो द्वितीया ॥ १३ ॥
तदुन्मेषप्रत्याहरणभवमाहुः समरस-
क्रियाभूतं यस्मान्निजकिरणपुञ्जं निजतया ।
प्रपश्यन्तस्तस्मान्निखिलमनुसन्धाय मुनयः
स्वरूपेऽङ्गीकृत्य स्वतः फलसिद्ध्यै व्यवसिताः ॥१४॥
मुनीनां पिण्डसंसिद्धौ सिद्धयः सन्ति सन्निधौ ।
एतमर्थं विनिश्चित्य कश्चिश्छ्लोकेन चोक्तवान् ॥ १५ ॥
यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं प्रसिद्धं भाति लीलया ।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज्ज्ञेयं परं पदम् ॥१६॥
सहजं संयमयुतं सोपायं साद्वयं क्रमात् ।
ज्ञानं संसाधयेत्तच्च स्वविश्रान्तिरितीरितम् ॥ १७ ॥
विश्वातीतः परेशानो विश्वरूपेण तिष्ठति ।
इत्येकं सहजं त्वन्यद्विश्वस्यात्मनि दर्शनम् ॥१८॥
प्रस्फुरद्रूपवृत्तीनां कृत्वा संयममात्मनि ।
यद्धारणं तदेवात्र ससंयममिति स्मृतम् ॥ १९ ॥
प्रकाशमयमात्मानं स्वयमेव स्वरूपतः ।
एकीकृत्य सदा लौल्यात्स्थितिः सोपायशब्दभाक् ॥ २० ॥
अजातिमत्त्वदृक् प्राज्ञैः सा द्वितीयमिति स्मृतम् ।
चत्वार एते भावाः स्युः परमोदयहेतवः ॥ २१ ॥

तथा च परमो योगी सुतृप्तो निर्विकल्पकः।
सदा निरुत्थापनया तिष्ठतीति प्रसिद्ध्यति ॥ २२ ॥
परमस्य पदस्यासौ साधनं केनचित्पुरा।
यत्र श्लोकाष्टके प्रोक्तं तदिदं दृश्यतामिह ॥ २३ ॥
सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः सर्वनिग्रहः।
सोपायं स्वस्वविश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥ २४ ॥
ज्ञात्वैवं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः।
न कर्तृत्वान्न विज्ञानान्न बलाद्वेदपाठनात् ॥२५॥
न ज्ञानान्न च वै लक्ष्यात्कर्त्रभ्यासान्न वासनात्।
न वैराग्यान्न नैराश्याद् घटनात्प्राणधारणात् ॥ २६ ॥
न मुद्राधारणाद्वा स्यान्न मौनवचनाश्रयात्।
औदासीन्यान्न निर्वाणान्न कायक्लेशमोचनात् ॥२७॥
न दास्यान्न च सन्देशान्न नानाव्रतधारणात्।
न षड्दर्शनवेषादिधारणान्न च मुण्डनात् ॥ २८ ॥
अनन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परमं पदम्।
गुरुदृक्पातमात्राणां हठानां सत्यवादिनाम् ॥ २९ ॥
कथनाद्दृष्टिपाताद्वा सान्निध्याद्वावलोकनात्।
प्रसादात्सद्गुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥३०॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सार्द्धश्लोकद्वयोक्तितः।
श्रीगुरोर्लक्षणं प्राह यज्ज्ञानान्मुच्यते भयात् ॥ ३१ ॥

सम्यगानन्दजननं सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥
निमिषार्द्धं तदर्द्धं वा यद्वाक्यस्यावलोकनात् ।
आत्मानं स्थिरमाप्नोति तस्मै श्रीगुरवे नमः॥" इति ॥३२॥
नानाविकल्पविश्रान्तिं कथनात्कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्याविकल्पकः ॥३३॥
परपदमधिगन्तुमुत्सुकानां
यदमलदृक्करुणाकटाक्षमाला ।
जयति दृढतराधिरोहणश्रीः
परमनिधिःस ममास्ति देशिकेन्द्रः ॥ ३४ ॥
सम्यक्चैतन्यविश्रान्तेरुपदेशस्तु सम्मतम् ।
यथा स्यात्सामरस्याख्यं तत्परं परमं पदम् ॥ ३५ ॥
यत्कारुण्यविलोकनादपि भवेच्चिद्विश्रमः पारदः
तस्मिन् श्रीकरुणासुधारसनिधौ चेतोऽस्तु मग्नं गुरौ ।
नान्यस्मिन्बहुवादतर्कमकरोच्छालातिभीतिप्रदे
दुर्भेदभ्रमधारकेऽतिकठिने क्षारोदधौ लौकिके ॥ ३६ ॥
उपदेशो निगरणपदवाच्यतयोच्यते ।
तत् करोति यतस्तस्माद् गुरुरित्यभिधीयते ॥ ३७ ॥
गुरुदोषगुणनिरूपणपुरःसरं गुरुसेवाफलं
विंशतिश्लोकैःकश्चिदाह-
ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यो मिथ्यावादी विकल्पकः ।

स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥ ३८ ॥
शिलायाः किं परं पारं शिलासङ्घात्प्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्यो ऽसौ स परं तारयत्यलम् ॥ ३९ ॥
विकल्पजागराद् घोराच्चिन्ताकाले न दुस्तरात् ।
प्रपञ्चवासनावर्त्तात्कलाजालसमाकुलात् ॥ ४० ॥
वासनालहरीवेगात्स्वस्थस्तारयितुं क्षमः ।
स्वस्थैर्येणोपदेशेन लोनो(?)त्थानेन तत्क्षणात् ॥ ४१ ॥
परानन्दमयो भूत्वा निश्चयः स्थिरतां भवेत् ।
कुलानि कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥ ४२ ॥
धारयत्येव दृक्पातात्कथनाद्वावलोकनात् ।
तारणेच्छुर्वरं दत्ते स्वस्वरूपे स्थिरो भव ॥ ४३ ॥
अतो ऽसौ मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
अतस्त्वं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवादयेत् ॥ ४४ ॥
सर्वाङ्गप्रणिपातेन शिक्षां कृत्वा गुरुर्भवेत् ।
किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ॥ ४५ ॥
लब्धविश्रामचित्तानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्यनिमग्नानां निरुत्थानां विशेषतः ॥ ४६ ॥
निमिषार्द्धात् स्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
तस्मिन्पिण्डे भवेल्लीनं सहसा नात्र संशयः ॥ ४७ ॥
लीने पिण्डे भवेद्योगी सर्वज्ञः सिद्धिपारगः ।

इच्छावेगी स्वयं कर्त्ता लीलयैवाजरामरः ॥ ४८ ॥
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चयो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥ ५० ॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभाषितम् ।
प्रथमे रोगनिर्मुक्तः सर्वलोकप्रियो भवेत् ॥ ५१ ॥
काङ्क्षते दर्शनं तस्य स्वात्मा गूढस्य नित्यशः ।
द्वितीये वत्सरे काव्यं कुरुते तत्त्वभाषया ॥ ५२ ॥
प्रजायते दिव्ययोगी दूरश्रावी न संशयः ।
वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ॥ ५३ ॥
षड्भिर्न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न भिद्यते ।
वायुवेगो क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ॥ ५४ ॥
महासिद्ध्यष्टकं सम्यगष्टमे वत्सरे भवेत् ।
नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ॥५५॥
दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र गच्छति ।
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग् भवेत् ॥ ५६ ॥
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत् ।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं भैरवभाषितम् ॥ ५७ ॥
एवं द्वादशवर्षे तु सिद्धयोगी महाबलः ।
जायते सद्गुरोः पादप्रसादान्नात्र संशयः ॥ ५८ ॥
अनुबुभुषति योनिजविश्रमं स गुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।

तदनुसंसरणात्परमं पदं समरसीकरणं च न दूरतः॥५९॥
अनन्यभावेन निरुत्थितिश्रीलाभेन चाञ्चल्यविधूननेन।
अवस्थितिः श्रीकरुणासुधाब्धिगुरुप्रसादाद्भवतीति सत्यम्॥६०॥

इति सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे पिण्डपरमपदयोः समरसकरणं नाम पञ्चमोपदेशः।

अथ षष्ठोपदेशः।

निरूप्य सर्वं विषयमधिकारी निरूप्यते।
अवधूतो भवेत्सोऽत्र तल्लक्षणमिदं यथा ॥ १ ॥
प्रकृतिजन्यविकारविधूननं कलयितुं भजतीह समर्थताम्।
यदवधूततया तदुदीर्यते रचितसंसृतिपारगतिर्जनः ॥ २ ॥
लक्षणान्तरमप्याह कश्चित—
केशपाशतरङ्गाणां व्रजं येन विकुण्ठितम्।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ३ ॥
सकलोर्ध्वं स्थिरं पीनं संवेद्यं वासनोक्तितम् (?)।
कौपीनकं कटौ यस्य सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ४ ॥
कस्य भावमयैः सूत्रैः स्वीकारस्थैर्य्यतां गतैः।
कन्था विरचिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ५ ॥
मुक्तिद्वारे मतिर्यो वै प्राप्तकोषप्रकाशकः।
मायाविकारानापन्नः स सात्त्विक उदाहृतः ॥ ६ ॥
क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम्।
कुरुते व्योममग्नो यस्तस्मात् क्षपणको भवेत् ॥ ७ ॥
भ्रान्तिकौरं जनं कृत्वा यो रक्ताम्बरे सदा।
प्रबुद्धो यः स्वयं बुद्धः सद्यः सोऽत्राभिधीयते ॥ ८ ॥
प्रसरं भासते शक्तिः सङ्कोचं भासते शिवः।

तयोः संयोगकर्त्ता यः स भवेद्योगयोगराट् ॥ ९ ॥
विश्वातीतं यदा विश्वमेकमेवावभासते ।
संयोगेन यदा यस्य सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥ १० ॥
सर्वासां निजवृत्तीनां विस्मृतिं भजते तु यः ।
स भवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥ ११ ॥
उदासीनवदासीनः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत्सिद्धयोगिराट् ॥ १२ ॥
परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वप्रदोऽपरः ।
निरुत्थो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥१३॥
गतेन शोकेन भयेन वीप्साप्राप्तेन हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाधते कालपथो न नित्यम् ॥१४॥
एतेषामुपदेशानां सूचितानां पृथक् पृथक् ।
जायते तत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिश्च जायते ॥१५॥
यो गङ्गापदपद्मभक्तिविमलः शाण्डिल्यगोत्रोद्भवः
चञ्चच्छारदचन्द्रिकासहचरीं कीर्त्तिं नयन्विष्टपे ।
शौर्यौदार्यमुखैर्गुणैरविरलैरालम्ब्यमानोऽनिशं
स श्रीकृष्णविभुः स्मरारिनगरे ग्रन्थं मुदाचीकरत् ॥१६॥
कृष्णराजाज्ञया कारयां सिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहः ।
कृतो यो बलभद्रेण श्रीकृष्णस्तेन तुष्यतु ॥ १७ ॥

इति सिद्धसिद्धान्तसंग्रहेऽवधूतादिलक्षणः षष्ठोपदेशः ।

अथ सप्तमोपदेशः ।

चार्वाकाश्चतुराः स्वतर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः
सर्वे सन्धिरताः सदैव परताधानाश्रिताः सात्त्विकाः ।
कर्त्तारं प्रभजन्ति चैव यमनाः पापे रता निर्दया-
स्तेषामैहिकमल्पमेव हि सुखं सत्यं न मोक्षः परम् ॥१॥

सीहट्टे मस्तकान्ते त्रिकुटपुटाबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे
भ्रूनेत्रेनासिकाग्रे श्रवणपथवरे घण्टिकाराजदण्डे ।
कण्ठे हृन्नाभिमूले त्रिकमकुहरे ह्युड्डियानेऽथ शूले
ये त्वेवं स्थानमग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥२॥

आदौ पूरककुम्भरेचकविधौ नाडीपथं शोधितं
कृत्वा हृत्कमलोदरे च सहसा चित्तं समं मूर्छितम् ।
तस्मादव्ययमक्षयं परकलं चोङ्कारदीपं शुभं
ये पश्यन्ति समाहिताः पदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥३॥

गोहाटे दीप्तिपुञ्जं प्रलयशिखिनिभं सिन्धुजालन्धरे च
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ।
कालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्त्तण्डचण्डे
ये नित्यं संशयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥४॥

लिङ्गाचण्डाकुलान्ते मनपवनगमे(?) ब्रह्मग्रन्थ्यादिभेदे
कृत्वा बिन्दुं नयन्ते भ्रमरपदमहाशङ्खभम्भोदरोधे ।

नेत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण
ये कुर्वन्तीह कष्टात्परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम्॥५॥
सम्यक्चालनदोहनेन सततं दीर्घीकृतां लम्बिकां
तालुभ्यन्तरदर्शितान्तदशमद्वारोदरे शङ्खिनीम् ।
प्राप्तां मध्यमसम्पुटे पुटां सप्तादर्शी कोटरां
पीत्वा षड्विधपानकाष्ठभजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः॥६॥
गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुद्धानिलं मध्यमं
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्ष्यकरणैर्नानासमाध्यासनैः ।
प्राणापानगमागमेन सततं हंसोदरे संघटा-
घेनास्यैव नयन्ति ये भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः॥७॥
शक्त्याकुञ्चनमग्निदीपकरणं चाधारसम्पीडनात्
ज्ञात्वा कुण्डलिनीप्रबोधनमनो नादादिना मूर्द्धनि ।
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमनः कुर्वन्ति ये स्वाश्रये
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां ह्यदूरं परम् ॥८॥
बन्धं भेदं च मुद्रां गलबिलचिबुकं मध्यमार्गं सुषुम्णां
चन्द्रार्कं सामरस्यं शमदमनियमैर्नादबिन्दुं कलान्ते ।
ये नित्यं कलयन्ते तदनु च मनसामुन्मनी योगयुक्तं
तेषां लोकामयन्ते निजसुखविमुखाःकर्मदुःखौघभाजः ॥९॥
अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेद-
मूर्द्धाधो बाह्यमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ।

दृष्टयग्रे वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं तमो वा
एवं ये भावयन्ते विमलमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ॥१०॥
आदौ सारणशङ्खसारणामतः कृत्वा महासारणं
सम्पूर्णं प्रतिसारणं विधिबलाद्दृष्टिस्तथा निर्मला ।
आज्ञाली हठयोगयोगकलया सद्दीप्तसन्तुलिकां
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च स भ्राम्यन्ति बाधन्ति च॥११॥
शङ्खक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठलीलासमं
वीते तूल्लुठनं कवाटममरीपानं त्रिधा खर्परी।
वीर्यद्रावितमात्मजं त्रिकलये ग्रासं च लेपश्च वा
कुर्वे तीर्थजले स्यात् तेन हि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥१२॥
घण्टाकालहमर्द्दलं त्वथ महाभेरीनिनादं यथा
सम्यङ् नादमनाहतं ध्वनियुतं शृण्वन्ति ये तादृशम् ।
पिण्डे सिद्धिपरं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽथ वा
तेषां सिद्धमतेस्कतेः(?) समुदितं सत्यं परं लभ्यते॥१३॥
वैराग्यामृतपल्लवेन सलिलं कन्दं फलं मूलकं
भुक्त्वा यो वनवास एव रमते चाऽनेकदेशान्तरे।
स्थित्वा सादितनिश्चयेन मनसा रात्रौ दिने वीक्ष्यते
स त्यक्त्वाखिलभावमेकममलं प्राप्नोत्यहो स्वं पदम्॥१४॥

इति श्रीसिद्धसिद्धान्तसङ्ग्रहे सप्तमोपदेशः समाप्तिमगमत् ।

शुद्धिपत्रम् ।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धम्	शुद्धम्
६	५	चैताः	चैत्ताः
,,	१७	व्यक्ताख्यर्धर'	व्यक्ताख्याधर'
७	७	काल	काम
,,	८	इति	रति
१६	१२	यत्किर्त्ति'	यत्कीर्त्ति'
२०	१६	सर्पीषि	सर्पींषि
२३	८	लीला	लीना
,,	११	'स्वरूपो'	'स्वरूपा'
,,	१५	'सुखो'	'सुखा'
२६	३	'तमिरो.	'तिमिरो'
२८	१	मम रस'	समरस'
३३	१३	अतस्त्वं	अतस्तं

THE PRINCESS OF WALES SARASVATI BHAVANA TEXTS:

Edited by

GOPINATH KAVIRAJ, M. A.

No. 1—The Kiraṇāvalī Bhāskara, a Commentary on Udayana's Kiraṇāvalī, Dravya section, by Padmanābha Miśra.
Edited with Introduction and Index by Gopināth Kavirāj, M.A.

No. 2—The Advaita Chintāmaṇi, by Raṅgoji Bhaṭṭa, Ed. with Introduction etc. by Nārâyaṇa S'āstrī Khiste Sāhityāchārya.

No. 3—The Vedānta Kalpalatikā, by Madhusūdana Sarasvatī.
Ed. with Introduction etc. by Rāmājñā Pāṇḍeya Vyākaraṇāchārya.

No. 4—The Kusumāñjali Bodhanī, a Commentary on Udayana's Theistic Tract, Nyāya Kusumāñjali, by Varadarāja.
Ed. with Introduction etc. by Gopinath Kaviraj, M. A.

No. 5—The Rasasāra, a Commentary on Udayana's Kiraṇāvalī, Guṇa Section, by Bhaṭṭa Vādīndra.
Ed. with Introduction etc. by Gopīnath Kaviraj, M. A.

No. 6 (Part I)–The Bhavanā Viveka by Maṇḍana Miśra, with a Commentary by Bhaṭṭa Umbeka.
Ed. with Introduction etc. by Mm. Gaṅgānātha Jhā, M.A., D. Litt.

No. 6 (Part II)—Ditto Ditto

No. 7 (Part I)–Yoginīhṛdaya dīpikā, by Amṛtānanda Nātha, being a Commentary on Yoginīhṛdaya, a part of Vāmakeśvara Tantra.
Ed. with Introduction etc. by Gopīnath Kaviraj, M.A

No. 7– (Part II) Ditto Ditto

No. 8—The Kāvyaḍākinī, by Gaṅgānanda Kavīndra.
Ed. with Introduction etc. by Jagannātha S'āstrī Hoshing Sāhityopādhyāya.

No. 9 (Part I)–The Bhakti Chandrikā, a Commentary on S'āṇḍilya's Bhaktistūras, by Nārāyaṇa Tīrtha.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.

No. 10 (Part I)–The Siddhāntaratna, by Baladeva Vidyābhūṣaṇa.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M. A.

No. 11–The S'rī Vidyā Ratna Sūtras, by Gauḍapāda, with a Commentary by S'aṅkarāraṇya.
Ed. with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'āstrī Khiste Sāhityāchārya.

No. 12–The Rasapradīpa, by Prabhākara Bhaṭṭa.
Ed. with Introduction etc. by Nārāyaṇa S'astrī Khiste Sāhityāchārya.

No. 13–The Siddhasiddhānta Saṅgraha, by Balabhadra.
Ed. with Introduction by Gopinath Kaviraj, M. A.

No. 14–The Triveṇikā, by Āśādhara Bhaṭṭa.
Ed. with Introduction by Baṭukanātha S'armā Sāhityopādhyāya, M. A. and Jagannātha S'āstrī Hoshing Sāhityopādhyāya.

No. 15 (Part 1)–The Tripurārahasya.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.

No. 16–The Kāvya Vilāsa, by Chirañjīva Bhaṭṭāchārya.
Ed. with Introduction etc. by Baṭukanātha S'armā Sāhityopādhyāya, M.A. and Jagannātha S'āstrī Hoshing Sāhityopādhyāya.

No. 17–The Nyāya Kalīkā, by Bhaṭṭa Jayanta.
Ed. with Introduction by Mm. Gaṅgānātha Jhā, M.A., D.Litt.

No. 18 (Part I)–The Gorakṣa siddhānta Saṅgraha.
Ed. with a Prefatory Note by Gopinath Kaviraj, M.A.

ॐ

श्री महेश्वरावतार योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ
विरचिता

* सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः *

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपाद बोहराधिपति योगीन्द्र
श्री १०८ श्री पूर्णनाथ जी

संस्थापक—

श्रीयोगाश्रम संस्कृत कौलेज

वि० सं० १९९६ मू० ३।)

ॐ

श्री महेश्वरावतार योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ

विरचिता

* सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः *

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपाद बोहराधिपति योगीन्द्र

श्री १०८ श्री पूर्णनाथ जी

(कैसरहिन्द, गोल्डमेडलिस्ट प्रोविंशियल दरबारी

[illegible] श्रीयोगाश्रम संस्कृत कॉलेज

सं० टीकाकार

व्याकरण ज्योतिषाचार्य सर्व दर्शन सूरि

श्री पं० [illegible]श झा शास्त्री

भाषाकार—

वेदान्ताचार्य श्री पं० योगि भीष्मनाथ जी

संशोधक

श्री पं० ज्ञानिराम शास्त्री

वि० सं० १९८६

श्रीमत्स्तनाथायनमः

भूमिका

यों तो इस विशाल विश्व के गर्भ में अनेक दार्शनिक साहित्यिक एवं कलाकार हो गये हैं, परन्तु पक्षपात को तिलाञ्जलि देकर यदि विवेचनात्मक बुद्धि से विचार किया जाय तो साफ साफ मालूम हो सकता है कि भारतीय दर्शनकार हमारे पूज्य पूर्वज महर्षि महोदय अध्यात्म विषय को लक्ष्य बनाकर अपने अलौकिक ज्ञानगौरव और अगाध पाण्डित्य का जितना परिचय दे गये हैं तथा बाल की खाल खींचने में जिस बुद्धि बल का सदुपयोग उन्होंने किया है शायद ही उतना आज तक किसी विदेशी दर्शन धुरन्धर ने किया हो।

यह सब कुछ ठीक होते हुये भी जब हम अपने दर्शन शास्त्रों पर दृष्टि डालते हैं तो सर्वप्रथम सांसारिक जन्म मरणादि दुःखों की निवृत्ति और अन्त में परम पद की प्राप्ति के लिये योग शास्त्र से बढ़कर दूसरा दर्शन इतना उपयुक्त नहीं जँचता। वास्तव में योगज धर्म एक बहुत ही अनूठी वस्तु है इसके प्रभाव से महर्षि विश्वामित्र ने त्रिशंकु के लिये एक दूसरे ही स्वर्ग का निर्माणकर डाला था। इसी धन के धनी वशिष्ठ जी ने भूपति दिलीप सन्तान निरोधक अदृश्य कारण का पता लगा लिया था। इसी अजेय शक्ति की सामर्थ्य से हठ योग के प्रवर्तक योगाचार्य्य श्री मत्स्येन्द्रनाथ तथा श्रीगोरक्षनाथादि महासिद्धों की अमिट छाप आबाल वृद्ध सभी के अन्तस्तल में अङ्कित हो रही है। उनका यश आज भी समस्त भूमण्डल पर सूर्य के प्रकाश की तरह उज्ज्वलरूप से देदीप्यमान है। सारांश यह है कि एक मात्र योगशास्त्रही ऐसा है जिसकीकृपासे भुक्ति और मुक्ति ये दोनों पदार्थ सहज ही प्राप्त किये जा सकते हैं। तथा उस सनातन आत्मा को साक्षात्कार करने की शक्ति भी योगियों में ही विशेषरूप से पाई जाती है। इस भाव की पुष्टि निम्न लिखित वाक्यों से हो जाती है।

नतस्य रोगोनजरानमृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्,

"यं विनिद्रा जित श्वासाः सन्तुष्टाः संयतेन्द्रियाः।

ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जाना स्तस्मै योगात्मने नमः"॥

"योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।

किं बहुना स्वयं श्री आदिनाथ महेश्वर ने भी भगवती भवानी के प्रश्न करने पर सर्वकल्याण साधनों में योग को ही शिरोमणि कहा है। "योगबीज" नामक ग्रन्थ में देखिये—

" बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि ॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिव भाषितम् ॥

हे पार्वति ! जिस नाथ मार्ग अर्थात सिद्धान्त के अनुष्ठान से प्राणी इस संसार बन्धन से मुक्त हो जाते हैं वह योग मार्ग है। उसका आदि प्रवर्तक मैं हूँ और मत्स्येन्द्रनाथादि सिद्धों से सर्वदा सेवित है। मैं प्रसन्न होकर तेरे को उस सिद्धान्त का उपदेश देता हूँ। क्योंकि कैवल्यपद की प्राप्तिदूसरे अनेक शास्त्रोंसे अतिदुष्कर है वह मोक्ष पद केवल सिद्ध मार्ग से ही सुलभ है दूसरे प्रकार से नहीं इस मेरे वचन को तुम सत्यमानो ।

अतएव सिद्धराज योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने सिद्ध सम्प्रदाय के कल्याणार्थ योग के गहन एवं गूढ़ रहस्यों के प्रकाशन पूर्वक इस "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" नामक योग के अनन्य ग्रन्थ को निर्माण कर इस संसार के लिये महान् उपकार किया है। प्राचीन समय से प्रचलित सिद्धमार्ग ही इस समय योग सम्प्रदाय सिद्ध सम्प्रदाय और नाथ सम्प्रदाय इन नामों से प्रसिद्ध है ।

योग के अन्य ग्रन्थों के होते हुये भी इस ग्रन्थ का महत्व इस लिये है कि इसमें पञ्च महाभूतों इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों तथा षट् चक्रों का बड़ा ही विशद एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है।कुण्डलिनी का जागरण कैसे होता है, पञ्चमहाभूतों में कौन कौन से गुण हैं, अणिमादि अष्टसिद्धियाँ कैसे प्राप्त होती हैं, सिद्धियों में न फँसकर मोक्ष प्राप्त

कैसे होता है सहस्रदल क्या चीज़ है, महाशक्ति कुण्डलिनी के अन्दर कौन सी सामर्थ्य छिपी है, सिद्धों के मत में योग शब्द का क्या अर्थ है और अवधूत के क्या लक्षण हैं इत्यादि अनेक योग के गुप्ततर रहस्यों का इसमें स्पष्टरूप से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ में वर्णित रीति के अनुसार यदि योग का अनुष्ठान किया जाय तो सद्गुरु की कृपा से प्रथम वर्ष में ही सिद्धि प्राप्त होने लगती है और बारहवें वर्ष मेंपहुँचते ही पूर्ण सिद्ध एवं साक्षातशिव तुल्य सकल विश्व का कर्ता, धर्ता और हर्ता हो जाता है। इसबात को स्वयं श्री गोरक्षनाथ जी ने इसी ग्रन्थ में साफ साफ वर्णन किया है। देखिये—

"प्रथमेत्वरोगता सिद्धिः सर्वलोक प्रियो भवेत्।
कांक्षन्ते दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः॥

तथा च

"द्वादशे शिव तुल्योऽसौ कर्ता हर्ता स्वयं भवेत्।
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्री भैरवो यथा॥

अन्य ग्रन्थों के अभ्यास करने से इतने स्वल्प समय में ऐसी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। अतः यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय और आदरणीय है।

यद्यपि इस ग्रन्थ का निर्माण श्री गोरक्षनाथ जी के द्वारा प्राचीन समय में ही हो चुका था और अब तक यह हस्त लिपि के आकार में ही रहता आया है इसलिये इस ग्रन्थ रत्न के अनुपम ज्ञान से जनता वंचित ही रहती आयी है। अतः इस कमी को दूर करने के लिये योग सम्प्रदाय के धुरन्धर एक ऐसे महान् व्यक्ति ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन भार को अपने सुयोग्य कन्धों पर लिया है। जिनको मैं संस्कृत साहित्य संरक्षक योग सम्प्रदाय के अनन्य हितैषी दानवीर उत्साही और उच्चकोटि के त्यागी कह सकता हूँ। वे हैं पी० ऐन० संस्कृत कालेज मायापुर हरिद्वार के संस्थापक और मेरे परम गुरु योगीन्द्र १०८ श्री स्वामी पूर्णनाथ जी महाराज कैसरे हिन्द प्रोविन्शियल दर्बारी गोल्ड मैडलिस्ट गद्दी योगाश्रम बोहर, रोहतक।

आपने गत १९९५ विक्रम सम्वत् के फाल्गुन मास में अपने सुयोग्य शिष्य श्री श्रेयोनाथ जी महाराज आयुर्वेदाचार्य को बोहर की गद्दी पर उत्तराधिकारी के रूप में अभिषिक्त करते समय पाँच हजार रुपयें योग ग्रन्थों के प्रकाशन विभाग के लिये अलग निकाल कर आप ने योग सम्प्रदाय विषयक परम प्रेम का परिचय दिया है।

यह ग्रन्थ उसी द्रव्य राशि के अंश से छपकर आप लोगों के सामने आरहा है। योग विषयक एक और "गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह:,, नामक ग्रन्थ गत वर्ष कुम्भ के मौके पर इसी विद्यालय तथा इसी द्रव्य राशि से मुद्रित होकर सर्वसाधारण की सेवा में पहुँच चुका है। आप के इस परम पुनीत शुभ कार्य के लिये योगि सम्प्रदाय आपका बड़ा कृतज्ञ एवं आभारी है।

अब जिन २ महानुभावों ने इस ग्रन्थ की टीका, संशोधन, लेखन एवं प्रूफ शोधन आदि अपने २ कार्यों के द्वारा इस ग्रन्थ के कलेवर को भूषित और परिमार्जित किया है' उन सबको इस ग्रन्थ की भूमिका लेखक की हैसियत से धन्यवाद देना मेरा मुख्य कर्तव्य हो जाता है। अत: सर्व प्रथम हमारे कालेज के मुख्याध्यापक माननीय पं० श्री द्रव्येश झा' व्या० वे० आचार्य को सादर अनन्त धन्यवाद देता हूँ। जिनकी इस ग्रन्थ पर लिखी गई संस्कृत टीका से इस पुस्तक की हिन्दी टीका लिखने में मुझे बहुत सहायता एवं सौकर्य प्राप्त हुवा है। तदनन्तर पं० ज्ञानिराम शास्त्री हिन्दी एडवांस, अनेक धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्हों ने हिन्दी टीका के संशोधन का भार अपने ऊपर लेकर अपना कर्तव्य पालन किया है।

इसके बाद योगी शंकरनाथ शास्त्री, योगी दयालुनाथ शास्त्री गयाप्रसाद शास्त्री, भवानी शंकर पन्त, और नेत्रवल्लभ जोशी, जो कि इसी कालेज के सुयोग्य स्नातक हैं इन सबका भी मैं हृदय से इनके लेखन व मुद्रण विषयक अटूट परिश्रम का कृतज्ञ हूँ और इनको भी धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता।

अब मैं गुण ग्राही पाठकों से विनम्र निवेदन करता हूँ कि इस पुस्तक में प्रमाद वश या प्रेस की जहां कहीं कोई अशुद्धि रह गई हो

उसको प्रथम तो शुद्धि पत्र में देख कर ठीक करलें, अगर वहाँ भी त्रुटि हो तो दोष दृष्टि को छोड़कर मुझे सूचित करने की कृपा करें। जिससे द्वितीया वृत्ति में सुधार हो सके।

आपका विनीत

योगी भीष्मनाथ

ॐ

श्री गणेशाय नमः

अथ सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः प्रारभ्यत

मू० आदिनाथं नमस्कृत्य, शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ॥

अथ संस्कृतटीका

पंचात्मकं विश्वमिदं विरच्य, पंचाननो यः प्रथितः पृथिव्याम् ।
गणेशनन्दीश्वरसेवितः स ईशः सदा पातु सहेशयाऽस्मान् ॥१॥

पंचदेवात्मको भूत्वा पंचशक्तिसमन्वितः ।
पंचसृष्टिमधिष्ठाय प्रपंचरहितोऽवतु ॥२॥

विपक्षपक्षोन्मथनेषु दक्षः स्वच्छाचलक्ष्यीकृतविश्वकक्षः ।
स्वपक्षरक्षार्थधृताऽवतारो गोरक्षनाथस्तनुतां शिवन्नः ॥३॥

विश्वप्रमाणानि विचारपद्धतौ, यस्यामशक्तानि तु तत्त्वतोलनात् ।
तां योगिराजैर्निजयोगचक्षुषा, कृतां प्रवेष्टुं ममकीदृशी गतिः ॥४॥

अनाथे नाथतां कर्तुमाचार्यः स्वप्रतिज्ञया ।
गत्वरीं शेमुषीं कुर्यादित्याशा मेनियोजिका ॥५॥

यद्यपि सिद्धराजस्य ग्रन्थमिमं प्रतुष्टुषोराचार्यपादस्य कृतिं दुरितोपनीतप्रत्यूहव्यूहः प्रतिबध्नीयादिति कैव कथा, तल्लेश समुन्मेषस्यापि स्वप्नेप्यसम्भाव्यमानतेत्यत्र नकश्चन विचित्तोपि संशेते, किमुत त्रिकालदर्शिनो दृष्टिमात्रेण तत्क्षणसूक्ष्माऽसूक्ष्मविघ्न

बहुलभक्तदुःखप्रतिकारक्षमतासनाथस्य श्रीगोरक्षनाथस्य विघ्न शङ्काप्रसङ्गः ।

यत स्तद्वयितुकामनया मङ्गलं निबबन्धेत्युत्प्रेक्षा प्रेक्षावतां दूरोत्सारिता, तथापि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" इति नीतिमनुसृत्य 'आचिनोतीह शास्त्रार्थ माचारे स्थापयत्यपि, स्वयमाचरते यस्मादाचार्य स्तेन चोच्यते । इति पारम्पर्याऽऽयाताऽऽचार्यमर्यादा परिपालनतत्परतया शिष्टाचारोपि प्रमाणमेवेति शिष्याणामुपदेशाय अभ्यासशालिनामनुषङ्गतो मङ्गलाय च वस्तुत एक एव सन् मूर्तिद्वयं परिकल्प्य स्वेष्टदेवपरमाचार्यधिया परमेश्वरस्य आदिनाथस्य नमस्कारात्मकं मङ्गलमातनुते, प्रथमतः (आदिनाथमिति) आदिश्चासौ नाथः, आदिः कारणरूपः नाथत इति नाथः, अत्र नाथधातुर्याचनोपतापैश्वर्याशिःषु चतुर्षु अर्थेषु तत्र प्रथमे नाथो याचक इत्यर्थः ।

महेश्वरोऽपि सन् भक्ताऽनुग्रहार्थं निजशक्तिबलेन नानाविध विग्रहं गृहीत्वा पर्यटन्नटवों भक्तिपरीक्षणाय भक्तभवने भिक्षुकपरिपाटीमिमामुररीकृत्य याचकतास्वभावं स्वभक्तात्परिहृत्य स्वस्मिन् परिदधत् धूलिधूसरितं स्वबालकं विरजीकृत्य स्वहस्तावेव मलिनयन् जनक इव सकललोकानुकम्पातिशायिनीं निजकरुणां कलयन्नात्म चरित्रं विचित्रचित्रमभिनयति, अत्र पक्षे परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वक स्वस्वत्वोत्पत्यनुकूलव्यापाररूपो याचनार्थः, यथा बलिं याचते वसुधामित्यत्र, अथवा स्वीकारानुकूलव्यापारोऽपि याचना यथा अविनीतं विनयं याचते, ततश्च स्वशिष्यान् योगविज्ञानकर्मादिकल्याणैकतान नानाविधोगायसाद्गुण्यादेशं स्वीकारयतीत्यर्थेन नाथ इति आचार्याऽपर पर्यायः ।

किंच अविद्याऽस्मितरागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः, शुक्लमशुक्लम शुक्लाऽशुक्लमिति त्रिविधंकर्म । एतद् विपाको जात्यायुर्भोगरूपः । तत्तद्दुःख सुखाद्यनुभवजवासनाराशिः ।

एतेषां संसारबन्धनानामुपतापकः स्वेन सह सम्बन्धस्य विच्छेदको नाथपदार्थः, अपरञ्च १ अणिमा, अणुभावः, येन शिला-

मन्तः प्रविशति, २ लघिमा लघुत्वं येन तरुणकिरणमवलम्ब्य रविलोकं प्रयाति, ३ गरिमा गुरुत्वं येन गुरुर्भवति, ४ महिमा महत्वं यतो महान् भवति, ५ प्राप्तिः यतः पाणिपल्लवेन शशिनमपि स्पृशति, ६ प्राकाम्यम्, इच्छाविघातविरहो येनेलायामुन्मज्जति निमज्जति च यथा पाथसि, ७ वशित्वं येन भूतभौतिकं सकलं स्ववश्यं भवति, ८ ईशित्वं सकलोत्पत्तिस्थितिलयेशो भवति, एतदष्टविधैश्वर्यसम्पन्नो नाथपदाभिधेयः, इतरश्च स्वीकीयाशीर्वचसा श्रद्धालुलोकान्-स्वस्वाभीष्ट फल प्रदानेन सन्तोषयतीत्यर्थकोनाथः "अयमत्र निर्गलितोर्थ" आदित्वकथनेनास्य जनको नान्यः । अयंच निखिलविरंचिप्रपञ्चप्रवर्तको नाथपदाभिधेय एव सच्चिदानन्द इति, 'सकारणं कारणाधिपधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिप' इति श्रुतिशिरसा प्रमीयते । ननुकथमद्वितीयो निरञ्जनो विचित्रमिमं विश्वप्रपञ्च मनन्तभेदभिन्नं विरचयितुं प्रभविष्णुरित्याशङ्कामपनोदयितुमाह शक्तिसहितमिति शक्तिभिर्वक्ष्यमाणपंचावयवात्मकपंचशक्तिभिः सहितंसमन्वितम्, साहित्यञ्च विश्वरचनात्मकैककार्यकारित्वम्, अत्र मायापदं विहाय शक्तिपदं प्रयुज्य स्वाभिमतशक्तेर्मायापद शक्तिपदयोः पर्यायतां मन्वानस्य विवर्तवादिनो मते स्वीकृततुच्छत्वं नाङ्गीकरोति, किन्तु चिद्भिन्नापि नित्यसंश्लिष्टावयववत् कार्यगत भेदकारकतया भिन्नत्वेन निचनार्हा अतएव व्यवहारे सर्वैरेव अस्य शक्तिरित्येव निगद्यते नतु अयंपुरुषः शक्तिरिति । अतएव वेदेऽपि 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, इति मंत्रे षष्ठया भेदः प्रदर्शितः, ननु अस्तु भेदो व्यवहारे परमार्थदशायान्तु अभेद एव तदा को विशेषो वेदान्तिमतादिति चेच्छृणु रहस्यं सावधानमनसा संकोचविकाशशालिचिद्रूपशक्तिवादिनां मते चिद्रूपत्वमेव विशेषः शिवोपि कूटस्थ चिद्रूपः तथाच संकोचविकाशशालित्वेन भेदेपि चित्त्वेनाभेदः अतएव विदेहकैवल्यमाप्तवतोऽद्वैतमनुभवतो योगबलेन भेदाभेदोभयानुभवोभवत्येवेति योगिनां दृष्टिचरो न शक्यो विकल्पबलेन निरसितु मित्यतो भवदीयाऽद्वैतात् मदीयाऽद्वैतो विलक्षण एवेत्यादि विस्तरेण प्रतिपादयिष्यते परस्तात् । शक्तिस्वरूपे यत्किञ्चिद् विवदमानोऽपि वेदान्ती तत्सद्भावन्तु न निरस्यतीत्यतो मदनुयायितया

चिरंजीव्यसन्, पश्यत कुतर्कप्रपञ्चपाशाऽवसिता नैयायिका न क्वापि पदार्थे स्वरूपातिरिक्ताशक्तिरस्ति; प्रतिबन्धकाभावविशिष्टं वस्तुस्वरूपमेव तत्तत्कार्यं प्रति कारणम्. यथा वह्निस्वरूपमेव प्रतिबन्धकमण्यभावसहितं सद् दाहं जनयति, अतोयत्र चन्द्रकान्तमणि सहितोवह्निस्तत्र न दाहः। नच सत्यपि चन्द्रकान्तमणौ उत्तेजकसद्भावे कथं दाह इति वाच्यम, उत्तेजकाभावविशिष्टमण्य भावस्य हेतुत्वेन तत्र विशेषणाऽभावप्रयुक्तविशिष्टाभावस्य सद्भावात् तथाहि उत्तेजकाभावो विशेषणं मणिर्विशेष्यः यत्र केवलोऽनल स्तत्रोत्तेजकाभावरूपविशेषणस्य सद्भावेऽपि विशेष्यभूतमणेर-भावाद्दाहः, यत्रोत्तेजकः चन्द्रकान्तश्च तत्र विशेषणाऽभावात् यत्र च उत्तेजकसहितो वह्नि स्तत्रोभयाऽभावात् विशिष्टाभावः, अनेनैव सर्वत्र कार्यनिर्वाहे अनन्तशक्तितत्प्रागभावध्वंसादिकल्पने गौरवात्, स्वरूपसहकारिसमवधानातिरिक्तां शक्तिमेव न जानीम इत्याहुः, अत्राभिदध्महे–परपक्षप्रतिक्षेपात् प्रथमं स्वपक्षस्थापनस्यैवाऽभ्यर्हितता इति प्रथमतः शक्तिसद्भावेऽविकलप्रमाणान्युपन्यस्य पराभिमतं व्युदसिष्यते 'न तस्य कार्यं करणञ्च दृश्यते न तत्समञ्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।

पराऽस्य शक्ति र्विविधैवश्रूयते ।
स्वभाविकी ज्ञानबलक्रियाच ।
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् ॥
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम् ॥ श्वे० उ०

इत्यादि प्रमाणराजवेदः, स्वरूपातिरिक्तामेव शक्तिं ब्रूते, अन्यथा अस्य शक्ति रित्यत्र षष्ठी नोपपद्येत, विविधैवेति कथनेन एकैव प्रकृतिरिति सांख्योक्तमपि पराणुद्यते, स्वाभाविकीतिपदेन नित्यसिद्धत्वोक्त्या वेदान्तिकल्पिततुच्छत्वमपि निरसितम् । अतोऽनाद्यनन्तचिद्रूपा चिदाश्रिता समस्तसंसारप्रसविनी सकल वस्त्वन्तर्हिता जगज्जन्मादिनियन्त्री जगदम्बा विविधभेदान् जनयतीति सिद्धम, ध्यानयोगमन्तरायं न दृष्टिपथे पथिकायत इति स्पष्ट

मेवोपदिशति ते ध्यानयोगेतिपदेन परमेश्वरसाक्षात्कारे योग एव गरीयान् मार्गो नान्य इति निगदमेव व्याख्यायते, एतेन शारीरकग्रन्थादिभिरयं ग्रन्थो गतार्थ इत्यपि शंका दूरोत्सारिता, शक्तिभेदतत्तत्कार्यभेदतत्प्रापकयोगविधिभेदानां तत्राऽनुक्तेः । अतएव शक्तिपदार्थे योगिजनप्रत्यक्षमपि प्रमाणतयोपस्थापयितुं शक्यते । तदुक्तं विष्णुपुराणे । शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः । यतोऽतोब्रह्मणस्तासु सर्गाद्या भावशक्तयः ॥ सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः । अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञाः षडाहुरङ्गानि महेश्वरस्य इति स्मृतिरपि तामेवानुवदति नचैतानि वचनानि सहकारिमात्रबोधनानि कार्यकारणादिरूपसहकारिनिरसनपूर्वकं तस्या व्यवस्थापनात्

किंच व्रीहीन् प्रोक्षतीति वेदेन व्रीहीणां प्रोक्षणसंस्कारो विधीयते यदि नाम यज्ञे तण्डुलसम्पादनमेव तेषां प्रयोजनं तदा प्रोक्षणं विनापि तत्सिद्धेः तद्विधानं वैयर्थ्यमीयात् । अतः संस्कारकर्मणा व्रीहिषु स्वर्गप्रदपुण्यजननसामर्थ्यापरपर्य्यायशक्तिराविष्क्रियते इत्यवश्यं कल्पनीयम्, अन्यथा लक्षणादिजघन्यवृत्त्याऽर्थान्तरकल्पने वेदस्य व्यवस्थापकत्वमेव भज्येत, अनुमानमपि-एनां साधयति तथाहि-प्रथमं प्रत्यक्ष वस्तुनि शक्तिमनुमाय तद्दृष्टान्तबलेन अदृश्येष्वप्यनुमास्यते, अक्षिलक्ष्यीभूतवह्निः , द्विष्ठस्थितिस्थापकेतरातीन्द्रियाऽयुतसिद्धभाव सम्बन्धी , गुणाश्रयत्वात् घटवत् । द्व्यणुकगतरूपमादायाऽर्थान्तर वारणाय प्रत्यक्षेति पक्षविशेषणम्, एवञ्च प्रत्यक्षं त्र्यणुकादिकमेव पक्षः, तत्र द्व्यणुकगतरूपविरहादेव न तेनार्थान्तरं सिद्धसाधनंवा । साध्यदले द्विष्ठेतरनिवेशात् वह्नौ इन्धनादृष्टबदात्मवाय्वाकाशसंयोगं स्थितिस्थापकेतरनिवेशात् न्यायशास्त्रोक्तसंस्कारविशेषस्थितिस्थापकम् अतीन्द्रियविशेषणेन स्थूलरूपादिगुणम्, अयुतसिद्धपददानेन परमाणुञ्चादाय भावत्वकथनेन प्रतिबन्धकाभावमादाय च नार्थान्तरसिद्धसाधने समवायीत्यनिवेश्य सम्बन्धिपदनिवेशेन समवायमनङ्गीकुर्वतां मते नाऽप्रसिद्धविशेषणता घटे नैयायिकमते गुरुत्वमादाय स्वमते शक्तिमादाया ऽपि साध्यप्रसिद्धिः, तथाचोभयमतप्रसिद्धदृष्टान्तभूतघटे व्याप्तिग्रहस्य निर्बाधतया पक्षीभूते वह्नौ विवक्षितशक्तिसिद्धिः ।

नचात्र नैयायिका गुरुत्वमादाय साध्यं विधातुमीशते। गुरुणी द्वे रसवतीत्यादिना जलेतरस्मिन् तेजः स्वरूपाऽनले तैस्तदनङ्गीकारात्, अन्यस्य च तादृशस्य विरहेण गलेपादुकान्यायेन शक्तिजनन्याः पद पद्मावलम्बादृते नान्यच् शरणं व्रजेलिमम्। ननु प्रभाकराः कर्मणोऽप्रत्यक्षत्वं मन्वते तथाच तेषां मते अतीन्द्रियं कर्म गृहीत्वाऽर्थान्तरता स्यादितितु देवानांप्रियं प्रत्येव परं शोभते। चक्षुषा सहक्रियायां संयुक्त समवाय (तादात्म्य) स्य प्रत्यक्षकारणस्य सम्बन्धस्य विद्यमानत्वे प्रत्यक्षं न भवतीति प्रमाणशून्यं वचनं साहसमात्रमेव, अन्यथा घटपटादावपि प्रत्यक्षताऽपलप्येत, अतएव लोके भवद्गमनं पश्यामि गच्छन्तं पचमानं च देवदत्तं साक्षात्करोमीति प्रतीति र्विश्वजनीना। व्याकरणमहाभाष्ये 'क्रिया नामेयमत्यन्ताऽपरदृष्टा' इत्यनेन क्रियाया अप्रत्यक्षतोपपादिता तस्याऽयमभिसन्धिः—शाब्दिकमते धात्वर्थो व्यापारकलापः क्रिया इति पारिभाषिकं तल्लक्षणम्, आद्यव्यापार मारभ्य चरमव्यापारपर्यन्तो यः समुदायः स एव धातुवाच्यः, तस्य च कश्चिद् व्यापारात्मकाऽवयवो नष्टो भावी वा कश्चन विद्यमानः, अतस्तादृशसमुदायस्य युगपत् पिण्डीकृत्य द्रष्टुमशक्यता। एकदा सर्वेषामवयवानां सहाऽवस्थानाऽसम्भवेन वस्तुतः समुदायस्यैवाऽभावात् तस्मात् कल्पित एव समुदायो धातुवाच्यतया क्रियापदेन परिभाषित इति योगिराजश्रीभर्तृपादाः—"बुद्ध्याप्रकल्पिताऽभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते" इत्यनेन स्पष्टमेव जगदुः। अतएव क्रिया नामेत्यस्याऽग्रे पूर्वापरीभूताऽवयवा न शक्या पिण्डीभूता निदर्शयितुम्, इति कण्ठत एवोपरितनाशयं स्पष्टयाञ्चक्रुर्भगवन्तो भाष्यकाराः, तथाच व्यापारात्मिकाया लौकिक्याः क्रियायाः प्रत्यक्षत्वे न तेषां विप्रतिपत्तिलेशः। अतो लौकिकपरीक्षकानुभवविरुद्धं केवलवैतण्डकप्रभाकरोहितं कर्मणोऽतीन्द्रियत्वं गगनकुसुमायमानं कथमर्थान्तरतामावहेत कर्मणामिति कलयन्तु कल्पनाकल्पवासिनः सुधियः। नन्वस्तु वह्नौ शक्तिः चिदानन्द घने निरञ्जने श्रीमदाद्रिनाथे किमायातमनयाऽनुमया निभालयोन्मील्य

त्रिणीनविज्ञाननयनं तद् यदायातं विमतः शक्तिसहितो भावरूपकारणत्वात् वह्निवत् इत्यनेन सर्वत्र तत्सद्भावसिद्धिः, प्रपञ्चरचनाचणेन विरञ्चिनाप्यशक्य निरसना, एवंदाहादिकार्यान्यथानुपपत्तिरपि शक्तिसद्भावे, मानम्,

अन्यथा चन्द्रकान्तमणिसमवधानेपि वह्निस्वरूपस्य पूर्ववत्सद्भावेन सह कारिकारणान्तराऽनपेक्षत्वे तत एव दाहेन पूर्ववद् भवितव्यमेव । ननु प्रतिबन्धकाभावस्य कार्यमात्रं प्रति कारणत्वेन तमादायैवान्यथोपपत्तिः । तथाहि-दाहस्य प्रतिबन्धकश्चन्द्रकान्तोऽतस्तस्य विद्यमानत्वे प्रतिबन्धकाऽभावरूपसहकारिविरहादेव न दाह इति चेच्छृणु, रहस्यम्-अभावस्य क्वापि जनकतानास्ति, इतरथा शशशृङ्गादप्युत्पद्येत नाम कार्यम्, अभावत्वाऽविशेषात् को निवारयितुमीष्टे तथा सति अभावाद्भावोत्पत्तिवादिनां सौगतानामपि दत्तावसरता प्रसज्येत, नच काचन क्वचन लौकिकी युक्तिरपि चेटी अभावस्य कारणतां कलयति । श्रुतिरपि भगवती 'कथमसतः सज्जायेत' इति शून्यस्य, कारणतामाक्षिपति, किंच इतरेतराश्रयदोषदूषितत्वेन, न, प्रतिबन्धकाभावस्य, कारणकोटौ, समावेशः, समुत्प्रेक्ष्यः प्रेक्षावताम् । तथाहि-कारणसमुदायस्वरूपसामग्रीत्वज्ञानं समुदायान्तर्भूतप्रतिबन्धकाभावज्ञानंविनानस्यात्, प्रतिबन्धकाभावघटक प्रतिबन्धकत्व-ज्ञानं-च प्रतिबन्धाभिसामग्रीति लक्षणाऽनुसारेण-सामग्र्यभावसम्पादकत्वरूपप्रतिबन्धकत्वघटकसामग्रीत्वबोधादृते न सम्भवति, अतः सामग्रीत्वप्रतिबन्धकत्व बोधयोः परस्परापेक्षत्वं, वज्रलेपायितं नच वाच्यम् यथावह्निस्वरूपस्याऽन्वयव्यतिरेकाभ्यामेवकारणता निश्चीयते तथैव प्रतिबन्धकाभावस्यापिप्रतिबन्धकत्वज्ञानमन्तरापि ताभ्यामेव लोके पञ्चषस्थले- दाहतदभावावलोक्य-निर्णेया तदा कान्योन्याश्रयता-इतिप्रत्येकं-मण्याद्यभावस्य-प्रत्यक्षेण कारणताग्रहे-मण्यभावानामनन्तत्वेनाऽनुगतस्वरूपप्रतिबन्धकरूपोपसंग्राहकधर्म- विना—पुरुषायुषेणाभिसाक्षात्कृत्य -निश्चेतुमशक्यतया—प्रतिबन्धकत्वात्मकसंग्राहकधर्मस्याऽत्र श्यज्ञेयतया सामग्रीत्वज्ञाने प्रतिबन्धकत्वज्ञानसापेक्षत्वेनाऽन्योन्याश्रयस्य तादवस्थ्यात्, ननु कार्यौदासीन्यमेव-प्रतिबन्ध स्तत्प्रयोजकःप्रतिबन्धकस्तदा प्रतिबन्धकपदार्थाङ्गतया, सामग्रीत्वस्याप्रवेशेन, नाऽन्योन्याश्रय, इति चेन्मैवं-चन्द्रकान्तसहिते एवाऽनले कार्यौदासीन्यं नतुतद्रहिते इत्यत्र किं बीजमिति जिज्ञासायां मौनमवलम्बमानः स्वभाव एव शरणमित्युत्तरं प्रब्रुवाणो वा भवान्नूनं तार्किककुलादपसार्य देवानांप्रिय संघे एव संस्थाप्येत, अतो महत्ते बुद्धिकौशलम्, एकं संधित्सतोऽपरं प्रच्यवते मम तु सर्वत्रोत्साहजननी शक्तिरेवेति राद्धान्तः, अतएव यस्य

ह्रासोन्मुखा शक्तिर्भवति तस्यालस्यं प्रसमेधितुमुपक्रमते तन्निरासाय शक्त्युत्तम्भकौषधाद्युपचारः प्रयुज्यते वृद्धभिषग्वरैः, तस्या अत्यन्तोच्छेदे जीवनादेवाऽपैतिमृतइतिव्यवह्रियते, क्वचिच्च यन्त्रादिना यावत् कालं शक्तिस्तिरोधीयते तावत्कालं स्वरूपस्य सद्भावेऽपि कार्यकरणाक्षम ताऽऽयाति मृतवदेव व्यवह्रियते यन्त्रादिनिःसारणे पुनरपि साऽऽविर्भवति पूर्ववदेव कार्यं कर्तुमुद्युङ्क्ते, तस्माच्चन्द्रकान्तमणिवह्नौ शक्तिं तिरोधाप्य औदासीन्यं सम्पादयति, न तु स्वरूपं विना स्वत एव समुन्मिपति, अत औदासीन्यस्य प्रयोजकः प्रतिबन्धको न तु साक्षादुत्पादकः, अभावस्य कार्यत्वाभावात् तथा च भावस्यैव कारणता कार्यता नत्वभावस्य कारणता कार्यता वा इति सार्वलौकिको दार्शनिकदृष्टिपथिकपरिरक्षितः पन्थाः नावगाहित उत्पथगामितार्किकवरैः ? अत एव सांख्ययोगयोर्मते ऽभावो नातिरिक्तः पदार्थः कार्यकारणोभयबहिर्भूतस्य तस्य संकलने केवल बुद्धिकन्थाकदर्थनात् फलान्तरस्य कस्याप्युत्प्रेक्षयितुमशक्यत्वात्, मीमांसका अपि भावान्तरमभावोहि कयाचित्तु व्यपेक्षया अर्थात् घट एव पटापेक्षया अभावो व्यवह्रियते न तु अभावो नाम कश्चित् पदार्थः. लोकेऽपि दण्डचक्रचीवरादिभावभूत एव भावभूतघटादिं प्रति कारणं कुलालादिगतेच्छाप्रयत्नादिभावविघटनद्वारा कार्याभावप्रयोजको राजाज्ञादिः प्रतिबन्धकः,तदभावश्च कार्यविरोधकनिरासार्थमेवाऽपेक्ष्यते न तु कार्योत्पत्तौ, अत उत्पत्तौ यानि अपेक्ष्यन्ते तानि कारणानि विरोधिनिरासार्थं यदपेक्ष्यते तत्प्रयोजकमिति द्वैविध्यम्, अत एव लोके इदमस्य कारणम्. इदञ्च प्रतिबन्धकम्, इतिद्विविधं व्यवह्रियते, दण्ड विरहदशायां घटः प्रतिबद्धोजात इति न केन चित्कथ्यते, तत्कस्य हेतोः कारणाऽभावस्य प्रतिबन्धकत्वाऽनङ्गीकारात्, अन्यथा सकलकारणं प्रतिबन्धकाभावस्वरूपमेव भवेत् यदि च दाहस्य जनने किमपि वैकल्य मविदधानो मणिः प्रतिबन्धक 'उत्पत्तौ च किञ्चनोपकारमनाचरतस्तद भावस्य कारणता चोरीक्रियते तदा किमपराद्धं खपुष्पेण य त्तस्य प्रतिबन्धकता कारणता वा नाङ्गीकृता, तन्नूनं ते चेतसि द्वेषदोष प्रकोपावधीरिता विवेकशक्तिर्यत आसकलात् स्थितसत्ताकामपि भगवतीं शक्तिमपह्नोतु मुद्यतोऽसि, अतः संत्यज्य विग्रहाग्रहं, युक्त्यैकशरणो भवान् भवदूहितयैव युक्त्या व्यवस्थाप्यमानाया. शक्तेः कथं नाम

सद्भावं नोररीकरोति वयं तु वाह्यलौकिकप्रमाणमनपेक्षमाणाः परं केवलमृतंभरां प्रज्ञामवलम्बमानाः स्वानुभवैकशरणा योगनयनविहीनै र्नरैरगम्यां निजां शक्तिं तद्वन्तं च साक्षात्कृत्य लवमपि नेह सन्दिहामहे इत्याशयवन्तो भगवन्त आचार्यपादा विशिंषन्ति स्म 'शक्तियुक्तमित्यनेन' आदिनाथम्, अवशिष्टविवेकस्त्वग्रे वक्ष्यते, नन्वस्तु नाम स्वेमहिम्नि निरतिशयाऽखण्डानन्दकन्दमनुभवन् शक्ति सहितः शिवः किमस्माकं साधकानां प्रयोजनम्, औदासीन्यपथ पथिकेन तेनेति संशीतिमुच्छेत्तुमाह जगद्गुरुमिति जगतां निखिल प्राणिनां गुरुः, अज्ञाननिवारको ज्ञानप्रद इति यावत् गुरुशब्दार्थमाह—अद्वयतारकोपनिषदि ।

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात्, रुशब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते ॥
तस्य माहात्म्यमपि तत्रैव ब्रूते
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परागतिः ।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥
गुरुरेव पराकाष्ठा गुरुरेव परंधनम् ।
यस्मात्तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद् गुरुतरोगुरुः ॥

ज्ञानवत्वे सति, अज्ञानविनाशकत्वं गुरोर्लक्षणम्, अत्र विशेषणाऽनुपादाने दीपकादावतिव्याप्तिः स्यात्, तद्वारणाय तदुपादानम्, नच कालिकसम्बन्धेन विषयतासम्बन्धेन वा दीपकादौ ज्ञान सद्भावादतिप्रसङ्गस्तदवस्थ एवेति वाच्यम् समवायसम्बन्धेन विवक्षायामदोषात्, यत्तु समवायमनङ्गीकुर्वतां मतेऽप्रसिद्धविशेषणता स्यादिति चेन्न तादात्म्यसमवायान्यतरसम्बन्धेन ज्ञानवत्वमिति निवेशे सकलारिष्टविनाशात् । विशेष्यानुपादाने, उदासीनपुरुषेऽति व्याप्तिरतस्तन्निरसितुं तदुपादानम् नचवाच्यम् सकलधर्मातीते ब्रह्मणि कथमुक्तलक्षणमिति, शक्तियुक्तमिति विशेषणेनैवास्य दोषस्य शक्तिमत्त्वाङ्गीकारेण पराहतत्वात्, व्यवहारकाले कल्पितताद्दश

धर्मस्वीकारे बाधकाभावेन लक्षणसंगमनाच्च, मुक्तिदशायान्तु लक्षण करणस्यैव प्रयोजनविरहतया, असंगमनेपि क्षतिविरहः, अथवा ज्ञान वत्त्वविशिष्टाज्ञानविनाशकत्वात्यन्ताभावाऽनधिकरणत्वमिति निकृष्ट-लक्षणे दोषगन्धोऽपि न प्रसरति ॥ तथाहि-यथा गन्धवत्त्वलक्षणस्य उत्पत्ति कालाऽवच्छेदेन पृथिव्यां गन्धाभावेना व्याप्तिपरिहाराय नैया यिका गन्धात्यन्ताभावानधिकरणत्वलक्षणं स्वीकृत्य कदाचिदपि तस्यां गन्धसद्भावे तदत्यन्ताभावाऽधिकरणत्वस्याभावेनानधिकरणत्वघटि तोक्तलक्षणस्य समन्वयं विधायाऽव्याप्तिं वारयन्ति, तथैवाऽस्माकमपि व्यवहारकाले कल्पितोक्तधर्मस्वीकारे तदत्यन्ताभावस्यानधिकरणत्वे न लक्षणसमन्वयो न विरोधलेशमप्यावहति इति सुधियः कलयन्तु अत्रेदमवधेयम् यत्किञ्चिज्ज्ञानप्रदानेन एकमप्यज्ञानं यो निरस्यति सो ऽपि गुरुः, अतएवापेक्षिकगुरुत्वं सर्वेषां किन्त्वध्यात्मविद्याप्रकाशक महामंत्रोपदेशको मंत्रगुरुः । तदर्थदार्ढ्यकारकोऽध्यात्मशास्त्रोपदेष्टो पाध्यायगुरुश्च परमोत्कृष्टः, सो हि मानवजन्मलक्ष्यमोक्षमधिरोहयति विच्छेद्याऽविद्यातिमिरबन्धम् । निरतिशयगुरुत्वं चादिनाथे परमेश्वरे एव तस्य सर्ववित्त्वेन निखिलविषयकाऽज्ञाननिरासकत्वात्, अतएवोक्तं योगसूत्रे—

'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्' १ पा २६

इति एतेन संसारपाशावसितान् निखिलान् ब्रह्माण्डभाण्डोदरवर्तिनः स्वोपदेशामृतेन मोचयिष्यामीति संकल्प्य गुरुपदमध्यासीनः श्रीमदादि-नाथः सकलै र्नमस्य इति व्यज्यते । ननु तस्य प्रयोजनवत्त्वेऽनाप्त-कामतयाऽस्मदादिवद् ईशत्वमेव भज्येत । प्रयोजनाऽभावे च कथं प्रवृत्ति रिति शङ्का तु व्यासपादैरेव योगसूत्रभाष्ये तस्य स्वप्रयोजनाभावेपि भूतानुग्रह एव प्रयोजनमित्यनेन दूरोत्सारिता । अयमाशयः—परम-कारुणिको हि भगवान् स्वप्रयोजनविरहेऽपि प्राणिनां बन्धविमोचनेन नित्यनिरतिशयानन्दप्रापणमेव प्रयोजनं मन्वानो भक्तानुपदेष्टुं समु-ज्जृम्भते । यदि सर्वज्ञः सर्वसामर्थ्यवान् तदा युगपदेव कथन्न विमो-क्षयति नानाविधशोकोपप्लुतान् निखिलान् जीवानिति प्रष्टारं प्रति ब्रूवे-

प्रश्नपटुर्भवान् ममोपरि कथं कथमिति प्रश्नशरं निरस्यन् वैतण्डिकतया प्रचोद्यते, ऋते मतिकर्दमात् नान्यां काञ्चन विवेकपद्धति-मध्यास्य निश्चितिफलं विचिनुयात्। अतः समाश्रयतु विचारपद्धतिम् तदैव नूनं गहनतरमिमं पारयिष्यति विवेकम्। तथाहि, आदौ स्वानुभवेन स्वस्वरूपं विनिश्चित्य संसारसद्भावं निर्णयति तत्र द्विविधं वस्तु एकं चिरस्थायि स्वस्वरूपम्। अपरञ्चागन्तुकं शोकमोहादि विच्छिद्य विच्छिद्य वर्तमानम् दृष्ट्वैव तद्द्वयं सन्दिग्धे यत् कुत आयातं कदापर्यन्तं स्थास्यति किञ्चास्य निदानं तदुपशमस्य च कः प्रतीकारः कोऽप्यस्य संचालको न वा इत्यादि, तत्र विहितविचारः स्वस्वरूपस्य तत्रागन्तुकदुःखसुखादिनिदानस्य चाऽनादितामुपश्रुत्य तत्संचालकतया सर्वज्ञं सर्वशक्तिसम्पन्नं कञ्चनाधिकृत्य पृच्छति तदुत्तरे सरलसरणिरियं यत् स्वतो निरपेक्षोऽपि सन् प्राणिकृत कर्माण्यपेक्ष्य विचित्रचित्रमिव संसारं विरचय्य तदध्यक्षतामनुभवति, इदमेवानुवदति श्रुतिः—कर्माध्यक्षः कर्मणोऽधिवासः, इति तदा सूक्ष्म-तमस्यापि कर्मणः फलेन यथा समयं प्राणिनः संयोजयन् कथंन सर्वज्ञतां वहेत, कस्याप्यवसरविपर्यासं चिकीर्षतः प्रतिरोधमाचरन् कथंन सर्वशक्तिमत्तां प्राप्नुयात्। अतोऽध्यक्षपदमध्यारूढो जानन्नपि प्राणिनां दुःखबहुलं, कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्तोऽपि सन् कर्मानुरूपमेव करोति अध्यक्षेण कर्तव्यस्यस्वतो निरपेक्षत्वस्य निर्वाहाय, अन्यथा स्वस्य निरपेक्षत्वभङ्गेनाऽध्यक्षत्वं भज्येत। तत्रेदमेव कारुणिकत्वं यत्प्राणि-कृतस्य स्वल्पस्यापि प्रयत्नस्य फलव्यतिरेकतां व्यर्थतां वा न विदधाति तस्माद् युगपदनुद्धरन्नपि, उचितकारितया कारुणिकः प्रशस्यतरश्चेति सिद्धम्, लोकेऽपि समुचितकारी एवाध्यक्षः सर्वजनप्रशस्यो दयालुश्च निगद्यते, इति दिक्।

[नमस्कृत्येति] परनिष्ठोत्कृष्टत्वप्रकारकबोधानुकूलव्यापारो नमस्कारस्तथाच परमाचार्यो भवान् मत उत्कृष्ट इत्याकारस्याऽऽदिनाथ-गतस्य बोधस्य जनकं मानसिकस्मरणात्मकव्यापारं कृत्वा इत्यर्थः।

[अहम्] भक्तजनोपकाराय कृतावतारः **[गोरक्षनाथः]** गाः इन्द्रियाणि पृथ्वीं वाणीं च योगमत्रानुष्ठानेन तदुपदेशेन च रक्षति

स चासौ नाथः शिवरूपः (सिद्धानां) ऋतंभराप्रज्ञामध्यारूढानां सिद्धान्तः (सिद्धः) निश्चितो न तु केनचित् प्रमाणेन साधनीयः **[अन्तः]** चरमो यदनु कापि कक्षा केनापि प्रमाणेन केनचिदपि विचारकेण नानेतुं शक्या, यत् पश्चात् न कोऽप्यन्यः निर्णय इति यावत्, तस्य **[पद्धतिम्]** सरणिं **[वक्ष्ये]** व्याख्यास्ये।

ननु एतदुपदेशजफलस्य शिष्यगतत्वेन परगामिक्रियाफलत्वात् कथमात्मनेपदमिति न शंक्यम्, स्वशिष्यान् स्वाभिन्नान् मत्वैतद्गत-फलं ममैवेति मन्यमानः स्वशिष्येषु करुणातिशयं दर्शयन् आत्मने पदमभिदधावित्याशयात्। अत्र सिद्धपदेनेदं व्यज्यते यदत्रत्याः सिद्धान्ता योगजप्रत्यक्षात्मिकया ऋतंभरप्रज्ञया प्रमिता न केवलानुमानेन अतोऽनुमानेनाप्रमिता अपि विषया इहोच्यन्ते। यथा पंचपंचगुणा-त्मकपञ्चविधशक्त्यादयः,

तावताऽस्य ग्रन्थस्य स्वतः प्रामाण्यं प्रस्थानान्तरैरगतार्थत्वञ्च ध्वनितम्। किंच प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिः, तथा च प्रमाणान्यनुपन्यस्य प्रमेयमात्रवर्णने न्यूनता स्यादिति विवादोऽपि दूरोत्सारितः। प्रमाणराजऋतंभरप्रज्ञासमुल्लेखेन प्रमाणान्तरे निरपेक्षत्वात्, यदि-चेत्तदनुकूलतयाऽनुमानमपि उपन्यस्येत न तदपि वारयामः। ननु सर्वासां स्मृतीनामागममूलकत्वे प्रामाण्य मस्यापि स्मृतित्वेनागम मूलकत्वं मन्तव्यम्। अन्यथा वेदाननुयायिनामनादेयता स्यादिति प्रच्छकाः प्रष्टव्याः कथमस्य वेदमूलविरहितत्वमवधारितं वा वेदविरुद्धत्वम्, वेदेऽपि **"सदेव सौम्येदमग्र आसीत् तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत, आत्मन आकाशः संजातः,,** तत्वमसीत्यादिनाऽद्वितीय ब्रह्मतः सृष्टिप्रतिपादनं तत्र द्वितीयसहायमन्तरा सृष्ट्यनुपपत्त्या अनाद्यविद्यात्मक माया सहायेति केचिद् वर्णयन्ति, अत्र तु,अनेकावस्था विशिष्टा चिद्रूपशक्तिरेव विद्यास्वरूपिणी सृष्टिकर्त्री तस्या-एवाऽवस्था भेदेन निजादि संज्ञा इति, 'तेध्यान योगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढामितिवेदमार्गेण समाधिना प्रत्यक्षीकृत्य वर्णितम्, वेदे सूक्ष्मरूपेणवर्णनम् अत्र तु तस्यैव विस्तरेण

वर्णने महानुपकारोऽकारि वेदस्य, वस्तुतो वेद-तात्पर्यमत्रैवोद्घाटितम्, स्मृत्यन्तरेऽविद्यानुपवर्णनं केवल-तर्कबलेनाऽभ्युपगमवादेन वा अतस्तादृशव्याख्यानस्य दुर्बलत्वम्, अत्र समाधिबलेन व्याख्यानस्यास्य प्रबलत्वमिति बालेनापि सुज्ञेयम्, अत्रैव वेदतात्पर्योट्टङ्कनेनोभयोस्तात्पर्यभेदाभावात् विरोधस्य च गन्धोऽपि नाऽऽयातीति स्पष्टतरं मर्मविदाम्। आगमोक्तार्थ रत्नाऽपि योगनिकषकृतपरीक्षणेनैवेति विदांकुर्वन्तु विचक्षणाः।

भा० टी० मंगल

यस्य निःश्वसितम् वेदा
यतो जातं जगत्त्रयम् ।
तं भवानीयुतं देवम्
प्रणमामि सदाशिवम् ॥१॥

* अथ हिन्दी टीका *

श्री जगदम्बा भवानी सहित जगन्नियन्ता श्री आदि नाथ महेश्वर को प्रणाम कर मैं गोरक्षनाथ, श्रीमत्स्येन्द्रनाथ तथा ज्वालेन्द्रनाथादि समस्त सिद्धों के सिद्धान्तभूत तात्पर्य का निरूपण करने वाली इस "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" को बनाता हूँ।

शंका—श्री गोरक्षनाथ जी तो साक्षात् शिवरूप हैं, इसलिये अपने आपको प्रणाम करना परम असंगत है। श्री गोरक्षनाथ जी शिवरूप हैं ऐसा महाकाल योग शास्त्र में भी कहा है। देखिये

"अहमेवास्मि गोरक्षो मद्रूपं तन्निबोधत।
योगमार्गप्रचाराय मया रूपमिदं धृतम्॥

अर्थ—श्री गोरक्षनाथ जी के अद्भुत योग बल को देखकर चकित हुए देवताओं ने श्री महादेव के पास जाकर बिनय पूर्वक पूछा कि हे प्रभो ? आप के समान शक्ति शाली गोरक्षनाथ नामक यह सिद्ध कौन है, जिसकी समस्त संसार में प्रसिद्धि हो रही है।

यह सुन श्री महादेव ने कहा हे देवताओ ? मैं ही गोरक्षनाथ हूं, लोगों के कल्याण के लिये योग मार्ग का प्रचार करूं इस लिये मैंने ही यह दूसरा रूप धारण किया है। अतः सिद्धराज श्री गोरक्षनाथ को मेरा ही स्वरूप समझो। इसी कारण श्री गोरक्षनाथ जी को बाल और वृद्ध सभी पुरुष शिव स्वरूप मानते हैं, इतना ही नहीं अपितु योग सम्प्रदाय में योगी भी श्री गोरक्षनाथ जी को "शम्भुयति" ऐसा कहते हैं। और "ॐ शिवगोरक्ष" इस पंचाक्षर मंत्र का योगी लोग अपने शिष्यों के लिये उपदेश देते हैं, तथा "खड़े हुए सो सिद्ध भये बैठे सो पाषाण, भेष में आये श्री शम्भुयति गुरु गोरखनाथ निर्वाण ॥ इत्यादि कहावतें भी प्राचीन समय से योगियों में प्रसिद्ध हैं। इससे यही सिद्धहोता है कि साक्षात् शिव ही गोरक्षनाथ हैं।

उत्तर—श्री गोरक्षनाथ जी शिव स्वरूप हैं यह कथन सत्य है किन्तु योग मार्ग का प्रचार करने के लिये रूपान्तर धारण करके अपने आपको ही दूसरे रूप से प्रणाम किया है। इसलिये यहां पर 'अपने आपको ही प्रणाम किया' ऐसा दोष नहीं आता।

शंका—मंगलाचरण का मुख्य प्रयोजन विघ्नों के नाश पूर्वक निर्विघ्न ग्रन्थ समाप्ति है, परन्तु योगसिद्ध श्रीगोरक्षनाथ जी के विषय में तो स्वप्न में भी विघ्नों की सम्भावना नहीं होसकती, कारण सिद्धों के तो दर्शन मात्र से ही अन्य पुरुषों के भी पाप नष्ट हो जाते हैं अपनों का तो कहना ही क्या है। फिर श्रीनाथ जी ने नमस्कारात्मक मगल क्यों किया।

उत्तर—"यद्यदाचरति श्रेष्ठ स्तत्तदेवेतरोजनः" इस प्राचीनरीति के अनुसार योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने भी अनादिकाल से

प्रचलित प्रणामादि शिष्टाचार को शिष्यशिक्षार्थ दिखलाते हुए आचार्यत्व की मर्यादा का परिपालन मात्र किया है । पाठकगण ? गोरक्ष शब्द का अर्थ नीचे लिखा जाता है ।

देखिये—गो पद से गौ-पृथिवी-स्वर्ग-इन्द्रीय-वेद तथा वेदप्रतिपादित धर्म, इन सबका संग्रह होता है । और इन की रक्षा करने वाले का नाम 'गोरक्ष' है। कहा भी है कि—

'स्थापयित्वाच यो धर्मान् सज्जनानभिरक्षति ।
स्वात्म स्वरूप बोधेन गोरक्षोऽसौ निगद्यते ॥

अर्थ—प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप धर्मों के स्थापक सज्जन साधु महात्मा और गोब्राह्मण आदि की रक्षा करने वाले तथा अन्त में आत्म स्वरूप का बोध कराने वाले एवं संसार सागर से पार कर मोक्ष देने वाले को गोरक्ष कहते हैं ।

नाथ शब्द के चार अर्थ हैं- याचक, उपतापक, ईश्वर, और आशीर्वाददाता, यह चारों अर्थ नाथ जी में अच्छी प्रकार घटते हैं, नीचे देखिये—

याचक— नाथ जी स्वयं महेश्वर होते हुए भी लोक कल्याणार्थ लीलामय शरीर को धारण कर श्रद्धालु तथा आस्तिक भक्तों की भक्ति से प्रेरित होकर उनके घरों पर 'जय अलख निरंजन' कहकर भिक्षा मांगते हुए याचक के रूप में दिखाई पड़ते हैं । अर्थात् भिक्षुक के बहाने अपने धार्मिक भक्तों में आतिथ्य सत्कार की भावना को जगाकर उनकी समस्त कामनाओं को सफल करते हुए उनके हृदय से याचक भाव को समूल नष्ट कर देते हैं । जैसे पिता धूली धूसर अपने प्रिय पुत्र को धूली में से उठाकर अपने दयार्द्र हाथ से उस के शरीर से समस्त धूली को झाड़ देता है और अपने हाथ के मैला होने की कुछ भी परवाह नहीं करता इसी प्रकार नाथ जी भी अपने प्रिय श्रद्धालू भक्तों के याचकत्वरूप मलिन

भाव को स्वयं धारण करके उन की इष्ट कामनाओं को पूरण कर अन्त में मोक्षरूप परमपद को देते हैं।

उपतापक—अविद्यादि पांच क्लेशों को दूर करने वाले को नाथ कहते हैं। अविद्यादि पंाच क्लेश योग दर्शन में निम्न लिखित प्रकार से कहे हैं—

अविद्या—अविद्या नाम अज्ञान का है अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानना ही अविद्या है।

अस्मिता—आत्मा और बुद्धि के परस्पर एकीभाव अर्थात् एक होजाने को अस्मिता नामक क्लेश कहते हैं।

राग—पूर्वकाल में सुख का अनुभव करने वाले पुरुष को जब अनुभूत सुख का स्मरण होता है तब उस सुख को प्राप्त करने की इच्छा से सुख और उस के साधनों में जो तृष्णा वा लोभ होता है उसी को राग नाम का क्लेश कहते हैं।

द्वेष—दुःख का अनुभव किये हुए पुरुष को जब अनुभूत दुःख का स्मरण होता है तब उस दुःख और दुःख के साधनों में जो द्वेष होता है वही द्वेष नाम का क्लेश है।

अभिनिवेश—भूमण्डल के समस्त प्राणियों को सदा ही यह इच्छा बनी रहती है कि मैं हमेशा ही रहूँ मेरा नाश कभी न हो यह अभिनिवेश नाम का क्लेश है। इन उपर्युक्त पांच क्लेशों को जिस ने निज योगबल से समूल नष्ट कर दिया हो वही नाथ कहा जा सकता है।

ईश्वर—अणिमादि अष्ट सिद्धि सम्पन्न ईश्वर भी नाथ शब्द का अर्थ है।

आशीर्वाद दाता—अनेक दीन दुःखियों तथा भक्त जनों का अपने शुभाशीर्वाद से कल्याण करने वाले को आशीर्वाद देनेवाला कहते हैं यह अर्थ भी नाथ शब्द का होता है और श्री नाथ जी में तो यह अर्थ मुख्यरूप से घटता है।

शंका—यद्यपि इस ग्रन्थ का निर्माण नाथ जी ने किया है, इस लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त आदरणीय और उपादेय है, तथापि प्रमाण के बिना ज्ञेय वस्तु की सिद्धि होना असम्भव है; प्रमाण के निरूपण बिना इस ग्रन्थ में न्यूनता दोष है।

उत्तर—'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' इस पद के कहने से ही उपर्युक्त शंका का निराकरण हो जाता है क्योंकि सिद्धसिद्धान्त पद्धति इतना समस्त पद अतिगम्भीर आशय का द्योतक है।

सिद्ध—इस पद से त्रिकाल दर्शी योगिराजों का बोध होता है।

सिद्धान्त—उन सिद्धों की दिव्य योग दृष्टि के द्वारा अच्छी प्रकार से निश्चित पदार्थ का नाम यहां सिद्धान्त है।

पद्धति—सिद्धयोगिराजों की दिव्य योग दृस्टि से निश्चित पदार्थ को बतलाने के मार्ग का नाम पद्धति है। अर्थात् महासिद्ध योगिराजों की ऋतंभरा प्रज्ञा के द्वारा अच्छी प्रकार से निर्णीत और विश्वस्त पदार्थ को बताने के लिये यह ग्रन्थ मार्ग स्वरूप है। अतः महासिद्ध योगिराजों का सर्वप्रमाण शिरोमणि ऋतंभरा नाम का योगज धर्म ही यहां प्रमाण है। इस ग्रन्थ में मुख्यतया प्रतिपाद्य समरस करण ही विषय है, समरसकरण का व्याख्यान पंचम उपदेश में स्वयं श्री गोरक्षनाथ जी करेंगे। अतः पाठक वहीं देखें।

आदिनाथ—आदि शब्द का अर्थ कारण है, और नाथ शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। आदिनाथ शब्द से श्री महेश्वर

का ही बोध होता है, क्योंकि यह सिद्धों का सांकेतिक शब्द है। सिद्ध सम्प्रदाय में हठयोगादि विद्याओं के आदि परम आचार्य श्री आदि नाथ शिवजी हैं। पीछे श्री महेश्वर की कृपा से यह विद्या श्रीमत्स्येन्द्र नाथ और ज्वालेन्द्रनाथ (जलन्धरनाथ) आदि सिद्धों में आई। वह सर्वेश्वर आदिनाथ सब के कारण हैं परन्तु उनका कोई कारण नहीं है और न उन पर किसी का प्रभुत्व ही है।

वह शिव संसार का कारण कैसे हो सकता है? क्योंकि वह असंग है, संसार के रचने की कोई सामग्री उसके पास नहीं है। इस शंका को दूर करने के लिये "शक्ति युक्त" यह विशेषण दिया गया है, जब परमेश्वर अपनी अचिन्त्य और अनन्त शक्ति से परिपूर्ण है, तो वह सत्य संकल्प होने के कारण चराचर समस्त विश्व को लीला पूर्वक ही क्षण भर में रच सकता है। परमेश्वर भी यदि शक्ति रहित है तो वह कुछ नहीं कर सकता, ऐसा श्री नाथ जी ने कहा है नीचे देखिए—"शिवोऽपि शक्तिरहितः कर्तुं शक्तो न किंचन" यहां पर यह जान लेना जरूरी है कि शक्ति और शक्ति वाले का नित्य अभेद सम्बन्ध है। जैसे हाथ पैर आदि अङ्ग समुदाय अंगी (शरीर) से भिन्न नहीं रह सकता उसी प्रकार शरीर भी अपने अवयव हस्त पदादिकों से अलग नहीं रहता। यदि ये दोनों भिन्न २ रहें तो इनका स्वरूप ही बनना असम्भव हो जाय। इसी प्रकार शक्ति और शक्तिमान् का भी नित्य सम्बन्ध है। इसलिये शिव से उसकी शक्ति कभी भी अलग नहीं हो सकती। इसी कारण श्रीगोरक्षनाथ जी ने मंगल श्लोक में 'शक्तियुक्त' ऐसा विशेषण दिया है शक्ति क्या पदार्थ है नीचे इसी का उल्लेख किया जाता है—

जैसे गहरे तेज का पुंज चन्द्रमा और उसके चारो तरफ फैला हुआ मन्द प्रकाश चांदनी कहलाती है। उसी प्रकार शुद्ध बुद्ध असंग नित्य और चित् शिव कहलाते हैं, और संकोच विकाश वाली चित्स्वरूप शक्ति कहलाती है। अर्थात् चांद और उसकी चांदनी की तरह क्रमशः शिव और उसकी शक्ति समझनी चाहिये।

शंका—शक्ति को चिद्रूप कहना महा असंगत है, क्योंकि शक्ति-माया-प्रकृति-तुच्छ-अविद्या-तम इत्यादि पर्याय शब्द हैं। ये सब जड़ रूप माया के बोधक हैं। और माया की ज्ञान से निवृत्ति होती है। ऐसा श्रुति में भी कहा है।

तम आसीत्, भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः

इत्यादि। इस प्रकरण के देखने से तो तम-माया-अविद्या इत्यादि नामों से बोधित जो जड़ रूप माया है, उसी का पर्याय यह शक्ति शब्द है और वह भी जड़ रूप है। जड़ रूप शक्ति को चिद् रूप कहना तो आकाश पुष्प के सदृश है तथा वेदादि प्रमाणों से भी विरुद्ध है ?

उत्तर—महेश्वर की वह निज शक्ति चिद् रूप है, इसकी पुष्टि तो स्पष्ट रूप से पहले ही 'चन्द्र चन्द्रिका दृष्टान्त से हो चुकी है और आगे भी ग्रन्थकार श्री गोरक्षनाथ जी मूल में स्वयं व्यक्त करेंगे। जब महेश्वर स्वयं चिद् रूप हैं तो उससे अभिन्न शक्ति को जड़ कहना स्वयं अपनी बुद्धि की ही जड़ता को प्रसिद्ध करना है।

वास्तव में चिद् रूप शक्ति का ज्ञान तो महा सिद्ध योगिराजों की ऋतंभरा प्रज्ञा से ही गम्य है, लौकिक प्रमाणों की वहां गति नहीं है। इस सिद्धान्त का अनुमोदन समस्त श्रुति और स्मृतियों में भी किया गया है और अन्तिम पंचम अवस्था को प्राप्त हुई जो चिद् रूप महा कुंडलिनी शक्ति है, उसी के मध्य में छिपी हुई जड़रूपा महामाया है। जिसको सांख्य और पातञ्जल मतानुयायी जड़ रूप प्रकृति और प्रधान कहते हैं। और वेदान्ती उसको जड़ रूप माया, तम और अविद्या कहते हैं, यह जड़ात्मिका त्रिगुण माया असंग शिव की चिद् रूप शक्ति से अधिष्ठित होकर सकल ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करती है। इसी उपर्युक्त भाव का वेद भी स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करते हैं—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्

देवात्म शक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
न तस्य कार्यं करणं च विद्यते
न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च ॥

इत्यादि ।

जगद्गुरुम्—श्री आदिनाथ जी जगत् अर्थात् समस्त विश्व के गुरु हैं। कारण यह है कि सकल विद्याओं का विस्तार श्रीआदिनाथ महेश्वर से हुआ है और तो क्या जगन्नियन्ता ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं को भी सब से पहले श्री महेश्वर ने ही उपदेश दिया था। इसके उपरान्त यह वेदादि विद्या सिद्धों, ऋषियों और मुनियों के द्वारा जगत् में फैली, अतः श्री आदिनाथ जी ही उपर्युक्त परम्परा के द्वारा सब जगत के गुरु अर्थात् उपदेष्टा हैं। इसी लिये योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने "जगद्गुरु" ऐसा मंगल श्लोक में विशेषण दिया है।

गुरु शब्द में दो वर्ण हैं 'गु' और 'रु' इनका भी अलग अलग अर्थ पाठकों के लिये दिखाते हैं—

सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित अज्ञान का नाम 'गु' है उस अज्ञान को समूल नाश करना "रु" का अर्थ है अर्थात् अज्ञाननिवारक और ज्ञान का उपदेश देने वाला सर्वोत्कृष्ट गुरु है।

इस मूल मंगल श्लोक का सारभूत भाव यह है कि जिस श्री आदिनाथ महेश्वर की महिमा यथार्थ रूप से वेदों में गाई गई है, उसी जगद्गुरु श्री आदिनाथ ने "गोरक्ष रूप से प्रकट होकर योगसम्प्रदाय में अपने सिद्धान्तों के प्रचारार्थ और लोक कल्याण के लिये इस "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" नामक ग्रन्थ को प्रकाशित किया।

**मू०—नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः ॥२॥**

सं० टी० नास्तीति

[**अस्मिन्**] विवेक मार्गे [**सत्य विचारे**] सत्यश्चासौ विचारः, तस्मिन् सति यथार्थविचारणायां सत्यां [**अण्डपिण्डयोः**] अण्ड पदेन ब्रह्माण्डः गृह्यते पिण्डपदेन, अस्मदादि व्यष्टि शरीरम्। तथाच भूत भौतिक निखिलविरञ्चिप्रपञ्चस्य [**उत्पत्तिः**] जन्म [**नास्ति**] प्रमाणेन न सिद्ध्यति, तथा च अजातवादपक्ष एव महतां माननीयः, उत्तमाधिकारिणां कृते च तस्यैवोपदेशः। अतएव अस्यैव वादस्याभ्यर्हितत्वं परैरपि विस्तरेण व्युत्पादितं स्वस्वग्रन्थे। न च तदीयमेव मतमत्र स्वग्रन्थेऽनुद्यते इति वाच्यम्—तदीय ग्रन्थेभ्योऽस्य प्राचीनत्वेन, तदीयानुवादकत्वस्या संभवेन एतदनुवादकत्वस्यैव तत्र कल्पने लाभ[illegible]त्यात्, अन्यथा वेदस्यापि अनुवादकत्वं कथं न [illegible] वेदादपि गरीय[illegible] भवेत्, यदि च समस्तजन प्रसिद्धं वेदस्य प्राचीनत्वं ते [illegible]डं तोडयति, तदा एतद् ग्रन्थ कर्त्तुराचार्यपादस्य [illegible] अवतारकः, श्रीदत्तात्रेयसमकालीनत्वं स्वीकुर्वद्भिः [illegible] चपेटा न प्रदीयेतेति का प्रत्याशा, इत्यलं तैः सह निरर्गलप्रलापेन, ये हि खमपि मुष्टिना जिघृक्षन्ति। वस्तुतस्तु सिद्धान्तस्यानादितया तत्प्रवर्त्तका एव तत्तदाचार्याः, तत्र केचित् पूर्वम् अपरे परं स्व स्व समये हसतोऽ शस्य विस्तरेण व्याख्यानं चक्रुः शेषस्य च सूक्ष्मेण न तावता कस्यापि वैमत्यम्। यन्मतं मानवकपोल कल्पितम् तत्तदाधुनिकोत्प्रेक्षिततया हेयमेव। अथाजातवादसिद्धि प्रकारः। तथाहि उत्पत्तेः प्राग् घटः स्वोपादाने वर्त्तमानो न वेति विप्रतिपत्ता आद्यकोटिः सांख्यानां द्वितीयकोटिर्नैयायिकानाम्। तत्र प्रथम पक्षे दोषः। यदि सन्नेव घटो मृदि तदा तदुत्पत्त्यर्थं दण्डचक्रादीनां व्यापारो व्यर्थ एव।

न च आविर्भावार्थमेव तस्य साफल्यम्, यथावटधानायां सूक्ष्मरूपेण विद्यमान एव वटः क्षितिसलिलपवनादिना प्राकाश्यं नियते, रूपान्तरेणाच्छादितस्य वस्तुनः आवरणापनयद्वारा कारक व्यापारतः प्रकटकरणमेवाविर्भावः। अयमेव परिणामवाद इति वाच्यम्—दण्ड व्यापारात्प्रागाविर्भावो विद्यमानो नवेति विकल्पे विद्यमानत्वे तस्याप्याविर्भावः इत्येवं कल्पने ऽनवस्थापातात्, न वा पक्षावलम्बने असत्या अपि आविर्भावक्रियाया उत्पत्तिस्वीकारे। अन्ते रण्डा विवाहः स्यादादावेव कुतोनहीति न्यायेन असत एव घटस्योत्पत्तिस्वीकारे बाधकाभावाच्च, वटधानादृष्टान्तस्य च साध्यकोटिनिक्षिप्ततया उभयसम्मतत्वाभावेन दृष्टान्तस्यैवासंप्रतिपन्नत्वात्।

तथा च असन्नेव घट उत्पत्तिमान् अदृष्टत्वे सति दृष्टिगोचरत्वात्, आविर्भाववत् सन् घटः, नोत्पद्यते सत्वात् आत्मवत्। इत्यनुमाने निर्बाधप्रसरे।

अतएव नैयायिकाः असद्वादमेवावलम्बन्ते, किन्तु निपुणतरविवेचने तदपि निःसारतरम्। तथाहि यदि, उत्पत्तेः प्रागसतो घटस्य कारण कलापेन सम्बन्धविरहेऽपि समुत्पत्तिः,, तदा गगनकुसुमस्यापि कथं नोत्पत्ति रिति प्रश्ने तद्व्यवस्थायै प्रागभाव एव कारणं भवति न तु तदरिक्तोऽभावः, इत्यादि नियमस्य यस्य कस्यचिद्वलम्बने प्रागभावस्यात्यन्ताभावादितः येन वैलक्षण्यं तेनैव रूपेण तत्र कार्यस्य सद्भावापत्तौ सद्वादपादावलम्बनस्यैव शरणीकर्त्तव्यत्वपातः कष्टतरं लज्जास्पदं तेषाम्, तथा च असन् घटः नोत्पद्यते, असत्वात्, शशशृङ्गवत्, इत्यनुमानानुचरचपेटाबारकः कः। इत्थं तयोर्विवादं विलोक्य धीराः महान्त उभयतो विनिसृत्य स्वतः सिद्धे सदात्मनि शिवे भार मवलम्ब्य कृतार्थतां मन्वते। यदा कथं संसृतेः प्रतीतिः किञ्चास्य निदानमिति केनचित् बहुकृत्वः पृष्टस्तदा विवर्त्तरूपेणेयं प्रतीतिरिति–पराभिमत्योत्तरं ब्रूते नतु तात्पर्येण, अतः परमविरक्तोत्तमाधिकारिणां स्वदृष्ट्या अजातिवादः। उपदेशसमये विवर्त्तवाद इति स्वरसतः प्रतीयते।

ननु वेदान्तिमतादस्य को भेदः। अन्यथा तेनैव गतार्थतया नास्य प्रस्थानान्तरत्वम् इति चेत्—शृणु रहस्यम्, तत्र चिन्मात्रस्यैवाधिष्ठानत्व मुररीकृत्य प्रपञ्च वर्णनम्। अत्र तु कूटस्थचित् शिवः तस्य संकोच विकाशावस्था शक्तिः सा चिद्रूपा न तु जडात्मिका उभौ अधिष्ठान कोटौ समावेश्य प्रपञ्चवर्णनमिति भेदोऽनुपदं विवेचिष्यते स्वयमेव ग्रन्थकृत्पादैः, किञ्च व्यवहारदशामवलम्ब्य सृष्टिवर्णनप्रक्रियाऽपि सुसूक्ष्मतमे त्वनुपद स्फुटीभविष्यति किञ्च उपनिषदा सह समानार्थत्वे प्रामाण्य मेवास्य प्रमाणान्तरेण विरोधाभावात्। अथवा सत्यस्य शक्तिसहितस्य सदाशिवस्य **[सत्य विचारे]** विवेके सति यतः कस्याप्यन्यस्य पार्थक्येन सत्ताविरहतया **[अण्डपिण्डयोः उत्पत्तिः]** असतः सद्भावात्मकं जन्म **[नास्तिः]** किन्तु शक्तिसहितः श्रीसदाशिवः सूक्ष्मरूपेण स्वात्मनि स्थितानेव पदार्थान् परिणामरूपेण सृष्टिसमये विकाशयति, प्रलये सङ्कोचयति, अतः अवस्थाया आगमापायित्वेऽपि नासद्वादपक्षः, अतएव—

"नासतो विद्यते भावो नाभावोविद्यते सतः"

इति सद्वादपक्षस्यैवाभ्यर्हितत्वं स्वीकृतं गीतायां भगवतापि एवं च अवस्थाया आगन्तुकतया पदार्थकोटौ न गणना। अवस्थावतां सदासद्भावेन पदार्थत्वं व्यवह्रियते, अतः पदार्थो नासन् इति सिद्धान्ते न कोऽपि बाधः। यदप्यनुमानमुपन्यस्तम् असन्नेव घट उत्पत्तिमान् इत्यादि तदपि उत्पत्तेः प्राग् घटस्यैव शशशृङ्गायमानतया आश्रयासिद्धिः, पश्चाच्चोत्पन्नत्वेनोत्पत्तिसाधने सिद्धसाधनम्। हेतुरस्तु, साध्यं मास्त्वित्यनुयोगे विपक्षबाधकतर्काभावः पटावृत घटस्यावरणापनयने व्यभिचारः। इत्यादि दोषग्राहनिकरकवलग्रस्तम् द्वितीयानुमाने उत्पत्तिपदार्थस्यैवाद्यावधि, अनिर्णीतत्त्वेन साध्या प्रसिद्धिः, तस्मात्परिणाम पक्षएवाचार्य्यसम्मतः। नच साङ्ख्येन गतार्थता, तैः शक्तेः अचिद्रूपत्वेन, आत्मनश्च शक्तिशून्यचिद्रूपा-

सङ्कृतेन स्वीकारे सदा शक्तिसम्बद्धचिद्रूपसदाशिवस्यावर्णनात् । एवञ्च परिणामपक्षएवाचार्य्याभिमतः, अनयोः कतरत् युक्ततर मिति स्वयमेव सुधियो विवेचयन्तु ॥ लक्ष्यसिद्धिस्तूभयोः समैव । तथापि **लोकवृत्त्यर्थं** लोके व्यापारसाफल्यप्रदर्शनार्थं मन्द बुद्धि मनुसृत्य **वक्ष्ये सत्** इति, मूले असत इतिच्छेदः, असत् सम्प्रदायतः । असद्वादरूपेणाप्युत्पत्तिं वक्ष्ये इत्यन्वयः—मन्दानाम् ऋजुरीत्या बोधायैवाऽसद्वादपक्षो नतु स्वच्छः, वलक्षपक्षश्च सत्स-म्प्रदाय एवाचार्य्यपाद स्वरस कबलीकृत इति ध्वनि रिति दिक् ॥

हिन्दी टीका

नास्तीति--

यद्यपि यथार्थ विचार करने पर ब्रह्माण्ड और अस्मदादि शरीर वर्ग की उत्पत्ति किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि कूटस्थ, असंग, चित आदिनाथ की सत्ता से पृथक् जगत् की सत्ता नहीं है और इससे अजातिवाद सिद्ध होता है । तथापि लोक में व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद की रीति से अंड और पिंड की उत्पत्ति को आगे कही प्रणाली के द्वारा कहूँगा । इससे परिणामवाद सिद्ध हुआ । अर्थात् श्लोक के पूर्वार्ध से अजातिवाद और उत्तरार्ध से परिणामवाद निकलता है । परिणामवाद का दूसरा नाम सत्कार्यवाद भी है । तथा अजातिवाद का ही रूपान्तर विवर्तवाद है । अजातिवाद शब्द का अर्थ उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं, किन्तु माया का विलासरूप पदार्थ स्वप्न के पदार्थ की तरह झूठा है । इस प्रकार से जहां उत्पत्ति का निषेध होता है उसी को अजातिवाद कहते हैं । अंड पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाणों के द्वारा क्यों नहीं सिद्ध होती, इसका उत्तर यह है, कि नाथ तत्त्व की सत्ता से पृथक् भूत भौतिक जगत् की सत्ता ही नहीं, जिसका प्रमाणों से निरूपण किया जाय, किन्तु अविद्या का स्वभाव है कि कुछ का कुछ दिखला देना, जैसे स्वप्न में अनेक हाथी, घोड़े, रथ

पर्वत, सागर, आकाश, पाताल, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि विचित्र भूत भौतिक दृश्यमान प्रपंच केवल अविद्या के प्रभाव से दिखाई देता है, क्योंकि जिसका आदि अन्त नहीं वह वर्तमान में भी नही के बराबर है। स्वप्न के जगत् से व्यवहारिक जगत का फर्क केवल इतना ही है, कि स्वप्न का भ्रम नींद टूट जाने पर बाधित होजाता है, और जाग्रत् प्रपंच चिरकाल में ब्रह्मज्ञान से बाधित होता है, अर्थात् श्री आदिनाथ जी की कृपा का फल रूप जो तत्त्व ज्ञान है उसके बिना जन्म मरण रूप दारुण दुःखमय संसार का उच्छेद नहीं होता। आत्म साक्षात्कार से ही इसकी निवृति होती है। क्योंकि ज्ञान सूर्य के उदय होजाने पर अन्धकार रूप अविद्या नहीं रह सकती देखने में भी आता हैं कि जहां अविद्या का प्रभाव नहीं है वहां संसार का भी भान नहीं होता जैसे समाधि अवस्था में आत्म ज्योति के अतिरिक्त अन्य वस्तु का भान नहीं होता और तो क्या, अहंभाव भी नहीं रहता केवल कूटस्थ सच्चिदानन्द स्वयं ज्योति आत्मा का ही भान होता है। इससे साफ मालूम होता है कि जहां तक जितनी अधिक अविद्या की गति है वहां उतना ही अधिक मोह, माया, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार आदि का पसारा है। केवल एक अखण्ड आत्मा ही सच्चा है। यह उपर्युक्त अजातिवाद की शैली है। इसी रीति को लेकर आचार्य उत्तम अधिकारी के लिये उपदेश किया करते हैं क्योंकि इस प्रणाली से उत्तम अधिकारी को शीघ्र आत्मबोध हो जाता है। अत एव आचार्य से सुशिक्षित शिष्य आत्मा से भिन्न सबको मिथ्या जानकर सांसारिक विषयों में राग द्वेषादि न करता हुआ निरन्तर आत्म चिन्तन में लगा रहता है। इससे यह सिद्ध हुवा कि यह अजाति वाद प्राचीन सिद्धों का माना हुवा सर्वोच्च आदरणीय सिद्धान्त है। इस अजातिवाद की प्रणाली से ही मत्स्येन्द्रनाथादि सिद्धों ने असंख्य उत्तमाधिकारियों को ब्रह्मज्ञान के उपदेश द्वारा मोक्ष धाम को पहुँचा कर कृतार्थ किया। श्री मत्स्येन्द्रनाथ और जलन्धर नाथादि सिद्धों से लेकर श्री गोरक्षनाथ और दत्तात्रेय आदि सिद्धों ने इस सिद्धान्त को माना है। इसी मत का श्री व्यास जी ने पुराणों तथा वेदान्त दर्शन में

अनुवाद किया है। इसके उपरान्त सिद्ध विचारनाथ भर्तृहरि ने भी स्वनिर्मित वाक्यपदीय आदि बहुत से ग्रन्थों में अजातिवाद का जो रूपान्तर विवर्त है उसी का वर्णन किया है। नीचे देखिये—

"अनादि निधनं ब्रह्म" इत्यादि

वाक्यपदीय के मंगलाचरण श्लोक में ही विवर्त पद का प्रयोग करने से सिद्ध विचारनाथ भर्तृहरि जी का भी विवर्तवाद अत्यन्त अभिप्रेत सिद्धान्त है। इसके बाद वेदान्त भाष्य कर्ताओं ने अपने ग्रन्थों में इसी सिद्धान्त को अपनाकर समर्थन किया है। वास्तव में वस्तु का स्वरूप तो जैसा का तैसा ही रहता है, पर अविद्या के बल से वह वस्तु विपरीत आकार में दिखाई देती है जैसे रज्जु, आदि का विवर्त सर्प होता है। जहां पर रज्जु मन्द अन्धकार में पड़ी हुई है उस समय उसका ठीक ज्ञान न होकर लम्बायमान कुछ है इस प्रकार सामान्य अंश का ज्ञान और विशेष अंश का अज्ञान होने से उसी समय पूर्व दृष्ट सर्प विषयक संस्कारों का उद्‌बोध होता है। उस उद्‌बुद्ध संस्कार और अविद्या के बल से तत्काल वह रज्जु सर्प रूप दिखाई देने लगती है। इसी प्रकार यह संसार ब्रह्म का विवर्त है ब्रह्म तो अपने स्वरूप में जैसा का तैसा अखण्ड ही है परन्तु पूर्व २ देखे गये संसार विषयक संस्कार और अविद्या के बल से शुद्ध चित कुटस्थ, असङ्ग आदि नाथ ही मिथ्या संसार रूप से लोगों को प्रतीयमान होरहे हैं। परन्तु जब तक परमनाथतत्व का ज्ञान नहीं होता तब तक रागद्वेष, शीतोष्ण और सुखदुःखादि का द्वन्द रूप संसार बना ही रहता है। केवल स्वानुभववेद्य आदिनाथ के विशेष ज्ञान से ही इस मिथ्या जगत् की निवृत्ति होती है।

उत्तमाधिकारी के लिये अजातिवाद का उपदेश देकर मध्यम अधिकारी के लिये परिणामवाद की रीति को कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से यद्यपि अण्ड पिण्ड की उत्पत्ति प्रमाण सिद्ध नहीं है तथापि लोक व्यवहार के लिये सत्कार्यवाद की रीति से सब के लिये हितकारी अण्ड पिण्ड की उत्पत्ति कहता हूँ क्योंकि अण्ड पिण्ड के ज्ञान पूर्वक आत्मज्ञान सबको सुगमता से होगा।

दूसरे आकार में बदल जाने को परिणाम कहते हैं, जैसे दूध का दही परिणाम होता है। इसी प्रकार प्रकृति का परिणाम रूप यह संसार है। जैसी त्रिगुण स्वरूप जड़ माया है वैसा ही उसका कार्यभूत शीतोष्ण सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोहात्मक संसार है, इस संसार में शुभाशुभ कर्म रूपी पाश में बंधा हुआ यह प्राणी जन्म मरणादि दुःखों की परम्परा को पराधीन होकर सहन करता है, अतः जन्म मरणरूप अगाध संसार सागर से पार होने के लिये तत्त्वज्ञानी महात्मा की शरण में पहुँच कर आत्मा का विचार करे।

यद्यपि नैयायिक कार्य को उत्पत्ति से पहले असत् कहते हैं, और कारक व्यापार द्वारा उत्पत्ति के बाद सत् कहते हैं, जैसे सृष्टि से पहले महाप्रलय में ये पृथिवी आदि समस्त भूत भौतिक कार्य असत् थे। किन्तु केवल परमाणु आदि नित्य पदार्थ ही विद्यमान थे पीछे सृष्टि के आरम्भ काल में उन परमाणुओं के संयोग द्वारा द्व्यणुक, त्र्यणुक इत्यादि क्रम से जब समस्त कार्य उत्पन्न हुआ तब पीछे वह सत्स्वरूप हुआ। इसी का नाम आरम्भवाद है। तथापि यह मत आचार्य को रूचिकर न होने से दूसरे श्लोक के पूर्वार्ध में इसका खंडन किया गया है। आरम्भवाद के खंडन में प्रधान युक्ति नीचे दी जाती है—

यदि कारण में अविद्यमान कार्य कारक के व्यापार से उत्तपन्न हो जाय तो शशशृंग आकाशपुष्प आदि भी उत्पन्न हो जायेंगे और तैल आदि कार्य की अभिव्यक्ति करने के लिये नियत रूप से उत्पत्ति से तिल आदि कारण का भी ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि उत्पति से पहले यदि तैल असत् है तो बालु से भी कारक व्यापार द्वारा तेल की उत्पत्ती हो जानी चाहिए। और कार्य असत्स्वरूप हो तो उसका सम्बन्ध भी कारण के साथ कभी नहीं हो सकता, कारण कि दोनों सम्बन्धियों के विद्यमान होने पर ही सम्बन्ध होता है, अतः यह आरम्भवाद समस्त युक्ति और प्रमाणों से विरुद्ध है। वेद ने भी सत्कार्य वाद का ही समर्थन किया है। देखिए-

"सदैवसौम्येदमग्रआसीत्" । "तथा गीता में भी—"नासतोविद्यतेभावः" इत्यादि ।

मू०—सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा पिण्डोत्पत्तिः १ पिण्डविचारः २ पिण्डसंवित्तिः ३ पिण्डाधारः ४ पिण्डपदसमरसभावः ५ श्री नित्यावधूतः ६

संस्कृत टीका

[पिण्डोत्पत्त्यादिः] पिण्डोत्पत्तिः, आदिर्यस्याम् **[सा]** पद्धतिः **[सिद्धमते]** सिद्धानां ऋतम्भरप्रज्ञामधिष्ठितानाम् "मते" अनुभवे **[सम्यक्]** संशयविभ्रमानाक्रान्ततया **[प्रसिद्धा]** विषयीभूता इत्यर्थः। अयंभावः, ये हि सिद्धास्तेषां स्वानुभवगोचरीभूता एवैते पदार्थाः—अतस्तेषां सन्देहलेशोऽपि नोदेति ये च केवलतार्किकाः पदे पदे सन्दिहानास्तर्कैस्तत्त्वं विनिश्चेतुमिच्छन्ति ते भ्राम्यन्ति भ्रमन्तु नाम तेषां नात्राधिकारः, तर्कागम्य पदार्थस्यात्र वर्णनेन समान विषयत्वाभावात्। अनेन समरसकरणद्वारा परमपुरुषार्थसिद्धिःफलम्, तत्प्रेप्सुरधिकारी समरसकरणादयो विषयाः प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभावः सम्बन्ध इति प्रेक्षावत्प्रवृत्त्युपयोग्यनुबन्धचतुष्टयंप्रदर्शितम् समरस पदार्थ स्त्वग्रे वक्ष्यते । अनुबन्धत्वञ्च प्रवृत्तिजनक ज्ञानत्वम् । प्रवृत्तिजनकज्ञानन्तु, अयं मां प्रेरयतीति ज्ञानानन्तर प्रवृतिदर्शनात्, भावनाज्ञानमेवेति भाट्टाः, इदं मम कार्यमिति ज्ञानादेव प्रवृत्तिर्लोकानामतः कार्यत्वज्ञानमेवेदि प्राभाकाराः, इदं मत्कृतिसाध्यं मदिष्टसाधनं वलवदनर्था जनकञ्चेति ज्ञानत्रयादेव प्रवृतिर्नत्वेकैकज्ञानात् तथाहि प्रथमज्ञानमात्रात् जलताडने द्वितीयज्ञानमात्रात् चन्द्रानयने तृतीयास्वीकारे मधु, विष सम्पृक्तान्न भोजने प्रवृत्तिरापद्येत, अतोज्ञान-त्रयमेवेति नैयायिकाः इष्टसाधनत्वज्ञानमेवेति शाब्दिकोदयनाचार्य्य-वेदान्तिनः, इत्येवमस्तु परस्परं स्वरूपवर्णने वैमत्यं किन्तूक्त ज्ञानविषयता

अधिकारि विषयप्रयोजनसम्बन्धेषु सकलैः सम्मता इति। चतुर्ष्वपि अनुबन्धत्वं निर्विवादमिति दिक्। प्रस्थानेऽस्मिन् षडुपदेशाः सन्ति तत्र प्रत्येकं वर्णनीयविषयानां प्रथमतः समासेन नामानि निर्दिशति पिण्डोत्पत्त्यादिरिति संक्षेपविस्तराभ्यां हि व्याख्यानं झटिति श्रोतुश्चित्ते समाविशति स्पष्टत्वात् प्रतिपद वर्णनं नापेक्ष्यते पिण्डपदेन शरीरेन्द्रिया-दीनां ग्रहणंज्ञेयम्

अथ हिन्दी टीका

इस ग्रन्थ में निम्न लिखित छः उपदेश हैं, और यह ग्रन्थ सिद्धों के मत में अत्यन्त आदरणीय है, अतः इसको प्रकाशित करता हूं।

१ विशेष रूप से पिण्ड की उत्पत्ति तथा गौण रूप से अन्य विषय का भी निरूपण करने वाले प्रकरण को इस पद्धति का प्रथम उपदेश कहते हैं।

२ पिंड के विचार को अच्छी प्रकार बताने वाला इस पद्धति का द्वितीय उपदेश है।

३ विशेष रूप से पिण्ड के ज्ञान का निरूपण करने वाला इस पद्धति का तृतीय उपदेश है।

४ शरीरस्थ चक्र तथा आधारादि का प्रधान रूप से वर्णन करने वाला भाग इस ग्रन्थ का चौथा उपदेश है।

५ पिण्डपद की सिद्धि के लिये समरस भाव को कहने वाला इसका पंचम उपदेश है। पिण्डपद समरस भाव का अर्थ पंचम उपदेश में स्वयं योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी मूल ग्रन्थ में समझायेंगे।

६ कार्यसिद्ध और परम पूज्य अवधूत योगियों के लक्षण का वर्णन करने वाला इसका छठा उपदेश है।

ग्रन्थ के पढ़ने में लोगों की प्रवृत्ति तब होती है जब उसका विषय तथा प्रयोजन का ज्ञान होजाय, अतः इस ग्रन्थ में प्रवृत्ति के लिये

शक्ति सहित आदिनाथ रूप विषय और उसके ज्ञान द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पदार्थों की प्राप्तिरूप प्रयोजन आचार्य ने दिखाया है।

मू०–यदा नास्ति स्वयंकर्ता कारणं न कुलाकुलम्।
अव्यक्तञ्च परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा ॥४॥

संस्कृत टीका

[यदा] दृश्यमानसृष्टेरुत्पत्तेःपूर्वसृष्टेरासन्नसमये आसन्नत्व-बोधनायैव अस्तीत्यत्र वर्तमानसामीप्ये लट् **[स्वयं]** ब्रह्म **[कर्ता नास्ति]** कर्तृत्वरहितः आसीत् यद्यपि तस्यासंगतया-कर्तृत्वराहित्यम्-सदैव तथापि सृष्टि समये कृत्या आध्यासिक सम्बन्ध सद्भावः, इतरथा तत्कर्तृत्वमेव न संघटेत किन्तु तस्यापि तत्समये अभाव इति ध्वनितम् **[न कुला कुलम्]** कुलेन भूतभौतिक सृष्टिसमूहेन आकुलं, व्याप्तम् कारणम् उपादान सामग्री सहितं नासीत् भूतभौतिक कार्यं तदुपादानं प्रबुद्धशक्तिरूपं च नासीत् इति ध्वन्यते प्रलीनं सूक्ष्मतया आसीत् इतितु न विस्मर्त्तव्यं सद्वादिभिः। अथवा कुलाकुलमिति स्वतन्त्रम् विशेषणम् ब्रह्मणि। तथा च कुलं सर्वेषां कारणस्वरूपयोग्यम् "अकुलम्" कुलं कारणं न विद्यते यस्येति बहुव्रीहिः स्वस्य कारणं नान्यत् इति यावत् मूलतत्त्वमिदमितिध्वनितम् अथवा कुलं शाक्तक्रमः, अकुलं योगक्रमश्च नासीदित्यर्थस्तान्त्रिकः **[अव्यक्तम्]** रूपरहितम् **[अनाम]** नाम रहितं तदा द्वैताभावे व्यवहाराभावात् ब्रह्मसंज्ञाऽपि नासीत् **[परम्]** अपरिच्छिन्नम् सजातीयविजातीयस्वगतभेदत्रय-शून्यम् अतएव **[ब्रह्म]** व्यापकम् **[आविद्यते]** स्वप्रकाशरूपः भाव-पदार्थः कश्चित् आसीत् नतु शून्यरूप इति शून्यवादबौद्धमतं

निरसितम् वेदेऽपि सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्-इत्युपवर्णितम्। असदेवसोम्येदमिति पूर्वपक्षमुपदर्श्य कथमसतः संजायेतेत्यादिना क्षिप्यान्ते सदेव सौम्य इत्येव निर्द्धारितम्-अयं भावः अभावात् भावोत्पत्तिस्वीकारे शशशृङ्गादपि शस्य मुत्पद्येत तथा च सर्वत्रैव-कार्यकारणभावव्यवस्थोच्छेदे कार्य्यार्थिनां कारण विशेषोपादान नियमस्याना श्वास एव स्यात् इत्यादि युक्त्या शून्यवाद बौद्धमतखण्डन प्रकारो ब्रह्ममीमांसादौ विस्तरेण प्रपञ्चितः विस्तारभयान्नेह वितन्यते विशेष जिज्ञासुभिस्तत एवावगन्तव्यम् अतः भावादेवभाव इतिवादएव गरीयानिति। इदमत्र निर्गलितम् तदा सर्वेषां सूक्ष्मरूपेणावस्थानेऽपि ब्रह्मणः स्वानुभवात् पार्थक्येनानुभवविषयत्वाभावात किञ्चिदपि नासीत् ब्रह्मतुस्वसाक्षिकतया आसीत् यथा समाधिमाधाय स्थितः कश्चित् द्वैतजातमपश्यन्नपि स्वसाक्षितया स्वात्मानं न निषेधति नाहमिति अहमाकारवृत्ति विरहतयाहमस्मीति बोधविरहेऽपि स्वरूपमनुभूयत एव। अतएव उत्थानसमये संजाताहंकारविशेषणेन विशिष्य तमेव स्मरति अहमासमिति। यदि स्वरूपानुभवो नासीत् तदा नाहमासम् इत्यपि स्मर्त्तव्यम् न च कदापि तथा स्मरति तस्मात् सिद्धं सर्वेषामभावेऽपि स्वस्वरूपानुभवो न जातु व्यभिचरतीति दिक्।

हिन्दी टीका

सृष्टि की उत्पत्ति से पहले आदिनाथ कर्तृत्व धर्म सहित नहीं था, क्योंकि जब कर्म की ही सत्ता नहीं तो कर्ता किसका कहलावे। इसी लिये उस महाप्रलय में वह किसी का कारण भी नहीं होसकता, क्योंकि किसी कार्य के प्रति ही कारण में कारणता आती है, जब उस अव्यक्त अवस्था में कोई कार्य ही नहीं था, तो उस समय किसी का कारण भी कैसे कहला सकता है। तथा उस महाप्रलय में कुल और अकुल का व्यवहार भी नहीं था। यहां कुल पद से शक्तिक्रम और अकुल से योगक्रम जानना, कुल अर्थात् सृष्टी अवस्था विशिष्ट चेतन की उपासना. इसी का तान्त्रिक नाम 'श्रीकुल' है।

तथा प्रलयावस्थाविशिष्ट चेतन की उपासना भी कुल कहलाती है, इसका तान्त्रिक संकेत 'कालीकुल' है । इन दोनों श्रीकुल और कालीकुल का व्यवहार कुलपद से होता है। इन दोनों में जब किसी एक की सिद्धि होजाती है तब वह अधिकारी 'अकुल' पद को प्राप्त होता है, उसीका 'पूर्णाभिषेकी' ऐसा तांत्रिक नाम है, अर्थात् कुलावस्था में निष्काम कर्म में निष्ठा रहती है, और अकुलावस्था में परिपक्व योग में निष्ठा होजाती है। अतः निष्काम कर्म निष्ठा का नाम 'शक्तिक्रम' जानना, उसी का दूसरा नाम कुल है और परिपक्व योग निष्ठा का नाम 'योगक्रम' है। उसी का दूसरा नाम 'अकुल' भी है। कुल पद बोधित शक्तिक्रम में पूज्य पूजक भाव रहता है, और अकुल पद वाच्य योग क्रम में योज्य योजक भाव रहता है, जब उस महा प्रलय में कुल और अकुल इन दोनों का भी विलय होजाता है तब उस अखण्ड कूटस्थ असङ्ग चित्स्वरूप श्री आदिनाथ में कुलाकुल का व्यवहार भी नहीं रहता। अथवा शुद्ध अखंड ब्रह्म में कुल (व्यक्तावस्था) और अकुल (अव्यक्तावस्था) इन दोनों का भी महाप्रलय में अभाव रहता है। अतः उस समय वह परमेश्वर कुलाकुल भाव से भी रहित है।

और उस समय परब्रह्म में कारणता भीनहीं थी। कुलाकुल शब्द के प्रथम अर्थ के पक्ष में 'अव्यक्त' इस मूल पद से ब्रह्म में कारणता का निषेध जानना और तृतीय पक्ष में अव्यक्त यह पद ब्रह्म का विशेषण जानना।

शंका—इससे तब तो बौद्ध मत से अभिमत शून्यता का ही परिचय हुआ।

उत्तर—अव्यक्त उस समय नाम रूप से रहित तथा सजातीय विजातीय स्वगत तीन, भेदों से शून्य केवल एक परब्रह्म था। उससे अतिरिक्त कुछ नहीं था। ऐसा सिद्ध योगिराजों का सिद्धान्त है।

इसी भाव को स्पष्ट करते हुये पूज्यपाद योगाचार्य्य श्रीमत्स्येन्द्रनाथ जी ने वर्णन किया है कि—

न ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो ।
नैवाग्निर्नापि वायु र्न च गगन तलं नो दिशो नैव कालः ॥
नो वेदा नैव यज्ञा नच रवि शशिनौ नो विधि र्नैव कल्पाः ।
स्व ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्द मूर्ते ॥

—अनामेति स्वयमनादिसिद्धम् एकमेवानादि निधनं सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्र धर्मा धर्मिणी निजा शक्तिः प्रसिद्धा ॥५॥

संस्कृत टीका

अनामेतिः—

अस्मिन् ग्रन्थे गद्यप्रधानात्मकता क्वचिच्च पद्येनापि वर्णनं पद्यते इयं शैली वेदस्य ब्राह्मणभागेऽपि प्राप्यते । इमामेव शैली मनुसृत्य वाचस्पति प्रभृतयोऽपि गद्येन व्याख्याने प्रस्तुते क्वचिदादौ क्वचिदन्ते श्लोकरूपेणोपबन्धुरिति प्राचीन ग्रन्थावलोकनतत्पराणां ना विदितम् । गद्येन व्याख्यानं प्रस्तुवन् तमेव कूटस्थं स्मारयति **[अनामेत्यादि]** अतः पुनरुक्तदोषोद्भावकमुखं शैल्यनवबोध पङ्क कलङ्केन मलिनीकृतम् ॥

[स्वयमनादि सिद्धम्] स्वस्य कारणं नान्यदित्यर्थः **[एकम्]** सजातीय द्वितीयरहितम् **[एवेत्यनेन विजातीय भेद शून्यम्** **[अनादि निधनम्]** प्रागभावध्वंसाभावाप्रतियोगि । अन्योन्याभाव निषेधेनात्यन्ताभावोऽपि निरस्तः । तथा च निखिलाभावप्रतियोगितान-वच्छेदकभावत्वविशिष्टः शिव एव कूटस्थः सर्वेषां मूलकारणम् **[सिद्धसिद्धान्त प्रसिद्धम्]** सिद्धसम्मतम् ॥ ननु भावत्व धर्मं शक्ति चादाय भेद इति चेन्न धर्मधर्मिणोः शक्तिशक्तिमतोश्च

तादात्म्यमिति सिद्धान्तेनादोषात् तस्य संकोचविकाशावस्था शक्तिः सापि चिद्रूपा शिवेन सह नित्य संसृष्टा नतु सांख्यमतवत् जडा वा वेदान्तिमतवद् अनिर्वचनीया विनाशशीला अत एव स्वयमेवाग्रे वद्यते[**अन्तरं नैव जानीयाच् चन्द्र चन्द्रिकयोरिव शैवागमे प्युक्तम्[न शिवेन विना शक्ति र्न शक्ति रहितः शिवः]** इति अस्याः सृष्टिसम्पादने या या ऽवस्थोपजायते तस्याः प्रत्येकं पृथङ् नामनिर्देशेन पञ्चविधत्व मुपपादयति निजेत्यादि । अत्र सर्वत्रैव पञ्चप्रकारतयैवोपवर्णने किं प्रयोजन मिति ब्रुवन्तं प्रतिब्रुवीत । पञ्चभूतात्मिकैव सृष्टि रितिसकलै रेव दार्शनिकैरङ्गी कृतम् तान् प्रत्यपि प्रष्टव्यं यत् कुत एतत् भूत द्वयात्मकमेव कथं नेति । यदि चते समादधते ।

सृष्टौ पञ्चानामपि स्वरूपाणि फलानि च पृथक् पृथगुपलभ्य समेषां सद्भावो ऽकामेनापि बलादङ्गीकरणीय इति तदा तैरेव भवत् प्रश्नस्याप्युत्तरं प्रत्तम् । किन्तु स्थूलदर्शित्वान्नावधारयसि । किञ्च तैरपि भवत्स्थुलदृष्टिमनुसरद्भिरपलप्य सत् सम्प्रदायपद्धतिं यथेच्छं प्रातिकूल्येनोपवर्णिताः पदार्थाः स्व स्व दर्शने । अतोऽद्धा विप्रलब्धोऽसि तैर्यत एवं भाषसे, सूक्ष्मदृष्ट्या तु सर्वत्रैव पञ्चविधत्वम् ऋते कूटस्थात् । अतस्तामेव वास्तविकीं स्थितिमादाय निरूप्यते पञ्च विधत्वम् । न तु श्रोतृबुद्धिप्ररोचनाय स्वेच्छया व्युत्क्रम्य कृता व्याख्या । किञ्च कार्ये पञ्चविधत्वं दृष्ट्वा कारणेऽपि तदनुमातव्यमिति सरलसरणिः । विमतं कारणं पञ्चविधम्, पञ्चविधकार्योपादानत्वात् । यन्नैवं तन्नैव घटवदिति सामान्यतो व्याप्तिग्रहः । अनन्तरं पक्षधर्मताविशेषबलाद् विशेषसाध्यसिद्धिः ।

ननु वेदे न क्वापीत्थमभिहितमिति चेत् शृणु । पाङ्क्तं वा इदं सर्वम् । पाङ्क्तेनैव पांक्तं स्पृणोति इति तै०७ अनुवाके तस्यार्थः सर्वो हि संसारः पंचावयवात्मको ऽतः "पंचपदा पङ्क्तिः

इति पङ्क्तिश्छन्दसः लक्षणानुसारेण पञ्चावयवात्मक पङ्क्तिश्छन्दोदृष्ट्या उपास्यः, तदुपासनेन पंचावयवात्मकं प्रजापतिं

प्राप्नोतीत्यर्थः। अनेन स्पष्टमेवोक्तम् यत् कार्यरूपसंसारस्य कारण-रूपप्रजापतेश्च पञ्चावयवात्मकत्वमस्तीति—

भगवद्व्यासपादेनापि गरुड़पुराणे पंच पंच प्रकारेणैव संसृति स्वरूपवर्णनंकृतम् इत्यलम् प्रसंगागतेन प्रकृतमनुसरामः [तस्य] पूर्वोक्त लक्षणलक्षितस्य महेश्वरस्य या नित्यसंसृष्टा अनपायिनी चिदात्मिका शक्तिः, निखिलप्राणिनां सुखदुःखान्यतरात्मक भोगप्रद यावत्कर्मो परमे सति महाप्रलये प्रसुप्ता सती पृथग् व्यवहाराभावभाजिनी एकत्वमापन्नासीत सैवेदानीम् प्राणिनां भोगप्रदकर्मवशात् सृष्ट्युत्पादनाय इच्छाधर्मविशिष्टा संजाता तदा निजा शक्तिरियमिति व्यवह्रितिमापद्यते अनयैव भक्तोद्धारकत्वं शिवस्य अन्यथा असंगत्वात् अद्वितीयत्वाच्च तन्नोपपद्येत अस्या एव अनुग्रह शक्ति शब्देनापि कथ्यते निगमे यया भक्तान् मोचयति निगडबन्धनात्। श्रीमदादिनाथेच्छां बिना जीवस्य स्वप्रयत्न मात्रेण मोक्षलाभम्

प्रत्याशा सिकताभ्यस्तैलनिष्पीड़नाशयैव समा वन्ध्यातः सुतो-त्पत्ति प्रयासवच्चेतिशैवराद्धान्त रहस्यम् -अतो शिवादियं नान्यत्र कुत्रापि जीवे गच्छति किन्तु सर्वदा तदनुगामिनी सत्येव तिष्ठति अतोस्या निजेति नाम नानर्थकम्। महा प्रलय समये ऽस्मिन् निखिलसंसार संसारिणां सूक्ष्मरूपतां सम्पाद्य स्वकुक्षौ समाविश्य चिद्रूपा महाशक्ति रन्तर्मुखासती शिवेनाभेदमनुभवन्ती सृष्टिमकुर्वाणा शिवाश्रिता तिष्ठति इयमेव श्मशानवासिनी महाकाली महाबिन्दुश्च व्यवह्रियते-तदधिष्ठानम् आदिनाथः श्मशानवासी महाकालशब्देन बोध्यते अयमेव अर्द्धाङ्गोगौरीश्वरः अयं हि त्रैकालिकबाधविधुरतया पारमार्थिकः शक्तिमिमामादाय नाद्वैतभंगः किञ्चास्या अविनाशित्वेऽपि न मोक्षा-नुपपत्तिः न वा केनापि दर्शनान्तरेण विरोध इत्यादि विस्तरेणाग्रे विवेचिष्यते प्रतिपदार्थस्तु, इच्छैवेति, इच्छामात्रम् मयूरव्यंसकादित्वात् मात्र शब्देन नित्य समासः स धर्मो यस्या इति बहुव्रीहिसमासे टापि **[इच्छामात्रधर्मा]** ननु धर्मादनिच् केवलादित्यनिच् कथं नेति चेन्न समासान्त विधिरनित्य इति परिभाषाबलात् अथवा इच्छा मात्र

श्चासौधर्म इतिकर्मधारये ततो मत्वर्थीयेऽचि साधु, अतएवधर्मिणीति भूमि निन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेति शायने "इति प्राचीनोक्ति बलेन प्रशस्तो धर्मोऽस्याः सा, प्राशस्त्यमस्या विषयबाध वैधूर्यं या तु लौकिकीच्छा सा कदाचित काचित विफलापि भवति इय तु न जातु वैफल्यमनुभवति । इच्छा धर्म, एतद् वैलक्षण्यबोधनान्न पुनरुक्ति दोषः ।

हिंदी टीका

उपरोक्त पद्य में कहे हुये अनाम पद का स्वयं श्री नाथ जी गद्य के द्वारा व्याख्यान करते हैं—यदि वास्तव में विचार किया जाय तो वह परमेश्वर नाम रूप से भी रहित है और वह स्वय ज्यांवि अनादि सिद्ध है। उसका न कोई पिता न माता न बन्धु न पुत्र कलत्रादि और न कोई उसका कारण है वह केवल एक ही है। भाव यह है कि सजातीय विजातीय तथा स्वगत इस रीति से तीन प्रकार का भेद लोक में ही देखने में आता है जैसे आम आदि वृक्ष का जामुन-नीम, आदि अन्य वृक्षों से जो भेद है वह सजायीय भेद कहलाता है। यद्यपि यहां वृक्षत्व रूप जातिकृत भेद नहीं तथापि आमृत्व आदि अवान्तर जातिकृतभेद अवश्य है। और वृक्ष में विजातीय भेद पत्थर आदि से तथा स्वगत भेद शाखा पत्र आदि से जानना । इस प्रकार उस पर ब्रह्म में तीनो ही प्रकार का भेद नहीं है, क्योंकि वह एक है, इसी लिये उसका सजातीय दूसरा नहीं है।

तथा एव शब्द का प्रयोग करने से सिद्धहुआ कि वह ब्रह्म स्वगत भेद से भी रहित है। और स्वयं आदि पदों से यह भाव निकलता है कि उस ब्रह्म का विजातीय भी कोइ नहीं है इतना । ही नहीं अपितु वह ब्रह्म उत्पत्ति और मरण से रहित है अर्थात् न उसकी स्वतः उत्पत्ति होती है और न उसकी मृत्यु होती है। वस्तुतः वह परमेश्वर ही अपनी चिद्रूप शक्तिद्वारा सबकी उत्पत्ति और संहार करता है। यह परम रहस्य सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। ५

सकल लोक के कल्याणार्थ इच्छा मात्र धर्म को धारण करने वाली और जीवों के सुख दुःख आदि भोगों के निमित सृष्टि और प्रलय में संकोच विकाश धर्म वाली उस श्री आदिनाथ की चिद्रूप से प्रसिद्ध निजा नाम की शक्ति थी। सृष्टि के आरम्भ काल में जाग्रत हुई। इसी निजा शक्ति का धर्म इच्छा है उसी को परमेश्वर का सत्य संकल्प जानना। इसी के बल से परमेश्वर क्षणमात्र में असम्भव वस्तु का भी निर्माण करसकता हैं। अतएव इसी का दूसरा नाम निग्रहानुग्रह शक्ति भी है। क्योंकि प्राणियों के कर्मानुसार भोग देना निग्रह शक्ति का कार्य है और मोक्ष देना अनुग्रह शक्ति का काम है। यह शक्ति महेश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहती इस लिये इसका निजा नाम सार्थक है। ॥५॥

मू० तस्योन्मुखत्वमात्रेण पराशक्तिरुत्थिता ॥६॥

सं० टी०—तस्येति तस्य, निजशक्तिसम्पन्नस्य आदिनाथस्य (उन्मुखत्वमात्रेण) उत्साहगुणेन (पराशक्तिरुत्थिता) सव जननी समुद्गता इत्यर्थं भावः। तस्या एवशक्तेः यदा सृष्टिरचनायै किञ्चिदुच्छून्नता जाता सैवोत्साहः शिवस्य यथा ऽस्माकं कार्यारम्भे मानसोल्लासे समुत्साह इति निगद्यते तथैव शिवस्य शक्तिरेव मनः तस्या उद्रेक एव तस्योत्साहः उन्मूखत्वा पर पर्य्यायो निरुच्यते ऽतः तदवस्थाविशिष्टा सैव शक्तिः पराशक्तिः प्रबुद्धेति व्यवह्रियते अत्रोत्थिता शब्देन ध्वन्यते यत्पूर्वमपि इयमासीदेव ननुनवीनेय जाता एतावानेव विशेषः, यत् पूर्वविरलावस्था सुप्ता सीत् साम्प्रतं घनीभूततया प्रबुद्धेति॥ अनयैव सृष्टि कर्तृत्वम् इयमेव निग्रहशक्तिशब्देन क्वचित् प्रदर्श्यते यदि शक्तावुच्छून्नत्वस्वभावो न विद्येत तदा निष्प्रपञ्चा संगस्यास्य कथं प्रपञ्च वर्धकता घटेत। इयमपि शिवं विहाय नान्यत्र गच्छति। अतएव परा इति सार्थिका संज्ञा। क्वचिदुभयोः इच्छा शक्तित्व मेकीकृत्य एकं नैवेच्छाशक्ति शब्देन प्रतिपादनम् तस्या एवोपासनाकाले ध्यानाय स्त्रीरूपेण गौरीति नाम्ना निर्देशः तथा चोक्तम् स्वेनैव गोरक्षसंहितायाम्। इच्छा क्रिया तथाज्ञानं गौरी ब्राह्मी तु

वैष्णवी, त्रिधाशक्ति स्थिता यत्रतत्परं ज्योतिरोमिति, अनेन स्पष्टमेवोक्तम् एकैव मूलशक्तिः । तत्सहित आदिनाथश्चैक एव शक्त्यवस्थाभेद प्रयुक्त तत्तदवस्था विशिष्टः सन् गौरीपतिः सरस्वतीशः लक्ष्मीरमणश्च निगद्यते नास्ति तेषु भेदलेशः किन्तु पासनायां भेदमाधाय चिन्तने अवस्थासु पूर्वस्या अभ्यर्हितत्वेन मर्दायो गौरीरमण एव वरीयानिति समस्तशैवाननसम्मुल्लासावसरः । नाथानुयायिनान्तु कथैव का स्वादिना थं कूटस्थमुपस्पृशताम् । तथा च शैवागमे कचित् समासेन इच्छा क्रिया ज्ञानात्मकशक्तित्रय वर्णनम् कचिच्च व्यासेन पञ्चभेदनिर्वचनम् अतो न परस्पर विरोधस्तयोः, उपसंहार न्यायात् ॥२॥

भा० टी०-पूर्वोक्त निजा नाम की शक्ति सहित श्री आदिनाथ जी के उत्साह मात्र से ज्ञान प्रधान जगत् जननी सर्वोत्कृष्ट परा नाम की शक्ति जाग्रत् हुई । तात्पर्य यह है कि जैसे हम लोगों का जब कोई कार्य आरम्भ होता है उस समय कार्य सम्पादन के लिये मैं इसे करूं इस रीति से जो मन में उल्लास होता है उसी का नाम उत्साह है । पराशक्ति का मुख्य धर्म ज्ञान है अतः इसका ज्ञानशक्ति भी दूसरा नाम है । इसी ज्ञान प्रधान पराशक्ति के प्रभाव से महेश्वर को परमाणु से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म सकल पदार्थों के स्वरूप का हस्तामलक की तरह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । यहां उत्थित अर्थात् जाग्रत आदि शब्दों से सर्वत्र यह भाव निकलता है कि शक्ति स्वकार्या रम्भ से प्रथम निज कारण में सोई हुई थी और वही शक्ति सृष्टि के आरम्भ में सकल प्राणियों के कर्म से प्रेरित होकर जाग्रत् होती है अन्तर केवल इतना है कि महाप्रलय में वह शक्ति अतिसूक्ष्म रूप से रहती है और जब प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि का समय आता है तब उस शक्ति के जाग्रत होने से प्रबुद्धावस्था अर्थात् स्थूलावस्था होजाती है । यहां पर शक्ति को ही महेश्वर का मनः स्थानीय साधन जानना और उस शक्ति का बढ़ना ही उन्मुखत्व का पर्याय शब्द है और पूर्व अवस्था विशिष्ट परमेश्वर की ही वह

'परा शक्ति' कहलाती है। यह पराशक्ति भी परमेश्वर को छोड़कर अन्यत्र नहींजाती।

मू०—तस्य स्पन्दन मात्रेण अपराशक्ति रुत्थिता ॥७॥

सं० टी०[तस्य] पूर्वावस्थस्य**[स्पन्दनमात्रेण]** अत्र प्रकृत्यादिभ्य इत्यनेन अभेदे तृतीया तथा च केवल स्पन्दनरूपा क्रिया रूपेति यावत् **[अपरा शक्तिः उत्थिता]** पूर्व वदर्थः इयं हि पृथगपि भवति अतएवास्या नामापरा। एतद्विशिष्टः सृष्टिसमये ब्रह्मेति व्यवह्रियते-अनयैव तस्य सृष्टि कर्तृत्वम् इदमत्रावधेम् उत्तरस्याविर्भावे पूर्वस्य विनाशो जात इति न भ्रमितव्यम् पूर्वस्य तदवस्थस्य यथावद् विद्यमानत्व एव उत्तरावस्थाऽपरो विशेषः सञ्जातः। अन्यथा एकस्यैव स्वरूपस्य सद्भावे सृष्टिरेव न सम्भवेत् तथा च सर्वतः प्रथमं अनयैवादिनाथस्य अनन्तब्रह्माण्डकर्तृत्वम् पश्चात् प्रत्येक ब्रह्माण्डे एकैकं ब्राह्मणं विरचय्य तस्मै तस्मै इमां शक्तिं प्रदाय स्वयं स्वस्थोभविष्यन्ति ततः प्रभृति त एव ब्रह्माणः प्रत्येक ब्रह्माण्डे सृष्टिं रचयिष्यति। अतएवोक्तम् इयमन्यत्रापि गच्छति। ७

भा० टी० आदिनाथ से अधिष्ठित जो परा शक्ति है उसके कुछ चलने मात्र से उसमें सोई हुई 'अपरा' नाम की शक्ति जाग्रत हुई, यह शक्ति क्रिया प्रधान है, और महेश्वर से अलग भी हो सकती है। इसी कारण इसका नाम अपरा शक्ति है। इस शक्ति विशिष्ट को हिरण्यगर्भ, ब्रह्म इत्यादि नामों से कहते हैं। इसी शक्ति के द्वारा परमेश्वर जगत् की रचना करने में समर्थ होता है। यहां पिछली शक्ति के जाग्रत होने पर पूर्व शक्ति का नाश नहीं होता। किन्तु पूर्व २ अवस्था विशिष्ट आदि नाथ के रहते हुए ही उत्तर २ शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि एक अवस्था विशिष्ट होने से तो सृष्टि का होना ही असम्भव है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह परमेश्वर समस्त सूक्ष्म सृष्टि के कार्य को समाप्त करके बाद में इसी क्रिया प्रधान शक्ति के द्वारा

अनन्त ब्रह्माण्ड और असंख्य ब्रह्माओं की रचना करता है। तथा प्रत्येक ब्रह्माण्ड में एक २ ब्रह्मा को अध्यक्ष रूप से नियुक्त करता है। और उन सब ब्रह्माओं को भी इस क्रिया प्रधान शक्ति से सम्पन्न बनाकर अपने अपने ब्रह्माण्ड में स्थूल सृष्टि का कार्यभार देकर स्वयं स्वस्थ होजाता है। बाद में ये सब ब्रह्मा अपने २ ब्रह्माण्ड में स्थूल जगत् की रचना के धन्धे में लग जाते हैं। ७

मू०—ततोऽहंतार्थ मात्रेण सूक्ष्मशक्ति रुत्पन्ना ८

सं० टी०—ततइति [ततः] पूर्वावस्थोदयानन्तरम। अहन्तार्थ मात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना। अभेदे एव तृतीया तथा च अहंता, अहं भावश्चासा अर्थः, प्रयोजनं तद्रूपा कर्मधारयेण अहंभवरूपैव न तु तज् जनिका इत्यर्थः फलितः। अथवा बहुव्रीहिः तदा अहमाकार साधनीभूता विमर्शापरपर्य्यायाशक्ति रुत्पन्ना प्रबुद्धा इति सिद्धान्ताभ मन्दानां दृष्ट्या, उत्पत्ति पदमभिहितम् इति तु वक्ष्येऽसत्संप्रदाये-त्यत्रैवोक्तं मया मात्रपदेन तदानीम् अयमिति प्रथमपुरुषव्यवहार कारणस्येदमाकारस्य वृत्तिविशेषस्य। त्वमिति मध्यमपुरुषव्यवहृ त निदानस्य त्वमाकारस्य च व्यावृत्तिः प्रतिपाद्यते अर्थात् निखिल संसार द्वैतजातस्य तदानीं तद्गर्भप्रविष्टतया पार्थक्येनाननुभूयमानतया भेदकाभावात् अहमित्याकारक एव विमर्शशक्ते वृत्तिविशेषः प्रादुरासीत् स एव सूक्ष्माशक्तिः सर्वसृष्टिसामग्री अत्रैव सूक्ष्मतया निहिता। अनन्तरं प्राणिभोगप्रदकर्मसंक्षोभवशेन बहिर्निः सरिष्यति विरंचि प्रपञ्चो यथा प्रावृषि मृद्भावापन्नाः भेकाः मृदः निःसृत्य भकभकायन्ते। इयमेव शुद्धा विद्या ज्ञानशक्तिरिति च निगद्यते अनयैव पालकत्वम॥ इयमपि अन्यत्र गच्छतीति पूर्ववज्ज्ञेयम। अयमत्र विशेषो यत्, एतच्छक्तिसमन्वितो विष्णु विराट् इति निगद्यते इदमेवं स्वरूपं सच्चिदानन्दकन्दो भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रः स्वभक्तमर्जुनं प्रदर्शयांचकार यत्प्रतिपादितम् श्रीव्यास पादेन भगवद्गीतायाम्। वेदेऽपि तदैक्षत बहुस्याम प्रजायेय, सोऽकामयत बहुस्याम् प्रजायेय, इत्यादा अहमाकारेणैवाभिलापः।

ननु इयं शुद्धा विद्या इत्यत्र किं मूलमिति चेत् शृणु । अहम् ब्रह्मास्मीत्यादि महावाक्यजज्ञानस्यैव विद्यात्वं सर्वत्र प्रतिपादितम् उपपद्यते चापीदमेव यथा परमेश्वरस्य अहमाकारेणैवनिखिलसंसारस्य भाने न भेदप्रयुक्तदोषादिमालिन्य प्रसङ्गः तथैव तं विना भेदप्रयुक्तदोष-मालिन्यनिरासस्य न कोऽप्यन्यः प्रतिकारो भवितुमर्हः । भेदभाने अशुद्धत्वम् तस्मिश्च सति कथमन्यत्र शक्यम् शुद्धविद्यात्वं वक्तु मतः सैव शुद्ध विद्या ।

अतएव विद्यया मोक्षप्रेप्सवः तदधिष्ठातारं ब्रह्मविष्णुरुद्र समष्टीभूतमादिनाथं महाकालं महाकालीरूपनिजशक्ति सहितम् वा महाकाल सहित महाकालीं समुपासते वस्तुतस्तु एतासां शक्तीनाम विनाभावतया सर्वत्र सर्वासां सद्भावः, ताभिः रुद्रो ब्रह्माविष्णुर्वा सर्वं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्त्तु समर्थः । भेद व्यवहारस्तु तत्तद्गुण बाहुल्याभिप्रायेण वस्तुतस्तु एक एव तत्तत्कार्यावसरे तत्तत्स्वरूपं प्राधान्यं तत्तत्संज्ञया प्रख्यायते, इत्थमभेदभावनयैव स्वीयध्येयस्वरूपो पासनेन निजध्येयरूपं, साक्षात्कृत्य अन्यदपि रूपं साक्षात्करोत्येव तेनैव बलेनेति निः कण्टकः पन्थाः । अनयैव जगत्कर्तृत्वं शिवस्य । अयमेव शब्दार्थौ भयात्मक सृष्टिकारणं बिन्दुरूपं शब्दब्रह्मेति व्यवह्रियते—इममेव मनसि निधायाह श्री भर्तृ हरि योगीन्द्रः वाक्य पदीय अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्त्व इत्यादि । अस्यार्थो विस्तृतरहस्य पिपासुना मत्कृततद्दीय टीकायां द्रष्टव्यः ।

हिन्दी टीका—उसके बाद आदिनाथ से अधिष्ठित अपरा शक्ति के अहंकार के अभिमान मात्र से सूक्ष्मा नाम की शक्ति और प्रकट हुई । इसी शक्ति के बल से परमेश्वर को सर्वप्रथम मैं ऐसा अभिमान होता है । उस सृष्टि के आरम्भ समय में अन्य की अभिव्यक्ति न रहने से केवल एक परमेश्वर का ही अहंकार था । और उस अहंकार की कुक्षि में समस्त चराचर जगत् सूक्ष्म रूप से विलीन था । इसी लिये उस समय अयम् (यह) इस प्रकार प्रथम पुरुष का और त्वम् (तू) इस मध्यम पुरुष का व्यवहार नहीं था,

किन्तु अहम् (मैं) यही व्यवहार था। अतएव अहं यह उत्तम पुरुष कहा जाता है इसी का दूसरा नाम विमर्श शक्ति भी है। और यही शुद्ध विद्या (ब्रह्म विद्या कहलाती है, क्योंकि इसमें किसी द्वैत प्रपंच का भान नही रहता, और साधारण जनों की अहं बुद्धिद्वैत विशिष्ट रहने से अविद्या कहलाती हैं। इसी लिये यह बन्धन का हेतु होती है, और शुद्ध विद्या मोक्ष का हेतु होती है। इसी शुद्ध विद्या ने हिमालय की पुत्री उमा का रूप धारण कर इन्द्रादि देवताओं को दर्शन दिया। यह कथा केनोपनिषद् में प्रसिद्ध है। अतएव उपनिषदों में भी 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महावाक्यों से उत्पन्न होने वाली अभेदभावना को ही ब्रह्म विद्या, महाविद्या, शुद्धविद्या राजविद्या इत्यादि नामों से कहते हैं। ८

मू० ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता। ९

सं० टी०—ततो वेदनेति [ततः] अनन्तरम् [वेदनशीला] विद्यते अनयेति करणसाधनेन ज्ञानसाधनीभूत शब्दा वेदनपदार्थाः। विद्यन्ते ये ते वेदना इति कर्म व्युत्पत्त्या ऽर्थभूताः घटपटादिस्वरूपाः वेदनपदार्थाः भावसाधनेन चिद्रूपोऽर्थः। तथाच परिणामरूपेण शब्दार्थोभयकारणरूपा। स्वयमचिदंशबीजवासनान्तर्निहित सत्वसमाविष्टा चित् [कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता] तन्नाम्नीशक्ति रुदिता। अयमत्र संग्रहेण सूक्ष्मतमसारतरोऽर्थः॥ उपभोगप्रदयावत्कर्मोपरमे विरञ्चिप्रपञ्चे प्रचलितानवरतव्यापारजनितश्रमनितान्तश्रान्ता खिल निज सन्तान प्राणिनिकराय स्वास्थ्यं प्रदातुं निखिल ब्रह्माण्डं स्वोदरभाण्डे प्रविलाप्य जगदम्बा निजा शक्तिर्महामाया प्रकाशमात्र स्वरूपमाधाय सच्चिदानन्दघनशिवेना त्यन्ताभिन्ना भूत्वा तिष्ठति अयमेत्र महाप्रलयकालः। तस्मिन् समये सकल कार्य्य करण दक्षोपि शिवः, अशक्तः सन् किमपि कृत्यं कर्त्तुमलं न भवति। इयमेव विश्रमणावस्थाशिवस्य यथा व्यष्टौ प्रत्यहं जीवानां सुषुप्त्यवस्था इदमत्र वैलक्षण्यं यज् जीवस्य सुषुप्तौ प्रकाशात्मकान्तःकरणस्य तमोरूपात्मकाविद्यायां लीनतया ऽन्धकारस्यैवानुभवः, निज ज्ञाना

नन्दस्यानाविर्भावेऽपि द्वैतप्रपञ्चविरचितशोकसमुहाननुभवनिमित्तक सुखानुभवश्च भवति। अतएव तदनन्तरं प्रबोधे सुखमस्वाप्सम् नाहं किञ्चिदवेदिषम् मूढोहमासमित्यादि स्मृतिर्जायते ऽन्यथा विनानुभवं स्मृतेरभाव एव भवेत् लोके कालान्तरेऽनुभूतस्यैव समयान्तरे स्मृति नियमात्, तदानीन्तु तमोऽपि नासीत् प्रकाशमात्रातिरिक्तस्य सर्वस्यैव विरहो ऽतएव तदनन्तरं सृष्टिसिसृक्षासमये, अज्ञोहमासमिति न परामर्शः शिवस्य द्वैतप्रपञ्चानुभवविरहितत्वेनोभयोः साम्यादुप मानोपमेयभावो वेद्यः। इयमेवावस्था आचार्य्यपादैः सूचिता प्रारम्भे अनामेत्यादिना, वेदेऽपि सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवा द्वितीयम् इत्यादि। एतत्कालिकमहाशक्तिस्वरूपवर्णनं राजतन्त्रे ऽपि कृतम्। अचिन्त्या मिताकार शक्तिस्वरूपा प्रतिव्यक्त्यधिष्ठान सत्तैकमूर्त्तिः। गुणातीत निर्द्वन्द्व बोधैक गम्या त्वमेका परब्रह्म रूपेण सिद्धा। अस्मिन् समये विश्वाधारनिजमहाशक्तेः प्रसुप्ततया ज्ञानघनोऽपि शिवः सत्सम्प्रदायमतेन तत्रैव निखिलपदार्थस्य सूक्ष्म रूप सद्भावेऽपि नैव वेत्ति नवा किञ्चिदपि करोति। अतः स्पष्टतः सिद्धं यत् शक्ति रहितः शिवो न किञ्चदपि वेदितुं वा विधातुं पारयति। अयमेव महानुभव आचार्य्यपादेन मादृग्भ्यः शिक्षयितु मुद्गारि "शिवोऽपि शक्ति रहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन" इति एतदेवानुमोदितमन्यैः "शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि। लोकेऽप्यनुभूयते कोऽपि श्रान्तो विश्रान्त्यै एकान्ते सुखशय्यामध्यासीनः तत्र तदाय शक्तिःप्रसुप्ता सती तदभिन्ना भूत्। अतो महालस्येन व्याप्तः शान्ति सुखमनुभवति तदानीमन्येन केनचन पृष्टो जानन्नपि अज्ञइव न किञ्चिद्वेत्ति नवा किञ्चित्करोतीति सार्वजनीनोऽनुभवोजागर्ति इयं निजाऽपि न व्यवह्रियते यतो साऽपि कूटस्था शिवोऽपिकूटस्थः। अनया एतर्हि किमपि न करोति किन्तु सर्वेषां शून्यतया शिवः श्मशान वासी महाकाल शब्देन शक्तिश्च महागौरी महाकाली शब्देन व्यव ह्रियते। उमाकात्यायनी गौरी काली हैमवतीश्वरीत्यमरः। इयंभक्ता नुग्रहायानरतीति देवराजाय स्वभक्ताय सर्वतः प्रथमं दर्शनं ददाविति

केनोपनिषदि ३ खं० स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां हैमवती मिति सोऽपि व्यवहार इदानीमेव स्वीयलक्ष्य परिचयाय साधकाः कुर्वन्ति न तदानीमासीत्। अतएव केनचित् विन्दुशब्देन व्यवहारोऽकारि तन्त्रे परब्रह्म पदेन वेदान्ते, अन्येऽपि तत्त्वज्ञाः साधका एतत्स्वरूपमेवलक्ष्यी कृत्य स्वस्वाभीष्ट शब्देन व्यवहरन्ति व्यवहरन्तु। आचार्यकरुणा कटाक्षप्रदर्शित मार्गे वस्तुतोऽन्वर्थतासंघटनात् महाकालशब्देन शिवशब्देन च व्यवहार एव समुचितः सफलश्च। कालयति, क्षेपयति अन्त्यभावंनयतीतिकालः। तस्यापि अन्त्यभावप्रापकः महाकालः शेते जगदस्मिन्निति शिवः। एतत्स्वरूपप्राप्तिरेव मोक्षः। अयं हि स्वभोगार्थं न किमपि करोति आप्तकामत्वात् प्राणिनांकर्मानुसारफलदानायैव तटस्थः सन् , सकलं कृत्यं करोति बहुरूपमपि धारयति महारूपमपिदेवमनुष्य विग्रहं वराहरूपं वा स्त्रीरूपं पुरुषं सर्वशक्तिमतोऽस्य कृते किन्तत् विचित्रं यन्न चित्रयेत। वेदोऽप्याह त्वंस्त्री, त्वम्पुमान्, त्वं कुमार उत वाकुमारी त्वं जीर्णो दण्डे न वञ्चसि इत्यादि श्वे ३ किन्तु मन्दो बालः तत्वज्ञभाषां श्रुत्वा हसंत्येव दोहि स्वनगरं हीत्वा नगरान्तरं जानात्येव नहि तम्प्रति देशान्तरीयमहानगरस्थ नाना पदार्थ वर्णनं हास्यायै-व नूनं तथा स्वभुवनं विहाय यो लोकान्तरं स्वीकरोत्येवमहि तम्प्रति, अनन्त शक्तिमतः गुणानां गानम् खपुष्पायमाणमेव तावता तत्त्वज्ञा न जातूदासते स्वकृत्यं मत्वा वर्णयन्त्येव सम्भवेत्कदाचिद् ईश्वरानुग्रहेण तस्यापि तोषः। अवतार वादे इयमत्र सुरगुरुणाप्यशक्यनिरसना युक्तिः। भक्ताः स्वभावनानुसारेण ऽल्पमपि फल मनल्पं मन्यमानाः प्रार्थयन्ते यदिचात्र सर्वज्ञः स्वभावनानुसारेण सर्वोत्कृष्टं मोक्षमेव फलं कर्मोद्देश्य विपरीतं वितरेत् तदा सर्वेषां विनैव ज्ञानं कथन्नैक पदे मोक्षं विदधाति तथासति नेदानीं विश्वमिदं नयनपथ मधिगच्छेत् किञ्च कस्मै चिन् मोक्षं परस्मैनेति स्वेच्छया विदधद् रागादि दोष वत्त-ये श्वरत्वादेव प्रच्यवेते त्यपरञ्च गण्डोपरिस्फोटसमंदूषणं यदनभिल-षितं वितरणे, उन्मत्ततापत्तिः। रसालफलं प्रलिप्सवे द्राक्षाफल प्रदानवत।

दरिद्रजनवच्च याचकभावनाननुरूपवितरणे सर्वशक्तिमत्त्वभंग प्रसंगो वज्रलेपायितः।

अत ईश्वर सिद्धि लोभाद् भक्त संकल्पानुकूलमेव फलं ददातीति स्वीकरणीयम्। तथाच भक्ता यद्यत् संकल्पयन्ते तत्तत् सम्पादयितुं नटवत् नृत्यतीति किमिति चित्रं सर्वज्ञस्य सर्वशक्तिमतश्च-कृत इति। एवमेव मुक्ताअपि योगिनः स्वप्रयोजनाभावेऽपि अनया शक्त्या स्वभक्तानां संकल्पसिद्धयेऽ वतरन्ति। पुनरुपदिश्य योगधर्मान् स्वमहिम्न्यवतिष्ठन्ते यथा आचार्यपादा इति विशेषजिज्ञासुनाऽस्यचरित्रवर्णने द्रष्टव्यम्। यदान्तर्निहित प्राणिकर्मवासना संक्षोभवशान्महाशक्तौ संसार सिसृक्षा जायते तयैवेच्छया शिवोऽपि संसारं सिसृक्षुः, तदेयम् निजा १ व्यवह्रियतेऽनन्तरं निविडा भूत्वा शिवस्यसाम्मुख्यमाधत्ते सापरा २ तत्रशिवस्य प्रतिबिम्बो जायते शिवे च तस्याः प्रतिविम्बः तदा शिवशक्त्योः सम्पुटीभावः। इदमेव स्पन्दनम् इयमपराशक्तिः ३ अत्रात्मदर्शनं यथा स्वमुखदर्शनेच्छा जायते तदा आदर्शमानीय स्वसन्निधौ संस्थाप्य तत्र प्रतिविम्बे सति स्वमुखम्पश्यति। अनन्तरं विमर्शशक्तिश्चतुर्थी ४। अहमाकारानुभवकारणम् सूक्ष्माशक्तिरायाति अहमनुभवविशिष्टः शिवो वासनारूपेण शक्तिकुक्षिनिक्षिप्तानखिलान् संसारान्स्वाभिन्न-तयैवानुभवति, अत इयं शुद्धाविद्या व्यवह्रियते। एतस्या बलेनैव दुःखा-नुभवस्यात्यन्तविरहः। अस्या जगत्कारणत्वेऽपि ईदृश्या एवावस्थायाः सद्भावे सृष्टिरेवासम्भविनी, अतोऽस्या अवस्थान्तरः परिणामः। शब्दार्थोभयरूपाकुण्डलिनी शक्तिः ५ समष्टौ ब्रह्माण्डस्य व्यष्टौ पिण्डाण्ड-स्य च जननी, इयमेव विन्दुपदेन व्यवह्रियते, अचिदंशसत्वनिविष्टा चिद्रूपा तत्राप्यर्थसृष्टेः पूर्वमेव शब्दसृष्टिर्भवति श्रुतिरप्याह भूरिति व्याहरन् भूमिमसृजतेत्यादि, अतः प्रभवः प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। वेद शब्देभ्य एवादौ निर्ममे समहेश्वर इत्यादि स्मृतिः। लोकेऽपि प्रथमं शब्द एव बुद्धौ निपतति पश्चात्तदनुकूलमर्थं विरचयन्दृष्टः। अर्थो ऽविद्यमानं-शब्दं नोपस्थापयितुमलम्। शब्दस्त्वविद्यमानमप्यर्थं समुपस्थापयति अतएव योगसूत्रे शब्दज्ञानानुपातीवस्तुशून्यो विकल्प इति। शब्द वशात्

वाह्यसत्ताविहीनोऽपि बौद्धोऽर्थोऽव्यवहृतिगोचरतामुपै तीत्यतो विपर्य यातिरिक्त इति सिद्धान्तितम्। तेन परावागित्यपि सैव यत एतस्या एव परिणामः। अर्थात् वहिर्मुखावस्था विद्या, शब्दसृष्टौ पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूपा अर्थसृष्टौ जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त्यवस्थारूपा वा इच्छा क्रिया ज्ञानरूपा गौरी ब्राह्मी वैष्णवीरूपा रौद्री ज्येष्ठा वामारूपा वा त्रिकोणरूपचक्रं जायते तदेव शक्तिचक्रम्, शक्तिचक्रक्रमेणैवेत्यत्र वक्ष्यन्ते आचार्यपादा विस्तरेण ॥ अस्या एव ज्ञाने समुत्थापनेच मोक्षोऽणिमादिसिद्धिश्च पद्यते, अस्याः सर्वत्र सद्भावेऽपि सास्नादिमति गोत्ववत् लिङ्ग गुदयोरन्तराले गुह्यदेशे मूलाधारे विशेषेणाभिव्यक्तिः सर्वेषान्तदेवोक्तम् स्वैनैव "हठयोगप्रदीपे कन्दोर्द्ध्वकुण्डलिनीशक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्। बन्धायच मूढानां यस्ताम्वेत्ति सयोगवित्। इयं न सर्वजनवेद्या नाड़ीरन्ध्रस्य सम्वृततया तत्र बुद्धे र्वा मनसो योगाभावेन निश्चयस्य विकल्पस्य वा विषयो न भवितुमर्हः किन्तु योगक्रियया निर्विकल्पकसमाधिप्रज्ञावेद्या, यदेयं चिद्रूपा प्रयत्न पवन प्रेरितेन संस्कारीभूता नाभिदेशं गच्छति तत्र सैव पश्यन्ती संज्ञां लभते तदा मनसः संयोगेन विकल्पविषयो भवति ततोप्युद्ध्वं गच्छती हृद्देशे पदरूपा सती तत्रबौद्धार्थेन तादात्म्यापन्ना भूत्वा ऽर्थ वोधंजनयन्ती तत्र बुद्धया संयोगेच निश्चितिगोचरीजायते, ततोप्युद्ध्वमप्रयान्ती मुर्द्धानमाहत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु वाय्वभिघातेन वखरी पदवाक्य रूपमाधाय परश्रवणविषयो भवतीति शिक्षायामुक्तम् आत्माबुद्ध्या समेत्यर्थान्मनोयुङ्क्ते विवक्षया, मनःकायाग्नि माहन्ति सप्रेरयति मारुत मिति, अवशिष्टन्तत्स्वरूपवर्णने व्याख्यास्यते। एतावानर्थ एतावत्प्रघट्टकस्येतिदिक्।

भा० टी० उसके अनन्तर वेदन शीला तत्त्वज्ञान की साधन भूत चित् स्वरूप परावाक् शब्द ब्रह्मस्वरूप सर्वत्र व्यापक सकल चराचर जगत् की जननी 'महाकुण्डलिनी" शक्ति प्रबुद्ध हुई। वही कुण्डलिनी आत्म विमूढ पुरुषों के बन्धन का हेतु होती है, और जो योगाभ्यास द्वारा इसको जाग्रत् कर लेते हैं उनके लिये सकल सिद्धियों

को देती हुई मोक्षद्वार के कपाट खोल देती है। इसी भाव को स्पष्टरूप से आगे चलकर कुण्डलिनी प्रकरण में कहेंगे। इस कुण्डलिनी शक्ति में दो अंश हैं। चिदंश, और जडांश। जब जडांश की प्रधानता होती है और चिदंश गौण होता है, तब उस चित् अंश का दृश्य होकर वह जड़ांश अपने परिणाम द्वारा शब्द सृष्टि का तथा सकल भूत भौतिक ब्रह्माण्ड आदि अर्थ सृष्टि का कारण होती है। इसी कुण्डलिनी महा शक्ति का जो अचिदंश है उसी को अनिर्वचनीय माया भी कहते हैं, तथा कितने ही उसको प्रकृति और प्रधान पद से कहते हैं।

अर्थ सृष्टि और शब्द सृष्टि इन दोनों में भी पहले शब्द सृष्टि होती है। सब से पहले श्रीमहेश्वर आदिनाथ जी की कृपा से हिरण्यगर्भ ब्रह्मा की बुद्धि में सकल विद्याओं के भंडार 'वेद' स्वतः अभिव्यक्त हुए, फिर ब्रह्मा जी ने उन वेदों में जो जो शब्द देखा उसी के अनुसार समस्त जगत की रचना की। इसी भाव को श्रुति कहती है—

"भूरिति व्याहरन् स भूमिमसृजत"

स्मृति में भी कहा है—

"अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः॥

यद्यपि शुद्ध ब्रह्म से सृष्टि होना असम्भव है तथापि यहां सन्देह का अवकाश नहीं है क्योंकि शुद्ध ब्रह्म में भी परम्परा से निजा शक्ति द्वारा बीज रूप से यह समस्त विश्व विलीन था, उसी विलीन जगत का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भाव हुआ, तथा ब्रह्मगत असंगत्व की हानि भी नहीं होसकती अज्ञान के बल से रस्सी में देखा सर्प रस्सी की कुछ भी हानि नहीं कर सकता। वास्तव में ब्रह्म तो जैसा का वैसा ही है, परन्तु अज्ञानी को संसार रूप से भासमान दिखाई

देता है। यह उपर्युक्त प्रक्रिया वेद में भी सूक्ष्म रूप वर्णित है उसीका यहां स्फुट रूप से व्याख्यान किया गया है।

देखिए वेद में—

"सदेव सौम्येदमग्रआसीदेकमेवाद्वितीयम्" ६

मू०—नित्यता १ निरञ्जनता २ निष्पन्दता ३ निराभासता ४ निरुत्थानता ५ इतिपञ्चगुणा निजाशक्तिः १०

टी० मूलशक्तेः पञ्चावस्थाः। अवस्थैव गुणो धर्मो वा व्यवहर्तुं युज्यते तदाश्रितत्वात्, तथाच साऽपि समष्टिरूपिणी पञ्चगुणा, अतः तस्याः प्रत्येकावस्थास्वपि पञ्चगुणकत्वस्य सामञ्जस्यम्, तयोरभेदात् तत्र के के गुणा इति जिज्ञासां शमयति तन्नामोल्लेखेन भगवान्मूलकारः, निजशक्तौ पञ्चगुणाः सन्ति प्रथमः **[नित्यता]** ध्वंसप्रागभाव रहितत्वम्, इदानीं नास्ति किन्तु भविष्यतीति प्रतीतिसाक्षिकः प्रागभावः, इदानीं नास्ति किन्त्वासीदिति प्रतीतिसाक्षिकोध्वंसश्चेत्युभयं निजशक्तौ न जातु केनापि प्रेक्षावता व्यवहर्तुं शक्यते तस्याः परिणामेऽपि सेयमिति बुद्धिविघाताभावात्, यथा मृदो घटावस्थायामपि मृन्नेतिबुद्ध्यभावः। द्वितीयः। **[निरञ्जनता]** रागद्वेषादि दोषनिकरोऽञ्जनंतद्रहितत्वम् तृतीयः **[निष्पन्दता]** चलनरहितत्वम् व्यापकत्वात् अथवा तत्त्वान्तरदशाशून्यत्वम् नित्यत्वात् वयमुत्वश्यामः स्पन्दनं पूर्वदेशं विहायान्तरदेशसंयोगानुकूल व्यापारः तदभावो निष्पन्दता। इयं हि परमशिवं कूटस्थं विहाय नान्य माश्रयते, अतःस्पन्दन शून्यत्वमस्याः स्वभावसिद्धोधर्म इति। चतुर्थः **[निराभासता]** आभासः प्रतिबिम्बः तद्विरहत्वम् अस्यां न शिवस्य प्रतिबिम्बोभवति स्वतोभेदभानाभावे तदानीमुपाधित्वाभावात् पञ्चमः **[निरुत्थानता]** उत्थानं संसाररूपेण परिणामः, तद्विधुरत्वम्, तदानीं सृष्ट्यभावात्, ननु द्वयोश्चिद्रूपत्वेपि-

चन्द्रचन्द्रिकयोरिव आश्रयाश्रितत्वस्वीकारेण शिवो जगतो विवर्तोपादानम् शक्तिश्च परिणामोपादानम् इति विशेषोऽवलादङ्गीकार्यः। अन्यथा सर्व-साम्ये शक्तिरेव न सिद्ध्येत् एकत्वापत्तेः, तथा च सांख्ये या प्रकृतिः वेदान्ते च माया सैव भवतां शक्तिनामान्तरेण व्यवह्रियते तदा तन्मतात्को विशेषोऽत्रेतिचेन्न जगदुपादानभूता सांख्यीया प्रकृतिः मदीयचिद्रूप शक्तौ प्रलये लीयते सृष्टौ ततएवाविर्भवतीति स्वीकारेण तस्याः स्वातन्त्र्यभंगः केवलजडत्वभंगश्च शक्तिः चिज्जडोभयात्मिका। तत्र चिदंशः प्रधानमाविर्भावतिरोभवरहितो जडंशस्तु प्रधानम् आविर्भावतिरोभाववती प्रकृतिपदवाच्या मायापदाभिधेयाच भवतीति महान्विशेषः शक्तिः स्वीयजडांशप्रकृति रूपेण जगतः परिणामोपादानम् इति शिवशक्तयोर्भेदः। एतेनसर्वसाम्ये निर्भेदैकत्वमापद्यतेति परास्तम्। तस्याधिष्टानत्वेनास्या अधिश्रितत्वेन भेदाच्च। इदमेवोक्तम् तेध्यान योगानुगतेति पूर्वोक्तश्रुतौ देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् इतिपदेन। देवस्य शिवस्यात्मभूता शक्तिः। अत्र त्मपदस्वारस्येन चितोदेवस्य चिद्रूपैव शक्तिः सा स्वगुणैः सत्वरजस्तमोभिः प्रलयकाले साम्येन सूक्ष्मरूपैः निगूढाम्, अन्तर्हितनामाच्छन्नां सृष्टौ वैषम्येण कार्यात्मक स्थूलरूपै राच्छादितामिति भंगमकृत्वैव स्वारसिकोऽर्थः सहृदयैराकलनीयः। अत्रस्वपदेन जड़प्रकृतौ चिद्रूपपराशक्तेर्स्वीयत्वबोधनेन तदंशत्वं सूचयति। एवञ्चोभयात्मिका शक्ति रिति स्पष्टम्। अतो जडांशस्या-गमापायित्वेऽपि चिद्रूपाया निजशक्तेर्नित्यत्वम् युक्त मुक्तं भगवता योगिराजेन मूले। ननु वेदान्ते चिद्रूप शक्तिं ब्रह्मण्यन्तर्भाव्य जडोपादा-नभूतमायाया अनिर्वाच्यत्वमभिथषत तथाहि न सत् सर्वथाऽवाध्यत्वा-भावात् नाप्य सद् असत्वेनाप्रतीयमानत्वाभावात् शशशृङ्गवत् 'नाप्युभय-रूपम् अवाध्यत्वरूपसत्वस्य तद्विपरीतवाध्यत्वरूपासत्वस्यचोभयोरेकत्र क्वाप्य दर्शनेन च परस्पर विरोधात्, अतोऽनिर्वाच्यत्वम्, अयञ्चालंकार एवेति। अस्यास्तत्त्वज्ञानेनात्यन्तोच्छेदे मोक्षोभवतीति **[भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्ति रिति श्रुत्या]** प्रमीयते, एवञ्च कथं शक्ते नित्यत्वम्प्रतिष्ठाप्यतेऽन्यथा तत्रापि मोक्षदशायां संसारादविशेषः प्रसज्येत इतिचेच्छृणु रहस्यम्। निवृत्तिपदार्थः स्थूलावस्था-

विरहविशिष्ट सूक्ष्मरूपेणावस्थितिः कार्यस्य, यथा घटावस्थाविरहविशिष्ट मृद्रूपम् नतु निरन्वयविनाशः सद्वादिमते प्रमाणपद्धति मध्यास्त इति बौद्धमतखण्डनावसरे वेदान्तिभिरपि बहुशः समुद्घुष्यते। तदिह कथं विस्मृतमिति त एव प्रष्टव्याः। वयन्तु ब्रूमो ऽचिद्रूपा परा शक्तिरेव भोगप्रदसञ्चितकर्मभिःक्षुभिता जडांशतः संसाररूपेण परिणमति तत्र शिवस्य मायायां प्रतिविम्वः। अवच्छेदोऽीश्वरः। अन्तः करणेषुप्रतिविम्वा अवच्छिन्ना वा जीवाः। प्रथमः प्रेरयिता ऽन्तर्यामी, द्वितीयाभोक्तारो जीवाः, पञ्चभूताद्यात्मकपरिणामश्चभोग्यम् इतित्रिविधव्यवहारः सृष्टौ तदाह **[भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा। जीवेशा वा भासेन करोति माया चाविद्याच स्वयमेवभवतीति]** अनया जीवेश्वरकर्तृत्वम् शक्ताविति स्पष्टमेवोक्तम्। तत्वज्ञानेन शुद्ध विद्यया यदा कर्मणां बीजभावः प्रदह्यति तदा सहकारि कारणविरहात् संसारं न रचयति। अचिदंशस्य चिद्रूपे लयात् केवल चिद्रूपा तिष्ठति सैव शक्तिरन्तर्मुखा व्यपदिश्यत इयमेव मोक्षावस्था संसाराद्विशेषः. शक्तेश्चदग्धबीजवदत्यन्तोच्छेदोऽपि न भवतीत्युभयं सिद्धम् शक्ति र्नित्या मोक्षश्चेति महत्कौशलमायातम् येहि परमेश्वर स्वरूप प्राप्तिरेव मोक्ष इति स्वीकुर्वन्ति ब्राह्मण जैमिनिरिति तेषांमते सत्यका-मत्वादिधर्माणां तत्रापि विद्यमानतया तत्कारणशक्तेरपिसद्भावेन मोक्षेऽपि शक्ते र्विनाशाभावान्नानित्यत्वम् किंचपादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपाद-स्यामृतं दिवी तिमन्त्रेण सृष्टेरेकदेशतया तत्रत्यशक्ते र्विनाशेऽपि मोक्षे ब्रह्मसमव्याप्तशक्ते स्त्रिदेशे विद्यमानतया न नित्यत्वस्वीकारे काचित् क्षतिः। किञ्च येहि, अविद्या तत्कार्याविषयकस्त्वोपहित शुद्ध चिद्विषयिण्या विद्यावृत्ते रविद्याविनाशकत्वं स्वीकृत्य स्वस्या अपि स्वया विनाशं वदन्ति। एतन्मते शुद्धब्रह्मरूपावस्थानं मोक्षः। तत्रविचारणीयम् एकस्यैव विनाश्यविनाशकभावो न कापि लोके दृष्टचरः। एवं चेय मुत्प्रे क्षा स्वशिष्यान् जडभक्तान् प्रत्येव परं शोभते यत्तु कतकरजो दृष्टान्ततया समुपन्यस्यते तदपि न प्रेक्षावतां, मनःसंतोषमा-धातुमलं तथा हि कतकं न स्वस्य विनाशकमपि तु सलिलमनाविलं विदधत् स्वयन्तदधस्तिष्ठति न जातु विनश्यतीति प्रत्यक्ष क्षणेनैव

परीक्षणीयम् ? ननु विद्यावृत्ते विनाशकारणमन्यदेव भवत्विति चेद् वद किं तत् । वृत्यन्तरं तत्सजातीय मिति चेत् तस्याप्यन्यद्विनाशकं तस्याप्यन्यदिति निरवधिकवृत्तिस्वीकारेऽनवस्था प्रसङ्गादन्ते कस्याअपि नित्यत्वमवश्यमङ्गीकरणीयम् ततोवरं यदादावेव तदभ्युपेयम् अविद्याध्वंस एव विद्यावृत्तेर्विनाशकइत्यपि न युक्ततरम् अभावस्य कारणत्वानभ्युपगमात् अन्यथाऽभावकारणवादिनां सौगातनां साम्राज्ये गगनसुमनात् प्रसृमरममन्दमामोदं ब्रुवाणोऽशक्यनिरसनः स्यात् न च भावं प्रत्यभावस्य कारणत्वानभ्युपगमेऽप्यभाव प्रत्यभावस्य कारणत्वस्वीकारे काक्षतिरिति वाच्यम् विद्यावृत्तेर्ध्वंसस्य ब्रह्मरूपत्वपक्षे जन्यत्वस्यैव विरहात् तदतिरेकोररीकरणे तस्यापि ध्वंसस्यध्वंस इत्यादि निरवधिक स्वीकारेऽनवस्था च ध्वंसस्यानन्तत्व मनंगीकारपराहतं क्रियांरूपत्वात्, अभावस्वरूपस्वीकारे तत्र जन्यत्वमेव बाधग्रस्तम् किञ्च निरन्वयविनाशः सद्वादिमते निषिद्ध इत्यपि पूर्वोक्तं न विस्मतव्यं यदि च सुन्दोपसुन्द न्यायेनाविद्याया विनाशिकाविद्या तस्याश्च विनाशिकाऽविद्येति व्यवस्थाप्येत तदा प्रमया अविद्यया प्रमात्मकविद्याया बाधकथनं विरुद्धम् । तस्मात् कारणविरहात् शक्तेर्न सर्वात्मना समुच्छेदः, अतो नित्यत्वं सुष्टूक्तं योगिराजपादेन । न च शक्ते र्नित्यत्वे द्वैतापत्तिः तथा च भवतापि कथमद्वैतं स्थाप्येत इति वाच्यमेकैव सत्ता पर्याप्त्या शिवशक्त्यो र्न पृथगित्यङ्गीकारे सत्तापर्याप्त्यधिकरणनिष्ठ सत्तापर्याप्त्यधिकरण प्रतियोगिकभेदशून्यत्वरूपस्याद्वैतस्य भवन्मतवद्क्षतेः, अन्यथा भवन्मतेऽपि संसारमादाय कथं न द्वैतम् यदि च संसारस्य पृथक् सत्ताभावान्नद्वैतं तदा ममापि सैवगतिः सत्तामादाय न विवदनीयम् तस्याः स्वरूपानतिरेकत्वस्योभयमतसम्मतत्वात्, अतिरिक्त स्वीकर्तृणां मतेऽनवस्थाभिया सत्तायां सत्तान्तराभावे उक्तलक्षणाभावाच्च किञ्चैतन्मते द्वैताद्वैत विवर्जितमिति वक्ष्यमाणत्वात्, अद्वैतमपि भवद्भाषयैव ब्रूमहे नतु तत्स्थापनाग्रहोऽस्माकमितिदिक् ॥१०

भा० टी०–पूज्यपाद श्री गोरक्षनाथ जी ने प्रथम पांच शक्तियों का निरूपण किया । अब उन शक्तिओं के जो स्वाभाविक पांच २

गुण हैं उनके क्रम से निरूपण करते हैं । उनमें भी सबसे पहले क्रम प्राप्त महेश्वर की मुख्य निजा शक्ति के गुणों का वर्णन किया जाता है।

नित्यता १—भूत भविष्यत वर्तमान इन तीनों कालों में नाश न होना । अर्थात् सदा रहना ।

निरञ्जनता २—निर्दोषता । यहां पर रागद्वेष काम-क्रोध लोभ मोह आदि दोषों का नाम अञ्जन जानना और इस अञ्जन (दोष) का न होना ही निर्दोषपन है।

निष्पन्दता ३—चलन आदि क्रिया का नहोना। अर्थात् स्थिर स्वभाव का नाम निष्पन्दता है।

निराभासता ४—आभास नाम प्रतिविम्ब का है उससे रहित का नाम ही निराभासता है। क्योंकि जहां दो वस्तुओं का भेद रहता है वहां विम्ब प्रतिविम्ब भाव होता है जैसे दर्पण में मुख का और जल में चन्द्र सूर्यादि का । यहां शिव के साथ इस शक्ति का भेद भान न रहने से प्रतिविम्ब का अभाव कहा गया है । अतः प्रति-विम्बाभाव रूप निराभासता नाम का निजा शक्ति का चौथा गुण है।

निरुत्थानता ५—संसार रूप से परिणाम का न होना । इस निजा शक्ति में सृष्टि का भान नहीं रहता। ये पूर्वोक्त पांचगुण निजाशक्ति में सदा रहते हैं। १०

मू०—अस्तिता १ अप्रमेयता २ अभिन्नता ३ अन-न्तता ४ अव्यक्तता ५ इति पञ्चगुणा पराशक्तिः ॥११॥

सं० टी०—सृष्ट्यादौ यस्यां प्रतिविम्बः शिवस्य सा पराशक्ति-रित्युक्त मधस्मात्. इतः पूर्वं शक्ते रन्तर्लीनतया ऽस्तित्व्यवहारोनासीत् अस्याः अस्तीति व्यवहारविषयता जाता ऽत उच्यतेऽस्तिता

अस्तीति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं ततस्तलि रूप मेतेना ऽस्तीति तिङन्तात् कथं तल् इति शङ्कापि निरस्ता, नन्वेवं यदा शिवेन शक्तिरस्तीति ज्ञानं तदा तस्या परिच्छेदोऽपि ज्ञातोभवेति तिप्रति पत्तौ द्वितीय कोटि मवलम्बते **[अप्रमेयता]** परिच्छेद शून्यत्वम्, एतेन शक्तिः, अनित्या परिच्छिन्नत्वात् इत्यनुमानमपि स्वरूपासिद्ध्या आभासीकृतम् नन्वस्तु दैशिक परिच्छेदविरहः, वस्तु कृत भेदावभासेन भवितव्यम्, तदा तन्निषेधति, अभिन्नता ऽनन्ततेति पदद्वयेन **[अभिन्नता]** मत्तो भिन्न इत्याकारक स्वप्रतियोगिक भेदस्याभाव इत्यर्थः। अस्तु तर्हि जगत् प्रतियोगिक भेदः, अत आह **[अनन्तता]** तदानीं जगतोऽभावेन तत्प्रतियोगिकस्यापि भेदस्याभाव इत्यर्थः, नन्वेवं तर्हि जनिष्यमाणजगतोऽसत्वे ऽसद्वादमतापत्तिरत आह **[अव्यक्तता]** कार्य्याणां सूक्ष्मावस्थाविशिष्टता यत्कार्यं यस्मिन्कारणे सूक्ष्मावस्थयाऽवतिष्ठते, तत्कार्यं प्रति तत्कारणम् अव्यक्तमिति कथ्यते यथा घटस्य अव्यक्तम् मृद्रूपम् इति सांख्यादि दर्शनाभिज्ञै र्नाविदितमतो नासद्वादः ॥११॥

भा० टी०—अस्तिता १ विद्यमानता, 'है' इत्यादि पद से व्यवहार होने की योग्यता।

अप्रेमयता २—व्यापकता, जिसका अत्यन्ताभाव किसी देश में न हो वह धर्मी व्यापक कहलाता है। जैसे आकाश। अतः इस पराशक्ति में व्यापकता गुण का कथन करने से यह सूचित होता है कि इसका अत्यन्ताभाव कहीं नहीं है।

अभिन्नता ३—एकता, भाव यह है कि दो वस्तुओं का परस्पर अन्योन्याभाव होता है इसी का दूसरा नाम भेद है जैसे कि यह घट पट नहीं और यह पट घटस्वरूप नहीं। इस प्रकार पराशक्ति में जगत् का भेद नहीं है क्योंकि पराशक्ति के प्रादुर्भाव के समय जगत् का अस्तित्व ही नही था। अतः जगत् का भेद शक्ति में वा शक्ति का भेद जगत में होना असम्भव है। यही उपरोक्त भाव अभिन्नता पद से प्रकट किया गया है।

अनन्तता ४—अविनाशिता, ध्वंस और प्रागभाव का न होना तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का उत्पत्ति के बाद ध्वंस होता है और उत्पति के पहले प्रागभाव रहता है वह घट पटादि वस्तु अन्त सत्तावाली कहलाती है और जिसका ध्वंस और प्रागभाव ये दोनों ही न हो वह वस्तु अनन्त कहलाती है। परमेश्वर की पराशक्ति नित्य और व्यापक होने से प्रागभाव और विनाश रूप ध्वंस से रहित है। अतः अनन्तता रूप चौथा गुण पराशक्ति का जानना।

अव्यक्तता ५—कार्य की सूक्ष्म अवस्था, जैसे दूध में घी सूक्ष्म रूप से रहता है घृतकार्य के प्रति दूध अव्यक्त कारण कहलाता है तथा तेल के प्रति तिल और सरसों आदि अव्यक्त अर्थात् सूक्ष्म कारण कहलाते हैं इसी प्रकार जगत् कार्य के प्रति पराशक्ति अव्यक्त कारण कहलाती है क्योंकि अपनी उत्पत्ति के पूर्व यह जगत् उसी अव्यक्त पराशक्ति में लीन था इसीलिये पराशक्ति का स्वाभाविक अव्यक्तता रूप पंचम गुण जानना। ११

मू० स्फुरता स्फुटता स्फारता स्फोटता स्फूर्तितेति पञ्चगुणाऽपरा शक्तिः ॥१२॥

सं०टी०—क्रियारूपेति पूर्वमुक्तं तत्र **[स्फुरता]** संचलनम् **[स्फुटता]** विकाशता, प्रकाशः शिवस्याहमित्यनुभवविषयतया ज्वलनमिति यावत् **[स्फारता]** संचालनम् ण्यन्तस्फुरधातोः, चिस्फुटोर्णौ वित्यात्वे अचि निष्पन्नात स्फारशब्दात्तलि रूपम् **[स्फोटता]** विकासकता यथा सूर्य्यः कमलं विकासयति तथेदं जगत्। अथवा बोधकता व्याकरणे स्फोटशब्देन क्वचिच् शब्दब्रह्मपदेन **[शब्द ब्रह्मेति तं प्राहुः सर्वागमविशारदाः]** इतिव्याजहुः।वाक्यपदीये ऽनादि-निधनेत्यादि यत प्रतिपाद्यते तस्यात्रैव ान्तर्भावः कृतोनाथपादेनेति बोध्यम् [स्फूर्तिता] उत्साह उच्छूनता, क्रियात्वरतेतियावत्। १२

भा० टी० [स्फुरता] १ चलन आदि क्रिया।

[स्फुटता] २ खिलना जैसे पुष्प गुल्मादि खिलते हैं।

[स्फारता] ३ अपने शासन में चलाना जैसे राजा अपने मंत्री द्वारा प्रजा को अपने शासन में चलाता है, और सारथी घोड़ों के द्वारा रथ को चलाता है।

[स्फोटता] ४ खिलाना जैसे सूर्य कमलों को खिलाता है,।

[स्फूर्त्तिता] ५ गमनादि क्रिया की शीघ्रता, जैसे जल्दी चलना, जल्दी खाना इत्यादि। ये उपरोक्त स्फुटता आदि स्वाभाविक पाँच गुण अपरा शक्ति में रहते हैं। १२

मू० निरंशता निरन्तरता निश्चलता निश्चयता निर्विकल्पतेति पञ्चगुणा, सूक्ष्माशक्तिः ॥१३॥

सं० टी०—अहमाकारानुभवकारणं विमर्श शक्तिरित्युक्त मधस्तात्-तस्या धर्मान्नाह-निरंशतेति तदानीमहमहमित्येकरूप एवानुभव आसीन्नतु त्वं वायंत्रेति खण्डव्यवहारः। अत आह "निरंशता" अंशो नाम, अवयव इदमादिपदवाच्यः, तद्रहितत्वं निरंशत्वम् "निरन्तरन्तरता" अन्तरा व्यवधानम् तद्‌द्विविधं भवति कालकृतं देशकृतञ्च तत्र संकोचे कारणाभाद् द्विविधस्यापि व्यव धानस्य विरहो निरन्तरत्वम्-एतेन किञ्चित् क्षणमहमित्यनुभूय मध्ये विश्रम्य पुनरनुभवइति व्यावृत्तः, अतएव निश्चलत्वम्, चलनं स्वरूपात् प्रच्युतिः। तद्रहितत्वं, [निश्चयता] विद्यारूपता एतेन संशय विभ्रम विपर्ययात्मकत्वम् व्यावृत्तम् [निर्विकल्पता] एकरूपता विशेषणरहितेति यावत् ॥१३॥

भा० टी०—यह सूक्ष्म शक्ति विद्या रूप विमर्श शक्ति है यह भाव पहले दिखला चुके हैं। उस सूक्ष्म शक्ति के पांच गुणों का यहां वर्णन किया जाता है —

(निरंशता) १ अवयव विभाग का अभाव, अर्थात् अयं (यह) प्रथम पुरुष, तथा त्वम् (तूं) यह मध्यम पुरुष, ये दोनों भिन्न अंश कहलाते हैं, सृष्टि के आदि में इन दोनों का व्यवहार नही था किन्तु केवल अहम् (मैं) यही अखण्ड व्यवहार था।

(निरन्तरता) २ दो वस्तुओं के बीच में अन्य का व्यवधान

न रहना। भाव यह है कि- लोक में व्यवधान का व्यवहार दो प्रकार से होता है कालकृत और देशकृत, कालकृत जैसे प्रतिपद् और तृतीया के बीच में द्वितीया का, तथा वसंत और वर्षा के मध्य में ग्रीष्म ऋतु का व्यवधान होता है। देशकृत व्यवधान जैसे हरिद्वार और ज्वालापुर के बीच में "श्री पूर्णनाथ संस्कृत कालेज योगाश्रम। परन्तु सूक्ष्म शक्ति में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं है।

(निश्चलता) ३ जिस में चंचलता दोष न हो अर्थात् स्व स्वरूप विचलित न होना ही निश्चलता कहलाती है !

(निश्चयता) ४ विद्यारूपता, सारांश यह है कि संशय भ्रम विपरीत ज्ञान आदि दोषों से रहित यथार्थ ज्ञान का होना ही निश्चयता कही जाती है।

(निर्विकल्पता) ५ एक रूपता अर्थात् विशेषण विशेष्य भाव का न रहना जैसे 'नील घट, यहां नील विशेषण और घट विशेष्य है अत एव इन दोनों का विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध कहलाता है, पर इस सूक्ष्मा शक्ति में उपर्युक्त सम्बन्ध नहीं रहता। यद्यपि विशेष्यभूत शक्ति तो है भी तथापि विशेषण के न रहने से केवल शक्ति में विशेषणविशेष्यभाव का संकलन नहीं हो सकता। उपर्युक्त पांचगुण सूक्ष्मा शक्ति के जानना। १३ ॥

मू०-पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता प्रोच्चलता प्रत्यङ्मुखतेति पञ्चगुणा कुण्डलिनी शक्तिः, ॥१४॥

सं० टी०-इयं शब्दार्थोभयकारणरूपेति पूर्वं निगदितम्, तदुपयोगिगुणान् वर्णयति। इयं शब्दसृष्ट्यपेक्षया परावागुच्यते, अर्थसृष्ट्यपेक्षया प्रकृतिरिति कथ्यते क्वचिद्बिन्दुः [पूर्णता] व्यापकता अनेन परिच्छिन्नतया केनचिदुत्प्रेक्षितम् अनित्यत्वम् दूरोत्सारितम्, किंच संसारं प्रति व्यापकत्वेनोपादान कारणत्वम् समुचितम्, लोकेऽपि घट शरावादयः स्वोपादानमृदादे र्व्याप्त्या दृश्यन्ते—एतेन परमाणुभ्य, ए वसृष्टिः।

यथासूक्ष्मतमवटधानादितो महावटवृक्षादयो जायन्ते । इति स्थूलदृष्ट्या व्यवस्थापयन्त स्तार्किकवराका अपि तुच्छीकृताः । सूक्ष्मदृष्ट्या विवेचने वटधानादयोऽपि सूक्ष्मैः स्वावयवैः समस्तान्वृक्षान् व्याप्नुवन्त्येव, अन्यथा तूपादानमनाश्रित्य वृक्षस्थिति रेवासम्भविनी न जातु लोके मृत्तिकामनाश्रित्य अधस्थितां वा मृत्तिकामनवलम्ब्य मृत्तिकावयवरहितः केवलो घटो वियति दोलायमानो दृष्टिचरः । यदि भवन्मतमहावेशनिविष्टा विचित्रमिदं चित्र प्रदर्शयेयूस्तदा स्युर्लोके श्रद्धेय वचनाः,वयन्तु पश्यामः, उन्मत्तप्रलाप एव यन्न स्वोपादानावयवदेशाद् भिन्न देशेऽपि कार्यस्थितिः कार्य्यञ्चमहदिति । किञ्च समवायिकारण देश एव कार्य्य देश इति वृद्धनैयायिक मतरक्षालोभेनापि स्वोपादानावयवानुस्यूतान्येव कार्य्याणीति मन्तव्यम् । तथाच परिणामवादस्यैव परमाणु वादपदेन कथने न नो हानिः । अतः सुष्ठु कथितम् व्यापकत्वमिति **प्रतिविम्वता** २ पश्यन्तीमध्यमादिवर्णपदात्मकशब्दरूपेण महत्तत्वा हंकाराद्यर्थरूपेण च परिणामस्वभाव एव प्रतिविम्वता । अथवा निखिपदार्थाना मंकुरभावेन प्रतिविम्वनम् । **प्रवलता** ३ उच्चावचनानाविधप्रपञ्चरचनाचातुर्यात्मकोत्कृष्टसामर्थ्यम् **प्रोच्चलता** ४ वर्धमानता स्थूलादिरूपेण परिणमनशीलत्वम् उर्द्धचलनम् वा । **प्रत्यङ्मुखता** ५ सृष्ट्युन्मुखत्वं वहिर्मुखा सती स्वान्तरस्थितान् अर्थान् वहिर्निःसारयति तदा संसारः समुत्पद्यते । सृष्टि सम्पादनोपयोगि निखिलसामग्री परिपूर्णतेति निगलितः १४

भा० टी०—अब पांचवी कुण्डलनी शक्ति के स्वाभाविक पांच गुणों का वर्णन करते हैं ।

१- (पूर्णता) सर्वत्र विद्यमानता अर्थात् व्यापकता, यह कुण्डलिनी शक्ति का प्रथम गुण है । जो इस कुण्डलिनी शक्ति को परिच्छिन्न मान कर अनित्य कहते हैं उन के मत का खण्डन व्यापकता गुण कहने से होजाता है और उचित भी यही है क्यों कि इतने लम्बे चौड़े संसार का जिस व्यापक कुण्डलिनी से विस्तार होता है उस को छोटा कहना स्वयं अपनी बुद्धि छोटे पन को ही प्रकाशित करना है अत एव जो नैयायिक परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति कहते हैं उनके

मत का भी व्यापकता गुण कहने से खण्डन होगया क्योंकि परिच्छिन्न परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति होना सर्वथा असम्भव है किन्तु यह कुण्डलिनी शक्ति ही परा पश्यन्ती आदि शब्दसृष्टि का तथा महत्तत्व अहंकार पंच तन्मात्रा पंचभूत और एकादशइन्द्रिय इत्यादि अर्थ सृष्टि का कारण होती है।

२-(प्रतिबिम्बता) इस कुण्डलिनी का शब्द और अर्थ रूप से परिणाम होना ही प्रतिबिम्बता कहा गया है। अथवा प्रतिबिम्बता रूप कुण्डलिनी शक्ति का खास गुण है क्यों कि जब योगी योगाभ्यास के द्वारा कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान करता है और जिस समय वह उत्थान परिपक्व होजाता है तब जैसा कुण्डिनी का तेजमय स्वरूप है उसी तरह का उस योगी के समस्त शरीर में कुण्डलिनी शक्ति का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है। इसी कारण योगी के शरीर में चारों तरफ से अग्नी की चिनगारियां सी नजर आने लगती हैं तब योगी का शरीर तेजपुंज से व्याप्त हो जाता है। यही कुण्डलिनी का प्रतिबिम्बतारूप दूसरा गुण जानना।

३-(प्रबलता) उत्कृष्टसामर्थ्य अर्थात् छोटा, बड़ा ऊंचा नीचा नानाप्रकार के रचनात्मक चमत्कार का चातुर्य इस कुण्डलिनी महाशक्ति में भरा हुआ है। वही इस का तीसरा गुण है।

४-(प्रोच्चलता) स्थूलादि आकार से परिणाम होना। या ऊपर को उछलना जैसे योगाभ्यासी के निरन्तर अभ्यास से जब कुण्डलिनी शक्ति जग जाती है तब विशेष रूप से प्राण सहित कुण्डलिनी शक्ति की ऊर्ध्वगति देखने में आती है। इसे चौथा गुण जानना।

५—(प्रत्यङ्मुखता) सृष्टि रचने के लिये तत्पर होजाना। इसको कुण्डलिनी शक्ति में पांचवा गुण जानना ॥१४॥

मू०—'एवं शक्तितत्त्वे पंच पंच गुण योगात् पर-पिण्डोत्पत्तिः। १५

सं० टी० एवमिति प्रथमं व्यष्टिसृष्ट्युपयोगिनीं समष्टिसृष्टिमाह

[**एवम्**] पूर्वोक्त प्रकारेण [**शक्तितत्त्वे**] तत्संघाते सति [पञ्च पञ्चगुणयोगात्] पञ्चविंशतिगुणानां समवायेन [परपिण्डोत्पत्ति:] परपिण्डस्य निग्रहानुग्रहसंहारस्थितिसृष्टिगुणकस्य सदाशिवस्य [उत्पत्ति:] आविर्भावो भवतीति ज्ञेयम्। अयमेव सांख्यप्रकृतिविलक्षणकेवलसत्त्वोपहितपुरुषविशेष ईश्वरो योगसूत्रोक्त: । सत्त्वस्यापि चैतन्यमिति विशेषोऽत्रवेद्य: ॥१५॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से शक्तितत्व में ऊपर लिखे हुये पांच शक्तियों के स्वरूप विद्यमान होने पर एक एक शक्ति में पांच २ गुण होने से सब गुणों को मिलाकर पच्चीस गुण होते हैं । उन पच्चीस गुणों का समुदाय रूप जो परपिण्ड है उसकी उत्पत्ति हुई । तात्पर्य यह है कि जैसे हम लोगों का यह स्थूल शरीर पंचभूतों का समुदाय पिण्ड कहलाता है वैसे ही उन शक्तियों का समुदाय पर अर्थात् श्रेष्ठ पिण्ड कहलाता है।

और जैसे इस भौतिक पिण्ड का अधिष्ठाता यह जीव कहा जाता है वैसेही उस पर पिण्ड का अधिष्ठाता सगुण परमेश्वर कहलाता है। इसी शक्ति सहित परमेश्वर का इस ग्रन्थ में अनादिपिण्ड पद से व्यवहार किया जाता है इसी को वेदान्ती माया शवलित ब्रह्म कहते हैं । इसी को महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुष विशेष ईश्वर:" ऐसा कहा है।

अर्थ—अविद्यादि पंचक्लेश, तथा शुभाशुभ त्रिविध कर्म, जाति, आयु, भोगरूप त्रिविध कर्मों का फल, और सकल बासना, इन सब से निर्लेप पुरुष विशेष को ईश्वर कहते हैं ? "निरतिशय सर्वज्ञबीजम्"

उस परमेश्वर में सर्वज्ञता का कारण सर्व श्रेष्ठ सत्त्व रूप उपाधि है। इसी के बल से उस असङ्गचिद् रूप परमेश्वर में सर्वज्ञता है, अन्यथा असङ्ग चेतन में सर्वज्ञता धर्म का रहना ही असम्भव है। इस योग सूत्र प्रतिपादित सत्त्व उपाधि में निरतिशय विशेषण देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जगत् की उपादान भूत सांख्योक्त त्रिगुण स्वभाव वाली प्रकृति के सत्त्व से यह सत्त्व विलक्षण है । क्योंकि

सांख्य शास्त्र में कही हुई प्रकृति में तीनों गुणों का साहचर्य कहा है, इसीलिये सांख्यवादियों के मत में रजो गुण और तमोगुण का विच्छेद होने पर केवल सत्वगुण नहीं रह सकता। तब निरतिशय सत्व कैसे कहला सकता है। उस सत्त्व में निरतिशय सत्त्व तभी होसकता है, जब रजोगुण और तमोगुण का लेशमात्र भी सम्पर्क न हो। अतएव सांख्योक्त सत्त्व से योगोक्त सत्त्व विलक्षण है। और योगाचार्य श्रीनाथजी ने उस निरतिशय सत्त्व को चिद्रूप माना है। इसीलिये उसको सत्त्व न कहकर शक्तिपद से कहा है।

यहां उत्पत्ति पद का अर्थ आविर्भाव है, क्योंकि सद्वाद में असत् की उत्पत्ति नहीं होती ॥१५॥

मू०—उक्तञ्च- निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डलिन्यासु पञ्चधा। शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः पिण्डः परः शिवः। १६

सं० टी० गद्येनोक्तम् पद्येनोपसंहरति,उक्तञ्चेति मयेति शेषः,अस्यार्थस्तूपर्य्येवोक्तः। अवशिष्टः किञ्चिदिहोच्यते शक्तेर्बिन्दुरूपिण्याः मूलप्रकृतेर्महामायायाः, चक्रः। त्रिकोणात्मगोलकरूपः। तन्मध्ये बिन्दुःकारणशिवरूपः तस्य शक्तेर्विकाशकाले युगपत् त्रिरूपता भवति त्रिरूपता, त्वित्थं तथाहि इच्छाशक्तिज्ञानशक्ति क्रियाशक्तयात्मकः, सत्वरजस्तमोरूपात्मकः, रुद्रविष्णुब्रह्मात्मकः। गौरीलक्ष्मीसरस्वतीरूपः। आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकस्वरूपः, इतिपञ्चात्मकः, अतएवाद्यशक्तेः पञ्चत्रिकोणात्मकः श्रीयन्त्रः तस्य **क्रमेण** अपेक्षाबुद्ध्या, अयम्भावः सर्वासां शक्तीनां समवायापेक्षया तदधिष्ठाता एकः सदाशिवः **परः** व्यापकः, **उत्थः** आविर्भूतः प्रत्येक शक्तेरधिष्ठात्रपेक्षया पञ्चदेवा आविर्भूताः। तेऽपि परा अस्मदपेक्षया कथ्यन्ते। मूले कुण्डलिनी, आसु, इति छेदः।१६।

भा० टी०—निजा-परा-अपरा-सूक्ष्मा, कुण्डलिनी, ये पूर्वोक्त पांच शक्तियां हैं। इनमें शक्ति चक्र क्रम द्वारा सदाशिव पांच प्रकार से आविर्भूत हुआ, भाव यह है कि पूर्वोक्त पांच शक्तियों के अध्यक्ष

रूप से सदाशिव श्री आदिनाथ जी प्रकट हुए। यहां पूर्वापर ग्रन्थ की समालोचना से गूढ़ भाव यह निकलता है कि एक एक शक्ति के विकाश से एक एक पिण्ड का प्रादुर्भाव हुआ इस क्रम से पांच पिण्ड। और फिर उन पांच पिण्डों के अधिष्ठाता रूप पांच देव हुए जिनके नाम और गुण आगे चलकर वर्णन करेंगे। यहां शक्ति चक्र क्रम का अभिप्राय है शक्ति चक्र त्रिकोण. उसके मध्य में विन्दु रहता है, विन्दु का अर्थ अविकृत कारण परमनाथ ब्रह्म जानना। जब उस सदा शिव की शक्ति का विकाश होता है तब वह शक्ति एक साथ तीन आकारों को धारण करती है, वे तीन आकार नीचे देखिये इच्छा, ज्ञान, क्रिया। रुद्र, विष्णु, ब्रह्मा। गौरी लक्ष्मी, सरस्वती। सत्व, रज, तम। आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक। इत्यादि रूप से शक्ति चक्रक्रम जानना ॥१६॥

मू०—अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति १७

सं० टी०— तानेव व्यष्टिरूपान् पञ्चदेवान् प्रदर्शयति अपरम्परमित्यादि निजाशक्त्यधिष्ठाता सदाशिवः। स्वस्यनास्त्यन्यत् कारणमिति कारणपरम्पराशून्यतया अपरम्परपदेन व्यवह्रियते १ पराशक्त्यधिष्ठाता परमेश्वरो मुमुक्षुभिः प्राप्यते ऽतः परमपदशब्देन निगद्यते। अपराशक्त्यधिष्ठाता रुद्रः प्रलयकर्ता भेदाभावात् शून्यपदेन निगद्यते। सूक्ष्माशक्त्यधिष्ठाता ज्ञानशक्तिविशिष्टः विष्णू रागादि रूपाञ्जन रहिततया निरञ्जनपदेनोच्यते। कुण्डलिनीशक्तिसाक्षि जगत्कर्तृत्वेन ब्रह्मा सर्वेषां प्रत्यगात्मतया परमात्मपदेनात्र व्यवह्रियते। अन्यत्र क्वचिदागमे विन्द्वात्मकमायासहित शम्भोः सदाशिवो जातः, तस्मादीशः, तस्माद्रुद्रः, ततो विष्णुः, ततो ब्रह्मा, एते यथा संख्यमनुग्रह निग्रह प्रलय स्थिति सृष्टि कर्त्तारः पंच देवाः, उत्तरोत्तरं समुत्पन्नाः शम्भुस्तु पञ्चात्मकः सदैकरूप इत्याहुः—अत्र तु पूर्वं पञ्च शक्त्युत्पत्तिं प्रदर्श्य तस्या एकैकस्या अधिष्ठातृतया पञ्च देवान् अन्वर्थ नाम्ना निर्दिश्य, अनन्तरं तेष्वेकैकस्माद्देवादेकैको विशेषगुणः सृष्ट्युप-

योगी समुत्पन्नस्तदेवं प्रदर्शयति ॥१७॥

भा० टी० अब एक २ शक्ति के अभिमानी पाँच देवताओं का नाम निर्देश किया जाता है।

अपरंपद (सदाशिव) परमपद (ईश्वर) शून्य (रुद्र) निरञ्जन (विष्णु) परमात्मा (ब्रह्मा) १७

मू०—अपरम्परात् स्फुरतामात्रमुत्पन्नं परमपदाद् भावनामात्रमुत्पन्नं शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात् स्वसाक्षात्कारमात्रमुत्पन्नं परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः ॥१८॥

सं० टी०—(स्फूरता) उत्साहः क्रिया सामान्यं (भावना) ईक्षणमन्वालोचनमिति यावत् (सत्तामात्रं) महत्तत्वं (बुद्धितत्त्वम्) (साक्षात्कारमात्रम्) अहंकारमात्रं (परमात्मा) बीजावस्थापन्नपिण्डविशेषः गुणसमवायः सृष्ट्युत्पादनोपयोगीत्यभिप्रायेणात्रोक्तम् एकैकस्य पञ्च पञ्च गुणानाह ॥१८॥

भा० टी० इन पूर्वोक्त पांच देवताओं से आगे होने वाली सृष्टि के उपयोगी पदार्थों की उत्पत्ति का निरूपण किया जाता है—

अपरंपरनामक देव से उत्साह मात्र उत्पन्न हुआ। परमपददेव से समालोचनात्मक ज्ञान उत्पन्न हुआ। निरंजन से स्वसाक्षात्कारमात्र अर्थात् अहंकार उत्पन्न हुआ।

परमात्मा नामक पंचम देव से संसार की बीजावस्थापन्न समष्टि पिण्ड उत्पन्न हुआ। क्योंकि अस्मदादि व्यष्टि पिण्डों की अपेक्षा वह पिण्ड उत्कृष्ट है। इसी लिये उस पिण्ड को मूल में परमात्मा कहा है। १८

मू०—अकलंकत्व मनुपमत्व मपारत्व ममूर्तत्व मनुदयत्व मिति पंच गुणमपरंपरम् ॥१९॥

सं० टी०—अकलंकत्वमिति दोषशून्यत्वं १ सजातीयद्वितीय रहितत्वम् २ अन्तविरहितत्वम् ३ परिच्छेदविधुरत्वम् ४ उत्पत्तिरहितत्वम् ५ भावरूपदोषस्य प्रथमेन व्यावृत्तिः, इतरैश्चतुर्भिः यथाक्रमेण अन्योन्याभावध्वंसाभावात्यन्ताभावप्रागभावानां निवृत्तिरिति तत्वम्।१६।

भा० टी० अब पूर्वोक्त पांच देव में से प्रत्येक के पांच पांच गुणों का वर्णन करते है।

१—अकलङ्कत्व रागादि दोषों का नाम कलंक है उन का अभाव ही अकलङ्कत्व नामक अपरंपर देव का प्रथम गुण है।

२—अनुपमत्व इस अपरंपरदेव का सजातीय कोई दूसरा नहीं है जिस की उपमा दी जाय इसी लिये इस देव का अनुपमत्वरूप दूसरा गुण जानना।

३-अपारत्व सीमावाली वस्तु का अन्त होता है पर इस अपरंपरदेव का पार नहीं है अतः अपारत्व इसका तीसरा गुण है।

४--अमूर्तित्व परिच्छेद रहित सारांश यह है कि जो परिमित वस्तु होती है वह मूर्ति कहलाती है इस अपरंपरदेव का किसी परिमाण से परिच्छेद नहीं है इसीलिये अमूर्तित्व यह चौथा गुण है।

५--अनुदयत्व जिसका प्रागभाव होता है उसी की उत्पत्ति कही जाती है किन्तु अपरंपरदेव की सदाव्यापकस्थिति होने से उसका प्रागभाव नहीं है। अतः अनुदयत्व नामक पंचमगुण इसमें सदैव रहता है।॥१६॥

मू० निष्कलत्व मणुतरत्व मचलत्व मसंख्यत्व मनाधारत्व मिति पंच-गुणं परमपदम्। २०

भा० टी०—निष्कलत्वम् कला, अवयः, तच्छून्यत्वम् (अणुतरत्वम्) सूक्ष्मत्वम् नतु तार्किकसम्मतपरमाणुत्वम्। अस्य व्यापकत्वात, अत एवाह (अचलत्वम्) स्पन्दनक्रियाशून्यत्व (असंख्यत्वम्) संख्या द्वित्वादि सेटकादि तद्रहितत्वम्। (अनाधारत्वम्)

अनाश्रितत्वम् व्यापकत्वात् नहि व्यापकं क्वचिदाश्रीयते, यथाकाशः। २०

सं० टीका—अब परंपद देव के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१–निष्कलत्व कला शब्द का अर्थ अवयव जानना। अवयव का अभाव रूप निष्कलत्व गुण परमपददेव का होता है।

२:-अणुतरत्व सूक्ष्मता यहां नैयायिकों की तरह परमाणु रूप अणुतरत्व का अर्थ नहीं है क्योंकि परमपददेव व्यापक है उसको अणु कहना भी अनुचित है किन्तु अणुतरत्व का आकाश की तरह अति सूक्ष्म अर्थ जानना। यह परमपददेव का दूसरा गुण है।

३–अचलत्व छोटी वस्तु में चलनादि क्रिया होती है व्यापक में क्रिया कहना असंगत है इसलिये व्यापक परमपददेव की चलनादि क्रिया का अभाव रूप अचलत्व तीसरा गुण है।

४–असंख्यत्व द्वित्वादि संख्या शून्यत्व रूप असंख्यत्व परमपददेव का चौथा गुण है।

५–अनाधारत्व किसी के आश्रित न रहना। भाव यह है कि व्यापक वस्तु स्वप्रतिष्ठित होती है जैसे न्याय के मत से आकाश यह परमपददेव भी व्यापक स्वप्रतिष्ठित है। इसलिये यह अनाधारत्व रूप पंचमगुण उक्तदेव का जानना।

मू०—लीनता पूर्णोन्मनी लोलता मूर्छेति पञ्च गुणं शून्यम् ॥२१॥

सं० टी० कार्याणामव्यक्तावस्था लीनता; कार्यं प्रति व्यापकता पूर्णता। सृष्ट्यै वैषम्ययोग्यता उन्मनी, सहजावस्था वा कार्याय तरलावस्था लोलता। संपिण्डीभावो मूर्छता ॥२१॥

भाषा टीका–अब शुन्य देव के पांच गुणों को व्याख्यान करते है।

१—(लीनता) कारण में कार्यों का प्रलय होना ही लीनता रूप प्रथम गुण शून्यदेव अर्थात् रुद्र का जानना।

२—(पूर्णता) सर्वत्र सदाविद्यमानता रूप दूसरा गुण शून्यदेव में रहता है।

३—(उन्मनी) सहजावस्था सदैव स्वरूपानुभव में निमग्न रहना ही उन्मनी का अर्थ है यह तीसरा गुण शून्यदेव में स्वाभाविक हैं।

४-(लोलता) चंचलता। भाव यह है कि संहार आदि कार्य संपादन करने के लिये चंचलता का नाम लोलता हैं यह शून्यदेव रुद्र का चौथा गुण है।

५—(मूर्च्छता) महाप्रलय में सकल संसार एकभाव को प्राप्त होता हुवा शुन्यदेव में मूर्च्छित हो जाता है इसी लिये मूर्च्छता यह पंचमगुण पूर्वोक्त शून्यदेव में जानना ॥२१॥

सत्यत्वं सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं
सर्वगतत्वमिति पंचगुणं निरञ्जनम् ॥२२॥

सं० टी०—सहजत्वम् स्वरूपप्रतिष्टत्वम् नन्वेवं कार्यस्य बिनाशे तस्यापि विनाशः स्यादत आह सत्यत्वम् एकव्यक्तविनाशेऽपि व्यक्त्यन्त रेऽनुस्यूततया नित्यत्वम् यथा घटध्वंसेऽपि कपालशर्करादौ मृद्‌बुद्धे विंनाशाभाववत् "समरसत्वम्" एकरूपेण सर्वत्रविद्यमानत्वम् सावधानत्वम् भ्रमप्रमादरहितत्वम् सर्वगतत्वम् स्वकार्ये सर्वत्र विद्यमानत्वम्।

भा० टी०—अब क्रमप्राप्त निरञ्जन (विष्णु देव के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१—(सत्यत्व) जिस वस्तु का तीनों काल में बाध न हो वही वस्तु सत्य कहलाती हैं इस निरंजन देव का भी बाध तीनों कालों में नही हो सकता। अतः सत्यत्व यह उस का प्रथम गुण है।

२—(सहजत्व (अपने स्वरूपानुभव में मग्न रहना ही सहजावस्था है यही सहजत्वरूप निरंजन देव का दूसरा गुण है।

३—(समरसत्व) जिस के स्वरूप में किसी प्रकार की विषमता नहीं यह निरंजनदेव का तीसरा गुण है।
४—(सावधानत्व) समाहितात्मा। भ्रम और प्रमादादि दोषों से रहित का नाम सावधान है। निरंजन देव भी प्रमादादि दोषों से शून्य है सावधानत्व यह चौथा गुण उक्तदेव में स्वाभाविक है।

५—(सर्वगतत्व) सूत्रात्मा रूप से सर्वत्र विद्यमान रहना यही सर्वगतत्व रूप पंचम गुण निरंजनदेव का है।

मू० अक्षयत्व मभेद्यत्व मच्छेद्यत्व मविनाश मदाह्यत्व मिति पंचगुणः परमात्मा। इत्यनादि पिण्डस्य पंचतत्वं पंचविंशति गुणाः ॥२३॥

सं० टी०—शक्तेः परिणामेऽप्यस्य तद्भावः प्रथमेन उपाधेरनेकत्वेऽपि स्वस्यैकत्वम् द्वितीयेन, अनवयवत्वं-तृतीयेन नित्यत्वं चतुर्थेन, आन्तरिकचिन्तादिदुर्गुणाभावः पंचमेन व्याकृतः, एतेषां समष्टि : पंच विंशति गुण समुदाय: पंचतत्वात्मक एक एव देव: परपिण्डः सदाशिव इत्युच्यते ।.२३॥

भा० टी० अब परमात्मा (ब्रह्मा) देव के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१—(अक्षयत्व संसार रूप उपाधि के क्षय होने पर भी परमात्मदेव के स्वरूप का क्षय नहीं होता। अतः अक्षययत्वरूप प्रथम गुण परमात्मा का जानना।

२—(अभेद्यत्व) अनेकउपाधियों के भेद रहने पर भी वास्तव में परमात्मा के स्वरूप में भेद नहीं हो सकता। अतः अभेद्यत्वरूप दूसरा गुण जानना।

३—(अछेद्यत्व) परमात्मा निरवयव है इस लिये अवयवके छेदन से इसका उच्छेद नहीं होता। अतः अछेद्यत्व रूप तीसरा गुण परमात्मदेव का जानना।

४-(अविनाशित्व) अवयव विनाश को छोड़ कर स्वतः भी इस परमात्मदेव के स्वरुप का विनाश न होने से अविनाशित्व रूप चौथा गुण जानना।

५—(अदाह्यत्व) आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक इन त्रिविध ताप रूपी दुखों से समस्त चराचर विश्व व्याप्त है। अतः इन त्रिविध दुखों की परम्परा से दग्ध होता रहता है किन्तु परमात्मदेव आन्तरिक तापादि दुःखों से रहित है अतः अदाह्यत्व रूप पंचम गुण जानना। ऊपर लिखे ये पांच गुण परमात्म देव में सदैव रहते हैं।

मू०-उक्तञ्च। अपरंपरं, परमपदं शून्यं निरञ्जन परमात्मानौ, पंचभिरेतैः सगुणै रनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः २४

सं० टी०—अयमत्र निष्कर्षः। महाप्रलये निखिलं जगत् महा मायायां लीनं सापि चिद्रूपा सती चिद्रूपशिवेना भिन्नतयाऽभिन्नः आदिनाथो निर्गुणस्तदा सम्वृत्तः। ततः सृष्टिसमये सर्वतः प्रथमं पञ्चपंचगुणात्मकपंचशक्तीनामाविर्भावः। तत्र एकैकया सहित चेतनस्यैकैकदेवत्वेन पंचदेवा आविर्भूताः सर्वासां एकत्रीकरणे तत्समष्टिसहित श्चेतनः, अनाद्यपिण्डः सगुणपरमेश्वरः सदाशिव इत्यादि रूपेण प्रसिद्धोस्ति तस्यैव पंचावयवा अपरम्परेत्यादि, एकैकोऽव्य वयवः सकलकार्यसम्पादनपटुः। समुदायस्त्वेको ऽतएव पञ्चा- नन नामप्रसिद्धिः—श्लोके सगुणैरिति सहयोगे तृतीया पूर्वं पिण्डाभावा द्यमेव प्रथमः पिण्डः साकारः। अथवा नास्ति, आद्यो यस्मादि त्यनाद्य इतः पूर्व—आद्यकारणं यस्य स इति नित्यपिण्डत्वं सूचितम् ॥२४॥

भाषा टीका—पूर्वोक्त रीति से पांच शक्तियों के समुदाय अनादि पिण्ड के अपरंपर आदि पांच देव रूप पांच तत्व हैं और वेही पांच अङ्ग होते हैं उन अङ्ग भूत पंच देवों में भी प्रत्येक में पांच ५ गुण रहते हैं उन सब को जोड़ देने से पच्चीस गुण होते हैं इसी अभिप्राय को श्री नाथ जी गद्य में वर्णन कर के अपरंपरमित्यादि पद्यद्वारा उपसंहार करते हैं।

यहां सारांश यह है कि महाप्रलय में यह समस्त जगत् महा शक्ति में विलीन होता है और वह चिद्रूपा महाशक्ति भी चिद्रूप परमेश्वर से अभिन्न रहती है। उस समय निर्गुण आदि

नाथ अर्थात् परमनाथ तत्त्व था उस के उपरान्त जब सृष्टि रचने का समय आता है तब सब से पहले अपने पांच २ गुणों से युक्त पांच महा शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है और उन पाच शक्तियों में एक एक शक्ति युक्त एक २ देव रूप से सब को मिला कर पांच देव का आविर्भाव हुआ। इन सब शक्तियों के सहित जो चेतन है उसी का नाम "अनाद्यपिण्ड है और वही सगुण परमेश्वर सदाशिव इत्यादि नाम से भी प्रख्यात है, उसी सर्वेश्वर के अपरंपर, परमपद शून्य, निरञ्जन, परमात्मा ये पाँच देवता अवयव रूप हैं। इन देवों की सामर्थ्य भी जीव बुद्धी से अगम्य है। अतः 'आनाद्य" पिण्ड का अङ्ग भूत एक २ देवता भी संसार विषयक रचना पालन संहारादि कार्य सम्पादन में समर्थ है यह सब मिला कर समष्टि देव के अङ्ग स्वरूप हैं। इसी लिये उस समष्टि देव का पंचानन (पंचमुख) हर नाम भी प्रसिद्ध है। इस से पहले कोई अन्य पिण्ड नही था, इस कारण यह अनाद्य पिण्ड कहलाया। २४॥

मू०-अनाद्यात् परमानन्दः परमानन्दात् प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदय श्चिदुदयात्प्रकाशः प्रकाशात् सोहम्भावः ॥२५॥

सं० टी० एतस्मात् अनाद्यपिण्डाख्यपरमेश्वरादाद्य पिण्डाख्यस्य महातत्त्वस्य पंचभूत बीजस्योत्पत्तिं व्याख्यास्यमानाः प्रथमतः तस्य पंचावयवान् पंचपंचगुणकान् क्रमेण दर्शयन्ति। अनाद्यादित्यादि ॥२५॥

भाषा टीका-अब अनाद्यपिण्ड परमेश्वर से आद्यपिण्ड पुरुष की उत्पत्ति का वर्णन किया जायगा। इस आद्यपिण्ड पुरुष के भी पांच २ गुणों से युक्त परमानन्दादि पंच देवों को अंग स्वरूप जानना। उन पाचों देवों के नाम निर्देश पूर्वक उत्पत्ति का क्रम निम्नलिखित प्रकार से जानना।

अनादि पिण्ड परमेश्वर से परमानन्द देव उत्पन्न हुआ, तथा

परमानन्द से प्रबोध, प्रबोध से चिदुदय, चिदुदय से चित्प्रकाश, चित्प्रकाश से सोऽहंभाव उत्पन्न हुआ । २५॥

मू०—स्पन्दो हर्ष उत्साहो निष्पन्दो नित्यसुखत्वमिति पञ्चगुणः परमानन्दः ॥२६॥

सं० टी०—अत्र आद्य पिण्डस्य पंचावयवान् परमानन्देत्यादि नाम्ना निर्दिश्य तेषु प्रत्येकं पंच पंच गुणानाह स्पन्द इत्यादि। यद्यत्कार्य सम्पादिका या या शक्तिः सा सा तत्तत्पदेनोल्लिखिता शक्तिरेव पुरुषस्य गुण इति सिद्धान्तात् तथा च **[स्पन्दः]** चलन शक्तिः **[हर्षः]** वैषयिकानन्दशक्तिः **[उत्साहः]** कृतिशक्तिः **[निष्पन्दः]** परिणाम शक्तिः **[नित्यसुखत्वम्]** स्वरूपसुखानुभवशक्तिः । एताभिः पञ्चशक्तिभिः सहितः, चेतनः परमानन्दः, आद्य पिण्डस्यैकोऽवयवः । एवं सर्वत्र शक्ति रूहनीया ॥२६॥

भाषा टीका—अब परमानन्दादि देवों के पांच पांच गुणों का निरूपण करते हैं ।

१—(स्पन्द) चलनादि क्रिया को स्पन्द कहते हैं ।

२— (हर्ष) आनन्द या खुशी हर्ष का अर्थ है ।

३—(उत्साह) प्रयत्न की शक्ति अर्थात् हिम्मत ।

४—(निष्पन्द) नानारूप धारण करना अथवा स्थिरता ।

५— (नित्य सुखत्व) सदैव आत्म स्वरूप में नित्य सुख का अनुभव ।

ये पांच गुण परमानन्द देव में रहते हैं । २६॥

मूल—उदय उल्लासोऽवभासो विकासः प्रभा इति पंच गुणः प्रबोधः ॥२७॥

संस्कृत टीका—(उदयः) उत्पत्तिः (उल्लासः) उत्फुल्लता (अवभासः) 'प्रतीतिः' (विकाशः)कार्योद्गमनम् (प्रभा)स्वरूपप्रकाशः, एतत्पञ्च शक्ति सहितः प्रबोधो द्वितीयावयवः ॥२७॥

भाषा टीका—अत्र प्रबोध के गुणों का वर्णन किया जाता है।

१-(उदय) उत्पत्ति अर्थात् पैदा होना।
२-(उल्लास) चित की प्रफुल्लता।
३-(अवभास) ज्ञान।
४-(विकाश) खिलना जैसे पुष्पादि खिलते हैं।
५-(प्रभा) तेज अर्थात् स्वरूप प्रकाश।
ये पांच गुण प्रबोध देव में रहते हैं ॥२७॥

मूल-सद्भावो विचारः कर्त्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्व मिति पंचगुणश्चिदुदयः ॥२८॥

संस्कृत टीका—सद्भावः सत्ता (विचारः) विवेकः। कर्तृत्व ज्ञातृत्व स्वातन्त्र्य शक्ति सहित श्चिदुदय स्तृतीयावयवः ॥२८॥

भाषा टीका—अब चिदुदय के पांच गुणों का वर्णन करते हैं।

१-(सद्भाव) सदा रहना।
२-(विचार) नित्य अनित्य वस्तु का विवेक।
२-(कर्तृत्व) कर्तापन अर्थात् करने का स्वभाव।
४-(ज्ञातृत्व) जानने का स्वभाव।
५-(स्वतन्त्रत्व) दूसरे के अधीन न रहना।
ये उपरोक्त पांच गुण चिदुदय देव में रहते हैं। २८

मूल-निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विभ्रान्ति रिति पञ्च गुणः प्रकाशः ॥२९॥

संस्कृत टीका—निर्विकारत्वं कार्यगतदोषासङ्गित्वशक्तिः, निःकलत्वं कार्यसन्बन्धिभेदरहितत्वम् निर्विकल्पत्वं संशयरहितत्वम् समता, एकरूपेण सर्वत्रानुगतत्वम् विभ्रान्तिः, विगता भ्रान्तिरिति विग्रहे विपर्ययादि दोषशून्यत्वम् एतत्पञ्चशक्तियुक्तः प्रकाशश्चतुर्थावयवः।२९

भाषा टीका—१-(निर्विकारत्व) उत्पत्ति, वृद्धि इत्यादि वि-

कारों का अभाव।

२-(निष्कलत्व) अवयव आदि का न होना।

३-(निर्विकल्पत्व) संशय रूप विकल्प का न होना।

४-(समता) सर्वत्र एक रूप से रहना।

५-(विश्रान्ति) विषयों से उपराम अर्थात् हट जाना।

ऊपर के ये पांच गुण चित्प्रकाश देव में रहते हैं ॥२९॥

मूल—अहन्ताऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभव सामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहम्भावः। इत्याद्य पिण्डस्य पंचतत्त्वं पञ्च विंशति गुणाः। परमानन्दः प्रबोधश्चिदुदय श्चित्प्रकाशः सोऽहम्भावइत्यन्त आद्यपिण्डो महातत्त्व युक्तः समुत्थितः ॥३०॥

संस्कृत टीका—अहंता समष्टि रूपत्वात् सर्वत्राहंभावः। अतएवाऽखण्डैश्वर्यं सर्वोपरिशासन शक्तिः किं द्वेष दृष्ट्या नेत्याह (स्वात्मता) अत्र स्वपदमात्मीयबोधक मन्यथा आत्मपदेन पौनरुक्त्यं स्यात् स्वस्व, आत्मा, आत्मीय इति यावत् तस्यभावः, तथा च सर्वत्र आत्मीयत्वेन द्वेषस्या सम्भव एवेति बोध्यम्। अतएव विश्वानुभवसामर्थ्यम् सकल साक्षात्कार शक्तिः। सिंहावलोकन न्यायेन शक्तिपदस्य प्रत्येकं योजनाय अत्रान्ते शक्तिपर्य्यायसामर्थ्यपदमुपन्यस्तम्। सर्वज्ञत्वमतीतानागत विषयक ज्ञान शक्तिः, एतत्पंचशक्तिविशिष्टः सोऽहंभावः पञ्चमावयवः। एतेषां समवाय आद्यपिण्डः! अयमेव पञ्च विंशति गुणात्मक महातत्त्व गुण योगात् महत्तत्वपदेन निगद्यते हिरण्यगर्भशब्देन वा सवै शरीरी प्रथमः सवै पुरुष उच्यते इति स्मृतिः। हिरण्य गर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातःपतिरेक आसीदिति श्रुतिः ॥३०॥

भाषा टीका—१-(अहन्ता) सर्वत्र अहंभाव, अर्थात् मैं ही सब जगह व्यापक रूप से हूं।

२-(अखण्डैश्वर्य) अणिमादिक अष्टविध ऐश्वर्य।

३-(स्वात्मता) सर्वत्र आत्म बुद्धि, अर्थात् सब प्राणियों को अपने समान देखना।

४-(विश्वानुभव सामर्थ्य) सूक्ष्म और स्थूल सकल पदार्थों के प्रत्यक्ष करने की योग्यता।

५—(सर्वज्ञत्व) सर्वज्ञता अर्थात् सर्वकालिकज्ञान शक्ति।

ये पूर्वोक्त पांच गुण सोऽहंभाव देव में जानना।

इस प्रकार आद्य पिण्ड के परमानन्द आदि पांच देवता ही पांच अङ्ग हैं, और प्रत्येक अङ्ग में पांच पांच गुण होने से सबको मिला कर पच्चीस गुण होते हैं। इन पांच देवों का समुदाय महत्तत्व रूप आद्यपिण्ड उत्पन्न हुआ। इसी को शास्त्रान्तर में हिरण्यगर्भ नाम से कहा है।

मूल-आद्यान्महाकाशो महाकाशान्महावायुर्महावायोर्महातेजो महातेजसो महासलिलम् महासलिलान्महापृथ्वी ॥३१॥

संस्कृत टीका-एते पञ्च भूताः कार्यभूताः। महापदादानेन कारणभूताः शब्दतन्मात्र स्पर्शतन्मात्र रूपतन्मात्र रसतन्मात्र गन्धतन्मात्र रूपा अपि संगृहीता द्रष्टव्याः। तेषां प्रत्येक मेकैकस्य पञ्च पञ्चगुणान् प्रदर्शयन्ति ॥३१॥

भाषा टीका-अब क्रम से आकाश आदि पंच महाभूतों की उत्पत्ति क्रम का निरूपण किया जाता है।

पांच महा भूतों का कारण आद्यपिण्ड सूत्रात्मा है उस से महा आकाश उत्पन्न हुआ। एवं महा आकाश से महावायु प्रकट हुआ। तथा महावायु से महातेज और महा तेज से स्थूल जल, स्थूल जल से स्थूल पृथिवी उत्पन्न हुई। ३१॥

मूल-अवकाशोऽच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं शब्दत्व मिति पञ्च गुण आकाशः।

सं० टी०-[अवकाश]सर्वेषां मूर्तपदार्थानां समावेशो यथावस्थैव

स्यान्न यदवकाश आकाशेन न प्रदीयेत । अन्यथा परस्परं प्रतिघाते चलन विहरणादि न सिद्ध्येत । **[अछिद्रम्]** छिद्रपदार्थः शून्यं तद्भिन्नम् । एतेनावरणाभाव एवाकाशो न तु भाव पदार्थइति सुगत समयो निरस्तो वेदितव्यः । तथाहि वहुजन समाकुले स्थले क तिष्ठेयमिति केन चित् पृष्टोऽपरो ब्रूते यत्रावरणाभावस्तत्र तिष्ठेति वाक्ये यत्रेत्याधारभूतः कश्चन पदार्थो वोध्यतेऽभाव पदेन चाधेयभूत स्तथा चा धाराधेययोः कुण्डवदरवल् लोके भेदो दृष्टः। ततश्चाभावाद् भिन्नो य आधेयभूतः स एवाकाशो ऽभाव भिन्नत्वाद् भावभूतः । किञ्च शब्दादि गुणाधारतयापि भाव पदार्थो मन्तव्यः । न जातु गुणाधिकरणता कचिदपि खपुष्पादौ दृष्टा । वेदे तु पदे पदे प्रतिपादितम् । एतस्मादाकाशः संजातः । उत्पत्तिमत्त्वाद् भावभूत इत्यनुमाऽपि । नन्वेवं भावभूतश्चेत् तं पावकः कथं न दहति वृष्टिधारा वा कुतो नाद्रयतीत्यत आह **[अस्पृशत्वम्]** न स्पृशति सज्जत इति, अस्पृशः तस्यभाव, तत्त्वं संगरहितत्वम् । अयमाशयः । यथा पार्थिवत्वाविशेषेऽपि घटादौ लोहलेख्यत्वं भवति मण्यादौ नेत्यत्रा वयवसंहननस्वभाव एव तथैवा स्यापि सावयवत्वोत्पत्तिमत्वगुणवत्त्वादेः साम्येऽपि तृणादीनां दाह्यता नत्व.काशस्य विलक्षणावयवसंहतत्वात् । किं च कार्य संहार शक्तिः स्वोपादानकारणे नतु कार्येऽतएवानलेन सलिलस्यावनेश्च दाहो भवति नतु वायोस्तदुपादानत्वात् । अतएवाकाशस्य सर्वभूतोपादानतया नान्यभूतसंहार्य्यता महाप्रलये तु भवति प्रकृतिसंहार्य्यतेति युक्ति मुत्पश्यामः । नीलवर्णम् नीलरूपम् विरलावयवोहि नीलः । ननु सर्वैरस्य नीरूपत्वं प्रतिष्ठापितम् कुतोऽत्र नीलरूपं व्यवस्थाप्यत इति चेत्सत्यम् अन्यै लौकिक प्रमाणैः परीक्ष्यते । अत्र तु धर्ममेघ समाधिना प्रमाण राजेन । अतो नास्ति विरोधः । सूक्ष्मरूपेण सद्भावात् नापामरं निरीक्ष्यते समाधौतुसूक्ष्मदृष्ट्युन्मेषेण निरीक्ष्यते योगिभिः । तदात्ज ज्ञानं भ्रमं मत्वा समाधावपि भ्रमो ना पसरतीति विपरीत प्रत्ययो योगिभिर्नाधेय इत्युपदेशाय वस्तुतो विद्यमानमेव सूक्ष्मरूपं तत्र व्यज्यते स्वदृष्टेरति विशदतया यन्निरीक्ष्यते तत्सत्यमेव न भ्रमो मन्तव्य इति । यथा परमाणो र प्रत्यक्षत्वम् प्रतिष्ठापितम् लौकिक दृष्ट्या तत्तथ्यमेव

किन्तु यन्त्र विशेषेण परमाणुरपि निरीक्ष्यते न तावतोभयोर्विरोधः। भिन्न प्रकारेण प्रतिपादनात्। उपादाने सूक्ष्मावस्थया विद्यमान एव गुणः स्वकार्येऽभिव्यज्यत इति शरणैः सकलैरेव सद्वादावलम्बिदार्शनिकै रङ्गीकृततया पृथिव्यामभि व्यक्तं नीलं परम्परया नीलरूपवदुपादानत्वात् घटोपादान कपालोपादान मृद्वत्। अन्यथा प्रकृतेः सर्वोपादानता भज्येतेति विपक्षबाधक स्तर्कः। ननु अन्येऽपि गुणाः कथं न तत्र प्रतिपाद्यन्ते इति नोत्प्रेक्षितव्यम् समाधिनापि तेषां तत्र भानाभावात्। अस्य च भानात् यो यत्र भास्यन्ते स तस्य गुण इति निगलितनीत्या लौकिक प्रमाणै ये यत्र भास्यन्ते ते तस्य गुणा इति रीत्या आकशस्य नीलरूप वत्वं व्यवस्थापितम् इति कानुपपत्तिः को वा विरोधगन्धोपीति विविच्यताम् विवेका नुषक्त चेतोभि विंपश्चिद्वरै निर्मत्सरैः। असद्वादावलम्बिमतमादाय विप्रतिपत्ता असद्वाद एव तावद् श्रुतिस्मृति युक्त्या-सकलप्रमाणप्रतिषिद्ध इति दण्डनिपातेन परिहरणीयः। श्रुति स्मृत्यादयोऽपि सद्वाद प्रदर्शनेन मदीयानुमानेऽनुकूला एव न प्रतिकूलतामाचरन्तीति वेद्यम् [शब्दत्वम्] शब्दो ऽस्त्यस्मन्निति मतुपि गुण वचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ट इति लुकि ततोभावे त्वप्रत्यये शब्द इति फलितम् प्रकृति जन्य बोधे प्रकारस्य भावपदार्थत्वान् एते पञ्च गुणा आकाशे सन्तीति केचित्तु विशेषरूपाभाव एव एवञ्चा काशे कस्यापि विशेषरूपस्य मानाभावे नील वर्णो यमिति व्यवहारो दृष्टश्च लोके अकृष्णोऽपि देवदत्तः पटोवा उज्ज्वलश्वेताभावेऽपि नीलोयमिति व्यवह्रियते। अत एवोपासनाकाण्डे रूपरहितस्यापि परमेश्वरस्य नीलरूपवत्वेनोपासते यथा च नैयायिका तेजोभाव एव तम इति निगदन्तीत्याहुः ॥३२॥

भाषा टीका—अब आकाश के पाँच गुणों का निरूपण करते हैं

१—(अवकाश) पोल, अर्थात् सर्वमूर्त पदार्थों का आश्रय।
२—(अछिद्र) छिद्रशून्य अर्थात् जिस में छेद न हो।
३—(अस्पृशत्व) स्पर्श से रहित याने जो छुवा न जा सके।
४—(नीलवर्णत्व) नीलरूप।

५—(शब्दत्व) ध्वनि अर्थात आवाज
ये पूर्वोक्त अवकाशा दि पांच गुण आकाश के जानना।

मू०--सञ्चारः संचालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्व-मिति पञ्चगुणो महावायु ॥३३॥

सं० टी०--[सञ्चारः] चलन : क्रिया, संयोगानुकूलव्यापार इति पंचसु भूतेषु सर्वतः प्रथमं वायावेव गमनक्रिया ऽभिव्यज्यतेऽतः, तस्यैवासाधारणो गुणो मन्तव्यः। नन्वेवं तेजस उर्द्ध गमनं जलस्य निम्नचलन मित्यादि कथं दृश्यते इत्यत आह [संचालनम्] अन्येषु चलन जनिका प्रेरणा संयोगानुकूल व्यापारानुकूल व्यापार इतियावत्। एतदुक्तं भवति स्वतश्चलनं तत्रैव ततसम्बधादेवा ऽन्यत्रापि तदुत्पद्यते ऽत एव मृतशरीरे ऽन्तःप्रेरक वायु विरहान् न चलनादि जायते जीवच् शरीरे तत्सत्वे तद् भवतीति तद्भावाभावानुविधायित्वात् सिद्धं तन्निमित्तकं चलनम्। अतएव चेन्द्रियादि निग्रहाय प्राण एवावरोध्यते प्राणायामेन योगिभिः। तस्मिन्नवरुद्धे ऽवरुद्धान्येव भवन्तीतरेन्द्रियाणीति प्रत्यक्षतरम् बटुतरयोगिनामपि। अधिभूतसृष्टिष्वपि दीयताम् दृष्टिः यद्ययम् प्रवहादिवायुर्न प्रवहेत तदा कुकुमुदकमलिनीपतितारागोलचक्र भ्रमणनिमित्तक निखिलरात्रिंदिवादिव्यवहार स्तत्क्षणं प्रलुप्येतेति स्वयन्निरीक्ष्योत्प्रेक्ष्यताम् वा शिक्ष्यताम् ज्योतिषादिशास्त्रतः। [स्पर्शनं] स्पर्श गुणः। अत्र शीतोष्णादिविशेषरूपेणानवभासात् सामान्ये नाभिहितमतो ऽनुष्णाशीत स्पर्श इतिफलति। एतस्यैव विशेषा यथा शीतादि जलादिभूतेषु। [शोषणम्] अन्येषां जलादीनां तदीय गुणानां वा स्वावयवेषु संहरणंवा प्रसारणं शोषण पदार्थः। अतएव श्री गंगा गतशैत्य पावनत्वादि तत्तटेऽपि कुसुमकाननपरिसरवर्त्तिनामपि बहुलामोद श्चेत्यादि बहुतरमुन्नेयम्। [धुम्रवर्णत्वम्] कृष्णलोहितरूपम् अत्रापि यद्वक्तव्यम् तत् पूर्वोक्तमेव। एते पञ्चगुणा महावायौ सन्ति।

भाषा टीका—अब वायु के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

१—(संचार) चलना।
५—(संचालन) चलाना
३—(स्पर्शन) स्पर्शन अर्थात् छूना।
४—(शोषण) सुखाना
५—(धूम्रवर्णत्व) धूमे जैसा रूप।
ये उपरोक्त पांच गुण महावायु में रहते हैं। ३३ ॥

मू०— दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति पञ्च गुणं महातेजः ॥३४॥

सं० टी०—दाहकत्वम् स्वकार्यभूतयोर्जल पृथिव्योः संहारकत्वम् अत्र दाहो द्विविधः क्वचित् गुणस्यैव यथोष्णजले केवलशैत्यगुणस्यैव न जलस्य क्वचिच्च स्वीयगुणाधिक्ये गुणिनोऽपि जलस्य तृणादेश्च [पाचकत्वम्] रूपरसान्तरसम्पादकत्वम् शरीरे ऽशिताम्नादे रसान्तर परिवर्तनं जठरानलतेजः सम्बन्धात् घटादौ श्यामरूपस्य नाशे रक्तस्योत्पत्तिः, आम्रादिफले आमलस्य हरितरूपस्य च नाशः, माधुर्य्यस्य रक्त पीतादिरूपस्य चोत्पत्ति स्तज्जनक व्यापारः, विलक्षणसंयोगाख्यः पाचकत्वम् तेजोनिष्ठम्। [उष्णत्वं] उष्णगुणः, अतएवा अन्यमपि उष्णायति योहि स्वयं धनी स एवान्यं धनयितुमलम् [प्रकाशत्वम्] प्रकाशगुणः तमो विनाशकः [रक्तवर्णत्वम्] रक्तरूपम् भगवती श्रुति रप्याह यद्रोहितम् रूपम् तत्तेजसः। एते पञ्च गुणाः तेजसि सन्ति ॥३४॥

भाषा टीका—अब तेज गुणों का वर्णन करते हैं।
१—(दाहकत्व) जलाना।
२—(पाचकत्व) पकाना।
३—(उष्णत्व) उष्णता अर्थात् गर्मी।
४—(प्रकाशत्व) प्रकाश याने उजाला।
५—(रक्त वर्णत्व) लाल रंग।
इन पूर्वोक्त पांच गुणों से युक्त महा तेज हैं। ३४ ॥

मू०—प्रवाह आप्यायनं द्रवो रसः श्वेतवर्णत्वम् इति पञ्च गुणं सलिलम् ॥३५॥

सं० टी०—[प्रवाहः] प्रवहति नीचैर्गच्छतीति। अतएव नदी वहतीति प्रयोगः किञ्च तृणादीनां स्ववेगेन देशान्तरं प्रापयतीति प्रापणार्थक वहधातोर्घञ्निरूपम्। [आप्यायनं] वर्धनम् अतएव जलसंयोगात् बीजमुच्छूनं भवति जलेन विक्लेदिता स्तण्डुला ओदना भवन्ति जल सेकादेव तृणगुल्म शाल्यादयो बर्धन्त इत्यादि सार्वजनीनम् द्रवः, आद्यस्यन्दना साधारण कारण गुणो द्रवत्वम् [रस.] मधुर एव स्वाभाविकः पृथिव्याद्युपाधिवशादाम्लादिकम्। [श्वेत वर्णत्वम्] श्वेतरूपमिति सर्वजनीनम् य-च्छुक्लं तद्पामिति श्रुतिरूपदिशति। एते पञ्च गुणा जले सन्ति ॥३५॥

भाषा टीका–[प्रवाह] वेग। [आप्यायन] बढना या तरङ्गों के द्वारा ऊपर को उमड़ना। [द्रव] पिघलना। [रस] मीठा स्वाद। श्वेतवर्णत्व श्वेतरूप। ये उपरोक्त पांच गुण जल के जानना। ३५॥

मू०–स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गन्धः पीतवर्णत्वमिति पंचगुणा महापृथ्वी। इति महासाकार पिण्डस्य पंचतत्त्वंपंचविंशतिगुणाः ॥३६॥

सं० टी–[स्थूलता] अधिकगुणासंघातः। नानाकारता। आकारो नाम अवयव सन्निवेशः सच पृथिव्यां नाना यथा घटपटगोमहिषीमातङ्गाद्यनन्तरूपा अवयवसन्निवेशाः सार्वपथीना न शक्या अपह्नोतुम् क्षीण विज्ञानादिभिरिति बोधयितुमुपन्यस्तम्। 'काठिन्यं' निविड़ावयव संयोग विशेषो यथोपलादौ "गन्धः" स द्विविधः सुरभि रसुरभिश्चेति 'पीतवर्णत्वम्' पीतरूपम् यद्यपि पृथिव्यां सर्वाणिरूपाणिपूर्वभूतगुणाना मुत्तरोत्तरेऽनुवर्त्तनात् तथापि यथा रक्तादयः पूर्वत्रोपलभन्ते नैवं पीतम् इदं त्व त्रैवेत्यत आह पीतवर्णत्वम् इति। एते पंच गुणाः पृथिव्यां सन्ति। एतेषां समुदाय एव चिदचित्संवलितो महासाकारपंचतत्त्वात्मकः पंचविंशतिगुणाविशिष्टः पञ्चानन शिवः श्रुतौ वैश्वानर विराडादि शब्दै र्व्यवह्रियते ॥३६॥

भाषा टीका– अब पृथ्वी के पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **[स्थूलता]** मोटापन। **[नानाकारता]** पर्वत, तरु, लता आदि रूप से तथा सम विषम मरुस्थल आदि भेद से पृथ्वी के अनेक आकार देखने में आते हैं। यही नाना आकारता पृथ्वी का दूसरा गुण है।

काठिन्य] कठिनता अर्थात् कड़ापन **[गन्ध]** महक। यहां सुगन्ध और दुर्गन्ध। इन दोनों का गन्धपद से ग्रहण जानना **[पीतवर्णत्व]** पीलावर्ण। यद्यपि पृथ्वी में और भी चित्र विचित्र रंग देखने में आते हैं तब पीला रूप पृथ्वी का विशेष गुण क्यों कहा तथापि जैसे तेज आदि में लाल रंग आदि की प्रतीति होती है वैसे पीला रंग पृथ्वी से अन्यत्र नहीं देखने में आता केवल पृथ्वी में ही अभिव्यक्त होता है। अतः पीले वर्ण को ही पृथ्वी का गुण कहा है। ये पूर्वोक्त पांच गुण महापृथ्वी में रहते हैं।

भाषा टीका—इन पांच महाभूतों का समष्टिरूप महासाकार पिण्ड होता है और उस समष्टि पिण्ड के आकाश आदि पांच भूत ही पांच तत्त्व रूप पांच अंग हैं। तथा एक भूत में पांच गुण होने से पच्चीसगुण साकार पिण्ड के जानना। ३६॥

मूल–स एव शिवः शिवाद् भैरवो भैरवाच् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठात् सदाशिवः सदाशिवादीश्वर ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु र्विष्णो र्ब्रह्मेति महासाकार पिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ॥३७॥

सं० टी०–"स एव" पूर्वोक्त पिण्ड एव शिवस्ततो भैरवोजातः सोऽपि तावद्गुण विशिष्टो न तु न्यून इत्येकस्यैव शिवस्य मूर्त्यष्टक कथनेन व्यज्यते शिवो भैरवः श्री कण्ठः सदाशिव ईश्वरो रुद्रो विष्णु ब्रह्मेत्यष्टौ मूर्त्तयः संजाता एते हि समष्टिभूता देवा अनन्त ब्रह्माण्डान् रचयन्ति यथासमयं प्राणिकर्मानुरूपं रक्षन्ति नियमयन्ति संहरन्ति तारयन्ति च ततः ब्रह्माण्ड प्रतीशास्ते सर्वे मुमुक्षुभिर्बुभुक्षु

भिश्च स्वस्वाभिष्ट सिद्ध्यै पूजनीया इति प्राग्ऽनुजिघृक्षयोपदिशन्त्या-चार्याः ॥३७॥

भाषा टीका—अब साकार आठ देवों के उत्पत्ति क्रम का निरूपण किया जाता है। जो पूर्वोक्त विवृत आठ पिण्ड हैं वही पच्चीस गुण स्वरूप चित अचित् रूप से महासाकार पिण्ड रूप में प्रकट हुआ और वही साकार पिण्ड पंचानन शिव कहलाता है। उस साकार शिव जी से भैरव प्रकट हुआ। भैरव से श्री कण्ठ श्री कण्ठ से सदाशिव सदाशिव से ईश्वर ईश्वर से रुद्र रुद्र से विष्णु और विष्णु से ब्रह्मा जी पैदा हुये। इस प्रकार महा साकार विष्णु की आठ मूर्तियों का विभाग जानना। आधिदैविक आधिभौतिक आध्यात्मिक इस प्रकार तीन भेदों से त्रिविध सृष्टि प्रधान है। क्यों कि अधिष्ठाता अन्तर्यामी देव के द्वारा ही चराचर सकलविश्व का संचालन होता है और देवोपासना द्वारा ही चार प्रकार के पुरुषार्थ की सिद्धि होती है। इस लिये इस ग्रन्थ में सब से पहले देव सृष्टि का निरूपण किया गया है। ३७॥

मू०—तद् ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारी रूप प्रकृतिपिण्डः समुत्पन्न स्तच्च पंच पंचात्मकं शरीरम् ॥३८॥

संस्कृत टीका—[तस्मात् ब्रह्मणः] परमेष्ठिनः सकाशादवलोकनेन, संकल्पेन स्त्री सम्पुटितः पुरुषः। [प्रकृति पिण्डः] व्यक्ति सृष्टेः कारणभूतो मनुप्रजापतिः शतरूपासहितः संजातः, ततः प्रभृति जरायु-जादिभौतिकसृष्टिर्भवति। तदपि शरीरं पंचभूतात्मकं प्रत्येकभूतस्य पञ्च पञ्च गुणात्मकं तस्मिंस्तस्मिन् शरीर एकैकभूतस्य यानि यानि कार्याणि तानि प्रदर्शयन्ति, अस्थिमांसेत्यादि मनुष्यानधिकृत्य प्रवृत्त मिदं शास्त्रम् अतो मनुष्य शरीरेषु पंचानामपि भूतानां विद्यमानत्वे-ऽपि पृथिव्यंशस्याधिक्येन पार्थिवत्वम् तस्मात् प्रथमम् पृथिवीकार्या-ण्यारभ्याकाशगुणकथनेन समापितम् ॥३८॥

भाषा टीका—इस के उपरान्त देव मनुष्यादि सृष्टि के क्रम से

प्रेरित हुये ब्रह्मा जी के संकल्प द्वारा और उसी परमपितामहब्रह्मा जी से नरनारी रूप प्रकृतिपिण्ड अर्थात् शतरूपा सहित मनुप्रजापति उत्पन्न हुआ। उस के बाद उनसे जरायुज अण्डज स्वेदज आदि समस्त भौतिक पिण्डों की उत्पत्ति हुई। और वही प्रकृति पिण्ड पांच भूतों के पांच पांच गुणों से युक्त होने से पांचभौतिक शरीर कहलाता है और यह भौतिक शरीर भी पंचभूतात्मक है। वहाँ पर शरीरगत पाँच भूतों के गुणों का वर्णन विपरीत क्रमद्वारा किया जायगा अर्थात् पृथ्वीसे लेकर आकाश पर्यन्त इस का आशय यह है कि मनुष्यों का अधिकार करके यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है और मनुष्यों के शरीर में पाँच भूतों के विद्यमान होने पर भी पृथ्वी अंश का आधिक्य है। इसी लिये यह पार्थिव शरीर कहलाता है। अतः इस शरीर में सब से पहले पृथ्वी के गुणों का वर्णन किया जायगा। बाद में जल से ले कर आकाश पर्यन्त के गुणों का वर्णन करें गे। ३८ ॥

मू०--अस्थि मांसत्वङ्नाडीरोमाणीति पंच गुणा भूमिः ॥३६॥

संस्कृत टीका--शरीरेऽस्मिन् भुक्ताऽन्नोपचितानाम् अस्थि मांस त्वङ्रोमेति पञ्चानाम् काठिन्यमुपलभ्य काठिन्यगुणविशिष्ट पृथिव्युपादानकत्वं सुनिरूपितम् भवति तथाच यद् यस्य कार्य्यम् तत्-तस्यगुण इति न्यायेन पृथिवी गुणत्व मुक्तम् ॥३६।

भाषा टीका--अब यहाँ से पृथ्वी के पाँच गुणों का वर्णन किया जाता है

[**अस्थि**] हड्डी। [**मांस**] मांस। [**त्वक्**] त्वचा अर्थात् खाल। [**नाड़ी**] नाड़ी। [**रोम**] लोम अर्थात बाल। ये पाँच गुण पृथ्वी के पार्थिव शरीर में रहते हैं। ३६ ॥

मूल--लाला मुत्रं शुक्रं शोणितं स्वेद इति पंचगुणा आपः ॥४०॥

संस्कृत टीका—एवं लाला मूत्र शोणित प्रस्वेदेषुद्रवत्वोपलब्ध्या जलोपादानत्वाज् जलीयगुणत्वमुक्तम् ॥४०॥

भाषा टीका—[**लाला**] लार। [**मूत्र**] पेशाब। [**शुक्र**] वीर्य। [**शोणित**] रुधिर। [**स्वेद**] पसीना। शरीरगत ये पाँच गुण जल के हैं।४०॥

मूल--क्षुधा तृषा निद्रा कान्तिरालस्यमिति पञ्च गुणं तेजः ॥४१॥

संस्कृत टीका—क्षुधातृषा निद्रा कान्त्यालस्येषु च दाहकत्व पाचकत्वोपलब्ध्या तैजसत्वेन तेजोगुणत्वम् अत्र कान्ति लावण्यं शुक्ल कृष्ण साधारणो गुणः। न नु, आलस्यम् निद्राच कथं तेजो गुण इति चेत शृणु तैजसंहि पित्तं यदा प्रवर्धमानं तत्तन्नाडीरन्ध्रान् विरलतया व्याप्नुते तदा ऽलस्यं जनयति यदा च परिपूर्णतया ऽश्नुते तदा मनसः संचरितुमवकाशाभावात् निद्रां जनयतीति प्रत्यक्षम् ॥४१॥

भाषा टीका—[**क्षुधा**] भूख [**तृषा**] प्यास। [**निद्रा**] नींद [**कान्ति**] प्रभा [**आलस्य**] काम में अरुचि शरीर में ये पाँच गुण तेज के जानना।

यद्यपि आलस्य और निद्रा में तमो गुण प्रधान होने से इन को तेज का गुण नहीं कहना चाहिये ऐसा अचानक सन्देह होता है क्योंकि आग जलने आदि तेज कार्यों में अक्सर चंचलता और तरलता देखने में आती है तथापि यहां सन्देह न करना चाहिये क्यों कि जब शरीर में तेज का कार्य पित्त बढा हुआ नाड़ियों के छिद्रों में विरल रूप से व्याप्त होता है तब वह आलस्य को उत्पन्न करता है इसीलिये श्री योगाचार्य जी ने तमोगुण प्रधान आलस्य को तेज का गुण कहा है। इसी प्रकार जिस की जठराग्नि अच्छी तरह से बढी हुई है वह पुरुष जब पेट को भरने के लिए खूब खाता है उस समय पेट की गर्मी की अधिकता से पित्त ज्यादा मात्रा में बढकर समस्त नाड़ियों के छिद्रों में पूर्ण रूप से व्याप्त होता है तब मन को नाड़ियों में इधर उधर घूमने

का अवकाश न मिलने से निद्रा उत्पन्न होती है इसी लिये श्री नाथ जी ने निद्रा को भी तेज का गुण माना है ॥ ४१ ॥

मू०--धावनं भ्रमणं प्रसारण माकुञ्चनं निरोधन मिति पंचगुणो वायुः ॥४२॥

सं० टी०—तथैव धावन भ्रमण प्रसारणा कुञ्चन निरोधेषु वायु जन्यत्वेन वायु गुणत्वम्। उत्कट कोटिक शीघ्र गमनं धावनम् अनियत दिक् देशगमनम् भ्रमणं क्वचित् लवनमिति पाठः, तस्य मण्डुकगति वदुत्प्लवनमर्थः। प्रसारणम्, सर्वदिक्संयोगानुकूलव्यापारः। आकुञ्चनम् स्वाभिमुखसंयोगानुकूलव्यापारः। निरोधनम् नियतदेश संयोगानुकूल व्यापार इत्यर्थः ॥४२॥

भाषा टीका—अब शरीर में वायु के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

धावन दौड़ना। **भ्रमण** घूमना या **प्लवन** तैरना। **प्रसारण** फैलाना **आकुञ्चन** खेंचना या समेटना। **निरोध** प्रतिबंध, अर्थात् रोकना। ये उपरोक्त पांच गुण शरीरस्थ वायु के जानना। ४२

रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पंच गुण आकाशः। इति पंच विंशति गुणानां भूतानां पिण्डः ॥४३॥

सं० टी०--एवम् राग द्वेष भय लज्जा मोहेषु सूक्ष्मत्व हृदयाकाश संचारित्वयोरुपलब्ध्या हृदयाकाशाश्रितान्तःकरणाश्रितत्वेन चाकाश कार्यत्वम् साक्षात् परम्परयाच निश्चितया काशगुणत्वमुक्तम् अन्यत् सर्वं सुगमम् पूर्वोक्तपंचविंशतिगुणात्मकभूतानां समुदायो भौतिक शरीरमिदम् ॥४३॥

भाषा टीका—अब शरीर गत आकाश के पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **राग** धन पुत्र स्त्री इत्यादि भोग्य विषयों में आसक्ति का नाम राग है। **द्वेष** अप्रीति, वैर अर्थात् आत्म प्रतिकूल पदार्थों में प्रेम का न होना। राग और द्वेष ये दोनों कल्याण के बाधक हैं

अतः ये सब के लिये त्याज्य हैं, इसी भाव को लेकर श्रीनाथ जी ने विवेक मार्तण्ड में कहा है—

रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ।
तावेव यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ॥

भय डर। **लज्जा** शर्म। **मोह** अज्ञान अर्थात् वस्तु के सच्चे स्वरूप को न जानना। ये उपरोक्त पांच गुण आकाश के जानना।

शंका—ये राग द्वेषादि तो अन्तःकरण के धर्म हैं फिर आकाश के गुण क्यों कहे ?

उत्तर—जैसे शरीरस्थ हड्डी आदि पृथ्वी के कार्य होने से उसी के गुण कहे गये हैं, वैसे ही ये रागादि भी शरीरस्थ हृदयाकाश का आश्रय लेकर संचार करते हैं या हृदयाकाश में रहने वाले अन्तःकरण के आश्रित होकर ये रागादि रहते हैं। तथा हृदयाकाश का भूताकाश से भेद नहीं हैं जैसे मठाकाश का महाकाश से। अतः साक्षात् वा परम्परा से आकाश कार्य्य होने से आकाश के गुण कहे गये हैं। इस प्रकार एक एक भूत के पांच पांच गुणों का शरीर में निरूपण किया है, उन पांच भूतों के पांच २ गुणों से याने भूत समुदाय के पच्चीस गुणों से ही यह प्रकृति पिण्डरूप पंचभौतिक देह उत्पन्न होता है।

मू०—मनो बुद्धि रहंकार श्चित्तं चैतन्यमित्यन्तः करण पंचकम् ॥४४॥

संस्कृत टीका—स्थूल शरीरं प्रदर्श्य तदभ्यन्तरे प्रविश्य तत्संचालकः सूक्ष्म शरीरापरपर्य्यायः आमोक्षं पर्यवस्थायी लिङ्गात्मा प्रदर्श्यते। सोऽपि पच पंचात्मकः, अतस्तत्र प्रथमं पञ्चवैध्यमाह मन इत्यादि, अत्रेदं बोध्यम् यथा सामूहिकरूपेण एकमेव स्थूलं शरीरं सर्वावयवानुविद्धं विभजने पार्थक्येन पञ्च पञ्चात्मकं प्रदर्शितम् तथैवेदमपि सर्वतोऽनुविद्धम् एकमेव द्रव्यं किन्तु तस्यापि विभजनेऽवयवशः पञ्चविधत्वं तत्रापि पञ्चपञ्चकार्याणि वृत्तिभेदेन विभज्य

पञ्चपञ्चात्मकं सुष्ठु व्यवस्थापयिष्यते ॥४४॥

भा० टी०—अब अन्तःकरण का वर्णन करते हैं यद्यपि अवयवी केवल एकही अन्तःकरण है तथापि अवयवों के द्वारा उसी के मन बुद्धि आदि पांच भेद जानना। अब उन ही मन बुद्धि आदि के पांच पांच गुणों का निरूपण किया जायगा—

मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, चैतन्य, इस प्रकार से पांच प्रकार का अन्तःकरण है, ये भेद पूर्वोक्त अन्तःकरण की वृत्ति के जानना ।४४

मू०—संकल्पो विकल्पो मूर्च्छा जड़ता मनन मिति पंच गुणं मनः ॥४५॥

सं० टी०—तत्र प्रत्येकमवयवानां वृत्तिभेदेन पञ्चपञ्चगुणा-नाहुः। **[संकल्प इत्यादि] संकल्प** इदं मे भूयादित्याशा **विकल्पः** स्थाणुर्वा पुरुष इत्याद्याकारक एकधर्मिकविरुद्धकोटिक धर्मद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः **[मूर्च्छा]** मोहः, अतद्वति तत्प्रकारकोबोधः। यदवच्छेदेन तत् सम्बन्धाभावः, तदवच्छेदेन तत्सम्बन्धविषयक-ज्ञानमिति यावत्, यथा शुक्तौ "इदं रजतम्" **[जडता]** अविवेकता **[मननम्]** तर्कः। व्याप्यारोपेण व्यापकारोपः, यदि वह्निर्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादित्याकारक इति पंचगुणा मनसः ॥४५॥

भा० टी०—अब शरीरगत मन के पांच गुणों का वर्णन किया जाता है।

संकल्प—यह वस्तु मुझे मिल जाय इस प्रकार की आशा का नाम संकल्प है।

विकल्प—सन्देह, अर्थात् यह मनुष्य है या कुछ और है इस प्रकार के संशयात्मक ज्ञान को विकल्प कहते हैं।

मूर्छा—मूढता, अथवा मन की अचेत अवस्था को भी मूर्छा कहते हैं।

जड़ता—मन्दता अर्थात् ग्राहिणी बुद्धि का अभाव।

मननम्– तर्क पूर्वक विचार का नाम मनन है। ये उपरोक्त पांच गुण मन में रहते हैं-। ४५

मूल–विवेको वैराग्यं शान्तिः सन्तोषः क्षमेति पञ्चगुणा बुद्धिः॥४६॥

संस्कृत टीका--[विवेकः] निश्चयः। यदवच्छेदेन तत्सम्बन्ध स्तदवच्छेदेन तत्सम्बन्ध ज्ञानम्। [वैराग्यम्] प्राप्तेष्वपि भोगेष्वलबुद्धिः, यदाह दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्यव शीकारसंज्ञा। तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्य मिति भगवान् पतञ्जलिः। [शान्तिः] वित्तेपाभावः। [सन्तोषः] यादृच्छिकोपपन्नेषु कृतार्थता [क्षमा] सत्यप्यपराधे प्रसहसनमिति पंच-गुणा बुद्धौ॥४६॥

भाषा टीका–अब बुद्धि के पांच गुणों का निरूपण करते हैं।

विवेक-वस्तु के स्वरूप का यथार्थ निश्चय विवेक कहलाता है।

वैराग्य-इस लोक और स्वर्गलोक के विषयों से चित्त के उपराम अर्थात् हट जाने को वैराग्य कहते हैं।

शान्ति-चित्त में चाञ्चल्यादि दोषों का न रहना शान्ति कहा जाता है।

सन्तोष-शरीर निर्वाह के लिये जैसी जितनी जो वस्तु मिल जाय उसी से सन्तुष्ट होजाने का नाम सन्तोष है।

क्षमा-दण्ड देने की शक्ति रहते हुए भी दूसरे के अपराध को सहन करने का नाम क्षमा है। ये ऊपर के पांच गुण बुद्धि में रहते हैं।

मूल–अभिमानं मदीयं मम सुखं मम दुःखं ममेद-मिति पंचगुणोऽहङ्कारः।

संस्कृत टीका–[अभिमानम्] अहमेव नान्यो मत्सम इति

[मदीयम्] शरीरेन्द्रियाद्याध्यात्मिकेषु सम्बन्धज्ञानम् **[मम सुखम्]** सुख विषयकरागः **[मम दुःखम्]** दुःख विषयक द्वेषः **[ममेदम्]** बाह्यवस्तुषु सम्बन्धज्ञानम् अवस्था भेदात् परस्परं भेदमादाय पंचविधत्वमुपवर्णितम्, अतो न पुनरुक्तता ॥४७॥

भाषा टीका—अब अहंकार के पांच गुणों का वर्णन करते हैं।

अभिमान-मैं ही अमुक कार्य करने में समर्थ हूं, दूसरा नहीं इस प्रकार के भाव का नाम अभिमान है।

मदीय-मेरा अर्थात् शरीर और इन्द्रिय आदि आध्यात्मिक वस्तुओं में 'ये मेरे हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध को मदीय कहते हैं।

मम सुख-सुख के साथ सम्बन्ध, अर्थात सुख।

मम दुःख दुःख के साथ सम्बन्ध, अर्थात् मेरा दुःख।

ममेदम्-पुत्र कलत्रादि बाह्य वस्तुओं में 'ये सब मेरे हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध को मम इदम् कहते हैं। उपर्युक्त ये पांच गुण अहंकार के हैं।

मूल—मति धृतिः स्मृति स्त्यागः स्वीकार इति पञ्चगुणं चित्तम् ॥४८॥

सं० टी०—मतिः इच्छा **धृतिः** उत्साहः येन शरीरेन्द्रियाणामवसाद प्राप्तौ-उत्तम्भनम् **स्मृतिः** संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञायाः सएवायमित्यस्य संस्कारेन्द्रियोभयजन्यत्वेन मात्रपदनिवेशबलान्नातिव्याप्तिः **त्यागः**, दानम् स्वीकार साहचर्यादतएव पूर्वोक्त वैराग्येन न पुनरुक्त मुद्भावनीयम् **स्वीकारः**, ग्रहणं दानानुकूलो ग्रहणानुकूलश्च व्यापारः चित्ते वर्तते, एते पञ्च चित्ते तिष्ठन्ति ॥४८॥

भाषा टीका—अब नीचे चित्त के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **मति** इच्छा। यहां मति पद का बुद्धि अर्थ नहीं है।

क्यों कि बुद्धि के गुणों का तो पहले वर्णन हो चुका है। **धृति** धैर्य। अर्थात् धीरज। **स्मृति** संस्कारमात्र से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान का नाम स्मृति है। **त्याग** दान। उत्तम देश कालादि सत्पात्र को देना। विवेक मार्तण्ड मे श्रीनाथ जी ने भी दान देने का महत्त्व दिखाया है "न सन्तोषसमं सौख्यं न दानेन समोनिधिः" **स्वीकार** लेना। इस प्रकार ये पांच गुण चित्त के जानना। ४८॥

मूल—विमर्शः शीलनं धैर्यं चिन्तनं निस्पृहत्वमिति पञ्चगुणं चैतन्यमेवमन्तः करणगुणाः ॥४९॥

संस्कृत टीका—विमर्शः प्रमाणैर्वस्तु परीक्षणम् विचारः **शीलनम्** भूयोऽभ्यासः, **धैर्यम्**-शरीरस्थापकव्यापारो नतु प्रवर्धकत्वम्। अयमाशयः, उत्साहेन शरीरादौ स्फुर्ति भवतियेन स्वकार्येषु प्रवर्तते। धैर्येण तु न प्रवर्तते न निवर्तते स्थितिमात्रं भवत्यनयोर्विशेषः अतो नोत्साहेन पौनरुक्त्यम्। **चिन्तनम्** विषयाभिध्यानम् **निस्पृहत्वम्** उदासीनत्वम इष्टानिष्टोभयज्ञानशून्यता। एते गुणाश्चैतन्यं। एते सर्वे पंचविंशत्यात्मका गुणा अन्तःकरणस्यैव। इति सूक्ष्म शरीरवर्णनम् ॥४९॥

भाषा टीका—विमर्श विचार **शीलन** बारंबार अभ्यास **धैर्य** धीरता। अर्थात् महाविपत्ति आने पर भी विचलित न होना। **चिन्तन** ध्यान **निस्पृहत्व** संसार के भोगों में आसक्त न होना। येपाँच गुण चैतन्य (अन्तः करण) के जानना। इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से एक ही अन्तः करण के वृत्तिभेद के द्वारा मन बुद्धि आदि रूप से पाँच विभाग कर प्रत्येक में पाँच पाँच गुणों की निरूपण प्रणाली से २५ गुणों का निरूपण समाप्त हुआ। ४९॥

मूल—सत्वंरजस्तमः कालो जीव, इति कुल पञ्चकम् ॥५०॥

संस्कृत टीका—एषां प्राधान्येन सृष्टेः सञ्चालकतया कारण-त्वम् । अतः कुलपञ्चकशब्देन व्यवह्रियते योग तन्त्रे ॥५०॥

भाषा टीका— सत्व, रज, तम ये तीन गुण तथा काल और जीव ये कुलपञ्चक कहलाते हैं। भाव मन बुद्धि और इन्द्रिय आदि के संचालन में इन की प्रधानता रहती है। इस लिये ये पाँच कुल यानी प्रधान कहे गये हैं। ५० ॥

मूल—दया धर्मः क्रियाभक्तिः श्रद्धेति पंच गुणं सत्वम् ॥५१॥

संस्कृत टीका—तत्र प्रत्येकं पञ्च गुणान् विभजते दया प्राणिनामनुग्रहः, धर्मः- सुख जनकोऽदृष्टविशेषः क्रिया- धर्मजनकर्मा श्रवणमननादि कर्म भक्तिःपरमेश्वर तदङ्गदेव तातन्मंत्रतदुक्तवाक्य तन्नियमितृमर्यादाविषयिणी प्रीतिः श्रद्धा पूर्वोक्तविषयकास्तिक्य बुद्धि रेते पञ्च गुणाः सत्वस्य ॥५१॥

भाषाटीका— अब सत्व गुण के कार्य रूप पाँच गुणों का निरूपण करते हैं। दया प्राणियों पर कृपा करने का नाम दया है। धर्म सुखविशेषको उत्पन्न करने वाला श्रेष्ठ कर्म। क्रिया देवताविषक ध्यान और उपासनादि कर्म को क्रिया कहते हैं। श्रद्धा इस लोक से अतिरिक्त परलोकआदि भी हैं ऐसी बुद्धि का नाम श्रद्धा है। भक्ति ईश्वर में अनन्य भाव से प्रेम होना भक्ति कहलाती है। ५१ ॥

मूल—दानं भोगः श्रृङ्गारो वस्तु ग्रहणं स्वार्थ संग्रहणमिति पंचगुणंरजः ॥५२॥

संस्कृत टीका—दानम् फलमुद्दिश्य, देशकालपात्राद्यविचारेण द्रव्यविनियोगः। भोगः, सुख दुःखान्यतरसाक्षात्कारः श्रृङ्गारः, भोगाय नित्यशरीरपरिमार्जनम् नतु मोक्षाय संस्कारबुद्धया, वस्तु-

ग्रहणम् उपयोगमनन्वालोच्य सर्वत्र स्वामित्वसम्पादनम् **स्वार्थसंग्रहणम्** स्वभोग जनकसंचयः, एते गुणा रजसः ॥५२॥

भाषा टीका—अब रजोगुण के कार्यभूत पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **दान** भावीफल की आशा से शुभ देश और शुभ समय में सतपात्र का विचार न करके यथा शक्ति धन अन्न और वस्त्रादि देना। **भोग** सुन्दर रूप रस सुगन्ध और स्त्री आदि विषयों में रमण करने का नाम भोग है। **शृङ्गार** अनेक चित्र विचित्र रङ्ग विरङ्ग और चमकीले वस्त्र भूषणादिकों से शरीर को सजाने का नाम शृङ्गार है। **वस्तुग्रहण** अपने भोग के लिये उपयोगी चीजों का लेना **स्वार्थग्रहण** दूसरे की हानि का ध्यान न करके सिर्फ अपने भोग के लिये ही वस्तु के ग्रहण को स्वार्थ ग्रहण कहते हैं ॥५२॥

मूल-विवादः कलहः शोको वधो वञ्चनमिति पंचगुणं तमः ॥ ५३ ॥

संस्कृत टीका-विवादः-व्यर्थकथनं **कलहः**-अन्यायेन विरोधः **शोकः**, अशक्येपि शक्यबुद्ध्यापरिदेवनम् **वधः**-हिंसा **वञ्चनम्** इष्टविघाताय प्रतारणम् अत इष्टजनकाध्ययनादि सत्कर्मणे बालानां प्रतारणं न तामसम्। एते पञ्चगुणा स्तमसः ॥५३॥

भाषा टीका— अब तमोगुण के कार्यभूत पंच गुणों का निरूपण करते हैं **विवाद** विना प्रयोजन बोलना **कलह** आपस में विरोध। **शोक**—संताप। **वध** मारना **वंचन**-ठगना। ५३ ॥

मूल--कलना कल्पना भ्रान्तिः प्रमादोनर्थ इति पंच गुणः कालः ॥५४॥

संस्कृत टीका—कलना निखिल चराचरवस्तूनामायुः परिगणननिमित्तता। अलएव हिरण्यगर्भस्यापि द्विपरार्धपरिमितमायुरन्येषां

कथैश्च का **कल्पना** सकल रचना हेतुता। अतएव कश्चित वसन्ते जायते। अपरो हेमन्त इत्यादि नियमः। **भ्रान्तिः,** भ्रमधातोर्ण्यन्तात् क्तिच्। परिवर्तननिमित्तता। यथा बाल्याद् यौवनं ततो वार्धक्यं नवीनता पुराणतेत्यादि परिणामो भवति वस्तूनाम्। भ्रमहेतुता वा यया प्राचीं प्रतीचीं मन्यते। **प्रमादः** अनवधानताजनकव्यापारः। अत्रापि मद्धातोर्ण्यन्ताद्च्। अतएव प्राणिनः समय विशेषे स्वस्वकृत्येष्व सावधाना भवन्ति तदीयनिमित्तकारणता कालस्येति यावत्। **अनर्थः** अनिष्टजनकव्यापारः। अनेनैव प्रेरितः कदाचिदनिष्टमपि चिन्तयति सम्पादयन्ति च एते गुणाः कालस्य ॥५४॥

भाषा टीका—अब काल के पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **कलना** एक दो इत्यादि संख्या की गणना **कल्पना** अनेक वस्तु रचना की सामर्थ्य। **भ्रान्ति**-किसी वस्तु विषयक विपरीत ज्ञान। **प्रमाद**—असावधानी। **अनर्थ**-अनिष्ट कार्यों में प्रवृत्त होना। ५४

मू०—जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्ति स्तुरीया तुर्यातीतमिति पंचगुणोजीवः ॥५५॥

संस्कृत टीका—जाग्रत् स्थूलशरीराभिमानपूर्वक विषयेन्द्रिय सन्निकर्षजन्यज्ञानावस्था **स्वप्नः,** वाह्येन्द्रियव्यापाररहितत्वे सति संस्कारजन्यमानसज्ञानावस्था **सुषुप्तिः,** आत्माविद्यास्वरूपसुखैतत्त्रयातिरिक्त यावद् विषयकज्ञानाभावावस्था। **तुरीया** अविद्यारहितत्वेसति द्वैतभानाभावे च सति मानसवृत्तिः, **तुर्यातीतम्** मानसनिखिलवृत्ति विरहपूर्वकस्वरूपमात्र सद्भावः, एते पंचगुणा जीवस्य ॥५५॥

भाषा टीका—अब जीव की जाग्रत् आदि पांच अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। **जाग्रत्**-इन्द्रियजन्यज्ञान की अवस्था का नाम जाग्रत् है। **स्वप्न** वाह्य इन्द्रियों के शान्त होने पर वासना द्वारा

मनके अन्दर अनेक वस्तुओं का ज्ञान होना स्वप्नावस्था कहलाती है। **सुषुप्ति**-जिसमें बाह्य इन्द्रिय तथा मन इन दोनों के द्वारा ज्ञान न हो ऐसी गाढ़ निद्रा का नाम सुषुप्ति है। **तुर्या** अपने आत्म स्वरूप विषयक एकाग्र चित्तवृत्ति। अर्थात् जिस समय अविद्या का भी भान न हो तथा द्वैतप्रपंच की भी प्रतीति न होती हो अपितु केवल आत्म विषयक मानसिक वृत्ति का प्रवाह जिस अवस्था में हो उसीको जीव की तुर्यावस्था कहते हैं। **तुर्य्यातीत**-निर्विकल्प समाधि। इस अवस्था में समस्त अन्तः करण की वृत्तियों का निरोध होजाता है।५५

मूल-इच्छा क्रिया माया प्रकृति र्वागिति व्यक्ति पंचकम् ॥५६॥

संस्कृत टीका-तत्रैव सूक्ष्मशरीरे ये प्रधानगुणा यै र्व्यवहारः सम्पद्यते तेषां पृथक् कृत्य व्यज्यते व्यवहारादिना ज्ञाप्यते या सा व्यक्ति रथवा व्यज्यते संभोगविषयो ययेति तत्पञ्चकम् विभज्यते। जीवस्योप भोगसाधनं तत्पञ्चकमिति भावः ॥५६॥

भा० टी०-अब व्यक्ति पंचक का निरूपण किया जाता है। इच्छा, क्रिया, माया, प्रकृति, वाक् इन पांचों को व्यक्ति पञ्चक कहते हैं। ५६

मूल-उन्मादो वासना वाञ्छा चिन्ता चेष्टेति पंच गुणेच्छा ॥५७॥

सं० टी०-उन्माद उन्मत्तता इच्छाभंगे सति जायते अत-स्तेन परपुरुषवर्तिनी च्छा ऽनुमीयते, कार्येण कारणानुमानस्य सकल लोकतन्त्रप्रसिद्धत्वम्। वाऽनेनाप्यनर्थमनुभवति **वासना** प्रवृत्तिजनक व्यापारो वास्यते स्थाप्यते शरीरादि कर्तव्यम्प्रति अनयेति व्युत्पत्तेः। **वाञ्छा** धनाभिलाषा तस्या एवावस्था विशेषः, पुरुषस्य चैतन्यमिवि-वत्भेदेऽपि गुणगुणिभावः, **चिन्ता**-इष्टविषयान्वेषणं यद्विषयकेच्छा

तद्विषयक चिन्ता जायत इति **चेष्टा** कायव्यापार एव इच्छायाः ॥५७॥

भाषा टीका-अब इच्छा के कार्यभूत पांच गुणों का निरूपण करते हैं। **उन्माद**-उन्मत्तपन अर्थात पागलपना। **वासना**-पूर्व कर्मों के द्वारा उपार्जित संस्कार अर्थात् जिसके द्वारा स्वकर्तव्य में शरीरादि लगाया जाय उसको वासना कहते हैं। **वांच्छा** धनादि वस्तु विशेष को चाहने का नाम वांच्छा है। **चिंता**-इष्टवस्तु विषयक खोज। अर्थात् यह वस्तु मुझको किस प्रकार प्राप्त होसकती है इस प्रकार मन में ध्यान करना ही चिन्ता कहलाती है **चेष्टा** शरीर के व्यापार को चेष्टा कहते हैं। ५७॥

मूल-स्मरणम् उद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पंचगुणा क्रिया ॥५८॥

सं० टी०-स्मरणम् स्मृतिजनकमानसव्यापारो ध्यानादि, स्मर्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः, **उद्योगः**-साधनविषयकव्यापारो यथा घटं चिकीर्षोर्दण्डभ्रामणम् **कार्यं** साक्षाद्घटजनको दण्डादेर्व्यापारः **निश्चय** निश्चित्तिजनकेन्द्रियव्यापारः, यथा घटावलोकनाय नयनोन्मीलनम्। **स्वकुलाचारः**-वंशपरम्परागतमर्यादापालनम्। अध्ययनाध्यापनयजनप्रजापालन कृषि वाणिज्य गो गुरुजन सज्जनादि सेवनादयः। एते क्रियायाः ॥५८॥

भाषा टीका-अब क्रिया के पांच गुणों का निरूपण करते हैं **स्मरण** संसार से उत्पन्न और स्मृति ज्ञान का उत्पादक जो मन का व्यापार है उसी को स्मरण कहते हैं। **उद्योग** कार्य्यविषयक व्यापार **कार्य** घट पटादि को उत्पन्न करने वाले साक्षात् व्यापार को कार्य कहते हैं। **निश्चय** निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली इन्द्रियों की क्रिया का नाम निश्चय है। **स्वकुलाचार** अपनी कुल परम्परागत मर्यादा का पालन करना ॥५८॥

मूल-मदो, मात्सर्य्य, दम्भः, कृत्रिमत्वमसत्य-मिति पंचगुणा माया ॥५६॥

संस्कृत टीका-मदः, अभिमानोऽहं धनसम्पन्नः कोऽन्यो हि मत्सम इत्यादि **मात्सर्य्यम्** मत्सरता परोन्नतिमवलोक्य कथमयमुन्नतोभवति केनाप्युपायेन पातनीय इत्थं प्रद्वेषः, **दम्भः** अल्पं विदधाति, बहुलंमन्यता, **कृत्रिमत्वम्** अन्तरन्यद्, बहिरन्यथा प्रकाशनम्, **असत्यम्** मिथ्याभिभाषणमेते गुणा मायायाः ॥५६॥

भाषा टीका-अब माया के कार्य भूत पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **मद** अभिमान। अर्थात् मैं धनाढ्य हूँ मेरे समान कौन धनी है मैं शरीर से भी बलिष्ठ और जवान हूं इस प्रकार के अविवेक का नाम मद है। **मात्सर्य्य** दूसरे की उन्नति को न सहना। **दम्भ** कार्य तो बहुत कम करे पर दूसरे के सामने यह कहे कि मैंने अमुक काय बडे अच्छे ढङ्ग से तथा पूर्ण रूप से किया है। इसी प्रकार के व्यवहार का नाम दम्भ है। **कृत्रिमत्व** बनावटीपन **असत्य** झूठ बोलना ॥ ५६ ॥

मू०-आशा तृष्णा स्पृहा काङ्क्षा मिथ्येति पंच गुणा प्रकृतिः ॥६०॥

संस्कृत टीका-आशा भविष्यद्विषयाभिलाषः, **तृष्णा** सर्व विषयाभिलाषः, **स्पृहा** ममैवभूयादित्यभिलाषा **कांक्षा** तिष्ठतु मा व्यनंक्षीरिति सामान्येच्छा **मिथ्या** असंभाव्यस्याभिलाषो यथाहं चक्रवर्ती भूयासम् एते पञ्च प्रकृतेर्गुणाः ॥६०॥

भाषा टीका- अब प्रकृति (अंतः करण स्वभाव) के कार्यभूत पाँच गुणों का वर्णन करते हैं। **आशा** आगामी वस्तु की इच्छा को आशा कहते हैं। **तृष्णा** अपने पास निर्वाह लायक सब वस्तु होते

हुये भी भोग साधनों में जो अधिक अभिलाषा होती है उसी को तृष्णा कहते हैं। **स्पृहा** यह वस्तु मुझे मिलजाय इस प्रकार की इच्छा का नाम स्पृहा है। **कांक्षा** यह वस्तु मेरे पास सदा ही बनी रहे इस प्रकार की सामान्य अभिलाषा का नाम कांक्षा है। **मिथ्या** न होने वाली वस्तु का चाहना या कहना मिथ्या कहलाता है। ६० ॥

मूल—परा पश्यन्ती मध्मा वैखरी मातृकेति पंच-गुणा वाक्। इति व्यक्ति पंचविंशति गुणाः ॥६१॥

संस्कृत टीका—परापश्यन्तीत्यादेरयमर्थः। वक्त्रा प्रथमं स्व-बुद्धावर्थं निश्चित्य परं बुबोधयिषति तत्रेच्छा मनश्चंचलयति तेन जठरानलस्याभिघातो जायते तेन च वायुरुत्पद्यते स एव वायुः सर्वतः प्रथमं मूलाधारस्थबिन्दुरूप नित्य चेतनरूपं शब्दब्रह्माऽपरपर्याय्यं संयुक्तं तेन तत्र स्थिता परावाक् प्रवर्धमाना उदूर्ध्वमाक्रमति सा यदा नाभिदेश मागच्छति तदा वर्णरूपमाधत्ते सा पश्यन्ती व्यवह्रियते। अत्र मनसः सम्बन्धोऽस्ति, अतः समाधिना संस्कृतमनसा प्रत्यक्षीक्रियते योगिनां सविकल्पज्ञानविषयः पूर्वा तु मनसः सम्बन्धाभावाद् योगिभिरपि सविकल्पयितुं न शक्या किन्तु समाधिना निर्विकल्पज्ञानविषयः। ततो वर्धमाना हृदयदेशमागता पदरूपम् प्रपद्यमाना मध्यमेति व्यवह्रियते ऽन-यैवार्थबोधः, इयमेव स्फोट शब्देन वैयाकरणनये प्रसिद्ध्यति। अत्र बुद्धेः सम्बन्धान्निश्चयज्ञानविषयो मानसजपसमये कर्ण पिधाने सति सूक्ष्म-रूपेण श्रूयते। ततः कण्ठदेशमागता वाक्यरूपा वैखरी ततो मूर्धानमा-हत्य परावृत्य तत्तत्स्थानेषु प्राप्याभिव्यक्ता परश्रवण विषयः। अकारादि वर्णा नासिकासम्बन्धादर्धेन्दुसंयुक्ता मातृकाः। शिक्षादौ मातृका वैख-र्योरेकत्वंकृत्वा चतुर्विधोपदेशोऽत्रतु स्थानकृतभेदस्य जागरूकत्वे तत्प-रित्यागे मानाभावाद् वैखरी मातृका चेति भेदमादाय पंचविधत्वमिति बोध्यम्। तदाह परावाङ् मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ॥६१॥

भाषा टीका—अब वाक् (वाणी) के पांच गुणों का वर्णन करते हैं। **परा** यह वाणी मूलाधार चक्र में रहती है और वह निर्विकल्प

समाधि के द्वारा जानी जाती है । वहां मन की गति नहीं है । **पश्यन्ती**-वही परावाक् नाभि प्रदेश में आकर जब स्थूल वर्ण रूप को धारण करती है तब उसका नाम पश्यन्ती होजाता है। इसके साथ मनका भी सम्बन्ध रहता है । इसी लिये योगी इसको सविकल्प समाधि से जान लेता है। **मध्यमा**-इसके उपरान्त वही वाणी हृदय में और भी स्थूल होती हुई जब आकारादि वर्णसमुदाय पदरूप को धारण करतीहै तब उस का नाम मध्यमा होता है । **वैखरी**-वही वाणी जब मस्तक से लौट कण्ठ और तालु आदि स्थानों में आकर टकराती है तब उससे प्रकट होने वाले शब्द को वैखरी कहते हैं। **मात्रिका**-अकरादि वर्णों में शिव रूप मकार के अनुस्वार होने से अं आं इं ईं इत्यादि वीजमन्त्र रूप जो वर्णमाला है उसीका नाम मात्रिका वाक् है। इस प्रकार व्यक्ति रूप पंच शक्तियों का निरूपण किया गया है और प्रत्येक व्यक्ति में पांच पांच गुणों का निरूपण करने से उन व्यक्तियों के पच्चीस गुणों का भी वर्णन कर दिया। ६१।

मूल-कर्म काम श्चन्द्रः सूर्योऽग्निरिति प्रत्यक्षकरण-पञ्चकम् ॥६२॥

संस्कृत टीका-संसारे जीवानामुपभोगे, उपभोगप्रधानसाधनीभूतपिण्डसम्पादने च विशेषसाधनपदार्थान् पिण्डीकृत्य प्रदशयति कर्मेत्यादि। एते कर्मादयः पंच **प्रत्यक्षकरण पंचकम्** प्रत्यक्षाणि च तानि करणानि तेषां पंचकमित्यर्थः प्रत्यक्षानि, असाधारणानीत्यर्थः साधारणकारणानीश्वरादयोऽपि न प्रत्याख्यायेरन्निति प्रत्यक्ष पदृदानेन ध्वनितम्। शुभाशुभ कर्मानुरूप एव कामोभवति। तद्बलेन षा ऽग्निषोमात्मक पिण्ड ग्रहणम्। ततश्चोपभोग इति क्रमः सकलपरीक्षक प्रत्यक्षचरोऽप्रत्याख्येयः। ननु कर्म वासनाद्वारा शरीरग्रहणहेतु रुपभोग साधनञ्चास्तु सकल सम्मतत्त्वाच्चन्द्रादयः कथं तद्धेतुरिति चेत्, शृणुरहस्यम्। रसोहि सोमरूपोभोग्यः, अग्निश्च शोषको भोक्ता च

कथ्यते तत्र यदि रसमात्राऽत्यन्तं समेधेत तदाऽग्नि नाशाज्जठराग्नि-नाशाज्जगद्भ्रंशः, यथा मात्राधिकभोजनाज्जठराग्निमान्द्येन क्रमशःकायो विशीर्णतामुपैति। यथा च जलाधिक्ये भुवनविप्लवः। तथाऽग्नेरेवाधिक्ये सोमविरहादपि न स्थिति जगतः स्यात्, यथा च प्रचण्डांशुनितान्तवृद्धौ सकल वनस्पत्यादीनां विनाशः। अत उभयोः समरसतया समवस्थाने सुचारुतया जगतः स्थितिरिति सकलदार्शनिकदृष्टि परीक्षितः पन्थास्तथ्यमुपदिशति-अग्निषोमात्मकं जगदिति- अत्रायं सूक्ष्मतमो विवेको यत् सोमतोऽग्नेः किञ्चिदाधिक्यं सुस्थितिकरम्। इतीश्वरीयनीति मनुसृत्य, भोजनमात्रादीषदूनमेव भोक्तव्यमिति वृद्धवैद्यानामुपदेशः। सूर्यस्य द्वादश कलाः संसारस्थितिकारिण्य एका स्वकीया तस्या सांसारिककार्येऽनुपयोगात् तां त्यक्त्वोपवर्णिताः क्वचित्तन्त्रे द्वादशैव कलाः सूर्यस्य॥ एवमेवाग्नि चन्द्रयोरपि ज्ञेयम् कलापदार्थः चित्समाविष्टसत्त्वात्मिका शक्तिरिति तान्त्रिकसंकेतः। एवमग्ने र्दशकलाः संसारस्थापिका एका स्वकीया, उभयोः संमेलने द्वाविंशतिकलाः, उभयोः संक्षिप्त संज्ञाऽग्निर्भोक्ताचेति षोडशकलश्चन्द्रस्य सोमपदेन भोग्यपदेन च गृह्यन्ते। सोमतोऽग्नेः कलाषट्काधिक्येन प्राधान्यात् जगतः सुस्थितिरतो भूतभौतिकोत्पत्ति स्थित्यादिद्वारा जीवानामुपभोगे ऽसाधारणसाधनमेतत् त्रयमिति सुनिरूपितं भवति। किञ्च सूर्य्याग्निरूपं पितुः शुक्रम् सोमरूपञ्च मातृरजः, उभयोः संयोगे पिण्डोत्पत्ति रित्यग्रे मूले निरूपयिष्यते। अत्रेदं बोध्यम् अग्निषोमयोः सर्वत्राविविक्ततया समवस्थानेऽपि क्वचित् कस्यचित् प्राधान्यात् भूयसा व्यपदेशन्यायेन तत्तन्नाम्ना निर्देशो नविरुद्ध इति। तदुक्तं च "अग्निषोमात्मको देहो बिन्दुर्यदुभयात्मकः" शा०ति० अस्यार्थः अयं देहोऽग्नि षोमात्मकः। कुत इत्यपेक्षायां हेतुमाह, यतः, बिन्दुः पिण्ड हेतुः, उभयात्मकः, अग्निरूपं शुक्रं सोमरूपं रक्तं तदात्मकस्तदुत्पन्न इत्यर्थः। अन्ये त्वाहुः। "कलाषोडशकश्चन्द्रः स्याद् द्वादशकलोरविः" कलादश युतोवह्निः कलाश्त्रिंशदंशभुक्। सप्तत्रिंशद् भवन्तीह गर्भाधानस्य हेतवे॥ अग्नि षोमात्मकं तेन गीयते स चराचरमिति। एवं च चन्द्रसूर्य्याग्नयः पिण्ड-

स्योपादानंकारणं कर्म कामश्चानिमित्तकारणमितिविवेक इतिदिक् ॥६२॥

भा० टी०—इस संसार में जीव को सुख दुःख का उपभोग जिन प्रधान साधनों द्वारा होता है उन साधनों का निरूपण करते हैं। कर्म, काम, चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि ये पांच इस शरीर प्राप्ति के प्रधान कारण हैं और ईश्वर काल आदि साधारण कारण हैं उनका भी ग्रहण जानना अर्थात् शुभ अशुभ कर्मों की अनुकूल वासनाद्वारा शरीर प्राप्ति होती है यह प्रसिद्ध है। अतः विन्दु रूप शरीर का निमित्त कारण कर्म और वासना है। यह संसार में अग्निषोमात्मक कहलाता है। कारण सोमरस भोग्य और अग्निशोषक और भोक्ता है इन दोनों के मेल से संसार की स्थिति है केवल एक के रहने पर नहीं जैसे भोज्य पदार्थ जठराग्नि के रहने पर भी शान्त होजाने से शरीर की स्थिति असम्भव होजाती है उसी प्रकार केवल अग्नि से भी स्थिति नहीं रह सकती। इस लिये दोनों के समीकरण से जगत की स्थिति रहती है। इन में अग्नि का कुछ अधिक अंश रहने से उस की प्रधानता है। दूसरे तेजों में तो सूर्य और अग्नि दोनों ही को एक तत्त्व होने से अग्नि नाम रखा गया है अतः अग्नि षोमात्मक जगत को दूसरे तन्त्र में कहा गया है किन्तु इस ग्रन्थ में स्वरूप भेद होने से सूर्य और अग्नि दो पृथक नामों से कहा गया है सूर्य की बारह कला और अग्नि की दश कला भोक्ता हैं औरसोम की सोलहकलाँ भोग्य हैं इन्ही दोनों के मिलाने से सकल संसार बनता है। यह शरीर माता के रज और पिता के वीर्य से बनता है इन में रज सोम है। वीर्य अग्नि और सूर्यरूप है। अतः इस शरीर का उपादान कारण अग्नि और सूर्य हुये यद्यपि सोम और अग्नि ये दोनों सर्वत्र ही रहते हैं तथापि जिसका अंश जहाँ अधिक है उस का धर्मा पद से व्यवहार होता है। कला शब्द का अर्थ चित् से मिली हुई शक्ति सत्त्व रूप जानना। ६२॥

मू०—शुभमशुभंयशोऽपकीर्तिरदृष्टफलसाधनमिति पंचगुणं कर्म ॥६३॥

संस्कृत टीका—शुभम् शिष्टजनाविगर्हितसौशिल्यादि

अशुभम् निन्दितमौद्धत्यादि **यशः** कीर्तिः, **अपकीर्तिः**, अयशः **अदृष्टफलसाधनम्** अदृष्टं चर्मचक्षुरिन्द्रियजन्यज्ञानाविषयः यत्-फलम्, धर्मस्वर्गान्तः करणशुद्ध्यादि तस्य साधनम्, श्रुतिस्मृति प्रतिपादितम्, कर्म, एते कर्मणः ॥६३॥

भाषा टीका—अब कर्म जन्य पाँच गुणों का वर्णन करते हैं **शुभ** स्वर्गादि जनक पुण्य कर्म। **अशुभ** नरकादिहेतुलोकनिन्दित कर्म। **यश** कीर्ति। **अपकीर्ति** लोकनिन्दा। **अदृष्टफलसाधन** धर्म और अधर्म का साधन शास्त्रीय कर्म। ६३ ॥

मूल—रतिः प्रीतिः क्रीडा कामना ऽऽतुरते ति पंचगुणः कामः ॥६४॥

संस्कृत टीका—रतिः स्त्रीविषयानुरागः क्रीडा तु कन्दुकादि बाह्यसाधनापेक्षा। सुखविषयानुरागः प्रीतिः साधनविषयानुरागः का-मना। आतुरता, इष्ट प्राप्तौ त्वरा। एतेकामस्य ॥६४॥

भाषा टीका—अब काम के कार्य्यभूत पांच गुणों का निरूपण करते हैं। **रति** स्त्री में जो प्रेम है उसी का नाम रति है। **प्रीति** सुख साधन विषयक प्रेम को प्रीति कहते। हैं **क्रीड़ा** खेलना **कामना** सुख विषयक वासना। **आतुरता** यह चीज मुझे वहुत जल्दी मिल जाय इस प्रकार चित्त की व्याकुलताका नाम आतुरता है ॥६४॥

मूल—उल्लोला, कल्लोलिनी, उच्चलन्ती, उन्मादिनी, तरंगिणी शोषिणी, लम्पटा, प्रवृत्तिः, लहरी, लोला, लेलिहाना प्रसरन्ती, प्रवाहा, सौम्या, प्रसन्नता, प्लवन्ती। एवं चन्द्रस्य षोडश कला सप्तदशी कला निवृत्तिः सा ऽमृतकला॥६५॥

सं० टी०—अत्रत्यस्य रहस्यं परस्तादुपपादितं कार्यभेदात् क-लानां भेदः। तथा च चन्द्रस्य षोडशधाकार्य्यकारित्वेन षोडशधा कलाः

संसाररचनाचतुराः, एका निजा सदास्थायिनी महाप्रलयेऽपि न विना शमुपैति सद्वादमते निरन्वयविनाशास्वीकारात् सा सप्तदशी निवृत्तिः। तासां चन्द्रमण्डलस्य सोमरसात्मकतया सोमप्रधानजलानुगत स्वभाव विशेषानुकूलनामान्याह, उल्लोलेत्यादि, उल्लोलयति स्वसम्बन्धेन भोक्तारमग्निं प्रोच्चलयति हुतघृतवद् या सा प्रथमा भोगकालेऽल्पशोऽने कहूपधारणशीला ऽनलोपरिपच्यमानजलोद्गतोद्बिन्दुवत् २ अधिकाऽनलत्वरितसँतापे स्थालीस्थजलोत्सरणवदूर्ध्वगमनशीला ३ कामोल्लासप्रवर्धनेनोन्मादनशीला ४ तरंगवद्विकारकारिणी ५ विकारशोषणशीला यथौषधरसो रुजां जरयति ६ भोगायौत्सूक्यसम्पादिनी वनितावत् ७ प्रवर्त्ततेऽनयेति व्युत्पत्त्या समुत्साह सम्पादन द्वारा सर्वेषां व्यापारे साधनीभूता ८ उच्छलनशीला ९ चँचल शीला १० आश्लेषणव्यापारवती ११ प्रसरणशीला १२ वेगवती १३ सौन्दर्य्यसम्पादिनी १४ प्रसादवती १५ सँचारशीला १६ एता षोडशकलाः। अत्र यन्नामपदस्य योऽर्थस्तदेव कार्यं तस्या इति न सँकोचनीयम्। स्वरूपैकदेशमादायापि नाम करणं यथा पद्मावत्याविशालाक्षीति नाम। अत एवैतासां कलानां नामान्तरेण निर्देशस्तन्त्रान्तरे पठ्यते ॥६५॥

भाषा टीका---अब चन्द्रमा की सत्रह कलाओं का वर्णन करते हैं। कला शब्द का अर्थ पहले कहा जा चुका है। **उल्लोला** तरल अर्थात् चँचल। **कल्लोलिनी** बड़े आकार वाली तरँग **उच्चलन्ती** ऊपर को चलने वाली। **उन्मादिनी** स्त्री पुरुष को कामोन्मत्त करने वाली। **तरङ्गिणी** तरङ्गो के आकार वाली। **शोषिणी** जल और रस को सुखाने वाली। **लम्पटा** पृथ्वी आदि में अबाध रूप से फैलने वाली। **प्रवृत्ति** प्राणियोंके हर्षको उत्पन्न करनेवाली अथवा लोक की प्रवृत्ति को करने वाली। **लहरी** टेढ़ीगति से लहराने वाली। **लोला** चँचल रूप वाली। **लेलिहाना** रसादि को चाटने वाली। **प्रसरन्ती** फैलने वाली। **प्रवाहा** चन्द्रकान्ता आदि मणियों में जल की बून्दों को बहाने वाली **सौम्या** समस्त फल फूल और औ-

षधी बनस्पति आदि में सोमरस बरसाने वाली **पूसन्नता** सब वस्तुओं को निर्मल करने वाली या स्वयं निर्मल रूप वाली। **प्रवन्ती** उछल कर चलने वाली। इस प्रकार चन्द्रमा की सोलह कला होती हैं और सत्रहवीं निज अमृत कला है।

मूल—तापिनी, ग्रासिका, उग्रा, आकूञ्चनी शोषिणी प्रबोधनी, स्मरा, आकर्षिणी, तुष्टि, वर्द्धिनी, उर्मीरेखा किरणवती, प्रभावतीति द्वादशकला सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला ॥६६॥

सं० टी०—एवं सूर्य्यस्यापि द्वादशकला द्वादशराशिकलाः किञ्च द्वादशविधकार्यकारिण्यः शक्तयस्तापनम्। तमसोग्रसनम्। कुमुदिनीनां संकोचनम्। जलस्यापि शोषणम्। कमलादेः प्रबोधनम्। सर्वेषां स्मृति जननम्। भौमरसाकर्षणम्। सन्तोषदानम्। आयुःपरिगणनम्। किरणविस्तारः। प्रकाशकरञ्चेति तत्तत्कार्य कारिण्यःशक्तयः। सर्वत्रान्वयिनी कला स्वप्रकाशताख्या नित्या त्रयोदशी ॥६६॥

भा० टी०-अब सूर्य की कलाओं का निरूपण करते हैं। **तपिनी**-तपानेवाली। **ग्रासिका**-अन्धकार का नाश करने वाली। **उग्रा**-अपने तेज से कुमुदिनी आदि को संकुचित करने वाली। **आकुञ्चनी**-अपनी तरफ समेटने वाली। **शोषिणी**-जलादि को सुखाने वाली। **प्रबोधिनी**-कमलादि को खिलाने वाली। **स्मरा** स्मरण रूप ज्ञान को उत्पन्न करने वाली। **आकर्षिणी**-भूमिस्थ जलादि को अपनी तरफ खेंचने वाली। **तुष्टि वर्धिनी**-सकल प्राणिओं के संतोष को बढ़ाने वाली। **उर्मीरेखा**-प्राणियों की आयु को मापने वाली। **किरणवती**-किरणों का विस्तार करने वाली। **प्रभावती** प्रकाश करने वाली। ये बारह कला सूर्य की हैं और स्वप्रकाशता नाम की तेरहवीं सूर्य की निज कला है। ६६॥

मूल-दीपिका, रजिका, ज्वालिनी, विस्फुलिगिनी, प्रचण्डा पाचिका, रौद्री, दाहिका, रागिणी, शिखावती, इत्यग्नेर्दशकला एकादशी कला ज्योति रिति प्रत्यक्ष करण गुण कला समूहः ॥६७॥

सं० टी०—एवमेवाग्नेः संसारो पकारिदशकला स्तासां नामान्याह दीपिकेत्यादि अन्यस्मिन् घटादौ रागोत्पादनत्वेन रजिका. स्वतोरागवत्वेन रागिणीतथैव परितः प्रभाकारित्वेन ज्वालिनी, उद्ध्वप्रभासम्पादनत्वेन शिखावतीति विशेषोबोध्यः । अन्याक्षराथस्तु सुगम एव । एते पंच-भूतात्मसाकारशिवस्य नेत्रत्रयमूइत्युपदेशेन सँसारस्थिवि शिवाधी-नैवेति ध्वनिरितिदिक् । कर्मोपासनादावेतासां महोपयोग इति तत्प्र करणे द्रष्टव्यम् ॥६७॥

भाषा टीका—अब अग्नि की कलाओं का वर्णन करते हैं। **दीपिका** प्रकाशित करने वाली। **रजिका** सुशोभित करने वाली। **ज्वालिनी** अत्यन्त ज्वाला वाली। **विष्फुलिङ्गिनी** जिस में अग्नि की चिनगारियां उछले उसको विष्फुलिङ्गिनी कला कहते हैं **प्रचण्डा** उग्ररूप धारण करने वाली। **पाचिका** पकाने वाली। **रौद्री** रुद्र रूप करने वाली। **दाहिका** काष्ठादि इन्धन को जलाने वाली। **रागणी** रक्त वर्ण वाली। **शिखावती** ऊर्ध्वगामी लाट को धारण करने वाली। ये अग्नि की दस कला हैं और ग्यारहवीं ज्योतिरूप निज कला है और इस पूर्वोक्त रीति से प्रत्यक्षकरण और उन के पाच पांच गुणों का निरूपण करने से पचीस गुण और कलाओं के समूह का भी वर्णन करदिया। ६७ ॥

मूल-अथ नाडीनां दशद्वाराणि। इडापिंगला नासाद्वार योर्वहतः सुषुम्णा नाडी तु ब्रह्मदण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं वहति सरस्वती मुखद्वारे वहति पूषा:लंबूषा

चक्षुर्द्वारयोर्वहतो गान्धारी हस्ति जिह्विकाच कर्णद्वार योर्वहतः कुहूर्गुदद्वारे वहति शंखिनी लिंगद्वारे वहति एवं दशद्वारेषु वहन्ति ॥६८॥

सं० टीका पिण्डस्थितिर्नाड्यधीना नाडीनामपरिगणितत्वेऽपि प्रधाननाड़ीज्ञानं पिण्डशोधने परमोपयोगीत्यतस्ता निरूपयति **अथ नाडीति** नाभेरधः कन्दस्तत एव सर्वनाड्य उत्पद्यन्ते तत्र प्रधाननाड्यो दश तत्रापि सर्वतः प्रधाना सुषुम्णा सा मूलाधारद्वारा मेरुदण्डान्तर्गता सती शिरोदेशे कपालद्वयसन्धिस्थब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वर्तते-तत्रैव सूर्यरश्मिसम्बन्धः सदैव तिष्ठति, उभयोःसम्बन्धात् वैद्युत शक्तिः सम्पद्यते, अत एव मरणसमये यस्य लिङ्गशरीरं सुषुम्णया निःसरति, तस्य ब्रह्मरन्ध्रगमनानन्तरं तदीयवैद्युतसमवन्धात् क्षणेनैव मार्तण्डमण्डलं भित्वा ततः परं वैद्युत लोकेऽभिगमनं भवति । एषोर्चिष मभि संपद्यते 'आदित्यं चन्द्रमसं चन्द्रमसो वैद्युतम्' अन्य मार्गेण निःसरणे तु वैद्युत सम्बन्धाभावेन न मार्त्तण्ड मण्डलं विभिद्य गमनं किन्तु ततोऽध एव चन्द्रमण्डलस्थस्वर्गादौ ततश्च प्रत्यवरोहणम्। न तु ब्रह्मरन्ध्रेण गामिनामिति धूमाद्यर्चिरादि मार्गद्वयं व्यवस्थापितम श्रुतिस्मृत्योः । द्वे नाड्यौ तत्सम्बद्धवामदक्षिणभागाभ्यां नासिकापर्यन्तं गच्छतः। ते इडा पिंगला च चन्द्रनाडी सूर्यनाडी चेति व्यवह्रियेते। द्वे चक्षुः पर्यन्तं पूषालंबूषे। कर्णपर्यन्तगामिन्यौ गान्धारी हस्तिजिह्विका च मुखपर्यन्तं सरस्वती गुदपर्यन्तं कूहूः, लिङ्गद्वारे शंखिनी ॥६८॥

भाषा टीका—अब नाड़ियों के दश द्वारों तथा नाड़ियों का वर्णन करते हैं लिङ्ग से ऊपर और नाभी से नीचे पक्षी के अंडे के समान समात नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान मूलकन्द है। उस मूलकन्द से बहत्तर हजार नाड़ियों की उत्पत्ति होती है। फिर यह नाड़ियां नीचे ऊपर और टेढी गति से फैलती है और उन में भी बहत्तर नाड़ियां मुख्य हैं उन में भी प्राणवायु को जिन में संचार होता है ऐसी इड़ा पिङ्गलादि दश नाड़ियाँ ही प्रधान हैं उन में भी सर्व श्रेष्ठ

सुषुम्णा है क्योंकि सुषुम्णा से जिस का प्राण निकलता है उस की ब्रह्मलोक तक गति होती है और अन्त में क्रम मुक्ति द्वारा अमृत रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जिस पुरुष का दूसरी नाड़ियों द्वारा प्राण निकलता है उसको स्वकर्मानुसार केवल स्वर्गादि लोकों की ही प्राप्ति होती है। इड़ा नाम की चन्द्र नाड़ी और पिङ्गला नाम की सूर्यनाड़ी मूलकन्द से प्रकट होकर क्रम से नासिका के वाम और दक्षिण द्वारों से वहती है, इन दोनों के मध्य में सुषुम्णा नाम की ब्रह्मनाड़ी रहती है। वह भी मूलकन्द से निकल कर मूलाधार चक्रों में होती हुई मेरुदण्ड द्वारा तालु मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक वहती है। इसी मूलकन्द से निकल कर उन उन स्थानों में होती हुई सरस्वती नामकी नाड़ी मुखद्वार में बहती है। पूषा और अलम्बूषा नाम की नाड़ी मूलकन्द से निकल कर उन २ स्थानों में होती हुई क्रम से वाम और दक्षिण कर्ण द्वारों में वहती है। एवं गान्धारी और हस्ति जिह्विका नाम की नाड़ियाँ भी मूल कन्द से निकल कर तत्तत् स्थानों में होती हुई क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्र द्वारों में वहती है। इसी तरह कुहू नाम की नाडी मूलकन्द से निकल कर गुदा द्वार में बहती है। उसी प्रकार मूलकन्द से निकल कर शंखिनी नाडी लिङ्ग द्वार में रहती है और वह सुमेरु दण्ड मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक वहती है। इस पूर्वोक्त रीति से दश नाडियां दश द्वारों में वहती हैं। यहां इति शब्द नाडी वाक्य की समाप्ति का द्योतक है। इन मुख्य दश नाडियों से अतिरिक्त नाड़िया रोम कूपों में वहती हैं। ६८॥

मूल—अथ दशवायवः। हृदये प्राणवायुरुच्छ्वास निःश्वासकारो हकारसकारात्मक स्चास्यैवावस्थाभेदे हठ-योग इति संज्ञा, हकारः कीर्त्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते। सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगोनिगद्यते' गुदेत्वपान वायू रेचक कुम्भकपूरकश्च नाभौ सामानवायु र्दीपकः पाचकश्च, सर्वाङ्गे व्यानवायुर्ग्रसनवमनजल्प-

कारश्च नागवायुः सर्वाङ्ग व्यापकश्चालकश्च कूर्मवायुः कम्पकश्चत्तुरुन्मेषकारकश्च कृकल उद्‌गारकः त्तुत्का रकश्च देवदत्तो मुखविजृम्भकः, धनञ्जयो नादघोषक इति दशवाय्ववलोकनेन पिण्डोत्पत्ति नरनारीरूपः ॥६६॥

संस्कृत टीका—दशवायूनां दशस्थानानि तत्तत्कार्याणि च निरूप्यन्ते। दशेत्यादिना नरनारी रूप इत्यन्तेन। प्राणवायोः, उच्छ्‌वासः, हकारः, निश्वासः, सकारः तथा च नासिकासम्बन्धादनुस्वारसहितः सन हंस इति जीव मन्त्रो भवति। किन्त्वयं स्वाभाविकः, अतो नैतेन मोक्ष सिद्धिः किन्तु यदा गुरुणा व्युत्क्रम्य सोऽहमिति परमात्ममंत्रः समुपदिश्यते, तदाध्रुवं मोक्षसिद्धि, अयमेव मंत्रयोगः, महावाक्यात्मकमहा मंत्रोपदेशः। इयमेव अजपानामगायत्री। तदुक्तं श्रीनाथ पादैः

अजपानामगायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ॥

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः हंस हंसेति मन्त्रोयं सर्व जीवैश्च जप्यते। गुरुवाक्यात सुषुम्णायां विपरीता भवेज्जपः। सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते अवस्थाभेदेन चास्यैव नामान्तरं हठ योग इति तदुक्तम्। मन्त्रोलयो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात्॥ एक एव चतुर्धायं महायोगोऽभिधीयते॥ **हकार इत्यादि** मूलोक्तपद्यस्या-यमर्थः हकारपदवाच्यः सूर्य्यः, उपलक्षणेन तदधिष्ठित पिंगलानाड़ी ग्रहणं तथा ठकारवाच्य श्चन्द्र उपलक्षणतया तदधिष्ठितेड़ानाडीग्रहणं वोध्यम्। उभयोः सुषुम्णायां योगात् पिंगलेडाभ्यां वायुं निष्कृष्य निरन्तर संस्थापनात्, हठयोगः कथ्यते। लययोगोनाम चित्तस्य निर्विषतया विलीनत्वे वायोरपि स्थिरतया लययोगो राजयोगश्च शिवशक्तिसंगमः, मूलाधारे सहस्रारे वा। अत्रायं विवेकः, प्रथमं गुरुपूजनषट्‌चक्रस्थदेवपूजन ध्यानसंकल्पादि भवति द्वितीये वायु विजयार्थं प्राणायामस्य प्राधान्यम्। तृतीये मनस एव वशीकरणोपाय वैराग्याद्यभ्यस्यते। चतुर्थे च शिवशक्तिसंगमाय कुण्डलिनी प्रवोधनाभ्यास इति विवेकः। प्रातः स्नातोवास्नानाभावेऽपि मनसा अजपयासंकल्पयेत्

संकल्प विधिः । ओमद्यपूर्वेद्युः कृतनिःश्वासोच्छ्वासात्मकं मूलाधार चक्रस्थ सिद्धिसहित गणेशायषट्शतंस्वाधिष्ठानचक्रस्थ सरस्वतीसहितब्रह्मणेषट्सहस्रं मणिपूरचक्रस्थलक्ष्मीसहितविष्णवे षट्सहस्रमनाहतचक्रस्थगौरीसहितशिवाय षट्सहस्रं विशुद्धचक्रस्थ जीवात्मनेसहस्रं कमाज्ञाचक्रस्थविद्यासहितगुरवेसहस्रं क सहस्रारस्थस्वशक्तिसहितपरमात्मने एकसहस्त्रञ्च समर्पये । अनेन पूर्वकृतं समर्पयेत् । ततोऽद्य प्रातः कालमारभ्य भाविप्रातःकालपर्यन्तं निःश्वासोच्छ्वासात्मक षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्री जपमहं करिष्ये इति ॥ अपानवायुबलेनैव प्राणायामो भवतीति सूचितम् तेन तद्विजयार्थं नाडीशोधनं नेति धोतीत्यादि, उड्डियानादिबन्धः, आसनञ्चेति साधनीयमित्यपि प्रदर्शितम् ॥ अपानवायोः स्थानं गुदः कार्य्यञ्चाह रेचककुम्भकपूरकः कार्य्यकारणयोस्तादात्म्यमादाय मूले समानाधिकरणनिर्देशः । नाभिदेशे समानवायुर्वसति तस्य कार्य्यम् जठराग्निदीपनम्, अत एव भुक्तान्नस्य पाचनम् शरीरस्य सर्वाङ्गेषु व्याननामावायुर्वसति तस्य कार्यम् सकलनाडीगत विकारापसरणपूर्वकवर्धनं क्वचिदङ्गे च निश्चलः सन् वर्तते । उदान वायोः स्थानं कण्ठः कार्यञ्चान्नादिग्रसनं वमनं जल्पनं च । नागवायुः सकलाङ्ग व्यापकः: कृत्यञ्च चालनं कूर्मवायुःशरीरस्य कम्पनं नेत्रयोरुन्मेष निमेष सम्पादनमेतेन स्थानमपि प्रदर्शितम्, यद्देशे कार्यम्,तद्देशेस्थिति रिति । कृकलस्योद्गारः कार्यम्, क्षुधाकरणञ्च देवदत्तवायोश्च मुखवि-जृम्भणं व्यापारः । धनञ्जयस्य नादघोषणम्, एते दशवायवः ॥

एतेषामवलोकनेन सम्बन्धेन पिण्डस्य शरीरस्योत्पत्तिः-रचना भवतीत्यर्थः ; स च पिण्डो नर नारीरूपः, नपुंसकस्याप्युपलक्षणं बोध्यमिति ॥ ६६ ॥

भाषा टीका—अब क्रम से दश गुणों का वर्णन करते हैं। हृदय में प्राण वायु रहता है वह उर्ध्वश्वास और अधोनिः श्वास का संचालन करता है अत वही प्राणवायु हकार सकारात्मक भी है अर्थात् हकार से बाहर निकलता और सकार से भीतर प्रवेश करता है वही हकार सकारात्मक प्राण वायु अनुस्वार सहित होने से हंस मन्त्र भी

कहलाता है यानि जिस समय प्राणवायु बाहर को आता है। उस समय हकार की ध्वनि होती है। अतः उस समय उसी का ध्यान करना चाहिये। जब प्राण वायु भीतर को जाता है। तब सकार की ध्वनि होती है। इस लिये उस समय सकार का ध्यान किया जाता है। इसी हंस मन्त्र के अक्षरों को उलटा देने से "सोऽहम्" बनता है। इसीभाव को लेकर विवेक मार्तण्ड में कहा है

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः
हंस सोऽहमिमं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

उसी "सोऽहम्" मन्त्र में सकार हकार का लोप करने से ॐ मन्त्र भी बनता है। इस मन्त्र के विधि पूर्वक जपने से जीवात्मा परमात्मा की एकता का साक्षात्कार होजाता है। इस मन्त्र को जीव निरन्तर जपता रहता है। इसी का नाम प्राणविद्या और महाविद्या भी है। देखिये विवेक मार्तण्ड में—

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥

अर्थ—मूलाधार में रहने वाली कुण्डलिनी शक्ति में उत्पन्न हुई और जीव की प्राणशक्ति को धारण करने वाली अजपा नाम की गायत्री का नाम ही प्राणविद्या है। क्योंकि प्राणपति के साथ इसका प्रयत्न के बिना ही जप होता रहता है। इसीलिये इसको मत्स्येन्द्रनाथादि योगाचार्य महाविद्या भी कहते हैं। जो योगविद्या विशारद गुरु की बतलाई विधि से इसको जानता है वही माहेश्वरी विद्या के रहस्य को जान सकता है। इसका महत्व श्रीगोरक्षनाथ जी ने स्वयं ही कहा है—

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतम्न भविष्यति ॥

इस महाविद्या के सदृश न कोई विद्या है और न कोई मन्त्र तथा जप है। इसके समान कोई ज्ञान भी नहीं है। न हुआ है और न होगा। यह विद्या ही सर्वोत्कृष्ट है। यद्यपि इस हंस मन्त्र का जप जीव को स्वभाव सिद्ध है तथापि वह तब तक फल देने वाला नहीं होता

जब तक विधि पूर्वक उसका ज्ञान तथा सँकल्पादि न किया जाय, कहा भी है—

षट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येक विंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्ष दायिनी।
अस्याः संकल्प मात्रेण नरः पापैर्विमुच्यते ॥

दिन रात में इक्कीस हजार छः सौ श्वास निकलते हैं अतः यह जीव हमेशा ही इक्कीस हजार छः सौ हंस मन्त्र जपता रहता है इसी को अजपा नाम की गायत्री भी कहते हैं। कारण अन्य मन्त्र वाणी के व्यापार से जपे जाते हैं परन्तु इसका स्वतः ही जप होता रहता है यह गायत्री योगियों को मोक्ष देने वाली है। इस गायत्री के सामान्य सँकल्प मात्र से ही मनुष्य पाप रहित होजाता है। यदि विधि पूर्वक विशेष सँकल्प का अनुष्ठान किया जाय तब तो कहना ही क्या है। इस अजपा गायत्री के संकल्प करने की विधि "गोरक्षोपनिषद्" के अजपा प्रकरण में कही है। देखिये—

षट् शतानि गणेशस्य षट्सहस्रं प्रजापतेः।
षट्सहस्रं गदापाणेः षट्सहस्रं पिनाकिनः ॥
सहस्रमात्मलिङ्गाय सहस्रं गुरुमर्पयेत् ।
परमात्मने सहस्रन्तु संकल्पावधिरेवच ॥

अर्थ—मूलाधार चक्र में चार दल वाला कमल है। उसी में त्रिकोणाकार काम पीठ है, जिसके ध्यान मात्र से सिद्धों को समस्त वस्तुओं की प्राप्ति होती है। वहीं पर अपनी ऋद्धि सिद्धि सहित गणेश जी का निवास है। वहां गणेश जी के लिये छः सौ अजपा रूप श्वासों का अर्पण किया जाता है इसी प्रकार लिङ्ग के मूल में जो स्वाधिष्ठान चक्र है उसमें षड्दल कमल है उसमें हंस वाहन और स्वशक्ति सावित्री सहित ब्रह्मा जी विराजमान हैं। वहां छः हजार अजपारूप श्वास का अर्पण होता है। नाभि में स्थित मणिपूर चक्र दशदल वाला पद्म है और वह अष्ट वलयरूप सर्पाकार नाड़ी से लिपटा हुआ है। वहां

गरुड़ वाहन और स्व शक्ति लक्ष्मी सहित भगवान् विष्णु का निवास है वहाँ भी विष्णु के लिये छः हजार अजपा गायत्री के जपका अर्पण किया जाता है। इसी प्रकार हृदय में अनाहत चक्र है वहां द्वादश दल युक्त ऊपर को मुखवाला कमल है और अष्टदल युक्त नीचे को मुख वाला कमल है वहां वृषभ वाहन और स्वशक्ति भवानी सहित श्री महेश्वर का निवास है। वहां भी महादेव के लिये छः हजार अजपा मन्त्र का अर्पण किया जाता है। एवं कण्ठस्थ विशुद्ध चक्र में सोलह दल वाला पद्म है उसमें जीवका निवास है और उस जीव की प्राण या अज्ञान शक्ति है। वहां स्व शक्ति सहित जीव को एक हजार मन्त्र अर्पण करे। इसके उपरान्त भ्रूकुटियों के मध्य में आज्ञा चक्र है उसमें दो दल वाला कमल है, वहाँ ज्ञान शक्ति सहित सदा शिव रहता है। एक हजार मन्त्र गुरुदेव सदा शिव के लिये समर्पित करे। इसी तरह ब्रह्मचक्रस्थ मात्रिका वर्ण सहित जो सहस्र दल पद्म है वहां चित् शक्ति सहित परमात्मा का निवास है। उस सर्वेश्वर के लिये भी एक हजार हंस मन्त्रों को समर्पित करे। अब नीचे संकल्प लिखा जाता है—

"अद्येह पूर्वेद्यु रहोरात्र चरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मक षट्शताधिकैक विंशति सहस्र सङ्ख्याकाऽजपागायत्री जपं मूलाधार स्वाधिष्ठान मणिपूराऽनाहत विशुद्धाज्ञाचक्र ब्रह्मरन्ध्र स्थितेभ्यो गणपति ब्रह्म विष्णु रुद्र जीव गुरु परमात्मभ्यः सिद्धि सरस्वती लक्ष्मी गौरी प्राण शक्ति ज्ञानशक्ति चिच्छक्ति समेतेभ्यो यथा सँख्यं षट्शतं षट् सहस्रं षट् सहस्रं षट् सहस्रं सहस्रमेकं सहस्रमेकं सहस्रमेक मजपा गायत्रीजपं प्रत्यकं निवेदयामि, इति निवेद्य पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकाल पर्यन्तं नासापुट निःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मकं षट्शताधिकैक विंशति सँख्याक मजपा गायत्री जप महोरात्रेणाहं करिष्ये इति यजमानो जप सँकल्पं कृत्वा स्वसूत्रमाचरेत इति।

अथवा चतुर्दल विशिष्ट मूलाधार चक्रस्थाय मूषक वाहनाय सांगोपाङ्ग स हिताय स्वशक्ति सिद्धि बुद्धियुताय श्री महागणाधिपतये-ऽजपाजपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्शतानि, पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम्।

षड्दल विशिष्ट स्वाधिष्ठान चक्रस्थाय हंस वाहनादि साङ्गोपाङ्ग सहिताय स्वशक्ति सावित्री युक्ताय श्री ब्रह्मणेऽजपा जपानां सोऽहमित्येव रूपाणां षट् सहस्राणि, अर्घ्यपाद्यादिकञ्च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

दशदल विशिष्ट मणिपूर चक्रस्थाय गरुडवाहनादि साङ्गोपाङ्ग सहिताय स्वशक्ति लक्ष्मीयुताय श्रीमहाविष्णवेऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणां षट्सहस्राणि पाद्यादिकंच समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

द्वादशदल विशिष्टानाहत चक्रस्थाय वृषभ वाहनादि साङ्गोपाङ्ग सहिताय स्वशक्ति गौरी युक्ताय श्रीमहेश्वरायाऽजपा जपानां सोऽहमित्येव रूपाणां षट् सहस्राणि, अर्घ्यपाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

षोडशदल विशिष्ट विशुद्ध चक्रस्थाय साङ्गोपाङ्ग सहिताय प्राणशक्ति युताय श्री जीवात्मने ऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेक सहस्रं पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

द्विदल विशिष्टाज्ञाचक्रस्थाय साङ्गोपाङ्ग सहिताय ज्ञानशक्तियुताय सदाशिव स्वरूपाय गुरवेऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेक सहस्रं, पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

सहस्रदल विशिष्ट ब्रह्मचक्रस्थाय साङ्गोपाङ्ग सहिताय चिच्छक्ति युताय श्री परमात्मने ऽजपा जपानां सोऽहमित्येवं रूपाणामेक सहस्रं, पाद्यादिकं च समर्पयामि नमः प्रीयताम् ।

पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकाल पर्यन्तं नासापुट निःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मक षट्शताधिकैक विंशति सहस्रस्याक मजपा गायत्री जप महोरात्रेणाहं करिष्ये, इति यजमानः संकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् ।

अथ ध्यानम्—

आधारे लिङ्ग नाभौ प्रकटित हृदये तालुमूले ललाटे।
द्वे पत्रे षोडशारे द्विदश दशदले द्वादशार्धे चतुष्के॥
वासान्ते बाल मध्ये डफकठ सहिते कण्ठ देशे स्वराणाम्।
हंसं तत्वार्थ युक्तं सकल दलगतं वर्णरूपं नमामि॥

भाषा टीका—प्रथम मूलाधार में चतुर्दलयुक्त कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका (पङ्खुडी) में व से लेकर सकार पर्यन्त वं शं षं सं बीज रूप ये चार वर्ण विद्यमान हैं। दूसरे लिङ्ग मूलस्थ स्वाधिष्ठान चक्र में षड्दल वाला पद्म है। उसके षड्दलों में क्रम से व से लेकर ल पर्यन्त वँ भँ मँ यँ रँ लँ ये छः मात्रिका बीज वर्ण विराजमान हैं। तीसरे नाभिस्थ मणिपूरचक्र में दशदल वाला पद्म है। उसकी प्रत्येक कर्णिकाओं में क्रम से डकार से लेकर फ पर्यन्त डँ ढँ णँ तँ थँ दँ धँ नँ पँ फँ ये दश मात्रिका बीज वर्ण सुशोभित हैं। चौथे हृदयकमलस्थ अनाहत चक्र में बारहदल वाला कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका में यथा क्रम क से लेकर ठ पर्यन्त कँ खँ गँ घं ङं चँ छँ जँ झँ ञ टँ ठँ ये पूर्वोक्त बारह मात्रिका बीज वर्ण विद्यमान है। पाँचवें कण्ठदेशस्थ विशुद्धचक्र में सोलह दल वाला कमल है। उस की प्रत्येक कर्णिका में यथा क्रम से अँ आँ इँ ईं उँ ऊं ऋँ ॠँ लृँ ॡँ एँ ऐँ ओं औं अं अः ये सोलह स्वररूप मात्रिका बीजवर्ण शोभायमान हैं एवं छठे भ्रूमध्य आज्ञा चक्र में दो दल वाला पद्म है उसके दोनों दलों में क्रम से हं क्षं ये दो मात्रिका बीजवर्ण रहते है। ऐसे ही ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रदल पद्म है इस प्रकार सकल चक्रस्थ पद्म दलों में विराजमान वर्णरूप परमेश्वर को प्रणाम करता हूं। पूर्वोक्त मन्त्रयोग ही जब प्राणायाम द्वारा क्रिया रूप में परिणत हो जाता है तब उसे हठ योग कहते हैं। हकार से सूर्यस्वर और ठकार से चन्द्रस्वर का ग्रहण होता है। चन्द्र और सूर्यस्वर का सुषुम्णानाडी में सम्बन्ध होने से हठ योग कहलाता है अर्थात इडा और पिङ्गला नाडी के द्वारा सुषुम्णा नाडी में प्राण की एकता करता हुआ जो योगी प्राण की गति को अपने वस में करके परब्रह्म का ध्यान करता है उसी ध्यान की परिपक्व अवस्था का नाम हठयोग है।

गुद मण्डल में अपान वायु रहता है। वही अधो मार्गों से मल मूत्रादि को निकालता है। एवं उसी अपान वायु की सामर्थ्य से पूरक कुम्भक और रेचक प्राणायाम भी होता है क्योंकि प्राणवायु का रोकने वाला अपान वायु है। इसी लिये अपान शक्ति से रुका हुआ प्राण-

वायु बाहर से भीतर को पूरित किया जाता है इसी को पूरकनाम का प्राणायाम कहते हैं । तथा अपान से गृहीत ही प्राणवायु जल कुम्भ की तरह स्थिर रहता है । इसी लिये यह कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है । इसी तरह अपानवायु से ग्रहण किया हुआ ही प्राणवायु परिमित मात्रा से बाहर निकाला जाता है । अतः यह रेचक प्राणायाम कहलाता है । यदि अपानवायु से प्राणवायु पकड़ा हुआ न हो तो निराश्रय प्राण-वायु से प्राणायाम होना सर्वथा असम्भव है । इसी आशय से श्री गोरक्षनाथ जी ने पूरकादि प्राणायाम अपान वायु का कार्य कहा है ।

नाभि में समानवायु रहता है । वही जठराग्नि को उद्दीप्त करता हुआ पाचन करता है । इसी लिये दीपक और पाचक कहलाता है । तथा खाद्य और पेय वस्तुओं के रस का सब नाड़ियों में समान विभाग करने से समान कहा जाता है । समस्त शरीर के अङ्गों में व्याप्त होकर व्यानवायु रहता है और समस्त नाड़ियों में विद्यमान मलिन मज्जादि का शोषण भी वही करता है तथा शरीर में बल वृद्धि को भी बढ़ाता है और किसी अङ्ग में चंचल तथा किसी में स्थिर रूप से रहता है । कण्ठ में उदान नाम का वायु रहता है, वही वायु खाने पीने की वस्तु को कण्ठ से नीचे उतारता है, तथा वमन भाषण और दूसरे शरीर की प्राप्ति के लिये उत्क्रमण अर्थात् इस शरीर से जीव के निकालने में भी वही मुख्य कारण है । नागवायु सकल शरीर में व्यापक होकर रहता है, वह शरीर को मोटा करता है और शरीर का संचालन भी वही करता है एवं डकार के आने में भी वही कारण है । शरीर को कँपाना आँखों की पलकों को खोलना और मीचना कूर्मनाम के वायु का काम है । शरीरगत कृकल वायु के भी दो काम हैं उद्गार (डकार) लाना और भूख लगाना । देवदत्त नामका वायु मुख का विजृम्भण करता है अर्थात् जंभाई का कारण देवदत्त वायु है । समस्त शरीर व्यापी धनंजय वायु अव्यक्त शब्द को उत्पन्न करता है । इस प्रकार उपरोक्त दश वायुओं के सम्बन्ध से नर नारी रूप पिण्ड (शरीर) की उत्पत्ति होती है । इन दश वायुओं में प्राणादि पाँच वायु मुख्य हैं जो शरीर धारणादि क्रिया को प्रधान रूप से सम्पादन करते हैं । और नागादि पाँच

वायु अप्रधान हैं क्योंकि प्राणादि पाँच वायुओं के विना इनकी स्थिति नहीं है. तथा शरीर में सब से पहले पाँच प्राणादि कों का ही वृत्तिलाभ होता है, पीछे नागादि भी प्राणादि के सहायक होने से अपने २ व्यापार को करते हैं ॥६९॥

मूल--अथ गर्भोजो पिण्डोत्पत्ति र्भवति नरनारी संयोगे ऋतुकाले रजोविन्दुसंयोगे जीवः ॥ ७० ॥

सं० टीका--"आसीच्छक्ति स्ततो नादो नादाद्बिन्दुरजायत" विन्दुर्नाम शक्ति विशिष्ट चेतनः स एव व्यष्टिरूपो जीवः समष्टिरूपो रुद्र ब्रह्मरमाधिपात्मक उभयोरभिन्नोपादनः "आदिनाथः" इत एवाह विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ॥ समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैरिति । तत्सहितशुक्रोपि विन्दुः । माषा न भोक्तव्या इत्यत्र माषमिश्रिताअपि न भुज्यन्ते यथा । पुरुषस्य शुक्रे जीवो न्तर्हितो पि तत्र भोगो न भवति, अतस्य वृत्तिकत्वात्-वृत्त्य लाभे कारणञ्च तच्छुक्रसम्वलित शरीरस्य स्वामिना जीवान्तरेणाभिभावितशक्तिकत्वात् ॥ यदा तस्य भोगाय कर्मोद्भवति तदा पृथक् भोगसाधन शरीर निर्माणाय विन्दु पुरुषात् पृथक्कृत्यस्त्रिया गर्भकेन्द्रे (गर्भाशये) रजसा सह संयुनक्ति संयुक्तमेव रजो वीर्य्योभयमेतत्स्थूलशरीरोपादानम् । अत्रेदं बोध्यम्, विन्दौ या शक्तिः सा पंचकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय दशवायु मन बुद्ध्यहङ्कार चित्त चैतन्येति पञ्चविंशतीनां सूक्ष्मावस्था । तत्र वायूनां वृत्तिलाभः सर्वतः प्रथमं बीजनिषेककालादेव भवति । अत एव गर्भे शुक्रो न विपूयते किन्तु वर्धतेऽवयवसन्निवेशश्च सम्पद्यतेऽन्येषा वृत्तिः शरीरेन्द्रियगो लकादि स्थान विशेष प्रादुर्भावानन्तरम् ॥७०॥

भाषा टीका-- ऋतु काल में स्त्री और पुरुष के संगम से निकले हुये रज और विन्दु का स्त्री कीयोनि में मेल होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती हैं भावार्थ यह है कि विन्दुशब्द का अर्थ शक्ति विशिष्ट चेतन है वही व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाता है। इन दोनों का मूल कारण परब्रह्म परमेश्वर है। नीचे श्लोक में देखिये।

विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः

अर्थ—शिव रूप विन्दु और बीज रूप शक्ति है। इन दोनों का जो परस्पर सम्बन्ध है उसी को शास्त्रवेत्ता नाद कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि व्यष्टि जीव सहित शुक्र भी विन्दु कहलाता है। हाँ, पुरुष के वीर्य में अन्यजीवात्मा छिपा हुआ है भी, पर उसको उस शरीरमें सुख दुःखादि का व्यापार नहीं हो सकता क्यों कि जिस जीव के कर्म से इस शरीर का निर्माण हुआ है उस शुक्र संयुक्त शरीर के स्वामी की जीवात्मा से शुक्रतिरोहित जीव की शक्ति दबी हुई है किन्तु जब उस शुक्र में छिपि आत्मा के भोगार्थ कर्म का प्रादुर्भाव होता है तब उस जीव भोग के लिये शरीर निर्माण के निमित वह कर्म विन्दु को पुरुष से अलग कर स्त्री के गर्भाशय में सेचन करवाता हुआ उसको रज से मिलादेता है। अतः मिला हुआ रज-वीर्य इस स्थूल शरीर का कारण है। ७० ॥

मू०—प्रथम दिने कललं भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति। अर्धमासे गोलाकारं भवति। मासमात्रेण कठिनं मास द्वयेन शिरोभवति। तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति। चतुर्थमासि चक्षुःकर्णादि नासिका मुखमेढ्रगुदं भवति। पंचमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः। षष्ठे मासि नख केशादिकं भवति। सप्तम मासे सर्व चेतन युक्तो भवति। अष्टममासि सर्व लक्षण युक्तो भवति। नवमे मासि सत्यज्ञान युक्तो भवति। दशमे मासि योनि संस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ॥७१॥

सं० टी०—तत्र कियत् काले कस्य कस्याङ्गस्यो त्पत्ति रिति

वायु अप्रधान हैं क्योंकि प्राणादि पाँच वायुओं के विना इनकी स्थिति नहीं है. तथा शरीर में सब से पहले पाँच प्राणादि कों का ही वृत्तिलाभ होता है, पीछे नागादि भी प्राणादि के सहायक होने से अपने २ व्यापार को करते हैं ॥६९॥

मूल--अथ गर्भोजो पिण्डोत्पत्ति र्भवति नरनारी संयोगे ऋतुकाले रजोविन्दुसंयोगे जीवः ॥ ७० ॥

सं० टीका-"आसीच्छक्ति स्ततो नादो नादाद्विन्दुरजायत" विन्दुर्नाम शक्तिविशिष्ट चेतनः स एव व्यष्टिरूपो जीवः समष्टिरूपो रुद्र ब्रह्मरमाधिपात्मक उभयोरभिन्नोपादनः "आदिनाथः" इत एवाह विन्दुः शिवात्मको वीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः ॥ समवाय इति ख्यातः सर्वागम-विशारदैरिति । तत्सहितशुक्रोपि विन्दुः । माषा न भोक्तव्या इत्यत्र माष-मिश्रिताअपि न भुज्यन्ते यथा । पुरुषस्य शुक्रे जीवो न्तर्हितो पि तत्र भोगो न भवति, अतश्च वृत्तिकत्वात-वृत्त लाभे कारणञ्च तच्छुक्रसम्व लित शरीरस्य स्वामिना जीवान्तरेणाभिभावितशक्तिकत्वात् ॥ यदा तस्य भोगाय कर्मोद्भवति तदा पृथक् भोगसाधन शरीर निर्माणाय विन्दु पुरुषात् पृथक्कृत्यस्त्रिया गर्भकेन्द्रे (गर्भाशये, रजसा सह संयुनक्ति संयुक्त मेव रजो वीर्य्योभयमेतत्स्थूलशरीरोपादानम् । अत्रेदं वोध्यम्, विन्दौ या शक्तिः सा पंचकर्मेन्द्रिय पञ्चज्ञानेन्द्रिय दशवायु मन वुद्ध्यहङ्कार चित्त चैतन्येति पञ्चविंशतीनां सूक्ष्मावस्था । तत्र वायूनां वृत्तिलाभः सर्वतः प्रथमं वीजनिषेककालादेव भवति । अत एव गर्भे शुक्रो न विपूयते किन्तु वर्धतेऽवयवसन्निवेशश्च सम्पद्यतेऽन्येषां वृत्तिः शरीरे न्द्रियगोलकादि स्थान विशेष प्रादुर्भावानन्तरम् ॥७०॥

भाषा टीका- ऋतु काल में स्त्री और पुरुष के संगम से निकले हुये रज और विन्दु का स्त्री कीयोनि में मेल होने से जीव के स्थूल शरीर की उत्पत्ति होती है भावार्थ यह है कि विन्दुशब्द का अर्थ शक्ति विशिष्ट चेतन है वही व्यष्टि में जीव और समष्टि में ईश्वर कहलाता है। इन दोनों का मूल कारण परब्रह्म परमेश्वर है। नीचे श्लोक में देखिये।

विन्दुः शिवात्मको बीजं शक्तिर्नादस्तयोर्मिथः
समवाय इति ख्यातः सर्वागमविशारदैः

अर्थ—शिव रूप विन्दु और बीज रूप शक्ति है। इन दोनों का जो परस्पर सम्बन्ध है उसी को शास्त्रवेत्ता नाद कहते हैं। अतः सिद्ध हुआ कि व्यष्टि जीव सहित शुक्र भी विन्दु कहलाता है। हाँ, पुरुष के वीर्य में अन्यर्जीवात्मा छिपा हुआ है भी, पर उसको उस शरीरमें सुख दुःखादि का व्यापार नहीं हो सकता क्यों कि जिस जीव के कर्म से इस शरीर का निर्माण हुआ है उस शुक्र संयुक्त शरीर के स्वामी की जीवात्मा से शुक्रतिरोहित जीव की शक्ति दबी हुई है किन्तु जब उस शुक्र में छिपि आत्मा के भोगार्थ कर्म का प्रादुर्भाव होता है तब उस जीव भोग के लिये शरीर निर्माण के निमित वह कर्म विन्दु को पुरुष से अलग कर स्त्री के गर्भाशय में सेचन करवाता हुआ उसको रज से मिलादेता है। अतः मिला हुआ रज-वीर्य इस स्थूल शरीर का कारण है। ७० ॥

मू०—प्रथम दिने कललं भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति। अर्धमासे गोलाकारं भवति। मासमात्रेण कठिनं मास द्वयेन शिरोभवति। तृतीयमासि हस्तपादादिकं भवति। चतुर्थमासि चक्षुःकर्णादि नासिका मुखमेढ्रगुदं भवति। पंचमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः। षष्ठे मासि नख केशादिकं भवति। सप्तम मासे सर्व चेतन युक्तो भवति। अष्टममासि सर्व लक्षण युक्तो भवति। नवमे मासि सत्यज्ञान युक्तो भवति। दशमे मासि योनि संस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ॥७१॥

सं० टी०—तत्र कियत् काले कस्य कस्याङ्गस्योत्पत्ति रिति

वर्णितम्, मूलेऽत्तरार्थस्तु स्पष्टतरः ॥७१॥

भाषा टीका—अब गर्भ की कितने समय में कैसी अवस्था और किस की उत्पत्ति होती है इन सब का प्रकार नीचे देखिये। पहले दिन उस रज वीर्य की कलिल (कुछ गाढापन) अवस्था होती है। फिर सात रोज में वह मिला हुआ रज वीर्य बुल बुले के आकार को धारण करता है और पन्द्रहदिन में गोलाकार हो जाता है। इस के उपरान्त प्रथममास में गोलाकार अवस्था को प्राप्त हुआ माता पिता का रज वीर्य कठिन अवस्था को प्राप्त होता है फिर दो मास में उस गोलाकार पिण्डमें शिर निकलता है। एवं तीसरे महीने में हाथ पैर आदि अङ्गों का प्रादुर्भाव होता है। चौथे मास में आँख कान नाक, मुख, मूत्रेन्द्रिय और गुदा आदि होते हैं। पांचवें महीने में पीठ और पेट उत्पन्न होता है। छठे महीने में नख, केश और रोमादि पैदा होजाते हैं सातवें महीने में माता पिता के रज वीर्य से उत्पन्न हुई और माता के गर्भाशय में स्थित वह बाल मूर्ति सर्वाङ्ग और चेतन युक्त होजाती है। तथा आठवें मास में वह बालशरीर सर्व लक्षण सम्पन्न होजाता है। नवमे मास में उस गर्भस्थ बालक के अन्दर सत्यज्ञान की वृद्धि होजाती है। तात्पर्य यह है कि उस देश और काल की महिमा से वह बालक त्रिकालदर्शी सिद्ध जैसा ज्ञानी होजाता है। इसी कारण पिछले जन्म के दुःखों का स्मरण करता है ॥ अन्त में उस सर्वेश्वर की शरण में हो प्रार्थना करता है कि हे सर्वान्तरयामिन्? दयामयप्रभो? इस दारुणदुःखमय नरक से मेरा उद्धार करो! फिर दशवें महीने में जब योनिद्वार से बाहर निकलता है तब उस योनिद्वार के स्पर्श से उस जीव का सत्य ज्ञान नष्ट होजाता है और केवल अज्ञानी बाल स्वभाव होकर रोने लगता है।

मू०-शुक्राधिकेषु पुरुषो रक्ताधिका कन्यका समं शुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्परं चिन्ताव्याकुलत्वा दन्धः कुब्जो वामनः पंगुरङ्गहीनश्च भवति। परस्परं

रतिकालेऽङ्ग निःपिडनकरणगुणैः शुक्रो द्विस्त्रिवारं पतति, येन द्वितीयो बालको भवति ॥७२॥

सं० टी०—मातृरजः पितुर्वीर्य्यञ्चास्य शरीरस्योपादानं तत्र यस्याधिक्यं तदनुरूपैव तनुः सम्पद्यतेऽतो रजआधिक्ये कन्या वीर्य्याधिक्ये बालकः, तयोः साम्येनपुंसक मिति युक्ति युक्तमुक्तम् । गर्भाधान कालिकमातृपितृभावनापि निमित्तम् । अतस्तस्या वैगुण्ये शरीराङ्ग-वैकल्यस्य न्याय्यतैव यथा कुलालप्रमादाद् घटे कोटिल्यादि । एतेन पित्रोर्भावनोत्कर्षात् पुत्रस्य सुमेधस्त्वमित्यपि प्रमाणितम् । रतिकाले परस्पराङ्गमर्दन व्यापारविशेषात्मक गुणवशात् किञ्चित् २ शुक्र पतने गर्भाशयस्थवायुना विभज्यमाने मत्यैकाधिकसन्तानोत्पत्तिः ॥७२॥

भाषा टीका-स्त्री के गर्भाशय में पुरुष के वीर्य की अधिकता होने से पुरुष शरीर तथा स्त्री के रज की अधिकता से स्त्री शरीर होता है एवं यदि माता पिता का रज और वीर्य समान हो तो नपुंसक का शरीर उत्पन्न होता है ॥ यदि रति काल में स्त्री पुरुष अथवा दोनों आपस में चिन्तायुक्त हों तो उनकी सन्तान अंधी केबड़ी अत्यन्त छोटी और अंग हीन होती है और रति समय में आपस में अङ्गों के मर्दन द्वारा वीर्य के पतन का अवरोध करने से गर्भाशय में जब रुक रुककर दो तीन बार बिन्दु का पात होता है तब एक से अधिक सन्तान पैदा होती है ॥

मू०—सार्धपलत्रयं शुक्रं विंशति पलं रक्तं द्वादश-पलं मेदः, दशपलं मज्जा, शतपलं मांसं दशपलं पित्तं विंशतिपलं श्लेष्मा, तद्वातः स्यात् षष्ठ्यधिक शत त्रयम स्थीन्य स्थिमात्रं सन्धयः सार्धत्रय कोटि रोम-कूपाणि पितृ मातृ वीर्यं भवति वात पित्त श्लेष्मधातु त्रयं दशधातुमयं शरीर मिति गर्भोत्थ पिण्डोत्पत्तिः ॥७३

इति महेश्वरावतार श्रीगोरक्षनाथकृत प्रथमोपदेशः ॥

सं० टी०—गर्भस्थ बाल शरीरे कियत् परिमाणं शुक्रादिक मिति जिज्ञासां दिक् प्रदर्शन न्यायेनोपशमयती त्यतोग्रन्थान्तरविरोधस्य नास्त्यवकाशः। अनन्तरमिमांतनुमधिष्ठाय जीवः स्व स्व कर्मानुकूलं फलं सुख दुःखान्यतरात्मकं भुनक्ति। अयमत्र निर्गलितसारः। अनन्त कालात् कर्म प्रेरितो जीवः। नवं नवं विग्रह मुपाददानः जन्मजरामृत्यु चक्र प्रबन्धारूढः संसरति। यदाहि, अनेक जन्मसञ्चित पुण्य पुञ्जपरिपाक वशात् संसारात्परां शान्तिमुपाशिश्रीषतेतदा तदुपायं पर्य्येषमाणो नित्यनिरवयव चेतनात्मकस्य जीवस्या विद्यां विना बन्धो न भवेदिति। आचार्योपदेशेन युक्त्या च तदवस्थात्य च तदुच्छेद निदानञ्च विद्यात्मिकामैवेति विनिश्चित्य तदुपायो योग मार्ग एव समाश्रयणीयो मुमुक्षुभिः योगे च स्थूल शरीर ज्ञानं परमावश्यकम्, तज्ज्ञानं विना तदनुष्टानायोगात् किञ्चोपासनायां कर्मणि लौकिकेऽपि चिकित्सादि कर्मणि च सर्वत्र शरीर परिज्ञानस्यावश्यकम् तज् ज्ञानञ्च तन्निदान ज्ञानमन्तराऽशक्यमेवाधिभौतिक शरीरस्याविभूतमुपादानकरणम्। अधिदेवश्च निमित्तं तदुभयं शरीर निदानम् अतस्तदुभयज्ञानमपेक्ष्यते तदुभयोरपि अभिन्न निमित्तोपादानम् "आदिनाथः" सोऽपि शक्ति सहितः एव न तु शक्ति रहितोयमेव विशेषः। अत आदिनाथमारभ्य स्थूलशरीर पर्यन्तोपवर्णनमस्मिन्नुपदेशे। आदिनाथः कूटस्थ एकविधः सकल निदानभूतः। तद्दृष्टस्याद्वैतमेव ॥७३॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्र पं० श्री द्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां प्रथमोपदेशः।

भाषा टीका—अब इस शरीर में कितने परिमाण में कौन कौन वस्तुएँ रहती हैं उन वस्तुओं के सामान्य परिमाण का निरूपण करते हैं। इस शरीर में साढ़े तीन पल वीर्य, बीस पल रक्त, बारह पल मेदा, दशपल मज्जा, सौ पल माँस, दशपल पित्त, बीसपल गर्मी और इतना ही वायु रहता है। यहां यद्यपि वायु और उष्मा में विशेषतः गुरुत्व धर्म नहीं है जिसका पलादि से नाप किया जाय तथापि जिस परिमाण या यन्त्र विशेष से उष्मा और वायु का

माप कर सकते हैं इस बोझ धर्मादि प्रमाण वा यन्त्र विशेष से मांप की गई वायु को कह सकते हैं कि यह वायु वा उष्मा बीस पल है जैसे थर्मामैटर से माप की गई गर्मी को कहा जाता है कि इस देवदत्त के अट्ठानवे डिग्री ताप है इसी प्रकार योगाचार्य जी ने ऋतम्भरा योगप्रज्ञा से मांप कर बीस पल वायु और उष्मा के परिमाण का प्रतिपादन किया तथा तीन सौ साठ हड्डियां और उतने ही उनके जोड़ में एवं साढ़े तीन करोड़ रोम तथा रोमकूप हैं। यह सब माता पिता के रज वीर्य का ही परिणाम है यह शरीर वात, पित्त, कफ तथा चर्म रुधिर मांस मेदा अस्थि, मज्जा और शुक्र इन दश धातुओं से बना है॥ इस प्रकार से उत्पन्न होने वाले पिण्ड की उत्पत्ति का वर्णन समाप्त हुआ ॥७३॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ योगीन्द्र श्री १०८ बोहराधिपति श्री पूर्णनाथ शिष्येण वेदान्ताचार्येण योगि श्री पं० भीष्मनाथेन कृतायां हिन्दी टीकायां प्रथमोपदेशः समाप्तः ॥



अथ पिण्डविचारः कथ्यते

मूल—पिण्डे नव चक्राणि। आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्द स्तत्र शक्तिं पावकाकारां ध्यायेत् तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति ॥१॥

सं०—साकल्येन पिण्डाण्डौ प्रदर्श्य शरीरेऽस्मिन्ननेकेषां सद्भावेऽपि योगेऽत्यावश्यक ज्ञातव्यावयवादीनां स्वरूपाणि तत्र कर्त्तव्य ध्यानादि विशेषांस्तत्फल विशेषांश्च प्रदर्शयितुं द्वितीयोपदेशः प्रस्तूयते। पिण्डेऽस्मिन् स्थूलशरीरे नव चक्राणि सन्ति पृष्ठमध्यसंलग्नो मेरु दण्डस्तदभ्यन्तरे दक्षिणभागे पिंगलाख्या सूर्यनाड़ी। वाम भागे चेडा- नाम्नी चन्द्रनाड़ी॥ मध्ये सुषुम्णा नाड़ी॥ इयं तेजोरूपा मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्रसहस्रार पर्यन्ता॥ तस्य एव तत्तत्स्थानेष्वाकारविशेषः चक्रम् तत्र षट् चक्राणि कचित् वर्णितानि सन्क्षेपेणोपासनार्थम् वस्तुतः प्राचीन ग्रन्थेषु नवचक्रमयंवपुरित्येव बहुलमुपलभ्यते लिंगादधो गुदादुर्ध्वं मध्ये बिन्दुरूपकुण्डलिनीशक्तेः प्रथमाविर्भावस्थानं मूलाधारः। मूलस्य शरीरकारणस्य बिन्दोराश्रयः॥ वस्तुतः शरीरस्यैवाधारः सा तां विना शरीरस्य स्थितिरेव दुर्लभा किन्तु बालानां बोधाय घटे मृत्तिकेतिवत् मूलस्याधार इति व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते तत्राध्यात्मिकप्राणवायु सहिता चिच्छक्तिः शरीरकारणत्वात् ब्रह्मचक्रम् त्रिधावर्तम् त्रिवलयान्वितम् कचिन् सार्धत्रिवलयान्वितम् इत्युपलभ्यते न तेन विरोधश्च तुच्छसंख्यापूर्त्ति पर्यन्तं त्रिपदेनैव कथ्यते यथाऽमर कोश आदशतः संख्या संख्येय इत्यत्र दशपदेनाऽष्टादश पर्यन्तं गृह्यते (भगमण्डलाकारम्) अधो मुख त्रिकोण यन्त्रम् तत्रेत्यौपश्लेषिका सप्तमी तथा च तत्समीपे किंचिदुर्ध्वदेशे मूलकन्दः पद्मपण्डसरूप एतस्मादेव सर्वा नाड्यः प्ररोहन्ते॥ तत्र मूलाधारे वह्निवर्णां शक्तिं ध्यायेत् साधकः। इयमिच्छा शक्ति गौरीरूपा कामेश्वरी तत्र स्थितशिवकामेश्वरसहिता ध्येया न केवलः शिवो न च केवला शक्ति रिति रहस्यम् बहुषु स्थलेषु स्वयमा

चार्यपादैर्व्यवस्थापितम् शक्तिध्याने शिवसाहित्यं शिवध्याने शक्तिसाहित्यमिति प्राधान्यमात्रं विशेषः । तदुक्तम् विद्युद्विलासवपुषः श्रियमाहवन्तीं यान्तीं स्ववास भवनाच् शिवराजधानीम्, सौषुम्णमार्ग कमलानिविकाशयन्तीं देवींभजेहृदि परामृतसिक्तगात्राम् एतत् स्थानम् कामपीठम् । शक्तेराविर्भावस्थानम् पीठपदेन व्यवह्रियते कामा च कामश्च तयोरेकशेषे कामौ तयोः पीठम् कामेश्वरी कामेश्वरयोः स्थानमित्यन्वर्थता सूचिता । अत्रोपासकानां सकलकामना सिद्धिर्भवति, इति प्रथमचक्रम् ।

भा० अब पिण्ड (शरीर) के विचार का वर्णन करते हैं। इस पिण्ड में नौ चक्र हैं उन में भी गुदा से दो अंगुल परिमाण ऊपर और लिङ्ग से दो अङ्गुल नीचे चार अङ्गुल परिमाण और चतुर्दलयुक्त मूलाधार है । उसी आधार में तीन बार गोल आकार से चारों ओर लिपटा हुआ त्रिकोण भग मण्डल के सदृश और परब्रह्म की प्राप्ति का हेतु ब्रह्मचक्र है । उसी के समीप कुछ उपर मूलकन्द है वहां अग्नि के आकार वाली देदीप्यमान शक्ति का ध्यान करे । वहां ही त्रिकोणात्मक कामरूप पीठ है इस काम पीठ के ध्यान मात्र से सकल इष्ट कामनाओं की सिद्धि होती है इस लिये इस का 'काम पीठ यह नाम सार्थक है ॥ १ ॥

मू०—द्वितीयं स्वाधिष्ठानं चक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुख लिंगं प्रवालाङ्कुर सदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्डीयान पीठं जगदाकर्षणं भवति॥२॥

सं० टीका—लिङ्ग समीप देशे सुषुम्णानाड्यां स्वाधिष्ठानं चक्रम् तन्मध्ये, इषद्रक्तवर्णं शिवलिङ्गं चिन्तयेत् अत्रोपासनेनाकर्षणशक्तिः सिद्ध्यति । इति द्वितीय चक्रम् ॥२॥

भा० दूसरा छःदलयुक्त स्वाधिष्ठान चक्र है उस के बीच पीछे की ओर मुख वाला मूंगे के अग्रभाग के सदृश शिव लिङ्ग है वहां रक्तवर्ण उस शिव लिङ्ग का ध्यान करे वहीं पर उड्डीयाण पीठ है वहां ध्यान करने से जगत् के आकर्षण की सामर्थ्य होती है ॥२॥

मू०—तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्त्तं सर्पवत् कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनी शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्यमा शक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति ॥३॥

सं० टी०—नाभि देश समीपस्थ सुषुम्णायां पञ्चावर्त्त सर्प कुण्डलसदृशीं कुण्डलिनीं कोटिप्रातःकालिकसूर्यप्रभां ध्यायेत् इयं मूलाधारस्थकुण्डलिनीतो भिन्ना तदवस्थाविशेषः। अत स्तत्र त्रिरा वृत्तम् अत्र पंचावृत्तम् इति तृतीयम् ॥३॥

भाषा टीका— तीसरा नाभी चक्र है इसी को मणिपूर चक्र भी कहते है। वह सर्प के सदृश कुण्डलाकार नाड़ी से चारों ओर पाँच बार गोला कार में वेष्टित है उस में प्रातः काल के करोड़ों सूर्यों के सदृश कुण्डलिनी शक्ति का ध्यान करे। इस के ध्यान मात्र से सब सिद्धियों की प्राप्ति होती है और चित्त में सत्त्व गुण का प्रवाह बहने लगता है इसी कुण्डलिनी शक्ति को मध्यमा शक्ति भी कहते है। क्यों कि मूलाधारस्थ सूक्ष्मा कुण्डलिनी शक्ति की ही अवस्था विशेष होने से इस का नाम मध्यमा शक्ति हुआ। ६ ॥

मू०—चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारं ज्योती रूपां ध्यायेत्। सैव हंसकला सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवंति ॥४॥

सं० टी०—हृदयसन्निहितसुषुम्णायामनाहत चक्रम् ततो निःसृताऽष्टदलकमलं हृदेशे ऽधोमुखं तदन्तः कर्णिकायां ज्योतीरूपां ध्यायेत इयं हंसकला श्री शक्तिः। अत्रो पासनेन सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि भवंति इति चतुर्थम् ॥४॥

भा०— चौथा हृदय चक्र है उसी को अनाहत चक्र भी कहते हैं वहां अष्टदल वाला अधोमुख कमल हैं उस का जो मुख है उसके मध्य में स्थित कर्णिका में शिव लिङ्ग के आकार वाली ज्योती का ध्यान करे उस ज्योति का नाम ही हंसकला है उस हंस कला रूप ज्योति का ध्यान करने वाले पुरुष की सब इन्द्रियां वश में होजाती हैं। ४ ॥

मू०—पञ्चमं कण्ठ चक्रं चतुरंगुलं तत्र वाम इडा चन्द्रनाड़ी दक्षिणे पिंगला सूर्य्यनाड़ी तन्मध्ये सुषुम्णां ध्यायेत् सैवानाहतकलाऽनाहतसिद्धिर्भवति ॥५॥

सं० टी०—कण्ठ देशे पञ्चमचक्रम् चतुरङ्गुलपरिमितम् । तत्र वामभागे इडानाम्नी चन्द्रनाड़ी दक्षिणे च पिंगलानाम्नी सूर्य्यनाड़ी मध्ये सुषुम्णा तां ध्यायेत् तत्रभेदेनस्पष्टतयाप्रकाशते, इतः पूर्वंभेदेन स्पष्टता नासीदिति व्यज्यते । इयमनाहतकला अत्रोपासनेन क्वापि जले स्थले पाषाणे वा प्रतिघातो न भवति वा संकल्प शक्तिः सिध्यति ॥५॥

भा०— पांचवां चार अङ्गुलविस्तार वाला कण्ठचक्र है उसमें बांई ओर इड़ा नाम की चन्द्र नाड़ी है और उसी कंठ चक्र के दाहनी ओर पिङ्गला नाम की सूर्यनाड़ी मूलकन्द से प्रकट होकर तत्तत् स्थानों में होती हुई यहाँ आकर निकली है। उन दो नाड़ियों के मध्य में श्वेतवर्ण सुषुम्णा नाम की ब्रह्म नाड़ी का ध्यान करे। उस सुषुम्णा का ही नाम अनाहत कला है इस के ध्यान से अनाहत सिद्धि होती है। अर्थात् जो जो मानसिक संकल्प करता है वह सब सफल होजाते हैं। ५ ॥

मू०—षष्ठं तालुचक्रम् तत्रामृतधाराप्रवाहः घण्टिकालिङ्गमूलरन्ध्रराजदन्तं शंखिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत्, चित्तलयो भवति ॥६॥

सं० टी०—तालु मूले षष्ठं चक्रं तत्रामृतस्य सहस्रारतः प्रवाहो भवति योहि माँसखण्डस्तन इवमुखोद्घाटने दृश्यते सा घंटिका लिंग सदृशं तस्या मूले छिद्रम् तदेव दशमद्वारं योगतन्त्रे कथ्यते शंखिनी नाड्या विवरं तत्र शून्यस्य ध्यानेन चित्त लीनं भवति दन्तानांराजा इति राजदन्तंतदिवेति राजदन्तम् इवार्थे क मत्र सादृश्यं स्वच्छत्वेन चक्र विशेषणम् ॥६॥

भा०—छटा तालु चक्र है वहां सहस्रदल स्थित चन्द्र मण्डल

सेअमृतबिन्दु निकलता है उस अमृतबिन्दु की धारा का प्रवाह तालु की खास नाडियों में रहता है वहीं पर लिङ्गाकार घण्टिका के मूल से लेकर तालु पर्यन्त राजदन्त नामक बिल है इसी को शंखिनी विवर भी कहते है क्योंकि यहाँ शंखिनी नाडी का सम्बन्ध है यही दशमद्वार का मार्ग है ॥ यहां सून्य अर्थात् निर्गुण का ध्यान करे इस शून्य के ध्यान से चित्त का लय होता है। ६ ॥

मू०–सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यममंगुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेद् वाचां सिद्धिर्भवति ॥७॥

सं०–सप्तमम् भ्रूचक्रम्। भ्रुवोर्मध्ये वर्तत इति बोधनाय मध्यम मिति विशेषणम् अंगुष्ठमात्रम् अंगुष्ठ परिमितम् ज्ञानं नयत्यनेनेति ज्ञान नेत्रम् ज्ञान विकाशस्य केन्द्रम् तत्र दीप शिखाकारं तेजो ध्यायेद नेन वाक् सिद्धिर्भवति ॥७॥

भा०–सातवां दो दल वाला भ्रूचक्र है। इसको आज्ञाचक्र भी कहते हैं। इसी भ्रूचक्र के मध्य में दीप शिखा के आकार वाला अङ्गुष्ठ परिमाण ज्ञान नेत्र है, वहां उसका ध्यान करे। उस ज्ञान नेत्र के ध्यान से वाक्सिद्धि होती है। उस ध्यानी पुरुष की वाणी कभी व्यर्थ नहीं जाती। अर्थात जैसा वचन बोलता है, वह सब सत्य होता है।

मूल–अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं-निर्वाणचक्रं सूचिका-भेद्यं, धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धर पीठं मोक्षप्रदं भवति ॥८॥

सं०—अष्टमं निर्वाण नामकं चक्रम्। अत्र ध्यानेन ब्रह्म प्रकाश्यते ऽतो ब्रह्मरन्ध्रमिति द्वितीयं नाम मोक्षश्च भवति। अतः सार्थकं नाम। इदं चक्रं सहस्रारमूले तत्र कियच्छिद्रमिति जिज्ञासायामाह सूचिका भेद्यं सूचिकाग्रमिवभेद्यं प्रवेश मार्गः, इदं जालन्धर बन्धेनोद्घाट्यते ऽतो जालन्धर पीठं सांकेतिकं वा नाम धूमसदृशं तेजो ध्यायेत। तत्फलं मोक्षः ॥८॥

भा०—आठवें ब्रह्मरन्ध्र में सूई के अग्र भाग के बराबर धूम की शिखा के आकार वाला निर्वाण चक्र है। वहां उस निर्वाण चक्र का ध्यान करे। उसके ध्यान से मुक्ति होती है। वहीं पर जालन्धर पीठ है ॥८॥

मू०—नवम माकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारं तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरि पीठं सर्वेच्छा सिद्धि भवति। इति नवचक्रस्य विचारः ॥९॥

सं० टी०—नवममाकाशनामकंचक्रम्। सहस्रारोपरिभाग ऊर्ध्वमुखं षोडशदलात्मकं कमलं वर्तते तस्य दले (कर्णिकायाम्) त्रिकूटाकारा त्रिकोणाकारा ऊर्ध्वमुखी शक्तिः निराकारतया सच्चिदानन्द रूपेण ध्येया अनेन सत्य संकल्पो भवति। अतएवास्य पूर्णगिरिपीठसंज्ञा संकेतिता। निखिलैः पदार्थैः परिपूर्णं नगोपमम मेयत्वात् उच्छ्रितत्वाच्च स्थानमिदमिति सार्थकं नाम। पूर्व चक्रे ध्यानेन संसारभयनिवृत्तिर्भवति। द्वितीयेतु सर्वोवशीभूतो भवतीति विशेषः। इति समाप्तः शरीरेऽस्मिन् सारभूत नव चक्राणां विचारः ॥९॥

भा० टीका—नवाँ आकाश चक्र है वह सहस्र दल कमल के ऊपर मध्य भाग में सोलह दल सहित है और उसका मुख ऊपर को है। उसकी मध्य की डंडी में तीन कोण से ऊँची या त्रिकोणाकार उस षोडशदल कमल से ऊपर परम उत्कृष्ट निराकार शक्ति का ध्यान करे। वहां ध्यान करने से सब इच्छाएँ सिद्ध होती हैं। उसी का नाम पूर्णगिरि पीठ है। इस पूर्वोक्त रीति से यहां तक नौ चक्रों का विचार समाप्त हुआ ॥९॥

मू०—अथ षोडशाधारः कथ्यते तत्र प्रथमं पादाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत्। दृष्टिः स्थिराभवति

सं०—अथ नव चक्र निरूपणानन्तरं योगोपयोगि शरीर निर्मात

शरीरस्थशक्तीनामाविर्भावार्थं तत्तत् स्थान विशेषां स्तत्र कर्तव्यविशेषा-नानुषंगिक त तत्फलविशेषांश्चोपदिशति । अथ षोडशाधारेत्यादि तत्र प्रथमं स्थानं पादांगुष्ठतलाग्रं तत्र तेजोरूपं ध्यायेत् तत्फलं दृष्टेः स्थैर्यम् ॥१०॥

भाषा टीका—अब क्रम से सोलह आधारों का निरूपण करते हैं उन सोलह आधारों में सब से पहला पादाङ्गुष्ठ आधार है। उसके अग्रभाग में तेजोमय स्वरूप का ध्यान करे॥ उस ध्यान से दृष्टि स्थिर होती है ॥१०॥

मू०—द्वितीयं मूलाधार सूत्रं वाम पार्ष्णिना निःपीडयितव्यम् । तत्राग्नि दीपनं भवति ॥११॥

सं०— द्वितीयं मूलाधारनाडी । तस्या वाम पार्ष्णिना मर्दनेऽग्नि दीपनम् ॥११॥

भा० टी०—दूसरा मूलाधार है उसमें जो सीवन है उसको बाये पैर की एड़ी से दबाकर दृढ़ आसन से बैठे ॥११॥

मू०—तृतीयं गुदाधारं विकाससंकोचनेन निराकुञ्चयेत् । अपानवायुः स्थिरोभवति ॥१२॥

सं० टी०—तृतीयं स्थानं गुदामूलम् तस्य भूयः संकोच विकास करणेऽपान वायोः स्थिरता ॥१२॥

भा० टी० तीसरा गुदाधार है। वहां गुदा के विकाश और संकोच से अपान वायु को ऊपर की ओर खींचे। ऐसा करने से अपानवायु स्थिर होता है और इस क्रिया के करने से कुण्डलिनी को जगाने में भी सहायता मिलती है और गुह्य स्थान के समस्त रोग नष्ट होजाते हैं ॥१२॥

मू०—चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्ग संकोचनेन ब्रह्मग्रन्थि-त्रयं भित्त्वा भ्रमरगुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे

बिन्दुस्तम्भनं भवति । एषा वज्रोली प्रसिद्धा ॥१३॥

सं० टी०—चतुर्थ स्थानंलिङ्गमू 'ल' तस्य संकोच करणेन तत्र संयुक्तनाडी त्रयस्य विश्लेषणं भवति । तेन लिङ्ग मध्ये विन्दु (वीर्य्य) गमनमवरुध्यते, तेन आगतमपिपरावर्त्तते भ्रमर गुहायां शिरःपृष्ठेशिखामूला धोवीर्य्यस्थाने न ततो बहिर्निः सरति तत ऊर्ध्वमुखे सति विन्दु स्तम्भवनं भवति ! एतत्क्रियां विना वस्तुतो वीर्य्यरक्षणं ब्रह्मचर्यं दुर्लभमेवेत्यतो-ऽत्रोक्तम् । विशेषतः सत्क्रियाभिज्ञैरेव शिक्षणीयम् । अस्य सांकेतिकंनाम वज्रोलीति ॥१३॥

भाषा टीका—चौथा लिङ्ग आधार है । वहां लिङ्ग के संकोच द्वारा योनि मुद्रा की सहायता से वीर्य का ऊर्ध्व संचार करता हुआ योगी ब्रह्मा, विष्णु रुद्र इन तीन ग्रन्थियों को भेदन कर मेरुदण्ड के सामने ग्रीवा के उपरि भाग में विद्यमान भ्रमर गुहा में वीर्य की स्थापना करे । तदनन्तर ऊर्ध्वमुख होजाने से वीर्य का स्तम्भन होता है । अर्थात् वीर्य नीचे को नहीं गिरता । यह क्रिया वज्रौली नाम से प्रसिद्ध है जिस योगी की यह क्रिया सिद्ध होजाती है उसका शरीर वज्र जैसा मजबूत और कामदेव के समान सुन्दर होजाता है ॥१३॥

मू०—पञ्चम- मोड्याणाधारयोर्बन्धनान्मलमूत्र संकोचनं भवति ॥१४॥

संस्कृत टीका—पञ्चमं स्थानं नाभेरधः लिङ्गादूर्ध्वमुड्याण नामकं तस्य बन्धनेन मल मूत्रयोः संकोचो (अल्पता) भवति । तदुक्तम् योगिशि०उ० "नाभौ लिंगस्य मध्येतु उड्याणाख्यं च बन्धयेत ॥१४॥

भा० टी०—पञ्चम उड्डियान और मूलाधार के बन्धन से मल मूत्र का क्षय होता है ॥१४॥

मूल—षष्ठे नाभ्याधार ओङ्कारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलयो भवति ॥१५॥

संस्कृत टीका--षष्ठं नाभिमूलम् तत्रैकाग्रमनसा प्रणव ध्यानेन नादलयो जायते । नादोनाम मूलाधारस्थविन्दुरूपपरा

शक्तितः समुद्भूतः प्रकाशात्मसूक्ष्मशब्दः। तदुक्तं यो० शि० ३ मूलाधार गताशक्तिः स्वाधारा विन्दु रूपिणी। तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवांकुरः। तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः। इति तस्य लयः वृत्त्यभावः स्वकारणपरावाग्रूपेण स्थितिः। तत्फलं दूर श्रवणं तदुक्तम् नादेमनोजयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम् ॥१४॥

भाषा टीका—छठे नाभि आधार में एकाग्रचित्त से ओंकार का उच्चारण करने पर शब्द का लय होता है ॥१५॥

मू०—सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमल विकासो भवति ॥१६॥

सं० टीका—सप्तमं स्थानं हृदयमूलम् तत्र प्राणवायोर्निरोधेन तत्रस्थाष्टदलकमलं विकसितं भवति॥१६॥

भा०—सातवाँ हृदयाधार है। उसमें प्राण का निरोध करे ऐसा करने से हृदय कमल का विकाश होता है ॥१६॥

मू०—अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधये,दिडापिंगलयोर्वायुः स्थिरोभवति ॥१७॥

संस्कृत टीका- अष्टम स्थानं कण्ठमूलं तस्य चिबुकेन बन्धनमयमेव जालन्धरः, तदाह कण्ठं संकोचयेत्किंचिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम् । तेनेडापिंगलास्थवायुः स्थिरो भवति तथा च कुम्भक सिद्धिः ॥१७॥

भाषा टीका—आठवें कण्ठ आधार में कण्ठ मूल को ठोडी से निरोध करे। अर्थात् कण्ठ मूल और ठोडी को मिला कर जालन्धर वन्ध करे। इस क्रिया से इड़ा, पिङ्गला नाम की सूर्य और चन्द्र नाड़ी में प्राणवायु स्थिर होता है ॥१७॥

मूल—नवमे घंटिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेदमृत कला स्रवति ॥१८॥

संस्कृत टीका—नवमे घण्टिका मूलं तत्र जिह्वाग्रधारणे सहस्रारतः सुधायाः प्रस्रवणं जायते ॥१८॥

भा० टी०—नवाँ घण्टिकाधार है। यहाँ मुख के भीतर तालु में लटकनेवाले काग का नाम घण्टिका है। उस घण्टिकाधार के मूल में जिह्वा के अग्रभाग को लगावे। उस जगह सहस्रदल कमल में स्थित चन्द्र मण्डल से जो अमृत कला टपकती है उसका पान करे। इसके पान से शरीर रोग रहित होजाता है ॥१८॥

मूल—दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तर्गर्भे लम्बिकां चालनदोहनाभ्यां दीर्घी कृत्वा विपरितेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ॥१६॥

संस्कृत टीका—दशमं स्थानं घंटिकात ऊर्द्ध्वं तत्र ताल्वभ्यन्तर स्थित मार्गेण लम्बिकां (जिह्वाम्) चालन दोहन क्रियया दीर्घां विधाय विपरीतरूपेण प्रवेशने खेचरी मुद्रा सम्पद्यते तेन काष्ठ इव निश्चलो भवति। अयमेव जडसमाधिः कथ्यते तदाह कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा। भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी। आचार्य्य मते ऽयमत्र विशेषः प्रतीयते लम्बिकाया एव दोहन चालने विधाय विपरीतां लम्बिकां कृत्वा जिह्वाग्रं धारयेत्। तेनामृतपानं खेचरी फलमपि सिध्यति जडसमाधिरपि भवतीति कलनीयं कोविदैर नुभवचुञ्चुभिः ॥१६॥

भाषा टीका—दशवाँ तालु आधार कागमूल से ऊपर है। उसके भीतर छिद्र में चालन और दोहन क्रिया से जिह्वा को एक बितस्त लम्बी बढ़ा उलटा कर प्रवेश करे। इससे वह योगी काठ की तरह निश्चल होजाता है ॥१६॥

मूल—एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्व रोग नाशो भवति ॥२०॥

संस्कृत टीका--एकादशं जिह्वामूलम् तत्र जिह्वाग्रधारणे सर्व रोगादिमुक्तिः फलम् ॥२०॥

भाषा टीका--ग्यारहवाँ जिह्वा आधार है। उस जिह्वामूल मे

जिह्वा के अग्रभाग को लगावे ! इसके परिपक्व अभ्यास से सब रोगों का नाश होजाता है ॥२०॥

मूल—द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमण्डलं धारयेत्, शीतलतां याति ॥२१॥

सं० टी०—द्वादशं भ्रूमध्यं तत्र चन्द्र मण्डल ध्यानेन शीतलता लाभः ॥२१॥

भाषा टीका--ग्यारहवाँ भ्रूमध्य आधार है। वहाँ निर्मल और सफेद रूप चन्द्रमडण्ल का ध्यान करें। उस श्वेत चन्द्रमण्डल के ध्यान से ध्यान करने वाले का अङ्ग शीतल हो जाता है ॥२१॥

मू०—त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेत् मनः स्थिरं भवेत् ॥२२॥

संस्कृत टीका—त्रयोदशं नासिकाग्रं तत्रैकाग्रदृष्टौ मनसश्चा ञ्चलत्य नाशः ॥२२॥

भाषा टीका--ग्यारहवाँ नाँसिकाधार है। उसके अग्रभाग में दृष्टि लगाकर ध्यान करे। इस ध्यान के दृढ़ अभ्यास से मन अपने चंचल स्वभाव को छोड़कर स्थिर हो जाता है ॥२२॥

मूल—चतुर्दशं नासामूलकं कपाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योतिः पुञ्जं पश्यति ॥२३॥

संस्कृत टीकाचतुर्दशं नासिका मूलम् तत्र दृष्टि धारणे षण्मासेन जोतिः पुञ्जदर्शनम् ॥२३॥

भाषा टीका—चौदहवाँ नाँसिकामूल कपाटनाम का आधार है। वहां दृष्टि लगाकर ध्यान करे। इससे छः महीनो में देदीप्यमान तेज मण्डल को साफ साफ देखने लगता है ॥२३॥

मू०—पञ्चदशं ललाटाधारं तत्र ज्योतिः पुञ्जं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ॥२४॥

सं० टी०—पञ्चदशं ललाटमूलं तत्र ज्योतिः पुञ्जध्यानेन तेजस्वी जायते ॥२४॥

भाषा टीका—पन्द्रहवां ललाट आधार है। उसमें ज्योति मण्डल को लक्ष्य बना कर ध्यान करे। उस ध्यान से योगाभ्यासी पुरुष तेजस्वी होजाता है ॥२४॥

मूल—अवशिष्टे षोडशे ब्रह्मरन्ध्र आकाश चक्रं तत्र श्री गुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेदाकाशवत्पूर्णो भवति। इति षोडशाधारः ॥२५॥

सं० टी०—षोडशं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र श्रीगुरुस्वरूपचरणपंकजो-पाधिविशिष्टं शक्तिसहितादिनाथं सच्चिदानन्दं निरवच्छिन्नं ध्यायेत्। प्रथमं भेदावभासो भवति दृष्टे सति भेदे विलयंगते साधकोऽपि परिपूर्ण रूपो मुक्तो भवति, इतिषोडशाधारः ॥२५॥

भाषा टीका—अवशिष्ट ब्रह्मरन्ध्र में सोलहवाँ आकाशचक्र है उस चक्र में आदिनाथ रूप श्रीपरम गुरु के चरण कमलों का ध्यान करे इस ध्यान से अभ्यासी आकाश की तरह पूर्ण व्यापक होजाता है। इस पूर्वोक्त रीति से सोलह आधारों का व्याख्यान समाप्त हुआ ॥२५॥

मूल—अथ लक्ष्यत्रयन्तत्रतावदन्तर्लक्ष्यंकथ्यते। मूलकंदाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं श्वेत वर्णां ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं गतां संस्मरेत् तन्मध्ये कमलतन्तु निभां विद्युत्कोटिप्रभा मूर्ध्वगामिनीं तां मूर्त्ति-म्मनसा ध्यायेत् तत्र सर्व्वसिद्धिधदा भवति ॥२६॥

संस्कृत टीका—राजमार्गेण मनसा स्थिरीकरणोपायोवक्तव्यः, येन सर्व्वमुखतो मनो निरोध्य शक्ति विशेषं सम्पाद्य स्वेष्टं साधयेत् यद्यपि किमप्यालम्बनमादाय मनो निरोधः सुकरः, अतएव पातञ्जल योगसूत्र उपदिष्टम् यथाभिमतध्यानाद्वेति तथाप्युद्भूत शक्तिकं स्थान विशेष

मालम्बनी कृत्य मनो निरोधो झटिति भवति शक्तिविशेषसम्पादनंच भवतीति निरीक्ष्य तत्तत् स्थान विशेषानुपदिशन्तिस्माचार्य्याः। अत एव पातञ्जलेऽप्यालम्बन भेदेन संयमस्य फल भेदान् वर्णयां बभूव। तत्र कृत्स्नालम्बनेभ्यो वरीयसीं सुषुम्णास्थितकुण्डलिनीं शक्तिं पातञ्जलादिष्वनुक्त प्रकारां ध्यातव्यतयोपदिशन्ति। ध्रुवमनेनाल्पायासेनैव निखिलफलमाप्तुं शक्नुयुः सकललोकाः। अहो आचार्य पादानामपारकारुण्यम्, तत्रान्तर्बहिर्मध्य भेदेन ध्येय रूप लक्ष्यस्य त्रैविध्यम् तत्रापि सर्वतः प्रथम मन्तर्लक्षणमाह मूलकंदादिति कन्दोनाम नाभिलिंगान्तराले निखिलनाडीनांप्रभवस्थानम् तदुक्तं गो० प० श्रीगोरक्षनाथेनैव ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दोयोनिः खगाण्डवत् तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः। तत आरभ्य सहस्रारपर्यन्तं मेरुदण्डे श्वेतवर्णा ब्रह्मप्रपदनी सुषुम्णा वर्त्तते तन्मध्ये कमल तन्तु सहस्रांश कोमलां विद्युत्पुंज निभां कुण्डलिनीं शक्तिं निखिल जनपावनीं महाकाली महालक्ष्मी महा सरस्वती स्वरूपां मनसा ध्यायेत्। अनेन धर्मार्थ काम मोक्ष चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्धिर्जायते ॥२६॥

भा० टी०—अब अन्तर, बहिर, मध्य, भेद से तीन प्रकार के लक्ष्य (ध्येय) का वर्णन किया जाता है। उन में भी सब से पहले अन्तर लक्ष्य का वर्णन करते हैं। लिङ्ग से उपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के समान मूलकन्द है, उससे समस्त नाड़ियों का प्रादुर्भाव होता है। उसी मूलकन्द से उत्पन्न हुई और मूलचक्र से होकर सुमेरु दण्ड में लगी हुई ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जो श्वेत वर्ण ब्रह्मनाड़ी है उसका ध्यान करे, और उसी सुषुम्णा के मध्य में कमल तन्तु के समान करोड़ों बिजलियों की चमक के सदृश प्रकाश वाली मूलाधार में स्थित शिव लिङ्ग को छोड़ कर ऊपर सहस्र दल में विराजमान शिव राजधानी को जाने वाली उस मूर्ति स्वरूप कुण्डलिनी शक्ति का शुद्ध मन से ध्यान करे। इस ध्यान से प्रसन्न हुई कुण्डलिनी शक्ति सब सिद्धियों को देती है ॥२६॥

मूल—अथवा ललाटोर्ध्वे गोल्ललाट मण्डपे स्फुर-

दा कारं लक्षयेदथवा भ्रमर गुहा मध्य आरक्त भ्रमरा कारं लक्षयेदथवा कर्ण द्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरोमध्ये धूं धूं कारं नादं शृणोत्य थवा चक्षुर्मध्ये नील ज्योतीरूपं पुतल्याकारं लक्षयेदित्यन्तर्लक्ष्यम् ॥२५॥

संस्कृत टीकारुचीनां बुद्धीनां वा वैचित्र्यादेकेन सुलभस्या-प्युपायस्येतरेण दौर्लभ्यता विलोक्यते लोक इत्यालोच्य ध्येय विकल्पमाह अथेत्यादि अतएव एतेष्वेक एव ध्येयो न तु सर्वे तत्रापि प्रथम स्यागे मानाभावात् तदशक्तेनैव द्वितीयमवलम्बनीयमित्यथवा शब्देन स्पष्टं प्रतीयते। गोल्लाटः कपालमध्य स्थितः भागः। भ्रमरोनाम शिखासूत्रादधोभागे संस्थितं वीर्य स्थानम् इति योगि जन प्रसिद्धम्। अन्यत् सकलं निगदव्याख्यातम् मूलम् ॥२७॥

भाषा टीका—अथवा गोल्लाट नामका जो मस्तक का ऊपर का भाग है उसके चल आकार का ध्यान करे, या मेरुदण्ड के सम्मुख ग्रीवा से ऊपर भ्रमर गुफा में चारों ओर से लाल वर्ण भ्रमर के आकार का ध्यान करे। अथवा दोनों कर्ण छिद्रों को हाथों की तर्जनी अङ्गुलियों से रोके उसके बाद शिर में धूं धूं ऐसा शब्द सुनाई देता है अथवा नेत्रों में नीली ज्योति वाली पुतली के आकार का ध्यान करे। इस तरह उपरोक्त प्रकार से अन्तर्लक्ष्य का वर्णन हुआ ॥२७॥

मू० वहिर्लक्ष्यं कथ्यते नासाग्राद्बहिरंगुलद्वय मारक्तं तेजस्तत्त्वं लक्षयेदथवा दशांगुले कल्लोलवदप्त-त्त्वं लक्षयेदथवा नासाग्राद्वा दशांगुले पीत वर्णं पार्थिवतत्त्वं लक्षये दथवा काश मुखं दृष्ट्वाऽवलोकयेत् किरणानाकुलितं पश्यति सर्वं निर्मलीकरणमथवो र्ध्वंदृष्ट्यन्तरालं लक्षयेज्ज्योतिर्मुखानि पश्यत्य, थवा तदभ्यन्तरं तत्र तत्रा काशं लक्षयेदाकाश-

सदृशचित्तं मुक्तिप्रदं भवत्य थवा दृष्ट्यन्तस्तप्तका- ञ्चन सन्निभां भूमिं लक्षयेद् दृष्टिःस्थिराभवति। इत्यनेक विध बहिर्लक्ष्यम् ॥२८॥

सं०—यथा जाग्रत् स्वप्नसु सुप्तयः तिस्त्रोऽवस्थाः तथा ध्याना- न्यपि त्रिविधानि भवन्ति स्थूल सूक्ष्मा सूक्ष्मतमानि जाग्रतः सुषुप्तिः तयोः सन्धिः मध्यमम् तत्र प्रथमम् भ्यर्हितत्वात्। सूक्ष्मतयाभिधाय सूक्ष्मरूप- बहिर्लक्ष्यमभियत्ते मध्यमं तु उभयोः संमिश्रणतया अन्ते उपदेक्षते तत्र नासिकातः वहिरंगुलि परिमित देशे तेजो ध्यायेत अत्राप्यथवा शब्देन वैकाल्पिकत्वमेवोच्यते पूर्ववदेवानुसंधेयम्। अथवा दशाङ्गुलोर्ध्व जल- तत्त्वम् अथवा दशाङ्गुलि परिमितां पीतां पृथ्वीमथवा आकाशं किय- त्कालम्। अत आह यावत् किरणैर्व्याप्तम्। दृष्टिपथं नावदेत् अनेन भूतानि निर्मलानि भवन्वि इतरत् सुगममित्यनेक विधम् ॥२८॥

भा० टी०—अब बहिर्लक्ष्य का निरूपण करते हैं। नाँक के अग्रभाग से दो अङ्गुल आगे लाल वर्ण तेजतत्त्व का ध्यान करे। अथवा नासिका से दश अङ्गुल आगे तरङ्ग युक्त श्वेत वर्ण जलतत्त्व का ध्यान करे। वा नासिका के अग्रभाग से बारह अङ्गुल आगे पीतवर्ण पार्थिव- तत्त्व का ध्यान करे। या आकाश के संमुख देखकर स्थिर दृष्टि से आकाश का ध्यान करे। इस प्रकार ध्यान करने से चित्त एकाग्र और निर्मल होता है अथवा ऊपर को मुंह कर जहाँ तक दृष्टि पहुंच सके उसके मध्य भाग को लक्ष्य बना कर ध्यान करे। उस ध्यान के प्रभाव से उस ध्येय मध्य दिशा में ज्योतिः पुञ्ज को देखता है। या जहां तहां दृष्टि स्थिर हो वहाँ सर्वत्र आकाश का ध्यान करे। इस ध्यान की महिमा से चित्त आकाश की तरह निर्मल और व्यापक होजाता है। ऐसा चित्त ही मुक्ति का साधन होता है या जहां दृष्टि का अन्त हो वहां सुवर्ण सदृश पीतवर्ण भूमि का ध्यान करे। ऐसा करने से दृष्टि स्थिर होती है। इस उपर्युक्त रीति से अनेक प्रकार का बहिर्लक्ष्य होता है ॥२८॥

मू०—अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते श्वेत वर्णं वा रक्त वर्णं वा कृष्ण वर्णं वाग्निशिखाकारं वा ज्योती रूपं वा विद्युदाकारं वा सूर्यमण्डलाकारं वा ऽर्ध-चन्द्राकारं वा यथेष्टं स्वपिण्डमात्रं स्थान वर्जितं मनसा लक्षयेदित्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम् ॥२६॥

सं०—अथ मध्यमं लक्ष्यं मध्यमत्वं चास्य शरीरे बहिर्वा नियतस्थानरहितत्वमयमाशयः, बहिर्लक्ष्ये बाह्ये नियतं स्थानं दशांगुलादि परिमितं पूर्वमुक्तम्। अन्तर्लक्ष्ये च शरीराभ्यन्तरे कुण्डल्यादि नियतं स्थान मुक्तम अत्र तुस्थानवर्जितमित्युच्यते तेन नियतस्थानरहितत्व मेव मध्यमत्वं न तु रूपाकाररहितत्वमतएव रूपविशेषानाकार विशेषांश्च दर्शयति श्वेत वर्णेत्यादि प्रधानतस्त्रीण्येव रूपाणि वर्णितानि श्वेत रक्त कृष्णानि छा० श्रुतौ। आकारविशेषानुपदिशति, अग्नि शिखाकारमित्यादि। अनेन लक्ष्यत्रयोपदेशेन सर्वेषां समाहितावस्थां विहाय मूर्त्तिपूजनमावश्यकमिति स्पष्टम् प्रतीयते स्वरूपावस्थानन्तु लक्ष्य मेव नतु साधनम् तथा च साधनावस्थायां साधकः सांसारिकोच्चावचनानाविषयभोगेषु व्यासक्तं मनो नियतस्थानेष्वनिरुध्य नात्मस्वरूपं द्रागवस्थापयितुं शक्नोति। अतो मनो निरोधाय नियतस्थानमवश्यमपेक्ष्यते। अनियत स्थानावलम्बने हि चित्तं विक्षिप्तं भवति ततश्च कुतो मनो निग्रहः कुतो वा परमेश्वर प्रसादस्तदा चात्मस्वरूपासंपादनाशा सिकताभ्य स्तैलनिःसारणसमैव, अतो निःश्रेयसाभ्युदयार्थिभिः शक्ति विशेष शालिषु मूलो क्तस्थानविशेषेषु मनोनिग्रहोविधेयः।तत्र परमेश्वरार्चन भवस्यादौ चकृते झटिति परमेश्वर प्राप्तिद्वारे ष्टसिद्धि ध्रुव मिति तत्र स्वान्न निर्मित मन्दिरे स्वस्यैवोपकारः, बाह्य मन्दिर निर्माणे तु समेषामापामरमुपकार इत्यहो करुणापरायणता ऽऽचार्य चरणाना मयमेव सुपन्थाः सनातनः परमेश्वरोपदिष्टो वैदिकश्च सिद्धैरनुमोदितत्वात् अन्ये सर्वेऽवैदिका इति कृतबुद्धयोविदांकुर्वन्तु।

भा० टी०—अब मध्य लक्ष्य का निरूपण करते हैं। वह

ध्येय रूप देह श्वेत वर्ण हो रक्त वर्ण हो या काला वर्ण अथवा अग्नि शिखाकार या ज्योतिरूप या बीजली के आकार वाला या सूर्यमण्डल के आकार वाला अथवा आधे चन्द्रमा के समान हो यथा रुचि स्थान विशेष से रहित पिण्ड मात्र को ध्येय बनाकर मन से ध्यान करे। इस रीति से अनेक प्रकार का मध्यलक्ष्य होता है ॥२९॥

मू०—अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेदाकाशं पराकाशं महाकाशं तत्त्वाकाशं सूर्याकाशमिति व्योम पञ्चकम्। बाह्या भ्यन्तरेऽत्यन्त निर्मलं निराकार माकाशं लक्षयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे ऽत्यन्तांधकारनिभं पराकाशमवलोकयेद थवाभ्यन्तर अभ्यन्तर कालानल संकाशं महाकाश मवलोकयेदथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिनिभं सूर्या- काशमवलोकयेत् स्वयं व्योमपञ्चकावलोकनेन व्योम सदृशो भवति ॥३०॥

सं० टी०—सूक्ष्मधियां मनसस्थैर्यायाकाशं लक्ष्यं कर्तव्यम् तेन चित्तमपि निराकारं भवति तत्फलञ्चतत्सदृश भावः। तत्रैकस्याप्या काशस्योपाधिभेदाद् भेदंविधाय पञ्चविधत्वमुपदिशत्याकाश पराकाश मित्यादि। उपाधि भेदञ्च प्रदर्शयति बाह्याभ्यन्तर इत्यादि॥३०

भा० टी०—आत्मा का स्वरूप व्यापक है। अब उस स्वाभा- विक व्यापक आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये ध्येय रूप पांच आकाशों का ध्यान करना चाहिये। अतः उनका निरूपण करते हैं। आकाश, पराकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश, सूर्याकाश ये पाँच आकाश हैं। शरीर के बाहर और भीतर अत्यन्त निर्मल निराकार आकाश का ध्यान करे। अथवा शरीर के बाहर और भीतर अत्यन्त अन्धकारमय पराकाश का ध्यान करे या बाहर या भीतर तवे के सदृश काले महा- काश का ध्यान करे या बाहर और भीतर निज आत्म तत्त्व स्वरूप तत्त्वाकाश का ध्यान करे अथवा बाहर भीतर करोड़ों सूर्यों के सदृश

सूर्याकाश का ध्यान करे। इस रीति से पांच आकाशों का ध्यान करने वाला अभ्यासी आकाश के सदृश व्यापक होजाता है ॥३०॥

मू०—उक्तं च, नव चक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्। सम्यगेतन्न जानाति सयोगी नाम धारकः ॥३१॥

सं० टी०—अत्रत्य सकल प्रघट्टकार्थं संक्षिप्यैकेनश्लोकेनानुवदति नव चक्र- मित्यादि। मूलाधारमारभ्य ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं नव चक्रम् कलापदेन षोडश गृह्णम् तेन पादांगुष्ठमारभ्य पूर्वोक्तम् षोडशाधारम् प्रागुक्तं त्रिलक्ष्यमाकाशपञ्चकमेतेषां ज्ञानं परमावश्यकम् योगिना मन्यथा योगि संज्ञैव व्यर्था स्यादित्यनुक्रोशम्भित ॥३१॥

भा० टी०—ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठान (लिङ्गचक्र) मणिपूर (नाभि चक्र) अनाहत (हृदय) विशुद्ध (कण्ठ) आज्ञा (भ्रू) तालु, निर्वाण, आकाश इन नौ चक्रों को तथा सत्रह कला चन्द्रमा की तेरह कला सूर्य की ग्यारह कला अग्नि की इन इकतालीस कलाओं को एवं पादाङ्गुष्ठ, मूलाधार, गुदाधार, मेढ्र ओड्याण नाभि, हृदय, कण्ठ घण्टिका, तालु, जिह्वा, भ्रूमध्य, नासिका, नासिकामूल, ललाट और ब्रह्मरन्ध्र इन सोलह आधारों को तथा बाहर भीतर और मध्य इन तीन लक्ष्यों को एवं आकाश, पराकाश, महाकाश तत्त्वाकाश, सूर्याकाश इन पाँच आकाशों को जो योगी उपर्युक्त रीति से अच्छी प्रकार नहीं जानता वह केवल नाम मात्र का योगी है ॥३१॥

अथाष्टांग योगःकथ्यते—

मू०—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि। यमइति उपशमः सर्वेन्द्रियजय आहारनिद्राशीतवातातपजयश्चैवं शनैः शनैः साधयेत ॥३२॥

सं० टी०—अष्टाङ्ग योगस्य प्रथमाङ्गमिन्द्रियाणां स्वविषयेभ्य उपशमः, निवृत्तिः, कर्तव्यः, इति शेषः। तस्य फलमाह सर्वेन्द्रियजय इति ज्ञानेन्द्रियाणि न विषयासंगं विदधति बुभुक्षा पिपासा निद्राशीत वातज बाधा च न भवति। अत्रत्वरा न कार्या ॥३२॥

भा० टी०—अब अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते हैं। अङ्गी-भूत उस योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान ये आठ अङ्ग हैं। नीचे सब का यथावसर वर्णन करते हैं।

यम—अपने अपने विषयों से सब इन्द्रियों को हटा कर शान्ति प्राप्त करने को यम कहते हैं ॥३२॥

मू०—नियमइति मनोवृत्तीनांनियमनमि, त्येकान्तवासोनिःसंगतौदासीन्यं यथाप्राप्ति सन्तुष्टि वैरस्यं गुरुचरणावरूढत्वमितिनियम लक्षणम् ॥३३॥

सं० टी०—मनो व्यापारस्य निरोध एव नियमो द्वितीयाङ्ग मस्यैव कः प्रतिकार इति जिज्ञासायामाहैकान्तवास इति अरण्यनग कन्दरादौ वा योगिमण्डलेवासो नतु प्राकृतजनेषु केनापि सहसम्बन्धाभि-मानोनकर्तव्यस्तेनरागोनभवेत् सत्यपराधे तत्प्रतीकाराय न कश्चितप्रयत्नोविधेयस्तेनद्वेषोनभवति (वैरस्यम्) स्वादुभक्षणा सक्तिः परिहेया ननु नहिकश्चित् क्षणमपिजातु तिष्ठत्यकर्मकृदिति कथंस्थात व्यमिति सन्देहं छिनत्ति गुर्विति श्रीगुरुचरणं वैवपरमधर्मः, नास्ति तत्वं गुरोः परम् जीवनोपायमाह यथाप्राप्तीति नियम लक्षणम् ॥३३॥

भा० टी०—नियम मन की समस्त वृत्तियों का नियन्त्रण करना अर्थात् जिन जिन विषयों की ओर मन जाय उन सब विषयों में दोष देखकर मन को रोकना तथा एकान्तवास त्यागी रहना अर्थात् किसी प्रकार के भोग्य विषय में आसक्त न होना, मित्र और शत्रु में भी राग द्वेष न करना तथा शरीर निर्वाह के लिये जैसा भी भोजन रअन्न मिल जाय उसी में सन्तुष्ट रहना, मधुरादि रसों में प्रेम न करना और निज गुरु के चरणों में दृढ़ भक्ति होना नियम का लक्षण है। विवेक

मार्तण्ड में यद्यपि दश यम और दश नियम कहे हैं, तथापि उनका क्रम से यम और नियम में ही समावेश होजाता है। फर्क केवल इतना ही है कि इस पुस्तक में सूत्र वाक्यों (संक्षेप) से निरूपण किया है और विवेक मार्तण्ड में विस्तार से अलग अलग वर्णन किया है, देखिये—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं' ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वर पूजनम्।
सिद्धान्त वाक्य श्रवणं ह्री मतिश्च जपो हुतम्॥
नियमा दश संप्रोक्ता योग शास्त्र विशारदैः।

हिंसा न करना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचारी रहना, क्षमा, धीरता, दया, सरल स्वभाव, परिमित भोजन, और पवित्रता ये दश यम कहलाते हैं तथा तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर का पूजन, योग सिद्धान्त के बताने वाले वाक्यों का सुनना, जिस काम के करने से लोक में निन्दा हो उस काम से बचना, सत्यासत्य का विचार ॐ आदि मन्त्रो का जप, और, हवन, ये दश नियम योग शास्त्र के ज्ञाता मानते हैं ॥३३॥ 01249

आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासन मेतेषां मध्ये यथेष्ट मेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यम्, इत्यासन लक्षणम् ॥३४॥

सं० टी०—अथासनं स्व स्वरूपे चिन्मात्रे चेतसः स्थापन मुख्य मिदमेव तदर्थं स्वस्तिकादीनामेकं किमपि स्वसौकर्य्यानुकूलं गुरुतो विज्ञाय कर्तव्यम्। तत्र सावधानतया स्थातव्यमिति स्वलक्ष्यं विहाय नान्यत्र मनो निर्गमनमर्थः। एतेषां लक्षणानि स्वयमेव दर्शितानि सव्य-माकुञ्चितं चरणं दक्षिणो जंघान्तराले दक्षिणं चाकुञ्चितं वामोरु-जंघान्तरे निक्षिपेत्! तत् स्वस्तिकासनम् तदाह ह०यो०

श्लोकः—जानूर्वोरंतरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते॥

वामोरू परिदक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरिपश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्र मालोकये ।
देतद्व्याधिविनाशकारियमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥
मेढ्राद्रुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥३४॥

भा० टी०—आसन—सदा स्व स्वरूप चेतन मात्र आत्मा में स्थित हो जाने को आसन कहते हैं। इस असली आसन की सिद्धि के लिये ही व्यावहारिक आसनों की भी जरूरत होती है, वे आसन यद्यपि अनन्त हैं, तथापि उनमें स्वस्तिकासन, पद्मासन' सिद्धासन ये तीनों योगसाधन के लिये अत्यन्त उपकारक हैं। इन में से जिसको जो अच्छा लगे उसी का अभ्यास कर सावधानी पूर्वक उसी आसन से बैठे यह आसन का लक्षण है। जिसको और आसनों की जिज्ञासा हो वह "योग सोपान,, नामक पुस्तक में देखले। पाठकों के ज्ञानलिये उपर्युक्त तीनों आसनों के लगाने की विधि लिखी जाती है, नीचे देखें

स्वस्तिकासन—घुटने और जंघाओं के बीच दोनों पैरों के तलुओं को लगाकर सावधानी से बैठना, बस यही स्वस्तिकासन कहा जाता है।

पद्मासन—बाईं जांघ पर दाहिने पैर को अच्छी प्रकार रक्खे फिर इसी तरह दाहिनी जांघ पर बांए पैर को रक्खें, और कमर के पीछे से हाथों को लाकर दाहिने हाथ से दाहिने और बांए हाथ से बांए पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़े, और ठोडी को हृदय में लगा कर नाक के अग्रभाग को देखें, यह समस्त रोगों के नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है।

सिद्धासन—गुदा और लिङ्ग का मध्यभाग जो योनिस्थान कहलाता है उससे बांए चरण की एड़ी को मिलाकर दाहिने पैर को दृढ़ता से लिङ्ग इन्द्रिय के ऊपर रक्खे तथा ठोडी को भली प्रकार हृदय में स्थिर कर अचल दृष्टि से भ्रूकुटि के मध्यभाग को देखे यह मोक्ष

कपाट को खोलने वाला सिद्धासन कहा जाता है। उपर्युक्त इन आसनों को गुरु के द्वारा ही सीखे।

मू०--प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता। रेचक पूरक कुम्भक संघट करणानि चत्वारि प्राणायाम लक्षणानि ॥३५

सं० टी०—प्राणवायोः स्थैर्यकरणं प्राणायाम इति कथ्यते। स च चतुर्विधः। रेचकः, कुक्षिस्थवायोर्बहिर्निःसारणम्। पूरकः बाह्य वायोराकृष्य देहाभ्यन्तरे ऽवस्थापनम्। कुम्भक उभयगति निरोधः संघटकरणम् सर्वेषां मेलनम् केवलकुम्भकम्, षोडशचतुष्षष्ठिद्वात्रिंशन्मात्राभिःपूरकादिभवतीतिग्रन्थान्तरं द्रष्टव्यम् ॥३५॥

भा० टी०—प्राणायाम—अब योग के चौथे अङ्ग प्राणायाम का वर्णन करते हैं, प्राणायाम प्राणों की स्थिरता के लिये करना चाहिये। क्योंकि हर समय इडा पिङ्गला नाम की नाडियों में प्राणों की स्थूल गति होती रहती है। किन्तु प्राण की सूक्ष्म अवस्था बनाने तथा सुषुम्णानाड़ी में संचार करने के लिये रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट करण अर्थात् वायुओं को योग क्रिया की सहायता से प्राणायाम के द्वारा परस्पर मिलाना ये चार प्राणायाम के प्रकार हैं। पूरक प्राणायाम द्वारा शरीर में भरे हुए प्राणवायु को धीरे २ बाहर निकालने को रेचक और बाहर के वायु से शान्त चित्त होकर मन्द मन्द गति से उदर पूर्ण करने को 'पूरक' तथा उदर में पूरित वायु को कुम्भक (घड़े) की तरह धारण कर निश्चल रखने को 'कुम्भक' प्राणायाम कहते हैं। तथा योग क्रिया के कौशल द्वारा प्राण और अपान वायु को आपस में मिला देने या अकस्मात् प्राणगति का विच्छेद करने को 'संघटकरण' प्राणायाम कहते हैं। यही चार प्रकार के प्राणायाम का लक्षण है।

प्राणायाम की विधि—योगी सब से पहले समतल भूमि में कुशादि आसन बिछाकर ऊपर वस्त्र बिछाए, उस पर बद्ध पद्मासन या सिद्धासन से बैठकर अपने गुरु, शिव तथा योग के आचार्य श्री मत्स्येन्द्रनाथ आदि को प्रणाम कर भ्रूमध्य में दृष्टि लगा प्राणायाम

प्रारम्भ करे। पहले नासिका के दाहिने छिद्र को अङ्गूठे से बन्द कर नाँक के बाँए छिद्र से धीरे धीरे यथा शक्ति वायु कोभीतरभरे, तदनन्तर दूसरे नासिका पुट को भी उसी हाथ की तर्जनी अङ्गुली से बन्द कर यथा शक्ति प्राण को शरीर में धारण करे। पश्चात् अंगूठे को सहज में हटा कर धीरे धीरे वायु को निकाले। इसी प्रकार सूर्य स्वर में वायु को पूर्ण करके युक्ति युक्त और यथा शक्ति धारण कर चन्द्र-स्वर से रेचन करे, अर्थात् निकाले। इसी कृम से बार बार अभ्यास करे। अर्थात् एक ओंकार के उच्चारण काल को मात्रा कहते हैं। अतः जितनी देर तक बारह ओंकारों का स्वाभाविक उच्चारण हो तब तक पूरक करे, तथा सोलह ओंकारों के उच्चारण काल तक, कुम्भक और दश ओंकारों के उच्चारण तक रेचक होता है। ये तीनों मिल कर साधारण प्राणायाम होता है। यही जब द्विगुण मात्रा में होता है तब मध्यम प्राणायाम कहलाता है। और त्रिगुण होने से उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।

कनिष्ट	प्रा०	पू० १२	कु० १६।	रे० १०	॥
मध्यम	प्रा०	पू०। २४	कु० ३२	रे० २०	॥
उत्तम	प्रा०	पू० ३६।	कु० ४८	रे० ३०	॥

प्रथम प्राणायाम से शरीर में पसीना आता है। मध्यम में कम्पन होता है और जब उत्तम प्राणायाम होता है तब उस अभ्यासी का आसन ऊपर ऊठने लगता है और जिस पुरुष के शरीर में कफादि दोषों की अधिकता हो वह पहले नेती धोती आदि षट्कर्म को करे उस के बाद उस को भी सहज में ही प्राणायाम सिद्ध होजाता है इस के उपरान्त केवल कुम्भक का भी अभ्यास करे। प्राणा याम बहुत उत्तम है। इस से मृत्यु को भी जीत सकता है। इसी लिये ब्रह्मादि देवताओं ने भी यथावत इसका सेवन किया है। इस के बराबर न कोई तप न दान न तीर्थ और न यज्ञ है। किन्तु पापरूप इन्धन के लिये तो यह उद्दीप्त अग्निज्वाला के समान है और अनेक काम क्रोध लोभ मोह अहङ्कार आदि दुष्टग्राह से व्याप्त संसार सागर से पार होने के लिये महा सेतु के समान है। ६५।

मू०-प्रत्याहारमिति चैतन्य तुरङ्गाणां प्रत्याहरणं विकारग्रसन उत्पन्नविकारस्यापि निवृत्ति निर्भातीति प्रत्याहार लक्षणम् ॥३६॥

सं० टी०—चैतन्यस्य, आत्मनस्तुरंगा अश्वा इवे न्द्रियाणि वृ० श्रुतावपि युक्तावै हरयो दश वै शतानि। हरिरत्राश्वः, तेनात्म प्रकरण इन्द्रियाणां ग्रहणमिन्द्रियाणि हयानाहुरिति रूप कोपन्यासात् तेषां स्व-स्व विषयेभ्यः प्रत्याहरणं तत्फलम् विकारग्रसने-विषयविलोचनेऽपि विकाराऽप्राप्ति रपिशब्दादुत्पन्नविकारस्यनिवृत्तिश्चेति ॥३६॥

भा० टी० प्रत्याहार—अब योग के प्रत्याहारनामक पञ्चम अङ्ग का निरूपण किया जाता है। देह रूपी रथ, के स्वामी चैतन्य आत्मा की अश्व (घोड़ा) रूप इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से सिद्ध है। उन इन्द्रियों को विषयों से हटा कर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार कहा जाता है। ३६ ॥

मू०-धारणे ति सावाह्याभ्यन्तर एकमेव निजतत्त्व स्वरूपमेवान्तः करणेन साधयेद् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव संधारयेदिति धारणालक्षणम् ॥३७॥

सं० टी०—वाह्याभ्यन्तरे सर्वत्रैकमेवात्म तत्वं चित्स्वरूपं शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावं वर्तत इति मनसा विचिन्तयेद् योगी मनसो व्यापारः समुज्जृम्भते तत्सर्वं निराकारे लीनं कुर्याद् वातरहित दीप निश्चल प्रकाश सम आत्मा चिन्तनीयो वा तत्समंमनःकुर्यात् ॥३७॥

भा० टी० धारणा—अब योगके छटे अङ्ग धारणा को कहते हैं

शरीर से बाहर और भीतर सब जगह एक ही आत्मा व्यापक रूप से विद्यमान है। ऐसी मानसिक भावना करे और जो जैसा जितना भूत भौतिक प्रपञ्च उत्पन्न होता है उस सब को निजआत्म रूप निराकार में ही धारण करे कि यह सब प्रपञ्च समुद्र के तरङ्ग के सदृश ब्रह्म में ही कल्पित है। तथा उत्तपरब्रह्म से अभिन्न आत्मा का वायु रहित दीप के समान निश्चल चित् प्रकाश रूप से ध्यान करे। यह धारणा का लक्षण है।

इस का विशेष प्रकार निम्न लिखि जानना

१—अधिष्ठातृ देवता ब्रह्म और लंबीज से युक्त हरिताल और सुवर्ण जैसा पीत वर्ण कण्ठ में स्थित चतुष्कोणा कार पृथ्वी तत्त्व विद्यमान है वहा चित्त सहित प्राणों का विलय कर पांच घड़ी पर्यन्त धारणा करे यह पृथ्वी धारणा है। इस धारणा के प्रभाव से पृथ्वि तत्त्व को स्वाधीन करने से सब वस्तुओं का स्तम्भन करने की सामर्थ्य होती है अर्थात पृथ्वी उस के संकल्पानुसार होती है। और पृथ्वी तत्त्व से वह नष्ट नहीं हो सकता।

२—अर्ध चन्द्रकार कुन्द पुष्प के सदृश सफेद तथा अमृत रूप व बीज और अधिष्ठातृ विष्णु देवता सहित कण्ठ में जल तत्त्व विराजमान है। यहां पांच घड़ी तक चित्त सहित प्राण को विलीन कर धारणा (ध्यान) करे यह अति दारुण काल कूट विष को भी जीर्ण करने वाली वारुणी धारणा है। इस के तत्तत् अभ्यास से जल तत्त्व बश वर्ती हो संकल्पानुकूल कार्य करता है।

३—प्रवाल (मूंगा) जैसा चमकीला रक्त वर्ण तेजो रूप रं बीज और रुद्र के सहित इन्द्र गोप (तींज) समान तालु में स्थित त्रिकोणा कार अग्नि तत्त्व है। वहां चित्त सहित प्राण की विलीन करता हुआ तन्मय हो धारणा करे। यह वैश्वानरी (अग्नि) धारणा है। यह अग्नि तत्त्व का जय करती है। इस के अभ्यास से योगी अग्नि तत्त्व को वश में करलेता है। अग्नि से उसका दाह नहीं होता

और अग्नि उस के संकल्पानुसार होता है।

४ सूक्ष्म कज्जल पुञ्ज के समान गोल यं वायु बीज और अधिष्ठातृ ईश्वर देवता सहित भ्रू के मध्य में वायु तत्त्व है। उस वायु तत्त्व में चित्त सहित प्राण को विलय कर पाँच घड़ी पर्यन्त तन्मय हो ध्यान करे। यह वायवी (वायुकी) धारणा योगी को आकाश में गमन कराती है।

५ ब्रह्मरन्ध्र में ओम् रूपीनाद तथा अधिष्ठातृ सदा शिव और हँ बीज के सहित अत्यन्त निर्मल नील वर्ण जल के समान वर्त्तुलाकार आकाश तत्त्व है। वहां उस तत्त्व में चित सहित प्राणों को विलीन कर स्वयं भी तन्मय हो पाँच घड़ी पर्यन्त धारणा करे। यह मोक्ष कपाट (द्वार) के खोलने में प्रवीण आकाश धारणा कहलाती है। अर्थात् आकश तत्त्व साधक के स्वाधीन होता है और साधक आकाशवत् पूर्ण व्यापक हो जाता है। पूर्वोक्त पाँच धारणाओं के साधन से स्तम्भन द्रावण दाह घुमाना और शोषण करने की अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न होती है अर्थात् पृथ्वी की धारणा से सकल चराचर वस्तुओं को स्तम्भन जल धारणा से सब वस्तुओं को द्रवण (पिघलाना), अग्नि धारणा से दाह, वायु धारणा से घुमाने और आकाश धारणा से शोषण करने की सामर्थ्य होती है। जैसे—

स्तम्भनी द्राविणी चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा।
शोषणी च भवत्येषा भूतानां पञ्च धारणा त्रि०मा० ॥३७ गो०प०

मू०—अथ ध्यानमिति कश्चन परमाद्वैतस्य भावःसएवात्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्त्व रूपमेवेति भावयेत् सर्व भूतेषु समदृष्टिश्च इति ध्यान लक्षणम् ॥३८॥

सं० टी०—अखण्ड सच्चिदानन्दो द्वैत रहितः परमात्मा ऽस्ति स एवा स्माक मात्मा किंच यथा येन प्रकारेण घटत्वादि रूपेण यद्यद् घटादयो भासन्ते तत् सर्वं स्वरूपमेवात्मैव केनाऽपि सह भेदो नास्ति

तमि त्थं भावयेद् भावनां कुर्यात् श्रुतिरप्याह नेह नानास्ति किञ्चन आत्मैवेदं सर्वम्, तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि। इदं सर्वं यदयमात्मा योहि अन्यां देवता मुपास्ते अन्योसावन्योऽहमस्मीति न स वेद पशुरेव स देवानामित्यादि भेद निन्दा पूर्वकाभेदभावनाया वरीयस्त्वम्, तेन वास्तविकोऽभेदः प्रतिपाद्यते। ननु कल्पितो ऽन्यथा कल्पित बोधकतया वेदस्या प्रामाण्यं प्रसज्ज्येत किञ्च कल्पित विषय ज्ञानस्यायथार्थतया तेन तत्त्व ज्ञानलभ्य मोक्ष प्राप्त्याशैव दुर्लभा स्यात। अतः सिद्ध मद्वैत मेवतत्त्वं सर्व भूतेषु समदृष्टिः, एकैवात्मा सर्वभूतेषु श्रुतिरपि सर्व भूतेषु चात्मनं सर्व भूतानि चात्मनि। इति ध्यानम् ॥३८॥

भा० टी० **ध्यान**—अब ध्यान को बताते है। जिस का नाम रूप से निर्देश न किया जाय ऐसा जो सर्वान्तर्यामी व्यापक अद्वैत ब्रह्म है। उसी की जो सब जगह व्यापक चिद्‌रूप सत्ता है वस यही सब का व्यापकरूप आत्मा है। मुझ तथा उस व्यापक आत्मा में औपाधिक सम्बन्ध को छोड़ कर कुछ भी भेद नहीं है। अतः जो जो वस्तु जैसे प्रतीत हो उस को सब जगह आत्मा रूप जानकर यह भावना करे कि यह भी मेरा ही आत्मा है और ब्रह्मा से लेकर चींटी पर्यन्त सब प्राणियों में समदर्शी हो यह ध्यान का लक्षण है। ३८ ॥

मू०—अथ समाधि लक्षणं सर्वतत्त्वानांसमावस्था निरुद्यमत्त्वमनयासस्थितिमत्त्वमिति समाधि लक्षणम्। इत्यष्टाङ्ग योगलक्षणम् ॥३९॥

इति श्री शिवावतार योगाचार्य्य श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्त पद्धतौ पिण्ड विचारोनाम द्वितीयोपदेशः।

सं० टी०—सर्वतत्त्वानां समावस्था नास्ति तत्वभेदस्थितिर्यस्यामवस्थायाम् किञ्चिदपि व्यापारोनास्तीति

निरञ्जनपदेन ध्वन्यते । अविद्यात्मकतमो नास्तीति स्वाभाविकी यस्या अनायास स्थितिपदेन ध्वन्यते । अयमेव राजयोगः। अतएवास्याष्टाङ्गान्यपि तदनुकूलानि पूर्वमुक्तानि। अयमाशयो योगानां राजा राजयोगो राजत्वञ्चाङ्गित्वेनान्येसर्वे गुरुचरणसेवादि कर्मयोग प्राणायामादिहठयोग ध्यानाद्युपासनायोगा अङ्गानीति सुष्ठु सर्वोत्तमम् विधाय करुणां प्राणिनामुपर्या चार्यचरणैः ॥३६॥

इति श्री गोरक्षनाथ कृतायां सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्र स्वतंत्र पं०श्री द्वयेश झा निर्मितायां गूढार्थ दीपिकायां पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः।

भा० टी० समाधि—अब योग के समाधिरूप अन्तिम अङ्ग का निरूपण करते हैं। सब पदार्थों में समान अवस्था अर्थात् सबको आत्मरूप से देखने तथा समाधि समय में अन्य व्यापार आदि के अभाव और जिस अवस्था में अनायास ही अखण्ड आत्म स्वरूप में स्थित हो उसी का नाम उन्मनी अवस्था और सहजावस्था है। यही सामान्य समाधि का लक्षण है। भाव यह है कि संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात रूप से समाधि दो प्रकार की होती है। उसीको सविकल्प एवं निर्विकल्प सवीज और निर्वीज समाधि भी कहते हैं। जब तक उस समाधि में ध्याता ध्यान और ध्येयरूप त्रिकुटी का प्रतिभास हो तब तक उसको सम्प्रज्ञात सविकल्प या सबीज समाधि कहते हैं। यह भी धारणा ध्यान की परिपक्व अवस्था होने से सिद्ध होती है तथा जब ध्याता और ध्यान क्रिया का पृथग्भाव न होकर केवल ध्येयाकार वृत्ति हो तब यह निर्विकल्प समाधि होती है। इसी को असम्प्रज्ञात या निर्वीज समाधि भी कहते हैं इसी की परिपक्व अवस्था को शून्य समाधि या जड़ समाधि भी कहते हैं। यह हठयोग की क्रिया और दश मुद्राओं के साधन द्वारा निरन्तर अभ्यास से सिद्ध होती है यह समाधि जब सिद्ध होजाती है तब जाग्रत अवस्था में भी उस योगी की विना

परिश्रम समाधि सी ही लगी रहती है और शरीर में वंशी वीणा आ- दि के अलौकिक शब्दों को सुनने से प्राण और मन भी नाद में विलीन सा ही रहता है और वह समाधि भी नाद के आश्रित होकर रहती है उस समय अनायास समाधि लग जाती है ॥३६॥

इति श्री गोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्री १०८ पूज्यपाद योगीन्द्र श्री पूर्णनाथ शिष्येण वेदान्ताचार्य्येण योगि श्री भीष्मनाथेन कृतायां सार- दीपिकायां हिन्दी टीकायां पिण्ड विचारो नाम द्वितीयो पदेशः समाप्ति मफाणीत् ।



अथ पिण्ड संवित्तिः कथ्यते ।

मू०-पिण्ड मध्ये चराचरं यो जानाति स योगी पिण्ड संवित्तिर्भवति ॥१॥

सं० टी०-विचारस्य फलम् (कार्यम्) ज्ञानम्, अथ पिण्ड विचारानन्तरं तत्फलभूत पिण्डज्ञानोपदेशस्यावसर प्राप्ततया तदुपदिश्यते ।

ननु पिण्ड ज्ञानं प्रत्यक्षत एव सिद्धम्, तदुपदेशो व्यर्थ इति चेन्न. सर्वेषां चर्म चक्षुर्भि मांसादि समुदायतया प्रत्यक्षत्वेऽपिदेहेनिखिल ब्रह्माण्डस्थ पदार्थ मात्र सद्भाव इत्यस्याज्ञातत्वेन तदर्थं तदुपदेशस्य परमावश्यकत्वात् तत्फलं निखिल ब्रह्माण्ड परिचयः । ततश्च दीर्घकालनैरन्तर्य्य सत्कारासेवित भावनया पिण्डाण्डयोः समरसं कृत्वाऽजरामरत्व प्राप्तिरित्यनुपदं वक्ष्यते। अतः प्रसिद्ध फल निरूपणेन प्ररोचयति पिण्डेत्यादि अस्मिन्निति शेषः (पिण्डमध्ये) स्व शरीरे यो योगी (चराचरम्) चराश्च, अचराश्च तेषां समाहारं जानाति स एव (पिण्ड संवित्तिः) पिण्डज्ञानी भवति नान्यः, पिण्डस्य संवित्तिर्यस्येति व्यधि करण बहुव्रीहिः ॥१

भा० टी०- अब शरीर रूप पिण्ड के ज्ञान का निरूपण किया जाता है। इस शरीर पिण्ड में ही जो योगी भूत भौतिक जड चेतन सकल चराचर जगत् को जानता है उस का नाम पिण्ड संवित्ति होता है। अर्थात वह योगी व्यष्टि समष्टि रूप दोनों प्रकार के शरीर पिण्डों का तत्ववेत्ता होता है। सारांश यह है कि सृष्टि दो प्रकार की होती है एक व्यष्टि रूप और दूसरी समष्टि रूप। व्यष्टि में अन्तःकरणाभिमानी अस्मदादि जीव है और समष्टि में विराट हिरण्यगर्भादि हैं। तथा शरीर रूप पिण्डों का भी दोनों सृष्टिओं में प्रादुर्भाव होता है। फर्क केवल इतना है कि समष्टि शरीर व्यापक अधिक शक्तिशाली तथा चिरस्थायी हैं। और वह शरीराभिमानी सर्वेश्वर सत्यसंकल्प होने से अस्मदादि शरीरों का कारण और नियन्ता है। और व्यष्टि पिण्ड क्षणभंगुर तथा विनश्वर है उस का अभिमानी

जीव भी कर्मपाश में बंधा हुआ बार बार पहले शरीर को छोड़ता हुआ दूसरे शरीर को धारण करता है। अतः दुःख बन्धन से जीवों का उद्धार करने की इच्छा से श्री योगाचार्य व्यष्टि समष्टि रूप पिण्ड के अभेद अभिप्राय से समष्टि पिण्ड गत कार्य को भी व्यष्टि शरीर में ही समझाते हैं। जिस से की उक्तपिण्ड के यथार्थ ज्ञान पूर्वक योग ध्यान द्वारा सार्वभौम ऐश्वर्य को प्राप्त करता हुवा यह जीव परम शान्त और अखण्डानन्द श्री आदि नाथ स्वरूप मोक्षधाम को प्राप्त हो।

मू०—कूर्मः पादतले वसति पातालं पादांगुष्ठे तला-तलमंगुष्ठाग्रे महातलं पादपृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जंघायां वितलं जान्वो रतल मूर्वोरेवं सप्तपातालं रुद्र-देवाधिपत्ये तिष्ठति पिण्डमध्ये क्रोधरूपोभाव: स एव कालाग्निरुद्रः ॥२॥

सं० टी०—भुवनाधारः कूर्मावतार इति प्रसिद्धम् पुराणेषु। अस्या यं गूढाभि सन्धिः ॥ शक्ति सहितस्य शिवस्यैव सृष्ट्यादा ववस्था वि-शेषः कूर्मइवेति, सादृश्यं चात्रयथा कूर्मादंगानि निःसरन्ति तत्रैव च संकुचन्ति तथा तत एव च सर्वे प्राणिनः नि सरन्ति तत्रैव काले संकुचन्ति च सर्वेषामाधारः। वेदोप्याह (सदाधार पृथिव्यां, द्यामुतेमाम् गीतायां गामा विश्य च भूतानि धारयाम्य हमोजसा अतः सुष्ठूक्तम् कूर्मःपाद तले वसति। ननुपादाधारस्तु पृथिवी दृश्यते कथमाह कूर्म इति चेत् शृणु रहस्यम् यदा ब्रह्माण्ड पिण्डयोरभेदो ज्ञायते य एव ब्रह्माण्डः स एव पिण्ड इति तदा कथं ब्रह्माण्डाधारः कूर्मो मदीय पिण्डाधारो नेति निषेद्धुं शक्यम्, इति हृदय संकोचं विहायोदारचेतसा विवेक्तव्यम् तत्रांगुष्ठान्त्य देशमारभ्योरूपर्यन्तं पातालादि सप्तलोक भावना विधेयेति निष्कर्षः। मूलेयत्र यस्य स्थितिः प्रतिपादिता तत्रैव ज्ञेया नतु व्युत् क्रमेणान्यत् स्पष्टम्। अस्य सप्तपातालस्याधिपति देवो रुद्रः स एव पिण्डे क्रोध रूपः समष्टी कालाग्नि रुद्रः प्रलय कारकः ॥२॥

भा० टी०—समस्त पृथ्वी का धारण करने वाला कूर्म निज चरण तल में पाताल पैर में तलातल अङ्गुष्ठ के अग्र भाग में महातलपैर के ऊपर पृष्ट भाग में रसातल गट्टों में सुतल पिण्डलियों में वितल घुटनों में अतल जङ्घाओंमें बसता है। अर्थातसमष्टिका व्यष्टि में अभेदजानकर ध्यान करे इस प्रकार सात पातालों का अधिपति भगवान रुद्रदेव है और इस देह में जो क्रोध रूपी भाव है वही कालाग्नि रुद्र है। १ ॥

मू०=भूर्लोकं गुह्य स्थाने भुवर्लोकं लिंग स्थाने स्वर्लोकं नाभि स्थाने। एवं लोक त्रय इन्द्रो देवता पिण्ड मध्ये सर्वेन्द्रिय नियामकः स एवेन्द्रः ॥३॥

सं० टी०—लोक त्रयदृष्टिर्गुह्यलिंगनाभिषु। गुह्य लिङ्गादधो गुदा दुर्द्धवम्मध्ये समष्टि सृष्टौ लोकत्रयस्याधिपति र्य इन्द्रदेवः स एव शरीरे सकलेन्द्रिय वर्गस्य नियामको ध्येयः। अतएवेन्द्रस्येदमिन्द्रियमित्यन्वर्थ संज्ञा प्रसिद्धा लोके शास्त्रे च ॥३॥

भा० टी०—मूलाधार में पृथ्वी लोक लिङ्गमूल में अंतरिक्ष और नाभि स्थान में स्वर्गलोक है इन तीनों लोकों का इन्द्र देवता है और शरीर में जो सब इन्द्रियों का नियंत्रण करता है वही प्रकाशमान इन्द्र देव है ऐसा ध्यान करे।

मू०-दण्डांकुरे महर्लोको दण्ड कुहरे जनोलोको दण्डनाले तपो लोको मूल कमले सत्यलोक एवं लोक चतुष्टये ब्रह्मादि देवता पिण्ड मध्येऽनेक माना भिमान स्वरूपी तिष्ठति ॥४॥

सं० टीका—दण्डाकुरइति मेरुदण्डस्योत्पत्तिस्थानं दण्डांकुरः, ततः ऊर्ध्वं कुहरो मध्यभागो नालः, तेषु यथाक्रमं महर्जन तपोलोका वसन्ति। (मूल कमले) मूलाधारस्थ कमले सत्य लोकः। एवं चतुष्

लोकेषु ब्रह्मादि देवा अनेके नानाभिमान शालिन स्तिष्ठन्ति समष्टि सृष्टौ व्यष्टि सृष्टौ च मेरुदण्डे तेषामाधिपत्यमिति विवेकः सर्वत्र ॥४॥

भा० टी०—मेरु दण्ड के मूल में प्रजापति दक्ष का महर्लोक मेरु दण्ड के छिद्र में जन लोक तथा सुमेरुदण्ड के सूक्ष्म छिद्र के चारों ओर तप लोक और मूलकमल में सत्य लोक है इन चारों लोकों में ब्रह्मादि अधिपति है और वह ब्रह्म इस देह पिण्ड में अनेक मानाभिमान स्वरूप होकर रहता है। ४॥

मू०—विष्णु लोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्ड मध्येऽनेक व्यापारको भवति। हृदये रुद्र लोक स्तत्र रुद्रोदेवता पिण्ड मध्य उग्र स्वरूपी तिष्ठति। वक्षस्थल ईश्वर लोक स्तत्रेश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्ति स्वरूपी तिष्ठति। कण्ठ मध्ये नीलकण्ठ लोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं तिष्ठति। तालुद्वारे शिवलोक स्तत्र शिवोदेवता पिण्ड मध्येऽनुपम स्वरूपी तिष्ठति। लम्बिका मूले भैरवलोकस्तत्र भैरवोदेवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तम स्वरूपी तिष्ठति। ललाट मध्येऽनादि लोक स्तत्रानादि देवता पिण्ड मध्य आनन्द पराहंता स्वरूपो तिष्ठति। शृंगाटे कुल लोक स्तत्र कुलेश्वरो देवता पिण्ड मध्य आनन्द स्वरूपी तिष्ठति शंख मध्ये नलिनी स्थाने ऽकुलेश्वरो देवता पिण्ड मध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति। ब्रह्मरन्ध्रे पर ब्रह्मलोक स्तत्र परब्रह्म देवता पिण्ड मध्ये परिपूर्ण दशा तिष्ठति। उर्ध्वकमले परापर लोक स्त त्रपरमेश्वरो देवता पिण्ड मध्ये परापरभावस्तिष्ठति त्रिकूट स्थाने शक्ति लोक स्तत्र

पराशक्ति देवता पिण्ड मध्येऽस्तित्त्वावस्था सर्वासां सर्व कर्त्तृत्वावस्था तिष्ठति। एवं पिण्ड मध्ये सप्त पाताल सहितैक विंशति ब्रह्माण्ड स्थान विचारः ॥५॥

सं० टी०—ब्रह्माण्डे ये विष्णु लोकादयः सन्ति तेषामस्मिन् पिण्डे कुत्र कुत्र निवासं मत्वा चिन्तनीयमिति जिज्ञासायां तत्तल्लोक स्थानान्युपदिश्यते तत्र स्थानं देवता तत्कार्यविशेषश्चेति वस्तु त्रयं सवत्र प्रदर्शितं यथा विष्णुलोकस्य कुक्षिः (नाभि प्रदेशः) स्थानम् देवता विष्णुः, नाना विध व्यापारः कार्यम्। एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। यद्देव लोकस्य यत् स्थानम् सैव तस्य देवता तस्य स्वरूपमेव च कार्यमिति शैलीं नीत्वा ग्रन्थः संलापनीयः। हृद्देशो रुद्र लोकस्य स्थानम् उग्रता (अहङ्कारता) कार्यम्। हृदयादुर्द्धं कण्ठादधो वक्षःस्थलेन ग्राह्यम् वक्षे शानलोकस्य स्थानं देव ईश्वरः (ईशानः) अयंरुद्राद्भिन्नः, अतः कार्य्यं विशेषमाह तृप्तिः। श्रृंगाटोनाम चतुष्पथः कण्ठ देशः, श्रृंगाटकं भवेद्द्वारि कण्टके च चतुष्पथ इति कोशात्। तत् कुल देवतायाःस्थानम् आनन्द दानमेव कार्यम्, शंखनाड़ी भ्रुवोरन्तरे तत्र वनलिनीदलं तद् कुलदेवस्य स्थानम् तस्य निरभिमानतैव कार्य्यम् ब्रह्मरन्ध्रं सहस्रार मध्ये तत् परब्रह्मणः स्थानम् परिपूर्णता कार्यम्। उर्ध्व कमलं सहस्रारस्योर्ध्व दलम्। तत् परापरदेवताया स्थानम्। परापर प्रकाशनं कार्यम्। त्रिकूटं सहस्रारोपरित्रिंशखात्मकत्रिकोणं तत् परशक्तेः स्थानम्। तस्याः कार्यं शरीरादीनां सत्ता कर्तृत्वादि सम्पादनम्। इत्थं सप्त पातालाः, भूरादि सप्तलोकाः, विष्णवादि सप्तदेवाः, तत्समूहो ब्रह्माण्डस्तस्याध्यात्मम् विकल्पने सत्येकविंशति ब्रह्माण्डस्थानानि तेषां 'विचारः' चिन्तन प्रकारः प्रदर्शित इति शेषः। देवगणे पराशक्तेः परिगणने संख्याधिक्येऽपि तस्या विश्व जननीत्वेन ब्रह्माण्डेऽनन्त भावैक विंशति ब्रह्माण्ड स्थान कथनं सम्यक्तरमिति नीलकण्ठादीना म्पाठःक्वचिदधिकोत्र ॥५॥

भा० टी०— पेट में विष्णु लोक है वहां इस देह पिण्ड में रक्षण आदि अनेक व्यापारों में तत्पर भगवान् विष्णु देव विराजमान है। हृदय में रुद्र लोक है वहां महा तेजस्वी उग्रस्वरूप भगवान् श्रीरुद्र

देव विराजमान है। वक्षः स्थल (छाती) में ईश्वर लोक हैं वहां तृप्ति स्वरूप ईश्वर देव विराजमान है। कण्ठ के बीच में नीलकण्ठ लोक है वहां नित्य ही नीलकण्ठ देव रहता है तालु द्वार में शिव लोक है वहां सर्वेष्ट मङ्गल रूप श्री शिव देव विराज मान है। जिह्वा के मूल में भैरव लोक है वहां सर्वोत्तम भैरव देव विराजमान है। ललाट (मस्तक) के बीच अनादि लोक है वहां उत्कृष्ट आनन्द में ही अपने स्वरूप का अभिमान करने वाला अनादि देव विराज मान है इस देह पिण्ड में भ्रुकुटि से कुछ ऊपर मस्तक में कुल लोक है वहां आनन्द स्वरूप कुलेश्वर देव विराजमान है। शंख नाडी के उपर मध्य नलिनी स्थान में अकुलेश लोक है वहां अभिमान अवस्था से रहित अकुलेश्वर नाम का देव विराज मान है। ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म लोक है वहां परिपूर्ण अवस्था से युक्त पर ब्रह्मादेवता विराजमान है। सहस्र दल युक्त ऊर्ध्वकमल में परापर लोक है वहां सर्वत्र समरूप से व्यापक सदा प्रकाश मान परमेश्वर देव विराजमान है। सहस्र दल के ऊपर त्रिकूट स्थान में शक्ति लोक है वहां शकल ब्रह्माण्डोंकी सूक्ष्म कर्तृत्व अवस्था वाली और निजा अवस्था के सहित पराशक्ति देवता है। इस शरीर में जहां जिस देवता का स्थान निर्दिष्ट है। उस स्थान का वही देवता स्वामी है वहीं पर उस स्थान और गुण विशिष्ट देव का ध्यान करने से उस देव जैसी सामर्थ्य और उन उन लोकों के साक्षात्कार की शक्ति उत्पन्न होती है। अतः योगाभ्यासी अपने देह में ही पूर्वोक्त विधि से उपर्युक्त देव के साक्षात्कार की योग्यता सम्पादनार्थ ध्यान करे। इस उपरोक्त रीति से इस देह पिण्ड में ही सात पातालों के सहित इक्कीस ब्रह्माण्डों का विचार समाप्त किया। ५ ॥

मू०—सदाचार तत्त्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति शौर्ये क्षत्रिया व्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुष्षष्ठि कलास्वपि चतुष्षष्ठि वर्णाः ॥६॥

सं० टी०—वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानेन विशुद्धसत्वाः संसारानित्यत्वं मर्यालोच्य ततो विरक्ता योग एव परमपुरुषार्थसाधन मिति श्रुति

स्मृति गुरुभ्यः श्रुत्वातच्श्रद्दधाना स्तदनुकूल युक्त्या चतुर्थ्यवस्थाप्य योगमनुष्ठाय सिद्धा मुक्ताश्च भवन्ति नतु वर्णाश्रम धर्मरहिताः पापाचारपरा योगे तत्साधन मार्गे वा श्रद्दधते प्रत्युत तं द्विषन्ति, अतो वर्णाश्रम धर्मा अवश्यमेवानुष्ठेया इत्युपदिश्यते (सदाचार इत्यादि) तत्रेत्थं व्यवस्था संजाते स्वात्मबोधेतु सर्वेषांवर्णानामाश्रमिणां च ध्रुवोमोक्ष इत्यत्र नास्ति कस्य चिद्वैमत्यम् किन्तु विविदिषूणां कथमारुरुक्षेयामिति सन्दिह्य मार्गद्वय मितिनिश्चितम् । तथाहि येतुपूर्वजन्मार्जित पुण्य पुञ्जवशाज्जन्मत एव विरक्ता योग मार्गेच श्रद्दधाना योगसाधनान्यच्च चिकीर्षन्ति ते बाल्यादेव गृहान्निर्गत्य योगिकुले ससाध्य साधनं तत्वं विदित्वा मुक्ताभवन्ति येतु न जन्मतो विरक्ताः श्रद्धालवश्च तैरीश्वरानियोगधिया वर्णाश्रमविहितकर्माण्यनुष्ठेयानि तत्रापि योगाअनुष्ठेयाः सति वैराग्ये विहाय कर्माणि योग एव केवल आश्रयणीय इति क्रमिकगतिः । तदाह श्रुतिः यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्, कुर्वन्नेवेह कर्माणीतिच । किन्तु येऽविरिक्ताः श्रद्धारहिता वर्णाश्रमधर्ममपि नानुतिष्ठन्ति तेषामधःपाताऽन्यागति रिति सिद्धपादैरुपदिश्यते (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणजातयः (सदाचार तत्वे) श्रुति स्मृति विहित स्वाश्रमोचित कर्मानुष्ठान पूर्वक योग मार्गे तिष्टन्ति सारिथदित्तेषां श्रेयस्करीति ध्वनिः । एवं (क्षत्रियाणाम्) शौर्य्ये (वैश्यानाम) वाणिज्ये (शूद्राणाम) सेवा कर्मणि सनातन शास्त्रानुसारेण स्वे स्वे कर्मणि स्थातव्यमिति निष्कर्षः स्व स्व जात्यनुसारकर्म कौशल झटिति भवति तत्र तस्याभ्यस्त्वेति प्रायेणोपलभ्यते समेषाम् । अन्या अपि चतुष्षष्टि जातयश्चतुष्षष्टि कलासु वर्तन्ते । अतः सांसारिक मर्यादा नोच्छिद्यतेत्यानुषङ्गिकोपदेशः ॥६॥

भा० टी०—सदाचार में ब्राह्मण युद्धादि शौर्य में क्षत्रिय वाणिज्यादि व्यवसाय में वैश्य और सेवादि भाव में शूद्र हैं तथा चौंसठ कलाओं में चौंसठ वर्ण तत्पर रहते हैं । अर्थात् गीत वाद्य आदि चौंसठ प्रकार की कलाओं को जानने वाले पुरुष ही चौंसठ प्रकार के वर्णों में गिने जाते हैं । ६ ॥

मूल—अथ सप्त समुद्राः सप्त द्वीपाश्चकथ्यन्ते । मज्जायां जम्बूद्वीपोऽस्थिषु शाक द्वीपः शिरासु सूक्ष्म

द्वीपस्त्वक्षु क्रौंचद्वीपो रोमसु गोमय द्वीपो नखेषु श्वेत द्वीपो मांसे प्लक्षद्वीप एवं सप्त द्वीपाः ॥७॥

भा० टी०—अत्र सर्वत्र दृष्टिः कर्तव्या इत्यर्थोज्ञेयः। यथा बृहदारण्ये प्रारम्भे ऽश्वशरीरे प्रजापति दृष्टिः कर्त्तव्यतया विहिता। तत्रा श्वस्य प्रत्येक मङ्गेषु प्रजापतेः प्रत्येकाङ्गस्य दृष्टि विहिता तेन प्रजापत्युपासना सम्पद्यते तत्फलं प्रजापतिपदप्राप्तिः प्रतिपादिता। एतादृशो पासनानुपदमुपनिषत्सु प्रदर्शितेति विदन्ति वेदान्तिनः। तथैवात्रापि स्वपिण्डस्य प्रत्येक मंगे ब्रह्माण्डस्थ प्रत्येकाङ्ग दृष्टिः कर्त्तव्या। तेन ब्रह्माण्ड पिण्डयोः समरसभावः, अनन्तर मद्वितीय ब्रह्मणा सह समरस भावः तत्फल मजरामरभावो मोक्ष इति विशेषः। अत्र सूक्ष्म द्वीपः क्वचित् कुश द्वीप संज्ञा, अत्र गोमय नामान्यत्र गोमेधनाम, अत्र श्वेत द्वीपकुत्रचित शाल्मल द्वीप संज्ञा। प्लक्ष द्वीपस्यैव क्वचित् पुष्कर द्वीप इति ॥७॥

भा०टी०—अब समष्टि ब्रह्माण्ड में स्थित सात समुद्र और सात द्वीपों का इस व्यष्टि देह में ही वर्णन करते हैं। मज्जा में जम्बूद्वीप, हड्डियों में शाक द्वीप प्रवाहिका नाड़ियों में सूक्ष्म द्वीप त्वचा में क्रौञ्चद्वीप रोमों में गोमय द्वीप नखों में श्वेत द्वीप और मांस में प्लक्ष (पुष्कर) द्वीप है इस प्रकार इस शरीर में सात द्वीपों को जान कर ध्यान करने से इन के साक्षात्कार का सामर्थ्य और इन में स्वच्छन्द गति होती है। ७ ॥

मू० मूत्रे क्षारसमुद्रो लालायां क्षीर समुद्रः कफे दधि समुद्रो मेदसि घृत समुद्रो वसायां मधुसमुद्रो रक्त इक्षु समुद्रः शुक्रेऽमृत समुद्र एवं सप्त समुद्राः ॥८॥

सं० टी०-तत्तत्समुद्रदृष्टयोमूत्रादिषु, अत्र मधु समुद्रोऽन्यत्र सुरा समुद्रः प्रतिपादितोऽत्रचामृत समुद्रोऽन्यग्रन्थे स्वादूदक शब्देन न तावता भेदो ज्ञेयः। शब्दभेदेऽप्यर्थैक्यत्। क्षीरवज्जलानि यस्मिन् स क्षीर समुद्रः। तथैव सर्वत्र सादृश्यंज्ञेयमतुतं व ॥८॥

भा० टी०-मूत्र में क्षार (खारा) समुद्र लार में क्षीर समुद्र कफ में दधि समुद्र मज्जा में घृत समुद्र चर्बी में मधु समुद्र रक्त में इक्षु समुद्र और शुक्र (वीर्य) में अमृत का समुद्र है। इस रीति से शरीर में सात समुद्रों का वर्णन हुआ। इन का यथोक्तविधि द्वारा ध्यान करने से इन के साक्षात्कार की सामर्थ्य होती है। ८॥

मू०-नव खण्डा नव द्वारेषु वसन्ति। भारतखण्डः कर्पर खण्डः काश्मीर खण्डः श्री खण्ड शंख खण्ड एक-पादखण्डो गान्धारखण्डः कैवर्त्तक खण्डो महामेरु खण्ड एवं नव खण्डाः ॥९॥

सं० टी०-अत्रायं विवेको यावन्तः पदार्था ब्रह्माण्डे वर्त्तन्ते तावन्त एवास्मिन् पिण्डेऽपि। इयानेव विशेषो यत् पिण्डेऽल्पमात्रा विश्व-स्मिन् पूर्णमात्रा। तत्रास्ति कश्चन प्रकारः येन शरीरमिदं विश्वरूपं परिणम्येतेति जिज्ञासवे विश्वोपासनामाह नव खण्डेत्यारभ्य तृतीयो पदेशावधि। उपासकैरेवं चिन्तनीयं यद् विश्वरूपोऽहम् तत्सपरयर्थं स्वा-ङ्गान्यालम्बनीकृत्य प्रत्येकं मूलोक्तरीत्या वैश्ववस्तुदृष्टिर्विधेया। यथा गुह्य लिङ्ग मुख नासिकाद्वय कर्णद्वय नेत्र द्वयेषु नव द्वारेषु नव खण्डाः सन्ति ते क इति जिज्ञासोपशमनाय नामानि निर्दिश्य न्तं भारतखण्डेत्यादि ॥९॥

भा०टी०-शरीर के नवों द्वारों में नौ खण्ड रहते हैं। उन्हीं का नाम और स्थान निर्देश पूर्वक वर्णन करते हैं। मूलद्वार में भारत खण्ड, उपस्थ (लिङ्गछिद्र) में काश्मीर खण्ड मुख में कर्पर खण्ड श्री खण्ड और शङ्ख खण्ड क्रम से नासिका के दक्षिण खण्ड व वाम खण्ड में एक पादखण्ड (जिसमें १ पाद के आदमी हों) और गान्धार खण्ड क्रमशः वाम और दक्षिण नेत्रों में कैवर्त खण्ड और महा मेरुखण्ड क्रम से वाम और दक्षिण कर्ण छिद्रों में इस प्रकार नौ खण्ड इस शरीर में बसते हैं। ९॥

मू०-मेरु पर्वतो मेरु दण्डे तिष्ठति कैलासो ब्रह्म

कपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकंधरे मन्दरो दक्षिणकंधरे विन्ध्याद्रि र्दक्षिण कर्णे मैनाको वाम कर्णे श्री पर्वतो ललाट एवमष्ट कुल पर्वता अन्य उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥१०॥

सं० टी०—एवं मूलोक्त कुलपर्वत दृष्टयो मेरुदण्ड शीर्ष कपाल पृष्ठ वाम स्कन्ध दक्षिण स्कन्ध कर्णद्वय ललाटेषु यथा क्रमं कर्तव्याः। अन्योपपर्वतदृष्टिः सर्वाङ्गुलिषुविधेया ॥१०॥

भा० टी०—अब शरी में आठ कुलपर्वतो का वर्णनकरते हैं। सुमेरु पर्वत शरीर के मेरुदण्ड में कैलाश मस्तक में हिमालय पीठ में मलयाचल बायें कन्धे में मन्दराचल दाहिने कन्धे में विन्ध्याचल दक्षिण कान में और श्री शैल नामक पर्वत ललाट में बसता है। इस प्रकार आठ कुल पर्वतों का वर्णन किया और भी बहुत छोटे बडे पर्वत हाथ पैर की सब अङ्गुलियों में रहते हैं १० ॥

मू०—पीनसा, यमुना, गंगा, चन्द्रभागा सरस्वती पिपासा शतरुद्रा श्रीरात्रि, नर्मदा॥ एवं नवनद्यो नव नाड़ीषु वसन्ति। अन्या उपनद्यः कुल्योपकुल्या, द्विसप्तति सहस्र नाड़ीषु वसन्ति ॥११॥

सं० टी०—पीनसादि नव नदी दृष्टिः सुषुम्णाति रिक्त पूर्वोक्त पिंगलादि नव नाडीषु विधेया। नद्धिश्चोपनद्यः कुल्योपकुल्याश्च सकल नाडीषु द्रष्टव्याः ॥११॥

भा० टी०—अब पीनसा आदि नदी और उपनदियों का वर्णन करते हैं। पीनसा गंगा यमुना सरस्वती चन्द्र भागा पिपासा (व्यासा) शतरुद्रा (शतलुजा) श्री रात्री और नर्मदा ये नौ नदी नौ नाड़ियों में रहती हैं। अर्थात् गंगा यमुना और सरस्वती ये

तीनों क्रम से इड़ा पिङ्गला और सुषुम्णा में तथा पीनसादि अन्य नदियां अलम्वुषादि नाड़ियों में रहती है और भी बहुत सी छोटी बड़ी बहत्तर हजार नाड़ियों में रहती हैं। ११ ॥

मू०—सप्तविंशति नक्षत्राणि, द्वादशराशयो नव ग्रहाः, पंचदशतिथय एते ऽन्तर्वलये द्विसप्तति सहस्रकोष्ठेषु वसन्ति ॥ अनेक तारा मण्डल मुर्मिपुञ्जे वसति।। त्रयस्त्रिशत् कोटि देवता बहुरोमकूपेषु वसन्ति। दानव यक्ष राक्षस पिशाच भूत प्रेता अस्थि सन्धिषु वसन्ति। अनेक पीठोपपीठका रोमकूपेषु वसन्ति । अन्ये पर्वता उदर लोमसु वसन्ति। गन्धर्व किंनर किंपुरुषा अप्सरोगणा उदरे वसन्ति। अन्या खेचरी लीला मातरः शक्तय उग्रदेवता वायु वेगे वसन्ति। अनेक मेघा अश्रुपाते वसन्ति। अनन्तसिद्धा मति प्रकाशे वसन्ति। चन्द्रसूर्यौ नेत्र द्वये वसतः। अनेक वृक्षलतागुल्मतृणानि जंघारोमकस्थाने वसन्ति। अनेक कृमिकीट पतंगाः पुरीषे वसन्ति ॥१२॥

सं० टी०—अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, अश्लेषा, मघा, पूर्व फल्गुनी, उत्तरफल्गुनी, हस्त चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूल, पूर्वाखाढ़, उत्तराखाढ़, श्रवणा, धनिष्टा, शतभिषा, पूर्वभाद्र, उत्तरभाद्र, रेवती। एतानिसप्तविंशति नक्षत्राणि। सार्धद्वय नक्षत्रस्यैको राशिस्तथा च सकल संकलते द्वादश रशायो, भवंति, एतेषु नक्षत्रेषु दिनमणेर्भ्रमणं सम्वत्सरेण समाप्यतेऽतो द्वादशमासात्मको वर्षो भवति। किन्तु कुमुदस्य परिभ्रमणं दिनैकेनैक नक्षत्रे पूर्यतेऽतः सप्तविंशति दिनेष्वेव राशिभोग पूर्त्तिः। अयमेव चन्द्र

मासः। पूर्वस्तु सौरमासः। राशिनामानि मेष, बृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, बृश्चिक, धनु, मकर, कुम्भ, मीनेति। सूर्य चन्द्र भौम बुध गुरु शुक्र शनि राहु केतवो नवग्रहाः। तिथयस्तु चन्द्रकला दर्शना दर्शन कृताः प्रतिपदादि पञ्चदश तन्नामानि प्रसिद्धानि। एते देहमध्यस्थ मांसरंध्रेषु द्रष्टव्याः। बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य मनसः स्मृतौ। शोक मोहौ शरीरस्य जरामृत्युरूर्मय इत्येतेष्वनेक तारा दृष्टिः सम्पाद्या। रोम कूपेषु सकल देवता द्रष्टव्याः। यत्र दैवी शक्तिराविर्भूता सती देवताभिमान मुत्पादयति स पीठस्त्रिकोणादि यन्त्र प्रभृतिः, तत्समीप-स्थोपपीठकः। तद्दृष्टिरपि रोमकूपेष्वेव। एवमेव पर्वतादिष्वपि ज्ञेयं निगद व्याख्यातमन्यन्मूलम् ॥१२

भा० टी०—अश्विनी भरणी आदि सत्ताईस नक्षत्र, मेष, वृषादि बारह राशि सूर्यचन्द्रादि नवग्रह और प्रतिपदादि पन्द्रह तिथियां ये सब शरीरस्थ माँस पेशियों के बहत्तर हजार कोष्ठों में रहते हैं अनेक तारा मण्डल हड्डियों के रचना विशेष या भूख प्यास रूपी ऊर्मिपुञ्ज में रहते हैं। तेतीस करोड़ देवता समस्त रोम छिद्रों में बसते हैं। दानव यक्ष राक्षस पिशाच भूत और प्रेत शरीर की हड्डियों के जोड़ों में रहते हैं। त्रिकोणादि यन्त्र सहित देवताओं के स्थान विशेष को पीठ कहते है। वे ही अनेक पीठ और उपपीठ अर्थात् बड़े छोटे उपासना करने योग्य देवी देव स्थान जो रोम छिद्र हैं। उन में विद्यमान हैं। तथा अन्य पर्वत उदर लोमों में रहते हैं। गन्धर्व किन्नर और अप्सराओं के समूह उदर में रहते हैं अन्य अपनी इच्छा से आकाश में गमन करने वाली उग्र देवता रूप लीला मातृ शक्तियां प्राण वायु वेग और अनेक मेघ नेत्रों के आंसुओं में बसते हैं। अनन्त सिद्ध बुद्धि के प्रकाश में रहते हैं वाम दक्षिण दोनों नेत्रों में क्रम से चन्द्र और सूर्य रहते हैं। अनेक वृक्ष लता गुल्म तथा तृण ये जंघा के रोमों में रहते हैं और बहुत से कीट पतङ्गादि विष्टा में बसते हैं।१२॥

मूल-यत्सुखं तत्स्वर्गं, यद्दुःखं तन्नरकं, यत् कर्म तद्बन्धनं यन्निर्विकल्पं तन्मुक्तिः स्वरूप दशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति। एवं सर्वा देहेषु विश्वरूप परमेश्वरः परमात्माऽखण्ड स्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति। एवं पिण्ड संवित्ति र्भवति २ ॥१३॥

इति महेश्वरावतार श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्ड संवित्तिर्नाम तृतीयोपदेशः।

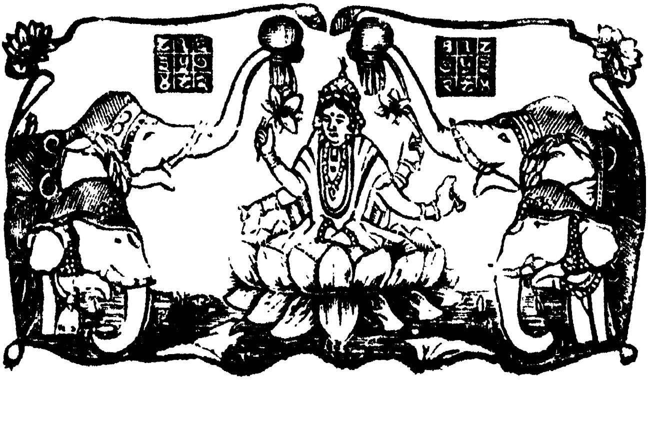
सं० टी०—सुखे स्वर्गदृष्टिर्दुःखे च नरकदृष्टिः कर्मणि बन्ध दृष्टि र्निर्विकल्प स्वरूपज्ञाने मोक्षदृष्टिः। निद्रादि सर्वावस्थासु स्व स्वरूपमात्रानुभवे शान्ति दृष्टिश्चोच्यते। पूर्वोक्त प्रकारेण दृढभावनया सर्वत्र स्वात्मचित् स्वरूपः सम्पद्यत इति फल कथनेनोपसमहारि ॥१३॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्र कोविद श्रीद्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां तृतीयोपदेशः समाप्तः।

भा० टी०- इस शरीर में जो सुख है उसे स्वर्ग और जो दुःख है उसे नरक जानना। जो सकाम कर्म है वही बन्धन है। जो निर्विकल्पता है वही मुक्ति है और वह मुक्ति द्वैतप्रपञ्च की शान्ति से होती है यद्यपि अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि से वह शुद्ध मुक्त अवस्था भी निद्रा रूप है तथापि वह वास्तव में अखण्ड आत्म बोध रूप दशा है उस बोध दशा में जागते रहना ही आत्म जागरण कहलाता है इसी को जीवन मुक्ति कहते हैं। इस पूर्वोक्त रीति से सब देहों में माया के बल से अनेक रूप धारी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट घट में चेतन रूप रहता है। अतः उक्त रीति से व्यष्टि समष्टि रूप पिण्ड को अच्छी प्रकार जानने वाला ही पिण्ड संवित्ति कहलाता

है। यहां पर दूसरा पिण्ड संवित्तिशब्द उपदेश की समाप्ति का द्योतक है। १३ ॥

इति श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ योगीन्द्र श्री १०८ श्रीपूर्णनाथ शिष्येण योगि पं० श्री भीष्मनाथेन वेदान्ताचार्य्येण कृतायां सारदीपिकायां हिन्दी टीकायां पिण्ड संवित्तिर्नाम तृतीयोपदेशः समाप्ति कृतवान्।



* अथ पिण्डाधारः कथ्यते *

मू०—अस्ति काचिदपरंपरा संवित् स्वरूपा सर्व पिण्डाधारत्वेन नित्य प्रवुद्धा निजाशक्तिः प्रसिद्धा कार्य कारणकर्त्तृणा मुत्थान दशांकुरोन्मीलनेन कर्त्तारं करोतीत्यनन्तरा वाधार शक्तिरिति कथ्यते। अत्यन्त निज प्रकाशस्वसंवेद्यानुभवैकगम्यमाना शास्त्रलौकिक साक्षात्कारसाक्षिणी सा परा चिद्रूपिणी शक्तिर्गीयते। सैव शक्तिर्यदा सहजेन स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां निरुत्थान दशायां वर्तते तदा शिवः स एव भवति ॥१॥

सं०टी०-जीवस्य शिव शक्तिभ्यां सह भेदाभावएवसमरसः स एव मोक्षो लक्ष्यस्तस्य प्राप्त्युपाययोगः पञ्चमे वक्ष्यमाणस्तत्र प्रथमं शिव शक्त्योरेवकथं समरसभावावस्था भवतीति जिज्ञासोपशमनाय चतुर्थोपदेशः। तत्र पूर्वशक्ति स्वरूपं निरूच्य सामरस्यं निर्वक्ष्यते अस्तीत्यादि। (अपरंपरा)नास्ति परंपराकस्याः स्वजनकंतज्जनकमिति प्रणाली रहिता कूटस्थेतियावत संवित्स्वरूपा) ज्ञानस्वरूपा (नित्य प्रबुद्धा) विनाश रहित प्रकाशरूपा ऽनेन बुद्धे वैलक्षण्यं सूचितम् तदीय प्रकाशस्योत्पत्ति विनाश शालित्वात् परमेश्वरस्य (निजा) स्वकीया (शक्तिः) आद्याभवानी (सर्वपिण्डाधारत्वेन) समस्त जगदाधारत्वेन विद्यते सैव सकल शास्त्रेषु प्रसिद्धा साच (कार्यकरण कर्त्तृणां) कार्यं, शरीरं करण मिन्द्रियाणि कर्ता,जीवएतेषां त्रयाणामुत्थान दशायाः, आविर्भावावस्थाया अंकुरं पूर्वरूपंतस्यैवोन्मीलनेन विकाश द्वारा (कर्तारम् , ईश्वर देवादिकं(करोति)सृजतीत्यर्थ इयमेव(अनन्तरा)भेदरहितावाभ्यन्तरगा(आधार शक्तिः) विश्वधारण शक्ति रपि कथ्यते द्वितीया परमेश्वरस्य या शक्तिः परा शब्देन शास्त्रेषु गीयते सापि (अत्यन्त निज प्रकाशा) स्वतश्च

द्रूपा नतु मतान्तरीयमायावज्जडा निजाशक्तितो वैलक्षण्यमाह(स्वसंवेद्या) स्वेन भास्या निजायान्तु स्वेनापि भास्यभासकभावोनासीत्, अत्र तु स्व भास्यतास्ति, अतएव (स्वानुभवैक गम्यमाना) अनेन स्वीकृत्य स्ववेद्यता मन्यवेद्यता निराकृता। नन्वस्तु वुद्धि तत्त्व मत आह (शास्त्रेत्यादि) शास्त्रलोक सकल विषयक वुद्धि वृत्तेः साक्षिणी (चिद्रूपिणी) नतु जड़रूपा वुद्धिवत्। सा पराशक्तिः कथ्यते (यद्वा सैव सहजेन) स्वभावतः अस्याः प्रेरको नास्ति किन्तु स्वतन्त्रतेति ध्वन्यते (निरुत्थान दशायां) प्रजानां प्रलयावस्थायां (स्वस्मिन्) स्वरूपे (उन्मीलिन्याम्) स्वस्यायां स्वस्याविर्भावे स्व स्व रूपमवलम्ब्यैव यदा स्वस्या आविर्भाव इ ते यावत (वर्तते) सम्पद्यते तदा विद्यमाना पराशक्तिरेव शिवो भवति। शेते जगदस्मिन्निति व्युत्पत्ति लभ्यार्थ भावः सम्पद्यते तदानीं नासीत् शिव शक्त्योर्भेद इति हृद्यम् ॥१॥

भा० टी०- जीव का शिव और शक्ति के साथ ज्ञानपूर्वक अभेद होना ही समरस रूप मोक्ष कहा जाता है। वही मोक्ष यहां लक्ष्य है, उस मोक्ष की प्राप्ति मुख्य साधन योग है। उस का पंचम उपदेश में वर्णन किया जायगा। शिव और शक्ति का समरस भाव (अभेद) हो सकता है या नहीं इस सन्देह को दूर करने के लिये इस चौथे उपदेश में पहले शक्ति के स्वरूप का निरूपण कर वाद में शिव शक्ति के समरस भाव का और भूत भौतिक सकल पिण्डों को आधार भूत शक्ति का वर्णन किया जाता है। सर्वश्रेष्ठ ज्ञान स्वरूप बुद्धि आदि के अनित्य प्रकाश से भिन्न नित्यप्रकाश रूप और सकल चराचर जगत की आधार भूत परमेश्वर की निजा शक्ति वेदादि शास्त्र और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है। वह शक्ति शरीरादि कार्य तथा उन के पांच सूक्ष्म कारण और जीव इन की जो अच्छी प्रकार से अभिव्यक्ति अवस्था है उस अवस्था रूप अङ्कुर के प्रकाश से सकल विश्व के कर्ता हिरण्य गर्भादि को भी उत्पन्न करती है इस लिये वह चिद्रूप शक्ति शिव की अत्यन्त अन्तरङ्ग है वही शक्ति भूत भौतिक प्रपञ्च की अपेक्षा आधार कहलाती है इसी से वह सब का उपादान कारण है। वह शक्ति केवल स्वप्रकाश स्वरूप है अतः निज अनुभव से ही जानने योग्य

और लोक तथा शास्त्र सम्बन्धी बुद्धि वृत्ति को देखने वाली जो चिद्रूप शक्ति है वही परमेश्वर आदिनाथ की पराशक्ति कही जाती है वही पराशक्ति जब प्रलय काल में स्वभाव से अपने शुद्ध रूप में विकसित होती है तब शिव रूप भी होजाती है। अर्थात् महाप्रलय में विलीन होकर समस्त जगत् जिस में शयन करता है उस को शिव कहते हैं वास्तव में उस समय शिव से शक्ति का किंचित् मात्र भी भेद नहीं रहता। १॥

मू०—अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्य निज भूमिका निगद्यते ॥२॥

सं० टी०—(अतएव) अस्मिन् समये शिव शक्त्यो र्भेदाभावादेवे यं पराशक्तिः (कुलाकुल स्वरूपा) सकल स्वरूपा (सामरस्य निज भूमिका) तुल्य रस स्वभावावस्था शिवो वा शक्ति रित्यादि विकल्पा नहेंति यावत् (निगद्यते) योगिभिः शास्त्रेषु प्रतिपाद्यते। एतत्प्राप्त्यै समरस करण युक्तिरग्रेऽभिधास्यते ॥२॥

भा० टी०—यह अर्थ महाप्रलय अवस्था को लेकर किया गया है। इसी तरह मोक्ष दशा में भी घटता है। नीचे देखिये—

पूर्वोक्त चिद्रूप शक्ति ही मोक्ष दशा में जब अपने स्वभाव से आत्म स्वरूप में अभिव्यक्त (प्रकट) होती है तब मुमुक्षु के लिये वही शक्ति कल्याण रूप होजाती है। इसीलिये वह परा शक्ति कुलाकुल रूप शिव शक्ति की अभेदावस्थारूप समरस की प्राप्ति के लिये उपाय आगे चलकर नाथ जी स्वयं कहेंगे। जो योगी उन उपायों का अच्छी तरह अनुष्ठान करता है वह भी इस समरस अवस्था को प्राप्त कर लेता है ॥२॥

मू०—कुलमिति परा सत्ताऽहंता स्फुरता कला स्वरूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ॥३॥

सं० टी०—पूर्वं परा शक्तेः कुलरूपता प्रदर्शिता तत्प्रकारं विवृणो-

तिकुलेत्यादि परा, सत्ता, अहंता,स्फुरता, कलेति पञ्चधाकुल रूपा शक्तिः सैव निखिलस्याश्रयः ॥३॥

भा० टी०—अब पूर्वोक्त कुलाकुल पद में से कुल पद का व्याख्यान करते हैं। कुल का अर्थ यह है परा सत्ता अहन्ता स्फुरता और कला इन पांच प्रकार के निज स्वरूप भेदों से कुल अवस्था को प्राप्त हुई वह शक्ति समस्त विश्व का आधार होकर रहती है। इसी लिये इस शक्ति को कुल अवस्था कहते हैं। ३ ॥

मू०-अतएव परा परा निराभासा वभासकान् (सूर्यादीन्, अवभासयति) प्रकाशस्वरूपा या सा परा॥४॥

सं० टी०—तत्र गूढार्थतया पंचसु प्रत्येकं स्वयमेव व्याख्यायते तत्र क्रम प्राप्तं परा पदार्थमाह अत एवेति यतः सा (निराभासा) अन्यैः सूर्यादिभि र्नभास्यते। सातु (अवभास कान्) लौकिक तेजोरूपान् सूर्य्यादीन् (अवभासयति) प्रकाशयति। अतःपरापरा सर्वतः श्रेष्ठा कथ्यते श्रुतिरप्याह न तत्र सूर्योभाति न चन्द्र, तारकं नेमा विद्युतो भांति कुतोयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्यभासा सर्वमिदं विभाति ॥४॥

भा० टी०—अब कुलपदार्थ अवयव भूत सत्ता परा आदि पाँच पदार्थों में से परापद के अर्थ का वर्णन करते हैं जिस कारण वह शक्ति पांच प्रकार से समस्त विश्व का आधार है। इसी से वह शक्ति परापर रूप है अर्थात् सकल वस्तुओं में विद्यमान है और वह शक्ति चेतन प्रकाश स्वरूप है। अतः सूर्यादि जड़ प्रकाश उसको प्रकाशित नहीं कर सकते। किन्तु वही शक्ति सूर्यादि विकाश करने वाली वस्तुओं को भी प्रकाशित करती हैं। अतः जो सत्ता द्वारा सबको प्रकाश करने वाली शक्ति है वही परा कहलाती है।

मू०-अनादि संसिद्धं परमाद्वैत परमेक मेवास्ती ति याऽङ्गीकारं करोति सा सत्ता ॥५॥

सं० टी०—सत्ताया लक्षणमाह (अनादीति) सजातीयविजा-

तीय स्वगत भेद रहितः स्व प्रकाशोऽस्तीति प्रतीयमानतैव सत्ता । अत्रेदं बोध्यमनादि पदेन ध्वंसाभावः । संसिद्धपदेन स्वप्रकाशः । परमाद्वैतपदेन विजातीयभेदशून्यम्, एकपदेन सजातीयत्वनिरासः । एवेत्यनेन स्वगतभेदराहित्यं च सूचितमिति ॥५॥

भा०टी०—नाश रहित अनादि स्वरूप और स्वतः प्रकाश स्वभाव तथा परम अद्वैत अखण्ड स्वरूप एकशिव ही सर्वत्र व्यापक है। इस प्रकार अस्तित्व को स्वीकार करने वाली शक्ति सत्ता कहलाती है। ५ ॥

मू०—अनादिनिधनोऽप्रमेयः स्वभावकिरणानन्दोऽहम स्मीत्यहं सूचन शीला या सा पराऽहंता ॥६॥

सं० टी०—परस्या अहंताया लक्षणं प्रदर्श्यते । अनादीति । आदि निधन विधुरः (अप्रमेयेति) परिच्छेद रहितः (स्वभाव किरणेति) स्वप्रकाशः, तादृश "आनन्दरूपोऽहमस्मि" इत्याकारक प्रतीति र्या सा सर्वोत्कृष्टा ऽहंता ॥६॥

भा० टी०—अब अहन्ता रूप कुल अवस्था का वर्णन करते हैं। आदि अन्त से रहित और इन्द्रिय आदि प्रत्यक्ष से अगम्यस्वभाव प्रकाश स्वरूप आनन्द मैं हूँ। अर्थात् मेरे में और कूटस्थ चित् असङ्ग आदिनाथ में कुछ भी भेद नहीं। इस प्रकार शिव शक्ति तथा आत्मा परमात्मा आदि के अभेद की प्रकाशक जो शक्ति है वही शक्ति परमअहन्ता कहलाती है। इसी का नाम पराविद्या भी है। ६ ॥

मू०—स्वानुभवचिच्चमत्कारनिरुत्थानदशां प्रस्फुटी करोति या सा स्फुरता ॥७॥

सं० टी०—स्फुरताया लक्षणं निरुच्यते स्वानुभवचिच्चमत्कार स्वरूपमात्र विषयस्य स्वकार्य चिद्रूपज्ञान विलासस्य या निरुत्थानावस्था भेदावभास रहितदशा सा ययाऽनुभूयते सा स्फुरता ॥७॥

भा० टी०—मन वाणी से अगम्य अपने अनुभव से जानने योग्य जो आत्म अनुभव है उस अनुभव के अद्भुत चैतन्य चमत्कार

की निरुत्थान दशा को अर्थात् द्वैत अवभास से रहित मुक्ति अवस्था को जो शक्ति स्पष्ट रीति से अभिव्यक्त करती है उसी को स्फुरता नाम की चौथी कुल अवस्था शक्ति कहते हैं। ७ ॥

मू०—नित्यशुद्धबुद्धस्वरूप स्वयंप्रकाशत्वमाकलयतीति या सा पराकलेत्युच्यते ॥८॥

सं० टी०—कलाया व्युत्पत्ति रुपदिश्यते यथा नित्यशुद्धबुद्ध स्वरूपं निखिल भेद रहितं मुक्तरूपमतः स्वयं प्रकाशत्व मन्यानवभास्य प्रकाशरूपमाकलयते संख्यायते सा परा कला कथ्यते ॥८॥

भा० टी०—आत्मा नित्य शुद्ध व्यापक सदा स्वयं प्रकाशमान और अखण्ड रूप उस आत्मा के स्वाभाविक व्यापक रूप को जो शक्ति बोध रूप से प्रकाशित करे वही अवस्था रूप कुल पराकला कहलाती है ॥८॥

मू०—अकुलमिति जातिवर्णगोत्राद्यखिल निमित्तत्वेनैकमेवास्तीतिप्रसिद्धंतथाचोक्तमुमामहेश्वर सम्वादेनिरुत्तरेऽनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनन्यत्वान्निर्धर्मत्वादनामत्वादकुलस्यनिरुत्तरमिति ॥९॥

सं० टी०-पूर्वोक्तमकुलपदं व्याख्यायते यतोऽस्यामवस्थायां मनुष्यत्व ब्राह्मणत्वादि जाति शुक्लादि वर्ण कुलादि सकल प्राकृत व्यवहार कारण विरहतयैक तत्त्वस्यैव भानं भवत्यतस्तत्राकुलत्वम् अत्रैव महेश्वर सम्वादस्यापि प्रामाण्यमुपदर्श्यते-(अनन्यत्वात्) प्रतियोगितयाऽनुयोगितया च भेद शून्यत्वादन्य पद व्यवहार एव नास्ति। अतएव (अखण्डत्वात्) अन्यत्र व्यावृत्तये स्वयं पद व्यवहार्यता रूपखण्डाभावात्। (अद्वयत्वात्) विजातीयाभावादत एव (अनन्याश्रयत्वात्) विजातीयनिष्ठाधेयतानिरूपिताधिकरणत्वाभावात् (निर्धर्मत्वात्) विजातीय निष्ठाधारता निरूपिताधेयत्वाभावात्। पूर्वेणाधिकरणताया अनेनाधेयतायाश्च निषेध इति निष्कर्षः। जाति गुणक्रिया सम्बन्धान्य तममादायैव शब्दः प्रयुज्यते लोके ऽत्र कस्यचनाभावान् नास्ति किञ्च

त्पद व्यवहार्यता तदेवोक्तम् अनामत्वादिति इदमेव सर्व विश्वद्वैत नि. श्चनम् अकुल पदार्थस्य निरुक्तम् निर्वचनम् ॥९॥

भा० टी०—कुलपदार्थ का वर्णन कर अब अकुलपद के अर्थ का निरूपण करते हैं। अकुल का अर्थ गोत्रादि जाति नील पीतादि वर्ण और कश्यपादि वंश इत्यादि सकल व्यवहार का मुख्य कारण शक्ति है। अतः महा प्रलय में समस्त भूत भौतिक को अपने में संहार कर कूटस्थ असङ्ग शिव से मिली हुई तथा निजा आदि नाम से प्रसिद्ध केवल वह शक्ति ही शेष रहती है यह बात वेदादि शास्त्रों में और सिद्धों के सिद्धान्त में प्रसिद्ध है यही सिद्धान्त उमा महेश्वर के संवाद रूप निरुत्तर ग्रन्थ में भी कहा है। सकल भेद रहित होने से वह शक्ति अखण्ड रूप से व्यापक है। अतः वह अद्वितीय कहलाती है और उसका अन्य कोई आश्रय नहीं है तथा उस में भी उस समय अन्य किसी की आश्रयता का व्यवहार नहीं होता है। वह स्व प्रतिष्ठित और नाम रूप से रहित है अर्थात् जाति गुण क्रिया इन का सम्बन्ध न रहने से उस समय उस में किसी भी शब्द के व्यवहार की योग्यता नहीं रहती! अतः वह अकुल पद से कही जाती है॥९॥

मू०—एवं कुलाकुल रूपासामरस्य प्रकाश भूमिका स्फुटी करण एकैव मर्थायासा ऽपरंपराशक्तिरेवावशिष्यते अपरंपरं निखिलविश्व प्रपञ्चजालं परतत्त्वं सम्पादयत्ये-कीकरोतीत्यपराशक्तिराज्ञावती प्रसिद्धा ॥१०॥

सं० टी०—तद्दशायां प्राकृत यावद् व्यवहार विलोपेऽपि (अपरं परा शक्ति रव शिष्यते) एकैव सावतिष्ठते। तत्र प्रमाणं कि-मिति शंकांदूरीकरोति कुलाकुलेत्यादि कुलाकुलयोः सामरस्यस्य भूमिका या स्फुटी करण मेकमेवार्थः प्रयोजनं यस्याः सा, एनां विना निजनिर-तिशयानन्दानुभवाभावः प्रसज्येत अर्थात् तद्बलेनैव न कुलं ना कुलम् नोभयमपि चेति विलक्षणस्यानुभवस्यावस्था समुद्घाट्यते किञ्च तत्र समस्त विरञ्चि प्रपञ्च पाशं परतत्त्व रूपमेव सम्पद्यते। या, अपरं कुलं

परमकुलमुभे एकं करोत्यतः सा ऽपरंपरा शक्ति व्यवह्रियते। इयमेवा ज्ञावती नाम्ना प्रसिद्धास्ति ॥१०॥

भा० टी०—पूर्वोक्त क्रम से कुलाकुल रूप वह शक्ति समरस रूप अभेद के प्रकाश की भूमी के स्फुट करने में पांच प्रकार के कुल अवस्था भेद से तथा सर्वधर्म रहित अखण्डादि रूप अकुलावस्थाभेद से तत्पर रहती है। अतः स्थिति संहार और मोक्ष के देने में समर्थ मुख्य शक्ति ही है। वही शक्ति अपरंपरा निजा आदि नाम से प्रसिद्ध सकल कार्य प्रपञ्च के आधार रूप से महा प्रलय में अवशिष्ट रहती है। अब अपरंपरा पदार्थ का निरूपण करते हैं। भूत भौतिक स्थावर जंगम सकल विश्व प्रपञ्च को परमेश्वर रूप परम तत्त्व में संपादन करती हुई जो शक्ति एक करदेती है इसी से उस शक्ति का अपरंपरा नाम हुआ और वह सर्वेश्वर परम नाथ की आज्ञावती नाम से भी प्रसिद्ध है ॥१०॥

मू०—अकुलं कुलमाधत्ते कुलञ्चाकुलमिच्छति
जलबुद्बुदवन्न्याया देकाकारः परः शिवः ॥११॥

सं० टी०——अकुल मद्वैतावस्था सृष्टिकाले ऽकुलं द्वैतत्वमा धत्ते सम्पादयति एवमेव कुलंच प्रलय अकुले करोति। अयमभि सन्धिः, कुलेद्वैतमेवानुभूयतं अकुले चाद्वैतमेवातो न केवलं सदा कुलं ना कुलञ्च, किन्तु कार्य दर्शनेन द्वयमपि संघटते। अतः समरसो जातः। अत्रैव दृष्टान्तमाह जल बुद्बुदवत यथा कदाचिद् बुद्बुदमेव मन्यते कदाचिच्चजल मेव यदा च तत्त्वतो जल मेव मन्यमानो बुद्बुद मपि प्रातीतिकं मन्यते तदा उभयोः समरसो जात एतादृश एकाकारः शक्त्य भिन्नः शिवः पायात् रक्षतु नः ॥११॥

भा० टी०—शिव से अभिन्न शक्ति ही महाप्रलय में अकुला वस्था युक्त कहलाती है। क्यों कि उस समय नाम रूप से विस्तृत चराचर समस्त जगतका उपसंहार कर परमतत्त्वशिव में स्वयंमिल जाती है। अतः वह अकुल कहलाती है और जब सृष्टि का समय आता है तब वही निजा शक्ति प्राणियों के कर्मों के साथ मिल कर परा अपरा

सूक्ष्मादि भेद से कुल रूप व्यक्त अवस्था को धारण करती हुई सकल विश्व को रचती है तब वह कुल कहलाती है और फिर प्रलय में अकुलावस्था युक्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि न वह द्वैत रूप कुल है और न अद्वैत रूप अकुल है जैसे जलका स्वकार्य की अपेक्षा से फेन तरंग बुलबुला आदि नाम होता है और जल भी कहलाता है परन्तु तत्त्व की दृष्टि से तो वह केवल जल ही है। इसी प्रकार द्वैत और अद्वैत से रहित सर्वाधिष्ठान पर अद्वैत रूप एक शिव ही सच्चा है। इस यथार्थ अभेद को ही समरस कहते हैं ॥११॥

मू०—अतएवैकाकारोनन्तशक्तिमान् निजानन्दतयावस्थितोऽपिनानाकारत्वेनविलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेवभजतीति व्यवहारः। अलुप्तशक्तिमान्नित्यंसर्वाकारतयास्फुरन्पुनःस्वेनैवरूपेण एकएवावशिष्यते ॥१२॥

सं० टी०—अतएवद्वैताद्वैतोभयस्य समरसत्वादेव (एकाकारः) तत्त्वत एक एव (अनन्त शक्तिमान्) तादात्म्य सम्बन्धेन शक्ति विशिष्टः (निजानन्दतया) परिपूर्णाखण्डानन्दरूपेण (अवस्थितोऽपि) विद्यमानः सन्नपि (नानाकारत्वेन) मायिकदृष्ट्याघटपटाद्यनन्त भेदेन (विलसन्) विभ्राजमानः (स्वप्रतिष्ठां) स्वाश्रयतां (स्वयमेव भजति) प्राप्नोति, अयं भावो यथेयं पृथिवी व्यवहारेऽस्मदादि पार्थिव शरीराणामाधारः। तदपि प्रायेण पृथिवी पृथिव्या आश्रय, इतिव्यवहारो नानुपपन्न स्तत्वतस्त्वभेदे आधाराधेय भाव विरहान् नार्हस्तद् व्यवहार स्तथैव शिव शक्त्योर्भेदं परिकल्प्य, अभिन्नयापि शक्त्या ऽऽधाराधेय भावोपि व्यवहरणीयः तत्वतस्तु सोपि न। एक एव शिवो वा शक्ति-र्वेति सिद्धान्तः। (अलुप्तशक्तिमान्) शक्ति रहितः,कदापि न भवतीति राद्धान्तः शक्तेर्नित्यत्वात् न कर्मधारयान्मत्वर्थीय इति न्यायस्य लाघव मूलकत्वेन कचित्तदनादरस्यापि दर्शनम्, यथा व्याकरण भाष्ये ऽसुब्वतः गीतायामनादि मत्परंब्रह्म त्यादि बहवःप्रयोगा उपलभ्यन्ते (सर्वाकारतया स्फुरन्) सृष्टिदशायां उच्चावच विश्वरूपेण भासमानः (स्वेनैव रूपेणैक एवावशिष्यते) चिद्रूपतस्तु एक एवावशिष्टो विद्यते ॥१२॥

भा० टी०—अतः पूर्वोक्त अभेद रूप समरस की रीति से सबका अधिष्ठान अद्वितीय ब्रह्म ही व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान है और वही तादात्म्य सम्बन्ध के द्वारा स्वशक्ति से नित्य सम्बद्ध होकर अनन्त शक्तिमान कहलाता है। इसीलिये वह परमेश्वर देव दानव मनुष्य स्थावर जंगम जड चेतन आदि नाना आकार से व्यवहार दृष्टि द्वारा भासमान होने पर भी वास्तव में वह ब्रह्म स्वयं ही स्व स्वरूप प्रतिष्ठा में सदा स्थित रहता है उस का कोई आश्रय नहीं किन्तु वही सब का आधार है। तात्पर्य यह है कि जैसे शरीर और घटादि का पृथ्वी तथा फेन तरङ्गादि का जल कारण है इसीसे स्वकार्य शरीरघटादि और फेन तरङ्गादि का पृथ्वी तथा जल व्यवहारदृष्टिसे आधार कहलाते हैं। परन्तु तात्विक विचारसे तो कार्य और कारण अभेद होनेसे आश्रय आश्रयी भावभी नहीं है इसी प्रकार भेद दृष्टिसे वह शिवशक्तिका आधार भले ही भासमान हो यथार्थ में तो आधार आधेय भाव भी नहीं होसकता। क्यों कि शिव और शक्तिका नित्य तादात्म्य सम्बन्ध है जिस की शक्ति कदापि कम न हो वही परमेश्वर नित्य सर्वशक्तिमान है। अतः जड चेतन स्थावर जङ्गमादि समस्त संसार रूप से भी वह समुद्र के फेन तरंगादि के समान व्यावहारिक प्रपञ्चावस्था से भासमान हो रहा है। फिर अन्त में वही परमेश्वर निज व्यापक चिदखण्ड स्वरूप से एक ही अवशेष रहता है ॥१२॥

मू०—अतएवपरमकारणंपरमेश्वरःपरात्परःशिवः स्व स्वरूपतयासर्वतोमुखःसर्वाकारतयास्फुरितुंशक्तो-तीत्यतः शक्तिमान्, शिवोऽपिशक्तिरहितःशक्तःकर्त्तुं न किञ्चन । स्वशक्त्यासहितःसोऽपिसर्वस्याभासको भवेत् ॥१३॥

सं० टी०—(अतएव) सर्व शक्तिमत्वादेव (परम कारणम्) सर्वेषां सूक्ष्म स्थूल पदार्थानां निदान भूतः (परमेश्वरः) आदिनाथः (परात्परः शिवः) अस्मदादितः परः श्रेष्ठो हिरण्यगर्भादिदेव स्वतोऽपि

परःश्रेष्ठः शिवः कल्याणरूपो निखिल दुःखोच्छेद हेतुत्वात् (स्वस्वरूप-) चैतन्य रूपेण (सर्वतोमुखः, व्यापकः (सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोति) रुद्र विष्ण्वादि निखिलरूपेणावतरितुमर्हः । अतएव शक्तिसहितो यमिति सिद्धमति शक्ति रहिते विविध रूपत्वस्यस्वप्नेप्यसम्भवात् । यदि शिवः शक्ति रहितो भवेत शक्तिवाचकस्यैकारस्य निःसारणे शवोभवति । तदा (किञ्चन) किञ्चिदपि कार्यम् (कर्त्तुं नशक्तः) विधातुं नक्षमः स एव शक्ति सहितः (सर्वस्य) विश्वस्य (अवभासकः) निर्माता ज्ञापकश्च भवेदितिव्यतिरेकान्वयाभ्यां शक्ति सहितस्यैव निदानत्वेनोपादेयता ॥१४॥

भा० टी०—सर्व शक्ति सम्पन्न होने से ही वह आदिनाथ परमेश्वर स्थूल सूक्ष्म सकल भूत भौतिक पदार्थों का परम आदि कारण है । इतना ही नहीं किन्तु सर्वजीवों से श्रेष्ठ परहिरण्यगर्भादि से भी परम श्रेष्ठ और कल्याण स्वरूपहै । क्योंकि वह अपने भक्तों के स्मरण मात्र से ही उनके समस्त दुःखों का समूलोच्छेद कर भोग और मोक्ष देता है और वही शिव अपने चैतन्य स्वरूप से सर्वान्तर्यामी व्यापक है । अतः भूत भौतिक जड़चेतनादि सब आकार धारण करने में समर्थ है । इसीसे वह शिव शक्तिमान् कहलाता है । इस सन्दर्भ से यही भाव निकलता है कि शक्तियुक्त ही महेश्वर सब काम करने में समर्थ है । अकेला नहीं । शक्ति रहित महेश्वर भी कुछ नहीं कर सकता अतः वह शिव भी निज शक्ति सम्पन्न ही समस्त संसार का साक्षी कहलाता है ॥१३॥

मू०—अतएवानन्तशक्तिमानपरमेश्वरःसविश्वरूपी विश्वमयोभवतीति प्रसिद्धं सिद्धानांपरापरस्वरूपा कुण्डलिनी वर्तते । अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धाः साकुण्डलिनीप्रबुद्धाप्रबुद्धाचेति द्विधा । अप्रबुद्धेति तत्रपिण्डचेतनरूपा स्वभावेननानाविन्ताव्यापारोद्यम प्रपञ्चरूपाकुटिलस्वभावाकुण्डलिनोख्यातासैवयोगिनां

तत्तद्विलसितविकाराणांनिवारणोद्यमस्वरूपाकुण्डलि-न्यूर्ध्वगामिनी प्रसिद्धा भवति ॥१४॥

सं० टी०—परापरशक्तिः समष्टितया प्रधानं तस्यामेव सकल कार्य कारिण्योऽवान्तर शक्तयो वर्तन्ते। (अतएव) परंपराशक्ति मत्वादेव (परमेश्वरोऽनन्तशक्तिमान्) कथ्यते लौकिक वैदिकेषु किञ्च स एव (विश्वरूपी) सकलरूपधारणपटुः (विश्वमयः) संसार रूपोभवतीति प्रख्यातम्। सैव परम्पराशक्तिः कुण्डलिनी भूत्वा योगिनांदेहे वर्तते (अतः, कुण्डलिनी बलादेव (पिण्डसिद्धाः) कायसिद्धाः (प्रसिद्धाः) प्रख्याताः, कायसिद्धिर्नाम स्थूल शरीरस्यांस्य सदा स्थितिः कदापिनाशो न भवतीति। एतत्प्रक्रिया समरस प्रकरणे वक्ष्यते। ननु कुण्डलिनी प्राणिमात्रदेहेषु वर्तते तत् कुतो योगिनामित्युक्तमत आह सा कुण्डलिनी प्रबुद्धाऽप्रबुद्धेति भेदेन द्विविधा वर्तते। तत्राप्रबुद्धाया सर्वत्र सद्भावेऽपि कायसिद्धिहेतुभूता या प्रबुद्धा सा तु योगिनामें वेत्यत उक्तं योगिनामिति।

सकल साधारणतया प्रथममप्रबुद्धावस्थतेऽप्रबुद्धेतिनाम्ना व्यवह्रियमाणा (तत्र पिण्डेषु) सकलप्राणिनिकरेषु चेतनरूपा (स्वभावेन) परमार्थतो नानाचिन्ता चिन्तातीताऽप्यौपाधिकचिन्तावती (व्यापारोद्यम) प्रपञ्चरूपा निखिल प्राकृत चेष्टा सम्पादिका ऽतएव (कुटिल स्वभावा) तिर्यग्रूपा मूलाधारस्थलिङ्गात्मक मांसखण्डे सार्ध त्रिवलयात्मिका एषाधोमुखी कुण्डलिनी सर्वत्र ख्याता वर्तते। सैव प्रबुद्धा सती योगिनां विग्रहेषु (तत्तद्विलसित विकाराणाम्) प्राकृत नियमेन निखिलरोगाद्युपद्रवाणां (निवारणोद्यम स्वरूपा) विनाशाय व्यापारवती (ऊर्ध्वगामिनी) मूलाधारादूर्ध्वं ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्तं संचरण शीला कुण्डलिनी भवतीति प्रसिद्धा ॥१४॥

भा० टी० सकल विश्व का प्रकाशक होनेसे ही सर्वशक्तियुक्त वह सर्वेश्वर अनन्त शक्ति सम्पन्न कहा जाता है। और अपने शक्ति बल से ही निजभक्तों पर कृपा करने के लिये अनेक रूप धारण करने में समर्थ है या सर्व विश्व का अधिष्टान भूत आधार होने से विश्व

व्यापी कहलाता है। इस लिये सकल विश्व रूप भी वही है। अर्थात् उस चेतन से जगत् की सत्ता पृथक नहीं है अपितु वही अन्तर्यामी सब जगह संसार रूप होजाता है। यह सिद्धान्त वेदादि शास्त्र और सिद्धों में भी प्रसिद्ध है। ईश्वर स्वशक्ति सम्पन्न है। अतः त्रिकाल दर्शी और सबकार्य करने में समर्थ भले ही रहे कार्यसिद्ध योगी समर्थ क्यों कहलाते हैं उन के पास तो ईश्वर जैसी शक्ति नहीं हैं, जिससे कि वे भी ईश्वर की तरह सत्य संकल्प हों? इस शंका का समाधान यह है कि परापर स्वरूपा शब्द और अर्थ सृष्टि के उत्पादन में समर्थ चित अचित् रूप कुण्डलिनी सिद्धों के भी इस देह पिण्ड में विद्यमान है। यद्यपि वह सर्वत्र व्यापक है तथापि देह में विशेष रूप से उसकी अभिव्यक्ति होती है। अतः इस देह में ही कुण्डलिनी के उत्थान व ध्यानादि से काया में सिद्ध हुये सकल शक्ति सम्पन्न अनेक सिद्ध प्रसिद्ध हैं वह कुण्डलिनी प्रवुद्ध और अप्रबुद्ध भेद से दो प्रकार की है। अब मूलाधार में रहने वाली अप्रवुद्ध कुण्डलिनी के कार्य को बतलाते हैं। यद्यपि इस देह पिण्ड में वर्तमान कुण्डलिनी स्वभाव से चेतन स्वरूप है तथापि जब तक वह जगाई नही जाती तब तक संसारी पुरुषों के लिये नाना प्रकार की शोक मोहादि चिन्ता और व्यापार आदि का संपादन करती हुई सकल जगत प्रपंच रूप से भी वही बन्धन का हेतु होती है। अतः अविवेकियों को जन्म मरण रूप विपरीत फल देने से विपरीत स्वभाव कुण्डलिनी कहलाती है। अथवा जबतक मूलाधर में टेढ़ीगति और अधोमुखी होकर रहती है तब तक वही जन्म मरण रूप फल देती है। और इस शरीर में जगी हुई वही कुण्डलिनी जब अच्छी तरह सहस्रदल तक संचार करती है तब योगियों के समस्त जन्म मरण दुःख रूप फलों के देने वाले कर्म और मनों के विकारों को दूर करने में समर्थ होती है। यह बात सिद्धों में प्रसिद्ध है ॥१४॥

मू०—ऊर्ध्वमिति सर्वतस्त्वान्यपि स्वस्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते। अत एव सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्व स्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥१५॥

सं० टी०—क ऊर्ध्वपदार्थः कथंच तद्गामित्वं कुण्डलिन्या इति विव्रियते, ऊर्ध्वमिति स्वपरिणामभूतानि सकलान्याकाशादि तत्त्वानि तानिसर्वाणि (स्वस्वरूपमेव) स्वाभिन्नानि स्वकीय विकृति रूपत्वात् । अयमाशयः कारणभूता कुण्डलिनी कार्यरूपाणि च तत्त्वानि कारणं विना कार्यं नावतिष्ठते । अतः कार्यो परिगमन शीलता कारणस्येति कार्यस्य चोर्द्रक वस्थातः पूर्वस्योर्ध्वत्वं परिकल्प्य तस्या ऊर्ध्वगामिनीत्युक्तम् तेन सर्वं प्रति निदानता सूचिता भवतीति । अत एव तस्याः सर्वस्वरूपत्वादेव सर्वः सह तादात्म्य वेदनेनविमर्शरूपिणी क्वचिद् व्यवह्रियते । एतद्बलादेवयोगिनः स्वस्वरूपम् । अवगच्छन्ति जानन्तीत्यर्थः ॥१५॥

भा० टी०—यहाँ 'ऊर्ध्व, पदका भाव यह है कि समस्त आकाशादि भूत भौतिक पदार्थ कुण्डलिनी शक्ति से उत्पन्न होते हैं । अतः कार्यो की कारणों से भिन्न सत्ता नहीं, जैसे मिट्टीका कार्य घटादि मिट्टी स्वरूप ही है । इसी तरह सकल प्रपञ्च भी कुण्डलिनी स्वरूप है । इसी से कुण्डलिनी देवी सर्वकार्यों से ऊपर विराजमान है । अतः इसको विमर्शरूप विद्या भी कहते हैं । क्योंकि योगियों के शरीर में जागृत हुई यह कुण्डलिनी उनके शुद्ध व्यापक आत्माके स्वरूप का भी भलो प्रकार ज्ञान करादेती है यह बात सिद्ध योगियों में प्रसिद्ध है ॥१५॥

मू०—मध्यशक्तिप्रबोधेन, अधःशक्तिनिकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥१६॥

सं० टी०- मध्य शक्ति नाभिदेशस्थ कुण्डलिनी, तस्याः प्रबोधेनजागरणेन, अधः शक्तिमूलाधारस्थ कुण्डलिनी, तस्या निकुंचनादुत्थापनात् । ऊर्ध्वशक्तिः-सहस्रारस्थशिवशक्तिः, तस्यां निपातेन संयोजनेन परमंपदं मोक्षपदं प्राप्यते लभ्यत इत्यर्थः । अथवा मध्यशक्तिः ज्ञानस्वरूपा कुण्डलिनी तस्याः 'प्रबोधेन' जागरणेन अधः शक्तिनिकुञ्चनात् अधः शक्ते विषयाभिमुखबुद्धि शक्ते निकुञ्चनात् संकोचनादूर्ध्व शक्ति निपातनेन ऊर्ध्व शक्तेः अहमेव सर्वम् नान्यन्मत्तः किञ्चिदिति विमर्श शक्तेः निपातनेन सम्बन्धेन परंपदं, मोक्षपदं

प्राप्यते लब्धमेवाविद्यापिधानापनयनेन लभ्यत इत्युपचारः । ॥१६॥

भा० टी०—मणिपूर चक्र में स्थित मध्य शक्ति कुण्डलिनी के जगाने से तथा मूलाधारस्थ नीचे की शक्ति के आकर्षण से और ऊपर की शक्ति का पात करने से परपद की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिङ्ग से दो अंगुल नीचे चार अंगुल चौड़ा चतुर्दल आधार पद्म है। उस आधार कमल के बीच कर्णिका में सुशोभित त्रिकोणाकार योनि है इसी को काम पीठ भी कहते हैं। इसी योनिमण्डल के मध्य पश्चिममुख महाशिव लिङ्ग है। उस शिवलिङ्ग को साढ़ेतीन चक्र से लपेटकर नीचे को मुंह किये हुये बिजली की प्रभा के समान चमकती हुई सुषुम्णा के रास्ते को रोके हुए महाकुण्डलिनी देवी बिराजमान है। उसका अपानवायु के निकुञ्चन तथा ध्यान से उत्थान किया जाता है अर्थात् वह सुषुम्णाद्वार को छोड़ देती है। तथा नाभिचक्र में आठवार लपेट खाए हुए मध्य कुण्डलिनी विराजमान है। इसका उत्थान जालन्धर उड्डियान मूलबन्ध और हठयोग की क्रियाओं से किया जाता है और प्राण शक्ति को अपान के साथ मिला देना ऊर्ध्वशक्ति पात कहलाता है, या जगी हुई कुण्ड-लिनी को सहस्रदल में पहुँचा देना ऊर्ध्वशक्तिपात कहा जाता है। अर्थात् प्राण अपान की एकता पूर्वक तीनों बन्धों के अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाने से कुण्डलिनी देवी सुषुम्णा में प्रवेशकर ऊपर को जाते समय अपूर्व भावना को प्रकट करती हुई क्रम से ब्रह्म, विष्णु, और रुद्र ग्रन्थियों को भेदन कर सब चक्र कमलों को विकाशकर देती है। और जब वह ग्रीवा से ऊपर सहस्रदल में पहुँचती है तब प्राण इन्द्रियाँ और मन का व्यापार भी रुक जाता है और शून्य समाधि हो जाती है उस जगह काल की भी गति नहीं है उसी परम पद को मोक्ष कहते हैं।

मू०—एकैवसामध्योर्ध्वाधःप्रभेदेनत्रिधाभिन्ना शक्तिरभिधीयते ॥१७॥

सं० टी०—वस्तुत एकैव सा कुण्डलिनी मध्योर्ध्वाधो देशानां

भेदात् । (त्रिधा) त्रिप्रकारा (भिन्ना) पृथक् (अभिधीयते) कथ्यते ॥१७॥

भा० टी०—यद्यपि वह कुण्डलिनी शक्तिएक ही है तथापि स्थान और सूक्ष्म स्थूल भेद से तीन प्रकार की कहलाती है, अर्थात् मूलाधारस्थ कुण्डलिनी सूक्ष्म अबोध रूप और सबका कारण कही जाती है तथा नाभिस्थ मध्यमा कुण्डलिनी बोधरूप कहलाती है फिर वही शक्ति जब ऊपर को गमन करती है तब बोध जनक कल्याण कारिणी ऊर्ध्व सृष्टि कही जाती है इस प्रकार एक ही शक्ति मध्य ऊर्ध्व और अधोभेद से भिन्न २ कही जाती है । ॥१७॥

मू०-बाह्येन्द्रियव्यापारनानाचिन्तामया सैवाधः शक्तिरित्युच्यते । अतएव योगिनस्तस्या आकुञ्चनेरता यस्या आकुञ्चनं मूलाधारबन्धनात्सिद्धंस्यात् ॥१८॥

सं० टी०—काधः शक्तिरिति स्वयमेव व्याख्यायते । वाह्येति या वाह्येन्द्रिय व्यापारकृत सांसारिक विषयचिन्तनपरा सा एवाधः शक्तिरितिकथ्यते (अतएव) सांसारिकत्वादेव योगिनः (तस्याः) अधः शक्तेः (आकुञ्चने) संकोचने (रताः) तत्परा भवेयुरितिक्रियाध्याहारः कस्माद्देशाद्रा कुञ्चनं विधेयमित्युपदिश्यते (अस्याइति) (अस्याः) अधः शक्तेः (आकुञ्चनम्) संकोचनं (मूलाधारात) मूलाधारदेशात इति पूर्ववर्णितम् ॥ ततएव (सिद्धम्) सम्पन्नस्यात् भवेत । अयम्भावो हठ प्रक्रियायापानवायोरधोदेशादूर्ध्व आकर्षणं प्राणवायोश्चाधो नियमनं खेचरी जालन्धर महाबन्धादिद्वारा कर्तव्यम् तेन मध्यशक्तेः कुण्डलिन्याः प्रबोधोभवति ततश्च ससारोच्छित्तिः परमानन्द प्राप्तिश्च करतले तिष्ठति ॥१८॥

भा० टी०—अब अधः शक्ति का निरूपण करते हैं; बाहर की इन्द्रियों के व्यापार से जो अनेक चिन्ताएँ होती है उनका कारण अधः शक्ति कही जाती है । अर्थात् जब तक उसके यथार्थ स्वरूप को न जानकर योगाभ्यास द्वारा उत्थान न किया जाय तब तक वह संसार के बन्धनो में फँसाये रहती है और नीचे गिरादेती है । अतः यथानाम

तथा गुण के अनुसार अधः शक्ति इसका नाम सार्थक हुआ और जब योग क्रिया द्वारा उसका उत्थान किया जाता है तब वही चेतन ब्रह्म स्वरूप वाली मोक्ष देने में समर्थ होजाती है। इसलिये सिद्ध योगिजन उस मूलाधारस्थ शक्ति के आकुञ्चन में तत्पर रहते हैं और इसका आकुञ्चन मूलाधार आदि के बन्धन से सिद्ध होता है। ॥१८॥

मू०—यस्माच्चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति तदेवमूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम्।

सं० टी० —(यस्माच्चराचरं जगदिदं) निखिल स्थावरजंगमात्मक संसारोऽयम् (चिदचिदात्मकम्) जड चेतनरूपं यस्माच् शक्तितत्त्वात् (भवति) उत्पद्यते तदेव शक्तितत्त्वं (मूलाधार संवित् प्रसरम्) ज्ञान प्रसारभूमिः (प्रसिद्धम्) सिद्धेषु शास्त्रेषु च ॥१९॥

भा० टी०—अब पूर्वोक्त मूलाधार पद के अर्थ का निरूपण करते हैं। जिससे पहले पहल भूत भौतिक स्थावर जंगम, जड़, चेतन रूप समस्त जगत का प्रादुर्भाव होता है वही परम कारण मूलाधार नाम से कहा जाता है। यह वर्णन व्यष्टि समष्टि के अभेद को लेकर किया है। मूलाधार कामपीठ के ध्यान और उसी के प्रसरण तथा संकोच पूर्वक कुण्डलिनी उत्थान से ज्ञानकी वृद्धि होती है और त्रिकालदर्शी बन जाता है। तथा जगत की रचना, स्थिति और संहार की सामर्थ्य होती है। यह बात योगशास्त्र में सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥१९॥

मू०—सर्वशक्तिप्रसरसंकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्चभवत्येवनसन्देहस्तस्मात्सामूलमित्युच्यते। अतः प्रायेण सर्वेसिद्धा मूलाधाररताभवन्ति ॥२०॥

सं० टी०—(सर्वशक्त्यां) समष्टिरूपायां (मूलशक्तौ) शक्ति संकोचाभ्याम् शक्तिपदेनोपचारात् तदीय व्यापाररूपविकाश उच्यते तथा च विकाश संकोचाभ्यामुन्मेषनिमेषाभ्यामिति यावत् (जगत्सृष्टिः) जगतः संसारस्य सृष्टिरुत्पत्तिः (संहृतिः) प्रलयश्च भवत्येव न सन्देहः कर्तव्यः। तस्मात् सर्वोपादानक्षमत्वात् सा शक्ति

मूलमित्युच्यते श्रुति स्मृतिषु (अतः) मूलाधारत्वादेव (सर्वसिद्धाः) सकलयोगिनः (मूलाधाररताः) मूलाधारस्थशक्तिप्रबोधनेतत्परा भवन्ति ॥२०॥

भा० टी०—जिस मूलशक्ति के बल से ईश्वर जगत् की रचना आदि का कर्ता है वही शक्ति योगियों के मूलाधार में है। उस मूलाधार शक्ति के ध्यानादि से जब वह योगी सर्व समर्थ हो जाता है तब उसी मूलाधार शक्ति के विकाश और संकोच से जगत की उत्पत्ति संहारादि कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं। अतः जो सब कार्यों के उत्पादन में समर्थ है उसी को मूल शक्ति कहते हैं। इसी से प्रायः सब सिद्ध मूलाधार शक्ति के ध्यान में तत्पर रहते हैं ॥२०॥

मू०—तरंगित स्वभावं जीवात्मानंवृथाभ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्येस्वस्वरूपतयासदाधारयितुं समर्था यासाकुण्डलिनीमध्याशक्तिर्गीयतेस्थूलसूक्ष्मरूपेणमहा सिद्धानां प्रतीयत इति निश्चयः ॥२१॥

सं० टी०—(तरंगित स्वभावम्) समुद्रतरंगवत् स्वरूप माचार क्विबन्त तरंगधातोःक्त प्रत्ययेतरंगितशब्द स्ततो वहुब्रीहिः (वृथाभ्रमन्तम्) अविद्यावशान्मोमुह्यमानतया शाश्वतिक मोक्षो पायमपास्य नश्वर सांसारिक विषय लिप्सया तत्पथेषु पर्यटन्तम्, अपि शब्दाद्व्याप्रियमाणं जीवात्मानं (स्वप्रकाशमध्ये) स्वकीयवितत प्रकाशाभ्यन्तरे (स्वस्वरूपतया) स्वीयसत्तया सदाधारयितुं याशक्तिः समर्था सा शक्तिःकुण्डलिनीगीयते। अयम्भावः। यथा समुद्रो व्यापक स्तस्यतरंगास्तदुपरि संचरन्ति तेषामाधारः समुद्रस्यतत्तद्देशस्तथा समुद्रस्था नीया निजाशक्ति र्व्यापिकैका तस्या स्तरंग स्थानीया विकारभूता जीवशक्तय स्तासामाधारभूत निजाशक्तेस्तत्तदेक देशीयाः शक्तयः सैव परमात्मजीवापेक्षया मध्याशक्तिः सैव च कुण्डलिनीपदेन प्रख्यायते सापि महासिद्धानां दृष्ट्या मणिपूरे स्थूल रूपा मूलाधारे सूक्ष्मरूपा च प्रतीयत इति निश्चयो योगिनाम् ॥२१॥

भा० टी०—अब मध्य शक्ति कुण्डलिनी के कार्य का वर्णन करते हैं—वह कुण्डलिनी चिद्रूप होने से जीव का असली स्वरूप है। अतः चंचल स्वरूप तथा व्यर्थ ही विषयरूप मृगतृष्णा में भ्रमण करने वाले जीवात्मा को भी निज शुद्ध व्यापक आत्म प्रकाश में सदा स्थापित करने में जो शक्ति समर्थ है वही मध्य कुण्डलिनी नाम से कही जाती है। तात्पर्य यह है कि जब तक मध्य कुण्डलिनी का उत्थान न किया जाय तबतक कर्म पाश में बंधा हुआ यह जीवात्मा जन्म मरण रूप दुःख परम्परा का अनुभव करता है और वही जीवात्मा जब पूर्वजन्म में किये हुये पुण्यकर्म के प्रभाव से ईश्वर की कृपा का पात्र हो सिद्ध गुरु की दया से मध्य कुण्डलिनी को विधि पूर्वक जानकर जगा देता है तब उसका योग सिद्ध होजाता है उस समय वह शक्ति ही उसको सहजानन्द आत्मस्वरूप में भली प्रकार से प्रतिष्ठित करदेती है। अतः जगाई हुई मध्य कुण्डलिनी अत्यन्त कल्याण स्वरूप है। वह कुण्डलिनी स्थूल और सूक्ष्म भेद से दो प्रकार की है। इस दो प्रकार की कुण्डलिनी को महा सिद्ध ही भली भाँति जानते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं ॥२१॥

मू०—स्थूलेति निखिलग्राह्याधारविग्राह्यस्वरूपापि पदार्थान्तरे भ्राम्यमाणा चिद्रूपायावर्तते सा कुण्डलिनी साकारास्थूलापुनस्त्वियमेव स्वप्रसारचातुर्य्यतयावर्तमाना योगिनां परमानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चय भूता वर्तते सा सूक्ष्मानिराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥२२॥

सं० टी०—स्थूल निरूपणमन्तरा सूक्ष्मनिरूपणं न सम्यग् बुद्धिमधिरोहतीत्यतः प्रथमं स्थूला निरूप्यतेस्वतस्तु सा कुण्डलिनी चिद्रूपा वर्तते (यदाऽर्थान्तरे) यस्मिन्काले रूपादि विषये (भ्राम्यमाणा) संचारिणी भवतीति शेषः। तदेत्याक्षेपः (निखिलग्राह्याणाम्) रूपादि विषयाणाम् (आधारः) उपरक्तासती (ग्राह्यस्वरूपापि) रूपाद्या

कारापि भवति। प्रत्येकं मूलाधारे स्थिता सार्ध त्रिवलयान्विता नाडी रूपा सा स्थूला कुण्डलिनी। इदमत्र बोध्यं यदियमपि साधारणलोक दृष्ट्या सूक्ष्मैव सर्वेषाम गोचरत्वात् किन्तु योगिदृष्ट्या केवल चिद्रूपा पेक्षयास्थूला कथ्यत इति। पुनस्तु पूर्वमपि चिद्रूपैवासीत्-साम्प्रतम् विषय सम्बन्धेन विषय स्वरूपापि पुनः (इयमेव) येव विषयस्वरूपा सैवेयं विषय सम्बन्धं विहाय (स्वप्रसारचातुर्य्यतया) स्वस्वरूपमात्र माश्रितया (वर्तमाना निर्णीता विद्यमाना (योगिनां परानन्द तया) परमानन्द रूपेण (निश्चय भूता) निर्णीता या कुण्डलिनी सा (सूक्ष्मा निकारा, आकार रहिताऽतो न स्थूला (प्रबुद्धा) जागरिता (महासिद्धा नां मते प्रसिद्धा, महासिद्धै र्ज्ञायते नतु साधारण सज्जनै रितिभावः २२

भा० टी०—ऊपर स्थूल सूक्ष्म नाममात्रसे बताई हुई दो प्रकार की कुण्डलिनियों में से पहले स्थूल कुण्डलिनी के स्वरूप को दिखाते हैं। यद्यपि मूलाधारस्थ कुण्डलिनी अति सूक्ष्म है तथापि शब्दात्मक स्थूल जगत को तथा पञ्चभूतात्मक अर्थ सृष्टि को उत्पन्न करने से वह भी स्थूल कहलाती है। अतः कार्य रूप से वह सकल प्राणियों के इन्द्रिय गोचर हुई एवं सब भूत भौतिक वस्तुओं का अधिष्ठान भूत आधार भी वही है। क्योंकि कारण के बिना कार्य की स्थिति रहना सर्वथा असम्भव है। जैसे मिट्टी के बिना घट कार्य नहीं रह सकता। इसीलिये वह कुण्डलिनी सब कार्यों में अनुगत रूप से विद्यमान है। वास्तव में वह चेतन स्वरूप वाणी से अगोचर और सर्वदेवों से वन्दनीय कामपीठ है तो भी जगत की रचना में निरन्तर उद्यत रहती है। इसी से स्थूल जगत की सृष्टि रूप वह कुण्डलिनी साकार स्थूल कहलाती है फिर निज विस्तार कौशल से नाभि स्थान में वर्तमान वही चिद्रूपा कुण्डलिनी पूर्वोक्त विषय सम्बन्ध को छोड़कर अपने चैतन्य स्वरूप से जब सब जगद् व्यापक भाव से विद्यमान होती है तब वही प्रबुद्ध कुण्डलिनी योगियों को परम आनन्द दायक व्यापक अखण्ड अपने आत्मा का निश्चय कराती है। अतः वह प्रबुद्ध होने से निराकार व्यापक सूक्ष्म रूप से सर्वत्र रहती है। यह योग निपुण महासिद्धों में प्रसिद्ध है ॥२२॥

मू०—सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भागवती तु सा। एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यगात्मिका। अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्ति व्यापक वर्जिता। तस्या भेदं न जानाति मोहिता प्रत्ययेन तु २३

सं० टी०—(सृष्टिः) सृज्यते ऽनयेति करण साधनम् तथा च संसार कारिणी शक्तिः। (कुण्डलिनी ख्याता) तन्नाम्नी प्रसिद्धा सर्वत्र सा (द्विधाभागवती) द्विप्रकारा तत्र या (लोकानां प्रत्यगात्मिका) प्रत्येकं प्राणिषु मूलाधारे सार्धत्रिवलय रूपेण विद्यमाना सा स्थूलरूपा व्यवह्रियते। या तु (अपरा) अन्या (सर्वगा) सर्वगामिनी समष्टिरूपा सा सूक्ष्मा वस्तुव स्तस्या अतीन्द्रियत्वेन व्याप्ति व्यापकभावाद्यनिश्चयेन (व्याप्ति व्यापक वर्जिता) तद्रहितातदेवाह (तस्याः) सूक्ष्मायाः(भेदं) स्थिति विशेष को ऽपि न जानाति। अज्ञाने, हेतुमाह (प्रत्ययेन) लौकिक विषयविज्ञानेन (मोहिता) आच्छादिता सा शक्तिः ॥२३॥

भा० टी०—समस्त प्राणियों के मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी सबका जीवन निर्वाह करती है। इसी से वह प्रत्येक आत्मा में व्यापक और अति सूक्ष्म है। वही परमेश्वर सम्बन्धी कुण्डलिनी दो प्रकार की कही जाती है। एक स्थूल रूप कहलाती है क्योंकि वह स्थूल जगत् को रचती है अतः स्थूल सृष्टि को रचने से वह सृष्टिकुण्डलिनी नाम से भी प्रसिद्ध है। दूसरी नाभिचक्र में प्रवुद्ध की हुई जब ऊर्ध्वगति वाली होती है तब वही उपाधि सम्बन्ध को छोड़कर अवयव रहित अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित होती हुई सर्वत्र व्यापक कहलाती है। वास्तव में तो उस समय वह व्याप्य व्यापक भाव से रहित मन वाणी का भी विषय नहीं होती किन्तु आत्म विमुख विषय लम्पट दुर्बुद्धि पुरुष विपरीत और मिथ्याध्यास से स्त्री पुत्रादि में आसक्त हुये उस कुण्डलिनी के यथार्थ रूप को नहीं जानते। इसी से वे जन्म मरण रूप दुःख परम्परा का अनुभव करते हैं। जो योगी इसके यथार्थ रूप को जानकर नाभिचक्र में प्रवुद्ध कर योगाभ्यास द्वारा ऊपर को संचा-

रित करते हैं। उनके लिये वह मोक्ष का द्वार खोल देती है ॥२३॥

मू०-तस्मात् सूक्ष्मापरा संवित् स्वरूपा मध्या शक्तिः कुण्डलिनी योगिभिर्देहसिद्ध्यर्थं सद्गुरु मुखाज् ज्ञात्वा स्वस्वरूपदशायांप्रबोधनीया ॥२४॥

भा० ०टी--(तस्मात्) पूर्वोक्त कारणात् (संवित स्वरूपा) चिन्मात्र रूपिणी (सूक्ष्मा) विषय रहिता (मध्या शक्तिः) विषय संवलिताथा मूलाधार मणिपूरस्था कुण्डलिनी योगिभिः (स्वस्वरूप दशायां) स्वकीय रूपावस्थायाम् (प्रबोधनीया) उत्थापनीया स्वस्वरूप ज्ञानमन्तरातदुपस्थापनमशक्यमत आह (सद्गुरु मुखात्), शास्त्रज्ञोऽनुष्ठान प्रकारज्ञो ऽनुष्ठान निरतश्च सद्गुरु स्तस्य मुखात् तस्य सदुपदेशतो ज्ञात्वा। ननुतत्प्रबोधनेन किं फल मित्याह देह सिद्ध्यर्थम् प्रबोधे सति मृत्युभयं विहृत्य त्रैलोक्ये यथा कामरूपेण विहरति ततो देहसिद्धिः प्रयोजनम् ॥२४॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से जगाई हुई सूक्ष्मा शक्ति ही ज्ञान स्वरूप व्यापक कहलाती है और अप्रबुद्ध दशा में परिच्छिन्न नाभि प्रदेश में स्थित होने से वही मध्य कुण्डलिनी शक्ति कही जाती है। काल के ऊपर विजय पाने और मोक्ष के लिये देह सिद्धि के निमित्त गुरुमुख द्वारा जानकर अखण्ड आत्म स्वरूप को अभिव्यक्ति के लिये उस मध्य कुण्डलिनी शक्ति का जगाना योगियों को जरूरी है। क्योंकि उस कुण्डलिनी के न जागने से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। अत एव "ऊर्ध्वशक्ति निपात" का उपदेश किया जाता है ॥२४॥

मू०-अथ ऊर्ध्व शक्ति निपातः कथ्यते सर्वेषां तत्त्वानामुपरिवर्तमानत्वान्निर्नामिपरमंपद मेवमूर्द्ध्वं प्रसिद्धनतस्याःस्व संवेदननानासाक्षात्कार सूचनशीलाया सोर्ध्वशक्तिरभिधीयते। तस्यानिपात नमिति स्वस्वरूपद्विधाभासनिरासः किन्तु स्वस्वरूपा

खण्डत्वेन भवति । ॥२५॥

सं० टी०—(अथ) शक्ति कथनादनन्तरम् । मूलश्लोक ऊर्ध्व शक्ति निपात: कथ्यते मूलश्लोकस्थतत्पदीय तात्पर्य्यं वर्ण्यते । तत्रोर्ध्वत्वं कथमिति संघटयति (सर्वेषाम्) प्रकृत्यादीनाम- पदार्थानाम् (उपरिवर्तमानत्वात्) कारणतया कार्य्यत: प्रागपि विद्यमानत्वात् (निर्नाम) नामरहितं (परंपदम्) आदिनाथ: (एवमूर्ध्व प्रसिद्धम्, ऊर्ध्वपदेन शास्त्रे लोके च व्यह्रियते (तस्य या स्व संवेदन नानासाक्षात्कार शीला) स्व प्रकाशासती निखिल विषयक प्रत्यक्षकारणस्वभावा (अयमाशय:) अन्यस्य स्वरूपस्य च साक्षात् कारिणी चिद्रूपा कूटस्थ चिद्ब्रह्माश्रिता सैवोर्ध्व शक्ति रभिधीयते) ऊर्ध्व शक्तिपदार्थं प्रदर्श्य तस्य निपातन पदार्थो व्याख्यायते । (स्वस्वरूपद्विधाभास निरास:) स्वस्यस्वरूपस्य द्विधाभासो भेद बुद्धि: (अहं त्वत्तोभिन्नो मत्तस्त्वं भिन्नो वेत्याकारिका । तस्य निरास: परित्याग: किन्तु (स्वस्व रूपा) स्वरूपमात्र साक्षिणी (अखण्डत्वेन भवति) एतावानिति परिच्छेदबोध: खण्ड स्तद्रहितत्वेन रूपेणभवति । अयमाशय: स्वरूपभान भवति किन्तु । अहं त्व मयञ्चेति पुरुषत्रयस्यभानं नास्तीत्ये तादृश बोध सम्पादनमेव निर्नाम पदार्थ:: ॥२५॥

भा० टी०—सब पदार्थों से ऊपर वर्तमान और नाम रूपादि सामान्य और विशेष धर्म से रहित अद्वैत रूप परंपद ही ऊर्ध्व संकेत से प्रसिद्ध है । उस पर ब्रह्म के अखण्ड स्वरूप का तथा स्व स्वरूप का नाना प्रकार से अद्भुत चैतन्य के साक्षात्कार कराने में जो शक्ति तत्पर होती है वह भी ऊर्ध्व शक्ति कहलाती है उस शक्ति के निपातन (ऊर्ध्वनिपात) का अभिप्राय यह है कि अज्ञान अवस्था से युक्तजीव अपनेको भिन्न मान रहाहै कि मैं भिन्न सुख दु:खादिका भोक्ता हूँ और कर्म फल के देने वाला सर्वेश्वर मेरे से अलग है । इस प्रकार द्वैतरूप से आत्म-भेदकी प्रतीति होना ही बन्धन का मुख्य कारण । है प्रबुद्ध और व्यापक कुण्डलिनी उस भेदरूप आभासमात्र को भी निराकरण कर अपने से अभिन्न जीवात्म और परमात्मा के व्यापक स्वरूप

का ज्ञान करती हुई आत्मा को भली प्रकार से स्व स्वरूप में अवस्थित कर देती है। अतः उस कुण्डलिनी की कृपा से अखण्ड अपने स्वरूप में व्यापक हो जाता है यही ऊर्ध्व शक्ति निपात का अर्थ है ॥२५॥

मू०--शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेराभ्यन्तरः शिवः। अन्तरंनैवजानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥२६॥

सं० टी०--शिवो व्यापक स्तदीयाशक्तिरपि व्यापिकैव तथाच शिवस्य मध्येशक्तिः शक्तेर्वामध्ये शिव इत्युभय व्यवहारः समुचित एव। किञ्चोभयोर्भेदाभावे ऽप्युभय व्यवहारो भवतीति स दृष्टान्त माहोत्तरार्द्धेन यथा पिण्डीभूतस्यचन्द्रस्य विरलावस्थ चन्द्रिकया सह वस्तुतो भेदाभावेऽपि विरलत्व पिण्डत्वोपाधि प्रयुक्तभेदमादायो भय व्यवहार स्तथैवात्रापि संकोच विकाशशालीत्व कूटस्थत्वोपाधिवशाद् वस्तुतो भेदाभावेऽपि भेदमादाय शिव शक्ति व्यवहारः। दृष्टान्तस्य परिच्छिन्नत्वेन वास्तविकमपि विरलत्वं पिण्डत्वञ्च दार्ष्टान्तिके तू भयो र्व्यापकत्वादुपाधी अप्यनिर्वचनीयाविति सूचयितु माह (अन्तरं नैव जानीयात्) नैव भेदं ज्ञातुं शक्नुयादिति प्रकाशत्वेन भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारस्योभयत्र साम्यमादाय दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भावोज्ञेयः ॥२६॥

भा० टी०--कूटस्थ, असङ्गशिव व्यापक रूप से सर्वत्र विद्यमान है! एवं उस असङ्गशिव की सम्पूर्ण विश्व को धारण करने वाली चिद्रूप शक्ति भी व्यापक है। शिव शक्ति में है या शक्ति शिव में है। इसका उत्तर यह है कि जब शिव और शक्ति दोनों ही चिद्रूप और व्यापक हैं तब यही भाव निकलता है कि पर शिव में शक्ति और शक्ति में शिव नित्य सम्बन्ध होकर रहते हैं। जैसे चन्द्रमा की चाँदनी चन्द्रमा से भिन्न नहीं। केवल प्रकाश के पिण्ड समुदाय का नाम चन्द्रमा है और विरल प्रकाश का नाम चाँदनी है। परन्तु पिण्डत्व और विरलत्व धर्म को छोड़कर प्रकाश में कोई अन्तर नहीं है।

इसी प्रकार चिद्रूप शिव और शक्ति में भी भेद नहीं है। केवल कूटस्थ असङ्ग चेतन का नाम शिव है और संकोच विकाश शालिनी चित् का नाम शक्ति है। अतः कूटस्थ पन और संकोच विकाशशाली धर्म को लेकर शिव और शक्ति का व्यावहारिक भेद भले ही रहे परन्तु परमार्थ विचार से शिव शक्ति में कोई भेद नहीं। क्योंकि दोनों चित् और व्यापक होने से नित्य सम्बद्ध हैं ॥२६॥

मू०—अतऊर्ध्वशक्तिनिपातेनयोगिभिःपरमंपदंप्राप्य न इति सिद्धम् ॥२७॥

सं० टी०—(अतः) उभयोरभेदादेव (ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन) कुण्डलिन्याः प्रबोधोत्थानद्वारा सहस्रारस्थ परमात्मशक्त्या सहैक्ये सति (योगिभिः) योगाभ्यास शालिभिः। न तु शाब्दिक ज्ञानमात्रेणा त्मानं कृतकृत्यमन्वानै रलसधौरेयैः। परंपदं प्राप्यते मुक्तोभवति, (इति सिद्धम्)। नात्र सन्देहो-विधेय-इति ॥२७॥

भा० टी०—शिव और शक्ति का अभेद होने से ही ऊर्ध्व-शक्ति निपात द्वारा योगाभ्यास की मुद्राओं के अच्छी तरह साधन से कुण्डलिनी के उत्थान पूर्वक महा सिद्ध योगियों को परंपद की प्राप्ति होती है ॥२७॥

मू०—सत्त्वे सत्त्वे सकल रचना राजते संविदेका।
तत्त्वे तत्त्वे परममहिमा संविदेवावभाति ॥
भावे भावे बहुलतरला लम्पटा संविदेषा।
भासे भासे भजन चतुरा बृंहिता संविदेव ॥२८॥

सं० टी०—चिद्रूपस्य व्यापकत्वप्रदर्शनाय सर्वत्र सद्भावः प्रदर्श्यते श्लोकेनानेन (सत्त्वे सत्त्वे) सकल द्रव्येषु (सकल रचना) समस्तावयव संश्लेष कारिणी (एका संवित्) चिदेव (राजते) शोभते चित्सद्भावम-न्तरा द्रव्यावयव संघातस्यासम्भवो भवेदतश्चेतन प्रयुक्तावयव समुदायात्मक द्रव्यस्थितिः। एवं (तत्त्वे तत्त्वे) प्रकृत्यादि निखिल पदार्थेषु

[परम महिमा] महत्त्व विशिष्टा सत्ता (संविदेव) चिदेव (अवभाति) प्रकाशते चैतन्याधीनैव जड़सत्तेतिभावः (भावे भावे) सकल भावभूत भौतिक पदार्थेषु (बहुल तरला) अति चञ्चला भौतिकपरिणामादिक्रियां चित्मारोप्याधिष्ठानंविनाशेपासम्भवात्क्रियापिचेतनाधीनैवेतिभावोऽतएव (लम्पटा) अन्यत्रस्थिता (एषा) स्वप्रकाशा (संवित्) भातीतिशेषः किञ्च (भासे भासे) सकल मानसिक व्यापारेषु (बृंहिता) मनोवृत्त्यनुरक्ता ऽतएव (भजन चतुरा) उपाधि भूतविषय सेवापरा (संविदेव) चिदेव। अतः सर्वाधारो, व्यापिकाचिदेवेतिफलितम् ॥२८॥

भा० टी०—जो शुद्ध चेतन योगियों को प्राप्त करने योग्य है और जिस आदिनाथ स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त होकर इस संसार में जन्म मरण रूप दुःख का स्वप्न भी नहीं देखता वह ज्ञानरूप ब्रह्म सब जगह व्यापक है। इसी अभिप्राय को श्री योगाचार्य उपरोक्त पद्य से वर्णन करते हैं। समस्त पृथ्वी आदि भूत भौतिक द्रव्यों के अवयवों की रचना करने वाली आदिनाथ से मिली हुई शक्ति ही सर्वत्र विद्यमान है। क्योंकि चेतन के बिना जड़ वस्तु की स्थिति सर्वथा असम्भव है। इससे सिद्ध हुआ कि चेतन ही सबका आधार है। तथा प्रकृति मायादि तत्वों में पर महिमा सहित शक्ति सर्वत्र प्रकाशमान हो रही है। एवं भावरूप स्थिर वस्तुओं में सूर्य प्रभा की तरह व्यापक और सकल कार्यों में अनुगत रूप से यह संवित् शक्ति ही भासमान है और सकल प्राणियों की बुद्धिवृत्ति में निश्चय रूप से बढ़ी हुई भी यह संवित् शक्ति ही है। इसी से वे प्राणी अपने अपने कार्य में तत्पर रहते हैं। या ज्ञान, ध्यानादि में स्थिति कराने वाली भी यही शक्ति है। अतः सर्वत्र व्यापक सर्वाधार महासिद्ध योगियों के ध्यान से ही गम्य चेतन ब्रह्म नाना आकार से प्रकाशमान हो रहा है ॥२८॥

मू०—किमुक्तम्भवतिपरापरविमर्शरूपिणीसंवित्-नानाशक्तिरूपेणनिखिलपिण्डाधारत्वेनवर्त्तते

इति सिद्धान्तः॥२६॥

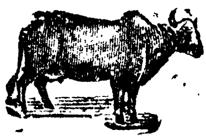
इति महेश्वरावतार श्री गोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डाधारनामा चतुर्थोपदेशः

सं० टी०—अनेन श्लोकेन (किमुक्तं भवति) कः सारोऽस्येति प्रश्नः। उत्तरयति (परापरविमर्शरूपिणी) समष्टि व्यष्टि भूतानुभवरूपा (सवित) चित (नाना शक्तिरूपेण (निखिल पिण्डाधारत्वेन) सर्वेषामाश्रयत्वया (वर्तते) विद्यव इति सिद्धान्तो निर्विवादः॥२६॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्वतन्त्र कोविद श्री पं० द्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां चतुर्थोपदेशः

भा० टी०—इस उपदेश के आद्योपान्त विचार करने से यही भाव निकलता है कि व्यष्टि, समष्टि, भूत भौतिक, छोटी, बड़ी वस्तुओं का अनुभव रूप चेतन ब्रह्म ही निजा, परा, सूक्ष्मा आदि नाना शक्ति रूपों के द्वारा सकल पिण्डों का आधार है॥२६॥

श्रीगोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्री१०८ योगीन्द्रबोहराधिपतिश्रीपूर्णनाथशिष्येण योगिश्रीपंडित भीष्मनाथेनवेदान्ताचार्य्येण विरचितायांसारदीपिकाख्य हिन्दीटीकायां पिण्डाधारनामा चतुर्थोपदेशोऽध्यरंसीत्।



अथ पिण्डपदयोः समरस करणं कथ्यते

मू०--महासिद्ध योगिभिः पूर्वोक्त क्रमेणपर पिण्डादिस्वपिण्डान्तंज्ञात्वापरमपदेसमरसं कुर्यात् ॥१॥

सं० टी०--पिण्डोऽव्यष्टि रूपः पदं समष्टि रूपंचतयोः समरस करणं समरसत्वमैक्यमितिभावः । अयमभिसन्धिः । यत् व्यापकं तत् समष्टि रूपं कथ्यते । यच्च व्याप्यं तत् व्यष्टि रूप मभिधीयते । अस्यां दशायां न समरसतोभयोर्भिन्नपदव्यवहार्य्यत्वात् । यदातु योगेन पिण्डमिमम् व्यापकरूपं व्याप्यरूपं च विधातुं प्रभुर्भवति तदासमरसत्वमायाति । उभयपद व्यवहार्यत्वेनैक्यात् । स्थूलवपुषोऽयं धर्मोयद्भौतिक स्थूल कुण्ड्यादिनाऽस्यगतिप्रतिबन्धः क्रियते । अतएव सर्वतः प्रतिरुद्धभवनमध्येस्थितमिदंशरीरंन शक्नोति वहिर्निः सारयितुम् । लिङ्ग शरीरस्य च धर्मः केनापि स्थूलभौतिकेन न गतिः प्रति हन्यते । अतएव शिलान्तर्गच्छति न वह्न्यादिना दह्यत इत्यादि परन्तु योगाभ्यासाद् यस्य योगिनः कायसिद्धिर्जाता तस्य सर्वतः प्रतिरोधेऽपि स्थूलविग्रहेण सहैव वहिर्निः सरति सः । तेन सिद्धयत स्थूलसूक्ष्मोभयशरीरस्य समरसोजातो न केवल स्थूलस्य न च केवल सूक्ष्मस्य धर्मोऽपितूभयो धर्मसमावेशादु भयमपि युगपदेव व्यवहर्तुं शक्यम् । तथैव ब्रह्माण्डेनसह पिण्डस्यापि समरसोभवतीति साम्प्रतम् (महासिद्धयोगिभिः) स्वयमनुभवशालिभिर्न तु केवल तर्क कर्कशमानसै स्तार्किकवरैः (पूर्वोक्त क्रमेण) गतोपदेश प्रदर्शित सरण्या (परपिण्डादि स्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा) परपिण्डाङ्गानि सूर्य्यादीनि स्वपिण्डे चक्षुरादिषु स्थानेषु स्थितिं विदित्वोभयोरभेदद्दार्ढ्येन (परमपदे) परमात्मनि (समरसं) ऐक्यं (कुर्य्यात्) कर्तव्यम् ॥१॥

भा० टी०--अब व्यष्टि समष्टि के अभेद रूप समरस करणता का निरूपण करते हैं । पूर्वोक्त उपदेशों में वर्णित पद्धति

के द्वारा ब्रह्माण्ड और अस्मदादि शरीर से लेकर परिमित अपने देह पर्यन्त के स्वरूप को भली प्रकार जानकर अखण्ड चेतन शिव शक्ति रूप परमपद में समरस अर्थात एकता करे। जैसे अपने इस देह में स्थित नेत्र हैं वैसी ही अधिदेव में विराट् समष्टि का सूर्य चक्षु है वहां सूर्य व्यष्टि शरीराभिमानी जीव के नेत्र का अधिष्ठाता देवता है। इसी से सूर्य की भी नेत्र में स्थिति है। अतः व्यष्टि गत नेत्र और सूर्य की एकता मानकर ध्यान करें। उस ध्यान से नेत्रों में सूर्य जैसी सामर्थ्य आ जाती है। इस प्रकार प्रत्येक प्राण और इन्द्रिय आदिकों के समष्टि सूत्रात्मा तथा अधिदेवों की एकता करता हुआ अन्त में परमपद व्यापक असङ्ग शिव में अभेद करे। ऐसा करने से वह भी व्यापक और असङ्ग शिव हो जाता है ॥१॥

मू० परमपदमिति स्वसंवेद्यमत्यन्तभासा भासकमयम् ॥२॥

सं० टी०—परमपदस्य संक्षेपेण वास्तविक रूपमाह (स्वसंवेद्यम्) स्वानुभवेनैववुद्ध्यते नत्वन्य सूर्यादि प्रकाशेन प्रकाश्यते। (अत्यन्त भासा) विततं स्वकीय प्रकाशेन (भासकमयम्) प्राचुर्य्येण भासकम्। प्राचुर्य्येमयडत्र। तेन सूच्यते भासकता स्वाभाविको धर्मः सदैवतिष्ठति किन्तूपाधि शरीरादिमध्यपातित्वेन भास्यताऽपिकदाचित्सम्पद्यतेऽहमस्मि त्यनुभवविषयत्वात्! इदमेवान्यत्रानुमतम् श्र० मी न तावदयमेकान्तेना विषय इति। स्वयन्तुसर्वेषांप्रकाशकमितरेणाप्रकाश्यमिति फलितम् ॥२

भा० टी०—अब परम पद के अर्थ को स्वयं श्री गोरक्षनाथ जी कहते हैं। अपनी महिमा में प्रतिष्टित और केवल योग समाधि द्वारा आत्मा के अनुभव से ही जानने योग्य तथा स्वतः सिद्ध स्व चेतन प्रकाशसे जो नित्य प्रकाशित है उसी को परमपद कहते हैं। इसी से वह परमपद जड़ प्रकाश रूप सूर्य चन्द्र अग्नि और बिजली आदि का भी प्रकाशक कहा जाता है क्योंकि चेतन प्रकाश की ही सत्ता को लेकर जड़ प्रकाश भी देदीप्यमान हो रहा है। यही परम पद का अर्थ है ॥२॥

मार्गा दृश्यन्ते तेषु कः श्रेयान् इति जिज्ञासामुपशमयति सन्मार्गो योगमार्गः, चेतसो निखिल वृत्ति निरोधो मुख्योयोगः, तत्साधनमैका प्र्यमपि योगः, युज्यते निरुध्यते ऽनेन इति व्युत्पत्तेः, तस्य मार्गाः उपाया यमनियमादय उपासना भक्ति श्रद्धादयः श्रौत स्मार्त कर्माणि च साक्षात्परम्परया वा यथाधिकारं ग्राह्याः । तदितरः, चित्तविक्षेप कारकः पाषण्डमार्गः, वञ्चक इति यावत् नत्रैव आदिनाथोक्त प्रमाणयति-तंत्रेषु तन्त्र श्रुति स्मृत्यादि शास्त्राणि तत्प्रति पाद्य षु (योगमार्गेषु) पूर्वोक्त योगसाधनेषु दीक्षितानां दीक्षमाणानां कर्मोपासना दितत्पराणाम् ये दूषका निन्दकाःक्वचिद् दीक्षितांश्च दूषका इति पाठः, तस्यापि भावार्थ स्त्वयमेव किन्तु तस्मिन् पाठे दूषका इत्यत्र तुमुन्ण्वुलौ क्रियायामिति सूत्रे ण्वुलि रूपम्-तथा च भविष्यत्. कालस्य भात्वेन अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोरित्यनेन"कर्तृ कर्मणोरित्यस्य निषेधे' तदिति साधु । तान् दीक्षितान् ये दूषका दूषयन्ति ते पाष ण्डिनोभविष्यन्ति इति व्याख्यार्थः, तेहि निन्दकाः पाषण्डिनः सद्मार्ग भ्रष्टा व्यर्थजीवनयापिनः, वञ्चकाः प्रोक्ताः शिष्टैः स्वीकृताः। एवम् तै निन्दिकैः सहवासिनः सहचारिणोऽपि पाषण्डिन एव तस्मात् निन्दक पुरुषैः सह वार्त्तादिकं किमपि न विधेयमिति ॥५॥

भा० टी०—इस परमपद की प्राप्ति के उपदेश में अच्छी तरह से सन्मार्ग को जानने वाला हो गुरु होना चाहिये यहां सन्मार्ग से योग मार्ग का ही ग्रहण होता है। क्यों कि योग समाधि से ही वास्तविक आत्मा के अखण्ड व्यापक और स्वसंवेद्य स्वरूप का भान होता है। योग मार्ग से अन्य मार्गों में आत्मा के असली स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता। अतः आत्मा के अनुभव से वंचित करने वाले सब पाखण्ड मार्ग हैं। इसी को आदिनाथ शिव जी ने कहा है कि योग और उस के उपायभूत मार्ग नियम आदि श्रद्धा ईश्वर भक्ति तथा निष्काम कर्मादि के स्वरूप का बोध कराने वाले तन्त्रो में निपुण जो पुरुष हैं उन की निन्दा करने वाले अविवेकी जन और उन के सह वासी पाखण्डी कहलाते हैं ॥५॥

मू०—यस्मिन्दर्शिते सति तत्क्षणात् स्व संवेद्य साक्षात्कारः समुत्पद्यते ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ६

सं० टी०—परमार्थः गुरुः कीदृश इति नियमयति । येन गुरुणा यत्परमात्मतत्त्वं दर्शितम्-तज्ज्ञानकाल एव स्व संवेद्यात्म साक्षात्कारःपरमात्मफलं समुत्पद्यतेसगुरुरयमाशयः योहि स्वयमनुभवी सिद्धस्तस्योपदेशे झटिति परमात्म बोधोभवति सिद्धिश्च त्वरित मुपनमते । ततः पूर्वोक्त हेतोर्गुरुरेवात्र परमात्म तत्त्व निरूपणे । कारणम् परम साधन मुच्यते ॥६॥

भा० टी०—जिस समय सिद्ध गुरु परमपद के उपाय भूत योग मार्ग को दिखलाता हुआ व्यापक आत्मा का बोध कराता है उसी क्षण में सिद्ध गुरु की कृपा से अपने अनुभव से जानने योग्य अखण्ड व्यापक आत्मा को साक्षात्कार और सकल सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है इसी से परमार्थ आत्मतत्त्व के उपदेश और साक्षात्कार कराने में सद्गुरुही परम कारण है तात्पर्य यह है कि तीन प्रकार की शिक्षा होती है औपदेशिक कटाक्षावलोकन और शक्तिपात। प्रथम और द्वितीय शिक्षा हर एक विद्वान् दे सकता है, अन्तिम शिक्षा के देने में सिद्ध और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य की शक्ति नहीं है ॥६॥

मू०--तस्माद्गुरुकटाक्षपातात्स्वसंवेद्यतयामहासिद्ध योगिभिः स्वकीयंपिण्डंनिरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियत इतिसिद्धान्तः ॥७॥

सं० टी०--तस्माद् गुरु कटाक्षमात्रबलमाश्रित्य स्वसंवेद्यतयाच स्वानुभवादितर प्रमाणवलान पेक्षणेन महासिद्ध योगिभिः, मनो निग्रह तत्परैः (स्वकीयं पिण्डं) परिच्छिन्नं शरीरमिदं निरुत्थानुभवेन व्यापकपरपिण्डाभेदोपासनया समरसमैक्यम् क्रियते स्वयं व्यापको भवति" यथाकीटंभ्रमरयति भ्रमरी ॥७॥

भा० टी०—अतः गुरु की करुणा दृष्टि मात्र से जानने योग्य

स्वसंवेद्य परमपद है। इसी लिये महासिद्ध योगिजन परिमित अपने देह को परपिण्ड के साथ शुद्ध चैतन्य का निश्चल अभेदानुभव रीति से समरस करते हैं। यह सिद्धों का सिद्धान्त है ॥७॥

मू०--निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते। महासिद्ध योगिनः स्वस्वरूपतयानुसंधानेननिजावेशोभवति निजावेशान्निःपीडितनिरुत्थानदशामहोदयः कश्चिज्जायते ततः सच्चिदानन्दचमत्कारादद्भुताकारप्रकाश प्रबोधोजायते, प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वयप्रकटतया चैतन्यभासाभासकंपरात्परपरमपदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यम् ॥८॥

सं० टी०--यल्लब्ध्यात् पुनरुत्थानं न भवति येन स उपायः कथ्यते साम्प्रतम् महासिद्ध योगिनः, महासिद्धपदलिप्सोर्योगिनः साधकस्य स्वस्वरूपतया निज पिण्डभावनानुसन्धानेन ममपिण्डो यमहंचेति दृढभावनया निजावेशो भवति पर पिण्डे स्व स्वत्वं प्रविष्टं भवति यथा ऽस्मिन् पिण्डे स्व स्वत्वावेशेनोत्थान चालनादि सर्वाधिकारस्तथैव पर पिण्डेऽपि सर्वाधिकारः सम्पद्यते स चावेशो न क्षणिको ऽपितु स्थायी सर्वकालिकः, तदा तस्माद् निजावेशात स्वस्वत्वावेश बलेन निःपीडित निरुत्थान दशामहोदयः, अत्यन्तनिरुत्थानावस्था महाभाग्यम् कश्चिदनिर्वचनीयो गीयते हर्षसूचककरतलनिनादेन उच्चैरुद्घुष्यते (ततः) निरुत्थानदशातः सच्चिदानन्दचमत्कारात् परमाह्लादास्वादात् (अद्भुताकार प्रकाशः) सर्वातिशायिचित्रूपसहितः प्रबोधो मानसिकवृत्तिरूपः जायते, आविर्भवति तस्मात प्रबोधादखिलं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम एतद्द्वयाद्वयस्य व्यवहारिकद्वैतपारमार्थिकाद्वैतरूपस्य समष्टि व्यष्टि रूप जगतः प्रकटतया स्वाभिन्नत्वेन प्रत्यक्षतया चैतन्यभासास्वप्रकाशेन सर्वेषामितिशेषो भासकं परादपि परमंपदं सर्वोत्कृष्ट मिति यावत

तत्र्व प्रस्फुटं हस्तामलकवत् प्रत्यक्षम् भवतीति सत्यम् मन्तव्यम् नात्र संशय लेशस्याप्यवसरः ॥८॥

भा० टी०—अब योग द्वारा प्राप्त करने योग्य निरुत्थान अर्थात् स्व परपिण्डादि अभेद रूप परमपद की प्राप्ति के उपाय को कहते हैं। उस अभेदरूप परमपद को चाहने वाले महा सिद्ध योगि जन परमगुरु से बताई हुई स्व पर पिण्डादि की अभेद पद्धति से चराचर सहित परमेश्वर को योगध्यान के द्वारा जब अपने स्वरूप से अभिन्न देखते हैं। तब उन का स्वपिण्ड परपिण्डादि अभेद के अनुभव से अत्यन्त अभेद ध्यान द्वारा सर्वेश्वर के शरीर में भी निजावेश होता है। अर्थात् निज देह के सदृश अभिमान होता है कि यह भी मेरा ही शरीर है। एवं व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का समष्टि सूक्ष्म के साथ तथा जीव चैतन्य का परमेश्वर के साथ दृढ एकता की भावना से परमात्मा में भी स्वकीय अभिमान होता है। जैसे अपने व्यष्टि शरीर के संचालन में सामर्थ्य होती है उसी तरह समष्टि शरीर के संचालन आदि में भी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। योगी को दृढ निश्चल भावना होजाने पर अखण्ड आत्मा के स्वसंवेद्य अनुभव के चमत्कार से अद्भुत प्रकाश स्वरूप आत्मा का बोध होता है। 'अहं ब्रह्मास्मि। शिवोऽहम्' इत्यादि प्रकार से सर्वत्र व्यापक आत्मा को ही देखता है। उसी निर्बाध अखण्ड पूर्ण आत्मा के बोध से समस्त द्वैताद्वैत रूप जड़ चेतन की हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष प्रतीति होती है। अतः वह आदित्यादि का भी प्रकाशक सर्वाधिष्ठान स्वरूप है। तथा समस्त जगत् कार्य की अपेक्षा पर जो अव्याकृत (माया) उससे भी परे है। वही व्यापक चेतन रूप परमपद प्रत्यक्ष रूप से स्फुट होजाता है। यह सत्य है ॥८॥

मू०—अत एव महा सिद्ध योगिभिःसम्यग्गुरु प्रसादंलब्ध्वावधानबलेनैक्यंभजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते ॥ ९ ॥

सं० टी०—अत एव वस्तुत ऐक्यादेव महासिद्धयोगिभिः अस्य अनुभूयते इत्यनेनान्वयः। ओदनं पचतीतिवत् भविष्यद् वृत्त्या साधनावस्थायामपि महा सिद्ध योगि पदेन व्यवहारो नान्याय्यः। सम्यग् गुरु प्रसादं लब्ध्वा गुरु प्रसाद एव योगसिद्धौ मुख्यं कारणमतः प्रथमं तत्संपादनीयम्। तत्पश्चात् विषयान्तरेभ्यो मनो निवर्त्य लक्ष्यं स्थापनरूपमवधानङ्कर्तव्यम्। तदाहावधानबलेनेति तेन, ऐक्यं भजमाने स्वभेदोपासनां कुर्वाणे योगिभिस्तत्क्षणादुपासनाकालमारभ्य सिद्धिपर्यन्तंपरंपदमेवपरमपिण्डाख्यान्यः कश्चिदित्यनुभूयते ज्ञायते॥ ६॥

भा०टी०—अतः पूर्वोक्त रीति से योग साधन द्वारा भविष्य में महासिद्धि को प्राप्त होने वाले योगिजन अच्छी तरह गुरुदेव को प्रणाम और सेवादि से प्रसन्न करें। क्योंकि योग सिद्धि में गुरु की प्रसन्नता ही मुख्य कारण है। इसके उपरान्त गुरु मन्त्रादि पूर्वक योग-विधि को प्राप्त करते हुये योगिजन जब सावधानता पूर्वक ध्यान द्वारा स्वपिण्ड से लेकर परपिण्डादि पर्यन्त एकता की दृढ़ भावना करते हैं तब उसीक्षण अपने से अभिन्न ब्रह्म रूप परमपद का अनुभव होता है कि मैं हूँ सो शिव है और शिव है सो मैं हूँ तथा सर्वोपाधि विनिर्मुक्त केवल स्वयं ज्योति स्वरूप अखण्ड व्यापक हूँ॥६॥

मू०—तदनुभवबलेनस्वकीयंसिद्धंसम्यक् निज पिण्डं ज्ञात्वा तमेव परमपद एकीकृत्यतस्मिन्प्रत्यावृत्या स्वदेहाभ्यन्तरेस्वपिण्डसिद्ध्यर्थे महत्त्वमनुभूयते॥१०॥

सं० टी०—तेनानुभव बलेन समान वृत्ति प्रवाह बलेन स्वकीयं निज पिण्डं एतच्छरीरस्य सारभूतं तेजो पुञ्जम्, निज पिण्ड पदस्य सांकेतिकोयमर्थः। स्वयमेवाग्रे व्याख्यास्यते सम्यक् सिद्धं व्यापकं जातमिति ज्ञात्वा परिच्छिन्न शरीरे ऽस्मिन्संकुचितमिदं तेजो पुञ्जम्। उपासना बलात्सर्वतो निःसृतं सद् व्यापकं भवतीति सारांश एतादृशीं सिद्धिं प्राप्याग्रे किं कर्तव्यमित्यत्र प्रकार द्वयं विकल्पतया प्रदर्श्यते तत्र

प्रथमः कल्पः। तमेव निज पिण्डं प्रसूतं स्वकीय तेजो पुञ्जं परमपदे परपिण्ड एकीकृत्य परपिण्डे मेलनेनाभिन्नतामापाद्य कल्पनान्तरमाह। प्रवृत्त्यारूढे वाभ्यन्तरे। परपिण्डे मेलयित्वा पुनः परावर्त्य स्वपिण्डस्याभ्यन्तरे उपसंहृत्य स्वपिण्डसिद्ध्यर्थं एतत्पिण्डस्याजरामरसिद्धौ महत्त्वं परपिण्डात्मकत्वमनुभूयतेस्वकीय पिण्डमवलम्व्यपरपिण्डा भिन्न स्वरूप महत्त्वं ज्ञायते ॥१०॥

भा०टी०—पूर्वोक्त अभेदानुभव के बल से निज देह पिण्ड को अच्छी तरह सिद्ध हुआ जानकर उसी को परमपद रूप परपिण्ड में एक कर बार बार एकता की आवृति को दृढ़ करे। इसी प्रकार अपने शरीर को भी अवलम्बन बनाकर अपने पिण्ड में ही परपिण्ड की एकता करता हुआ बार बार एकता कीभावनाकरे।इससे वे महासिद्ध योगिजन अजर अमर रूप परममहत्व पद का अनुभव करते हैं। फिर अपने व्यष्टि पिण्ड में ही सार्वभौम ऐश्वर्य और परमानन्द का प्रादुर्भाव होता है ॥१०॥

मू०-निज पिण्डपरीक्षाचस्वस्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणमेव समरसकरणंभवति ॥११॥

सं० टी०- इदानीं निजपिण्डपदस्य स्वसांकेतिकार्थमाह (निज पिण्डमिति) स्वरूप किरणानां स्वात्मनः संकुचितावयवीभूतप्रकाशानां तदभिन्नानन्दाना मुन्मेष मात्रम् सर्वतो विकाशः यस्योन्मेषस्य प्रत्याहरणम् परावर्त्य स्वस्मिन् स्थापनमेव समरसकरणम् जीवात्मपरमात्मभेद भित्ति विलाप्यैक्य करणं भवति ॥११॥

भा० टी०—अब सिद्ध हुये स्वपिण्ड की परीक्षा को कहते हैं। परमनाथ से अभिन्न जीव का सूर्य की किरणों के सदृश प्रकाशमय आनन्द का विस्तृत विकाश होता है। उस आनन्द विकाश को फिर अपने देह पिण्ड में समेट लेना ही समरस करण कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जो यह शरीर परिमित साकार लौकिक दृष्टि से प्रतीत हो रहा है। वह वास्तव में उस परमेश्वर की चिद्रूप शक्ति का परिमाण है। इसी से तेज पुंज दह शरीरपरमेश्वर की स्वयं प्रभारूप

है। जैसे सूर्य की किरण प्रभारूप हैं। किन्तु अविद्यादि कर्मपाश के वश से यह शरीर निकृष्टरूप से प्रतीत हो रहा है। जब पूर्वोक्त अभेद की दृढ़ भावना से समरस करण होने पर वास्तविक व्यापक रूप से सर्वत्र स्वशरीर का भान होने लगे तभी समरस करण सिद्ध हुआ जानना चाहिये। इस परीक्षा की कसौटी स्वानुभव ही है ॥११॥

मू०--अतएव स्वकीयं पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जं स्वेनैवाकारेणप्रतीयमानंस्वानुसन्धानेनस्वस्मिन्नुररीकृत्य महासिद्धयोगिनःपिण्डसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्तीतिप्रसिद्धम्१२

सं० टी०--अतएव किरणपुञ्जस्य प्रत्याहरणार्थत्वादेव स्वकीय पिण्डं महद्रश्मिपुञ्जम्, मदीय पिण्डो विशालतेजः स्वरूपोऽस्ति न तु जडरूपइति ध्यानबलेन यदा स्वेनैवाकारेण तेजोरूपाकारेण प्रतीयमानमनुभूयमानं यावत् स्वानुसन्धानेन स्वकीयानुभवानुकूलं रूपं स्वस्मिन्नुररीकृत्य हठमङ्गीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्धयर्थं कायसिद्ध्यर्थं तिष्ठन्ति ध्यानतत्परा निवसन्ति,इति प्रसिद्धं योगिजनेषु ।१२

भा० टी०--इसी अभेदरूप समरस करण की रीति से अपने प्राकृतिक स्वभाव से प्रतीयमान पिण्ड को अपने में देदीप्यमान और सिद्ध हुआ जानकर बार बार अनुभव करते हुये अजरामरत्व पद को प्राप्ति करने के लिये महासिद्ध योगी बहुत समय तक स्थित रहते हैं। बाद में स्वयं ही कर्ता धर्ता हो स्वच्छन्द गति से विचरण करते हैं ॥१२॥

मू०--अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते-

शंख मुद्राधारणं च केशरोमप्रधारण,
ममरीपानममलं तथा मर्दनमुत्तमम् ॥१३॥
एकान्तवासो दीक्षा च संध्याजपसमायया,
ज्ञानं भैरव मूर्त्तेस्तु तत्पूजा च यथा विधि ॥१४॥
शंखध्मातं सिंहनादं कौपोनं पादुके तथा

अंगवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम् ॥१५॥
वेत्रं कमण्डलुं चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकं
कुर्य्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दन पूर्वकम् ॥१६॥

सं० टी०—पिण्ड सिद्धिफलाय लिङ्गधारणमपि परम्परा सहकारि, तथाह्यसंगस्यात्मनः कर्मणा सह सम्बन्धं विना फल सम्बन्धः कदापि न सम्भवति कार्य्यकारणयोः सामानाधिकरण्य नियमात् । न जातु हरिद्वारे व्याप्रियमाणः कुलालः काश्यां घटमुत्पादयितु मिष्टे कर्मणा सह सम्बन्धश्च अध्यासात्मकाभिमानादृते नान्यः । अतोऽभिमानरहितत्वेन स्वयं कृतमपि कर्म न फलदानायालम्, अभिमानवशादेव ऋत्विक् पुत्रादि कृतमपि कर्म यजमानजनकादिभ्यः फलं प्रसूत इति । इन्द्रेणाप्यशक्य निवारणायुक्तिः, ईश्वरीयवैदिक धर्मानुयायिनो गेहे गेहे नर्त्तिवत्तल्लिङ्गधारणं हि बलात् तत्तद्धर्माभिमानं प्रवर्द्धयति । अतः काय सिद्धि फलकोपासनातत्परैरभिमानादिद्वारा शक्ति सञ्चालकानि लिङ्गान्यवश्यं धारणीयानीति तानि प्रदर्श्यंते । तत्र प्रथमं शंखमुद्राधारणं शंखश्च मुद्राचेति द्वन्द्वः तत्र योग्यता बलात गले हस्ते वा शंखधारणं कर्णयो मुद्रा कुण्डल द्वय धारणम्, केशरोमधारणं समस्त शरीरे केश वपनं न कार्यम्,(अमरीपानम्) खेचरी मुद्रया सहस्रदल पद्मतः प्रक्षरित सुधारसस्यास्वादनं विधेयम्, अस्यक्रियागूढमर्मविद्गुरु, मुखादेवावगंतव्या । योगिजनेषु या प्रसिद्धिः सैव कर्तव्या । अनुष्ठानरहस्य शास्त्र रहस्ययोः क्वचित् क्वचित पृथक् पथ पथिकत्वात । गुरुं विना स्वमनीषया कर्म नाचरेत अमरीपानस्य विशेषणम्, अमलम् । तस्यायमाशयः प्रथमेऽन्ते च यन्निःसरति तत् समलं भवति । अतस्तत्परिहेयम् माध्यमिकं च पेयमिति ध्वन्यते एवमेवानुष्ठानमार्गे प्रख्यातम् । तथोत्तम मर्दनं कुण्डलिन्याः सिद्धासनेन मर्दनम् । एकान्तवासः, यत्र चित्तविक्षेपकं वस्तु नास्ति तादृशारण्य पर्वत गुहा गंगादि तटेषु निवासः । दीक्षा च श्रद्धेय गुरुद्वारा मन्त्राद्युपदेशः । सन्ध्या सायं प्रातः स्नात्वा शुद्धासने उपविश्य ॐ आत्मतत्वाय स्वाहा, ओं विद्यातत्वाय स्वाहा, ओं शिवतत्वाय स्वाहा, इति मन्त्रेण त्रिराचम्य प्रणवेनभूमौ सप्तधा जलमुत्क्षिपेत्, ततः प्राणायामंविधाय वामहस्ते जलमादाय दक्षि-

गोनाच्छाद्य 'हं यं रं लं वँ' इति मन्त्रेणाभिमन्त्र्य सप्तवारं पुनः पुनः प्रणवेन शिरसि जलमुत्क्षिपेत्, पुनः पूर्वोक्त मन्त्रेण त्रिराचमनम्। प्रातः काले वर्द्धमाणतर्पणमपि संध्याङ्ग न तु सायम्। गुरुं तर्पयामि, परमगुरुं तर्पयामि, परात्पर गुरुंतर्पयामिपरमेष्ठि गुरुं तर्पयामि, देवान् तर्पयामि, ऋषीन् तर्पयामि आरवण देवाँस्तर्पयामि भैरवं तर्पयामि, ॐ ह्रीं हंसःमार्तण्डभैरवाय, प्रकाश सहिताय, श्री सूर्यनारायणाय, स्वाहा तर्पयामि, सिद्धौघान् तर्पयामि, स्वेष्टदेवं तर्पयामि, इति संक्षेपसंध्या ततः यथाशक्ति जापः, स्वेष्टदेवताया गायत्री मन्त्रस्य जपः। यम नियमाः पूर्वोक्ताः, ततः स्ववासभवने भैरव मूर्त्तेस्तु ज्ञानं स्मरणं यथाविधि विधिमनतिक्रम्य तत्पूजा, भैरवपूजा शंखाध्मातं शंखध्वनिं सिंहनादं प्रसिद्ध मिदं वाद्यं वादयेत्। कौपीनं पादुकम्, काष्ठपादुकञ्च तथैवाङ्गवस्त्रं धौतवस्त्रादि बहिर्वस्त्रं प्रावरणादि कम्बलं तथातपादिवारकच्छत्रम्। बिलक्षणवेत्रं वेणुदण्डं कमण्डलुञ्च धारयेत्, तथैव भस्मना भाले त्रिपुण्ड्रकं कुर्य्यात्, एतद् यत्नतो धारयेत्, सर्वत्र गुरुवन्दनं मुख्यं तन्न हेयम्, इति सावधानता प्रदर्शनायाचकथद् गुरुवन्दनपूर्वकमिति ॥१३॥ ॥१४॥ ॥१५॥ ॥१६॥

भा० टी०—अब उपरोक्त पिण्ड सिद्धि के लिये वेष धारण की रीति को कहते हैं। शङ्ख, कानों में कुण्डल या खेचरी आदि मुद्रा को तथा केश, रोमों को धारण करना अर्थात् जटाधारी या मुण्डित मुण्ड रहना। एवं आदि अन्त को छोड़कर युक्ति युक्त शिवाम्बु का सेवन तथा आसन, प्राणायाम आदि के परिश्रम से उत्पन्न पसीने को अच्छी तरह शरीर में ही मसलकर सुखाना। क्योंकि ऐसा करने से शरीर स्वच्छ और हल्का होता है। योगाभ्यास के उपर्युक्त एकान्त स्थान में जल के आश्रय में निवास करना, और गुरुमन्त्र धारण पूर्वक योग की दीक्षा लेना, एवं निष्कपटभाव से ॐ आदि मन्त्र का जप और योग सन्ध्या यम नियमादि का अच्छी तरह पालन करना। तथा भक्ति पूर्वक भगवान् भैरवदेव की मूर्ति का ध्यानादि करना। क्योंकि भैरवदेव सिद्धों के अधीश्वर हैं और योग के आरम्भ काल में रोट, लंगोट आदि पूजा से प्रसन्न किया हुआ भैरवदेव योग में विघ्न नहीं आने देता। अतः निर्विघ्न कार्य की समाप्ति

के लिये इन्द्रादिदेव भी सिद्ध भैरवदेव की पूजा करते हैं। तथा सायं प्रातः काल नियम से ऊँचेस्वर से शङ्ख बजाना कौपीन, खड़ाऊँ, शीत निवारण के लिये ओढने का वस्त्र कम्बल, छाता, वेत कमण्डलु, मस्तक में त्रिपुण्ड और रुद्राक्षादि का धारण करना। इन उपरोक्त चिन्हों को श्रद्धा पूर्वक श्री गुरुदेव को आदेश (प्रणाम) करताहुवा धारण करे ॥१३॥ १४-१५-१६॥

मू०-तेषांपिण्डसिद्धौसत्यांसर्वसिद्धयःसंनिधानाभवन्ति
यस्मिञ्ज्ञाते जगत्सर्वं सिद्धं भवतिलीलया
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माज् ज्ञेयं परं पदम् ।१८
परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः।
देह मूलं हि वेषः स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकः ॥१९॥

सं० टी०—तेषामित्थमाचरतां पिण्डसिद्धिर्भवति तस्यां सत्यां सर्व सिद्धयः, अणिमादयः सन्निधाना भवन्ति सम्मुखमुपतिष्टन्ते। एतदेव पद्येनद्रढयति, यस्मिन्निति यस्मिन् परमात्म तत्त्वे ज्ञाते सति अभिन्नतामापन्ने सति सर्वं जगत् परमात्माधीनं वस्तु,सिद्धम्, स्वाधीन लीलयैव अनायासेनैव भवति किञ्च (सिद्धयः) अणिमादयः स्वयमायांति उपनमंते तस्मात् परमं पदं परमपिण्डमेवज्ञेयम् साधनीयम् साधनं विहाय केवल लिङ्गधारणेनैवात्मानं कृतकृत्यं मा मन्यतामित्यतः, साधनेन सलिङ्गं समुच्चिचीषया केवललिङ्गं निन्द्यते परंपदं परमार्थतो वस्तुतो वेषेण केवल लिङ्गेन न प्राप्यते हि यतः, देहमूलं देहो मूलं यस्येति देहगतं वेषं चिह्नं लोक प्रत्ययस्यायमेतद्धर्मसाधक इति ज्ञानस्य हेतुकं हेतुरेव हेतुकम्, कारणमिति यावत्, अतः साधन सहित लिङ्ग धारणं कुर्य्यादित्येव मुख्यतात्पर्य्यम् ॥ १८-१९

भा० टी०—उपरोक्त वेष को गुरु से विधि पूर्वक धारण कर योगानुष्ठान के द्वारा जब उन महात्माओं की पिण्ड सिद्धि होती है। तब अणिमादि सकल सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। उस समय उन सिद्धियों में आसक्त न होकर केवल आत्म निष्ठा में ही तत्पर रहे। इसी

भाव को आगे के पद्य से श्री योगाचार्य जी कहते हैं। जो असङ्ग ज्योति स्वरूप आत्मा सर्वत्र व्यापक और अपने से अभिन्न है। उसी के यथार्थ स्वरूप को प्रत्यक्ष करना चाहिये। उस निज व्यापक आत्मा के जान लेने पर समस्त भूत भौतिक प्रपञ्च रूप जगत् अनायास जाना जाता है और सिद्धियां स्वयं ही प्राप्त हो जाती हैं तथा अपने में अनुराग कराने के लिये कोशिश करती हैं। इस लिये सिद्धों को चाहिये कि उनमें कदापि आसक्त न हों। केवल आत्म रूप परमपद को ही जानें। पूर्वोक्त वेष मात्र को धारण करने से ही अपने को कृतकृत्य नहीं समझना चाहिये यथार्थ में योग जन्य ज्ञान के बिना मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति वेष के धारण मात्र से नहीं होती, किन्तु सांसारिक जनों को भी साधुपन का ज्ञान हो जाय इस लिये देह मूलक बाहर का चिन्ह (वेष) धारण किया जाता है ॥१८॥ ॥१९॥

मू०—लोके निकृष्ट मुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक् कृतम्।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गेविशेषतः ॥२०॥
योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ।
शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ॥२२॥

सं० टी०—लोके यद्वस्तु निकृष्ट मैहिकफल जनकं सेवाद्युत्कृष्टमामुष्मिकफलदं दानादि तत् परिगृह्यादाय पुनः पृथक् कृतम्, त्यक्तम्, तत् स एव त्यागः स्वधर्म इति ख्यातः कर्तव्यतयाविहितः, यद्यप्ययं सार्वजनीनस्तथापि योगमार्गेऽयं प्रकारः विशेषत आद्रियते योगमार्गादन्यः (परः) श्रेष्ठो मार्गः पन्थाः श्रुतौ स्मृतौ वा अन्येषु शास्त्रेषु च नास्तीति पुरा शिवेन कथितः ॥२१॥ ॥२२॥

भा० टी०—लोक में प्रत्यक्ष फल देने वाला सेवादि कर्म निकृष्ट तथा स्वर्गादि फल जनक कर्म उत्कृष्ट कहलाता है। यद्यपि अविवेकी जन दोनों प्रकार के कर्मों को प्रथम कामना से करते हैं। तथापि पहले सकाम रूप से उस कर्म को ग्रहण कर जब ईश्वरार्पण बुद्धि विवेक द्वारा वह कर्म करने वाला उस कर्म के फल को छोड़ देता है। तब

परम्परा से चित शुद्धि द्वारा मोक्ष का उप योगी वह कर्म रूप धर्म कहलाता है। परन्तु वहां पर भी धर्म शब्द का व्यवहार गौण है। वास्तव में विशेष रूप से योग मात्र को ही धर्म कहना उचित है। क्यों कि योग के बिना स्थूल दुःखों का नाश और मोक्षरूप परम-शान्ति नहीं मिलती। अतः योग मार्ग से बढ कर उत्तम आत्मा के कल्याण का मार्ग अन्य कोई नहीं है। यह श्रुति स्मृति और अन्य सब शास्त्रों में शिव जी ने कहा है। " विना योगेन देवाऽपि न मोक्षं लभते प्रिये !" इत्यादि ॥ २२-२३-२४ ॥

मू०—योगः संहननोपायो ज्ञान संगति युक्तिषु ॥२२॥
लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वते।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोका ज्ञान बलेनतु॥२३॥
मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक्संस्कारवशादिह॥
शास्त्र युक्ति समाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ॥२४॥

सं० टी०—लोके जनेषु योगः, योग शब्दः संहननोपायज्ञान संगति युक्तिषु संहननं संधातस्तस्योपायः सर्वतो वस्तु संयाजनं, ज्ञानं ज्ञान साधन प्रणिधानादिः, संगतिः, मेलनम्, युक्ति स्तर्क एष्वर्थेषु प्रयुज्यते किन्त्विति शेषः, लोकाः सततं यं यं निकृष्ट मनित्य फलदं योगं प्रकुर्वते। तं तं पूर्वोक्त सर्वं ज्ञानबलेन वर्जयन्ति, अतो ज्ञान साधनार्थक एव योगो मुख्य उत्कृष्ट इति तात्पर्यम् नन्वेवं सर्वेषामुत्कृष्टे योगएव कथं न प्रवृत्ति रत आह सर्वेषां मनुष्याणां प्राक् संस्कार वशात् पूर्वजन्मार्जित वासना बलात्(इह)अस्मिन् जन्मनि। शास्त्र युक्तिःशास्त्रीयतर्कः समाचारो व्यवहारः स्फुटं तत्त्वतः प्रकाशमानं क्रमेण भवति। स्व स्व वासनावशात् व्यवहारस्य तत्त्वं प्रतीयते तत्र सद्वासनावतोऽल्पतया मुख्य योगे विरलस्य प्रवृत्तिरिति वोध्यम् ॥१६॥

भा० टी०—दो वस्तुओं को मिलाना उपाय ज्ञान सङ्गति युक्ति इन अर्थोंमें योग शब्द का प्रयोग होता है। लोकमेंनिरन्तर अनित्य फल देनेवाली वस्तुओं में जो योग काअर्थ किया जाता है वह अर्थ गौणहै।

और ज्ञान साधनार्थक तथा मोक्ष का उपयोगी यह योग शब्द का मुख्य अर्थ है। अतः ज्ञान सम्पन्न विद्वान् उस अनित्य फल दायक गौण अर्थ को छोड़ कर मुख्य अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। इसी से उनकी मुख्य रूप से योग में निष्ठा होती है।

प्र०—यदि अद्वैत आत्म निष्ठा ही मुख्य है तब सबकी प्रवृत्ति उसी में क्यों नहीं होती ?

उत्तर—यह संसार भिन्न स्वभाव है। इस में अनेक प्रकार के मनुष्य हैं उन में से कुछ ही पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य कर्म के प्रभाव से शास्त्र और युक्तियों में क्रमशः निपुण होते हैं। अतः विशिष्ट विद्वान् ही योग के यथार्थ अर्थ को जानते हैं। इसी लिये योग में कोई भाग्यवान् ही पुरुष प्रवृत्त होता है ॥१६॥

मू०—एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञान प्राप्त्यर्थं तच्च परमं पदं महासिद्धानां मतं परिज्ञाय च तस्मिन्नहं भावे जीवात्मा च सहज संयम सोपायाद्वैत क्रमेणोपलक्ष्यते ॥२५॥

सं० टी०—एवं पूर्वरीत्या (पिण्डे) स्वशरीरे (संसिद्धे) प्रथमतो ज्ञाते सति पश्चात् महासिद्धानां मतमंगीकृतम् तत परमंपदम् चिच्छक्ति सहिताखण्ड सच्चिदानन्द रूपं शिव तत्वं परिज्ञाय "यस्मिन्" परम तत्त्वेऽहं भावे सति पूर्वं जीवतत्त्वं पश्चाच्च शिव तत्त्वं विज्ञायोभयोरभेदे सतीति रहस्यम्। जीवात्मा च सहजसंयम सोपायाद्वैत तच्चतुष्टय क्रमेणोपलक्ष्यते परमपदेनेति शेषः जीवोहि परस्यैकदेशत्वेन परमात्मन उपलक्षणं य एव सोपाधि ज्ञायते स एवोपाधिपरिच्छेदरहितः सञ्ज्ञायेत तदा व्यापकः सन् परमात्मा सम्पद्यतइति तत्र प्रकार चतुष्टयस्य प्रतिपद व्याख्यान मनुपदमेवाग्रेऽभिधास्यते स्वयमेव ॥२५॥

भा० टी०—पूर्वोक्त योग रीति से अच्छी तरह देह पिण्ड के सिद्ध होजाने पर अखण्ड ज्ञान प्राप्ति के लिये महासिद्धों का अभिप्रेत जो चिद्रूप शक्ति सहित अखण्ड परम शिव तत्व है वही परमपद कहाजाता है। उसको अपना आत्मा जान कर उसी असङ्ग शिवतत्व

में यह भाव करे कि मैं परम शिव हूँ। मेरे में और शिव में कुछ भी भेद नहीं। यही वास्तव में अभेद रूप समरस कहलाता है। अतः परमशिव से अभिन्न और व्यापक जो जीव का असली स्वरूप है वह सहज संयम सोपाय और अद्वैत क्रम से लक्षित होता है ॥१७॥

मू०—तत्र सहजमिति विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमितिज्ञात्वैकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यज्ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ॥२६॥

सं० टी०—परमेश्वरम् विश्वातीतम् निर्गुणतया विश्वं संसारमतीतमति क्रान्तमपि विश्वरूपेण मायासहितत्वात् संसार रूपेणावभासमानं संसारं प्रत्युपादानतया तदात्मकत्वादितीत्थं ज्ञात्वा तादृशं परमेश्वरमिति पूर्वोक्ताहम्भावनया ज्ञात्वैकमेव तत्त्वमस्तीति हेतोःस्वस्वभावेन स्वस्वरूपेणाभिन्नं निखिल वस्त्विति यज् ज्ञानं तत् सहजमिति कथ्यते ॥१८॥

भा० टी०—अब पूर्वोक्त सहज संयमादियों में से सहज ज्ञान का निरूपण करते हैं। यद्यपि सर्वाधार अखण्ड व्यापक स्वयं ज्योति परमेश्वर वास्तव में सकल विश्व से अतीत है तथापि अपनी शक्ति द्वारा नाना जीवादि संसार रूप से भी मूर्ख जनों को वही प्रतीत होरहा है। परन्तु तत्त्वदृष्टि से वह एक ही है। वही मेरा यथार्थ स्वरूप है। अतः मैं असङ्ग और व्यापक हूँ। इस प्रकार जो स्वाभाविक यथार्थ ज्ञान होता है वही सहज ज्ञान कहलाता है ॥१८॥

मू०—संयमइतिसावधानानांप्रस्फुरद्व्यापाराणां निजवर्तिनांसंयमंकृत्वाऽऽत्मनिधीयत इतिसंयमः ॥२७॥

सं० टी०—इदानीं संयमपदार्थो विव्रियते निजवर्त्तिनाम् स्वस्मिन् विद्यमानानां सावधानानां स्वकार्योत्पादन पटूनां न तु दुर्बलानां प्रस्फुरद् व्यापाराणां प्रस्फुरन्ते ये व्यापारा इति कर्मधारयस्तेषां संयमनं निवृत्ति कृत्वा विधाय, आत्मनि, अखण्ड परमात्मनि धीयते स्थाप्यते येन स एव संयमः ॥१६॥

भा० टी०—अब संयम शब्द का अर्थ बताया जाता है। इन्द्रियां अपने अपने विषयों के ग्रहण करने में तत्पर रहती हैं। क्योंकि इन्द्रियों का विषयों में प्रवृत्त होना स्वाभाविक धर्म है। अतः निरन्तर व्यापार वाली वे इन्द्रियां निज देह में वर्तमान हैं। मन के सहित उन इन्द्रियों को विषयों से रोक कर आत्मा में लगाने को संयम कहते हैं ॥१६॥

मू०—सोपायमिति स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥२८॥

सं० टी०—अधुना सोपायमधीयते स्वप्रकाशमयमन्यानपेक्षं प्रकाशरूपं स्वयं केवलचेतनं स्वेनैव चैतन्य रूपेणैव स्वात्मनि स्वस्वरूपेचेतन एकीकृत्याभिन्नं विधाय सदा तत्त्वेना विचलित भावतया स्थातव्यम् स्थितिर्विधेया येन तत्सोपायम्।

भा० टी०—अब सोपाय ज्ञान का वर्णन करते हैं। केवल अपने स्वप्रकाश आत्मा को सर्वत्र व्यापक रूप से एक जानकर सदा उसी में आत्म निष्ठ होकर स्थित रहना ही उचित है। यह स्थिति जिस ज्ञान से होती है वह 'सोपाय ज्ञान निष्ठा' कहलाता है। उसी ज्ञान से अखण्ड आत्मा का भान होता है ॥२०॥

मू०—अद्वैतमित्यकर्तृतयैव योगीनित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थात्वेन तिष्ठति ॥२६॥

सं० टी०—कल्पना रहितो योगी सदा निरुत्थानत्वेन कदाचिदपि स्वस्वरूपप्रच्युतिरहितः सन् तिष्ठति स एवाद्वैत पदार्थः ॥२१॥

भा० टी०—अब अद्वैत का वर्णन किया जाता है। आत्मा कर्तृत्व भोक्तृत्वादि धर्म शून्य असङ्ग व्यापक और एक है। उस असङ्ग व्यापक अद्वैत आत्म निष्ठा को प्राप्त होकर निज आत्मा में ही नित्य तृप्त हुआ योगी कदापि उस स्थिति से विचलित नहीं होता। यही अद्वैत रूप परम पद कहलाता है ॥२१॥

मू०-सहजंस्वात्मसंवित्तिःसंयमःस्वस्वनिग्रह।
सोपायं स्वस्वविश्रान्ति रद्वैतं परमंपदम् ॥३०॥

सं० टी०-उक्तमेव सहजादिपद व्याख्यानं सारांशानुसन्धाना यान्वे संक्षेपेणाह। सहजमित्यादि स्वस्वरूपस्य वास्तविक विज्ञानं सहजं निखिल शरीरेन्द्रियादि व्यापाराणा मात्मनि स्थापनं संयमः। स्वस्वरूपे स्थितिः सोपायः, साक्षात् परमपद मद्वैतम् ॥२२॥

भा० टी०-जीवात्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान को सहज ज्ञान कहते हैं। विषयों में तत्पर इन्द्रियों के प्रवाह को रोककर आत्मा में लगाने को संयम कहते हैं। योगादि उपाय पूर्वक ब्रह्मज्ञान से होने वाली आत्म निष्ठा को सोपाय कहते हैं। और अन्त में अद्वैत ही परमनिर्भय पद है ॥२२॥

मू०-तज्ज्ञेयं सद्गुरोवक्त्रान्नान्यथा शास्त्र कोटिभिः।
तर्क शब्द विज्ञानान्नाचाराद्वेदपारगात् ॥३१॥
वेदान्त श्रवणान्नैवतत्त्वमस्यादि बोधनात्,
नहंसोच्चारणाज्जीव ब्रह्मणोरैक्य भावनात् ॥३२॥
न ध्यानान्नजपाल्लीनः सर्वज्ञः सिद्धिपारगः।
स्वेच्छो योगी स्वयं कर्त्ता लीलया चाजरामरः ॥३३॥
अवध्योदेवदैत्यानां क्रीडति भैरवो यथा।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमेणाप्नोति लीलया ॥३४॥
असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सद्गुरोःकरुणांविना
अतस्तुगुरुः संसेव्यः सत्यमीश्वरभाषितम् ॥ ३५॥

सं० टी०-ननु पूर्वोक्तरीत्या स्वयमनुष्ठानेनापि सिद्धिर्भविष्यत्येव किमर्थं गुरुपादसेवनमिति सनातन सम्प्रदायतो विचलित मतीनां शंकां द्रवयति तज्ज्ञेयमित्यादि। योहि स्वयं योगानुष्ठानतत्परः स एव सद्गुरुः, तस्यैव वाक्यात् तत्पूर्वोक्ततत्वं विज्ञेयंबोद्धव्यम् न चान्यथानान्यत्प्रकारेण

शास्त्रकोटिभिः । योगोपायविज्ञानं तर्कशास्त्रविज्ञानादपि न भवति नचारात् केवल वेद पाठात ॥२६॥ गुरुरहितेन वेदान्त श्रवणेनैव तत्त्वमस्यादि वाक्यज्ञानातहंसोच्चारणात् जीव ब्रह्मणोरैक्यभावनात् गुरूपदिष्ट योग प्रक्रियारहितात् स्वयमाहितभावनात् ॥३०॥ ध्यानात् स्वकल्पितोपायकध्यानात् जपात् केवल वाह्य जपात् न सिद्धिर्भवतीति सर्वत्र सम्बन्धस्तथा च कीदृशोगुरुः कर्तव्य इत्यत आह लीनः, संसारतोविरक्तोब्रह्मणि लीनः सर्वज्ञःकृतस्थूल सूक्ष्मोभय प्रत्यक्षः(सिद्धिपारगः) अष्टसिद्धिसम्पन्नः स्वच्छो रागद्वेषविधुरः योगीस्वयंकर्ता संसाररचनाकौशलसम्पन्नो भवति सोपिलीलया नत्वायासबाहुल्यम् किञ्चाजरोवार्द्धक्य रहितो ऽमरोमरणविहीनः सन् ॥३१॥ दैवदैत्यानामप्यवध्यो भवति न कोऽपितस्य हनने समर्थो यथा भैरवः क्रीडति सकलैरवध्यः सन् इतरान् पराजित्य विहरति लोके तथैव सोपि साधकोभवति तत इत्येवम् । गुरुपूर्वक पूर्वोक्तसाधनेऽनुरक्तः सन् निश्चलः सन्देह रहितोयः साधको ऽपि क्रमेण क्रमशःलीलयागुरुवलेनाभ्यासं विनैव सिद्धिमवाप्नोति गुरुरहितैस्तु सिद्धयो ऽसाध्या भवन्ति वर्षशतैरपि न सिद्धयन्तीति गुरुदेव पादसेवनं ध्रुवं विधेलिममिति हृद्यम् अस्यैव सत्संप्रदायतां सूचयितुमाह सत्यमीश्वर भाषितम् पूर्वोक्त तत्त्वमेवेश्वरेण भाषितमत स्तदेव सत्यमितरत् सर्वं मनुष्योत्प्रेक्षिततयाऽतथ्यमिति फलति ॥३२॥

भा० टी०—पूर्वोक्त योगादि तत्त्व को सद्गुरु के मुखारविन्द से सुन कर ही अनुष्ठान करे अन्यथा नहीं क्यों कि गुरु के बिना अनेक शास्त्रों के मन माने अर्थ से आत्मा को नहीं जान सकता । न शुष्कतर्कों से न केवल आचार से न वेद पाठ से न तत्त्वमस्यादि महावाक्य के जानने से न हंस मन्त्र के उच्चारण से न जीव ब्रह्म की अभेद भावना से न ध्यान से और न जप से ही आत्मा को किन्तु विधि पूर्वक गुरु के द्वारा ही आत्मा को सांगो पांग योग विधि को तथा और भी उपरोक्त सारभूत तत्त्वों को जान सकता है। इस प्रकार दृढ़ निश्चय वाला योगी जब सिद्ध गुरु से यथावत् जानकर योगानुष्ठान में तत्पर होता है तब अनायास ही क्रम से अजरामर रूप परमपद को प्राप्त होता है। फिर वह निज आत्मा में मग्न सकल

सिद्धियों का पारंगम सर्वत्र स्वच्छन्द गति और जरामरणादि विकार रहित सब का कर्ता धर्ता होता हुआ देवदैत्यों से भी अवध्य हो जाता है। तथा भगवान् भैरव देवके सदृश सर्वत्र स्वतन्त्रगति से विचरता है। अवधूत सिद्ध गुरु के उपदेश बिना योग कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अतः गुरु का आश्रय परम आवश्यक है यह शिव जी का वचन सत्य है ॥२३॥

प्रथमेत्वरोगतासिद्धिः सर्वलोक प्रियो भवेत् ।
कांक्षन्ति दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः॥३६
कृतार्थः स्याद्द्वितीये च कुरुते सर्वभाषणम् ।
तृतीये दिव्य देहस्तु स्याले व्याघ्रैर्न बाध्यते ॥३७॥
चतुर्थे क्षुत्तृषा निद्रा शीतातप विवर्जितः ।
जायते दिव्य योगीशो दूरश्रावी न संशयः ॥३८॥
वाक् सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकाय प्रवेशनम् ।
षष्ठे न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातै र्न भिद्यते ॥३६॥
वायु वेगी क्षिति त्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ।
अणिमादि गुणोपेत स्त्वष्टमेवत्सरे भवेत् ॥४०॥
नवमेवज्रकायः स्यात् खेचरो दिक् चरो भवेत् ।
दशमे पवना द्वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ॥४१॥
सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धि भाग् भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौकर्त्ता हर्त्ता स्वयं भवेत्॥४२॥
त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्री भैरवो यथा ४३

सं० टी०—क्रमेणाप्नोतीत्युक्तं तत्र कः क्रम इति जिज्ञासोपशमनाय सिद्धीनां क्रमः प्रदर्श्यते पूर्वोक्तरीत्या कृतसंयमस्य साधकस्य नित्यशः आत्मरूढस्य सतत मात्मारूढस्य पूर्वप्रतिपादितरीत्या

पिण्डाण्डयोः समरसकरणे परिनिष्ठितस्य प्रथमे वर्षे इति शेषः प्रथम वर्षो स्यरोगतायाः सिद्धिः, रोगरहितो भवति किञ्च सर्वलोकप्रियो भवेत् न कोऽपि तं प्रति द्वेषभावमाधत्ते प्रत्युत यथा स्वात्मनि प्रीतिं विदधति तथैव तस्मिन्नपि सर्वे प्रीतिमावहन्ति, अतस्तस्य दर्शनं सर्वोपि कांक्षति, इदमत्र रहस्यम् सर्वत्रात्मभावनोपासना बलात् सर्वेषां बुद्धावेवं प्रत्यग्यात्मभावः स्वयमेवोदेति, अतः समुचितमेव तं प्रति प्रीतिदर्शनम् इति विदन्ति कोविदाः ३६। द्वितीय वर्षद्वय पर्यन्तं साधने सम्पन्ने सति कृतार्थः परिपूर्णमनोरथः सन् संकल्परहितो भूत्वेति यावत् सर्वभाषया व्यवहार मित्याहारः कुरुते सर्वभाषाविज्ञोभवतीत्यर्थः तृतीयवर्षे परिपूर्णेसति दिव्य देहः सिद्धशरीरोभूत्वा व्यालैः सर्पव्याघ्रैरुपलक्षणमेतत् सकल हिंस्रैर्नबाध्यते न हिंस्यते इति। ३७ चतुर्थसंवत्सरे पूर्णे क्षुधा पिपासा निद्राशीतोष्ण द्वन्द्वबाधारहितो भूत्वा दिव्य योगीशो विशिष्टयोगीन्द्रः सन् दूरश्रावी दूरतएव श्रवणशीलोजायतेऽत्र नास्ति संशयः। ३८ पञ्चमे वर्षे व्यतीते वाक् सिद्धिर्भवति यद्यद् वदति तत्तत् सफलं भवत्येव न जातु वैकल्यं प्रयाति किञ्च परकाय प्रवेशनमपि जायते। विद्यमान शरीरं विहाय मृतकशरीरान्तरे प्रविश्य तेनैव व्यवहारं प्रकरोति यथा परमाचार्य्यः श्री मत्स्येन्द्रनाथो राज शरीरे प्रविष्ट इति गाथा प्रसिद्धा। षष्ठे वर्षे तु शस्त्रैर्न च्छिद्यते तस्य शरीरम् इति शेषः किञ्च वज्रपातैरपि न बाध्यते ॥३९॥ सप्तमे वर्षे पृथ्वीं विहाय विहायसा वायुवद्वेगशीलः सन्द्रुतं गच्छति किञ्च दिव्य चक्षुष्मत्वाद् दूरस्थ वस्तूनामपि द्रष्टा भवति। अष्टमेवत्सरेत्वणिमाद्यैश्वर्य सम्पन्नो जायते ॥४०॥ नवमे वर्षे वज्रवदभेद्यदेहोभवति किञ्च आकाश गामी सर्व दिक् सञ्चरणशीलो जायते। दशमेवायुवद् यत्र गमनेच्छा तत्रैव देशेगच्छत्येकादशेसर्वज्ञः ॥३६॥ द्वादश वर्षे निर्विघ्न समाप्ते ऽसौ योगी शिव तुल्यः सृष्टेः कर्ता हर्ता च स्वयं भवेत्। यद्यप्यनादीश्वर संकल्पवशात् शान्तः सन्निमां सृष्टिं न संहरति न चान्यां प्रकुरुते किन्तु यदीच्छेत् तदा तदपि कर्तुं पारयेदिति योग्यता प्रदर्शनेन शक्तिसद्भावः साध्यते ॥४०॥ स सिद्धः त्रैलोक्ये पूज्यत आद्रियते यथा श्री भैरव एतत् सत्यं मन्तव्यम् ॥४१॥ ॥२४॥

भा० टी० जो गुरुभक्त शिष्य गुरुमन्त्रादि योगदीक्षा से दीक्षित होकर जब योगाभ्यास आरम्भ करता है। तब क्रम से जो योग सामर्थ्य होती है उसी का पूज्य आचार्य नीचे वर्णन करते हैं।
योगारम्भ के प्रथम वर्ष में योगाभ्यासी का शरीर रोग रहित और निर्मल हो जाता है। तथा वह सर्वलोक प्रिय होजाता है। क्योंकि वह नित्य अपने आत्मरूप में तत्पर रहता है। अतः उस आत्मरूढ़ सिद्ध के देवता भी दर्शन करना चाहते हैं। दूसरे वर्ष में वह योगाभ्यासी आत्मानन्द में मग्न हुआ मनुष्य जन्म के सफल होने से कृतकृत्य होजाता है और देव पशु, पक्षी आदि से भी बातचीत करने की शक्ति आजाती है। तीसरे वर्ष में उसका शरीर देव तुल्य होजाता है और सर्प व्याघ्र आदि से अवध्य होता है। चौथे वर्ष में वह योगीश्वर भूख, प्यास, नींद, सर्दी और गर्मी आदि से रहित हो दूर के शब्द को भी सुनने लगता है। इसमें सन्देह नहीं। पञ्चम वर्ष में वचन की सिद्धि होती है अर्थात् जो मुख से कह देता है वह सत्य होता है और दूसरे शरीर में प्रवेश होने की शक्ति हो जाती है। छटे वर्ष में तलवार आदि तीक्ष्ण शस्त्रों से भी उसका शरीर नहीं कट सकता और उस समय उसके शरीर पर बिजली या इन्द्र का वज्र भी असर नहीं कर सकता। सप्तम वर्ष में वह योगी पृथ्वी को छोड़कर वायु के सदृश वेगवान होकर ऊपर चलने लगता है और दिव्य दृष्टि से दूर तक की वस्तुओं को भी देखने लगता है। आठवें वर्ष में अणिमादि सकल सिद्धियों से सम्पन्न होजाता है। नवमें वर्ष में वज्र शरीर होजाता है और ऊर्ध्व गति होने से आकाशगामी तथा सब दिशाओं में घूमने का सामर्थ्य आजाती है। दशवें वर्ष में पवन से भी अधिक वेग युक्त होकर आकाश मार्ग से जहाँ इच्छा होती है वहीं शीघ्रगति से चला जाता है। ग्यारहवें वर्ष में अभ्यास के बढ़ जाने से सर्वज्ञ सकल सिद्धियों से युक्त तथा सत्य कर्त्ता हो जाता है। बारहवें वर्ष में तो शिवजी की तरह स्वयं ही सकल विश्व का कर्त्ता हर्त्ता हो जाता है और भैरव भगवान् की तरह तीनों लोकों में पूजित होता है। यह सत्य है। ।३६-३७-३८-३९-४०-४१-४२

मू०- एवं द्वादशवर्षैस्तु सिद्ध योगी महाबलः ।
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः ॥४४॥

सं० टी०—एवं पूर्व क्रमानुष्ठानेन सद्गुरोः पादप्रसादात् सद्गुरु पाद सेवनबलाद् द्वादशवर्षैः महाबलः शिवतुल्यः सिद्धयोगी जायतेऽत्र नास्ति संशयः ॥४४॥

भा० टी०-इस प्रकार सिद्ध अवधूत गुरुदेव के चरणों की कृपा से बारह वर्ष में महा योग बलशाली होजाता है ॥४४॥

मू०-अनुबुभूषतियोनिजविश्रमं,सगुरुपादसरोरुहमाश्रयेत् ।
तदनुसंसरणात्परमंपदं,समरसीकरणंनचदूरतः ॥४५॥

सं० टी०—योमुमुक्षुर्निज विश्रमं स्वकं मोक्ष मनुबुभूषति, अनुभवितु मिच्छति स गुरु पादसरोरुहमाश्रयेदाचार्य चरणेन्दीवर सेवेत गुरोरेव मूलमन्त्रे तिव्यज्यते भूयोऽपि तदेवाह तदनुससरणादिति गुरुपत्पङ्कजानुगमनात्, नदूरतरत्वरित मेवपरममुत्कृष्टं चरमाव धीति यावत पदंस्थानं समरसीकरणमण्ड पिण्डयोरैक्यं भवतीतिशेषः चकारोनुक्त समुच्चयार्थः ॥४५॥

भा० टी०—अतः जो मुमुक्षु परमशान्ति चाहता है। वह योग तत्त्व के जानने वाले गुरु के चरण कमलों का आश्रय करे। क्योंकि योग विशारद गुरु की बतलाई विधि से जब योगानुष्ठान में तत्पर होगा तभी समरस की प्रणाली से पिण्डसिद्धि और मोक्ष रूप परम पद की प्राप्ति सुलभ होगी ॥४५॥

मू०-गुरुकुलसन्तानंपञ्चधाप्रोक्तम् । आईसन्तानं बिलेश्वरसन्तानंविभूतिसन्तानंनाथसन्तानंयोगीश्वरसन्तानञ्चेत्येषामपिसन्तानानांपृथक्पृथक्वैशिष्ट्यंवर्तते४६

सं० टी०—गुरुकुल सन्तानं योगप्रचाराय आचार्यवंशः वंशोद्विधा विद्यया जन्मनाचेति, अत्र विद्ययैवं वंशःकथितः योगविद्यायाः प्रदाता गुरुः पितृस्थानीयः,ग्रहीता शिष्यःपुत्रस्थानीयोबोध्यः सचवंशः पञ्चधा

पञ्च प्रकारकः प्रोक्तः पारंपर्यात प्रसिद्धः तत्राभ्यर्हितत्वात् प्रथमतः प्रदर्श्यते आईसन्तानमिति अस्मिन्नेव महासिद्धपुरुषः श्रीमत्तनाथः श्री गोरक्षनाथावतारस्वरूपः संजात एतच्चरित्र वैचित्र्य जिज्ञासुभिर्मत्कृतटीका संवलित पंच विंशति सर्गात्मक श्रीमत्तनाथ चरित्र नामकग्रन्थो द्रष्टव्यः तत्पादसञ्चारपरिपूतब्रह्मशिष्यसंस्थापितोवोहरस्थानस्थसिंहासनमधिरूढः श्रीपूर्णनाथोयोगीन्द्रःसाम्प्रतंराजते बिल्वेश्वरसंतानंद्वितीयविभूतिसन्तानं तृतीयंनाथसन्तानञ्चचतुर्थं योगीश्वरसन्तानंपञ्चमं सर्वेषांस्वरूपतोभेद प्रदर्शनाय सर्वत्र चकारः प्रयुक्तो यथाधवश्च खदिरश्चेति द्वन्द्व विग्रहे न च समासः कुतो न कृतस्तस्य वैकल्पिकत्वात्। ननु द्वादशपथाः सन्ति कथं पञ्चधैवेत्यतआह एतेषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्त्तते यतकिंचितवैशिष्ट्यमादायैव द्वादशधा, वस्तुत. सर्वेषामत्र त्वा रतम्यंविऽपि न क्वापि मन्त्रसिद्धान्तयोः क्षतिः॥४६॥

भा० टी०—अब योग विद्या के प्रचारक सिद्धगुरुओं की वंश परम्परा का वर्णन करते हैं। वह वंश दो प्रकार का होता है। जन्म से विद्या से, जन्म वंश का सम्बन्ध गृहस्थाश्रम में होता है। अवधूत योग सम्प्रदाय में तो केवल विद्याकृत वंशकासम्बन्ध जानना। इसीलिये योग सम्प्रदाय में दीक्षित योगी नाद के कहलाते हैं। विन्दु के नहीं। क्योंकि जब मुमुक्षु सिद्धसम्प्रदाय मेंप्रविष्ट होकर गुरमन्त्रादिदीक्षा से दीक्षित होता है तभी से वह नाद का योगी कहा जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो नाद शक्ति सम्पन्न परब्रह्म परापश्यन्ती आदि क्रम से समस्त ऋग्वेदादि सृष्टि और भूतादि अर्थ सृष्टि का कारण है वही परमनाथ तत्वतू है। अतः योग समाधि में अपनी नाद शक्ति को अभिव्यक्त कर अपने अखण्ड स्वरूप में प्रतिष्ठित हो। तू भ्रम में न न पड़ तू काल का भी काल है तू व्यापक अखण्ड परब्रह्म है। तू दीन न हो। क्यों कि तू ही परम नाथ है। इत्यादि उपदेश से योग सम्प्रदाय में योगी जन शिष्य के दीन भाव को दूर कर नाथ शब्द से अलंकृत कर देते हैं। वहप्राचीन गुरु वंश प्रणाली पांच प्रकार की है। आई नाम विमलाशक्तिका है। इसी को आई नाथ या दयनाथभी कहते हैं। अतः आई नाथ देवी की शिष्य परम्परा का आई सन्तान नाम है। जो इस

समय आई पन्थ नाम से प्रसिद्ध है। दूसरी विलेश्वर गुरु की वंश प्रणाली है। यद्यपि स्वयं वस्त्र रहित दिगम्बर तपस्वी हैं। तथापि शरणागत दीन दुखी श्रद्धालु अधिकारी जनों को पवित्र उपदेश देने तथा उनके दुखोंको दूर करनेमें जो समर्थ हैं वे विलेश्वर वंशपरम्परा के कहलाते हैं और अपनी इच्छा से आसन प्राणायामादि की धारणा में अत्यन्त समर्थ होते हैं। तीसरी विभूति को धारण करने वाली सिद्धगुरु वंश प्रणाली है। जिन्होंने प्रथम योगधारणादिकी अच्छी तरह साधना की है। इसी से वे अणिमादि विभूतियों से सम्पन्न कहलाते हैं। अतः सिद्धगुरु योग सामर्थ्य को चाहने वाले मुमुक्षु शिष्यों को योग चमत्कार दिखा कर उन में श्रद्धा उत्पन्न करते हुये उन को आत्म कल्याण के मार्गपर लगाते हैं। यही विभूति सन्तान है। चौथी नाथ सन्तान (वंश) का वर्णन करते हैं। सकल प्रपञ्च की अपेक्षा से जो अव्याकृत, और उस से भी परे परम नाथ तत्त्व है वही लक्ष्य भूत है। उस लक्ष्य में ही आत्मा के व्यापक रूप को दिखलाते हुये सिद्ध गुरु योग्य अधिकारियों को समरस रूप अभेद के उपदेश का प्रणाली से परम पद मोक्ष को प्राप्त करादेते हैं। अतः व्यापक परमनाथ के स्वरूप को प्राप्त कराने से वे सिद्ध नाथ वंश में गिने जाते हैं। अब पांचवीं योगीश्वर सन्तान का निरूपण करते हैं। पूर्वोक्त व्यापक असङ्ग नाथ तत्त्व में अपने स्वरूप के लय होनेपर सृष्टि आदि क्रिया के करने में भी योगसामर्थ्य का उपयोग करते हुये जो सिद्ध गुरु अधिकारी जनों को योग्यता के अनुकूल उपदेश देते हैं। वे योगीश्वर सन्तान में गिने जाते हैं। उपरोक्त पांच प्रकार से जो सिद्धगुरु वंश परम्परा का संक्षेप से वर्णन किया है। उस परम्परा में भी बहुत से अवान्तर भेद हैं। वे बारह और अठारह शाखाओं में प्रसिद्ध हैं ॥४६॥

मू०--परमार्थतः सर्वं पाञ्चभौतिकं जाताः पुरुषाः सम्बोधमात्रैकरूप. शिवस्तदितरत्सर्वमज्ञान मव्यक्तं भवति तत्र शिवस्तुज्ञानम् ॥ ४७

सं० टी० परमार्थतः सर्ववस्तुपाञ्चभौतिकम्, अतःपञ्चधैव साम्ता नमुचितमत्र ग्रन्थे सर्वं पंचप्रकारेणैवव्याख्यातमिति न विस्मरणीयम् मजाताअनुत्पन्नाः पुरुषाः जीवात्मानः सम्बोधमात्रैकरूपः चिन्मात्र रूपः शिवस्तदितरत् तद्भिन्नं सर्वमज्ञानं जडरूपमव्यक्तम् जडोपादानम्प्रकृति रिति सत्स्वरूपेण पदार्थ वर्णनं सृष्टिरेव वंशास्तस्य कर्त्तागुरु रतः पंचभूत स्थानीयाः पंचगुरवस्तेषां वंशाः सर्गा ॥४७॥

भा० टी०—यथार्थ में संसार की सबवस्तुएं पाँचभूतों से बनी हैं। इसी से इस ग्रन्थ के उत्पत्ति प्रकरण में प्रत्येक वस्तु का पाँच पाँच प्रकार से निरूपण किया है। अतः सिद्ध गुरुओं की वंश प्रणाली को भी आचार्य ने पाँच भागों में विभक्त किया है। यदि पांचभौतिक सकल प्रपंच की उत्पत्ति होती है तो आत्मा उत्पन्न होता है या नहीं ? इस शंका का उत्तर यह है—आत्मा की उत्पत्ति नहीं होती क्यों कि यह आत्मा अखण्ड चेतन ज्योतिः स्वरूप एक और व्यापक शिव है। यहाँ आत्मा की उत्पत्ति का निषेध आत्मा में जन्म मरणादि सकल विकारों के निषेध का भी द्योतक है। आत्मा जन्म मरण वृद्धि ह्रास आदि विकारों से शून्य आकाश की तरह व्यापक असङ्ग चेतन और सर्वान्तर्यामी है। उसी व्यापक आत्मा के रूप के ज्ञान से अमृत रूप परमपद की प्राप्ति होती है। और आत्मा से भिन्न समस्त प्रपञ्च अज्ञान रूप है। क्योंकि अज्ञान अव्यक्तादि नाम से बोधित माया का कार्य होने से यह जगत् भी मिथ्या कहलाता है। केवल शिव ही चेतन विज्ञानमय और सर्वत्र व्यापक है ॥४७॥

मू०—एतेषामपिसन्तानानांकेचित्स्वरूप
पराङ्मुखा वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति
सन्तानभेदंप्रत्यन्योन्यमधःकुर्वन्तियोगमार्गं दूषयन्ति ४८

रजसाघोर संकल्पाःकामुकाअतिमन्यवः ।
दाम्भिका मानिनः पापा धिक्कुर्वन्तीश्वरप्रियान् ॥ ४९

साधुसंगमसच्छास्त्रपरमानन्दलक्षितान् ।

स्वेच्छाचारविहारैकज्ञानविज्ञानसंयुतान् ॥ ५०
यूयं शिष्टा वयं दुष्टा दुष्टा यूयं वयं तथा।
एवं वदन्ति चान्योन्यं प्रमोहेननिरन्तरम् ॥५१॥

सं० टी०— एतेषां विद्यमानानां संतानानां वंशानां मध्ये केचिज्ज जना: स्वरूपपराङ्मुखा आत्मचिन्तनतो विरक्ता: क्रयविक्रयादिकं सांसारिक व्यवहारं कुर्वन्ति, अन्योऽन्यं परस्परं सन्तान भेदं प्रति भेदबुद्धिं कुर्वन्ति रागद्वेष समाकुला भवन्ति। अत एव योगमार्गं वास्तविक श्रेय: साधनं द्वेषयन्ति निन्दन्ति रजसा रजोगुणबलेन घोर संकल्पा: सांसारिकविषयचिन्तनतत्परा: कामुका: कामान्धा अतिमन्यव: अत्यन्तक्रोधिन: स्वात्मानमधिकं मन्यमाना: पापा: पापवन्तो: जना: ईश्वरप्रियान् परमेश्वरभक्तान्। साधुसंगम: साधुसहवास: सच्छास्त्राणि आत्मपरमात्मबोधकानि योगवेदान्तादि शास्त्राणि यो य: परमानन्दस्तेन लक्षितान् संयुतान् परमानन्दानुभवशालिन: स्वेच्छाचारविहारौ चानियत कमनिवासौ एक विज्ञानं आत्मैक्य बोध स्ताभ्यां संयुक्तान् संहितान् सज्जनान् धिक् कुर्वन्ति व्यवहारा नभिज्ञतानपुंस्कादिदोषं प्रदर्श्य निन्दन्ति। कस्यचित् सत्कार करण काले दुष्टत्वेऽपि यूयं शिष्टा: स्वरूपस्य शिष्टत्वेऽ पि वयं दुष्टा: किञ्च मित्रादि साहाय्यकाले यदि यूयं दुष्टास्तथा वयमपि भवामइत्येवं प्रमोहेनाज्ञतया निरन्तर परिवदन्ति ॥ ४८-४९-५०-५१

भा० टी०—उक्त वंश परम्परा में भी बहुत से अपने योगधर्म को छोड़ कर केवल वेष मात्र को धारण किये क्रय विक्रयादि लौकिक व्यापार में तत्पर रहते हैं और इस वेश परम्परा में प्रेमीजनों का तिरस्कार कर जो योग मार्ग से द्वेष करते हैं उन द्वेषी जनों के स्वभाव का निम्न प्रकार से वर्णन किया जाता है। उक्त योग मार्ग के द्वेषी और रजोगुणी जनों के मनोरथ भी अति दारुण होते हैं जिन का पूरा होना भी असंभव है। इसी से वे भोग्यविषय के इच्छुक होते हैं और यदि उनके काम का विघात होजाय तो क्षणभर में अत्यन्त क्रुद्ध

होजाते हैं ऐसे कपट स्वभाव दम्भी अभिमानी और रागद्वेषादि से दूषित अन्तः करण वाले वे पापी सज्जन साधुओं के संग से और योगादि उत्तम शास्त्रों के अभ्यास से परमानन्द रूप मोक्ष पद को ही लक्ष्य करने वाले स्वच्छन्द गति से विचरने वाले और आत्मा के अनुभव से सम्पन्न ईश्वर भक्तों को धिक्कारते हैं कि तुम लोग अपने को शिक्षित एवं सभ्य मानते हो और हम को दुष्ट समझते हो परन्तु ऐसा नहींहै किन्तुतुम ही दुष्ट असभ्य और मूर्ख हो और हम शिक्षित बुद्धिमान् तथा सभ्य हैं। इस प्रकार अज्ञान से आपस में निन्दित वचनों का प्रयोग करते हैं। अतः जगत को राग द्वेष से परिपूर्ण देखकर योगी को आत्म निष्ठ होकर एकान्त में रहना चाहियें ॥५१॥

मू०—पृथ्वीजलं तथा वह्निर्वायुराकाशमेव च
ऐते सन्तानो दयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ५२

सं० टी०—शक्ति सम्वलितशिवस्य स्वीय प्रकृत्युत्पादितानि पंचभूतानि पंचशरीराणि तदधिष्ठातारश्च पुरुषाः पञ्च पुत्रास्ते एव पंचदेवाः गुरुकुल सन्तानपदेनोक्ताः अत्रविशद व्याख्यायन्ते पृथिव्यादि पंचभूतानि संतानोदया सम्यगेव प्रकीर्तिताः सन्तानानां निखिल प्रजानां भौतिकशरीराणामुत्पत्ति स्थानानि कारणानि रूपाणि उदीयन्ते अस्मिन्नित्युदया अधिकरणसाधनश्चायम ॥५२॥

भा० टी०—अब पञ्चभूत सन्तान का वर्णन करते हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पंचभूत सन्तान कहलाता है और ये सब श्री आदिनाथ की शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। इनकी उत्पत्ति का वर्णन पहले अच्छी प्रकार से हो चुका है ॥५२॥

मू०—काठिन्यं चार्द्रता तेजो धावनंस्थिरता खलु।
गुणाएतेच पञ्चैव सन्तानानां क्रमात्स्मृताः ॥५३
ब्रह्माविष्णुश्चरुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः।
एताश्चदेवताःप्रोक्तासन्तानानां क्रमेण तु५४

सं० टी०—पृथिव्याः काठिन्यं गुणः ब्रह्मा तदधिष्ठाता देवः, ज-

लस्यादृता गुणो विष्णुश्चाधिष्ठातृदेव एवं यथा संख्यक्रमेणैकैकभूतस्यै को गुणः देवश्च संतापनीदः । अयमाशयः पराशक्ति सहितः परमात्मा शिव आदिनाथः प्रोच्यते स एवाकाशं समुत्पाद्य तदधितिष्ठन् सदा शिव शब्देन वायुमुत्पाद्य तदभिमानृत्वेन ईश्वर पदेन तेजोधिष्ठाता रुद्रनाम्ना जलाभिमानी विष्णु संज्ञया पृथिव्यन्तर्यामी ब्रह्माभिधया च व्यवह्रियते तथा च भौतिक प्रजाना मेतेपंचदेवाः गुरवः तेषामप्यादिनाथो गुरु रतः सर्गेषां गुरुरादिनाथः सर्वतो गरीयानिति प्रकरण रहस्यम् पंचदेवोपासनायाश्चेदमेव तत्त्वं यत्कार्यरूपेणावस्थाभेदेन च पंचानां परस्परंस्वरूपभेदेऽपि कारणरूपेणादिनाथाभिन्नतया ऐक्यमेव॥५४

भा० टी०—अब पाँच भूतों के गुण और अधिष्ठाता देवों का वर्णन करते हैं। पृथिवी का कठोरता आदि गुण और ब्रह्मा अधिष्ठातृ देवता है। जल का द्रव (गीलापन) गुण और विष्णु देवता है। अग्नि का उष्ण गुण और रुद्र देवता है। वायु का चलना गुण और ईश्वर देवता है। आकाश का स्थिर (अचल) गुण और सदा शिव अधिष्ठाता है॥५४॥

मू०-स्थूलसूक्ष्मकारणतुर्यं तुर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी ससिद्धपुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ॥५५॥

सं० टी०—यथैव पूर्वं सर्वं पञ्चात्मकं व्याख्यातं तथैवावस्थापि पञ्चधैव प्रतिपाद्यते जाग्रत् स्थूलावस्था । स्वप्नः सूक्ष्मावस्था सुषुप्तिः कारणावस्था । समाधिः तुर्यावस्था । अस्यामपि वृत्ति सद्भावः तस्या विनाशे शुद्धमुक्तावस्था । तुर्यातीतावस्था। एताः क्रमेण पर्यायेण न न युगपत् लक्ष्यन्ते लोकैः स्वयमेवानुभूयंते एतेषां पूर्वोक्त वस्तूनां योज्ञः ।ऽनुभविष्णुः ससाधनेकाले पश्चात् स योगी योगीश्वरेश्वरः सिद्धपुरुषः सम्मतः इति परम रहस्यम् प्रकाशित मनेनाचार्येस्य प्रजासु कारुण्यातिशय इति व्यज्यते ॥३६॥५५॥

भा० टी०—जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएं एवं तुर्य (समाधि) और मोक्ष ये पाँच अवस्थाएं लक्षित होती हैं । भाव यह है कि योग की सात भूमिकाएं होती हैं । नित्यानित्य वस्तु के विवेक पूर्वक तीव्र मुमुक्षारूप शुभेच्छा को योग की प्रथम भूमिका कहते हैं । इस के उपरान्त गुरु के पास से गुरुमन्त्रादि योग दीक्षा को ग्रहण कर उपनिषद् और योग शास्त्र के श्रवण और मननात्मक दूसरी विचारणा नाम की भूमिका है । मन में अनेक संकल्प विकल्पों का जो प्रवाह उठता है उसको आसन प्राणायामादि और निदिध्यासन के बल से आत्मा में विजय कर केवल आत्म रूप सूक्ष्म पदार्थ के ग्रहण में तत्पर होना तनुमानसानाम की तीसरी योगभूमिका है । ये तीन साधन भूमिकाएं जाग्रत कहलाती हैं । क्योंकि इन में भेद बुद्धि से प्रतीत होने वाला यह जगत द्वैत रूप से स्फुरित रहता है । पूर्वोक्त तीन भूमिकाओं के अच्छी तरह साधन से जब अन्तः करण अत्यन्त शुद्ध होजाता है । तब वह योगी "अहं ब्रह्मास्मि,, मैं ब्रह्म हूँ इस प्रकार सब जगह दृढ़ अभेदात्म द्रष्टा होजाता है और समस्त प्रपञ्च को स्वप्न तुल्य देखता है । क्यों कि अद्वैत आत्म पदार्थ के स्थिर होजाने से उस योगी को समाधि के अभ्यास से समस्त जगत स्वप्न की तरह मिथ्या प्रतीत होने लगता है । अत; केवल आत्मा को ही दृढ़रूप से बोधन करने वाली और आत्मा से भिन्न समस्त जगत को मिथ्या दर्शाने वाली यह सत्त्वापत्ति नाम की चौथी भूमिका है । इसी को स्वप्नावस्था भी कहते हैं । क्यों कि इस अवस्था में आत्मा से भिन्न सबको स्वप्नवत मिथ्या देखता है । यह योग भूमि उक्त तीन योग भूमिका साधनों के बिना सिद्ध नहीं होती ।

इस चतुर्थ भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मवित् कहलाता है । आगे की तीन भूमिकाएं क्रम से जीवन मुक्ति रूप कहलाती हैं । क्योंकि चौथी भूमिका से ही जब सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है । तब उनमें आसक्त न होना ही असंसक्ति नाम की पञ्चम योग भूमिका सिद्ध हो जाती है । इसको सुषुप्ति रूप भी कहते हैं क्योंकि निर्विकल्प योग समाधि की परिपक्व निष्ठा से केवल आत्मानन्द में मग्न हुआ योगी

सांसारिक बाह्य व्यापार से सोया सा रहता है इस योग भूमिका को जब योगी प्राप्त होता है तब उसको ब्रह्म वेत्ताओं में श्रेष्ठ कहते हैं और उस समय वह योगी समाधि से स्वयं ही प्रबुद्ध हो जाता है। जिसमें ब्रह्म से अतिरिक्त दूसरे पदार्थ की भावना न कर केवल योगाभ्यास से चिरकाल तक आत्मानन्द में ही स्थित रहता है। उसको पदार्थभाविनी नाम की छठी भूमिका कहते हैं। इसको गाढ़ सुषुप्ति भी कहते हैं। क्योंकि इस भूमिका में जब योगी पहुँचता है। तब वह अन्य सिद्ध के बोधनमात्र से ही जाग्रत होजाता है। अन्यथा एकाग्र समाधि में शून्याकार हो रहता है। तब वह योगी ब्रह्मविद् वरीयान् कहलाता है। तुर्यगा नामकी सातवीं योग भूमिका है। इसमें प्राप्त हुआ योगी तो दूसरे के व्यापार से भी नहीं जागता। इस भूमिका को प्राप्त हुआ योगी ब्रह्मविद् वरिष्ठ कहलाता है। यानि छठी भूमिका से सातवीं भूमिका में पहुंचने वाला योगी कभी कुछ निमेष उन्मेष आदि व्यापार करता हो या न करता हो विदेह मुक्त कहलाता है। क्योंकि उसको देह का जरा भी भान नहीं रहता। इस लिये सप्तमी योग भूमिका विदेह मुक्ति रूप भी कहलाती है यह सब योग भूमिकाओं की चरम सीमा है और मन वाणी से भी अगोचर है—

ज्ञानभूमि शुभेच्छाख्या प्रथमा परिकीर्तिता ।
विचारणाद्वितीयास्यात्तृतीया तनुमानसा ॥
सत्वापत्तिश्चतुर्थीस्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥
भूमिका तृतीयं त्वेतद्राम जाग्रत मिति स्थितम् ।
यावद्भेद बुद्ध्येदंजगज्जाग्रति दृश्यते
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते प्रशम मागते ।
पश्यन्ति स्वप्न वल्लोकं चतुर्थी भूमिकामिता ॥
पञ्चमी भूमिका मेत्य सुषुप्ति पदनामिकाम् ।
षष्ठी गाढ शुषुप्त्याख्यां क्रमात्पतति भूमिकाम् ॥
षष्ठयां भूम्यामसौ स्थित्वा सप्तमी भूमिमाप्नुयात् ।
किञ्चिदेवेश सम्पन्न स्त्वथवैषम किञ्चन ॥

विदेह मुक्तता तूक्ता सप्तमी योग भूमिका ।
अगम्या वचसां शान्ता सासीमा योग भूमिषु ॥

पूर्वोक्त योग भूमिकाओं के साधन से योगी अजरामर व्यापक और स्वयं शिव होजाता है। इसी से मूल ग्रन्थ में कहा है "जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्या, तुर्यातीत" इत्यादि । यहां आगे अपि शब्द भी आया है उससे यह भाव निकलता है कि योग की सात भूमिकाएं भी उक्त पाँचों अवस्थाओं के अवान्तर भेद हैं। इनको जो योगी योग के अनुभव से जानता है वही यथार्थ योगी और वही काल को जीतने वाला सिद्ध पुरुष भी है। अधिक क्या कहें जीवन्मुक्त भी वह साक्षात् पर ब्रह्म स्वरूप होने से योगीश्वरों का भी ईश्वर है यह परम रहस्य है ॥५५॥

मू०—अतएव सम्यग् निज विश्रान्तिकारकं महासिद्धयोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमंपदं संपाद्य तस्मिन्निज पिण्डे च समरसभावं कृत्वा त्यन्त निरुत्थानेन सर्वानन्दत्वेनिश्चलंस्थातव्यं ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ॥५६॥

सं० टी०—समरस भावनाया मोक्षादिसिद्धि प्रदत्वादेव सम्यग् निजविश्रान्तिकारकम् । योहि स्वयमेव संसारचक्रारूढोऽनवरतं वंभ्रम्य मागः स च कथमन्यं विश्रामधामाधिरोहयेत् । अतः योहि समीचीनतया निजस्य स्वस्य विश्रान्तिः मोक्षाख्यविश्रामस्तस्य कारकं साधक ।मतएव महायोगिनं योगिराजं तं सद्गुरुं सेवयित्वा व्युत्थान दशायां गुरुसेवनं न तु समाधाविति सूचनाय क्त्वा प्रयोगः (सम्यग्) अशेषतः सावधानेन भ्रमप्रमादरहितः सन् परमं पदं सम्पाद्य परमात्म स्वरूपमवगत्य तस्मिन् परमात्मनि निज पिण्डे स्वकीय पिण्डे समरसभावं पूर्वोक्तरूपेणाभेदभावनां कृत्वा विधायात्यन्त निरुत्थानेन सांसारिक विषयोन्मुखता परिहारेण, आत्यन्तिकात्म निष्ठतया सर्वदानन्दत्वे सच्चिदानन्दघने निश्चलं नियतकालावधि पुनरुत्थान वर्जितं यथास्यात् तथा स्थातव्यम्, समुपासितव्यम् तादृशदृढाभ्यासात् स्वयमेव प्रयत्नान्तर निरपेक्ष तयैव महासिद्धो भवतीति सत्यं ना-

रित्र सन्देहावसरः स्वानुभवावसानत्वात् ॥५६॥

भा० टी०—अत एव पूर्वोक्त तुर्यादि आत्म निष्ठा सम्पादन के लिये अच्छी तरह निज आत्म निष्ठारूप परम शान्ति को कराने वाले महासिद्ध योगिराज सद्गुरु की सेवा कर बड़ी सावधानी से परमपद को जानकर व्यापक परमपद में और व्यष्टिनिज पिण्ड में पूर्वोक्त परस्पर धेयावलम्बन की रीति से अभेद रूप समरस कर के अनादिअज्ञान रूप माया से सचेत हुआ वह योगी सर्वानन्द व्यापक अपने आत्मा में अचल भाव से स्थित हो जाय। उस के बाद स्वयं महासिद्ध होजाता है। ऐसा महासिद्ध होजाने पर उसका कर्तव्याकर्तव्य कुछ भी बाकी नहीं रहता ॥५६॥

मू०—न विधिर्नैव वर्णश्च न वर्ज्यावर्ज्य कल्पना।
न भेदो निधनं किंचिन्नाशौचं नोदकक्रिया ॥५७
योगीश्वरेश्वरस्यैवं नित्यतृप्तस्य योगिनः।
नित् स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यत ॥५८॥
सम्यक् स्वभाव विज्ञानात् क्रमाभ्यासान्नवासनात्
न वैराग्यान्ननैराश्या न्नाहारात्प्राणधारणात् ॥५९
न मुद्राधारणाद्योगान्मौन कर्मसमाश्रयात्।
न विरक्तौ वृथायासान्नकाय क्लेशधारणात् ६०
न देवार्चनाश्रयाद् भक्त्यानाश्रमाणां च पालनात् ॥
न षड्दर्शनकेशादि धारणान्न च मुंडनात्। ६१
न जपान्नतपोध्यानान्नयज्ञतीर्थसेवनात्।
नानन्तोपाय यत्नेभ्यः प्राप्यते परमंपदम् ॥ ६२

सं० टी०—कुलकमेते श्लोका अतो व्युत्क्रम्य व्याख्येयाः पुण्यत इह जन्मनि पूर्वजन्मनि वा समुपार्जितपुण्यपुञ्ज प्रभावेण सम्यग् यथार्थतः स्वभावस्यात्मस्वरूपस्य विज्ञानात्।

आचार्योपदेश जनित ज्ञान बलात् पश्चात् क्रमाभ्यासात् पूर्वोक्तक्रमेणाभ्यास बलात् चित्स्वात्म सुख विश्रान्तिभाव लब्धस्य परमानन्दैक विश्रामधाम समीयुषः, नित्य तृप्तस्य क्षुत्पिपासादिरहितस्य योगिनः साम्प्रतं योगीश्वरेश्वरस्य कृते सिद्धावस्थायां न विधिः प्रेरणा नैव वर्णाः न च वर्ज्यावर्ज्य कल्पनेदं वर्जनीयमिदं न वर्जनीयमित्यादि, आज्ञा निषेधौ न भवतः। न भेदो न च निधनं मरणं च मरणादि जन्यम् अशौचं नोदक क्रिया तर्पणादि। इदमत्र रहस्यं मोक्षरूपसिद्धिं प्रति गुरुद्वारात्म विज्ञान तदभ्यास एव साक्षात् कारणं नान्यत्। आसन वैराग्यादयस्तु परम्परया तत्त्व ज्ञानोत्पादने साहाय्य सम्पादन द्वारा कारणं न तु साक्षात्। अतएव साक्षात् कारणस्य तत्त्वज्ञानस्य प्रशंसायै, अग्रे निषेधति न चासनात् वैराग्यादिभ्यः परं पदं प्राप्यत इति न त्वासन वैराग्यादीनां सर्वथा वैयर्थ्यं बोधनाय तेषां स्वस्वफलैः सफलत्वादन्यत् सर्वं स्पष्टम्॥६२॥

भा० टी०—पूर्वजन्म में उपार्जित पुण्य कर्म के बल से सिद्ध-गुरु के उपदेश द्वारा आत्मा को अच्छी प्रकार से जानकर क्रम से योगाभ्यास की परिपक्व निष्ठा से चेतन व्यापक आनन्द घन निज आत्मा के सुख रूप विश्रान्ति भाव को प्राप्त होने पर आत्मानन्द में तृप्त हुआ योगी जब परब्रह्म स्वरूप होजाता है तब वह महासिद्ध अवस्था को प्राप्त होने से योगीश्वरों का भी ईश्वर कहलाता है। ऐसे सिद्ध के लिये न शास्त्रीय विधि और न निषेध है, न वर्णाश्रम न वर्ज्यावर्ज्य विचार और न ग्रहण या त्याग की कल्पना है। न भेद है न उसका जरामरण है क्योंकि वह काल का भी काल है। उसके लिये न अशुद्धि और न जलक्रिया ही है। भावार्थ यह है कि मोक्ष रूप परमपद की प्राप्ति के लिये गुरु मुख द्वारा आत्मज्ञान और योगानुष्ठान का अभ्यास ही आत्मा के साक्षात्कार में कारण है। उक्त साधन के बिना न केवल आसन न वैराग्य, न निराशा न प्रत्याहार न प्राणायाम न मुद्राधारण न योग न मौन रहना, न तितिक्षा न देव पूजा न आश्रम सेवा न षड्दर्शन केशादि धारण न मुण्डन न जप तप ध्यान न यज्ञ न तीर्थ सेवन और न अन्य उपायों से परमपद प्राप्त होता है॥६२॥

मू०—एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्य ज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति ॥ ६३ ॥

सं० टी०—एतानि पूर्वोक्तानि, आसनवैराग्यादीनि सर्वाणि दैहिकानि स्थूल देहसम्बन्धीनि साधनानि परित्यज्य सिद्धावस्थायां कृतकार्य्ये तया विहाय परस्मै पदे दैहिके परमात्मरूप देहे सिद्ध पुरुषैः स्थीयते सिद्धाः परमात्मस्था भवंतीति यावत् ॥६३॥

भा० टी०—उपरोक्त सब साधन देह सम्बन्धी हैं। अतः इन अनात्म पदार्थों में आसक्त न हो कर आत्म रूप परमपद में ही सिद्ध योगि राज स्थित रहते हैं। अतः परमपद से आत्म निष्ठा में ही ऊपर के साधनों का उपयोग होना उचित है। अन्यथा नहीं ॥६३॥

मू०—तत् कथङ् गुरुदृक् पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनांसास्थितिर्जायते ।६४

कथनाच्छक्ति पाताद्वा यद्वापादावलोकनात् ।

प्रसादात्स्वगुरोः सम्यक्प्राप्यते परमंपदम् ॥६५॥

सं० टी०—ननु तत् कथम्प्राप्यते। इति प्रश्न पूर्वकमुत्तरमाह गुरुदृक् पातनादाचार्य्य करुणा कटाक्षोन्मेषात्, किं सर्वेषानेत्याह प्रा यइत्यादिप्रायोदृढानां प्रवलवित्तपंविना स्थिरचित्तानांसत्यवादिनां मिथ्या भिभाषणवहिर्मुखाणां सा स्थितिःपरमात्मनिष्ठा जायते। गुरुकृपैव श्र-द्धादि द्वारात्मनिष्ठतां प्रति मुख्य कारणमितिभावः तत्र प्रकारमाह स्व-गुरोः, जयः जयो भवत्विति कथनादाशीर्वचनादिति भावः शक्तिपाताद्वा अकथयित्वैव किंचिदपि सूक्ष्म व्यापारेण शिष्येषु शक्ति संचारादथवा वलोकनाद् दृष्टि मात्रात् किं वा प्रसादात् मनः सन्तोषात् मानसिक प्रीतिरेव परमं पदं प्राप्यते गुरुणा शिष्य इत्यध्याहारोस्यन्तात् प्रयोज्य कर्मणि लट् श्री गोरक्षनाथैरेव वाक्यपदीयकार भर्तृहर्यादिषु शक्तिसंचारः पूर्णादिषु कृपावलोकनं कृतमिति प्रसिद्धम् ॥६५॥

भा० टी०—जिस आत्म निष्टा में सिद्ध योगी स्थित रहते हैं वह आत्म निष्ठा किसको कैसे प्राप्त होती है इसका उत्तर सुनिये गुरु

भक्त श्रद्धालु धीर सत्यवादि शिष्यों को वह आत्म निष्ठा पूज्य गुरुदेव की करुणा दृष्टि के पात से सुलभ होजाती है। श्रुति में भी कहा है कि जिसकी महेश आदि देवों के समान पूज्यगुरु में भी भक्ति है। ऐसे गुरु भक्त श्रद्धालु जनों को आत्म निष्ठा आदि पदार्थ प्रकाशित होते हैं। औपदेशिक, शक्तिपात, करुणावलोकन भेद से तीन प्रकार की शिक्षा होती है। औपदेशिक शिक्षा वह कहलाती है जिससे गुरु संसार को स्वप्न तुल्य मिथ्या बतलाता हुआ आत्मा के शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव निरंजन, अखण्ड ज्योतिः स्वरूप में शिष्य को योगादि साधन द्वारा भले प्रकार से स्थित करे। जो आस्तिक श्रद्धालु शिष्य अत्यन्त मन्द बुद्धि है किन्तु गुरु उसको उसी क्षण कृतार्थ करना चाहता है उस समय सिद्धयोगिराज गुरु निज कृपा पात्र शिष्य में अपनी अलौकिक योग शक्ति का पात करता है। तब वह शिष्य भी गुरु जैसा ही समर्थ और त्रिकालदर्शी होजाता है। जैसे योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी ने अनेक भर्तृहरि आदि शिष्यों को इसी शक्तिपात की शिक्षा से अमर किया है। "जब लग धर्त्री तब लग भर्तृ, जायगी धर्त्री रहेगे भर्तृ।" इत्यादि कहावतें भी प्रसिद्ध हैं। इसी को शक्तिपात शिक्षा कहते हैं। इस शिक्षा को महासिद्ध योगी और ईश्वर के बिना दूसरा नहीं दे सकता। जिस को प्रेम भरी दृष्टि से देख कर कृतार्थ किया जाय जैसे योगाचार्य जी ने विकल अङ्ग पूर्णभक्त को करुणावलोकन मात्र से ही सर्वाङ्ग सजीव और अमर किया था, इस को करुणावलोकन शिक्षा कहते हैं। यह शिक्षा भी सिद्धयोगी और ईश्वर की ही सफल होती है। अतः उपरोक्त तीन शिक्षाएं और आशीर्वाद आदि गुरु प्रसाद से ही मोक्षरूप परमपद की प्राप्ति होती है॥ ६५॥

मू०—अतएव शिवेनोक्तम्।

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं नगुरोरधिकम्
शिवशासनतःशिवशासनतःशिवशासनतःशिवशासनतः६६

सं० टी०—शिवशासनतः शिवोपदेशाज् ज्ञायते यद् गुरोरधिक मुत्तमं साधनं न किमप्यस्ति महीतले ऽत्र वीप्सायां द्वित्वेन आवश्यकतां ध्वनयति ॥६६॥

भा० टी०—अत एव शिवजी ने भी कहा है कि मोक्ष के कपाट खोलने में गुरु से बढकर अन्य कोई भी उपाय नहीं। इसी बात को पुष्ट करने के लिये शिवोक्त श्लोक में चार आवृत्ति की हैं। अतः लखचौरासी के धन्दे को आत्म ज्ञान द्वारा समूलोच्छेद कर परम मोक्ष के देने वाले अवधूत सिद्ध गुरु को साक्षात् शिव ही समझे ॥६६॥

मू०--वाङ्मात्राद्वाथदृक्पाताद्यःकरोतिच तत्क्षणात्।
प्रस्फुटं शांभवंवेद्यं स्व संवेद्यं परं पदम् ॥ ६७॥

मू०-करुणा खण्डपातेन छित्त्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्द जनकः सद्गुरुःसोभिधीयते ॥६८॥

सं० टी०—किंच[करुणाऽखण्डपातेन]दयारूपाखण्ड दृष्टिपातेन [शिशोः] शिष्यस्य [पाशाष्टकम्] जन्ममृत्यु जरा व्याधि धर्माधर्मद्वेषात्मकं बन्धन जालं[छित्त्वा]दूरीकृत्य[सम्यगानन्द जनकः]परिपूर्णानन्दात्मक निज देहोत्पादकः[यः]सः सद्गुरुः, अभिधीयते,कथ्यते अतोऽन्यः साधारणोगुरुरितियुग्मतया सद्गुरुलक्षणमाह- [वाङ् मात्रात्] आशीर्वचनादेव [अथवा दृक् पातात्] अवलोकन मात्रात् [तत्क्षणात्] तस्मिन्नेव क्षणे [प्रस्फुटम्] स्पष्टम् [वेद्यम् ज्ञातव्यम् [शांभवम्]शिवसम्बन्धि [परम पदम्] वास्तविक तत्त्वम् [स्व संवेद्यम्] शिष्यस्य स्वानुभवावसानं करोति ॥ ६७-६८ ॥

भा० टी०—जो गुरु क्षणमात्र में अपने अनुभव से जानने योग्य परमपद मोक्ष को मधुर उपदेश मात्र से या करुणा दृष्टि पात से अभिव्यक्त करदेता है। तथा उस कृपादृष्टि से शिष्य के जरामरण काम क्रोध लोभ, मोह, अहंकार और अविद्या इन आठ बन्धनों का विनाश कर आत्म ज्ञान के द्वारा अच्छी तरह आनन्द को प्राप्त कराता है वह सद्गुरु कहलाता है ।६७-६८

मू०-निमिषार्धार्ध पाताद्वा यद्वा पादावलोकनात्।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्री गुरवेनमः॥६९॥

सं० टी०—यस्य निमिषचतुर्थांश पातात् कटाक्ष लेशादपीति यावत् यद्वा [पादावलोकनात्] चरणदर्शनात्,शिष्य इतिशेषः [स्वात्मानं] स्वान्तः करणं [स्थिरं] निश्चलं समाधत्ते कुरुते तस्मै प्रभावशालिने श्री गुरवेनमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥६६॥

भा० टी० शिष्य के द्वारा निज चरण कमल के ध्यान से प्रसन्न हुआ गुरु निमेष के चतुर्थांश दृष्टिपात से शिष्य को निज आत्मानन्द में स्थिर कर देता है। अतः उस परमपद शान्तिदाता श्री गुरुदेव को प्रणाम है ॥६६॥

मू –नानाविकल्पविश्रान्तिकथया कुरुते तुयः।
सद्गुरुः सतु विज्ञेयो नतु मिथ्या विडम्बकः॥
अतएव परमपद प्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदावन्दनीयः॥७०॥

सं० टी०—किंच यः कथया स्वोपदेशेन (नाना विकल्प विश्रान्तिम्) निखिल सांसारिकविषयकविविधकोटिक विज्ञानविनाशं समस्त संशयोच्छेदमिति यावत् कुरुते विधत्ते स एव सद्गुरु र्विज्ञेयो न तु मिथ्याविडम्बकः–आपात रमणीय मायिक वस्तूपदर्शनेन वञ्चकः अत एव गुरोः प्रधानत्वादेव (सः) सद्गुरुः (सदावंदनीयः) सर्वदा पूजनीय इति ॥७०॥

भा० टी० आत्म स्वरूप बोधक पवित्र और आध्यात्मिक कथाओं से शिष्य के मन में स्थित नाना संकल्प विकल्प भेद आदि विकार की शान्ति को करने वाला ही सद्गुरु कहलाता है आत्म कल्याण से वंचित करनेवाला मिथ्यावादी धूर्त नहीं। अतः परमपद की प्राप्ति के लिये सद्गुरु सदा वन्दनीय है ॥७०॥

मू०–गुरुरिति गृणातिशं सम्यक् चैतन्यविश्रान्ति मुपदिशति विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात् साक्षात्कारोभवति ॥७१॥

सं० टी०—यो गुरुः (गृणातिशम्)कल्याणमाधत्ते यत्सम्यक् चै

तन्यं परिपूर्णं विज्ञान घनं तस्मिन् विश्रान्ति निष्ठामुपदिशति विश्रान्त्या तन्निष्ठया स्वयमेव साधनान्तर निरपेक्षं सत (परान) अस्मदाद्यपेक्षया हिरण्यगर्भ देवादि परं ततोपि परं समुत्कृष्टं परम पदं शिव तत्त्वं प्रस्फुटं भ्रम संशय रहितं निश्चितं भवतितत्क्षणात्) तत्कालं शिवस्य साक्षात्कारो भवति॥४०॥

भा० टी०—अब गुरु शब्द के अवयवार्थ का वर्णन करते हैं। शिष्य के अन्तः करणस्थ अज्ञान पटल का समूलोच्छेद कर, जो कल्याण का मार्ग बतलावे अर्थात् वास्तविक निज आत्मानन्द चैतन्य विश्रान्ति का जो उपदेश दे वही सद्गुरु है। क्योंकि उस उपदेश से आत्मनिष्ठा रूप शान्ति के द्वारा स्वयं ही सर्वोत्तम मोक्ष रूप परमपद स्फुट होने लगता हैं और उसीक्षण में साक्षात्कार हो जाता है

मू०—अतएव महासिद्धानां मते प्रोक्तं वाङ्मात्रेण सम्यगवलोकनेनवातत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तियुक्तं करोतीति-यःससद्गुरुर्भवति। नोचेन्निजविश्रान्तिं विना पिण्ड-पदयोःसमरसकरणं न भवतीतिसिद्धान्तस्तस्मान्निज-विश्रान्तिकारकःसद्गुरुरभिधीयतेनान्यः। पुनर्वागादि शास्त्रदृष्ट्यनुमानतर्कमुद्रयाभ्रामको गुरुस्त्याज्यः॥४१॥

सं० टी०—गुरुं विना अकृतार्थत्वादेव (महासिद्धानां मते प्रोक्तम्) सिद्धमते कथितं यत (वाङ् मात्रेण)मंत्रोपदेशेन, अथवा सम्यग वलोकनेन दृष्ट्या तेनैव तत्क्षणात् (मुहुर्विश्रान्तियुक्तम्) परमात्म तत्त्वाणां सिद्धानां मध्ये विश्रमयुतं करोति विदधाति यः स सद्गुरु भवति नो चेद् यदि शिष्यस्य प्रथमतः परमात्मनिष्ठां न कुर्यात्तदा (निज विश्रान्तिम्, आत्मनिष्ठां विना (पिण्ड पदयोः) आत्म परमात्मनोः (सम रस करणम्) अभेद भावनं न भवतीति निश्चितं सर्वमते। तस्माद्धेतो निजविश्रान्तिकारकः परमात्मनिष्ठा सम्पादकः सद्गुरुरभिधीयते कथ्यते नत्वन्य इति आत्मचर्चा रहित संसार प्रदर्शक केवल शब्दाडम्बर शास्त्रीय विषय निजाऽनुमान मात्र कुशलः (तर्क मुद्रया) युक्तिच्छलेन

भ्रामकों भ्रमोत्पादकोगुरुस्त्याज्यो दूरतः परिहर्तव्यः ॥ ७२ ॥

भा० टी०—इसी से महासिद्धों के मत में कहा है कि उपदेश मात्र से या करुणा कटाक्ष से जो गुरु तत्काल शिष्य को वारंवार परम शान्तियुक्त करता है वही सद्गुरु कहलाता है। यदि उपरोक्त लक्षण युक्त गुरु नहीं है तो वह स्वयं भी आत्मनिष्ठ न होने से शिष्य के लिये भी पिण्डपद के समरस करण में सर्वथा असमर्थ है। इसलिये शिष्य को आत्म विश्रान्ति कराने वाला और श्रेष्ठ कल्याण मार्ग का प्रदर्शक ही सद्गुरु कहलाता है दूसरा नहीं। किन्तु शुष्क वागाडम्बर द्वैत शास्त्र दृष्टि अनुमान तथा निष्फल आत्म शून्यवाद से शिष्य को भ्रम में डालने वाला गुरु सर्वथात्याज्य है।७२

मू०—ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्योमिथ्यावादीविडम्बकः।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ॥७३॥

सं० टी०--ज्ञानहीनः स्वकीयानुभव रहितः केवल लौकिक कृत्यकुशलः (मिथ्यावादी) संसारस्यैव मिथ्यात्वात् तद् वादी मिथ्यावदनशीलः, अत एव (विडम्बकः) विडम्बना कारको गुरुस्त्याज्यः परिहेयः। यतो यः स्व विश्रान्तिं ब्रह्मनिष्ठतां न जानाति नानुभवति स (परेषां) शिष्याणां किं करोति ॥ ७३ ॥

भा० टी०—आत्मज्ञान से वंचित करने वाला मिथ्यावादी और ज्ञानहीन गुरु त्यागने योग्य है क्योंकि जब स्वयं ही आत्मनिष्ठारूप शान्ति को नहीं जानता तो वह दूसरे को कैसे आत्मनिष्ठा में कल्याण का भागी बना सकता है। इसमें दृष्टान्त भी देते हैं ॥७३॥

मू०--शिलया किं परं पारं शिला संघः प्रतार्य्यते।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ॥७४॥
विकल्पसागराद् घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात्।
प्रपञ्चवासनादुष्टग्रहजालसमाकुलात् ॥ ७५

वासनालहरीवेगान्न स्वं तारयितुं क्षमः ॥७६॥
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ।

सं० टी०--अत्रैव दृष्टान्तमुच्यते शिलया सुरसरित्प्रवाहेपतितेन पाषाणेन तत्र स्थितः शिलासंघः (परं पारं) अपरं कुलं नावेव किं प्रतार्य्यते, उत्तार्यते नहि वर्षपूगैरपीत्याक्षेपस्तथैव स्वयमसिद्धोगुरु; शिष्यम् भवाम्बुधे स्तारयितुं नालम्; अतो यो हि स्वयं तीर्णो भवेत् स्वानुष्ठानेन परमात्मनिष्ठोऽसौ (परान्) शिष्यान् (अलम्) प्रभूतं तारयति यथा स्वयं क्रिया सहिततरिः स्व क्रिययैव निरुद्धमपि पाषाणादि तारयतीति न्यायः योहि परमात्मनिष्ठाविहीनःस(चिंताकल्लोलदुस्तरात् चिंतैव कल्लोला बुद्‍बुदास्तै दुंस्तरात्, दुःखेन तीर्यत इति तस्मात् प्रपञ्चानां सांसारिक विषयाणां-वासनाः संस्कारास्त एव दुष्टग्राहा स्तेषां जालै, विस्वारैः समाकुलात् संकीर्णान्, वासना पुनर्जायमान संस्कार एव लहर्य्या वेगो यस्मिन्,तस्मात् (विकल्प सागरात्) विविध कोटिक संशय रूप समुद्रात् स्वात्मानं तारयितुं नक्षमो नहि समर्थो भवति ॥

भा० टी०—जैसे शिला, शिला के समूह को नदी पार करने में सर्वथा असम्भव है। इसी प्रकार आत्मज्ञान से शून्य गुरु शिष्य के बन्धनों को नहीं छुड़ा सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो आत्म निष्ठ अवधूत सिद्ध गुरु स्वयं संसार के बन्धन से मुक्त है वही दूसरे को भी बन्धन मुक्त कर सकता है। अन्य नहीं और चिंता रूप तरंगों से घोर दुस्तर तथा जगत् की वासना रूप दुष्ट ग्राह समूह से व्याप्त जो मोह ममता आदि रूप संसार है तथा उस वासना रूप तरंगों के वेग से युक्त संसार से पार कर मोक्षपद को देने वाले तथा सुन्दर उपदेशों से क्षणमात्र में पार करने में जो समर्थ है वही यथार्थ में गुरु है। ऐसा ही समर्थ गुरु शक्तिपात के उपदेश या करुणा कटाक्ष से शिष्य को अवश्य संसार से पारकर परम मोक्ष पद में पहुँचाता है ॥

मू०–तारयत्येव दृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात् ॥
तारिते स्वपदंधत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत्॥७७

ततः समुच्यते शिष्यो जन्म संसार बन्धनात् ॥
परानन्दमयो भूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ।७८
कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ॥
अतस्तुसद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ७९
सर्वाङ्ग प्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं व्रजेत् ।
सजनः स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ॥८०

सं० टी०—यस्तु स्वयं स्थिर आत्मनिष्ठः स स्वस्थैर्येण निरुत्थानेन, उपदेशेन निश्चयात्मकोपदेश बलेन कथनात्, वा विलोकनात् कृपाकटाक्षाद्वा तत्क्षणादेव तारयति स सद्गुरुरिति शेषः। तारिते गुरुणो द्धारिते सति शिष्यः (स्व पदं) स्वलक्ष्यं (धत्ते) धारयति किंच (स्वस्व-मध्ये) स्वस्वरूपपरमात्मनि (स्थिरो भवेत्) निश्चलोजायेत (ततः) तदा जन्म संसार बन्धनात्, उत्पत्ति मरण प्रबन्ध प्रपञ्चात् स मुच्यते मुक्तो भवति। (परानन्दमयः) ब्रह्मस्वरूपः (निष्कलः) इन्द्रियादि रहितः सन् (शिवतां) शिवस्वरूपं (व्रजेत्) प्राप्नोति। स्वयं तरतीति किंचित्रं (कोटि कोटीनां) अनेक स्वकुलानां शेषे षष्ठी तत्क्षणादेव तारयति। (अतः) पूर्वोक्तहेतोः (नित्यम्) प्रत्यहं (सद्गुरुम्) अभिवन्दयेत् प्रणमेत "सर्वाङ्ग प्रणिपातेन" दण्डवद् विनिपातेनेति पूर्वान्वयः, यः स्तुवन् प्रशंसन् गुरुं व्रजेत। स जनः स्थैर्यं परमात्मनिष्ठा माप्नोति लभते (स्व स्वरूपमयः) साक्षात् शिवस्वरूपो भवेत् ॥७७-७८-७९-८०

भा० टी०—योग विद्या में निपुण सिद्ध गुरु शिष्य का अपनी शक्तिपात या आत्मज्ञान के उपदेश से या करुणा कटाक्ष द्वारा इस दुस्तर असार संसार से अवश्य निस्तार कर देता है। अतः उपरोक्त विधि के द्वारा गुरु शिष्य को जब अज्ञान निद्रा से जगाता है तब वह शिष्य केवल लक्ष्य रूप अद्वैत आत्म निष्ठा धारण में ही तत्पर होता है। पीछे व्यापक असङ्ग परमज्योतिः स्वरूप आत्मा में स्थिर हो जाता है। इसी से गुरु का कृपा पात्र शिष्य योग के द्वारा आत्मज्ञान को प्राप्त हो जन्म मरणरूप संसार बन्धन से सदा के लिये छुट जाता है पश्चात

वह सर्वदोषशून्य असंङ्ग अभेद आत्म दर्शी स्वकीय वास्तविक परमानन्द स्वरूप को प्राप्त होकर व्यापक सर्वाधार केवल असङ्ग शिव रूप मोक्ष को जीवन काल में ही प्राप्त कर लेता है। महासिद्ध गुरु असंख्य कुलों को भी अल्प समय में ही निज योग विद्या के प्रभाव से जन्म मरण रूप संसार चक्र से छुड़ा देता है या जिसकुल में जो साधु होता है वह यदि सद्गुरु की कृपा से योग सिद्धि को प्राप्त करले तो उसके योग विद्या के पुण्य प्रभाव से उस कुल में उत्पन्न होने वाले अनेक जनों का भी उद्धार हो जाता है और वह सद्गुरु की कृपा से मोक्ष रूप परम पद को प्राप्त होता है। इसका तो कहना ही क्या है। इसी लिये साक्षात् शिवरूप, योगविद्या के दाता सद् गुरु को तीनों समय श्रद्धा पूर्वक प्रणाम करे। दण्डवत् प्रणाम के द्वारा भक्ति श्रद्धा से स्तुति करता हुआ नित्य गुरु के पास जाय और वहाँ गुरु के सत्सङ्ग से योग में ज्ञान ध्यान विषयक अपने सन्देह की निवृत्ति करे इस क्रम से जब योगाभ्यास करता है। तब वह योगाभ्यासी शिष्य स्थिरता को प्राप्त होता है। इसके अनन्तर वह अपने को ब्रह्मरूप से सर्वत्र व्यापक और असङ्ग देखता है ॥ ७७-७८-७९-८०॥

मू०—किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्र कोटिशतेन च ।
दुर्लभाचित्त विश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ॥८१
चित्तविश्रान्ति लब्धानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ॥८२

सं० टी०—अत्र बहुनोक्तेन, अनल्पजल्पनेनकिं शास्त्र कोटिशतेन च केवल स्ववुद्धिसंलापितानेकशास्त्रैः परां श्रेष्ठां गुरुकृपा माचार्यानुकम्पां विना चित्त विश्रान्तिः, मनोवृत्ति निरोधे दुर्लभा बहुलायास साध्या। चित्त विश्रान्तौ फलं प्रदर्शयति चित्तेति चित्त विश्रान्ति लब्धानां मनो व्यापार निरोधं प्राप्तवतामतएव दृढचेतसामुपस्थितेऽपि विषयेऽविचलित चेतसां (स्वस्वमध्ये) स्वकीयात्मस्वरूपे परिनिष्ठितानां योगिनां निरुत्थानं स्वरूपभावनातोऽप्रच्युति विंशेषतो विशेषरूपेण जायते ॥८१-८२॥

भा० टी०—अधिक क्या कहें सिद्ध गुरु की कृपा के विना करोड़ों शास्त्रों के अभ्यास से भी विशेष रूप से चित्त की शान्ति होना दुर्लभ है। अतः सिद्धगुरु की अनुकम्पा से सकल इन्द्रिय समूह के सहित मन को अच्छी तरह जीतने वाले और परम शान्ति को प्राप्त हुये अखण्ड ज्योतिः स्वरूप व्यापक निज आत्मानन्द ही में मग्न योगिराजों का विशेष रूप से अविद्यारूप निद्रा से जागरण होता है। क्योंकि अनादि अज्ञान निद्रा में सोया हुआ यह जीव ईश्वर कृपा होने पर जब गुरु से जगाया जाता है तब वह अपने को जन्म मरण रहित व्यापक असङ्ग और चेतन रूप से देखता है। जैसे पर्वत के ऊँचे शिखर पर चढ़ा हुआ व्यक्ति भूमि में स्थित प्राणियों को अत्यन्त छोटे आकार में देखता है इसी प्रकार वह योगी सकल जगत को अज्ञान निद्रा में धँसा हुआ देखकर विचार करता है कि ये लोग आत्मानन्द से वंचित हुये विपरीत मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं, यही तो माया का खेल है। यहां ज्ञानी और अज्ञानी का मार्ग भिन्न होता है। जिस अखण्ड आत्मानन्द को न जानने से सब प्राणियों के लिये वह रात्रि रूप है इसी से उसमें समस्त प्राणी सोये हैं और योगिराज उसमें जागता है। जिस भोग्य विषय रूप तृष्णा रात्रि में मूर्खजन आसक्त रहते हैं। वह सर्वत्र एक अखण्ड ज्योति आत्मा को देखने वाले योगिराज की रात्रि होती है। उसमें वह सदा के लिये सोजाता है यही निरुत्थान पद का भाव है ॥८१-८२

मू०—निमिषात् प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसानात्र संशयः॥८३

सं० टी०—ततश्च निमिषात् झगिति दुर्लभमपि परमंपदं प्रस्फुटं भाति यस्मिन् परमात्मनि पिण्डोऽयं देहः सहसा हठाल्लीनोऽभिन्नो भवति नास्त्यत्र संशयः ॥८३॥

भा० टी०—अतः जब योगी की निरुत्थान (अखण्ड आत्म बोध) दशा सिद्ध हो जाती है तब पल भर में ही दुर्लभ परमपद भी स्फुट रूप से प्रतीत होने लगता है। जिस व्यापक परमपद रूप पिण्ड में व्यष्टि पिण्ड का अभेद रूप समरस होता है अर्थात् व्यष्टि स्थूल

शरीर का समष्टि शरीर के साथ तथा व्यष्टि सूक्ष्म शरीर का समष्टि सूक्ष्म के और व्यष्टि चेतन का समष्टि चेतन के साथ अभेद होता है इसमें सन्देह नहीं। ऐसा होने पर योगी में सर्वेश्वर जैसी सामर्थ्य आ जाती है। अन्त में वह योगी अजर अमर होता हुआ स्वेच्छा से परम नाथ तत्त्व रूप परब्रह्म में लीन हो जाता है ॥८३॥

मू–संवित्क्रियाविकर्णोदयचिद्विलासो विश्रान्तिमेवभजतांस्वयमेव भाति । अस्तेस्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यंसत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ।८४

इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डपद समरस करणो नाम पञ्चमोपदेशः।

सं० टी०–(संवित् क्रियायाः, बुद्धिवृत्ते र्विकर्णो विस्तारः तस्योदय उत्पत्ति स्तेन यश्चिद्विलासः केवलात्म प्रकाश स्तस्मिन् विश्रान्ति स्थितिमेव न तु सांसारिक विषयक चिद्विलास विश्रान्तिमित्येव पदेन व्यज्यत, (भजताम्) सेवमानानां शिष्याणां (स्ववेग निचये) स्वो यमानस व्यापारे (अस्ते) निरुद्धेसति (पदपिण्डम्) समष्टिव्यष्टि रूपं स्वयमेव भाति प्रकाशते किञ्चैक्यं समरसं गुरुवत्सलानामाचार्य्य कृपा भाजां सत्यं ध्रुवं भवेदित्याचार्य प्रतिज्ञा ॥८४॥

इति श्रीगोरक्षनाथ कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ सर्व्वतन्त्र स्वतन्त्र श्री पं० द्रव्येश झा रचितायां गूढार्थ दीपिकायां टीकायां पञ्चमोपदेशः।

भा० टी०—वुद्धि के व्यापार का जो सांसारिक बाह्य विकाश होता है उसकी शान्ति करने से उसी सत्त्व प्रधान वुद्धि दर्पण में अभिव्यक्त और आत्म विषयक अखण्डाकार वृत्ति में परम निष्ठा रूप शान्ति का आश्रय करने वाले जो गुरु के कृपा पात्र शिष्य हैं उनको स्वयं ही सम्पूर्ण मानसिक वृत्तियों के अस्त होजाने पर जीवात्मा और परमात्मा का अभेद रूप समरस अवश्य होता है। यह सत्य है ॥८४॥

इति सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पूज्यपाद वोइराधिपति योगीन्द्र श्री १०८ श्रीपूर्णनाथ शिष्येण वेदान्ताचार्य्येण पण्डित श्रीभीष्मनाथेन कृतायां सारदीपिकायां हिन्दीटीकायां पञ्चमोपदेशः

अथावधूतयोगिलक्षणंकथ्यते

मू०—अथ कोऽवधूत योगिनामेत्यपेक्षायामाह । यः सर्वान्प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूतयोगी, योगोऽस्यातीति योगी धूञ् कम्पने धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते कम्पनं चालनं देह दैहिक प्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्निपरिलीनचेताः प्रपञ्चशून्यआदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः॥१॥

सं० टी०—अथ गुरुं समासाद्य तदुपदर्शित समस्त करणानुष्ठानेन सिद्धिं प्राप्त्यनन्तर मवधूत योगी भवति । तस्य परिचयाय लक्षणं कथ्यत इति प्रकरण सङ्गतिः प्रदर्शिता भवति । कोऽवधूतनामा योगीति कस्यापि जिज्ञासोदये तदुपशमनाय लक्षणं प्रदर्श्यते । अवधूत इति सार्थकमिदं न तु केवलं रूढम्, तत्रैव शाब्दिकरीत्या व्युत्पत्तिः प्रदर्श्यते । अवधूनोति कम्पयति चालयति स्वस्मात् त्यजतीति यावत् किमित्यपेक्षायामाह सर्वानिति तत्र किञ्चित् परित्यागे मानाभावात् किं त्वात्मस्वरूपस्य हातुमशक्यतयाऽनात्मभूतान् प्राकृत सर्व पदार्थां स्तथा च निखिल प्राकृतमलपरिरहितो विशुद्ध एवावधूत पदार्थः, इति निर्गलितः कम्पनेऽपि गतेः सद्भावेन गत्यर्थकत्वात् "गति वुद्धि" इति सूत्रेण क्त-रिक्तः, योगः परमात्मना सकल शक्ति मता सह सम्बन्धोऽस्य स्तीति योगी अवधूतश्चासौ योगीति कर्मधारयः । धूञ् कम्पने इति शाब्दिक प्रक्रियामादाय स्वयमेव तस्यार्थमाह धूञिति धातुः कम्पनार्थे वर्तते कम्पन पदार्थमाह कम्पनं चालनं परित्याग इति यावत् साम्प्रतमवधूत योगीति पदद्वयस्य निर्गलितार्थं संचिन्त्याह देहदैहिक प्रपंचादिषु विषयेषु संसारेषु । अत्र दैहिक पदेन देह सम्बन्धि कलत्रपुत्र धनादयो ग्राह्याः "संगतम्" आसक्तम् (मनः) चित्तं परिगृह्य ध्यानाद्यभ्यासेन वशीकृत्य (तेभ्य. प्रत्याहृत्य) दोषदर्शनादिजन्य वैराग्येण विषयेभ्यो विनिवर्त्य । न नु तस्य क स्थितिः कर्तव्येत्यत आह स्वधाम महिम्नीति सर्व शक्ति सम्पन्न परमात्मनि (विलीन चेताः) विलीनं चेतो यस्येति सः । तथा च चेतसो-

लयः। अतएव (प्रपंचशून्यः) प्राकृत सकल सम्बन्धोज्झितः। तस्मात् (आदिमध्यान्तभेद वर्जितः) समस्त भेद शून्यः अद्वितीय रूप मुख्याव-धूत योगी संजातः किंत्वोदनं पचतीतिवदेतदर्थं साधन दशापन्नोऽप्य वधूत योगीति ध्वन्यत इत्यग्रे स्फुटी भविष्यति ॥१॥

भा० टी०—सद्गुरु के चरणों की कृपा से समरस करण के अनुष्ठान द्वारा जो सिद्ध होजाता है। वह समस्त सांसारिक कर्तव्य बन्धन से विमुक्त होकर अवधूत योगी कहलाता है। इसी लिये समरस करण का प्रकार पंचम उपदेश में निरूपण कर अब इस उपदेश में अवधूत योगियों का लक्षण कहा जाता है। क्योंकि लक्षण से ही वस्तु का निर्णय होता है। अतः अवधूत योगी कौन है। इस आकांक्षा को हटाने के लिये लक्षण कहना भी आवश्यक है। अवधूत पद तथा योगी पद का व्याकरण की रीति से जो अर्थ निकलता है वही उन का लक्षण है। देह और देह सम्बन्धी पुत्र कलत्र मित्र धनादि समस्त सांसारिक पदार्थों में आसक्त मन को हटा लेना अवधूत पद का अर्थ है। क्योंकि व्याकरण में धू शब्द का अर्थ कम्पन है। जैसे घोड़ा अपने देह को हिलाकर समस्त धूलि को झाड़ देता है। वैसे ही आत्मा से अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सब जड़ वर्ग रूप मल को अलग करने वाला अवधूत कहलाता है। योगी पद का अर्थ है कि मन को परमात्मा में लीन करदेना। इन दोनों पदों के मिलने से यह अर्थ हुआ कि समस्त प्राकृत सम्बन्ध से विमुक्त होकर अखण्ड स्वप्रकार शिव शक्ति रूप समरस करना आदि मध्य अन्त तथा मृत्यु आदि सकल भेद रहित अपने स्वरूप में स्थित रहने वाला मुख्य अवधूत योगी कहलाता है। तथा जो इस अवस्था की प्राप्ति के लिये साधन कररहा है वह भी अवधूत योगी कहलाता है ॥१॥

मू०-यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो वह्नि बीजकम्।
तयोरभेदओंकारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः ॥२॥

सं० टी०-वाच्य वाचक योस्तादात्म्य मिति नियमेन तत्तदर्थ वाचको वर्णरूपः पदरूपो वा शब्दस्तदर्थरूप एव कथ्यते, अतएवो

पनिषत्सु ब्रह्मवाचकः प्रणवो ब्रह्मरूप एवेति गीयते। विन्दु पदवाच्यः शिवो बीजपदवाच्या शक्तिरिति तान्त्रिक संकेतः। एवं च पृथिवी तत्त्वस्य या शक्तिः सा पृथिवी बीजम्। तस्या वाचको लकार वर्णः, अतो लँकार पृथिवी बीजम्। एवमेव जलादिभूत चतुष्टयेषु योज्यम, अनया-रीत्या जल बीजं वँ तेजो बीजं रँ मूले बाहुलकादुरादिफ इत्यभावेकार प्रत्ययेरकार पदं साधु। वायु बीजं यँ आकाश बीजं हँ। अत्र श्लोके दिग्दर्शन न्यायेन वायुवह्न्योरेव बीजे कथिते। तथा च तयोरिति पदेनो पलक्षणतया सर्वेषां बीजानां ग्रहणम्। अतः सर्वेषां बीजानां सर्वासां शक्तिनामिति निष्कर्षः (अभेदः) उपादान कारणतया तादात्म्य प्राप्नु-वन् (ओंकारः) पंचभूतबीजशक्तियुक्तः प्रणवः (चिदाकारः) परमात्मरूपः (प्रकीर्तितः) कथितः। अवधूतोऽपि कार्य्यरूपं परित्यज्य कारणरूप मापन्न तया तद्रूपोभवतीति व्यज्यते। अतएव अवधूत लक्षण प्रकरणेऽयमु-पन्यस्तः ॥२॥

भा० टी०—संज्ञा और संज्ञी अर्थात् नाम और नाम वाला इन दोनों में अभेद का व्यवहार लोक और शास्त्र में होता है। लोक में जैसे यह कौन है? राम। राम कौन है? यह। इस प्रकार यह और राम में अभेदरूप से ही व्यवहार होता है। वेद मे भी ओंकार को ब्रह्मरूप कहा गया है। क्यों कि वाच्य वाचक का अभेद सम्बन्ध होता है। तान्त्रिकसंकेत से विन्दु का अर्थ शिव और बीज का अर्थ शक्ति है। इस रीति से पृथ्वी बीज का अर्थ पृथ्वी तत्त्व की शक्ति हुआ। और उसी शक्ति का नाम लकार है और विन्दु शिव कहा गया है। अतः पृथ्वी बीज लकार कहलाता है। इस तरह पांचों भूतों के पांच बीजहैं। लँ वँ रँ यँ हँ। इनमें लँ बीज पृथ्वी का वँ जल का रँ वह्नि का यँ वायु का और हँ आकाश का बीज है। यद्यपि इस श्लोक में दो ही बीजों का वर्णन है तथापि प्रकरण वश पांचों बीजों का ग्रहण करना इष्ट है। अर्थात् पांच भूतों का अभेद अपने पांच बीजों से होता है। और उन बीजों का भी अभेद ओंकार से होता है क्यों कि ओंकार ही सकल बीज मन्त्र और शब्दों का उपादान कारण है जैसे पृथ्वी से उत्पन्न घट पटादि और स्थावर जंगम सभी पृथ्वी कहलाते हैं। इसी प्रकार ओंकार से उत्पन्न

सब बीज ओंकार रूप हैं। उस ओंकार से चिद्रूप शक्ति का अभेद है। क्यों कि संज्ञा और संज्ञी का अभेद होता है ॥२॥

मू०-तदेतद्व्यक्तमुच्यते,

क्लेशपाशतरंगाणां, कृन्तनेन विमुण्डनम्।
सर्वावस्था विनिर्मुक्तः सोवधूतोऽभिधीयते ॥३॥

सं० टी०-(तदेतत्) पूर्वोक्त श्लोके च व्यंग्यतया कथितम्। यत्त देवात्र (व्यक्तम्) स्पष्टतरम् (उच्यते) कथ्यते मयेति शेषः क्लेशपाशेति अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पंचक्लेशास्त एव पाशबन्धका स्तेषां तरंगाणां व्यापाराणां (कृन्तनेन) उच्छेदनेन (विमुंडनम्) परित्यागं यः करोतीति शेषः (स सर्वावस्था विनिर्मुक्तः) जाग्रत स्वप्न सुषुप्तिभिर्बाल्या दिभिर्वा रहितोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ॥

भा० टी०-पूर्व श्लोक में व्यङ्ग रूप से जो अवधूत योगी का लक्षण किया है वही यहां स्पष्ट रूप से कहा जाता है। जिस के अविद्यादि पांच क्लेश रूप जाल के वेग का उच्छेद कर त्याग दिया है और बाल्य यौवन वार्धक्य तथा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओं के प्रपञ्च से जो मुक्त होगया वह अवधूत कहलाता है ॥३॥

मू०-निजस्मर विभूतिर्यो योगी स्वांगे विभूषितः।
आधारे यस्य वारूढिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥

सं० टी०-पुरस्तादन्तरङ्गमभिधायाधुनावहिरंगलक्षणमन्तरगेण वहिरङ्गस्य सामरस्यञ्चाह। तथा च द्विविधोऽवधूतो मुख्यो गौणश्च तत्रोभय लक्षणलक्षितो मुख्यः। अन्यतर लक्षण सहितो गौण इति व्यज्यते (यो योगी) साधकः (स्वाङ्गे) स्वविग्रहे (निजस्मर विभूत्या) स्वरूप स्मारक भस्मना (विभूषितः) अलंकृतः (आधारे) आचार्ये परम्परावल म्बित मार्गे (यस्य) साधकस्य (रूढिः) दृढाध्यवसायः) सोऽवधूतः। वा शब्दपूर्वोक्तान्तरंग लक्षणाभिप्राये चकारार्थ को वा। तेन समुच्चयः ॥४॥

भा० टी०-अविद्यादि पांच क्लेशों का वर्णन मंगल श्लोक

की व्याख्या में हो चुका है। वहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि उन पाँचों में एक अविद्या क्षेत्र रूप अर्थात् कारण है और अस्मिता आदि चार कार्य रूप हैं वे कार्य अविद्या में प्रसुप्त तनु विच्छिन्न और उदार इन चार भेदों से विद्यमान रहते हैं। जिस समय सूक्ष्म रूप होकर अविद्या में छिप जाते हैं और उन का बीजपना तत्त्वज्ञान से दग्ध नहीं हुआ है। अतः आगे उत्पन्न होने वाले हैं उस समय वे प्रसुप्त कहलाते हैं। योगियों के अस्मिता आदि क्लेश प्रसुप्त नहीं कहेजाते हैं। क्यों कि उनके क्लेशों में बीजपना नष्ट होचुका है। साधक योगियों के क्लेश तनु कहे जाते हैं। क्यों कि उन में दोष देख कर वैराग्य भावना से सूक्ष्मता होजाती है जैसे जिस समय में एक स्त्री में राग वर्तमान है उस समय में अन्य स्त्री का राग दबा हुआ है वहविच्छिन्नकहलाता है। वैसे ही दबे हुये क्लेश विच्छिन्नकहलाते हैं। अपने स्वरूप से विद्यमान् काल में उदार कहलाते हैं इन उपर्युक्त क्लेशों को समूलनष्ट करनेवाला और प्रपञ्चावस्था से विमुक्त अवधूत योगी होता है ॥४॥

मू०—लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त कलनोज्झितः।
कौपीनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

सं० टी०—(लोक मध्ये) संसारे (स्थिरासीनः) स्थिरं निश्चलं यथा स्यात्तथा (आसीनः) रागद्वेष विनिर्मुक्तो मध्यस्थश्चेति यावत् (समस्त कलनाभिः) अयं ब्राह्मणः क्षत्रियो वेत्यादि सांसारिक निखिल गणनाभिः, (उज्झितः) शून्यः (अदैन्यम) यस्य (कौपीनम्) कटिवस्त्रम् (खर्परम्) हस्ते पात्रम् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥५॥

भा० टी०—पहले अवधूत योगी का मुख्य लक्षण कहकर अब बहिरंग लक्षण का निरूपण करते हैं। अपने स्वरूप का स्मरण कराने वाले विभूति रूप अलङ्कार से जो सुशोभित तथा निज गुरु के बतलाये हुये आसन पर आरूढ़ है वह अवधूत योगी कहलाता है। जिस ने इस संसार में ही समस्त राग द्वेषादि प्रपञ्च का परित्याग किया है इसीलिये समस्त कल्पनाओं से मुक्त और स्थिर आत्मानन्द में स्थित है तथा जिस के कटिदेश में कौपीन और हाथ में खप्पर है

एवं दीन भाव से भी रहित है वह पक्का अवधूत है ।।५।।

मू०--शं सुखं खं परं ब्रह्म शंखं संघट्टनाद् भवेत् ।
सिद्धा न्तोधारितोयेनसोऽवधूतोऽभिधीयते॥६

सं० टी०--शंख शब्दघटकः शं शब्दः सुखवाचकः खशब्दश्चव्यापक ब्रह्म वाचकः। एवं च ख समभिहारात् लौकिकसुखस्य शमिति समभिहाराच्च जडात्मकाकाशस्य च व्यावृत्तिः परस्पर समभिहार बलेनाखण्डः सच्चिदानन्दो गृह्यते तथा चाखण्ड सच्चिदानन्दरूपः शंखो येन धारितोऽधारिसः "अवधूतः" कथ्यते। अवधूतस्य यानि लिङ्गानि तानि सकलानि सच्चिदानन्द ब्रह्म स्मारकतया ब्रह्म लिङ्गानि कथ्यन्ते। तत्र द्विविधा दृष्टिः। अभेदेन भेदेन च प्रथमा यथादित्यो ब्रह्मेत्यत्राभेद भावनयाऽऽदित्य दर्शनेन ब्रह्म स्मर्यते। अयमपि सच्चिदानन्द एवेति। न चेत्थं प्रतीकोपासना स्यात् तथा च प्रतिकोपालम्बान्नयतीति चेन्नेत्यादि व्यास सूत्रोक्त सिद्धान्तानु-सारेण तस्य मोक्षो न स्यादिति वाच्यम्। तस्य तात्पर्य्यान्तरत्वात् तथाहि यस्यातिरिक्त सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म पदार्थ ज्ञानं नास्ति किन्त्वस्यादित्य पिण्डस्य यादृशस्वरूपन्तदेव ब्रह्मपदार्थो नान्यादृगिति बुद्ध्योपासनं स एव प्रतीकोपालम्बन स्तस्यैवातत्क्रतुत्व हेतुं प्रदर्श्य मोक्षो वारितस्तत्र नतु यस्यातिरिक्त सच्चिदानन्द ब्रह्मपदार्थ विज्ञानं तदभिन्नतयाऽऽदि त्यादीनां तस्य प्रतिकोपालम्बनत्वं तस्य च तत्क्रतुत्वेन(ब्रह्मभावनया)मोक्षो ध्रुव एवेति रहस्यं मर्म विदो विदन्ति। तथैवावधूतेन स्वधारित शंख लिङ्ग सुखात्मक व्यापक ब्रह्म बुद्धिराधीयते नैतावता प्रतीकोपालम्बन-त्वम्, अपितु ब्रह्मज्ञानित्वमेव। अतस्तेन मोक्षो हस्तयित एव इदमेव रहस्यं सनातन धर्मावलम्बिनां मूर्ति पूजासु न जातु कश्चिद् वटुकोऽपि जानाति यदियमेव प्रतिमा परमेश्वरः। अपितु,अस्ति कश्चित् शक्तिशाली परमेश्वरः स्वमहिम्निप्रतिष्ठितः। किन्तु प्रतिमापि तस्यैव रूपमेवावगच्छ-न्ति सर्वे तावता ब्रह्मज्ञानित्वस्य न क्षतिः किन्तु ब्रह्मज्ञतायाद्रढीयस्त्वमेव सम्पद्यतेऽतो ब्रह्मज्ञैरपि प्रतिमा पूजनीयेत्युपदिश्यते। अथवायोहि ब्रह्म पदार्थानभिज्ञस्तस्य त्वरितमतिरिक्त ब्रह्म पदार्थज्ञानस्याशक्यतयाऽन्तः

करणादि शुद्धिफलाय तावत् प्रतिमापूजाविधेयैव शुद्धे मनसि स्वयमेवा तिरिक्तं ब्रह्मज्ञायते यथाऽन्नं ब्रह्मेति क्रमिकविज्ञानादन्ते विशुद्ध ब्रह्म विज्ञानं भृगो र्बभूवेति तैत्तरीयोपनिषदि प्रसिद्धम्। ततश्चावधूतवदेव प्रतिमा पूजनेऽपि न मोक्ष प्रतिबन्धः। अपितु ब्रह्म ज्ञानस्यपरिपूर्णतयैव परिचीयते। एवं च ज्ञान्यज्ञान्युभयोरपि सर्वावस्थासु विदेह कैवल्यात् प्राक् प्रतिमा पूजनीयं त्याज्य भेद्यतर्कार्गलमिमं सनातन सिद्धान्तं मनसि निधायोपदिशन्ति शं सुखेत्यादि ॥ द्वितीय प्रकारो भेदेन दृष्टि रत्र पक्षे मूर्तिस्तूपाधिस्तेन तदुपहित ब्रह्म स्माय्यते ॥ ६ ॥

भा० टी०—"शम्" शब्द का अर्थ सुख और ख पद का अर्थ आकाश सदृश व्यापक पर ब्रह्म है। इनदोनोंशब्दों का परस्पर मेल होने से शङ्ख शब्द सिद्ध हुआ। शंख शब्द का अर्थ सुख रूप व्यापक परब्रह्म होता है। यही अद्वैत रूप सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का पालन करने वाला अवधूत योगी कहलाता है तथा इसी सिद्धान्त के स्मारक शङ्खरूप वाद्य विशेष का धारण करना अवधूत योगियों का बाह्यचिन्हहै ॥६॥

मू०—पादुका पद संवित्ति र्मृगत्वक् स्यादनाहता।
शेली यस्य परासंवित् सोवधूतोऽभिधीयते ॥७॥
मेखला निवृत्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम्।
निवृत्तिःषड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥८
चित्प्रकाश परानन्दौ यस्य वैकुण्डल द्वयम्।
जपमालाक्ष विश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥६॥
यस्य धैर्य्यमयोदण्डः पराकाशञ्च खपरम्
योगपट्टो निजाशक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते॥१०॥

सं० टी०—एवं यस्य (पदसंवित्तिः) पद्यत इति पदा सा च संवित्तिस्तत्वज्ञानं सैव प्राप्तव्येत्यर्थः (पादुकाः) या चरणे धार्य्यते। यस्य चाङ्गोपरि (मृगत्वक्) मृगचर्म (अनाहता) अनाहतनादरूपास्यात् किंच (परासंवित्) पराशक्तिज्ञान स्वरूपा च (शेली) गले स्यात् तथा

चान्तरंगविहिरंगयोः सामग्रस्यमेव व्याख्याने फलितं सः अवधूतोऽभिधीयते ॥ ७ ॥ यस्य कटौ (निवृत्तिः) वैराग्यरूपा (मेखला) मौञ्जी नित्यं वर्तते (स्व स्वरूपं) आत्मरूपम् (कटासनम्) कटशय्यास्ति । पूर्वं निवृत्तिरित्युक्तं तत्रावश्यंशेनित्य साकांक्षतया कस्मान्निवृत्तिरित्यपेक्षायामाह (षड्विकारेभ्यः) काम क्रोध लोभ मोह भयेर्ष्याभ्यः सोऽवधूतः ॥८ यस्य "चित्प्रकाश परानन्दौ,, तद्रूपौ "कुण्डलौ,, कर्णयोर्भूषणे भवतः "अक्ष विश्रान्तिः,, इन्द्रियविरामरूपा "जपमाला,, रुद्राक्षमाला,, कण्ठे हस्ते वा वर्तते सः "अवधूतः,, ॥९॥ यस्य (दण्डः) दण्डस्थानीयः धैर्य्यमयः,, प्रचुर धैर्य मेवार्थं च चतुर्थाश्रमे यद्दण्डधारणं तदिह धैर्यधारणम् "पराकाशम्,, हृदयाकाश रूपं वा "खपरम्,, तत्पात्रम् 'योगपट्टः, काष्ठनिर्मितो योगिनां विश्राम दायकः । सा "निजाशक्तिः,, स्व शक्तिमेव योग पट्टमन्यत इति भावः "सोऽवधूतः,, पूर्ववत् ॥१०॥

भा०टी०—तदद्यभूत परमात्मा के ज्ञानकी बोधक खड़ाऊँओं को जिसने पैरों में धारण किया है तथा देह पर अनहद नाद रूप मृगचर्म ओढ रक्खा है और सर्वोत्कृष्ट ज्ञान की परिचायक शैली (जनेऊ) को जिस ने गले में धारण किया है वह अवधूत कहलाता है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अन्तरङ्ग साधन का द्योतक प्रत्येक बाह्य चिन्ह है। जिस की नित्य ही काम क्रोध लोभ मोह भय ईर्ष्यादि विकारों को निवृत्ति रूप तगड़ी है तथा स्व स्वरूप आत्मानन्द में निरन्तर मग्न होना ही स्थिर आसन है वह अवधूत है। जिस के कानों में चित प्रकाश और परमानन्द यही दोनों कुण्डल हैं और इन्द्रियोंकाविषयों से उपरत होना ही रुद्राक्ष जपमाला है। ऐसी माला जिस के कण्ठ में या हाथ में हो वह अवधूत है। जिस के आत्म संयम में धैर्य रूप ही दण्ड है तथा पराकाश (परमात्मा) रूप खप्पर है और जिस का निजा शक्ति रूप ही योग पट्ट (आशा) है वह अवधूत कहलाता है ॥१०

मू०—भेदा भेदौ स्वयंभिन्नांकृत्वास्वा स्वादने रतः।
जारणा तन्मयी भावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ११ ॥
अचिन्त्येनिजदिग्देशे स्वान्तरं वस्तुगच्छति ।

एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१२॥
स्वपिण्डममरी कर्तुमनन्ता ममरीं च यः ।
स्वयमेव पिबेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१३॥
अचिन्त्या वज्रवद्गाढा वासनामलसंकुला ।
सा वज्री भक्षितायेन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१४॥
आवर्तयति यः सम्यक् स्वस्व मध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद् वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१५॥

सं० टी०— स्वयं 'भेदा भेदौ ,, द्वैता द्वैतो "भिन्नां कृत्वा;, भक्षयित्वा,, स्वास्वादने,, स्वस्य स्वस्वरूपस्य,, आत्मन आस्वादने निजानन्दानुभव इति यावत् (रतः) संलग्नः । जारणा, रागद्वेषयोर्भेदयो र्वा पाचनं जागरापाठ पक्षे जागरणं तन्मयी भावः--आत्मनिष्ठतारूप जागरणं यस्य सः "अवधूतः,, ॥११॥केवल प्राकृत तीर्थादि दिग्देशाध्व भ्रममाणो नावधूतोऽपि तु यः (एक देशान्तरीयः) लौकिकदृष्ट्यैकदेश मध्य स्थितोऽपि । "अचिंत्ये" चिन्तनातीतेऽपरिमिते 'निजदिग्देशे' वास्तविक स्वकीय व्यापक प्रदेशे (स्वान्तरम्) स्वकीयान्तः करणं (गच्छति) मेलयति सः 'अवधूतः' कथ्यते अयम्भावः स्थूलदेहापेक्षया परिच्छिन्न देशे समासीनोऽपि मनसा सर्वदेशस्थितो यः सोऽवधूतः ॥१२॥ यः 'स्वपिण्डम्' प्राकृतस्वस्थूलशरीरम् 'अमरी कर्तुम्' अनमरममरं कर्तुं मृत्युं विजेतुम् 'अनन्ताम्' अविनश्वर शीलाम् 'अमरीम्' पूर्वोक्तां खेचरीमुद्रया निःसृत सुधाम् स्वयमेव पिबेत् सः 'अवधूतः कथ्यते ॥१३॥ या 'मलसंकुला' सांसारिक विषयरूप मल व्याप्ता । अतएव(अचिन्त्या) वाङ्मनो विषयातीता (वज्रवद्गाढा) वज्रवद्घनीभूता दुर्भेद्या सा'वज्री'तन्नाम्ना व्यवहरणीया'येन भक्षिता'समूलोत्पाटितासः'अवधूतः'कथ्यतेयेनवज्रोलीकृता सोऽवधूत इति भावः। १४ (स्वस्व मध्ये) सकलात्मसु (सदा) सततं योयोगी स्वयं) स्वस्वरूपं 'सम्यगावर्तयति' अभेदेन संघटयति। अतएव समत्वेन स्वाभिन्नत्वेन (जगत्) संसारं 'वेत्ति' अनुभवति सः 'अवधूत'; कथ्यते ॥१५॥

भा० टी०—भेद और अभेद इन दोनों की भित्ता कर अर्थात उन भेदाभेदों को त्यागकर जो स्वयं आत्मानन्द के रसास्वादन में तत्पर है और उन दोनों को ब्रह्मानन्द में लीन होने से जीर्ण करनेवाला अवधूत कहाता है। केवल बाहर घूमने से ही अवधूत नहीं होता किन्तु जो देश कालादि से अपरिमित परमात्मा में ही अपने व्यापक आन्तरिक आत्मा को प्राप्त करने वाला इसीलिये साधारण जनों की दृष्टि से वह एक देश में स्थित प्रतीत होने पर भी वास्तव में ब्रह्म रूप से सर्वत्रव्यापक अखण्ड ज्योतिरूप है वही अवधूत कहाता है। जिसने इस प्राकृतिक स्थूल शरीर को अमर बनाने के लिये खेचरी मुद्रा द्वारा स्वयं ही अनन्त अमरीपान किया है उस को अवधूत कहते हैं। जिसने वासना रूप मलों से भरी हुई अतएव चिन्तातीत और वज्र की तरह दुर्भेद्य वज्रीनाडी को स्वाधीन कर लिया है वह अवधूत कहलाता है। सब की आत्माओं में अपनी तथा अपने में सब की जो अभिन्न रूप से भावना करता है कि मैं ही सर्वत्र व्यापक हूं। इस प्रकार समस्त संसार को निज आत्मरूप से जानने वाला अवधूत कहलाता है ॥१५॥

मू०—स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते।
अनुत्थानमग्नः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१६॥
अनुत्थाधारसंपन्नः परविश्रान्तिपारगः।
धृतिचिन्मय तत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१७॥
अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम्।
स सत्यं स्वान्तरे सन्नः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१८॥
अवभासात्मकोभासः प्रकाशे सुख संस्थितः।
लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१९॥
क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥२०॥

सं० टी०—'स्वात्मानमवगच्छेत्'स्वस्वरूपं प्रत्यक्षतोजानातित्वा

त्मन्येव स्वस्वरूपमात्रे, अवतिष्ठते सदा रमते । किंनिमेषमात्रं न किन्तु, अनुत्थानमयः अनुथानशीलः(सोऽवधूतः)अत्रात्मज्ञानस्य मुख्यतां तन्निष्ठतायाश्च दुर्लभतां प्रदर्शयति पुनः पुनर्वाद इतिन पुनरुक्तेः शंका कार्या ॥१६॥ अनुत्थेति नोत्तिष्ठतीत्यनुत्थः कूटस्थः स चासावाधारो जगता मधिष्ठानात्मभूतः परमात्मा तत्र सम्पन्नोऽभिन्नतां गतः परविश्रा न्ति पारगः, परविश्रान्तिः सत्संपत्तिः स्तस्या पारगो निःशेषं परिलब्धा (धृतिचिन्मयतत्त्वज्ञः) धृत्या धैर्येण सम्यकृतयेति यावत् चिन्मयतत्त्वम् आत्मतत्वम् तज्जानाति सः "अवधूतः,, ॥१७॥

(अव्यक्तम्) विलीनं स्व स्वरूपं क्वचिद् भक्त विशेषे (व्यक्तम्) प्रकटरूपम् (आधत्ते) करोति भक्ताय दर्शनं ददातीति भावो यथाचार्य पादः समये समये प्रादुर्भवति । अथवा "अव्यक्तम्,, सूक्ष्मतत्त्वम् व्यक्तम्,, प्रकटं करोति तथैव व्यक्तमपि सर्वं ग्रसति वा (अव्यक्तम्) परमेश्वरम् (व्यक्तम्) प्रत्यक्षं करोति निजभक्तिप्रभावाद् व्यक्तं च सर्वजड वर्गं (ग्रसति) परमात्म बुद्ध्याऽऽच्छादयति । अत एव सः (स्वान्तरे) स्वाभ्यन्तरे (सत्वम्) परमात्मानम् (सन्नः) प्राप्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥१८॥ (अवभासात्मकः) सकलप्रकाशकः (भासः) प्रकाशो भवतीति शेषः । ननु सतिप्रकाशेऽपि दुःखंस्यादत आह—प्रकाशे सुखं स्थितः सुखेन सम्यक् सम्पन्नः । ननुजडीभूततया मृतकल्पः किम्– अत आह (लीलया) अनायासेन लोके रमते सः "अवधूतः" ॥१९॥

भा० टी०—जो सकल चराचर को आत्म रूप जानकर सदा आत्मनिष्ठ रहता है अर्थात् कभी भी आत्म स्वरूप से विचलित नहीं होता वह अवधूत कहाता है । जिस समय सिद्धपूर्ण ब्रह्मज्ञान निष्ठा को प्राप्त हो जाते हैं उस समय उन सिद्धों के लिये सब वाह्य चिन्ह आत्म रूप से भासने लगते हैं । अतः उनको वाह्य चिन्हों की आवश्यकता नहीं रहती । हां, साधनावस्था में वाह्य चिन्ह धारण करना अनिवार्य है क्योंकि वाह्य चिन्ह आत्म विज्ञान और वैराग्यादि अन्तरङ्ग साधनों के स्मारक हैं और उनमें भी आत्म बुद्धि रहने से वे अवधूत पन के बाधक न होकर साधक बन जाते हैं । इसी अभिप्राय का गीता में भी "ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरित्यादि" रूपसे स्पष्टवर्णनकिया है ।१५। सकल चराचर जगत

के अधिष्ठान भूत कूटस्थ परमात्मा में धैर्य से जीवात्मा और परमात्मा की एकता सम्पादन करने वाला इसी लिये परमानन्द की अन्तिम सीमा को प्राप्त हुआ और वास्तविक तत्त्व को पहिचानने वाला अवधूत कहलाता है।१७। जो ब्रह्मनिष्ठ अपने स्वरूप को कदाचित किसी प्रिय शिष्य के कल्याणार्थ प्रकट कर देता है और कभी प्रकट शरीर को भी छिपा देता है इस लिये वह अपने शरीर में ही अखण्ड व्यापक ज्योति चित् स्वरूप को प्राप्त हुआ अवधूत कहलाता है या अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त रूप को धारण करती है। अतः प्रकृति का विकार होने से व्यक्त स्वर्गादि सब भोग्य विषयक प्रपञ्च अनित्य क्षण भंगुर और जल बुद्बुद् की तरह विनश्वर है। इसी से समस्त कार्य कारण रूप भूत भौतिक प्रपञ्च से विरक्त और सदा अचल, सत्य आत्मानन्द में तृप्त रहने वाला अवधूत योगी कहलाता है।१८। जो सदैव अखण्डव्यापक आत्म सुख में स्थित रहता है अतः असङ्ग ब्रह्म स्वरूप होने से जगत् के प्रकाशक सूर्य चन्द्रादि का भी प्रकाशक है और मायावी के समान लीला से स्वच्छन्द गति के द्वारा विचरने वाला अवधूत कहलाता है ॥१९॥

मू०-एवं विध नानासंकेत सूचको नित्य प्रकाशेवस्तुनि निज स्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूप दर्शने सम्यक् सद्बोधकोऽवधूत योगीत्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति यतः सर्व दर्शनानां स्व स्वरूप दर्शने समन्वयं करोति सः "अवधूत योगी स्यात् ॥२०॥

सं० टी०—(नित्य प्रकाशे) स्वरूपानुभवे संजाते (एवं विधेति) एवं विधानां सकलानां संकेतानां सूचकः पूर्वोक्त प्रकारेण नाना मत प्रदर्शकः (निजस्वरूपी) स्व स्वरूपानुभवनिष्ठः (सर्वेषां) आस्तिक नास्तिकानाम् (सिद्धान्त दर्शनानाम्) विभिन्न मत प्रदर्शकशास्त्राणाम् (स्वस्वरूप दर्शने) परमात्मस्वरूप बोधने सम्यक् समीचीनतया बोधकः समन्वयद्वारातत्त्वोपदेशकः(अवधूत योगीति कथ्यते) सएवच सद्गुरुर्भवति (यतः) यस्मात्कारणात (सर्वदर्शनानाम्) सकल शास्त्राणाम् (आत्मदर्शने)

समन्वयं संलापनं करोति सः "अवधूत योगी" स्यान्नतु भेदबोधज रागान्तः कलुषितः ॥२०॥

भा० टी०—जो शुद्ध, बुद्ध, व्यापक, नित्य प्रकाश, ज्योतिःस्वरूप आत्मानन्द में ही मग्न है इसी से परस्पर विरुद्ध मत वाले जनों के सिद्धान्त दर्शन को भी निज अखण्ड व्यापक स्वरूप में ही उक्तरीति से अनेक नाम संकेतों को भी परमार्थ अवस्था में ही घटानेवाला अवधूत योगी कहलाता है और वही योगी अच्छी प्रकार से नित्य अखण्ड आत्मोपदेश में समर्थ होता है। क्योंकि आत्म निष्ठ होने से जब वह जीवन मुक्त संसार मोह बन्धन को तोड़ चुका है तब दूसरे को भी आत्मोपदेश द्वारा पार कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। अतः वास्तविक हितचिन्तक होने से वह अवधूत योगी ही सद्गुरु कहलाने योग्य है क्योंकि वह अभेदात्मदर्शी विरुद्ध सिद्धान्त के प्रतिपादक मतों का भी वास्तविक अभिन्न निज स्वरूप में ही अभेद रूप से समन्वय कर लेता है। अर्थात् आत्मरूप में देखता है। वही यथार्थ में अवधूत है ॥२०॥

मू०—अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानीसिद्धश्चसुव्रतः।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्री साधुरेव च ॥२१॥
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधी कोविदो बुधः।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्ध प्रकाशयित् ॥२२॥
तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसकोविदुः।
देवतेत्यादि विद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः ॥२३॥
आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयम्।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिवरुद्रादि संज्ञितम् ॥२४॥

सं० टी०—इत आरभ्य व्यवहारै रित्यन्तैः सकल स्वरूपतां प्रदर्श्यावधूतस्य महिमानमातनोति सएवावधूतः(अत्याश्रमी,आश्रमानतीत्य वर्त्तमानः चकारादाश्रमानतीतोऽपि (योगी) योगाभ्यासतत्परः (ज्ञानी), आत्मज्ञः (सिद्धश्च) अणिमादि सिद्धिसम्पन्नः, (सुव्रतः) तपोनिष्ठः, ईश्वरो हिरण्यगर्भादिदेवः। तथा (स्वामी) नायकः श्री साधुः शक्तिसहि-

तोपासकः परोपकार निरतः, धन्यवादार्हः, अवधूते सर्व स्वरूपता घटत इतिभावः।२१।सएव 'जितेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियवर्गः 'भगवान् ऐश्वर्य संपन्नः स सुधीः, शोभनध्यानकर्ताबुधः, लौकिकावगमनवान् (कोविदः) पण्डितः, आत्मज्ञचार्वाकादीनां व्यावहारिकमत भेदेऽपि परमार्थावधूतत्वे कोऽपि भेदोनेति बोधयितुं तदनुवादः । चार्वाकः प्रत्यक्ष मात्र प्रमाण वादी (आर्हतः:) अर्हदुपासको जैनः । बौद्धप्रकाशविद् बौद्धसम्बन्धि प्रकाशवेत्ता बुद्धिवृत्तिरूप क्षणिक विज्ञान वादि सौगतः ।।२२।। तार्किकः नैयायिकः (सांख्यः) कापिलः (मीमांसकः) कर्मवादी ब्रह्मवादी च ननु कथं सर्वस्वरूपोवधूतः सति भेदेऽत आह एते यमात्मानं विदुः (दैवतेत्यादि विद्वद्भिः) दैवताकालभावादि वादिभिः (शास्त्र कोटिभिः) तत्तद्दर्शनैः 'यः आत्मा कीर्तितस्तत्स्वरूपोऽवधूतोतश्चार्वाकादिरूप इति ।२३। (आत्मा) भूतात्मा इत्यप्यवधूत एव (परमात्मा) ब्रह्मेत्यपिसः (जीवात्मा) जीवरूपोऽपि स एव यत्तु (साक्षाच्छिवरुद्रादिसंज्ञितम्) शिवरुद्र शब्देन कथ्यमानम् (परं तत्त्वम्) सर्वथा बाधरहितं वस्तु तत् स्वरूपोयमवधूतः सकल स्वरूपः संजातः कृतं परिगणनेन ।।२४।।

भा० टी०—पूर्वोक्त अवधूत ही चारों आश्रमों से अतीत होने से अत्याश्रमी है । क्योंकि वह ब्रह्मनिष्ठ है इसी से किसी आश्रम विशेष में अभिमान नहीं रखता । समाहित आत्मा होने से योगी ब्रह्मनिष्ठ होने से ज्ञानी अणिमादि सिद्धि युक्त होने से सिद्ध दृढनिश्चयी होने से सुव्रत सर्व सामर्थ्य युक्त होने से ईश्वर जितेन्द्रिय होने से स्वामी और सबका कल्याण साधक होने से वही धन्य है । भूतों की उत्पत्ति प्रलय गति आगति विद्या अविद्या को जानने वाला भगवान् और जितेन्द्रिय होता है वही अच्छा ध्यानी ज्ञानी पण्डित कहा जा सकता है । इन्द्रिय परायण व्यसनी पुरुषों में उक्त लक्षण नहीं घट सकता । अब मतान्तरों में अरुचि दिखाते हैं । देहात्म वादी चारवाक मध्यम परिमाणात्मवादी जैन क्षणिक विज्ञान वादी बौद्ध आरम्भ वादी नैयायिक परिणाम वादी सांख्य और केवल कर्मवादी मीमांसक ये सब अपने अपने मत के अनुसार जिस तत्त्व का उपदेश देते हैं तथा अनेक शास्त्रों और विद्वानों ने भी इस संसार

का कारण देवता स्वभाव काल कर्म आदि को कहा है। भूतात्मा परमात्मा और जीवात्मा इत्यादि नाना रूप से जो वर्णित है वास्तव में वह एक ही तत्त्व है। वही प्रत्यक्ष आत्म रूप चेतन सर्व व्यापक तीनों कालों में अबाध्य शिव रुद्रादि नामों से कहा जाता है। इसीलिये किसी सिद्धान्त से परम अद्वैत सिद्धों के सिद्धान्त का विरोध नहीं। क्यों कि सिद्ध समाहित आत्मा होने से वास्तविक एक ब्रह्म तत्व में निष्ठ रहते हैं। पूर्वोक्त वादी लोग परिणामशाली बुद्ध्यादि के उपासक होने से बुद्धि की कल्पना के आधार पर भले ही चले इससे समाहित आत्मा सिद्धों की कुछ हानि नहीं। २१-२२-२३-२४

मू०—शरीर पद्म कुहरे सर्वेषामवस्थितम्।
तदवश्यं महापाशाच्छेदितव्यं मुमुक्षुभिः॥ २५ ॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एवेन्द्रः स च प्राणःसकालाग्निःस चन्द्रमाः ॥२६॥
स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः।
स एव योग गम्यश्च सांख्य शास्त्रपरायणैः ॥२७॥
स एव कर्म इत्युक्तः कर्ममीमांसकैरपि।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि॥ २८ ॥
व्यवहारैरयं भेदस्तस्मादेकस्य नान्यथा ॥ २६ ॥
मुद मोदे तु रादाने जीवात्म परमात्मनोः।
उभयो रेक संवित्तिर्मुद्रे ति परिकीर्तिता ॥३०॥
मोदन्ते देव सङ्घाश्च द्रवन्ते ऽसुरराशयः।
मुद्रे ति कथिता साक्षात् सदा भद्रार्थ दायिनी ॥३१॥
अस्मिन्मार्गे ऽदीक्षिता ये सदासंसाररागिणः।
तेहि पाषण्डिनः प्रोक्ताः संसार परिपेलवाः ॥३२॥
अवधूत तनुर्योगी निराकार पदे स्थितः।

सर्वेषां दर्शनानाञ्च स्वस्वरूपं प्रकाश्यते ॥ ३३ ॥

सं० टी०—सर्वेषां प्राणिनां शरीरे यत् पद्मं हृदयाख्यं तस्य कुहरे गुहायाम् (यत्) आत्मतत्वमवस्थितम्, वर्तमानम् । तदात्मतत्त्वम् (महापाशात्) अविद्यादिजालात् (मुमुक्षुभिः) मोक्षार्थिभिर्मनुष्यैरवश्य मेव (छेदितव्यम्) पृथक् कर्तव्यं विज्ञानासिना एयन्त च्छिद्देस्तव्यति रूपम् । तदेव मनुष्य जन्म साफल्यं तत्त्वावधूतेन सम्पादितमिति स्तुति ध्वनिः ॥ २५ ॥ एकैवात्मतत्त्व रूपोऽवधूतो व्यवहारेऽनेक नामरूपो पाधिभेदैर्व्यवह्रियत इति वर्णयति ब्रह्मेत्यादिरजउपहितो ब्रह्मा सत्वोप हितो विष्णुस्तमउपहितो रुद्रः स एवोपाधि रहितोऽक्षरः परमः स्वराट् स्वर्गाधिपति पिण्डोपहित इन्द्रः "सूत्रात्मा प्राणः" प्रलय कालिकः कालाग्निस्तथा चन्द्रः ॥ २६ ॥ स एवावधूतः सूर्यरूपः, कल्याण रूपः, परमः शिवः, सकल जगत् संहारकः किं च योग शास्त्र गम्यः क्लेश कर्म विपाकेत्यादि सूत्र प्रतिपाद्यः, सांख्यशास्त्रोक्तासंगचित्रूपानेक पुरुषा अपि स एवेति ॥ २७ ॥ स एवावधूतः कर्म योग मीमांसकसम्मत कर्म रूपः किं च वैदिकैरद्वैत वेदान्तिभिरपि सत्परानन्द शब्देन सर्वत्रोपनि- षत्सु कथितः सोऽपि स एव ॥ २८ ॥ तस्माद् व्यवहारैरेवायं भेदः संजातो न तु परमार्थतया तस्मादेकस्य तत्वस्य (नान्यथा) न भेदो भवितुमर्हति ॥ २९ ॥ मुद्रा शब्दे मुदिति रा इति च पदं तत्र मोदत इति व्युत्पत्या मुद शब्दार्थो जीवात्मा आनन्द भोग कर्तृत्वात् । राति ददातीति व्युत्पत्या रा पदार्थश्च परमात्मा सर्वेषां कर्मफल दातृत्वात् । उभयत्र वाच्यार्थयोर्भेदेऽपि लक्ष्यभूत चैतन्यस्यैक्यमेवेति मुद्रापदार्थमाह मुद इति मुद् धातु र्मोदेऽर्थे रा धातु र्दानेऽर्थे च वर्तते तदुभयार्थयोर्जीवा त्म परमात्मनोरैक्य संवित्तिरभेदज्ञानं मुद्रेति प्रकीर्तिता तस्मात्कलिङ्गं (मुद्रा) कर्णकुण्डलमिति यावत् ॥ ३० ॥ किं च मुद्रा पदस्य वाच्यान्तर माह—मोदन्त इति मुदं राति ददातीत्यर्थे व्युत्पत्तिमङ्गीकृत्योच्यते देवा नां मुदं ददाति, अर्थादेतद् भूषणं दृष्ट्वा देवा मोदन्ते हृष्टा भवन्ति । यथा राजा स्वदत्त चिन्ह धारिणं पुरुषं दृष्ट्वा मोदते । किं च नामैकदेश न्यायेन मुग्धा असुरा द्रवन्ते । एनां दृष्ट्वा पलायन्ते । यथा चोरः राज

चिन्हात । सदा साक्षाद् भद्रार्थ दायिनी कल्याण प्रदा मुद्रा शास्त्रे प्रकीर्तिता कथिता ॥ ३१ ॥ (अस्मिन्मार्गे) योग मार्गे (अदीक्षिताः) अशिक्षिताः (सदा संसार रागिणः) नित्यं भवविषयाभिलाषुकाः 'संसार एव परि पेलवः, अति रमणीयो येषां ते (पाषण्डिनः) धूर्ताः प्रोक्ताः । अथ वाऽस्मिन् मार्गे योगमार्गे दीक्षिताः सन्तः सदा निरन्तरं जीवननिर्वाहकाधिक काले संसाररागिणस्तेपीत्यर्थोऽपि वक्तुं शक्यते ॥ ६२ ॥ सांसारिक पुरुषान्दयित्वा परमार्थमभीप्सु योगिनः प्रशंसन्ति यः (निराकार पदे) चिदानन्द घने (स्थितः) रममाणः (अवधूत तनुः) सकल लिंग रहित विग्रहः (योगी) साधनवान् स सर्वेषां दर्शनानां निखिल सिद्धान्तानाम् (स्व स्वरूपम्) निजात्म स्वरूपं प्रकाशते प्रकाशयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः ॥ ६३ ॥

भा० टी०—सर्व प्राणियों के शरीरस्थ हृदय कमल में विशेष करके आत्म तत्व अभिव्यक्त होता है। वही उपाधियुक्त होने से शोक मोहादि पाश से बद्ध हो संसार चक्र में भ्रमण करता है। अतः मुमुक्षु को चाहिये कि अज्ञानरूप उपाधि बन्धन को तोड़कर निज अखण्ड आत्मानन्द में प्रतिष्ठित होजाय बस यही मनुष्य जन्म की सफलता है। वास्तव में आत्म तत्व एक ही है किन्तु व्यवहार काल में अनेक वादियों की कल्पना से उसी के अनेक नाम होजाते हैं। इसी अभिप्राय को यहां से लेकर उनतीस श्लोक तक वर्णन करेंगे। वही आत्मतत्व ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र परब्रह्म, इन्द्र, प्राण कालाग्नि और चन्द्रमा है। वही सूर्य, शिव तथा योग से जानने योग्य परम शिव और वही सांख्य में प्रतिपादित असङ्ग आत्म तत्व है। उसी परम तत्व को कर्म कहकर मीमांसक जगत् का कारण कहते हैं और उसीको वेदान्ती लोग सच्चिदानन्दनाम से कहते हैं। अतः वास्तव में तो वह एक ही आत्म तत्व है। उसीके ये व्यावहारिक अनेक भेद हैं वास्तविक नहीं। मुद्रा शब्द में दो पद हैं। एक 'मुद्' दूसरा 'रा' इनमें मुद् का अर्थ आनन्द भोक्ता जीवात्मा और रा का अर्थ दाता परमात्मा है। दोनों के मेल से जीवात्मा और परमात्मा का अभेद ज्ञान सिद्ध होता है। अतः इसी लक्ष्य के स्मारक मुद्रा अर्थात् कुण्डल कानों में योगीजन धारण करते हैं। मुद्रा शब्द के दूसरे

अर्थ का वर्णन करते हैं। 'मुद्' अर्थात् हर्ष 'रा' का अर्थ है देनेवाला। जैसे राजा अपने बनाये हुये चिन्ह विशेषों से सज्जित सेना को देखकर प्रसन्न होता है वैसे ही देवगण जिसके कानों में मुद्रा देखते हैं उसके ऊपर प्रसन्न होतेहैं और जैसे चोर राज चिन्ह को देखकर भयभीत होता है वैसे ही इस देव चिन्ह मुद्रा को देखकर असुर गण भय मानते हैं। अतः योगियों के लिये मुद्रा धारण करना कल्याणकारी है। जो इस योगमार्ग में दीक्षित या अदीक्षित हैं वे यदि सदा संसार में ही अनुरक्त होकर संसार को ही सर्वोत्तम रमणीय मानलें तो वे आत्म तत्त्व के विरोधी और पाखण्डी कहलाते हैं। जो योगी शरीरस्थ मल विक्षेप आदि दोषों को दूर करने वाला तथा सदा निराकार ज्योतिः पद में ही स्थित रहने वाला है उसीको सब दर्शन आदि शास्त्रों में व्यापक आत्म स्वरूप प्रकाशित होता है। अर्थात् वह केवल ब्रह्म स्वरूप होजाता है ॥२५-२६-२७-२८-२९-३०-३१-३२-३३॥

मू०—सर्वतोभरिताकारं निज बोधेन बृंहितम्।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ॥३४॥
गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योम सदावलम्।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥३५॥
सदान्तः प्रस्थितो योऽसौ स्व प्रकाशमये वने।
वानप्रस्थः सविज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ॥३६॥
परमात्माऽथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते॥३७॥

सं० टी०—अधुना सकलसम्प्रदायावलम्बिनामवधूतपदार्थेऽन्तर्भाव इति प्रदर्शनाय परमार्थत एकमेव परमार्थ तत्त्वं सर्वेषां लक्ष्यमिति बोधनद्वारा ब्रह्मचर्यादि निखिल शब्दानामवधूतपदार्थे समन्वयः प्रस्तूयते तत्र प्रथमं ब्रह्मचारि पदार्थमाह यो ह्यवधूते सम्यग् घटते (सर्वतोभरिताकारम्) सर्वतः परितोभरितः पूर्ण आकारः स्वरूपं यस्य तत् स्वस्वरूपम् परिपूर्णम् बृंहितम्, व्यापकम्, ब्रह्मयदस्ति तत्र विशेषः

(निजबोधेन) स्वकीय ज्ञानद्वारा (चरति) सदा रमते स ब्रह्मचारीकथ्यते सोवधूतः ।३४। एवं गृहस्थ व्युत्पत्तिरपि तत्रैव संघटयते नित्यरूपापूर्णैव (गृहिणी सहचारिणी तया सह-आकाश वाच्यब्रह्मरूपगृहेसदा यो निवसति स एव गृहस्थः कथ्यते ।३५। तथैव वानप्रस्थतापि संस्थाप्यते योऽसौ वनमेव वानः प्रज्ञादित्वादण् तस्मिन् प्रकाशमये प्रकाशरूपे प्रकर्षेण स्थितः, निष्ठः, स एव वानप्रस्थः। न तु मृगवद्वनेऽन्धकारात्मके चरन् वानप्रस्थतया समन्वीयते ।३६। संन्यासि पदार्थमाह-परमात्मेति तथा चोपाधि वशाज्जीवात्मपरमात्मेति भेदेन व्यवह्रियमाणोऽपि चेतनः स्वस्वरूपता (आत्मन्येव) स्वरूपमात्रे (स्फुरति) भाति तस्मिन् येन सर्वं जीवभावादिकं न्यस्तं स संन्यासीति व्यवह्रियते ।।३७।।

भा० टी०—अब ब्राह्मणादि द्विज वर्णों में जो ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य आदि का लौकिक अर्थ है उसी को परमार्थतः अवधूत योगी में घटाते हैं। व्यापक ज्योतिःरूप आत्मा के बोध से बढ़ा हुआ अतएव ब्रह्मज्ञान द्वारा स्वस्वरूप की रक्षा करने वाला और ज्योतिः स्वरूप आत्मा में ही रमण करने वाला अवधूत योगी ही वास्तविक ब्रह्मचारी कहा जाता है। जिस सिद्ध योगि राज के निरन्तर साथ रहने वाली आत्म व्यापकता ही पत्नी है और व्यापक ब्रह्म ही जिस का सदा घर रूप बल है उस ब्रह्म घर में अपने से अभिन्न आत्म व्यापकता के साथ निरन्तर रहने वाला अवधूत योगी ही परमार्थ गृहस्थ है। जो जितेन्द्रिय अवधूत योगी आत्म प्रकाश रूपी वन में विचरता है वही परमार्थ वानप्रस्थ है। केवल मृग के सदृश जङ्गल में घूमने वाला वानप्रस्थ नहीं है। सर्वज्ञत्व उपाधि सहित परमेश्वर और अल्पज्ञत्व उपाधि सहित जीव ये दोनों उपाधि रहित अखण्ड ज्योति आत्मा में ही जिसको अभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं और उसी ज्योति स्वरूप आत्मा में जो समस्त बाह्य कल्पनाओं का परित्याग करने वाला अवधूत योगी है वही वास्तव में परमार्थ संन्यासी कहलाता है ॥ ३४-३५-३६-३७ ॥

मू०—मायाकर्मकलाजालमनिशं येन दण्डितम् ।
अचलो नगवद्भाति त्रिदण्डी सोभिधीयते॥३८॥

एकं नानाविधाकारं चंचलन्तु सदातु यत् ।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी सकथ्यते ॥३९॥

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्ध शैवो भवेत्तु सः ॥ ४० ॥

सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा ।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्म धारकः ॥४१॥

क्रिया जालं पशुं हृत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम् ।
यस्तिष्ठेत् पशु भावेन स वै पाशुपतो भवेत् ॥४२॥

सं० टी०—संन्यासे कश्चित् त्रिदण्डी भवति तस्यतात्विकमर्थमाह-१ (माया) अविद्या, २-(कर्म) धर्माधर्मौ, ३-(कलाजालम्) प्राणादि लिङ्ग शरीरमेतत् त्रयं येन (दण्डितम्) तत्त्वज्ञानेन निवारितम् (स्वयं च) नगवत् पर्वतवदचलः यो भाति स त्रिदण्डी कथ्यते न तु केवल वंशदण्ड त्रयधारणेन त्रिदण्डित्वमाप्नोति । अतः,मुख्य लक्ष्ये सावधानेन स्थातव्यम् ॥ ३८ ॥ (नानाविधाकारम्) कदाचिद्रागरञ्जितं कदाचिद् द्वेषाकुलितमित्थं नानावृत्ति विलसितम् (चंचलम्) क्षणैकस्मिन् परःसत् संकल्प शीलम् यच्चित्तं तदेकं दण्डितं येन स एकदण्डी कथ्यते ॥ ३९ ॥ (शुद्धं शान्तं) सकल धर्म रहितम् (निराकारम्) अखण्डम् (परानन्दम्) चिदानन्द स्वरूपं सदोदितम्, अस्तमनवर्जितम् एतादृशं शिवं यो जानाति सः शुद्धशैवः ॥ ४० ॥ यः (सदा) सर्वदा (दीप्तानि) विषयाभिमुखानि(इन्द्रियाणि)चक्षुरादीनि (संतापयति) विषयेभ्यो निवर्त्तयति स च तापसो विज्ञेयः,) न तु भस्म मात्रधारकः ४१ (क्रियाजालम्) कर्मपाशात्मकम् (पशुम्) सेवकत्वरूप जीवभावं (हृत्वा) परित्यज्य (पूर्णताम्) व्यापकतारूपम् (पतित्वं) स्वामित्वरूप परमात्म भावम् (गतम्) प्राप्तम् (शिवम्, यः (तिष्ठेत्) उपासते सवै निश्चयेन (पाशुपतः) पशुपति मतानुयायी पशुभावेन स्वस्वामिभावेन भेदरूपेणोपासक इति अत्रोपासनार्थवाचकत्वेन स्था धातुः सकर्मको यथादित्य

मुपतिष्ठते। उपसर्गस्य द्योतकतया तद्विनापि धातु प्रयोगे तदर्थो न्याय्यः ॥४२॥

भा० टी०—माया तथा माया का कार्य्यभूत शुभाशुभ कर्म और नाना कलाजालादि प्रपञ्च को वंचित करने वाला एवं एक आत्मस्वरूप में ही पर्वत के सदृश अचल ऐसा अवधूत योगी ही उक्त तीनों को दण्डित करने से परमार्थ त्रिदण्डी कहलाता है। अनेक विषय वासनाओं में अनुरक्त इसी से सदा चंचल स्वभाव ऐसे चित्त को भी जिस ने योग बल से जीत लिया है। वह अवधूत योगी यथार्थ एक दण्डी है। भाव यह है कि एक मन के जीतने से ही संसार बन्धन से मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं। शुद्ध शान्त निराकार एवं परमानन्द स्वरूप और सदा प्रकाशमान व्यापक ज्योतिः स्वरूप ऐसे शिव को जो जानता है वही अवधूत वास्तविक और शुद्ध शैव कहलाने योग्य है दूसरा नहीं। इन्द्रियों की अपने अपने विषयों में प्रवृत्ति स्वाभाविक है उनको अपने अपने विषयों से रोक कर आत्मा में लगाना ही उन इन्द्रियों का तपाना है। अतः आत्म ध्यानी जितेन्द्रिय योगी को ही सच्चा तपस्वी जानो केवल उपले की भस्म रमाने वाला नहीं। सकाम कर्म समूह रूप पशु को छोड़कर निज आत्मा की व्यापकता को प्राप्त हुआ जो योगिराज पशु भाव से रहता है वह यद्यपि यथार्थ ब्रह्मनिष्ठ है तथापि स्थूल बुद्धि मूर्ख जनों को उस तत्त्व ज्ञानी का व्यापार पशु जैसा दीखता है। ऐसा सिद्धराज ही सच्चा पाशुपत मतावलम्बी कहलाता है॥ ३८-३९-४० -४१-४२॥

मू०—परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् ॥४३॥
विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा संधार्यते स्थिरम्।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः ॥४४॥
अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा नग्नो दिगम्बरः।
यो निर्वाण पदे लीनः स निर्वाणपरो भवेत् ॥४५॥
स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं तत् प्रपालितम्।

अनन्यत्वं सदा येन स वै कापालिको भवेत् ॥४६॥

सं० टी०—(परानन्दमयम्) सच्चिदानन्द स्वरूपम् (लिङ्गम्) संसारकारणम् (सदाऽचले) नित्यरूपे (निजपीठे) स्वधाम्नि यद् वर्तमान मिति शेषः तल्लिङ्गं येन पूजितं पुष्पचन्दनादिभिर्ध्यानादिभिश्चोपासितं सर्वे कालमुखः कालोमुखे यस्येति काल विजेता । इदमेव लिङ्गोपासना रहस्यम् ।महाकालोपासकोऽमरो भवति यथालिङ्गपूजनेनमार्कण्डेय श्चिरजीवितां गतः ॥४३॥ (सर्वतत्त्वानां) सर्वभूतानाम् भूत लौकिक वस्तूनाम् (विलयं कृत्वा) तेषुसम्बन्धाभिमानं विहाय येन वीरेण संसाराभिमानरूपरिपु दमनेनैव वीरतेति ध्वन्यते । स सर्वदा (स्थिरम्) कूटस्थब्रह्मधार्य्यते, उपास्यते । स लिङ्गधारी भवेत् । तत्स्मारकं बाह्यलिङ्ग धारणमिति ध्वनिः ॥४३॥ अन्तकादीनि तत्त्वानि विनश्वर वस्तूनि (त्यक्त्वा) उज्झित्य (नग्नः) संसारात्मकावरणरहितः, अतो दिगम्बरः (दिगेव ब्रह्मैवाम्बरो यस्य सः (यो निर्वाणपरः) ब्रह्मलीनस्तन्निष्ठः स निर्वाणपरो निर्वाणीति भवेत् ॥४४॥ (स्वस्वरूपात्मकम्) आत्मरूपं नित्यम् (ज्ञानम्) ब्रह्म समंत्रम्) गुरुमन्त्रसहितम् येनोपासितमिति शेषः किञ्च (अनन्यत्वम्) आत्मपरमात्मनोरैक्यम् (प्रपालितम् । भेदभ्रदात् तस्कराद्रक्षितं स वै कापालिकः, मुख्यः कापालिकमतानुयायी ॥४६॥

भा० टी०—जो सदा अचल और परमानन्द रूप होकर निज धाम में स्थित है वह लिङ्ग है। अर्थात् जगत् का कारण रूप है उस की ही पूजा जिस ने की है अर्थात पत्र पुष्पादि द्वारा बाह्य पूजन और ध्यानादि द्वारा मानस पूजन किया है वह काल को जीतनेवाला महाकाल का उपासक कहलाता है। यही लिङ्गोपासना का रहस्य है। बाह्य शिव लिङ्ग उसी की प्रतिकृति अर्थात् फोटो है। सकल चराचर भूतों का लय करके अर्थात् भूत दृष्टि का परित्याग कर जिस अभेदोपासक ने सदा स्थिर परमात्मा को धारण करलिया है वह वास्तविक लिङ्गधारी है। इसी भाव का स्मारक बाह्यलिङ्गधारण है। जन्म मरण आदि सांसारिक पदार्थों को छोड कर जो संसार रूप आवरण से रहित होगया है अत एव वह दिगम्बर और सदा ब्रह्म रूप निर्वाण में स्थित

निर्वाणी कहलाता है। जिस ने गुरुमन्त्र द्वारा अभिन्न निज आत्म रूप ज्ञान की रक्षा की है वह कापालिक होता है ॥ ४३-४४-४५-४६ ॥

मू०—महाव्याप्तिपरंतत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद्व्रतं धारितं येन स भवेद्धै महाव्रतः ॥४७॥
कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् ॥४८॥
कौलं सर्वकलाग्रासः सकृतः सततं यया ।
तां शक्तिं यो विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ॥
ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्त्वं स क्रमेणक्रमेणतु ।
स्वप्रकाश महाशक्तया ततः शक्तिपदं लभेत् ॥४९॥

सं० टी०—(आधाराधेय वर्जितम्) सर्वेषामाधारः सन् स्वयं निराधारः (महाव्याप्तिपरम्) अखण्ड तत्त्वमविनाशि बृहद्व्रतं तदुपासनं येन धारित मनुष्ठितं वैनिश्चयेन स महाव्रतो भवेत् ।४७। (पिण्डम्) पिण्डरूपम् कार्यात्मकं (सर्वात्मकं) समष्टि सृष्टिरूपम् प्राकृत प्रकृतिरूपञ्च कुलं भवति । अखण्डचिद्रूपं च सर्वतोमुखं कारण रूपं स्थापित स्वान्तः सकलकार्यमकुलं व्यवह्रियते (तयोः कुलाकुलयो रैक्यपदम भिन्नतारूपा शक्तिः । एकैव शक्तिः सर्वत्र व्याप्तेति भावः । तां समष्टि रूपाम्, शक्तिं यो वेद स शक्तिभाक् शाक्तः कौलं नाम सर्व कलाग्रासः सर्वासां कलानांप्राणादिवस्तूपादान चतुःषष्टि शक्तीनां ग्रासः प्रलयः (सः) लयः (यया) शक्त्या सततं नित्यम्(कृतः) सम्पादितः (तां) शक्तिम् (प्रलयकारिणीं महाकालीं यो विजानाति विशेषेण स्वानुभवेन वेत्ति स शक्तिज्ञानी कथ्यते सक्रमेण यथा क्रमं कुलाकुलं पूर्वोक्तं ज्ञात्वा क्रमेण (स्वप्रकाशमहाशक्त्या) चिद्रूप महाशक्त्या सहैक्यं सम्पादयेत (ततः) साधनानन्तरं शक्तिपदं शाक्त स्थानं लभते ॥४९॥

भा० टी०—अब महाव्रत के मुख्य अर्थ का निरूपण किया जाता है। जो आधार आधेय रहित है अर्थात् सब चराचर का आधार होता हुआ भी स्वयं निराधार है तथा सर्वत्र व्यापक अखण्डतत्त्व है

उस का व्रत जिसने धारण किया है वह महा व्रत कहलाता है। अब शाक्त का अर्थ सुनिये जो दृश्यमान चराचर और अखिल ब्रह्माण्ड तथा उनकी प्रकृति सूक्ष्म समष्टि है वह अचित् कुलपद से व्यवहृत होता है। और जो सर्वव्यापक चिद्रूप वह अकुलपद से व्यवहृत होता है। इन दोनों की उपादान उपादेय एकता ही शक्ति है उस को जो जानता है वह शाक्त है सकल कार्य करने वाली व्यष्टि शक्ति तथा सकल पदार्थों का प्रलय जिस में हो वह कौल है। यह प्रलय जिस शक्ति के द्वारा होता है उस महाकाली शक्ति को जो जानता है जप ध्यानादि द्वारा जिस ने स्वानुभव गोचर किया है वह शक्तिज्ञानी कहलाता है। पूर्वोक्त कुला कुल तत्व को उपर्युक्त क्रम से जानकर फिर उसी क्रम से स्वप्रकाश चिद्रूप महाशक्ति के साथ एकता करे तब शक्तिपद का लाभ होता है यह सर्वोच्चपद है। अतः इसका अनेक श्लोकों से निरूपण किया गया है ॥ ४७-४८-४९॥

मू०—मदोमद्यमतिर्मुद्रा मायामीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनासौ शाक्त उच्यते ॥५०॥

सं० टी०—पञ्च मकारेण पूजनमिति शाक्तमतम्, तत्र के पंच मकारपदार्थास्तान् दर्शयति (मदः) अभिमानमेव (मद्यम्) सुरानतुवाह्य मद्यम् (मतिः) कामना (मुद्रा) मुदं मनोराज्यरूपमानन्दं राति ददातीत्य र्थिका। न तु शष्कुली (माया) च मीनपदार्थोऽतिचञ्चलत्वान्न तु जलचरः। मन एव पलम्। मांस पद वाच्यम्। अन्नमयत्वात्। न तु पललम्। (मूर्च्छनम्) प्राणापानयोः संगमः कुम्भक इति (मैथुनम्) मैथुन पद वाच्यम्। न तु ग्राम्य धर्मः। क्वचित् कुण्डलिन्याः सहस्रारस्थ परम शिवेन योग एव मैथुनमित्याह। यस्य पूर्वोक्त पदार्थाः परमात्मनि समर्पणीयाः सन्ति। तेनासौ शाक्त उच्यते। अत्रेदं बोध्यम्। प्राकृत विषयका एते मोक्ष प्रतिबन्धका अतस्तेषां परमशक्तौप्रत्यर्पणं क्रियते। अतस्तेन परित्यक्तो जीवो विशुद्धः सन् स्वरूप भूत मोक्षपदं लभते। ननु ग्राम्य कर्मानुष्ठाने विमुक्तो भवतीति सिद्धान्तः (एतेन) एतदीय रहस्यमजानन्तः पंच मकार पूजनस्य निन्दका रहस्येतर सेवकाश्चोभये निरस्ताः ॥ ५० ॥

भा॰ टी॰—शाक्त मत में पांच मकारों से पूजन करना प्रसिद्ध है। अज्ञ पुरुष उस का निन्दनीय अर्थ जानकर कोई अनुष्ठान न करे अतः उस का रहस्य अर्थ श्री नाथ जी स्वयं निरूपण करते हैं। यहां मद्य का अर्थ अभिमान है! न कि सुरा। मुद्रा का अर्थ कामना (अभिलास) है न कि शष्कुली (पूड़ी) मीन का अर्थ माया है न कि मछली। संकल्प विकल्पात्मक मन ही अन्न रसमय होने से मांसपद का अर्थ है और मैथुन पद का अर्थ मूर्च्छन अर्थात् संसार सम्बन्ध से बुद्धि की अविवेकिता है इन पांचों पदार्थों को जिस ने महा शक्ति में समर्पित किया है वह शाक्त है। भाव यह है कि ये पांच मोक्ष के प्रतिबन्धक हैं। अतः इनका महाशक्ति में समर्पण कर देने से जीव उस से छूट कर मोक्ष को प्राप्त करलेता है। इस रहस्य को न जान कर जो लोग पञ्च मकारों द्वारा पूजन की निन्दा करते हैं। और निन्दित मदिरादि का सेवन करते हैं वे त्याज्य हैं ॥५०॥

मू॰—यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात्।
तां शक्तियोविजानातिशाक्तःसोऽत्राभिधीयते।५१।
यः करोति निरुत्थानं कर्तृचित् प्रसरेत् सदा।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तःसोत्राभिधीयते ५२
व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णो राद्य मव्ययम्।
विश्रान्ति दायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत् ५३
भास्वत् स्वरूपो यो भेदात् भेद भावोज्झितः खलु।
भाति देहे सदा यस्य सवै भागवतो भवेत्।५४।
यो वेत्ति वैष्णवं भेदैः सर्वासर्वमयं निजम्।
प्रबुद्धं सर्व देहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः ॥५५॥
पंचानामक्षया हानिः पंचत्वं रात्रिरुच्यते।
तां रात्रिं यो विजानाति स भवेत् पांचरात्रिकः॥५६॥

सं॰ टी॰—यया शक्त्या हठाद् बलात् भासस्फुरद्रूपं प्रकाश-

संचार क्रिया विशिष्टं जगत् इत्यध्याहारः कृतं सृष्टिं समर्जेतिभावः। अथ च ब्रह्म रूपं प्रकाशितवन् तां यो विजानाति स शाक्त इति ॥५१॥ यः शक्त्या विश्रान्ति तया विगता भ्रान्ति र्यस्यास्तस्याभावो विश्रान्तिता विश्रामेणेति फलितम्। यथा साधर्म्य मित्यादौ समानो धर्मो यस्य तस्य भावः समानधर्म इति फलति। शक्ति संकोच्येति यावत् (निरुत्थानं) निर्विकल्प समाधिं करोति तस्यां दशायां (कर्तृचित) स्वतन्त्र चेतन रूपः सन् 'प्रसरेत्' विरहेत (अत्र)संसारे स शाक्तोऽभिधीयते ॥५२॥ (विष्णोः) विष्णु पदवाच्यस्य व्यापकत्वे सति यत (परम्) सर्वतः श्रेष्ठं (सारम्) तत्त्वभूतम् (आद्यम्) सर्वनिदानम् (अव्ययम्) त्रिविध परिणाम शून्यं वस्तु विचारतो निर्गलितं तत्त्वं (देहे) स्वपिण्डे (विश्रान्ति दायकम्) स्थितिकारकम् चैतन्यं ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत ॥५३॥ यः(भास्वत् स्वरूपः) चैतन्यरूपः (भेदभावोज्झितः) स्वरूपतोऽभिन्नः (भेदात्) शरीरोपाधि-भेदात (यस्य) जनस्य (देहे) शरीरे (भाति) प्रकाशते तज्ज्ञाता भागवतो भवेत् ॥५४॥ (सर्वासर्वमयम्) समष्टि व्यष्टि रूपम् (निजम्) स्वयम् (प्रबुद्धम्) प्रकाशमानम् (सर्व देहस्थम्)एकमेव शरीरोपहितम् (वैष्णवम्) विष्णुतत्त्वम् (यो भेदैः) नानारूपेण (वेत्ति) जानाति स तु भेदवादी भवेत (पंचानाम्) पंचभूतानां या (अक्षया) समूलतोऽनुच्छिन्ना (हानिः) स्थूल रूपविनाशस्तिरोभाव इति यावत्तदेव पञ्चत्वं प्रलयावस्थारात्रिः। तां योविजानाति स पांचरात्रिकः। अयमाशयः पंचानां रात्रिः, इति विग्रहः पंच पदार्थः भूतपंचकं रात्रिपदार्थः प्रलयस्तथा च पंचभूतलयः पंचरात्रि पदार्थः तात्कालिक परमेश्वरोपासकः पांचरात्रिक इति। अथवा पंचैव रात्रयः धर्मप्रधानतया पंचत्वरूपा रात्रिर्लय इति यावत् तद् बोद्धा लय योग ज्ञाता पांचरात्रिको भवेन्न केवल नाम मात्रेण नारदपंचरात्र ग्रन्थप्रमाणवादीति ध्वनिः ॥५६॥

भा० टी०—जिस शक्ति ने अखिल क्रिया कौशल विशिष्ट जगत का आविर्भाव और ब्रह्मानुभव का विकाश किया है उस शक्ति को जो जानता है वह शाक्त है। जो शक्ति को संसार से संकुचित करके निरुत्थान निर्विकल्प समाधि करता है और उस समाहित दशा में

स्वतन्त्र चेतन हो विहार करता है वह शाक्त है। विष्णुपद का अर्थ व्यापक है। अतः जो उस व्यापकअखण्ड अविनाशी तत्व को अपने देह में स्थित अपने स्वरूप से अभिन्न जानता है वह वैष्णव होता है। जो स्व प्रकाश भेद रहित होकर सर्वत्र अभेद रूप से प्रकाशमान है उस का जिस ने निज पिण्ड में अनुभव कर लिया है वही भागवत है। जो व्यष्टि समष्टि व्यापक तथा प्रकाशमय एक ही विष्णु तत्व को नाना रूपों में देखता है वह भेदवादी कहलाता है। पाञ्चरात्रिक पद का अर्थ यह है कि पंच भूतों का जिस में प्रलय होता है। उस का उपासक पाञ्चरात्रिक कहलाता है ॥ ५१-५२-५३-५४-५५-५६

मू०—येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यान्ति च तत्क्षणात्
सजीवो विदितो येन सदा जीवी स कथ्यते ॥५७
यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे ।
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते॥५८
सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम् ।
सूक्ष्मं हंसं च यो वेत्ति स भवेत् सूक्ष्म सात्त्विकः५९
सत्यमेकमजं नित्यमनन्तं चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते ॥६०॥
ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगिनः स्व स्वभावतः ।
कलंकी सतु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः ॥६१॥

सं० टी०—येन चैतन्येन जीवाः संसारावस्थायां जीवन्ति ज्ञाने सति तत्क्षणात् तत्कालमेव मुक्तिं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्ति स जीवश्चैतन्यरूपो येन विदितः सः(सदा जीवी)सः,'अमरः'कथ्यते॥५७॥(यः) प्रसन्ने आनन्दरूपे (परे) सर्वतः श्रेष्ठे (पुरुषे) पूर्णरूपे (सदा प्रीतिम्) आत्मरूपतयाऽकृत्रिमं प्रेम करोति 'किं च' (इन्द्रियाणि) शासितानि विषयेभ्यो निवर्तितानि स सात्त्विकः कथ्यते ॥५८॥ (सर्वाकारम्) सृष्टिरूपम् (निराकारम्) वस्तुतः सर्वोपाधिरहितम् (निर्निमित्तम्) कारण-

रहितम् निरंजनम्, धर्माधर्मादि रहितम् (सूक्ष्मं हंसम्) हं पदार्थः शक्तिः स पदार्थः शिवस्तथा च शक्ति सहितं शिवम् । अथवा हं पदार्थोजीवः स पदार्थो ब्रह्म तयोरभेदः कर्मधारय समासार्थस्तथा च जीवाभिन्नं परमेश्वरं यो वेत्ति स सूक्ष्म सात्विको भवेत ॥५९॥ (एकम्) द्वैतरहितम् (सत्यम्) त्रैकालाबाधितम् (अजम्) परिणामशून्यम् (अनन्तम्) तिरोधानवर्जितम् (अक्षयम्) क्षयादिह्रास शून्यम् (ध्रुवम्) निष्क्रियं परमात्मानं ज्ञात्वा यस्तु (धीरः) योग्य जिज्ञासुं प्रति वदेत् स सत्यवादी कथ्यते ॥६०॥ (योगिनः) योगिना कृत्यानां कर्तरिवेति कर्तरिषष्ठी विज्ञेय इत्यन्वयः (ज्ञानज्ञेयमयाभ्याम्) ज्ञानम येन मानस वस्तुना ज्ञेयमयेन च प्राकृत वस्तुना च सह सम्बद्ध इति शेषः (स्वस्वभावतः) स्वरूपेण (व्यापकः) सर्वगतः (पुरुषोत्तमः) परमेश्वरो यः स कलंकी कलंक उपाधिरूप चिन्ह यस्यास्तीति विज्ञेयः निरुपाधि प्राप्त्युपायतया साधनीयः ॥६१॥

भा० टी०—जिस चैतन्य के बल से जीव संसारावस्था में जीवित रहता है और उसी को जानकर मोक्ष को प्राप्त करता है उस परमात्मा से अभिन्न चेतनरूप जीव को जिस ने जान लिया वह सदा अमर है। जो परम पुरुष परमात्मा में निरन्तर प्रीति करता है और जिस ने इन्द्रियों का दमन कर लिया है वह सात्विक कहलाता है। सर्व स्वरूप निराकार निरंजन और सूक्ष्म परमात्मा को जो जानता है वह सूक्ष्म सात्विक होता है। एक नित्य कूटस्थ अक्षय सत्य को जानकर जनता में जो उस का उपदेश देता है वह सत्य वादी कहलाता है। मानस और बाह्य दोनों प्रकार के पदार्थों से सम्बद्ध और स्व स्वरूप से व्यापक जो पुरुषोत्तम है वही कलङ्की अर्थात् उपाधि रूप कलङ्क से विशिष्ट सगुण ईश्वर योगियों को निर्गुण पद की प्राप्ति के लिये जानना चाहिये ॥ ५७-५८-५९-६०-६१ ॥

मू०—मुक्तिचारेमति र्या वै व्यापिकास्वप्रकाशिका।
एषाज्ञानवती येन ज्ञातासौ सात्विको भवेत् ॥६२॥
क्षपणंचित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।

कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ॥
प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्ध योगिराट् ॥६३॥

सं० टी०—(मुक्ति चारं) मोक्षार्थानुष्ठाने (स्व प्रकाशिका) स्व प्रकाशरूपा (व्यापिका) अखण्डात्मिका या (मतिः) बुद्धिः एषा (ज्ञानवर्ती) प्रशस्तं ज्ञानं निश्चयो यस्मांसा (येन) जनेन (ज्ञाता) असौ सात्विको भवेत् ॥ ६२ ॥ (चित्तवृत्तीनाम्) मनोवृत्तीनाम् (क्षपणम्) निरोध क्रियाम् (राग द्वेष- विलुण्ठनम्) रागद्वेषयो निग्रहणम्, यः (कुरुते) करोति तथा (व्योमवन्नग्नः) नभोवन्नग्नःस क्षपणको भवेत् । यद्यपि शिवं विना न शक्तिः, शक्तिविना न शिवस्तिष्ठति, उभयोः स्वाभाविकः सम्बन्धः । तथापि यथा शक्तिः प्रवर्द्धते तथा सृष्टिर्भवति यदा च शिवः स्वान्तर्विलालयति तदा प्रलयः । परन्तु- इदं चक्रं प्राणि कर्मवशाद् बंभ्रमीत्यतो नावधिरस्य कर्मणामानन्त्यात् योऽनुष्ठान बलात् स्वेच्छया, उभयोः सम्बन्धं घटयति स सिद्धराजो योगी सृष्टिप्रलयोभय करणे समर्थो भवेत् । इत्यमुमर्थं दर्शयति शक्तिः (प्रसरम्) सृष्टि प्रसारं प्रकाशते प्रकाशयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थः । शिवः (संकोचम्) लयम् (भासते) करोति (तयोर्योगस्य) सम्बन्धस्य (कर्ता) स्वेच्छावशात्संघटयिता स सिद्धयोगिराड् भवेत् । अथ च द्वितीयार्थोऽप्यस्य (शक्तिः) प्राणवायुः (प्रसरम्) प्रश्वासनिःसारणम् (भासते) करोति (शिवः) अपान वायुः संकोचं भासते श्वासमध आकर्षयति (तयोः) प्राणापानयोः (योगस्य) एकत्र मेलनस्य कुम्भकस्येति यावत् कर्ता स सिद्ध योगिराड् भवेत् । ननु शक्ति शिव शब्दाभ्यां कथं प्राणापानयो र्ग्रहणमिति चेच् शृणु, आधारभूत शिवः, आधेय भूताशक्तिः तत्साहश्येनाग्नि माणवक इवाधार भूतापानस्य शिव शब्देनाधेय भूत प्राणस्य च शक्ति शब्देन ग्रहणं मार्मिक दृष्ट्या संघटतेतराम् ॥ ६३ ॥

भा० टी०—मोक्ष के लिये अनुष्ठान में जो स्व प्रकाशरूप अखण्ड बुद्धि होती है उस को जिस ने प्राप्त करलिया वह सात्विक होता है जो चित्तवृत्तियों के निरोध पूर्वक रागद्वेषादि का नाशकर आकाश

की तरह नग्न (निर्मल) रहता है वह क्षपणक कहलाता है। यद्यपि शिवके विना शक्ति नहीं रहती और शक्तिके विना शिव नहीं रहता, तथापि जब शक्ति बढती है तब सृष्टि होती है और जब शिव शक्ति को अपने में लीन करलेता है तब प्रलय होता है। जो योगी इन दोनों क्रियाओं में कुशल है वह सिद्धों में योगिराज कहलाता है। इस का दूसरा अर्थ है कि प्राण वायु श्वास को बाहर निकालता है और अपानवायु श्वाश को नीचे खेंचता है इन दोनों के योग को कुम्भक कहते हैं। इस को करने वाला सिद्ध योगिराज होता है ॥ ६२-६३ ॥

मू०—विश्वातीतं यथाविश्वमेकमेव विराजते।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्ध योगी भवेत्तु सः ॥६४॥
सर्वासां निज वृत्तीनां प्रसृति भंजते लयम्।
सभवेत्सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगीमहाबलः॥६५॥
उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोन्तर्निजभासकः।
महानन्द मयो धीरः स भवेत्सिद्ध योगिराट् ॥६६॥
परिपूर्ण प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः।
विशुद्धो निर्भरानन्दः सभवेत् सिद्ध योगिराट् ॥६७॥
गतेन शोकंविभवेन वाञ्छा प्राप्ते न हर्षं न करोति योगी।
आनन्दपूर्णोनिजबोधलीनोनबाध्यतेकालपथेननित्यम् ।६८।

सं० टी०—(यथाविश्वम्) विश्वमनतिक्रम्य विश्वसहितमिति फलितम्। (विश्वातीतम्) संसारात्परं परब्रह्म (एकमेव) अद्वैतमेवतत्त्वं सत् (सदासंयोगेन) सम्यग् योगेन निर्विकल्प समाधिद्वारा योयोगी विराजते स सिद्धयोगी भवेत्। तत्त्वमित्यस्य नित्यनपुंसकत्वाद् य इत्यनेनसामानाधिकरण्यान्वयेन क्षतिः ६४ यस्य सर्वासांनिजवृत्तीनाम् समस्तस्वीयमनो व्यापाराणाम् (प्रसृतिः) उद्गमः (लयं लभते) विलयं व्रजति सएव सिद्धसिद्धान्ते--सिद्धमते (महाबलः) सकल रचना समर्थ

सिद्धयोगी कथ्यत इति ॥६५॥ यः (उदासीनः) संसाराद्विरक्तः, अतएव (सदा) सततम् (शान्तः) चित्त विक्षेप रहितः [स्वस्यान्तः] स्वशरीर मध्ये [निज भासकः]स्वस्वरूप प्रकाशकः । अतः [महानन्दमयः] प्रचुरानन्दोऽत्र प्राचुर्य्येऽर्थे मयट् सः [धीरः] ध्यानवान् सिद्धयोगिराड् भवेत् ॥६६॥ [परिपूर्ण प्रसन्नात्मा] अखण्डानन्द रूपः [सर्वा सर्व-पदोदितः] सकल वस्त्वधिष्ठानतयोपहितरूपेण सकलशब्दवाच्योऽथवा असर्वे विच्छेदस्तथा वस्तुतो जाति गुण क्रिया तीतत्वात् कस्यापि-पदस्य वाच्यतां नाश्रयतीत्यर्थः [विशुद्धः] प्राकृतसम्बन्ध शून्यः, अतः [निर्भरानन्दः] अखण्डानन्दः स सिद्ध योगिराट् ॥६७॥ योगी [गतेन] नष्टेन [विभवेन] धनेन [शोकम्] उपतापम् [वांछितवस्तुप्राप्त्या वाञ्छ त्यत्र कर्मण्यङ् प्राप्तत्यत्रच भावक्तो ज्ञेयः । [हर्षम्] प्रसन्नताम् [न करोति] न विदधाति । ननुकिं करोत्यत आह—आनन्द पूर्णोनिज बोधलीनः, आनन्द पूर्णः सर्वशक्तिमान् परमेश्वरश्चासावुस्तस्यनिजः शिवानुरूपः व्यापक रूप इति यावत्] बोधलीनो-बोधो ज्ञानं तस्मिन् लीनः, तत्परः सन् [कालपथेन मृत्युना नवाध्यतेऽमरो भवती त्यर्थः ॥६८॥

भा० टी०—संसार से अतीत होकर संसार में व्यापक परमेश्वर से जो निर्विकल्प समाधि द्वारा अभिन्न हो जाता है वह सिद्ध योगी है समस्त इन्द्रिय वृत्तियों को जो लीन करलेता है सिद्धों के सिद्धान्तमें वह महाशक्ति शाली योगी होता है । जो संसार से विरक्त सदा चित्त विक्षेप से रहित अपने देह में स्व स्वरूप का प्रकाशक और समाहित होता है वह योगिराज कहलाता है । जो अखण्ड शान्तियुक्त और जाति गुण क्रिया रहित होने से शब्द के द्वारा अकथ-नीय विशुद्ध सकल संसार के सम्बन्धों से शून्य और अखण्डानन्द हो जाता है वह सिद्ध योगिराज कहलाता है । जो धनादि के नष्ट होजाने पर दुःख नहीं मानता तथा न धनादि लाभ होने से प्रसन्न ही होता है किन्तु सदा परिपूर्ण परमात्मा के ज्ञान में ही संलग्न रहता है वह मृत्यु से भी बाधित नहीं होता । अर्थात् अमर हो जाता है ॥ ६४-६५-६६-६७-६८ ॥

मू०—एवंतुसर्वसिद्धान्तदर्शनानांपृथक्पृथग्भूताना मपिब्रह्मणिसमन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एवंकर्ता सद्गुरुःप्रशस्यतएषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते यत्र विश्रान्तिः साविश्रान्तिश्चविधीयते॥ ६९ ॥

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थान चमत्कृतेः।
यतो निरुत्थानमयात् सोऽयं स्यादवधूतराट् ॥७०॥
तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षाद् वन्दयेत् पूजयेत्सदा।
सम्यक्सिद्धपदंधत्तेतत्क्षणात्स्वात्मभाषितम्॥७१॥
नवन्दनीयास्ते काष्ठादर्शनभ्रान्ति कारका।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद् धीरः सिद्धमताश्रयः ॥७२॥

सं०टी०—(एवम्) पूर्वोक्त प्रकारेण (पृथग् भूतानामपि) विभिन्न मतप्रकाशकानामपि (सर्वसिद्धान्त दर्शनानाम्) निखिल सिद्धान्त बोधकानां शास्त्राणाम् (ब्रह्मणि) सच्चिदानन्दे (समन्वय सूचन शीलोपदेशकर्ता) सम्यक् तात्पर्य निश्चय फलक व्याख्यानकारकोऽवधूतः, सद्गुरुः (एवं कर्ता) समन्वय कारकः (प्रशस्यते) स्तूयते तदेव प्राचीनोपदेश मुखेन दृढयति। एषा मित्यादि (यत्र) ब्रह्मणि (एषां विश्रान्तिः) सकल दर्शनानां समन्वयः, जायते वस्तुतः सैव विश्रान्ति विधीयते न तु क्षणिक विश्रान्तिः प्रशस्यते॥ ६९॥ (निरुत्थानचमत्कृतेः) निरुत्थानेनपुनरनुद्गमनेन चमत्कृते: सुशोभिते ब्रह्मणि (लीनताम्) लयम् (स्वयं) योगी (याति) प्रयाति (नान्य साहाय्य मपेक्षते यतो यो निरुत्थानमपुनरागमनम् [आयात्] अगच्छन, अतः सोऽय मवधूतराट्, अवधूत शिरोमणिः स्यादिति निश्चयः।७०। [तस्मात्] उक्त हेतोः [तम्] अवधूतम् [सद्गुरुम्] मोक्ष)प्रदम्, साक्षात प्रत्यहं समक्षम्, सदा यो (वन्दयेत्) प्रणमेत (पूजयेत भोजनाच्छादनादिभिरलं कुर्यात स स्वात्मभाषितम् स्वगुरूपदिष्टम् (सम्यक्सिद्धपदम्) सिद्धपदवीम् चारुतया (धत्ते) श्रयते सिद्धो भवतीति यावत्।।७१।। ये (काष्ठादर्शनभ्रान्ति कारकाः) दिग्दर्शने ब्रह्मदर्शने भ्रमो

त्पादकाः (ते न वन्दनीयाः) न पूजनीयाः किं च सिद्धमताश्रयः सिद्धानुयायी (तान्) प्रागुक्तान् गुरून् दूराद् वर्जयेत् परित्यजेत् ॥७२॥

भा० टी०—पूर्वोक्त प्रकार से विभिन्न मत प्रकाशक सकल सिद्धान्त बोधक वाक्यों का समन्वय सच्चिदानन्द ब्रह्म में करनेवाला सद्गुरु अवधूत प्रशंसनीय है। कहा भी है कि विभिन्न रूपसे प्रतीयमान इन उपदेशों का जिस ब्रह्म में जो समन्वय होता है वही समन्वय प्रशंसनीय कहाता है। बन्ध कोटि में न आना निरुत्थान है। उस चमत्कारशाली परमात्मा में योगी स्वयं लीन होजाता है। उस योगी को संयम योग के अतिरिक्त साधन की अपेक्षा नहीं है। अतः जिस ने उस निरुत्थान पद को प्राप्त करलिया वह अवधूत राज हो जाता है। इस लिये उस अवधूत सद्गुरु कोनित्य प्रणाम करेऔर वस्त्र भोजनादि से उसकी पूजा करे। ऐसा करनेवाला अपने गुरु से बतलाये सिद्ध पद को उसी क्षण प्राप्त करलेता है। जो ब्रह्मदर्शन में भ्रम डालने वाला है वह कदापि वन्दनीय नहीं है। ऐसे गुरु को सिद्धमतावलम्बी धीरजन दूर से त्याग दे॥ ६९-७०-७१-७२॥

मू०—वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया
भाट्टाः कर्म कलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः।
अन्ये भेदरता विवाद विकलाः सत्तत्त्वतो वञ्चिता
स्तस्मात्सिद्धमतंस्वभावसमयंधीरःसदासंश्रयेत्॥७३॥

सं० टी०—यो हि वेदान्ती केवल वेदान्त शास्त्र मधीत्य स्वानुभव विहीनोऽपि कर्मोपासनादिकं सदुपायं विहाय केवल शाब्दिक ज्ञान बलेनोन्मत्तः (बहुतर्ककर्कशमतिः) बहवस्तर्काद्वैतखण्डनोपाय युक्तयस्तैः कर्कशा कठिनानिदिध्यासनबहिर्मुखा मतिः बुद्धिर्यस्येति, अतः सः (मायया) परमत खण्डनादिमानसिकानात्म चिन्तन जालेन(परमम्) अत्यन्तम्, ग्रस्तः(भाट्टाः) श्रीकुमारिलभट्टमतानुयायिनः (कर्मकला कुलाः) केवल कर्म कौशल तत्पराः (वैशेषिकाः) नैयायिकाः (द्वैतेन) भेदेन (हत धियः) द्वैतस्थापनाग्रहग्रहेण विनष्ट बुद्धयः (एवमन्येऽपि) क्षपणक नग्न

कादयः (भेदरताः) विवादविकलाः विवाद श्रमेण खिन्नमानसाः (एते) सर्वे (सत्तत्त्वतः) वस्तुभूत सच्चिदानन्दतः (वञ्चिताः) पृथग्भूताः सन्तो न मोक्षायालम् (तस्मात्) पूर्वोक्त हेतोः (धीरः)मुमुक्षुः (सिद्धमतम्) सिद्धैर्मतं स्वीकृतं (स्वभावसमयम्) स्वभावतः समयं सिद्धान्तम्। ननु केनचित् कृतमनादि सिद्धान्तमिति यावत् (संश्रयेत्) सेवेतेति निष्कर्षः। अयमाशयो विक्षिप्त चित्तेन चिदानन्द साक्षात्कारो दुर्लभः। चित्तपाश्च ध्यानादि योगमन्तरा न समूल काषं कषितुमर्हन्तीति सार्वजनीनोऽयं पन्थाः। अतस्तमधिरूढवतामवधूतानां सिद्धान्त एव परान् सकलानवितिशेते। ननु सर्वेषां कर्मोपासनादीनां तु निन्दैव कृता तर्हिकोऽवशिष्टः सिद्धान्तःसिद्धानामिति चेच् शृणु रहस्यम्। समरसकरणमेव मुख्य सिद्धान्तो यस्य प्रक्रिया पूर्वमेवोक्ताचार्य पादैः। अतएव सर्वेषामेकैकानुष्ठान पराणां निन्दा प्रस्तूयते समरसकरणायैव न तु निन्दा तात्पर्येण यथा वेदेऽन्धं तमः प्रविशन्तीत्यादिना प्रत्येकं कर्मोपासनयोर्निन्दोभय समुच्चयः ॥७३॥

भा० टी०—जो वेदान्ती केवल वेदान्त शास्त्र को पढ स्वानुभव रहित कर्मोपासनादि सदुपाय को छोडकर केवल शाब्दिक ज्ञान से ही द्वैत खण्डनादि युक्तियों में तत्पर रहते हैं उन की बुद्धि निदिध्यासनसे से बहिर्मुख होजाती है। अतः वे माया से ही ग्रस्त हैं अर्थात् माया के जाल में ही फंसे रहते हैं। भट्ट मतानुयायी पूर्व मीमांसक केवल कर्मकक्षा में ही व्याकुल रहते हैं इस लिये उन को ईश्वरोपासना का अवसर ही नहीं मिलता वैशेषिक कणादमतानुयायियों की बुद्धि द्वैत के आग्रह से ही विनष्ट होजाती है ऐसे ही अन्य द्वैतवादी भी द्वैताग्रह से बुद्धि को नष्ट करलेते हैं और सदा परस्पर विवाद में तत्पर रहते हैं। इस लिये अपने धेयतत्व से वंचित ही रहजाते हैं। अतः धीर जन को चाहये कि सिद्धों के सम्मत समरस भाव का ही सेवन करे। अर्थात् सकल दर्शनों का समन्वय कर अद्वैत तत्व में तत्पर होजाय। वाद विवाद में कभी न फंसे एक दर्शन का ही पक्षपाती होकर अपने लक्ष्य को न खो बैठे॥ ७३॥

मू०—सांख्यावैष्णववैदिकाविधिपरा संन्यासिनस्तापसाः।
सौरा वीर पराः प्रपञ्च निरता बौद्धा जिन श्रावकाः ॥
एते कष्टरता बृथा पथगताः सत्तत्त्वतो वञ्चिताः।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदासंश्रयेत् ॥७४॥
आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थ निषेवका जपपरा मौनेस्थिता नित्यशः ॥
एते ते खलुदुःखभारनिरताः सत्तत्त्वतो वंचिता
स्तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत्॥७५

सं० टी०—एवं सांख्य मतावलम्बिनो वैष्णवा वैदिकाश्च एते ऽपि (विधिपराः) प्रवृत्तिपरायणाः, न तु निवृत्ति निष्ठा स्तथैव संन्यासिनोयतयः (तापसाः) वानप्रस्थाः (बौद्धाः)बुद्धमतानुयायिनः (जिनश्रावकाः) जिनस्य तत्प्रोक्तस्य ग्रन्थस्य श्रावकाः श्रोतारस्तदनुयायिन इति भावः। तेऽपि प्रपञ्चनिरताः,, सदा सांसारिक व्यवहारपरायणता मार्गे व्यर्थं भ्रमन्तः। अत एव (कष्टरताः) दुःख बहुलाः सन्तः सत्तत्त्वतो वंचिता इत्यादेः पूर्ववदर्थः ॥७४॥ (बहुदीक्षिताः) बहुभिर्दीक्षिता अनियतमतावलम्बिनोऽश्वत्थ पर्णवन्निराधाराः कमण्डलुवद्दोलायमानाः। बहवो दीक्षिता ये वा शिष्यरुच्यनुसारमनुच्य शिष्य सम्पादकाः (हुतिरताः) हवन प्रताः (तापसाः) व्रतपराः (नग्नव्रताः) दिगम्बराः (नानातीर्थनिषेवकाः) तीर्थाटनपराः (जपपराः) जपशीलाः (मौनेस्थिताः) नित्यशो मौनिनः। एतेऽपि सत्तत्त्वतो वञ्चिता अतो दुःख भार निरता भवन्ति न तु मुक्ता इति ध्वनिः शेषं पूर्ववत् ॥ ७५ ॥

भा० टी०—एवं शांख्य वैष्णव और वैदिक तथा सन्यासी वानप्रस्थ आदि जो प्रवृत्ति मार्ग परायण हैं और जो बौद्ध जैन चारवाक आदि संसार व्यवहार में फँसे रहते हैं वे भी कुमार्ग में भटकते हुये असली तत्त्व से वंचित हो दुःख के भागी होते हैं। इस लिये धीरजन सिद्ध सम्मत समरस करण का ही अवलम्बन करें इसी तरह जो एक गुरु निष्ठ नहीं है अथवा अनेक शिष्य बनाने वाले

आचार्य हवन में तत्पर रहने वाले तथा नग्न व्रत को धारण करने वाले तापस अनेक तीर्थों में घूमने वाले जप परायण और सदा मौनी रहने वाले ये सब भी श्रेष्ठतत्व से वंचित होकर दुःख के भागी होते हैं इस लिये धीर जन का कर्तव्य है कि सिद्ध सम्मत समरस भाव का ही सेवन करे ॥७४—७५॥

मू०—आदौ रेचक पूरकुम्भकविधौ नाडी यथाशोधितम् ।
कृत्वा हृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तं महा मूर्छितम् ॥
पश्चादक्षर मव्ययं परकुले चोङ्कार दीपांकुरे ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥७६॥
चार्वाका श्चतुराश्च तर्क निपुणा देहात्मवादे रताः ।
ते सर्वे न तरन्ति दुःसहतरं येते परं सात्त्विकाः ॥
तेसर्वे प्रभवन्ति ये च यवना पापेरता निर्दयाः ।
तेषामैहिकमल्प मेव हि फलं तत्त्वं न मोक्षं पदम् ॥७७॥

सं० टी०—ये (आदौ) प्रथमं (रेचक पूरक कुम्भक विधौ) प्राणायाम सिद्धये (नाडी यथा शोधितम्) नाडीनां पन्थानस्तेषां यथाशोधितं सम्यक् शोधनं कृत्वा हृदय कमले (ओंकारदीपाङ्कुरे) अर्थप्रकाशत्वाद्दोङ्कार एव दीपः, तस्याङ्कुरेऽकारोकारमकार रूपालम्बेन (अक्षरमव्ययम्) परमेश्वरम् । समाहितेन मनसा) शान्तस्वान्तेन पश्यन्ति । तेषामपि (ननित्यं पदम्) न साक्षान्मोक्षः समरस करणं विना द्वैता निवृत्तेर्न साक्षान्मोक्षः किन्तु सत्यलोक प्राप्तिद्वाराक्रममुक्ति रिति भावः ॥ ७६ ॥ (चार्वाकाः) परम नास्तिकाः, अतः (चतुराः) लोक कर्म कुशलाः (तर्कनिपुणाः) आगमानपेक्षाः (देहात्मवादेरताः) पृथिव्यादि भूत चतुष्टयं देहाकार परिणतं मद शक्तिवत्तस्तत एव समुत्पन्न चैतन्य मात्मेति न तु देहाति रिक्तो नित्य आत्मा । अतो यावज्जीवेत् सुखं जीवेदृणं कृत्वा घृतं पिबेदिति सिद्धान्तं नानाविधतर्कैः स्थापयन्ति । तेऽपि (दुःसहतरम्) संसारं न तरन्ति न परमधिगच्छन्ति किं च (परम्) तत्त्वम् (न तरन्ति) न प्राप्नुवन्ति किं च ते सात्विका अपि न प्रभवन्ति

किं तु राजसाः । ये च यवना म्लेच्छा हिंसादौ (रताः) तत्पराः अतो निर्दया दया रहिता । (तेषामल्पमेव) ऐहिक फलं भवति न तु तत्त्वं मोक्ष पदम् ॥ ७७ ॥

भा० टी०—जो निरन्तर नाड़ी शोधन तथा रेचक पूरक और कुम्भक में ही लगे रहते हैं और हृदय कमल में मन को रोककर पश्चात् ओंकार रूप दीपक के अवयव अकार उकार मकार को ब्रह्म की मूर्ति मान कर मन से उस ब्रह्म का ध्यान करते हैं उन को भी समरस करण के विना द्वैत की निवृत्ति न होनेसे साक्षातमोक्षपद की प्राप्ति नहीं होती किन्तु सगुण ब्रह्म की प्राप्ति द्वारा मोक्ष होता है इसी का नाम क्रम मुक्ति है । शुष्क लौकिक तर्क में तत्पर और अपने को ही चतुर मानने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण वादी चारवाक देह को ही आत्मा मानते हैं वे परलोक में फल देने वाले क्रम से वंचित होकर इस असार संसार से पार नहीं होने पाते और मुहम्मद मतानुयायी लोग भी व निर्दय तथा अनेक पाप कर्मों में संलग्न रहते हैं उन को इसलोक में ही क्षणिक विषय सुख मिलता है मोक्षपद की तो उन्हें स्वप्न में भी आशा नहीं है ॥७६—७७

मू०—श्री हट्टे मस्तकान्ते त्रिपुट पुट विले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे ।
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवण पथरवे घण्टिका राजदन्ते ॥
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमल कुहरे चोड्डियाने च पीठे ।
एवंये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्तितेषांनिरुत्थम्॥७८॥
गोल्लाटेदीप्तिपुञ्जेप्रलयशिखिनिभेसिद्धजालन्धरेवा
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिवतरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ॥
भालान्ते विद्युदाभे तदुपरिशिखरे कोटिमार्तण्डचण्डे ।
ये नित्यंभावयन्तेपरमपदमहोनास्तितेषांनिरुत्थम् ॥७९॥
लिङ्गाद्दण्डांकुरान्तर्मनपवनगमाद्ब्रह्मनाड्यादिभेदम् ।
कृत्वा बिन्दुं नयन्तः परम पदगुहां शंखगर्भोदरोर्ध्वम् ॥

मन्त्रान्तर्नाद घोषं गगन गुणमयं वज्रदण्डी क्रमेण ।
ये कुर्वन्तीह कष्टान् परमपदमहोनास्तितेषांनिरुत्थम्॥८०॥

सं० टी०—श्री हट्ट इति मस्तकान्त इत्यस्य विशेषणं श्रीणां शोभा प्रभाणां "श्रीर्लक्ष्मीभारती शोभा प्रभासुसरल द्रुम इति यादवः । हट्टे विपण इवाकर इति यावत् सहस्रारे निखिल पदार्थाः सन्तीति भावः । (मस्तकान्ते) सहस्रारे यः (त्रिपुट पुटः) त्रिकोणाकार यंत्रस्तस्य बिलेच्छिद्रे ब्रह्मरन्ध्रे ये ध्यानं कुर्वन्तीत्यध्याहार स्तथा ललाटे ततोऽधो भाल पटले भ्रूनेत्रे च लुप्त चकारोऽत्र द्रष्टव्यः (भ्रुवि नेत्रे च) भ्रूश्च नेत्रं चेति समाहार द्वन्द्वस्ततो ङौ रूपम् । तथैव (नासिकाग्र श्रवण पथ रवे) नासिकाग्रे श्रोत्रस्य शब्दे चात्रापि समाहार द्वन्द्वः (घण्टिका राज-दन्ते) कण्ठदेशस्थ मांसखण्डे तथा कण्ठे हृन्मध्ये नाभिमध्ये च (त्रिक-मल कुहरे) त्रिकोणाकार कमल मध्ये (उड्डियाने) तन्नामक बन्धे पीठे नाभितोऽधः प्रदेशे (एवं ये स्थान लग्नाः) पूर्वोक्तेषु स्थानेषु संलग्नास्त त्रैवाशक्ताः सन्तो यतंते तेषामपि निरुत्थं परमपदं नास्ति, साक्षान्मोक्षो न भवति किन्तु परम्परया हिरण्यगर्भादि द्वारेति भावः ॥ ७८ ॥ गोल्लाट इति-गोल्लाटः स्थानविशेषस्तस्मिन्दीप्ति पुञ्जे प्रकाशसमुदाये (प्रलयशिखिनिभे) प्रलयकालिकाग्निप्रभे(वा सिद्धजालन्धरे) ध्यानस्थाने (शृङ्गाटे)सर्वपरिभागे ब्रह्मनाडीमध्यस्थाने (भालान्ते)मस्तकान्ते (विद्यु-दाभे) विद्युत्प्रभे तथा (कोटिमार्तण्डचण्डे) कोटिभास्वद्दीप्ते (तदुपरि-शिखरे) तदूर्ध्वोच्चस्थाने ये सन्तः(तडिदिवतरलम्) विद्युद्वल्लोलमेकं ज्योतिः प्रकाशम् सततम् (भावयन्ते भावनांकुर्वन्तितेषां परमंपद मुच्च-स्थानं निरुत्थं मोक्ष वस्तु नास्तीत्यहो आश्चर्यम् ॥७९॥ लिङ्गा-दारभ्य (दण्डांकुरान्तः) मेरुदण्ड मध्ये (मन पवन गमनात्) अत्र सान्त स्याप्यदन्तत्वात् मनसः पवनस्य च प्राणवायोः गमनवशात् (ब्रह्मना-ड्यादि भेदम्) सुषुम्ण नाडिभेदनम् (कृत्वा) विधाय (विन्दुम्) शुक्रम् (शंखगर्भोदरोर्ध्वम्) शंखगर्भ गलमध्य भाग स्तस्योदरान्मध्यदेशादूर्ध्वम् उपरिभागे । (परमपदगुहायाम्) वीर्यस्य मूलस्थानं भ्रमरगुहाशिरसः पृष्ठ भागे वर्तते तत्र (नयन्तः) वहन्तस्तत्र वज्रदण्डी क्रमेण वज्रोली क्रि या प्रकारेणान्तर्मध्ये (गगनगुणमयम्) आकाशध्वनि प्रचुरम् । 'व्याप

कमिति यावत (नादघोषम्) नित्यनाद ध्वनितं ये कुर्वन्ति तेऽपि कष्टङ्कुर्वन्ति तेषामपि नात्यन्तिकसाक्षान्मोक्षस्तत्र वासस्तत्वादितिपूर्ववज्ज्ञेयम् ॥ ८० ॥

भा० टी०—लक्ष्मी सरस्वती शोभादि सकल पदार्थों के खजाने सहस्रार के ऊपर जो त्रिकोण यंत्र है उसके मध्य ब्रह्मरन्ध्र में जो ध्यान करते हैं और उसके नीचे कपाल भ्रूकुटि, नेत्र, नासिका, श्रोत्र, कण्ठ के ऊपर तथा कण्ठ, हृदय नाभि, और उसके नीचे स्वाधिष्ठान आदि स्थानों में जो ध्यान करते हैं वे भी साक्षात निरुत्थान (मोक्ष) नहीं प्राप्त कर सकते । किंतु क्रम मोक्ष को ही प्राप्त होते हैं । दीप्ति पुञ्ज प्रलयकालिक अग्नि के सदृश गोल्लाट में जालन्धर शृङ्गाट ब्रह्म नाड़ी के मध्यस्थान में बिजली की तहर दीप्त मस्तकान्त में तथा करोड़ों सूर्य प्रकाश सदृश शिखर में जो योगि जन चंचल बिजली के आकारवाले ज्योतिः पुञ्ज का ध्यान करते हैं उन को भी मोक्ष नहीं मिलता। लिङ्ग से लेकर मेरु दण्ड के बीच मन और प्राणवायु के गमन द्वारा सुषुम्णा नाड़ी का भेदन कर बिन्दु को गले से ऊपर भ्रमरगुहा नामक शिर के पीछे भाग में लेजाते हुये बज्रोली क्रिया द्वारा वहाँ स्थापित कर व्यापक नित्य नाद ध्वनि को जो करते हैं उनको भी साक्षात् मोक्ष नहीं मिलता॥—७९-८०॥

मू०--सम्यक् चालन दोहनेन सततं दीर्घी कृतांलम्बिकां
तां तालवन्तर वेशितां च दशम द्वारोदरे सन्धिनीम् ॥
नीत्वा मध्यमसन्धिसंघटघटात् प्राप्तांशिरो देशतः।
पीत्वाषड्विधपानकाष्ठ भजनंवाञ्छन्तिये मोहिताः॥८१॥
गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमम् ।
नीत्वा ध्यानसमाधि लक्ष्य करणै र्नासमा ध्यासनैः ॥
प्राणापान गमागमेन सततं हंसोदरे संघटा ।
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखिताः॥८२॥

सं० टी० --केवल खेचरी मुद्रा करणेनापि न मोक्ष सिद्धि रिति

दर्शयति सम्यगिति सततम्(सम्यक् चालन दोहनेन) चालन दोहन क्रियया (दीर्घीकृताम्) विस्तारिताम् (तालवाभ्यन्तरवेशिताम्) तालु मध्ये विपरीत रूपेण प्रवेशिताम्(तत्र दशमद्वारोदरे) भ्रू मध्ये सन्धिनीं सन्धिकारिणीं संयुक्तामिति यावत्(लम्बिकाम्) जिह्वां (नीत्वा) प्रापय्य (मध्यमसन्धि संघट घटात्) मध्यमश्चासौ सन्धिः संगमो नाल्पो नाति दीर्घ इति यावत् तस्य संघटः समुदायस्तस्यघटात् करणात् तत्र भ्रू मध्ये मध्यम रूपेण वारंवारं रसनायाः संगम करणादितिभावः (शिरोदेशतः) सहस्रारतः (प्राप्ताम्) समागतां सुधामिति शेषः (पीत्वा) आस्वाद्य ये जनाः सततम् (षड्विध पानकाष्ठ भञ्जनम्) षड्सास्वादन रूप जड सेवां वाञ्छन्ति तेऽपीति शेषः (मोहिताः) तत्त्व बोधतो वञ्चिताः। तत्त्व ज्ञान साधनमिदं लक्ष्यं मत्वा सततं तदासक्ता न भवन्त्वित्युपदेशायात्र प्रकरणे सर्वेषां निन्दा कृता न तु निन्दा तात्पर्येणेति पूर्वोक्तं न विस्मर्तव्यमिति ॥ ८१ ॥ केवल वायुरोधज समाधितो न मोक्ष इति प्रदर्श्यते गुह्येति (गुह्यात्) मूलाधारात्, आरभ्येति प्रभृत्यर्थक योगे पंचमी(उभयं पश्चिम पूर्व मार्गम्) इडापिंगलोभयपथम् (रुद्ध्वा) अवरोध्य (मध्यमनिलम्) सुषुम्णायां वायुम् (नीत्वा)प्रगमय्य(ध्यानसमाधि लक्ष्यकरणैः) ध्यानं च समाधिश्च तयो लक्ष्ययोः करणैः साधनैः (नानासमाध्यासनैः) भूयोऽभ्यासैः (प्राणापान गमागमेन) प्राणस्यापानस्य चोच्छ्वास निःश्वासयोर्गमागमेन याता यातेन (हंसोदरे) नाडी कुहरे (संघटा) संघर्षः सम्पाद्यत इति शेषः। एवमपि ये भजन्ति तेऽपि दुःखिताः सन्तोभव जले मज्जन्ति विना ज्ञानं समाधिना प्रकृति लयो भवतीति न संसाराद्विमुक्तिरतस्तत्त्व ज्ञानाय सावधानेन स्थातव्यमित्युपदेशः ॥ ८२ ॥

भा० टी०—अब केवल खेचरी से भी साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती इस का निरूपण करते हैं। अच्छीतरह चालन दोहन द्वारा जिह्वा को लम्बी बना कर तालु के भीतर ले जाते हुये तथा दशमद्वार में संयुक्त करते हुये बार बार उस जिह्वा सम्बन्ध से सहस्रार से टपकने वाले अमृत को पीते हुये जो षट् प्रकार के रसास्वाद रूप जड़पान में आसक्त हैं वे भी साक्षात् मोक्ष से वञ्चित हैं मूलाधार से लेकर इड़ा पिङ्गला के मार्ग को रोक कर सुषुम्णा द्वारा वायु को

ऊपर लेजाकर अपने ध्येय के साक्षात्कार के उपाय अनेक प्रकार के अभ्यास से वायु के गतागत द्वारा नाड़ी चक्रों में ही जो सदा आसक्त रहते हैं वे भी समरस करण के विना साक्षात् मोक्ष के भागी न होने से दुःखी ही रहते हैं ॥८१-८२॥

मू०—शक्त्याकुञ्चनमग्नि दीप्ति करणंत्वाधारसंपीडनात्
स्थानात्कुण्डलिनी प्रबोधनमतः कृत्वा ततो मूर्धनि ॥
नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये।
खण्डज्ञानरतास्तुते निजपदं तेषां हि दूरं मतम् ॥८३॥
बन्धं भेदञ्च मुद्रां गलविलचिबुकाबद्धमार्गेषुवह्निः ।
चन्द्रार्कौ सामरस्यं शमदम नियमा नादविन्दुंकलान्ते ॥
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभव मनसाप्युन्मनीयोगयुक्ता
स्तेलोकान्भ्रामयन्तेनिजसुखविमुखाःकर्मदुखाध्वभाजः८४

सं० टी०—केवलषट्चक्रभेदेन शक्ति संचालन क्रियानुरामोऽपि न श्रेयस्करः किंतु साध्यसिद्धिपर्यन्तमेव साधनं कर्तव्यं यथौदन पर्यन्तमेव पाकस्तण्डुलनिष्पत्ति पर्यन्तमेवावघातश्चान्यथा निष्क्रियावस्था रूपावधूतत्वं न स्यादित्युपदिश्यते। शक्त्येति-(आधारसंपीडनात्) मूलाधारस्य बन्धनमुद्रयामर्दनात् (शक्त्याः)कुण्डलिन्याः (आकुञ्चनं)संकोचः तथा (अग्निदीप्तिकरणम्) कुक्षिस्थाग्निं प्रगृह्याधारे संयोजनम् एतत्साधनद्वयबलेन (स्थानात्) स्वस्थानात् (कुण्डलिनी प्रबोधनम्) मूलाधारस्थ शक्ति जागरणं भवति ततः प्रबोधान्मूर्धनि भाल मध्ये (ताम) कुण्डलिनीम् कृत्वा (ततः) तस्मादप्युपरि (पूर्णगिरिम) सहस्रारस्थितपीठ देशं नीत्वा तस्याश्च पुनः (अधः) नीचैः (निपातनम्) प्रपातनं ये कुर्वन्ति सततं कुण्डलिन्या उत्थानावपातनयोरेवासक्तास्तेऽपि खण्ड ज्ञानरता एकदेश साधन सम्पन्ना अपि, अवधूतत्व सम्पादकनैष्कर्म्यादि पूर्णसाधन रहिता अतस्तेषां निज पदं स्वस्थानं (दूरम्) अनल्प विलम्बनेन मोक्षो भवति नैष्कर्म्यादि साधनं यावत्प्रतीक्षते ॥८३॥ सिद्धिपर्यन्तमेव साधनंतत्परं तदपि हेयमन्यथा सङ्गतारूप मोक्षो न

स्यादित्युक्तं पूर्वं तथैवात्रापि बोध्यमियमेव प्रक्रिया सर्वदर्शनेषु समा दृता। यथा तत्त्वज्ञानस्यापि वृत्तिरूपतया वृत्तेश्चाविद्यारूपत्वाद्वै यतैव पर्यवस्यतीति घण्टाघोषः (बन्धम्) जालन्धरादिम् (भेदम्) चक्रभेदम् (मुद्राम्) खेचरी प्रभृतिंकृत्वेति शेषः। (गलविलचिवुकाबद्धमार्गेषु) गलस्य कण्ठस्य विलं छिद्रं चिबुकम्-ओष्ठाधो भागस्तयो राबद्धमार्गाः आप्रतिबद्धाः सम्यग् निरुद्धामार्गानाडीरन्ध्रास्तेषु सत्सु (वह्निः) सुषुम्णा नाडी (चन्द्रः) इडानाडी (अर्कः) पिंगलानाडी तेषाम् (सामरस्यम्) सम रस भावमैक्यमिति यावत्। (शमः) अन्तरिन्द्रियनिग्रहः (नियमाः) शौचादयः (नादः) आन्तरिक शब्दः (बिन्दुः) शुक्रम्, एतेषां समुदा यंकलान्तेसाधयित्वा सिद्धैःपश्चादपि-(उन्मनी योग युक्ताः)संसारापसृत्य परमात्मनिष्ठाः सन्तोऽपि-उन्मनी पदार्थः प्रागुक्तः। अपि शब्दस्य भिन्न क्रमतां स्वीकृत्यात्र सम्बन्धः (अनुभवमनसा) साधनज्ञानाशक्त चित्त तथा पूर्वोक्त साधनं नित्यं मेलयन्ते ते निजसुख बिमुखाः स्वात्मानन्द वञ्चिता लोका भ्रामयन्ते साधनोपदेशेन वञ्चयन्ते। अत उन्मनीभा वात् पूर्वमेव साधनं विधेयं नतु ततः पश्चादिति 'निष्कर्षः॥ ८४॥

भा० टी०—जब योगी एड़ी से मूलाधार को दबाकर भली प्रकार सिद्धासन लगाकर मूलबन्ध को दृढ़ करता हुआ बैठता है तब मूलाधार के युक्तियुक्त दबाने से अग्नि प्रज्वलित होती है। उस अग्नि प्रज्वलन से तथा अपानवायु को ऊपर की ओर खेंचने से मूलाधार में कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करे। उस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबुद्ध कर पीछे मूर्ध स्थान में स्थित "पूर्णगिरिपीठ" नामक ब्रह्मस्थान सहस्रदल में पहुँचाकर योगी यथाशक्ति समाधि में स्थित रहते हैं। यह निर्भय मोक्ष स्थान है। यहाँ काल की गति नहीं है। इसी को पूर्णगिरिपीठ भी कहते हैं क्योंकि यहाँ पूर्णब्रह्म रूप निजस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। फिर वेही ध्यानी लोग ध्यान उतारते समय उसी कुण्डलिनी को नीचे निजस्थान पर गिरादेते हैं। अतः वे ध्याना-वस्था से फिर प्रपञ्चावस्था में लौट आते हैं। इस अवस्था को प्राप्त हुये योगिजन यद्यपि उत्तम कोटि में गिने जाते हैं। तथापि ऐसे अभ्यासी महात्मा भी खण्ड ज्ञान में ही रहते हैं क्योंकि यह केवल

ससाधन भूचरी मुद्रा का फल है। अतः जब तक साङ्गोपाङ्ग योग विधि से निज पिण्डपद का समरसकरण न किया जाय तब तक उन खण्डज्ञानियों के लिये अखण्ड ज्योतिःस्वरूप पद दूर माना जाता है। मूलादि बन्ध तथा कुण्डलिनी प्रबोध से षट्चक्र और ब्रह्मा विष्णु रुद्र ग्रन्थियों का भेदन या महावेधकर तथा खेचरी आदि मुद्रा एवं ठोड़ी को वक्षःस्थल में जालन्धर बन्ध द्वारा नियोजित कर गलबिल के प्रतिरोध से समस्त नाड़ी मार्गों के रुक जाने पर प्रज्वलित हुई अग्नि का तथा सूर्य और चन्द्र स्वर के सुषुम्णागत मेलका, एवं शमदमादि नियम पालन पद्धति से नाद और बिन्दु का या शमदमादि नियमों का तथा नाद और बिन्दु का जहाँ शब्दादि समस्त कलाओं का अन्त होता है ऐसे शिवराजधानी स्वरूप सहस्रदल में अर्थात् सर्वचक्रातीत निरञ्जन देव में, उन्मनी योग से युक्त हुये भी जो योगी अनुभव आत्मक मानस ज्ञान से नित्य सम्मेलन करते हैं, वे स्वयं भी कर्मरूप दुःख अन्धकार के भागी होते हुये निज आत्मानन्द सुख से विमुख हैं और लोगों को भी भ्रम में डालते हैं। क्योंकि स्व स्वरूप में प्रतिष्ठित करने वाली सहजावस्था होती है उसी को उन्मनीयोग या समाधिनिष्ठा कहते हैं। उसी को प्राप्त करने के लिये समस्त योग साधनों का अनुष्ठान किया जाता है और जब उन्मनी योग सिद्ध होता है तब फिर आत्मानन्द को छोड़कर उन साधनों में ही आसक्त रहना तो एकप्रकार से स्वयं भी दुःखभार को सहते हुये लोगों को भ्रम में डालना है। इसी भाव का पूज्यपाद श्री योगाचार्य जीने ऊपर के श्लोक में वर्णन किया है ॥८३॥८४॥

मू०-अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखी चक्रभेदम्।
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रवि किरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम्॥
दृष्ट्या ये वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा।
एवं ये भावयन्तेनिगदितमतयस्तेऽपिहा कष्टभाजः॥८५॥
आदौ धारणशंखधारणमतः कृत्वा महाधारणम्,
सम्पूर्णम्प्रतिधारणं विधिवलाद् दृष्टिस्तथा निर्मला।

अर्धोली बहुलीह वासनमथो घण्टाथ सन्नौलिका,
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा श्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते॥८६॥

सं० टी०—(अष्टाङ्गयोगमार्गम्) पूर्वोक्त यमनियमादि रूपाष्टांगयोगमार्गम् (तथा) कुलपुरुष मतम्) कुलपुरुषः कुलपतिराचार्यस्तेन मतं स्वीकृतम् (षण्मुखीचक्रभेदम्) मूलाधारादि षट् चक्रभेदं कृत्वेति शेषः (ऊर्ध्वाधोवायुमध्ये) उच्छ्वास निःश्वास मध्ये भ्रूमध्य इति यावत् (रविकिरणनिभम्) भास्करप्रभा सदृशम् (सर्वतो व्याप्ति सारम्) परितो देदीप्यमानं तेजोः पुञ्जं ये दृष्ट्या त्राटकादि मुद्रया (वीक्षयन्ते) पश्यन्ति (वा) अथवा (तरल जल समम्) चंचल नीर तुल्यं (नील वर्णम्) ईषत् श्यामलभं नभो वीक्षयन्ते। एवं सततं भावयमाना अपि कष्ट भाज एवेति शेषं पूर्ववत् ॥ ८५ ॥ (विधिवलात) शास्त्राचार्य नियोग बलात् (आदौ) पञ्चभूत धारणेषु प्रथमम् (धारणशंख धारणम्) धारणं शं मंगलं यस्मिस्तस्य खस्याकाशस्य धारणमथवा धारणश्चासौ शंखः "धार्यते जगदनेनेति संसारस्थिति कारकः, शंसुखात्मकः, खो व्यापकस्तस्य परमेश्वरस्य धारणमतः (पश्चान्महाधारणम्) समस्त पंच भूतधारणम्, अव्याकृताकाशधारणं वा (प्रतिधारणम्) विपरीतधारणं प्रत्येकभूत धारणं वा तदङ्गभूतचिन्ह धारणम् (सम्पूर्णम्) सकलं सम्या ग्(दृष्टिम्) बुद्धिम् (निर्मलाम्) स्वच्छां तथा (अर्धोली) धोति (बहुली) बस्ति (वासनम्) नेति भस्त्रिकाश्च (अथो) अथ च (घण्टा) त्राटकम् (नौलिका) नौलिः "एकदेशानुमत्याभस्त्रेति,, एवं ये स्वयं षट्कर्माणि कुर्वन्ति। अन्यान् कारयन्ति च ते सदा स्वयं श्राम्यन्ति खिद्यन्ति च पूर्ववत ॥ ८६ ॥

भा० टी०—कुण्डलिनी शक्ति से जिसमें चक्रों का भेदन कहा है और सर्व सम्मति द्वारा शिव शक्ति मतानुयायी से अभिमत एवं यम नियमादि साधन विशिष्ट अष्टाङ्ग योग मार्ग कहा जाता है और ऊर्ध्व ध्येय सहस्रदलयुक्तपद्म तथा ब्रह्मचक्र ललाटादि के मध्य एवं अधो धेय मूलाधारादि और मध्य ध्येय नाभिचक्र आदिकों के बीच में सूर्य की किरणों के समान सर्वतो व्यापक तेजोमय वा

तरल स्वच्छ जल के समान या नील वर्ण आकाश के सदृश वस्तु को उन ध्येय स्थानों में देखकर जो ध्यान करते हैं वे लोग भी परम लक्ष्य पर न पहुँचने से परिमित बुद्धिवाले हैं। दुःख है कि वे पूर्वोक्त रीति से भावना करते हुये भी केवल दुःख भार को ही उठाते हैं। सर्व-प्रथम दूसरे उपदेश में कहे हुये पाँच आकाशों में से आकाशधारणा पराकाशधारणा और महाकाशधारणा को कर सम्पूर्ण तत्त्वों की प्रतिधारणा यानि प्रत्येक धारणा अर्थात तत्त्वाकाश-धारणा को करके योगविधि से ध्येय लक्ष्य में दृष्टि जमाकर निर्मल करते और कराते हैं। एवं नेति, धोति वस्ति, त्राटक नौलि और कपाल भाति (भस्त्रिका) इनको जो सदा करते हैं और कराते हैं वे भी परम लक्ष्य तक न पहुँचने से भ्रान्त हुये दुःख का उपभोग करते हैं ॥८५॥८६॥

मू०—शंखक्षालन मन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसम् ।
वान्तेरुल्लुठनं कपाटममरी पानं तथा खर्परी ॥
वीर्यद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपञ्च वा ।
ये कुर्वन्ति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ॥८७॥
घण्टाकोहलकाहलमार्दुलमहाभेरीनिनादंयदा ।
सम्यङ्नाद मनाहत ध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ॥
पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा ।
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं नैवं परं लभ्यते ॥ ८८ ॥

सं० टी०—ये सततं कर्मणिरतास्तत्त्वाभिमुखा न भवन्ति तेऽपि जडाः (सिद्धान्तजं फलं) मोक्षस्तेषां न भवति। किं किं कुर्वन्तीति कथ्य ते (अन्तरम्) अभ्यन्तरम् (शंखक्षालनम्) शंख नाड़ी शोधनम्, आन्त रिक कमल शोधनमिति यावत्। तथा ताल्वोष्ठं नासिका रतासां रसं तस्येति शेषः (रसनया) जिह्वया (वान्तेः) वमनस्य करणेनेति शेषः (उल्लु ठनम्)निः सारणम् (कपाटम्) कपाट मुद्रां भ्रूद्वार भेदनम् (अमरीपानम्) शिवजल सुधापानं तथा (खर्परी) खर्पर धारणम् (वीर्य्यद्रावितम्) वी

र्यनिःसृतम् (आत्मजम) स्वकीयम् पुनस्तस्यैव (ग्रासम्) कवलनम् (प्रलेपनम्) वाऽङ्ग मर्दनमित्यादि ये कुर्वन्ति। तेषां सिद्धान्तजं फलं मोक्षो न भवतीति किमु वक्तव्यं शिष्टमण्डलेऽपि समावेशस्तस्य दुर्लभः ॥ ८७ ॥ (यदा) प्राणवायुरोधकाले (घण्टेत्यादि) घण्टा प्रसिद्धं वाद्यं तस्याः कोहलः, कोलाहलस्तस्यैव कालम्, मार्दुलं च यस्य। कलस्य भावः कालो माधुर्यमिति यावन्मृदुलस्य भावो मार्दुलम्, कोमलत्व मिति भावः। सा चासौ महाभेरी निनादो वाद्य विशेष ध्वनिस्तं किं च (अनाहतध्वनिमयम्) महाकाशस्थित प्राकृत नित्य शब्दस्य यो ध्वनिः सोऽनाहतध्वनिस्तन्मयं तत्प्रायं (सम्यग्ध्वनिम्) सुन्दरध्वनिम् (सर्वग तम्) व्यापकम् (निरन्तरतया) अनवरतम् (पिण्डे) शरीर मध्ये वा ब्रह्मा ण्ड मध्ये ये शृण्वन्ति तेषां (ततः) तेनैव ज्ञानरहितेन साधनेन (सिद्ध पदम्) सिद्धानां प्राप्यं समुचितं परं तत्त्वं ब्रह्म नैव लभ्यत इति किन्तु साधनेन ज्ञान प्राप्ति स्ततो मोक्ष इति ब्रूमः ॥ ८८ ॥

भा० टी०—शङ्ख धोने के बाद स्वभाव से तालु, ओष्ठ और नासारस एवं वान्ति का उछाल, कपाल कपाट अमरीपान तथा खर्परी होना, निज विन्दु का द्रावण फिर उसी का ग्रास (पीना) और लेप जो जड़ वुद्धि करते हैं उनको स्वसिद्धान्त वर्णित फल की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि यह कल्याण से गिराने वाला अत्यन्त विपरीत मार्ग है। घन्टा, कोहल, (ढोल) काल, (कांस्यका वाद्य विशेष) डमरू और बड़ी नौवत इनके तथा और भी ऐसे ही अनेक चित्र विचित्र अनहद ध्वनिरूप नाद को सर्वगत रूप से जो स्वपिण्ड में या ब्रह्माण्डमात्र में निरन्तर सुनते हैं, उन अभ्यासियों को यथावत सिद्धि की प्राप्ति होती है। क्योंकि पूर्वोक्त प्रकार से शब्द सुनना योग सिद्ध सूचक शुभ लक्षण है। जब प्राण वायु तीनों ग्रन्थियों का भेदन कर सहस्रदल शिव स्थान में पहुँचने लगता है तब घण्टादि वाद्य विशेषों की यह विशाल ध्वनि उत्पन्न होती है। उस समय योग सिद्धियाँ समीप आजाती हैं परन्तु उन सिद्धियों के आने पर भी अपने को कृतकृत्य न समझे। क्योंकि यह सिद्धिरूप सार्वभौम पद भी माया का कार्य है। अतः इससे भी तृप्त न होना चाहिए क्योंकि इतने से भी

आत्मारूप व्यापक पद की प्राप्ति नहीं होती। हाँ अणिमादि ऐश्वर्य में जब विरक्ति भाव होता है उसके बाद अखण्ड ज्योतिः रूप परम व्यापक आत्मतत्त्व को प्राप्त होजाता है ॥८७,८८॥

मू०–वैराग्यात् तृणशाकपल्वलजलं कन्दं फलंमूलकम्
भुक्त्वा यौवनवासमेव भजते चान्ये च देशान्तरे ॥
बालोन्मत्तपिशाचमूक जडवच्चेष्टाश्च नानाविधाः ।
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलं भ्रष्टा विमुह्यन्ति च ॥८९॥
कंथादर्शन मद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकम् ।
भस्मोद्धूलन मंग कर्कश तरं धृत्वा च वर्षं त्वरेत् ॥
क्षेत्रं क्षेत्र मटन्ति दुर्गमतरे स्थित्वाऽथ सर्वेन्द्रियम् ।
नो विंदन्ति परंपदं गुरुमुखाद्गर्वेण कष्टाश्च ते ॥९०॥

सं० टी०–ये (वैराग्यात) संसारात् विरज्य (तृणशाक पल्वलजलम्) तृण विशेषं शाकं वास्तुकादि, पल्वलं, जलाशयस्तस्य जलं, प्रसिद्धं कंदम्, सुरणादि, फलमाम्रादि, मूलकं प्रसिद्धम् । एतानि भुक्त्वा वन वासरण्यमेव (भजते) सेवतेऽन्यं च ये देशान्तरं जन्मदेशादन्यत्र (बालो न्मत्तपिशाच मूक जडवत) कचिद्बालवत् कुत्रचिदुन्मत्तादिवत् (नानावि-धाः) अनेक प्रकाराः (चेष्टाः) व्यापारान् कुर्वन्ति ते मतिबलम् (ज्ञान शक्तिम् (विना) ऋते भ्रष्टाः स्वसिद्धान्ताद् विचलिताः सन्तो विमुह्यन्ति मुग्धा भवन्ति ॥ ८९ ॥ (अद्भुतम्) विचित्रम् (कन्थादर्शनम्) कन्था रूप वस्त्रम् (बहुविधम्) नाना प्रकारकम् (भिक्षाटनम) याचनम् (नाटक म्) नाटकवद् बहुवेषम् (भस्मोद्धूलनम्) विभूतिपरिलेपनम्-अत एव (अङ्गकर्कशतरम) अतिशयेन कठिनाङ्गम् (धृत्वा) परिधाय कृत्वा च (वर्षम्) निरन्तर बहुवर्षावधि(त्वरेत)विचरति (क्षेत्रं क्षेत्रम्) प्रतिस्थानम् (अटन्ति) अतन्ति (अथदुर्गमतरे) विषमस्थाने (स्थित्वा) आसित्वा सर्वेन्द्रियं निरुध्येति शेषः (गर्वेण) अहङ्कारेण (गुरुमुखात्) आचार्य

चक्रात (परंपद्म्) तत्वं (नो विन्दन्ति) ने लभन्तेऽतस्ते कष्टाः दुखिता इति ॥ ६० ॥

भा० टी०—बहुत से वैराग्य हो जाने पर पत्ती के शाक से ही निर्वाह करते हैं। एवं पत्तों के जल पात्र से ही जल का ग्रहण करते हैं या तृण, शाक और पत्तों से निकाला हुआ जल, कन्द, फल, और मूल, आदिकों को खाकर वन में ही निवास करते हैं या अन्य देश में रहते हैं। इसी प्रकार जो बालक, उन्मत्त, पिशाच गूंगे और मूर्ख पुरुष के सदृश चेष्टा करनेवाले हैं। अतः विपरीत बुद्धि के कारण योग रूप आनन्द से वंचित हो, वे बनावटी विरक्तिपद का ठाट दिखाते हैं वे आत्मानन्द से भ्रष्ट हुये इस संसार के माया चक्र में ही मोहित हो रहे हैं। अनेक प्रकार के चित्र विचित्र कन्था (चोला) और वसनादिकों को धारण करने वाले एवं अनेक प्रकार से भिक्षा के निमित भ्रमण रूप नाटक में परायण तथा भस्मी और धूल को शरीर में रमाकर देह को अति कठोर बना कितने ही वर्षों तक कठिन नियमों का पालन करते हैं और अन्य कितने ही समस्त इन्द्रियों को जीतकर दुर्गम तीर्थ क्षेत्रों में ही भ्रमण करते हैं, परन्तु वे स्वयं पण्डितमानी होते हुये गर्व से योग तत्व वेत्ता गुरु की शरण में पहुँच कर भी योगद्वारा आत्म रूप परमपद को नहीं जानते। वे भी आत्मानन्द से वंचित यों ही दुःख भार से पीड़ित हैं ॥८९॥९०॥

मू०–वाणींयेच चतुर्विधांस्वरचितांसिद्धैश्चवानिर्मिताम् ।
गायत्रीं चतुराश्च पाठ निरता विद्या विवादे रताः ॥
नो विन्दन्ति तदर्थमात्म सदृशं खिद्यन्ति मोहाच्छलात् ।
दण्डैः कर्तरि शूलचक्र लगुडै र्भाण्डाश्च दुष्टाश्च ते ॥९१॥
एवं शून्यादि शून्यं परम परपदं पञ्चशून्यादि शून्यम् ।
व्योमातीतं ध्यजाद्यं निज कुलमकुलं चाद्भुतं विश्वरूपम् ॥
अव्यक्तं चान्तरालं निरुदयमपरं भासनिर्नाम मैक्यम् ।

वाङ्मात्राद्भासयन्तोबहुविधमनसोव्याकुलाभ्रमितास्ते

सं० टी०–(स्वरचिताम्) परमात्मनो निःसृतां श्रुति रूपाम् (सिद्धैः) सिद्ध पुरुषैर्निर्मितां स्मृतिरूपाम् (चतुर्विधाम्) निपातोपसर्ग सुबन्ततिङन्तरूपाम् "चतुर्विधाः शब्दाः,, नामाख्यातोपसर्ग निपाताः इति व्याकरण महाभाष्ये (वाणीम्) मन्त्रात्मक शब्दम् (गायत्रीम्) तत्त्व इव गायत्रीं पठितुमिति शेषः। (चतुराः) निपुणाः (पाठनिरताश्च) जपतप परा अपि यदि (विद्याविवादेरताः) विद्याविवादेसंलग्नाः (आत्म सदृशम्) स्वानुरूपम्-यथार्थमिति यावत् (तदर्थम्) मन्त्रार्थम् (नोविन्दन्ति) न लभन्ते तदा सिद्धिमप्राप्य खिद्यन्ति। अतो विहाय विवादं मन्त्रार्थ लाभाय यतितव्यमिति भावः, पश्चान्मोहाच्छलाद्वा ते कर्तरि शूल चक्र लगुडैः। ततदस्त्रैः (दण्डैः) परपीडनैः (भाण्डाः) निर्लज्जा बहुवाग्मिनः (दुष्टाश्च) परच्छिद्रान्वेषिणश्च लोके कथ्यन्त इति शेषः॥ ६१॥ एवं पूर्व प्रकारेण ये स्वयं (बहुविधमनसः) नाना विषय व्यावृत्त चेतसः (व्याकुलाः) चिन्ताग्रस्ताः सन्तः (वाङ्मात्रात्) बहिर्वचनमात्रेणैवान्यान् (ऐक्यम्) अद्वैतम् (भासयन्तः) लोकान् भ्रमे निपातयन्तो वञ्चकाः सन्तीति तात्पर्यम् कीदृशं तत्त्वमित्यस्य विशेषणानि शून्यादीनि (शून्यस्य) संसाराभावस्य (आदि) कारणम् (शून्यम्) सर्व धर्मरहितम् (परम परपदम्) सर्वोत्कृष्ट स्थानम् (पञ्च शून्यादि शून्यम्) पञ्च शून्यानां पञ्च भूतावसानानां मध्ये आदि शून्यम्प्रथम शून्यस्वरूपम्। अयमाशयः-एकैक भूतस्य योऽवसानः स शून्यपदेन कथ्यते तथा च पृथिवी जलयो मध्ये एक शून्यमेवं जल तेजसोर्मध्ये द्वितीयं शून्यं तथैव तेजो वायो मध्ये तृतीयं शून्यं वाय्वाकाशयो मध्ये चतुर्थ माकाशान्तं च पञ्चमम. तथा च पञ्च शून्यानि भवन्ति, तेषु प्रथमाकाशान्तिम ब्रह्म रूपमिति यावत्। अत एव (व्योमातीतम्) आकाशमतिक्रम्य स्थितम् (अनाद्यम) नास्त्याद्यं कारणं यस्यतत् (निजकुलम) व्यवहारे (निजम्) स्वयं (कुलम्) सकल वंश प्रवर्तकम् (अकुलम्) वस्तुतः कुलरहितंस्व कारण रहित मिति यावत्, अत एव (अद्भुतम) आश्चर्य रूपम् (विश्वरूपम) सर्व स्वरूपं कार्य कारणयोस्तादात्म्यात (अव्यक्तम्) सूक्ष्मम् (अन्तरालम्) सर्वेषामभ्यन्तरस्थम् (निरुदयम्)

उत्पत्ति रहितम् (परम)उत्कृष्टम् (भासनिर्नामम) भासमानं सन्नाम रहितम् ,नाम्नोऽभाव इत्यर्थाभावेऽव्ययीभावः, अतः "नपुंसकादन्यत-रस्यामिति टच् ॥ ६२ ॥

भा० टी०—जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप चार प्रकार की वाणी या गद्य पद्यात्मक संस्कृत भाषारूप स्वरचित चतुर्विध वाणी वा सिद्धों से निर्माण की हुई वाणी को पढ़ते हैं तथा गायत्री मन्त्र आदि में चतुर, स्तोत्रादि के पाठ में तत्पर और विद्या विवाद में भी तत्पर रहते हैं वे भी आत्मा के सदृश अर्थ को अर्थात सर्वत्र व्यष्टि समष्टि अण्डपिण्ड में भीतर, बाहर ऊपर, नीचे एक ही अखण्ड ज्योतिः स्वरूप आत्मा है इस प्रकार नहीं जानते। क्योंकि वे माया चक्र में फँसकर अज्ञान वश खेद को प्राप्त हो रहे हैं। इतना ही नहीं बल्कि इनमें बहुत से तो पूरे कृपानिधान होते हैं, सुनिये—आत्म बोध से विमुख हो कितनेक तो दण्ड धारी दण्ड का उपयोग करते हैं। बहुत से कुल्हाड़ी, त्रिशूल चक्र लाठी आदि शस्त्रों को ही धारण करते हैं। अतः ऐसे पामर जन एक प्रकार के भाँड और दुष्ट हैं। क्योंकि वे आत्मा की तरफ से एकदम विमुख हुये पशुवृत्ति में ही तत्पर रहते हैं। अब केवल शून्य वादी के मत का खण्डन करते हैं। जैसे पूर्व में खण्डन किया हुआ मत निःसार है वैसे ही इसको भी जानना। समस्त जगत् के विनाश का कारण भी महाशून्य है उससे पर कुछ नहीं है, अपितु वही सबसे पर और परमपद है। तथा क्रम से पञ्च भूतों के मध्यवर्ती विशेष पञ्चशून्य अभाव का कारण भी वही शून्य है। वह शून्य आकाश से भी अतीत और आदि अन्त से रहित है एवं वह अस्मदादियों का कारण और स्वयं कारण रहित है। व्यवधान रहित अव्यक्त अद्भुत विलक्षण और विश्वरूप ऐसा वह शून्य है तथा उदय अस्त से रहित सर्वोत्कृष्ट व्यापक रूप और नामरूपसे रहितएकहै। इस प्रकारकेवलवाणीमात्र से वर्णन करने वाले वे शून्यवादी नाना विक्षेपण से व्याप्त हैं। क्योंकि उस वागाडम्बर से स्वयं उनके मन में भी सन्तोष नहीं है अतः वे भी भ्रान्त ही हैं ॥६१॥६२॥

मू०-आज्ञा सिद्धि करं सदा समुचितं सम्पूर्णभाभासकं
पिण्डे सर्वगतं विधानममलं सिद्धान्त सारं वरम् ॥
भ्रान्तेनिर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतम् ।
तन्नित्यं कलनोज्झितं गुरुमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम् ॥६३॥

सं० टी०—अनात्मेत्यादिना यदखण्ड सच्चिदानन्दाद्वितीयतत्त्व मुपक्रान्तं तस्य कार्य विशेषं सृष्ट्यादि तज्ज्ञानप्रकारं प्रसंगागतं च सर्वं प्रदर्श्य, "उपक्रमोपसंहाराभ्यां तात्पर्य विनिर्णयः" इति न्यायेनास्य ग्रन्थस्य तत्रैव तात्पर्यं सूचयितुं पुनरपि ग्रन्थान्ते तदेवोपसंहरति। आज्ञेत्यादि श्लोकेन (गुरुमयम्) गुरुरूपं स्वार्थे मयट् (निरुत्थंपदम्) यस्य नास्त्युत्थानं तदुत्तमं पदम् (प्राप्यम्) तत्त्वं ज्ञेयं कीदृक् तत्तत्त्वमि ति विज्ञापनाय बहुविशेषणैं विशिनष्टि (आज्ञासिद्धिकरम्) आज्ञायाः स्वीयोपदेशस्य सिद्धिं साफल्यङ्करोति तच्छीलम्, "कृञोहेतुताच्छील्येति टच्" सत्यसंकल्पत्वाद्यद्देवो गदिशति यं प्रति तत् तथैव भवतीति भाव (सदासमुचितम्) अन्यायोपदेशरहितम्। (सम्पूर्णभाभासकम्) सम्पूर्णा नां सकलानां भानां सूर्यादि प्रकाशानां भासकं प्रकाशकम्। तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतिः (पिण्डे) शरीरे ब्रह्माण्डे च (सर्वगतम्) व्या पकम् (विधानम्) सर्वं कारकम् (अमलम्) रागद्वेषादि मल रहितम्। (सिद्धान्तसारम्) सिद्धान्तेषु सारं दृढं वादिभि रजेयत्वात्। अत एव (वरम्) श्रेष्ठम् (भ्रान्तेः) संसार रूप भ्रमस्य (निर्हरणम्) विनाशकम् (सुखातिसुखदम्) नित्यमोक्षात्मकानन्द दायकम् (कालान्तकम्) सर्व मारकस्यापि कालस्याप्यन्तकम्मारकमजरामरमिति यावत्। अत एव (शाश्वतम्) ध्रुव कूटस्थमिति (कलनोज्झितम्) गणनारहितं संकल्प रहितत्वम् (नित्यम) नित्य रूपं तत् तत्त्वन्तत्र गुरुपद दानेन गुरोः परमात्मनश्चैकमेवलक्षणन्तथा चैतादृश गुरु द्वारा तत्तत्त्वं झटिति सुबोधं ध्रुवं भवतीति ध्वनितम्। अत एव इतः पूर्वं वञ्चक गुरून् निन्दित्वा कीदृशो गुरुराश्रयणीय इत्याकांक्षा मुपशमितवान् ॥ ६२ ॥

भा० टी०—अब इस शास्त्र के प्रतिपाद्य और सिद्धों के लक्ष्यभूत परमपद का वर्णन करते हैं। सृष्टि के आदि में सदा ही

उचित समय में अपनी शक्ति से अभिन्न वह ब्रह्म जगत विषयक इच्छा और जगत की उत्पत्ति को करता है, पीछे परम्परा से वही जगत के विशेष अवयव विन्यास और देव मनुष्यादि सकल प्राणियों की भी रचना करता है। वास्तव में वह असङ्ग अखण्ड और ज्योतिरूप है किन्तु सूर्य, चन्द्र, अग्नि विद्युत और नक्षत्र आदि सम्पूर्ण भासक वस्तुओंका भीवहप्रकाशक है। क्योंकि चेतन सत्ता के बिना इन उपर्युक्त सूर्य चन्द्रादिकों की स्थिति असम्भव है। यद्यपि वह अखण्ड ज्योति चेतन अण्डपिण्ड में सर्वत्र एकरस और व्यापकरूप से विद्यमान है तथापि इस देह पिण्ड में ही योग पद्धतिद्वारा विशेष ध्यान करने से उस शुद्ध निरञ्जन ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म की अभिव्यक्ति होती है। वही यथार्थ में सिद्धों के सिद्धान्त का उत्कृष्टसार है और जिस समय योग ध्यान से उस चेतनपरमार्थ तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तब यथार्थ में अविद्यारूप भ्रान्ति और अविद्या के कार्यभूत समस्त दुःख प्रपञ्च की निवृत्ति हो जाती है। वही परब्रह्म निरतिशय सुख कोदेताहै जैसेइसलोक में कोई किसीकोधनी बना देता हैवैसे हीसुखरूप ब्रह्म अन्य को भी अपने जैसा आनन्द स्वरूप सुखी बना सकता है और तो क्या विषय सम्बन्धी क्षण भंगुर सुख भी उस ब्रह्म सुख का ही लेश है। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादि श्रुतियों में भी कहा है। परन्तु वह उपाधि परिच्छिन्न होने से तुच्छ कहलाता है और वह परमेश्वर ही आदि अन्त से रहित शाश्वत और काल का भी काल है। क्योंकि इस ब्रह्म के भय से ही वायु, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु ये सब स्वय अपने अपने काम में तत्पर रहते हैं वही ब्रह्म नित्य और बाध से रहित है क्यों कि परिच्छिन्न अनित्य वस्तु का देश और काल कृत अन्त होता है। परन्तु व्यापक नित्य चेतन ब्रह्म में उपरोक्त विकार नहीं हैं। अतः वह ब्रह्म नित्य है। इसी से वह समस्त कल्पनाओं से रहित और शुद्ध है। एवं गुरु पद भी वही है। अर्थात् "गु" शब्द से अज्ञान और रु शब्द से उसका विनाश, यानि वही परमेश्वर आचार्य मूर्ति में स्थित होकर उपदेश द्वारा अज्ञान विनाशक कहलाता है। या

वही सर्वेश्वर सर्वोच्च व्यापक और सुखरूप कहलाता है और वह शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण और अव्याकृत मायासे भी परे है। वही योगियों का निर्भय और उत्कृष्ट परमपद है ॥६॥

मू०—आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्य संभूति रादेश इति कीर्त्तितः ॥६४॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्व क्षयापहाम्।
यो योगिनं प्रति वदेत् सयात्यात्मान मैश्वरम् ॥६५॥
आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचार सन्तोषः।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाश मात्मनो भजनम् ॥६६॥

सं० टी०—ब्रह्मविद्यालाभाय गुरुराश्रितव्य इति पूर्व श्लोके प्रतिपादितन्तत्र केन शिष्टाचारेण गन्तव्यमिति बोधयितुम्प्रथम मादेश पदार्थमाह—आत्मेति आत्मा इति भूतात्मा पिण्ड स्तदुपलक्षकं सकलाधिभौतिक पदार्थस्य (परमात्मा) परमेश्वरः (जीवात्मा) जीवः (एतेषां त्रयाणां विचारणे) विवेके सति (ऐक्य सम्भूतिः) एक तैव भवति स एवादेश इति कीर्त्तितः, कथितः ॥ ६४ ॥ अयं भावः-आ० १, दे २, श ३" अत्र पदेऽक्षर त्रयमेलनं तेनाधि भौतिकाध्यात्मिकाधि दैविक पदार्थानामैक्य भाव एव आदेश पदस्य सांकेतिकोऽर्थः प्रसिद्धो योगिनाम्, आदेश इति कथनेन योगी प्रसीदति ततो ब्रह्मविद्यां ददाति द्वितीयेन श्लोकेनाह (आदेश इतिसद्वाणीम्) सतो ब्रह्मणोबोधिकावाणी, आदेश इति अत एव (सर्वद्वन्द्व क्षयापहाम्) सकल द्वैत प्रयुक्त दुःख विनाशिनीं तां वाणीं यो योगिनं प्रति वदेदुच्चारयेत् स ऐश्वरम्। ईश्वर एव ऐश्वर स्तं अथवोपाधि विशिष्टईश्वर स्तस्य भावःसाक्षिणमात्मानमानन्दचिद्घनम् याति- प्राप्नोतिपरमात्म विद्या साधनान्युपदर्शयति (आशादहनम) आशायाः सङ्कल्पस्य दहनं विनाशङ्कुर्यादिति शेषः (भसितं) अंगे भस्म(कुण्डल युगलम) कर्णयोः कुण्डले धारयेत (विचार सन्तोषः) विचारे ब्रह्म विवेकेएवसन्तोषोयस्य न तु धने(कौपीनम्) वस्त्र धारयेत् (स्थिरचित्तम) निश्चलं मनः कुर्यात्। हस्ते (खर्परम्) पात्र

धारयेत् (आकाशम) हृदयाकाशम् (आत्मनः) परमात्मनो भजनं, भज न स्थानं भज्यते यत्र त्यधिकरण साधनम् ॥ ६६ ॥

भा० टी०— अब पूज्यपाद योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी सिद्ध योगियोंमें प्रचलितआदेश शब्द के अभिप्रेत अर्थ का निरूपण करते हैं। सब उपाधियों से रहित नित्य, अनन्त, शुद्ध, बुद्ध,सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा है। एवं शुद्ध सत्वगुण प्रधान माया उपाधि वाला सर्वज्ञ समस्त जगत की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय करने वाला जो ईश्वर है वही यहां परमात्मा पद से लिया जाता है और मलिन सत्वगुण प्रधान अविद्यारूप उपाधिवाला अल्पज्ञ और सुख दुःखादि सहित जीवात्मा है। जीव और ईश्वर की अविद्या एवं मायारूप उपाधि को छोड़कर आत्मा, परमात्मा और जीवात्मा की एक सम्भूति अर्थात् अभेद, आदेश शब्द का अर्थ है। अतः उपरोक्त रीति से एक संभूति पद के द्वारा एक ब्रह्म का ही बोध हुआ। क्योंकि वास्तविक सिद्धान्त में द्वितीय का अभाव है। परन्तु जहाँ बद्धाञ्जलि शिष्य शिर को झुकाकर गुरु के प्रति आदेश आदेश कहता है वहाँ शिष्य का, हे गुरु महाराज ? आप ब्रह्म स्वरूप हो। इस प्रकार स्तुति करने में तात्पर्य है। क्योंकि स्तुति अक्षरप्रणाम के साथही की जातीहै और जो पुरुष जिसको प्रणाम करता है वह उसकी स्तुति भी अवश्य करता है। जैसे रावण ने श्री महेश्वर को प्रणाम कियाथा और उनकी स्तुति भी की थी, परन्तु श्री रामचन्द्र को प्रणाम नहीं किया तो उनकी स्तुति भी नहीं की। यह बात सर्वलोक प्रसिद्ध है। यहाँ आदेश शब्द नमस्कार का वाचक नहीं है यह शंका भी नहीं हो सकती। क्योंकि पूर्वोक्त रीति से नमस्कार पदार्थ को आदेश पदार्थ के अन्तर्भूत होने से अर्थात् आत्मा की एकता का बोधक जो आदेश शब्द है उसी में नमस्कार पदार्थ का भी समावेश होता है और जब शिष्य गुरु के प्रति आदेश आदेश करता है तब गुरु भी शिष्य के प्रति आदेश ही करता है। वहाँ गुरु का अभिप्राय यह है कि हे शिष्य ! तू भी ब्रह्मस्वरूप है। इसरीति से गुरुदेव का उपदेश करने में तात्पर्यहै। जहां दो समान पुरुष परस्पर आदेश आदेश करते हैं किन्तु उनका गुरु शिष्य

भाव नहीं है वहां केवल स्तुतिमात्र करने में तात्पर्य है। तात्पर्य के वश से शाब्दबोध सर्वप्रामाणिक पुरुषों से सम्मत है। जैसे कि "सैन्धवमानय,, इस वाक्य के सुनने के बाद तात्पर्य वश से कभी अश्व का और कभी नमक का भी बोध होता है। जहां दो बार आदेश आदेश ऐसा उच्चारण किया जाता है वहाँ अत्यन्त आदर अर्थ जानना। अब आदेश शब्द के माहात्म्य का निरूपण करते हैं। आदेश यह सिद्धों को प्रसन्न करने वाली परम आदरणीय शुद्ध वाणी है और उच्चारण मात्र से ही सकल दुःख जाल को समूल नष्ट कर कल्याण को देती है। क्योंकि आदेश शब्द अद्वितीय ब्रह्म का बोधक है। अतः इसके उच्चारण मात्र से सकल विघ्नों का विनाश और कल्याण की प्राप्ति स्वाभाविक है वेदों में भी अद्वितीय ब्रह्म का बोधक आदेश शब्द देखने में आता है। देखिये:—

,,तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो विद्यु तदा" इति के० उ०। "उत तमादेशमप्राक्ष्यम्" इत्यादि। छा० उ०। अर्थात् "आदेशो नेति नेति" । बृ० उ०। अन्तर केवल इतना है कि कहीं उस अनुपम ब्रह्म के उपदेश का बोधक आदेश शब्द विधिरूप से देखा जाता है, जैसे ऊपर के छान्दोग्य उपनिषद् वाक्य में और कहीं निषेध रूप से जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में। अतः जो प्रेमीजन योगी के प्रति आदेश आदेश इस प्रकार परमपावन शिवरूप आदेश शब्द का प्रयोग करता है वह निज आत्म स्वरूप शिव के लोक को प्राप्त होता है। जिस अवधूत योगी ने सम्पूर्ण लोकों को दास बनाने वाली आशा का दहन करदिया है वही यथार्थ में आत्म निष्ठ है। उस अवधूत योगी का आत्मविचार और आत्म सन्तोष ही मानों भास्वर कुण्डल हैं, या आशा का उच्छेद रूपी भस्म जिसने धारण की है निज चित्त की स्थिरता ही कौपीन और आकाश रूप खप्पर है और निज आत्म स्वरूप का स्मरण ही भजन है॥ ६३॥ ६४॥ ६५॥

मू०—एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम्।
सिद्धान्तं सर्व सारस्य नाना संकेत निर्णयम्॥६७॥
सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यः प्रत्यय कारकम्।

आत्मानन्द करं नित्यं सर्व सन्देह नाशनम् ॥६८॥
न देयं पर शिष्येभ्यो नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्नबलाल्लोभा न्नमोहान्नानृताच्छलात् ॥६६॥
न मैत्री भावनाद्दानान्न सौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरु शिष्य क्रमं विना ॥१००॥

सं० टी०—एतच्छास्त्रं पारमेश्वरं परमेश्वर सम्बन्धि परमेश्वरस्य प्रकाशकं परमेश्वर रचितत्वाद्वातो महादिव्यमलौकिकम् (रहस्यम्) गोपनीयम् (सर्वसारस्य) सर्वेषां मध्ये सारः श्रेष्ठ स्तस्य प्रकाशमिति शेषः (नाना संकेत निर्णयम्) अनेक संकेतै निश्चीयमानम् (सिद्धान्तम्) प्रकाशयतीति शेषः ॥ ६७ ॥ एतच्छास्त्रमिति पूर्वेण सम्बन्धः (सिद्धानां प्रकटम्) सिद्ध योगिभिः प्रत्यक्षीकृतम् अतः सिद्धम् (आत्मानन्द करम्) ब्रह्मानन्द जनकम् (सर्व सन्देह नाशनम्) सकल संशयोच्छेदकम् नित्यमासूर्य चन्द्रं विद्यमानमेतच्छास्त्रमतोऽवश्य मुपादेयमिति ध्वनिः ॥६८॥ गुरुशिष्य क्रमं विना न कस्मैचिद्देयम्, अत्र राग द्वेषौ न शंकनीयौ किन्तु गुरु शिष्य क्रमं विना केवल ग्रन्थं विलोक्य क्रिया करणेऽनेक बाधा समुपतिष्ठते ततश्च विद्या लाभो दूरे तावद् हानिरेव पुरतः समाढौकतेऽत एवोक्तं न देयं पर शिष्येभ्य इत्यादि । सर्व मन्यत्सुगमम् । ॥६६॥१००॥

भा० टी०—महादिव्य यह योग शास्त्र महेश्वर सम्बन्धी परम गोपनीय रहस्य है । अधिक क्या कहें उत्तमोत्तम सर्वशास्त्रों के सार का भी सिद्धान्त रूप हृदय है । "सिद्धसिद्धान्त पद्धति" इस नाम से ही इसके संकेत का निर्णय हो जाता है । अर्थात सिद्धों के अत्यन्त गोपनीय सिद्धान्त को बतलाने वाला यह ग्रन्थ है । यह निज कार्य में परिणत होने से सिद्धों में प्रत्यक्ष सिद्ध है । किन्तु अन्य जिज्ञासु को भी शीघ्र निश्चय करा देता है । यह महादिव्य योग शास्त्र नित्य अभ्यास करने वालों के सन्देह को दूर करता हुवा आनन्द को बढ़ाता है । जो योग में रुचि नहीं रखते ऐसे शिष्यों को

इनका उपदेश न दे और उनके समीप बैठकर इस शास्त्र का पठन पाठन भी न करे। इसको न स्नेह से, न बल से न लोभ से, न मोह से, न मिथ्या भाषण से और न छल से देना चाहिये। न मित्रपन से न दान से न रूप सौन्दर्य से और आसनादि सत्कार से भी न दे। इतना ही नहीं किन्तु योग्य अधिकारी पुत्र को भी गुरु शिष्य क्रम के बिना न देवे ॥९७॥९८॥९९॥

मू०—सत्यवन्तो दयाचित्ता दृढभक्ताः सदाचलाः ।
निस्तरंगा महाशांताः सदा ज्ञान प्रबोधकाः ॥१०१॥
भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशोकविवर्जिताः ।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाच्छलोज्झिताः॥ १०२॥
अहंकारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः ।
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तिलोभविवर्जिताः ॥१०३॥
निस्पृहा निर्मला धीराः सदाऽद्वैत पदे रताः ।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्त्तानां गोपयेत्सदा ॥१०४॥

सं० टी०—इदं शास्त्रं कस्मै देयमित्यधिकारि विशेषं लक्षयति। ये सत्यवादिनो दयालवो दृढ भक्ति विशिष्टाः सततं स्वधर्म तत्पराः। उद्वेग रहिताः सत्यप्यपराधे शान्ति सहिताः सतत सज्जनेभ्यः परलोक ज्ञान प्रदर्शकाः। भय जुगुप्सा लज्जा तृष्णा शोक रहिताः। आलस्य मद मात्सर्य पाखण्ड माया च्छल रहिताः। अहंकार महामोह (अज्ञान) राग द्वेष बहि र्मुखाः। क्रोध धनेच्छा कामुकता परिच्छिद्रान्वेषण भ्रम लोभ शून्याः। अतः संसाराद्विरक्ताः, मल रहिताः। सततमद्वैत पदे विशुद्ध चिदानन्दे परमात्मन्यनुरागवन्तः, एतेभ्य इदं शास्त्रम्प्रदेयं धूर्त्ते भ्यस्तु सततं गोपनीयमिति ॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥

भा० टी०—किन्तु निम्न लिखित अधिकारियों को अवश्य देना चाहिये। सत्यवक्ता, दयालु, ईश्वर और गुरु में दृढ़ भक्ति रखने वाला निज धर्म में अचल, चञ्चलता दोष शून्य, महाशान्त, सदा ज्ञान

का उपदेशक और भय, दीनता, घृणा, लज्जा, तृष्णा, शोक, आलस्य, मद, दम्भ, छल मिथ्या इनसे रहित, अहंकार, महामोह राग द्वेष काम क्रोध, इच्छा निद्रा भ्रान्ति इत्यादि दोषों से सर्वथा रहित तथा निष्प्रिय, निर्मल, धीर और जो सदा अद्वैत पद में रत हैं ऐसे उत्तमाधिकारियों को प्रयत्न से इस शास्त्र की शिक्षा दे और धूर्तों से सदा इस शास्त्र को गुप्त रक्खे ॥१०१॥१०२॥१०३॥१०४॥

मू०—निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बका गुरु तल्पगाः।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्या वादरतास्तथा ॥१०५॥
योगाचार परिभ्रष्टा निद्राकलहयोः प्रियाः।
स्वस्य कार्ये परानिष्ठा गुरुकार्येषु निस्पृहाः ॥१०६॥
एतान् विवर्जये दूरे शिष्यत्वेना गतानपि ॥१०७॥
सच्छास्त्रं सिद्धमार्गञ्चसिद्धसिद्धान्तपद्धति।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदीच्छेच्चिरजीवनम् ॥१०८॥
गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्यो धनं यथा।
तेषां यो बोधयेन्मोहा दपरीक्षित मन्दधीः ॥१०९॥
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः।
खेचरी भूचरी चैव शाकिनी च निशाचरी ॥११०॥
एतासामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च।
मस्तके तस्य पतति तस्माद्यत्नेन रक्षयेत् ॥१११॥

सं० टी०—अनधि कारिणः शिष्या अपि परिहर्तव्याः, तत्र केऽनधिकारिण इत्याह निन्दकेति ये निन्दकाः परनिन्दा तत्पराः, चुम्ब काः कामुकाः, गुरो स्तल्पे शय्यायां दारेषु वा गच्छन्तीति गुरु तल्पगा नास्ति परलोकः श्रुति स्मृतयः प्रमाणं वेति मतिर्येषान्ते नास्तिकाः। योगाचार पदेन यमनियमादयस्तद्रहिता इत्यर्थः, स्वकीय कार्य्य सम्पादने संलग्नाः किन्तु गुरुकार्य्येषूदासीनाः। एतान् शिष्यत्वं प्राप्तवतोऽपि

दूरतो निःसारयेत् । सिद्धा मार्गा यस्मिन् सिद्धानां वा मार्गा यस्मिन् वासिद्धानां मार्गः सिद्धमार्गः सोऽस्मिन्नस्तीतिमत्वर्थी योऽच् प्रत्ययः । तत् सच्छास्त्रं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिरूपम् (तेषाम्) सम्बन्ध सामान्ये षष्ठी पूर्वोक्त दुर्गुणविशिष्टेभ्यो न देयम्। अन्यथाकरणे दण्डमाह यदीच्छेदिति। प्रदाने सत्यल्प जीननं भवति। अतोयथातस्करेभ्यो धनं गोप्यते तथा तेभ्य इदं गोपनीयं यो हि मोहादज्ञानतः (अपरीक्षितमन्दधीः) दुष्ट शिष्य स्तस्मिदं शास्त्रं ज्ञापयेत्(तस्य)गुरोः शिष्यस्य च मुक्ति र्न भवति। किञ्च खेचरी भूचरी शाकिनी निशाचरीणां शापोऽपि तस्य मस्तकेऽद्भुतं यथा स्यात्तथा पतति यदि सिद्धश्चेत् तस्य मस्तके भैरवस्य शापः पतति तस्मात्-यत्नेन रक्षयेत्। बलात्करणे दातु र्ग्रहीतु रुभयो र्हानि रिति १०५॥१०६॥१०७॥१०८॥१०६॥११०॥१११॥

भा० टी०—अब अनधिकारी धूर्तों को बतलाते हैं। निंदक दुराचारी, गुरुतल्पगामी, नास्तिक, शठ,निर्दयी और केवल शुष्कविद्या विवाद में ही रत एवं योगाचार से परिभ्रष्ट निन्दा और कलह चाहने वाले स्वार्थी और गुरुके कार्य की उपेक्षा करनेवाले ऐसे पुरुषों को दूर से ही त्याग दे चाहे शिष्यरूप से भी क्यों न आये हों।यह सिद्ध सिद्धान्त पद्धतिरूप दिव्य शास्त्र सिद्धों का अभीष्ट मार्ग है अर्थात् इस मार्ग पर चलने से योग प्रवीण ज्ञानी अवश्य सिद्ध हो जाता है। यदि चिरकाल तक जीना चाहे तो ऊपर वर्णित अनधिकारियों को इस दिव्य योग सिद्धान्त का कदापि उपदेश न दे। जैसे चोरों से धन की रक्षा की जाती है वैसे ही इस शास्त्र को प्रयत्न पूर्वक धूर्तों से गुप्त रक्खे। किन्तु जो मन्द बुद्धि बिना परीक्षा किये मोह से या लोभ तथा अज्ञान से उपरोक्त अनधिकारी धूर्तों को पढ़ाता है उसकी मुक्ति नहीं हो सकती और सदा ही दुःखी रहेगा। इतना ही नहीं किन्तु भूचरी, खेचरी, शाकिनी और निशाचरी इत्यादि योगिनियों का अद्भुत शाप लगेगा और यदि अनधिकारियों को बतलाने वाले सिद्ध हैं तो उनपर सिद्धराज भैरव देव का शाप होगा । इसलिये इस ग्रन्थ की रक्षा यत्न से करनी चाहिये ॥१०५॥१०६॥१०७॥१०८॥॥१०६॥११०॥

मू०–गुरुपादाम्बुजस्थाय परीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतो दुःखञ्च भीतिश्चतत्त्वज्ञस्य महात्मनः ॥११२॥
कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदाय प्रवृत्तये ।
सम्प्रदाय प्रवृत्ति र्हि सर्वेषां संमता यतः ॥११३॥
मायाशंकरनाथायसि द्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वायःपठेद्भक्त्यासयातिपरमांगतिम् ॥११४॥
विद धात्वर्थनिचयंभक्तानुग्रहमूर्त्तिमत् ।
स्मरानन्द भरं चेतो गणपत्यभिधं महः ॥११५॥

महेश्वरावतार श्रीगोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतावबधूत योगि लक्षणोनाम षष्ठोपदेशः समाप्तिमगात। श्री साम्बशिवः प्रीयता मनेन । श्रीनाथपादपद्मेभ्योनमःशुभम्भूयात् ।

सं० टी०–ये गुरु पादपद्म सेवकाः, तान् शरणमाश्रिता निदं शास्त्रं प्रवदेत । एवं कृते भैरवादि शापो न भवति तदेवाह तस्य तत्त्व ज्ञस्य योग्या योग्य विवेकवतो महात्मनः कुतो दुःखं भीतिश्च दुःखभययोः कुतः शङ्कावसरः । नन्वस्योपरि भैरव शापो न पततीत्यत्र को हेतु रित्यु पपादयति सम्प्रदाय प्रवृत्तये कृपयैव प्रदातव्यं योग सम्प्रदायस्य रक्षार्थं तत्रापि केवल कृपया नतु भय लोभादिना, इदं शास्त्रं योग्य शिष्याय देयम् । अन्यथा सम्प्रदायस्योच्छेदः स्यात्तच्च सर्वेषा मनिष्टम्, यतः सम्प्रदाय प्रवृत्तिः, सम्प्रदाय रक्षा सर्वेषां देवादीनां सम्मताऽभि प्रेताः, अतोऽभिप्राय विरोधमनाचरत आचार्य्याय श्रीभैरवःकथंशापंप्रद द्यात् । मायाशङ्करनाथाय, मायया शक्त्या सहिताय शङ्कर नाथाय कल्याण प्रदादिनाथ मनुकूलयितुम् (सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम्) इदं शास्त्रं लिखित्वा यो भक्त्या प्रीत्या पठेत् स परमांगतिम् मोक्षं याति, प्राप्नोति इदानीं शिष्टाचार परिपालनाय ग्रन्थान्ते मङ्गल मातनुते । विदधा तिव ति, स्मरानन्द भरं ज्ञानानन्द परिपूर्णम् (चेतः) मनो यस्य तत् (भक्ता नुग्रह मूर्त्तिमत्) भक्तानामनुग्रह उपकारस्तस्मै या मूर्त्तिराकार विशेषः

सगुण रूपधारणमिति यावत् सास्ति अस्य तद् गणपत्यभिधम् । गणप ति नामकं महस्तेजः । अर्थं निचयं पुरुषार्थं चतुष्टयं (विदधातु) करोतु एतच्छास्त्रानुयायिन इति शिवम् ॥११२॥११३॥११४॥११५॥

गुरोः कृपाकटाक्षेण द्रव्येशविदुषा कृता ।
गूढार्थ दीपिका प्रीत्यै भूयादाद्यादिनाथयोः ॥ १ ॥
यां गूढान्तरभावतस्करभरां स्वान्तेन नाद्यावधिम् ।
गन्तुं कोऽपि न कोविदोऽशकदतः श्री पूर्णनाथाज्ञया ॥
तां गत्वा स्खलतिः क्वचिद्यदि ममा सौ वै पथो दर्शिका ।
ह्यन्येषां विदुषां सुलोचन समुन्मेषात्प्रमोदं वहेत् ॥ २ ॥

इति श्री गोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

मिथिलास्थनैपालराज्यान्तर्गत वसतपुर ग्राम वास्तव्य सर्वतन्त्र स्वतन्त्र श्रीपूर्णनाथसंस्कृतकालेज योगाश्रम प्रधानाध्यापक पं० श्री द्रव्येश झा कृत गूढार्थ दीपिकायां षष्ठोपदेशः

भा० टी०—यदि योग्य अधिकारी मिलजाय तो उसके लिये इस उत्तम योग शास्त्र का उपदेश जरूर करे। यही भाव आगे स्वयं श्री योगाचार्य जी दिखलाते हैं। श्री गुरुदेव के चरणकमलों का आश्रय कर तथा अधिकारी शिष्य की परीक्षा कर सदा उपदेश करे। सत्यज्ञानी महात्मा को दुःख और भय हो ही कैसे सकता है। किन्तु योग्य शिष्य के ऊपर कृपा कर इस ग्रन्थ का उपदेश देना चाहिये। क्योंकि योग सम्प्रदाय का प्रचार सबके लिये सम्मत है। अब इस ग्रन्थ के पाठ के माहात्म्य का संक्षेप से वर्णन करते हैं। जो श्रद्धालु जगदम्बा भवानी सहित श्री आदिनाथ महेश्वर को या लोक कल्याणार्थ लीला शरीर धारी योगाचार्य श्री गोरक्षनाथ जी को प्रणामकर तथा सिद्ध सिद्धान्त पद्धति नामक इस ग्रन्थ को लिखकर श्रद्धा भक्ति से पाठ करता है वह आवागमन से छूटकर उत्तम गति को प्राप्त होता है भक्तों के अनुग्रहार्थमूर्त्तिमान् यथा स्मरणमात्र से ही अमन्द आनन्द से पुलकित चित्त जो गण पति नाम का तेज है वह इस ग्रन्थ में वर्णित अर्थ समूह को सार्थक करे ॥११२॥११३॥११४॥११५॥

जयति सोऽयुग्मनयनो भूमानिःश्वसितवेद भूमानो।
शरदभ्रशरीरोलं गोरक्षो विश्वेशितालम् ॥१॥

इतिश्री गोरक्षनाथकृतौसिद्धसिद्धान्तपद्धतौश्रीमत् पूज्यपाद्बोहराधिपतिश्री १०८ श्रीपूर्णनाथशिष्यवेदान्ताचार्य्यश्रीपं० योगिभीष्मनाथ कृतायां सारदीपिकाख्यहिन्दीटीकायामवधूतयोगिलक्षणनामाषष्ठोपदेशः ।

समाप्तश्चायंग्रन्थः

शुद्धि पत्रम्

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः
आशिः षु	आशीः षु	२	१२
स्वीकीय	स्वकीय	३	७
स्वभाविकी	स्वाभाविकी	४	१६
श्रद्धालू	श्रद्धालु	१५	१०
सृष्टी	सृष्टि	२३	६
से तिल	से पूर्व तिल	२७	२३
धम	धर्म	३८	१५
कम	कर्म	३८	२१
पिपासुना	पिपासूनां	४१	२०
प्राग् भाव	प्रागभाव	४८	११-१२
चक्षृणु	चक्षृणु	४६	२६
अत्र त्म	अत्रात्म	४६	१४
चिद्रु पैव	चिद्रूपैव	,,	१५
सृष्ठौ	सृष्टौ	,,	६
शक्तेत्मीयत्व	शक्तेरात्मीयत्व	,,	१८
शिव शक्तयो	शिवशक्त्यो	,,	११
निः श्वसितंम्	निः श्वसितं	४३	६
वखरी	वैखरी	४६	१६
नित्यावधूत	नित्यपिण्डावधूत	२८	६
प्रदर्शयेयूः	प्रदर्शयेयुः	५७	७
यतो साऽपि	यतोऽसावपि		
कार्योद्गमनम्	कार्य्योद्गमनम्	,,	२५
सम्बन्धि	सम्बन्धि	७०	२४
उपन्पस्तम्	उपन्यस्तम्	७१	१८
अलवुद्धिः	अलंबुद्धिः	८५	७
स्फुर्तिः	स्फूर्तिः	८७	११
उद्ध्वमाक्रामति	ऊर्ध्वमाक्रमते	६४	१२

अशुद्धम्	शुद्धम्	पृष्ठम्	पंक्तिः
गुणों	वायुओं	१०५	२५
प्राण पति के	प्राण के	१०६	१८
हंस	हंत्त	१०९	२६
यजमानः	जप संकल्पं	१०८	२५
ज	ल	११०	४
कराठ	कण्ठ	११०	११
वण	वर्ण	११०	१७
पृष्ट	पृष्ठ	११६	६
सून्य	शून्य	१२२	६
निरूपाणानन्तरं	निरूपणानन्तरं	१२३	२६
पार्ष्णिना	पार्ष्णिना	१२४	११
उड्याण	उड्डीयान	१२५	२०
विरोध	निरोध	१२६	१३
ग्यारहवाँ	बारहवाँ	१२६	७
ग्यारहवाँ	तेरहवाँ	१२६	१४
भूमध्य	भ्रूमध्य	१२६	७
गोल्ललाट	गोल्लाट	१३०	२६
सुसुम्नयः	सुषुम्नयः	१३२	४
प्रथमम् भ्यर्हितत्वात्	प्रथममभ्यर्हितत्वात्	१३२	५
ज्ञान लिये	ज्ञान के लिये	१३६	१५
त्रय इन्द्रो	त्रयमिन्द्रो	१४६	६
वक्ष स्थल	वक्षःस्थल	१५०	११
चतुष्पष्ठि	चतुःषष्टि	१५२	२५-२६
पुण्य	पुण्य	१५७	१६
पदार्थ अवयव	पदार्थ के अवयव	१६४	१६
निर्धामत्वात्	निर्धर्मत्वात्	१६६	२४
ऊर्ध्व सृष्टि	ऊर्ध्व शक्ति	१७६	७
अभद्	अभेद्	१८८	२३
स्थूल	समूल	२०३	४
निरुत्थारतेन	निरुत्थानत्वेन	२०६	१६

तर्क शब्द	न तर्क शब्द	२०७	१३
कल्प	संकल्प	२११	२६
स्व प्रकार	स्व प्रकाश	२३६	२०
जिसके	जिसने	२३९	१३

नोट—छठें उपदेश में तृतीय श्लोक की हिन्दी का कुछ अंश चतुर्थ श्लोक में तथा चौथे श्लोक की हिन्दी का कुछ अंश पाँचवें श्लोक में गया है। अतः पाठक उक्त बात में ध्यान दें।

१२४ पृष्ठ में "तत्राग्नि दीपनं भवति" इस खण्ड वाक्य की हिन्दी छूट गई है उसका अर्थ "ऐसा करने से अग्नि दीपन होता है" समझना चाहिये।

SIDDHA - SIDDHĀNTA - PADDHATI
AND
OTHER WORKS OF THE NĀTHA YOGĪS

By
SMT. KALYANI MALLIK, M.A., B.T., Ph.D.,
Author of the History, Philosophical Doctrine and Practice of the Nātha Sampradāya &c.

FOREWORD
By
Rao Bahadur P. C. DIVANJI, M.A., LL.M.

POONA ORIENTAL BOOK HOUSE
330A, Sadashiv Peth, POONA.

Price Rs. 10.

First impression 1954

Printed by B. G. Dhawale at the Karnatak Printing Press, Chira Bazar, Bombay 2 and Published by D. K. Gondhalekar, Proprietor, Poona Oriental Book House, 330 A, Sadashiv Peth, Poona 2.

DEDICATED
IN
MEMORY
OF
MY HUSBAND
AND
OUR ONLY SON

FOREWORD

I have great pleasure in drawing the attention of the scholars and philosophers interested in the Yoga system of philosophy to this collection of 10 works of the school of the system known as that of the Nātha Yogīs or Kānphāṭā Yogīs, which the learned Dr. Kalyani Devi Malik has edited on procuring MSS. thereof from far and near with great assiduity and to which she has prefixed a well-thought out and thought-provoking thesis on the historicity and dates of the principal personalities whose names are associated with the origin and development of the cult of the said Yogīs, and added a comprehensive synopsis of the contents of each work, made more interesting and instructive by the supplementation of critical notes.

She has, by doing so, rendered a great service to the cause of Indian culture in its spiritual aspect because the Nātha Yogīs continue in an uncorrupted form the ancient Haṭha-yoga tradition, whose origin goes back to the proto-historic times when there lived the great Siddhas of the Māheśvara sect like the great sage Pāṇini, who have left behind for the benefit of civilised man, wonderful works on such scientific subjects as grammar, linguistics, mathematics, medicine, classical music etc., based on intuitive knowledge acquired by a singular devotion to the humanistic ideals and at great personal sacrifice. Dr. Gopinath Kaviraj had, in the first quarter of this century, published in the Prince of Wales Sarasvati Bhavan Text Series two works of that sect of secondary importance, namely *Gorakṣa-siddhānta-saṁgraha* and *Siddha-siddhānta-saṁgraha.* The former thereout is a 17th century work made out on the basis of extracts drawn from 60-65 works and the latter is a summary of the *Siddha-siddhānta-paddhati* of Nityanāth, who flourished long after Gorakṣanātha whose achievement in the matter of the revival of the Siddhā tradition is comparable with that of Siddha Vasugupta in the matter of that of the Kāśmīr Śaivism and of the great philosopher Śaṁkara in that of the Advaita Vedānta. The former contains some extracts from the

Siddha-siddhānta-paddhati of Gorakṣnāth himself. But the learned editress of this collection has placed before the public the full text of that work based on a copy of a MS. at Jodhpur and added comparative notes based on the copies of two other MSS. obtained from Hardwar and Tanjore. The language of the text is ungrammatical at places. But that is a usual feature of almost all the works of that sect as noted by Dr. Kaviraj in his Preface to the GSS. Such inaccuracies have not escaped the notice of Dr. Kalyani and she has wisely drawn attention to some of them by suggesting emendations thereof in brackets. The authenticity of that work is vouched for not only by the fact of the authors of the said previously-published works having incorporated extracts therefrom in the said works but also by the fact that Aufrecht has in his *Catalogus Catalogorum* mentioned it as one of the 9 works ascribed to Gorakṣanātha. Another of those works is the *Yogamartaṇḍa*. It too forms part of this collection. These two supplement each other because whereas the SSP. besides mentioning the characteristics of an Avadhūtā Yogī who is fit to be a Guru, works out the full details of the Piṇḍa-Brahmāṇḍa equation, which is the very foundation of the Siddhānta of the Siddhas but mentions only the bare outlines of the Aṣṭāṅga-yoga, which is recommended as the *modus operandi* for the actual realisation of that equality and for the attainment of the Siddhis as the fruit of having meticulously gone through that hard discipline, the YM. omits the theory of the equation but supplies the full details of the constituents of the said Yoga. There is a third work in this collection, namely *Amaraugha-prabodha*, purporting to have been composed by the same author. Although I cannot vouch for its authenticity as it is not one of the nine mentioned by Aufrecht and as I do not remember to have seen extracts made from it in any other work, I can recommend its study for the knowledge of the inter-relation between Mantra-yoga, Laya-yoga, Hatha-yoga and Rāja-yoga, the methods to be followed in the practice of each of them and the indispensability of the last to those who are anxious to see concrete results flowing from the practice of any kind of the first three varieties, etc.

Besides the above three there is in this collection a fourth work in Sanskrit named *Yogaviṣaya*. In verse 7 thereof its

author has given his name as "Mīnanātha, son of Umāśaṁkara," while the colophon, probably added by a scribe, mentions it as a work, whose name has the initial letters "Bhaktisaṁ," "composed by Matsyendranātha." The learned editress being of the view that the two were identical individuals has put it down as a work of "Mīnanāth alias Matseyndranāth" but I have my reasons for doubting that identity. I cannot mention them here at length just as I cannot enter into a discussion of the questions as to the connection between the doctrine of the Siddhas and those of the Mahāyāna Buddhists and the Tāntrikas, on which she has expressed her own views, for fear of exceeding the legitimate limit of a Foreword. Apart from that this work is not mentioned by Aufrecht under the name "Mīnanātha." That however is no reason for considering it unauthoritative because there is the above-mentioned internal evidence and the same in verse 5 also. As for its value as an additional source of information regarding the Siddhānta of the Siddhas, it is a short treatise containing 33 couplets purporting to expound the nature of the "Para-tattva" leading to the knowledge of the "Kula" and the "Akula" and towards that end mentions the 6 "Kaula Cakras" which must be pierced in order to reach the "Nirañjana" who is beyond them and the principal veins through which the vital air passes, refers to the mystic letters imprinted in 6 of the vital parts commencing from the Ādhāra and ending with the Ājñā, the 10 Vāyus, the 3 Granthis, the special process by which the Kuṇḍalinī having 8 coils, each of which has a specific name given to it in this treatise only, can be aroused and be made to pierce the 6 Cakras, as indications whereof the lamp of knowledge blazes forth, a sound issuing from the Brahmasthāna is heard and the Śaṁkhiṇī Nāḍī showers nectar from the moon in the forehead, and recommends its utilisation in bathing the "Cidrūpa Īśvara" before offering the mind-flower to Him. As to Him, he further explains that He, of the nature of the self or of pure knowledge can be visualised in the form of an all-pervading body, as the source of the sound "Haṁsa", or in that of any of the three Lingas, the symbols of Śiva, located in the lower, middle and upper parts of the body, and winds up the topic by saying that the said process is effective in eradica-

ting all diseases if the involved movements of Vāta and Pitta are free from 18 faults. It thus contains something new which is not found in the previous works.

All the other 6 works in this collection are in either Hindi or in its source the Eastern Rajasthani. The first of them, which is in prose, purports to be the *Gorakṣa Upaniṣad*, which is however probably a Hindi rendering of the Sanskrit work of that name mentioned in Aufrecht's *Catalogue* and utilised in the GSS. for supporting some parts of the Siddhānta expounded therein. The remaining 5 works are only popular songs showing that physical renunciation was considered essential by the votaries of this sect in the period between 801 to 1500 A.D., to which the language thereof seems to belong.

I regret to have noticed some misprints in the said Sanskrit works. I understand that they have remained uncorrected because Dr. Kalyani was required to entrust the work of proof-correction to another person on account of her illness and am assured that a list of corrections will be inserted before the copies of the book are bound up. Lastly, I should not fail to refer to the enterprise of Sri D. K. Gondhalekar, whose Poona Oriental Book House undertook to publish this work and make its copies available to those interested in the literature of the Nātha Yogīs at his own cost. As much credit is due to him for doing so as to the learned editress who made the collection and prepared its press-copy.

P. C. DIVANJI.

Bombay. Dated 14th August, 1953.

PREFACE

The present book is a collection from some parts of India, of unpublished manuscripts on Nāthism, which probably had little chance of being edited and published. I am now able to place these before erudite scholars who are interested in the subject. I have added an introduction in the hope of elucidating certain facts.

Dr. B. B. Dutt, M.A., Ph.D. of Calcutta University, has been very helpful in going through the manuscripts and their proofs. My special thanks are due to him.

My publishers, The Poona Oriental Book House and its Proprietor, Sree D. K. Gondhalekar, without whose help it would not have been possible for me to see the book in print, have my sincere gratitude. I hereby thank all those who have in any way encouraged or helped me in my work, specially Rao Bahadur P. C. Divanji, who has contributed the Foreword and made out the list of Corrections and Abbreviations and has taken great pains to help me in every possible way.

Any suggestions for improvement will be thankfully received.

KALYANI MALLIK

Calcutta. Dated 13th December, 1953.

CONTENTS

CORRECTIONS AND ABBREVIATIONS

I. CORRECTIONS.

INTRODUCTION

Page	Line	Misprint	Correction
4	8	Hāḍipāas	Hāḍipā as
6	32	Jñaneśvara was born	Jnāneśvarī was written
7	5	muslims	Muslims
,,	7	,,	,,
9	15	author	authors
,,	16	indentical	identical
10	3	*sampradāyāviṣkṛitī*	*sampradāyāviṣkṛti*
17	22	its	their
,,	23	was	were
,,	39	her	in his wife's
22	19	is	in
24	23	सदानन्तृदेवता	सदानन्द्देवता
,,	38	द्वैतवाऽद्वतरूप	द्वैतं वाऽद्वैतरूपं
25	17	gura	Guru
,,	38	death, his	death. His
27	32	Buidhism	Buddhism
28	24	serched	searched
,,	39	*Yoga-Martyanda*	*Yogamārtaṇḍa*
30	17	Hata Dipika	Haṭhadīpikā
,,	27	uptill	uptil
36	11	origion	origin
37	12	*blūcakra*	*bhrūcakra*
,,	29	(known as	known as
39	26	*Śṛiṇgāra*	*Śṛṅgāṭa*
40	23	from Śiva	From Śiva
41	32	स्वप्रसारचातुर्य	स्वप्रसारचातुर्यं
,,	36	he	she
44	5	his mind	one's mind
45	38	*harīsthājīnī*	*Kṣitījayā*
47	5	meaning *avadhūta*	meaning of the term *avadhūtā*

ORIGINAL TEXTS :—

The learned editress has at page 27 of her Introduction noted that the texts as printed are " full of incorrect readings " and that " The language is not strictly grammatical." Her explanation is that " this was apparently done on purpose, as it was easily understood by all. The Sant poets also followed this policy of preaching in the popular language, which was in their case the Hindi." In view of the fact that some of the texts of the Nātha cult edited in the Sarasvati Bhavan Texts Series of Banaras are also similar this explanation is plausible. At the same time it must be admitted that some of the errors and irregularities may have been due to the carelessness or incompetence of the scribes who may have transcribed the previous manuscripts and that some divergences of the print from the press-copy may have remained uncorrected till the end. Whatever the cause or causes, the following corrections are suggested for consideration by the class of learned readers, for whose benefit this edition can be deemed to have been undertaken, in order that the texts may be able to convey to them intelligible notions about the principles of the Nātha cult.

१. सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
३	१२	निस्पन्द	निःस्पन्द
४	४	शब्दवत्वमिति	शब्दवत्त्वमिति
,,	२१	क्लान्ति आलस्यमिति	क्लान्तिरालस्यमिति
५	८	निस्पृहत्वमिति	निःस्पृहत्वामिति
७	१	एव[२४]	एवं[२४]
,,	२	(अन्या सर्वा	(अन्याः सर्वा
,,	३	दशावयवः	दश वायवः
,,	४	-उच्छ्वास-	उच्छ्वास-
,,	६	पावकश्च	पाचकश्च
,,	१०-११	धनञ्जयो नाद	धनञ्जयो नादो
,,	,,	घोषक इति	घोषकः । इति

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
,,	,,	दशवायुरवलोकनेन पिण्डोत्पत्तिः नरनारी रूपम् ॥	दशवाय्वलोकनेन पिण्डोत्पत्तिः, नरनारीरूपा ॥
,,	१८	मेढ्र[३३] भवति	मेढ्रं[३३] (च) भवन्ति
	११	दशधातुमयं शरीरंमिति	दशधातुमयं शरीरमिति
१०	१२	भित्वा	भित्त्वा
,,	१५	पञ्चम...संकोचनं	पञ्चम...धारयोर्बन्धना...संकोचनं
११	९–१०	ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं	ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं
,,	२०–२१	अधोवायुतत्वं	अधोवायुतत्त्वं
,,	२१	तेजस्तत्वं	तेजस्तत्त्वं
,,	२२	कल्लोल...तत्वं	कल्लोल...तत्त्वं
,,	२४	पार्थिवतत्वं	पार्थिवतत्त्वं
१२	१२	तत्वाकाशं	तत्त्वाकाशं
,,	१६	निज—लोकयेत्	निजतत्त्वस्वरूपं तत्त्वाकाशमवलोकयेत्
१३	२	शनैःशनै साधयेत्	शनैः शनैः साधयेत्
,,	१३	निजतत्वस्वरूप–	निजतत्त्वस्वरूप–
,,	१९	सर्वतत्वानां	सर्वतत्त्वानां
१४	९	भूर्ल्लोकं	भूर्लोकं
१५	१	शृङ्गारे	(? शृङ्गाटे)
,,	१०	सदाचारतत्वे	सदाचारतत्त्वे
१६	१०	त्रयस्त्रिंशत्–	त्रयस्त्रिंशत्
१८	५	कार्यकारणकतणा–	कार्यकारणकर्तृणा–
,,	९	स्वास्मिन्नुन्मीलिन्यां	स्वस्मिन्नुन्मीलिन्यां
,,	१९	चित्तचमत्कार	चिच्चमत्कार
१९	९	–परम्पराशक्ति	परम्पराशक्ति–
२०	६	सर्व–तत्वान्यपि	सर्वतत्त्वान्यपि
,,	१०	ध्यशक्ति–	मध्यशक्ति–
२१	६	तत्वसारे	तत्त्वसारे
,,	१२	सिद्धयथ	सिद्ध्यर्थं
,,	१५	तत्वानामुपरि	तत्त्वानामुपरि
२२	२	सत्वे सत्वे	सत्त्वे सत्त्वे
२३	११	विस्मयां	विस्मयं

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
२५	२	गुरु...पूर्वकम्	गुरु...पूर्वकम् ॥ १६ ॥
२६	२१	स्याद्वितीये	स्यात्, द्वितीये
२७	४	वाध्यते	बाध्यते
,,	१८	सव	सर्वं
,,	१९	सशिवः	सः शिवः
२८	१५	प्रकाशितम् ॥ २२ ॥	प्रकाशितम् ॥ ५२
,,	२१	वर्ज्यावज्यकल्पना	वर्ज्यावर्ज्यकल्पना
२९	४	न विरक्तो	न विरक्तौ
,,	७	षड्डदर्शन–	षड्दर्शन–
३०	२२	तारियतुं	तारयितुं
३२	१५	वारूढिः (ढः)	वा रूढः
,,	१८	संघट्टनाद् भवत्	संघट्टनादवत्
,,	२०	–मृगत्वच् महाव्रतम्	–मृगत्वच महाव्रतम्
३३	५	षट्ड्रसास्वादने	षड्रसास्वादने
,,	६	जारणा (त) तन्मयीभावः	जारणात्तन्मयीभावः
३४	४	सोऽवधूतु योगी	सोऽवधूतो योगी
,,	१३	यत्सर्वेषांमवस्थितम्	यत्सर्वेषामवस्थितम्
,,	२२	(रादाने)	(? तुरीयानन्दो)
,,	२३	परिकीर्तिताः ॥	परिकीर्तिता ॥
३५	११	यस्तयोर्निवसत्यत्र	यस्तयोर्निवसत्यत्र
,,	२१	शुद्धबुद्धशैवो	शुद्धशैवो
३६	९	तत्प्रतिपालितम्	प्रतिपालितम्
,,	१६	शक्तिं विजानाति	शक्तिं (यो) विजानाति
,,	२१	स्फुटं वलात्	स्फुटं बलात्
३८	१२	न वाध्यते	न बाध्यते
,,	२१	सिद्धपदं धत्त	सिद्धपदं धत्ते
३९	१३	निरतास्ते सत्तत्त्वतो	निरताः सत्तत्त्वतो
,,	१८	तेषां न नित्यं पदम्।	तेषां न नित्यं पदम् ॥७९॥
,,	१९	तस्मात्सिद्धमतं...संश्रयेत्	(समस्तां पंक्तिमपमृज्यताम्)
,,	२१	ते सर्वे तरन्ति	ते सर्वे न तरन्ति
,,	,,	सात्त्विकाः ॥	सात्त्विका ॥
,,	२३	न मोक्षपदम्	न मोक्षप्रदम्
४०	३	हृन्नाभिमध्ये	हृन्नाभिमध्ये

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४०	७	विद्युद्दाभं	विद्युदाभं
,,	११	वज्रदण्डीचोलीक्रमेण	वज्रदण्डीक्रमेण
,,	१६	पड्विधपानकाङ्क्षितजनां	षड्विधपानकाङ्क्षितजनां
४१	२२	तत्वं परं	तत्त्वं परं
४२	४	भस्मोद्धलनमङ्गं कर्कशतरं	भस्मोलद्धूनमङ्गकर्कशतरं
,,	९	मोहाद्वलात्	मोहाद्बलात्
४३	६	न मोहान्नानृन्ताच्छलात्	न मोहान्नानृताच्छलात्
४४	१३	विदधात्वत्यर्थनिच (ल) यं	विदधात्वर्थनिचयं
,,	१४	गणप (य) त्यभिधं महः	गणपत्यभिधं महः
,, पा. टि.	३६	(बो).	(यो.)

२. योगविषयः ॥

४५	१	गुरुबान्धवाः ॥ १ ॥	गुरुबान्धवाः ।
,,	२	नमाम्यहम ।	नमाम्यहम् ॥ १ ॥
,,	३	यादृशी	यादृशी (?)
,,	८	आकुलेनादिनाथेन	अकुलेनादिनाथेन
,,	९	बांधतः	बोधितः
४६	२	द्वे पत्र	द्वे पत्रे
,,	६	पञ्चकर्मेन्द्रिययुक्ताः	पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः
४६	८	पञ्चज्ञानेन्द्रियैयुक्ता	पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता
,,	१६	मकारे च शिवं	मकारो च शिवः
,,	१८	रसनापीड्यमानास्तु	रसना पीड्यमाना तु
,,	१९	त्रिहठा चैव गोल्हाटं	त्रिहठं चैव कोल्हाटं
,,	२०	—मूर्ध्वनाखं	—मूर्ध्वनासं
४७	२	वज्रगुम्भानि	वज्रगुम्फानि
,,	१५	मथो लिङ्गं	अधो लिङ्गं
,,	१८	पशाल्लिङ्गं	पश्चाल्लिङ्गं

३. अमरौघप्रबोधः ॥

४८	६	नमश्चारङ्गिनाथाय	नमश्चौरङ्गिनाथाय
,,	१४	यश्चित्तबृत्ति रहितः	यश्चित्तवृत्तिरहितः
,,	१८	कीटवन्न (द) भि मनो	कीटवन्न हि मनो
४९	२	प्रविष्टो युवतिभगवतद्विन्दुमूर्ध्वे नयन्ति ॥	प्रविष्टा युवतिभगवशाद्बिन्दु-मूर्ध्वे नयन्ति ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
४९	५	चित्तो समत्त्वमापन्ने	चित्ते समत्वमापन्ने
,,	६	एषाऽमरोली वज्रोली तदामति मतेति च (सहजोली प्रजायते)॥	एषाऽमरोली वज्रोली सहजोली मतेति च ॥
,,	८	विभ्राणः	बिभ्राणः
,,	२२	चित्तराते	चित्तरागे
५०	२	मयादिभि–	लयादिभि–
,,	३	मृदुमध्याध मात्रश्च	मृदुमध्याधिमात्रश्च
,,	८	मध्यसंत्वो	मध्यसत्त्वो
,,	९	सत्ववानपि	सत्त्ववानपि
,,	१४	भवाम्भार्धि	भवाम्भोधिं
,,	१८	तत्सप्रणवादिकम	तच्च सप्रणवादिकम्
५१	५	पदं कृत्वा	पदं धृत्वा
५२	३	आफालयेन्महामेरु	आस्फालयेन्महामेरुं
,,	६	मृतावस्स्था	मृतावस्था
,,	१५	ब्रह्मग्रन्थे भवेद् वेधादानन्दा... न्यसम्भवम्।	ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद् वेधादानन्दानुभवः स्वयम्।
,,	१६	देहेनाहतः	देहेऽनाहतः
,,	२३	भित्वा	भित्त्वा
५३	३	,,	,,
५३	१२	तत्क्षात्र	तत्क्षात्र (? तत्क्षेत्रं)
,,	१४	यद्द्रुवाकृतिः ॥	यद् द्रवाकृतिः ॥
,,	१७	सहस्राण्येकविंशांतिः	सहस्राण्येकविंशतिः
,,	२१	क्षुधाकान्तिर्नश्यते	क्षुधाक्लान्तिर्नश्यति
,,	२३	इत्थं...मृत्युजीवितं	इत्थं...मृत्युर्जीवितं
५४	२०	सर्वसत्ववशङ्करम्	सर्वसत्त्ववशङ्करम्
५५	५	वाक्पटुः	वाक्पटुः

४. योगमार्तण्डः ॥

५६	९	षोडशानो शतं	षोडशोनः शतं
,,	१२–१५	६–७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१४	(पश्येन्द्रू)	(पश्येन्द्रू–)
,,	१६–१९	८–९ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
५७	२	योगवित ॥	योगवित् ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
५७	४	(मेढ्रात्प्रातिष्ठितम्)	(मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ १२ अ ॥
,,	५	स्मृतम् ॥ १३ ॥	स्मृतम् ।
,,	६	निगद्यते ।	निगद्यते ॥ १३ ॥
,,	१०	यावत्तत्वं	यावत्तत्त्वं
,,	११	उध्दूर्वमेढ्रादधो	ऊर्ध्वं मेढ्रादधो
,,	१३	उदाहृता	उदाहृताः
,,	१४	प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दशस्मृता ॥	प्राणवाहिन्यो भवास्तत्र दश स्मृताः ।
५८	५	नागो गृह्णन्ति पञ्चैताः	नागो गृह्णाति पञ्चैताः (?) ।
,,	९	अधश्चोद्धर्वं	अधश्चोर्ध्वं
,,	१९	षट्ट्च्छतान्यहोरात्रं	षट्शतानि अहोरात्रं
५९	६	मुखेन चाध्य (आछाद्य) वतिष्ठति ॥	मुखेन चाध्यव (? चाच्छाद्य) तिष्ठति ॥
,,	१०	यान्ति	याति
,,	१५–१८	४१–४२ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१७	(वारंवारमपानमुर्ध्वं) मनिलं	(वारंवारमपानमूर्ध्वं–) मनिलं
६०	६	मूलबन्ध	मूलबन्धो
,,	१५	गे गता	खे गता
६०	१७	खेशरी ॥ ५४ ॥	खेचरी ।
,,	१८	तृषा	तृषा ॥ ५४ ॥
,,	१९	खेचरी ॥ ५५ ॥	खेचरी
,,	२०	सर्वलिद्धेर्नमस्कृता ।	सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥५५॥
,,	२१	(बिन्दूमूल शरीरं यः	(बिन्दुर्मूलं शरीराणां)
,,	,,	प्रतिष्ठिसम्	प्रतिष्ठितम्
,,	२२	भावयन्ति शरीरा णां (शरीरं यः)	भावयन्ति शरीराणां (?)
६१	२	चारितोऽपि	चलितोऽपि
,,	४	विन्दुः	बिन्दुः
,,	७	,,	,,
,,	८	(विन्दुरिन्दुः–)	बिन्दुरिन्दुः–)
,,	९	रजः विन्दोः	रजो बिन्दोः

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६१	१०	ताप्यते ह्यमृत्रपदम्	प्राप्यते ह्यमृतं पदम् ।
,,	१६–१९	६६–६७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१६	रसाः (सुचिरं)	रसाः (? हठाद्–)
,,	१८	शनैः रेचयेत्	शनै रेचयेत्
६२	४	(जपेत्)	(जपे–)
,,	१२	ज्योतिरीमिति ॥	ज्योतिरोमिति ॥
,,	२०	यावच्चक्षु भ्रुवोर्मध्ये	यावच्चक्षुर्भ्रुवोर्मध्ये
६३	१	शुद्धीयेत् (द्धमेति)	शुद्धियेत
,,	,,	नाडीचालं	नाडीजालं
,,	४	यदाशक्ति	यथाशक्तिः
,,	११	चेदिल (ड) या प्रवेश्य च	चेदिड्या प्रवेश्य
,,	,,	च तं भूयो–	च तथा भूयो–
,,	१२	बध्वा	बद्धवा
,,	१४	मासत्रयादूर्ध्वजः	मासत्रयादूर्ध्वतः
,,	२०	संस्कृताः ।	संस्कृतः
,,	२२	ज्ञातव्यो	ज्ञातव्यौ
,,	२३	द्वादश	द्वादशः
६४	२	उत्तमाः	उत्तमः
६४	६	समुच्चालितम् ॥ ९७ ॥	समुच्चालितम् । × × × × × × ॥ ९७[१] ॥
,,	७	उर्ध्वमाकृष्य	ऊर्ध्वमाकृष्य
,,	११	प्राणायामे भवत्येषा	प्राणायामो भवत्येषः
,,	१३	आसने मरुतो	आसनेन रुजं
,,	१५	धारणायां	धारणाया
,,	१८	प्रत्याहारद्विषट्केन	प्रत्याहारद्विषट्केन
,,	१९	धारणा द्वादश	धारणाद्वादशं
,,	२२	तस्माद्दृष्टुं	तस्माद् दृष्टुं
६४-६५	२३–२४, १–२	१०६–७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ

१ अस्य श्लोकस्योत्तरार्धो न विद्यते हस्तलेखे ।

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६५	४	गंडादिनादं	घंटादिनादं
,,	७	कास	कासः
,,	९	भवेद्वश	भवेद्वशः
,,	१८	—चैव इन्द्रियाणि	—चैवमिन्द्रियाणि
६६	२	यं तु	यत्तु
,,	५	वसत्येषा	वसत्येषो
,,	७	ग्रसमृध्वमूखो	ग्रसत्यूर्ध्वमुखो
,,	८	विज्ञातस्य करणं	विपरीतस्य करणं
,,	९	नाभिरधस्तात्तु ऊर्ध्वं	नाभिरधस्तात्तुरूर्ध्वं
,,	१३	नाकृष्य	आकृष्य
,,	१४	प्राप्ते प्राणि	प्राप्ते प्राणे
,,	१५–१८	१२६–२७ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	१६	शक्तो परां	शक्तिं परां
,,	१९	शीतल सलीलं	शीतलं सलीलं
,,	२०	मासार्धेन संमोहो	मासार्धेन (वि-) संमोह
,,	२२	उन्मार्गेनात्र	उन्मार्गेणात्र
,,	२४	य प्राणं	यः प्राणं
६७	१–४	१३१–३२ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
६७	१	बध्वा	बद्ध्वा
,,	२	नासान्तो	नासान्तं
,,	४	नवास्ति	नैवास्ति
,,	५	उर्ध्वजिह्वास्ततो	ऊर्ध्वजिह्वस्ततो
,,	६	मृत्युं जयतु	मृत्युं जयति
,,	७	राजदण्डैर्बिलं	राजदन्तैर्बिलं
,,	९	बध्नंमूर्ध्वफलं	बद्धमूर्ध्वफलं
,,	,,	विष्णुं निवारितम्	मृत्युं निवारितम्
,,	१३	यदूध्वतु	यदोर्ध्वं तु
,,	१५–१८	१३८–३९ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
	१६	स क्षीराकटुकाथदुग्धसदशा ...धवो ॥	सक्षीराकटुकाथदुग्ध-सदृशो...धवः ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६७	१७	याधिनां हरणं	व्याधीनां हरणं
,,	२०–२१	योरन्तराले	× × × ×[1]
,,	२२	नित्यं...नमुञ्चति।	नित्यं...न मुञ्चति ॥ १४० अ. ॥
६८	१	भ्रूरादिपञ्चभूतानां	भूरादिपञ्चभूतानां
,,	३-६	१४३–४४ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	३	यः पृथ्वी हरितालहेमरुधिरातत्वे-लकारान्वितम्।	यत्पृथ्वी हरितालहेम-रुचिरं तत्त्वं लकारान्वितम्।
,,	५	प्राणं तत्र विनीय्य	प्राणांस्तत्र विलीय्य
,,	६	येषां	तेषां
,,	,,	क्षितिजयाकुर्यात्ततो	क्षितिजया कुर्यात्ततो
,,	७–१०	१४५–४६ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	९	विलीय्या	विलीय्य
,,	११–१४	१४७–४८ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	११	तत्वं	तत्त्वं
६८	१३	प्राणं तच्च विलीन	प्राणांस्तत्र विलीय्य
,,	,,	धारणा ॥ १४८ ॥	धारयेत्।
,,	१४	तेषां—धारणा।	तेषां वह्निमसंशयं तु ज्वलते वैश्वानरी धारणा ॥ १४८ ॥
,,	१५–१८	१४९।२, १५०।१–२, १५१।१	एताः पंक्तय एकैव श्लोकस्य, वायवी धारणायाः ॥
,,	१७	प्राणं तच्च विनीय्य	प्राणांस्तत्र विलीय्य
,,	१८	येषां	तेषां
,,	१९–२२	१५१।२, १५२।१–२, १५३।१	एताः पंक्तय एकैव श्लोकस्य नभो-धारणायाः ॥

---

१ अस्य श्लोकस्य प्रथमा पंक्तिर्न विद्यते हस्तलेखे ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
६८	१९	शुचिशुद्धवा सदृशं	शुचिशुद्धव्योमसदृशं
,,	२०	तन्मध्ये	तन्मध्ये (च)
,,	२१	प्राणं तत्र विलीनपंचघटिका	प्राणांस्तत्र विलीय्य पञ्चघटिका
,,	२३	१५३।२–१५४ श्लोकौ	एकैव श्लोको इति पठनीयौ
६९	१		
,,	२	मधुरस्सर्वा	मधुराः सर्वा
,,	४	सर्वं द्वित्वा समायुक्तं	सर्वं द्वित्वासमायुक्तं
,,	५	यस्तत्त्वे	यत्तत्त्वे
,,	,,	चेतः तद्ध्यानं	चेतस्तद्ध्यानं
,,	६	सगुण	सगुणं
,,	९	ध्यानयोगेन	ध्यानयोगेन (? ध्यानयोगस्य)
७०	१	लक्षणं नित्यं	लक्षणं नित्यं (लक्षयेन्नित्यं)
,,	२	आत्मनावर्जितं प्राण	आत्मानं विजित–प्राणो
,,	८	भ्रमध्यञ्च	भ्रूमध्यञ्च
,,	१०	कुर्वत्यष्टगुणोदयम्	कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम्
,,	११	उपातिष्ठितया	उपाधिस्थतया
७०	१२	उपाधि	उपाधिः
,,	१७	प्रकाशिते ।	प्रकाशिते ॥ १७३अ[1]॥
,,	१८–१९	१७४ श्लोको	चतुष्पाद एव न षट्पादः ।
,,	१९–२०	१७४।२–१७५।१	पंक्त्योरन्तराले + + + + + + इति संज्ञा आवश्यकी ।
७०	२१–२२	१७५।२–१७६।१	अनयोरन्तरालेऽपि सा आवश्यकी, १७६।१ पंक्तिर्न १७६ तमस्य श्लोकस्यान्तर्गता ।
७१	३	इन्द्रियाणि ..सः	इन्द्रियाणि...सः (?)

१ अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धो हस्तलेखे न विद्यते ॥

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
७१	९	योगियुक्तः	योगी युक्तः
,,	१०	,,	,,
,,	२०	योगिलीनः	योगी लीनः
,,	२१–२४	१८७–८८ श्लोकौ	एकैव श्लोक इति पठनीयौ
,,	२३	पठतिच मयः श्रृणोति	पठति चायं यः श्रृणोति

समाप्ति लेखः - **योगमार्तण्डं समाप्तम् ॥** - **(योगमार्तण्डः समाप्तः ॥)**

५. गोरख उपनिषद् ॥

७४	९	निशक्ति	निजशक्ति
७५	३	वैश्व	वैश्य

६. मत्स्येन्द्रजी का पद ॥

७६	४	वाल्हारे टेक	वाल्हारे॥टेक॥
,,	६	वाल्हारे १	वाल्हारे ॥ १ ॥
,,	७	वाल्हारे २	वाल्हारे ॥ २ ॥
,,	८	वाल्हारे ३	वाल्हारे ॥ ३ ॥
,,	१०	वाल्हारे ४	वाल्हारे ॥ ४ ॥
,,	११	वाल्हारे ५	वाल्हारे ॥ ५ ॥
,,	१६	चकोर १	चकोर ॥ १ ॥
,,	१८	आय २	आय ॥ २ ॥
,,	२०	नाथ । २ ॥	नाथ ॥ ३ ॥

८. चिरपटजी की सबदी ॥

८४	१७	प्रमानंद ।	प्रेमानंद ।
८५	१	गिरिकंद लिवास	गिरिकंदनिवास
,,	७	चौर वाजारी	चौर बाजारी
८६	८	बेस्यां नाडि	बेस्या नारी

९. गोपीचंदजी की सबदी ॥

८८	१०	बारा सैकन्या	बारासै कन्या

१०. जलंदरी पावजी की सबदी ॥

९०	२	जहां प्रम	जहां प्रेम
,,	३	प्रमपद	प्रेमपद

पृष्ठम्	पंक्तिः	अशुद्धम्	शुद्धम्
९०	१४	सिरोमणि सारं	सिरोमणि सार
,,	१५	बाई अहार षुध्यान संतापै ।	बाई अहारषु ध्यान संतापै

II. ABBREVIATIONS.

The abbreviations used in the foot-notes indicate the places from which the manuscripts had been secured. Thus :--

यो. = योधपूर – आदर्श ग्रन्थः ।
ह. = हरिद्वार ।
तं. = तंजावर ।
का. = काशी.

INTRODUCTION

A Short Account of the Nātha Yogīs

The Nātha Yogīs[1] have played a very important role in the history of mediaeval Indian mysticism. These Yogīs worshipped God as 'Nātha' or the Supreme Master, who according to their faith, transcends not only the finite, but the infinite as well. The worshippers of Nātha were adepts in Yogīc cult, which was supposed to give them supernatural powers. Among them, Sree Guru Matsyendranāth and his most able disciple Sree Gorakhnāth or Gorakṣanāth have been known throughout India for their marvellous performances of miracles. Legends of the superhuman powers of the Nātha gurus (spiritual teachers) abound in Indian Literature – Sanskrit, Hindi, Marathi, Gujrati, Oriya, Nepalese and extensively in Bengali. Matsyendranāth, the foremost of the Nātha gurus was born in Bengal and some scholars mention that Goraksanāth too hailed from Eastern Bengal. Thus the Nātha gurus must have profoundly influenced the religious life of the people of Bengal in the mediaeval period and their cult naturally found expression in Bengali literature.

Besides popular legends and ballads, the contributions to Nātha philosophical texts, both in prose and poetry, by the Nātha gurus themselves are by no means negligible. Luipāda or Mīnanāth, which were other names by which Matsyendranāth was known, was one of the first verse writers in Bengali in the tenth century, and Gorakhnāth was probably the first prose writer in Hindi. Other important works by these two gurus are found in Sanskrit.

The Nātha gurus taught their doctrines to the rich and the poor alike. Kings have given up their thrones to preach the doctrines of the Nātha sect. The renunciation of king Gopīchandra of Bengal, in the eleventh century, created a sensation all over India, which even at this distance of time continues to be echoed in poems and dramas, and in popular ballads sung by minstrels amongst rural folk. King Bhartṛhari of Ujjain in Western India also became a Yogī. Bhartṛhari's renunciation of wealth and enjoyment to take the vow is associated with the same popular pathos as that of

S I

king Gopīchandra. In Western India songs of Bhartṛhari are as widely sung as those of Gopīchandra in Bengal.

Bhartṛhari was initiated by Jālandhari, who according to the tradition of the Yogīs, was the prince of Hastināpur in Northern India. The same guru Jālandhari is known in Bengal as Hādipā, the menial and the miracle worker in the capital of Maynāmati, who was the mother of Gopīchandra. Later on Hadīpā, became also the guru of king Gopīchandra. Caurangīnāth, another Nātha Yogī, initiated by Matsyendranāth, was the son of king Devapāla of the Pāla Dynasty of Bengal.

That Gorakhnāth and other Nātha Gurus were not mythical persons can be proved from Kabīr's verses. Kabīr was a well-known Sant poet (A Sant is one who has realised the Only Reality), philosopher and preacher of the sixteenth century. He highly praised Sree Gorakhnāth, Bhartṛhari and Gopīchand, " United with the Universal Mind they revel ", said he. Kabīr, Kamāl and Dādu among the Sant poets were known as *Nirgunis* as they worshipped the nirguna or the supreme aspect of God which is beyond the pale of attributes. But they are indebted to the Nātha Yogīs for certain practices of Yoga, e. g., *Śabda Yoga, Shaḍ-chakras* etc., and they have avowed their indebtedness to the Yogīs. The terminology used by both these sects as found in Hindi poetry, is remarkably alike. But the Nātha cult, like many other cults in India, lost its popularity in time, and is now confined to a small esoteric group of worshippers. While it is found that verses by the Sant poets are published by different compilers, we rarely find the verses and books written by the Nātha Yogīs being published. Scholars like Grierson, Levi, Tucci, Grunwedel, Briggs etc. have studied the legendary and partly the historical aspects of the Nātha School but not much of their writings. Shastri, Kaviraj, Bagchi, Sahidullah, Singh and some other scholars have tried to secure MSS. and study the underlying philosophy. The language used in these MSS. is often a mixture of languages, hence difficult to comprehend. Often the authorship of the same book is contested, therefore, it is difficult to ascertain the real author. But numerous books and MSS., exclusively on the Nātha cult, are found in well-known libraries and in possession of some Nātha Yogīs who are loathe to part with

their treasures. In this book are published for the first time a set of collections of MSS. of the Nātha Yogīs secured by me from Northern and Southern India. In my first book on the subject, " The History, Philosophical Doctrine and Practice of the Nātha School (of Yogīs)" written in Bengali and published by the Calcutta University in 1950, I have given some detailed account of these Yogīs and their practices, with their fundamental philosophy.

The Legends

Legends relating to the different *gurus* (preceptors) and their *shiṣyas* (disciples) are often contradictory, except in the case of Sree Matsyendra and Sree Gorakhnāth. That Gorakhnāth learned Yoga from his guru Sree Matsyendranāth, who in turn learnt it from Ādināth or Śiva, is unanimously accepted by the different traditions and ' paramparas ' i. e., the list of the gurus and their disciples. The followers of Gorakhnath are known as *Gorakhnāthīs*, and '*Kānphāṭās*' (Kān = ears, phatās = slit) as well, as they wear huge ear-rings by slitting the cartilages about three quarters of an inch of both ears in imitation of Lord Śiva. The kānphāṭā yogīs are found even to the present day in different regions of India and their places of pilgrimage are scattered all over the country.

Of Gorakhnath's disciples King Jālandharnāth of Northern India and Queen Maynāmati of Comilla (East Bengal, now Pakistan) have become famous in the ballads sung in honour of the Queen's only son King Gopīchandra. Gopīchandra's renunciation is a familiar subject on which ballads and dramas have been composed in Bengali, Oriya, Nepalese and Hindi. Gopīchandra was the ruler of Bengal in the eleventh century. His mother Maynāmati was a disciple of Saint Gorakhnāth. Gopīchandra's span of life was short. So Gorakhnāth ordered Maynāmati to compel her only son to become a Yogī and accept as his guru Hāḍipā, a man of low caste and a scavenger. Hāḍipā was none other than Jālandharnāth, the disciple of Gorakhnāth, in disguise. As Maynāmati and Hāḍipā were both adepts at performing miracles, Gopichandra suspected some foul play at first and resented the idea of becoming Hāḍipā's disciple. The two

queens Adunā and Padunā with the help of Gopīchandra himself, put several tests to the queen mother. She was made to walk on fire and on a bridge of hairs. She was drowned in water and given poison to swallow. By uttering the name of her Guru, queen Maynāmati passed all ordeals and convinced him of the great powers of Yoga. To cut a long story short, Rājā Gopīchandra renounced his throne and accepted Hāḍipāas his guru. As a Yogī, Gopīchandra suffered untold misery. The heart-rending tale of his renunciation became a popular theme, and ballad-singers still earn their living by singing '*Gopīchandrer Gān*' (songs of Gopīchandra) in certain parts of Bengal. Gopīchandra is known in a legend of Sind as Pīr Patāo.

Hāḍipā, the performer of miracles, could order the cocoanuts to come down to him, and when he had devoured the kernel and drunk the water, could order the outer skins to return to the trees! The dead revived if he kicked them. Mother Earth brought a chair for him to rest and the son of Yama, the god of death, held an umbrella over him, if he went in the sun. The sun and the moon were his ear-rings, in other words, he was the perfect Yogī who had the control over *Prāna* and *Apāna* or the vital airs. If Hāḍipā was such a great Yogī, what made him clean the streets of Gopīchandra's capital ? Legends show that he had coveted Mahādevi (the wife of Śiva) who in the disguise of a beautiful woman was testing the characters of the Yogīs. It was by her curse that the Yogī worked as a Hāḍi or menial in the state of the beautiful Queen Maynāmati and her son Gopīchandra.

In the same ballad, we find that Gorakhnāth was flying through mid-air by his yogic powers in search of a perfectly innocent child, to whom he could bequeath his gift of *Mahājñāna* or supreme knowledge by which one can be free from fear of death and on finding Maynāmati, initiated her. Sree Gorakhnāth had obtained this knowledge from his guru Matsyendranāth, who in turn had obtained it from Lord Śiva. While Śiva was expounding the theory to his consort Gauri on the sea-shore, Gauri had fallen asleep and Matsyendranāth in the form of a fish in the sea overheard Śiva. When discovered by Śiva he was initiated and named 'Matsyendranāth' i. e., the king of fishes. But at the same time he was cursed by Śiva's consort that he would

for a time being, forget the knowledge thus obtained by deception. In the Bengali story of *Gorakṣa Vijaya* or *Mīnachetan* it is related how the great guru Matsyendranāth has temporarily forgotten this knowledge and has become immersed in love of the queens of Kadali in Assam, who are proficient in magic. There are only women in this state, sixteen hundred of them, all able to bewitch men who happened to come their way. This belief is still held in certain parts of Assam! Gorakhnāth, however, on receipt of this sad news of his guru's downfall goes forth in the disguise of a woman, delivers him and changes the sixteen hundred women of Kadali to bats, where to this day they can be found in a cave. This rather farfetched story was invented in all probability to depict the greater powers of Gorakhnāth over his guru. Gorakh is said to have attained superhuman powers by reason of his perfection in Yogic practices. But at the same time Gorakh delivers his guru by uttering 'Jai Matsyendra' thus showing reverence to the guru though he may have fallen temporarily. This is the subject matter of the legend *Gorakṣa-Vijaya* which means 'the conquest of Gorakh', or *Mīnachetan*, which means 'the awakening of Mīna' (*Mina = Matsya = fish*). The books *Gorakṣa-Vijaya* and *Minachetan* are identical but published from different places. Both the works are in Bengali.

In the *Kaula-jñana-nirnaya* in Sanskrit, edited by Bagchi, we find that the Lord Śiva had himself appeared on the earth, in the disguise of a fisherman as Matsyendra, to preach the doctrines of the Kaula sect. The Nātha Yogīs were at one time all known as Kaulas, a special branch of the Tāntriks, who were worshippers of the Goddess. Matsyendra initiated Gorakhnāth, though there is no mention of Gorakhnāth in *Kaula-jñana-nirnaya*.

Guru Gorakhnāth initiated Jālandharnāth. In a drama discovered in Nepāl on Gopīchandra's renunciation, we find Jālandharnāth telling Gopīchandra that he was the king of Jālandhar and had given up his throne and seven hundred queens to become a yogī. Jālandhar later on became Gopīchandra's guru.

Bhartṛhari, the king of Ujjain, became the disciple of Gorakhnāth. In some legends we find the mention of

Bhartṛhari as the brother of Queen Maynāmati, and the uncle of Gopīchandra.

Caurangīnāth, another disciple of Matsyendranāth, belonged to the Pāla Dynasty of Bengal. Caurangīnāth's step mother had his hands and feet cut off and his body thrown into a forest. Here he was discovered by Matsyendranāth, initiated by him and restored to his former self after twelve years of self-discipline by Yoga. This story is narrated in the form of a drama *Pūrnachandra* written in Bengali by the well-known dramatist Late Girish Chandra De. Caurangīnāth is believed to be the son of Devapāl, and queen Maynāmati, the sister of Devapāl. This same Maynāmati encouraged Rāmāi Paṇdit in the worship of *Dharma*, a later form of Buddhism adopted at the time of conflict with the Muslims. Buddhist contacts with the Nātha cult are numerous. In Bengal Hāḍipā, Gorakh and Matsyendra are claimed as Buddhist Saints and they are supposed to be related to the Dharma movement. One of the Yogī castes of Bengal are still known as the *Dharmaghori* Yogī. In Nepal, Matsyendranāth is identified with Avalokiteśvara, the fourth divine Bodhisattva, and his annual festival there is connected with an ancient Buddhist image. In a hymn composed in Bengali in honour of the god *Dharma* who is of a non--Hindu origin, we find the meeting of the Saints Hāḍipā, Kānupā, Gorakhnāth and Caurangī described. Rāmāī Pandit is the chief priest of this *Dharma* worship and the composer of its tenets known as *Sunya-Purāna*.

From Maraṭhi tradition we know that there was an old connection between Gorakhnāth and Jñāneśvar's grandfather Govindpanth. Jñāneśvar was the famous commentator of the Gita, known as *Jñāneśvarī*, and he was initiated into the Nātha cult by his elder brother Nivṛttināth. Jñāneśvar was born in 1290. Bhave in his *Mahārāstra Sāraswat* mentions that the Nātha sect was well-known throughout Mahārāstra in the twelfth century. Bhave also repeats the tradition of Govindpanth's connection with Gorakhnāth and says that Govindpanth's father, who worked under Jaitrapāl of Bira in 1207, had his mind turned to religion by Guru Gorakhnāth. (*Vol. I. p. 30*).

These legends and traditions help us to give the Nātha gurus some definite place in history. The stories of Gorakhnāth, Matsyendranāth and Gopīchand had been current in Bengal and many other parts of India, before the time of conquest of Bengal by the muslims in the thirteenth century. Later on the songs of Mīnanāth (Matsyendra) and Gorakhnāth became popular among the muslims of East Bengal. In the Vaisnava love lyrics of Bengal occasional references are found of Gorakh-Yogī. In Nepāl, it is believed that Avalokiteśvara came to Nepal at the command of Buddha from somewhere outside Nepal. He came in the guise of a Śaivite priest and is identified with Matsyendra. These Yogīs are still found in Nepal, Bihar, Bengal, U. P., Gujrat, Maharastra and Northern Deccan.

The Origin of the Sect

The Nātha Yogīs who were Śaivites (worshippers of Lord Śiva), originated in Northern India as an expression of revival of Hinduism, during the second millennium A. D. After the decline of Buddhism, Śaktaism and Vaisnavism, in which the personal element was predominant, the Nātha Cult flourished side by side with Islam. Union with Śiva was preached by Sankarācharya at an earlier period (788–850 A. D. dates of Śankara), but this impersonal ideal of *Advaitavāda* had died out. The Nātha Yogīs helped in reviving this ideal. To them Śiva was the permanent principle; while the phenomenal world was attributed to Śhakti, the ever active principle.

On the above principle, the Nātha gurus preached their doctrines; but as to the origin of the Nātha Sect we are still uncertain. A mass of legends have grown round the hoary name of Gorakhnāth, who is undoubtedly the greatest of the Nātha Yogīs, but his birthplace and family history are still shrouded in mystery. Indian Yogīs never reveal their past, this is the age old custom. Except in case of kings who have forsaken their thrones to become Yogīs, we can never be certain of their ancestry. Gorakhnāth is known as *Iśvara-Santāna* meaning the son of God. In the *Goraksa-Siddhānta-Sangraha,* published by the Sarasvati Bhavana Texts of Benaras and edited by Dr. Gopinath Kaviraj, we find on page 40, the names of the nine Nāthas,

popularly known as *Nava-Nātha*. In this list we find the names of Ādināth (Śiva) as Guru, then Matsyendra, Udaynāth, Daṇdanāth, Santoshnāth, Kūrmanāth, Bhavanārji and Gorakhnāth, the son of God.

From all other sources we find that Matsyendra is the guru at whose feet Gorakhnath spent twelve years and emerged as a great Yogī and mystic. The name of Matsyendra is very familiar in Bengal, as he was born in Eastern Bengal and preached in Kamarupa, Assam, where he was supposed to be ensnared by the queens of Kadali.

Gorakhnāth, the master Yogī, was known throughout the Northern and Western India in the eleventh century and later, he was held in great reverence in Sikkim, Nepal, Hardwar, Nainital, Gorakhpore, Benaras, in the U. P., the Punjab, Kashmir, Peshawar, Sind, Beluchistan, Cutch, Bombay, Rajputana, Orissa, Assam and Bengal. In the Punjab there is a famous temple in the name of Gorakhnāth, known as Gorakh-Tilla. The liberal Emperor Akbar is said to have been initiated into the secrets of the Yogīs and he presented some villages with an annual income, for the maintenance of this Tilla.

Gorakhnathis (followers of Gorakhnāth) also visit holy shrines of Gorakhnāth, Dharmanāth and others in far off places like Dhinodhar in Cutch, Koteśvar near Karachi in Sind, Hiṇglāj in Beluchistan and Devī Pātān in Nepal. Hiṇglāj is in the keeping of Muslims and considered to be beyond the confines of India. So on their return home from Hiṇglaj, the Yogīs are branded on the upper part of the right fore-arm with the emblem of Śiva-Śhakti (*Yonī-linga*) at Koteśvar. Gorakhnāthis lost hold of Koteśvar to the Atits in the sixteenth century. The monastery at Dhinodhar is one of the most imporant centres in Western India, and in this place Dharmanāth, a disciple of Gorakhnath, carried out his penance for twelve long years. At Devī Pātān, the image of Matsyendra is worshipped. An annual car-festival is still held at Pātān in honour of Matsyendra, who is the guardian deity of Nepal. Matsyendra, though a Śaivite, is worshipped in Nepal as an incarnation of Buddha as Avalokiteśvar, the fourth divine Bodhisattva. But his Śaiva image is also worshipped as

Śaivism was introduced in Nepal through him. Gorakhnāth holds the same respect as Paśupatināth, who is the God of the Nepalese. The ' Gurkhās ' of Nepal are named after Goraksa. Gorakhnāth's name is engraved in Nepalese coins. Gorakhpore in the U. P. is named after the great saint; temples in Gorakhpore and Chunar are dedicated to his name. In Bengal there is a place called *Gorakh–Bāsuli* near Dum--Dum, and also a place called *Tribeni* near the river Hooghly where the Nātha Yogīs assemble and worship Sree Gorakhnāth, uttering the mantra *Śiva–Gorakh.*

The Historicity and date of Matsyendranāth

Some MSS. found in Nepal have been published by Dr. P. Bagchi under the name of *Kaula-jñāna-nirṇaya.* The author of these are Matsyendranāth and Mīnanāth as found in the colophons. Dr. Bagchi has proved them to be indentical, and also shown that the language is not later than that of the eleventh century, and is a form of old Sanskrit. In one place it is mentioned that Matsyendra was an *Avatār* or incarnation of Śiva. It is generally supposed that when a person is considered to be an *Avatār*, he must have belonged to at least a century earlier. This fact, with that of the language, helps us to place Matsyendra sometime in the tenth century. Abhinava Gupta, the great scholar, in his treatise *Tantrāloka* salutes Matsyendra as his Guru and greets him as 'equal to Śiva'. Dr. K. C. Pandey has discussed the time of Abhinava Gupta and placed him in the second half of the tenth century and his writings not later than that of the beginning of the eleventh century. This also helps us to place Matsyendra not later than the tenth century. Abhinava does not mention Gorakhnāth.

In the commentary of *Tantrāloka* we find that Matsyendra was the founder of the fourth branch of a particular Advaita Tāntrik Sect. This sect was founded in Kāmarupa in Assam, where according to other traditions also, Matsyendranāth preached. This mention is made because Abhinava's great guru was also connected with this particular Tāntrik Sect.

Bagchi in his introduction to *Kaula-jñāna-nirṇaya* has shown from a MS. that Matsyendra was born in Bengal and he was the founder of the fourth branch of *Yoginī Kaula* and preached his doctrines in Kāmarupa.

In an old book of the Yogīs by Jñaneśvar written in Marāṭhi, translated in Hindi and published from Hardwar as *Yogī-sampradāyāviskṛiti*, we find that Matsyendera was thrown in the sea by his parents, because he was born under an inauspicious star and was devoured by a fish. It is then that he overheard Śiva and was initiated by him, the time being the end of the Dvāpara Yuga i. e., the Brazen Age, the third of the four ages of the world comprising 864,000 years. Then he preached in Kāmarupa. Gorakhnāth became his disciple, and in Yudhistir Samvat 1939. (i. e., in the year of Yudhistir, the eldest of the Pandavas) he left his charge to Gorakhnāth and put himself in eternal trance or Samādhi in the Girnar Hills.

In the *Caryā-padas* (i. e., verses on practices composed by Siddhāchāryas) discovered by Shastri and published by him, we find a couplet in Bengali by Mīnanāth, quoted in the commentary. As we have mentioned before, those Caryās do not belong to any period earlier than the tenth century. From this too, we may place Matsyendranath not later than the tenth century, if Matsyendra and Mīnanāth are considered to be the same person.

In the list of the 84 Siddhas who had flourished between the tenth and twelfth centuries, we find the name and picture of Matsyendranāth, who is also known as Mīnanāth Vajrapāda.

The Historicity and date of Gorakhnāth

Gorakhnāth was the disciple of Matsyendranāth and as such he must belong to a period later than the tenth century, which date we have accepted for Matsyendranāth, the guru.

Gorakh's disciple was Gaininath, and his disciple was Nivṛttinath, the elder brother of Jñāneśvar. Nivṛttināth, though older than Jñāneśvar by two years only, had initiated Jñāneśvar in the Nātha cult. Jñāneśver is a well-known saint of Mahāraṣtra, who wrote his commentary on the Gitā, known as Jñāneśvari, in 1290 A. D., as has been proved by scholars. From Jñāneśvar's own writings the fact has been established that he was put in 'Samādhi' or eternal trance, at his own request, only at the age of 21 years in 1296 A. D. This 'Samādhi' can still be seen and is only a few miles off from Poona. Therefore Jñāneśvar's date of birth is 1275 A. D.

If we accept the theory that the time between a guru and his disciple is about a hundred years, considering their longevity which was well-known, we may place Gorakh in the eleventh century on the following grounds:—

Nivṛtti's date of birth	–	1273 A. D.
Jñāneśvar's date of birth	–	1275 A. D.
Gaininãth's time	–	C. 1175 A. D.
Gorakhnāth	–	C. 1075 A. D.

If we accept this date for Gorakhnāth, Matsyendranāth can be placed a century earlier, i. e., in the tenth century and then the facts mentioned before as to the composition of Kaula-jñāna and the salutation of Matsyendra by Abhinava in the eleventh century, can all be admitted.

Gopichandra was the king of Bengal, his father was Manikchandra Raja, the brother of Dharmapāla. The Pāla dynasty came to an end in Bengal in the eleventh century. The Yogīs rose to power under the Pālas in Bengal; and Manikchandra's wife Maynāmati was a disciple of Gorakhnāth. So Gorakhnāth must belong to the eleventh century also.

Maynāmati is spoken of as the sister of Bhartṛhari, who abdicated his throne in favour of his brother Vikramāditya (Chandragupta II.) of Ujjain. Vikrama ruled from 1079 to 1126 A. D. Bhartṛhari became a Yogī. One of the sub-sects of Kanphātās is named after him. Bhartṛhari was a disciple of Gorakhnāth, so we can place Gorakh in the eleventh century.

The tradition in Bengal of Maynāmati's supporting Rāmāi Pandit in the worship of *Dharma* gives us the historical data of the eleventh century. The treatise on *Dharma* composed by Rāmāi and known as *Sūnya Purāna* points to a sufficiently archaic language, determined by scholars as of the eleventh century.

Gorakhnāth accepted both Hindus and Mohammedans as his disciples. Baba Ratan Haji was probably a Mohammedan follower of Gorakhnāth and is said to have converted a number of Mohammedans to the Yogī's creed. In Kabul they are known as faqirs of Ratan Haji. *Kafirbodha* was perhaps written by Ratan Haji but was known as the work of Gorakhnāth. Ratan Haji belonged to the eleventh century by tradition, so Gorakhnath may be placed in the same century.

The Historicity of Gopichandra

All over India are found dramas, ballads, famous paintings and at the present time moving pictures depicting the home-leaving of Gopichandra, which is as heart-rending as that of Lord Buddha. In the Cambridge University Library there is a copy of a Bengali drama, written in the Newari language of Nepal, which was composed in the 17th century. The story of the drama is partly similar to the Bengali ballad known as *Govindachandrer Gīt*. Grierson collected and published in 1873 *Manikchandra Rājār Gān*, which relates to the father of Gopichandra, but the story is the same, showing Gopichandra's home-leaving. There is a Hindi version of Gopichandra's song by Laksandāsa. In the Punjab, Ambala District, this drama is still played and the ballad singers of the Rangpore District in Bengal still earn their living by singing this sad song. The famous painter Ravivarma has put this sad home-leaving on canvas. Several copies of books of dramas on the subject of Gopichandra's renunciation are found in Northern and Eastern Bengal, Orissa, the Punjab, Bhagalpore and Benaras, in the languages of these places.

Who was this widely known Gopichandra ? On marrying Maynāmati, Manikchandra got Meharkula in Tripura (in the Chittagong District) as a dowry. His ancestral throne and kingdom was at Vikrampore in the Dacca District Thus he ruled over these two places. Their only son was Gopichandra whose capital was at Paṭṭikānagar in Tripura. A range of hillocks in Tripura is still known by the name of Maynāmati. An inscription has been found here dated 1219 A. D. in which mention of Paṭṭikera is made. Gopīchandra had also taken on lease a part of Northern Bengal, so the people of the Rangpore district knew of his renunciation. Dr. D. C. Sen collected the above facts from different verses on Gopīchandra and he believes that Gopīchandra belonged to the Chandra kings and had no connection with the Pāla kings of Bengal.

Gopīchandra married the two daughters of King Harischandra who probably belonged to Savar in the Dacca district. This Harishchandra belonged to the eleventh century. If we accept the fact that Gopichandra's mother was a disciple

of Gorakhnāth, both Maynāmati and Gopichandra cannot belong to a period much later than the eleventh century.

Gopichandrer Gān has been published by the Calcutta University with two different renderings, one by a Hindu, the other by a Mohammedan. From Dacca, Dr. N, K. Bhattasali published two books under the caption *Gopīchandrer Gīt* and *Maynāmatir Gān.* Sivachandra Sil published *Govindachandrer Gīt*, but Govindachandra is the same as Gopichandra.

These books, however, have all been written at a much later date, in about the 17th and 18th centuries. Gopīchandra can be placed in the 12th century or earlier from the facts of Maynāmati being Gorakh's disciple and Hāḍīpā being the guru of Gopīchandra. We have already discussed the relationships between Gorakh, Maynāmati and Hāḍipā in the legends concerning them. The Pāla dynasty also came to an end in the twelfth century ; Gopichandra and his father were contemporaries of the Pāla kings.

The Historicity of Bhartṛhari, Jālandharnāth Jñanesvar and Gambhirnâth

Bhartṛhari, who was once a king, became a Yogī. In Mahārastra a drama has been written in 1904 A. D. which is known as *Bhartṛhari Nirvēda.* Gray published it in an American Journal. Bhartṛhari is supposed to be the king of Ujjain. But the Maharaja of Alwar who is interested in the story of Bhartṛhari, failed to gather correct information from Ujjain. Moreover, it is said that Bhartṛhari and Vikram were brothers, and Bhartṛhari abdicated in favour of Vikram. Who is this Vikram ? If it is the Vikramāditya, who was defeated by Sālibāhan, in whose name an era was established (1872 = 1951 A. D.) we arrive at an impossible conclusion. We have no intention of placing Gorakhnāth in the first century. If we accept Vikramāditya as Chandragupta II. of Ujjain, who ruled from 1076 to 1126 A. D., we may arrive at a probable conclusion and place Bhartṛhari before the end of the eleventh century. The death of his devoted wife Rani Piṅgalā made him accept the discipleship of Gorakhnāth. This also corresponds to the date we have accepted for Gorakhnāth, i.e., the eleventh century.

Jālandharnāth was also known as Jālandharipā or Hāḍipā. One opinion is that he was the king of Jālandhar, and another is that he was born in Sind. He was by caste a Sudra and learnt Yoga at Uddiyana, the great centre of Buddhist tantrikism and magic. We have already described the great powers of Hāḍipā. Jālandhar was praised in sixteen different books written by his follower Mānsingh, the ruler of Jodhpore. In the literature of the Siddhas, Jālandhar is known as Vichā-rnāth and Gopīchandra, his disciple, as Sṛiṅgāripāva. In the *Siddhānta Vākya* we find some questions and answers between Jālandhar and Gopīchandra in which the ideal of Nātha cult is described. Jālandhar is a disciple of Gorakhnāth and the guru of Gopichandra, so we may place him in the eleventh century.

Jnâneśvar has been dealt with before, and it is sufficient to mention here that he was a Mahārastra saint and his books *Jñāneśvari* and *Yogī-sampradāyaviṣkṛti* have earned the fame he deserves. Jñānesvar belonged to the thirteenth century and we have given our reasons when discussing the date of Gorakhnāth.

We shall now deal with a Yogī of modern times. He is Yogīrāj Sree Gambhīrnāthji who passed away not so long ago in 1917 A. D. He was initiated by a Mohant of Gorakhpore Temple. Gambhīrnāth was a non-Bengali, yet he had about six hundred Bengali disciples. Gambhirnāth was in charge of the Gorakhpore Temple, but he never accepted the Mohant's post, which was offered to him. The character of this saint was spotless, and he was well-known for his charities at Kumbha Melas and elsewhere. In Gorakhpore a small but beautiful temple of white marble with a life-size image of the once handsome Gambhirnāth done in white marble too, has been erected by his Bengali followers. Śantinath and Nivṛiṭṭ-ināth, two of his Bengali disciples, still reside in the temple grounds and carry on their studies of religious books. Thus the cult which originated with Matsyendra and Gorakhnāth, is still a living source of inspiration to many.

Matsyendranāth, Minanāth and Luipa— Are they Identical ?

The names of the gurus and their sishyas (i. e. preceptors and their disciples), as found in the different lists, are often confusing. In the history of the 84 Siddhas as found from

Tibetan sources, we find the mention of practically all the important Nātha gurus. Matsyendra is often called Mīnanāth and even Luipā. Luipā belonged to the East and was in the service of king Dharmapāl of the ninth century, and was the author of five books. By another version he was an employee of the king of Uddiyana, which Bagchi has proved to be the same as Swat Valley in the N. W. Frontier of India. But how could Luipā belong to the East and at the same time be employed in the N. W. and compose verses in Bengali ? It is well-known that Yogīs in ancient times travelled on foot all over India, which might explain the position. On the other hand, the mystic cult with which his name was associated, was in vogue in distant parts of India. So Luipā's name was associated both with Uddiyana and Bengal. The name Luipā in Tibetan means the intestine of a fish. According to Bengali legends Matsyendra was found in the womb of a fish. Tibetan pictures show that he was fond of eating the entrails of fish and was surrounded by fish. Shastri in a Bengali novel has given a vivid description of Luipā's fondness for the entrails which were supplied by a king of Bengal, who was Luipā's disciple.

Luipā is considered to be the Ādiguru or first guru by the Tibetans; while Matsyendra is looked upon as such by Indians. So, we may conclude that Luipā and Matsyendra both looked upon as Ādigurus and both having some connection with fish, are identical persons.

The word Mīna also means fish, and in the colophons of *Kaula-jñāna-Nirṇaya* we find the name of Minanāth once and at the end, that of Matsyendranāth. Bagchi has concluded from other MSS. that they are identical persons, the one name being a synonym of the other, and they are not related as father and son, as may be supposed from the above colophons.

The river Bramhaputra in Assam is known as 'Lohit' because of its red water. Matsyendra who preached in Kamarupa, may have been known as 'Lohipada' i. e., belonging to Lohit. Luipā was probably the shorter form of 'Lohipada'. In Bengal a small fish-catching contrivance made of cane is known as Lui, which may also account for the name Luipā as the 'catcher of fish with a lui'. In the

Kaula-jñāna-nirṇaya he is also mentioned as Macchaghna, which means the 'killer of fish'.

So Matsyendranāth, Minanāth and Luipā are identical' and known under different names, in different sources.

The Doctrines of Luipā and Matsyendra

We have mentioned above that Luipā and Matsyendra flourished at the same time viz. tenth century A. D. and that they are identical. In the list available from Tibetan sources we find Luipā's name in the very beginning. His name in Sanskrit would be Matsyantrād or Matsyōdara, which is associated with the intestines of a fish. Luipā is described as a Buddhist sage, originally belonging to the fisherman caste. While Luipā is considered to be the first Siddhāchārya (preceptor who has attained perfection). Matsyendra was accepted as the first Nātha Guru.

The Siddhāchāryas wrote the Caryās or verses which Śhastrī discovered in Nepāl and published them as being "thousand years old Bengali verses." Luipā is known to be one of the earliest of these verse-writers. Luipā wrote another book conjointly with Dipankar Srijñāna, from whose date we can fix Luipā's date as the second half of the tenth century, and the date of composition of this book as the beginning of the eleventh century.

Bagchi has published some MSS. with *Kaula-jñāna-nirṇaya* by Matsyendranāth and has proved that these were composed in the eleventh century.

The doctrines preached by Luipā in these old verses and by Matsyendra (Mīnanāth) in the *Akula Vīra Tantra* under the collection named *Kaula-jñāna-nirṇaya*, both relate to the ways of attaining supreme bliss of sahaja samādhi' (i. e., easy fixation of the mind in the Supreme Bliss). It is curious to note that Matsyendra of the Nātha cult has been deified in Nepāl as Avalokiteśvar, and is still honoured as such. We can only repeat therefore that Luipā and Matsyendra were one and the same person.

The doctrine of Luipā as found in the Caryās is as follows:— Luipā says that the mind is solely responsible for creating the illusory world. The world as seen by human beings is

neither existent nor non-existent. It is like the shadow of the moon in the water. When the moon disappears, the shadow is no more: thus when the mind is destroyed by being merged in the Sahaja or Supreme Bliss, the outer world disappears for the Yogī.

Luipā also insists that the elaborate practices of Yoga, which are concerned with *Mudrās* and *Bandhanas* should be abandoned, because in spite of such practices one has to face death as an ordinary man. Therefore, the *Sahaja* or the easy way should be adopted.

The idea of the phenomenal world as an illusion, is not Buddhistic in origin, neither are the *Mudras* and the *Bandhanas* as we shall see later. But Luipā was known as the Ādi (first) Vajrāchārya (the preceptor of Vajrayāna). Vajra-yāna is a later form of Buddhist tantrik worship. The question arises, "Was Matsyendra a Buddhist tantrik or a Saivite tantrik?" To this, we may reply that 'Tantra' is neither Hindu nor Buddhistic in origin. The ancient Agamic tenets are the common source of all tantrik worship, whether Hindu or Buddhist. Tantra consisted of the practices of *Mantras, Mudrās, Bandhanas etc.*, but gradually Sexo-yogic practices found its way into it. Such practices for the attainment of Supreme Bliss was advised by Buddhists of the Vajrayāna school and Luipā is said to be its first exponent.

On the other hand, the Nātha gurus have repeatedly advised their disciples to shun the company of woman, though we do find some *Mudrās* described in the books of the Nātha cult in which the company of woman seems necessary. The names of these *Mudrās* remind one of the cults of 'Sahajayāna' and 'Vajrayāna'.

Dr. Barthwal concludes that it is not to be understood that Gorakhnath totally abandoned Tāntrik practices though he did change its perspective and made it a difficult test for the Yogī who aims to attain *Siddhī*. So these *Mudrās* were practised under trying conditions. Continence was a very important means of attaining siddhi. It is under Gorakhnath's advice that Maynāmati compelled her only son to separate from his two queens. When, by the Goddess' scheme, Gorakh was compelled to marry, he at once became a baby in her arms by his Yogic powers and wanted her to nurse him! In *Gorakh-Vāni* and also in some Bengali ballads we find

Gorakh comparing a woman to a tigress, who sucks human blood! Again says Gorakh in a Hindi verse, " The tree by the river bank and the man by the side of a woman, verily they cannot expect to last long. The restlessness, the unfettered activity of the mind causes the back bone to wear away, and the body of the man perishes. "

In a book, on Haṭha Yoga full descriptions of *Āsanas* (postures) as practised by Matsyendra and Gorakh are given. To try to hear the *Anāhata Nāda* (the unstruck sound) in the body by practice is another difficult process adopted and advised by the Nātha gurus. The awakening of the *Kundalinī Śhakti* (the Dormant Power) and *Kāya-sādhana* (Practice of the body) which we shall discuss later are not at all easy or ' Sahaja ' ways of sādhanā (practice).

Matsyendra as a fisherman[1] or as Macchaghna, the killer of fish, and Gorakh as a killer of animals[2] could not possibly be Buddhists, whose principle of non-killing (Ahimsā) is well-known. The Nātha Yogīs sacrificed animals in their temples[3]. This too is opposed to Buddhism.

Thus we find that the Sahaja way of the Buddhists and the doctrines of the Nāthas have not much in common, though in *Akula-vīra-tantra* in Bagchi's edition of *Kaula-jñāna nirṇaya*, Matsyendra does advise the following of *Sahaja* which is a state of equilibrium and is the same state of *Sahaja Samādhi* of Tantrik-Buddhism.

The very word *Haṭha* indicates the theory of the Sun and the Moon, the details of which we shall presently discuss. Thus this theory as found in the Nātha cult, can be found in the Buddhist Sahajia cult too. It is because of such general similarities and also the fact that the Vajra-saṭṭa of the Buddhists is also known as Ādināth (the name also for Śiva) that the Nātha gurus are often called Buddhists by mistake. But the Nāthas were actually Śaivites, as we shall presently prove.

(1) As described in his own book *Kaula-jñāna-nirnaya* in Patala XVI.

(2) As found in Kāyā Bodha, a book by Gorakhnath. Vide " Some aspects of the History and Doctrines of the Nāthas" by Gopinath Kaviraj, in Sarasvati Bhavana Studies. Government Sanskrit Library, Benares. Vol. VI. pp 91 ff.

(3) Monograph of the Religious Sects of India D. A. Pai — p. 70 Published by the Bombay Corporation, 1928

The Philosophical Doctrines of the sect and Successive Steps of their Sādhanā

The Nātha Yogīs who call themselves *Śiva-gotra*[1] i. e., originating from Śiva, worship Śiva in his inactive form—yet Śhakti is powerless without Śiva. This philosophy is based on the Advaitavād (monotheism) of the early Śaiva School, but the conception of 'Nātha' was beyond the*Dvaita Advaita* (dual and non-dual state) and also beyond *Sākār* and *Nirākār* i. e., the form and the formless. These conceptions of 'Nātha' and Śhiva-Śhakti are well depicted in the works of Nāthism, both in Sanskrit as well as in Bengali. Śiva is pure consciousness and perfect rest while Śhakti is the aspect of change and evolution.

Beyond the sphere of virtue and vice, of pleasure and pain, is Śiva, representing Eternity in the midst of all changes. Sir John Woodroffe has justly described it as "the changeless principle of all our changing experience."

The Nātha Yogi strives to attain the state where pleasure or pain, virtue or vice, friend or foe does not affect him. To him fragrant sandal paste is of the same value as mud. This state is described as the 'Avadhuta' state, i. e., the liberated state or when one has got rid of all the changes.

सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यावधूतः [9]

Goraksa Siddhanta Saṅgraha. p. 1.

As the yogīs state that the human body is the epitome of the universe, the life process is also divided into the two aspects of the Śiva and Shakti. It is Shakti which leads to change and decay through *Bhog* (enjoyment), which is in the region below the naval. The region of Śiva is above the naval, and is the domain of rest or *Tyāg* (renunciation).

---

(1) शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः
Siddha Siddhanta Samgraha P. 26
Saraswati Bhavan Texts, Banaras.

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः

Vide Saraswati Bhavana Texts, Banaras.
No 13. Sidha Siddhanta Samgraha p. 36.
No 18. Goraksa Siddhanta Sangraha

The same idea is contained in the Bengali book Goraksa Vijaya p.3 re; Ādya and Anādya.

The Avadhūta is equally unaffected by *Tyag* or *Bhog*. The Nātha Yogīs adopted some mystic procedure in performing certain *Mudrās* (gestures) for spiritual realisation which consisted of *Bhog* and *Tyag* at the same time. These procedures, however, remain obscure to the uninitiated.

The beginnings of the Yoga system can be traced back to ancient times, but the path is not an easy one. It is only through self-discipline that one can rise above the empirical self and be one with Śiva. A course of both physical austerities and mental discipline has to be followed to achieve this state of Bliss and forsake the outer world which binds us in its alluring snares. Mystic syllables such as *OM* help the Yogīs to achieve this state by concentration on the *Mantra* (i. e., the sacred text or syllable). The Yogī forgets the outer world and is in Union with the Unseen. The Nātha Yogīs advocate this practice as is seen from their works. The concentration and constant repetition of the *Mantra* leads one to the state of *Ajapā-jap* which means that one has entered internal life. The mantra is spontaneously repeated all the time. Such a Yogī with the help of Haṭha Yoga gains control over the vital airs, the *Prāṇa* and *Apāna* and is able to perform miracles. It would be an injustice to say that the Nātha Yogīs Haḍipā, Gorakhnath etc. practised control over the vital airs to gain some occult powers only. Their final aim was higher. It was the attainment of Śivahood, with Haṭha Yoga as the means. The vital airs are often termed as the Sun and the Moon. These terms have been used both in the Buddhist and Bramhinical texts of mysticism. There are other synonyms as found in the Caryāpadas. In Haṭha yoga Caṇdra (Moon) is the nerve on the left of the body and is known as '*Idā*' and Sūrya (Sun) is '*Pingalā*' on the right. They are also known as *Gangā* and *Yamunā* (the name of the two important rivers in India). An individual soul can attain Śivahood by abandoning the left and the right through Yogic practices and bringing them under control. Haḍipa makes the Sun and Moon his earrings i. e., in other words, he has controlled them. The Sun and the Moon are the symbols of day and night, the *Prāna* and *Apāna* or inspiration and expiration are the two important functions of the body, on which depend the notion of time. So when a Yogī controls

them, he subdues time and becomes a *Kālajayī Yogī*. By commingling the Sun and the Moon, so that they can no longer work independently, the Yogi's state of the mind goes beyond the reach of the senses, which is *Samādhi* or the final state of Yoga process.

This *Samādhi* is the final state of bliss, or the *Advaya* or *Yuganaddha* state as found in esoteric Buddhism. The word *Advaya* means a synthesis of all duality in the principle of unity or achievement of the non–dual state. This principle of non–duality was adopted by Luipā and others, who have given repeated warnings not to go either to the left or the right, but to follow the middle path. The middle nerve in the body is the most important nerve and is called the middle path by the Siddhācāryas.

The human body was conceived as a microcosm, in which everything found in the macrocosm has a parallel. In Hindu Tantrik Texts we find similar ideas. Śiva and Shakti reside in the body, in the lowest of the nerve centres lies Śhakti in its dormant state, the Yogī rouses it and makes it follow the middle nerve (the Susumnā) and unite with Śiva in the highest centre (the Sahasrāra), the thousand petalled lotus in the head. Thus Śiva and Śhakti unite in *Samarasa* or *Advaya* state which is the *Yuganaddha* state of the Sahajia Buddhists. The nerves on the left and right in the human body, represents the principles of duality. The Yogi checks the separate functions of duality, and unites them with the middle nerve to function conjointly. This middle nerve or path leads the Yogi to 'truth', while the other two on the left and right lead him to pollution. When the two nerves are controlled, the *anāhta nāda* or spontaneous sound, within the recesses of one's soul can be heard. By the control of the nerves is really meant the *Apāna* wind which has a downward motion and the *Prāṇa* which has the upward motion should both be arrested by Yogic practice and then made to follow through the middle nerve and held there by a mudrā known as *Kumbhaka*. Thus the mind of the Yogī becomes steady, his breaths are suspended and the senses are controlled, and he achieves his final aim of attaining *Samādhi*.

The siddhas of Ancient India laid special emphasis on *Kāya–sādhana* or culture of the body. The Nātha Siddhas

were no exception to this rule. To make the body free from impurities and thus be free from death, was one of the most important factors of the Nātha school. The final aim of the Nātha Siddhas was *Jīvan-mukti* or attaining liberation in this body, while living. This state of *Jīvan-mukti* meant immortality for the Yogī in a trans-materialised or pure body. With such a body a Yogī can go wherever he likes and act as he pleases. He can help his disciples in distant lands, by flying through air, or by transmitting his spiritual guidance over a distance of thousands of miles. A particular sect of Siddhas in Tibet are well known for such helps to their disciples.

The Raseśvara Siddhas in India, and some preceptors in the West, are known to have used chemicals to make the body immutable. *Rasāyana* or alchemy at one time had gained prominence all over the world. The Nātha Siddhas were known as a band of death-defying Yogīs who traversed the three worlds. In Nātha Cult, the actual use of chemicals is not mentioned, but reference of the Raseśvara Siddha is often found. It is, however, mentioned is the texts that nectar oozing from the Moon in the *Sahasrāra* centre in the head, where Śiva and Shakti unite, is drunk by the Nātha Yogīs to make them immortal. Thus the attainment of *jīvan-mukti* by having an immortal body through the practice of Haṭha Yoga was the final aim of the Nāthas. We find no such idea of a *Jīvan-Mukta* Yogi in Sahajiā Buddhism, neither the idea of the culture of the body to attain the pure body or *Siddha-deha.* In the Caryāpadas the perfection of the body or *Kāyasādhanā* is considered as a means only for realisation of *Sahaja*. This Sahajiā Buddhism had once flourished in Bengal. The Pāla kings of Bengal built *Vihāras* (monasteries) and gave land grants to Buddhists. Paṭṭikēra which had been identified with Gopichandra's capital, had a *Vihāra* known as Kanakstupa. Tantrik Buddhist scholars Tilopā, Nadapā, Advayavajra, the nun Mekhalā, all of whom are mentioned in the list of the 84 siddhas flourished in Bengal under the Pālas. Thus we may conclude that many of the authors of the Caryās, also lived and preached during the Pāla period. The Caryāpadas embody the tenets of Sahajiā Buddhism, which forbid the practice of *Āsana*, *Mudrās*, *Vandhanas* as prescribed by Haṭha Yogīs.

The nerve centres called the 'cakras' hold an important place in Haṭha yoga practice. Union of Śiva and Shakti is not

possible, if the yogī is unaware of the '*cakras*'. A yogī, who knows the six cakras and has been able to unite the dormant Shakti with Śiva (the process known as raising the Kundalini Shakti), is known as a *Kaula*. The Kaulas were Śaivas and not Buddhists. Matsyendra calls himself a Kaula in his treatise *Kaula-jñāna-nirṇaya.*

That the Nātha Yogīs were Śaivites can be proved from the sect mark of *Yoni-linga*, the organs of generation symbolising divine procreation, on their right fore-arm, and of '*tripundra*' (three horizontal lines drawn with ashes) on their forehead. The Nātha yogīs visit Śaiva shrines and pierce the cartilages of the ears to wear *Kundalas* (ear-rings) like Śiva. They wear a woollen holy thread from which is hung a *nāda* and *pabitri*, or a horn whistle and a brass ring which represent Śiva and Shakti. The Nātha Yogīs do not necessarily shave their heads and beards like the Buddhists. Neither are they strictly vegetarians; they smoke and use *siddhi* (hemp), which is the favourite intoxicant of Śiva. Matsyendra went to Nepāl dressed as a Śaiva Yogī to preach Śaivism. Above all Matsyendra was known as a fisherman and was associated with fish even as a yogī, while non-injury is a special feature of Buddhism.

The *mantra* of the Nātha yogīs is 'Śiva-Gorakh', and they call themselves descendants of Śiva, and are thus known as belonging to Śiva Gotra to the present day. Gorakh is deified as Śiva, but Matsyendra is deified in Nepal as Avalokitesvar. What can be the reason of this association of the first Nātha guru with Buddhism ? Gorakhnath and some other Nātha gurus have been also identifed with Buddhist Sahajiās, and on the other hand, we find the names of Buddhist siddhas Sringāripāo and Ramanvajra, associated with those of the Nātha gurus, Gopīchandra and Gorakhnāth.

We have proved that the Nātha Yogīs were Śaivites, why then were there these confused identifications ? We may only suggest that the general similarity in practice and in rites and rituals between the Buddhist Sahajiās and the Nātha Yogīs resulted in these confusions. The Bengali writings of Luipā-Minanāth and the fact that Luipā belonged to 'Lohita' country in Kamarupa were also responsible for turning a Kaula yogī into a Sahajiā Buddhist.

We may mention here that while verses in old Bengali by Mīnanāth have been discovered, none has yet been found by Gorakhnāth. Gorakh's *Upadeshas* are commonly found in Hindi and Sanskrit; some scholars even claim Gorakh to be the first Hindi prose writer.

It is not true that the esoteric Buddhist cult, which drifted away from original Buddhism, later on transformed itself into a Śaivite cult or vice versa. The element of yoga as practised by both these schools, together with the rites and rituals were neither Buddhistic nor Brahmanic, they were of a common heritage. The similarities can also be traced in the Jaina Dohās (i. e. couplets) of the tenth century. The uniformity in spirit, as well as in form with the Buddhist Dohās of the same period, is rather striking. Aversions to scholarship and injunctions of religion as preached by the *Pundits* (the learned) are the special features of these Dohās. The motto is that Liberation can only be attained when the mind is fixed on Reality (नाथस्वरूपेणावस्थानम्) [1] and not by outward practices or knowledge of *Shāstras* (scriptures).

The esoteric yogic practices in India have a common background in the idea of the 'dual' and 'non-dual' state. To destroy the dual and the non-dual state and attain Reality or अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता [2] is the aim. It is only when the Yogī transcends the outer mental processes that he can know God as the experienced 'Reality' through his own intuition, which is called *Sahaja.* This idea is found in the Buddhist and Jaina Dohās and in the verses of the Nirgunis, like Kabir and Dadu. 'One-ness' with God is described as *Sahaja Samādhi* (i. e., attainment of the final state through one's intuition) by the Buddhist Sahajiās, and as *Samarasa* (i. e. realisation of the oneness of the universe amidst all its diversities) by the Nātha Yogīs. But the practice of the Nātha Yogis differ from that of the Sahajiā Buddhists, who endeavour to attain the non-dual state through the dual. The Nātha Yogīs aim to attain that which is beyond the dual and the non-dual state, which yogīs call the 'Parampada' (i. e. the Supreme Reality). In describing this state Jālandhar Nath in his Siddhāntavākya says द्वैतवाऽद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरं वा

(1) Goraksa Siddhānta Sangraha P. 10
(2) *Ibid, P. 10*

This state is beyond description as it is beyond the dual and the non-dual conception which are common, and so the yogīs call this state यादृशः एव तादृश एवेति सर्वविलक्षण एवैतादृशो नाथो महासिद्धानां लक्ष्यः i. e., " It is what it is " (vide Goraksa-Siddhānta Sangraha, p. 73.).

Another common background in mediaeval times was the idea of the human body being the epitome of the universe, thus naming the nerves and nerve centres in the body as rivers, mountains etc. The idea was to search for Truth within one's self. If God was to be found in the universe, we may very well look for Him within ourselves. This was the central idea of the preachings in mediaeval times.

The reverence of the preceptor or guru was another striking feature in mediaeval times, though the conception of different schools vary from one another. The Nātha yogī's guru is addressed as नादबिन्दुकलात्मने i. e., he in whom *nāda* and *bindu* have mingled together, such a gura is as great as Śiva. *Nāda* and *Bindu* are the audible and inaudible forms of sound, and as sound is taken as the basis of creation, the guru is considered to be as good as the Creator, and is honoured as such. This is the special feature of the guru in the Nātha cult. In Sahajiā Buddhism the guru is thought of in the form of *Yuganaddha* i. e., in the state of union with his consort (as that of the Buddhist icons).

Gopichandra's renunciation depict the unquestionable authority of the guru over his pupil. The rescue of Matsyendranath from evil company by Gorakhnāth while uttering the guru's name is another example where a guru, though fallen, is yet a guru to his disciple. Such is the high esteem in which a ' guru ' was held by his *sishyas* or disciples.

Not only in the ' guru ' aspect but also in some of their practices, the Sahajiā Buddhists thought of the *Yuganaddha-rupa*. But the Nātha Yogīs were strict celebates and avoided the company of women, examples of which we find in the ballads in Bengal and elsewhere.

The story of the great yogī Matsyendra, being ensnared by the women of Kadali in Assam, only shows that worldly pleasure leads a man to death, his forgetfulness of ' yoga ' shows, we are by nature forgetful of our immortal self. The women

of Kadali represent the snares of everyday life. The story is an allegory, showing man's oblivion of his true immortal state. Gopichandra's renunciation also shows that the Yogī is in search of 'truth' and 'immortality' and as such women are thought of as hindrances on the path of Yoga.

Thus from various aspects the difference between the Sahajiā Buddhists and the Nātha Yogīs is easily discernible, yet Luipā and Matsyendranāth are thought of as identical. Luipā wrote the Dohās of the Sahajiā cult, while Matsyendra called himself a *Kaula*. Rajmohan Nātha suggests that there were two Matsyendras, one was also known as Luipā and wrote the Caryās and *Kaula-jñāna-nirṇaya* and advocated *Sahaja*. The other was Matsyendra-Minanāth who was the first guru of the Nātha cult, and adhered strictly to Nātha-Yoga practices.

We would like to point out that in the *Kaula-jñāña-nirṇaya* both the names Minanāth and Matsyendranāth are found in the colophons, and also from different copies of 'Akula-Vira-Tantra' MSS. they have been proved by Dr. P. Bagchi to be identical persons. Probably Rajmohan Nātha has overlookd this fact. It is true that the doctrine ascribed to Luipā is the 'Sahaja' way, as opposed to Matsyendra's difficult practices but Matsyendra has also described the 'Sahaja' state in his *Akula-Vīra-Tantra*. So not only Luipà, but Matsyendra also advocates *Sahaja*. In the vernacular literature of the Nātha Yogīs we very often find mention of *Sahaja*. This 'Sahaja' is the same as the '*Sahaja*' of the Sahajiā Buddhist Dohās. But the '*Sahaja*' of Matsyendra school is the union of Śiva and Shakti, which was known only to *Kaulas* who were Śaivas. So there is no reason to call the Nātha-Yogīs Buddhists.

It is a fact that since the advent of Mahayāna Buddhism in this country, in spite of differences in views, there was an innate harmony of all religious creeds. The Nātha doctrine had many ideas in common with the Sants, the Sufis, the Sahajiā Buddhists and others. In determining the special features of the Philosophical Doctrine of the Nātha Sect and in following the steps of their 'sādhanā' (practice), I have taken help mainly of the authentic texts belonging to the Nātha school of yogīs. The Tantric practices and also the

Upanishads have partly helped me to come to a decision regarding the practice of the Nātha yogīs. These Nātha yogīs were a mystic sect, who kept their doctrines and practices a secret amongst their disciples. So there is no other way but to take the help of their texts and that of the other schools by way of comparison to determine the correct philosophical doctrine and the practices of the Nātha Sect.

Texts Belonging to the Sect and their Importance

The texts belonging to the Nātha Sect are mostly unpublished and are lying scattered, unknown and uncared for, in different places of India. At one time the Nātha gurus travelled from one end of India to the other, so a patient search for MSS· may yield wonderful results, and my humble attempt in this line has not been futile. Of course it is a well-known fact to scholars that it is extremely difficult to find positive documents of mystic sects and also judge the authenticity of the authors. The texts I have so far gathered are from Jodhpore, Hardwar, Benaras, Tanjore and Madras. These texts are full of incorrect readings, yet they are being published with certain notes in the hope that the doctrines may be brought to light. Even if authorship be disputed in some cases, there is no doubt that the texts belonged to the Nātha Sect. The language is not strictly grammatical, but this was apparently done on purpose, as it was easily understood by all. The Sant poets also followed this policy of preaching in the popular language, which was in their case Hindi. In Gorakhnath's verses a mixed Hindi, partly Rajasthani and partly Hindusthani, is found; this was popular all over Northern India.

Matsyendra's verses were in Old Bengali, as discovered and published by Shāstri. The work is a collection of verses by Sahajiā Buddhists, and Shāstri speaks of Nāthism as another school of Tantric Buidhism. [1]

The language of these verses was unique and was known as "intentional speech", in which the esoteric doctrines were preached. Scholars have established the dates of these verses as between the tenth and twelfth centuries; the authors'

(1) Introduction to Modern Buddhism and its followers in Orissa—by N. N. Vasu.

names appear in the list of the 84 siddhas. These verse writers were known as Siddhācāryas and were mostly Buddhists, so Shastri published them as " Bauddha Gān and Dohā ", (i. e., the songs and couplets of the Buddhists); Bagchi published some MSS. by Matsyendranath under the caption " Kaula-jñana-nirnaya ".

Gorakhnath's " Siddha-Siddhānta-Paddhati " is now being published with some other texts, belonging to the Nātha Sect. " Siddha-Siddhānta-Paddhati " is mentioned in " Hath-Yoga-Pradipīkā " as being uttered by Sree Gorakhnath and this tradition is still held by the sect. For obvious reasons this has remained a sealed book to the layman, though it was published by the Nāth-Bramhacharyāsram at Hardwar; it was meant only for the members of its own mystic sect and is unavailable. Repeated requests by Dr. Gopinath Kaviraj and Dr. P. Bagchi for a copy of the book have been fruitless. In 1942 my diligent search was rewarded in the form of a transcription of the Ms. A scholar, Sree Giridharilal Vyasji of Benaras, had been to Hardwar, mixed with the yogīs, earned their favour and thus obtained a copy of the book. Sree Vyasji had a vast library and helped me with books whenever I needed them. I am deeply indebted to him also for the transcription of " Siddha-Siddhānta-Paddhati ". Since then I have serched and obtained copies of MSS. of the same Siddha-Siddhānta-Paddhati from Jodhpore and Tanjore. In the Tanjore copy, after the colophon are given four lines in praise of god Rama.

Jodhpore was once a very influential centre of Nāthism. Maharaja Mansingha of Jodhpore had himself written sixteen books on Nāthism and had several others written by his court poets about the middle of the nineteenth century. Dr. Singh gīves the list of as many as twenty-five Hindi works about Gorakhnath and his cult as mentioned by the state library, Jodhpore. The Maharaja made a collection of Gorakhnāth's books and verses, a detailed note of which can be obtained from the Report on Search of Hindi MSS, 1902, Banaras University.

In Tanjore the Ms. is found in Telegu script, a copy of which has been obtained by me, together with another MS. *Yoga-Mārtyanda*, by Sree Gorakhath. The very existence

in South India of MSS. belonging to the Nātha Yogīs of Northern India, proves the influence these yogis exerted throughout India.

My present collection consists of the following: —

1. Siddha Siddhānta Paddhati by Gorakhnāth from Jodhpore.
   Do. Do. Do. by Gorakhnāth from Hardwar.
   Do. Do. Do. by Gorakhnāth from Tanjore.
2. Yoga Viṣaya by Matsyendra from Madras.
3. Amaraugha Probodha by Gorakhnāth from Madras.
4. Yoga Mārtyaṇḍa by Gorakhnāth from Tanjore.
5. Gorakh-Upanishad — Jodhpore.
6. Matsyendra-ji-kā pad — Jodhpore.
7. Bhartṛihari-ji-kā Sabdi — Banaras.
8. Chirpat-ji-kā-Sabdi — Banaras.
9. Gopichandra-ji-kā Sabdi — Banaras.
10. Jālandhar-ji-kā Sabdi — Banaras.

In 1951, at Poona, through the help of Principal S. V. Dandekar, I secured a Marathi Drama, partly written in Hindi by B. Varve. In this drama Gorakhnāth is telling Kanifa about Gopichandra the king of Sundarpur, near Bengal. Gopichandra has confined Jalandhar in a well. Kanifa on the other hand tells Gorakh that his guru, Matsyendra, is attracted by the queen Parimala of the ladies' country in Māliyal. Gorakh says, " Well, you go to Bengal in search of your guru and I shall rescue my guru from Māliyāl and come to Sundarpur ". They wish good-bye with the words *Adesh, Adesh* (the usual custom with the Nātha Yogīs).

In this drama we find names of places and of the queen which are unknown in Bengal ; otherwise this drama is not of much value and is comparatively new.

A copy of the MS. of ' Atmabodh ' though obtained from Jodhpore, is not being published in this volume, as it is to be found in Dr. Barthwal's ' Gorakh-Vāni ' in Hindi. A list of another ten books has also been obtained by me, viz.. Abhayamātra, Kafērbodh, Pransaṇkali, Sriṣtipurān, Saptabār, Narvébodh, Soḍastithi,Sikṣadarsan, Brahma jñāna Panchamātra. But most of these have been already published by Dr. Barthwal in his Gorakh-Vani. Kabirbodh has been mistakenly published as a work of Kabirpanth. A pamphlet describing

twentyfive pictures relating to the MS. Siddha-Siddhanta-Paddāhati, which were drawn in the reign of Maharaja Mansingh of Jodhpore in V. S. 1881 (1824 A. D.), has also been obtained by me. I am indebted to Professor P. L. Nag of Jodhpore in helping me to obtain them.

In 1947, 1 found at the Darbhanga Raj's Sanskrit Library two MSS:—

(i) Goraksa Siddha Sābar;

(ii) Atreya Gorakhsa Samvāde Satmopadēsha

but I did not have them copied, as they did not seem to be very old or important.

In the same year Dr. S, K. Belvalkar went to Nepal and very kindly looked up on my behalf the Nepal Durbar Library, and found the following MSS.:—

(i) Siddhānta Sāra Paddhati;

(ii) Siddhānta Sāra Saṁhita;

(iii) Haṭa Dīpikā:

In the library of the Rajaguru Pandit Hemraja, however; Dr. Belvalkar found the following MSS. in Newari characters:—

(i) Gorakh–Satakam .. pp 1–19

(ii) Yoga–Satakam .. pp 1–16

(iii) Gorakh–Satakam (another copy) ., pp 1–14

(iV) Tatwa Sāra by Matsyendra

(V) Jnāna Sāra by Matsyendra

I tried to obtain copies of the last two but have been unable to secure them uptill now. Scholars interested in this subject may do so and study them.

In publishing this volume the idea is to bring out the importance of the MSS. relating to the Nātha Sect, and at the same time to rescue the texts from perishable materials. At this age a better understanding of the rites and rituals of the sect, which once held great sway over India, is also necessary. The works are mostly known to be of Gorakhnāth, the foremost yogī of mediaeval India and the most powerful of the Nātha Sect.

---

(1) Nirguna School of Hindi poetry — Barthwal, P. 281

The Siddha-Siddhānta-Paddhati contains a brief exposition of the form of Yoga, which is associated with the name of Gorakhnāth. As such, it is a valuable work, though cryptic in character. Except from Hardwar, as previously mentioned, no further attempt has been made to publish and preserve this original and authentic work.

In publishing this volume I have taken the MS. from Jodhpore as my model, for two reasons—

(i) as it is still unpublished ;

(ii) as it contains many more details regarding the names of books of the Nātha Sect, etc. than the copies from Hardwar and Tanjore.

The different versions secured of the same MS. for collation, all bearing the name of Sree Gorakhnāth in the colophons, have been made use of and the variations are mentioned in the footnotes. An abstract of the above MS. was compiled by one Balabhadra at the bidding of Krishnaraja, but the date of compilation is unknown. This abstract known as "Siddha – Siddhānta – Saṅgraha" was published from Banaras under the auspices of the Saraswati Bhawan and ably edited by Dr. Gopinath Kaviraj, over twenty--seven years ago. Since then no further attempt has been made to publish the original. I have also taken the help of this abstract in some places.

The texts are inaccurate in many places. There are unnecessary repetitions, ambiguity of expression and frequent violation of the rules .of grammar. But I have not taken much liberty of correcting them, though some corrections are given within brackets. I hope this attitude will be appreciated by the readers and allowances made for such defects.

The Probable Dates of the Texts

The date of composition of Matsyendra's Bengali verses have been established as the tenth century A. D. According to Dr. H. P. Shastri who collected the verses from Nepal, the verses were composed in the ninth century, but authorities differ in this matter and place them between the tenth and twelfth centuries. Matsyendra's 'Kaula-jñāna-nirṇaya' belongs to the eleventh century; it was written in old Sanskrit, and was not strictly grammatical.

The MSS. published in this volume are also written either in the old form of Sanskrit or an old form of Hindi, which is partly Rajasthani and partly Hindusthani.

It is difficult to ascertain the dates of these MSS. as in the colophons the original dates of composition are not given, but only the dates when the scribes have copied them. But the probable dates of the texts will be between the fourteenth and seventeenth centuries, the time when the leaders of the sect had finished preaching their cult and had passed into oblivion. It was only then that their disciples became eager to preserve their teachings in writing.

Of the already published books belonging to the Nātha sect, 'Gorakhbodh' is written in an old form of Hindi and is reported to date from the fourteenth century[1]. Another book 'Haṭha-yoga Pradīpikā' by Svatmarma Muni probably belongs to the fourteenth century but certainly not earlier[2].

In 'Haṭha Yoga Pradīpikā' we find Sree Gorakhnath mentioned as the author of 'Siddha-Siddhānta-Paddhati' so it must have been written earlier. A long list of yogis preceding the author of 'Haṭha-yoga-Pradipika' is also given by him; there we find Matsyendra, Gorakh, Cauraṇgi etc. mentioned.

The copies of the MSS. collected by me belong to a much later date however. The present edition of 'Siddha-Siddhānta-Paddhati' is based on the collation of the following:—

I. (a) **MS. from Jodhpore** Library, Sardar Museum. Complete up to the sixth Upadesha, written in Devnagri, contains about 60 pages of MS. Author-Sree Gorakhnath.

Copies by Balaram Sadhu in V. S. 2002.

Reference of this is given by me as (यो)

(b) **MS. from Tanjore.** This MS. is in fairly good condition, After the colophon are given four lines in praise of god Rama. Burnell's catalogue NO. 9895C,

(1) Tessitori, E. R. E., Vol. XII., P.-834

(2) Indian Historical Quarterly, Vol. XVI., 1940 Article on date of Haṭha-yoga-Pradipikā by P. K. Gode.

The left column palm-leaf MS. of 73 leaves, size 9" X 1¼", 5 lines to a page, of Siddha-Siddhānta-Paddhati is one of the three works contained in a single MS. written in the same hand, and in one of them the scribe calls himself "Seetārām". In another MS. copied by the same scribe, the date is given as Saturday, the second phase after the New Moon in the Mithuna month of the year Pramadi. The last Pramadi was 1939 and the MS. must be 4 X 60 = 240 years before that to judge from its appearance i.e., 1699 A. D. In 1699 the Jyestha New Moon fell on a Thursday, so the dwitiya was on a Saturday. Therefore the MS. must also have been written about that time.

The script of the MS. is Telegu; the number of granthas in it are 700, but 550 according to Burnell's catalogue. This has not been printed.

The above information has been supplied by Sr· K. Vasudev Sastri, B. A., the Pandit for Research, T. M. Si Library, Tanjore.

Reference of this is given by me as (तं)

(c) **Copy from Hardwar.** Transcription, character Devnagri, complete in six Upadeshas; Sree Gorakhnāth is mentioned in the colophons as author. In this copy there is an extra sloka on Haṭha Yoga, which is not found in (a) or (b).

Reference given by me as (ह)

(d) Sihdha-Siddhānta-Saṇgraha by Balabhadra; Edited by G. N. Kaviraj; S. B. S. No. 13, Banaras, 1925.

Reference given by me as (का)

The following short description can be given of the other MSS.;–

II. **Yogavisaya** by Minanātha.

Obtained from Govt. Oriental MSS. Library, Tirupati Madras. MS. No. D. 4367.

Number of granthas — 60

Number of pages — 4

This work describes how salvation may be attained through practice of yoga.

III. **Amaraugha Prabodha.** by Goraksanātha, (from Tirupati) Madras. MS. No. D- 4339.

Number of granthas — 125
Number of pages — 9

This is a short treatise on Laya Yoga, Haṭha yoga, Mantra yoga and Rāja yoga. Its aim is to make a man fit for Rāja yoga, which is held to be the highest kind of yoga.

IV. **Yoga Mārtyanda** by Gorakhnāth is a right column palm-leaf MS. in Telegu Script, consisting of 17 leaves, (size 8–7/8 " x 1¼ "), 6 lines to a page and 250 granthas. Complete. Not printed.

In Burnell's catalogue NO. 9911.

See Descriptive Catalogue of Sansksit MSS. V01. XI, 1931. Editor P. Sastri, B. A. (Oxon.)

The Tanjore Maharaja Serfoji's Saraswati-mahal Library, Tanjore.

V. **Gorakh Upanishad.** About 12 pages of half foolscap size, the copy has been obtained from Jodhpore.

VI. **Matsyendra-ji-ka Pad.** Copy from Jodhpore.

VII – X. **Chirpat, Gopichandra, Jalandhar and Bhartrihari–ji–ka Sabdi** from Banaras in the collection of Sevadas–ki–vani, MS. No. 873.

Date of compilation: 1856 Sakāvda.

Seen at.Nāgri–prachārini Sabhā, Nawabpura, Gorakh Tilla, Banaras.

SUMMARIES OF THE IMPORTANT TEXTS, WITH SOME CRITICAL NOTES.

1. SIDDHA-SIDDHĀNTA-PADDHATI.

This MS. has the name of Sree Gorakhnāth in the colophon of each chapter called *Upadeśa*. The work is written in couplets and there are six *Upadeśas*. Quotations are made from various texts of the Nātha Yogīs, and the following subjects are treated :—

Upadeśa I. — Origin of the body : — पिण्डोत्पत्तिः.
Upadeśa II. — Discussion of the body : — पिण्डविचारः.
Upadeśa III. — Knowledge of the body : — पिण्डसंवित्तिः.
Upadeśa IV. — The foundation of the body : — पिण्डाधारः.
Upadeśa V. — The Union of the body with the Supreme Reality : — पिण्डपद्योः समरसकरणम्.
Upadeśa VI. — The definition of an Avadhuta Yogi : — अवधूतयोगीलक्षणम्.

Summary of Upadeśa I.

The Nātha Yogīs believe that in truth there is no such thing as Creation ; yet for human conception this work deals with it. The Supreme Reality evolves Itself through six stages into a material organism, known as Creation or सृष्टिः. But the Supreme Reality which is called *Anāmā, i.e.*, the Nameless One, has by itself no power of Creation ; it is *Śakti,* the Prime Power, which is at the basis of Creation, working with its five evolutes निजा, परा, अपरा, सूक्ष्मा and कुण्डली. Anāmā is the noumenal aspect, while Śakti is the phenomenal aspect of world activity. Each is powerless to create, without the help of the other. (*This Anāmā,* also known as *Parampada,* remains for ever complete or पूर्ण inspite of creation with its help. *Anāmā* is in other words the Infinite ; so it is like subtracting infinity from infinity, the result being infinity).

Now each of the *six piṅḍas* or bodies through which the *Anāmā* evolves itself, has five factors, and each factor has five qualities. Thus each *Piṅḍa* has twenty-five qualities, known as *Tattvas.*

The six stages through which one has to pass are known as *Parā, Anādi, Ādi, Mahāsākāra, Prakṛti* and *Garbha piṅḍas*.

The physical body, with which we are familiar, represents the last stage, *i.e.*, *Garbha piṅḍa* ; the other five *piṅḍas*, being progressively subtler states of the *Garbha piṅḍa*. All these stages are described and the different stages of the embryonic growth in the mother's womb are also given.

The human body also consists of twenty-five qualities, and as such it is known as *Jīva* (1.54). Liberation is sought by *Jīva* only when he knows he is a part and parcel of Śiva. It is then that he seeks the Supreme Reality or the *Parampada* of the Nāthas and is eager for union with Him. So *jīva* must know his own origion and nature. With this idea in view Gorakhanāth described how the six *piṅḍa* are created and *Jīva* formed, and what is Śiva. The Mahāsākāra *piṅḍa* is Śiva, and from Śiva we have Bhairava, Śrīkaṅṭha, Sadāśiva, Īsvara, Rudra, Viṣṇu and Brahmā, known together as the eight incarnate beings or मूर्त्यष्टकम् (1.36).

From the last aspect of Śiva or from Brahmā's *avalokana* we have the union which produces Jīva in the *Garbha piṅḍa*. Thus from Śiva we have Jīva in six stages. (So Jīva can attain liberation from human birth if he so desires, and be in union with Śiva. This is the philosophy of the Nātha Yogīs.)

In this chapter the gross and subtle bodies of man are also described. The five qualities of speech viz., parā, paśyanti, madhyamā, Vaīkharī and mātṛkā, the moon's seventeen *Kalās* (digits), the sun's twelve *Kalās*, the ten nerves and the ten vital airs or *vāyus* in the body are mentioned. These are worth noting.

Notes : In the Hardwar copy an additional couplet on Haṭha Yoga is given (vide foot-note No. 26 on 1.68 of Siddha Siddhānta Paddhati). While nine *Vāyus* (vital airs) are mentioned in the Hardwar copy, the additional name of Udāna Vāyu is found in the Jodhpur copy which has been printed here. That परशिवः is जातः from शक्तिचक्र is found in different forms in the different copies as under :—

शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः in Jodhpur and Tanjore copies. (1.14)

शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो जातः in Hardwar copy. (1.16)

शक्तिचक्रक्रमेणैव जातः in Banaras copy.

क्तिचक्रक्रमेण तज्जातः is perhaps better.

Summary of Upadeśa II.

The real Yogī must know the inner environments of the body. This chapter, therefore, deals with the nine nerve-centres, sixteen supports or *ādhāras,* the three *laksyas* (points of concentration) and the five *vyomans* (firmaments), which are all located in the body. Concentration on the nerve-centres known as *Cakras,* confers on the Yogī superhuman powers. The various *pīthas, bandhas* and some *mudrās* mentioned in this chapter may suggest some connection with the Buddhist Vajrayāna School, specially the Vajrolī Mudrā (2.13). In the Banaras copy of Siddha Siddhanta Sangraha *Vajrolī* Mudrā is mentioned as Vajrolikā (2.18) and the *blūcakra, nirvāṇacakra* and *ākasācakra* are called *ghantikā, monolaya* and *brahmacakra.*

The *Bhramara Guhā* which is mentioned in connection with the *Vajrolī mudrā* is an important factor, as it is from this place in the lower region that *Samādhi* starts. The Santa poets, Kabir and others, also speak of the *Bhramara Guhā.* but the location is different ; they describe it to be beyond the *Sahasrāra* or *Brahmarandhra* which is in the highest cerebral region.

Additional Note : The six nerve-plexuses (Ṣatcakra) well known in Yogic practices, are *mūlādhāra, svādhiṣṭhāna, maṇipūra, anāhata, viśuddha* and *ājñā,* but the Nātha Yogīs have added to this list, three more, *tālu, nirvāṇa* and *ākāsa.* This Tālucakra is important, as at this place there is the Ghantikāliṅgamukha (the uvula) and the Rājadanta or the tenth door of the Śaṇkhiṇī nerve. Here the Yogī meditates on '*Śurya*' (the void) and his mind merges in it. It is again at this point that the nectar flows from the moon and the Yogī turns his tongue backwards (known as Khecarī mudrā (and saves it from falling into the destructive fire, situated in the navel). By this *mudrā* the Yogī attains immortality and Śivahood. The physical body is made up of five factors as has been described before (1.61) viz., Karma (activity), Kāma (desire), Candra (the moon), Sūrya (the sun), Agni (fire). Of these the primary elements are the Sun and the Moon. The Sun and fire are generally held to be the same. The moon represents the quintessence in the form of juice and possesses the *nivṛtti kalā* (digit) which is the digit of nectar (1.64). Hence the attempt to save the nectar from the moon falling into the fire or sun.

The Ākāśa-cakra is called Brahmacakra in the Banaras copy. It is where Śunya is meditated upon while uttering the Haṁsa mantra. There is some difference regarding the number of petals in the lotuses of the cakras. The scheme of the Siddha-Siddhanta-Paddhati is not exactly the same as the usual one in practice. So I think a comparative table will not be out of place.

THE NERVE PLEXUSES

The usual names in Yogic texts.	*Names found in S. S. Paddhati*	*Names found in S.S. Sangraha (Banaras copy.)*
1. Mūlādhāra	Brahmacakra (triangular) (Kāmarupa Pītha)	Brahmacakra (Kāmarupa Pīṭha)
2. Svādhiṣṭhāna	Svādhiṣṭhāna (six petalled) (Uḍḍiyāna Pīṭha)	Svādhiṣṭhāna (four petalled) (Uḍḍiyāna Pīṭha)
3. Maṇipūra	Nābhicakra (Kuṅḍalinī with 5 coils)	Nābhicakra
4. Anāhata	Hṛdayādhāra (eight petalled)	Hṛdayacakra
5. Viśuddha	Kaṅṭhacakra	Kaṅṭhacakra
	Tālukacra	Tālucakra
6. Ājña	Bhrūcakra	Ghaṇṭikā
7. Sahasrāra	Nirvāṇacakra	Manōlaya
	(Jālandhara Pīṭha)	Brahmacakra.
	Ākāśacakra (16 petalled) (Pūrṇagiri Pīṭha)	—

Notes :— It is interesting to note that in the Sangraha the first and the last cakras are both called Brahmacakra. Under the first Brahmacakra which is a three-folded triangular region, there is a *kāṇda* (nerve-root) where Śakti is located. The *Kāmarūpa Pīṭha* is located here. The other pīṭhas are shown in the table above. The usual *ājñā* or Bhrūcakra is not mentioned in this copy ; instead we find 'Ghaṅṭikā.'

Sahasrāra, Nirvāṇa and Manolaya in the above table have more or less the same significance, as it is here that the Yogī attains liberation and his mind is absorbed in the Parampada.

Another point of interest is that the Kuṇḍalinī in the Nābhi-cakra is stated to have five coils instead of the usual eight.

The sixteen *ādhāras* (supports) on which the mind is to be fixed for attainment of different results are described. The three *lakṣyas* or points of concentration and the five *vyomans* (firmaments) lead one to various stages of purity and perfection. The āsanas (postures) and the eight Yogāṅgas (different stages of Yoga) all help the Yogī in attaining Samādhi (*i.e.* fixation of the mind on the Supreme Spirit).

In this Chapter there is a definition of the real Yogī, (2. 61).

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥ ३१ ॥

i.e., One must be familiar with the nine cakras, sixteen ādhāras, three lakṣyas and five vyomans properly in order to be a Yogī in the true sense.

Summary of Upadeśa III.

This chapter deals with the knowledge of the body and shows the identity of the microcosm with the macrocosm *i. e.*, whatever exists in the outside world is present also in the human body. Thus the seven nether worlds are located in the portion of the body below the bottom of the spinal column, and the twenty-one in the upper region of the body. The place of Śiva is in the *Tāludvāra* (uvula) (3.5). The *Lambikāmūla*, *Śriṅgāra*, *Trikūṭa* are all described in this chapter. In (2.27) we find 'Gollāṭa' (Hardwar copy) or 'Kollāṭa' in (Jodhpur copy) mentioned. The nine *khaṇḍas* (Bharat, Kashmir etc.) are in the nine avenues. The hills, rivers, planets, devas, siddhas, the sun and the moon (these are the two eyes), clouds (these are the tears), creepers, plants &c. have their counterparts in the human body. What is our happiness is Heaven, our sorrow is Hell, our *Karma* is what binds us to this world, but for which we may attain *Mukti i.e.* liberation. When one's mind does not

register any sense-impression, it is then only that one is united with Śiva. Be such a person awake or asleep, he is always enlightened about himself. Liberation and peace are achieved by such a person *i. e.*, he who has realised the identity of the world with himself. Moreover, the *Paramātmā* is manifest in every human soul. This is how the knowledge of the body is gained.

Note : The nine chakras are also mentioned in the *Yoga-Viṣaya*, which is given later on. In this we find the mention of *gollāṭa* and not *kollāṭa*.

Summary of Upadeśa IV.

The fourth chapter treats of the support of the body which is Śakti. Thus Śakti is called *piṇḍādhāra* and is all pervading. The different aspects of Śakti are described. Śakti is both ***kula*** and ***akula***. *Kula* is the revealed form, and ***akula***, the unrevealed. Thus ***kula*** is the ***kārya*** and the ***akula*** is the ***kāraṇa*** or *nimitta*. When Śakti is unruffled and quiet, it is same as Śiva or ***akula***. In her revealed form Śakti is fivefold, ***parā***, ***bhāsa***, *sattā*, *ahantā* and ***kalā***.

Akula is unique in the sense that it assumes ***kula***, thence descends into *vyavahāra i.e.*, service (4.12). But Śiva without Śakti is incapable of creation (4.13). This couplet is quoted from Vāmakeśvara Tantra, as mentioned in the Jodhpur copy. from Śiva we have Śakti, who manifests herself in various forms and then again Śakti rests in Śiva (4.12).

Additional note : In the *Kaula-jñāna-nirṇaya* by Matsyendranath in Chap. II we find that at the time of destruction the Śakti merges into Śiva, who Himself is then merged into the Kriyāśakti. The two aspects of Śakti, which are *Kriyā* and *Icchā* merge into Jñāna Śakti. In this state it is the ultimate Śiva or परःशिव who alone remains. The world then ceases to exist. We may note here that this is the reverse of Creation, which has been described in our text *Siddha-Siddhanta Paddhati* Upadeśa I.

What is then the ***Parampada*** and who is Śiva? The ***Parampada*** which we have described as ***anāmā*** before has no ***kāraṇa bhāva*** in it, but Śiva who is ***akula*** has the ***kāraṇa***

bhāva underlying in it ; thus it can manifest Itself as *kula*. This is the difference between *Parampada* (*anāmā*) and *Śiva* (*akula*). There is a quotation from Lalītasvacchanda (4.11) which says that akula and kula are essentially one ; so after manifestation the kula merges into the akula (4.12).

Kula is both static and kinetic, or *aprabuddha* and *prabuddha* (4.14). As the support of the body Śakti is known as *Kuṅḍalinī* ; she is either asleep in a coil in its *aprabuddha* state, or awake in its *prabuddha* state. The Yogī who aims at the purity and stability of his body awakens the *Kuṅḍalinī* and as such the Śakti is called *piṅḍasaṁsiddhikāriṇī* (1) in its kinetic aspect or the conscious aspect.

The Primal Śakti is one, but she becomes manifest as minor Śaktis in the different nerve centres. The Śaktis, though really one (4.17), those at the *Mulādhāra*, *Hṛdaya* and *Sahasrāra* are respectively called the अध:, मध्य and ऊर्ध्व Śaktis or kuṅḍlinīs. The first or adha keeps one attached to the outer world. The second or madhya Śakti is twofold, one being lower or gross and the other higher or subtle. Then the third ūrdhva śakti leads one to the attainment of Parampada (4.16).

Owing to the upward tension, effected by the so-called *mulādhāra bandha*, the Śakti rises upwards (4.18). The creation and dissolution of the world follow from the expansion (प्रसर) and contraction (संकोच) of this Śakti who is known as the *Mūla* or the Root of the Universe (4.19)

Note : In this chapter there is one important factor which should be noted, namely that the *Madhyakuṅḍalī* is twofold, one being lower and gross, while the other higher and subtle. The word स्वप्रसारचातुर्यतया (4.21) in connection with the gross aspect signifies the 'ukāra' of Tantricism.' That 'ukāra' is the manifestation or उन्मेषभाव of the *Jñāna* of Śiva. As in its gross form it is the support of the world and is *sākāra* it has स्वप्रसारचातुर्य. In her subtle form she is *nirākāra*. The siddhas rouse this to attain salvation. The stability and purity of the body देहसिद्धि is possible only when she is roused.

Such are the different aspects of Śakti, although he is one with Śiva.

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ २६ ॥ (४.२६)

The difference between Śiva and Śakti is unreal and is due to our ignorance.

Summary of Upadeśa V.

This chapter deals with the manner in which the *piṇḍa* or body may be equilibrated with the Supreme Reality or the *Parampada.* This equilibrium is known as *samarasa*, but one has to know all about the different *piṇḍas* before one can attain this stage. How is this knowledge to be attained? Discussions and reasonings will lead one nowhere ; it is only through the Grace of the Guru that knowledge of Self and Parampada is obtained (5.3, 4) and equilibrium attained. The Grace of the Guru, which is something beyond words, enables the aspirant to shake off all the *siddhis* he has attained and realise the निरुत्थान state and obtain union of the body with *Parampada* (5.7). When the self is revealed, there is supreme delight, and there arises a consciousness of pure and eternal joy (5.8). This is the highest state in which the Yogī realises the non-dual state of the Self and the Parampada.

A Yogī who aspires for such a state should wear the *śaṅkha* and *mudrā* and stay in a secluded place, but he should not attach too much importance to the outer symbols.

After the Union the Yogī conquers death and decay, has the knowledge of everything and all *siddhis* come to him automatically (5.33 etc.). But all this is unattainable without the aid of a *Sadguru,* who is held in high esteem by the Nātha Yogīs. There is no one greater than the Guru (5.63). The last verse which is important says that the *Sadguru* can show in an instant the *Parampada* which is otherwise, unattainable by the aspirant (5.66, 80).

Summary of Upadeśa VI.

This chapter gives the distinguishing characteristics of an *Avadhūta* Yogī who alone can be deemed to be a siddha. Such a Yogī is free from all bondages and has complete control over all the senses, the mind and the body.

In order to give the reader an idea of the comparative superiority of an Avadhūta Yogī to the Siddhas of the other

sects the author says that he combines in himself the attainments of the Siddhas of all the sects known by different technical names (VI 34-71). It is an Avadhūta Yogī who initiates a pupil into the doctrine of the Nātha Yogīs. That doctrine combines in itself the good points in the doctrines of all the systems of philosophy and it is such an Avadhūta who is eulogised as a *Sadguru*. (VI. 72).

Additional Note : In the Banaras edition of *Siddha-Siddhanta-Saṅgraha* there is an additional chapter which we do not find in the MSS. of *Siddha-Siddhānta-Paddhati*. This seventh chapter deals with the siddhis which a Yogī can attain but which he should disregard if he wants to attain the parampada.

2. YOGA VIṢAYA.

This is a MS of a work by Matsyendra (Mīnanātha) as gathered from its colophon. The Guru who is held in high esteem is described therein as भावनातीत. He alone can show the right path to his disciple. The disciple must have faith in his Guru, and must have good qualities. When the difference between the Guru and his *Śiṣya* disappears, then the relationship between the two is that of समसिद्धि *i.e.*, equality (I.6).

The author referring to the nerve centres of the body says that a Kaula knows the six centres which are the *ādhāra*, *svādhiṣṭhāna*, *maṇipūra*, *anāhata*, *viśuddhi* and *ājñā* (1.8). The place of Niranjana is beyond the cakras *i.e.*, चक्रातीत (1.10).

The author also describes the main nerves, and having given the locations of अ, उ and म of *omkāra* says that by pronouncing them realisation comes and the three *granthis* of Bramhā, Viṣṇu and Rudra are broken.

N. B. : The most important feature of this MS is the names of the nine *cakras* beyond the *ājñā*, viz. *Trikūṭa*, *trihaṭa*, *gollāṭa*, *śikhara*, *vajra*, *omkāra ūrdhvanākha* and *bhruvormukham* (1.20). Either by contracting the *ravi* (sun) or by piercing these nine cakras the 'moon' can be seen (1.20-21).

The eight names given to the eight coils of the *Kuṇḍalinī*, are mentioned in 1.22. By awakening the *Kuṇḍalinī*, the nine doors are closed and the *vajra-gumphā siddhi* attained (1.23).

When the sound, *i.e.*, नाद is heard in the *Brahmasthāna*, the *śaṅkhinī* nerve showers nectar ; thereby the six cakras are purified (liberated) and 'knowledge' is manifested. By this 'lamp of knowledge' one can know God, and on knowing Him one should offer to Him the 'flower' which is his mind and thus worship Him. God should be known as the Self, because the formless is manifest everywhere in form. Also a man by breathing 1600 times a day, utters the *haṁsa* mantra, thereby saying "I am He" (1.29). Śiva resides in the space between the eyebrows in the form of *jyoti i.e.* light and the *brahmasthāna* (mentioned above) is free from either heat or cold.

3. AMARAUGHA PROBODHA

This MS. is that of a work by Gorakhnāth. It mentions the names of Ādināth, Mīnanāth and Chauraṅgīnāth as *siddhas*.

The distinctive features of the four yogas, *laya, haṭha, mantra,* and *rāja* are mentioned. The *rājayoga* is divided into two sections — *ośaḍhi* and *ādhyātmaka*. Haṭha is also of two kinds. Perfection and stability of the body or देहसिद्धि cannot be attained without *rājayoga* (1.8). The aghorī who performs various acts, is unable to obtain a perfect body. The mind should be controlled to enable one to control the vital air (1.9).

Note : This couplet is also found in *Haṭhayoga Pradīpikā* (4.14) with a slight variation in the second line, where *sahajoli* is mentioned.

Next is mentioned a book, 'Śri Samputa,' in which Śiva tells Pārvatī, his consort, that 'time' is not greater than the 'soul.' Medicines cannot save one ; the great physicians, Caraka and others have all died. *Bindu* and *Nāda* are the two great medicines which are present in every human being ; those who have no Guru and are unaware of these, naturally face death (1.12, 13).

There is only one *Amaraugha* which is known as *Rājayoga* (1.17).

The four kinds of *śiṣyas* and the four yogas are then described. How *Kāyasiddhi* is obtained (1.28), what are the *mahāmudrā* and *mahābandha*, where is kedār, and what is *tri-vēni* (1.35), how the four pīṭhas are penetrated by the vital air (1.39) etc., are all given.

The four conditions while practising yoga *e.g.*,

आरम्भश्च घटश्चैव प्रत्ययश्च तृतीयकः।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था चतुर्विधा॥

are described in detail (1.45)

Then Śrī Gorakhnāth tells us how one can avoid death and conquer 'time' and be like Śiva. This siddhi is known as Amaraugha-Siddhi and can be attained in ten months (1.64, 65). Then the yogī knows the non-dual state and there is equilibrium of *citta* which is life and *acitta* which is death. Such a yogī is a *jīvanmukta*, and he can do what he pleases.

One should practise the four yogas and find out the results for himself. As no medicinal books can cure a patient, so no theoretical knowledge can make one a yogī ; such is the advice of Śrī Gorakhnāth.

4. YOGA MĀRTAṆḌA

This MS. is by Gorakhnāth, and it begins with salutations to the guru. Then it goes on to define yoga, which is the fruit of *Śruti* and says that yoga should be practised by those who are pious and desire to dispel the agonies of the world.

The six parts of yoga are mentioned, the *āsanas* of which *siddhāsana* and *padmāsana* are the best, are fully described, as they destroy disease and the six *vikāras*. Then the *ādhāras* are mentioned with the different *pīṭhas* (2.10).

Of the 72,000 nerves, 72 are considered important, of which ten are the most important. Of these *śaṅkhiṇī* is the tenth nerve. The yogī should have knowledge of all these *nāḍīs* or nerves (17-19).

Then the *ajapā-gāyatrī* and the eight kinds of *kuṇḍalī* śakti are described (33).

The *mūlabandha, oḍḍyāna, jālandhara, khecarī mudrā, mahāmudrā,* the peculiarities of *omkāra* etc., all find a place in this MS. (47-76).

How *prāṇāyāma* should be performed by the yogī is further described. (77-113).

Then *pratyāhāra, anāhatacakra, viśuḍḍha cakra,* the eight qualities of *amṛta* and the benefit obtained from *amṛta* are given.

The different kinds of *dhāraṇā* for a yogi are *haristhāyinī, vāruṇī, vaiśvānarī, vāyavī* and *nabho* and for the ordinary man

stambhī, nidrā, dāhinī, bhrāminī and *Śoṣaṇā* are the five *dhāranās* (143-154).

Dhyāna is *saguṇa* and *nirguṇa.* How to perform these with the help of different *mudrās* is then described. (157-170).

The yogī is without any *upādhi.* By *upādhi* is meant the lack of proper knowledge of things. (173). Then comes *samādhi*, which is the union of the soul and the mind (176).

Note : In this Ms. are found many slokas which are similar to the ślokas found in the *Haṭhayoga Pradīpikā.* Though we find much more detail of the āsanas etc. in the Haṭhayoga Pradīpikā, yet this Yoga-Martaṇḍa by Gorakanāth deals in short with all the important aspects of yoga. Hence we might consider this as an important Ms. belonging to the Nātha Yogīs.

5. GORAKH UPANIṢAD.

This MS. is in mixed Hindusthānī and Rājasthānī.

It explains the meaning of Gorakh Upaniṣad, as this book is well known amongst the siddhas. This book which liberates the devotee, described how *Iśvara* and *Jīva* were the products of the *Mahābhuta* which again was the product of some अनिर्वचनीय पदार्थ *i.e.*, an undefinable object.

This entity is beyond the form and the formless. It is द्वैताद्वैत रहित, सदानन्द स्वरूप and it is the Nātha.

In the Nātha cult the 'god' or *devatā* is beyond even the *advaita*, but it has *icchā*, *jñāna* and *kriyā* śaktis through which the *piṇḍa* and *brahmāṇda* are created.

The 'one' manifests itself into nine forms which are Satyanāth, Santoṣanāth, Kūrmanāth, Ādināth, Sarvanāth, Matsyendranātha, his son, and his disciple Śri Gorakhnāth.

Note : The name of Matsyendra's son is omitted and one name of Daṇḍanāth is not mentioned in these lines. Later on we find the name of Daṇḍanāth.

How *Nirrantarnāth* is attainable is explained here thus :— There are two ways — the ***kula*** and the ***akula.*** The ***kulamārga*** is Śaktipatha, while ***akulamarga is the Caitanyapatha.***

The Nātha, who is beyond the dvaita and advaita, becomes advaita and then dvaita and then again the nine Nāthas for all practical purposes. The meanings of the names of the nine-Nāthas are given.

Note : In this MS. the names of "Siddha-Siddhanta-Paddhati" and of "Śiṣya-Paddhati" are mentioned as important reference books.

The special qualities of the *guru* and the *śiṣya* are given. The eight parts of yoga, and the meaning *avadhuta* are explained.

6. MATSYENDRAJI KĀ PADA.

The glories of the name Matsyendranāth have been revealed. He is manifest in all holy places so why seek for others ? We should only worship Matsyendranāth ; such is the strain of this small pada or song.

There is another song also giving some indications of the name Maççhendranāth.'

7-10. BHARTHARI, CHIRPAT, GOPICHAND AND JĀLANDHARĪ PĀO'S SABDIS.

These are the eulogies of the different yogīs, who had forsaken the worldly pleasures to gain the *Parampada* or the *Nāthasvarūpa.* The language is a mixture of the colloquial and pure Rājasthānī.

॥ श्रीगोरक्षनाथकृत

सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ॥

|| श्री ||

|| श्रीगोरक्षनाथकृत-
सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ||

प्रथमोपदेशः ।

|| श्रीगणेशाय नमः ||

आदिनाथं नमस्कृत्य शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
वक्ष्ये गोरक्षनाथोऽहं सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् || १ ||

नास्ति सत्यविचारेऽस्मिन्नुत्पत्तिश्चाण्डपिण्डयोः ।
तथापि लोकवृत्त्यर्थं वक्ष्ये सत्सम्प्रदायतः || २ ||

सा पिण्डोत्पत्त्यादिः सिद्धमते सम्यक् प्रसिद्धा ।
पिण्डोत्पत्तिः पिण्डविचारः पिण्डसंवित्तिः
पिण्डाधारः पिण्डपदसमरसभावः श्रीनित्यपिण्डावधूतः[1] || ३ ||

यदा नास्ति स्वयंकर्ता कारणं न कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं च[2] परं ब्रह्म अनामा विद्यते तदा || ४ ||

अनामेति स्वयमनादि सिद्धमेकमेवानादिनिधनं
सिद्धसिद्धान्तप्रसिद्धं तस्येच्छामात्रधर्माधर्मिणी
निजा शक्तिः प्रसिद्धा || ५ ||

तस्या उन्मुख[3]मात्रेण परा शक्तिरुत्थिता ।
तस्याः[4]स्पन्दनमात्रेण अपरा शक्तिरुत्थिता || ६ ||

ततोऽहन्तार्ध[5]मात्रेण सूक्ष्मशक्तिरुत्पन्ना ।
ततो वेदनशीला कुण्डलिनी शक्तिरुद्गता || ७ ||

१–श्रीनित्यावधूत (ह.). २–न (यो. तं.). ३–उन्मुखत्व (ह.).
४–तस्य (ह.). ५–अहन्तार्थं (ह.).

नित्यता निरञ्जनता निस्पन्दता निराभासता ।
निरुत्थानता इति पञ्चगुणा निजा शक्तिः ॥ ८ ॥

अस्तिता अप्रमेयता अभिन्नता अनन्तरता ।
अव्यक्तता इति पञ्चगुणा परा शक्तिः ॥ ९ ॥

स्फुरत्ता स्फुटता स्फारता स्फोटता स्फूर्तिता ।
इति पञ्चगुणा अपरा शक्तिः ॥ १० ॥

निरंशता निरन्तरता निश्चलता निश्चयता ।
निर्विकल्पता इति पञ्चगुणा सूक्ष्मा शक्तिः ॥ ११ ॥

पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता प्रोच्चलता ।
प्रत्यङ्मुखता इति पञ्चगुणा कुण्डलिनी शक्तिः ॥ १२ ॥

एवं शक्तितत्वे पञ्च - पञ्च - गुण - योगात्परपिण्डोत्पत्तिः॥१३॥

उक्तञ्च :—

निजा पराऽपरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु[६] पञ्चधा ।
शक्तिचक्रक्रमेणोत्थो[७] जातः पिण्डः परः शिवः[८] ॥ १४ ॥

अपरम्परं परमं पदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मेति ।
अपरम्परात्स्फुरत्ता - मात्रमुत्पन्नं परमपदात्भावना -
मात्रमुत्पन्नम् शून्यात्स्वसत्तामात्रमुत्पन्नं निरञ्जनात्स्व-
साक्षात्कारमुत्पन्नं[९] परमात्मनः परमात्मोत्पन्नः ॥ १५ ॥

अकलङ्कत्वमनुपमत्वमपारत्वममूर्तत्वमनुदयत्वमिति
पञ्चगुणमपरम्परम् ॥ १६ ॥

निष्कलत्वमणुतरत्वमचलत्वमसंख्यत्वमपारत्वमिति[१०]
पञ्चगुणं परमं पदम् ॥ १७ ॥

६—कुण्डलिन्यासु (ह.), कुण्डलीतासु (का). ७—क्रमेणोत्थः (ह.), क्रमेणैव (का.). ८—शिवे (का.). ९—साक्षात्कारमात्रमुत्पन्नं (ह.). १०—आधारत्वं (ह.).

लीलता पूर्णता उन्मनी लोलता मूर्च्छता इति पञ्चगुणं शून्यम् ॥ १८ ॥

सत्यत्वं सहजत्वं समरसत्वं सावधानत्वं सर्वगत्वमिति पञ्चगुणं निरञ्जनम् ॥ १९ ॥

अक्षय्यत्वमभेद्यत्वमछेद्यत्वमदाह्यत्वमविनाशित्वमितिपञ्चगुणो परमात्मेति अनाद्यपिण्डस्य पञ्चतत्वपञ्चविंशतिगुणाः ॥ २० ॥

उक्तञ्च :—

अपरम्परं परमपदं शून्यं निरञ्जनं परमात्मनः
पञ्चभिरेतैः सगुणैरनाद्यपिण्डः समुत्पन्नः ॥ २१ ॥

अनाद्यात्परमानन्दः परमानन्दात्प्रबोधः प्रबोधाच्चिदुदयः
चिदुदयात्प्रकाशः प्रकाशात्सोऽहम्भावः ॥ २२ ॥

स्पन्दः हर्षः उत्साहः निस्पन्दः नित्यसुखत्वमिति पञ्चगुणः परमानन्दः ॥ २३ ॥

उदयः उल्लासः अवभासः विकासः प्रभा इति पञ्चगुणः प्रबोधः ॥ २४ ॥

सद्भावः विचारः कर्तृत्वं ज्ञातृत्वं स्वतन्त्रत्वमिति पञ्चगुणः चिदुदयः ॥ २५ ॥

निर्विकारत्वं निष्कलत्वं निर्विकल्पत्वं समता विश्रान्तिः इति पञ्चगुणः प्रकाशः ॥ २६ ॥

अहन्ता ऽखण्डैश्वर्यं स्वात्मता विश्वानुभवसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वमिति पञ्चगुणः सोऽहम्भावः ॥ २७ ॥

इति आद्यपिण्डस्य पञ्चतत्वं पञ्चविंशतिगुणाः ॥ २८ ॥

उक्तञ्च :—

परमानन्दः प्रबोधः चिदुदयः चित्प्रकाशः ।
सोहम्भाव इत्यन्तः आद्यपिण्डो महातत्त्वैर्गुणयुक्तः समुत्थितः ॥ २९ ॥

११—लीनता (ह.) नीलता, (का.). १२—महातत्वयुक्तः (ह.).

आद्यान्महाकाशः महाकाशान्महावायुः महावायोर्महातेजः ।
महातेजसो महासलिलं महासलिलान्महापृथ्वी ।। ३० ।।

अवकाशः अच्छिद्रमस्पृशत्वं नीलवर्णत्वं
शब्दवत्वमिति पञ्चगुणो महाकाशः ।। ३१ ।।

सञ्चारः सञ्चालनं स्पर्शनं शोषणं धूम्रवर्णत्वमिति
पञ्चगुणो महावायुः ।। ३२ ।।

दाहकत्वं पाचकत्वमुष्णत्वं[13] प्रकाशत्वं रक्तवर्णत्वमिति
पञ्चगुणं महातेजः ।। ३३ ।।

प्रवाहः आप्यायनं द्रवः रसः श्वेतवर्णत्वमिति
पञ्चगुणं महासलिलं ।। ३४ ।।

स्थूलता नानाकारता काठिन्यं गंधः पीतवर्णत्वमिति पञ्चगुणा
महापृथ्वी इति महासाकारपिण्डस्य पञ्चतत्त्वं
पञ्चविंशतिगुणाः ।। ३५ ।।

स एव शिवः शिवाद्भैरवो भैरवात् श्रीकण्ठः श्रीकण्ठा-
त्सदाशिवः सदाशिवादीश्वरः ईश्वराद्रुद्रो रुद्राद्विष्णु-
र्विष्णोर्ब्रह्मा इति महासाकारपिण्डस्य मूर्त्यष्टकम् ।। ३६ ।।

तत्तद्ब्रह्मणः सकाशादवलोकनेन नरनारीरूपः प्रकृतिपिण्डः
समुत्पन्नस्तच्च पञ्चपञ्चात्मकं शरीरमिति ।। ३७ ।।

अस्थि - मांस - त्वक् - नाडी - रोमाणि इति पञ्चगुणा भूमिः ।। ३८ ।।

लाला मूत्रं शुक्रं शोणितं स्वेद इति पञ्चगुणा आपः ।। ३९ ।।

क्षुधा तृषा निद्रा क्रान्ति आलस्यमिति पञ्चगुणं तेजः ।। ४० ।।

धावनं प्लवनं[14] प्रसारणमाकुञ्चनं निरोधनमिति पञ्चगुणो वायुः ।। ४१ ।।

१३–पावकत्वम् (ह. का.). १४–अवनम् (त.), भ्रमणां (ह.).

रागो द्वेषो भयं लज्जा मोह इति पञ्चगुण आकाशः
इति पञ्चविंशतिगुणानां भूतानां प्रकृतिपिण्डः ॥ ४२ ॥

मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं चैतन्यमित्यन्तःकरणपञ्चकम् ॥ ४३ ॥

संकल्पः विकल्पः मूर्च्छा जडता मननमिति पञ्चगुणं मनः ॥ ४४ ॥

विवेको वैराग्यं शान्तिः सन्तोषः क्षमा इति पञ्चगुणा बुद्धिः ॥ ४५ ॥

अभिमानं मदीयं मम सुखं मम दुःखं ममेदमितिपञ्चगुणोऽहंकारः ॥४६॥

मतिर्धृतिः स्मृतिस्त्यागः स्वीकारः इति पञ्चगुणं चित्तम् ॥ ४७ ॥

विमर्शः तच्छीलनं[15] धैर्यं चिन्तनं निस्पृहत्वमिति पञ्चगुणं
चैतन्यम् — एवं अन्तःकरणगुणाः ॥ ४८ ॥

सत्वं रजस्तमः कालो जीव इति कुलपञ्चकम् ॥ ४९ ॥

दया धर्मः कृपा[16] भक्तिः श्रद्धेति पञ्चगुणं सत्त्वम् ॥ ५० ॥

दानं भोगः शृङ्गारः वस्तुग्रहणं स्वार्थमिति[17] पञ्चगुणं रजः ॥ ५१ ॥

विवादः शोकः कलहः बंधः वञ्चनमिति पञ्चगुणं तमः ॥ ५२ ॥

कलना कल्पना भ्रान्तिः प्रमादोऽनर्थ इति पञ्चगुणः कालः ॥ ५३ ॥

जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तिस्तुर्यं तूर्यातीतमिति पञ्चावस्थागुणोजीवः ॥ ५४ ॥

इच्छा क्रिया माया प्रकृति वाक् इति व्यक्तिशक्तिपञ्चकम् ॥ ५५ ॥

उन्मादो वासना वाञ्छा चिन्ता चेष्टेति पञ्चगुणा इच्छा ॥ ५६ ॥

स्मरणमुद्योगः कार्यं निश्चयः स्वकुलाचार इति पञ्चगुणा क्रिया ॥५७॥

मदो मात्सर्यं दम्भः कृत्रिमत्वं असत्यमिति पञ्चगुणा माया ॥ ५८ ॥

आशा तृष्णा स्पृहाकांक्षा मिथ्या इति पञ्चगुणा प्रकृतिः ॥ ५९ ॥

१५–शीलनम्–(ह. तं.). १६–क्रिया (ह.). १७–स्वार्थसंग्रहणमिति (ह.), स्वार्थादाने (का.).

परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी मातृक इति पञ्चगुणा वाक्
इति पञ्चगुणा व्यक्तिशक्तिः पञ्चविंशतिगुणा ॥ ६० ॥

कर्म कामश्चन्द्रः सूर्यः अग्निरिति प्रत्यक्षकरणपञ्चकम् ॥ ६१ ॥

शुभमशुभं यशः अपकीर्तिः अदृष्टफलसाधन-
मिति पञ्चगुणं कर्म ॥ ६२ ॥

रतिः प्रीतिः क्रीडा कामना आतुरता इति पञ्चगुणः कामः ॥ ६३ ॥

उल्लोलिनी[१८] कल्लोलिनी उच्चलन्ती उन्मादिनी तरंगिणी
शोषिणी अलम्पेटा[१९] प्रवृत्तिः लहरी लोला लेलिहाना
प्रसरन्ती प्रवाहा सौम्या प्रसन्ना प्लवन्ती एवं चन्द्रस्य
षोडश कलाः सप्तदशी कला निवृत्तिः साऽमृतकला ॥ ६४ ॥

तापिनी ग्रासिका उग्रा आकुंचिनी शोषिणी प्रबोधिनी स्मरा
आकर्षिणी तुष्टिवर्द्धिनी उर्मीरेखा किरणावती[२०] प्रभावतीति
द्वादश कलाः सूर्यस्य त्रयोदशी स्वप्रकाशता निजकला ॥ ६५ ॥

दीपिका राजिका[२१] ज्वेलिनी[२२] विस्फुलिंगिनी प्रचण्डा पाचिका
रौद्री दाहिका[२३] रागिणी शिखावतीति अग्नेर्दश कलाः
एकादशी कला ज्योतिरिति प्रत्यक्षगुणकलासमूहः ॥ ६६ ॥

अथ नाडीनां दश द्वाराणि ॥

इडा पिङ्गला च नासाद्वारयोर्वहतः
सुषुम्ना तालुमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति
सरस्वती मुखद्वारेण वहति पूषाऽलम्बुषा च चक्षुद्वार-
योर्वहतः गान्धारी हस्तिजिह्विका च कर्णद्वारयोर्वहतः
कुहूः गुदद्वारे वहति शंखिनी लिङ्गद्वारे वहति (सा

१८—उल्लोला (ह.). १९—लम्पटा (ह. तं.). २०—किरणवती (ह.), किरणिनी (का.). २१—रंजिका (ह.). २२—ज्वालिनी (ह. तं.), २३—वाहका (तं.), दाहा (का.).

दण्डमार्गेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं वहति) एवं[24] दशद्वारेषु वहन्ति (अन्या सर्वा नाड्यो[25] रोमकूपेषु वहन्ति) ।। ६७ ।।

अथ दशावयवः ।।

हृदये प्राणवायुः उच्छ्वास - निश्वास—कारको हकार - सकारात्मकश्च[26] । गुदे त्वपानवायुः रेचकः कुम्भकश्च[27] । नाभौ समानवायुः दीपकः पावकश्च[28] । कण्ठे व्यानवायुः शोषणाप्यायनकारकश्च । तालौ उदानवायुः ग्रसन - वमन - जल्पकारकश्च । नागवायुः सर्वाङ्गव्यापकः मोचकश्चालकश्च[30] । कूर्मवायुः चक्षुषोरुन्मेष - कारकश्च[31] । कृकलः उद्गारकश्च क्षुत्कारकश्च । देवदत्तो मुखे विजृम्भकः । धनञ्जयो नाद । घोषक इति दशवायुरवलोकनेन पिण्डोत्पत्तिः नरनारीरूपम् ।। ६८ ।।

अथ गर्भोलिपिंडोत्पत्तिः ।।

नरनारीसंयोगे ऋतुकाले ।। ६९ ।।

रजोबिन्दुसंयोगे सः जीवः

प्रथमदिने कललं[32] भवति सप्तरात्रे बुद्बुदाकारं भवति ।
अर्द्धमासे गोलाकारं भवति मासमात्रे कठिनं भवति ।
मासद्वयेन शिरो भवति तृतीये मासि हस्तपादादिकं भवति ।
चतुर्थे मासि चक्षुकर्णादि - नासिका - मुखं मेढ्रं[33] भवति ।
पञ्चमे मासि पृष्ठोदरौ भवतः षष्ठे मासि नखकेशादिकं भवति ।
सप्तमे मासि सर्वचेतनयुक्तो भवति अष्टमे मासि सर्वलक्षण—संयुक्तो भवति नवमे मासि सत्यज्ञानगर्भसंयुक्तो[34] भवति ।
दशमे मासि योनिसंस्पर्शादज्ञानी बालको भवति ।। ७० ।।

२४-नास्तिवाक्यमिदम्(ह.). २५-नास्ति वाक्यमिदम् (ह.). २६-"अस्यैवावस्थाभेदे हठयोग इति संज्ञा हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्याचन्द्रमसोयोगात् हठयोगो निगद्यते"। अधिकोऽयं पाठः (ह.). २७—कुम्भकपूरकश्च (ह.). २८—पाचकश्च (ह.). २९ – सर्वाङ्गे(ह.). ३० – शब्दोऽयं नास्ति (ह.). ३१—कुम्भकश्चक्षु (ह.). ३२—कलनं (यो.), कलिलं (का.). ३३—मेढ्रं गुदं (ह. का.). ३४ – सत्यज्ञानयुक्तः (ह.).

शुक्राधिक्ये पुरुषः रक्ताधिक्ये कन्या समशुक्ररक्ताभ्यां नपुंसकः परस्पर - स्त्री - पुरुष - चिन्ता - व्याकुलत्वादन्धः कुब्जः वामनः पङ्गुरङ्गहीनश्च भवति ॥ ७१ ॥

परस्पररतिकाले अङ्गनिपीडनकरणगुणैः शुक्रं द्वित्रिवारं पतति तेन द्वितीयो बालको भवति ॥ ७२ ॥

सार्द्धपलत्रयं शुक्रं विंशतिपलं रक्तं द्वादशपलं मेदः दशपलं मज्जा शतपलं मांसं विंशतिपलं श्लेष्मा तद्वत् वातं स्यात् षष्ट्यधिक - शत - त्रयमस्थीनि अस्थिमात्रं सन्धयः सार्द्धत्रय - कोटिरोमकूपाणि पितृमातृवीर्यं भवति । वात - पित्त - श्लेष्मधातुत्रयसहितं दशधातुमयं शरीरमिति गर्भोलिं[३५] पिण्डोत्पत्तिः ॥ ७३ ॥

इति गोरक्षनाथ-कृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ पिण्डोत्पत्तिर्नाम प्रथमोपदेशः ॥ १ ॥

३५—गर्भपिण्डोपात्तिः (का.).

द्वितीयोपदेशः

अथ पिण्डविचारः कथ्यते ॥

पिण्डे नवचक्राणि ॥ आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिधावर्तं भगमण्डलाकारं तत्र मूलकन्दः तत्र शक्तिं पानाकारां[1] ध्यायेत् तत्रैव कामरूपं पीठं सर्वकामप्रदं[2] भवति ॥ १ ॥

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत् तत्रैवोड्यानपीठं जगदाकर्षणं भवति ॥ २ ॥ तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पवत्कुण्डलाकारं तन्मध्ये कुण्डलिनीं शक्तिं बालार्ककोटिसदृशीं ध्यायेत् सा मध्या शक्तिः सर्वसिद्धिदा भवति ॥ ३ ॥

चतुर्थं हृदयाधारमष्टदलकमलमधोमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां लिङ्गाकारां ज्योतिर्ध्यायेत् सैव हंसकला सर्वेन्द्रियवश्या[3] भवति ॥ ४ ॥ पञ्चमं कण्ठचक्रं चतुरंगुलं तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां ध्यायेत् सैवानाहतकला अनाहतसिद्धिर्भवति ॥ ५ ॥

षष्ठं तालुचक्रं तत्रामृतधाराप्रवाहः घंटिकालिङ्गं मूलरन्ध्रं राजदन्तं शंखिनीविवरं दशमद्वारं तत्र शून्यं ध्यायेत् चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

सप्तमं भ्रूचक्रं मध्यमाङ्गुष्ठमात्रं ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत् वाचां सिद्धिर्भवति ॥ ७ ॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रनिर्वाणचक्रं सूचिकाग्रवेध्यं धूमशिखाकारं ध्यायेत् तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवति ॥ ८ ॥

---

१ – पावकाकारां (ह. तं.). २ – कामफलप्रदं (ह. तं.). ३ – सर्वेन्द्रियाणि वश्यानि (ह.).

नवममाकाशचक्रं षोडशदलकमलमूर्ध्वमुखं तन्मध्ये कर्णिकायां त्रिकूटाकारां तदूर्ध्वशक्तिं तां परमशून्यां ध्यायेत् तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिर्भवति ॥ ९ ॥

इति नवचक्रस्य विचारः ।

अथ षोडशाधारः कथ्यते ॥

तत्र प्रथमं पादाङ्गुष्ठाधारं तत्राग्रतस्तेजोमयं ध्यायेत् दृष्टिः स्थिरा भवति ॥ १० ॥

द्वितीयं मूलाधारं मूत्रं वामपार्ष्णिना निपीड्य स्थातव्यं तत्राग्नि-दीपनं भवति ॥ ११ ॥

तृतीयं गुदाधारं विकाससंकोचं निराकुञ्चयेत् अपानवायुः स्थिरो भवति ॥ १२ ॥

चतुर्थं मेढ्राधारं लिङ्गसंकोचनेन ब्रह्मग्रंथित्रयं भित्वा भ्रमर - गुहायां विश्रम्य तत ऊर्ध्वमुखे बिन्दुस्तम्भनं भवति । एषा वज्रौली प्रसिद्धा ॥ १३ ॥

पञ्चममोड्याणाधारयो बन्धनान्मलमूत्रसंकोचनं भवति ॥ १४ ॥

षष्ठे नाभ्याधारे ॐकारमेकचित्तेनोच्चारिते नादलँयो भवति ॥ १५ ॥

सप्तमे हृदयाधारे प्राणं निरोधयेत् कमलविकासो भवति ॥ १६ ॥

अष्टमे कण्ठाधारे कण्ठमूलं चिबुकेन निरोधयेत् इडापिंगलयोर्वायुः स्थिरो भवति ॥ १७ ॥

नवमे घण्टिकाधारे जिह्वाग्रं धारयेत् अमृतकला स्रवति ॥ १८ ॥

दशमे ताल्वाधारे ताल्वन्तगर्भे लंबिकां चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृत्वा विपरीतेन प्रवेशयेत् काष्ठी भवति ॥ १९ ॥

एकादशमथ जिह्वाधारं तत्र जिह्वाग्रं धारयेत् सर्वरोगनाशो भवति ॥ २० ॥

---

४ – नादोदयमुपैति (का.).

द्वादशं भ्रूमध्याधारं तत्र चन्द्रमन्डलं ध्यायेत् शीतलतां याति ॥ २१ ॥

त्रयोदशं नासाधारं तस्याग्रं लक्षयेत् मनः स्थिरं भवति ॥ २२ ॥

चतुर्दशे नासामूलं कवाटाधारं तत्र दृष्टिं धारयेत् षण्मासाज्ज्योतिः-पुंजं पश्यति ॥ २३ ॥

पञ्चदशे ललाटाधारं तत्र ज्योतिःपुंजं लक्षयेत् तेजस्वी भवति ॥ २४ ॥

अवशिष्टे ब्रह्मरन्ध्रे आकाशचक्रं तत्र श्रीगुरुचरणाम्बुजयुग्मं सदावलोकयेत् आकाशवत्पूर्णो भवति । इतिषोडशाधारः ॥ २५ ॥

अथ लक्ष्यत्रयं ॥

मूलकन्दाद्दण्डलग्नां ब्रह्मनाडीं श्वेतवर्णां ब्रह्मरन्ध्रपर्यंतं गतां संस्मरेत् । तन्मध्ये कमलतन्तुनिभां विद्युत्कोटिप्रभामूर्ध्वगामिनीं तां मूर्तिं मनसा लक्षयेत्[६] तत्र सर्वसिद्धिदा भवति ॥ २६ ॥

अथवा ललाटोर्ध्वे कोल्लाँटमण्डपे स्फुरत्काराकारं लक्षयेत् । अथवा भ्रमरगुहामध्ये आरक्तभ्रमराकारं लक्षयेदथवा कर्णद्वयं तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ततः शिरोमध्ये धूं धूं कारं नादं श्रृणोति अथवा चक्षुर्मध्ये नीलज्योतिरूपं पुतल्याकारं लक्षयेदित्यन्तर्लक्ष्यम् ॥ २७ ॥

बहिर्लक्ष्यं कथ्यते ॥

नासाग्रात् बहिरंगुलचर्तुष्टये नीलज्योतिःसंकाशं लक्षयेत् । अथवा नासाग्रात् षडंगुल अधोवायुतत्वं धूम्रवर्णं लक्षयेदथवा अष्टांगुले आरक्तं तेजस्तत्वं लक्षयेत् अथवा दशाङ्गुले कल्लोलवदापस्तत्वं लक्षयेत् । अथवा नासाग्रात् द्वादशाङ्गुले पीतवर्णं पार्थिवतत्वं लक्षयेदथवा आकाशमुखं दृष्ट्वावलोकयेत्

५–धारयेत् (ह.). ६–ध्यायेत् (ह.). ७–गोल्ललाट (ह.). ८–द्वयमारक्तं तेजस्तत्वं (ह. तं.).

किरणानाकुलितं पश्यति एवं निर्मलीकरणम् । अथवोर्ध्व-दृष्ट्यान्तरालं लक्षयेत् ज्योतिर्मुखानि पश्यति अथवा यत्र तत्राकाशं लक्षयेदाकाशसदृशं चित्तं मुक्तिप्रदं भवति अथवा दृष्ट्यान्तस्तप्तकांचनसंनिभां भूमिं लक्षयेत् दृष्टिः स्थिरा भवति । इत्यनेकविधं बहिर्लक्ष्यम् ॥ २८ ॥

अथ मध्यमं लक्ष्यं कथ्यते ॥
श्वेतवर्णं वा रक्तवर्णं वा कृष्णवर्णं
वा अग्निशिखाकारं वा ज्योतिरूपं वा विद्युदाकारं सूर्यमण्डलाकारं
वा अर्द्धचन्द्राकारं वा यथेष्टस्वपिण्डमात्रं
स्थानवर्जितं मनसा लक्षयेत् इत्यनेकविधं मध्यमं लक्ष्यम् ॥ २९ ॥

अथ व्योमपञ्चकं लक्षयेत् ॥ आकाशं पराकाशं महाकाशं तत्वाकाशं सूर्याकाशमिति व्योमपञ्चकम् । बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्तं निर्मलं निराकारमाकाशं लक्षयेत् । अथवा बाह्याभ्यन्तरेऽत्यन्तान्धकारनिभं पराकाशमवलोकयेत् । बाह्याभ्यन्तरे कालानलसंकाशं महाकाशमवलोकयेत् । बाह्याभ्यन्तरे निजतत्वस्वरूपं तत्वाकाशवलोकयेत् । अथवा बाह्याभ्यन्तरे सूर्यकोटिसदृशं सूर्याकाशमवलोकयेत् । एवं व्योम-पञ्चकावलोकनेन व्योमसदृशो भवति ॥ ३० ॥

उक्तञ्च :—

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामधारकः ॥ ३१ ॥

अथ अष्टाङ्ग योगः ।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि । यम इति उपशमः

·किरणा आकुलितं तटं (तं.). १०—तत्र (ह.).

सर्वेन्द्रियजयः आहार - निद्रा - शीत - वातातपजयश्चैवं शनैः शनै साधयेत् ।। ३२ ।।

नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनमिति एकान्तवासो निःसंगतौ-दासीन्यं यथा - प्राप्ति - सन्तुष्टिर्वैरस्यं गुरुचरणावरूढत्वमिति नियमलक्षणम् ।। ३३ ।।

आसनमिति स्वस्वरूपे समासन्नता । स्वस्तिकासनं पद्मासनं सिद्धासनमेतेषां मध्ये यथेष्टमेकं विधाय सावधानेन स्थातव्यं इत्यासनलक्षणम् ।। ३४ ।।

प्राणायाम इति प्राणस्य स्थिरता रेचक - पूरक - कुम्भक-संघट्टकरणानि चत्वारि प्राणायाम - लक्षणम् ।। ३५ ।।

प्रत्याहारमिति चैतन्यतरङ्गीणां[11] प्रत्याहरणं यथा नानाविकारग्रसनोत्पन्न-विकारस्यापि निवृत्तिः निर्भातीति प्रत्याहारलक्षणम् ।। ३६ ।।

धारणेति सबाह्याभ्यन्तर एकमेव निजतत्वस्वरूपमेवान्तः-करणेन साधयेत् यथा यद्यदुत्पद्यते तत्तन्निराकारे धारयेत् स्वात्मानं निर्वातदीपमिव धारयेदिति धारणालक्षणम् ।। ३७ ।।

अथ ध्यानमिति ।। अस्ति कञ्चन परमाद्वैतस्य भावः स एव आत्मेति यथा यद्यत्स्फुरति तत्तत्स्वरूपमेवेति भावयेत् सर्वभूतेषु समदृष्टिश्चेति ध्यानलक्षणम् ।। ३८ ।।

अथ समाधिलक्षणम् । सर्वतत्वानां समावस्था निरुद्यमत्वमनायास-स्थितिमत्त्वमिति समाधिलक्षणम् ।। इति अष्टाङ्गयोगलक्षणम् ।।

।। इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिध्दसिध्दान्तपद्धतौ
पिण्डविचारो नाम द्वितीयोपदेशः ।। २ ।।

---

११ – तुरङ्गाणां (ह. का.).

तृतीयोपदेशः

अथ पिण्ड-संवित्तिः कथ्यते ।
पिण्डमध्ये चराचरौ यो जानाति
स योगी पिण्ड-संवित्तिर्भवति ॥ १ ॥

कूर्मः पादतले वसति पातालं पादाङ्गुष्ठे तलातलमङ्गुष्ठाग्रे
महातलं पृष्ठे रसातलं गुल्फे सुतलं जङ्घायां वितलं जान्वोः
अतलमुर्वोरेवं सप्तपातालं रुद्रदेवताधिपत्ये तिष्ठति
पिण्डमध्ये क्रोधरूपी भावः स एव कालाग्निरुद्रः ॥ २ ॥

भूर्लोकं गुह्यस्थाने भुवर्लोकं लिङ्गस्थाने स्वर्लोकं नाभिस्थाने
एवं लोकत्रये इन्द्रो देवता पिण्डमध्ये सर्वेन्द्रियनियामकः
स एवेन्द्रः ॥ ३ ॥

दण्डाङ्कुरे महर्लोकः दण्डकुहरे जनो लोकः दण्डनाले तपो
लोकः मूलकमले सत्यलोकः एवं लोकचतुष्टये ब्रह्मादि-
देवता पिण्डमध्ये अनेकमानाभिमानस्वरूपी तिष्ठति ॥ ४ ॥

विष्णुलोकः कुक्षौ तिष्ठति तत्र विष्णुर्देवता पिण्डमध्येऽनेक-
व्यापारकारको भवति । हृदये रुद्रलोकः तत्र रुद्रो देवता
पिण्डमध्ये उग्रस्वरूपी तिष्ठति । वक्षःस्थले ईश्वरलोकः
तत्र ईश्वरो देवता पिण्डमध्ये तृप्तिस्वरूपी तिष्ठति । कण्ठमध्ये
नीलकण्ठो लोकस्तत्र नीलकण्ठो देवता पिण्डमध्ये नित्यं
तिष्ठति । तालुद्वारे शिवलोकस्तत्र शिवो देवता पिण्डमध्येऽ
नुपमस्वरूपी तिष्ठति । लम्बिकामूले भैरवलोकस्तत्र
भैरवो देवता पिण्डमध्ये सर्वोत्तमस्वरूपी तिष्ठति ॥ ललाट-
मध्येऽनादिलोकस्तत्रानादि-देवता पिण्डमध्ये आनन्दपरा-

१ – महातलं पादपृष्ठे (ह. नं.).

हन्तास्वरूपी तिष्ठति ।। शृङ्गारे कुललोकस्तत्र कुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये आनंदस्वरूपी तिष्ठति । शंखमध्ये नलिनीस्थाने अकुलेश्वरो देवता पिण्डमध्ये निरभिमानावस्था तिष्ठति । ब्रह्मरन्ध्रे परब्रह्म-लोकस्तत्र परब्रह्म देवता पिण्डमध्ये परिपूर्णदशा तिष्ठति । ऊर्ध्वकमले परापर-लोकस्तत्र परमेश्वरो देवता पिण्डमध्ये परापरभावस्तिष्ठति । त्रिकूटस्थाने शक्तिलोकस्तत्र पराशक्तिर्देवता सर्वासां सर्व-कर्तृत्वावस्था तिष्ठति । एवं पिण्डमध्ये सप्तपातालसहितैकविंशतिब्रह्माण्ड-स्थान-विचारः ।। ५ ।।

सदाचारतत्वे ब्राह्मणाः वसन्ति शौर्ये क्षत्रियाःव्यवसाये वैश्याः सेवाभावे शूद्राश्चतुषष्टिकलास्त्वपि चतुःषष्टिवर्णाः ।। ६ ।।

अथसप्त समुद्राः सप्त द्वीपाः कथ्यन्ते ।
मज्जायां जम्बूद्वीपः अस्थिषु[२] शक्तिद्वीपः
शिरासु सूक्ष्मद्वीपः त्वक्षु क्रौञ्चद्वीपः
रोमसु गोमयद्वीपः नखेषु श्वेतद्वीपः मांसे (अस्थिनि) प्लक्ष-द्वीपः एवं सप्तद्वीपाः ।। ७ ।।

मूत्रे क्षार-समुद्रः लालायां क्षीर-समुद्रः कफे दधि-समुद्रः मेदसि घृत-समुद्रः वसायां मधु-समुद्रः रक्ते इक्षु-समुद्रः शुक्रेऽमृत—समुद्रः एवं सप्तसमुद्राः ।। ८ ।।

नवखण्डाः नव द्वारेषु वसन्ति । भारत[४]खण्डः काश्मीरखण्डः कर्पर[५]खण्डः श्रीखण्डः शंखखण्डः एकपादखण्डः गान्धारखण्डः कैवर्तकखण्डः महामेरुखण्डः एवं नवखण्डाः ।। ९ ।।

२—नास्ति वाक्यमिदम् (यो. तं). ३—शाकद्वीपः (ह.), शाल्मलिद्वीपः (क्रा.), मस्तिष्के शाकद्वीपः (तं). ४—भाई खण्डा (यो.). ५—खर्वखण्डः (तं.), कर्परखण्डः (ह.).

मेरुपर्वतो मेरुखण्डे वसति कैलासो ब्रह्मकपाटे वसति हिमालयः पृष्ठे मलयो वामकन्धरे मन्दरो दक्षिणकन्धरे विन्ध्यो दक्षिणकर्णे मैनाकः वामकर्णे श्री-पर्वतो ललाटे एवमष्ट कुलपर्वताः अन्ये उपपर्वताः सर्वाङ्गुलिषु वसन्ति ॥ १० ॥

पीनसा गंगा यमुना चन्द्रभागा सरस्वती । पिपासा शतरुद्रा च श्रीरात्रिश्चैव नर्मदा एवं नव नद्यो नवनाडीसु वसन्ति ॥ ११ ॥

अन्या उपनद्यः कुल्योपकुल्याः द्विसप्तति-सहस्र-नाडीसु वसन्ति ॥ १२ ॥

सप्तविंशति नक्षत्राणि द्वादश राशयः नव ग्रहाः पञ्च-दश तिथयः एते अन्तर्वलये द्विसप्तति-सहस्र-स्वहस्त-कोष्ठेषु वसन्ति । अनेकतारामण्डलं ऊर्मिषु वसन्ति । त्रयस्त्रिंशत्-कोटि-देवता बाहुरोमकूपेषु वसन्ति । अनेकपीठोपपीठकाः रोम-कूपेषु वसन्ति । देवदानव-यक्ष-राक्षस-पिशाच-भूतप्रेताः अस्थिसन्धिषु वसन्ति । कुलनागा वक्षसि वसन्ति । अन्ये सनकादिमुनिसंघाः कक्षरोमकूपेषु वसन्ति । अन्ये पर्वता उदर-लोमसु वसन्ति । गन्धर्व-किन्नर-किंपुरुषा अप्सरसो गणा उदरे वसन्ति । अन्याः खेचरी-लीला-मातरः शक्तयः उग्रदेवता वायुवेगे वसन्ति । अनेकमेघाः अश्रुपाते वसन्ति । अनेकतीर्थानि मर्मस्थाने वसन्ति । अनन्तासिद्धाः मतिप्रकाशे वसन्ति । चन्द्रसूर्यौ नेत्रद्वये वसतः । अनेक-वृक्षलता-गुल्मतृणानि जंघारोमककूपस्थाने वसन्ति । अनेककृमिकीटपतङ्गाः पुरीषे वसन्ति ॥ १३ ॥

यत्सुखं तत्स्वर्गं यद्दुःखं तन्नरकं यत्कर्म तद्बंधनं यन्निर्वि-कल्पं तन्मुक्तिः स्वस्वरूपदशायां निद्रादौ स्वात्मजागरः शान्तिर्भवति । एवं सर्वदेहेषु विश्वस्वरूपः परमेश्वरः

६–दण्डे (ह. का.). ७–पीतसा (नं.). ८–वितस्ता (का.).

परमात्मा अखण्डस्वभावेन घटे घटे चित्स्वरूपी तिष्ठति ।
एवं पिण्डसंवित्तिर्भवति ॥ १४ ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डसंवित्ति र्नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

चतुर्थोपदेशः

अथपिण्डाधारः कथ्यते ॥

अस्ति काचिद्परम्परा संवित्स्वरूपा
सर्वापिण्डाधारत्वेन नित्यप्रबुद्धा निजा शक्तिः
प्रसिद्धा कार्यकारणकतणामुत्थान-दशांकुरोन्मीलनेन
कर्तारं करोति अतएवा[1]धारशक्तिरिति कथ्यते ।
अत्यन्तं निजप्रकाश–स्वसंवेदानुभवैक्यगम्यमान–शास्त्र
लौकिक–साक्षात्कार–साक्षिणी सा परॉचिद्रूपिणी[2]
शक्तिर्गीयते । सैव शक्ति र्यदा सहजेन स्वास्मिन्नुन्मीलिन्यां
निरुत्थानदशायां वर्तते तदा शिवः सैव भवति ॥ १ ॥

अतएव कुलाकुलस्वरूपा सामरस्य–निज–भूमिका निगद्यते ॥ २ ॥

कुलमिति । परासत्ताहन्ता–स्फुरत्ता–कलास्वं[3]-
रूपेण सैव पञ्चधा विश्वस्याधारत्वेन तिष्ठति ॥ ३ ॥

अतएव परापरा निराभासावभासकात्प्रकाशं[4]स्वरूपा या सा परा ॥ ४ ॥
अनादि–संसिद्धा परमाद्वैत–परमेकमेवास्तीति या
अङ्गीकारं करोति सा सत्ता ॥ ५ ॥

अनादिनिधनोऽप्रमेय–स्वभावः किरणानन्दोऽस्म्यहमि-
त्यहं–सूचनशीला या सा पराऽहन्ता ॥ ६ ॥

स्वानुभव–चित्तचमत्कार–निरुत्थान–दशां प्रस्फुटी
करोति या सा स्फुरत्ता ॥ ७ ॥

नित्य–शुद्ध–बुद्ध–स्वरूपस्य स्वयं प्रकाशत्वमाकलयतीति
या सा पराकलेति उच्यते ॥ ८ ॥

१–अनन्तराधार (ह.). २–पराचिद्रूपिणी (ह.). ३–पराभासत्वादहन्ता सत्ता स्फुरत्ता कुला (यो.). ४–संवित् (तं.).

अकुलमिति । जातिवर्ण – गोत्राद्यखिल – निमित्तत्वेनैकमेवास्तीति प्रसिद्धं ।

तथा चोक्तमुमामहेश्वरसंवादे :–

निरुत्तरेऽनन्यत्वादखण्डत्वादद्वयत्वादनन्याश्रयत्वाद्
निर्धामत्वादनामत्वादकुलं स्यान्निरुत्तरमिति ॥ ९ ॥

एवं कुलाकुल–सामरस्य–प्रकाश–भूमिका – स्फुटीकरणे एकैव समर्था या साऽपरम्परा शक्तिरेवावशिष्यते । अपरम्परं निखिल – विश्वप्रपञ्चजालं परं तत्त्वं सम्पादयत्येकीकरोत्य-पराम्पराशक्तिराशावती प्रसिद्धा ॥ १० ॥

उक्तं ललित - स्वच्छन्दे :—

अकुलं कुलमाधत्ते कुलं चाकुलमिच्छति ।
जल - बुद्बुदवद्-न्यायादेकाकारः परः शिवः ॥ ११ ॥

अतएवैकाकार एवानन्त - शक्तिमान् निजानन्दतयावस्थि-तोऽपि नानाकारत्वेन विलसन् स्वप्रतिष्ठां स्वयमेव भजतीति व्यवहारः ।

उक्तं प्रत्यभिज्ञायाम् :—

अलुप्त - शक्तिमान्नित्यं सर्वाकारतया स्फुरन् ।
पुनः स्वेनैव रूपेण एक एवावशिष्यते ॥ १२ ॥

अतएव परमकारणं परमेश्वरः परात्परः शिवः स्वरूपतया सर्वतोमुखः सर्वाकारतया स्फुरितुं शक्नोतीत्यतः शक्तिमान् ।

उक्तं वामकेश्वरतन्त्रे :—

शिवोऽपि शक्तिरहितः शक्तः कर्तुं न किञ्चन ।
स्वशक्त्या सहितः सोऽपि सर्वस्याभासको भवेत् ॥ १३ ॥

अतएवानन्त - शक्तिमान् परमेश्वरः विश्वसंवित्स्वरूपी विश्वमयो भवतीति प्रसिद्धं सिद्धानां च परापर - स्वरूपा कुण्डलिनी

५–अनाशनात् (का.), अनाश्रयात् (तं.). ६–निरन्तरं (का.). ७–अपराशक्ति (ह.).

वर्तते । अतस्ते पिण्डसिद्धाः प्रसिद्धाः । सा कुण्डलिनी प्रबुद्धाऽप्रबुद्धा चेति द्विधा । अप्रबुद्धेति तत्तत्पिण्डे चेतन-रूपा (स्वभावेन नाना-चिन्ता—व्यापारोद्यमप्रपंचरूपा) कुटिल-स्वभावा कुण्डलिनी ख्याता । सैव योगिनां तत्तद्विलसितविकाराणां निवारणोद्यम-स्वरूपा कुण्डलिन्यूर्ध्वगामिनी सुप्रसिद्धा भवति ॥ १४ ॥

ऊर्ध्वामिति । सर्व-तत्वान्यपि स्व-स्वरूपमेवेत्यूर्ध्वे वर्तते अतएव सा विमर्शरूपिणी योगिनः स्व-स्वरूपमवगच्छन्तीति सुप्रसिद्धा ॥ १५ ॥

तथा चोक्तमेवरूलकं :—

ध्यशक्ति-प्रबोधेन अधः-शक्ति-निकुञ्चनात् ।
ऊर्ध्वे-शक्ति-निपातेन प्राप्यते परमं पदम् ॥ १६ ॥

एकैव सा मध्योर्ध्वधः-प्रभेदेन त्रिधा भिन्ना शक्तिरभि-धीयते ॥ १७ ॥

बाह्येन्द्रिय-व्यापार-नाना-चिन्तामया सैवाधः-शक्तिरुच्यते । अतएव ये योगिनः तस्या आकुञ्चनं मूला-धार-बन्धनात् सिद्धं स्यात् । यस्माच्च चराचरं जगदिदं चिदचिदात्मकं प्रभवति । तदेव मूलाधारं संवित्प्रसरं प्रसिद्धम् ॥ १८ ॥

उक्तं शिवानन्दाचार्यैः :—

सर्व-शक्ति-प्रसर-संकोचाभ्यां जगत्सृष्टिः संहृतिश्च भवत्येव न सन्देहः तस्मात्तां मूलमि-त्युच्यते । अतः प्रायेण सर्वसिद्धाः मूलाधार-रता भवन्ति ॥ १९ ॥

तरङ्गित-स्वभावं जीवात्मानं वृथा भ्रमन्तमपि स्वप्रकाशमध्ये स्व-स्वरूपतया सर्वदा धारयितुं समर्था या सा मध्याशक्तिः कुण्डलिनी गीयते ।
स्थूल-सूक्ष्म-रूपेण महासिद्धान्तं प्रतीयते इति निश्चयः ॥ २० ॥

८—आकुञ्चने रता यस्याकुञ्चन (ह.).

स्थूलेति निखिल-ग्राह्याधार-ग्राह्यस्वरूपापि पदार्थान्तरैर्भ्राम्यमाणा इव तद्रूपा वर्तते सा कुण्डलिनी साकार-स्थूला पुनस्त्वियमेव स्व-प्रसार-चातुर्यतया वर्तमाना योगिनां परानन्दतया कुण्डलिनी या निश्चयभूता वर्तते सा सूक्ष्मा निराकारा प्रबुद्धा महासिद्धानां मते प्रसिद्धा ॥ २१ ॥

उक्तं तत्वसारे :—

सृष्टिः कुण्डलिनी ख्याता द्विधा भावगता तु सा ।
एकधा स्थूलरूपा च लोकानां प्रत्यया(गा)त्मिका ॥ २२ ॥

अपरा सर्वगा सूक्ष्मा व्याप्तिव्यापक-वर्जिता ।
तस्या भेदं न जानाति मोहितः प्रत्ययेन तु ॥ २३ ॥

तस्मात्सूक्ष्मा परा संवित्स्वरूपा मध्याशक्तिः कुण्डलिनी योगिभिर्देह-सिद्ध्यर्थ सद्गुरु-मुखाज्ज्ञात्वा स्व-स्वरूप-दशायां प्रबोधनीया ॥ २४ ॥

अथ ऊर्ध्व-शक्तिनिपातः कथ्यते ।

सर्वेषां तत्वानामुपरि-वर्तमानत्वान्निर्नाम परमं पदमेव ऊर्ध्वं प्रसिद्धं तस्याः स्व-संवेदन-नाना-साक्षात्कारसूचनशीला या ऊर्ध्व-शक्तिरभिधीयते । तस्याः निपातनमिति स्व-स्वरूप-द्विधा-भास-निरासः किन्तु स्व-स्वरूपाखण्डत्वेन भवति ॥ २५ ॥

उक्तं च —

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरः शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ २६ ॥

अत ऊर्ध्व-शक्ति-निपातेन महासिद्ध-योगिभिः परमपदं प्राप्यत इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

९—चिद्रूपा (ह.). १०—व्याप्य (तं.).

उक्तश्च :—

सत्वे सत्वे सकलरचना राजते संविदेका ।
तत्त्वे तत्त्वे परम - महिमा संविदेवावभाति ।। २८ ।।

भावे भावे बहुल तरला लम्पटा संविदेषा ।
भासे भासे भजन—चतुरा बृंहिता संविदेव ।। २९ ।।

किमुक्तं भवति परापर—विमर्शरूपिणी संविन्नाना—शक्ति—रूपेण निखिल—पिण्डाधारत्वेन वर्तते इति सिद्धान्तः ।। ३० ।।

।। इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डाधारो नाम चतुर्थोपदेशः ।। ४ ।।

पञ्चमोपदेशः

अथ पिण्डपदयोः समरसकरणं कथ्यते—

महासिद्धयोगिभिः पूर्वोक्तक्रमेण परपिण्डादिस्वपिण्डान्तं ज्ञात्वा परमपदे समरसं कुर्यात् ॥ १ ॥

परमपदमिति स्वसंवेद्यं अत्यन्ताभासाभासकमयं ॥ २ ॥

उक्तं तत्त्वसंहितायाम्ः—

यत्र बुद्धिर्मनो नास्ति तत्त्वविन्नापरा कला ।
ऊहापोहौ न कर्तव्यौ वाचा तत्र करोति किम् ॥
वाग्मिना गुरुणा सम्यक् कथं तत्पदमीयते ।
तस्मादुक्तं शिवेनैव स्वसंवेद्यं परंपदम् ॥ ३ ॥

अतएव नानाविध–विचारचातुर्य–वचसा[1] विस्मयां[2] गत्वा गुरुचरणरतत्वात्[3] निर्णीतत्वात् स्वसंवेद्यमेव परमं पदम् प्रसिद्धमिति सिद्धान्तः ॥४॥

गुरुरत्र सम्यक् सन्मार्गदर्शनशीलो भवति । सन्मार्गो योगमार्गस्तदितरः पाषंडमार्गः ।

तदुक्तमादिनाथेन[4]ः—

योगमार्गेषु तंत्रेषु दीक्षितास्तांश्च दूषकाः ।
ते हि पाषंडिनः प्रोक्ताः तथा तैः सहवासिनः ॥ ५ ॥

यस्मिन् दर्शिते सति तत्क्षणात् स्वसंवेद्यसाक्षात्कारः समुत्पद्यते । ततो गुरुरेवात्र कारणमुच्यते ॥ ६ ॥

तस्माद्गुरुकटाक्षपातात् स्वसंवेद्यतया च महासिद्धयोगिभिः स्वकीयं पिण्डं निरुत्थानानुभवेन समरसं क्रियते इति सिद्धान्तः ॥ ७ ॥

१–चर्चा (ह.). २–सारांग (तं.). ३–कृपातत्वमात्रेण (हं.), गुरुचरणत्वात् निरुपाधिकत्वात् निर्निकेतत्वात् (तं.). ४–आचार्यस्वामिना (तं.).

तद्यथा—निरुत्थानप्राप्त्युपायः कथ्यते ।
महासिद्धयोगिनः स्वस्वरूपतयानुसन्धानेन निजावेशो भवति
निजावेशान्निपीडित – निरुत्थान – दशा – महोदयः कश्चिज्जायते ।
ततः सच्चिदानन्द – चमत्कारात् अद्वैताकारप्रकाशप्रबोधो जायते ।
प्रबोधादखिलमेतद् द्वयाद्वय – प्रकटतया चैतन्यभासाभासकं परात्परं
पदमेव प्रस्फुटं भवतीति सत्यं ॥ ८ ॥

अत एव महासिद्धयोगिभिः सम्यक् (उक्त) गुरुप्रसादं लब्ध्वाऽ—
वधान – बलेनैक्यं भजमानैस्तत्क्षणात् परमं पदमेवानुभूयते ॥ ९ ॥

तदनुभवबलेन स्वकीयं सिद्धं सम्यक् निजपिण्डं परिज्ञात्वा
तमेव परमपदे एकीकृत्य तस्मिन् प्रत्यावृत्यारूढेवाभ्यन्तरे स्वपिण्ड
सिद्ध्यर्थं महत्त्वमनुभूयते ॥ १० ॥

निजपिण्डमिति स्वरूपकिरणानन्दोन्मेषमात्रं यस्योन्मेषस्य प्रत्या-
हरणमेव समरसकरणं भवति ॥ ११ ॥

अतएव स्वकीयं पिण्डं महारश्मिपुंजं स्वेनैवाकारेण प्रतीयमानं
स्वानुसन्धानेन स्वस्मिन्नुररीकृत्य महासिद्धयोगिनः पिण्डसिद्ध्यर्थं
तिष्ठन्तीति प्रसिद्धम् ॥ १२ ॥

अथ पिण्डसिद्धौ वेषः कथ्यते—

शंखमुद्राधारणञ्च केशरोमप्रधारणम् ।
अमरीपानममलं तथा मर्दनमुत्कटम् ॥ १३ ॥

एकान्तवासो दीक्षा च सन्ध्या जपमाश्रया ।
ज्ञानभैरवमूर्तेस्तु तत्पूजा च सुरादिभिः ॥ १४ ॥

शंखाध्मातं सिंहनादं कौपीनं पादुका तथा ।
अङ्गवस्त्रं बहिर्वस्त्रं कम्बलं छत्रमद्भुतम् ॥ १५ ॥

५ – भूतकरणं (तं.). ६ – पिण्डपरीक्षा च स्व (ह.). ७ – उत्तमम् (ह.).
८ – जपममायया (ह.). ९ – यथाविधिः (ह.).

वेत्रं कमंडलुश्चैव भस्मना च त्रिपुण्ड्रकम् ।
कूर्यादेतान् प्रयत्नेन गुरुवन्दनपूर्वकम् ।
तेषां पिण्डसिद्धौ सत्यां सर्वसिद्धयः सन्निधाना भवन्ति ।। १७ ।।

उक्तश्च :—

यस्मिन् ज्ञाते जगत्सर्वं सिद्धं भवति लीलया ।
सिद्धयः स्वयमायान्ति तस्माद् ज्ञेयं परमं पदम् ।। १८ ।।

परं पदं न वेषेण प्राप्यते परमार्थतः ।
देहमूलं हि वेषं स्याल्लोकप्रत्ययहेतुकम् ।। १९ ।।

लोके निकृष्टमुत्कृष्टं परिगृह्य पृथक् कृतम् ।
तत्स्वधर्म इति प्रोक्तो योगमार्गे विशेषतः ।। २० ।।

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।। २१ ।।

शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा ।
योगः सन्नहनोपायो ज्ञानसंगतियुक्तिषु ।। २२ ।।

लोके निकृष्टं सततं यं वा यं वा प्रकुर्वतो ।
तं वा तं वा वर्जयन्ति लोकज्ञानबलेन तु ।। २३ ।।

मनुष्याणां च सर्वेषां प्राक्संस्कारवशादिह ।
शास्त्र—युक्ति—समाचारः क्रमेण भवति स्फुटम् ।। २४ ।।

एवं पिण्डे संसिद्धे ज्ञानप्राप्त्यर्थं तच्च परमपदं महासिद्धानां
मतं परिज्ञाय तस्मिन्नहंभावे जीवात्मा च सहजसंयम—
सोपायाद्वैतक्रमेणोपलक्ष्यते ।। २५ ।।

तत्र सहजमिति ।
विश्वातीतं परमेश्वरं विश्वरूपेणावभासमानमिति
एकमेवास्तीति स्वस्वभावेन यद् ज्ञानं तत्सहजं प्रसिद्धम् ।। २६ ।।

१०-ध्यान (तं.).

संयम इति । सावधानानां प्रस्फुरद्-व्यापाराणां निजवृत्तीनां संयमनं कृत्वा आत्मनि धीयते इति संयमः ॥ २७ ॥

सोपायमिति । स्वयमेव प्रकाशमयं स्वेनैव स्वात्मन्येकीकृत्य सदा तत्त्वेन स्थातव्यम् ॥ २८ ॥

अद्वैतमिति । अकर्तृतयैव योगी नित्यतृप्तो निर्विकल्पः सदा निरुत्थानत्वेन तिष्ठति ॥ २९ ॥

उक्तश्च :—

सहजं स्वात्मसंवित्तिः संयमः स्वात्मनिग्रहः[11] ।
सोपायः स्वस्य विश्रान्तिरद्वैतं परमं पदम् ॥ ३० ॥

तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रात् नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानान्नाचाराद्वेदपाठनात्[12] ॥ ३१ ॥

वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात् ।
न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात् ॥ ३२ ॥

न ध्यानान्न लयाल्लीनः[13] सर्वज्ञः[14] सिद्धिपारगः
स्वेच्छो योगी स्वयंकर्ता लीलया चाजरोऽमरः ॥ ३३ ॥

अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ।
इत्येवं निश्चलो योऽसौ क्रमादाप्नोति लीलया ॥ ३४ ॥

असाध्याः सिद्धयः सर्वाः सत्यमीश्वरभासितम् ।
प्रथमे त्वरोगतासिद्धिः सर्वलोकप्रियो भवेत् ।
कांक्षते दर्शनं तस्य स्वात्मारूढस्य नित्यशः ॥ ३५ ॥

कृतार्थः[15] स्याद्द्वितीये तु कुरुते सर्वभाषया[16] ।
तृतीये दिव्यदेहस्तु व्यालैर्व्याघ्रैर्न बाध्यते ॥ ३६ ॥

---

११ – स्व स्व निग्रहः (ह.). १२ – पारगात् (ह.). १३ – लयाल्लीनात् मौन कर्म समाश्रयात् लीने पिण्डे भवेद् योगी (तं.). १४ – सद्गुरोः करुणां विना (ह.). १५ – कविता (तं.). १६ – भाषणं.

चतुर्थे क्षुत्तृषानिद्राशीततापविवर्जितः ।
जायते दिव्ययोगीशो दूरश्रावी न संशयः ॥ ३७ ॥

वाक्सिद्धिः पञ्चमे वर्षे परकायप्रवेशनम् ।
षष्ठे न छिद्यते शस्त्रैर्वज्रपातैर्न बाध्यते ॥ ३८ ॥

वायुवेगी क्षितित्यागी दूरदर्शी च सप्तमे ।
अणिमादिगुणोपेतस्त्वष्टमे वत्सरे भवेत् ॥ ३९ ॥

नवमे वज्रकायः स्यात् खेचरो दिक्चरो भवेत् ।
दशमे पवनाद्वेगी यत्रेच्छा तत्र धावति ॥ ४० ॥

सम्यगेकादशे वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिभाग्भवेत् ।
द्वादशे शिवतुल्योऽसौ कर्ता हर्ता स्वयं भवेत् ॥ ४१ ॥

त्रैलोक्ये पूज्यते सिद्धः सत्यं श्रीभैरवो यथा ।
एवं द्वादशवर्षेषु सिद्धयोगी महाबलः ॥
जायते सद्गुरोः पादप्रभावान्नात्र संशयः ॥ ४२ ॥

गुरुकुलसन्तानश्चेति पञ्चधा प्रोक्तम्
आई–सन्तानं विलेश्वर–सन्तानं विभूति–सन्तानं नाथ–सन्तानं योगीश्वर–सन्तानश्चेति एषामपि सन्तानानां पृथक् पृथक् वैशिष्ट्यं वर्तते ॥ ४३ ॥

परमार्थतः सव पाञ्चभौतिकं । तज्जार्ताः पुरुषाः । (स्वबोध) सम्बोधमात्रैकरूपः सशिवः । तदितरत्सर्वमज्ञानमव्यक्तं भवति तत्र शिवस्तु ज्ञानं ॥ ४४ ॥

एतेषामपि सन्तानानां केचित्स्वरूपपराङ्मुखाः वेशमात्रसम्पन्नाः क्रयविक्रयादिकं कुर्वन्ति सन्तानभेदं प्रत्यन्योऽन्यमधः कुर्वन्ति योगमार्गं द्वेषयन्ति ॥ ४५ ॥

---

१७ – यत्रेच्छा तत्र धावति (यो.). १८ – न जाताः (ह.).

रजसा घोरसंकल्पाः कामुकाः अतिमन्यवेः[19] ।
दाम्भिकाः मानिनः पापाः धिक्कुर्वन्त्यीश्वरप्रियान् ।। ४६ ।।

साधुसङ्गम – सच्छास्त्र – परमानन्द – लक्षितान् ।
स्वेच्छाचारविहारैक – ज्ञानविज्ञानसंयुतान् ।। ४७।।

यूयं दुष्टा वयं शिष्टा भ्रष्टा यूयं वयं तथा।
इत्येवं परिवदन्ति संभ्रमोहे निरन्तरम् ।। ४८ ।।

पृथ्वी जलं तथा वह्निः वायुराकाशमेव च ।
एते सन्तानोदयास्तु सम्यगेव प्रकीर्तिताः ।। ४९ ।।

काठिन्यश्चार्द्रता तेजो धावनं स्थिरता खलु ।
गुणान्येतानि पञ्चैव सन्तानानां क्रमात् स्मृताः ।। ५० ।।

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः
एताश्च देवताः प्रोक्ताः सन्तानानां क्रमेण तु ।। ५१ ।।

स्थूल – सूक्ष्म – कारणं तूर्यं तूर्यातीतमिति पञ्चावस्थाः क्रमेण लक्ष्यन्ते । एतेषामपि सर्वेषां विज्ञाता यः स योगी स सिद्ध-पुरुषः स योगीश्वरेश्वर इति परमरहस्यं प्रकाशितम् ।। २२ ।।

अतएव सम्यक् निजविश्रान्तिकारकं महायोगिनं सद्गुरुं सेवयित्वा सम्यक् सावधानेन परमं पदं सम्पाद्य तस्मिन् निज-पिण्डे (पिण्डं) समरसभावं कृत्वाऽत्यन्तं निरुत्थानेन सर्वानन्दतत्त्वे निश्चलं स्थातव्यम् । ततः स्वयमेव महासिद्धो भवतीति सत्यम् ।। ५३ ।।

न विधिर्नैव वर्णश्च[20] न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
न भेदो निधनं किञ्चिन्नाशौचं नोदकक्रिया ।। ५४ ।।

योगीश्वरेश्वरस्यैवं नित्यतृप्तस्य योगिनः ।
चित्स्वात्मसुखविश्रान्तिभावलब्धस्य पुण्यतः ।। ५५ ।।

---

१९ – अहिमन्यवः (यो.). २० – निषेधश्च (तं.).

सम्यक् स्वभावविज्ञानात् क्रमाभ्यासान्न चासनात् ।
न वैराग्यान्न नैराश्यान्नाहार – प्राण – धारणात् ॥ ५६ ॥

न मुद्रा–धारणाद्योगान्न मानकर्म–समाश्रयात् ।
न विरक्तां वृथायासान्न कायक्लेशधारणात् ॥ ५७

न जपान्न तपोध्यानान्न यज्ञात्तीर्थसेवनात् ।
न देवार्चनाश्रयाद्भक्त्या नाश्रमाणाश्च पालनात् ॥ ५८ ॥

न षड्दर्शनकेशादिधारणान्न च मुण्डनात् ।
नानन्तोपाययत्नेभ्यः प्राप्यते परम पदम् ॥ ५९ ॥

एतानि साधनानि सर्वाणि दैहिकानि परित्यज्य परमपदेऽदैहिके स्थीयते सिद्धपुरुषैरिति ॥ ६० ॥

तत्कथं। गुरुदृक्पातनात् प्रायो दृढानां सत्यवादिनां सा स्थितिर्जायते ॥ ६१ ॥

कथनाच्छाक्तपाताद्वा पादावलोकनात् ।
प्रसादात् स्वगुरोः सम्यक् प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥

अतएव शिवेनोक्तम्—

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं न गुरोरधिकम् ।
शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः शिवशासनतः ॥६३॥

वाङ्मात्राद्वाथदृक्पातात् यः करोति च तत्क्षणात् ।
प्रस्फुटं शाम्भवं वेद्यं स्वसंवेद्यं परं पदम् ॥ ६४ ॥

करुणाखड्गपातेन छित्वा पाशाष्टकं शि(प)शोः ।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥ ६५ ॥

निमिषार्धार्धपाताद्वा यद्वा पादावलोकनात् ।
स्वात्मानं स्थिरमाधत्ते तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ ६६ ॥

नाना-विकल्प-विश्रान्तिं कथया कुरुते तु यः ।
सद्गुरुः स तु विज्ञेयो न तु मिथ्या-विडम्बकः ।। ६७ ।।

अतएव परमपदप्राप्त्यर्थं स सद्गुरुः सदा वन्दनीयः गुरुरिति गृणाति शं[21] सम्यक् चैतन्यविश्रान्तिमुपदिशति ।। विश्रान्त्या स्वयमेव परात्परं परमपदमेव प्रस्फुटं भवति तत्क्षणात्साक्षात्कारो भवति ।। ६८ ।।

अतएव महासिद्धानां मते प्रोक्तं । वाग्मात्रेण वा दृक्पात-मात्रेण वा सम्यगवलोकनेन वा तत्क्षणान्मुहुर्विश्रान्तिमत्तां नयतीति (विश्रान्तियुक्तं करोतीति, ह)
यः स सद्गुरुर्भवति । नो चेन्निजविश्रान्तिं
विना पिण्डपदयोः समरसकरणं न भवतीति सिद्धान्तः । तस्मान्निजविश्रान्तिकारकः सद्गुरुरभिधीयते नान्यः ।। पुनर्वागादि-शास्त्रदृष्ट्यानुमानतस्तर्क-मुद्रया भ्रा[22]मिको गुरुस्त्याज्यः ।। ६९ ।।

उक्तञ्च :—

ज्ञानहीनो गुरुस्त्याज्यः मिथ्यावादी विडम्बकः ।
स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम् ।। ७० ।।

शिलया किं परं पारं शिलासंघः प्रतार्यते ।
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम् ।। ७१ ।।

विकल्पसागरात्घोराच्चिन्ताकल्लोलदुस्तरात् ।
प्रपञ्च-वासना-दुष्ट-(ग्रह) ग्राहजालसमाकुलात् ।। ७२ ।।

वासना-लहरी-वेगाद्यः स्वं तारयितुं क्षमः[23] ।
स्वस्थेनैवोपदेशेन निरुत्थानेन तत्क्षणात् ।। ७३ ।।

२१–गुणातिशय (यो.), गुणातीतः (त.). २२–भ्रामको (ह.). २३–नास्वस्थतरितुं क्षयः (त.).

तारयत्येव दृक्पातात् कथनाद्वा विलोकनात् ।
तारिते स्वपदं धत्ते स्वस्वमध्ये स्थिरो भवेत् ।। ७४ ।।

ततः स मुच्यते शिष्यो जन्मसंसारबन्धनात् ।
परानन्दमयो भूत्वा निष्कलः शिवतां व्रजेत् ।। ७५ ।।

कुलानां कोटिकोटीनां तारयत्येव तत्क्षणात् ।
अतस्तं सद्गुरुं साक्षात् त्रिकालमभिवन्दयेत् ।। ७६ ।।

सर्वाङ्गप्रणिपातेन स्तुवन्नित्यं गुरुं भजेत् ।
भर्जनात्[२४]स्थैर्यमाप्नोति स्वस्वरूपमयो भवेत् ।। ७७ ।।

किमत्र बहुनोक्तेन शास्त्रकोटिशतेन च ।
दुर्लभा चित्तविश्रान्तिर्विना गुरुकृपां पराम् ।। ७८ ।।

चित्तविश्रान्तिलब्धानां योगिनां दृढचेतसाम् ।
स्वस्वमध्ये निमग्नानां निरुत्थानं विशेषतः ।। ७९ ।।

निमिषात्प्रस्फुटं भाति दुर्लभं परमं पदम् ।
यस्मिन् पिण्डो भवेल्लीनः सहसा नात्र संशयः ।। ८० ।

संवित्क्रिया-विकरणोदय-चिद्विलोल[२५]-
विश्रान्तिमेव भजतां स्वयमेव भाति ।
ग्रस्ते स्ववेगनिचये पदपिण्डमैक्यं,
सत्यं भवेत्समरसं गुरुवत्सलानाम् ।। ८१ ।।

।। इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ
पिण्डपदयोः समरसकरणं नाम पञ्चमोपदेशः ।। ५ ।।

२४–सजनः (ह.).   २५–सम्यक् स्वभावकिरणोदयचिद्विलास (तं.).

षष्ठोपदेशः

अथ अवधूतयोगिलक्षणं कथ्यते :—

अवधूतयोगी नाम क इत्यपेक्षायामाह ।

यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधूनोतीत्यवधूतः । योगोऽस्यास्तीति योगी । धूञ् कम्पने इति धातुः कम्पनार्थे वर्तते । कम्पनं चालनं देह—दैहिक—प्रपंचादिषु विषयेषु संगतं मनः परिगृह्य तेभ्यः प्रत्याहृत्य स्वधाममहिम्नि परिलीन—चेताः प्रपञ्चशून्य आदिमध्यान्तनिधनभेदवर्जितः ॥ १ ॥

यकारो वायुबीजं स्याद्रकारो[1] वह्निबीजकम् ।
तयोरभेदओंकारश्चिदाकारः प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

तदेतद् व्यक्तमुच्यते :—

क्लेशपाशतरङ्गाणां कृन्तनेन विमुण्डनम् ।
सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ३ ॥

निजे[2]स्मरविभूतिर्यो योगी स्वाङ्गे विभूषितः ।
आधारे यस्य वारुढिः (ढः) सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ४ ॥

लोकमध्ये स्थिरासीनः समस्त—कलनोज्झितः ।
कौपिनं खर्परोऽदैन्यं सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ५ ॥

शं सुखं खं परं ब्रह्म शंखं सघंट्टनाद् भवत् ।
सिद्धान्तं धारितं येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ६ ॥

पादुका पदसंवित्ति मृगै[3]त्वच् महाहतम् ।
वेलां[4] यस्य परा संवित्सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

मेखला निवृ[5]त्तिर्नित्यं स्वस्वरूपं कटासनम्
निवृत्तिः षड्विकारेभ्यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ८ ॥

१—उकारं (तं.). २—निजस्फार (तं.). ३—त्वक् स्यादनाहता (ह.). ४—शेली (ह.), चेलं (तं.). ५.—निरतिः (तं.).

चित्प्रकाश – परानन्दौ यस्य वै कुण्डलद्वयम् ।
जपमालाक्षविश्रान्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ९ ॥

यस्य धैर्यमयो दण्डः पराकाशं च खर्परम् ।
योगपट्टं निजा शक्तिः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १० ॥

भेदाभेदौ स्वयं भिक्षां षट्रसास्वादने रतः
जारणा(त) तन्मयीभावः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ ११ ॥

अचिंन्त्ये निज – दिग्देशे स्वान्तरं यस्तु गच्छति ।
एकदेशान्तरीयो यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १२ ॥

स्वपिण्डममरं कर्तुमनन्ताममरीं च यः ।
स्वयमेव पिवेदेतां सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १३ ॥

अचिन्त्यं वज्रवद्गाढा वासनामलसंकुला ।
सा वज्री भक्षिता येन सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

आवर्त्तयति यः सम्यक् स्वस्वमध्ये स्वयं सदा ।
समत्वेन जगद्वेत्ति सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १५ ॥

स्वात्मानमवगच्छेद्यः स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
अनुत्थानमयः सम्यक् सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १६ ॥

अनुत्वा(त्था)धारसम्पन्नः परविश्रान्तिपारगः ।
धृतिचिन्मयतत्त्वज्ञः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १७ ॥

अव्यक्तं व्यक्तमाधत्ते व्यक्तं सर्वं ग्रसत्यलम् ।
स्व(स)त्यं स्वान्तरे सन् यः सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १८

अवभासात्मको भासः स्वप्रकाशे सुसंस्थितः ।
लीलया रमते लोके सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ १९ ॥

क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत् ।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतोऽभिधीयते ॥ २० ॥

६–निर्वृति (यो.) कृत्वा स्वास्वादने (ह.). ७–अविद्या (तं.).

एवं-विध नानासंकेतसूचकनित्यप्रकाशे (वस्तुनि) सुनिज-स्वरूपी सर्वेषां सिद्धान्तदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने सम्यक् सद्बेधकोऽ-वधूतयोगी-त्यभिधीयते स सद्गुरुर्भवति । यतः सर्वदर्शनानां स्वस्वरूपदर्शने समन्वयं करोति सोऽवधूतुयोगी स्यात् ॥

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः ।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च ॥ २१ ॥

जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधीः कोविदो बुधः ।
चार्वाकश्चार्हतश्चेति तथा बौद्धः प्रकाशवित् ॥ २२ ॥

तार्किकश्चेति सांख्यश्च तथा मीमांसको विदुः ।
देवतेत्यादिविद्वद्भिः कीर्तितः शास्त्रकोटिभिः ॥ २३ ॥

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति पुनः स्वयम् ।
अस्तितत्त्वं परं साक्षाच्छिव – रुद्रादि – संज्ञितम् ॥ २४ ॥

शरीरपद्मकुहरे यत्सर्वेषामवस्थितम् ॥
तदवश्यं महायासाद्वेदितव्यं मुमुक्षुभिः ॥ २५ ॥

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव इन्द्रः स प्राणः स कालाग्निः सचेन्द्रकः ॥ २६ ॥

स एव सूर्यः स शिवः स एव परमः शिवः ।
स एव योगगम्यस्तु सांख्यशास्त्रपरायणैः ॥ २७ ॥

स एव कर्म इत्युक्तः सर्वकर्ममीमांसकैरपि ।
सर्वत्र सत्परानन्द इत्युक्तो वैदिकैरपि ॥ २८ ॥

व्यवहारैरयं भेदः तस्मादेकस्य नान्यथा ।
मुद्–मोदे तु रानन्दो (रादाने) जीवात्मपरमात्मनोः ॥ २९ ॥
उभयोरैक्यं संवित्ति मुद्रेति परिकीर्तिता: ॥ ३० ॥

---

८ – सद्बोधकोऽवधूत (ह.). ९ – संन्यासी (तं.) १० – शाब्दि कश्चेति (तं.).
११ – महापाशात्प्छेदितव्यं (ह.). १२. शास्ता स विनायकः स कालाग्निः स चन्द्रार्कौ (तं.).

मोदन्ते देवसंघाश्च द्रावन्तेऽसुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ॥ ३१ ॥

अस्मिन् मार्गेऽदीक्षिता ये सदा संसाररागिणः ।
ते हि पाषण्डिनः प्रोक्ताः संसारपरिपेलवाः ॥ ३२ ॥

अवधूत—तनुर्योगी निराकारपदे स्थितः ।
सर्वेषां दर्शनानां च स्वस्वरूपं प्रकाशते ॥ ३३ ॥

तत्र ब्राह्मणेषु ब्रह्मचर्याश्रमसाह:—

सर्वतो भरिताकारं निजबोधेन बृंहितम् ।
चरते ब्रह्मविद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ॥ ३४ ॥

गृहिणी पूर्णता नित्या गेहं व्योम सदाचलम्[१३] ।
यस्तयोर्निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥ ३५ ॥

सदान्तःप्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने ।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ॥ ३६ ॥

परमात्माथ जीवात्मा आत्मन्येव स्फुरत्यलम् ।
तस्मिन् न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते ॥ ३७

मायाकर्मकलाजालमनिशं येन दण्डितम् ।
अचलो नगवद्भाति त्रिदण्डी सोऽभिधीयते ॥ ३८ ॥

एकं नानाविधाकारमस्थिरं चञ्चलं सदा ।
तच्चित्तं दण्डितं येन एकदण्डी स कथ्यते ॥ ३९ ॥

शुद्धं शान्तं निराकारं परानन्दं सदोदितम् ।
तं शिवं यो विजानाति शुद्धबुद्धशैवो भवेत्तु सः ॥ ४० ॥

सन्तापयति दीप्तानि स्वेन्द्रियाणि च यः सदा ।
तापसः स तु विज्ञेयो न च गोभस्मधारकः ॥ ४१ ॥

१३—सदावलं (ह.).

क्रियाजालं पशुं हत्वा पतित्वं पूर्णतां गतम् ।
यस्तिष्ठेत्पशुभावेन स वै पाशुपतो भवेत् ।। ४२ ।।

परानन्दमयं लिङ्गं निजपीठे सदाऽचले ।
तल्लिङ्गं पूजितं येन स वै कालमुखो भवेत् ।। ४३ ।।

विलयं सर्वतत्त्वानां कृत्वा संधार्यते स्थिरम् ।
सर्वदा येन वीरेण लिङ्गधारी भवेत्तु सः ।। ४४ ।।

अन्तकादीनि तत्त्वानि त्यक्त्वा नग्नो दिगम्बरः ।
यो निर्वाणपदे लीनः स निर्वाणपरो भवेत् ।। ४५ ।।

स्वस्वरूपात्मकं ज्ञानं समन्त्रं (समन्तात्) तत्प्रतिपालितम्
अनन्यत्वं सदा येन स वै कापालिको भवेत् ।। ४६ ।।

महाव्याप्तिपरं तत्त्वमाधाराधेयवर्जितम् ।
तद्व्रतं धारितं येन स भवेद्वै महाव्रतः ।। ४७ ।।

कुलं सर्वात्मकं पिण्डमकुलं सर्वतोमुखम् ।
तयोरैक्यपदं शक्तिर्यस्तां वेद स शक्तिभाक् ।। ४८ ।।

कौलं सर्वकलाग्रासः स कृतः सततं यया ।
तां शक्तिं विजानाति शक्तिज्ञानी स कथ्यते ।। ४९ ।।

ज्ञात्वा कुलाकुलं तत्त्वं स क्रमेण क्रमेण तु ।
स्वप्रकाशमहाशक्त्या ततः शक्तिपदं लभेत् ।। ५० ।।

मद्यो मद्यं मतिर्मुद्रा माया मीनं मनः पलम् ।
मूर्च्छनं मैथुनं यस्य तेनाऽसौ शाक्त उच्यते ।। ५१ ।।

यया भासस्फुरद्रूपं कृतं चैव स्फुटं बलात् ।
तां शक्तिं यो विजानाति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।। ५२ ।।

यः करोति निरुत्थानं कर्तृचित्प्रसरेत्सदा ।
तद्विश्रान्तिस्तया शक्त्या शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।। ५३ ।।

व्यापकत्वे परं सारं यद्विष्णोराद्यमव्ययम् ।
विश्रान्तिदायकं देहे तज्ज्ञात्वा वैष्णवो भवेत् ॥ ५४ ॥

भास्वत्स्वरूपो यो भेदाद् भेदाभेदभवोज्झितः ।
भाति देहे सदा यस्य स वै भागवतो भवेत् ॥ ५५ ॥

यो वेत्ति वैष्णवं भेदं सर्वासर्वमयं निजम् ।
प्रबुद्धं सर्वदेहस्थं भेदवादी भवेत्तु सः ॥ ५६ ॥

पञ्चानामक्षया हानिः (पञ्चानामक्षपातानां) पञ्चत्वं रात्रिरुच्यत ।
तां रात्रिं यो विजानाति स भवेत्पांचरात्रिकः ॥ ५७ ॥

येन जीवन्ति जीवा वै मुक्तिं यान्ति च तत्क्षणात् ।
स जीवो विदितो येन सदाजीवी स कथ्यते ॥ ५८ ॥

यः करोति सदा प्रीतिं प्रसन्ने पुरुषे परे
शासितानीन्द्रियाण्येव सात्त्विकः सोऽभिधीयते ॥ ५९ ॥

सर्वाकारं निराकारं निर्निमित्तं निरञ्जनम् ।
सूक्ष्मं हंसश्च यो वेत्ति स भवेत्सूक्ष्मसात्त्विकः ॥ ६० ॥

सत्यमेकमजं नित्यमनन्तश्चाक्षयं ध्रुवम् ।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते ॥ ६१ ॥

ज्ञानज्ञेयमयाभ्यां तु योगिनः स्वस्वभावतः ।
कलङ्की स तु विज्ञेयो व्यापकः पुरुषोत्तमः ॥ ६२ ॥

मुक्तिचारे मतिर्या वै व्यापिका स्वप्रकाशिका ।
एषा ज्ञानवती यस्य ज्ञाताऽसौ सात्विको भवेत् ॥ ६३ ॥

क्षपणं चित्तवृत्तीनां रागद्वेषविलुण्ठनम् ।
कुरुते व्योमवन्नग्नो योऽसौ क्षपणको भवेत् ॥ ६४ ॥

प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ६५ ॥

विश्वातीतं यथा विश्वमेकमेव विराजते ।
संयोगेन सदा यस्तु सिद्धयोगी भवेत्तु सः ॥ ६६ ॥

सर्वासां निजवृत्तीनां प्रसृति भजते लयम् (तु यः) ।
स भवेत् सिद्धसिद्धान्ते सिद्धयोगी महाबलः ॥ ६७ ॥

उदासीनः सदा शान्तः स्वस्थोऽन्तर्निजभासकः ।
महानन्दमयो धीरः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ६८ ॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वासर्वपदोदितः ।
विशुद्धो निर्भरानन्दः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ६९ ॥

परिपूर्णः प्रसन्नात्मा सर्वानन्दकरः सुधीः ।
सर्वानुग्रहधीः सम्यक् स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥ ७० ॥

गते न शोकं विभवे न वांछां प्राप्ते च हर्षं न करोति योगी ।
आनन्दपूर्णो निजबोधलीनो न बाध्यते कालपथेन
नित्यम् ॥ ७१ ॥

एवं सर्वसिद्धान्तदर्शनानां पृथक् पृथक् भूतानामपि ब्रह्मणि समन्वयसूचनशीलोपदेशकर्ताऽवधूत एव सद्गुरुः प्रशस्यते । एषामुपदेशानां पृथक् पृथक् सूचितानां जायते यत्र विश्रान्तिः सा विश्रान्तिरभिधीयते ॥ ७२ ॥

लीनतां च स्वयं याति निरुत्थानचमत्कृतेः ।
यतो[14] निरुत्थानमयात् (मयः) सोऽयं स्यादवधूतराट् ॥ ७३ ॥

तस्मात्तं सद्गुरुं साक्षाद्वन्दयेत् पूजयेत्सदा ।
सम्यक् सिद्धपदं धत्ते तत्क्षणात्स्वात्मभासितम् ॥ ७४ ॥

न वन्दनीयास्ते काष्ठाः[15] दर्शनभ्रान्तिकारकाः ।
वर्जयेत् तान् गुरून् दूरे धीरः सिद्धमताश्रयः ॥ ७५ ॥

१४–अतो (तं.). १५–कष्टाः (तं.).

परपक्षं निरासं करोति :—

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ॥
अन्ये भेदरताः विवादविकला स्ते तत्त्वतोवञ्चिताः
(सत्तत्त्वतोवञ्चिताः) ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं[16] धीरः सदा संश्रयेत्[17] ॥ ७६ ॥

सांख्या वैष्णवा वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः ।
सौरा वीरपराः प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ॥
एते कष्टरता वृथापथगतास्ते सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥ ७७ ॥

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः ।
नानातीर्थनिषेवका जपपरा मौनस्थिता नित्यशः ॥
एते ते खलु दुःखभारानिरतास्ते सत्तत्त्वतो वञ्चिताः ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥ ७८ ॥

आदौ रेचक-पूरक-कुम्भक-विधौ नाडीपथा शोधितम् ।
कृत्वा हृत्कमलोदरे तु सहसा चित्तं महामूर्च्छितम् ॥
पश्चादव्ययमक्षरं परकुले चोंकारदीपाङ्कुरे ।
ये पश्यन्ति समाहितेन मनसा तेषां न नित्यं पदम् ।
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः सदा संश्रयेत् ॥ ७९ ॥

चार्वाकाश्चतुराश्च तर्कनिपुणा देहात्मवादे रताः ।
ते सर्वे तरन्ति दुःसहतरं ये ते परं सात्विकाः ॥
ते सर्वे प्रभवन्ति ये च यवनाः पापे रता निर्दयाः ।
तेषामैहिकमल्पमेव फलदं तत्त्वं न मोक्षपदम्[19] ॥ ८० ॥

१६–कमयं (तं.). १७–शैवाः पाशुपता महाव्रतधरा कालामुखा जंगमाः । शाक्ताः कौल कुला कुलार्चनरता – कापालिकाः शाम्भवाः । एते कृत्रिममंत्रतंत्रनिरतास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः तस्मात सिद्धमतं (तं.). १८–रजसा (तं.). १९–मोक्षफलम् (तं.).

श्रीहट्टे[२०] मस्तकान्ते त्रिपुटपुटबिले ब्रह्मरन्ध्रे ललाटे।
भ्रूनेत्रे नासिकाग्रे श्रवणपथरवे घण्टिका राजदन्ते ॥
कण्ठे हृन्नाभिमध्ये त्रिकमलकुहरे चोड्डियाणे च मूले[२१]।
एवं ये स्थानलग्नाः परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥ ८१ ॥

कोल्लाटे दीप्तिपुंजे प्रलयशिखिनिभे सिद्धजालन्धरे वा।
शृङ्गाटे ज्योतिरेकं तडिदिव तरलं ब्रह्मनाड्यन्तराले ॥
भालान्ते विद्युदाभं तदुपरि शिखरे कोटिमार्तण्डचण्डे।
ये नित्यं भावयन्ते परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥ ८२ ॥

लिङ्गाद्दण्डांकुरान्तर्मनःपवनगमात् ब्रह्मनाड्यादिभेदम्।
कृत्वा बिन्दुं नयन्तः परमपदगुहां शंखगर्भोदरोर्ध्वम् ॥
तत्रान्तर्नादघोषं गगनगुणमयं वज्रदण्डीचोलीक्रमेण।
ये कुर्वन्तीह कष्टात् परमपदमहो नास्ति तेषां निरुत्थम् ॥ ८३ ॥

सम्यक् चालनदोहनेन सततं दीर्घां कृतां लम्बिकाम्।
तां ताल्वभ्यंतरवेशितां च दशमद्वारेऽपि[२२] चोल्लंघिनीम् ॥
नीत्वा[२३] मध्यम-सन्धि-संघट-घटात्प्राप्तां शिरोदेशतः
पीत्वा षड्विधपानकाष्टितजना मूर्च्छां[२४] चिरं मोहिताः ॥ ८४ ॥

गुह्यात्पश्चिमपूर्वमार्गमुभयं रुध्वानिलं मध्यमम्।
नीत्वा ध्यानसमाधिलक्षकरणैर्नानासनाभ्यासनैः ॥
प्राणापानसमागमेन[२५] सततं हंसोदरे संघटौ[२६]।
एवं येऽपि भजन्ति ते भवजले मज्जन्त्यहो दुःखितः ॥ ८५ ॥

शक्त्याकुञ्चनमग्निदीप्तिकरणं त्वाधारसंपीडनात्
स्थानात्कुण्डलिनीप्रबोधनमनः (तः) कृत्वा ततो मूर्धनि ॥

२०–शृंगाटे (तं.). २१–पीठे (ह.). २२–द्वारोदरे सन्धिनीम् (ह.). द्वारोदरे शंखिनी (तं.). २३–प्राप्तां (तं.). २४–भजनं वाञ्छन्ति ये मोहिताः (ह.). २५–गमागमेन (ह.). २६–सद्घटात् (तं.).

नीत्वा पूर्णगिरिं निपातनमधः कुर्वन्ति तस्याश्च ये ।
खण्डज्ञानरतास्तु ते निजपदं तेषां हि दूरं पदम् ।। ८६ ।।

बन्धं भेदं च मुद्रां गल-बिल-चिबुका-बद्धमार्गेषु वन्हिम् ।
चन्द्रार्कौ सामरस्यं शमदम नियमानादबिन्दुं कलान्ते ।।
ये नित्यं मेलयन्ते ह्यनुभवमनसाप्युन्मनीयोगयुक्ताः ।
ते लोकान् भ्रामयन्ती निजमुखविमुखाः कर्मदुःखाब्धभाजः ।। ८७ ।।

अष्टाङ्गं योगमार्गं कुलपुरुषमतं षण्मुखीचक्रभेदम् ।
ऊर्ध्वाधो वायुमध्ये रविकिरणनिभं सर्वतो व्याप्तिसारम् ।।
दृष्ट्वा ये वीक्षयन्ते तरलजलसमं नीलवर्णं नभो वा ।
एवं ये भावयन्ते निगदितमतयस्तेऽपि हा कष्टभाजः ।। ८८ ।।

आदौ धारण शंख धारणमतः कृत्वा महाधारणम् ।
सम्पूर्णं प्रतिधारणं विधिबलात् दृष्टिं तथा निर्मलां ।।
अर्धोली बहुलीह दृष्टिं[27]आसनमथो घण्टी वसन्तोलिका ।
ये कुर्वन्ति च कारयन्ति च सदा भ्राम्यन्ति खिद्यन्ति ते ।। ८९ ।।

शंखक्षालनमन्तरं रसनया ताल्वोष्ठनासारसम् ।
वान्तेरुल्लुंटनं[28] कवाटमसरीपानं तथा खर्परी ।।
वीर्यद्रावितमात्मजं पुनरहो ग्रासं प्रलेपं[29] च वा ।
ये कुर्वंति जडास्तु ते नहि फलं तेषां तु सिद्धान्तजम् ।। ९० ।।

घण्टाकाहल-कालमर्दल-महा-भेरीनिनादं यदा ।
सम्यङ् नादमनाहतध्वनिमयं शृण्वन्ति चैतादृशम् ।।
पिण्डे सर्वगतं निरन्तरतया ब्रह्माण्डमध्येऽपि वा ।
तेषां सिद्धपदं ततः समुचितं तत्वं परं लभ्यते ।। ९१ ।।

वैराग्यात्तृणशाकपल्लवजलं कन्दं फलं मूलकम् ।
भुक्त्वा ये वनवासमेव भजन्ते चान्ये च देशान्तरम् ।।

२७—मधो (तं.), वासनमथो (ह.). २८—रुल्लुठनम् (तं.). २९—कपाट (ह.). ३०—ग्रासप्रदं पञ्चधा (तं.).

बालोन्मत्तपिशाचमूकजडवत् चेष्टाश्च नानाविधा ।
ये कुर्वन्ति पदं विना मतिबलाद्भ्रष्टा विमुह्यन्ति ते ।। ९२ ।।

कथां दर्शनमद्भुतं बहुविधं भिक्षाटनं नाटकम् ।
भस्मोद्धलनमङ्गं कर्कशतरं कृत्वाथ वर्षं चरेत्[३१] ।।
क्षेत्रं क्षेत्रमटन्ति दुर्गमतरं छित्वाथ सर्वेन्द्रियम् ।
नो विन्दन्ति परं पदं गुरुमुखाद्गर्वेण कष्टाश्च ते ।। ९३ ।।

वाणीं ये च चतुर्विधां स्वरचितां सिद्धैश्च वा निर्मितां ।
गायत्रीचतुराश्च पाठनिरता विद्याविवादे रताः ।।
नो विन्दन्ति तदर्थमात्मसदृशं खिद्यन्ति मोहाद्बलात् ।
दण्डैः कर्तरिशूलचक्रलगुडैर्भण्डाश्च दुष्टाश्चये ।। ९१ ।।

एवं शून्यादिशून्यं[३२] परमपरपदं पञ्चशून्यादिशून्यम् ।
व्योमातीतं ह्यनाद्यं निजकुलमकुलं चाद्भुतं विश्वरूपम् ।।
अव्यक्तं चान्तरालं निरुद्यमपरं भासनिर्नाममैक्यम् ।
वाङ्मात्राद्भासयन्तो बहुविधमनसो व्याकुला भ्रामितास्ते ।। ९४ ।।

आज्ञासिद्धिकरं सदा समुचितं सम्पूर्णमाभासकम् ।
पिण्डे सर्वगतं[३३] विधानममलं सिद्धान्तसारं वरम् ।।
भ्रान्तेर्निर्हरणं सुखातिसुखदं कालान्तकं शाश्वतम् ।
तन्नित्यं कलनोद्धृतं[३४] गुरुमयं ज्ञेयं निरुत्थं पदम् ।। ९५ ।।

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे ।
त्रयाणामैक्यसंभूतिः आदेश इति कीर्तितः ।। ९६ ।।

आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयापहाम् ।
यो योगिनं प्रतिवदेत् स यात्यात्मानमैश्वरम् ।। ९७ ।।

आशादहनं भसितं कुण्डलयुगलं विचारसन्तोषः ।
कौपीनं स्थिरचित्तं खर्परमाकाशमात्मनो भजनम् ।। ९८ ।।

---

३१ – त्वरेत् (ह.). ३२ – शून्यातिशून्यं (तं.). ३३ – मृत्युहरं (तं.). ३४ - कलज्झितं (ह.).

एतच्छास्त्रं महादिव्यं रहस्यं पारमेश्वरम् ।
सिद्धान्तं सर्वसारस्वं नानासंकेतनिर्णयम् ।। ९९ ।।

सिद्धानां प्रकटं सिद्धं सद्यःप्रत्ययकारकम्[35] ।
आत्मानंदकरं नित्यं सर्वसंदेहनाशनम् ।। १०० ।।

न देयं परशिष्येभ्यः नान्येषां सन्निधौ पठेत् ।
न स्नेहान्न बलाल्लोभान्न मोहान्नानृन्ताच्छलात् ।। १०१ ।।

न मैत्रीभावनाद्दानान्न सौन्दर्यान्न चासनात् ।
पुत्रस्यापि न दातव्यं गुरुशिष्यक्रमं विना ।। १०२ ।।

सत्यवन्तो दयाचित्ताः दृढभक्ताः सदाचलाः
निस्तरङ्गाः महाशान्ताः सदाज्ञानप्रबोधकाः ।। १०३ ।।

भयदैन्यघृणालज्जातृष्णाशाशोकवर्जिताः ।
आलस्यमदमात्सर्यदम्भमायाछलोज्झिताः ।। १०४ ।।

अहङ्कारमहामोहरागद्वेषपराङ्मुखाः
क्रोधेच्छाकामुकासूयाभ्रान्तितालोभवर्जिताः ।। १०५ ।।

निस्पृहा निर्मला धीराः सदाद्वैतपदे रताः ।
तेभ्यो देयं प्रयत्नेन धूर्तानां गोपयेत् सदा ।। १०६ ।।

निन्दका ये दुराचाराश्चुम्बकाः गुरुतल्पगाः ।
नास्तिका ये शठाः क्रूरा विद्यावादरतास्तथा ।। १०७ ।।

योगाचारपरिभ्रष्टाः निद्राकलहयोः प्रियाः ।
स्वस्वकार्ये परानिष्ठाः गुरुकार्येषु निस्पृहाः ।। १०८ ।।

एतान् विवर्जयेद् दूरे शिष्यत्वेन गतानपि ।। १०९ ।।

सच्छास्त्रं सिद्धमार्गश्च सिद्धसिद्धान्तपद्धतिम् ।
न देयं सर्वदा तेभ्यो यदीच्छेच्चिरजीवनम् ।। ११० ।।

---

३५ – कारणम् (तं.).

गोपनीयं प्रयत्नेन तस्करेभ्योधनं यथा ।
तेषां यो बोधयेत् मोहादपरीक्षितं[३६]मन्दधीः ।। १११ ।।
न हि मुक्तिर्भवेत्तस्य सदा दुःखेन सीदतः ।
खेचरी भूचरी योगी शाकिनी च निशाचरी ।। ११२ ।।
एतेषामद्भुतं शापः सिद्धानां भैरवस्य च ।
मस्तके तस्य पतति तस्माद्यत्नेन रक्षयेत् ।। ११३ ।।
गुरुपादाम्बुजस्थाय [३७]परीक्ष्य प्रवदेत्सदा ।
कुतो दुःखं च भीतिश्च तत्त्वज्ञस्य महात्मनः ।। ११४ ।।
कृपयैव प्रदातव्यं सम्प्रदायप्रवृत्तये ।
सम्प्रदायप्रवृत्तिर्हि सर्वेषां सम्मता यतः ।। ११५ ।।
मायाशंकरनाथाय नत्वा सिद्धान्तपद्धतिम् ।
लिखित्वा यः पठेद्भक्त्या स याति परमां गतिम् ।। ११६ ।।
त्रिद्धात्वत्यर्थनिच(ल)यं भक्तानुग्रहमूर्तिमत् ।
स्मरानन्दपरं चेतो गणप(य)त्यभिधं महः ।। ११७ ।।
।। इति श्रीगोरक्षनाथकृतौ सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ अवधूत —
योगिलक्षणं नाम षष्ठोपदेशः ।। ६ ।।

३६ – उपरोक्ष तु (बो). ३७ – यआश्रित्य (यो.).

॥ योगविषयः ॥

गुरुश्च गुरुपुत्रश्च ये चान्ये गुरुबान्धवाः ॥ १ ॥

अन्येषांच क्रमाज्ज्येष्ठास्तेषां पादौ नमाम्यहम् ।
यादृशी भावनातीतं तं गुरुं प्रणमाम्यहम् ।
भ्रान्तश्च भ्रमते लोको निर्भ्रान्तः कृतनिश्चयः ॥ २ ॥

तस्य सिध्यन्ति पुरुषा आदिनाथे व्यवस्थिताः ।
कुलजातिसमायुक्तः सुचरित्रगुणान्वितः ॥ ३ ॥

गुरुभक्तियुतो धीमान् स शिष्य इति कथ्यते ।
आकुलेनादिनाथेन केजापूपीनवासिना ॥ ४ ॥

कृपयैव परं तत्त्वं मीननाथोऽपि बोधतः ।
मीननाथोऽपि सच्छिष्यं प्रत्युवाच समाहितः ॥ ५ ॥

त्वं गुरुस्त्वञ्च शिष्यश्च शिष्यस्य च गुरोरपि ।
नानयोरपि भेदोऽत्र समसिद्धिः प्रजायते ॥ ६ ॥

उमाशङ्करपुत्रोऽहं मीननाथो मुनीश्वरः ।
कथयामि परं तत्त्वं कुलाकुलविबोधकम् ॥ ७ ॥

आधारः स्वाधिष्ठानश्च मणिपूरमनाहतम् ।
विशुद्धिराज्ञा कौलानि षट् चक्राणि शुभानि च ॥ ८ ॥

आधारश्च गुदे तस्थौ स्वाधिष्ठानश्च लिङ्गके ।
मणिपूरं नाभिगतं हृदये चाप्यनाहतम् ॥ ९ ॥

विशुद्धिः कण्ठदेशे च आज्ञाचक्रं भ्रुवोर्मुखम् ।
चक्रभेदमिति ज्ञात्वा चक्रातीतं निरञ्जनम् ॥ १० ॥

इडा वहति वामे च पिङ्गला वहति दक्षिणे ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सुखरूपिणी ॥ ११ ॥

आधारे लिङ्गनाभौ हृदयसरसिजे तालुमूले ललाटे ।
द्वे पत्र षोडशारे द्विदशदशदले द्वादशार्धे चतुष्के
नासान्ते बालमध्ये डफकठसहिते कण्ठदेशे स्वराणाम् ।
हं क्षं तत्त्वार्थयुक्तं सकलदलगतं वर्णरूपं नमामि ।। १२

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
पञ्चकर्मेन्द्रियुक्ताः क्रियाशक्तिसमुद्यताः ।। १३ ।।

नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ताः बुद्धिशक्तिसमन्विताः ।। १४ ।।

पावकश्शक्तिमध्यस्थो नाभिचक्रे रविः स्थितः ।
बन्धमुद्रा कृतास्सर्वे नासाग्रे तु सुलोचनम् ।। १५ ।।

अकारो वन्हिदेशे च उकारो हृदि संस्थितः
मकारश्चः भ्रुवोर्मध्ये वचनाच्च निबोधयेत् ।। १६ ।।

ब्रह्मग्रन्थिरधष्कारे विष्णुग्रन्थि हृदि स्थितः ।
रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये विमुच्यन्ते त्रयस्तथा ।। १७ ।।

अकारो ब्रह्म इत्याहुः उकारो विष्णुरुच्यते ।
मकारे च शिवं साक्षाच्छान्तेश्शान्ततरं परम् ।। १८ ।।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
रसनापीड्यमानास्तु षोडश्श्चोर्ध्वगामिनी ।। १९ ।।

त्रिकूटं त्रिहठाचैव गोल्हाटं शिखरं तथा ।
त्रिशिखं वज्रमोङ्कार मूर्ध्वनाखं भ्रुवोर्मुखम् ।। २० ।।

आकुञ्चयेद्रविश्चैव पश्चान्नाडी प्रवर्तते ।
भेदे त्रिहठसंघट्टमुभयोश्शशिदर्शनम् ।। २१ ।।

प्रणवा गुदनाला च नलिनी सर्पिणी तथा ।
वङ्कनालि क्षया शौरी कुण्डली कुण्डलाः स्मृताः ।। २२ ।

कुण्डलीं (ली) चालयेत् प्राणो (णान्) भेदिते शशिमण्डले ।
सिध्यन्ति वज्रगुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।। २३ ।।

सुमनः पावनारूढः स गाढं निर्गुणस्तथा ।
ब्रह्मस्थाननिनादेन शंखिन्यामृतवर्षिणी ।। २४ ।।

षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ।
सर्वेषां स्नापनं देहे क्रियते देवतार्चनम् ।। २५ ।।

चन्द्रामृतेन चिद्रूपमीश्वरं स्नाप्य भक्तितः ।
मनःपुष्पं तथा देयमर्चयेत्परमं शिवम् ।। २६ ।।

आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ।
दृश्यते देहरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।। २७ ।।

हंस हंस पदे वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
सम्प्राणापानयोर्ग्रन्थिरूपे...त्यभिधीयते ।। २८ ।।

सहस्रमेकञ्च युतं षट्छतं चैव सर्वदा ।
उच्चारपदतो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ।। २९ ।।

पूर्वभागे मथो लिङ्गं शंखिन्यां चैव पश्चिमम् ।
ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये रक्तशुक्लात्मकं शिवम् ।। ३० ।।

पूर्वपश्चिमदिग्भागे वज्रदण्डे व्यवस्थिते ।
द्वौ षष्टिभोगिनी स्थानं पशाल्लिङ्गं प्रकाशयेत् ।। ३१ ।।

शीताशीतं परं स्थानं मेदोमज्जाभिपूरितम् ।
स्रवति ब्रह्मणः स्थानात् सिञ्चते भुवनत्रयम् ।। ३२ ।।

सर्वव्याधिक्रियाकर्म—वातपित्तसमन्वितम् ।
दशाष्टदोषरहितं मीननाथेन कथ्यते ।। ३३ ।।

।। इति मत्स्येन्द्रनाथविरचितं भक्तिसं (?) सम्पूर्णम् ।।

॥ श्री ॥

श्रीमद्गोरक्षनाथविरचितः

"अमरौघप्रबोधः"

ओं नमोऽस्त्वादिनाथाय मीननाथाय वै नमः ।
नमश्चारङ्गिनाथाय सिद्धबुद्धाय धीमते ॥ १ ॥

लयादिप्रतिपन्नानां कलहोत्सुकचेतसाम् ।
गोरक्षकेण कथितः प्रबोध–प्रत्ययात्मकः ॥ २ ॥

लययोगो हठश्चैव मंत्रयोगस्तृतीयकः ।
चतुर्थो राजयोगश्च द्विधाभवविवर्जितः ॥ ३ ॥

यच्चित्तसन्ततलयः स लयः प्रदिष्टः ।
यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्सः ।
यो मंत्रमूर्तिवशगः स तु मन्त्रयोगः ।
यश्चित्तवृत्तिरहितः स तु राजयोगः ॥ ४ ॥

ओषध्योऽध्यात्मकश्चेति राजयोगो द्विधा क्वचित् ।
हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दुनिषेवणात् ॥ ५ ॥

षट्कर्मप्रतिपत्तिहेतुकमिदं मंत्रं न तद् दृश्यते ।
भ्रूनासादिषु कीटवन्न (द) भि मनो मग्नं कथञ्चिद्भवेत ॥
आधारे पवनो न याति विविधादभ्यासतो योगिनाम् ।
नित्यानन्दमयात्प्रभावनिलयाच्छ्रीराजयोगादृते ॥ ६ ॥

नित्यं मंत्रयतो लभेन्न नृपतां (तिः) नैवाधिपत्यं तथा ।
दिव्यस्त्रीनवसङ्गमोऽप्यनुदिनं न ध्यायतो लभ्यते ॥
हस्तिन्यास्तुरगः खराच्च करभः शाल्योदनं कोद्रवात् ।
जायन्ते हठतः कथं वद विभो स्वीयं प्रभावं विना ॥ ७ ॥

केचिन्मूत्रं पिबन्ति प्रमलमशनतः केचिदश्नन्ति लालां ।
केचित्काष्ठीं प्रविष्टो युवतिभगवताद्बिन्दुमूर्ध्वं नयन्ति ॥
केचित्खादन्ति धातून्निखिलतनुसिरा वायुसञ्चारदक्षाः ।
नैतेषां देहसिद्धिर्विगतनिजमनो राजयोगादृतेऽस्मात् ॥ ८ ॥

चित्तो समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे
एषाऽमरोली वज्रोलीतदामति मतेति च (सहजोली प्रजायते) ॥ ९ ॥

तथाच श्रीसम्पुटे :—

विश्राणः पवनं हठान्नियमितं ग्रासोऽस्ति मीनोदरे ।
कैवल्यो भगवान्विमुच्य सहसा यावन्नचेतत्यसौ ॥
तं चोक्त्वा गिरिशेन भाषितमिदं कालो न चेतः परं ।
पार्वत्या सह मीननाथमवदन्नित्यं चिरं जीमहि ॥ १० ॥

यदि जीवेदोषधीभिः संसारे निरुपद्रवे ।
आमयास्ता जराग्रस्ता म्रियन्ते भिषजः कथम् ॥ ११ ॥

चरकानुचरणचतुराश्चटुलधियः सुश्रुतश्रवणलोलाः ।
अमनस्कौषधि.... वा ...ज्या कथमखिलंगतं तत्क्षयो भवति ॥ १२ ॥
बिन्दुनादौ महौषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु ।
तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः ॥ १३ ॥

चालयेत्संवृतं वायुं भानुमग्निंच धुक्ष्यति ।
ज्वलन्नसौ चलत्यस्माद्बीजश्चलति पार्वति ॥ १४ ॥

यो जानात्यनयोस्सारं सद्गुरोरुपदेशतः ।
कायक्लेशजराव्याधिपापमृत्युभयं कुतः ॥ १५ ॥

निर्याते चित्तराते व्रजति खररुचौ मेरुमार्गं समन्तात् ।
दुद्रद्रे (?) वन्हिभावे स्रवति शशधरे पूरयत्याशुकाये ॥
उद्यत्यानन्दवृन्दे त्यजति तव ममेत्यादि मोहान्धकारे ।
प्रोद्भिन्ने ब्रह्मरन्ध्रे जयति शिव शिवा सङ्गमः कोप्यपूर्वः ॥ १६ ॥

एक एवामरौघो हि राजयोगाभिधानकः ।
मयादिभिस्समायुक्तश्चतुर्थो दीयते कथम् ॥ १७ ॥

मृदुमध्याध मात्रश्च अधिमात्रतरस्तथा ।
चतुर्धा साधको ज्ञेयस्तत्सोपानमिहोच्यते ॥ १८ ॥

मन्दोत्साही मन्दरागी पराधीनो विदूषकः ।
व्याधिस्थो हीनसत्वश्च ग्र (गृ) हवासी मृदुः स्मृतः ॥ १९ ॥

समबुद्धिः समाभ्यासी समकायः समाश्रयः ।
मध्यस्थः सर्वकार्येषु मध्यसत्वोऽभिधीयते ॥ २० ॥

क्षमावीर्यनयैर्युक्तो वयस्थस्सत्ववानपि ।
स्वाधीनश्च खरश्शूरस्सोऽधिमात्रो निगद्यते ॥ २१ ॥

सर्वशास्त्रकृताभ्यासो मनोज्ञो वीर्यशौर्यवान् ।
निर्मोहस्सर्वसम्पन्नो निर्विकारो महाश्रयः ॥ २२ ॥

अधिमात्रतरस्सोऽपि महाकायः प्रवर्तते ।
तरन्ति च भवाम्भोधिं तारयन्ति परानपि ॥ २३ ॥

मृदवे दीयते मंत्रो मध्याय लय उच्यते ।
अधिमात्रे हठं दद्यादमरौघो महेश्वरे ॥ २४ ॥

तत्र मंत्रम्ः—

अह (ओ) मिति एकाक्षरं मंत्रं तत्सप्रणवादिकम् ।
शिवं शम्भुं हृदि ध्यात्वा द्वादशे भिन्नमण्डले ॥ २५ ॥

एकलक्षजपान्मृत्युं नाशयेदतिदारुणम् ।
दशांशं हवनं कृत्वा क्षौद्रक्षीरघृताम्बुजैः ॥ २६ ॥

अथलयः—

कामरूपे शिवं देवं लिङ्गाभं मणिसन्निभम् ।
स्रवन्तं चामृतरसं यो ध्यायेन्निजविग्रहे ॥ २७ ॥

निरन्तरकृताभ्यासात्षण्मासात् सिद्धिभाग्भवेत् ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जीवेदब्दशतत्रयम् ॥ २८ ॥

अथ हठः—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां पूरयेन्मुखे ॥ २९ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्याधाराद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतस्सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ३० ॥

ऋजुभूता तदा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदासौ मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ॥ ३१ ॥

महारोगा महाक्लेशा जीर्यन्ते मरणादयः ।
महामुद्रांच तेनैनां वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ३२ ॥

महामुद्राकृता येन साधकाय प्रसिध्यति ।
कथ्यतेऽसौ महाबन्धो जरामरणनाशकः ॥ ३३ ॥

पूरयित्वा मुखे वायुं हृदय चु (चि) बुक कृतं ।
निभृतं योनिमाकुञ्चेन्मनो मध्ये नियोजयेत् ॥ ३४ ॥

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिविशोधनः ।
त्रिवेणीसङ्गमं कृत्वा केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ३५ ॥

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ३६ ॥

सव्यं प्रसारितं पादं कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
आन्दोलनं ततः कुर्याच्छरीरस्य त्रिमार्गतः ॥ ३७ ॥

पुनरास्फालनं कुर्यात् सुस्थिरं कण्ठमुद्रया ।
वायुना गतिमाहृत्य कृत्वा पूरककुम्भकौ ॥ ३८ ॥

समहस्तयुगो भूत्वा समपादयुगस्तथा ।
वेधयेत्क्रमयोगेन चतुष्पीठं तु वायुना ॥ ३९ ॥

आफालयेन्महामेरू वायुवज्राग्निकोटिभिः ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥ ४० ॥

सोमसूर्याग्निसम्बन्धं जानीयादमृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः ॥ ४१ ॥

एतत्त्रयं महागुण्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
अष्टधा क्रियते चैतत् यामे यामे दिने दिने ॥ ४२ ॥

वह्निवृद्धिकरं चैव अणिमादिगुणप्रदम् ।
पुण्यं सञ्चयसंहारि पापौघभिदुरं सदा ॥ ४३ ॥

सम्यग्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधने ।
वह्निस्त्रीपथसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥ ४४ ॥

आरम्भश्च घटश्चैव प्रत्ययश्च तृतीयकः ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्था चतुर्विधा ॥ ४५ ॥

ब्रह्मग्रन्थे भवेद् वेधादानन्दा....न्यसम्भवम् ।
विचित्रक्वणको देहेनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ४६ ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयश्शूर आरम्भे योगिनो भवेत् ॥ ४७ ॥

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानादेव समप्रभः ॥ ४८ ॥

विष्णुग्रन्थेस्तथा वेधात् परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ४९ ॥

तृतीयायां ततो भित्वा विपाको (विहायो) मर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा जातं सर्वसन्धि(सिद्धि)समाश्रयम् ॥ ५० ॥

चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषमृत्यु-जरा-दुःख-क्षुधा-निद्राविवर्जितः ॥ ५१ ॥

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सत्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवश्शब्दः क्वणन्वीत (न्निव) क्वणो भवेत् ॥ ५२ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम्
सृष्टिसंहारकर्ताऽसौ योगीश्वरसमोभवेत् ॥ ५३ ॥

न नादो न च बिन्दुश्च न चेतो नाप्यचेतनः ।
नाभ्यासदुस्तरं किञ्चित् राजयोगो निगद्यते ॥ ५४ ॥

लीनं यत्र चराचरं लयवशात् तल्लिङ्गमित्युच्यते ।
सा शक्तिर्यदचिन्त्यरूपगहनाल्लोकत्रयोद्भासिनी ॥
तद्ध्यानं यदशेषवस्तुविषयव्यापारहीनं मनः ।
तत्क्षात्र यदसीमकालपटलध्यानासनं हेलया ॥ ५५ ॥

पञ्चभूतात्मको देहः पञ्चमण्डलपूरितः ।
काठिन्यात्पृथिवी ज्ञेया पानीयं यद्द्रुवाकृतिः ॥ ५६ ॥

दीपनं तु भवेत्तेजः स्पर्शो वायोस्तथा भवेत् ।
आकाशे चेतनं सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता ॥ ५७ ॥

षट्च्छतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रं वहेच्छ्वासो वायुमण्डलरेचनात् ॥ ५८ ॥

तत्पृथ्वीमण्डले क्षीणे बलिरायाति देहिनाम् ।
तोये क्षीणे तृणानीव चिकुराः पाण्डुराः क्रमात् ॥ ५९ ॥

तेजःक्षीणे क्षुधाकान्तिर्नश्यते मारुते श्लथे ।
वेपथुश्च भवेन्नित्यं साहसेनैव जीवति ॥ ६० ॥

इत्थंभूतक्षयान्मृत्युजीवितं भूतधारणात् ।
प...श्चेद्वर्षशते लक्ष्येन्नान्यथा मरणं भवेत् ॥ ६१ ॥

यामाष्टककृताभ्यासात्सर्वान्छ्वासान् ग्रसत्यसौ ।
स षोडशकलोपेतश्शशी तिष्ठति पूरकान् (त्) ।। ६२ ।।

निस्तरङ्गे स्थिरे चित्ते वायुर्भवति मध्यगः ।
रविरूर्ध्वपदं याति विन्दुना याति वश्यताम् ।। ६३ ।।

आनन्दपूरितो योगी जायते शिवसन्निभः ।
तदेश्वरगुणास्सर्वे दृश्यन्ते दशमासतः ।। ६४ ।।

इत्यमरौघसंसिद्धौ गोरक्षेण प्रकाशितः ।
लयाद्युपायकौशल्यप्रबोधप्रत्ययात्मकः ।। ६५ ।।

सर्वचिन्तां परित्यज्य दिनमेकं परीक्ष्यताम् ।
यदि तत्प्रत्ययो नास्ति तदा मे तु मृषा वचः ।। ६६ ।।

रूमो (?) मरीचि खद्योत दीपज्वालेन्दु भास्कराः ।
अमी कला महाबिम्बे विश्वबिम्बं प्रकाशते ।। ६७ ।।

प्रबोधं यो न जानाति सोऽमरौघं न विन्दति ।
समीभावे समुत्पन्ने चित्ते द्वैतविवर्जिते ।। ६८ ।।

अहं ममेत्यपीत्युक्त्वा सोऽमरौघं विचिन्तयेत् ।
चित्तं जीवितमित्याहुरचित्तं मरणं विदुः ।। ६९ ।।

चित्ताचित्ते समीभूते जीवन्मुक्तिरिहोच्यते ।
यत्र स्वभावसद्भावो भाषितुं नैव शक्यते ।। ७० ।।

न जीवति ततः कोऽपि न च कोऽपि मरिष्यति ।
राजयोगं पदं प्राप्य सर्वसत्ववशङ्करम् ।। ७१ ।।

सर्वं कुर्यान्न कुर्याद्वा यथारुचि विचेष्टितम् ।
नग्नः कोऽपि गुहासु दिव्यवसनः कौपीनवासाः क्वचित् ।
दिव्यस्त्रीसुरतान्वितोऽपि कुहचित्स ब्रह्मचारी क्वचित् ।

भिक्षाहाररतः क्वचित् क्वचिदपि प्राप्नोति भोगास्पदम् ।
सर्वत्राप्रतिबद्धवृत्तिरखिलक्लेशापहा योगिराट् ॥ ७२ ॥

श्रीमद्गोरक्षनाथेन सदामरौघवर्तिना ।
लयमंत्रहठाः प्रोक्ताः राजयोगाय केवलम् ॥ ७३ ॥

कायेनैव परीक्षेत वाक्पटुः किं करिष्यति ।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिणः किं करिष्यति ॥ ७४ ॥

॥ इति श्रीमद्गोरक्षनाथविरचितं —
अमरौघप्रबोधं सम्पूर्णम् ॥

॥ अथ योगमार्तण्डग्रन्थः प्रारम्भः ॥

द्विजचोदितशंखस्य (शाखस्य) श्रुतिकल्पतरोः फलं ।
शमनं भवतापस्य योगं सेवत सत्तमाः ॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ २ ॥

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषां लक्षणं भेदं विजानाति महेश्वरः ॥ ३ ॥

चतुराशीतिलक्षाणामेकमेकमुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशानो शतं कृतम् ॥ ४ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यः द्वयमेव विशिष्यते ।
एकं स्वस्थासनं (सिद्धासनं) प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ ५ ॥

योनिस्थानैकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् ।
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहं ॥ ६ ॥

स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशो सश्वेद्धु (पश्येद्धु) वोरन्तरम् ।
चैतन् मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ७ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं विन्यस्य वामं तथा ।
नाम्यो (दक्षो)रूपरि पश्चिमेन घटिता धृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥ ८ ॥

अङ्गुष्ठे (ष्ठौ) हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् ।
एतद् व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ९ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थाने तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १० ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ॥ ११ ॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिमद्बिम्बं (वद्विम्बं) यो जानाति स योगवित् ॥ १२ ॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेः अथो (धो) मेढ्रे प्रदेशतः (मेढ्रात्प्रातिष्ठितम्)
स्व शब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानमिति स्मृतम् ॥ १३ ॥

स्वाधिष्ठानमिदं चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते ।
तन्तुना मणिवत्प्रोक्तं (तं) पूर्यते यत्र वायुना ॥
तं नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ १४ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्य – पाप – विवर्जिते ।
तावज्जनो भ्रमत्येव यावत्तत्वं न विन्दति ॥ १५ ॥

ऊर्द्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति (निः) खगांडवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥ १६ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता ॥ १७ ॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयकम् ।
गान्धारी हस्तजिह्वाच पूषा चैव पयस्विनी ॥ १८ ॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृताः ।
एवं नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ १९ ॥

सततं प्राणवाहिन्यश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
इडा पिङ्गला सुषुम्नेति तिस्रो नाड्य उदीरिताः ॥ २० ॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ॥ २१ ॥

प्राणापानसमानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ २२ ॥

हृदि प्राणो वशी नित्यं अपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥ २३ ॥

व्यानो व्याप्य शरीरे तु प्रधाना पञ्च वायवः
प्राणाद्याः पञ्च विख्याताः नागाद्याः पञ्चवायवः ॥ २४ ॥

नागो गृह्णन्ति पञ्चैताः कूर्म उन्मीलने स्थितः।
क्षुधं करोति कृकरो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ २५ ॥

वृत्तं धनञ्जयः शब्दे क्षणमात्रं न निश्चयेत्।
एवं नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ॥ २६ ॥

प्राणापानवशाच्छ्वासो अधश्चोर्द्ध्वं प्रधावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ २७ ॥

आक्षिप्तो भुविपाशेन (भुजदण्डेन) यथा चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमुत्क्षिप्तस्तत्त्व (था) जीवो न विश्रमेत् ॥ २८ ।

रज्जुबंधे यथान्योऽन्यो (श्येनो) गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबन्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ २९ ॥

प्राणेनाकृष्यतेऽपानः प्राणोऽपानेन कृष्यते।
उर्ध्वं चाधःस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ ३० ॥

हंकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसो हंसेत्यमुं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३१ ॥

षट्च्छतान्यहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३२ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदाय (यि) का।
अस्य संकल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतो न भविष्यति ॥ ३४ ॥

कुण्डलिन्या समुत्पन्ना गायत्री प्राणधारिणी ।
प्रणवाद्यास्तथा (प्राणविद्यामहा) विद्या यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ३५ ॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः अष्टधा कुण्डलीकृता ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेन चाध्य (आछाद्य) वतिष्ठति ॥ ३६ ॥

योगमार्गेण (येनद्वारेण) गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाभ्युद्यते तत्र प्रसन्ना (मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता)
परमेश्वरी ॥ ३७ ॥

प्रस्फुरद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रसुप्ता वायुना सार्धं प्रबोधं यान्ति साग्निना ॥ ३८ ॥

प्रबुद्धावग्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीव गुणमादाय व्रजत्युर्ध्वं सुषुम्नया ॥ ३९ ॥

उद्घाटयेत् कवाटं तु यथा कुम्भि (ञ्चि) कया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षमार्गं प्रभेदयेत् ॥ ४० ॥

कृत्वा संघटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनम् ।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं ततश्चेतसा ॥ ४१ ॥

पारं वा...समूर्ध्नि (वारं वारमपानमुर्ध्वं) मनिलं प्रोच्चालयन् पूरितम् ।
प्राणं मुञ्चति रोधमेति शनकैः शक्तिप्रबोधान्नरः ॥ ४२ ॥

अङ्गानां मर्दनं कुर्यात्स्वेदवारिनिवारणम् ।
दृढता लघुता चापि तेन गात्रस्य जायते ॥ ४३ ॥

कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ॥ ४४ ॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलीकृता ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदायिका ॥ ४५ ॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाग् भवेत् ॥ ४६ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपूरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमुर्ध्वमाकृष्य मूलबन्ध निगद्यते ॥ ४८ ॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्याणं च तथैव स्यात्तत्र बद्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेस्तथा युते ।
ओड्याणाख्यो स्वयं बद्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५० ॥

बध्नाति हि शिराजालं अधो नाभिं नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ५१ ॥

जालन्धरे कृते बद्धे कर्ण (कण्ठ) संकोचलक्षणे ।
पीयूषं न पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ५२ ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति गे गता ।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥ ५३ ॥

भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टि मुद्रा भवति खेशरी ॥ ५४ ॥

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५५ ॥

तेनैषा खेचरी मुद्रा सर्वलिद्धैर्नमस्कृता ।
गुदमूल शरीराणां (बिन्दूमूल शरीरं यः) शिरस्तत्र प्रतिष्ठिसम् ॥ ५६ ॥

भावयन्ति शरीराणां (शरीरं यः) आपादतलमस्तकः ।
खेचरीं (यां) मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥ ५७ ॥

न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ।
यावद्बिन्दुः स्थितो देही (हे) तावन्मृत्युभयं कुतः ॥ ५८ ॥

यावद्बद्धा नभो मुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ।
चरितोऽपि यदा विन्दुः संप्राप्तस्य हुताशनम् ।। ५९ ।।
व्रजमूर्ध्वं तथा शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ।
सततं द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।। ६० ।।
पाण्डुरं शुक्लमित्याहुः लोहिताख्यं महारजः
सिन्धूररजसंकाशं रविस्थाने स्थितं रजः ।। ६१ ।।
शक्तिस्थाने स्थितो विन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ।
बिन्दुः शिवो रजश्शक्तिः लम्बे यदारजः (विन्दुरिन्दुः रजो रविः)।।६२।।
यदा रजः विन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तथा ।
सुप्रभया संगमादेव ताप्यते ह्यमुत्रपदम् ।
वायुना शक्तिं चालयेदिन्दु विन्दु रजो रविः ।। ६३ ।।
शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजस्सूर्येण संयुतम् ।
द्वयोस्समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ।। ६४ ।।
शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसना शोषणं चैव महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ।। ६५ ।।
हंस (वक्ष) न्यस्त हनुः प्रपीडयत रसाः (सुचिरं) योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यां हनुं धारयेत् प्रसारितं पादं तथा दक्षिणम् ।। ६६ ।।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षिविवरं बध्वा शनैः रेचयेत् ।
सर्वव्याधिविनाशिनीति महती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ।। ६७ ।।
सूर्याङ्गेण समभ्यस्य चन्द्राङ्गेणाभ्यसेत्पुनः
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ।। ६८ ।।
न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ।। ६९ ।।
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्मशूलज्वरव्यथा ।
रोगाः सर्वे क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ।। ७० ।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।। ७१ ।।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोदरः ।
नासाग्रे दृष्टिरेकाकी जीवे (जपेत्) दोङ्कारमव्ययम् ।। ७२ ।।

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
त्रयो वर्णा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ७३ ।।

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दु—संज्ञकः ।
त्रयो वर्णाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ७४ ।।

त्रयः काला स्त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्त्रयो स्वराः ।
त्रयो देवा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ।। ७५ ।।

वचसा यज्जपेद्बीजं वपुषा यत्समभ्यसेत् ।
मनसा यत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरीमिति ।। ७६ ।।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि जपेदोङ्कारमव्ययम् ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। ७७ ।।

चले वाते चलेत्सर्वं निश्चले निश्चलं तथा ।
योनिस्थानमवाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ।। ७८ ।।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्प्राणः ततो वायुं निरोधयेत् ।। ७९ ।।

यावद्बद्धो मरुद्देहे तावच्चित्तं निरामयम् ।
यावच्चक्षु र्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।। ८० ।।

अतः मृ (का) लभयाद्ब्रह्म प्राणायामपरायणः ।
योगिनामुत्तमश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ।। ८१ ।।

षट्त्रिंशदङ्गुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणभागेन ततः प्राणो निधीयते ।। ८२ ।।

शुद्धीयेत् (द्धमेति) यदा सर्वं नाडिचालं महाजलम् (मलाकुलम्) ।
तथै (दै) व जायते योगी समप्राण निरोधने (प्राणसंग्रहणेक्षमः)
॥ ८३ ॥

बद्धः पद्मासने योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यदाशक्ति पुनः सूर्येण रेचयेत् ॥ ८४ ॥

अमृतद्रवसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमयं बिम्बं प्राणायामे (मी) सुखो (खी) भवेत् ॥ ८५ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ८६ ॥

प्रज्वल–ज्वलन–ज्वाला–पुंजमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ८७ ॥

प्राणं चेदिल (ड) यापि प्रवेश्य च तं भूयोन्यया रेचयेत् ।
पीत्वा पिङ्गलया समीरणचयं बध्वा त्यजेद्वामया ॥ ८८ ॥

सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां ।
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वजः ॥ ८९ ॥

यथेष्टं धारणा वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ ९० ॥

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निबन्धनम् ।
एकस्य श्वसने मात्रमुद्धाटेद्गमने गतिः ॥ ९१ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत् त्रेधा मात्रा द्वादश संस्कृताः ॥ ९२ ॥

मात्रा द्वादशसंयुक्ता दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालं विनिघ्नन्तौ ज्ञातव्यो योगिभिस्सदा ॥ ९३ ॥

अधमो द्वादश प्रोक्तो मध्यमो द्विगुणः स्मृतः ।
उत्तमस्त्रिगुणः प्रोक्तः प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ९४ ॥

अधमस्याधमो धर्मः कम्पो भवति मध्यमः ।
उत्तमाःस्थाणुमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ।। ९५ ।।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्वा गुरुं शिवम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय प्राणायामं समभ्यसेत् ।। ९६ ।।

द्वाराणां नर(व)कं निरुध्य पवनं जित्वा दृढं धारयेत् ।
नीलाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।। ९७ ।।

उर्ध्वमाकृष्य चापानं वायुं प्राणेन योजयेत् ।
अपानेन धत्ते प्राणं सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ९८ ।।

आत्मध्यानयुतं त्वनेन विधिना साभ्यासमूर्ध्वं सुखम् ।
यावत्तिष्ठति तावदेव महता सांख्येन संस्तूयते ।। ९९ ।।

प्राणायामे भवत्येषा पातके घन पावकः ।
भवेद्व्याधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिस्सदा ।। १०० ।।

आसने मरुतो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं हन्ति प्रत्याहारेण योगवित् ।। १०१ ।।

धारणायां मनोधैर्यं ध्यानादैश्वर्यमद्भुतम् ।
समाधेर्मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्मशुभाशुभम् ।। १०२ ।।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः स उच्यते ।
प्रत्याहारद्विषट्केण जायते धारणा शुभा ।। १०३ ।।

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः ।।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।। १०४ ।।

यस्समाधिः परं ज्योतिः सर्वाङ्गं विश्वतोमुखम् ।
तस्माद्द्रष्टुं क्रिया कार्या यातायातं निपातिते ।। १०५ ।।

संबध्यासनमूलमंघ्रिघटितं कर्णाक्षिनासापुट–
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।। १०६ ।।

धृत्वा वक्षसि वह्निवायुसहितं घूर्णिस्थितं धारयेत् ।
एवं याति शिवेन तत्र समता योगी चिरं जीवति ।। १०७ ।।

गगनं पावने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्येत्ततो महान् ।
गंडादिनादं गम्भीरं सिद्धिस्तस्य न दूरतः ।। १०८ ।।

प्राणायामेन युक्तेन सर्वपापक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयुक्तेन सर्वरोगसमुद्भवः ।। १०९ ।।

हिक्काश्वास्यं तथा कासं शिरःकर्णाक्षिवेदना ।
भवन्त्यविधिना दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ।। ११० ।।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ।। १११ ।।

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयात् एवं सिद्धिं निगच्छति ।। ११२ ।।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।। ११३ ।।

यथा तृतीयकालस्थो रविः संहरते प्रभाः ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ।। ११४ ।।

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचमाचरेत् ।
योगी प्रत्याहरेच्चैव इन्द्रियाणि तथात्मनि ।। ११५ ।।

यं यं श्रृणोति कर्णाभ्यां प्रियं वाप्यथवाऽप्रियम् ।
तं तमात्मेति संपश्यन् प्रत्याहारस्स उच्यते ।। ११६ ।।

सुखमुष्णं समं दुःखं वाचा संस्पृश्यते तु यत् ।
तं तमात्मेति संपश्यन् प्रत्याहारः स उच्यते ।। ११७ ।।

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रेति नासया ।
तं तमात्मेति संपश्यन् प्रत्याहारः स उच्यते ।। ११८ ।।

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
तं प्रत्याहरणं यं तु प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ११९ ॥

एकांत्रि युज्यते त्वाभ्यां आगता सोममण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेच्चाजरामरः ॥ १२० ॥

नाभिमध्ये वसत्येषा भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमध्ये तु चन्द्रमाः ॥ १२१ ॥

वर्षत्यधोमुखं चन्द्रो ग्रसमुर्ध्वमूखो रविः ।
विज्ञातस्य करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥ १२२ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु ऊर्ध्वं भानुरधश्शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १२३ ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महान् पुनः
अनाहतं च तच्चक्रं योगिनो ह्यतिदुःखभित् ॥ १२४ ॥

अनाहतमतिक्रम्य नाकृष्य मणिपूरकात् ।
प्राप्ते प्राणि तथा पद्मं योगिनाममृतायते ॥ १२५ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणादवाप्तं हठात् ।
ऊर्ध्वास्ये रसनां नियम्य विवरे शक्तो परां चिन्तयन् ॥ १२६

उत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबेत् ।
निर्दोषस्य मृणालकोमलवपुः योगी चिरं जीवति ॥ १२७ ॥

काकचञ्चुपुटास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
मासार्धेन संमोहो सर्वरोगविवर्जितः ॥ १२८ ॥

विशुद्धं परमं चक्रं भूत्वा सोमकलात्मकम् ।
उन्मार्गेनात्र जलं याति वञ्चयित्वा मुखे रवौ ॥ १२९ ॥

प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ।
रसनातालुमूलेन य प्राणं सततं पिबेत् ॥ १३० ॥

बध्वा सोमकलाजलं सुविमलं कर्णस्थलादूर्ध्वतो ।
नासान्तो सुचिरेण याति गमनद्वारं ततः सर्वतः ॥ १३१ ॥

ऊर्ध्वास्ये भ्रुवसन्निवेश नयने सिक्ताङ्गगात्रं पिबेत् ।
एवं यो विजितेन्द्रियमना नवास्ति तस्य क्षयः ॥ १३२ ॥

ऊर्ध्वजिव्हास्ततो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धे नात्र सन्देहो मृत्युं जयतु योगवित् ॥ १३३ ॥

सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदण्डैर्विलं महत्
ध्यात्वामृऽतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ १३४ ॥

बध्नंमूर्ध्वफलं येन तेन विष्णुं निवारितम् ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ १३५ ॥

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन च संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणं च समभ्यसेत् ॥ १३६ ॥

सर्वद्वाराणि बध्नाति यदूर्ध्वंतु बिलं धृतम् ।
न मज्जत्यत्यमृतं क्वापि सम्पन्नाः पञ्चधारणाः ॥ १३७ ॥

चुं.........तायद्धि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी ।
स क्षीराकटुकाथदुग्धसदशा मध्वाज्यतुल्योधवो ॥ १३८ ॥

याधिनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्रागमो धीरणम् ।
तस्य स्यादमृतत्वमष्टगुणकं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥ १३९ ॥

अमृतं पूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते तस्य अणिमादिगुणोदयः ॥ १४० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।
आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ॥
प्रत्याहरणसम्पन्नः धारणं च समभ्यसेत् ॥ १४१ ॥

भूरादिपंचभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा च विधीयते ॥ १४२ ॥

यः पृथ्वी हरितालहेमरुधिरातत्वेलकारान्वितम् ।
संयुक्तं कमलासनेन हि चतुःकोणा हरिस्थायिनी ॥ १४३ ॥

प्राणं तत्र विनीय्य पंच घटिकाचित्तान्वितं धारयेत् ।
येषां स्तंभकरी सदा क्षितिजयाकुर्यात्ततो धारणा ॥ १४४ ॥

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कर्णे च तत्त्वस्थितं ।
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ॥ १४५ ॥

प्राणं तत्र विलीय्या पंचघटिकाचित्तान्वितं धारयेत् ।
विषाग्निः सह कालकूट रजिना तद्वारुणी धारणा ॥ १४६ ॥

तालौ संस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्वं त्रिकोणान्वितम्
तेजो रेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्संगतम् ॥ १४७ ॥

प्राणं तत्र विलीन पंच घटिका चित्तान्वितं धारणा ॥ १४८ ॥

तेषां वह्निमसंसलं ज्वलते वैश्वानरी धारणा ।
यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं दृष्ट्वा भ्रुवोरन्तरे ॥ १४९ ॥

तत्त्वं सत्यमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विनीय्य पंचघटिका चित्तान्वितं धारयेत् ॥ १५० ॥

येषां योगमनं (लं) करोति यमिनां सा वायवी धारणा ।
आकाशं शुचिशुद्ध वा सदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितम् ॥ १५१ ॥

तन्मध्ये सदाशिवेन सहितं युक्तं यकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्रविलीनपंचघटिका चित्तान्वितं धारयेत् ॥ १५२ ॥

तेषां मोक्षकवाटभेदनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ।
स्तम्भी निद्रा — चैव दाहिनी भ्रामिणी तथा ॥ १५३ ॥

शोषणा च भवत्येषा भूतानां पञ्चधारणा ॥ १५४ ॥

कर्णानां मधुरस्सर्वा धारणा पञ्च दुर्लभाः ।
विज्ञाताः सततं येन सर्वे पापैः प्रमुच्यते ॥ १५५ ॥

सर्वे द्वित्वा समायुक्तं योगिनो हृदि वर्तते ॥
यस्तत्त्वे निश्चलं चेतः तद्ध्यानं च प्रचक्षते ॥ १५६ ॥

द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुण निर्गुणं तथा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ॥ १५७ ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानिच ।
एकस्य ध्यानयोगेन कलां नार्हन्ति षोडशीं ॥ १५८ ॥

अन्तश्चेता बहिश्चक्षुरधिष्ठाय सुखासनम् ।
समत्वंच शरीरस्य ध्यानमुद्रेति कीर्तिता ॥ १५९ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं तप्तकाञ्चनसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति किल्बिषम् ॥ १६० ॥

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं च सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा संशोभते जगत् ॥ १६१ ॥

हृदाकाशस्थितं चक्रं प्रचण्डरवितेजनम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ १६२ ॥

सततं कर्णिकामध्ये विशुद्धं चक्रमुच्यते ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा दुःखात्प्रमुच्यते ॥ १६३ ॥

स्रवत्पीयूषसम्पूर्णं लम्बिके चन्द्रमण्डलम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मृत्युं प्रमुञ्चति ॥ १६४ ॥

भ्रुवोर्मध्ये स्थितं देवं स्निग्धमौक्तिकसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वानन्दमयं भवेत् ॥ १६५ ॥

ध्यानेन लक्षणं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मना वर्जितं प्राण योगी योगमवाप्नुयात् ॥ १६६ ॥

निर्गुणश्च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ १६७ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात् ॥ १६८ ॥

गुदं मेढ्रश्च नाभिश्च हृदयं चक्रमूर्ध्वतः ।
घंटिका लम्बिका स्थानं भ्रमध्यश्च नभोबिलम् ॥ १६९ ॥

कथितानि चैवैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम् ।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ १७० ॥

उपातिष्ठितया तत्त्वं द्वयमेतमुदाहृतम् ।
उपाधि प्रोच्यते वर्णः तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ १७१ ॥

उपाधिरन्यथा ज्ञानं तत्त्व संस्थितिरन्यथा ।
समस्तोपाधि निर्मुक्तं तत्तत्त्वं योगिनो विदुः ॥ १७२ ॥

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्मादिषु स्थितम् ।
उपाधिवर्णयोगेन दृश्यते स्फटिको मणिः ॥ १७३ ॥

युक्तयः शक्तिभेदेन तत्सदात्म प्रकाशिते ।
विरजं परमाकाशं यद्यदक्षरमव्ययम् ।
स्तौति श्रुतिकृतिरहोरात्रं तत्त्वं तत्त्वविदोविदुः ॥ १७४ ॥

तावद्व्यवस्थितं ध्यानं तत्समाधिपरं तपः ।
धारणं पञ्च नाड्यस्तु ध्यानं षट् चैव नाडिकाः ॥ १७५ ॥

ये द्वादशचक्रेनैव समाधि प्राणसंयमः ।
अम्बुसैन्धवयोस्साम्यं यदा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ १७६ ॥

यथा संक्षीयते प्राणो मानसश्च विलीयते ।
तथा समरसैकत्वं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ १७७ ॥

इन्द्रियाणि मनोवृत्तिरपरोक्षेपयाहि सः ।
अद्वयत्वं गते जीवे न मनो इन्द्रियाणि च ॥ १७८ ॥

न गन्धो न रसं रूपं न स्पर्शो न च निस्वनः ।
नात्मानश्च परं वेद योगयुक्तः समाधिना ॥ १७९ ॥

अभेद्यः सर्वशास्त्राणां अबाध्यः सर्वदेहिनाम् ।
बाध्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥ १८० ॥

साध्यते न च केनापि योगियुक्तः समाधिना ।
अग्राह्यो मन्त्रशास्त्राणां योगियुक्तः समाधिना ॥ १८१ ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १८२ ॥

निरातङ्कं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निराश्रयम् ।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ १८३ ॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निर्गुणं निष्क्रियं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ १८४ ॥

कातु दृष्टान्त निर्मुक्तमनुबन्धेरगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ १८५ ॥

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिर्वह्नौ वह्निरिवार्पितम् ।
अव्ययत्वं व्रजेदेवं योगिलीनः परात्परे ॥ १८६ ॥

भववनजवह्निं मुक्तिसोपानमार्गम् ।
प्रकटितपरमार्थं ग्रन्थगुह्यश्च गुह्यम् ॥ १८७ ॥

सकृदपि पठतिच मयः श्रृणोति प्रबद्धम् ।
स भवति भुवि भव्यो भाजनं मुक्तिमुक्तयोः ॥ १८८ ॥

॥ इति श्रीगोरक्षनाथविरचिते योगशास्त्रे योगमार्तण्डं समाप्तम् ॥

॥ साम्बसदाशिवार्पणमस्तु ॥

॥ श्रीराम ॥

॥ गोरख उपनिषद् ॥

श्री नाथ परमानन्द है विश्वगुरु है निरञ्जन है विश्वव्यापक है महासिद्धन के लक्ष्य है तिन प्रति हमारे आदेश होहु ॥ इहाँ आगे अवतरन ॥ एक समै विमला नाम महादेवी किंचितु विस्मय जुक्त भई श्रीमन्महा गोरक्षनाथ तिनसों पूछतु हैं। ताको विस्मय दूर करिबे में तात्पर्य है लोकन को मोक्ष करिवे हेतु कृपालु तासों महाजोग विद्या प्रगट करिबे को तिनके ऐसे श्री नाथ स्वमुख सों उपनिषद् प्रगट करे है। गो कहिये इन्द्रिय तिनकी अन्तर्यामियासों रक्षा करे हैं भव भूतन की, तासों गोरक्षनाथ नाम है। अरु जोग को ज्ञान करावै है या वास्तै उपनिषद् नाम है। यातैं ही गोरक्षोपनिषद् महासिद्धनमें प्रसिद्ध हैं। इहां आगै विमला उवाच ॥ मूलको अर्थ ॥ जासमै महाशून्य था आकाशादि महापंचभूत अरु तिनही पञ्चभूतनमय ईश्वर अरु जीवादि कोई प्रकार न थे तब या सृष्टि को करता कौन था। तात्पर्य ए है कि नाना प्रकार की सृष्टि होय वै मै प्रथम कर्ता महाभूत हैं अरु वैही शुद्ध सत्वांशले के ईश्वर भए वैही मलिन सत्व करि जीव भये तौएतौ साक्षात् कर्त्ता न भए तब जिससमै ए न थे तब कोई अनिर्वचनीय पदार्थ था। सो कर्त्ता सो कर्त्ता कौन भयो ऐसे प्रश्न पर। श्री महागोरक्षनाथ उत्तर करै है श्री गोरक्षनाथ उवाच। आदि अनादि महानन्दरूप निराकार साकार वर्जित अचिन्त्य कोई पदार्थ था ताकुं हे देवि मुख्य कर्ता जानियै क्यों कि निराकार करता होय तौ आकार इच्छा धारिबे मैं विरुद्ध आवे है। साकार करता होय तौ साकार को व्यापकता नहीं है यह विरुद्ध आवै हैं। तातैं करता ओही है जो द्वैताद्वैत रहित अनिर्वचनीय नाथ सदानन्द स्वरूप सोही आगे कुं वक्ष्यमाण है।

इह मार्ग में देवता कोन है यह आशंका वारनै कहै है। अद्वैतो परि म्महानन्द देवता। अद्वैत ऊपर भयो तब द्वैत ऊपर तौ स्वतः भयो॥ इह प्रकार अहं कर्त्ता सिद्ध तूं जान ऽच्छह करता अपनी इच्छा शक्ति प्रगट करी। पीछै ज्ञान शक्ति प्रगट करी। पीछे क्रिया शक्ति प्रगट करी। ताकरि पीछे पिण्ड ब्रह्माण्ड प्रगट भए तिनमैं अव्यक्त निर्गुन स्वरूप सों व्यापक भयो। व्यक्त आनंद विग्रह स्वरूप सों विहार करत भयौ पीछै ज्यौही मैं एक स्वरूप सों नव स्वरूप होतु भयौ—तैं सत्यनाथ, अनन्तर सन्तोषनाथ विचित्र विश्व के गुन तिन सों असंग रहत भयौं, यातें संतोषनाथ भयौं। आगे कूर्मनाथ आकाश रूप श्री आदिनाथ। कूर्म शब्द तै पाताल तरैं अधोभूमि ताकौ नाम कूर्मनाथ। बीच के सर्वनाथ पृथ्वीमंडल के नाथ औरप्रकार सप्तनाथ भए। अनन्तर मत्स्येन्द्रनाथ के पुनह पुत्र श्री—जगत की उत्पत्ति कै हेत लाये माया कौ लावण्य तासौं असंग जोगधर्म-द्रष्टा रमण कियौ है आत्मरूप सौं सर्व जीवन में। तत् शिष्य गोरखनाथ। 'गो' कहियै वाक्शब्द ब्रह्म ताकी 'र' कहियै रक्षा करै, 'क्ष' कहियै क्षय करि रहित अक्षय ब्रह्म ऐसे श्रीगोरक्षनाथ चतुर्थरूप भयो और प्रकार नव स्वरूप भयो तामें एक निरन्तरनाथ कुं किह मार्ग करि पायौ जातु। ताकौ कारन कहतु हैं। दोय मार्ग विश्व मैं प्रगट कियो है कुल अरु अकुल। कुल मार्ग शक्ति मार्गः, अकुल मार्ग अखण्डनाथ चैतन्य मार्ग तन्त्र अंस जोग तिनमैं किंचित प्रपञ्च की॥ एवं॥ या रीत मै द्वैताद्वैत रहित नाथ स्वरूप तै व्यवहार कै हेतु अद्वैत निर्गुणनाथ भयौ अद्वैत तैं द्वैत रूप आनन्द विग्रहात्म नाथ भयौ तामैं ही मो एक तैं मैं विशेष व्यवहार कै हेतु नव स्वरूप भयौ तिन नव स्वरूप कौ निरूपण। श्री कहियै अखण्ड शोभा संजुक्त गुरु कहिये सर्वोपदेष्टा आदि कहियै इन वक्ष्यमाण नव स्वरूप मैं प्रथम नाथ 'ना' करि नाद ब्रह्म को बोध करावे, 'थ' करि थापन किए है त्रय जगत् जिन ऐसो श्री आदिनाथ स्वरूप। अनन्तर मत्स्येन्द्र नाथ। ता पीछै तत् पुत्र तत्

शिष्य उदयनाथ श्री आदिनाथ तैं जोग शास्त्र प्रगट कियौ है। योग कौ उदय जाकरि महासिद्ध निकरि बहुत भयो आतैं उदयनाथ नाम प्रसिद्ध भयो। अनन्तर दण्डनाथ ताही जोग के उपदेश तें खण्डन कियो है। काल दण्डलोकनि कौ ग्यातें दण्डनाथ भयौ ॥

आगे मत्स्यनाथ असत्य माया स्वरूपमय काल ताको खंडन कर महासत्य तैं शोभत भयौ आण निर्गुणातीत ब्रह्मनाथ ताकुं जानैयातें आदि ब्राह्मण सूक्ष्मवेदी। ब्राह्मण वेद पाठी होतु है ऋग यजु साम इत्यादि कर इनकैं सूक्ष्म वेद कहियै। प्रणवकार वेद आतें सूक्ष्म वेदी खेचरी मुद्रा अन्तरीय खेचरी मुद्रा बाह्यवेषरी कर्ण मुद्रा मुद्राशक्ति की निशक्ति करवी सिद्धसिद्धान्त पद्धति कै लेख प्रमाण। अनन्त मठ मन्दिर शिव शक्ति नाथ अरु ईच्छा शिव तन्तुरियं जज्ञोपवीत शिव तं तु आत्मा तं तु जज्ञ जोग जग्य उपवीत शयाम उर्णिमासूत्र। ब्रह्म पदाचरणं ब्रह्मचर्यं शान्ति संग्रहणं गृहस्थाश्रमं अध्यात्म वासं वानप्रस्थं स सर्वेच्छा विन्यासं संन्यासं आदि ब्राह्मण कहिवे मैं चतुर वर्ण कौ गुरु भयौ अरु इहां च्यारों आश्रम कौ समावेस जामैं होय है ग्यातैं ही अत्याश्रमी आश्रमन कोहु गुरु भयौ। सो विशेष करि शिष्य पद्धति मैं कह्यो ही है। तात्पर्य भेदाभेद रहित अचिन्त्य वासना जुक्त जीव होय ते तौ कुल मार्ग करियौ मैं आवतु हैं अरु समस्त वासना रहित भए है अंतहकरण जिनके, ऐसै जीव जोग भजन मैं आवतु है ऐसो मार्गन मैं अकुल मार्ग है। और शास्त्र वाक जालकर उपदेश करतु है। मैरो संकेत शास्त्र हैं सो शुन्य कहिये नाथ सोही संकेत है इह मार्ग में देवता कोन हैं यह आशंका वारन कहै है ईश्वर संतान। संतान दोय प्रकार कौ नाद रूप विन्दु, विन्दु नाद रूप। शिष्य विन्दु रूप, पुत्र नाथ रूप नाद शक्तिरूप विन्दु नादरूप करि भए। शिष्य सौ प्रथम कहै नवनाथ स्वरूप शक्ति विन्दु रूप पर शिव सोही ईश्वर नाम कर मैरो संतान है। ता करि

विश्व की प्रवृत्ति करतु है। जोग मत अष्टाङ्ग जोग मुख्य कर षडंग जोग अकुल कहनै सो अवधूत जोग जोग मत सों साधन अष्टाङ्ग जोग । आदि ब्राह्मणा ब्राह्मण क्षत्री वैश्व शूद्रच्यार वर्ण करि पृथ्वी भरी है तिनमें ब्राह्मण वर्ण मुख्य है। ब्राह्मण किसको कहियै ब्रह्मकूं सगुण ब्रह्म द्वारे निर्गुण ब्रह्म करिजानै सो ब्राह्मण ए जोगीश्वर सगुणनाथ गम्य पदार्थ। आनन्द विग्रहात्मनाथ उपदेष्टा उपास्य रूप अत्याश्रमी गुरु अवधूत जोग साधन मुमुक्षु अधिकारी बन्ध मोक्ष रहित कोइक अनिर्वचनीय मोक्ष मोक्ष ऐसो आ ग्रन्थ मे निरूपण है सो जो कोई पढ़े पढ़ावै जाको अनन्त अचिन्त्य फल है।

॥ मत्स्येन्द्रनाथजी का पद ॥

[राग कालिङ्गडा]

भूखड ली लागी थारा नांवनी । म्हानें भावें भावें
भगवत जीरो नांव म्हारा बाल्हारे । टेक
जाण जैसी रंग मेंटिये कांई भजन भलो भगवंत म्हारा
बाल्हारे १ सबही तीरथ मैं बसै तो कांई मंजन
करैं जन कोइ म्हारा बाल्हारे २ निरमल थाते न्हाई
चल्या काई एडो पटंतर जोई म्हारा बाल्हा रे ३
काया तीरथ में ज्ञान बडो कांई साधन दरसण होई
म्हारा बाल्हारे ४ भणें रे मच्छै ई एह ड़ो पटतर
कांई भगवत सवा न कोई म्हारा बाल्हारे ५ ॥

[राग घनाक्षरी]

पंषेरू ऊडिसी । आय लीयों बीसराम । ज्यौं ज्यों
नर स्वारथ करैं कोई न सवार्यो काम । टेक । जलकूं
चाहैं माछली घण कूं चाहैं मोर सेवग चाहै राम
कूं ज्यौं चितवत चन्द चकोर १ यो स्वारथको
जीवडो स्वारथ छोडि न जाय जब गोविन्द किरपा
करी म्हारौ मनवौ समझ्यौ आय २ जोगी सोई
जाणी रे जगते रहे उदास ततनिरंजण पाइय
यो कहै मछन्दर नाथ । २ ॥

॥ इति ॥

॥ अथ भरथरी जी का सबदी ॥

अहंकारे प्रथमी षीणी । पहौ पेपीणां भूंरा ।
सति सति भाषंतरा जोगी भरथरी । पिंडकावैरी जूंरा ॥ १ ॥

दुपीया रोवत सुषीया हसंत । केला करंत कामणी ।
मूरा जुझंत भूंदू भांजत । सति सति भाषंत राजा भरथरी ॥ २ ॥

दुषी राजा दुषी प्रजा । दुपी ब्रांभण बांणीया ।
सुषी राजा भरथरी । ज्यन गुरुका सब्द पिछांडिया ॥ ३ ॥

क्या गरबाती गूजरी । देषिर पाडारिया ।
सोला सै मै मंतीया । मुझ गरहीड तीयां ॥ ४ ॥

बने बृच्छा सुफल फलंते । मुडिबइठंते गइंद ।
ते बृच्छा सजडा गया । मो देषतां नरिंद ॥ ५ ॥

चढैगा स पड़ैगा । न पड़ैगा तत विचारी ।
धनवंत लोग छीजैगा । तेराक्या छीजे भरथरी भिष्यारी ॥ ६ ॥

राजा भर्थरी भरमिनभूला । तलिकरि डिठी ऊपरकरिचूल्हा ।
द्वै द्वै लगडी जुगुति सूंजारि । राजा भर्थरी जीवै जुगचारि ॥ ७ ॥

अवधू जलविन कवल कवल बिन मधुकर कोईल बोलै
कण्ठ विनां । थल बिन मृग मृग बिन पारधी, ऐक सर
वेधै पांच जनां ॥ ८ ॥

नवद्वारे जडिलै कपाट । दसवै द्वारे सिव धरिबाट ।
दोई लष चन्दा ऐक लषि भान । वेध्या मृगगगन अस्थान ॥ ९ ॥

वेध्या मृग न छाडै पास । भणंत भरथरी गोरष का दास ।
तनि निरास मन मांडै माया । मुंड मुंडाईम भंडसिकाया ॥ १० ॥

मन निरास प्रेम रस भोगी । भणत भरथरी ते नर जोगी ।
पंच षडा अधिक वल्यवंता । मनराइमैं मत गाज ।। ११ ।।

करडी लहर कद्रप की निकसै । तब कूंड जूझै कूंड भाजै ।
वैरागी जोगी राग न करणां । मन मनसा करिबंडी ।। १२ ।।

आगम अगोचर सिद्ध का आसण । आसातृष्णा षंडी ।
आसा षंडी मनसा षंडी । मन पवनां होई उजीरं ।। १३ ।।

सति सति भाषंत राजा भरथरी । तब मन होइबा थीरं ।
राज गयां कूं राज्य झूरै । वैद गयाकूं रोगी ।। १४ ।।

रूप गये कूं कामणी झूरै । विन्द गया कूं जोगी ।
वीज नहीं अंकुर नहीं । रूप नहीं रेष अहंकार ।। १५ ।।

उदय अस्त वतहां कथ्या न जाई । तहाँ भरथरी रहा समाई ।
मरनै का संसा नहीं । नही जीवन की आस ।। १६ ।।

सति सति भाषंत राजा भरथरी । हमारे सहजै लीलविलास ।। १७ ।।

निरघत कंथा बहौ विस्तार । कथौ निरंजन रहौ अकार ।
पूछंत विक्रम बांवन बीरं । कूंण प्रचै रहिबा थीरं ।। १८ ।।

सुन हो विक्रम ब्रह्म गयांन । देही बिबरजित धरौ धियांन ।
उदै अस्त जहा कथ्या न जाई । तहाँ भ्रथरी रह्या समाई ।। १९ ।।

आगै बहनीं पीछैं भांनु । निरति सुरति बृछ तलि ध्यांन ।
कथै निरञ्जन रहै उदास । अजहूँ न छांडै आसा वास ।। २० ।।

माया सत्रनि करसि ग्रब । नहीं धेन जोबन राजा द्रब ।
कनक कांमनी भोग विलास । कहै भरथरी कंध विनास ।। २१ ।।

साधिबा तो ऐक पवन आरंभ साधिबा—
छाडिबा तौ सकल विकारं ।

रहिबा तौ निह सबद की छाया—
सेयबा तौ निरञ्जन निराकारं ।। २२ ।।

कुलस्य हीनी नगनौपबाला । मृगनैनंरूपी दृष्टो बिकराला ।
पद्मो झलकंत वा कस्य वेणी । कुतौ या गत्याहेलज्या विठूणी ।। २३ ।।

न गनसि काष्टं न गनसिरिष । न गनसि जीव जलचरा ।
अजहूं काय सिहोनरा । नही प्रसिद्ध जोगेश्वरा ।। २४ ।।

जोगी चिन्ता विकलपो मम मता समाया ।
कथं जोग जुग तातैं जोगो न पाया ।। २५ ।।

नहीं जोगु जोगी सरबस भोगी । गुर ग्यांनी हीणं फिरो मुठजोगी ।
धनिस्य पुत्री कुलवन्ती नारी । धनस्य तु पतिव्रता ।। २६ ।।

धनस्य देसस्य देवी अहूँ उपदेस मूरष जोगी ।
तिण सज्या बनोबासी । ऊपर अम्बर छाया ।। २७ ।।

भरथरी मन निश्चलं । घोरी घोरिबरखै हो इन्द्र के राया ।
जस्य माता तस्य राता । जस्य पीवंता तस्य मृदंता ।। २८ ।।

है है रे लोका दुराचारी । वैरागी है किन जावते ।। २९ ।।

जस्य माया तस्य जाया । तस्य भूँक्यूँ रे विषैमुचन्तेकाया ।
हा हा रे लोका दुराचारी । निज तत ताजि लोहीचित लाया ।। ३० ।।

कांम कलाली चित चढौ । सुरै विषै सज्या मनमथ मांस
बीरज ब्रह्महत्या । है है रे लोका दुराचारी । कहाँ रही सुच्या ।। ३१ ।।

असत्री जोनी दीयंत विन्द । कोटि पूजा बिनसते ।
बरत मंजन तप पंडत ज्ञानहीन तपोनास्ति ब्रह्महत्या पदे पदें ।। ३२ ।।

गोरख बोले सिरषरी । दुबटा है है पंथ ।
ऐक दस कूं बाघनी । ऐक दिसां कूं नाथ ।। ३३ ।।

चमडी दमडी घमडी तीन बस्त त्यागी ।
सति भाषंत राजा भ्रथरी । तेनां दूरता वैरागी ॥ ३४ ॥

नारी चोरी जारी तीन बस्त त्यागी ।
सति सति भाषंत राजा भरथरी । तेनां दूरता वैरागी ॥ ३५ ॥

मोह न बांधिबा मन प्रमोधिबा । भिष्याते ग्यांन विचारं ।
पंच सूं बात करबा ऐक सूं रत बा । ते उतरबा पारं ॥ ३६ ॥

छाड्या हस्ती घोड्या गाँव गढ । हरष सोग मनिनांहि ।
तातै राजा भरथरी । थकित भया पद मांहि ॥ ३७ ॥

झूंठा जगका जीवणां । बढै सवाया रोग ।
तातै निकसा भरथरी । मीठा लागा जोग ॥ ३८ ॥

गगन जाइगा मंडल जाइगा । चंद जाइगा सूरा ।
न जाइगा राजा भरथरी । सबद गुरु कै पूरा ॥ ३९ ॥

गए जु राजा राज करंते । गऐजु प्रजा केलि करंते ।
गए जु त्रिया बहुरूप धरंते । गए जु ब्रह्मा वेद पठंते ॥ ४० ॥

गऐ जु वृच्छा सुफल फलंते । गऐ जू सूवा चहर करंते ।
सति सति भाषंत राजा भरथरी । हम भी जांते जे जोगी न होते ॥ ४१ ॥

न ते पुरषा जु भोग भुगंता । न ते नारी जु रूप रमिता ।
न ते वृछा जड़ मूल सहंतां । नते कूवांजुद्र मूत पाणीं होता ॥ ४२ ॥

न गत्वा राजा भरथरी गुरुप्रसादैग्यानं रता ।
सकल गिरिवरं गिरि सुमेरं । ता समतुलि आत्मां डारतै ॥ ४३ ॥

तो भी साधन दुःख ते । तहिरछिपाल निरंजनं ।
समुद्र मध्ये होतासनं ता सम तुलि आत्मां डारते ।
तो भी साधन दुषिते । तहि रछिपाल निरंजनं ॥ ४४ ॥

जबलगि धरतरी तबलग भरथरी, जाइगी धरतरी न गत्वा भरथरी
बिरछो छत्री त्रिण सज्या । बाव ढोलंत चमालिचा ।
आंगणे ग्रेहं दीपगचन्द । मो मन राजा निश्चलं ।। ४५ ।।

मोरा नांचूंत कोकिला गावत । भूंरा बजांवत रुद्र बेणी ।
चहूं दिसि तरूनी पवन झकोलत । यू भरथरी ग्यानं लीलं ।। ४६ ।

सिला सिंघासन बाकल बसत्र । गगन छत्र सिर सोहैं ।
चहूं दिसा तरूनी पवन झकोलत ग्यान रतन मन मोहैं ।। ४७ ।।

देस भवंतां सदा बैरागी । सासत्र वैरागी पंडिता ।
बाल कन्यां चिधवे बैरागी । यूं ग्यांन बैरागी राजा भरथरी ।। ४८ ।

ग्यांनी सो जो गहर गम्भीरं । भरया कुम्भजल निश्चल नीरं ।
भनत भरथरी सत सरूप । तत विचारै तौ रेष न रूप ।। ४९ ।।

।। इति श्री भरथरी जी की सबदी सम्पूर्ण ।।

॥ अथ चिरपटजी की सबदी ॥

काया तरवर माकड़ चित । डालै पातै भरमै नित ।
कलपै झलपै दहदिस जाइ । तिस कारणि कोई सिध न भाई ॥ १ ॥

ढील कछोटी मनभंग फिरै । घरि घरि नैंन पसारा करै ।
षाया झरै न बाचा फुरै । ता कारणि मूढ़ झरि झरि मरै ॥ २ ॥

मन चंचल पवनां चंचल । चंचल बाई धारा ।
या घटि मधि तीनूं चंचल । क्यूं राषिब्य झरता पिंडका द्वार ॥ ३ ॥

नाथ कहां बै सकै न नाथ । चेला पंच चलावै साथि ।
मांगै भिष्या भरि भरि षाइ । नाथ कहां वै मरि मरि जाई ॥ ४ ॥

दरसण पहरै नाथ कहावै । मुषि बोलै चतुराई ।
आलै काष्ट जूं घुन लागै । डाल मूल घड़ि षाई ॥ ५ ॥

टीका हामां टमकली । बोलत मधुरी बांनी ।
चरपट कहै सुनिहो नागा अरजन । यास्यौरां की सहनांवी ॥ ६ ॥

रंगाचंगा बहौ दीदारी । जैसे षोटी मूंहर पलमांधारी ।
चरपट कहै सुणै रे लोई । बरतण छै पणि ओग न होई ॥ ७ ॥

ऐक सेत पटा ऐक सील पटा । ऐक टसर कैटी कालंबजटा ।
ऐक पंथ छाडि मन उबट बटा । चरपट कहै ऐ पेट नटा ॥ ८ ॥

राती कंथा रापट रोल । पगां पावडी मुषां तं बोलै ।
षांजै पीजै कीजै भोग । चरपट कहै बिगाड्या जोग ॥ ९ ॥

पहरि मूदड़ी कंकण हाथि । नकटी बूची जोगणि साथि ।
उठत बैठत का झनकार । तजि सक्या न माया जंजार ॥ १० ॥

जंजाल आगै जंजाल पीछे । जंजाल क्युं मांर कै मांडै ।
सो जंजाल तजि फिरि जोगी हूवा । सो जंजाल फिरिमांडै ॥ ११ ॥

षाकर कूकर कीगर हाथि । बोली भोली तरणी साथि ।
दिनकर भिष्या रात्यूं भोग । चरपट कहै बिगोवै जोग ॥ १२ ॥

गंग बिगंधा मूता षांड । पसवा पड़ि पड़ि तोड़े हाड ।
ज्याहन बंची आंगुलच्यारि । चरपट कहै ते माथै मारि ॥ १३ ॥

जलकी भीत पिवनका थंमा । देवल देष्यर भया अचंमा ।
बाहरि भीतरि गंधम गंधा । काहे मूलोरे पसवा अंधा ॥ १४ ॥

आंषि की टगटगी नाककी डांडी । चांमकी चंद्री याख्रसू मांडी ।
मल प्रसेद सुरति जहां सूदा । अहार की कोथली नरक का
कूंडा ॥ १५ ॥

मनका बासा जहां मासकालूचा । सिष्टिकाद्वारजहां केसका कूचा ।
गंधविगंधा जहां चार विचारी । चरपट चाल्यौ मात जुहारी ॥ १६ ॥

चामकी कोथली चामका सूवा । तास की प्रीति करि जगत सबमूवा
देव गंध्रप मानव जेता । उबरचा ऐकको गुरमुखचेता ॥ १७ ॥

फोकट फोकट कथै गयान । कूटै चमड़ी धरै ध्ययान ।
सिध पुरषां सूंकरै उपाधी । चरपट कहै ए कलियुगके बादी ॥ १८ ॥

सिध कहै वै भुगतैं भग । ताका काला मुष अर पीला पग ।
कूटै चमड़ी धरै ध्ययान । ताप सुवामैं कहा गियांन ॥ १९ ॥

चरपट कहै सुणीरे अवधू । कामणि संग न कीजै ।
झिंद बिंद नव नाडी सोषै । दिनदिन काया छीजै ॥ २० ॥

जतन करंता जाइ सुजाइ । भग देषि जिन घालै घाव ।
कोटि बरष लूं बाढे आव । सति सति भाषंत श्रीचरपटराव ॥ २१ ॥

चरपट चीरचक्र मनकंथा । चितचमां ॐ करंना ।
जैसी करनी करौ रे अवधू । ज्यूं बहोर न होई मरनां ।। २२ ।।

दिढकरि मनवा थिर करि चित । काया पवन पषालै नित ।
अभए भएे जूं थिर हवै कंध । उडैंन हंसा लागै बंध ।। २३ ।।

अवधू मूल दवारै दीजे बंध । बाई षेलै चोटि संघ ।
जुरा पलटै षंडै रोग । बोलै चरपट धनिधनि जोग ।। २४ ।।

बंध सबंध विषैय करि बंद । तलि करि रवि उपरिकरिचंद ।
राति घोंस रस चरपट पीया । पंटंतेलन बूझे दीया ।। २५ ।।

जोंवूं रावल परा सयानां । हंसि किन बांधे टाटी ।
बारा आंगुल पसि गई है । सोला आंगुल फाटी ।। २६ ।।

पवना कंथा अनले बास । पिसन न कोई आवे पास ।
मन मू मतौ गुझ ग्यान बिद्रूत । चरपट कहै धनिअवधूत ।। २७ ।।

निरभै निसंक ते ततवेता । मन मानि विवरजित इंद्रीजिता ।
सेत फटिक मणि ग्यान रता । चरपट कहौ ऐ सिध मता ।। २८ ।।

माधै मूपर मारै निंद । सुपने झरिबा देयन बिंद ।
पड़ै न पिंड न झपै रोग । चरपट बोलै ऐसिध जोग ।। २९ ।।

भरथर चरपट गोपीचंद । बंध्यौ पूरण प्रमांनंद ।
पीर पांड घृत छाडयौ भोग । गष्यौ आत्म साध्यौ जोग ।। ३० ।।

तांबा तूंबा दोऊं मूचा । राजा जोगी दोऊं ऊंचा ।
तांबा डूबै तूंबा तिरै । जीवै जोगी राजा मरे ।। ३१ ।।

ऊजल कंथा बिगेड़े बास । कामनि अंग न मेलै पास ।
दिढ़करि रापै पांचूं इंद्री । बोलै चरपट ते जोग्यंद्री ।। ३२ ।।

कर प्रभिछया बृषतलि बास । कामनि अंग न मेलै पास ।
बन षंडर है मसाणा भूत । चरपट बोलै ते अवधूत ।। ३३ ।।

रूषं वृष गिरकंद लिवास । दोइ जन अंग न मेलै पास
पलटै काया पंड रोग । चरपट बोलै ते थनि जोग ।। ३४ ।।

रष्या चरपट विवरजित कंथा । पुण्यांपुणि विवरजित पंथा ।
स्वादास्वाद विवरजित तुंड । सुख मानाजावत मुंडे मुंड ।। ३५ ।।

मन नहीं मूडे मूंड केस । केसा मूंड्या क्या उपदेस ।
मूडै नहीं मन मरदका मान । चरपट बोलै तत्तगयांन ।। ३६ ।।

धींगा धींगी मुस्ता मुस्ती । ब्रहात चौर बाजारी ।
आपगुर निंदे पर गुर बंदे । लड़बड़ीया लपच्यारी ।। ३७ ।।

झोली पाई पत्र पाया । पाया पंथ का भेव ।
रीता जाऊं भरीया आऊं । कहा करै गुरदेव ।।३८ ।।

सहज सुभाइ भिष्या मांगिबा । संजे मे भजन करणा ।
आसण दिढ करि बैसिबा अवधू । मन सुष भटकिन मरणा ।। ३९ ।।

फोकट आवै फोकट जाइ । फोकट बोलै फोकट षाइ ।
फोकट बेठो करै विवाद । चरपट कहै सब उपाधि ।। ४० ।।

बामै हाथि कमंडल दाहिणै डंड । मोडोचक्र पूजो हो भंड ।
बैठो तुम आगै रंड । चरपट कहै ऐ सब पाषंड ।। ४१ ।।

भेष लीया सो भेद न पाया । घर छाड्या प्रवजी न माया ।
नाथ विसारि निडर जग जोया । सांग बनाइ सुषीहवै सोया ।।४२।।

ना धरि त्रिया नां धरि बरता । ना धरि धावन जोवन मंता ।
ना धरि पुत्र न धीव कवारी । तातै चरपट नीद पियारी ।। ४३ ।।

दिन उठि घर घर दीन्ही फेरी । अंतरि उलटि न आत्मा हेरी ।
पात्र पूरया पेट फूलाया । मांगी भिष्या गटकाषाया ।। ४४ ।।

गटका पाया मगर सचाया । जैसें सहर का कूता ।
जोग जुगति की—षबरि न पाई । कांन फड़ाइ बिगूता ॥ ४५ ॥

आई न छोड़ूं लेवान जाऊं । तातै मेरा चरपट नाऊं ।
आई भी छोडी ऐ लेबा भी जाई ऐ । गोरष कहै पूता-
व्याचारि विचारी षाइ ऐ ॥ ४६ ॥

मति चलणां सुरबाइकथीर । निसदिनकाया गहर गंभीर ।
जत मत सुनिखरत षिमां बहूत । बंदत चरपट ते अवधूत ॥ ४७ ।

हसणां जोगी रगणी सांडि । पुरष कुलछन बेस्यां नाडि ।
कवि लजालू निलजी नारि । चरपट कहैते मांथै मारि ॥ ४८ ॥

कांने मुद्रा गलि रुद्राषि । फिरिफिरि मांगै निपजी माषि ।
चरपट कहै सुणौरे सोई । बरतण है पाणी जो गन होई ॥ ४९ ॥

कोरा मांगै काचा मांगै । मांगै सूत कपासा ।
चरपट कहै सुणो रे अवधू । बिन राड़ी घरबासा ॥ ५० ॥

पगेचमांऊं माथै टोय । गलमैं बागा मन मैं कोय ।
माया देषि पसारा करै । चरपट कहै विन आई मरै ॥ ५१ ॥

छत्र कछोटी चाषै पांन । तीरथ जाइ उगा है दान ।
करै बंदगी जिवावै रोगी । चरपट कहै विगूता जोगी ॥ ५२ ॥

जटाविट बन अंगे छार । मोटी कंथा कहौ बिसतार ।
बिचत्र बांनी अंगाचंगा । बटबामी त्रै बहुविधिरंगा ॥ ५३ ॥

मदै मांसै लावै चित । ग्यांन विवरजित गावै गित ।
यह निस न्याई भोग बिलास । चरपट बोलै कंधविनास ॥ ५४ ॥

कथणी बदणी बलि बलिजाबू । बांधि सकै तौ बंधौ बाव ।
चरपट कहै पवन की डोरी । भूंकत गधवा ले गया चोरी ॥ ५५ ॥

न जानैं ऊंची झष धरम । ऊंचा मंदिर कूड़ी करम ।
चरपट कहै सुनौरे लोका । रतन पदारथ गमायौ फोका ॥ ५६ ॥

ऐकै पथर ऊपरै पाव । दूजा पाथर ऊपर भाव ।
चरपट कहै उनीका भेव । यौ क्यूं पाथर यौ क्यूं देव ॥ ५७ ॥

पूजि पूजि भाठा सब जग घाठा । निजततर ह्या निनार ।
जोति सरूपी संगिही आछै । तिसका करौ विचार ॥ ५८ ॥

पूजिबा तौ आत्मदेव पूजिबा । चढाइवा तौ अनादि पाती ।
चरपट कहै कहूं भटकि न मरना । घटि घटि तीरथ जाती ॥ ५९ ॥

॥ इति चरपटजी की सबदी संपूर्ण ॥

॥ अथ गोपीचंद जी की सबदी ॥

रज तजिले पूता पाट तजिलै । तजिलै हस्ती घोड़ा ।
सति सति भाषत माता मैणावती रे पूता । कलि मैं जीवन
थोड़ा ॥ १ ॥

राजा कै घरि राणी होती माता । हमारै होती माई जी ।
सवषणै भौ बारै बैठती माता । यहु ग्यान कहां तैल्याईजी ॥ २ ॥

गुरु हमारै गोरष बोलीए । चरपट है गुरुभाई जी ।
एक सबद हमकूं गुरु गोरषनाथ दीया । सो वो ल्यष्या मैणांवती
माई जी ॥ ३ ॥

सोलासै राणीमं बाग मैकन्या । बंगाल देस बड भोगीजी ।
बारा बरस मोनै राज्यकरण दे । पिछै होऊंगा जोगीजी ॥ ४ ॥

आजि आजि करंता पूता काल्हि काल्हि करंता ।
काया झरै कलाल की भाठीजी ।
सति सति भाषंत माता मैणावती रे पूता ।
यो तन जलिबलि होइ मसांण की माटीजी ॥ ५ ॥

जोग न होसी रे पूता भोगन होसी । न सीझि सो
जल विंब की काया ।
सति सति भांषत माता मैणावती रे पूता ।
भूमि भूल्यै रे भाया जी ॥ ६ ॥

मरोगे मरिजाहू गेरे । फिरि हो हूगे मासांणकी
छारंगजी ।
कबहूकू परम तत चीन्है जेरे पूता ।
ज्यूं उतरौ संसार भौ पारंजी ॥ ७ ॥

कूंण हमकू भात षुलावै । कूंण पषाले पाईजी ।
कहां मूं मेरै मैड़ी मंदिर । कहां तू मणावती माईजी ॥ ८ ॥

अलष तुमकूं मात षुलावै । गंग पषालै पाई जी ।
रूषे बिरषे तेरमेड़ी मंदिर । घरिघरि मैणावती माईजी ॥ ९ ॥

माता के उपदेश तजीला । देस बंगाल जी ।
गोपीचंद गुरु कै सरणै । भेटत भागा काल जी ॥ १० ॥

छाड्या राजपाट पाणी छाड्या । छाड्याभोग विलासजी ।
गोपीचंद धीलाघर सबदी । छाडि भया बनबासजी ॥ ११ ॥

राणी सकल कन्या सब ही । है है कार भईलाजी ।
रावृत रैनि तुरी गज गलबल। राजा गोपीचंद कहां गईलाजी ॥१२॥

जलंधरी याव हाथि दे डीबी । गोपीचंद षंदाया जी ।
मंदर महल पौलि जहां भीतरी । तहां अलेष जगाया जी ॥ १३ ॥

माइ बहन करि भिष्या मांगी । पूरया सींगी नांदजी ।
मांमालि साद मिली जब राणी । आइ किया संवादजी ॥ १४ ॥

मन राजा मन प्रजा । मन सकलका बंधजी ।
मनकूं चीन्हे पारग्रींमी भया । राजा गोपीचंदजी ॥ १५ ॥

ग्रहवे कूं नांही देषिबे कूं लषि । चंदसूर विवरजित पषि ।
जलमैं बिब द्रपन मैं छाया । ऐसा अचिंत पद गोपीचंद पाया ॥ १६ ॥

पाया लो भल पायालो । सरबंथा न सहेती थिति ।
रूप सहेती दीसण लागा । पिंड भई प्रतिति ॥ १७ ॥

मन थिरंता पवन थिर । पवन थिरंता बिंद ।
बिंद थिरंता जिंदा थिर । यूं भाषै गोपीचंद ॥ १८ ॥

मन चलंता पवन चलै । पवन चलता बिंद ।
बिंद चलंता कंध पड़ै । यूं भाषै गोपीचंद ॥ १९ ॥

॥ अथ जलंधरी पाव़जी की सबदी ॥

सुनि मंडल मैं मनका बासा । जहां प्रम जोति प्रकासा ।
आपे पूछै आपै कहै । सत गुरु मिलै तै प्रमपद लहै ॥ १ ॥

ऐक अचंभा ऐसा हूवा । गागर मांहि उसास्या कूव़ा ।
व़ो छीनेज पहूचै नांही । लोक पयासा मरि मरि जांही ॥ २ ॥

आसा पासा दूरि करि । पसरंती निवारि ।
स्पध साधिक मूं संग करि । कै गुरमुष ग्यान विचारि ॥ ३ ॥

धरती आकास पवन अर पांणी । चंदसूरषट दरसण जाणी ।
ॐ कार का जाणै मंत । ऐसा सिधा अलष अनंत ॥ ४ ॥

गोपीचंद कहै स्वामीजी । बस्ती रहूं तौ कद्रंपब्यापै ।
जंगलि जाऊं तौ षुध्या संतापै । आसाणी रहूं तौ व्यापै माया ॥
पंथ चलूं तौ छीजै काया । मीठौ षांड तौ ब्यापै रोग ।
कहौ कासी प्रसांधू जोग ॥ ५ ॥

सांभलि अवधू तत विचार । ऐनिज सकल सिरोमणि सारं ।
संजम अहार कंद्रप नही ब्यापै । व़ाई अहार षुध्यान संतापै ।
सिध आसन नहि लागै माया । नाद पयानैं नहि छीजै काया ।
जिभ्या स्वाद न कीजै भोग । मन पव़नां ले साधौ जोग ॥ ६ ॥

मरदने केसस थामि लै अवधू । पवना थामि लै काया ।
अत्सेजु राम रन थांभि लै । विचार त्याग लै माया ॥ ७ ॥

सत सिध मते पार । न मरै जोगी न ले अवतार ।
सुनि समाव़ै बाव़ै बीनां । अलष पुरष तहां ल्यौ लीना ॥ ८ ॥

जोग न जोग्या भोग न भोग्या । अहला गथा ज मारा ।
गांमे गधा जंगल सूकर । फिरि फिरि ले अवतारा ॥ ९ ॥

इहू संसौ पाई ऐ पैले । अब बोई ऐ ते आगें फलै ।
इह संसार करम की बारी । जबलग सरधा सक्ति संसारी ।। १० ।।

पहेलै कीया स अब भुगतावै । जो अब करै स आगें पावै ।
जैसा दीजै तैसा लीजै । तातै तन धरनी कां कीजै ।। ११ ।।

अजपा जपनां तपबिन तपनां । धुनि गहै धरिबा ध्यानं ।
जोग सहारं पाप प्रहारं । ऐसा अदभुत ग्यान ।। १२ ।।

।। इति जलंधरी पावजी की सबदी ।।

A CRITICAL STUDY OF GORAKSASAMHITA

गोरक्ष-संहिता:

एक समालोचनात्मक अध्ययन

पञ्जाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़
की पी-एच०डी० (संस्कृत)
उपाधिहेतु प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध

1985

शोध कर्त्ता :
गोकुलचन्द शर्मा
व्याकरण-दर्शनाचार्य
एम० ए० (संस्कृत)
साहित्य-आयुर्वेदरत्न

पञ्जाब विश्वविद्यालय
चण्डीगढ़-14

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री गोकुल चन्द्र शर्मा द्वारा पंजाब विश्व विद्यालय को पी०एच०डी० संस्कृत उपाधि हेतु प्रस्तुत "गोरक्ष संहिता : एक समालोचनात्मक अध्ययन" नामक शोध प्रबन्ध उनकी अपनी रचना है और मेरे निर्देशन में पूर्ण की गई है । इसे अन्यत्र किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया है ।

दिनांक

जून ,1985

धनराज शर्मा 3/6/85

धनराज शर्मा

रीडर संस्कृत विभाग

पंजाब विश्व विद्यालय

चण्डीगढ़ - 14

संकेत सूची - I

अथर्व०	अथर्ववेद
अ०हृ०	अष्टांगहृदयम्
ए०उ०	ऐतरेय-उपनिषद्
क०उ०	कठोपनिषद्
गो०ब्रा०	गोपथ-ब्राह्मण
गो०प०	गोरक्ष पद्धति
गो०सं०	[redacted] गोरक्षसंहिता
गो०सं०यो०ख०	गोरक्ष संहिता योग खण्ड
गो०सि०सं०	गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह
घे०सं०	घेरण्ड संहिता
च०सं०	चरक संहिता
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
प्र०उ०	प्रश्नोपनिषद्
प्र०द०	प्रत्यभिज्ञा दर्शन
ब्र०सू०	ब्रह्मसूत्र
भा०पु०	भागवत पुराण
म०स्मृ०	मनुस्मृति
मा०पु०	मार्कण्डेय पुराण
या०स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति

क्र. पृ. १०५८ देखें

विषय सूची

सहायक ग्रन्थ सूची

अग्निपुराण सं0 आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा वाराणसी

अथर्व-वेद शौनक संहिता सं0 विश्वबन्धु, वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, 1961

अष्टांगराजयोग सं0 सत्यदेव, वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर, भाग-1, 2, सन् 1957, भाग-3, सन् 1965

अष्टांगहृदयम् वाग्भट्ट, विद्योतिनिभाष्य सहित, चौखम्बा, वाराणसी,

अष्टाध्यायी पाणिनि रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सम्वत् 2034

अमरौघ शासनम् सं0 मुकुन्द शास्त्री,

आसनप्राणायाममुद्राबन्ध सं0 सत्यानन्द सरस्वती एवं के0के0 गोयन्दका, बिहार योग विश्वविद्यालय, बिहार, 1973

उपनिषदों में योग तत्व

ऋग्वेद संहिता सं0 काशीकर एवं सोनटके, वैदिक शोधमण्डल पूना, 1933-51

ऋग्वेद प्रातिशाख्य शौनक वर्गद्वय वृत्ति एवं उव्वटकृत टीका सहित, सं0 मंगलदेव शास्त्री, इलाहाबाद, 1931

ऐतरेय ब्राह्मण, सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1896

ऐतरेय आरण्यक सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1898

ऐतरेयोपनिषद् उपनिषद् संग्रह, सं0 जगदीशलाल शास्त्री, मोतीलाल, बनारसीदास दिल्ली, 1980

कल्याणकारक हस्तलेख

कठोपनिषद् शांकरभाष्य सहित गीता प्रेस गोरखपुर, सं0 2001

कबीर दोहावली, देहाती पुस्तक भण्डार, दिल्ली

कणाद् गौतमीयम् सं0 आचार्य विश्वनाथ

गरुड पुराण प्रेतकल्प चौखम्बा वाराणसी, सं0 2026

गोपथ ब्राह्मण सं0 जीवानन्द कलकत्ता, 1891

गोरक्षनाथ एण्ड कनफटा योगोज, ब्रीग्ज

गोरक्ष पद्धति सं0 महीधर शर्मा, खेमराज कृष्णदास वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई 1898

गोरक्षनाथ डा0 नागेन्द्रनाथ

गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, सं0 डा0 जनार्दन शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी,

गोरक्षशतक गोरक्षनाथ

गोरक्ष-संहिता
1. सं0 डा0 चमन लाल गौतम, बरेली
2. डा0 जनार्दन शास्त्री पाण्डेय, वाराणसी, 1976

गोरक्ष चरित, डा0 चमन लाल गौतम, ख्वाजा कुतुब वेद नगर बरेली

घेरण्ड संहिता लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस कल्याण बम्बई, सम्वत् 1978

चरक संहिता चरक चक्रपाणि व्याख्यासहित, चौखम्बा वाराणसी,

तेजोबिन्दूपनिषद् उपनिषद्संग्रह से, सं जगदीशलाल, मोतीलालबनारसीदास दिल्ली, 1980

तैत्तिरीय ब्राह्मण सायणभाष्य सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1934

तर्कसंग्रह अन्नभट्ट चौखम्बा संस्कृत सीरीज. 1961

तत्वार्थसूत्र उमा स्वामी चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

तान्त्रिक साधना और साहित्य

जीवन योग की साधना काकाकालेकर

तैत्तिरीय आरण्यक आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1897

ध्यानबिन्दूपनिषद् संग्रह उपनिषद् संग्रह से

नाथ सम्प्रदाय हजारी प्रसाद द्विवेदी, नैवेद्य प्रकाशन वाराणसी,

नाथ सम्प्रदायेर इतिहास दर्शन ओ साधना प्रणाली,   डा० कल्याणी मल्लिक

नादबिन्दूपनिषद्   उपनिषद्संग्रह से

निरुक्त   यास्क   दुर्गवृत्ति सहित, आनन्दाश्रम ग्रन्थावली पूना, 1921-26

न्याय दर्शन   विद्योदयभाष्य सहित   चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी

पंचदशी   विद्यारण्य   बुद्धि सेवा आश्रम, रत्नगढ़, सम्वत् 2011

योग दर्शन पतंजलि   सं०ब्रह्मलीन मुनि,   दालगिया,महिधरपुरा,सूरत,गुजरात,1958

पारस्कर गृह्य सूत्र   हरिहरभाष्य   चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन,वाराणसी,1980

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

प्रश्नोपनिषद्   उपनिषद् संग्रह से

प्राणाग्निहोत्री उपनिषद्   उपनिषद् संग्रह से

प्राणायाम   यौगिक चिकित्सा एवं अनुसंधान केन्द्र,बापूनगर,जयपुर,1970

बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन -

ब्रह्म सूत्र   शांकरभाष्य सहित,   अच्युत ग्रन्थमाला कार्यालय,काशी, सं० 1992

भगवद्गीता   शांकरभाष्य सहित ,   गीता प्रेस गोरखपुर, 1957

भागवत-पुराण   भावार्थ दीपिका सहित, सं वासुदेव लक्ष्मण, निर्णय सागर बम्बई,1910

देवीभागवत पुराण   सं० रामतेज पाण्डेय,पण्डित पुस्तकालय काशी,1976

भारतीय दर्शन   डा० बलदेव प्रकाश उपाध्याय, चौखम्बा औरियन्टालिया,वाराणसी, 1976

मण्डल ब्राह्मणोपनिषद्   उपनिषद् संग्रह से

महाभाष्य   प्रदीपोद्योत व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज,वाराणसी, 1954

मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1887

माण्डूक्योपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

मैत्राण्यपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता उव्वट महीधर भाष्य सहित, सं0 वासुदेव शर्मा, पाण्डुरंगजावजी, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, 1929

याज्ञवल्क्य स्मृति मिताक्षरा व्याख्या सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज् वाराणसी

योगकुण्डल्युपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योगी सम्प्रदाय आविष्कृति

योग चूडामण्युपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योग तत्वोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योग प्रदीपिका सं0 बलदेवमिश्र, चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी, 1972

योग शिखोपनिषद् उपनिषद् संग्रह से

योग मीमांसा पत्रिका कैवल्य धाम आश्रम लोनावला पूना

योग वासिष्ठ अच्युत ग्रन्थमाला काशी, सं0 2005

योग विज्ञान सं0 सत्यानन्द सरस्वती-बिहार योगी विद्यालय, मुंगेर, 1972

योग विज्ञान 2 भाग पीताम्बर आश्रम दतिया

योगविद्या पत्रिका बिहार योग विद्यालय मुंगेर" बिहार

योगसारसंग्रह सं0 सनातनदेव, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सं0 2014

योगाभ्यास क्रम डा0 मनोहरलाल लक्ष्मण धारोटे क्रीडा एव युवक कल्याण, बम्बई-1976

योगासन		स्वा० कुवलयानन्द, कैवल्यधाम, लोणावला, महाराष्ट्र, 1965
योगशास्त्र		
रसरत्नाकर		काश्मीरी संस्करण
रसेन्द्रसार संग्रह		दीपिका टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी
रसार्णव तन्त्र		हस्तलेख
लिंग पुराण		लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई, 1846
वायु पुराण		आनन्द मुद्रणालय पूना, 1905
वाराहोपनिषद्		उपनिषद् संग्रह से
वसिष्ठ संहिता		सं० दिगम्बर जी कैवल्य धाम लोणावला, पूना
वाक्य पदीय	भर्तृहरि	सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1977
विश्व ज्योति पत्रिका		वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर ,
वेदान्तसार	सदानन्द,	चौखम्बा संस्कृत सीरीज , वाराणसी, 1964
वैशेषिक दर्शन		प्रशस्तपादभाष्य सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी
वैदिक योग सूत्र		
शक्तिसंगम तन्त्र		चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी,
शतपथ ब्राह्मण		सं० ए० वेबर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, 1964
शाक्त प्रमोद		चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी,
शारदातिलक		डा० चमनलाल, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर बरेली,
शार्ङ्गधरसंहिता		चौखम्बा प्रकाशन वाराणसी

शाण्डिल्योपनिषद्   उपनिषद् संग्रह से

शिव महा पुराण   सुरेशचन्द अग्रवाल, गीता बुक डिपो हरिद्वार.

शिव संहिता   डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब वेद नगर, बरेली, 1975

शिव संहितायाः आलोचनात्मक अध्ययनम् ,

श्वेताश्वतरोपनिषद्   सं० तुलसी राम शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्ज, दिल्ली, 1976

षट्चक्र निरूपण

सर्वदर्शन संग्रह   सं० के० साम्बशिव, त्रिवेन्द्रम्, 1938

सांख्य दर्शन

साहित्य दर्पण   लक्ष्मी टीका सहित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी.

सारस्वत कुण्डलिनी योग   डा० जितेन्द्र भारती, लखनऊ

सांख्य तत्व कौमुदी   ईश्वर कृष्ण   चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

सिद्ध सिद्धान्त संग्रह

सिद्धान्त कौमुदी,   बालमनोरमा सहित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1980

सुवर्ण तन्त्र   हस्त

सूरसागर   मथुरा संस्करण

हठयोग प्रदीपिका   स्वात्माराम ला० श्यामलाल हीरालाल, श्यामकाशी प्रेस मथुरा

हितोपदेश   चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

यो०द०	योग दर्शन
यो०प्र०	योग प्रदीपिका
लि०पु०	लिंग पुराण
वा०प०	वाक्यपदीय
वा०पु०	वायु पुराण
वै०द०	वैशेषिक दर्शन
वै०भू०सा०	वैयाकरणभूषणसार
श०ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शि०सं०	शिव संहिता
सां०द०	सांख्य दर्शन
सां०त०कौ०	सांख्यतत्त्व कौमुदी
सि०सि०सं०	सिद्ध सिद्धान्त संग्रह
सि०कौ०	सिद्धान्त कौमुदी
सु०सं०	सुश्रुत संहिता

प्राक्कथन

गुरु गोरक्षनाथ भारत के धार्मिक, दार्शनिक एवं तान्त्रिक जगत् में जहाँ मूर्धन्य रहे हैं, वहाँ पर सामाजिक जीवन में भी उनका प्रभाव आज कई शताब्दियों के पश्चात् भी परिलक्षित होता है । उत्तरी भारत के जनजीवन विशेषरूप से हिमाचल के मन्दिरों में देवपूजा पद्धति गोरक्षनाथ द्वारा चलाई गई थी, ऐसा प्रतीत होता है । पूजा में मुद्रागान, ध्वज, ध्रुज चिमटे आदि के चिह्न एवं देवमन्दिरों में धातुज पात्रों की भेंट तथा मन्दिरों में उनका चिपका देना, ये ऐसे चिह्न हैं जो नाथ सम्प्रदाय के प्रतीकवाद का पूर्ण रूपेण स्मरण करवा देते हैं ।

भारतीय संस्कृति की मन्दाकिनी आदियुग से लेकर वर्तमान युग तक अबाधगति से बह रही है । जब कभी इसकी धारा में अवरोध या बाधा उपस्थित होती है, तब कृष्ण जी की वाणी चरितार्थ होकर उसे दूर कर देती है ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।

जब कभी भारतीय संस्कृति खतरे में पड़ी, तभी कोई मनीषी उत्पन्न हुआ । इसी परम्परा में शंकराचार्य के पश्चात् भारत भूमि पर एक महान् विभूति अमरकाय वज्रदेह श्री गोरक्षनाथ जी उत्पन्न हुए । उन्होंने अपने जीवन में साधना करके भारत वासियों का ही नहीं अपितु भावी कलियुगी त्रस्त मानव को कई प्रकार के रत्न खोज कर दिए हैं । तभी तो उन्हें संसार की सर्वोत्तम गुरु की पदवी मिली । "सर्वत्र विजयं कांक्षेत्, न कांक्षेत् पुत्र शिष्ययोः" के सिद्धान्तानुसार गोरखनाथ जी विश्व प्राणी का उद्धार चाहते थे । वे किसी से अपनी विद्या को नहीं छिपाना चाहते थे । वे जहाँ

शावर वेद के ज्ञाता थे और संचालक थे,वहाँ उनकी पहुँच योग,आसन,प्राणायाम,मुद्रा, नादानुसन्धान,रस सिद्धान्त,आयुर्वेद,अगद तन्त्र,धर्म,संस्कृति,तन्त्रशास्त्र आदि में भी शेष अवतार पतंजलि की भाँति पूर्ण रूपेण देखने को मिलती है ,तभी तो मैं कह सकता हूँ कि -

योगेन चित्तस्य जपेन वाचा मलं शरीरस्य चवैद्यकेन,
गोरखनाथं योऽपाऽकरोत् सः प्रवरं मुनीनांऽअंजलिरानतोऽस्मि ।।

इन समस्त रत्नविधाओं का रत्नागार "गोरक्षसंहिता है । यह अमूल्य ग्रन्थ संस्कृत में निबद्ध है और दुर्भाग्यवश पूर्ण रूप से अभी तक प्राप्त नहीं होता । इसके जो तीन प्रकरण जो मिले हैं उन पर उपयोगिता के आधार से हिन्दी में कोई भी विश्लेषण नहीं हुआ है,जबकि व्याधि प्रधान वर्तमान के प्राणी को इसकी परं उपयोगिता है । इस आवश्यकता को दृष्टि -गत रखते हुए इस ग्रन्थ का सांगोपांग विवेचन आवश्यक था । इसीलिए मैंने अपने शोध-प्रबन्ध का शीर्षक "गोरक्षसंहिता :एक समालोचनात्मक अध्ययन" रखा । इसमें मैंने ग्रन्थकार के उदेश्यों को सर्वसाधारण तक पहुँचानें का प्रयास किया है ।

शोध प्रबन्ध को छः अध्यायों में बाँटा गया है । प्रथम अध्याय में स्थितिकाल,जीवनवृत्त का परिचय देते हुए गोरक्ष द्वारा प्रणीत संस्कृत तथा इतर भाषाओं के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है । द्वितीय अध्याय में ग्रन्थ में प्रतिपादित योग स्वरूप,सिद्धान्त,अधिकारी,गुरु,योग में देशकाल का महत्त्व आदि विषय, आसनादि, षट्कर्म,मुद्रा तथा समाधि का वर्णन किया है । तृतीय अध्याय में रस,रसावस्था,रससाधन,

रसपातन, रसप्रयोग एवं उसकी सिद्धियों पर विचार प्रकट किए हैं । चतुर्थ अध्याय गोरक्ष-संहिता के तुलनात्मक परिशीलन में गोरक्षसंहिता के साथ पातंजल योग, हठयोग, सांख्य दर्शन बौद्ध दर्शन, अद्वैत वेदान्त, आयुर्वेद तथा अद्वैताद्वैत विलक्षणवाद का विवेचन करते हुए समन्वय स्थापित किया गया है । पंचम अध्याय में दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों को लेते हुए दोनों पक्षों का विशद् विवेचन प्रस्तुत किया है । दार्शनिक पक्ष में शिव, शक्ति, ईश्वर, कार्य-कारणवादएवं शुद्ध विद्या के सिद्धान्तो के विवेचन के पश्चात् माया, कला, राग, काल, नियति, जीव, प्रकृति, बन्ध तथा मोक्ष विषयों को लिया गया है । इसी प्रकार धार्मिक पक्ष में वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध धर्मो के विश्लेषण के पश्चात् प्रतीकोपासना, प्रतीकाप्ति, प्रतीकों का अध्यात्मिकस्वरूपादि विषय प्रस्तुत किए गए हैं । षष्ठ अध्याय में परम्परानुसार उपसंहृति प्रस्तुत की गई है। इसमें गोरक्षसंहिता के भारतीय धर्म और दर्शन पर प्रभाव, योगदान तथा समन्वयात्मिका परिणति को रखा गया है ।

मैं अपने शोध प्रबन्ध में इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि "गोरक्ष-संहिता यावत् गौ पद वाच्य अर्थों की रक्षा करने वाली है तथा वर्तमान युग के सर्वतः संत्रस्त मानव की रक्षा इसी ग्रन्थ के अनुशीलन से हो सकती है । यदि सरकार के सहयोग से रस तथा योग प्रकरण का अन्वेषण किया जाए तो वह दिन दूर नहीं जब भारत पुनः सोने की चिड़िया कहलाएगा । वह विश्व के लिए संदेश दे सकेगा कि -

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निः न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ।।

जब भारतीयों का निर्दिष्ट चरित्र पुनरावर्तित हो जाएगा तो वह मनु की वाणी में पुनः कह सकेगा –

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवः ।।

इस शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने में मुझे जिन महानुभावों की पूर्ण प्रेरणा एवं सहायता प्राप्त हुई है उनमें सर्व प्रथम स्थान पंजाब विश्वविद्यालय संस्कृत विभाग के सुविख्यात विद्वान् डा० धनराज शर्मा का है । आपके निर्देशन में मैंने अपना शोध कार्य पूर्ण किया है । आपने मुझे इस शोध कार्य में निर्देशन ही नहीं दिया अपितु मुझे समस्त प्रकार की सहायता एवं सुविधाएँ प्रदान की । डा० महोदय का मैं अपने हृदय से आभार प्रकट करता हूँ । आपके अतिरिक्त दर्शन केसरी तथा सुप्रसिद्ध दार्शनिक एवं पंजाब विश्वविद्यालय के अग्रगण्य एवं मूर्धन्य डा० राममूर्ति शर्मा के प्रति हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । आपके आशीर्वाद एवं प्रेरणा से मुझे अपने शोधकार्य में पूर्ण सहयोग मिला । पंजाब विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डा० रमाकान्त शर्मा एवं डा० जोशी जी के प्रति मैं अपने हृदय से आभार प्रकट करना चाहूँगा क्योंकि इनके सत्परामर्शों से तथा कार्यालीय सुव्यवस्था के फलस्वरूप मुझे अत्यन्त सहयोग मिला ।

डा० मानसिंह वेदाचार्य हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के सहयोग एवं परामर्श के लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ । वेद शास्त्र के परम प्राचार्य प्रेमसिंह रा०म०विद्यालय सुन्दर नगर का भी मैं आभार प्रदर्शन करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनके सत्परामर्श एवं सुविधाओं का मैंने पूर्ण लाभ प्राप्त किया है ।

हिमाचल प्रदेश के सुप्रसिद्ध संस्कृत समाजसेवी एवं भारत के राष्ट्र-

पति द्वारा पुरस्कृत विद्वान् गुरु प्रवर प्राचार्य दिवाकर दत्त जी की सत्प्रेरणाओं का फल ही यह कार्य कहा जा सकता है । अतः मैं विनम्र हृदय से उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । संस्कृत जगत् के लिए नई विभूति डा० सुधाकर शर्मा के सहयोग से यह कार्य सम्पन्न हुआ है । इनका भी मैं हृदय से अभारी हूँ । पूज्य पिता श्री गोविन्दराम शर्मा ब्रह्म लीन एवं माता जानकी देवी का भी मैं धन्यवादी हूँ जिनके शुभाशीर्वाद से मेरा यह शोधकार्य पूर्ण हुआ है ।

डा० सतीशकुमारशर्मा "आंगिरस" साहित्यवेदाचार्य का मैं अत्यन्त अभारी हूँ जिन्होने अनेक प्रकार के कष्टों को सहते हुए अपने निवास कोटखाई में मेरे शोध प्रबन्ध के शोधन एवं प्रतिलिपिकरण में अपना सहयोग दिया और इसे पुस्तक का रूप दिया है । उन पूर्ववर्ती तथा वर्तमान विद्वानों के प्रति आभार प्रदर्शन करना मेरा पूर्ण कर्तव्य बन जाता है जिनके ग्रन्थों एवं लेखों से प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन में मुझे सहयोग प्राप्त हुआ । श्री मती सत्या शर्मा दर्शनाचार्य का मैं विशेष धन्यवादी हूँ जिनके दृष्टादृष्ट सहयोग से मुझे अपने शोध कार्य को पूर्ण करने में सफलता मिली । अन्त में आर्तजनत्राणक वज्रदेह गुरु गोरक्षनाथ जी के चरणों में नतमस्तक होकर शोध प्रबन्ध को अर्पण करता हूँ ।

गोरक्षं नौमितं देवं योगमार्ग प्रदर्शकम् ।
यत्कृपालवमात्रेण योगसिद्धि प्रजायते ।।
तेषां कृपाकटाक्षेण योगमार्गे प्रवर्तितः ।
आचार्यगोकुलचन्द्रोऽसौ कृतकृत्यो ह्यजायत ।।

----o----

स्थितिकाल :-

भारतवर्ष के महापुरुषों की यह स्वच्छ परम्परा रही है कि वे अपने बारे में कुछ नहीं लिखते, बल्कि इसकी अपेक्षा विषय के बारे में अधिक स्पष्ट और सन्तुलित प्रकाश डालते हैं । इससे भारतीयों की निरहंकारता का स्पष्ट पता चलता है, जो विद्या का भूषण माना गया है, दूषण नहीं । क्योंकि "विद्या ददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्"(1) कि युक्ति यही कहती है कि विद्या से विनय मिलती है और विनय से पात्रता आती है । पात्रता का अर्थ है कार्य के अनुरूप ही फल मिलना या कारण के अनुरूप ही कार्य पैदा होना इसलिए अध्ययनानन्तर जब भारत का शिष्य स्नातक बनकर गुरुकुल से स्वकुल को प्रत्यावर्तित होता था, तो गुरु उसे इसी पात्रता का अन्तिम उपदेश देता था । जैसे " बेटा अपने माता-पिता की सेवा करना, अपने गुरुओं की सेवा करना, अतिथि को सर्वदेवमय मानना,(2) नित्य प्रति अपने वेद और धर्मशास्त्रों का अध्ययन करना आदि । इसी से तुम अपने जीवन की सार्थकता प्राप्त कर सकोगे । जीवन चतुर्विध पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए मिला(3) है, सांसारिक विषय भोगों का भोगने के लिए नहीं । क्योंकि हम मानव हैं । मानव का तात्पर्य है -

---

1. हितोपदेश, मित्रलाभ:-श्लोक -6

2. तै०उ० ।। अनुवाक् , मातृदेवो भव । पितृदेवोभव । आचार्य देवोभव । अतिथि देवोभव ।

3. सा०द०, प्र० परिच्छेद , धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।।

" सोच समझकर काम करना" । सोच-समझकर[4] कौन सा काम किया जाता है ! जिससे "इस जीवन में अभ्युदय[5] और शरीरत्याग के बाद मोक्ष मिल सके । " एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा[6] इस न्याय से अथवा आम के आम गुठली के दाम या "आम्राश्च सिक्ता पितरश्च प्रीणिता:" न्याय से जहाँ दोनों वर्तमान और भविष्यत् जन्म लाभान्वित हो वही काम किया जाता है । क्योंकि सब अपना मनोवाञ्छित काम करना ही चाहते हैं । स्व अनुकूल जिस विषय का ज्ञान हो, वही सुख कहलाता है[7]। सुख को ही सब चाहते हैं ।

भारतीय मनीषियों का मन्तव्य विषय का ज्ञान करवाना ही अभीष्ट होता था, न कि प्रसिद्धि । इसी कारण वे अपने स्थिति कालादि के बारे में कुछ भी संकेत नहीं देते थे । दूसरे मानव का चरम लक्ष्य मोक्ष है । ~~मोक्ष है~~ । मोक्ष तब तक नहीं मिल सकता, जब तक निष्काम कर्म न किया जाए । जगत को छोड़ना ही मोक्ष है । नामरूप[8] का अभिधान ही जगत है । अत: उसका छोड़ना तभी हो सकता है । जब वे अपनी कृतियों के साथ अपना नाम न लगाए, कृतित्व न दिखाए । अगर वे महापुरुष अपना कृतित्व अपनी कृतियों में दिखलाते तो उनका नाम लेकर और उनका समय बतलाते हुए वे मोक्ष की कल्पना नहीं कर

---

4. निरुक्त अ0 1, पा0 6 मत्वा कर्माणि सीव्यति ।

5. वैशेषिक सूत्र, अ0 1-2 यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धि: स: धर्म: ।

6. महाभाष्य प्र0 अ0, पृष्ट 84

7. तर्कसंग्रह , शब्दखण्ड ,स्वानुकूल वेदनीयं सुखम् ।

8. शां0ब्रा0 1.1 नामरूपात्मकं हि जगत् ।

सकते थे ।

अत: गुरुगोरक्षनाथ भी महापुरुषों के अग्रणी माने जाते हैं । उनकी कृतियों में भी भारतीय परम्परा का पूर्ण पालन किया गया है । जिस कारण इनके जीवन काल के विषय में निश्चित रुप से कुछ नहीं कहा जा सकता । पाश्चात्य विद्वानों की यह परम्परा रही है कि वे अपने स्थिति काल के बारे में पहले लिखेंगे कार्य बाद में करेंगें । डा० जनार्दन पाण्डेय[9] के विचारों के अनुसार,उनका इतिहास केवल दो हजार वर्षों का है जबकि हमारा अनादि इतिहास है । जिसमें काल की गणना में कौन फंसेगा । इसलिए नाथ सम्प्रदाय की रीढ़ की हड्डी के समान महान आचार्य गुरु गोरक्षनाथ के सम्बन्ध में कोई निश्चित प्रमाण नहीं है । केवल अनुमान से उनका काल निर्धारण किया गया है । 991 इस्वी में अभिनवगुप्त ने क्रम स्तोत्र का निर्माण किया था[10] । वहाँ गोरक्षनाथ का स्मरण किया गया है । इससे हम यह कह सकते हैं कि इनका स्थिति काल इससे पूर्व कभी भी हो सकता है । इसी प्रकार नेपाल के एक शिलालेख में "अवलोकितेश्वर का वर्णन आया है । 3620 कलियुग बीत जाने पर,[11] नेपाल में श्री मान् अवलोकितेश्वर का दर्शन किया गया । इससे प्रतीत होता है कि 520 ईस्वी में कदली देश में मोहित मच्छेन्द्रनाथ को गोरक्षनाथ ने बोध करवाकर छुड़ाया था ।

---

9. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह , निवेदने "ञ"

10. हजारी प्रसाद द्विवेदी ,पृ० 97

11. गोरक्षसंहिता, काशी संस्करण का उपोद्घात "ग"

और वहाँ से मत्स्येन्द्रनाथ नेपाल आए । तब उनको सर्वप्रथम लोगों ने देखा। जिस कारण उनका नाम अब लोकितेश्वर पड़ गया । इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ जिन्हें अवलोकितेश्वर नाम से भी पुकारा जाता है, छठी शताब्दी के आरम्भ में इस दिखाए गए शिलालेख के आधार पर सिद्ध होते हैं । उनके शिष्य गोरक्षनाथ का समय भी इसके समसामयिक या बाद का हो सकता है । डा० नगेन्द्रनाथ उपाध्याय के अनुसार[12] "गोरक्षनाथ से सम्बन्धित जो कथाएँ मिलती हैं, उनमें से गूगा चौहान, राजा रसालू, पूरण भगत आदि से सम्बन्धितत है । जिनका उपयोग विद्वानों ने गुरुगोरक्षनाथ के काल निर्णय में किया है । गूगा का समय 12 वीं शताब्दी के पूर्व बताया गया है । राजा रसालू का समय 8वीं शताब्दी माना गया है । ब्रीग्स ने[13] भर्तृहरि, गोपीचन्द्र, भोज, रानी पिंगला आदि की कथाओं के आधार पर, गोरक्षनाथ का समय 11 वीं शताब्दी माना है । राजपूताने के मेवाड़ बाप्पा से सम्बन्धित गोरक्ष का समय 8वीं शती से 12 वीं शती तक के बीच में माना है। अधिक सम्भावना 11 वीं शताब्दी के प्रारम्भ की है । उनका प्रारम्भ ब्रीग्स ने ग्यारहवीं शती से स्वीकार किया है । साथ ही उन्हें बंगाल के पूर्वभाग से आया हुआ माना है । किन्तु एक दूसरे विद्वान् डा० मोहन सिंह ने सम्भावना व्यक्त की है कि वे ईसा की 14 वीं शताब्दी में विद्यमान् थे ।[14]

---

12. गोरखनाथ ऐण्ड कनफटा योगीज़ ब्रिग्स ,पृष्ट

13. वही ,पृष्ट 230

14. डा० नगेन्द्रनाथ , गोरक्षनाथ ,पृष्ट 99

ये पंजाब निवासी थे ।

नेपाल के राजनीतिक और धार्मिक इतिहास से उपलब्ध तथ्यों, शैवधर्म और और नाथयोगी सम्प्रदाय के विकास के इतिहास से उपब्ध तथ्यों, तथा विभिन्न सम्प्रदायों की परम्पराओं के आधार पर प्रो० सिल्वां लेवी, डा० शहीदुल्ला जैसे विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि नाथ योगी सम्प्रदाय के संस्थापक ,सातवीं शताब्दी में अवश्य विद्यमान थे ।[15] वाक्यपदीयकार भर्तृहरि के आधार पर लोग गोरक्षनाथ को छठी शताब्दी का मानते हैं , हिमाचल के लोकसाहित्य की महासुई बोली में "भर्तृहरि नाम का एक संगीत चलता है । जिसमें भर्तृहरि राजा को गुरुगोरक्षनाथ का चेला माना गया है ।

एक साम्प्रदायिक परम्परा जेसस ग्राइस्ट को भी गोरक्षनाथ का शिष्य स्वीकारती है । उनका कहना है कि क्राइस्ट ने हिमालय में जाकर नाथयोगी से योगशिक्षा ग्रहण की थी। दूसरी नाथ परम्परा में गोरक्षनाथ को सृष्टि से पूर्व विद्यमान बतलाया गया है । उनका प्रवाद है कि जब विष्णु सृष्टि न कर सके तो वे पाताल में गोरक्षनाथ जी के पास पहुँचे और उनसे सृष्टि निर्माण में सहायता की याचना की । गोरक्षनाथ ने विष्णु को एक मुट्ठी विभूति दी, जिसे जल पर छिड़कने का आदेश दिया । विष्णु वैसा करके सृष्टि निर्माण में समर्थ हुआ । तब विष्णु ब्रह्मा और शिव उनके शिष्य बन गए ।[16] इसी प्रकार गोरक्षनाथ को

15· डा० नगेन्द्रनाथ , गोरक्षनाथ, पृष्ट ११

16· गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़ - ब्रीग्स ,पृष्ट 228

0 गुरुगोरखनाथे दिती ली मुदरा, भैरतरी हरि तू वणी ला चेला ।

एक परम्परा के अनुसार बाबा फरीद से भी सम्पर्क बतलाते हैं । फरीद ने 1244 में गिरनार की यात्रा की थी। उनका गिरनार में एक स्मारक भी है ।[17] डा० कल्याणी मल्लिक ने शताब्दी के अनुसार सामग्री का विभाजन करके यह निश्चय करने का प्रयत्न किया है कि गोरक्षनाथ का समय 12 वीं शती के पहले कभी भी माना जा सकता है । पैग साम-जान-ज्वैन के अनुसार शंकर दिग्विजय के परवर्ती काल में मगध राज्य में,श्री हर्ष के ज्येष्ट पुत्र के राज्यत्व काल में बंग देश में माणिकचन्द्र के पिता राज्य करते थे । शंकर का जन्म काल 788 ईस्वी है। गोरक्ष नाथ ने नाथ सम्प्रदाय के दर्शन के साथ-साथ उपनिषद् दर्शन का भी सामञ्जस्य किया है । अत: वे शंकराचार्य से बहुत परवर्ती नहीं माने जा सकते । उनका दूसरा प्रमाण यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दुओं और मुसलमानों में जो संघर्ष हुआ था, जिसमें गोरक्षनाथ के शिष्य रसालू ने विशिष्ट स्थान ग्रहण किया था । रसालू और पूरण गोरक्ष के शिष्य थे ।[18] अत: गोरक्ष का समय आठवीं शताब्दी माना जा सकता है । यद्यपि निश्चित प्रमाण इसमें भी नहीं दिया गया है केवल पारस्परिक तुलना और अनुमानों के आधार पर ही यह निश्चय किया गया है । इतना निश्चित है कि गोरक्षनाथ शंकराचार्य के बाद और रामानुजाचार्य से पूर्व कहीं पर भी अपनी सत्ता रख सकते हैं ।[19]

---

17. गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज़ ब्रिग्स पृ

18. डा० कल्याणी मलिक ,नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना प्रणाली,

19. गोरखनाथ, डा० नगेन्द्रनाथ 97

पाश्चात्य परिपाटी का अनुसरण करते हुए नाथ सम्प्रदाय के महान् आचार्य गोरक्षनाथ के जन्म का निर्धारण अनेकों विद्वानों के अनुमानों ,अटकलों एवं लोकगाथाओं के प्रवादों के आधार पर कोई भी शताब्दी रख दिया जाए, उसमें मुझे न तो सन्तोष है न कोई द्वेष । क्योंकि इन ऐतिहासिक तथ्यों से न तो किसी का व्यक्तित्व अधिक हो सकता है न कम । किसीरे भी समय कोई महान् व्यक्ति पैदा हो सकता है और नीचातिनीचतम भी। गुरु गोरक्षनाथ के समय में अनेक प्रकार के प्रमाण और कथाएं मिल जाती हैं । जिससे कोई निश्चय कर पाना कठिन हो जाता है । अत: या तो हमे जैनियों के स्याद्वाद को लेकर सभी को प्रमाणिक मानना होगा अथवा नाथ पन्थ के सिद्धान्तों पर पूर्ण विश्वास करके गोरक्षनाथ को अमरकाय और सर्वज्ञान तथा भाषाविद् मानकर इदमित्थं से विराम कर लेना होगा[20] । अपनी भारतीय परम्परा को सुरक्षित रखना होगा । तब चाहे,पौराणिक युग का,चाहे,- अथर्व-वेद युग का माने या वर्तमान पूर्व प्रदर्शित शताब्दियों का, उनकी मान्यता पर उससे कोई असर नहीं पड़ता । उनकी भाषाशैली तथा लेखों से यहीप्रतीत होता है कि डिंगल के प्रादुर्भाव के साथ ही उनका भी जन्म हुआ है ।[21] या पंचम शती के अन्त में और छटी शताब्दी के आरम्भ में पैदा हुआ, रसायन के बल से काया

20· गीता, 16·24 तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य-व्यवस्थितौ ।

21· अतीतकलिवर्षेषु शून्यदन्दरसाग्निषु ।
नेपाले जयति श्री मानार्यावलोकितेश्वर: ।।

को अमर बनाकर, डिंगल के प्रादुर्भाव तक या आजतक भी कोई योगिराज घूम सकते हैं । लोकगाथाओं में गोरक्षनाथ को कलियुगी सिद्ध कहा गया है । योग ग्रन्थों में भी योगियों की आयु उनके हाथ में दर्शायी गई है । जबतक वे चाहें जी सकते हैं । पुण्यकर्मों को निष्काम भाव से करते हुए लोक संग्रह हेतु विचरते रहते हैं । तभी योगीराज कृष्ण गीता में अर्जुन को यह कहते सुने गए हैं कि "मैं अगर कार्य न करूं तो मेरा अनुसरण लोग करेंगे और मैं संसार को नाश करने वाला माना जाऊँगा[22] । इसलिए गोरक्ष कई शताब्दियों से सम्बन्धित हो सकता है जैसा कि गोरक्ष-संहिता के भूति प्रकरण में प्रतिपादित किया गया है कि तारकमणि के योग से बनी पारे की गोली को मुँहमें रखने से मानव वज्रदेह बन जाता है और ज्ञानयोग से समन्वित नवयुवक जराव्याधि से रहित शिव के समान अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं[23] । अतः इस उलझन भरी समस्या का समाधान यही है कि उनके शास्त्रानुकूल उन्हें अमरकाय मान लिया जाए और जो उन्हें जिस समय का भी सिद्ध करना चाहे, उसी समय का सिद्ध कर ले ।

---

22. गीता 3.24 उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्मचेदहम् ।
संकरस्य च कर्तास्यामुपहन्यामिमाः प्रजा ।

23. वेधयेत् सर्वतत्वानि हेमतारकरो भवेत् ।
तदामृतसरोद्भूतां गुटिकां धारयेन्मुखे ।।
जरारुजा विनिर्मुक्तो ह्यमरत्वमवाप्नुयात् ।
वज्रदेहस्तु बलवान् योगराज समन्वितः । 7.144-145

जीवनवृत्त :-

नाथ सम्प्रदाय भारतवर्ष में अति प्राचीन काल से चला आ रहा है। इसके बीज अथर्व-वेद, भागवत-पुराण, शिवपुराण, लिंग-पुराण आदि में उपलब्ध होते हैं। इसीलिए नाथ शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए, राजगुह्य का उद्धरण देते हुए "गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में "ना" शब्द का अर्थ अनादि बतलाया है और "थ" का अर्थ तीनों भुवनों की स्थापना कहा गया है[1]। "नाथ" वह तत्व है जो भुवन त्रय में व्याप्त है और अनादि स्वरूप है। शक्तिसंगम तत्व के अनुसार "ना" का तात्पर्य उस पर-बोधक ब्रह्म तत्व से है। यह मोक्ष देने में निपुण माना गया है। "थ" का तात्पर्य है अज्ञान के साम्राज्य को समाप्त करने वाला[2]। इस प्रकार पूर्वोक्त दोनों ग्रन्थों के अनुसार नाथ परमतत्व और मोक्षदायक माना गया है। यही नहीं बल्कि नाथ को तो शिव और शक्ति दोनों तत्वों से ऊपर माना गया है। शक्ति अगर संसार का सृजन करती है तो शिव उसका पालन करता है। काल उसका संहार करता है और गुरु मुक्ति देता है[3]। इस प्रकार नाथ एक सबसे ऊपर की स्थिति वाला तत्व माना गया है। जिसके तीन रूप माने गए हैं - देवता स्वरूप-अद्वैतपरिवर्ती नाथ, ध्येय साकार नाथ।

---

1. गो०सि०स० पृष्ट ।।, नाकारो नादिरूपं थकार स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैकं श्री गोरक्ष नमस्तु ते ।।

2. शक्तिसंगम तन्त्र पृष्ट ।। श्री मोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ।।

3. गो०सि०सं० पृ० 49 शक्त्या सृज्यते विश्वं शिवेन परिपाल्यते ।
कालेन संह्रियते मुक्तिनाथेन दीयते ।।

4

जिसको आदि गुरु भी कहा जाता है ।अद्वैत परिवर्ती नाथ दो प्रकार की सृष्टि का उत्पादन करते हैं । नादरूप सृष्टि और बिन्दुरूप सृष्टि । इन्हीं दो का विकार समस्त दृश्य जगत् है । शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि नामरूपात्मकं जगत" नाद ही नाम है और बिन्दु ही रूप है । इन का संयोग ही जगत् अर्थात् गतिशील पिण्ड ब्रह्माण्ड बन जाता है । जगत् में ऐसी पदवी पाने वाले कर्मठ और जीवनमुक्त,लोककल्याण-सागर करुणावतार यद्यपि अनेकों हुए हैं । जिनके बारे में ग्रन्थों में चौरासी सिद्धों की बात आती है तथा उनकी सूचियाँ भी मिलती हैं । जैसे हठयोग प्रदीपिका की सूची,वर्णरत्नाकर की सूची,साक्यविहार की सूची ,जिनमें सिद्ध और नाथों के बारे में विद्वानों का मतभेद भी पाया जाता है परन्तु डा० द्विवेदी ने इन्हें नाथ सिद्धों की सूची माना है । महा महोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के कथनानुसार भी कई लोग इन्हें नाथ पन्थ के सिद्धों की सूची मानते हैं । उनका विचार है कि "अवधूत-नाथ सिद्धा: अनर्थान्तर: ।

इन सब सूचियों में गोरक्षनाथ का नाम किसी न किसी रूप में अवश्य लिया गया है । वर्णरत्नाकर सिद्ध सूची में दूसरे स्थान पर तथा साक्य विहार सूची में

---

4. गो०सि०सं० पृष्ट 5। अस्मिन्मार्गे अद्वैतपरिवर्ती नाथो देवताप्राप्य निराकारो ज्योतिर्नाथो ध्येय: साकारनाथ उपास्योऽथ च गुरु: ।

नवें स्थान पर गोरक्षनाथ का नाम लिया गया है । हठयोग प्रदीपिका में महायोगियों में आदिनाथ,मत्स्येन्द्रनाथ,शावरानन्द,भैरव और चौरंगी मीन के बाद गोरक्ष का ही नाम स्मरण किया गया है । इसके इलावा तन्त्र ग्रन्थों में भी गोरक्ष नाम से इन्हें स्मरण किया गया है पर वर्णमाला रत्नाकर में गोरक्षनाथ के नाम से इन्हें स्मरण किया गया है जबकि महार्णव तन्त्र,यौगि-सम्प्रदाय-विष्कृति,सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति अमरौघ प्रबोध तथा योग मार्तण्ड ग्रन्थों में "गोरक्षनाथ" नाम से पुकारा गया है ।साक्य विहार की सूची में"गोरक्षपा" संज्ञा दी गई है । इन रूपान्तरों का कारण देशकाल तथा प्रतिपाद्य विषय हो सकता है, क्योंकि भाषा विज्ञान के आधार पर वागयन्त्र में परिणाम देशकाल के अनुसार आता है । तभी तो कबीरदास ने भी कहा है" घाट-घाट में पानी बदले चार कोस में बाणी "[5] । अस्तु कुछ भी हो गोरक्षनाथ एक प्रसिद्ध व्यक्तित्व रहा है । उनके प्रभाव से कोई सम्प्रदाय नहीं बचा । चाहे शैवतन्त्र हो, या शाक्ततन्त्र हो या बौद्धतन्त्र । क्योंकि सभी ने इनका नाम स्मरण किया है । गोरक्ष के गुरु-रूप में मत्स्येन्द्रनाथ का नाम लिया जाता है । जिनका स्थितिकाल दशम शताब्दी का अन्तिम दशक स्वीकार किया गया है[6]।

---

5. कबीर दोहावली,

6.डा० नगेन्द्रनाथ , गोरक्षनाथ पृष्ट 89

क्योंकि तबतक वे पूर्णरूपेण विख्यात हो चुके थे । जालन्धर पादराजा देवपाल" 809-849" के समकालीन थे । इस प्रकार ये सिद्ध लोग 9वीं या 10वीं शताब्दी के माने गए हैं । हालांकि काया सिद्ध वाले नाथों का कोई समय नहीं होता तभी तो वर्तमान के अनेकों विद्वान गोरक्ष को भर्तृहरि का समकालीन स्वीकार करते हैं । कुछ का कहना है कि गुरुगोरक्षनाथ चारों युगों में अवतरित हुए हैं ।

इतना अधिक उल्लेख मिलने पर भी गुरुगोरक्षनाथ का प्रमाणिक जीवन अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है । इनके जन्म स्थान के बारे में भी अनेक मत हैं । जैसे नैपाल,पंजाब,गोरखपुर,हिंगलाज आदि-आदि । एक कथा नैपाल के जनपदों में प्रसिद्ध है कि पुत्रकांक्षिणी एक नारी को शिव ने विभूति दी । नारी ने अविश्वासकर उसे गोबर के ढेर पर फैंक दिया । बारह वर्ष के बाद पुनः गोरक्षनाथ का आविष्कार महादेव के आगमन पर हुआ । बाद में मत्स्येन्द्रनाथ का शिष्यत्व स्वीकार किया और उनके साथ तीर्थ-यात्रा करते रहे । एक समय वे हिंगलाज पर बैठे थे तभी नीलकण्ठ की यात्रा से वापिस आते मार्ग में उन्हें नाथपन्थानुयायी मिले,[8] जिन्होंने नैपाली राजा महीन्द्रदेव के अत्याचारों की सूचना उन्हें दी ।

---

7. डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ पृष्ट 89

8. डा० चमनलाल गौतम, गुरुगोरखनाथ चरित्र ,पृष्ट 133

उन्होंने कहा महाराज राजा महीन्द्र देव ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया है और वह हमें भी वही धर्म मनवाने के लिए हमेशा साम, दाम, दण्ड, भेदादि नीतियों से प्रताडित कर रहे हैं। अतः आपसे अनुरोध है कि आप हमारी सहायता के लिए नेपाल चलें और उस अत्याचारी से हमें बचाएं। आप जैसे सामर्थ्यवान् योगी ही हमारी रक्षा कर सकते हैं।

नेपालियों की ऐसी दुखभरी पीड़ा को सुनकर वे नेपाल की ओर चल दिए। वहाँ ललितपाटन नामक ग्राम के समीप भोगवती के तट पर बैठ गए। नेपालियों से कहा कि मैं यहाँ पर तप करने बैठ गया हूँ और जबतक मैं यहाँ रहूँगा तब तक नेपाल राज्य में वर्षा नहीं होगी। आप निश्चिन्त रहिएगा कि मैं बिना कारण अपने आसन को नहीं छोडूँगा।

नाथानुयायी नेपाली अपने-अपने घरों को चले गए और दो वर्षों तक नेपाल में वर्षा न हुई। तब राजा को प्रजा तंग करने लगी कि महाराज कोई उपाय ढूँढो जिससे वर्षा हो। सारी प्रजा त्राहि-त्राहि करने लगी। राजा का खजाना भी खाली हो गया। तब राजा ने लामा ज्योतिषियों को बुलाकर मन्त्रियों सहित विचार किया। ज्योतिषियों ने कहा-"महाराज आपके राज्य में कोई योगी बाधा डाल रहा है, उसे मनाओं तो वर्षा हो जाएगी। राजा ने सारे राज्य में अपने गुप्तचर भेज दिए। उन्हें भोगवती के तटपर गोरखनाथ जी तपस्या करते मिल गए। उनका एक शिष्य उनकी सेवा कर रहा था। दोनों से पूछने पर वे कुछ नहीं बोले। तब वे गुप्तचर राजा के पास पहुँचे और बोले-"महाराज पाटलि शिष्य से सेवित नाथ पन्थ के अग्रणी आचार्य गुरु गोरखनाथ जी व्योमदेह मत्स्येन्द्रनाथ

के शिष्य हैं । वे बागमती के तट पर तपस्या कर रहे हैं । वे बोलते कुछ नहीं ,हां ! नेपाली नाथपन्थियों का कथन है किराजा ने जो अत्याचार हम पर करने आरम्भ कर रखे हैं ।उनका प्रतिकार है यह । राजा भय विह्वल हो गया और उसने मन्त्रियों को बुला कर इस विपत्ति को दूर करने का आग्रह किया । उन्होंने नाथपन्थियों पर अत्याचार बन्द करने की घोषणा की । उन्होने इस अवसर पर मत्स्येन्द्रनाथ की सुन्दर झांकी निकाली और नाथ पन्थ की जयघोष करते हुए भागमती के तट पर पहुंचे तभी गोरक्षनाथ ने गुरु की झांकी आते देखकर अपने आसन को छोड़ दिया । उसी समय मेघ उमड़े तथा नेपाल में वर्षा हो गई । इस विषय का श्लोक मृगस्थली में आज भी उत्कीर्ण मिलता है कि "यह वह मृगस्थली है जो नेपाल राज्य के मस्तक की तरह शोभित है । जहां पर श्री गोरक्षनाथ जी ने मेघमाला को अपना आसन बना दिया था " । राजा ने गुरु के चरण पकड़े और प्रतिज्ञा कि मैं अब अपने राज्य में कभी भी नाथपन्थियों को दुःखी नही करुंगा । ना ही धर्म परिवर्तन के लिए कहूंगा । गोरक्षनाथ जी ने राजा को क्षमाकर दिया ।

एक कथानक के अनुसार गोरक्षनाथ बंगाल प्रदेश में अयोनिज उत्पन्न हुए । क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ ने शिव से पार्वती को सुनाई जा रही कथा का पान किया । वे सिद्ध अमर योगी बन गए । उन्होंने सूर्य को प्रसन्न किया तथा उनसे वरदान

---

१. गो० सं०   मृगस्थली स्थली पुण्या भालं नेपाल मण्डले ।
यत्र गोरक्षनाथेन मेघमाला दुमासनी कृता ।। डा० जनार्दन पाण्डेय

प्राप्त कर लिया कि तुम मेरे जिस भी मन्त्र को बनाकर बोलोगे,वही सिद्ध हो जाएगा इस प्रकार मत्स्येन्द्रनाथ ने लोक में शाबर वेद का प्रचार और प्रसार किया ।

एक समय यह महान योगी तीर्थयात्रा करते हुए बंगाल पहुंचे । वहाँ चन्द्रगिरि नामक ग्राम में सर्वोदयाल नामक ब्राह्मण रहता था ।10 वह बड़ा सदाचारी और ईश्वरभक्त था । लौकिक मोक्ष का एक स्वरूप यह भी है कि अपनी वंश परम्परा का विच्छेद हो जाए वही मोक्ष कहलाता है । क्योंकि "पुत्रो ह वै आत्मनामासि" के अनुसार पुत्र आत्मा का द्वितीय संस्करण होता है । इस ब्राह्मण के कर्म मुक्ति के योग्य ही थे ।

उसकी पत्नी का नाम सरस्वती था ।वह साध्वी सुशीला पतिपरायणा थी । स्नेह का केन्द्र सन्तान न होने से वे अत्यन्त दुखी थे । इस पर भी वे यथा सामर्थ्य लोगों की सेवा परोपकार में हमेशा लगे रहते थे ।

एक दिन सौभाग्य से मत्स्येन्द्रनाथ उनके द्वार पर पहुंचे । जब उन्होंने अलख जगाई जिसकी ध्वनि सुनकर सरस्वती भिक्षा देने द्वार पर आई ,वहाँ अत्यद्भुत तेजस्वी योगी को देखा । भिक्षा देकर सरस्वती ने बड़ी याचना भरी दृष्टि से योगी को देखा । योगी ने माता से पूछा -"माई क्या दुःख है आपको, जो आप इस प्रकार याचना भरी दृष्टि से मुझसे कुछ मांगना चाहती हो । सरस्वती ने कहा -"महाराज सब कुछ कुशल है । किन्तु घर सूना है,अपुत्र की गति नहीं होती,इससे हमें भी नरक में जाना पड़ेगा

10.डा0चमनलाल, श्री गोरखनाथ चरित्र पृ0 5

क्योंकि पुम् नाम नरक का है । उससे जो भी त्राण करे उसे ही पुत्र कहा गया है । क्योंकि[11] योगी अपने प्राण, बल से ब्रह्मरन्ध्र से निकाल कर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं । भोगी गृहस्थी लोग वैसा करने में असमर्थ हैं । अत: उनका औध्र्वदैहिक कर्म पुत्र द्वारा कपाल क्रिया से आरम्भ इसलिए करवाया जाता है कि पुत्र, तेरे को पैदा करने के कारण, वह अपने प्राण इस द्वार से नहीं निकाल सके । अत: तुम इनके और्ध्व दैहिक कर्म करो, जिससे अन्य जन्म में तेरे माता-पिता योगी बनकर, अपने प्राण ब्रह्मरन्ध्र से निकालकर, मुक्त हो सके । तो योगी आप मुझे तेजस्वी लगे, अत: मेरी आत्मा ने आपसे याचना करने हेतु प्रेरणा दी ।

सरस्वती के ऐसे करुणा भरे वचनों को सुनकर लोक-कल्याणी मत्स्येन्द्र -नाथ ने अपनी झोली से विभूति निकाली और अभिमन्त्रित करके माता को दे दी और कहा इसे सायं जल से पी लेना।आपका मनोरथ पूर्ण होगा । आपके घर पुत्र की उत्पत्ति होगी और मैं 12 वर्षों के बाद स्वयं आकर उसे दीक्षा दूंगा । इतना कहकर योगी चले गए ।सरस्वती ने विभूति को सुरक्षित रख दिया । दिन को पड़ौस की कुछ स्त्रियाँ एकत्र हो गई । उनसे भी सरस्वती ने अपने मनोरथ पूर्ण करने वाली विभूति के बारे में बतलाया । तो सारी स्त्रियाँ कहने लगी बहन इन जोगियों के बहकावे में नहीं आना चाहिए ।अगर वे इतने सिद्ध होते तो दर-दर माँगते न फिरते । ये आपको पागल भी कर सकते हैं । होगा वही जो भाग्य में

---

11. निरुक्त ,अध्याय -3

लिखा है । जोगी भाग्य बदलने वाले कोई नहीं हैं, क्योंकि भाग्यं फलति सर्वत्र न वैराग्यं न च पौरुषम्" ।

सरस्वती भी दुर्भाग्यवश उनके बहकावे में आ गई और उसने उस भस्म को गोबर के ढेर पर गांव से बाहर फेंक दिया । बारह वर्ष बीत जाने पर एक दिन अचानक अलख की ध्वनि आई । सरस्वती द्वार पर भिक्षा लेकर पहुंची ।उसने देखा कि सूर्यसदृश तेजस्वी जो विभूति देकर गया था बाहर खड़ा है । सरस्वती ने भिक्षा देने के लिए अपना हाथ बढ़ाया । जोगी बोला-" अपना पुत्र नहीं दिखाओगी । क्या अधिक मोह हो गया है ।" सरस्वती कांपने लगी । जोगी फिर बोले,"क्या मेरी विभूति व्यर्थ चली गई या उत्पत्ति के बाद मरण हुआ । बोलो माँ क्या बात है । कांपती क्यों हो । तभी सरस्वती ने पूरी कहानी बिना किसी भेद भाव के सुना दी । जोगी बोले,"बताओ आपने कहाँ विभूति फेंकी । मेरी विभूति व्यर्थ नहीं जा सकती । अवश्य ही उससे किसी बालक की उत्पत्ति हो गई होगी । सरस्वती ने कहा अभी तक हमने कोई ऐसी बात नहीं सुनी । हाँ आप तो देवराज हैं, तो चलिए"जोगी ने गोबर के गड्ढे पर पहुंचने पर आवाज दी ।" हे हरि नारायण ! हे सूर्यपुत्र!यदि उत्पन्न हो गये हो, तो गड्ढे से बाहर आ जाओ, विलम्ब न करो "[12] ।

पहले कोई उत्तर नहीं मिला । तीसरी बार गड्ढे से

12.डा0 चमनलाल, गोरखनाथ चरित्र, पृ0 10

आवाज आई कि मैं उत्पन्न हो चुका हूँ । मैं गोबर के नीचे पड़ा हूँ । गोबर हटाने पर एक बारह वर्ष का दिव्य बालक उठा । उसने मत्स्येन्द्र नाथ जी के चरणों पर साष्टांग प्रणाम किया और गुरु ने भी मस्तिष्क पर हाथ फेरा और आशिर्वाद दिया । पुत्र तुम सूर्य के अंशावतार हो । तुम महायशस्वी बनोगे । तुम्हारी उत्पत्ति गोबर के ढेर से हुई है । अतः तुम्हारा नाम गोरक्षनाथ उचित होगा । सरस्वती बालक को देखकर कहने लगी की भाग्य ही सर्वत्र फलता है । [13] वैसे तो हाथ में आई हुई वस्तु भी नष्ट हो जाती है । मुझ दुर्भाग्या को देखो कि ऐसे बालक से हाथ धो बैठी । तब मत्स्येन्द्रनाथ ने सरस्वती को समझाया कि यह बालक सूर्य का अंशावतार है । इसे अब मैं साथ ले जाऊँगा । यह तुम्हें नही मिल सकता । यद्यपि गुरु गोरक्षनाथ के जन्म स्थल और उत्पत्ति के विषय में कुछ निश्चित रूप से कह पाना कठिन है तथापि लोकप्रवादों और जनश्रुतियों के आधार पर उन्हें कोई बंगाल का, कोई नेपाल का, कोई पश्चिम गिरिनार का, कोई पश्चिमि हिमालय का तो कोई पंजाब का स्वीकार करते हैं । क्योंकि पके हुए फल सब खाना चाहते हैं । महान् पुरुष को सभी अपना बनाना चाहते हैं । वैसा करने से उनका मान बढ़ता है । दूसरे रहस्यवादी समस्या हमेशा व्यापक बनी रहती है । वह वृत् तत्व की तरह अणु होती हुई गैस की तरह सर्वत्र व्याप्त हो जाती है ।

"योगी सम्प्रदायाविष्कृति" में उन्हें गोदावरी के तीर पर उत्पन्न बताया गया है । [14] "गोरक्षसहस्रनामस्तोत्र" में दक्षिण के बड़व देश का स्वीकार किया गया है । [15]

---

13. पंच तन्त्र, मित्र प्राप्ति ।3। ,न हि भवति यन्न भाव्यं, भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य च भवितव्यता नास्ति ।।

14. यो० सं० आ०, पृष्ट 33

15. अस्ति याम्यां दिशि कश्चिद्देशः बड़वसंज्ञकः । तत्राजनि महाबुद्धिर्महामन्त्र प्रसादतः ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस श्लोक का इशारा योगविभूति के सिद्धान्त की ओर ही बतलाया है।[16] उनका कहना है कि "श्लोक में बड़व शायद गोदावरी तीर के प्रदेश का वाचक हो हो सकता है। क्रुक्स ने एक परम्परा का उल्लेख किया है जिसे ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। जिसमें कहा गया है कि गोरक्षनाथ सतयुग में पंजाब के पेशावर में, त्रेता में गोरखपुर में द्वापर मैंदारिका के आगे हुरमुर में, कलियुग में काठियावाड़ की गोरखमढ़ी में प्रादुर्भूत हुए। नेपाली परम्परा के अनुसार वे पंजाब से नेपाल आए थे। गोरखपुर के महन्त के अनुसार वे पंजाब के झेलम टिला से गोरखपुर आए थे। नासिक के योगी भी उन्हें नेपाल से पंजाब और पंजाब से नासिक आया मानते हैं। टीला का प्राधान्य मानकर ब्रिग्स ने इन्हें पंजाब का ही माना है। ग्रियर्सन ने अनुमान लगाया है कि गोरक्षनाथ सम्भवतः पश्चिमि हिमालय के रहने वाले थे। जिस मत के पक्ष में कुछ एक लौकिक मत्र भी पश्चिमि हिमालय में देखे गए हैं। जैसे कि अपने पिता श्री गोविन्द राम जी के द्वारा बचपन में लेखक को एक कालीदीकी सिखलाई गई थी जिसमें गोरक्षनाथ को हिमाज का, या ज्वालामुखी का द्योतित किया गया है। जैसे

"देवगुरु-देवगुरु है नामा, ब्रह्मा विष्णु महेश्वर नामा।
चर दुर्गे सिंह वाहिनि नामा, दुर्गे माता भयपुरचण्डी ।।
चौदह भुवन फिरे नव खण्डी, मीन मेखला हारा कीन्हा।
अष्ट नौ दुर्गे बली में दीना, दुर्गे देवी असल सहारा ।।
सिंहमारदा नी किया संहारा, पाण्डी सिमरी भैभीरात।
सरु आपार हथे कम्बीरा, श्रीमन्त हनुमन्त गए पैताले।

---

16. नाथ सम्प्रदाय, पृ० 85

मारो लंका सहज कर डाले ,बराविन्द जब रावण मारे ।

आवे सहेलो गावें गीता ,चण्डी प्रसादे रामदल जीता ।।

ताम्बुल चण्डी सारे पाते,सप्तरूप से पृथ्वी तारी,अष्ट रूप से पृथ्वी तारी,

ताता लोहा छूके लोहारा, मैं ना जाणू मर मत ~~जम्मा~~ मारा \

पूर्व देश से आई चण्डी, कने कुण्डल हथे त्रिशूला,पग्गे नेवर बाँए चूड़ा ।

जो चण्डी का सुमिरन करे । नांगा भूखा कभी ना मरे ।

जो देवी सूरजा पुत्री नमस्कार । सदा सौं धरले भवन । पर घाटे सिमरो गोरखनाथ ।

गोरख सिमरो घाटे प्रसिद्ध । जाओ रे गुरु दूसरे हाथे । किस मारे किस ~~केसे~~ डंक बजावे ।

डाकिनि-शाकिनी जय-जय करावे । घट-घट गोरख फिरे तांहि । वज्र का कोट लोहे की खाई ।

चौकी काली की आई । दर्व जोगी मया जोगी सर्वजोगी धनेश्वरी ।

वेताली डाकिनि काली कालरात्रि भयंकरी । भूताराहुणी देवी शुद्ध केशी विरूपिणि ।

तृप्तालिका हिंगलाजा परमेश्वरी । अष्ट षष्ट जुगनार्थी त्रिलंपत्री रख दुर्गे शरणागता ।

एक आठ डंकिणि की लो,2,3,4,5,6,7,8,9,10,11,12, बारह वाहन खिले ।

जटो मटो कोल कनेतण सूदणी,सन्यारी,लुहारी,तरखाणी,धोबी छिंबी जात बगानी जात ।

न्होंदें धोन्दे कैट करे ,टूणा करे ,टामण करे ,छुक करे चुक करे मेरी भक्ति ,मेरे गुरु मत्स्येन्द्र

को शक्ति ,फुरे मन्त्र महादेव तेरी वाचा फुरे ।

इस चौकी से इस प्रदेश के डाउ या मन्त्र करने वाले समस्त लोगों

के दुःखों का निवारण करते हैं । चाहे किसी को भूत लगा हो ,या डाकिनि या छल-छिद्र ।

इससे बने सम्भालु या भेखल की डाली से झाड़पोंछ करने से सब कुछ दूर हो जाता है ।
यह तो इसका प्रादेशिक महत्व रहा । इसका ऐतिहासिक महत्व यह है कि इसमें गोरखनाथ को पगड़ी, चोटी रखे तथा एक घाट पर तपस्या करते हुए दिखलाया गया है । जहाँ पर वे महाकाली की तपस्या कर रहे हैं । जबकि उन्हें विचलित करने के लिए डाकिनि शाकिनी नाच रही है । गोरखनाथ उन समस्त घाटों में बिना किसी त्रास के घूम रहे हैं । उनके गुरु का दिया हुआ योग रूपी वज्र समान कवच है । प्राणायाम रूपी लौहसार अर्थात् धातुसार भोजन है । जिसके कारण न तो उन्हें भय होता है और ना ही बुभुक्षा पिपासा ही बाधित करती है । आगे जोगी को काली के आशिर्वाद से दिव्य बतलाया गया है । हिंगलाज पर्वत पर रहने वाली काली को जोगियों का धन बतलाया गया है । जिसके बल से वे कालरात्रि रूपी डाकिनि को भी पछाड़ने में समर्थ हो जाते हैं । गुरु मत्स्येन्द्रनाथ की शक्ति उनके साथ है । उनको उस पर पूर्ण भक्ति है वे गुरु काली से भी बलवान् हैं : 5 क्योंकि निर्माता, पालिता और संहर्त्ता से उपर जो शक्ति है वे ही गुरु के रूप में हमें मिलती है । [17] उन गुरु के उपर यदि ध्यान इतना केन्द्रित हो जाए तो परात्पर गुरु एवं परं गुरु भी उस शिष्य की खर्च होने वाली शक्ति को पूर्ण करते हैं । तो यह न्याय कि -"सब जगह विजय चाहे किन्तु पुत्र और शिष्य से पराजय चाहे" पूर्ण रूपेण घटित होता है । [18]

---

17. योग विज्ञान प्र०ख० पृष्ट 15 गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः । गुरु साक्षात्परं - ब्रह्म, तस्मै: श्री गुरवे नमः ।

कबीर वाणी, गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागूँ पाय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।

मन्त्र महार्णव 1.48 पत्र-2 अभिनेत्रः शिवः साक्षाद्चतुर्बाहुरच्युतः । अचतुर्ब्रह्मा श्री गुरुःकथितःप्रिये ।।

18. व्यवहारभानु, पृ० 50, सर्वत्र विजयं काङ्क्षेत् न काङ्क्षेत् पुत्रशिष्ययोः ।

हिमाचल प्रदेश की पुराणी टांकरी लिपि या गिलगिति वैशारदी में शाबर वेद के अनेकों मन्त्र अभी बहुत से ब्राह्मणों की परम्परा में चल रहे हैं । उन्हें यह विश्वास दिया गया है कि अगर तुम इन्हें प्रकाशित करोगे या किसी को बतलाओगे तो इन मन्त्रों का प्रभाव समाप्त हो जाएगा । जिससे वे लोग इन्हें नहीं बतलाते और वे उनके साथ समाप्त होते जा रहे हैं । नाथ सम्प्रदाय का यहाँ के पश्चिम भाग में अधिक प्रचार रहा है और कनफटे साधुओं का, लाटावाली ज्वाला माई में अब भी सिद्ध पीठ बना हुआ है । यहाँपर यह गाथा प्रसिद्ध है कि गुरु गोरक्षनाथ ज्वाला जी के निमन्त्रण पर वहाँ ठहर गए । जब माता उन्हें भोजन देने का आग्रह करने लगी तो गुरु जी ने भोजन लेने से मना कर दिया । क्यों कि ज्वाला जी को बकरे तथा अभक्ष्य वस्तुओं का उपहार दिया जाता था । गुरु ने कहा , "माता आप इन वस्तुओं को स्वीकार करती हैं जो उचित नहीं है । आप माता हो आपको कुमाता नहीं बनना चाहिए[15] । कुपुत्र हो सकते हैं कुमाता कहीं नहीं होती । गोद में लिए हुए शिशु माता की छाती में लात मारते हैं । तो क्या माँ उस अपराध से उन्हें फेंक देती है । आपके इस विपरीत व्यवहार के कारण मैं आपका आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकता[16] " । माता ने कहा," मैं इन वस्तुओं का सेवन नहीं करती । लोग मुझे जो भेंट श्रद्धा से दें । यहाँ के लोग अन्य सात्विक वस्तुओं को छोड़कर इन्हीं वस्तुओं का उपहार मुझे देते हैं । वैसे जो अज की बलि देने का विधान

---

15. शंकराचार्य क्षमापराध स्तोत्र श्लो० 3, कुपुत्रो जायेत् क्वचिदपि कुमाता न भवति ।

16. सूरसागर , छाती पे शिशु करे जो घाता, ताते हेत उत्तारे न माता ।

किया गया है वह बकरा नहीं, अपितु पाँच वर्ष पुराना न उगने योग्य जौ है । लोगों की ना समझी से ऐसा हो रहा है । गोरक्षनाथ लोगों को समझाने के लिए उपाय खोजने लगे और माता से बोले कि मैं भिक्षा ले के अन्न ले आता हूँ, तुम चुल्हा जला के रखो । माता ने चुल्हा जलाया और समीप बैठ गई । गोरक्षनाथ पूर्व के गाँवों की ओर निकल पड़ें । वहाँ देवी के दिए वचन के अनुसार एक ग्राम में अपना भिक्षापात्र रख दिया और लोगों से कहा जब यह पात्र भरेगा तभी इसे उठाया जाएगा ।[17] हजारों मन अनाज श्रद्धालु लोगों ने उसमें डाला किन्तु कमण्डलू न भरा । अब योगी चमत्कारी बन गया और सभी उन्हें आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगे । गोरक्ष ने अपने पात्र को अधूरा ही उठाया और पश्चिम के गाँव में चले गए । वहाँ पात्र न रखकर, एक झोपड़ी बनाई और लोगों को कहा कि जो भी आप लोगों को दान देना हो इसमें डाल दिया करो । थोड़े दिनों में वह झोपडी भर गई । तब समस्त दीन हीन जनों से कहा गया कि जिसे अन्न की आवश्यकता हो वे यहाँ से ले जा सकते हैं । जब लोग ले जाने लगे तो झोपड़ी खाली नहीं होती थी । हजारों आदमी उससे जितना अन्न ले जाते थे उसमें उतना ही भर जाता था । बाद में गोरक्षनाथ ने एक खिचड़ी की पतीली बनाई और उससे हजारों लोगों को भोज करवाया । लोग यह यौगिक चमत्कार देखकर गोरक्षनाथ के अनुयायी बन गए उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई । तब वे लोगों से बोले कि योग में कितनी शक्ति है । इन चमत्कारों का मतलब यह नहीं कि आप योग को अपना ही लें ।

---

17. डा० चमन लाल गौतम श्री गोरखनाथ चरित्र, पृ० 110

मुझे ज्वाला जी ने निमन्त्रण दिया है ,परन्तु आप उन्हें अभक्ष्य वस्तु उपहृत करते हैं । मैं तभी वहाँ भोजन करूँगा अगर आप उन्हें सात्विक भोज्य पदार्थ चढ़ावें । तब भक्तजन बोले," महाराज ब्राह्मण लोग तथा देवी के पुजारी लोग माँस मदिरा का भोग लगाने को कहते हैं । तभी हम ऐसा करते हैं । तब गोरक्षनाथ जी ने भक्तजनों से निवेदन किया कि आप इन जिह्वा लोलुप ब्राह्मणों और पुजारियों के कथन पर मत चलो क्यों कि इन्हें अपनी स्वादों का ख्याल है ।पशुबली हिंसा है ।उससे कभीभी देवी प्रसन्न नहीं होती । देवी तो कहती है कि शास्त्र विधि से मेरी अर्चना करो उसी से मैं प्रसन्न होती हूँ ।[18] शास्त्रों में हिंसा का निषेध तथा पत्र पुष्प फल जल आदि का विधान पूजा में किया गया है ।[19] माँस और मदिरा का नहीं । जो माँस और मदिरा तान्त्रिक ग्रन्थों में प्रयुक्त हुए हैं । उनका तात्पर्य कूट से कुछ और ही है । योग तथा साधना गुरुगम्य मार्ग ही रहे । अगर कोई इन्हें स्वयं विद्वान् बनकर जानना चाहे तो उनका पतन हो जाए । इसलिए उन कूट शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में किया गया है । नहीं तो अनधिकारी के पास यह विद्या पहुँच जाएगी और वे उसका दुरुपयोग करेंगे । हंस गायत्री मन्त्र से स को मुझे समर्पित करो अर्थात् अपनत्व समाप्त कर दो ,मद्य का अर्थ वहाँ तालू से टपकने वाला, सन्ध्याकालीन वह अमृत है । इसे योगी खेचरी मुद्रा से पानकर वज्र देह प्राप्त कर सकता है । अतः इस काया रूपी देवी की पूजा,उसको करने से ही इनकी सिद्धि होगी ।

---

18. सा०त०कौ० पृष्ट 23 विधिवाक्य मा हिंस्यात् सर्व भूतानि ।

19 गीता , पत्रं पुष्पं फलं तोयं यद् मे भक्त्या प्रयच्छति ।

अतः भले लोगो अभिष्ट वस्तु का परित्याग तुम नहीं करोगे तो मैं देवी का निमन्त्रण स्वीकार नहीं करूंगा । देवी चुल्हा जलाकर बैठी रहेगी और आप कोप के भागी होंगे । सभी लोगों ने गुरु के कहने से बलि बन्द कर दी ।

कुछ लोगों का कथन है कि तभी से ज्वाला जी गुरु गोरखनाथ को रसोई बनाने की प्रतिक्षा में बैठी है और गोरखनाथ तब भोजन के लिए आएंगेजब सारे लोग ज्वाला जी मे बलिदान करना बन्द कर देंगे ।

कुछ अन्यों का कथन है कि गोरखनाथ जी ने लोगों के बलि देना छोड़ देने पर ज्वाला जी का निमन्त्रण स्वीकार किया और वे ज्वाला जी में रहने लगे । उनका प्रभाव देखकर अनेकों लोगों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और उनमें से अर्जुन नाम का एक अन्तरंग शिष्य हमेशा उनकी सेवा में रहने लगा तथा गुरु की सेवा करने लगा । गुरु जी को आभास होना स्वाभाविक था कि कलयुग में ज्वाला को मांस मदिरा चढ़ाकर अपमानित किया जाएगा और मैं हमेशा नहीं रह सकता । जोगी वह होता है जो दर-दर जोग जगावे एक जगह न रहे । सब लोगों से योग करे । संयोग करे[21] । इसलिए माता की बात रखने के लिए उन्होंने अपने यौगिक चमत्कार दिखलाए, कुछ दिन वहां रहे । एक दिन अपने प्रिय शिष्य को खिचड़ी बनाने लगा दिया और कहा मैं जब तक वापिस आऊं तब तक इसकी रक्षा करना । वे चले गए । हट के नहीं लौटे । अधिक समय बीत जाने पर शिष्य

---

20 सि०कौ० युजिर्योगे ।

21• क० गौ० अप्राप्तस्य प्राप्तिः संयोगः ।

ने डिबिया की रक्षा छोड़ दी और वह गुरु की देखभाल में ज्वाला माई के पहाड़ पर चढ़ गया । दशों दिशाओं में गुरु का ध्यान कर नजर दौड़ाने लगा । गुरु की आज्ञा भंग की गई थी । शाप मिला अर्जुन पाषाण बन जाओ । यही कारण है कि गुरु गोरखनाथ के शिष्यों का वर्णन नाथ साहित्य में पर्याप्त रूप में मिलता है । अर्जुन नाथ न बन सका । किन्तु पत्थर बन गया । आज भी ज्वाला जी में इस गुरु दर्शनाभिलाषी अर्जुननाथ के पाषाणनाथ के रूप में दर्शन किए जा सकते हैं । गोरख डिब्बिया ज्वाला जी की लटा के पूर्व की ओर आज भी खौल रही है और नाथ पन्थियों को गुरु के सात्विक मार्ग का उपदेश दे रही है ।

गोरख डिब्बिया खिचड़ी बनाती है । यह भोजन अनेकों अनाजों में मिश्रित भाव होता है । नाथ सम्प्रदाय भी अनेकों धर्मों के संमिश्रण की खिचड़ी ही है। शैव शाक्त गाणपत, वैष्णव आदि सम्प्रदायों की खिचड़ी नाथ सम्प्रदाय में पक रही है वहाँ बौद्धों के महायान जैनों के अहिंसावाद तथा कौलों की पुट भी मिलती है । जिससे गोरखनाथ की खिचड़ी यद्यपि अभी तक भी सब लोगों के सिरे नहीं चढ़ी, यही है गोरख डिब्बिया का रहस्य ।

द्वितीयोऽध्याय :- ग्रन्थानुरूप विवरणात्मक परिशीलन

गोरक्षसंहिता में प्रतिपादित योग का स्वरूप

युजिर् योगे धातु से और युज् समाधौ धातु से घञ् प्रत्यय होकर योग शब्द बनता है।[1] जिससे इसका अर्थ जोड़ना हो जाता है या बाह्य विषयों को अपने मन से हटा कर, एक विषय में समाहित करना हो जाता है। तभी तो पतञ्जलि ने योग का लक्षण करते हुए लिखा था कि चितवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं[2]। चित्त की वृत्तियां मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध रूप से पांच प्रकार की मानी गई है। इनमें आरम्भ की तीन अवस्थाएं योग के लिए अनुपयुक्त मानी गई है। अन्तिम दो अवस्थाओं का ही महत्त्व योग में स्वीकार किया गया हैं।

यह योग हिरण्यगर्भ से आरम्भ होकर पतंजलि को प्राप्त हुआ। पतंजलि ने योग के 195 सूत्र बनाकर, उन्हें विषयानुसार, समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद के नाम से विभक्त कर दिया था। यह ग्रन्थ योग के समस्त अंगों का विवेचन करता है। यद्यपि इसके अतिरिक्त भी अनेकों योग प्रतिपादक ग्रन्थ हो सकते हैं। जिनका प्रभाव गोरक्षनाथ के ऊपर पड़ा होगा परन्तु वर्तमान में सर्वांग परिपूर्ण ग्रन्थ अगर मिलता है तो वह योग दर्शन ही है। इसी ग्रन्थ का सहारा लेकर गोरक्षनाथ ने अपने ग्रन्थों में हठ योग का पूर्ण विवेचन किया है। महर्षि पतंजलि प्रतिपादित योग विद्या के दो भाग हैं। बहिरंग योगविद्या

---

1. सि०कौ०

2. यो०द० 1.2 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

और अंतरंग योग विद्या । उन्होंने बहिरंग के पाँच अंग स्वीकार किए हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार।धारणा ध्यान और समाधि ये तीन योग के अंतरंग विभाग माने गए है ।किन्तु निर्बीज समाधि में ये तीनों बहिरंग ही हो जाते हैं । पतंजलि ने जिन्हें बहिरंग कहा है वे ही हठ योग कहलाता है ।

असमाहित चित वाला सांसारिक मानव राजयोग को शीघ्रता से प्राप्त करने में असमर्थ है । राजयोग की प्राप्ति असमाहित प्राणी के लिए हठयोग के द्वारा ही हो सकती है । जैसे ऊँचे-ऊँचे प्रासाद पर चढ़ने के लिए, अधिरोहिणी कि आवश्यकता होती है । वैसे ही उच्च विद्या प्राप्त करने के लिए तथा राजयोग प्राप्त करने के लिए हठयोग की आवश्यकता होती है[3] । इस योग से प्राणी समाहित चित्त हो सकता है । इस योग के आदि प्रवक्ता आदिनाथ हुए हैं । उन्होंने असमाहित चित वाले प्राणियों को समाहित करने के लिए इस योग का उपदेश दिया था[4] । आदिनाथ ने मच्छेन्द्रनाथ को, मच्छेन्द्र से गोरक्षनाथ को, उनसे अनेकों नाथों को हठयोग की शिक्षा मिली ।

बाद में इस शब्द को घृणित रूप में ,इस मत के प्रतिपक्षियों ने वर्णित किया । इस शब्द का अर्थ बतलाकर दुराग्रह अनुचित व्यवहार आदि कर दिया

---

3. हठ यो0 प्र0 ।.। विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।
4. तदेव ।.।। श्री आदिनाथ नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।

गया । जिससे जनता वास्तविक अर्थ को न जानकर इस मत से घृणा करके इसे त्याग दे तथा अपने रूढ़िगत सम्प्रदाय में ही चले रहे । तभी तो कोशकारों ने इसके अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि हठयोग -राजयोग से भिन्नता दिखाने के लिए इसका नाम हठयोग पड़ा, इसका अभ्यास भी कठिन है और इसके अनुपालनकी अनेक रीतियाँ हैं । जैसे एक पैर के बल खड़ा होना, हाथों को ऊपर किए रहना, सिर ऊपर करके धूम्रपान करना आदि (5) । वस्तुतः हठयोग का यह निर्दिष्ट अर्थ कभी नहीं रहा है । हठयोग तो वास्तविक रूप से स्वाभाविक क्रियाओं का विवेचक है। जैसे "ह का अर्थ सूर्य स्वर है । "ठ" का अर्थ चन्द्र स्वर माना गया है । इन दोनों के योग को हठयोग कहा गया है (6)। इसी प्रकार प्राण और अपान का नाम ह और ठ है । उनके संयोग को ही हठ-योग कहा गया है । इस हठयोग से ही राजयोग की प्राप्ति होती है । राजयोग से ही काल की वन्चना अर्थात् आयु बढ़ाई जा सकती है । इससे अमरत्व प्राप्त किया जा सकता है (7)। इसलिए हठयोग की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि "विषादप्यमृतं ग्राह्यं, बालादपि सुभाषितम्" इसमनु के कथन को प्रमाण मानना चाहिए । तभी तो अत्यन्त वृद्ध साँप के विषकोष्ठ में प्रकाश-

---

5. वामन सदाशिवराम आप्टे, कोश पृ० 1163

6. हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारः चन्द्र उच्यते । सूर्यचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ।
सिद्ध सिद्धान्त पद्धति ।

7. ह०यो० प्र० 4.103 सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्यसिद्धये । राजयोग समारूढः पुरुषः
कालवंचकः ।

युक्तमणि का प्रादुर्भाव हो जाया करता है । नागे साधु भी विष का सेवन इसी प्रक्रिया से अपने अन्दर अमृत पैदा करने के लिए किया करते हैं । उन्होंने गोरक्षनाथ के कथन को साक्षात् रूप में स्वीकार किया है। कि गोरक्ष द्वारा कथित योग, कालकूट की तरह लगता है। किन्तु जब इसे जान लिया जाता है, तब यह अमृत की तरह बन जाता है[8]। अतः योग को मानव जीवन की सार्थकता के लिए अनिवार्य रूप से जानना होगा । वह योग -भक्तियोग, ज्ञानयोग कर्मयोग, हठयोग और राजयोग आदि रूप से अनेक प्रकार का माना जाता रहा है । कुछ भी हो, इन योगों से प्राप्तव्य अर्थ एक ही है । तभी तो योगशास्त्रकार ने सब चिन्ताओं के परित्याग के उपयोगी साधन को योग माना है[9]। इन साधनों से ही मानव अपने मानवता धर्म की रक्षा कर सकता है[10]।

जीव की दो कोटियाँ सनातनी मत के अनुसार मानी जाती है - कर्मयोनिगत जीव तथा भोगयोनिगत जीव । प्रथमयोनि में मानव ही आता है । दूसरी विधा के अन्तर्गत देवयोनि और दानवयोनि आती है। क्योंकि इन योनियों में गए, जीव आगे नहीं बढ़ सकते। किन्तु अपने कृत कर्मों का ही भोग करते हैं । अन्त में कर्मयोनि मानव जीवन

---

8. गो०सं०गू०प्र० 1.136 नाथगोरक्षसंप्रोक्तः सरसं कालकूटवत् ।
पूर्वं विज्ञायते सम्यक् अमृतवद् भवेत् ।।

9. योगशास्त्र; सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ।

10. विदुर नीति, योगेन रक्षते धर्मो विद्या योगेन रक्षते ।

में पहुंचकर, ~~कर्मिक~~ के अपने उध्र्वगमन और अधोगमन के योग्य कर्म करते हैं । कुछ भी हो योग में तीनों प्रकार की योनियों में, गए जीवों के उपकार की वार्ताएँ कही गई हैं । शंकर ने पार्वती से कहा था " हे परमेश्वरि ! योगविहीन ज्ञान मोक्षदायक नहीं हो सकता । हे प्रिये ! ज्ञानवान् संसार विरक्त धर्मज्ञ जितेन्द्रियहोने से ही मुक्ति नहीं मिलेगी। अपितु मोक्ष के लिए देवताओं को भी योग साधनकरना होगा [11] ।

अत: गोरक्ष द्वारा प्रतिपादित योग 36 तत्वों के ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्ति करने के लिए "गोरक्षसंहिता में कहा है, "योगियों का हितसाधन करने के लिए गोरक्षनाथ जी ने गोरक्षसंहिता को कहा है । इसका बोध होने पर, योगी को परम पद की प्राप्ति होती है [12] । जब योगाभ्यास के द्वारा मन विषय भोगों से दूर होकर परमात्मा में लग जाता है, तब योगी काल और मृत्यु को विजय करके जरामरणको भी वश में कर लेता है । यही कर्म मोक्ष की सोढ़ी है और काल की वंचना है [13] । संसार क्लेशमय है उसकी शान्ति के लिए योग का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है [14] । वास्तविक रूप से योग ही आत्म साक्षात्कार करवा सकता है । यही विद्या प्रत्यक्ष कारक कही गई है अन्य तो वाक् विजृम्भण है । मानव शरीर शक्ति का

---

11. यो०वि० प्रथम खण्ड पृ० 3 ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।

12. गो०सं० पृ० श० 3 गोरक्षसंहिता वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ।

13. वही ।.4 एतद्विमुक्तिसोपानं तत्कालस्य वंचनं । यद्व्यावृतं मनोभोगादासक्तं परमात्मनि ।

14. वही ।.5 शमनं भवन्तापस्य योगं भजन्ति सत्तमाः ।

एक पुंज माना है। वह अनजाने, में उसको न होती जा रही है । शक्ति का निषेध करने के लिए, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि नामक छः तत्वों को अभ्यास माना गया है[15]। इनके साथ जो यम और नियम नामक अष्टांग योग के दो तत्व हैं उन्हें छोड़ दिया गया है । इस संहिता में, योग के अत्यन्त विस्तार को संक्षेप में करके वर्णित किया गया है । तभी चौरासी लाख को चौरासी पीठों में सीमित करके, उनमें से भी दो ही आसनों को महत्त्व दिया गया है । जिनका अभ्यास करके मानव मोक्षरूपी फल का भागी बन सकता है[16]। शरीर के प्रत्येक अंग का अपना महत्त्व होता है जिन्हें आयुर्वेद[17] में मर्मस्थल कहकर, उनकी रक्षा का आग्रह किया गया है । वे तेज भासक एवं उद्बोधक स्थल ही तो हैं । योगियों को जब तक इसका ज्ञान नहीं होगा तब तक वे अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकते हैं । वे स्थल हैं - मूलाधार, पादांगुष्ठ, गुह्याधार, वज्रगर्भ नाड़ी, उड्डीयान बन्ध, नाभिमण्डल, हृदयाधार, कण्ठाधार, कण्ठमूलाधार, जिह्वामूलाधार, जिह्वाधोमूलाधार, उर्ध्वदन्तामूलाधार, नासिकाधार, नासिकामूलाधार, भ्रूमध्याधार और नेत्राधार । ये सोलह आधार चिन्तन के स्रोत माने गए हैं[18]।

---

15. गो०सं० 1.6 आसनं प्राणं संरोधः प्रत्याहारश्च धारणा । ध्यानं समाधिरेतानि
योगानि वदन्ति षट् ।

16. वही, 1.9 आसनेभ्यो समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् । एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ।

17. वही, 1.10 द्वयेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धसनं प्रोच्यते ।

18. वही, 1.12 षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपंचकम् ।
स्वदेहे यो न जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ।

द्विलक्ष्य भी मोक्षसाधक है । बाह्य-लक्ष्य नासिकाग्र तथा भौंहों का मध्य भाग तथा भीतरी लक्ष्य मूलाधार हृत्कमल आदि माने गए हैं ।

पाँच आकाश का भी विशेष महत्त्व माना गया है । क्योंकि पंचकोश विवेक से ही मोक्ष की सम्भावना की जाती है । पंचकोश में पंचाकाश माने गए हैं । 1•श्वेत-वर्ण ज्योतिरूप आकाश, 2• रक्तवर्ण ज्योतिरूप आकाश, 3•धूम्रवर्ण ज्योतिरूप आकाश और 4•नीलवर्ण ज्योतिरूप आकाश,5• और विद्युतवर्ण ज्योतिरूप आकाश । इनमें प्रथम के भीतर दूसरा, उसमें तीसरा,तीसरे में चौथा तथा चौथे में पाँचवा आकाश सूक्ष्मातिसूक्ष्म न्यायेन लीन होता जाता है । अत: आनन्द ही ब्रह्म है" ऐसा श्रुति का जो कथन है वह अन्नमय,प्राणमय मनोमय,विज्ञानमय तथा आनन्दमय कोषों में,विभाजित साधना क्रम भी इस दर्शन में संगृहीत कर लिया गया है । तभी तो गोरक्षनाथ जी का कहना है कि एक स्तम्भ नौ द्वार और पाँच अधिदेवता वाले शरीर को जो नहीं जानते वे योगी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते[19] । इसलिए "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" जैसा पिण्ड में है वैसा ही ब्रह्माण्ड में है । यह सिद्धान्त गोरक्षनाथ जी दारा विशेष रूप से प्रतिपादित किया गया है । यह सिद्धान्त सम्भवत: शंकराचार्य जी के अद्वैतवाद का प्रत्युत्तर हो सकता है । क्योंकि बौद्धध्यान की विकृत तान्त्रिक साधना का, विरोध,शंकराचार्य ने भी किया था तो गोरक्षनाथ जी के मत की महत्ता कैसे हो सकती थी ? तब इस सरस तथा शरीर प्रधान साधना को महत्त्व देने के लिए और

19• गो०सं० 1•13, एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये जानन्ति कथं सिद्धयन्ति योगिनः ।

शंकराचार्य के शुष्क ज्ञान के प्रति जो लोगों में अश्रद्धा जागृत हो रही थी, उसे अपने मत से दूर करने के लिए शरीर को प्रधान मान लिया गया । नहीं तो शंकराचार्य जी ने शरीर की सत्ता की सम्भावना से भी मना कर दिया था । वे कहा करते थे कि शरीर के सुख को महत्व देने वाले लोगों, यह कुछ नहीं है।क्योंकि " जो वस्तु जन्म से पहले भी नहीं थी और बाद में भी नहीं दिखती ,वह वर्तमान में दीखने मात्र से कैसे प्राप्त हो सकती है[20]। अतः शरीर प्रतिभासिक सत्ता है वास्तविकनहीं ।

जब कोई अपने मत की पुष्टि करना चाहता है,तो उसे अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का,प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से खण्डन करना पड़ता है।जिससे लोग उसी के मत को माने और उसी की विशेषता को मानने लगे । दूसरे गोरक्षनाथ जी ने पिण्ड की साधना का एक बिल्कुल छोटा सा रास्ता निकाला है।क्योंकि कलियुग का मानव अधिक से अधिक सौ वर्ष तक ही जी सकता है[21]। उन सौ वर्षों में उसका अध्ययन ही पूरा नहीं होता । जबकि विद्या अपना फल व्यवहार काल में देती है । विद्या का वास्तविक फल मुक्ति है[22]। वह तभी मिल सकती है,अगर हम इस छोटी सी जिन्दगी में,अपने पूर्व जन्मार्जित अनेकों कुसंस्कारों को,नष्ट करके अपनी बुद्धि को,उस आत्मा के प्रतिभास योग्य बना ले । वह तभी सम्भव है,जब शरीरस्थ ज्योतिपुञ्जों का,ध्यानकर के,पादांगुष्ठ से लेकर आज्ञा चक्र तक के,तेजों

---

20 मा०का० आदि अन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।

21• महाभाष्य । अ० य: सर्वथा जिवति स: शतं जिवति ।

22• सा विद्या या विमुक्तये ।

को, अलातचक्र की तरह शरीर में घूमते देखें तथा पंचयोग में बतलाए हुए प्रकाशों को प्रथमतः एक एक करके, देखते हुए अन्त में समरसता स्थापित कर, इन्द्रधनुष की नाईं दर्शन दें। तभी पूर्व संचित दुष्कर्मों का आवरण बुद्धि पटल से नष्ट होगा और उसकी आत्मा को ग्रहण करने की शक्ति मानी जाएगी। गीता में इस ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त करने के लिए अनेकों जन्मों की तपस्या को कारण माना है।[23] तीन मास के अभ्यास से चल चक्र के दर्शन होने लगते हैं और अन्धकार में भी, साधक की आँखों से प्रकाश की किरण दीखती है। जिस प्रकार महापुरुषों के पीछे एक समरस प्रकाश को दिखाया जाता है, उसी प्रकार कालचक्र द्रष्टा के आगे भी प्रकाश समरसता स्वयं उससे दीखने लगती है।

इस प्रकार की स्थिति बाह्य तथा अभ्यन्तर के योग साधनों के अभ्यास से ही प्राप्त की जा सकती है। जब तक पात्रता नहीं होगी तब तक योग समझ नहीं आएगा और ना ही पात्रता के विना वह फलीभूत हो सकता है। अतः आवश्यकता है यह विचारने की कि योग के अधिकारी किन्हें माना जाए।

---

23. गीता 6.35 प्रयत्नात् यतमानस्तु योगी संशुद्ध किल्विषः।

अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ।।

योग के अधिकारी

नीतिशास्त्र में विद्या को विनय का कारण माना है, विनय से पात्रता आती है । जब तक किसी वस्तु के रखने की पात्रता नहीं होगी, तब तक वह वस्तु बेकार हो जाएगी । इसी तरह योग विद्या को प्राप्त करने की पात्रता, अवश्य होनी चाहिए । वह क्या हो सकती है । शारीरिक शुद्धि मानसिक शुद्धि, नीर क्षीर विवेकता और स्ववीर्य पर पूर्ण नियन्त्रण,[24] । श्रद्धा, गुरु के प्रति भक्ति । मनुष्यों में जो प्राणिमात्र का भला चाहने वाला, मातृवत् पर स्त्रियों को समझने वाला, आलस्य रहित, स्वनियन्त्रिता ही योग की दीक्षा ले सकता है ।[25] काम, क्रोध, मद ,लोभ, मोह, मत्सर अतिभोजन, व्रत, उपवास ,अतिनिद्रा, अतिजागरण ये सब योग के मार्ग में विघ्न हैं ।[26] इस साधन चतुष्टय सम्पन्न को" 1. नित्यानित्य वस्तु विवेकी, 2. फलभोगविरागी, 3. शमदमउपरतितितिक्षासमाधानश्रद्धारूपी षट्सम्पत्तियुक्त, 4. मुमुक्षु" ही योग का वास्तविक अधिकारी माना गया है । तभी तो प्रशान्त चित्त वाले के लिए, जितेन्द्रिय के लिए, दोषरहित के लिए, गुरु आज्ञा के पालक के लिए और गुणों से युक्त भक्त के लिए ही विद्या के उपदेश की आज्ञा दी है । हठ योग प्रदीपिका में गुरु गोरखनाथ के कथन को उद्धृत किया गया है कि अग्निताप, स्त्रीसेवन, यात्रागमन योगाभ्यासी को सर्वथा छोड़ देने चाहिए । उत्साही, धैर्यशाली, तत्त्वजिज्ञासु ही इस योग विद्या का अधिकारी हो सकता है । जो युक्त आहार व्यवहार और युक्त चेष्टा वाले हों ।

---

24. भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं सम्वत्स्यथः । प्रश्नोपनिषद् 1.2

25. मेरुतन्त्र

26. लि०पु० अध्याय 9, वे०सा० पृ० 4

गुरु

संसार के प्रत्येक कार्य में अनुभवी व्यक्ति से मार्ग निर्देशन की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति जिस रास्ते पर चल चुका होता है, उसे उस मार्ग की कठिनाईयों, मोड़ों, उतार-चढ़ाव सबका ज्ञान होता है। योग मार्ग तो है ही खाण्डे की धारा। यहाँ थोड़ी सी भूल भी साधक को छिन्न-भिन्न कर सकती है। इसलिए योग मार्ग में तो गुरु की अत्यन्त अनिवार्यता मानी गई है। वह गुरु एक भी हो सकता है अनेक भी। अवधूत दत्तात्रय के चौबिस गुरु थे। जैसे पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, सिन्धु पतंगा, मधुमक्खी, हाथी, भौंरा, हरिण, मछली, पिंगलावेश्या, कुररी, अर्भक, कुमारी, शरकृत, सर्प, मकड़ी और सुपेशकृत[1]। यहाँ पर गुरु का सीधा-सादा अर्थ है जिससे भी जीवनोपयोगी शिक्षा मिल जाए। इस प्रकार के व्यक्ति को गुरु मान लिया गया। दत्तदाता जो परवर्ती साधु ~~समस्त साधु~~ समाज के गुरु माने जाते हैं, उन्हें भी गुरु की आवश्यकता पड़ी, तो अन्य लोगों की तो बात ही क्या!

आदिनाथ, मच्छिन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि योगियों के कुल के महाराष्ट्र में अनेकों सन्त हुए हैं। इनमें हिरोबानाथ एक थे। वे अपनी वाणी में गुरु से "भ्रमरीकीट न्याय द्वारा गुरु की आत्मा को ही अपने हृदय में आया मानते हैं[2]। वे

---

1. श्री मद्भागवत् एक 11.8.32-34 सन्ति मे गुरवो राजन् बहवो बुद्ध्युपस्थिताः
यतो बुद्धिमुपादायमुक्तोऽटामीह तच्छृणु। पृथ्वीवायुराकाशमापोऽग्निचन्द्रमारविः।
कपोताजगरः सिन्धुपतंगो मधुकृद्गजः। मधुहाहरिणो मीनः पिंगलाकुररोऽर्भकिः। कुमारी शरकृत्सर्पऊर्णनाभिः सुपेशकृत्।

2. काका कालेलकर, जीवनयोग साधना, पृष्ठ 99
म्हणे सोहिरागुरुनाथ हा, माझ्या हृदयीहासून।
जानासि उदराच्याकारणे, वचन सांगतो ठसून॥

अपने को, अपने कथन का कारण न मानकर गुरु को ही कारण मानते हैं । यह नाथ सम्प्रदाय की परम्परा रही है, कि वे गुरु को भगवान् से भी ऊपर का दर्जा देते हैं । तभी तो कबीरदास जी ने कहा है :-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाये ।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।।[3]

कार्यकारण भाव विवेचन करते हुए, न्याय ग्रन्थों में, कार्य से कारण को महान् बतलाया है । इसलिए कबीर की बात सत्य है । गोविन्द के साथ संयोग रूपी कार्य का, कारण गुरु ही है । तभी तो शुष्क वेदान्ती ज्ञानमार्गी शंकराचार्य जैसे विद्वान् भी गुरु की आवश्यकता मानते हुए कहते हैं "कि शान्त महान्त वसन्त की तरह लोक कल्याण में विचरने वाले सन्त संसार रूपी सागर से स्वयं पार लंघते हुए, लोगों को विना कारण के ही तार देते है । ऐसे गुरु "कर्तुं, अकर्तुं अन्यथाकर्तुं" शक्ति सम्पन्न होते हैं"।[4] तभी तो उन्हें ब्रह्मा विष्णु और महेश्वर की त्रिपुटि माना गया है[5]। जब गुरु शिष्य की बुद्धि में नए ज्ञान की उत्पत्ति करता है, तब वह ब्रह्मा। जब शिष्य के अच्छे गुणों का रक्षण करता है, तब विष्णु। जब दुर्गुणों का संहार करता है तब महेश्वर रूप गुरु अवधूत रूप में या परब्रह्म रूप में ही हमारे सामने आते हैं ।

---

3. कबीरदास दोहावली,

4. जीवनयोग, पृ० 109 शान्ता महान्ता निवसन्ति सन्तो वसन्तवल्लोकहितं चरन्तः ।
तीर्णा स्वयं भीममहार्णवं जनान् अहेतुनान्यानपि तारयन्तः ।।

5. यो०वि० पृ० 13 गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरो ।
गुरुः साक्षात्परं ब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

अवधूत का वर्णन करते हुए कहा है - "जिसके प्रत्येक वचन में वेद रहते हैं, प्रत्येक कदम में समस्त तीर्थ निवास करते हैं । हर नजर में जहाँ मोक्ष रहता हो, वह अवधूत होता है"[6]। जिसके एक हाथ में त्याग रहता है और एक हाथ में भोग रहता है । जो त्याग और भोग दोनों से निर्लिप्त रहता है । वह अवधूत हमारा कल्याण करने वाला हो सकता है"[7]। वह प्रकृति के सारे विकारों को नष्ट कर देने के कारण ही शुद्धस्फटिकप्रभ अवधूत कहलाता है"[8]। यही अवधूत गुरु बनकर संसार के माया लिप्त प्राणी को परम पद के दर्शन करवा सकता है । जहाँ पर जाकर फिर उसका आगमन इस दुःख भरे संसार में नहीं हो सकता[9]।

इस प्रकार का जीवनपथप्रदर्शक कैसा हो, उस के गुण किस प्रकार के हों, जब हम इसके ऊपर विचार करते हैं। तो इसी निश्चय पर पहुँचते हैं "कि वह गुरु शमदमादि षट् सम्पत्तियुक्त होना चाहिए । ताकि वह सही दिशा शिष्यों को दिखा सके । ज्ञान की शलाका से जो शिष्य की आखें खोल दे और स्वात्मरूप के साथ परब्रह्म के दर्शन भी करवा दें । ऐसे गुरु कलियुग में, लिंग पुराण के अनुसार हिमालय के सिद्धाश्रम में ही मिल सकते हैं । जो वेदान्त

---

6. गो०सि०सं० वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे-पदे, दृष्टौ-दृष्टौ कैवल्यं सोऽवधूत श्रियोऽस्तु नः ।

7. वही, एकहस्तेधृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयं श्रियोऽस्तुनः ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियोऽस्तु नः ।।

8. वही ,यः सर्वान् प्रकृति विकारान् अवधूनोति इत्यवधूतः ।।

9. गीता अखण्ड मण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरं। तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धामः परमो मम ।।

युक्त हो ,विष्णु भक्त हो ,विमत्सर मन्त्रज्ञ, विश्वासी,गुरुभक्त,पुराणज्ञ आदि लक्षणों से युक्त हो,उन्हें गुरु संज्ञा दी जा सकती है । जो शास्त्रों के अर्थों का चयन करवाता है,[10] आचार की स्थापना करता है,अपने आप भी उस पर चलता है,उस आचार्य को ही, गुरु संज्ञा दी जा सकती है ।[11] गुरु शब्द का गूढ़ार्थ है कि "गु" नाम अन्धकार को कहा जाता है और "रु" का तात्पर्य है उसे नष्ट करना[12]। इसलिए गुरु शिष्य की बुद्धि में,छाए अन्धकार को नष्ट कर उसे ज्ञानाञ्जन शलाका से उसे भर देते हैं । इसलिए इस संसार में,गुरु ही परब्रह्म है,परागति है, पराविद्या है,परम धन है, परम काम है । इसलिए उस गुरु को जो उस अन्तिम वस्तु का उपदेश देता है, उसे सबसे गुरुतर माना गया है[13]। यह गौरवता किसे प्राप्त हो सकती है, इस बात पर विचार करते हुए योगी याज्ञवल्क्य ने अपनी स्मृति ग्रन्थ में,गुरु का लक्षण करते हुए लिखा है कि " जो व्यक्ति निषेकादि उपनयन पर्यन्त समस्त कर्मों से प्राणी का संस्कार करवा के,स्वयं उसे वेद पढ़ाए वही गुरु बन सकता है । जो केवल सावित्रि दान करके, ब्रह्मचारी को वेद पढ़ाना आरम्भ कर देता है वह आचार्य कहलाता है[14]। पाणिनि व्याकरण के उणादि सूत्र में "कृग्रोरुच्च" से गृ निगरणे धातु से कु" प्रत्यय तथा उत्व होकर गुरु शब्द बनता है । जिसका तात्पर्य है कि

10• द्वयोपनिषद्, आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः ,मन्त्रज्ञो मन्त्रभक्तश्च सदसमन्त्राश्रय शुचिः । गुरुभक्तिसमायुक्तःपुराणज्ञो विशेषवित् । एवं लक्षण-सम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।।

11•आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि । स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते ।

12•गुशब्दस्त्वन्धकारःस्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ।

13•गुरुरेव परं ब्रह्मः गुरुरेव परागतिः । गुरुरेव परं विद्या गुरुरेव परं धनम् ।
गुरुरेव परं कामः गुरुरेव परायणः । यस्मादुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ।

14• या०स्मृ० 34• स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेद तस्मै प्रयच्छति ।
उपनीय ददद्वेदमाचार्यः सः उदाहृतः ।।

वह शिष्य को अपने प्रभाव से, अपने अन्दर निगल जाता है और वहाँ से उसे सूरति की आभा से आभासित कर बाहिर निकालता है । यही भावना भारत में फैली है और समस्त सम्प्रदाय गुरु की मान्यता को स्वीकार करने लगे हैं । जैसे सिक्ख धर्म, राधास्वामी सम्प्रदाय आदि ।

कुछ अपवाद, जैसे:-बौद्ध धर्म के आदि गुरु बुद्ध भगवान्, गुरु की आवश्यकता नहीं मानते । वे "आत्मदीपो भव" का उपदेश देते हैं । उन्हें सम्यक् सम्बुद्धता स्वयं मिली थी । वे गया के बोधिसत्व बटवृक्ष के नीचे सम्बुद्ध हुए थे । बाद के बौद्ध रत्नत्रयी "बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि" । को आवश्यक मानते हैं। किन्तु बुद्ध ने गुरु की आवश्यकता नहीं मानी थी। वैसे ही स्त्रियों के लिए पति ही गुरु रूप में वर्णित किए गए हैं ।

कुछ भी हो गुरु का नाथ सम्प्रदाय में तो विशेष महत्त्व है । तभी तो प्रसिद्ध आचार्य गोरखनाथ के नाम से पहले गुरु लगाया जाता है । बाद में उन्हें गुरु नाम से ही जाना जाता है । यह रूढ़ी तभी हुई जब गुरु की इतनी महिमा रही है ।

3• गोरक्षप्रणीत ग्रन्थ

क" संस्कृत ग्रन्थ :-

1•गोरक्षगीता, 2•गोरक्षबोध•3•गोरक्षदोक्षा,4•गोरक्षगणेश गोष्ठी, 5•गोरक्षावधूतगोष्ठी,

6•गोरक्षयोग मञ्जरी, 7•गोरक्षशतकम्" ज्ञानशतकम्" ,8• गोरक्षज्ञानगंगा,9•गोरक्षागम ,

10•गोरक्षतत्त्व प्रकाश,11• गोरक्षोपनिषद्, 12•गोरक्षशब्दी,13•गोरक्षपद्धति, 14•गोरक्षसंहिता,

15•महार्थमञ्जरी, 16•सिद्धसिद्धान्तपद्धति,17•षट्चक्रचिन्तामणि,18•षट्चक्रबोध,19•त्रिपुर-

-सुन्दरीपद्धति, 20•योगसिद्धान्तपद्धति,21• विवेक मार्तण्ड,22•अमरौघशासन,23•अमनस्कयोग,

24• अमरौघप्रबोध,25•प्राणशृंखला,26•नृपबोध,27•हठसंहिता, 28•हठसंकेत [1]।

"ख" इतर भाषा ग्रन्थ :-

1•सबदी, 2•पद,3•तिथि,4वार, 5•अभैमात्रायोग,6•संख्यादर्शन,7•प्राणसंकलि,8•आत्मबोध,

9•नरवैबोध,10•काफरबोध,11• अवलिसिलक,12•ज्ञानतिलक भौंरावलि,13• रोमावलि, 14•साषी

15•मछीन्द्रगोरखबोध,16•गोरखगणेश सम्वाद,17•गोरक्षदत्तसंवाद [2]।

इन ग्रन्थों में डा० जनार्दन पाण्डेय ने यह स्वीकार किया है कि „सिद्धसिद्धान्तपद्धति„ से लेकर„हठसंकेत„ तक की रचनाएं गोरक्षनाथ की स्वयं रचित है ।„गोरक्षसंहिता„ से"महार्थमञ्जरी„ तक की रचनाएं,इस सम्प्रदाय वालों ने गोरक्षसिद्धान्त से या उनके उपदेशों से निचोड़ लेकर लिखी है । कोई रचना सम्पूर्ण रूपेण,कोई पौर्वापर्यरूप से उनकी रचनाओं में आ

1• गोरक्षसंहिता कादिप्रकरण उपोद्धात,"ज" डा० जनार्दन पाण्डेय,

2•डा० नगेन्द्रनाथ, गोरखनाथ,पृ० 135

जाती है[3]। इन मूल रचनाओं के निचोड़ में संकेत मिलता है "श्रीमन्महामहेश्वराचार्य श्रीसिद्ध-गोरक्षनाथविरचितम्" ऐसा अमरौघ शासन में तथा "गोरक्षापर्याय श्रीमन्महेश्वरानन्दनाथविरचितम्" ऐसा महार्थमन्जरी में लिखा मिलता है । जिससे गोरक्षनाथ का दूसरा नाम महेश्वरानन्दनाथ भी कहा गया है ।

जिससे यह भाव निकलता है कि जिन ग्रन्थों के नाम विषय परक है वे गोरक्षनाथ के स्वयं निर्मित ग्रन्थ है । दूसरे इन ग्रन्थों की भाषाशैली और प्रतिपाद्य के पतिपादन का ढंग भी एक अधिकारी विद्वान् के अनुरूप हुआ है । जो रचनाएं गोरक्ष नाम लेकर लिखी गई है, उनमें भाषागत दोष देखकर और प्रतिपादन की शिथिलता देखकर ऐसा लगता है कि ये रचनाएं गुरुगोरक्षनाथ द्वारा रचित न होकर परवर्ती नाथ सम्प्रदाय के लोगों द्वारा गोरक्षनाथ के नाम से चलाई गई हैं ।

विश्व के सबसे बड़े भाषा वैज्ञानिक पाणिनि ने अपनी अष्टाध्यायी में दो सूत्र बनाकर लोगों का मार्ग प्रशस्त किया है । जैसे "तेन प्रोक्तम् 4.3.101," "कृते ग्रन्थे, 4.3.116" पहले सूत्र में जिसने जो सिद्धान्त कहे हैं, उससे बनने वाला शब्द सिद्ध होगा और दूसरे जिसने उनकी रचना की है वे शब्द सिद्ध होंगे । इन्हीं सूत्रों का प्रपंच गोरक्षगीता आदि

---

3. डा० जनार्दन पाण्डेय, गोरक्षसंहिता आदि प्रकरण, उपोद्घात

4. अ०, 4.3.101, 116

नामों में देखा जा सकता है । जो सिद्धान्त मूल रूपेण गोरक्षनाथ ने कहे हैं । उनका अपने शब्दों में वर्णन करना ही, इन ग्रन्थों के लेखकों का कर्तव्य होता था । वे यह नहीं जानते थे कि इसको हम गोरक्षनाथ का बना भी पाएँगे या नहीं । जो पूर्ण सिद्ध नहीं होते थे वे अपने गुरु का भी अपमान करवा बैठते थे । तभी तो विद्या अपने जानने वाले गुरु से कहती है कि"मेरी रक्षा करो मुझे असूया करने वाले को मत दो ,गुरु की निन्दा करने वाले को मत समर्पित करो, नहीं तो मैं बलवान् नहीं रहूँगी[5] । स्वल्प ज्ञानी शिष्यों या अनुयायियों ने नहीं सोचा कि सिद्धपुरुष जब अपने जन्मकाल और देश का भी वर्णन नहीं करते । ऐसा करने से उनकी व्यापकता नष्ट हो जातीहै । वे अपने ग्रन्थों से पूर्व अपना नाम क्यों कर लगाते । दूसरे भारतीय धर्म के संरक्षक धर्मशास्त्र का उल्लंघन करके अपना नाम कैसे लेते[6] । अतः गोरक्षेण प्रोक्तम्" उस विग्रह में"तेन प्रोक्तम् सूत्र से छः प्रत्यय करके गोरक्षिय शब्द बना लेते हैं और पुनः प्रत्यय का लोप करके ग्रन्थों के आदि में दिया हुआ गोरक्ष शब्द शेष बच जाता है ।

गुरु गोरक्षनाथ की संस्कृत रचनाओं की प्रमाणिकता

जहाँ संस्कृत के महा पण्डित जनार्दन पाण्डेय ने संक्षेप में की है वहाँ नाथ सम्प्रदाय के प्रौढ़ लेखक एवं हिन्दी -संस्कृत विश्रुत विद्वान् डा0 हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने ग्रन्थ में पूर्ण

5• नि0 अध्याय -। विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् ।
असूयकाय मा प्रादात्तथैव वीर्यवती स्याम् ।।

6• म0स्मृ0 आत्मनामगुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयात्।
ज्येष्ठापत्यकलत्रयोः ।।

विवेचना के साथ की है । डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने अपनी रचना 'गोरखबानी' में चालीस हिन्दी रचनाओं को गोरखनाथ रचित बतलाया है । इनमें से तो चौदह को तो सर्वथा गोरख लिखित स्वीकार किया गया है[7]। वैसे तो गोरक्षनाथ की रचनाओं को गिनाते हुए हिन्दी साहित्यकारों ने लम्बी-लम्बी सूचियाँ प्रकाशित की है किन्तु उनमें दो प्रकार के भावों की पुष्टि होती है । एक तो नाथ सम्प्रदाय के सिदान्त प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थों की सूची, दूसरे गोरखनाथ से सम्बन्धित ग्रन्थों की सूची । कुछ विद्वानों ने हिन्दी संस्कृत के ग्रन्थों का भी विभाग नहीं किया । डा० जी० डब्ल्यू० ब्रीग्स् की सूची इस प्रकार की है । नाथ सम्प्रदाय के कौन से ग्रन्थ किसके हैं, कबके हैं, इस बात को प्रमाणित करने के लिए अभी तक कोई लेख नहीं मिलते । वैज्ञानिक पद्धति से सिद्धसिद्धान्तपद्धति का सर्वप्रथम सम्पादन डा० कल्याणी मलिक ने किया[8]। इन्होंने तंजौर हस्तलेख तेलुगु लिपि में प्राप्त किया और उसका समय 1699 निर्धारित किया । इन्होंने अमरौघ प्रबोध और योग मार्तण्ड को भी गोरक्ष की रचना माना है ।ब्रीग्स इन्हें नित्यानन्द का स्वीकार करते हैं । वे ही गोरक्ष की रचना भी मानते हैं । गोरक्षसिद्धान्त-संग्रह में इसे नित्यानन्द की ही रचना माना गया है[9]। जब डा० मलिक ने गोरक्षनाथ की ही रचना निसन्देह माना है । डा० ब्रीग्स् तथा द्विवेदी ने अमरौघ प्रबोध का

---

7. डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, नाथ सम्प्रदाय, पृ० 100

8. सिद्धसिद्धान्तपद्धति एण्ड अदर वर्क्स ऑव नाथ योगीज् ।

9. डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, पृ 102

नाम भी नहीं लिया । जबकि डा० मलिक ने ताड़पत्र के आधार पर इसे गोरक्षकृत माना है । इसके साथ योगमार्तण्ड को भी माना है । राजेन्द्रलाल मित्र ने योगसिद्धान्तपद्धति, सिद्धान्त पद्धति और ज्ञानामृत को भी गोरक्षकृत माना है[10]। डा० द्विवेदी की दी हुई 28 ग्रन्थों की सूची में उन्होंने कुछ पर सन्देह व्यक्त किया है । कुछ को गोरक्ष की रचना माना है[11]। इसी प्रकार डा० मलिक ने चतुरशीत्यासन, ज्ञानामृत, योगमहिमा, योग सिद्धान्तपद्धति, गोरक्ष-कल्प, गोरक्षसहस्रनाम और गोरक्षपिष्टिका, को भी गोरक्षकृत माना है । उन्होंने लगभग 37 ग्रन्थों को गोरक्षकृत माना है । केवल 16-17 रचनाएं ही गोरक्षनाथ की है । इनमें भी सिद्धसिद्धान्तपद्धति, गोरक्षसंहिता, अमरौघशासनम् और महार्थमञ्जरी ही गोरक्षनाथ के सिद्धान्त के महान् ग्रन्थ माने जाते हैं । इनमें से सिद्धसिद्धान्तपद्धति तथा महार्थमंजरी में सांख्ययोग काश्मीरशैवदर्शन तथा तन्त्रदर्शनानुरूप 36 तत्त्वों का वर्णन पूर्णरूपेण किया गया है[12]। साधना की दृष्टि से गोरक्षसंहिता और अमरौघशासनम् महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं । गोरक्ष-संहिता के पहले तो केवल दो सौ श्लोक माने जाते थे और उनमें साधन का स्वरूप शुद्धरूप में वर्णित माना जाता रहा है । अब जब कि इस ग्रन्थ के दो प्रकरण कादिप्रकरण तथा भूति - प्रकरण काशी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुके हैं । इससे इसकी व्यापकता के विषय

---

10. गो०स० यो० पृ० 2 5, संस्कृत मैनुस्क्रिप्ट्स ऑव् द राजा ऑव बीकानेर,

11. नाथ सम्प्रदाय, पृ० 99-100

12. डा० नगेन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, पृ 104

प्राचुर्य का ज्ञान मिल जाता है ।

1. ———————— सिद्धसिद्धान्तपद्धति का विषयगत परिचय:-

इस ग्रन्थ में छः उपदेश हैं । प्रथम में पिण्डोत्पत्ति, द्वितीय में पिण्ड विचार, तृतीय में पिण्ड-संवित्ति, चतुर्थ पिण्डाधार, पंचम में पिण्डपदसमरसकरण, षष्ट में अवधूतयोगिलक्षण की विवृति ।

2. गहार्थ मञ्जरी:-

यद्यपि इस ग्रन्थ का गोरक्षकृत होना सन्देहास्पद है। क्योंकि इसकी परिमल टीका में "गोरक्षअपर पर्याय कहा गया है । वैसे तो यह गोरक्ष से परवर्ती कोई नाथ लगता है तथापि डा० नगेन्द्रनाथ ने, पूर्ववर्ती डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं वज्रवल्लभ द्विवेदी के मतों का पर्याप्त मन्थन करके इसे सन्देहास्पद स्थिति में गोरक्ष की कृतियों में रखा है[14] । इस ग्रन्थ में लेखक ने सारस्वरूप में कथाओं के माध्यम से आत्मतत्व को परमात्मतत्व से भिन्न स्वीकार किया है ।

3. अमरौघशासनम् :-

इस ग्रन्थ के दो विभाग हैं । प्रथम में सारणा का विशेष वर्णन किया गया है । सारणा शिवतत्व पारे के शोधन की विधि का नाम है । दूसरे में सिद्धसिद्धान्तपद्धति का विषय ही संक्षिप्त रूप से रख दिया गया है । यहाँ पर विपरीतिकरण आदि से ऊर्ध्व शक्ति-निपात, अधशक्ति निकुंचन तथा मध्य शक्ति प्रबोधन से परम सुख की प्राप्ति बतलाई है । इसमें सुलभता

---

14. डा० नगेन्द्रनाथ, गोरखनाथ, पृ० 110

के लिए परासारणा, प्रतिसारणा, शंकसारणा और महासारणा की व्याख्या की गई है । इस साधना में प्रधानरूप से प्राणसाधना नाड़ी साधना, कुंडलीसाधना तथा सिद्धकाया प्राप्ति को महत्त्व दिया गया है ।[15] अन्त में नादोपासना को बतलाकर शब्द ब्रह्म की उपासना क्रम में मेघगर्जन, कांस्यताल, अग्निदाह, दुन्दुभिशब्द, वंशी तथा शंख शब्दों का श्रवण साधक को होता है । इससे अधिक सिद्धियाँ साधक को मिलती हैं । जैसे लोकप्रियता, रोगनाश, कवित्व, दूराकर्णता, भूमिपरित्याग, वज्रत्व कायास्फुरण, सामरस्य आदि ।[16] जब यह अनाहत ध्वनि साधक को दिन-रात सुनाई देती रहे तो उसे परम पद मिलता है ।

दूसरे भाग में मोक्ष स्वरूप पर विचार करते हुए सात मतों का खण्डन करके अपने मत की स्थापना की गई है । "सहज समाधिक्रम से जहाँ मन से मन का समवलोकन किया जाता है । वही मोक्ष है "[17] । इस तरह इसमें जीवनमुक्ति पद को स्वीकारा गया है । कुण्डलिनि को मृणालसूत्र की तरह सूक्ष्म मूलाधार से निर्गत होकर, सूर्यचन्द्र नाड़ियों के साथ षट्चक्र का भेदन करती हुई, दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र की तरफ बढ़ती है । जहाँ पर समरस प्रकाश का दर्शन एवं समरस समाधि हो जाती है । यही इस ग्रन्थ का महत्त्वपूर्ण भाग माना जाता है । इस ग्रन्थ में नाथ पन्थ के अमृतसाधन का विवेचन या अमरौघशासनम् नाथपन्थ के सिद्धान्त और साधना का समष्टि स्वरूप है ।

---

15. अमरौघशासनम्, मुकुन्दराम शास्त्री पृष्ट 1-4

16. वही, पृ0 4-5

17. वही, पृ0 9

18. वही, पृ0 12-13 यत्र सहजसमाधिक्रमेणमनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः ।

गोरक्ष संहिता :-

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सभी गोरक्ष ग्रन्थसूचियों की परीक्षा करके बतला -या है कि सभी सूचियों में इसका नाम आता है । उन्होंने पं० प्रसन्न कुमार कविरत्न द्वारा 1897 ई० में प्रकाशित संस्करण का उल्लेख किया है।किन्तु यह पुस्तक लुप्त प्राय: है । डा० नागेन्द्र ने भगवान् त्रिवेदी के पुत्र श्री इन्द्र जी शर्मा द्वारा सन् 1893 में प्रकाशित गोरक्षसंहिता काठियावाड़ान्तर्गत प्रभासपाटण की उपलब्ध सूचना अपने गोरक्षनाथ शोध प्रबन्ध के पृष्ट 112 में दी है।जबकि इसकी विषय वस्तु का वर्णन करते हुए उन्होंने गोरक्षपद्धति की विषय-वस्तु के साथ तुलना करते हुए पूर्व भाग की एकता घोषित की है[19] । महीधर सम्पादित गोरक्ष-पद्धति,तथा गोरक्षसंहिता डा० चमनलाल द्वारा मिलान करने से भी वही बात लगती है । इसका वर्णन डा० नागेन्द्रनाथ ने भी किया है किन्तु इस संस्करण की कोई पुष्पिका नहीं है । गोरक्षपद्धति के प्रकरणान्त में लिखा गया है "इति गोरक्षशास्त्रे मुक्ति सोपान संज्ञके उत्तरशतकम्"[20] महीधर शर्मा ने अपनी टीका में लिखा है "इति महीधरकृतायां गोरक्षसंहिताभाषायाम्"[21] जिससे यह ज्ञात होता है कि तब तक गोरक्षसंहिता के बारे में अनिर्णित ज्ञान ही उपलब्ध था ।

---

19. डा० नागेन्द्रनाथ,गोरक्षनाथ, पृ० 112

20. पं० महीधर शर्मा, गोरक्षपद्धति पृ० 95

21. वही, पृ० 95

जब डा० जनार्दन पाण्डेय द्वारा सरस्वती भवन ग्रन्थमाला के पुष्प 110 में गोरक्षसंहिता का प्रथम भाग, कादिप्रकरण विक्रम सम्वत् 2023, शकाब्द 1898 तथा 1976 ई० में प्रकाशित हुआ, तब उसकी पुष्पिका में " इति श्रीमहामन्थानविनिर्गते सप्तकोट्यर्बुदे स्वच्छन्दशक्त्याऽवतारिते गोरक्षसंहितायां शतसाहस्रखण्डान्तर्गते श्री मतोत्तरखण्डे कादिभेदे कुलकौलिपीठे योगिनीगुह्ये अमुकनाम अमुकपटले" से ज्ञात हुआ है कि आज तक उपलब्ध गोरक्षसंहिता दो सौ श्लोकों वाला संग्रह, वास्तविक ग्रन्थ नहीं। अपितु इस ग्रन्थ का परिमाण बहुत विस्तृत है और इसके अनेकों प्रकरण हैं। फिर दूसरे भूति प्रकरण में, एक श्लोक आया है जिसमें कहा गया है कि "यह ग्रन्थ पाँच-खण्डों में विभक्त है जिनके नाम अलग-अलग हैं । इन्हें गुरु मुख से जानना चाहिए।[22] जिससे यह भी कहा जा सकता है कि इस संहिता के तीन प्रकरण कादि, भूति और योग मिल चुके हैं और दो प्रकरण रहे हैं । जिनका अभी ज्ञान नहीं हो पाया है । यह संशय भी इस लिए है कि भूति प्रकरण के इस श्लोक में बतलाए प्रकरणों का विषय वहाँ नही मिलता । अगर विवरण दिया होता तो निश्चित ही कुछ कहा जा सकता था ।[23] इतना अवश्य है कि प्रसन्न कुमार संस्करण या बाद में बरेली से डा० चमनलाल गौतम द्वारा सम्पादित संस्करण केवल शुद्ध योग मार्ग का प्रतिपादक होने पर

---

22. गो०सं० भूति प्रकरण 9.133 पंचखण्डनिर्देशास्त्रे नाम संज्ञा पृथक्-पृथक् ।

गुरूपदेशाज्ज्ञानीयात् सत्यं-सत्यं न संशयः ।।

23 डा० जनार्दन पाण्डेय, गो० सं० का० प्र० भू० 2, वचित, कानि तानि पंचखण्डानि इति तु न स्पष्टीकृतं क्वापि ।

भी अन्न, वादि तथा श्रुति प्रकरण की अपेक्षा बहुत छोटा है।तो यहाँ मेरा विचार है कि यह भी भारतीय परम्परा का प्रतीक है। क्योंकि योग के बारे में, अनुभूति को ही प्रत्यक्ष प्रमाण माना जा सकता है । प्रमाण का लक्षण करते हुए न्याय मत वालों ने कहा है कि "सम्यक् अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं ।"[24] या अनधिगतार्थ को देने का नाम प्रमाण है[25] । उनके भेदों के बारे में यद्यपि पर्याप्त मतभेद है। तो भी प्रत्यक्ष प्रमाण तो चार्वाक से लेकर वेदान्तियों तक समस्त सम्प्रदाय वालों ने स्वीकार किया है । न्याय दर्शन में उसका लक्षण करते हुए कहा है कि "इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होने वाला ज्ञान, अव्यपदेश्य हो, अव्यभिचारी हो तथा उससे काम करने की क्षमता आ जाए, तो उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है[26] । वह प्रत्यक्ष बाह्य तथा आन्तर भेद से दो प्रकार का हो जाता है । बाह्य प्रत्यक्ष के छः प्रकार बन जाते हैं । जिन्हें तर्क-संग्रह में षड्विध सन्निकर्ष कहा गया है । संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्त समवेत समवाय, समवेत समवाय और विशेषण-विशेष्य भाव[27] । ज्ञान से पैदा होने वाला आन्तरिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है । ज्ञानज प्रत्यक्ष और योगज प्रत्यक्ष[28] ।

---

24. न्याय दर्शन, अ० १, सम्यगनुभव साधनं प्रमाणम् ।

25. वही, ऋ०भा०भू०, सायण-अनधिगतार्थगन्तृप्रमाणम् ।

26. न्यायदर्शन, अ० । इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारी व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।

27. तर्क संग्रह, प्र०ख० , षड्विध संयोगः संयुक्तसमवायः, संयुक्त समवेत समवायः । समवेतसमवायः विशेषणविशेष्यभावश्च ।

28. वही, ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ।

योगज प्रत्यक्ष के लिए योग की साधना, चित्तवृत्ति का निरोध करना आवश्यक है।[29] चित्तवृत्ति के निरोध के लिए शरीर की शुद्धि और इन्द्रियों का विषयों से अवरोध आवश्यक है। अत: नाड़ी शुद्धि, चित्त का उन्मनीभाव, इन्द्रियनिरोध के लिए बाह्ययोग का सहारा अनिवार्य है। हठ योग की प्रक्रियाएँ नेती, धोती, आसन तथा आभ्यन्तरिक कुण्डलिनी का सहस्रार स्थित आदिनाथ शिव से, संयोग करवाने के लिए प्राणायाम और त्राटक की आवश्यकता भी आती है। सहज योग में अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि की बात की जाती है।[30] नाथ सम्प्रदाय का साधक इतनी देर नहीं सह सकता। वह तो इसी जन्म में शिव का प्रत्यक्ष करके जीवन मुक्ति चाहता है।

अत: कुण्डनी शक्ति का जागरण करने के लिए प्राणायाम, धारणा, ध्यान करके शीघ्र ही अपने गन्तव्य की ओर चला जाता है। इस प्रकार योग छोटा रास्ता है, उसका वर्णन भी छोटा ही होगा, दूसरे अनुभव की हुई अध्यात्म सम्बन्धी बात, गूँगे का गुड़ होती है। उसे हम सहज शब्दों में नहीं बान्ध पाते। अत: केवल उसके साधनों का संक्षिप्त वर्णन इसमें आता है और वाक्य पदीय[31] का यह कथन कि "उपाय सिखलाते हुए बालक के लिए शब्द तो केवल पुचकारना मात्र है। स्थूणा अरुन्धती न्याय से गलत मार्ग पर चलाकर

---

29. यो०द०स०पा० 2सूत्र-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

30. अनेक जन्म संसिद्धाः आस्थिता जनकादय: ।

31. वा०प०, ब्र०का० उपायशिक्षमाणानां बालानामुपलालना ।
अस्त्यवर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते ।।

सत्य की खोज कराना चाहते हैं । शब्द ब्रह्म के जानने के बाद ही परं ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है[32] । इसलिए यह ध्यान रखकर कि साध्य से साधन बड़ा होता है ,शब्दों मेंयोग का वर्णन किया गया है । वे शब्द संक्षिप्त ही हो सकते थे । अत: गोरक्ष का योग प्रकरण दो सौ श्लोकों का ही बन पाया हो । दूसरे निर्माता का ध्यान योग साधन की बाह्या-भ्यन्तर प्रणालियों पर भी रहा हो और उसने योग की बाह्य साधनाओं का प्रथम शतक में तथा अभ्यन्तरिक प्रणालियों का दूसरे शतक में वर्णन कर दिया हो । भाषागत भेद कुछ भिन्नता की ओर संकेत करता है । इस योग प्रकरण में संस्कृत की उतनी न्यूनता नहीं है जितनी आदि और भूति प्रकरण में नजर आती है । तो विस्तार की भिन्नता का जहाँ विषयगत परिहार मैंने चिन्तन किया है । वहाँ भाषागत भिन्नता में भी यह बात आ सकती है कि गुरु की वाणी संग्रह करने वाले ने अन्य प्रकरणों में तो अपनी भी छाँटकर कुछ लिख दिया है।परन्तु योग प्रकरण विशुद्ध अनुभव का विषय है । अत: वहाँ गुरु का कथन ही प्रामाणिक समझकर, उसे उसी रूप में रखा गया हो'जैसा गुरु से उपदिष्ट हुआ है । अत: उसमें भाषागत भेद भी नहीं आने पाया

अब इन प्रकरणों के/विषयों का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह निम्न प्रकारेण समझा जा सकता है ।

32• ऋग्वेद प्रातिशाख्य, पृ० 10 द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं चयत् । शब्द ब्रह्मणि निष्पन्न: परं ब्रह्माधिगच्छति ।

कादि प्रकरण के 27 प्रकरण है । दुर्भाग्य से बीच-बीच के पत्र न मिलने के कारण पुस्तक अधूरी ही रह गई है । केवल मिले हुए पत्रों के आधार पर ही सन्तोष करना पड़ा । इससे विच्छेद होने पर विषयगत प्रवाह भी बीच में अवरुद्ध हुआ है । समुपलब्ध काशी संस्करण के आधार पर कहा जा सकता है कि प्रथम पटल में तन्त्रशास्त्र के उपजीव्य भैरव को नमस्कार के ब्याज से तन्त्रशास्त्र में उनके महत्व पर विचार किया गया है । दूसरे पटल के 7-17 पत्र ही मिले हैं । जिससे पता चलता है कि इस पटल में देवी के पीठों और उपजीव्य का सम्पूर्ण विवेचन था । यहाँ उपलब्ध पत्रों में हिमवत् को आधार मानकर कामरूप पीठ का अपूर्ण वर्णन है[33]। यद्यपि प्रथम श्लोक में पंजाबी के मिहवत् शब्द को लिया गया है जिससे हिमालय को ग्रहण करना उचित ही है। क्योंकि भाषा में व्यत्यय हो जाया करता है[34]। आगे चलकर हिमवत् शब्द का ही प्रयोग हुआ है[35]। अतः इस पटल में सम्पादक के मतानुसार "ओ०जा०पू०जा० तान्त्रिक क्रम को ग्रहण किया हुआ भासित होता है[36]।

---

33. गो०सं० अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मिहमन्तं यथास्थितम् । योजनायुतं विस्तीर्णं महाशृंगाटकाकृतिम् ।
कामरूपत्वमापन्ना तेन त्वं कामरूपकम् ।

34. अ० सूत्र व्यत्ययो बहुलम् ।

35. गो०सं० का०प० 2-8 रक्षन्ति सततं द्वारं हिमवत्पीठमुत्तमम् ।

36. गो०सं० उपोद्घात "ढ"

तीसरे पटल का प्रारम्भ लुप्त है । उपलब्ध अंश से प्रतीत होता है कि लुप्तांश में भी क्षेत्रों का वर्णन था। क्योंकि प्राप्तांश में कर्दमाल-गोकर्ण, विन्ध्याद्रि, विमलेश्वर, सिन्धुमाल, महासेन मातंग तथा कुब्जा इन आठ उपक्षेत्रों का वर्णन किया गया है । त्रिकूट, त्रिपुर, गोपुर, भद्रकर्ण, किरात, काश्मीर, शैवाल और सिन्धुदेश इन आठ सन्दोहों का वर्णन किया गया है । श्री जयन्ती, कुल्लता, मानव, कांचीपुर, कुरुक्षेत्र, बर्बर और शाम्बर इन उपपीठों का भी वर्णन मिलता है । इसके बाद क्रौंच उत्पत्ति और कामदाह का वर्णन आया है ।[37] हिमालय द्वारा सेवा संरत पार्वती को लेकर अपने घर चले जाने का वर्णन मिलता है ।

चतुर्थ पटल में देवताओं के द्वारा आदिनाथ शिवभगवान् की प्रार्थना करना कि "हे देव दानवों के स्वामिन् जगन्नाथ ! तीनों लोकों की रक्षा के लिए हमारी रक्षा करो और पूर्वकल्प के वृतान्त को स्मरण करके पार्वती के पसीने से उत्पन्न क्रौंच[38] नामक असुर को मारने के लिए उसी के योनिज पुत्र की आवश्यकता है । ऐसी स्तुति सुनकर शिव ने पार्वती का हस्त ग्रहण करके, उनके साथ क्रीडा आरम्भ कर दी। शिव प्रसन्न होकर पार्वती से वर मांगने के लिए कहते हैं । पार्वती ने पश्चिमाम्नाय सिद्धों की सन्तान का वर्णन करने के लिए प्रार्थना की । यहाँ से आगे का प्रकरण लुप्त प्रायः है । मातृस्वरूप का वर्णन आगे मिलता है जिसमें

---

37. गो०सं० का० प्र० पृ० ।।-।2 जयदेव जगन्नाथ सुरासुर गुरोहरः ।

38. गो०सं०च०प० श्लोक 2, त्राहि-2 त्रिलोकेश त्रैलोक्य मंगलाय च ।

माहेशी वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री का पूर्ण विवरण मिलता है फिर सातवीं मूर्ति चामुण्डा कानाम और मुख तथा आंखों का वर्णन मिलता है । आगे के तीन पत्र लुप्त हैं । इससे पता चलता है कि प्रारम्भ में दो देवी की मूर्तियों के रूप भी लुप्त हो गए हैं ।

31 पत्र में शव साधन की विधि जिसका प्रारम्भिक भाग लुप्त है । पुनः मातृगण के मध्य में स्थित शिव के स्वरूप का तथा वाम दक्षिण आयुधों का तथा पद्मासन में स्थित शिव का वर्णन एवं पूजा विधान है । पुनः 25 तत्वों से युक्त पूर्ण 32 दान्तों वाले शव को लेकर स्नान करवाएं,चन्दनादि से पूजा करके मण्डल में रखकर भैरव मन्त्र का जाप करें । मन्त्र को कूटस्थ बनाकर ग्रन्थकार ने ख०फ०र० स्वरूप बतलाया है[39] । मन्त्र निर्माण में अनेकों के वर्णों के संयोजन की विधि बतलाई है।जो गुरुगम्य ही हो सकती है । इस मन्त्र का जाप, शव के सम्मुख करें । जब अर्ध रात्रि को शव फुंकार मारे तब दृढ़ चित्त होकर मन्त्र जाप करता हुआ शिव का ध्यान करे । जब,शव अपनी जीभ बाहर निकाले तब छुरी से उसे काट दे और शव गिर जाएगा । उस जीभ को गुरु और शिष्य अपने मुख में धारण करने से आकाश स्थित सभी मातृकाओं के दर्शन कर सकेगा तथा अणिमादि आठों सिद्धियों को प्राप्त कर लेगा । आगे का भाग तीन पत्र लुप्त है

अगले उपलब्ध भाग में चलचक्र का वर्णन किया गया है । चक्र निर्माण में चन्दन कुंकुम धूम नैवेद्य आदि सामग्री का उपयोग करें । वस्त्र पुष्पमाला,उपहार

39•गो०सं०च०प० पृ० 18 खफरेफ महामन्त्रमर्द्धेन्दु कलयान्वितम् ।
कूर्मिताक्षवर्णानि उमाकालेन संयुता ।।

मद्य,मांस,भोज्य,भक्ष्य नैवेद्य वाद्य आदि के द्वारा चक्र में योनियों की पूजन करें ।

कुमारियों का पूजन करें,कुमारों का पूजन करें,फिर चक्र को वीरचक्र में परिवर्तित कर एक रात्रि,तीनरात्रि या सप्तरात्रि चक्र का आनन्द लें । [40] वहीं पर गोदान,भूमिदान,स्वर्णदान ग्राम नगर रत्न दीप आदि का दीनों, ब्राह्मणों, तपस्वियों के लिए दान दें । इस दान का कोटि गुणा ज्यादा फल मिलता है । जिससे मनवांछित सिद्धि प्राप्त होती है । इससे दूसरे जन्म में भी सर्वज्ञता प्राप्त होती है ।

[41] पंचम पटल में उपलब्ध प्रारम्भिक तीन श्लोकों में पार्वती का देहस्थ मातृकाओं के तथा वृहन्नया के बारे में प्रश्न किया गया है । 36वां पत्र लुप्त हैं । 37वें पत्र में मातृपदों की व्याख्या की गई है। जिनका प्रथम पद लुप्त है । पुनः 21 अक्षरों वाले आठ पदों की व्याख्या की गई है । मध्यम खण्ड के ये 21 अक्षरों वाले आठ पद हैं । तृतीय खण्ड के 165 वर्ण दिखलाए गए हैं । इसके बाद तृतीय खण्ड के 29 पदों का वर्णन यहीं मिलता है । उससे आगे का भाग लुप्त है । 38-39 पत्र लुप्त हैं ।

40 पत्र की उपलब्ध सामग्री में कूटों का वर्णन किया गया है । जिनमें से आरम्भ के आठ कूटों की सामग्री लुप्त है । नवें कूट को गले में स्थापित किया गया है । फिर सोलहवें कूट तक अवशिष्ट सातकूटों को शिखा पर्यन्त सिर में ही स्थापित किया गया है । इन कूटों का न्यास पांच प्रणवों सहित ही योगी को अ[162]

---

40. गो०सं० प० 4, पृ० 19, एकरात्रं त्रिरात्रं वा सप्तरात्रमथापि वा।
चक्रानन्दं प्रकर्तव्यं यथालाभेन सुन्दरी ।।

41. गो०सं० प० 5, पृ० 20-26

होता है । इनकों ऊपर से नीचे, और नीचे से ऊपर बार-बार शरीर में न्यास करने से शरीर प्रकाशमय हो जाता है । जिससे फिर मृत्यु नहीं होती और योगी काल को जीत लेता है । । फिर इस विद्या को गोप्य रखने की सलाह दी गई है और अधिकारी का वर्णन किया गया है। फिर द्वादश पीठों और छ: चक्रों का संकेत करके द्वादश पीठों के न्यासानन्तर छ: चक्रों के भेदन की विधि बतलाई गई है[42] । यहाँ से आगे 4 पत्र लुप्त है । 45 पत्र में चलचक्र का वर्णन और प्रभाव दर्शाने से पहले, बिन्दु के अनेक आधारों में पहुँचने पर परिणति का वर्णन किया गया है । पुन: भैरवी के प्रश्न पर चला नामक शक्ति को बतलाया गया और वह चक्र के रूप में व्यवस्थित अर्थात् शरीर के भिन्न-2 स्थानों में उस का ध्यान किया जाता है । जैसे पैर, जानु, ऊरु, नाभि, हृदय, कण्ठ देशों में आठ अरों से युक्त, वह शक्ति पहिए की तरह घूमती है तथा सूर्य की तरह उसका प्रकाश नजर आता है । उसमें तीन कर्णिका होती है/ प्राण वायु से प्रेरित होकर तीव्रगति से वह शक्ति चक्र के रूप में फिरती है । जो योगी पैर से लेकर शिर तक, इस शक्ति का चक्र के रूप में ध्यान और दर्शन का अभ्यास करता है/ वह खेचरत्व की संज्ञा प्राप्तकर समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है । इसके बाद सात पत्र लुप्त हैं । जिनमें पंचम पटल की समाप्ति तथा षष्ठ पटल आरम्भ होता है ।

---

42. गो०सं०प०प० पृ० 24 ,एकैकं भेदयेच्चक्रं पीठद्वादशभि: क्रमात् ।

षष्ठ पटल के समुपलब्ध पत्रों में देवी के चक्रों का वर्णन[43] मिलता है । जिनमें षडंगन्यास देवी के मुखों का वर्णन और वर्णन्यास मिलता है ।

सप्तम पटल में ब्यालिस देवी की मूर्तियों का वर्णन[44] मिलता है । जैसे प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति, चामुण्डा, प्रियदर्शिनी, गुह्यशक्ति, नारायणी, मोहिनी प्रज्ञा, वज्रिणी, कंकटा, कालिका, शिवा, घोरा, वागीशी, भीमा, रामा, महाचण्डी, विनायकी, पूर्णिमा, उल्किणी, कूर्दनी, जयन्ती, दीपिनी, कपालिनी, पावनी, इच्छाशक्ति, अम्बिका, पूतना, क्षीरामा लम्बिका, संहारी, महाकाली, कुसुमा, शुक्रा, तारा, ज्ञानी, क्रिया, गायत्री, सावित्री, दहनी और फेत्कारी। उसी के साथ मालिनी चक्र विन्यास के क्रम से मालिनीचक्रविन्यास का वर्णन किया गया है ।

अष्टम पटल में तीन मुद्राओं का भेद सहित वर्णन मिलता है ।[45] प्रथम त्रिशिखा का स्वरूप, उसको सिद्ध करने का क्रम तथा सिद्ध होने पर फल की प्राप्ति वर्णित है । इसी के प्रसंग में योगरोध सम्पुट ग्रथन विदर्भ इस प्रकार के मन्त्र के छः प्रकार के हो जाने का वर्णन आया है ।

त्रिशिखा के बाद पद्ममुद्रा का वर्णन आता है। जिसमें उसका स्वरूप, साधन क्रम, फल आदि उसको का वर्णन करके, इसी के प्रसंग में कामराज मन्त्र का साधन और उसका साधन तथा फल भी वर्णित किया गया है । योनिमुद्रा का स्वरूप, साधन फलादि का वर्णन

---

43. गो०सं०प०ख०, पृ०27-30

44. वही, पृ० 30-46

46. वही, प०-आठ, पृ० 47-66

खेचरी महातम्य,प्रयोगराज साधनविधि तथा उसके अधिकारियों का वर्णन मिलता है ।

बाद में वृत्तिराज का विधान करके छः प्रकार के कुल रत्नों कावर्णन किया गया है ।

नवें पटल[46] को जालन्धरनाथ पटल कहना चाहिए,क्योंकि इसमें जालन्धर की उत्पत्ति,उसका मन्त्र,मन्त्र ध्यान पूजा आदि की विधि का विवेचन किया गया है ।

दसवें पटल[47] में परा योनि की समया का प्रस्तार भेद से पद भेद तक का वर्णन करके उसके उद्धार को बतलाया गया है । पुनः समयाचार पालकापालक निर्णय वक्रागौद्धार,वर्ण प्रस्तार क्रम से दूतियों की मुद्राओं काध्यानादि वर्णित है । कालिका का उद्धार तथा दूती मुद्राबन्ध दिखलाया गया है ।

ग्यारहवें पटल[48] में हृदय दूती और शिरोदूती के जात का प्रमाण देकर उद्धार को बतलाया गया है ।

द्वादश पटल[49] में शिखादूती का उद्धार कामना के भेद से होम के समय का भेद,संख्या का भेद,कुलाकुल निर्णय विचार किया गया है ।

तेरहवें पटल[50] में अघोर मन्त्र के,कोलों का वर्णन,उनका उत्कीलन प्रकार,32 अक्षरात्मक स्वच्छन्द का चक्र और ध्यान,दूती प्रकार,यन्त्र का विधान विस्तार से वर्णित किया गया है ।

46.गो०सं०,प०-9,पृ०66-70

47.वही,प०-10,पृ० 71-91,

48.वही,प०-11,पृ० 92-99

49.वही,प०-12,पृ० 100-118

50.वही,प०-13,119-136

चौदहवें[51] पटल में कवच, नेत्र, मुख, अस्त्र, दूतियों ~~के वर्णन के~~ मन्त्र यन्त्रादि बतलाए गए हैं । गुह्यकाली का स्वरूप, अघोरास्त्र का स्वरूप, निरूपण, षडंग, षट्चक्र षट्योगिनि, षट्अधार, षट्पुर, षट्सिद्धों के षडंगों का निरूपण एवं उसके आठ भेदों का वर्णन किया गया है ।

पन्द्रहवें पटल[52] में त्रिकूट भैरव की उत्पत्ति, ब्रह्मा और विष्णु द्वारा शिव स्तुति, लिंग दर्शन, चक्र का पूजन और उसके स्वरूप का निर्माण, लिंग दर्शन के साधन का निरूपण, षट्चक्र निरूपण, लिंगों के आधारों का वर्णन, ध्यान की वैविध्यता से फल की विविधता बारह चक्रों में बारह प्रकार की कुलवागीश्वरी के स्वरूप का द्वादश श्लोकों के निर्णय का वर्णन है।

सोलहवें[53] पटल में आत्मा, शुक्ति, वंस, बिन्दु, पद तथा आकाश इन छः पदार्थों का निर्णय किया गया है । ध्यान और धारणा योग का स्वरूप बतलाकर आज्ञा और मणिपुर चक्र का वर्णन भी किया गया है। नाद के संयोग और वियोग का वर्णन, पिण्ड की सृष्टि और छः सिद्धपुरियों का वर्णन किया गया है ।

सत्रहवें पटल[54] का आरम्भ और अन्त लुप्त है । उपलब्ध भाग में दूतियों, दिव्ययोगिनियों, परमदूतियों और परम देवियों का वर्णन किया गया है । अठारहवें पटल की उपलब्धि इस पुस्तक में उपलब्ध नहीं है ।

---

51. गो०सं०, प०-14, 137-160

52. वही, प०-15, पृ० 161-186,

53. वही, प०-16, पृ० 187-220

54. वही, प०-17, पृ०, पृ०221-226

उन्निसवें पटल में[55] राकिनी, लाकिनी, काकिनी, शाकिनी, हाकिनी, याकिनी, पुष्पोत्पन्न इन योगिनियों का वर्णन किया गया है ।

बीसवें पटल में[56] अक्षोभ्या, ऋक्षकर्णी आदि चौसठ योगिनियों का वर्णन किया गया है । इसमें असित भैरव, उसकी सृष्टि, नक्षात्मता और मण्डलों का वर्णन है ।

इक्कीसवें पटल में[57] मन्त्र के बीजों का निदर्शन, गुरु और शिष्य के लक्षण कुलपिण्ड, कुललक्ष्य का विवरण, दशवायु का स्वरूप और उनके कार्य, जीव का लक्षण, उसकी स्थिति और निर्गम का प्रकार, श्री मतोत्तर तन्त्र का महात्म्य, उसको बोधित करने वाले अन्य नामों का वर्णन, कालचक्र का वर्णन, पूषा के उदय का निरूपण और उसके शुभाशुभ का निर्णय करने का वर्णन किया गया है ।

बाइसवें पटल में[58] काल बन्धन, मृत्युंजयत्व प्राप्ति, कालकर्षिणी, मृतोत्थापिनी, मृतसंजीवनी विद्याओं के मन्त्रों का उद्धार, परा अपरा, परापरा विद्याओं का निरूपण, कामेश्वरी तथा त्रिपुरेश्वरी विद्याओं का भी वर्णन किया गया है ।

तेइसवें पटल में[59] विधिपूर्वक षोढान्यास बतलाया गया है ।

---

55. गो०सं०, प०-19, पृ०-227-234,

56. वही, प०-20, पृ० 235-263,

57, वही, प०-21, 264-288,

58. वही, प०-22, पृ० 289-317

59. वही, प०-23, पृ० 319-328

60
चौबिसवें पटल में साधनाक्रम में भूतशुद्धि, गुरुमण्डल, क्रमपूजा प्रकार, चतुषष्टिक्रम वर्णन, वज्रकुब्जी और सिद्धकुब्जी का निरूपण, छोम्मा का निरूपण, दिव्य भाषा ज्ञान प्रकार, छोम्माकमुद्राभेद से संकेत ग्रहण का वर्णन आता है ।

61
पच्चीसवें पटल में पचास रुद्रों के स्वरूप का, शक्ति और ध्यानादि का वर्णन मिलता है ।

62
छब्बीसवें पटल में 34 द्वीपों का, उनके अधिपतियों का स्वरूप ध्यानादि का वर्णन करके देह में उन पीठों के स्थानों का सामञ्जस्य बतलाकर, गायत्री का निर्णय किया गया है ।

63
सत्ताइसवें पटल में चक्राम्नाय वर्णन करते हुए ब्रह्माणी माहेशी कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, चामुण्डा, चण्डिका, महालक्ष्मी, यामल नवात्मा, दूती, नित्यक्लिन्ना, एकवीरा, निग्रहा, दुर्गा, इन सोलह चक्रों के स्थान निर्माण प्रकार, पूजाविधान और उनके फल का वर्णन किया गया है । बाद में महन्तारी का स्वरूप, उनके मन्त्र का उद्धार, उसके पूजन की विधि तथा पर्व आदिविधिचर्या, चरु का लक्षण, उसके भक्षण का फल, पवित्र के लगाने का प्रकार और संक्षेप में ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन किया गया है । कादि प्रकरण का वर्णनीय विषय एतावन्मात्र है ।

---

60. गोसं0, प0-24, पृ0329-356,

61. वही, प0-25, पृ0357-374

62. वही, प0-26, पृ0 375-397

63. वही, प0-27, पृ0398-418

गोरक्ष प्रणीत संहिता का उपलब्ध दूसरा प्रकरण है भूति प्रकरण । इस प्रकरण में नौ पटल हैं । जिनका विषय निम्न प्रकारेण वर्णित किया गया है ।

64

प्रथम पटल में सर्वप्रथम रस कार्य में कैसे सहायक हों, उनकी योग्यता और अयोग्यता का वर्णन है । पुनः रस की महिमा और उसका पाँच-भौतिकत्व दिखलाकर, पारे के आठ गुणों को बतलाया गया है । रस को कैसे संशोधित किया जाएगा और उससे क्या पुण्य मिलेगा । विधिवत् संस्कृत पारे के लाभ और शिवोक्त रस शास्त्र का विस्तार । यह कहा जा सकता है कि रस शास्त्र का प्रयोजन भी, रस महिमा व्याज से बतला दिया है ।

65

दूसरे पटल में परिभाषाओं को बतलाया गया है तथा इस प्रकरण में धातुओं की गिनती करके बताई गई है । सर्व प्रथम रस के बारे में प्रश्न किया गया है, आठ रसों अभ्रक, वैक्रान्त, विमल रसक, शैल माक्षिक, दरद तथा सस्यक का वर्णन करके आठ उपरसों, गन्धक, तालक, गैरिक, शिलाकांक्षी कासीस, अन्जन और कंकुष्ठ का वर्णन लिया गया है । आठ लौह कान्तज, खुरायन, नानाकार, अश्मज, खज, वैक्रान्तज, शैलज और सम्यकज का वर्णन आता है । माक्षिकामलज, आयस षट्क गरुडोदारपरीक्षा, पंच रत्न रसों के नाम और लक्षण, मणिसंज्ञक, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त, ताराकान्त मणियों का वर्णन, सूतक के बान्धने वाले मृगनाभि, छः नमक, तीनक्षार, पाँचविष, पाँच उपविष, दसतेल, चौदह चर्बियाँ, मूत्र, क्षार, गर्भद्रावक, आम्ल, रक्तगण, शुक्लगण, पितकल्क, कन्द, रसनिर्यात, इनके शोधन से क्या फल मिलेगा और न शोधन से क्या हानि होगी, का वर्णन है ।

---

64. गो0सं0भूति प्रकरण, पृ0 421-430

65. वही, 431-439

66

तृतीय पटल में पारे के अठारह संस्कार और उनकी विधि धातुओं और रत्नों का शोधन4अभ्रक आदि का सत्व पातन, स्वर्णरजतकारक बीज विधान का वर्णन आया है । यहाँ संस्कार अठारह होने परभी विधि आठ की ही बतलाई गई है । आठ संस्कारों के बाद पारा प्रयोग के योग्य हो जाता है । विशेष गुणों की प्राप्ति के लिए ही उसके अन्य संस्कार किए जाते हैं । उपरसों के शोधन के, तीक्ष्ण शोधन, शुल्व शोधन द्राविका और बीज विधान का वर्णन आया है ।

67

चतुर्थ पटल में रस को बन्धन करने की प्रक्रिया बतलाई गई है, प्रारम्भ में उसके चार भेद बतलाए गए है । औषधि के प्रभाव से पारे की द्रुतित अवस्था बन्ध जाती है । वैसे ही अभ्रक आदि के योग से, रस बन्धन, लौहबन्धन, विविध बीज बन्धन हो जाता है । पुनः रक्त स्नेह पातन से, रसोपरस मिश्रण से, लौह संस्कार से, छः प्रकार का लौह संकरता से, रत्नादि के मेल से, रस में उत्पादकता आती है । विभिन्न द्रव्यों से मारण, मूर्च्छन किए हुए रस में, किस प्रकार से पुनः बीजकता की जाती है और उसमें कलवेधी, द्विगुण-वेधी, शतसहस्र अर्बुदस्पर्श वेदी की उत्पत्ति की जाती है तथा कैसे अनुभवी सहायक हों, का वर्णन है ।

68

पंचम पटल में लवणादि योग से अभ्रक ग्रास का रस में प्रयोग विधान विविध औषधियों के संयोग से पारे का बन्धन, सन्मुखचारण, निर्मुख चारण का प्रकार, रस

---

66. गो०सं०भू०प्र० पृ० 440-447

67. वही 448-460

68. वही 461-486

-बन्धन में उपयोगी 64 औषधियों के नाम, ग्रास रूप धारण के बाद रस के आठ रूपों का वर्णन, ग्रासों के नाम, गर्भद्रुति, मुखबन्धन, यन्त्रों द्वारा उसके पातन की प्रक्रिया, पिण्डजारण जीर्ण हुए के लक्षण, क्रामण विधि, उपयोगी औषधि, रंजक औषधि संयोग से जाम्बुनद की उत्पत्ति क्रम पूर्वक रस सेवन का फल, रसकामधेनु का विधान, अभ्रक तथा तीक्ष्ण द्रव्यों के संयोग से रस की बलवत्ता का वर्णन किया गया है ।

षष्ठपटल[69] में सूर्यकान्त, चन्द्रकान्तादि मणियों द्वारा रसबन्धन करके उसके जारण-सारण की प्रक्रिया को बतलाया गया है तथा उसके वेध का क्रम दिखलाकर, वेध द्वारा ताम्र से उत्तम स्वर्ण बनाने की बात कही गई है । रक्त अभ्रक और स्वर्ण से पारा बान्ध कर उसके भक्षण से बाल्य और युवावस्था प्राप्त होने का वर्णन है । धातु उपरस के लेपन से ताम्बे से स्वर्ण की उत्पत्ति का वर्णन, गन्धक सेक स्वर्ण निर्माण, सहस्रवेध से जाम्बुनद की उत्पत्ति गन्धक शोधक 10 औषधियों का वर्णन है । वर्तमान में अगर इस प्रकरण का अन्वेषण किया जाए तो भारत जैसे देश की सारी समस्याएं हल हो जाएंगी ।

सप्तम पटल[70] में अचिन्त्य शक्ति गुण रस पाक वीर्य प्रभाव युक्त औषधियों का विशेष रूप से रस को बान्धने वाली औषधियों का वर्णन करने के बहाने से दो भेद किए गए हैं । औषधि और महौषधि, फिर दिव्य औषधि और रसौषधि भेद दिखलाए गए हैं । तृण, गुल्म, लता, वल्ली, वृक्ष, सर्पिणि रूप से छः प्रकार के भेद दिखलाए गए हैं ।

---

69. गो०सं०भू०प्र०, पृ० 487-535

70. वही 536-562

पुनः दिव्य औषधियों के 64 भेद बतलाकर उनके नाम और लक्षण तथा कर्म बतलाए है । यहाँ यह वैशिष्ट्य है कि और जगह सोमलता एक ही प्रकार की है जबकि यहाँ दो प्रकार के उसके भेद बतलाए गए है । लतारूपी सोम तथा वृक्षरूपी सोम । दोनों में गुणकर्म समान होने पर भी लता रूपी सोम अधिक उपयोगी है । वह भी दो प्रकार की लता मिलती है । विषरहित और विषसहित । विषवाली अधिक गुण वाली होती है । इस प्रकार सोम लता आदि औषधियों का वर्णन किया गया है । पुनः इनकी उत्पत्ति कौन से देश में होती है, उन्हें कैसे ग्रहण किया जाता है । इसका भी वर्णन किया गया है । । एवमेव अम्लवेतस का भी वर्णन उत्पत्ति और प्रभाव सहित किया गया है । रसगुटिका और खेचरीगति, स्वर्णनिर्माण, लक्षकोटीवेध आदि का वर्णन किया गया है ।एक मात्र अम्ल वेतस से असाध्य रोगों का इलाज कैसे किया जाता है, रसायन के सेवन समय में क्या पथ्य और क्या अपथ्य होगा इसका भी वर्णन किया गया है । अन्त के लगभग चार पत्र नष्ट होने से 61 श्लोक उपलब्ध नहीं है । 71

अष्टम पटल में अयस्कान्त मणि की उत्पत्ति, उसका लक्षण और स्वरूप का वर्णन, उसका वीर्य रसबन्धन प्रकार विस्तार से वर्णन किया गया है । कान्ताय संयोग से निर्मित योग रसायन के उपभोग से जरा-मृत्यु-कुष्ठ-वल्ली-पलित आदि का नाश विधान वर्णन करके उन-उन के रोगों में अनुपानों का पृथक्-2 विधान करके दिखलाया गया है । रस विषयक समस्त संस्कार, और कर्म, गुरु परम्परा से ही करना चाहिए । इस पटल के बीच में मूल मात्रिका

71। गो०सं०भू०प्र०, पृ० 563-571

के लगभग छब्बीस पत्र नष्ट हो जाने के कारण अनेक रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो सका इन विनष्ट पत्रों में ही अष्टम पत्र की समाप्ति और नवम पटल का आरम्भ होता है ।

नवम पटल में[72] जो सामग्री अवशिष्ट रूप में बची है उसमें शास्त्रोक्त विधि से औषधियों का नियोजन रस मन्त्रोद्धार और उसकी फलश्रुति का वर्णन किया गया है । इस प्रकार से गोरक्षसंहिता का परमोपयोगी विभूति प्रकरण समाप्त होता है ।

काशी संस्करण के इन दो प्रकरणों का वर्णन करने से प्रतीत होता है कि ये दोनों प्रकरण प्रेयविद्या की पराकाष्ठा का प्रतिपादन करते हैं । किन्तु जिस योग प्रकरण का सम्पादन प्रसन्न कुमार जी ने "गोरक्षसंहिता के नाम से किया है और जिसमें योग की गम्भीर विद्या को "गागर में सागर" की युक्ति से दो सौ श्लोकों में लोक कल्याण हेतु संकुचित करके रखा गया है । चाहे यह काम किसी अन्य के द्वारा ही गोरक्ष के नाम से किया गया हो । काशी संस्करण की विषय विस्तार व्यापकता तथा भाषा की शिथिलता जहाँ पाठकों के सामने आती है । वहाँ इस प्रकरण में वैसा नहीं बल्कि समुचित रूप से विषयानुसार भाषा का भी प्रयोग हुआ है । दो शतकों में इसका विषय प्रतिपादन सही है ।

---

72 • गो०सं०भू०प्र० ,पृ०

73
प्रथम शतक में प्रारम्भ के चार श्लोकों में विषय प्रयोजन,सम्बन्ध और अधिकारी का वर्णन किया गया है । एक श्लोक में योगाभ्यास का फल,एक में षडंग के नाम,पांच में आसनों का वर्णन,12 में षट्चक्रों का निरूपण,13 में दश नाड़ियों का स्थान सहित वर्णन,14 में दस प्राणों वायुओं का वर्णन,10 में शक्ति चालन,26 में महामुद्रा आदि का वर्णन,7 में प्रणवाभ्यास,प्राणायाम प्रशंसा, 4 में प्राणायाम प्रकार, 8 में नाड़ी शोधन का प्रकार वर्णित किया गया है ।

दूसरे शतक में 1-10 श्लोकों तक प्राणायाम का वर्णन,11-12 तक फलश्रुति 13-14 में अष्टांग योग में प्राणायामों की संख्या,15-16 में समाधि का स्वरूप,17-18 में योगसिद्धि के चिह्न-19-21 तक प्राणायाम से रोगनाश,22-31 तक प्रत्याहार का वर्णन 32-34 तक विपरीतकरिणी मुद्रा,35-37 तक अनाहत चक्र-38-39 तक काकी मुद्रा,40-41 तक विशुद्ध चक्र,42 में सूर्यमुखवचन, 43-51 चन्द्रामृतपान का फल तथा रसास्वादनानुभव, 52-60 तक धारणा वर्णन,61-77 तक ध्यान वर्णन और फलश्रुति,78-79 में कुण्डलिनी, शिवमिलन का वर्णन,80 में ध्यान योग की श्रेष्ठता,81-82 समाधि वर्णन 83-84 में ध्यान और समाधि विषयक वर्णन-95-100 तक के श्लोकों में सायुज्य प्राप्ति तथा योग शास्त्र की श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है ।

73.गो०सं०,सं० डा० चमनलाल गौतम.पृ० 9-79

गोरक्षसंहिता का योग में स्थान और महत्व

डा० हजारी प्रसाद ने गोरक्ष विरचित पुस्तकों के विवेचन करते हुए "गोरक्षसंहिता" को गोरक्ष की निसन्देह कृति माना है किन्तु उनके जमाने में गोरक्षसंहिता का केवल एक प्रकरण, जो नेपाल पुस्तकालय से उपलब्ध करके "श्री प्रसन्न कुमार चटर्जी" ने बंगला अनुवाद के साथ छापा था। काशी संस्करण के आने पर गोरक्षसंहिता के व्यापक विषय की ओर ध्यान जाना आवश्यक है। मैंने अपने विवेक से चटर्जी संस्करण को इस पुस्तक का एक भाग स्वीकार किया है। कादि मत में जहाँ कौलमत के साधन की प्रक्रिया, स्थान, पीठ, उपपीठादिकों का वर्णन किया गया है और शाक्त दर्शन के परिप्रेक्ष्य में कुछ आत्मा शक्ति, हंस बिन्दु पद और आकाशात्मक षट् पदार्थों का विशद् विवेचन है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता, जो नाथ मत की मुख्य दार्शनिक पक्ष है, उसकी विवेचना के लिए जीव का स्वरूप गति और प्रकार का वर्णन किया गया है[1]। पुनः गायत्री का स्वरूप वर्णन जीव का षट् चक्रों में कैसे गमन होता है, का वर्णन भी उपलब्ध होता है। दूसरे श्रुति प्रकरण में यद्यपि योग सम्बन्धि साक्षात् वर्णन भले ही न मिलता हो किन्तु परम्परा से

---

1. गो०सं० कादि प्र॰ 21, पृ० 136, त्वं च शक्तिरहं जीवः प्राणिनाम् प्राणसंज्ञकः ।
अग्निवायुमयो जीवकुलपिण्डे व्यवस्थितः ।।

योग का ही यह अध्याय भी स्वीकार करना चाहिए।क्योंकि जीव का प्रतिभास पांच-भौतिक पिण्ड में ही होता है ।उस पिण्ड में स्थित जीव की मुक्ति के लिए जहाँ अन्य नाथ योगियों ने षडंग योग या अष्टांग योग का उपदेश दिया है वहाँ गोरक्षनाथ ने जीव की एकाग्रता तथा स्थिरता के लिए अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त एक विभूति सिद्धि का उपदेश भी दिया है । यहसिद्धि अन्य सिद्धियों से व्यतिरिक्त है । इस गोरक्षसंहिता का विभूति प्रकरण रसायन शास्त्र का विज्ञान है । इसमें पारद के योगों से,योगी के शरीर को ही अजरामर नहीं बनाया जा सकता अपितु अधिभौतिक ,आधिदैविक,आध्यात्मिक आदि दुःखों से बचने के लिए तथा ज्ञानेषणा,मानेषणा पुत्रेषणा आदि इच्छाओं की पूर्ति हेतु भी पारद का भक्षण अनिवार्य है । यही नहीं वित्तेषणा की पूर्ति और मृत्युभय को दूर करने के लिए भी पारद रसायन का भक्षण आवश्यक रूप से करना चाहिए । इसके साथ ही अजरता अमरता बिन्दु के उपर आधारित है[2] । बिन्दु का संरक्षण पारद गुटिका के मुख में रखने मात्र से ही जाता है[3] । तभी तो पारद की उपयोगिता बताते हुए कहा गया है कि एकमात्र रसराज शरीर को अजर-अमर बना देता है ।[4]

तृतीय प्रकरण या चटर्जी सम्पादित गोरक्षसंहिता योग का ही

2.मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।

3.गो0सं0वि0प्र0 7.133 मुखस्था वारयेत् शुक्रम् ।

4.उपोद्धात , एको यं रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ।

प्रतिपादन करती है ।यदि इसका परिणाह पूर्व प्रकरणों की तरह विस्तृत नहीं है केवल दो शतकों में योग का सांगोपांग वर्णन किया गया है । जबकि प्रथमशतक गोरक्षपद्धति का गोरक्ष शतक नाम से भी अविकल रूप में आता है । जिसमें योग के षडंगों का वर्णन किया गया है । आसन-प्राणरोध,प्रत्याहार धारणा और ध्यान-समाधि का वर्णन किया गया है । यद्यपि आसनों की संख्या चौरासी लाख योनियों के जीवों के आधार पर है यह अपने प्रकार की उपवेशन शयन आदि क्रियाओं को आधार मान कर अनन्त है।तो भी योग शास्त्रियों ने एक लाख योनि को समाकृति में विभाजित कर उनके आधार पर एक आसन की कल्पना की है। तब वे चौरासी मुख्य रूप से बन जाते हैं । उनका नाम निर्देश ही यहाँ दिया गया है । वास्तविक रूप से सिद्धासन और कमलासन जिसे पद्मासन भी कहते हैं, का ही पूर्ण विवेचन किया गया है । इन आसनों में तीन घण्टों से अधिक सुखपूर्वक रहने से सिद्धि मिल जाती है[5]। देहस्थ षोडश आधार षट्चक्र त्रिलक्ष्य,व्योमपंचक,एकस्तम्भ,नवद्वार और पंचदैवत को जानना योगी के लिए अनिवार्य है[6]। आधारचक्र चतुर्दलयुक्त व,श,ष,स वर्णमाला पृथ्वीतत्वयुक्त, पीतरंगयुक्त वर्गाकार,ऐरावत, बीज शोभित,ब्रह्मादेवता,हंसवाहन,डाकिनि शक्ति कामाख्य

5.यो०द० सुखं स्थिरमासनम् ।

6.गो०शतक,13-14, एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पंचाधिदेवतम् ।
स्वदेहे ये जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ।।

पीठ पर स्थित का वर्णन किया गया है ।

स्वाधिष्ठान षड्दलयुक्त, व, भ, म, य, र, ल वर्ण शोभित जलतत्व श्वेत वर्ण, अर्द्धचन्द्राकार, वं बीजमकर वाहन, विष्णुदेवता, गरुड़वाहन, राकिनि शक्तियुक्त का वर्णन किया गया है ।

मणिपुर दशदलयुक्त ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, तेज तत्वयुक्त, रक्तवर्ण, त्रिभुजाकार, रं बीजयुक्त, मेषवाहन, रुद्र देवता, वृष वाहन, लाकिनि शक्ति से युक्त का वर्णन किया गया है ।

अनाहत चक्र द्वादश दलयुक्त हृदयस्थल में क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ वायु तत्व युक्त, स्पर्शगुणयुक्त, धुम्रवर्णयुक्त, षट्कोणाकृति, यं बीजयुक्त, कृष्णमृगवाहन, ईशदेवता काकिनिशक्ति ~~शक्ति~~युक्त का वर्णन मिलता है ।

विशुद्ध चक्र कण्ठ के पास सोलह दलों से युक्त अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः आकाशतत्वयुक्त, शब्दगुणात्मक, श्वेतवर्णयुक्तवृताकार, हं बीजयुक्त, हस्ती वाहनयुक्त ~~हस्तीवाहनयुक्त~~ सदाशिवदेवता, शाकिनिशक्ति युक्त का वर्णन किया गया है ।

आज्ञा चक्र भ्रुवों के बीच में द्विदलात्मक हैं । ह, क्ष, अक्षरयुक्त मन तत्व, ओं बीजाक्षरयुक्त मनतत्व, शंभुदेवता, हाकिनि शक्ति का वर्णन किया गया है ।

सहस्रार ब्रह्मरन्ध्र का अन्तिम स्थान है । इन चक्रों का

वर्णन करके इडा,पिंगला,सुषुम्ना,गांधारी,हस्तिजिह्वा,पूषा,यशस्विनी,अलम्बुषा,कुहू और शंखिनी नाम की दस नाड़ियों का वर्णन किया गया है । इन की स्थिति देह में कहाँ है इसका वर्णन भी किया गया है । उनकी क्रियाएँ भी वर्णित हैं । इसके बाद अजपा गायत्री का स्वरूप महत्व आदि वर्णित है । पुनः प्राणवायु के द्वारा उत्तेजित करके ,कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने का विधान दर्शाते हुए,शक्तिचालन मुद्रा के स्वरूप का तथा उसको अभ्यास करने वालों के नियमों का वर्णन किया गया है । उससे आगे महामुद्रा,खेचरीमुद्रा,उड्डीयान-बन्ध,जालन्धरबन्ध,महाबन्धादि की क्रियाओं की व्याख्या की गई है । पूर्व शतक के अन्त में प्रणवाभ्यास,प्राणायाम प्रकार,नाड़ीशोधन प्राणायाम विधि का वर्णन है ।

द्वितीय शतक में प्राणायाम के भेदों के पूरक,रेचक और कुम्भक का वर्णन किया गया है । इन प्राणायामों की मात्रा,अवधि स्थान और क्रिया का वर्णन किया गया है । प्राणायामों के परवर्ती साधनांगों के परस्पर विकासोन्मुख सम्बन्धों एवं परिणामों का निर्देश कर समाधि का स्वरूप बतलाया गया है । जिस प्रसंग में कुण्डलिनी का उल्लेख भी हुआ है । प्राणवायु के सहस्रार में पहुंचने पर मेघगर्जन आदि अनेकों वाद्यों का श्रवण होता है । जिससे योग सिद्धि की सूचना मिलती है । उसके बाद हठयोगात्मक प्रत्याहार का वर्णन किया गया है । इसके बाद पाँच प्रकार की धारणा का वर्णन है ।

इस प्रकार गोरक्षसंहिता का मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग है और उसकी सहायता से प्राप्त ज्ञान को प्राप्त करके "तत्वमसि" महावाक्य से पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता का प्रतिभास करना ही मुख्य अभिप्रेत लगता है । यह सहज योग की अपेक्षा मानव को हठ योग से मिल सकता है । यदि हठ योग में भी मानव को सफलता न मिले तो पारद और औषधियों के सेवन से अपने पिण्ड रूपी साधन को अजरामर बनाकर पुरूषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करके जीवन को सफल बनाया जा सकता है । गोरक्षसंहिता में नाथपन्थियों का अद्वैतवाद अक्षुण्ण रहा है । जैसा वे शिव और शक्ति को एक दूसरे से अभिन्न मानते हैं । शैवों के अर्धनारीश्वर की तरह ही वे भी स्वीकार करते हैं[7] । इनके मत में वैदिक ऋत् और सत्य की तरह सूर्य और आत्मा की भान्ति शिव और शक्ति ही विश्व के समस्त प्रपंच में परिव्याप्त है किन्तु नाथ इनसे ऊपर और संयोग करवाने वाला माना गया है[8] । अतः गोरक्ष संहिता के उपलब्ध संस्करणों से पता चलता है कि यह पुस्तक योग साहित्य में एक अपना अनूठा स्थान रखती है और विशेष रूप से विदेहमुक्ति की ओर इसका अधिक झुकाव दीखता है ।

---

7. सि०सि०सं० पृ० 26-27 शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अनन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ।।

8. वही, पृ० 36 प्रसरं भासते शक्तिः संकोचं भासते शिवः ।
तयो संयोगकर्त्ता यः संभवेद्योगीयोगेश्वराट् ।।

संस्करण :-

"क" गोरक्षसंहिता गोरक्षनाथ का एक अमूल्य ग्रन्थ है । इसकी उपयोगिता इसके भूतिप्रकरण और योग प्रकरण से लग जाती है । इतना होने परभी यह भारतवासियों का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए कि इस पुस्तक का प्रथमतः तो ज्ञान ही नहीं था जब कुछ विद्वानों ने अपने परिश्रम से नाथ सम्प्रदाय के जीवातु इस ग्रन्थ का अन्वेषण किया तो सर्वप्रथम एकत्रिंशतात्मक श्लोकयुक्त ग्रन्थ का ही पता चल सका था जो कि नेपाल दरबार के पुस्तकालय से हस्तलिखित कापी प्राप्त करके प्रसन्न कुमार जी ने 1897 ईस्वी में बंगला अनुवाद के सहित छापी थी । जिसकी प्रति बाद में ढूंढे नही मिलती । जैसा कि हजारी प्रसाद द्विवेदी जी "नाथ सम्प्रदाय- नामक पुस्तक में प्रतिपादित करते हैं । किन्तु बाद में विद्वानों की खोज से इसका मूल रूप हिन्दी टीका के साथ डा० चमनलाल ने लोगों की योग जिज्ञासा को पूरा करने के लिए इसे बरेली से छपवाया है । जो अब उपलब्ध है । जैसे ही डा० जनार्दन पाण्डेय ने काशी से इस का संस्करण छापा और उस पुस्तक के दो खण्डों को हमारे सामने लाया, वैसे ही हमारी आँखें खुली और हम गोरक्षसंहिता के बारे में कुछ अधिक जानने के लिए बाध्य हो गए । जहाँ तक प्रसन्नकुमार जी के संस्करण से हमें इस पुस्तक के योग सम्बन्धि ज्ञान का ही पता चलता है, वहाँ काशी संस्करण से इसके तान्त्रिक कादि प्रकरण का तथा आयुर्वेदिक भूति प्रकरण का जहाँ पता लगा वहाँ यह भी ज्ञात हो गया कि यह पुस्तक इतनी लघुकाय नहीं है जितना विद्वत्

समाज समक्ष पाया था । यह तो पंचप्रकरणात्मक एक लक्ष श्लोक सम्पन्न महाग्रन्थ है । अभी भी यह ग्रन्थ विद्वानों के लिए रहस्य बना रहेगा । क्योंकि पांच प्रकरण का संकेत मिलने पर भी वे प्रकरण कौन-कौन हैं इस बात का प्रमाण उपलब्ध पुस्तक में नहीं है । जबकि अन्त्यन्त खोज के बाद भी कादि प्रकरण, विभूति प्रकरण तथा पूर्व उपलब्ध योग प्रकरण ही मिलते हैं ।

इन दो संस्करणों के अतिरिक्त डा0नागेन्द्रनाथ ने अपने शोध ग्रन्थ "गोरक्षनाथ" में अनेकों विद्वानों के उद्धरणों के आधार पर काशी संस्करण के अतिरिक्त, 1897, प्रसन्नकुमार कविरत्न संस्करण तथा डा0 बागची के द्वारा प्रदर्शित उदाहरण कौलावलि निर्णय की भूमिका में जो अकुलवीर तन्त्र में भी वैसे के वैसे ही मिलते दर्शाए गए हैं । परन्तु इसके अलावा लेखक ने अपने पास प्रभास पाटल पुस्तकालय से भगवान् त्रिवेदी के पुत्र श्री इन्द्र जी शर्मा द्वारा शकाब्द 1816, विक्रमाब्द 1950, सन् 1893 का काशी संस्करण भी मिला है । यह प्रसन्नकुमार के संस्करणवत् ही है । अतः कहा जा सकता है कि वर्तमान तक इस पुस्तक के योग प्रतिपादक शतक द्वय के तीन संस्करण निकले हैं । सन् 1893, इन्द्र जी संस्करण, 1897 का बंगला अनुवाद सहित, -प्रसन्नकुमार संस्करण हिन्दी अनुवाद सहित बरेली संस्करण कादि प्रकरण का 1976 काशी संस्करण, विभूति प्रकरण 1977 का काशी संस्करण । इसके अतिरिक्त अभी तक इस पुस्तक के कोई अन्य संस्करण दृष्टिपथ में नही आए हैं । भविष्य में यदि विद्वान लोग अन्वेषण जारी रखेंगे तो हो

सकता है कि इस अमूल्य ग्रन्थरत्न का अवशिष्ट भाग भी यदि काल के कराल गाल में न पहुँचे हों तो उपलब्ध हो जाए । वास्तव में जहाँ तक लेखक का चिन्तन है,वहाँ तक इस ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग आदि औरहादि ही हो सकते हैं । क्योंकि आदि कादि हादि ये तीन तान्त्रिक चिन्तन प्रसिद्ध हो हैं । इन तीनों को अनन्तकाल तक वज्रदेह प्राप्त करके जानना चाहिए, और इसी जीवन में जानना चाहिए,इस उदेश्य से विभूति प्रकरण का निर्माण हुआ होगा दृश्यते अनेन इति दर्शनम् व्युत्पत्ति के अनुसार, योग दर्शन ही वास्तविक दर्शन है\अन्य केवल उसके सहायक हैं । अत: नाथ मत में केवल दर्शन को देखने के लिए योग की आवश्यकता है । इससे शुद्ध निर्मल बुद्धि पटल में चिति स्वरूप आत्मा का आभास हो सके,अत:योग प्रकरण को भी उस में रख दिया गया होगा ।

यह केवल कल्पना है वास्तविकता तो भविष्य के गर्भ में है । सम्भवत: कोई योगी विद्वान् इसको भरपाई करके कृतार्थ कर देगा ।

आलोचनात्मक ग्रन्थ :-

गोरक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले संस्कृत में जहाँ अनेकों ग्रन्थ हैं वहाँ लोक साहित्य भी यत्र-तत्र-सर्वत्र भारत में उपलब्ध होता है । संस्कृत में लगभग स्वयं गोरक्ष प्रणीत 30 की संख्या में ग्रन्थ मिलते हैं । लौकिक भाषाओं में भी डा० पीताम्बर के कथनानुसार"गोरखबानी की भूमिका में अनेकों ग्रन्थ माने गए हैं । हिन्दी-डा० बड़थ्वाल

के साथ-2 ,डा० कल्याण मलिक का "नाथ सम्प्रदायेर इतिहास",डा० हजारी प्रसाद का "नाथ सम्प्रदाय" डा० नागेन्द्रनाथ का "गोरक्षनाथ" डा० जनार्दन पाण्डेय की कादि तथा विभूति प्रकरण की भूमिका,किसी अज्ञात व्यक्ति का संस्कृत में लिखा "गोरक्षसिदान्तसंग्रह" डा० मोहनसिंह का "गोरक्षनाथ एण्ड मिडिएवल हिन्दु मिस्टिसिजम्" डा० ब्रीग्स का "गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज्" आदि ग्रन्थ गोरक्षनाथ सिद्धान्तों की आलोचना करते हुए देखे गए हैं । जिनमें गोरक्षनाथ के द्वारा 36 तत्वों का, जहाँ विशेष वर्णन हुआ है, वहाँ केवल दर्शन का भी विशेष वर्णन किया गया है । शिव शक्ति के संयोगोपरि नाथ के स्थान का भी प्रतिपादन किया गया है । जिससे नाथों के चिन्तन को भूमिका का विशेष परिचय प्राप्त किया जा सकता है ।

अथ तृतीयोऽध्याय : रसप्रकरणम्

रसनिश्चित :-

गोरक्षनाथ वर्तमान युग में एक सिद्ध महात्मा और अमर योगी कहे गए है। इनकी प्रसिद्धि जहाँ हठ योग के कारण लोगों में हुई, वहाँ ये रस सिद्धि के कारण भी ये संसार के लोगों को प्रभावित कर, अपने को अमरत्व प्रदान कर गए । वास्तव में जीवन्नरो - भद्रशतानि पश्येत्" इस युक्ति के अनुसार मानव का शरीर सैकड़ों कल्याणों का आगार है । उसके स्थिर रहने पर ही कर्म करके मानव सबका कल्याणकर सकता है । तभी तो "शरीरमाद्यं-खलुधर्म साधनम्" इस वाक्य में उसका मूलाधारत्व सिद्ध किया गया है । जैसे पिण्ड की आन्तरिक स्थिति को जानने के लिए अथवा शिव शक्ति के संयोग के लिए या पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता को स्थापित करने के लिए ,कुण्डलिनी के स्थान, मूलाधार की श्रेष्ठता और अनिवार्यता आवश्यक है । छिन्ने मूले न पत्रं न शाखा" के सिद्धान्त के अनुसार उसके विना योग के मार्ग का सेतु ही ढह जाएगा । अतः वेद में संकेतित "रसं वै प्राप्य रसो वै भवति सः" कि जीव, जब रस को प्राप्त कर लेगा तब वह भी समरस बनकर अमरत्व को प्राप्तकर सकेगा" के सिद्धान्त को विस्तार दिया । अपनी संहिता में गोरक्षनाथ ने उस सिद्धान्त की पुष्टि करने के लिए एक अलग विभूति प्रकरण की स्थापना की । उन्होंने लौकिक भाषा के दोहों में कहा कि -

निहचल धरि बैसिवा पवन निरोधिबा कब न होईगा रोगी ।
वरस दिन में तीनि बार काया पलटिवा नाग बंग वनास्पति जोगी ।

क्रिया न स्वाति वेद न रोगी रसायणी अर जाचिवाय ।
बूढा न जोगी सूरा न पीहि पाछे धाव बतनो न माने श्री गोरक्षनाथ ।।(1)

---

1. शबदी, 92-210

इस कथन को सिद्ध करने के लिए विभूति प्रकरण का निर्माण किया है ।

यद्यपि रसतन्त्र का प्रादुर्भाव ब्राह्मणकाल से ही हो चुका था । क्योंकि "ऐसा कोई ज्ञान संसार में नही है । जो वेद में नही पाया गया हो । तो भी रसायन विद्या को व्यवस्थित रूप में, बौद्धाचार्य नागार्जुन ने ही स्थापित किया । रस तन्त्र के ग्रन्थों के लेखक, भैरव नित्यनाथ, मन्थान भैरव, काकचण्डीश्वर आदिकों में, नागार्जुन प्रसिद्ध रहे हैं । इनका ग्रन्थ "रसरत्नाकर" जिसे लोग "रसेन्द्रमंगल भी कहते हैं मिलता है और यह केमिस्ट्री के इतिहास का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है । ईस्वी शताब्दी के नवें शतक में "अमोघ राज्य काल में लिखे गए "कल्याणकारक संहिता" के रचिता उग्रादित्य आचार्य ने चौबिसवाँ परिच्छेद रसरसायनपरक लिखा है । नागार्जुन बौद्धाचार्य थे तथा गोरक्षनाथ के गुरु मत्स्येन्द्रनाथ भी कुछ ऐतिहासिकों के अनुसार प्रथमतः बौद्ध थे और नाथ सिद्ध बने । किन्तु गोरक्षनाथ की परम्परा बिल्कुल भिन्न है । इसमें कापालिकादि भेद, जिनका वर्णन बारहवीं शताब्दी के ग्रन्थ रसार्णव में मिलता है, इसी में लीन हो जाते हैं ।

वास्तविकरूप से रसायन का विषय आयुर्वेद का है, तो भी तान्त्रिकों विशेष रूप से नाथ सम्प्रदाय के सिद्धों द्वारा इसका प्रचार और प्रसार किया गया है ।

2• वा०प०   न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दो--- ।

क्योंकि हठयोग से जब दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं हो सका तब उन्होंने रसायन विद्या से लम्बे जीवन की प्रक्रिया को प्राप्त किया । "रसरत्न समुच्चय" वाग्भट्ट ने 13वीं शताब्दी में बनाया था । उन्होंने उसमें रस को मुक्ति देने वाला माना[3] । इसीलिए गोरक्षनाथ ने भी रसतन्त्र को काया परिवर्तन का कारण एवं दारिद्र्य नाश का हेतु माना था । इनकी संहिता का यही प्रकरण अन्य संहिताओं से विशिष्ट है । जिन अणिमा, महिमा, लघिमा, आदि आठ प्रकार की सिद्धियों में भूति की सिद्धि सामान्या मानी गई है और सब सिद्धियों की नियन्त्रक स्वीकार की गई है । जो भाग्य, ऐश्वर्य, ज्ञान गुण, कर्म, वैराग्य आदि का नाम है । इसे भूति प्रकरण में रसविज्ञान 1-19, रसतन्त्र 1-112, 116, 119, रसचक्र 1-118, रसोपनिषद् 1-115 भूतितन्त्र 2-101, 3 भूतिशास्त्र, 2-4, 3 आदि शब्दों से कहा गया है । यह अकेला रसराज शरीर को अजर-अमर बना देता है । वह रस है क्या चीज ! जिससे शरीर की आवश्यकतानुसार अमरता हो जाती है । इस विषय का चिन्तन करते हुए नाथसिद्धों ने बतलाया है कि "जैसे माता पिता के शोणित शुक्र से शरीर का प्रकृति चेतनात्मक संयोगज शरीर का निर्माण होता है, वैसे ही शिवस्पार्वती के शुक्र शोणित से पारा और अभ्रक रूप के सम्पर्क से शरीर की अमरता सम्भव है । वास्तविक रूप से आयुर्वेद के मर्मज्ञ इस बात को

---

3. गो०सं० , एको यं रसराजः शरीरमजरामरं कुरुते ।।

जानते हैं कि देह का स्थिरिकरण पारद के ऊपर निर्भर करता है । जैसे समस्त चेतन आत्माओं का लय परमात्मा में होता है उसी प्रकार सारे द्रव्यों का लय पारे में हो जाता है, सारा काष्ठ औषधियों का लय नाग, नागका वंग में, वंग का ताम्र में, ताम्बे का रौप्य में, रौप्य का सुवर्ण में और सुवर्ण का पारद में लय हो जाता है । सारा जगत चर अचर रूप से दो प्रकार का है । जरायुज-अण्डज, उद्भिज और स्वेदज योनियाँ प्रथम श्रेणी में तथा उद्भिज की वे श्रेणियाँ जो अर्धचेतन मानी गई हैं और लतागुल्मादि के रूप में संसार की सृष्टि में व्याप्त है वे आती है । इन चराचर या योनिज, अयोनिज समस्त सृष्टियों की परिणति पारद में होती है । जैसे चर वस्तु से हम लें तो उससे या उनमें सर्वप्रथम खाए हुए का परिणाम रस होगा । इससे रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेदा, मेदा से स्नायु, स्नायु से हड्डी, हड्डी से मज्जा, मज्जा से शुक्र पैदा होता है[4] । पुनः "आत्मा वै पुत्र नामासि के आधार पर शुक्र से अपने आप ही पुत्र के रूप में जन्म लेता है और वहाँ पर भी शुक्र बदलता नहीं । अतः चर वस्तुओं की अन्तिम परिणति शुक्र में होती है वैसे ही स्थिर वस्तुओं परिणति भी शुक्र में होती है । जो घी और तेल अन्तिम परिणति के रूप में माने गए हैं वे भी बाह्य रूप में जब शरीर रूपी यन्त्र के अन्दर डाले जाते हैं तो पकते हुए अन्त में शुक्र रूप में परिणत हो जाते हैं । अन्त गता सो मता, न्याय से सृष्टि के अन्दर समग्र चीजे शुक्र का विपरिणाम माना

4- गर्भोपनिषत् , 1- परस्परं सौम्यगुणत्वात् षड्विधो रसो, रसाच्छोणितं, शोणितान्मांसं मांसान्मेदं, मेदसः स्नावा, स्नाम्नोऽस्थिन्यः, अस्थिभ्यो मज्जा, मज्जः शुक्रम् ।

जा सकता है । सब कुछ नष्ट हो जाने पर शुक्र ही शेष रह जाता । तभी मीमांसा का शेष शेषी यः भी अपनी सफलता का डंका बजाता है ।

जब पिण्ड ब्रह्माण की एकता स्थापित करने की प्रक्रिया की बारी आती है तब शुक्र की रक्षा कर कुण्डलिनी के बल पर कर के प्राणों के घोड़े पर आत्मारूपी सवार को बिठाकर, सांकरीगली ब्रह्मरन्ध्र से "कार्यं वा साधयेयम्, देहं वा पातयेयम्" की शिव प्रतिज्ञा को सार्थक करते हुए ब्रह्माण्ड में अपने को समा देता है तथा पुनरावर्तन से अपकाश प्राप्त कर शेषमात्र रह जाता है । वहाँ भी तादात्म्य से जीव शुक्र का गमन माना जाता है । अतः शैव मतानुसार पशु के पाश का विनाश होते ही पति की स्वरूपता, शिवत्व प्राप्ति या मोक्ष माना गया है । उस शिवता में जो तेजस्विता या उर्जा समष्टिरूप से है उसके पास जाता है, उसे पारद या रस कहते हैं ।

यद्यपि साहित्यकार श्रृंगार, हास्य, करुणरौद्रादि नौ को रस कहते हैं । दार्शनिक और ज्योतिष वाले मधुर आम्ल कटु कषाय तिक्त और लवण नामक छः को ही रस मानते हैं । आयुर्वेद वाले सप्त धातुओं में खाए हुए के प्रथम परिणाम को रस मानते हैं । तो रसो वै सः के आधार पर पारद को ही रस कहना चाहिए । यह रस पाँच प्रकार का कहलाता है -रस, रसेन्द्र, सूत, पारद और मिश्रक[5] ।

विभूति प्रकरण के प्रारम्भ में रस की उत्पत्ति बतलाते हुए, शिव, लिंग, भागवत, पुराण प्रसिद्ध तारकासुर बद्धेच्छु देवताओं द्वारा प्रार्थित शिव पार्वती से संलिप्त हो हिमाचल की गुफा में जब अनेक दिनों तक तल्लीन हो गए, तभी अग्निदेव ने उन्हें लोक कल्याण के लिए

---

5. विभूति प्रकरण, 1-1-10 रसो रसेन्द्रः सूतश्च पारदो मिश्रकस्तथा ।

उत्थापित करने हेतु, देवताओं ने नियुक्त किया । शिव उठे बिन्दुपात हुआ । अग्नि को शिव का कोपभाजन बनकर शिव बिन्दु धारण करना पड़ा । दहन जलने लगा, गंगा में विसर्जन किया बहता हुआ शिव बिन्दु सागर में पहुँचा, बड़वानल रूप बना । लहरों से किनारे आकर कुमार का रूप धारण किया । कृत्तिकाएँ आई । कुमार षडानन बनकर सब का दूध पीने लगा । जब यह गंगा में बह रहा था तो पाँच कूपों में रुका, वहीं इसका अंश रह गया । जो पारद के रूप में परिवर्तित होकर लोगों को मुक्ति देने वाला बन गया । इसीलिए रस के पाँच नाम या भेद माने जाते हैं । उनकी निरुक्ति भिन्न-भिन्न मानी जाती है । जैसे - समस्त धातुओं का निचोड़ होने से इसे रस कहा जाता है । जरा और मृत्यु का विनाश करने के लिए इसे निचोड़ा जाता है । इसलिए भी इसे रस कहते हैं 6 "रोगों से दुःखी लोगों को यह मुक्ति देता है ।।7" इस रस को संसार के समस्त रसों का ईश्वर माना गया है। तभी तो पाशुपत दर्शनों अर्थात् नाकुलीश, पाशुपत, शैव प्रत्यभिज्ञा और रसेश्वर को सबसे विलक्षण और प्रधान माना गया है । इसके कारण अन्त में रखा गया है । स्थूणा अरुन्धती न्याय से या गोपुच्छन्याय से भारतीय दर्शनों की परम्परा रही है कि वे स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते हुए वेदान्त की तरह अन्त में सबसे सूक्ष्म दर्शन को रखते हैं । पाशुपत दर्शनों में भी वेदान्त स्थान

---

6. वि0प्र0भूमिका, रसनात्सर्वधातूनां रस इत्यभिधीयते । यद्वा जरामृत्यु विनाशाय रस्यतेऽसौ रसः स्मृतः ।

7. वही, रोगपंकादिमग्नानां पारदानाच्च पारदः ।

में प्रत्यभिज्ञा दर्शन माना गया है । रसेश्वर रस उसकी अपेक्षा अन्त में रखा गया है । जिससे यह प्रतीत होता है कि माधवाचार्य जी भी रसेश्वर को इन सब दर्शनों का गुरु मानते थे ।

रस का नाम पारद भी आया है । रस को पारद इसलिए कहा गया है कि रोग कीचड़ में फंसे लोगों को यह धातु पार निकाल देती है[7]। संसार में दल-दल में फंसे लोगों को पार लंघाने वाला अर्थात् मोक्ष देने वाला होने के कारण पारद कहलाता है ।[8] इसके भव का वीर्य होने के प्रमाण में रसार्णव तन्त्र में लिखा है कि-पार्वती देवी, मोक्ष तत्व को देने वाले इस रस को पारद कहा गया है । यह मेरे अंग-अंग तथा प्रत्यंगों से पैदा हुआ है । सुप्तावस्था में रहने पर यह मेरे समान ही है । यह मेरे शरीर का रस है तब ही इसका नाम रस भी पड़ा[9] । यह चार प्रकार का माना गया है । सफेद, लाल, पीत तथा काला[10] । जिनको क्रमशः ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र संज्ञा भी दी गई है ।

इस पारद को रसेन्द्र भी कहा गया है । क्योंकि यह सब रसों का राजा माना गया है[11] । सूत की संज्ञा इसलिए दी गई है कि पारद देह को वज्र सदृश बना देता है ।[12] जिसे जगत् का सबसे बड़ा भय मृत्यु भी नहीं सता सकती । यह मिश्रक नाम से इसलिए पुकारा

---

7. विभूति प्रकरण भूमिका, रोगपंकादिमग्नानां पारदानाच्च पारदः ।

8. सर्व दर्शन संग्रह, पृ0 376 संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः ।

9. सा0द0सं0 376, पारदो गदितो यस्मात्परार्थं साधकोत्तमैः । सुप्तो यं मत्समो देवी ।
मम प्रत्यंगसम्भवः । मम देवरसो यस्माद्रसस्तेनायमुच्यते ।

10. रसार्णव तन्त्र, अत्र भेदेन विज्ञेयं शिववीर्यं चतुर्विधम् । श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं तत्तुभवेत् ।

11. विभूति प्रकरण, रसानामधिराजत्वात् रसेन्द्र इति कीर्तितः ।

12. वही, भूमिका, "ख" देह लोहमयीं सृष्टिं सूतेऽतः सूत उच्यते ।

जाता है क्योंकि सार धातुओं का तेज मिलकर इसमें रकता है[13]। अतः इसके सेवन से देवता निर्जर बने, अमर कहलाए । रसेन्द्र का सेवन कर नागलोक दीर्घजीवी बने । उन देव और नागों ने पारद के रहने से उन कूपों को मिट्टी से दबा दिया । जिस कारण अब वह पारद बड़ी कठिनाई से मिल सकता है । रस का विविध प्रकार का वर्णन ऋग्वेद, अथर्ववेद, पुराण तन्त्र शास्त्र, योगशास्त्र और आयुर्वेद में मिलता है । जैसे रसेन्द्रसार में इसका वर्णन करते हुए कहा हैकि-पारे की थोडी मात्रा देने से अरुचि का कोई प्रसंग ही नहीं आता । थोडी सी मात्रा असाध्य रोगों को भी दूर कर देती है[14]। साध्य रोगों में कष्टादि मूल और आसवादि प्रयोग किया जाता है किन्तु असाध्य रोगों में नहीं । केवल पारद को ही असाध्य रोगों में देने से लाभ होता है । नहीं तो मृत्यु हो जाएगी । क्योंकि चरककार नेकअसाध्य रोगों में औषधि का निषेध किया है ।[15] जबकि सुश्रुतकार ने अरिष्ट लक्षण उत्पन्न होते ही मृत्यु को अवश्यम्भावी कहा है । केवल जप तप एवं रसायन ही उससे बचने का उपाय है[16]। अगस्त्य का कथन है कि "रसायन तप जप एवं योगाभ्यास से सिद्ध महात्मा काल मृत्यु को भी जीत लेते हैं । इसके नामों की संख्या रसेन्द्रकार ने सात बतलाई है – रसेन्द्रः पारदः सूतः सूतराजश्च

13· सर्वधातुगतं तेजो मिश्रितं यत्र तिष्ठति । तस्मात्सः मिश्रकः प्रोक्तः ।

14·रसेन्द्रसंग्रह, प्रथम अ० ।, अल्पमात्रोपयोगित्वादरुचे प्रसंगतः । क्षिप्रमारोग्यदायित्वादौषधे-भ्योऽधिकोरसः । साध्येषु भेषजं सर्वमिरितं तत्ववेदिना । असाध्येष्वपि दातव्यो रसो तः श्रेष्ठ उच्यते ।

15·चरकसूत्र, साधनं न तु असाध्यानां व्याधिनां उपदिश्यते ।

16·सु०सं०, अ०18· स[illegible] ध्रुवं तु अरिष्टे मरणं ब्राह्मणैस्ततकिलामलैः । रसायन तपो जप्य तत्परैः वा निवार्यते ।

सूतक शिव तेजो रसः सप्तनामान्यव रसस्य तु । ऐतानि रसनामानि तथान्यानि यथा शिवे" । "अ01-7,8 ।। अर्थात् शिव के जितने नाम हैं वे सारे पारद के माने गए हैं । यह 24-25 सौ फुट गहरा खोदने पर इटली जर्मनी,चीन,जापान रूसादि देशों में अधिक रूप से पाया जाता है । यह शिंग्रफ आदि के रूप में भी मिलता है । इसका मिश्रण कई अपद्रव्यों में मिलता है । जहाँ इसे रासायनिक क्रियाओं के द्वारा उर्ध्वपातन,तिर्यग्,अधोपातन आदि यन्त्रों की सहायता से अलग किया जाता है तथा खानों से उपलब्ध पारद का इन यन्त्रों द्वारा शोधन किया जाता है। इसका घनत्व 13°6 होता है और यह साधारण तापमान में बना रहता है । बर्फ के बीच में जम जाता है । आग के संयोग से उड़ जाता है । चान्दी सोना लोहा आदि धातुओं के साथ संयोग से यह उन पर पुत जाता है । पारद का संयोग जब गन्धक अर्थात् पार्वती रूपी पृथिवी के रज से होता है तो पीसने पर उसकी कज्जली बनती है । पारद जितना गन्धक के बीच में लीन होता है उतना अन्य किसी चीज में उसका लय नहीं होता । इसलिए इन दोनों को शिव वीर्य और पार्वती का रज कहा गया है ।

रस की अवस्थाएँ :-

अथर्ववेद के आधार पर बने आयुर्वेद साहित्य को तीन भागों में विभक्त किया जाता है । आत्रेय सम्प्रदाय, धन्वन्तरी सम्प्रदाय और सिद्ध या रसवैद्य सम्प्रदाय

स्वर्ण लौहादि धातु घटित योगों का रोगापनय के लिए तथा देह स्थिरता हेतु नाथ सम्प्रदाय वालों ने ही प्रयोग किया । इसका मतलब यह नहीं कि स्वर्ण लौह माणिक्य मुक्ता, प्रवालादि का अन्य मतावलम्बी अपने ग्रन्थों में प्रयोग नहीं करते, अपितु परिपाटी बद्ध रूप से नाथ सम्प्रदाय वालों ने ही रस सम्प्रदाय को अपनाया । वैसे तो दो हजार वर्ष पूर्व बौद्धकाल से ही रस की परिपाटी प्रारम्भ हो चुकी थी । आयुर्वेद के चरक, सुश्रुत, काश्यप संहिताओं में पारद का बाह्य और आन्तरिक प्रयोग दीखता है । बौद्धों ने आर्यावर्त से बाहर उपजने वाले पारे को वहाँ जाकर उसके उपयोग को समझा तथा उपयोग किया । उन्हीं के जमाने में यह परिपाटी सबसे प्रसिद्ध हो गई । जैसा कि- उत्तमो रसवैद्यस्तु मध्यमोमूलकादिभिः । अधमःशस्त्रदाहाभ्याम् -" आदि श्लोक में सर्जरी और काष्ठादि मूलक उपचार से रस उपचार को उत्तम माना है । ~~यही कारण है कि~~ यही कारण है कि आचार्य शार्ङ्गधर को भी रस की उपयोगिता बतलाते हुए कहना पड़ा कि "आसव धातु और रस जितने पुराने होते जाएँगे, उतने ही उपयोगी माने जाएँगे[1] । अतः रस एक समय बन जायगा तो काष्ठौषधियों की तरह एक वर्ष में प्रभाव हीन नहीं होगें अपितु इसका प्रभाव बढ़ता जाता है । अतःएव रस वैद्यों ने बाद में अनेकों ग्रन्थों

---

1. शार्ङ्गधर पद्धति, पुराणा स्युः गुणैर्युक्ता आसवाधातवो रसाः ।

की रचना की । जैसे -तन्त्र संहिता, सिद्धान्तसंग्रह आदि रुद्रयामल तन्त्र, नागार्जुन तन्त्र, अगस्त्य संहिता, गोरक्षसंहिता, ब्रह्मसिद्धान्त, कपिलसिद्धान्त, रसार्णव, रसरत्नप्रदीप, रसरत्न-समुच्चय और रसेन्द्रसार संग्रह आदि ।

पारद को ही रस कहते हैं । वह दो प्रकार का माना जाता है । शुद्ध और अशुद्ध ।। शुद्ध पारद की मुख्य तीन अवस्थाएं मानी गई है -मूर्छित, मृत तथा बद्ध ।

1. जब पारद कई वर्णों का हो उसमें घनत्व और चंचलता तरलता न हो, तो उसे मूर्छित कहते हैं ।[2]

2. आर्द्र होना, घनत्व चमक, गुरुत्व, चंचलता आदि जिस पारे में न दीखें, वह मृत है ।[3]

3. जो क्षय रहित, थोड़ा द्रवित होने वाला, तेजोमय, स्वच्छन्दचारी, संस्कार में विकसित होने वाला हो वह बद्ध कहलाता है ।[4]

इन अवस्थाओं से युक्त पारद लोगों की व्याधियाँ हरता है । जैसे सोमदेव ने रसेश्वर सिद्धान्त में कहा है कि पारद और पवन मूर्छित होने पर रोगों का हरण करते हैं । स्वयं मृत होने पर जिलाते हैं और बद्ध होने पर आकाश में चलने की शक्ति देते हैं ।[5]

---

2. नानावर्णो भवेत्सूतो विहायघनचापलम् । लक्षणं दृश्यते यस्य मूर्छितं तं वदन्ति हि ।

3. आर्द्रत्वं घनत्वं च तेजो गौरव चापलम्, यस्यैतानि न दृश्यन्ते तं विद्यान्मृतसूतकम् ।

4. सर्वदर्शनसंग्रह पृ० 38, अक्षतश्च लघुद्रावी तेजस्वी निर्मलो गुरुः ।
स्फोटनं पुनरावृत्तौ बद्धसूतस्य लक्षणम् ।

5. वही, पृ० 380, मूर्छितो हरति, व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयंम् ।
बद्धः खेचरतां कुर्याद्रसोवायुश्च भैरवि ।

नवीं शताब्दी के उग्रादित्याचार्य ने "कल्याणकारक" ग्रन्थ में शुद्ध पारे के सेवन का फल वर्णित करते हुए लिखा है कि – अमृत के मूलरूप पारद को मूर्छित कर भक्षण करने से वीर्य रोगहीन हो जाता है। इससे अत्यधिक बल प्राप्त होता है[6]। नित्यनाथ सिद्ध ने भी "रसरत्नाकर" ग्रन्थ में पारद की महिमा करते हुए कहा है कि पारद की मालिश, झुर्रियों और सफेद बालों को समाप्त करने वाली मानी गई है। उसको एक वर्ष तक मालिश करने से दिव्यदेह की प्राप्ति होती है और वह हजार वर्ष तक जी सकता है[7]।

रसशोधन प्रकार :-

जिस प्रकार नमक और मीठा आदि रस जल में मिल जाते हैं और आंख से देखने में नही आते। उसी प्रकार से समस्त द्रव्यों के साथ विलिन होने की शक्ति रखने वाले पारद में भी दोष रहते हैं। जो पारद मानव को शुद्ध करके देवता बना सकता है वही सदोष होकर उसका विनाश भी कर सकता है। अत:एव गोरक्षसंहिता के विभूति प्रकरण में दोषों के परिहार का यत्र-तत्र संकेत मिलता है। यद्यपि संकलित रूप में उनका वर्णन वहाँ नही मिलता तो भी संकेत अनेकत्र दिए गए है।

---

6. कल्याणकारक, 24-47 तं संमूर्छितमेव वामृतमलं संभक्ष्य मंक्षयम्।
वीर्य रोग विहीनतामतिवलं प्राप्नोति मर्त्यः स्वयंम्।

7. रसरत्नाकर, 5-5, अनेनादेवर्त सम्यग्वलिपलितनाशनम्।
वत्राद दिव्यदेहः स्याज्जीवेत् वर्षसहस्रकम्।।

ये दोष रस में क्यों पैदा हुए ? इसके बारे में एक पौराणिक आख्यान है जो "रसरत्न-समुच्चय" में और "रसराजपद्धति में इस प्रकार वर्णित है - कि रस के प्रभाव से मनुष्य देवता तुल्य बली हुए एवं प्रभाव वाले बन गए । तब इन्द्र ने रुद्र की प्रार्थना की, और अपनी चिन्ता उनसे बतलाई । तब रुद्रनेपारद को सदोष बना दिया । जो उनको दूर कर पारद को शुद्ध करना जान पाएगा, वह उसके प्रभाव का पूर्ण लाभ प्राप्त करके देव तुल्य बन जाएगा । अतः ज्वाला मुखियों के समीप में मिला हुआ रस तो दोष रहित होता है किन्तु अन्यत्र भूगर्भ से मिला हुआ पारद प्रायः दोष युक्त ही होता है । ये दोष निम्न प्रकार से वर्णित हैं :-

1. विष वह्नि तथा मल ये तीन दोष हैं ।

2. मल वह्नि, भूमि उन्मत, और शैल ये पाँच दोष हैं ।

3. मल वह्नि, विष, शैल, चपल, वंग और नाग ये सात दोष हैं ।

4. नाग, वंग, अग्नि-चापल्य, असह्य, विष, गिरि और मल ये आठ दोष हैं ।

5. विष वह्नि और मल ये तीन स्वाभाविक दोष हैं । भूमिजा, गिरिजा, जलजा, नागजा, वंगजा, ये औपाधिक दोष हैं । इन औपाधिक दोषों को कुछ एक रसप्रतिपादक ग्रन्थों में सप्त कञ्चुक नामों से भी पुकारा गया है । जैसा कि रसेन्द्रसार ग्रन्थ में पर्षटी, पाटली[8]

---

8. विषं वह्निर्मलं चेति त्रय इत्येके । मलं वह्निः भूः उन्मतः शैलश्चेति पंच इत्यन्ये । मलविषाग्निगिरिजचपलवंगनागेति सप्तेत्यपरे । नागोवंगोऽग्निश्चापल्यमसह्यश्च विषं गिरि मलं चाष्टौ । विषं वह्निर्मलं चेति त्रयो नैसर्गिका दोषा । भूमिजा गिरिजाजलजानागजा वंगजा एते सप्तौपाधिकाः दोषाः । भूति प्रकरण भूमिका "घ" ।

भेदी, द्रवी, मलकरी तथा अन्धकरी तथा । अन्धकरी तथा ध्वांक्षी विज्ञेयाः सप्तकञ्चुकाः ।

रूप में वर्णन आता है ये औपाधिक दोष रस में स्वभावतः तीन धातुओं पर वायु का प्रभाव पड़ने से उत्पन्न हो जाते हैं । परन्तु उक्त द्रव्य में पारद का मर्दन करने से ये दोष दूर हो जाते हैं ।[9]

अगर इनका निहरण न किया जाए, तो नाग दोष से शरीर में व्रण हो जाते हैं । वंग दोष से कुष्ठ मल से जाड्य, वह्नि से दाहकता, चपलता से वीर्य स्खलन, विष से मरण गिरि से मूर्च्छा औ सह्याग्नि से फोड़ें हो जाते हैं । इसीलिए संहिता में कहा गया है कि " वैद्य को रस की शुद्धि करके ही उसका प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि शुद्ध रस ही अमृतमय होता है और दोषयुक्त साक्षात् विष ही होता है ।[10] "

पारद शोधन भी दो प्रकार का होता है -सामान्य और विशेष । रस-तन्त्रों में संस्कार विधियाँ अनेक रूपों में वर्णित हैं । संस्कार नाम विशेष गुणों के आधान का है। रस में विशेष गुणों के आधान से पूर्व वैद्यों का जातकर्मादि द्वारा स्वकीय षोडश संस्कारों से विशेष गुणाधान होना आवश्यक है । उसके लिए गुरु का ज्ञान, रसशाला, पात्र, यन्त्र रसौषधियाँ

---

9. रसेन्द्रसार 1-27, षोडशांशैर्भिषक् चूर्णैरेकत्र मर्दयेद्रसम् ।
एवं संशोधितः सूतः सप्तकञ्चुकवर्जितः ।।

10. तस्माद्रसस्य संशुद्धिं विदध्याद्भिषजाम्बरः ।
शुद्धोऽयममृतं साक्षाद्दोषयुक्तो रसो विषम् ।।

अघोर मन्त्र की संख्या और साधन का ज्ञान अपेक्षित है । तभी रसकर्म में सफलता मिल सकती है । वे रस संस्कार ये हैं :-

"स्वेदन, मर्दन, मूर्छना, उत्थापन, पातन, दीपन, निरोधन, नियामन, चारण, संद्रवन, जारण, पुन: पातन ग्रासकरण, रन्जन, सारण, क्रामन, वेधन और शरीरांगोपयोगिता । ये 18 हैं"[11] । यद्यपि गोरक्ष के गिने हुए इन संस्कारों का अन्य बहुत से ग्रन्थकारों ने समर्थन किया है तो भी अधिकतर रस विद्वानों का आठ संस्कारों पर ही अधिक आग्रह देखने को मिलता है । जैसे रसपद्धति, रस-रत्नसमुच्चय, धन्वन्तरी संहिता, रसराजसुन्दर, वाग्भट्ट रसेन्द्रादि ग्रन्थों में देखने को मिलता है ।[12]

1. स्वेदन :-

शिग्रुफ को नीम्बू आदि के रस में मर्दन कर ऊर्ध्व पातन यन्त्र से पारद को प्राप्त करो, वह पसीने की तरह, शिग्रुफ से निकलने के कारण किशोरे में आ जाता है । यह स्वेदन संस्कारजन्य पारद होगा । इससे पारे के दोष शिथिल हो जाते हैं ।

2. मर्दन :-

रसग्रन्थों में निर्दिष्ट औषधियों के या खारे के सारे आम्लों के अथवा काँजिक के साथ पारद का पीसना ही मर्दन कहलाता है । इससे बाह्य दोषों का नाश होता है ।

---

11. गो०सं०भूति प्र० 3.4-6

12. रसेन्द्रसार, 1.54 इत्यष्टौ सूतसंस्काराः कर्तव्याः प्रथमं बुधैः ।
दीपनन्वेति संस्काराः सूतस्याष्टौ प्रकीर्तिताः ।।

3•मूर्च्छन :-

मर्दन में प्रयुक्त औषधियों के साथ पारद का एकीकरण होना ही मूर्छन कहा जाता है । इससे पारद के मल,वह्नि,विष दोनों का नाश होता है ।

4•उत्थापन :-

मूर्च्छित रस का पुनः अपने स्वरूप में लाना उत्थापन कहलाता है । इससे मूर्च्छित अवस्था के दोष नष्ट हो जाते हैं ।

5•पातन :-

ग्रन्थकारों के अनुसार मिलाई हुई औषधियों सहित मर्दन किए हुए पारद को ऊर्ध्व अधः तथा तिर्यक् यन्त्रों से अलग करना पातन कहलाता है ।

6•रोधन :-

सिन्धा नमक से युक्त जल में पारे को तीन दिनों तक रखना निरोधन या रोधन कहलाता है इससे मिलाई हुई औषधियों तथा धातुओं का तेज पारद में संगृहीत किया जाता है ।

7•नियमन :-

दुबारा ऊर्ध्वपातन यन्त्र से स्वेदन करने का नाम नियमन है । इससे पारे की चंचलता चली जाती है ।

8•दीपन :-

खनिज पदार्थों या कन्दमूलादि वन औषधियों के साथ पारद को घड़े में रखकर बतलाई गई औषधों के रस को डालकर तीन दिन तक रखना दीपन कहलाता है । इससे पारा ग्रहण के योग्य बन जाता है ।

रस प्रयोग से होने वाली सिद्धियाँ

जब से प्राणिमात्र का जन्म हुआ है तब से ही मोक्ष के लिए अर्थात् दुख से छूटने के लिए उसके प्रयत्न जारी हो गए थे । तभी पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को अन्तिम स्थान मिला है । "धर्मार्थकाममोक्षेषु " कहकर इन्होको शास्त्रों में गिना जाता रहा है[13] । अतः पुरुषार्थ त्रय को प्राप्त करने के लिए कर्म प्रधान योनि मानव शरीर का चिरस्थायित्व अपेक्षित है । वह मोक्ष भी जीवन मुक्ति और विदेह मुक्ति के रूप में शास्त्रों में गिना गया है । गोरक्ष संहिता के विभूति पाद में अनेकत्र पारद सहयोग से इन मुक्तियों को सुलभ बताया गया है । 5·176,6·167 195,247,292,337,471,480,481,7·144,145,149,152,222,143 तथा 8·45,90 । इन पद्यों के पढ़ने से पता चलता लगता है कि पारद के सेवन से, स्पर्श, दर्शन, शोधन, आदि से मानव दोनों प्रकार की मुक्तियों का पात्र बन जाता है । तभी तो पारद को समस्त सिद्धियों का मूल कहा गया है ।

पारद के सेवन से कार्तिकेय जैसा सिद्ध बन जाता है[14] । एक वर्ष सेवन से दूसरा शंकर जैसा बन जाता है[15] । आठों सिद्धियों से सम्पन्न हो जाता है । उससे बनी गुटिका मुख में धारण करने से वज्रकाय ज्ञानी दिव्यशरीर धारी अमर बन जाता है[16] । गुटिका मुख में धारण करने से आकाशगति, अणिमादि योग के गुण आ जाते हैं[17] । रसायन के

13· साहित्य दर्पण, परिच्छेद 1,

14· विभूति पाद, 6·222, 14, 5·177, 86, 7·224

15· 7·144, 152, 144

16·, 5·253

सहयोग से पारद से ऐसा अन्जन भी बनता है जिसके आँखों में लगते ही दिव्य दृश्यों का देखना आरम्भ हो जाता है।[18] आम के आम गुठली के दाम" इस न्याय से एक ही यत्न से दो कार्य सिद्ध करना, तान्त्रिकों के यहाँ प्रसिद्ध है।[19] तो भी गोरक्ष संहिता में भी रस सेवन से यह बात सिद्धकर दी है कि "एक हाथ में मुक्ति तो दूसरे हाथ में भुक्ति रस सेवन से ही रह सकती है।[20] जो पारद सेवन करता है वह एक ओर अपने शरीर को अमर बना देता है। इसी के साथ उसके मल-मूत्र में भी इतनी पवित्रता तथा गुण आ जाते हैं कि लोहे से भी उसका स्पर्शमात्र होने से वह सुवर्ण बन जाता है।[21] इन्हीं गुणों को दृष्टि में रखते हुए डा० जनार्दन पाण्डेय ने भी कहा है कि "जो मूर्च्छित होकर लोगों के समस्त रोगों को हर लेता है बद्ध होकर जो लोगों को आकाशीय गति देता है, समस्त देवता मुनिगण जिसे नमस्कार करते हैं। वह संसार को जय देने वाला पारद सदा ही जय देता रहे।[22] गोरक्षनाथ ने अपनी संहिता में विभूतिपाद नामक प्रकरण में इसका विशद विवेचन किया है। अतः उसका पटलों के अनुसार संक्षिप्त विवेचन देना उचित होगा।

18, 8·195, 198

19· महाभाष्य-। आम्रावपि सिक्ताः पितरोऽपि तृप्ताः।

20, 6·482, 8·65, 93

21, 5·262 तं सूतं भक्षयेत् यो हि सोऽमरत्वमाप्नुयात्। तस्य मूत्रपुरीषेषु शुल्वं भवतिकाञ्चनम्।
"सुवर्ण तन्त्र"

22·विभूति प्रकरण उपोद्घात, हरति सकलरोगान् मूर्च्छितो यो नराणां वितरति किल बद्धः खेचरत्वं जवेन सकलसुरमुनीन्द्रैर्वन्दितं शम्भुबीजं, स जयति भव सिन्धो पारदः पारदोऽयम्।

गोरक्षसंहिता के कादि प्रकरण की पुष्पिका से पता चलता है कि यह शतसाहस्री अर्थात् एक लाख श्लोकों का संग्रह मात्र है । जिसके दो प्रकरण कादि तथा विभूति डा० जनार्दन पाण्डेय ने वाराणसी से 1977 ईस्वी में प्रकाशित किए । इससे पहले गोरक्षसंहिता नाम से प्रसन्न कुमार चटर्जी द्वारा सम्पादित योग प्रकरण से सम्बन्धित संग्रह को ही माना जाता है । सम्भवतः एक लाख श्लोक पूरा करने के लिए अनेकों प्रकरण इससे अभी तक लुप्त हैं । उपलब्ध प्रकरणों में विभूति पाद के नौ पटल हैं । प्रथम पटल में यह वर्णन मिलता है कि– रस कर्म के लिए कैसे सहायक चाहिए रस की महिमा उसके आठ गुण, उसके संस्कार से क्या फल मिलता है, संस्कृत रस का उपयोग, शिवोक्त रस शास्त्र का विस्तार तथा प्रयोजन वर्णित किया गया है । रस शास्त्र शिव से पैदा हुआ और उसे उमा देवी ने सुना तथा इस प्रकार से परम्परा चलाई –

1. उमा – रसमहोदधि	1200 श्लोक
2. उमा – रसोपनिषद्	9000
3. गुह – रसतन्त्रम्	6000
4. वीरभद्र–रसतन्त्रम्	1000
5. शुक्र – रसावलोकन	6000
6. बृहस्पति–रसचक्रम्	8000
7. चन्द्र – रसौकुश	10000
8. विनायक–रसोदय	8000

द्वितीय पटल - इसे परिभाषा पटल कहा जा सकता है, क्योंकि यहाँ रस, उपरस, रसलौह, छ: प्रकार के लौह, गरुड, उदकुगार, पाँच रत्न, मणिनाम का रस मपित्रय, सूत बन्धक पदार्थों के नाम स्पष्ट रूप से दिए गए है । लक्षण और परीक्षा स्पष्ट करके दी गई है । इसके बिना रस का प्रयोग निष्फल बताया गया है ।

तृतीय पटल :- इस पटल में रस के अठारह संस्कार गिनाए गए हैं उनकी विधि का भी वर्णन किया गया है । धातु और रत्नों की शुद्धि बतलाई गई है । अभ्रक से पारद पातन विधि स्वर्णरजतकारक बीज विधान भी दिखाया गया है । 18 संस्कार गिनने पर भी शोधन के आठ प्रकार ही दर्शाए गए है । इनके कर देने पर ही रस प्रयोग योग्य माना गया है । अन्य दस संस्कार रस की विशेष गुणवत्ता के लिए ही किए जाते हैं ।

चतुर्थ पटल :- इसमें रस बन्धन की प्रक्रिया दिखलाई है । मूल रूप में दिकुलदादि चार भेद माने गए है । तब औषध प्रभाव से द्रुतित, अभ्रादि योग से रसबन्धन, सर्व लौहबन्धन, विविधबीजबन्धन बतलाए हैं । पुन: रक्त स्नेह के मिलाने से रसोपरस योग से, रसलौह संकरता से रस में उत्पादकता बतलाई गई है । इससे आगे माक्षिक आदि से मारे हुए सोने की विशिष्टता, विभिन्न द्रव्यों से मृत किए हुए नाग, वंग, ताम्र, रजत हेम लौह के बीजों का वर्णन करके समतया कलवेधी द्विगुणित से द्विगुणवेधी, शतसहस्र लक्षकरोड अरब से स्पर्शवेधी रस पैदा होता है का वर्णन किया गया है । अनेक प्रकार से रस निकालने का विधान रसशाला के काम में क्रिया कुशल शास्त्रज्ञों की नियुक्ति का विधान वर्णित है ।

पंचम पटल :- इस पटल में विविध लवणों के सहयोग से अभ्रक ग्रास का रस में विधान, विविध धातु और औषधियों के योग से रसबन्धन, संमुखचारणा, विमुखचारणा, चौसठ प्रकार की रसबन्धन योग्य वनौषधियों का नाम, ग्रास के बाद आठ प्रकार का रसस्वरूप, ग्रासमान, गर्भद्रुति, मुखबन्ध यन्त्रों से पातन क्रिया, जारण, उसका लक्षण, क्रामण क्रिया, उसके उपयोगी औषध, रंजक औषधियों के संयोग से जाम्बुनद की उत्पत्ति, रस सेवन का फल, कामधेनुरस विधान, पृथक्-पृथक् चारण से श्रेष्ठता, अभ्रक के चारण से श्रेष्ठता का वर्णन किया गया है ।

षष्ठ पटल :- यह पटल व्यवहारिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है । क्यों कि यहाँ सूर्यकान्तादि मणियों से रसबन्धन करने के पश्चात्, रस का रंजन, जारण, सारण, प्रक्रियाओं के द्वारा वेधकर्म का वर्णन मिलता है । जिससे तार ताम्र नागों का कोटिवेध करने पर उत्तम स्वर्णबन जाता है । रक्तमहाहेम के द्वारा रसबन्ध करके लाखवेधी रस का भक्षण करने से ताकत और दीर्घायु मिलती है । धातु उपरस और पारद की पिष्टि को लोहे की बारीक पत्तियों पर लेपन से स्वर्णोत्पत्ति, गन्धकशोधक दश औषध तथा उत्तम मध्यम अधम साधनों से किस प्रकार त्रिविध स्वर्ण की प्राप्ति हो सकती है, इस पटल में वर्णित है । वर्तमान युग के लिए यह रामबाण सिद्ध हो सकता है ।

सप्तम पटल :- पूर्व पटलों में रसबन्धक अचिन्त्य गुण, रस, पाक वीर्य प्रभाव युक्त औषधों के दो भेद किए गए हैं :- औषधि और महौषधि । फिर भी वे दो प्रकार की बन जाती है । दिव्य औषधि और रसौषधि । उनके तृण, गुल्म, लता, वल्ली, वृक्ष और सर्पिणि ये छः प्रकार माने गए हैं । पुनः चौसठ दिव्य औषधियों के नाम, लक्षण और कर्म का वर्णन आया है ।

यहाँ अन्य ग्रन्थों से एक विशेषता देखने को मिलती है । सोम दो प्रकार का है । वृक्ष तथा लता तथा रूप । दोनों का समान महत्व है । लता का विशेष महत्व है । वह भी सविष और निर्विष रूप से दो प्रकार की है । सविषा अधिक गुण वाली होती है । इनकी उत्पत्ति किस देश में तथा उसका ग्रहण किस दशा में किया जाता है । अम्लवेतस की उत्पत्ति स्वरूप लक्षण,गुण कर्म का विस्तार से वर्णन करके स्वर्णादि में निर्माण में वेधादि क्रम बतलाया गया है । एक मात्र अम्लवेतस की उत्पत्ति स्वरूप लक्षण,गुण तथा क्रम का वर्णन करते हुए यह भी बताया गया है कि इससे असाध्य रोगों का इलाज हो सकता है । रसायन भक्षण समय में भक्ष्याभक्ष्य,पथ्यापथ्य की भी वर्णन मिलता है । अन्त में कुछ श्लोक यहाँ नष्ट हैं ।

अष्टम पटल :- इस पटल में अयस्कान्त मणि की उत्पत्ति, उसका लक्षण,स्वरूप,वीर्य,रसबन्ध प्रकार,विस्तार से वर्णन किया गया है । अयस कान्त अयस के संयोग से निर्मित रसायन के सेवन से जरामृत्यु,कुष्ठ बलि श्वेत केशादि का नाश हो जाता है । जैसा रोग हो,उसके अनुसार एकमात्र रसायन का पृथक्-पृथक् अनुपात से सेवन करने की विधि वर्णित की गई है । रस विषय का समस्त काम गुरु परम्परा के अनुसार करना चाहिए । इस बात का विशेष निर्देश इस पटल में मिलता है ।

इस पटल के भी लगभग 26 पत्रों का नाश हो जाने के कारण, अनेकों रहस्यों कापता नहीं चल सका ।

नवम पटल :- इसमें शास्त्रोक्त विधान से औषधियों के नियोजन की विधि,रसमन्त्रोद्धार और उसकी फलस्तुति का वर्णन किया गया है । इस प्रकार से विभूति प्रकरण से विभूति के अन्दर महान् योगी ने, रस का सम्पूर्ण वर्णन करके संसार का कल्याण किया है ।

वर्तमान समय में यदि आयुर्वेद के ज्ञाताओं को इन विधियों की खोज के लिए प्रोत्साहित किया जाए तो अवश्य ही देश का महान् कल्याण होगा ।

निष्कर्ष :- यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राणापान का योग, पिण्ड ब्रह्माण्ड योग, जीव ब्रह्म का योग कुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध्रगत शिव का योग मोक्षदायी माना गया है । वैसे ही पारद और गन्धक का अन्यान्य औषधियों, रसों, उपरसों के सहयोग से जो योग होता है वह भी जीवन मुक्ति का साधन बनता है । इस प्रकार इन पारद गन्धक के योगों को बतलाने वाले देवों में शिव, उमा, गुह, वीरभद्र, शुक्र, बृहस्पति, चन्द्र, विनायक, नान्दी, भैरव, ब्रह्मा, और विष्णु रसाचार्य हुए हैं । ऋषियों में अगस्त्य, कपिल, व्याडी, दत्तात्रेय, मतमाण्डव्य आदि हुए हैं । मानवों में लंकेश, गोरक्ष, नागार्जुन आदि बहुत से सिद्ध हुए हैं । जिनका संक्षिप्त इतिहास इस प्रकार से कहा जा सकता है ।

रस ही पारद है । जिसके अभिन्न निमित्तो ~~उपादान~~ ~~व निमित्त~~ कारण शिव हैं । उन्हें ही अराध्य देव मानकर भारत के रसाचार्य नाथों ने नाथ सम्प्रदाय की स्थापना की । उन्हें परात्पर नाथ की संज्ञा देकर शरीर रूपी व्यष्टि ब्रह्माण्ड में ब्रह्मरन्ध्र अर्थात् करोटी गुहा में स्थित केश के सौवें हिस्से के बराबर छिद्र में बतलाया है। बाद में इस सम्प्रदाय के सभी नाथों के साथ नाथ लगा दिया गया । जैसे गोरक्षनाथ, बालकनाथ, जालन्धरनाथ आदि । इस सम्प्रदाय में गुप्त साधनाएँ और सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं । इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम सिद्ध सम्प्रदाय भी कहा गया है । शिव ने "रसार्णव"

में सारेश्वरस विषयक ज्ञानों को समझाया है । जायसी के द्वारा लिखि गई "द्रव्य परीक्षा" भी इसी सम्प्रदाय के अन्दर आती है । अस्तु संक्षिप्त परिचय निम्न रूप से है ।

	ग्रन्थनाम	प्रणेता का नाम
1.	रसार्णव	शिव
2.	रसेन्द्रसंहिता	शिव
3.	दत्तात्रेयसंहिता	दत्तात्रेय
4.	दत्तात्रेय-तन्त्रम्	दत्तात्रेय
5.	गोरक्ष-संहिता	गोरक्षनाथ
6.	अगस्त्य-संहिता	अगस्त्य
7.	काकचण्डीश्वर-तन्त्रम्	काकचण्डीश्वर
8.	हरीश्वर-तन्त्रम्	काकचण्डीश्वर
9.	रसरत्नाकरकक्ष	नागार्जुन
10.	कक्षपुटम्	नागार्जुन
11.	रसहृदयम्	गोविन्दभगवत्पाद
12.	रसेन्द्रमंगलम्	नागार्जुन
13.	रसपद्धति	बिन्दु
14.	रसरत्नाकर	सिद्धनित्यनाथ
15.	रसार्णव	भैरवानन्द
16.	आनन्दकन्दम्	मन्थानभैरव
17.	रससार	गोविन्दाचार्य
18.	रुद्रयामल	भैरव

19.	रसरत्नसमुच्चय	वाग्भट्ट
20	रसेन्द्रचिन्तामणि	रामचन्द्र
21	रसेन्द्रचिन्तामणि	ढुण्ढुकनाथ
22.	स्वछन्दतन्त्र	भैरव
23.	कपिलसिद्धान्त	कपिल
24.	ब्रह्मसिद्धान्त	ब्रह्मा
25.	लंकेशसिद्धान्त	रावण
26.	चन्द्रसेनसिद्धान्त	चन्द्रसेन
27.	रससुधाकर	यशोधर
28.	रसकामधेनु	चूडामणि
29.	रसयोगसार	हरिप्रसन्न
30.	रसधातुप्रकाश	मुले
31.	रसेन्द्रसारसंग्रह	गोपालकृष्णभट्ट
32.	पारदसंहिता	निरंजनप्रसाद
33.	रसतरंगिणी	सदानन्द
34.	रसामृतम्	यादवजी
35.	धरणीधरसंहिता	धरणीधर
36. टो	टोडरानन्द	राजाटोडरमल
37.	रसशास्त्रप्रवेशिका	कृष्णगोपाल
38.	रसतत्व विवेचन	कृष्णगोपाल

इनके अतिरिक्त आयुर्वेद के चरक सुश्रुत भावप्रकाश योगरत्नाकर,शार्ंगधर संहिताओं में भी रस प्रकरण दिए हुए हैं । अतः रसपद्धति अन्य विद्याओं की तरह वेद से निकल -ने पर भी नाथ सम्प्रदाय में ही क्रमबद्धरूप से विकसित हुई ।

चतुर्थो ध्याय : गोरक्षसंहिता का तुलनात्मक परिशीलन

1. गोरक्षसंहिता और पातंजल योग दर्शन :-

चौरासी लाख योनियों में मानव योनि सबसे अधिक सतोगुणी होने के कारण मोक्ष के नजदीक है। मानव के शरीर की बनावट ब्रह्माण्ड की बनावट के समीप या तुल्य है। इसके जानने से सब कुछ जाना जा सकता है[1] अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। ज्ञान का अर्थ होता है "इन्द्रियों द्वारा अर्थ का प्रत्यक्षीकरण। जीव का उद्देश्य पिण्ड से विस्तृत होकर ब्रह्माण्ड में, घटाकाश से बृहदाकाश में उपाधि तोड़कर बावड़ी में डाले गए लोटे के जल की तरह तदाकार हो जाना ही है[2]। जिसका ज्ञान करवाने के लिए भारतीय समस्त आस्तिक दर्शन प्रवृत हुए हैं। जिनमें वे पूर्ण विवेचन करते हुए पिण्ड के तत्वों का विवेचन करके विभाजन पूर्वक ब्रह्माण्ड के साथ तदाकार करने का पूर्ण यत्न करते हैं। किन्तु 90 % ज्ञान आखों से होता है। अतः चक्षुग्राह्य ज्ञान में ही प्रत्यक्ष की रूढ़ी माने जाने लगी है। तब ही तो आम साधारण जनता आख से देखे गए ज्ञान को ही प्रत्यक्ष कहती है। प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति भी यही है जो आखों के प्रति हो[3]। हम शब्द प्रमाणकों को वही मानना पड़ता है जो शब्द कहे[4]। अतः सब दर्शनों ने प्रत्यक्ष को अधिक महत्व दिया। इसलिए दर्शनों में भी

---

1. इदं ज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।

2. कबीर, जल में कुम्भ, कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी, फटा कुम्भजल जल ही समाना यही तत्व कहानी।

3. अक्षणो प्रति

4. महाभाष्य, शब्द प्रमाणका वयं यच्छब्द आह तदेव प्रमाणयामः।

जो बाह्य तथा अभ्यन्तर का पूर्ण रूपेण प्रत्यक्ष करवाए वही दर्शन है । दृश्यते इति दर्शनम्" की भाव प्रधान शब्द की व्युत्पत्ति में ठीक उतरता है । वह है योग दर्शन, क्योंकि यही एक ऐसा दर्शन है जिसके द्वारा अनेक साधनों से साधक को पिण्ड का बोध करवा कर, ब्रह्माण्ड के बोध सहित कस्वाकर स्वचैतन्य स्वरूप जीव का भी बोध कराया जाता है । अतः गोरक्ष-संहिता" और योग दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ! जानना आवश्यक है ।

योग के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ है । जिसका संकेत ऋग्वेद में मिलता है ।[5] हिरण्यगर्भ वे थे जिन्होंने वेद के प्रादुर्भाव से पूर्व ही योग विद्या को जानकर इसका विस्तार किया था । इसके बाद श्वेताश्वर, कठोपनिषद् में इस योग विद्या का वर्णन आया है । बाद की बहुत सी उपनिषदों ने तो योग को ही वर्ण्य विषय बनाया है । पतंजलि ने योग सूत्र में इस विद्या को 195 सूत्रों में गागर में सागर की युक्ति के अनुसार बान्धा है, जिसके ऊपर व्यास भाष्य, विज्ञानभिक्षु की वार्तिक वाचस्पतिमिश्र की तत्व वैशारदी, भोजदेव की वृति आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं ।

योग सूत्र को, चार पादों में गुण कर्मानुसार विभक्त किया गया है । जैसे समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद । पतंजलि ने चित्तवृति के निरोध को

5• ऋग्वेद 10•121, श्रीमद्भागवत, 5• 19-31

योग संज्ञा दी है [6]। व्यास भाष्य में समाधि को योग कहा है [7]। चित्त को भाष्यकार ने पाँच प्रकार का बतलाया है। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रज, तम और सत्व गुण त्रिपुटी चित्त में जब एकांश रजाधिक्य होता है, तो प्रथम, द्वितीयांश की अधिकता में द्वितीय अवस्था, तृतीय में तृतीयावस्था। किन्तु जब बाह्य विषयों से हटकर आन्तरोन्मुखी चित एकाकार वृति धारण करता है तब एकाग्र [8]। यह एकाग्रता भी जब लीन हो जाती है और चित संस्कारों की रहितता या उन्मनीभाव को प्राप्तकर लेता है तब निरुद्ध कहलाता है। सभी प्रकार के निरोध योग नहीं माने जा सकते। प्यार के समय में क्रोध की वृति का निरोध होता है, वह योग नहीं। तभी तो भाष्यकार ने सहजावस्था को योग कहा है। यह सहजावस्था या समाधि दो प्रकार की है सम्प्रज्ञात, असंम्प्रज्ञात। पहली में चित्त की सम्पूर्ण वृतियाँ लीन नहीं होती। जबकि दूसरी में सारी लीन होती हैं।

योगी को सम्प्रज्ञात समाधि के लिए तीन अवलम्बनों को धारण करना पड़ता है। ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य। ग्राह्य विषय भी दो प्रकार का होता है। सूक्ष्म और

6• यो०द० 1•2 योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

7• वही, पृष्ट योगः समाधिः।

8• ब्रह्मसूत्र 4•1•6•10 यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्।

असूक्ष्म । ग्रहण करणरूपी इन्द्रियों को कहा जाता है । ग्रहीता अस्मिता को कहते हैं । जो बुद्धि और आत्मा का "जपाकुसुम न्याय से एकीकरण है । "गोपुच्छ न्याय" से स्थूल से सूक्ष्म की ओर आसानी से साधक जा सकता है । अतः पंचभूतोपासना" जिन्हें कर्मकाण्ड में पंचदेवता, गणपति, वरुण ज्योति या सूर्य, षोडश मातृका और ओंकार कहा जाता है की उपासना की जाती है । फिर तन्मात्राएं ली जाती हैं फिरइन्द्रियों अर्थात् ग्रहणरूपी इन्द्रियों को बारी आती है। अन्त में अस्मिता की साधना दिखाई गई है । इस तरह सम्प्रज्ञात समाधि भी चार प्रकार की हो जातीहै । सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार । असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की होती है आनन्दानुगत तथा सास्मितानुगत ।[9]

सिन्धु में जैसे सतत् तरंगे उठती रहती है वैसे ही चित में भी अनेकों जन्मों के संस्कारों के कारण, असंख्य वृत्तियाँ उठती रहती है । जिन्हें पाँच रूपों में स्थूल रूप से बाँटा गया है । प्रमाण, विपर्य, विकल्प, निद्रा, स्मृति । ये पाँचों राग द्वेष और मोह से सनी होती हैं । अतः क्लेश देने वाली हैं । इन्हें मुमुक्षुओं को रोकना ही पड़ता है । रोकने के साधन है अभ्यास और वैराग्य । यह सम्प्रज्ञात समाधि तक चलती है । जबकि असम्प्रज्ञात समाधि में ये निःशेष हो जाती हैं । उनकी समाप्ति का उपाय अभ्यास वैराग्य ही है, क्योंकि गीताकार ने भी यही कहा है । दृष्टानुश्रविक विषय के त्याग का नाम वैराग्य है । जिसे यतमान संज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रिय संज्ञा और वशीकार संज्ञा के नाम से कहा गया है । अगर इन्हें एक शब्द से कहना हो तो इनका नाम उपर वैराग्य अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के लिए उपयोगी माना गया है । जब पुरुष अपने को प्रकृति भिन्न और

---

9. यो०द० 1.17

त्रिविध भोगों से वितृष्ण हो जाता है तब वैराग्य कहलाता है । पर वैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि में पुरुष अपनी केवलता का अनुभव करता है । जो कैवल्य नाम से प्रख्यात है । सूत्रकार के मत में दूसरा उपाय ईश्वर प्रणिधान भी कैवल्य प्राप्ति का उपाय दिया गया है । साधारण मनुष्यों में पाँच प्रकार के क्लेश-अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष, और अभिनिवेश, दो प्रकार के कर्म-धर्म और अधर्म, तथा तीन प्रकार के विपाक-जन्म, आयु और भोग होते हैं। जो ईश्वर में नहीं होते । वह सर्वज्ञ है। जिस कारण अन्य पुरुषों से विशिष्ट माना गया है । उसका वाचक ओंकार है । उसके जाप और वाच्य ईश्वर की चिन्ता से योगी का चित एकाग्र हो जाता है तथा आत्म साक्षात्कार की प्राप्ति भी हो जाती है ।

जब योगी योगारूढ़ होता है तब उसके सामने पथभ्रष्ट करने के लिए या योग परीक्षा हेतु नौ अन्तराय तथा पाँच उपान्तराय उपस्थित होते हैं । जिनका परिचय निम्न है-। अन्तराय- व्याधि, शिथिलता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थित्व । उपान्तराय - दुःख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास । इन विघ्नों से चित विक्षिप्त हो जाता है । तब ईश्वर प्रणिधान से इनकी शान्ति करें और योगमें लग जाएं । चित शोधन के और भी उपाय शास्त्रकार ने बताए हैं । जैसे अभिमत वस्तु का ध्यान[10] । यह धनाजाट की भीम के समान है । इस पाद में समाधि का विशेष वर्णन होने से इसका नाम समाधिपाद रखा गया है ।

10.यो०द० 1.39 यथाभिमतध्यानाद्वा ।

दूसरे पाद का नाम "साधनापाद" या क्रिया योग है । क्रिया योग का तात्पर्य योग क्षेत्र में तपस्या स्वाध्याय और ईश्वर का प्राणिधान होता है ,क्योंकि गौण अंगों के समूह के द्वारा उत्पन्न प्रक्रिया को, क्रिया कहा गया है [11], इस पाद के दो कार्य है- समाधि भावना और क्लेशों का न्यूनीकरण । समाधि प्रथम पाद विवेचन में जान ली गई है । क्लेश पांच हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । इन सबका कारण अविद्या ही है । जिसे त्रिगुणात्मिका, अनिर्वचनीय संज्ञा दी गई है । अतस्मिन् में तत् ज्ञान ही अविद्या है । जिसे शब्दों में वैसे ही नहीं बान्धा जा सकता,जैसे दीपक से अन्धकार नहीं देखा जा सकता ।[12] वैसी यह आदि परमेश की शक्ति अविद्या त्रिगुणात्मिका है ।[13] इस प्रकार की अविद्या से ये चार क्लेश पैदा होते हैं । ये चारों प्रसुप्त,क्षीण,विछिन्न या उदार अवस्थाओं में से किसी एक ही अवस्था में एक समय रह सकते हैं । जैसे बाल्यावस्था में राग सुप्त रहता है,क्रोधावस्था में विछिन्न रहता है,राग विरोधी भावों के समय क्षीण रहता है और उपयुक्त अवस्था में प्रबुद्ध अथवा उदार होकर सामने आ जाता है । क्रिया योग की सहायता से साधक इन्हें क्षीण करता है और क्रमशः आगे बढ़कर,प्रसंख्यान अर्थात् ध्यान रूपी अग्नि में भस्मकर देता है ।

---

11. वैयाकरणभूषणसार,गुणभूतैरवयवैः समूह क्रमः जन्मनाम् । बुद्ध्या: प्रकल्पिताः भेदाः क्रिया इत्यभिधीयते ।

12. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली, अज्ञानं ज्ञातमिच्छेयोमानेनात्यन्तमूढधीः । स तु नूनं तमः पश्यद्दीपेनोत्तम तेजसा ।

13. शंकराचार्य, अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।

जब इस उद्देश्य में साधक सफल हो ता है तब प्रथम कार्य अर्थात् समाधि भावना सहज ही सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जितने भी कर्माशय और विपाक हैं, वे सारे क्लेश मूलक हैं उनके नष्ट हो जाने पर उनका नाश भी छिन्ने मूले न पत्रं न शाखा" न्यास से स्वयमेव ही हो जाता है।

योग विषय चार भागों में विभक्त होता है। हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय। अविद्याजनितदुःख तथा दुखजनक पदार्थ हेय हैं। अविद्या जीव का संयोग सांसारिक पदार्थों से करवाती है। अतः अविद्या ही हेय है। तथा विद्या ही हेयहेतु है। विवेक ज्ञान से ही आत्मा और अनात्मा का पृथकीकरण किया जा सकता है तभी अविद्या नष्ट होगी। अविद्या का नाश ही आत्यन्तिक दुःख की निवृति है। यही हेयहान है। यही योग का चरम लक्ष्य है या कैवल्य है।

जब तक विवेकख्याति नहीं हो जाए तबतक योगांगों से चित्तशुद्धि योगी करता रहे। ये अंग आठ हैं।[14] यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार धारणा, ध्यान और समाधि। प्रथम पाँच बाह्य साधन माने गए हैं और अन्त के तीन आन्तरिक साधन कहे गए हैं।[15]

यम:- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं।[16] नियम- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ~~ईश्वर प्रणिधान~~ और ईश्वर प्रणिधान ये पाँच हैं।[17]

स्थिरता और सुख देने वाले साधन को आसन कहा गया है। इनकी संख्या सूत्रकार ने नहीं बतलाई है।[18]

---

14. यो०द० 2.28
15. वही, 2.29
16. वही, 2.30
17. वही, 2.32
18. वही, 2.46

श्वास प्रश्वास की गति को आसन में बैठकर रोकना प्राणायाम कहलाता है । जो पूरक,कुम्भक,रेचक, और प्राणों के स्थिरीकरण को देने वाला तुर्य भेद से चार प्रकार का हो जाता है।[19] इनसे ज्ञान के आवरण का नाश हो जाता है । इससे धारणा की योग्यता आ जाती है ।

5. इन्द्रियाँ जब अपने -अपने विषयों को लेकर न रहे और चित्तानुरूप हो जाए तो "प्रत्याहार" कहलाती है । इससे इन्द्रियाँ योगी के वश में रहती हैं । इन पाँच अंगों का वर्णन करके पाद समाप्त हो जाता है ।

तृतीय पाद का नाम विभूति पाद है । जिसमें अवशिष्ट तीन अंगों का वर्णन किया गया है, द्वितीय पाद में वर्णित बाह्य अंग हैं। क्योंकि कार्य सिद्धि से इनका बाहरी सम्बन्ध है । धारणा और ध्यान एवं समाधि साक्षात् रूप में कार्य सिद्धि के हेतु अतः अन्तरंग माने गए हैं । इन तीनों का एक नाम संयम है ,क्योंकि जब आभ्यन्तरिक तीनों साधन एक ही विषय को आश्रय करके रहते हैं तभी योगांग बनते हैं,ऐसे नहीं । ऐसा नहीं होता कि एक की धारणा,दूसरे का ध्यान,तीसरे की समाधि को योग की संज्ञा दी जाए ।

1. अनेक विषयों से हटाकर एक विषय पर चित को लगाना धारणा है । जैसे अपने इष्ट का नाभि, हृदय नासिकाग्र आदि में चित को बान्धना ही धारणा है[20]।

2.धारणा के देश में ही ध्येय विषय की एकतानता स्थिर करना ध्यान कहलाता है ।[21]

3.ध्यानावस्था में जब योगी इतना तल्लीन हो जाए कि अपने को भूल सा जाए,केवल जिस वस्तु का ध्यान कर रहा है वही उसके सामने रहे अंहता नष्ट हो जाए तब उसका नाम समाधि हो जाता है[22]। प्रथमपाद में जिस समाधि का वर्णन किया गया था । वह इससे भिन्न है। वह साध्य है । यहाँ की समाधि साधन है । वह फल है तो यह उपाय है । सम्प्रज्ञात समाधि में पाँच बहि-

---

19.यो0द0 2.49

20.वही, 3.1

21.वही, 3.2

22.वही, 3.3

रंग और तीन अन्तरंग साधन माने जा सकते हैं । असंप्रज्ञात में तो आठों ही बहिरंग साधन हैं । व्युत्थान अवस्था में अनुभूत विषय अपने संस्कार दे जाते हैं । ये स्मृति का कारण बनते हैं । व्युत्थान की तरह समाधि में भी संस्कार रहते हैं । संप्रज्ञात समाधि में चितवृतियों के निरोध हो जाने पर भी एक निरोधिभूत संस्कार पैदा होता है । तभी तो संस्कार व्युत्थानज और निरोधज नाम को धारण कर सकते हैं । इनका द्वन्द्व जारी रहता है । जो प्रबल होता है एक दूसरे के ऊपर हावी हो जाया करता है । दीर्घ साधना के बाद योगी के निरोधज संस्कार प्रबल हो पाते हैं । वे व्युत्थानज संस्कारों को दबा पाते हैं । इसी का नाम निरोध परिणाम कहा गया है[23] । इस अवस्था में नाना प्रकार की विभूतियाँ योगी को प्राप्त होती हैं । स्वर्गीय देवता यहाँ पर योगी को लुभाते हैं । कच्चे योगी भटक सकते हैं परन्तु सच्चे योगी इन प्रलोभनों से भटकते नहीं । वे नाना विभूतियाँ देखकर विस्मृत नहीं होते है । वे चँचल नहीं होते,प्रलुब्ध भी नहीं होते । यहाँ तीसरा अध्याय समाप्त हो जाता है ।

चतुर्थपाद का नाम "कैवल्यपाद " है । इसमें पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बतलाई गई हैं । 1• पूर्व जन्म संचित संस्कार उत्पन्न सिद्धियाँ । 2• रसायनोत्पन्न सिद्धियां 3•यन्त्रोत्पादित सिद्धियाँ । 4• तपस्योत्पन्न सिद्धियाँ । समाधिज सिद्धियाँ । इनमें चार प्रकार की सिद्धियाँ तो कैवल्य में बाधक ही मानी गई हैं । उन्हें अवास्तविक या दिखावा मात्र कहा गया है । वास्तविक सिद्धि तो कैवल्य ही है । समाधि से सारे अनागत कर्म दग्धबीज

23•यो०द० 3•9

होकर निर्वीय बन जाते हैं । प्रारब्ध कर्म बच जाते हैं । योगी उनका भोग करने के लिए अनेक शरीर धारण करके उनका शीघ्र भोग कर लेते हैं । ऐसा कर्म करने से आत्मा का जो बुद्धि से पार्थक्य है उसमें योगी और दृढ़ विश्वासी बन जाता है । तब उसकी आत्मा स्वतः ही विवेक की ओर उन्मुख होकर कैवल्य की ओर अग्रसर होता है । तब वह समग्र अभिलाषाओं यहाँ तक कि विवेक ख्याति से भी विरत हो जाता है । तब उसे धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है । यही विवेक ख्याति या प्रख्यान का परमफल माना गया है । उस समय निरवच्छिन्न तत्व-साक्षात्कार रूपी धर्ममेघ की धारासार वर्षा होती है और योगी समस्त क्लेशों और कर्मों से निवृत हो जाता है । उस समय भुक्ति मुक्ति आदि त्रिगुणात्मिका प्रकृति के कर्म समाप्त हो जाते हैं और आत्मा अपने केवल स्वरूप में आ जाता है । पुरुष के प्रति करणीस कर्म सिद्ध हो जाने पर प्रकृति भी कृत्य हो जाती है । अनादि काल से चला हुआ लिंग शरीर भी जो प्रकृति का विपरिणाम है वह भी समाप्त हो जाता है । उसके अपने वे निर्माता तत्व अपने-अपने उपादान कारणों में लीन हो जाते हैं । यही योग का अन्तिम प्रतिपाद्य है ।

योग के व्यवहारिक स्वरूप का वर्णन पातंजल योग दर्शन में हुआ है । उसके अनुसार बौद्धों जैनों, वेदान्तियों ने उसे जहाँ अपनाया, वहाँ पर उसके कुछ अंगों को ही महत्व देकर उसकी उपासना ही आरम्भ कर दी जैसे जैनियों ने प्रथम अंग यम के प्रथम अवयव अहिंसा का ही इतना विश्लेषण आरम्भ कर दिया कि जिसके कारण अध्ययन के कारण लोगों को नफरत आनी शुरु हो गई -क्योंकि अति सर्वत्र वर्जयेत् का सिद्धान्त अच्छाई और बुराई दोनों तरफ घटता है । बौद्धों के द्वारा योग के माध्यम से भोग की तृप्ती रूपी मार्ग से जनसाधारण त्रस्त था । क्योंकि प्रच्छन्नता वंचना होती है । जिससे लोग डरते हैं । अतः गोरक्षनाथ ने लोगों के दिलों को जीतने के लिए योग के दो अंगों को छोड़ ही दिया । केवल षडंग योग को ही माना । यम नियम को आपामार तक के लिए सामान्य नियम होने के कारण अपने ग्रन्थों में उन्हें स्थान नहीं दिया ।

उन्होंने पतंजलि के वर्णित आसन के बाद के अंगों का ही उपयोग स्वीकार किया । प्राणायाम के रेचक, पूरक, कुम्भक और संघट्टीकरण या केवल भेद माने गए है । इनका सम्बन्ध नाड़ी शोधन से किया जाता है । नाड़ी शुद्ध होने पर पवन को गगन में प्रेरित करने की प्रक्रिया की जाए तो घंटा आदि वाद्यों का श्रवण होता है तथा सिद्धियों की सम्भावना रहती है ।[22] अतः प्राणायाम नादानुसन्धान के साथ संलिप्त है । पुनः प्राणायाम से ही प्रत्याहार की सिद्धि और धारणा के अभ्यास का प्रक्रम बनता है । गोरक्ष संहिता में प्राणायाम को अधिक महत्व दिया गया है तभी तो प्राणायाम के उपयोगी जालन्धर, उड्डीयान मूल बन्ध, महामुद्रा, नभोमुद्रा को महत्व दिया और उनकी

22-गो०सं० 2-18-20

उपयोगिता तथा महत्व को बतलाया है[23]। किन्तु प्राणायाम साध्य है और ये साधन प्रणव उपासना तथा अजपा गायत्री का जाप भी प्राणायाम के अन्तर्भूत है । प्रणव की व्याख्या भी यहीं पर विस्तृत रूप में की गई है । यह वेद ही है । शिवशक्ति साधन है आदिनाथ है और इसे अनाहत खण्ड कहा गया है । इसका श्रवण ही नादानुसन्धान और अन्तःकरण में सत्ता ही आत्मानुभूति कहा गया है । यह नाद ब्रह्म है, इसका अनुसन्धान ही ब्रह्म का अनुसन्धान है इसके द्वारा अनेक रोगों का नाश होता है[24]।

प्रत्याहार की, तृतीय अंग को सूचना तृतीय पहर के सूर्य से की गई है । ज्ञानेन्द्रियों को अपने विषयों से घोड़े की लगाम या सूर्य की किरणों की तरह खींच लेना कछवे के अंगों की तरह खींचकर अपने में समेट लेना ही प्रत्याहार है । अन्त में विपरीत करणी द्वारा चन्द्रमा के रसपान में एकतान हो जाना ही प्रत्याहार कहा गया है[25] इनसे योगी मानस विकारों को दूर करता है । धारणा में योगी स्व स्वरूप का अन्तरिन्द्रियों द्वारा अनुभव करता है । जो कुछ उत्पन्न होता है । उसे निराकार में धारण, निर्वातदीप की तरह आत्मज्योति का धारण हृदय में पंचभूतों का पृथक्-पृथक् रूप में अलग-अलग चक्रों में, बीजाक्षरों सहित अनुभव करना उनके स्वरूपों का चिन्तन अपने देह में करना ही धारणा कहलाती है[26]। ये चक्र गोरक्षनाथ के अनुसार इस तरह माने गए हैं -आधार "4 दल" स्वाधिष्ठान "6 दल" नाभिचक्र 10 दल, हृदय चक्र 12 दल, कण्ठस्थविशुद्ध चक्र 16 दल भ्रूमध्य आज्ञाचक्र 2 दल इसके अतिरिक्त ब्रह्मरन्ध्र महापथ में स्थित सहस्रदलचक्र[27] इस तरह ये सात चक्र जहाँ माने गए हैं । वहीं दूसरी जगह सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में नौ चक्र, ब्रह्मचक्र और तालुचक्र की गणना के साथ स्वीकार किए गए हैं । तभी तो म०म० गोपीनाथ जी ने विराट् पुराण

---

23. गो०सं० 1.56 | 24. गो०सं० 2.19-20 | 25. गो०सं० 2.23-31

26. वही 2.56-60 | 27. वही, 1.15-16

के एक हस्तलेख के आधार पर चक्रों की संख्या 25 से अधिक स्वीकार की है । वे कहते हैं कि ललितासहस्रनाम के भास्करराय भाष्यानुसार चक्र संख्या 32 से अधिक है । यही कारण है कि गोरक्षनाथ के ग्रन्थों में चक्रों की संख्या में विभिन्नता आ गई है ।

प्रत्याहार धारणा चक्र वर्णन आदि का उपयोग कुंडलिनीयोग या लययोग के लिए होता है । कुण्डलिनी साधन भूतलय और भूतजय दोनों हैं । यह मूलाधार से सहस्रार तक की जो यात्रा करती है उस आध्यात्मिक यात्रा में अनेकों विश्राम स्थल या अवरोधक स्थल चक्र नामों से प्रसिद्ध है। यह कुण्डलिनी भी तीन प्रकार की बतलाई गई है । उर्ध्व, मध्य और अधः । कहा जाता है कि मध्य कुण्डलिनी के प्रबोधन से, अधः शक्ति के संकोच से तथा उर्ध्व शक्ति के निपात से परमपद की प्राप्ति होती है । वास्तविकता से यह एक ही शक्ति है । स्थानभेद से यह तीन प्रकार की मान ली जाती है । इसके बारे में विवेचना की गई है कि कन्द के ऊपर आठ कुण्डलों को धारण करने वाली यह कुण्डलिनी शक्ति निरामय ब्रह्म द्वार को जाने वाले रास्ते के रन्ध्र को आच्छादित कर सुखपूर्वक सोई रहती है । इसे वह्नि योग से या मानस और महत के सहकार से जागृत किया जाता है । तब उठकर यह सुई के आकार को प्राप्त करके पद्म तन्तु की तरह सुषुम्ना के मार्ग से जागृत होती है ।

इसके अनन्तर ध्यान का वर्णन मिलता है । ध्यान परमाद्वैत भाव है । जिन-जिन तत्वों या पदार्थों का स्फुरण होता है, उनका अपने स्वरूप के अनुसार आत्मा

28• अमरौघशासनम् पृ० ।

29• गो०सं०, यो०मा० 31-40

भावना करती है । इस तरह ध्यान में सभी भूतों में समदृष्टि हो जाती है ।[30] ध्यान के दो भेद सगुण और निर्गुण बतलाए गए हैं । गोरक्षसंहिता में चक्र स्थानों को ध्यान के योग्य बतलाया गया है । साथ ही उसके स्थूल और सूक्ष्म भेद भी बतलाए गए हैं । सूक्ष्म ध्यान में तेजो ध्यान या ज्योति ध्यान को अधिक महत्त्व दिया गया है । मत्स्येन्द्र पद्धति में इन्हें सकल और निष्फल नाम से कहा गया है ।[31]

तदुपरान्त षडंग योग में समाधि का वर्णन किया गया है । पूर्व वर्णित समाधि से गोरक्षसंहिता में एक विशेषता आई है कि जीवात्मा और परमात्मा का ऐक्यही सभी प्रकार के द्वन्द्वों का ऐक्य है । इस अवस्था में रूपरस गन्ध स्पर्श और शब्द की स्थिति नहीं रहती । अपने पराए की कोई बात नही होती ।[32] इस प्रकार से गोरक्षमत में षडंग योग की स्थिति बतलाई गई है । जो पातंजल योग के अनुकूल है तथा साधना के अनुसार उनमें भी कुछ विस्तार किया गया है ।

योग मार्ग में यद्यपि वाचस्पति मिश्र के अनुसार "योग एव योगस्योपाध्यायः" कहा गया है । तो भी मार्गारोहण के लिए, या सुखपूर्वक साधना की यात्रा के लिए गुरु की परमावश्यकता मानी गई है । उन्हीं के आशीर्वाद से परमपद में समरसीकरण हो सकता है । जो नाथों का चरमलक्ष्य अर्थात् परममुक्ति नाथ स्वरूपेण मानी गई है । गुरुचरणों में रत रहने से स्वसंविद्य परमपद की सिद्धि संभव हो सकती है । इसी साधन से योगियों को

---

30. सि०सि०प० 2.38

31. गो०सं० 2.65-75, यो०मा० 156-59

32. गो०सं० 2.15-16, 85-88, यो०मा० 176-178

पिण्ड निरुत्थान का अनुभव होता है । तदनन्तर समरसी करण की सिद्धि होती है[33]। यह गुरु कौन हो सकता है जो प्रकृति के सभी विकारों को अवधूनन करने वाला सिद्ध हो, या अवधूत योगी हो ,वही गुरु बन सकता है । वह अपनी करुणा के खड्ग पात से साधक पशु के आठों पाशों को छेदित कर देता है । यह 36 लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिए । शिष्य भी 32 लक्षणों से युक्त होना चाहिए । शिष्य के लिए आठ परीक्षाएं स्वीकार की गई हैं[34]। यह गोरक्षनाथ का गुरुशिष्यवाद या अधिकार भेदवाद कहा जा सकता है ।

इस तरह जहाँ षडंग योग से गोरक्ष अपने नाथ स्वरूप की परम-प्राप्ति के साधन की पुष्टि करते हैं,वहाँ दूसरी तरफ पिण्ड ब्रह्माण्ड बाद की पुष्टि भी करते हैं । यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" यह युक्ति जहाँ तान्त्रिकों को प्रिय है वहाँ नाथों को भी उतनी ही प्रिय है । पिण्डसंविति से ही ब्रह्माण्ड ज्ञान हो सकता है । ब्रह्माण्ड में जो कुछ है उसका संक्षिप्त रूप पिण्ड है । इसमें देवता,परमतत्व,पाताल, ब्रह्माण्ड,कलाएँ, वर्ण,उपवर्ण,द्वीप,समुद्र,खण्ड पर्वत,उपपर्वत,नदियाँ,उपनदियाँ,कुल्म,उपकुल्म,नक्षत्र,राशियाँ, नवग्रह,तिथियाँ,तारामण्डल,दानव,यक्ष,राक्षस,पिशाच,भूत-प्रेत,कुलनाग,सनकादिमुनि, मातृशक्तियाँ उग्रदेवता,मेघ तीर्थ,अनन्त सिद्ध,चन्द्र,सूर्य,वृक्ष,लता,गुल्म,तृण,कृमि,कीट,पतंग,सुख,दुःख,मुक्ति,

---

33.डा0नाथ उपाध्याय, नाथ और सन्त साहित्य तुलनात्मक अध्ययन,

34.गो0सि0सं0पृ0 31-32,45,46,56-57

शान्ति आदि सभी निवास करते हैं। इन सब वर्णनों का समावेश गोरक्षनाथ ने एक ही वाक्य में करके बतलाया है" इस प्रकार सभी शरीरों में विश्व स्वरूप परमेश्वर चित्स्वरूपी परमात्मा अखण्ड स्वभाव से घट-घट में स्थित रहता है। इस प्रकार पिण्ड संविति होती है।[36] इसके साथ ही षट्चक्र साधन, नाड़ी साधन और नादानुसंधान सम्बन्धित है। इनका वर्णन पिण्ड वर्णन है। इसे व्यष्टि और समष्टि शब्दों में वेदान्त में कहा गया है। योग साधना के जितने भी प्रकार हैं। उन सबका मूलाधार पिण्ड ब्रह्माण्ड ज्ञान ही है। दूसरी ओर यह गोरक्षनाथ के अन्य विचारों का भी मुख्याधार है। इसी के आधार पर नाथ जी ने बाह्याचारों का खण्डन किया तथा तथा अन्त साधना का मण्डन किया। सहज साधना एवं सहज सिद्धि के साथ ही समदृष्टि ग्रहण, अहिंसा प्रचार के लिए भी यही सिद्धान्त उत्तरदायी है। संक्षेप में गोरक्ष सिद्धान्त के तीन बिन्दु हैं -हठयोग "प्राणायाम" गुरुवाद और पिण्डब्रह्माण्डवाद।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पातंजल योग दर्शन और गोरक्ष-संहिता-योग जनकजन्यभाव से एक ही हैं। इनका पारस्परिक अन्तर जो देखने में आता है वह तो केवल साधना के क्रम भेद से आता है। स्वस्वरूप ज्ञान ही योग की दोनों जगह

---

35. डा० नागेन्द्र, गोरक्षनाथ, पृ० 135

36. सि०सि०प० 3.1

अन्तिम परिणति बतलाई गई है । जैसा कि अनेक मतावलम्बियों के मतों का निराकरण करके अन्त में मोक्ष का स्वरूप गोरक्षनाथ ने अमरौघ शासन में "यत्र सहज समाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते सः एव मोक्षः"[35] कहा है । वहाँ "पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्"[36] यह लक्षण योग दर्शन में उसका किया गया है । जिनमें मन के उन्मनी होने की अवस्था अर्थात् संस्कार रहित स्वस्वरूप स्थिति को ही मोक्ष या अन्तिम स्थिति कहा गया है ।

---

35. अमरौघशासनम् पृ० १

36. योग दर्शन समाधिपाद, 4.34

गोरक्षसंहिता और हठयोग

सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ब्रह्म ने ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, और अथर्व वेद का ज्ञान सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य, और अंगिरा इन ऋषियों के पवित्रतम हृदयों में पैदा किया गया था । अखिल ब्रह्माण्ड के अधिनायक ब्रह्म ने इन चारों मानवमात्र के कल्याणार्थ समस्त जीवन से सम्बन्धित ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड को बिन्दु में सिन्धु की तरह भर दिया ।

यह सत्य विद्या मानव हित में परा अपरा भेद से दो प्रकार की है । तो भी दोनों का प्रतिपाद्य जीव ब्रह्म की एकता ही है । तभी तो श्रुति ने स्वयमेव उन विद्वानों की भर्त्सना की है जो वेद शास्त्र के प्रधान तत्व जीवात्मा तथा ब्रह्म को नहीं जानते हुए भी अपने को पण्डित मानते हैं ।[37] उन्हें मुक्तिरूपी फल का प्रतिषेध बतलाया गया है । ब्रह्मनिष्ठ चेतन की उपासना करने वाले को ही मुक्ति मिलती है ।

इस प्रकार वेदों का मुख्य तात्पर्य चेतन तत्व को प्रत्यक्ष करना ही है । यह तात्पर्य कैसे सिद्ध हो सकता है । जब हम इस परिप्रेक्ष्य में चिन्तन करते हैं । इससे वेद के समस्त उपासना आदि साधन योग में जाकर अन्तर्भूत हो जाया करते हैं । इसलिए योग ही आत्मा और ब्रह्म की एकता के लिए प्रत्यक्षीकरण में सर्वोत्कृष्ट उपाय है ।

योग चित्तवृत्ति के निरोध को कहा गया है ।[38] चित्तवृत्तियाँ, क्षिप्त, मूढ विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध भेद से व्यास ने पाँच प्रकार की मानी है । इनमें एकाग्र

---

37. ऋग्वेद, 1.164.29

38. यो०द० 1.2

और निरुद्ध अवस्था ही योग को बनाती है । क्योंकि इन्हीं में सत्वगुण की एकतानता रहती है । प्रथम तीनों चित की अवस्थाएँ योग के अनुपयोगी हैं । इस योग का वर्णन ऋग्वेद 5.81.1 तथा यजुर्वेद 11.3 में मिलता है । यह योग महर्षि पतंजलि ने बहिरंग तथा अन्तरंग भेद से दो प्रकार का माना है । यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पाँच बहिरंग योग होते हैं । धारणा, ध्यान और समाधि ये संयम रूपी योग के अन्तरंग माने गए हैं । निर्बीज समाधि में ये तीन बहिरंग हो जाते हैं ।

पतंजलि के राजयोग में हठयोग बहिरंग रूप में आता है । विद्याओं की राजा, राजयोग विद्या को असमाहित चित प्राप्त नहीं कर सकता । चित को समाहित करने के लिए हठयोग की उपयोगिता होती है । जैसे ऊँचे महल में चढ़ने के लिए अधिरोहिणी की आवश्यकता मानी गई है । जो योगी अनेक जन्म कृत सुकृतों के कारण समाहित चित होते हैं । उन्हें हठ्योग की अनिवार्यता नहीं है । जो योगी अभी राजयोग के प्रासाद पर नहीं चढ़े हैं, उन्हें इसकी आवश्यकता है ।

हठयोग का अर्थ है "ह" सूर्यस्वर पिंगला नाड़ी या प्राणवायु । "ठ" का अर्थ है चन्द्रस्वर इडा नाडी अपान वायु । प्राण और अपान की एकता को हठ योग कहते हैं । गोरक्षनाथ ने इसका लक्षण । हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्यश्चन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते ।[39] इस हठयोग को कार्य रूप में लाने वाले आदि

---

39. सि०सि०प०

आचार्य आदिनाथ जी हैं । उन्होंने राजयोग पर चलने के इच्छुक असमाहित चित वाले इच्छुकों के लिए तथा उनका उपकार करने के लिए इस हठयोग का उपदेश दिया था । श्री आदिनाथ के सम्प्रदाय में श्री मत्स्येन्द्रनाथ ,श्री गोरक्षनाथ,श्री आनन्द भैरव आदि अनेक अनुभवी आचार्य हुए हैं । अतः गोरक्षसंहिता का योग प्रकरण तो हठयोग का ही मानना चाहिए तभी तो वहाँ साधक से कहा गया है कि "जो छः चक्रों,सोलह आधारों,दो लक्ष्यों और पाँच आकाशों को अपने शरीर रूपी विश्व में नहीं जानता, उसे सिद्धि कैसे मिल सकती है ।[40]

1. चक्रों के नाम हैं :- मूलाधार,स्वाधिष्ठान,मणिपूर,अनाहत,विशुद्ध और आज्ञा ।

2. सोलह आधार :- 1. पादांगुष्ठ,2. मूलाधार,3. गुह्याधार,4. वज्रगर्भ नाड़ी,उड्डीयानबन्धाधार, 6. नाभिमण्डलाधार, 7. हृदयाधार, 8. कण्ठाधार, 9. कण्ठमूलाधार,10. जिह्वामूलाधार 11. जिह्वाधोभागाधार, 12. ऊर्ध्वदन्तमूलाधार, 13. नासिकाग्राधार, 14. नासिकामूलाधार, 15. भ्रूमध्याधार, 16. नेत्राधार ।

3. बाह्यलक्ष्य और आन्तरिकलक्ष्य

4. पाँच आकाशः- 1. श्वेतवर्ण ज्योतिरूप, 2. रक्तवर्ण ज्योति रूप, 3. धूम्रवर्ण ज्योतिरूप

---

40. गो०सं० योग प्रकरण, 1.12
गो०प० 1.13

4· नोलवर्ण ज्योतिरूप 5· विद्युतवर्ण ज्योतिरूप । इनमें पहले के भीतर, दूसरा, दूसरे में तीसरा आदि क्रम से पाँचों की स्थिति मानी गई है ।

इसके पश्चात् शरीर जो आत्मा की आभास स्थली है । उसका एकमात्र खम्बा मन, नौ दरवाजे, दो नेत्र, दो नासिकाएँ, दो कर्णविवर, एकमुख, एकउपस्थ, और एक गुदा" पाँच देवता जो पाँच महाभूतों के स्वामी माने जाते हैं । जैसे पृथिवी का ब्रह्मा, जल, विष्णु, तेज-रुद्र, वायु ईश्वर आकाश सदाशिव इनको जो नहीं जानता वह योगी सफल कैसे हो सकेगा[41] । इस प्रकार से शरीर विज्ञान को बतलाकर, प्राणायाम के द्वारा मन रूपी स्तम्भ को स्थिर करने के उपाय बतलाए गए हैं ।

भूति प्रकरण में भी वीर्यरूपी बिन्दु के स्थैर्य का अनेकत्र उपदेश दिया गया है । जिससे यही सिद्ध होता है कि "गोरक्ष संहिता" हठयोग का प्रमुख ग्रन्थ है । तभी तो हठयोग प्रदीपिका के कर्ता स्वामी स्वात्माराम जी ने अपने ग्रन्थ में कहा है कि श्री मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, जालन्धरनाथ आदि महापुरुषों की कृपा से यह हठ विद्या मुझे मिलती है[42] ।

41· गो०सं० यो०प्र० 1·13

42· हठयोगदीपिका, 1·4

गोरक्षसंहिता और सांख्य दर्शन

"गोरक्षसंहिता" के वर्तमान में उपलब्ध तीनों प्रकरणों के अवलोकन से यद्यपि यह आभासित होता है कि गोरक्षसंहिता का दर्शन सांख्य शास्त्र के तत्वों पर आधारित हैं । वे शुद्धयोग मार्ग के ही प्रवक्ता हैं । जो कादि प्रकरण तथा विभूति प्रकरण सर्वज्ञ मुनि ने उपदिष्ट किए हैं वे उसी मार्ग के उपकार हेतु माने गए हैं । इनके दर्शन के असली दर्शन सिद्धसिद्धान्त पद्धति में होते है । वहाँ इन्होंने 36 तत्वों को अपना आधार बनाया है । जिनमें पिण्ड ब्रह्माण्ड की रचना होती है और विश्व का प्रसरण होता है । इन दोनों की समतत्वता और समपदार्थता, डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डा० कल्याणी मलिक आदि विद्वानों ने अपने शोध प्रबन्धों में दिखलाई है ।

गोरक्षनाथ के तत्व विवेचन के अनुसार प्रलयावस्था में शिव कार्यकारण के चक्र संचालन से विमुक्त, कुल अकुल भेद से परे व्यक्त रूप में रहते हैं[43] । इस अवस्था का नाम "स्वयं" कहा गया है । इस स्वयं में जब सिसृक्षा उत्पन्न होती है तब उसका नाम शिव हो जाता है । जो निर्गुण से सगुण की यात्रा मानी गई है । यह सृजनेच्छा ही शक्ति कहलाई जाती है । इसके उत्पन्न होते ही वेदान्त के रयि और प्राण की तरह शिव और शक्ति, शब्द और अर्थ की तरह संपृक्त होने पर भी दो तत्वों के रूप में प्रतिभासित हो जाते हैं[44] । ~~दो तत्वों के रूप में प्रतिभासित हो जाते हैं~~ । पुनः ये दोनों पाँच रूपों में विकसित होते हैं । जैसे ---

---

43. सि०सि०प० कार्यकारणकतृत्वं यदा नास्ति कुलाकुलम् ।
अव्यक्तं परं तत्वं स्वयं नाम तदा भवेत् ।।

44. रघुवंश ।.। वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ।।

शिव	शक्ति
1. अपर	निजा "स्फुरित होने की पूर्ववर्तिनी, स्फुरित होने को उपक्रान्त
2. परम	परा "स्फुरणोन्मुख "
3. शून्य	अपरा "स्पन्दित होती है ।
4. निरंजन	सूक्ष्मा अँहिता "में पन का पृथक्त्व/भाव
5. परमात्मा	कुण्डली "अपनी पृथकतामें पूर्ण सचेत
इस अवस्था में शिव विश्व प्रपंच की उत्पत्ति पालन और संहार में समर्थ होता है ।	इसी शक्ति की सहायता से शिव, इस विश्व की उत्पत्ति पालन और संहार में समर्थ होता है ।[45]

यह कुण्डली वेदान्त की जड़ शक्ति माया से भिन्न चेतन से उत्पन्न चेतना शक्ति से ही मानी गई है । इसके लिए चिच्छक्ति, चिच्छीला, चिद्रूपिणी, अनन्तरूपा, अनन्त शक्ति, आदि शब्द गोरक्ष साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं । जगत् इसी का परिणाम है । इसके पाँच गुण -पूर्णता, प्रतिबिम्बता, प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यंगमुखता अन्य दर्शनों की शक्तियों की तरह ही बतलाए गए है । इसके बाद तीन परवर्ती विकास दिखाए गए हैं । सदाशिव-अहं प्रधान, ईश्वर इदं प्रधान, शुद्धविद्या- उभय विद्या प्रधान ।[47] शिव क्रमशः कथित पाँच अवस्थाओं से होते हुए जीव रूपता की ओर गति करता है । वह क्रमशः सूक्ष्म से स्थूल तथा, स्थूल से स्थूलतर होता जाता है । इस प्रकार से गोरक्ष के तत्व विज्ञान में सृष्टिप्रक्रिया में विकास होता है और 36 तत्व उत्पन्न होते हैं । कथित 5 तत्व और 6 माया ।

---

45. डा0 नागेन्द्रनाथ गोरक्षनाथ, 9 परि सि0सि0 प0पृ02 उप। श्लोक 14-15

46. सि0सि0 प0 1.7 पूर्णता प्रतिबिम्बता प्रबलता, प्रोच्चलता, प्रत्यङ्मुखता ।
इति पंचगुण कुण्डलिनी शक्तिः ।।

47. नाथ संप्रदाय, पृ0 105

7-11 पंचकंचुक,12 पुरुष,13 प्रकृति,14 महत् 15 अहंकार,16-20 पंचतन्मात्राएं,21-31 एकादश इन्द्रिय,32-36 पंचमहाभूत ।[48]

वास्तव में यह तत्व मीमांसा सिद्धसिद्धान्त संग्रह में की गई है । जहाँ कहा गया है कि "ब्रह्माण्ड के बीच में जो कुछ प्रक्रिया चलती है वह पिण्ड के बीच में भी तद्वत् ही है । अतः सारे विकास को पिण्डोत्पत्ति के अनुसार विभाजित किया गया है ।[49] जैसे 1•परपिण्ड तत्व 1-2,2•आद्य पिण्ड तत्व 3-5,3•साकार पिण्ड तत्व 6-13,4 प्रकृत पिण्ड तत्व 14-20,5अवलोकन पिण्ड तत्व 21-31, 6•गर्भ पिण्ड 32-36 । गर्भपिण्ड विकास प्रक्रिया का छोर माना गया है ।

इससे पिण्ड ब्रह्माण्ड की तुल्यता सिद्ध होने पर भी त्रिगुण काल और प्राण शक्ति के न्यूनत्व एवं बहुत्व के आधार पर ही दोनों में भेद हो जाता है तथा परं शिव की स्वयं अवस्था ही अन्तिम परिणति है । इसको जो प्राप्तकर लेता है वही नाथ बन जाता है । जैसे सांख्य शास्त्र में निर्लिप्त पुरुष कर्माकर्म से विमुख होकर जब प्रकृति के दर्शन कर लेता है । और प्रकृति असूर्यं पश्या राजदारा की तरह फिर उसके दर्शन नहीं करती और तब वह पुरुष मुक्त हो जाता है । इसी प्रकार नाथ सम्प्रदाय में भी सत् और असत् से ऊपर उठी हुई आत्मा ही नाथ बन जाती है । उसमें यह सामर्थ्य होता है कि वह अपने से शिष्यों को

48•नाथ सम्प्रदाय,पृ0 109

49,सि0सि0सं0 ,पृ018 ब्रह्माण्डवर्ति यत्किंचित् पिण्डेप्यस्ति सर्वथा• ।

षड्विध ऐश्वर्य से सम्पन्न कर देता है तथा उनकी कुण्डलिनी का उत्थापन कर सकता है। वह शक्तिपात् तीन रूपों में किया जा सकता है। दर्शन से, स्पर्श से तथा भाषण से।[50] इस प्रकार के नाथत्व को प्राप्त करना ही नाथ सम्प्रदाय का चरम लक्ष्य है।

इन सब बातों को देखते हुए कहा जा सकता है कि सांख्य के साथ नाथ सम्प्रदाय का निकटसम्बन्ध है।

बौद्ध लोग संसार की समस्त वस्तुओं को क्षणिक मानते हैं, स्व लक्षण मानते हैं। दुःखमय स्वीकार करते हैं और अन्त में शून्य में परिणति मानते हैं।[51] जो असत् है वही ईश्वर है। इसलिए नाथ सम्प्रदाय के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। नाथों के मत में सत्-असत् से परे और भिन्न ही नाथ रूपी ईश्वर को स्वीकार किया गया है। हाँ तान्त्रिक साधना क्रम में तथा रससिद्धि में नाथों की बौद्धों के साथ कुछ समानता मानी जा सकती है।

गोरक्षसंहिता का भूति प्रकरण ,बौद्धाचार्य नागार्जुन की, रासायनिक प्रक्रिया, अवश्यमेव ऋणी है। उन्होंने उनके नुस्खों का अनुसरण करके धातुओं उपधातुओं का जारण मारण और परिवर्तन करने के तरीकों को अपनाया है। आध्यात्मिक पक्ष दोनों

---

50. सारस्वत कुण्डलिनी महायोग, पृ0 42 दर्शनात्स्पर्शनाच्चैव भाषणाद् सद्गुरोरपि। शक्तिपातस्त्रिभिः रूपैः क्रियते शिक्त देशिकैः।

51. सर्वदर्शन संग्रह, सर्वक्षणिकं-2 स्वलक्षणं-2, दुःखं-2, शून्यम् शून्यम्।

मतों का सर्वथा भिन्न है । उसमें किसी प्रकार की समानता नहीं हो सकती ।

नाथमत वेदान्त मत से भी भिन्न है, क्योंकि वेदान्तियों ने ब्रह्म से उत्पन्न माया शक्ति को जड़ माना है । जबकि " न सतो विद्यते भावो नाभाव: विद्यते सत: " का सिद्धान्त अटूट है । अत: चेतन ब्रह्म से अचेतन माया पैदा नही हो सकती । इसलिए नाथों ने नाथ से उत्पन्न शक्ति को चेतन माना है और उपनिषदों में बतलाए सदसद् मार्ग को अपनाया ।[52] तभी तो गोरक्षनाथ ने कहा " बस्ती न शून्यं-शून्यं, न बस्ती अगम-अगोचर ऐसा । गगन शिखर महं बालक बोलेहु ताका नाम धरहुगे कैसा ।। गोरख शब्द ।

इसीलिए अद्वैत वेदान्त का खण्डन भी किया गया है कि प्राप्ति पूर्वक ही निषेध होता है । जब शंकराचार्य जी ने ब्रह्म को अद्वैत मान लिया तो उसी से द्वैत सिद्ध हो जाता है ।[53] द्वैताद्वैत से विलक्षण नाथ तत्व को कोई नहीं जानते । यदि ब्रह्म सर्वगत स्थिर तत्व है तो माया को द्वैत और अद्वैत सिद्ध करने के लिए, क्यों कल्पित किया गया ।[54] इस प्रकार के खण्डन करके नाथ के सामने आद्य शंकराचार्य जी को पराजय दिखाई गई है । जिससे वेदान्त के साथ नाथ मार्ग के सम्बन्ध का विच्छेद माना गया है ।

---

52. ऋग्वेद, नासदीय सूक्त, नासदासीन्नो सदससीत् ।

53. गो0सि0सं0 ,पृ0, 16

54. गो0सि0सं0, पृ0 11, अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे । समं तत्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम् । यदिसर्वगतो देव: स्थिर: पूर्णो निरन्तर: । अहो माया महामोहो द्वैताद्वैत विकल्पना ।

गोरक्षसंहिता आयुर्वेद के साथ बहुत मेल खाती है । गोरक्षसंहिता विभूति प्रकरण जिसे रस विज्ञान,रसतन्त्र,रसचक्र,रसोपनिषद्,भूतितन्त्र, और भूतिशास्त्र आदि नामों से पुकारा गया है,इसमें रसायन विद्या का आमूल वर्णन शास्त्रोक्त विधि से किया गया है । वैसे तो ब्राह्मण काल में ही रसायन का प्रचलन माना गया है,परन्तु व्यवस्थित रूप में बौद्ध सिद्ध नागार्जुन ने अपने ग्रन्थ "रसरत्नाकर" में इस विद्या का विशद् वर्णन किया है । उसके बाद शालीनाथ की लाथ मंजरी" मन्थान भैरव के "रसरत्नम्" और गोरक्षनाथ के भूति प्रकरण आदि में इस विद्या का पूर्ण विकसित रूप मिलता है । इस प्रकरण से काय की सिद्धि,धन की प्राप्ति और बाह्य आभ्यन्तरिक योग साधन करने की शक्ति ईश्वर की भक्ति,नाथत्व की प्राप्ति आदि अनेक लाभ साधक को दर्शाए हैं । जो साधक गीता के कथनानुसार "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिः" के लम्बे चक्र से छुटकारा पाना चाहता है और एक जन्म में परापर प्राप्ति मुक्ति को प्राप्त करना चाहता है । वह पारद या औषध का सेवन करे और शरीर को अजर अमर बनाकर साधना द्वारा नाथत्व प्राप्ति करके सदेह मोक्ष प्राप्त कर ले ।

आयुर्वेद भी रोगों से मुक्ति देकर शरीर को कर्म योग्य बना देता है । जिससे प्राणी अपने जीवन में पूर्ण रूप से सुकर्म करके प्राप्तव्य स्थान को प्राप्त कर सके । स्थूल शरीर के स्वस्थ होने पर उसकी परिधि में रहने वाला मन भी स्वस्थ होगा ।

मन के स्वस्थ होने पर उसका चिन्तन भी स्वस्थ होगा । तभी तो स्वास्थ्य के नाश को घातक बतलाया गया है । जो आयुर्वेद के प्रयोजन हैं वही भूति प्रकरण के भी माने गए हैं । जिससे कोई भी कह सकता है कि गोरक्षसंहिता और आयुर्वेद आपस में पूरक ग्रन्थ या शास्त्र माने गए हैं ।

इस तरह वर्तमान के बहुत से विद्वान नाथ साहित्य पर शैव तन्त्र का, शाक्ततन्त्रों का तथा बौद्ध तन्त्रों का भी कादिप्रकरण पर प्रभाव मानते हैं । डा० जनार्दन पाण्डेय ने इसे केवल कल्पना ही स्वीकार किया है ,क्योंकि नाथ लोग स्वयं भी तान्त्रिक हुए हैं । मत्स्येन्द्र नाथ ने कौल मार्ग कामरूदेश में चलाया था[55] । तभी तो वशीकरण आदि मन्त्रों में भी कहा गया है कि "कामरु देश कामाख्या देवी,उत्थे बसे मच्छेन्दर योगी" आदि-आदि । यद्यपि नाथ पंथ का मुख्य मार्ग शुद्ध योग ही है,परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए बाह्य साधना तन्त्र को भी उसी का अंगमान लिया गया है[56] । इसलिए गोरक्षसंहिता का कुछ सम्बन्ध आयुर्वेद से है न कि तन्त्र ग्रन्थों से । आयुर्वेद का वर्णन भी सर्वज्ञ नाथ स्वकुशल बुद्धि से कर सकते थे । भूति प्रकरण में शास्त्र की प्रमाणिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है । जिससे उस पर आयुर्वेद का प्रभाव अधिक झलकता है[57]।

55.गो०सि०सं० भूमिका"ट"

56. गो०सि०सं० पृ० 14

57.भूति प्रकरण 4.139.142,3.97

अतः गोरक्षसंहिता शैवदर्शनों में से रसेश्वर दर्शन के साथ विषयगत दृष्टि से कुछ साम्यता रखती है, अन्य मतों से नहीं । तन्त्रों की साम्यता भी विषयगत दृष्टि से हो सकती है । इसे प्रभाव की दृष्टि से नहीं माना जा सकता । इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि गोरक्ष-संहिता त्रिफला या त्रिपुटी होने पर भी लक्ष्य की दृष्टि से पातंजल योग से ही साम्यता रखती है । उसी का विकसित रूप या भाष्य रूप से यह संहिता बनी है । इसका भूति प्रकरण रसेश्वर दर्शन का ही परिमार्जित रूप माना जा सकता है । कादि प्रकरण में तीनों तन्त्रों का संमिश्रीकरण रूप में सामने आया है। किन्तु मुख्य उद्देश्य नाथत्व की प्राप्ति ही है जिसे मोक्ष कहा गया है ।

शिव विषयक सिद्धान्त :-

शैवमत अथवा महेश्वर मत पर्याप्त प्राचीन है । इसे प्रमाणित करने की आवश्याकता नहीं है । इस बात को जानने के लिए,डा० फर्कुहर,डा० भण्डारकर डा० यदुवंशी आदि के ग्रन्थ को देखा जा सकता है । डा० भण्डारकर के अनुसार माहेश्वर नाम शैवों के लिए अति प्राचीन है[1] । वैदिक रुद्र देवता उपनिषद् गृह्य सूत्र और पतंजलि काल तक रुद्र ही रहा । महाभारतकाल में तथा तद् उत्तरवर्ती समय में वह सौम्य बनकर कल्याणकारी शिव बन गया । तभी तो पुराणोत्तर काल में शैव मत में विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई । सोने के पिघलने की जैसे ही जानकारी हुई थी कि अनेकों गहने बनने लगे । वैसे ही रुद्र शिव बने कि उनके नाम पर भी दो मुख्य भेद -पाशुपत शैव और आगमिक शैव बन गए । जो कि इस तरह अपने में अन्य मतों को समेटते रहे हैं । पाशुपत शैव में पाशुपत लाकुलीश,कापालिकनाथ, गोरखनाथ और रसेश्वर आते हैं[2]। आगमिक शैव में शैवसिद्धान्ती तमिल शैव काश्मीरी शैव और वीर शैवों की गणना की गई है । यद्यपि यहाँ पर गोरक्षनाथ को पाशुपत शैवों में गिना गया है और उन्हें शिव का अवतार स्वीकार करने वाला माना गया है तथा आगमिक शैव अवतार नहीं मानते । डा० फर्कुहर ने यह विभाजन दिया है ।

1.भण्डारकर,पृ० 146-169,पृ० वैष्णविज्म शैविज्म०,

2.डा० नागेन्द्रनाथ, गोरखनाथ, पृ० 68

गोरक्षनाथ की कृतियों तथा उनके व्यक्तित्व के आधार पर यह स्वीकार नहीं किया जा सकता । वे तो इन दोनों सम्प्रदायों को जोड़ने वाले सेतु ही माने गए है । तभी तो परवर्ती काल में इन्हें शिव का अवतार माना गया है ।

शिव के द्वादश ज्योतिर्लिंगों के नामों के साथ नाथ शब्द जुड़ा हुआ है। जैसे केदारनाथ, विश्वनाथ, बैजनाथ, पशुपतिनाथ, आदि-आदि इससे नाथ पन्थियों ने 6 वीं शताब्दी के पश्चात् जब बौद्धों ने समस्त हिन्दुओं के सम्प्रदायों को निगल लिया था । तब रक्त में बसी श्वेत भावना को उजागर करने के लिए नाथ सम्प्रदाय को नया जामा पहनाया था । जहाँ पर नाद बिन्दु की उपासना के महत्व को दर्शाने के लिए अपने नाम का ही नाथ रख दिया । अर्धनारीश्वर शिव और शक्ति कुण्डलिनी और ब्रह्मरन्ध्र के वासी शिव, जब कैलाश अर्थात् शून्य आकाश में एक हो जाते हैं तब पतित व की संज्ञा को प्राप्त करके महान् बन जाते हैं । जिसे नाथों ने द्वैताद्वैत विवर्जित परमोच्च नाथ स्थान माना है । इस तरह शैवों के तीनों तत्वों -पति, पशु और पाश को नाथों ने स्वीकार किया है । उनमें कुछ नई उद्भावना देकर योग के साथ जोड़कर, शक्तिपात का नया तरीका बौद्धों की नई साधना को लेकर, इस मत को सर्व व्यापक बनाया । तभी तो डा० हजारी

---

3. ऐन आउट लाइन आफ द रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ० 190-91।

प्रसाद द्विवेदी जी ने शंकराचार्य के शुष्क अद्वैतवाद के पश्चात् नाथ आन्दोलन को भारत का सबसे शक्तिशाली आन्दोलन माना है । जो कुरितियाँ समाज में घर कर गई थी उन्हें नाथों ने ही दूर किया । समाज ने बाद के भक्ति आन्दोलनों के सामने नाथ मत को भी हठ्योग कहकर उसे कठिन समझा और भुला दिया, क्योंकि हिन्दु जाति बहुदेववाद को मानने के कारण एक देव की निष्ठा को अधिक देर अपने मस्तिष्क में नही रख सकती है । वैसे नाथ मत को में कोई ऐसी दुराग्रहपूर्ण तथा निरर्थक बात नहीं है कि इस मत को भुला या छोड़ दिया जाए । इस मत में भूत दया, उत्थान, आत्मकल्याण तथा एक जन्म में मोक्ष-प्राप्ति की बात यद्यपि बहुत लुभाने वाली है, तोभी लोगों ने इस मत को भुला दिया । इसे "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः", के सिद्धान्त के अनुसार मानव जगत को ही चाहता है तथा उसमें क्षण-क्षण में नवीनता के रस को चाहता है । यही इन्द्रियों का स्वाद पाश है जो मोक्ष के द्वार को हमेशा रुद्ध किए बैठे रहता है ।

जहाँ तक शिव विषयक सिद्धान्त की बात "गोरक्षसंहिता" के विषय में आती है वहाँ तो सारी संहिता शिव और पार्वती के मुख से कहलाई गई है । कादि प्रकरण तथा भूति प्रकरण में पार्वती प्रश्न करती है तो भैरव रूपी शिव उनका उत्तर देते हैं । दूसरे कौल मार्ग की उत्पत्ति भी शिव से ही मानी गई है । अकुल नाम शिव का है जो सबसे प्रथम सृष्टि में हुए वे अव्यक्त हैं, भाषा से रहित है, उसमें कोई ऐच्छिक तरंगे नहीं है । कुल भी उनका कोई नहीं है, सूक्ष्म अवलम्बन रहित, संसार में व्याप्त

होने पर भी निरंजन है । वह शिव अव्यक्तावस्था से जब व्यक्तावस्था प्राप्त करते हैं तब उनकी देह से इच्छाशक्ति पैदा होती है जो परा शक्ति मानी गई है, जिसका कभी भी नाश नहीं होता । उसी से श्रेष्ठ पचास कुल नायिकाएँ भी पैदा होती हैं[4] तभी कौल मार्ग में कुल का अकुल के साथ सम्बन्ध जोड़ना मोक्ष माना गया है । क्योंकि कुल नाम शक्ति या कुण्डलिनी का है । अकुल नाम शिव का माना गया है । उन को एक स्थान पर युक्त करना कौल ज्ञान कहलाया जाता है[5]। यह मार्ग उभयविध माना गया है -प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप।दूसरी तरफ जहाँ भोग होता है वहाँ मोक्ष नहीं मिलता । जहाँ मोक्ष की विद्या है वहाँ भोग नही मिलता । नाथमत वालों के लिए दोनों हाथों में से एक हाथ में भोग रहता है दूसरे में मोक्ष रहता है।इसलिए नाथमार्ग संसार के प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण में प्रवृत होता है।

शक्ति विश्व का सृजन करती है शिव उसका पालन करता है ,काल संहार करता है और मुक्ति नाथ द्वारा दी जाती है[6] शिव के बीच में शक्ति रहती है और शक्ति में शिव रहते हैं । जिस प्रकार चन्द्रमा और उसकी चान्दनी में अभेद रहता है उसी प्रकार शिव शक्ति भी अभिन्न है ।[7]व्यापकता में शिव शक्ति भासित होती है और संकोच में शिव । उन दोनों का संयोग करने वाला योगी माना जाता है[8]। इस प्रकार योगी या नाथ गुरु,जीव रूपी पशु के पाशों को छेद कर सकता है । अतः योग से युक्त ज्ञान ही मोक्ष कहलाता है । पिण्ड सिद्धि ही मोक्ष का परम साधन है ।जीवन मुक्ति सहित सिद्ध देह से नाथ स्वरूप में अवस्थान ही परम समरसीकरण या मोक्ष है । जिसे

4.गो०सं०का०पृ० 12.103-105

5.सौभाग्य भास्करे,

6.गो०सि०सं०,पृ० 49 शक्त्या तु सृज्यते विश्वं शिवेन परिपाल्यते । कालेन संह्रियते मुक्ति नाथेन दीयते ।

7.गो०सं० का०पृ०,भूमिका "ज"

8. वही

जिसे प्राप्त करने के तीन उपाय वर्तमान उपलब्ध गोरक्षसंहिता में दिए हुए हैं । तन्त्र द्वारा, रसपान द्वारा, और योग द्वारा । कादि प्रकरण में तन्त्र के द्वारा मोक्ष साधन या पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति बतलाई गई है । भूति प्रकरण में रस के सेवन से, जिसमें शिव का रस पारद और पार्वती का रस गन्धक है उनके सेवन से मोक्ष या अमर देह मिल सकती है । अतः गोरक्ष-संहिता शिव और शक्तिवाद का पूर्ण उपदेश देती है । और इन दोनों तत्वों की सूक्ष्म व्याख्या भी करती है । शिव यदि आकाश है तो पृथिवी पार्वती । इन दोनों के पारस्परिक संमिश्रण से ही संसार की उत्पत्ति और पालन हो सकता है । तभी वेद का मन्त्र ॠत् और सत्य भी सार्थक बनता है [1] ।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने नाथ सम्प्रदाय नामक अपने ग्रन्थ में "शाक्त उपादान" नामक प्रकरण अलग से रखा । उनकी दृष्टि में योगियों के यहाँ शाक्त उपादान पूरी मात्रा में माना जाता है । प्रायः सभी पीठों में शक्ति की उपासना की जाती है और उसमें मन्त्र, बीज, तन्त्र, कवच, न्यास, और मुद्राओं का उसी तरह प्रयोग होता है जैसे तान्त्रिक साधना में । हिंगलाजा परमेश्वरी तथा ज्वालामुखी योगियों की प्रमुख उपास्य शक्तियाँ हैं । सारी यौगिक प्रक्रिया, आसन, प्राणायाम आदि शक्ति संग्रह के लिए किए जाते हैं । अतः गोरक्षनाथ

---

१. ॠतं च सत्यन्च तपसाध्यजायत ~~ऋग्वेद~~ यजुर्वेद ।

की संहिता शक्ति के ग्रह का एक आगार है । यही कारण है कि कादि प्रकरण में शक्ति के पीठों,उपपीठों का अलग से वर्णन किया गया है ।[10] यही नहीं देवी के अपर भेद किएगएहैं । ये पर और अपर रूप है । परा देवी के रक्त,श्वेत और कृष्ण ये तीन नेत्र भी गिनाए हैं ।[11]

पुनः द्वितीय पटल में ही उच्छूना नदी के प्रसंग में देवी की कला प्राप्ति बतलाई है। जिससे वह कामरूपिणी बनकर समस्त संसार को जीत लेती है । चन्द्रमा से समागम होने पर नव नाथों को जन्म देती है, का प्रसंग आया है । फिर तेरह पुत्र,तेरह पुत्रियों का वर्णन भी किया गया है ।[12] पुनः नीलोत्पलदलश्यामाबिम्बोष्ठी की संज्ञा देकर चारुहासिनी,एकवक्त्रा, त्रिनेत्रा,द्विभुजा आदि विशेषण देवी के लिए दिए गए हैं।[13] फिर उसको सहयोगिनी योगिनियों का भी वर्णन किया गया है । कामरूप पीठ के वर्णन प्रसंग में ही पुत्र पुत्रियों का भी वर्णन किया गया है । अनन्तर शिव की प्रार्थना की गई है । यहाँ शिव को त्रिलोचन कहा गया है । जगन्नाथ सुरासुरगुरु आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है ।[14] फिर वीरचक्र की पूजा का विधान,शव की साधना, ,देहस्थमातृका स्थान वर्णन,मातृका के पदों की कल्पना तथा "ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डाये विच्चे" इस नवार्ण से अनेकार्ण

10.का०प्र० पृ० 7,हिमवत्पीठमुत्तमम् । का०प्र०पृ० 10

11.का०प्र० पृ० 7, रक्ता श्वेता तथा कृष्णा त्रिनेत्रा च शिवा परा ।

12.वही, पृ० 9,

13. वही, पृ० 10

14. का०प्र० च० प० पृ० 15

बनाने का विधान आया है । क्योंकि रज,सत् और तम आत्मक,महासरस्वती,महालक्ष्मी महाकाली एकरूपता चामुण्डा में प्राप्त करती है । चामुण्डा का अर्थ है - च अमुं -डा -दा-दाने अर्थात् जो इन तीनों को शक्ति देती है या संगृहीत करती है । मातृस्थान, कूटन्यास, षड्विधन्यासस्वाभाविकन्यास,चक्रभेद,चक्रभेद वर्णन,देवी-कवच, मालिनिचक्र, कालचक्र,मुद्रासाधन, जालन्धरबन्ध,अघोर-वर्णन,लिंगदर्शन-साधन,षोडषाधार वर्णन,दिव्ययोगिनी वर्णन,परा अपरा,परापरा विद्या का वर्णन, कामेश्वरी विद्या का वर्णन,कुब्जिका वर्णन गायत्री निर्णय, आदि से पता चलता है कि "गोरक्षसंहिता" त्रिपुटी विद्या है । योग शाक्त तन्त्र एवं शैव तन्त्र इन तीनों का मिश्रण या त्रिफला बना है । इसलिए इस संहिता के एक प्रकरण में जहाँ यह ज्ञान होता है,वहीं भूततन्त्र से आयुर्वेद भी इसका जीवातु बन जाता है । इस तरह यह संहिता, दार्शनिक दृष्टि से शैव और शाक्तों का सामंजस्य स्थापित करने वाली मानी जा सकती है । तभी तो पंचवक्त्रा गायत्री और पंचवक्त्र शिव एक हो सकते हैं । दोनों के एकीकरण से अल्ला उपासक मुस्लिम और शिवोपासक हिन्दु एक हो सकते हैं । वाममार्गी और दक्षिणमार्गी भी दोनों समझने के बाद ही मध्यमार्गी सुषुम्णारूपी राजमार्ग पर चलकर अपने कर्मों का भर्जन कर सकेंगे और निष्काम योगी की कोटी में बैठ सकेंगे । जहाँ पहुँचकर नाथ पद मिल सकेगा ।

ईश्वर विचार विमर्श :-

ईश चष्टे धातु से वरच् प्रत्यय करने पर ईश्वर शब्द बनता है दर्शनशास्त्र का विषय है पिण्ड-ब्रह्माण्ड,जीव,ईश्वर इनका पृथकीकरण,एकीकरण आदि है। भूतिर्विभूतिरैश्वार्य:" इस प्रकार से कोश में भूति को ऐश्वर्य का पर्यायवाची कहा है। ऐश्वर्य नाम ईश्वर के भाव का है। षट्विध ऐश्वर्य से सम्पन्न जीवों की उत्पत्ति,विनाश, आवागमन,विद्या,अविद्या को जानने वाला ही ईश्वर होता है। षड्विध ऐश्वर्य का नाम ही संस्कृत में भग है।[15] "भगं यस्य अस्ति स भगवान्" अर्थात् ये छः जिसमें सम्पूर्णरूपसेरहते हैं, उसे भगवान् भी कहा जाता है। जीव और भगवान् का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ट है। जैसे आग और उसके स्फुलिंगों का सम्बन्ध होता है,कूल औरक्यारी के जल का सम्बन्ध होता है, ये जीवात्मा पाश रूपी कर्म बन्धन में बन्धकर अपना भिन्न अस्तित्व प्राप्तकर लेती है और उसके अनुसार अपने आप कर्म करना आरम्भ कर देती है। वे संसार के क्लेश कर्म को प्राप्त करती रहती है। कर्मविपाक रूपी क्लेश से निर्लिप्त व्यापक क्षेत्र सम्पन्न समभावापन्न ईश्वर माना गया है। जो देहादि अनात्म वस्तु,आत्मा मान लेते हैं[16] वही अभिमान आत्मा का बन्धनरूप

15· गीता पर मधुसूदनी भाष्य अध्याय-7· ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञान वैराग्योश्चैव षण्णां भग इति ईंगना।

16· सर्वोपनिषद्सार,, अनात्मनो देहादीनात्मत्वेनाभिमन्यते सो भिमानः आत्मनो बन्धस्त-निवृतिमोक्षः ॥

होता है । ईश्वर इस बन्धन से विमुक्त माना जाता है, तभी तो अमनस्क योग तन्त्र में कहा है कि भाव और अभाव से विनिर्मुक्त नाश और उत्पत्ति से विवर्जित सो संकल्पों से परे ही ब्रह्म या ईश्वर की स्थिति है ।[17] वह स्थिति नाथ रूप में अवस्थित होने पर ही हो सकती है । इसीलिए तो कलियुग में नवनारायणों ने, नौ नाथों का शिवाज्ञा या आदिनाथाज्ञा से अयोनिज अवतार लिए, क्योंकि कलियुग के कदाचार से जीवात्माएं कदर्थित होकर नरक जा रही थी । उनका उद्धार करने के लिए 1·कविनारायण-मत्स्येन्द्रनाथ, 2· हरिनारायण-गोरखनाथ, 3· अन्तरिक्ष नारायण- जालन्धरनाथ, 4·प्रबुद्ध नारायण- कानीफानाथ, 5· द्रुमिल नारायण-भर्तृहरिनाथ, करभाजन नारायण- गहिनीनाथ, 7·चमस नारायण-रेवणनाथ 8·आविर्होत्री नारायण- नागनाथ और 9·पिप्पलायन नारायण -चर्पटीनाथ के रूप में अवतरित होकर लोगों के कल्याणार्थ मार्ग द्रष्टा बने । जिनको भविष्यत् पुराण में गिनाया गया है ।[18] ऐसा इन नारायणों ने क्यों किया ? क्योंकि गंगा नदी पाप का, चन्द्रमा ताप का कल्पतरु दीनता का हरण करते हैं । महात्मा अकेले ही पाप-ताप-दैन्य तीनों का हरण करने वाले माने गए हैं ।[19] अतः कलिमानव के तापहारी नाथ बने तथा उनका मंगल आज करते

17·अमनस्क, 1-12 भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्ति विवर्जितम् । सर्वसंकल्पनातीतं परं ब्रह्म तदुच्यते ।

18· भविष्य पुराण ,कवि हरिरन्तरिक्षः प्रबुद्धः पिप्पलायनः ।
आविर्होत्रोऽथ द्रुमिलः चमसः करभाजनः ।।

19· नवनाथ चरित्र, पृ० 1, गंगापापं शशीतापं दैन्यं कल्पतरुस्तथा ।।
पापं तापं च दैन्यं च घ्नन्ति सन्तो महायशाः ।

जा रहे हैं । नाथों के बारे में युक्ति है कि ये सब लोगों को अभय दान देते हैं । लोग भी इन्हें अभयदान देते हैं । ऐसा आगम ग्रन्थों में सुना जाता है ।[20]

इस प्रकार से प्राणिमात्र को दया करने वाले नाथ " आत्मवत्सर्वभूतेषु की भावना रखकर "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्नाचरेत्" के व्यवहार को करते हैं । जिससे यह अनुमिति की जा सकती है कि नाथ मत, सर्व अभ्युदय को महत्त्व देते हैं तथा इनके ग्रन्थों में जीव की स्वतन्त्रता तथा उसके लिए भोग और मोक्ष दोनों की प्राप्ति भी अभीष्ट हैं । ऐसा नहीं कि वे संसार रूपी भोग की लताड़ना करके मोक्ष को ही अधिमान देते हों । वे देह मुक्ति के द्वारा ही विदेह मुक्ति नाथों को अभीष्ट है । इसलिए नाथों के ईश्वर परमनाथ और ब्रह्म परात्पर नाथ माने गए है । जिनका संहिता में आभास होता है । वहाँ दो ही पदार्थ अभिलक्षित होते हैं- योग और भोग । योग से मुक्ति और भोग से बन्धन जीवों को ही भोगेषणा बन्धकर पाश का काम करती हैं और उन्हें पशु बना देती है । योगी आरम्भ में परिश्रम करके मुक्ति पा लेता है जहाँ कोई संस्कार फिर नहीं रहते । यह संस्कार हीनता या उन्मनी अवस्था ही ईश्वरत्व का कारण है ।

---

20. राजेश दीक्षित, नवनाथ चरित्र, पृ० ।, अभयं सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापरः ।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुमः ।

कार्यकारणवाद का सिद्धान्त

भारतीय दर्शन शास्त्रों में न्याय वैशेषिक का प्रथम स्थान माना गया है । तभी तो पाणिनि और कणाद को समस्त शास्त्रों का उपकारक स्वीकार किया गया है ।[21] ऐसा क्यों ? जब हम इस बात पर विचार करते हैं तो पाणिनि शास्त्र तो स्वरूप का ज्ञापक होने से उपकारक हो सकता है अर्थात् जब तक भाषा का स्वरूप समझ में नहीं आया, तब तक भाषागत विषय समझ में नहीं आ सकता । उस तरह से कणाद का वैशेषिक दर्शन कैसे सर्व शास्त्रों का उपकारक माना गया । इसका सम्यग् उत्तर कार्यकारणवाद ही हो सकता है । संसार में "कारणमनुदिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते" का सिद्धान्त अटूट है । जो भी कुछ होगा उसका कोई कारण माना जाएगा । तभी तो कहा गया है कि अगर संसार का कोई कारण नहीं तो कुम्हार के बिना घड़ा, चित्रकार से बिना चित्र बनने लगेंगे ।[22] इसी से अनुमान किया जा सकता है कि संसार की दृश्यमान सृष्टि का कुछ न कुछ कारण है जहाँ वह प्रत्यक्ष दीख सके वहाँ प्रत्यक्ष से उसे जान लें । जहाँ प्रत्यक्ष से कारण के दर्शन न हो सके वहाँ अनुमान या आगम से उसे जाना जा सकता है । जिससे समवायी और असमवायी तथा निमित कारणों का सिद्धान्त विछिन्न न हो ।

गोरक्षसंहिता कार अपने तीनों प्रकरणों में इसकी सूचना देते हैं ।

---

21. पाणिनीयं कणादञ्च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।

22. उदयनाचार्य, न्याय कुसुमाञ्जलि, 4.1

जगतो यदि न कर्ता कुलालेन विना घटः ।

चित्रकारेण विना चित्रं स्वयमेव भवेत्तदा ।।

कादि प्रकरण में तान्त्रिक साधना करके चक्रों में प्रकाश के दर्शन तथा चलचक्र में संयुक्त दर्शन एवं देवी के पीठों में देवी के दर्शन करना तथा भूति प्रकरण में रस से अपने शरीर को अमर बनाकर अमरत्व की बात कही गई है। "रसं वै प्राप्य रसो वै भवति सः" के सिद्धान्त के अनुसार रस शोधन तथा उसके सेवन को उसका कारण माना गया है। उसी प्रकार योग प्रकरण में भी बाह्य साधन को आन्तरिक धारणा ध्यान समाधि का कारण माना गया है। उसे प्राप्त करने के लिए एकतान कार्य एवं ध्यान को मोक्ष का कारण माना गया है।

अतः भास होता है कि गोरक्षनाथ जी का साहित्य भी इससे छूट नहीं सका। वे भी अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सतत अभ्यास को जहाँ कारण स्वीकार करते हैं वहाँ गुरु को मोक्ष का द्वार स्वीकार करते हैं। अतः कार्यकारण का सिद्धान्त गोरक्षसंहिता में यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से वर्णित नहीं है तो भी योग को मुक्ति का सोपान बताया गया तथा काल की वंचना कहा गया है।[23] योग को कल्पवृक्ष का फल बतलाते हुए संसार का तापनाशक -वत लाकर उसके सेवन की सलाह दी गई है।[24] फिर कार्यकारण का प्रत्यक्ष दर्शन आत्मा और

---

23. गो०सं० 1.5 एतद्विमुक्ति सोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।

24. वही, 1.6 द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।

शमनं भव तापस्य योगं भजत सत्तमाः ।।

परमात्मा के एकत्व प्रतिपादन के उदाहरण में देखने को मिलता है । जैसे दूध में दूध, घी में घी, आग में आग मिलकर लीन हो जाते हैं । वैसे ही जीवात्मा परमात्मा में लीन हो जाता है ।[25] क्योंकि द्रव्य नित्य है और उसमें उत्पन्न कार्य अनित्य है । घड़ा टूट कर फिर मिट्टी हो जाता है । वैसे ही जीव भी अपने कारण ईश्वर में लीन हो जाता है । इसके बाद वह तत्व बन जाता है । जैसा कि कहा गया है" जल में कुम्भ कुम्भ में जल है, बाहर भीतर पानी । फटा कुम्भ जल जल ही समाना यही तत्व कहानी" इसी प्रकार से कादि प्रकरण के 21 पटल में गुरु की अनिवार्यता बतलाते हुए कहा गया है । कि गुरु को ढूंढे, उन्ही की कृपा से सबकुछ मिल सकता है ।" इसमें भी कारण गुरु को बनाया गया है ।[26]

कहने का तात्पर्य यह है कि कार्यकारणवाद को गोरक्षनाथ ने पूरी तरह से पालन किया है और अपने देश के "छिन्ने मूले न पत्रं न शाखा" के मूल सिद्धान्त की रक्षा की है । करते भी क्यों नहीं, नाथ जब धर्म जाति गुण, और आचार नियमों की रक्षा के लिए पैदा होते हैं । ।

---

25. गो०सं०या०ख० 1.97, दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ।।

26. वही 21.18 गुरुप्रसादाल्लभ्येत नान्यथा तु कदाचन ।

शुद्ध विद्या :-

मानव अपने में पूर्ण है । उसमें न्यूनता और महत्ता का कारण, यदि कोई माना जा सकता है तो केवल विद्या को ही । परा और अपरा भेद से विद्या दो प्रकार की है । वहाँ परा की प्रधानता होने से पहले गिनती करने पर भी समझाने के लिए अपरा को ही लिया गया है[27]। ऋग्वेदयजुर्वेद,सामवेद,अथर्ववेद,शिक्षा,कल्प व्याकरण,निरुक्त,छन्द और ज्योतिष अपरा विद्या कहलाती है । परा उस विद्या का नाम है,जिससे अक्षर ब्रह्म जाना जाए क्योंकि उस अक्षर ब्रह्म से संसार वैसे ही पैदा होता है । इसके पश्चात् वह उसमें ही लीन हो जाता है ।जैसे मकड़ी से उसका जाला तैयार भी होता है और उसमें लीन भी हो जाया करता है ।[28] इसलिए उस ब्रह्म को बतलाने वाली विद्या को अवश्य ही उस प्राणी ने जानना है । तभी उसकी मानवता "मत्वा कर्माणि" निर्वचन पर ठीक उतर सकती है । वैसे तो जीव चौरासी लाख योनियों में से किसी न किसी योनि में गया हुआ ही रहता है । परन्तु मानवेतर योनियाँ, भोगकारी होने से वहाँ कोई उद्धार कर्म नहीं कर सकती । स्व उद्धार हो या पर उद्धार वह तो मानव योनि में आकर ही जीव कर सकता है । यह योनि कर्म योनि मानी गई

---

27. मु0उ0 1.4 कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति । तस्मै स होवाच । द्वे विद्ये विदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्म विदो वदन्ति परा चैवापरा च ।

28. वही 1.5.29,1.7

है । इसीलिए मानव के मस्तिष्क का विकास ह्रास उसके अपने हाथ में है । तभी तो महाभाष्य के पस्पशाह्निक में ज्ञान पूर्वक अप् शब्द के प्रयोग में अधर्म बतलाया है । इस तरह से अविद्या की उपासना करने वाले को अन्धेरे में व्याप्त घोर नरक में प्रवेश करना पड़ता है और उससे भी अधिक अन्धकारमय नरक में विना गुरु के जो विद्या की उपासना करता है उसे जाने को कहा गया है[30]। इसलिए ऋषि ने सलाह दी है कि विद्या और अविद्या के अध्ययन से मृत्यु को जीतकर अर्थात् प्राणायामादि विधि सीखकर विद्या अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान रूपी योग से मोक्ष को प्राप्त कर सकोगे[31]। इसी तरह असम्भूति और सम्भूति अर्थात् अविनाशी ब्रह्म ज्ञान तथा विनाशी जगत ज्ञान का प्रवाद भी वहाँ आया है । जिससे प्रतीत होता है कि स्वकीय ज्ञान से ही जब ब्रह्माण्ड ज्ञान अभीप्सित है तो सांख्य कारिका में बतलाए गए अतिदूर, अतिसामीप्य, इन्द्रियघात आदि में से जीव अपने को अतिसमीपता के कारण से नहीं देख पाता[32]। दूसरे करण के द्वारा ही दर्शन कर्म हो सकता है । पाणिनि ने तभी तो "करण को साधकतमम्" कहा है [33] आत्मा करणों से परे स्वतन्त्र कर्ता माना गया है[34]। गीता में

30• ईशावास्योपनिषद् 9• अन्धः तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ।

31 वही, 11, विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।

32• सा०का० 7

33• अष्टाध्यायी, 1•4•42

34• वही, 1•4•54 स्वतन्त्रः कर्ता

कहा है कि शरीर से श्रेष्ठ और आगे इन्द्रियाँ है उनसे आगे मन अन्तरिन्द्रिय माना गया है ,तब बुद्धि का स्थान आता है और आत्मा तो बुद्धि से भी परे है [35] इसलिए उसका तो दर्शन नहीं होगा अपितु विद्या के द्वारा,मनन निदिध्यासन और बोध ही किया जाएगा । जिसके लिए गोरक्षसंहिता, के कादि प्रकरण में मालिनी विद्या तथा चलचक्र ज्ञान दिया गया है । जिस चलचक्र में पाद अंगुष्ठ से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के षोडश तेजों को एक करके आखों को नाक की नोक रूपी बाह्य आधार में स्थित करने के षाण्मासिक अभ्यास की आज्ञा दी गई है । जिससे शरीर के अन्दर का तेज भूमि बनकर अलातचक्र की तरह घूमने लगेगा । जो शरीर में "रफलेक्शन" वर्चस्व को पैदा करेगा । तब आभ्यन्तरिक लक्ष्य को भेदन करने में साधक सफल होगा ।[36] क्योंकि चला नामक शक्ति का है,जब वह चक्र भेद में लग जाए ।[37] वे चक्र आठ-आठ अरों वाले पैर,जानु,उरु, नाभि,हृदय और कण्ठ में माने गए है । जो वज्रलेप जैसे दृढ़ हैं क्योंकि उन चक्रों की कर्णिकाओं में अत्यन्त बन्धन दिया गया है । वहाँ जब

35•गीता 2•42

36•गो०सं० का०प्र०पृ० 25, चलचक्रविभागेन लक्ष्यभेदमुदाहृतम् ।

37•वही, चलाशक्ति इति ख्याता चक्रभेदे व्यवस्थिता ।

सरस्वती रूपी विद्या या सुषुम्णा से होती हुई कुण्डलिनी पहुँचेगी, तब यदि उसका ध्यान किया जाए तो प्राण वायु से प्रेरित होकर वहाँ का तेज तपेगा और शरीर के बाहर का तेज भी चलचक्र घूमने लगेगा । जब वह तेज स्वयं को आभासित होगा तो छः मास में ही अणिमादि सिद्धियाँ मिल जाएँगी और चक्र भेद भी हो जाएगा । तब अर्ध चन्द्र की कला से युक्त ब्रह्म रन्ध्र में बैठे शिव में बिन्दु स्वरूप उसमें ध्यान लगावें ।[38] इससे नाभि कण्ठकूपादि कूपों को छोड़कर वह महाविद्या अपने पति बिन्दु रूप से मिलकर मोक्ष प्राप्ति कराए । उसी की प्राप्ति पर जीव हंस बन सकेगा और सहस्रार रूपी मानसरोवर में विचरण करके "समाधि लगाकर" आहार ग्रहण के लिए मणिपुर रूपी क्षीरसागर में आ जाएगा ।[39] इस ब्रह्मरन्ध्रगत बिन्दुरूपी शिव को संहिता में अनेक विशेषण दिए गए है । जैसे शून्यात्शून्यतर, निरामय, परम व्योम, अनाख्य, निराभास, प्रपंचरहित, मरणव्ययवर्जित, रूपारूपविवर्जित, परानन्द, परात्पर सर्वगत आदि ।

इस तरह जहाँ कादि प्रकरण में शुद्ध विद्या का उपदेश मिलता है, वहाँ योग

---

38. गो०सं का०प्र०, अर्धेन्दुकलयाभिन्नं रन्ध्रस्थं विन्थेत् प्रिये ।, पृ० 23

39. वही, का०प्र०, पृ० । आपादस्थलमूर्ध्निस्थं कन्दनाल समासृतीं । हंसयपं निराभासं भैरवं तं नमाम्यहम् ।

प्रकरण तो है ही ,क्योंकि योग ही वास्तविकरूप से शुद्ध विद्या है जिससे अमृत तत्व मिलता है । ज्ञान प्रत्यक्ष होता है, अविद्या रूपी कुण्डलिनी का विद्या रूपी शिव से मेल होता है नाद रूपी सृष्टि बिन्दु सृष्टि रूपी शिव में लीन हो जाता है । उस योग को ही शुद्ध विद्या कहा जाता है । विद् ज्ञाने धातु से यत् प्रत्यय करके बना विद्या शब्द प्रत्यक्ष ज्ञान में ही प्रयुक्त हो सकता है। तभी तो वेद और वेदान्त को उपनिषद्‌कार ने अविद्या की संज्ञा दी है । जिससे अक्षर ब्रह्म जाना जाए उसे विद्या कहा है । वह अक्षर ब्रह्म का ज्ञान योग से ही हो सकता है । जिसका" गोरक्षसंहिता में विषद् वर्णन है ।

पिण्ड में कुण्डलिनी जिसे कहा गया है,शिव के साथ जिसे शक्ति नाम दिया गया है,वही वेदान्तियों के शब्दों में माया कहलाती है । जहाँ पर वेदान्ती इस व्यापक ब्रह्म शक्ति को जड़ात्मक मानते हैं तथा ब्रह्मा की इच्छा रूप भी स्वीकार करते हैं,वहाँ गोरक्षनाथ इसे शिव की इच्छा "एकोऽहं बहुस्याम" स्वरूप तो स्वीकार करते हैं । वेदान्तियों से इनकी महाशक्ति में यही अन्तर आता है कि ये शिव से उत्पन्न शक्ति को भी चेतन स्वीकार करते है,क्योंकि चेतन से अचेतन पैदा नहीं हो सकता[39] । इसलिए चेतन शिव की माया रूपी शक्ति

39.गीता नसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

सां०का० ९,असदकरणादुपादानग्रहणात् ।

चेतन ही होगी। यह संसार का उत्पादन, रक्षण तथा भक्षण करती है । इसके ज्ञान को मुक्ति और भुक्ति को देने वाला कहा गया है[40] । यह माया तत्व अनिर्वचनीय है । इसके स्वरूप का वचनों में बान्धना मुश्किल है । इसे उपनिषद् में प्रकृति कहा गया है और शिव को मायी की संज्ञा दी गई है । उस मायी के शरीर के अंग स्वरूप सारे संसार को माना गया है[41] । उसे समझने के लिए विद्या की उपासना गिनाए हुए पीठों में करनी पड़ती है । अभ्यास होने पर पीठों प्रक्षेत्रों के समूह रूपी शरीर में नाद द्वारा उसका ज्ञान करना पड़ता है, निराचार योग से ध्याना पड़ता है । निराचार योग शक्ति योग का नाम है । उसको तब तक ध्याने का आग्रह है, जब तक वह ब्रह्म बिल अर्थात् गल की घंटी के छिद्र में प्रवेश न कर ले[42] । इससे जीव पशुपाश से विनिर्मुक्त होकर निरामय पद में चला जाता है ।

उसे यह प्राप्त करने की शक्ति कला प्राप्त करने पर मिलती है । ज्ञान देने वाली शक्ति के स्वरूप को गोरक्षनाथ ने मकड़ी के जाले जैसा बतलाया है, मध्य में मकड़ी की तरह छिपकर वह सारे जाल को अमृत जैसी किरणों से व्याप्त कर देती है । यही विरजा योगियों की आराध्य देवी है । ब्रह्म नाड़ी ब्रह्म ज्ञान प्रदायिनी है । चित्त शक्ति उस का अंश मात्र है । वह पूर्ण कहलाती है । कला, विकला, सकला, कलाकला

40· न मया कस्यचित्ख्यातं दिव्यज्ञानं महोदयम् ।
योगिनी गुह्य सद्भावं भुक्तिमुक्ति फलप्रदम् ।।

41· मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयव भूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ।।

42· का०पु० 10·95-96

का वह उद्गम स्रोत है । अतः वह पूर्ण है । वह विराट् रूपवती है, परन्तु उसकी प्राप्ति दिव्य चक्षु वालों को ही होती है । "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" इसीलिए कहा गया है । पुनः "पश्यामि देवांस्तव देव देहे" का बोध होता है । भीतर ही सब देवों के दर्शन होने लगते हैं । इसके बाद ब्रह्म ज्ञान होता है जिसमें समत्व की भावना आती है । ब्रह्मज्ञानी तो वही हो सकता है जो "श्री खण्डे न च विष्ठायां भेद पश्यति यो नरः"[43] । इतना कहकर गोरक्षनाथ समस्त समस्तकामनाओं को देने वाली, ज्ञान करवाने वाली अभीष्ट सिद्धि देने वाली, चार शरीरों से युक्त" सच्चिदानन्द तथा समष्टि रूप" चार शक्तियों से घिरी हुई, चार भुजा वाली माहेश्वरी विरजा को नमस्कार करते हुए, उसके ज्ञान से शरीर में सप्त पुरियों के ज्ञान की बात कहते हैं । मूलाधार-अयोध्या, मणिपुर-मथुरा, अनाहतचक्र-माया, विशुद्ध चक्र-काशी, आज्ञा चक्र-कांची, उसके पार अवन्तिका है । उससे भी ऊपर द्वारावती है । वहाँ पर भी विरजा का स्थान है । कपालों के बीच का जो प्रवेश द्वार है, वहाँ से समस्त द्वार दीखते हैं, इसीलिए उसका नाम द्वारावती कहा गया है ।[44] उसी के उपर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित अर्धचन्द्रकलायुक्त परात्पर शिव रहता है, जिसका ज्ञान विरजा में स्नान करने के पश्चात् ही हो सकता है । उस शिव के पूजन में कला के पूजन का विधान है । शिव की

---

43. सारस्वत कुण्डलिनी महायोग, पृ० 129

44. वही, पृ० 130

भावनाकरके "आग्नेय कोण में हृदय, ईशान में शिर, नैऋत्य में शिखा, वायव में कवच की पूजा करें इसके बाद दिशाओं में, अस्त्रों को फैलाकर भुवों के बीच में उनका पूजन करें । इसके बाद शशिनी, अंगदा, इष्टा, मरीचि, और ज्वालिनी की मध्य में पूजा करें । पुनः निवृति, प्रतिष्ठा विद्या और शान्तिकरी इनकी पश्चिमें, तमा, मोहाशया, अनिष्टा, व्याधि, मृत्यु, क्षुधा, और तृषा रूपी कला को दक्षिण में, सिद्धि, रिद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ता, स्वधा, प्रभा की पूर्व में, रजोरक्षा, रति, पाल्या, कामा, संजीवनी, क्रिया, बुद्धि, कार्या, धात्री, भ्रामिणी, मोहिनी और जरा की उत्तर दिशा में पूजा करे । इसके बाद "ॐ शिखानाथाय विद्महे स्वच्छन्दाय च धीमहि । तन्नो वीर प्रचोदयात्" इस गायत्री मन्त्र से अर्घ्य देने का विधान किया गया है ।[45] इसी तरह पिण्डिनी, पदिनी, रूपीणी, अमूर्ति, शान्ता, कौलिनी, अकुला, खण्डिनी, रति, अकुला, अर्थदाता, शुभगा, वेदनामा, करालिनी, मध्यमा, और सोलहवीं अन्तिमी कही गई है । जो चन्द्रमा और पुरुष में रहती है।[46]

---

45. गो०सं०का०पु० 12.54.60

46. वही, 12.107-112

राग

सुख के भोग करने पर पुनः सुख को भोगने की जो इच्छा होती है,उसका नाम राग होता है।[47] वह समाधि में अन्तराय स्वरूप माना गया है । मनुस्मृति में काम त्याग को प्रशस्त नहीं माना है । वेद विद्या कामना से पढ़ी जाती है,इसी से कर्म योग बनता है।संकल्प काम से पैदा होता है और संकल्प से ही व्रत,नियम धर्मादि किए जाते हैं । अकामता से कोई कर्म होते नहीं देखा गया[48] । गोरक्षसंहिता में भी जहाँ लोक समृद्धियों की प्राप्ति की जा सकती है,वहाँ जीवन मुक्ति तथा विदेह मुक्ति के भी साधन उसमें दिखाए गए हैं । "स्वानुकूल वेदनीयम् सुखम्" इस अन्नभट्ट के लक्षणानुसार लोग उसी में प्रवृत होते हैं । जिसमें सुख हो । मोक्ष में भी दुःखत्रय विघात करके,आत्यन्तिक सुख की इच्छा दर्शाने पर ही लोगों में प्रवृति उत्पन्न होगी । अतः संहिता में राग का जहाँ वर्णन कहीं उपलब्ध नहीं है तो भी कुण्डलिनी का जहाँ उत्थापन होगा और उसमें राग की उत्पत्ति होगी तभी जाकर वह अपने स्वामी से मिल सकेगी । अगर कुण्डलिनी शिव से और शिष्य का गुरु से राग न हो तो कैसे संयोग होगा ? संयोग के बिना मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं ।

दूसरे सामवेद के राग भी संहिता के प्रकरणों में नाद के साथ-साथ देखने को मिलते हैं । आत्माराम ने अपने ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि "तत्व के बोध से शून्य व्यक्तियों,मूढ़ों को भी जो ज्ञान करवाने वाली विद्या

---

47. पतंजलि, यो०द०,2.7 सुखानुशयीरागः ।

48. मनुस्मृति 2.2-4

है, उस नाद उपासना के शुरु में सागर, मेघ, भेरी झांझ जैसा वह नाद सुनाई देता है।[49] मध्य में शंख, घंटा, ढोल, वेणु, आदि को ध्वनि सुनाई देती है तभी तो संहिता के कादि प्रकरण में अघोर विद्या तथा शुद्ध विद्या के कवचदूती, नेत्रदूती, मुखदूती, अस्त्रदूती आदि के वर्णन समय में अनेक बार बिन्दुनाद काउल्लेख किया गया है, जिनके संयोग से पूर्वावस्था में अनेक रागों का श्रवण होता है। इन ध्वनियों के साथ-साथ चिण-चिण, चिंचिण, चिखाकी, छद्म तन्त्र निर्घोष शंखघोष, कांस्यताल मेघगर्जन, चिट्-चिट् और दुन्दुभि शब्द भी सुनाई देता है।[50]

काल :-

न्याय वैशेषिक ग्रन्थों में सृष्टि का वर्णन करने से पूर्व, उसके असाधारपकरण पदार्थों का वर्णन किया है। वैशेषिक दर्शन में पदार्थ दो प्रकार के भाव और अभाव रूप माने गए है। वहाँ भाव छ प्रकार से द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और सामान्य भेद से बांटा गया है। जबकि अभाव-प्रागभाव प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव से चार प्रकार का हो जाता है। इसका लक्षण करते हुए कहा गया है -अभिधेयत्वं प्रमेयत्वं वा पदार्थत्विम्"।[51] जो अभिधा शब्द का विषय हो या प्रमाज्ञान का विषय हो उसे पदार्थ कहा गया है। पदार्थ का पहला भेद द्रव्य है, द्रव्य पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल दिशा, आत्मा और मन के रूप में नौ प्रकार का बन जाता है। द्रव्य गणना के क्रम में

---

49. हठयोगदीपिका, 4.65

50. का०पु० 16.28-30

51. तर्कसंग्रह, पदार्थलक्षण टीका

पाँच महाभूतों के ऊपर काल का स्थान आता है । कलयति-पंचभूतानि स्वात्मनि लयति यः सः कालः । जो पाँचों महाभूतों को भी निगल जाता है, वही काल है । गोरक्षनाथ भी उस काल से भयभीत हैं क्योंकि यही सृष्टि का भक्षक है तभी तो पुराणों में इसे "कालो जगद् भक्षकः" कहा गया है । उसी को गोरक्ष भी अघोर कहते हैं जो शिव का दक्षिण का मुख माना जाता है । काल, विष्णु, शिव और शक्ति को अघोर कहा गया है ।[52] इसके बाद उस अघोर को षट् पदार्थ युक्त कहकर नौ द्रव्यों में प्रधान घोषित किया है ।[53] पुनः काल का लय विष्णु में, विष्णु का शिव में करके शिव को सर्वभक्षक अग्नि माना है ।[54] फिर वही शिवा शक्ति बनकर माया रूपी काल को लीन कर लेती है ।[55] तब उसका नाम गौरी हो जाती है । वह काले काल का भक्षण करके गौरी बन जाती है । फिर वह व्यापकता को प्राप्त करके ऋत् बनकर तुर्यपद अर्थात् सत् रज तम को लाँघ कर साम्यावस्था को प्राप्त करके उन्मनी अवस्था धारण कर लेती है ।[56] यही अमृत तत्व है तथा वेद मन्त्र " ऋतं च सत्यं च तपसा-

---

52. का०पु० 12.19 अघोरं अकालमित्युक्तं अघोरं विष्णुरुच्यते ।
अघोरोऽहं महेशानि अघोरा त्वं वरानते ।।

53. वही, 13.116, षट् पदार्थयुत देवो नवकेन प्रसिद्ध्यति ।

54. वही, 13.117, स एव कालो विज्ञेय सर्वभक्षी हुताशनः ।

55. वही, 13.118

56. वही 13.119

अध्यजायत" के रहस्य को बतलाती है । ऋत सूक्ष्म नित्य तत्व है । जबकि सत् दृश्यादृश्य व्यापक महान् तत्व होता है । इसलिए सत्य का आश्रय माना गया है । ऋत् भी वही माया रूपी गौरी काल का कवल करने वाली काली अघोर रूपी सत्य शिव की आश्रया है । वह शिव निर्वाण पद है[57-A] । यह निर्वाण पद काल से परे है,वहाँ पर न तो जरावस्था आती है । यहाँ महा पापों से होने वाले दुःख से भी निवृति मिल जाती है[58] । यह"सुप्रीम पावर" अर्थात् सबसे बड़ी शक्ति है । यह परात्पर नाथ है ।

57-का०पु० ।3-12। आश्रयं देवदेवस्य अघोरस्य महात्पे ।
निर्वाणं तु पदं दिव्यं स शिव परिकीर्तितः ।।

58- वही, ।3-122। न कवलवशं गच्छेन्न जरा न च दुःखितः ।

नियति :-

सृष्टि में दो तत्व मुख्य रूप से माने गए है -चेतन और जड़ । जिन्हें पौजिटिव और नैगेटिव भी कहते हैं । जहाँ तक भी दृश्यमान् सृष्टि का सम्बन्ध है वह नियति पर आधारित है । यह उपनिषदों की रयि कहलाती है। रयि में ही अनेकों विकार उत्पन्न होते हैं । वही घटती बढ़ती है । प्राण तो चेतन तत्व होने के कारण एकरूप रहता है । उसके सम्पर्क से ही रयि में संकोच विकास होता है । जिस प्रकार चुम्बक के संयोग से लोहे में गति हो जाया करती है । इसके विकार और ह्रास विकास भी निश्चित सीमा तक ही हो सकते हैं । इसी कारण इसे नियति या प्रकृति कहा गया है । वर्तमान युग में जहाँ इस प्रकृति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप को जानने की कोशिश की जा रही है वहाँ उसके संचालक को विस्मृत किया जा रहा है । आधुनिक विज्ञान की दौड़ में तीन तत्वों पृथिवी जल तथा तेज की उर्जाओं का विश्लेषण किया जा रहा है । ये ही प्रत्यक्ष दृश्यमान द्रव्य हैं । इनसे ऊपर वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा आदि को वे इन्हीं का विकार मानते हैं जबकि हमारे संस्कृत ग्रन्थों में इन सब की सत्ता भिन्न स्वीकार की गई है और नियति को अजा माना गया है लाल, काली और सफेद माना गया है[1]। उसकी सत्ता ब्रह्म इच्छा से स्वीकारी गई है । जब एकोऽहं बहु स्याम्" की भावना हुई तब से प्रकृति का जन्म हो गया और असीम शक्ति सम्पन्न नियति ने अपने नियन्ता को नियन्त्रित कर दिया । जिस करण व्यापक ब्रह्म भी नियन्त्रित होकर सीमा में बन्ध गया । इसे वेदान्ती लोग माया कहते हैं । सांख्य वाले प्रकृति कहते हैं , अन्य लोग इसे

---

1. श्वे०उ० । अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् ।

नियति या स्वभाव को संज्ञा देते हैं जबकि शैव सम्प्रदाय से प्रभावित नाथ सम्प्रदाय वाले इसे शक्ति शब्द से भी पुकारते हैं । शक्ति और शक्तिवान् का अकाट्य सम्बन्ध है और सांख्य वालों को तरह वह इनके मत से जड़ा भी नहीं है । चेतन ब्रह्म से उपजी शक्ति भी चेतन ही होगी तभी तो सांख्य[2] वालों का सत्कार्यवाद भी सुरक्षित रहेगा[3] । तभी तो अर्धनारीश्वर का शैव सिद्धान्त शैवों ने भी स्वीकार किया है । जैसे जल वीची भिन्नाभिन्न है वैसे ही ही शक्ति और शक्तिमान् भी भिन्नाभिन्न ही है ।

यह ब्रह्माण्ड के भेद से भिन्न होती है । यह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों में यह नियति कुण्डलिनी रूपों में अपना काम करती है । शरीर रूपी पिण्ड में कुण्डलिनी और बृहत्-ब्रह्माण्ड में शिव की शक्ति प्रलय काल में 36 तत्वों को निःशेष भाव से आत्मसात् करके परम शिव में तत्वरूपा होकर अवस्थान करती है । तभी तो वामकेश्वर तन्त्र में इस शक्ति को "कवलीकृतानि शेषतत्वग्रामस्वरूपिणी" कहा है[4] ।

इस शक्ति के पाँच भेद हो जाते है- निजा-परा, अपरा, सूक्ष्मा, और कुण्डलिनी ।

---

2. सि०सि०सं० 1.6 चिच्छीला कुण्डलिन्यतः ।

3. गीता, न सतोविद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
सा०का० 9 असत्करणादुपादानग्रहणात् ।

4. सि०सि०सं० 1.13 निजापरापरा सूक्ष्मा कुण्डली तासु पंचधा ।

जोव :-

जिस प्रकार सेशक्ति पंचधा विभक्त होती है और नियति से कुण्डलिनी तक को यात्रा करती है उसी प्रकार से शिव भी अपर, परम, शून्य निरंजन परमात्मा रूप में परिणत हो जाता है[5] । इस प्रकार निखिलानन्द सन्दोह शिव पाँच अवस्थाओं से गुजरते हुए प्रथम तत्व परमात्मा या सगुण शिव के रूप में आकर प्रकट हो जाया करता है, फिर कुण्डली शक्ति सृष्टि क्रम को आगे चलाती है और सूक्ष्म से स्थूल की ओर बढ़ती है । तब तीनों तत्वों की उत्पत्ति होती है, जो ये हैं सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या। उभय प्रधान शुद्ध विद्या, सदाशिव अहं प्रधान और ईश्वर इदं प्रधान है । सृष्टि व्यापार को अग्रसर करने के लिए अंहता कि प्राप्ति पाँच अवस्थाओं के भीतर होती है । इन अवस्थाओं का नाम आनन्द है । ये इस प्रकार नाथ सम्प्रदाय में गिने गए है-परमानन्द, प्रबोधानन्द, चिदुद्‌ययानन्द, प्रकाशानन्द और सोऽहमानन्द । इन्हीं आनन्दों के भीतर से गुजरते हुए शिव क्रमशः जीव रूप की संज्ञा को प्राप्त करता है । जिसका गोरक्षसंहिता में वर्णन आया है ।अकुल से कुल तक पहुँचने का वर्णन द्वादश पटल के अन्दर पूर्ण रूप से किया गया है । वहाँ पर जहाँ अव्यक्त से

5-सि0सि0सं0 1-14-15 ततोऽस्मितापूर्वमर्चिमात्रं स्यादपरं परम् । तत्स्वसंवेदनाभासमुत्पन्नं परं पदम् । स्वेच्छामात्रं ततः शून्यं सत्तामात्रं निरंजनम् । तस्मात्ततः स्व साक्षादभूः परमात्मपदं मतम् ।

व्यक्त तक की मात्रा का वर्णन किया गया है वही पचास कुलनायिकाएँ कुल पिण्ड में व्यवस्थित बतलाई गई हैं । जिनके नाम प्रथम सोलह पीठों के ऊपर पिण्डिनी, पदिनी, रूपिणी, अमूर्ति, शान्ता, कौलिनी, अकुला, खण्डिनी, रति, अकुला, अर्थदाता, शुभगा, वेदा, करालिनी, मध्यमा और अन्त्यचारी सोलवी कुलनायिका मानी गई हैं । ब्रह्म रन्ध्र के बीच में गुरु परम्परा क्रम से उसकी पूजा करने से सांसारिक भोगों की प्राप्ति और मुक्ति का संदेश दिया गया है । पुनः बिन्दु शक्ति और नाद रूपी त्रिमात्राओं का अ, उ म को कुल माना गया है उसे पाँच प्रकार का मानकर फिर सदाशिव, ईश्वर, विष्णु ब्रह्मादि रूप से जीव संज्ञा को प्राप्त करने का वर्णन किया गया है । जिससे गोरक्षनाथ जीव को शून्य में व्याप्त तेज की तरह शरीर में व्याप्त चित्तिरूपता को कहते हैं।[6] जो अग्नि स्वभाव युक्त है । यही क्रम सिद्ध सिद्धान्त संग्रह में कहा है कि परपिण्ड से आद्यपिण्ड, उससे साकार पिण्ड और, उससे महासाकार पिण्ड, उससे प्राकृत पिण्ड और अन्त में गर्भपिण्ड उत्पन्न होता है यही गर्भपिण्ड जीव संज्ञा से लोक में व्यवहृत होता है उससे ही भोग और मोक्ष मिलता है । इसे ही परम अद्वैत का भाव कहा गया है ।[7] इस तरह विकास की भिन्न अवस्थाओं को सत्य नहीं समझना चाहिए । यह सभी प्रक्रिया सत्य है । जितने आधार या नाड़ियाँ मनुष्य में है उतने ही ब्रह्माण्ड में तथा उतने ही एक परमाणु में भी है । अन्तर केवल सत्व, रज, तम, काल और जीव के आधिक्य

---

6. 12.135, शून्य व्यापीव तेजस्थं जीवं तु वह्नि संयुतम् ।

7-गो०सि०सं० ,13 पृ० अस्ति कश्चित्परमा द्वैतस्य भावः । सः एवात्मा मन्तव्यः ।।

न्यूनत्ववश, विकसित, अर्धविकसित और अविकसित का है । तभी गोरक्ष सिद्धान्त में यह स्वीकार किया गया है कि जो कुछ पिण्ड में है, वह सभी ब्रह्माण्ड में भी तदवत् मिलता है[8]। इसलिए पिण्ड ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है । मनुष्य शरीर को ही पिण्ड का प्रतिनिधि माना गया है । अतः उसमें कहाँ-कहाँ, कौन-कौन लोक स्थानादि माने गए है यह बतलाया गया है[9]।

इसलिए मानव को अपने ज्ञान से ही ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाया करता है । जैसा कि योग वासिष्ठ में रामचन्द्र जी के ब्रह्माण्ड दर्शन की इच्छा व्यक्त करने पर वसिष्ठ जी अपनी ब्रह्माण्ड यात्रा का वर्णन करते हुए, एक मार्ई के मिलने, रोने और दहाड़ने के प्रसंग, उसके दुःख दूर करने की इच्छा व्यक्त करने पर, स्त्री द्वारा समक्ष स्थित शिला को घर बतलाना तथा योग दृष्टि से उसमें छिद्र देखना, पुनः समस्त लोगों की यात्रा के बाद ब्रह्मलोक पहुँचना वहाँ पर दूसरे वसिष्ठ को देखना, ब्रह्म द्वारा उस सृष्टि से बाहर जाने की आज्ञा देना और रोने वाली स्त्री को अपनी वासना बतलाना, मृत्यु रूपी स्त्री से शादी की बात कहने से राम को अपने को जानने का आदेश देना तथा ब्रह्माण्ड को

---

8. सि०सि०सं० 3.2 ब्रह्माण्डवर्ति यत् किन्चित् तत्पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा ।।

9. का०पु० 12.1834 आधारे तु स्थितो ब्रह्मा नाभौ विष्णुर्व्यवस्थितः ।
रुद्रं च हृदि मध्ये तु ईश्वरं कंठ कूपके ।।

को बाह्य रूप से न समझकर, आन्तरिक रूप से समझने का आदेश दिया था । आन्तरिक रूप से इसे देखने की शक्ति अपने शरीर के मूलाधार में कुण्डलिनी के रूप में सब शरीरों [redacted] में विद्यमान है।[10] उसका उत्थापन करने पर जब वह षट्चक्रों का भेदन करके वामन अवतार के तीसरे कदम में ब्रह्माण्ड के फट जाने की कहानी के आधार पर जब ब्रह्मरन्ध्र रूपी द्वार से वह बाहर निकलने के योग्य बन जाएगी और प्राणों को अपने साथ वहाँ से ले जाएगी, तब उस जीव का लय बृहद् ब्रह्माण्डगत हिरण्यगर्भ की ज्योति के साथ एक हो जाएगा ।[11] आत्मा का अभिमान बन्ध है उस अहंकार की निवृत्ति ही मोक्ष है । जब सारे संकल्प विकल्प समाप्त हो जाते हैं तब ब्रह्म की स्थिति हो जाती है । जब द्वैताद्वैत विवर्जित [redacted] निश्चल पद मिल जाए तो वहीं नाथ-रूपता मानी गई है वही मोक्ष है । तभी तो नाथ को मोक्ष देने में चतुर, नाथरूपता ज्ञान देने वाले, स्थगित ज्ञान से जानने वाले को नाथ कहा गया है ।[12]

---

10. का०पु० 16·318 कन्दात् संजायते सृष्टिः कन्दं वै साप्तलौकिकम् ।

11. वही, 16·328 ऊर्ध्वाधो नीयते जीवो कोषाकारकृतिर्यथा ।

12. शक्तिसंगम तन्त्र, श्रीमोक्षदानदक्षत्वात् नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञान विभवात् श्री नाथ इति गीयते ।।

पञ्चमोऽध्याय : गोरक्षसंहिता में धर्म और दर्शन "उत्तरार्ध

वैष्णव धर्म स्वरूप :-

वैदिक युग के वरुण तथा इन्द्र देवता धीरे-धीरे क्रूर और निर्बल होते गए । बाद में इनका स्थान विष्णु ने ले लिया । तब विष्णु ही प्रधान देवता बन गए । उन्हीं को षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् की संज्ञा दी जाने लगी । ग्रीक राजा एण्टियालकिदाय का राजदूत हिलोयोडोर भागवत धर्म का अनुयायी था । वेस नगर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि 200 ईस्वी पूर्व हिलोयोडोर ने वासुदेव की प्रतिष्ठा में विष्णुध्वजस्तम्भ बनवाया था । जिस पर एक लेख में "परमभगवतो हिलोयोडोरः" आज भी देखा जा सकता है । इससे पूर्व घुसुण्डी के शिलालेख से ज्ञात होता है कि वासुदेव की पूजा होती थी । नाताघाट के शिलालेख इसी के पोषक हैं । महा वैयाकरण पाणिनि ने ईसा के 600 वर्ष पूर्व अपने 4·3·95 सूत्र में वासुदेव पूजन की सूचना दी है । दक्षिण भारत के आलवार समुदाय जिनका समय विशुद्धानन्द भारती के अनुसार ईसा से 700 से 900 के मध्य पूर्व माना जाता है, विष्णु भक्त थे । वासुदेव कृष्णपरक नहीं समझ लेना चाहिए । तैत्तिरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक में लिखा है कि "नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु प्रचोदयात् " । यहाँ वासुदेव शब्द विष्णु परक आया है, जबकि महाभारत में वासुदेव वसुदेव के पुत्र कृष्ण के लिए ग्रहण किया गया है ।

ऋग्वेद से लेकर महाभारत तक कृष्ण नाम के कितने महापुरुषों का उल्लेख आया है । ऋग्वेद 1·116·13 में विश्वकाय के पिता कृष्ण नाम के हैं । कौषीतकी-

ब्राह्मण 30·9 में कृष्ण आंगिरस का नाम मिलता है । ऐतरेय आरण्यक 3·2·6 में कृष्ण हरित का नाम आया है । छान्दोग्य उपनिषद् 3·17·4 में देवकी पुत्र कृष्ण को हम घोर आंगिरस के यहाँ अध्ययन करते पाते हैं । महाभारत में श्री कृष्ण का उल्लेख एक आचारवान् सर्वप्रिय सत्यवादी अद्वितीय योद्धा और राजनीतिज्ञ के रूप में आया है । हरिवंश पुराण और श्रीमद्भागवत पुराण के दसवें स्कन्ध में गोप गोपी जन प्रिय विशेषण से विभूषित कृष्ण का स्मरण किया जाता है ।

अस्तु जब-जब भूमण्डल पर धर्म की हानि हुई और अधर्म का उत्थान हुआ, तब-तब विष्णु को किसी न किसी योनि में अवतार लेना पड़ा और अधर्म का नाश करना पड़ा । इस तरह विष्णु दस बड़े चौदह छोटे अवतारों में अवतरित हुए, जिनमें से राम और कृष्ण मुख्य अवतार माने जाते हैं । इन अवतारों की उपासना से भक्ति से भक्त को नवधा भक्ति मिलती है और सामीप्य, सायुज्य, सालोक्य आदि मुक्ति प्राप्त होती है । जिसका विशेष वर्णन आलवार सन्तों ने अपने दिव्य-प्रबन्ध" नामक ग्रन्थ के पदों द्वारा किया है । जिसके विशेष प्रचारक नाथ मुनि रहे हैं । इन पदों में ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, समता और आनन्द की भावना का विशेष पुट मिलता है । जिससे ये अध्यात्म ज्ञान के खजाने माने गए हैं । तिरुवाय, मोड़ी, तमिल प्रबन्ध जिसका अर्थ है सन्तों के दिव्य मुखों से निकली हुई

1·गीता, यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

दिव्यवाणी में भी वैष्णव धर्म का सुचारु रूपेण उपदेश दिया है ।

सनातन धर्म के मूलाधार प्रस्थानत्रयी "गीता-उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्र" के व्याख्याता आद्य शंकराचार्य ने दृश्य वर्ग को माया प्रपंच जब सिद्ध कर दिया और विशुद्ध चिन्मात्र, सच्चिदानन्द घन को जानना ही ज्ञान सिद्ध कर दिया तथा भक्ति को इस ज्ञान का प्रधान प्रतिपादक माना । उनके मत से अपने शुद्ध स्वरूप का स्मरण करना ही भक्ति है ।

शंकर अद्वैतवाद भारत की विचारधारा क्षेत्र में तो सर्वोपरि रहा ही है । पाश्चात्य अणु-परमाणुवाद भी उसी तरफ जा रहे हैं । भारतीय दर्शन का परिपक्व फल शंकर मत ही है । अहं ब्रह्मा अस्मि" "तत्वमसि" आदि वाक्यों में शंकर वेदान्त का रस निचोड़कर रख दिया है तो भी इन वाक्यों की विस्तृत व्याख्या करके जगत् और जीव को नाम रूपात्मक मिथ्याप्रतीति कराने वाली माया या अविद्या की असत्ता उससे निर्लिप्त ब्रह्म की सत्ता ही इसका विशेष प्रतिपाद्य रहा है ।

इस मत में जीव ब्रह्म के एक हो जाने से सगुण ईश्वर भक्ति अथवा अवतारवाद की धारणा के लिए कोई गुंजाइश नहीं है । इसलिए भागवत धर्मानुयायी वैष्णवों ने इसके विरुद्ध बीड़ा उठाया औरसगुण ब्रह्म की उपासना के लिए यमुनाचार्य जी ने प्रचार आरम्भ किया । ये नाथ मुनि के पौत्र थे । इनके शिष्य रामानुज हुए । जिन्होंने प्रस्थान

त्रयी की व्याख्या करके विशिष्टाद्वैत की स्थापना की । इसमें विष्णु और लक्ष्मी के युगल रूप की उपासना आधिक्येन की जाती है । इस सम्प्रदाय के दीक्षित लोगों के ललाट कण्ठ, बाहु, नाभि, पार्श्व, कर्णमूल, शिरोमध्य, पीठ आदि बारह स्थानों पर शंखचक्र के चिह्न लगाए जाते है । "ओम् नमो नारायणाय" मन्त्र की दीक्षा दी जाती है जिसके पाठ से विष्णु लोक की प्राप्ति होती है । ये लोग बिल्ली के बच्चों की तरह अपना जीवन विष्णु के आगे समर्पित कर देते हैं और विष्णु से अपेक्षा रखते हैं कि हमें अच्छे मार्ग पर ले जाते हुए "नमो नारायण" जाप करने की सद्बुद्धि देंगे । जिससे भक्तों को वैकुण्ठ धाम की प्राप्ति या सायुज्य मुक्ति मिल जाए ।

रामानन्द आचार्य भी इस परम्परा के थे किन्तु उन्हें पूर्ववर्ती वैष्णवों के भोजन नियमों से घृणा थी । वे दृष्टि पात से भोजन आदि के दूषित होने को दुराग्रह मानते थे । उनकी श्रद्धा तुलसी शालग्राम में अधिक रही है । जबकि विष्णु के सभी अवतार भी इनके उपास्य देव रहे हैं । इन्होंने भारत की एकता को मध्य युग में बहुत सहयोग दिया । तभी तो ऊँच-नीच का विचार किए बिना इन्होंने कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना, सेनादि भिन्न जाति के लोगों को अपना शिष्य बनाया ।

वैष्णव धर्म के इस स्वरूप से तुष्टि न मानकर, माधवाचार्य जी ने द्वैत मत की स्थापना की थी । ये सन्यास मार्ग को अच्छा न समझकर त्याग के मार्ग को

उचित माना है । इन्होंने द्विविध तत्त्वयुक्त द्वैतमत को अनुमति दी । ये विष्णु को जगत् का नियन्ता मानते हैं ।

एको नारायणो ह्यासीत् न ब्रह्मा न च शंकरः ।

आनन्द एक एवाग्रे आसीन्नारायणः प्रभुः ।।

अर्थात् आरम्भ में एकमात्र अद्वितीय स्वरूप भगवान नारायण विद्यमान थे , न ब्रह्मा थे न शंकर थे । नारायण सर्वगुण सम्पन्न, स्वतन्त्र और आनन्द स्वरूप हैं । उन्हीं से ब्रह्मादि सब देव पैदा हुए हैं ।

इनके मत में भी भक्ति ही मुक्ति का साधन है । ध्यान के बिना ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो सकता । भक्ति की दस विधियाँ हैं – सत्यभाषण, हितवाचन, सत्पात्र में दान, प्रिय भाषण, स्वाध्याय , गिरे हुए का उद्धार, शरणागत की रक्षा, दरिद्र का दुख निवारण, भगवत् दासत्व की इच्छा और गुरु तथा शास्त्रों में विश्वास ।

इसके अतिरिक्त निम्बार्क का द्वैताद्वैत वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत, चैतन्य का अचिन्त्य द्वैत, हितहरिवंश की राधावल्लभी सम्प्रदाय, स्वामी नारायण जी का नारायणी सम्प्रदाय, प्राणीनाथ जी का परिणामी सम्प्रदाय, सतानी सम्प्रदाय आदि दक्षिण भारत में अनेक वैष्णव सम्प्रदाय वैष्णव धर्म के अनुयायी माने गए हैं । इस प्रकार से भक्ति का जन्म द्रविण प्रदेश में आलवार सन्तों द्वारा हुआ, कर्नाटक में बढ़ी हुई, महाराष्ट्र में अनेक दिनों तक स्थिर रही और गुजरात में क्षीण हुई ।

---

1. पद्म पुराण उत्तर खण्ड, 50-5।

शैव धर्म :-

जिस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय दक्षिण के आलवार सन्तों ने अग्रेसर किया और उसकी अनेकों शाखाएं तैयार कर दी, वैसे ही शैव मत भी दक्षिण के आलवार सन्तों द्वारा ही प्रसिद्ध हुआ, जिनकी संख्या चौसठ मानी गई है । । इसमें माणिक वाचक सम्बन्ध, वागीश और सुन्दर अधिक प्रसिद्ध माने गए हैं । आलवारों की अमर वाणियाँ आध्यात्मिक साहित्य के दो महान् ग्रन्थों में सुरक्षित है । एक का नाम "देवरन" अर्थात् भगवत् प्रेम के हार और दूसरे का नाम "निरुवाचकम्" अर्थात् पवित्र, ईश्वर लीला तथा परिय पुराण नामक ग्रन्थों में इनके पवित्र चरित्रों का वर्णन है ।

शैवों के मुख्य पाँच भेद हैं । क" सामान्य शैव भस्म धारण करते हैं, भूप्रतिष्ठित शिवलिंग की पूजा करते हैं, शिव भक्तों से मातृभाव रखते हैं, शिव परक व्यापार करते हैं, शिव की कथा सुनते हैं तथा शिव ध्यानादि अष्ट भक्ति करते हैं । "ख" मिश्र शैव उन्हें कहते हैं, जो पीठस्थ लिंग की पूजा करते हैं। साथ में शिव पंचायतन के लिए विष्णु, उमा, गणपति, और सूर्य की भी पूजा और स्थापना किया करते हैं । ये आद्य शंकराचार्य के अनुयायी स्मार्त शैव होते हैं । "ग" वीर शैव -वीर शैवों की मान्यता है कि अखिल जगत्, कर्ता, भर्ता, हर्ता, और ब्रह्म रूप शिव हैं । जगत् के अभिन्ननिमितोपादान कारण शिव ही है । इनके उपास्य शिवगण-वीरभद्र, नन्दी, भृंगी, वृषभ और स्कन्ध हैं । ये अपने को इनके कुल में पैदा हुआ मानते

हैं । वीर शैव समस्त जगत् को शिवमय मानते हैं । इनकी विशेषता इस बात पर है कि -

पर ब्रह्म इदं लिंगं पशुपाशविमोचनम् ।

यो धारयति सद्भक्त्या स पाशुपत उच्यते ।।

जो लिंग हमें गुरु से मिला है और धारणकर रखा है परब्रह्म ही है, इसी के धारण से हम पशुओं के पाश से छूटेंगे । जो भक्त इसे सद्भाव से धारण करेगा, वही पाशुपत सम्प्रदाय का कहलाएगा । ऐसा सोचकर वे लो ग जन्म से मृत्यु पर्यन्त अपने शरीर पर लिंग धारण करते हैं । इसके बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते । मद्रास प्रान्त में विशेष रूप से हैदराबादप्रान्त में इनकी प्रधानता है । यह सम्प्रदाय सृष्टि के आदि काल से चला हुआ है । इसमें सभी प्रकार के वेदान्ती विचारों का समावेश है । शिवाद्वैत, शक्तिविशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, भेदाभेदविशेषाद्वैत आदि कई प्रकार के विचार इसमें समाहित हैं ।

इनके पाँच मुख्य स्थान या मठ माने जाते हैं । इन स्थानों पर पाँच शैवाचार्य रहते हैं। जो उन स्थानों के शिवज्योतिर्लिंगों से निकले माने गए हैं । कोलनुपाल अवन्तिका, श्रीकेदार, श्री शैल और काशी ।

इनको आठ वर्ष में शिव दीक्षा दी जाती है । ये वर्णाश्रम को पूर्ण रूपेण मानते हैं । इनके मत के अनुसार कर्म से ही ज्ञान होता है जिससे मुक्ति होती है तीनों सन्धानों में गुरु से उपलब्ध लिंग की पूजा की जाती है । पशु हिंसा रहित यज्ञ इनके यहाँ होते हैं । मन्त्र भस्म, रुद्राक्ष और शैवों की तरह ही धारण करते हैं । रावण भी इसी मत को मानता था ।

इस मत वालों की संख्या भारत में लगभग पचास लाख से ऊपर है ।

"घ" वसव" पक्षी लिंगायत सुधारवादी पक्ष मानने वाले हैं । इस मत का आधार वसवेश्वर पुराण है । इस मत में लिंग धारण की प्रथा स्थिर है परन्तु वर्ण व्यवस्था का खण्डन किया गया है । वेदों,ब्राह्मणों के महत्व का खण्डन करके शिव के अतिरिक्त देवी देवताओं का भी खण्डन किया गया है । जन्मान्तर व्यवस्था,तीर्थयात्रा,प्रायश्चित्,अन्त्येष्टि,शौचाशौच प्रक्रिया आदि को सर्वथा भ्रमात्मक और अनौचित्य पूर्ण माना है । विधवा विवाह,सगोत्र विाह उचित माने गए हैं । इसलिए और शैवों से इस मत की भिन्नता सिद्ध होती है ।

"ङ" कापालिक" कापालिक शैव तान्त्रिक हैं । इस मत के साधु मनुष्य की खोपडी का कपाल रखते हैं तथा मद्यमांसादि पंच मकारों का लौकिक अर्थ में प्रयोग करते हैं तथा भैरव और काली की खुशा करते हैं । श्मशान में रहते हैं । गृहस्थों के यहाँ इस मत का प्रचार नहीं है ।

"च" प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय" यह शैव सम्प्रदाय उत्तरी भारत में विशेष रूप से काश्मीर में प्रसिद्ध है । इसके अनुसार सृष्टिमात्र शिव हैं । अद्वैत ज्ञान के साथ मुक्तियोग इनकी विशेषता है । केवल इस ज्ञान की आवश्यकता है कि जीव और ईश्वर एक है । यही ज्ञान मुक्ति है । दोनों में भेद ज्ञान भ्रम है ।

---

1. हिन्दुत्व, पृ0 697-98

यह ज्ञान शंकराचार्य के अद्वैतवाद का पोषक है और शिव सूत्रों पर आधारित है ।

"छ" शिवाद्वैत – यह सम्प्रदाय भक्ति प्रधान माना जाता है । इस मत में शिव को परब्रह्म की संज्ञा दी गई है । शिव की उपासना करने से ही मुक्ति मिल सकती है । निष्काम कर्म से पाप नाश, उसके बाद चित्त की शुद्धि होती है । जिसमें बोध सम्भव होता है । इसलिए कर्म ही बोध का कारण है । कर्म और ज्ञान के फल का नाम मुक्ति है । इस मत के प्रवर्तक श्री कण्ठ ने ब्रह्म को सगुण और सविशेष माना है । सर्व शक्तिमान् शिव सर्वज्ञ हैं । वे ब्रह्म हैं और जीवों को उनके कर्मों के अनुसार भोग प्रदान करते हैं । आत्मा या जीव अज्ञान रूपी वासनाओं से बद्ध है । जीव के बन्धन कट जाने पर वह पर ब्रह्म के समान ऐश्वर्य और आनन्द का अनुभव करता है । यही मुक्ति है । इस तरह यह मत द्वैतवादी कर्मभक्ति प्रधान है । वैसे सभी शैवों ने पशु, पाश और पति रूप से तीन तत्वों को माना है । पाशों के नाश से ही मुक्ति स्वीकार की है ।

शाक्त धर्म :-

निगम और आगम की व्याख्या करते हुए तन्त्र मन्त्रों में कहा गया है कि "निगम" वह शास्त्र है जिन्हें देवी ने शिव को उपदिष्ट किया है । "आगम" शिव ने देवी को उपदिष्ट किया था । शिव द्वारा प्रणीत तन्त्र शास्त्र तीन भागों में विभक्त है । आगम, यामल, मुख्य-तन्त्र, । प्रथम आगम तन्त्र में सृष्टि प्रलय देवपूजा, कार्यसाधन, पुरश्चरण षट्कर्मसाधन और चार प्रकार के ध्यान योग का वर्णन मिलता है । जिसमें सृष्टि, ज्योतिष, नित्यकर्म, क्रमसूत्र, वर्णभेद, और युगधर्म का वर्णन हो उसे यामल कहते हैं । जिसमें सृष्टि, लय, मन्त्र निर्माण, देवताओं के संस्थान, यन्त्रनिर्णय, तीर्थ आश्रम, धर्म कल्प, ज्योतिष व्रत कथा, शौचाशौच, स्त्रीपुरुष लक्षण, राजधर्म, दान, युगधर्म, व्यवहारिक और आध्यात्मिक विषयों का वर्णन किया गया हो उन्हें मुख्य तन्त्र कहते हैं । इस शास्त्र के सिद्धान्त अत्यन्त, गुप्त रखे जाते हैं । इसके मन्त्र विशेष रूप से एकाक्षरी बना दिए जाते हैं । जैसे ऐं-ह्रीं-क्लीं-आदि । पन्चमकारोपासना, चक्रपूजा इसकी पूजा में विशेष विधान है । अथर्ववेद में वर्णित मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि अभिचारों को शिव ने किल दिया था । देवी की प्रार्थना पर कलियुग के लिए पुनः तान्त्रिक ग्रन्थों का निर्माण किया है । इससे यह भी आभासित होता है कि तन्त्रशास्त्र सार्वदेशिक और सार्वकालिक है ।

बहुतों का विचार है कि तान्त्रिक धर्म वैदिक कर्मकाण्ड

का विकसित तथा कर्मोपयोगी एवं समयोपयोगी रूप है । कर्मकाण्ड के सोमरस के स्थान पर मद्य का प्रयोग यहाँ होता है । सामवेद के कथनानुसार ईश्वर को अकेला रहना अच्छा नहीं लगा । इससे उसने दूसरे संगी की इच्छा की । बस यही इच्छा उसका दूसरा संगी स्त्री रूप में परिणत हो गया । "एक एव द्विधा जातः" इन्हीं दो के संयोग से सृष्टि उत्पन्न हुई । "ब्रह्मवैवर्तपुराण" में इसे प्रकृति माया, महामाया या शक्ति नाम से पुकारा है । ब्रह्म प्रकृति का स्वभाव एक ही माना गया है । दोनों अनन्त और अनन्तगुणों से युक्त होने पर भी निर्गुण हैं । यही प्रकृति या शक्ति अनेक रूपों में परिणत हो जाती है- जैसे सावित्री, लक्ष्मी, और दुर्गा । ये प्रधान रूप हैं। वैसे तो समस्त स्त्री रूप उनके ही भेद हैं । मातृ रूप में वही परिणत है । जिस सम्प्रदाय में इस प्रकार के स्त्री तत्व की उपासना का विधान है, उसे ही शाक्तधर्म कहते हैं ।

समस्त शाक्त एक ही प्रकार की शक्ति की उपासना नहीं करते । कोई काली, कोई तारा, कोई सिंहवाहिनी, कोई जगद्धातृ आदि स्वरूपों को अपना उपास्य मानते हैं । इनमें से दस महाविद्याएँ सभी की उपास्य देवियाँ हैं । महाकाली, उग्रतारा, षोडशी, भुवनेश्वरी, छिन्नमस्ता, भैरवी, धूमावती, बगलामुखी, मातंगी और कमला ये दस विद्याएँ हैं ।

महाभारत युद्ध के बाद बौद्धकाल तक अर्थात् दो हजार वर्षों से भी अधिक समय तक भारत में तन्त्र मन्त्र का प्राबल्य रहा है । ऐसा बहुत से विद्वान् मानते हैं । ऋग्वेद के वाक्सूक्त 6·6। में महाशक्ति सरस्वती की स्तुति की गई है । जहाँ देवी ब्रह्म का आधार बनकर दृश्यादृश्य सृष्टि को अपना ही स्वरूप बतलाती है । अथर्व वेद के 4 काण्ड के सूक्त में भी [illegible] भगवती महाशक्ति कहती है कि "मैं समस्त देवताओं के साथ हूँ,सब में व्याप्त हूँ । केनोपनिषद् में बहुशोभना हैमवती,वाक्य से महाशक्ति का प्रकट ब्रह्म का निर्देश है ।

श्रीमद्भागवत् के स्कन्द 3 अध्याय 4 में शिव और दक्ष के वैर की कथा आई है । जिस में सती देवी के प्रसंग से इस धर्म का पता चलता है । शिव को शाप देते समय भृगु दीक्षा का उल्लेख किया है,वह भी तान्त्रिक वाम मार्ग पर घटता है । ग्यारहवें स्कन्ध में केशव पूजा करने की विधी का वर्णन मिलता है । बृहद् हारित संहिता में भी तान्त्रिक विधि का वर्णन मिलता है । व्यास संहिता में गुह्यमन्त्र के जाप के विधान से इसको दीक्षा दी गई है । इस तरह धर्म शास्त्रों में तन्त्रशास्त्र की महता स्वीकार की गई है । ब्रह्मपुराण,महाभारत,तथा रामायण में भी इस विद्या का उल्लेख है । बौद्ध लोग तारा और हयग्रीव की पूजा तान्त्रिक विधि से करते है ।

इस धर्म का ध्येय परमात्मा के साथ जीवात्मा की अभेद सिद्धि है । तान्त्रिकों का कथन है कि उपासक अपने इष्ट देवता के साथ अभेद स्थापित करे ।

इसलिए शाक्त धर्म अद्वैतवाद का साधनमार्ग है । इनकी हर एक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत है । सच्चा उपासक यही कहता है कि " अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् "

सच्चिदानन्द रूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् [2]।

अर्थात् मैं देवी हूँ,मैं ही ब्रह्म हूँ,मैं ही सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ ।

इस मत में तीन भाव और सात आचार बतलाए गए हैं । तीन भाव हैं -पशुभाव,वीरभाव और दिव्यभाव । कुलार्णव में वेदाचार,वैष्णवाचार,शैवाचार, दक्षिणाचार,वामाचार,सिद्धाचार और कौलाचार सात आचार बतलाए गए हैं । इनके अतिरिक्त कई तन्त्रों में अघोराचार और योगाचार भी स्वीकार किए गए हैं । भाव मानसिक अवस्था है तथा आचार बाह्याचरण । इनमें सर्वश्रेष्ठ कौलाचार माना गया है । इसमें साधक आत्म,स्थान,मन्त्र,द्रव्य,और देवता शुद्धि करके पंचसंस्कारों के आध्यात्मिक पक्षों का सेवन करते हुए अपने स्वरूप ज्ञान का बोध करके देवता के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है ।

---

2. आर्य संस्कृति के मूलाधार,पृ० 307

बौद्ध धर्म :—

संसार के समस्त धर्मों में बौद्ध धर्म ही दुःख के स्वरूप को बतलाने वाला है। दुःख के कारण का ज्ञान हो जाने पर उसका नाश स्वतः एव हो जाता है। इस धर्म की चट्टान चार आर्य सत्यों पर आधारित है-दुःख, दुःख हेतु, दुःख का निरोध तथा दुःख निरोध का उपाय। क्रोध रहित कामना रहित होकर पवित्र जीवन का निर्वाह करने से मनुष्य को दुःख नहीं हो सकता अर्थात् दुःख ही सब कुछ दृश्यमान है। तभी तो सर्वदर्शनकार ने बौद्ध धर्म को चार सूत्रों में बाँटा है -सर्वं क्षणिकम्-2, स्वलक्षणं, शून्यं-2, दुःखम्। इसलिए दुःखवाद ही बौद्ध धर्म का जीवातु है। कपिल का सांख्य दुःख को ही अपने विवेचनीय विषय का मूल मानते हैं। ये दोनों निरीश्वरवादी हैं।

बुद्ध ने बतलाया है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त ~~सामान्य जीवन~~ सारा जीवन दुःखमय है। यहाँ चाहे जितना भी प्रयास किया जाए, तो भी दुःख से निवृत्ति नहीं पाई जा सकती। चाहें सांसारिक दुःखों को ~~चाहे~~ सारी सामग्री जुटा दी जाए तो भी समस्त पदार्थों के क्षणिक होने के कारण दुःख पैदा होता है। आशाओं की पूर्ति भी दुःख का ही कारण है क्योंकि एक इच्छा की पूर्ति पर दूसरी इच्छा पैदा हो जाती है इसलिए तृष्णा का सर्वतोभावेन त्याग करने से ही दुःख का नाश हो सकता है। यही तृष्णानाश निर्वाण कहलाता है। अन्त में दुःखनाश के आठ उपाय हैं। जिन्हें अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना

जाता है । ये अष्टांग मार्ग निम्न हैं – सम्यक् दृष्टि, सम्यमक् संकल्प, सम्यक् वाक्य, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् जिविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि ।

इनका विषय विवेचन उनके अनेक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है जिन से मानव को सुखी जीवन प्राप्त हो सकता है । बुद्ध ने स्वयं कोई पुस्तक नहीं लिखी । उनके उपदेश मौखिक ही होते थे । इनके मरणोपरान्त पाली भाषा में उनके उपदेशों को संगृहीत किया गया । जिनका नाम पिटक है । ये पिटक तीन हैं –सुत, अभिधम्म और विनय । इन पिटको में बौद्ध धर्म के नियमों तथा समस्त कर्तव्य कर्मों का उपदेश मिलता है ।

यह धर्म भारत में थोड़े समय ही टिक सका । भारत के बाहर लंका, तिब्बत, चीन, जापान आदि देशों में अभी भी इसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है । कुछ देशों में तो यह राज धर्म माना जाता है ।

प्रतीकोपासना :-

नाथ सम्प्रदाय द्वैताद्वैत भिन्न प्रतीकोपासना से पूर्ण सम्प्रदाय है । इस सम्प्रदाय में प्रधान रूप से दो ही तत्व स्वीकार किए जाते हैं –योग और भोग । विशुद्ध योग मार्गी नाथ आरम्भ में कुछ कष्ट उठाकर योगमार्ग में प्रवृत हो जाते हैं और अपने शरीर को ब्रह्माण्ड का प्रतीक मानकर इसमें समस्त ब्रह्माण्डीय रचना के दर्शन को महत्व देते हैं ।

"यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे के प्रतीक का अपने योग मार्ग का प्रधान सूत्र मानकर कुण्डलिनी शक्ति को प्रकृति स्वीकार करके उसके द्वारा इस ब्रह्माण्ड में अनेकों रूपों की रचना सिद्धि आदि प्राप्त करके ब्रह्म रन्ध्र में स्थित उस शक्ति स्वरूप शिव को जो बृहत् ब्रह्माण्ड से हिरण्यगर्भ द्वारा प्रसारित शक्ति को लेता है उसे आदि नाथ का प्रतीक मानकर प्रथम तो बाह्य उपासना में लग जाता है और वहाँ पर घण्टी दुन्दुभि वीणा, वेणु, शंख आदि को बजाता है और उससे उत्पन्न शब्दों को अपने शरीर रूपी ब्रह्माण्ड में रखता है । इनके प्रतीक जब शरीर में दीखने लग जाते हैं तो नाथ योगी अपने को समाधि के नजदीक समझता है । उसी अवस्था में योग साधना के प्रतीक मुद्रा, विभूति, नाद और आदेश पालन रूपी बाह्य प्रतीकों को साधनानुरूप धारण करता है । तभी तो गोरखनाथ जी ने अपने शब्दों में कहा है -

बस्ती शून्यं शून्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा ।

गगन शिखर महं बालक बोलेहुं ताका नाम धरहुगे कैसा ।।

जिस प्रकार शून्य आकाश में आत्मा का भास होता है और नहीं भी । वैसे ही आत्मतत्व भी है । उसकी उपासना इन्द्रियों, अन्तःकरण एवं स्वप्नादि अवस्थाओं में अपने अनेक रूपों के माध्यम से करनी पड़ती है । इसे प्राकाम्या अवस्था में प्राप्त अनेक शरीरों की भ्रान्ति किया जाता है । इसलिए योग मार्ग के अनुयायी नाथों ने प्रतीक के माध्यमों से "स्थूणा-न्यधति न्याय से आत्मा की प्रतीति करवाई है । शरीर के माध्यम

से ब्रह्माण्ड का ज्ञान करवाया है । चित्त शक्ति को आत्मा माना है और उसका परमात्मा के साथ अनोखा सम्बन्ध जोड़ा है । यह सब कुछ प्रतीकात्मक है । यही नहीं इस सम्प्रदाय में गुरु को सबसे अधिक महत्व दिया है । है भी ठीक क्योंकि शिष्य के दुर्गुणों का नाश करने के कारण वह शिव, अच्छे गुणों का निर्माण करने के कारण वह ब्रह्मा, सद्भावों की पालना के कारण वह विष्णु होता है । यह गुरुत्व पद सर्वोपरि है और अवधूत को ही यह पद मिल सकता है । उस नाथ रूपता या गुरुरूपता को प्राप्त करना ही मुक्ति है । वह प्रतीकोपासना के द्वारा ही मिल सकती है ।

गोरक्षनाथ मत में प्रतीकाप्ति :-

गोरक्षनाथ की रचनाओं से उनके मत का स्पष्ट रूपेण ज्ञान हो जाता है कि वे किस प्रकार से स्वरूप को प्राप्त करते हैं । सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति में पिण्ड ब्रह्माण्ड की समरूपता प्रतिपादित करते हुए, छत्तीस तत्वों का विवेचन किया गया है । उनसे बने अवलोकन पिण्ड की उत्पत्ति से पहले परपिण्ड, आद्यपिण्ड, साकार-पिण्ड और प्राकृत पिण्ड का विवेचन किया गया है । जो सूक्ष्म नाथ से स्थूल तक एकरूपता जोड़ते हैं । स्वयं अवस्था से कुलाकुल दो तत्व पैदा होते हैं । तब वह शिव सगुण कहलाता है । यह अर्धनारीश्वर के रूप में स्थित कहलाता है । उनका भेद नहीं हो सकता । इसीलिए कहा गया है कि शिव के अन्दर शक्ति है और शक्ति में शिव विद्यमान् है । दोनों में अन्तर नहीं किया जा सकता जिस प्रकार चन्द्रमा और चान्दनी में अन्तर नहीं है । जब वह विस्तृत होती

है तो शक्ति बन जाती है जब संकोच होता है तो शिव । उनका संयोग करवाने वाला ही योगी राजनाथ होता है । यह शक्ति चेतन है जड़ नहीं । जो केवल परमात्मा है । जीव कैवल्य को प्रतीकोपासना के माध्यम से यदि योग मार्ग पर चले तो प्राप्त कर सकता है । योग में सर्वप्रथम शरीर साधन किया जाता है । तब आभ्यन्तरिक धारणा ध्यान समाधि का अभ्यास करके कैवल्य में लीन होता है ।

प्रतीकों का आध्यात्मिक स्वरूप :-

जिस प्रकार सनातन धर्मी लोग भगवान् की मूर्ति बनाकर पूजा करते हैं और निराकार को साकार बनाकर अपना विश्वास उसमें दृढ़ करते हैं वैसे ही सनातन धर्म के प्रहरी नाथ लोग भी ईश्वर को जड़ मूर्ति नहीं मानते अपितु चेतन ब्रह्म चेतन काया रूपी मूर्ति की पूजा करो, उसे समझो, क्योंकि वही ब्रह्म का प्रतीक है । उसमें रहने वाली कुण्डलिनी चेतन प्रकृति और विरजा उसके साथ ही जागृत होने वाली हिरण्य गर्भ रूपी ज्ञानगार है । बृहद् विश्व में विख्यात अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका और द्वारावती को योगी लोग अपने देह में ही देखते हैं[2] । जैसे मूलाधार अयोध्या, मणिपूर

---

1. कादि प्रकरण भूमिका "ज"

2. सारस्वत कुण्डली महायोग, 13 अयोध्यां मथुरां मायां काशीं कांचीमवन्तिकाम् ।
राजद्वारावती चैव देहे पश्यति योगवित् ।।

मथुरा,अनहत चक्र माया पुरी ,काञ्ची कण्ठ में आज्ञा चक्र में काँची और उससे ऊपर सहस्रसार में अवन्तिकापुरी है । उससे भी ऊपर ब्रह्मरन्ध्र में द्वारावती नगरी है[3] जहाँ विरजा ज्ञान नदी बहती है और हिरण्यगर्भ से उसी मार्ग द्वारा ज्ञान देह में जाता है । वह ब्रह्म रन्ध्र से प्रवाहित होने वाली "विरजा शीतोष्ण समभागा सा" मानी जाती है । तभी तो उसका सन्तुलन बनाने एवँ समशीतोष्ण रखने हेतु हिन्दु जनोंने गोरक्षपुर गो खुर " प्रमाण चोटी रखने का विधान बतलाया है ।

यही नहीं कौलमार्ग में निर्दिष्ट पँचमकार भी प्रतीक है उनका अर्थ गुरुगम्य माना जाता है। तभी तो मद्य के पान का तात्पर्य है कि योगी षट्चक्र भेदन करके ब्रह्मरन्ध्र सहस्रसार में पहुँचता है तब उसे सोमचक्र से सफेद रंग का मधुर अमृत बहता है उसी के पान को साधक सुरा पान कहते हैं । उसके पान से साधक को अमृत काया या वज्रदेह मिलती है[4]

---

3. सारस्वत कुण्डली महायोग पृ० 130 ,मूलाधारेऽयोध्या च मथुरा मणिपुरके । मायावती हृदयाकाशे कण्ठे काशी च विद्यते । आज्ञाचक्रे भवेत् काँची ततोश्चोर्ध्व-मवन्तिका । यत्र द्वारावतीप्रोक्ता तत्र सा विरजा स्थिता ।

4. भैरव यामल, ब्रह्मस्थानसरोजपात्रलसिता ब्रह्माण्डतृप्तिप्रदा ।
या शुभ्रा सुकला सुधा विकसिता सा पान योग्या सुरा ।।

आगमसार, सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्रात् वरानने ।
पीत्वा नन्दमयीं तां य स एव [illegible] मद्यसाधकः ।।

पंचमकार का दूसरा तत्व "मांस" है जो साधक वाक्य संयम द्वारा आत्मसंयमी होकर आशा तृष्णा काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि पशुओं को, ज्ञान रूपी तलवार से काटकर बलि देता है और स्वकृत कर्मों को ब्रह्म के अर्पण करता है । वही "मांस" भक्षक साधक है ।[5]

पंचमकार का तीसरा तत्व मत्स्य है । जो साधक मन सहित सब इन्द्रियों को वश में कर लेता है और गंगा यमुना रूपी इडापिंगला नदियों में चलने वाले दो श्वास प्रश्वास रूपी मछलियो को प्राणायाम द्वारा खा जाता है । वह "मत्स्य" साधक माना जाता है ।[6]

पंचमकार का चतुर्थ तत्व है "मुद्रा" सार महापद्म के बीच मुद्रिता कर्णिका के अन्दर "द्विदल पदम मध्य में" जो विशुद्ध पारे के समान आत्मा है, जिसका तेज सहस्र सूर्य चन्द्रों के बराबर है, जब वह महाकुण्डलिनी से युक्त होता है, उस स्थिति का ज्ञान योग बल से साधक करता है, उसे मुद्रा कहते हैं ।[7]

पंचमकारों में पंचम तत्व "मैथुन" है। सहस्रसार के ऊपर वाले बिन्दु "लिंग" रूपी परमात्मा के साथ जो साधक योग द्वारा कुण्डलिनी जीवात्मा को मिलाता है । वही मैथुन तत्व का उपासक है । योगी लोग अहर्निश इस प्रक्रिया में लगे रहते हैं ।[8]

---

5. भैरवयामल , कामक्रोधसुलोभमोहपशुकांश्छित्वा विवेकासिना ।
मांसं निर्विषयं परमात्म सुखदं भुंजति तेषां बुधाः ।।
पुण्यापुण्यौभयं हत्वा ज्ञानखड्गेन योगवित् ।
परे लयं नयेच्चितं स मांसाशी निवेद्यते ।।

6. वही, मनुसादीन्द्रियगणं संयम्यात्मनि योजयेत् । स मीनाशी भवेद्देवी इतरे प्राणघातकाः ।
गंगायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा । तौ मत्स्यौ भक्षेत् यस्तु [illegible] स भवेत् मत्स्यसाधकः ।

7. वही, सहस्रसारे महापद्म कर्णिका चरेत् आत्मा तत्रैव देविशी केवलं पारदोत्तमः सूर्यकोटिप्रतीकाशः चन्द्रकाटि सुशीतलः । अतीवकमनीयश्चमहाकुण्डलिनीयुतः । यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रा साधक उच्यते ।।

8. वही, सहस्रसारोपरिबिन्दौकुण्डलीमिलनाच्छिवे । मैथुनं परं दिव्यं यतीनां परिकीर्तितम् ।।

इन्हीं पंचमकारों से साधना करने पर निम्न सिद्धियाँ मिलती हैं ।[9]

1.मद्यपान से अणिमादि अष्टसिद्धियाँ मिलती हैं ।

2.मांस भक्षण से नारायण स्वरूपता ।

3.मत्स्यभक्षण से कालिका या देवी का प्रत्यक्ष दर्शन ।

4.मुद्रा सेवन से विष्णु सदृशता ।

5.मैथुन द्वारा महायोगी सदाशिवता को प्राप्त कर लेता है ।

इस प्रकार से प्रतीकों द्वारा निर्दिष्ट नाथ मार्ग,आम,साधारण लोगों में बदनाम हो गया । लोगों में इस धर्म के प्रति धारणा ही ऐसी बन गई कि ये हठयोगी व्यभिचार करते हैं । इनके यहाँ बलि दी जाती है । इससे नाथयोगियों का लोगों से सम्बन्ध विच्छेद होने लगा । नाथ सम्प्रदाय अनेकों सम्प्रदायों को जोड़कर बना है । जैसे शैव मत,शाक्त,बौद्ध ,वैष्णव आदि । गोरक्ष सिद्धान्त में शंकराचार्य के मत को पराभव की कहानी आई है । वहाँ कापालिक ने शंकराचार्य को हराया । यह लेखक अपने को कापालिक भी नहीं मानता । वह अपने को सब कुछ स्वीकार करता है । वह अवधूत अर्थात् जिसने सब कुछ छोड़ दिया है और अब स्वच्छ निर्मल सा बन गया है ऐसा अपने को कहता है । शाबर तन्त्र में परिगणित 12 आचार्यों में आदि नाथ गिने गए हैं । तन्त्रों के उपदेष्टा

9.महानिर्वाण पटल, 11

भी नाथ ही माने गए हैं।[10] शाक्त मत के अनुसार चार मुख्य आचार हैं। वैदिक, वैष्णव, शैव, और शाक्त। इनमें शाक्त आचार भी चार प्रकार का माना गया है। वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार, और कौलाचार। सभी आचारों में शाक्त आचार को उत्तम माना गया है। शाक्ताचारों में कौल आचार सबसे उत्तम है। कौलाचार में भी वीरचक्र और पंचमकारों की उपासना मुख्य मानी गई है। जिनकी प्रतीकात्मकता हमने बतला दी।

अतः नाथ सम्प्रदाय गुरु गोरक्षनाथ की वह खिचड़ी है जिसमें समस्त पक्वान पड़े हों जो उसमें लेना चाहे वह उससे ले सकता है। इस सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत विभाग विवर्जित साकार, निराकार, वियुक्त पिण्ड ब्रह्माण्ड व्यवस्था सम्पन्न धर्म का उपदेश दिया गया है। नाथ पन्थी अपने गुरु को नमस्कार भी प्रतीकों अर्थात् मुद्रा प्रदर्शित करते हुए करते हैं। जिनका प्रभाव हमारे समस्त कर्मकाण्ड पर आज भी मिलता है, क्योंकि जप के आदि और अन्त में मुद्रा प्रदर्शित करनी पड़ती है। गायत्री जापके आरम्भ में सुमुखं सम्पुटं चैव.." आदि 24 मुद्राएँ। यही नहीं अपने हिन्दु धर्मशास्त्र का वास्तविक अनुसरण नाथ सम्प्रदाय में ही देखा गया है। जो अपने गुरुओं के चरणों को "सव्येन सव्यं अपसव्येन अपसव्यं स्पृशेत्" का उपदेश दिया है वह यहाँ पर "अरूरप" शब्द के साथ प्रणाम करते समय देखा गया है।

---

10. नित्यातन्त्र, कादितन्त्रा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्व सिद्धये।
तत्रं यदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयन् ॥

योग साधना में देशकाल का महत्व :-

भारत देश का जब विश्लेषण किया जाता है ,तो "भा" प्रकाश, "रत" तल्लीन इसका अर्थ होता है । जो देश हमेशा प्रकाश रूपी ज्ञान में तल्लीन रहे या बुद्धि में लगा रहे । यह समस्त विश्व के प्राणियों का मार्ग द्रष्टा रहा है । पिछले कुछ सौ वर्षों से पश्चिम के लोगों की जिज्ञासा रही है कि योग क्या है वहाँ पर बृहत्त्रयी जैसे भारत की महान् ज्ञान निधि के अन्तर्गत गीता जैसी सार्वभौम पुस्तक भी उसका सम्पूर्ण उत्तर एक वाक्य में नहीं देपाई । उसे भी लिखना पड़ा "योग कर्मसु कौशलं " कर्म की कुशलता ही योग है ।"किम् कर्मः किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता," कर्म और अकर्म क्या है यहाँ कवि लोग भी मोहित हो जाते हैं । मनु जैसे विद्वान् को भी धर्म का कर्म बतलाते हुए कहना पड़ा था कि वेद,स्मृति,सदाचार, और अपने को अच्छा लगने वाला कर्म ही धर्म है ।पूर्वोक्त तीनों वेद स्मृति और सदाचार में से जो अपने को अच्छा लगे । गीता का दूसरा वाक्य "समत्वं योग उच्यते" अर्थात् सुख दुःख रागद्वेष,लोभ वैर इत्यादि परस्पर विरोधी द्वन्द्वों में समदृष्टि रखना ही योग है । यहाँ योग को महिमा बतलाई गई है किन्तु याज्ञवल्क्य ने योग की सम्यक् कल्पना हमें दी है "कि सब धर्मों का सार यही है,सबसे श्रेष्ठ धर्म यही है कि मनुष्य योग की साधना साधकर आत्मा का साक्षात्कार करें । पुरुषार्थ चतुष्टय में

1•म०स्मृ० 2•12 वेदःस्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियात्मनः ।

एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ।।

2•या०स्मृ० अयं तु परमो धर्मः यद् योगेन आत्मदर्शनम् ।

उत्तरोतर क्रम से महत्व माना गया है । अन्त में मोक्ष ही सर्व प्रधान है । उस मोक्ष को प्राप्त करने के लिए प्रत्येक उपासक का प्रयत्न होता है । यह प्रयत्न कौशल भी तभी सफल होता है अगर देशकालानुकूल इसका प्रयोग किया जाए । अतः योग के लिए कौन सा देश अनुकूल या प्रतिकूल है इस विषय में जब विचार किया जाता है तो कह सकते हैं कि सोधी समतल भूमि चाहिए । गोमय से उसका लेप होना चाहिए । यह एकान्त और नगर से दूर होनी चाहिए । सम्भव हो तो नदी के किनारे जहाँ जल की सुव्यवस्था हो और हमेशा जल प्रवाहित होता रहता हो, ताकि उसकी अजस्र ध्वनि साधक के कानों में प्रविष्ट होकर अहनद्नाद के साथ एकरूप होकर पिण्ड की व्यष्टि आत्मा ब्रह्माण्ड के समष्टि आत्मा से एकरूपता स्थापित कर सके । या फिर पहाड़ की चोटी होनी चाहिए । जहाँ वायु की सनसनी सर्वदा फैली रहे । इधर उधर का वातावरण शुद्ध होना चाहिए । तुलसी वन, पिप्पल का पेड़, चीड़ दयार का जंगल और भी उपयोगी हो सकता है । क्योंकि नाड़ी शुद्धि के लिए औषधी संपृक्त वायु का सेवन उतना ही उपयोगी होता है जितना स्वर्ण गो का पंचगव्य । ब्राह्मण के लिए जैसे श्वेत गाय, क्षत्रिय के लिये लाल, वैश्य के लिए श्याम और शूद्र के लिए चितकबरी गाय का पंचगव्य उपयोगी है । इससे अतिशीघ्र नाड़ी शुद्ध होकर मन स्थिर हो

जाता है,प्राणायाम लग जाता है,समाधि लग जाती है । यह सम्भावना एकान्त स्थान में हो सकती है । अतः गुफा देश मन्दिर,कुटिया आदि स्थलों में योगी आसनस्थ होकर अपनी दृष्टि आज्ञा चक्र में स्थिर करके वहाँ बिन्दु का दर्शन करके स्थिर करें । यदि वह चंचल हो तो पादांगुष्ठ से लेकर सिर पर्यन्त अलातचक्र की तरह एक प्रकाशमय चलचक्र दर्शन करें । पुनः बिन्दु में स्थिर हो जाए,जिससे अहनद की नाद को मेघगर्जन की ध्वनि सुनाई देगी । पुनः वह अनेकों रूपों को धारण करती हुई दुन्दुभि,वीणा, वेणु,भेरी,शंख आदि के रूप में सुनाई देती है । यह तभी तक सुनेगी जब तक कुम्भक प्राणायाम लगा रहेगा । यदि नगर के समीप जनसम्मर्द में इन निर्दिष्ट नादों और बिन्दु आदि का अभ्यास करना हो तो रात्रि के समय ही हो सकता है । वर्तमान में रात्रि का समय भी शून्यता युक्त नहीं है ।

दूसरे जब कोई योगी सांसारिक बन्धन छोड़कर योग में लग जाता है तब उसके पाप नष्ट हो जाते हैं । उसकी स्थिति अध्यात्म रूप में ऊँची होने लगती है । तब ग्राम देवता,स्थानदेवता,भूतपिशाच,यक्ष,राक्षस, आदि बाधा डालते हैं । संसार का नियम है कि सब कोई अपने से ज्यादा उत्कर्ष किसी का नहीं देखना चाहते । दूसरे योग का समय भी निश्चित है । वास्तव में अहोरात्र की अष्ट प्रहरात्मक छोटी सन्धियाँ है,चार सन्ध्याएँ मुख्य सन्धियाँ हैं । जब दो वस्तुएँ संयुक्त होती है उसे योग कहते हैं । उस समय ही किया गया

उपाय भी सफल होता है । हमने यह सिद्धान्त स्वीकार किया है कि "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" तो जब ब्रह्माण्ड में ही ओस पड़ रही हो, उससे पृथ्वी में अमृत तत्व पैदा करके उर्वरकता बढ़ाई जा सकती है । उसी समय प्रत्येक पिण्ड में भी सहस्रसार रूपी अनन्त आकाश से अमृत रूपी मधु गिरता है । जिसका पान करने से शरीर योग के योग्य बन जाता है । यह यद्यपि दो सन्ध्याओं प्रातः सायं में बरसता है, तो भी अधिक महत्व प्रातः सन्ध्या का माना गया है। क्योंकि व्यापक प्रकाश को देने वाला ब्रह्म मुहूर्त कहलाने वाला यह समय समस्त जगत् का उद्बोधक होता है । यह ठीक है कि "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" तो भी इसका तात्पर्य अन्यत्र ही फलीभूत होता है । यहाँ तो वास्तविक रूप से ब्राह्म मुहूर्त ही सम्पूर्ण योग का विकास करने के लिए उचित समय है । अभ्यस्त होने पर सारा समय ही उसके अभ्यास के लिए उचित है ।

<u>यम और नियमः-</u>

योगी के लिए मोक्ष ही सर्वोत्तम गन्तव्य स्थान माना गया है । ऐश्वर्य आदि सिद्धियाँ तो योगी के प्रत्यवाय ही मानी जाती है । वहाँ पर भी ज्ञान ही मोक्ष का कारण माना जाता है । जैसा श्रुति में प्रतिपादित है कि "ऋते ज्ञानान्मुक्तिः" पर ज्ञान का कारण मोक्ष माना जाता है । तभी तो कहा है कि ममत्व दुःख का और

निर्ममत्व ही अत्यन्त निर्वृति का मूल है । निर्ममत्व से वैराग्य,वैराग्य से योग,योग से ज्ञान ज्ञान से मुक्ति प्राप्त होती है[3]। अतः योग की अनिवार्यता का इस कथन से पूर्ण विवेचन हो जाता है । महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन में उसकी प्राप्ति की विवेचना की है । वे कहते हैं कि योग प्राप्ति के लिए तीन तरह के साधन हैं । चित वृत्तियों के निरोध को योग की संज्ञा दी गई है[4]। वह निरोध,अभ्यास और वैराग्य से हो सकता है ।[5]वह अभ्यास किस चीज का होना चाहिए । इस जिज्ञासा का उत्तर देते हुए,सूत्रकार कहते हैं कि "ईश्वर के प्रति अपनी बुद्धि के अर्पण का अभ्यास[6] तथा तप स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान क्रिया योग का भी अभ्यास करना होगा । वैराग्य के लिए अष्टांगों का अभ्यास भी अत्यावश्यक है । वे अष्टांग है -यम,नियम,आसन,प्राणायाम,प्रत्याहार,धारणा,ध्यान और समाधि हैं[7]। इन अष्टांग के अभ्यासों से चित के उपर संस्कारों के आवरण का जो पर्दा है वह नष्ट हो जाता है । अतः इन क्रिया योगों को साधक को अवश्यमेव करना पड़ता है ।

उन आठ में यमो की संख्या पाँच है । जैसे अहिंसा,सत्य,अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ।

अहिंसा :-

सर्व प्रकार से सर्वकाल में किसी प्राणी का चित में भी द्रोहन करना अहिंसा है[8][9]।

3-यो०वि० पृ० 176,निर्ममत्वं विरागाय वैराग्याद्योगसंगतिः । योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानान्मुक्तिः प्रजायते ।
4-यो०द० 1-2
5- वही, 1-12
6- ईश्वरप्रणिधानाद्वा 1-23
7-यो०द० 2-29
8-वही,2-30
9-वही 2-30 पर व्यासभाष्य,सर्वथा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहोऽहिंसा ।

हिंसि प्राप क्रियोगे धातु से अच् प्रत्यय करके नञ् समास में यह शब्द बनता है । जीवन योग की साधना में तभी तो हिंसा की व्याख्या करते हुए काकाकालेलकर ने कहा है "समाज में जो अत्याचार शोषण और धोखेबाजी चलती है वह सब हिंसा का ही प्रकार है । इन प्रकारों से अपने को बचना अहिंसा की उपासना है ।[10]

2•सत्य :- सत्सु तायते युक्ति के अनुसार जो सज्जन पुरुषों में फैल जाए तथा दुष्ट पुरुषों में छिप जाए अर्थानुकूल वाणी और मन का व्यवहार ही सत्य है । जैसा देखा,सुना अनुमान किया हो वैसा ही दूसरों के प्रति कथन करना ~~और मन में धारण करना~~ और मन में धारण करना ही सत्य है । वही ईश्वर है ।[11]

3•अस्तेय :- शास्त्रों में जिन चीजों का निषेध किया गया है उन्हें लेना चोरी या स्तेय कहा जाता है । उसका निःषेध ही अस्तेय है । या अस्पृहा को ही अस्तेय कहते हैं ।

4•ब्रह्मचर्य :- अपनी इन्द्रियों का संयम रखना ही ब्रह्मचर्य है ।[12] वह आठ प्रकार से करना

10• जीवन योग की साधना,पृ० 208

11• व्यासभाष्य, 2•30

12•वही, 2•30 गुप्तेन्द्रियस्य उपस्थस्य संयमः ।

पड़ता है । दर्शन, स्पर्शन, स्मरण, क्रीडन कीर्तन, एकान्तवास, गुह्यभाषण और क्रिया निवृति रूप ।

अपरिग्रह :- विषयों का प्राप्त करना परिग्रह कहलाता है । जब विषय प्राप्त हो जाते है तो उनकी रक्षा की चिन्ता, उनके नाश से चित्त में क्षोभ होता है, उसी क्षोभ से हिंसा की उत्पत्ति हो जाती है । इस प्रकार विचार कर जो विषयों को स्वीकार कर न करने का विचार है उसे अपरिग्रह कहते हैं ।

नाथ मार्ग का परमपद नाथ है । गोरक्ष सिद्धान्त ने तभी कहा है "नाथस्वरूपेणावस्थानम्" इति । नाथ के बारे में पहले ही बतला दिया है कि प्रसार और संकोच के आदि और अन्त को ही साम्यावस्था रूपी नाथ कहते हैं । यही साम्यावस्था मानी जाती है और यही समाधि की स्थिति है । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए, गुरु कृपा से दिव्य देह की आवश्यकता है । परिपक्व देह या सिद्ध देह की प्राप्ति के लिए योग ही एक मात्र उपाय माना गया है वह भी हठयोग । इस योग में प्राणायाम की प्रधानता है । मन्त्र, लय, राजयोगों में भी प्राणायाम और हठयोग सहायक होता है । वह एक अधिभूत तत्व है । इसलिए प्राणायाम या हठयोग आधिभौतिक साधन माना गया है । एक ध्यान योगी शरीर और स्वास्थ्य की दृष्टि से क्षीण हो सकता है, वह अपनी इच्छा से मर नहीं सकता परन्तु सिद्धकाय योगी ऐसा नहीं होगा । वह अपनी इच्छा से प्राण त्यागेगा या अनन्तकाल

तक उसी शरीर में रहकर कार्य करता रहेगा । समस्त अन्य योगों को करने के लिए ऐसे स्वस्थ शरीर की आवश्यकता होती है । उसी में स्वस्थ मन रहेगा । हठयोग प्रदीपिका में कहा है कि राजयोग में आरूढ़ होने के लिए हठयोग का अभ्यास करना चाहिए ।[11]

योगाभ्यास से पूर्व नाथ आचार्यों के मत में संयम की आवश्यकता है, तभी तो हठयोग प्रदीपिका में और घेरण्डसंहिता में योग पूर्वक साधक के लिए आचार संहिता का वर्णन किया गया है । पथ्य बतलाते हुए कहा है कि "स्निग्ध, मधुरादि आहार से दो भाग पेट भरें, एक भाग जल लें, एक भाग वायु के लिए रिक्त रहने दें ।[12] अपथ्य बतलाते हुए कि कड़वे खट्टे, तीक्ष्ण, गुड़ तथा लवणादि उष्ण पदार्थ हरिपत्ती कांजी, तिल सरसों का तेल, सुरा, मछली, बकरे आदि का मांस, दधि चक्र कुलथ, बेर, खली, ~~[illegible]~~, हींग, लहसुन पलाण्डु गाजर, शलगम, मादक द्रव्यादि का सेवन योगाभ्यासी के लिए निषिद्ध है ।[13] अधिक भोजन, परिश्रम, भाषण, जनसंग, चंचलता एवं प्रातः शीतल जल स्नान रात्रि में भोजन तथा उपवासादि बाधक हैं जिन्हें नियमाग्रह, उत्साह और ये छः रोग नाशक हैं ।[14]

गोरक्षनाथ का षडंग योग है, क्योंकि सभी योगों में यम, और नियम समान रूप से उपयोगी होने के कारण उन्हें गोरक्ष अपने हठयोग में ग्रहण नहीं करते । यहाँ पर आसन स्थैर्य के बाद प्राणायाम के अभ्यास का विधान किया गया है ।

---

11. हठयोग प्रदीपिका, 1.1

12. वही, 1.58 स्निग्धमधुराहारश्चचतुर्थांशविवर्जितः । भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।

13. वही, 1.59

14. वही, 1.15

प्राणायाम का नाड़ी शोधन से विशेष सम्बन्ध है । सिद्धसिद्धान्त पद्धति में प्राणायाम को प्राणों की स्थिरता बतलाया गया है । रेचक, पूरक, (कुम्भक) और संघटीकरण ये चार भेद माने गए हैं ।[15] यहाँ बताया गया है कि प्राणायाम के अभ्यास से वायु को आकाश में प्रेरित किया जाए, तो घंटा आदि ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं और सिद्धि प्राप्ति की अधिक सम्भावना होती है ।[16] इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास से नादानुसंधान भी सिद्ध होता है । तब आसन प्राणायाम के पूर्वाभ्यास से सम्पन्न होकर धारणा के अभ्यास का विधान किया गया है ।[17] गोरक्षसंहिता योगबीज आदि ग्रन्थों में प्राणायाम के साथ, मुद्रा, बन्ध, वेध आदि का भी वर्णन किया गया है, परन्तु अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्राणायाम की तुलना में इनको अधिक महत्व नहीं दिया गया है । प्राणायाम के साथ ओंकार भी सम्बन्धित है । ओंकार तथा अजपा जप दोनों ही प्राणायाम के अन्तर्गत है । ओंकार की विस्तृत व्याख्या गोरक्ष ग्रन्थों में उपलब्ध है । गोरक्ष ओंकार को वेद सार नहीं वेद ही स्वीकार करते हैं । दूसरे शब्दों में इसे ही शिव शक्ति का साधन भी कहा गया है । ओंकार ही आदि नाथ की संज्ञा धारण करता है । वह अनाहत और अखण्ड है । इसका अन्वेषण ही नादानुसन्धान है । अन्तः

---

15. सि०सि०प० 2.35

16. गो०सं०यो०ख० 2.18.20 योगमार्तण्ड 108

17. गो०सं० यो०ख० 2.21, 52

करण में उन्हीं की सत्ता को ब्रह्म की सत्ता माना गया है । उसे नाद ब्रह्म कहते हैं ।[18] जिसको जानने से परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है ।[19]

इस प्राणायाम के लक्षण करते हुए पतंजलि ने कहा है कि इच्छानुसार श्वास लेने और छोड़ने की प्रक्रिया पर अधिकार करने का नाम ही प्राणायाम है ।[20] प्राणायाम एक पूर्ण वैज्ञानिक विद्या है । नासिका द्वारा अन्दर ली जाने वाली साँस को प्रश्वास संज्ञा दी गई है । श्वास जीवन दाता प्राण का बाह्य स्थूल रूप है । इसी के सूक्ष्म रूप को प्राण कहते हैं । स्थूल प्राण पर नियन्त्रण होने से सूक्ष्म पर भी नियन्त्रण हो जाता है । सूक्ष्म के नियन्त्रित हो जाने पर मन नियन्त्रित हो जाता है । अगर मन को गाड़ी का इन्जन माना जाए तो प्राण को उसका संचालक मानना उचित है, तभी तो योगी प्राणायाम करते ही अपने समस्त अवयवों या इन्द्रिय के काम को रोक लेते हैं । जिससे प्राणों के आयमन को प्राणायाम कहा गया है ।[21] गीता के अन्दर तभी तो कहा है कि प्राण में अपान का और अपान में प्राण का प्रवेश करें पुनः दोनों की गति रोक लें, इसी क्रिया को प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम प्रत्येक योगी के लिए अनिवार्य कर्म है । इसके बिना कोई भी योगी अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता । गुरु की कृपा से जब शिष्य में शक्ति पात किया जाता है तब उसे

---

18. नाथ और सन्तसाहित्य, पृ0 283-288

19. वा0प0 ब्र0ख0 शब्द ब्रह्मणि निष्णातः परब्रह्माधिगच्छति ।

20. यो0द0 2.48 श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः ।

21. गीता 4.29 अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायाम परायणाः ।।

भ्रूमध्य में स्थित बिन्दु रूपी शिव के साथ कुण्डलिनी रूपी शक्ति का मेल करके अपने जीवन को अजर-अमर बनाकरके "नाथ" स्वरूप की ओर कदम बढ़ाना होता है । यह तभी हो सकता है जब बिन्दु स्थिर हो जाए, चलचक्र से छूटकर बिन्दु पर एकतान हो जाए । बिन्दु में स्थिरता तभी आ सकती है जब वह प्राणायाम के द्वारा अपने प्राणों को वश में करके स्थिर कर लें, नहीं तो प्राण मन इन्द्रिय और बिन्दु को चौकड़ी चंचल ही रहेगी ।[22] जब तक प्राण वायु की स्थिरता नहीं हुई तब तक स्थाणुत्व नहीं आ सकता । अतः प्राणवायु का निरोध करें । वायु के शरीर में रहने तक शरीर रहता है । जब प्राण वायु शरीर से निकल जाता है-तब ही मरण होता है । जब तक प्राण की सत्ता बनी रहती है और बिन्दु पर दृष्टि लगी रहती है तब तक काल का भय सता नहीं सकता । इसलिए कालभय से ब्रह्मा प्राणायाम परायण रहता है, योगी और मुनि लोग वायु के निरोध में संलग्न रहते हैं ।[23] इसी से उन्हें दीर्घ जीवन प्राप्त हो सकता है । जीवन वर्षों, मासों दिनों या घंटों में नहीं बांटा जा सकता अपितु पूर्व जन्म कृत शुभाशुभ कर्मों के आधार पर, जीवों को श्वासों की गिनती में दिया जा सकता है । जैसा कि योगाचार्यों और शास्त्रों का मत है कि हंस गायत्री, एक अहोरात्र में 21600 बार अनायास जीव द्वारा जपी जाती है । जिसका अनुभव

22. गो०सं०य०ख० 1.89 चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुंधयेत् ।।

23. गो०सं०य०ख० 1.90-93

करके साधक ब्रह्म मुहूर्त में अपने शरीरस्थ देवताओं को निवेदन करता है ,जिससे जीव स्वयं[24] पुण्य पाप कर्म का भागी नहीं बनता तथा निष्काम भाव से षष्ठ देव स्वरूप बन जाता है । गणपति को 600 मूलाधार में,विष्णु को 6000 नाभि चक्र या मणिपूरक में,अनाहत चक्र में ब्रह्मा के लिए 6000,विशुद्ध चक्र में शिव के लिए 6000, आज्ञा चक्र में गुरु के लिए 1000 सहस्रार में 1000 परं गुरु के लिए व्यष्टि तथा समष्टि को मिलाने वाले ब्रह्म रन्ध्र में 1000 नाथ के लिए उसका समर्पण करने से, नाद का अनुसन्धान भी होता है साथ ही देह में स्थित हंस जीव का भी हर क्षण ज्ञान होता रहता है । जो सतत् अभ्यास "तत्वमसि" महावाक्य के आधारपर प्रथम साधना में तो द्वैतभाव को प्रतिपादित करते हुए,स्वस्वरूपता में अवस्थान करवाता है और अन्त में अहं ब्रह्मा अस्मि" महावाक्य की अनुभूति में परिणत हो जाता है । इसके बाद समष्टि रूप में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म:" महावाक्य की अनुभूति कराके,सच्चिदानन्द स्वरूपता में परिणत होकर परं मोक्ष पद को इसी देह में प्राप्त कर लेता । तभी तो गायत्री को योगी के लिए मोक्ष दायिनी माना है[25] । सर्व पापों की नाशक कहा है । इस जैसा विद्या

24· हंसोपनिषत्, षट् संख्यया अहोरात्रयारेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति ।

25·गो०सं०यो०ख० 1·43 अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।

अस्या: संकल्प मात्रेण सर्वपापै: प्रमुच्यते ।।

जप,ज्ञान न अभी तक पैदा हुआ है न होगा । यही वेदों का सार है । कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई यह गायत्री,प्राणधारिणी,प्राणविद्या और महाविद्या है । इस हंस को महाविद्या को जपने से वर्णस्वरूप ब्रह्म की उपासना है । ब्रह्म और जीव की एकता का नाम ही हंस गायत्री है ।[26] इसका अभ्यासी साधक अपने चक्रों को एक पंक्ति में खड़ाकर देता है और ब्रह्मरन्ध्र को इतना मुलायम कर देता है कि कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने पर उससे उत्पन्न सवार जीव अपनी सुषुम्ना नाड़ी मार्ग से प्रयाण करता हुआ ब्रह्म मेलक द्वार को भेदित कर ब्रह्म में लीन हो जाता है । जैसा ध्यान बिन्दूपनिषत् में लिखा है कि इस कुण्डलिनी के मार्ग द्वारा प्रयाण करता हुआ साधक निरामय ब्रह्म पद की प्राप्ति हो जाता है ।[27] भारतीय सनातन धर्म में गृहस्थादि धर्मावलम्बियों के लिए योग मार्ग का पालन कठिन बतलाया गया है । अत: उसके लिए षोडष संस्कारों का वर्णन गृह्यसूत्रों में आता है । जो गर्भाधान,पुंसवन,सीमन्तोनयन, जातकर्म,नालछेदन, मेधाजनन, नामकरण,निष्क्रमण,अन्नप्राशन,चूडाकर्म, कर्णवेध,उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन,विवाह तथा अन्त्येष्टि के नाम से जाने जाते हैं क्योंकि लिंग शरीर में अंगुष्ठमात्र पुरुषात्मा को 17 तत्वों का पुञ्ज माना गया है । जो अपने कर्मों के अनुसार एक देह से

---

26. ब्रह्मोपनिषद्, हंसात्मिका वर्ण ब्रह्मकाल प्रचोदिता । परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसम्पत्ति
कारिणी पाशुपत् ।

27. ध्यानबिन्दूपनिषत् येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।

दूसरो देह में जाता है । यहाँ पर पाँच ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों और पाँच प्राणों के संस्कार मानस संस्कारों सहित, उस बुद्धि पटल में जले हुए कागज में संलिप्त गूढ़ी स्याही के अक्षरों की तरह तल्लीन रहते हैं । और जन्म लेने तथा वहाँ पर सुखदुःखात्मक स्थिति पैदा करने के लिए बोज बन जाते हैं ।

योग मार्ग में बिन्दु वीर्य रक्षण मोक्ष का एक मात्र ऐसा बीज है जो निर्बीज मोक्ष को पैदा करता है । जिस गृहस्थी ने पुत्रोत्पादन करके उस अमोघ शरीर शक्ति को क्षीण कर दिया, वह मोक्ष को उस जन्म में कैसे प्राप्त कर सकता है । वीर्य रक्षा विना कुण्डलिनी अपने सिर पर बैठे जीव को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर नहीं भेज सकती । जब ब्रह्मरन्ध्र से वह नहीं जाएगा तो परब्रह्म या समष्टि में उसका लय नहीं हो सकता । अत: अन्त्येष्टि के समय पुत्र के द्वारा पिता की कपाल छेदन क्रिया के द्वारा, उसे मानव कर्तव्य पर चलने की शिक्षा दी गई है कि तू ब्रह्मचारी बनकर चौरासी लाख योनि भोगने के बाद मिले हुए मानव शरीर का उपयोग मोक्ष के लिए कर, नहीं तो तेरा मानव देह इस पिता की

---

28. वे०सा० पृ० 34, सूक्ष्मशरीराणि सप्तदश अवयवानि लिंग शरीराणि ।

तरह ही नष्ट हो जाएगा । मोक्षमार्ग यही है कि तू कपाल में कोश के सौवें हिस्से के बराबर छिद्र से अपने को निकाल कर समष्टि में लीन हो जा । जहाँ से निर्गमन करने पर फिर जन्म मरण में नहीं आना पड़ता[29] । दूसरी ओर भावना से मातापिता के और्ध्व दैहिक कर्म करने को प्रेरणा दी है कि अरे पुत्र तेरे को पैदा करके इन दोनों ने अपने जीवन के इस श्रेष्ठ मार्ग को भी त्याग दिया और तुझे महत्व दिया । इसलिए तेरे को उत्पन्न करने की जैसी इनकी भावना थी, वैसे ही तू भी इनके तीनों शरीरों स्थूल, सूक्ष्म और कारण के निमित्त मलीन मध्य और उत्तम मीमांसोक्त षोडशी करके स्वर्ग के योग्य बना दे, क्योंकि भावना ही क्रिया रूप में परिणत होती है[30] । हम देखते हैं कि अनेकों सिद्ध इस पर्वत खण्ड के स्थान-स्थान पर देवत्व की संज्ञाओं को प्राप्त करके प्रतिष्ठित हुए और लोगों द्वारा पूजे जा रहे हैं । इसलिए तू भी अपनी माता पिता की प्रतिष्ठा को बढ़ा । पितृ देवो भव की भावना को पूरा कर ।

अतः पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति के लिए प्राणायाम मानव को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है, क्योंकि कोई भी संकल्प करने से पहले कर्म कर्ता को नाड़ी शुद्धि के संकल्प की सलाह दी जाती है । "प्राणानायम्य संकल्पं कुर्यात्" ।

अब प्रश्न यह आता है कि उस प्राणायाम को किस विधि से किया

---

29. यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम: परमो मम । "गीता"

30. वै०भू०स०। भावो भावना सैवचोत्पादना सैव क्रिया ।

जा सकता है । तब उसका समाधान गोरक्षसंहिता में किया है कि पहले गुरु जी को[31] प्रणाम करके पर शिव को प्रणाम करे । इसके बाद भ्रूमध्य में दृष्टि लगाकर अपान वायु को ऊपर खींचकर प्राण के साथ मिला लें । इस प्रकार कुण्डलिनी को उठाने से सभी पापों से छुटकारा मिल जाता है । यह कर्म बद्ध पद्मासन लगाकर साधक को करना चाहिए । उस आसन का स्वरूप ग्रन्थकार ने बतलाया है कि बाँए पाँव को दक्षिण जाँघ पर और दक्षिण पाँव को बाँई जाँघ पर रखकर, बाँए हाथ से बाँए पाँव के अँगूठे को और दाहिने हाथ से दाहिने पाव के अँगूठे को पीठ पीछे से पकड़ कर ठोडी को छाती में लगा के नासिका के अग्र भाग पर दोनों आँखों को जमा के देखता रहे । वहाँ बिन्दु के दर्शन से सारी व्याधियाँ नष्ट हो जाती है[32] । इस प्राणायाम को तीन प्रकार का बतलाया गया है -पूरक, कुम्भक और रेचक । इस का स्वरूप प्रणवात्मक माना गया है, क्योंकि प्रणव जप का प्रतीक है ।[33] कुछ का मत यह है कि सम्पूर्ण प्रणव का पूरक प्राणायाम करते हुए, 12 बार उच्चारण करें, कुम्भक में 16 बार, रेचक में दस बार उच्चरण करें । कुछ का सम्पूर्ण प्रणव को उच्चारण न करने का सुझाव है और उनके मतानुसार, पूरक में अकार का, कुम्भक में उकार का, रेचक में मकार का 12, 16, 10 बार उच्चारण करने का विधान मिलता है[34] । इस पर भी साधक को यह ज्ञान नहीं होता

---

31. कबीर, गुरु गोविन्द दोनों खड़े काके लागूं पाय । बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो मिलाय ।

32. गो०सं०यो०ख० 1.11, एवं योग कु० उ० 1.5, ऊर्वोपिरि चेद्धत्ते उभे पाद तले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्व प्राणाशनम् ।।

33. वही, 2.2

34. वही, 2.4

कि इसे कौन सी नाड़ी से आरम्भ करें तो उसका उत्तर देते हुए गोरक्षनाथ जी ने कहा है कि बद्ध पद्मासन योगी प्राण को चन्द्र नाड़ी से खींचे तथा सूर्य नाड़ी से फेंक दे ।[35] पुनः सूर्य नाड़ी से पूरक और चन्द्र नाड़ी से रेचन करे ।[36] इस विधि में हम जिस स्वर से इस प्रारम्भ करते हैं उसी स्वर के देवता का नाभि चक्र में ध्यान करना अनिवार्य है जैसे प्रथम बार चन्द्र नाड़ी से श्वास खींचेअतः उसके समय नाभि चक्र में षोडश कला पूर्ण चन्द्रमा का ध्यान किया जाएगा । जब सूर्य नाड़ी से प्राणायाम विलोम रूप से किया जा रहा है तो उस समय नाभि चक्र में सूर्य का ध्यान करके सिद्धि मिलती है ।

इस प्रकार से यह द्वादश मात्रात्मक प्राणायाम अधम प्रकार का माना गया है । इन अधम में दर्शाई गई मात्राओं को दूना करके प्राणायाम किया जाता है । तब वह मध्यम कहलाएगा । जब उन मात्राओं को त्रिगुणित करके अभ्यास द्वारा प्राणायाम समय में धारण किया जाएगा, तब उत्तम प्राणायाम माना जाएगा ।[37] प्रथम प्रकार के प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर साधक के शरीर में पसीना आएगा, मध्यम की सिद्धि पर शरीर में कम्पन होगा, उत्तम की सिद्धि पर साधक आसन छोड़ देगा ।[38] जब साधक को पसीना आए तो पसीने की मालिश शरीर में करे । ऐसा करने से शरीर के छिद्र बन्द हो

35• गो०सं०या०खं० 1•95

36• त्रिशिखब्राह्मणोपनिषद्, हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ।
शनैः शनैरथ वहिः प्रक्षिपेत्पिंगलानिलम् ।।

37• गो०सं०या०खं० 2•5

38• वही, 2•6

जांएगे और मन की चंचलता स्थिर हो जाएगी । तभी तो सहस्रो मार्ग से प्रयाण करने वाला मन जब घटाकाश में बन्द हो जाएगा तो उसे अपने बल से हिलाएगा । वही मध्यम स्थिति का कम्प है । इस स्थिति को प्राप्त होने पर योगी को अधीर नहीं होना चाहिए । कम्पावस्था में योगी देह एक केले के पत्ते की तरह अस्थिर होकर काबू से बाहर हो जाती है । जब उस पर अधिकार हो जाएगा । तब देवत्व की अवस्था भूमि त्याग योगी को मिल सकती है ।

यह तभी सम्भव है अगर योगी मनोन्मनी अवस्था को प्राप्त करले।मन की उन्मनता सुषुम्ना मार्ग में जाने पर ही होगी । यही मार्ग त्रिवेणी संगम कहलाता है । इडा गंगा की प्रतीक है,पिंगला यमुना की और सुषुम्ना सरस्वती की प्रतीक कही गई है । इस त्रिवेणी का संयोग भ्रूमध्य में होता है और वहीं से यह त्रिवेणी महासमुद्र गंगासागर रूपी सहस्रसार तक जाती है । इसमें जो स्नान अर्थात् अनुभव करके पहुंचता है,उसे महाफल मिलता है । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेकों प्राणायाम निर्दिष्ट हैं । जिनमें कुम्भक प्राणायाम का विशेष महत्व है । यह प्रापायाम सूर्यभेदी,उज्जयी सीत्कारी,शीतली,भस्त्रिका भ्रामरी,मूर्च्छा प्लाविनि नाम से आठ प्रकार का माना गया है । सूर्यभेदी-यह प्राणायाम पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर,जालन्धर,उड्डीयान और मूलबन्ध सहित दाहिने हाथ

39.योगविज्ञान,पृ0 103, इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी ।
इडा पिंगलयोर्मध्येसुषुम्ना च सरस्वती ।।

40.[redacted] वही 2.44 त्रिवेणी योग: सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम् ।

41. हठयोग प्रदीपिका 2.44 गंगा जमना सरस्वती तीनों मिले प्रयाग ।
छाला पडे समुद्र की पाप कटे हरिद्वार ।।

को कनिष्ठिका और अनामिका से बांई नाथून बन्द करके दक्षिण नाथून से या सूर्य नाड़ी से, प्राणायाम आरम्भ करना । इससे कपाल शुद्धि, वातनाश, कृमिनाश आदि होते हैं ।

2. उज्जायी :-

इसमें मुखबन्द करके दोनों नथुनों से शनैः-शनैः धीमे शब्द को करती हुई वायु कण्ठ से हृदय तक भरी जाती है । इससे कफ दोष शमन, उदराग्नि की वृद्धि, नाड़ीगत दोषों का नाश, जलोदर शमन होता है[42] ।

3. सीत्कारी :-

जिह्वा को नली जैसी गोलकर दोनों होंठों में लगाकर, तालूस्पर्श सहित सीत्कार शब्द करते हुए कुम्भक करना । इसका मुख्य लाभ सौन्दर्य प्राप्ति है ।[43]

4. शीतली :-

दोनों ओठों के मध्य में जिह्वा को गोलाकार करके यथा शक्ति वायु को उदर में भर के शीतली प्राणायाम कहलाता है । इसका विशेष लाभ विष न लगना है ।

5. भस्त्रिका :-

इस प्राणायाम में पद्मासनस्थ साधक मुख और एक नासा छिद्र को बन्द करके उदरस्थ वायु को बाहर निकालता है जो हृदय कण्ठ और तालु से स्पर्श कर रही होती है । पुनः उसी ताल लय से भरता है और दूसरी नथून से छोड़ता है[44] । जैसे लोहार की भस्त्रिका

---

42. हठयोग प्रदीपिका, 2.51-53

43 वही, 2.54

44. वही, 2.55-67

लोहा गर्म करने के लिए श्वास प्रश्वासों का तांता लगाती है । जब तक शरीर में स्वेद न आ न जाए । इसका मुख्य फल त्रिदोष शमन और कुण्डलिनी उद्बोधन है ।

6• भ्रामरी :-

एक नथूना बन्दकरके दूसरे से ऐसे वायु का आकर्षण करें की भ्रमर की ध्वनि की तरह आवाज आवें । यथा शक्ति कुम्भक करके दूसरी नथून से ऐसे रेचन करें कि भ्रमरी की तरह श्वास निकालने की ध्वनि आवें । इसका मुख्य फल मन की एकाग्रता है ।[45]

7•मूर्छा :-

पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाके दृष्टि को भ्रूमध्य स्थापित करें । यथा शक्ति कुम्भक में रहने के बाद रेचन कर दें । इससे सुख लाभ होता है ,क्योंकि मन इस प्राणायाम से मूर्छित हो जाता है[46]

8•प्लाविनी प्राणायाम :-

दोनों नथुनों से उदरस्थ वायु का रेचन करें,पुनः दोनों से पेट को वायु से गले तक भर लें । पद्मासन लगाकर इसका अभ्यास पूरा होने पर साधक अगाध जल में यथेच्छ तैर सकता है ।[47]

इस प्रकार प्राणायाम के कुम्भक के आठ भेद अनेकों सिद्धियों को देने वाले माने गए है । इन भेदों के अतिरिक्त प्राणायाम के कुछ और भेद देखनें को आए हैं ।

45• हठयोग प्रदीपिका 2•68

46•वही,, 2•69

47•वही,, 2•70

जैसे कपालभाती,तालयुक्त,कुण्डलिनी जाग्रत,सुखसाध्य,चलते फिरते का प्राणायाम ,शवासन में प्राणायाम,केवल कुम्भक,सूर्य चक्र पर ध्यान लगाने वाला प्राणायाम आदि ।

कुछ भी हो ये सारे प्रपंच कुम्भक प्राणायाम पर ही निर्भर करते हैं । उस कुम्भक के दो भेद माने गए हैं । केवल और सहित ।

केवल प्राणायाम :-

रेचक और पूरक विधियों को त्याग कर केवल उदरस्थ वायु को धारण करने के अभ्यास को केवल प्राणायाम कहा जाता है [49] । इस केवल कुम्भक प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर तीनों लोकों में उस योगी के लिए कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है । उसमें अत्यन्त शक्तिपात के कारण अतुलित बलधामता आ जाती है । यथेष्ट वायु निरोध से कुण्डलिनी जागरण हो जाता है । सुषुम्ना का मार्ग बाधा रहित बन जाता है,कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्र में स्थित हो जाती है । तब चित भी वहीं स्थिर होकर राजयोग में लग जाता है । प्रत्याहार आदि उत्तम साधन स्वयं मिल जाते हैं । वह योगी हंस संज्ञा को सार्थक बना देता है,क्योंकि हंस मानसरोवर में रमण करता है,तो क्षीर सागर में जाकर भोजन के लिए मोती खाता है [50] । उसी तरह से योगी सहस्रसार रूपी मानस में रमण करके भोजन प्राप्ति के लिए उदर रूपी समुद्र में उतर जाता है । अतः जीवन मुक्ति के लिए केवल

---

49. हठयोग प्रदीपिका,2.72 रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।

50 वही, न रमते मरालस्य मानसं मानसं बिना ।।

प्राणायाम का अभ्यास अत्यावश्यक है ।

सहित प्राणायाम :-

केवल प्राणायाम से भिन्न माना गया है अर्थात् पूर्ववर्णित प्राणायाम जो पूरक और रेचक के साथ किया जाने वाला कुम्भक सहित कहलाता है । इस प्राणायाम की उपयोगिता केवल प्राणायाम की योग्यता देना है । जब केवल प्राणायाम लग जाएं तब सहित की कोई आवश्यकता नहीं रहती ।

षट्कर्म :-

चितवृति निरोध स्वरूप योग, जो अन्त में समाधि में परिणत होता है उस समाधि को प्राप्त करने के लिए सिद्ध योगियों ने पात्रता आवश्यक मानी है । पात्रता के लिए षट्कर्मों की आवश्यकता पर बल दिया है । नाथ सम्प्रदाय में धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलिक और कपाल भाति नाम से इन्हें गिना गया है । इनके नित्य करने से साधक की देह शुद्ध हो जाती है ।

धौति कर्म में चार अंगुल चौडी, पन्द्रह हाथ लम्बी रेशम वस्त्र की पट्टी का प्रयोग किया जाता है । पट्टी को जल या दूध में भिगो कर किसी योग्य गुरु की देख रेख में प्रथम दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो, इस क्रम से सुमुहूर्त में चान्द्रायण व्रत की तरह, निगलने को बढ़ाना चाहिए । जब एक हाथ शेष रह जाए वहाँ तक उसे बढ़ाते जाना चाहिए । इसे

---

51. हठयोग प्रदीपिका, 2.22-23 धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकस्तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।।
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ।।

निगलकर नौलिक्रिया से पेट घुमाकर धैर्य पूर्वक बाहर निकाल देना चाहिए । इस कर्म में एकाग्रता और धैर्य अत्यावश्यक माने गए है । इस कर्म से साधक को कफोत्पन्न रोगों से सर्वथा छुट्टी मिल जाती है और कास प्लीहा आदि रोग भी नष्ट हो जाते हैं ।[52]

2. वस्ति कर्म :- किसी पीतल की या पतले बाँस की नली लेकर कार्य किया जा सकता है । नली की लम्बाई लगभग आठ अंगुल मोटाई कनिष्ठिका से कुछ ज्यादा ताकि उसका छिद्र कनिष्ठिका के बराबर रह जाए । उस नली को तेल से तर करके और गुदा पर भी तेल लगाकरके लगभग चार अंगुल गुदा में प्रविष्ट कर लें । पुनः नौली कर्म द्वारा ऊकडू जल में बैठकर जल को उदर में घुमाना चाहिए । घूम जाने पर गुदा द्वार से उस पानी को बाहर फैंक देना चाहिए । इससे शरीरस्थ सप्तधातुओं में स्थिरता आती है तथा प्लीहा, गुल्म, जलोदर, वातपितादि व्याधियाँ शान्त हो जाती है ।[53]

3. नेतिकर्म :- लगभग एक हाथ सूत के दोरक को मोम आदि से तरल करके, नाक के एक छिद्र से प्रविष्ट करके शनैः-2 जब गले में पहुँच जाए तो मुंह से उस कोने को निकालकर धीरे से आगे पीछे चलाए । इसके बाद थोडा सा नमक जल में मिलाकर नाक से उस कोसे जल को पीकर मुंह से निकालें । इससे कपाल शुद्ध हो जाता है और दिव्य दृष्टि मिलती है। मस्तिष्क का जितना चाहो उतना काम करने पर भी थकावट नहीं होती और न ही कोई उर्ध्व जत्रु रोग होता है ।[54]

---

52. हठयोग प्रदीपिका, 2.24-25

53. वही, 2.26-28

54. वही, 2.29-30

4. त्राटक कर्म :- एकाग्रचित होकर साधक प्रथमतः हरे या नीले बिन्दु को अपने से कुछ दूरी पर स्थिर दृष्टि से एकतान देखता रहे । जब तक आँखों में आँसू न आ जाएँ । इसके बाद अपने हाथों से बन्द करके नेत्रों को धीरे से मल दें । इस कर्म के सिद्ध हो जाने पर साधक के नेत्रों के रोग नष्ट हो जाते हैं । तन्द्रा आलस्य आदि रिपु समाप्त हो जाते हैं । इससे लक्ष्य में अपने इष्ट देव के दर्शन भी हो जाते हैं । दृष्टि में इतनी ताकत आ जाती है । कि स्वामी रामतीर्थ ने रेल से उतार देने पर इसके द्वारा रेल को ही रोक दिया था । जंगलों में पड़े अजगर भी अपनी त्राटकीय दृष्टि से जिसे देख लेते हैं वह हिल नहीं सकता और बड़े आराम से उसे खा जाते हैं । अतः इस क्रिया को दुष्टों से सोने की पेटी की तरह बचाना चाहिए ।[55]

5. नौलिकर्म :-

कन्धों को झुकाकर अपने हाथों को जंघाओं पर रखो । दोनों पैरों को एक हाथ के परिणाह से रखें । पुनः रेचक से वायु निकालकर उड्डीयानबन्ध लगा लें । अब पेट की नसों को उठाकर वाम से दक्षिण और दक्षिण से वाम को ओर खींच मारकर पेट को घुमावें । इस कर्म से वात दोषों का नाश, चित्त प्रसन्नता, उदराग्निवृद्धि आदि लाभ मिलते हैं ।[56]

---

55. हठयोग प्रदीपिका 2.31-32

56. वही 2.33-34

कपालभाति कर्म :-

लुहार की धौंकनी की तरह साधक एक नथूने से सांस ले, दूसरे से छोड़े, पुनः उससे लेकर दूसरी से छोड़ता जाए । इससे कफ विकार दूर होता है और मस्तिष्क शान्त और शीतल रहता है ।[57]

यह षट्कर्म समस्त साधकों के लिए उपयोगी नहीं है, क्योंकि इनमें हानि का भय रहता है तथा इनके साधनें के लिएसमय भी अधिक लगता है । ये कर्म केवल बाह्य शरीर के उपकरणों को शुद्ध करते हैं । शरीर त्रिस्थूणा माना गया है । वात पित कफ इन तीन तत्वों रज तम सत के स्थानापन्नों के द्वारा बना भवन है । इनकी तुल्यता जिस साधक से ही अपनी नाड़ीशुद्धि कर सकता है । उसे इन प्रपंचों में अपना समय बर्बाद नहीं करना चाहिए । जिनके शरीरों में इन तीनों की असमता है । उन साधकों को अवश्य ही षट्कर्म में जाना पड़ता है । कुछ भी हो साधक का लक्ष्य तो दोषों को मारकर अपने शरीर को योग योग्य बनाना होता है । वह चाहे षट्कर्मों से बने अथवा प्राणायाम से ।

मुद्रा :-

योग साधना में तन्त्रशास्त्र भी अत्यधिक सहायक होते हैं । इसीलिए कलियुगी सिद्ध गोरक्षनाथ जी भी अपने "गोरक्षसंहिता" नामक ग्रन्थ के योगखण्ड के अन्तर्गत मुद्राओं को योगी के लिए मोक्ष देने वाला बतलाते हैं । उनके मत में महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान

---

57. हठयोगप्रदीपिका 2.25

जालन्धर और मूलबन्ध नामक पाँच विद्याएँ मानी गई है[58] । जब की बहुत्र ग्रन्थों में अन्त के तीनों को अलग बन्ध विधा में माना है ।

मुद्रा शब्द मुद् मोदे धातु से या रा आदाने धातु से बना है,क्योंकि "मुदं राति-ददाति इति मुद्रा निर्वचन बनता है । इसका अर्थ होता है खुश होकर उस कर्म में रमण करना । तभी तो इन मुद्राओं के प्रदर्शन से मन्त्र देवता प्रसन्न हो जाते हैं[59] । इसीलिए इन मुद्राओं को पूजा,जप,ध्यान, काम्यकर्म,स्नान,आवाहन,शंख प्रतिष्ठा, रक्षा नैवेद्य निवेदन और उस स्थान में जहाँ विशेष देवता का विशेष कला से कोई काम हो रहा हो दिखलाना अत्यावश्यक है । वे अपने-अपने देवता को [redacted] अपनी-अपनी रूचि के अनुसार प्रिय है[60] । उनमें से षडंग मुद्रा तो सभी देवता के लिए समान है । बाकि विष्णु को 2। मुद्रा शिव को दस मुद्रा,सूर्य को एक,गणेश को सात, दुर्गा को आठ,त्रिपुरा को दस,गायत्री को चौबिस मुद्राएँ मन्त्रमहार्णव देवताओं को प्रसन्न करने वाली कहा गया है । शारदा तिलक में इन मुद्राओं से सब देवताओं के प्रसन्न होने की बात कही गई है[61] । अतः सब कर्मों में मुद्रा के सेवन द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता है ।

58·गो0सं0या0ख0 ।·56 महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धञ्च यो वेति स योगी मुक्तिभोजनः ।।

59·मन्त्रमहार्णव पृ0 23, याभिर्विरचिताभिश्च मोदन्ते मन्त्रदेवताः ।

60 वही,पृ0 23,।-3

6।·शारदातिलक ।3·।06 याभिर्विरचिताभिस्तु मोदन्ते सर्वदेवताः ।

इसीलिए घेरण्ड,शिव तथा दत्तात्रेय आदि संहिताओं में इन मुद्राओं का विशेष वर्णन है तथा योग्य गुरु से उन्हें सीखने का निर्देश दिया गया है । घेरण्ड में 25 मुद्राएं गिनाई हैं । जैसे महामुद्रा,नभोमुद्रा,महाबन्ध,महावेध,खेचरी,विपरीतकरणी,योनि,वज्रोली,शक्तिचालनी ताड़गी,मांडवी,शाम्भवी,अधोधारणा,अभ्यासीधारणा,वैश्वानरीधारणा,वायवीधारणा, नभोधारणाअश्विनि,पाशिनि काकी मातंगी,भुजंगिनि,मूलबन्ध,उड्डीयानबन्ध तथा जालन्धर-बन्ध ।

शिवसंहिता में इनकी संख्या दस बतलाई गई है-महामुद्रा,महाबन्ध, महाभेद,विपरीतकरणी,वज्रोली,शक्तिचालनी,खेचरी,मूलबन्ध,उड्डीयानबन्ध और जालन्धर-बन्ध[62] । इन्हीं दस को हठयोगदीपिका में भी माना है[63] ।

इनके अलावा योगविज्ञान में योनि,शाम्भवी,भूचरी,चाचरी, ज्ञानमुद्रा, तथा षड्मुखी आदि का भी वर्णन किया गया है । इन सब का आधार कुण्डलिनी शक्ति है । उसके जागरण के लिए मन की एकाग्रता अपेक्षित होती है । उस एकाग्रता के लिए मुद्राएं अत्यन्त उपयोगी मानी गई है । अतः "गोरक्षसंहिता" में सभी मुद्राओं का संक्षिप्त वर्णन दिया जा रहा है ।

1. महामुद्रा :-

इसमें बांए पैर की एड़ी को सीवनी के ऊपर रख दें । दाहिने

---

62. शिवसंहिता,4.24.24

63. हठयोग प्रदीपिका 3.6-7

पांव को लम्बा पसार करके दोनों हाथों से उसे पकड़ लें । तब अपने सिर को जानु पर लगा लें । इसके बाद उड्डीयान बन्ध लगाकर नवद्वारों को बन्द करके,पूरक प्राणायाम करके,जालन्धर बन्ध लगाकर,धीरे-धीरे रेचन करें । इसके बाद दूसरी एड़ी से एसा ही कार्य करें । इस तरह से महामुद्रा नामक कर्म होता है । जिससे अनेक रोग नष्ट होते हैं,आयु बढ़ती है,मनवांछित फल भी मिलता है । ये फल तभी मिलेगा जब साधक इस प्रक्रिया में कुम्भक को साधना करे ।[63]

2.नभोमुद्रा :-

इस मुद्रा का नाम खेचरी मुद्रा भी है । जीभ को उलट कर कपाल कुहर में प्रविष्ट कराके भ्रूमध्य में दृष्टि स्थिर करें । जब यह कपाल कुहर में ठीक रूप से प्रविष्ट हो जाएगी तो नमकीन मिर्च खट्टा मीठा आदि का स्वाद आने लगेगा । अगर जीभ तालु के शिवलिंग में स्पर्श न कर सके तो किसी साधन से जीभ के निचले हिस्से को काट लें और प्रातःकाल जिह्वा का दोहन करके उसे खींचकर लम्बा कर लें । इसी प्रक्रिया से पिण्ड सहस्रार से बहने वाला अमृत लेकर साधक को रस सिद्ध होकर वज्र देह की प्राप्ति होगी । सहस्रार के बिन्दु की प्राप्ति से सात धातुओं का अन्तिम तत्व वीर्य या सात सूक्ष्म यन्त्रों से मथन होने के बाद अन्तिम धातु सूक्ष्मातिसूक्ष्म वीर्य भी शरीर से स्त्री आदि के आलिंगन पर स्खलित नहीं होगा ।[64]

63.गो०सं०य०ख० 1.57-61,हठयोगप्रदीपिका 3.10-18,शाण्डिल्योपनिषद् ।

64.गो०सं०य०ख० 1.62-68

3.उड्डीयानबन्ध :-

इस बन्ध में कुण्डलिनी के बीच में रहने वाला प्राण रूपी पक्षी उड़ता हुआ सुषुम्ना नाड़ी से ब्रह्मरन्ध्र की तरफ उड़ता जाता है । अत: इसका नाम अन्वर्थक है । यह नाभि के नीचे खींचकर पेट को पीठ तरफ बढ़ाकर किया जाता है।[65] रेचक करके नाभि स्थान के नीचे और ऊपर के भाग को ऐसे खींचे ताकि वे ~~जिससे~~ पीठ के साथ जाकर मिल जाए ।

4.जालन्धरबन्ध :-

कण्ठ को संकुचित करके वायु को रोकना ही जालन्धरबन्ध कहलाता है । इससे चन्द्रामृत गिरकर नाभि में प्रज्वलित होने वाली अग्नि में पड़ने से बच जाता है । इसमें अपनी ठोडी को संकुचित करके छाती को उपरले हिस्से पर लगाना चाहिए और कुम्भक करके आज्ञा चक्र में दृष्टिपात रखना चाहिए । योग तत्व उपनिषद् में इसका वर्णन करते हुए कहा है कि "कण्ठ को सिकोड़कर दृढ़ता पूर्वक छाती पर रखने से यह बन्ध बनता है । जो कि मृत्युरूपी हाथी के लिए शेर के समान है ।[66]

5.मूलबन्ध :-

अपने पैर की एड़ी कीसीवनी भाग पर रखकर, मूलाधार की वायु के द्वारा ऊपर खींचकर प्राण और अपान को इकट्ठा कर लें । गुह्य द्वार को सिकोड़ लें । यही मूलबन्ध कहलाता है । योग तत्वोपनिषद् में इसका नाम योनिबन्ध रखा है ।

65.योoसंo योoखंo 1.76-77, योगतत्वोपनिषद्, हठयोग प्रदीपिका 3.55.60

66. वही, 1.78-79

शिवसंहिता में भी इसका वर्णन इसी रूप में आया है । इसमें प्राण और अपान की एकता को बतलाया गया है ।[67]

शरीर में इन प्रक्रियाओं को करने से कुण्डलिनी रूपी देवी प्राणदेवताओं शिवरूप ब्रह्मतत्व सभी प्रसन्न हो जाते हैं । इसीलिए इनका सब कर्मों में करना अनिवार्य रूप में दर्शाया गया है ।

धारणा :-

षडंग योग में धारणा का चौथा स्थान है । यह उसी को सिद्ध हो सकती है,जिसने आसन प्राणायाम और प्रत्याहार को सिद्ध कर लिया हो । तभी तो गोरक्षनाथ ने कहा है कि "आसन से युक्त,प्राणायाम सहित प्रत्याहार सम्पन्न धारणा का अभ्यास करना चाहिए ।[68] हृदय में पृथिवी जल तेज वायु आकाश को पृथक्पृथक् धारणा करनी चाहिए । यमादि के द्वारा चंचल मन की धारणा ही संसार सागर से पार लगाने वाली है ।[69] इस प्रकार चित की निश्चलता ही धारणा है । योग तत्वोपनिषद् में कहा है कि "जिसका चित वायु के साथ सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है । उसे पंचभूतों की धारणा हो जाती है । जैसे "भूमिरूपो नलो वायुराकाशश्चेति पंचक: । येषु पंचसु देवानां धारणा पंचधोच्यते" अर्थात् उस योगी को भूमि जल, अग्नि,वायु और आकाश के सब देवताओं की

67.गो०सं० 1.80-91,शि०सं० 4.64-65

68.वही,घे०सं० 2.52

69. "मनसो धारणं युक्तस्य च यमादिभि: ।
(त्रिशिखब्राह्मण) चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदु: ।

धारणाहो जाती है । यहाँ देवता से,प्रकाशमान महाभूत ही ग्रहण करना चाहिए । धारणा को पतंजलि ने अन्तरंग साधना माना है और एक देश में नाभिचक्र हृत्पुण्डरीक,नासिकाग्र आदि में चित को स्थिर करना ही धारणा कहा है।[70] इसके होने से ही ध्यान लगता है ।

पृथिवी की धारणा :-

साधक जब अपने मूलाधार में चतुष्कोणात्मक स्वर्णाभ पीत-वर्ण सम्पन्न पीठ में "लं" बीज का अनुभव करके हृदय में पाँच घड़ी तक अनुभव करे तो इस प्रकरण को यह धारणा स्तम्भन करी मानी गई है । इसकी सिद्धि से पृथिवी तत्व जीता जाता है ।[71]

जल की धारणा :-

अर्धचन्द्राकार कुन्द के पुष्प की तरह शुभ्र वर्ण वाले अमृत तत्व रूप"वं" बीज युक्त,विष्णु अधिष्ठाता सम्पन्न,जल तत्व का ध्यान करते हुए,उसी में मन और प्राण को लीन करते हुए ~~उसी में मन और प्राण को~~ पाँच घड़ी में जल धारणा सिद्ध होती है । यह स्वाधिष्ठान पीठ षट् कोणात्मक पर सिद्ध की जाती है । इसके सिद्ध हो जाने पर कालकूट जैसे विष भी हजम हो जाते हैं ।[72]

70.यो०द० 3.। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

71.गो०सं०यो०खं० 2.54, योगतत्वोपनिषद् ।

72. वही, 2.55, वही

अग्नि की धारणा :-

इन्द्रगोप के समान लाल वर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल जैसे रुचिर तेज स्वरूप "रं" बीज युक्त, रुद्र अधिष्ठात्री देव सम्पन्न दशकोणात्मक मणिपूर नाभि पीठ में अग्नि तत्व के बीच अपने को मन प्राण सहित पाँच घड़ी तक लीन करने से अग्नि की धारणा होती है । इसका अभ्यासी अग्नि तत्व जेता होता है ।[73]

वायु की धारणा :-

सूरमे के रंग की तरह गोलाकर "यं" बीज युक्त वायु तत्व का ईश्वर अधिष्ठातृ देव सहित भौंहों के बीच में ध्यान करना मन प्राण सहित स्वयं को भी वायु तत्व में लीन कर लें । यह ध्यान अनाहत जो द्वादश दल सम्पन्न है, पर होगा । पाँच घड़ी तक इसमें रहने से यह सिद्ध हो जाएगा और साधक आकाश गमन का पात्र बन जाएगा ।[74]

आकाश की धारणा :-

स्वच्छ जल के समान वर्ण, वर्तुलाकार "हं" बीज युक्त आकाश तत्व को उसके अधिष्ठातृ देव सदाशिव के सहित विशुद्ध पीठ जिसके षोडश दल हैं । उस पर चिन्तन करें और मन प्राण सहित अपने को दो घण्टे तक उसमें लीन रखें । तब आकाश की धारणा सिद्ध होती है । इसके सिद्ध होने पर मोक्ष के द्वार खुल जाते हैं और साधक मुक्त हो जाता है ।[75]

73. गो०सं०यो०खं० 2.56, योग तत्वोपनिषद्

74 वही, 2.57, वही

75. वही, 2.58, वही

इन धारणाओं के क्रमशः स्तम्भिनी, द्राविणी, दाहिनी, भ्रामिणी, शोषिणी नाम रखे गए हैं । कर्म वचन, मन द्वारा इन पाँचों दुर्लभ धारणाओं का अभ्यास अति दुर्लभ है । अगर किसी ने कर लिया तो वह सदा के लिए सभी प्रकार के दुःखों से छूट गया ।[76]

ध्यान :-

अन्तःकरण के वशीकार हेतु तीन साधन शास्त्रों में निर्दिष्ट हैं । धारणा ध्यान और समाधि । धारणा के वर्णन कर देने पर ध्यान की बारी आई तो प्रश्न उसके स्वरूप का होता है, क्योंकि "लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धि" । इस न्याय के अनुसार हर उक्त वस्तु का लक्षण होना चाहिए । पतंजलि ने अपने योग दर्शन के विभूति पाद में धारणा के बाद ही ध्यान का लक्षण किया है । जैसे धारणा के विषय को समस्त ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा जाना ही जाना चाहिए । इसे ध्यान कहते हैं । ताकि बीच में कोई बाधक ज्ञान न पैदा हो जाए ।[77] इसी का वर्णन गोरक्षनाथ ने इस प्रकरण में किया है कि ध्यै धातु सर्वचिन्तनवाचक है जो अपने चित्त में आत्म तत्व का सर्वतोभावेन चिन्तन करता है वही ध्यान कहलाता है ।[78] यह ध्यान दो प्रकार का माना गया है । सगुण और निर्गुण । कुछ लोग कलायुक्त शबल ब्रह्म का ध्यान करते हैं । कुछ कलारहित निर्गुण ब्रह्म का ध्यान करते हैं । लोक में जो शास्त्र मुख्य रूप

---

76. गो०सं०यो०खं० 2.59-60

77. 3.2 तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

78. गो०सं०यो०खं० 2.6.-62

से प्रचलित हैं । उनमें आकार युक्त और आकार रहित परमात्मा का ही ध्यान कहा जाता है । तभी योगउपनिषद में इनका भेद बतलाते हुए, ~~फल भेद बतलाते हुए~~ फल भेद की बात कही गई है । जो सगुण उपासक है, वह अष्ट सिद्धि प्राप्त करता है और निर्गुण उपासक समाधि लाभ को प्राप्त करता है । जिससे हम कह सकते हैं कि सगुण की उपासना ऐह लौकिक सुख साधनों की दाता है जबकि निर्गुण उपासना पारलौकिक सुखसाधनों का आगार है । इन दोनों को धर्म या अदृष्ट कहा जाता है[79] । इस धर्म के धारण से ही मानव अपने स्वरूप में रक्षित रह सकता है या आगे बढ़ सकता है[80] । इसलिए देहली दीपक न्याय से ध्यान, जहाँ धारणा का सहयोगी है । वहाँ समाधि का भी पूर्व रूप माना गया है । अतः एव ग्रन्थकार ने इसे दोनों के बीच में रखा है। इसी से कैवल्य या मोक्ष मिलता है ।

समाधि :-

ध्यान ही जब अर्थमात्र में भासित होने लगे और योगी अपनी सत्ता को भूल जाए तब समाधि नाम को पा लेता है अर्थात् ध्याता, ध्यान और ध्येय इन भेदों सहित जो ज्ञान होता है वह ध्यान होता है । इन तीनों के भिन्न ज्ञान रहित एकतानता ज्ञान का नाम समाधि है[81] । सम्यक् ध्यायते यत्र ध्येयं" वह समाधि है ।

---

79. वै०द० 1.2 यतोऽभ्युदय निःश्रेयसप्राप्तिः सः धर्मः ।

80 धर्मो रक्षति रक्षितः ।

81. 3.3 तदेवार्थमात्रनिर्भास स्वरूप शून्यमिव समाधिः ।

गोरक्षनाथ ने उपाधि और तत्व इन दो शब्दों पर विचार करके कहा है कि उपाधि नाम वर्ण का है और तत्व नाम आत्मा का[82]। उपाधि विपरीत बोध कराती है,जबकि बुद्धि से यथार्थ ज्ञान होता है,उसी से आत्मा का ज्ञान होता है । सभी उपाधियाँ नाशवान् है,किन्तु सतत अभ्यास से ही यह नाश सम्भव है । आत्मा नित्य है,वह इन्ही उपाधियों के कारण अपने को बन्धित समझता है । तभी तो आत्मा एकत्व और उपाधियों का अनेकत्व सिद्ध होता है । जैसे एक ही मानव अनेक वस्त्रों को धारण करता है, अवस्थाओं का अनुभव करता है,। वहाँ जैसे उस व्यक्ति में एकवचनता तथा वस्त्रों और उपाधियों में बहुवचनता देखी गई है[83]।

इसके अतिरिक्त संहिता में इनका दूसरा स्वरूप भी बताया गया है कि प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को पाँच घड़ी तक अवरोध करना धारणा कहलाती है । साठ घड़ी तक चित को एक विषय पर एकाग्र रखनें का नाम ध्यान है तथा 12 दिनों तक प्राणों का निरन्तर संयम रखना ही समाधि कहलाती है[84]। जैसे नमक जल में लीन हो जाता है,वैसे ही आत्मा और मन एक हो जावे,स्थिर हुआ प्राण वायु आत्मा

82•गो०सं० यो०ख० 2•8।

83•गीता ,वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरो पराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति नवानि देही।।

84•गो०सं०यो०ख० 2•84

में लीन हो जावे आत्मा परमात्मा में एकरूपता आ जाए, वही समय समाधि का माना गया है[85]। समाधि में गया हुआ जीव, पाँच भौतिक विषयों को अपने में लीन कर लेता है और इनका कोई आभास उसे नहीं होता । वह उस समय की समरसता को प्राप्तकर लेता है , उसके सारे भेद समाप्त हो जाते हैं और वह एक रूप होकर तत्व में परिणत हो जाता है । जो ज्ञान मार्गी सन्तों ने इस तरह वर्णित किया है -

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी ।
फटा कुम्भ जल जल ही समाना यही तत्व कहानी ।।

समाधि के मुख्य दो भेद है । सविकल्प और निर्विकल्प । जिस योगी ने योग के द्वारा चितवृतियों से [redacted] प्राप्त संस्कारों को नष्ट करके ग्रहिता, ग्रहण और ग्राह्य इन तीनों को एकता कर ली हो उसी की समाधि लग सकती है । जब इस समाधि अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान ज्ञेय रूप त्रिपुटी मान सहित अद्वितीय वृत विषयक अन्त:करण विषयक वृति हो तब सविकल्पक कहलाती है । यह भी दो प्रकार की होती है । शब्दानुविद्ध और शब्दाननुविद्ध । " अहं ब्रह्मास्मि" प्रथम का उदाहरण है "अहमस्मि" अर्थात् केवल अपना भान होना दूसरे का उदाहरण है ।

निर्विकल्पक समाधि में त्रिपुटी रूपी उपाधि सहित ~~केवल ज्ञान मात्र~~ केवल ज्ञान मात्र अखण्ड ब्रह्माकार अन्त:करण की वृति को निर्विकल्पक कहते हैं । यह गूँगे के गुड़ की तरह होता है, जिसका वर्णन न किया जा सके ।

85•गो०सं०प०ख० 2•86 रसं वै प्राप्य रसो वै भवति स ।

।•सविकल्पक चार प्रकार की है ।

वितर्कानुगत•विचारानुगत,आनन्दानुगत, और अस्मितानुगत । यह वितर्कानुगत दो प्रकार की है सवितर्क और निर्वितर्क । विचारानुगत भी दो प्रकार की है । सविचार और निर्विचार । निर्विकल्प समाधि दो प्रकार की है । अद्वैत भावना रूप निर्विकल्प समाधि तथा अद्वैत अवस्थान रूप निर्विकल्प समाधि ।

इस प्रकार योगी इन समाधियों का अभ्यास करके अपने ईश्वर के साथ या आत्मा को परमात्मा के साथ वैसे जोड़ देता है । जैसे दूध में घृत सम्मिलित रहता है या घटाकाश महाकाश में लीन होता है । किन्तु कलियुगी साधक को ब्रह्मचर्य के बिना इस कार्य में सफलता नहीं मिल सकती । यदि कोई साधक करता भी है तो तितिक्षा की न्यूनता के कारण बीच में ही छोड़ जाता है,या मर जाता है । जैसे ही मूलाधार से कुण्डलिनी शक्ति उठेगी और मणिपूरक में पहुँचेगी तो साधक का लक्ष्य यदि नासिकाग्र है तो प्राण वहाँ से चलने शुरू हो जाएँगे और गन्धमादन पर्वत के ऊपर बैठे साधक की तरह समस्त सुगन्धों को ~~सब~~ प्राप्त करेगा और जड़ समाधि में लीन हो जाएगा । यदि जीभ के अग्रभाग में अपने प्राणों का संचार करता है तो समस्त रसों का आनन्द लेकर जड़ समाधि में जाएगा । यदि ब्रह्मरन्ध्र के बीच में शून्य परात्परब्रह्म का ध्यान करके अपनी धारणा बनाता है । प्राण वहीं सहस्रार में लीन रहेंगे और जड़ समाधि लग जाएगी और जड़ समाधि में पड़े मनुष्य को आधुनिक चिकित्सक मृत घोषित कर देगा । वह आभूत संप्लव तक व्योम देह बनकर घूमता रहेगा और मोक्ष से वंचित रहेगा । कलियुग के लिए भक्तियोग का उपदेश दिया गया है । वह योग आज्ञा चक्र में ध्यान और धारणा बनाने से बनता है,क्योंकि

उससे अधिक शारीरिक प्रक्रिया ठीक चली रहती है और इन्द्रियां एवं मन शान्त रहते हैं। साथ में उपासक तथा उपास्य का भेद बना रहता है। जिससे शरीर रूपी घटाकाश भिन्न रहेगा और महाकाश के लय का भाव न होने से संचित कर्म विह्वल न होकर, अधिक बाधा नहीं देते और साधक सहज राजमार्ग से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकता है। दूसरी धारणाओं में विस्फोट का भय रहता है तथा शंकराचार्य और ज्ञानदेव की भांति अकाल मृत्यु हो सकती है।

षष्ठ अध्याय : उपसंहार

भारतीय धर्म-दर्शन पर गोरक्ष संहिता का प्रभाव :-

भारतीय धर्म वास्तविक रूप से वैदिक सनातन धर्म है । अनेक रूपता देखने को मिलती है । वह इतना सहिष्णु है कि कोई भी उसे अपने मन्तव्य की ओर मोड़ सकता है । तो भी "सनातन धर्म" शब्द से रूढ़ात्मक अर्थ जो निकलता है वह प्रतीकात्मक मार्गानुयायियों के धर्म पर ही घटता है ।

गोरक्षसंहिता के वर्तमान में उपलब्ध संस्करण में जो खण्ड हैं, उनमें उपासना, योग और आयुर्वेद का ही प्राबल्य है । इन सबसे पुरुषार्थ चतुष्टय की उपलब्धि प्राप्य है । जिन्हें कोई भी धर्मावलम्बी नहीं ठुकराता । सब इन्हें चाहते हैं । उन्हें किसी भी तरह से प्राप्त किया जाए । इससे यह प्रतीत होता है कि संहिता का सर्वतोभावेन प्रभाव रहा है । धर्म कर्म करने के लिए निरोग शरीर को कौन नहीं प्राप्त करना चाहता । सभी चाहते हैं कि मैं सैकड़ो वर्ष जीऊँ और अन्त में मोक्ष प्राप्त करूँ यही धर्म परिभाषा भी कहती है । तभी तो भारत के प्रत्येक धर्म में उपासना को अधिक महत्व दिया गया है । चाहे नास्तिक हो या आस्तिक हो सभी सुख चाहते हैं । यहाँ तक कि श्रुति भी "जीवेम: शरद: शतम्" कहकर "कुर्वन्नेह कर्माणि जिजीविषा ~~इच्छतं~~ समा" के आधार पर स्वस्थ शरीर की याचना करते हुए सबके लिए "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा आदि स्वस्ति वाचन से अपने लिए सुख और कल्याण चाहते हैं । नाथ पन्थियों ने बौद्धों के

द्वारा विकृत मार्ग को सुधारकर,लोगों के दिमागों में श्रद्धा पैदा की । उन्होंने मुद्रा धान्धरी,सुमिरनी,आधारी,कन्था,सोटा,भस्म,त्रिपुण्ड आदि अपनाए तथा संसार के दु:खी लोगों को झाड़पोंछ कर औषधियों से विभूति द्वारा सहायता की ।घर-घर जाकर अलख जगाई और भारतीयों को उनके धर्म और स्वरूप को समझने का आदेश दिया जिसका समाज पर इतना प्रभाव पड़ा कि उत्तरी भारत में ही नहीं अपितु समस्त भारत वर्ष में इनके लिए स्थान बनने लगे । गोरक्ष के नाम से गोरखपुर" नाम का नगरप्रसिद्ध है तथा इनकी याद में यहाँ मन्दिर है । नेपाल में भी पशुपतिनाथ से विष्णु मती नदी पार करके ऊपर पहाड़ पर चढ़कर गुह्येश्वरी देवी के ऊपर गोरखनाथ जी का मठ बना हुआ है । जहाँ नेपाल नरेश ने त्रिशूल अर्पण किया था । त्रिशूल के नीचे आज भी नेपाली में यह विवरण देखने को मिलता है -

नित्यानन्द निमग्न निस्पृह महायोगीश चूडामणि ।
ह्वैव विसन्द प्रभु स्वयं अरुकुरा चाहिन्नथ्यो तापनी ।।
भक्ति ले प्रभु को परिशरण मा प्रीत्यर्थ होस दिन-दिन ।
भन्ने खातिर यो त्रिशूल प्रभु मा मैले गरें ।।

मार्गo 3 गते सम्वत्-1981

कामाख्या पीठ के कदली वन में मत्स्येन्द्रनाथ जालन्धर नाथ गर्गादि पर्वत पर गहनीनाथ,माप गांव में रेवणनाथ, ज्वालामुखी में गोरखनाथ ने । निवास किया और मठ स्थापित किए । सौराष्ट्र में गोरखमढ़ी गोरखनाथ का प्रसिद्ध स्थान है । वहाँ गिरनार पर्वत पर उनकी पादुकाएँ पूजी जाती है । पेशावर के निकट

"गोरक्षक्षेत्र" कोल्हापुर दक्षिण के बतोस शिराले नामक एक गांव में गोरक्षनाथ के अनेक चिह्न मिलते हैं । हरियाणा के रोहतक में भी नाथ पन्थियों के प्रसिद्ध क्षेत्र हैं ।

हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक गांव में कोई न कोई देव मन्दिर विद्यमान हैं । जहाँ उनकी पूजा पद्धति में मुद्राएँ गाई जाती है तथा नाथ पन्थियों की तरह संकेत सहित प्रणाम किए जाते हैं । जिससे हिमाचल प्रदेश के धार्मिक परिवेश में नाथ पन्थियों का प्रभाव अभी तक भी पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है ।

दर्शन क्षेत्र में भी गोरक्षसंहिता का पूर्ण प्रभाव दीखता है, क्योंकि गोरक्षसंहिता ने योग को अधिक महत्त्व दिया है । वास्तव में प्रथमान्त व्युत्पत्ति "दृश्यते-इति दर्शनम्" से योग ही दर्शन क्षेत्र में ठीक बैठता है । वह दर्शन जीव ब्रह्म के हैं । वह न तो वैशेषिक के पदार्थज्ञान से, न न्याय के प्रमाणवाद से, न सांख्य के प्रकृति विश्लेषण से न मीमांसा के बाह्योन्मुखी कर्मवाद से और न ही वेदान्त के शुष्क ज्ञानवाद से हो सकते हैं । यह तो केवल योग मार्ग से ही प्राप्त हो सकते हैं । गोरक्ष ने जिस स्वाभाविक ज्ञान मार्ग का उपदेश दिया है तथा उसे करने में असमर्थ शरीर को औषधियों से योग्य बनाने का जो सन्देश दिया है उसका प्रभाव आज भी हमारे दार्शनिक ग्रन्थों, योग प्रक्रिया ग्रन्थों और आयुर्वेद के ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से झलकता है ।

अतः भारत के धर्म और दर्शन पर नाथ सम्प्रदाय की

"गोरक्षसंहिता" का इतना ही प्रभाव नहीं अपितु "क्लौ कालो विनायकौ" की भावना भी इसी पुस्तक के कादि प्रकरण की देन है । जिसमें कादि मत को सबसे अधिक महत्व दिया गया है ।

दार्शनिक क्षेत्र में इस संहिता ने अत्यन्त योगदान दिया है । हठ योग जिसे लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं । उस घृणा को हटाकर स्वाभाविक श्वास प्रश्वास की क्रियाओं का विवेचन किया गया है । वर्तमान में उपयोगी और चमत्कारों से पूर्ण कुण्डलिनी योग को सरल रीति से बतलाकर दर्शन क्षेत्र में महत्वपूर्ण योग दान दिया है । इन बातों को दृष्टि में रखते हुए । इस संहिता के हिन्दी अनुवाद की व्यवस्था होनी चाहिए,ताकि आम साधारण जनता भी लाभ उठा सके । इस संहिता का सर्वतोमुखी दर्शन आयुर्वेद के रस प्रकरण का है जिसकी उपयोगिता मानव मात्र के उत्थान में की जा सकती है ,क्योंकि स्वर्ण निर्माण विधि यदि सरकार द्वारा कुछ खर्च करके अन्वेषित करवा दी जाए तो अवश्य ही दरिद्र नारायण भारत से पलायन कर जाएगा ।

इस तरह यह पुस्तक मानव समाज के लिए एक वरदान है । दुर्भाग्य से इस के अवशिष्ट प्रकरण नहीं मिल पा रहें हैं । मैंने नेपाल में राजदरबार पुस्तकालय की पुस्तकें जहाँ पुरातत्व विभाग में सुरक्षित रखी गई है,जाकर पूर्ण रूपेण खोज की परन्तु वहाँ भी इस पुस्तक के अवशिष्ट भाग का कोई अंश नहीं मिला । गोरखपुर में भी कोई अता-पता नहीं लग सका । हमारे हिमाचल प्रदेश में भी पहाड़ी टाकरी में लिखे कुछ परिवारों

के पास है जिनमें से कुछतो उनकी पूजा भी करते हैं उन्हें पढ़ नहीं सकते । वे उन्हें किसी को नहीं दिखाते । अगर धर्म और अज्ञानता के दुराग्रह को दूर करके लुप्त हो रही विद्या-ओं को बचाने के उदेश्य से लोग सहयोग दें तो हो सकता है कि कहीं देश के सौभाग्य से और भी कोई इस संहिता का उपयोगी प्रकरण मिल जाए । यहाँ की लोक भाषा में गोरक्ष के अनेकों मन्त्र उद्धृत मिलते हैं । उनका कोई आधार अवश्य होना चाहिए ।

दूसरे श्री खण्ड महादेव की यात्रा प्रसंग में गोरक्षनाथ जी इस प्रदेश के अनेकों स्थानों से सम्बधित रहे हैं । जैसे ठियोग धर्मपुर के राजस्वी देवता कालुनाग उसके शिष्य रहें और उन्होंने भ्राणा नामक स्थान में गुरु से एक देवदारु वृक्ष के नीचे दीक्षा ली थी । इसी तरह भ्रागु वेद जो तन्त्र की एक प्रसिद्ध विधा बताई जाती है,आज भी इस गाँव के यातुओं के पास वंश परम्परा से उपलब्ध है । जिसके कुछ उदाहरण निम्न है -

1.गो की नौपी बाक का पात इस पात को ठाके गुरु गोरखनाथ,मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फोरमन्त्र ईश्वर की वाचा ।

2.अमरसिद्धा ध्याने ध्याओ प्रभात सैंरु श्री गोरखनाथ राऊ गोरख सैरें होकर सिद्ध काया निर्मल पत्रै रिद्ध सोला कला सुबरन माला इस पिण्डे का तू रखवाला का ते दर्शनि तेरा नाम,आप तारे प्रततातारे ज्ञानखण्डजन कालसंधारे,तहाँ आवे जहाँ-जहाँ डंक बजावे,खेचरी भूचरी, अखाडे,आवे दुःख पड़ा सृष्टे जावे,विघ्नविनाशन गोरखराय,आपुवाला,आपुवोला

वर्शंदरनाथ वन्शन्दर रुवा माखी हो के हृदये बैठो ध्यान धरे तुम गोरख देवो नए दुलारे लाउं सद्धारे आंगन जाली दोरत लगी पर्वत स्वामी क्योर । स्वामी मै तेरो माई,कैसी तुम खेचरो आई,खेचरी भूचरी सारथ जापु,ब्रह्म मुखे आपु,विजे क्या गोरख वीर दुहे अमृत धोवे खीर अमृत के धानुषी को छवि लखा तापे घट जोगो जोग बखाणो घठ-घठ जोगी कहाँ कहाँ के आपे आले माटे रखूं पाणो चुपियाँ मुपियाँ चरखा कातूं, लोहे का कोठा धाणो चापो आस पास सब दब जाए,मांझे जोगी बैठा रहे,गोरख बैठा मतराय का पूत,काढे छूरा डाकिनि का किया भस्म भूत चार रापो चार वाणी चन्द्र सूरज पोप पाणी पन्थे भीतर धरती आणी मेरी भक्ति गुरु की शक्ति फोर मन्त्र ईश्वर की वाचा ।

इस तरह के इस प्राणु शावर वेद के अनेकों मन्त्र हैं जिनमें गुरु ~~जिनमें गुरु~~ गोरक्षनाथ जी को दुहाई दी गई है और उनकी शक्ति इतनी प्रबल मानी गई है कि यातु लोग आज सैकड़ों दुःखियों के दुःख दूर कर रहे हैं । इस वेद की समस्त उपलब्ध सामग्री को मैं अलग से सम्पादित करूंगा यदि नाथ की आज्ञा से गुरु गोरक्षनाथ की कृपा रही ।

इस प्रकार से समस्त भारत के लोगों में जितने भी क्रिया कलाप हैं उन पर गोरक्षचिन्ता का प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष प्रभाव लक्षित होता है । मैं इसी दृढ़ विश्वास के साथ अपने शोध को पूर्ण करने जा रहा हूं कि नाथ सम्प्रदाय के प्राण स्वरूप गुरु गोरक्षनाथ की गौरवमयी पदवी को लोग मेरे इस प्रयास से समझें । वे खोए हुए गौरव को प्राप्तकर संसार में पुनः भारत को प्रकाशित करें । यदि ऐसा निश्चय कर साधक चले तो उसे गुरुजी को तरह दिव्य सिद्धि प्राप्त ~~प्राप्त~~ होगी । उनके विषय में लिखा है -

न तस्य योगी न जरा न मृत्युः । प्राप्तस्य योगाग्निमयः शरीरम् ।।"

—o—

नमो आदिनाथाय ॥

ईश्वर उवाच ॥

चन्द्रसूर्यस्तथा वह्नि शरीरे दश नाडिकाः ।

पञ्चस्थावायव पञ्च मनोबिन्दुस्तथैव च ॥१ ॥

षट्चक्रं मेरुदण्डञ्च ओड्डियानं तथैव च ।

जालंधरं कामरूपं पूर्णगिरि श्रीहस्तकः ॥२ ॥

प्रकीर्तिः क्षेत्रपुरुषो ब्रह्माविष्णुशिवस्तथा ।

नदानद्यः समुद्राश्च भुवनानि चतुर्दशः ॥३ ॥

ब्रह्माण्डे ये गुणाः संति ते तिष्ठंति कलेवरे ।

तेषां संक्षेपतः साध्यं प्रवदन्ति शुविस्मृते ॥४ ॥

२अ)

मेरुशृङ्गे स्थिते चन्द्रो द्विरष्टा कलया युतः ।
अहर्निशं तुषाराभं शुधां वर्षत्यधो मुखं ॥५ ॥

शुधांशुर्द्धि विषश्रावी पीयूष बिंदुमेव च ।
तरलस्तु शुधाज्ञेया घनोबिंदुरुदाहृतः ॥६ ॥

एकबिंदु सदा ब्रह्मा उत्पत्तिस्थितितारकः ।
बिंदुवर्गस्य साध्येन देहसिद्धिः प्रजायते ॥७ ॥

जवाकुसुमसंकाशोवस्थिदेशे सुसोभने ।
मध्यमामूलसंव्याप्य सूर्यन् तिष्ठति देहिनां ॥८ ॥

२ब्)

कलाद्वादशभिः सूर्यो वह्विर्दशकला युतः ।
सर्वेषां देहिनां तिष्थेत् अन्नादिः पावकः सदा ॥९ ॥

तुषारं वर्षते चन्द्रो रविः सुध्यति सर्वदा।
तत्संयोगे स्थितः प्राणः वियोगात्मरणं भवेत् ॥१० ॥

ऊर्द्धं यातिरवे रस्मिरधचंद्रामृतं सदा।
अभ्यासात् कामरूपेन योगं योग विदोविदुः ॥११ ॥

अयं योगसमुद्रं च वसन्तः परिकीर्तितः।
अरोगी च भवे देवी प्राणापानैक योगतः ॥१२ ॥

प्राणश्चन्द्र मयोज्ञायोपानः सूर्यमयं तथा।

३अ)

अनयोः संगमं सध्यं रजोबीजस्य साधनं ॥१३ ॥

ओड्डीयानं दृढं बन्धं कृत्वा रेचकपूरकौ।
समानापानयोर्योगः प्राणापानेकयोगतः ॥१४ ॥

कामरूपे त्रियोगः प्राणापाने समानकौ।
नाभिशक्तिः द्वयोर्मध्ये ओड्डियानं तदुच्यते ॥१५ ॥

वह्नौ जालंधरो ज्ञेयः कामरूपश्च गर्भके ।
पूर्णगिरिः हृदिर्मध्ये श्रीहद्बं तालुकोपरि ॥१६ ॥

आकुंच्य गुडमूलन्तु चिबुकं हृदयोपरि ।

३ब्)

नवद्वाराणि संयम्य कुक्षिमापूर्य वायुना ॥१८ ॥

चारणं सर्वे नाडीनां देहवह्निः प्रदीपनं ।
वंह्नेः प्रदीपनान्नित्यं अन्नादेः पाचनं भवेत् ॥१९ ॥

अन्नादेः पाचनान्नित्यं रसवृद्धिः प्रजायते ।
स्वभावाद्बीज एवासौ बिंदुर्विभर्तिनान्यधा ॥१९ ॥

अधिकं सर्वगात्रेषु भवन्ति चाष्टधावतः ।
वायुरेव परो देहे मूलसारः प्रकीर्तितः ॥२० ॥

वायोः प्रसाधना देव आयुर्वृद्धि दिने दिने ।

हृदिः प्राणो गुडपानः समानो नाभिसंस्थितः ॥२१ ॥

४अ)

उदानः कण्ठदेशे च व्यानः सर्व शरीरगः ।
स्थानवायुञ्च संक्षिप्य वस्थिदेशे पुनः पुनः ॥२२ ॥

उद्घाते ये चक्र नालं सुषुम्णाया सुगोपितं ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततोतित्वा वायुर्विशति मध्यमां ॥२३ ॥

स्वाधि चक्र लिंगमूले ततो वायुर्विशत्यपि ।
मणिपूरं नाभिदेशे ततो विध्यात्सदा गतिः ॥२४ ॥

हृदिमध्ये विष्णुग्रंथिं भित्वा कण्ठगुणाकरं ।

४ब)

तालुमूलं सुधाचक्रे भित्वारुद्रालयं व्रजेत् ॥२५ ॥

चक्रं चक्र यदाभित्वा वायुर्याति पुरे पुरे ।
वायुना सहयोगेण बिन्दु तत्रैव गच्छति ॥२६ ॥

यावनस्थां व्रजे वायु बिन्दुस्थानेन गच्छति ।
शंखिनी नालसंप्राप्य चास्थि शून्यं विभर्तिसः ॥२७ ॥

ततः क्षीरमयो देहः पिण्डसिद्धो भवेद्ध्रुवं ।
एवं मभ्यासयोगेण नरो ब्रह्मनि यः स्थितः ॥२८ ॥

तस्य पापं क्षयं याति जन्मकोटि शतार्जितं ।
मासे मासेश्वमेधश्च यज्ञस्य च फलं भवेत् ॥२९ ॥

५अ)

वर्षणराज सूर्यस्य फलं तस्य न संशयः ।
दह्यते सर्वपापानि कोटिजन्मार्जितानि च ॥३० ॥

ईहैवाभ्यास योगेण तृणानि वह्निना जपा ।
तपांसि योनि कथ्यंते यज्ञदानव्रतानि च ॥३१ ॥

कोटि कोटि गुणैस्तानि भवत्यभ्यास योगतः ।
नन्दन्ति पितरः सर्वे पुत्रो योगानुसारिणी ॥३२ ॥

भुञ्जस्ते च सुखं सर्वं सर्वदुःखविवर्जिताम् ।

देव्युवाच ॥

उपायं ध्यान योगस्य ब्रुहि मे शशि सेषर ।

५ब्)

यल्लब्ध्वा योगिनः सर्वे मुच्यते जन्म बंधनात् ॥३३ ॥

ईश्वरोवाच ॥

नाभिमध्ये स्थितो ब्रह्मा हृदि मध्ये तु माधवः ।
शिरसि शङ्करो ज्ञेया त्रिस्थानं मुक्तिदं स्मृतं ॥३४ ॥

नाभि मध्ये परं ज्योतिः प्रदीपं तद्दशाङ्गुलं ।
ज्योतिपुञ्ज च चक्रवत् हृदिमध्ये च तिष्ठति ॥३५ ॥

शुद्धस्फटिकसंकाशं चंद्रकोटि समप्रभं ।

ध्यायेत् मूद्धि्न शिवज्योति घृतपिण्डसिवोद्धृतं ॥३६ ॥

६अ)

अचञ्चलं मनं कृत्वा त्रयाणां ज्योतिषां शनैः ।
मेलकं वायुबिंदूभ्यां कर्तव्यं मनसा बुधैः ॥३७ ॥

कामरूपे चक्रनाले मध्यमां मध्यगोचरे ।
तथाचक्रेषु सर्वेषु प्रत्यं ज्योतिः प्रदृश्यते ॥३८ ॥

यस्मिन्नभ्यासतो वायुर्मनो बिंदुस्तथैव च ।
ज्योतिषि त्रीणि तत्रैव तेषु चात्मा प्रतिष्ठति ॥३९ ॥

नाभिमध्येषु सर्वेषु ज्योतिषां दीप्यते यथा ।
तत्रैव चास्थि शून्ये तु कालचारः पलायते ॥४० ॥

६ब)

एवं ध्यानं सदा बुद्धया कुर्यात् ज्योतिर्मयं बुद्धः ।
ज्योटिषां वायु बिंदुर्नामेलकं मुक्तिदायकं ॥४१ ॥

एवं ध्यानस्थिरं यस्य न वाक्यं लभ्यते मनः।
वायुर्बिन्दु मनश्चात्मा तस्य सर्वस्थिरं भवेत् ॥४२॥

चले बिन्दौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा।
चलते चलमानोसौ मृत्युमभ्येति शाश्वत ॥४३॥

७अ)

तस्मादेवञ्चला भूत्वा * * * * * * * *?।
* * * * * * * * *? यं ब्रह्म समो
भवेत् ॥४४॥

कथितं ध्यान योगस्य समुद्देशे च विस्मृते।
ध्यानातीतं परं ब्रह्म सर्वशास्त्रेषु गोपितं ॥४५॥

ब्रह्माविष्णुशिवादीनां एकोसौ जनकाविभुः।
आधारो भुवनानाञ्च देहस्था देहवर्जिताः ॥४६॥

७ब)

एकोव्यापीशसं * *? निर्गुणः प्रकृते परः।

जन्म वृद्ध्यादि रहित आत्मासर्वगतान्ययः ॥४७ ॥

निरालंवे मनः कृत्वा कुर्याच्छुन्ये मनस्थिरं ।
अनित्य खण्डयेत् सर्वं यत्किञ्चित् मनसार्जितं ॥४८ ॥

खण्डयेत् सततं देवि विनष्टं पञ्चभौतिकं ।
करणानि मनश्चैव यदा ब्रह्मणि नीयते ॥४९ ॥

तदा ब्रह्मपदं प्राप्य योगी मुक्ति पदं व्रजेत् ।
अनिमादि गुणास्तस्य * * * * * * * *? ॥५० ॥

८अ)

देव्युवाच ॥

इन्द्रियाना * * * * * * * * * * *

*? ।

* * * * * * *? स्य शिष्यैश्चक्षुद्रबुद्धिभिः

॥५१ ॥

ईश्वरोवाच ॥

ब्रह्माण्ड * * *? ब्रह्म परं ज्योतिर्मयं शुभं ।
तदूर्द्ध्वञ्च परं विष्णोः हृदये च गुणान्वितं ॥५२ ॥

तदूर्द्ध्वञ्चैव रुद्राणां दृश्यते नात्रसंशयः ।
तदूर्द्ध्वञ्च महाशून्यं यत्र ब्रह्म यथाश्रमं ॥५३ ॥

तत्रैव च मनो नीत्वा महाशून्यमयोपरि ।
कालस्य रक्षयं ज्ञात्वा स्वयं ब्रह्म समो भवेत् ॥५४ ॥

८ब्)

अत एव शिवादीनां निद्राव्याजेन पार्वती ।
प्रत्यद्दे ज्ञानचिन्तायां न किञ्चिदन्यथा भवेत् ॥५५ ॥

एवं शक्रादयो देवाः सिद्धाश्च वरवर्णिन ।
सिद्धाः सिद्धं प्रकुर्वन्ति ते यान्ति परमा गतिः ॥५६ ॥

मानुषाश्चास्मि काये च गन्धर्वोरग किन्नरा ।

एवं योगसमासाध्य गच्छन्तिं परमां गति ॥५७ ॥

९अ)

हिंसार्थे च व्रजेत् कालं स्तेन नास्तिक वादिना ।
असत्यर्नोचता क्रूराः द्विजवेदविनिंदकाः ॥५८ ॥

असेवागुरुपादे च सर्वधर्म विवर्जिता ।
आलसौ पीडिता ये च कामक्रोधप्रपीडिता ॥५९ ॥

तथाभ्यास विहीनाश्च योगतः परिहीयते ।
तेन मुक्ति पदं याति धर्मे नानेन पार्वतै ॥६० ॥

९ब्)

* * * * * * * * * * * *
*? सोभने ।
केचित् ध्यानं युगंसंति विज्ञानञ्च परः परं ॥६१ ॥

धर्मकर्मादिके ये च विज्ञानमुपदेशतः ।
साध्यः चानु क्रमं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिं ॥६२ ॥

यश्चेनं शृणुयान् नित्यं कथा सर्व यथा स्मृतां।
सर्वपापक्षयं तस्य ब्रह्मणसदनं भजेत्॥६३॥

स्वकृच्छ्रवणमात्रेण ब्रह्महत्यां व्यपोहतिः।

१०अ)

दिनेकनाश्वमेधानां यज्ञानाञ्च फलं लभेत्॥६४॥

यः पठेत् पाठयेद् वापि सर्वयज्ञफलं लभेत्।
अतः पुण्यतरं शास्त्रं नोचात्र विद्यते क्वचित्॥६५॥

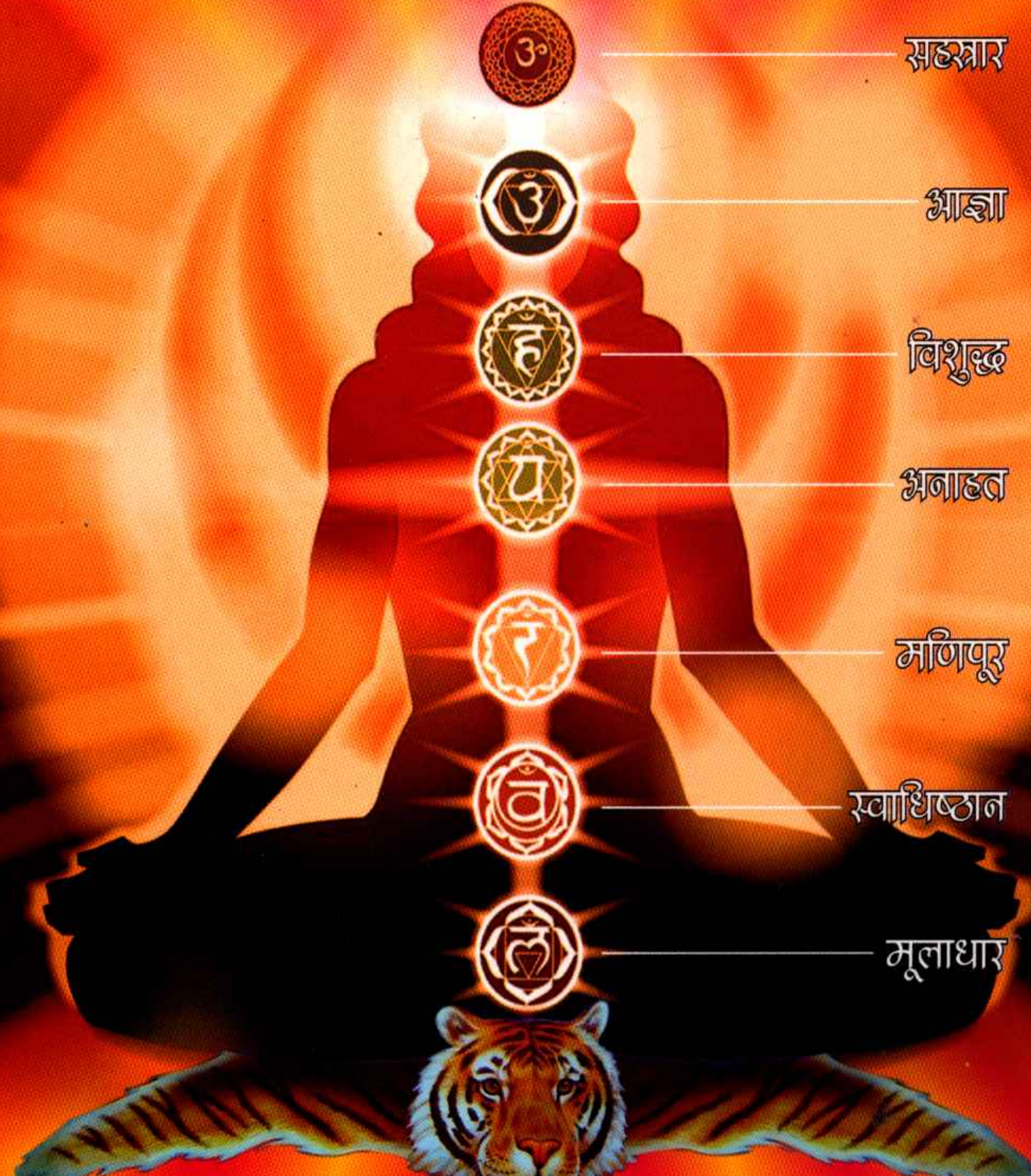
मूलसारेति इति गोरक्षजोगशास्त्रसमाप्तं॥ ॥

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

XXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXXX

गोरक्षनाथ प्रणीतः गोरक्ष शतकम्

(हिन्दी अनुवाद सहित)



अनुवादक : डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी)
प्रकाशक : श्री पीताम्बरा पीठ, दतिया (म.प्र.)



शिव अवतार श्री गुरू गोरखनाथ

ॐ

ॐ श्री परमगुरूवे गोरक्षनाथाय नमः

गोरक्षनाथ प्रणीतः
गोरक्षशतकम्

☆

(हिन्दी अनुवाद सहित)

卐 अनुवादक 卐

मोतीलाल खड्डुर शास्त्री (मास्टरजी)

:: प्रकाशक ::

श्री पीताम्बरापीठ, दतिया - ४७५६६१ (म.प्र.)

ॐ

प्रकाशक : श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

संस्करण : प्रथम संस्करण (१००० प्रतियां)
२८ सितम्बर सन् २०११
शारदीय नवरात्र संवत् : २०६८

मूल्य : पच्चीस रूपये मात्र (२५/-)

मुद्रक : शिवशक्ति प्रेस प्रा. लि.
बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन,
ग्रेट नाग रोड, नागपुर-९

जगज्जननी भगवती पीताम्बरा माता



पीताम्बरां विघ्नहरां प्रणम्य,

गोरक्षनाथं सिद्धेशमीडे।

ययोः कृपातो ग्रथितो सुलेखः

ताभ्यां सश्रृद्धोऽयं समर्पयेऽहम्

योगैक गम्यां निहितात्मविद्यां

ज्ञातुं न शक्तः सहसा वुधोऽपि

तथापि मन्देन कृतः प्रयासः

सतां सदाशंसनमातनोतु।।

- अनुवादकः

प्रकाशकीय

राष्ट्रगुरु श्री पीताम्बरा-पीठाधीश्वर पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज के शुभाशीर्वाद एवं जगज्जननी भगवती पीताम्बरामाता, की असीम अनुकम्पा से श्री गोरक्षनाथ प्रणीत **'गोरक्ष शतकम्'** हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित कर पीताम्बरापीठ अत्यधिक आनन्द का अनुभव कर रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ गोरक्ष शतकम् के सौ श्लोकों में हठयोग के गंभीर विषयों को श्री गोरखनाथ ने सरल तथा सहजरूप में अभिव्यक्त किया है वैसा ही सुन्दर अनुवाद पूज्यपाद श्री स्वामीजी महाराज के कृपा पात्र एवं पीठ के अनन्य सेवक डॉ. श्री मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) द्वारा किया गया है, जो हृदयहारी है।

आशा है इस ग्रन्थ के प्रकाशन से न केवल विद्वान पाठकों को संतोष होगा अपितु योग साधकों का भी पथ प्रदर्शन होगा।

श्रीमती रेणु शर्मा
मंत्री
श्री पीताम्बरा पीठ
दतिया (म.प्र.)

शारदीय नवरात्र
२८ सितम्बर २०११

– अनुक्रमणिका –

विषयानुक्रमणिका

ॐ

ॐ श्री परमगुरूवे गोरक्षनाथाय नमः

गो र क्ष श त क म्



ॐ श्री गुरुवे नमः

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु

◆

गुरुर्देवो महेश्वरा

◆

गुरुर्साक्षात् परब्रह्म

◆

तस्मै श्री गुरुवे नमः

अनन्त श्री विभूषित राष्ट्रगुरु पीताम्बरा पीठाधीश्वर
परमपूज्य श्री स्वामीजी महाराज, दतिया (म.प्र.)



卐 समर्पणम् 卐

शतशः स्वगुरूं नत्वा तथा पीताम्बराम् जनिम्।
यत्कृपातोऽभवत्पूर्णोऽनुवादः शतकस्य च।।
वन्दे स्वगुरूपीठं वै मोतीलालोऽह मानतः।
सकृदप्यनुशीलेन सिद्धिर्भवति सर्वदा।।

अनुवादकः

◆ उपक्रम एवं शुभाशंसनम् ◆

"गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकम्" नामक ग्रन्थ केवल संस्कृत में ही उपलब्ध है। इसका अक्षरशः अनुवाद तो नहीं, किन्तु प्रत्येक श्लोक का पद्यार्थ, भावार्थ हमारे डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री 'मास्टरजी' ने लिखा है जो विज्ञ सुधी पाठक जनों के लिए बड़ा ही रोचक है। मोतीलाल मास्टरजी शाक्त तन्त्र साधना जैसे तन्त्र के रहस्यात्मक ग्रन्थों के प्रणेता हैं। इस गोरक्ष शतकम् में मुख्य रूप से कुण्डलिनी प्रकरण के सभी चक्रों का वर्णन, अष्टाङ्ग योग का विशद प्रतिपादन किया है। भगवान् विश्वनाथ से मैं प्रार्थना करता हूँ कि माँ जगज्जननी भगवती पीताम्बरा जगदम्बा के पावन चरणों में पूर्ण रूप से समर्पित हमारे मास्टरजी द्वारा लिखित इस गोरक्ष शतकम् को पढ़कर विज्ञ सुधी पाठक जन बहुत लाभान्वित होंगे। उनकी गति, मति, रति, धर्ममय होगी।

- आचार्य भागवतानन्द सरस्वती

!! श्रीमत् रामानुजाय नमः !!

श्रीमद्भगवत् गीता साप्ताहिक अखण्ड पाठ एवं प्रवचन के अधिष्ठाता

ॐ शुभाशीर्वाद ॐ

संस्कृत भाषा हमारी संस्कृति की महान धरोहर है। हमारे जितने भी मनीषी हुंये है उन्होंने मानव समुदाय के कल्याण हेतु बड़ा सुन्दरं तरीका बताया है। वर्तमान समय में उस (तरीके) तत्व को समझाने वाला नहीं है।

सभी कुछ जानकारी के लिये संस्कृत भाषा में उद्धत श्री गोरक्षनाथ प्रणीत गोरक्ष शतकम् के १०० श्लोकों के विचारों को लेखक डॉ. मोतीलाल खड्डुर शास्त्री (मास्टरजी) ने हिन्दी भाषा में व्यक्त किया है। महर्षि गोरक्षनाथ के विचार और लेखक ने अपने विचार जो उन्होंने हिन्दी भाषा में व्यक्त किये है, जन समुदाय के लिये उपयोगी तंथा कर्मकल्याण में सहायक सिद्ध होंगे।

मैं लेखक मास्टरजी को आशीर्वाद देता हूँ कि इसी प्रकार से अन्य मुनीषियों की कृतियों को आम समाज में लावें। वर्तमान समय में इसके महती की आवश्यकता है। अस्तु लेखक के दीर्घायु होने की भी मैं सहृदय कामना करता हूँ।

स्वामी देवनायकाचार्य (समदर्शी)
कम्पिल (फर्रूखाबांद) उ.प्र.

दिनांक १९ फरवरी २०११

★ शुभम् भवतु ★

आचार्य 'प्रणव' वानप्रस्थी, डॉ. इच्छाराम द्विवेदी
अध्यक्ष, पुराणेतिहास विभाग,
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली

पीताम्बराचरणपङ्कज चञ्चरीकः
लेभे मुदं "प्रणव" संज्ञक एष लब्ध्वा।
गोरक्षनाथ रचितम् शतकम् पवित्रम्
यत्सानुवाद मतिसुन्दरम द्वितीयम्।।
मोतीलाल विबुधामृत बोधयुक्तम्
भाषानुवादमखिलम् बहुशः पठित्वा।
आशंसते मम मनः शुभमस्तुनित्यम्
गोरक्षनाथ कृपया विबुधस्य तस्य।।

पीताम्बरा पद परागपवित्र देहो
यो मन्त्र-तन्त्र-निगमागम-पूतचित्तः।
मोतीलाल "शुचि" नामधरो महात्मा
योगीश्वरोऽस्तु भुवि साधनचक्रवर्ती।।

निखिल ब्रह्माण्ड वैभवविस्तारिणी चराचर जगत्पालनी सकल-पापक्षयकारिणी, भवसागर सन्तारिणी, शत्रुस्तम्भनकारिणी, हरिद्रासरोवर विहारिणी मातृ श्री पीताम्बरा जगदम्बा के चरणारविन्दयुगल में नित्यनिवास से परिवृतान्तःकरण, अनन्त श्री विभूषित, योगीसम्राट पूज्य चरण सद्गुरुदेव राष्ट्रगुरु श्री के अमोघ आशीर्वाद से आप्लावित साधक श्रेष्ठ श्रीयुत डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) द्वारा अनुवादित श्री गोरक्षशतकम् को देखकर अत्यन्त उल्लास हुआ। जैसा महायोगी श्री गोरक्षनाथजी का योगशतक अद्वितीय है वैसाही सुन्दर अनुवाद भी आचार्यवर्य ने किया है। एतदर्थ मैं उनको सहृदय से साधुवाद देता हूँ।

"गोरक्षशतकम्" सिद्धयोगी की वाणी है। इसके द्वारा योगमार्ग के अनेक अनसुलझे प्रश्नों का उत्तर श्री गोरखनाथजी ने दिया है। गोरक्षशतकम् एक सुस्पष्ट तथा निर्भ्रान्त रचना है। इस रचना ने केवल भारतीय मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया है अपितु फर्गुहर तथा ब्रिग्स जैसे पाश्चात्य अन्वेषकों को भी चमत्कृत किया है। मथुरानाथ शुक्ल और शंकर पण्डित की टीकायें इस **"गोरक्षशतकम्"** पर प्रसिद्ध है।

एक छोटी सी रचना में कैसे ज्ञान सिन्धु भरा जा सकता है इसका सुन्दर उदाहरण है यह **गोरक्षशतकम्**। अनुवादक ने भी बड़े ही सारगर्भित किन्तु सरल शब्दों में इसका राष्ट्रभाषानुवाद किया है जिससे कि यह और भी बोधगम्य हो गया है।

सिद्धासन और पद्मासन की व्याख्या करते हुये श्री गोरक्षनाथजी ने कहा है-

आसनेभ्यः समस्तेभ्यः द्वयमेव विशिष्यते।
एकम् सिद्धासनम् प्रोक्तम् द्वितीयम् कमलासनम्॥

दोनों आसनों की संरचना पर उनका विवरण अद्वितीय है-

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्।
मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम्॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्।
एतन्मोक्षकवाटभेद जनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धत्वा कराभ्यां दृढम्॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्।
एतद् व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥

गोरक्षनाथजी ने अत्यन्त दक्षता से भारतीय योगविद्या का उपदेश किया है। श्रीमद् भागवत महापुराण में शुकदेवजी कहते है-

प्राणायामैः दहेद् दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषान्॥

गोरक्षशतकं का कथन तुलनीय है -

आसनेन रुजां हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा॥

धारणा तत्त्व का जैसा सुन्दर विवेचन गोरक्षशतकम् में है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। योग वस्तुतः इस जगत्प्रपञ्च का तत्त्वज्ञान है।

निरातंकं निरालम्बं निष्प्रपंचं निराश्रयम्।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः।।

जगत प्रपञ्च में रहते हुये भी गुरुकृपा से प्राप्त योग मार्ग का आश्रय लेकर पञ्चतत्व प्रपञ्च का निरास करते हुये योगी सर्वत्र परमेश्वरान्वीक्षा का स्वभाव विकसित कर लेता है।

न गंधं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम्।
आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना।।

ऐसी सिद्धावस्था में पहुँचते ही योगी जीवन्मुक्त हो जाता है-

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना।।

यही अद्वैत की चरम अनुभूति है-

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्नि रिवार्पितः।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित् परमे पदे।।

योगशतक की भाषा चाहे वह मूल संस्कृत हो या मांस्टरजी के द्वारा किया गया भाषानुवाद दोनों ही हृदयहारी है। ऐसे लघुकाय ग्रन्थों की आज मांनव समाज को बड़ी आवश्यकता है। आज के युग में जब योग **"योगा"** बन गया है, योग के कतिपय आसनों का प्रदर्शन करके केवल और केवल धन कमाया जा रहा है, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का उपदेश मात्र इसलिये किया जा सकता है कि भोग की क्षमता बढ़ाई जा सके तब ऐसे समय में जीव और ब्रह्म की एकात्मता को सिद्ध करनेवाले, योग के परम प्रतिपाद्य अद्वैत सिद्धि को देनेवाले गोरक्षशतकम् जैसे ग्रन्थों की महनीय आवश्यकता है।

मैं एक बार पुनः आचार्य श्री मोतीलालजी खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) को प्रणाम करता हूँ और उन्हें इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए बधाई देता हूँ। यह ग्रन्थ पाठकों और साधकों का पथ प्रदर्शक बने, यही मेरी शुभकामना है।

गणेशचतुर्थी
१ सितम्बर २०११ ई.
नई दिल्ली

भगवत्च्चरणाश्रित
'प्रणव' वानप्रस्थी
(प्रो. इच्छाराम द्विवेदी)

प्रस्तुति

गोरखनाथ (गोरक्षनाथ) भारत के एक बहुत महान योगी थे, इतने महान कि उन्हें शिव-रूप ही माना जाता था। ऐसा मानना हमारे देश में आदर और सम्मान देने का एक तरीका है। उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ थे। उनकी प्रतिष्ठा और उनका अवदान ऐसा था कि उनके नाम से योगियों का एक एक सम्प्रदाय-नाथ-सम्प्रदाय-चल पड़ा जिसकी परम्परा आज भी मौजूद है। उनकी एक साधना पद्धति है जो उनकी गुरु-परम्परा में निहित है। साधना, पुस्तकों को देखकर होती भी नहीं, क्योंकि पुस्तकें प्राय: सांकेतिक होती हैं और उनमें विशेषत: सिद्धांन्तों का प्रतिपादन होता है। दूसरी बात यह कि साधना में दीक्षा की आवश्यकता होती है और उस परम्परा की विधियों को भी सीखना होता है। फिर भी पुस्तके सहायक होती है। एक तो उनसे उनके सिद्धान्त, लक्ष्य और साधन तथा दृष्टिकोन का पता चलता है, दूसरे उनके अवदान की जानकारी के साथ अन्य साधना-पद्धतियें के साथ तुलना में भी सहायता मिलती है।

गोरखनाथ की रचनाओं से नाथ सम्प्रदाय की योग-साधना पद्धति को स्थायित्व मिला और वह सुरक्षित भी रहा। गोरखनाथ की संस्कृत रचनाओं में गोरक्षशतक, योगबीज, विवेकमार्तण्ड और सिद्धसिद्धान्त-पद्धति प्रधान है। उन्होंने योग के तत्व को जनमानस तक पहुँचाने तथा लोककल्याण के लिये उस समय की लोकभाषा में भी लिखा था जो गोरखवाणी के नाम से प्रसिद्ध है। नाथ सम्प्रदाय को ही सिद्धामृतमार्ग या सिद्धमत कहा जाता है।

गोरक्षशतक निर्विवाद रूप से गोरखनाथ की रचना है। इसे सभी इस विषय के विद्वान मानते है इस सन्दर्भ में डॉ. जे. एन. फर्कुहर और ब्रिग्स का बड़ा योगदान है। ब्रिग्स की पुस्तक 'गोरखनाथ एण्ड दि कनफट्टा योगीज्' बहुत प्रसिद्ध है। उनके प्रमाण से पता चलता है कि गोरखनाथ की एक पुस्तक गोरक्षपद्धति है जो गोरखकल्प का रूप है उसमें दो सौ श्लोक है। उसका पहला शतक - गोरक्षशतक है जिसका नामान्तर गोरक्षज्ञान, ज्ञानप्रकाशक शतक तथा ज्ञानशतक भी है। दूसरे शतक का नाम योग- शास्त्र है गोरक्षशतक पर शंकर पण्डित और मथुरानाथ शुक्ल की दो टीकाएँ भी उपलब्धं है, किन्तु वे मुझे अभी देखने को नहीं मिली है। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज की स्पष्ट मान्यता

है कि गोरक्षपद्धति और गोरक्षशतक गोरखनाथ द्वारा प्रतिपादित योग का प्रामाणिक ग्रन्थ है।

गोरक्षशतक की जो पाण्डुलिपियाँ विभिन्न ग्रन्थागारों में उपलब्ध हैं वे सभी छपी भी नहीं है। मुझे दो छपी प्रतियाँ देखने को मिली हैं। एक स्वामी कुवलयानन्द जी द्वारा सम्पादित लोनावाला से छपी है और दूसरी श्री रामलाल श्रीवास्तव द्वारा सम्पादित गोरखमन्दिर गोरखपुर से छपी है। स्वामी कुवलयानन्द जी योग के अन्वेषक प्रकृति के व्यक्ति थे, जिन्होंने योग से सम्बन्धित कई पुस्तके प्रकाशित की और हठयोग के मूलग्रन्थ भी प्रकाशित किए। उनके द्वारा स्थापित संस्था लोनावाला में आज भी काम कर रही है। स्वामी कुवलयानन्द जी का गोरक्षशतक का संस्करण संमीक्षात्मक है जिसमें पाठ-भेदों का उल्लेख किया गया है। पाठ भेदों का उल्लेख करना महत्वपूर्ण है। पुरानी पुस्तकों में पाठ-भेद हो जाना अस्वाभाविक नहीं है, किन्तु ये पाठ-भेद अर्थ-भेद उत्पन्न नहीं करते। श्री रामलाल श्रीवास्तव गोरखनाथ के साहित्य के अधीत व्यक्ति है और गोरखनाथ पर उनकी पुस्तक भी है। वे गोरखनाथ मन्दिर से प्रकाशित होनेवाली योगवाणी पत्रिका के सम्पादक भी है। उनका गोरक्ष शतक का संस्करण समीक्षात्मक तो नहीं है किन्तु किसी एक पाण्डुलिपि का हू-ब-हू रूप है और शुद्ध भी है। संभव है, गोरखनाथ मन्दिर की परम्परा में यह प्रति उपलब्ध रही हो। गोरखपीठाधीश्वर स्वामी अवेधनाथजी महाराज की दृष्टि में यह संस्करण प्रामाणिक है, क्योंकि उन्होंने अपनी भूमिका में इसी का आधार लिया है और इसके मूल से पर्याप्त उद्धरण दिए है।

दोनों संस्करणों में श्लोकों की संख्या एक सौ एक है, किन्तु मुख्य भेद यह है कि पचास से अधिक श्लोक एक दूसरे से भिन्न हैं अर्थात् एक दूसरे में नहीं हैं। गोरखनाथ मन्दिर वाले संस्करण में अजपाजप का बहुत अच्छा प्रतिपादन है, किन्तु लोनावाला संस्करण में यह बिल्कुल नहीं है। लोनावाला संस्करण में पंचमहाभूत धारणा का सुन्दर प्रतिपादन है जो गोरखनाथ मन्दिर वाले संस्करणों में नहीं है। ऐसे ही कुछ और अन्तर है। वैसे दोनों संस्करणों में गोरखनाथ की योग पद्धति से असम्बन्ध कुछ नहीं हैं। सभी विषय सम्बन्ध है, किन्तु विषयगत और प्रतिपादनगत थोड़े अन्तर के कारण एक दूसरे में एक अभाव की प्रतीति अवश्य होती है।

गोरक्षशतकम् का प्रस्तुत संस्करण जिसका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है, वह लोनावाला-संस्करण के आधार पर है, इसका सम्बन्ध गोरखनाथ मन्दिर वाले संस्करण से नहीं हैं इसका हिन्दी अनुवाद किया है- डॉ. मोतीलाल खड्डर शास्त्री (मास्टरजी) ने, जो पीताम्बरापीठ, दतिया से जुड़े हैं यह अनुवाद मूल से यथासंभव सम्बद्ध है इसलिये मूल पाठ को समझने के लिये बहुत अच्छा और बहुत उपयोगी हैं यह टीका या व्याख्या नहीं है, इसमें बहुत विस्तार की आवश्यकता होती है। पहली अपेक्षा होती है मूल से परिचित होने की जिसके लिये मूल से सम्बद्ध अनुवाद अपेक्षित है और विस्तार का द्वार तो कई माध्यमों से खुला रहता है।

गोरक्षशतकम् में योग और तंत्र के साधनों का सामञ्जस्य है। इसमें तंत्र के कतिपय योगपरक साधन समाहित है अजपाजप और कुण्डलिनी योग वस्तुतः तंत्र की ओर से आये साधन हैं तंत्र और योग में आरम्भ से सामीप्य है जहां भेद करना कठिन होता है जो साधना की पुष्टि की दृष्टि से उत्तम संकेत है। गोरखनाथ का योग जो हठ योग के रूप में भी विकसित हुआ, तंत्रयोग के आधार पर हुआ, यह असंदिग्ध है।

गोरक्षशतक में योग के छः अंग माने गये हैं जो आसन से आरम्भ होकर समाधि तक हैं। इसका कारण संभवतः यह है कि विधि रूप में क्रियात्मकता यहीं से आरम्भ होती है। इसका यह अर्थ नहीं कि गोरखनाथ पंतजलि के यम-नियम से अपरिचित है या उसकी मान्यता नहीं देते। सिद्धसिद्धान्त पद्धति में उन्होंने कहा है -

यम इति उपरामः सर्वेन्द्रियजयः नियम इति मनोवृत्तीनां नियमनम्-

सभी इन्द्रियों का अपने विषयों से हट जाना यम है तथा मन की सभी वृत्तियों का नियमन होना यम है। यम-नियम की उनकी यह परिभाषा बहुत सारगर्भित है, उसके आचारत्मक रूप की अपेक्षा यह अधिक योगपरक है। इसका सीधा सम्बन्ध उसके तात्पर्य से है। इसी तरह उन्होंने वहीं पर आसन से लेकर समाधि तक को तात्पर्यार्थ रूप में परिभाषित किया है।

गोरखनाथ ने यह कहकर कि योग वेद-रूप कल्पतरू का फल है, इसका सेवन करें, इससे सभी भवताप (दुःख) दूर हो जाते हैं। योग की गरिमा इंगित की हैं।

द्विजसेवित शाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम्।
शमनं भवतापस्य योगं भजति सज्जनः॥ गो.श.३

गोरखनाथ योग में सिद्धि के निमित्त ज्ञातव्य तथ्यों को जानने के लिये जोर देते हैं। उसके योग में साधना के सारे उपादान शरीर में ही है। शरीर एक घर है जिसमें साधना के सारे उपादान (सामग्रियाँ) मौजूद है। जो उपादानों के साथ इस घर को नहीं जानता वह सिद्धि की आशा कैसे कर सकता है ?

षट्चक्रं षोडशधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चक्रम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥ गो.श.३
एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधि दैवतम्।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः॥

(गोर.शत., गोरख-मन्दिर संस्करण, श्लो. : १३-१४)

योगी अपनी देह में स्थित षट्चक्र, सोलह आधार, त्रिलक्ष्य (तीन लक्ष्य), पंचव्योम (पाँच आकाश) को नहीं जानते हैं वे कैसे योगसिद्ध हो सकते है ? अपनी ही देह में शरीर रूपी घर को जो एक स्तम्भ, नौ द्वार, पाँच तत्त्व और उनके पाँच अधिदैवत से युक्त या निर्मित है, नहीं जानते हैं, वे योगी कैसे योगसिद्ध हो सकते हैं ?

गोरखनाथ की दृष्टि में आभ्यन्तरिक देह-विज्ञान को जानना जरूरी है। यदि इसका ज्ञान तथा उन सभी अंगों की क्रियाओं का ज्ञान नहीं है तो योग की विभिन्न प्रकार की साधनाओं में से किसी एक में भी सफलता प्राप्त करने की आशा दुराशा नहीं है।

इस गोरक्षशतक में योग के छः अंगों पर प्रकाश डालकर उनकी साधना का संकेत तो किया ही गया है, इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी, षट्चक्र-साधन पंचभूत-धारणा और ध्यानस्थान का परिणाम सहित प्रतिपादन किया गया है। साथ ही, उपाधि और तत्त्व का भेद भी स्पष्ट किया गया है। इन विषयों को मूल पाठ में देखना चाहिए। यहाँ उन्हें स्पष्ट करने पर बहुत विस्तार हो जायेगा।

इस योग में अजपाजप का बहुत महत्व है जिसका निर्देश गोरखनाथ-मन्दिर वाले संस्करण में किया गया है। उस संस्करण में महामुद्रा, खेचरी मुद्रा, शक्तिचालिनी मुद्रा, महाबन्ध और उड्डियान बन्ध इनका फल सहित सुन्दर वर्णन है। शिव और शक्ति के प्रतीक-रूप बिन्दु और रज की शरीर में यौगिक अवस्थिति का भी योग-पद्धति से विश्लेषण किया गया है। कहा है-

बिन्दु शिवो रज शक्तिश्चन्द्रो विन्दूरजो रविः।
उभयो सङ्गमादेव प्राप्यते परम् पदम्।।
वायुना शक्तिचारेण प्रेरित तु महारजः।
याति विन्दोः सहैकत्वं भवेद् दिव्यवपुस्तदा।।
शुक्र चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम्।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगविद्।।

(गोर.शत., गोरखनाथ-मन्दिर सं., श्लो. : ७४-७६)

• बिन्दु (वीर्य) शिव है और रज शक्ति है। बिन्दु चन्द्रमा है और रज सूर्य है। (चन्द्र-स्थान में पाण्डुर वर्ण का बिन्दु (शुक्र) रहता है और सूर्य स्थान (नाभि) में सिन्दूर वर्ण का रज रहता है) इन दोनों के संगम से (योगी को) परम पद की प्राप्ति होती है।

• वायु के द्वारा शक्ति के चालन से जब महा रज ऊपर उठकर बिन्दु के साथ मिलकर एक हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है।

• शुक्र चन्द्रमा से संयुक्त है और रज सूर्य से संयुक्त है। जो इन दोनों का सामरस्य-ऐक्य जानता है, वह योगवित् है।

साधना कुण्डलिनी की हो या चन्द्रमा-सूर्य से सम्बन्धित बिन्दु-रज की, शिव-शक्ति का सामरस्य ही लक्ष्य है। गोरख की योग पद्धति में तन्त्रयोग का अद्‌भुत सामञ्जस्य है। ऐसा हठयोग में भी है।

गोरक्षशतक में गोरख की योग-पद्धति के सिद्धान्त और प्रक्रिया का दिग्दर्शन हो जाता है। जिससे उसके विस्तार का द्वार खुल जाता है। यह गोरख की परम्परा में मान्य पुस्तक है। इन कारणों से इसे पढ़ा जाना चाहिए। मास्टर जी द्वारा हिन्दी अनुवाद उपलब्ध करा देने से उसमें सुविधा होगी।

गोरख के योग का प्रयोजन है, अपने शरीर के भीतर के साधक (सहायक) उपादानों को जानना, दु:ख से मुक्त होना, आनन्दमय रहना ब्रह्ममय होना और अन्ततः अद्वैत में प्रतिष्ठित होना। उन्होंने इस शतक के समापन में कहा है-

भवभयवने: वह्निर्मुक्तिसोपानमार्गतः।
अद्वयत्वं वजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ।।

(गोरख शतक: १०१)

(यह योग) संसार भय के जंगल के लिये अग्नि है और मुक्ति के लिए सोपान-मार्ग है जिससे योगी अद्वयत्व (अद्वैत) में पहुँचकर परम पद में निवास करता है।

डॉ. मारूतिनन्दन पाठक
पूर्व अध्यक्ष एवं आचार्य
संस्कृत विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

◆◆◆

ॐ

गोरक्षशतकम्

ॐ श्रीपरमगुरवे गोरक्षनाथाय नमः ।

ॐ गोरक्षशतकं वक्ष्ये भवपाशविमुक्तये ।
आत्मबोधकरं पुंसां विवेकद्वारकुंचिकाम् ।। १ ।।

गोरक्षशतकम् कहता हूँ। यह शतक संसार के बन्धन से मुक्त करानेवाला है। यह आत्मा के बोध को उत्पन्न करानेवाला तथा मनुष्यों के विवेक के द्वार को खोलने के लिए एक कुंजिका (चाबी) है।। १ ।।

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वंचनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो मोहादासक्तं परमात्मनि ।। २ ।।

यह गोरक्षशतकम् मुक्ति प्राप्ति का सोपान (साधन) है। इससे काल (मृत्यु) का वंचन (उल्लंघन) होता है (मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है, शरीर योगाभ्यास द्वारा स्वस्थ्य एवं परिपक्व हो जाता है और उसमें क्षीणता नहीं आती)। (इस शतक में वर्णित अभ्यास के द्वारा) मन मोह से मुक्त होकर परमात्मा में लग जाता है।। २ ।।

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजति संज्जनः ।। ३ ।।

वेद कल्पतरु है। वेदरूपी कल्पतरू की शाखाओं का पण्डित जन सेवन (अनुशीलन) करते हैं जिसका फल यह योग है। सत्पुरूष इसका सेवन (साधन) करते है जिससे संसार का ताप (आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक) शमित (शान्त) हो जाता है।। ३ ।।

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि भवन्ति षट् ।। ४ ।।

आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि-योग के ये छह: अंग है। (गोरखनाथ के सिद्धसिद्धान्त पद्धति में यम-नियम सहित आठ अंगों की चर्चा की है, किन्तु यहाँ सीधे प्रक्रियागत क्रियात्मक साधना से सम्बन्ध होने के कारण छ: अंग माना है।)॥ ४॥

आसनानि तु तावन्ति यावत्यो जीवजातय:।
एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वर:॥ ५॥

जितने प्रकार के जीव (प्राणी) हैं उतने ही प्रकार के आसन हैं। उनके सभी भेद शिव जानते है॥ ५॥

चतुराशीतिलक्षाणामेकमेकमुदाहृतम्।
तत: शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम्॥ ६॥

महेश्वर (शिव) ने चौरासी लाख आसनों में से प्रत्येक का वर्णन किया है। उनमें से चौरासी आसनों को उन्होंने मुख्य बताया है॥ ६॥

आसनेभ्य: समस्तेभ्यो द्वयमेव विशिष्टते।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्॥ ७॥

उन सभी आसनों में केवल दो आसन प्रधान कहे गये है- एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन॥ ७॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे न्मेढ्रे
पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम्।
स्थाणु: संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरंतर मे
तन्मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते॥ ८॥

गुदा और मेढ्र (लिंग) के मध्य में योनिस्थान है जिसे कुण्डलिनी-स्थान भी कहा जाता है। साधन के इस योनिस्थान को (बांए) पाव की एडी से दबाकर (दाए) पांव की एड़ी को मेढ्र पर लगाए और शरीर को बिल्कुल सीधा रखे। सभी इंन्द्रियों को वश में रखते हुए भ्रू-मध्य में अचल दृष्टि से देखता रहे तथा स्वयं भी स्थिर एवं अचल रहे। यही मोक्ष के द्वार को खोलनेवाला सिद्धासन कहा गया है॥ ८॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थांप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्।

अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्राच्यते ।। ९ ।।

वाम जंघा (जंघा के मूल में) दाहिना पांव (चरण) स्थापित करे तथा उसी प्रकार दाहिनी जंघा पर वायां पांव स्थापित करें और दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दाहिने हाथ से बाएं पांव के अंगूठे और बाएं हाथ से दाहिने पांव के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़कर एवं चिबुक को हृदय से लगाकर नासिका के अग्रभाग को (दोनों नेत्रों से) देखें। इसे समस्त व्याधियों और (शारीरिक एवं मानसिक) विकारों को नष्ट करनेवाला पद्मासन कहा गया है ।। ९ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानम् द्वयोर्मध्ये कामरूपम् निगद्यते ।। १० ।।

आधार (मुलाधार) चक्र पहला है, दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है। दोनों के मध्य में स्थित योनिस्थान को कामरूप कहा जाता है ।। १० ।।

आधाराख्ये गुदस्थाने पंकजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता ।। ११ ।।

मुलाधार चक्र जो गुदास्थान में है और जो चार (कमल) दलों से युक्त है. उसके मध्य में (त्रिकोणाकार) योनि है। यह (योनि) सिद्धों द्वारा कामाक्षा (कामाक्षा पीठ) कहा गया है ।। ११ ।।

योनिमध्ये महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्भिन्नम् यो जानाति स योगवित् ।। १२ ।।

उस (कामाक्षा) योनि के मध्य में पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है। उस महालिंग के मस्तक में मणि के सदृश (प्रदीप्त) बिम्ब को जो जानता है वही योगवेत्ता है ।। १२ ।।

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
चतुरस्रं पुरं वन्हेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ।। १३ ।।

मेढ्र से नीचे (मूलाधार पद्म की कर्णिका में) तपे हुये सोने के वर्ण की आभा और विद्युल्लेखा के सदृश ज्योर्तिमय चतुरस्त्राकार अग्निमय (वह योनिस्थान) है। (पाठान्तर त्रिकोणाकार भी है) ।। १३ ।।

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः।
स्वाधिष्ठानाख्यया तस्मान्मेढ्रवाभिधीयते ।। १४ ।।

'स्व' शब्द प्राण का उद्‌गम है। (स्व शब्द से प्राण का बोध होता है।) स्वाधिष्ठान ही प्राण का आश्रम या स्थान है। अतः स्वाधिष्ठान पद ही मेढ्र कहा जाता है ।। १४ ।।

तंतुना मणिवत्प्रोतो यत्र कंदः सुषुम्णया।
तन्नाभिमंडलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ।। १५ ।।

सूत्र में पिरोए मणि के समान सुषुम्ना नाड़ी का केन्द्र है। यह नाभिमण्डल में स्थित (कन्द) मणिपूरक चक्र कहा जाता है ।। १५ ।।

ऊर्ध्व मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगांडवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।। १६ ।।

मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे पक्षी के अण्डे के सदृश्य कन्द-योनि है। यहां से (इस कन्दयोनि से) बहत्तर हजार नाड़ियां उत्पन्न होती है ।। १६ ।।

तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः।
प्राधान्यात्प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।। १७ ।।

इन सहस्रों नाड़ियसों में बहत्तर हजार नाड़ियां मुख्य है और उन (बहत्तर हजार नाड़ियों) में भी दस प्राणवाहिनी नाड़ियां ही प्रधान है ।। १७ ।।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा च तृतीयका।
गांधारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।। १८ ।।
अलंबुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता।
एतन्नाडिमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।। १९ ।।

(पहली) इडा, (दूसरी) पिंगला और तीसरी सुषुम्ना नाड़ी है। (इनके अतिरिक्त) गांधारी, हस्तिजिह्वा, षूषां, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू और शंखिनी ये दस नाड़ियां (प्रधान) है। योगियों को इन नाड़ियों से युक्त चक्र को सदा जानना चाहिये ।। १८-१९ ।।

इडा वामे स्थिता भागे पिंगला दक्षिणे तथा।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।। २० ।।

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चानने वाप्यलंबुषा ।। २१ ।।

कूहूश्च लिंगदेशे तु मूलस्थाने च शंखिनी ।
एवं द्वारमुपाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः ।। २२ ।।

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
इडापिंगलासुषुम्णा च तिस्रो नाड्य उदाहृताः ।। २३ ।।

(नासिका के) वाम भाग में इडा औरं दक्षिण भाग में पिंगला नाड़ी है (इन्न दोनों के) मध्य में सुषम्ना है। गांधारी वाम नेत्र में और दक्षिण (दाहिने) नेत्र में हस्तिजिह्वा है। पूषा दाहिने कान में और यशस्विनी बाएं कान में है। मुख में अलम्बुषा है और लिंगदेश में कुहू हैं। शंखिनी मूलस्थान (मूलाधार) में है। इस प्रकार ये दस नाड़ियां (प्राणवायु के) द्वार में स्थित है। इडा, पिंगला और सुषम्ना प्राण के मार्ग में स्थित है और निरन्तर (शरीर में) प्राण का संचार करती रहती है। इनके देवता (इडा के) चन्द्रमा, (पिंगला के) सूर्य और (सुषम्ना के) अग्नि है।। २०-२३।।

प्राणापानौ समानश्च ह्युदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ।। २४ ।।

नागाद्याः पंच विख्याताः प्राणाद्याः पंच वायवः ।
एते नाडिसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।। २५ ।।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान (ये पांच) तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय (ये पांच) ऐसे कुल दस वायु है जो हजारों नाड़ियों में जीव रूप में रहते है।। २४-२५।।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावती ।
वामदक्षिणमार्गेण चंचलत्वान्न दृश्यते ।। २६ ।।

जीव, प्राण और अपान के वश में होकर वाम और दक्षिण मार्ग से (इडा और पिंगला के द्वारा) नीचे से ऊपर एवं ऊपर से नीचे की ओर दौड़ता (चढ़ता-उतरता) रहता है जो चंचलता के कारण दिखाई नहीं पड़ता है।। २६ ।।

आक्षिप्तो भुवि दण्डेन यथोच्चलति कंदुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवोऽनुकृष्यते।। २७।।
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते।। २८।।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपान च कर्षति।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्।। २९।।

जिस प्रकार दण्ड के द्वारा आक्षिप्त (उछालने या ताड़ित) होने से गेंद पृथ्वी पर उछलती रहती है उसी प्रकार प्राण और अपान के द्वारा आक्षिप्त (आकृष्ट) होकर जीव (जीवात्मा) (क्षण भर भी) स्थिर नहीं रह पाता। जिस प्रकार डोरी से बंधा बाज पक्षी (डोरी ढील देने पर) ऊपर उड़ने लगता है। डोरी खिंचने पर नीचे आ जाता है उसी प्रकार (सत्व, रज, तम) गुणों (वासना और अविद्या) में बंधा हुआ जीव प्राण और अपान के द्वारा ऊपर नीचे खिंचता रहता है। अपान प्राण को खिंचता है और प्राण अपान को खिंचता है इस तरह ऊपर-नीचे खिंचते प्राण-अपान को जो संयोजित करना जानता है वहीं योगवेत्ता है।। २७-२९।।

कंदोर्ध्वे कुंडलीशक्तिरष्टधा कुंडलीकृता।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति।। ३०।।

कन्द (मेढ्र के ऊपर और नाभि के नीचे जो कन्द है, वह सभी नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है।) के ऊपर कुण्डलिनी शक्ति आठ प्रकार की होकर कुण्डलित रूप में ब्रह्मरन्ध्र को अपने मुख से आच्छादित करके (रोककर) स्थित है।। ३०।।

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हतां।
प्रजीवगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया।। ३१।।

वह (कुण्डलिनी) वह्नियोग से जागृत होकर मन और प्राण (वायु) के द्वारा आहत होकर अथवा उनके साथ डोर में बंधी सुई के समान सुषुम्ना-पथ में ऊपर उठती है।। ३१।।

महामुद्रां नभोमुद्रामुड्डियानं जलंधरम्।
मूलबंधं च यो वेत्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।। ३२।।

जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा (खेचरी मुद्रा), उड्डीयान बंध, जालन्धर बन्ध और मूलबंध जानता (अभ्यारा में निष्णात) है वही योगी सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त करने का अधिकारी होता है।। ३२।।

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बंद्ध्वा शनैः रेच येदेषा।
पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते।। ३३।।

वक्ष (हृदय) में ठोढी को लगाकर साधक बाएं पांव (की एड़ी) से योनिस्थान को देर तक दबाकर रखे तथा दोनों हाथों से फैले हुए दाहिने पांव को पकड़े और दोनों कुक्षियों को पूरक द्वारा वायु से भरे, फिर (कुम्भक द्वारा रोककर और रेचक द्वारा) धीरे-धीरे बाहर निकाल दें। यह मनुष्यों की सभी पातकनाशिनी (व्याधिविनाशिनी) महामुद्रा कही जाती है।। ३३।।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ३४।।

जिह्वा (जीभ का अग्रभाग) को उलटा लौटाकर कपाल-कुहर में प्रविष्ट कराया जाता है और दृष्टि दोनों भौहों के बीच में स्थिर की जाती है। यही खेचरी मुद्रा है।। ३४।।

ऊर्ध्व मेढ्रादधो नाभेरूड्डियांन प्रचक्षते।
उड्डियानजयो बंधो मृत्युमातंगकेसरी।। ३५।।

मेढ्र से ऊपर और नाभि से नीचे भाग को उड्डियान बन्ध कहा जाता है। (उड्डियान बन्ध में इस भाग को पीछे (अन्दर) की ओर खिंचना होता है।) उड्डियान बन्ध सिद्ध होने पर यह मृत्युरूपी हाथी के लिये सिंह के समान है।। ३५।।

जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।। ३६।।

जालन्धर बन्ध में कण्ठ का संकोचन करता होता है। (संकुचित कण्ठ में ठुड्डी को लगा दिया जाता है) जालन्धर बन्ध से (बिन्दु-स्थित चन्द्रमा से निस्पन्दित होने वाला) अमृत (मणिपुर में स्थित) अग्नि में नहीं गिरता (गिरकर भस्म नहीं होता) और वायु भी प्रकुपित नहीं होती ।। ३६ ।।

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो निगद्यते ।। ३७ ।।

पांव की एड़ी से योनिस्थान को ठीक से दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिये और अपान वायु को ऊपर की ओर खिंचना चाहिये (तथा प्राणवायु से मिलाना चाहिये। यही मूलबन्ध है) इसे मूलबन्ध कहा जाता है ।। ३७ ।।

यतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो सुनयश्चैव ततः प्राणं निबंधयेत् ।। ३८ ।।

काल (मृत्यु) के भय से ब्रह्मयोगी और मुनिगण प्राणायाम का अभ्यास करते रहते है। इसलिये (सभी को) प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिये ।। ३८ ।।

चले वाते चलं सर्वं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ।। ३९ ।।

जब तक (शरीर में) वायु (प्राण) चंचल है तब तक सब कुछ चंचल रहता है, उसके निश्चल (स्थिर) होने पर अन्य सभी स्थिर हो जाते है। इससे योगी स्थाणुत्व (निश्चलता, स्थिरता) प्राप्त करता है, इसलिये प्राणायाम करना चाहिये ।। ३९ ।।

षट्त्रिंशदंगुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ।। ४० ।।

(प्राण-रूप वायु) हंस वाम और दक्षिण नासा-रन्ध्रों से छत्तीस अंगुल (की दूरी तक) बाहर निकलता है, इसलिये (वायु को) प्राण कहा जाता है ।। ४० ।।

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ।। ४१ ।।

बद्धपद्मासन में बैठकर शिव-रूप गुरु को नमस्कार कर नासिका के

अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुये एकाकी (एकान्त में अकेला) योगी को प्राणायामं का अभ्यास करना चाहिये ।। ४१ ।।

प्राणो देहस्थितो वायुरायांमस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा तद्योगो गगनायते ।। ४२ ।।

शरीर में स्थित प्राणवायु तथा अपान वायु का निरोध पूर्वक मिलना और एक श्वास हो जाना- यह योग ऊर्ध्वगामी एवं उत्कृष्ट है। (प्राण और अपान का मिलना एक श्रेष्ठ योग है ।। ४२ ।।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ।। ४३ ।।

योगी को बद्धपद्मासन में बैठकर चन्द्रनाड़ी (वाम नासिकारन्ध्र) से प्राणवायु को भीतर खिंचकर कुम्भक करना चाहिये और उसके बाद सूर्य नाड़ी (दक्षिण नासिकारन्ध्र) से उसे बाहर निकालना (रेचक करना) चाहिये ।। ४३ ।।

अमृतोदधिसंकाशं क्षीरोदधवलप्रभम् ।
ध्यात्वा चंद्रमयं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ।। ४४ ।।

अमृत के समुद्र की आभा सदृश और दुग्ध-समुद्र की धवल प्रभा-सदृश चन्द्र-बिम्ब का ध्यान कर प्राणायाम करने से साधक सुखी होता है ।। ४४ ।।

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुंभयित्वा विधानेन भूयश्चन्द्रेण रेचयेत् ।। ४५ ।।

सूर्यनाड़ी (दक्षिण नासिका-छिद्र) से प्राणवायु धीरे-धीरे खींचकर उदर को भरना चाहिये, फिर विधिपूर्वक कुम्भक करना चाहिये। पुनः चन्द्रनाड़ी (वाम नासिका-छिद्र) से (धीरे-धीरे रेचक करना चाहिये) ।। ४५ ।।

प्रज्ज्वलज्ज्वलन ज्वाला पुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ।। ४६ ।।

नाभि में स्थित अत्यन्त प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला के पुञ्ज से युक्त सूर्यमण्डल का ध्यांन कर प्राणायाम करने से योगी सुखी होता है ।। ४६ ।।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ।। ४७ ।।

प्रणव के साथ रेचक, पूरक और कुम्भक तीन प्रकार से प्राणायाम होता है। इसमें बारह मात्रा का अनुपात होना चाहिये ।। ४७ ।।

द्वादशाधमके मात्रा मध्यमे द्विगुणास्ततः।
उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामस्य निर्णयः ।। ४८ ।।

बारह मात्रा के अनुपातवाला प्राणायाम अधम (निम्न) होता है, इसके द्विगुण (चौबीस मात्रा के अनुपातवाला) मध्यम और उसके त्रिगुण (छत्तीस मात्रा के अनुपातवाला) उत्तम होता है ।। ४८ ।।

अधमे च घनो घर्मः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामस्य निर्णयः ।। ४९ ।।

अधम प्राणायाम में अतिशय स्वेद (पसीना) होता है, मध्यम में शरीर में कम्पन होता है और उत्तम में बद्धपद्मासन में ही (कुछ ऊपर) उठ जाता है ।।४९ ।।

अंगानां मर्दनं शस्तं श्रमसंजातवारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ।। ५० ।।

प्राणायाम के श्रम से उत्पन्न स्वेद (पसीने) को (शरीर के) अंगों में मलना प्रशस्त (लाभदायक) है। (प्राणायाम-साधना काल में) कटु, अम्ल तथा लवण पदार्थ का त्याग करना चाहिये और दुग्ध पदार्थ का भोजन करना चाहिये ।।५० ।।

मन्दम् मन्दम् पिबेद्वायु मन्दम् मन्दम् वियोजयेत्।
नाधिकं स्तम्भयेद्वायुं न च शीघ्रं विमोचयेत् ।। ५१ ।।

धीरे-धीरे वायु-पान करना चाहिये और धीरे-धीरे ही उसे ग्रहण करना चाहिये। अधिक (ज्यादा देर तक) स्तम्भन (कुम्भक) नहीं करना चाहिये तथा शीघ्रता से रेचन भी नहीं करना चाहिये ।। ५१ ।।

ऊर्ध्वमाकृष्य चापानं वात प्राणे नियोजयेत्।
मूर्धानं नीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ५२ ।।

अपान वायु को ऊपर खींचकर प्राण में नियोजित करना चाहिये। (इसकी) शक्ति से (चेतना की) ऊर्ध्वगामिता होती है और सभी पापों से मुक्ति मिलती है ।। ५२ ।।

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः।
एनोम्बुधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा।। ५३ ।।

इस प्रकार प्राणायाम पातकरूपी इंधन के लिये अग्नि है यह पापों को जला डालता है। यह पापों के समुद्र के लिये महासेतु है। योगीजन सदा ऐसा कहते है।। ५३ ।।

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम्।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा।। ५४ ।।

योगी आसन से रोग नष्ट करता है, प्राणायाम से पातक नष्ट करता है और प्रत्याहार से मानसिक विकार नष्ट करता है।। ५४ ।।

चन्द्रामृतमयी धारां प्रत्याहरति भास्करः।
तत्प्रत्याहरणं तस्य प्रत्याहारः स उच्यते।। ५५ ।।

चन्द्रमा की अमृतधारा को सूर्य रोक देता है अर्थात् सुखा देता है या नष्ट कर देता है। जो इस अवरोध को रोक दे उसे प्रत्याहार कहा जाता है।। ५५ ।।

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता सोममंडलात्।
तृतीयो यो भवेत्ताभ्यां स भवत्यजरामरः।। ५६ ।।

सोममण्डल से आयी हुई एक स्त्री (चन्द्रामृतमयी धारा) दो के द्वारा युक्त होती है। उन दोनों से भिन्न तीसरे के होने से वह (योगी) अजर-अमर हो जाता है। (यह इस योग की एक प्रक्रिया है जो सुधा और नाड़ियों से सम्बन्धित है जिसे साधकों को उस सम्प्रदाय के योगियों से जानना चाहिये)।। ५६ ।।

नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः।। ५७ ।।

नाभि-स्थान में दहन (जलाकर भस्मसात) करनेवाला सूर्य स्थित है और तालुमूल (तालु मध्य) में अमृतात्मा (अमृत निस्पन्दित करते हुये) चन्द्रमा स्थित है।। ५७ ।।

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते।। ५८ ।।

(तालुमूल में) अधोमुख चन्द्रमा अमृत बरसाता है और (नाभि देश में) ऊर्ध्वमुख सूर्य उसे ग्रस (सोख) लेता है। योगी को वह (विधि) जाननी चाहिये जिससे अमृत प्राप्त हो ।। ५८ ।।

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वभानुरधः शशी।
करणं विपरीताख्यं गुरुवक्त्रेण लभ्यते ।। ५९ ।।

नाभि ऊर्ध्व (ऊपर) और तालु अधः (नीचे) तथा सूर्य ऊपर और चन्द्रमा नीचे हो जाये, यह विपरीत करने की क्रिया (किसी योगी) गुरु के मुख से जाननी चाहिये ।। ५९ ।।

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रौरवीति महारवनम्।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ।। ६० ।।

वृषभ (सांड़े) तीन तरफ से बंधा हुआ है और घोर गर्जना कर रहा है। हृदय में यह अनाहत चक्र है जिसे योगी लोग जानते है ।। ६० ।।

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम्।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगित्वममृतायते ।। ६१ ।।

मणिपुर और अनाहत के अतिक्रमण होने पर प्राण की अवस्थिति महापद्म में होती है। (अनाहत में पहुचने पर ही) योगित्व (योगी कहलाने लायक) की संज्ञा होती है जो अमृतमय है ।। ६१ ।।

विशब्दः संस्मृतो हंसो निर्मलः शुद्ध उच्यते।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः ।। ६२ ।।

विशद्ध (निरश्वब्दता) हंस का द्योतक और निर्मलता को शुद्धि कहा जाता है। इसलिये कण्ठ में विशुद्धि चक्र है। (इसे शुद्धि का चक्र भी कहा जाता है जहां सब कुछ शुद्ध और संतुलित हो जाता है) इसे (इस तथ्य को) चक्रों के ज्ञाता जानते है ।। ६२ ।।

विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलाजलम्।
मासेन न क्षयं याति वंचयित्वा मुखं रवेः ।। ६३ ।।

(विशुद्धि चक्र के जागृत होने पर) परम विशुद्धि चक्र में चन्द्रमा की कलाओं का जल (अमृत) धारण करने पर महीने भर उसका क्षय नहीं होता

और वह (अमृत) सूर्य के मुख में जाने से बच जाता है।। ६३।।

संपीड्य रसनाग्रेण राजदंतबिलं महत्।
ध्यात्वाऽमृतमयी देवीं षण्मासेन कविर्भवेत्।। ६४।।

जिह्वा के अग्रभाग से राजदन्त के छिद्र को दबाकर और उस अमृतमयी देवी का ध्यान कर (जो योगी उस अमृत को धारण करता है वह) छः महीने में कवि हो जाता है।। ६४।।

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात्।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोप्यणिमादिगुणोदयः।। ६५।।

योगी दो-तीन वर्षों तक देह को अमृतपूर्ण बनाये रखे तो उसका रेतस् ऊर्ध्वगामी हो जाता है और उस देह में अणिमादि सिद्धियों का उदय होने लगता है।। ६५।।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलैर्वर्तिं च दीपकः।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति।। ६६।।

जिस प्रकार इंधन होने पर अग्नि जलती रहती है, तेल से पूर्णवर्तिका होने पर दीपक जलता रहता है। उसी प्रकार सोमकला (अमृत) पूर्ण देह को देही (आत्मा) त्याग नहीं करती। (उस अमृतपूर्ण देह में वह बनी रहती है)।। ६६।।

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः।
प्रत्याहारेण संयुक्तो धारणाश्च समभ्यसेत्।। ६७।।

आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से संयुक्त (इन तीनों के पूर्ण अभ्यास सिद्ध) होने पर धारणा का अभ्यास करना चाहिये।। ६७।।

हृदये पंचभूतानां धारणाश्च पृथक् पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा च विधीयते।। ६८।।

हृदय में पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) की धारणा पृथक-पृथक् करनी चाहिये। मन की निश्चलता से धारणा होती है। (एकाग्रता को ही धारणा कहा जाता है।)।। ६८।।

या पृथ्वी हरितालदेशरुचिरा पीता लकरान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणं तत्र विनीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा।। ६९।।

जिसे पृथ्वी (तत्त्व या महाभूत) कहते है वह (मूलाधार) में कमलासन (चार दलों वाले कमल) पर हरिताल की तरह पीली आभा से युक्त पीले रंग के चतुष्कोण के मध्य पीताभलंकार (लं बीज से युक्त) है वहां पाचं घटिका तक प्राण और चित्त को स्थिर करके उसकी धारणा करनी चाहिये। यह स्तम्भकारी है और इसके द्वारा पृथ्वी (तत्त्व या भूत) पर जय प्राप्त करनी चाहिये। यही पृथ्वी धारणा है।। ६९।।

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुंदधवलं कंठेबुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकार बीज सहितं युक्तं सदा विष्णुना।
प्राणं तत्र विनीय पंचघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा दुर्वहकालकूटजरणा स्याद्वारिणी धारणा।। ७०।।

(स्वाधिष्ठान चक्र में) जहां अर्ध चन्द्रमा है उसके कण्ठ (ऊपरी भाग में) कुन्द-पुष्प के समान धवल जल तत्त्व स्थित है और वहां विष्णु के साथ अमृत-स्वरूप वकार बीज है। वहां पर पांच घटिका तक प्राण और चित्त को स्थित कर धारणा करनी चाहिये। यह दुर्वह (महाकठिन) कालकूट (हलाहल विष) को भी क्षीण करनेवाला है। यह वारिणी (जल महाभूत की) धारणा है।। ७०।।

यत्तालस्थितमिंद्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणोज्ज्वलं
तेजोरेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्संगतम्।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा।। ७१।।

(मणिपुर चक्र में) जल से भरे बादलों के रंग वाले कमलों के मध्य रक्तिम त्रिकोण में रक्त वर्ण का रकार (रं बीज) है जिस पर रक्त वर्णी रूद्र हैं वहां पर पांच घटिका तक प्राण और चित्त स्थिर कर धारणा करने से अग्नि-जय होती है। यह वैश्वानरी (अग्नि-भूत की) धारणा है ।। ७१।।

यद्भिन्नांजनपुंजसान्निभमिदं तत्त्वं भ्रुवोरन्तरे
वृत्तं वायुमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ।। ७२ ।।

(अनाहत चक्र में) जहां भिन्नाञ्जनपुंजसान्निभ (धूम वर्ण का) वायु तत्त्व का यकार (यं बीज) है। और उसके देवता ईश्वर है, वहां पांच घटिका, तक प्राण और चित्त को स्थिर कर धारणा करनी चाहिये जिससे योगी आकाश गमन में समर्थ होता है। यह वायवी (वायु भूत की) धारणा है ।। ७२ ।।

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं,
तत्राद्येन सदाशिवेन सहितं शांतं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वयं धारये-
देषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ।। ७३ ।।

(विशुध्दि चक्र में) जहां विशुद्ध जल के सदृश (उज्ज्वल) आकाश-तत्त्व स्वरूप, हकार (हं बीज) शान्त सदाशिव के साथ स्थित है, वहां पांच घटिका तक प्राण और चित्त को स्थिर कर धारणा करनी चाहिये। यह धारणा मोक्ष के कपाट को खोलने वाली है। इसे नभोधारणा (आकाश-भूत की धारणा) कहते है ।। ७३ ।।

स्तम्भनी द्रावणी चैव दहनी भ्रामणी तथा।
शोषणी च भवन्त्येव भूतानां पंचधारणाः ।। ७४ ।।

स्तम्भनी, द्राविणी, दहनी, भ्रामणी और शोषणी ये (पंच) भूतों की पांच धारणाएं है ।। ७४ ।।

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पंच दुर्लभाः।
विधाय सततं योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ।। ७५ ।।

कर्म, मन और वाणी से (अभ्यास करने योग्य) ये पांच धारणाएं दुर्लभ है। इनका सतत् अभ्यास करने से योगी सभी पापों से मुक्त हो जाता है ।।७५ ।।

सर्व चिंतासमावर्ति योगिनो हृदि वर्तते।
यत्तत्वे निश्चितं चेतस्ततु ध्यानं प्रचक्षते ।। ७६ ।।

योगियों के हृदय में सभी चिन्तनो में जो एक धातु निर्मल चिन्तन है। उसमें निश्चित (एकतान रूप में) चित्त लग जाये उसे ध्यान कहते है ।। ७६ ।।

द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ।। ७७ ।।

वह ध्यान दो प्रकार का है। एक सगुण और दुसरा निर्गुण। सगुण में वर्णभेद (रूपात्मक भेद) होता है, किन्तु निर्गुण में केवल (रूपाभाव-आकार-राहित्य) होता है ।। ७७ ।।

आधारं प्रथमं चक्रं तप्तकांचनसन्निभम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुंचति किल्बिषम् ।। ७८ ।।

तप्त स्वर्ण के समान (पीले रंग का) आधार (मूलाधार) प्रथम चक्र है। नासाग्र दृष्टि रखकर उसका ध्यान करने से किल्विष (दोष, रोग) नष्ट हो जाता है ।। ७८ ।।

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं तु सन्माणिक्यसुशोभनम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुंचति पातकम् ।। ७९ ।।

माणिक्य-वर्ण (सिन्दूरी रंग का) स्वाधिष्ठान द्वितीय चक्र है। नासाग्र-दृष्टि रखकर उसका ध्यान करने से पातक नष्ट हो जाता है ।। ७९ ।।

तरुणादित्यसंकाशं चक्रं च मणिपूरकम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा संक्षोभजेज्जगत् ।। ८० ।।

तरुण सूर्य के सदृश वर्ग (रक्त वर्ण का) मणिपूरक (तृतीय) चक्र है। नासाग्र दृष्टि रखकर उसका ध्यान करने से (योगी जगत् को संक्षोभित करने में समर्थ होता है।)।। ८० ।।

(श्लोक संख्या ८१ लुप्त है)

विद्युत्प्रभावं हृत्पद्मे प्राणायामविभेदनैः।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ।। ८२ ।।

प्राणायाम के द्वारा भेदन कर विद्युत की आभा (रक्तोज्ज्वल अनाहतं) हृदयपदम् में नासाग्र दृष्टि रखकर ध्यान करने से (योगी) ब्रह्ममय हो जाता है।। ८२।।

संततं घटिकामध्ये विशुद्धं चामृतोद्भवम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत्।। ८३।।

घण्टिका के मध्य (उपजिह्वा के मध्य दीपक प्रभा वाले) विशुद्धि चक्र जहां निरन्तर अमृत का उद्‌भव होता रहता है, नासाग्र दृष्टि रखकर उस पर ध्यान करने से (योगी) ब्रह्ममय होता है।। ८३।।

भ्रुवोर्मध्ये स्थितं देवं स्निग्धमौक्तिकसन्निभम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वाऽऽनंदमयो भवेत्।। ८४।।

दोनों भौंहों के मध्य (आज्ञा चक्र में) में माणिक्य-प्रज्ञा के सदृश (इतराख्य लिंग के साथ) देदीप्यमान देव (परमेश्वर) स्थित है। नासाग्र दृष्टि रखकर वहां ध्यान करने से (योगी) आनन्दमय हो जाता है।। ८४।।

निर्गुणं च शिवं शांतं गगने विश्वतोमुखम्।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा दुःखाद्विमुच्यते।। ८५।।

गगन-रूप (सहस्त्रार) में विश्वोन्मुख निर्गुण परम शान्त शिव है। नासाग्र-दृष्टि रखकर वहां ध्यान करने से सभी दुःखों से मुक्ति मिल जाती है।। ८५।।

गुदं मेढ्रं च नाभिं च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः।
घंटिकां लंपिकास्थानं भ्रूमध्ये परेश्वरम्।। ८६।।
निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम्।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात्।। ८७।।

गुदा, मेढ्र, नाभि, हृदयपद्‌म तथा उसके ऊपर घण्टिका और लम्पिका स्थान (तालु स्थान) में भ्रूमध्य में परमेश्वर तथा अतिशय प्रकाश से भास्वर गगनस्वरूप निर्मल-सर्वव्यापी आत्मा (परम आत्मा) का ध्यान करने से योगी को योग (समाधि) की प्राप्ति होती है।। ८६-८७।।

कथितानि यथैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम्।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम्।। ८८।।

योगियों के लिये ये ध्यान-स्थान कहे गये है ये आठ गुणों के उदय को उपाधि और तत्त्व से युक्त कर देते है।। ८८।।

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेवमुदाहृतम्।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ।। ८९ ।।

उपाधि और तत्त्व ये दोनों पृथक हैं। वर्ण (आकार) को उपाधि कहा जाता है तथा तत्त्व को आत्मा कहते हैं।। ८९ ।।

उपाधिरन्यथाज्ञानं तत्त्वं संस्थिमयन्यथा।
समस्तोपाधिविध्वंसि सदाभ्यासेन योगिनाम्।। ९० ।।

उपाधि अन्यथाज्ञान (मिथ्याज्ञान) है, किन्तु तत्व वास्तविक ज्ञान है। योगी निरन्तर अभ्यास से सभी उपाधियों का विध्वंस (नष्ट) करते है।। ९० ।।

आत्मवर्णेन भेदेन दृश्यते स्फाटिको मणिः।
मुक्तो यः शक्तिभेदेन सोऽयमात्मा प्रशस्यते।। ९१ ।।

स्फटिक मणि पर आत्मवर्ण (जिस वर्ण का प्रतिबिम्ब पड़ता है) उसी वर्ण (उसी रंग) का यह दिखता है। (आत्मा के साथ भी ऐसा ही होता है।) वर्ण (रंग संस्कार आदि उपाधियों) के शक्ति-भेद से जो मुक्त है, वही आत्मा प्रशस्त है।। ९१ ।।

निरातंकं निरालंबं निष्प्रपंचं निराश्रयम्।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः।। ९२ ।।

निरातंक (निर्भय), निरालम्ब (आलम्बन रहित), निष्प्रपंच (प्रपंच से भिन्न), निराश्रय (आश्रय रहित), निरामय (रोग रहित), निराकार (किसी भी प्रकार के आकार से रहित) स्वरूप वाला तत्व (आत्मा) है। तत्वविद् ऐसा जानते है।। ९२ ।।

शब्दाद्याः पंच या मात्रा यावत्कर्णादिषु स्मृताः।
तावदेव स्मृतं ध्यानं तत्समाधिरतः परम्।। ९३ ।।

शब्द आदि (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध) कर्ण आदि इन्द्रियों के विषय है। यहां तक स्मृति ध्यान है। इसके उपरान्त समाधि है।। ९३ ।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च विलीयते।
तदा समरसैकत्वं समाधिरभिधीयते।। ९४ ।।

जब प्राण क्षीण हो जाते है, मन विलीन हो जाता है। तब समरसत्व (एकरसत्व) हो जाता है, वही समाधि है।। ९४।।

(श्लोक संख्या ९५ लुप्त है)

धारणाः पंचनाड्यस्तु ध्यानं च षष्टिनाडिकाः।
दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमः।। ९६।।

धारणा पांच नाड़ी (दण्ड-चौबीस मिनट का एक दण्ड या एक नाड़ी होती है)। और साठ नाड़ी तक ध्यान होता है। बारह दिनों तक समाधि होती है। यही तक प्राण-संयम होता है।। ९६।।

न गंधं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम्।
आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना।। ९७।।

जब योगी के समक्ष (उसके चित्त में) न गन्ध रहती है, न रस रहता है न रूप रहता है, न स्पर्श रहता है, न शब्द रहता है। और वह आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं जानता (देखता) तो यह समाधि है। (ऐसा होना समाधि में ही संभव है। और ऐसा योगी मुक्त योगी है।)।। ९७।।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना।। ९८।।

समाधि से युक्त ऐसा योगी काल (मृत्यु) के द्वारा कवलित नहीं होता कर्म से बाधित नहीं होता, और किसी के द्वारा साधित भी नहीं होता।। ९८।।

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रिय निर्गुणं महत्।
व्योमविज्ञानमानंदं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः।। ९९।।

ब्रह्म निर्मल, निश्चल, नित्य, निष्क्रिय, महत् व्योम-रूप, विज्ञान-रूप आनन्द-रूप है। ब्रह्मविद् यह जानते है।। ९९।।

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे।। १००।।

जिस प्रकार दुग्ध में क्षीर, घृत में सर्पिस (घृत) और अग्नि में वह्नि्

अर्पित किया जाता है। (युग्म के दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक है) उसी प्रकार योगविद् परम पद में अद्वयभाव से नित्य निवास करते है ।। १०० ।।

भवभयवने वह्निर्मुक्तिसोपानमार्गतः ।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ।। १०१ ।।

संसार के भय के जंगल में अग्नि के समान, मुक्ति के सोपान-मार्ग से परम पद में अवस्थित होकर योगविद् नित्य (निरन्तर) अद्वय रूप में रहते हैं ।। १०१ ।।

।। इति श्री गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकम् समाप्तम् ।।

●●●

श्री पीताम्बरा पीठ

ह्लीं

दतिया(म.प्र.)

PRINTED AT : SHIV SHAKTI PRESS,NAGPUR

SARASWATĪBHAVANA-GRANTHAMĀLĀ

(*Vol. 110*)

General Editor

DR. BHĀGĪRATHA PRASĀDA TRIPĀTHĪ, 'VĀGĪŚA ŚĀSTRĪ'

Director, Research Institute,

Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya,

Varanasi.

GORAKṢA SIDDHĀNTA SAṀGRAHAḤ

Edited by

JANĀRDANA ŚĀSTRĪ PAṆḌEYA

VARANASI

1973

Published by
Director, Research Institute
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya
Varanasi–2

Available at—
Publication Section
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi–2

First Edition—500 Copies

Price Rs 10 50

Printed by :
Sri Ghana Shyama Upadhyaya
Manager
Varanaseya Sanskrit Vishvavidyalaya Press
Varanasi–2

सरस्वतीभवन-ग्रन्थमाला

(११०)

प्रधानसम्पादकः

डॉ० भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीशः शास्त्री'

गवेषणालयसञ्चालकः

वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

(परिवर्धितं संशोधितं च संस्करणम्)

सम्पादकः

श्रीजनार्दनशास्त्री पाण्डेयः

वाराणस्याम्

२०३० तमे वैक्रमाब्दे १८९५ तमे शकाब्दे १९७३ तमे खिस्ताब्दे

प्रकाशकः—
सञ्चालकः
गवेषणालयस्य
वाराणसेय-सस्कृत-विश्वविद्यालये

प्राप्तिस्थानम्—
प्रकाशनविभाग.
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
वाराणसी-२

प्रथमं संस्करणम् : ५०० प्रतिरूपाणि
मूल्यम्—१०.५० रूप्यकाणि

मुद्रकः
श्रीघनश्याम उपाध्यायः
प्रबन्धकः
वाराणसेय-सस्कृत-विश्वविद्यालयीयमुद्रणालयस्य

प्रास्ताविकम्

रोगजरामृत्युभयाकुलो जिजीविषुर्मानवो नीरुक्त्वस्यामरत्वस्य च समासादनाय चिराद् दृश्यते प्रयतमानो भूमण्डले। रोगविखण्डनाय जरापसारणाय च ऋग्वेदोपवेद आयुर्वेदः प्रवर्तते सुपुरातनकालाद् भारते वर्षे। रुक्प्रतिक्रियात्मका नानाविधा आविष्कृता औषधयः, साम्प्रत चाप्याविष्क्रियन्ते चिकित्सकैराविष्कारकैः। यद्यपि मृत्युजयार्थमपि बहुविधा यत्ना आस्थिताश्चिकित्साक्षेत्रे, सम्प्रत्यपि विधीयन्ते, तथापि न क्वापि भावितं साफल्यं तज्ज्ञैः। 'जन्मौषधिमन्त्रतप.समाधिजा. सिद्धय.' इति पातञ्जलयोगसूत्राद् जन्मज-सिद्धिरोषधिजसिद्धिर्मन्त्रजसिद्धिस्तपोजसिद्धि समाधिजसिद्धिश्चेति पञ्च सिद्धयो ज्ञायन्ते। तत्रा-मरत्वप्रतिपादनाय सिद्धिपरायणैः सिद्धसप्रदायानुयायिभिर्गोरक्षनाथादिभिरायुर्वेदे रसायनतन्त्रं पारदशक्तिप्रकाशकमाविष्कृतम्, अनादिकालत· प्रवर्तमाने योगमार्गे चाविर्भावितः पुरातन-परम्परात किञ्चिद्विलक्षणो हठयोगः। तत्र गोरक्षनाथेन योगमार्ग· सुव्यवस्थापित इति तद्ग्रन्थाना परिशीलनेन बुध्यते। तद्रचिता प्रायशोऽष्टाविंशतिसंख्याका ग्रन्था संस्कृतभाषा-मया अन्ये च चत्वारिंशत्सख्याका हिन्दीभाषामया· प्रथिताः।

गोरक्षनाथ.

यद्यपि विभिन्नैः प्रमाणैर्गोरक्षनाथो दशमशताब्दीक एकादशशताब्दीको वा सिद्ध्यतीति लब्धवर्णानां मतम्, तथापि गोरक्षसिद्धान्तसग्रहकारानुसारेण ब्रह्माण्डपुराणे ललिता-पुरवर्णने ललिताखण्डेऽपि गोरक्षनाथस्योल्लेखो विद्यते—

सिद्धदिव्यर्षयश्चैव पवनाभ्यासिनोऽपरे।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनो योगतत्परा ॥ इति।

श्रीकृष्णकृतगोरक्षनाथस्तोत्रे गोरक्षस्तुतिस्तत्रास्तीति तन्मतम् (३८ पृ०)।

सिद्धमतपरम्परा

(सिद्धो नाथोऽवधूतश्चेत्यनर्थान्तरम्)

पद्मपुराणान्तर्कपिलगीतायां नवनाथानामुल्लेखः 'दत्तात्रेयादिसिद्धाना नवनाथास्तथैव

व' इति । शाबरतन्त्रानुसारेण द्वादश सिद्धाः सन्ति । ते चेमे—

१. आदिनाथः, २. अनादिः, ३. कालः, ४. अतिकालक, ५. कराल, ६. विकरालः, ७. महाकाल, ८. कालभैरवनाथ, ९. बटुक, १०. भूतनाथः, ११. वीरनाथः, १२. श्रीकण्ठश्चेति ।

शिष्यपरम्पराया द्वादश शिष्याः प्रसिद्धा । ते चेमे—

१. नागार्जुनः, २. जडभरतः, ३. हरिश्चन्द्र., ४. सत्यनाथः, ५. भीमनाथः, ६. गोरक्षनाथः, ७. चर्पटः, ८. अवद्यः, ९. वैराग्य, १०. कन्थाधारी, ११ जलन्धर, १२. मलयार्जुनश्चेति (द्र० १४, १५ पृ०) ।

सिद्धपरम्परायां तु नव सिद्धा. प्रथन्ते—१. श्रीगुरुरादिनाथ., २. मत्स्येन्द्रनाथः, ३. उदयनाथ, ४. दण्डनाथ, ५ सत्यनाथः, ६. संतोषनाथ·, ७. कूर्मनाथः, ८. भवनार्जिः, ९. गोरक्षनाथश्चेति ।

सिद्धा एव नाथरूपत्वेन प्रसिद्धा । अस्य ग्रन्थकारस्यानुसारेण मण्डनमिश्रः (सुरेश्वराचार्यः) शङ्कराचार्यश्चोभावेव सिद्धोपदेशेन गृहीतावधूतावस्थौ जातौ (१४ पृ०) । कापालिकास्तान्त्रिकाः शाक्ताश्चास्यैव सम्प्रदायस्य शाखारूपाः ।

समन्वयकर्ताऽवधूत एव गुरुः

सिद्धसंप्रदाये यद्यपि सर्वेषा शास्त्राणा निन्दा कृता, तथापि हठयोगप्रदीपिकानुसारेण तत्र गुरुवाक्येन ज्ञान, मुक्तिः, स्थिति, सिद्धिरित्यादयो लभ्यन्त इति गुरुमहिमाऽङ्गीकृत एव (१२,३१ पृ०) । तस्मिन् मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव । स चावधूत एव, नान्यः । त्यागभोगाभ्यामलिप्तोऽप्यवधूतस्त्यागभोगप्रदः । स चाखिवर्णाश्रमी सर्वाधिकारिणा गुरूणामपि गुरुः प्रोक्त । पक्षपातविनिर्मुक्तः स एव ब्रह्म सपद्यते । अवधूतस्य व्यवहारस्त्वनियत एव । स क्वचिद् भोगी, क्वचित् त्यागी, क्वचित् पिशाचवद् नग्नः, क्वचिद् राजा, क्वचिच्चाचारी इत्येतादृशलक्षणलक्षितोऽवधूतो विधीयते । एव च सर्वसाधनशिरोमणियोगमूर्तिभूतोऽवधूत एव परमपुरुषार्थविचक्षणो भवति (८ पृ०) ।

योगस्तु कस्यापि सापेक्षो नास्ति । उत्तरावस्थाऽवधूत एवेति तान्त्रिकाणामयमेव सिद्धान्तः षट्शाम्भवरहस्ये दृश्यते (१४ पृ०) । अवधूतमार्गो दिव्यः । वेदान्ततात्पर्यलक्ष्य चावधूत एवास्ति (१४ पृ०) । यः सर्वदर्शनाना स्वरूपदर्शनेन समन्वयं करोति सोऽवधूतः, स योगी स्यात् । प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म (१२ पृ०) । यः

सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोति सोऽवधूत (१ पृ०)। तस्य व्युत्पत्तिरित्थं दृश्यते—

अनन्तानन्दब्रह्मज्ञः अकार तस्य लक्षणम्।
वासना वर्जिता येन वक्तव्य च निरामयम्॥
वर्तमानेषु वर्तेत वकार तस्य लक्षणम्।
धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तनिरामयम्॥
ध्यानधारणनिर्मुक्त धूकार तस्य लक्षणम्।
तत्त्वचिन्ता येन धूता चिन्ता चेष्टाविवर्जिता॥
तमहङ्कारनिर्मुक्तं तकार तस्य लक्षणम्। (२८ पृ०)

भक्तिपूर्वकमेतादृशगुरुप्रणामेन परमपदावाप्तिर्जायते (१ पृ०)। देहाभिमान एव पक्षपात.। गुणातीतत्वेन पक्षपातरहितस्यात्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्व नान्यस्य कस्यापि। कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः—

वर्णाश्रमाभिमानेन वर्तते श्रुतिकिङ्करः।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि॥

शीर्षण्यं रत्नम्—योग:

इह खलु संसारे योगो भोगश्चेति द्वौ पदार्थौ स्त। एतद् द्वय विना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तर्भूतत्वात्। तयोर्मध्ये योगे लग्ना महासिद्धा., भोगे तु संसारिणः। योगस्य फलं मुक्तिः, भोगस्य तु बन्ध इति। यद्यपि भोगाद् बन्धस्तथापि नानाविलासैर्विषयानन्दमनुभवति मानव आदौ। योगिना तु प्रथमतो मनाग् श्रमो भवेत्। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इति। पश्चात् तु महानन्द इति सन्मार्गो योगमार्ग.।

'वेदस्य त्वभ्यासेऽप्यवधूतानां दोष एव स्यात्। वेदस्य पूर्वभागस्तु वर्णानामेव, वेदान्तभागस्तु भिक्षूणामेव, योगमार्गोऽन्त्यवधूतानाम्। वेदान्ततात्पर्यं लक्ष्य चावधूत एवास्तीति ग्रन्थकृन्मतम्।

सर्वेषा वेदादिशास्त्राणामैदम्पर्यं योग एवास्ति। योगशास्त्रं तु सूक्ष्मम्। समुद्रे . इतरवस्तु सुलभम्, रत्न तु श्रमेण लभ्यते। एवमेव वेदादिशास्त्रे व्यवहारादि सुलभम्, योगस्तु भूरिश्रमेण लभ्यते। यथा रत्नखनौ रत्नमेव लभ्यते, तथा योगशास्त्रे योग एव लभ्यते, नान्यदस्ति किञ्चिदसारं वस्तु। स च योगो गुरुकृपयाऽल्पश्रमेणैव प्राप्यः, सर्वं परित्यज्य सेवनीयः। योग एव पर साधनम्। श्रुतौ स्मृतौ च योगमार्गात् परो मार्गो नास्ति। यथोपायेन दारु मथित्वाऽग्निर्दृश्यते, तथा शरीरस्थ आत्मा योगेनैव साक्षात्क्रियते।

योगिन श्रेष्ठाः। तेषाममृत स्थान ब्रह्मणः परम पदमस्ति। प्राणायामपरायणा न निवर्तन्ते। ते पर स्थान लभन्ते। एव सर्वनमस्कार्यमेतन्मतम्। क्षेत्रज्ञपरमात्मनो संयोगो योगः। मन्त्रयोगादीनि त्वेतस्यैव योगस्याङ्गानि। वेदादिज्ञान योगज्ञानादवाप्नोति योगी (६ पृ०)। ध्यानयोगस्य परो महिमा त्वित्थं दृश्यते—

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कला नार्हन्ति षोडशीम् ॥ इति।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः

शास्त्रपाठमात्रेण क्रियाशून्यस्य सिद्धिर्न सपद्यते। प्रथमे प्रकारे वायुनिरोध। चले वाते चित्तं भवति चलम्, निश्चले वाते तु चित्तमपि जायते निश्चलम्। द्वितीये प्रकारे तु—मनसः स्थैर्ये वायुनिरोधः (प्राणायाम)। तत स्थिरबिन्दुतेति। हठयोगप्रदीपिकातो योगिनामनेका अवस्था ज्ञायन्ते। तत्रारम्भावस्था—घटावस्था, परिचयावस्था, निष्ठावस्थेत्यादयः।

सिद्ध्युत्तरं महानन्दः

नाथसंप्रदायस्य मुख्यमाकर्षण सिद्ध्युत्तरमहानन्दोऽस्ति। योगाद्यनुष्ठाने कष्टानुभव· स्वाभाविक.। कष्टोत्तरं त्वखण्डैकनाथरूपो ब्रह्मविष्णवाद्यधीश्वरो नानारूपो महानानन्दो भवत्येव। ब्रह्मादयः सर्वे तस्य पूजा कुर्वन्ति। योगारूढो नानाभोगान् भुनक्ति, न तु तैर्लिप्यते (१२ पृ०)।

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः' इति प्रस्तुते ग्रन्थे सिद्धान्तशब्दो नास्ति राद्धान्तवाचकः। स तु सिद्धमतस्य तात्पर्यमेव सिद्धान्त, न तु वादिप्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थ· सिद्धान्त.। सिद्धस्यैव तात्पर्यं सिद्धान्तः। सिद्धस्यैव सिद्धान्तो न त्वन्यस्यात एव शङ्करेण सिद्धान्तबिन्दुः कृतः (१४ पृ०)।

योगिनां मुख्यचिह्नानि

१. मुद्रा, २. नाद·, ३. विभूतिः, ४. आदेशधारणं चेति मुख्यानि चिह्नानि योगिनाम्। १. मुद्राधारणं कर्णयोः क्षुरिकां विना न संभवतीति क्षुरिकोपनिषदि क्षुरिकाप्रशंसा विहिते (७ पृ०)। एतादृशाः सिद्धा लोके 'कनफटा'-रूपेण प्रसिद्धाः। २. अनाहतश्शृङ्गीति नादः। ३. त्रिपुण्ड्रधारणाय कालाग्निरुद्रोपनिषदि प्रशंसा। ४. सर्वद्वन्द्वक्षयावहा सद्वाणी—आदेशः।

परमाद्वैतस्य भाव एव—आत्मा

अस्ति कश्चित् परमाद्वैतस्य भावः। स एवात्मा मन्तव्यः (१२ पृ०)

परमात्मा

अथ परमात्मा नाम यथाक्षरमुपासनीयः। न जायते, म्रियते,··· निष्कलो निर-ञ्जनो निरभिमान ······निराकाङ्क्ष ··· । निष्क्रियस्तस्य संस्कारो नास्ति।

नादब्रह्म

नाथसंप्रदाये यद्यपि वेदाना सर्वेषा च शास्त्राणामुपेक्षापरकाण्येव वचनानि (पृ० ४, ६, १०, ११, १२–१३, १८, १९, २०, २३, २४), तथापि 'प्रणववेद इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तकनादब्रह्मेत्यवलम्ब्य नादब्रह्मणो यन्मूलं तत् तत्त्वमिति विश्रान्तिमता मते का वा श्रुति साधिका न भवतीति प्रसिद्धतरमेत्र सर्वत्र' इत्यादिना नादब्रह्ममहिमाऽङ्गीकृतः।

योगिनां परमः पुरुषार्थः—मुक्तिः

परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरभ्युपेया। सा चादिदेवपदेन नाथस्वरूपेणावस्थानम्। तत्स्वरूपं तु गोरक्षोपनिषदि—'अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता' इति बोध्यम्। आत्मनो बन्धोऽभिमानो ज्ञेयः। तन्निवृत्तिस्तु मोक्षः। सर्वसंकल्पनातीतत्वेन पर ब्रह्म भवति। द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते, तदेव सत्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्।

सत्यां शास्त्रनिन्दायां कथमिह शास्त्रप्रमाणानि

ग्रन्थकारो ग्रन्थेऽस्मिन् पदे पदे वेदशास्त्रादिप्रमाणान्युपस्थापयन्नपि वेदशास्त्राणि निन्दत्येव। स तत्कारणमित्थं प्रकटयति—'एतद्ग्रन्थे बहुशास्त्राणा प्रामाण्यं दीयते। तत् त्वस्मदीयार्थं वा एतन्मार्गस्य शिष्याणा श्रद्धार्थं दीयत इति नास्ति। अस्मिन्नर्थे तु योगशास्त्रस्यैव प्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम्, परन्तु वादिना हिताय भोः ग्रन्थान्तरेऽपि भवदीयनानामतान्तरेऽपि चायमेव मार्गः श्रेष्ठः सर्वस्य लक्ष्यभूतोऽवधूत एवेति हेतुर्न तु सिद्धान्तार्थः। अस्माकं त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम्' इति (४९ पृ०)।

इतोऽग्रे ग्रन्थकारो वेदादिवचनप्रामाण्यमनुद्धृत्यैव गद्येन गोरक्षसिद्धान्तान् निरूपयति।

ग्रन्थस्य भाषा

ग्रन्थस्यास्य संस्कृतभाषा श्लथा विद्यते । भर्तृहरिनाम्ना प्रमाणरूपेण स्मृता केचन श्लोका न तदीयेषु ग्रन्थेषु लभ्यन्त इति ग्रन्थकारोऽधिका सामग्री कर्णपरम्परयाऽवगता-मुपस्थापति। 'सहस्राणामपि पुरुषाणा कष्ट भवेत्' (१२ पृ०), 'शक्तेर्वृत्तान्तं दृष्टम्' (१३ पृ०), 'नान्यदस्ति किञ्चिदसारम्' १६ पृ०), 'तत् तु अस्मदीयार्थं वा' (४९ पृ०) इत्यादिषु भाषादोषा दृश्यन्ते ।

प्रस्तुतं संस्करणम्

प्रसिद्धस्य सिद्धस्य श्रीगोरक्षनाथस्य सिद्धान्तानामेकत्र सग्रहो जिज्ञासूनां महते कल्याणाय जायेतेति धिया सिद्धसप्रदायानुयायिना केनचित् सस्कृतज्ञेन 'गोरक्षसिद्धान्त-सग्रहः' गद्येन प्रणीत । स पञ्चत्रिंशत्युत्तरैकोनविंशतितमे ख्रीस्ताब्दे सरस्वतीभवनग्रन्थ-मालाया अष्टादशपुष्परूपेण प्रख्यातवैदुष्यैर्महामहोपाध्यायैर्गोपीनाथकविराजमहोदयैर्ग्रन्थगुण-गरिम्णा यथोपलब्धोऽपूर्ण एव सपादितो विदुषा पुरस्तादुपस्थापनाय । स चेदानी मुद्रणातीतो नोपलभ्यते जिज्ञासुभिरिति सरस्वतीभवनपण्डितप्रवरेण श्रीजनार्दनपाण्डेयेन संपादितपूर्व-सस्करणतो मनागधिकमश गवेषयित्वा तत्रागतवचनोद्धरणादिसंकेतान् परिश्रमेण योजयित्वा सूच्यादिभिश्च भूषयित्वा द्वितीयं सस्करणमिद सपाद्यमान विदुषा मोदकरं स्यादिति मन्यते ।

माघपूर्णिमायां
२०२९
(१७-२-७३)

भागीरथप्रसादत्रिपाठी 'वागीशः शास्त्री'
संचालकः
अनुसन्धानसंस्थानस्य

किञ्चिन्निवेदनम्

अथैतस्य गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रहस्य द्वितीयं सस्करणमुपस्थापयतो मे भृश मोमुदीति चेतः। मन्ये ग्रन्थस्यास्य नाम "नाथसिद्धान्तसग्रहः" इति क्रियेत चेत् समीचीन स्यात्। यतो ह्यत्र प्रतिपादिता सिद्धान्ता गोरक्षनाथतः पूर्वस्मिन्नपि सिद्धमते प्रचलिता आसन्। गोरक्षनाथोऽस्य सम्प्रदायस्य कश्चिन्महापुरुषोऽभवत्, न तु प्रवर्तक, अस्य प्रवर्तकस्तु भगवान् आदिनाथः साक्षाच्छिव एव।

यद्यपि घटेसमुद्रन्यायेन लघुकलेवरेऽप्यस्मिन् ग्रन्थे ग्रन्थकृता बहु विवेचितम्, तथापि भारतीयविचारसरणिं तिरस्कृत्य पाश्चात्यपद्धतिप्रभावपिहितचक्षुषामाधुनिकविदुषामेतद्विषयकविवेचनेषु बहुत्र विप्रतिपत्तिं दृष्टवता मयाऽपि कश्चित् स्वकीयोऽभिप्रायोऽत्रोपस्थाप्यते। तत्र तथ्यातथ्यनिर्णयस्तु नीरक्षीरविवेचकाना विद्वद्राजहसाना वशवर्तीति मन्ये।

नाथशब्दस्य निरुक्तिः

याच्ञोपतापैश्वर्यात्मकेऽर्थत्रये नाथति इति, आशीरर्थे च नाथते इति विग्रहेण नाथृ धातोर्नाथशब्दो निष्पद्यते। तत्र प्रथमोऽर्थो नाथस्य याचक इति। परस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं स्वस्वत्वोत्पत्त्यनुकूलो व्यापारो याचनार्थः, एवं च महेश्वरस्यापि सतो भक्तानुग्रहार्थं स्वशक्तिबलेन विविधविग्रहवतो भक्तभवनेषु भिक्षुकपरिपाटीमूरीकृत्य पर्यटतोऽस्य स्फुटमेव याचकत्वम्। यद्वा स्वीकारानुकूलो व्यापारो याचना। यथा— अविनीतं विनयं याचते" इति। एवं स्वशिष्यात् योगविज्ञानादिविविधोपायसाद्गुण्यादेश स्वीकारयतीति स्फुटं तस्य नाथत्वम्। द्वितीयोऽर्थ उपतापक इति। अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा पञ्च क्लेशा शुक्लमशुक्लं शुक्लाशुक्लं चेति त्रिविधं कर्म, एतद्विपाकश्च जात्यायुर्भोगरूप, तत्तद्दुःखसुखाद्यनुभवजन्यो वासनाराशिः, एते च ससारबन्धास्तेषामयमुपतापकः स्वेन संबन्धविच्छेदको नाथः। तृतीयोऽर्थं ईश्वर इति। अणिमाद्यष्टविधैश्वर्यसम्पन्नो नाथ इति। चतुर्थश्चार्थ आशीर्वादक इति। आदेश इति प्रार्थयमानान् श्रद्धालुजनान् स्वकीयेनाशीर्वचसा स्वस्वाभीष्टप्रदानेन च सन्तोषयतीति नाथः।

नाथमतस्य प्रत्नत्वम्

इदं च मतं कियतः कालात् प्रचलतीति प्रश्नस्य विशुद्धभारतीयपद्धत्या यद्युत्तरं दीयेत तर्हीदमेवायाति यदनादिकालादेवेदं मत भारते प्रवर्तते। यतो ह्यस्य प्रवर्तक आदिनाथः शिव स्वयमनादिरनन्तश्च। अथ चास्माक सार्वभौमानामुपास्यदेवानां जगन्नाथ-बदरीनाथ

केदारनाथ-विश्वनाथ-सोमनाथादिनाथान्ताभिधानमेतस्य साक्षि यदस्य नाथसम्प्रदायस्यास्माकं संस्कृत्या जीवनेन च सहात्यन्त घनिष्ठः सम्बन्धोऽतिपुरातनकालात् प्रवर्तते। मत्स्येन्द्रनाथ-गोरक्षनाथादि-सिद्धमहापुरुषाणामवतरण तु काले-काले साधनापरिपाट्या युगानुरूपं नूतन-दिशो दर्शनाय भवति, तेभ्यः प्रागपीद सिद्धमतमत्र प्रवृत्तमासीदित्यत्र नास्ति सदेहलेशोऽपि।

विद्वासः प्रतापिनो वा पुरुषा जगति सर्वेषु देशेषु बभूवु सन्ति भविष्यन्ति च, किन्तु भारतस्यैवेद गौरव यदिदं सिद्धानामपि जन्मभूः, न त्वन्य. कश्चिद् देशोऽनेन गौरवेणा-लङ्क्रियते। इदमेव कारण यद् भारतवर्षे सिद्धेभ्यो यादृशं महत्त्व दीयते तादृशं नान्यस्मै कस्मैचिदपि। सकलशास्त्रपारङ्गत कश्चिद्वयसा वृद्धोऽपि विद्वान् कस्यचिदल्पवयस्कस्याक्षर-ज्ञानशून्यस्य सिद्धपुरुषस्य चरणयोर्दण्डवत्पतित्वा प्रणमति। विद्वत्त्व सिद्धिश्च द्वे पृथग् वस्तुनी विद्येते। स्वकीयपरिश्रमानुरूप कोऽपि जनो विद्वान् भवितुं शक्नोति किन्तु सिद्धो न सर्वो भवति. "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परा गतिम्" इति गीतावाक्यस्येदमेव तात्पर्यं यदनेकजन्मना साधनाया. फलस्वरूपमेव जनः सिद्धो भवति, सिद्ध सन् परा गतिं (मोक्ष-मिति यत्त्वत्) लभते। सिद्धस्य कृते नेदमावश्यक यत् स ग्रन्थवित् शास्त्रज्ञो वा भवतु, यतो हि स्वीयोत्कृष्टसाधनावशात् स तामवस्था प्राप्नोति यल्लोकेभ्यस्तस्य प्रत्येकं वचनमेव शास्त्रं प्रत्येकमाचरण च सदाचारो भवति। यदि च सिद्धो भूत्वा शास्त्रज्ञोऽपि भवेच्चेत् स्वर्णे सुगन्धः स्यात्। प्राक्तनाना वशिष्ठव्यासादीना का कथाधुनिकेऽपि भारतीयेतिहासे गुरुनानक-कबीरदासादयोऽनेके महापुरुषा अभवन् ये शास्त्राणा पण्डिता नासन् किन्तु तेषा सिद्धत्वे तु न कस्यचिद् विवादः। तैर्यदुक्त तदेव लोकेभ्य. शास्त्र सजात यच्चाचरितं तदेव सदाचारः संजात। एवमेव महावीर-शङ्कराचार्य-गोरक्षनाथादयो महापुरुषा सिद्धा अप्यासन् विद्वासश्चेति तेषा चरितैस्तत्प्रणीतशास्त्रैश्च स्फुटमवलोकयितुं शक्यते।

नव नाथाः

भारतीयसाधनापद्धतौ गुरोः सर्वाधिकं महत्त्वमिति न तिरोहित कस्यापि। अत्रापि गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रहे प्रारम्भ एव गुरोर्महिमा प्रदर्शित। तमेव गुरु साधको नवात्मतया कल्प-येदिति स्पष्टो निर्देश, यथा गोरक्षसहितायां चतुर्विंशे पटले।

गुरुं नवात्मकं भद्रे नवभावैर्विभावयेत्। (गो० स० २४।१३)

तथा च—

भृगु–लाकुल–संवर्त–महाकाल–पिनाकिनः।
खङ्गीश च भुजङ्गाख्यं बालीशमर्धिणा युतम्॥
अर्धेन्दुबिन्दुसंयुक्तं कलया चोर्ध्वदीपितम्।
एतन्नवात्मकं देवि गुरु····················॥

(गो० सं० २४।१७-१८)

एतत्प्रतीकरूपा एव नव नाथा इति सिद्धसम्प्रदाये प्रसिद्धिः। सामान्योऽपि भारतीयः चतुरशीति सिद्धाः, द्विपञ्चाशद्वीरा., चतुःषष्टिर्योगिन्यः, नव नाथा इति रूढ्या परम्परा-

प्रचलितया परिचितो भवति । तत्र के ते नव नाथा इत्यत्र ग्रन्थकृता परस्पर नैकमत्य दृश्यते । महार्णवतन्त्रे नवनाथाना पृथक् दिक्षु न्यासविधानं कृतं तदनुसारं च नव नाथा इमे—

१. गोरक्षनाथ २. जालन्धरनाथ., ३. नागार्जुन , ४. सहस्रार्जुन , ५. दत्तात्रेयः, ६. देवदत्तः, ७. जड़भरतः, ८. आदिनाथः, ९. मत्स्येन्द्रनाथश्च ।

योगिसम्प्रदायाविष्कृतिग्रन्थे नवनारायणा एव नवनाथरूपेणावतीर्णाः, येन च नारायणेन यो नाथावतारो धृतः स इत्थम्—

१.	कविनारायणः	—	मत्स्येन्द्रनाथः
२.	करभाजननारायणः	—	गहिनीनाथ·
३.	अन्तरिक्षनारायण	—	ज्वालेन्द्र(जालन्धर)नाथ
४.	प्रबुद्धनारायण	—	करणिपानाथ
५.	आविर्होत्रनारायणः	—	नागनाथः
६.	पिप्पलायननारायण	—	चर्पटनाथ
७.	चमसनारायणः	—	रेवानाथ.
८.	हरिनारायण	—	भर्तृनाथ
९.	द्रुमिलनारायणः	—	गोपीचन्द्रनाथ इति ।

सुधाकरचन्द्रिकाया निर्दिष्टा नामावलिस्त्वित्थम्—

१. एकनाथः, २. आदिनाथः, ३. मत्स्येन्द्रनाथ., ४. उदयनाथ., ५. दण्डनाथ, ६. सत्यनाथ, ७. सन्तोषनाथ, ८. कूर्मनाथः, ९. जालन्धरनाथः ।

उपर्युक्तोभयोरपि ग्रन्थयोर्गोरक्षनाथस्य नाम न विद्यते, योगिसम्प्रदायाविष्कृतौ तु नवनाथोत्पत्त्यनन्तर महादेवेन गोरक्षनाथ उत्पादित इति स्पष्टमेवोक्तम् । प्रकृतग्रन्थे (गोरक्षसिद्धान्तसग्रहे) तु नामावलिरित्थम्—

१. आदिनाथ·, २. मत्स्येन्द्रनाथः, ३. उदयनाथः, ४. दण्डनाथ, ५. सत्यनाथ., ६. सन्तोषनाथ, ७. कूर्मनाथ·, ८. भवनार्जि, ९. गोरक्षनाथ. ।

परन्तु नाथपरम्परानुयायिनो नवनाथरूपेषु यासां मूलदेवताना ध्यानं कुर्वन्ति ता इत्थम्—

१.	आदिनाथ.	—	महादेवः
२.	उदयनाथः	—	पार्वती
३.	सत्यनाथ	—	ब्रह्मा
४.	सन्तोषनाथ.	—	विष्णुः
५.	अचलनाथः	—	पतञ्जलिः
६.	कन्थड़िनाथः	—	गणेशः
७.	चौरङ्गिनाथ·	—	चन्द्र (पूर्णकलः)
८.	मत्स्येन्द्रनाथः	—	मत्स्यावतारः
९.	गोरक्षनाथः	—	सदाशिवः

[महादेवः—शिव सदाशिवश्च पृथक् तत्त्वद्वयमिति संप्रदायसिद्धम् ।]

स्थितिकालविषये किञ्चित्

पाश्चात्यशिक्षाप्रभावितेषु आधुनिकभारतीयग्रन्थकर्तृष्वपि नूतनोऽयं व्याधि. संक्रान्तो यत् कस्यापि पूर्ववर्तिन कवेर्महापुरुषस्य वा चर्चाया "स कदा प्रादुरभवत् कदा च तिरोभूत" इति विचारणायामेव तेषा ज्ञानस्याधिकोऽश व्यतीयते, तत्र च यानि प्रमाणानि दीयन्ते तानि केवलं कल्पनामाधृत्यैव । आङ्ग्लशासनस्यायं दुष्प्रभावोऽस्मद् देशे । यतो हि तेषामाङ्ग्लाना केवल द्विसहस्रवर्षात्मकः खीष्टानन्तरवर्ती इतिहासो वर्तते । फलत अनयैव स्वीयया तुलया ते समग्रस्य विश्वस्य सभ्यतां संस्कृतिञ्च तोलयितुं वाञ्छन्ति । अस्माकं भारतस्य तु स्थितिरतो नितरा भिन्नैव । सृष्टेरादिकालादारभ्याद्यावधिकोऽस्माक प्रामाणिक· स्वीयेतिहासः स्वीया च संस्कृतिः । भारतीयैर्विद्वद्भिः कालाय किमपि महत्त्व न दीयते । एते जीवनस्योपयोगिता स्वीकुर्वन्ति न तु जीवन्याः । बहवो महर्षयो महापुरुषा कवय. शास्त्रप्रणेतारश्चाभवन्, ते वाञ्छेयुश्चेत् स्वप्रणीतग्रन्थेषु स्वकीयं परिचय स्थितिकाल वाऽनायासेन दद्यु, किन्तु तैर्न स्वीकृतं तस्य किमप्युपयोगित्वम्, तेषा मतेन महत्त्वमासीद् ग्रन्थेषु प्रतिपादिताना सिद्धान्तानाम् । केवल तत्रैव तै स्वविद्वत्त्व प्रकटितम् ।

अस्तु, नाथपरम्पराया प्रादुर्भूताः सिद्धा अपि नैतदपवादभूता, पाश्चात्यैराधुनिकभारतीयैश्च विद्वद्भिर्मत्स्येन्द्रनाथगोरक्षनाथादीनां स्थितिकाल खीष्टाष्टमशतकाद् द्वादशशतक यावद् मध्यवर्तीतैर्मन्यते, वैयक्तिकरूपेण मम तु मतमस्मान्नितरा भिन्नमेव। मन्ये नैतेषा कोऽपि कालः स्थिरीकर्तुं शक्यते, अत्र च हेतु·—

एकत्र तु वयं भारतीयशास्त्राणां प्रामाण्यमुद्घोषयामोऽपरत्र तेषु यल्लिखितं तत्र न विश्वसिम । यथाऽमुकस्य रसस्य रसायनस्य वा सेवनेन अथवा योगसाधनायास्तन्त्रसाधनाया वाऽमुकप्रक्रियया मानवः शतायुः सहस्रायुरजरोऽमरो वा भवतीत्यादि । अतीव हास्यास्पदेयं स्थितिरस्माक यदि वयं स्वीकुर्महे यन्नाथमार्गीयसिद्धान्ते जीवन्मुक्तिरेव कैवल्यं न तु विदेहमुक्ति, मन्यामहे च षडङ्गयोगेन सह नेति-धौतीत्यादिषट्कर्मद्वारा कायशोधन कृत्वा रसादि-पारदादिप्रक्रियाभिश्चैते देहं तामवस्था प्रापयन्ति यत् स जरा व्याधिं मृत्युं वा जयेत्, तदा एतत्स्वीकरणे काऽस्माकं विप्रतिपत्तिर्यद् गोरक्षनाथादयो महासिद्धाः शत-सहस्रायुषोऽमरा वा भवितुं शक्नुवन्ति, इति ।

एतत्तु समीचीन यत्. नाथमार्गस्थाः सर्वे सिद्धास्तामवस्था न प्राप्नुवते किन्तु विशिष्टसाधनापराणा महापुरुषाणां विषये तु वक्तु शक्यत एव ।

अत्रेदमपि विशेषेण विचारणीय भवति यद् गोरक्षनाथो मत्स्येन्द्रनाथो जालन्धरोऽन्यो वा सिद्धो दिवसैकस्य कृतेऽपि क्वापि प्रकटित कुत्रापि विहृतवांश्चेत्तत्र तस्य किमपि स्मारकं चिह्नमवश्यं वर्तते । स्वजीवनकाले ये सिद्धा इयती प्रसिद्धिमुपगता, यत् समग्रेऽपि भारते शत-

शस्तेषा साधनास्थलानि, विहारभूमय, चमत्कारक्षितयश्च दृश्यन्ते किन्तु तैः कुत्रापि जीवनस्येहलीला समापितेति सूचकं समाधिस्थलं न क्वचिद् दृश्यते न च श्रूयते। यै समग्रमपि भारतं परिक्रान्तं कोटिशो येषामनुयायिन आसन् ते तूष्णीं क्वचिद्देहं जहुरिति प्रत्याययितुं नास्मच्चेनः प्रभवति। अतो बलाद्बाध्या वयमेतद्विश्वसितुं यत् ते जितमृत्यवः कस्मिन्नपि काले कस्मिन्नपि देशे केनापि रूपेण प्रकटितुं समर्था भवन्तीति नात्र सन्देहः कर्तव्यो न चाश्चर्यमिति।

तन्त्रशास्त्रेण सम्बन्धः

इदानीन्तनैर्ग्रन्थकृद्भिः कैश्चिन्नाथसिद्धेषु शैवतन्त्राणामपरैश्च शाक्ततन्त्राणामन्यैश्च बौद्धतान्त्रिकाणा प्रभावोऽस्तीति प्रकटितम्, किन्तु कल्पनैव तेषामेषा। नाथमार्गीयाः सिद्धास्तन्त्रस्याप्युपासका अभवन् इति तु तथ्यम्। अनयोर्मार्गयोः कस्तावत्सम्बन्ध इति विचारणायां गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहकृता दत्तमुत्तरम् (द्रष्टव्यं १४ पृष्ठे) तस्यायमभिप्रायो यत् 'नाथमार्गो यद्यपि विशुद्धयोगसाधनापरस्तथापि कौलकापालिकादयोऽपि मार्गा नाथेनैव प्रकटिता" इति। अयमत्राशयः—अन्तरङ्गसाधनापरो योगमार्गः, बहिरङ्गसाधनापरश्च तन्त्रमार्गः। बहिरङ्गसाधना विना नान्तरङ्गसाधना सिद्धयति। अत केनापि साधकेन प्रथम बहिरङ्गसाधनायाः कोऽपि प्रकारोऽवश्य स्वीकर्तव्य इति कृत्वा भगवता आदिनाथेन शैवाना शाक्ताना च तन्त्राणा प्रवर्तनं विहितम्। एषु साधक स्वयोग्यतानुरूप शक्त्यनुरूपं प्रवृत्त्यनुरूप वा कमपि मार्गमुपचिनोति, तेन च मार्गेण बहिरङ्गसाधना समापयन् सोऽन्तरङ्गसाधनाभिमुखो भवति। नास्ति किमपि बन्धनं तस्मै यत् सोऽमुकसाधनामेवाङ्गीकुर्यादिति। मत्स्येन्द्रनाथो योगिनीकौलाख्यस्य सम्प्रदायस्य प्रवर्तक एवासीदिति प्रसिद्धिः, किन्तु भगवता गोरक्षनाथेन गोरक्षसहिताया प्रतिपादितः सिद्धान्तस्तस्माद् भिन्न एवास्ति। एव जालन्धरनाथादीनामन्येषामपि पन्थान. सन्ति, परन्तूद्देश्यं सर्वेषामेकमेव, बहिरङ्गसाधना कुर्वन्तस्ते तां स्थितिं प्राप्नुवन्ति यदन्तरङ्गसाधनायामनायासेन प्रवृत्ता भवेयुः। एतत्तु साधकस्य योग्यता साधनां चापेक्षते यत् स कियता श्रमेण कालेन वा तामवस्था प्राप्नोतु। उच्चैःकोटिकाः साधका एव बहिरङ्गसाधनां निस्तीर्य योगभूमिं प्राप्नुवन्ति, न्यूनकोटिकास्तु कौला कापालिका अन्ये वा भूत्वैव तिष्ठन्ति।

दार्शनिकं स्वरूपम्

अयं च नाथमार्गो विशुद्धयोगसाधनापर इति निर्विवादम, पाशुपतैः सहास्य न कोऽपि सम्बन्धः प्रतीयते किन्तु रसेश्वरैः सह वर्तते इति बहूना नाथसिद्धानां रसविषयकैरतीवमान्यतांगतैः प्रसिद्धग्रन्थैः प्रतीयते। यथा सिद्धनागार्जुनस्य "नागार्जुनतन्त्रम्", नित्यनाथस्य "रसरत्नाकर.", चालिनाथस्य "रसमञ्जरी", मन्थानभैरवस्य "रसरत्नम्", स्वयं गोरक्षनाथस्य "गोरक्षसंहिताया भूतिप्रकरणम्", अन्ये च भूयासो ग्रन्था दृश्यन्ते, चर्पटनाथस्य रससिद्धत्वं विश्रुतमेव। एतन्मार्गीया सिद्धाः आगमनिर्दिष्टामेव योगसाधनां विदधति, योगसाधनैवास्य

मतस्यादिर्मध्योऽन्तश्च । इयं चैतेषा साधना पातञ्जलयोगस्यैव विकसितं रूपमुच्येत चेन्मन्ये न कापि विप्रतिपत्तिः। अस्मिंश्च पथि ऊर्ध्वरेतस्त्वं सर्वातिशायि।

वामश्च मार्ग ईश्वरं वदति, अतस्तत्रेश्वरः सदिति मन्यते, बौद्धाश्चानीश्वरवादिनोऽतस्तत्रेश्वरः शून्यमसद्वा, किन्तु नाथास्तं सदसद्भ्याम्यां व्यतिरिक्तं मन्यन्ते। उपनिषदां "नासदासीन्नो सदासीत्" इति सिद्धान्तः पूर्णतया तैरङ्गीकृतः। गोरक्षनाथस्योक्तिः श्रूयते—

बस्ती न शुन्यं शुन्यं न बस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगनशिखर महं बालक बोलेहुं ता का नाम धरहुगे कैसा॥ गोरख-शबद॥

एभिर्मन्यते परमात्मा केवलोऽस्ति (न सत् न चासत्)। अनेन परमात्मना जीवस्य य कोऽपि सम्बन्धो भवेत्, तस्य तेन सम्मिलनमेव योग कैवल्यं मोक्षो वा। अस्य च कैवल्यस्य अस्मिन्नेव जन्मनि अनेनैव देहेनानुभूतिर्भवेदित्येतेषा चरमं लक्ष्यभूतम्। अस्य लक्ष्यस्य प्राप्त्यै कायसाधनं प्रथम सोपानम्। एते सिद्धा कायं शत्रुवन्न क्लेशयन्ति, न च विषयेष्वासक्ताः सन्तस्तमखलीनं मुञ्चन्ति, प्रत्युत देहं परमात्मन आवासं मत्वा तदनुरूपा साधनां कुर्वन्ति, अनेनैव देहेन कैवल्यमनुभवन्ति, जन्ममरणजीवनान्यधिकुर्वन्ति, जराव्याधिकालादीन् निर्जित्य तिष्ठन्ति, कायशोधनरूपस्योद्देश्यस्य पूर्त्तये योगाङ्गैर्यमनियमादिभिः सहैते षट्कर्माणि (नेति-धौति-वस्ति-नौलि-कपालभाति-त्राटकाख्यानि) अपि कुर्वन्ति। विशुद्धहठयोगस्य राजयोगस्य च क्रियाकलापमस्मिन् मार्गेऽनुशिष्ट वर्तते।

योगसाधनाया प्रतीकरूपेणैवैते मुद्रा विभूति नादमादेश च बाह्यस्वरूपेऽपि धारयन्ति। गुरोरेवात्र सर्वाधिक महत्त्व वर्तते। नाथस्वरूपेणावस्थानमेव मुक्तिः।

एवमस्य नाथमतस्य बाह्यमाभ्यन्तर च स्वरूपं बहुधा महत्त्वपूर्णं विवेचनार्हं च किन्तु विस्तरभयान्नात्राधिकं विविच्यते, अत परं नाथसाहित्ये केषाञ्चिद् ग्रन्थाना नामान्युट्टङ्कितानि तेभ्यः पूर्णतयाऽस्य स्वरूपावगतिर्जिज्ञासुभिः कर्त्तव्येति निवेद्यते।

नाथसाहित्यम

यद्यपि भारतीयवाङ्मयस्य विपुलोंऽशो नाथसाहित्येऽन्तर्भवति, यतो हि पातञ्जलं योगदर्शनमस्याधारभूतमेव, हठयोगस्य प्रक्रिया अप्यङ्गभूता., रसशास्त्रेण प्रत्यक्ष एव सम्बन्ध, कुलागमादिकमप्यनेन सपृक्तमिति कृत्वा सर्वमेतद्विषयकं साहित्यं नाथसाहित्यमेवेति वक्तु शक्यते तथापि प्राचीना अर्वाचीनाश्च केचन ग्रन्था. सन्ति येषामध्ययनेनास्य मतस्याध्यात्मिकी व्यावहारिकी साम्प्रदायिकी, ऐतिहासिकी च स्थितिर्ज्ञातु शक्यते, तेषु केषाचिन्नामावलिरत्र दीयते—

अमनस्कयोग.
अमरौघशासनम्
अवधूतगीता
आदिनाथसहिता
कौलज्ञाननिर्णयः
कौलावलीतन्त्रम्
कौलावलीनिर्णयः
कौलोपनिषत्

क्षुरिकोपनिषत्
खेचरीसंहिता
गरीबनाथसंहिता
गोरक्षकल्पम्
गोरक्षकवचम्
गोरक्षकौमुदी
गोरक्षगीता
गोरक्षनाथस्तोत्रम्
गोरक्षपद्धति·
गोरक्षमञ्जरी
गोरक्षशतकम्
गोरक्षसंहिता *
गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः
गोरक्षोपनिषत्
गोरखबानी (- सबद)
घेरण्डसंहिता
चतुरशीतिसिद्धानामितिहासः (मार्नासहकृतः)
जालन्धरसंहिता
धोरंगनाथकथा
नवनाथकथा
नाथचरितम्
नाथतीर्थावलिः
नाथपुराणम्
नाथसूत्रम्
निरञ्जनपुराणम्
पृथ्वीनाथसंहिता
बाधूलनाथसूत्रम्
भर्तृहरिसंहिता
मत्स्येन्द्रसंहिता
महार्थमञ्जरी
महेशसंहिता
मेघमाला
योगबीजम्
योगमञ्जरी
योगशास्त्रम्
योगिनरहरिनाथप्रभृतिभिःसंपादिता योगप्रचारिणी सभा काशीतः प्रकाशिताः प्रायः पञ्चाशद् ग्रन्था
योगिवंशावली
योगिसम्प्रदायाविष्कृति·
वर्णरत्नाकरः
विवेकमार्तण्ड
शिवसंहिता
सिद्धकोशः
सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः—गोरक्षनाथकृता
सिद्धसिद्धान्तपद्धति—नित्यनाथकृता
सिद्धसिद्धान्तसंग्रहः
सुधाकरचन्द्रिका
हठयोगप्रदीपिका
हठयोगरत्नावली
हठसंकेतः—गोरक्षनाथकृतः

---

* अस्य ग्रन्थस्य पुष्पिका (COLOPHON) एवं वर्तते—

"इति श्रीमहामन्थानविनिर्गते सप्तकोट्यर्बुदे स्वच्छन्दशक्त्यावतारिते गोरक्षसंहितायां शतसाहस्रखण्डान्तर्गते श्रीमतोत्तरखण्डे कादिभेदे कुलकौलिनीमते नवकोट्यवतारभेदे श्रीकण्ठनाथावतारे विद्यापीठे योगिनीगुह्ये ··············नाम···· ···· ····· पटलः।"

एतेन प्रतीयते कियद्वैशद्यमस्य ग्रन्थस्य भवेत् कियांश्च विषयोऽत्र प्रतिपादितः स्यादिति। एतदन्तर्गतस्य कादिप्रकरणस्य कश्चित्खण्डितोंऽशो मयाधिगत आसीत् कश्चिच्च त्रुटितोंऽशः सरस्वतीभवनग्रन्थालये विद्यते, उभयोर्मिलित्वापि ग्रन्थस्तु पूर्णो नाभवत्, किन्तु प्रायः षट्सहस्रमिताः श्लोका उपलब्धाः, अतीव दुर्लभस्यास्य तादृशस्यैव प्रकाशनं कल्याणा-

इदानीन्तनैरपि लेखकैरत्रविषये बहुविवेचितम्, तत्र विशेषेण द्रष्टव्यम्—

नाथ सम्प्रदाय	—डा॰ हजारीप्रसाद द्विवेदी
नाथसिद्धो की बानियाँ	—,, ,,
नाथसप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधना	—डा॰ कल्याणी मलिक
सिद्धसिद्धान्तपद्धति एण्ड अदर वर्क्स आफ नाथयोगीज	—डा॰ कल्याणी मलिक
कौलज्ञाननिर्णय भूमिका	—डा॰ प्रबोधचन्द्र बागची
नाथ और सन्तसाहित्य का तुलनात्मक अध्ययन	—डा॰ नगेन्द्रनाथ उपाध्याय
गोरखनाथ और उनका युग	—डा॰ रांगेयराघव
गोरखबानी	—डा॰ पीताम्बरदत्त बडथ्वाल
नाथयोग	—प्रो॰ अक्षयकुमार बनर्जी
गोरखनाथ एण्ड कनफटा योगीज	—डा॰ ब्रिग्स

एतदतिरिक्त म॰ म॰ डा॰ गोपीनाथ कविराज महोदयै, योगिराज श्रीनरहरिनाथ-राहुल साकृत्यायन-शिवकुमार 'मानव' प्रभृतिभि· भूयसा ग्रन्थाना भूमिकासु, लेखरूपेण विविधपत्रिकासु च पर्याप्त साहित्यं प्रकाशित विद्यते।

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः, प्रस्तुतसंस्करणञ्च

लघुकलेवरोऽप्यय ग्रन्थः स्वस्मिन् जनाना कियदुपकरोतीति तु स्वसवेद्यमेव वर्तते। भगवता गोरक्षनाथेनान्यैर्वा सिद्धैर्महापुरुषैर्विद्वद्भिश्च प्रणीता यावन्तो ग्रन्था दृश्यन्ते ते सर्वे प्राय· साधनोपयोगिविधिपरा एव। यतोहि व्यावहारिकतत्थ्यानामपि तेषु तदुपयोगार्हाणामेव सकलन वर्वर्ति, नाथमार्गीयदार्शनिकविचाराणा लौकिके सामाजिके वा जीवने कियानुपयोगो भवितु शक्नोतीतिप्रतिपादकास्तु ग्रन्था प्रायोऽङ्गुलिगणनीया एव। एतद्दृष्ट्याऽस्य महनीयं महत्त्वं वर्तते। अत्र प्रतिपादिता विषयास्तु विषयसूचीतोऽवगन्तव्या', विशेषेण गुरोर्महत्त्वम्, नाथलक्षणम्, मुक्तेर्नाथस्वरूपेणावस्थितिः, योगप्रशंसा, योगिना चिह्नानि तेषामाध्यात्मिक रहस्यम्, वेदाना तन्मूलकशास्त्राणा च प्रवृत्तिनिमित्तत्वम्, ज्ञानोपासनयोर्योगसाधनत्वनिरास', द्वैताद्वैतयोर्व्यर्थता, अद्वैतपराजयः, नाथस्य तन्त्रप्रवर्तकत्वम्, ज्ञानिनो मरणोत्तरगतिः सर्वदर्शनाना स्वरूपदर्शने समन्वयः, मुद्राणामवस्थाना च भेदा., नाथसिद्धान्तस्य स्वरूप तन्महत्त्वञ्च, नाथपरम्परा, नाथाम्नायवर्णनम् शिष्यस्य ११ गुरोश्च

संस्कृतविश्वविद्यालयीयप्रकाशनविभागतः क्रियते। सम्प्रति भूतिप्रकरणमप्युपलब्धम्, [योगप्रकरणं च १८६५ खीष्टे श्रीप्रसन्नकुमारवन्द्योपाध्यायेन वंगानुवादेन सह प्रकाशितमासीत्, तदपीदानीं दुर्लभमेव] अतः अस्य प्रकरणद्वयस्य मुद्रणं चात्र समाप्तप्रायमेवाचिरात् पाठकानां दृष्टिपथमुपयास्यतीति निवेद्यते।

३६ लक्षणानि, सिद्धानामाचारविधि, देवाना भगवत्तानिरासो नाथस्य सर्वोपरिवर्तित्वम्, योगस्यात्मधर्मत्वनिरूपणं चेति विशेषेण द्रष्टव्या वर्तन्ते। एतत्प्रसङ्गेनावान्तरविषयाणामपि प्रचुरतयात्र संनिवेशोऽस्ति।

अस्य च ग्रन्थस्य प्रणेता नाम्ना अज्ञातोऽपि नातिप्राचीन इति तदीयोद्धृतप्रमाण-ग्रन्थसूचीतः प्रतीयते। किन्तु विपश्चिद्वरेणानेन यया रीत्या स्वकीयो विषय· प्रतिपादित यावन्ति च प्रमाणानि स्वमतपोषकाणि ग्रन्थान्तरेभ्य उद्धृतानि तैरस्य बहुश्रुतत्वं प्रौढ पाण्डित्यं च स्फुटं परिलक्ष्यते।

अस्य ग्रन्थस्यैकामपूर्णां मातृकामुपलभ्यातीवमहत्त्वपूर्णेति मत्वा श्रद्धेय म०, म० गोपीनाथकविराजमहाभागैः सम्पाद्य सरस्वतीभवनग्रन्थमालाया प्रकाशितमेकं सस्करणम्, तदपि बहुवर्षेभ्यो दुष्प्रापमेव। ममैकेन मित्रेण पुस्तकान्तरभ्रान्त्या स्वीयैकामातृका मह्यमुप-दर्शिता, पूर्वस स्करणापेक्षया तस्याः पाठो मया बहुत्रशुद्धोऽधिकश्च व्यलोकि, अतो यथामति संशोध्य शुद्धमुचित च पाठ मूले संस्थाप्य तदितरपाठश्च टिप्पण्या दत्त। मूलग्रन्थे येषा ग्रन्थानमुद्धरणानि सन्ति तानि प्रकाशितेभ्योऽप्रकाशितेभ्यश्च सम्यङ्मेलयित्वा तेषामङ्क संख्यापि यथोपलब्धा दत्ता। एव यथामति यथासभवं च कृतेऽपि संशोधने व्यस्ततावशात् मानवस्वभावसुलभचपलतया च यास्त्रुटय· स्युस्ता ममानवधानमिति क्षन्तव्याः संशोध्या-श्चेति भूयोभूय. प्रार्थये कृपाघनान् विदुषः—

सरस्वतीभवनम्
मकरसंक्रान्तिः सं० २०२९

विद्वच्चरणचञ्चरीकः
जनार्दनशास्त्री पाण्डेयः

Prefatory Note

The following pages, which embody the doctrines of Gorakṣanātha and the Nātha sect in general and represent an ancient collection of essays by members of the same sect, are presented to the public for the first time, I believe, in the hope of removing a long-felt want. The study of Nāthism—so it is called by Mahāmahopādhyāya Haraprasad Śāstri who had occasions to write upon the subjects more than once—has been suffering for a long time from paucity of adequate literary data Besides the Haṭhayoga Pradīpikā, Goraksa Śataka, Goraksapaddhati, Gheraṇḍa Saṁhitā, and more, very little is known of the Sanskrit Literature of the Nāthas. The contributions of Wilson, Aksayakumāra Datta, Farquhar and others have all been consequently more or less incomplete. The publication of the present work, therefore, must be considered as a welcome addition to our Library, specially in view of the fact that it comprises many short tracts attributed to the venerable sages themselves, e.g. Gorakṣanātha, Matsyendranātha, Jalandharanātha, Bhartrihari etc.

The greatest defect in the Sanskrit writings of the sect is the frequent violation of the rules of grammar, metrics etc. Unnecessary repetition, ambiguity of expression and incoherent presentation are also to be noticed. But all these defects, and others not mentioned here and arising from insufficient Mss materials, are insignificant in comparison with the high importance of the work, from the historical as well as religious and philosophical points of view.

The book is full of inaccuracies. But it has been allowed to come out in its unvarnished form, for the editor has no right to step beyond his limits and introduce corrections or alterations in the

language of the original author It is hoped, however, that the readers will appreciate this attitude and make allowance for these defects

Further details regarding the work and the sect will be found in the General Introduction which will follow and in my 'Studies in Nāthism' (to appear shortly).

Sanskrit College
Benares

Gopinath Kaviraj

विषय-सूची

|| ॐ श्रीगणेशाय नमः ||

|| ॐ भगवते आदिनाथाय नमः ||

|| श्रीगोरक्षनाथो विजयतेतराम् ||

|| गोरक्षसिद्धान्तसङ्ग्रहः ||

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा ||
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः || १ ||

मुक्ता लुण्ठति पादाग्रे नखाग्रे जीवजातयः ||
मुक्तामुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः || २ ||

वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णुस्तथैव च ||
मध्ये नाथः परं ज्योतिस्तज्ज्योतिर्मे तमोहरम् || ३ ||

अस्मिन्मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव, स चावधूत एव नान्यः, स कोऽवधूत इत्यपेक्षायामाह—

वचने वचने वेदास्तीर्थानि च पदे पदे ।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः ||

एकहस्ते धृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेऽस्तु नः ||

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

यः सर्वान् प्रकृतिविकारान् अवधुनोतीत्यवधूतः । (सि० ६।१)
प्रसरं भासयेच्छक्तिः सङ्कोचं भासयेच्छिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत्सिद्धयोगिराट् || इति || (सि० ६।६३)

अवधूतगीतायाम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्य्यन्तं सम्पूर्णं परमात्मनि ।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याऽहं पञ्चमाश्रमी || इति ||

सूतसंहितायाम्—

अतिवर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुः सर्वाधिकारिणाम् ।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तमः ||
(सू० सं० मुक्ति खं० ५।१४)

'यथाऽहं पुरुषोत्तमः' इति विष्णुं प्रति शिववचनम्।

अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते।
तत्समो नाधिकश्चास्मिल्लोकेऽस्त्येव न संशयः॥ इति॥
(सू० सं० मु० खं० ५।१५)

ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—

पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।
स्वरेण [1]साधयेद्योगमस्वरं भावयेत्परम्॥
अस्वरेण हि भावेन भावो नाऽभाव इष्यते।
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम्॥
(२।६-८, ई० अ० पृ० १२७)

तत्राऽऽशङ्क्ते—पक्षपातः क इति? देहाभिमान एव सः। सोऽपि क इति? अहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं पुनरन्त्यजोऽहं ब्रह्मचार्य्यहं गृहस्थोऽहं वानप्रस्थोऽहं संन्यास्यहमुत्तमोऽहं मध्यमोऽहमधम इत्यादि सङ्कल्प एव सः। तं सङ्कल्पं विहाय सर्वव्यापकं परमनाथ याथातथ्येन पश्यत्यथ मुक्तो भवति तादृश एव स्यादिति। तथा च वर्णाश्रमादिव्यवहारमतीत्य नाथं साक्षात्कुर्वतो मुक्तिरिति।

यदि कोऽपि वदेद्वर्णाश्रमाचारव्यवहारं त्यक्तवतः परमयोगिनो मुक्तिर्भवतु नाम, वर्णाश्रमाचारवतः सा कथं न भवेत्? "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः" इत्यादीनि कानिचिच्छास्त्रवाक्यान्यवलम्ब्य वदन्ति चामुको गृहस्थो मुक्तो मुक्तश्चामुको भिक्षुरिति? तत्रोच्यते—गुणानतीत्यैव मुक्तो भवति[2] न तु गुणाभिमानीति सर्वसम्मतः सिद्धान्तो भवत्येव। वर्णव्यवहारे तु न सम्भवति गुणातीतत्वम्। कथम्? वर्णमात्रस्यापि गुणनिर्मितत्वादिति। उक्तञ्च गीतायाम्—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्॥ (गी ४।१३)

तथा च कथं गुणसत्त्वे मुक्तिरिति? तत्र वादी वदति—वर्णाभिमानिनः किं न त्यजन्ति गुणानिति? सत्यम्; यदि गुणांस्त्यजेयुस्तर्हि कथं वर्णसद्भावः? गुणमूलकत्वादेव वर्णत्वस्य। तथा चाश्रमित्वं स्यात्? तदा वादी वदति–भवद्भिस्त्वाश्रमिणोऽपि गुणातीतत्वाभावान्मुक्तिर्नेत्युच्यते। सा च भवद्वचनक्रमेण त्वायास्यति। तत्र किमुत्तरमिति? उच्यते; नैवमाश्रमिण। मुक्तिरायाता। कथम्? आश्रमाणामपि गुणलेशत्वात्[3]। प्रथमतो वर्णव्यवहारेण गुणभजनम्। गुणवृत्तिषु च सत्त्वगुणवृत्तय

---

१. स्वन्धयेत्–मु० पा०। २. भवेत्.-पा०.
३. गुणमूलकत्वात्–पू० सं०

उत्तमा, रजस्तमोवृत्तयस्ततो निकृष्टा, इति कृत्वा गुणेष्वप्युत्तमादित्वं स्यात्, परन्तु गुणवृत्तित्व तु सर्वसाधारणमतो नास्ति गुणवृत्तीनां मुक्तिसाधकत्वम्। तत्र दृष्टान्त --

यथा द्वे स्त्रियौ रूपवत्यौ भवतस्तयोर्द्वयोरपि संयोगे न भवेद्गर्भोत्पत्तिः? किन्तु तद्धर्मभिन्नत्वेन पुरुषेणैव सा भवेत्, किञ्च सौन्दर्यतारतम्येनैकस्या अपरा अधिका न्यूना वा भवतु नाम, परन्तु भोक्ता तु तयोर्द्वयोरपि पुरुष एव, नास्ति तयोरन्योन्यं भोक्तृभोग्यत्वम्। तथा नास्ति वर्णानां साक्षान्मुक्तिविषयेऽन्योयं गुरुशिष्यत्वम्। किञ्चाश्रमिणोऽपि प्रथमतो वर्णाभिमानेन गुणभाज एवेति चोत्तरत्रापि प्रारब्धमभिमत्य भोगभाजो भवन्ति। तेन च प्रारब्धकर्मणां भोगोऽवश्य इति कृत्वा कर्म्मणां सत्यत्वं तावद् दर्शयति—यतो गुणलेश एतेषामपि न निवृत्तो यतो मुक्तत्वपुरुषार्थविहीनास्तेऽपि नपुसकप्रायाः सन्तो न मुक्तिस्त्रियमर्हन्ति[१]।

यद्यपि नपुंसकाः पुरुषवेषिणो वर्त्तन्ते, तथापि पुरुषत्वेन सन्ततिसम्पादका न भवन्ति, एवं वेषमात्रेणाश्रमिणोऽपि सम्मानपूजाद्यर्हन्तु नाम गुरुत्वम्। अतो गुणातीतत्वेनात्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्वं नान्यस्य कस्यापीति बहुधा शास्त्रे निरूपितम्।

कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे सुखमासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥
(कै० उ० १।५, ई० अ० पृ० १२८)

तेजोबिन्दूपनिषदि—

लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम्।
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे[२] च सङ्कल्पं सविकल्पकम्॥
न ब्रह्मकुलदर्प[३] च न मुक्तं[४] ग्रन्थसञ्चयम्।
न भयं सुखदुःखं च तथा मानापमानयोः॥
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम्॥ इति॥
(ते० उ० १२-१४; ई० अ० पृ० २२३)

अमनस्के—

कुलाचारविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः। (अम० २।१७)

इति वर्णाश्रमित्वमुक्तम्। नास्ति वर्णाश्रमाचारे सर्वारम्भपरित्याग इति। पुनः एवं चावधूत एव सन्मार्गदर्शनशीलो भवति। स एव गुरुर्मुमुक्षुभिः कर्तव्यः।

---

१. मुक्तिश्रियम्,—पू० सं०। २. शीतोष्णं क्षुत्पिपासं च—मु० पा०।
३. दर्प—मु० पा०। ४. मुक्तिग्रन्थि—मु० पा०।

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

फलितानेकपुण्यानां मुमुक्षूणां हितावहम् ।
साधनं साधनश्रेष्ठमाह योगमतः परम् ॥

सन्मार्गश्च योगमार्गस्तदितरस्तु पाखण्डमार्गस्तदुक्तमादिनाथेन—

योगमार्गेषु निष्णाता दीक्षिता ये तु[1] दूषकाः ।
ते हि पाखण्डिनः प्रोक्तास्तथा तैः सह वासिनः ॥

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ ।
शास्त्रग्रन्थेषु[2] सर्वेषु शिवेन कथितं पुरा ॥

विवेकमार्तण्डे—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥[3]

खेचरीसहितायाम्[4]—

उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादि कर्म च ।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योग समभ्यसेत् ॥

वर्णाश्रमाभिमानेन वर्त्तते श्रुतिकिङ्करः ।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्द्धनि ॥

न वेदो वेद इत्याहुर्वेदावेदो निगद्यते ।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते ॥

वर्णधर्मे च सन्ध्या विहिता, तत्प्रतिरूपकमाह—

न सन्ध्या सन्धिरित्याहुः सन्ध्या सन्धिर्निगद्यते ।
सुषुम्णासन्धिग प्राणः सा सन्ध्या सन्धिरुच्यते ॥

ध्यानबिन्दूपनिषदि—

यदि शैलसमं पाप विस्तीर्णं योजनान्बहून् ।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥
(१, ई० अ० पृ० २४५)

विवेकमार्तण्डे—

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ (वि० ६।१)

---

१. त्तांश्च—पा० । २. शास्त्रेष्वन्येषु—मु० पा० ।
३. मुद्रितेषु नोपलभ्यते । ४. नास्ति—पू० सं० ।

मुण्डकोपनिषद्यङ्गिरसं प्रति शौनकवचनं प्रश्नरूपम्—

"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति ? इति । तस्मै स होवाच— द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति । परा चैवापरा च । तत्रापरा— ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो [१]ब्रह्मवेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमितिहासपुराणं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणीति परा यया तदक्षरमधिगम्यत इति ।" (१।३-५; ई० अ० पृ० १४)

यदक्षरं यया प्राप्यत इत्युक्तं सा योगविद्यैव । कथम् ? श्रुतिस्मृतिपुराणादिसर्वविद्यानामपरविद्यायामेवोक्तत्वाद्योगविद्यायाश्चानुक्तत्वात् पृथक्त्वमर्थात् सिद्धम् । तदुक्तमात्मोपनिषदि—

"अथ परमात्मा नाम [२]यथाक्षरमुपासनीय । स च प्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकवटकणिका वा श्यामाकतन्दुलो वा बालाग्रशतसाहस्र[३]कल्पनादिभिः स लभ्यते, नोपलभ्यते, न जायते, न म्रियते, न शुष्यते, न दह्यते, न कम्पते, निर्गुणः, साक्षीभूतः शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो [४]निरञ्जनो [५]निरभिमानः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निराकाङ्क्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽवर्ण्यश्च, पुनात्यशुद्धान्यपूतानि । निष्क्रियस्तस्य संस्कारो नास्ति (संस्कारो नास्तीत्येष परमात्मेति)[६] ।" (१, ई० अ० पृ० ४५१)

सा चामृतबिन्दूपनिषदि स्पष्टमाह—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः ।
परम ब्रह्मविद्याया उक्त्वा नान्यमथोत्सृजेत् ॥

ॐकारं रथमारुह्य विष्णुं कृत्वा तु सारथिम् ।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः ॥

यावद्रथेन गन्तव्यं तावद्रथपथि स्थितः ।
स्थित्वा रथं यथास्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति ॥

मात्रालिङ्गपद त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम् ।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं च गच्छति ॥

शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते ॥

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥ इत्यादि यावत्समाप्ति ।

---

१. अथर्ववेदः—मु० पा० । २. यथाक्षर—मु० पा० ।
३. विकल्पनाभिः—मु० पा० । ४. निर्ममो—मु० पा० ।
५. निर्विकारः—मु० पा० । ६. () नास्ति—मु० ।

मनुस्मृतौ—

क्षरन्ति सर्वा वैदिक्यो जुहोति-यजति-क्रियाः।
अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥ (म० २।८४)

उत्तरगीतायाम्—

यथाऽमृतेन[1] तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तत्त्वपदे प्राप्ते वेदे नास्ति प्रयोजनम्॥ (१।२२)
पुराणं भारतं वेदा धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
पुत्रदारादिसंसारो योगमार्गस्य विघ्नकृत्॥ (३।२)
मुहूर्तमपि योगस्थो नासाग्रे मनसा अपि।
सर्वं तरति पापं च तस्य जन्मशतोद्भवम्॥ (२।१०)
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

वायुपुराणे—

ऋचो यजूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा।
योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः॥

मार्कण्डेयपुराणे—

एतत्ते कथितं ज्ञानं योगं चेम निबोध मे।
यं प्राप्य ब्राह्मणो[2] योगी शाश्वतान्नान्यतां[3] व्रजेत्॥

एवं बहुधा शास्त्रेषु योगस्य प्रशंसा विदितैव, तस्या दिङ्मात्रमिद दर्शितम्। तस्य योगस्य लक्षणं तु विवेकमार्तण्ड उक्तम्—

योगं चात्र प्रवक्ष्यामि योगं चाष्टाङ्गसंयुतम्।
संयोगं योगमित्याहुः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः॥

एतस्यैव योगस्य मन्त्रयोगादीन्यङ्गानीति ज्ञेयम्।

सन्मार्गत्वेन योगस्तु सेव्यो हित्वाऽन्यसाधनम्।
मुमुक्षुभिर्यतस्तेषां पदप्राप्तिः परा भवेत्॥
योगिनो वीतसङ्कल्पा निर्द्वन्द्वा पुण्यदर्शनाः।
योगरत्नकरण्डास्ते जयन्त्यविधिगोचराः॥

तद्वतामेव परमपदप्राप्तिरिति तेषां स्वरूपं प्रशंसां चाह कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः।
अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥

---

१. घृतेन—मु० पा०। २. ब्रह्मणो—मु० पा०
३. मान्यता—पू० सं०।

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम् ।
[1]अनन्तमव्यक्तमचिन्त्यरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं [2]विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।
उमासहायं परमेश्वरं [3]विभुं त्रिलोचन नीलकण्ठं प्रशान्तम् ॥
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षि तमसः परस्तात् ।
स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ।
स एव विष्णुः सः प्राणः स आत्मा परमेश्वरः ॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥
(कै० १।५-९, ई० अ० पृ० १२८)

गीतायां च—
तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ (गी० ६।४६)

महार्णवे—
योगी ब्रह्मा योगिनो विष्णुरूपं योगी देवो देवदेवो महेशः ।
योगी मोक्षः पूर्णतत्त्वस्वरूपो योगी ध्यानं सृष्टिकर्ता च हर्ता ॥
इत्यादि वचनं सन्दर्भेण योगिनामेव परमश्रेयः ।

तेषां [4]मुख्यचिह्नं किमित्यपेक्षायां मुद्रा-नाद-विभूति-आदेशधारणं मुख्यमिति तत्प्रशंसामाह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—
मुद्मोदे तु रादाने जीवात्मपरमात्मनोः ।
उभयोरैक्यसंभूति[5]र्मुद्रेति परिकीर्तिता ॥
मोदन्ते देवसङ्घाश्च द्रवन्ते सुरराशयः ।
मुद्रेति कथिता साक्षात्सदा भद्रार्थदायिनी ॥ (सि० ६।३०-३१)

तद्धारणं कर्णयोर्विना क्षुरिकां न सम्भवतीति क्षुरिकाप्रशंसामाह क्षुरिकोपनिषदि—
क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये ।
[6]सम्प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते ॥ इत्यादि ।
(क्षु० १; ई० अ० पृ० २१२)

वृहदारण्ये—अथात आदेशो नेति नेतीति ।
छान्दोग्ये च—उत तमादेशमित्यादि ।

---

१. अचिन्त्य—मु० पा० । २. कवि—मु० पा० ।
३. प्रभुं—मु० पा० । ४. अमुष्य—पू० सं० ।
५. सवित्ति—मु० पा० । ६. यां प्राप्य—मु० पा० ।

तेषामन्योऽन्यमन्यत्रापि च यो वाग्व्यवहारस्तमाह—

[सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

आत्मेति परमात्मेति जीवात्मेति विचारणे।
त्रयाणामैक्यसम्भूतिरादेश इति कीर्तितः॥
आदेश इति सद्वाणीं सर्वद्वन्द्वक्षयावहाम्।
यो योगिनं प्रतिवदेत्सवेत्त्यात्मानमीश्वरम्॥ इति।

(सि० ६।९४-९५)

नादधारणमाह गोरक्षोपनिषदि—अनाहतशृङ्गीति।][1]

तेषां भस्मोद्धूलनमपि तत्त्रिपुण्ड्रमपि च तैर्धार्यमिति तद्धारणप्रकारप्रशंसे प्राह कालाग्निरुद्रोपनिषदि—

"कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्रं सविधि सतत्त्वं किं द्रव्यमित्यादि प्रश्ने तं होवाच भगवान्—यद्द्रव्यं तदाग्नेयं भस्मसद्यदिदं ब्राह्मणैः परिगृह्य "अग्निरिति भस्म" इत्यभिमन्त्र्य" इत्यादि "प्रकुर्वीत व्रतमेव तच्छाम्भवं समाचरेन्मुमुक्षुर्न भवाय यथा सनत्कुमार" इत्यन्तं "समस्तपातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति, तेन सर्वे देवा ध्याता भवन्ति, स सर्वैर्वेदैर्ज्ञातो भवति, स सर्वतीर्थेषु स्नातो भवति, देहं त्यक्त्वा शिवसायुज्यतामेति, न स पुनरावर्त्तते, न स पुनरावर्त्तते, इत्याह कालाग्निरुद्र इति।"[2] (का० १, ई० अ० पृ० २००)

तेषामनियत एव व्यवहार इत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

क्वचिद्भोगी क्वचित्त्यागी क्वचिन्नग्नः पिशाचवत्।
क्वचिद्राजा क्वचाचारी सोऽवधूतो विधीयते॥ (सि० ६।२०)

एवं सर्वमयः सर्वेभ्यो विलक्षणः पृथगिति बहुधा सिद्धसिद्धान्तपद्धत्यादियोगग्रन्थेषु प्रपञ्चितम्। तद्विशेषं जिज्ञासुभिर्द्रष्टव्यं विस्तरभयान्नात्र लिख्यते। एवञ्च सर्वसाधनशिरोमणियोगमूर्तिभूता अवधूता एव परमपुरुषार्थविचक्षणाः सर्वशिरोमणयो जयन्ति।

सन्मार्गसाधका वर्णाश्रमाचारानपेक्षकाः।
योगिनो ह्यवधूता ये ते संक्षेपान्निरूपिताः॥
परमः पुरुषार्थस्तु मुक्तिरुक्ता ह्यतस्तु सा।
निरूप्यतेऽवधूतानां योगसाधनजं फलम्॥

परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरित्युक्तम्। सा च नाथस्वरूपेणावस्थानम्। तत्स्वरूपं तु गोरक्षोपनिषदि—"अद्वैतोपरि सदानन्दद्देवता।"

---

१. [ ] अयमंशो नास्ति पूर्व संस्करणे।

२. मध्ये मध्ये विच्छिद्य गृहीतः पाठः; द्र०—ई० अ० पृ० २००।

ब्रह्मोपनिषदि—

"स्वयममनस्कमश्रोत्रपाणिपादं ज्योतिर्विर्दितं तत्र लोका न लोकाः, वेदा न वेदाः, देवा न देवाः, यज्ञा न यज्ञाः, माता न माता, पिता न पिता, स्नुषा न स्नुषा, चाण्डालो न चाण्डालः, पौल्कसो न पौल्कसः, श्रमणो न श्रमणः, पशवो न पशवः, तापसो न तापस इत्येकमेव परमिति ।" (ई. अ. पृ. १५१)

ब्रह्मबिन्दौ च—"नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।" इत्यादि । (२।६; ई अ. पृ. १२७)

सर्वोपनिषत्सारे—

"कथं बन्धः कथं मोक्षः" इत्यादिप्रश्ने "अनात्मनो देहादीनात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमानः, आत्मनो बन्धस्तन्निवृत्तिर्मोक्षः" (१।१; ई. अ. पृ २१५) इत्यनेन स्वरूपेणावस्थानमिति सिद्धम् । अमनस्के—

भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम् ।
सर्वसङ्कल्पनातीतं परं ब्रह्म[1] तदुच्यते ॥ (अम० १।१२)

अवधूतगीताया च—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।
समं तत्त्वं न विन्दन्ति द्वैताद्वैतविलक्षणम्[2] ॥ (१।३६)
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः ।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना ॥ (१।६१)

श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो
नैवाग्निर्नापि वायुर्न च गगनतलं नो दिशो नैव कालः । (१।२)
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधिर्नैव कल्पाः ।
स्वं ज्योतिः सत्यमेकं जयति तव पदं सच्चिदानन्दमूर्ते ॥ (१।३)

सा मूर्तिः का वा ? तथाह श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

आदिनाथं महासिद्धं शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
तं वन्दे नित्यतो वक्ष्ये सिद्धान्त स्वानुभावतः ॥

पुनरत्रैव प्रवृत्तौ आदिदेवमेतत्पदेनावस्थानं मुक्तिरिति ।

नाथस्य लक्षणं तु राजगुह्ये—

नाकारो नादरूपं च थकारः स्थाप्यते सदा ।
भुवनत्रयमेवैकः श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते ॥

---

१. परब्रह्म—पू० स०; पर तत्त्व—मूलमातृकायां ।

२. °विवर्जितम्—मु० पा० ।

शक्तिसङ्गमतन्त्रे—

श्रीमोक्षदानदक्षत्वान्नाथ [द] ब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताज्ञानविभवाच्छ्रीनाथ इति गीयते ॥

इत्यादीनि वाक्यानि[1] प्रमाणानि । तस्य निदर्शनं शास्त्राणि सूर्यस्य दीपा इव कथं करिष्यन्ति । तत्तु पदं तादृग्योगिनामेवापरोक्षमिति सिद्धान्तः । अन्ये तु मतवादिनस्तत्पदमनालम्बमाना स्वाभिप्रायानुसारि तत्पदं विधाय विवादभाराक्रान्तमतयः क्लिश्यन्ति न तु शाम्यन्तीत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया ।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः ।
अन्ये भेदरता विवादविकलास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमय धीरः परं संश्रयेत् ॥ (सि० ६।७३)

अस्यार्थः—वेदान्तो वेदोत्तरभागशास्त्रवादी अद्वैतवस्तुन्यध्यारोपापवादाभ्यां द्वैतकल्पनां कुर्वन् बहुभिस्तर्कैः कर्कशा कठोरा मतिर्यस्य सोऽत एव परं केवलं ग्रस्तो यतो निर्मायिकं वस्तु वदन् मायादूषणं च तत्र ददाति । पुनः भाट्टाः मीमांसका अनीश्वरवादमारोपयन्तः कर्मफलेष्वेवाकुलिताः सन्तो गतधियो भवन्ति । तथा द्वैतेन द्वैतवादेन वैशेषिका अपि गतधिय एव । तदन्येऽपि ये भेदवादरतास्तेऽपि विवादविकला एव भवन्ति । यत एते तत्त्वतो वञ्चिता भवन्ति न तु तत्त्वमालम्बन्ते इत्यर्थः । तस्मान्महासिद्धानां स्वाभाविकं सहजावस्थामयं मतं धीरः पुमान् संश्रयेत् । तदेव श्रेयस्करमिति मान्यम् ।

साङ्ख्या वैष्णववैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः
सौराश्चीरपराः[2] प्रपञ्चनिरता बौद्धा जिनाः श्रावकाः ।
एते कष्टरता वृथापथगतास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमत स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥ (सि० ६।७४)

अस्यार्थः—साङ्ख्याः प्रकृतिकारणवादिनः कपिलमतानुयायिन इति यावत्, वैष्णवाः पाञ्चरात्राः, वैदिका वेदानुवर्तिनस्ते च विधिपरा वाक्यकोविदा इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ।

आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्नव्रतास्तापसाः
नानातीर्थनिषेवका जिनपरा मौने स्थिता नित्यशः ।
एते ते खलु दुःखभारनिरतास्ते तत्त्वतो वञ्चिताः
तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत् ॥ (सि०६।७५)

---

१. पुराणवाक्यानि–पू० स० ।　२. वीरवरा–मु. पा. ।

अस्यार्थः—आचार्या मन्त्रव्याख्यातारो बहुदीक्षिता अग्निहोत्रादिकर्त्तारः, त एवाहुतिपरा न तु तत्त्वपरा, अजिनपरा वल्कलवाससस्ते तीर्थनिषेवका यद्वा जपपराः, शेषं स्पष्टम् । इत्यादि । हठप्रदीपिकायां च—

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलाः[१] ।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति शाङ्करीम्[२] ॥ (४।४०)

अस्यार्थः—केचिद्वैखानसाद्यागमोक्ततत्त्वभ्रमास्तत्र तत्त्वाभिमानिनो देहात्मवादिनश्चार्वाकसधर्माणस्ते मनुष्यास्तप्तचक्राद्यङ्किता जीवन्तोऽपि मृतकमिव शरीरं सत्कर्मानर्हं कुर्वाणा देवनिन्दका इति । केचिच्च ऋग्यजुरादिवेदासक्ताः कर्मज्ञानरताः कर्मणैवायुः पूर्णं कुर्वन्ति, अथ च तत्त्ववञ्चिताः साधनेऽशक्तास्ते हि कातर्य्येण प्रारब्धशरणा भूत्वा शरीरसुखार्थमहं ब्रह्मेति वदन्तस्तिष्ठन्ति, तदेवात्मानं चेद्विजानीयादित्यादावुक्तम् । एवं निगमसङ्कुला इति । केचिच्चातर्क्यैश्वर्ये परमपदे वस्तुनि शुष्कतर्कानाश्रित्य पण्डितम्मन्या भवन्तीति कृत्वा शाङ्करीं न जानन्तीति ।

सा शाङ्करी स्तूयते हठप्रदीपिकायाम्[३]—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
सा पुनः शाङ्करी मुद्रा प्राप्ता कुलवधूरिव ॥

ऋग्यजुरादयो वेदा धर्मार्थकाममोक्षोपदेष्टारो [४]ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थभिक्षुकाश्रमोपदेष्टारश्च भवन्ति । ते च मुख्ये वस्तुनि गौणत्वमापादयन्त्यमुख्ये च मुख्यत्वमतो यत्र तादृशा अधिकारिणो बहवो लग्नास्ते चोत्तमपुरुषैरसेवनीया द्रव्यस्पृहः प्रवृत्तावेवासक्ता भवन्ति । शास्त्राणि च वैशेषिकादीनि । तैर्भ्रममूलकैः[५] कदापि विश्रान्तिर्नास्ति । पुराणानि च नरानात्मसाधनेष्वशक्तत्वं प्राय आपादयन्ति । यतो बालकानामिव रुचिरतरासु कथासु लोकानां चित्तवृत्तिं गमयन्ति । तेऽपि सर्वे सामान्यगणिका इव भवन्ति । तद्यथा—गणिकागृहे शृङ्गारप्रधाना एव वार्ता मुख्याः स्युरैश्वरी वार्त्ता तु गौणी, ताश्च गणिका बह्वयो बहूनां धूर्तानां लम्पटानामुपरि चासक्ता भवन्त्यः सत्यवादिनामकामिनां प्रियेश्वरकथानामुपरि नासक्तिं कुर्वन्ति, इति ।

किञ्च इह खलु संसारे योगो भोगश्च द्वौ पदार्थौ स्तः । एतद्द्वयं विना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तर्भूतत्वादिति । तयोर्मध्ये योगे लग्ना महासिद्धाः, भोगे तु सर्वे संसारिणः । योगस्य फलं मुक्तिर्भोगस्य तु बन्ध इति । यद्यपि भोगाद्बन्धस्तथापि नानाविलासैर्विषयानन्दं विलुण्ठयति । यदि दुःखमपि भवेत्तर्हि भवतु

१ °सङकुलै.–मु० पा० । २ तारक–मु० पा०,
३. नास्ति–पू० स० । ४. ब्रह्मचारि–पू० स० ।
५. भ्रममू०–पू० सं० ।

नामेति। योगिनां तु पुनः प्रथमतः किञ्चिच्छ्रमो भवेत् "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" इत्याद्युक्तत्वादिति, पश्चात्तु महानानन्द·। तत्र बहवः कथयन्ति–किञ्चिदिति कथ; योगे तु क्लेशोऽधिकतर इत्युक्तम। तदुपरि मया तु कथ्यते—भो पुरुषा.! गुरुहीनानां तेषा कष्ट भवेत्; यदा तादृशः पूर्वोक्तः पूर्णो गुरुर्लभ्येत तदा महदपि कष्टं स्वल्प भवेत्। तत्र दृष्टान्तः यथा महाभारयुक्ता या शिला भवेत् तस्या उत्थापने सहस्राणामपि पुरुषाणां कष्टं भवेत्, सा च बुद्धिमता पुरुषेण कृतकाष्ठादियत्नेनाप्रयासेनैवोत्थाप्यते, तथा गुरुमय्या कुञ्चिकया स्वल्पेनापि कष्टेन सहजसिद्धिर्भवति, यदि च महत्कष्टमपि भवेत् तदा कष्टोत्तरे तु महानानन्दो भवत्येव, यस्त्वखण्डैकनाथरूपो भवति। ब्रह्मविष्णवाद्यधीश्वरो भवति। नानारूपो भवति। ब्रह्मादयः सर्वे तस्य पूजां कुर्वन्ति, योगारूढो नानाभोगान् भुनक्ति, न तु तैर्लिप्यते, योगं विना भोगी रोग्येव स्यात्, भोग्यपि योगी संसारीव दृश्यते, न तु संसारीव बन्धनं प्राप्नोति।

ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति, तदा मया कथ्यते—तेषां कथनं मया न निवार्यते, तदेव कुर्वन्तु नाम, परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्ते तु पठनपाठनोत्तरं पठनपाठनदोषनिवृत्त्यर्थमिष्टस्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापि दोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यति इति। पुनः य स्वामिनं भजेत् स स्वतन्त्रो भवेत्, यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद्ददाति मन्त्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति, अयं देहः कर्मरचितः, कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणाना सन्ति, गुणाश्च मायायाः। एवञ्च यदि अनेन प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाऽभिमता, तदभिमाने च तत्रैव समये ब्रह्मतत्त्वात् पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव, स च बाधक एव, तस्मात्प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म।

वेदान्ती चित्तशुद्धयर्थं कर्माभिमत्य तदनन्तरं ज्ञानं साधनमित्युपदिशति, अतः सोऽपि सापेक्ष एव। मीमांसको मन्त्रीव राजसापेक्षः, परन्तु सापेक्षता तूभयोरेवास्ति, कस्याप्यपेक्षामकुर्वन् योग आवश्यकः सर्वेषां कर्तव्यो यः सर्वदा स्वतन्त्रोऽस्ति।

मीमांसको द्वैतमभिमन्यते, वेदान्ती त्वद्वैतमभिमन्यते, तदुपरि च वदामः—एतदुभयमपि प्रकृतिविकारः। प्रकृतिविकारश्च सदा चञ्चलो नास्ति कदापि स्थिरः। ब्रह्म तु सर्वदा स्थिरमेवास्ति। तत्र द्वैतवादिनो निश्चलं नास्तीति वदन्ति, तथैवाद्वैतमभिमन्यतां निश्चलं नास्तीति कथम्?

यदि ब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतम्? तदा मायाकल्पितमिति ते वदेयुस्तर्हि तान्वदतो वयमवाचोऽक्रियांश्च कुर्मः[१], तत्किमिति चेदुच्यते-अद्वैतं तु

१. कर्म–पू० सं०।

निष्क्रियादि त्याग्यस्ति। यतः कस्यापि वस्तुनो भोगोऽपि युष्माभिर्न कर्तव्य इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैतखण्डन करिष्यामः। महासिद्धैरुक्तम्–यद्द्वैताद्वैतविवर्जितं पदं निश्चलं दृश्यते तदेव सत्यमित्यभ्युपगमिष्यामः, तत्त उग्रभैरवनामककापालिकरूपतः श्रीभैरवेण शङ्कराचार्योपरि कृतम्।

कथम्? चतुर्भिः शिष्यैः संयुक्तः शङ्कराचार्यो नदीतीरे स्थितः। तस्मिन्स्थले कापालिकः समुपागत्योक्तवान्—भो त्वं तु संन्यासी, मित्रारिपक्षे तुल्यः, सुखदुःखादिद्वन्द्वपदार्थरहितोऽस्यस्माकं चायमभिप्रायो वर्त्तते-यत् तव शिर उच्छिद्य[1] पश्चात् श्रीभैरवार्पण करिष्यामि तदा मम प्रतिज्ञा पूर्णा भविष्यति, अतो भवान् शिरो ददातु–इति। तदा शङ्कराचार्येणालोचितं नैवं करिष्यते तदा त्वद्वैतहानिः शत्रुमित्रपक्षे तुल्यत्वं न स्यात्, कृते च पराजयो भवेत्। एतद्द्वयविचारेऽपि पराजय एवेति मत्वा न किमपि तेनोक्तम्। शैथिल्यं जातम्। तदा [2]पद्मपादाचार्येण नृसिंहस्मरणं कृतम्। उग्रभैरवोपरि नृसिंहेण प्रहारः कृतो यस्तु महासिद्धः तच्छरीरं त्यक्त्वा तादृशमेव च शरीरं गृहीत्वा सम्मुखे संस्थितो भूत्वा प्रसन्नवदनो मेघगम्भीरया गिरोवाच—भो अद्वैतपराजयोऽद्वैतपराजय इति। शत्रुमित्रपक्षे [तुल्यत्व यदवदस्तत्कुत्र गतमद्वैतमेवाद्वैत] [3]यदवदस्तत्कुत्र गतम्। मदीयं तु यथा मल्लो नियुद्धे स्वयमेव निपत्यान्यस्य पातनं करोति तथा स्वशरीर त्यक्त्वा परसिद्धान्तहानिः कृतैवेति चरितं पुनः साम्प्रत त्वदीयहानिरतः परमपि क्रियते। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युद्धं कुर्व[4] इत्याह, तदा प्रारब्धकर्माचरणं वर्त्तते न्यासिनां मते यतः क्रियाकरणमिति सिद्धान्तो नास्तीति कृत्वा युद्धेऽशक्तो जातः। कापालिकोपदेशेनाक्रियैव स्वसिद्धान्तेऽद्वैतस्थितिवत्स्थितः। तदा कापालिकेन योगमाया निर्मिता, तया च चतुःशिष्यसंयुक्तस्याचार्यस्य मस्तकं छिन्नम्, पश्चाच्च सञ्जीवितः कृतस्तर्हि विरागो जातः। पश्चिमायां दिशि गतः शक्तिस्मरणं कृतवान्।

पूर्ववार्त्ता। शङ्कराचार्यस्योत्पत्तिर्दक्षिणस्यां दिशि। तत्र तु कर्मसेवनमेव कृतं विष्णूपासनादि। यदा चित्तशान्तिर्न जाता तदा पृथ्वीपरिक्रमा[5]करणार्थं प्रयाणं कृतम्। पूर्वस्यां दिशि चागत्य तत्र वैद्यनाथाख्यस्थलं गत्वा पूजां चकार। तदेश्वरेण नाङ्गीकृता पूजा। किमर्थं त्वया विष्णुभक्तिः कृता। अहं तु साक्षादीश्वरः स तु त्वया विस्मृत इति। तदा शङ्करेणापराधक्षान्तयेऽपराधक्षमापननामक स्तोत्रं कृतम्, पुनरपि शिवभक्तिर्विशेषेण कृता, तथापि चित्तशान्तिर्न जाता। पश्चाच्च पश्चिमां दिशं गतस्तत्र शक्तिरहितो जातः, शक्तेर्वृत्तान्तं दृष्टम्। तदा शक्त्योक्तं शिव एव

१. उच्छिन्न–पा०। २. पद्माचार्येण–पा०।
३. [ ] नास्ति पू० सं०। ४. कुर्वि°–पू० स०।
५. °प्रदक्षिण° पू० सं०।

सर्वं करिष्यतीति। तेन भयाकुलो जातः। सौन्दर्यलहरीनामकं स्तोत्रं कृत्वा शाक्तो जातस्तथापि पूर्णा शान्तिर्न जाता। तत उत्तरां दिशं गतः। सा तु महासिद्धसमुदायेन सर्वाऽपि दिग्व्याप्ता। यत्र यत्र गतस्तत्र तत्र सर्वैरुपहासः कृतस्तत्र श्रीतारानाथेनोक्तम्–तीर्थाटनमेव करिष्यते किमप्यात्मसाधनमपि करिष्यते? तदा शङ्करेणोक्तम्–भवद्भिर्यत्कथ्यते तन्मया करिष्यते[1]। तदा महासिद्धेन योगोपदेशः कृतस्तेन सर्वाबाधानिवृत्तात्मा च प्रसन्नो जातस्तदा वज्रसूचिकोपनिषत् कृता। सा तु सर्वाऽपि नाथमार्गानुसारिण्येव। तत्र श्रीसिद्धसिद्धान्तपद्धतिप्रमाणं दत्तं "वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिः" इत्यादि "तस्मात्सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्" इत्यन्तानि पद्यानीति, यथा मण्डनमिश्रः सुरेश्वराचार्यो जातस्तथाऽयमपि सिद्धो भूत्वा सिद्धान्तबिन्दुप्रभृतिग्रन्थांश्चकार

सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थ एव सिद्धान्तो न तु वादि-प्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः। तन्मध्ये न चैकं तदन्यद्द्वितीयं कुतः स्यात्तत्तु द्वैताद्वैतविलक्षणत्वेनैव सिद्धान्तो जातः। न्यासिनां त्वद्वैतमेव सिद्धान्तो भवतीत्येषा रीतिर्ज्ञेया।

अन्यैः सिद्धान्तः कथ्यते। तेषां मुख्ये सिद्धान्तशब्दप्रवृत्तिर्महासिद्धानां मुखादागतोऽन्यमुखे सिद्धान्तः केवलं रूढित एव। सिद्धानां मते रूढिर्यौगिकं च द्वयमपि वर्तते। तर्हि सिद्धान्तः सिद्धस्यैव तात्पर्यम्। एतत्कारणात् सिद्धस्यैव सिद्धान्तो न त्वन्यस्यात एव शङ्करेण सिद्धान्तबिन्दुः कृतः।

प्रथम तु दक्षिणदेशे कर्मसेवने विष्णूपासना कृता, पश्चात्पूर्वदेशे शिवदर्शने संन्यासो गृहीतः, पश्चिमे च शक्तिदर्शने शाक्तो जातस्तन्त्रविषयकं प्रपञ्चसारादि ग्रन्थं कृतवान्, पश्चादुत्तरदेशे सिद्धोपदेशेनावधूतावस्था गृहीता। तेन सर्वं श्रेयो जातम् इति।

ननु कापालिकप्रसङ्गकथनात्तेषां कापालिकमतमिति कैश्चिज्ज्ञायते, इति; तत्त नास्त्येवास्माकं मतं त्ववधूतमेव। परन्तु कापालिकमपि मतं नाथेनैव प्रकटीकृतमेतन्मार्गस्य प्रकटकर्त्ता नाथ एव। तदुक्तं शाबरतन्त्रे—

आदिनाथो ह्यनादिश्च कालश्चैवातिकालकः।
करालो विकरालश्च महाकालश्च सप्तमः॥

कालभैरवनाथश्च बटुकस्तदनन्तरम्।
भूतनाथो वीरनाथः श्रीकण्ठो द्वादशो मतः॥

---

1. क्रियते–पू० स०।

एते[1] कापालिकाः प्रोक्ता वीरतुम्बीमहाफलैः।
शिष्याणां सूर्यसङ्ख्या च तानिहो वच्मि संश्रृणु ॥
नागार्जुनो जड़भरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः।
सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चर्पटस्तथा ॥
अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः।
मार्गप्रवर्तका ह्येते तद्वच्च मलयार्जुन ॥

पुनः शैव शाक्तोऽपि मार्गस्तन्त्रानुसारी। तस्याप्युपदेष्टा नाथ एव। नाथेनैव रचितानि तन्त्राणि। तदुक्तं षोडशनित्यातन्त्रे—

कादिसञ्ज्ञा भवद्रपा[2] सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तन्त्रं मदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयत् ॥
तया तैर्भुवने तन्त्रं कल्पे कल्पे विजृम्भितम्।
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेच्च माम् ॥
नामपर्यायतो व्याप्तं कालावाप्तमिदं द्वयम्।
प्रसिद्धं बाह्यतो यच्च त्रीणि नामानि साधके ॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृतानेकविग्रह ॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते ॥
स्वतन्त्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने।
परतन्त्राय शाक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे ॥

पुनः योगस्तु कस्यापि सापेक्षो नास्ति, परन्तु तान्त्रिकाणामयमेव सिद्धान्तो वर्त्तते यत्रोत्तरावस्थाऽवधूत एव। तदुक्तं षट्शाम्भवरहस्ये—

अथान्यत्सम्प्रवक्ष्यामि सम्प्रदायस्वरूपकम्।
आदितो वैदिकः प्रोक्तस्ततो हि वैष्णवः परः ॥
ततो गाणपतः प्रोक्तः क्रमेण हि मया तव।
गाणपत्यं च द्विविधं ततः सौरं प्रकीर्तितम् ॥
सौराच्छ्रेष्ठं शैवशास्त्रं शैवाच्छाक्तं महेश्वरि।
शाक्ताद्वामं महादेवि श्रेष्ठं ते परिकीर्त्तितम् ॥

---

१. एके--प० स०। २. भवेद्रूपा-प० सं०।

वामात्तु दक्षिणं श्रेष्ठं दक्षिणाद्वीर एव तु।
अथ वीराच्चावधूतः कौलः पूर्वं प्रकीर्तितः॥
अवधूताद्दिव्यमार्गो दिव्याच्छ्रेष्ठो न विद्यते॥ इति।
(पट्० १।१४०-१४४)

तान्त्रिकानुष्ठानस्य फलमपि योग एव। योगिनां पूर्वावस्थायामपि योगित्वमुत्तरावस्थायामपि योगित्वमेव न त्ववस्थाभेदाद् गौणमुख्यभावौ। तन्त्रादि यस्यकस्यापि सापेक्षं, परन्तु तान्त्रिकाणां पूर्वावस्था तन्त्रानुष्ठानं बहिरङ्गमुपासनं, योगिनान्त्वन्तरङ्गमुपासनम्। इयं रीतिस्तान्त्रिकाणाम्–तान्त्रिकः प्रथमतो बहिरङ्गपूजनं स्थूलशक्तेः करोति, पश्चादवधूतपदे प्राप्तेऽन्तरङ्गपूजनं सूक्ष्मशक्तेः कुण्डलिन्याः करोति। अतः कारणात्तान्त्रिकाणामपि तात्पर्यमवधूतपद एव।

कापालिको मार्गः किमर्थं प्रकटीकृतः? इत्यपेक्ष्ययाह–विष्णोश्चतुर्विंशतिसङ्ख्याका अवतारा जातास्ते च कार्यान्ते मदोन्मत्ता जाता। कथम्? यथाऽन्ते तिर्यग्योनयो जन्तवः क्रीडाः कुर्वन्ति तथा वराहो नृसिंहश्चेत्यादयो भूदारण-वन्यभयदानादिकरणे प्रवृत्ताः। पुरग्रामादिताडनं केषाञ्चित समुद्रपातोऽपि। तत्रापि कृष्णेन व्यभिचारिभावो विशेषेण धृतः। परशुरामेणैकक्षत्रियदोषेणानेकेषां क्षत्रियाणां नाशः कृत इत्यादि विरुद्धाचारोपरि नाथेन कोपं कृत्वा चतुर्विंशत्यवतारोपरि चतुर्विंशति कापालिकरूपाणि धृतानि। धृत्वा च चतुर्विंशत्यवतारैः सह समरं कृतम्। तत्र सर्वेषामवताराणां कपालानि छिन्नानि कृतानि। स्वकरैस्तानि धृतानि। तेन कापालिका जाताः। पुनस्ते सर्वे कपालच्छेदान्मदहीना जातास्तदा वरं दत्वा कपालानि तच्छरीरे धृतानि तेन जीविता बभूवुरिति।

कानिचिच्छास्त्राणि मोक्षरक्षकाणि कानिचिच्च व्यवहाररक्षकाणि। तत्र मोक्षरक्षकाणि श्रुति-स्मृत्यादीनि। मुमुक्षवः पुरुषाः कोटीनां मध्ये द्वित्रा एव भवन्ति, व्यवहारिणस्तु कोटिकोटिरेवातः कारणाद्व्यवहारार्थं विधिवाक्यशास्त्राणि बहूनि सन्ति, कथम्? व्यवहारिणां बाहुल्यात्, योगशास्त्रं तु सूक्ष्मम्। कथम्? मुमुक्षुपुरुषाणामल्पत्वात्, वेदादिशास्त्राणामपि योगो वर्त्तत एव, सर्वेषां च तात्पर्यं योग एवास्ति, परन्त्वेतद्रीत्या यथा समुद्रे रत्नानि शङ्खाः, पाषाणखण्डानि, जलं जलजन्तवश्चेत्याद्यनेकवस्तूनि सन्ति, तथा वेदादिशास्त्रेष्वपि योगादीनि सन्ति, समुद्रे चेतरवस्तु सुलभं, रत्नं तु श्रमेण लभ्यते। एवं वेदादिशास्त्रे व्यवहारादि सुलभं, योगस्तु भूरिश्रमेण लभ्यते। योगशास्त्रे तु योग एव लभ्यते, नान्यदस्ति किञ्चिदसारं, यथा रत्नखनौ रत्नमेवेति।

स च योगो गुरुकृपयाऽल्पश्रमेणैव प्राप्तो भवेदतोऽन्यत्सर्वं परित्यज्य योग एव सेवनीयः, इति। षट्शाम्भवरहस्ये—

पृथ्वी कर्त्री महादेवी नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः ।
ब्रह्मतत्त्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तु रक्षकाः ॥ (१-१५६)

ननु श्लोके तु पृथ्वी कर्त्रीत्युक्तं भवद्भिस्तु नाथः कर्त्तेत्युच्यते, तत्कथमिति चेत् ? उच्यते; 'नाथाः शास्त्रस्य बन्धका·' इत्यनेन शास्त्रप्रबन्धकत्वं तूक्तमेव, पुनः कर्तृत्वं तु पृथिव्या अपि नाथरूपत्वेनैव, चतुरशीतिसिद्धगणनायामादिकुमारीनामकस्य सिद्धत्वेनोक्तत्वात् । सिद्धाश्च नाथरूपत्वेन प्रसिद्धा एवेति । तथैव यत्साधनं कर्त्तव्यं यत्तेनैव साधनेन सिद्धिर्भवेदित्येवं तु योग एव परं साधनमित्याशयेनोक्तम्—

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौ स्मृतौ—इति ।

तद्वन्तश्च श्रेष्ठा उक्ता इति सर्वत्र लभ्यते । एवञ्च योगिनः श्रेष्ठास्तेषां श्रेष्ठयं गम्यत्वेनाप्याह पद्मपुराणे—

मर्यादां स्थापयामास यथास्थानं यथागुणम् ।
वर्णानामाश्रमाणां च धर्माधर्मभृतां वर ॥
लोकांश्च सर्ववर्णानां सम्यक् धर्मानुपालिनाम् ।
प्राजापत्यं ब्राह्मणानां स्मृतं स्थानं तु पार्थिव ॥
स्थानमैन्द्रं क्षत्रियाणां यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतं तेषां तु यत्स्थानं तदेव गुरुवासिनाम् ॥
सप्तर्षीणां च यत्स्थानं स्मृतं तद्वै वनौकसाम् ।
प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्राह्मसंज्ञितम् ॥
योगिनाममृतं स्थानं ब्रह्मणः परमं पदम् ।
एकान्तिनः सदोद्युक्ता व्यापिनो[1] योगिनो हि ये ॥
तेषां तत्परमं स्थानं यन्न[2] पश्यन्ति सूरयः ।
गत्वा गत्वा[3] निवर्तन्ते चन्द्रादित्यादयो ग्रहाः ॥
अद्यापि नो निवर्त्तन्ते प्राणायामपरायणाः ।

(सृष्टिखण्डे ३।१५३-१६१)

गीतायाञ्च—

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ इति

(गी० ८।२८)

एवं सर्वनमस्कार्यमेतन्मतमिति ।

तत्र यूयं केऽपि वदेत–भवन्मते श्रुतिः साधिका नास्तीति तेषामज्ञात्वा मतरहस्यमेवं वदतां युष्माकं तात्पर्यमस्माभिर्विदितप्रायमेवेति । तदेवमस्ति । एवं प्रतोद्य-

१. ध्यायिनो--मु० पा० । २. यत्तत्--मु० पा० ।
३. गता गता--मु० पा० ।

माना अपि कदाचिच्छ्रुत्याश्रयत्वमङ्गीकुर्वन्तु नामैते, किन्त्वेतत्साक्षादनिर्वचनीयं तत्सत्यस्वरूपं तत्त्वं सर्वस्य विदितमेवेति तस्यैव प्रवृत्तिशास्त्राश्रयत्वं केन प्रकारेणाङ्गीक्रियते। यदस्माकमत्र श्रुत्याश्रयाङ्गीकरणं राज्ञामिव मन्त्र्याश्रयाङ्गीकरणं भवति। तथोक्तं महाभारते मोक्षधर्मे—

ऋचो यजूंषि सामानि शरीराणि व्यपाश्रिताः।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्त्तन्ते यत्नसाध्याविनाशिनः॥

न चैवमिष्यते ब्रह्म शरीराश्रयसम्भवम्।
न यत्नसाध्यं तद् ब्रह्म नादिमध्यं न चान्तवित्॥

ऋचामादिस्तथा साम्नां यजुषामादिरुच्यते।
अन्तश्चादिमतां दृष्टो न त्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः॥

अनादित्वादनन्तत्वात्तदनन्तमथाव्ययम्।
अव्ययत्वाच्च निर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम्॥

अन्यच्च—अग्निर्यथाह्युपायेन मथित्वा दारु दृश्यते।
तथैवात्मा शरीरस्थो योगेनैवात्र दृश्यते॥

पुनः—आदिज्ञानी भवेद् ब्रह्मा युगादिज्ञानियोगिनः॥

गीतायाम्—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ (गी० २।४२-४४)

येन च परमवेदप्रणवस्याश्रयोऽङ्गीकृतो वा तेन स्थूलवेदस्याश्रयो नाङ्गीकर्तव्यः।

उत्तरगीतायाम्—

चतुर्वेदविदो विप्राः सूक्ष्मब्रह्म विदन्ति न।
वेदभारभराक्रान्तास्ते वै ब्राह्मणगर्दभाः[१]॥

एतदेवाभिप्रेत्य कावषेयगीतायाम्—दुर्वासा कश्चिन्मुनिर्बहुविधशास्त्रपुस्तकभारैः सह महादेवं नमस्कर्त्तुमागत्य तत्सभायां नारदेन केनचिन्मुनिना भारवाही गर्दभसाम्यमापादितः, कोपात् पुस्तकानि लवणार्णवे परित्यज्य महादेवेनात्मविद्यायां प्रवर्त्तित इति।

१. ते विप्राः पुरुषाधमाः—पू० सं०।

गृहे गृहे पुस्तकभारभाराः पुरे पुरे पण्डितयूथयूथाः ।
वने वने तापसवृन्दवृन्दा न ब्रह्मवेत्ता न च कर्मकर्त्ता ॥

एवं बहवः प्रस्तावाः सन्तीत्येकमुत्तरम् ॥ १ ॥

पुनः भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत्किमिति ? वेदास्तु कर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यं दर्शयन्ति । एते योगिनस्तु संसारत्यागिनो निष्कर्माणः । किञ्च, वेदेषु मुख्यत्वेनाग्निहोत्रादियज्ञकर्माणि दृश्यन्ते, तानि चाग्निसाध्यानि, एते तु नाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति । अग्नेरेव गृहपतित्वमाह—'अग्ने गृहपते' इत्यादि श्रुतिः । यत एतेषां किमाचरणमुपघाय्यैतान् निरूपयन्ति । बाहुल्येन वेदविदांश्चैते किं प्रयोजनमङ्गीकृत्याङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लापनं[1] हितत्' इत्यादि श्रुतिवाक्यैरेव "एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दाद्" इत्यादिपुराणवाक्यैरेव च तदनङ्गीकरणं दर्शितम् ।

किञ्च "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" इति श्रुतेः ॥

बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम् ।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन तत्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरम् ॥ इति ।

उत्तरगीतायाम्[2]—

अधीत्य[3] चतुरो वेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं[4] न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥ इत्यादि ।
(उ० २।४१)

किञ्चैतेषां सत्यस्वरूपभूतानां महिमान निरूपयन्तो वेदा मुह्यन्तीव च । अवृत्तिविषयत्वात् । तथा च कर्मकाण्डे मुख्यमपि ज्ञानं[5] न मुख्यत्वेन दर्शयन्ति । दर्शिते च तस्मिन् कर्ममोह एव स्यात् । एव ज्ञानकाण्डे च योगतन्महिम्नि दर्शिते ज्ञानं मोहः स्यात् । तथा च वेदेषु तन्महिमा नोपलभ्यते—इत्येतदेवाभिप्रेत्योद्योगपर्वणि सनत्सुजातीये प्रोक्तम्—

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमायांजनं काद्रवं वा ।[6]
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्त्ति ॥
न तारकासु न च विद्युताश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥
नैवर्क्षु तन्न[7] यजुष्षु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथन्तरे बार्हद्रथे वापि राजन् महाव्रते नैव दृश्येद्ध्रुवं[8] तत् ॥

---

१. विप्लावनं—पू० सं०
२. नास्ति—पू० सं० ।
३. आलोच्य—मु० पा० ।
४. यौ वै ब्रह्म—मु० पा० ।
५. नाज्ञ—पू० स०
६. कृष्णमायसमर्कवर्णम्—इति मातृका पाठः ।
७. नैतद्य०—मु० पा० ।
८. महाव्रतस्यात्मनि—पा०. ।

अपारणीयं[1] तमसः परस्तात् तदन्तकोऽप्येति[2] विनाशकाले ।
अणीयरूपं क्षुरधारया समं[3] महच्चरूपं तद्वै[4] पर्वतेभ्य ॥
(स० ३।२०-२३)

[5]सा प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद्ब्रह्म तद्यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात्प्रलयं यान्ति तत्र हि ॥ (स० ४।२३)

अनामयं तन्महदुद्यतं यशो वाचोविकारं कवयो वदन्ति ।
तस्मिञ्जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

ननु तद्विदुरित्यनेन योगोपसर्जन ज्ञानमेवोक्तमिति चेन्नैतस्यैव शास्त्रस्याग्निमेऽध्याये—

यत्तच्छुक्लं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः ।
तद्वै देवा उपासन्ते तस्मात्सूर्यो विराजते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ (स० ४।१)

इत्यादि सविस्तरमुक्तमतो ग्रन्थभारवहनं वृथैव । किन्तु तदन्तर्गतं स्वोपयुक्तं सारमात्रं गुरुवाक्याद् गृहीत्वा योगेन कृतकृत्यो भवेदिति—

आत्मनस्तत्त्वमज्ञात्वा मूढः शास्त्रेषु मुह्यति ।
[6]गोपः कक्षागते छागे कूपे पश्यति दुर्मति ॥

वदन्तो वाऽऽत्मनोभावं [7]वदन्त्युपनिषद्गिरः ।
रहस्युपदिशन्त्यन्ये स्वयं नानुभवन्ति ते ॥

विहाय योगशास्त्राणि नाना गुरुमतानि च ।
अहङ्कारावृताः केचिज्ज्ञात्वा शास्त्रसमुच्चयम् ॥
उपदेशं न जानन्ति न च ग्रन्थशतैरपि ॥

इति द्वितीयमुत्तरम् ॥ २ ॥

पुनः तदेव मुख्यतयोच्यते—श्रुतिस्त्वस्मिन्नपि मते साधिकैवास्ति, परन्त्वेतन्मतस्य बोधो युष्माकं नास्ति । तेन यूयं शङ्कर-वैष्णवप्रवर्त्तितमार्गानुसारितत्त्वमालम्ब्य वदथ श्रुतिः साधिका नास्तीति । तदसत्यम्, शङ्कररामानुजादिश्रुतयश्चात्र साधिका मा भवन्तु नाम, श्रुतयस्तु भविष्यन्त्येव साधिका इति ।

---

१. °अवारणीयं°–मु० पा० ।
२. °तोऽभ्येति–मु० पा० ।
३. च तथाप्यणीय–मु० पा० ।
४. स्वरूपं त्वयि–मु० पा० ।
५. तत्–मु० पा० ।
६. गोपकक्षागतच्छाये–पू० सं० ।
७. वदन्तोप°–पू० सं० ।

अयम्भावः—वेदस्तु शाखाभेदैरनेकधा विस्तृतः। तत्र पञ्चाशदुपनिषदां निबन्धः कृत[1]स्ततोऽप्यधिका उपलभ्यन्ते। परन्तु न तेन निबन्धेन प्रायो निर्णयव्यवहारः। तत्रापि शङ्करेण दशैवाभिमता उपनिषद् ईश–केनेत्यादयः प्रसिद्धाः। रामानुजप्रभृतिभिस्तु दशस्वपि शङ्कराभिमतादन्योऽर्थ इति स्पष्टमुदीर्यते। एवमन्येऽपि स्वाभिप्रायानुसारि वेदस्य तात्पर्यं वर्णयिष्यन्ति। एतावता[2] तत्तात्पर्यं तेषामेव न तु वेदस्येति। यथा विरोचनः प्रजापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वचित्तदोषेण देह आत्मत्वबुद्धिं दृढीकृत्यासुरान् सर्वाननुशशासेति छान्दोग्ये स्पष्टाख्यायिकाऽस्ति। यतो योगिनां स्थूलवेदे प्रयोजनमेव नास्ति। सर्ववेदमूलभूत ॐकार एव प्रयोजनं तात्पर्यञ्च। तत्र सर्ववेदानां[3] लयोदयौ भवतः, यतः ॐकारप्रतिपादिकाः सर्वाः श्रुतयोऽत्र साधिकाः। तथाहि—

"वेदस्य सारतरः प्रणवः भूरित्येव ऋग्वेदादजायत, भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति। तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति" बह्वृचब्राह्मणे। अस्य च प्रणवस्य ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वमिति सर्वात्म्यश्रुतौ तन्मात्राणां चाकारोकारमकाराणां क्रमात् स्थूलकारणप्रपञ्चवाचकयोरभेदात् पूर्वस्योत्तरोत्तरत्र प्रविलापने गुरुयुक्त्या क्रियमाणे स्थूलस्य जगतो वेदस्य वा सूक्ष्मे लवणोदकन्यायेन प्रविलयो भवति। तथा सूक्ष्मस्य कारणे कारणस्य तुरीयेऽर्द्धमात्रावाच्ये मात्राख्ये "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इति श्रुतेर्गलिताखिलद्वैतभावे वाङ्मनसातीते प्रविलयो भवति। अतः प्रणववेद इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तकनादब्रह्मेत्यवलम्ब्य नादब्रह्मणो यन्मूलं तत्तत्त्वमिति विश्रान्तिमतां मते का वा श्रुतिः साधिका न भवतीति प्रसिद्धतरमेव सर्वत्र।

प्रणवप्रशंसा च [4]शिखोपनिषदि—

"प्रणवः सर्वान्प्राणान् [5]प्रणामयति वै तस्मात्प्रणवश्चतुर्द्धा[6]ऽवस्थित इति वेददेवयोनिः सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम्। देवाश्चेति सन्धत्तां[7] सर्वेभ्यो दुःसहेभ्यः[8] सन्वारयति। तारणात्तानि सर्वाणीति। [अथर्वशिखोप० १–२, ई० अ० पृ० १५८]

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च।
पञ्चधा पञ्चदैवत्य· प्रणवः परिपठ्यते॥

तत्राधिकं क्षणमेकमास्थाय क्रतुशतस्यापि फलमवाप्नोति। कृत्स्नमोङ्कारगतं च सर्वज्ञानेनेति। माण्डूक्योपनिषदि—

---

१. निबन्धाः कृता –पू० सं०।
२. तावता–मु० पा०।
३. सर्वदेवानां–पू० सं०।
४. शिवोप°–पू० सं०।
५. परमात्मनि प्रणाययति–मु० पा०।
६. चतुर्धा°—मु० पा०
७ वेददेवयोनिर्ध्येयाश्चेति संधत्तां–पू० सं०।
८. दुःखभयेभ्यः—मु० पा०

ॐकाराच्छन्दसो[१] ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ॥
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचिद् ।
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः[२] स्मृतः ॥
अपूर्वोऽनन्तरोऽवाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ।
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ॥
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा फलते[३] तदनन्तरम् ।
प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदये स्थितम् ॥
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिव ॥
ॐ कारो विदितो येन समुनिर्नेतरो जनः ॥ इति ।

(मा० आगम० २४-२८)

वृहदारण्यके—स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्येत्यादि ।

(४।५।११, ई० अ० पृ० १०८)

छान्दोग्ये—एतदक्षरमुद्गीथेत्यादि । (१।४।१, ई० अ० पृ० ३३)

एतदेवाभिप्रेत्य महाभारते सनत्सुजातीयवचनम्—

यतो न वेदा मनसा सहैव मैनं[४] प्रविशन्ति ततोऽथ मौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथायं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥

(स० २।२)

भागवते चाप्येकादशस्कन्धे—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रास्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥

(भा० ११।१२।१७)

शब्दब्रह्म सुदुर्बोध प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणाऽनन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥

---

१. ओङ्कार पादशो—मु० पा० ।
२. चापरः—पू० स० ।
३. व्यश्नुते—मु० पा०
४. सहैनमनु—मु० पा० ।

छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः।
ॐ काराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम् ॥
(भा० ११।२१।३६-३९)

इत्यादि, अन्यच्च—

वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक्।
उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्विषाः ॥
त्रेतायुगे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी।
विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥
विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजाः ॥ इत्यादि।
(भा० ११।१७।११-१३)

गीतायाञ्च—

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गी० ८।१३)

एवमन्यत्रापि बहुधा प्रपञ्चितम्, तदत्र विस्तरभयान्न लिख्यते। इति तृतीयमुत्तरम् ॥ ३ ॥

पुनः वेदार्थस्य बोधस्तु केषाञ्चिन्नास्त्येव। केवलमभिमानमेव पुरस्कृत्य ये वदन्ति तान् प्रति चतुर्थमिदमुत्तरम्—यद्भवद्भिर्वेदो वेद इति पुनः पुनरुच्यते। तस्य वेदस्य त्वभ्यासेऽप्यवधूतानां दोष एव स्यात्। कथमिति चेदुच्यते-वेदस्य पूर्वभागस्तु वर्णानामेव, वेदान्तभागस्तु भिक्षूणामेव, योगभागोऽस्त्यवधूतानाम्। वेदस्य पूर्वभागे ज्ञानं वाच्यार्थेन न दर्शितम्। किन्तु तात्पर्ये तदस्तीति भवद्भिरेवोच्यते। एवञ्च वेदस्य पूर्वभागे यथा ज्ञानं तात्पर्येऽस्ति तथा वेदान्तभागे योगस्तात्पर्यार्थोऽस्ति। यद्यपि बहुधा वाच्यार्थेनापि दर्शितो योगस्तथापि मुख्योत्तरं तु मुख्यतात्पर्य एवास्ति। यतो वेदान्ततात्पर्यं लक्ष्यं चावधूत एवास्ति। "सर्वे वेदास्तत्पदमामनन्ति" इत्यादि श्रुतयो "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो" इत्यादि स्मृतयश्च।

रूपे इमे सदसती तव वेद सृष्टेर्बीजाङ्कुराविव न चान्यदरूपकस्य।
युक्ताः समक्षमुभयत्र विचिन्वते त्वां योगेन वह्निमिव दारुषु नान्यतः स्यात् ॥

इत्यादिपुराणवाक्यानि चात्र साधकानि। एतदेवाभिप्रेत्य महाभारते सनत्सुजात आह—

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति कश्चित्त्वेतान् बुध्यते वापि राजन्।
यो वेद वेदान्न स वेद वेद्यं सत्ये स्थितो यस्तु स वेद वेद्यम् ॥
न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्।
यो वेद वेदं सच वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥
यो वेद वेदान् सच वेद वेद्य न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः[१]।
तथापि वेदेन विदन्ति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो वदन्ति ॥

१. विप्राः—पा०।

धामांशभागस्य तथाहि वेदा यथा च शाखा हि महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन् हि सत्ये परमात्मनोऽर्थे ॥
(स० २।४१-४४)

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानपञ्चमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कथ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथा परे ॥
द्विवेदाश्चैकवेदाश्च अनृचश्च तथा परे ।
तेषां तु कतरः स स्याद्यमहं वेद वै द्विजम् ॥
(स० २।३५-३६)

सनत्सुजात उवाच—

एकस्य वेदस्याज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥ (२।३७)
एवं वेदमविज्ञाय प्राज्ञोऽहमिति मन्यते ।
दानमध्ययनं यज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां सङ्कल्पश्च तथा भवेत्[1] ।
ततो यज्ञः प्रतीयेत सत्यस्यैवावधारणात्[2] ॥ (२।३८)

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचो यजूंषि यो वेद[3] सामवेदं च वेद यः ।
पापानि कुर्वन् पापेन लिप्यते किं न लिप्यते ॥ [स० २।३]

सनत्सुजात उवाच—

नैनं सामान्यृचो वापि न यजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥
न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले[4] ॥
(स० २।४५)

एवञ्च स्थूलवेदतात्पर्यैर्युष्माभिः सूक्ष्मवेदतात्पर्याणामस्माकं मतमविज्ञायोऽनुयोगस्तत्प्रतिवाक्यमिदं चतुर्थमुत्तरम् ॥ ४ ॥

योगबीजे—

बद्धा येन विमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम् ।
तमहं कथयिष्यामि तव प्रीत्या सुरेश्वरि ॥ (यो० बी० ७)
अनेकशतसङ्ख्याकैस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः ॥

---

१. संकल्पा वितथाभवन्—मु० पा० ।
२. कर्म प्रतायेत सत्यस्य नवधा—मु० पा०
३. यजूंष्यधीते यः—मु० पा० ।
४. पादव्यत्यासः—मु० पु० ।

नानामार्गैस्तु दुष्प्राप्यं कैवल्यं परमं पदम् ।
सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितम् ॥
अनिर्वाच्यपदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥
(यो० बी० ७-१०)

विशुद्ध एव परमात्मा जीवाभिध इत्युक्त्वा जीवस्य दोषाः कामक्रोधभयचिन्तेत्यादयश्चोक्ताः ।

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ॥
(यो० बी० १८, १९)

अज्ञानात्संसारो ज्ञानेन मुच्यते । तत्र योगस्य किं कार्यमिति देव्या पृष्ट ईश्वर उवाच—(योगबीजे)

असौ दोषैर्विमुक्तः किं कामक्रोधभयादिभिः ।
सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ॥ २२ ॥
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो हि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ॥ ३२ ॥
अपक्वाः परिपक्वाश्च द्विविधा देहिनः स्मृताः ।
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ॥ ३४ ॥
तस्माज्ज्ञान च वैराग्यं जपः स्यात्केवलं श्रमः ॥ ४१ ॥
शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ॥
तत्कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिजं फलम् ॥ ४९ ॥
देवैरपि न लभ्येत योगदेहो महाबलः ॥
छेदबन्धैर्विमुक्तोऽसौ नाना शक्तिधरः परः ॥ ५१ ॥
यथाऽऽकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ॥
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरो देहः स्थूलात्स्थूलो जड़ाज्जड़ः ॥ ५२ ॥
इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ॥
क्रीडति त्रिषु लोकेषु लीलया यत्र कुत्रचित् ॥ ५४ ॥
अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयन् ॥
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ॥ ५५ ॥
पुरैव मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ।
मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ सखि जीवति ॥ ५७ ॥
कर्त्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वस्थः सर्वदोषविवर्जितः ।

विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ते देहेन विजिताः सदा ॥
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः ॥ ६० ॥

देव्युवाच—

ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी ।
गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे ॥ ६१ ॥

ईश्वर उवाच—

देहान्ते ज्ञानिनः पुण्यात्पापान्न फलमाप्यते ।
यादृशं तु भवेत्तत्र मुक्तो ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥ ६२ ॥
पुण्यात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥ ६३ ॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥ ६४ ॥
महाविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपि योगिनाम् ॥
नास्ति पातो लयस्थानां महातत्त्वे विवर्त्तिनाम् ॥ ६५ ॥

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च ॥
ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यं चिन्तामणिं त्वेकगुरुं विहाय ॥ ६ ॥ (योगबीजे)

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—शिवाद् भैरवः, भैरवाच्छ्रीकण्ठः, श्रीकण्ठात् सदाशिवः, सदाशिवादीश्वरः, ईश्वराद्रुद्रः, रुद्राद्विष्णुः, विष्णोर्ब्रह्मा, इति । महासाकारपिण्डस्य[1] मूर्त्यष्टकम् । (सि० १।३७)

आचारे ब्राह्मणा वसन्ति, शौर्ये क्षत्रियाः, व्यवसाये वैश्याः, सेवाभावे शूद्राः । अनन्तसिद्धा मतिप्रकाशे । अस्ति कश्चित्परमाद्वैतस्य भावः । स एवात्मेति ।

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ (सि० ४।२६)
तज्ज्ञेयं सद्गुरोर्वक्त्रान्नान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न तर्कशब्दविज्ञानात् नाचाराद्वेदपावनात्[2] ॥
वेदान्तश्रवणान्नैव तत्त्वमस्यादिबोधनात् ।
देवार्चनाश्रयाद् भक्त्या नाश्रमाणां च पालनात्[3] ॥
स्वस्थो[4] योगी स्वयं कर्ता लीलया चाजरामरः ।
अवध्यो देवदैत्यानां क्रीडते भैरवो यथा ॥
(सि० ५।३१-३४)

न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः ॥ (सि० ५।६६)

---

१. °साकारस्य–पू० स० । २. °पारगात्–मु० पा० ।
३. "न हंसोच्चारणाज्जीवब्रह्मणोरैक्यभावनात्" इति मु० पा० ।
४. स्वेच्छो–मु० पा० ।

करुणाखड्गपातेन छित्वा पाशाष्टकं शिशोः।
सम्यगानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥ (सि० ५।६८)

पुनर्वागादिना शास्त्रद्रष्टाऽनुमानात्तर्कमुद्रया भ्रामको गुरुस्त्याज्यः।

स्वविश्रान्तिं न जानाति परेषां स करोति किम्।
शिलया किं परं पारं शिलाजालं प्रताय्र्यते ॥
स्वयं तीर्णो भवेद्योऽसौ परान्निस्तारयत्यलम्। (सि० ५।७३-७४)

सर्वदर्शनानां स्वरूपदर्शनेन समन्वयं करोति–सोऽवधूतः स योगी स्यात्।

अत्याश्रमी च योगी च ज्ञानी सिद्धश्च सुव्रतः।
ईश्वरश्च तथा स्वामी धन्यः श्रीसाधुरेव च ॥
जितेन्द्रियश्च भगवान् स सुधीः कोविदो बुधः।
सर्वेषां दर्शनानां च स्वरूपं स पकाशयेत् ॥
(सि० ६।२०-२२)

सर्वतो भरिताकारं निबद्धं येन[१] वृंहितम्।
चरते ब्रह्म तद्यस्तु ब्रह्मचारी स कथ्यते ॥
गृहिणीपूर्णता नित्यं गेहं व्योम सदाऽचलम्।
यस्तया निवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥
सदाऽन्तःप्रस्थितो योऽसौ स्वप्रकाशमये वने।
वानप्रस्थः स विज्ञेयो न वने मृगवच्चरन् ॥
परमात्मा च जीवात्मा चात्मन्येव स्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्तः सदा येन संन्यासी सोऽभिधीयते ॥
(सि० ६।३३-३७)

न वन्दनीयास्तत्काष्ठा[२] दर्शनभ्रान्तिकारकाः।
वर्जयेत्तान् गुरून् दूराद्धीरः सिद्धमताश्रयः ॥
(सि० ६।७२)

पद्मपुराणे कपिलगीतायाम्—

दत्तात्रेयादि सिद्धानां नवनाथास्तथैव च।
शङ्करं गुरुरूपेण बोधितश्चात्मतत्त्वभिः (?) ॥
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदो सामवेदो ह्यथर्वणः।
सूक्ष्मवेदो हि अध्यक्षः पञ्च वेदाः प्रकीर्तिताः ॥

ईश्वर उवाच—

ॐकारं बिन्दुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
तस्मिन्मध्ये स्थितं तत्त्वं प्रदर्शयति सद्गुरुः ॥

---

१. निजबोधेन–मु० पा०। २. °स्ते काष्ठा–मु० पा०।

ॐ मित्येवं परं ब्रह्म सर्वतत्त्वानुदर्शनम् ।
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सर्वानुग्रहकारकम् ॥
तारकं च भवेद् ब्रह्मा दण्डकं विष्णुरुच्यते ।
कुण्डल्यां हि तथा रुद्रो अर्द्धचन्द्रः स ईश्वरः ॥
बिन्दुः सदाशिवः साक्षात्प्रणवे पञ्चदेवताः ।
निरञ्जनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥
दुर्लभो विषयत्यागी दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥
विचारदर्पणं[1] यस्य अवलोकनमीक्षितम् ।
दृश्यते तत्स्वरूपं च तत्रैकं पृच्छ किं नहि ॥
हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत् ।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम् ॥

धूतगीतायाम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णे[2]परमात्मनि ।
भिन्नाभिन्नं न पश्यामि तस्याऽहं पञ्चमाश्रमः ॥
आशापाशविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तनिर्मलम् ।
अनन्तानन्दब्रह्मज्ञः[3] अकारं तस्य लक्षणम् ॥ (८।६)
वासना वर्जिता येन वक्तव्यं च निरामयम् ।
वर्तमानेषु वर्त्तेत वकारं तस्य लक्षणम् ॥
धूलिधूसरगात्राणि धूतचित्तनिरामयम् ।
ध्यानधारणनिर्मुक्तं धूकार तस्य लक्षणम् ॥ (८।७)
तत्त्वचिन्ता येन धूता चिन्ता चेष्टाविवर्जिता ।
तमहंकारनिर्मुक्तं तकारं तस्य लक्षणम् ॥ (८।६-०,)
शिवं न जानामि कथं वदामि शिवं च जानामि कथं वदामि ।
अहं शिवश्चेत् परमार्थरूपं स्वच्छस्वभावं[4] गगनोपमं च ॥
(१।२७)
वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः ।
न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो ब्रह्मैव रूपं परमार्थतत्त्वम् ॥
(१।३४)
व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलं यदि ।
प्रत्यक्षं चापरोक्षं च आत्मानं मन्यसे कथम् ॥ (१।३५)

---

१. विचारो—पू० सं० । २. सम्पूर्णं—पू० सं० ।
३. आनन्दे वर्त्तते नित्यं—मु० पा० । ४. परमार्थतत्त्वं च समस्वरूपं—मु.पा. ।

आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं न बद्धोऽहं कदाचन ।
स्वभावनिर्मलः शुद्ध इति मे निश्चला मतिः ॥ (१।४४)
न बद्धो नैव मुक्तोऽहं न चाहं ब्रह्मणः पथक् ।
न कर्त्ता नैव भोक्ताऽहं व्याप्यव्यापकवर्जितः ॥ (१।५०)
न जातोऽहं मृतो वापि न मे कर्म शुभाशुभम् ।
शुद्धोऽहं निर्गुणं ब्रह्म बन्धमुक्तो[1] कथं मम ॥ (१।५९)
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्ण इति स्मृतः[2] ।
अन्तरं न हि पश्यामि सवाह्याभ्यतरः कथम् ॥ (१।६०)
भावगम्यं निराकारं साकारं दृष्टिगोचरम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तमन्तरालं तदुच्यते ॥ (२।१८)
साकारं च निराकारं नेति नेतीति सर्वथा ।
भेदाभेदविनिर्मुक्तं वर्त्तते केवलं शिवः ॥
दिवानक्तं न ते चित्त उदयास्तमयौ नहि ।
विदेहस्य शरीरित्वं कल्पयन्ति कथं बुधाः ॥
न ते च माता न पिता न बन्धुर्न ते च पत्नी न सुहृन्न पुत्रः ।
न पक्षपातो न विपक्षपातः कथं हि सत्ताऽसि रजो हि चेतः ॥
धर्मार्थकाममोक्ष च द्विपदादि चराचरम् ।
मन्यते योगिनः सर्वं मरीचिजलसन्निभम् ॥
विन्दति विन्दति नहि नहि मन्त्रश्छन्दो लक्षणमिह नहि तन्त्रः ।
समरसमग्नो भावितपूतः प्रलपितमेतत्कथमवधूतः[3] ॥ (५।३२)
अद्वैतरूपमखिलं हि कथं वदामि नित्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि ।
सत्यं ह्यसत्यमखिलं हि कथं वदामि ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ (३।५)
ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्र सन्ति स्वर्गादयो वसतयः कथमत्र सन्ति ।
यद्येकरूपममलं परमार्थतत्त्वं ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ (३।२४)
मायाप्रपञ्चरचना न च मे विकारः कौटिल्यदम्भरचना न च मे विकारः ।
सत्यानृतेतिरचना न च मे विकारो ज्ञानामृतं समरसं गगनोपमोऽहम् ॥ (३।२७)
न शून्यरूपं न विशून्यरूपं न शुद्धरूपं न विशुद्धरूपम् ।
रूपं विरूपं न भवामि किञ्चित् स्वरूपरूपं परमार्थसत्त्वम् ॥ (३।४५)
नावाहनं नैव विसर्जनं च पत्राणि पुष्पाणि कथं भवन्ति ।
ध्यानानि मन्त्राश्च कथं भवन्ति समासमं सर्वं[4] शिवार्चनं च ॥ (४।१)

---

१. बन्धमुक्तौ—प० सं० । २. पूर्णो निरन्तरः—मु० पा० ।
३. प्रलयति तत्त्वं परमवधूतः—मु० पा० । ४. चैव—मु० पा० ।

नाहं न च पण्डितोऽहं मौनं च वार्ता[1] न च मे कदाचित् ।
वितर्कं च कथं वदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ (४।२०)
नैव सदोदितोऽहं तमश्च तेजो न च मे विभाति ।
कं कर्म कथं करोमि[2] स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥ (४।२२)
तत्त्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रतिपादितमात्मनि तत्त्वमसि ।
गविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानस[3] सर्वसमम् ॥ (५।२)
ल्पितभागविभाग इति नहि रागविराग[4]विचार इति ।
गविवर्जितसर्वसमं किमु रोदिषि मानस[3] सर्वसमम् ॥ (५।४)
विवेकमबोध इति अविकल्पविकल्पविबोध इति ।
चैकनिरन्तरबोध इति किमु रोदिषि मानस[3] सर्वसमम् ॥ (५।१०)
श्रुतयः प्रविदन्ति यतो वियदादिरिदं मृगतोयसमम् ।
चैकनिरन्तरसर्वसमं किमु रोदिषि मानव[3] सर्वसमम् ॥ (५।३१)
क्तिविभक्तिविहीनपरमणुकायविकाय[6]विहीनपरम् ।
चैकनिरन्तरसर्वशिवं[7] यजनं च कथं स्तवनं[8] च कथम् ॥ (६।२)
त्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् ।
चैकनिरन्तरसर्वशिवं रविचन्द्रमसौ ज्वलनश्च कथम् ॥ (६।४)
न च आश्रमवर्णविहीनपरो न तु कारणकर्तृविहीनपरः ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारवचांसि कथम् ॥

पिकायाम्—

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥
वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातः स्नानोपचारादि कायक्लेशादिकं तथा ॥
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं तथा ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशा पवनाभ्यासतत्पराः ।
तेन सिद्धिं गतास्ते च तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥

---

१. विमोचं—मु० पा० ।
२. वदामि—मु० पा० ।
३. मानव सर्वसमः—मूलमातृकायाम् ।
४. कारणकार्य०—मु० पा० ।
५. अवि०—मु० पा० ।
६. ननु कार्य विकार्य०—मु०पा० ।
७. शिवः—पू० सं० ।
८. तपनं—मु० पा० ।
९. चन्द्रमसोर्ज्वलन—पू० स० ।

पक्षपाता तया समपक्षपातया (बहुव्रीहिसमास.) भवत्या, अनुरागपूर्वकम् । * सक्तम्—अनासक्तम्, अव्यसनितया अर्थात् बिना किसी आसक्ति के, निस्सङ्ग भाव से। सञ्ज् + क्त कर्त्तरि = सक्तः, न सक्तः असक्तः (नञ् तत्पुरुष) तत् यथा स्यात्तथा असक्तम् (क्रियाविशेषण) । आराधयत. अस्य—सेवमानस्य दुर्योधनस्य । आ + राध् + लट् लकार—शतृ प्रत्यय, षष्ठी एकवचन । अर्थात् सेवन करते हुए उस दुर्योधन का । त्रिगणः-त्रिवर्ग. । त्रयाणा, धर्मार्थकामाना गणः (षष्ठी तत्पु०) इति त्रिगणः । धर्म, अर्थ एव काम-इन तीनो को त्रिवर्ग कहते है । नाटक से इन्ही तीनो की सिद्धि बताई गई है–'त्रिवर्गसाधन नाट्यम् ।' त्रिवर्ग मे 'मोक्ष' को भी सयुक्त कर देने पर 'पुरुषार्थचतुष्टय' संज्ञा बनती है । त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः इत्यमरः । गुणानुरागात्—गुणवदाश्रयलोभात् । गुणो मे अनुराग होने के कारण अथवा (दुर्योधन के) गुणानुरोधवश । गुणेषु अनुराग· (अनु + रञ्ज् + घञ् भावे) इति गुणानुराग (सुप्सुपा), तस्मात् । 'हेतौ पञ्चमी' इस नियम से हेतु (कारण) के अर्थ में पञ्चमी विभक्ति हुई है किन्तु 'विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्' नियम से वह वैकल्पिक ही है । सूत्रका अर्थ यह है कि—'स्त्रीलिङ्ग से भिन्न लिङ्ग वाले गुणवाचक शब्दो मे हेत्वर्थक पञ्चमी विभक्ति विकल्प से ही होती है ।' सख्यम्—मैत्रीभावम् । मित्रता को । सख्युर्भाव' सख्यम् (सखि + य प्रत्यय—'सख्युर्यः' सूत्र से) । ईयिवान् इव—प्राप्तवान् इव । प्राप्त किये हुये से । इण् गतौ + लिट्-क्वसुः सु विभक्ति । परस्परम्—अन्योऽन्यम् । एक दूसरे को । परम्-परम् इति परस्परम् । 'कर्म का व्यतिहार अर्थात् क्रिया की अदलाबदली सूचित करने के लिये प्राय· सर्वनाम शब्द का द्वित्व हो जाता है और प्रायः उनमे समास भी कर दिया जाता है' ऐसा वार्तिककार आचार्य कात्यायन का मत है- 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्' । परन्तु आचार्य भट्टोजि दीक्षित अन्य तथा पर शब्दो मे समासवद्भाव मानते ही नही 'अन्यपरयोः न समासवत्' । इस प्रकार कर्मव्यतिहार के कारण सर्वनाम 'पर' को द्वित्व तो हुआ 'परस्परम्' किन्तु समास नही हुआ (अन्यथा 'परपरम्' रूप बनता) अब, जब 'परम्-परम्' के बीच समास नही हुआ तो पूर्वपदस्थ (पहले पर मे स्थित) सुप् को सु हो गया, वार्तिक है—असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः । इस प्रकार—पर + सु + परम् = परस्परम् । न बाधते—विरोध नही करता है (बाध् धातु, लट्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन) ।

प्रस्तुत श्लोक मे 'ईयिवान् इव' आदि शब्दो द्वारा एक सम्भावना व्यक्त की गई, है अतएव यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है—'सम्भावनमथोत्प्रेक्षा' ।

दिव्यगन्धो दिव्यचक्षुस्तेजस्वी[1] स्यादरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदये शून्ये[2] आरम्भो योगवान् भवेत् ॥ (७१।१)

अथ घटावस्था—

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यमः[3] ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तथा ॥ ७२
विष्णुग्रन्थिर्यदा भिन्नः परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्यविभेदश्च[4] भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

अथ परिचयावस्था—

तृतीयायां ततो भित्त्वा विमायो[5] मर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तथा[6] याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥
चित्तानन्दं ततो जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखक्षुधानिद्राजरामृत्युविवर्जितः[7] ॥ ७५ ॥

अथ निष्ठावस्था—

रुद्रग्रन्थिं ततो भित्वा सर्वपीठगतो[8]ऽनिलः ।
निष्पन्नो वैष्णवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ ७६ ॥
अस्तु वा माऽस्तु वा मुक्तिरत्रैवाऽखण्डितं महत् ।
लयामृतमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायं[9] सुचेतसाम् ।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥
नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदये प्ररूढम् ।
आनन्दमेकं वचसामवाच्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एव ॥
नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ।
सर्वे तत्र लयं यान्ति यत्र देवो निरञ्जनः ॥
योगिनां ज्ञानविदुषामन्येषां च महात्मनाम् ।
प्राप्तं तं कालपुरुषं सुविज्ञाप्यं विचक्षणैः ॥
यावन्नैव प्रविशति मरुद्भिज्वरो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवत्सुप्रबद्धः ।

---

१. दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्ध –मु० पा० ।
२. हृदयः शून्य–मु० पा० ।
३. मध्यगः–मु० पा० ।
४. अतिशून्ये विमर्दश्च–मु० पा०,
५ तु विज्ञेयो विहायो–मु० पा० ।
६. तदा–मु० पा० ।
७. दोषदु.खजराव्याधिक्षुधानिद्रा–मु० पा० ।
८. शर्वपीठ°–मु० पा० ।
९. °पायोल्प–मु० पा० ।

याबद्व्योम्नः सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वम्
तावत्सर्वं वदति यदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥

हठप्रदीपिकायां दशमोपदेशे[१]—

आदिनाथोदितं सर्वमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं महतामपि ॥
पीड्यते न तु रोगेण न च लिप्येत कर्म्मणा ।
बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा—
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयेत् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबेत्
निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी परं जीवति ॥
यत्पाताले विशति सुषिरं मेरुमूले तदस्ति
तस्मिंस्तत्त्वं प्रविशति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तं बध्नीयात् सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः ॥
बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरतां याति यथा पञ्चमुखो हरः ॥
तत्रास्ति कारणं दिव्यं सूर्यस्य मुखबन्धनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥
ज्ञानं कुतो मनसि जीवति देवि यावत्,
प्राणेऽपि जीवति मनो नृपते न तावत् ।
प्राणो मनोद्वयमिदं विलयं प्रयाति,
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथश्च मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मनसि मध्यतः ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्ण कुम्भ इवाम्भसि ॥

१. हठप्रदीपिकायाश्चत्वार एवोपदेशा उपलभ्यन्ते ।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं सङ्कल्पमात्रकलना हि मनोविलासः ।
[1]सङ्कल्पमात्रकलनैव कृतिस्तु नित्या सङ्कल्पनिश्चयमवाप्नुहि चात्मशान्तिम्[2] ॥ (४।५८)

ज्ञेयं सर्वमतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं मनश्चैव[3] नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ (४।६०)

श्री आदिनाथेन सपादकोटिर्लयप्रकाराः कथिता जयन्ति[4] ।
नादानुसन्धायकमेव नान्यं मन्यामहे धन्यतमं लयानाम् ॥ (४।६६)

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।
बिन्दुस्थैर्योदयात्सत्यं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥
न्यासतः सुप्रसन्नात्मा निर्द्वन्द्वो विजितेन्द्रियः ।
कुरुते युक्तकर्माणि नित्यनैमित्तिकानि च ॥
योगेन पद्मात्मानं गुहायां प्राप्यते च सा ।
तारकं जपते नित्यं जितासुः कामवर्जितः ॥
युक्तासने समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोङ्कारमक्षरम् ॥
भूर्भुवःस्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परञ्ज्योतिरोमिति ॥
अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परञ्ज्योतिरोमिति ॥
त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयो लोकाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
वचसा च जपेद्विद्वांश्चक्षुषा च समभ्यसेत् ।
मनसा संस्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जयेत्प्रभवं सदा ।
न स लिप्यति योगेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥
शरीरं नो त्यजेद्देवं कालः कस्यापि कुत्रचित् ।
अन्तःशरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तु योगिना ॥
ततो लक्ष्यमनोऽभ्यासमहंभावविवर्ज्जितम् ।
सर्वाङ्गकल्पनाहीनं कथं कालो जयेत तम ॥

---

१. सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्पमाश्रित्य–मु०पा० । २. °शान्तिः–पू० सं० ।
३. समं नष्ट–मु० पा० । ४. न सन्ति–पू० सं० ।

स एव काले स शिवः स सर्वो नापि किञ्चन ।
कः केन हन्यते तत्र म्रियते वापि कश्चन ॥
ततो व्यतीते समये कालस्य भ्रान्तिरूपितम् ।
योगी सुप्तोत्थित इव बोधं याति निबोधतः ॥

एवं सिद्धो भवेद्योगी वञ्चयित्वा विधानतः ।
कालं कलितसंसारं पौरुषेणाद्भुतेन च ॥
तत्रापि भवने योगी विहरत्येक एव सः ।
पश्यन्संसारवैचित्र्यं स्वेच्छया निरहङ्कृतिः ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितम्
नीत्वाऽऽकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवम्[1]
यावत्तिष्ठति तावदेव मरुतां सङ्घेन संस्तूयते[2] ॥
(वि० मा० ६।१००)

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनापि दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम् ।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः ॥

गोरक्षोपनिषदि—

आदौ देवो महानन्दान्निर्ममे देवता स्वयम् ।
तस्मादिच्छा सुसम्पन्ना इच्छा ज्ञानं ततः क्रिया ॥
ततो व्यधां वरारोहे पिण्डब्रह्माण्डबुद्बुदम् ।
अव्यक्ताव्यक्तभावेन विचरामि जगत्त्रये ॥

एवं श्रीगुरुः आदिनाथः, मत्स्येन्द्रनाथः, तत्पुत्र उदयनाथः, दण्डनाथः, सत्यनाथः, सन्तोषनाथः, कूर्मनाथः, भवनार्जिः, तस्य श्रीगोरक्षनाथः, ईश्वरसन्तान आदिर्ब्राह्मणः सूक्ष्मवेदी, अद्वैतोपरि सदानन्द देवता, अनाहतशृङ्गी, खेचरीमुद्रा ।

विवेकमार्तण्डे—

अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभि[3]-
र्यो योगी युगकल्पकालकलनात्त्वं च यो गीयते ।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥

---

१. प्रणामविधिनावष्टभ्य मूर्ध्नां भ्रुव—मु० पा० ।
२. तावदायनगत श्रेयः फल विन्दति—मु० पा० ।
३. बेधादिभिः—पू० स० ।

अजपानाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतो न भविष्यति ॥ (६।३५-३७)
अनया सदृशं तीर्थमनया सदृशः क्रतुः ।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ॥
अनया सदृशं स्वर्ग्यमनया सदृशं तपः ।
अनया सदृशं वेद्यं न भूतं न भविष्यति ॥
एतत्कालभयाद् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयः सर्वे ततो वायुं नियन्त्रयेत् ॥
यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनो· ।
समस्तनष्टसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥
अवेद्यः सर्वशास्त्राणामभेद्य सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्त· समाधिना ॥
हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्याद्यगोचरम् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं तत्त्व तत्त्वविदो विदुः ॥
यथा घृते घृत क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभय कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ (६।६१)
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ (६।६५)

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्त्वं लकारान्वितम्
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् भुवो धारणा ॥ (वि० ६।१४६)

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितम्
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्त सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा दुःसहकालकूटजरणा स्याद्वारुणी धारणा ॥ १४७ ॥

यत्तालुस्थित इन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणं ज्वलत्-
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्सङ्गतम् ।

प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा वह्निजयं सदा विदधती वैश्वानरी धारणा ॥ १४८ ॥

यद्भिन्नाञ्जनसन्निभं मिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्व वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ १४९ ॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृश यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितम्
यन्नाथेन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम्।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेत्
एषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ १५० ॥

स्नातं तेन सहस्रतीर्थसलिले दत्तं द्विजेभ्यो धनम्
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च सम्पूजिताः।
सत्यं तेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीता पुनर्-
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्यं मनः॥

राजगुह्ये श्रीकृष्णकृतगोरक्षनाथस्तोत्रे—

गकारो गुणसंयुक्तो रकारो रूपलक्षणः।
क्षकारेणाक्षयं ब्रह्म श्रीगोरक्ष नमोऽस्तुते ॥
ब्रह्मणां च परं ब्रह्म रुद्रादीनां शिरोमणे।
त्रैलोक्यं निर्मितं येन श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
सर्वगुणो गुणाभावो निर्गुणश्च गुणस्थितः।
साकारो वा निराकारः श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
स्वः पूजयन्ति देवास्तं मर्त्यलोके च मानवाः।
पाताले नागलोकाश्च श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
एकाकी वर्त्तते नित्यं भवपाशविवर्ज्जितः।
परं ब्रह्माक्षयं ज्योतिः श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
श्री गोरक्षस्येदं स्तोत्रं स्वयं कृष्णेन निर्मितम्।
भक्तिभावविनिर्मुक्तो दासोऽहमिति भावयेत् ॥
आकाशं मन्दिरं यस्य नानारत्नोपशोभितम्।
हस्तमध्ये स्थितं शम्भोरभय वरदायकम् ॥
नमन्ति ब्रह्मा विष्णुश्च सुरा नृमुनयस्तथा।
ज्ञानसाराखिलाः सिद्धाः श्रीगोरक्ष नमोस्तु ते ॥
श्री नाथं तु महात्मानं न जानाति स्वयं हरिः।
किञ्चित्किञ्चिद्विजानाति महादेवनमस्कृतम् ॥

श्रीनाथश्चाक्षयो देवो देवानामप्यगोचरः ।
तत्पादौ चिन्तयेद्योगी अक्षयो योगनिश्चलः ॥

कल्पद्रुमतन्त्रे श्रीगोरक्षकवचे—

योगीश्वरं चादिकाथं सर्वव्याप्यं महेश्वरम् ॥

कल्पद्रुमतन्त्रे श्रीगोरक्षसहस्रनामस्तोत्रे

शुद्धस्फटिकसङ्काशं जटाजूटं त्रिलोचनम् ।
निरञ्जनं निराकारं निर्विकल्पं निरामयम् ॥
त्रिमूर्तिं च त्रिलोकीशं विधिविष्णुमहेश्वरम् ।
विश्वरूपं सदाकारं गोरक्षं नाथदैवतम् ॥
विद्यापतिर्मन्त्रनाथो ध्याननाथो निरञ्जनः ।
नित्यनाथो भूतपतिर्नित्यानन्दो महीपतिः ॥
सर्वाराध्यः पूर्णनाथो द्युतिनाथो द्युतिप्रियः ।
सृष्टिनाथः स्थितिनाथो हारनाथो महागुरुः ॥
रमणो रामभद्रश्च रामनाथो जनार्दनः ।
घटस्थापनकार्य्याणि मुक्तिकार्य्ये विशेषतः ॥
विना गोरक्षमन्त्रेण न कर्तव्य कदाचन ।
आगमोक्तानि कर्माणि वैदिकानि तथैव च ।
विना गोरक्षमन्त्रेण न सिध्यन्ति कदाचन[1] ॥

सारसङ्ग्रहे ब्रह्माण्डपुराणे ललितापुरवर्णने ललिताखण्डे—

तस्य चोत्तरकोणे तु वायुलोको महाद्युतिः ।
तत्र वायुशरीराश्च सदादानमहोदयाः ॥
सिद्धदिव्यर्षयश्चैव पवनाभ्यासिनोऽपरे ।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनो योगतत्पराः ॥

द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये—

नाथान्तरमितिप्रोक्तं हस्तविंशति चोन्नतम् ।
चतुर्नल्वप्रविस्तारं प्राग्वत्सोपानमण्डितम् ॥
तत्र नाथा महादेव्या योगशास्त्रप्रवर्तकाः ।
सर्वेषां मन्त्रगुरवः सर्वविद्या महातपाः ॥
चत्वारो योगनाथास्तु लोकानामिह गुप्तये ।
तुष्टाः कामेशदेवेन तेषां नामानि मे शृणु[2] ॥

---

१. साधयेत्तथा—प० सं० ।   २. मच्छृणु— पू० सं० ।

[1]मित्रीशोड्डीशषष्ठीशचर्य्याख्या कुम्भसम्भवाः ।
तैः सृष्टा बहवो लोका रक्षार्थं पादुकात्मकाः ॥
· ·· ··· दिव्यौघा तेषां नामानि मे शृणु ।
[2]मित्राद्या मानवौघाश्च सिद्धौघाः सुरतापसाः ॥
प्रायः[3] सालोक्यसारूप्यसायुज्यादिकसिद्धयः ।
महान्तो गुरवस्तांस्तु सेवन्ते[4] चतुरो गुरून् ॥
(उ० भा० उप० पा० ३७।२६–३१)

स्कन्दपुराणे काशीखण्डे—

मम भक्तिं प्रकुर्वाणा ये विश्वेशं द्विषन्ति वै ।
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पिशाचपदगामिनः ॥
अध्यासतेऽन्धतामिस्रं मृतास्तेऽन्यत्र सन्ततम् ।
शिवनिन्दापरा ये च ये पाशुपतनिन्दकाः ॥
विद्विषो मम ते ज्ञेयाः पतन्तो नरकेऽशुचौ ।
अष्टाविंशतिकोटीषु नरकेषु क्रमेण हि ॥
कल्पं कल्पं वसेयुस्ते ये विश्वेश्वरनिन्दकाः ।
विश्वेशानुग्रहं प्राप्य मुनेऽहमपि मुक्तिदः ॥
मद्भक्तैस्तद्विशेषेण सेव्यो विश्वेश्वरोऽनिशम् ।
इयं वाराणसी ज्ञेया पशुपातरथस्थली[5] ॥

तन्त्रमहार्णवे—

रक्तनेत्रं हीनछाया रक्तं गात्रं तपस्विनः ।
मूर्तिः प्रसन्नवदना स्वल्पवाणी च कथ्यते ॥
चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत् ।
एकविंशतिसङ्ख्याकं स्थानं नाम्नां च कथ्यते ॥
नवनाथा दिशो [6]ह्यष्टावेको मध्ये व्यवस्थितः ।
नवनाथस्थितिश्चैव सिद्ध्यागमेन कारयेत् ॥
गोरक्षनाथो वसेत्पूर्वे जगन्नाथवने स्थितः ।
कोशत्रये वसेन्नित्यमेको नाथः स उच्यते ॥
जालन्धरो वसेन्नित्यमुत्तरापथमाश्रितः ।
ज्वालामुखी पञ्चक्रोशवनमुत्तरमाश्रितः ॥

---

१. मित्री च शोदिशश्चैव चर्याख्यः कुम्भ०–पू० सं० २. दिव्यविद्यामानवौघ–पू०सं० ।
३. प्राप्तः । ४. संवैताश्–पू० सं० ।
५. पाशुपत°–पू० सं० । ६. दिशाद्यष्टा°–पू० सं० ।

नागार्जुनो महानाथो ज्वालायेशानसंश्रितः(?)।
सप्तक्रोशे वने चैव तपस्यति महातपः ॥
सहस्रार्जुनो दक्षिणे च गोदावरीवने स्थितः।
दशक्रोशप्रमाणेन तपस्यति महातपः ॥
दत्तात्रेयो महानाथ पश्चिमायां वसेद्दिशि।
सरस्वतीपश्चिमे च नवक्रोशं समाश्रितः ॥
देवदत्तो वसेन्नित्यमग्निकोणं समाश्रितः।
पञ्चक्रोशसमाने तु वायव्यां भरतो जडः ॥
सप्तक्रोशप्रमाणेन आदिनाथो वसेद्भुवि।
कुरुक्षेत्रे मध्यदेशे क्रोशत्रयवने स्थितः ॥
नैर्ऋते तु दिशां भागे मत्स्येन्द्रस्त्वेव[1] वारिधेः।
नाथस्थानानि वक्ष्यामि महागोप्यं न कथ्यते ॥

षोडशनित्यातन्त्रे—

कादिसंज्ञा भवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तया त्रैभुवने तन्त्रं कल्पे कल्पे विजृम्भते ॥
अवसाने तु कल्पानां सा तैः सार्द्धं व्रजेत्समाम्।
नामपर्यायतोऽवाप्तं कालावाप्तमितिद्वयम्।
प्रसिद्धं बाह्यतो यच्च त्रीणि नामानि साधके ॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्ध्यै स्वीकृताऽनेकविग्रह ॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते ॥
स्वतन्त्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने।
परतन्त्राय शक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे ॥

रुद्रयामले रससाधनप्रकरणे—

शिवरात्रिदिने प्राप्ते आरभ्यं कार्यसाधकैः।
चतुःषष्टिप्रमाणेन कोष्ठं कृत्वा तु भैरवम् ॥
पार्श्वयोर्मूर्तिमालाञ्च मध्ये मूर्तिञ्च विन्यसेत्।
तस्याग्रे जुहुयात्पश्चाद्धेमसिद्धिः प्रजायते ॥
रक्तोपवीतवासस्तु दद्याद्वै द्विजपुङ्गवम्।
कोष्ठसङ्ख्या तदर्द्धार्द्धयोगिनीर्यत्र पूजयेत् ॥
शृङ्गीनादेन ते सर्वे मनसाह्लादकारिणा।

---

१. मत्स्येन्द्रस्तु--पू० सं०।

रक्तो नस्वहकः[१] श्रेष्ठः स्कन्धाग्रे शृङ्गमाश्रितः ॥
मुखं कमलया युक्तं नेत्रे कमलभूषणम् ।
पृष्ठे च कमलाकारं हंसगत्या विराजितम् ॥
रक्तवासोत्तरीयेन वरमन्त्रं पुरो न्यसेत् ।
रक्तचन्दनसंघृष्टमपूपस्योपरि न्यसेत् ।
स्वादयेत्पञ्चदिवसं[२] पश्चात्पुण्ये समर्पयेत् ।
रसायनी महाविद्या सिद्धिर्भवति निश्चितम् ॥

तारासूक्तौ—

प्रणवो निर्गुणः प्रोक्तः सर्वाद्यो वेदगोचरः ।
वेदमाता तु गायत्री तदाद्यः प्रणवः स्मृतः ॥

कुलार्णवतन्त्रे द्वादशोल्लासे—

श्रीनाथचरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते ।
तस्यै दिशे नमस्कुर्याद् भक्त्या प्रतिदिनं प्रिये ॥
न पादुकापरो मन्त्रो न देवः श्रीगुरोः परः ।
नास्ति शाक्तात्परो मार्गो[३] न पुण्यं कुलपूजनात् ॥ (१२।११-१२)

वायुपुराणे शिवस्तोत्रे—

[४]अप्रमेयाय गोप्त्रे च निर्गुणाय गुणाय च ।
वादप्रियाय सभ्याय मुद्रामणिधराय च ॥ वायु० २४।१४९ ।
देशकाल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
पात्रे प्रदीयते यत्तत्सकलं धर्मलक्षणम् ॥
श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।
सम्यक् सङ्कल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥
इज्याचारदमा हिंसादानस्वाध्यायकर्म्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥
चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा ।
सा ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः ॥

षट्शाम्भवरहस्ये—

पृथ्वी कर्त्री महादेवी नाथाः शास्त्रस्य बन्धकाः ।
ब्रह्मतत्त्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तु रक्षकाः ॥

---

१. नस्वहकः—पू० सं० । २. सप्तदिवसं—पू० सं० ।
३. नहि शाक्तात्परा दीक्षा—मु० पा० ।
४. अप्रमेयाय दीप्ताय दीप्तये निर्गुणाय च ।
नम प्रियाय वामाय मुद्रामणिधराय च ॥ —मु० पा० ।

नाथान्तो वा महेशानि[1] त्रितयं त्रितयं त्रिषु ।
ईशाख्यस्तु महेशानि केरलान्तर्गतो[2] भवेत् ।।

सूतसंहिताया यज्ञवैभवखण्डे द्वितीयेऽध्याये—

विष्ण्वादीनां तु देवानां ध्यानं चाधममिष्यते ।
अतो मोक्षार्थिभि: प्राज्ञैः शिव एकः शिवङ्करः ।।
ध्येयः सर्वं परित्यज्य शिवादन्यत्तु दैवतम् ।
अस्मिन्नर्थे श्रुतिः साध्वी समाप्ता वेदवित्तमाः ।।
अपक्वचित्तैर्मोक्षार्थं देवाविष्ण्वादयोऽपि च ।
ध्येयाः पक्वैः शिवो ध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ।।
रुद्रं विश्वाधिकं विष्णुं ब्रह्माणं चान्यमेव च ।
समं चिन्तयतः साक्षात्संसारः[3] परिवर्त्तते ।।
महापापवतां पुंसां पूर्वजन्मसु सुव्रताः ।
विष्णुः सर्वाधिको भाति न साक्षात्परमेश्वर:[4] ।।
विष्णुः सर्वाधिको नान्य इति चिन्तयतां नृणाम् ।
नास्ति संसारविच्छित्तिः कल्पकोटिशतैरपि ।।
तेषां नैव च मोक्षाशा कल्पकोटिशतैरपि ।
ब्रह्मादिदेवतानां च विश्वाधिक्यं वदन्ति ये ।
अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्ति नरकार्णवम् ।।
(सू० सं० य० वै० खं० २।५३-६१)

आदिनाथसंहितायाम्—

कौलिकान्कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलाङ्गनाः ।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते ये निन्दन्ति हसन्ति ये ।।
येऽसूयन्ते च शङ्कन्ते मिथ्येति प्रवदन्ति ये ।
ते शाकिनीमुखे यान्ति सदारसुतबान्धवाः ।।
पिबन्ति शोणितं तस्य चामुण्डा मांसमुत्त्वचः ।
अस्थिनी चर्वयन्त्यस्य योगिनीभैरवीगणाः ।।

---

१. वामदेशानि–पु० सं० ।

२. केरलान्तरतो–पु० सं० । ३. संसारे–मु० पा० ।

४. अतः परं "विष्णुः सर्वाधिको भाति नारकी स न संशयः । इति पु० सं० अधिकः पाठः ।

का प्रयोग है यहाँ] । क्षेमम्–अव्ययम्, कल्याण को, मङ्गल को । वितन्वति-आवहति (सति), वितरित करते रहने पर । आचार्य मल्लिनाथ लिखते है— 'क्षेमङ्करे सति' अर्थात् कल्याणसाधक बने रहने पर (वि + तन् + शतृ, सप्तमी एकवचन) । अदेव-मातृका·—अवृष्ट्यम्बुजीविनः, वर्षाजल के भरोसे न रहने वाले । इन्द्र को वर्षा का देवता माना जाता है यदि प्राकृतिक वर्षा न हो तो कृषिकार्य का होना सर्वथा असम्भव हो जाता है । अतएव 'वर्षा का देवता' (इन्द्र या पर्जन्य) ही किसानो के लिए 'माता' के समान है । क्योकि माँ ममतामयी होती है, शिशु को भूखा मरता नही देख सकती । इस प्रकार वर्षा-देव ही जिनकी माँ हो उन किसानो को 'देवमातृक' कहा जायेगा और जो वृष्टिदेवता के भरोसे न रहकर स्वय खेतीबारी कर ले, राज–कीय सेचनसाधनो से वे 'अदेवमातृक' है । अमरकोष ऐसे प्रदेश को 'नदीमातृक' की सज्ञा देता है-'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालित. । स्यान्नदीमातृको देवमातृ-कश्च यथाक्रमम् ।' यद्यपि देवमातृक प्रदेश नदीमातृक प्रदेशो से कही अधिक सुख-सम्पन्न होते है फिर भी सुयोधन ने अपने साम्राज्य मे सिचाई आदि का इतना सुखद प्रबन्ध किया है कि कुरुप्रदेश मे कोई कष्ट नही है । यह भी उसकी लोकप्रियता का परिचायक है । देव. वृष्टिरूप माता येषा ते देवमातृकाः (बहुव्रीहिसमास. समासान्त कप् प्रत्ययः) न देवमातृकाः इति अदेवमातृकाः (नञ् तत्पु०) । कुरव – कुरूणा निवासा· कुरवो जनपदविशेषा., सुयोधन द्वारा प्रशासित कुरुजाङ्गल-प्रदेश (कुरु + अण् + जनपदे लुप्) । अकृष्टपच्या इव— अयत्नपरिणताः इव कर्ष-णादि (जुताई) के बिना ही पकी हुई, (सस्यसम्पद का विशेषण) खेत की जुताई आदि करके जो फसल पकाई जाय, प्राप्त की जाय उसे 'कृष्टपच्या' कहते हैं–कृष्टेन (कृष् + क्त कर्मणि + टा) कर्षणेन पच्यन्ते इति कृष्टपच्या (कृष्ट + पच् + क्यप् कर्मकर्त्तरि—'राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथा ' सूत्र से निपात-नात् क्यप् प्रत्यय का प्रयोग । न कृष्टपच्या इति अकृष्टपच्याः (नञ् तत्पु०) । इव का प्रयोग उत्प्रेक्षा के अर्थ मे हुआ है । कृषीवलैः—कर्षकै इत्यर्थ. अर्थात् कृषकगणो द्वारा । जिनके पास खेतीबारी हो वे कृषीवल है–कृषि· अस्ति एषाम् इति कृषीवलाः (कृषि + वलच् प्रत्यय मत्वर्थीय), तैः कृषीवलैः (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया) मत्वर्थीय वलच् प्रत्यय यहाँ 'रज कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' सूत्र से हुआ है । तात्पर्य है—रजस् कृषि, आसुति और परिषद्—इन शब्दो से मत्वर्थ मे वलच् प्रत्यय होता है । वस्तुत. इस नियम से भी रूप बनना चाहिये था—'कृषिवलैः' परन्तु कृषि का ह्रस्व इकार दीर्घ हो गया है 'वले' सूत्र से, जिसका अर्थ है—वलच् प्रत्यय परे रहने पर पूर्ववर्ती स्वर दीर्घ हो जाता है । कृषीवल का अर्थ है किसान—'क्षेत्राजीवः

कर्षकश्च कृषकश्च कृषीवल:' इत्यमर: । सुखेन लभ्या —बिना किसी आयास या क्लेश के प्राप्त होने योग्य । सुखेन अक्लेशेन लभ्या. (लभ् + यत् कर्मणि) लब्धुं शक्या. । 'प्रकृत्यादिभ्य' उपसख्यानम्' इस नियम से 'सुखेन' मे तृतीया विभक्ति। सस्यसम्पद.– सम्पन्नानि सस्यानि, अर्थात् कृषिसमृद्धियो को । सस्याना (सस् + क्यप्) सम्पद' इति सस्यसम्पदस्ता' (षष्ठी तत्पु०) ! 'वृक्षादीनां फलं सस्यम्' इत्यमर' । दधत धारयन्त:, धारण करने हुए (धा+लट्+शतृ प्रथमा बहुव०) चकासति—सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते अर्थात् शोभित हो रहे है (चकास्+लट लकार, प्रथमपुरुष बहुवचन) ।

ननु एव जनपदानुवर्तिन: कथमर्थलाभ इत्यत आह —

उदारकीर्तेरुदयं दयावतः
प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्धेऽस्य गुणैरुपस्नुता
वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥१८॥

उदारेति । उदारकीर्तेर्महायशस । 'उदारो दातृमहतो:' इत्यमर: दयावत: परदु खप्रहाणेच्छो' अतएव प्रशान्तबाध प्रशमितोपद्रव यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम् उदयविशेषणम् वा । 'वा दान्तशान्त'—इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपात' । अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदय वृद्धि दिशत: सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य । 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्व:। अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दयादाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनो वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। स्वय प्रदुग्धे अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थ. । दुहे कर्मकर्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमा यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेध: यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौ. स्वय प्रदुग्धे तद्वदिति भाव' । अलकारस्तु–'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्ति.' इनि सर्वस्वकार' । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गया भेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेप: ॥१८॥

श्लोकान्वय–उदारकीर्ते प्रशान्तबाधम् अभिरक्षया उदय दिशत' वसूपमानस्य अस्य गुणै: उपस्नुता मेदिनी वसूनि स्वय प्रदुग्धे ।

अनुवाद—महायशस्वी दयावान् निर्विघ्न प्रजासरक्षण द्वारा वृद्धि प्राप्त करने वाले, कुबेर के समान इस सुयोधन के गुणो से द्रवीभूत पृथ्वी स्वयमेव सम्पदाओ को प्रस्तुत कर रही है ।

बहिः सूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः सचेतनः ॥

धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥

ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तै संधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञः स च सर्ववित् ॥ इति ॥

(ई० अ०, पृ० १५१)

परमहंसोपनिषदि—

परमात्मात्मनोरेकत्वाज्ञानेन तयोर्भेद एक एव[1] विभग्नो या सा संध्या सर्वान् वा कामान्परित्यज्याद्वैते परमस्थितिः ।

ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते ।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः ॥
× × ×
स याति नरकान्घोरान्महारौरवमेव च ॥ इति ॥

(ई० अ० पृ० १५०)

शास्त्रोक्तविषयाभ्यासमजानन्तः केवलं शास्त्रपाठमात्रेणैवाभिमानिनस्तान्प्रति वाक्यमेतदित्याह—द्वादशवर्षो भूत्वा विद्याभ्यासमर्हति, ततश्च यावद्द्वादशवर्षं शब्दबोधार्थं व्याकरणशास्त्रमध्येतव्यं ततश्च यावत् द्वादशवर्षमर्थबोधार्थं न्यायशास्त्रमध्येतव्यं ततश्च यावत् द्वादशवर्षं वेदोऽध्येतव्यस्ततश्च षट्सु वर्षेषु वेदान्ताभ्यासः कर्तव्यः, एवं षट्सु वर्षेषु शास्त्रीयरीतिर्ज्ञातव्या । पुनरभ्यासश्च कर्तव्यः, एवमायुषोऽर्द्धं तु गतप्रायमेव । ततः पुनरिन्द्रियाणां शैथिल्येऽरिष्टे च सत्यभ्यासासक्तत्वं भवेत् । अतः प्रथमतः साक्षरतामात्रं पाण्डित्यमोपाद्य मनुष्यैर्योगाभ्यासः कर्तुमुचित इति ।

१. भेद एव—मु० पा० ।

ये त्वाचारबाहुल्यं दधतोऽपि वेश्या उपगम्य तत्सङ्गं कुर्वन्ति तान् प्रत्यस्माकमिदं कथनं बाह्यविषयिकामुज्ज्वलतां प्रदर्श्य मानसी मलिनता धार्यते। ततस्त्विदं श्रेयो यत् वेश्यासङ्गोऽपि न कर्तव्यो, [1]बह्माचारस्यापि प्रयोजनं नास्ति गौणोऽयमित्याचारं ज्ञात्वा तस्य त्यागोऽपि न कार्यः, यथायोग्यत्वेन विवेकपूर्वकं सेवनं चास्यकर्तव्यमिति।

भवेयं मनुष्यो यदैकस्तु राजा यदा जन्तुरेको भवेयं मृगेन्द्रः।
यदा शास्त्रमेकं तदा योगमेव यदा देव एकस्तदा नाथ एव॥

अस्मिन् मार्गे अद्वैतोपरिवर्त्ती नाथो देवता, प्राप्या निराकारज्योतिर्नाथो ध्येयः, साकारनाथ उपास्योऽथ च आदिगुरुः, साधनं योगः।

अत्याश्रमी योगी गुरुः, मुमुक्षुः साधकः अवधूतगुरोर्मुख्यं चिह्नं नादो मुद्रा भस्मशैली ऊर्णायज्ञोपवीतमित्यादि। शक्तिर्जगत्कर्त्री। शिवः पालकः। कालः संहारकः। नाथो मुक्तिदायकः। प्रणवो वेदः। नादः सन्तानं। नव नाथाः। बिन्दुः सन्तानमीश्वरः। मनः शरीरं। जीवो अनुभवः। चत्वारो गुरवः- मत्स्येन्द्र ईश्वरश्चतुरङ्गी गोरक्ष इति स्वरूपाः। अपक्षवास्तविकपक्षमङ्गीकृत्येतरकल्पितपरपक्षपाखण्डखण्डनमित्यादिविषयः परमहंस इति परमहंसं वदन्ति। तत्किम्, उत्कृष्टहंसोऽस्ति यतो निकृष्टहंसत्वं तु परमात्मा। उत्कृष्टहंसत्वं तु परमहंसस्य कुत आगत यदा ब्रह्मस्वरूपत्वं प्राप्तः। ब्रह्मस्वरूपत्वं च कुतः प्राप्तो यदि मायागुणरचितप्रारब्धकर्माणि मन्यते, एवं चायं तु निकृष्टहंस एव जीवोऽस्ति, ततश्चैतस्य हंसत्वं मरालत्वं कुतः किन्तु काकत्वमेव। यदि काकत्वं तर्ह्ययमेकाक्षो जातः। एकाक्षः को य एकेनैव चक्षुषा पश्यति। यद्ययं वर्णे तदा मायामेव मायादृशाऽपश्यत्[2] यदा चाश्रमी जातस्तदाद्वैतदृशैव पश्यन् वर्त्तते। इयमप्येकैव दृष्टिस्तया पश्यति। यतो महासिद्धैर्निश्चयः कृतोऽयं काकतुल्यो यदेवमेकाक्षः कर्त्तव्य।

सत्यं प्रपञ्चं कुर्वन्तो ब्रह्मणश्छादनं तथा।
केचिद्रजोदृशः प्राप्ता विषयासक्तमानसाः॥
मिथ्यामिथ्येति कुर्वन्तः केचिन्मायाविमोहिताः।
लयं सर्वस्य कुर्वन्त आगता विश्वनाशकाः॥
देदीप्यमानस्तत्त्वस्य कर्ता साक्षात्स्वयं शिवः।
संरक्षन्तो विश्वमेव धीराः सिद्धमताश्रयाः॥
तत्त्वं रक्षन्ति चाद्वैते द्वैते रक्षन्ति संसृतिम्।
एकीभावे ततो भिन्नं द्वैताद्वैतविवर्जितम्॥
मिथ्या वदन्ति यतयः सत्यं चापि विरागिणः।
सिद्धानामेव सिद्धान्तः सत्यमिथ्याविवर्जितः॥

---

१. बह्माचार°—पू० सं०। २. पश्येत्—पू० सं०।

म्रियते चत्कथं सत्यं वर्तते चेत्कथं वृथा ।
मृतिजीवनहीनं यत्कथं सत्यं कथं वृथा ॥
एककाले भवेत्सत्यमेककाले तथा वृथा ।
कालभेदाद् वृथा सत्यं नसत्यं न वृथा पृथक् ॥

मनोवागतीतो मनोवाङ्मयश्च नाथः १। नाथः २। शक्तिः ३। कर्ता ४। अकर्ता ५। एतत्पञ्चकमिति, क्रमेणैतत्पञ्चकं स्तौति—

अवाच्यमुच्येत कथं पदं तदचिन्त्यमप्यस्ति कथं विचन्तयेत् ।
अतो यदस्त्येव तदस्ति तस्मै नमोऽस्तु कस्मै वत नाथतेजसे ॥
अकर्तृतत्कर्तृ च तत्परं पद वदन्ति योगामृततृप्तचेतसः ।
अकर्तृता कर्तृतया निरूप्यते न वास्तवी वस्तुनि तद्द्वयी कुतः ॥
अवाच्यरूपा सदसद्विलक्षणा विचक्षणा सा कृतलक्षणापि सा ।
नमामि तां शक्तिमकर्तृतामयीं स्वतः करोत्येव च कर्तृतामयीम् ॥
निजेच्छया काण्डस[illegible]द्भवाप्ययाऽनुमानया दर्शितकर्तृतं शिवम् ।
नमाम्यभित्तावपि चित्रितं जगद्विचित्रमेतत्त्वनपेक्ष चेतरम् ॥
ममेदमस्याहमहं मदक्रियः[1] सदैव कर्त्तेत्यभिसंधिपूरितम् ।
करोत्यकर्त्तारमुदारलीलया य उच्यते नाथ इति श्रियेऽस्तु नः ॥
प्रसङ्गजं कर्त्तृपदं विहाय यः फणीव निर्मोकमना पदास्थितम् ।
नमाम्यकर्त्तारमकर्तृतामय यदस्तिसोऽस्मीत्यगुणः स्वयं स्थितः ॥

यस्य साक्षादनुभव शास्त्रज्ञानेन तस्य किम् ।
चेष्टा स्वभावजा स्त्रीणां कविभिर्वर्ण्यते श्रमैः ॥
जातमात्रं पिबेद्वत्सो बालको वाप्यपाठितः ।
यथा मातुःस्तनं पक्षी न तथा पाठितोऽपि सन् ॥
पिबन्तोऽप्यमृतं नित्यममरा नामरा इह ।
सिद्धावधूता अमरा गृह्णन्तो विषया विषम् ॥
ज्ञानेन छिद्यमानं तु कर्माङ्कुरमुपाददे ।
तदेव योगच्छिन्न तु यान्ति निर्मूलतां द्रुतम् ॥
संचितं क्रियमाणञ्च कर्म नश्यति तन्मते ।
प्रारब्धं न पुनस्तत्र प्रमाणं श्रुतिरुच्यते ॥
भूतकालोद्भवं कर्म भाट्टाः[2] सत्यं प्रकुर्वते ।
कालत्रितयजं कर्म त्यजत्यत्याश्रमी द्रुतम् ॥
पत्रं पुष्पं फलं शाखा छिद्यतेऽपि पुनः पुनः ।
न यावच्छिद्यते मूलं तावद्वृक्षः प्ररोहति ॥

---

१. महाक्रिय —पा० । २. भट्टा·—पू० सं० ।

पुन पुनर्भृतो वारा सूक्ष्मछिद्रेण संयुतः ।
कलशो रिक्ततां याति विफलः श्रम एव सः ॥
यान्तु गङ्गां गयां यान्तु नमन्त्वश्ममयान् सुरान् ।
कायालये विभात्येको जगदात्मा स विस्मृतः ॥

संन्यासिनो विजानन्तु कथयन्तु च पण्डिताः ।
अवधूताः क्रियासिद्धास्तत्त्वरूपा निरञ्जनाः ॥
योगदेहं सृजत्येतं कालभीत्या त्ववत्ययम् ।
हन्ति वैषयिकं देहं तन्नाथः को हरीश्वरः ॥

सृजत्यब्जो हरिः पाति हरः संहरते जगत् ।
तेभ्योऽन्यो मुक्तिदस्तत्र संकेतः सिद्धयोगिनाम् ॥
चतुर्भिः पथिभिर्यान्ति चत्वारो ज्योतिरालये ।
योगिनो वैदिका लोकास्तान्त्रिका व्यवहारिणः॥

योगिनो योगयज्ञेन केवलं ज्योतिरुत्तमम् ।
इष्ट्वा यानीष्टमार्गेण द्रुतं तत्खेचरा इव ॥
स्ववर्णाश्रमधर्मेण वैदिका समुपास्य तत् ।
निवृत्तिपरमा यान्ति तद्रूमाविव मानुषाः ॥

तान्त्रिकाः शुद्धविपणिं विषयान्परिहाय तत् ।
दुर्गमेन पथा यान्ति जरा इव जने जनाः ॥
संसारिणस्तु संसारप्रलये प्राप्नुवन्ति तत् ।
कृतयात्रमिवाधीशं सर्वे लोका निरर्गलाः ॥

न कुर्याद् बुद्धिमान् प्रीतिं वृथा वस्तुनि फल्गुनि ।
मृगतृष्णामयं मायाजालं कि मन्यते यतः ॥
मोक्षशास्त्रकृतो नैव दृष्टा मुनिजना नृपाः ।
नीतिशास्त्रकृतः कान्ताः शृङ्गारग्रन्थकारिकाः ॥
मूले मोक्षस्यावधूतो नीतिमूलं नराधिपः ।
कान्ता शृङ्गारमूलं यद्वाचारम्भणमस्ति नः ॥

एवं ते त्रयोऽपि क्रियायामेव प्रसन्ना क्रियायुक्तेति कथनेनापि प्रसन्नाः, परन्तु न तु क्रियारहितकथनेत प्रसन्नास्त्रयेण त्रयोऽपि पुरुषाः स्वसङ्गवर्ज्जितास्तथा अवधूत इति, विनानुभवेन शास्त्रारम्भकाः पुरुषा इति, राजनीतिकर्तव्यताहीना भृत्या इति, स्त्रीजन इति, पुरुषार्थहीनाः पुरुषा इति, तान्स्त्रीस्त्रयो हसन्ति, कथं एकेन केनापि पुरुषेण मन्दकामेन कस्यापि वैद्यस्य गृहे गत्वा तं प्रति स्वचेष्टोक्ता, तदा वैद्येनोक्तं यत्नं करिष्यामि इति । तस्य वैद्यस्य वधूः पार्श्ववर्तिनी सहासा जाता तस्या

अभिप्रायोऽयम्-अयं मम भर्त्ता वैद्यः स्वयमपि नपुंसकोऽन्यस्य कामोदययत्नं कथं करिष्यतीति, स्वयमसमर्थोऽन्यसामर्थ्योपायं करिष्यतीति प्रतारणमात्रमिति।

ब्रह्माभूतो मुनिर्व्यासो मिथ्यामायोपदेशतः॥
कृतानेकपुराणोऽभूत्तस्यै माये नमोस्तु ते॥
वशिष्ठादिमुनिव्रातस्त्यागस्यैवोपदेशकृत्॥
स्वयमङ्गीकृतस्त्रीकस्तस्मै भोगाय ते नमः॥
दासाः प्रेमातुरा भक्तिं पुरुषार्थं वदन्त्यहो॥
सशरीरे गते चित्ते भक्तिः प्रेम्णा समं गताः॥
योगः स्मार्तो वैष्णवश्च धर्मा भूपास्त्रयस्त्विमे॥
कर्मारिभ्यस्त्रिधाऽवन्ति स्वात्मदेशं त सुस्थितम्॥
वैष्णवो नृपतिर्धर्मः सत्यं प्रारब्धमात्मगम्॥
कर्मद्विषः समाश्रित्य पाति स्वं देशमात्मना॥
स्मार्त्तस्तु नृपतिर्धर्मः सत्यं प्रारब्धमात्मगम्॥
कर्मारिभ्यो बलिं दत्त्वा पाति स्वं देशमात्मना॥
योगधर्मो नृपः सर्वान् जित्वा कर्मद्विषो[1] बली॥
मनश्च किंकरं कृत्वा पाति स्वं देशमात्मना॥

एतद्ग्रन्थे बहुशास्त्राणां प्रामाण्यं दीयते तत्तु अस्मदीयार्थं वा एतन्मार्गस्य शिष्याणां श्रद्धार्थं दीयत इति नास्ति। अस्मिन्नर्थे तु योगशास्त्रस्यैव प्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम्, परन्तु वादिनां हिताय भो अन्यग्रन्थान्तरेऽपि भवदीय नानामतान्तरेऽपि चायमेव मार्गः श्रेष्ठः सर्वस्य लक्ष्योऽवधूत एवेति हेतुर्न तु सिद्धान्तार्थः। अस्माकं त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम्।

अवधूतशिष्यं विनेतरसंप्रदायकशिष्या मुग्धा वर्त्तन्ते। अवधूतसंप्रदायस्येयं रीतिः—षट्त्रिंशल्लक्षणसंपन्नो गुरुर्द्वात्रिंशल्लक्षणसंपन्नः शिष्यस्ततश्चतुर्लक्षणन्यूनः। गुरुशिष्यलक्षणं च अधिकतत्त्वो गुरुर्न्यूनतत्त्वः शिष्यः। एतादृङ्न्यूनत्वं तु योग्यं न तु मूर्खशिष्योऽधिकलक्षणहीनो मोक्षभाग्भवेत्। पुराणे शौचक्रियादिकरणपर्यन्तक्रिया उपदिशतीति तन्महासिद्धा हसन्ति। अहो बुद्धिमन्तः शिष्यास्तान् गुरून् एतादृक्क्रिया अपि कथयन्ति। शिष्यस्य बुद्धेः परावधिरिति। एतादृशशिष्यकरणे गुरूणां दोषः प्रवर्त्तते। अत एव महासिद्धा बहून् दीक्षितान्न कुर्वन्ति। कथं? बहवो विवेकिनो न भवन्ति। यतः स्त्रियां भ्रष्टायां पत्युर्लज्जा, तथा शिष्ये भ्रष्टे गुरूणां लज्जा निन्दा पातकं च प्रवर्तते। अत एव बहुदीक्षिता आचार्या गुरवः

---

१. धर्मद्विषो—पू० स०।

स्त्याज्याः, महासिद्ध एव गुरुः कर्त्तव्यः, महासिद्धैरपि चतुर्लक्षणं न्यूनः शिष्यः कर्त्तव्यो बहवश्च शिष्या वर्ज्जनीयाः, इति सिद्धान्तः।

अथ पुरुषस्य द्वात्रिंशल्लक्षणानि लिख्यन्ते—प्रथमतो ज्ञानपरीक्षा—निरालम्बः १, निर्भ्रमः २, निवासी ३, निःशब्दः ४। विवेकपरीक्षा—निर्मोहः ५, निर्बन्धः ६, निःशङ्कः ७, निर्विषः ८। विचारपरीक्षा—सर्वांगी ९, सावधानः १०, सन् ११, सारग्राही १२। निरालम्बपरीक्षा—निःप्रपञ्च १३, निस्तरङ्ग १४, निर्द्वन्द्वः १५, निर्लेपः १६। संतोषपरीक्षा—अयाचकः १७, अवाञ्छकः १८, अमानः १९, अस्थिरः २०। शीलपरीक्षा—शुचिः २१, संयमी २२, शान्तः २३, श्रोता २४। सहजपरीक्षा—सुहृत् २५, शीतलः २६, सुखदः २७, स्वभावः २८। अष्टमे शून्यपरीक्षा—लयः २९, लक्ष्यं ३०, ध्यानं ३१, समाधि ३२। इति द्वात्रिंशल्लक्षणानि पुरुषस्य[१] समाप्तानि। [२][पुनरपि पुरुषस्य चत्वारि लक्षणान्येतानि, किमपि वस्तु नास्तीत्यनवरतबोधः ३३, एतानि लक्षणानि तदितराण्यलक्षणानि तेषामुभयेषामेकीकरणं ३४, एतद्द्वयोरैक्य यत्तत्तत्त्वमिति ३५, अत परमप्यस्तीत्यनुभवः ३६]।

अद्वैतोपरिवर्तिनाथ उदितो यत्र ध्वनिः सन्ततो
नाथो बिन्दुरुतापि शक्तिरुदिता सा चार्द्धमायात्मिका।
ऊरुद्रो हरिरो विधिर्मिति स मे ध्येयोऽस्तु नित्यं महा-
नोंकारोखिलशब्दबीजमबुधैरज्ञातरूपो मुदे॥

अयमोंकारो महासिद्धानां ध्येयस्तस्य स्वरूपम्—उकारोऽत्र रुद्रस्वरूपमर्द्धमात्रा शक्तिस्वरूपं बिन्दुर्नाथस्वरूपमर्द्धमात्राया जातोऽकारो विष्णुस्वरूपं बिन्दोर्जातो मकारो ब्रह्मस्वरूपं ध्वनिर्निराकारनाथस्वरूपं व्यापकं ध्वनिर्वर्णश्चोभयमपि मिलितं पूर्णं यद्द्वैताद्वैतविलक्षणं साकारनिराकारातीतमद्वैतोपरिवर्त्ति महानाथस्वरूपमिति। किंचात्रौंकारे उकारबिन्द्वर्द्धमात्रयोर्योगादेव। बिन्दुयोगान्मकारोऽर्द्धमात्रायोगादकार इति। तथा चौकारे नाथशिवशक्तिरूपप्राबल्यं विष्णुब्रह्मस्वरूपयोरप्राबल्यमत एवात्रैतद्देवतात्रयध्यानं महासिद्धैर्मुख्यत्वेन क्रियते, पुनर्ध्वनिर्निराकारनाथरूपं ध्वनिवर्णश्चोभयात्मकः पूर्णनाथस्तु सांप्रतमस्ति तथाप्येवेति ब्रह्मविष्णुध्यानतो नाथशिवशक्तीनां ध्यानमुत्तममुक्तं, तत्रापि नाथध्यानं बलिष्ठम्। उकारो यद्योंकारः स्यात्तदा मात्राशक्त्येव। उकारोपि यद्योंकारःस्यात्तर्हि बिन्दुशक्त्येव, बिन्दुश्च यद्यपि वर्णस्तथापि तत्र स्वरस्याधिक्यम्, स्वरश्च वर्णापेक्षया बलवानेव। कथं? तत्र ध्वनिभागस्याधिक्यात्, ध्वनिश्च नाथरूपमेवातो नाथध्यानं बलिष्ठमित्युक्तम्। तदुक्तं योगशास्त्रे—

---

१. शिष्यस्येत्यर्थं।
२. [ ] अयमंशो नास्ति पूर्व संस्करणे।
३. गुरोरित्यर्थः।

टिप्पणी—न तेन—न (तो) सुयोधन द्वारा । क्वचित्—कुत्रापि, कहीं भी । सज्य धनु.—प्रत्यञ्चा या डोरी चढा हुआ धनुष् । ज्या का तात्पर्य है धनुष् की डोरी—'ज्यया मौर्व्या सह इति सज्यम्' (बहुव्रीहिः) तृतीयान्त शब्द के साथ तुल्ययोग होने पर 'सह' का बहुव्रीहि-समास होता है । सूत्र है—'तेन सहेति तुल्ययोगे ।' इस नियम से 'सज्यम्' मे बहुव्रीहि समास हुआ । समस्तपद मे 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो गया है–'वोपसर्जनस्य' नियम से । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण.' इत्यमरः । सज्य 'धनुः' का विशेषण है–'धनुश्चापौ धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इत्यमर. । उद्यतम्—ऊर्ध्वीकृतम् उत्तोलितम् अर्थात् उठाया गया । उद् + यम् + क्त कर्मणि । न वा—अथवा न ही । आननम्—वदनम्, मुख को । 'वक्त्रास्ये वदन तुण्डमानन लपन मुखम्' इत्यमर. । कोपविजिह्मम्—कोपेन कुटिलम् अर्थात् क्रोधवश विकृत । जिह्म का अर्थ है कुटिल (जिह्मस्तु कुटिल मन्दे–इतिकोशः) कोपेन (कुप् घञ्भावे + टा) विजिह्मम् (विशेषेण जिह्म = विजिह्मम् प्रादितत्पुरुष) इति कोपविजिह्मम् (तृतीया तत्पु०) । कृतम्—किया गया । गुणानुरागेण—दयादाक्षिण्यादिप्रेम्णा । सुयोधन के गुणो के प्रति अनुरागभाव होने के कारण । गुणेषु अनुराग. इति गुणानुराग तेन, हेतौ तृतीया (सप्तमी तत्पु०) । माला के पक्ष मे गुणानुराग का तात्पर्य होगा–गुण अर्थात् सूत्र मे अनुषङ्ग (प्रवेश) होने के कारण अथवा सौरभ्यगुण के अनुराग (लोभ) वश । नराधिपै—भूपालैः राजाओं द्वारा । अस्य शासनम्--सुयोधनस्य आज्ञा । शासन (शास् + ल्युट् भावे) का अर्थ है आज्ञा, नियोग । सुयोधन की आज्ञा । माल्यमिव-मालेव माला की भाँति । माला एव माल्यम् (माला + ष्यञ् स्वार्थे) जैसे चातुर्वर्ण्य शब्द 'चतुर्वर्ण' के ही अर्थ मे ष्यञ् प्रत्यय से निष्पन्न होता है, ठीक वैसे ही 'माल्यम्' मे भी ष्यञ प्रत्यय स्वार्थ मे है–'चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्' । शिरोभिरुह्यते-शीर्षै धार्यते । अर्थात् सिर-माथे लगाई जाती है (वह + लट् = त कर्मणि) ।

'माल्यम् इव' अश मे 'इव' साधर्म्य (साम्य) प्रस्तुत करता है—माल्य तथा शासन के बीच । अतएव प्रस्तुत पद्य मे उपमालङ्कार मान्य है—'साधर्म्यम् उपमाभेदे ।'

सम्प्रति अस्य धार्मिकत्वमाह —

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धत

निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।

जातः। कथं ? एकैकगुणलक्षणहीनो ह्रासक्रमेण संभूतं सन्तानमेवेति मन्यते[१]। पथमतो गौणमुख्यप्रक्रिया कथिता। तत्र काचिदुत्पत्तिक्रमतो मुख्या गौणी वा ज्ञेया, काचिच्च फलवृक्षरीत्या मुख्या गौणी वेति ज्ञेयम्।

एकदा श्रीमहासिद्धविचारनाथेन भर्तृहरिनृपेण व्याकरणशास्त्रोपरि लक्ष-संख्याकाः कारिकाः कृता। नागेशेन ताः श्रुताः, तदा प्रसन्नो भूत्वा ब्रह्माण्डे विहरन् समागतो यस्तत्र स्थितो महावधूत आगत्य चादेशादि[२]व्यवहारकरणानन्तरं तेनोक्तम्—हे स्वामिन्नहं तुष्टोस्मि यतः कांचिद्याचनां कुरु, तदा महासिद्धेनोक्तं तव मिलने सुखं जातमन्यत्तु नास्त्यपेक्ष्यं कृतकृत्य एवास्मि, पुनः पुनस्तेन शेषेणोक्तं याचनीयमेवेति। तदा भर्तृहरिणोक्तं किं याचे यदैश्वर्येच्छा भवेत्तत् महाराज्यं त्यक्त्वावधूतो जातः। पुनर्मोक्षस्य यदि वाञ्छा भवेत्, सा तु अवधूतभावे सिद्ध्यत्येव संशयो नास्तीति। तदा शेषोऽसन्तुष्टो भूत्वा ममापमानः कृतो यतः शापं दद्मि, भवदीयकारिकाः प्रसिद्धा न भविष्यन्तीति। तदावधूतेनाप्युक्त त्वदीयकृतव्याकरण-शास्त्रं कलौ वृत्त्यर्थं भविष्यति पुनर्यत्र कुत्रापि स्थले ससंशयं भविष्यति तदा मम-कारिकां विना निर्णयो न भविष्यतीति। एवं परस्परं शापो जातस्तेनाधुनिकसमये व्याकरणादिसाधनशास्त्रं परमार्थे न्यूनं भवति चातुर्यादि प्रकारं प्रायशो भवतीति।

आचार आचार इति वदन्ति। य आचारोऽत्याचारः सन् कथं निर्वहति ? भोजने यद्घृतं तत् चर्मपात्रेणैवायाति, गमने यत्पादत्राणं तदपि चर्मजमेव स्पृश्यते, शयने स्त्रीसंगो भवति तस्य कथैव का। प्रातःकाले यद्यपि शुद्ध्यर्थं स्नानं क्रियते तथापि चतुर्षु प्रहरेषु करादिकस्य मुखादिस्पर्शनं स्वभावत एव सर्वदा जायते। किं च सूर्यादिग्रहणे मृत्तिकापात्राणि जलं चाशुचित्वेन त्यज्यते न तु धान्यघृतादिकं वस्तु। तदा एवं ज्ञायते जलाशये जलं बहु लभ्यते कुलालानां गृहेषु मृत्पात्राणि चाल्प-व्ययेन लभ्यन्ते, तेन तदशुचित्वं कथं न क्रियते। घृतधान्यादिनिवारणे तु बहुद्रव्य-व्ययो भवेदित्याद्यनेकप्रकारकं किं किं लिख्यते। तस्मादाचारवस्तु कल्पितमेव तद् बुद्धिमन्तो जना न किंचिदपि वस्तु जानन्ति। विचार एव मुख्य इति सिद्धान्तः। तत्र चैवं न ज्ञेयमत्र सिद्धान्त आचारो नास्तीति। कथं ? आचारोऽस्माकं मते वर्त्तते, स च विचारपूर्वक इति। अन्य आचारं कुर्वन्ति तादृशस्तु क्रियत एव। नास्ति, यथायोग्यस्तु क्रियते च स चापि गौणं मत्वा क्रियते मुख्यस्तु तत्त्वविचार इति कृत्वायमपि व्यवहारः सर्वथा त्याज्यो नास्तीति।

आचारविधिः—

प्रातरुत्थाय गुरुस्मरणं कृत्वा अकालं स्मृत्वा शौचादिक्रियां दन्तधावनं स्नानं च कृत्वा नाथालये गत्वा पूजा कर्त्तव्या, पूजानन्तरं भोजनं कर्तव्य, सायंकाले च

१. मन्ये—पू० सं०। २. च देशादि—पू० स०।

(युवराज + ष्यञ् कर्मणि), तस्मिन् । युवराज शब्द ब्राह्मणादि गण मे पठित है, अत ष्यञ् प्रत्यय यहाँ गुणवचनब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च' सूत्र से प्रयुक्त हुआ है। निधाय—नियुज्य, नियुक्त करक (नि + धा ल्यप्) । पुरोधसा – पुरोहित द्वारा। धार्मिक कार्यो मे अग्रेसर अथवा पुरोगामी जो हो वही पुरोधा या पुरोहित है— पुर धत्ते धीयते वा इति पुरोधा. (पुरस् + धा + असि कर्त्तरि कर्मणि वा) तेन पुरोधसा । 'पुरोधास्तु पुरोहित ' इत्यमरः (अनुक्ते कर्त्तरि तृतीया) । अनुमत - अनुज्ञात, अर्थात् अनुमोदित होकर, समर्थित होकर (अनु+मन् क्त कर्मणि) । अखिन्नः—अनलस, आलस्य अथवा श्रान्ति-विहीन होकर, अर्थात् सोत्साह। न खिन्नः (खिद्+क्त कर्त्तरि) इति अखिन्नः (नञ् तत्पु०) । मखेषु--क्रतुषु, यज्ञो मे। अमरकोषे—'यज्ञ सवोऽध्वरो याग सप्ततन्तुर्मख क्रतु.' । हव्येन--हविषा, पुरोडाशादि हवन सामग्री द्वारा। जिसका अग्नि मे हवन (दान) किया जाय वही हव्य है--हूयते भक्ष्यत्वेन दीयते इति हव्यम (हु + यत् कर्मणि), तेन । करणे तृतीया। हिरण्यरेतसम् –अनलम् । अग्निदेव को । हिरण्य अथवा स्वर्ण ही जिसका रेतस् हो वह। हिरण्य रेतो यस्य स. हिरण्यरेता, (बहु०) तम् अग्निम् । 'हिरण्यरेता हुतभुग्दहनो हव्यवाहन ' इत्यमर । धिनोति—प्रीणयति । प्रसन्न करता है (धिवि = धिन्व + लट् प्रथमपुरुष एकवचन)

धकार, शकार एव हकार को आवृत्तिवश अनुप्रास अलङ्कार द्रष्टव्य है। 'वर्णसाम्यमनुप्रासः' आदि लक्षण।

स चेत् तादृश. उद्योगो तर्हि अस्माभिनिरुद्योगैर्भाव्यमित्याशङ्क्य उद्योगाशा दर्शयति :—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति,
प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यती-
रहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ।।२३।।

प्रलीनेति । स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम् नि.सपत्नमित्यर्थ । स्थिरायति चिर स्थायीत्यर्थ. । भुवो मण्डलम् आवारिधेभ्य आवारिधि 'आङ् मर्यादाभिविध्यो इत्यव्ययीभाव । प्रशासदाशासयन्नपि । 'अभ्यस्तादय षट्' इत्यभ्यस्तसज्ञा । 'नाभ्य स्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेध । एतत्वत एष्यतोरागमिष्यतोः । धातूनामनेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धि. । अथवाङ्पूर्व. पाठ । 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धि. । 'लृट. सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभाव·

येन च प्रणवयोगेन स्वरूपानुभवः प्रकटितः सोऽप्रकटः कृतः। अध्यारोपापवादादि-प्रकारेण यद्मायिकवस्तु तत्र मिथ्याकल्पना बहुविधानेन कृता, मिथ्यैवाश्वो मिथ्यैवा-श्ववारो मिथ्यैव धावनमिति किं प्रलप्यते। पङ्के हस्तनिमज्जनकरणानन्तरं पुनः प्रक्षाल्यते ततस्तु प्रथमं तत्र हस्तनिमज्जनमेव किमर्थमिति योगिनां सिद्धान्तो विस्मृत एव। एकदेवस्तुतावन्यदेवनिन्दा एकनिन्दायां चान्यदेवस्तुतिरित्यनया रीत्या धर्मोऽपि प्रवर्त्तित। स चान्योन्यविरुद्धस्तेन सर्वे जीवा भ्रमन्तः सन्तो बन्धकारका भवन्ति। तदुक्तं नाथसूत्रे—ब्राह्मणे वेदाः प्रवृत्ताः, न्यासिनि तीर्थानि प्रवृत्तानि न कोऽपि निर्वाणभावं प्राप्त इति। कथं सूक्ष्मप्राप्त्यर्थं तु एकाक्षरः प्रणवः सूक्ष्मवेद एव कृतः। पुन. सूक्ष्मैवाक्षरद्वयात्मिका गायत्री कृता। पुन साकारः सन्नपि साकार-त्वाभिमानराहित्येन निराकारतुल्यमेव सूक्ष्मं[1] नाथरूपं कृतवान्। तेनोपदेशः सूक्ष्म एव योगाभ्यासयोगः कृतः। तदुद्धारकः सूक्ष्म एवावधूतः कृतः। अथ मायाशबल-स्थूलब्रह्मप्राप्त्यर्थमेकाक्षराद्वेदादनेकाक्षराः स्थूला वेदाः[2] कृता.। अक्षरद्वयात्मिकागा-यत्र्याश्चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री कृता। योगात् स्मृतिपुराणादीन्यनेकशास्त्राणि कृतानि, तदुद्धारका ब्राह्मणाः परमहंसादय इतर संसारिणोऽपि कृताः।

नाथसूत्रे—

एकवारं वचनं लुप्यते तेन युगे युगे लुप्यत इतिहेतोर्गुरुवचनं कदापि काले न लोपनीयं कर्तव्यमेव, ये पुरुषा अभ्यासहीना अभिमानेन सभायां यस्य कस्यापि देवस्य धर्मस्य वा पक्षं गृह्णन्ति। स पक्षः स्वार्थे त्यज्यते, तादृशः कथ मोक्षभाग्भवेत्। तादृशाश्च सद्गुरुभिरपि कथमङ्गीकरिष्यन्ते तेषामिष्टदेवोऽपि चाप्रसन्नो भवेत्, केनचित्कथ्यतेऽहं स्मार्तोऽहं वैष्णवोऽहं यः कश्चिद्। यदा मया कथ्यते त्वं स्मार्तोऽसि तर्हि स्मृत्युक्ताचरणं सर्वमपि त्वयि वर्तते? तदा स कथयति सर्वाचरणं तु नास्ति, यदा मया कथ्यते स्मार्तोऽहमिति कथनमेवाचरणं तु नास्ति यतस्तद्धर्माना-चरणेन प्रत्यवायो न स्यात् पुनः मिथ्यादोषश्च न स्यात् तदा स कथयति अहं स्मार्तो नास्मि। यदा पुनर्मया कथ्यते स्मार्त्तकुलोत्पन्नः स्मार्तधर्मा न भवेत्तर्हि धर्म-विरुद्धत्वमापतेदिति। तदा स कथयति यत्प्रारब्धं तत्तादृशोऽहम्। यदा मया कथ्यते प्रारब्धे श्रद्धास्थैर्यमागृह्णाति। कथं? प्राणिनां यत्प्रारब्धं तथैव भवेत्, परन्तु प्रथम-कथने तत्र धैर्यं नायाति, कस्यापि प्रारब्धं कूपे पतनं भविष्यतीतिरूपं, स चाज्ञतया पततु नाम परन्तु यदा ज्ञायते तदा तु तस्य निवृत्तेरिवोपायं करिष्यतीति। तेन हेतुना त्वदुक्तं यादृक् प्रारब्धं तादृशोऽहमस्मीति यत्तन्न भवत्येव। तदा स पुनः कथयति-यद्गुरुराज्ञापयति तत्करोमीति, यदा मया कथ्यते गुरुरुत्तमाधिकारी त्वं तु मन्दा-धिकारी, गुरुवाक्ये तव विश्वासः स्यादिति तदा तेन नोक्तमितिरीत्या बहुधालापे किमपि चिह्नं वर्णरूपमाश्रमरूपं वा स्त्रीरूपं पुंरूपं वा नयतेऽव्यक्तलिङ्गत्वमत्या-

१. 'सूक्ष्म' इति नास्ति—पू० स०। २. स्थूलवेदा—पू० सं०।

श्रमित्वमेव स्थीयते, यतः किमर्थमसत्ये वस्तुनि कल्पना क्रियते महासत्यस्वरूपमेकमवधूतत्वमेव गृह्णीयादिति। पुनरपि सर्वाचरणं[1] नास्ति तदा स्मार्तोऽहमिति कथं कथ्यते, तदा स कथयति कश्चन स्मार्तो धर्मो मयि वर्त्तते, तदा मया कथ्यते कश्चन स्मार्त्तो धर्मस्तर्हि कश्चनान्यः कस्य धर्मस्तदा स कथयति—कश्चन मनोनुकूल एव धर्मस्तदा मया कथ्यते तव मनोनुकूलो भवतु नाम धर्मः परन्तु कस्यापि तु धर्म एव स भविष्यति, तथा च धर्मसकरोसीति। तदा स कथयति नाहं स्मार्त्त·। तदा मया कथ्यते स्मार्तकुलोत्पन्नत्वेन च यदि स्मार्तो न भविष्यति तर्हि समस्तमेव धर्मं भ्रष्टं भविष्यतीति, स कथयति तात्पर्यमिदमिदं कर्म ईदृशं वर्त्तते यत्तद्व्रत्रमिति, तदा-तत्करणं विना किं भवेत्। केवलज्ञानेन कथं सिद्धिः। ज्ञानमपि कर्मैव वर्त्तते अन्तःकरणस्य धर्मत्वात्तत्रापि करणं वर्त्तते एवेति।

द्वैतवादिनः कथयन्ति—अस्माभिः किं प्रेरकं प्रति कथ्यते द्वैतमिति नास्तीति, सत्यद्वैत एव परन्तु द्वैतं शरीरं, यतः शरीर-शरीरिभावेन सोऽपि द्वैत एवास्ति, इति कथ्यते। अद्वैतवादिनश्च किं कथयन्ति-अद्वैतमेवास्ति यच्छरीरं द्वैतं दृश्यते तत्तु मिथ्यैवेति। महासिद्धाः कथयन्ति-चैतन्य जडञ्च शरीरादि उभयमपि मिलित्वा एकमेव पूर्णं वस्तु, यतः परमाद्वैतं यत्किमपि नाथतेजस्तच्चक्रवर्त्ति सर्वोपरि वर्तते। केचित्कथयन्ति-ज्ञानिनो ज्ञानं निरपेक्षमेव कर्मणोऽपेक्षां पूर्वकालेऽपि न करोति तत्तु नास्त्येव! भवदीयमतानि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यूर्द्ध्वबाहुतयैवमेव वदन्ति-कर्मणा चित्तशुद्धिः स्यादनन्तरं तत्त्यागस्त्यागाच्च ज्ञानप्राप्तिर्ज्ञानान्मुक्तिरियं घण्टाघोषवद्विद्यत इति।

गृहकर्म समासक्तमहं ब्रह्मेति वादिनम्।
कर्म-ब्रह्मोभयभ्रष्टं तं त्यज्येदन्त्यजं यथा इति ॥

तदा कर्मनिरपेक्षं ज्ञानं कथं जातम्। सहस्रावधिस्थले त्वेवमेव कथितम् यदेकेन शाङ्करभाष्ये एकस्मिन् स्थले लिखनेन कथमप्रमाणं भविष्यतीति। वेदा गृहस्थधर्मं वर्णयन्ति तस्य रीतिर्मया कथ्यते। गार्हस्थ्यं विना स्त्रियं तु प्रवर्त्तत एव नहि, स्त्रीमूलकत्वादेव गार्हस्थ्यस्येति। पुनः कथ्यते मासे मासे रात्रित्रयमार्तवं तत्र सन्तानार्थमृतुदानं देयमन्यच्च सुखाय विषयसंभोगो न सेव्य इत्यपि तेषामुपदेश इति। यद्येवं तर्हि प्रथमं गृहे वासकरणं तत्राहारादिसेवनं तेन च शरीरे पुष्टिस्तत्क्रमेण शरीरे कामोद्रेकाभवनं नास्ति कदाचित्स्वशरीरं वशे क्रियते। तथापि तावत् स्त्रियाश्चित्तं तु विनाकामोपभोगं क्षणमपि न तुष्टं भवेत्। कथं तासां काम एवेष्टस्ततश्च तस्याः पोषणं विना तच्चित्ते व्यभिचार एव वसति। तेन पापेन सर्वं नष्टमेव भवेत्, लोके चोपहासो भवेत्। अतः कारणात् महासिद्धा गार्हस्थ्यं न कुर्वन्ति। सिद्धानामिष्टो नाथः, सोपि स्त्रियं नाङ्गीचकार। सर्वे ब्रह्मविष्णुरुद्रादयो देवाः शेषादयो नागा

१. सर्ववर्णं–पू० सं०।

मन्वादयो नरा अन्ये च पशुपक्षिणो यावज्जीवं सर्वे स्त्रीजिताः,एको नाथ एव मायाजेता। तदुक्तं महासिद्धश्रीविचारनाथेन भर्तृहरिणा—

शंभुस्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां येनाक्रियन्त सततं गृहकर्मदासाः ॥
वाचामगोरचरित्रपवित्रिताय तस्मै नमो भगवते मकरध्वजाय ॥
(शृङ्गार शतक १)

अतः कारणाद् यदा गार्हस्थ्यं कृतं तदा स्त्रीपोषणमवश्यमेव कर्तव्यं यदा च विरागेच्छा तदात्ववधूतेनैव भाव्यमिति। परमहंसास्तु काम निषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येव कथम् ?

तदुक्तं श्री मीननाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः।
अर्धगौरीशरीरो हि तेन तस्मै नमोस्तु ते ॥

अतो महासिद्धा विपयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति। पुनः प्रकृतिरपि ब्रह्मैव वर्त्तते शिवशक्त्योरस्माकं मते ऐक्यमेव वर्त्तते। तदुक्तं—सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ॥
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥ (सि० ४।२६)
प्रसरं भाषयेच्छक्ति· संकोचं भासयेच्छिवः ॥
तयोर्योगस्य कर्त्ता यः स भवत्सिद्धयोगिराट् ॥ (सि० ६।६३)

एवं त ऐक्यं ज्ञात्वा काममपि भजन्त्येव। अत एवोक्तम्—

'क्वचिद्भोगी क्वचित्यागी' इत्यादि। त्यागिनामपेक्षया त्याग एव एतादृश एतैः क्रियते, यादृशस्त्यागिनामपि न भवेत्। कथं ? कर्मराहित्योपरि तु त्यागो नास्ति तदैतैः प्रारब्धमपि त्यज्यते। शून्ये लग्नैः प्रारब्धमपि त्यज्यते। यदा च भोगं कुर्वन्ति तदा संसारिणोऽपि यादृशं न कुर्वन्ति तादृशमेते कुर्वन्ति। कथं प्रकृतिलग्नाः एतदुभयं मिलित्वा पूर्णे लग्ना अतस्तेषां रीतिर्विलक्षणैव। भोगिभिस्तु भोग एवैकः क्रियते तेषां त्यागो न भवति।[१] [भोगिनां त्वेको भोग एव भवति न तु ते त्यागे समर्थाः।] पुनस्त्यागिनो ये भवन्ति तैः प्रथममेव त्यागः कृतोऽत एव त्यागिन इति येषां नाम तैः पुनर्भोगः कथं क्रियेत। करणे च सर्वमेव नष्टं स्यादिति। अथ चावधूतास्त्यागिनामपि लोके त्यागस्याधिक्यं दृष्टिगोचरं कृत्वा पुनः स्वेच्छया भोगमपि कदाचित्कुर्वन्ति तथापि तेषां भोगो बाधको न भवेत्। भोगिनो भोगमेव कुर्वन्त्येवं त्यागिनस्त्यागमेवेत्यवधूतानां तु त्यागभोगयोर्द्वयोरपि पदार्थयोः सामर्थ्यम्। त्यागं कया रीत्या कुर्वन्ति ? युगपर्यन्तमप्याहारादिकं न गृह्णन्त्येवं त्यागिनां न भवति।

---

१ [] नास्ति—पू० स०।

कथं ? ते देहेन विजिता एते तु देहाधीना सन्ति यत इति दिक्। अनया रीत्या-परमार्थस्तु प्रथममेव नष्टः। कथं ? यदा स्त्री गृहीता, पश्चादयं लोको नष्टः। कदा ? यदा स्त्रीग्रहणेन गार्हस्थं जातम्, तत्र च गृहस्थरीत्या प्रवृत्तो न। एवं च द्वावपि लोकौ नष्टौ, भोगोऽपि नास्ति मुक्तिरपि नास्ति। चञ्चलेन मनसा सर्वमपि नष्टीकृतम्। कथ गार्हस्थ्य त्यक्त्वा श्रमान्तरं गृह्णाति। तत्रापि पुनः श्रमेण कातरो भूत्वा दुःखेन सीदन्सन् प्रारब्धाङ्गीकारात् यद्यद्यथा प्रारब्धं तत्तत्सर्वमपि कर्म करोति, तदा कर्मणः साकुरत्वादेव कदापि काले मुक्तिभाग् न भवत्येव। यथा ग्रामे गर्द्दभा वने वा शूकरास्तथा विषयवशो वारं वारं जन्मादि गृह्णाति। पुनश्चञ्चलेन मनसा युक्तो हस्ती ग्रामाद्वनं गच्छति, किंचित् सुखं मे भविष्यतीति, वनात् शृगालो ग्राममागच्छति मृतकास्थ्यादिभक्षणार्थमिति निर्देशः इति। यथा राजस्त्रीगणोऽनेको स्वयन्तु राजा एक एव, स तासां समस्तानां कामवृत्तिं पूर्णां कथं कुर्यात्। स्वचित्तप्रसादेनैव यथेच्छं क्रीड़ति नाम यतस्तासां तु महत्तरं दुःखमेव स्यात् तेन दुःखजनितापध्यानेन राज्ञोऽकल्याणमेव भवेत्। अत एवोक्तं राज्यान्ते नरक इति। तथैवैतादृश एवाचार्य एक एव शिष्यास्तु बहवः कृतास्तेपु कस्य कस्य पापं संहरेत्। पापहरणासमर्थो बहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपि दुर्गतिमेव प्राप्नुयात्। तदुक्त सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ आचार्या बहुदीक्षिता इत्यादि, ते तत्त्वतो वञ्चिता इत्यन्तम्। यदा तत्त्वतो वञ्चितास्तदा मुख्य ··· ·· नरकभाज एवेत्यर्थादागतम्। अतो हेतोर्बहुशिष्यकरण सिद्धानां मते वर्जितम्।

षट् पदार्थाः यत्र भवन्ति स भगवान्। के ते षट् पदार्थाः ? अमी—समग्रैश्वर्यं १ धर्मं २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानं ५ वैराग्यम् ६, इत्येषां मध्य एकोपि रुद्रविष्ण्वादिना भगवत्पदवाच्येषु न। प्रथमं तु समग्रमैश्वर्यं योगरूपं तदेव नास्ति, कथं ? सर्वं कामवशा स्त्रीसंगिनो यान् लोकाः योगिनो कथयन्ति तेषां स्त्रीसंग एतत्तु हास्यमेव। पुनः धर्मं यत्र यत्र स्थले छलः क्रियते तदा धर्मभाव· कथं ? छलस्तु नारदस्य वानरमुखकरणादिना विष्णोः प्रसिद्धमेवेति। पुनः यशस्तदपि कथं रावणवधे लोककल्याणे यशो जातं तथैव स्त्रीहरणेऽपयशोऽपि जातम्। कथ ? रावणस्य पामरस्य वधेन किं तस्य बालिवानरेण बन्धनं कृतं, सहस्रबाहुनार्जुनेन च बन्धनं कृतं, पुनः रामस्तु भगवानिति कथ्यते, जगत्कर्त्ता च कथ्यते, तस्य स्त्रीहरणमेतत्तु महदयशः। पुनः श्रीः यस्य परमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशो नास्ति तस्य श्रीः कथम्। पुनः ज्ञानं यदा ज्ञानस्वरूपास्ते तदा अज्ञानकार्ये संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनः वैराग्यं तत्तु सर्वथैवैतत् कल्पितेष्वीश्वरेषु नैव नैवेति। कथं ? पुराणे एतेषां लौकिकया त्वेवमायास्यति तत्तु वक्तुमशक्यं दास्यां वेश्यायामासक्ता इत्यादि किं किं लिख्यते। तदा वैराग्यं कुत्र ? अतः कारणात् षडेव पदार्था नाथेष्वत एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यं तु योगः, स तु सहजसिद्ध एव। पुनः धर्मोऽपि स

एव यो मुक्तिरूपः, एतद्व्यतिरिक्तस्मृत्यादिशास्त्राणि यं धर्मं वर्णयन्ति स त्वधर्म एव। पुनः यशोऽपि यो मुक्तरूपस्तस्यैव बन्धनरूपस्य कथं यशः। पुनः श्रीः शोभापि तस्यैव यो मुक्तो बन्धरूपस्य छविः कथं भवेत् यो लौकिकसुखदुःखे मग्नः। ज्ञानं तस्यैव ज्ञानं पुनः वैराग्यं तस्यैव वैराग्यमेवं च सर्वेषामाधारो नाथ एवातः कारणान्महासिद्धानां तात्पर्यं नाथपरमेवेति। कोऽपि कथयति–किं नाथ एव मुक्तिरूप एते ईश्वरा मुक्ता न सन्ति? तत्तु प्रथममेवोक्तं ये स्त्रीसंयुक्ताः संसारकार्ये चासक्तास्ते कथं मुक्तरूपा इत्यत एवाग्रे एतेषां मुक्तिबन्धरूपत्वं कथयिष्यते। भगवच्छब्दनिर्णयोऽपि करिष्यते।

अस्माकं मते शक्तिः सृष्टिं करोति, शिवः पालनं करोति, कालः संहरति, नाथो मुक्तिं ददाति। ब्रह्मविष्णवोस्तु शिवशक्तिकालानामवान्तरभेदेन कर्तृत्वादिशक्तिर्न तु स्वसत्तया। यदा शिवादयः संसारप्रवर्तका जातास्तदा बन्धरूपा एव भूताः। कथं? जीवरूपेण बन्ध ईश्वररूपेणापि बन्धनं ददाति[1] भेदोऽतएव जीवात्मा परमात्मेति, परन्तु शुद्ध आत्मा नास्ति, स तु शुद्ध आत्मा नाथ एव। एते संसारमज्ञानं प्रवर्त्तयन्ति। नाथस्त्वज्ञानं निवर्त्तयति। नाथरूपेण सृष्टिकरण उपेक्षा। आचार्याणां तु खण्डेषु पाण्डित्यं वर्त्तते पूर्णो धर्मो नास्ति। संसारप्रवृत्तिकरणरूपं वस्तु चैकं पूर्णो धर्मो न तु मोक्षधर्मो यथा राज्ञामेकं स्वार्थसम्पादकत्वमेव पूर्णं नत्वन्ये धर्माः। धर्माश्च ते के इति? यज्ञो वैराग्यं तपस्तीर्थं व्रतं त्यागो ज्ञानं योग इत्यादयः, शौर्यमौदार्यं पुण्यं यशोभिलाषः शस्त्रधारणमित्यादयः। ब्रह्मचर्य्यं गृहीतं पुनर्गार्हस्थ्यं करोति पुनर्गार्हस्थ्यं किञ्चित्संसेव्य त्यागं करोत्यत एतदन्तरे यद्धर्मरहितत्वेन कालो जातस्तत्र धर्मो न्यून एव जायते तथाह्युपदिशति।

द्वैतवादिनः क्रियावद्ब्रह्मेति[2] कथयन्ति, अद्वैतवादिनो निष्क्रियं तदिति कथयन्ति तत्तु द्वयमपि निरन्तरं न भवति चाक्षरं न भवति [3][निश्चलं न भवति]। कथं सर्वदा क्रियैव न भवति सर्वदा ह्यक्रियैव च न भवति, यूयं वयं चापि गृहेषु प्रातःकालादौ स्नानभोजनादिक्रियां कुर्मो मध्याह्नादावक्रियावसरे स्वस्वचित्तेऽक्रियतयैव स्थीयते, पुन. कार्यावसरे क्रियाकरणमेव भवेत्। तथैवेश्वरोऽपि। क्रियाक्रिये द्वेऽपि शक्ती तत्स्थ एव। निरन्तरं निश्चलमक्षरं भवति न तु एकदिशा ब्रह्म पूर्णं भवति। तदुक्तमवधूतगीतायाम्—

"अखण्डं यत्स्वाज्ञानेन खण्डयतीति। तदुक्तम् "अखण्डं खण्ड्यते कथम्?" (अ० गी० १।१२)

अतो द्वैतवादिनां कैलासवैकुण्ठादिस्थानमद्वैतवादिनां मायाशबलं ब्रह्म च बन्धमुक्तिरहितपरमसिद्धान्तवादिनां योगिनां नित्यपिण्डावधूतानां तु

१. दत्तम्–पू०सं०। २. क्रिया ब्रह्मेति–पू० स०।
३. [ ] नास्ति–पू० स०।

स्थानं, बन्धमननानन्तर मुक्तिभवनादिति। योगिनां तु निर्गुणस्थानमथ निर्गुणसगुणातीतमद्वैतोपरिवर्ति यत्सर्वोपरिवर्त्त्यैव स्थानं परमहंसाः कथयन्ति। अस्मदीयं निर्गुणस्थानं तत्तु कथनमात्रमेव। कथं ? एते तु निर्गुणब्रह्मणि अमायिकब्रह्मणि[1] मायाया गुणानां च स्थापनं कुर्वन्ति पुनर्नानाप्रकारेण सृष्टिक्रियादि तत्रारोपयन्ति, अनेकस्तोत्रैः स्तुवन्ति च। तथा च तत्कथं निर्गुणममायिकं च जातम् ? माहात्म्यार्थं स्वप्रशंसार्थं च कथने निर्गुणं ब्रह्म लक्ष्यं कथयन्ति नत्वाचरणे तद् दृश्यते। पुनः कथने निर्गुणं ब्रह्म इष्ट तथापि पूर्णता न भवति, यथा योगिनामिष्टे वर्त्तते तया रीत्या। कथं ? प्रथमं तु ब्रह्मशब्दस्य व्युत्पत्तिकरणमव स्थगितम्। ब्रह्म तु व्यापकं तन्निर्गुणं ब्रह्म सर्वव्यापकं न भवति कथं चैतन्यरूपेणैतद् व्यापकं कथ्यते तदा पञ्चभूतेषु व्यापकम्। पुनः निर्गुणं तु शक्तिरहितमेव। तदा व्यापकधर्म एव कथं कथ्यते। एतद्रीत्या निर्गुणमेव ब्रह्मेव द्वयमपि परात्परं ब्रह्म न भवति, तस्मात् परमहंसापेक्षयाप्यवधूता उत्तमाः। कथं ? परात्परः पूर्णो नाथो लक्ष्य इति।

अद्वैतोपरिवर्तिनिराकारसाकारातीतनाथात् निराकारज्योतिर्नाथो जातस्ततः साकारनाथो जातस्तदिच्छया सदाशिवो भैरवो जातस्ततश्च शक्तिभैरवी च जाता, तस्माद्विष्णुर्जातस्तस्माद् ब्रह्मा जातस्तेन सर्वा सृष्टिरुत्पन्ना। नाथाद् द्विप्रकारा सृष्टिर्जाता—नादरूपा बिन्दुरूपा च। नादरूपा शिष्यक्रमेण बिन्दुरूपा च पुत्रक्रमेण। नादान्नवनाथा जाताः, बिन्दुतः सदाशिवो भैरवो जातः। पुनः शब्दसृष्टिप्रकारमाह—एका सूक्ष्मरूपिणी द्वितीया स्थूलरूपिणी। सूक्ष्मरूपिणी प्रणवो महागायत्री योगशास्त्रमिति। स्थूलरूपिणी ब्रह्मगायत्री वेदत्रयीति। पुनः योगशास्त्रतस्तन्त्रशास्त्रं जातम्। वेदात्स्मृत्यादिशास्त्रं जातम्। पुनः नवनाथानां पश्चाद् द्वादशसिद्धाश्चतुरशीतिश्च, द्वादशपन्थानोऽनन्तसिद्धाश्च जाताः। सदाशिवभैरवाद्विष्णुर्ब्रह्मासूर्य्यश्चन्द्र-इन्द्रादिदेवता जाताः। पुनः योगात् शेषयोगसांख्ययोगाद्योऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन यागेन ज्योतिषन्यायादिकं शास्त्रं श्रुतितः स्मृतिशास्त्रव्याकरणपुराणानेकेतिहासा जाता एवं विग्रहसृष्टिर्निवृत्तिप्रवृत्तिरूपिणी जाता। पुनः नादसृष्टिरपि सूक्ष्मस्थूलरूपिणी प्रकारद्वयात्मिका जाता।

मङ्गलश्लोकानां व्याख्या—

निर्गुणमिति। निर्गुणं ब्रह्म तद् यस्य सर्वोपरिवर्तिनाथस्य वामभागे एकव्यवहारे। वामभागेन कोऽर्थः ? यथेतरं शास्त्रं कथयति। कश्चित् पुरुष ऊर्द्ध्वगतिर्ब्रह्मपदं प्राप्तः तदा कथ्यते निर्गुणस्य सर्वव्यापकस्यैकरूपस्य ऊर्ध्वमध इति।

भागकल्पना कुत्र कस्यां वा दिशि कुतो वा वाग्रचना। तथा च कल्पनां विना व्यवहारो न सिद्ध्येत्। तया रीत्या निर्गुणं वामभागे इति। तस्य साक्षात्स्वरूपस्य एकभाग एकव्यवहारे निर्गुणम्। पुनः सव्यभागे अद्भुता निजा च इच्छाशक्तिः

---

१. अमायि ब्र०–पू० सं०

सर्वसाकारब्रह्मकारणीभूता सव्यभागे एकभागे एकव्यवहार इत्यर्थः। सगुणब्रह्म-मूलभूता सा यस्येति। पुनः मध्यभागे सर्वस्याधारो वा सर्वशिरोमणिर्यत्र निर्गुण-सगुणमुभयमपि चैक्यं प्राप्नोति सत्यमसत्यं जडं चैतन्यं च सर्वमपि भावजात यत्र साम्यं प्राप्नोति द्वैताद्वैतभेदो यत्र दूरीभवति। यदैताद्दशः सर्वोपरिवर्त्ती वाङ्मनो-गोचरो वाङ्मनोमयश्च द्वैताद्वैतविवर्जितः। पुनः याद्दश एव ताद्दश एवेति सर्वविल-क्षण एवैताद्दशो नाथो महासिद्धानां लक्ष्यः पूर्णः स मम श्रियेऽस्तु कल्याणं करोतु। मोक्षमार्गे दक्षभागतो वामभाग उत्तमोऽस्ति तस्माद्वामभागे निर्गुणमुक्तम्। पुनः जीवाः निर्गुणास्तत्त्वरूपा अद्वैतरूपा मुक्तास्ते चरणाग्रे रमन्ते, एतद्द्वये तु व्याव-हारिकं दर्शितम्। तत्तु कल्पनामात्रमेवेति, वास्तविकं तु बन्धमुक्तिरहितम् इति। तत्त्वानुभाविकास्ते मुक्ता नाथस्य सर्वपिण्डे रमन्ति इति किं नाथरूपा एव न त्वन्ये। अग्रे उक्तं वामभागे स्थितः शंभुर्यो निर्गुणस्य ब्रह्मणोंऽशरूपः साकारतया संसार-कल्याणार्थं जातः स शिवो वामभागे। पुनः मध्यभागे स्वयं पूर्णो निर्गुणसगुणातीतः सर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो नाथो मध्यमभागे स नाथो ज्योतीरूपो मम हृदयान्धकारनिवर्तनं करोतु।

विश्वस्योत्पत्तिं करोति स्वस्याप्युत्पत्तिं कथयति। एवं ब्रह्मण इच्छया पुरुषो जातः स नर इति। तेन तपस्तप्तं, नरशरीराज्जलानि नारा इति जातास्तत्र तेन शयनं कृतं तेन नारायण इति संज्ञको जातः। पुनरस्यैवावान्तररूपाणि रामकृष्णादीनि जातानि तेषामपि रामनवमी जन्माष्टमी इत्यादि जन्मकर्मोत्सवा इति मन्यन्ते तथा च य उत्पत्तिवान् स नाशवान् पुनयत्र लोके गतास्ते पुनरायान्ति। कथं? जयविजयौ शापादसुरौ जातौ तर्हि तेषां स्थानं निर्भयं कथम्? अथ च विश्वस्योत्पत्तिकारण-मेवोक्तं तेनैवं ज्ञायतेऽन्यदेवापेक्षया संसारापेक्षया च सर्वोत्तमः शिव एव, परन्तु स्वस्मात्त निकृष्ट एवेति कृत्वा मङ्गल तु नाथात्मकमेव कृतम्। आदिनाथो गोरक्षनाथश्चांशांशिभावेन वा स्वयमेक एव, परन्तु व्यवहारार्थमङ्गाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मङ्गलं कृतम्। तेनैव सूचितं सर्वस्मादुत्तमः शिवः शिवादुत्तमो नाथ इति। योगे देवानामथ च संसारे सर्वोत्तमो नाथ इति संकेतरीत्या। नाथस्योत्पत्तिरेव योगशास्त्रे न[१] कथिता, यतो जन्मकर्मापि न गीयतेऽत एव सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—श्रीगोरक्षनाथेन विश्वस्य कर्तृत्वं शिवस्य लिखितं नाथस्य तु न लिखितम्। कथं? विश्वकरणे सगुणत्वमायाति, सोपाधीश्वरत्वं चायाति, नाथस्तु निर्गुण एव निरुपाधिरूप एव, तस्य प्राकृतिककार्यकरणेन किं माहात्म्यं कि वा श्रीरिति। यदि पुनः शिव एव मुख्यो देवो भवेत्तर्हि मङ्गलं शिवात्मकं किमर्थं न कृतम्, एवंरीत्या कथनं महासिद्धानां सिद्धान्तो वर्त्तते न तु स्थूलरीत्या। प्रवृत्तिरीत्या कथन

---

१. योगशास्त्रेण—पु० सं०।

रीतिः। कथंमते तु निर्गुणा ऐश्वर्यं बहुधा गुप्तं कुर्वन्ति, अन्ये त्वैश्वर्यं प्रकटीकुर्वन्ति। अहो अहो विपरीता वार्त्ता तस्याः श्रवणेऽपि ज्ञानेऽपि चाप्रियं भवति। अस्मिन्मते श्रुतिर्न साधिका वेति वार्ता। श्रुतिश्चास्माकं मते साधिका न भवेत्, भवेदपि चेत्तर्हि-मेरुः कम्पते पृथ्वी चलति? आकाशात्सर्वं जायते तत्तु पृथिव्या एव सर्वं जायते पितुः पुत्रो जायते स पिता पुत्राज्जायते चैवं सर्वमपि कार्यं विपरीतरीत्या भवेत्। यत एवं न वक्तव्यं यन्महासिद्धानां तात्पर्यं तदेव श्रुतिर्वक्तुमिच्छतीत्यूर्ध्वबाहुर्ध्वनिं चिकीर्षति, परन्तु नानाकर्मनिरूपणात्तत्त्वस्याप्यन्यथा कथनात् सूक्ष्मात्स्थूलरूपनिरूपणात्पातकिनी जाता भाराक्रान्ता च जाता तेन तत्तात्पर्यं वक्तुं न शक्यते। यदि किंचिद् वक्तुं शक्यते तन्महासिद्धानां तात्पर्यमेव वदेत्। या श्रुतिः प्रणवानुसारिणी सा त्वस्माकं मतानुसारिण्येव, या च प्रणवविरोधिनी श्रुतिः कर्मज्ञानप्रतिपादिका साम्माकं मतानुयायिनी मा भवतु नाम, किन्तु सूक्ष्मस्थूलस्य निरूपणम्। प्रथमत उक्तं श्रुतिरस्माक मते साधिका न साधिकेति द्वयमपि न स्यादिति। कथं? तदाह—न साधिका भवेत्तत्त्वेवमस्माकं तु प्रयोजनमेव नास्ति, कथम्? वयन्तु महावेदयोगमाश्रितास्तेन च न कस्याप्यपेक्षां कुर्मः, परन्तु येषां मते स्थूलवेदाः परमपदार्था इति मन्यन्ते ते च यदि साधका न भवेयुस्तदास्माकं मते दूषणारोपणं कुर्वन्ति, यथा स्त्रीजनो मुनीन् प्रति कथयति भो मुने भवान् सकाम[1] इति। एवं कथयन्मुनीनां तु सकामत्वं दूषणमेव परन्तु तस्य त्विष्टमेवेति कृत्वा मनसा तु मुनिस्तुष्यत्येव परंत तदभिप्रायेण यो बाह्यवृत्त्याऽतुष्ट एव भवेत्। कथं? यस्य यदि सङ्गः क्रियते तदा तु तस्योपयुक्तवार्त्ताकरणं विना यो भूषणोऽपि दूषणमारोपयति। यतो हेतोर्न साधिकेत्युक्तं तद्वर्जनं चैतद्रीत्येति। पुनः साधकत्वे को वा दोष इति चेत्, कथ्यते-साधिकेति तु ये कथयन्ति ते पुराणस्मृतिकिंकरा वयं तु स्थूलवेदानां पितृकारणस्य महावेदस्यानुसारिणो योगसिद्धान्तिनस्ते कथं तदाश्रित्य भवेमेति रीत्या साधकत्वमपिवर्जितम्। तत्र कथ्यते तृतीया वार्त्तैव क्रियते तदा कथ्यते पूर्वमप्युक्तमेव वयं तु महावेदयोगानुसारिण इति। अथ च श्रुतिर्यद्वदति तदस्माकं महासिद्धानां यन्मतं तदेव वदति, सकलाया अपि श्रुतेस्तात्पर्यं प्रणवयोगपरमेव तथा च याः श्रुतयः प्रणवानुसारिण्यस्ताः तु योगमेव वदन्ति ये च ये च श्रुत्यनुकूलास्ते ते प्रथममेव प्रयुक्ता इति। पुनः ब्रह्म वेदस्यैकोनविंशतिरुपनिषदो माण्डूक्यक्षुरिकाकैवल्यप्रभृतयः, छान्दोग्यबृहदारण्यमैत्रायण्यादयोऽन्यवेदस्यापि योगपरा एवैतास्तु सर्वाः प्रत्यक्षतः। पुनः, वेदवेदान्तादिः सर्वः परोक्षवादो यतो हेतोस्तात्पर्ये तात्पर्यं रक्षति, प्रत्यक्षतः। कथं? तस्य तन्मर्यादा नास्ति यतो हेतोः कर्मोपासनां ज्ञानं च वर्णयति परन्तु क्रमतः सर्वस्य तात्पर्यं योग एवेति।

---

१. अकाम—पू० स०।

कैश्चित्कथ्यते ब्रह्मा विश्वं सृजति विष्णुः पालयति रुद्रः संहरति स त्वनुक्रमो नास्ति, योगस्य त्वनुक्रमो यो वर्त्तते स प्रथममुक्त एव, यदि चैतेषामेवानुक्रमो रक्षितस्तदा त्वयमपि चानुक्रमो व्यतिक्रम एव यदा भवेत्तदा कं वानुक्रमं करिष्यामि। कथं ? 'अन्नं ब्रह्मा रसो विष्णुर्भोक्ता देवो महेश्वरः' इत्यादौ। तेषां मध्ये भोक्ता तु रुद्र एवोक्त स एव बलिष्ठ एतौ तु भोज्यमिति। तथैव रुद्रः सहरतीत्यत्र महाप्राबल्येन नैर्गुण्येन नित्यमुक्तस्वरूपेण च तद्दोषाद्धारको न भवति तदन्यौ तु गुणपर्यवसानौ गुणावधीयत एतत्कार्यकरणं तद्बाधकमेव भवति।

बद्धास्तास्त्वग्रे वक्ष्यन्ते इति। सर्वे सम्प्रदायाः कथयन्ति सहस्रशो ग्रन्था जाता इति, तान्प्रति मया कथ्यते—यदि ममोपदेशो मन्यतां तर्हि सर्वे ग्रन्थाः कूपे निपात्यताम्। कथं? आधुनिकसमये स्वयमपि मुक्ता न भवन्ति तेह्यन्येषां मोक्षोपदेशे कथं समर्था भवेयुर्यतश्चातुर्यार्थमभिमानार्थं च जीविकार्थं च यस्य कस्याप्यभिलाषार्थं यत् शास्त्रं करोति तत्परमार्थिक[1] पुरुषाणामग्रे कथं शोभनीयं भवेत्, तदुक्तं श्रीगोरक्षनाथेन—शिलया किं परपारमित्यादि। अतः कारणादाधुनिका अयुक्तपुरुषास्तैः कृतानि सहस्रशः शास्त्राणि तानि त्याज्यानि, एतच्छास्त्रस्याभिमानो भवद्भिर्नरक्षणीय इति।

शङ्करसम्प्रदाये विद्यारण्यस्त्यागी जातः पश्चाद्वेदभाष्यं कृतं तदनन्तरं काशीं गत्वा कस्यापि पण्डितस्याग्रे स्वकृतभाष्यवार्त्ता कृता, तदा तेन स निन्दितः। कथं त्यागी भूत्वा पुनरपि व्यवहार उद्युक्तः ? तदा पुनः परमहंसेनोक्तम्—मदीयः श्रमस्त्ववलोकनीय इति। यदा पण्डितेन दृष्ट्वाऽशुद्धिबाहुल्यमित्युक्तं तदा परमहंसो विरागो जातः। पुनः कदाचिद्वनभ्रमणे कस्यचित् प्रेतस्य कृपया व्यास[2] मिलनं जातम्। तेन भाष्य कमण्डलौ धृत्वाऽशुद्धिर्दूरीकृता, इति वार्त्ता प्रसिद्धा। पुनः कौमुदीकारो भट्टोजिदीक्षितः, सोऽपि प्रेतत्वं गतः, पुनः वैष्णवसंप्रदाये ताताचार्येणाप्पय्यदीक्षितोपरि कोऽपि अभिचारः संचारितः, सतु तेन शिवभक्तेन शिवस्मरणे कृते तस्यैव मरणाय जातः। एवं यदा, तदा मया कथ्यते यादृशानि प्रेतरूपै प्रेतप्रसादाभिलाषिभिः पुरुषैः कृतानि शास्त्राणि मोक्षाय कथं भवेयुरित्यतः कारणात् महासिद्धानां मते विद्याभ्यासेन कोपि ग्रन्थं न करोति किंतु योगाभ्यासेन सिद्धो भूत्वा सिद्धत्वेन च शास्त्रं करोति, स स्वयमपि मुक्तोऽन्येषामपि मुक्तिं ददातीति सिद्धान्त इति। ग्रन्थस्य प्रकरणबन्धनमादिरन्तोऽपि च न क्रियते। कथम् ? इयमप्याशैव भवति नियमश्च भवति ज्ञाने तु क्षणस्यापि नास्ति तर्हि एतावत् सङ्कल्पः क्रियेत तस्याप्यहंकारविलसितत्वात्तद्रूपमपि कर्मैव लग्नं भवेत्। पुनः क्षणेन मरणे सत्यन्यत्कार्यं, तावन्मात्रस्तु बन्धो जात एव यस्माद्यत

१. धर्मार्थि–पू० सं०। २. 'व्यास' इति नास्ति–पू० स०।

आरम्भः कृतः स एवादिर्यन्नकृतं तत्रैव समाप्तिः। स्वतन्त्राणां पुरुषाणां क्षणमात्रमपि बन्धनं प्रियं न भवेत्। पुनः संस्कृतो वर्त्तते। सोऽप्यघटितपदार्थस्तु नास्ति सर्वव्यापकोऽपि नास्ति। कथं? स्वभावकर्मापि नास्ति। तदा शिष्यते तदायाति। पुनः यश्च शब्दः सोऽघटितोऽस्ति, विनापि शिक्षां यत आयाति भेद् व्यापको नास्ति यत्परात्परमघटितस्वरूपं तथैव तदंश एष शब्द एवादिघटितो दृश्यते स एव ग्राह्य इति। अतः कारणादेव श्रीनाथेन शब्दमयी गिरेतिकृत्वा सर्वाभिरपि गिराभि सर्वाणि शास्त्राणि कृतानि, सा च संस्कृतप्राकृतनागरमागधीभाषाभिरथ च यवन-भाषापर्यन्ताभिरपि यत एतेन व्यवहारे तु सर्वज्ञत्वं सूचितं सिद्धान्ते शब्द एव मुख्य इति सूचितम्। योऽघटितपदार्थो विशेषव्यापकः स एव न तु संस्कृतो वा अन्योऽपि यः कश्चित् एकः साङ्केतिकभाषाशब्दः स एव सिद्धान्त इति न किन्तु शब्द एव सिद्धान्त इति, शब्दे ब्रह्मणि शुद्धत्वाशुद्धत्वेन स्वाऽव्यक्तलिङ्गोपर्येव तात्पर्यमिति यतस्तत्प्रकारेण सर्वमेकपदादेव चिन्तनीयम्। यदा देवश्चिन्तनीयः तदा तेषां शास्त्रपठनेनापि किं, तदुक्तं भर्तृहरिणा—

तार्किका घटपटेति रटेयुः शाब्दिकाः खफछठेति पठेयुः ॥
मादृशां तु सततं स्मरणीयौ चन्द्रचूडचरणौ रमणीयौ ॥ इति।

पुनः अवधूतेषु [1]कैश्चिद्दोषारोपणं क्रियते निश्चितं तथा कुर्वन्तु नाम, ततो नावधूतानां मनोविकारस्तदुक्तं भर्तृहरिणा—

चाण्डालः[2] किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा[3] तापसः।
किं वा तत्त्वनिवेश[4] पेशलमतिर्योगीश्वरः कोऽपि किम् ॥

इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणा जनै—
र्नो क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो गच्छन्ति ते[5] योगिनः ॥ (वैराग्य श. ५५)

गालिप्रदानेऽपि नावधूतानां क्रोधादिरिति भर्तृहरिणोक्तमेव—

ददतु ददतु गालीर्गालिमन्तो भवन्तो
वयमिह तदभावाद्गालिदानेऽप्यशक्ताः।
जगति विदितमेतद्दीयते विद्यमानं
न हि शशकविषाणं दीयते यद्वदान्यैः।

पुनः क्रोधो न क्रियते, इदमपि नास्ति। कथं? अक्रोधस्तु परमहंसानां धर्मः पुनः क्रोधकरणमिति गृहस्थानां धर्मः। अस्माकं तु द्वयमपि धर्म एवेत्यत एव।

---

१. किंचिद्—पू० सं०।
२. चण्डाल—प० स०।
३. किं—मु. पा.।
४. विवेक—मु० पा०।
५. यान्ति स्वयं—मु० पा०।

एकदा भर्तृहरिः स्वेच्छया सिद्धस्वरूपः कापोतीमाश्रित्य पण्यवीथिकायां कणानादाय चर्वन्नृपतिना विक्रमार्केण दृष्टः स ज्येष्ठो भ्रातैव तदापि सिद्धरूपस्तेनाज्ञातो यत उक्तम्–अहो अस्यापि जननी ययैतादृशः पुरुषो जनितो यश्च स्वोदरभरणेऽप्यसमर्थ इति। तच्छ्रुत्वा किमुक्तं सिद्धेन—अहो तस्यापि जननीं धिक् यः समर्थोऽपि परोपकारकरणेऽसमर्थ इति। यदा चैवं विवेकवचनं श्रुत्वा राजा महान् विचक्षण· स्वकीयं जेष्ठभ्रातर परमं पुरुषं ज्ञात्वा स्वतः शीघ्रमेवावतीर्य्य तच्चरणे पतितस्तदा श्रीभर्तृहरिणोपदेशो दत्तस्तदनन्तरं परोपकारकरणे नृपतिः प्रवृत्तस्तेन च महाप्रतापवान् जातः। ततः कथ्यते महासिद्धा अकामिनोऽप्यक्रोधिनो जिताहंकारास्ते वचनसहनं कथं न कुर्वन्ति, परन्तु परमहंसरीत्येमेतु परमहंसा न सन्ति गृहस्था अपि न सन्ति, यथा काक उल्लूक इति। तयोरेकस्तु दिन एव पश्यति तदन्यो रात्रावेव पश्यतीमे तु योगिनो यौगिकपरमहंसा मराला दृष्टिद्वयेनापि पश्यन्तो मुक्तिमुक्ताफलं गृह्णन्ति शिवशक्त्योर्द्वयमपि चैकीकृत्य चरन्ति तेऽवधूतयोगिनो भवन्ति इति सिद्धान्तेन सर्वदा रमन्ते*। गृहस्थः क्रोध एवासक्त· परमहंसश्चाक्रोध एवासक्तो यत एतयोरेकैकस्मिल्लोकेऽवज्ञा भवेत्। गृहस्थस्य क्रोधादिकरणे परो लोको न सिध्येत्। परमहंसस्याक्रोधादिसेवनेनेहलोके सुखं न स्यात्। एते तु परमहसाधिकाः क्रोधालोकदृष्टिगोचरा इतिकृत्यालौकिक· सेवनादयं लोकोऽपि रक्षतेऽक्रोधादिना परलोकोऽपि साध्यते। परमावस्थायां भेदाभेदपरे द्वैताद्वैतपरे न कोऽप्ययं लोको न कोपि परो लोकोऽयं तु तेषां परम· सिद्धान्त इति। वैदिकः स्मार्तस्तु कुमारीकन्या यस्योपरि चित्तमासज्येत तमेव वृणोति। अवधूतः परमहंसः शैवः शाक्तो वा यः कश्चित् स कथं इष्टो मुख्यतया न मतो यदि मुख्यतया मतो भवेत्तदा परिणीतः स्यात्। यदा ये तूपरिलिखितास्तेषां वेष आश्रितो भवेत्। पुन· अन्यस्येष्टोऽन्यस्य पतिर्न भवेत्, तदा स भ्रष्ट एव स्यात्। यथा पुरुषः कोऽपि यवनो भवेत्तदा केन वार्यते। पतञ्जलिना शास्त्राणि त्रीणि कृतानि—योगसूत्रं, व्याकरणभाष्यं, वैदि[द्य]कशास्त्रमिति[1]। तेन तच्छिष्याः प्रशंसां कुर्वन्ति अस्माकं गुरुणा शास्त्रत्रयेण त्रयाणां दोषा जिताः, योगेन मनसो मालिन्यम्, व्याकरणेन वाङ्मालिन्यमशुद्धता, वैदि[द्य]केन शरीरमालिन्यमनामयतेति। यदावधूतशिष्याः कथयन्ति शास्त्रत्रयेण त्रयाणां दोषा जिताः एतत्त्रयस्य प्रयासः कृतस्तर्ह्येकेन योगेनैव ते दोषा जिताः स्युस्तत्रैव किमर्थं न कृत·। कथं? योगेन मनोमालिन्यं दूरीभवति तत्तु तेनैवोक्तं, पुनः व्याकरणेन यदुक्तं तद्योगेन कि न भवति? यादृशं यद्योगे न स्यात्तत्तादृशं त्वन्येन न भवत्येव। कथं? शब्दब्रह्मास्य योगिन इष्टमेव हि भवति, योगिनः सिद्धवाचो भवन्ति, यद्वदन्ति तदेव भवति। वैयाकरणो न कोऽपि इष्टः सिद्धवागिति। पुनः वैदि[द्य]केन शरीररोगनिवर्त्तनं भवति तद्योगेन कथं न भवेत्। योगिनस्तु शरीरममृतं कुर्वन्ति,

* एतावदेव पूर्वसस्करणे मुद्रितम्।

१. चरकाख्यमायुर्वेदशास्त्रमित्यर्थः।

असंख्ययुगकालपर्यन्तं शरीरं रक्षन्ति च, यदि शरीरं नीरोगं भवेत्तदा कथं तावत्तिष्ठति। एतादृग्वैदि[द्य]कं न किमपि दृष्टं येनैकयुगमपि शरीरं रक्ष्यते। तथा चावधूतशिष्य एव भवतु, तेनैकेन योगेनैव सर्वसिद्धिर्भवति। पुनः पुनर्योगः प्रशंस्यते, तत्तु प्रशंसनमनया रीत्या। कथं ? योगपदार्थस्त्वात्मधर्मः कथं स्वदेहे न भवेत्। स्वतन्त्र एव, मुख्य एव, पुरुषार्थ एव च। कया ? आसनप्राणायामध्यानधारणासमाधय एतेषां मध्ये इन्द्रियदमनं सहिष्णुता सत्यमिति सर्वेऽपि चागतास्ते सर्वे स्वत एव भवन्ति। अत आत्मधर्म एव स महाश्रेष्ठः। अन्यत्तु यज्ञादिकर्म द्रव्येण साध्यते। पुनः बहुपुरुषैर्मिलितैः साध्यते। पुनरन्यत्तीर्थाटनं व्रतं त्यागस्तपो विरागो ज्ञानमिति यद्यप्यात्मधर्म एव तथापि सुकरत्वात् संसारिभिरपि जनैः क्रियते, यतो बहवो दृष्टिगोचराः। तीर्थयात्रिणो व्रतकारकास्त्यागिनश्च तस्मादेतेऽपि संबन्धधर्मतुल्या एव दृश्यन्ते, न त्वात्मधर्मस्तत्र दृश्यताम्। पाणिनीयव्याकरणाश्रितानां जनानां पण्डितानामग्रेऽपि दृष्टं किमप्येकं प्रमाणं नियतं नास्ति। वैष्णवा यया रीत्या व्याख्यां कुर्वन्ति तां तु स्मार्ताः कथयन्तीयं व्याकरणरीत्या शुद्धा नास्तीति। यद्वैकशास्त्रावलम्बिनां बहुधैकधर्मिणां पुरुषाणां मध्येऽपि चैवं भवेत्तर्हि मया तु सिद्धव्याकरणशैवव्याकरणावलम्बिनां तेषां धर्मतो भिन्नधर्मिणा तत्तत्कथनमेव किं गण्यते, तेषां भेदं दृष्ट्वा दृश्यते चेति। अर्जुनमिश्रकृतभारतटीकायाम्—

> यान्युज्जहार माहेशाद्व्यासो व्याकरणार्णवात्।
> तानि किं पदरत्नानि मान्ति पाणिनिगोष्पदे॥

भर्तृहरिर्वाक्यपदीये—

> शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
> समारम्भस्तु भावानामनादि ब्रह्म शाश्वतम्[1]॥ (वा० २।२३३)

नीत्युपाये यथा राज्ञां धर्माः शौर्यं तेजो बुद्धिर्भाग्यं स्वातन्त्र्यशक्तिरिति, एभ्यो यादृशी राज्यकार्येषु सिद्धिर्भवति, यज्ञाश्च भवन्ति, तथा मन्त्रिबुद्धितः सेनासंपत्तिः शत्रूणां द्रव्यसमाधानमित्यादेः संबन्धधर्मान्न भवति। एवं शृङ्गारेऽपि तारुण्येन, पराक्रमेण, रूपेण च यादृशं सुखं स्त्रीजनानां प्रीतिश्च भवति तादृगनेकभूषणेन द्रव्येण हर्म्यादिसामग्रीविशेषेणानेकगुणैरैश्वर्येण बुद्धिकुलीनतावेषरचनारागरचनादिभिश्चेत्यादिसंबन्धधर्मेण न भवति। यद्यपि सर्वेऽपि संबन्धधर्मा मिलिता अपि कार्यकरा भवन्ति इति विशेषः। एवं च योग एव श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं मुक्तिरङ्गीकरोति। यथा पूर्वोक्तशौर्यादिः श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं राजानं पृथ्वी अङ्गीकरोति, यथैव च पूर्वोक्ततारुण्यादिः श्रेष्ठ आत्मधर्मस्तद्वन्तं स्त्रीजनः शृङ्गारेऽङ्गीकरोति।

केचिन्नारायणात्सर्वोत्पत्तिं कथयन्ति। सा च तदधिकारिणामुपासकानामेवार्थे न तु मुख्यतया। तदुक्तं शिर उपनिषदि—

---

१. अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्त्तते—मु० पा०।

"अक्षरात्संजायते कालः कालाद्व्यापक उच्यते। व्यापको हि भगवान् रुद्रो भोगायमानो यदा शेते रुद्रस्तदा संहार्य्यते प्रजाः। उछ्वसिते तमो भवति तमस आपो अप्स्वङ्गुल्या मथिते मथितं शिशिरे शिशिरं मथ्यमानं फेनो भवति फेनादण्डं भवति। अण्डाद् ब्रह्मा भवति ब्रह्मणो वायुर्वायोरोंकार ॐकारात्सावित्री सावित्र्या गायत्री गायत्र्या लोका भवन्ति।" (अथर्वशिर उ० ६, ई० अ० उ० पृ० १५७)

अत्र तु विष्णोर्नामगणनापि नास्ति। कथं ? स तु रुद्रस्यांशावतारगणनेऽपि तदवान्तरत्वेनोक्त इति। विशेषरीतिस्तु शिवरहस्ये सविस्तरं लिखिता—

सर्ववेदानां सर्वसंसारिणामपि च गुरुर्नाथ एव सर्वशास्त्रप्रसिद्धोऽत एव तन्त्रोक्तेऽपि गुरुकवचे गुरुमण्डल निरूपणे मुख्यतया नाथस्यैव गुरुत्वमुक्तं श्रीनाथादि गुरुत्रयमित्यादिना।

श्रीनाथादिगुरुत्रयं गणपतिं पीठत्रयं भैरवं
सिद्धेभ्यो बटुकत्रयं पदयुगं इतिक्रमं शोभनम्।
वीरेशाष्टचतुष्टषष्टिनवकं वीरावलीपञ्चकं
श्रीमन्मालिनिमन्त्रराजसहितं वन्दे गुरोर्मण्डलम्॥

महेशसंहितायाम्—

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचमथापरे।
क्षमां केचित्प्रशंसन्ति तथैव शममार्ज्जवम्॥
केचिद्दानं प्रशंसन्ति पितृकर्म तथापरे।
केचित्कर्म प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तमम्॥
केचिद्‍गृहस्थकर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः।
अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचित्परं विदुः॥
एवमन्ये तु संचिन्त्य यथामति यथाश्रुतम्।
निरीश्वरमिदं प्राहुश्चेश्वरं च जगत्पते॥
वदन्ति त्रिविधा भेदैः सद्युक्त्या स्थितिकारकाः।
एते चान्ये च मुनयः संज्ञाभेदात्पृथग्विधाः॥
शास्त्रेषु कथिता ह्येते लोकव्यामोहकारकाः।
एतद्विवादशीलानामलं वक्तुं न शक्यते॥
भ्रमन्त्यस्मिन् जनाः सर्वे मुक्तमार्गवहिष्कृताः।
आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः॥
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रामृतं परम्।
यस्मिञ्ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्॥
अस्मिन्परिश्रमः कार्यः किमन्यच्छास्त्रभाषितम्।
योगशास्त्रमिदं गोप्यमस्माभिः परिभावितम्॥

आचारस्य संस्कृतशब्दस्य प्रबन्धकरणस्य शुद्धशब्दस्य चेत्यादि सर्वपदार्थानां निषेधकरणेनैवं वादिभिः कदाचिदपि न ज्ञायतां यदेतेषां मते त्वाचारो नास्ति, संस्कृतं शास्त्रं च नास्ति, प्रबन्धो वा नास्ति, शुद्धशब्दस्योच्चारणं नास्ति, इति। किंत्वस्माकं मते त्वाचार ईदृशो वर्त्तते यस्तु प्राणान्तेऽपि न त्यज्यत आचारः। अन्येषां तु मत एवमपि कथ्यते शरीरार्थं कदापि काले ह्यधर्ममपि ग्राह्यम् किमर्थं ? यदिशरीरमरोगं भवति तदापुनरपि तेन धर्मं संपाद्य तमधर्मं निवर्त्य पुनर्धर्मं करिष्यते येन सर्वश्रेयो भविष्यतीति। अस्माकं तु मते यदा कष्टे विपत्तौ वा शरीरार्थमधर्मं गृह्णाति तदायं कीदृशो धर्मो यः कष्टे त्यजते धर्मस्तु स एव यः प्राणान्तेऽपि न त्यक्तो भवेदिति हेतोर्योगिनो योग एव सर्वदा तिष्ठन्ति क्षणमपि न योगं त्यजन्ति। अत्र योगेन योगाभ्यासो ग्राह्य इति। तत्कर्मैव कर्माचारं यन्न त्यज्यते।

ननु वेदेऽपि लिखितं यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति, अहरहः सन्ध्यामुपासीतेत्यादि। पुनः संस्कृतशब्दरीतिस्त्वन्यैव। संस्कृतरीतिं रचयन्ति पुन. प्रबन्ध इति। प्रबन्धस्तु य एतादृशो यद्वाक्यं मेरुश्चलति तथापि तन्न चलति वाक्यम्। पुनः शुद्धमिति शुद्धमेतादृशं यच्छुद्धाशुद्धैकीकरणं तन्मोक्षरूपम्। शुद्धमेव स्यात्तच्च कदापि काले नाशुद्धं भवेदित्येतद्रीत्या ह्याचारादयः पदार्था एतैर्योगिभिरेतादृशाः क्रियन्ते यादृशा अन्यैः कर्त्तुं न शक्यन्ते परं त्वयं सिद्धान्तो नास्तीति। आचारो ह्यनाचार इति संस्कृतमिति। प्रबन्धो प्रबन्ध इति। शुद्धमशुद्धमिति। द्वन्द्वमिलनेनैव सर्वं सिध्यति न त्वेकेनेति। एकेन तु ब्रह्मादयोऽपि किमपि कर्त्तुं न शक्नुवन्ति तच्च कदापि काले न भवत्येवेति। एतेन वारंवारमस्माभिरेवं प्रदर्श्यते। अव्यक्तलिङ्ग एव अघटितपदार्थ एव अत्याश्रम एव निश्चलो भवति नत्वितरकलितपदार्थो निश्चलः क्षणमपि दृश्यते। यद्वारंवारं कथनेनाव्यक्तलिङ्गस्यात्याश्रमस्येदंकरणं श्रोतारस्त्वैश्वर्येण मत्ता भूता एकदा लिखनेन जानन्त्यपरेषां मत एते यदा न भवन्त्येवेति तन्नास्ति सर्वस्माद्प्येतेऽधिका भवन्ति निषेधकरणे न तु अव्यक्तलिङ्गे तात्पर्यमिति सिद्धं क्रियत इति। प्रथममुक्तेन योगेन योगाभ्यास उक्त इति। तदा कोऽपि जानीयात् योगाभ्यासो योगश्चेति कियदर्थद्वयमायातीति तत्र कथ्यते—योगस्तु जीवात्मपरमात्मनोरैक्यमेव योगाभ्यासस्तु तस्य योगस्य प्राप्त्यर्थं मानसप्राणायामाद्यभ्यासकरणमिति। पुनः प्रथमं यावज्जीवमग्निहोत्रीत्युक्तं तत्त्वन्यशास्त्रस्यापि रीतिरुक्ता नत्वेतदग्निहोत्रादि कर्म योगाभ्यासरूपं कर्मचैकमिति ज्ञेयं तत्तु निष्कर्म इदं तु महोत्तममिति। अत एव श्रीगोरक्षनाथेनोक्तं गोरक्षोपनिषदि—आदिब्राह्मण इति। को वा ब्राह्मण इति। ब्रह्म जानाति स ब्राह्मण इति। वैष्णवा ब्राह्मणाश्च रामकृष्णादयोऽपीतरं ब्रह्म। एवं जीवात्मापि चानुक्रमानुक्रमतो जीवो ब्रह्मेति कथनं भवतीति। एतया रीत्या अंशांशब्रह्म भजन्तस्ते मायाशबलं ब्रह्म पर्यायनारायणे समन्वयं व्रजन्ति। पुनः वैदिकाः परमहंसाश्च ये ते मायाशबलब्रह्म भजंतो निर्गुणब्रह्मणि समन्वयं व्रजन्तीत्येवं भवतु मा भवतु परन्त्वेवं

ते कथयन्ति। महासिद्धास्तु निर्गुणं भजन्तो निर्गुणातीते पूर्णे नाथे समन्वयं व्रजन्ति। अथो त्रयमप्येतत्केन मार्गेण व्रजन्ति, तत्राह—वैष्णवा· पुराणपाञ्चरात्राद्यनुसारिणस्तदुक्तोपासनेन कर्मणा। वैदिकाश्च परमहंसाः स्थूलवेदानुसारिणो यज्ञादिकर्मकरणानन्तरत्यागज्ञानेन। महासिद्धाः सूक्ष्मवेदानुसारिणो योगकर्मणेति। एवं च यदा वैष्णवास्तु पुराणपाञ्चरात्रादीनां वेदमूलकत्वात् वैदिकब्राह्मणान्तर्भूता अतस्तेषां कथने किं प्रयोजनमथ च वैदिका ब्राह्मणाः परमहंसास्ते स्थूलवेदानुसारिणो मायाशवलं ब्रह्मोपास्य निर्गुणं ब्रह्म जानन्ति यतो हेतोर्ब्रह्म जानन्तीति ब्राह्मणा इति। पुनः महासिद्धाः सूक्ष्मवेदानुसारिणो निर्गुणब्रह्मभजनेन पूर्णं ब्रह्म जानन्ति यत एते आदिब्राह्मणा इति। ब्राह्मणा ब्राह्मणा वेदिका वैदिकाः कथ्यन्ते। यदेते किंतु ब्राह्मणा वैदिका न वर्त्तन्ते एते तु महाब्राह्मणा महावैदिकाः। अथ चैवं रीत्यास्माभिः कथ्यते तद्यथार्थमेव ज्ञेयं नत्वेते ज्ञातिब्राह्मणा ब्रह्म जानन्ति यतो ब्राह्मणा इति। एकदण्डिनः परमहंसास्त्रिदण्डिनश्च परमहंसाः क्रियावद्ब्रह्मेति दृष्ट्वा एकयैव दृष्ट्या पश्यति। एकदण्डिनो निष्क्रियं ब्रह्मेत्येकयैव दृष्ट्या पश्यन्ति। यदा एकयैव दृष्ट्या। एकयैव व्यवस्थयात बहुबारमुक्तं चञ्चलत्वमेव तिष्ठति नतु निश्चलत्वं याति तदा मोक्ष भाक्त्वं न भवेत्तेषां च बन्धनमेव वर्त्तेत तदा गर्भो नरकश्च कथम्[१] ··· ··· ।

१. पुर्वमुद्रितात्संस्करणादेतावन्ति पत्राण्यधिकान्युपलभ्यापि ग्रन्थोऽयमपूर्ण एव प्रतिभाति।

ॐ

उद्धृतग्रन्थानुक्रमणी

ख

उद्धृतनामानुक्रमणी

॥ लक्ष्मीवेङ्कटेश्वराय नमः ॥

अथ

गोरक्षपद्धतिः।

राजधानी-टीहरी जिला—गढवालनिवासि-
पण्डितमहीधरशर्मकृतभाषानुवादसहिता.

सा च

शास्त्रिभिः शोधयित्वा

श्रीकृष्णदासात्मज—गंगाविष्णुना
स्वकीये "लक्ष्मीवेंकटेश्वर" मुद्रणागारे
मुद्रयित्वा प्रकाशिता।

संवत् १९५५, शके १८२०.

कल्याण—मुंबई.

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" छापाखाना, कल्याण-मुंबई.

Gangavishnu Shrikrishnadass
LAXMI-VENKATESHWAR PRESS,
KALYAN-BOMBAY.

प्रस्तावना.

समस्त साधनाओंका मूल योग है. तप, जप, संन्यास उपनिषत् ज्ञानआदि मोक्षहेतु अनेक हैं किंच सर्वोत्कृष्ट योगही है इसीके प्रभावसे शिव सर्वसामर्थ्य, ब्रह्मा कर्त्ता, विष्णु पालक है. इसके मुख्य-कर्त्ता शिवजीने पार्वतीजीसे कहा ब्रह्माजीके सेवन करनेपर योगि-याज्ञवल्क्यस्मृति बनी है. विष्णु (श्रीकृष्णजी) ने गीता, एवं भागवतके ग्यारहवें स्कंधमें कहाहै. इसके मुख्यआचार्य्य आदिनाथ (शिवजी) हैं. इन्हींसे नाथसंप्रदाय प्रवृत्त भया. एक समय आदिनाथ किसी द्वीपमें पार्वतीको योग सुनारहेथे वह एक मछलीने सुनकरही दिव्यज्ञान तथा दिव्यदेह पाया यही मत्स्येंद्रनाथ भये और मत्स्येंद्रनाथ शावरनाथ (जिन्होंने सावरग्रंथ देशभाषामें बनाये हैं) आनंदभैरवनाथ, चौरंगी आदियोंसे योग पाय यथेच्छ विचरतेथे कि, एक स्थानमें हातपाँव कटेहुये चोरको देखा. उक्त महात्माओंके कृपावलोकनसे उसके हातपाँव उगआये तथा ज्ञानभी होगया मत्स्येंद्रनाथके कृपासे योग पायकर चौरंगिया नाम योगी सिद्ध विख्यात भया और मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, बिलेशय, मंथानभैरव, सिद्धबुद्ध, कंथडी, कोरंटक, सुरानंद, सिद्धपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यानंद, निरंजन, कपाली, बिंदुनाथ, काकचंडीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिंटिणी, भानुकी, नारदेव, खंड, कापालिक, तारानाथ इत्यादि योग-सिद्धि पायकर योगाचार्य हुए हैं. योगहीके प्रभावसे महासिद्ध अखंडऐ-श्वर्यवान् होकर मृत्युको जीत ब्रह्मानंदमें मग्न रह ब्रह्मांडमें विचरतेहैं. इनमेंसे मुख्य मत्स्येंद्रनाथ गोरक्षनाथ योगविद्याके आचार्य भये. गोरक्षनाथने मुमुक्षुजनोंके उपकारार्थ राजयोग, हठयोग आदि बहु-विस्तार एवं बहुसाधनासाध्य जानकर, "यह गोरक्षपद्धति" नामा ग्रंथ २०० श्लोकमें सर्वसमुच्चय सारभूत प्रकट किया सर्वसाधारणके सुबोधार्थ महीधरशर्मा राजधानी टीहरी जिला गढवालनिवासीने इसका भाषानुवाद करके प्रकाशित किया.

इस ग्रंथके प्रथम मंगलाचरणसे (५) श्लोकमें विषयप्रयोजन संबंध अधिकारी कहेहैं. (१) में योगाभ्यासका फल, (१) में षडंगके नाम, (५) में आसन, (१२) में षट्चक्रनिरूपण, (८)

में दशनाडी स्थानोंसहित, (१४) में दशवायु, (१०) में शक्तिचालन, (२६) में महामुद्राआदि, (७) में प्रणवाभ्यास, प्राणायामप्रशंसा, (४) में प्राणायामका प्रकार, (८) में नाडीशोधन, इतने विषय पूर्वशतकमें. तथा (२१) में प्राणायामका विस्तार, (३०) में प्रत्याहारविधि, (९) में धारणा, (२४) में ध्यान, (१३) में समाधि, (४) में मुक्तिसोपान, योगशास्त्राभ्यासका फल इतने विषय उत्तरशतकमें कहे हैं. ऐसी यह गोरक्षपद्धति योगमार्ग जाननेवालोंको अतिउत्तम तथा सुगम है. योगमार्गका प्रयोजन सभी शास्त्रोंमें पडताहै. विशेषतः संध्या, पूजनआदि द्विजन्माओंके नित्यकर्मभी विना इसके सिद्ध नहीं होते जैसे संध्यामें प्रथम "बद्धपद्मासनो मौनी प्राणायामत्रयं चरेत्" तथा पूजनमें "स्नातः शुचिः प्राङ्मुखोपविश्य प्राणानायम्य" इत्यादि सर्वत्र विधिवचन है. यदि योग न जाने तो प्राणायाम पद्मासनआदि कहांसे जाने. इनके न जाननेसे समस्त संध्यावंदनादिसाधन निरर्थक हैं. इस समयमें बहुधा लोक नाकपर हाथ लगानेको प्राणायाम समझते हैं. पद्मासनादियोंका तो नामभी नहीं है. तब कहांसे सिद्धि होवे इसी हेतु नास्तिकलोग असिद्ध तथा पोप (ठग) आदि निंद्यशब्दोंसे अपने मुखविवरोंको दूषित करते हैं यदि योगाभ्यास करें तो सिद्धि प्रत्यक्ष होकर अपना उद्धार हो तथा दूषकोंके उन विवरोंमें मिट्टी पडे. और योगग्रंथ बहुत तथा कठिन हैं. ये २ शतक थोडेहीमें ज्ञान देते हैं इस हेतु मैंने भाषाटीका की है कि सभी सज्जन इसे देख थोडाही गुरूपदिष्ट होकर सर्वार्थसाधनयोगमार्गकी महिमा जानजायँगे. पाठकोंके सुबोधार्थ मैंने अनेक प्रसिद्ध योगग्रंथोंसे इसे बढाकर गोरक्षपद्धति करदिया. और यह ग्रंथ "लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर" छापेखानेके अधिकारी-गंगाविष्णु श्रीकृष्णदासजीको सर्व हक्कसहित देदियाहै जो यह उन्होंने आपके छापाखानेमें छापकर प्रसिद्ध किया है.

मही-

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ

भाषानुवादसहिता

गोरक्षपद्धतिः ।

श्रीआदिनाथं स्वगुरुं हरिं मुनिं
गोरक्षशास्त्रस्य प्रणम्य योगिनम् ।
भाषाविवृत्तिं कुरुते महीधरो
योगे सुबोधः खलु जायते यया ॥ १ ॥

श्री आदिनाथ (शिवजी) तथा निजगुरु, हरिमुनि योगीको प्रणाम करके महीधरनामा गोरक्षयोगशास्त्र जो योगींद्रगोरक्षनाथने दो शतकमें शिष्योपकारार्थ बनाया है. उसकी भाषाटीका करता है. जिससे योगमार्गमें सभीको सुगमतासे बोध होता है. योगपदका अर्थ मेल है जैसे 'ह' का अर्थ सूर्य्य 'ठ' का चंद्रमा है इनके योग (मेल) को हठयोग कहतेहैं. इसीको राजयोगभी कहतेहैं, प्राण, अपानवायु जिनकी सूर्यचंद्रमा संज्ञा है, इनका ऐक्य करनेवाला जो प्राणायाम उसे हठयोग कहतेहैं ॥ १ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सान्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ २ ॥

शिष्यको आत्माके तत्त्वबोधनिमित्त गुरुस्वरूप धारणकर परमगुरु श्रीपरमात्माको सहस्रदलकमलमें भावनापूर्वक प्रथम ग्रंथारंभमें विघ्नविघातार्थ प्रणाम करतेहैं, कि जीवब्रह्मकी ऐक्यता योगशास्त्रका प्रयोजन है. सद्गुरुके समीप भक्तिपूर्वक रहनेसे शिष्यका पांचभौतिक शरीरभी आनंदमय होजाताहै. आनंदही परब्रह्मका रूप है जैसे श्रुतिभी कहतीहै कि "आनन्दो ब्रह्मणो रूपम्" यदि ऐसा न हो तो उसकी पहछानभी नहीं होसके क्यों कि "न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा" इत्यादि गीता। एवं वेदांतग्रंथोंमें लिखाहै कि उसका रूप तथा जन्म, मरण, मध्य और रंग चिह्न मूर्त्तिआदि कुछ नहीं है. केवल आनंदमय स्वयंप्रकाशमान है. तथा निर्विकल्प आनंदमय होजानेकोही मुक्ति कहतेहैं. ऐसे परमआनंदस्वरूप परब्रह्मको (जिसका शरीरभी आनंदही है) वंदना करके ग्रंथारंभ करते हैं जिसके सांनिध्य (सम्मुख) होनेसे, अर्थात् (केवलानुभवानंद) वह आनंदात्मा परमात्मा केवल मनके मनन अनुभव विचार करनेसे अपनेही बीच पाया जाता है. न कि इतस्ततः तीर्थयात्रादि फिरनेसे, यह अनुभव केवल योगहीसे साध्य है. यह ज्ञानकी प्रथम भूमिका है. नाडीशोधन, वायुशोधन, ध्यान, धारणा आदि विना एवं गुरुकृपा विना नहीं मिलता. विना ज्ञानके मुक्ति नहीं मिलती श्रुतिभी कहतीहै कि "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" मुक्तिपदार्थ वही आनंदमय होजाताहै. योगसे ज्ञान पायके जीवपरमात्माका एकभाव होनेमें वह आनंदस्वरूप पर-

ब्रह्म साक्षात्कार होताहै इस ज्ञानगम्यके प्रत्यक्षमात्र होनेहीसे परमचिदानंदमय आपही योगी होजाताहै. जैसे ज्ञानकी सात भूमिका हैं. ज्ञानभूमि १ विचारणा २ तनुमानसा ३ सत्त्वापत्ति ४ संसक्तिनामिका ५ पदार्थाभाविनी ६ तुर्यगा ७ ये सात हैं. विवेक वैराग्य हैं प्रथम जिसमें ऐसी तीव्र मुमुक्षारूप पहिली. श्रवणमननरूपा दूसरी. मनमें अनेक अर्थ संकल्प विकल्प उत्पन्न तथा नाश होतेहैं. इन सभीको छोडके, सत् एकार्थमें वृत्ति होनी. तनुमानसा तीसरी. ये तीन साधनभूमियें हैं इनसे जब अंतःकरण शुद्ध हो तब "अहं ब्रह्मास्मि" मैं ब्रह्म हूं ऐसा योगी कहताहै. समस्त साधन पूजनजपादिकमें "अहं ब्रह्मास्मीति चिरं भावयेत्" लिखाहै, यह भावनाविना उक्त तीन भूमिका साधे होतेही नहीं हैं इसलिये विना मार्गके कुछभी साधन नहीं होता है चौथी, सत्त्वापत्ति ज्ञानभूमि यही फलभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होवे तब ब्रह्मवित् कहाता है. इसी सत्त्वापत्तिभूमिमें समीपही वही जो सिद्धि उसमें आसक्त न होना, इसे असंसक्तिनाम पांचवीं ज्ञानभूमि कहतेहैं. इसमें जब योगी प्राप्त होवे तो उसे ब्रह्मविद्वर कहतेहैं. जिसमें परब्रह्मसे व्यतिरिक्त अर्थको भावना न करे वह पदार्थाभाविनी छठी ज्ञानभूमि है इसमें जब योगी प्राप्त होता है तो वह दूसरेके बोधन करनेसे मात्र प्रबुद्ध होता है. नहीं तो एकाग्रशून्याकारही रहता है उसे ब्रह्मविद्वरीयान् कहते हैं. तुर्यगा नाम सातवीं भूमि है इसमें योगी प्राप्त होनेसे ब्रह्मविद्वरिष्ठ कहते हैं. इतने साधनाओंसे स्वात्माराम,

चिदानंद, परमानंद, चिन्मय आदियोगी आपही होजाता है. काल्रहित होता है. "अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभिर्यो योगी युगकल्पकालकलनात्तत्त्वं च जेगीयते । ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे" जो मीननाथयोगीश्वर मूलाधारबंध, उड्डीयानबंध, जालंधरबंध आदि योगाभ्याससे हृदयकमलमें निश्चलदीपककी ज्योतिसरीखी परमात्माकी कला साक्षात्कार करके श्वास, पल, घटी, प्रहर, दिन, मास, ऋतु, अयन, वर्ष, युग, मन्वंतर, कल्प आदि निरंतर पुनः पुनः फिरनेवाला है स्वरूप जिसका ऐसे कालको तथा जलादि २५ तत्त्वोंको पहचानके योगाभ्याससे जीतता है तथा ज्ञानानंदरूपी समुद्र होकर गुप्तप्रकट अर्थात् सगुण निर्गुण होनेकी सामर्थ्य रखनेवाला आदिनाथ शिवस्वरूपकी भावना नित्य करनेके अभ्याससे; आपही साक्षात् शिव हो गया है. ऐसे योगीश्वर श्रीमीननाथको दिनरात नमस्काररूप सेवन करताहूं ॥ २ ॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३ ॥

योगी गोरक्षनाथ भक्तिपूर्वक गुरुको प्रणाम करके पूर्वजन्मके योगसेवनसे इस जन्ममें पूर्णयोगमार्गका बोध देनेवाला योगशास्त्र कहते हैं. जिससे योगियोंको अभीष्ट (मनोवांछित) मिल-

ता है तथा परमयोगानंद यद्वा ब्रह्मानंद होता है. कर्म और भक्तिसे जब चित्त शुद्ध होवे तब योगशास्त्रमें अधिकारी होताहै ॥ ३ ॥

गोरक्षसंहितां वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४ ॥

योगिजनोंके हितके लिये योगींद्र गोरक्षनाथ गोरक्षसंहिता नाम योगशास्त्र कहता है,जिसका बोध होनेसे योगीको (परमपद) जीवन्मुक्ति होती है यद्वा वह मिलता है जिसमें पहुँचकर पुनरावृत्ति फिर लौट आना नहीं होता ॥ ४ ॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो भोगादासक्तं परमात्मनि ॥ ५ ॥

जब योगाभ्याससे मन विषयभोगोंसे हटजानेपर परमात्मा (ईश्वर) में आसक्त हो जावे तब योगी काल तथा मृत्युको जीतकर जरा (बुढापा) मृत्यु (मरण) को जीतता है मुक्तिका सोपान (सीढी) यही कर्म है, और कालकी वंचनाभी यही है ५

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ॥
शमनं भवतापस्य योगं भजत सत्तमाः ॥ ६ ॥

सज्जनको संबोधन करके, गोरक्षनाथ कहते हैं कि हे सत्तम श्रेष्ठजनो ! वेदरूपी कल्पवृक्षके फल इस योगशास्त्रका सेवन करो जिसके शाखा (टहनियां) योगिरूपी द्विज (पक्षी) अथवा मुनिजनोंसे सेवित हैं और संसारके तीन प्रकारके ताप (क्लेशों) को शमन करताहैं ॥ ६ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥ ७ ॥

प्रथम आसन सिद्ध करके क्रमशः प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिका अभ्यास करना ये योगके छः अंग हैं इनके पृथक् विस्तार आगे कहेंगे. यमनियमसंपन्न योगीको क्रमपूर्वक अभ्यासकरके समाधिका लाभ होता है जिससे निर्विकल्प समाधिसे राजयोग सिद्ध होता है. तब चिदानंदस्वरूप आपही होके योगानंदको प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

अथासनानि ।

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजन्तवः ।
एतेषामखिलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥ ८ ॥

आसनोंका विस्तार कहते हैं कि जितने जीवमात्र अर्थात् चौराशी लक्ष योनि हैं उतनेही आसनभी उन्हींके शरीरचेष्टानुसार हैं इनके प्रत्येक भेदोंके जाननेहारे केवल शिवजी मात्र हैं और कोई नहीं जानता ॥ ८ ॥

चतुराशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् ॥ ९ ॥

चौराशी लक्ष आसनोंके भेद मनुष्योंसे न जाने जायंगे इस प्रकार जानकर करुणामय शिवजीने सर्वसाधारणके उपकारहेतु चौराशी (८४) मात्र आसन योगशास्त्रमें प्रगट किये. यही सबमें सार हैं ॥ ९ ॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १० ॥

इन ८४ आसनोंमेंभी बहुतविस्तार होनेसे योगधारण करनेवालोंके उपकारहेतु दोही आसन मुख्य कहेहैं. इससे इस ग्रंथमें सुगमताके लिये सर्वसंमत एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन सविस्तार कहा जाताहै ॥ १० ॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥११॥

सर्वोत्कृष्ट दो आसनोंमेंसे प्रथम सिद्धासनकी विधि कहतेहैं कि, गुदा और लिंगके बीचमें योनि (कुंडलिनीका) स्थान है इसको वामपादकी एडीसे दृढ पीडन (दबाव) करे दाहिने पैरकी एडी लिंगके ऊपर लगाकर दबावे दोनों पैरोंकी एडियां नीचे ऊपर बराबर होजातीहैं तथा दोनों पैरोंके अंगुष्ठ जंघा और गुल्फोंके बीच नीचे छिपजाते हैं इनके दबावसे योनिस्थानके तले ऊपरके दो इंद्रिय गुदा, उपस्थ रुकजातेहैं. तदनंतर हृदयके चार अंगुल ऊपर चिबुक (ठोडी) स्थिर करे और समस्तइंद्रियोंसे हटाकर एकाग्र चित्त करे तथा दोनों नेत्रोंसे अचलदृष्टि कर भ्रुकुटि (भ्रूमध्य) देखतारहे यह मोक्षरूपी द्वार (दरवाजे) के कपाट (किंवाड) को खोलकर मोक्षमार्ग दि-

खाताहै. यद्वा जो कुंडलिनीसे रुकाहुआ सुषुम्णाद्वार उसे खोलकर मोक्षमार्ग (सुषुम्णा) के द्वारा मोक्षस्थान सहस्रदलकमकर्णिकांतर्गत परमात्मामें पहुँचानेका यत्न करता है यह सिद्धासन है ॥ ११ ॥

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥१२॥

बाये ऊरु (जानुमूल) में दाहिना पैर उत्तान करके तथा दक्षिण ऊरु (जानुमूल) में वामपाद वैसेही स्थापन करके दाहिने हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने पैरके अँगूठेको ग्रहण करे तथा बाये हाथको पीठपीछे घुमायके दाहिने हाथ ऊपरसे लेजायकर बांये पैरके अंगुष्ठको ग्रहण करे. तब चिबुक (ढोडी)को छातीसे लगाय, दोनों नेत्रोंसे नासिकाका अग्रभाग निरंतर देखतारहे. यह योगियोंके समस्तरोगविकार नाश करनेवाला बद्धपद्मासन है ॥ १२ ॥

'प्रकारांतरसेभी पद्मासन कहाहै इसलिये मैं ग्रंथांतरमतसे मत्स्येंद्रनाथके मतकाभी लिखताहूं'—

"उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ १ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ २ ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते बुधैः ॥३॥ "

ऊरु (जानुमूल) में पूर्वोक्तप्रकारसे चरण (जैसे दक्षिण ऊरुमें वाम, वाममें दक्षिणचरण, उत्तान अर्थात्, पैरोंके पीठ जानुपर लगी रहें.) स्थापन करके दोनों हाथ सीधे एडियोंके ऊपर नीचे वाम ऊपर दक्षिणहस्त रखके दृष्टि नासिकाके अग्रभागपर निश्चल रक्खे तदनंतर राजदंत (डाढों) के मूल दक्षिण वाम दोनों में जिह्वा कर ऊर्ध्वस्तंभन करे (यह जिह्वाबंध गुरुमुखसे जानना चाहिये जिह्वाबंध मूलबंधका विस्तार ५७ । ५८ श्लोकमें कहेंगे) तथा चिबुक (ठोडी) को चार अंगुल अंतर छोडकर छातीसे लगाय मंद मंद वायुको उठावे. यह मूलबंध है. (यहभी गुरुमुखबोध्य हैं) यह पद्मासन मत्स्येन्द्रनाथके मतका है. संपूर्णरोगोंको नष्ट करताहैं. जो संसारमें भाग्यहीन हैं. उनको दुर्लभ है. बुद्धिमान् एवं पुण्यवान् पुरुषोंको गुरुकृपासे मिलताहै । १ । २ । ३ ।

अथ षट्चक्रनिरूपणम् ।

षट्चक्रं षोडशाधारं द्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः १३॥

विषमवासनासे मन चंचल रहताहै रोकेसे रुकता नहीं विना मन रोके योगसिद्धि नहीं होती. मन रोकनेके लिये कुछ निमित्त (अवलंबन) अवश्य होना चाहिये. इस हेतु छः चक्र, सोलह आधार, दो लक्ष्य, पांच आकाश, ये चार प्रकार भेद (सर्व उन-

तीस) कहते हैं, कि मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा ये छः चक्र हैं इनका विस्तार आगे कहेंगे आधार सोलह हैं इनके विशेषविस्तार अतिगुह्य होनेसे श्रीगोरक्षनाथने यहां प्रगट नहीं कहे और इनके प्रकटताविना सर्वसाधारणको बोध होना असंभव है इसलिये जैसा गुरुकृपासे जाना. यहां ग्रंथान्तरीयमतसे प्रकट करता हूं.प्रथम आधार पादांगुष्ठ है इसपर एकाग्रदृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होतीहै १। दूसरा आधार मूलाधार. इसे पावोंकी एडीसे अचेतन करना इससे अग्नि दीप्त होतीहै २। तीसरा गुह्याधार. इसके संकोचविकाशके अभ्यास करनेसे अपना वायु फिरके वज्रगर्भनाडीमें प्रवेश कर बिंदुचक्रमें जाताहै इससे शुक्रस्तंभन एवं (वज्रोली) रेत योनिमें पात न करके पुनः आकोचनक्रमसे वज्रनाडीद्वारा बिंदुस्थानमें प्राप्त करनेकी सामर्थ्य होती है ३।४। पंचम उड्डीयानबंध आधार है. पश्चिमतान आसन बांधके गुदाको संकोचन करे इससे मल मूत्र कृमिका नाश होताहै ५। छठा नाभिमंडलाधार. जिसमें चैतन्य ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करनेसे एवं प्रणवके जपसे नाद उत्पन्न होता है ६। सातवां हृदयाधार. इसमें प्राणवायुको रोध करनेसे हृदयकमल विकासित होता है ७। आठवां कंठाधार. इसमें ढोडी हृदयपर दृढ लगायके ध्यान करे तो इडा पिंगलामें वहताहुआ वायु स्थिर होता है ८। नवम क्षुद्रघंटीकाधार. कंठमूल है इसमें जो दो लिंगाकार ऊपरसे लटकती हैं उनतक जिह्वा पहुंचावे तो ब्रह्मरंध्रमें चंद्रमंडलसे वहताहुआ अमृतरस मिलता है ९। दशम

जिह्वामूलाधार. इसमें खेचरीमुद्राके प्रकारसे जिह्वाग्रसे मथन करे तो खेचरीसिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जिह्वाका अधोभागाधार. जिसमें जिह्वाग्रसे मथन करके दिव्यकविताशक्ति होतीहै ११ । बारहवां ऊर्ध्वदंत मूलाधार. जिसमें जिह्वाग्रस्थापनके अभ्याससे रोगशांति होती है १२ । तेरहवां नासिकाग्राधार. जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे मन स्थिर होता है १३ । चौदहवां नासिकामूलाधार. जिसमें दृष्टि स्थिर करनेसे छः महीनेके निरंतर अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४ । पंद्रहवां भ्रूमध्याधार. जिसमें दृष्टि अचलदृष्टिके अभ्यास करके सूर्यकिरणोंके समान ज्योति प्रकाश होती है इसी अभ्यासके दृढ होनेपर सूर्य्याकाशमें मनका लय होता है १५ । सोलहवां नेत्राधार. जिनके मूलमें अंगुलिसे मीचनेमें वर्तुलाकार बिंदुसमान इंद्रधनुषके समान रंगकी ज्योति है इस ज्योतिके देखनेका अभ्यासकरके ज्योति प्रत्यक्ष होतीहै १६ ये सोलह आधार हैं. अथवा मूलाधार १ स्वाधिष्ठान २ मणिपूर ३ अनाहत ४ विशुद्ध५ आज्ञाचक्र ६ बिंदु ७ अर्द्धेंदु ८ रोधिनी ९ नाद १० नादांत ११ शक्ति १२ व्यापिका १३ समनी १४ रोधिनी१५ध्रुवमंडल १६ ये सोलह (१६) आधार हैं ब्रह्म तथा अपनेमें अभेद समझकर भावना करनेसे सिद्धि होती है अब दो लक्ष्य कहते हैं ये दो प्रकार बाह्य आभ्यंतरीय हैं देखनेके उपयोगी नासिका तथा भ्रूमध्य इत्यादि बाह्यलक्ष्य हैं मूलाधारचक्र, हृदयकमल इत्यादि आभ्यंतरलक्ष्य हैं. अथ पांच आकाश इस प्रकार

हैं कि प्रथम श्वेतवर्ण ज्योतिरूप आकाश है इसके भीतर रक्त-वर्ण ज्योतिरूप प्रकाश है इसके भीतर धूम्रवर्ण ज्योतिरूप महा-काश है इसके भीतर नीलवर्ण ज्योतिस्वरूप तत्त्वाकाश है इसके भीतर विद्युत् (बिजुली) के वर्णका ज्योतिस्वरूप सूर्य्या-काश है ये पांच आकाश हैं इतने ६ चक्र १६ आधार ३ लक्ष्य ५ आकाश शरीरमें हैं इन्हें जो योगी नहीं पहचानता उसको योगसिद्धि नहीं होती ॥ १३ ॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिद्ध्यन्ति योगिनः ॥१४॥

शरीरस्तंभरूपी गृह है इसमें सकलवासनाओंका आश्रय मन है यही खंभारूप होकर समस्तशरीरको थामे रहताहै जिस-के मुख १ नेत्र २ नासिका २ कर्ण २ गुह्य १ लिंग १ ये ९ द्वार हैं तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पंचतत्त्वोंके ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव अधिदेवता हैं ऐसे शरीररू-पी गृहको जो योगाभ्यासी नहीं जानता वह योगसिद्धि कैसे पासकताहै ॥ १४ ॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि ॥ १५ ॥
कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १६ ॥

षट्चक्रोंके पृथक् वर्णन है कि प्रथम मूलाधारचक्र गुदद्वारमें

पीले वर्णका अधोमुख कमल है जिसके ४ दलोंमें व, श, ष, स, बीज शोभित हैं आठों दिशामें आठ शूलोंसे वेष्टित पीतवर्ण मध्य कर्णिकामें चतुष्कोण भूमंडलके भीतर, हाथीके ऊपर आरूढ जिसके पार्श्व (बगल) में (लं) बीज है और चार हाथ चार मुखका ब्रह्मा कोटिसूर्य्यसमान प्रकाशमान एवं डाकिनीशक्तिसे युक्त है वहीं देदीप्यमान त्रिकोणाकार कामाख्य पीठ है तिसके मध्यमें पश्चिममुख स्वयंभू लिंग है उसके बीचमें बिजुली समान चमकवाली साढे तीन फेरे (वृत्त) से वेष्टित होकर, सुषुम्णाके द्वारको रोकके सोया हुआ सर्प जैसी कुण्डलिनी महाशक्ति है जैसे पृथ्वीका आधार शेष तैसेही शरीरका आधार यह है बिना इसके जागे और उपाय योगके व्यर्थ हैं. इसलिये प्रथम इसका बोधन करना मुख्य है १। दूसरा स्वाधिष्ठानचक्र. लिंगमूलमें रक्तवर्ण ऊर्ध्वमुख षड्दल ब, भ, म, य, र, ल इन ६ वर्णोंसे शोभित कमल है शुक्रवर्ण कर्णिकामें अर्द्धचंद्राकार जलमंडल है इसके बीचमें (वं) बीज है जिसके पार्श्व (बगल) में श्रीवत्सकौस्तुभ पीतांबर वनमालाओंसे शोभित चतुर्भुज विष्णु शाकिनशिक्तिसहित हैं २। तीसरा मणिपूरचक्र. नाभिमूलमें नीलवर्ण ऊर्ध्वमुख दशदल कमल ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ इन १० वर्णोंसे शोभित है मध्यकर्णिकामें स्वस्तिकाकार तेजोमंडल है. इसके मध्यमें सूर्यके समान तेजधारी मेषवाहन (रं) बीज चतुर्भुज है इसके पार्श्वमें रक्तवर्ण विभूतिभूषित, नीलवर्ण, चतुर्भुज लाकिनीशक्तिसहित महारुद्र हैं ३। चौथा अनाहतचक्र. हृदयमें

द्वादशदलकमल ऊर्ध्वमुख क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ ट, ठ इन १२ बीजोंसे शोभित है उसके कर्णिकामें धूम्रवर्ण, षट्कोण वायुमंडलके मध्यमें धूम्रवर्ण, चतुर्बाहु, कृष्णमृगवाहन (यं) बीज है. इसके पार्श्वमें अभयमुद्रा धारण करके काकि-नीशक्तिसहित ईश्वर हैं कर्णिकाके त्रिकोणमें सुवर्णवर्ण बाणालिंग है यह पूर्णागिरि पीठ कहाता है ४। पांचवां विशुद्धचक्र. कंठ-स्थानमें रक्तवर्ण, ऊर्ध्वमुख, षोडशदलकमल अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः इन १६ वर्णोंसे शो-भित है स्फटिकवर्णकर्णिकामें वर्तुलाकार आकाशमंडल जिसमें निष्कलंक पूर्णचंद्रमा है इसके मध्यमें श्वेतहाथी वाहन, पाश, अभय, वर, अंकुश, धारण करता आकाश बीज (हं) इसके पार्श्वमें शाकिनीशक्तिसहित सदाशिव हैं यह जालंधरपीठ कहा-ता है ५। छठा आज्ञाचक्र. भ्रूमध्यमें श्वेतवर्ण ऊर्ध्वमुख द्विदल ह, क्ष, इन २ बीजोंसे शोभित कमल है इसके कर्णिकामें हाकिनी-शक्तिसहित शिव है कर्णिकाके त्रिकोणमें, इतरलिंग नामा शिवलिंग है यही मनका स्थान है उड्डीयानभी इसीको कहते हैं ६। इसके ऊपर सहस्रदलकमल ब्रह्मरंध्रमें श्वेतवर्ण पूर्ण-चंद्रसमान मुख परमानंदस्वरूप ह, ळ, क्ष इन ३ वर्णोंसे शो-भित है त्रिकोणकर्णिकामें पूर्णचंद्रमंडल जिसके मध्यमें बिजुली-के समान चमकीला परमानंदरूप देदीप्यमान ज्योति है इसमें चिदानंदस्वरूप परमशिव विराजमान हैं इनके पार्श्वमें सहस्रसू-र्यके समान तेजधारी प्रबोधस्वरूप अर्धचंद्राकार निर्वाणकला

विराजमान है. इसके बीचमें कोटिसूर्यसमान तेजधारी रोमसमान सूक्ष्म निर्वाणशक्ति विराजमान है इनके मध्यमें मन तथा वचनसे अगम्य केवल योगसे गम्य चिदानंदस्वरूपसे पर क्या अतिपर परम शिवपद है जिसको परब्रह्मपद कहते हैं विराजमान हैं जिसके निमेषोन्मेष अर्थात् पलक खोलने मीचनेमें सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है ॥ १५ ॥ १६ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७ ॥

पहिला मूलाधार स्वाधिष्ठान इन दो चक्रोंके बीचमें योनिस्थान है यही कामरूप पीठ है. अर्थात् मूलाधारके कर्णिकामें कामरूप पीठ है ॥ १७ ॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता १८॥

मूलाधार (गुदा) में जो चतुर्दलकमल विख्यात है उसके मध्यमें त्रिकोणाकार योनि है जिसकी वंदना समस्त सिद्धजन करते हैं पंचाशत् वर्णसे बनी हुई कामाख्या पीठ कहाती है॥ १८॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखस्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्॥१९॥

पूर्वोक्त त्रिकोणाकारयोनिमें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभू नाम करके जो महालिंग है उसके शिरमें मणिके समान देदीप्यमान बिंब है यही कुंडलिनी जीवाधार शरीराधार मोक्षद्वार है इसे जो सम्यक् प्रकारसे जानता है उसे योगवित् कहते हैं॥ १९॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥

मेढ्र (लिंगस्थान) से नीचे मूलाधारकर्णिकामें रहता तपे हुए सुवर्णके समान वर्ण, एवं विजुर्लीके समान चमकदमकवाला जो त्रिकोण है वही कालाग्निका स्थान है ॥ २० ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातान्न विन्दते ॥ २१ ॥

इसी त्रिकोणविषय समाधिमें अनंत विश्व (संसार) में व्याप्त होनेहारी परमज्योति प्रकट होती है वही कालाग्निका रूप है जब योगी ध्यान, धारणा, समाधिकरके उक्त ज्योतिको देखने लगता है तो उसको जन्ममरण नहीं होते अर्थात् अजरामर हो जाता है ॥ २१ ॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२ ॥

स्वशब्द प्राण (हंस) का बोधक है इसका आश्रय स्वाधिष्ठान (लिंगमूल) है प्राणका अधिष्ठान होनेसे इसेही मेढ्र कहा जाता है ॥२२॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३ ॥

नाभिमें एक कंद है. जिससे सर्वांगव्यापिनी सिरा (नसें) निकली हैं जैसे १० नसें ऊपरको हैं जो शब्द, रस, गंध, श्वास, जृंभा, क्षुधा, तृषा, डकार, नेत्रदृष्टि, धारणा (मगजशक्ति)

इन दश कामोंको अपने २ स्थानोंमें दीपन करती हैं तथा १० नसें नीचेको हैं वात, मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पान, रसको नीचे पहुँचाना इनका काम है और चार जिनकी तिर्छी गति है. दो दाहिने बगल दो बायें बगल होकर अगणित सूक्ष्मशाखा बनके सर्वांगमें जालेके नाईं रोमरोम प्रति पूरित हैं उन्हींके मुखोंसे प्रस्वेद देहके बाहर रोमोंमें होके आता है. तथा उन्हींके मार्गोंसे लेप, मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं. इस प्रकारका नाभिकंद जैसे सूत्रमें मणि पिरोया रहता है ऐसेही सुषुम्णानाडीमें पिरोया है इसे नाभिमंडलस्थ मणिपूरचक्र कहते हैं ॥ २३ ॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥ २४ ॥

हृदयमें द्वादशदल अनाहत चक्र है जिसमें तत्त्वातीत (सत्त्वरजस्तमोगुणरहित) जीव है गुणातीत होनेसे पुण्यपापसेभी रहित है परंतु जब तत्त्वकी पहिचान योगाभ्याससे हो जावे तब ये गुण जीवमें आते हैं विना तत्त्वज्ञान जीव संसृतिमें भ्रमणही करता रहता है ॥ २४ ॥

अथ दशनाडीवर्णनम् ।

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ २५ ॥

लिंगमूलसे ऊपर नाभिके कुछ नीचे कंदके सदृश समस्त नाडियोंका मूल (उत्पत्तिस्थान) पक्षिके अंडेके समान आकार-

वाला है इससे बहत्तर (७२) हजार नाडी ऊपर नीचे तिर्छी होकर सर्वांग व्याप्त है ॥ २५ ॥

तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः॥२६॥

उक्त ७२ हजार नाडियोंमें मुख्य बहत्तरही हैं इनमेंभी प्राणवाहिनी (वायु चलानेहारी) प्रधान दशही नाडी हैं॥२६॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥२७॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये उक्त मुख्यनाडियोंके नाम हैं. यह नाडीमय चक्र योगाभ्यासीको अवश्य जानने योग्य है तदनंतर इन नाडियोंमें चलनेवाले वायुको जानना तब प्राणायामसे नाडीशोधन होता है॥२७॥२८॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९ ॥
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे ह्यानने चाप्यलम्बुषा ॥ ३० ॥

नासिकाके वामभागमें इडा, दक्षिणभागमें पिंगला नाडी वहती है इनके मध्यमें सुषुम्णा नाडी रहती है इन तीनोंकी जड

मूलाधारचक्रकी कर्णिकाका त्रिकोण है. जिसके वामकोणसे इडा, दक्षिणकोणसे पिंगला और पश्चिमकोणसे सुषुम्णा नाडी उत्पन्न हुई है ये तीनों नाडी उक्तचक्रको अंकमाल किये हैं अपने २ ओरके नासिका छिद्रसे वहती है मध्य सुषुम्णा मूलाधारसे ब्रह्मरंध्रपर्यंत है अन्य नाडी उक्तचक्रके कंदसे उत्पन्न होकर प्रत्येक रंध्रमें है जैसे वामनेत्रमें गांधारी, दक्षिण नेत्रमें हस्तिजिह्वा, दक्षिणकर्णमें पूषा, वामकर्णमें यशस्विनी, मुखमें अलंबुषा हैं ॥ २९ ॥ ३० ॥

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडयः ॥ ३१ ॥

लिंगदेशमें कुहू, मूलस्थानमें शंखिनी ये दो उस कंदसे अधोमुख होकर नीचेको गई है और ऊर्ध्वमुख होकर ऊपरको हैं इस प्रकार ये दश नाडी प्राणवायुके एक एक मार्गमें आश्रय करके स्थित हैं ॥ ३१ ॥

इडापिङ्गलासुषुम्णाः प्राणमार्गे समाश्रिताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२ ॥

चंद्रमा, सूर्य और अग्नि हैं देवता जिनके ऐसी इडा, पिंगला, सुषुम्णा ये तीन नाडी प्राणवायुके मार्ग हैं ॥ ३२ ॥

अथ दश वायवः ।

प्राणोपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकलो देवदत्तो धनंजयः ॥ ३३ ॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनंजय १० ये दश वायु शरीरमें हैं ॥ ३३ ॥

हृदि प्राणो वसेन्नित्यमपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यतः ॥ ३४ ॥
व्यानो व्यापी शरीरेषु प्रधानाः पञ्च वायवः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः॥३५॥

प्राणवायु हृदयमें रहकर श्वास बाहर भीतर निकलता तथा अन्नपानादिकोंका परिपाक करता है १ अपानवायु मूलाधारमें मलमूत्र बाहर निकालनेका काम करता है २ समानवायु नाभिमें रसको शुष्क अर्थात् यथास्थान रखनेका काम करता है ३ उदानवायु कंठमें रहकर शरीरकी वृद्धि करता है ४ व्यानवायु सर्वशरीरमें लेना, छोडनाआदि अंगधर्म कराता है ५ वायु तो १० हैं परंतु इनमें प्रधान ये पांचहीं हैं शिवयोगशास्त्रके मतसे मुख, नासिका, हृदय, नाभिमें कुंडलिनीके चारों ओर तथा पादांगुष्ठमें सर्वदा प्राणवायु रहता है १ गुह्य, लिंग, ऊरु, जानु, उदर, पेडू, कटि, नाभि इनमें अपानवायु रहता है २ कर्ण, नेत्र, कंठ, नाक, मुख, कपोल, मणिबंधमें व्यानवायु रहता है ३ सर्वसंधि तथा हाथ पैरोंमें उदानवायु रहता है ४ उदराग्निके कलाको लेकर सर्वांगमें समानवायु रहता है ५ इस कारणसे प्राणादि पांच वायु प्रधान हैं नागादि पांच वायुका कर्म जो चर्म एवं हड्डीमें रहकर जो करते हैं आगे कहते हैं॥ ३४ ॥ ३५ ॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३६ ॥

उद्गार (डकार) निकालना नागवायुका कर्म है नेत्रोंके पलक लगाना खोलना कूर्मवायुका तथा छींक करना कृकरवायुका, जृंभा देवदत्तवायुका कर्म है ॥ ३६ ॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनंजयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३७ ॥

और धनंजयवायु सर्वशरीरमें व्याप्त रहता है मृतशरीरमेंभी रहता है अर्थात् मरेमेंभी चार घटीपर्यंत यह शरीरहीमें रहता है इस प्रकार ये दश वायु आपही जीवके अभ्याससे कल्पित होकर सुखदुःखका संबंध जीवको कराते हैं मैं सुखी हूं उत मैं दुःखी हूं इत्यादि व्यवहारमय जीवकी उपाधि लिंगशरीरमें होनेसे आपही जीवरूप होकर समस्त नाडियोंमें फिरता रहता है यद्यपि अवि-द्यावच्छिन्न चैतन्य जीवही है तो इसका घूमना फिरना असंभ-व है तथापि जैसे चंद्रमा तो कंपायमान नहीं है परंतु उसका प्र-तिबिंब जलमें जिस समय हो उस समय उस जलको हिलाया जाय तो चंद्रबिंब हिलता दीख पडता है ऐसेही व्यवहारसे दश वायुओंका घूमना तथा इनहीकी उपाधि जीवचैतन्यमें आरोपित करते हैं ॥ ३७ ॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्छलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८ ॥

जैसे कंदुक (गेंद) हाथसे भूमिपर ताडनकरके स्वतः उछलता है, तैसेही प्राणवायुके स्थान (हृदय) में अपानवायु तथा अपानवायुके स्थान (गुदा) में प्राणवायुके प्राप्त होनेमें अपानवायु जीवको आकर्षण करके एकत्र स्थित नहीं रहने देता जैसे गेंद खेलनेवालेके वशमें गेंद रहता है ऐसेही अविद्या (माया)-के वशमें जीव रहता है ॥ ३८ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ ३९ ॥

जीवकारणसे जीवात्मा प्राणअपानवायुके आधीन है उसी कारणसे इडा और पिंगला नाडीके द्वारा गिरके नीचे मूलाधार-पर्यंत ऊपर मुख नासिकाछिद्रपर्यंत फिरताही रहता है इसके अतिचंचल होनेसे इतना कठिन है कि प्राणापानवायुके साधनविना वायु नहीं जीता जाता इसके जीते विना हृदयकमलमें ध्यान नहीं होता ॥ ३९ ॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४० ॥

जैसे बाजपक्षीके पैरमें डोरी बांधके हिलाके छोड देनेपर उडजाता एवं खींचनेपर फिर हाथमें आ जाता है ऐसेही मायाके अंश सत्त्वरजतमोगुणके वासनासे बँधा हुआ जीव बुद्धिकी लीन हुएमें उपाधिरहित शुद्धब्रह्म हो गया हो तोभी प्राणापानवायुकरके फिर खींचा जाता है जाग्रत्अवस्थामें फिर प्रबुद्ध हुएकी वृत्ति विषयमें पुनः जीवभावको प्राप्त किया जाता है॥ ४० ॥

अपानः कर्षति प्राणं प्राणोपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१॥

ऊपरसे आज्ञाचक्रगत प्राणवायु नीचे मूलाधारस्थित अपानवायुको तथा मूलाधारगत अपानवायु आज्ञाचक्रस्थ प्राणवायुको परस्पर अपने २ ओर आकर्षण करते हैं योगाभ्यासी पुरुष प्राणायामसे इनहींको जोडकर योग (जोडना) कहते हैं इसी योग जोडनेको हठयोग कहते हैं जो सूर्यचंद्रमा ऐक्य कहाते हैं॥ ४१॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२ ॥
षट् शतानि त्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४३ ॥

प्राणवायु सारूप्यको प्राप्त हो रहा चिदाभास जीव हकारकरके स्वाधिष्ठानचक्रसे उत्पन्न होता है और सकारकरके मूलाधारादि चक्रमें प्रवेश करता है एवंप्रकार ' हंस ' मंत्र (अजपागायत्री) का जप जीव नित्य करताही रहता है अर्थात् श्वास बाहर निकलनेमें हकार भीतर प्रवेश होनेमें सकार उच्चारण होता है सूर्य्योदयसे पुनः सूर्यास्तपर्यंत ६० घटीमें इस मंत्रकी जपसंख्या२१६०० होती है इतना जप जीव स्वतः करता है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४५ ॥

यह योगियोंको मोक्ष देनेवाली अजपा नाम गायत्री है इसके संकल्पमात्रसे योगी समस्तपापोंसे छूट जाता है संकल्पकी विधि यह है कि सूर्योदयसे पहिलेही शयनसे उठकर शुद्धवस्त्र पहन हाथ, पैर, मुख प्रक्षालन कर शुद्धआसनमें बैठ आचमन करके संकल्पकल्पना इस प्रकार करना कि अद्येह पूर्वद्युरहोरात्रचरितनासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकषट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाजपागायत्रीजपं मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरानाहतविशुद्धाज्ञाचक्रब्रह्मरन्ध्रस्थितेभ्यो गणपतिब्रह्मविष्णुरुद्रजीवगुरुपरमात्मभ्यः सिद्धिसरस्वतीलक्ष्मीगौरीप्राणशक्तिज्ञानशक्तिचिच्छक्तिसमेतेभ्यो यथासंख्यं षट्शतं, षट्सहस्रं, षट्सहस्रं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकं, सहस्रमेकम् अजपागायत्रीजपं प्रत्येकं निवेदयामि इति निवेद्य । पुनरद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीयप्रातःकालपर्यन्तं नासापुटनिःसृतोच्छ्वासनिःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करिष्ये इति जायमानजपसंकल्पं कृत्वा स्वकृत्यमाचरेत् इस अजपाके समान जीवब्रह्मका अभेद कहनेवाला और कोई मंत्र नहीं है यह अल्पश्रममें उत्तम फल देनेवाला है इसके समान और जप नहीं. क्यौंकि प्रातःकाल संकल्पमात्र करना है उपरांत खाते पीते चलते उठते बैठते सोते सर्वदा सब अवस्थाओंमें उक्त जप आपसे होताही रहता है और अद्वैतानुभव करानेवाला उसके

समान अन्य कोई ज्ञानशास्त्र पहिलेभी नहीं था और पीछे होनेंवालाभी नहीं है ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ४६ ॥

कुंडलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हो रही. तथा प्राणवायुको धारण करनेवाली यही अजपा गायत्री है. जीवात्माकी शक्ति प्राणविद्यास्वरूपभी यही है इसी कारण महाविद्याभी इसको कहते हैं इसे जो योगी पहिचान सके वही योगशास्त्राभ्यासका तात्पर्य जानता है ॥ ४६ ॥

अथ शक्तिचालनम् ।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७ ॥

अब कुंडलिनीके भेद खोलने निमित्त एवं उसकी अधिकता प्रकट करनेके लिये कुंडलिनीका और प्रकारभी स्थान कहते हैं कि समस्त ७२००० नाडियोंका उत्पत्तिस्थान पूर्वोक्त कंद है इसके ऊपर मणिपूरचक्र कर्णिकामें आठ वृतकरके वेष्टित हो रही कुंडलिनीशक्ति ब्रह्मरंध्रद्वारके मुखको रोकके सर्वदा रहती है ॥ ४७ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८ ॥
प्रबुद्धा बुद्धियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवं गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९ ॥

जिस मार्ग (सुषुम्णा) करके जन्ममरणके दुःख हरण करनेवाला अखंड ब्रह्मानंदपद मिलता है उस मार्गको रोकके सोई हुई कुंडलिनी प्राणवायुके धौकने (उत्तेजन करने) से कालाग्निके ज्योतिके संबंधसे प्रबुद्ध (जाग्रत) होकर मन एवं प्राणवायुके सहित होके सुषुम्णानामा मध्यनाडीसे ऊपरको जाती है जैसे सूची (सुई) अपनेपर पिरोये तागेसहित होनेसे वस्त्रके अनेक सूत्रोंके मध्यमें प्राप्त होती है. तैसे आपही सृष्टि उत्पन्न करके षट्चक्र तथा उनके देवताप्रभृति सकलप्रपंचको उल्लंघन करके ऊपर सहस्रदलकमलके सन्मुख होकर जाती है ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

प्रसुप्तभुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५० ॥

सोते सर्पके समान कुंडलिनी अपानवायुसे धमित (धौंकी गयी) जो मूलाधारमें रहनेवाली कालाग्निज्योतिके संबंधसे प्रबोध पायके अतिवेग (जोर) से चलते हुए सर्पके समान कुटिलगति होकर कमलनालके तंतु (सूत्र) समान सूक्ष्म ज्योतिर्मयस्वरूप होकर सुषुम्णामार्गसे ऊपरको जाती है ॥ ५० ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१ ॥

जैसे कूंची (चावी) से ताला खुलकर कपाट (कवाड) खुल जाते हैं तैसेही कुंडलिनीकरके मोक्षद्वार सुषुम्णाके मुखको

योगी अभ्याससे खोले जिससे कि कुंडलिनीके प्रबोधविना कुंडलिनीका द्वार खुलता नहीं ॥ ५१ ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनम् ।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ॥
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम् ।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥५२॥

दोनों हाथ संपुटित करके (अंजली बांधके) दोनों कूर्पर (बाहुमध्यभाग) हृदयमें दृढ स्थापन करके पद्मासन करे चिबुक (ठोडी) हृदयमें दृढतर लगायके अर्थात् जालंधरबंध करके ज्योतिःस्वरूपका ध्यान करे केवल कुंभकप्राणायाम अधोद्वार रोकके करे प्राणायामसे कुंभितवायुको अपानवायुसे एकत्व करके यथाशक्ति कुंभक करे पुनः रेचकप्राणायाम (जिसमें वायु अतिमंद २ निकला) करे इस प्रकारसे कुंडलिनीका बोध होता है तथा योगीको अपरिमित ज्ञान मिलता है. कुंडलिनीको प्रबोध करनेवाली शक्ति चालनमुद्रा यही होती है परंतु प्राणायामके अभ्याससे प्राणापानवायुको वशवर्ती करके इस मुद्राका बहुत कालपर्यंत अभ्यास करना होता है ॥ ५२ ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३ ॥
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्य्या विचारणा ॥५४॥

शक्तिचालनमुद्राके अभ्यासके नियम कहते हैं कि प्राणायामादिकर्मसे जो अंगोमें स्वेद (पसीना) आता है उससे अंगमर्दन करे लवण और खट्टा ये दो रस न खावे केवल दुग्धान्न खाया करे भोजनभी एक प्रमाणसे करे ब्रह्मचर्य रक्खे कामक्रोधसे रहित रहे त्यागवान् होवे योगाभ्यासका मात्र अभ्यास रक्खे इस प्रकार नियममें रहकर योगाभ्याससे शक्तिचालनमुद्राका अभ्यास करे एकवर्ष ऊपर जब इच्छा करे तभी कुंडलिनीके अभ्युत्थानकी सामर्थ्य होतीहै इसमें सिद्धि होती है वा नहीं ऐसा संदेह न करना अभ्याससे अवश्यमेव सिद्धि होती है॥५३॥५४॥

सुस्निग्धो मधुराहारी चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते स्वरसं प्रीत्यै मिताहारी स उच्यते ॥ ५५ ॥

मिताहारके लक्षण कहते हैं स्निग्ध (सचिक्कण) मीठा भोजन करे अम्ल (खट्टा) और लवणवर्जित करे दो भाग अन्न एक भाग जल खावे चौथा भाग उदरमें वायुसंचारके लिये छोड देवे. देवताको निवेदन करके दुग्धान्न भोजन करे इस प्रकार विधि करनेहारा योगी मिताहारी कहाता है ॥ ५५ ॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः शुभमोक्षप्रदायिनी ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ५६॥

कंदके ऊपर मणिपुरचक्रके कर्णिकामें ८ फेरे वेष्टित होकर कुंडलाकार कुंडलिनी शक्ति है. यह मूर्खजनोंको वारंवार जन्ममरणरूप बंधन देती है और योगाभ्यास जाननेवालेको श-

क्तिचालनका अभ्यास जन्ममरणरूप बंधन छुटायके मोक्ष देती है ॥ ५८ ॥

अथ शक्तिचालनविधौ ग्रन्थान्तरे विशेषः ।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडा तपस्विनी ।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १ ॥

शक्तिचालनमें ग्रंथांतरमतसे कुछ विशेष कहते हैं कि, गंगा-यमुनाके बीच तपस्विनी बालरंडा बलात्कारकरके कुंडलिनीको ग्रहण करे तो विष्णुके परमपद (ब्रह्मांड) में प्राप्त करती है ॥ १ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ २ ॥

इडा भगवती वामश्वासा नाडी ऐश्वर्य्यादिसंपन्न गंगा, दक्षिणश्वासा पिंगलानाम्नी यमुना है इनके मध्यनाडी सुषुम्णा बालरंडा है ॥ २ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
श्वेतं तु मृदुलं प्रोक्तं वेष्टितं वरलक्षणम् ॥ ३ ॥

मूलस्थानसे वितस्तिमात्र ऊपर नाभि एवं मेढ्रके मध्यमें नवांगुल विस्तार, चार अंगुल आयाम, पक्षीके अंडाकार, श्वेतरंग कोमल वस्त्रवेष्टित जैसा कंद है ॥ ३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ४ ॥

वज्रासनकरके हाथोंसे पैरोंकी एडी पकड कंदस्थानमें दृढ लगाय पीडन करे ॥ ४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ५ ॥

योगी वज्रासनमें बैठ कुंडलीको शक्तिचालनमुद्रासे चलायमान करे तब भस्त्रा नाम कुंभक कर कुंडलिनीशक्तिको शीघ्र प्रबोधित करे ॥ ५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ६ ॥

नाभिस्थान (सूर्य) को आकुंचन कर कुंडलीको चलावे इसका अभ्यास सिद्ध हो जाय तो मृत्युके मुखमें पड गया हो तौभी उसकी मृत्यु न होवे ॥ ६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥ ७ ॥

चार घडीपर्यंत निर्भय होकर शक्तिचालन करे तो कुंडलिनी कछुक सुषुम्णामें ऊपरको उठती है ॥ ७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥ ८ ॥

इससे कुंडलिनी (जो सुषुम्णा रोक बैठी है) सुषुम्णाके द्वारको छोड देती है तब प्राणवायु आपही सुषुम्णामें प्रवेश करता है ॥ ८ ॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ९ ॥

इससे नित्यप्रति सुषुम्णाद्वारमें सोती कुंडलिनीको चलावे तो योगी सर्व रोगोंसे छूट जावे ॥ ९ ॥

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १० ॥

जिस योगीने शक्तिचालन किया वह अणिमादि सिद्धियोंका पात्र होता है और विशेष माहात्म्य क्या कहा जाय वह काल (मृत्यु) को सहजही जीत लेता है ॥ १० ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यस्यतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ ११ ॥

जो यमी नित्य कुंडली चलायके भस्त्राकुंभकका अभ्यास विशेषकरके करता है तो उसको यमका भय नहीं होता ॥ ११ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२ ॥

योगियोंको दृढाभ्याससे आसन प्राणायाम महामुद्रादि करके मध्यनाडी (सुषुम्णा) सरल हो जाती है ॥ १२ ॥

अथ महामुद्रा ।

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डीयानं जलंधरम् ।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनः ॥ ५७ ॥

महामुद्रा १ खेचरीमुद्रा २ उड्डीयानबंध ३ जालंधर ४ मूलबंध ५ इनको करके शक्तिचालन करे तौ योगी मुक्तिभाजन होता है शक्ति चली वा नहीं इसके जाननेका प्रमाण यह है कि

जैसे शरीरमें पिपीलिका (चींटी) चलनेमें उसकी गतिसे ज्ञात होता है कि कुछ जीव चलता है ऐसेही सुषुम्णामें वायु जब चलने लगता है तो शक्ति चलायमान हो गयी जानना शक्तिचालनमुद्राके पीछेभी उक्त ५ मुद्रा करनी योग्य हैं ॥ ५७ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचये-
देषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ५८

महामुद्राकी विधि कहते हैं कि हृदयमें चिबुक जोरसे धारण करके वामपादकी एडीसे योनिस्थानको अत्यंत दृढ करके अचेते दहिना पाद लंबा करके दोनों हाथोंसे पादमध्यभाग पकडके दृढ रोके तब पेटमें पूरक विधिसे वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति कुंभक करके मंद मंद वायुको रेचन करे. यह योगिजनको समस्त रोगनाशक महामुद्रा कही है ॥ ५८ ॥

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥५९॥

इस महामुद्राके अभ्यासमें प्रथम वामांगसे अभ्यास करके पीछे दाहिने अंगसे करे तैसेही प्राणायामभी करता रहे जब दोनों ओरके अभ्याससे प्राणायामकी मात्रा बराबर हो जाय तब मुद्रा छोडनी तबतक उक्त अभ्यास करता रहना ॥ ५९ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६० ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्॥६१॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६२ ॥

जब महामुद्राका अभ्यास दृढ हो जाय तो, पथ्यापथ्यविचार कुछ नहीं रहता. मिष्ट, लवण, तिक्तआदियोंका स्वाद कुछ नहीं रहता. जो (घृत, सहद बराबर मिलायके कृत्रिमविष होता है) संयोगविरुद्धवस्तु वा घोरविषभी खावे तो अमृतके समान पचि जाता है तथा उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण, क्षय, कुष्ठ आदि रोग समस्त शांत हो जाते हैं. इसके अभ्यासीको महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे बडे यत्नसे गुप्त रखना प्रकाश करनेसे सामर्थ्यहीन होती है इस हेतु अनधिकारी, अयोग्य पुरुष, शठ, दांभिकआदि जैसे कैसेको न देना ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

' इसका विस्तार ग्रंथांतरसे पाठकोंके सुबोधार्थ लिखते हैं— '

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे गुदा और शिश्नके मध्यमें योनिस्थानको रोकके दाहिना पैर लंबा पृथ्वीमें फैलाय जैसे एडी भूमिमें रहे और अंगुली ऊंची दंडकेसे नाईं रहे. तब हाथोंके अंगुष्ठ और तर्जनीसे दक्षिणपादांगुष्ठ पकडके धारण करे ॥ १ ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ २ ॥

तदनंतर कंठमें जालंधरबंध करके वायुको ऊपर सुषुम्णामें धारण करे इससे मूलबंधभी हो जाता है जहां योनिस्थानको पीडन और जिह्वाबंध करके मूलबंध हो जाता है ॥ २ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ ३ ॥

जैसे सर्प दंडके प्रहारसे दंडाकार हो जाता है ऐसेही कुंडलिनी शक्तिभी कुटिलताको छोडकर इस मुद्रासे सरल हो जाती है और कुंडलिनीके बोधसे सुषुम्णामें वायुका प्रवेश होता है तब दोनोंको प्राणके वियोगसे इडा पिंगला हैं आश्रय जिसके ऐसी मरणावस्था होती है ॥ ३ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ ४ ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥ ५ ॥

तदनंतर शनैः शनैः रेचन करे वेगसे करनेमें बलहानि होती है इससे महामुद्राआदि नाथादि महासिद्धोंने दिखाई है इसके अभ्याससे महाक्लेश, अविद्या, राग, द्वेषादिक, शोकमोहादिदोष क्षीण होतेहैं तथा जरामरणभी नहीं होते इससे ज्ञानिजन इसे महामुद्रा कहते हैं ॥ ४ ॥ ५ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्यं भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६ ॥

इसका क्रम कहते हैं कि (चंद्रांग) वामभागमे अभ्यास कर सूर्य्यांग (दक्षिणभाग) में अभ्यास करे और वामांगाभ्यासके पीछे जबलौं वामांगमें कुंभककी संख्या समान हो तबलौं अभ्यास करे जब संख्या समान हो तब महामुद्रा विसर्जन करे इसमें यह क्रम है कि वामपादकी एडीको योनिस्थानमें लगाय दाहिना पाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे यह वामांगाभ्यास है इससे पूरित जो वायु सो वामांगमें स्थित रहता है फिर दक्षिणपादको समेट तिसकी एडी योनिमें लगाय वामपाद लंबा फैलाय अंगुष्ठको हाथके अंगुष्ठ तर्जनीसे पकडके अभ्यास करे इसे दक्षिणांगाभ्यास कहते हैं इससे पूरित वायु दक्षिणांगहीमें रहता है ॥ ६ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वोपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ७ ॥

गुण कहते हैं कि महामुद्राके अभ्यासको पथ्यापथ्यविचार नहीं है कटु, अम्लादि समस्त रसादिक जो खाय वही पच जावे नीरस, बासी, पर्युषित सब पचे. तथा दुर्जर घोर विष आदिभी अमृतके नाईं पच जावे ॥ ७ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योभ्यसेत् ॥८॥

जो पुरुष महामुद्राका अभ्यास करे उसे क्षयरोग, कुष्ठ, गुल्मरोग, अजीर्ण, ज्वर, प्रमेह, उदररोगआदि कभी न होवें ॥ ८ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥ ९॥

और उस अभ्यासीको अणिमादि महासिद्धि देनेहारी यह महामुद्रा कही है इसे गुप्त रखना अर्थात् अनधिकारीको न देना॥ ९॥

अथ खेचरीमुद्रा।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥ ६३॥

खेचरीमुद्राकी विधि कहते हैं कि, जिह्वाको उलटी फिरायके कंठमूलमें जो छिद्र (लिगूलिग्या) याने क्षुद्रघंटिका है उसमें प्रवेश कराना तदनंतर भ्रूमध्यमें निश्चल दृष्टि स्थिर करना इसे खेचरीमुद्रा कहते हैं॥ ६३॥

न रोगान्मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न मूर्च्छा तु भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥६४॥

जो योगी गुरूपदिष्ट मार्गकरके छेदन, दोहन, कर्षण (ये कर्म आगे कहेंगे.) प्रकारसे खेचरीमुद्राको बहुतकालपर्यंत अभ्यास करता है उसके रोग, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा और मरणतुल्य कष्ट दूर होतेहैं॥ ६४॥

पीड्यते न च शोकेन न च लिप्येत कर्मणा।
बाध्यते न स केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्॥६५॥

जो योगी खेचरीमुद्रा जानके उत अभ्यास करके सिद्धि

करता है वह शोकसे पीडित नहीं होता. कर्मके फलमें बंधन नहीं पाता और काल मृत्यु आदियोंसेभी बाधा नहीं पाता ॥६५॥

चित्तं चलति नो यस्माज्जिह्वा चरति खेचरी ।
तेनेयं खेचरी सिद्धा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता ॥ ६६ ॥

जिस कारण तहां परब्रह्मविषये एकाग्र होकर मन बुद्धि चित्तशून्यविषे फिरता है तथा जिह्वाभी कंठमूल छिद्राकाशमें रहके ब्रह्मरंध्रांतर्गत चंद्रकलामृतका पान करती है इस हेतुसे मनबुद्धिके विषयबंधन निवारण करनेहारी खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धजनोंसे अत्यंत पूजित (नमस्य) है ॥ ६६ ॥

बिन्दुमूलं शरीराणां शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीराणामापादतलमस्तकम् ॥ ६७ ॥

शरीरका मूल (कारण) बिंदु है इससे शरीरकी रक्षा है. पादसे शिरपर्यंत समस्त नाडीजाल बिंदुसे सेचन हो रहा है इसी हेतु उक्तनाडी सजीव स्वकर्मसामर्थ्य रहती हैं अर्थात् समस्त नाडी बिंदुके आधारमें हैं ॥ ६७ ॥

खेचर्य्या मुद्रया येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च॥६८॥

जिस योगीने कंठनालके छिद्रलंबिकाके ऊपर आकाशविषें खेचरीमुद्रासे रोक लिया तो चंद्रामृत रुकनेसे उस योगीको कामिनी (स्त्री) आलिंगन करे तौभी उसका मन चलायमान नहीं होता तथा बिंदु नहीं गिरता है॥ ६८ ॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्योर्भयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ६९ ॥

जबलौं देहमें बिंदु स्थिर है. तावत् मृत्युकी भय नहीं होती बिंदुका स्थान व्योमचक्र है इससे कालकी गति नहीं है. जबलौं खेचरीमुद्रा दृढ है तबलौं बिंदु व्योमचक्रसे नहीं गिरता. इसके स्वस्थानस्थ रहनेमें कालका वश नहीं चलता ॥ ६९ ॥

चलितोपि यदा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृते शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ७० ॥

कदाचित् एकाग्र न होनेसे बिंदु उत्तरके नाभिस्थान सूर्य्यमंडलमें पहुँच गया तो योनिमुद्राकरके कुंडलिनीशक्तिको ऊपर उठायके उसके आघातसे उक्त बिंदु पुनः ऊपर लौटके अपनेही स्थानमें प्राप्त होकर स्थिर रहता है ॥ ७० ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥ ७१ ॥

उक्त बिंदु दो प्रकारका होता है एक तो पांडुरवर्ण जिसे शुक्र कहते हैं दूसरा (लोहित) रक्तवर्ण इसे महारज कहते हैं ॥ ७१ ॥

सिन्दूरद्रवसंकाशं नाभिस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ७२॥

तैल मिलायके सिंदूर (हिंगुल) का द्रव (रस) के समान रज सूर्यस्थान नाभिमंडलमें रहता है तथा बिंदु (वीर्य) चंद्रमाके स्थान कंठदेश षोडशारचक्रमें स्थिर रहता है इन दोनोंका ऐक्य अत्यंत दुर्लभ है ॥ ७२ ॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः ।
अनयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७३ ॥

बिंदु शिव रज शक्ति है, इनके एक होनेमें योगसिद्धि होकर परमपद मिलता है चंद्रमा सूर्यका (प्राणवायु अपानवायुका जीवात्मा परमात्माका) ऐक्य करना यही हठयोगपदका अर्थ है ॥ ७३ ॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु यदा रजः ।
याति बिन्दोः सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥ ७४ ॥

शक्तिचालनविधिसे वायुकरके जब रज बिंदुके साथ ऐक्यको प्राप्त होता है तब शरीर दिव्य हो जाता है अर्थात् उसे अग्नि जलाती नहीं शस्त्रसे कटता नहीं ॥ ७४ ॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्य्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ७५ ॥

शुक्र बिंदुरूप हो चंद्रमासे मिला और रज रक्तरूप होकर सूर्य्यसे मिला इनके समरसैकत्व (चंद्रसूर्य्यस्वरूप बिंदुरजके समरसत्वभाव) को जो योगी जानता है वह योगवित् कहाता है चंद्रमा एवं सूर्यको योगको योग कहाते हैं ॥ ७५ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्य्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ७६ ॥

नाडीजालके शोधनसे; इनमें रहनेवाले वात-पित्त-कफादि रोगोंका हरण होता है. चंद्रसूर्यके चालनसे इनके एकत्र होनेमें खाया अन्न, पिया जल इनका शोषण होता है ऐसा महामुद्राका

फल है अर्थात् इस मुद्राकरके नाडीजालका शोधन चंद्रसूर्यका चालन रसोंका शोषण होता है ॥ ७६ ॥

ग्रन्थान्तरे खेचरीमुद्राविधिः ।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्द्धयेत्तावत् ।
यावद्भ्रूमध्यं तु स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥ १ ॥

जिह्वा खेचरीयोग्य करनेकी विधि ग्रंथांतरसे कहते हैं कि छेदन-चालन-दोहनकर्मसे जिह्वा बढती है, छेदन आगे कहेंगे, चालन यह है कि अंगुष्ठ और तर्जनीसे जिह्वाको हिलाते रहना, दोहन दोनों हाथोंके अंगुष्ठ तर्जनीसे जैसे गौके थनको दुहे ऐसे खींचखींचके जिह्वाको लंबी करे जबतक बाहर निकलकर भ्रुकुटीको स्पर्श न करे तबतक यह विधि करता रहे ॥ १ ॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २ ॥

छेदन कहते हैं कि थूहरके पत्रके समान अति तीक्ष्ण, सचिक्कण निर्मल शस्त्रसे जिह्वाके नीचेकी नसको रोममात्र छेदन करे ॥ २ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३ ॥

तिसके पीछे सेंधा नमक और हरडका चूर्ण छेदित स्थानपर मले, परंतु योगीको लवणनिषेध है इसलिये लवणके स्थान खदिर (कत्था) से कार्य्य करना योग्य है ऐसे सायंप्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधिसे रोममात्र काटे पुनः उक्त औषधी लगाता रहे ॥ ३ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ४ ॥

ऐसे छः महीनेपर्यंत नित्य युक्तिसे करे तो जिह्वामूलकी नाडी जो जिह्वाको कपालकुहरमें पहुंचानेसे रोकती है वह सुखपूर्वक कट जाती है ॥ ४ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ५ ॥

जिह्वाको तिर्छी करके तीनों नाडियोंका मार्ग जो कपालछिद्र उसमें योजित करे यह खेचरीमुद्रा है इसीको व्योमचक्रभी कहते हैं ॥ ५ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ६ ॥

तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाप्रवेश करके एक घडीमात्र खेचरी मुद्रा स्थिर रहे तो योगीको सर्प विच्छूआदियोंका विष न लगे और बुढापा, रोग, मृत्युको जीते वलीपलित (जो बुढापेमें चर्म ढीला होकर सलवटें पडती हैं) न होवें ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ७ ॥

तालुके ऊपर छिद्रके सन्मुख जिह्वा लगाय स्थिरकरके भ्रूमध्यगत चंद्रमासे निकले अमृतका पान जो योगी करे वह १ पक्ष (१५) दिनमें मृत्युको निःसंदेह जीत लेता है यह निश्चय है ॥ ७ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ८ ॥

और जिस योगीका शरीर नित्य उक्त चंद्रामृतकरके पूर्ण हो जाय तो तक्षकनागभी उसे डसे तौभी विष न लगे. दुःख न होवे ॥ ८ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ९ ॥

जैसे अग्नि काष्ठको एवं दीपक तेलसहित बत्तीको नहीं छोडता तैसेही चंद्रामृतपूरित देहको जीव कदापि नहीं छोडता॥९॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥ १० ॥

आचार्य कहते हैं कि जो योगी नित्य गोमांस भक्षण एवं अमरवारुणी पान करे तो उसे हम उत्तमकुलमें उत्पन्न समझते हैं अन्यथा कुयोगी, कुलनाशक हैं सत्कुलमें उत्पन्न हुएभी तो उनका जन्म व्यर्थ है ॥ १० ॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥ ११ ॥

इस गोमांसशब्दका अर्थ कहते हैं कि गोशब्दकरके यहां जिह्वाका बोधक है जिह्वाको कपालछिद्रमें प्रवेश करनेको गोमांस भक्षण कहते हैं. यह महापातकोंका नाश करता है॥११॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥१२॥

अमरवारुणीका अर्थ है कि तालुके ऊपर छिद्रमें जिह्वाक प्रवेश उष्मा (गर्मी) से भ्रुकुटिके भीतर वामभागस्थित चंद्रामृत द्रवित होकर जिह्वाग्रमें प्राप्त होता है इसे अमरवारुणीपान कहते हैं ॥ १२ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा सरस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोद्दीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥१३॥

जब पूर्वोक्तकर्मोंसे जिह्वा बढायके उक्त विधिसे चंद्रामृत पान करने लगती है तो मुखमें लवणसहित मरिचादि, चिंचाफलादि, दूध, मधु, घृतके आदि स्वाद आपसे ज्ञात होते हैं तब योगीके रोग तथा वृद्धावस्थाका नाश होता है शस्त्र (जो अपनेको काटने आया) का निवारण होता है आठों सिद्धि मिलती हैं देवभाव मिलता है सिद्धांगनाओंके आकर्षणकी सामर्थ्य होती है ॥ १३ ॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति १४

जिह्वाको कपालछिद्रमें लगाय मुख विपरीतकरणीके तरह ऊंचा कर कुंडलिनीके ध्यानसहित प्राणायामसे भ्रुकुटीमध्य

द्विदलकमलके नीचे कंठस्थ षोडशदलकमलमें हृदययोगसे प्राप्त जो निर्मलधारामय तरंगसहित चंद्रामृतरस है इसे जो योगी पान करे उसको ज्वरादिरोग न होते तथा कमलके गाभेकासा कोमल शरीर होकर बहुतकालपर्यंत जीवे ॥ १४ ॥

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिन्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥ १५॥

मेरुपर्वतसदृश सबसे ऊंची सुषुम्णाके उपरीभागमें स्थित चंद्रामृतरूप जल जिसमें स्थित है ऐसे छिद्रमें सत्त्वगुणात्मा बुद्धि करके आत्मतत्त्व है और गंगा, यमुना, सरस्वती, नर्मदासंज्ञक इडा, पिंगला, सुषुम्णा, गांधारी आदि नाडियोंका उक्तविवरमें मुख है इनके द्वारा चन्द्रमंडलागत अमृत व्यर्थ चले जानेसे शरीर जरामृत्युको प्राप्त होता है इसलिये प्रथम कह आये हैं कि सुकरण नाम खेचरीमुद्रा करके चंद्रामृत व्यर्थ स्रवित नहीं होनेसे मृत्यु नहीं होती. इस मुद्राके विना देहकी सिद्धि, लावण्य, बल, वज्रसमान दृढ शरीर नहीं होते ॥ १५ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥ १६ ॥

इडा १ पिंगला २ सुषुम्णा ३ गांधारी ४ हस्तिजिह्वा ५ इनका प्रवाह ऊपरको है सो इनके प्रवाहसंयुक्त आत्माको सा-

क्षात् प्रकट रहनेवाला विवर है सो अविद्या एवं अविद्याके कार्य्य शोक, मोहादि दूर होते हैं जिसमें ऐसे विवरमें खेचरी मुद्रा स्थित होती है ॥ १६ ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥ १७ ॥

समस्त बीजोंमें मुख्य सृष्टिरूप एक प्रमाण वह है समस्तदेवताओंमें भगवान् मुख्य है तैसेही समस्त मुद्राओंमें खेचरी मुख्य है ॥ १७ ॥

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगम् ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ७७ ॥

जिस कारण उड्डियानबंधसे रुका प्राणवायु कहींभी विश्राम न करके उडके जैसा सुषुम्णामें गति करता है उसी कारण तहां मृत्युरूपी गजके ऊपर सिंह जैसा यही बंध कहाता है ॥७७॥

उदरात्पश्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डियानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो निगद्यते ॥ ७८ ॥

उड्डीयानबंधका स्थान कहते हैं कि उदरसे पश्चिम और नाभिसे नीचे इस बंधका स्थान योगी कहते हैं इसलिये यह बंध उसी स्थानमें करना योग्य है ॥ ७८ ॥

ग्रन्थान्तरे ।

उदरे पश्चिमं स्थानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ १ ॥

नाभीका ऊपरला तथा नीचला भाग उदरमें लग जांय ऐसे पेटके पीछे खींचे इसे उड्डीयानबंध कहते हैं मृत्युरूपी गजको निवृत्त करनेके लिये सिंहसमान है ॥ १ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोपि तरुणायते ॥ २ ॥

हितोपदेशकर्त्ता गुरुकरके सहजस्वभाव कहा गया ऐसे इस बंधको निरंतर अभ्यास करे तो वृद्धभी तरुण हो जावे ॥ २ ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि स्थानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ३ ॥

नाभीऊर्ध्वाध भागोंको खींचकर पीठमें लगावे. ऐसे इस बंधको छः महीनेपर्यंत निरंतर अभ्यास करे तो निस्संदेह मृत्युको जीते ॥ ३ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥४॥

संपूर्ण बंधोंमें उड्डीयानबंध उत्तम है यह दृढ हो जाय तो स्वभावसिद्ध मुक्ति होती है. इसके करनेसे पक्षियोंकेसी गतिकरके सुषुम्णाद्वारा प्राण मस्तिष्कमें ले जानेसे समाधिमें मोक्ष होता है यही स्वाभाविकी मुक्ति है ॥ ४ ॥

बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धो कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९ ॥

जालंधरबंध कहते हैं कि यह बंध कंठस्थानमें होता है अनेक रोगोंको हरता है शरीरस्थ नाडीजालका बंधन करता है व्योम-

चक्रस्थ चंद्रकलामृतको कपालकुहरसे नीचे नहीं गिरने देता इस कारण वह जालंधरबंध कहा है ॥ ७९ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८० ॥

कंठका संकोचन करके प्राणवायुकी गतिको रोकना जालंधर बंध है इससे चंद्रकलामृत गिरके सूर्यरूप अग्निमें नहीं पडता एवं वायु कदाचित् विरुद्ध नहीं होता ॥ ८० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योयं जरामृत्युविनाशकः ॥ १ ॥

ग्रंथांतरसे जालंधरबंध कहते हैं कि कंठ नीचे नवाय हृदयके चार अंगुल अंतर ढोडी लगाय दृढ स्थापन करे यह जालंधरबंध वृद्धावस्था तथा मृत्युनाशक है ॥ १ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ २ ॥

दृढ संकोचनमात्र करके इडा पिंगला दोनहूं नाडी स्तंभित होती हैं कंठस्थानमें जो विशुद्धनामा चक्र है वह अंगुष्ठादि ब्रह्मरंध्रांत षोडश आधारोंका मध्यम चक्र है इन १६ आधारोंका वर्णन पूर्व १३ श्लोकके टीकामें कर आये हैं ॥ २ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥ ३ ॥

नाभिको पश्चिमतानरूप उड्डीयानबंध करे और कंठ नमाय जालंधरबंधसे इडा पिंगला नाडीनको स्तंभन करे तदनंतर पश्चिममार्ग सुषुम्णामें प्राणवायुको प्राप्त करे ॥ ३ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ४ ॥

इस विधिसे वायुकी गति बंद होकर प्राणवायु स्थिर होकर ब्रह्मरंध्रमें स्थित रहता है. इसे प्राणलय कहते हैं इससे मृत्यु, जरा, रोग, देहकी त्रिवली, श्वेतरोगता, मूर्छा आलस्यादिक, नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ५ ॥

मूलबंध १ उड्डीयानबंध २ जालंधरबंध ३ ये श्रेष्ठ हैं मत्स्येंद्रादि महासिद्ध वसिष्ठादिमुनि इन्हें सेवन करते हैं हठके उपायोंके सिद्धिको प्रगट करते हैं इससे गोरक्षादि सिद्ध इन्हें जानते हैं ॥ ५ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ६ ॥

तालुके मूलमें स्थित दिव्यरूप चंद्रमासे कछुक अमृत स्रवित होता है उसे नाभिस्थित अग्निरूप सूर्य ग्रास कर लेता है तब देहको वृद्धावस्था होती है ॥ ६ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७ ॥

इस प्रकरणमें उक्तसूर्यके मुखवंचना अर्थात् जिससे उक्त अमृत सूर्यके मुखमें न पडे यह युक्ति कही है तथा विपरीतकरणी मुद्राभी (जो आगे कहेंगे) इसके उपयोगी है ये सर्व गुरुमुखसे जाने जाते हैं विना गुरु कोटीसंख्याक शास्त्रके अर्थमेंभी न जाने जाते ॥ ७ ॥

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ ८१ ॥

अपानवायु ऊपर खींचके प्राणवायुसे योजित करना. पादकी एडीसे गुदा, एवं लिंगके मध्य योनिस्थानको दृढ अचेतके गुदद्वारको दृढ संकुचित करना जिससे अपानवायु बाहर न निकसे इस प्रकार मूलबंध होता है ॥ ८१ ॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२ ॥

अपान और प्राणवायुका ऐक्य कर जो निरंतर मूलबंधका अभ्यास करता है उसके मल मूत्र क्षय होते हैं. और बूढाभी जवान हो जाता है ॥ ८२ ॥

'गोरक्षसंहितामें दशमुद्राओंमेंसे महामुद्रा १ खेचरी २ उड्डीयान ३ जालंधरबंध ४ मूलबंध ५ मुख्य कही हैं अन्य महाबंध १ महावेध २ विपरीतकरणीमुद्रा ३ वज्रोली ४ शक्तिचालन ५ ये पांच इसी शतकमें साधारणप्रकार पूर्वही कह आये हैं तथापि विशेष प्रकटताके लिये मैं उन्हें ग्रंथांतरमतसेभी लिखता हूं'—

तत्र प्रथमं महाबन्धः ।

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १ ॥

वामपादकी एडीसे योनिस्थानको रोधके दक्षिणपाद उसके ऊपर स्थापन करे अर्थात् मूलबंधकरके ॥ १ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥ २ ॥

तब जालंधरबंधकरके वायुको पूरकर मनको मध्यनाडी सुषुम्णामें प्रवृत्त करे ॥ २ ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ ३ ॥

यथाशक्ति कुंभक करके मंद २ रेचन करे ऐसेही वामांगमें अभ्यास करे दोनों अंगोंके अभ्यासकी संख्या समान करे ॥ ३ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ ४ ॥

यह समस्त नाडियोंकी ऊपरकी गतिरोधक महासिद्धिदायक महाबंध है॥ ४ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ ५ ॥

मृत्युपाशको काटनेवाला है, इडा, पिंगला, सुषुम्णा तीनोंके संगम (त्रिवेणी) धारणकर मनको (केदार) भ्रुकुटी शिवस्थानमें प्राप्त करे ॥ ५ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ ६ ॥

जैसे कांति, गुण, शोभायुक्त स्त्री पुरुष विना व्यर्थ है ऐसेही महावेधविना महामुद्रा और महाबंध निष्फल हैं इसलिये अब महावेध कहते हैं ॥ ६ ॥

अथ महावेधः ।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निवृतं कण्ठमुद्रया ॥ १ ॥

एकाग्रबुद्धि करके योगि महावेध इस प्रकार करे कि, नासापुटसे पूरक करके जालंधर बंधकर वायुकी ऊर्ध्वगतिको रोक कुंभक करे ॥ १ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २ ॥

दोनहूं हाथोंके हथेलीसमान पृथ्वीमें धरके पादकी एडी योनिस्थानमें दृढ लगाय हाथोंके सहारे पृथ्वीसे कुछेक शरीर उठावे (परंतु जैसे मूलबंध मुद्रा न खुले) फिर मंद मंद पृथ्वीके अपने शरीरासन स्फिचको ताडन करे इससे वायु इडा-पिंगलाको उल्लंघन कर सुषुम्णामें प्राप्त होता है इस मुद्रामें स्वानुभवसे तथा हरिगुरूपदिष्ट मार्गसे कहता हूं कि शरीर पृथ्वीसे उठायकर पृथ्वीमें ताडन करनेमें उक्त मुद्रा दृढ नहीं रह सकती यदि बलसे रक्खाभी तो मूलबंध बिगड जाता है इससे सुगम तो पद्मासन-

से यह कार्य्य सुखपूर्वक होता है औरभी सुभीता यह है कि हा-
थोंके जोरसे शरीर उठानेमें मूलबंध सुगमताहीसे होता है ॥२॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ ३ ॥

इस विधिसे सूर्यचंद्रमा अध्यात्मका इडा पिंगला सुषुम्णा-
का संयोग मोक्षके हेतु हैं ऐसे होनेमें मरा हुआ जैसा मृतावस्था
होती है तब नासिकापुटमें मंद २ रेचन करे ॥ ३ ॥

महावेधोयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ ४ ॥

इस महावेधके अभ्यास करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धि मि-
लती हैं (वली) बुढापेमें मुखपर सलवटें पडनी (पलित) बाल
श्वेत होने (कंप) बुढापेमें शरीर कांपना ये उक्त अभ्यासीको
नहीं होते ॥ ४ ॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ५ ॥

ये महामुद्रा, महाबंध, महावेध, गोप्य हैं बुढापे तथा मृत्युको
दूर करते हैं जाठराग्निको बढाते हैं अष्टसिद्धि देती हैं ॥ ५ ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यं संभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा ।
सम्यक्छिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ६ ॥

आठों प्रहरमें ८ ही वार इनका अभ्यास करे ये पु-
ण्यको बढाते हैं पापसमूहको वज्रके समान सूंकते हैं शि-

क्षावान् पुरुषको इस प्रकार दिन २ प्रहर २ में थोडा २ करके अभ्यास करना योग्य है ॥ ६ ॥

अथ विपरीतकरणमुद्रा।

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ १ ॥

अब विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं कि, ऊपरको नाभि नीचे तालुकरके नाभिस्थ सूर्य ऊपरको भ्रुकुटिस्थ चंद्रमा नीचेको हो जाता है इससे चंद्रामृत सूर्य्यरूप अग्निमें नहीं पडने पाता यह विपरीतकरणीमुद्रा है यहां ग्रंथकर्त्ताने उदाहरण कुछेक लिखकर लिखा गुरुलक्ष्यपर निर्भर छोड दिया। इसलिये मैं (भाषाकार) अपने अनुभव एवं हरिगुरूपदिष्टमार्गसे लिखता हूं कि, दोनहूं पैरोंसे पद्मासन बांधकर दोनहूं हाथ और शिर (चोटी) पृथ्वी लगाय, उक्त पद्मासनको ऊपर अंतरिक्षमें खडा करे अभ्यास हुएमें कभी तो उस पद्मासनको खोल पांव आकाशमें लंबे करे कभी फेर वैसेहीमें पद्मासन करे हाथ और शिरके सहारे उलटा खडा रहे तब यह मुद्रा होगी अभ्याससे सुगम हो जाती है॥ १॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्द्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ २ ॥

जो इस मुद्राका नित्य अभ्यास करता है उसकी जठराग्नि बढती है. उस साधकको आहार बहुत (यथेच्छ) करना चाहिये ॥ २ ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ३ ॥

इस मुद्राका अभ्यासी यदि भोजन अल्प करे तो जाठराग्नि प्रज्वलित होकर देहको फूकती है. अब क्रिया है कि पहिले दिन शिर पृथ्वीमें रखकर पैर ऊपरको क्षणमात्र करे ॥ ३ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ ४ ॥

फिर प्रतिदिन एक एक क्षण बढायके अभ्याससे साधे तो सिद्धि भयेमें वली पलित छः महीनेसे दूर हो जाते हैं जो प्रतिदिन एक२ प्रहरपर्यंत इसको करता है वह कालमृत्युको जीतता है ४ ॥

अथ वज्रोली ।

स्वेच्छया वर्तमानोपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥

अब वज्रोली मुद्रा कहते हैं कि जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआभी अपनी इच्छासे वज्रोलीको जाने वह अणिमा सिद्धि पाता है ॥ १ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥

इस मुद्रामें हरकिसीको दो वस्तु दुर्लभ हैं विशेषतः ये २ अवश्य चाहिये. वज्रोल्यर्थ संगमोत्तर दुग्धपान, एवं वशवर्तिनी स्त्री २ उपयोगी हैं ॥ २ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोप्यथवा नारी वज्रोलीं सिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥

संगमकरके मंद मंद क्षरितवीर्यको इंद्रियसंकोचनकरके ऊपर खेंचनेके अभ्यास सिद्ध हुएमें वज्रोलीमुद्राकी सिद्धि प्राप्त होती है ॥ ३ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ४ ॥

इसकी पूर्वांगक्रिया कहे हैं कि चांदी वा कांचकी १४ अंगुल खोखरी शलाका सच्छिद्र करे जो १२ अंगुल सरल २अंगुल तिरछी रहे उसे लिंगछिद्रमें प्रतिदिन २।२ अंगुल प्रवेश कर एक किनारेसे फूंककर वायु प्रवेश करते २ बारह दिनमें २४ अंगुल प्रवेश करे इससे इंद्रियमार्ग शुद्ध होता है तब इस मार्गसे जलके आकर्षणका अभ्यास करे अभ्यास सिद्ध हुएमें वीर्यका आकर्षण करे तो सिद्धि होती है. जिसको खेचरी एवं प्राणजय सिद्ध हों उसको वज्रोली सिद्धि होती है ॥ ४ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥

स्त्रीसंयोगमें जब बिंदु (वीर्य) शरीरसे चलायमान होतेभी उसे उक्ताभ्याससे ऊपरको खींच लेवे अथवा जब भगमें गिर पडे तब स्त्रीके रजसहित बिंदुको आकर्षण कर ऊपरको चढायकर स्थापन करे ॥ ५ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥

याप्रकार जो बिंदुकी रक्षा करता है सो योगी मृत्युको जीतता है बिंदुके पतनसे मृत्यु उसकी रक्षासे अमरत्व होते हैं उसलिये इस विधिसे बिंदुको स्थापन करे ॥ ६ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥

उक्त अभ्यासीके शरीरमें बिंदुधारणसे सुगंधि प्रकट होती है और जबलौं देहमें बिंदु स्थित है तबलौं कालभय नहीं होता ॥ ७ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥

वीर्य चित्तके आधीन है. चित्तके चलायमान होनेसे वीर्य चलायमान और स्थिरतासे स्थिर होता है एवं शुक्रके आधीन जीवित है. इससे स्थिरतासे जीवित स्थिर और चलायमान होनेसे मरण होता है, इसलिये शुक्र और मनकी रक्षा करनी मुख्य है ८

ऋतुमत्या रजोप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥ ९ ॥

ऐसेही रजोवती स्त्रीके रजको बिंदुसहित आकर्षणके ऊपरको खींचके स्थापन करे ऐसे वज्रोलीका अभ्यास करनेवाला योगवेत्ता होता है ॥ ९ ॥

'एक प्रकारके भेद वज्रोलीके सहजोली, अमरोलीभी हैं अतः प्रथम सहजोली कहते हैं'—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ १ ॥

जो वज्रोलीके फल वही सहजोली, अमरोलीकेभी हैं इसलिये येभी उसीके भेद हैं. गोवरके (कंडे) गोपद्दे जलायके भस्म जलमें मिलावे ॥ १ ॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥ २ ॥

वज्रोली अर्थ मैथुन करके क्षणमात्र सुखसे बैठके व्यवाय व्यापार छोडके उक्त भस्म जलमें मिलाय स्त्रीपुरुष अपने २ सर्वांग लेपन करे ॥ २ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोपि मुक्तिदः ॥ ३ ॥

यह मत्स्येंद्रादि योगीश्वरोंने सहजोली कही है यह योग शुभकारक है. अन्यत्र साधनाओंमें जहां भोग तहां मोक्ष नहीं जहां मोक्ष तहां भोग नहीं इस मुद्राके अभ्यासमें भोगसहित मोक्षभी है ॥ ३ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिद्ध्येत नतु मत्सरशालिनाम् ॥ ४ ॥

जो योगी पुण्यवान्, धैर्यवान्, तत्त्वदर्शी और निर्मत्सरी है उनको सिद्ध होता है जो मत्सरी (अन्यशुभद्वेषी) है उनको सफल नहीं होता ॥ ४ ॥

' अब दूसरा भेद व अमरोली कहते हैं '-

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयान्त्यधाराम्।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली॥ १ ॥

शिवांबुके प्रथमधारा पित्तके उष्णतासे तथा अंत्यधारा निःसारतासे त्यागकर निर्विकार मध्यधाराको ग्रहण कर सेवन करते हैं यह योगाभिमत कापालिकी क्रिया है इसे अमरोली कहते हैं यद्वा (कापालिक) कनफटे जोगियोंका (जिसे खंडमत कहते हैं) यह कर्म विशेषतः इष्ट है ॥ १ ॥

अमरीयं पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥ २ ॥

जो पुरुष अमरवारुणी (जो खेचरी प्रकरणमें कही है) का पान करते हैं एवं नासभी अमरवारुणीका लेते हैं तथा प्रतिदिन वज्रोलीका अभ्यास करें सोही कापालिकी अमरोली कही है२॥

अभ्यासान्निःसृता चान्द्री विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ३ ॥

अमरोलीके अभ्याससे निःसृत चंद्रसुधाको पूर्वोक्त भस्ममें मिलायके उत्तमअंग—मस्तक, नेत्र, स्कंध, हृदय, भुजादिमें धारण करे तो भूत, भविष्य, वर्त्तमान देखनेयोग्य दिव्यदृष्टि हो जाती है ॥ ३ ॥

अथ स्त्रीणां वज्रोली ।

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥ १ ॥

अब स्त्रियोंको वज्रोलीसाधन कहते हैं कि, जो स्त्री अभ्यासकी चतुराईसे पुरुषके बिंदुको खींचके अपने रजकी वज्रोलीमुद्रा करके रक्षा करे वहभी योगिनी कहाती है ॥ १ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुता मे न गच्छति ॥ २ ॥

उसके रजका नाश (पतन) निस्संदेह अल्पभी नहीं होता तथा शरीरमें नादभी उत्पन्न होता है चंद्ररूप बिंदु सूर्यरूप रजके बाहर संयोगसे सृष्टि (गर्भ) होती है जब अभ्याससे भीतरही योग होय तो योगसिद्धि होती है परमपद मिलता है इनके संयोगमें समस्त देवता स्थित रहते हैं ॥ २ ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥ ३ ॥

रज, बिंदु वज्रोलीके अभ्याससे देहमें प्राप्त होनेपर सर्व सिद्धि देते हैं ॥ ३ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं मा रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद्ध्रुवम् ॥ ४ ॥

जो स्त्री भगको आकुंचन करते करते रजको ऊपर शरीरमें चढाय रक्षा करे वह योगिनी होती है भूत, भविष्य, वर्तमान जाने अंतरिक्षमें बीच रहनेहारी वैमानिकगति मिलती है ॥ ४ ॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेपि मुक्तिदः ॥ ५ ॥

वज्रोलीके अभ्यासयोगसे (देहसिद्धि) रूप, लावण्य, बल वज्रसंहननभाव मिलते हैं. यह योग पुण्य देनेवाला तथा विषयभोग भोगनेमेंभी मुक्ति देता है ॥ ५ ॥

'इनमें दशम शक्तिचालनमुद्रा प्रथम अजपा गायत्रीके उपरांत कह आये हैं. अब इन १० का माहात्म्य कहते हैं'—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥ १ ॥

ये दश १० मुद्रा आदिनाथ शिवने कही हैं इनमें एक एक मुद्रा योगीको अणिमादि देनेवारी हैं ॥ १ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुस्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥ २ ॥

जो योगियोंको (सांप्रदायिक) गुरुपरंपराप्राप्त इन मुद्राओंका उपदेश देवे वही सर्व गुरुनते श्रेष्ठ, स्वामी, साक्षात् ईश्वर है ॥ २ ॥

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्द्धं लभते कालवञ्चनम् ॥ ३ ॥

इनके उपदेशकर्त्ता गुरुके आसन, कुंभक, आहार, विहार, चेष्टादि वाक्योंमें आदरपूर्वक ग्रहण कर तत्पर रहे तो अणिमादि सिद्धियोंको जीतकर कालमृत्युको जीते ॥ ३ ॥

अथ प्रणवाभ्यासः ।

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अब प्रणवके अभ्यासकी विधि कहते हैं कि एकांत स्थलमें बैठकर दृढ पद्मासन बांधके शरीर कंठ शिर सम (सरल) करके नासाग्रदृष्टि निरंतर करके प्रणव जप करे ॥ ८३ ॥

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाः सोमसूर्य्याग्निदेवताः ।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥८४॥

जिस प्रणवके अकार उकार मकार तीन वर्णमें भूः १ भुवः २ स्वः ३ ये लोक चंद्रमा १ सूर्य २ अग्नि ३ देवता रहते हैं वह प्रणव परमकारणरूप ज्योतिर्मय चैतन्य ॐकारस्वरूप है ॥ ८४ ॥

त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८५॥

जिस प्रणवमें भूत, वर्तमान, भविष्य ३ काल ऋक्, यजुः, साम तीनहूं वेद. स्वर्ग, मृत्यु, पाताल ३ लोक. उदात्त, अनुदात्त स्वरित ३ स्वर. ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर तीन देवता रहते हैं. वह प्रणव (ॐकार) स्वरूप परंब्रह्म ज्योतिस्वरूप है ॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८६॥

जिस प्रणवके अ, उ, म, तीन मात्रा ॐक्रिया, इच्छा,

ज्ञान, शक्ति भेदोंकरके ब्रह्माणी, रुद्राणी, वैष्णवी ये शक्ति रहती हैं सो प्रणव ओंकारस्वरूप परब्रह्मज्योति है ॥ ८६ ॥

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
त्रिधा मात्रा स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥८७॥

त्रिलोकात्मा अकार उकार और बिंदुस्वरूप मकार तीनहूं मात्रा रहती हैं जिसमें ऐसा ब्रह्मज्योतिस्वरूप प्रणव है ॥८७॥

वचसा तज्जपेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८ ॥

इस प्रणवको सकल जगत्कारण भूतभावना करके वचनसे जप करना शरीरसे सिद्धासनादिसे सगुणब्रह्मकी भावना करके प्रणवार्थ समझ अभ्यास करना तथा मनसे परंब्रह्मस्वरूप प्रकाश चैतन्य समझके सर्वदा स्मरण करना ॥ ८८ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९ ॥

जो योगी बाह्याभ्यंतर शौचयुक्त वा बाह्यशौचमात्र यद्वा जैसे तैसे होकर प्रणवका अर्थ समझ अभ्याससे जप करता है उसको शारीरकपाप स्पर्श नहीं करते. जैसे कमलदल जलमें रहता है परंतु जल उसके पत्रको स्पर्श नहीं कर सकता ऐसेही उक्त विधिका प्रणवाभ्यासीभी निर्लेप रहता है ॥ ८९ ॥

अथ प्राणायामप्रकारः ।

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत्॥९०॥

प्राणवायुके निश्वासोच्छ्वास होते रहतेमें बिंदुभी चलायमान होता है जो प्राणवायु स्थिर होगा तो बिंदु स्थिर हो जाता है जब प्राणायामसे प्राणवायु स्थिर हो गया तो योगी चिरकाल योगाभ्याससे समर्थ होता है दीर्घजीवी तथा ईश (शिव) भावको प्राप्त हो जाता है. इसलिये योगीको वायुनिरोध करना मुख्य है॥९०॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवं न मुञ्चति ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥९१॥

जबलौं शरीरमें वायु स्थिर रहता है तबलौं जीव शरीरको नहीं छोडता जब प्राणवायु शरीरसे निकल जाता है तो उसी अवस्थाको मरण कहते हैं जीवन मरण प्राणवायुके आधीन है इसलिये प्राणवायुका रोधन अवश्य विधिसे करना चाहिये ॥९१॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२ ॥

जबतक प्राणवायु कुंभकसे देहमें स्थिर है तथा जबतक चित्त विषयवासना त्याग अन्तःकरण ईश्वराकार निर्विकार है और जबतक भ्रूमध्यमें दृष्टि निश्चल है तबतक कालकी भय नहीं होती है ॥ ९२ ॥

अतः कालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत ॥ ९३ ॥

जिस कारण जीवनमरण प्राणवायुके आधीन है इसी हेतु ब्रह्मा एवं सनकादिक सिद्ध, दत्तात्रेयादि मुनि, प्राणायामके सा-

धनमें तत्पर हैं अन्य योगियोंकोभी इस अभ्याससे कालकी भ-
य नहीं होती इस हेतु प्राणायाम साधन करना योग्य है ॥१३॥

षट्त्रिंशदंगुलो हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामे दक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ १४ ॥

प्राणवायु अपानवायुरूप हंस इडापिंगलाके मार्गसे छत्तीस अंगुल बाहर निकलता है इस हेतु 'बहिः प्रयाणं कुरुते प्राणः' उक्तवायु प्राण कहाता है प्राणापानवायुरूप हंस है और नहीं१४

शुद्धिमेति यदा सर्वनाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदेव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ १५ ॥

जब शरीरके मलसे व्याप्त नाडीजाल, नाडीशोधन प्राणायामके प्रभावसे शोधके शुद्ध निर्मल होता है तब योगाभ्यासोपयोगी प्राणवायुको थामनेकी सामर्थ्य योगीको होती है अन्यथा नहीं ॥ १५ ॥

अथ नाडीशोधनप्राणायामविधिः ।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्य्येण रेचयेत् ॥ १६ ॥

नाडीशोधन करनेवाले प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतमें स्थूल और कोमल आसनमें बैठकर पद्मासन बांधे तब चन्द्रनाडी (इडा) से १२ संख्या प्रणव जप करते मन्दमन्द पूरक तथा १६ संख्यासे दोनहूं ओर थामके कुंभकमें चन्द्रमण्डलका ध्यान करना और १० संख्यासे सूर्यनाडी (पिंगला) से मन्द मन्द रेचन करे यह चन्द्रांग (वामांग) प्राणायाम है ॥१६॥

अमृतदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत्॥९७॥

चन्द्रांगप्राणायाममें दधि, दुग्ध, समान अतिशुक्लवर्ण अमृतस्वरूप चन्द्रमाका कंठ तथा नाभिमें ध्यान करनेसे आनन्दका अनुभव होकर सुख मिलता है ॥ ९७ ॥

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८ ॥

सूर्यनाडी (पिंगलामार्ग) से प्राणवायु १२ संख्यासे प्रणवजपसहित पूरकके १६ संख्यासे कुंभकमें आदित्यमंडलका ध्यान करना और १० संख्यासे प्रणवजप करके चंद्रनाडी (इडामार्ग) से मंद २ रेचन करना यह दक्षिणांग (सूर्यांग) प्राणायाम है ॥ ९८ ॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामी सुखी भवेत्९९

सूर्य्यांग प्राणायाममें कुंभकविषये जाज्वल्यमान अग्निज्वालासमुदायसमान अग्निमय सूर्य्यमंडलको अपने नाभिकमलमें ध्यानकरके जो योगी प्राणायाम करे तो आनंद पाता है ॥९९॥

प्राणांश्चेदिडयापि चेत्परिमितं भूयोन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धा त्यजेद्वामया ।
सूर्य्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥

उक्त ९ श्लोकका अर्थ सूक्ष्मसे पुनः कहते हैं कि यदि प्राणवायुको वामनासापुटसे १२ प्रणव जपसे पूरक १६ जपसे चंद्रमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० जपसे रेचन सूर्यनाडीसे करना यह एक प्राणायाम हुवा पुनः दक्षिण नाडीसे १२ जपि पूरक १६ से सूर्यमंडल ध्यानसहित कुंभक और १० से रेचन करना दूसरा प्राणायाम हुवा पुनः वामसे पूरक दक्षिणसे रेचक करके तीसरा प्राणायाम हुवा इसी प्रकार चंद्रांग पूरकके कुंभकमें चंद्रबिंब प्राणवायुस्वरूपका और सूर्य्यांग पूरकके कुंभकमें सूर्य्यबिंब अपानवायुस्वरूपका ध्यान करनेवाले योगीके समस्त नाडीजाल तीन महीने उपरांत शुद्ध (निर्मल) होते हैं यह नाडीशोधनका उत्तम प्रकार। कहा है जो संयमसे रहके धौती १ नेति २ नौली ३ वस्ती ४ त्राटक ५ भस्रा ६ षट्कर्ममें परिश्रम न करे तौभी इनही प्राणायामोंके अभ्याससे उनका उक्तकृत्य संपादित हो जाता है जैसे कहाभी है कि "प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति । आचार्य्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥ " अर्थात् प्राणायामहीसे नाडीमल शुद्ध हो जाता है इसलिये याज्ञवल्क्यादियोंके अन्य धौत्यादि षट्कर्म संमत नहींहै ॥ १०० ॥

ग्रन्थान्तरे ।

प्रातर्मध्यंदिनं सायमर्द्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अरुणोदयसे सूर्योदयपर्यंत ३ घटी प्रातःकाल दिनके पांच विभाग कर मध्यभाग मध्याह्न, सूर्यास्तसे ३ घटी आगे पीछे सायं संध्याकाल और अर्द्धरात्रिमें २ मुहूर्त्त निशीथ काल होता है इन चारोंमें प्रत्येकमें ८० । ८० प्राणायाम करना अर्द्धरात्रिमें न कर सके, तीनों कालमें अवश्य अभ्यास करना. चारों समयके ३२० और ३ समयके २४० प्राणायाम होते हैं॥ १॥

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ २ ॥

जिसमें प्रस्वेद आवे वह कनिष्ठ, जिसमें कंप हो वह मध्यम है, जिसमें वायु ब्रह्मरंध्रमें प्राप्त हो सो उत्तम कहाता है इससे योगी निरंतर वायुका अभ्यास करे और कुछ कम ४२ विपल कुंभक रहे सो कनिष्ठ, ८४ से मध्यम, १२५ में उत्तम प्राणायाम काल कहते हैं जब प्राणायाम स्थिर हो जाय तब प्राण ब्रह्मरंध्रको प्राप्त होता है तहां २५ विपला स्थिर रहे तब प्रत्याहार २५ पलापर्यंत रहे तो धारणा तथा ६ घटी रहे तो ध्यान और बारह दिन रहे तो समाधि होती है ॥ २ ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्द्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ ३ ॥

प्राणायामश्रमसे जो पसीना आवे उसे सर्वांगमें खूब मले इससे गात्र लघु और दृढ होते हैं अर्थात् जडताका अभाव होता है ॥ ३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ ४ ॥

अभ्यासकालमें दूध, घृत भोजन करे जब केवल कुंभकाभ्यास दृढ हो जाय तब उक्तनियमका कुछ आग्रह नहीं ॥४॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥५॥

जब नाडीशुद्धि हो जाती है तो बाहर चिह्न देहकी कृशता, कांतिवर्द्धनआदि निश्चय देखनेमें आते हैं बहुतकालसम कुंभक धारण करनेसे जाठराग्निप्रदीप्ति, नादकी प्रकटता और निरोगिता होती है ये सर्व नाडीशुद्धिके गुण हैं ॥ ५ ॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधने ॥ १०१॥

इति गोरक्षशास्त्रे प्रथमशतकम् ॥ १ ॥

नाडिशोधन हुयेमें अपने समझेयोग्य मंत्र-जप-कालपर्यंत प्राणवायुके धारणसामर्थ्य होती है उदराग्नि प्रदीप्त स्पष्टतर नादका श्रवण और नैरुज्यता होती है ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षयोगशास्त्रभाषायां ससंग्रहायां योगाङ्गपूर्वाभ्यासविधिः ॥ १ ॥

अथ

गोरक्षपद्धतिः ।

द्वितीयं शतकम् ।

'जो पूर्व १०० श्लोकके टीकामें लिखा गया है कि धौती-आदि ६ कर्मका कार्य प्राणायामसे हो जाता है इन्हे न करे परंतु किसी २ आचार्योंका यहभी मत है कि'—

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

जिसका मेद और श्लेष्मा अधिक हों उसको प्राणायामसाधनमें अत्यंत कष्टसेभी अभ्यास दृढ नहीं होता इसलिये उनको प्रथम षट्कर्म करके तब प्राणायामका अभ्यास करना योग्य है इसलिये षट्कर्मविधि कहते हैं.

तत्रादौ धौतिः ।

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥ १ ॥

चार अंगुल चौडी, पंद्रह हाथ लंबी, बारीक वस्त्र (पगडी) की पट्टी थोडे गरमजलमें भिगोय मुखसे पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन एवं क्रमसे १५ दिनमें पूरी गुरूपदिष्टमार्गसे निगल जावे ॥ १ ॥

पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ।
कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २ ॥

उक्त वस्त्र पिछला किनारा मुखमें दांतोंसे दाब ओठोंसे लगाय नौलीकर्म करे इससे छातीमें लगा वस्त्र उदर (अंतडि) में पहुँच साफ करता है तब थोडा २ बाहर निकाल डाले यह धौतिकर्म है कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठादि, विषरोग, वीस प्रकारके कफरोग इस धौतिकर्मके प्रभावसे निरसंदेह नाश हो जाते हैं॥ २॥

अथ बस्तिः ।

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥ १ ॥

अब बस्तिकर्म कहते हैं कि नाभिमात्र जलमें उत्कटासन बैठकर छः अंगुल लंबी और अंगुल प्रवेशयोग्य छिद्रवाली बांसकी नली चार अंगुल गुदामें प्रवेशकर गुदा आकुंचन करके पेटमें जल चढाय नौलीकर्म करके बाहर छोड देवे यह बस्तिकर्म है. धौती बस्ति विना भोजन किये करने न चाहिये तथा इनके उपरांत शीघ्र भोजन करना योग्य है ॥ १ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २ ॥

बस्तिकर्मसे गुल्म, प्लीह, जलोदर, वात, पित्त, कफसे उत्पन्न सर्वरोग नाश होते हैं ॥ २ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥ ३ ॥

जलमें बस्तिकर्मके अभ्याससे शरीरके सप्त धातु रस १ रुधिर २ मांस ३ मेद ४ अस्थि ५ मज्जा ६ शुक्र ७ तथा पांच ज्ञानेंद्रिय पांच कर्मेंद्रिय और अंतःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, ताप, विक्षेप, शोकादि, मोह, गौरव, आवरण, दीनता, राजसतामसका धर्म सभी निवृत्त होते हैं. प्रसन्नता कांति, बढती है. जठराग्नि दीप्त होती है.वातादि समस्त दोषोंको दूरकर नीरोगिता होती है ॥ ३ ॥

अथ नेतिः ।

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ १ ॥

अब नेतिकर्म कहते हैं कि एक बालिस्त मुलायम, एवं ग्रंथिरहित सूत्रका एक किनारा नासिकाके एक पुटमें प्रवेश कर दूसरे पुटको बंदकर पूरक करे जब कुछ सूत्र ऊपर चढे तब मुखश्वास छोडकर सूत्र बाहर निकाले तब एक नारा मुखके बाहर दूसरा नासिकाके बाहर दोनहूंको हाथोंसे पकड शनैः शनैः चलाता रहे इसे नेतिकर्म सिद्धजन कहते हैं ॥ १ ॥

कपोलशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ २ ॥

यह क्रिया कपोल तथा नासिकादियोंके मल दूर कर सूक्ष्मपदार्थदर्शी दिव्यदृष्टि देती है और जत्रू (कंठमूल) स्थानसे ऊपरके समस्त रोगसमूहको शीघ्र शांत करती है ॥ २ ॥

अथ त्राटकम् ।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्य्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ १ ॥

अब त्राटक कहते हैं कि एकाग्र दृष्टिसे कुछ सूक्ष्म वस्तुको जबलौं नेत्रोंमें पानी न आवे निरंतर देखता रहे. नेत्रोंमें जल आनेपर छोड देवे इसे मत्स्येंद्रादि त्राटक कहते हैं. मैं (भाषाकार) समझता हूं कि सूक्ष्म वस्तुके स्थानेमें प्रथम नासाग्र अभ्यास होनेपर भ्रूमध्य देखे तो औरभी अच्छे गुण शीघ्र होंगे ॥ १ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ २ ॥

यह त्राटककर्म नेत्ररोगनाशक, बल बढानेवाला, आलस्यनिद्रादियोंका कपाट (केवाड) है तंद्रा और तमोगुणी चित्तवृत्तिके क्रोधादिकोंको दूर करता है जैसे सुवर्णकी पिटारीको यत्नसे रखते हैं ऐसेही इस कर्मकोभी गोप्य रक्खे ॥ २ ॥

अथ नौलिः ।

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥ १ ॥

अब नौलिकर्म कहते हैं कि दोनहूं कंधा नीचे नवाय उदरको दक्षिणवामभागकरके जलके भ्रमर (भौंरे) के नाई घुमावे इसे सिद्धलोग नौलि कहते हैं. अनुभवसिद्ध यहभी है कि दक्षिणवामभागसे घुमायके अभ्यास हुयेमें नीचे ऊपरकोभी चरखीके समान उदरानलको घुमाना चाहिये ॥ १ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषिणी च हठक्रियामौलिरियं हि नौलिः२

यह क्रिया मंदाग्निको बढाय भोजन किये अन्नादिकोंको शीघ्र परिपाक करनेवाली, समस्त वातादिरोगोंको सुखानेवाली, आनंदको देनेवाली, धौत्यादि सर्व कर्मोंमें (श्रेष्ठ) मुकुट है धौ-ति, वस्ति, इन दो क्रियाओंमें नौलि कहनी होती है इस लिये यहां नौलिकी विधि कही है ॥ २ ॥

अथ कपालभातिः ।

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ १ ॥

अब कपालभातिकर्म कहे कि लुहारकी धौंकनी (खाल)-के नाईं शीघ्र शीघ्र रेचन जो रेचकपूरक करे इसे कपालभाति कहते हैं इससे वीस प्रकारके कफरोग दूर होते हैं ॥ १ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥ २ ॥

उक्त षट्कर्मोंकरके स्थूलभाव कफदोष मलपित्तादि दूर हो जाते हैं तब प्राणायाम करे तो विनाश्रमही योगसिद्धि होती है ॥ २ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य्य कण्ठ-
नाले । क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरि-
णीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३ ॥

अब गजकरणीमुद्राभी प्रसंगसे कहते हैं कि, अपानवायुको कंठनालमें चढाय उदरगत भुक्तपीतअन्न जलादियोंको निकाले इस अभ्याससेभी नाडिचक्र अपने आधीन (वशीभूत) होता है इसे हठज्ञ योगी गजकरणी कहते हैं ॥ ३ ॥

अथ उत्तरार्द्धग्रन्थः ।

'पूर्वोक्त प्रकारोंसे नाडिशोधन हुयेमें यम, नियम, आसन साधके षट्चक्र षोडशाधारका कर्म जानकर नाडिजाल नाडिगत वायु ज्ञात हुयेमें चन्द्रतारानुकूल शुभदिन शुभ मुहूर्तमें लग्ननवांशादि शुभ साधके एकांतस्थलमें श्रीगुरु गोरक्ष; गणेशका पूजन मंगलपाठ स्वस्त्ययन कराय योगाभ्यासोपदेशक श्रीगुरुको आराधनसे संतुष्ट कर उन्हीके आज्ञासे योगाभ्यासको आरंभ करना इसमें प्रथम प्राणायामका विस्तार कहते हैं'—

प्राणो देहे स्थितो वायुरपानस्य निरोधनात् ।
एकश्वसनमात्रेणोद्घाटयेद्गगने गतिम् ॥ १ ॥

प्राणवायु जो देहमें स्थित है और मूलाधारस्थित अपानवायुको ऊपर उठाय रोधकर एकही श्वासमें कुंडलीकरके रुका हुआ सुषुम्णाद्वारको खोलके सुषुम्णानाडिके चिदाकाशमें ऊर्ध्वगति कराता है सो प्राणायाम सुगम होता है ॥ १ ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ॥ २ ॥

रेचक, पूरक, कुंभकके भेदकरके प्राणायाम तीन प्रकारका होता है. बाहरके वायुको अभ्यंतर प्रवेश करना पूरक. वायुको भीतरही रोकना कुंभक. रुद्धवायुको बाहर निकालना रेचक होता है प्रणवका स्मरण करनेवाला प्राणायाम है ब्राह्मणको प्रणवका क्षत्रिय वैश्यको एकाक्षर मंत्रजपका अधिकार है पूरकमें अकारका स्मरणपूर्वक १२ प्रणव जपके चंद्रनाडीसे पूरक उकारके स्मरणपूर्वक चन्द्रमण्डलका ध्यान सहित १६ प्रणवजपसे कुंभक और मकारके ध्यानपूर्वक १० प्रणवजपसे रेचक करना. यह एक प्राणायाम होता है ॥ २ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ ३ ॥

प्राणायामके अभ्यास करते २ यदि संयम पूरा न पहुँचे तो नाडी मलिन हो जाती है इसलिये पुनः नाडीशोधन प्राणायाम कहते हैं कि चंद्रांग, सूर्य्यांग, प्राणायाम, प्राणापानवायुसंयुक्त १२ प्रणवमात्राकरके पूरक चंद्रमंडल-सूर्य्यमंडलध्यानयुक्त १६ मात्राकरके कुंभक और १० मात्रासे रेचक करके चंद्रसूर्य नाडी मलको नाश करते हैं ऐसा योगियोंने जानना ॥ ३ ॥

पूरके द्वादशी कुर्यात्कुम्भके षोडशी भवेत् ।
रेचके दश ॐकाराः प्राणायामः स उच्यते ॥ ४ ॥
प्रथमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ५ ॥

पूरकमें १२, कुंभकमें १६, रेचकमें १०, मात्रा प्रणवकी यह प्राणायामप्रकार कनिष्ठ है. इससे द्विगुण अर्थात् पू० २४, कुं० ३२, रे० २०, यह मध्यम और पू० ३६, कुं० ४८, रे० ३० यह उत्तम प्राणायाम है ॥ ४ ॥ ५ ॥

अधमे चोद्यते धर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ६ ॥

कनिष्ठप्राणायाममें प्रस्वेद (पसीना) होती है. मध्यममें कंप होता है. उत्तममें योनिका आधार उठता है. इसलिये प्राणायामका अभ्यास करना मुख्य है ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ७ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्य चापानवायुं प्राणे नियोजयेत् ।
ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ८ ॥

प्राणायामकी विधि कहते हैं कि एकांतस्थलमें मोटे दलवाला कोमलकंबलादि आसनमें पद्मासन बांधके बैठकर श्रीगुरु एवं शिवको प्रणाम करे अमृत स्रवित हो रहा, ऐसे चंद्रबिंबका ध्यान भ्रूमध्यकरके दोनहूं दृष्टि भ्रूमध्यमें स्थापन करे तदनंतर ब्राह्मण प्रणवका क्षत्रिय वैश्य ओम् इति एकाक्षरमंत्रका पूर्वोक्त मात्राके प्रकारसे पूरक, कुंभक, रेचक, प्राणायाम, चंद्रांग, सूर्यांग, प्रकारकरके निरंतर करता रहे मूलाधार संकोचनपूर्वक अपानवायुको ऊपर खींचके प्राणवायुसे ऐक्य करे तब अपानवायुमिलित प्राणवायुको शक्तिचालनमुद्रासे उठाई-

गई कुंडलिनीको सुषुम्णामार्गसे ऊपरको चढावे इतने विधि करनेसे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त हो जाता है ॥ ७ ॥ ८ ॥

द्वाराणां नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं
नीत्वाकाशमपानवह्निसहितं शक्त्या समुच्चालितम् ।
आत्मस्थानयुतस्त्वनेन विधिवद्विन्यस्य मूर्ध्नि ध्रुवं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां संघेन संस्तूयते ॥ ९ ॥

केवल कुंभकप्राणायामका प्रकार कहते हैं कि षण्मुखीकरके पूरकवायुसे उदर पूर्ण करके ऊपरके ७ नीचेके २ इन नव द्वारोंको रोकके मूलाधारगत कालाग्नि अपानवायुसहित शक्तिचालनप्रकारसे प्रबुद्ध हो रही कुंडलिनीको ऊपरको उठाय आज्ञाचक्रसे ऊपर उक्तवायुसे पूर्ण करके स्थिर करे सहस्रकमलमें रहते परमात्माका ध्यानसे ज्योतिः प्रत्यक्ष करके यावत्कालसम योगी निश्चल होकर परमात्माका ध्यान करता है, यही काल योगीका मोक्षसम है. आत्मध्यानतत्पर योगीश्वर सिद्ध इस योगीकी धन्यवादपूर्वक स्तुति करते हैं यही परम फल योगका है ॥ ९ ॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १० ॥

इस प्रकारका नित्य निरंतर अभ्याससे प्राणायाम करना अनेक पातकरूपी काष्ठको भस्म करनेवाला अग्नि होता है. संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाला महासेतु (बडा पूल) योगिजनोंकरके यही प्राणायाम कहा जाता है ॥ १० ॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ ११ ॥

पश्चिमतानआदि आसनोंसे शरीरके अशेष रोग नाश होते हैं प्राणायामसे समस्त पातक और प्रत्याहारसे मानसिक अनेक विकार नष्ट होते हैं ॥ ११ ॥

धारणाभिमतो धैर्य्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम्॥१२॥

धारणासे मनमें धैर्य्य बढने उत्तर उत्तम ज्ञान मिलता है ध्यानसे अद्भुत चैतन्य सर्वशारीरक ज्ञान मिलता है समाधिसे अभिमान त्याग होकर जिसमें पुण्य-पाप लिप्त नहीं होते ऐसा कैवल्य मोक्ष मिलता है ॥ १२ ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन ज्ञायते धारणा शुभा ॥ १३ ॥
धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यानाद्ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥

बारह प्राणायाम करके प्रत्याहारके फल देनेवाला प्रत्याहार (१२) प्रत्याहार (१४४ प्राणायाम) का धारणाका फल देनेवारी धारणा (१२) धारणा (१७२८ प्राणायाम) का प्राणायामरूप ध्यान (१२) ध्यान (२०७३६ प्राणायाम) का प्राणायामरूप समाधि होती है ॥ १३ ॥ १४ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया कर्म यातायातं न विद्यते ॥१५॥

समाधिका स्वरूप कहते हैं. मूलाधारचक्र चतुर्दल कमल कर्णिकामें सुषुम्णाद्वारके संमुख स्वयंभूलिंगके शिरमें देदीप्यमान विंब है विंदुस्वरूप कुंडलिनीका है यह दीप्यमान बिंब समाधिमें अंत न मिलनेवाला, समस्त जगत् व्याप्त करनेवाला उत्तम ज्योति कालाग्निस्वरूप प्रगट होता है इसके दर्शन, समाधिद्वारा मिलनेसे जन्ममरण नहीं होते कर्ममें लिप्त नहीं होता कैवल्यका अनुभव हो जाता है ॥ १५ ॥

संबद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुटा-
द्वाराण्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण संपूरितम् ।
ध्यात्वा वक्षसि वह्न्यपानसहितं मूर्ध्नि स्थितं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरस्तन्मयः॥१६॥

समाधिकी प्रक्रिया दिखाते हैं प्रथम सिद्धासन बांधके दोनहूं हाथोंके अंगुष्ठोंसे दोनहूं कर्णछिद्र, तर्जनियोंसे नेत्र, मध्यमाओंसे नासिका और अनामिका २ कनिष्ठिका २ से मुख रोकके अधिमुखद्वारसे पूरित करके मूलाधारमें रहनेवाला अग्नि तथा अपानवायुसहित प्राणवायुको हृदयकमलमें धारण कर ऊपरको चढाय सहस्रदल कमलमें धारण करना इस प्रकार समाधिके अभ्यास करनेवाला योगी अपानवायुसंमिलित प्राणवायुमय होकर सर्वद्रष्टा साक्षिभूत अंतरात्माके तुल्यताको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् ।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां तदा सिद्धिरदूरतः ॥ १७ ॥

उक्त प्रकारसे प्राणवायु जब (गगन) सहस्रदल कमलमें प्राप्त हो जाय तो घंटा नगारे आदि वाद्योंके ध्वनि प्रकट होती है इस चिह्नके मिलनेपर योगसिद्धि समीप है जानना ॥ १७ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य संभवः ॥ १८ ॥

यथायोग्य निरंतराभ्यस्त प्राणायामसे सब रोग क्षय होता है ऐसेही अविधि विच्छिन्नाभ्यासादि प्राणायामसे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ॥ १८ ॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगा पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥१९॥

अयुक्त प्राणायामाभ्याससे वायु विरुद्ध होकर हिचकी, कास, श्वास, शिरःपीडा, कर्णशूल, नेत्रव्यथाआदि रोग उत्पन्न करता है ॥ १९ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
अन्यथा हन्ति योक्तारं तथा वायुरसेवितः ॥ २० ॥

जैसे सिंह, व्याघ्र, गज इत्यादि दुष्ट जंतु मंदमंदकरके उनके अनुकूल क्रमक्रमसे करके पालकके वशमें रहते हैं तथापि किसी समय थोडाभी उनमें विरोध होनेमें अपनेही पालकको मार डालते हैं तैसेही पवनभी युक्तअभ्याससे वशवर्ती होता है अयुक्तअभ्याससे रोगादिकोंकरके अभ्यासीको अनिष्ट हो जाता है ॥ २० ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिरदूरतः॥ २१॥

वायु शनैः शनैः रेचन करना जैसे नासाछिद्रके सामने रुईका फोहा रक्खा हुआ न उडे ऐसेही शनैः शनैः पूरकभी करना युक्त युक्त पूरक करना जिससे चित्तोद्वेग श्वासोत्कटता न होवे थोडेसे क्रम सहनयोग्य बढावना उचित है इससे सिद्धि नजदीक मिलती है॥ २१॥

अथ ग्रन्थान्तरे प्राणायामभेदाः।

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः॥ १॥

ग्रंथांतरसे प्राणायामके भेद कहते हैं कि (प्राण) शरीरांतर्गत वायुके रोधको प्राणायाम कहते हैं इसके रेचक, पूरक कुंभक ३ भेद हैं भीतरसे वायु बाहर छोडना रेचक, बाहरसे वायु उदरमें पूर्ण करना पूरक और पूरितवायुको घटवत् धारण करना कुंभक कहाता है कुंभकके भी केवल एवंसहित दो भेद हैं वे केवल योगियोंके संमत हैं और सहितभी दो प्रकारका है एक रेचकपूर्वक दूसरा कुंभकपूर्वक पहिला रेचकप्राणायामसे दूसरा पूरकप्राणायामसे भिन्न नहीं है इनके पूरे भेद प्राणायाम प्रकरणसे जानने॥ १॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥ २॥

जबलौं केवल कुंभककी सिद्धि हो तबलौं सहितकुंभक सू-

ध्यांग प्राणायामसे करके सुषुम्णानके भेदनके पीछे उसके भीतर घटकासा शब्द हो तब केवल कुंभक सिद्ध होता है तदनंतर १०। १० बढायके ८० पर्यंत करे सामर्थ्य हो तो अधिक करे रेचक तथा पूरककोभी छोडके वायुधारण करना उसे केवल कुंभक कहते हैं ॥ २ ॥

प्राणायामोयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ३ ॥

प्राणायाम जो कहा शुद्ध तो केवल कुंभकही है. अन्य प्रकार नाडीशोधनार्थ हैं रेचकपूरकरहित केवल कुंभकके सिद्ध हो जानेमें ॥ ३ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ४ ॥

योगीको तीनहूं लोकमें कुछभी दुर्लभ नहीं है जब केवल कुंभकके सामर्थ्य होनेसे यथेच्छ (असंख्य) वायु धारण करे॥ ४॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥५॥

इस विधिसे निस्संदेह राजयोगपद प्राप्त होता है कुंभकके अभ्याससे आधारशक्ति (कुंडलिनी) बोध होता है इससे निद्रा आलस्यादि मिटते हैं ॥ ५ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
न सिद्ध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ६॥

और सुषुम्णाके कफादि मल दूर होते हैं तब हठसिद्धि (मोक्ष) होता है. हठयोग विना राजयोग सिद्धि राजयोग विना हठयोग-सिद्धि नहीं होती इसलिये दोनहूंका अभ्यास करना ॥ ६ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्य्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७ ॥

कुंभकसे प्राण संरोधके अंत्यमें चित्तको आश्रयरहित करे इस प्रकारके अभ्यासयोगकरके राजयोगपदको प्राप्त होता है॥७॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता ।
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ॥
आरोग्यता बिन्दुजयोग्निदीपनं ।
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ८ ॥

हठयोगसिद्धि जब होती है तो देहमें कृशता, मुखमें प्रसन्नता, नादकी प्रकटता, नेत्रोंकी निर्मलता, नीरोगिता, धातुका जय, उदरमें जठराग्निकी वृद्धि, नाडियोंकी शुद्धि ये लक्षण होते हैं॥८॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ २२ ॥

अब प्रत्याहार कहते हैं रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द ये पांच विषय हैं इनमें चक्षु, जिह्वा, घ्राण, त्वक्, कर्ण, इन पांच ज्ञानेंद्रियोंके कर्म होते हैं अर्थात् उक्त ज्ञानेंद्रियोंके उक्त विषय क्रमसे हैं आसन, प्राणायाम सिद्धि करके जिस इंद्रियका जो विषय है उसे दूसरेके समीप भावना कर क्रमशः शनैः शनैः त्याग

करना अर्थात् इंद्रियसे उसके विषयका अनुभवकरके फेर इंद्रियोंको विषयसे अलग करना प्रत्याहार कहाता है ॥ २२ ॥

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ॥२३॥

दिनके प्रातः, मध्याह्न, सायं ये तीन भागसे तीन काल होते हैं. जैसे (तीसरे) सायंकालमें सूर्य्य अपनी (प्रभा) कांतिको क्रमशः हरण करता है ऐसेही योगीभी तीसरे अंग (आसन १ प्राणायाम २ प्रत्याहार ३) प्रत्याहारमें मानसविकार (विषय) में मनके अभिनिवेशको हरण करना अर्थात् विषयसंबंधसे चित्तको छुटाना ॥ २३ ॥

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः संकोचयेद्ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरेदेवमिन्द्रियाणि तथात्मनि ॥ २४ ॥

जैसे कूर्म (कछुवा) अपने शिर पैर आदि अंगोंको संकोचन कर अपनेही भीतर छिपाय देता है.अंग तो उसीमें रहते हैं परंतु न हुयेके तुल्य हो जाते हैं ऐसेही योगीनेभी इंद्रियोंको विषयोंसे विमुख कर आत्मामें उनकी वृत्तियोंको थाम लेना अर्थात् इंद्रियोंको उनके विषयोंमें आसक्त न होने देना विषयोंसे तृप्त जैसा मानकर इंद्रियोंको अपने भीतर अंतरात्मामें आसक्त करना ॥ २४ ॥

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव वा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २५ ॥

अगन्धमथवा गन्धं यं यं जिघ्रति नासिका ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २६ ॥
अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २७ ॥
अस्पृश्यमथवा स्पृश्यं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २८ ॥
लवण्यमलवण्यं वा यं यं रसति जिह्वया ।
तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥ २९ ॥

कर्णसे मधुर वा कठोर जैसे शब्दोंको सुनता है ऐसे मनभी कर्णद्वारा शब्दमें आसक्त होता है योगीजन उक्त शब्दोंकोभी यह्भी आत्माही है, समझ वह मनमें निश्चय कर मनको उक्त शब्द विषसे प्रत्याग्रहण करे अर्थात् शब्दको विषय मानके जो मनमें ससंभ्रम शब्द सुननेका भ्रम होता है उस भ्रमसे मनको उसे मिथ्या (विनाशी) जानकर मनको उससे हटावे जैसे (रज्जु) रस्सीमें सर्पका एवं स्थाणु वृक्ष प्रस्तरादिकोंमें मनुष्य भूतादि भ्रांति होती है तैसेही अखंडानंदस्वरूप आत्मचैतन्यमें संसार यद्वा देह है कहकर बुद्धि भ्रांतिकरके कल्पना करती है वस्तुतः आत्मतत्त्वातिरिक्त कुछभी नहीं है इस कारण संपूर्ण जगत् आत्मस्वरूप है ऐसेही शब्दादि उक्त विषयोंकोभी आत्माही है भावनापूर्वक निश्चय करके बाहर भीतर अद्वैतानंदस्वरूप आत्मासे अन्य कोई नहीं है ऐसी धारणा स्थिर करके शब्दादि विषयोंको चलायमान हुएमेंभी उन्हें आत्मा माने विषय न माने

नासिकासे सुगंध वा दुर्गंध जो सूंघता है उसे आत्माही है निश्चय करके नासिकाकी वृत्ति जो गंधद्वारा मनको लुभाय भ्रममें डालती है उसे हटावे नेत्रेंद्रियसे जो जो पवित्र वा अपवित्र पदार्थ देखता है उन्हेंभी आत्माही है निश्चयकर रूपविषयसे मिथ्याभ्रम छोडके नेत्रेंद्रियवृत्तिको उक्त विषयसे हटावे त्वगिंद्रियसे मृदु वा कठोर तप्त वा शीत आदि जिस२ पदार्थको स्पर्श करता है उसे-भी आत्माही है भावना निश्चयकर त्वगिंद्रि प्रवृत्ति जो स्पर्शसुखमें मनको लुभाती है उसको हटावे जिह्वासे सलोना, अलोना, मिष्ट, कटुक आदि जिन२रसोंको चखता है उन्हें आत्माही समझकर जिह्वाकी वृत्तिको हटावे इस प्रकार योगी प्रत्याहारके अभ्यास करके पंचेंद्रियवृत्तियोंको अपने २ विषयोंसे हटाय आत्मतत्त्वमें स्थिर करना जब प्रत्याहार सिद्ध हो जाता है तो योगी कानोंसे सुने मधुरशब्दके तुल्य मानता है कोईभी इसके चित्तको अपनी ओर नहीं ले जाय सकते. ऐसेही नेत्रोंसे देवता वा पिशाच, मनुष्य वा कुत्ता, ब्राह्मण वा चांडाल, गौ वा गदहा इत्यादि सभीको तुल्य देखता है. नासिकासे कस्तूरी आदि सुगंधी वा पुरीषादि दुर्गंधियोंसे तुल्य सुख मानता है त्वचासे अग्नि वा जल षोडशीस्त्री कुच वा कृपाण (आरे) की धारा आदिकोंके स्पर्शसे तुल्य सुख मानता है और जिह्वासे मीठा वा कडुवा, तप्त वा शीत, तीक्ष्ण (मिर्च) वा दूध, मिट्टी, रेत, गोबर वा हलुवा, पूडीआदिकोंको तुल्य स्वादिष्ठ मानता है ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।

यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ३० ॥

प्रत्याहारकी विधि कहनेउपरांत केवल हठयोगहीसेभी प्रत्याहारकी विधि कहते हैं कि, षोडशदल कमलकर्णिकास्थित चंद्रबिंबसे जो अमृतधारा गिरती है उसे नाभिकमलस्थित सूर्य्य ग्रासकर लेता है.तो उक्त धाराको विपरीतकरिणीमुद्रा करके सूर्यसे हटाय अपने मुखमें पारे. इसे प्रत्याहार कहते हैं ॥ ३० ॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता चन्द्रमण्डलात् ।
तृतीयो यः पुनस्ताभ्यां स भवेदजरामरः ॥ ३१॥

एका स्त्री पदसे कंठस्थानगत चंद्रमासे निकसी अमृतधाराका बोधन है (द्वाभ्यां) पदसे सूर्य्यचंद्रमाका बोध है तृतीयपदसे आप (योगी) है उक्त अमृतधारा कंठ एवं नाभिगत चंद्रसूर्य्यसे भोग करती है इसको तीसरा (आप) स्वयं विपरीतकरणीमूद्रा करके उक्त चंद्रसूर्यसे बचायकर भोग करे तो अजरामर होता है ॥ ३१ ॥

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः॥३२॥

अग्निमय एक सूर्य्य नाभिमें निवास करता है अमृतात्मक चंद्रमा विशुद्धचक्रमें रहता है ॥ ३२ ॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्या करणी तत्र यया पीयूषमाप्यते ॥ ३३ ॥

विशुद्धचक्रमें रहकर अधोमुख चंद्रमा अमृतधारा वर्षाता है उस धाराको नाभिस्थित ऊर्ध्वमुख सूर्य्य पी लेता है योगीकरके

उक्त सूर्य्यको वंचनकर उक्त अमृतधाराको अपने मुखमें प्राप्त किया जाता है इसे विपरीतकरणी जानना ॥ ३३ ॥

ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालुरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ३४ ॥

जो नाभिगत सूर्य्यको ऊपर (तालु) विशुद्धगत चंद्रमाको नीचे करे यह विपरीतकरणी गुरुमुखहीसे जानी जाती है॥ ३४ ॥

लिखनेसे नहीं किंतु सुबोध योगियोंको इतना औरभी स्मरण कराते हैं कि यह मुद्रा प्राणायाम योग एवं खेचरीमुद्रासाधनके उपरांत इन्हींसे सुगम हो जाती है ॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रोरवीति महास्वनः ।
अनाहतं च तच्चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ३५ ॥

तीन फेरा रस्सियोंसे बँधा वृषभ जैसे पराधीन होकर शब्द करता है ऐसेही अनाहतचक्रमें सत्त्व-रज-तमोगुणस्वरूप मायाविषै प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाविषै प्रतिबिंबित हो रहा जीव परा-पश्यंति-मध्यमाके क्रमसे हृदयमध्यमें नाद-सहित होकर निरंतर शब्द करता है अनाहतचक्रको हृदयमें योगिजन जानते हैं ॥ ३५ ॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणे महापद्मं योगी स्वममृतायते ॥ ३६ ॥

खेचरीमुद्राकरके अमृतपानको सूचित करते हैं कि प्राणापानवायुको एकत्व कर मणिपूर अनाहतचक्रोंको उल्लंघन करके

महापद्म (ब्रह्मस्थान) को प्राप्त करके योगीका अमृतमय शरीर उक्तामृतपानसे हो जाता है ॥ ३६ ॥

ऊर्ध्वं षोडशपत्रपद्मगलितं प्रायादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां निधाय विधिवच्छक्तिं परां चिन्तयेत्।
तत्कल्लोलकलाजलं सुविमलं जिह्वाकुलं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥३७॥

उक्त प्रकारकरके ब्रह्मस्थानपर्यंत प्राणवायुको पूर्णकर जो योगी शिरमें रहते सहस्रदल कमलसे विशुद्धचक्रमें गिरती वेला प्राणवायुको ऊपर चढाय नासिका ऊर्ध्वविवरमें प्राप्त करे ऊर्ध्व विवरमें जिह्वा प्रवेश कर अपना मुखभी ऊपरको करके सहस्रदलकमलमें प्राणवायुसहित प्राप्त हुई कुंडलिनीका ध्यान करता कुंडलिनीका सहस्रदलमें प्रवेश होतेही जो अमृताकार तरंग निकलता है उसका लेशभूत अतिनिर्मल जिह्वाके मथनसे निकले हुए अमृतको पान करे वह योगी अतिसुकुमार शरीर पायके समस्त रोगदुःखोंसे रहित होकर बहुतकालपर्यंत जीवित रहता है ॥ ३७ ॥

काकचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् ।
प्राणापानविधानेन योगी भवति निर्जरः ॥ ३८ ॥

अपानवायुको उठाय अपानवायुके साथ ऐक्य करनेवाले प्रकारसे काक (कौवे) कासा चोंच मुखकर शीतल सलिल (बाह्यवायु) को जो योगी पूरक (पूर्ण) करता है वह वृद्धावस्थासे रहित होता है अर्थात् सर्वदा युवाही रहता है ॥ ३८ ॥

रसना तालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् ।
अब्दार्द्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ॥ ३९ ॥

जिह्वाके सहायकरके तालुमूलसे जो विवर (छिद्र) हैं इसक-रके जो योगी प्राणवायुको पूर्ण (पूरित) करता है उसके छः महीनेके अभ्याससे समस्त रोगोंका नाश होता है ॥ ३९ ॥

विशुद्धे पञ्चमे चक्रे ध्यात्वासौ सकलामृतम् ।
उन्मार्गेण हृतं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ४० ॥

पांचवां विशुद्धचक्र (जो कंठमें रहता है) में चंद्रकलामृतका ध्यानकरके क्रमसे ऊपरको हरण करता हुआ सूर्यके मुखके वंचनकर योगीके मुखमें उक्त चंद्रकलामृत पडता है इस प्र-कार जिह्वाद्वारा उदरमें प्राप्त होकर योगीके जरा रोगादियोंको हर लेता है ॥ ४० ॥

विशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धिरुच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्यं चक्रं चक्रविदो विदुः॥ ४१ ॥

' वि ' शब्द हंसका और ' शुद्ध ' शब्द निर्मलका बोधक है कंठमें अत्यंत निर्मल विशुद्धनामा चक्र है यह सर्वोत्कृष्ट है चक्रोंके तत्त्व जाननेवाले योगी जानते हैं ॥ ४१ ॥

अमृतं कन्दरे कृत्वा नासान्तसुषिरे क्रमात् ।
स्वयमुच्चालितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ॥ ४२ ॥

विशुद्धचक्रस्थ चंद्रकलामृतको अपानवायुसहित प्राणवा-युको ऊपर चलायके लंबिका ऊर्ध्वविवरमें प्रवेश (पूर्ण) कर

क्रमसे नासिकाके ऊपर विवरमें पहुंचानेसे नाभिसूर्य्यके मुख (जो अमृतको भस्म करता है) को वंचन (छलन) करके उ-कामृत उदरमें अन्नके समान पहुँचता है ॥ ४२ ॥

बद्धं सोमकलाजलं सुविमलं कण्ठस्थलादूर्ध्वतो
नासान्ते सुषिरे नयेच्च गगनद्वारान्ततः सर्वतः ।
ऊर्ध्वास्यो भुवि सन्निपत्य नितरामुत्तानपादः पिबे-
देवं यः कुरुते जितेन्द्रियगणो नैवास्ति तस्य क्षयः ४३

कंठसे ऊपर निर्मल चंद्रकलामृतको पूर्वोक्त विधिसे रोकके नासा ऊर्ध्वविवरमें पूरित करे तब सर्वद्वारोंको रोकके (गगन) आज्ञाचक्रमें प्राणापानवायुसहित पूरण करके ऊर्ध्वमुख होकर भूमिमें उत्तान लेटकर पैरोंकोभी उत्तान करके जितेंद्रिय होकर उक्तामृतपान करना जो योगी निरंतर इस विधिको करता है उसका क्षय (मृत्यु) नहीं होती ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वं जिह्वां स्थिरीकृत्य सोमपानं करोति यः ।
मासार्द्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

जिह्वाको ऊपर लंबी करके ऊपर स्थिर करके जो योगी अमृतपान करता है उस अभ्यासीको एकही पक्ष (१५ दिन) में मृत्यु जीतनेकी सामर्थ्य होती है इसमें संदेह नहीं ॥ ४४ ॥

बद्धं मूलबिलं येन तेन विघ्नो विदारितः ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हरः ॥ ४५ ॥

जिस योगीने (मूलबंध) मूलद्वार रोका उसने जरामरणादि विघ्नका नाश कर लिया, इस हेतु जरामरणयुक्त देहमें आ-

त्मभावको छोडकर जरामरणरहित शुद्ध आत्मभावको प्राप्त होता है जैसे पंचवक्त्र सदाशिव देहाहंकार जरामरणादिरहित विराजमान है ऐसेही उक्त अभ्यासीभी होता है ॥ ४५ ॥

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ४६ ॥

जो जिह्वाग्रसे राजदंतके बिल (रंध्र) को अचेतन (पीडन) कर अमृतमयी वागीश्वरी देवीके ध्यानका अभ्यास करता है तो अभ्यास सिद्ध होनेपर छः महीनेमें विचित्र कवितासामर्थ्य कवि हो जाता है ॥ ४६ ॥

सर्वाधाराणि बध्नाति तदूर्ध्वं धारितं महत् ।
न मुञ्चत्यमृतं कोपि स पन्थाः पञ्च धारणाः ॥४७ ॥

जिह्वाग्रसे पीडनकर राजदंतके छिद्रको रोकनेसे समस्त नाडियोंके मुख रुक जाते हैं. ऊपरके रुकनेसे अमृतधारा गिरके अन्यत्र नहीं गिर सकती पंच धारणाके अभ्यासी योगीकोभी जैसे इसीमें चंद्रमासे निस्सरित अमृतका हरण प्रत्याहार कहा है तैसेही अमृतको लंबिकाके ऊर्ध्वविवरमें धारणा करना यह धारणा होती है ॥ ४७ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दिनी।
सक्षारं कटुकाम्लदुग्धसदृशं मध्वाज्यतुल्यं तथा ॥
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शास्त्राङ्गमोद्गीरणम् ।
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्॥४८

जिह्वाको लंबिकाके निरंतर चुंबनाभ्यास करनेवाले योगीको कभी लवण, कभी चरपरा, कभी खट्टा, कभी दूधसा, कभी सहतकासा, कभी घीकासा स्वाद जिह्वामें अनुभव होते हैं ये लक्षण जब अभ्यास सिद्ध हुएमें होने लगते हैं तब योगीके व्याधि (रोग) नाश होते हैं, वृद्धावस्थाका निवारण होता है, शास्त्रके व्याख्यान करनेका सामर्थ्य विनापढेभी होता है, अमृतमय शरीर होकर अष्ट सिद्धि मिलती हैं स्मरणमात्रसे सिद्ध गंधर्व, नागादिकन्याओंके आकर्षण करनेका सामर्थ्य होता है ॥ ४८ ॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ४९ ॥

उक्त प्रत्याहारका फल कहते हैं कि उक्त प्रकारसे अमृतसे परिपूर्ण जब देह योगीका हो जाता है तो २ । ३ वर्ष अभ्याससे वीर्य (रेत) ऊपरको चढ जाता है ऊर्ध्वरेता होकर कदाचित्‌भी वीर्य्यं स्खलित नहीं होता एवं अणिमादि सिद्धि उदय होती हैं ॥ ४९ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णदेहं देही न मुञ्चति ॥ ५० ॥

जैसे अग्नि शुष्ककाष्ठ एवं दीपक तैलवर्तिको समग्र भस्म किये विना नहीं छोडता तैसेही जीवात्माभी चंद्रकलामृतसे पूर्ण हुए योगीके शरीरको कदापि नहीं छोडता ॥ ५० ॥

नित्यं सोमकलापूर्णशरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ५१ ॥

जिस योगीका शरीर नित्य सोमकलामृतसे पूर्ण रहता है उसे तक्षकनागभी डसे (काटे) तोभी शरीरमें विष नहीं फैलता ॥ ५१ ॥

इति प्रत्याहारप्रकरणम् ।

' अब ९ श्लोकोंसे धारणाका विस्तार कहते हैं'—

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संपन्नो धारणां च समभ्यसेत् ॥ ५२ ॥

आसनका साधन प्राणायामका साधन प्रत्याहारका अभ्यास स्थिर करके इंद्रियवृत्तियोंको रोकनेके सामर्थ्य हुएमें धारणाका अभ्यास करना ॥ ५२ ॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणा च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ॥ ५३ ॥

हृदयमें मन एवं प्राणवायुको निश्चल करके पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाशसंज्ञक पंच भूतोंको पृथक् पृथक् संधार करना धारणा कहाती है ॥ ५३ ॥

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकं चिन्तान्वितान्धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्भुवो धारणा ५४

पहिले पृथ्वीधारणा कहते हैं कि जो पृथ्वी हरिताल यद्वा सुवर्णसमान रमणीयवर्ण अधिष्ठातृदेवता ब्रह्मासहित चतुष्कोणा-

कार मध्यमें (लं) बीजयुक्त है इस (लं) पृथ्वीतत्त्वको हृद-यमें ध्यान करके भावना करना उक्त भूमंडलमें आपभी लीन होना चित्तसहित प्राणको लीन करके पांच (५) घटीपर्यंत स्तंभन करनेवाली धारणा होती है इस धारणाके सर्वदा अभ्यास करनेसे पृथ्वीतत्त्व अपने वशवर्त्ती होता है ॥ ५४ ॥

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिका चित्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटदहनी स्याद्वारुणी धारणा ॥५५॥

वारुणी (जल) धारणा कहते हैं कि अर्धचंद्राकार कुंदपु-ष्पसमान श्वेतवर्ण अमृतरूप (वं) बीजमध्यसहित अधिष्ठातृदे-वता विष्णुसहित जलतत्त्वको विशुद्धचक्रमें ध्यान करना उक्त जलतत्त्वमें आपभी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन कराय पांच घटीपर्यंत धारणा करना यह जलस्तंभन करनेवाली वारु-णीधारणा है इसके सर्वदा अभ्यास करनेसे कालकूट विषकाभी भस्म हो जाता है विषका असर शरीरमें नहीं होता ॥ ५५ ॥

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं
तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण सत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा वितनुते वैश्वानरी धारणा ॥५६॥

आग्नेयी धारणा कहते हैं कि इंद्रगोप (वीरबहूटी कीडे) के

सदृश रक्तवर्ण त्रिकोणाकार प्रवाल (मूंगा) समान रमणीय तेजोरूप (रं)बीजमध्य शोभित अधिष्ठातृदेवता रुद्रसहित आग्नेयतत्त्वको तालुस्थानमें भावनाकरके उक्त अग्नितत्त्वमें आपभी लीन होकर चित्तसहित प्राणको लीन कराय पांच घटीपर्यंत तन्मय होना वैश्वानरी धारणा होती है इसके सर्वदा सेवन करनेसे योगी अग्निको जीतनेवाला होता है अग्नि उसको दाह नहीं करता ५६

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं स्यूतं भ्रुवोरन्तरे
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनः स्याद्वायवी धारणा ५७

वायवी धारणा कहते हैं कि वर्तुलाकार कज्जलके पुंजसमान अतिनीलवर्ण (यं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता ईश्वरसहित वायुतत्त्वको भ्रूमध्यमें ध्यानकर उक्त वायुतत्त्वमें आपभी लीन हो या चित्तसहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह वायुतत्त्वकी धारणा है इस धारणाके नित्य अभ्यास करनेसे आकाशमें गति होती है ॥ ५७ ॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ५८ ॥

नभोधारणा कहते हैं कि वर्तुलाकार निर्मलजलसमान वर्ण (हं) बीजसहित अधिष्ठातृदेवता सदाशिवसहित आकाशतत्त्व-

को ब्रह्मरंध्रमें ध्यान करना इस तत्वमें आपभी लीन हो चित्त-सहित प्राणको लीन कर पांच घटीपर्यंत स्थिर रखना यह नभो-धारणा मोक्षरूपी द्वारके खोलनेमें चतुर है इसके नित्य अभ्यास करनेसे मोक्षद्वार खुल जाता है ॥५८॥

स्तम्भिनी द्राविणी चैव दहनी भ्रामिणी तथा ।
शोषिणी च भवत्येषा भूतानां पञ्च धारणाः ॥ ५९ ॥

पृथ्वीधारणाके अभ्यास दृढ हुएमें जलपवनादि स्तंभनसामर्थ्य होती है वारुणीधारणाके अभ्यास दृढ हुएमें समस्तद्रव्यमात्र-को द्रव (जल)समान करनेकी सामर्थ्य होती है एवं आग्नेयी-से विना अग्निही वस्तुमात्रको जलानेकी सामर्थ्य होती है वायु-धारणासे वस्तुमात्र किंवा समस्त जगत्को घुमानेकी सामर्थ्य होती है नभोधारणासे सर्व शोषण सामर्थ्य होती है ये पंच धार-णाओंकी साधारण क्रियायें हैं ॥ ५९ ॥

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्च दुर्लभाः ।
विज्ञाय सततं योगी सर्वदुःखैः प्रमुच्यते ॥ ६० ॥

कर्म (अनुष्ठान) से मनके चिंतनसे वचन शास्त्राज्ञाके प्रमाण माननेसे निरूपण कर पांचों धारणाओंको स्थिराभ्यास करता है वह समस्त दुःखोंसे मुक्त होता है ॥ ६० ॥

इति धारणाः ।

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ॥ ६१ ॥

'स्मृ' यह धातु चिंतासामान्यवाचक है सो चित्तमें योगशास्त्रोक्तप्रकारसे निर्मलांतरकरके आत्मतत्वका स्मरण करना ध्यान कहाता है ॥ ६१ ॥

द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा ।
सकलं चर्य्याभेदेन निष्कलं निर्गुणं भवेत् ॥ ६२ ॥

यह ध्यान सगुण, निर्गुण भेदसे दो प्रकार है जैसे श्यामवर्ण चतुर्बाहु वनमालामुकुटकुंडलपीतांबरधारी विष्णुका ध्यान करना सगुणध्यान है ॥ ६२ ॥

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरधः स्थाप्य सुखासनः ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषात् ६३

एकांत पवित्रस्थानमें बैठके पद्मासन वा स्वस्तिकासन बांध शरीर सरल बनाय आधारादिचक्रोंमें अंतःकरण (मन) लगाय नासाग्रदृष्टि देकर निश्चल एकाग्र होकर कुंडलिनीसहित ध्येयवस्तुका ध्यान करना इससे योगी समस्तपापोंसे निर्मुक्त होता है यह ध्यानमुद्रा है ॥ ६३ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्बिषैः ६४

योगिजनोंके ध्यान करनेयोग्य वनस्थान है इनमें प्रथम मूलाधारचक्र सुवर्णवर्ण चतुर्दल कमल है इसके कर्णिकामें स्वयंभूलिंगके शिरमें बिंबाकार साढे तीन वृत्तवेष्टित हो रही कुंडलिनीसहित इस चक्रके ध्यान करनेसे समस्त पापोंसे निर्मुक्त होता है ॥ ६४ ॥

स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा योगी सुखी भवेत्॥६५॥

द्वितीय स्वाधिष्ठानचक्र रक्तवर्ण षट्दलकमलकर्णिकामें सगुण वा निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माको नासाग्रदृष्टि करके ध्यान करनेसे योगी आनंदावस्थाको प्राप्त होता है ॥ ६५ ॥

तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च मणिपूरके ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥ ६६ ॥

तृतीय मणिपूरचक्र उदय होते सूर्य्यमंडलसमान रक्तवर्ण कमलकर्णिकामें सगुण वा निर्गुण ज्योतीरूप आत्माको नासाग्रदृष्टिकरके ध्यान करनेसे योगी समस्त जगत्क्षोभ करनेकी सामर्थ्य पाता है ॥ ६६ ॥

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रे दृष्टिमाधाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६७ ॥

चतुर्थ हृदयरूप आकाश अनाहतचक्रकर्णिकामें रहते प्रचंड तेजवान् सूर्य्यसमान तेजस्वी बाणलिंग (शिव) का ध्यान नासाग्रदृष्टि देकर करनेसे योगी ब्रह्ममय होता है ॥ ६७ ॥

विद्युत्प्रभे च हृत्पद्मे प्राणायामविभेदतः ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६८ ॥

ऐसेही विद्युत् (बिजुरी) समान प्रभायुक्त हृदयकमल कर्णिकामें उक्त प्रकारसे नासाग्रदृष्टि देकर सगुण वा निर्गुण ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी ब्रह्ममय (जीवन्मुक्त) होता है ॥ ६८ ॥

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ६९ ॥

कंठस्थानमें दीपज्योतिसमान कांतिमान् विशुद्धचक्रमें नासाग्रदृष्टिकरके सगुण निर्गुण वा ज्योतिःस्वरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी अमर (मरणरहित) होता है ॥ ६९ ॥

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं सन्माणिक्यशिखोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥ ७० ॥

भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रमें माणिकशिखा (चूनीकी सूक्ष्म चमक) समान रक्तवर्ण आत्माको नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे योगी समस्त दुःखरहित आनंदमय होता है ॥ ७० ॥

ध्यायन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥७१॥

आज्ञाचक्रमें नीलवर्ण शिवपरमात्माका ध्यान प्राणायाम प्रकार करके करनेसे योगी जीवात्मा परमात्माके ऐक्यको पाता है ॥ ७१ ॥

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ७२ ॥

आज्ञाचक्रमें निर्गुणरूप, शांत, विश्वव्यापक, शिवके नासाग्रदृष्टि देकर ध्यान करनेसे जीवभावको देनेवाले गुणधर्मसे रहित होता है अर्थात् जीवभावका स्मरणमात्रभी नहीं रहता ॥ ७२ ॥

आकाशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥७३॥

जिस तत्त्वमें नाद प्रकट होता है ऐसा आकाशतत्त्वस्थान मनका स्थान है सोही भ्रूमध्यमें आज्ञाचक्र कहाता है इसमें रहते सदाशिवरूप आत्माके ध्यान करनेसे योगी कैवल्य मुक्ति पाता है ॥ ७३ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात्॥७४॥

आज्ञाचक्र ऊपर शून्यस्थानमें करनेयोग्य ध्यान कहते हैं कि, स्वरूपको आच्छादित करनेवाला, मलिनसंबंधसे रहित, आकाशसमान, एकाकार, सर्वव्यापक, प्रकाशमान तेज स्वरूपके ध्यान करनेसे योगी मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ७४ ॥

गुदं मेढ्रंच नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिका लम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम्॥७५॥

ध्यानमुक्त नव(९) स्थानोंको पुनः स्मरण करते हैं कि, गुदा (मूलाधार) १ मेढ्र (स्वाधिष्ठान) २ नाभि (मणिपूर) ३ हृत्पद्म (अनाहत) ४ तदूर्ध्व (विशुद्ध) ५ घंटिकाका मूल ६ लंबिकाका स्थान ७ आज्ञाचक्र ८ इसके ऊपरका शून्यस्थान ९ ये नव ध्यानयोग्य स्थान हैं ॥ ७५ ॥

कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
उपाधितत्त्वमुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ ७६ ॥

योगियोंने उक्त नव (९) स्थान ध्यानोपयोगी कहे हैं इन्हें उपाधि अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश पांच तत्वों-

करके सहित करनेसे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका उदय होता है ॥ ७६ ॥

एषु ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ७७

उक्त नव (९) स्थानोंमें सर्वोत्कृष्ट शिव अनाहत आज्ञाचक्रोंमें उक्त प्रकारसे साकार सगुणस्वरूपको अथवा निराकार निर्गुणब्रह्मको भावना करके उक्त स्थानोंमें ध्यान करनेसे योगी संसारसे मुक्त होकर पुनर्जन्ममरणरूप संतापसे छूटता है यह श्रीगोरक्षनाथ प्रतिज्ञा करके कहते हैं इसमें संशय न मानना ॥ ७७ ॥

नाभौ संयम्य चित्तं पवनगतिमधो रोधयत्संप्रयत्ना-
दाकुञ्च्यापानमूलं हुतवहसदृशं तन्तुवत्सूक्ष्मरूपम् ।
तद्बद्ध्वा हृत्सरोजे तदनु दलणके तालुके ब्रह्मरन्ध्रे
भित्त्वा ते यान्ति शून्यं प्रविशति गगने यत्र देवो महेशः ॥

चित्त (अंतःकरण) को मणिपूरचक्रमें स्थिर करके अपानद्वारको बडे प्रयत्नसे संकोच विकाश कर अपानवायुको अधोगतिको रोकके ऊपरको उठाय मन एवं प्राणवायुसे ऐक्य करे सूत्रके समान सूक्ष्म अग्निसमान देदीप्यमान ज्योतिःस्वरूपको उक्त ऐक्यविषये चिंतन करनेसे उक्त ज्योति नाभि चक्रको वेधनकर हृदयकमलमें पहुँचता है पुनः अभ्यास सिद्ध हो तो हृदयकमलको वेधकर ब्रह्मरन्ध्रमें पहुँचता है इसी विधिसे योगियोंके शरीरत्यागसमयमें वही ज्योतिःस्वरूप ब्रह्मरन्ध्रको

भेदनकर परमशिव शून्याकार चिदाकाशमें प्रवेश कर परब्रह्ममें लीन हो जाता है ॥ ७८ ॥

नाभौ शुभ्रारविन्दं तदुपरि विमलं मण्डलं चण्डरश्मेः
संसारस्यैकरूपां त्रिभुवनजननीं धर्मदात्रीं नराणाम् ।
तस्मिन्मध्ये त्रिमार्गे त्रितयतनुधरां छिन्नमस्तां प्रशस्तां
तां वन्दे ज्ञानरूपां मरणभयहरां योगिनीज्ञानमुद्राम् ॥

मणिपूरचक्रमें शुक्लवर्ण कमल चिंतनपूर्वक उसके मध्यमें निर्मल सूर्य्यमंडलका ध्यान करना इस मंडलके मध्यमें सत्त्व रज तम त्रिगुणरूप उपाधिभेदसे तीन प्रकारको प्राप्त हो रहा सुषुम्णानाडीके द्वारमें संसारके कारणरूपा त्रैलोक्यके उत्पन्न करनेहारी जन्ममरणोपाधिग्रस्त मनुष्योंको उपासनामार्गसे मोक्षरूप परमधर्म देनेहारी त्रिगुणरूप हो रही ज्ञानस्वरूपिणी जिसकी स्तुति ब्रह्मादिदेवता सनकादि सिद्ध करते हैं तथा योगमात्रसे गम्या, ज्ञानमात्र उपाधिसे हो रही छिन्नमस्ता नाडीस्वरूप भासमान हो रही कुंडलिनीको स्तुति (अभिवादन) करता हूं इस प्रकार योगी छिन्नमस्ता महाविद्यारूप कुंडलिनीकी वंदना करे ॥ ७९ ॥

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य तुलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥८०॥

सहस्रों अश्वमेध सैकडों वाजपेय यज्ञोंका फलभी केवल सात्त्विक एक ध्यानावस्थाका सोलहवें अंश (भाग) के समान नहीं है अर्थात् यज्ञादि साधनाओंमेंभी श्रेष्ठ ध्यानयोग है ॥८०॥

इति ध्यानप्रकरणम् ।

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ ८१ ॥

अब १५ श्लोकमें समाधिविधि कहते हैं. आत्माके प्रकाश होनेवालेको उपाधि तथा आत्मचैतन्यको तत्त्व कहते हैं उपाधि और तत्व ये दोनों मुख विचार्य्य हैं उपाधि प्रणवरूप वर्ण ॐ म् हैं तत्व आत्मा कहाता है ॥ ८१ ॥

उपाधेरन्यथा ज्ञानतत्त्वसंस्थितिरन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसी सदाभ्यासेन जायते ॥ ८२ ॥

उपाधिसे यथार्थ वैषयिक अन्यही हैं अर्थात् विपरीत बोधक है जैसे स्फटिक तो स्वच्छ श्वेतमात्र है परंतु लाल, पीला, नीला आदि रंग उपाधि संबंधसे उसी रंगकासा समान होता है तैसेही शरीरमें निर्विकार शुद्ध आत्मा विषयवासनाओंके संसर्गसे "अहं सुखी" "अहं दुःखी" इत्यादि भासमान होता है जब अपनी निर्मलबुद्धिसे उपाधि पृथक् माने तब आत्मस्वरूपका यथार्थज्ञान होता है जैसे रक्तादिरंगमें स्फटिकभी वैसा होता है परंतु बुद्धिसे जो न कि स्फटिक तो शुक्लही है परंतु रक्तादि रंगोपाधिविकारसे मिथ्या रंग देखा जाता है तैसेही इंद्रियधर्मोंसे आत्माभी जीवात्मा यथार्थज्ञानसे अद्वैतानंदस्वरूप है सुखदुःखका इसमें संबंध नहीं है ऐसा ज्ञान योगाभ्याससे होता है. तब योगी उपाधिजाल विनाश करनेमें समर्थ होता है ॥ ८२ ॥

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम् ।
तावदेवं स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥८३॥

ध्यान एवं समाधिका अवस्थाभेद प्रकट कहते हैं कि ध्यानावस्थामें स्थिर रहते योगीके कर्णादि इंद्रियोंविषे शब्दादि विषयोंका सूक्ष्मभाग जबलौं उपलभ्यमान होता है. तभीलौं ध्यानावस्था कहाती है जब आत्मामें पंचेंद्रियवृत्ति लीन हो जांय तब आत्मामें अर्थमात्रका भान रहनेवाली अवस्था समाधि कहाती है ॥८३॥

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्टिनाडिभिः ।
दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥ ८४ ॥

ध्यानधारणा समाधिका प्रमाण कहते हैं कि प्राणवायुके व्यापार रोकनेमें पांच घटीपर्यंत धारणा कहाती है ऐसेही ६० घटीसे ध्यान और बारह (१२) अहोरात्रपर्यंत प्राणवायुके व्यापार निरंतर रोकनेसे समाधि कहाती है ॥ ८४ ॥

यत्सर्वं द्वन्द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते ॥ ८५ ॥

दृष्टांतसहित समाधिका स्वरूप कहते हैं कि भूंख प्यास, शीत उष्ण, सुख दुःख इत्यादि द्वंद्व कहाते हैं इनसे पीडा न होने तथा इनसे अपनेको उद्वेग न होनेका ऐक्य है इस अवस्थाको पायके जीवात्मा परमात्माका कारणमात्ररूपसे ऐक्य जानना समस्त मानसीतरंगोंसे रहित समाधि होती है ॥ ८५ ॥

अम्बुसैन्धवयोरैक्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः सोभिधीयते ॥ ८६ ॥

जीवात्मापरमात्माका तथा आत्मा और मनका ऐक्य न हुएमें सिद्धि नहीं होती अतएव दृष्टांतसहित कहते हैं कि जैसे जलमें सेंधानोन (सैंधव) देनेसे दोनोंका ऐक्य दीखता है तैसेही मन बाह्यविषयोंसे विमुख अंतर्मुख होकर आत्माकारवृत्ति होनेसे आत्मा और मनका ऐक्य होता है ऐसे जीवात्मापरमात्माके ऐक्यको समाधि कहते हैं ॥ ८६ ॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
यदा समरसत्वं च समाधिः सोभिधीयते ॥ ८७ ॥

मन एवं प्राणको एकत्र करके स्थिर होकर आत्माके भावना करनेवाले योगीका जब प्राणवायु आत्माहीमें लीन होता है तब अंतःकरणभी लीन होता है जल तथा सैंधवकीसी जीवात्मापरमात्माकी ऐक्यता (अभिन्नस्वरूपता) होती है इसीको समाधि कहते हैं ॥ ८७ ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।
नात्मानं न परस्वं च योगी युक्तः समाधिना ॥ ८८ ॥

योगीके समाधिमें रहनेकी अवस्था कहते हैं कि जो योगी समाधिमें एकत्वको प्राप्त हो जाता है तो सर्व इंद्रियगण मनमें लीनताको प्राप्त होकर गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द इन पांच विषयोंको नहीं जानता कोई वस्तुमात्र अपना वा पराया कुछ नहीं जानता जीवात्मा तथा परमात्माको अलग नहीं मानता एकही समझता है इसप्रकार ध्यानमें एकाग्र होनेसे और किसी प्रकार ज्ञान नहीं होता ॥ ८८ ॥

अभेद्यः सर्वशास्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम्।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी मुक्तः समाधिना ॥८९॥

जब योगी उक्त विधिसे समाधियुक्त हो जाता है तो समस्त शस्त्रोंसे अभेद्य (न कटने योग्य) होता है देही (मनुष्य) सिंह गज, व्याघ्रआदियोंसे अवध्य नहीं मार जाता मंत्र यंत्र मारणमोहनादि प्रयोग (जादू) भी उसपर नहीं चलता ॥ ८९ ॥

बाध्यते न स कालेन लिप्यते न स कर्मणा।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना॥९०॥

जब योगी समाधिमें स्थिर हो जाता है तो उसको जरा (बुढापा) एवं मरण (मृत्यु) पीडन नहीं कर सकते अर्थात् अजरामर हो जाता है उसपर कालका वश नहीं चलता पापपुण्य हैं हेतु जिसके ऐसे कर्मबंधनोंसे लिप्त नहीं होता और कोई उसे विषयवासनामें नहीं लगाय सकता किसीके साधनमें यह नहीं आता ॥ ९० ॥

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ ९१ ॥

मिताहारयुक्त व्यवहारमें रहकर जो योगी समस्तकर्मोंमें युक्त रहता है और निद्रा जागरणभी युक्त रखता है अर्थात् कोई कामभी अयुक्त (अति) नहीं करता पूर्वोक्त क्रियाओंमें सावधान रहता है उसका योग दुःखनाशक कहाता है ॥ ९१ ॥

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निरामयम्।
निराश्रयं निराकारं तत्त्वं जानाति योगवित् ॥९२ ॥

जब योगी उक्त विधिसे समाधिमें स्थिर हो जाता है तब परमतत्व जिसका आद्यंत (जन्ममरण) नहीं किसीके आलंबन (निमित्तमें) नहीं मायाआदि किसीके आश्रयमें नहीं द्वैतकल्पनामें नहीं है जन्ममरणादि दुःखमें नहीं ऐसे जीवात्मा परमात्माके ऐक्य हो रहे आत्मस्वरूप तत्वको जानता है ॥ ९२ ॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९३ ॥

निर्मल (कर्मके फल वासनारूप मलसे रहित) निश्चल (चेष्टारहित) नित्य (परिणामरहित) निष्क्रिय (सर्वव्यापारशून्य) निर्गुण (सत्वादिगुणरहित) महत् (जिसका परिमाण नहीं किया जाता ऐसे) व्योम (चिदाकाशस्वरूप) विज्ञान (बोधस्वरूप) आनंद ब्रह्म (अद्वैतानंदस्वरूप) ब्रह्मको ब्रह्मवित् (योगी) जानते हैं ॥ ९३ ॥

हेतुदृष्टान्तनिर्मुक्तं मनोबुद्ध्योरगोचरम् ।
व्योम विज्ञानमानन्दं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ ९४ ॥

साक्षात्कारताके लिये हेतु एवं दृष्टांतसे रहित तथा मन एवं बुद्धिकरके अगम्य चिदाकाशस्वरूप, बोधस्वरूप अद्वैतानंदस्वरूप तत्त्व (ब्रह्म) को ब्रह्मज्ञानी योगी जानते हैं ॥ ९४ ॥

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निरामये ।
योगी योगविधानेन परे ब्रह्मणि लीयते ॥ ९५ ॥

योगाभ्यासी पुरुष षडंगयोगको पूर्वोक्तविधिसे अभ्यास क-

रके जन्ममरणादि दुःखके स्पर्श न होनेवाले अवलंबनरहित एवं जिसको कोई आधार नहीं अनिर्वचनीय रोगादिरहित परब्रह्ममें लीन होता है अर्थात् सायुज्यपदको प्राप्त होता है॥९५॥

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं यथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥ ९६ ॥

जैसे घृतमें घृत मिलायके घृत तथा दुग्धमें दुग्ध मिलायके दुग्धही होता है तैसेही तत्वस्वरूप परब्रह्ममें योगाभ्यास करके लीन होता हुआ योगीभी परब्रह्मस्वरूप सायुज्यको प्राप्त होता है तात्पर्य यह कि जीव और परब्रह्मका सांसारिकदशामें उपाधि-करके भेद हुएमेंभी उपाधि नष्ट होकर दोनों चिद्रूप होकर ऐक्य-ताको प्राप्त होता है ॥ ९६ ॥

दुग्धे क्षीरं घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येवं योगी लीनः परे पदे ॥ ९७ ॥

जैसे दुग्धमें दुग्ध घृतमें घृत दीपमें दीप मिलायके उन दोनोंका ऐक्य हो जाता है तैसेही योगीके आत्मा परब्रह्ममें लीन होकर परब्रह्ममय हो जाता है आत्मा परमात्मा एकही है परंच उपाधिभे-दसे पृथक् मानते हैं जब अभ्याससे उपाधिरहित होता है तब उनकी ऐक्यता आपही प्रकट होती है ॥ ९७ ॥

भवभयहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ॥ ९८ ॥

योगाभ्यास करनेवालोंके जन्ममरणादि भय हरनेवाला मुक्तिद्वारमें जानेके लिये सोपान (सीढी) संज्ञक एवं धर्म, अर्थ,

काम देनेवाला गुप्तसेभी अतिगुप्त यह योगशास्त्र श्रीगोरक्षनाथने योगियोंपर कृपा करके संसारमें प्रकट किया ॥ ९८ ॥

गोरक्षसंहितामेतां योगभूतां जनः पठेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो योगसिद्धिं लभेद् ध्रुवम् ॥ ९९ ॥

पूर्वोक्तप्रकारसे यहांपर्यंत मुक्तिसोपान अन्वयार्थ संज्ञक गोरक्षसंहिता योगशास्त्रको जो मनुष्य भक्तिपूर्वक पढता है वह समस्त पातकोंसे निर्मुक्त होकर निश्चय योगसिद्धिको प्राप्त होता है ॥ ९९ ॥

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥१००॥

जो जन योगशास्त्रको नित्य पढते हैं उन्हें और विस्तारशास्त्रोंसे क्या करना है योगशास्त्रका उक्त फल यथोक्त प्रत्यक्ष मिलता है क्योंकि यह शास्त्र आदिनाथ (शिवजी)ने स्वयं हृदयकमलमें अनुभूत होकर मुखकमलसे प्रकट किया इसके अनुभवसिद्ध होनेसे अतिप्रामाणिक है ॥ १०० ॥

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलं दत्ता द्विजेभ्यो धरा
यज्ञानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः ।
स्वाद्वन्नेन सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गं च नीताः पुनः
यस्य ब्रह्मविचारणे क्षणमपि प्राप्नोति धैर्य्यं मनः १०१

इति श्रीगोरक्षयोगशास्त्रे मुक्तिसोपानसंज्ञके
उत्तरशतकं संपूर्णम् ॥ २ ॥

साक्षात् मोक्षके प्रतिपादन करनेवाले योगशास्त्रको जो पढते हैं वे कृतकृत्य हो जाते हैं जिसका मन ब्रह्मज्ञानविचारमें ब्रह्म-ध्यानविषय क्षणमात्रभी धैर्य्यसे स्थिर होता है उसने गंगा, प्रयाग, पुष्करादि समस्त तीर्थोंके जलोंमें स्नान कर लिया समस्त पृथ्वी-का दान सत्पात्र ब्राह्मणको दे दिया सहस्र किंवा अयुत अश्व-मेध वाजपेयादि महायज्ञ कर लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेशादि स-मस्त देवता विधिपूर्वक पूजित कर लिये स्वादिष्टअन्नसे पितर तृप्त करके स्वर्गभी पठाये दिये अर्थात् तीर्थस्नान, उक्त वस्तुओंसे जो जो फल मिलते हैं वे समस्त आत्मचिंतनरूप योगाभ्याससे तत्क्षणमात्र हो जाते हैं ॥ १०१ ॥

इति महीधरकृतायां गोरक्षसंहिताभाषायां माही-
धर्य्यामुत्तरशतकं परिपूर्णम् ॥ २ ॥

श्रीनाथीकृपया मया विरचिता भाषा स्वबुद्ध्याल्पया
सर्वेषामुपकारिणी बुधजनाः शब्दार्थसंधायिनः ।
भाषा इत्यवहेलनं कुरुत नो योगो हि न ज्ञायते
शब्दार्थैर्विविधैर्यतो हठयुगादीन् वीक्ष्य विस्तारिता ॥१॥

भाषाकारकी प्रस्तावना है कि मैंने श्रीनाथ (आदिनाथ) महादेवस्वरूप श्रीगुरु यद्वा श्रीनाथ (लक्ष्मीपति विष्णु) की कृपासे सर्वसाधारणके उपकारार्थ अपनी अल्पबुद्धिसे इस योग-शास्त्र गोरक्षसंहिताकी भाषाटीका की है इसे देख न्यायव्याक-रणादि जाननेवाले बुधजन ' भाषा है ' ऐसा कहकर अवहे-लन (अनादर) न करे यतः यह निश्चय है कि योगमार्गका बोध

अनेक प्रकारके शब्दार्थ एवं शास्त्रार्थ तर्कवितर्कादि करनेसे नहीं होता यह केवल गुरुलभ्य है कोई पंडित चाहे कि अपने पांडित्यके बलसे श्लोकार्थ करे तो यह प्रयोजन कदापि नहीं होता प्रथम गुरुलक्ष्य करके स्वानुभवसिद्ध करनेहीसे इसका ज्ञान होता है इसलिये गुरुप्रसादोत्तर हठप्रदीपादि ग्रंथ देखके यह ग्रंथ बढा दिया तथा भावार्थभी यथामति प्रकट कर दिया ॥ १ ॥

वसुवेदाङ्कभू (१९४८) संज्ञे वत्सरे मासि बाहुले ।
महीधरेतिनाम्नेयं टीहर्य्यां निर्मिता शुभा ॥ २ ॥

वैक्रमीसंवत् १९४८ के कार्तिकमासमें महीधरशर्मा सुंदर यह भाषा राजधानी टीहरीमें रची ॥ २ ॥

हरिशर्ममुनियोंगी गुरुलब्धकृपोदयः ।
शोधनं पुस्तकस्यास्याकरोन्मत्यनुसारतः ॥ ३ ॥

निजगुरुकृपासे पाया है उदय (योगचन्द्रिका प्रादुर्भाव) जिसने ऐसे हरिशर्मा योगीने इस पुस्तकका स्वबुद्ध्यनुसार संशोधन किया ॥ ३ ॥

इति गोरक्षपद्धतिः समाप्ता.

पुस्तक मिलनेका ठिकाना—
गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,
"लक्ष्मीवेंकटेश्वर" छापाखाना,
कल्याण—मुंबई.

वेदान्तग्रन्थाः ।

नाम	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
११ शारीरक (शाङ्करभाष्य) रत्नप्रभा-टीका व्यासाधिकरणमाला और भक्तिसूत्र सभाष्य अक्षर बडा....	१०—०	१—०
१२ पंचदशी पं० मिहिरचंदकृत अत्युत्तम भाषाटीका सहित ...	४—०	०—८
१३ ब्रह्मसूत्र शारीरक भाषाटीका........	१॥—०	०—३
१४ गीता चिद्घनानन्दस्वामिकृत गूढार्थदीपिका मूल अन्वय पदच्छेदसहित भा. टी.	७—०	१—०
१५ गीताश्लोकार्थदीपिका. अतिउत्तम टिप्पणीसहित तैयार है गीता वाक्यार्थबोधिनी और गीता अमृततरंगिणीसेही अच्छी बनी है........	१—४	०—३
१६ गाती आनन्दगिरिकृतभाषाटीकासह	३-०	०—६
१७ गीता भाषाटीका अन्वय दोहासहित	१—४	०—३
१८ गीतारामानुजभाष्य	२—०	०—४
१९ गीता भाषाटीका	०—१४	०—२
१० पञ्चदशी सटीक...................	२—८	०—४
२१ प्रश्नोत्तररत्नमाला	०—२	०—॥
२२ प्रश्नोत्तरी भाषाटीका	०—२	०—॥
२३ अध्यात्मप्रदीपिका	०—४	०—॥
२४ निर्वाणाष्टकं सटीकम्..............	०—२	०—२

नाम.		की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
२५	सिद्धान्तचन्द्रिका सटीक वेदान्त	०—८	०—१
२६	प्रश्नोत्तरप्रकाश........................	०—४	०—॥
२७	हरिमीडेस्तोत्र सटीक................	०—१४	०—२
२८	द्वादशमहावाक्यविवरण............	०—४	०—॥
२९	त्रोटकसटीक	०—१०	०—१
३०	गोविंदनामगीता	०—८	०—१
३१	हठयोगप्रदीपिका भाषाटीका....	१—८	०—४
३२	शिवस्वरोदय भाषाटीका	०—१०	०—२
३३	शिवसंहिता योगशास्त्र भाषाटीका	१—०	०—२
३४	वेदान्तरामायण भाषाटीका	१—८	०—४
३५	अष्टावक्रगीता भाषाटीका ...	१—०	०—॥
३६	श्रीरामगीता भाषाटीका पदप्रकाशिका अनुवादसमुच्चय और विषमपदी सहित	०—८	०—१
३७	अपरोक्षानुभूति संस्कृतटीका भाषाटीका सहित	०—१०	०—१
३८	वेदान्तग्रन्थपञ्चक वाक्यप्रदीपः वाक्यसुधारसः हस्तामलकः नीर्वाणपञ्चकं मनीषापञ्चकं इमे सटीकाः	०—८	०—१
३९	वेदस्तुति भाषाटीका	०—८	०—१
४०	रामगीता मूल	०—२	०—॥
४१	श्रीमद्भगवद्गीता पञ्चरत्न अक्षरमोटा गुटका रेशमी अतिउत्तम ७ पंक्ती	१—८	०—४

नाम. 12573	की.रु.आ.	ट.म.रु.आ.
४२ तथा ८ पंक्तीवाला	१—४	०—३
४३ पञ्चरत्न अक्षरवडा खुला पाना संची छोटी	१—८	०—३
४४ पञ्चरत्न अक्षरवडा लम्बी संची खुली	१—०	०—३
४५ गीता श्रीधरीटीकासहित	१—०	०—३
४६ गीता बडे अक्षरकी १६ पेजी गु.	१—०	०—२
४७ गीता बडे अक्षरकी खुली	०—१२	०—२
४८ गीता गुटका विष्णुसहस्रनामसहित	०—८	०—१
४९ " पञ्चरत्न और एकादशरत्न	०—१२	०—२
५० " पञ्चरत्न द्वादशरत्न	०—१०	०—१॥
५१ " पञ्चरत्न नवरत्न पाकिट बुक	०—७	०—१
५२ पञ्चरत्न बुकफेसन सप्तरत्न	०—१२	०—२
५३ पंचरत्न भाषाटीका सहित बडा	२—०	०—४
५४ पंचरत्न गीता गुटका भा० टी०	१—०	०—२
५५ केवल गीता भा० टी० पाकेटबुक	०—८	०—१
५६ विज्ञानगीता कविकेशवदासकृत	०—८	०—१
५७ पाण्डवगीता भाषाटीका.........	०—३	०—॥
५८ पाण्डवगीता मूल मध्यम..........	०—१॥	०—॥
५९ कपिलगीता भाषाटीका	०—६	०—१
६० जीवन्मुक्त गीता भा० टी० ...	०—१	०—॥
६१ गीता गुटका पाकिट बुक...........	०—५	०—१
६२ शिवगीता भाषाटीकासहित.......	०—१२	०—२

T.No. 1095

Goraksa Satakam. (Xerox copy)

गोरक्षशतकम्

Copied. R.7874, 7879.
of G.O.M.L.
Madras.

T. 1095-a

36

R. 7874-7879
1408.

R 7874—7879.

(1)

from R. No. 2831 (P). L.

गोरक्षशतकम्. Foll. 191-b - 197b.

29-4-47
30-4-47

Fol. 191 b.

अधुना सिद्धराजेन गोरक्षेण प्रकाशितम्।
योगसाधनमल्पैस्तु दिनैः सिद्धिसूचकम्॥
गुरुवक्त्रप्रसादेन स्वानुभूतं मयाहितम्।
सम्यग्वक्ष्यामि संसिद्ध्यै वि[illegible]कानां चिदात्मनः॥
सुधीर्भवाच्युतरतिर्विधयाऽन्योन्यमज्जति।
पातितश्शिक्षितः पाकं याति नो यात्यशिक्षितः॥
स्वकर्मणैव पुरुषो याति स्वर्गं च दुर्गतिम्।
ऊर्ध्वं प्राकारकारस्तु यात्यधः कूपकारकः॥
तस्मात्प्रयत्न एवादौ कर्तव्यो भवमुक्तये।
गुरुं बहुगुणं भक्त्या कायवाङ्मनसा भजेत्।
दृष्टिर्मनो मरुद्यस्य कृपाकल्लोलिसेचनम्॥
विनानित्यं स्थिराणि स्युः राजयेत्तं गुरुं सदा।
चित्तवत्सुप्तको जाग्रत्युतिमद्बन्धनस्य च॥
नास्ति मेति न चोदेति यस्यासौ मुक्त एव हि।
प्रवेशो निर्गमे वामे दक्षिणे चोर्ध्वमप्यधः॥
न यस्य वायुर्व्रजति स मुक्तो नात्र संशयः।
हेतुद्वयं च चित्तस्य वासना (192 a) च समीरणः॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिन् तस्मै द्वावपि नश्यतः।

तयोरादौ समीरस्य जयं च कुरुसम्मतः॥
यथात्वं पुरुषो मुक्तो भवेन्मुक्तो जनादिभिः।
मरुज्जयस्य तस्योक्तं साधनत्रयमुत्तमम्।
मिताहारश्चासनञ्च शक्तिचालस्तृतीयकः॥
एतेषां लक्षणं सम्यग्वक्ष्ये मार्णं क्रमेण तु।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः॥
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारस्स उच्यते।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा॥
ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले तथा।
पद्मासनं भवेत्सम्यक्सर्वपापप्रणाशनम्॥
वामांघ्रिमूलकन्दाधः अन्यं तदुपरि क्षिपेत्।
समग्रीवशिरःकायः वज्रासनमितीरितम्॥
शक्तिचालमिदानीं तु प्रवक्ष्यामि समासतः।
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तस्यास्संचलनक्रमः॥
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते॥
(192.b.) तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्याश्चचालनम्॥
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत्।
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते॥
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती।
यस्यास्संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली।

इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम्।
द्वादशाङ्गुदैर्घ्यंचाम्बरं चतुरङ्गुलम्॥
विस्तार्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततस्सुधीः।
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम्॥
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेदसौ॥
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगता।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत्॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।
अन्ते तु तानं कुर्याच्च कण्ठसंकोचने कृते॥
(193-a) सरस्वत्याश्चालनेन वक्षस्यूर्ध्वगो मरुत्।
सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्याश्चचालने।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षस्यादूर्ध्वगो मरुत्।
तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम्॥
यस्यास्संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते।
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः॥
सर्वे ते शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम्।
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः॥
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः।
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत्।
सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेवं समं कुम्भो यस्स्यात् सहितकुम्भकः॥
अथ वा लक्षणं सम्यक् वक्ष्यामि समासतः॥
पवित्रे निर्जने देशे शर्करादि विवर्जिते।
धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते॥
पवित्रे नात्युच्च (193b) नीचे ह्यासने शुभदे सुखे।
बद्ध्वा पद्मासनं कृत्वा सरस्वत्याश्च चालनम्॥
दक्षनाड्यां समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः।
यथेष्टं धारयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः॥
कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं सुधीः।
चतुष्कं वातदोषं च कृमिदोषं निहन्ति च॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।
मुखं संयम्य नाडीभ्यां आकृष्य पवनं शनैः।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।
पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः।
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम् ।
देहानलविवर्धनम्॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।
जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु॥

शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः।
गुल्मप्लीहादिकान् दोषान् क्षयं ~~[illegible]~~ पित्तं ज्वरं (19[illegible]
विषाणशीतलाख्यकुम्भकोऽयं निहन्ति च।
ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरस्सुधीः॥
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्।
यथा लगति कण्ठे तु कपाले सस्वनं ततः॥
वेगेन पूरयेत्किंचित् हृत्पद्मावधि मारुतम्।
पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः॥
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते।
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं सुधीः॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत्।
अथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु॥
धारयेन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढं।
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्॥
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्।
कुण्डलीबोधकं वजं पापघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥
गुणत्रय (194b) समुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदं।
बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः॥

नित्यं कृते न तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात्।
चतुर्णामपि भेदानां कुंभके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत्।
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयनाभिधः॥
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यतः।
अधोगतमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्॥
आकुंचनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते।
अपाने चोर्ध्वगे जाते संप्राप्ते वह्निमण्डले॥
ततोऽनिलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता।
ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्॥
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संप्रबुध्यते॥
दण्डाहतभुजंगी (15.a) वा निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।
बिलं प्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्॥
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिस्सदा॥
कुंभकान्ते रेचकादौ कर्तव्योड्डीयनाभिधः॥
बंधो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते ततः॥
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिस्समुदाहृतः॥

पश्चिमं तानमुदरे धारयेद्धृदये गले।
शनैश्शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति॥
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः।
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः॥
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः।
अतस्त्वाकुञ्चनेनासौ कण्ठसंकोचने कृते॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिकः॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्र (15.b) ममुत्तमम्।
मृत्युघ्नं सुखदोपायं कल्लानन्दकरं सदा॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः॥
चालनं च सरस्वत्याः कृत्वा प्राणान्निरोधयेत्॥
प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम्।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पंचभिस्तथा॥
विंशत्यकं तृतीये हि पंचवृद्ध्या दिने दिने।
कर्तव्यं कुंभको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः॥
दिवास्सुप्तिं निशायां च जागरादतिमैथुनात्।
बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात्।

...नियमानि च॥
...न्ते षोडशीम्।
...े सुषुम्ना प्रकरणम्॥
...स्थानं· स्मृतगीताभाष्ये।

...रूपेण वर्तते।
हृदये स्थूलरूपेण विज्ञानात्मा वर्तते।
बिन्दु हृदययोर्मध्ये देशस्तु स्थूल सूक्ष्मोभय साधारणेन मध्य-
रूपेण वर्तत इत्यर्थः॥
शिवे कर्मार्ताण्डे—
प्राणापानयो जीवात्मा ... श्चोर्ध्व प्रधानेति

सुषुम्नैव परं स्थानं सुषुम्न...
अनेकयज्ञदानानि भतानि
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कला नाहि...
इत्युपासनासारसंग...
ब्रह्मस्थानं शक्तिस्थानं जी...

॥ गोरक्षशतकम् २ ॥

.. GorakShashatakam 2 ..

sanskritdocuments.org

May 3, 2017

.. GorakShashatakam 2 ..

॥ गोरक्षशतकम् २ ॥

Sanskrit Document Information

Text title : gorakShashatakam 2

File name : gorakShashatakam2.itx

Category : shataka

Location : doc_yoga

Language : Sanskrit

Subject : philosophy/hinduism/religion

Proofread by : DPD

Description-comments : From Briggs 1938 http://yogaclassics.org/

Latest update : April 5, 2013

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

Site access : http://sanskritdocuments.org

May 3, 2017

sanskritdocuments.org

॥ गोरक्षशतकम् २ ॥

श्रीगुरुं परमानन्दं वन्दे स्वानन्दविग्रहम् ।
यस्य सन्निध्यमात्रेण चिदानन्दायते तनुः ॥ १॥

अन्तर्निश्चलितात्मदीपकलिकास्वाधारबन्धादिभिः
यो योगी युगकल्पकालकलनात् त्वं जजेगीयते ।
ज्ञानामोदमहोदधिः समभवद्यत्रादिनाथः स्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकं तमनिशं श्रीमीननाथं भजे ॥ २॥

नमस्कृत्य गुरुं भक्त्या गोरक्षो ज्ञानमुत्तमम् ।
अभीष्टं योगिनां ब्रूते परमानन्दकारकम् ॥ ३॥

गोरक्षः शतकं वक्ति योगिनां हितकाम्यया ।
ध्रुवं यस्यावबोधेन जायते परमं पदम् ॥ ४॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत् कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो मोहाद् आसक्तं परमात्मनि ॥ ५॥

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजति सज्जनः ॥ ६॥

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ७॥

आसनानि तु तावन्ति यावत्यो जीवजातयः ।
एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ ८॥

चतुराशीतिलक्षाणां एकमेकमुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडेशानं शतं कृतम् ॥ ९॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव विशिष्यते ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ १०॥

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन् भ्रुवोरन्तरम्
एतन् मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ११॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये
देतद्व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ १२॥

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे ये न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥ १३॥

एकस्तम्भं नवद्वारं गृहं पञ्चाधिदैवतम् ।
स्वदेहं ये न जानन्ति कथं सिध्यन्ति योगिनः ॥ १४॥

चतुर्दलं स्यादाधारः स्वाधिष्ठानं च षट्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसङ्ख्यदलं हृदि ॥ १५॥

कण्ठे स्यात् षोडशदलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदलमाख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथे ॥ १६॥

आधारः प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १७॥

आधाराख्यं गुदस्थानं पङ्कजं च चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाक्षा सिद्धवन्दिता ॥ १८॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित् ॥ १९॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात् प्रतिष्ठितम् ॥ २०॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे महायोगे यातायातं न विद्यते ॥ २१॥

स्वशब्देन भवेत् प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानात् पदादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥ २२॥

तन्तुना मणिवत् प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ २३॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ।

तावज् जीवो भ्रमत्येव यावत् तत्त्वं न विन्दति ॥ २४॥

ऊर्ध्वं मेढ्राद् अधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥ २५॥

तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्रधानं प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ॥ २६॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ २७॥

अलम्बुषा कुहूश् चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन् नाडिमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ २८॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २९॥

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चासने वाप्यलम्बुषा ॥ ३०॥

कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारमुपाश्रित्य तिष्ठन्ति दशनाडिकाः ॥ ३१॥

इडापिङ्गलासुषुम्णा च तिस्रो नाड्युदाहृताः ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥ ३२॥

प्राणोऽपानः समानश् चोदानो व्यानौ च वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ ३३॥

हृदि प्राणो वसेन् नित्यं अपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे स्यादुदानः कण्ठमध्यगः ॥ ३४॥

उद्गारे नागाख्यातः कूर्म उन्मीलने स्मृतः ।
कृकरः क्षुतकृज्ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ ३५॥

न जहाति मृतं चापि सर्वव्यापि धनञ्जयः ।
एते सर्वासु नाडीषु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ॥ ३६॥

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ ३८॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश् चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान् न दृश्यते ॥ ३९॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ ४०॥

अपानः कर्षति प्राणः प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ संयोजयति योगवित् ॥ ४१॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुम मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ४२॥

षट्शतानित्वहोरात्रे सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्सङ्ख्यान्वितं मन्त्र जीवो जपति सर्वदा ॥ ४३॥

अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ४५॥

कुन्दलिन्याः समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥ ४६॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृति ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ४७॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानमनामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ४८॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हता ।
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ४९॥

प्रस्फुरद्भुजगाकारा पद्मतन्तुनिभा शुभा ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजति ऊर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ५०॥

उद्घटयेत्कपातं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ५१॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वातु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा तत्प्रेक्षितम् ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः ॥ ५२॥

अङ्गानां मर्दनं कुर्याच्छ्रमजातेन वारिणा ।
कट्वाम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५३॥

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादुर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५४॥

सुस्निग्धं मधुराहारं चतुर्थांशविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५५॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा स्मृता ॥ ५६॥

महामुद्रां नमोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ५७॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ५८॥

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ५९॥

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेनाभ्यसेत् पुनः ।
यावत् तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६०॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि मुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यते ॥ ६१॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
रोगास्तस्य क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६२॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।

गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ६३॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ६४॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६५॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ६६॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ६७॥

बिन्दुमूलं शरीरं तु शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ति शरीरं या आपादतलमस्तकम् ॥ ६८॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ६९॥

यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावत्कालभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥ ७०॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ७१॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरं शुक्रमित्याहुर्लोहितं तु महाराजः ॥ ७२॥

सिन्दूरद्रवसङ्काशं रविस्थाने स्थितं रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ७३॥

बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुमिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ७४॥

वायुना शक्तिचारेण प्रेरितं तु महारजः ।
बिन्दुनैति सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ॥ ७५॥

शुक्रं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संयुतम् ।
तयोः समरसैकत्वं योजानाति स योगवित् ॥ ७६॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तव बन्धोऽभिधीयते ॥ ७७॥

उदरात्पश्चिमे भागे ह्यधो नाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानस्य बन्धोऽयं तत्र बन्धो विधीयते ॥ ७८॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि शिरोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७९॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
पीयूषं न पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ८०॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ८१॥

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ८२॥

पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥ ८३॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
यस्या मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८४॥

त्रयःकालास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वेराः ।
त्रयोदेवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५॥

क्रिया चेच्छा तथा ज्ञानाब्राह्मीरौद्रीश्च वैष्णवी ।
त्रिधाशक्तिः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६॥

आकाराश्च तथोकारोमकारो बिन्दुसंज्ञकः ।
तिस्रोमात्राः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७॥

वचसा तज्ञयेद्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् ।
मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८८॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ ८९॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९०॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९१॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९२॥

अतः कालभयाद् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ९३॥

षट्त्रिंशदङ्गुलोहंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ९४॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ९५॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ९६॥

अमृतं दधिसङ्काशं गोक्षीररजतोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत् ॥ ९७॥

दक्षिणो श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुरश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ९८॥

प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ९९॥

प्राणं चोदिडया पिबेन्परिमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्यचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासत्रयादूर्ध्वतः ॥ १००॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ १०१॥

॥ इति श्री गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकं सम्पूर्णम् ॥

http://yogaclassics.org/ Briggs 1938

Proofread by DPD

.. GorakShashatakam 2 ..
was typeset using XƎLATEX 0.99996
on May 3, 2017

Please send corrections to *sanskrit@cheerful.com*

॥ गोरक्षशतकम् १ ॥

.. GorakShashatakam 1 ..

sanskritdocuments.org

August 2, 2016

.. GorakShashatakam 1 ..

॥ गोरक्षशतकम् १ ॥

Document Information

Text title : gorakShashatakam 1

File name : gorakShashatakam1.itx

Category : shataka

Location : doc_yoga

Language : Sanskrit

Subject : philosophy/hinduism/religion

Proofread by : DPD

Description-comments : From Kuvalayananda Shukla

Latest update : March 29, 2013

Send corrections to : Sanskrit@cheerful.com

Site access : http://sanskritdocuments.org

August 2, 2016

sanskritdocuments.org

॥ गोरक्षशतकम् १ ॥

ॐ परमगुरवे गोरक्षनाथाय नमः ।

ॐ गोरक्षशतकं वक्ष्ये भवपाशविमुक्तये ।
आत्मबोधकरं पुंसां विवेकद्वारकुञ्चिकाम् ॥ १॥

एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्य वञ्चनम् ।
यद्व्यावृत्तं मनो मोहादासक्तं परमात्मनि ॥ २॥

द्विजसेवितशाखस्य श्रुतिकल्पतरोः फलम् ।
शमनं भवतापस्य योगं भजति सज्जनः ॥ ३॥

आसनं प्राणसंयामः प्रत्याहारोऽथ धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ ४॥

आसनानि तु तावन्ति यावत्यो जीवजातयः ।
एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ ५॥

चतुराशीतिलक्षाणां एकमेकमुदाहृतम् ।
ततः शिवेन पीठानां षोडेशानं शतं कृतम् ॥ ६॥

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेव विशिष्यते ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥ ७॥

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरं
एतन्मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ ८॥

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविकारहारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ ९॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ १०॥

आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता ॥ ११॥

योनिमध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ।
मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित् ॥ १२॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ।
चतुरस्रं पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रितिष्ठितम् ॥ १३॥

स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाख्यया तस्मान्मेढ्रवाभिधीयते ॥ १४॥

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥ १५॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः स्वगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ॥ १६॥

तेषु नाडिसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ।
प्राधान्यात्प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ॥ १७॥

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ १८॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडिमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥ १९॥

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे तथा ।
सुषुम्णा मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ॥ २०॥

दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चासने वाप्यलम्बुषा ॥ २१॥

कूहुश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने च शङ्खिनी ।
एवं द्वारमुपाश्रित्य तिष्ठन्ति दश नाडिकाः ॥ २२॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
इडापिङ्गलासुषुम्णा च तिस्रो नाड्य उदाहृताः ॥ २३॥

प्राणापानौ समानश्च ह्युदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ २४॥

नागाद्याः पञ्च विख्याताः प्राणाद्याः पञ्च वायवः ।
एते नाडिसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ॥ २५॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥ २६॥

आक्षिप्तो भुवि दण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवोऽनुकृष्यते ॥ २७॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते ।

गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते ॥ २८॥

अपानः कर्षति प्राणः प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ २९॥

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलीकृता ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनावृत्य तिष्ठति ॥ ३०॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मारुता हता ।
प्रजीवगुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्णया ॥ ३१॥

महामुद्रां नमोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ ३२॥

वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा
हस्ताभ्यामवधारितं प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा पातकनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥ ३३॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३४॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेरुड्डियानं प्रचक्षते ।
उड्डियानजयो बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ३५॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ३६॥

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते ॥ ३७॥

यतः कालभयात् ब्रह्मा प्राणायामपरायणः ।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणं निबन्धयेत् ॥ ३८॥

चले वाते चलं सर्वं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ ३९॥

षट्त्रिंशदङ्गुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणोऽभिधीयते ॥ ४०॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥ ४१॥

प्राणो देहस्थितो वायुरायामस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा तद्योगो गगनायते ॥ ४२॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ४३॥

अमृतोदधिसङ्काशं क्षीरोदधवलप्रभम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमयं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ४४॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन भूयश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ४५॥

प्रज्वलज्ज्वलन ज्वाला पुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ४६॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्रा द्वादशसंयुतः ॥ ४७॥

द्वादशाधमके मात्रा मध्यमे द्विगुणास्ततः ।
उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामस्य निर्णयः ॥ ४८॥

अधमे च घनो घर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी बद्धपद्मासनो मुहुः ॥ ४९॥

अङ्गानां मर्दनं शस्तं श्रमसंजातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ५०॥

मन्दं मन्दं पिबेद्वायुं मन्दं मन्दं वियोजयेत् ।
नाधिकं स्तम्भयेद्वायुं न च शीघ्रं विमोचयेत् ॥ ५१॥

ऊर्ध्वमाकृष्य चापानं वातं प्राणे नियोजयेत् ।
मूर्धानं नीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५२॥

प्राणायामो भवत्येवं पातकेन्धनपातकः ।
एनोम्बुधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ ५३॥

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण सर्वदा ॥ ५४॥

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहारति भास्करः ।
तत्प्रत्याहरणं तस्य प्रत्याहारः स उच्यते ॥ ५५॥

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागता सोममण्डलात् ।
तृतीयो यो भवेत्ताभ्यां स भवत्यजरामरः ॥ ५६॥

नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ ५७॥

वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ॥ ५८॥

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालु ऊर्ध्वभानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं गुरुवक्त्रेण लभ्यते ॥ ५९॥

त्रिधा बद्धो वृषो यत्र रौरवीति महास्वनम् ।
अनाहतं च तच् चक्रं हृदये योगिनो विदुः ॥ ६०॥

अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकम् ।
प्राप्ते प्राणं महापद्मं योगित्वममृतायते ॥ ६१॥

विशब्दः संस्मृतो हंसो निर्मलः शुद्ध उच्यते ।
अतः कण्ठे विशुद्धाख्ये चक्रं चक्रविदो विदुः ॥ ६२॥

विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलाजलम् ।
मासेन न क्षयं याति वञ्चयित्वा मुखं रवेः ॥ ६३॥

सम्पीड्य रसनाग्रेण राजदन्तबिलं महत् ।
ध्यात्वामृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ॥ ६४॥

अमृतापूर्णदेहस्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ।
ऊर्ध्वं प्रवर्तते रेतोऽप्यणिमादिगुणोदयः ॥ ६५॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ६६॥

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण संयुक्तो धारणां च समभ्यसेत् ॥ ६७॥

हृदये पञ्चभूतानां धारणाश्च पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा च विधीयते ॥ ६८॥

या पृथ्वी हरितालदेशरुचिरा पीता लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणा हृदि स्थायिनी ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्ध्रुवो धारणा ॥ ६९॥

अर्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठेऽम्बुतत्त्वं स्थितं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा दुर्वहकालकूटजरणा स्याद्वारिणी धारणा ॥ ७०॥

यत्तालस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणोज्ज्वलं

तेजोरेफमयं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्सङ्गतम् ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये
एषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा ॥ ७१॥

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसान्निभमिदं तत्त्वं भ्रुवोरन्तरे
वृत्तं वायुमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥ ७२॥

आकाशं सुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रे स्थितं
तत्राद्येन सदाशिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विनीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारयेद्
एषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥ ७३॥

स्तम्भनी द्रावणी चैव दहनी भ्रामणी तथा ।
शोषणी च भवन्त्येवं भूतानां पञ्चधारणाः ॥ ७४॥

कर्मणा मनसा वाचा धारणाः पञ्च दुर्लभाः ।
विधाय सततं योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ७५॥

सर्वं चिन्तासमावर्ति योगिनो हृदि वर्तते ।
यत्तत्त्वे निश्चितं चेतस्तत्तु ध्यानं प्रचक्षते ॥ ७६॥

द्विधा भवति तद्ध्यानं सगुणं निर्गुणं तथा ।
सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं विदुः ॥ ७७॥

आधारं प्रथमं चक्रं तप्तकाञ्चनसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति किल्बिषम् ॥ ७८॥

स्वाधिष्ठानं द्वितीयं तु सन्माणिक्यसुशोभनम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा मुञ्चति पातकम् ॥ ७९॥

तरुणादित्यसंकाशं चक्रं च मणिपूरकम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥ ८०॥

[verse missing]
विद्युत्प्रभावं हृत्पद्मे प्राणायामविभेदनैः ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ८२॥

सन्ततं घण्टिकामध्ये विशुद्धं चामृतोद्भवम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥ ८३॥

भ्रुवोर्मध्ये स्थितं देवं स्निग्धमौक्तिकसन्निभम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वाऽनन्दमयो भवेत् ॥ ८४॥

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रे दृष्टिमादाय ध्यात्वा दुःखाद्विमुच्यते ॥ ८५॥

गुदं मेढ्रं च नाभिं च हृत्पद्मे च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिकां लम्पिकास्थानं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ॥ ८६ ॥

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजलसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात् ॥ ८७॥

कथितानि यथैतानि ध्यानस्थानानि योगिनाम् ।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयम् ॥ ८८॥

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेवमुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्माभिधीयते ॥ ८९॥

उपाधिरन्यथाज्ञानं तत्त्वं संस्थितमन्यथा ।
समस्तोपाधिविध्वंसि सदाभ्यासेन योगिनाम् ॥ ९०॥

आत्मवर्णेन भेदेन दृश्यते स्फाटिको मणिः ।
मुक्तो यः शक्तिभेदेन सोऽयमात्मा प्रशस्यते ॥ ९१॥

निरातङ्कं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निराश्रयम् ।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥ ९२॥

शब्दाद्याः पञ्च या मात्रा यावत् कर्णादिषु स्मृताः ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं तत्समाधिरतः परम् ॥ ९३॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च विलीयते ।
तदा समरसैकत्वं समाधिरभिधीयते ॥ ९४॥

[verse missing]
धारणाः पञ्चनाड्यस्तु ध्यानं च षष्ठिनाडिकाः ।
दिनद्वादशकेनैव समाधिः प्राणसंयमः ॥ ९६॥

न गन्धं न रसं रूपं न स्पर्शं न च निःस्वनम् ।
आत्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ ९७॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ ९८॥

निर्मलं निश्चलं नित्यं निष्क्रियं निर्गुणं महत् ।
व्योमविज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ॥ ९९॥

दुग्धे क्षीरं धृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः ।

अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ॥ १००॥

भवभयवने वह्निर्मुक्तिसोपानमार्गतः ।
अद्वयत्वं व्रजेन्नित्यं योगवित्परमे पदे ॥ १०१॥

॥ इति श्री गोरक्षनाथप्रणीतः गोरक्षशतकं समाप्तम् ॥

http://yogaclassics.org/ Swami Kuvalayananda and S. A.Shuklas

Proofread by DPD

.. GorakShashatakam 1 ..
was typeset on August 2, 2016

॥ ॐ ॥

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

(भाषाटीका सहित.)

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपादवोहराधिपतियोगीन्द्र

श्री १०८ श्रीमहन्तपूर्णनाथजी

(कैसरेहिन्द) गोल्डमेडलिस्ट

प्रोविन्शियल दरबारी

टीकाकार—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रव्याकरणवेदान्ताचार्य

श्री पं० ग्रन्थेश झा शास्त्री

टीका संशोधक

श्री पं० ज्ञानिराम शास्त्री

प्रथमा वृत्ति ७०० | सन् १९३८ ई० | मूल्य २)

ॐ

गोरक्षसिद्धान्तसंग्रहः

(भाषाटीका सहित)

प्रकाशक—

श्रीमत्पूज्यपादवोहराधिपतियोगीन्द्र

श्री १०८ श्रीमहन्तपूर्णनाथ जी

(कैसरेहिन्द) गोल्डमेडलिस्ट

प्रोविन्शियल दरबारी

टीकाकार—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रव्याकरणवेदान्ताचार्य

श्री पं० द्रव्येश झा शास्त्री

टीका संशोधक

श्री पं० ज्ञानिराम शास्त्री

प्रथमावृत्ति 1000 | सन् १९१८ ई० | मूल्य ७)

ॐ

भूमिका

नमोगुरुभ्योगुरुपादुकाभ्यो नमः शिवेभ्यः शिवपादुकाभ्यः।
गोरक्षमत्स्येन्द्रजलन्धरेभ्योनमोनमस्तच्छिवपादुकाभ्याः॥

इहचेदवेदीदथसत्यमस्ति। नचेदिहावेदीन्महतीविनष्टिः।

सजातोयेन जातेन यातिवंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः कोवानजायते॥

सकललोकतन्त्र प्रसिद्ध दोलक्ष्य समस्त प्राणियों के लिए निश्चित हैं प्रथम स्वदेश जाति की उन्नति करना दूसरा परमात्मज्ञान द्वारा नित्य मोक्ष धाम को प्राप्त करना। जो इन दोनों को पूर्ण करता है वह तो मनुष्य जन्म को पूर्ण सफल बनाता है इन में एक लक्ष्य को सिद्ध करने वाले का भी जन्म अंशतः सफल ही कहाता है किन्तु जो दोनों से वञ्चित है उस का जन्म तो नहीं के ही बराबर माना जाता है। इसलिए दोनों लक्ष्यों का मार्ग दिखाने वाली इस पुस्तक का प्रकाश होना साधु और सज्जन पुरुषों के लिए नाथ जी का ही अवतार

होना माननीय है। अत जनता के लाभ के लिए इसका प्रकाशन परमावश्यक है—

यह ग्रन्थ अनेक श्रुति स्मृति तन्त्र पुराण आदिओं से सगृहीत है। इसका सग्रह किसने किया इस विषय का कोई निश्चय नहीं है। यह हस्तलिखित पुस्तक महामहोपाध्याय श्रीमान् गोपीनाथ कविराज जी एम० ए० प्रिन्सिपल कीन्स कालेज काशी के पास मे है। उन्होंने उस बृहत् सगृहीत पुस्तक से सक्षेप करके सन् १९२५ ई० मे इसका प्रकाश सरस्वती भवन द्वारा करा दिया है। इसमे प्रधान रूप से अत्याश्रमियों का निरूपण किया गया है, जो कि अवधूत योगी कहाते हैं। चतुर्थाश्रम जो सन्यास है वह साधनावस्था है, उसमे तत्त्वज्ञान के सम्पादक यम नियम प्राणायाम उपासना आदि कर्मों का अनुष्ठान करना ही मुख्य धर्म है जबकि उस साधन को पूर्ण होने से योगी सिद्ध हो जाता है तब उस अनुष्ठान की भी आवश्यकता नहीं रहती है। जैसे जब तक चावल रोटी असिद्ध रहते हैं तब तक अग्नि आदि का व्यापार करना आवश्यक रहता है। जब सिद्ध हो जाते हैं फिर उन व्यापारों की कोई आवश्यकता नहीं रहती है। उसी सिद्धावस्था

को प्राप्त किए हुए योगी अत्याश्रमी अवधूत कहाते हैं। अब उनकी आश्रम में गणना नहीं रहती। आश्रम से अतीत हो जाते हैं उन में सर्वकर्त्तव्यता का निषेध ही वैदिक सिद्धान्त है।

इस अवस्था के निरूपण करने का प्रकार निषेधात्मक है। जैसे सर्वातीत ब्रह्म के उपदेश का प्रकार नेति नेति निषेधरूप है। इसलिए परमार्थरूप से अन्य धर्मों का निषेध अवधूत के लिए किया जाता है न कि व्यावहारिक जनों के लिए। वास्तविक में तो साधनावस्था तक अवधूत योगियों के लिए भी संन्यास आश्रम में कहे हुये यमनियमादि धर्मों का पालन करना ही कहा गया है और यही विशेष सिद्धान्त योगियो के मत में है कि विना सिद्धि किये साधन का त्याग नहीं करना। केवल शाब्दिक अहंब्रह्मास्मि जान कर उतने ही से तुष्ट होकर कृतकृत्य अपने को नहीं मानना। और जो लोग व्यावहारिक हैं उनके लिए श्रुतिस्मृति प्रतिपादित समस्त सनातन धर्म का आचरण करना ही कहा गया है। देवतावाद, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रम, इत्यादि सब धर्मों का उल्लेख करके प्रमाणित किया गया है। इसमें तो इतने जोरों से प्रतिपादन किया गया है कि सनातन धर्म के प्रत्येक सिद्धान्त प्रत्यक्ष सिद्ध हैं योगी लोग इत्या-

मलक की तरह दिखा सकते हैं। और सब दर्शनों से ... सिद्धान्त सर्वोच्च है। किन्तु किसी दर्शन का खण्डन न किया गया है कि अमुक मत ठीक नहीं प्रत्युत उसको दिखाकर प्रमाणित करके उससे भी आगे बढ़कर अपने सिद्धा... की सप्रमाण उच्चता दिखाई गई है। उसको अपना अंग ... लिया है। यह चमत्कार अनुभवी दार्शनिक पुरुषों के ... पर बड़ा प्रभाव डालता है। इसीसे प्रभावित होकर सर्व . दायवलम्बी सज्जनों का हित इस ग्रन्थ से देख कर योगिराज कविराज जी ने इसको प्रकाशित कर दिया है।

इस योगाश्रम महाविद्यालय के जन्मदाता महन्त श्रीपूर्णनाथ जी महाराज हैं। आप वास्तविक में एक अद्भुत महापुरुष हैं जो पक्षपात छोड़ कर आपकी कृति का अन्वालोचन करेंगे उनका अन्तःकरण ही स्वयं इनके अद्भुत महत्व को स्वीका... किए बिना नहीं रहेगा ? आप जब से इस गद्दी पर विराजमा... हुए हैं तब से यह स्थान चारों तरफ से चमक उठा। प्रधा... स्थान बोहर में है वहां अन्नक्षेत्र (जो कोई आवे सबको भोज... देना) यद्यपि स्थान के निर्माण समय से ही है परन्तु यहां... से उसका बहुत नियत ठोस प्रबन्ध कर दिया है। जिस...

उसमें आगे किसी प्रकार से संकट आने की आशंका नहीं रही। बीकानेर पेड़ी ग्राम में गोशाला की भी वृद्धि कर दी है। बोहर और रोहतक में कितने विशाल भवन किले के समान बनवा दिए हैं। चमत्कार यह है कि इतने काम करते हुए भी आर्थिक उन्नति अर्थात् कईएक लाखों की स्थायी सम्पत्ति करदी है। आपके गुरु महन्त श्री चेतनाथ जी महाराजा बड़े धुरन्धर संस्कृत के विद्वान् थे उनकी इस सम्प्रदाय में संस्कृत विद्या की जागृति के लिए बड़ी अभिलाषा थी। और इसके लिए उद्योग भी करते थे। वर्त्तमान महन्त जो उस समय मे विद्याध्ययन करते थे। इनके हृदय पर संस्कृत विद्या और धर्म के रस ने प्रगाढ़ रूप धारण कर लिया था। मैं अनुभव और परीक्षा करके सच्चे दिल से लिखता हूं कि जिस प्रकार संस्कृत विद्या का अनुराग इनमें देखा। वैसा न मैं अपने में अथवा किसी अन्य में देखता हूं। इसका परिणाम यह हुआ कि गद्दी पर बैठते ही आपने बोहर में पाठशाला खोल दी और नाथों के पढ़ने का अत्यन्त सराहनीय प्रबन्ध कर दिया। फिर पीछे विचार हुआ कि यहां विद्यालय रहने पर जनता जितना लाभ उठाती है

मलक की तरह दिखा सकते हैं। और सब दर्शनों से इस सिद्धान्त सर्वोच्च है। किन्तु किसी दर्शन का खण्डन किया गया है कि अमुक मत ठीक नहीं प्रत्युत उसको दिखाकर प्रमाणित करके उससे भी आगे बढ़कर अपने सिद्धान्त की सप्रमाण उच्चता दिखाई गई है। उसको अपना अंग बना लिया है। यह चमत्कार अनुभवी दार्शनिक पुरुषों के हृदय पर बड़ा प्रभाव डालता है। इसीसे प्रभावित होकर सर्व सम्प्रदायवलम्बी सज्जनों का हित इस ग्रन्थ से देख कर योगिराज कविराज जी ने इसको प्रकाशित कर दिया है।

इस योगाश्रम महाविद्यालय के जन्मदाता महन्त श्रीपूर्णनाथ जी महाराज हैं। आप वास्तविक में एक अद्भुत महापुरुष हैं जो पक्षपात छोड़ कर आपकी कृति का अन्वालोचन करेंगे उनका अन्तःकरण ही स्वयं इनके अद्भुत महत्व को स्वीकार किए विना नहीं रहेगा ? आप जब से इस गद्दी पर विराजमान हुए हैं तब से यह स्थान चारों तरफ से चमक उठा। प्रधान स्थान बोहर में हैं यहां अन्नक्षेत्र (जो कोई आवे सबको भोजन देना) यद्यपि स्थान के निर्माण समय से ही है परन्तु पहले से उसका बहुत नियत ठोस प्रबन्ध कर दिया है। जिसमें

उसमें आगे किसी प्रकार से संकट आने की आशंका नहीं रही। बीकानेर पेडी ग्राम में गोशाला की भी वृद्धि कर दी है। बोहर और रोहतक में कितने विशाल भवन किले के समान बनवा दिए हैं। चमत्कार यह है कि इतने काम करते हुए भी आर्थिक उन्नति अर्थात् कईएक लाखों की स्थायी सम्पत्ति करदी है। आपके गुरु महन्त श्री चेतनाथ जी महाराजा बड़े धुरन्धर संस्कृत के विद्वान् थे उनकी इस सम्प्रदाय में संस्कृत विद्या की जागृति के लिए बड़ी अभिलाषा थी। और इसके लिए उद्योग भी करते थे। वर्त्तमान महन्त जो उस समय में विद्याध्ययन करते थे। इनके हृदय पर संस्कृत विद्या और धर्म के रस ने प्रगाढ़ रूप धारण कर लिया था। मैं अनुभव और परीक्षा करके सच्चे दिल से लिखता हूं कि जिस प्रकार संस्कृत विद्या का अनुराग इनमें देखा। वैसा न मैं अपने में अथवा किसी अन्य में देखता हूं। इसका परिणाम यह हुआ कि गद्दी पर बैठते ही आपने बोहर में पाठशाला खोल दी और नाथों के पढ़ने का अत्यन्त सराहनीय प्रबन्ध कर दिया। फिर पीछे विचार हुआ कि यहां विद्यालय रहने पर जनता जितना लाभ उठाती है

इससे कहीं अधिक लाभ तीर्थक्षेत्र में रहने से उठा सकेगी। और हमारे बारहों पंथ के नाथ तथा इतर साधु और गृहस्थी सब लाभ उठायेंगे इसलिए हरद्वार में यहां जमीन खरीद करके सवालाख के करीब लागत लगाकर इस विशाल भवन योगाश्रम का निर्माण करवाया। और इसकी स्थायिता के लिए एक लाख की जमींदारी (यहां से ५ माइल पर इब्राहीमपुर) खरीद कर के इसके नाम से अर्पण कर दी जो विद्यालय आज महाविद्यालय रूप में परिणत है २० वर्ष के अन्दर हजारों छात्र पढ़कर इससे निकले हैं और सैकड़ों शास्त्री और आचार्य होकर अनेक स्थानों में अध्यापन और धर्मप्रचार कार्य कर रहे हैं। आश्चर्य यह है कि निज भुजबल से इस महाविद्यालय का जन्म और पालन दोनों ही अकेले कर रहे हैं न कि किसी की सहायता से हां इसके कार्य्यक्रम से संतुष्ट होकर गवर्नमेन्ट सौ रुपये मासिक सहायता देती है। साथ २ प्रधान बोहर स्थान में भी आर्थिक कोष उन्नत कर दिया है। और सम्राट् से भी सत्कार प्राप्त किया जो कि कैसरे हिन्द पद से विभूषित हैं। इसी से सज्जन पुरुष जान सकते हैं कि इस भारत माता ने ऐसे सुपुत्र एक महन्त जी को उत्पन्न करके जनता का कितना महोपकार

किया है। संस्कृत माता और उसके सेवक छात्र तथा विद्वान् लोग तो आजन्म इसके ऋणी रहेंगे। जो कि इस घोर विपत्ति में संस्कृत की इतनी बड़ी सेवा कर रहे हैं साधु समाज का भी मुख उज्ज्वलित कर दिया है नाथ सम्प्रदाय के लिए तो कहना ही क्या है। इस अमर वाणी अमृत से मूर्छित को सचेत कर दिया है यह कहना अत्युक्त नहीं होगा। इस विद्यालय में प्राचीन पुस्तक का प्रकाश करना और अन्वेषण करना यह विभाग रक्खा है जिससे साधु तथा जनता का उपकार हो। इसलिए इस पुस्तक से सर्वसाधारण लाभ उठा सके अतः इसकी हिन्दी भाषा करके प्रकाश किया जाय। और इस कुम्भ महोत्सव पर अनेक स्थानों से आए हुए सज्जन साधु महात्माओं की सेवा में उपस्थित (अर्पण) किया जाय ऐसा विचार करके अपने पास से सब व्यय भार उठा कर इसका प्रकाश महन्त जी ने करवाया। इन शुभ कर्मों के लिये महाराज जी का सहस्रशः धन्यवाद भी थोड़ा ही है परमेश्वर से प्रार्थना है कि महाराज जी की यह कीर्त्ति आसूर्य चन्द्रमा संसार में विद्यमान रहे। किन्तु अल्प समय करीब एक महीना में ही इस समुद्र रूप मन्थरत्न को निकालना पड़ा इसलिए पाठक महानुभावों

से प्रार्थना है कि सज्जन पुरुष हंस की तरह गुण मात्र पर ध्यान देंगे। जिनका अभ्यास है कि नित्यप्रति दूसरे के दोषों को ही चुनना उनके प्रति दोषोद्‌घाटन करने के लिए ही मेरी प्रार्थना है क्यों कि उनकी गालियां ही मेरे सिद्धान्त को ईश्वर-वादत्व सिद्ध करेंगी। अन्त में उनका भी उपकार भार मेरे ऊपर है जिन्होंने इस कार्य में बड़ी सहायता की है इसलिए पं० श्री ज्ञानीराम शास्त्री को भी धन्यवाद देता हूं। वैद्यराज श्री श्रेयोनाथ जी को भी धन्यवाद है जिनके प्रोत्साहन से यह शुभ कार्य अल्प दिनों में सफल हुआ है। इति शिवम्।

श्री मदादिनाथपदपद्मेषु ग्रन्थकुसुमं समर्प्यते।

इति विबुध विधेयस्य झोपाह्व द्रव्येशस्य ॥

श्री

गोरक्षासिद्धान्तसंग्रहः

मंगलम्

ओं जालन्धरनाथाय नमः।

निर्गुणं वामभागे च सव्यभागेऽद्भुता निजा।
मध्यभागे स्वयं पूर्णस्तस्मै नाथाय ते नमः॥ १॥

अलि कुला कुल गण्डक मंडलम्।
अरुण बिन्दु सुमंडित भालकम्॥
निखिल सिद्धिकरं गिरिजा सुतम्।
बहु नमामि शिवाय गजाननम्॥ १॥

भा० टी०—हे स्वात्मानन्द परिपूर्ण सर्वशक्तिमान् नाथ जी आपके वाम भाग में निर्गुण, और अद्भुत आपकी शक्ति दक्षिण भाग में है, अर्थात् निर्गुण और शक्ति दोनों आप में स्थित हैं। आप इन दोनों पर शासन करते हुए इनके मध्य भाग में विराजमान हैं, ऐसे आपको मैं सादर प्रणाम करता हूँ॥१॥

भृङ्गाः स्तुवन्ति पादाग्रे नखाग्रे जीव जातयः।
भुक्ताभुक्तगतेर्मुक्तः सर्वत्र रमते स्थिरः ॥२॥

भा० टी०—आपके चरणों के अग्रभाग में स्थित होकर भुक्त और नखों के अग्र भाग में प्राणी समूह (अर्थात् समस्त संसार के प्राणि) आपकी स्तुति करते हैं। आप मुक्त और अमुक्त गति से स्वतन्त्र होकर कूटस्थ गति से सब जगह रमण करते हैं ॥ २ ॥

वामभागे स्थितः शम्भुः सव्ये विष्णु स्तथैव च।
मध्ये नाथः परं ज्योति स्तज्ज्योतिर्मेत्तमो हरम् ॥३॥

भा० टी०—वह नाथ स्वरूप परम ज्योति, मेरे हृदय में फैले हुए अन्धकार को नष्ट करे, जिसके वाम भाग में शम्भु, और दक्षिण भाग में विष्णु विराजमान है ॥ ३ ॥

अस्मिन् मार्गे सर्वश्रेयोमूलभूतो गुरुरेव।
सचाऽवधूत एव नान्यः। स कोऽवधूत इत्यपेक्षायामाह

भा० टी०—इस मार्ग में समस्त कल्याणों का मूल गुरु ही है, और वह गुरु भी अवधूत ही होना चाहिये, अन्य नहीं। वह अवधूत कौन है इसका उत्तर नीचे के श्लोकों से मिलता है—

नोट—यहां पर इस प्रथम श्लोक का अर्थ संक्षेप से लिखा गया है, जो पाठक महानुभाव इसका विस्तृत अर्थ देखना चाहें वह ग्रन्थ के अन्त में देखें।

वचने वचने वेदा स्तीर्थानि च पदे पदे ।
दृष्टौ दृष्टौ च कैवल्यं सोऽवधूतः श्रियेस्तु नः ॥४॥
एकहस्ते धृतस्त्यागो भोगश्चैककरे स्वयम् ।
अलिप्तस्त्यागभोगाभ्यां सोऽवधूतः श्रियेस्तु नः ॥५॥

भा० टी०—जिसका प्रत्येक वचन वेद है, अर्थात् ज्ञान से भरा हुआ है। जिसका प्रत्येक चरण तीर्थ है, अर्थात् जिसमें दूसरों को तारने की शक्ति है, और जिसकी दया दृष्टि में कैवल्य है। अर्थात् जिनकी दया दृष्टि पड़ते ही शिष्य के सब दुःख दूर हो जाते हैं। वह अवधून हमको कल्याण का मार्ग दिखाए। जिसके एक हाथ में त्याग और एक हाथ में भोग है, अर्थात् जिसकी दया दृष्टि से सब कुछ प्राप्त होता है परन्तु आप दोनों से निर्लेप हैं, वह अवधूत हमें कल्याण का रास्ता दिखावे ॥ ४, ५ ॥

उक्तंहिसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—
सर्वान् प्रकृतिविकारानवधुनोतीत्यवधूतः ।

भा०—जो समस्त प्रकृति विकारों से भिन्न है वह अवधून है। ऐसा सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा है।

प्रसरं भासयेच्छक्तिः संकोचं भासयेच्छिवः ।
तयोर्योगस्य कर्ता यः स भवेत् सिद्धयोगिराट् ॥६॥

यह सृष्टि संकोच और विकास का खेल है। शक्ति के कारण यह सृष्टि फैलती है और शिव इसको सङ्कुचित अर्थात् अपने में लीन कर लेता है, तात्पर्य यह है कि—जब शक्ति प्रबल होती है तब बहिर्मुख होकर संसार को रचती है। और शिव प्रबल हो कर शक्ति को जब अपने में लीन कर लेता है। तब प्रलय होता है। इस संकोच-विकास अर्थात् सृष्टि और प्रलय रूप योगका जो कर्ता है वही सिद्धयोगिराजों में उत्तम है॥ ६॥

अवधूतगीतायामुक्तम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णं परमात्मनि।
भिन्नाऽभिन्नं न पश्यामि तस्याहं पंचमाश्रमी॥ ७॥

ब्रह्मा से लेकर जड़वर्गपर्यन्त सृष्टि को उस सर्वाधार प्रभु से न मैं भिन्न देखता हूं न अभिन्न, मैं उसी का रूप हूं और वर्णाश्रम से अतीत हूं॥ ७॥

सूतसंहितायाम्—

अति वर्णाश्रमी प्रोक्तो गुरुःसर्वाधिकारिणाम्।
न कस्यापि भवेच्छिष्यो यथाऽहं पुरुषोत्तमः॥ ८॥

यथाहं पुरुषोत्तम इति विष्णुं प्रति शिववचनम्,

अतिवर्णाश्रमी साक्षाद् गुरूणां गुरुरुच्यते।
न तत्समो नाधिकश्चास्मिँल्लोकेऽस्त्येव न संशयः॥९॥

सूत संहिता में वर्णन किया है कि सब वर्णों और आश्रमों से जो अतीत है वही सब वर्णों और आश्रमों का गुरु है। यह

किसी का शिष्य नहीं है ।जैसा कि मैं पुरुषोत्तम किसी का शिष्य नहीं हूँ । यह वचन शिवजी महाराज ने विष्णु जी से कहा है । ८ ॥

जो वर्णाश्रम के अभिमान से मुक्त हो गया है । वह गुरुओं का भी गुरु है, उसके बराबर या उससे बढ़ कर संसार में कोई नहीं है । इस में किसी को सन्देह न करना चाहिये । ९ ॥

उक्तं ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—

पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स्वरेण साधयेद् योगमस्वरं भावयेत् परम् ॥
अस्वरेण हि भावेन भावो नाऽऽभाव इष्यते ।
तदेवनिष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरंजनम् ॥
तद् ब्रह्माऽहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ।

योगी,स्वर से योग को सिद्ध करे । यहां योग पद का अर्थ समाधि है, और स्वर पद के अनेक अर्थ हैं, नाक से जो श्वास बाहर निकलता है और भीतर जाता है वह स्वर कहलाता है जैसे कि 'शिव स्वरोदय, में कहा है, उसके द्वारा अर्थात् रेचक पूरक द्वारा कुम्भक रूप समाधि को सिद्ध करे । अथवा स्वर इस पद का 'नादलय' अर्थ भी हो सकता है । परन्तु उसकी प्रक्रिया कठिन है अतः उसका यहां लिखना उपयुक्त नहीं । अथवा स्वर से ओंकारादि निज २ गुरुओं के प्रदान मंत्रों से । यहां पर स्वर पद साधन है इस से सिद्ध होता है कि सिद्ध

करने योग्य शुद्ध सच्चिदानन्द इस स्वरपद से अभिन्न है उसी की भावना करे। इस में किसी को सन्देह हो कि स्वर से रहित हो जाने पर शून्य हो जायेगा, इस सन्देह को हटाने के लिये कहते हैं-वह अभाव शून्य नहीं है किन्तु भाव रूप है उसका किस प्रकार ध्यान करे सो कहते हैं वह ब्रह्म सब प्रकार के भेद धर्म अधर्म संकल्प विकल्प इत्यादि संसार के व्यवहार से रहित है, वही मैं हूं। इस प्रकार अभेद भावना करे, ऐसी दृढ़ भावना हो जाने पर योगी अवश्य सच्चिदानन्द रूप हो जाता है।

तत्राऽऽशङ्कते—पक्षपात क इति, देहाभिमान एव सः। सोपि क इति। ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं पुनरन्त्यजोऽहं ब्रह्मचारी अहं गृहस्थोऽहं वानप्रस्थोऽहं संन्यास्यहंमुत्तमोऽहं मध्यमोऽहमधम इत्यादि। संकल्प एव सः। तं संकल्पं विहाय सर्वं व्यापकं परमनाथं याथातथ्येन पश्यत्यथ मुक्तो भवति तादृश एव स्यादिति। तथा च वर्णाश्रमादिव्यवहारमतीत्य नाथं साक्षात्कुर्वतो मुक्तिरिति।

यहां कोई शंका करता है कि पक्षपात से क्या तात्पर्य है? देहाभिमान ही पक्षपात है। देहाभिमान क्या है? मैं ब्राह्मण हूं, मैं क्षत्रिय हूं मैं वैश्य हूं शूद्र हूं अंत्यज हूं ब्रह्मचारी गृहस्थ वान-

ब्रह्म या संन्यासी हूँ, अथवा मैं उत्तम मध्यम और अधम हूँ, यही देहाभिमान और संकल्प है इस संकल्प को छोड़ कर सर्वव्यापक परमनाथ के दर्शन जब यथार्थ रूप से कर लेता है तब वह वैसा ही होजाता है। तात्पर्य यह है कि वर्णाश्रम के व्यवहार से अतीत होने पर श्री नाथजी के साक्षात् कार से मुक्ति प्राप्त होती है।

यदि कोपि वदेद् वर्णाश्रमाचार व्यवहारं त्यक्तवतः परम योगिनो मुक्तिर्भवतु नाम। वर्णाश्रमाचारवतः सा कथं न भवेत्? "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय" इत्यादीनि कानिचिच्छास्त्रवाक्यान्यवलम्ब्य वदन्ति चा-मुको गृहस्थो मुक्तश्चामुको भिक्षुरिति। तत्रोच्यते—गुणा-नतीत्यैव मुक्तो भवेन्न तु गुणाभिमानीति सम्मतः सिद्धान्तो भवत्येव। वर्णव्यवहारे तु न सम्भवति गुणातीतत्वम् कथं? वर्णमात्रस्यापि गुणनिर्मितत्वादिति। उक्तंच गीतायाम् —"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः। तस्य कर्तारमपि मां विध्यकर्तारमव्ययम्" तथा च गुण सत्वे न मुक्तिरिति।

तत्र वादी वदति—वर्णाभिमानिनः किं न त्यजन्ति गुणानिति, यदि गुणां स्त्यजेयुस्तर्हि कथं वर्णसद्भावः, गुणमूलकत्वादेव वर्णत्वस्य। तथा चाऽऽश्रमित्वं स्यात्। तदा

वादी वदति भवद्भिस्त्वाश्रमिणोपि गुणातीतत्वाभावान्मु-
क्तिर्नेत्युच्यते साच भवद्वचनक्रमेणाप्यायास्यति तत्र
किमुत्तरमिति ।

उच्यते—नैवमाश्रमिणो मुक्तिरायाता, कथम् ?

आश्रमाणामपि गुणमूलकत्वात् ।

प्रथमतो वर्णव्यवहारेण गुणभजनम् ॥

गुणवृत्तिषु च सत्वगुणवृत्तयः उत्तमाः,

रजस्तमो वृत्तयस्ततोनिकृष्टा इति कृत्वा गुणेष्वप्युत्त-
मादित्वंस्यात् । परन्तु गुणवृत्तित्वं तु सर्वसाधारणम् । अतो
नास्ति गुणवृत्तीनां मुक्तिसाधकत्वम् । तत्र दृष्टान्तो
यथा—द्वे स्त्रियौ रूपवत्यौ भवतस्तयोर्द्वयोरपि संयोगे न
भवेद् गर्भोत्पत्तिः । किन्तु तद्धर्मभिन्नत्वेन पुरुषेणैव
सा भवेत् ।

किंच सौन्दर्यतारतम्येनैकस्या अपरा अधिका न्यूना
वा भवतु नाम, परन्तु भोक्ता तु तयोरपि पुरुष एव । नास्ति
तयो रन्योन्यं भोक्तृभोग्यत्वम् । तथा नास्ति वर्णानां
साक्षान्मुक्तिविषयेऽन्योन्यंगुरुशिष्यत्वम् किंच,
आश्रमिणोपि प्रथमतो वर्णाभिमानेन गुणभाज एव ।
ते चोत्तरत्रापि प्रारब्धमभिमत्य भोगभाजो भवन्ति, तेन

च प्रारब्ध कर्मणां भोगोऽवश्य इतिकृत्वा कर्मणां सत्यत्वं तावद् दर्शयति, यतो गुणलेश एतेषामपि न निवृत्तो यतो मुक्तत्वपुरुषार्थविहीनास्तेपि नपुंसकप्रायाःसन्तो न मुक्तिश्रियमर्हन्ति। यद्यपि नपुंसकाः पुरुषवेषिणो वर्तन्ते तथापि पुरुषत्वेन सन्ततिसम्पादका न भवन्ति । एवं वेष मात्रेणाश्रमिणोपि सम्मानपूजाद्यर्हन्तु नाम गुरुत्वम् । अतोगुणातीतत्वेन अत्याश्रमिण एव मुक्तिप्रदगुरुत्वम् । नाऽन्यस्य कस्यापीति बहुधा शास्त्रे निरूपितम्

भा० टी—यहां कोई शंका करता है कि वर्णाश्रमों के आचार और व्यवहार को त्यागने वाले परमयोगी को यदि आप मुक्ति का अधिकारी मानते हैं तो यह ठीक है, परन्तु वर्णाश्रमों के आचार का परित्याग किये बिना मुक्ति नहीं होती, यह कैसे हो सकता है। 'जनकादि कर्म से ही सिद्धि को प्राप्त हुए, इत्यादि शास्त्र वाक्यों का आश्रय लेकर बहुत से कहते हैं, कि यह गृहस्थ मुक्त हो गया, वह संन्यासी मुक्त होगया, इसका उत्तर यह है कि-गुणातीत होकर ही मुक्त होता है । गुणाभिमानी मुक्त का अधिकारी नहीं है ! यह सर्व सम्मत सिद्धान्त है ही, और वर्ण व्यवहार में गुणातीत होना सम्भव ही नहीं क्यों कि वर्णों का तो निर्माण गुणों के आधार पर हुआ है ।

जैसा कि गीता में कहा है–मैंने गुण कर्म के विभाग से चारों वर्ण उत्पन्न किये हैं। मैं यद्यपि विकार रहित अकर्ता हूं तथापि चारों वर्णों का निर्माता तू मुझे ही समझ।

इसलिये गुणों के रहते हुए मुक्ति कहाँ ?

वादी फिर शंका करता है कि वर्णाभिमानी क्या गुणों को नहीं छोड़ते ? यदि वे गुणों को छोड़ दें तो उस २ वर्ण वाले कहला ही कैसे सकते हैं। क्योंकि वर्ण-व्यवहार का मूल कारण ही गुण है इसी प्रकार आश्रमवादी भी, गुणातीत न होने के कारण मुक्ति भागी नहीं हो सकते।

यहां फिर वादी कहता है कि आप तो आश्रम वालों को भी गुणातीत न होने के कारण मुक्ति का अधिकारी नहीं मानते, परन्तु आपने वर्णों को गुण मूलक बताया है आश्रमों को नहीं। इस लिए आपके ही वचन से आश्रम वाले भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। इसका क्या उत्तर है ? सुनिये आश्रम वालों का भी मुक्त होना हमारे वचन से सिद्ध नहीं होता क्योंकि आश्रम भी गुणों के आधार पर ही निर्मित हुए हैं। पहले तो वर्णों के अभिमान में गुणों का सेवन होता है। बाद में वर्ण व्यवहार से आश्रम का अभिमान होने पर गुण सम्बन्ध नहीं छूटता। कोई कहे कि रजोगुण तमोगुण निकृष्ट हैं इस लिए ये बन्धन श्रेणी में माने जाय किन्तु सत्वगुण को तो सभी उत्तम मानते हैं उसको आप क्यों बन्धन कोटि में गिनते

हैं। इसका उत्तर यह है कि गुणों की वृत्तियों में भी सत्वगुण की वृत्तियां उत्तम हैं, रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियां निकृष्ट हैं। इस प्रकार गुणों की वृत्तियों, में उत्तम, मध्यम और अधमपना है। यद्यपि सत्वगुण उत्तम है परन्तु गुण वृत्तिपना उस में भी है इसलिए गुणों की वृत्तियां मुक्ति की प्राप्त स्वरूप नहीं हैं। इस बारे में एक दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे दो स्त्रियाँ चाहे कितनी भी रूपवती हों पर उनके संयोग से गर्भोत्पत्ति नहीं हो सकती। वह तो उनसे भिन्न धर्म वाले पुरुष से ही हो सकता है। सौन्दर्य की न्यूनता या अधिकता से उनमें कोई कम या ज्यादा हो, पर भोक्ता उनका पुरुष ही है। उनका आपस में भोक्तृ भोग्य सम्बन्ध नहीं हो सकता, इसी से वर्णाभिमानियों का मुक्ति विषय में आपस में गुरु शिष्य सम्बन्ध नहीं है। आश्रम वालों में भी वर्ण का अभिमान होता है। इसलिए वे भी गुणों की ही सेवा करने वाले हैं, अगले जन्म में भी प्रारब्ध कर्म का फल उन्हें भोगना पड़ेगा, क्योंकि किये हुए कर्मों का भोग आवश्यक है इस प्रकार वे कर्मों को सत्य मानते हैं। इसलिए आश्रम वालों में गुण लेश रहने के कारण मुक्ति योग्य पुरुषार्थ से रहित वे नपुंसकों की तरह मुक्तिरूप सौभाग्य को प्राप्त करने योग्य नहीं हैं। नपुंसक यद्यपि पुरुष वेष में पुरुष जैसा प्रतीत होता है, पर सन्तान तो उत्पन्न नहीं कर सकता, इसी तरह वेष के कारण आश्रम वालों का भी

सम्मान पूजा योग्य गुरुत्व चाहे हो तथापि गुणातीत होने के कारण मुक्ति देने वाला गुरु तो वर्णाश्रमातीत अवधूत ही हो सकता है, और कोई नहीं इसका शास्त्रों में बहुत कथन किया गया है।

उक्तं च कैवल्योपनिषदि—

मू०—विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीव शिरः शरीरः। अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य।

भा० टी० जैसा कि कैवल्योपनिषद् में कहा है—

भक्ति पूर्वक गुरु को प्रणाम कर एकान्त स्थान में सुखासन लगाकर गर्दन और शिर और समस्त शरीर को ठीक सीधा करके आश्रम के अभिमान को छोड़ सब इन्द्रियों को रोक कर पवित्र मन से अवधूत ध्यान करे।

तेजोबिन्दूपनिषदि—

मू० लोभं मोहं भयंदर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम्।
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च किल्बिषम्।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिग्रन्थिसंचयम्।
न भयं सुखदुःखं च तथा मानाऽपमानयोः॥
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम्।

भा० टी०—तेजोपनिषद् में भी कहा है—

लोभ मोह भय दर्प काम क्रोध पाप शीत गर्मी भूख प्यास संकल्प विकल्प सब को त्यागदे। ब्राह्मण कुल का अभिमान

तथा मुक्ति का ग्रन्थि संचय अर्थात् काम क्रोधादि का समूह, भय और मानापमान इन से उत्पन्न सुख दुःख जिसने छोड़ दिया वह ब्रह्म स्वरूप होजाता है, क्योंकि ब्रह्म भी इन सब भावों से रहित है।

अमनस्केऽपि लिखितम्—

मू० कुलाचाराविहीनस्तु गुरुरेको हि दुर्लभः।

वर्णाश्रमित्वमुक्तं नास्ति वर्णाश्रमाचारे सर्वारम्भ परित्याग इति।

पुनरेवं चावधूत एव सन्मार्गदर्शनशीलो भवति, स एव गुरुर्मुमुक्षुभिः कर्तव्यः।

फलितानेकपुण्यानां मुमुक्षूणां हितावहम्॥

साधनं साधनश्रेष्ठमाह योगमतः परम्॥

भा०—अमनस्क नामक ग्रंथ में लिखा है कि वह गुरु अति दुर्लभ है, जिसको कुलाचार का अभिमान नहो, गुरु सर्वारम्भ परित्यागी होना चाहिये, वर्णाश्रमियों में यह बात नहीं हो सकती, इसलिए अवधूत ही सच्चा मार्ग दिखा सकता है,

मुक्ति के चाहने वालों को यही गुरु बनाना चाहिये।

पूर्वजन्मार्जितपुण्य के प्रभाव से मुक्ति की इच्छा करने वाले सब साधनों में श्रेष्ठ परमसाधन योग है।

सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ

सन्मार्गश्च योगमार्गस्तदितरस्तु पापण्डमार्गः।

तदुक्तमादिनाथेन—

'योगमार्गेषु तंत्रेषु दीक्षिता स्तांस्तु दूषकाः।

ते हि पापण्डिनः प्रोक्ता स्तथा तैः सहवासिनः॥

योगमार्गात्परो मार्गो नास्ति नास्ति श्रुतौस्मृतौ।

शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितं पुरा॥

भा०—सिद्धसिद्धान्तपद्धति में कहा है कि योगमार्ग ही सच्चा मार्ग है बाकी सब पाखण्ड मार्ग है। यही आदिनाथ जी ने भी कहा है कि योगामार्ग में दीक्षित अर्थात् योग मार्गावलम्बियों की जो निन्दा करते हैं। वे सब दूषक और पाखण्डी हैं, और जो उनके साथ रहते हैं, वे भी पाखण्डी हैं। योगमार्ग से उत्तम मार्ग श्रुति स्मृति तथा अन्य शास्त्रों में नहीं है, ऐसा शिव जी ने कहा है।

विवेक मार्त्तण्डे—

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं चादि नाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात् ॥

भा०—विवेक मार्तण्ड में भी कहा है—

योगशास्त्र को नित्य पढ़े अन्य वृथा विस्तृत शास्त्रों से क्या लाभ, क्योंकि शास्त्र स्वयं आदिनाथ जी के मुखकमल से निकला है।

ध्यान विन्दूपनिषदि—

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं योजनाद्वह, ।
भिद्यतेध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥
वर्णाश्रमाभिमानेन वर्तते श्रुतिकिङ्करः ।
अभिमानविहीनस्तु वर्तते श्रुतिमूर्धनि ॥
उत्सृज्यसर्वशास्त्राणि जपहोमादि कर्म च ।
धर्माधर्म विनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत् ॥
न वेदो वेद इत्याहुर्वेदा वेदो निगद्यते ।
परात्मा विद्यते येन स वेदो वेद उच्यते ॥
वर्णधर्मे च सन्ध्या विहिता तस्मान्निरूपकमाह—

जाता है, अंगिरस ने शौनक से कहा—ब्रह्मवादी लोग कहते हैं कि दो विद्याएं जाननी चाहिएं परा और अपरा, जिन से ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद शिक्षा कल्प निरुक्त छंद ज्योतिष इतिहास पुराण न्याय मीमांसा धर्मशास्त्र यह सब अपरा विद्या है। और परा विद्या यह है जिससे उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है।

यहां जिस से अक्षर ब्रह्म का ज्ञान हो वह परा विद्या ऐसा कहा गया है सो यह योगविद्या ही है, क्योंकि श्रुति स्मृति पुराणादि सब विद्याएं तो अपरा विद्या में गिनाई गई हैं। परन्तु योगविद्या नहीं गिनाई गई है, इस लिये इन पूर्वोक्त विद्याओं से अलग योग विद्या का परा विद्या होना साफ २ जाहिर होता है।

मू० तदुक्तमात्मोपनिषदि—

अथ परमात्मा नाम यथाक्षरमुपासनीयः। स च प्राणायामप्रत्याहारसमाधियोगाऽनुमानाध्यात्मचिन्तकं वटकणिकं श्यामाकतंडुलवालाग्रशतसहस्र कल्पनादिभिर्न लभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यते न दह्यते न कम्पते निर्गुणः साक्षीभूतः। शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निष्कलो निरंजनो निरभिमानः शब्द स्पर्श

रूप रस गन्ध वर्जितो निर्विकल्पो निराकांक्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्योऽवर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि निष्क्रियः संस्कारो नास्ति संस्कारो नास्तीत्येष परमात्मेति।

भा० टी०—आत्मोपनिषद् में भी कहा है-परमात्मा को अक्षरों के अनुसार उपासना करनी चाहिये, उस परमात्मा को प्रत्याहार समाधि याग और अनुमान यथा सम्भव इन सबकी सहायता से आत्मचिन्तन करने वाला बट के बीज जैसा साँवक के बीज जैसा बाल की नोंक के सौवें हिस्से जैसा इत्यादि कल्पनाओं से नहीं जाना जा सकता, वह न उत्पन्न होता है। न मरता न सूखता न जलता और न काँपता है। वह निर्गुण साक्षीभूत है, वह शुद्ध निरवयव केवल सूक्ष्म कलारहित अव्यक्त निरभिमान शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध इत्यादिकों से रहित निर्विकल्प निराकांक्ष सर्व व्यापक अचिन्त्य और वर्णनातीत है।

पतित पावन क्रियाओं तथा संस्कारों से रहित जो है सो परमात्मा है।

मू०—तच्च अमृतनादोपनिषदि स्पष्टमाह—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥

ब्रह्मपद को ढूंढने वाला रुद्र के ध्यान में संलग्न साधक ओंकाररूपी रथ पर चढ़ कर और विष्णु को सारथी बना जहां तक रथ से जाना चाहिये वहां तक रथ से जाय फिर ठीक स्थान पर रथ को खड़ा कर और उसे छोड़ आगे जाता है।

ओंकार में अ-उ-म् ये तीन मात्रा हैं इनके अध्यक्ष भी विराट् १ हिरण्यगर्भ २ और माया सहित ईश्वर ये तीन हैं, इन तीनों की भावना छोड़ कर केवल ब्रह्म रूप से भावना करे उस भावना का फल अकारादि स्वर और ककारादि व्यञ्जनों से रहित विशुद्ध ब्रह्म पद प्राप्त होना है।

शब्दादि पांच विषय और अतिचंचल मन इनको रोक कर आत्मा के प्रकाश का ध्यान करे इसको प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार ध्यान प्राणायाम और धारणा तर्क तथा समाधि यह षडंग योग कहा जाता है। इस प्रकार समाप्ति तक योग का वर्णन है।

उक्तं च मनुस्मृतौ—

मू०—क्षरन्तिसर्वावैदिक्योजुहोतियजतिक्रियाः।

अक्षरं दुष्करं ज्ञेयं ब्रह्म चैव प्रजापतिः॥

भा०टी०—इत्यादि जितनी वैदिक क्रियाएं हैं वे सब नष्ट होने वाली हैं, अतः इन से उस प्रजापति अक्षर का ज्ञान होना

असम्भव है किन्तु मन्त्रों का अधिष्ठान परब्रह्मस्वरूप ओंकार ही ब्रह्म की प्राप्ति का मुख्य साधन है।

उत्तरगीतायाम्—

यथा घृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्।
एवं तत्पदे प्राप्ते वेदे नास्ति प्रयोजनम्॥
पुराणं भारतं वेदा धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
पुत्रदारादिसंसारो योगमार्गस्य विघ्नकृत्॥
मुहूर्तमपि योगस्थो नासाग्रे मनसा अपि।
सर्वं तरति पापं च तस्य जन्म शतार्जितम्॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

ऋचो यजूंषि सामानि वेदोपनिषदस्तथा ।
योगज्ञानादवाप्नोति ब्राह्मणोऽध्यात्मचिन्तकः ॥

भा० टी०—वायु पुराण में कहा है—
ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और उपनिषद् इन सबको आत्मचिन्तक ब्रह्मज्ञानी योगज्ञान से प्राप्त कर लेता है ।

मू०—मार्कण्डेय पुराणेऽप्युक्तम्—
एतत्ते कथितं ज्ञानं योगं चेमं निबोध मे ।
यं प्राप्य ब्राह्मणो योगी शाश्वतीं मान्यतां व्रजेत् ॥
एवं बहुधा शास्त्रेषु योगस्य प्रशंसा विदितैव ।
तस्या दिङ्मात्रमिदं दर्शितम् ।

भा० टी०—मार्कण्डेय पुराण में कहा है—
यह ज्ञान आप से कहा-अब तू मुझ से योग को समझ जिस को प्राप्त कर के योगी अनन्त प्रतिष्ठा को प्राप्त हो जाता है ।

इस प्रकार शास्त्रों में योग की प्रशंसा सब जगह विदित है, यहां तो केवल दिग्दर्शन मात्र किया गया है ।

मू०—तस्य योगस्य लक्षणं तु विवेकमार्तण्ड उक्तम्—

योगं चात्र प्रवक्ष्यामि योगं चाऽष्टांगसंयुतम् ।
संयोगं योगमित्याहुः क्षेत्रज्ञपरमात्मनोः ॥
एतस्यैव योगादीन्यङ्गानीति ज्ञेयम् ।
सन्मार्गत्वेन योगस्तु सेव्यो हित्वान्यसाधनम् ।
मुमुक्षुभिर्यतस्तेषां पदप्राप्तिः परा भवेत् ॥
योगिनो वीतसंकल्पा निर्द्वन्द्वाः पुण्यदर्शनाः ।
योगरत्नकरण्डास्ते जयन्त्यविधिगोचराः ॥

भा० टी०—इस योग का लक्षण विवेक मार्तण्ड में कहा है—

अब योग का वर्णन किया जाता है । योग आठ अंगों से युक्त है । जीवात्मा परमात्मा के संयोग (एक हो जाने को) योग कहते हैं । इस अभेद के योगइत्यादि यागुन से अंग हैं । ऐसा जानना, और साधनों को छोड़ कर मुमुक्षु लोगों को योग का ही सेवन करना चाहिये, यही सर्वोत्तम श्रेष्ठ मार्ग है ।

वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं जो संकल्प विकल्प काम क्रोधादि तथा शीतोष्ण सुख दुःखादि रूप द्वन्द्वों से रहित हैं जिन के ऊपर वेद विधि का अनुशासन नहीं है । योगरूपी रत्नों की खान है तथा जिन के दर्शन मात्र से मनुष्य पवित्र हो जाता है ।

भू० तद्गतामेव परमपदप्राप्तिरिति तेषां स्वरूपं प्रशंसां चाह कैवल्योपनिषदि—

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिःसमग्रीवशिरः शरीरः। अत्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य ॥

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धंविचिंत्य मध्येविशदं विशोकम्, अनन्तमव्यक्तमचिंत्य रूपं शिवं प्रशान्तममृतंब्रह्मयोनिम् ॥

तमादिमध्यान्तविहीनमेकंविभुंचिदानन्दमरूप मद्भुतम्। उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकंठं प्रशान्तम्।

ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात् ॥ स ब्रह्मा स शिवः सोऽक्षरः परमः स्वराट्, स एव विष्णुः स प्राणः स आत्मा परमेश्वरः। स एव सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यंसनातनंज्ञात्वातंमृत्युमत्येति नान्यः पंथा विमुक्तये ॥

सब रूप सब से विलक्षण और पृथक् होता है। इस प्रकार जहां तहां सिद्धसिद्धान्तपद्धति आदि योगग्रन्थों में वर्णन किया गया है। अधिक जानने वालों को वहां देखना चाहिए विस्तार होजाने के भय से यहां अधिक नहीं लिखा जाता। इस प्रकार मुक्ति के सब साधनों में सर्वोत्तम योग की मूर्ति अवधूत ही परम पुरुषार्थ में निपुण होते हैं वेही सब के शिरोमणि हैं, उनकी जय होती है।

मोक्ष मार्ग के साधक वर्णाश्रम परिपाटी की परवाह न करने वाले अवधूत योगियों का संक्षेप से वर्णन किया गया है।

मू०—परमः पुरुषार्थस्तु मुक्तिरुक्ता श्रुतस्तु सा। निरुप्यतेऽवधूतानां योगसाधनजं फलम् ॥ परमपुरुषार्थस्तु मुक्तिरित्युक्तम्। सा च नाथस्वरूपेणाऽवस्थानम्।

तत्स्वरूपन्तु गोरक्षोपनिषदि अद्वैतोपरि सदानन्ददेवता ब्रह्मोपनिषदि—स्वयममनस्कमश्रोत्रपाणिपादं ज्योतिर्विदं तत्र लोका न लोका वेदा न वेदा देवा न देवा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौल्कसो न पौल्कसः श्रमणो न श्रमणः, पशवो न पशवः तापसो न तापस इत्येकमेव परमिति।

ब्रह्म विन्दौ च—

नैवाचिन्त्यं नचाऽचिन्त्य मचिन्त्यंचिन्त्यमेव च इत्यादि ।

सर्वोपनिषत्सारे—

कथं बन्धः कथं मोक्ष, इत्यादि प्रश्ने अनात्मनो देहादीना

रमत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमानआत्मनोबन्धस्तन्निवृत्ति मोक्ष

इत्य नेन स्वरूपेणाऽवस्थान मिति सिद्धम् ।

भा० टी० पहले कहा जा चुका है कि परम पुरुषार्थ तो मुक्ति है अतः यही अवधूतों के योग साधन से उत्पन्न होने वाला फल है, उस का निरूपण किया जाता है, यह मुक्ति क्या है ? नाथ रूप से स्थिति का ही मुक्ति कहते हैं। जैसा कि गोरक्षोपनिषद् में कहा है—

अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता है। ब्रह्मोपनिषद् मे भी जो बिना कारण के स्वयं है तथा मन श्रोत्र हाथ पैर इन से रहित प्रकाश स्वरूप है यहां लोक लोक नहीं, यहां वेद वेद नहीं देव देव नहीं, यज्ञ यज्ञ नहीं, माता माता नहीं, पिता पिता नहीं, पुत्र वधू पुत्र वधू नहीं, चांडाल चांडाल नहीं, अन्त्यज अन्त्यज नहीं, भिक्षु भिक्षु नहीं, पशु पशु नहीं, तापस तापस नहीं केवल एक परूप ही होता है।

महाबिन्दूपनिषद् में भी कहा है—

कि यह न सोचने योग्य न विचारने योग्य है विचार योग्य न

होते हुए भी विचार योग्य है, इत्यादि।

सर्वोपनिषत् सार में कैसे बन्ध और कैसे मोक्ष होता है इत्यादि प्रश्न करके देहादि अनात्मवस्तुओं में आत्मापने का अभिमान ही बन्ध है, और उसकी निवृत्ति ही मोक्ष है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आत्मा की अपने रूपस्थिति ही मोक्ष है।

उक्तंचाऽमनस्के—

भावाभावविनिर्मुक्तं नाशोत्पत्तिविवर्जितम्।
सर्वसंकल्पनातीतं परब्रह्म तदुच्यते॥

अवधूतगीतायां च—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे।
समं तत्त्वंनविन्दन्ति द्वैताऽद्वैतविलक्षणम्॥
यदि सर्वगतो देवः स्थिरः पूर्णो निरन्तरः।
अहो माया महामोहो द्वैताद्वैतविकल्पना॥

श्रीनित्यनाथकृतसिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

न ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ, न सुरपतिसुरा नैव पृथ्वी न चापो।
नैवाग्निर्नापि वायु र्नच गगनतलं नोदिशो नैव कालः॥
नो वेदा नैव यज्ञा न च रविशशिनौ नो विधि नैव कल्पाः।
स्वज्योतिः सत्यमेकं जयति तवपदंसच्चिदानन्दमूर्ते॥

तत्पदेनाऽवस्थानं मुक्तिरिति।

भा० टी०—अमनस्क में जो भावअभाव से विलक्षण नाश और उत्पत्ति से रहित सब कल्पनाओं से परे है वही परब्रह्म कहा जाता है।

अवधूतगीता में भी कहा है, कि कोई अद्वैत की और कोई द्वैतकी इच्छा करते हैं परन्तु वे सब द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्व को नही प्राप्त कर सकते। जबको परब्रह्म बिना भेद के स्थिर पूर्ण और सर्व व्यापक है तब बड़ा आश्चर्य है कि माया मोह के वशीभूत होकर लोग उस में भी द्वैताद्वैत कल्पना करते हैं। श्री नित्यनाथ कृत सिद्धसिद्धान्त पद्धति में कहा गया है कि हे सच्चिदानन्द स्वयं प्रकाश भगवान्? आपके अद्वितीय स्वरूप की जय हो। जहां न ब्रह्मा न विष्णु न रुद्र न इन्द्र और न देव गण हैं। न पृथिवी है न जल है न अग्नि न वायु न आकाश न दिशाएं न काल है, न वेद हैं न यज्ञ अव्यक्त सच्चिदानन्द नाथ रूप में न चन्द्र न सूर्य न विधि और न कल्प हैं ऐसे उस परमात्मा में लीन हो जाना ही मुक्ति है।

मू०नाथस्य लक्षणं राजगुह्ये—

नाकारोऽनादिरूपं थकारः स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैकः श्री गोरक्ष नमोस्तु ते॥

शक्तिसंगमतंत्रे—

श्री मोक्षदानदक्षत्वान्नाथब्रह्मानुबोधनात् ।
स्थगिताऽज्ञानविभवात् श्रीनाथ इति गीयते ॥

श्रीनाथकृत सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

आदिनाथ महासिद्ध शक्तियुक्तं जगद्गुरुम् ।
तं वन्दे नित्यतो वक्ष्ये सिद्धान्तं स्वानुभावतः ॥

इत्यादीनि पुराण वाक्यानि प्रमाणानि ।

तस्य निदर्शनं शास्त्राणि सूर्यसदीपा इव कथं करिष्यन्ति, तस्य पदं तादृग्योगिनामेवापरोक्षमिति सिद्धान्तः।

अन्येतु मतवादिन स्तत्पदमनालम्भमानाःस्वाभिप्रायऽनुसारि तत्पदं विधाय विवादभाराक्रान्त मतयः क्लिश्यन्ति नतु शाम्यन्तीत्याह सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

भा० टी०—नाथ का लक्षण राजगुह्य नामक पुस्तक में लिखा है ना शब्द का अर्थ है अनादि रूप, 'थ' का है। अर्थ स्थित होना। तीनों लोकों के एक कारण अनादि रूपसे स्थित है गोरक्षनाथ जी मैं आप को नमस्कार करता हूं।

शक्ति संगम तंत्र में भी कहा है—आनन्द रूप मोक्ष के देने में उदार होने से तथा सर्वाध्यक्ष ब्रह्म का अनुभव होने से और अज्ञान का नाशक होने से सद्गुरु नाथ जी कहे जाते हैं।

श्रीनाथकृत सिद्धसिद्धान्त पद्धति में–उस प्रसिद्ध महा सिद्ध अव्ययशक्ति सहित जगद्गुरु श्री आदिनाथ को नमस्कार करके अपने अनुभव से सिद्धान्तों का वर्णन करता हूं। इत्यादि पुराण वाक्य प्रमाण हैं।

सूर्य को जैसे अनेक दीपक भी प्रकाशित नहीं कर सकते वैसे ही शास्त्र उसका प्रकाशित नही कर सकते। वह तो महा सिद्ध योगियों को ही प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है, यह सिद्धान्त हैं।

अन्य सबमत वादी लोग तो उस परम पद को न जानते हुए अपने अभिप्राय के अनुसार उस पदको समझते और बताते हुए दुःख उठाते हैं शान्ति को प्राप्त नहीं होते। इसी बात का वर्णन सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में किया गया है। आगे देखो।

मू०—वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिर्ग्रस्तः परं मायया।
भाट्टाः कर्मफलाकुला हतधियो द्वैतेन वैशेषिकाः॥
अन्ये भेदरता विवाद विकलास्ते तत्वतो वंचिताः।
तस्मात् सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः पर संश्रयेत्॥

अस्यार्थः—वेदान्तवित् उत्तर भाग शास्त्रवादी अद्वैते वस्तुनि अध्यारोपाऽपवादाभ्यां द्वैत कल्पनां कुर्वन् बहुभि-स्तर्कैः कर्कशा कठोरा मतिर्यस्य स अत एव परमं केवलं

मायया ग्रस्तो यतो निर्मायिकं वस्तु वदन् मायादूषणं च तत्र ददाति। पुन र्भाट्टा मीमांसका अनीश्वरवादमारोपयन्तः कर्मफलेष्वेवाकुलिताः सन्तोगतधियो भवन्ति। तथा द्वैतेन द्वैतवादेन वैशेषिका अपि गतधिय एव, तदन्योपिये भेदवादरतास्तेऽपि विवाद विकला एव भवन्ति यत एते तत्वतो वंचिता भवन्ति नतु तत्त्वमालम्बन्ते, इत्यर्थः। तस्मान्महासिद्धानां स्वाभाविकं सहजावस्थामयं मतं धीरः पुमान् संश्रयेत् तदेव श्रेयस्करमितिमान्यम्।

भा०—वेदान्ती अर्थात् उत्तर मीमांसा वादी अद्वैतवस्तु अर्थात् शुद्ध ब्रह्म में अध्यारोप और अपवादों से द्वैत कल्पना करते हुए तर्कों से कठोर मति वाले केवल परम तत्त्व को माया रहित होते हुए भी माया से दूषित करते हैं।

भट्ट मतवादी पूर्व मीमांसक लोग अनीश्वर वाद से शास्त्रों को कलंकित करते हुए कर्मफल में ही व्याकुल होकर बुद्धिहीन हो जाते हैं। वैशेषिक शास्त्रवादी भी अद्वैत में द्वैत की कल्पना करते हुए बुद्धि को तिलांजलि दे बैठते हैं। और अन्य मतवादी 'भेदवाद के झगड़ों में पड़े रहने के कारण तत्व से वंचित रहते हैं। तत्व को नहीं जानते, इसलिये बुद्धिमान

जिज्ञासु को महासिद्धों के स्वभाविक असली मत का ही ग्रहण करना चाहिये वही कल्याणकारक है यह निश्चित है।

मू० सांख्या वैष्णव वैदिका विधिपराः संन्यासिनस्तापसाः।
सौरा वीरपराः प्रपंचनिरता बौद्धाजिनाः श्रावकाः।
एते कष्टरता वृथापथगतास्ते तत्त्वतो वंचिताः।
तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयं धीरः परं संश्रयेत्॥

अस्यार्थः सांख्याः प्रकृतिकारणवादिनः कपिल मतानुयायिन इति यावत्, वैष्णवाः पाञ्चरात्राः। वैदिका वेदानुवर्तिनस्ते च विधिपरा वाक्यकोविदा इत्यर्थः। स्पष्टमन्यत्।

पुनः—आचार्या बहुदीक्षिता हुतिरता नग्न व्रता स्तापसाः। नाना तीर्थनिसेवका जिन पराः मौनेस्थिता नित्यशः॥
एते ते खलु दुःखभार निरतास्ते तत्त्वतो वंचिताः।
तस्मात् सिद्धमतं स्वभाव समयं धीरः परंसंश्रयेत्॥

अस्यार्थः—आचार्यामंत्रव्याख्यातारो बहुदीक्षिता अग्निहोत्रादिकर्तारः त एवाऽऽहुतिपरा न तुतत्त्व परा आजिनपरा वल्कलवाससस्ते तीर्थनिषेवका यद्वा जपपराः। शेषं स्पष्टम्।

भा०—प्रकृति को जगत् का कारण मानने वाले सांख्य वादी कपिल मतानुयायी वैष्णव पांचरात्र मत वाले नाना वाक्य विशारद वैदिक संन्यासी तापस और पूजक सूर्योपासक और प्रपंच रचना में लगे हुए बौद्ध जिन और श्रावक ये सब असत् मार्ग पर चलते हुए व्यर्थ ही कष्ट को उठाते हुए सत्य तत्त्व से वंचित रहते हैं, इस लिये सिद्ध मत को ही अपनाना चाहिये।

मंत्रों की व्याख्या करने वाले बहुत से दीक्षित आचार्य आहुति देने में ही लगे रहते हैं, उन्हें तत्वज्ञान नहीं हो सकता बहुत से नग्न व्रतधारी तापस नाना तीर्थों के उपासक मृग चर्म और वल्कलधारी मौनी ये सब दुःखभार से पीड़ित होने के कारण तत्त्व से वंचित रहते हैं। अतः सिद्ध मत ही श्रेष्ठ और मंगलदायक है।

मू०—हठयोग प्रदीपिकायां चोक्तम्—

केचिदागमजालेन केचिन्निगम संकुलाः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैवजानन्ति शाङ्करीम्॥

केचिद्वैखानसाद्यागमोक्ततत्वभ्रमास्तत्र-तत्वाभिमानिनो देहात्मवादिनश्चार्वाकसधर्माणस्ते मनुष्यास्तप्तचक्राद्यङ्किता जीवन्तोऽपि मृतकमिव शरीरं सत्कर्मानर्हं कुर्वाणा देवनिन्दका इति।

केचिच्च, ऋग्यजुरादिवेदाऽऽसक्ताः कर्मज्ञानरताः कर्मणैवायुःपूर्णंकुर्वन्ति ।

अथचतत्ववंचिताःसाधनेऽशक्तास्ते हिकातर्य्येणप्रारब्धशरणाभूत्वाशरीरसुखार्थमहंब्रह्मेतिवदन्तस्तिष्ठन्ति।

'तदेवात्मानंचद्विजानीयात्, इत्यादावुक्तम् । एवंनिगमसंकुला इति।

केचिचाऽतर्कश्वर्थेपरमेवस्तुनिशुष्कतर्कानाश्रित्यपांडितंमन्यामवन्तीतिकृत्वाशाङ्करींनजानन्तीति ।

'भा० टी०—हठयोग प्रदीपिका में भी कहा है–कुछ आगम और कुछ निगमों के जाल में फसे हुए हैं कुछ लोग तर्क के भ्रम में पड़े रहते हैं वे शङ्कर कथित योग विद्या को नहीं जानते।

कुछ लोग वैखानसों की पुस्तकों में कहे हुए तत्त्वाभासों से भ्रम मे पड़े हुए व्यर्थ बातों को तत्त्व समझने वाले चार्वाकों के समान देह को ही आत्मा मानने वाले तप्त चक्रादिकों से चिन्हित होकर जीते हुए ही शरीर को मुर्दे के समान और सत्कर्मों के अयोग्य बनाने वाले सब देवनिन्दक हैं।

कुछ ऋग् यजु आदि वेदों में फसे हुए कर्म करने में ही समस्त आयु को नष्ट कर देते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी हैं जो

साधन में अशक्त होने से शरीर सुख के लिये प्रारब्ध की शरण लेते हुए अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार कहते रहते हैं, यही बात "आत्मानं चेद्विजानीयात्" इत्यादि वाक्यों में कही गई है। इस प्रकार निगम को न समझ कर दुःख उठाते हैं। और कुछ लोग तर्क सामग्री से रहित होने से परब्रह्म में शुष्क तर्कों का सहारा लेकर अपने को बुद्धिमान समझते हुए शाङ्करी विद्या से वंचित रहते हैं।

मू०—सा शाङ्करी स्तूयते

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।

सा पुनःशाङ्करीमुद्रा गुप्ताकुलवधूरिव ॥

ऋग् यजुरादयो वेदा धर्मार्थकाममोक्षोपदेष्टारो ब्रह्मचारि गृहस्थवानप्रस्थभिक्षुकाश्रमोपदेष्टारश्च भवन्ति।

तेचमुख्येवस्तुनि गौणत्वमापादयन्त्यमुख्ये च मुख्यत्वमतोयत्रतादृशाअधिकारिणो बहवोलग्नास्ते चोत्तमपुरुषैरमेवेनीयाद्रव्यस्पृहः प्रवृत्तावेवाऽऽसक्ताभवन्ति।

शास्त्राणिचवैशेषिकादीनितैः श्रममूलकैः कदापिविश्रान्तिर्नास्ति। पुराणानिच नराणामात्मसाधनेषु, अशक्तत्वंप्राय आपादयन्ति यतोबालकानामिव रुचितरासुकथासुलोका नांचित्तवृत्तिंगमयन्ति। तेसर्वेपिसामान्यगणिकाइव-

भवन्ति । तद् यथा गणिकागृहे श्रृङ्गारप्रधानाएववार्तामुख्याः स्युः, ऐश्वरीवार्त्तातुगौणी । तारचगणिका वहयोवहूनांधूर्तानां लम्पटानामुपरिचाऽऽसक्ताभवन्त्यः सत्यवादिनामकामिनां प्रियेश्वरकथानामुपरिनासक्तिंकुर्वन्तीति ।

भा०—अब उस शाङ्करी विद्या की स्तुति की जाती है। वेद शास्त्र पुराण ये सब सामान्य गणिकाओं (वेश्याओं) के समान हैं परन्तु शाङ्करी विद्या कुलवधू के समान है। ऋग् यजु आदि वेद, धर्म अर्थ काम तथा ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक इन आश्रमों का उपदेश करते हैं वे सब मुख्य वस्तु में गौणत्व और गौण वस्तु में मुख्यत्व स्थापित करते हैं इस लिये जहां ऐसे धनाभिलाषी अधिकारी प्रवृत्ति में आसक्त होकर लगे रहते हैं, वे उत्तम पुरुषों से असेवनीय हैं।

वैशेषिकादि शास्त्र भी भ्रममूलक हैं, उनसे विश्राम नहीं मिलता, पुराण तो बालकों के समान अतिरुचिकर कथाओं में लोगों की प्रवृत्ति को बढ़ाते हुए मनुष्यों को आत्म साधन में प्रायः असमर्थ ही बना देते हैं वे सब सामान्य गणिकाओं के समान हैं।

जैसे गणिकाओं के घर में श्रृङ्गार प्रधान ही बातें मुख्य होती हैं, ईश्वर सम्बन्धी बातें गौण होती हैं क्योंकि वे गणि-

कायें धूर्त कपट पुरुषों पर ही आसक्त होती हैं परन्तु ईश्वर भक्त सत्यवादी पुरुषों पर नहीं, इसी प्रकार ये सब सकाम पुरुषों के ही याग्य हैं, निष्कामों को इनसे कुछ प्रयोजन नहीं।

मू०—किंचइहखलुसंसारेयोगोभोगश्चद्वौपदार्थौस्तः, एतद्द्वयंविना किमपि न स्यात्, सर्वस्याप्येतयोरन्तर्भूतत्वादिति।

तयोर्मध्येयोगेलग्नामहासिद्धा भोगेतु सर्वे संसारिणः, योगस्यफलं मुक्तिर्भोगस्यतु बन्धइति यद्यपि भोगाद्बन्धस्तथापिनानाविलासैर्विषयानन्दं विलुण्ठयाति, यदि दुःखमपिभवेत्तर्हिभवतुनामेति। योगिनान्तु पुनःप्रथमतः किंचिच्छ्रमोभवेत्। क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामित्याद्युक्तत्वात्पश्चात्तु महानानन्दस्तत्र बहवः कथयन्ति किंचिदिति कथं योगेतुक्लेशोऽधिकतर इत्युक्तम्।

भा० टी०—इस संसार में योग और भोग दो पदार्थ हैं, इन दोनों के बिना कुछ नहीं होसकता, क्योंकि इन दोनों में ही सब का अन्तर्भाव हैं। इन में से योग में महासिद्ध और भोग में सब संसारी संलग्न रहते हैं। योग का फल है मुक्ति और भोग का बन्ध तथापि अनेक प्रकार के विलासों से

विषयानन्द मनुष्यों को अपनी ओर खैंच ही लेता है भले ही उन को आगे चलकर दुःख ही क्यों न हो। परन्तु अव्यक्त में चित्त लगाने वालों को अधिक क्लेश होता है इत्यादि कथन के अनुसार पहले तो योगियों को कुछ दुःख होता है। परन्तु पीछे महान् आनन्द होता है।

यहां नाथ। शङ्का करता है कि पहले कुछ दुःख होता है ऐसा क्यों? ऊपर के वचन में ता अधिक क्लेश होता है ऐसा कह आए हैं।

मू० — तदुपरिमयाकथ्यतेभोपुरुषा ? गुरुहीनानांतेषांकष्ट भवेत्, यदातादृशः पूर्वोक्तः पूर्णोगुरुर्लभ्यंत तदामहदपि कष्ट मतिस्वल्पंभवेत्।

तत्रदृष्टान्तः–यथामहा भारयुक्ताशिलायाभवेत्तस्याउत्थापने सहस्राणामपि पुरुषाणांकष्टंभवेत्, मा चबुद्धिमतापुरुषेण कृत काष्ठादियत्नेनाऽग्रयामेनैवोत्थाप्यतेतथागुरुमार्गयाक्रिया स्वल्पेनापि कष्टेन महतीसिद्धिर्भवति यदिचमहत्कष्टमपिभवे त्तदाकष्टोत्तरंतुमहानानन्दोभवत्येव। यस्तत्रखंडकनाथरूपोभ वतितत्रब्रह्मविष्णुरुद्रादयोनरो भवतिनानारूपो भवति। ब्रह्मादयः सर्वेतस्यपूजांकुर्वन्ति। योगारूढोनानाभोगान्भुनक्ति नतु-

तैर्लिप्यते। योगंविनाभोगोरोगएवस्यात्। भोग्यपियोगीसं सारेविदश्यतेनतुसंसारेवव्धनंप्राप्नोति।

इसका उत्तर यह है कि हे पुरुषो? जो गुरुहीन होते हैं उन्हें अवश्य ही बड़ा भारी कष्ट होता है। यदि पूर्वोक्त प्रकार का गुरु मिल जाय तो यह महान कष्ट कुछ भी नहीं रहता। जैसे बहुत भारी शिला को यदि बिना डाल्ह और बिना गोल लकड़ियों की सहायता से उठाया जाय तो सहस्रों पुरुषों को भी बड़ा भारी कष्ट होगा और वही शिला किसी बुद्धिमान् पुरुष की बताई विधि के अनुसार डाल्ह आदि की सहायता से सहज में ही उठाई जा सकती है, इसी प्रकार गुरुदेव की बताई युक्ति से थोड़े से ही कष्ट के द्वारा बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। और यदि महान कष्ट होना भी मान लिया जाय तो भी कष्ट के बाद तो अवश्य ही बड़ा भारी आनन्द प्राप्त होजाता है जो गुरु की कृपा से अखण्ड एकनाथ पदवी को प्राप्त हो जाता है यह तो ब्रह्मा विष्णु आदि देवों का भी अधीश्वर हो जाता है, और नाना रूपों से वर्तमान रहता है। ब्रह्मा आदि सब देवता उसकी पूजा करते हैं।

योगारूढ़ योगी अनेक प्रकार के भोगों को भोगता हुआ

भी उनसे लिप्त नहीं होता। योग के बिना जो भोगभोगता है वह रोगी हो जाता है। जो योगपूर्वक भोग करता है वह यद्यपि संसारीसा दिखाई देता है पर संसारी के समान बन्धन में नहीं पडता।

मू०—ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति तदाम याकथ्यतं तेषां कथनं मया न निवार्यते तदेवं कुर्वन्तु नाम परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्तु पठनपाठनात्तरं पठनपाठनदोषानिवृत्यर्थामिष्टस्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापिदोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यतीति पुनर्यस्स्वामिनं भजेत् मस्वतंत्रोभवेत् यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद्ददाति मंत्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति। अयं देहः कर्मरचितः कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणानां सन्ति। गुणाश्च मायाया एवं च यदि अनेन प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाभिमता, तदभिमाने च तत्रैव समये महातत्त्वात्पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव स च बाधक एव।

तस्मात्प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म। येदा-

तैर्लिप्यते । योगं विना भोगो रोग एव स्यात् । भोग्यपि योगी संसारीव दृश्यते न तु संसारी न च बन्धनं प्राप्नोति ।

इसका उत्तर यह है कि हे पुरुषो ? जो गुरुहीन होते हैं उन्हें अवश्य ही बड़ा भारी कष्ट होता है । यदि पूर्वोक्त प्रकार का गुरु मिल जाय तो यह महान कष्ट कुछ भी नहीं रहता । जैसे बहुत भारी शिला को यदि बिना ढालू और बिना गोल लकड़ियों की सहायता से उठाया जाय तो सहस्रों पुरुषों को भी बड़ा भारी कष्ट होगा और वही शिला किसी बुद्धिमान् पुरुष की बताई विधि के अनुसार ढालू आदि की सहायता से सहज में ही उठाई जा सकती है, इसी प्रकार गुरुदेव की बताई युक्तियों से थोड़े से ही कष्ट से बड़ी भारी सिद्धि प्राप्त हो जाती है । और यदि महान् कष्ट होना भी मान लिया जाय तो भी कष्ट के बाद तो अवश्य ही बड़ा भारी आनन्द प्राप्त होजाता है जो गुरु की कृपा से अखण्ड परनाथ पदवी को प्राप्त हो जाता है वह तो ब्रह्मा विष्णु आदि देवों का भी अधीश्वर हो जाता है और नाना रूपों से वर्तमान रहता है । ब्रह्मा आदि सब देवता उसकी पूजा करते हैं ।

योगारूढ योगी अनेक प्रकार के भोगों को भोगता हुआ

भी उनसे लिप्त नहीं होता। योग के बिना जो भोगभोगता है वह रोगी हो जाता है। जो योगपूर्वक भोग करता है वह यद्यपि संसारी सा दिखाई देता है पर संसार के समान बन्धन में नहीं पड़ता।

मू०—ननु केचिच्छास्त्रिणः कर्माद्युपासनं साधनं कथयन्ति तदा मया कथ्यते तेषां कथनं मया न निवार्यते तदेव कुर्वन्तु नाम परन्तु तत्करणे फलं किमिति। कथं कर्मणामवधिर्मीमांसकास्तु पठनपाठनात्तरं पठनपाठनदोषान्निवृत्त्य यथा मिष्टस्मरणं कुर्वन्ति। यस्य शास्त्रस्य पठने पाठने चापि दोषस्तस्य सेवनेन किं भविष्यतीति पुनर्यस्य स्वामिनं भजेत् स स्वतन्त्रो भवेत् यश्च प्रसन्नः स्वयमेव यदिच्छति तद्ददाति मंत्रिभ्यः। अन्यस्य तु पुरुषस्य न कस्याप्यपेक्षां करोति। अयं देहः कर्मरचितः कर्माणि च सर्वाणि त्रिगुणानां सन्ति। गुणाश्च मायाः एवं च यदि अनेन प्राणिना प्रारब्धं कर्माभिमतं तदा मायाभिमता, तदभिमाने च तत्रैव समये ब्रह्मतत्त्वात् पृथग्भूतः। ततश्च पूर्वं पश्चादपि गुणलेशो विद्यत एव स च बाधक एव।

तस्मात् प्रारब्धकर्मनिर्मूलकरणमवधूतानामेव कर्म। यदा-

र्त्तीचित्तशुद्ध्यर्थं कर्माभिमत्य तदनन्तरं ज्ञानं साधनमित्युपादिश ति। यतःसोपि सापेक्षएव। मीमांसकोमंत्रीविराजमापेक्षो वेदान्तिराजवन्मंत्रिसापेक्षः, परन्तु सापेक्षतोभयोरेवास्ति। कस्याप्यपेक्षामकुर्वन् योग आवश्यकः सर्वेषांकर्तव्यो यःस सर्वदास्वतन्त्रोऽस्ति। मीमांसको द्वैतमभिमन्यतेवेदान्तीत्व द्वैतमभिमन्यते। तदुपरिवयंवदामः। एतदुभयमपि प्रकृति विकारः प्रकृतिविकारश्चसर्वदाचंचलोनास्तिकदापि स्थिरः। ब्रह्मतु सर्वदास्थिरमेवास्ति।

तत्रद्वैतवादिनोनिश्चलंनास्तीतिवदन्ति। तथैवाऽद्वैतमभिन्यता निश्चलं नास्तीतिकथं। यदिब्रह्माद्वैतमस्ति तर्हि द्वैतं कुत आगतं तदा मायाकल्पितमितिवदेयुस्तर्हितान्वदन्तोवयमेवा चोऽक्रियाश्च कर्म तत् किमितिचेदुच्यते। अद्वैतंतुनिष्क्रियाऽ दित्याग्यस्ति। यतः कस्यापिवस्तुनोभोगोपि युष्माभिर्नकर्त- व्य इत्याद्यनेकविधिभिरद्वैत खण्डनं करिष्यामः। महासिद्धै रुक्तं यद्द्वैताऽद्वैताविवर्जितंपदं निश्चलंदृश्यते तदेवमत्यामि- त्यभ्युपगमिष्यामः।

के लिये स्वतन्त्रता से करने योग्य है। मीमांसक द्वैत को मानता है परन्तु वेदान्ती अद्वैत को। इस पर हम कहते हैं, ये दोनों ही प्रकृति के विकार हैं प्रकृति के विकार सदा चञ्चल होते हैं कभी स्थिर नहीं होते। परन्तु ब्रह्म सदा स्थिर है। यहां द्वैत वादी निश्चल नहीं है यह कहते हैं। इसी तरह अद्वैत मानने वालों के मत में निश्चल नहीं है। यह कैसे कहा जा सकता है, यदि ब्रह्म अद्वैत है तो द्वैत कहां से आया यदि ये कहें कि द्वैत माया कल्पित है तो हम उन के वाणी और कर्म से रहित कहते हुए कहेंगे कि तुम कर्म किसे कहते हो? क्योंकि अद्वैत तो निष्क्रियादि त्यागी है, इस लिये तुम्हें किसी वस्तु का भी भोग नहीं करना चाहिये, इस प्रकार अनेक प्रकार से अद्वैत का खंडन करेंगे। महा सिद्धों ने कहा है कि द्वैत अद्वैत से विवर्जित जो निश्चल पद शास्त्रों में दिखाई देता है, वही सत्य है यह स्वीकार करेंगे।

मू०—तत्तु उग्रभैरवनामैककापालिकरूपतः श्री भैरवेण शङ्कराचार्याद्युपरिकृतम्। कथं, चतुर्भिः शिष्यैः संयुक्तः शङ्कराचार्यो नदीतीरे स्थितस्तस्मिन्स्थले कापालिकः समुपागत्योक्तवान्। भो ? त्वं तु संन्यासी भिक्षारि

पक्षेतुल्यः सुखदुःखादिद्वन्द्वपदार्थरहितोऽसि । अस्माकं चायमभिप्रायो वर्तते तवशिरउच्छिद्यपश्चात् श्रीभैरवार्पणं करिष्यामि तदाममप्रतिज्ञा पुर्णा भविष्यति । यतोभवान् शिरोददास्विति। तदा शंकराचार्येणालोचतं नैवंकरिष्यते तदात्वद्वैत हानिः शत्रु मित्र पक्षे तुल्यत्वं न स्यात्, कृते च पराजयो भवेदेतदुद्भयविचारेऽपि पराजयएवेतिमत्वा न किमपितेनोक्तं शैथि ल्यंजातं तदा पद्मपादाचार्येण नृसिंह स्मरणं कृत मुग्र भैरवोपरि नृसिंहेण प्रहारः कृतो यस्तु महा सिद्धस्तच्छरीरं त्यक्त्वा द्वश्यमेव च शरीरं गृहीत्वा सम्मुखे मास्थितो भूत्वा प्रसन्न वदनो मेघगम्भीर गिरयोवाच—भो? अद्वैतपराजय इति । शत्रुमित्रपक्षे यद्वदस्तत्कुत्रगतम्, मदीयंतु यथा मल्लो नियुद्धेस्वयमेवानिपत्याऽन्यस्यपातनं करोति तथा स्वशरीरं त्यक्त्वा परसिद्धान्तहानिः कृतैवेति चारितम्. पुनः साम्प्रातं त्वदीय हानिः, अतः परमपि क्रियते उत्तिष्ठोत्तिष्ठ युद्धं कुर्वित्याह । तदा प्रारब्धकर्माचरणं वर्तते न्यासिनांमते यतः क्रियाकरणमिति सिद्धान्तो नास्ती तिकृत्वायुद्धेऽशक्तो जातः। कापालिकोपदेशेनाक्रियैवस्वासि द्धान्तेऽद्वैतस्थितिवत् स्थितः, तदा कापालिकेन योगमाया

निर्मिता तया चचतुःशिष्यसंयुक्तस्याऽऽचार्यस्य मस्तकं छिन्नं पश्चाच्च स संजीवितः कृतस्तर्हि विरागोजातः। पश्चिमायां दिशिगतः शक्तिस्मरणं कृतवान् पूर्ववार्त्ता। शङ्कराचार्यस्योत्पत्तिर्दाक्षिणस्यां दिशि। तत्रतु कर्म मेवनमेवकृतं विष्णुपासनादि। यदा चित्तशान्तिर्नजाता तदा पृथिवीप्रदक्षिण करणार्थं प्रयाणंकृतम्। पूर्वस्यां च दिशायामागत्य तत्र तु वैद्यनाथाख्यस्थलंगत्वा पूजांचकार, तदेश्वरेणनाङ्गीकृता-पूजा। किमर्थंत्वयाविष्णुभक्तिरेव कृता अहंतु साक्षादीश्वरः सतु विस्मृतइति। तदा शङ्करेणाऽपराधक्षमानामकंस्तोत्रंकृतं, पुनरपिशिवभक्तिर्विशेषेण कृता तथापिचित्तशान्तिर्नजाता। पश्चाच्च पश्चिमां दिशंगतस्तत्र शक्तिराहितोजातः। शक्तेर्वृत्तान्तोदयः।

तदा च शक्त्योक्तं शिवएव सर्वंकरिष्यतीति। तेनभया कुलोजातः सौन्दर्यलहरीनामकं स्तोत्रंकृत्वा शाक्तोजातस्तथापि पूर्णशान्तिर्नजाता। ततउत्तरांदिशंगतः। सातुमहासिद्ध समुदायेनसर्वापिदिग्व्याप्ता। यत्र गतस्तत्रसर्वैरुपहासः कृतः। तत्र श्रीतारानाथेनोक्तं तीर्थाटनमेवकरिष्यतेवा किम

ष्यात्मसाधनमपिकरिष्यतेतदाशङ्करेणोक्तं भवद्भिर्यत्कथ्यते तन्मयाक्रियते। तदा महासिद्धेन योगोपदेशः कृतः। तेन सर्ववाधानिवृत्तात्मा च प्रसन्नो जातस्तदा वज्रसूचिकोपानिषत् कृता। सातुसर्वापिनाथमार्गानुसारिण्येव। तत्रश्रीसिद्धसिद्धान्तपद्धतिप्रमाणंदत्तम्—

'वेदान्ती बहुतर्ककर्कशमतिरित्यादि तस्मात् सिद्धमतं स्वभावसमयंधीरः परं संश्रयेदित्यन्तादीनि पद्यानि इति।

भा०—उसी द्वैता द्वैत वर्जित निश्चल पद का उग्र भैरव नामक एक कापालिक के रूप में श्री भैरव ने श्री शंकराचार्य के ऊपर प्रश्न किया था उसका नीचे वर्णन करते हैं

चार शिष्यों के साथ एक समय शंकराचार्य एक नदी के तीर पर बैठे थे वहां एक कापालिक ने आ कर कहा कि हे शंकराचार्य ? आप तो संन्यासी हो शत्रु मित्र पक्ष में एक समान और सुख दुःखादि द्वन्द्व पदार्थों से रहित हो। हमारा अभिप्राय यह है कि तुम्हारा सिर काट कर श्री भैरव की भेंट करें तब मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो। इसलिये आप अपना शिर दे दें। तब शङ्कराचार्य ने सोचा यदि कापालिक का वचन नहीं किया गया तो अद्वैत सिद्धान्त की हानि होगी और शत्रु मित्र पक्ष में समानता न होगी।

और यदि इन का यत्न किया गया तो पराजय होगी ये दोनों बातें विचार कर उन्होंने पराजय को ही अच्छा समझ कर कुछ न कहा इस मौनता से शंकराचार्य के मत में शिथिलता आगई। तब पद्मपादाचार्य ने नृसिंह का स्मरण किया नृसिंह ने प्रगट हो उस भैरव के ऊपर प्रहार किया परन्तु वह महासिद्ध था उस शरीर को छोड़ कर दूसरे दृव्य शरीर को धारण कर प्रसन्न मुख हो सामने आकर मेघ के समान गम्भीर वाणी से कहा हे शङ्कराचार्य ? अद्वैत का पराजय होगया, तुम अपने आपको शत्रु मित्र पक्ष में समान कहते थे यह बात कहां गई, मैंने तो जैसे पहलवान नियुद्धनाम के दाव में अपने को गिरा कर दूसरे को गिराता है उसी प्रकार अपने शरीर के मूल्य पर तुम्हारे सिद्धान्त की हानि की है। इस लिये मेरा कार्य उचित है। तुम्हारी हानि तो मैं आगे भी करूंगा, अतः उठो और युद्ध करो। तब शंकराचार्य ने यह मान कर कि प्रारब्ध कर्मों का आवरण हम पर है वास्तव में क्रिया करना सन्यासियों का सिद्धान्त नहीं है युद्ध में असमर्थता प्रकट की। अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार कापालिक के कहने पर भी क्रिया न करना हमारा सिद्धान्त है। यह जब उसने स्थिर किया तब कापालिक ने योग माया उत्पन्न की, उसने चारों शिष्यों के सहित

आचार्य का मस्तक काट लिया, और फिर उसको जीवित कर दिया। तब शङ्कराचार्य को वैराग्य उत्पन्न हो गया, फिर पश्चिम दिशा में जाकर शक्ति का स्मरण किया, (यह पहली बात है) शंकराचार्य की उत्पत्ति दक्षिण में हुई थी वहां उन्होंने विष्णु पूजा आदि कर्म ही किये, परन्तु जब उससे चित्त को शान्ति न मिली तब पृथिवी प्रदक्षिणा के लिये यात्रा की और पूर्व दिशा में आकर वहां वैद्यनाथ नामक स्थान पर पूजा की वह पूजा ईश्वर ने स्वीकृत नहीं की। उन्हों ने कहा कि तुमने विष्णु की भक्ति की है, मैं जो साक्षात् ईश्वर हूँ तुमने मुझे क्यों भुला दिया तब शंकर ने अपराध क्षमापन नामक स्तोत्र बनाया और फिर विशेष रूप से शिव भक्ति की परन्तु फिर भी चित्त में शान्ति नहीं हुई, फिर पश्चिम दिशा में गया, वहां शक्ति रहित हो गया। फिर शक्ति का वृत्तान्त देखा तब शक्ति ने कहा कि शिव ही सब कुछ करेगा, फिर शक्ति से भयभीत होकर सौन्दर्य लहरी नामक स्तोत्र रचा और शाक्त बन गया। तब भी पूर्ण शान्ति नहीं हुई। फिर उत्तर दिशा को गया। वहां जाकर देखा तो वह दिशा महासिद्धों से भरपूर थी जहां गया वहीं सिद्धों ने उसका उपहास किया। वहां श्री तारानाथ ने कहा-तीर्थाटन ही करते रहोगे, या कुछ आत्मा साधन भी करोगे। तब शंकर ने कहा कि जो आप कहेंगे

वही करूंगा । तब महासिद्ध ने योग का उपदेश किया, उस उपदेश से शंकर का आत्मा सब बाधाओं से निवृत्त और प्रसन्न हो गया । तब उन्हों ने वज्र सूचिकोपनिषद् का निर्माण किया, वह उपनिषद् सर्वथा नाथमत के अनुसार है, वहां उन्होंने 'वेदान्ती बहुतर्क कर्कशमतिः' इत्यादि सिद्ध सिद्धान्त पद्धति का प्रमाण दिया ।

मू०—यथामंडन मिश्रः सुरेश्वराचार्यो जातस्तथाऽयमपि सिद्धोभूत्वा सिद्धान्तबिन्दुप्रभृतिग्रन्थांश्चकार । सिद्धान्तस्तु सिद्धस्य तात्पर्यार्थएव नतुवादिप्रतिवादिभिर्निर्णीतोऽर्थः सिद्धान्तः । एतन्मध्ये—'नचैकंतदन्यदाद्वितीयं कुतःस्यात्, तत्तद्वैताद्वैत विलक्षणत्वेनैवसिद्धान्तो जातः । न्यासिनान्त्वद्वैतमेवभवतीत्यपारीतिर्ज्ञेया । अन्यैःसिद्धान्तः कथ्यते । तेषां मुख्येसिद्धान्तशब्दप्रवृत्तिर्महासिद्धानांमुदागतोऽन्यमुखे सिद्धान्तःकेवलं रूढित एव । सिद्धानां मते रूढियौगिकं द्वयमपि वर्तते । तर्हि सिद्धान्तःसिद्धस्यैव तात्पर्यम् । एतत्कारणात् सिद्धस्यैव सिद्धान्तोनत्वन्यस्य । अतएव शंकरेण सिद्धान्तबिन्दुः कृतः । प्रथमं तु दक्षिणदेशे कर्मसेवने विष्णू

पासना कृता पश्चात्पूर्वदेशे शिवदर्शने संन्यासो गृहीतः। पश्चिमे च शक्तिदर्शने शाक्तो जातः। तत्र तद्विषयकं प्रपंच सारादि ग्रन्थंकृतवान्।

पश्चादुत्तर देशे सिद्धोपदेशेनाऽवधूताऽवस्थागृहीता। तेनमर्वश्रेयो जातमिति।

भा०—जैसे मण्डन मिश्र ने सुरेश्वराचार्य होकर बहुत से ग्रंथ बनाए उसी तरह इन्होंने भी सिद्ध होकर सिद्धान्त विन्दुइत्यादि ग्रंथों का निर्माण किया। वहां सिद्धान्त शब्द सिद्धों के तात्पर्य का बोधक है न कि वादी प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ का उस सिद्धान्त विन्दु में लिखा है कि एक नहीं है तो उसके अतिरिक्त दूसरा कहां से हो सकता है यह सिद्धान्त तो द्वैताद्वैत से विलक्षण ढंग का माना गया है। और सन्यासियों के मत में तो अद्वैत ही सिद्धान्त है। यह रीति जाननी चाहिये।

उन योगियों के मत से मुख्य विषय में जो उन्हें आनन्द से प्राप्त हुआ है सिद्धान्त शब्द की प्रवृत्ति होती है, अन्य लोगों के मत में तो सिद्धान्त की प्रवृत्ति सार्थक नहीं। किन्तु रूढ़ि से है। और सिद्धों के मत में सिद्धान्त रूढ़ि और यौगिक

दोनों प्रकार का है । इसलिए ये सिद्धि के तात्पर्य को ही सिद्धान्त कहते हैं । अन्य किसी के तात्पर्य को नहीं, इसी से शङ्कराचार्य ने सिद्धान्त विन्दु की रचना की है, पहले दक्षिण में उन्होंने कर्मों का सेवन और विष्णु की उपासना की फिर पूर्व देश में शिव जी का दर्शन करके सन्यास ग्रहण किया, पश्चिम में शक्ति का दर्शन करके शाक्त हुए, वहां उन्होंने शाक्त सिद्धान्त क प्रपञ्चसार नामक ग्रन्थ बनाया, फिर उत्तराखण्ड में सिद्धों के उपदेश मे अवधूताचर्या प्राप्त की । उसी से उनको समस्त कल्याणों की प्राप्ति हुई ।

मू० —ननुकापालिकप्रसंगकथनादेतेषां कापालिक मतमिति कैश्चिज्ज्ञायतइति, तत्तुनास्त्येव, अस्माकं मतन्त्व वधूतमेव । परन्तु कापालिकमपि मतं नाथैनैव प्रकटीकृतम् । एतन्मार्गस्य प्रकटकर्ता नाथएव ।

तदुक्तंशावरतन्त्रे—

आदिनाथो ह्यनादिश्चकालश्चैवातिकालकः ।
करालो विकरालश्च महाकालश्च सप्तमः ॥
काल भैरवनाथश्च वटुकस्तदनन्तरम् ।

भूतनाथोवीर नाथः श्रीकंठो द्वादशोमतः ॥

एते कापालिकाः प्रोक्ता वीरतुम्बीमहाफलैः ।

गुरूणां सूर्यसंख्याचतानिहवच्मिसंश्रृणु ॥

नागार्जुनो जड़भरतो हरिश्चन्द्रस्तृतीयकः ।

सत्यनाथो भीमनाथो गोरक्षश्चपर्टस्तथा ॥

अवद्यश्चैव वैराग्यः कन्थाधारी जलन्धरः ।

मार्गप्रवर्तका ह्येतेतद्वच्चमलयार्जुनः ॥

भा०—यहां यह शंका होसकती है कि यहां कापालिकों का बहुत कथन किया गया है, इससे जान पड़ता है कि योगियों का कापालिक मत है, परन्तु ऐसा कदापि नही हो सकता। हमारा मत तो अवधूत ही है। हां कापालिक मत को प्रकट नाथ जी ने ही किया है। जैसा कि शावर तंत्र में वर्णन किया है आदिनाथ तथा अनादिनाथ,काल, अतिकालक,कराल,विकराल, और सातवां महाकाल, काल भैरव, नाथ, और इसके बाद बटुक, भूतनाथ, वीरनाथ, और बारहवां श्रीकंठ, ये वीर तुम्बी महाफलों करके कापालिक कहे गये हैं। गुरुओं की संख्या भी बारह ही है। उन्हें भी कहता हूं सुनो नागार्जुन, जड़भरत, तीसरा हरिश्चन्द्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरक्ष

और चर्पट, अवद्य, वैराग्य, कंथा धारी, जलंधर मलयार्जुन ये सब मार्गप्रवर्तक हैं।

मू०—पुनः शैवः शाक्तोपि मार्गस्तन्त्राऽनुसारी। तस्याप्युपदेष्टानाथ एव। नाथैर्नवराचितानि तंत्राणि। तदुक्तं षोडशनित्या तन्त्रे—

कादि संज्ञाभेद रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तंत्रे मदुक्तं भुवने नवनाथैरकल्पयत्॥
तया तै भुवनेतंत्र कल्पेकल्पे विजृम्भते।
अवसानेतु कल्पानां सा तैः सार्धं व्रजेच्च माम्॥
नामपर्यायतो व्यासं कालायासमिति द्वयम्।
प्रसिद्धं याद्दतो यच्च त्रीणिनामानिसाधके॥
नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरु रूपिणे।
विद्याऽवतार संसिद्ध्य स्वीकृताऽनेकविग्रह?॥
नवाय नवरूपाय परमार्थैकरूपिणे।
सर्वज्ञान तमोभेदभानवे चिद्घनायते॥
स्वतंत्राय दयाशक्तिविग्रहाय रसात्मने।
परतंत्रायसक्तानां भव्याय भव्यरूपिणे॥

पुनःयोगस्तु कस्यापि सापेक्षोनास्ति। परन्तु तांत्रिकाणामयमेव सिद्धान्तो वर्तते यत्रोत्तरावस्थाऽवधूतएव।

भा० टी०—शैव और, शाक्त मार्ग भी तंत्रानुसारी हैं। उन मार्गों का उपदेश करने वाला भी नाथ ही है। तंत्र ग्रन्थ भी नाथ जी ने ही रचे हैं। जैसा कि षोडश नित्या तन्त्र में कहा है। कादि संज्ञा रूपा शानी है। वही शक्ति सब सिद्धियों की प्राप्ति के लिये होती है मेरे कहे हुए तन्त्र को नवनाथों द्वारा उस शक्ति ने प्रकाशित किया उसी शक्ति से नवनाथों द्वारा प्रत्येक कल्प में तंत्र प्रकाशित होता है। और कल्पान्त में वह शक्ति उन्हीं के साथ मुझे प्राप्त होती है। समानार्थ नामों से व्याप्त और काल से प्राप्त, दो ये और बाहर से प्रसिद्ध ये तीन नाम साधक में हैं। हे भगवन् नाथ आप शिव रूप हैं और गुरु रूप हैं।

आपको नमस्कार है, विद्या के प्रकाश को सिद्धि के लिये आपने नाना प्रकार के रूपों को धारण किया है। आप नव हैं नवरूप हैं परन्तु वास्तव में आपका रूप एक ही है। समस्त अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले चिद् रूप आपके लिये नमस्कार है।

आप स्वतंत्र दयाशक्ति रूप और रसात्मा हैं। आप अपने भक्तों के आधीन हैं, और परममनोहररूप धारी हैं योगतो किसी की अपेक्षा नहीं रखता। तान्त्रिकों का यह सिद्धान्त है

मू०—कापालिको मार्गः किमर्थंप्रकटीकृत इत्यपेक्षायामाह। विष्णोश्चतुर्विंशति संख्यका अवतारास्तेचकार्यान्तेमदोन्मत्ताजाताः। कथम्? यथाऽन्ये तिर्यग् योनयो जन्तवः क्रीडाः कुर्वन्ति तथा वराहो नृसिंहश्चेत्यादयो भूदारणजन्यभय दानादिकरणे प्रवृत्ताः। पुरग्रामा दिताड़नं केषांचित् समुद्रपातोऽपि। तत्रापि कृष्णेन व्यभिचारिभावो विशेषेणधृतः। परशुरामेणैकक्षत्रिय दोषेऽनेकेषां क्षत्रियाणां नाशः कृतः, इत्यादि विरुद्धाचारोपरिनाथेन कोपं कृत्वा चतुर्विंशत्यवतारोपरि चतुर्विंशति कापालिकरूपाणिधृत्वा चतुर्विंशत्यवतारैः सह समरं कृतम्। तत्र सर्वेषामवताराणां कपालानिछिन्नानि कृतानि, स्वकरैस्तानि धृतानि तेन कापालिका जाताः। पुनस्तेसर्वे कपालच्छेदान्मदहीना जाताः, तदा वरं दत्त्वा कपालानि तच्छरीरे धृतानि तेनजीविताबभूवुरिति।

भा०—अब आगे कापालिक मार्ग क्यों प्रकट किया इसका उत्तर देते हैं—विष्णु के चौबीस अवतार हुए वे अपने २ कार्य के अन्त में मदोन्मत्त हो गए। कैसे? जैसे अन्य जीव जन्तु क्रीड़ा करते हैं वैसे ही वराह नृसिंह आदि ने पृथिवी

फाड़ना, जंगली जीवों को भयभीत करना, इत्यादि कार्यों में संलग्न हो गए। नगर और ग्रामों को पीड़ित करते थे, बहुतों को समुद्र में भी गिरा देते थे। कृष्ण ने तो बहुत ही व्यभिचार फैलाया, तथा परशुराम ने एक क्षत्रिय के दोष से सभी क्षत्रियों को नष्ट करना आरम्भ कर दिया, इन विरुद्ध आचरणों से श्रीनाथ जी ने क्रुद्ध होकर २४ अवतारों पर चौबीस कापालिक रूप धारण करके उनके साथ युद्ध किया और उनके सिर काट कर हाथ में लिये इसीलिए कापालिक कहाए। फिर वे सब सिर कट जाने से मदहीन होगए तब फिर उन्हीं के कपाल उनके ऊपर धर कर उन्हें जीवित कर दिया।

मू०—कानिचिच्छास्त्राणिमोक्षरक्षकाणि कानिचिद्व्यवहाररक्षकाणि। तत्रमोक्षरक्षकाणियोगशास्त्राणिव्यवहाररक्षकाणिश्रुतिस्मृत्यादीनि। मुमुक्षवः पुरुषाः कोटीनांमध्येद्वित्राएवभवन्ति, व्यवहारिणस्तुकोटिकोटिरेव। अतः कारणाद्व्यवहारार्थविधिवाक्यशास्त्राणि बहूनिसन्ति। कथं? व्यवहारिणांबाहुल्यात्। योगशास्त्रंतुस्वल्पम्। कथं? मुमुक्षुपुरुषाणामल्पत्वात्। वेदादिशास्त्राणामपि योगो वर्ततएव। सर्वेषां च तात्पर्ययोगएवास्ति परन्त्वेतद्रीत्या,

१. यहांपरशिरछेदनमेंतात्पर्य नहीं किन्तु हास्य रस है।

यथा समुद्रे रत्नानिशंखाः पाषाणखण्डानिजलंजलजन्तव-श्चेत्याद्यनेकवस्तूनि सन्ति । तथा वेदादिशास्त्रेऽपियोगा-दीनिसन्ति । समुद्रेचेतरवस्तुसुलभंरत्नन्तु श्रमेणलभ्यते । एवंवेदादिशास्त्रेऽव्यवहारादिसुलभम् , योगस्तुभूरिश्रमेण लभ्यते । योगशास्त्रेतुयोग एव लभ्यते नान्यदस्ति किञ्चि-दसारं यथारत्नखनौरत्नमेवेति । सच योगोगुरुकृपयाल्पश्र-मेणैवप्राप्तोभवेत् । अतोऽन्यत्सर्वंपरित्यज्ययोगएवसेवनीय इति ।

भा०—कुछ शास्त्रमात्र रक्षक और कुछ व्यवहार रक्षक हैं, उनमें योग शास्त्र मात्र रक्षक हैं, और श्रुतिस्मृति आदि व्यवहार रक्षक हैं। मुमुक्षु पुरुष करोडों में दो तीन ही होते हैं परन्तु व्यवहार रक्षक सभी होते हैं अत: व्यवहार रक्षा के लिये विधि वाक्य शास्त्र बहुत से हैं, क्योंकि संसार में व्यवहारी लोग ही अधिक हैं। योग शास्त्र अत्यन्त सूक्ष्म है, क्योंकि मुमुक्षु पुरुष तो होते ही बहुत थोड़े हैं। वेदादि शास्त्रों में भी योग है अवश्य, क्योंकि अन्त में सब का तात्पर्य योग में ही है। परन्तु रीति में भेद है, जैसे समुद्र में रत्न शंख पत्थरों के टुकडे जल और जल जन्तु इत्यादि बहुत सी वस्तुएं होती हैं। इसी

प्रकार वेदादि शास्त्रों में भी योग आदि सभी वस्तुएं हैं, समुद्र में और चीजें सुगमता से मिल जाती हैं, परन्तु रत्न कठिनता से मिलते हैं, ऐसे ही वेदादि शास्त्रों में भी व्यवहार आदि सुगमता से प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु योग बड़े परिश्रम से प्राप्त होता है, योग शास्त्र में तो रत्नों की खान में रत्नों के समान योग ही योग है, अन्य असार वस्तुएं नहीं हैं। वह योग गुरुकी कृपा हो जाय तो थोड़े ही परिश्रम से प्राप्त हो जाता है। इसलिये सब कुछ छोड़ कर योग का ही सेवन करना चाहिये।

मू०—पृथ्वीकर्त्रीमहादेवी नाथाः शास्त्रस्यबंधका।
ब्रह्मतत्त्वविदित्याद्याः शरभाद्यास्तुरचकाः॥

ननुश्लोकेतुपृथ्वीकर्त्रीत्युक्तंभवद्भिस्तुनाथः कर्तेत्युच्यतेतत्कथमितिचेदुच्यते। नाथाः शास्त्रस्यबंधकाइत्यनेन शास्त्रप्रबन्धकत्वंतूक्तमेव, पुनः कर्तृत्वंतुपृथिव्या अपि नाथ स्वरूपत्वेनैव, चतुरशीतिसिद्धगणनायामादिकुमारीनामकसिद्धत्वेनोक्तत्वात्। सिद्धाश्चरूपत्वेनाऽप्रसिद्धाएवेतितथैव यत्साधनं कर्तव्यं यत्नेनैव साधनेनसिद्धिर्भवेदित्येवंतुयोगएवपरंसाधनमित्याशयेनोक्तं—

योगमार्गात्परोमार्गोनास्तिनास्तिश्रुतौस्मृतावपि।

तद्यन्तश्च श्रेष्ठा उक्ता इति सर्वत्रलभ्यते । एवं चयोगिन श्रेष्ठास्तेषांश्रैष्ठ्यंगम्यत्वेनाप्याह पद्मपुराणे

मर्यादांस्थापयामास यथास्थानं यथागुणं ।
वर्णानामाश्रमाणांच धर्मांधर्मभृतांवर ॥
लोकाश्च सर्ववर्णानांसम्यग्धर्मानुपालिनाम् ।
प्राजापत्यंब्राह्मणानांस्मृतंस्थानंतुपार्थिव ॥
स्था.नमैन्द्रंक्षत्रियाणांयतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
स्मृतंतेषान्तुयत्स्थानंतदेवगुरुवासिनाम् ॥
सप्तर्षीणाञ्चयत्स्थानं स्मृतंतद्वैवनौकसाम् ।
प्राजापत्यंगृहस्थानांन्यासिनां ब्रह्मसंज्ञितम् ॥
योगिनाममृतंस्थानं ब्रह्मणः परमंपदम् ।
एकान्तिनः सदोद्युक्ताध्यायिनोयोगिनोहिये ॥
तेषांतत्परमस्थानं यत्रपश्यन्तिसूरयः ।
गत्वागत्वानिवर्तन्तेचन्द्रादित्यादयो ग्रहा ॥
अद्यापिननिवर्तन्तेप्राणायाम परायणाः ।

गीतायांच—

वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥

भा०—महादेवी पृथिवी कर्त्री है, नाथ शास्त्रके निर्मापक हैं। मत्स्येन्द्र अरविन्द और शरभ आदि सिद्ध रक्षक हैं। यहां शंका होती है कि श्लोक में पृथिवी को कर्त्री बतलाया है आप लोग नाथ को कर्ता कहते हैं यह कैसे हो सकता है उत्तर नाथ शास्त्र के बन्धक हैं, इस से नाथों को शास्त्र का प्रबन्धक तो कहा ही है। पृथिवी का कर्तृत्व भी नाथ रूप से ही है। क्योंकि चौरासी सिद्धों की गणना में आदि कुमारी नाम से पृथिवी को भी एक सिद्ध कहा गया है। सिद्ध तो असली रूप में अप्रसिद्ध ही है उसी प्रकार जो साधन करना हो यत्न से ही उसकी सिद्धि होती है, इससे यह सिद्ध होगया कि योग ही सब से बढ़कर साधन है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि योग के समान साधन श्रुति स्मृति में नहीं है। उस योग के धारण करने वाले श्रेष्ठ हैं यह सब जगह देखा जाता है, इस प्रकार योगी श्रेष्ठ हैं, उनकी श्रेष्ठता गम्य रूप से भी कही गई है। जैसा कि पद्म पुराण में कहा है, हे धर्माधर्मधारियों में श्रेष्ठ ? स्थान और गुणके अनुसार वर्णों और आश्रमों की मर्यादा को स्थापित किया, धर्म के पालन करने वाले वर्णाश्रमों का स्थान

लोक है, और हे राजन् ? ब्राह्मणों का स्थान प्राजापत्य है। क्षत्रियों का स्थान ऐन्द्र है, और ऊर्ध्वरेता संन्यासियों का जो स्थान कहा गया है वही गुरु की सेवा करने वालों का स्थान बताया है, जो सप्तऋषियों का स्थान कहा है वही वनवासियों का है, गृहस्थियों का प्राजापत्यस्थान है और संन्यासियों का ब्रह्मनामक स्थान है। जो ब्रह्म का अमृत पद है वह योगियों का स्थान है। सदा उद्योगी और एकान्तवासी जो योगी हैं उनका वह स्थान है जिसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही देखते हैं। चन्द्र सूर्य आदि ग्रह नष्ट हो होकर बार २ उत्पन्न होते हैं परन्तु प्राणायाम में तत्पर योगी लोग फिर नहीं लौटते। गीता में भी कहा है वेदों यज्ञों तपों और दानों में जो पुण्यफल कहा है उस पुण्य फल को तत्त्व वेत्ता योगी पार कर जाता है उस फल से भी आगे बढ़ जाता है। और मुख्य स्थान को प्राप्त हो जाता है।

मू०—एवंसर्वनमस्कार्थमेतन्मतमिति।

तत्रयूयंकेऽपियदेतभयन्मतेश्रुतिः साधिकानास्तीतितेपामज्ञा-
त्वामतरहस्यमेवंवदतांयुष्माकंतात्पर्यमस्माभिर्विदितप्रायमेवेति।
तदेवमस्ति। एवंप्रलोचमाना अपिकदाचिच्छ्रुत्याश्रयत्वमङ्गीकुर्वे-
न्तुनामैते। तन्नकरिष्यते। किन्त्वेतत्साक्षादनिर्वचनीयंतत् सत्य-
स्वरूपंतत्त्वंयस्याऽऽश्रयत्वंसर्वस्यविदितमेवोतत स्यैव प्रवृत्तिशाखा-

अयत्वेकेन प्रकारेणाङ्गीक्रियते । यदस्माकमत्रश्रुत्याश्रयाणाङ्गीकरणंराज्ञामिवमंत्र्याश्रयणाङ्गीकरणंभवति । तथाचोक्तंमहाभारते मोक्षधर्मे—

ऋचोयजूंपिसामानिशरीराणिव्यपाश्रिताः ।
जिह्वाग्रेषु प्रवर्तन्तेयत्नसाध्याविनाशिनः ॥
नचैवमिष्यतेब्रह्मशरीराश्रयसंभवम् ।
नयत्नसाध्यंतद्ब्रह्मनादिमध्यंनचान्तवित् ॥
ऋचामादिस्तथा साम्नांयजुषामादिरुच्यते ।
अन्तश्चादिमतांदृष्टोनत्वादिर्ब्रह्मणः स्मृतः ॥
अनादित्वादनन्त्वात्तदनन्तमथाऽव्ययम् ।
अव्ययत्त्वाचनिर्दुःखं द्वन्द्वाभावस्ततः परम् ॥
अन्यच, अग्निर्यथाह्युपायेनमथित्वादारुदृश्यते ।
तथैवात्माशरीरस्थोयोगेनैवात्रदृश्यते ॥

पुनः—

आदिज्ञानीभवेद्ब्रह्मायुगादिज्ञानियोगिनः ।

गीतायाम्—

यामिमां पुष्पितांवाचंप्रवदन्त्यविपश्चितः ।

वेदवादरताः पार्थ ? नान्यदस्तीतिवादिन ॥

कामात्मानः स्वर्गपराजन्मकर्मफलप्रदाम् ।

क्रियाविशेषबहुलांभोगैश्वर्यगतिंप्रति ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानातयाऽपहृतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौननिधीयते ॥

येनचपरमवेदप्रणवस्याश्रयोऽङ्गीकृतोवातेनस्थूलवेदस्याऽऽश्रयोनाङ्गीकर्तव्य ।

चतुर्वेदविदोविप्राः सूक्ष्मब्रह्मविदन्तिन ।

वेदभारभराक्रान्तास्तेविप्राः पुरुषाधमाः ॥

एतदेवाभिप्रत्येकावेषयगीतायाम्—

दुर्वासा कश्चिन्मुनिर्बहुविधशास्त्रपुस्तकभारै सहमहादेवनमस्कर्तुमागत्यतत्सभाया नारदेनकेनचिन्मुनिनाभारवाहिगर्दभसाम्यमापादित, कोपात्पुस्तकानिलवणार्णवेपरित्यज्यमहादेवेनाऽऽत्मविद्यायाप्रवर्तितइति ।

गृहेगृहेपुस्तकभारभाराः पुरेपुरेपंडितयूथयूथा. ।

वनेवनेतापसवृन्दवृन्दानब्रह्मवेत्तानचकर्मकर्ता ॥

एवचबहव प्रस्तावा सन्तीति, एकमुत्तरम् ।

भा०—इसलिये यह मत सबके नमस्कार करने योग्य है। उस विषय में तुम में से कोई यह कह सकता है, कि आपके मत को सिद्ध करने वाला श्रुति का प्रमाण नहीं मिल सकता। उन योगियों के तात्पर्य को न जानकर आपलोग जो यह कहते हैं, आपके तात्पर्य को भी हम जानते ही हैं, वह ऐसे हैं कि इस प्रकार बार २ उकसाए जाने पर भी हम श्रुति का यह प्रमाण देकर यह स्वीकृत कर लेंगे कि हमारा आश्रय भी वेद है, परन्तु हम ऐसा नहीं करेंगे, क्योंकि साक्षात् अनिर्वचनीय जो सत्य तत्त्व है और सर्व प्रसिद्ध सबका आश्रय है, वह प्रवृत्ति शास्त्र के सहारे है यह माना ही कैसे जा सकता है। क्योंकि यह स्वीकार करना कि हमारा आश्रय भी वेद है, ऐसी ही बात है जैसे यह कहना कि मंत्री राजा के सहारे है। जैसा कि महाभारत में मोक्ष धर्म में कहा है—

ऋग् यजु साम ये शरीरों के सहारे रहने वाले हैं बड़ा यत्न करने पर कंठस्थ रहते हैं और नाशवान् हैं। परन्तु ब्रह्म शरीर के आश्रय रहने वाला नहीं है। वह न यत्न साध्य है, न आदि मध्य और अन्त युक्त है, ऋग्वेद यजुर्वेद और सामवेद का आदि मध्य और अन्त है, परन्तु ब्रह्म का आदि और अन्त न होने से वह अनन्त और अव्यय कहा गया है

अनन्त होने से दुःखरहित और द्वन्द्वातीत कहा गया है। और भी देखिये जैसे उपाय पूर्वक लकड़ी के मथने से उसमें अग्नि दीख पड़ती है, इसी प्रकार योग से शरीर में आत्मा प्रकट हो जाता है, और देखिये—ब्रह्मा सृष्टि के आरम्भ से उसका ज्ञान रखता है, परन्तु योगी लोगों को कल्प कल्पान्तरों का ज्ञान होता है। गीतामें भी कहा है—जो वेद वाद में लगे हुए और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले कामनाओं से ग्रस्त भोग ऐश्वर्य तथा जन्म कर्म फल देने वाली क्रियाओं से जटिल (पेचीदी) चिकनी चुपडी बातें करते हैं ऐसे लोगों द्वारा जिन का मन हरण हो चुका है जो भोग और ऐश्वर्य के लालची हैं उनकी बुद्धि समाधि में निश्चयात्मक नहीं हो सकती। जिसने परमवेद ओंकार का आश्रय लिया है वह कैसे स्थूल वेद का आश्रय कर सकता है। चारों वेदों के ज्ञाता जो ब्राह्मण सूक्ष्म ब्रह्म को नहीं जानते वे वेद के भारी बोझ से व्यर्थ ही अपनी बुद्धि को खपाते और वे ब्राह्मणों में अयोग्य है। यही समझ कर कावेषय गीता में कहा है कि—दुर्वासा नाम का कोई मुनि नाना प्रकार के पुस्तकों के बोझ को उठाकर महादेव को नमस्कार करने आया तो नारद मुनि ने उसको गधे की उपमा दी तब उसने क्रोध में आकर उन सब पुस्तकों का खार समुद्र में फेंक दिया और

महादेव ने उसको आत्मविद्या में लगाया। घर २ में पुस्तकों के बोझ हैं। नगर २ में पंडितों के झुंड हैं जंगल २ में तपस्वियों की टोली हैं परन्तु न तो उनमें कोई ब्रह्म वेत्ता है और न कर्म कर्ता है। इस प्रकार बहुत से प्रस्ताव हैं उनमें यह पहला एक उत्तर है।

मू०—पुनर्भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत् किमिति। वेदास्तुकर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यंदर्शयन्ति। एतेयोगिनस्तुसंसारत्यागीनो निष्कर्माणः। किंचवेदेप्रमुख्यत्वेनाग्निहोत्रादि यज्ञकर्म्माणि दृश्यन्तेतानिचाग्निसाध्यानि। एतेतुनाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति। ['अग्नेरेवगृहपतित्वमिहाग्नेगृहंते'] इत्यादि श्रुतेः। यतएतेषांकिमाचरणमुपधार्यैतान्निरुपयन्ति। बाहुल्येनवेदविदाश्चैते किंप्रयोजनमङ्गीकृत्याऽङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लापनंहितदित्यादिश्रुति वाक्यैरेव। एवं विसृश्यसुधियोविरमन्ति। शब्दादित्यादिपुराण वाक्यैरेवचतदनङ्गीकरणंदर्शितम्। किंच ['नाऽयमात्माप्रवचनेन लभ्योनमेधयानबहुनाश्रुतिनेतिश्रुतेः]। बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैवकिम्। [अन्वेष्टव्यः प्रयत्नेनतत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरमिति]।

अधीत्यचतुरोवेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वंनजानन्ति दर्वीपाकरसंयथा ॥

अनन्त होने से दुःखरहित और द्वन्द्वातीत कहा गया है। और भी देखिये जैसे उपाय पूर्वक लकड़ी के मथने से उसमें अग्नि दीख पड़ती है, इसी प्रकार योग से शरीर में आत्मा प्रकट हो जाता है, और देखिये—ब्रह्मा सृष्टि के आरम्भ से उसका ज्ञान रखता है, परन्तु योगी लोगों को कल्प कल्पान्तरों का ज्ञान होता है। गीतामें भी कहा है—जो वेद वाद में लगे हुए और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले कामनाओं से ग्रस्त भोग ऐश्वर्य तथा जन्म कर्म फल देने वाली क्रियाओं से जटिल (पेचीदी) चिकनी चुपड़ी बातें करते हैं ऐसे लोगों द्वारा जिन का मन हरण हो चुका है जो भोग और ऐश्वर्य के लालची हैं उनकी बुद्धि समाधि में निश्चयात्मक नहीं हो सकती। जिसने परमवेद ओंकार का आश्रय लिया है वह कैसे स्थूल वेद का आश्रय कर सकता है। चारों वेदों के ज्ञाता जो ब्राह्मण सूक्ष्म ब्रह्म को नहीं जानते वे वेद के भारी बोझ से व्यर्थ ही अपनी बुद्धि को दबाते और वे ब्राह्मणों में अयोग्य हैं। यही समझ कर कावेषय गीता में कहा है कि—दुर्वासा नाम का कोई मुनि नाना प्रकार के पुस्तकों के बोझ को उठाकर महादेव को नमस्कार करने आया तो नारद मुनि ने उसको गधे की उपमा दी तब उसने क्रोध में आकर उन सब पुस्तकों का भार समुद्र में फैंक दिया और

महादेव ने उसको आत्मविद्या में लगाया। घर २ में पुस्तकों के बोझ हैं। नगर २ में पंडितों के झुंड हैं जंगल २ में तपस्वियों की टोली हैं परन्तु न तो उनमें कोई ब्रह्म वेत्ता है और न कर्म कर्ता है। इस प्रकार बहुत से प्रस्ताव हैं उनमें यह पहला एक उत्तर है।

मू०—पुनर्भवद्भिस्तु श्रुतयः पुनः पुनरुच्यन्ते, तत् किमिति। वेदास्तुकर्मनिरूपकास्तदधिकारिणामेवौचित्यंदर्शयन्ति। एतेयोगिनस्तुसंसारत्यागीनो निष्कर्माणः। किंचवेदेषुमुख्यत्वेनाग्निहोत्रादि यज्ञकर्म्माणि दृश्यन्तेतानिचाग्निसाध्यानि। एतेतुनाग्नेः स्पर्शमपि कुर्वन्ति। ['अग्नेरेवगृहपतित्वमिहाग्नेगृहंते'] इत्यादि श्रुतेः। यतएतेषांकिमाचरणमुपधार्येतान्निरूपयन्ति। बाहुल्येनवेदविदाश्चैते किंप्रयोजनमङ्गीकृत्याऽङ्गीकुर्युर्वाचोविग्लापनंहितदित्यादिश्रुति वाक्यैरेव। एवं विमृश्यसुधियोविरमन्ति। शब्दादित्यादिपुराण वाक्यैरेवचतदनङ्गीकरणंदर्शितम्। किंच ['नाऽयमात्माप्रवचनेन लभ्योनमेधयानबहुनाश्रुतिनेतिश्रुतेः]। बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैवकिम्। [अन्वेष्टव्यः प्रयत्नेनतत्त्वज्ञैर्ज्योतिरान्तरमिति]।

अधीत्यचतुरोवेदान् धर्मशास्त्राण्यनेकशः।
ब्रह्मतत्त्वंनजानन्ति दर्वीपाकरसंयथा ॥

इत्यादि। किंच, एतेषामस्यरनरूप भूताना महिमान निरूपयन्तो वेदामुह्यन्तीवचाऽऽवृत्तिविपयत्वात्। तथाचकर्मकाण्डे मुख्यमपि ज्ञाननमुख्यत्वेनदर्शयन्ति, दर्शितेचतस्मिन् कर्ममोह एव स्यात्। एवज्ञानकाडेचयोगतन्महिम्निदर्शितेज्ञानमोह स्यादिति। तथा च वेदेषु तन्महिमानोपलभ्यतइत्येतदेवाभिप्रेत्योगोगपर्वणिमनत्सुजातीयउक्तम्—आभातिशुक्लमिव लोहितमिवाथोकृष्णमायसमर्कवर्णम्। नपृथिव्यातिष्ठतिनान्तरीक्षेनैतत्समुद्रेसलिलंबिभर्ति। नतारकासुनचविद्युताश्रितनचाऽभ्रेषुदृश्यते रूपमस्य। नचापि वायौ नचदेवतासुनैतचन्द्रे दृश्यते नोतसूर्ये। नैवर्क्षुतमयजुःषुनाप्यथर्वसुनदृश्यतेवैविमलेपुसामसु। रथन्तरेवार्हद्रथेवापिराजन् ? महाव्रतेनैवदृश्यतेध्रुवतत्। अपारणीयतमसः परस्तात्तदन्तकोप्येतिविनाशकाले अणीयरूपक्षुरधारयातममहद्रूपतद्वैपर्वतेभ्य।

सा प्रतिष्ठातदमृतंलोकास्तद्ब्रह्मतद्यशः।
भूतानिजज्ञिरेतस्मात्प्रलयंयान्तितत्रहि॥
अनामयतन्महदुद्यतयशोवाचोविकारकवयोवदन्ति।
तस्मिन्जगत्सर्वमिदंप्रतिष्ठितंयेतद्विदुरमृतास्तेभवन्ति।

ननुतद्विदुरित्यनेननयोगोपमर्दनंज्ञानमेवोगमितिचेन्न एतस्यैव शाम्बस्यामिमेऽध्याये।

यत्तच्छुक्लंमहज्ज्योतिर्दीप्यमानंमहद्यशः ।
तद्वैदेवाउपासन्तेतस्मात्सूर्योविराजते ॥
योगिनस्तंप्रपश्यन्तिभगवन्तंसनातनमित्यादि ।

सविस्तरमुक्तम्। अतोग्रन्थभारवहनंवृथैवकिन्तु तदन्तर्गतसो पयुक्तंसारमात्रंगुरुवाक्याद्गृहीत्वायोगेनकृतकृत्यो भवेदिति ।

आत्मनस्तत्त्वमज्ञात्वामूढः शास्त्रेषुमुह्यति ।
गोपकक्षागतच्छागेकूपेपश्यतिदुर्मतिः ॥
विदन्तोनात्मनोभावंवदन्तोपनिषद्गिरः ।
रहस्युपदिशन्त्यन्येस्वयंनानुभवन्तिते ॥
विहाययोगशास्त्राणिनानागुरुमतानिच ।
अहंकाराद्धताकेचिज्ज्ञात्वाशास्त्रसमुच्चयम् ॥
उपदेशंनजानन्तिनचग्रन्थशतैरपि ॥

इति द्वितीयउत्तरम् ।

प्र०—फिर आप तो वार २ वेद ही पुकारते हैं, यह क्या वात है वेद तो कर्म का निरूपण करते हैं, इसलिये कर्माधिकारियों के लिए ही उचित है ये योगी लोग तो कर्म रहित संसार त्यागी हैं। दूसरे वेद में मुख्य रूप से अग्नि-होत्रादि कर्मों का विधान है वे सब अग्नि साध्य हैं। ये लोग

योगियों को ही उसका अधिकारी कहा गया है। इस लिए किताबों का बोझ ढोना वृथा है। किन्तु उस में से अपने लिये उपयुक्त सारभूत गुरु के वचन से ग्रहण करके योग से कृतकृत्य हो जाय। आत्मा के तत्त्व को न जान कर मूढ ही शास्त्रों की भूल भुलैया में घूमता फिरता है। जैसे किसी का बकरा उसी के मकान में जा बैठा पर वह मूर्ख उसे कूप में ढूढता है। उसी तरह बहुत से लोग आत्मा के अस्तित्व को न जानते हुए उपनिषदों के वचनों को बोलते हुए दूसरों को रहस्य का उपदेश करते हैं, पर स्वयं अनुभव नहीं करते।

योग शास्त्र और गुरु वाक्यों को छोड़कर अहंकार में फंसे हुए शास्त्रों के ढेर को भी जान कर सैंकड़ों ग्रन्थों से भी उपदेश को नहीं जानते। यह दूसरा उत्तर है।

मू०—पुनस्तदेवमुख्यंतयोच्यते—

श्रुतिस्त्वस्मिन्नपिमते साधिकैवास्ति, परन्त्वेतन्मतस्य बोधो युष्माकंनास्ति। तेनयूयंशंकरवैष्णवप्रवर्तितमार्गानुसारितत्त्वमालम्ब्यवदथ—श्रुतिःसाधिकानास्तीति, तत्सत्यं शंकररामानुजादिश्रुतयश्चात्र साधिकामाभवन्तुनाम श्रुतयस्तुभविष्यन्त्येवसाधिका इत्ययं भावः। वेदस्तुशाखाभेदैरनेकधाविस्तृतः। तत्रपञ्चा-

दुपनिषदो निबन्धाः कृताः, ततोप्यधिकाउपलभ्यन्ते। न निबन्धेनप्रायो निर्णयव्यवहारः। तत्रापिशङ्करेण दर्शिताऽभिमता उपनिषदईशकेनेत्यादयः प्रसिद्धाः। रामानुजप्रभृतिभिस्तुदशस्वपिशङ्कराभिमतादन्योर्थ इतिस्पष्टमुदीर्यते। एवमन्येऽपि स्वाभिप्रायानुसारिवेदस्यतात्पर्यवर्णयिष्यन्ते। तावतातत्तात्पर्यं तेषामेव, न तुवेदस्येति। यथाविरोचनः प्रजापतिनाऽनुशिष्टोऽपि स्वचित्तदोषेणदेहआत्मत्वबुद्धिदृढीकृत्याऽसुरान्सर्वाननुशशासेति-छान्दोग्येस्पष्टमाख्यायिकास्ति। यतोयोगिनांस्थूलवेदे प्रयोजनमेवनास्ति, सर्ववेद मूलभूत ओंकारएवप्रयोजनंतात्पर्यं च। तत्र सर्व वेदानांलयोदयौभवतोयतओंकारप्रतिपादिकाः सर्वाःश्रुतयोऽत्र साधिकाः तथाहिवेदस्यसारतरः प्रणवः। भूरित्येवर्ग्वेदादजायतभुवइतियजुर्वेदात् स्वरितिसामवेदात्, तानिशुक्राण्यभ्यतपत् तेभ्यस्त्रयोवर्णाअजायन्तअकारउकारोमकारइति। ता अनेकधासमभरत्तदेतदोमिति।

भा० टी०—पुनः मुख्य उत्तर इस प्रकार दिया जाता है। हमारे मत को श्रुति सिद्ध करती है, परन्तु तुमको इस मत का ज्ञान ही नहीं है। इसी से तुम शंकर और वैष्णवों के चलाए हुए मार्ग के अनुयायी बन कर कहते हो कि श्रुति तुम्हारे मत

को सिद्ध नहीं करती। यह सत्य है कि शंकर और रामानुज के मत की आधार भूत श्रुतियां हमारे मत की बाधक न हों परन्तु श्रुतियां साधक अवश्य हैं। वेद तो नाना शाखाओं के भेद में बहुत विस्तृत है। वहां पचास उपनिषदों के निबन्ध किए गए हैं। और उन से भी अधिक मिलते हैं। निबन्ध से निर्णय नहीं होता उन में से भी शंकर ने ईश, केन, आदि दश ही प्रसिद्ध उपनिषद् मानी हैं। रामानुजादि ने उन दशों में शंकर के किए अर्थ से भिन्न अर्थ का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। इसी प्रकार और लोग भी अपने अभिप्राय के अनुसार वेद का तात्पर्य वर्णन करेंगे। उनका यह तात्पर्य उन्हीं का समझा जायगा न कि वेद का, जैसे प्रजापति ने विरोचन को उपदेश दिया तो भी वह अपने चित्त के दोष से देह में ही आत्म बुद्धि का निश्चय करके देह ही आत्मा है ऐसा असुरों को बताया। यह आख्यायिका छान्दोग्य उपनिषद् में स्पष्ट है। इस लिए योगियों का स्थूल वेद से कुछ भी प्रयोजन नहीं है उनका प्रयोजन और तात्पर्य तो केवल ओंकार में ही है। यहीं से सब वेदों की उत्पत्ति और लय होता है। इस लिये ओंकार के प्रतिपादन करने वाली सब श्रुतियां यहां साधक हैं। क्योंकि ओंकार ही वेद का सार है, ऋग्वेद से भूः यजुः

से भुवः और साम वेद से स्वः प्रजापति के निचोड़ने से उत्पन्न हुए और उन से अकार उकार और मकार ये तीन वर्ण और इन तीनों से ओंकार बना ।

मू०—बह्वृचब्राह्मणे–अस्यचप्रणवस्यओमित्येतदक्षरमिदंसर्वमिति माण्ड्यांत्म्यश्रुतौतन्मात्राणांचाकारोकारमकाराणां क्रमात्स्थूलकारणप्रपंचवाचकयोरभेदात्पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरत्रप्रविलापनेगुरुयुक्त्याक्रियमाणे स्थूलस्यजगतो वेदस्यवामृदमेलवणोदकन्यायेन प्रविलयो भवति तथा मृदमस्यकारणेकारणस्यतुर्येऽर्धमात्रावाच्ये मात्राख्ये शिवमद्वैतं चतुर्थमन्यन्ते, इतिश्रुतेर्गलिताखिलद्वैतभावे वाङ्मनसाऽतीतेप्रविलयोभवति। अतःप्रणव एववेद इत्यभ्युपगम्य तद्द्वारा तत्प्रवर्तक नादब्रह्मत्यवलम्ब्यनादब्रह्मणोयन्मूलंतत्त्वमिति विश्रान्तिमतांमते का वाश्रुतिः साधिकान भवतीति प्रसिद्धिरमेव सर्वत्र ।

भा०—ऋग् वेद के ब्राह्मण भाग में इस प्रणव का महत्व प्रतिपादन किया गया है कि यह सब दृश्य जगत् अक्षर स्वरूप ओम् है सर्वांत्म श्रुति में उनकी अकार उकार और मकार इन मात्राओं का स्थूल कारण और प्रपंच वाचक के साथ अभेद होने से पूर्व २ का आगे २ में गुरु की युक्ति के अनुसार

प्रविलय किये जाने पर स्थूल जगत् और वेद का सूक्ष्म में पानी में नमक के समान प्रविलय हो जाता है अर्थात् मिल जाता है।

तथा सूक्ष्म का कारण और कारण का अर्धमात्रा के बाच्य तुरीय में अद्वैत शिव चतुर्थ को मानता है। इस श्रुति के अनुसार वाणी और मन से परे समस्त द्वैत से रहित ब्रह्म में विलय होता है।

इस लिये प्रणव ही वेद है यह मान कर उस के द्वारा उस का प्रवर्त्तक नाद ही ब्रह्म है यह मान कर नाद ब्रह्म का,जो मूल है वह तत्त्व है इस प्रकार मानने वालों के मत में कौनसी श्रुति साधक नहीं है? अपितु सब ही हैं यह सब जगह प्रसिद्ध है।

मू०—प्रणवप्रशंसा शिवोपनिषदि—

प्रणवः सर्वान् प्राणानुप्राणामयति चैतस्मात् प्रणवश्चतुर्धा वस्थित इति वेददेवयोनिर्ध्येयश्चेति सन्धत्तासर्वेभ्यो दुःसहेभ्यः सन्तारयति तारणात्तानि सर्वाणीति।

ब्रह्माविष्णुश्चरुद्रश्च ईश्वरः शिवएव च।
पंचधापंच देवत्यः प्रणवः परिपठ्यते॥

तस्माधिकंक्षणमेकमास्थायक्रतुशतस्यापिफलमवाप्नोतिकृत्स्नमों कारगतंच सर्वध्यानेनेति। माण्डूक्योपनिषदि च—

ओंकारंच्छन्दसांज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।
युञ्जीत प्रणवे चेतःप्रणवोब्रह्म निर्भयम् ॥
प्रणवे नित्ययुक्तस्यनभय विद्यतेक्वचित् ।
प्रणवोह्यपरंब्रह्मप्रणवश्चापरः स्मृतः ॥
अपूर्वोऽनन्तरोबाह्योनपरः प्रणवोऽव्ययः ।
सर्वस्यप्रणवोह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैवच ॥
एवंहिप्रणवंज्ञात्वाविशतेतदनन्तरम् ।
प्रणवंहीश्वरंविद्यात्सर्वस्य हृदयेस्थितम् ॥
सर्वव्यापिनमोंकारंमत्वाधीरोनशोचति ।
अमात्रोऽनन्तमात्रश्चद्वैतस्योपशमः शिवः ॥
ओंकारोविदितोयेनसमुनिर्नेतरोजनइति ।

[हृदारण्यके सयथार्द्रेन्धानाग्नेरभ्याहितात्तथापृथग्धूमाविनिश्चरन्त्येवंवा, इत्यादि, छान्दोग्य ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्यादि । एतदेवाभिप्रेत्यमहाभारतेसनत्सुजातीयवचनम्—

यतो न वेदा मनसासहैव मौनंप्रविशन्तिततोऽथ मौनम्
यत्राश्रितो वेद शब्दस्तथाऽयं सतन्मयत्वेन विभाति राजन् ।

भागवतेचाप्येकादशस्कन्धे—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः ॥

शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥
मयोपबृंहितं भूम्ना ब्रह्मणाऽनन्तशक्तिना ।
भूतेषु घोषरूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते ॥
यथोर्णनाभिर्हृदयादूर्णामुद्वमते मुखात् ।
आकाशाद्घोषवान्प्राणो मनसा स्पर्शरूपिणा ॥
छन्दोमयोऽमृतमयः सहस्रपदवीं प्रभुः ।
ओंकाराद्व्यञ्जितस्पर्शस्वरोष्मान्तस्थभूषिताम् ॥

इत्यादि । अन्यच्च—(वेदः प्रणव एवाग्रे धर्मोऽहं वृषरूपधृक् । उपासते तपोनिष्ठा हंसं मां मुक्तकिल्बिषाः ।) (त्रेतामुखे महाभाग प्राणान्मे हृदयात्त्रयी । विद्या प्रादुरभूत्तस्या अहमासं त्रिवृन्मखः ॥) (विप्रक्षत्रियविट्शूद्रा मुखबाहूरुपादजा इत्यादि ।) गीतायां च (ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्) ॥ एवमन्यत्रापि बहुधा प्रशंसितम् तदत्र विस्तरभियान्न लिख्यत इति दिङ्मात्रमुक्तम् ।

भा० टी०—शिवोपनिषद् में प्रणवकी प्रशंसा की गई है। कि प्रणव ही सब प्राणों को अनुप्राणित करता है इस लिये प्रणव चार प्रकार से स्थित है। वेद देव योनि और ध्येय इस प्रकार धारण करने वाला है। वह उन सबको दुःसह दुःखों से तार देता है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर और शिव इस प्रकार से पांच देवताओं वाला प्रणव पांच प्रकार से कहा जाता है। एक क्षण मात्र भी उसका ध्यान करने से सो यज्ञों का समस्त फल प्राप्त कर लेता है। मांडूक्योउपनिषद् में भी ओंकार से वेदों को जान कर कुछ भी न सोचे। प्रणव में ही मन को लगावे प्रणव ही निर्भय ब्रह्म है जो नित्य प्रणव में लगा रहता है उसको कुछ भी भय नहीं है प्रणव ही अपर और पर ब्रह्म है प्रणव अपूर्व अनन्तर और बाह्य है।

अव्यय प्रणव से बढ़ कर कुछ भी नहीं है, प्रणव सब का आदि मध्य और अन्त है। इसप्रकार प्रणवको जान कर जिज्ञासु फलता फूलता है। प्रणव ही सब के हृदय में स्थित ईश्वर है, सर्वव्यापी ओंकार को जान कर धैर्यवान् पुरुष शोक नहीं करता प्रणव मात्रा रहित और अनन्त मात्राओं वाला है द्वैत का नाशक और कल्याण कारक है ओंकार को जिसने जान लिया वही मुनि है। अन्य नहीं बृहदारण्यक में भी वर्णन है-जैसे गीले इन्धन वाले अग्नि से अलग २ धूमनिकलता है उसी प्रकार

ओंकार रूप ब्रह्म से सब वेद निकलते हैं। छान्दोग्य में भी कहा है कि ओम् यह अक्षर साम वेद स्वरूप है।

इसी अभिप्राय से महाभारत में सनत्सुजात का वचन है। कि जहां वेद मन के साथ ही मौन धारण कर लेते हैं हे राजन्, जहां जाकर यह वेद शब्द, तन्मय रूप से शोभायमान होता है।

भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के बारहवें अध्याय में उद्धव के प्रति श्री भगवान् का वचन है कि समस्त ससार का धारण करने वाला यह परमात्मा ही उपाधि वश से सूक्ष्म और स्थूल उभय रूप वेद स्वरूप होता है। उस परमात्मा का विकाश लिङ्ग गुदा के मध्य मूलाधार १ लिङ्ग मूल में स्वाधिष्ठान २ नाभि प्रदेश में मणिपूर ३ हृदय देश में अनाहत ४ कंठ देश में विशुद्ध ५ भ्रू मध्य में आज्ञा ६ इन छः चक्रों में होता है। उन में पहले नाद सहित परा नाम प्राणवायु के साथ मूलाधार रूप गुहा में प्रविष्ट होता है, वह किसी मन इन्द्रिय का विषय नहीं है, इस लिये उसका नाम 'परा' है फिर नाभि देश में आने पर सूक्ष्म मनोमय रूप पश्यन्ती और हृदय देश में मध्यमा को प्राप्त होता है, इतने तक सूक्ष्म वेद कहलाता है। फिर कण्ठ से ऊपर मुख देश में वैखरी रूप को प्राप्त होता है, वहां ह्रस्व दीर्घप्लुत इन तीन मात्राओं उदात्त अनुदात्त स्वरित इन तीन स्वरों तथा

ककारादि वर्ण (अक्षरों) के रूप को धारण करता है, वही वैखरी नाद सब के श्रवण गोचर होता है। वही स्थूल वेद हैं। साधारण मत से अकार से लेकर क्ष तक उनंचास अक्षर हैं, श्रो लकार मानने वालों के मत में पचास वर्ण माने जाते हैं। व्याकरण शिक्षा में तो ६२ माने जाते हैं।

उसी ११ वें स्कन्ध के २१ वें अध्याय के ३६ वें श्लोक में वर्णित है कि समस्त वेद परमात्मा को ही बताता है। वहां पर संदेह हुआ कि यदि ऐसा है तो वेदज्ञ जैमिनी आदि ऋषि लोग क्यों नहीं बताते उस पर भगवान् ने उत्तर दिया है कि वेद रूप शब्द ब्रह्म अत्यन्त कठिन है, सिवाय मेरे इस के वास्तविक रूप और अर्थ को और कोई नहीं समझ सकता वही मूलाधार में प्राणमय परा नाम वाला है, नाभि में पश्यन्ती नामक मनोमय सूक्ष्म रूप होता है, और मध्यमा नामक इन्द्रिय मय होता है। इसका अन्त और पार नहीं है। अर्थ से दुर्ज्ञेय है। अगाध समुद्र की तरह इस में बुद्धि का प्रवेश होना कठिन है। व्यापक-विकार रहित-अपरिगणित शक्ति सम्पन्न मेरे से ही सारा चराचर जगत् अधिष्ठित है। जैसे कमल की डंडी में सूक्ष्म तार होते हैं उसी प्रकार समस्त प्राणियों में से सूक्ष्म रूप मुझ को ही नाद रूप से विद्वान् लोग पहचानते हैं। अब तीन श्लोकों से वैखरी वाक्के उत्पत्ति प्रकार

को दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—जैसे मकड़ी हृदय से मुख के द्वारा तार निकालती है वैसे ही हृदयाकाश स्थित सूक्ष्म ओंकार रूप ध्वनि से उपाधि रहित होने पर भी प्राण उपाधि सहित हिरण्यगर्भ रूप वेद रूपी भगवान् वर्णों के संकल्प करने वाले मन द्वारा अकारादिस्वर ककारादि स्पर्श, श ष स ह ऊष्मा यर लव अन्तस्थ इत्यादि अनेक रूप धारण करने वाली वृहती रूप वैखरी वाक की उत्पत्ति करता है। आगे के श्लोक से इसका सम्बन्ध है—प्रणव रूप वेद है और युग के आदि में सर्वश्रेष्ठ धर्म रूप भी मैं ही हूँ। उसी को अहंभाव से धर्मात्मा लोग उपासना करते हैं।

त्रेता युग में मेरे हृदयस्थ प्राण से त्रयी वेद विद्या प्रकट हुई। उस में यज्ञ रूप में ही था। मुख-बाहु-उरु—पाद से उत्पन्न ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र सब उसकी उपासना करते हैं इत्यादि।

*गीता में भी कहा है—कि ओम् इस एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ और उस ओम् का वाचक जो मैं हूं मेरा स्मरण करता हुआ जो देह को त्यागता है वह परम गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार अन्यत्र भी विस्तार के साथ प्रणव की महिमा वर्णन की गई है। वह विस्तार के भय से नहीं लिखी गई है। यह तीसरा उत्तर है।

मू०—पुनः वेदार्थस्यबोधस्तुकेषांचिन्नास्तिएव, केवलमभि-मानमेवतिरस्कृत्यैवदन्तितान्प्रतिचतुर्थमिदमुत्तरम्— यद्भवद्भि-र्वेदोवेदइतिपुनः पुनरुच्यते । तस्यवेदस्यत्वभ्यासेऽप्यवधूतानां-दोषएवस्यात् । कथमितिचेदुच्यतेवेदस्यपूर्वभागस्तुवर्णानामेव, वेदान्तभागस्तुभिक्षुकाणामेव । उभयविलक्षणोयोगभागस्तु अवधू-तानाम् । वेदस्यपूर्वभागे ज्ञानं वाच्यार्थेननदर्शितम् । किन्तु तात्प-र्येतदस्तीतिभवद्भिरेवोच्यते । एवंवेदस्यपूर्वभागेज्ञानंयथातात्प-र्येऽस्तितथावेदान्तभागेयोगस्तात्पर्यार्थोऽस्ति । यद्यपिबहुधावाच्या र्थेनापिदर्शितोयोगस्तथापिमुख्यमुत्तरन्तुमुख्यतात्पर्यएवास्ति, यतो-वेदवेदान्ततात्पर्यं लक्ष्यश्चावधूतएवास्ति ।

सर्वेवेदायत्पदमामनन्तीत्यादिश्रुतयो ।

वेदैश्चसर्वैरहमेववेद्यइत्यादिस्मृतयो ॥

रूपेहमेसदसतीतवचेदसृष्टेर्बीजांकुराः विव नचान्यदरूपकस्य ।
युक्ताः समवमुभयत्रविचिन्वतेत्वांयोगेन वह्निमिवदारुपुना-
न्यतः स्यात् ॥

इत्यादिपुराणवाक्यानिचात्रसाधकानि । एतदेवाभिप्रेत्यमहा-भारतेसनत्सुजातआह—

नवेदानांवेदिताकश्चिदस्तिकश्चित्वेतान्बुध्यतेवापिराजन् ।
योवेद, वेदान्नसवेदवेद्यंसत्येस्थितोयस्तुसवेद, वेद्यम् ॥
नवेदानांवेदिताकश्चिदस्तिवेद्येनवेदंनविदुर्नवेद्यम् ।
योवेदवेदंसचवेदवेद्यंयोवेदवेद्यंनसवेदसत्यम् ॥

योवेदवेदान्सचवेदवेद्यंनतंविदुर्वेदविदोनवेदाः ।
तथापिवेदेनविदन्तिवेदं येब्राह्मणावेदविदोभवन्ति ॥
धामांशभागस्यतथाहिवेदायथाचशाखाहिमहीरुहस्य ।
संवेदनेचैवयथामनन्ति तस्मिन्हिसत्येपरमात्मनोर्थे ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानंपंचमैर्वेदैर्भूयिष्ठंकथ्यतेजनः ।
तथाचान्येचतुर्वेदास्त्रिवेदाश्चतथापरे ॥
तेषान्तुकतरः सस्याद् यमहंवेदवेद्द्विजम् ।

सनत्सुजात उवाच—

एकस्यवेदस्याऽज्ञानाद्वेदास्तेबहवः कृताः ।
सत्यस्यैकस्यराजेन्द्र! सत्येकश्चिदवस्थितः ॥
एवंवेदमविज्ञायप्राज्ञोऽहमितिमन्यते ।

दानमध्ययनंयज्ञो लोभादेतत्प्रवर्तते ॥
सत्यात्प्रच्यवमानानां संकल्पश्चतथाभवेत् ।
ततोयज्ञः प्रतायेतसत्यस्यैवाऽवधारणात् ॥

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचोयजूंषियोवेद सामवेदंचवेदयः ।
पापानिकुर्वन् पापेन लिप्यतेकिंनलिप्यते ॥

सनत्सुजात उवाच—

नैनंसामान्यृचोवापि नयजूंष्यविचक्षणम् ।
त्रायन्तेकर्मणः पापान्नतेमिथ्याब्रवीम्यहम् ॥
नछन्दांसिवृजिनात्तारयन्तिमायाविनंमाययावर्तमानम् ।
नीडंशकुन्ताइवजातपक्षाश्छन्दांस्येनंप्रजहत्यन्तकाले ॥

यूयंचस्थूलवेदतात्पर्ययुष्माभिः सूक्ष्मवेदतात्पर्याणामस्माकम-समर्थिताययोऽनुयोगस्तत्प्रतिवाक्यमिदंचतुर्थम ।

भा—बहुतों को वेद के अर्थ का ज्ञान तो है नहीं, केवल अभिमान के वशीभूत होकर बातें करते हैं उनके लिये यह चौथा उत्तर है कि आप लोग बारंवार वेद वेद ऐसा कहते हैं, अपपूतों को तो वेद के अभ्यास से दोष लगता है क्योंकि उन

वेद का पूर्वभाग तो वर्णों का है और उत्तर भाग त्रिगुणों का अवधूतों का योग भाग तो दोनों से विलक्षण है। वेद के पूर्व भाग में ज्ञान वाच्यार्थ रूप से वर्णित नहीं है। किन्तु लक्ष्यार्थ रूप से है यह आप लोग ही कहते हैं। इस प्रकार वेद के पूर्व भाग में जैसे ज्ञान तात्पर्यार्थ द्वारा है वैसे ही उत्तर भाग में योग भी तात्पर्यार्थ द्वारा वर्णित है, यद्यपि अधिकतर वाच्यार्थ से भी योग दिखलाया है तथापि मुख्य उत्तर तो तात्पर्य में ही है। क्योंकि वेद वेदान्त का रहस्य तात्पर्य अवधूत पद में ही है। रूप रहित तुम्हारी सृष्टि के रूप बीजांकुर की तरह स्थूल सूक्ष्म हैं उन ही को साधारण लोग जानते हैं इसमें निज वास्तविक स्वरूप को नहीं, असली रूप को तो योगी जन ही योग द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। जैसे मथने से काष्ठ में अग्नि पैदा करते हैं। अन्य उपाय से नहीं। इत्यादि पुराणवाक्य और श्रुति स्मृतियां इसमें साधक हैं। इसी अभिप्राय से महाभारत में सनत्सुजात ने कहा है—वेदों के जानने वाला कोई नहीं है। कोई विरला ही इनको जानता है. जो वेदों को जानता है वह वेद्यब्रह्म को नहीं जानता, ब्रह्म को वह जानता है जो सत्य में स्थित है। वेदों को कोई नहीं जानता, जो वेद से जानने योग्य को जानता है वह वास्तविक वेद्य को जानता ही नहीं, जो वेद

को जानता है वह वेद्य को नहीं जानता, और जो वेद से वेद्य को जानता है वह सत्य को नहीं जानता। जो वेदों का ज्ञाता है वेद के जानने वाले और वेद उस को नहीं जानते। तो भी जो वेद जानने वाले ब्राह्मण होते हैं। वे वेद से ही वेद्य को अर्थात् ब्रह्म को जानते हैं। जैसे शाखा वृक्ष का एक अवयव माना जाता है और उस से उस वृक्ष का बोध होता है, इसी तरह तेजः स्वरूप परमात्मा का एक अवयव वेद हैं, वे वेद उस परमात्मा के यथार्थ ज्ञान कराने के लिये एक देश को कहते हैं।

धृतराष्ट्र सनत्सुजात से पूछता है कि वेद और पांचवां आख्यान इनके जानने वाला मनुष्य अधिक आदर के योग्य है ऐसा कहा जाता है, बहुत से चार वेदों के ज्ञाता हैं और बहुत से सबों के जानने वाले हैं इन में से वह कौन है जिसको मैं असली ब्राह्मण समझूं। तब सनत्सुजात ने कहा— वेद वास्तव में एक ही है, अज्ञान से लोगों ने अनेक वेद बनालिये जैसे हे राजेन्द्र वास्तविक सत्य को न जानकर लोग अनेक प्रकार के मनमाने अर्थ कर लेते हैं, उस सत्य में कोई २ ठहरता है। इस प्रकार वेद को न जानकर साधारण बुद्धिवाला पुरुष अपने को बड़ा बुद्धिमान् समझता है। दान अध्ययन और यज्ञ ये लोभ से ही प्रवृत्त होते हैं। सत्य से जो पतित हो जाते हैं

उनके नाना प्रकार के संकल्प होते हैं। फिर उस सत्य का ही निश्चय करके लोग यज्ञादि करते हैं।

धृतराष्ट्र ने कहा—जो ऋक् यजु और साम को जानता हुआ पाप करता है वह उस पाप से लिप्त होता है या नहीं? तब सनत्सुजात ने कहा कि उस मूर्ख का जो तीनों वेदों का ज्ञाता होता हुआ भी पाप करता है ऋक् साम यजु कोई भी नहीं बचा सकते। यह मैं तुझ से सत्य कहता हूँ। माया में वर्तमान मायावी पुरुष का वेद पाप से नहीं बचा सकते जैसे पक्षी समय पर घोंसले में से उड़ जाते हैं अर्थात् उसको छोड़ देते हैं। उसी प्रकार उस मायावी पुरुष को अन्त काल में वेद छोड़ देते हैं। इस प्रकार स्थूल वेद में तात्पर्य रखने वाले तुम लोगों ने सूक्ष्म वेद को मानने वाले हम लोगों के तात्पर्य को न जानकर हम पर जो आक्षेप किया है उस का यह चौथा उत्तर है।

सू०—योगबीजे—

नानामार्गैस्तुदुष्प्राप्यंकैवल्यंपरमंपदम्।
सिद्धमार्गेणलभ्येतनान्यथाशिवभाषितम्॥
यद्वापेनविमुच्यन्ते नाथमार्गमतः परम्।
तमहंकथयिष्यामि तवप्रीत्यासुरेश्वरि!॥

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताःशास्त्रजालेषु प्रज्ञयातेविमोहिताः ॥
अनिर्वाच्यपदंवक्तुं नशक्यते सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किंशास्त्रेणप्रकाश्यते ॥

विशुद्धएव परमात्माजीवाभिधइत्युक्त्वाजीवस्यदोषाः काम
क्रोधौभयंचिन्तेत्यादिचोक्त्वा—

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायंकथयामिते ।
ज्ञानंकेचिद्वदन्त्यत्र केवलंतन्नसिद्धये ॥
योगहीनंकथंज्ञानंमोक्षदंभवतीश्वरि ?
अज्ञानादेवसंसारोज्ञानादेवविमुच्यते ॥

तत्र योगस्य किं कार्यमिति देव्यापृष्टईश्वरउवाच—

अर्गादोषैर्विमुक्तः किंकामक्रोधभयादिभिः ।
सर्वदोषवृतोजीवः कथंज्ञानेनमुच्यते ॥
ज्ञाननिष्ठोविरक्तोवा धर्मज्ञोविजितेन्द्रियः ।
विनायोगेनदेवोऽपि नमोक्षंलभतेप्रिये ॥
अपक्वाः परिपक्वाश्चद्विविधादेहिनः स्मृताः ।
अपक्वायोगहीनास्तु पक्वायोगेनदेहिनः ॥

तस्माद्ज्ञानंचवैराग्यं जपःस्यात्केवलःश्रमः ।
शरीरेणजिता. सर्वेशरीरंयोगिभिर्जितम् ॥
तत्कथंकुरुतेतेषां सुखदुःखादिजं फलम् ।
देवैरपिनलभ्येत योगदेहोमहाबलः ॥
छेदबन्धैर्विमुक्तोऽसौ नानाशक्तिधरः परः ।
यथाकाशस्तथादेह आकाशादपि निर्मलः ॥
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरोदेहः स्थूलात्स्थूलोजडाज्जडः ।
इच्छारूपोहियोगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ॥
क्रीडति त्रिषुलोकेषु लीलयायत्रकुत्रचित् ।
अचिन्त्यशक्तिमान् योगीनानारूपाणिधारयन् ॥
संहरेच्चपुनस्तानि स्वेच्छयाविजितेन्द्रियः ।
पुरैवमृतएवाऽसौ मृतस्यमरणंकुतः ॥
मरणंयत्रसर्वेषां तत्राऽसौसाखि१ जीवति ।
कर्तव्यंनैवतस्याऽस्ति कृतेनाऽसौनलिप्यते ॥
जीवन्मुक्तः सदास्वस्थः सर्वदोषविवर्जितः ।
विरक्ताज्ञानिनश्चान्ते देहेनाविजिताः सदा ॥

तेकथंयोगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाःकुदेहिनः ।

देव्युवाच—

ज्ञानिनस्तुमृताये वै तेषांभवतिकीदृशी ।

गतिः कथयदेवेश ? करुणामृतवारिधे ?

ईश्वर उवाच—

देहान्तेज्ञानिनः पुण्यात्पापात्फलमाप्यते ।

यादृशंतुभवेत्तत्र मुक्तोज्ञानीपुनर्भवेत् ॥

पुण्यात्पुण्येनलभते सिद्धेनसहसंगतिः ।

ततः सिद्धस्यकृपया योगीभवतिनान्यथा ॥

ततोनश्यति संसारो नान्यथाशिवभाषितम् ॥

महाविष्णुमहेशानां प्रलयेष्वपियोगिनाम् ॥

नास्तिपातोलयस्थानां महातत्त्वेविवर्तिनाम् ॥

वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्चनानाविधैःशास्त्रकदम्बकैश्च ।

ध्यानादिभिस्सत्करणैर्नगम्यंचिन्तामणिस्त्वेकगुरुंवि[illegible]ाय॥

भा०—योग बीज में कहा है वैफल्य परम पद जो कि नाना मार्गों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, सिद्ध मार्ग से प्राप्त किया जासकता है। यह निम्न शास्त्र कथन है। जो कदापि

अन्यथा नहीं हो सकता। हे सुरेश्वरि जिससे बद्ध मुक्त हो जाते हैं वह नाथ मार्ग तेरी प्रसन्नता के लिये कहता हूं। सहस्रों तर्क और व्याकरणादि ग्रंथों के जालों में पड़े हुए अपनी बुद्धि के अभिमान में चूर रहते हैं। जो अनिर्वाच्य पद है उसे तो देवता भी नहीं कह सकते जो स्वात्म प्रकाश वस्तु है वह शास्त्रों से कैसे प्रकाशित किया जा सकता है। विशुद्ध, परमात्मा ही जीव नाम से कहा जाता है ऐसा और जीव के दोष काम क्रोध भय तथा चिन्ता इत्यादि कह कर अब मैं जिस उपाय से उसके दोषों का नाश हो सकता है वह कहता हूं। इन दोषों के नाश का उपाय बहुत से लोग ज्ञान को बताते हैं। परन्तु हे सुन्दरि ? योगहीन ज्ञान कैसे मोक्ष दे सकता है संसार का कारण अज्ञान है। और ज्ञान से वह नष्ट हो जाता है। फिर उसको नष्ट करने के लिये योग का क्या प्रयोजन है इस प्रकार देवी के प्रश्न करने पर शिव जी ने कहा—क्या यह जीव काम क्रोधादि दोषों से मुक्त है ? यह तो इनसे घिरा हुआ है, अतः कैसे ज्ञान से मुक्त हो सकता है। कोई कैसा ही ज्ञानिष्ठ धर्मात्मा और जितेन्द्रिय अथवा देवता भी क्यों न हो हे प्रिये योग के बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। अपक्व और परिपक्व दो प्रकार के मनुष्य हैं उनमें योगहीन अपरिपक्व और योगयुक्त परिपक्व हैं इसलिये ज्ञान वैराग्य और

जप केवल परिश्रम है समस्त संसार शरीर के वश में है और योगियों ने शरीर को जीत लिया है। वह शरीर योगियों को सुख दुःख का फल कैसे दे सकता है। महा बलवान योगयुक्त देह को देवता भी नहीं प्राप्त कर सकते। योगियों का देह छेद और बन्ध आदि से मुक्त है और नाना प्रकार की शक्तियों को धारण करने वाला है। उनका देह आकाश की तरह निर्मल है, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थूल से स्थूल और भारी से भारी होता है। योगीन्द्र इच्छा रूप स्वतंत्र अजर और अमर होते हैं। योगी की शक्ति अचिन्त्य होती है। वह नाना रूपों को धारण करता हुआ अपनी लीला से जहां चाहे वहीं क्रीड़ा करता है जितेन्द्रिय वह योगी उन रूपों को जब चाहे विलीन कर सकता है। पुत्र मित्र स्त्री आदि सब प्राकृत पदार्थ के अभिमान को छोड़ कर योग साधन में लगा हुआ सिद्ध पुरुष संसार के व्यवहार से पहले ही मरा हुआ है अतः मृतका मरण कैसे होसकता है, जिस प्रलय काल में सब प्राणि अभिमान रहित हो जाने से मृत कहलाते हैं, उस समय में सिद्ध पुरुष स्वरूप ज्ञान युक्त होने से जीवित कहलाता है। उसका कोई कर्त्तव्य नहीं वह कभी कर्मों से लिप्त नहीं होता वह जीवन्मुक्त स्वस्थ होता है। स्वतंत्र और सब दोषों से मुक्त होता है विरक्त और ज्ञानी सब देह के आधीन होते हैं वे कुत्सित देह वाले योगियों के तुल्य कैसे हो

सकते हैं। फिर देवीने कहा हे करुणासिन्धु हे देवेश ज्ञानी लोगों की मरने पर क्या गति होती है कृपया यह बताइये तब शिवजी ने कहा—देहान्त के बाद ज्ञानी को पुण्य और पाप का फल नहीं मिलता, वहां वह किसी भी जन्म को प्राप्त हो फिर भी ज्ञानी ही होता है। पुण्य से उस को सिद्ध की गति प्राप्त होती है। फिर सिद्ध की कृपा से वह योगी होता है। अन्यथा नहीं फिर उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यह शिव का वचन सर्वथा सत्य है। ब्रह्म विष्णु और महेश पदवी को प्राप्त हुए लय में स्थित और महातत्त्व में वर्तमान योगियों का प्रलय काल में भी पात नहीं होता जो योगियों को प्राप्त होता है वह वेदान्त तर्कोक्तियों वेदों नाना प्रकार के शास्त्र समूहों और ध्यानादि उपायों से नहीं प्राप्त होता, वह केवल चिन्तामणि सदृश गुरु की कृपा से ही प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि विना गुरु के स्वयं शास्त्रपठन और ध्यानादि साधन नहीं करना चाहिये नहीं तो भटसट हो जाने का डर है।

मू०—सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—

शिवाद्भैरवः, भैरवाच्छ्रीकंठः श्रीकंठात्सदाशिवः सदाशिवादीश्वरः, ईश्वराद्रुद्रः, रुद्राद्विष्णुर्विष्णोर्ब्रह्मा इतिमहासाकारस्य मूर्त्यष्टकम्। आचारेब्राह्मणा वसन्ति शौर्येक्षत्रियाः, व्यवसाये वै-

न्याः सेवाभावे शूद्राः ।

अनन्तभिद्यामाति प्रकाशे । अस्मिन्कश्चित्परमाऽद्वैतस्वभावः ।

नण्यात्मेति ।

शिवस्याऽभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरं नैव जानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
तज्ज्ञानं सद्गुरोर्वक्त्राज्ज्ञान्यथा शास्त्रकोटिभिः ।
न च शब्दविज्ञानाच्च बलाद्वेदपाठनात् ॥
वेदान्त श्रवणाच्चैव न च यम्यादिबोधनात् ॥
देवार्चनाश्रयाद्भक्त्या नाथमार्गानुपालनात् ॥
यस्यां योगाभ्यंकर्ता लीलयाऽजराऽमरः ।
आण्यांदेयदन्यानां सौदर्तेर्भवो यथा ॥
न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः ।
न गुरोरधिकं न गुरोरधिकं शिवशासनतः शिवशासनतः ॥
कल्पागरुरूपेण द्विरूपात्पारकं शिवः ।
गम्भीरानन्दजनकः सद्गुरुः सोऽभिधीयते ॥

पुनरागादिनाशमरणानुमानसमुद्रपारमसौ गुरु-

रुन्मत्तः ।

स्वविश्रान्तिनजानाति परेषां स करोतिकिम् ।

भा०—सिद्धसिद्धान्त पद्धति में वर्णन किया गया है—शिव से भैरव भैरव से श्री कंठ श्री कंठ से सदा शिव सदा शिव से ईश्वर ईश्वर से रुद्र रुद्र से विष्णु विष्णु से ब्रह्मा ये महासाकार की आठ मूर्तियां है। आचार में ब्राह्मण शौर्य में क्षत्रिय व्यवसाय में वैश्य और सेवा भाव में शूद्र रहते हैं। अनन्त सिद्धज्ञान के प्रकाश में रहते हैं। परम अद्वैत का जो भाव है वही आत्मा है। शिव के अन्दर शक्ति और शक्ति के भीतर शिव चन्द्र और चांदनी के समान इन में कोई भेद नहीं है। यह तत्व सद्गुरु के वाक्य से ही जाना जाता है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों से भी नहीं। यह तत्त्व न ज्ञान तर्क न शब्द के ज्ञान न बार २ वेद पढ़ने न वेदान्त सुनने और न तत्त्वमसि ज्ञान से न देवार्चन से न भक्ति और न आश्रमों के पालन से प्राप्त होता है। किन्तु स्वयं अपने स्वरूप में स्थित योगी,स्वयं ही अपने भाग्य का विधाता होता है, और अपनी लीला से वह अजर और अमर होता है, देव और दैत्य सब से अवध्य होता है। वह भैरव के समान खेलता है शिव जी का यह शासन है कि गुरु से बढ़कर संसार में अधिक कुछ भी नहीं है। जो अपनी दया के लेश से शिष्य की अर्थात् प्राणि की आठों पाशों को

काटकर उसे आनन्दित करता है वह सद्गुरु कहा जाता है। वह गुरुत्याज्य है जो नाना प्रकार के वचनों शास्त्रों के अनुमानों और तर्कों के झमेलों से शिष्य को भ्रम में डाल देता है। जिसका मन स्वयं विश्रान्त नहीं है वह दूसरों का क्या उपकार कर सकता है। क्या कहो शिलाओं से शिलाएं नदी के पार उतारी जा सकती है। जो स्वयं पार हो चुका है वही दूसरों को पार उतारने में समर्थ हो सकता है।

मू०—सर्वदर्शनानांस्वरूपदर्शनेनसमन्वयं करोति सोऽवधूत-योगीस्यात्।

शिलयाकिंपरंपारं शिलासंघः प्रतार्यते।
स्वयंतीर्णोभवेद्यस्तु परान्निस्तारयत्यलम्॥
अत्याश्रमीचयोगीच ज्ञानीसिद्धश्च सुव्रतः।
ईश्वरश्चतथास्वामी धन्यः श्रीसाधुरेवच॥
जितेन्द्रियश्चभगवान् ससुधीः कोविदोबुधः।
सर्वेषांदर्शनानां च स्वरूपंचप्रकाशयेत्॥
सर्वतोभरिताकारं निर्द्वंद्वैयनसंहितम्।
चरतेब्रह्मणियस्तु ब्रह्मचारीसकथ्यते॥

भा०—स्व सरूप के अनुभव से जो सब दर्शनों की एकता कर लेता है वही वास्तव में अवधूत है। जो आश्रमों को पार

कर चुका है और जो योगी ज्ञानी सिद्ध समर्थ व्रतधारी इन्द्रियों का स्वामी परकार्य साधक षड्विध ऐश्वर्य सम्पन्न है वही सुधी और वही सब दर्शनों के प्रकाशित करने का अधिकारी है। जो सर्वव्यापक संसार के रचयिता महान् ब्रह्म में विचरण करता है, वह ब्रह्मचारी कहाता है।

मू० गृहिणीपूर्णतानित्यं गेहंव्योमसदाचलम्।
यस्तयानिवसत्यत्र गृहस्थः सोऽभिधीयते ॥
सदान्तः संस्थितोयोऽसौ स्वप्रकाशमयेवने।
वानप्रस्थः सविज्ञेयो नवनेमृगवच्चरन् ॥
परमात्माचजीवात्मा चात्मन्येवस्फुरत्यलम्।
तस्मिन्न्यस्तः सदायेन संन्यासीसोऽभिधीयते ॥
नवन्दनीयास्ते काष्ठा दर्शनभ्रान्तिकारकाः।
वर्जयेत्तान्गुरून्दूराद् धीरः सिद्धमताश्रयः ॥

भा०—जो पूर्णतारूपी स्त्री के साथ और आकाश के समान सदा अचल ब्रह्मरूप घर में वास करता है वह वास्तविक गृहस्थ है।

जो स्वप्रकाश ज्ञानरूप वन में सदा रहता है वही असली वानप्रस्थ जानना चाहिये, नकि मृग की तरह जड़रूप जंगल में

विचरने वाला। सर्वज्ञतादिगुण विशिष्ट परमात्मा और राग द्वेषादिगुणयुक्त जीव जिस सच्चिदानन्द परमात्मा में प्रकाशित होते है, अर्थात् उसकी सत्ता से इनकी सत्ता है। उस ब्रह्म में जिसने सब कुछ छोड़ दिया वह संन्यासी है। जो नाना दर्शनों के जालों में लोगों को भरमाते रहते हैं उन पुरुषों की तो दिशाएं भी निन्दनीय हैं अर्थात् उधर भूल से भी गमन न करे अतः सिद्धमत का आश्रय करने वाले को उचित है कि ऐसे गुरुओं को त्याग दे।

मू०—पद्मपुराणेकपिलगीतायाम्—

दत्तात्रेयादिसिद्धानांनवनाथास्तथैवच।
शङ्करोगुरुरूपेणबोधितश्चात्मतत्त्वाभिः॥

ऋगवेदोऽथयजुर्वेदः सामवेदोह्यथर्वणः।
सूक्ष्मवेदोहिअध्यात्मः पंचवेदाः प्रकीर्तिताः॥

ईश्वरउवाच—

ओंकारंबिन्दुसंयुक्तं नित्यंध्यायन्तियोगिनः।
तस्मिन्मध्येस्थितंतत्वं प्रदर्शयतिसद्गुरुः॥

ओमित्येवंपरंब्रह्म सर्वतत्वानुदर्शनम्।

आब्रह्मस्तम्भपर्यन्तं सर्वानुग्रहकारकम् ॥
तारकंचभवेद्ब्रह्मा दण्डकंविष्णुरुच्यते ।
कुण्डल्यांहितथारुद्रोऽर्धचन्द्रः स ईश्वरः ॥
बिन्दुः सदाशिवः साक्षात् प्रणवेपंचदेवता ।
निरञ्जनस्तदतीत उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥
दुर्लभोविषयत्यागीदुर्लभंतत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥
विचारोदर्पणंयस्य अवलोकनमीक्षितम् ।
दृश्यतेतत्स्वरूपंच तत्रकंपृच्छकिंनहि ॥
हृदयंदर्पणंयस्य मनस्तत्रविलोकयेत् ।
दृश्यतेप्रतिबिम्बेनआत्मरूपंसुनिश्चितम् ॥

भा०—पद्म पुराण में कपिल गीता में वर्णन किया है—दत्तात्रेयादि सिद्धों के नवनाथ और शिवजी ये सब आत्म तत्त्व के लिये गुरु रूप से माने जाते हैं। ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद तथा इन सबका अव्यक्त सूक्ष्मवेद ये पांचवेद कहे गए हैं। ईश्वर ने कहा— योगी लोग सदा बिन्दु संयुक्त ओंकार का ध्यान करते हैं। उस ओंकार में स्थित तत्त्व को

सद्गुरु प्रकाशित करता है। ओम् यह सम्पूर्ण तत्त्वों का दिखाने वाला ब्रह्म है। ब्रह्मा से लेकर तृणपर्यन्त सब जीवों पर दया करने वाला यही है। ओंकार में जो तारा है वह ब्रह्मा है दण्डक विष्णु है कुण्डली में रुद्र और अर्ध चन्द्र ईश्वर और बिन्दु सदा शिव है, इस प्रकार ओंकार में साक्षात् पाच देवता विराजमान हैं। उत्पत्ति स्थिति का कारण जो निरंजन है वह उससे परे है। विषयों का त्याग। तत्त्व दर्शन और स्वाभाविक अवस्था गुरु की कृपा के विना दुर्लभ है। विचार जिस का दर्पण और यथार्थानुभव जिसकी दृष्टि है वहां वास्तविक स्वरूप दिखाई देता है वहां अपने आत्मा से पूछो कि क्या नहीं दीखता। हृदय जिसका दर्पण है अर्थात् योग से निर्मल होगया है वहां मन को देखे वहां निश्चय ही प्रतिबिम्ब से आत्मरूप दिखाई देता है।

मू०—अवधूतगीतायाम्—

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं सम्पूर्णंपरमात्मनि।
भिन्नाभिन्नंनपश्यामि तस्याहंपंचमाश्रमी॥
आशापाशविनिर्मुक्तमादिमध्यान्तनिर्मलम्।
अनन्तानन्दब्रह्मज्ञमकारंतस्यलक्षणम्॥

वासनावर्जितायेन वक्तव्यं चनिरामयम् ।
वर्तमानेषुवर्तेतवकारंतस्यलक्षणम् ॥
धूलिधूमरगात्राणि धूतचित्तं निरामयम् ।
ध्यानधारणनिर्मुक्तं धूकारं तस्यलक्षणम् ॥
तत्वचिन्तायेनधृता चिन्ताचेष्टाविवर्जिता ।
तमहंकारनिर्मुक्तं तकारं तस्यलक्षणम् ॥
शिवंनजानामिकथंवदामिशिवंचजानामिकथंवदामि ।
अहंशिवश्चेत्परमार्थरूपं स्वच्छस्वभावंगगनोपमंच ॥
वेदानलोकानसुरान यज्ञावर्णाश्रमोनोन कुलंनजातिः ।
नधूममार्गोनचदीप्तिमार्गो ब्रह्मैवरूपंपरमार्थतत्वम् ॥
व्याप्यव्यापकनिर्मुक्तं त्वमेकः सकलंयदि ।
प्रत्यक्षंचपरोक्षंच आत्मानंमन्यसेकथम् ॥
आदिमध्यान्तमुक्तोऽहं नबद्धोऽहंकदाचन ।
स्वभावनिर्मल शुद्ध इतिमेनिश्चलामतिः ॥
नबद्धोनैवमुक्तोऽहं नचाहंब्रह्मणः पृथक् ।
नकर्तानैवभोक्ताहं व्याप्यव्यापकवर्जित ॥

नजातोऽहंमृतोवापि नमेकर्मशुभाशुभम् ।
शुद्धोऽहंनिर्गुणंब्रह्म बन्धमुक्तौकथंमम ।
यदिसर्वगतोदेवः स्थिरः पूर्णइति शिव ।
भावगम्यंनिराकारं साकारंदृष्टिगोचरम् ।
भ.वाभावविनिर्मुक्तं मन्तरालंतदुच्यते ॥
साकारंचनिराकारं नेतिनेतीति सर्वथा ।
भेदाभेदविनिर्मुक्तं वर्ततेकेवलंशिव ॥
दिवानक्तंनतेचित्त उदयास्तमयौनहि ।
विदेहस्यशरीरित्वं कल्पयान्तिकथंबुधाः ॥
नतेचमातानपितानबन्धुर्नतेचपत्नीनसुहृन्नपुत्रः ।
नपक्षपातोनविपक्षपातः कथंहिमत्तासिरजोहिचेत. ॥
धर्मार्थकाममोक्षंच द्विपदादिचराचरम् ।
मन्यन्तेयोगिनः सर्वंमरीचिजलसन्निभम् ॥
विन्दतिविन्दतिनहिनहिमंत्रश्छन्दोलक्षणमिहनहितंत्रः ।
समरसमग्नोभावितपूतः प्रलयितमेतत्कथमवधूतः ॥
अद्वैतरूपमखिलंहिकथंवदामि-

नित्यंह्यनित्यमखिलंहिकथंवदामि ।
सत्यंह्यसत्यमखिलंचकथंवदामि-
ज्ञानामृतंसमरसंगगनोपमोऽहम् ॥
ब्रह्मादयः सुरगणाः कथमत्रसन्ति-
स्वर्गादयोवमतयः कथमत्रसन्ति ।
यद्येकरूपममलंपरमार्थतत्वं-
ज्ञानामृतंसमरसंगगनोपमोऽहम् ॥
मायाप्रपंचरचनानचमेविकारः
कौटिल्यदम्भरचनानचमेविकारः ।
सत्यानृतेतिरचनानचमेविकारः
ज्ञानामृतं समरसंगगनोपमोहम् ॥
नशून्यरूपनविशून्यरूपं-
नशुद्धरूपंनविशुद्धरूपम् ।
रूपंविरूपंनभवामिकिंचित्-
स्वरूपरूपंपरमार्थतत्त्वम् ॥
नावाहनंनैवविसर्जनंच ।

पत्राणिपुष्पाणिकथंभवन्ति ।
ध्यानानिमंत्राश्चकथंभवन्ति-
समंसमेसर्वेशिवार्चनंच ॥
मूर्खोपिनाहंनचपंडितोहं मौनंचवार्तानचमेकदाचित् ।
वितर्कतर्कंचकथंवदामि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥
अस्तंगतोनैवसदोदितोऽहं तमश्चतेजोनचमेविभाति ।
संध्यादिकंकर्मकथंकरोमि स्वरूपनिर्वाणमनामयोऽहम् ॥
इह तत्वमसिप्रभृतिश्रुतिभिः प्रहितमात्मनि तत्त्वमसि ।
त्वमुपाधिविवर्जितसर्वसमं किमुरोदिपिमानससर्वसमम् ॥
नहिकल्पितभागविभागइति नहिरागविरागविचारइति ।
पदसंधिविवर्जितसर्वसमः किमुरोदिपिमानस सर्वसमः ॥
अविवेकविवेकमबोधइति अविकल्पविकल्पविबोधइति ।
यदिचैकनिरन्तरबोधइति किमुरोदिपिमानससर्वसमः ॥
बहुधाश्रुतयः प्रवदन्तियतो, विददातरयंमृगतोयसमः ।
यदिचैकनिरन्तरसर्वसमः किमुरोदिपिमानससर्व्वसमः ॥
सविभक्तिविभक्तिविहीनपरमणुकायाविकायाविहीनपरम् ।

यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवः यजनं च कथं तपनं च कथम् ॥
दिनरात्रिविभेदनिराकरणमुदितानुदितस्य निराकरणम् ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं रविचन्द्रमसोर्ज्वलनं च कथम् ॥
तव आश्रमवर्णविहीनपरो न तु कारणकर्तृविहीनपरः ।
यदि चैकनिरन्तरसर्वशिवं गुणदोषविचारवचांसि कथम् ॥

भा० टी०—अवधूत गीता में कहा है—

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त समस्त जगत् को मैं अपने आत्मा में भिन्ना भिन्न विलक्षण रूप से देखता हूँ अर्थात् अहं' भाव से अलग नहीं है इस लिए भेद नहीं कहा जाता देखा जाता है इस लिये अभेद भी नहीं होसकता विरोध होने से दोनों नहीं हो सकते इस लिये विलक्षण कहा गया है। मैं उस का द्रष्टा पञ्चमाश्रमी हूँ। आशा के पाशों से विमुक्त आदि मध्य और अन्त में निर्मल अनन्त आनन्द स्वरूप ब्रह्म के ज्ञाता का लक्षण अकार है।

जिसने वासनाओं को जीत लिया है और जिस की वाणी दोष रहित है, जो वर्तमान के अनुसार कार्य करता है वह धकार का लक्षण है। जिसका शरीर धूलि से लिपटा रहता है जिसने चित्त को विषयों से हटा कर पाप रहित कर लिया है जो ध्यान और धारणा में लगा रहता है वह धूकार का लक्षण

है। अर्थात् अर्थ है तत्व की चिन्तावस्था को जिस ने पार कर लिया है चिन्ता चेष्टा और अहंकार से जो मुक्त है यह सकार का अर्थ है।

मैं शिव को नहीं जानता यह कैसे कहूं और जानता हूं यह भी कैसे कहूं। मैं यदि परमार्थ रूप से स्वच्छ स्वभाव आकाश के समान व्यापक शिव हूं तो मेरे लिए न वेद न लोक न देव न यज्ञ न वर्णाश्रम न कुल और न जाति है। न स्वर्ग ले जाने वाला धूम मार्ग न सत्य लोक ले जाने वाला प्रकाश मान अर्चिरादि मार्ग है, मैं तो परमार्थ तत्त्व रूप केवल ब्रह्म हूं। व्याप्य व्यापक भाव से रहित यदि तू सब कुछ केवल एक प्रत्यक्ष है तो फिर अपने आपको परोक्ष क्यों समझता है। मैं आदि मध्य और अन्त से रहित हूं, मैं कभी बद्ध नहीं हूं। मैं स्वभाव से निर्मल और शुद्ध हूं यह मेरा अटल निश्चय है।

जब मैं बद्ध नहीं हूं तो मैं मुक्त कैसे कहा जासकता हूं क्योंकि बँधा हुआ ही बंध से छूट कर मुक्त होता है। मैं ब्रह्म से पृथक नहीं हूं। न मैं कर्ता और न भोक्ता हूं मैं तो व्याप्य व्यापक भाव से भी रहित हूँ। न मैं पैदा हुआ न कभी मरा न ही मेरा कोई शुभाशुभ कर्म है। मैं तो शुद्ध निर्गुण ब्रह्म हूं बंध और मोक्ष मेरे हो ही कैसे सकते हैं, जब कि देव अर्थात् ब्रह्म

सर्व व्यापक स्थिर और पूर्ण है। जो भाव गम्य है वह निराकार है और जो दृष्टिगोचर है। वह साकार है और जो भावाभाव से रहित है वह अन्तराल कहलाता है न वह साकार है न निराकार वह तो सर्वथा भेदा भेद से रहित केवल शिव उस चिद्रूप का न उदय है न अस्त न दिन न रात उस देह रहित के शरीर की कल्पना पंडित कैसे कर लेते है।

धर्मार्थ काम मोक्ष और मनुष्यादि चराचर जगत् को योगी लोग मृग तृष्णा में जल के समान जानते हैं। मंत्र छन्द और तंत्र ये सब अवधूत का लक्षण नहीं प्राप्त कर सकते अर्थात् नहीं बता सकते। वह समरस में मग्न है वह भावना भावित और पवित्र होता है ऐसा लक्षण भी प्रलापमात्र है वह अद्वैत पूर्ण है वह कैसे कहू वह नित्य या अनित्य है यह भी कैसे कहूं वह सम्पूर्ण सत्य या असत्य है यह कैसे कहूं क्योंकि वह तो सर्व व्यापक मेरा रूप है। ब्रह्मा आदि देवता तथा स्वर्गादि वस्तियाँ यहां कहां हैं जब कि मैं एक रूप निर्मल परमार्थ तत्त्व ज्ञानामृत आकाश के समान एक रस हुं। माया को प्रपंच रचना मेरा विकार नही है कुटिलता और पाखण्ड भी मेरा विकार नहीं है। सच और झूठ की रचना मेरा विकार नहीं है क्योंकि मैं तो एक रस आकाश के समान व्यापक हूं। न मैं शून्य रूप न भाव रूप न शुद्ध रूप और न मैं अशुद्ध रूप

हूं न मैं रूप रहित और न रूपवान् हूं, मैं तो परमार्थ तत्व वास्तविक निज रूप हूं। मेरा आवाहन और विसर्जन नहीं हो सकता पत्र और पुष्पों की तो बात ही क्या है ध्यान और मंत्र भी कैसे हो सकता है। सर्वत्र समरूप सर्वजगत ही शिव पूजा है मैं मूर्ख नहीं मैं पण्डित नहीं मेरे अन्दर चुप रहना और वार्तालाप भी सम्भव नहीं है? संशय और को भी मैं नहीं कह सकता ? मैं दुःख शून्य निज स्वरूप में मग्न रहने वाला हूं। मैं कभी अस्त नहीं होता सदा उदित ही रहता हूं, मुझ में अन्धकार का लेश नहीं है मैं तो सदा तेज सरूप प्रकाश मान हूं। मैं सन्ध्या आदि कर्म कैसे करूं मैं तो अपने रूप में मग्न और आनन्द रूप हूं। 'तत्वमसि' आदि श्रुतियों में जो वर्णन किया गया है वह आत्मा तू है तू सब उपाधियों से रहित समान रूप से व्यापक है अतः हे आत्मा तू क्यों दुःखी हो रहा है। तुझ में कल्पित भाग और विभाग नहीं है तुझ में राग विराग का विचार भी नहीं है तू तो पर और सन्धि से रहित समान रूप से सर्व व्यापक है अतः क्यों दुःखी होता है। तू अविवेक का विवेक और अज्ञेय है विकल्प रहित और विकल्प का कारण तथा ज्ञान स्वरूप है यदि तू एक निरन्तर और बोध रूप है तो क्यों तू मन के दुःखों को अपने में आरोपित करके दुःखी होता है। प्रायः श्रुतियां

कहती हैं कि यह जगत् मृग तृष्णा के समान है और तू एक निरन्तर और सर्व व्यापक है, तो क्यों दुःखी हो रहा है। तू विभाग और अविभागपन से रहित है अणु रूप निराकार और सब से परे है और यदि तू एक निरन्तर और सदा शिव रूप है तो यज्ञ करना और स्तुति ये कैसे हो सकते हैं। दिन और रात का तुझ में अभाव है, उदय और अस्त भी तेरे में नहीं हैं यदि तू एक निरन्तर और शिवरूप है तो तुझ में सूर्य और चन्द्रमा का प्रकाश क्या अर्थ रखता है। तेरा रूप आश्रम और वर्ण से विहीन और सब से परे है, तू जगत् का कारण और कर्ता तथा सब से परे वर्तमान है, यदि तू एक निरन्तर और सर्वदा कल्याण रूप है तो तुझ में गुण दोष के वचन कैसे घट सकते हैं।

मू० हठयोगप्रदीपिकायाम्—

क्रियायुक्तस्यसिद्धिः स्यादक्रियस्य कथंभवेत् ।
नशास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥
वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातःस्नानोपचारादि कायक्लेशादिकंतथा ॥
चलेवातेचलंचित्तं निश्चलेनिश्चलंतथा ।

योगिस्थाणुत्वमाप्नोति ततोवायुंनिरोधयेत् ॥
ब्रह्मादयोपित्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
तेनसिद्धिंगतास्ते च तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥
यावद्देहेमरुद्बद्धस्तावच्चित्तंनिरामयम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्येतावत्कालभयंकुतः ॥
कलांपरांमुखीकृत्य त्रिपथेपरिवर्तयेत् ।
साभवेत्खेचरीमुद्रा व्योमचक्रंतदुच्यते ॥
एकंसृष्टिमयंबीजमेकामुद्राचखेचरी ।
एकोदेवोनिरालम्ब एकावस्थामनोन्मनी ॥
सुचिरंज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठतिखेचरीमुद्रा तस्मिन्शून्येनिरञ्जने ॥
अयंयोगःपुण्यवतां धन्यानांतत्त्वशालिनाम् ।
निर्मत्सराणांसिद्ध्येतनतुमत्सरशालिनाम् ॥
राजयोगस्यमाहात्म्यं कोवाजानातितत्त्ववित् ।
ज्ञानान्मुक्तिःस्थितिःसिद्धा गुरुवाक्येनलभ्यते ॥
अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनोयोगीयदावर्तते ।
दृष्ट्यानिश्चलतारयाबहिरसौपश्यन्नपश्यन्नपि ।

मुद्रेयंखलुशाम्भवीभवतिसायुष्मत्प्रसादाद्गुरो ।
शून्याशून्यविवर्जितंस्फुरतियत्तत्त्वंपदंशाम्भवम् ॥
अर्धोद्घाटितलोचनःस्थिरमनानासाग्रदत्तेक्षण
चन्द्रार्कावपिलीनतामुपनयन्निस्पन्दभावान्तरे ।
ज्योतिरूपमशेष बाह्यरहितंदेदीप्यमानंपरं
तत्त्वंतत्पदमेतिवस्तुपरमंवाच्यंकिमत्राधिकम् ।
चित्तंचरतिखेयस्माज्जिह्वाचरतिखेगता ।
तेनैषखेचरीनाम मुद्रासिद्धैर्नमस्कृता ॥
सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बेऽनिलेपुनः ।
संस्थिताव्योमचक्रेया सामुद्रानामखेचरी ॥
निरालम्बमनःकृत्वा नकिंचिदपिचिन्तयेत् ।
सबाह्याऽभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठतिध्रुवम् ॥

भा०—हठयोगप्रदीपिका में भी लिखा है—जो योगी क्रिया से युक्त है उसको सिद्धि प्राप्त होती है, क्रिया रहित को नहीं। केवल शास्त्र के पाठमात्र से तो सिद्धि हो ही नहीं सकती।

दुर्जन की प्रीति, अग्नि, स्त्री और बाट चलना छोड़दे, और शरीर को कष्ट पहुंचाने वाले प्रातः स्नानादि भी छोड़ दे।

जब वायु चल होता है तो मन भी चञ्चल होजाता है, जिस समय वायु निश्चल रहता है तो मन भी शान्त होजाता है। योगी निश्चल भाव को प्राप्त हो जाता है इसीलिये वायु को रोके। ब्रह्मा आदि देवता भी प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहते हैं इसी से वे सिद्धि को प्राप्त हुए हैं अतः प्राणायाम का अभ्यास करे। जब तक शरीर में वायु बंधा हुआ है अर्थात् निश्चल है तभी तक मन निर्विकार रहता है। जब तक योगी अपने ललाट में दृष्टि जमाए रहता है तब तक काल का भय होही कैसे सकता है। जिह्वा को पराङ्मुखी करके अर्थात् पश्चिम को लौटा कर तीनों नाड़ियों का मार्ग जो कपाल का छिद्र है उसमें लगा दे वही खेचरी मुद्रा होती है और उस को ही व्योमचक्र कहते हैं। सुप्तिमयबीज एक है, खेचरीमुद्रा भी एक है निरालम्ब एक ही देव है और मनोन्मनी अवस्था भी एक ही है अर्थात् सुप्तिमयबीज सब बीजों में खेचरी मुद्रा सब मुद्राओं में निरालम्ब देव सब देवों में और मनोन्मनी अवस्था सब अवस्थाओं में उत्तम है।

यह योग ईर्षा और अभिमान् शून्य भाग्यवान् और तत्त्वज्ञानियों को सिद्ध होता है। अभिमानी और ईर्ष्यालुओं को नहीं। राजयोग के माहात्म्य को कोई तत्त्वज्ञानी ही जानता है। ज्ञान से मुक्त अवस्था में स्थिति सिद्ध हो जाती है और वह

ज्ञान गुरुवाक्य से प्राप्त होता है। भीतर अनाहत चक्रादि में जो दृश्यमान ईश्वर की मूर्ति आदि है उसमें जिसका चित्त और पवन विलीन हो गये हैं, ऐसी अवस्था में जब योगी वर्तमान होता है और जब स्थिरतारावली दृष्टि से बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता यह शाम्भवी मुद्रा गुरु की कृपा से प्राप्त होती है इस अवस्था में शून्य और अशून्य से विलक्षण तत्व प्रकाशित होता है। जब योगी की आँखें आधी खुली रहती हैं मन स्थिर हो जाता है, दृष्टि भी नासाग्र पर स्थिर हो जाती है और जब चन्द्र सूर्य को स्पन्द रहित भाव में लीन कर देता है तब उसे अशेष बाह्य से विहीन प्रकाशमान परमतत्त्व प्राप्त होता है। इस विषय में और अधिक क्या कहूँ। चित्त आकाश में विचरता है और खेचरी मुद्रा उसे वहां प्राप्त होकर वशीभूत करती है अतः खेचरी मुद्रा सब सिद्धों से पूजी गई है। सूर्य और चन्द्र के मध्य निरालम्ब वायु में और व्योम चक्र में स्थित होने के कारण इस मुद्रा को खेचरी मुद्रा कहते हैं। मन को अवलम्बन रहित करले और कुछ भी न सोचे वह भीतरी और बाहरी आकाश में अवश्य घट के समान स्थित होता है।

मू०—अथारम्भावस्था।

ब्रह्मग्रन्थिर्भवेद्भिन्न आनन्दः शून्यसम्भवः।

विचित्रक्वणिकोदेहेऽनाहतः श्रूयतेध्वनिः ॥
दिव्यगन्धोदिव्यचक्षुस्तेजस्वीस्यादरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भोयोगवान्भवेत् ॥

भा०—आरम्भावस्था में ब्रह्मग्रन्थि खुल जाती है फिर शून्य में उत्पन्न हुई विचित्र अनाहत ध्वनि सुनाई देती है जिस योगी को अलौकिक गन्ध और दृष्टि प्राप्त होजाती है। वह तेजस्वी रोग रहित और सम्पूर्ण हृदय वाला होजाता है तब समझले कि योग का आरम्भ होगया।

मू०—अथघटावस्था—

द्वितीयायांघटीकृत्य वायुर्भवतिमध्यगः ।
दृढासनोभवेद्योगी ज्ञानीदेवसमस्तथा ॥
विष्णुग्रन्थिर्यदाभिन्नः परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्यविमेदश्च भेरीशब्दस्तथाभवेत् ॥

भा०—जब दूसरी अवस्था में घटित हो जाता है तब, उसके मध्य में वायु बहने लगता है तब योगी का आसन दृढ़ होजाता है और देवों के समान ज्ञानी हो जाता है जब विष्णु ग्रन्थि खुलजाती है अति शून्य का भेद हो जाता है तब परमानन्द सूचक भेरी का शब्द होने लगता है।

मू०—अथ परिचयावस्था—

तृतीयायांततोभित्त्वा विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यंतथायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥
चित्तानन्दंततोजित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखक्षुधानिद्रा जरामृत्युविवर्जितः ॥
रुद्रग्रन्थिततोभित्वा सर्वपीठगतोऽनिलः ।

भा०—जब तीसरी अवस्था में पहुंचता है तब आकाश में डमरु की ध्वनि सुनाई देती है और सब सिद्धियों के आश्रय भूत महाशून्य को प्राप्त होता है। तब चित्तानन्द को जीतकर स्वाभाविक आनन्द को प्राप्त होता है तब योगी सब प्रकार के दोष क्षुधा निद्रा बुढापा और मृत्यु को भी जीत लेता है। तब वायु रुद्र ग्रन्थी को तोड कर सब उच्च स्थानों में पहुंच जाता है।

मू०—अथनिष्पत्त्यवस्था—

निष्पत्तौवैणवः शब्दः क्वणद्वीणा क्वणोभवेत् ।
अस्तुवामास्तुवामुक्तिरत्रैवाखण्डितं महत् ॥
लयामृतमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ।
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायं सुचेतसाम् ॥

नादानुसंधानसमाधिभाजां योगीश्वराणांहृदयेप्ररूढम् ।
आनन्दमेकंवचसामवाच्यं जानातितं श्रीगुरुनाथएव ॥

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ।
सर्वेतत्रलयं यान्ति यत्रदेवोनिरञ्जनः ॥
योगिनांज्ञानविदुषामन्येषांच महात्मनाम् ।
ग्रासं तं कालपुरुषं सुविज्ञाप्यं विचक्षणैः ॥
यावन्नैवप्रविशति मरुद् विज्वरोमध्यमार्गे ।
यावद्बिन्दुर्नभवतिदृढः प्राणवत्सुप्रबुद्धः ॥
यावद्व्योम्नः सहजसदृशं जायतेनैवतत्त्वम् ।
तावत्सर्वं वदतियदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥

भा०—निद्रावस्था में बांसुरीका सा शब्द और बजती हुई सितार जैसा शब्द होता है, अब मुक्ति हो या न हो यहां पर हो महत् अखण्डित आनन्दस्वरूप होजाता है । यह सुखप्रद लयरूपी अमृत राजयोग से प्राप्त होता है राजयोग पद की प्राप्ति बुद्धि मानों के लिए सुख का उपाय है। नादानुसंधान समाधि को प्राप्त होने वाले योगीश्वरों के हृदय में जो आनन्द उत्पन्न होता है वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता उसको तो केवल श्रीगुरु

गोरक्षनाथ जी ही जानते हैं। सहस्रों नाद कोटियां और सैंकड़ों विन्दु कोटियां ये सब निरंजन देव में लय को प्राप्त होती हैं। योगियों तथा अन्य ज्ञानी महात्माओं को जो काल पुरुष प्राप्त होता है वही बुद्धिमानों को जानना चाहिए। जब तक वायु सुख पूर्वक मध्यमार्ग में प्रविष्ट नहीं होता और जब तक प्राण के समान ज्ञान पूर्वक बिन्दुः दृढ़ नहीं होता और जब तक आकाश के समान स्वाभाविक तत्त्व नहीं प्राप्त होता तब तक जो कुछ कहा जाता है वह दम्भ और मिथ्या प्रलाप है।

मू०—हठ प्रदीपिकायाम्—दशमोपदेशे—

आदिनाथोदितं सर्वमष्टैश्वर्य प्रदायकम्।
यल्लभंसर्वसिद्धानां दुर्लभंमहतामपि॥
पीड्यतेनतुरोगेण नचलिप्येतकर्मणा।
बाध्यते नचकालेन योमुद्रांवेत्तिखेचरीम्॥

ऊर्ध्वंषोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तंहठात्।
ऊर्ध्वास्योरसनांनियम्यविवरे शक्तिंपरांचिन्तयेत्॥
उत्कल्लोलकलाजलंच विमलंधारामृतंयः पिबेत्।
निर्दोषः समृणालकोमलवपुर्योगीपरंजीवति॥
यत्प्रालेयंप्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं।

तस्मिंस्तत्त्वप्रवदतिसुधांस्तन्मुखं निम्नगानाम् ॥
चन्द्रात्सारः स्रवतिवपुषस्तेन मृत्युर्नराणाम् ।
तंबध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथाकायसिद्धिः ॥
बद्धं मूलबिलंयेन तेनविघ्नोविदारितः ।
अजरामरतांयाति यथा पंचमुखोहरः ॥
तत्रास्तिकरणं दिव्यं सूर्यस्यमुखवंचनम् ।
गुरूपदेशतोज्ञेयं नतुशास्त्रार्थकोटिभिः ॥
येनसंचालिताशक्तिः सयोगीसिद्धिभाजनम् ।
किमत्रबहुनोक्तेन कालंजयतिलीलया ॥
ज्ञानंकुतोमनसिसम्भवतीहतावत्
प्राणोपिजीवतिमनोम्रियतेनयावत् ।
प्राणोमनोद्वयमिदंविलयंनयेद्योमोक्षं
सगच्छतिनरोनकथंचिदन्यः ॥
इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथश्चमारुतः ।
मारुतस्यलयोनाथः सलयोनादमाश्रितः ॥
अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।

एषासाशाम्भवीमुद्राः सर्वतन्त्रेषुगोपिता ॥

शक्तिमध्येमनः कृत्वा शक्तिंमनसिमध्यतः ।

मनसामनश्चालोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यकुम्भइवाऽम्बरे ।

अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णकुम्भइवाम्भसि ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत् समग्रं,

संकल्पमात्रकलनोहिमनो विलासः ।

संकल्पमात्रकलनैवकृतिस्तुतिस्या,

संकल्पनिश्चयमवाप्नुहिचात्मशान्तिः ॥

ध्येयं सर्वमतीतंच ज्ञानं च मन उच्यते ।

ज्ञानं ध्येयं मनश्चैव नान्यः पंथाद्वितीयकः ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिताजयन्ति ।

नादानुसन्धायकमेवनान्यं मन्यामहे धन्यतमं लयानाम् ॥

मनः स्थैर्यस्थिरोवायुस्ततोबिन्दुः स्थिरोभवेत् ।

बिन्दुस्थैर्यादियात्मस्थं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥

ध्यानतः सुप्रसन्नात्मा निर्द्वन्द्वोविजितेन्द्रियः ।

कुरुते युक्तकर्माणि नित्यनैमित्तिकानिच ॥
योगेनपद्मात्मानं गुहायां प्राप्यचेतसा ।
तारकंजपतेनित्यं जितायुः कामवर्जितः ॥
युक्तासनेनसमारुह्य समकायशिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी जपेदोंकारमक्षरम् ॥

तदुक्तंश्रीगोरक्षपद्धतौ

भूर्भुवः स्वरिमेलोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
यस्यमात्रासुतिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥
त्रयः कालास्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ।
त्रयो लोकाः स्थितायत्र तत्परंज्योतिरोमिति ॥
इच्छा क्रियातथाज्ञानं ब्राह्मीरौद्रीच वैष्णवी ।
त्रिधाशक्तिः स्थिता यत्र तत्परंज्योतिरोमिति ॥
वचसा वजपेद्बीजंवपुषाचसमभ्यसेत् ।
मनसासंस्मरेन्नित्यं तत्परंज्योतिरोमिति ॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि योजयेत्प्रणवंसदा ।
नसलिप्यतेपापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

शरीरंनोत्यजेदेव कालःकस्यापिकुत्रचित् ।
अन्तः शरीररक्षार्थं यत्नः कार्यस्तुयोगिना ॥
ततोलक्ष्यमनोऽभ्यासमहं भावविवर्जितम् ।
सर्वाङ्गकल्पनाहीनं कथंकालोजयेत्तुतम् ॥
स एवकालः स शिवः स सर्वोनापिकिञ्चनः ।
कः केनहन्यतेतत्र म्रियते वापिकश्चन ॥
ततोव्यतीतिसमये कालस्य भ्रान्तिरूपतः ।
योगीसुप्तोत्थित इव बोधयाति निरोधतः ॥
एवंसिद्धोभवेद् योगी वञ्चयित्वाविधानतः ।
कालकलित संसारं पौरुषणाद्भुतेन च ॥
तत्रापिभुवनेयोगी विरहत्येक एव सः ।
पश्यन् संसार वैचित्र्यं स्वेच्छयानिरहंकृतिः ॥
द्वाराणां नवकंनिरुध्यमरुतपीत्वा दृढंधारितम् ।
नीत्वाकाशमपानवह्नि सहितं शक्त्यासमुज्ज्वालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेनविधिना विन्यस्यमूर्ध्निध्रुवम् ।
यावत्तिष्ठतितावदेवमरुतां संघेन संस्तूयते ॥
दृष्टिःस्थिरा यस्यविनापिदृश्यंवायुःस्थिरोयस्यविनाप्रयत्नं

चित्तंस्थिरंयस्यविनाऽवलम्बं स एवयोगी सगुरुः स सेव्यः ॥

गोरक्षोपनिषदि— आदौदेवोमहानन्दो निर्ममेदेवतास्वयम् ।

तस्मादिच्छा सुसम्पन्नाइच्छाज्ञानंततःक्रिया ॥

ततोऽव्यथांवरारोहेपिण्डब्रह्माण्डबुद्बुदम् ।

अव्यक्तव्यक्तभावेन विचरामिजगत्त्रयम् ॥

भा—हठप्रदीपिका के दशवें उपदेश में कहा है—आदिनाथ जी का बतलाया हुआ योगमार्ग अष्टसिद्धियों के देने वाला है यह मार्ग सिद्ध महापुरुष के लिए भी दुर्लभ है इस लिये सब के लिये उत्तम है। जो खेचरीमुद्रा को जानता है वह रोग से पीडित कर्मों से लिप्त और काल से भी अवध्य होता है। सोलहपत्तों वाले कंठस्थित पद्म में चन्द्रमण्डल से गिरते हुए फेन के समान श्वेत चन्द्रकिरण के समान स्वच्छ अमृत जल का ब्रह्मरन्ध्र में जिह्वा का प्रवेश करके खेचरी मुद्रा के द्वारा पान करे उस योगी का शरीर मृणाल के समान कोमल और निर्दोष हो जाता है। और वह चिरकाल तक जीवित रहता है। मेरु पर्वत के समान सब से ऊंची सुषुम्णा के ऊपर भाग में जो सुराख है। उस में सोमकला जल रहता है उसी को शुद्ध हृदय विद्वान् आत्म तत्व अर्थात् परमात्मा का अभिव्यक्ति स्थान

और जीवों की जीवन शक्ति कहते हैं। उसी के समीप नीचे इड़ा पिङ्गला आदि नाड़ियों का मुख है, उस में देह का सार भार अमृत विन्दु चन्द्रमण्डल अर्थात् मस्तक के बीच ऊपर भाग में स्थित दिमाक से टपकता रहता है। इस कारण मनुष्यों की मृत्यु होती है। अतः उसको रोकने वाली खेचरी मुद्रा को बांधे और तरह से शरीर की सिद्धि नहीं होसकती।

जिसने इस मूल बिल को पाथलिया है उसने विघ्नों को नष्ट कर दिया और वह देवाधि देव के समान अजर अमर हो जाता है। यहां मूल बिल में नाभि स्थित जठराग्नि रूप सूर्य के मुख को वञ्चित करने वाली खेचरी मुद्रा है जो गुरु के उपदेश से जानी जाती है करोड़ों शास्त्रों से नहीं। जिसने शक्ति को सञ्चालित किया है वह योगी सिद्धि को प्राप्त कर सकता है अधिक क्या कहें वह सुगमता से काल को जीत सकता है।

मन और प्राण का स्वाभाविक व्यापार जब तक नहीं रुकता तब तक ज्ञान कैसे उत्पन्न हो सकता है। प्राण और मन को जो विलीन करदे वह मुक्ति प्राप्त कर सकता है और कोई नहीं इन्द्रियों का स्वामी मन है और मन का स्वामी प्राण है प्राण का स्वामी लय है और वह नाद में आश्रित है।

भीतर की ओर लक्ष्य हो और निर्निमेष दृष्टि बाहर की तरफ हो यह सब तंत्रों में गुप्त रखने योग्य शाम्भवी मुद्रा है। शक्ति के बीच मन को और मन के बीच शक्ति को करके मन से मन को देख कर परम पद को सिद्ध करे। भीतर और बाहर से शून्य आकाश में स्थित शून्य घट के समान भीतर से पूर्ण और बाहर से पूर्ण जल में भरे हुए घड़े के समान योगी की अवस्था होती है। यह समस्त जगत् संकल्प मात्र और मन का खेल है, यह नित्य की कृति भी संकल्प मात्र ही है, इस लिये हे योगी तू एक आत्मा में तन के संकल्प का निश्चय कर यही आत्म शान्ति है। सम्पूर्ण भूत ज्ञेय और ज्ञान मन ही कहलाते हैं और दूसरा कोई मार्ग नहीं है, श्री आदिनाथ जी ने मन का लय करने की सवा करोड़ रीतियां कही हैं। परन्तु हम तो नादानुसंधान को ही लय का सर्वोत्तम साधन कहते हैं, अन्य किसी को नहीं, मन के स्थिर होने से वायु स्थिर होता है, वायु के स्थिर होने से विन्दु स्थिर होता है विन्दु की स्थिरता से यह शरीर सच मुच स्थिर हो जाता है। मन से सब संकल्पों को छोड़ कर जितेन्द्रिय होकर योगी सब नित्य नैमित्तक कर्मों को योग पूर्वक करता है। योग से हृदय गुहा में आत्मपद को प्राप्त कर के

निष्कामभाव से आयु को जीत कर तारक का नित्य जप करता है। युक्तासन से बैठ कर सिर गर्दन और काया को एक सीध में करके एकाकी नाक के अग्रभाग में दृष्टि टिका कर एकाग्र मन से ओंकार को जपे। जिस ओंकार की मात्राओं में भूर्भुवः स्वः ये तीनों लोक सूर्यचन्द्र और अग्नि ये तीन, इनके देवता स्थित हैं, ओंकार वह सर्वोत्तम प्रकाश है। ओंकार वह परम प्रकाश है जिस में तीनों काल तीनों वेद तीनों अग्नि और तीनों लोक स्थित हैं। इच्छा क्रिया और ज्ञान ये तीन प्रकार की ब्राह्मी रौद्री और वैष्णवी शक्तियां जिस में तीन प्रकार से स्थित हैं वह परम ज्योति ओंकार है।

ज्ञानवान् योगी वाणी से ऊपर परम ज्योति ओंकार को जपे, नेत्र से उसका अभ्यास करे और मन से उसका स्मरण करे पवित्र या अपवित्र किसी अवस्था में भी जगत् के सर्व कारण ओंकार में मन लगाने वाला योगी पाप से लिप्त नहीं होता। काल किसी के भी शरीर को कहीं भी नहीं छोडता इस लिये योगी को नित्य शरीर रक्षार्थ यत्न करना चाहिये। जो मन को लक्ष्य पर एकाग्र किये हुए अहंकार से रहित और सर्वथा कल्पनाओं से शून्य है उसको काल कैसे जीत सकता है जब वही काल वही शिव और वही सब कुछ है तब फिर कौन किस को करता है और कौन मरता है। तब समय के बीतने पर काल की भ्रान्ति से गुरु के उपदेश द्वारा सोकर उठे हुये के

समान ज्ञान को प्राप्त होना है। इस प्रकार संसार को नष्ट करने वाले काल को अपने अद्भुत पौरुष और गुरु के उपदेश द्वारा ाल को ठग कर सिद्ध होजाता है। वहां अपने भवन में संसार ी विचित्रता को देखता हुआ अहंकार रहित होकर स्वेच्छा से विहार करता है। नवों इन्द्रिय द्वारों को रोक कर कुम्भक करके प्राणों को निश्चलता के साथ मस्तिष्क के आकाश में ऐसी रीति से कि वह न नीचे को गिरे और न उस में उष्णता आवे पहुंचाकर परा शक्ति की उमंग से परिपूर्ण और पर-मात्मा के ध्यान में मग्न होकर जितनी देर बैठता है उतनी देर देवता लोग भी उसकी स्तुति करते हैं। जिसकी दृष्टि बिना दृश्य के वायु बिना प्रयत्न के और चित्त बिना अवलम्ब के स्थिर है वही योगी है वही गुरु है और वही सेवा के योग्य है।

गोरक्षोपनिषद् में कहा है कि आदि में महानन्द देव ने स्वयं देवता को उत्पन्न किया, उससे इच्छा उत्पन्न हुई उससे ज्ञान और ज्ञान से क्रिया क्रिया से कष्ट और है बराबोहे? उससे बुलबुले के समान स्थूल शरीर और ब्रह्माण्ड पैदा हुआ, और अतः मैं गोरक्षनाथ व्यक्ताव्यक्त भाव से तीनों लोकों में भ्रमण करता हूं

मू०—एवं श्रीगुरुरादिनाथः। मत्स्येन्द्रनाथः। उदयनाथः।

यत्पीयूषवकारबीज सहितं युक्तंसदाविष्णुना ।।
प्राणंतत्रविलीय पंचघटिकंचित्तान्वितंधारयेत् ।
एषादुःसहकालकूट जरणा स्याद्वारुणीधारणा ।।
यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वंत्रिकोणंज्वलत् ।
तेजोरेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेणयत्संगतम् ।।
प्राणं तत्रविलीयपंचघटिकं चित्तान्वितंधारयेत् ।
एषावह्निजयं सदाविदधतीवैश्वानरीधारणा ।।
यद्भिन्नाञ्जनसंनिभंशुभमिदंवृत्तं भ्रुवोरन्तरे ।
तत्त्वं वायुमयंयकारसहितं तत्रेश्वरोदेवता ।।
प्राणंतत्रविलीयपंचघटिकं चित्तान्वितं धारयेत् ।
एषाखेगमिनं करोतियमिनां स्याद्वायवीधारणा ।।
आकाशंसुविशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रेस्थितम् ।
यन्नाथेनसदाशिवेनसहितं शान्तंहकाराक्षरम् ।।
प्राणंतत्रविलीयपंचघटिकं चित्तान्वितंधारयेत् ।
एषामोक्षकपाटपाटनपटुः प्रोक्तानभोधारणा ।।
स्नानंतेनसहस्रतीर्थसलिलैर्दत्तं द्विजेभ्योधनम् ।

यज्ञानांचकृतं सहस्रमयुतं देवाश्चसंपूजिताः ॥
सत्यंतेनसुतर्पिताश्चपितरः स्वर्गंचनीताः पुनः ।
यस्यब्रह्मविचारणेक्षणमपि प्राप्नोतिधैर्यंमनः ॥

भा०—इस प्रकार सब से प्रथम श्री गुरु आदिनाथ १ श्री मत्स्येन्द्रनाथ २ उदयनाथ ३ दण्डनाथ ४ सत्यनाथ ५ सन्तोषनाथ ६ कूर्मनाथ ७ भवनार्जिनाथ ८ सुदमवेदी अद्वैत के ऊपर सदानन्द देवता समस्त सिद्ध मण्डलाधिपति सर्वादि ब्रह्मवेत्ता शिवावतार श्री गोरक्षनाथ जी ६। अनाहत शृङ्गी खेचरी मुद्रा अर्थात् नादलय होने पर जो अनहद नाद सुनाई देता है वही इनकी शृङ्गी और खेचरी मुद्रा ही मुद्रा है विवेक मार्तण्ड में कहा है—जो योगी देह के भीतर निश्चलदीप शिखा के समान तेज रूप कुण्डालनी द्वारा मूलाधारादिषट् चक्र भेदन करने से युग कल्पादि रूप ,काल की गणना को जीतकर अमर रूप से गाया जाता है और जिस मत्स्येन्द्रनाथ में आनन्द सागर आदि नाथ महेश्वर ही ज्ञान रूप से प्रकट हुए (अर्थात् आदिनाथ जी के शिष्य होने से उनका समस्त ज्ञान भण्डार उनमें आगया उस स्थूल सूक्ष्म गुण रहित श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी को बार २ प्रणाम करता हूँ। अजपा नाम की गायत्री योगियों को मोक्ष प्रदान करने वाली है, इसके संकल्पमात्र से ही सब पापों से

मुक्त होजाता है। इसके समान विद्या इसके समान जप और इस के सदृश ज्ञान न हुआ है न होगा। इसके समान सुखदायक इसके समान तप और इसके समान जानने योग्य वस्तु न हुई न होगी। इसी कारण काल के भय से ब्रह्मा और सब योगी तथा मुनि लोग प्राणायाम के अभ्यास में संलग्न रहते हैं इसलिये प्राणायाम करे, जिस में सब संकल्पों को नष्ट करके सब काम क्रोध लोभ मोहादि द्वन्द्वों की पहुंच से बाहर होकर अपने आत्मा को परमात्मा में लीन कर देता है वह समाधि कही जाती है। समाधि से युक्त योगी शास्त्रों से नहीं जाना जाता कोई प्राणी उसका भेद नहीं जान सकता और किसी प्रकार के मन्त्र तन्त्रों का उसके ऊपर कोई असर नही होता। हेतुओं और दृष्टान्तों से रहित, मन और बुद्धि की पहुंच से परे वह अनन्त ज्ञानरूप जो आनन्द है उस तत्त्व को तत्त्व वेत्ता ही जानते हैं, जिस प्रकार घी में डाला हुआ घी और दूध में डाला हुआ दूध पहले घी और दूध में मिल जाता है और कुछ भी भेद मालूम नहीं होता, इसी प्रकार योगी भी ब्रह्मरूप ही होजाता है। जब बिन्दु देह में स्थित है तब मृत्यु का भय हो ही नहीं सकता, और जब तक खेचरी मुद्रा बांध रक्खी है, तब तक बिन्दु नहीं जासकता। बिन्दु शिव है और रज शक्ति है, बिन्दु

चन्द्रमा है और रज सूर्य दोनों के संगम से ही परम पद प्राप्त होता है। जो पृथिवी हड़ताल और सुवर्ण के समान पीली अधिष्ठातृ देवता ब्रह्मा के सहित चतुष्कोणाकार और मध्य में (लं) बीज से युक्त है इस पृथ्वी तत्त्व का हृदय में ध्यान कर के उक्त भूमंडल में चित्त सहित प्राण को लीन करके पांच घड़ी तक स्तम्भ करने की धारणा करे इस धारणा के अभ्यास से पृथिवी तत्त्व अपने वश में हो जाता है। अर्धचन्द्राकार कुन्द पुष्प के समान श्वेत वर्ण अमृत रूप मध्य में 'वं' बीज से युक्त अधिष्ठातृदेवता विष्णु सहित जल तत्त्व का विशुद्ध चक्र में ध्यान करे और उक्त जल तत्व में स्वयंलीन हो तथा प्राण को लीन करके पांच घड़ी तक धारणा करे यह जल स्तम्भन करने वाली धारणा है इसके सर्वदा अभ्यास करने से महाभयंकर काल कूट विष का भी शरीर पर असर नहीं होता वह भी शरीर में ही भस्म होजाता है। इन्द्रगोप कीट के समान लालवर्ण त्रिकोणाकार मूंगे के समान रमणीय मध्य में 'रं' बीज से शोभित अधिष्ठातृ देवता रुद्र सहित अग्नि तत्व को तालु में भावना करे उक्त अग्नि तत्व में स्वयं और चित्त सहित प्राण को लीन करे और पांच घड़ी तक तन्मय हो, यह वैश्वानरी धारणा है इसके सेवन करने से योगी अग्नि को जीत लेता है अग्नि उसका दाह नहीं कर सकती। गोलाकार कज्जल के ढेर के

समान अतिनील वर्ण मध्य में 'यं' बीज युक्त अधिष्ठातृ देवता ईश्वर सहित वायु तत्व का भ्रू मध्य में ध्यान करे उसी वायु तत्व में स्वयं लीन होकर प्राण सहित चित्त को लीन करे और पांच घड़ी पर्यन्त स्थिर रहे यह वायु तत्व की धारणा है इस धारणा के नित्य अभ्यास करने से योगी आकाश में उड़ने लगता है।

गोलाकार निर्मल जल के समान वर्णवाले मध्य में हं बीज और अधिष्ठातृ देवता शिव सहित आकाश तत्व का ब्रह्म रंध्र में ध्यान करे फिर स्वयं उनमें लीन हो और चित्त सहित प्राणको उसमें लीन करे यह नभो धारणा मोक्ष द्वार के खोलने में समर्थ है नित्य इसका अभ्यास करने से मोक्ष का द्वार खुल जाता है। वह हजारों तीर्थों में स्नान कर चुका ब्राह्मणों को दान दे चुका हजारों यज्ञ भी उसने कर लिये, समस्त देवताओं को पूज लिया, और पितरों को तृप्त कर चुका तथा स्वर्ग में भेज दिया जिसका मन क्षणभर भी ब्रह्म विचार में स्थिर होगया है।

मू० राजगुह्ये श्रीकृष्ण कृत गोरक्ष नाथ स्तोत्रम्—

गकारोगुणसंयुक्तो रकारोरूपलक्षणः।
क्षकारेणास्वयंब्रह्म श्री गोरक्षनमोस्तुते॥
नाकारोऽनादिरूपःथकारस्थाप्यतेसदा,

भुवनत्रयमेवैकश्श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥
ब्रह्मणांचपरंब्रह्म रुद्रादीनांशिरोमणे ! ।
त्रैलोक्यंनिर्मितंयेन श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥
सर्वगुणोगुणाभावो निर्गुणश्चगुणास्थितः ।
साकारोवानिराकारः श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥
संपूजयन्तिदेवास्तं मर्त्यलोकेचमानवाः ।
पातालेनागलोकाश्च श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥
एकाकीवर्ततेनित्यं भवपाशविवर्जितः ।
परंब्रह्माऽक्षयंज्योतिः श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥
नमन्तिब्रह्माविष्णुश्च सुरान्मुनयस्तथा ।
ज्ञानसाराऽखिलाः सिद्धाः श्रीगोरक्षनमोस्तुते ॥
श्रीगोरक्षस्येदंस्तोत्रं स्वयंकृष्णेननिर्मितम् ।
भक्तिभावविनिर्मुक्तो दासोऽहमितिभावयेत् ॥
आकाशंमन्दिरंयस्य नानारत्नोपशोभितम् ।
हस्तमध्येस्थितंशम्भोरभयंवरदायकम् ॥
श्रीनाथंतुमहात्मानं नजानातिस्वयंहरिः ।
किंचित्किंचित्विजानाति महादेवोनमस्कृतम् ॥

श्रीनाथश्चाऽव्ययोदेवो देवानामप्यगोचरः ।
तत्पादौचिन्तयेद्योगी ध्रुवयोयोगनिश्चलः ॥

कल्पद्रुमतन्त्रेश्रीगोरक्षसहस्रनामस्तोत्रे—

शुद्धस्फटिकसंकाशं जटाजूटंत्रिलोचनम् ।
निरंजनंनिराकरं निर्विकल्पंनिरामयम् ॥
त्रिमूर्तिचत्रिलोकीशं विधिविष्णुमहेश्वरम् ।
विश्वरूपंमहाकारं गोरक्षनाथदैवतम् ॥

इत्यादि तथाच—

विद्यापतिर्मन्त्रनाथो ध्याननाथोनिरंजनः
नित्यनाथोभूतपतिर्नित्यानन्दोमहीपतिः ॥
सर्वाराध्यः पूर्णनाथो यतिनाथो यतिप्रियः ।
सृष्टिनाथः स्थितिनाथो हारनाथोमहागुरुः ॥
रमणोरामभद्रश्च रामनाथोजनार्दनः ।
पदस्थापनकार्याणि मुक्तिकार्यविशेषतः ॥
विनागोरक्षमंत्रेण नकर्तव्यंकदाचन ।
आगमोक्तानिकर्माणि वैदिकानितथैवच ॥

विनागोरक्षमंत्रेण नासिद्ध्यन्तिसाधयेत्तथा ।

श्रीकृष्णकृत श्रीगोरक्षनाथस्तोत्र—

भा० टी०—गकार गुण संयुक्त है रकार रूप का चिह्न है और क्षकार से अक्षय ब्रह्म लक्षित होता है ऐसे श्रीगोरक्षनाथ जी मैं आप को नमस्कार करता हूं । आप ब्रह्माओं के ब्रह्मा और रुद्रों के शिरोमणि हो, त्रैलोक्य की रचना करने वाले हे गोरक्ष नाथ ? मैं आपको प्रणाम करता हूं ।

आप सर्वगुण युक्त और गुणातीत हैं और निर्गुण होते हुए भी गुणों में स्थित हैं आप साकार और निराकार हैं मैं आपको नमस्कार करता हूँ । स्वर्ग में देव मर्त्यलोक में मनुष्य और पाताल में नाग आपकी पूजा करते हैं ऐसे सर्वपूज्य आपको प्रणाम करता हूं । आप संसार बन्धन से रहित होकर एकाकी वर्तमान हैं और अक्षय ज्योति रूप परब्रह्म हैं हे श्रीगोरक्ष नाथ ऐसे आपको मैं प्रणाम करता हूं । यह गोरक्षनाथजी का स्तोत्र श्रीकृष्ण ने बनाया है भक्ति भाव से युक्त होकर मैं गोरक्षनाथजी का दास हूं ऐसी भावना करे । जिसका मन्दिर नाना रत्नों से शोभायमान आकाश महादेव के हाथ में स्थित है । ब्रह्मा विष्णु आदि देवता मुनि मनुष्य और महा सिद्ध ज्ञानी आपको नमस्कार करते हैं ऐसे मैं आपको नमस्कार करता हूं । महात्मा श्रीनाथ को स्वयं विष्णु भी नहीं जान सकते उस सर्व नमस्कृत

नाथ को महादेव कुछ २ जानते हैं। श्रीनाथदेवों से भी अप्राप्य हैं और अव्यय देव हैं अक्षय योगी सदा योग में निश्चल होकर उसके चरणों का ध्यान करे।

कल्पद्रुम में श्री गोरक्ष सहस्र नाम स्तोत्र है। शुद्ध स्फटिक के समान शुभ्र जटाजूट धारी त्रिलोचन निरंजन निराकार निर्विकल्प निरामय त्रिमूर्ति त्रिलोकेश ब्रह्मा विष्णु महेश्वर रूप विश्वरूप सदाकार, नाथ देवगोरक्ष, विद्यापति मंत्रनाथ ध्यान नाथ निरंजन, नित्यनाथ भूतपति नित्यानन्द मही पति सर्वाराध्य पूर्णनाथ श्रुतिनाथ श्रुतिप्रिय सृष्टिनाथ, स्थितिनाथ हारनाथ महागुरु रमण रामभद्र रामनाथ जनार्दन, घट स्थापन के कार्य और विशेष रूप से मुक्ति के कार्य गोरक्ष मंत्र के बिना कभी नहीं करने चाहियें, शास्त्रों और वेदों में कहे हुए कोई भी कर्म गोरक्ष मंत्र के बिना सिद्ध नहीं होते इस लिये साधक को उचित है कि उन्हें गोरक्ष मंत्र से ही सिद्ध करे।

मू०—सारसंग्रहेब्रह्माण्डपुराणेललितापुरवर्णनेललिताखण्डे—

तस्यचोत्तरकोणेतु वायुलोकोमहाद्युतिः।
तत्रवायुशरीराश्च सदानन्दमहोदयाः॥

सिद्धादिव्यपर्यश्चैव पवनाऽभ्यासिनोपरे ।
गोरक्षप्रमुखाश्चान्ये योगिनोयोगतत्पराः ॥

द्वात्रिंशत्तमेऽध्याये—

नाथान्तरामिति प्रोक्तं हस्त विंशतिचोन्नतम् ।
चतुर्नल्वप्रविस्तारं प्रागवत् सोपान मण्डितम् ॥
तत्र नाथामहादिव्या योगशास्त्र प्रवर्तकाः ।
सर्वेषां मंत्रगुरवः सर्वविद्या महार्णवाः ॥
चत्वारो युगनाथास्तु लोकानामभिगुप्तये ।
तुष्टाः कामेशदेवेन तेषांनामानि मच्छृणु ॥
मित्रीशोड्डीश षष्ठीश चर्याख्याःकुम्भसंभव ! ।
तैः सृष्टा बहवोलोका रक्षार्थं पादुकात्मकाः ॥
दिव्यौघा गुरवः प्रोक्ता स्तेषां नामानि मच्छृणु ।
मित्राद्यामानवौघाश्च सिद्धौघास्सुरतापसाः ॥
प्रायः सालोक्यसारुप्य सायुज्यादिकसिद्धयः ।
महान्तोगुरवस्तांस्तु सेवेतचतुरोगुरून् ॥

स्कन्दपुराणे काशीखण्डे—

मम भक्तिप्रकुर्वाणा येविश्वेशंद्विषन्तिवै ।
विद्विषोममतेज्ञेयाः पिशाचपदगामिनः ॥
अध्यासतेऽन्धतामिस्रं मृतास्तेऽन्यत्रसन्ततम् ।
शिवनिन्दापरायेच येचपाशुपतनिन्दकाः ॥
विद्विषोममतेज्ञेयाः पतन्तिनरकेऽशुचौ ।
अष्टाविंशतिकोटीषु नरकेषुक्रमेणहि ॥
कल्पेकल्पे वसेयुस्ते येविश्वेश्वरनिन्दकाः ।
विश्वेशाऽनुग्रहं प्राप्य मुनेऽहमपिमुक्तिदः ॥
मद्भक्तैस्ताद्विशेषेण सेव्यो विश्वेश्वरोऽनिशम् ।
इयंवाराणसीज्ञेया पाशुपतरथस्थली ॥

भा०—सारसंग्रह ब्रह्माण्डपुराण के ललितापुर वर्णन ललिताखण्ड में लिखा है—उसके उत्तरकोण में प्रकाशमान वायुलोक है यहाँ सदा ब्रह्मानन्दशील महोदय लोग वायु शरीरधारी सिद्ध और दिव्य मुनि रहते हैं बहुत से प्राणायामी हैं और बहुत से योग में तत्पर श्रीगोरक्षनाथादि योगी हैं। बारहवें अध्याय में लिखा है कि यहां बीस हाथ ऊंचा चारसौ हाथ विस्तार वाला और सीढ़ियों से युक्त लोक है यहां महादिव्य योग शास्त्र

के प्रवर्तक सबके मंत्र गुरु सब विद्याओं और तपस्याओं से युक्तमहासिद्धनाथ रहते हैं।

यहां चार युगनाथ हैं जिनकी स्थिति संसार रक्षा के लिये कामविजेता देवाधिदेव स्वयं महादेव करते हैं। उनके नाम सुगेे, मित्रीश, उड्डीश, षष्ठीशचर्या और है कुम्भ सम्भव। उन्होंने बहुत से लोकों की रचना की है, वे उनकी रक्षा के वास्ते पादुका रूप में रहते हैं। उनमें जो देव लोक में मन्त्र आदि के प्रचारक हैं उनके नाम मित्र आदि अन्यत्र कहे गये हैं वे दिव्यौघ कहलाते हैं जो सिद्धों में प्रचार करते हैं वे सिद्धौघ और मनुष्यों में प्रचार करने वाले मनुष्यौघ कहे जाते हैं ये सब तपोनिष्ठ देव हैं। ये सब सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य आदि सिद्धियों के दाता और महागुरु हैं इन तीनों और अपने मन्त्रदाता गुरु की सेवा सबको करनी चाहिये। स्कन्दपुराण काशीखण्ड में लिखा है कि मेरी भक्ति करते हुए जो विश्वेश महेश्वर शिव जी से द्वेष करते हैं वे द्वेषी समझने चाहियें। वे मरकर पिशाच बनते हैं, वे अगले जन्म में सदा के लिये घोर अन्धकार वाले नरक में रहते हैं। जो शिव की और पाशुपत मत की निन्दा करते हैं वे भी मेरे द्वेषी हैं, वे अपवित्र नरक में पड़ते हैं, वे २८ करोड़ वर्ष तक अपवित्र नरक में ही पड़े रहेंगे। विश्वेश्वर के निन्दक हरएक कल्प

में नरक में ही वास करेंगे क्योंकि हे मुने ? मैं विष्णु स्वयं विश्वेश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति का दाता हूं। मेरे भक्तों को सदा विश्वेश्वर की सेवा करनी चाहिये। यह वाराणसी नगरी पशुपति के रथ की स्थली है अर्थात् पशुपति यहां सर्वदा विहार करते हैं।

मू० तन्त्रमहार्णवे—

रक्तं नेत्रं हीनच्छाया रक्तंगात्रं तपस्विनः।
मूर्तिः प्रसन्नवदना स्वल्पवाणी च कथ्यते॥
चतुरशीतिसिद्धानां पूर्वादीनांदिशांन्यसेत्।
एक विंशति संख्याकं स्थानंनाम्ना च कथ्यते॥
नवनाथादिशाघष्टावेकोमध्ये व्यवस्थितः।
नवनाथस्थितिश्चैव सिद्धचागमेनकारयेत्॥
गोरक्षनाथोवसेत् पूर्वे जगन्नाथवनेस्थितः।
क्रोशत्रये वसेन्नित्यमेकनाथः सउच्यते॥
जलन्धरोवसेन्नित्य मुत्तरापथमाश्रितः॥
ज्वालामुखीपंचक्रोशं वनमुत्तरमाश्रितः।
नागार्जुनोमहानाथो ज्वालयेशानसंश्रितः।

नित्य रहे वह एक नाथ कहाता है। जालन्धरनाथ सदा उत्तर पथ में बसता है ज्वालामुखी उत्तर की तरफ पंचकोशी वन में रहता है, महा तपस्वी महानाथ नागार्जुन ज्वालामुखी से ईशानदिशा में सात कोश के वन में तपता है, सहस्रार्जुन गोदावरी के दक्षिण दशकोश विस्तृत वन में तप करता है। महानाथ दत्तात्रेय पश्चिम दिशा में सरस्वती के पश्चिम तीर पर नौकोश के वन में तपस्या करता है. देवदत्त अग्निकोण में पांच कोश के वन में रहता है। जड़ भरत वायव्यकोण में सात कोश के वन में रहता है।पृथिवी के मध्य देश कुरुक्षेत्र में तीन तीन कोश के।वन में श्री आदिनाथ जी निवास करते है और समुद्र से नैर्ऋतकोण में मत्स्येन्द्रनाथ रहते हैं ये महासिद्ध उपास्य नाथों के स्थान हैं यह गुप्त बात किसी को बतानी नहीं चाहिये।

मू०—षोडशनित्यातन्त्रे—

कादिसंज्ञाभवेद्रूपा सा शक्तिः सर्वसिद्धये।
तयातैर्भुवनेतन्त्रं कल्पेकल्पेविजृम्भते॥
अवसानेतु कल्पानां सातैः साधंव्रजेच्चमाम्।
नामपर्य्यायितोऽवासं बालावासमितिद्वयम्॥
प्रसिद्धंवाह्यतोयच्च त्रीणिनामानिसाधके।
नमस्तेनाथभगवन् शिवायगुरु रूपिणे॥

मू०—रुद्रयामले रससाधन प्रकरणे—

शिवरात्रिदिने प्राप्ते आरम्भं कार्यसाधकैः ।
चतुः पष्ठिप्रमाणेनकोष्ठं कृत्वातुभैरवम् ॥
पार्श्वयोर्मूर्तिमालां च मध्येमूर्तिंचाविन्यसेत् ।
तस्याग्रेजुहुयात्सर्वेहेंमसिद्धिप्रजायते ॥
रक्तोपवीत वामस्तुदद्याद्द्विजपुंगवम् ।
कोष्ठसंख्यातदर्धार्धयोगिनींतत्रपूजयेत् ॥
श्रृंगीनादेन ते सर्वे मनसाऽऽह्लाद कारिणा ।
रक्तोर्णवहकरश्रेष्ठः स्कंधाग्रेश्रृङ्गमाश्रितः ॥
मुखंकमलयायुक्तं नेत्रेकमल भूषणम् ।
पृष्ठे च कमलाकारं हंसगत्या विराजितम् ॥
रक्तवासोत्तरीयेन चरमंत्रंपुरोन्यसेत् ।
रक्तचन्दनसंघृष्टमपूपस्योपरिन्यसेत् ॥
स्वादयेत् सप्तदिवसं पश्चात्पुण्येसमर्पयेत् ।
रसायिनी महाविद्यासिद्धिर्भवतिनिश्चितम् ॥

तारासूक्तौ—

प्रणवो निर्गुणः प्रोक्तः सर्वाद्योवेदगोचरः ।

मूर्ति के कंधे पर लाल ऊन का वस्त्र रक्खे। कमल नेत्र प्रसन्न मुख पीठ में कमल के चिन्ह से युक्त और हंस गति से सुशाभित तथा लाल वस्त्रधारी भैरव की मूर्ति का ध्यान करे। और उसका बीज मंत्र जपे। फिर रोट के ऊपर लाल चन्दन सहित फूल रख कर भोग लगावे सात दिन के बाद विसर्जन करके मूर्ति को पवित्र स्थान में स्थापित करे तब अवश्य रसायनी महाविद्या की सिद्धि हो जाती है। नारा सूक्ति में प्रणव का सब का आदि कहा है और वेदों से जाना जाता है गायत्री वेदों की माता है वेदों में प्रणव ही मुख्य कहा गया है। कुलार्णव तंत्र के बारहवें उल्लास में कहा है कि हे प्रिय जिस दिशा में श्री नाथ जी के चरण विराजमान हैं उस दिशा को प्रति दिन भक्ति पूर्वक प्रणाम करे। गुरुपादुकाओं से बढ़ कर कोई मंत्र नहीं है। गुरु से बढ कर कोई देव नहीं है शाक्त मार्ग से उत्तम कोई मार्ग नहीं है और कुल पूजन से बढ़ कर कोई पुण्य नहीं है।

मू०—वायु पुराणे शिवस्तोत्रे—

अप्रमेयायगोप्त्रेच निर्गुणाय गुणाय च।
वादप्रियाय सभ्याय मुद्रामणिधरायच ॥
देशकाल उपायेन द्रव्यंश्रद्धासमन्वितम्।

अस्मिन्नर्थेश्रुतिः साध्वी समासावेदवित्तमाः ॥
अपक्वचित्तैर्मोक्षार्थं देवाविष्ण्वादयोऽपिच ।
ध्येयाः पक्वैः शिवोध्येयः साक्षात्संसारमोचकः ॥
रुद्रंविश्वाधिकंविष्णुं ब्रह्माणंचान्यमेव च ।
समंचिन्तयतःसाक्षात्संसारः परिवर्तते ॥
महापापवतांपुंसां पूर्वजन्मसुसुव्रत ? ।
विष्णुः सर्वाधिकोभाति नमाक्षात्परमेश्वरः ॥
विष्णु मर्वाधिकोभाति नारकीमनसंशयः ।
विष्णुः सर्वाधिकोनान्य इतिचिन्तयतांनृणाम् ॥
नास्तिमंमार विच्छित्ति' कल्पकोटिशतैरपि ।
तेषांनैवचमोक्षाशाकल्पकोटि शतैरपि ॥
ब्रह्मादिदेवतानांच विश्वाधिक्यंवदन्तिये ।
अधोमुखोर्ध्वपादास्ते यास्यन्तिनरकार्णवम् ॥

भा० टी०—वायु पुराणस्थ शिव स्तोत्र में वर्णन है कि—अप्रमेय अर्थात् पक्षपात रहित परोपकारी सांसारिक आसक्ति रहित-औदार्य गुण युक्त सत्य सनातन सिद्धान्तोपलब्धी सभ्य और धार्मिक वेषधारी सत्पात्र को देश काल उपाय के अनुकूल जो धन श्रद्धा के साथ दिया जाय वह धर्म का लक्षण है।

ही ध्यान करना चाहिये जो सब से अधिक शिवको ब्रह्मा विष्णु आदि अन्य देवताओं के समान मानता है वह संसार सागर से पार नहीं होता। जिसने पूर्व जन्म में पाप किया उस पुरुष को विष्णु ही सब से अधिक प्रतीत होता है न कि साक्षात् परमेश्वर शिवजी। जिस को विष्णु सर्वाधिक प्रतीत होता है वह शिव का अनादर करता है इस लिये वह नरक में पड़ता है। सब से बड़ा विष्णु है शिव नहीं ऐसा समझने वाले पुरुषों का करोड़ों कल्पों तक भी संसार से छुटकारा नहीं होता।

उनको कदापि मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। शिवजी से ब्रह्मादि देवों को बड़े कहने वाले पुरुष नीचे मुख और ऊपर पैर किए हुए नरक में पड़ते हैं।

मू०—आदिनाथ संहितायाम्—

कौलिकान् कुलमार्गं च कुलद्रव्यं कुलाङ्गनाः।
ये द्विषन्ति जुगुप्सन्ते ये निन्दन्ति हसन्ति ये
येऽवमन्ते च शंकन्ते मिथ्येतिप्रवदन्तिये॥
ते शाकिनीमुखेयान्ति सदारसुतबांधवाः।
पिबन्ति शोणितं तेषां चामुंडामांससमुत्सवः।

अर्थानि चर्वयन्त्यस्य योगिन्योभैरवीगणाः ॥

पद्मपुराणेसृष्टिखंडे—

धारयित्वातु रुद्राक्षं म्रियतेयः क्षितौनरः ।
स यातियत्परंरम्यं सर्वदेवैः प्रपूजितः ॥
शैवोवा वैष्णवश्चान्यो गाणपत्योऽथसौरकः ।

पातालखंडे—

अहंच ललिता देवी राधिकायाच गीयते ।
अहंचवासु देवाख्यो नित्यकामकलात्मकः ॥
सत्य योपित्स्वरूपोहं योपिच्चाहं सनातनी ।
अहंच ललितादेवी पुंरूपाकृष्णविग्रहा ॥

ब्रह्मवैवर्त्ते—

महाविष्णो रहंकारो बभूवसहसेति च ।
सर्वं मल्लोमकूपेषु विद्यते चाहमीश्वरः ॥
संहार भैरवोभूत्वा तं जग्राहसलीलया ।
स्थितेमूर्ध्नोविशेषेण प्रसादंचचकार सः ॥
सर्वात्मानंध्यायमानं स्तुतं भीतंकृपानिधिम् ।
तच्छरीरं सुसम्पन्न पुनरेवचकारसः

शिवपुराणे—

क्च भेरीकलापश्च क्चचशृङ्गरवः शुभः ।

क्चाऽऽनकमयः शब्दो गल्लनादः क्चचापिहि ॥

शक्तिसंगमतंत्रे अष्टमपटले—

कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपाकृष्णविग्रहा ॥

लोकसंमोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रतीपरा ।

कदाचिदाद्या श्रीकाली सैवतारास्ति पार्वती ।

कदाचिदाद्याश्रीतारा पुंरूपारामविग्रहा ॥

राशक्तिरिति विख्याता म शिवः परिकीर्तितः ।

शिव शक्त्यात्मकं ब्रह्म रामरामेति गीयते ॥

योगासन समारूढं जटामंडल मंडितम् ।

विभूति भूषितं देवं त्रिनेत्रं चन्द्रशेखरम् ॥

तेजः पुंजनिभां देवि ! सीतांतेजः स्वरूपिणीम् ।

गौरीरूपां परां सीतां महासाम्राज्यनायिकाम् ॥

भा०—आदिनाथ संहिता में कहा है—कौलिक अर्थात् शाक्त कुलमार्ग कुल द्रव्य और कुलाङ्गना अर्थात् कुलीन स्त्री, इन शक्ति सम्बन्धी समस्त वस्तुओं की जो निन्दा करते हैं हंसते

है द्वेष घृणा असूया और शङ्का करते हैं तथा यह मिथ्या है ऐसा जो कहते हैं वे स्त्री पुत्र और बन्धुओं सहित शाकिनी के मुख में पडते हैं। चामुण्डा देवी योगिनी और भैरव के गण उनके रुधिर को पीते हैं मांस को खाते हैं और हड्डियों को चबा जाते हैं। पद्म पुराण के सृष्टि खण्ड में कहा है जो रुद्राक्ष धारण करके पृथिवी पर प्राणत्यागता है वह सर्वोत्तम रूप को प्राप्त होता है और सब देवों का पूज्य हो जाता है वह शैव वैष्णव गाणपत्य वा सौर कोई भी क्यों न हो। पातालखण्ड में कहा है मैं ललिता देवी हूँ मैं ही राधा कहलाती हूँ और मैं ही कामकला रूप होकर वासुदेव कहलाती हूँ। समस्त स्त्रियों में पतिव्रता और सदा रहने वाली मैं ही हूँ। पुरुष रूप धारण करने वाली कृष्ण स्वरूप भी मैं ही हूँ। ब्रह्मवैवर्त में कहा है—

महा विष्णु से सहसा अहंकार (अर्थात् विराट्) उत्पन्न हुआ उस विराट् रूप मेरे रोम कूपों में समस्त प्राणी विद्यमान हैं, मैं ईश्वर हूँ, फिर संहार भैरव रूप होकर क्रीडा से सबका संहार कर लेता हूँ। समस्त प्राणियों को मुंड रूप होकर मुझ में विद्यमान हो जाने पर मैं प्रसन्न हो जाता हूँ, उस मैंने सर्व स्वरूप, देवों से ध्यायमान, प्रशंसित दयासागर प्रसन्न रूप यह शरीर बनाया।

शिवपुराण में वर्णित है—वह मेरा भेरी इत्यादि वाद्यमा समुदाय और शृंगी का शब्द कहां है तथादुन्दुभि का शब्द औ गल्लनाद कहां है। शक्तिसंगमतंत्र के आठवें पटल में कहा है—

किसी समय आद्यासुन्दरी ललिता देवी ने लोगों के मोहन के लिये अत्यन्त सुन्दर पुरुष रूप कृष्ण शरीर धारण किया। कभी आद्या श्री कालीरूप पार्वती कभी रामावतार और तारारूप धारण करती हैं। 'रा' का अर्थ शक्ति और 'म' का अर्थ शिव कहा जाता है अतः शक्ति सहित शिव रूप ब्रह्म ही राम कहलाता है, योगासन में आरूढ़ जटाजूट भस्म विभूषित त्रिनेत्र चंद्रशेखर अर्थात् शिव और तेजः पुञ्ज के समान तेज रूपिणी गौरी रूप साम्राज्य देने वाली सीता का ध्यान करना चाहिये।

मू० बृहदारण्ये— द्वेवाव ब्रह्मणो रूपेमूर्त्तं चैवामूर्त्तं च मर्त्यंचामृतंच स्थितं च यच्चसच्चत्यश्च ॥ तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चा- न्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत् स्थितमेतत् सत्तस्यैतस्यमूर्तस्यैतस्यमर्त्यं स्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एपरसोयएपतपति सतोह्येपरसः ॥ अथा- मूर्तंवायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद् यदेतत्त्य त्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्या- मृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैपरसो य एपएतस्मिन् मण्डलेपुरुप- स्त्यस्यह्येपरस इत्यधिदैवतम् ॥ अथाध्यात्ममिदमेवमूर्तंयदन्यत् प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत् स्थितमेतत्

मवस्यैतस्य मूर्त्यस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्यस्थितस्यैतस्य सतएषरसो
धनु. सतोह्येपरसः ॥ अथामूर्त्तप्राणश्च यश्चायमन्तरा-
त्मनाकाश एतदमृतमेतद् यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्या-
मृतस्यैतस्य यतएतस्य त्यस्यैपरसोयोऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुष-
स्तस्यह्येपरसः ॥ तस्यहैतस्य पुरुषस्यरूपं यथामहारजनं वासो
यथापाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाग्न्यर्चिर्यथापुण्डरीकं यथास-
कृद्विद्युतंसकृद्विद्युतेवहवा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात
आदेशो नेति नेतिनह्येतस्मादितिनेत्यन्यत् परमस्त्यथ नामधेयं
सत्यस्य सत्यमिति प्राणावैसत्यं तेषामेपसत्यम ॥

यैः पठित्वापिनज्ञातं ब्रह्मतेनाविका इव ।
नयन्तिपारं येत्वन्यान् स्वयमवीचिसंस्थिताः ॥
शक्त्यातुसृज्यतेविश्वं शिवेनपरिपाल्यते ।
कालेनचसंह्रियते मुक्तिर्नाथेनदीयते ॥

भा०—ब्रह्म के दो रूप हैं एक मूर्त जिसका अवयव घनीभूत
दूसरा अमूर्त जिसका कोई अवयव नहीं है। मर्त्य मरनेवाला
और अमर्त्य न मरने वाला, स्थित अर्थात् परिमाण वाला
[illegible] सत् (व्यापक अपरिच्छिन्न) सत् (जिसका असा-
धारण रूप यत् (व्यापक अपरिच्छिन्न) सत् (जिसका असा-
[illegible]रणधर्म गोत्रमनुष्यादि घटपटादि प्रत्यक्ष से निर्णय किया

जा सके) त्यत् (जो प्रत्यक्ष करने योग्य न हो) इन में मूर्त, मर्त्य, स्थित, सत्, ये चार नाम पृथिवी जल तेज इन तीन भूतों के हैं। दूसरी कोटि में अमूर्त, अमृत, यत् और त्यत् ये चार नाम आकाश वायु इन दो भूतों के हैं इस तरह कल्पना से पांचों भूतों को ब्रह्म का रूप मान कर नेति नेति से इन्हीं का निषेध करके ब्रह्म का निर्णय किया जाता है इसी विधि निषेध को अध्यारोप और अपवाद कहते हैं वेदान्त में कल्पना से पहले रूप मान लिया जाता है पीछे उसका निषेध कर दिया जाता है इसका फल यह है कि पाञ्च भूतों की सत्ता सब जगह से हटा देने पर अद्वितीय ब्रह्मसिद्ध होजाता है। इन तीन स्थूल भूतों का सार यह सूर्य मंडल है, उस में जो सूक्ष्म लिंग शरीर है सो आकाश और वायु इन दो भूतों का सार है यह विचार देवशरीर के सम्बन्ध में है, अब आगे अध्यात्म वर्णन किया किया जाता है—इसी प्रकार शरीर के भीतर प्राण और आकाश इन दोनों को छोड कर, तीन अर्थात् पृथिवी जल और तेज भूर्त, मर्त्य, स्थित, और सत् कहलाते हैं, इनका सार नेत्र है, प्राण और हृदयाकाश ये दो अमूर्तादि कहे जाते हैं, इनका सार नेत्र में अभिमान करने वाला लिंग शरीर है, वासना इसी लिंग शरीर का धर्म है, यद्यपि वे लिंग शरीर अगणित हैं तथापि दृष्टान्त के द्वारा कुछ दिखाया जाता है। उस सूक्ष्म शरीर का

यह रूप वासनामय है उसकी उपमा केसर से रंगे हुए वस्त्र से दी जाती है वह भूसले रंग की ऊन के समान भूसला है, वीर बहूटी (अर्थात् तीजनामकजन्तु के समान लाल सफेद कमल के समान शुभ्र, चमकती हुई बिजली के समान चमकता हुआ, अथवा यह बिजली की तरह एक दम उसकी चमक फैल जाती है जो इस रहस्य को जानता है उसको श्री प्राप्त होती है।

आगे यह ब्रह्म का उपदेश है—यह पूर्वोक्त समस्त दृश्यमान स्थूल सूक्ष्म जगत् ब्रह्म नहीं है, 'नेतिनेति, इस निषेध रूप उपदेश से दूसरा ब्रह्म जानने का उपाय नहीं है। अब ब्रह्म का खास नाम बताया जाता है, वह यह है— "सत्यस्य सत्यम्" इसका अर्थ यह है कि प्राण आदि भी महा प्रलय तक विद्यमान रहने से व्यवहार में सत्य कहलाते हैं, किन्तु तीनों कालों में अबाध्य रूप वास्तविक सत्य तो ब्रह्म ही है, अतः परम सत्य इसका खास नाम है।

जिन्होंने शास्त्र पढ़कर भी मूल को नहीं जाना वेनाविकों की तरह हैं जो दूसरों को पार उतारते हैं और स्वयं तटों में ही रहते हैं। शक्ति से विश्व की उत्पत्ति होती है शिव उसका पालन करता है, काल उसका संहार करता है, और नाथ अन्त में मुक्ति देता है।

मू०—ब्रह्मण्यप्राप्तेसति ब्रह्मतन्तुधारणमयुक्तम् ।
केचित्सूत्रधारकाः केवलजात्यभिमानिनः पुरुषाः ॥

अथचकाष्ठदंडधारका आश्रमिणो दण्डिनस्तेषां खंडन करणे उपनिषत्सम्मतिमाह ब्रह्मोपनिषदि—

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत् सहजं पुरस्तात् ।
आयुष्यमग्र्यंप्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ।
सशिखंवपनंकृत्वा बहिः सूत्रंत्यजेद्बुधः ।
यदक्षरंपरंब्रह्म तत्सूत्रमाभिधारयेत् ॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रंनामपरंपदम् ।
तत्सूत्रंविदितंयेन सविप्रोवेदपारगः ॥
येनसर्वमिदंप्रोतं सूत्रेमणिगणाइव ।
तत्सूत्रंधारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥
नहि सूत्रंत्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः ।
ब्रह्मभावमिदंसूत्रं धारयेद्यः सचेतनः ॥
धारणात्तस्यसूत्रस्य नोच्छिष्टोनाऽशुचिर्भवेत् ।
सूत्रमन्तर्गतंयेषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ॥

तेषंसूत्रविदोलोके तेचयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेवपरंतेषां पवित्रंज्ञानमुत्तमम् ॥
अग्नेरिवशिखानान्या यस्यज्ञानमयीशिखा ।
सशिखीत्युच्यतेविद्वान् नेतरेकेशधारिणः ॥
कर्मण्यधिकृतायेतु वैदिकेब्राह्मणादयः ।
तैः सन्धार्यमिदंसूत्रं क्रियाङ्गंतद्धिवैस्मृतम् ॥
ब्राह्मण्यंसकलंतस्य इतिब्रह्मविदोविदुः ॥
इदंयज्ञोपवीतंतु परमंयत्परायणम् ।
विद्वान् यज्ञोपवीतिस्यात् सयज्ञः सचसर्ववित् ॥

परमहंसोपनिषदि—

परमात्मनोरेकत्वज्ञानेनतयो र्भेदएवएव विभग्नो या सा
सन्ध्या सर्वान्याकामान् परित्यज्याद्वैतेपरमस्थितिः ॥
ज्ञानदण्डोधृतोयेन एकदंडीसउच्यते ।
काष्ठदंडोधृतोयेन सर्वाशीज्ञानवर्जितः ॥
सयातिनरकान्घोरान् महारौरवमेवच ।
ज्ञानोंनतावेपसाम्याम भज्ञानन्दः केवलं ज्ञान पाठ

मात्रेणवाभिमानिनस्तान् प्रतिवाक्यमेतत् इत्याह—

द्वादशवर्षो भूत्वाविद्याभ्यासमर्हति ॥

ततश्च यावद्द्वादशवर्षंशब्दबोधार्थं व्याकरणशास्त्रमध्येतव्यं ततश्चयावद्द्वादशवर्षमर्थबोधार्थं न्यायशास्त्रमध्येतव्यं ततश्चयावद् द्वादशवर्षं वेदोऽध्येतव्यस्ततश्च षट्सुवर्षेषु वेदान्ताभ्यासः कर्तव्य एवषट्सुवर्षेषु शास्त्रीयरीतिर्ज्ञातव्या । पुनरभ्यासश्चकर्तव्य एव-मायुषोऽर्धन्तु गतप्रायमेव । ततः पुनरिन्द्रियाणां शैथिल्येऽरिष्टेच-सत्यभ्यासासक्तत्वं भवेत् ततः प्रथमत. साक्षरतामात्रं पाण्डित्य-मापाद्यमनुष्यैर्योगाभ्यासः कर्तुमुचितइति ।

भा०—ब्रह्मज्ञान के प्राप्त होने पर ब्रह्मतन्तु धारण करना अनावश्यक है, बहुत से सूत्र धारण करने वाले केवल जात्य-भिमानी ही होते हैं । और काष्ठ का धारण करने वाले जो आश्रमी दण्डी हैं, उन के खंडन करने में उपनिषद् की सम्मति लिखी जाती है— यज्ञोपवीत परम पवित्र है यह आदि सृष्टि में प्रजापति के साथ उत्पन्न हुआ, यह आयु के बढ़ाने वाला पूज्य पवित्र और शुभ्र है इसको धारण कर यह बल और तेज के देनेवाला है। शिखा सहित हजामत करवा कर बुद्धिमान् जिज्ञासु बाहरी

सूत्र को त्याग दे और जो अक्षर पर ब्रह्म है उस सूत्र को धारण करे। सूचित करने से सूत्र कहाता है सूत्र ही परम पद है। उस सूत्र को जो जानता है वह वेद का पार द्रष्टा ज्ञानी है। जिसमें यह समस्त जगत् धागे में मणियों की तरह पिरोया हुआ है, तत्त्व दर्शी योगी उस सूत्र को धारण करे। विद्वान् योगी योग साधन करता हुआ बाहरी सूत्र को त्यागदे, समस्त जगत् का ब्रह्मरूप समझना यह जो सूत्र है इसे ज्ञान पूर्वक धारण करे, इस सूत्र के धारण करने से कभी झूठा या अपवित्र नहीं होता जो ज्ञान का यज्ञोपवीत धारण करते हैं और जिनके भीतर ही सूत्र है वे ही वास्तव में सूत्र के ज्ञाता हैं, और वे ही यज्ञोपवीती हैं। अग्नि की ज्वालाओं के समान प्रकाशमान ज्ञान मयी शिखा का जो धारण करता है वही विद्वान् वास्तव में शिखाधारी है साधारण केशों को धारण करने वाले शिखाधारी नहीं कहे जा सकते। जो ब्राह्मण आदि वैदिक कर्मों में अधिकृत हैं उन को यह यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये, क्योंकि यह यज्ञोपवीत क्रिया का अङ्ग है। ज्ञानमयी जिस की शिखा और ज्ञानमय ही जिसका यज्ञोपवीत है वह वास्तव में ब्राह्मणत्व का अधिकारी है वेसा वेदज्ञाता कहते हैं। यह यज्ञोपवीत परमोत्कृष्ट स्थान है,

इस यज्ञोपवीत को जो विद्वान् धारण करता है वही यज्ञ और वही सर्वज्ञ है। परमहंसोपनिषद् में जीवात्मा परमात्मा के एकत्व ज्ञान से जो उन का भेद दूर हो जाता है वही वास्तविक सन्ध्या है, जो इस स्थिति को प्राप्त होगया हो वह सब कामनाओं को त्याग दे। ज्ञान दण्ड को जिसने धारण कर लिया वही एक दण्डी है। जो संयम रहित सर्वभक्षी अज्ञानी काष्ठ दण्ड को धारण करता है, वह घोर महारौरव नरक में गिरता है। जो शास्त्रों में वर्णित तत् तत् विषयों के अभ्यास को न जानते हुए केवल पठन मात्र से ही अभिमान में चूर रहते हैं उनके प्रति यह कथन है—बारह वर्ष का होने पर विद्याभ्यास के योग्य होता है फिर बारह वर्ष तक शब्द बोध के लिये व्याकरण फिर अर्थबोध के लिये न्याय, फिर बारह वर्षतक वेद फिर छः वर्षों में वेदान्त का अभ्यास करना चाहिये, फिर छः वर्षों में शास्त्र की रीति का ज्ञान होता है इस प्रकार आयु का आधा भाग तो चला ही गया, फिर इन्द्रियों की शिथिलता और रोगों के उत्पन्न हो जाने के कारण अभ्यास की शक्ति नहीं रहती इसलिये पहले ही पदपदार्थ का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्यों को योगाभ्यास करना चाहिये।

मू०—येत्वाचार बाहुल्यं दधतोपि वेश्याउपगम्य तत्संगंकुर्व-

र्वन्ति, तान् प्रत्यस्माकमिदं कथनम , वाह्यविषयिकामुज्ज्वलतांप्रदर्श्य मानसीमलिनताधार्यते । ततस्त्विदंश्रेयो यद् वेश्या संगोपि न कर्तव्यः, यद्वा चारस्यापि प्रयोजनं नास्ति गौणोऽयमित्याचारं ज्ञात्वाऽस्यत्यागोपी न कार्यः, यथायोग्यत्वेन विवेकपूर्वकं सेवनं चास्य कर्तव्यमिति ।

भवेयं मनुष्यो यदैकस्तु राजा यदाजन्तुरेको भवेयं मृगेन्द्रः ।
यदाशास्त्रमेकं तदायोगमेव यदादेव एकस्तदानाथएव ॥

अस्मिन्मार्गेऽद्वैतोपरिवर्तीनाथोदेवता प्राप्योनिराकार ज्योतिर्नाथोध्येयः साकारनाथउपास्योऽथचआदिगुरुः । साधनंयोगः । त्यागीयोगीगुरुः । मुमुक्षुः साधकः । अवधूतगुरोर्मुख्य चिह्नंनादोमुद्राभस्मशैली ऊर्णायज्ञोपवीतमित्यादि, शक्तिर्जगत्कर्त्री, शिवः पालकः । कालः संहारकः । नाथोमुक्तिदायकः । प्रणवोवेदः । नादः मन्तानम् । नवनाथाः । विन्दुः सन्तानमीश्वरः । मनः शरीरं जीवोऽनुभवः । चत्वारोगुरवः । मत्स्येन्द्रईश्वरथतुरंगी गोरक्षइतिस्वरूपाः । अपक्षं वास्तविकपक्षमङ्गीकृत्येतरकल्पित परपक्षपापण्ड खण्डनमित्यादि विषयः ।

भा०—जो बहुत आचार विचार धारण करते हुए वेश्या गमन करते हैं उनको हम यह कहते हैं कि उन्होंने बाहरी उज्ज्वलता दिखाकर मानसिक मलिनता धारण की है, उससे अच्छा यही है कि वेश्या संग भी न करे। बहुत अधिक आचार के बन्धनों में जकड़े रहना भी अनावश्यक है, इसको गौण समझ कर इसका त्याग भी नहीं करना चाहिये। किन्तु विवेक पूर्वक यथा योग्य इसका सेवन अवश्य करना चाहिये। यदि मैं मनुष्य होऊं तो राजा बनूं यदि पशु योनि में जाऊं तो सिंह बनूं यदि मुझे शास्त्र हो तो योग का हो और यदि देव पूजा करूं तो केवल एकनाथ की। इस मार्ग में अद्वैत से भी ऊपर वर्तमान नाथ ही देवता है, प्राप्त करने योग्य उसी निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ का ध्यान करना चाहिये, और आदिगुरु साकारनाथ की उपासना करनी चाहिये। इस मार्ग में साधन योग है आश्रमों के अभिमान से अतीत योगी गुरु है, मुक्ति का इच्छुक साधक है। अवधूत गुरु का मुख्य चिह्न नाद, मुद्रा, भस्म, शैली, और ऊन का जनेऊ इत्यादि है। शक्ति जगत् की कर्त्री शिवपालक काल संहारक नवनाथ मुक्तिदायक, ओंकारवेद, और नाद सन्तान हैं। और ईश्वर विन्दु सन्तान है। मन शरीर जीव और

अनुभव, ये चार गुरु हैं जिनका स्वरूप मत्स्येन्द्र ईश्वर चतु-रङ्गी और गोरक्ष हैं। किसी विशेष पक्षपात को न धारण करके अन्य कल्पित पाषण्डयुक्त पर पक्षों का खण्डन करना यह विषय है।

मू०—परमहंसइति परमहंसंवदन्ति=तत् किम्, उत्कृष्टहं-सोऽस्ति यतोनिकृष्टहंसस्तुपरमात्मा। उत्कृष्टहंसत्वन्तुपरमहंसस्य-पुनश्चागतं यदाब्रह्मरूपत्वंप्राप्तः। ब्रह्मरूपत्वंचकुतः प्राप्नोयदिमाया, गुणरचित प्रारब्धकर्माभिमन्यते। एवंचायं तु निकृष्ट हंस-प्रजीवोऽस्ति, ततश्चतस्य हंसत्वंमरालत्वं कुतः। किन्तुकाकत्वमेव यदिकाकत्वं तर्हिकाकोजातः।

प्रकाशः कोऽयमेकेनैवचक्षुषापश्यतियथायं वर्णीतदामायामेव-मायादृशा पश्येत्। यथाचाश्रमीजातस्तदा द्वैतदृशैवपश्यन् वर्तते। इयमप्येकैवदृष्टिस्तयापश्यति। यतोमहासिद्धैर्निश्चयः कृतोऽयंयाकतु-श्योऽयंदेवयाकाकर्तव्यः।

मत्यंप्रपंचंकुर्वन्तो ब्रह्मणश्चादनंतथा।
केचिद्दूरजादेशा. प्राप्ताविपर्यामवर्तमानमा. ॥
मिथ्यामिथ्येतिकुर्वन्त्वः केचनमायाविमोहिताः,
स्वयं सर्वसद्कुर्वन्त भागतावियनामका: ॥

देदीप्यमानस्तत्रास्य कर्ता साक्षात्स्वयंशिवः ।
संरक्षन्तोविश्वमेव धीरा सिद्धमताश्रयाः ॥
तत्त्वंवदन्तिचाद्वैते द्वैतंवदान्तिसंसृतिम् ।
एकीभावेततोभिन्नं द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥
मिथ्यावदन्तियतय सत्यंचापिविरागिणः ।
सिद्धानामेषासिद्धान्तः सत्यमिथ्याविवर्जितः ॥
म्रियतेचेत्कथं सत्यं वर्ततेचेत्कथं वृथा ।
मृतिजीवनहीनंयत् कथंसत्यंकथं वृथा ॥
एककाले भवेत् सत्य मेककालेतथावृथा ।
कालभेदाद्वृथा सत्यं न सत्यं न वृथा पृथक् ॥

भा०—परमहंस को परमहंस इस प्रकार जो कहा जाता है सो क्या यह उत्कृष्ट हंस है परमात्मा निकृष्ट हंस है, परम हंस का श्रेष्ठ हंसपना तो तभी होसकता है जब कि यह ब्रह्म रूप को प्राप्त होजाय, जब तक उसे माया गुणरचित प्रारब्ध कर्म का अभिमान है तब तक यह परब्रह्म होही कैसे सकता है, अतः यह जीवरूप निकृष्ट हंस ही रहा, इसको हंसपना और मरालपना कैसे प्राप्त हो सकता है, इसे तो कौयापन प्राप्त है, काकपक्षी होता ही है जो एक ही आंख से देखे यह

ऐसा ही है जब यह वर्णों में रहता है तब तो माया को ही माया की दृष्टि से देखता है। जब आश्रमी हुआ तो अद्वैत दृष्टि से ही देखता है यही एक दृष्टि है जिस से वह सब को अद्वैत भाव में देखता है, इस लिये सिद्धों ने निश्चय किया है कि इस काक की तरह एक आंख से देखने वाले को परमात्मा के दर्शन में प्रकाश समझना चाहिये। कुछ लोग ऐसे हैं जो ब्रह्म को प्रपञ्च और ब्रह्म को भोजन बनाते हुए रजोगुणी विषयों में ही मन को लगाते रहते हैं। कुछ लोग माया से मोहित होकर समस्त जगत् को मिथ्या मिथ्या कहते हुये अपने को संसार का नेता समझते चले आरहे हैं।

देदीप्यमानशिव ही तत्त्व का कर्ता है सिद्ध मत के अनुयायी योगी लोग संसार की रक्षा करते हैं अद्वैत में तत्त्व को और द्वैत में संसार की तथा एकी भाव में द्वैताद्वैत से रहित तत्त्व की रक्षा करते हैं। यति लोग मिथ्या कहते हैं विषयी लोग सत्य कहते हैं परन्तु सिद्धों का सिद्धान्त यह है कि यह सत्य और असत्य से विलक्षण है। यदि मनुष्य मरता है तो यह सत्य कैसे कहा जा सकता है, अगर यह वर्तमान है तो मृषा कैसे हो सकता है। जो जीवन मरण से रहित है वह कैसे सत्य और कैसे मृषा हो सकता है। एक ही वस्तु एक समय में सत्य और एक समय में मृषा हो सकती है काल भेद से एक ही वस्तु सत्य और असत्य है सत्य और असत्य समान २ नहीं हैं।

मू०—मनोवागगनीतोमनोवाङ्मयश्चनाथः ओम् १ नाथः २ शक्तिः ३ कर्ता ४ अकर्ता ५ एतत्पंचकमिति । क्रमेणैतत्पंचकं स्तौति—

अवाच्यमुच्यतेकथं पदंतदचिन्त्यमप्यस्ति कथंविचिन्तयेत् ।
अतोयदस्त्येवतदस्ति तस्मैनमोस्तुकस्मैचतनाथतेजसे ॥
अकर्तृतत्कर्तृचतत्परंपदं प्रयान्ति योगामृततृप्तचेतसः
अकर्तृताकर्तृतया निरूप्यते नवास्तवीवस्तुनितद्द्वयीकुत ॥
अवाच्यरूपासदसद्विलक्षणा विचक्षणामाकृतलक्षणापिमा
नमामितांशक्तिमकर्तृतामयीं स्वतःकरोत्येवचकर्तृतामयीम् ॥
निजेच्छयाकाण्डसमुद्भवाप्ययानुमानयादर्शितकर्तृताशिवम्
नमाम्यभित्तावपि चित्रितं जगद् विचित्रमेतत्त्वनपेक्ष्यचेतसम्
ममेदमस्याहमहं मदक्रियः सदैव कर्तेत्यभिसन्धिपूरितम् ।
करोत्यकर्तारमुदारलीलया य उच्यतेनाथइतिश्रियेस्तुनः ॥
प्रसंगजंकर्तृपदंविहाययत् फणीवनिर्मोकमनायदास्थितम् ।
नमाम्यकर्तारमकर्तृतामयं यदास्तिमोऽस्मीत्यगुण स्वयंस्थितः

यस्यसाक्षादनुभव शास्त्रज्ञानेन तस्यकिम् ।
चेष्टास्वभावजास्त्रीणां कविभिर्वर्ण्यते श्रमैः ।

जातमात्रः पिबेद्दुग्धं बालकोवाप्यपाठित ॥
यथामातुः स्तनंपश्ची न तथापाठितोपिसन ।
पिबन्तोऽप्यमृतं नित्यममरानामराइह ॥
सिद्धाऽत्रभूताश्चमरा गृह्णन्तोविषयानविषम् ।
ज्ञानेनछिद्यमानंतु कर्मांकुरमुपाददे ॥
तदेनयोगछिन्नंतु यातिनिर्मलतांद्रुतम् ।
संचितंक्रियमाणं च कर्मनश्यतितन्मते ॥
प्रारब्धंन पुनस्तत्र प्रमाणं श्रुतिरुच्यते ।
भूतकालोद्भवंकर्म भट्टाः सत्यं प्रकुर्वते ॥
कालनितयजंकर्म त्यजत्यत्याश्रमीद्रुतम् ।
पत्रं पुष्पं फलंशाखा छिद्यतेपि पुनः पुन ॥
नयावच्छिद्यतेमूलं तावद्वृक्षः प्ररोहति ।
पुनः पुनर्भूतोनारा सूक्ष्मछिद्रेण संयुत ।
यन्नशोरिक्ततांयाति विफल श्रमएवम ॥
यातुगंगांगयांयातु नमन्त्रगममयान गुरान ।
नापालयंविभास्यंको जगदात्मामास्मिन ॥

संन्यासिनोविजानन्तु कथयन्तु च पंडिता ।
अवधूताः क्रियासिद्धास्तत्र स्थानिरञ्जना ॥
योगदंडंगुरुज्ञेयं कालमार्तण्डमव्ययम् ।
हन्तिंशशिपरंदंडं तस्माथ स्वर्गेश्वर ॥
सृजत्यब्जोहरिः पाति हरः संहरतेजगत् ।
तस्योऽज्ञयामुक्तिरस्त्वत्र संतेनः सिद्धयोगिनाम ॥
चतुर्भिः पथिभिर्यान्ति चत्वारो ज्योतिरालयं ।
योगिनोनिद्रिता लोकास्त्रिरात्र्यनदाश्रिताः ॥
योगिनो योगयत्नेन केवलंज्योतिरुत्तमम् ॥
इष्टायान्तीष्टमार्गेण दुर्वृत्तस्त्वेचनरकं ।
स्ववर्णाश्रमधर्मेण वैदिकाः समुपास्यतत् ।
निवृत्तिं परमांयान्ति तद्भूमात्रिसमानुपाः ॥
तान्त्रिकाः शुद्धविपाणि विषयान् परिहायतत् ।
दुर्गमेनपथायान्ति जाराद्वरजनजनाः ॥
संसारिणस्तु संसारप्रलये प्राप्नुवन्तितत् ।
कृतयानमिवाधीरा सर्वलोका निरर्गलाः ॥

नेकुर्याद्बुद्धिमान्प्रीतिं वृथावस्तुनिफल्गुनि ।
मृगतृष्णामयं माया जालंकिमन्यतेयत ॥
मोक्षशास्त्रकृतोनैव दृष्टामुनिजनानृपा ।
नीतिशास्त्रकृतःकान्ता शृङ्गारग्रन्थकारिका ॥
मूलंमोक्षस्यावधूतो नीतिमूलंनराधिप ।
कान्ताशृङ्गारमूलंयद् वाचारम्भणमास्तिन, ॥

भा० टी०—मनवाणी से परे होते हुए भी मनोवाङ्मय ..जी के ये पांच रूप हैं—ओम्–नाथ–शक्ति–कर्ता–अकर्ता इन .. स्तुति की जाती है ।

उस पद को अवाच्य कैसे कहा जा सकता है, और अचि.. .. भी कैसे कहा जा सकता है जब कि योगी उसका चिन्तन ..ता है । इस लिये वह जो कुछ है मैं उसनाथ तेज को ..स्कार करता हूं । वह परम पद अकर्ता और कर्ता दोनों ही ..कार का है ।

योगामृत से तृप्त चित्त वाले उसका ध्यान करते हैं उस .. भूर्त और असत्य वास्तव में दोनों ही नहीं हैं, क्योंकि ..क वस्तु में दो बातें कैसे हो सकती हैं । जो सत् .. सत् से विलक्षण चिन्ह रहित और चिन्ह वाली है

समझने वाले सिद्ध पुरुष अमर हैं। ज्ञान से हटा हुआ कर्म फिर अंकुरित हो जाता है परन्तु योग से छिन्न हो जाने पर उस में अंकुर उत्पन्न नहीं होता, वेदान्तियों के मत से सञ्चित और क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाता है पर प्रारब्ध नहीं इस में वे स्वयं श्रुति का प्रमाण देते हैं भट्ट मत के अनुयायी मीमांसक लोग पहले के किये हुए कर्म सत्य कहते हैं, परन्तु अत्याश्रमी अवधूत उसको भी छोड़ देता है। वृक्ष की शाखा और पत्र पुष्प फलादिकों को कितनी वार काटो वह फिर उग आता है परन्तु जड़ मूल कट जाता है फिर वह नहीं उगता। जिस घड़े में सूक्ष्म छिद्र है उस में चाहे जितनी वार जल भरो वह खाली हो जाता है। और भरने वाले का श्रम व्यर्थ होता है। गङ्गा में स्नान करते हैं गया में जाते हैं और पत्थर की बनी हुई मूर्तियों की पूजा करते हैं परन्तु इस शरीर रूपी घर में जो जगदात्मा प्रकाशमान है उसे याद नहीं करते। संन्यासी भलेही जानते हों और पंडित उसे बेशक कहते हों परन्तु क्रिया सिद्ध अवधूत उसके विकार रहित रूप में तद् रूप होकर विराजमान रहते हैं। इस योग देह को महेश्वर नाथ उत्पन्न करता है, काल के मद से बचाता और विषय रूप देह को नष्ट करता है। ब्रह्मा जगत् की उत्पत्ति विष्णु जगत् की रक्षा और हर जगत् का संहार करता है। इन तीनों से अन्य नाथ मुक्ति देता है यह

योगियों का संकेत है। योगी वैदिक तान्त्रिक और व्यावहारिक ये चारों ही चार मार्गों से उस ज्योति रूप धाम में पहुंचते हैं।

योगी लोग योग यज्ञ से उस उत्तम ज्योति को पूज कर पक्षियों के समान शीघ्र ही उस के पास पहुंच जाते हैं। तान्त्रिक लोग विषयों को धारण करके जैसे जार लोग जनता से परिपूर्ण मार्ग को छोड कर चलते हैं उसी तरह इस शुद्ध विपथि में दुर्गम पथ से जाते हैं। परन्तु संसारी लोग संसार के प्रलय में उसे प्राप्त होते हैं जैसे ग्राम लोग बडी यात्रा करके कष्टों से राजा तक पहुंचते हैं। बुद्धिमान् को व्यर्थ सार हीन वस्तुओं में प्रीति नहीं करनी चाहिये क्यों कि वह इस माया जाल को मृग तृष्णा के समान ही समझता है। मुनिजन और राजा लोग मोक्ष शास्त्र को नही बना सकते और शृंगार रस में मग्न रहने वाली स्त्रियां नीति शास्त्र को नहीं बना सकती, अपितु मोक्ष शास्त्र का मूल अवधूत ही है नीति का मूल राजा और शृंगार का मूल स्त्री है बाकी सब व्यर्थ बकवास है

मू०—एवतेत्रयोऽपि क्रियायामेव प्रसन्ना क्रिया युक्तेति कथने नापि प्रसन्ना परन्तु नतु क्रिया रहित कथनेन प्रसन्नात्रयेण त्रयोऽपि पुरुषाः स्वसंग वर्जितास्सद् यथा—अवधूत इति विना-

तुभवेन शास्त्रारम्भकाः पुरुषा इति 'राजनीतिः । कर्तव्यता हीना भृत्या इति । स्त्रीजन इति । पुरुषा अर्थहीना पुरुषा इति । तांस्त्रीन् त्रयोहसन्ति । कथम् ? एकः कोऽपिपुरुषो मन्दकामः कस्याऽपिवैद्यस्य गृहेगत्वा तं प्रतिस्वचेष्टोक्ता तदावैद्येनोक्तं यत्नं करिष्यामीति तस्य वैद्यवधूः पार्श्ववर्तिनी सहसा जाता। तस्या अभिप्रायोऽयम् । अयंममभर्ता वैद्यःस्वयंमपि नपुंसकोऽन्यस्य कामोदय यत्नं कथंकरिष्यतीति स्वयमसमर्थो ऽन्यस्यार्थे पाकं करिष्यतीति प्रतारणामात्रमिति ॥

ब्रह्मभूतोमुनि र्व्यासो मिथ्यामायोपदेशत ।
कृतानेकपुराणोऽभूत्तस्यैमायै नमोस्तुते ॥
वशिष्ठादिमुनिव्रातस्त्यागस्यैवोपदेशकृत् ।
स्वयमङ्गीकृतस्त्रीकस्तस्मै भोगायते नमः ॥
दासाःप्रेमातुराभक्ति पुरुषार्थं वदन्त्यहो ।
सशरीरगते चित्ते भक्तिःप्रेम्णासमंगता ॥
योगः स्मार्तो वैष्णवश्च धर्मभूपास्त्रयास्त्विमे ।
कर्मारिभ्यस्त्रिधाऽवन्ति स्वात्मदेशंतु सुस्थितम् ॥
वैष्णवो नृपतिधर्मो नित्यांमत्वा च संसृतिम् ।

कर्मद्विपः समाश्रित्य यातिस्वंदेशमात्मना ॥

स्मार्तस्तु नृपतिधर्मं सत्यंप्रारब्धमात्मगम् ।

कर्मारिभ्योनालिंदत्त्वा याति स्वंदेशमात्मना ॥

योगधर्मोनृपस्सर्वान् जित्वाधर्मद्विपोबली ।

मनश्च किंकरं कृत्वा यातिस्वंदेशमात्मना ॥

एतद्ग्रन्थेबहुशास्त्राणां प्रामाण्यं दीयते । तत्तु अस्मदीयार्थं वा एतन्मार्गस्य शिष्याणां श्रद्धार्थंदीयतइतिनास्ति । अस्मिन्नर्थेतु योगशास्त्रस्यैवप्रामाण्यमेतच्छास्त्रज्ञानेन पूर्णम् । परन्तुवादिनांहितायभो अन्यग्रन्थान्तरेऽपिभवदीयनानामतान्तरेऽपि चायमेवमार्गश्रेष्ठ । सर्वस्य लक्ष्योऽवधूत एवेतिहेतुर्नतु सिद्धान्तार्थं । अस्मात्त्वन्यप्रमाण उपेक्षेति ज्ञेयम् ।

भा०—इस प्रकार अनुभव के विना शास्त्र रचना करनेवाले साधारणजन, राजनीति चलाने वाले राजा लोग, और शृङ्गार शास्त्र बनाने वाले, ये तीनों व्यावहारिक काम में ही खुश रहते हैं व्यवहार करना चाहिये बहुत अच्छा है ऐसे कहने से भी बहुत प्रसन्न होते हैं करने पर तो कहना ही क्या है। किन्तु व्यवहार अनित्य है इसका त्याग ही अच्छा है ऐसा कहने से तो खुश नहीं होते हैं। इसलिए

इन तीनों का सम्बन्ध अवधूत योगी छोड़ देते हैं। स्वयं जिसने अनुभव नहीं किया किन्तु उस विषय का शास्त्र बनाता है। जिन्होंने राजनीति अर्थात् कानून शास्त्र को बनाया किन्तु उसके संचालक कर्मचारी नही हैं। स्त्री और जो धनहीन पुरुष है इन तीनों को तीनों हंसते है। कैसे हंसते हैं इस पर एक दृष्टान्त दिया जाता है किसी एक धातुक्षीण रोगी ने किसी वैद्य के घर पर आकर वैद्य से अपना रोग कहा, तब वैद्य जी ने कहा, कि अवश्य मैं इसका उपाय करूंगा, यह सुन कर उसके समीप बैठी हुई वैद्य की स्त्री हंसने लगी, उसका अभिप्राय यह था कि मेरा पति वैद्य स्वयं नपुंसक है तब दूसरे के लिए कैसे कामोद्दीपन का उपाय करेंगे। जो स्वयं अपने लिये रसोई नही कर सकता वह कहे कि दूसरे के लिए रसोई करूंगा यह केवल ठगना है। यहां कोई माया की बड़ी विचित्र घटना को देख कर उस माया को नमस्कार करता है, जो माया सत्ता से रहित होते हुए भी परमेश्वर को अपने व्यवहार में शामिल कर लेती है; और हे माया देवी! तुमने ब्रह्मस्वरूप समाहितात्मा श्री व्यास जी को भी अपना उपदेश देकर अपने बनाए संसार के व्यवहार को दिखाने वाले पुराणों की रचना करवाई इसलिए तुमको

प्रणाम करता हूँ। और भी देखिये जिन वशिष्ठादि ऋषियों ने लोगों में त्याग का उपदेश दिया परन्तु अपने आप स्त्री आदि सांसारिक भोगों का संग्रह किया, अत: हे माये तुम्हारे भोग को नमस्कार है। उपासक लोग दास भाव से प्रेम में विह्वल होकर भक्ति को ही मोक्षादि पुरुषार्थ का साधन कहते हैं। परन्तु भक्ति तो शरीर में रहने वाले चित्त का धर्म है इसलिए वे प्रेम के जाल में पड़कर अपने स्वरूप बोध से वंचित रह जाते हैं। योग १ स्मार्त २ और वैष्णव ३ ये तीनों धर्मराजा के समान हैं, और कर्मरूपी शत्रुओं से अपनी रक्षा करते हैं किन्तु आत्मा तो वास्तव में सदा अपने स्वरूप में ही रहता है उसका नाश कहां इसलिए उसकी रक्षा की चिन्ता करना यह भी माया का ही धर्म है। अब आगे योग-स्मार्त और वैष्णव इन तीनों का क्रम से व्याख्यान करते हैं—जो वैष्णव राजधर्म है उसके अनुयायी संसार को सत्य मान कर कर्म रहित पुरुषों को भी विष्णु की शरण में पहुंचा देते हैं। दूसरे जो धर्मशास्त्र राजधर्मावलम्बी हैं वे प्रारब्ध को सत्य मान कर अपने पापों को नष्ट करने वाले देवताओं को बलि देकर अभीष्ट लोक को चले जाते हैं। तीसरे बली योग धर्मावलम्बी पुरुष सब धर्म शत्रुओं को जीत कर और मन को

जीत कर अर्थात् मन को अपना दास बना अपने अभीष्ट लोकों को प्राप्त होते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त जितने साधन हैं, यह सब माया का खेल है अतः जब तक माया वश में नहीं होती तब तक मुक्त नहीं कहा सकता।

इस ग्रन्थ में अनेक शास्त्रों का प्रमाण दिया जाता है। वह हमारे लिये अथवा इस मार्ग में रहने वाले शिष्यों की श्रद्धा के लिये दिया जाता है ऐसा नहीं समझना। क्योंकि इस विषय में योग शास्त्र को ही सर्वोत्तम प्रमाण माना जाता है, यह शास्त्र समस्त ज्ञान का भंडार है किन्तु वादियों के कल्याण के लिये कहा जाता है कि अन्य ग्रन्थों में और अन्य मतों में भी योगमार्ग ही श्रेष्ठ है। और सबका अन्तिम लक्ष्य अवधूत ही है यह युक्ति बताई जाती है न कि अपना सिद्धान्त क्योंकि हमको अन्य प्रमाणों की ज़रूरत नहीं।

मू०—अवधूतशिष्यंविनेतरसाम्प्रदायिकशिष्या गुरुधावर्तन्ते अवधूत सम्प्रदायस्यइयं रीतिः, षट्त्रिंशल्लक्षणसम्पन्नोगुरुर्द्वात्रिंशलक्षण सम्पन्नः शिष्यस्ततश्चतुर्लक्षणन्यूनः। गुरुशिष्यलक्षणञ्च-अधिक तत्त्वोगुरुर्न्यूनतत्त्वः शिष्यः। एतादृङ्न्यूनत्वंतुयोग्यंनतु मूर्खशिष्योधिकलक्षणहीनो मोक्षभाग्भवेत्। पुराणे शौचक्रियादि करणपर्यन्तक्रिया उपदिशतीतितन्महासिद्धा हसन्ति। अहोबुद्धि-

मन्तः शिष्यास्तान् गुरून् एतादृक्क्रिया अपि कथयन्ति । शिष्यस्यबुद्धेः पराऽवधिरिति । एतादृश शिष्यकरणेगुरूणां दोषः प्रवर्तते । अतएवमहासिद्धाबहून्दीक्षितान् न कुर्वन्ति । कथं ? बहवोविवेकिनोनभवन्ति । यथास्त्रियां भ्रष्टायां पत्युर्लज्जा तथाशिष्ये भ्रष्टे गुरूणांलज्जानिन्दापातकं च प्रवर्तते । अतएवबहुदीक्षिता आचार्या गुरवस्त्याज्याः, महासिद्धएवगुरुःकर्तव्यः । महासिद्धैरपि चतुर्लक्षणन्यूनश्शिष्यः कर्तव्योबहवश्च शिष्यावर्जनीयाः इति सिद्धान्तः ।

भा०—अवधूतों के शिष्यों की अपेक्षा इतर सम्प्रदायों के शिष्य निकृष्ट होते हैं। अब आगे अवधूत सम्प्रदाय की मर्यादा बताई जाती है—

छत्तीस लक्षणों से युक्त गुरु होते हैं और बत्तीस लक्षणों वाले शिष्य, फरक इतना है कि चार लक्षण कम होने से शिष्य कहलाता है, गुरु और शिष्य का लक्षण ही ऐसा है कि जो अधिक सत्य लक्षणवाला है वह गुरु और कम लक्षण वाला शिष्य होता है शिष्य में इतनी ही न्यूनता उचित है बिल्कुल मूर्ख होना ठीक नहीं। गुरु की अपेक्षा न्यून लक्षण वाला शिष्य मोक्ष का भागी हो सकता है। पुराणों में शौच आदि

बाह्यक्रियाओं का उपदेश दिया गया है, उसको महासिद्ध कहते हैं। परन्तु आश्चर्य की बात है कि बुद्धिमान् शिष्य उन गुरुओं को ऐसे कर्मों का उपदेश देते हैं, इससे तो शिष्य की ही बुद्धि बड़ी हुई। ऐसे बकवादी शिष्य बनाने में गुरुओं को दोष लगता है। इसी लिये महासिद्ध बहुत शिष्य नहीं बनाते क्योंकि उनमें सभी विवेकी नहीं होते जैसे स्त्रियों के भ्रष्ट हो जाने से पति लज्जित होता है ऐसे ही शिष्यों के भ्रष्ट होजाने से गुरु को लज्जा आती है तथा निन्दा और पाप भी होता है। अतः बहुत शिष्य बनाकर उनके सुधार में ध्यान न देने वाले गुरुओं को भी छोड़ देना चाहिए। महासिद्ध को ही गुरु बनाना चाहिये। महासिद्धों को भी चाहिये कि चार लक्षणों से हीन चेला बनावें बहुत शिष्य न बनावें यही सिद्धान्त है।

अथ शिष्यस्य द्वात्रिंशल्लक्षणानि लिख्यन्तेप्रथमतोज्ञानपरीक्षा निरालम्बः १ निर्भ्रमः २ निराशी ३ निःशब्दः ४। विवेकपरीक्षा—निर्मोहः ५ निर्बन्धः ६ निरंकः ७ निर्विषयः ८ सर्वांगी ९ सावधानः १० सन् ११ सारग्राही १२ निरालम्ब परीक्षा— निष्प्रपंचः १३ निस्तरंगः १४ निर्द्वन्द्वः १५ निर्लेपः १६। सन्तोषपरीक्षा—अयाचकः १७ अवांछकः १८ अमानः १९

अस्थिरः २० शीलपरीक्षा—शुचिः २१ संयमी २२ शान्तः २३ श्रोता २४। महज परीक्षा—सुहृत् २५ शीतलः २६ सुखदः २७ स्वभावः २८ अष्टमे शून्यपरीक्षा - लयः २९ लक्ष्यम् ३० ध्यानम् ३१ समाधिः ३२ इति द्वात्रिंशल्लक्षणानि शिष्यस्य समाप्तानि ॥

भा०—अब शिष्यों के बत्तीस लक्षण जो कि शिष्यों के लिये आवश्यक हैं नीचे लिखे जाते हैं, इन बत्तीसों में से आठ वस्तुओं की परीक्षा होती है। उन आठों में एक एक में चार २ विषय हैं इसलिये मिलाने पर आठ चौके बत्तीस होते हैं। उन नामों का अक्षरार्थ करने से ही उनके सब लक्षण होजाते हैं, उन में पहले ज्ञान की परीक्षा है—निरालम्ब, सहायता शून्य अर्थात् जो देशकाल महनारा शरीर आदि आश्रय न करके केवल गुरु के उपदेश द्वारा अदृश्य षट् चक्रादि को जानने वाला। यह पहली परीक्षा है। दूसरा निर्भ्रम २ अर्थात् भ्रम-रहित। निवासी ३ जिसमें ज्ञान स्थिर रहे। निःशब्द ४ संज्ञा-रहित केवल अर्थ के ज्ञानवाला। अब अविवेक परीक्षा में चार बताए जाते हैं—सर्वाङ्गी १ हृदय के प्रत्येक अवयव सहित अर्थात् हृदय के चारों तरफ ध्यान रखने वाला।

सावधान ? लक्ष्य पर डटने वाला। सत् ३ सत्स्वरूप अर्थात् कुतर्की न हो। सारग्राही ४ उपयुक्त विषय ग्रहण करने वाला। अब संतोष में चार दिखाये जाते हैं—अयाचक १ सिवाय तत्वज्ञान के किसी से किसी चीज की याचना न करने वाला। अवांछक ? जिनके मन में सांसारिक वस्तुओं की वासना न हो। अमान ३ जो धन विद्या बल आदि के घमड से शून्य हो। अस्थिर ४ किसी स्थान में आसक्ति न करने वाला। अब शील की परीक्षा में चार दिखाये जाते हैं—शुचि १ स्नानादि द्वारा बाह्य शुद्धि और पवित्र अन्नादि के भोजन से अन्तःशुद्धि तथा पवित्र मन वाला। संयमी २ सांसारिक विषयों से जिसने इन्द्रियों को हटा लिया है। शान्त ३ सब अवस्थाओं में धीर रहने वाला। श्रोता ४ अध्यात्मविद्या में प्रेम रखने वाला। अब सहज परीक्षा का वर्णन किया जाता है—सुहृन् १ सब सज्जनों से प्रेम रखने वाला और दुर्जनों से उदासीन रहने वाला। शीतल २ अपराध करने पर भी द्रोह बुद्धि न रखने वाला। सुखद ३ सज्जनों को सुख देने वाला। स्वभाव ४ जिसका आचरण किसी के विरुद्ध न हो। अब शून्य अर्थात् विरक्तता की परीक्षा में भी चार कहे जाते हैं— लय १ किसी में मन की वृत्ति न रखना। लक्ष्य २ अपने ध्येय का निश्चय।

ध्यान है उस लक्ष्य के स्वरूप में चित्त को लगाना। समाधि है जिसमें मैं ध्यान करता हूँ इस प्रकार ध्याता और ध्येय आदि भेद भाव के छूटने से निश्चल दीप शिखा की तरह केवल ध्येय का ही भान हो। ये सब मिलाने से शिष्यों के ३२ लक्षण होते हैं सो समाप्त हो चुके।

मू० अद्वैतोपरिवर्तिनाथ उदितोयत्रध्वनिस्सन्ततो।
नादोबिन्दुरथापि शक्तिरुदितामाचार्द्धमात्रात्मिका ॥
ॐ रुद्रोहरिरोविधिर्मितिसमेध्येयोऽस्तुनित्यंमहान्।
ओङ्कारोऽखिलशब्दबीजमबुधैरज्ञातरूपोमुदे ॥

अथमोङ्कारो महासिद्धानां ध्येयः, तस्यस्वरूपम्—

उकारोऽत्ररुद्रस्वरूपमर्धमात्राशक्तिस्वरूपं बिन्दुर्नाथस्वरूपम र्धमात्रयाजातोऽकारोविष्णुस्वरूपंबिन्दोर्जातोमकारोब्रह्मस्व रूपं ध्वनिर्निराकारनाथस्वरूपं व्यापकंध्वनिर्वर्णथोभयम पिमिलितं पूर्णं यद्द्वैताद्वैतविलक्षणं साकारनिराकारातीतम द्वैतोपरिवर्ति महानाथस्वरूपमिति। किंचात्रोङ्कार उकार बिन्द्वर्धमात्रयोर्योगादेव। बिन्दुयोगान्मकारोऽर्धमात्रायोगा दकार इति। तथा चोङ्कारे नाथशिवशक्तिरूपप्राबल्यंविष्णु

ब्रह्मरूपयोरप्राबल्यम् अतएवात्रैतद्देवतात्रय ध्यानंमहासिद्धे मुख्यत्वेन क्रियते पुनर्ध्वनिर्निराकारनाथरूपंध्वनिर्वर्णश्चो भयात्मकः पूर्णनाथस्तुसाम्प्रतमास्तितथास्त्येवेति ब्रह्म विष्णु ध्यान तोनाथशिवशक्त्योर्ध्यान मुत्तममुक्तम्, तत्रापि नाथ ध्यानं बलिष्ठम् उकारो यथोकारः स्यात्तदामात्र शक्त्यैव उकारोपि यथोङ्कारः स्यात्तर्हि बिन्दु शक्त्यैवबिन्दुर्यथापिवर्ण-स्तथापि तत्र स्वरस्याधिक्यंस्वरश्च वर्णापेक्षयाबलवानेव ।

कथं ? तत्रध्वनिभागस्याधिक्यात् ध्वनिश्च नाथरूपमेव, यतोनाथध्यानं बलिष्ठमित्युक्तम् । तदुक्तं योगशास्त्रे—

ब्रह्मग्रन्थिततोभित्त्वा विष्णुग्रन्थिभिनत्त्यसौ
विष्णुग्रन्थि ततोभित्त्वा रुद्रग्रन्थिभिनत्त्यसौ ॥
रुद्रग्रन्थिततोभित्त्वा छित्त्वामोहमयींलताम् ।
उद्घाटयत्पथंवायु ब्रह्मद्वारंसुगोपितम् ॥

इत्यादि—

भा॰ टी॰—अद्वैत के ऊपर नाथ है अर्थात् कार्य रूप दृश्य मान स्थूल जगत् और इसका कारण सूक्ष्म रूप प्रकृति और इसकी समष्टि ये कार्य कारण के अभेद होने से अद्वैतपद मे

लिये जाते हैं। उसके ऊपर अर्थात् एक व्यापक और एक व्याप्य वस्तु है वहां आपस में ऊपर कहने का व्यवहार हो सकता है जैसे आकाश के ऊपर पृथिवी और पृथिवी के ऊपर आकाश ऐसे ही यहां अखण्ड नाथ जी परिच्छिन्न संसार के ऊपर हो सकते हैं और नाथ के ऊपर संसार भी कहा जा सकता है। नाथजी स्वयं अखण्ड चिद्रूप हैं और उनकी शक्ति भी चिद्रूपा है जिस में ध्वनि अर्थात् स्फोट रूप शब्द ब्रह्म नाद अर्थात् संसार के उपादान कारण शक्ति का सम्बन्ध, बिन्दु रूप संसार को बनाने वाली आदि प्रकृति ये नाना सृष्टि करने वाली शक्तियां प्रकट होती हैं वह शक्ति ओंकार को अर्धमात्रा रूप अर्थात् ऊपर की अर्धमात्रा उस शक्ति का लक्षक है, अकार विष्णु का उकार रुद्र का मकार ब्रह्मा का वाचक है इन सब का समुदाय अधिष्ठान रूप अखण्ड सच्चिदानन्द समस्त शब्दों का कारण साधारण पुरुषों से अज्ञात ओंकार परमानन्द के लिये मेरा ध्येय हो ऐसी धारणा करनी चाहियें। यह ओंकार महासिद्धों का ध्येय है। उसका स्वरूप इस प्रकार है उस में जो उकार है वह रुद्र रूप है।

अर्धमात्र शक्ति रूप है बिन्दुनाथ रूप है आधी मात्रासेउत्पन्न

अकार विष्णु रूप है और विन्दु से उत्पन्न मकार ब्रह्मा है इन में ध्वनि निराकार नाथ रूप और वर्णरूप भी है वह सबका समुदाय परिपूर्ण कहाता है जो कि द्वैत अद्वैत से विलक्षण साकार निराकार दोनों से अतीत है इस लिये अद्वैत के ऊपर वर्तमान श्री महानाथ स्वरूप है। ओंकार जो है वह उकार विन्दु और अर्धमात्रा इनके योग से ही होता है। अनुस्वाररूप विन्दु से मकार होता है इसी लक्ष्य को लेकर व्याकरण में स्वर के परे होने पर अनुस्वार को मकार कर दिया जाता है और लय दशा में मकार का अनुस्वार कर दिया जाता है अर्धमात्रा के सम्बन्ध से अकार होता है। इस से स्पष्ट होरहा है कि ओंकार में विन्दुरूप श्रीनाथ जी, अर्धमात्रा श्रीशक्ति, और उकार, तेज स्वरूप रुद्रये प्रधान हैं, अकाररूप श्री विष्णुजी और मकार रूप श्री ब्रह्माजी अप्रधान हैं परन्तु प्रणव पंचदेवात्मक ही है महासिद्ध लोग तो इस में प्रधान रूप से पूर्वोक्त नाथ-शक्ति-और रुद्र इन तीनों देवों का ही ध्यान करते हैं।

ध्वनिरूप निराकार और वर्ण इन दोनों का समुदाय परिपूर्ण स्वरूप आदिनाथ जी प्रलय में जैसे विकार रहित रहते हैं वैसे ही सृष्टि समय में भी अविकृत रूप से रुद्र स्वरूप हैं इसी लिये ब्रह्मा और विष्णु के ध्यान से नाथ, शिव, और शक्ति इन

तीनों का ध्यान बड़ा कहा गया है। इन तीनों में भी नाथ का ध्यान विशिष्ट है। उकार जब माया शक्ति का सम्बन्ध करता है तब ओंकार रूप हो जाता है। और जब बिन्दु रूप से सम्बन्ध करता है तो ओंकार रूप हो जाता है। बिन्दु भी यद्यपि वर्ण है तथापि उस में स्वर का भाग अधिक है, स्वर वर्ण से बलवान् है इस लिये स्वर के बिना वर्ण का उच्चारण नहीं होता। क्यों कि? उस में ध्वनि भाग अधिक है और ध्वनि नाथ रूप है इस लिये नाथ का ध्यान बलवान् कहा गया है।

यही योगशास्त्र में भी कहा है—

पहिले ब्रह्म गांठ अर्थात् स्वाधिष्ठान चक्र का भेदन करे फिर विष्णुग्रन्थि अर्थात् मणिपूर चक्र को भेदन करे, उसके बाद रुद्रग्रन्थि जो हृदय में अनहत चक्र है इसके बाद कण्ठदेशस्थ विशुद्ध चक्र में अविद्या जीव शक्ति की ग्रन्थि का भेदन करके रोके हुए प्राणवायु द्वारा आज्ञा चक्र रूप ब्रह्म द्वार में ज्ञान शक्ति के द्वार को खोल कर उसको प्राप्त कर लेता है।

मू०—योगसम्प्रदायं विनासर्वमतेविपरीतावार्ता वर्त्तते, कथं? नाथांशोनादोनादांशः प्राणः शक्त्यंशो बिन्दुर्बिन्दोरंशः शरीरम्, एवच योग सम्प्रदाये शिष्योधिको यो नादांशोज्ञायते-ऽन्यमते पुत्रोऽधिकः कथ्यते। सचाधिकः कथं भवेत्। कथं वपुर्वि-

न्दुतो जातम् । पुनः पुनः नादांशः प्राण उक्तो बिन्द्वंशः शरीरमुक्तम् तत्रापि प्राणाच्छरीरमुत्तिष्ठति शरीरस्याधारः प्राणोभवति । तथाच नादस्यात्मजश्शिष्यएवाधिक इति । अन्यच्च कथ्यते—

जनिता चोपनेता च यस्तुविद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राताpंचैते पितरः स्मृताः ॥

राजपत्नीगुरोः पत्नी मित्र पत्नी तथैव च ।
पत्नीमातास्वमाता च पंचैतामातरः स्मृताः ॥

इत्येतत्कथने प्राधान्यंपित्रोरेवायातितत्समीचीनं न भवति । इयंरीतिः सांसारिकी नतु पारमार्थिकी वार्ता अतः कारणाद्गुरुरेवमुख्योनादात्मजः शिष्य एवमुख्य इति सिद्धान्तः किं च धर्मोर्थःकामोमोक्ष इति ब्रह्मचर्यंगार्हस्थ्यंवानप्रस्थःसन्यासइतिः शृंगारोहास्यकरुणोरौद्रोवीभत्सोभयानकोद्भुतंशान्त इति । पृथ्वीआपस्तेजोवायुराकाश इति ब्रह्मा विष्णुरुद्रादिश्च । एतत्प्रक्रियायाअनुक्रमोनास्ति किन्तुव्यतिक्रमो वर्तते । किन्त्वनुक्रमस्त्वेवं रीत्या मोक्षोधर्मोऽर्थः कामः सन्यासोवानप्रस्थोगार्हस्थ्यंब्रह्मचर्यम् । शान्तःकरुणोऽद्भुतं वीरोरौद्रोहास्यंभयानकोवीभत्सः शृंगारः । आकाशाद्वायुर्वायोस्तेजस्तेजसो जलं जलात् पृथिवी । पुनः शिवाद्भैरवो भैरवाच्छ्री कंठः श्रीकं-

ठात् सदाशिवः सदाशिवात् ईश्वरः ईश्वराद् रुद्रोरुद्राद्विष्णुर्विष्णो-र्ब्रह्मा। इतीयं योगसंप्रदायरीतिः, साएवतांत्रिकी। परन्तु शिव भैरव श्रीकंठेति देवत्रयक्रमःसूत्रे न गृहीतः पञ्चैवदेवता सदाशिवादयोः गृहीतास्तत्रापि पौराणिकेवैदिके देवतात्रयमेव गृहीतम्, तत्क-थ्यते—ब्रह्माविष्णू, रुद्र इति पुराण प्रक्रिया ब्रह्माविष्णु,-रुद्र ईश्वरः सदा शिव एषा तांत्रिकी प्रक्रिया॥

अवधूतैः कथ्यतेएषाप्रक्रियाकुत आगता सर्वायोगादेवागता, यतः सर्वस्यकारणं योगएव प्रवर्त्तते यतोऽवधूताद्भिक्षुकोजातो-भिक्षुकाद् ब्रह्मचारी ब्रह्मचारिणो गृहस्थोजातः। कथं? एकैकगुण लक्षण हीनो ह्रासक्रमेण सम्भूतं सन्तानमेवेति मन्ये। प्रथमतो गौणमुख्य प्रक्रियाकथिता, तत्रकाचिद् उत्पत्तिक्रमतो मुख्यागौणी-वा ज्ञेया, काचिच्च फलवृद्धरीत्यामुख्यागौणीवेतिज्ञेया। एकदा महासिद्धश्रीगोरक्षनाथशिष्येणसिद्ध विचारनाथेन भर्तृहरि नृपेण व्याकरणशास्त्रोपरिलक्षसंख्याःकारिकाःकृताः, नागेशेनताः श्रुताः। तदाप्रसन्नो भूत्वा ब्रह्माण्डेविहरन् समागतो यत्तत्र स्थितोमहाव-धूत आगत्यचादेशादिव्यहारकरणानन्तरं तेनोक्तमहो स्वामिन्न हंतुष्टोस्मि यतः कांचित्याचनांकुरु। तदामहासिद्धेनोक्तंतव मिलने सुसंजातमन्यत्तु नास्त्यपेक्ष्यंकृतकृत्य एवास्मि। पुनः पुनस्तेनशेषे-

णोक्त याचनीयमेवेति । तदा भर्तृहरिणोक्तं किं याचेयद्वैश्वर्ये च्छा भवेत्तत्तुमहाराज्यंत्यक्त्वाऽवधूतोजातः पुनर्मोक्षस्ययदि-वांछाभवेत् सातु अवधूतभावे सिद्ध्येत्येवसंशयो नास्तीति । तदा शेषोऽसन्तुष्टोभूत्वाममापमानःकृतोऽत. शापंददामि, भवदीयका-रिका. प्रसिद्धानभविष्यन्तीति । तदाऽवधूतेनाप्युक्तं त्वदीयकृत व्याकरणशास्त्रकलौवृत्त्यर्थं भविष्यति, पुनर्यत्रकुत्रापिस्थलेसंशयो भविष्यतितदाममकारिका विनानिर्णयोन भविष्यतीति । एव परस्पर शापोजातः, तेनाऽऽधुनिकसमयेव्याकरणादिसाधनशास्त्रं परमार्थेन्यूनं भवतिचातुर्यादिप्रकारः प्रायशोभवतीति ।

भा० योग सम्प्रदाय को छोड कर अन्य सब मतों में विप-रीन बातें प्रचलित हो रही हैं। कैसे ? नाथ जी का अशनाद है जिस का अंश इस शरीर में प्राण रूप है उसके ऊपर नाथ जी शासन करते हैं अत प्राण शिष्य और नाथ जी उस के आचार्य है। शक्ति का अशविन्दु है, विन्दु का अंश शरीर है यह उत्पन्न होने से पुत्र कहलाता है। इस योग सम्प्रदाय में प्राण वायु का विशेष महत्व है, अन्य मतों में पुत्र रूप शरीर अधिक माना जाता है इसी लिये वे शरीर का ही संस्कार प्रधान रूप से करते हैं। प्राण का अधिक महत्व कैसे है सो दिखाते हैं—शरीर

बिन्दु से होता है प्राणनाद का अंश है यह वार बार कहा जा चुका है, प्राण से ही शरीर बढ़ता है और आना जाना बैठना खड़ा होना इत्यादि व्यवहार भी शरीर से ही होता है। शरीर का आधार भी प्राण है, इस लिये शिष्य रूप नादांश प्राण ही अधिक है। इसी विषय में और भी कहा जाता है—जन्म दाता १ यज्ञोपवीत संस्कार कर के गायत्री मन्त्र देने वाला २ शास्त्र पढ़ाने वाला अन्न देने वाला ४ भय से रक्षा करने वाला ५ ये पांच पिता कहे जाते हैं राजा की स्त्री गुरु की स्त्री मित्र की पत्नी अपनी स्त्री की माता और अपनी माता ये पांच माताएं होती हैं। इस कथन से माता और पिता ही प्रधान होते हैं यह ठीक नहीं है क्योंकि यह मर्यादा सांसारिक व्यवहार में है, परमार्थ में नहीं, इस लिए परमार्थ में पिता की अपेक्षा गुरु ही मुख्य है इसी तरह पुत्र की अपेक्षा शिष्य मुख्य है यह सिद्धान्त है।

लोक में धर्म अर्थ काम मोक्ष, इस प्रकार व्यवहार होता है, इस से प्रतीत होता है कि धर्म प्रधान होने से पहले कहा गया है और मोक्ष अप्रधान होने से पीछे कहा है। इसी तरह ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य वानप्रस्थ सन्यास, तथा शृंगार हास्य-करुणरौद्र बीभत्स भयानक अद्भुत शान्त, इन दोनों दलों में

ब्रह्मचर्य और शृंगार को प्रधान माना जाता है। इसी तरह पृथ्वी जल तेज वायु आकाश तथा ब्रह्मा विष्णु रुद्र इन में पृथिवीऔर ब्रह्मा को प्रधान माना जाता है किन्तु यह सब क्रम उलटा है, वास्तव में तो उन पूर्वोक्तों में मोक्ष संन्यास-शान्त आकाश रुद्र ये ही प्रधान हैं इसलिये ऊपर का क्रम उलटा होना चाहिये अर्थात् मोक्ष धर्म अर्थ काम संन्यास वानप्रस्थ ब्रह्मचर्य गार्हस्थ्य, शान्त करुण अद्भुत वीर रौद्र हास्य भयानक वीभत्स शृङ्गार, आकाश वायु तेज जल पृथिवी इस क्रम से। इसी लिये योग सम्प्रदाय की यह रीति है कि शिव से भैरव प्रकट हुआ, भैरव से श्री कंठ श्रीकण्ठ से सदाशिव सदाशिव से ईश्वर ईश्वर से रुद्र रुद्र से विष्णु विष्णु से ब्रह्मा, यही रीति तंत्र की भी है। परन्तु सूत्र ग्रन्थ अर्थात् संहिता में शिव भैरव और श्री कंठ इनतीन देवों का क्रम नहीं कहा है, किन्तु सदा शिव १ ईश्वर २ रुद्र ३ विष्णु ४ ब्रह्मा ५ इन्ही पांच देवों का क्रम कहा है, इस में भी पौराणिक और वैदिक ग्रन्थों से रुद्र १ विष्णु ब्रह्मा ३ इन तीन ही देवों का क्रम संक्षेप से बताया गया है। ब्रह्मा १ विष्णु २ रुद्र ३ यह पुराणों का क्रम है, और ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदा शिव यह तंत्रों का क्रम है। इस पर अवधूत कहते हैं—कि यह क्रम कहां से आया? यह सब योग से ही आया अत. सब का कारण योग ही है। इसी लिये अवधूत से

भिक्षुक हुआ भिक्षुक से ब्रह्मचारी, ब्रह्मचारी से गृहस्थ। कैसे? एक एक गुण लक्षण हीन होकर ह्रास के क्रम से जो हुआ है उसको सन्तान ही मानता हूं। पहले गौण और मुख्य क्रम कहा गया है, उनमें से किसी का उत्पत्ति क्रम से मुख्य या गौण जानना चाहिये। अथवा जैसे कोई उद्देश्य रूप होने से फल को मुख्य और साधन रूप होने से वृक्ष को गौण कहते हैं। कोई कोई वृक्ष को कारण रूप होने से मुख्य और फल को कार्य रूप होने से गौण कहते हैं। यहां पर अपने २ अभिप्राय के अनुसार दोनों ही ठीक हैं, बहुत से तो गार्हस्थ्यादि को कारण होने से मुख्य और अवधूत को साध्यरूप होने से गौण कहते हैं, ज्ञानीलोग तो साधन होने से गार्हस्थ्यादि को गौण फल होने से अवधूत को ही मुख्य कहते हैं। एक समय महासिद्ध श्रीगोरक्षनाथशिष्य विचारनाथ श्री भर्तृहरि राजा ने व्याकरण महाभाष्य के ऊपर एक लाख कारिकाएं बनाई इस समाचार को पतञ्जलि भगवान् सुनकर बड़े खुश हुए और ब्रह्माण्ड में विचरते हुए वहां आये जहां अवधूत श्री भर्तृहरि जी बैठे थे। वहां आकर सनातन रीति से नमस्कारादि व्यवहार करने के बाद कहा कि हे स्वामिन् आपके कार्य से मैं बड़ा प्रसन्न हूं अतः आप मुझ से कोई वर मांगो। तब महासिद्ध ने कहा कि आपके मिलने से ही मैं नितान्त प्रसन्न हूं इस से

अधिक कुछ नहीं चाहिये, मैं तो आपके दर्शनों से कृत कृत्य होगया। फिर पतञ्जलि ने कहा कि अवश्य कुछ न कुछ मांगना ही होगा। तब भर्तृहरि ने कहा मैं क्या मागू यदि मैं ऐश्वर्य चाहूं यह भी अनुचित है क्योंकि मैं साम्राज्य पद को छोडकर अवधूत होगया हूं, अगर मोक्ष की इच्छा करूं तो भी ठीक नहीं क्योंकि वह तो अवधूत होजाने से हो ही गया है। उसमें कुछ सन्देह नहीं है। अतः मुझे किसी वस्तु के मांगने की आवश्यकता नहीं है। भर्तृहरि के इस प्रकार के कथन से पतञ्जलि जी अपना अपमान समझकर असन्तुष्ट होगये और शापदिया कि तुम्हारी कारिकाएं लोक में प्रसिद्ध नहीं होंगी उस पर अवधूत भर्तृहरि ने भी कहा कि आपके व्याकरण शास्त्र को कलियुग में लोग जीविका के लिये पढेंगे न कि धर्मबुद्धि से और जहां कहीं उसमें सन्देह होगा तो मेरी कारिकाओं को छोडकर अन्य प्रकार से उस का निश्चय नहीं होगा। इसप्रकार एक ने दूसरे को शाप दे दिया। इस लिये आजकल व्याकरणादि शास्त्र को परमार्थ सिद्धि में न लगा कर अधिकतर लौकिक चतुरता में ही उसका उपयोग समझते हैं।

'मू०— आचार आचार इतिवदन्ति, य आचारोऽस्याचारःसन्कथंनिर्वहन्ति भोजनेयद्घृतंतत्तुचर्मपात्रेणैवा-

याति । गमनेयत्पादत्राणं तदपिचर्मजमेव, स्पृश्यते शयने स्त्रीसंगोभवतितस्यकथैवका । प्रातःकाले यथाविशुद्ध्यर्थंस्नानं क्रियतेतथापिचतुर्षुप्रहरेषुकरादिकस्यगुह्यादिस्पर्शनं स्वभावतएव सर्वदाजायते । किंचसूर्यादिग्रहणे मृत्तिकापात्राणि जलंचाऽशुचित्वेन, त्यज्यन्तेनतुधान्यघृतादिकंवस्तु ।

तदाएवंज्ञायते जलाशयेजलं यद्बहुलभ्यतेकुलालानांगृहेषु मृत्पात्राणिचाल्पव्ययेन लभ्यन्ते, तेनतदशुचित्वं कथं न क्रियते ? घृतधान्यादिनिवारणेतु बहुद्रव्यव्ययोभवेदित्याद्यनेकप्रकारकंकिंकिंलिख्यते । तस्मादाचारवस्तुकल्पितमेव तद्बुद्धिमन्तोजना न किंचिदपिवस्तुजानन्ति विचारएवमुख्य इतिसिद्धान्तः। तत्रचैवंनज्ञेयमत्रसिद्धान्त आचारोनास्तीति। कथं ? आचारोऽस्माकंमतेनर्तते, सच विचारपूर्वकइति । अन्यथाचारंकुर्वन्ति तादृशस्तुक्रियते एवनास्ति, यथायोग्यस्तुक्रियतेसचापिगौणंमत्वाक्रियते, मुख्यस्तुतत्त्वविचारइति कृत्वाऽयमपिव्यवहारः सर्वथात्याज्योनास्तीति ।

भा०— लोग आचार आचार इस प्रकार चिल्लाते हैं परन्तु यह आचार अनाचार है ऐसा कहते हैं लोगम में जो घी है

येह भी चाम के पात्र अर्थात् कुप्पों, में ही आता है, चलने के समय जो जूता पहना जाता है वह भी चमड़े का ही है। और सोने के समय जो स्त्री का संग होना है उसका तो कहना ही क्या है, प्रातः काल यद्यपि शुद्धि के लिये स्नान किया जाता है तो भी दिनभर में अशुद्ध अगों का हाथ से स्पर्श होता ही रहता है। और सूर्यग्रहण आदि पर्व के समय मिट्टी के वर्तन घड़े वगैर अशुद्ध समझकर फेंक दिये जाते हैं परन्तु अन्न और घृतादि वस्तुओं को कोई नहीं त्यागता, इससे यह सिद्ध होता है कि तालाव आदि में जल बहुत मिलजाता है और कुम्हार के घर से मिट्टी के वर्तन भी थोड़े मूल्य में मिल जाते है। इसलिये उनको अपवित्र समझ कर त्याग देते हैं परन्तु घृत धान्यादिके त्यागने से बहुत हानि होती है अतः उनको पवित्र मानलेते हैं इत्यादि अनेक प्रकार है कथा क्या लिखें इस लिये आचार भी कल्पित है इस कारण बुद्धिमान् अर्थात् तत्व वेत्ता लोग, व्यर्थ वस्तु को महत्व नहीं देते उनके मन में विचार ही मुख्य है यही सिद्धान्त है। यहां यह न समझ लेना कि इस सिद्धान्त में आचार नहीं है. हमारे मतमें आचार है किन्तु विचार पूर्वक है अन्धपरम्परा नहीं है। अन्य लोग जैसा आचार करते हैं वैसा हम नहीं करते। हां गौण मानकर

हम भी यथायोग्य कर लेते हैं किन्तु मुख्य तो सत्य विचार ही है ऐसा समझ कर हम आचार व्यवहार को भी बिल्कुल त्याज्य नहीं मानते ।

मू०—आचारविधिः । प्रातरुत्थाय गुरुस्मरणं कृत्वा कालं स्मृत्वा शौचादि क्रिया दन्तधावनं स्नानं च कृत्वा नाथालये गत्वा पूजा कर्तव्या, पूजानन्तरं भोजनं कर्तव्यं सायंकाले च हस्तादिकं प्रक्षाल्य सायंकालोचित रीत्या पूजा कर्तव्या शौचं चैकादशवारंमृत्तिका जलेन हस्त प्रक्षालनं स्नानं चैक कुम्भजलेन वा एष आचार इतरस्त्वत्याचारोनिषेध एव, किमर्थं वृथाकार्ये गौणकार्ये समय नयनं क्रियते तेन च मुख्यकार्याऽनवसरो भवेत्, खेदं च प्राणहरणं भवेत् । प्राणरक्षां विना मनःस्थिरं न भवेत् मनःस्थैर्यं विना कदापिकाले मोक्षो न भवेत् । अतःकारणाद् महासिद्धा योग एव तिष्ठन्ति तत्त्ववास्तविके प्रमन्तीति ।

भा०—अब आचार बताया जाता है—प्रातःकाल उठ कर गुरु का स्मरण और समय का विचार करके शौचादि क्रिया करे फिर दन्तधावन और स्नान करके शिव मन्दिर में

जाकर पूजन करे उसके बाद भोजन करना चाहिये । सायंकाल हाथ पैर धो कर तत्काल की विधि के अनुसार पूजन करे। दिशा मैदान के बाद ग्यारह बार मिट्टी और जल से हाथ धोवे फिर एक कलश जल से स्नान करे बस यही आचार है, अधिक जो अन्याचार है अतः निषिद्ध है क्योंकि गौण कार्य में व्यर्थ समय बिताने से मुख्य कार्य के लिये समय नहीं मिलेगा, और दुःख से जीवन बीतेगा। प्राणरक्षा के बिना मन स्थिर नहीं होगा, और मन की स्थिरता के बिना मोक्ष कदापि नहीं हो सकता। इस लिये महासिद्ध लोग योग में ही डटे रहते हैं असत्य के भ्रमजाल में नहीं पड़ते।

मू०—यदा प्रारब्धं कर्म मन्यत एव तदा शङ्करस्य मण्डनमिश्रेणजाते विवादे शङ्करेण यत्नः किमर्थः कृतः । प्रारब्धकर्मणा किमपि भविष्यति तत्तुविनापि यत्नेन भविष्यतीति (पुन र्न भविष्यति तदापि किम् ? येतु प्रारब्धभोगोऽवश्य इति सिद्धान्तिनस्तेषां न भवनेनापि कियत्प्रारब्धं तत्तत्सिद्धान्तः श्रद्धयैव निश्चिततयाग्रहणीयः । किमर्थं यत्ने प्रयासः । परन्तुयत्रस्थले प्रारब्धस्याऽङ्गीकाराद्भूतएव परा-

जयो भवेत्तदा योगशक्तिमेवगृहीत्वा राज्ञःशरीरे जीवप्रवेश-करणादिकृतमित्यादि बहुधाप्रसिद्धमेव, यतो योगाश्रयेणैव विजयो जातः। पुनः न्यासिनांमतेथ्शृङ्गारोवार्जितः, इयत्तत् सत्यंकथंजातं शरीरमन्यस्य परन्तु जीवस्तु स्वयमेव ततोपि योगिनां सिद्धान्तएव निश्चलो भवतीति ।

भा०—यदि प्रारब्ध कर्म ही माना जाय तो शङ्कराचार्य को मण्डनमिश्र के साथ विवाद में उद्योग क्यों करना पड़ा। बिना उद्योग के प्रारब्ध कर्म से ही सब कुछ हो जाना नहीं होता तब भी क्या ? जो कोई प्रारब्ध का भोग आवश्यक है ऐसा सिद्धान्त मानते हैं उनके मत में होने से ही क्या, जो जो प्रारब्ध है वह वह होता है यह सिद्धान्त अवश्य श्रद्धापूर्वक ग्रहण करने लायक है। इसमें उद्योग की क्या आवश्यकता है परन्तु जहां पराजय भी होता है वह भी प्रारब्ध वश से ही हुआ है। तब तो योग शक्ति का आश्रय लेकर राजा के शरीर में प्रवेश करना इत्यादि प्रसिद्ध कार्यों में योगबल से अर्थात् उद्योग से ही विजय हुई है यह कहना सार्थक नहीं होगा। अतः प्रारब्ध के चक्र में पड़कर योग साधन को न छोड़े।

संन्यासियों के मत में शृङ्गार वर्जित है यह ठीक है, तो शृङ्गार परिचय के लिये शङ्कर ने शरीरान्तरका ग्रहण क्यों किया। यदि कोई कहे कि शृङ्गार का परिचय तो दूसरे शरीर से किया था न कि संन्यासी शरीर से इसका उत्तर है—कि आत्मा तो दोनों शरीरों में एक ही है, इससे भी योगियों का ही सिद्धान्त स्पष्ट हो रहा है जो सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में वर्णित है।

मू०—क्वचिद्‌भोगी क्वचित्त्यागी इत्यादि।

श्रीनाथ सूत्रे—आचारे ब्रह्म विचारे योगीति।

ब्राह्मण आगत्याचारं प्रवर्तितवान्।

योगी चागत्य विचारं प्रवर्तितवान्। यावद् ब्राह्मण आचाराद् विचारं प्राप्तस्तावद् योगी ब्रह्म प्राप्त इति। अन्ये सांप्रदायिका आचार्या अधिकारिभेदेन सर्वस्यापि समाधानं कुर्वन्ति तत्तु महासिद्धानांमतेसर्वधायाधकमेव कथंअधिकारिभेदेनसर्वस्यधर्म इति कथमन्त्यजानामपि तु तेषां धर्म एवेति। तथा चाऽनर्थ एव स्यात्, यतो धर्मस्तुमुमुक्षुपुरुषाणामेव, अन्येषां तु सर्वेषामधर्म एव। मुमुक्षवश्चयोगाधिकारिण एव। योगभोगौ द्वौ पदार्थौ, तत्र मुक्तये योगाधिकारी

अन्येवर्णाश्रमिवैष्णवबौद्धा इत्यादयः सर्वे व्यवहारिण एवेति। कुत्रचित्स्थले केऽपिजनाः स्थितास्तेषु केनाचित्पापस्य वार्ता उक्ता सा वार्ता द्वितीयेनाभिनन्दिता तदातत्पापमुक्तं कृतं तु प्रथमेनैव परन्त्वभिनन्दकत्वात् फलभागी तु द्वितीयो जात एव किंकिं वा नेति। तत्त्वितरशास्त्रेपि 'उपदेष्टानुमन्ता च साक्षात्कर्ताभिनन्दिता चत्वारः फलभागिन' इति लिखितमेव। तथाचैक उपदेष्टाऽपरः कर्ता एवं रीत्याचाधिकारि भेदेन समाधानमसमीचीनामिति प्रतिभाति ॥

भा०—श्रीनाथ सूत्र में भी कहा है—आचार और ब्रह्म विचार दोनों मे योगी है। ब्राह्मण ने आकर आचार औ योगी ने आकर विचार को प्रचलित किया ब्राह्मण ने जब न आचार से विचार को प्राप्त किया तब तक योगी ने ब्रह्म क प्राप्त कर लिया। अन्य मन्त्र देने वाले आचार्य अधिकारी भेद से सबका समाधान करते हैं यह महासिद्धों के मत सर्वथा बाधक है, कैसे? यदि अधिकारी भेद से कहो त सबका धर्म है यह कैसे होगा। क्योंकि अन्त्यज के लिए न माना जाता है। यदि उसका भी यह धर्म है ऐसा कहो त अनर्थ ही हो जायगा, अतः मुमुक्षु का ही धर्म है औ के लिए अधर्म है मुमुक्षु तो योग के अधिका

होते हैं। योग और भोग दो पदार्थ हैं, उनमें मुक्ति के चाहने वाले योगाधिकारी हैं और सब व्यवहारी हैं। किसी जगह दो आदमी बैठे थे उनमें किसी ने पाप की बात कही दूसरे ने उसका अनुमोदन किया, यद्यपि वह पाप पहले ने किया है किन्तु अनुमोदन करने से दूसरा भी उसका फलभागी हो ही जाता है। शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है—उपदेश देनेवाला, अनुमोदन करने वाला, खुद करने वाला, और प्रशंसा करने वाला ये चारों ही शुभाशुभ फल के भागी होते हैं, यह लिखा ही है। तब एक तो उपदेश देने वाला और दूसरा करनेवाला है इस रीति से अधिकारी भेद करके समाधान करना ठीक नहीं मालूम पड़ता।

मू०—कृतयुगे केवलं प्रणवगायत्रीयोगानुसारिसाधनेन जीवो मुक्तिप्राप्तः, पश्चादन्य युगे सर्वेपि यद्येतद्धर्मं वहेयुस्तदामुक्ताएवस्युस्तर्हि कथंसंसार प्रवृत्तिर्भवेदिति नाथेच्छया प्रणवावेदादिशास्त्राणि प्रकटितानि। तेन स्वस्वरूपात्पराङ्वृत्तिः कृतायेनच प्रणवयोगेन स्वरूपानुभवः प्रकटितः सोऽप्रकटः कृतः। अध्यारोपापवादादिप्रकारेण यद्मायिकवस्तु तन्नमिथ्याकल्पना बहुविधानेनकृता मिथ्यैवारम्भो मिथ्यैवाचनारो

मतात्पर्यमिदं कर्म ईदृशंवर्तते यत्तद्वज्र मिति। तदात्तत्करणं विना किंभवेत्। केवलज्ञानेनकथं सिद्धिः। ज्ञानमपिकर्म वर्तते। अन्तःकरणस्यधर्मत्वात् तत्रापिकरणं वर्ततएवेति

भा० टी०—नाथ सूत्र में लिखा है—ब्राह्मण में वेद प्रवृत्त हुए और सन्यासी तीर्थों, में निर्वाण पद को कोई नहीं प्राप्त कर सका। कैसे ? सूक्ष्म ब्रह्म की प्राप्ति के लिये एकाक्षर ओंकार सूक्ष्म वेद ही प्रकट किया, सूक्ष्म ही अक्षर द्वयरूप गायत्री की गई। साकार होता हुआ भी आकार का अभिमान न होने से निराकार के तुल्य नाथ रूप प्रकट हुआ। उस नाथ के द्वारा सूक्ष्म योगाभ्यास रूप योग का उपदेश हुआ उसका धारण करने वाला सूक्ष्म अवधूत ही माना गया, उसके बाद माया सहित स्थूल ब्रह्म की प्राप्ति के लिये एकाक्षर ओंकार रूप सूक्ष्म वेद से अनेकाक्षर स्थूल वेद प्रकट किया। अक्षर द्वय गायत्री से चौबीस अक्षरों की स्थूल गायत्री की योग से स्मृति पुराण आदि अनेक शास्त्र रचे गये, इन सबका धारण करने वाले ब्राह्मण परम हंस और अन्य लोगों की रचना हुई।

नाथ सूत्र में कहा है कि गुरु के वचन का एक बार उल्लंघन

होने से उसका युग युग में उल्लंघन होता जाता है इस कारण गुरु के वचन को किसी काल में नहीं भूलना चाहिये। स्वयं अनुष्ठान न करने वाला पुरुष सभा में जाकर किसी देव अथवा किसी धर्म का पक्ष लेता है और स्वार्थ सिद्ध हो जाने पर छोड देता है वह किस तरह मोक्षका भागी बन सकता है कदापि नहीं ऐसे शिष्य को सद्गुरु भी किस प्रकार अङ्गीकार कर सकता है यदि करे भी तो उसका इष्ट देव भी अप्रसन्न हो जाता है। कोई कहता है मैं स्मार्त हूँ, वैष्णव हूँ जो कुछ भी हूँ, जब जब मैं कहता हूं स्मार्त्त कि तुम हो तब उसका यह तात्पर्य हुआ कि स्मृ- तियों में कहा हुआ सारा आचार तुम में है। तब वह उत्तर देता है कि सब आच र तो मुझ में नहीं है इस पर मेरा कहना है कि मैं स्मार्त्त हूँ यह तेरा कथन मात्र रहा न कि आचरण, केवल कथन से पाप नहीं हट सकता इसी लिये उस धर्माचरण से पाप नहीं होता है यह कहा है न कि कथन से और मिथ्या दोष भी लगेगा। तब वह हार कर कहता है कि मैं स्मार्त्त नहीं उस पर मैं कहता हूं कि स्मार्त्त कुल में उत्पन्न होकर स्मार्त्त धर्मी न हो तो धर्म में विरोध आजायेगा, इस पर यह उत्तर है। कि जैसा प्रारब्ध है वैसा ही मैं हूँ। यदि मैं कहूँ कि प्रारब्ध में ही श्रद्धा को स्थिर करे कैसे–जैसा प्राणियों का प्रारब्ध है वैसा

होता ही है किन्तु कहने से धर्म नहीं होता किसी का प्रारब्ध है कि यह कूपमें गिरेगा यह अनजान में चाहे कूए में गिर पड़े किन्तु जब जान लेता है तो अवश्य उसके रोकने का उपाय करेगा। आखिर होता है वही जैसा कहा है कि जैसा प्रारब्ध है वैसा हो। फिर वह कहता है कि जो कुछ गुरु की आज्ञा होती है वही मैं करता हूं। फिर मैं कहता हूं कि गुरु जी तो उत्तमाधिकारी हैं तुम तो मन्दाधिकारी हो। तुम को गुरु वाक्य में विश्वास रखना चाहिये, इस पर उसने कुछ नहीं कहा इत्यादि नाना प्रकार से बहुत बात चीत करने पर भी वर्ण आश्रम—स्त्री और पुरुष का कोई भी चिन्ह स्थिर नहीं होता है अतः अव्यक्त लिङ्ग होने से अत्याश्रमी ही कहलाता है इस लिये असत्य वस्तु की कल्पना क्यों की जाय, यहां सत्य स्वरूप अवधूत पने का ही ग्रहण करना चाहिये। जब स्वय वर्ण नहीं है तो स्मार्त्त हुं यह भी क्यों कहा जाय तब यह कहता है कि कोई एक आध स्मार्त धर्मता मुझ में है ही उस पर मेरा कथन है कि एक स्मार्त्त धर्म है तो दूसरा किस का धर्म है। उस पर उत्तर देता है कि जो मेरे मन के अनुकूल है, इस पर मैं कहता हूं कि जो तेरे मन के अनुकूल है वह अधर्म नहीं किन्तु वह भी किसी का धर्म ही होगा, तब तो तुम में धर्म की खिचड़ी हुई। तब लाचार होकर कहना पड़ता है कि मैं स्मार्त नहीं हूं फिर मैं कहता हूँ कि यदि स्मार्त कुल में उत्पन्न होने पर

भी स्मार्त धर्म न रहा तो धर्म से भ्रष्ट हो गया। उस के कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म वज्र के समान अभेद्य है, वह विना भोग के नष्ट नहीं होता योगादि के उद्योग विना नहीं हट सकता, केवल ज्ञान से भी सिद्धि कैसे मिल सकती है। वह भी नां अन्तकरण का धर्म होने से कर्म रूप ही है, अतः कर्मा-नुष्ठान से हीं सिद्धियां होती हैं।

मू०—द्वैतवादिनः कथयन्ति–अस्माभिः किं प्रेरकंप्रतिकथ्यते द्वैतमिति नास्तीति। सत्यद्वैतएव परन्तुद्वैतं शरीरंयतः शरीर शरिरी भावेन सोपि द्वैतएवास्तीति कथ्यते। अद्वैत वादिनश्चकिंकथय न्ति ? अद्वैतमेवास्ति, यच्छरीरंद्वैतंदृश्यते तत्तुमिथ्यैवेति। महा सिद्धाः कथयन्ति–चैतन्यंजडंच

शरीरादि उभयमपि मिलित्वाएकमेवपूर्णंवस्तु यतःपरमा-द्वैतं यत्तु किमपिनाथतेजस्तच्चक्रवर्ति सर्वोपरिवर्तते। केचि-त्कथयन्ति ज्ञानिनोज्ञानं निरपेक्षमेव कर्मणोऽपेक्षां पूर्वकालेपि न करोतितत्तुनास्त्येव। भवदीयमतानि सर्वाण्यपि शास्त्राण्यु-र्ध्वबाहुतयैवंवदन्ति कर्मणाचित्तशुद्धिः स्यादनन्तरं तस्या-गस्त्यागाच्चज्ञानप्राप्तिर्ज्ञानान्मुक्तिरियं वार्ताघण्टाघोषपद्-घियते इति।

चकार। सर्वेब्रह्मविष्णुरुद्रादयोदेवाः शेषादयोनागामन्वादयोनराः अन्येचपशुपक्षिणोयावज्जीवं सर्वेस्त्रीजिता, एकोनाथ एवमायाजेता। तदुक्तं महासिद्ध श्रीविचारनाथेनभर्तृहरिणा

शम्भु स्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाऽक्रियन्तसततंगृहकर्मदासाः।
वाचामगोचर चरित्रविचित्रिताय
तस्मैनमो भगवते मकरध्वजाय॥

अतः कारणाद् यदागार्हस्थ्यं कृतं तदास्त्रीपोषणमवश्यमेवकर्तव्यं यदाचविरागेच्छातदा त्वयधूर्तेनव भाव्यमिति।

भा०—वेदगृहस्थ धर्मका वर्णन करते हैं, उसकी रीति में कहना है—स्त्री के विना गृहस्थ धर्म चल ही नहीं सकता क्यों कि गार्हस्थ्य का मूल ही स्त्री है। और भी कहते हैं। हर महीने तीन राम ऋतु धर्म होता है, फिर शुद्ध दिनों में सन्तान के लिये अनुष्ठान किया जाता है सुख के लिये कदापि विषय भोग नहीं करना चाहिये यह भी वेदों का उपदेश है, यदि ऐसा है तो पहले घर में निर्वाह करना फिर उसमें भोजनादि करना, उससे शरीर का पुष्ट होना, उसके

बाद अवश्य कामोद्दीपन होता है तब यह शरीर कैसे अपने वश में रह सकता है। उसमें भी स्त्रियों का चित्त तो काम के भोगे बिना क्षणभर भी शान्त नहीं हो सकता। सो कैसे? स्त्रियों को तो काम ही इष्ट होता है उसकी पूर्ति न होने पर उनका चित्त व्यभिचार की तरफ दौडता है उस पाप से सारा कुल नष्ट होजाता है और लोक में हंसी होती है। इसलिये महासिद्ध लोग गार्हस्थ्य नहीं करते। सिद्धों का इष्ट देव नाथ है उन्होंने भी स्त्री का ग्रहण नहीं किया है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि समस्त देवता शेष आदि नाग मनु आदि मनुष्य और पशु पक्षी इत्यादि समस्त प्राणी अपने जीवनकाल में स्त्री के वश में रहे हैं, सिर्फ एक नाथ जी ने ही माया को जीता है। इसी पर महासिद्ध श्रीविचारनाथ भर्तृहरि ने भी कहा है— जिसने शिव ब्रह्मा और विष्णु सरीखे देवों को भी स्त्रियों का दास बनादिया अकथनीय अद्भुत चरित्रवाले उस काम देव को नमस्कार है इसलिये जब गृहस्थ को धारण किया है तो स्त्री का पालन पोषण अवश्य करना चाहिये, यदि वैराग्य की इच्छा है तो अवधूत होजाना चाहिये।

मू०— परमहंसास्तु कामंनिषेधयन्ति स निषेधो न भवस्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्रीमीननाथेन—

चकार। सर्वेब्रह्मविष्णुरुद्रादयोदेवाः शेषादयोनागामन्वादयोनराः अन्येचपशुपक्षिणोयावज्जीवं भवेस्त्रीजिता, एकोनाथ एवमायाजेता। तदुक्तं महासिद्ध श्रीविचारनाथेनभर्तृहरिणा

शम्भु स्वयम्भुहरयो हरिणेक्षणानां,
येनाऽक्रियन्तसततंगृहकर्मदासाः।
वाचामगोचरचरित्रविचित्रिताय
तस्मैनमो भगवते मकरध्वजाय॥

अतः कारणाद् यदागार्हस्थ्यं कृतं तदास्त्रीपोषणमवश्यमेवकर्त्तव्यं यदाचविरागेच्छातदा स्वयंधृतेनात्र भाव्यमिति।

भा०—वेदगृहस्थ धर्मका वर्णन करते हैं, उसकी रीति में कहता हूँ—स्त्री के बिना गृहस्थ धर्म चल ही नहीं सकता क्यों कि गार्हस्थ्य का मूल ही स्त्री है। और भी कहते हैं। हर महीने तीन रात ऋतु धर्म होता है, फिर शुद्ध दिनों में सन्तान के लिये अनुदान दिया जाता है सुख के लिये कदापि विषय भोग नहीं करना चाहिये यह भी वेदों का उपदेश है, यदि ऐसा है तो पहले घर में निवास करना फिर उसमें भोजनादि करना, उससे शरीर का पुष्ट होना, उसके

बाद अवश्य कामोद्दीपन होता है तब यह शरीर कैसे अपने वश में रह सकता है। उसमें भी स्त्रियों का चित्त तो काम के भोगे बिना क्षणभर भी शान्त नहीं हो सकता। सो कैसे? स्त्रियों को तो काम ही इष्ट होता है उसकी पूर्ति न होने पर उनका चित्त व्यभिचार की तरफ दौडता है उस पाप से सारा कुल नष्ट होजाता है और लोक में हंसी होती है। इसलिये महासिद्ध लोग गार्हस्थ्य नही करते। सिद्धों का इष्ट देव नाथ है उन्होंने भी स्त्री का ग्रहण नहीं किया है। ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि समस्त देवता शेष आदि नाग मनु आदि मनुष्य और पशु पक्षी इत्यादि समस्त प्राणी अपने जीवनकाल में स्त्री के वश में रहे हैं, सिर्फ एक नाथ जी ने ही माया को जीता है। इसी पर महासिद्ध श्रीविचारनाथ भर्तृहरि ने भी कहा है— जिसने शिव ब्रह्मा और विष्णु सरीखे देवों को भी स्त्रियों का दास बनादिया अकथनीय अद्भुत चरित्रवाले उस काम देव को नमस्कार है इसलिये जब गृहस्थ को धारण किया है तो स्त्री का पालन पोषण अवश्य करना चाहिये, यदि वैराग्य की इच्छा है तो अवधूत होजाना चाहिये।

मू०— परमहंसास्तु कामंनिषेधयन्ति स निषेधो न भवत्येवम्। कथम्? तदुक्तं श्रीमीननाथेन—

हरकोपानलेनैव भस्मीभूतः कृतः स्मरः ।
अर्धगौरी शरीरोहि तेन तस्मैनमोस्तुते ॥

अतोमहासिद्धा विषयरीत्या तु त्यागमेव कुर्वन्ति । पुनः प्रकृतिरपि मल्लैवनर्तते' शिवशक्त्योरस्माकंमतेऐक्यमेववर्तते तदुक्तं—

शिवस्याभ्यन्तरेशक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः ।
अन्तरंनैवजानीयाच्चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
प्रसरंभासयेच्छक्तिः संकोचंभासयेच्छिवः ।
तयोर्योगस्यकर्तायःसभवेत्सिद्धयोगिराट् ॥

एवंत ऐक्यंज्ञात्वा काममपि भजन्त्येव। अतएवोक्तं—

क्वचिद् भोगी क्वचित्त्यागीत्यादि ।
त्यागिनामपेक्षया त्यागएवएतादृशः ॥

एतैःक्रियतेयादृशस्त्यागिनामपिन भवेत्। कथम्? कर्मराहित्योपरितुत्यागोनास्तितदेवं प्रारब्धमपित्यज्यते। शून्ये लग्नैः प्रारब्धमपित्यज्यते । यदाचभोगंकुर्वन्ति—

तदा संसारिणोपि यादृशंनकुर्वन्ति तादृशमेतेकुर्वन्ति कथम् ? संसारिणः प्रकृतिलग्नाएवयोगिनस्तुप्रकृतिब्रह्मो-भये पूर्णलग्ना अतस्तेषांरीतिर्विलक्षणैव । भोगिभिः सुभोग-एवैकःक्रियतेतेषां त्यागो न भवति । भोगिनान्त्वेको भोग एव भवति नतुते त्यागे समर्थाः । पुनस्त्यागिनोयेभवन्ति तैःप्रथममेव त्याग कृतः । त्यागिनइति एषांनामतः पुनर्भोगः कथंक्रियतेकरणेचसर्वमेवनंष्टस्यादिति । अथचाऽवधूतास्त्या-गिनामपिलोके त्यागस्याधिक्यं दृष्टिगोचरं कृत्वापुनः स्वे-च्छया भोगमपिकदाचित्कुर्वन्ति तथापि तेषांभोगोबाधको नभवेत् । भोगिनोभोगमेवकुर्वन्त्येवं त्यागिनस्त्यागमेवेत्यव-धूतानान्तुत्यागभोगयोर्द्वयोरपिपदार्थयो सामर्थ्यम् । त्यागं कयारीत्या कुर्वन्ति ? युगपर्यन्तमप्याहारादिकंनगृह्णन्त्येवं त्यागिनां नभवति । कथम् ? ते देहनविजिताएतेतुदेहा-धीनाः सन्तियत इतिदिक् ।

भा०—परमहंस लोग तो काम का निषेध करते हैं परन्तु इस तरह केवल कथन से निषेध नहीं होता । कैसे ? इस पर श्रीमीननाथ जी ने कहा है—कि शिव जी की क्रोधाग्नि से

कामदेव भस्म हो गया, तथापि स्वयं अर्धगौरी शरीर हैं अर्थात् पार्वती हर समय उनके वाम भाग में विराजमान है। ऐसे शिव जी को नमस्कार है। इस लिए महासिद्ध विषय के वर्णन द्वारा भी त्याग ही कहते हैं। फिर प्रकृति भी तो ब्रह्म ही है क्योंकि मेरे मत में शिव और शक्ति का अभेद ही है। इसी विषय में कहा है कि शिव के भीतर शक्ति और शक्ति के भीतर शिव है अर्थात् दोनों आपस में मिले हुए हैं एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। चांद और चादनी की तरह उनका भेद नहीं जाना जा सकता इन श्लोकों की हिन्दी पहले ही हो चुकी है। इस प्रकार अभेद जान कर महासिद्ध काम का उपभोग भी कर सकते है इसी लिये कहा है—कहीं भोगी और कहीं त्यागी इत्यादि। त्याग भी जैसा महासिद्ध करते हैं वैसा त्यागी कहलाने वाले अन्य लोग नहीं कर सकते। कैसे, अन्य लोग संचित और—क्रियमाण कर्मों के त्याग से अधिक नहीं कर सकते, महासिद्ध तो प्रारब्ध का भी परित्याग कर देते हैं। शून्य में लीन होने से प्रारब्ध भी छूट जाता है। जब भोग करते हैं तो ऐसा करते हैं जिसको संसारी लोग कर ही नहीं सकते। कैसे अन्य लोग तो प्रकृति में फंसे रहते हैं, और ये तो दोनों को मिलाकर पूर्ण में ही लीन रहते

हैं, इसलिये इनकी रीति निराली है। भोगी लोग सुन्दर २ भोग ही भोगते हैं उनका त्याग नहीं कर सकते। भोगियों को तो भोग ही मुख्य है वे उसके त्याग में समर्थ नहीं हैं, जो त्यागी होते हैं वे तो पहले ही त्याग कर देते हैं। जिनका नाम त्यागी है वे भोग कैसे कर सकते हैं यदि वे भोगी हो जायँ तो अपने स्वरूप से भ्रष्ट हो जायँगे। अवधूत लोक में त्यागियों के त्याग की अधिकता को देखकर कभी अपनी इच्छा से भोग भी कर लेते हैं, तो भी उनका भोग उनके स्वरूप का बाधक नहीं होता है। भोगी भोग ही करते हैं और त्यागी त्याग ही। अवधूत की सामर्थ्य तो त्याग और भोग दोनों में ही है। त्याग किस रीति से करते हैं? देखो युग पर्यन्त भी भोजनादि कुछ नहीं करते हैं, त्यागी लोग ऐसा नहीं करते कैसे अन्य लोग तो देह से जिते हुए हैं और इन्होंने तो देह को अपने अधीन कर रक्खा है।

मू०—अनयारीत्यापरमार्थस्तु प्रथममेवनष्टः। कथम्? यदा स्त्रीगृहीता। पश्चादयंलोकोनष्टः। कदा? यदास्त्रीग्रहणेनगार्हस्थ्यं-जातंतत्र च गृहस्थरीत्या प्रवृत्तोन। एवं च द्वावपिलोकौनष्टौ भोगो-पिनास्ति मुक्तिरपिनास्ति चंचलेन मनसा सर्वमपिनष्टीकृतम्। कथम्? गार्हस्थ्यंत्यक्त्वा आश्रमान्तरंगृह्णातितत्रापि पुनः श्रमेण-

कातरोभूत्वादुःखेनसीदन् प्रारब्धस्याङ्गीकाराद् यद् यद्यथा प्रारब्धं तत्तत् सर्वमपिकर्म करोति। तदाकर्मणःसाङ्कुरत्वादेवकदापि-काले मुक्तिभाग्नभवत्येव, यथा ग्रामेगर्दभा वनेवाशूकरास्तथाविषयवशा वारंवारंजन्मादिगृह्णन्ति। पुनश्चंचलेनमनसामुक्तोहस्तीग्रामाद्वनंगच्छति किंचित्सुखमेव भविष्यतीति वनाच्छृगालो ग्राम मागच्छतिमृतकाऽस्थ्यादि भक्षणार्थमितिनिर्देश इति। यथाराजा, राजस्त्रीगणाश्चनेके भवन्ति, स्वयंतु एकएवसतेषांसमस्तानांकाम तृप्तिपूर्णांकथंकुर्यात्? स्वचित्त प्रसादेनैवयथेच्छं क्रीडतिनाम। यतस्तेषां तु महत्तरंदुःखमेवस्यात्। तेनदुःखजनिताऽपध्यानेनराज्ञोऽकल्याणमेवभवेत्। अतएवोक्तं राज्यान्तेनरकइति। तथैवैतादृशएवाचार्यएकएव, शिष्यास्तुबहवःकृताः, तेषुकस्यकस्यपापं हरेत्। पापहरणाऽसमर्थोबहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपिदुर्गति मेव प्राप्नुयात्। तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्रीगोरक्षनाथेनचाचार्या पदुदीक्षिता इत्यादि।

तेतस्यतोर्वचिता इत्यन्तम्।

यदागस्यतो वंचितास्तदा मुख्यनरकभाजएवेत्यर्थादागतम्।
यतोहेवोर्वह्वशिष्यकरणंसिद्धानांमतेवर्जितम्॥

भा०—इस रीति से परमार्थ तो पहले ही नष्ट हो चुका, कैसे? जब स्त्री का ग्रहण कर लिया जाता है तो यह लोक बिगड़ जाता है। जब स्त्री का ग्रहण करके गृहस्थी बना, और उस में गृहस्थ रीति से नहीं चलेगा तो दोनों ही लोक नष्ट होजाते हैं, भोग भी नही हुआ, और मुक्ति भी नहीं हुई मन चचल होने से सब भ्रष्ट होजाता है। कैसे गार्हस्थ्य छोड़ कर दूसरे आश्रम का ग्रहण किया, वहां भी श्रम से थक कर दुःखी होते हुए प्रारब्ध को स्वीकार किया, फिर जैसा प्रारब्ध होता वह वैसा काम करता है। जब कर्म के चक्र में पडने से कदापि मुक्ति नही होती। जैसे गांव में गधे बन में सूअर विषयासक्त रहते हैं वैसे ही विषयासक्त होकर बार बार जन्म और मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। मन की चंचलता से ही बंधन से छूटा हुआ हाथी मुझे सुख होगा इस लिये ग्राम से वन को जाता है, और गीदड़ मुर्दे की हड्डी खाने के लिये वन से गाव को आता है। जैसे राजा एक है और उसकी स्त्रियां अनेक हैं, अकेला वह राजा उन अनेक स्त्रियों की कामचेष्टा को कैसे पूर्ण कर सकता है, हां अपना चित्त खुश करने के लिये यथेच्छ क्रीडा करता है। किन्तु उन स्त्रियों को तो महा कष्ट होता है। उस दुःखजनित अपराध से राजा का अमंगल ही होगा। इस

कातरोभूत्वादुःखेनसीदन् प्रारब्धस्याङ्गीकाराद् यद् यद्यथा प्रारब्धं-तत्तत् सर्वमपिकर्म करोति। तदाकर्मणःसाङ्कुरत्वादेवकदापि-काले मुक्तिभाग्नभवत्येव, यथा ग्रामेगर्दभा वनेवाशूकरास्तथाविषयवशा वारंवारंजन्मादिगृह्णान्ति। पुनश्चंचलेनमनसामुक्तोहस्तीग्रामाद्वनंगच्छति किंचित्सुखमेव भविष्यतीति वनाच्छृगालो ग्राममागच्छतिमृतकाऽस्थ्यादि भक्षणार्थमितिनिर्देश इति। यथाराजा-राजस्त्रीगणाअनेके भवन्ति, स्वयंतु एकएवसतेषांसमस्तानांकामवृत्तिपूर्णांकथंकुर्यात् ? स्वचित्त प्रसादेनैवयथेच्छं क्रीडतिनाम। यतस्तेषां तु महत्तरंदुःखमेवस्यात्। तेनदुःखजनिताऽपध्यानेनराज्ञोऽकल्याणमेवभवेत्। अतएवोक्तं राज्यान्तेनरकइति। तथैवैताद्दशएवाचार्यएकएव, शिष्यास्तुवहवःकृताः, तेषुकस्यकस्यपापं हरेत्। पापहरणाऽसमर्थोवहूनां शिष्याणां पापेनाचार्योऽपिदुर्गतिमेव प्राप्नुयात्। तदुक्तं सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ श्रीगोरक्षनाथेनआचार्यवहुदीक्षिता इत्यादि।

तेतत्त्वतोवंचिता इत्यन्तम्।

यदातत्त्वतो वंचितास्तदा मुख्यनरकभाजएवेत्यर्थादागतः यतोहेतोर्वहुशिष्यकरणंसिद्धानांमतेवर्जितम्॥

भा०—इस रीति से परमार्थ तो पहले ही नष्ट हो चुका, कैसे? जब स्त्री का ग्रहण कर लिया जाता है तो यह लोक बिगड़ जाता है। जब स्त्री का ग्रहण करके गृहस्थी बना, और उस में गृहस्थ रीति से नहीं चलेगा तो दोनों ही लोक नष्ट होजाते हैं, भोग भी नहीं हुआ, और मुक्ति भी नहीं हुई मन चचल होने से सब भ्रष्ट होजाता है। कैसे गार्हस्थ्य छोड़ कर दूसरे आश्रम का ग्रहण किया, वहां भी श्रम से थक कर दुःखी होते हुए प्रारब्ध को स्वीकार किया, फिर जैसा प्रारब्ध होता वह वैसा प्राप्त करता है। जब कर्म के चक्र में पडने से कदापि मुक्ति नहीं होती। जैसे गांव मे गधे बन में सूअर विषयासक्त रहते हैं वैसे ही विषयासक्त होकर बार बार जन्म और मरण के चक्र में घूमते रहते हैं। मन की चंचलता से ही बंधन से छूटा हुआ हाथी मुझे सुख होगा इस लिये ग्राम से वन को जाता है, और गीदड़ मुर्दे की हड्डी खाने के लिये वन से गाव को आता है। जैसे राजा एक है और उसकी स्त्रियां अनेक हैं, अकेला वह राजा उन अनेक स्त्रियों की कामचेष्टा को कैसे पूर्ण कर सकता है, हां अपना चित्त खुश करने के लिये यथेच्छ क्रीडा करता है। किन्तु उन स्त्रियों को तो महा कष्ट होता है। उस दुःखजनित अपराध से राजा का अमंगल ही होगा। इस

लिए ठीक कहा है कि राज्य के अन्त में नरक में वास होता है। वैसे ही आचार्य भी अकेला ही है और शिष्य बहुत कर लिए हैं उन में किस किस के पाप को हटायेगा। उन शिष्यों के पाप न हटाने पर उसी पाप से गुरु भी दुर्गति को प्राप्त होता है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में कहा भी है नाथ जो ने जो आचार्य बहुत से चेले बनाते हैं यह ठीक नहीं, और वे तत्त्व से वंचित रहते हैं इत्यादि। जब तत्त्व से वंचित रहते हैं तो अवश्य घोर नरक के भागी बनते हैं यह अर्थात् से सिद्ध होता है।

इसलिए बहुत शिष्य बनाना सिद्धों के मत में वर्जित है।

मू०— षट्पदार्था यत्र भवन्ति स भगवान्। के ते षट् पदार्था अमी— समग्रैश्वर्यम् १ धर्मः २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानम् ५ वैराग्यम् ६ इत्येषांमध्ये एकोऽपिरुद्रविष्ण्वादिना भगवत्पदवाच्येपुन। प्रथममंतु समग्रैश्वर्यं योगरूपं तदेवनास्ति कथम्? सर्वेकामवशाः स्त्रीसङ्गिनो यान् योगिनोलोकाः कथयन्ति तेषांस्त्री संगः, एतत्तुहास्यमेव। पुनर्धर्मः—यत्र यत्र स्थले छलः क्रियतेतदाधर्माभावः कथम्? छलस्तुनारदस्य वानरमुखकरणादिनाविष्णोः प्रसिद्ध

एवेति। पुनर्यशः—तदपिकथम्? रावणवधे लोककल्याणे यशोजातं तथैवस्त्रीहरणेऽप यशोपिजातं कथं रावणस्य पामरस्यवधेनकिं, तस्यवालिवानरेण वन्धनं कृतं सहस्रबाहुनार्जुनेन च वन्धनं कृतं पुनारामस्तु भगवानिति कथ्यते। जगत्कर्ताचकथ्यते। तस्यस्त्रीहरणमेतत्तुमहदपयशः। पुनः श्रीः—यस्यपरमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशोनास्ति तस्य श्रीः कथम्। पुनर्ज्ञानम्—यदाज्ञानस्वरूपास्ते तदाऽज्ञानकार्ये संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनर्वैराग्यम्—तत्तु सर्वथै वैतत्काल्पितेष्वीश्वरेपुनैवनैवेति। कथं पुराणेएतेषां लौकिक्रया त्वेवमायास्यति तत्तुवक्तुमशक्यम्। दास्यां वेश्यायांमासक्ता इत्यादि किंकिंलिख्यते। तदावैराग्यंकुत्र? अतः कारणात् षडेवपदार्थानाथे तत एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यन्तु योगः, सतुसहजसिद्धएवपुनः। धर्मोऽपि स एव योमुक्तिरूपः, एतद्व्यतिरिक्तः स्मृत्यादि शास्त्राणि धर्मं वर्णयन्ति सत्वधर्मएव, पुनर्यशोऽपि यस्यैव योमुक्तरूपस्तस्यैव वन्धरूपस्य कथमयशः पुनः श्रीः शोभापि यस्यैव स मुक्तो वंध

लिए ठीक कहा है कि राज्य के अन्त में नरक में वास होता है। वैसे ही आचार्य भी अकेला ही है और शिष्य बहुत कर लिए हैं उन में किस किस के पाप को हटायेगा। उन शिष्यों के पाप न हटाने पर उसी पाप से गुरु भी दुर्गति को प्राप्त होता है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति में कहा भी है नाथ जो ने जो आचार्य बहुत से चेले बनाते हैं वह ठीक नहीं, और वे तत्त्व से वंचित रहते हैं इत्यादि। जब तत्त्व से वंचित रहते हैं तो अवश्य घोर नरक के भागी बनते हैं यह अर्थात् से सिद्ध होता है।

इसलिए बहुत शिष्य बनाना सिद्धों के मत में वर्जित है।

मू०— षट्पदार्थायत्रभवन्ति स भगवान् । के ते षट् पदार्थाअमी— समग्रैश्वर्यम् १ धर्मः २ यशः ३ श्रीः ४ ज्ञानम् ५ वैराग्यम् ६ इत्येषांमध्ये एकोऽपिरुद्रविष्ण्वादिना भगवत्पदवाच्येषुन । प्रथममंतु समग्रैश्वर्यं योगरूपं तदेषुनास्ति कथम् ? सर्वेकामवशाः स्त्रीसङ्गिनो यान् योगिनोलोकाः कथयन्ति तेषांस्त्री संगः, एतत्तुहास्यमेव। पुनर्धर्मः—यत्र यत्र स्थले छलः क्रियतेतदाधर्मभावः कथम् ? छलस्तुनारदस्य वानरमुखकरणादिनाविष्णोः प्रसिद्ध

एवेति। पुनर्यशः—तदपिकथम्? रावणवधे लोककल्याणे यशोजातं तथैवस्त्रीहरणेऽप यशोपिजातं कथं रावणस्य पामरस्यवधेनकिं, तस्यवालिवानरेण वन्धनं कृतं सहस्र बाहुनार्जुनेन च वन्धनं कृतं पुनारामस्तु भगवानिति कथ्यते। जगत्कर्ताचकथ्यते। तस्यस्त्रीहरणमेतत्तुमहदपयशः। पुनः श्रीः—यस्यपरमार्थे मुक्तिर्नास्ति ऐहिके च यशोनास्ति तस्य श्रीः कथम्। पुनर्ज्ञानम्—यदाज्ञानस्वरूपास्ते तदाऽज्ञानकार्ये संसारकार्ये किमर्थं प्रवृत्तास्ततो ज्ञानं कथम्। पुनर्वैराग्यम्—तत्तु सर्वथैवैतत्काल्पितेष्वीश्वरेपुनैवनैवेति। कथं पुराणेएतेषां लौकिकया त्वेवमायास्यति तत्तुवक्तुमशक्यम्। दास्यां वेश्या यामासक्ता इत्यादि किंकिंलिख्यते। तदावैराग्यंकुत्र? अतः कारणात् षडेवपदार्थानाथे तत एव तिष्ठन्ति। समग्रैश्वर्यन्तु योगः, सतुसहजसिद्धएवपुनः। धर्मोऽपि स एव योमुक्ति रूपः, एतद्व्यतिरिक्तः स्मृत्यादि शास्त्राणि धर्मं वर्णयन्ति सत्वधर्मएव, पुनर्यशोऽपि यस्यैव योमुक्तरूपस्तस्यैव वन्धरूपस्य कथमयशः पुनः श्रीः शोभापि यस्यैव स मुक्तो वंध

रूपस्यक्षुचिः कथं भवेत् ? यो लौकिकसुखदुःखमग्नइति ज्ञानं. तस्यैवज्ञानं पुनर्वैराग्यं तस्यैववैराग्यमेवच सर्वेषामाधारोनाथ एव, अतः कारणात्महासिद्धानां तात्पर्यंनाथपरमेवेति । कोपिकथयति-किंनाथ एवमुक्तिरूपएते ईश्वरामुक्ता नमन्ति तत्तु प्रथममेवोक्तं येस्त्रीसंयुक्ताः संसारकार्येचासक्तास्ते कथं मुक्तिरूपाइत्यत एवाग्रेएतेषां मुक्तिबंधरूपत्वं कथयिष्यते भगवच्छब्दनिर्णयोऽपिकरिष्यते । अस्माकं मतेशक्तिः सृष्टिंकरोति शिवः पालनंकरोति कालः संहरति-नाथोमुक्तिंददाति । ब्रह्माविष्णुस्तुशिवशक्तिकालानामेवा-ऽन्तरभेदेन कर्तृत्वादिशक्तिर्नतुस्वसत्तया यदा शिवादयः संसारप्रवर्तका जातास्तदा बन्धरूपाएवभूताः । कथम् ? जीवरूपेणबन्धनम् , ईश्वररूपेणापि बन्धनं दत्तमिति भेदोऽत-एवजीवात्मापरमात्मेति । परन्तुशुद्धात्मानास्ति। सतुशुद्धात्मा नाथ एव एतेसंसारमज्ञानं प्रवर्तयन्ति । नाथस्त्वज्ञानं निवर्तयति । नाथरूपेणसृष्टिकरण उपेक्षा । आचार्याणान्तुखण्ड खण्डेषुपाण्डित्यं वर्तते पूर्णो धर्मोनास्ति संसार प्रवृत्तिकारण

रूपंवस्तुचैकं पूर्णोधर्मो ननुमोक्षधर्मो यथाराज्ञामेकं स्वार्थ सम्पादकत्वमेवपूर्णं नत्वन्येधर्माः । धर्माश्चैतेक इति यज्ञो वैराग्यं तपस्तीर्थं व्रतंत्यागोज्ञानं योगइत्यादयः । शौर्यमौदार्यं पुण्यंयशोऽभिलापः शास्त्रधारणमित्यादयः । ब्रह्मचर्यं गृहीतं पुनर्गार्हस्थ्यं करोति पुनर्गार्हस्थ्यं किंचित्संसेव्य त्यागं करोत्यतएतदन्तरे यद्धर्मरहितत्वेन कालोजातस्तत्रधर्मो न्यूनएवजायते तथाह्युपदिशति ॥

भा०—छहों पदार्थ जिसमें पाए जाएं वह भगवान् कहलाता है। वे छः पदार्थ कौन से हैं सुनिये? समग्र ऐश्वर्य १ धर्म २ यश ३ श्री ४ ज्ञान ५ और वैराग्य ६। इनमें से एक भी पदार्थ रुद्र विष्णु आदि भगवत् पद से पुकारे जाने वालों में नहीं हैं। पहले तो योग रूप जो समग्र ऐश्वर्य है वही नहीं है, क्योंकि ये सब काम के वश हैं और स्त्री के साथी हैं, जिनको लोग योगी कहते हैं उनके साथ स्त्री है यह हंसी की बात है। धर्म भी उनमें नहीं है क्योंकि जहां छल है वहां धर्म कहां? विष्णु ने नारद को वानर मुख बना कर उसके साथ छल किया यह प्रसिद्ध है। अब आया यश वह भी नहीं, रावण के मारने से लोगों का कल्याण हुआ इससे

यश हुआ तो पर साथ में स्त्रीहरणजनित अपयश भी तो हुआ। जिस रावण को बाली नामक वानर ने तथा सहस्रार्जुन ने बांध लिया उस कायर रावण को मारने से कैसे यश हुआ। राम तो भगवान् तथा जगत् के कर्ता कहे जाते हैं, ऐसे महापुरुष की स्त्री का हरण होना तो और भी महा अपयश है। अब श्री को भी देखिये-जिसको परमार्थ में मुक्ति नहीं है और इस लोक में यश नहीं है उसके पास श्री कैसे कही जा सकती है। अब ज्ञान के विषय में दृष्टि डालिये-यदि ज्ञानस्वरूप थे हैं तो अज्ञान के कार्य संसार व्यवहार में क्यों फसे। अब रहा वैराग्य—यह तो इन कल्पित ईश्वरों में है ही नहीं। कैसे पुराणों में इनका लौकिक व्यवहार बताया गया है। वह अकथनीय है, दासी तथा वेश्याओं में आसक्त थे। इत्यादि क्या क्या लिखा जाय। इस हालत में वैराग्य कहां। अतः उपर्युक्त छहों पदार्थ नाथ ही में है। समग्रैश्वर्य योग है सो तो उनको स्वभाव से ही सिद्ध है। धर्म मुक्ति रूप है। उससे भिन्न जिसको स्मृत्यादि शास्त्र धर्म कहते हैं, सो इनके लिए अधर्म ही है यश भी उन्ही का है जिनका मुक्त रूप है, बन्धन रूप का कैसे यश कहा जा सकता है। श्री भी उसी की है जिसका रूप मुक्त है उस बन्ध रूप की छवि कैसी जो लौकिक

सुख दुःख में डूबा हुआ है। और उन्ही का ज्ञान वास्तविक ज्ञान है वैराग्य वास्तविक वैराग्य है। सबका आधार नाथ ही है, इसलिए महासिद्धों का तात्पर्य नाथ ही में है। कोई कहता है-क्या नाथ ही मुक्तरूप है ये ईश्वर मुक्त नही हैं। यह तो पहले ही कहा जा चुका है, जो स्त्रीयुक्त हैं और संसार में फसे हैं ये कैसे मुक्त कहलायेंगे, इसीलिए आगे मोक्ष और बन्धन बताया जायगा। भगवत् शब्द का भी निर्णय भी किया जायगा हमारे मत में शक्ति सृष्टि करती है, शिव पालन करता है, काल संहार करता है और नाथ मुक्ति देता है ब्रह्मा विष्णु तो शिव शक्ति और काल इनके अवान्तर भेद से कर्तृत्वादि शक्ति वाले हैं, न कि अपनी सत्ता से, जब शिवादि संसार के प्रवर्तक बनते हैं तब बन्ध रूप ही हो जाते हैं। कैसे जैसे जीव भाव बन्ध कोटि में गिना जाता है वैसे ही ईश्वर भाव भी बन्धन श्रेणी में माना जाता है इसीलिये जीवात्मा और परमात्मा ये दो भेद हैं। परन्तु ये शुद्ध आत्मा नही है, वह शुद्ध आत्मा तो नाथ ही है। ये संसार रूप अज्ञान को बढ़ाते हैं। नाथ तो अज्ञान को हटाता है, नाथ रूप से सृष्टि करने में उपेक्षा है अर्थात् नाथ रूप से सृष्टि की रचना नहीं होती। आचार्यों का पाण्डित्य तो खण्ड खण्ड में है पूर्ण

मेव व्यापकम् । पुनः निर्गुणन्तु शक्तिरहित मेव तदाव्यापकधर्मएव तत्रकथं कथ्यते । एतद्रीत्या निर्गुणपे चब्रह्मेयद्वयमपि परात्परं ब्रह्म न भवति तस्मात् परम हंसाये स्यापि अवधूता उत्तमाः कथम् ? परात्परपूर्णोनाथो लक्ष्य इति ॥

भा० टी०—द्वैतवादी लोग क्रिया को ब्रह्म कहते हैं । अद्वैत वादी तो ब्रह्म निष्क्रिय है ऐसा कहते हैं ये दोनों ही ठीक नहीं क्यों कि ब्रह्म सदासक्रिय और कूटस्थ नहीं है। कैसे जैसे हम लोगों में सदा क्रिया नहीं रहती और सदा अक्रिया भी नहीं होती, तुम और हम प्रातःकालादि के समय स्नान भोजनादि क्रिया करते हैं फिर मध्यान्हादि समय में स्वस्थ चित्त होकर सब क्रिया छोड़ कूटस्थ हो जाते हैं, फिर कार्य का समय आने पर क्रिया करने लगते हैं ऐसे ही ईश्वर भी क्रिया और अक्रिया ये दोनों ब्रह्म की शक्ति हैं। इन दोनों में रहता हुआ पूर्ण निरन्तर-निश्चल-अविनाशी-सर्वात्मक और परिपूर्ण कहलाता है। न कि एक तरफ से मान लेने पर 'अर्थात् सक्रिया या अक्रिया एक कोटि से परिपूर्ण पूर्ण नहीं कहा जाता। अव- धूत गीता में कहा है—जो अपने अज्ञान से अखण्ड को खंडित

करता है इत्यादि। अखंडखड में भी वर्णित है—अखंड और खंड ये दोनों कैसे हो सकते हैं, अतः द्वैतवादियों के कैलास और वैकुण्ठादि स्थान हैं, अद्वैतवादियों के लिये माया शबल ब्रह्मस्थान है। योगियों के लिये बन्धन का मनन करने के बाद मुक्ति होने से निर्गुण स्थान है। बन्ध और मुक्ति दोनों से रहित जो परम सिद्धान्त है उस के अनुयायी अवधूत योगियों का जो स्थान है वह तो निर्गुण और सगुण दोनोंसे अतीत और अद्वैत के ऊपर वर्तमान है।

परम हंस लोग कहते हैं कि हमारा स्थान निर्गुण है यह उनका कथन मात्र है न कि उनके व्यवहार से सिद्ध होता है कैसे? ये तो माया और गुण दोनों से रहित ब्रह्म में माया और गुणों की स्थापना करते हैं फिर नाना प्रकार से संसार की क्रिया आदिकों का उस में आरोप करते हैं और अनेक स्तोत्रों से उस की स्तुति करते हैं। तब कैसे वह निर्गुण और माया रहित हुआ। माहात्म्य वा प्रशंसा के लिये कहे जाने पर लक्ष्य रूप से निर्गुण ब्रह्म कहा गया न कि आचरण में देखा जाता है फिर कहने पर निर्गुण ब्रह्म भले ही इष्ट हो तब भी वह पूर्ण नहीं हो सका किन्तु एक देशी ही रहा। जैसे योगियों का इष्ट है उस रीति से नहीं हो सका। कैसे पहले ब्रह्म शब्द का अन्तरार्थ ही टूट गया ब्रह्म पद का अर्थ व्यापक है।

सो द्वैतवादी की रीति से एक देश से निर्गुण ब्रह्म सर्व व्यापक नहीं हो सका कैसे चैतन्य रूप जीव द्वारा यह व्यापक कहा जाता है तब सो पंच भूतों में व्यापकता नहीं रही आत्म रूप ही व्यापक रहा, निर्गुण तो शक्ति रहित ही है तब व्यापक धर्म कैसे कहा जाय इस रीति से निर्गुण हो ब्रह्म परात्पर उभय रूप ब्रह्म नहीं हुआ । इस लिये परमहंस की अपेक्षा भी अवधूत ही उत्तम हैं, कैसे उनका पर से भी पर पूर्ण नाथ ही लक्ष्य है ।

मू०—अद्वैतोपरिवर्तिनिराकारसाकाराऽतीतनाथात् निराकारज्योतिर्नाथोजातस्ततः साकारनाथोजातः तदिच्छया सदाशिवोभैरवोजातस्ततश्चशक्तिर्भैरवी च जाता तस्माद्विष्णुर्जातस्तस्माद्ब्रह्माजातस्तेन सर्वसृष्टिरुत्पन्ना । नाथाद्द्विप्रकारासृष्टिर्जाता नादरूपा बिन्दुरूपा च नादरूपाशिष्यक्रमेणबिन्दुरूपा च पुत्रक्रमेण । नादात्मकनाथाज्जाता बिन्दुतः सदाशिवो भैरवोजातः । पुनः शब्दसृष्टि प्रकारमाह—एकासूक्ष्मरूपिणी द्वितीया स्थूलरूपिणी सूक्ष्मरूपिणी प्रणवो महागायत्री योगशास्त्रमिति । स्थूलरूपिणी महागायत्रीवेदत्रयीति । पुनर्योगशास्त्रतस्तंत्रशास्त्रं जातंवेदात् स्मृत्यादिशास्त्रंजातम् पुनः नवनाथानां पश्चाद्द्वादशसिद्धाश्चतु

रशीतिश्च द्वादशपन्थानोऽनन्तसिद्धाश्चजाताः । सदाशिव भैर-
वाद्विष्णुर्ब्रह्मा सूर्यश्चन्द्र इन्द्रादिदेवताजाताः । पुनर्योगात्
शेषयोगसांख्ययोगादयोऽनेकयोगा अनेकभेदैर्जातास्तेन योगेनज्यौ
तिषन्यायादिकं शास्त्रं श्रुतितः स्मृतिशास्त्रव्याकरणपुराणोपपुरा-
णानेकेतिहासाजाताः । एवं विग्रहसृष्टिनिवृत्तिप्रवृत्तिरूपिणी-
जाता । पुनः नादसृष्टिरपि सूक्ष्मस्थूलरूपिणीप्रकारद्वयात्मिका-
जाता ।

भा०—अद्वैत के ऊपर विराजमान निराकार और साकार
इन दोनों से परे जो नाथ है उससे निराकार ज्योतिस्वरूप नाथ
प्रकट हुआ फिर उससे साकार नाथ जी उत्पन्न हुए, उनकी
इच्छा से सदा शिव भैरव हुए, उनसे भैरवी शक्ति, शक्ति से
विष्णु विष्णु से ब्रह्मा ब्रह्मा से सारी सृष्टि हुई नाथ जी से
दो प्रकार की सृष्टि हुई नाद रूप और बिन्दुरूप, नादरूप
शिष्य क्रम से और बिन्दुरूप पुत्र क्रम से। नाद से
नवनाथ हुए, और बिन्दु से सदा शिव भैरव हुआ। अब
आगे शब्द सृष्टि के क्रम को कहते हैं पहली सूक्ष्म रूप
दूसरी स्थूल रूप। प्रणव महागायत्री और योगशास्त्र यह सूक्ष्म
शब्द सृष्टि है। ब्रह्म गायत्री और तीन वेद यह स्थूल शब्द
सृष्टि है। फिर योगशास्त्र से तंत्र शास्त्र हुआ, और वेद से

वामभागे। सव्ये विष्णुस्तथैवच। याऽद्भुता निजाइच्छा शक्तिस्तस्या अंशेन जातः। साकारः स विष्णुः संसारप्रवृत्त्यर्थं यस्य सव्यभागे। पुनः मध्यभागेसंपूर्णो निर्गुणसगुणातीतसर्वशिरोमणिर्नाथस्तस्य यः साकाररूपो नाथो मध्यभागे स नाथो ज्योतिरूपोममहृद्यान्धकारनिवर्तनं करोतु

भा०—यहां से आगे मंगलाचरण के श्लोकों का व्याख्यान किया जायगा, निर्गुण अर्थात् ब्रह्म सर्वोपरिवर्तिनाथ के वाम भाग में अर्थात् एक व्यवहार में है, यहां वाम भाग से क्या लिया जाता है सो कहते हैं—जैसे किसी के प्रति शास्त्र का कथन है कि कोई पुरुष ऊर्ध्वगति ब्रह्म पद को प्राप्त होगया। तब कहते हैं कि सर्व व्यापक एक रूप निर्गुण ब्रह्म का भी ऊपर और नीचे यह व्यवहार अवयव की कल्पना किए बिना नहीं हो सकता, अन्यथा किस देश में वा किस दिशा में और कहां से वाक्य रचना की जायगी क्योंकि निर्गुण में कोई देश दिशा आदि तो हैं ही नहीं इस लिए कल्पना के बिना कुछ व्यवहार नहीं हो सकता है, इसी रीति के अनुसार निर्गुण वाम भागे यह कहा गया है। उस साक्षात् स्वरूप के एक व्यवहार में निर्गुण, और दूसरे व्यवहार में अपनी अद्भुत इच्छा शक्ति है, वही शक्ति सगुण ब्रह्म का मूल कारण है।

मध्य भागे, इस का अर्थ सब का आधार है या सर्व शिरोमणि वह नाथ है, या जिसमें निर्गुण सगुण दोनों एक हो जाते हैं। सत्य असत्य जड चैतन्य सब भाव जिस में समता को प्राप्त कर लेते हैं, और जिस से द्वताद्वैत का भाव दूर हो जाता है।

जो इस प्रकार सब से ऊपर रहने वाला वाक् मन से परे और वाङ् मनोमय द्वैत और अद्वैत दोनों से रहित, जैसा ही है वैसा ही है इस तरह सब से विलक्षण उसे कह सकते हैं वह परिपूर्ण रूप नाथ ही सिद्धों का लक्ष्य है वह मेरा कल्याण करे। मोक्ष मार्ग में दक्षिण भाग से वाम भाग श्रेष्ठ है इसी लिये वाम भाग में निर्गुण कहा है। जीव सगुण और द्वैत रूप हैं इस लिए बद्ध कहलाते हैं वे उस नाथ के नखों के अग्रभाग में रमण करते हैं और जो निर्गुण तत्त्वभूत अद्वैत रूप मुक्त हैं वे चरणों के अग्र भाग में रमण करते हैं अर्थात् बद्ध की अपेक्षा मुक्त का साक्षात् सम्बन्ध है। ये दोनों व्यवहार मात्रसे दिखाये गये हैं सो भी कल्पनामात्र हैं वास्तवमें तो बन्ध और मुक्ति दोनों से रहित है। जो तत्त्व का अनुभव करने वाले मुक्त हैं वे तो नाथ जी के समस्त शरीर में रमण करते हैं, इस में संदेह ही क्या है, क्योंकि वे नाथ रूप ही हैं भिन्न रूप नहीं हैं। आगे कहा है कि वाम भागमें शम्भु स्थित हैं। इस का तात्पर्य यह है कि जो

निर्गुण ब्रह्म का अंश शिव है वह संसार के कल्याण के लिए साकाररूप से उत्पन्न होकर वामभाग में स्थित है विष्णु दक्षिण भाग में स्थित है इस का अभिप्राय यह है कि नाथ जी की जो अद्भुत स्वकीय इच्छा शक्ति है उसके अंश से उत्पन्न होने वाले संसार की प्रवृत्ति के लिए साकार विष्णु नाथ जी के दक्षिण भाग में हैं मध्य में स्वयं पूर्ण तथा निर्गुण सगुण से अतीत सर्व शिरोमणि नाथ हैं उनका जो साकार रूप नाथ है वह ज्योतिस्वरूप नाथ जी मेरे हृदय से अज्ञान रूप अन्धकार को दूर करे ।

मू०—विश्वोत्पत्तिंकरोति स्वस्याप्युत्पत्तिंकथयति । एवं ब्रह्मण इच्छयापुरुषोजातः, स नरइतितेनतपस्ततं, तेन शरीराज्ज-जानि नाराइतिमातास्तत्रतेनशयनं कृतंतेन नारायणइति संज्ञको जातः । पुनस्तस्यैवावान्तर रूपाणि रामकृष्णादीनि जातानि तेषा-मपि रामनवमी जन्माष्टमीत्यादि जन्मकर्मोत्सवाइति मन्यन्ते । तथाच उत्पत्तिमान् सनाशवान् पुनर्ब्रह्मलोके गतास्ते पुनरायान्ति । कथम् ? जयविजयौशापादसुरौजातौ । तर्हितेषांस्थानं निर्भयंकथम् अथच—विश्वोत्पत्ति कारणमेवोक्तं तेनैवंज्ञायते । अन्यदेवापेक्षया संसाराऽपेक्षयाच सर्वोत्तम शिवएव परन्तुस्वस्मात्तुनिकृष्टएवेतिकृत्वा

मंगलंतुनाथात्मकमेव कृतम् । आदिनाथो गोरक्षनाथश्चांशांशि भावेन वास्तवमेक एव परन्तुव्यवहारार्थमङ्गाङ्गिभावेन सेव्यसेवकभावेन नाथात्मकमेव मंगलं कृतं तेनैवसूचितं सर्वस्मादुत्तमः शिवः शिवादुत्तमोनाथ इति योगे देवानामथच संसारे सर्वोत्तमोनाथ इति संकेतो रीत्या । नाथस्योत्पत्तिरेव योगशास्त्रेण न कथिता, यतोजन्मकर्मापि न गीयते अतएव सिद्धसिद्धान्त पद्धतौ—श्रीगोरक्षनाथेन विश्वस्यकर्तृत्वं शिवस्य लिखितं नाथस्य तु न लिखितम् । कथं विश्वकरणे सगुणत्वमायाति सोपाधीश्वरत्वं चायाति, नाथस्तु निर्गुण एव निरुपाधिरूप एव तस्य प्राकृतिक कार्यकरणेन किं माहात्म्यं किं वा श्रीरिति । यदि पुनः शिव एव मुख्योदेवोभवेत्तर्हि मंगलं शिवात्मकं किमर्थं न कृतम्, एवं रीत्या कथनं महासिद्धानां सिद्धान्तोवर्तते नतु स्थूलरीत्या प्रवृत्तिरीत्या कथनरीतिः । कथमेते तु निर्गुणा ऐश्वर्यं बहुधागुप्तं कुर्वन्ति । अन्येतु ऐश्वर्यं प्रकटी कुर्वन्ति । अहो—विपरीता वार्ता तस्याः श्रवणेपि ज्ञानेऽपि चाऽप्रियं भवति । अस्मिन् मते श्रुतिर्न साधिका साधिका वेति वार्ता । श्रुतिश्चास्माकं मते साधिका न भवेत्, भवेदपि चेत्तर्हिमेरुः कम्पते

पृथिवी भवति । आकाशात् सर्वं जायते तत्तु पृथिव्या एव सर्वं जायते पितुः पुत्रो जायते स पितापि पुत्राज्जायते एवं सर्वमपि कार्यं विपरीत रीत्या भवेत्। यत एव न वक्तव्यं यन्महासिद्धानां तात्पर्यं तदेव श्रुतिर्वक्तुमिच्छतीत्यूर्ध्वंवाहुर्ध्वनि विकीर्यति । परन्तु नाना धर्मनिरूपणात्तस्याप्यन्यथा कथनात्सूक्ष्मात् स्थूलरूपनिरूपणात् घातकिनी जाता, भाराक्रान्ता च जाता, तेनतत्तात्पर्यं वक्तुं न शक्यते। यदि किंचित् वक्तु शक्यते तन्महासिद्धानां तात्पर्यमेववदेत् । या श्रुतिः प्रणवानुसारिणी सास्माकं मतानुसारिण्येव, या च प्रणव विरोधिनी श्रुतिः कर्मज्ञान प्रतिपादिका साऽस्माकं मतानुयायिनीमा भवतुनाम किन्तु सूक्ष्मस्य निरूपणम्। प्रथमतउक्तं श्रुतिरस्माकं मतं साधिकान साधिके निद्रुक्ष्यमपिस्यादिति । कथं तदाह नसाधिकाभवेत् तत्वेवम् । अस्माकंतुमध्येमननमेवनास्ति । कथम् ? यतस्तु महायोग योगमाश्रितास्तेन च नकस्याप्यपेक्षा कुर्म , परन्तु एषामते स्थूलवेदाः परम प्रमाणं इति मन्यन्ते यदि च तदुक्तसाधका न भवेयुस्तदाऽस्माक मतं दूषणारोपणं कुर्वन्ति तदिदमेव यथाश्रीमतो श्रुतिः प्रतिपादयति-भोमुमेरी भवान्न नमाम इति। एवं कथनेमुनिनातु मत्रामस्यं दूषणमेव,

परन्तुतस्यत्विष्टमेवेति कृत्वा मनसातु मुनिस्तुष्यत्येवपरन्तुतदभिप्रायेण-बाह्यवृत्त्यापि तुष्टएव भवेत्। कथम् ? यदि संग क्रियते तदातुलद्व्यभ्रंशो-ऽतोऽज्ञतयाभूपणोऽपि दूषणमारोपयति। यतोहेतोर्न साधिकेत्युक्तंतद्-वर्जनं चैतद्रीत्येति। पुनः साधकस्त्वेकोवादोऽपइति चेत्कथ्यते—साधकेति तु येकथयन्ति ते पुराणस्मृति किंकरा·, वयन्तु स्थूलवेदानां पितृकारण महावेदस्तस्यानुसारिणोयोगसिद्धान्तिनस्ते कथं तदाश्रिता भवेमेतिरीत्या साधकत्वमपि वर्जितम्। पूर्वमप्युक्तमेव, वयन्तु महा-वेदयोगानुसारिणइति। अथ च श्रुतिर्यद् वदति तदस्माकं महासिद्धानां मतं तदेव वदति सकलाया अपिश्रुतेस्तात्पर्यं प्रणवयोगपरमेव। तथाच याश्रुतयः प्रणवानुसारिण्यस्तास्तु योगमेववदन्ति। ये च श्रुत्य-नुकूलास्ते प्रथममेव प्रयुक्ता इति। पुनः, ब्रह्मवेदस्य एकोनविंशति रुपनिषदोमण्डूक माण्डूक्य क्षुरिकाकैवल्य प्रभृतयः। छान्दोग्य बृहदारण्य मैत्रायण्यादयोऽन्यवेदस्यापियोगपराएवैतास्तुसर्वाः प्रत्य-क्षतः। पुनः, वेदवेदान्तादिसर्वपरोक्षवादो यतोहेतोस्तात्पर्येतात्पर्यं रक्षति प्रत्यक्षतः कथं तस्यतन्मर्यादानास्ति, यतोहेतो कर्मोपासनां ज्ञानंच वर्णयति परन्तु कर्मतः सर्वस्य तात्पर्यंयोग एवेति।

भा०—हिरण्यगर्भ ब्रह्मा संसार की उत्पत्ति करता हुआ अपनी भी उत्पत्ति सिद्ध कर रहा है। पहले ब्रह्मा की इच्छा से पुरुष उत्पन्न हुआ वह नर है, उसने तप किया, उस तप से उस के शरीर में जल उत्पन्न हुआ, उन जलों का नाम नार हुआ क्योंकि नर से उत्पन्न होने वाले को नार कहा जाता है। उन जलों पर उस नर ने शयन किया इससे उस विष्णु का नाम नारायण यह प्रसिद्ध हुआ, फिर इसी के अवान्तर रूप राम कृष्णादि अवतार हुए उन्हीं की यादगार में रामनवमी जन्माष्टमी आदि उत्सव मनाए जाते हैं। जो जो उत्पत्ति वाले हैं, उनका नाश भी होता है और जो नश्वर लोकों में गये हैं वा जाते हैं वे वहां से लौटते भी अवश्य हैं। कैसे? सुनो—वैकुंठ में जय और विजय नाम के दो द्वारपाल थे वे शाप से असुर हो गए थे, तब उनके स्थान को निर्भय कैसे कहा जा सकता है इससे सिद्ध होता है कि जो संसार की उत्पत्ति का कारण हैं वे भी उत्पत्ति नाश वाले हैं और देवताओं की तथा संसार की अपेक्षा सर्वोत्तम शिव ही है, परन्तु नाथ रूप की अपेक्षा तो निकृष्ट ही हैं इसी लिये नाथ जी का स्मरण रूप मंगल किया गया है श्री आदिनाथ जी और श्रीगोरक्षनाथ जी इन दोनों में अंशांशि भाव का सम्बन्ध होने से अथवा स्वयं एक होने पर

भी व्यवहार के लिये अङ्गांगिभाव को प्राप्त होने से नमस्कार्य नमस्कारक भाव मान लिया गया है, इसी लिये ग्रन्थ के आदि में श्रीनाथ जी का प्रणामरूप से मंगल किया गया है उसी से सूचित होता है कि सब से उत्तम शिव है, और शिव से उत्तम नाथ है, अतः योग देव और संसार सब से श्रेष्ठ नाथ है। नाथ जी की उत्पत्ति योगशास्त्र में वर्णित नहीं है। इस से सिद्ध हुआ कि नाथ जी का जन्म और कर्म नहीं है। सिद्धसिद्धान्त पद्धति में श्रीगोरक्षनाथ जी ने संसार का कर्ता शिव जी को लिखा है, न कि नाथ जी को, क्योंकि संसार-रचना में सगुणता और सोपाधिक ईश्वरपना आता है, नाथ तो निर्गुण और निरूपाधिक हैं संसार सम्बन्धि कार्य करने से उनका क्या माहात्म्य होगा और क्या विभूति बढ़ेगी। यदि शिव ही मुख्य देव होते तो शिव का ही मंगल क्यों न किया गया, सूक्ष्म आशय से कथन करना महासिद्धों का सिद्धान्त है, स्थूल और प्रवृत्ति रीति से कथन की शैली नहीं है कैसे? महसिद्ध लोग अपनी बड़ाई नहीं चाहते इस लिये अपनी सिद्धि को गुप्त रखते हैं। और अन्य लोग अपने माहात्म्य के लिये ऐश्वर्य दिखाते हैं, देखो कैसी उलटी बात है जिसको सुनकर और जानकर

अप्रिय सा प्रतीत होता है । इस सिद्धमत में श्रुति साधक है भी और नहीं भी ये दोनों ही बातें हैं सूक्ष्मनाथ तत्व के कथन करने में श्रुति की सामर्थ्य न होने से वह हमारे मत में साधक नहीं है, अगर श्रुति असाध्य साधन करे तो मेरु पर्वत भी कांपने लगे और पृथिवी हिलने लगे । ब्रह्म से ही सब उत्पन्न होते हैं यह न हो कर पृथिवी से ही जायगा । पिता से पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु पुत्र से भी पिता होने लगेगा इस प्रकार सब काम उलटे हो जायेंगे, ऐसा कहने पर भी कोई दोष नहीं इस लिये ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जो महासिद्धों का तात्पर्य है श्रुति उसी का कथन हाथ उठा कर करना चाहती है, परन्तु श्रुति नाना कर्मों का निरूपण करने से लक्ष्य रूप के विपरीत जा रही है, और स्थूल कर्म के निरूपण से नाथ मार्गानुकूल नहीं है, तथा मुमुक्षु पुरुष के लिये भारभूत है, नाथ तत्व के निरूपण में श्रुति असमर्थ है जिस परमार्थ तत्व का निरूपण श्रुति करती है वह महासिद्धों का तात्पर्य ही है । जो प्रणव (ओंकार) का अनुसरण करने वाली श्रुति है वह मेरे ही मत का अनुगमन कर रही है, और जो प्रणव के विरुद्ध होकर कर्म और ज्ञान को बताने वाली है वह हमारे मतानुयायी न हो किन्तु सूक्ष्म तत्व निरूपण करने वाली श्रुति तो

हमारे अनुकूल ही है, पहले कह चुके हैं कि हमारे मत में श्रुति साधक है और नहीं भी, यह दोनों ही बातें हैं कैसे इसका उत्तर यह है कि श्रुति साधक नहीं कहलाती हमें उस श्रुति से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि हम महावेद रूप योग के आश्रित हैं अतः अन्य किसी की अपेक्षा नही रखते। जो स्थूल वेद को ही परम पदार्थ मानते हैं उनके स्थूल वेद यदि हमारे मत के साधक न हों, इस पर जो लोग हमारे ऊपर दोषारोपण करते हैं वह तो हमें इष्ट ही हैं, जैसे कोई स्त्री निष्काम मुनि को कहती है कि हे मुनि जी आप सकाम हैं, ऐसा यद्यपि मुनि के लिये दोष है परन्तु उस स्त्री को तो इष्ट है। ऐसा मान कर वह मुनि भीतर से तो प्रसन्न ही होता है परन्तु बाहर से असंतुष्ट प्रतीत होता है, कैसे! जब वह स्त्री का संग करता है तब तो उसको सकामत्व कहना उचित है, परन्तु विना संग के ही सकामत्व कहना भूषण में दोषारोपण करना है। इसी कारण से कहा है कि श्रुति साधक नहीं है। और साधक मानने में क्या दोष है उसको भी कहते हैं—जो कोई श्रुति को साधक कहते हैं वे श्रुतिस्मृति और पुराणों के दास हैं, हम लोग जो स्थूल वेदों का कारण पितारूप महावेद ओंकार है उसके अनुयायी हैं, इसलिये योग सिद्धान्तवादी ओंकार के

अप्रिय सा प्रतीत होता है । इस सिद्धमत में श्रुति साधक है भी और नहीं भी ये दोनों ही बातें हैं सूक्ष्मनाथ तत्व के कथन करने में श्रुति की सामर्थ्य न होने से यह हमारे मत में साधक नहीं है, अगर श्रुति असाध्य साधन करे तो मेरु पर्वत भी कांपने लगे और पृथिवी हिलने लगे । ब्रह्म से ही सब उत्पन्न होते हैं यह न हो कर पृथिवी से हो जायगा । पिता से पुत्र उत्पन्न होता है किन्तु पुत्र से भी पिता होने लगेगा इस प्रकार सब काम उलटे हो जायेंगे, ऐसा कहने पर भी कोई दोष नहीं इस लिये ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि जो महासिद्धों का तात्पर्य है श्रुति उसी का कथन हाथ उठा कर करना चाहती है, परन्तु श्रुति नाना कर्मों का निरूपण करने से लक्ष्य रूप के विपरीत जा रही है, और स्थूल कर्म के निरूपण से नाथ मार्गानुकूल नहीं है, तथा मुमुक्षु पुरुष के लिये भारभूत है, नाथ तत्व के निरूपण में श्रुति असमर्थ हां जिस परमार्थ तत्व का निरूपण श्रुति करती है वह महासिद्धों का तात्पर्य ही है। जो प्रणव (ओंकार) का अनुसरण करने वाली श्रुति है वह मेरे ही मत का अनुगमन कर रही है, और जो प्रणव के विरुद्ध होकर कर्म और ज्ञान को बताने वाली है वह हमारे मतानु- यायी न हो किन्तु सूक्ष्म तत्व निरूपण करने वाली श्रुति तो

हमारे अनुकूल ही है, पहले कह चुके हैं कि हमारे मत में श्रुति साधक है और नहीं भी, यह दोनों ही बातें हैं कैसे इसका उत्तर यह है कि श्रुति साधक नहीं कहलाती हमें उस श्रुति से कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि हम महावेद रूप योग के आश्रित हैं अतः अन्य किसी की अपेक्षा नहीं रखते। जो स्थूल वेद को ही परम पदार्थ मानते हैं उनके स्थूल वेद यदि हमारे मत के साधक न हों, इस पर जो लोग हमारे ऊपर दोषारोपण करते हैं वह तो हमें इष्ट ही हैं, जैसे कोई स्त्री निष्काम मुनि को कहती है कि हे मुनि जी आप सकाम है, ऐसा यद्यपि मुनि के लिये दोष है परन्तु उस स्त्री को तो इष्ट है। ऐसा मान कर वह मुनि भीतर से तो प्रसन्न ही होता है परन्तु बाहर से असतुष्ट प्रतीत होता है, कैसे! जब वह स्त्री का संग करता है तब तो उसको सकामत्व कहना उचित है, परन्तु बिना संग के ही सकामत्व कहना भूषण में दोषारोपण करना है। इसी कारण से कहा है कि श्रुति साधक नहीं है। और साधक मानने में क्या दोष है उसको भी कहते हैं—जो कोई श्रुति को साधक कहते हैं वे श्रुतिस्मृति और पुराणों के दास हैं, हम लोग जो स्थूल वेदों का कारण पितारूप महावेद ओंकार है उसके अनुयायी हैं, इसलिये योग सिद्धान्तवादी ओंकार के

पुरुषरूप स्थूल वेद के आश्रित कैसे हो सकते हैं। इस रीति से श्रुति साधक नहीं मानी गई है। यह पहले कहा जा चुका है कि हम लोग महावेद रूप योग के आश्रित हैं। य स्तय में पूछा जाय तो जिस बात को श्रुति कहती है उसी को हमारा मन भी कह रहा है कि समस्त श्रुतियों का तात्पर्य प्रणव योग में ही है उसी प्रकार जो श्रुतियां प्रणवानुसारी हैं वे तो योग का ही कथन करती हैं, और जो कर्म प्रतिपादक स्थूल वेद के अनुयायी हैं उनका खण्डन तो पहले ही हो चुका महाबोधक वेद के मुण्डक माण्डूक्य क्षुरिका और कैवल्य आदि उन्नीस उपनिषद् और अन्य वेद के छान्दोग्य बृहदारण्य मैत्रायणी आदि उपनिषद् ये पूर्वोक्त सारे ही प्रत्यक्ष रूप से योग का ही निरूपण करते हैं, अन्य कर्मों को बताने वाले वेद वेदान्त आदि परोक्षरूप से अर्थात् परम्परा रूप से योग के प्रतिपादक हैं वेदों में यह मर्यादा नहीं है कि योग का ही निरूपण करते हैं, अपितु कर्म उपासना और ज्ञान सबका ही निरूपण करते हैं परन्तु सबका तात्पर्य तो योग में ही है।

मू०—केश्चित् कथ्यते—ब्रह्मा विश्वं सृजति विष्णुः पालयति रुद्रः संहरति, सत्यनुक्रमोनास्ति। योगस्यत्वनुक्रमो योपर्वते सप्रथममुक्तएव। यदि येतेषामेवानुक्रमोरक्षितव्यस्तदात्वयमपि

चानुक्रमोऽव्यतिक्रमएवयदाभवेत् तदा कंवानुक्रमं करिष्यामि ।

कथम् ?—

अन्नं ब्रह्मारसो विष्णुर्भोक्ता देवोमहेश्वर,

इत्यादौ । तेषां मध्येभोक्तातुरुद्रएवोक्त स एवबलिष्ट एतौतुभोज्यमिति । तथैव रुद्रः संहरतीत्यत्र महाप्राबल्येन नैर्गुण्येन नित्यमुक्तस्वरूपेण च तद्दोषधारकोनभवति तदन्यौतु गुणपर्यव-सानौ गुणावधीयत एतत्कार्यकरणं तद्बाधकमेव भवतीति पुनरस्य विचारस्य वार्ता वद्धास्तास्त्वग्रे वदयन्तइति ।

भा०—कोई कहता है कि ब्रह्मा संसार को पैदा करता है विष्णु उसकी रक्षा करता है और रुद्र संहार करता है, परन्तु वह अनुक्रम नही है । योग का जो अनुक्रम है वह पहले कहा जा चुका है, यदि लोक प्रसिद्ध अनुक्रम की ही रक्षा की जाय तो यह अनुक्रम उल्टा हो जायगा तब किस अनुक्रम का आश्रय किया जायगा, अतः योग का ही अनुक्रम ठीक है, कैसे ? अन्न ब्रह्मा और रस विष्णु है, इन का भोक्ता महेश्वर है, इन सब में भोक्ता तो रुद्र ही कहा गया है यही बलिष्ठ है विष्णु और ब्रह्मा तो भोज्य हैं, रुद्र संहार करता है यदि इस पर कोई दोष की शंका करे तो वह ठीक नही है । क्योंकि वह

अचल निर्गुण और नित्यमुक्तस्वरूप है इसलिये उस दोषका आधार यह नहीं हो सकता, ब्रह्मा और विष्णु ये दोनों तो गुणों के अन्तर्गत हैं अतः गुणों के आधार हैं, इसलिये शरीर इन्द्रियादि उन में बाधक हैं यह बात इस समयस्थगित की जाती है आगे इसका विस्तार से व्याख्यान होगा।

मू०—सर्वे सम्प्रदायाः कथयन्ति— सहस्रशोग्रन्थाजाता इति तान्प्रतिमयाकथ्यते— यदि भमोपदेशो मन्यतांतर्हि सर्वे-ग्रन्थाः कूपे निपात्यन्ताम् । कथमाधुनिकसमये स्वयमपि मुक्ताग भवन्तितेह्यन्येषांमोक्षोपदेशेकथं समर्था भवेयुर्यत आश्चर्यार्थ मभिमानार्थं च जीविकार्थं व्यसनार्थं च यस्यकस्याप्यभिलापार्थं यत्शास्त्रंकरोति तद्धर्मार्थिपुरुषाणामग्रे कथं शोभनीयं भवेत्। तदुक्तं श्रीगोरक्षनाथेन।

शिलयाकिं परं पारं शिलासङ्घः प्रताार्य्यते ।
स्वयन्तीर्णोभवेद्यस्तु परान्स्तारयत्यलम् ॥

अतः कारणादाधुनिका अमुक्तपुरुषास्तैः कृतानि सहस्रशः शास्त्राणि हानित्याज्यानि । एतच्छास्त्रस्याभिमानो भवद्भिर्न रक्ष-णीयइति ।

भा०—सब संप्रदाय वाले कहते हैं कि हजारों ग्रन्थ बन चुके हैं उन सब के प्रति मेरा कथन है कि यदि मेरा उपदेश मानो तो मैं कहूंगा कि सारे ग्रन्थों को कूप में फेंक दो क्यों? इस आधुनिक समय में स्वयं भी मुक्त नहीं होते हैं तो दूसरों के लिये मोक्ष का उपदेश देने में कैसे समर्थ हो सकेंगे, क्योंकि लोगों को चकित करने के लिये अभिमान जीविका और व्यसन आदि किसी प्रकार की अभिलाषा के लिये जिस शास्त्र की रचना की जाती है वह शास्त्र धर्मार्थी पुरुषों के सामने किस प्रकार प्रशंसनीय हो सकता है, इसी आशय को लेकर श्रीगोरक्षनाथ जी ने कहा है-- कि जो स्वयं पत्थर की तरह अज्ञानी है वह कैसे दूसरे को तारेगा! अतः 'आधुनिक अमुक्त पुरुषों के बनाये हुए हजारों शास्त्र हैं वे सब त्याज्य हैं, अन्यथा मायावियों के जाल से वास्तविक शास्त्र के गौरव की रक्षा नहीं कर सकोगे।

मू०—शंकरसम्प्रदाये विद्यारण्यस्त्यागीजातः पश्चाद् वेद भाष्यंकृतंतदनन्तरं काशींगत्वा कस्यापि पंडितस्याग्रे स्वकृतभाष्यवार्ताकृता। तदा तेन सनिन्दितः। कथं त्यागी भूत्वापुनरपिव्यवहार उद्युक्तः? तदापुनः परमहंसेनोक्तम्

मदीयः श्रमस्त्ववलोकनीयइति। तदा पंडितेन दृष्ट्वा अशुद्धि बाहुल्यमित्युक्तं तदा परमहंसो विरागो जातः। पुनः कदा चिद् वन भ्रमणेकस्यचित् प्रेतस्य कृपया संमेलनं जातम्। तेन माष्यं कमण्डलौ धृत्वाऽशुद्धिर्दूरीकृतेतिवार्ताबहुप्रसिद्धा। पुनः कौमुदीकारो भट्टोजीदीक्षितः सोऽपि प्रेतत्वं गतः। पुनः वैष्णव संप्रदाये ताताचार्येणाप्ययदीक्षितस्योपरिकोप्यभि चारः संचारितः स तु तेन शिवभक्तेन शिवस्मरणे कृते तस्यैव मरणाय जातः।

एवं यदा तदा मया कथ्यते यादृशानि प्रेत रूपैः प्रेत प्रसादाभिलापिभिः पुरुषैः कृतानिशास्त्राणिमोक्षायकथंभव- न्त्यतःकारणात् महासिद्धानांमते विद्याभ्यासेनकोऽपिग्रन्थंन करोति किन्तु योगाभ्यासेनासिद्धोभूत्वा सिद्धत्वेन शास्त्रं- करोति। स स्वयमपि मुक्तोऽन्येषामपि मुक्तिं ददातीति सिद्धान्तः। ग्रन्थस्य प्रकरणबन्धनादिरतोऽपिचनक्रियते कथमिषमप्याशैव भवति नियम्यश्च भवति ज्ञानन्तु क्षण- स्यापिनास्ति। तर्हिएतावत्संकल्पः क्रियते। तस्यापि अहंकार

विलासितत्वात्तद्रूपमपिकर्मैवलग्नं भवेत् पुनः क्षणेनमरणे सत्यन्यत् कार्यम्। तावन्मात्रस्तु बन्धो जात एव यस्माद्यत आरम्भः कृतः सएवादिमान् न कृतः तत्रैवसमाप्तिः। स्वतंत्राणां पुरुषाणां क्षणमात्रमपि बन्धनं प्रियं नभवेत्। पुनः संस्कृतो वर्तते सोप्यघटित पदार्थस्तुनास्ति सर्वव्यापकोऽपि नास्ति, कथम्?

स्वभावकर्मापिनास्ति यदाशिष्यते तदाऽऽयाति। पुनर्यश्चशब्दः सोऽघटितोऽस्ति विनापि शिक्षां यत आयाति समन्दव्यापकोनास्ति यत्परात्परमघटितस्वरूपं तथैवतदंश एष शब्द एवाघटितो दृश्यते स एवग्राह्यइति। अतः कारणा-देवश्रीनाथेन शब्दमयीगिरेतिकृत्वा सर्वाभिरपि गिराभिः सर्वाणि शास्त्राणि कृतानि। साचसंस्कृतप्राकृतनागरमा-गधीभाषाभिरथच यवनभाषापर्यन्ताभिरपि यत एतेनव्यव-हारे तु सर्वज्ञत्वं सूचितं सिद्धान्ते शब्दएवमुख्यइति। योऽ-घटितपदार्थो विशेषव्यापकः सएव नतुसंस्कृतोवाऽन्योऽपि यः कश्चित् एकसांकेतिक भाषाशब्दः सएवसिद्धान्त इति।

नकिन्तुशब्दएव सिद्धान्तइति शब्दब्रह्मणि शुद्धत्वाऽशुद्धत्वेनस्वाऽव्यक्त लिङ्गोपर्येव तात्पर्यमिति यतस्तत् प्रकारेण सर्वमेकम् । यदादेवः चिन्तनीयस्तदा तेषांशास्त्रपठनेऽपि किम् ? तदुक्तं भर्तृहरिणा—

तार्किका घटपटेतिरटेयुः शाब्दिकाः खफछठेति पठेयुः ।
मादृशान्तुसततं स्मरणीयौ, चन्द्रचूडचरणौ रमणीयौ ॥

पुनरवधूतेषुकिंचिद् दोषारोपणं क्रियते निश्चितं तथा कुर्वन्तुनाम ततोऽवधूतानां नमनोविकारः । तदुक्तं भर्तृहरिणाश्रीगोरक्षनाथशिष्येण—

चाण्डालः किमयंद्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः ।
किंवातत्त्वनिवेशपेशलमतिर्योगीश्वरः कोपि किम् ?
इत्युत्पन्नविकल्पजल्पमुखरैः संभाष्यमाणा जनैः ।
नोक्रुद्धाः पथिनैव तुष्टमनसो गच्छन्ति ते योगिनः ॥

गालिप्रदानेऽपि नावधूतानां क्रोधादिरिति ।

भर्तृहरिणोक्तमेव—

ददतु ददतु गालिंगालिमन्तोभवन्तः ।

वयमपितदभावाद् गालिदानेऽप्यशक्ताः ॥
जगति विदितमेतद् दीयते विद्यमानम् ।
नहि शशकविषाणं कोऽपि कस्मै ददाति ॥

पुनः क्रोधो न क्रियते इदमपि नास्ति कथम् ? अक्रोधस्तुपरमहंसानां धर्म पुनः क्रोधकरणमिति गृहस्थानां धर्मः। अस्माकं तुद्वयमपि धर्मएवेत्यत एवैकदा भर्तृहरि स्वेच्छयासिद्धस्वरूपः कापोतीमाश्रित्यपण्यवीथिकायां कणानादाय चर्वयन् नृपतिना विक्रमार्केण दृष्ट । स ज्येष्ठोभ्रातैव तथापि सिद्धरूपस्तेनाज्ञातो यतउक्तम्— अहोअस्यापि जननी यथै तादृशः पुरुषोजनितो यश्च स्वोदरभरणेप्यसमर्थ इति । तच्छ्रुत्वा किमुक्तं सिद्धेन ? अहो तस्यापि जननी धिक् यः समर्थोपि परोपकारकरणेऽसमर्थ इति । यदाचैवं विवेकवचनं श्रुत्वाराजा महान् विचक्षणः स्वकीयं ज्येष्ठभ्रातरं परम पुरुषं ज्ञात्वाऽश्वतः शीघ्रमेवावतीर्य तच्चरणेपतितस्तदाश्रीभर्तृहरिणोपदेशो दत्तस्तदनन्तरं परोपकार करणेऽसमर्थो-नृपतिः प्रवृत्तस्तेनच महाप्रतापवान् जातस्ततः कथ्यते—

महासिद्धा अकामिनोऽक्रोधिनो जिताहंकारास्ते वचन सहनं कथंनकुर्वन्ति परन्तुपरमहंसरीत्येमेतु परमहंसा नसन्ति गृहस्थाऽपिनसन्ति यथा काकोलूकमिति । तयोरेकस्तु दिनएव पश्यति, तदन्यो रात्रावेवपश्यति । इमेतु योगिनो यौगिकपरमहंसा मरालादपिद्वयेनापि पश्यन्तो मुक्तिमुक्ताफलं गृह्णन्ति । शिवशक्त्योर्द्वयमपि चैकीकृत्य चरन्ति· तेऽवधूतयोगिनो भवन्तीति सिद्धान्तेन सर्वदारमन्ते ॥ इति शिवम् ।

भा०—शंकराचार्य के सम्प्रदाय में विद्यारण्य स्वामी त्यागी हुए, फिर उन्होंने वेद का भाष्य बनाया उसके बाद काशी जाकर किसी पंडित के आगे उस वेद भाष्य की चर्चा की, उस पंडित ने उनकी निन्दा की और कहा कि त्यागी होकर व्यवहार में क्यों फसगये, तब परम हंस ने कहा मेरा परिश्रम तो देखो अर्थात् मेरे बनाये वेद भाष्य का अवलोकन तो कीजिये फिर पंडित ने उसे देखा और बहुत अशुद्ध बताया तब परम हंस विरक्त होगया । फिर कभी वनमें घूमते हुए उसकी किसी प्रेत से भेंट होगई उस प्रेत ने उस भाष्य को कमण्डलु में रख

कर उस की अशुद्धिया दूर करदी। यह बात बहुत प्रसिद्ध है। व्याकरण कौमुदी के कर्ता भट्टोजिदीक्षित भी प्रेत होगये थे। फिर वैष्णव संप्रदाय के ताताचार्य ने अप्पयदीक्षित के ऊपर मारणोच्चाटनादिकर्म किया, तब शिव भक्त अप्पयदीक्षित ने शिव का स्मरण किया और शिवजी की कृपा से ताताचार्य की ही मृत्यु हुई। जब इस प्रकार की बातें हैं तो मैं कहता हूं कि प्रेत के प्रसाद के इच्छुक प्रेत स्वरूप पुरुषों के बनाए हुए शास्त्र कैसे मुक्ति दायक हो सकते हैं। इसकारण महासिद्धों के मतभेद में विद्याभ्यास के द्वारा कोई भी किसी ग्रन्थ को नही बनाता, हां योगाभ्यास से सिद्ध होकर सिद्धि के बल से सिद्ध पुरुष शास्त्र बनाता है, वह स्वयं भी मुक्त है और अन्यों को भी मुक्ति देता है, यह सिद्धान्त है, योगियों के बनाए ग्रन्थ प्रकरण आदि के बन्धन से मुक्त होते हैं, क्योंकि नियम के अन्दर रहना और आशा करना यह नाथ के स्वरूप से बहिर्भूत है, एक क्षण का भी पता नहीं कि क्या होगा इतना बड़ा संकल्प करना कि अब से प्रारम्भ कर के इतने दिनों के भीतर पूरा करेंगे। उस सबको अहंकार का खेल होने से यह भी कर्म ही का रूप है। फिर क्षण भर में मृत्यु होजाने पर यह सब काम उलट

जाता है। अर्थात् कुछ का कुछ हो जाता है उतना भी तो ग्रन्थ हुआ हो, इसी तरह जहां से जो आरम्भ किया गया उसका वही आदि हुआ और आगे जहां करना ग्रन्थ हुआ वहीं समाप्ति होगई। किसी प्रकरण बंधनादि की आवश्यकता नहीं रखनी चाहिये क्यों कि स्वतन्त्र पुरुष को क्षण मात्र भी बन्धन अच्छा नहीं लगता है। संस्कृत यद्यपि पद पदार्थ से परिपूर्ण है। तथापि सब लोगों में व्यापक नहीं है इसी लिये यह जन्म सिद्ध भाषा नहीं है अपितु गुरु से सीखी जाती है। तब संस्कृत शब्दों का ज्ञान होता है। जो शब्द संस्कृत से भिन्न हैं अर्थात् व्याकरण के नियंत्रण से बाहर हैं, वे बिना शिक्षा के ही आजाते हैं अर्थात् मातृ भाषा होने से अनायास ही बोले जा सकते हैं। और वह असंस्कृत शब्द मन्दव्यापक नहीं है अर्थात् सर्वत्र जनता में उसका व्यवहार है जो सब से बड़ा संस्कृत शब्द है उसका भी स्वरूप व्यापक नहीं है। वैसे ही उसका अंश भाषा शब्द भी अव्यापक देखा जाता है इस लिये सब भाषाओं का ज्ञान आवश्यक है। इसी कारण श्री नाथ जी ने शब्दमय वाणी मान कर सब भाषाओं में शास्त्र बनाए, यह रचना संस्कृत प्राकृत नागर और मागध भाषाओं में की गई है, यहां तक कहें उन्होंने तो यवन भाषा में भी शास्त्ररचना की है इस से नाथ जी की व्यावहारिक सर्वज्ञता स्पष्ट प्रतीत होती है

सिद्धान्त में तो शब्द ही मुख्य है। जो अपूर्ण और विशेषव्यापक है वह संस्कृत हो या एक देश की सांकेतिक भाषा हो ऐसा कोई नियत सिद्धान्त नहीं किन्तु शब्द ही ब्रह्म रूप है यह सिद्धान्त है क्यों कि शब्द रूप ब्रह्म में शुद्धाशुद्ध कुछ नहीं है अव्यक्त नाथ तत्व में तात्पर्य है और वह तो सब प्रकार से एक है। जब इष्ट देव की ही चिन्ता करनी है तो शास्त्र पढ़ने से क्या प्रयोजन है। यही श्री भर्तृ हरि ने कहा है–नैयायिक लोग घट पट शब्दों को रटते रहते हैं वैयाकरण ख फ छ ठ थ पढते है परन्तु हमारे जैसे विरक्तों को तो सदा श्री शिवजी के सुन्दर चरणारविन्दों का ही स्मरण करना चाहिये। कुछ वादि लोग अवधूतों पर दोषारोपण करते हैं, सो बेशक करें उनसे अवधूतों के मन में कुछ खेद नहीं होता। श्री भर्तृहरि ने भी कहा है जिस समय योगी लोग अपने मार्ग मे चलते हैं उस समय उनको देख कर अन्य लोग नाना प्रकार के तर्क उठाते है कोई कहता है यह चाण्डाल है और कहते हैं कि यह तो ब्राह्मण है। बहुतसे कहते हैं कि यह शूद्र है वा तपस्वी है अथवा तत्व ज्ञानी योगी है परन्तुऐसे कथनों से योगो न तो क्रुद्ध होता है न खुश ही होता है। गाली देने पर भी अवधूतों को क्रोध आदि नहीं होता यह भी नाथ जी के शिष्य भर्तृहरि ने ही कहा है—

आप लोग बेशक गाली दें क्यों कि आप ग.ली वाले हैं, हमतो आप को गाली नहीं दे सकते क्यों कि हमारे पास ग.ली है ही नहीं संसार में यह बात प्रसिद्ध है कि जिस के पास जो चीज होती है वह उसी का दान करता है अन्य वस्तु का नहीं जैसे कैसा भी दाता क्यों न हो वह खरगोश के सींग का दान नहीं कर सकता इसका तात्पर्य यह है कि जो दोष वाला है वही दूसरों पर दोषारोपण करता है। अत तुम सदोष हो और हम निर्दोष। क्रोध नहीं करना चाहिये हमारे मत म यह भी निश्चित नही है क्यों? क्रोध न करना यह परम हंसों का धर्म है और क्रोध करना यह गृहस्थियों का धर्म है हमारे तो दोनों ही धर्म हैं। एक समय सिद्ध भर्तृहरि जो अपनी इच्छा से कपोत वृत्ति को धारण कर के बाजार की गलियों में अन्न के दाने चुन २ कर चबा रहे थे। तब राजा विक्रमादित्य ने उन को देखा यद्यपि भर्तृहरि जी उनका ज्येष्ठ भाई था तो भी उस सिद्ध रूप में वे उसको न पहचान सके और कहा अहो इसकी भी माता है जिसने ऐसे पुरुष को पैदा किया है जो अपनी उदर पूर्ति करने में भी समर्थ नही यह सुन कर सिद्ध ने कहा कि बड़ा आश्चर्य है। जो पुरुष समर्थ होता हुआ भी परोपकार नहीं करता उसकी माता को धिक्कार है। बुद्धिमान् विक्रमादित्य

सिद्ध के ऐसे विवेक पूर्ण वचन सुन कर, यह मेरा ही जेष्ठ भाई परम पूज्य है ऐसा जान और शीघ्र घोड़े से उतर उनके चरणों में गिर पड़ा। तब श्री भर्तृ जी ने उसको उपदेश दिया उस के बाद विक्रमादित्य ऐसा परोपकारी हुआ कि उसका प्रताप सर्वत्र फैल गया इसी से कहते हैं कि महासिद्ध काम क्रोध और अहंकार इनको जीत लेते हैं अतः वे दूसरों के वचन को सहन कैसे नहीं करेंगे। परन्तु यह नियम परमहंसों की रीति के अनुसार है, सिद्ध तो न परम हंस है और न गृहस्थ, जैसे कौआ और उल्लू इन दोनों में एक दिन में ही देखता है दूसरा रात में। परन्तु ये योगी तो यौगिक परमहंस हैं दोनों दृष्टियों अर्थात् ज्ञान और योग से देखते हुए मुक्तिरूप मोती का ग्रहण करते हैं। जो शिव और शक्ति दोनों को एक करके उपासना करते हैं वे अवधूत योगी होते हैं वे सदा इसी सिद्धान्त में रमण करते हैं।

इति योगाश्रम श्री पूर्णनाथ संस्कृत कौलेज प्रधानाध्यापक मिथिलान्तर्गतवसन्तपुरवास्तव्य श्रीपं० द्रव्येशझाकृतभाषा टीका समाप्ता।

इति शिवम्

समाप्तोऽयंग्रन्थः

सूचना

यदि कोई महानुभाव स्वकीय ग्रन्थ में नाथ सम्प्रदाय के विषय में किसी प्रकार का भी लेख उल्लेखन करना चाहते हों तो "योगाश्रम महाविद्यालय मायापुर हरिद्वार के मैनेजर अथवा अखिल भारतवर्षीय अवधूत योगिमहासभा के प्रधान मन्त्री दलीचा बारह पंथ हरिद्वार से पूछ कर लिखना उनका प्रधान कर्त्तव्य होगा।

॥श्रीगणेशायनमः॥ अथगोरक्षशतलिख्यते॥ श्रीगुरुंपरमानंदं
वंदेआनंदविग्रहं यस्यसान्निध्यमात्रेणचिदानंदायतेतनुः १ अंतः
निश्चलतात्मदीपकलिकास्वाधारबंधादिभिः योयोगीयुगकल्पकाल
कलनात्तत्वंचयोगीयते सानामोदमहोदधिःसमभवेद्यत्रादिनाथःस्वयं
व्यक्ताव्यक्तगुणाधिकंतमनिशंश्रीमीननाथंभजे २ नमस्कृत्यगुरुं
भक्त्यागोरक्षोज्ञानमुत्तमं अभीष्टंयोगिनांब्रूतेपरमानंदकारकं ३
एतद्विमुक्तिसोपानमेतत्कालस्यवंचनं यद्व्यावृत्तंमनोभोगादाश
क्तंपरमात्मनि ४ श्रीगोरक्षशतंवक्ति योगिनांहितकाम्यया ध्रुवंयस्या
वबोधेनजायतेपरमंपदं ५ द्विजसेवितशाखस्यश्रुतिकल्पतरोःफ
लं शमनंभवतापस्ययोगंभजतसत्तमाः ६ आसनंप्राणसंरोधः

प्रत्याहारश्च धारणाः ध्यानं समाधिरेतानि योगांगानि वदंति षट् ॥
आसनानि च तावंति यावंतो जीवजंतवः एतेषामखिलान् भेदान्
विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीति लक्षाणि एकैकं समुदाहृतं ततः शि
वेन पीठानां षोडशानां शतं कृतं ॥ आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदा
हृतं एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनं ॥ योनिःस्थानकमं
घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत् मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा
समं विग्रहं स्थाणुः संयमितेंद्रियो चलदृशा पश्यन् भ्रुवोरंतरे चैतत् मो
क्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ वामोरूपरि दक्षिणं च च
रणं संस्थाप्य वामं तथा दक्षोरूपरि तस्य बंधविधौ पृष्ठे कराभ्यां दृढं
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् तत् व्याधिविनाश
नं च यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलोकं व्योम

२ पंचकं स्वदेहे येन जानंन्ति कथं सिद्ध्यंति योगिनः १३ चतुर्दलं स्यादाधारे
स्वाधिष्ठानं तु षड्दलं नाभौ दशदलं पद्मं सूर्यसंख्यादलं हृदि १४ एकं
स्तंभं नवद्वारं त्रिशून्यं पंचदैवतं स्वदेहे येन जानंन्ति कथं सिध्यंति यो
गिनः १५ कंठे स्यात् षोडशादलं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा सहस्रदलमाख्या
तं ब्रह्मरंध्रे महापथि १६ आधाराख्यं गुदस्थानं पंकजं च चतुर्दलं तन्म
ध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवंदिता १७ आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधि
ष्ठानं द्वितीयकं योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते १८ योनिमध्ये
महालिंगं पश्चिमाभिमुखं स्थितं मस्तके मणिवद्विंबं यो जानाति स यो
गवित् २० तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् त्रिकोणं तत्पुरं म
व ध्यें न्हेर्धामे कून्प्रतिष्ठितं २१ यत्समाधौ परं ज्योतिरनंतं विश्वतोमुखं
तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातौ न विद्यते २२ स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वा
धिष्ठानं तदाश्रयं स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते २३

तंतुना मणिवत्प्रोतो यत्र कंदः सुषुम्णया तन्नाभिकमलं चक्रं प्रोच्यते म
णिपूरकं २६ द्वादशैव महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते तावज्जीवो भ्रमत्ये
वं यावत्तत्त्वं न विंदते २७ ऊर्द्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगांडवत् तत्र
नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः २ तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्तति
रुदाहृताः प्राधान्यात्प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः २ इडा च पिं
गला चैव सुषुम्णा च तृतीयका गांधारी हस्तजिह्वा च पूषा चैव यशस्वि
नी २८ अलंबिका कुहुश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता एतन्नाडीमयं च
क्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा २९ इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिंगला स्थि
ता सुषुम्णा मध्यदेशे तु गांधारी वामचक्षुषि ३० दक्षिणे हस्तजि
ह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे यशस्विनी वामकर्णे आनने चाप्यलंबिका
३१ कुहुश्च मूलदेशे तु लिंगस्थाने च शंखिनी एवं द्वारं समाश्रित्य ति
ष्ठंति दशनाडयः ३२ इडापिंगला सुषुम्णा प्राणमार्गे समाश्रिताः सततं

३ प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ३२ प्राणोपानसमानश्चोदानव्यानौच
वायवः नागकूर्मश्च कृकलोदेवदत्तोधनंजयः ३३ हृदि प्राणोवसेन्नित्य
मपानोगुदमंडले समानोनाभिदेशेतुउदानःकंठमध्यगः ३४ व्यानोव्या
पीशरीरेषुप्रधानाःपंचवायवः प्राणाद्याःपंचविख्याताःनागाद्याःपंचदे
वताः ३५ उद्गारेनागआख्यातःकूर्मउन्मीलनेस्मृतः कृकलःक्षुत्कृतो
ज्ञेयोदेवदत्तोविजृंभणः ३६ नजहातिमृतंचापिसर्वव्यापीधनंजयः ए
तेनाडीषुसर्वासुभ्रमंतेजीवरूपिणः ३७ आक्षिप्तोभुजदंडेनयथोछ
लतिकंदुकः प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथाजीवनतिष्ठति ३८ प्राणापानव
सोजीवोअधश्चोर्ध्वंचधावति वामदक्षिणमार्गेणचंचलत्वान्नदृश्य
ति ३९ रज्जुवद्धोयथाश्येनोगतोप्याकर्षतेपुनः गुणवद्धस्तथाजीवःप्रा
णापानेनकृष्यते ४० अपानःकर्षतिप्राणंप्राणोपानंचकर्षति ऊर्ध्वाधः
संस्थितावेतौयोजानातिसयोगवित ४१ हकारेणवहिर्यातिसकारेण
विशत्पुनः हंसहंसेत्यत्तोमंत्रोजीवोजपतिसर्वदा ४२ षट्शतानिदिवारा

त्रौ सहस्राण्येकविंशतिः एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ४२
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदायिनी अस्याः संकल्पमात्रेण स
र्वपापैः प्रमुच्यते ४३ अनया सदृशी विद्यात्वनया सदृशो जपः अनया
सदृशं ज्ञानं न भूतो न भविष्यति ४४ कुंडलिन्या समुद्भूता गायत्री प्रा
णधारिणी प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स योगवित् ४५ कंदोर्द्ध्वे कुंड
लीशक्तिरष्टधा कुंडलाकृतिः ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ४६
येन द्वारेण गंतव्यं ब्रह्मद्वारमनामयं मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्व
री ४७ प्रबुद्धा वन्हियोगेन मनसा मरुता सह सूचीवद्गुणमादाय व्र
जत्यूर्द्धं सुषुम्णया ४८ अस्फुरद्भुजगाकारा पद्मतंतुनिभा शुभा प्रबु
द्धा वन्हियोगेन व्रजत्यूर्द्धं सुषुम्णया ४९ उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचि
कया हठात् कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ५० कृत्वा संपु
टितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्या
नं च तत्त्वेप्सितं वारं वारमपानमूर्द्धमनलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुंचन्प्रा

४ णमुपैति बोधमतुलं शक्तिःप्रभावाद्यतः ५१ अंगानां मर्दनं कृत्वा श्रमजाते
स्ववारिणा कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ५२ ब्रह्मचारी मि
ताहारी योगी योगपरायणः अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ५३
सुस्निग्धं मधुराहारं चतुर्थांशविवर्जितं भुंज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहा
री स उच्यते ५४ कंदोर्ध्वं कुंडलीशक्तिरष्टधा कुंडलाकृतिः बंधनाय च मू
ढानां योगिनां मोक्षदा सदा ५५ महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डियानं जलंधरं मूल
बंधं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनं ५६ वामभागेन संपीड्य योनिमाकुंचये
द्गुदं अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबंधो विधीयते ५७ अपानप्राणयोरैक्यं
पि ५ क्षयो मूत्रपुरीषयोः युवा भवति वृद्धोपि सततं मूलबंधनात् ५८ उदरात्प
श्चिमे भागे अधो नाभेर्निगद्यते उड्डियानं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगः
५९ उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातंगकेसरी उड्डियानं ह्यसौ बंधस्तत्र बंधो
विधीयते ६० बध्नाति हि शिरोजालं नाधो याति नभोजलं ततो जालंधरो
बंधः कंठदुःखौघनाशनः ६१ जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे न

पीड्यतेनचशोकेननचलिप्यतिकर्मणा ६४ वध्यतेनसःकेनापियोमुद्रांवेत्तिखेच री २

पीयूषंपतत्यग्नौनचवायुःप्रकुप्यति ६२ कपालकुहरेजिह्वाप्रविष्टा
विपरीतगाःभ्रुवोरंतर्गतादृष्टिःमुद्राभवतिखेचरी ६३ नरोगमरणंतस्य
ननिद्रानक्षुधातृषानचमूर्छाभवेत्तस्ययोमुद्रांवेत्तिखेचरीं ६४ चित्तंच
रतिखेयस्माज्जिह्वाचरतिखेगत्वा ६५ तेनेयंखेचरीमुद्रासर्वसिद्धैर्नमस्कृता
विंदुमूलशरीराणिशिरायत्रप्रतिष्ठिता ६६ भ्रामयंतिशरीराणिचापादत
लमस्तकेखेचर्यामुद्रितंयेनविवरंलंविकोर्ध्वतः ६७ नतस्यक्षरतेविंदुःका
मिन्यालिंगितस्यच यावद्विंदुःस्थितोदेहेतावन्मृत्युभयंकुतःयावद्बद्धा
नभोमुद्रातावद्विंदुर्नगच्छति ६८ चलितोपियदाविंदुःसंप्राप्तश्चहुताश
नंव्रजत्यूर्ध्वंहृतःशक्त्यानिरुद्धोयोनिमुद्रया ६९ सपुनःद्विविधोविंदुः
पांडुरोलोहितस्तथापांडुरंशुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यंमहारजः ६९
सिंदूरइवसंकाशंरविस्थानेस्थितोरजःशशिस्थानेस्थितोविंदुस्तयो
रैक्यंसुदुर्लभं ७० विंदुःशिवःरजोशक्तिर्विंदुरिंदूरजोरविःउभयोःसंग

५ मादेवप्राप्यते परमं पदं ७१ वायुना शक्तिचारेण प्रेरितो च यदा रजः यदि बिंदो
सहैकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्तदा ७२ शुक्रं चंद्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतः तयोः स
मरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ७३ शोधनं नाडिजालस्य चालनं सोमसूर्य
योः रसानां शोषणं चैव महामुद्राविधीयते ७४ वक्षो न्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचि
रं योनिं च वामांघ्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणं आपूर्य
श्वसने कुक्षियुगलं बध्वा शनैरेचयेदेषा व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा
नृणां कथ्यते ७५ चंद्रांगेन समभ्यस्य सूर्यांगेनाभ्यसेत्पुनः यावत्तुल्या भवे
त्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ७६ न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वे पि नीरसाः अ
पि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ७७ क्षयं कुष्ठगुदावर्तो गुल्माजीर्णपुरो
गमाः तस्य रोगाः क्षयं याति मुद्रामेतां तु यो भ्यसेत् ७८ कथितेयं महामुद्रा
महासिद्धकरी नृणां गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ७९ पद्मा
सनं समारुह्य समो कायशिरोधरः नासाग्रदृष्टिरेकांते जपेदोंकारमव्य
यं ८० भूर्भुवस्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः यस्य मात्रासु तिष्ठंति तत्परं

का

ज्योतिरोमिति ८१ त्रयः कालास्त्रयोवेदास्त्रयोलोकास्त्रयः स्वराः त्रयोदेवाः स्थि
तायत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ८२ क्रियाइछातथा ज्ञाना ब्राह्मीरौद्री चवैष्णवी
त्रिधाशक्तिस्थितायत्रतत्परं ज्योतिरोमिति ८३ अकारश्च उकारश्च मकारो
बिंदुसंज्ञिकं त्रिधामात्रास्थितायत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ८४ वचसा तु जप
द्बीजं वपुषा तत्समभ्यसेत् मनसा तत्स्मरेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ८५ शु
चिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवां
भसा ८६ चलेवाते चलं चित्तं निश्चलेनिश्चलोभवेत् योगीस्थाणुत्वमाप्नोति त
तोवायुंनिरोधयेत् ८७ यावद्वायुस्थितोदेहे तावज्जीवंनमुंचति मरणंतस्यनि
ष्क्रांति ततोवायुंनिरोधयेत् ८८ यावद्बद्धोमरुद्देहे तावच्चित्तं निरामयं याव
द्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ८९ अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामप
रायणः योगिनोमुनयश्चैव ततः प्राणंनिरुंधयेत् ९० षड्विंशदंगुलो हंसप्र
याणं कुरुते वहिः वामदक्षिणमार्गेण ततः प्राणं विधीयते ९१ शुद्धिमेति स
दा सर्वं नाडीचक्रंमलाकुलं तदैव जायते योगी प्राणसंरोधने क्षमः ९२ बद्ध

द्रा

पद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत् धारयित्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत्
६ ५३ अमृतं दधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमं ध्यात्वा चंद्रमसो बिंबं प्राणायामे सु
खी भवेत् ५४ दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं हृदि शनैः कुंभयित्वा विधा
नेन पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ५५ प्रज्वलज्ज्वलनज्वालापुंजमादित्यमंडलं ध्या
त्वा नाभिस्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ५६ प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमि
तं भूयोन्यया रेचयेत् पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया सूर्या
चंद्रमसोरनेन विधिना बिंबद्वयं ध्यायतां शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनो
मासत्रयादूर्ध्वतः ५७ यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनं नादाभिव्य
क्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ५८ प्राणो देहस्थितो वायुरपानस्य निरो
धनात् एकश्वाससमयी मात्रा सुधते गगने गतो ५९ रेचकः पूरकश्चैव कुं
भकः प्राणायामकः प्राणायामो भवेत्त्रेधा मात्राद्वादशसंयुतः ६० मात्राद्वा
दशसंयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ दोषजालस्य हंतारौ ज्ञातव्यौ योगिभिः
सदा ६१ पूरकं द्वादशं कुर्यात् कुंभकं षोडशं भवेत् रेचकं दश चौंकारः

प्राणायामः स उच्यते २ अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता उत्तमे
त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य लक्षणं ३ अधमे चघनो धमे कंपो भवति मध्य
मे उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ४ बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृ
त्य गुरुं शिवं नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ५ ऊर्ध्वमाकृष्य चा
पानं वायुं प्राणे नियोजयेत् ऊर्ध्वमानीयते शक्त्या सर्वपापैः प्रमुच्यते ६ द्वा ९
राणि नवकं निरुद्ध्य मरुतं पीत्वा दृढं धारितं नीत्वाकाशमपानवह्निसहि
तं शक्त्या समुच्चालितं आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थि
रं यावत्तिष्ठति तावदेव सहिता वंधेनुसंसूयते ७ प्राणायामो भवत्येषः पात
कें धनपावकः भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ८ आसनेन रु
जो हंति प्राणायामेन पातकं विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुंचति ९ धा
रणाभिर्मनो धैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतं समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म
शुभाशुभं १० प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः प्रत्याहारद्विषट्केन
जायते धारणा शुभा ११ धारणाद्वादशप्रोक्तं ध्यानं ध्यानविशारदैः ध्यानद्व

दशाकेनैवसमाधिरभिधीयते १२ यत्समाधौपरंज्योतिरनंतंविश्वतोमुखम्
तस्मिन्दृष्टेक्रियाकर्मयातायातंनविद्यते १३ संवद्धासनमेढ्रमं[illegible]घ्रियु
गलंकर्णाक्षनासापुटद्वारंत्यंगुलिभिर्नियम्यपवनंवक्त्रेवापूरितं
धृत्वावक्षस्यवाह्यपानसहितंमूर्ध्निस्थितंधारयेदेवंयातिविशेषतत्त
त्वसमतांयोगीश्वरस्तन्मयः १४ गगनेपवनेप्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यतेमहान्
घंटादीनांप्रवाद्यानांतदासिद्धिरदूरतः १५ प्राणायामेनयुक्तेनसर्वरोग
क्षयोभवेत् अयुक्ताभ्यासयोगेनसर्वरोगस्यसंभवः १६ हिक्काकासस्त
थाश्वासःशिरःकर्णाक्षवेदनाभवंतिविविधारोगाः पवनस्यव्यतिक्रमात् १७
यथासिंहोगजोव्याघ्रोभवेद्वश्यःशनैःशनैः अन्यथाहंतियोक्तारं तथावायु
र्विशेषितः १८ युक्तंयुक्तंत्यजेद्वायुंयुक्तंयुक्तंचपूरयेत् युक्तंयुक्तंचवध्नीया
देवंसिद्धिमवाप्नुयात् १९ चरतांचक्षुरादीनांविषयेषुयथाक्रमंतत्प्रत्या
हरणंतेषांप्रत्याहारसउच्यते २० यथातृतीयकालस्थो[illegible]रविःप्रत्याहरे
[illegible]प्रभांतृतीयांगस्थितोयोगीविकारंमानसंयथा २१ अंगमध्ये

ते

यथांगानि कूर्मसंकोचयेच्चैवं योगी प्रतिहरत्येवमिंद्रियाणि तथात्मनि २२
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां मनित्यं नित्यमेव च तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति यो
गवित् २३ अगंधमथवा गंधं यद्यज्जिघ्रति नासिका तं तमात्मेति वि
ज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २४ अमेध्यमथवा मेध्यं यद्यत्पश्यति चाक्षुषा तं
तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २५ अस्पृश्यमथवा स्पर्श्यं यद्यत्स्पृ
शति चर्मणा तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २६ अलोणमथवा
लोणं यद्यत्स्पृशति जिह्वया तं तमात्मेति विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् २७
चंद्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स
उच्यते २८ एका स्त्री भुंजते द्वाभ्यां आगता चंद्रमंडलात् तृतीया यस्तयोस्ता
भ्यां स भवेदजरामरः २९ नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः अमृ
तात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चंद्रमा ३० वर्षत्यधोमुखश्चंद्रो ग्रसत्यूर्ध्व
मुखो रविः ज्ञातव्यं करणं तत्र येन पीयूषमाप्यते ३१ ऊर्ध्वं नाभिरधस्तालु
रूर्ध्वं भानुरधः शशी करणी विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ३२ त्रिधा बद्धो

८ स्त्यो यत्र रौरवीति महास्वनः अनाहतं च तत्त्वचक्रं हृदये योगिनो विदुः ३३
अनाहतमतिक्रम्य चाक्रम्य मणिपूरकं प्राप्ते प्राणे महत्पद्मं योगित्वममृता
यते ३४ उर्द्धं षोडशपद्मपत्रगलितं प्राणाद्वाप्तं हठात् ऊर्द्धास्यो रसनां वि
धाय विधिवच्छक्तिं परां चिंतयेत् तत्कल्लोलकलाजलं च विमलं जिह्वा
कुलं यः पिबेन् निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरंजीवति ३५ का
कचंचुवदास्येन शीतलं सलिलं पिबेत् प्राणापानविधानेन योगी भवति
निर्जरः ३६ रसनातालुमूलेन यः प्राणमनिलं पिबेत् अब्दार्द्धेन भवे
त्तस्य सर्वरोगस्य संक्षयः ३७ विशुद्धे परमे चक्रे धृत्वा सोमकलामलं जन्मा
गोणहतं याति वंचयित्वा मुखं रविः ३८ चित्तशब्देन स्मृतो हंसो नैर्मल्यं शुद्धि
रुच्यते अतः कंठे विशुद्धाख्ये चक्रे चक्रविदो विदुः ३९ अमृतं कंदरे कृत्वा
नाशं तन्मुखरे क्रमात् स्वयमस्खलितं याति वर्जयित्वा मुखं रवेः ४० वर्द्धं
सोमकलाजलं सुविमलं कंठव्यप्लादूर्द्धतो नासांते मुखरं नयेच्च गगने
द्वारं ततः सर्वतः ऊर्द्धास्यो भुवि संन्नियत्यनितरामुत्तानपादः पिबेद्देवं यः कु

हृते यतेंद्रियजनो नैवाप्लितस्य क्षयः ४१ ऊर्द्धं जिव्हां स्थिरां कृत्वा सोमपानं करो
ति यः मासार्द्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ४२ वर्द्धं मूलविलं येन तेन विघ्नो
विदारितः अजरामरमाप्नोति यथा पंचमुखो हरः ४३ संपीड्य दशनाग्रेण राज
दंतविलं महत् ध्यात्वा मृतमयीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत् ४४ सर्वद्वाराणि व
ध्नाति तत् ऊर्द्धं धारितं महत् न मुंचत्यमृतं कापि स यथा पंचधारणा ४५
चुंवंती यदि लंविकाग्रमनिशं जिव्हा रसस्यादिनी सक्षारकटुकाम्लदु
ग्ध सदृशी त्यक्तागता चान्यथा व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदी
रणं तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणं ४५ अमृता पूर्णदेह
स्य योगिनो द्वित्रिवत्सरात् ऊर्द्धं प्रवर्त्तते रेतो ह्यणिमादिगुणोदयः ४७ इं
धनानि यथा वन्हिस्तैलवर्ती च दीपकः तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न
मुंचति ४८ नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः तक्षकेनापि दष्टस्य वि
षं तस्य न पीडयेत् ५० आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः प्रत्याहारे
ण संपन्न धारणां च समभ्यसेत् ५० हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथ

२ कृष्यकं मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते ५१ ॐ लं नमः या पृथ्वी ह
रिताल हेम रुचिरा तत्वं लकारान्विता संयुक्ता कमलासनेन हि चतुः कोणा हृ
दि स्थापिनी प्राणं तत्र विलीन पंच घटिकं चित्तां तरं धारयेद् एषा स्तंभकरी
सदा क्षितिजयं कुर्याद् ध्रुवो धारणा ५२ ॐ वं नमः अर्धेन्दुप्रतिमं च कुंदध
वलं कंठेंबुतत्वं स्थितं तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना प्राणं
तत्र विलीय पंच घटिकं चित्तान्वितं धारयेद् एषा दुःसहकालकूटजरणा स्या
त् वारुणी धारणा ५३ ॐ रं नमः यत्तालुस्थितमिंद्रगोपसदृशं तत्त्रिको
णानलं तेजो रेफयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत्संगतं प्राणं तत्र विलीय पंच घटि
कं चित्तान्वितं धारयेद् एषा वन्हिजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा ५४ ॐ
यं नमः यद्भिन्नांजनपुंजसन्निभमिदं वृत्तं भ्रुवोरंतरे तत्वं वायुमयं यकार
सहितं तत्रेश्वरो देवता प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकं चित्तान्वितं धारयेद् एषा
खेगमनं करोति यमिनां स्याद् वायवी धारणा ५५ ॐ हं नमः आकाशं शुचि
शुद्धवारि सदृशं यद् ब्रह्मरंध्रे स्थितं तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारा

न्वितं प्राणं तत्र विलीय पंच घटिकं चिंतान्वितं धारयेद् एषा मोक्षकपाटपाटनप
टुः प्रोक्ता नभोधारणा ५७ स्तंभिनी द्राविणी चैव दहनी भ्रामणी तथा शोष
णी च भवंत्येषां भूतानां पंचधारणा ५८ कर्मणा मनसा वाचा धारणा पंच दु
र्लभा विज्ञाय सततं योगी सर्वपापैः प्रमुच्यते ५९ विस्मृत्यैः सर्वचिंतायां धातु
रेकोपि विद्यते यत्र चित्ते निर्मला चिंता ध्यानं तद्धि प्रचक्षते ६० द्विविधं भवति
ध्यानं सकलं निष्कलं तथा सकलं वर्णभेदेन निष्कलं निर्मलं भवेत् ६१ अं
तःस्थितो वहिश्चक्रदुरंधः स्यात्प्रसुखासनं समत्वं च शरीरं च ध्यानमुद्रेति
कथ्यते ६२ आधारं प्रथमं चक्रं सुवर्णाभं चतुर्दलं कुंडलिन्या समायुक्तं ध्या
त्वा मुच्येत किल्विषैः ६३ स्वाधिष्ठाने च षट्पत्रे सन्माणिक्यसमप्रभे नासा
ग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा योगी सुखी भवेत् ६४ तरुणादित्यसंकाशे चक्रे च म
णिपूरके नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ६५ हृदाकाशस्थि
तं शंभुं प्रचंडरवितेजसं नासाग्रदृष्टिरादाय ध्यात्वा ब्रह्मसमो भवेत् ६६ पवि
त्रं भवेद्धृत्पद्मे प्राणायामं विभेदतः नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवे

१० नं ६६ सततं घटिकामध्ये विमुह्ये दीपकप्रभे नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखवि
मुच्यते ६७ श्रवन्तीयूषसंपूर्णे लंबिला चंद्रमंडले नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्या
त्वा मृत्यु प्रमुच्यते ६८ भ्रुवोरंतर्गतं देवं सन्मार्गिकचषिखोपमं नासाग्रदृष्टि
रात्मानं ध्यात्वानंदमयो भवेत् ६९ ध्यायेन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमे
श्वरं आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ७० निर्गुणं च शिवं शा
तं गगने विश्वतोमुखं नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्मसमो भवेत् ७१ आ
काशे यत्र शब्दः स्यात्तदाज्ञाचक्रमुच्यते तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मृत्यु
मवाप्नुयात् ७२ गुदं मेढ्रं च नाभिं च हृत्पद्मं चंद्रमूर्द्धनि घंटिकालंबिकास्था
नं भ्रूमध्ये च नभोबिले ७३ कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः
उपाधिं सकलं तेन त्वा कुर्वंत्यष्टगुणोदयं ७४ एतद्ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्यो
तिरनुत्तमं ध्यात्वा ज्ञात्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितं ७५ अश्वमेध
सहस्राणि वाजपेयशतानि च एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हंति षोडशीं
७६ उपाधिश्च तथा तत्त्वं संस्थितं चान्यथा भवेत् समस्तोपाधिविध्वंसी

सदभ्यासेन जायते ७७ शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितं तावदे
व स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परं ७८ धारणा पंच नाडीभिः ध्यानं च षष्टि
नाडिकैः दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः साभिधीयते ७९ यत्सर्वं द्वंद्वयोरैक्यं
जीवात्मपरमात्मनोः समस्तनष्टसंकल्पः समाधिः साभिधीयते ८० अं
बुसैंधवयोरैक्यं यथा भवति योगतः तथात्ममनसोरैक्यं समाधिः साभि
धीयते ८१ यदा संक्षीयते प्राणो वासना च विलीयते तदा समरसत्वं च स
माधिः साभिधीयते ८२ न गंधं न रसं रूपं न स्पर्शं न निःस्वनं न चात्मानं
परं वेत्ति योगी मुक्तिः समाधिना ८३ खाद्यते न स कालेन बाध्यते न स
कर्मणा साध्यते न स केनापि योगी मुक्तः समाधिना ८४ अभेद्यः सर्वशस्त्रा
णां अवध्यः सर्वदेहिनां अग्राह्यो यंत्रमंत्राणां योगी मुक्तः समाधिना ८५
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तः स्वप्नावबोधस्य योगो भवति
दुःखहा ८६ निराद्यंतं निरालंबं निःप्रपंचं निराश्रयं निराकारं तत्त्वं निराम
यं तत्त्वविदो विदुः ८७ निर्गुणं निश्चलं नित्यं निःक्रियं निर्गुणं महत् व्योमवि
ज्ञानमानंदं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ८८ निरातंके निराधारे निरालंबे निराम

२१ ये योगी योगविधानेन परं ब्रह्मणि लीयते ९४ हेतुद्वयं तन्निर्मुक्तं मनोबुद्धि
रगोचरं विज्ञानं व्योमसमानेदं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ९५ यथा घृतं घृते क्षिप्तं
घृतमेव हि जायते क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ९६ दुग्धे क्षीरं
घृते सर्पिरग्नौ वह्निरिवार्पितः तन्मयत्वं व्रजेत्येव योगी लीनः परे पदे ९७
भवभयंहरते नॄणां मुक्तिसोपानसंज्ञिकं गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेन प्र
काशितं ९८ इति गोरक्षशतकं योगशास्त्रं जनः पठेत् सर्वपापैर्विनिर्मुक्तो यो
गसिद्धिं लभेत्परां योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः यत्स्वयं चादि
नाथस्य निर्गतं वदनांबुजात् ९९ स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिलैः दत्ता च
पृथ्वी द्विजे यस्तानां च हुतं सहस्रमयुतं देवाश्च संपूजिताः सत्यं ते
न सुतर्पिताश्च पितरः स्वर्गे नीताः पुनः येषां ब्रह्मविचारेण क्षणमपि प्रा
प्नोति धैर्यं मनः ९६ इति श्रीगोरक्षनाथेन विरचितं गोरक्षशतकं शुभं
भूयात् ॥ इडया पिब षोडशभिः पवनं श्रणवं कुरु षष्टि चतुष्टयमंतरगं
त्यज पिंगलया शनकैः शनकैः दशभिर्दशभिर्दशभिः ध्यौधिकैः

५

हठयोग प्रदीपिका

[सरल टीका एवं व्याख्या सहित]

टीकाकार :

डा० चमनलाल गौतम

पूर्व सम्पादक:—"युग-संस्कृति", "जीवन यज्ञ"

रचयिता:—तंत्र महाविज्ञान, देववाद का वैज्ञानिक स्वरूप, पशुबलि हिन्दू धर्म पर कलंक है, समाज सेवा के रचनात्मक कार्यक्रम, ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत-वेद ।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजा कुतुब, वेदनगर बरेली-२४३००१

प्रकाशक :

डा० चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, (वे[redacted]
बरेली. (उ. प्र.)

सम्पादक :

डा० चमनलाल गौतम

प्रथम संस्करण
१९७४

मुद्रक :

देवदत्त मिश्र
यमुना प्रिंटिंग प्रेस,
आर्यसमाज रोड, मथुरा.

मूल्य :

चार रुपये मात्र ।

भूमिका

प्रस्तुत 'हठयोग प्रदीपिका' नामक ग्रन्थ भगवान् श्री आदिनाथ द्वारा उपदेशित हठयोग विद्या का लिपिबद्ध संग्रह है, जो कि हठयोग विद्या रूप अथाह समुद्र में डुबकी मारकर अमूल्य निधि को निकाल लाने के समान है। इस ग्रन्थ के द्वारा न जाने कब से योग-जिज्ञासु पुरुष उपकृत होते आये हैं और वर्तमान काल में भी उपकृत हो रहे हैं। इसीलिए इसकी प्रसिद्धि आज भी उतनी ही है, जितनी कि प्राचीन काल में रही है।

श्री आदिनाथ भगवान् शिव का ही एक नाम है, जो कि योगी-समाज में ही नहीं, जन-साधारण में भी अपरचित नहीं है। उन्हीं आदिनाथ नामधारी शिव ने सांसारिक जीवों को मद-मोह से निकाल कर उनका कल्याण करने के उद्देश्य से जगज्जननी भगवती पार्वतीजी के प्रति इस उपदेश को कहा था।

हठयोग विद्या, वह विद्या है जिसका सेवन करके अनेकानेक महायोगी पुरुष संसार-सागर से सहज ही पार हो गए। पुराणों का वर्णनानुसार सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा ने भी ब्रह्मपद की प्राप्ति के लिए इसी विद्या का आश्रय लिया था और ब्रह्मा ही नहीं, विष्णु, शिव, नारद, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ आदि अनेक देवता, ऋषि-महर्षि आदि सभी इसका आश्रय लेकर अपने ऐश्वर्य की वृद्धि करते रहे हैं। इसीलिए बड़े-बड़े योगाचार्यो और ज्ञानी पुरुषों ने इसकी प्रामाणिकता स्वीकार की है और वे इसके उपदेशानुसार आचरण में प्रवृत्त होते रहे हैं।

यह भी मान्यता है कि हठयोग विद्या को सर्व प्रथम मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ ने भगवान् आदिनाथ के श्रीमुख

से श्रवण किया था और इस श्रवण किये हुए योग का परम्परागत पालन होता रहा तथा समय-समय पर सार रूप में जिज्ञासुओं के समक्ष आता रहा। अधिक कठिन और निरर्थक अंशों का त्याग होते-होते अन्त में इसने 'हठयोग प्रदीपिका' का रूप ग्रहण किया और तब गोरक्षनाथजी की कृपा से उन्हीं के अनुसार इसका सारभूत एवं उत्कृष्ट रूप जिज्ञासुजनों के हितार्थ प्रकट हुआ।

'हठयोग प्रदीपिका' नामक इस ग्रन्थ के चार विभाग कर प्रथम उपदेश से चतुर्थ उपदेश पर्यन्त चार उपदेशों में प्रस्तुत मनुष्यों के लिए इसका समझना सुगम नहीं था और अब तक इसके अनुवाद या टीकाएँ भी कुछ ऐसी भाषा में थी, जो कि आज-कल की हिन्दी से कुछ पृथक्-सी प्रतीत होती है। उसे पढ़कर कभी-कभी तो पाठक को एक उलझन-सी अनुभव में आती है, और वह यथार्थ निष्कर्ष से बंचित ही रह जाता है।

हमने इसी कठिनाई का अनुभव करके, इसकी टीका वर्तमान सरल सुवोध हिन्दी में करके पाठकों के समक्ष प्रस्तुत की है और साथ ही सहज ही समझ में आसके, इस उद्देश्य से प्रत्येक श्लोक की विस्तृत व्याख्या भी संयुक्त करदी है। इस व्याख्या में श्रुतियों, उपनिषदों, शास्त्रों एवं अन्यान्य ग्रन्थों का मनन करके, जहाँ आवश्यक समझा, उनके उद्धरण भी दे दिये हैं, जिससे कि विषय वस्तु को अत्यन्त सुगमता से समझा जा सके। व्याख्या के इस कार्य में हमें कविराज श्री दाऊदयाल गुप्त से जो अमूल्य सहयोग मिला है उसके लिए वे बधाई के पात्र हैं।

हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि हमारा यह प्रयास योग-जिज्ञासुओं और साधारण पाठकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी एवं कल्याणकारी सिद्ध होगा।

—डा० चमनलाल गौतम

विषय सूची

प्रथम उपदेश

द्वितीय उपदेश

तृतीय उपदेश

चतुर्थ उपदेश

★

हठयोग प्रदीपिका

प्रथम उपदेश

★

आरंभिक वन्दनादि

श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥१

टीका:—हठयोग विद्या का उपदेश करने वाले भगवान् श्री आदिनाथ को नमस्कार करके ग्रन्थ का आरम्भ करते हैं। वह विद्या मुमुक्ष को ऊपर चढ़ाकर राजयोग में युक्त कर देती है, इसलिए नसनी के समान है ॥१॥

व्याख्या:—आदिनाथ शिवजी का ही एक नाम है अथवा जो सबसे पूर्व हैं, उनसे पहले का कोई नहीं, इसलिए उनका नाम आदिनाथ हुआ। कुछ विद्वान् श्री आदिनाथ का अर्थ श्री (लक्ष्मी) सहित विष्णु करते हैं। वैसे शास्त्रों के अनुसार शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। विष्णु पुराण (१।२।६६) के अनुसार—

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञां यान्ति भगवानेक एव जनार्दनः॥

अर्थात्—वह एक ही भगवान् सृष्टि का उत्पादन, पालन और संहार करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उन्हीं के नाम हैं।

'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६।२।१) अर्थात् 'वह एक ही है, दो नहीं' से भी भगवान् का एक होना ही सिद्ध है। शिव पुराण में भी 'एक एवतदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चनः' अर्थात् 'तब (सृष्टि के आदि में) अकेला रुद्र ही था, कोई और नहीं था' कहकर उक्त मत की पुष्टि की ग ई।

'अधिरोहिणी' का अर्थ नसैनी या सीढ़ी है। यह हठयोग विद्या साधक को परिश्रम के बिना ही राजयोग रूपी पीठ पर चढ़ा देती है। इसलिए ऐसी विद्या को प्रकट करने वाले भगवान् आदिनाथ को नमस्कार करना भी श्रेयस्कर है।

श्रीगुरु नमस्कार

प्रणम्य श्रीगुरु नाथं स्वात्मारामेण योगिना।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।। २ ।।

टीका:—उन श्री गुरु नाथ को प्रणाम हैं, जिन्होंने राजयोग प्राप्त कराने के लिए मुझ स्वात्माराम योगी को हठ-विद्या का उपदेश किया है ।। २ ।।

व्याख्या:—ग्रन्थकार ग्रन्थारम्भ में मंगल की अपेक्षा से गुरुदेव को नमस्कार करते हैं। क्योंकि गुरुदेव के उपदेश के बिना किसी भी प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं होती। यदि गुरु कृपा हो तो साधक के लिए मोक्ष दुर्लभ नहीं। इसीलिए गुरु को नाथ अर्थात् स्वामी कहा है। योगवासिष्ठ में कहा है—

गुरूपदेशशास्त्रर्थै विना चात्मा न बुध्यते।
एतत्संयोग सत्तैव स्वात्मज्ञान प्रकाशिनी ।।

—योग वासिष्ठ ६।४१।१६

अर्थात्—गुरु के उपदेश और शास्त्र के अध्ययन बिना आत्मज्ञान नहीं होता। अधिकारी जिज्ञासु, शास्त्राध्ययन और

सद्‌गुरु इन तीनों का संयोग होने पर ही आत्मज्ञान का प्रकाश होता है।

यदि गुरु की कृपा न हो तो बहुत से पढ़े हुए मन्त्र निष्फल रहते हैं, इसीलिए किसी भी मन्त्र की दीक्षा गुरुमुख से लेनी चाहिए। इसी की पुष्टि निम्न कथन से होती है।

अनेक कोटि मन्त्राणि चित्त व्याकुल कारणम्।
मंत्रं गुरोः कृपा प्राप्तमेकं स्यात् सर्वसिद्धिदम्॥

अर्थात्—करोड़ों मन्त्र हैं, परन्तु वे चित्त की व्याकुलता के ही कारण होते हैं (अर्थात् चित्त की व्याकुलता ही उत्पन्न करते हैं। यदि गुरु की कृपा से एक मन्त्र भो प्राप्त हो जाय तो वह सर्वसिद्धि प्रदान करने वाला होता है।

इस प्रकार गुरु द्वारा सीखी हुई विद्या का ही सफल होना सिद्ध है। साधक को गुरु का उपदेश प्राप्त करके, उसी के अनुसार साधना करनी चाहिए। इस श्लोक गुरु को प्रणाम करने का उद्‌देश्य भी यही है।

भ्रांत्या बहुमतध्वांते राजयोगमजानताम्।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः॥ ३॥

टीकाः—अनेक मतों के गहन अन्धकार की भ्रान्ति से उबारने के लिए अपनी आत्मा में रमण करने वाले (स्वात्माराम) योगी कृपापूर्वक इस हठयोग प्रदीपिका को प्रकट करते हैं॥३॥

व्याख्याः—लोक में अनेक मतमतान्तर प्रचलित है। कोई एक अपने मत को श्रेष्ठ कहता है तो कोई दूसरा अपने मत को उत्कृष्ट बतलाता है। इस प्रकार सभी मत वाले अपने अपने मत की प्रशंसा करते हैं, इस कारण चंचल चित्त वाले अज्ञानी पुरुष उनके आकर्षण में पड़ कर कभी कहीं जाते हैं तो

कभी कहीं। वे यह निश्चय नहीं कर पाते कि यथार्थ कर्त्तव्य क्या है ?

उन भ्रान्ति में पड़े हुए मनुष्यों वास्तविक ज्ञान की प्राप्ति हो सके, इस उद्देश्य से कृपालु योगी ग्रन्थकार ने उन पर कृपा के रूप में इस हठयोग प्रदीपिका नामक ग्रन्थ की रचना की है और यही तात्पर्य उन्होंने इस श्लोक में स्पष्ट रूप से प्रकट कर दिया है।

हठविद्यां हि मत्स्येंद्रगोरक्षाद्या विजानते।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ ४ ॥

टीकाः—महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथ आदि ही इस हठ विद्या को जानते हैं अथवा उनकी कृपा से स्वात्माराम योगी भी इसे जानता है ॥४॥

व्याख्याः—ग्रन्थकार ने अपने ग्रन्थ का श्रेय स्वयं को न देकर मत्स्येन्द्रनाथ आदि महान् योगी पुरुषों को ही दिया है। उसका अभिप्राय है उक्त महानात्माओं की प्रसन्नता प्राप्त करने पर ही उसे इस हठयोग विद्या की प्राप्ति हो सकी है। श्लोक में 'हि' शब्द इस अर्थ का बोधक है कि मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ आदि योगिजन इस विद्या को विशेष रूप से जानते थे और उन विशेषज्ञों से प्राप्त विद्या में भी विशेषता होनी चाहिये।

प्राचीन ऋषि-मुनि संसार का कल्याण करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इसीलिए अज्ञानी पुरुषों को ज्ञान देकर उन्हें मोक्ष के मार्ग में प्रवृत्त किया करते। इसी उद्देश्य से ग्रन्थकार ने भी इस ग्रन्थ की रचना करना उचित समझा।

श्रीआदिनाथमत्स्येंद्रशाबरानंदभैरवाः।
चौरंगीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ ५ ॥

मंथानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कंथडिः ।
कोरंटकः सुरानंदः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥
कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरंजनः ।
कपाली बिंदुनाथश्च काकचंडीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥
अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडा चोली च टिंटिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खंडः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥
इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खंडयित्वा कालदंडं ब्रह्मांडे विचरंति ते ॥ ९ ॥

+ **टीका:**—श्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, शाबरनाथ और आनन्द भैरव तथा चौरङ्गी, मीननाथ, गोरक्षनाथ, विरूपाक्ष, विलेशयनाथ आदि सिद्ध हुए। मंथान, भैरव, सिद्ध, बुद्ध, कन्थड़ि, कोरंटक सुरानन्द, सिद्धपाद, चर्पटि, कानेरो, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरंजन, कपाली, बिन्दुनाथ, काक-चण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोड़ा चोली, टिंटिणी, भानुकी नारदेव, खण्ड कापालिक इत्यादि हठयोग के प्रभाव से ही महासिद्ध हो गए। यह सभी काल-दण्ड का खण्डन करके अर्थात् मृत्यु को जीतकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं ॥५—९॥

व्याख्याः—श्री आदिनाथ के उपदेशानुसार अनेकानेक सिद्ध हुए हैं, जिन्होंने हठयोग के द्वारा ऐश्वर्य प्राप्त किया है। आदिनाथ उन सब में प्रथम हैं, जिनके द्वारा नाथ सम्प्रदाय चलाया गया। यहाँ इन नामों के वर्णन करने का उद्देश्य जिज्ञासु की प्रवृत्ति के लिये ही है, जिससे कि उनकी उत्कर्ष-गाथा का स्मरण होते ही उसकी भी आकर्षण-वृद्धि हो सके।

मत्स्येन्द्रनाथ का एक उपाख्यान सुना जाता है। वह इस

प्रकार है कि एक समय भगवान् आदिनाथ शिवजी किसी एकांत सरोवर के तट पर विराजमान थे। वहां पार्वतीजी ने उनसे योग-ज्ञान की जिज्ञासा की। आदिनाथ शिव उन्हें हठयोग का उपदेश करने लगे, जिसे पार्वतीजी मन लगाकर सुनने लगीं।

उस सरोवर के जल में एक मत्स्य रहता था। वह भी उस योगोपदेश को मन लगा कर सुन रहा था। कृपालु आदिनाथ जी को उसका वह श्रवण ज्ञात हो गया और उन्होंने कृपा पूर्वक उसके निकट जाकर सरोवर से जल लिया और उस मत्स्य के ऊपर सींचने लगे। भगवान् आदिनाथजी के इस अनुग्रह को प्राप्त करके मत्स्य कृतकृत्य हो गया और उसे तुरन्त ही सिद्धि की प्राप्ति हो गई। वही मत्स्येन्द्रसिद्ध मत्स्येन्द्रनाथ हो गए।

चौरंगी की कथा इस प्रकार बताई जाती है कि एक बार वन में स्थित हुए चोरंगी (हाथ-पाँव-विहीन) पर उनकी दृष्टि गई। उनके देखने मात्र से चौरंगी के हाथ-पाँव लग गए। चौरंगी समझ गया कि इन्हीं मत्स्येन्द्रनाथ की कृपा से मैं हाथ-पाँवों से युक्त हो गया और तब वह उनके चरणों में गिर कर अनुग्रह की याचना करने लगा। मत्स्येन्द्रनाथ को भी दया आ गई और उन्होंने उसे हठ विद्या का उपदेश किया। आगे चल कर वही चौरंगी सिद्ध के नाम से प्रसिद्ध हो गया।

मत्स्येन्द्रनाथ आदिनाथजी के शिष्य थे। उनके अनेक शिष्य हुए। गोरक्षनाथ भी उन्हीं के शिष्य बताये जाते हैं। गोरक्षनाथ के नाम का कथन भी भर्तृहरि और गोपीचन्द्र की अन्तर्कथा की ओर संकेत करता है। गोरक्षनाथ ने राजा भर्तृहरि को योग का उपदेश किया था और भर्तृहरि ने अपने भानजे (बहिन के पुत्र) राजा गोपीचन्द्र का योग की ओर प्रवृत्त किया, जिससे वह भी राज-पाट का त्याग करके गोरक्षनाथ की शरण में गए।

इस प्रकार यह सभी सिद्ध हठयोग के प्रवर्त्तक भी हुए हैं। उन्होंने काल के दण्ड को काट डाला अर्थात् शरीर और प्राण को पृथक् करने वाले मृत्यु को विजय करके वे ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। इसका आशय यह है कि उन्हें सभी लोकों में इच्छानुसार जाने-आने की सामर्थ्य प्राप्त होगई।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

टीका:—अशेष ताप से तप्त हुए पुरुषों का समाश्रय मठ रूप हठयोग और अशेष योगियों का आधार कमठरूप हठयोग है ॥१०॥

व्याख्या:—हठयोग और कमठयोग के भेद से हठयोग के दो प्रकार माने गए हैं। इनमें सभी तापों का नाशक मठयोग और योगों का साधक कमठयोग है। अशेष ताप के कथन का संकेत त्रिताप की ओर है और ताप तीन प्रकार का है—(१) आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इन तापों के कारण तप्त हुए मनुष्यों के लिए हठयोग मठस्वरूप होता है। मठ का अर्थ है घर, इससे हठयोग को उनके लिए आश्रय देने वाला समझना चाहिए। इसीलिए 'अशेषतापतप्तानां' कह कर ग्रन्थ-कार ने उन मनुष्यों की ओर संकेत किया है, जिनके त्रितापों में से कोई एक भी शेष रह गया है। इन तापों में भी आध्यात्मिक ताप शारीरिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का माना गया है। शारीरिक ताप का तात्पर्य है रोगादि और मानसिक ताप का अभिप्राय है मन का अशान्त रहना। इनका शमन योग के आश्रय से ही संभव है।

योगों से सम्पन्न पुरुष का आश्रय ईश्वर है और ईश्वर का एक अवतार कमठ अर्थात् कच्छप रूप में भी हुआ है। इस-

लिए जो साधक योग-सम्पन्न होकर भगवान् के विभिन्न स्वरूपों का ध्यान करता है, उसे अवश्य ही काम्यफल की प्राप्ति होती है। कमठ अर्थात् कच्छप को जगत् का आधार माना गया है, क्योंकि समुद्र मन्थन के समय भगवान् ने कच्छप रूप धारण करके समुद्र में धसकते हुए श्रीमद्‌भागवत में इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

विलोक्य विघ्नेशविधिं तदेश्वरो
दुरन्तवीर्योऽवितथाभिसन्धिः ।
कृत्वा वपुः काच्छपमद्‌भुतं महत्
प्रविश्य तोयं गिरिमुज्जहार ॥

—भागवत ८।७।८

अर्थात्—विघ्नेश्वर द्वारा किये हुए विघ्न को समझ कर अनन्त शक्ति और सत्य संकल्प वाले भगवान् कच्छप अवतार धारण कर जल में प्रविष्ट हुए और उस पर्वत को बाहर ले आये।

उक्त श्लोक से अगले श्लोक में 'दधार पृष्ठेन स लक्ष-योजन' कह कर भागवतकार ने 'भगवान् कच्छप द्वारा एक लाख योजन को पीठ बना कर उस मंदराचल पर्वत कर लेना कहा है। इस प्रकार यह अन्तर्कथा कच्छप को पर्वतादि स्वरूप वाले जगत् का आधार मान कर योगयुक्त पुरुष उन्हीं भगवान् के ध्यान में तल्लीन रहता है। इसी को कमठरूप हठयोग समझना चाहिए।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

टीका:—सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को हठ विद्या

परम गोपनीय है, क्योंकि गुप्त रहने से ही यह वीर्यवती रहती है और प्रकट होने पर निर्वीर्य हो जाती है ॥११॥

व्याख्या:—अन्य विद्याएं चाहे प्रकट रहें अथवा गुप्त, परन्तु हठयोग विद्या को परम गुप्त रखने योग्य माना गया है। सिद्धियों की इच्छा वाले के लिए तो अवश्य ही इसे गुप्त रखना चाहिए, तभी वह वीर्यवती अर्थात् प्रभावशालिनी रह सकती है और वीर्यवती रहने से ही सिद्धि मिल सकती है।

सिद्धियाँ आठ प्रकार की होती है—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व, वाशित्व। इनसे शरीर को क्रमशः अणुवत् सूक्ष्म, वृहदाकार, भारी, हलका कर लेना और दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श करना, कामनायें पूर्ण कर लेना, आन्तरिक चक्रों पर प्रभुत्व रखना और सभी को अपने वश में कर लेना आदि सामर्थ्यों की प्राप्ति हो सकती है।

योगदर्शन के विभूतिपाद में लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन मिलता है। इनमें से किसी के द्वारा हाथी का वल प्राप्त होता है, किसी से भूख-प्यास पर विजय और किसी से आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है। किसी से दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि और किसी से लोकों नक्षत्रों आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार की सिद्धियाँ योग के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु, उन सिद्धियों को प्राप्त कराने वाली विद्या यदि प्रकट हो जाती है तो उसमें शक्ति का ह्रास हो जाता है और वह जो प्रभाव उत्पन्न कर सकती थी, उसे करने में समर्थ नहीं रहती।

योग्य देश एवं कुटी-निर्माण

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुः प्रमाणपर्यंतं शिलाग्निजलवर्जिते ॥
कांते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

टीका:—ऐसा धार्मिक देश हो, जिसमें कोई उपद्रव न हो, सुभिक्ष रहता हो, उसके चारों ओर धनुष प्रमाण पर्यन्त शिला, अग्नि और जल न हो। श्रेष्ठ राज्य में स्थित ऐसे स्थान में मठिका बनवाकर हठयोगी को योगाभ्यास करना चाहिए ॥१२॥

व्याख्या—धार्मिक देश और श्रेष्ठ राज्य में रहने का कथन इस अभिप्राय को व्यक्त करता है कि योगी के वही देश अर्थात् स्थान उपयुक्त हो सकता है जहाँ अधर्म या अपवित्रता का लेश भी न हो। क्योंकि योगाभ्यास के लिए वातावरण की पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है, यदि वातावरण में पवित्रता न होगी तो मनमें अधर्म रहेगा, जिससे एकाग्रता सम्भव नहीं होगी, जिससे साधना भी फलवती नहीं हो सकती।

सुराज्य का अभिप्राय ऐसे राज्य से है, जिसका राजा प्रजापालक, साधु सन्तों, योगाभ्यासियों का रक्षक और धार्मिक एवं न्यायशील हो। अधार्मिक, अन्यायी या क्रूर राजा हो तो उस राज्य में दमन, कलह, अत्याचार आदि का आधिक्य रहेगा और उस अवस्था में यह सम्भव नहीं कि योगी की कुटिया का वातावरण भी क्षुब्ध न हो पाये। इसीलिए योगसाधक को श्रेष्ठ राज्य में रहने का निर्देश है।

उस राज्य और स्थान का निरुपद्रव रहना इसीलिए आवश्यक है कि उपद्रव ग्रस्त क्षेत्र में भय, शंका और आतंक

का साम्राज्य छाया रहता है, योगाभ्यास में विघ्न स्वरूप सिद्ध होता है। अतः साधक को अपनी साधना के लिए निरुपद्रव प्रदेश चुनना चाहिए।

'सुभिक्षे' का अर्थ है सुकाल रहना। जिस राज्य में अन्न बहुत उत्पन्न होता हो, अनावृष्टि आदि के कारण कभी अकाल न पड़ता हो, जिससे कि योगी को शरीर-रक्षार्थ आहार की प्राप्ति में बाधा उपस्थित न हो सके।

अथवा 'सुभिक्ष' का आशय श्रेष्ठ भिक्षा से भी है और जिस राज्य में श्रेष्ठ भिक्षा मिल सकती हो, वही साधक को भोजनादि की अनुकूल सुविधा हो सकती है। इसलिए जिस राज्य में सुभिक्ष हो, वहीं रहकर साधना करना श्रेयस्कर हो सकता है।

'धनुप प्रमाण' का आशयहै चार हाथ परिमाण, जहाँ आसन के चारों ओर चार-चार हाथ तक शिला, जल और अग्नि न हो इस कथन का अभिप्राय यह है कि बैठने के स्थान के चारों ओर भी इतनी स्वच्छता हो कि कोई वस्तु पड़ी न रहे। शिला अर्थात् पत्थर होने से, उठने पर ठोकर लगने का भय हो सकता है, और जल, अग्नि भी हानिकारक सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि उनसे सर्दी, गर्मी से होने वाले विकारों की सभावना हो सकती है। इस प्रकार विकार होन वातावरण से युक्त स्थान चुनना चाहिए।

'मठिकामध्ये स्थातव्यं' अर्थात् 'मठिका बन वाले इसमें 'मठिका' का अर्थ छोटी कुटिया से है, मठ से नहीं। क्योंकि मठ तो बड़ा होता है और योगी साधक को बहुत बड़ा स्थान हितकर नहीं होता। मठिका भी इसलिए बनवाने का निर्देश है कि शीत, धूप, वर्षा आदि से बचाव हो सके।

इस प्रकार योगी को श्रेष्ठ राज्य, सुन्दर स्थान, छोटी कुटी बना कर सुभिक्ष युक्त एवं निरुपद्रव स्थान में रहकर अभ्यास करना चाहिए, इसी में उसका कल्याण है ।

अल्पद्वारमरंध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसांद्र लिप्तममलं निःशेषजंतूज्झितम् ।
बाह्ये मंडपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तंयोगमठस्यलक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥१३॥

टीका—उस कुटी का द्वार छोटा हो, छिद्र और गढ़ों से रहित हो, उसमें बिल भी न हों, उसका स्थान ऊंचा-नीचा न हो, गोबर से चिकना लिपा हुआ हो, जीब-जन्तुओं से वर्जित हो, कुटी के बाहर के स्थान में एक मण्डप बना हो, जिसमें वेदो और सुन्दर कूप हो तथा प्राकार अर्थात् भित्ती से घिरा हो । योग कुटी के यह लक्षण हठयोग के अभ्यासी सिद्धों ने बताये हैं ॥१३॥

व्याख्या—कुटी का द्वार छोटा रखना चाहिए । यह इसलिये कोई विशालकाय पशु आदि का उसमें प्रवेश न हो सके । उसमें छेद अर्थात् खिड़की या झरोखे भी न हों अन्यथा शीतकाल में ठंडी हवा, ग्रीष्म काल में उष्ण वायु अर्थात् लू और वर्षा ऋतु में बर्षा की बूंदों का कुटी के भीतर प्रवेश होने से साधक को कष्ट हो सकता है और अभ्यास में विघ्न पड़ सकता है ।

कुटी में गढ़े हों, या ऊंचा-नीचा स्थान हो तो साधक को बैठने में असुबिधा होगी, जिससे अभ्यास में चित्त का लगना भी कठिन हो जायगा । ऊंचे-नीचे स्थान का अभिप्राय यह भी है कि स्थान अधिक ऊंचाई पर होगा तो चढ़ने में और अधिक

निचाई पर होगा उतरने में कष्ट होगा। परन्तु कुछ अनुभवी साधक ऊँचे-नीचे स्थान के होने में कोई दोष नहीं मानते। उनका मत है कि ऊँचे - नीचे स्थानों में साधारण मनुष्य परिश्रम के कारण कम ही पहुँच पाते हैं, इससे एकान्त बना रहता है और भीड़-भाड़ तो कभी हो ही नहीं पाती।

कुटी को गोबर से चिकनी लीपनी चाहिए। गोबर में कृमि नाशक शक्ति है, इसलिए डाँस, मच्छर आदि बहुत कम हो पाते हैं और इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने भी 'निःशेषजन्तूज्झितम्' कहकर जीव-जन्तु रहित' रखने का उपदेश दिया है।

बाह्य प्रदेश में मण्डप और वेदी बनाने के निर्देश से यज्ञ की ओर संकेत मिलता है। इसका आशय यह है कि साधक को किसी विधि-विधान के अनुसार यज्ञ या होम की अपेक्षा हो तो वह सरलता से कर सके और कूप तो अत्यन्त आवश्यक है ही। क्योंकि जल की महिमा अन्न से भी अधिक है, इसके बिना शरीरधारी को प्राण-धारण में भी बहुत कठिनाई होती है। यदि कुटी में ही ताजा जल मिल सके तो उससे बहुत सुविधा रहती है।

प्राकार अर्थात् परकोटा खींचना भी कम आवश्यक नहीं है। इससे हिंस्र पशुओं और क्रूर अधर्मी मनुष्यों का भय नहीं रहता। इसलिए कुटी के चारों ओर दीवार खिचवाना अनावश्यक नहीं मान सकते।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिंताविवर्जितः।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ॥ १४ ॥

टीका—इस विधि से मठ बनाकर और सभी प्रकार की चिन्ताओं का त्याग करके साधक गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से योग का ही अभ्यास करे ॥१४॥

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकार से मठ बनाने के पश्चात् सबसे पहला कार्य है सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग करना, क्योंकि यदि किसी प्रकार की थोड़ी सी भी चिन्ता या कामना शेष रहेगी तो योगाभ्यास में चित्त नहीं लगेगा और जब चित्त न लगेगा तो ध्यान भी नहीं बन सकता। इसीलिए नारदपरिव्राजकोपनिषत् में कहा गया है 'रागद्वेष वियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकांचनः' अर्थात् 'राग-द्वेष को मनमें न आने दे और स्वर्ण, पाषाण, मृत्तिका को एक समान समझे।

गुरु द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलता हुआ योगाभ्यास करे। क्योंकि गुरु ही योग विधियों को ठीक प्रकार से बता सकता है। अभिप्राय यह कि गुरु के बिना योगविद्या का ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। योग के साधन मे अभ्यास की आवश्यकता होती है और अभ्यास बिना अनुभव के सिद्ध नहीं हो सकता। इसीलिए जिज्ञासु को गुरु की शरण में जाकर शिक्षा प्राप्त करने का उपदेश है। जो साधक वैसा नहीं करते वे अनेक प्रकार की हानि उठाते हुए प्रायः असफल ही रहते हैं।

योग के अभ्यास में प्राणजय किया जाता है, क्योंकि जिसने वायु पर विजय प्राप्त करली, उसने मानों सर्वस्व ही प्राप्त कर लिया। 'अल्पकाल भयाद् ब्रह्मा प्राणायाम पराभवेत्' (यो. चू. उ.) अर्थात् 'काम के भय से ब्रह्मा भी प्राणायाम परायण रहते हैं।' इसीलिए यह कहना अयुक्त नहीं कि योग का ही अभ्यास करे। क्योंकि अभ्यास का माहात्म्य अत्यधिक है—

अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते॥

—योग वासिष्ठ ५।७८।४६

अर्थात्—अभ्यास के द्वारा प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है और तब केवल निर्वाण ही शेष रहता है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से कुटी निर्माण करके गुरु द्वारा बतायी विधि के अनुसार योग के अभ्यास में ही तत्पर रहना चाहिए। यही इस ग्रन्थ की शिक्षा है।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।

जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥१५

टीका—अति भोजन, प्रयत्न, अधिक बोलना, नियमों का ग्रहण, मनुष्यों का संग और चंचलता, यह छः बाधाएं योग को नष्ट करने वाली हैं ॥१५॥

व्याख्या—अधिक भोजन करना निषिद्ध माना गया है, क्योंकि उससे आलस्य की वृद्धि होती है और जठरानल दीप्त न हुई तो उसका परिपाक भी ठीक प्रकार से नहीं हो पाता। इसीलिए योगशास्त्रों में मिताहार या अल्पाहार का प्रशस्त माना गया है। 'ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः (यो. चू. उ.) अर्थात् योगी को ब्रह्मचारी, मिताहारी और योगा परायण रहना चाहिए।'

'प्रयास' अर्थ है प्रयत्न। जिस कार्य में अधिक प्रयत्न करना पड़े उसका त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्योंकि योगाचार्यों ने योगाभ्यास से भिन्न परिश्रम करना प्रशस्त नहीं माना है और यह ठीक भी। जब वह सभी चिन्ताओं और कामनाओं का ही परित्याग कर चुका तब उसके लिए योग-भिन्न परिश्रम की ही अपेक्षा क्यों रहनी चाहिए? इसी अभिप्राय से ग्रन्थकार ने प्रयास का वर्जन किया है।

प्रजल्प का अर्थ है बकवाद। अधिक बोलना प्रजल्प ही है। उससे द्वेष, ईर्ष्या, क्रोध, अहंभाव आदि की वृद्धि होती है, क्योंकि वाद-विवाद में किसी से अपनी निन्दा के वचन सुनने से उक्त भावों की सम्भावना स्वाभाविक है और इसीलिए योग-शास्त्रों में साधक को जनसग विवर्जित रहने का उपदेश दिया गया है और यहाँ भी 'जनसंगश्च लौल्यं च' कहकर मनुष्यों का संग न रखने का तो निर्देश है ही, साथ ही मन की चचलता को भी नष्ट करने का निर्देश निहित है।

'नियमग्रहः' का निषेध करके ग्रन्थकार ने योगी के नियमों के प्रतिबन्ध से मुक्त कर दिया है। उनके अनुसार योगाभ्यासी को किसी प्रकार का नियम पालन करने को आवश्यकता नहीं है। प्रातःकाल ठंड जल से स्नान, रात्रि में ही आहार अथवा फल का आहार करने आदि का भी उसके लिए कोई नियम नहीं है। क्योंकि योग मार्ग में तो प्राणवायु का निरोध ही सर्वोपरि क्रिया है। योगी का तो वही यम, नियम आदि सभी कुछ है। इसीलिए हठयोग के अनेक विद्वानों ने योग के आठ अगों के स्थान पर छः अंग ही माने है, जिनमें यम, नियमों को छोड़ दिया है।

इस प्रकार योग-साधक को इन अत्याहार आदि छः कर्मों को प्रति बन्धक मानकर योग को नष्ट करने वाला माना है। क्योंकि इनसे कामादि विकारों की उत्पत्ति या वृद्धि होती है। ग्रन्थकार का अभिप्राय भी इनके त्याग का उपदेश करते हुए इनको दोष-दर्शन करना ही है। इसलिए साधक का कर्त्तव्य है कि वह छओं कर्मों का सर्वथा त्याग करने में ही कल्याण समझे।

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ॥
जनसंगपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥१६

टीका—उत्साह, साहस, धैर्य, तत्वज्ञान, निश्चय और जनसंग का परित्याग, इन छः के द्वारा योग की सिद्धि होती है ॥१६॥

व्याख्या—उद्यम रूप उत्साह के बिना प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए जिज्ञासु के चित्त में योग के लिए उत्साह होना आवश्यक है और जब उत्साह होजाय तब कौन-सा साधन साध्य है और कौन-सा असाध्य ? इस पर विचार करके योग की प्रवृति रूपी साहस के साथ धैर्य की अपेक्षा होती है। क्योंकि साधक में धैर्य होगा तभी वह कठिन योग-साधन में लगा रह सकता है। योग की सिद्धि कोई ऐसी वस्तु तो है नहीं जो विचार करते ही सिद्ध हो जाय, उसमें तो दीर्घकालीन अभ्यास करना होता है और वही साधक सफल होता है जो धैर्यपूर्वक उसमें लगा रहे, अन्यथा धैर्य के नष्ट होते ही चित्त के न लगने से साधना ही समाप्त हो जाती है।

धैर्य का अर्थ खेद का अभाव भी है जो साधक खेद रहित रूप से सभी विघ्न-बाधाओं को पार करता हुआ दृढ़तापूर्वक लगा रहे, वह धैर्य ही साधक को सिद्ध बना देता है। इसलिये सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को धैर्यपूर्वक अभ्यास में लगे रहना चाहिए।

तत्व ज्ञान क्या है ? विषय मृग तृष्णा के जल के समान मिथ्या है, आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है, जो जीव है वही ब्रह्म है और ब्रह्म ही सत्य है यही ज्ञान रूप तत्व ज्ञान है। जब ऐसा ज्ञान हो जाता है, तभी साधक अपने मोक्ष के हेतु योगाभ्यास में लगा रह सकता है। ईशावास्योपनिषत् में कहा है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयं ७ स ह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥

अर्थात्—जो मनुष्य विद्यारूप ज्ञान तत्व और अविद्यारूप कर्म तत्व को साथ-साथ ही जान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर ज्ञान के अनुष्ठान से अमृतत्व का उपभोग करता है।

निश्चय का अर्थ है विश्वास। शास्त्र और गुरु के वाक्यों में श्रद्धा और विश्वास का होने से ही अभ्यास की सिद्धि हो सकती है। जिस कार्य में अविश्वास या अश्रद्धा हो तो उसकी सफलता का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। इसलिए यदि विश्वास रूप निश्चय हो तभी योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए।

योगी को जन-संग का परित्याग अत्यावश्यक है। पहले भी कह चुके है। इसीलिए योगाभ्यासी को एकांकी रहना श्रेयस्कार बताया गया है।

इस प्रकार उक्त छओं के द्वारा योग की सिद्धि शीघ्र हो सकती है।

यम-नियम वर्णन

"अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥१७॥
तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदै" ॥१८॥

टीका—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, दया, आर्जव, मिताहार और शौच यह दश यम हैं तथा

तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वर का पूजन, सिद्धान्त वाक्य श्रवण, लज्जा, बुद्धि, जप और होम यह दश नियम हैं ।१७—१८।।

व्याख्या—अनेक विद्वानों के मत में यह दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं, परन्तु साधक के लिए यम-नियमों का होना अनपेक्षित न होने से इनकी व्यावहारिकता अमान्य नहीं है। बहुत से सिद्ध योग के आठ अंग मानते हैं, उनमें यम, नियम दोनों अंगों का प्रारम्भ में ही उल्लेख है, परन्तु जो षडांग योग को मानते हैं, वह यम, नियम को योग के अंगों में नहीं गिनते।

महर्षि पतंजलि ने यम, नियमों का वर्णन इस प्रकार किया है—'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' और जाति देशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमामहाव्रतम्' (यो. द. २।३०-३१) अर्थात 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह यह पाँच यम' एवं 'जाति, देश, काल, समय में आबद्ध न होकर (इन यमों का पालन करना) महाव्रत है।

'शौचसन्तोष तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानिनियमाः (यो. द. २।३२) अर्थात् 'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय' और ईश्वर की शरण लेना यह नियम हैं।' इस प्रकार महर्षि पतंजलि ने योग-दर्शन में बहुत-से सूत्र यम-नियमों को समझाने के लिए लिखे हैं अतएव यम-नियमों की आवश्यकता को अमान्य नहीं कर सकते।

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चांगलाघवम् ।।१९।।

टीका—आसन हठयोग का प्रथम अंग है, इसलिए पहले आसन को ही कहते हैं, आसन करने से साधक को स्थैर्य, आरोग्य और अंगलाघवत्व की प्राप्ति होती है ।।१९।।

व्याख्या—योग के जो अंग बताये हैं उनमें आसन, प्राणायाम, मुद्रा, नादानु सन्धान, प्रत्याहार आदि अंगों में आसन प्रथम अंग है। इसीलिए ग्रन्थकार ने उसका सबसे पहले वर्णन किया है। आसन शरीर और मन की चंचलता को नष्ट करने वाला होता है। इसी से उसे स्थिरता रखने वाला कहा है।

आसन का साधन करने से साधक निरोग रहता है। कोई रोग हो तो नष्ट हो जाता है। योग-साधन में साधक का रोग-रहित रहना ही मन की स्थिरता में सहायक है। उसी से लाघवादि विभिन्न सिद्धियों की उपलब्धि हो सकती है। अंगों की लाघवता से तमोगुण का विकार भी नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार आसन के द्वारा चित्त विक्षेप कारक त्रिगुणात्मक विकारों का शमन होकर योगाभ्यास में दृढ़ता प्राप्त होती है तथा भूख-प्यास, रोग आदि की भी निवृत्ति होती है। ग्रन्थकार ने इसे योगाभ्यास था प्रारम्भिक अंग मानकर सर्व प्रथम इसका वर्णन किया है।

आसनादि कथन

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥२०

टीका—वसिष्ठ आदि मुनियों और मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने जिन आसनों को अंगीकार किया है, उनमें से कुछ प्रमुख आसनों का वर्णन किया जाता है ॥२०॥

व्याख्या—मुनियों का अर्थ है मनन करने वाले। मुनियों में वसिष्ठ आदि श्रेष्ठ हुए हैं और योगियों में श्रेष्ठ हुए हैं

मत्स्यनाथ आदि, जिनके नाम पहले कह चुके हैं। उन मुनियों और योगियों ने असंख्य आसनों का वर्णन किया है। भगवान् आदिनाथ शिव ने तो चौरासी लाख आसन कहे थे। परन्तु उनमें से चौरासी आसनों का ही प्रमुख रूप से चयन किया गया।

तत्पश्चात् विद्वानों ने देखा कि उन चौरासी आसनों में भी अनेक आसन कठिन और कष्ट साध्य हैं, साधारण साधक उन्हें बहुत प्रयत्न पूर्वक भी करने में समर्थ नहीं हो सकता तो उन्होंने उनमें से भी जो अधिक प्रमुख, सरल और सुसाध्य प्रतीत हुए, उनका चयन किया और जिज्ञासुओं के लाभार्थ प्रकट कर दिया। यहाँ उन्हीं आसनों पर ग्रन्थकार ने प्रकाश डाला है।

मुनियों और योगियों कहकर योगवेत्ताओं की दो श्रेणियाँ यहाँ प्रमुख रूप से बताई हैं। इसका आशय यह समझना चाहिए कि मुनियों का मनन अर्थात् अध्ययन अधिक था और योगियों को अभ्यास की अधिकता थी। फिर भी यह नहीं कह सकते कि वसिष्ठादि में कुछ न्यूनता थी या मत्स्येन्द्रादि में कुछ विशेषता। अनेक विद्वानों का मत तो यह है कि वसिष्ठादि मुनि योगाभ्यास में तो सिद्ध थे ही, उनकी मनन क्षमता भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, जिसे विशेषता ही कह सकते हैं।

स्वस्तिक आसन

जानूर्वोरंतरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे।

ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥२१॥

टीका:—जानु और जंघाओं के मध्य मध्य में सम्यक् प्रकार से पाँवों के तलुए लगाकर समान अवस्था में बैठे, वह स्वस्तिक आसन कहलाता है ॥२१॥

व्याख्या:—पाँवों की एड़ियों को घुटनों और जंघाओं के मध्य लगाकर बैठने से स्वस्तिकासन होता है। शाण्डिल्योपनिषत् में भी इस आसन का यथावत् वर्णन किया है, इसलिए उसका पुनर्कथन अनावश्यक है।

गोमुख आसन

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत्।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥२२

टीका:—कटि के बाँयी ओर दाँया गुल्फ (रखना) और दाँये भाग में बांए रखने को लगाकर आसन करने से जो गोमुख के समान आकृति हो जाती है, उसे गोमुखासन कहते हैं ॥२२॥

व्याख्या—यह स्पष्ट रूप में इस प्रकार है कि पीठ के दाँयी ओर दाँया गुल्फ और बाँयी ओर बाँया गुल्फ जोड़कर गोमुख के समान बैठना ही गोमुख आसन है। गोमुखासन का सीधा-साधा अर्थ है गौ के मुख के समान आकार बनाकर बैठना।

यद्यपि यह आसन बहुत साधारण है, परन्तु किसी सद्गुरु के निर्देशन बिना इसका सिद्ध होना कठिन ही है। इसका अभ्यास बार-बार करने से ही इसमें सफलता मिल सकती है।

यह आसन स्नायुओं की निर्बलता, गड़बड़ी, वातरोगादि को दूर करने में बहुत उपयोगी माना जाता है।

वीरासन

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदुरुणि स्थितम्।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥२३॥

टीका:—अब वीरासन का वर्णन करते हैं कि एक पाँव

बाँयी जाँघ पर और दूसरा पाँव दांयी जाँघ पर रखकर बैठने से वीरासन होता है ।। २३ ।।

व्याख्या:—वीरासन का अर्थ है वीरों के समान बैठना। यह आसन बहुत साधारण होता हुआ भी किसी जानकार से न जान लिया जाय जब तक ठीक प्रकार से नहीं बन पाता।

कूर्मासन

गुदं निरुद्ध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ।। २४ ।।

टीका—दोनों टखनों से गुह्य प्रदेश को विपरीत क्रम से रोककर समाहित रूप से बैठने पर योगवेत्ताओं के कथनानुसार कूर्मासन होता है ।। २४ ।।

व्याख्या:—टखनों को एक-दूसरे के विपरीत क्रम से गुदा पर लगाने से यह आसन बनता है। इसमें साधक को कछुए जैसी आकृति बनानी होती है। जो कि शरीर ग्रीव और सिर को सीधा रहने से हो पाती है।

कुक्कुटासन

पद्मासनं तु संस्थाप्यां जानूर्वोरंतरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ।।२५।।

टीका:—पद्मासन लगाकर जंघाओं के मध्यभाग में दोनों हाथों को लगा कर तथा उन हाथों को पृथिवी में टिकाकर आकाश में स्थित रहने से कुक्कटासन होता है ।। २५ ।।

व्याख्या:—इसे लगाने के लिए प्रथम पद्मासन लगा कर बैठना चाहिए। साधक अपने हाथों का जोर धरती पर डालता हुआ जंघाओं की दरारों में लगाकर हथेलियों को भूमि पर टिका

कर शरीर को कमल की आकृति में भूमि से ऊँचा उठावे। इस आसन की सिद्धि मुर्गे का आकार बना कर बैठने से हो जाती है।

यह आसन अन्य आसनों की अपेक्षा अधिक हितकर है। इसे बालक भी घर पर रह कर आसानी से लगा सकते हैं। इसके अभ्यास से पहिले पद्मासन का अभ्यास कर लिया जाय तो यह और भी सरल हो जाता है।

उत्तान कूर्मासन

कुक्कुटासनबंधस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम्।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २६ ॥

टीका—उक्त कुक्कुटासन का बन्धन लगा कर ग्रीवा को दोनों भुजाओं से बाँध ले और कछुए के समान सीधा हो जाय तो यह उत्तान कूर्मासन हो जाता है ॥ २६ ॥

व्याख्या—अपने पाँवों का बन्धन कुक्कुटासन के समान लगा कर अपने कन्धों को हाथों से पकड़ले और तब अपने को कछुए के समान पृथिवी पर फैलावे। इस प्रकार उत्तान कूर्मासन हो जाता है। इस आसन के अभ्यास से शरीर में लचीला पन आ जाता है। बालक भी इसे सरलता से कर सकते हैं।

धनुरासन

पादांगुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २७ ॥

टीका—दोनों पाँवों के अगूठों को हाथों से ग्रहण करके धनुष के समान कान तक खींचे, वह धनुरासन कहलाता है ॥२७॥

व्याख्या—धनुरासन का अभिप्राय है धनुष जैसा आकार बना लेना। इस आसन से भी शरीर लचीला होता है और अस्थियां दृढ़ हो जाती हैं। यह मस्तिष्क को नवीन स्फूर्ति देने वाला होने के कारण शारीरिक और मानसिक बल की वृद्धि करता है।

मत्स्येन्द्रासन

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं
जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तितांगः
श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ २८ ॥

टीका—वामोरु मूल में दक्षिण पाँव को रख कर वाम पांव को जानु से बाहर ले जाकर हाथ से लपेट कर पकड़ले और फिर वाम भाग की ओर से पृष्ठ भाग की ओर मुख कर जिस स्थिति में टिके उसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं। यह मत्स्यनाथ ने कहा है ॥२८।

व्याख्या—योगासनों में यह आसन बहुत कठिन है। मत्स्येन्द्रनाथ पहले मत्स्य थे, फिर आदिनाथ शिव की कृपा से ही योगी बने थे। इसीलिए उन्होंने अपने पूर्व स्वाभावानुसार इस आसन की कल्पना की थी।

घेरण्ड संहिता में इस आसन का वर्णन निम्न प्रकार से हुआ है—

उदरं पश्चिमाभासं कृत्वा तिष्ठति यत्नतः।
निम्नांगवामपादं हि दक्षजानुपरिन्यसेत् ॥
तत्रयाम्यं कूर्परं च याम्ये करे च वक्त्रकम्।
भ्रुवोर्मध्येगतां दृष्टिं पीठं मात्स्येन्द्र मुच्यते ॥

अर्थात्—उदर को पीठ के समान सरल और स्वाभाविक रख कर तथा बाँए पाँव को झुका कर दाँयी जाँघ पर रखे। उस पर दाँयी कुहनी रख ले दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर करे। यह मत्सयेन्द्रासन कहा जाता है।

मत्स्येंद्रपीठं जठरप्रदीप्ति
प्रचंडरुग्मंडलखंडनास्त्रम् ।
अभ्यासतः कुंडलिनीप्रबोधं
चंद्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ २९ ॥

टीका—मत्स्येन्द्र पीठ कीं आकृति वाला यह आसन जठराग्नि प्रदीप्त करता और प्रचण्ड रोगों के खण्डनार्थ अस्त्र के समान होता है। इसके अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति की जागरण होता है और यह पुरुषों को चन्द्रमा की स्थिरता प्रदान करता है ॥२९॥

व्याख्या—यह आसन मन्दाग्नि और उससे उत्पन्न रोगों को नष्ट करने वाला है। इससे चन्द्रमा द्वारा स्रवते हुए रस की स्थिरता होती है। परन्तु अधिक प्रयत्न से ही सिद्ध किया जा सकता है।

पश्चिमतान आसन

प्रसार्य पादौ भुवि दंडरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वाः।
जानूपरिन्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥३०॥

टीका—दोनों पांवों को दण्ड के समान धरती पर पसार कर दोनों पाँवों के अग्रभागों को दोनों हो हाथों से ग्रहण करके जानुओं पर ललाट देश को स्थापित करे। इस प्रकार की स्थिति को पश्चिमतान आसन कहते हैं ॥३०॥

व्याख्या—यह आसन सरल और श्रेष्ठ है, इसका अभ्यास साधारण पुरुष भी कर सकते हैं। अन्य ग्रन्थ में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है—

विस्तीर्य पादयुगलं परस्परमसंयुतम् ।
स्वहस्ताभ्यां दृढं धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ।।
देहावसादनाशन पश्चिमोत्तान संज्ञकम् ।
य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत् सुधीः ।।

अर्थात्—दोनों पाँवों को पृथक्-पृथक् फैला कर उनके अंगूठों को हाथों द्वारा दृढ़तापूर्वक पकड़ ले और फिर शिर पर जानुओं को रखले। यह शरीर का आलस्य नष्ट करने वाला पश्चिमोत्तान संज्ञक है। बुद्धिमान् पुरुष को इस श्रेष्ठ आसन का साधन करना चाहिए।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं
पश्चिमवाहिनं करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे
कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥३१॥

टीका—यह सब आसनों में प्रमुख पश्चिमतान आसन प्राणवायु को पश्चिमवाहिनी कर देता है और जठराग्नि को प्रकट कर उदरस्थ कृशता और आरोग्यता को करता है ॥३१॥

व्याख्या—यह आसन प्रमुख माना गया है। इससे दुबला-पतलापन दूर होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। 'येनशीघं मरुत्सिद्धिर्भवेद दुःखौघहारिणी' अर्थात् उसके द्वारा दुःख रोगादि नष्ट करने वाले प्राणवायु की सिद्धि होती है।

इस प्रकार यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से भी हितकर होने के कारण साधकों को अवश्य करना चाहिए।

मायूरासन

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।
उच्चासनो दंडवदुत्थितः स्यान्मायूरमेतत्प्रवदंति पीठम् ।३२

टीका—दोनों हाथों से पृथिवी का सहारा लेकर और मणि बन्धों के ऊपर नाभि के पार्श्वद्वय के भागों को स्थापित करे। इस प्रकार यह दण्ड के समान उच्च आसन होता है, इसे मायूरासन कहते हैं ।। ३२ ।।

व्याख्या--यह मोर की आकृति जैसा बनाया जाता है। जिस प्रकार मोर अपने पतले पाँवों पर शरीर का पूर्ण भार संभालता है, उसी प्रकार साधक को अपने शरीर का भार अपने पाँवों के तलुओं पर डालना होता है।

इस ग्रन्थ के वर्णन में घेरण्ड संहिता के वर्णन से स्वल्प हेर-फेर है, फिर भी उसमें अधिक स्पष्टता व्यक्त होती है। उन्होंने कहा है—

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यां तत्कूर्परे स्थापित नाभिपार्श्वम् ।
उच्चासनो दण्डवदुत्थितःखे मायूरमेतं प्रवदन्ति पीठम् ।।

अर्थात्—हाथों की हथेलियों को पृथिवी में टिकाकर और दोनों कुहनियों को दोनों पार्श्वों को योजित करे तथा दोनों पाँवों को डंडे के समान पीछे की ओर खड़ा करे तो यह मयूरासन होगा।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ।। ३३ ।।

टीका—यह आसन गुल्म, उदरोगादि सभी रोगों को नष्ट करता है तथा दोषों को भी दूर कर देता है। अधिक खाये को हुए अन्न को भस्म करने और जठराग्नि प्रदीप्त करने में कालकूट के समान है ॥ ३३ ॥

व्याख्या—इस आसन के करने से उदर के सब रोग जैसे, उदर शूल जलोदर प्लीहा आदि एवं वात पित्त, कफ आदि के विकृत होने से उत्पन्न दोषादि सब दूर हो जाते है। अधिक भोजन कर लेने से अजीर्ण आदि की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु इस आसन के करने से वह अन्न शीघ्र ही भस्म हो जाता है। इस प्रकार यह आसन उदर ठीक रखने के लिए भी करना चाहिए।

शवासन

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासम् ॥
शवासनं श्रांतिहरं चित्तविश्रांतिकारकम् ॥ ३४ ॥

टीका—पाठ को शव के समान धरती पर लगाकर सीधा सोजाय, यह शवासन है। इससे श्रम का शमन होता और चित्त को बिश्राम मिलता है ॥ ३४ ॥

व्याख्या—इसका आकार उस प्रकार का होता है, जिस प्रकार कि कोई मुर्दा सो रहा हो। इस आसन के अभ्यास से सब प्रकार का परिश्रम दूर हो जाता है और चित्त की चचलता भी नष्ट हो जाती है।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥३५

टीका—शिवजी ने चौरासी आसनों का कथन किया है उनमें चार आसन सारभूत हैं, उन्हें कहता हूँ ॥ ३५ ॥

व्याख्या—शिवजीने चौरासी लाख आसन कहे थे, उनमें से चौरासी को उपयोगी पाया और फिर उन चौरासी में भी जब अधिक उपयोगिता और सरलता खोजी गई तो उनमें से चार आसन ऐसे पाये गये, जो उन सब में सारभूत थे। घेरण्ड संहिता में कहा है—

आसनानि समस्तानि भावन्तो जीव जन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेनाभिहितानि च॥

अर्थात्—संसार में जितने जीव-जन्तु हैं। उतने ही आसन है। इस प्रकार शिवजी ने चौरासी लाख आसन बताये हैं।

उन चौराखी लाख में से 'षोडशोनंशतं कृतम्' (घ. सं.) अर्थात् 'चौरासी श्रेष्ठ हैं।' उनमें से भी ग्रन्थकार ने निम्न चार सारभूत कहा है—

सर्वश्रेष्ठ चार आसन

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्।
श्रेष्ठंतत्रापि च सुखे तिष्ठेन्सिद्धासने सदा॥३६॥

टीका—यह चार आसन अत्यन्त श्रेष्ठ हैं—सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन। इनमें भी जो सिद्धासन है उसमें योगी सुखपूर्वक बैठ सकता है॥ ३६॥

व्याख्या—उक्त चौरासी आसनों में जो चार आसन कहें, उनमें भी सिद्धासन को और भी श्रेष्ठ माना है और साथ ही यह भी संकेत किया है कि इसमें योगी सुखपूर्वक स्थित हो सकता है। अब उस आसन का स्वरूप वर्णन करते हैं।

सिद्धासन

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम्।
स्थाणुः संयमितेंद्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरंतरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥३७॥

टीका—योनि स्थान से बाँए पांव की एड़ी को मिलावे और दाँये पाँव को लिंगेन्द्रिय के ऊपर से दृढ़ता से रखे तथा हृदय के निकट ठोड़ी का ठीक पर से रखे। ऐसा निश्चल योगी अपनी एक रस दृष्टि से भौंहों के मध्य में देखे। यह अभ्यास मोक्ष-मार्ग में लगे हुए कपाट को खोलने वाला सिद्धासन कहलाता है ॥ ३७ ॥

व्याख्या—यह आसन बहुत सरल और कष्ट-रहित है। इसका वर्णन अन्यत्र इस प्रकार मिलता है—

योनिसंपीडचयत्नेन पादमूलेन साधकः।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद् योग वित्सदा ॥
ऊर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलोनियतेन्द्रियः।
विशेद्वक्रकायश्च रहस्युद्वेगवर्जितः।
एतत सिद्धासनं प्रोक्तं सिद्धानांच शुभ प्रदम् ॥

अर्थात्—प्रयत्न पूर्वक योनि स्थान का एक एड़ी से संपीडन करे और दूसरी एड़ी को मेढ्र पर रख ले। तथा भौहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे। इस प्रकार उद्वेग-रहित, सरल सीधा रहकर स्थित हो, यह सिद्धों को शुभदायक सिद्धासन है।

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।
गुल्फांतरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥३८॥

टीका—मेढ़ के ऊपरी भाग में बाँई एड़ी को रखे और बाँए पाँव के ऊपर दाँये टखने को रखकर बैठे तो यह सिद्धासन है ॥ ३८ ॥

व्याख्या—यह सिद्धासन मत्स्येन्द्रनाथ के मत से भिन्न मत का है। ग्रन्थकार ने यहाँ इसका भी वर्णन करना उचित समझा है। आसन-वर्णन के इन प्रकारों में समानता है, परन्तु साधकों को इनका समन्वय करके, जिस स्थिति में सुविधा हो, उसी स्थिति में बैठना चाहिए।

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः।
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३९ ॥

टीका—इस सिद्धासन को ही कोई विद्वान् वज्रासन भी कहते हैं। किसी के मत में यह मुक्तासन है और किसी के कथनानुसार गुप्तासन भी है ॥ ३९ ॥

व्याख्या—यहाँ इस एक आसन के ही चार नाम कहे हैं—सिद्धासन, वज्रासन, मुक्तासन और गुप्तासन। परन्तु अन्य विद्वानों ने इन चारों को पृथक्-पृथक् माना है। घेरण्ड संहिता में इनका भेद इस प्रकार बताया है—

जंघाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ।
वज्रासनं भवेदेतत् योगिनां सिद्धिदायकम् ॥
पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि।
शिरोग्रीवासमं कार्यं मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥
जानुनोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत्।
पादोपरि च संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥

अर्थात्—दोनों जाँघों को वज्रवत् कठोर करके दोनों पाँवों को गुदा के दोनों ओर लगावे तो योगियों को सिद्धि देने

वाला वज्रासन होता है। गुदमूल में बाँयी एड़ी लगाकर उस पर दाँयी एड़ी रखले और शिर तथा ग्रीवा को समान भाव से रखकर शरीर को सीधा रखकर बैठे। यह सिद्धिप्रद मुक्तासन है। दोनों घुटनों के मध्य में दोनों पांवों को गुप्त भाव से रख कर गुह्य प्रदेश को पांवों में ही रख लें, यह गुप्तासन कहलाता है।

इस प्रकार अन्यत्र यह चारों आसन पृथक् पृथक् बताये गये हैं।

सिद्धासन-प्रशंसा

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥४०॥
चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत्।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥४१॥
आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम्।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥४२॥

टीका—जैसे यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा मुख्य है, वैसे ही सब आसनों में सिद्धासन को ही विद्वान् सिद्धों ने प्रमुख बताया है। इसलिए चौरासी आसनों में मुख्य सिद्धासन का सदा अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि इसके द्वारा बहत्तर हजार नाड़ियों का मलशोधन होता है। आत्मा का ध्यान और मिताहार करता हुआ साधक यदि बारह वर्ष पर्यन्त सिद्धासन का अभ्यास करता है तो योग सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥४०—४२॥

व्याख्या—दश यमों में मिताहार और दश नियमों में अहिंसा को अधिक श्रेष्ठ माना गया है, उसी प्रकार सब आसनों में सिद्धासन की श्रेष्ठता स्वीकार की गई है। शरीर में बहत्तर

हजार नाड़ियाँ हैं, उनका इस आसन के द्वारा शोधन होता है। सिद्धासन के अभ्यास-काल में साधक को मिताहारी रहना चाहिए और आसन में सुखपूर्वक बैठकर आत्मा के ध्यान में लीन हो जाना चाहिए श्लोक में 'आत्माध्यायी' कहकर इसी को पष्ट किया है और शिक्षा दी है कि आत्मा का ध्यान योग-साधन का प्रमुख लक्ष्य है। इस प्रकार आत्मा से भिन्न किसी अन्य के ध्यान का पूर्णतया निषेध सिद्ध होता है।

किमन्यैर्बहुभि पीठैः सद्धे सिद्धासने सति।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुंभके ॥४३॥
उत्पद्यते निरासायात्स्वयमेवोन्मनो कला।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति।
बंधत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥४४॥
नासनं सिद्धसदृशं न कुंभः केवलोपमः॥
न खेचरीसमा मुद्रा न सादसदृशो लय ॥४५॥

टीका—जब सिद्धासन ही सिद्ध हो जाता है, तब अन्य अनेक आसनों के करने का क्या प्रयोजन है? इसमें प्राणवायु को सावधानी से संयत कर केवल कुम्भक सिद्ध करना चाहिए। इसके प्रभाव से चन्द्रकला सदृश्य उन्मनी कला परिश्रम के बिना ही सिद्ध हो जाती है तथा सिद्धासन के सिद्ध होते ही तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध हो जाते हैं सिद्धासन के समान कोई आसन, केवल कुम्भक के समान कोई कुम्भक, खेचरी मुद्रा के समान कोई मुद्रा और नाद के समान कोई लय नहीं है॥४३—४५॥

व्याख्या—योगाभ्यासी यदि सिद्धासन को सिद्ध करले तो फिर उसे किसी अन्य आसन को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती। इस आसन के साथ केवल कुम्भक करना अत्यन्त

प्रभावकारी होता है। इसके सिद्ध होने पर उन्मनी कला की अनायाससिद्धि हो जाती है तथा मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध और जालन्धर बन्ध यह तीनों बन्ध स्वयं सिद्ध होते है। बन्ध-सिद्धि में जो पार्ष्णि-मार्ग से लिंग को दबाकर गुदा का संकोच करने आदि का विधान है, उसके करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिए इस आसन को लगावे तथा दाँये पाश्व में बाँया रखना इसके समान नहीं माना है।

बन्धत्रय की विशेषता प्रकट करते हुए योगचूडामण्युपनिषत् में कहा है—

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्ड्याणं च जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्ति भाजनम्॥

अर्थात्—जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा, ओड्डियाण बन्ध, जलन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जानता है वह मुक्ति का पात्र होता है।

पद्मासन कथन

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम्॥
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते॥४६

टीका—बाँयी जंघा पर सीधे दाँये पाँव को ठीक प्रकार सीधा रखकर तथा वैसे ही बांये पांव को जांघ के ऊपर भले प्रकार रखे और पृष्ठ भाग की विधि से दोनों पांवों के अँगूठों को हाथों से पकड़ ले और फिर ठोड़ी को हृदय पर रखकर दृष्टि को नासिक के अग्र भाग पर स्थिर करे। यह रोगों को नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है॥४६॥

व्याख्या—इसकी स्थिति इस प्रकार है कि पीठ पर दांया हाथ ले जाकर बांयी जंघा पर स्थिति दांये पांव के अंगूठे को पकड़े और वैसे ही बांये हाथ को पीठ की ओर से ले जाकर बांये पांव के अंगूठे को पकड़ना चाहिए। और ठोड़ो को हृदय के निकट चार अगुल की दूरी पर रखकर नाक के अग्र भाग पर दृष्टि जमाले। यह आसन ग्रन्थकार ने अपने मतानुसार कहा है। अगले श्लोक में मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा वर्णित पद्मासन को कहेंगे।

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसस्थौ प्रयत्नतः।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥४७॥
नासाग्रे विन्यसेद्राजदंतमूले तु जिह्वया।
उत्तांभ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥४८॥
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम्।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ।४६॥

टीका—सीधे फैलाये हुए पांवों को जंघाओं पर प्रयत्न-पूर्वक स्थापित करके और जंघाओं के मध्य में हाथों को सीधे रखकर, उपर्युक्त के समान दृष्टि को अपने नासाग्र में स्थिर रूप से लगावे और दाढ़ को जड़ को जिह्वा के द्वारा ऊपर स्तम्भित करे तथा ठोड़ी को हृदय पर रख ले। फिर वायु को धीरे-धीरे उठावे। यह सभी रोगों को नष्ट करने वाला पद्मासन कहलाता है। यद्यपि यह दुर्लभ है तो भी बुद्धिमान् योगी किसी प्रकार प्राप्त कर सकता है ॥४७—४६॥

व्याख्या—मत्स्येन्द्रनाथ ने पद्मासन की जो विधि बताई है, वह उनका अनुभव सिद्ध होने के कारण अव्यवहारिक

नहीं हो सकती। इसलिए साधक को पद्मासन की विभिन्न विधियों का अध्ययन करके उनमें जो सरल प्रतीत हो उसका प्रयोग करना चाहिए। योगकुण्डल्युपनिषत् में इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपाप प्रणाशनम् ॥

अर्थात्—दोनों जाँघों पर एक-दूसरे के पैर के तलुओं को सीधे रखने से पद्मासन होता है, जो सब पापों को नष्ट करने वाला है।

यह है पद्मासन का सीधा और सरल वर्णन। श्लोक में वायु के उत्थापन की जो बात कही है, उसी क्रिया से मूलबन्ध की सिद्धि होती है। इससे यह मान्यता होती है कि मूलबन्ध की सिद्धि भी इससे स्वतः हो जाती है।

इस आसन के अभ्यास से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं। यह दुर्लभ होते हुए भी प्रयत्नपूर्वक सिद्ध कर लिया जाय तो सरल और सुखद हो जाता है। परन्तु इसकी यथार्थ रूप से सिद्धि तो गुरु की कृपा से ही हो सकती है। उनके निकट बैठकर उन्हीं के निर्देशन में इसका अभ्यास करना श्रेयस्कर है।

कृत्वासंपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥५०॥

टीका—दोनों हाथों को सम्पुटित कर दृढ़ रीति से पद्मासन बाँधे और ठोड़ी को दृढ़तापूर्वक हृदय के समीप करके चित्त में बारम्बार आत्मा का ध्यान करे और अपान वायु को ऊपर खींचता हुआ पूरक द्वारा खींचे हुए प्राण वायु को नीचे

करे। इससे मनुष्य शक्ति के प्रबुद्ध होने पर अतुल ज्ञान को प्राप्त होता है ॥५०॥

व्याख्या:—पद्मासन के साथ की अन्य क्रिया और फल का भी इस श्लोक में संकेत मिलता है। इसके अनुसार पद्मासन को दृढ़ता से बाँधकर ठोड़ी को हृदय के समीप करे और हृदय में आत्मा का ध्यान करता हुआ अपान को ऊपर की ओर खींचे और प्राण को नीचे की ओर ले जाय तो इससे प्राण-अपान का मेलन होता है। इस मेलन की सिद्धि होने पर कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् हो जाती है, जो सर्वोत्तम ज्ञान को प्राप्ति कराने वाली है।

परन्तु उक्त क्रिया कोई सरल कार्य नहीं है, इसका ज्ञान गुरु के उपदेश से कर लेना आवश्यक है। योगाभ्यास से पूर्व उसकी जानकारी न करके केवल अभ्यास में लग जाना उचित नहीं है। क्योंकि क्रिया में भूल होने से किसी भी प्रकार की हानि हो सकती है।

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥५१॥

टीका:—पद्मासन में स्थित हुआ योगी नाड़ी द्वार से पूरित किये गये वायु को स्थिर करे वह निःसन्देह मुक्त हो है ॥ ५१ ॥

व्याख्या—पूरक से मध्य में किये गये वायु को सुषुम्ना मार्ग के द्वारा शिर पर्यन्त पहुँचा कर स्थिर करने वाला योगी मुक्त हो जाता है। यह कुण्डलिनी-जागरण और उसके पश्चात् षट्चक्र-भेदन आदि की क्रिया का संकेत है, जिससे कि वायु के साथ कुण्डलिनी शक्ति सहस्रार में जा पहुँचती है। अवश्य उसके द्वारा मोक्ष प्राप्ति हो जाती है और फिर योगाभ्यासी पुरुष के लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता। योगचूडामण्युपनिषत् में इसके विषय में कहा है—

प्रवुद्धावह्निनयागेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवदगात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुंचिकया गृहम् ।
कुन्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥

अर्थात्—अग्नियोग से जाग्रत हुई कुण्डलिनी मन-प्राण के सहित सुषुम्ना मार्ग से सुई के समान ऊपर की ओर चढ़ती है। जैसे कुंजी के द्वारा घर के किवाड़ खोले जाते हैं, वैसे ही योगी को कुन्डलिनी के द्वारा मोक्ष द्वार खोल लेना चाहिए।

सिंहासन कथन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्यः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥५२॥
हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीः सम्प्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥५३॥
सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ।
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥५४॥

टीका—अन्डकोशों के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों पार्श्वों में टखनों को लगावे तथा दांये पार्श्व में बांया टखना और बांये पार्श्व में दांया टखना लगाना चाहिए। जानुओं के ऊपर हाथों के तलुवे ठीक प्रकार से लगावे और हाथों की अंगुलियों को फैलाकर मुख को भी फैलाले और नासाग्र में दृष्टि लगा ले योगियों में श्रेष्ठ साधक द्वारा पूजित यह सिंहासन तीनों बंधों का संधान करने वाला और उत्तम माना गया है ॥५२–५४॥

व्याख्या—सिंहासन से भी तीनों बन्धों की सिद्धि हो सकती है। इसमें वृषणों के नीचे जो सीवन है उसके दोनों ओर

टखनों को व्युत्क्रम से लगाया जाता है। इसके विषय में त्रिशिख-ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार कहा है—

सीवनी गुल्फ देशेभ्यो निपीड्य व्युत्क्रमेण तु।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥

अर्थात्—दोनों एड़ियों से सींवन को विपरीत विधि से दबा कर दोनों घुटनों और हाथों को फैला कर स्थित हो तो यह सिंहरूपी आसन (सिंहासन) होता है।

ध्यान की स्थिरता के लिए, इस आसन के साथ, नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाने का निर्देश है। इसका आशय यह है कि साधक को नासिकाग्र में दृष्टि योजित कर अपने इष्टदेव अथवा आत्मा का ध्यान करना चाहिए। यह आसन भी श्रेष्ठ आसन माना गया है।

भद्रासन कथन

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥५५॥
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम्।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधि विनाशनम् ॥ ५६ ॥

टीका—अण्डकोषों के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों पार्श्व भागों में टखनों को इस प्रकार रखेंकि बाँया टखना बाँये पार्श्वमें और दाँया टखना दाँये पार्श्व में लगाले। फिर सींवनी पार्श्वों में गयेहुए पाँवोंको हाथोंसे बाँधकर दृढ़ और स्थिर करेतो यह सभी व्याधियों को नष्ट करने वाला भद्रासन हो जायगा ॥५५—५६॥

व्याख्या—इस आसन का वर्णन त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् में इस प्रकार मिलता है।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य भूमौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥

अर्थात्—सींवन के दोनों ओर दोनों एड़ियों को रखकर हाथ-पांवों को बांध कर बैठ जाय तो भद्रासन होता है।

इस आसन का माहात्म्य कहते हुए इसे सभी रोगों का नाशक माना गया है। यथार्थ में योगाभ्यास के द्वारा अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं, यह सभी की मान्यता और अनुभव-सिद्ध भी है ! योगी को इसे अभ्यास से सिद्ध कर लेना चाहिए।

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ।
एवमासनबंधेषु योगींद्रो विगतश्रमः ॥ ५७ ॥
अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ।
आसनं कुंभकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५८ ॥

टीका—सिद्ध योगी पुरुष इसी आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं। इस आसन को बांधने से श्रम नष्ट हो जाता है। नाड़ी-शुद्धि की इच्छा वाला साधक मुद्रा आदि के द्वारा वायु का अभ्यास करे। आसन, विभिन्न कुम्भक, मुद्रा नामक करण का भी साधन करे ॥ ५७—५८ ॥

व्याख्या—गोरक्षनाथ इसी का अभ्यास अधिकतर किया करते थे, इसलिए इसका नाम गोरक्षासन भी हुआ। इस आसन के द्वारा अभ्यास-काल में किये जाने वाले परिश्रम से थकान नहीं होती। उस योगी को उक्त आसन के साथ यह और करना चाहिए कि इडा नाड़ी के द्वारा बिना रुके प्राणवायु का पान करे और मुद्रादि को करता हुआ प्राणायाम का विधि पूर्वक साधन करे। इससे साधक को योगाभ्यास में शीघ्र सफलता मिल सकती है।

श्लोक में ग्रन्थकार ने यह भी परामर्श दिया है कि साधक

को इस आसन के साथ अनेक प्रकार के कुम्भक प्राणायामों और मुद्राओं का भी अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि साधक के लिए योग के यह सभी अंग आवश्यक और हितकर होते हैं।

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः॥
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्रकार्या विचारणा ॥५६॥

टीका—उक्त प्रकार अभ्यास करने पर नाद का अनुसंधान करे। ब्रह्मचारी, मिताहारी, त्यागी और योग में लगा रहने वाला पुरुष एक वर्ष अभ्यास करने पर सिद्ध हो जाता है। इसमें कुछ विचार की बात नहीं है ॥ ५६ ॥

व्याख्या—आसन, प्राणायाम और मुद्रा आदि का अभ्यास कर लेने पर नाद के चिन्तन का अभ्यास करे। आशय यह है कि कानों को दबाने पर ताड़ना के विनाही जो अनाहत ध्वनि होती प्रतीत होती है, उसका चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार नाद का अनुसन्धान करता हुआ साधक ब्रह्मचर्य से रहे और मिताहार करे। उसे योग में परायण रहकर त्यागशील होना चाहिए। ऐसा करने से एक वर्ष के पश्चात् ही सिद्धि हो जाती है।

नादविन्दूपनिषत् में योगी के लिए यह आवश्यक कर्त्तव्य बताये गये हैं—

सिद्धासनस्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा॥
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत्॥

अर्थात्—योगी को सिद्धासन से बैठना चाहिए, वैष्णवी

मुद्रा धारण करनी चाहिए और दाँये कान में सदा अनाहत ध्वनि को सुनना चाहिए। इस नाद का किया जाने वाला यह अभ्यास बाह्य ध्वनियों को ढक लेता है, जिससे कि साधक तुर्यपद को जीतने में सफल हो जाता है।

इस प्रकार नादानुसन्धान के अभ्यास का अत्यन्त महत्व है। एक वर्ष में ही इसकी पूर्णतया सिद्धि हो जाती है। इस बात में कुछ विचार न करने का आशय यह है कि ऐसा विचार मन में न लावे कि ऐसा होगा अथवा नहीं होगा। क्योंकि जो कार्य निश्चात्मक रूप से होने वाला है, उसमें विचार करने का अर्थ उपदेश के प्रति अविश्वास का होना माना जायगा और अविश्वास हो तो कभी किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती।

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥६०॥

टीका—ठीक प्रकार से चिकना और मधुर आहार चौथाई पेट खाली रखते हुए शिव की प्रीति के लिए करे, यह मिताहार कहलाता है॥ ६० ॥

व्याख्या—'शिवसप्रीत्यै' कहकर ग्रन्थकार ने शिव अर्थात् आत्मा की प्रीति के लिए भोजन करने का उपदेश किया है इसका अभिप्राय यह है कि साधक जीवन-यापन अथवा प्राण-यात्रा चल सके, इसके लिए ही भोजन करे। सुस्वादु या अस्वादु भोजन के प्रिय या अप्रिय होने की ओर ध्यान न दे। तीन चौथाई आहार ग्रहण करे और चौथाई पेट खाली रखे।

कुछ ग्रन्थकारों ने मिताहार का लक्षण यह बताया है कि पेट का आधा भाग अन्न से पूर्ण करे और चौथाई भाग जल

से। इस प्रकार पौन भाग भरना उचित है। चौथाई भाग प्राणवायु के ठीक प्रकार संचारार्थ खाली रखे।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाकसौ-
वीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्याकू ॥
अ।जादिमांसदधितक्रकुलत्थ कोलपि-
ण्याकहिंगुलशुनाद्यमपथ्यमाहु ॥६१॥

टीका—कटु, अम्ल, तीक्ष्ण, लवण, उष्ण, हरे शाक, काँजी, तैल, तिल, सरसों, मदिरा, मत्स्य, बकरी आदि का माँस, दही, मट्ठा, कुलथि, बेर, खल, हींग आदि पदार्थ योगियों के लिए अपथ्य होते हैं ॥६१॥

व्याख्या—कटु पदार्थों में करेला आदि, अम्ल में इमली आदि, तीक्ष्ण में मिर्च आदि चटपटे मसाले, लवण में नमकीन उष्ण में गुड़ आदि, शाक, सौवीर (काँजी), तैल, तिल आदि, मदिरा में मद्य, विजया, अहिफेन आदि मत्स्य और अजा आदि का माँस, दधि, चक्र, कुलथी, बेर, पिण्याक अर्थात् खल, हींग लशुन, प्याज आदि यह सभी उत्तेजक द्रव्य माने जाते हैं। इसी लिए इन्हें अपथ्य कहा गया है। योगाभ्यासियों का कर्त्तव्य है कि उक्त द्रव्यों का त्याग कर दें।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥६२॥
वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ॥६३॥

टीका—अग्नि पर दुबारा गर्म किया गया अन्न, रूखे या अत्यन्त लवण और अम्ल युक्त पदार्थ एवं कुत्सित अन्न के आहार का निषेध है। अभ्यास काल में अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन आदि नहीं करना चाहिए ॥६२—६३॥

व्याख्या—ठंडे अन्न दाल, चावल आदि को अग्नि के संयोग से पुनः उष्ण करके खाना ठीक नहीं। रूक्ष भोजन अर्थात् घृतादि से रहित रूखा भोजन भी अहित कर है। लवण और अम्ल का अधिक सेवन अनुचित है अर्थात् अधिक नमकीन और अधिक खट्टे द्रव्यों का सेवन भी अलाभकर है। कुछ विद्वानों ने लवण-युक्त आहार का सर्वथा निषेध किया है। परन्तु श्लोक में 'अतिलवणमम्लयुक्तं' कहकर यह स्पष्ट किया है कि अधिक लवण या अधिक अम्ल द्रव्यका सेवन न करे.इसका अभिप्राय हुआ कि किंचित् लवण या किंचत अम्ल का प्रयोग किया जा सकता है।

इसी प्रकार कुत्सित अन्न के त्याग का भी उपदेश है। कुत्सित अन्न का अभिप्राय खराब, सड़े, गले, बासी अन्न से है। योगाभ्यासी को इस प्रकार का अन्न सेवन नहीं करना चाहिए।

अग्नि और स्त्री के मार्ग का सेवन न करने का आशय यह है कि साधक अग्नि के सेवन से तथा स्त्री के संसर्ग से बचे। परन्तु ऐसा आचरण अभ्यास काल में ही करने का उपदेश है, श्लोक से ऐसा ही प्रतीत होता है। इस विषय में गोरक्षनाथ का कहना है—

वर्जयेद् दुर्जनं प्रान्तं वह्निस्त्रीपथि सेवनम्।
प्रातः स्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा॥

अर्थात्—दुर्जन के संग रहना, अग्नि और स्त्री का सेवन, प्रातःकाल में स्नान एवं उपवास आदि तथा जिस विधि से काया को क्लेश हो उसे त्याग दे।

इस प्रकार योगाभ्यास-काल में वही आचरण रखे जिससे कि शरीर स्वस्थ रहे, मनमें शान्ति और स्वच्छता बनी रहे। यदि ऐसा न होगा तो साधन में चित्त का लगना सम्भव नहीं है।

योगियों को पथ्याहार

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं-
क्षोराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुंठोपटोलकफलादिकपंचशाकं-
मुद्गादि दिव्यमुदकंच यमोंद्रपथ्यम् ॥६४॥

टीका—गेहूँ, शालि और जौ यह छः दिन में परिपाक प्राप्त होते हैं। शोभन अन्न में दुग्ध, घृत, खाँड, मक्खन, मिश्री, मधु, सोंठ, परवल फल आदि पाँच प्रकार के शाक, मूँग आदि तथा दिव्य जल, यह पदार्थ योगीन्द्रों के लिए पथ्य है ॥ ६४ ॥

व्याख्या—उक्त पदार्थों का सेवन ही योगी के लिए हितकर है। विशेष कर दूध, घी, मक्खन, मिश्री आदि मधुर और स्निग्ध पदार्थ हैं, यह मिताहार के अन्तर्गत भी सेवनीय है। दिव्य जल का अभिप्राय शुद्ध जल से है, जो कि मैल-रहित एवं स्वच्छ होना चाहिए।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥६५॥

टीका—पुष्ट, सुमधुर, स्निग्ध, गव्य (दुग्धादि युक्त) धातुओं का पोषण करने वाले और मन को अच्छा लगने वाले और अपने योग्य का आहार ही योगी को करना चाहिए ॥६५॥

व्याख्या—भोजन ऐसा हो जो धातुओं को पुष्ट करे और मन को अच्छा लगे। यदि मन को अच्छा न लगेगा तो उदर पोषण के योग्य आहार करना भी कठिन हो जायगा। गव्य अर्थात् गाय के दूध-घृत आदि से निर्मित पदार्थों का सेवन ही उपयुक्त है।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतंद्रितः ।।६६।।

टीका:—साधक युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध, रोगी या दुर्बल (कैसा भी) हो, योग के सभी अगों का निरालस्य रूप से अभ्यास करने पर सिद्धि को प्राप्त होता है ।।६६।।

व्याख्या—योगाभ्यास में साधक की आयु का कोई विचार नहीं होता अर्थात् युवा, वृद्ध, अतिवृद्ध किसी भी अवस्था का हो, रोगी हो या बल-हीन हो, साधन में तत्पर रह सकता है और साधन में तत्पर रहने वाले को सिद्धि प्राप्त होना अनिवार्य है। परन्तु आवश्यक यह है कि साधक आलस्य को छोड़कर अभ्यास में लगा रहे तो उसके रोगादि नष्ट होकर आरोग्य और सिद्धि दोनों का ही लाभ होता है ।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ।।६७

टीका:—क्रिया में लगे रहने वाले पुरुष को हो सिद्धि होती है, क्रियाहीन को सिद्धि कैसे हो सकती है केवल शास्त्र पढ़ने मात्र से भी योग सिद्धि नहीं हो सकती ।।६७।।

व्याख्या—यदि कोई समझे कि शास्त्रों के अध्ययन मात्र से सिद्धि प्राप्त हो जाय, तो यह कभी नहीं हो सकता। कर्मवान् पुरुष ही सिद्धि को प्राप्त होता है। 'क्रिया युक्तस्य सिद्धिः' कहकर ग्रन्थकार ने कर्मयोग की ओर संकेत किया है। वेदों का भी यही मन्तव्य है कि 'यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन स धीना योगमिन्वति' अर्थात् 'योग के बिना विद्वान् का भी कोई यज्ञादि कर्म सिद्ध नहीं होता, वह योग चित्तवृत्तियों का निरोध करना है।'

इस प्रकार चित्त वृत्तियों के निरोध रूपी कर्म से ही योग-सिद्धि सम्भव है, केवल शास्त्र-पठनादि से नहीं।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥६८

टीका—न किसी प्रकार का वेश धारण करने से ही सिद्धि हो सकती है और न उसकी कथा सुनने से ही। सिद्धि का कारण क्रिया है, यह सत्य है, इसमें कोई संशय नहीं ॥६८॥

व्याख्या—गेरुए वस्त्रों का धारण करने, सिर मुंडा लेने या किसी सम्प्रदाय के चिन्ह धारण करके वैसा वेश बना लेने से अथवा योग विषयक चर्चा या योग-विधि सुन लेने मात्र से ही योग की सिद्धि हो सकती है। उसके लिए तो योग की क्रियाओं का करना ही अपेक्षित है। तभी सिद्धि हो सकती है।

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥६९॥

टीका—विभिन्न प्रकार के आसन, और दिव्य करण यह सब हठयोग के अभ्यास में राजयोग का फल होने तक करना चाहिए ॥ ६९ ॥

व्याख्या—जब तक राजयोग की सिद्धि न हो जाय, तब तक आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास करना आवश्यक है। आशय यह है कि राजयोग की सिद्धि होने पर आसनादि के अभ्यास का क्रम किया जा सकता है।

॥ हठयोग प्रदीपिका का प्रथम उपदेश समाप्त ॥

द्वितीय उपदेश

प्राणायाम वर्णन

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।

गरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ।। १ ।।

टीका—आसनों की दृढ़ता होने पर हितकर मिताहार करता हुआ योगी गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से प्राणायामों का अभ्यास करे ।।१।।

व्याख्या—श्लोक में अथ शब्द पश्चात् का वाचक है, इससे समझना चाहिए कि आसनों का अभ्यास दृढ़ हो जाय तब प्राणायाम के अभ्यास का प्रारम्भ करे। प्राणायाम के अभ्यास काल में भी पूर्वोक्त विधि से अल्पाहार करता हुआ जीवन-करे। परन्तु इसमें भी गुरु के उपदेश की आवश्यकता रहती है। क्योंकि प्राणायामों के विविध प्रकारों में से उसी का अभ्यास करना चाहिए जो अपनी शारीरिक अवस्था के अनुकूल पड़ता हो, और इसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब गुरु से इस विषय में पूण रूप से जानकारी प्राप्त न करली जाय।

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायु निरोधयेत् ।।२।।

टीका—प्राणवायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल हो जाता है, और प्राणवायु स्थिर हो तो चित्त भी निश्चल होता है। यदि वायु और चित्त दोनों ही निश्चल रहें

तो स्थाणुत्व की प्राप्ति होती है। इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए ॥ २ ॥

व्याख्या—शास्त्रों में मन की चंचलता पर विजय प्राप्त करने का स्थान-स्थान पर उपदेश दिया है, और मन की चंचलता रोकने के लिए आवश्यकता है प्राण को स्थिर करने की अनेक विद्वानों ने प्राण और मन में कोई भेद नहीं माना है। बृहदारण्यक उपनिषत् में कहा गया है कि 'जब हृदयस्थ कामनाएं नष्ट हो जाती हैं, तब यह मरणधर्मा मनुष्य हो अमृत हो जाता है और उसे इसी शरीर में ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।' इस प्रकार कामनाओं के नष्ट करने के लिए मन और प्राण का निरोध आवश्यक है।

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्यनिष्क्रांतिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥३॥

टीका—शरीर में जब तक प्राणवायु है तभी तक जीवन कहलाता है और जब शरीर से प्राणवायु निकल जाता है, तब उसे मरण कहते हैं, इसलिए वायु का निरोध करना चाहिए ॥३॥

व्याख्या—शरीर में प्राण रहने तक जीवन और प्राण निकल जाने पर मृत्यु मानी जाती है। इस श्लोक में प्राण-निरोध कहने का अभिप्राय प्राणायाम द्वारा वायु को संयमित करना है। इससे सिद्ध होता है कि प्राणायाम के अभ्यास से आयु-बृद्धि होती है।

मलशोधन की महत्ता कथन

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

टीका—जब तक नाड़ियाँ मल से भरी हुई हैं, तब तक प्राणवायु मध्यगामी नहीं होता और वैसा न होने पर उन्मनी भाव नहीं हो सकता तो कार्यसिद्धि ही कैसे हो सकती है ? ।।४।।

व्याख्या—नाडियों की शुद्धि हठयोग में अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि नाड़ियों के शुद्ध होने पर ही प्राणवायु मध्यगामी हो सकता है और तभी कार्यसिद्धि हो सकती है। योगचूडामण्युपनिषत् के अनुसार—

यथेष्ट धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ।।

अर्थात्—वायु का यथेष्ट धारण करना, जठराग्नि का प्रदीप्त होना, नाद की अभिव्यक्ति और आरोग्य, यह सब नाड़ीशोधन से प्राप्त होते हैं।

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ।। ५ ।।

टीका—जब मल से पूर्ण सम्पूर्ण नाड़ी चक्र शुद्धि को प्राप्त होता है, तभी योगी प्राण-संग्रहण में सक्षम होता है ।।५।।

व्याख्या—सभी नाड़ियों का मल दूर होकर शोधन हो जाने पर ही प्राणवायु का निरोध हो सकता है। इसलिए योगी को मल-शुद्धि के लिए प्राणायाम का अभ्यास सदा करते रहना चाहिए।

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयांति च ।।६।।

टीका—इसलिए सात्विक बुद्धि से नित्य प्रति प्राणायाम करे, जिससे कि सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल की शुद्धि हो सके ।। ६ ।।

व्याख्या—प्राणायाम के साथ सात्विक बुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि राजसी और तामसी बुद्धि रखने से मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती। क्योंकि रजोगुण के धर्म हैं विक्षेप, आलस्य आदि और तमोगुण के धर्म हैं क्रोध, विषाद, ईर्ष्यादि। इसलिए रजोगुण-तमोगुण के बुद्धि में विद्यमान रहते हुए किसी प्रकार की सफलता सम्भव नहीं है।

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चंद्रेण पूरयेत्।
धारयित्वा यथाशक्तिः भूयः सूर्येणरेचयेत् ॥ ७ ॥

टीका—बद्ध पद्मासन लगाकर बैठा हुआ योगी चन्द्र-नाड़ी से प्राणवायु को पूर्ण करे और फिर उसे अपनी शक्ति के अनुसार धारण करता हुआ सूर्यनाड़ी से निकाल दे ॥७॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी का अर्थ इडा नाड़ी है, जो वाम नासापुट में होती है और सूर्य नाड़ी पिंगला को कहते हैं, इसका निवास दक्षिण नासापुट में होता है। प्राणायाम की क्रिया में वाम नासापुट के द्वारा प्राणवायु बाहर खींचते हैं, इसे पूरक कहते हैं। उस खींचे हुए वायु को रोकना कुम्भक और दक्षिण नासापुट द्वारा उसे निकाल देना रेचक है। इस प्रकार तीनों प्रकार के प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए।

श्लोक में बद्ध पद्मासन का वर्णन हुआ है, यह आसन पद्मासन होने पर ही सिद्ध होता है। त्रिशिखब्राह्मणोपनिषत् में इसका लक्षण बताते हुए कहा है—

पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदंगुष्ठद्वयं पुनः।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥

अर्थात्—पद्मासन लगा कर ठीक प्रकार बैठे और दांये हाथ से बांये पाँव के अँगूठे को तथा बांये हाथ से दांये पांव के अँगूठे को पकड़ना बद्ध पद्मासन कहा जाता है।

प्राणं सुर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
विधिवत्स्तंभकं कृत्वा पुनश्चंद्रेण रेचयेत् ॥८॥

टीका—सूर्य नाड़ी से प्राण को खींच कर धीरे-धीरे उदर को पूरित करे विधिवत् कुम्भक करता हुआ चन्द्रनाड़ी से रेचक करे ॥८॥

व्याख्या—यह व्युत्क्रम है। पहले वाम नासापुट से वायु खींच कर दक्षिण से रेचन करना बताया गया और यहाँ दक्षिण नासापुट से वायु खींचकर वाम नासापुट से निकालना कहा गया है। यह क्रम नाड़ी-शोधन में उपयोगी होता है।

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

टीका—जिस नाड़ी से प्राणवायु को निकाले, उसी से पुनः पान करके धारण करे और फिर दूसरी से निकाल दे। यह कार्य शीघ्रता से न करके धीरे-धीरे करना चाहिए ॥९॥

व्याख्या—नियम यह है कि सूर्य नाड़ी से रेचन करे तो उसी से खींच कर चन्द्रनाड़ी से निकाल दे और फिर चन्द्रनाड़ी से खींच कर सूर्य नाड़ी से रेचन करे। इस प्रकार विपरीत क्रम से बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

अभ्यास-काल में वायु-पान रेचन करते समय शीघ्रता से कार्य न ले, वरन् धीरे-धीरे ही करे। वेग से करने में हानि हो सकती है।

प्राणायाम का अवान्तर फल कथन

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिंगलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।

सूर्या चंद्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवंति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१०

टीका—यदि प्राणवायु का इडा नाड़ी से पान करे तो नियमित हुए उस वायु को पिङ्गला नाड़ी से निकाले। यदि पिंगला से प्राणवायु का पान करे तो कुम्भक के पश्चात् उसे इड़ा नाड़ी से निकाल दे। इस प्रकार चन्द्रनाड़ी से पूरक करे तो चन्द्रनाड़ी से निकाले। इस भाँति अभ्यास करने से तीन महीने में ही नाड़ी-शोधन हो जाता है ॥१०॥

व्याख्या—नाड़ी शोधन के लिए सीधे और उलटे क्रम से निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि तीन महीने के अभ्यास से नाड़ियों का मल शुद्ध हो जाता है।

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु।
सम्पूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना।
एव कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥

—त्रिशिख ब्राह्मण ९७-९८

अर्थात—इस प्रकार बारम्बार क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करता हुआ शरीर के भीतर वायु को भरे और कुम्भ के समान रोके। इससे सब नाड़ियां वायु से भर जाती हैं और उनमें दशों वायु भले प्रकार चलने लगती हैं।

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुंभकान्।
शनैरशीतिर्यंतं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥११॥

टीका—प्रातःकाल, मध्याह्नकाल और सायंकाल और आधी रात के समय अस्सी-अस्सी कुम्भकों को करता हुआ धीरे-धीरे अभ्यास करे ॥११॥

व्याख्या—इस श्लोक में प्राणायाम के अभ्यास का निश्चित समय और उसकी अवधि पर प्रकाश डाला गया है। अरुणोदय से तीन घड़ी दिन चढ़ने पर्यन्त प्रातःकाल में मध्याह्न अर्थात् दिन के मध्यकाल में अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक के मध्य समय में और फिर सूर्यास्त के समय से तीन घड़ी पश्चात् तक तथा रात्रि के मध्य में, इस प्रकार चार बार करे। प्रत्येक तीन घड़ी की अवधि में अस्सी बार प्राणायाम की त्रिपुटी (पूरक, कुम्भक, रेचक) करनी चाहिए इस प्रकार चारों बार में तीन सौ बीस प्राणायाम हो जाते हैं।

कनीयसि भवेत्स्वेदः कंपो भवति मध्यमे।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबंधयेत् ॥१२॥

टीका—कनिष्ठ प्राणायाम में स्वेद, मध्यक में कम्प और उत्तम में उत्तम स्थान की प्राप्ति होती है, इसलिए योगी को वायु का निरोध करना चाहिए ॥ १२ ॥

व्याख्या—कनिष्ठ का आशय निम्न श्रेणी के प्राणायाम से है, उसमें साधक को पसीना आता है। मध्यम श्रेणी के प्राणायाम में योगी कांपने लगता है और उत्तम श्रेणी के प्राणायाम श्रेष्ठ स्थान मिलता है। वह श्रेष्ठ स्थान ब्रह्मरन्ध्र है, जिसे विद्वानों ने मोक्ष-स्थान कहा है।

परन्तु ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु का पहुँचना कोई साधारण कार्य नहीं है। मेलन के अभ्यास द्वारा जाग्रत् हुई कुण्डलिनी जब षट्चक्रों का बेधन करती हुई ब्रह्म रन्ध्र में पहुँचने का मार्ग खोल देती है तभी प्राणवायु की भी ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच हो सकती है, और यह कार्य अत्यन्त कठिन और परिश्रम साध्य है। साधारण अभ्यास से इसका सिद्ध होना सम्भव नहीं है।

किसी-किसी विद्वान् ने 'उत्तम स्थानमाप्नोति' का अर्थ आसन से उठना कहा है, जिसका आशय है पृथिवी से उठकर आकाश अर्थात् ऊपर की ओर चढ़ना। इससे भी टीका के अर्थ में सामंजस्य स्थापित होता है, क्योंकि उत्तम स्थान की प्राप्ति और ऊपर उठने में कोई भेद नहीं है। ऊपर उठने को उन्नति कह सकते हैं और यही पद श्रेष्ठ स्थान के लिए भी प्रयुक्त हो सकता है।

ब्रह्मरन्ध्र तुर्यातीत का स्थान माना गया है, इसीलिए उसको उत्तम स्थान कहा है। जैसे—

तुर्यातीतं परंब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्।
जाग्रद्वृत्ति समारभ्य यावद् ब्रह्मबिलान्तरम्॥
तत्रात्माऽयं तुरीयः स्यात् तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते।

—त्रिशिखब्राह्मण १५०-१५१

अर्थात्—तुर्यातीत का स्थान ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म की ओर होता है। जाग्रत् वृत्ति से लगाकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुरीय के आत्मा का निवास है, उसके पश्चात् वह विष्णु कहलाता है।

इस प्रकार योगी को अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए और निकृष्ट श्रेणी में ही सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता है, वैसे-वैसे ही उत्तम अवस्था तक पहुँचने में सफल हो जाता है।

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढ़ता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते॥१३॥

टीका—प्राणायाम के श्रमसे जो जल जो उत्पन्न हो उसे शरीर पर ही मल ले तो शरीर में दृढ़ता और लघुता उत्पन्न हो जायगी॥१३॥

व्याख्या—प्राणायाम के अभ्यास काल में जो परिश्रम होता है, उससे पसीना आने लगता है। वह पसीना साधारण नहीं, वरन् दिव्य होता है, जिससे कि शरीर में पुष्टि और बल की वृद्धि के साथ-साथ दृढ़ता उत्पन्न हो जाती है तथा लघुता अर्थात् हलकापन अनुभव होने लगता है।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढ़ीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ १४ ॥

टीका—अभ्यास काल में प्रथम दूध-घी का भोजन करे, परन्तु अभ्यास दृढ़ हो जाने पर वैसा कोई नियम नहीं है ॥१४॥

व्याख्या—किसी भी प्रकार का साधन प्रारम्भ करने से पूर्व उसके अनुकूल नियमों का पालन भी आवश्यक होता है। यहाँ दूध-घी युक्त भोजन का विधान बताकर यह मत व्यक्त किया है कि दूध-घी जैसा मधुर और पौष्टिक भोजन करना चाहिए। मिताहार में भी दूध-घी के सेवन का उपदेश है, इसलिए साधक को इसी प्रकार का भोजन प्रारम्भ में करना चाहिए। अभ्यास के दृढ़ होने पर उन नियमों में ढील बरत सकते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हंति साधकम् ॥१५॥

टीका—जैसे सिंह, हाथी, व्याघ्र धीरे-धीरे वश में हो जाते हैं, वैसे ही प्राणवायु भी शनैः शनैः वश में होता है, अन्यथा साधक को ही नष्ट कर देता है ॥१५॥

व्याख्या—प्राणवायु को वश में करने का अभ्यास धीरे-धीरे ही करना चाहिए। वेग से करने पर साधक के लिए हानिकारक भी हो सकता है। सिंह, हाथी आदि को भी धीरे-धीरे

वशीभूत किया जाता है और यदि उसमें शीघ्रता की जाती है तो वे वश में करने वाले को ही मार डालते। प्राणवायु के विषय में भी यही समझना चाहिए। क्योंकि कुपित हुआ वायु प्राण का भी हरण कर सकता है।

युक्तायुक्त प्राणायाम का फल वर्णन

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
आयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥१६॥

टीका—युक्त प्राणायाम से सभी रोग नष्ट होते हैं और अयुक्त प्राणायाय से सभी रोग उत्पन्न हो सकते हैं ॥१६॥

व्याख्या—विधि के अनुसार किया हुआ कार्य युक्त होता है और युक्त कार्य से ही मनुष्य को सफलता प्राप्त होती है। वैसे ही युक्त प्राणायाम शरीर में पहले से विद्यमान रोगों का क्षय कर देता है और फिर किसी नवीन रोग को उत्पन्न नहीं होने देता। परन्तु विधि-विहीन अर्थात् स्वेच्छाचारिता पूर्वक किया जाने वाला प्राणायाम हानिकारक सिद्ध हो सकता है। उससे अनेक रोग उत्पन्न हो सकत हैं।

इस प्रकार योगाभ्यास में प्राणायाम में ही नहीं, सभी प्रक्रियाओं में योगशास्त्रों में वर्णित विधियों को ठीक प्रकार से पालन करना चाहिए। वह शास्त्र-विधि भी केवल अध्ययन मात्र से नहीं आ सकती, वरन् अनुभवी सद्गुरु के उपदेश से ही प्राप्त की जा सकती है। इसलिए सिद्धि की आकांक्षा वाले साधक को सद्गुरु की शरण लेनी चाहिए।

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवंति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१८॥

टीका—वायु के प्रकोप से हिक्का, श्वास, कास, शिरोवेदना एवं अन्यान्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए युक्त युक्त रूप से ही वायु का रेचन और पूरण करे। युक्त-युक्त बन्ध आदि करने से सिद्धि प्राप्त होती है ॥१७—१८॥

व्याख्या—विधि-विहीन प्राणायाम के कारण यदि वायु कुपित हो जाता है तो उससे श्वास-खाँसी, हिचकी, सिर दर्द, कानों का दर्द आदि अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये पूरक, कुम्भक और रेचक इन तीनों को ही विधिपूर्वक करना चाहिए। क्योंकि विधि सहित करने से वायु कुपित नहीं होता, जिससे अभ्यास में सफलता मिलना स्वाभाविक होता है।

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि वाह्यतः ।
कायस्य कृशता कांतिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥१९॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

टीका—जब नाड़ी-शोधन हो जाता है तब बाहर-भीतर जो चिन्ह दिखाई देते हैं, उनमें शरीर की कृशता और कान्ति अवश्य ही होते हैं। वायु के यथेष्ट धारण से जठराग्नि प्रदीप्त होती तथा नाद की अभिव्यक्ति होती और नाड़ी-शुद्धि के कारण आरोग्यता उत्पन्न होती है ॥१९—२०॥

व्याख्या—नाड़ी शुद्ध होने पर उसके चिन्ह शरीर के बाहर और भीतर दोनों स्थानों पर प्रतीत होने लगते हैं। शरीर की स्थूलता (मोटापन) मिटकर कृशता अर्थात् पतलापन हो

जाता है। मुख पर तेज दिखाई देने लगता है, सौंदर्य निखर आता है और देह में पुष्टि आ जाती है।

वायु का ठीक प्रकार से धारण उदर विकारों को भी नष्ट कर देता है। मन्दाग्नि मिटकर अग्नि का दीपन होता है, जिससे आहार के पाचन की शक्ति बढ़ जाती है। कान में अनाहत नाद स्पष्ट सुनाई देने लगता है और किसी प्रकार का कोई रोग हो तो वह भी मिट जाता है।

इस प्रकार नाड़ी-शोधन के बहुत कुछ लाभ हैं। उसके बिना प्राणवायु की स्थिरता सम्भव नहीं होती तो फिर सिद्धि की प्राप्ति तो हो ही कैसे सकती है?

मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥
धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारम्।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योनिपुंगवैः ॥ २३ ॥

टीका—जिसके शरीर में मेद और श्लेष्मा की अधिकता हो, उसे पहले छः कर्म करने चाहिए। परन्तु यदि मेद और श्लेष्म की अधिकता न हो तो उन छः कर्मों को न करे। वे छः कर्म यह कहे हैं—(१) धौति, (२) वस्ति, (३) नेति, (४) त्राटक, (५) नौलिक और (६) कपालभाति। यह छओं कर्म गोपनीय तथा शरीर को शद्ध करने वाले हैं। विचित्र गुणों का सन्धान करने वाले होने से यह योगिपुंगवों द्वारा पूजित हैं ॥२१—२३॥

व्याख्या—स्थूल शरीर वाले पुरुष को उपर्युक्त छः कर्म करने चाहिए। इन कर्मों से शरीर की शुद्धि होती है। यदि

श्लेष्मा अर्थात् नाक, मुख से कफ जाना या जुकाम अथवा कफ की अधिकता हो उसके लिए भी यह कर्म लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु जिन्हें स्थूलता या कफ-विकार की अधिकता न हो, उनके लिए यह षट्कर्म अनावश्यक हैं।

इस प्रकार षट्कर्म शरीर के कफ और मेद को दूर करने में सहायक हैं। नीचे इनके विषय में पृथक्-पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे।

धौति कर्म

चतुरंगुल विस्तारं हस्तपंचदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ।। २४ ।।

टीका—चार अंगुल विस्तृत और पन्द्रह हाथ आयात के वस्त्र को जल से सींचकर गुरु द्वारा बताये हुए मार्ग से धीरे-धीरे ग्रसे और फिर उसका धीरे-धीरे ही प्रत्याहरण करे, यह धौति कर्म होता है ।।२४।।

व्याख्या—धौति कर्म षट्कर्मों में प्रथम कर्म है। इसके लिए चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा महीन वस्त्र लेकर गर्म जल में भिगोवे और फिर गुरु द्वारा निर्दिष्ट विधि से उस वस्त्र को धीरे-धीरे निगले। उसके एक छोर को अपनी दाढ़ों में ठीक प्रकार से दाब ले। वह वस्त्र उदर में जाकर टिक जाय तब वहाँ ठीक प्रकार से चलाकर बाहर निकाल दे। यह धौति कर्म है।

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयांत्येव न संशयः ।। २५ ।।

टीका—इस धौति कर्म के प्रभाव से खाँसी, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ और बोस प्रकार के कफ रोग अवश्य दूर हो जाते है, इसमें संशय नहीं है ॥२५॥

व्याख्या—यह कर्म कफ के विकारों को दूर करने में अत्यन्त उपयोगी है। खाँसी, जुकाम, श्वास आदि रोगों में हितकर तथा प्लीहा अर्थात तिल्ली और कुष्ठ रोग एवं अन्यान्य चर्म-विकार भी दूर हो जाते हैं।

वस्ति कर्म

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्य्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥ २६ ॥

टीका—नदी आदि के नाभि प्रमाण जल में स्थित होकर गुह्य प्रदेश में कनिष्ठिका अंगुली के प्रवेश योग्य छिद्र वाली बाँस की नली को प्रविष्ट करे और उत्कटासन लगाकर बैठे। इस प्रकार बैठे हुए साधक को आधार का आकुंचन करना चाहिए। यह वस्ति कर्म है ॥२६॥

व्याख्या—वस्ति कर्म षट् कर्मों में दूसरा है। बाँस को छः अंगुल लम्बी वह बाँस की नली गुदमार्ग में चार अंगुल भीतर प्रविष्ट करे और दो अंगुल बाहर रहने दे। उत्कटासन लगाकर बैठे। इस आसन का वर्णन आसनों वाले प्रकरण में लिख चुके हैं। इस प्रकार बैठा हुआ साधक, वंशनाल में जैसे ही जल प्रविष्ट हो, वैसे ही आकुंचन करे अर्थात् खींचे और नौली कर्म द्वारा उदर में चलाकर निकाले। इस प्रकार उदर का क्षालन करना अर्थात् धोना ही वस्ति कर्म है।

धौति और वास्ति दोनों ही कर्म भोजन से पहले ही करने चाहिए तथा इन कर्मों को करने के तुरन्त बाद भोजन कर

लेना चाहिए। इससे काया रोग-रहित रहती है, परन्तु इस कर्म को ठीक प्रकार से करना चाहिए। जो लोग गुदा में नाल प्रविष्ट किये बिना ही वास्ति कर्म कर लेते हैं, उनके वैसा करने से उदर प्रक्षालन का पूरा जल वाहर नहीं निकल पाता, जिससे अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयंते सकलामयाः ॥ २७ ॥
धार्त्विद्रियांतःकरणप्रसादं दद्याच्च कांति वहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥२८

टीका--वस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म, प्लीहोदर एवं वात, पित्त, कफ से उत्पन्न सभी रोग क्षीण हो जाते हैं। यह वस्ति कर्म करने से धातु, इन्द्रिय, करण को हर्ष की प्राप्ति होती है तथा शरीर में कान्ति और उदर में अग्नि प्रदीप्त है। अशेष दोषों का अपचय भी इसके द्वारा नष्ट हो जाता है। यह जल-वस्ति कर्म है ॥२७॥२८॥

व्याख्या—वस्ति कर्म के द्वारा उदर के सम्पूर्ण रोग दूर किये जा सकते हैं। वात, पित्त, कफ के रोग भी इससे नष्ट हो जाते हैं, चाहे वे एक दोष के कुपित होने से हुए हों, चाहे दो दोषों के कोप से या त्रिदोषज ही क्यों न हों।

धातु-हर्ष का अर्थ है धातुओं का पुष्ट अथवा परिपक्व होना। धातु में रस, रक्त, मांस, मेद शुक्र यह पाँच आते हैं। इन्द्रियाँ दश हैं, पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय, इनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं तथा श्रोत, त्वक्, जिह्वा, घ्राण और चक्षु यह पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं। 'करण' कहने से अभिप्राय मन बुद्धि, रूप अहङ्कार रूप

अन्तःकरण का है। इनको प्रसन्न करना अर्थात् सुपुष्ट करना ही कान्ति वर्द्धक तथा जठराग्नि प्रदीपक है, यही जलवास्ति कर्म होता है।

नेति कर्म

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥२९॥
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु लिहंति च ॥३०॥

टीका—एक विलाँद (बालिश्त) परिमाण का सूत्र लेकर उसे भली प्रकार स्निग्ध अर्थात् चिकना करले और उसे नासिका की नली में प्रविष्ट करके मुख के द्वारा निकाल दे। इसे सिद्ध पुरुष नेति कहते हैं। यह क्रिया कपाल का शोधन करने वाली, दिव्य दृष्टि देने वाली तथा स्कन्ध-सन्धि के ऊपर के भाग के सब रोगों को शीघ्र दूर करने वाली है ॥२९॥३०॥

व्याख्या—सूत्र का एक विलाँद का टुकड़ा लेकर उसे चिकना करले और नाक द्वारा घुमा कर मुख द्वारा निकाल दे। कुछ लोगों के विचार में सूत्र का एक बिलाँद भर होना कोई आवश्यक नहीं है, जितना सूत्र इस कर्म के लिए अपेक्षित हो, उतना ही लेना चाहिए। इस क्रिया से कन्धे की सन्धि के ऊपरी भागों के सब रोग मिट जाते हैं। इससे कपाल का शोधन भी होता है।

त्राटक कर्म

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्य समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥३१॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तंद्रादीनां कपाटकम् ।

यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥३२॥

टीका—समाहित चित्त वाला पुरुष निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ को अश्रुपात होने तक देखता रहे। इसे योगाचार्यों ने त्राटक कर्म माना है। यह नेत्र के रोगों का शमन करने वाला और तन्द्रा आदि के लिए कपाट रूप है। यह स्वर्ण की पेटी को गुप्त रखने के समान हो यत्नपूर्वक गोपनीय है ॥३१—३२॥

व्याख्या—'समाहित' का अर्थ है समान रूप होना और यहाँ इसका अभिप्राय है चित्त की एकाग्रता रहना, श्लोक में एकाग्र चित्त रखता हुआ साधक किसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ को अथवा शून्य को लक्ष्य बनाकर उस पर दृढ़ता से दृष्टि जमा कर तब तक देखता रहे जब तक कि नेत्रों से आँसू न निकलने लगें। इस प्रकार का अभ्यास करने वाले साधक के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और तन्द्रा आदि तो इस प्रकार दूर हो जाती है जैसे कि कपाट खुलने पर अन्धकार दूर हो जाता है।

यह क्रिया इतनी अमूल्य है कि इसे स्वर्ण की पेटी के समान गोपनीय रखना चाहिए। कुछ विद्वानों के अनुसार इससे साधक को सम्मोहन-शक्ति भी प्राप्त होती है।

नौलि कर्म

अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यतः ।

नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्षते ॥३३॥

मंदाग्निसंदीपनपाचनादिसंधापिकानंदकरी सदैव ।

अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रिया मौलिरियंच नौलिः॥३४

टीका—अमन्द आवर्त के वेग से अपने उदर को दाँये-बाँये भागों में भ्रमावे, इसे विद्जन नौलिकर्म कहते हैं। यह

मन्दाग्नि का दीपन, पाचनादि करने वाला आनन्दकारी कर्म है। इससे अशेष वातादि दोषों और रोगों का नाश होता है। यह हठयोग की श्रेष्ठ नौलि क्रिया है ॥३३—३४॥

व्याख्या—कन्धे नवाये हुए साधक अत्यन्त उदार वेग वाला होकर आवर्त्त अर्थात् जल की भ्रान्ति के समान वेग से अपने उदर को दाँयी-बाँयी ओर घुमावे तो नौलि कर्म होता है। इसे सतत अभ्यास द्वारा सिद्ध करना चाहिए। इस कर्म से मन्दाग्नि दूर होकर अन्न आदि का ठीक प्रकार पाचन होता है। बात के प्रकोप से होने वाले रोग और दोष इसके द्वारा समूल रूप शोषण को प्राप्त होते हैं। अभिप्राय यह है कि इससे सभी वातादि विकारों का समूल नाश होता है।

कपालभाति कर्म

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥३५॥

टीका—लोहकार की भस्त्रा के सम्भ्रम से रेचकपूरक प्राणायाम करना कफदोष का शोषण करने वाला कपालभाति कर्म प्रसिद्ध है ॥३५॥

व्याख्या—यह कपालभाति कर्म षट्कर्मों में छठा है। जैसे लोहार की धोंकनी चलती है, वैसे ही एक बार में अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक प्राणायाम करे। इससे कफ दोष का नाश होता है।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥३६॥

टीका—धौति आदि षट्कर्मों से स्थूलता एवं बीस प्रकार

के कफ दोषों से मुक्त हुआ पुरुष षट्कर्मों को करने के पश्चात् प्राणायाम करे तो अनायास ही सिद्धि हो जाती है ॥३६॥

व्याख्या—षटकर्मों के करते रहने से स्थूलता और कफ के कोप से उत्पन्न सभी दोष नष्ट हो जाते हैं और जब इस प्रकार आरोग्य की प्राप्ति हो जाय तब षट्कर्म करके प्राणायाम करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि षटकर्म करने पर प्राणायाम करे तो बिना परिश्रम ही प्राणायाम की सिद्धि हो जाती है और षट्कर्म किये बिना ही प्राणायाम किया जाय तो उसकी सिद्धि में अधिक परिश्रम करना होता है। इसलिए षट्कर्म करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना ठीक है।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यंति मला इति।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥३७॥

टीका—प्राणायाम के द्वारा ही सब मल शुष्क हो जाते हैं ऐसा मत कुछ आचार्यों का है ॥३७॥

व्याख्या—कुछ आचार्यों के मत में उक्त छः कर्म आवश्यक नहीं हैं। उनके अनुसार केवल प्राणायाम करने से ही सम्पूर्ण मलों की निवृत्ति हो सकती है। इस मत के अनुसार षट्कर्मों का अनुपयोग सिद्ध होता है।

गजकरणी कथन

उदरगतपदार्थमुद्वमंति पवनमपानमुदीर्य कंठनाले।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः॥३८

टीका—अपान वायु को ऊपर कण्ठनाल में पहुँचा कर उदर में गये हुए पदार्थ का उद्वमन करते हैं, उसके क्रमपूर्वक अभ्यास से नाड़ी-समूह का वशीभूत होना, हठयोग के विज्ञ आचार्यों के मत में गजकरणी कहलाता है ॥३८॥

व्याख्या—शंखिनी नाड़ी का मार्ग कण्ठ पर्यन्त है, उसी से अपान वायु ऊपर उठकर कण्ठ नाल में पहुँचता है और यह क्रिया उदरस्थ पदार्थ का उद्वमन करने में सहायक होती है। इसके क्रम से अभ्यास करने से शरीर का नाड़ीजाल वशीभूत हो जाता है।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
अभूवन्नंतकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३६ ॥
यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥४०॥

टीका—ब्रह्मा आदि देवगण भी मरण-भय से वायु के अभ्यास में लगे रहते हैं, इसलिए प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहना चाहिए। क्योंकि जब तक शरीर में प्राणवायु रुका हुआ है और विक्षेप रहित है और जब तक अन्तःकरण की वृत्ति भौंहों के मध्य में है, तब तक काल का भय कहाँ ? ॥३६—४०॥

व्याख्या—मृत्यु का होना इतना अवश्यंभावी है कि उसके भय से बचने के लिए ब्रह्मादि त्रिदेव या अन्यान्य देवता भी प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहे आते हैं। इस प्रकार का कथन इसका संकेत करता है कि मृत्यु से बचने के लिए प्राणायाम अभ्यास का आवश्यक है, क्योंकि प्राणाभ्यासी मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है।

शरीर में जब तक प्राण है तब तक मृत्यु कैसी ? उसका भय भी-कैसा ? और प्राणायाम के अभ्यास की सिद्धि होने पर शरीर से प्राण के पृथक् होने का भी भय नहीं रह सकता। अभिप्राय यह है कि दीर्घजीवी होने के लिए प्राणायाण का अभ्यास आवश्यक है।

सुषुम्ना में सुखपूर्वक वायु प्रवेश कथन

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥४१॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥४२॥

टीका—विधिपूर्वक प्राणायाम के संयम से नाड़ी चक्र का शोधन होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख को भेद कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना के मध्य चलता है तब मन में स्थैर्य उत्पन्न होता है और मन सुस्थिर होना हो मन की उन्मनी अवस्था होती है ॥४१—४२॥

व्याख्या—विधिपूर्वक प्राणायाम करने पर ही नाड़ियों का शोधन हो सकता है और नाड़ी-शोधन हो जाने पर ही वायु का सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करना सम्भव है। इसलिए साधक को विधिवत् प्राणायाम के द्वारा नाड़ी-शोधन का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि सुषुम्ना में वायु के चलने पर मन की चंचलता नष्ट हो जाती है।

मन के दृढ़ एवं स्थिर हो जाने पर ही उन्मनी अवस्था होती है। क्योंकि मन के स्थैर्य से खेचरी मुद्रा सिद्ध हो सकती है और खेचरी से उन्मनी अवस्था। शाण्डिल्योपनिषत् में कहा गया है—

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवौ ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥
तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत् । ततोन्मनी भवति ॥

अर्थात्—नेत्र की पुतली को ज्योति से संयुक्त करके जो साधक दोनों भौंहों को किंचित ऊंचा रखता है, यह पूर्वाभ्यास

का मार्ग है, इससे क्षण भर में ही उन्मनी दशा हो जाती है। इसलिए खेचरी मुद्रा का अभ्यास करे, उससे उन्मनी अवस्था होती है।

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुंभकान्।

विचित्र कुंभकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥४३॥

टीका—कुम्भक की विधि के जानने वाले विद्वान् उस (उन्मनी अवस्था) की सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के प्राणायामों को किया करते हैं। क्योंकि उन्हीं से अद्भुत सिद्धि प्राप्त होती है ॥४३॥

व्याख्या—योग विद्या के विद्वान् उन्मनी दशा की उपलब्धि के उद्देश्य से अनेक प्रकार के प्राणायामों को करते रहते हैं, क्योंकि प्राणायामों के द्वारा ही सब प्रकार की सिद्धि सम्भव है। योगशास्त्रों में प्राणायाम के माहात्म्य की बहुत प्रशंसा की है। त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषत् के अनुसार—

योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिग्जितेन्द्रियः।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत्॥
अपमृत्युमपक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्।

अर्थात्—वायु को जीतने वाला योगी जितेन्द्रिय, मिताहारी, अल्प निद्रा, तेजस्वी, बलवान् और योग विद्या में सिद्ध हो जाता है। उसे अकाल मृत्यु का भय मिटकर दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार और भी अनेक सिद्धियों का वर्णन हुआ है, जो प्राणायाम के अभ्यास से ही प्राप्त हो सकती हैं।

कुंभक के भेद

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।

भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्टकुंभकाः ॥४४

टीका—कुम्भक आठ प्रकार के होते हैं—(१) सूर्यभेदन, (२) उज्जायी, (३) सीत्कारी, (४) शीतली, (५) भस्त्रिका, (६) भ्रामरी, (७) मूर्च्छा, और (८) प्लाविनी ॥४४॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने कुम्भक के उक्त आठ भेद बताये हैं। परन्तु कुछ शास्त्रों में चार भेद ही माने हैं। उन्होंने आठ भेदों का चार भेदों में अन्तर्भाव कर दिया प्रतीत होता है। और किन्हीं विद्वानों ने सहित और केवल के भेद से दो प्रकार का कुम्भक बताकर सहित कुम्भक के चार भेद कहे हैं योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित कुम्भकः॥

अर्थात्:—सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका इन चार प्रकार के प्राणायामों के साथ सहित कुम्भक किया जाता है।

पूरकांते तु कर्तव्यो बंधो जालंधराभिधः।
कुंभकांते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥४५॥

टीका—पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर नामक बन्ध किया जाता है तथा कुम्भक के अन्त होने पर और रेचक के पहिले उड्डियान बन्ध करना चाहिए ॥४५॥

व्याख्या—हठयोग की सिद्धि में तीन बन्ध भी प्रमुख हैं—जलन्धर बन्ध, मूलबन्ध और उड्यान बन्ध। इस श्लोक में दो बन्धों का संकेत है जलन्धर बन्ध और उड्डियान बन्ध का। जलन्धर बन्ध कण्ठ का आकुंचन करके ठोड़ी को हृदय में लगाकर प्राणवायु का बन्धन करने से होता है और उड्यान की सिद्धि प्रयत्नपूर्वक नाभि का पीठ से आकर्षण करने से होती है।

अधस्तात्कुंचनेनाशु कंठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥४६॥

टीका:—कण्ठ का संकोच करने तथा नीचे के प्रदेश से आकुंचन होने पर मध्य में पश्चिम तान से प्राणवायु ब्रह्म नाड़ी में पहुँच जाता है ॥४६॥

व्याख्या—कण्ठ के संकोचादि के द्वारा जालन्धर बन्ध करके और नीचे के प्रदेश के आकुंचन से मूलबन्ध होने पर पीठ से नाभिदेश में प्राण के आकर्षण रूप उड्डियान बन्ध होता है, जिससे प्राण ब्रह्म नाड़ी में जा पहुँचता है । इससे यह जानने योग्य तथ्य है कि जिह्वा बन्ध के भले प्रकार जानकर करने के पश्चात् ही जालन्धर बन्ध के द्वारा प्राणायाम की सिद्धि होती है । आशय यह है कि वायु के उत्तेजन से ही धातुओं का हर्ष, कृशता और मुख पर प्रसन्नता आदि सभी लक्षण होते हैं, जिससे कि मूलबंध और उड्डियान बन्ध निरर्थक होता है । परन्तु यदि जिह्वाबन्ध का ज्ञान न हुआ हो तो उक्त प्रकार से प्राणायाम का किया जाना और तीनों बन्धों की विधि का ज्ञान गुरु से लेना चाहिए ।

यह भी ज्ञातव्य है कि ठीक प्रकार से ज्ञात न किया हुआ मूलबन्ध अनेक रोगों को उत्पन्न कर सकता है । मूलबन्ध के ठीक प्रकार न होने के लक्षण यह हैं कि मलावरोध, मन्दाग्नि, धातुओं का क्षय, नाद की मन्दता और मल का बकरी के मल के समान होना आदि से समझना चाहिए कि यह विकार मूल-बन्ध ठीक हो जाय तो इससे विपरीत लक्षण होते हैं अर्थात् धातुओं का ठीक प्रकार से पोषण, नाद का ठीक प्रकार उदय और अग्नि का दीपनादि होते हैं ।

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कंठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवयो भवेत् ।।४७।।

टीका—अपान वायु को ऊपर उठाकर प्राणवायु को कण्ठ से नीचे ले जाय । इससे योगी वृद्धावस्था से विमुक्त और सोलह वर्ष की अवस्था वाला हो जाता है ।।४७।।

व्याख्या—अपान को ऊर्ध्व और प्राण को अधः करने से प्राणायाम का मेलन होता है,जो कि कुण्डलिनी जागरण में बहुत उपयोगी है । साधक के लिए यह ज्ञातव्य है कि जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध के सिद्ध होने पर नाभि देश में जो उड्डियान बन्ध होता है, उसकी सिद्धि स्वतः हो जाती है । इस उड्डियान बन्ध को आकर्षण बन्ध भी कहते हैं ।

सूर्यभेदन कुंभक

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ।।४८।।

टीका—सुखद आसन पर बैठ कर योगी आसन को बाँधे और दाँयी नाड़ी (पिंगला) से शरीर के बाहर विद्यमान वायु को धीरे-धीरे खींचता हुआ प्राणायाम को करे ।।४८।।

व्याख्या—यहाँ सूर्य भेदन प्राणायाम के विषय में कहा है । इसकी क्रिया इस प्रकार है कि प्रातःकाल उठकर शौच आदि से निवृत्त होकर तथा गुरुदेव और इष्टदेव को प्रणाम पूर्वक दन्त धावन और भस्म धारण करके श्रेष्ठ कुटी मृदु आसन बिछाकर बैठे आसनों का अभ्यास करे तथा कुम्भक से पहले विपरीत करणी मुद्रा को करे । फिर जालन्धर बन्ध की सिद्धि के लिए कुम्भक से पहिले आचमन करके प्राणायाम का अभ्यास

करना चाहिए। इस प्रकार पहले दिन दश प्राणयाम, दूसरे दिन पन्द्रह और तीसरे दिन बीस, इस प्रकार अस्सी प्राणायाम पर पहुँच जाय।

पहले चन्द्र-सूर्य का क्रम और विपरीत क्रम से अभ्यास करे। फिर चित्त को स्थिर रखकर बन्ध करता हुआ सूर्यभेदन का अभ्यास करे। तत्पश्चात् उज्जायी, सीत्कारी, शीतली और भस्त्रिका का क्रमश: अभ्यास करना चाहिए। इसके अनन्तर अन्य प्राणायाम करे, चाहे न करे।

मुद्राओं का अभ्यास और पद्मासन लगाकर नाद का अनुसन्धान करे और अभ्यास से उठने पर गर्म जल से स्नान करना चाहिए। मध्याह्न में भी अभ्यास करने के पश्चात् कुछ समय विश्राम और फिर भोजन करे। अन्य योगियों को भी पथ्याहार दे अपथ्य रूप आहार कभी न दे।

भोजन के अन्त में लोंग, इलायची या कपूर का सेवन करे। परन्तु बिना चूने का पान ही योगियों के लिए हितकर होता है। कुछ विद्वान इन द्रव्यों का निषेध करते हुए कहते हैं कि भोजन के पश्चात् तो मोक्ष विषयक शास्त्रों का अध्ययन करना हो उचित मानते हैं।

दिन की तीन घड़ी शेष रहने पर इसी प्रकार पुन: अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर सायंकालीन संध्या करे और आधी रात के समय पहिल के अनुसार अभ्यास करे। परन्तु यह ज्ञातव्य है कि सायंकाल और अर्द्धरात्रि के समय विपरीत करणी मुद्रा का अभ्यास करना वर्जित है। क्योंकि भोजन के पश्चात् विपरीत करणी श्रेष्ठ नहीं मानी गई है।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुंभयेत्।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥४६॥

टीका—नखाग्र से केश पर्यन्त जब तक निरोध हो तब तक कुम्भक करे और फिर वाम नाड़ी (इड़ा) से धीरे-धीरे वायु का रेचन करे ॥ ४६ ॥

व्याख्या—इसमें आशय यह है कि जितनी देर प्राणवायु को रोका जा सके, उतनी देर रोककर कुम्भक करे और वाम नासा पुट से उसे निकाल दे। परन्तु निकालने की क्रिया शनैः शनैः करनी चाहिए क्योंकि वेग से प्राणवायु के निकालने से शक्ति का क्षय होता है।

परन्तु पूरक करना अथवा वायु का बाहर से खींचना वेग से किया जाय तो उनमें कोई हानि नहीं होती। कुम्भक में यथा शक्ति वायु का धारण करना चाहिए। जब वायु को रोकने में असमर्थ हो जाय तब उसका रेचन करे। क्योंकि शक्ति से बाहर किया जाने वाला वायु-निरोध शरीर के लिए हानि भी पहुँचा सकता है।

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।
पुनःपुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

टीका—यह उत्तम सूर्य भेदन कपाल का शोधन, वात दोष का नाश और कृमि दोष का हरण करने वाला है, इसलिए इसे बार-बार करना चाहिए ॥५०॥

व्याख्या—सूर्यभेदन कुम्भक से मस्तक का शोधन होता है, जो कि योग की सिद्धि में अत्यावश्यक कर्म है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

कपालशोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः ।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्य भेद मुदाहृतम् ।

अर्थात्—कपालशोधन की क्रिया में वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इससे चारों प्रकार के बात दोष और कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं। इस सूर्यभेद कही जाने वाली क्रिया को बार-बार करे।

उज्जायी कुंभक

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कंठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥५१॥
पूर्ववत्कुंभयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मदोषहरं कंठे देहानलविवर्धनम् ॥५२॥
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुंभकम् ॥५३॥

टीका—मुख को वन्द करके दोनों नासापुटों से वायु को धीरे-धीरे खींचे, जिससे कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय पर्यन्त परिपूर्ण हो जाय। फिर पूर्ववत् कुम्भक करके वाम नासिका से रेचन करे। इससे कण्ठ में होने वाले कफ के दोष नष्ट होते और जठराग्नि प्रदीप्त होती है। नाड़ी-सम्बन्धी जलोदर और धातु सम्बन्धी रोग भी नष्ट हो जाते हैं इस उज्जायी कुम्भक को चलते, फिरते, स्थिर रहते सदा करना चाहिए ॥५१—५३॥

व्याख्या—उज्जायी कुम्भक से अनेक रोग नष्ट होते हैं। कफज विकारों के शमन करने अथवा उत्पन्न न होने देने में यह अत्यन्त प्रभावशाली है। घेरण्ड संहिता में भी कहा है—

नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ॥

मुखं प्रक्षाल्य सम्बन्धं कुर्याज्जालन्धरं ततः ।
अशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेद विरोधतः ॥
उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत् कफ रोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम् ॥
आमवातं क्षयं कासं ज्वर प्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्यु विनाशाय चोज्जायीसाधयेन्नरः ॥

अर्थात्— दोनों नासापुटों से बाह्य वायु को खींचे और भीतर के वायु को हृदय, कण्ठ से खींचकर कुम्भक द्वारा धारण करे। मुख का प्रक्षालन कर जालन्धर बन्ध करके निर्विघ्न रूप से यथा शक्ति वायु-धारण करे। यह उज्जायी कुम्भक करने से सभी कार्यों का साधन हो जाता है और कफ के रोग, दुष्ट वायु, अजीर्ण, आमवात, क्षय, कास, ज्वर, प्लीहा उत्पन्न नहीं होते (अथवा उत्पन्न हों तो नष्ट हो जाते हैं। इसलिए इस जरा-मरण नाशक उज्जायी का सदा साधन करना चाहिए।

सीत्कारी कुंभक

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृंभिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५४ ॥
योगिनी चक्रसामान्य सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥५५॥
भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगींद्रो भूमिमंडले ॥५६॥

टीका—सीत्का अर्थात् सीत्कारी भी उसी प्रकार किया जाता है कि घ्राण से ही वायु का रेचन करे। इसके अभ्यास से दूसरा कामदेव ही हो जाता है। योगिनियों से सेवन करने

योग्य और सृष्टि-संहार का करने वाला होता हुआ साधक क्षुधा, तृषा, निद्रा और आलस्य से अभिभूत नहीं होता। इससे शरीर का बल बढ़कर सभी उपद्रव नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार करने वाला साधक भूमण्डल में योगियों का इन्द्र हो जाता है ॥५४—५६॥

व्याख्या—इस क्रिया में वायु का रेचन नासिका पुटों द्वारा ही करना चाहिए, मुख से न करे। अभ्यास सिद्ध होने पर भी वायु का मुख के द्वारा निकालना बल को क्षीण करने वाला होता है। 'घ्राणेनैव विजृम्भिका' का अर्थ यही है कि घ्राण अर्थात् नासिका से, विजृम्भण अर्थात् रेचन करे।

शीतली कुंभक

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुंभसाधनम् ।
शनकैर्घ्राणरंध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥५७॥
गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधा तृषाम् ।
विषाणि शीतली नाम कुंभिकेयं निहंति हि ॥५८॥

टीका—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर विद्वान् साधक पूर्वोक्त प्रकार से कुम्भक का साधन करे और नासिका रन्ध्रों से धीरे-धीरे वायु को निकाल दे। इस शीतली कुम्भक से गुल्म, प्लीहा आदि रोग, ज्वर, पित्त, क्षुधा, तृषा और विष नष्ट हो जाते हैं ॥५७—५८॥

व्याख्या—काकी मुद्रा के समान मुख के होठों को करके उनके द्वारा वायु का आकर्षण करता हुआ नाक से रेचन करने की विधि कही है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

जिह्वयावायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः ॥

सर्वदा साधयेदयोगी शीतली कुम्भकं शुभम् ।
अजीर्णं कफपित्तं च नैव देहे प्रजायते ॥

अर्थात्—जिह्वा के द्वारा वायु खींच कर उदर में भरे और कुछ देर कुम्भक करके दोनों नासापुटों द्वारा निकाल दे। इस शुभ शीतली कुम्भक को सदा करने से शरीर में अजीर्ण और कफ पित्त के विकार उत्पन्न नहीं होते।

भस्त्रिका कुंभक

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५९ ॥
सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ६० ॥
यथा लगति हृत्कंठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापिहृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६१ ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६२ ॥

टीका—दोनों पाँवों के तलुओं को दोनों जंघाओं के ऊपर स्थापित करके बैठे तो यह सभी पापों का नाश करने वाला पद्मासन होता है। भले प्रकार पद्मासन बाँध कर ग्रीवा और उदर को समान रखे तथा मुख का संयम करके नासिका के एक रन्ध्र से प्राण का रेचन करे। जैसे शब्द करता हुआ प्राण हृदय, कण्ठ और कपाल पर्यन्त लगे और फिर वेग पूर्वक हृदय कमल तक वायु को पूरित करे। तत्पश्चात् वायु का रेचक बार-बार वैसे ही करे, जैसे लोहार धौंकनी को चलाता है ॥५९—६२॥

व्याख्या—पद्मासन लगाकर बैठने के पश्चात् भस्त्रिका कुम्भक होता है। क्योंकि पद्मासन सभी पापों को नष्ट करने वाला है। इसीलिए ग्रन्थकार ने 'सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा' कह-कर पद्मासन को ठीक प्रकार से लगाने का उपदेश किया।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६३ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥६४॥
विधिवत्कुंभकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६५ ॥
कुंडलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६६ ॥
सम्यग्गात्रसमुद्भूतं ग्रंथित्रयविभेदम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुंभकं त्विदम् ॥६७॥

टीका—वैसे ही बुद्धिमान साधक अपने शरीर में विद्य-मान वायु का चालन करे और जब श्रम जान पड़े तब सूर्यनाड़ी (पिंगला) से पूरक करे। मध्यमा और तर्जनी के अतिरिक्त अन्य तीनों अंगुलियों से नासिका को मध्य से दृढ़ता पूर्वक पकड़ कर कुम्भक करे और बाँयी नासिका से रेचक करे। यह प्रयोग वात, पित्त, कफ का नाशक और जठराग्नि का वर्धन करने तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखदायक और हितकारक तथा ब्रह्मनाड़ी के मुख पर विद्यमान कफादि को नष्ट करता है। जो गात्र नाड़ी के मध्य में समुद्भूत तीन ग्रन्थियों का भेदन

करने वाला होने से भस्त्रा संज्ञक यह कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए ।।६३—६७।'

व्याख्या—जिस प्रकार वायु से उदर पूर्ण हो सके, उसी प्रकार अर्थात् यथाशक्ति सूर्यनाड़ी द्वारा पूर्ण करना चाहिए। पूरक के पश्चात् अंगूठा, अनामिका और कनिष्ठिका तीनों के द्वारा नासा पुट को दृढ़तापूर्वक रोकता हुआ कुम्भक करे उसमें मध्यमा और तर्जनी को न लगावे। फिर इड़ा नाड़ी से रेच करना चाहिए।

वाम नासापुट को दाँये हाथ की अनामिका और कनिष्ठिका से रोककर दाँये नासापुट से धौंकनी के समान वेग पूर्वक रेचक, पूरक करे और जब श्रम का अनुभव हो तब उसी नासापुट से पूरक करके अंगूठे के द्वारा दाँये नासापुट का अवरोध कर यथाशक्ति कुम्भक करे और फिर बाँये नासापुट से रेचन करे। तदन्तर दाँये नासापुट को अगुष्ठ से रोके और वामपुट से धौंकनी के समान जल्दी-जल्दी रेचक-पूरक करे। जब उससे श्रम हो तब नासापुट से पूरक करके अनामिका और कनिष्ठिका से वामनासा को रोककर, शक्तिभर कुम्भक कर दाँयी नासा रेचन करे।

इस प्रकार की विधि से भस्त्रा कुम्भक होता है। इसकी अन्यान्य विधियाँ भी कही जाती हैं। उन सबका कथन अभीष्ट नहीं। घेरण्ड संहिता में कहा है—

भस्त्रैव लौहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।
ततो वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ।।
एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ।।
त्रिवारं साधयेदेन भस्त्रिका कुम्भकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने ।।

अर्थात्--लोहार की धौंकनी से वायु भरने के समान नासिका द्वारा वायु को उदर में भरकर धीरे-धीरे चलावे। इस प्रकार बीस बार कुम्भक करता हुआ वायु का धारण करे। फिर धौंकनी से वायु बाहर निकलने के ही समान नाक से वायु को निकाले, विद्वानों ने इसी को भस्त्रिका कुम्भक कहा है। इसी प्रकार तीन बार करे तो किसी प्रकार का रोग और क्लेश नहीं होता तथा दिनों दिन आरोग्य की वृद्धि होती है।

भ्रामरी कुंभक

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मंदमंदम्।
योगींद्राणामेवसभ्यासयोगा-
च्चित्ते जाता काचिदानंदलीला ॥६८॥

टीका—वेगपूर्वक भौंरे के समान मन्द-मन्द शब्द निकले, उस प्रकार से कुम्भक प्राणायाम करे अथवा शब्दमय प्राणायाम को मन्द-मन्द करे। इस भ्रामरी कुम्भक के अभ्यास से योगियों के चित्त को आनन्द की प्राप्ति होती है ॥६८॥

व्याख्या—इसके अभ्यास से योगी के मनमें अत्यन्त आनन्द की क्रीडा का अनुभव होने लगता है। इसके विषय में घेरण्ड संहिता में विस्तृत विवेचन मिलता है। यथा—

अर्धरात्रिगते योगी जन्तूनांशब्दवर्जिते।
कर्णौपिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरक कुम्भकम् ॥
शृणुयाद् दक्षिगे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिंझिनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥

मेघझर्झरभ्रमरी घण्टा कास्यं ततः परम् ।
तुरीभेरी मृदंगानि निनादानक दुंदुभिः ॥
एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात् ।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य योध्वनिः ॥
ध्वनेरन्तर्गतज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।
तन्मनोविलयंयाति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एव च भ्रामरी सिद्धिः समाधि सिद्धिमाप्नुयात् ॥

अर्थात्—आधी रात व्यतीत होने पर जब जीव-जन्तुओं का शब्द सुनाई न दे, तब योगी हाथों के द्वारा कानों को बन्द करके पूरक और कुम्भक करे। इससे दाँये कान में अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम झींगुर के बोलने का शब्द, फिर वंशीनाद, फिर मेघ, झर्झर, घण्टा, काँसे के पात्र तुरही, भेरी, मृदंग, दुन्दुभि आदि के शब्द सुनने में आते हैं। हृदयस्थ शब्द की प्रतिध्वनि के मध्य साधक ज्योति को देखने लगता है। यह ज्योति ही ब्रह्म है, इसमें मनका लय होने पर विष्णु का परम-पद उपलब्ध हो जाता है। इस प्रकार भ्रामरी मुद्रा के सिद्ध होने पर समाधि की सिद्धि होती है।

मूर्च्छा कुंभक

पूरकांते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६९ ॥

टीका—पूरक प्राणायाम के अन्त में जलन्धर बन्ध को दृढ़ रूप से बाँधकर प्राणवायु का धीरे-धीरे रेचन करे मूर्च्छना संज्ञक कुंभिका सुखदायिनी तथा मनोमूर्च्छा के करने वाली है ॥६९॥

व्याख्या—यह कुम्भक मनको आनन्द में ऐसा लीन कर देती है कि साधक को वाह्य विषयों की संज्ञा ही नहीं रहती। आशय यह है कि साधक की ऐसी अवस्था हो जाती है कि देखने वाले को ऐसा प्रतीत हो कि उसे मूर्च्छा आगई है। इसमें भौंहों के मध्य मनको लय करने का निर्देश मिलता है। यथा—

मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छासुखप्रदम्।
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम्॥

अर्थात्—मुख के द्वारा वायु खींचकर कुम्भक करता हुआ साधक विषयों से मनको हटाकर भौंहों के मध्य में विद्यमान आज्ञाचक्र में लगावे और आज्ञाचक्र में विराजमान आत्मा में लय करदे। इसे आनन्द लाभ कराने वाला सुखदायी मूर्च्छा कुम्भक कहते हैं।

प्लावनी कुंभक

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत्॥७०॥

टीकाः—शरीर के मध्य में प्रवृत्त उदार वायु से परिपूर्ण उदर वाला साधक अगाध जल में भी कमलपत्र के समान सुखपूर्वक तैरता है॥७०॥

व्याख्या—यह प्लाविनी संज्ञक कुम्भक है, जिसे सिद्ध कर लेने पर योगी को अथाह जल से परिपूर्ण जलाशय में भी तैरने या उसे पार करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राणायाम के भेद कथन

प्राणायाम स्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः।
सहितः केवलश्चेति कुंभको द्विविधो मतः॥७१॥

यावत्केवल सिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥७२॥

टीका—प्राणायाम तीन प्रकार का होता है—रेचक, पूरक और कुम्भक। कुम्भक प्राणायाम के दो भेद हैं सहित और केवल। जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे। रेचक और पूरक के अतिरिक्त सुखपूर्वक वायु धारण करने को केवल कुम्भक कहते हैं ॥७१७२॥

व्याख्या—रेचक अर्थात् भरी ईहु वायुको निकालना, पूरक अर्थात् बाहर से वायु खींचकर शरीर में भरना और कुम्भक अर्थात् भरी हुई वायु को शरीर में रोके रखना। इस प्रकार प्राणायाम के यह तीन भेद अथवा तीन अंग हैं। प्रारम्भ में तो इन तीनों के द्वारा ही अभ्यास करना होता है।

सहित और केवल के भेद से दो प्रकार के कुम्भक माने गये हैं। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः।
प्राणश्च देहगो वायुदायामः कुम्भकः स्मृतः ॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा।
यावत् केवल सिद्धिस्यात् तावत् सहितमभ्यसेत् ॥

अर्थात्—प्राणनिरोध के विषय में कहते हैं कि शरीर में चलने वाले प्राण को वायु कहते हैं और जब वह वायु स्थिर हो जाता है तब कुम्भक कहलाता है। यह कुम्भक दो प्रकार का कहा है—सहित और केवल। जब तक केवल की सिद्धि न हो, तब तक सहित कुम्भक करते हुए अभ्यास करना चाहिए।

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुंभकः ।
कुंभके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥७३॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेश विद्यते ।
शक्तः केवलकुंभेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥७४॥
राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुँभकात्कुंडलीबोधः कुंडलीबोधतो भवेत् ॥७५॥
अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं बिना राजयोगं राजयोगं बिना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तः समभ्यसेत् ॥७६

टीका— इस प्रकार कहे हुए केवल कुम्भक के सिद्ध होने पर रेचक, पूरक प्राणायाम का वर्जन हो सकता है और तब उस योगी के लिए संसार में कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं रहता। जो अपनी इच्छा के अनुसार वायु धारण कर सकता है वही केवल कुम्भक में समर्थ होता है! उसके द्वारा राजयोग पद की प्राप्ति हो जाती है, इसमें संशय नहीं। उस कुम्भक की सिद्धि से कुण्डली जाग्रत् होती है और कुण्डली के जागरण से सुषुम्ना अनर्गल होती है तथा हठयोग की सिद्धि हो जाती है। हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग सिद्ध नहीं होता। इसलिये दोनों की ही सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए ॥ ७३—७६ ॥

व्याख्या—सहित कुम्भक में पूरक और रेचक करना भी आवश्यक होता है। क्योंकि पूरक-रेचक के सहित होने से हो उसे सहित कुम्भक कहते हैं। परन्तु जब केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध हो जाता है तब पूरक-रेचक नहीं करना होता और इस प्रकार की सिद्धि होने पर उसे तीनों लोकों की सभी वस्तुएँ, सभी ऐश्वर्य सुलभ हो जाते हैं अर्थात् इच्छा करते ही स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

इसी के द्वारा राजयोग की उपलब्धि होती है और इसी से मोक्ष मिल सकती है। क्योंकि इसके सिद्ध होने पर ही कुण्डलिनी को जाग्रत् करने की सामर्थ्य उत्पन्न होती है। जब कुण्डलिनी जागती है तब सुषुम्ना कफ आदि के बन्धन से मुक्त होकर, कुण्डलिनी को प्रविष्ट होने का मार्ग दे देती है। इससे हठयोग की भी सिद्धि हो जाती है।

राजयोग और हठयोग का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। एक के बिना दूसरे की सिद्धि असम्भव है। इसीलिए साधक को दोनों के अभ्यास करने का उपदेश दिया गया है।

कुंभकप्राणरोधांते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम्।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥७७॥

टीका—कुम्भक से प्राण को रोकने के अन्त में चित्त को निराश्रय करे। इस प्रकार अभ्यास करने से राजयोगपद की प्राप्ति होती है।

व्याख्या—कुम्भक के द्वारा प्राण का निरोध करने पर समाधि अवस्था हो सकती है। उस अवस्था होने पर ही ब्रह्माकार स्थिति होती है, उसमें निराश्रय अर्थात् अनासक्त रूप से चित्त का लय कर देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से ही राजयोगपद मिल सकता है।

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिंदुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥ ७८ ॥

टीका—शरीर में कृशता, मुख पर प्रसन्नता, नाद का प्राकट्य, नेत्रों में स्वच्छता, रोग का अभाव, बिन्दु का जय, अग्नि का दीपन और नाड़ी-शुद्धि, यह हठयोग के लक्षण हैं ॥ ७८ ॥

व्याख्या—ग्रन्थकार का मत है कि हठयोग की सिद्धि हो जाने पर उक्त उपलब्धियाँ अनायास ही हो जाती हैं, उनके लिए साधक को कोई प्रयत्न नहीं करना होता।

हठयोग प्रदीपिका का द्वितीय उपदेश समाप्त

तृतीय उपदेश

कुंडली बोध

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतंत्राणां तथाधारो हि कुंडली ॥१॥

टीका—जैसे पर्वतों और वनों से युक्त इस पृथिवी को अहिनायक धारण करते हैं, वैसे ही सम्पूर्ण योगतन्त्रों का धारण कुण्डली ही करती है ।

व्याख्या—श्लोक में बताया गया है कि कुण्डलिनी शक्ति सब प्रकार के योगों की आश्रय स्वरूपा है । जिस प्रकार सर्पों के अधिनायक अर्थात् शेष इस सम्पूर्ण पृथिवी को अपने फण पर धारण किये हुए, उसी प्रकार सब प्रकार के योगों को कुण्डलिनी धारण करती है । आशय यह है कि सब प्रकार के योगों की सिद्धि में कुण्डलिनी ही एक मात्र कारण है, उसके जागरण विना योग के सभी उपाय निष्फल रहते है ।

श्लोक में 'धात्रीणाम्' कहकर पृथिवी के विषय में बहुवचन का प्रयोग हुआ है, उसका आशय यह है कि देश-भेद से पृथिवी को अनेक कहा है । कुछ विद्वानों के मत में शेष भगवान् त्रिलोकी का धारण करते हैं और तीन लोकों को तीन पृथिवी हुई, इसीलिए बहुवचन प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यंते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

सुषुम्ना के पर्याय कथन

प्राणस्य शून्यपदवो तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालंबं तदा कालस्य वंचनम् ॥३॥

टीका—गुरु के प्रसाद से जब सोती हुई कुण्डली जाग्रत् होती है, तब वह सभी कमलों और ग्रन्थियों का भेदन कर देती है । वैसे ही प्राण की शून्य पदवो जब राजपथ जैसी हो जाती है, तब चित्त निरालम्ब हो जाता और काल का भी वंचन होता है ॥२—३॥

व्याख्या—सुप्त कुण्डलिनी को जाग्रत् करने के लिए गुरु की प्रसन्नता आवश्यक है, क्योंकि गुरु प्रसन्न होकर ही उपाय बताते हैं और जब उनकी कृपा से साधक उसमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तभी कुण्डलिनी शक्ति षट्चक्रों और सब ग्रन्थियाँ को वेधकर सहस्रार पद्म में पहुँच सकती है । उसी के लिए शून्य पदवी से कही सुषुम्ना राजपथ के समान होकर प्राण को सुख-पूर्वक गमन करने के लिए मार्ग देती है । उस अवस्था में चित्त सब विषयों से विमुख हो जाता है और तभी काल का बन्धन भी नष्ट हो जाता है, अर्थात् मृत्यु का भय भी नहीं रहता ।

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरंध्रं महापथः ।
श्मशानं शांभवी मध्यमागश्चेत्येकवाचकाः ॥४॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥५॥

टीका—सुषुम्ना, शून्यपदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग एक अर्थ के वाचक हैं । इस-लिए सब प्रकार प्रयत्न करके ब्रह्मद्वार पर सोती हुई उस

ईश्वरी को जाग्रत् करने के लिए मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए ॥४—५॥

व्याख्या—सुषुम्ना, शून्य पदवी आदि जो नाम इस श्लोक में दिये हैं, उन सबका एक ही अर्थ है—सुषुम्ना नाड़ी। यह नाड़ी ही ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय है। परन्तु उसी सुषुम्ना के द्वार को रोककर कुण्डलिनी शक्ति सोती रहती है। उसे जगाने के लिए महामुद्रा आदि का अभ्यास करना चाहिए।

महामुद्रा महाबंधो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबंधश्च बंधो जालंधराभिधः ॥६॥
करणी विपरीताख्या वाज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशम् ॥७॥
आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥८॥

टीका—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी उड्यान बन्ध, मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन, यह दश मुद्राएँ जरा-मरण को नष्ट करने वाली हैं। यह मुद्राएं आदिनाथ द्वारा कहे हुए आठ दिव्य ऐश्वर्यों को प्रदान करती हैं जो कि सभी सिद्धों को प्रिय और देवताओं को भी दुर्लभ हैं ॥६—८॥

व्याख्या—ग्रन्थकार ने यहाँ दश मुद्राओं का वर्णन किया है। इन्हें करने वाला साधक मृत्यु को भी जीत लेने में समर्थ होता है। इनके द्वारा आठ दिव्य ऐश्वर्य अर्थात् अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। वे अष्ट सिद्धियाँ हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशता और वशिता। इनके विषय में पहले भी विवेचन किया जा

चुका है। यह आठों सिद्धियाँ मुद्राओं का अभ्यास करने वालों को सुलभ हैं।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरंडकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥९॥

टीका—यह सभी मुद्राएं रत्नों की पिटारी के समान गुप्त रखने योग्य हैं इन्हें उसी प्रकार नहीं कहना चाहिए जिस प्रकार कि कुल-स्त्री का समागम नहीं बताया जाता ॥९॥

व्याख्या—इन मुद्राओं को अनधिकारी पुरुष को कभी न बतावे। इसी अभिप्राय से प्रयत्न पूर्वक गोपनीय कहा है। साधक का कर्त्तव्य है कि इनका अभ्यास एकान्त में ही करे।

महामुद्रा कथन

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा धराभ्यां धारयेद्द्रढम् ॥१०॥
कंठे बंधं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ।
यथा दंडहतः सर्पो दंडाकारः प्रजायते ॥११
ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥१२॥

टीका—बाँए पाँव के तलुए से योनि स्थान को पीड़ित करके दाँए पाँव को फैलावे और भूमि पर रखकर दृढ़ता से पकड़े। फिर कण्ठ प्रदेश में बन्ध करके वायु को ऊर्ध्व देश में धारण करे, इससे जैसे कुण्डली लगाकर बैठा हुआ सर्प दंडे से मारे हुए के समान दण्ड के आकार का हो जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति सहसा सरल हो जाती है और तब दोनों पुटों

के आश्रय से प्राण के वियुक्त होने के कारण मरणाअवस्था जैसी हो जाती है ।।१०—१२।।

व्याख्या—यहाँ महामुद्रा का वर्णन हुआ है। इसमें वाम पादमूल से योनि स्थान को दबाने और दाँए पाँव को फैलाकर हाथों की तर्जनी अंगुलियों के द्वारा उसे दृढ़तापूर्वक पकड़ लेना चाहिए। तदनन्तर कण्ठ में जालन्धर बन्ध करके मूलबन्ध करे। कुछ विद्वानों के मत में योनि के दबाने और जिह्वा का बन्धन करने से ही मूलबन्ध चरितार्थ हो जाता है इसलिए मूलबन्ध पृथक् से करने की आवश्यकता नहीं है।

उक्त विधि के अभ्यास से डडे से मारी हुई सर्पिणी के समान कुण्डलिनी शक्ति जागकर सीधी हो जाती है और प्राण-वायु का सुषुम्ना में प्रवेश हो जाने से इडा पिंगला दोनों नाड़ियों से उसका वियोग हो जाता है। इसीलिए उस अवस्था को मरणावस्था की समानता दी गई है।

ततः शनैःशनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ।।१३।।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ।
महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयंते मरणादयः ।।
महामुद्रां च तेनैव वदंति विबुधोत्तमाः ।।१४।।

टीका—उससे वायु का रेचन धीरे-धीरे करे, वेग से न करे। श्रेष्ठ विद्वान् इसे महामुद्रा कहते हैं। इस महामुद्रा का प्रदर्शन महान् सिद्धों ने किया है, इससे महाक्लेशादि और मरणादि दोषों का भी नाश हो जाता है। इसलिए श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष इसे महा मुद्रा कहते हैं ।।१३—१४।।

व्याख्या—उपर्युक्त अवस्था होने पर वायु का रेचन वेगपूर्वक न करके धीरे-धीरे ही करे। क्योंकि वेग से रेचन करने पर शरीर को हानि पहुँचती है और शक्ति भी घटती है। यह महामुद्रा मरणादि दुःखों और पंच महाक्लेशों को भी नष्ट कर सकती है। अविद्या, स्मितता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पंच महाक्लेश कहलाते हैं। इन्हें नष्ट करने वाली होने से ही इसका नाम महामुद्रा हुआ।

महामुद्रा के अभ्यास का वर्णन

चन्द्रांगे तु समभ्यस्य सूर्यांगे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

टीका—चन्द्रांग से ठीक प्रकार अभ्यास करके सूर्यांग से अभ्यास करे। जब तक दोनों की संख्या समान हो तब तक ठीक प्रकार से अभ्यास करे और फिर मुद्रा का विसर्जन करदे ॥१५॥

व्याख्या—चन्द्रनाड़ी अर्थात् इड़ा से उपलक्षित अङ्ग को ही चन्द्राङ्ग कहते हैं और और सूर्याङ्ग का अर्थ है पिंगला से उपलक्षित अङ्ग। इसका आशय है कि पहले वाम नासिका से अभ्यास करे और फिर दक्षिण नासिका से। जब तक कुम्भक प्राणायाम का अभ्यास समान संख्या में न हो जाय तब तक भले प्रकार अभ्यास करता रहे और समान संख्या होने पर महामुद्रा को विसर्जित करे।

जैसा वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है, वैसा ही अन्य अनेक ग्रन्थों में मिलता है। ग्रहयामल में तो इसको यथावत् ही कह दिया है। घेरण्ड संहिता में इस प्रकार कहा है—

पायुमूलं वामगुल्फे संपीडच दृढ़ यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करेधृत पदांगुलः ॥

कंठं संकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
महामुद्राभिधामुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः ॥

अर्थात्—गुह्य प्रदेश को बाँयी एड़ी से दृढ़तापूर्वक दबावे और दाँये पाँव को फैला कर उसकी अँगुलियों को हाथ से पकड़ ले तथा कण्ठ को सकोड़ कर भौंहों के मध्य में दृष्टि लगावे, विद्वानों ने इसे महामुद्रा कहा है।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥१६॥

टीका—इसका अभ्यास करने वाले योगी को पथ्यअपथ्य कुछ नहीं होता। इससे भक्षण किये हुए नीरस रस जीर्ण हो जाते हैं और विष के समान घोर अन्न भी अमृत के समान पच जाता है ॥१६॥

व्याख्या—महामुद्रा के अभ्यास से सभी रसों का परिपाक ठीक प्रकार से होता है और विष के समान न पचने योग्य अन्न भी पच जाता है। 'जारणं तु कषायाय पातकानां विनाशरम्' कहकर अन्य ग्रन्थकार ने इस मुद्रा को सभी कषाओं को भस्म करने और सभी पापों को दूर करने वाली स्वीकार किया है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यांति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥१७॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥१८॥

टीका—इसके अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, उदावर्त, गुल्म, अजीर्ण और उनके दोष नष्ट हो जाते हैं। यह वर्णन की गई

महामुद्रा मनुष्यों को महासिद्धि प्रदान करने वाली है। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखे, किसी को भी न दे ॥१७—१८॥

व्याख्या—इस मुद्रा के सिद्ध होने पर क्षयादि रोगों का सर्वथा शमन हो जाता है। इसके द्वारा साधक को परमसिद्धि और दिव्य ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है। यह गुप्त रखने के योग्य हैं।

महाबन्ध कथन

वार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥१९॥
पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबकं दृढ़म् ।
निष्पीड्य वायुमाकुंच्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्यांगे तु समभ्यस्य दक्षांगे पुनरभ्यसेत् ॥२१॥
मतमत्र तु केषांचित्कंठबंधं बिवर्जयेत् ।
राजदंतस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥२२॥
अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबंधो महासिद्धिप्रदायकः ॥२३॥

टीका—बाँए पाँव की एड़ी को योनि स्थान में लगावे और बाँयी जंघा पर दाँया पाँव रखकर बैठे तथा वायु को पूरित करके ठोड़ी को हृदय स्थान में दृढ़ता से लगावे और योनि को संकुचित करके मनको नाड़ी के मध्य प्रविष्ट करे। फिर वायु को यथाशक्ति धारण करके धीरे-धीरे रेचन करे। इस प्रकार बाँए अंग में समान रूप से अभ्यास करके दांये अंग में करना

चाहिए अन्य विद्वान् का यह मत है कि जालंधर बन्ध में कंठ के संकोच को न करे, क्योंकि राजदन्त पर स्थित जिह्वा का बन्ध ही प्रशस्त होता है। यह सब नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का निरोधक है, यह महाबन्ध अवश्य ही महासिद्धि का देने वाला है ॥१९ – २३॥

व्याख्या— बाँयी एड़ी को योनि स्थान में लगाकर बाँयी जाँघ पर दाँया पाँव रखने आदि की जो विधि बताई है, उसके अनुसार आसन बाँधकर वायु को भरकर ठोड़ी पर लगाने से जो जालन्धर बन्ध होता है उसे करके योनि-संकोच करता हुआ मूलबन्ध करे, परन्तु इस मूलबन्ध की सिद्धि जिह्वा के बन्धन से ही हो जाती है, इसलिए इसे करना अनावश्यक है।

कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे रेचक करे। प्रथम वाम अंग में और फिर दक्षिण अंग में करे। इस प्रकार वामांग और दक्षिणांग के अभ्यास की संख्या बराबर हो जाय तब अभ्यास करना चाहिए।

कुछ विद्वानों के मत में कण्ठ के संकोच का अनुपयोग है, क्योंकि राजदन्त अर्थात् दाढ़ के ऊपर स्थित जिह्वा का बन्ध ही कण्ठ संकोच की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ होता है। दाढ़ों में अवस्थित जिह्वा का बन्ध सुषुम्ना से भिन्न बहत्तर हजार नाड़ियों में प्राणवायु के ऊर्ध्व गमन का प्रतिबन्धक है। इसका अर्थ हुआ कि जिससे नाड़ी-जाल का बन्धन होता हो, वह जालन्धर बन्ध कहलाता है।

कालपाशमहाबंधविमोचन विचक्षणः।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥२४॥

टीका—यह महाबन्ध काल के पाश को छुड़ाने में अद्भुत है तथा त्रिवेणी-संगम को और मन को केदार की प्राप्ति कराने वाला है ॥२४॥

व्याख्या—जालन्धर बन्ध, उड्यान वन्ध और मूलबन्ध इन तीनों के सम्मिलित होने से महावन्ध होता है, इसीलिए इसे त्रिवेणी संगम प्राप्त कराने वाला कहा है केदारं प्रापयेन्मन: कहने से यह अभिप्राय है कि इसके सिद्ध होने पर केदार अर्थात् शिव में मन का लय हो जाता है।

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥२५॥

टीका—जैसे पुरुष के बिना रूप-लावण्य से सम्पन्न स्त्री निष्फल है, वैसे ही महावेध के बिना महामुद्रा और महाबन्ध भी निष्फल हैं ॥२५॥

व्याख्या—इस श्लोक में महामुद्रा और महाबन्ध की निकृष्टता और महावेध की उत्कृष्टता का कथन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार महावेध के बिना उक्त दोनों व्यर्थ ही हैं। इसलिए महावेध की सिद्धि का अभ्यास करना चाहिए।

महावेध वर्णन

महाबंधस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कंठमुद्रया ॥२६॥
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सताडयेच्छनैः।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥२७॥
सोमसूर्याग्निसंबंधो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्नाततो वायुं विरेचयेत् ॥२८॥
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥२९॥

टीका—महाबन्ध में स्थित योगी बुद्धि को एकाग्र करके पूरक करे और कण्ठ मुद्रा से वायु की गति रोककर प्राणायाम करे। अपने स्फिचों को पृथिवी पर लगे हाथों से थामकर योनि स्थान में लगी हुई एड़ी वाले बाँए पाँव के सहित कुछ ऊपर की ओर उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करे। इससे प्राणवायु इडा और पिंगला को छोड़कर सुषुम्ना में चलने लगता है। तब चन्द्र, सूर्य, अग्नि सम्बन्धी क्रमशः, इडा, पिंगला को और सुषुम्ना से अमृतत्व को प्राप्ति होती है। फिर मरणावस्था के उत्पन्न होने पर वायु का रेचन करे। यह महावेध अभ्यास से महान् सिद्धि का देने वाला होता है। इससे वली, पलित, कम्पनादि दूर होते हैं। श्रेष्ठ साधक सदा इसका अभ्यास करते रहते हैं ॥२६--२६॥

व्याख्या—महाबन्ध के पश्चात् महावेध की स्थिति होती है। कण्ठ मुद्रा का अर्थ जालन्धर बन्ध है, उसके द्वारा, वायुओं के ऊर्ध्वगमन, अधोगमन को रोककर कुम्भक करना चाहिए।

महावेध में वाम एड़ी को योनिस्थान में लगाकर चूतड़ों को हाथों के आश्रय से वाम पाद के सहित कुछ उठाकर धीरे-धीरे ताड़न करने से वायु इडा-पिंगला, का त्याग कर सुषुम्ना में पहुँच जाता है और तब इडा, सुषुम्ना तीनों का वायु एक हो जाता है और इडा-पिंगला में प्राण का संचार न होने से साधक की मृत्यु जैसी अवस्था हो जाती है। क्योंकि इड़ा, पिंगला में प्राणवायु का संचार रहने को ही जीवन मानते हैं। जब ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाय तब वायु का विरेचन करना चाहिए। अभ्यास करने से यह महावेध सिद्ध होकर महान् सिद्धियों का देने वाला होता है। इससे जरावस्था के सभी चिह्न बालों का सफेद होना, चर्म का संकुचित होना और शरीर का काँपना आदि नष्ट होते हैं। योग तत्त्वोपनिषत् में महावेध का लक्षण इस प्रकार बताया है—

वायुनां गतिमावृत्य विभृतं कण्ठमुद्रया।
पुटद्वय समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम्॥

अर्थात्– वायु की गति का निरोध करके दोनों नासारन्ध्रों का संकुचन करने से वायु शीघ्र भर जाती है। इस महावेध का सिद्ध पुरुष सदा अभ्यास किया करते है।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्॥३०॥
अष्टधा क्रियते चैव यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्॥३१॥

टीका–उक्त तीनों मुद्राएं परम गुह्य एव जरामरण को नष्ट करने वाली, अग्नि प्रदीप्त करने वाली और अणिमादि सिद्धियों के देने वाली है। यह मुद्राएं प्रहर-प्रहर दिन-दिन में आठ प्रकार से करनो चाहिए। इनके द्वारा पुण्यों की उत्पत्ति और पापों का शमन होता है। भले प्रकार शिक्षा प्राप्त करके इन्हें करना चाहिए॥३०—३१॥

व्याख्या—उपर्युक्त तीनों मुद्राओं से जरा-मृत्यु पर जय प्राप्त होकर, अग्नि दीप्त होती और अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। इनसे पुण्य का लाभ और पापों का नाश होता है। परन्तु इनका अभ्यास आरम्भ करने से पूर्व गुरु से शिक्षा ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है।

खेचरी मुद्रा

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरंतर्गता दृष्टिमुद्रा भवति खेचरी॥३२॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धि ॥३३

टीका – कपाल-कुहर में विपरीत हुई जिह्वा के प्रविष्ट होने और भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने पर खेचरी मुद्रा होती है। छेदन, चालन और दोहन कलाओं की क्रमपूर्वक तब तक वृद्धि करे, जब तक कि भौंहों के मध्य का स्पर्श हो जाय। जब कला का भौंहों में स्पर्श हो जाता है। तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है ॥३२– ३३॥

व्याख्या –जिह्वा को ऊपर की ओर उलटी करके कपाल के मध्य वाले छिद्र में प्रविष्ट करे और भौंहों के मध्य में दृष्टि को स्थिर करे, इससे खेचरी होती है। छेदनादि कर्म करता हुआ जिह्वा को तब तक बढ़ावे, जब तक कि वह भौंहों के मध्य स्थान को स्पर्श करने लगे।

जिह्वा मूल की नाड़ी का शस्त्र से छेदन किया जाता है, इसकी विधि अगले श्लोक में कहेंगे। हाथ के अंगुष्ठ और तर्जनी अंगुली से जिह्वा को पकड़कर बाँए-दाँए हिलाना चालन कहलाता है और गोदोहन के समान जिह्वा दोहन करना इन क्रियाओं से जिह्वा बढ़ जाती है वह भौंहों के मध्य भाग को स्पर्श करती हुई और भी ऊपर पहुँच सकती है।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३४॥
ततः सैंधवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥३५॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबंधः प्रणश्यति ॥३६॥

टीका—सेंहुड़ के पत्ते के समान तीक्ष्ण धार वाले, चिकने और स्वच्छ शस्त्र को लेकर उससे जिह्वामूल की नाड़ी का रोममात्र छेदन करे तथा पिसे हुए सैंधे नमक और हरड़ के मिश्रित चूर्ण से जिह्वामूल का ठीक प्रकार घर्षण करे। सात दिन ऐसा करने के अनन्तर पुनः रोम मात्र छेद दे। इस प्रकार के क्रम से नित्य प्रति करने से छः मास में जिह्वामूल का शिरा बन्ध नष्ट हो जाता है ॥३४—३६॥

व्याख्या—इन श्लोकों में खेचरी-सिद्धि के साधनों का वर्णन किया गया है। स्नुही अर्थात् सेंहुड़ के पत्तों में अत्यन्त तीक्ष्ण धार होती है, वैसे ही तीक्ष्ण शस्त्र से जिह्वा के मूल में एक रोम के बराबर छेद कर देना चाहिए। ऐसा करने से वहाँ घाव हो जाता है, उस पर सेंधे नमक और हरण का चूर्ण मलना चाहिए। चूर्ण मलने का यह कार्य नित्य प्रति प्रातः-सायं किया जाता है। जब सात दिन व्यतीत हो जाँय तब पुनः एक रोम के बराबर छेद कर दे और नमक तथा हरड़ के चूर्ण को मलने का क्रम यथावत् जारी रखे।

कुछ विद्वानों के विचार में नमक के स्थान पर कत्था और हरड़ का चूर्ण व्यवहार करना उचित है, क्योंकि योगाभ्यासी पुरुष के लिए नमक का सेवन वर्जित है। सात दिन के पश्चात् जो छेद किया जाय, वह पहले छेद से रोममात्र अधिक करना चाहिए, जिससे कि कुछ बड़ा छेद बन जाय।

इस प्रकार नित्य प्रति चूर्ण-मर्दन और प्रति सप्ताह छेदन करते रहने से छः मास में जिह्वा मूल का शिरा बन्धन कट

जाता है। यह शिरा बन्धन कपाल कुहर को रोके रहता है, इसके कटने पर जिह्वा उसमें प्रवेश कर सकती है, इसीलिए उस शिरा बन्धन को काटना आवश्यक होता है।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥३७॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥३८॥

टीका—इस प्रकार छेदनादि के उपाय द्वारा जिह्वा की वृद्धि हो जाने पर इसे उलटी पीछे की ओर लौटा कर तीनों नाड़ियों के मार्ग में करे। वह खेचरी मुद्रा होती है, उसी को व्योमचक्र कहते हैं। जो जिह्वा को तालु-रन्ध्र द्वारा ऊपर पहुँचा कर वहाँ आधे क्षण भी टिकाले तो वह योगी विषमता रूप रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि से मुक्त हो जाता है ॥३७—३८॥

व्याख्या—कपाल-रन्ध्र इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना तीनों नाड़ियों का मिलन मार्ग होने से त्रिपथ कहा जाता है। ऊपर की ओर लौटा कर जीभ को इसमें प्रविष्ट करके टिकाया जाता है। इससे सभी रोग, धातुओं की विषमता, जरावस्था मृत्यु आदि का भी क्षय हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा व्योम चक्र भी कहलाती है।

न रोगो मरणं तंद्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥३९॥
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न सकालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥४०॥

टीका—खेचरी मुद्रा के जानने वाले योगी को रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा नहीं होती। खेचरी का ज्ञाता रोग से पीड़ित नहीं होता, कर्म से लिप्त नहीं होता और काल से बाधित नहीं होता ॥३९—४०॥

व्याख्या—जो विद्वान् खेचरी मुद्रा को जानता है, उसे भूख-प्यास, रोग, निद्रा, तन्द्रा आदि नहीं होते। वह मृत्यु को भी जीतने में समर्थ होता है। जो कर्म करता है उसका फल उसे नहीं भोगना होता, क्योंकि यह तो निष्काम कर्म करता है सकाम नहीं और निष्काम कर्म कर्त्ता को कभी अपने फलरूपी बन्धन में नहीं बाँधते। इसीलिए उसे काल अर्थात् मृत्युरूपी बाधा भी नहीं होती। आशय यह कि उसकी इच्छित मृत्यु होती है। जब चाहे तब शरीर को छोड़े और जब तक जीवित रहना चाहे तब तक रहे।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥४१॥

टीका—जिस मुद्रा के द्वारा चित्त भौंहों के मध्य आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी वहीं जाकर विचरती है उसी को सिद्ध पुरुषों ने खेचरी नाम दिया है ॥४१॥

व्याख्या—इस मुद्रा के अभ्यास में चित्त और जिह्वा दोनों ही भौंहों के मध्यरूपी आकाश में विचरते हैं। इसीलिए सिद्ध योगेश्वरों ने इसे खेचरी कहा है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लंबिकोर्ध्वतः।
न तस्य क्षरते बिंदुः कामिन्याः श्लेषितस्य च ॥४२॥
चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमंडलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥४४॥

टीका—खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने तालु के ऊपर का विवर ढक लिया, उसे यदि कामिनी का स्पर्श भी प्राप्त हो जाय तो उसका बिन्दु क्षरित नहीं होता और यदि बिन्दु चलायमान भी हो जाय तो योनि मण्डल में पहुँच कर भी वह वज्रोली के बन्धन से खिचा हुआ ऊपर चला जाता है। तालु-विवर में उन्मुखी जिह्वा वाला योगी सोमपान करता हुआ एक पक्ष में ही मृत्यु को जीत लेता है ॥४२—४४॥

व्याख्या—खेचरी के अभ्यास द्वारा जिसकी जीभ तालु के रन्ध्र में पहुँच कर टिक जाती है तो बिन्दु का क्षरण नहीं होता। यदि बिन्दु अपने स्थान से डिग भी जाय यो योनिमण्डल में पहुँच कर भी योनिमुद्रा के प्रभाव से वहाँ से खिच कर अपने स्थान में ही जा पहुँचता है।

'सोमपानं करोति' का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर से गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करने से है। जब जिह्वा वहाँ पहुँच जाती है, तब उस अमृत का पान करती हुई साधक को अमृतत्व की प्राप्ति करा देती है।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥४५॥
इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुंचति ॥४६॥

टीका—जिस योगी का देह सदा चन्द्रकला के अमृत से परिपूर्ण रहता है, उसके देह में तक्षक काट ले तो भी विष नहीं

फैलता। जैसे अग्नि ईंधन को और दीपक तेल बत्ती को नहीं छोड़ता वैसे ही शरीरधारी भी सोमकला से सम्पन्न शरीर को नहीं छोड़ता ॥४५—४६॥

व्याख्या—ऊर्ध्व विवर से स्रवित होते हुए चन्द्रामृत के शरीर में परिपूर्ण रहने पर तक्षक नाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है अर्थात् भयङ्कर सर्प भी काट ले तो उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि शरीर में चन्द्रमा से झरता हुआ अमृत भरा हो तो शरीर से प्राण कभी पृथक् नहीं हो सकता जैसे कि अग्नि से ईंधन पृथक् नहीं हो सकता अर्थात् अग्नि भी तभी बुझता है जबकि ईंधन को पूरी तरह भस्म कर डाले और तैल-बत्ती का दीपक से सदा सम्बन्ध रहने का आशय यह है कि जब तक तैल-बत्ती है, तभी तक दीपक प्रकाश देता है, जब तैल-बत्ती का अभाव हो जाता है तब प्रकाश नहीं रहता, यहाँ दीपक का तात्पर्य प्रकाश से ही है। सारांश यह है कि जिह्वा से कपाल कुहर में क्षरित होने वाले अमृत का पान करने वाला योगी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उस पर किसी रोग, विष या अवस्था आदि का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये चेतरे कुलघातकाः ॥४७॥
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥४८॥
जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ॥४९॥

टीक—जो योगी नित्य प्रति गोमांस का भक्षण करता और वारुणी (मदिरा) पीता है, वही कुलीन है, और सब तो

कुलघातक ही होते हैं। गोशब्द से जो जिह्वा कही जाती है और तालुविवर में जिह्वा का जो प्रवेश है, वही भक्षण कहलाता है। यह गोमांस भक्षण महापाप को नष्ट कर देता है। तालु के ऊपर वाले विवर में जिह्वा के प्रवेश से संभूत हुई अग्नि से उत्पन्न होकर जो सार झरता है वही अमरवारुणी है।।४७—४६।।

व्याख्या—योगी के लिए परम सिद्धि का कारण गोमांस-भक्षण और वारुणी-पान है। 'गो' शब्द का अर्थ जिह्वा है और भक्षण का अभिप्राय ऊर्ध्व विवर में जिह्वा का प्रवेश है। इस प्रकार यही गोम स भक्षण है, इसे महापापों का भी नाश करने वाला समझना चाहिए।

तालु के उसी ऊर्ध्व विवर में जब जिह्वा प्रविष्ट होकर दोहन करती है तब वहाँ ऊष्मा उत्पन्न हो जाती है और उस ऊष्मा के प्रभाव से चन्द्रमा में सार रूप अमृत उत्पन्न होकर स्रवित होने लगता है अर्थात् भौंहों के मध्य वामभाग में अवस्थित चन्द्रमा से बिन्दु रूप सार या अमृत झरने लगता, वही अमर वारुणी अर्थात् दिव्य मदिरा है उसके पान करने वाले को इसलिए कृतार्थ और कुलीन कहा है कि वह योगाभ्यास द्वारा उस श्रेष्ठ सिद्धि को प्राप्त करने में सफल हो जाता है और जो सिद्धि की प्राप्ति में सफल है, उसके कृतार्थ होने में सन्देह ही क्या है ?

चुम्बंती यदि लंबिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यंदिनी
साक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा।
व्याधीनां हरणं जरांतकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धांगनाकर्षणम् ।।५०।।

टीका—यदि रस को स्रवित करने वाली क्षार, कटु, अम्ल, दूध, मधु और घृत के समान अनेक रस वाली जिह्वा तालु के ऊपर वाले छिद्र का बार-बार स्पर्श करे तो उससे साधक की सभी व्याधियों का हरण, वृद्धावस्था का अन्त और सन्मुख से आते हुए शस्त्र का निवारण होता है तथा अमृतत्व, अष्ट सिद्धियाँ और सिद्धांगनाओं का आकर्षण होता है । ५०॥

व्याख्या—जिह्वा सभी रसों का ग्रहण करती है। उसके लिए कटु, तिक्त, अम्ल, मधुर आदि कोई भी रस क्यों न हो, अग्राह्य नहीं है। वह जिह्वा तालु के छिद्र में प्रविष्ट होकर बार-बार चन्द्रकलामृत का स्पर्श करने लगे तो उस साधक को रोग, जरा, शस्त्र, मृत्यु आदि का कोई भय नहीं रहता तथा सिद्धों (देवताओं) की नारियाँ उसके प्रति आकर्षित होती हैं और वह अष्ट सिद्धियों को उपलब्ध करके स्वयं सिद्ध हो जाता है।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिंतयन् ।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ॥५१

टीका—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर और ऊर्ध्व मुख करके परम शक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ जो योगी प्राणवायु के साधन और हठयोग के द्वारा प्राप्त षोडश दल वाले कमल में मस्तक से धारा रूप में गिरते हुए ऊर्ध्व तरंग वाले चन्द्रकलामृत का पान करता है, वह रोग-रहित एवं मृणाल जैसी कोमल देह वाला होता हुआ चिरकाल तक जीवित रहता है ॥५१॥

व्याख्या—जिह्वा को कपालरन्ध्र में ले जाकर चन्द्रामृत पीने वाला योगी चिरजीवी होता है। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। उसका शरीर कठोर हो तो भी कमल दण्ड के समान कोमल हो जाती है।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चंद्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ॥५२

टीका—जिसमें यह आलेय स्थित है, उस छिद्र में रज-तम से अतिरस्कृत बुद्धि वाले मनुष्य आत्म तत्व का होना मानते हैं। वहीं चन्द्र-सूर्य नाड़ियाँ मुख है तथा चन्द्रमा से देह के सार के स्रवित होने से मनुष्यों की मृत्यु होती है। इसलिए खेचरी मुद्रा करे, अन्यथा शरीर का पोषण नहीं हो सकता ॥५२॥

व्याख्या—प्रालेय अर्थात् जल कपाल कुहर में रहता है। जिन मनुष्यों की बुद्धि रजोगुण और तमोगुण का उल्लंघन किये रहती है यानी केवल सतोगुणी रहती है, उनके मत में आत्मतत्व भी वहीं है तथा वहीं इड़ा और पिंगला नाड़ियों का मुख भी है।

चन्द्रमा से वह जल स्रवित होता है तब उदरस्थ अग्नि रूपी सूर्य उसका ग्रास करता रहता है, इसी से मनुष्यों की आयु क्षीण होती जाती है। ग्रन्थकार का कथन है कि चन्द्रमा से स्रवित होते हुए उस अमृत का जिह्वा के द्वारा स्वयं ग्रास करले तो मृत्यु पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए इसमें प्रयत्नशील होना चाहिए।

सुषिरं ज्ञानजनकं पंचस्रोतः समन्वितम्।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरंजने ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालंब एकावस्था मनोन्मनी ।।५४।।

टीका – नाड़ियों के पंच स्रोत से युक्त छिद्र ज्ञान का उत्पन्न करने वाला है। उस शून्य रूप निरजन के लिए खवरी मुद्रा में स्थिति होती है। एक सृष्टिमय बोज है, एक खेवरो मुद्रा है, एक हो निरालम्ब है और एक ही उन्मनी अवस्था है ।।५३ – ५४।।

व्याख्या – इडा आदि नाड़ियों के पंच स्रोत अर्थात् पच प्रवाह से युक्त सुषिर से ज्ञान उत्पन्न होकर शून्य रूप निरंजन में खेवरो की स्थिरता होती है अर्थात् खेचरी मुद्रा के प्रभाव से जब मन उस सुषिर (छिद्र) में प्रविष्ट होता है, तब आत्मज्ञान होता है।

सृष्टिमय बीज प्रणय है, वह एक ही है। यह ससार उसी प्रणव को महिमा को व्यक्त किये हुए स्थित है। 'ओमित्येदक्षर मिद ए सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एवं, यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव' (माण्डूक्योपनिषत्) अर्थात् 'अविनाशो ब्रह्म ओंकारमय है. उसको महिमा को प्रत्यक्ष लक्षित कराने वाला यह सम्पूर्ण विश्व है। भूत, भविष्य, वर्तमान रूप त्रिकालमय यह ससार ओंकार हो है और त्रिकाल से भी अतीत जो अन्य तत्व है, वह भो ओंकार हो है।

'एका मुद्रा च खेचरी' कहकर ग्रन्थकार ने सभी मुद्राओं में खेचरी की सर्वोत्कृष्टता सिद्ध की है। इसका आशय यह समझना चाहिए कि खेचरी सभी मुद्राओं में प्रमुख मुद्रा है और सर्व प्राप्ति की आकांक्षा वाले साधक को इसकी सिद्धि प्रयत्न पूर्वक करनी चाहिए। श्लोक में 'एक' पद का प्रयोग प्रमुखता प्रदर्शित करने के रूप में हुआ है।

ओड्डीयान बन्ध वर्णन

बद्धो येन सुषम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयानाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रांतं महाखगाः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बंधोऽभिधीयते ॥५६॥

टीका—जिससे बंधा हुआ प्राण सुषुम्ना में उड़ जाय, उस बन्ध को उड्डीयान कहते हैं। देहावकाश में गतिशील महाखग रूप प्राण जिस बन्ध से सुषुम्ना में उड़ता (गति करता) है, उसे उड्डीयान कहते हैं ॥५५—५६॥

व्याख्या—जिस बन्ध से बँधा हुआ प्राण उड़कर सुषुम्ना में जा पहुँचे, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं, क्योंकि वह प्राण को उडाकर सुषुम्ना में पहुँचाने का कारण होता है 'उड्डीनं कुरुते' अर्थात् 'उड़ान करता है' इसीलिए इसे उड्यिान कहा जाता है। नीचे उस बन्ध का लक्षण कहेंगे।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंगकेसरी ॥५७॥
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥५८॥

टीका—उदर में नाभि के ऊपर पश्चिम तान करे तो यह मृत्यु रूपी हाथी के लिए सिंह के समान उड्डियान बन्ध होता है। गुरु ने इस बन्ध को सदैव सहज बताया है, इसका निरन्तर अभ्यास करने वाला वृद्ध भी तरुण हो जाता है ॥५७—५८॥

व्याख्या— उदर में स्थित टूंडी में, नाभि के ऊपर के निचले भाग को इस प्रकार ताने, जिससे कि वे दोनों भाग पीठ में लग जाँय। गुरुजन इसे स्वाभाविक बताते हैं क्योंकि प्राण स्वभाव से ही बाहर जाता है, परन्तु इसका निरन्तर अभ्यास कर लिया जाय तो यह पूर्णरूप से वश में हो जाता है। उस साधक में इतनी शक्ति, इतनी स्फूर्ति आ जाती है कि वह अपनी वृद्धावस्था को भूलकर तरुण होने का अनुभव करने लगता है।

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥५९॥
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बंधे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

टीका—नाभि के ऊपर निचले भाग में ठीक प्रकार से तान करे। इस प्रकार छः मास तक निरन्तर अभ्यास करने से साधक मृत्यु को जीत लेता है, इसमें संशय नहीं है। सभी बन्धों में उड्डियान बन्ध श्रेष्ठ है, क्योंकि इसके सिद्ध हो जाने से स्वाभाविक मृत्यु होती है ॥५९—६०॥

व्याख्या—उड्डियान बन्ध में नाभि के ऊपर निचले स्थान में यत्नपूर्वक तान अर्थात आकर्षण किया जाता है। यह सभी बन्धों में उत्तम माना जाता है। इससे मृत्यु पर विजय प्राप्त होती है और रोग, दुःख आदि भी नष्ट हो जाते हैं।

इस बन्ध में प्राण पक्षी जैसी गति से उड़ान भरता हुआ सुषुम्ना द्वार से मस्तक में जा पहुँचता है और जब मन भी समाधि में लीन होता है, तब उसका मुक्त होना मानते हैं। यही विदेह मुक्ति कहलाती है, इसी से उन्मनी अवस्था की प्राप्ति होती है। इसी को योगनिद्रा कहते हैं। 'ततोन्मनी

संज्ञक बन्ध है। यह बन्ध नाड़ियों के समूह को तथा कपालकुहर रूप नभ के जल को बाँधता है, इसलिए जालन्धर बन्ध कहलाता है यह कंठ के रोग दुःखों का नाश करने वाला है लक्षण जिसका कण्ठ का संकोच है, उस जालन्धर बन्ध के करने से अमृत अग्नि में नहीं पड़ता और न वायु का ही प्रकोप होता है। यह बन्ध दृढ़तापूर्वक कण्ठ का संकोच करने से दोनों नाड़ियों का स्तम्भन करने वाला है। इसे सोलह आधारों का बन्धन कर्ता मध्य चक्र जानना चाहिए ॥७०—७३॥

व्याख्या—इस बन्ध को जरामृत्यु का नाशक इसलिए माना है कि ब्रह्मरन्ध्र से जो चन्द्रामृत स्रवित होकर उदरस्थ अग्नि में भस्म होता रहता है, उसके अभाव में जीवन का नष्ट होना अवश्यं भावी है। यह बन्ध उस अमृत को अग्नि में गिरने से रोकता है। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

पूरकान्ते तु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धरा भिधः।
कण्ठ संकोच रूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः॥
अधस्तात्कुंचने नाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः॥

अर्थात्—पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिए। इसमें कण्ठ के संकोच द्वारा वायु का निरोध किया जाता है। अधोभाग में मलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन करे और ऊपर से जालन्धर बन्ध द्वारा कंठ का सकोच तथा मध्य में उड्डियान बन्धद्वारा प्राणको खींचे तो प्राण ब्रह्मनाड़ी अर्थात् सुषुम्ना में चढ़ने लगता है।

इस प्रकार कण्ठ का संकोच करने इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियों का स्तंभन स्वतः हो जाता है। कण्ठ में सोलह दल का विशुद्ध चक्र है, वहाँ वायु को रोक कर बन्धन करने वाला होने से इस बन्ध को मध्य चक्र कहा है।

मूलस्थानं समाकुंच्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिंगलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥७५॥
बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतंत्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥७६॥

टीका—मूल स्थान का भले प्रकार संकोच करके उड्डियान बन्ध करे, जिससे इडा, पिंगला का स्तंभन होकर प्राण को पश्चिम मार्ग में ले जाय। इस विधान से ही प्राण का लय हो जाता है, तब रोग, जरा, मृत्यु आदि नहीं होते। यह तीन बन्ध श्रेष्ठ हैं, महासिद्धों द्वारा इनका सेवन किया जाता है। हठयोग के सब साधनों में इसकी उपयोगिता को योगी पुरुष जानते हैं ॥७४—७६॥

व्याख्या—आधार स्थान को ठीक प्रकार से संकुचित करके नाभि से पश्चिमतान रूप बन्ध (उड्डियान) को करना चाहिए तथा कण्ठ के संकोच से इडा-पिङ्गला का बन्धन करे, जो कि जालन्धर बन्ध से होता है। तदनन्तर प्राण के सुषुम्ना में प्रविष्ठ होने का प्रयत्न करे। ऐसा करने से प्राण का लय अर्थात् स्थैर्य हो जाता है। आशय यह है कि उसका बाह्य गमन रुक कर ब्रह्मरन्ध्र में ही स्थिति हो जाती है। इस प्रकार को उपलब्धि होने पर साधक को किसी रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि का भय नहीं रहता।

इस प्रकार उपर्युक्त उड्डियान बन्ध, मूलबन्ध और जालन्धर बन्ध तीनों ही श्रेष्ठ हैं। बड़े बड़े योगीश्वर, परम

सिद्धि आदि ने इनको करके ही इच्छित सिद्धि और मोक्ष को प्राप्त किया। इसलिए योगाभ्यासियों को प्रयत्न पूर्वक इनका अभ्यास करना चाहिए।

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिंडो जरायुतः ॥७७॥
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवंचनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥७८॥

टीका—दिव्य तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जिस अमृत का स्राव होता है, उसे नाभि में स्थित अग्नि सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है। उसे रोकने के लिये सूर्य-मुख का वंचन करने वाले दिव्य करण को गुरु के उपदेश से जानना चाहिए, क्योंकि उसके बिना करोड़ों शास्त्रों का अर्थ जानना भी व्यर्थ है ॥७७—७८॥

व्याख्या—पहले भी बता चुके हैं कि तालमूल में चन्द्रमा का निवास माना गया है. वह अमृत की वर्षा किया करता है। परन्तु नाभि में सूर्य संज्ञक जिस अग्नि का निवास है, वह उस अमृत का ग्रास कर लेता है। परन्तु उसके ग्रसन को रोकने के लिये सूर्य के मुख को बन्द करना आवश्यक है। यदि उसका मुख रुक जाता है तो धातुओं और रसों का ह्रास भी रुक जाता है और आयु का क्षय नहीं होता। उसे रोकने का उपाय योगीश्वर सिद्ध पुरुषों को ज्ञात रहता है, उन्हें गुरु रूप में वरण करके उनसे वह उपाय सीखना चाहिए। यदि गुरु से उसे नहीं सीखते तो करोड़ों शास्त्र पढ़ कर भी नहीं सीख सकते। क्योंकि शास्त्रों में विधि-विधान तो लिखा होता है, परन्तु उसमें अनेक बातें ऐसी होती हैं जिनका स्पष्टीकरण अनुभवी सद्गुरु ही करने में समर्थ होता है, इसलिए गुरु से दीक्षा ग्रहण करना आवश्यक है।

विपरीतकरणी मुद्रा

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥७६॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविर्बाधिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥८०॥

टीक—जिस योगी के ऊर्ध्व भाग में नाभि और अधोभाग में तालु हो जाय, इस ऊर्ध्व भाग में सूर्य और अधोभाग में चन्द्रमा को कर देने वाली क्रिया विपरीतकरणी मुद्रा कहलाती है, इसे गुरु के वाक्यों द्वारा प्राप्त करते है। नित्यप्रति अभ्यास में लगे रहने वाले योगो के लिए यह मुद्रा जठराग्नि बढ़ाने वाली है तथा इसके द्वारा साधक इच्छानुसार अधिक भोजन कर सकता है ॥७६–८०॥

व्याख्या—इस मुद्रा के द्वारा तालु में अवस्थित चन्द्रमा नीचे और नाभि में अवस्थित सूर्य ऊपर हो जाता है। इसमें शिर नीचे और पाँव ऊपर करके स्थित होना होता है। इससे जठराग्नि इतनी बढ़ जाती है कि जितना भी खाया जाय सरलता से पच जाता है। परन्तु अल्पाहार नहीं करना चाहिए, अन्यथा हानि हो सकती है। क्योंकि—

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥८१॥
क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥८२॥

भवति' ततोयोगनिद्रा भवति (शां० उ०) अर्थात् उससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है और उससे योगनिद्रा होती है।

मूलबंध वर्णन

पार्ष्णिभागेन संपीडच योनिमाकुंचयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥६१॥
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आंकुचनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः ॥६२॥

टीका—एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा का संकोच करे और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षित करे, इसे मूलबन्ध कहते हैं। जो अधोगति वाले अपान वायु को बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी करता है, उसे योगीजन मूलबन्ध कहते हैं ॥६१—६२॥

व्याख्या—योनि स्थान का अभिप्राय है गुदा और लिंग के मध्य भाग से। उस स्थान को एड़ी से भले प्रकार पीड़ित करके गुदा को सकोड़े और अपान वायु का ऊपर की ओर आकर्षण करे। यह क्रिया कुण्डलिनी जागरण में अत्यन्त सहायक होती है। इसके विषय में कहा है—

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुंचनेन त प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥
अपाने चोर्ध्वगे याते सम्प्राप्ते वह्नि मण्डले ।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥

अर्थात्—अधोगति वाले अपान को शक्तिपूर्वक गुदा के आकुंचन द्वारा ऊपर ले जाने से मूलबन्ध होता है। अपान ऊपर जाकर वह्निमण्डल से मिलता है तो वायु के प्रभाव से अग्नि की अत्यधिक तीव्रता होती है। इत्यादि से कुण्डलिनी जागरण की विधि कही है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुंचयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥६३॥

टीका—एड़ी से गुदा का भले प्रकार संपीडन करके बल पूर्वक वायु को बार-बार इस प्रकार आकर्षित करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपरी भाग में जा पहुँचे ॥६३॥

व्याख्या--मूलबन्ध की यह रीति योगबीज में कही हुई है। यद्यपि इसमें ऊपर की विधि से समानता है, फिर भी शाब्दिक विशेषता के कारण इसका उल्लेख यहाँ हुआ है।

प्राणापानौ नादबिंदू मूलबंधेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबंधनात् ॥६५
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमंडलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६

टीका- अधोगति वाले प्राण और अपान, अनाहत नाद और बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा ऐक्य को प्राप्त होकर योग की सिद्धि को प्राप्त कराते हैं, इसमें संशय नहीं है। अपान और प्राण का ऐक्य और संचित मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध भी युवा होता है। अपान के ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि मण्डल में पहुँचने पर वायु से ताड़ित होने के कारण अग्नि शिखा दीर्घ हो जाती है ॥६४—६६॥

व्याख्या—नीचे की ओर गतिशील प्राणापान, नाद और बिन्दु यह सब एकता को प्राप्त हो जाते हैं, जिससे कि

योग की परम सिद्धि होती है। उससे बुढ़ापा दूर होकर युवावस्था आ जाती है अर्थात् वली, पलित, झुर्री आदि मिटकर शरीर सुन्दर हो जाता है।

मूलबन्ध के करने से नीचे की गति वाला अपान वायु ऊपर चढ़ता हुआ अग्निमण्डल में पहुँच जाता है अर्थात् नाभि के नीचे के भाग में विद्यमान त्रिकोण जठराग्नि में प्रविष्ट होता है, तब अपान से ताड़ित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यंतप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥६७॥
तेन कुंडलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दंडाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥६८

टीका--तब अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीर्घ हुई शिखा से गर्म होकर ऊपर की ओर गति वाले प्राण में जा पहुँचते हैं। उससे शरीरस्थ जठराग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे भले प्रकार सन्तप्त होकर सुप्त कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत् होकर डंडे से पिटी हुई सर्पिणी के समान सीधी हो जाती है ॥६७--६८॥

व्याख्या—कुण्डलिनी-जागरण के लिए तीनों बन्ध किये जाते हैं। जालन्धर बन्ध द्वारा वायु को रोकने के लिए कण्ठ का संकोच किया जाता है, मूलबन्ध द्वारा गुदा का आकुंचन अधोभाग में होता है और मध्य में उड्डियान बन्ध से प्राण को खींचा जाता है। इस प्रकार सब ओर रोका जाने पर प्राण सुषुम्ना में दौड़ता है। अपान ऊपर चढ़कर अग्नि से मिलता और वह अग्नि प्राण स्थान में आकर प्राणवायु से मिलकर

सोती हुई कुण्डलिनी को ताड़ित करता है, तब वह कुण्डलिनी जागकर सीधी हो जाती और सुषुम्ना के मुख में प्रवेश करती है।

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबंधः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥६९

टीका—फिर वह कुण्डलिनी सर्पिणी के बिल में प्रविष्ट होने के समान ब्रह्मनाड़ी में प्रविष्ट होती है। इसलिए योगियों को नित्यप्रति मूलबन्ध करना चाहिए ॥६९॥

व्याख्या—इस श्लोक में मूलबन्ध करने का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि कुण्डलिनी को जगाकर सुषुम्ना में प्रविष्ट कराने के लिए मूलबन्ध किया जाना आवश्यक है। इसीलिए योगाभ्यासी पुरुषों को मूलबन्ध का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

जालन्धर बन्ध

कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बंधो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥७०॥
बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभो जलम् ॥
ततो जालन्धरो बंधः कंठदुःखौघनाशनः ॥७१
जालंधरे कृते बंधे कंठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥७२
कंठसंकोचेनैव द्वे नाड्यौ स्तंभयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥७३

टीका—कण्ठ का संकोच करके हृदय पर ठोड़ी को दृढ़ता से लगावे, यह जरामृत्यु का नाश करने वाला जालन्धर

जा सकता है। पुरुष को अपने ही नहीं, स्त्री के भी रज की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि रज या वीर्य ही मनुष्य का जीवन है, यदि वही शरीर से निकल गया तो चाहे मृत्यु न भी हुई हो, तो भी मृत्यु के ही समान है।

इसमें यह भी समझ लेना चाहिए कि यदि पतन से पूर्व बिन्दु का क्षरण न रोका जा सके तो पतित हुए बिन्दु का आकर्षण किया जा सकता है। परन्तु इसका सिद्धि अभ्यास से ही सम्भव है। पतित हुए बिन्दु को उसके आश्रय स्थान मस्तक मे पुनर्स्थापित करना चाहिए।

बिन्दु चित्त के अधीन है। यदि चित्त में कामवासना का आधिक्य है, उत्तेजना बढ़ गई है तो हो सकता है कि बिन्दु का पतन हो जाय। इसीलिए स्त्री के विषय में चिन्तन का भी योगाभ्यासी के लिए निषेध किया जाता है। क्योंकि चित्त के चंचल होने पर बिन्दु भी चलायमान हो जाता है और चित्त स्थिर है तो शुक्र के पतन का अवसर ही नहीं आ सकता।

'शुक्रायत्तं च जीवितम्' कहकर ग्रन्थकार ने प्रकट किया है कि शुक्र है तो जीवन है और शुक्र नहीं तो जीवन भी नहीं। इसीलिए आवश्यक है कि शुक्र की रक्षा की जाय। क्योंकि शुक्र के रक्षित न रहने पर शरीर दुर्बल, रोग-ग्रस्त, और शक्ति-हीन हो जाता है और धीरे-धीरे वह मनुष्य मृत्यु मुख में पहुँच जाता है।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥९२॥
वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुन्सोः स्वांगलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥
अयं योगः पुण्यवतां धीराणाँ तत्त्वदर्शिनाम्
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

टीका—सहजोली और अमरोली यह दोनों मुद्राएँ वज्रोली के ही भेद है। जलाये हुए कण्डों की सुन्दर भस्म का जल में डाल दे और मैथुनानन्तर उत्साह रहित होकर सुखपूर्वक बैठेहुए स्त्री-पुरुष उस भस्म को अपने अगों पर लेपन करे। यह सहजोली कही जाने वाली क्रिया योगियों द्वारा सदैव श्रद्धा के योग्य है तथा यह शुभकारी योग भोग और मोक्ष दोनों देने वाला है। यह योग पुण्यवान, धीर, तत्वदर्शी और द्वेषरहित पुरुषों को सिद्ध होता है, द्वेषयुक्तों को सिद्ध नहीं होता ॥९४-९५॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा के समान ही सहजोली और अमरोली मुद्राएं भी हैं। कुछ विद्वान् इन्हें भिन्न मानते हैं और कुछ किंचित् विशेषता के साथ एक ही समझते है इसीलिए कुछ संहिताओं में सहजोली और अमरोली का वर्णन नहीं किया है।

सहजोली के साधक स्त्री-पुरुष संसर्ग के अनन्तर कण्डों की भस्म को जल में मिलाकर अपने सर्वांग अर्थात् शिर, ललाट, नेत्र, हृदय, भुजा, उदर, नाभि आदि पर लेप करें। वज्रोली के साथ इस भस्म लेपन को ही सहजोली कहा गया है।

अमरोली मुद्रा

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमांबुधारां विहाय निःसारतयांत्य-धारा। निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खंडमतेऽमरोली ॥९६॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिनेदिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥९७॥
अभ्यासान्निःसृतां चांद्री विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमांगेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥९८॥

टीका - अधिक पित्त वाली बिन्दु-धारा को तथा सार-अंश-रहित अन्त्य धारा को कुछ-कुछ छोड़कर शीतल मध्य धारा का सेवन किया जाता, उसे कापालिक मत में अमरोली मुद्रा कहते हैं। जो साधक नासिका द्वारा अमरी का नित्य पान करता हुआ वज्रोली का अभ्यास करता है उसे अमरोली कहते हैं। उस अभ्यास से निःसृत चन्द्रामृत को भस्म में मिलाकर उत्तम अंगों में धारण करे तो उसको दिव्य दृष्टि हो जाती है ॥९६—९८॥

व्याख्या - प्रथम बिन्दु धारा में पित्त की अधिकता कही है और दूसरी अन्त्यधारा में सारांश का अभाव बताया है। इन दोनों धाराओं का शनैः शनैः त्याग करना चाहिए अर्थात् पित्तादि दोषों से युक्त और निःसार धारा को छोड़कर शीतल, शान्तिप्रद धारा का सेवन करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि बिन्दुरूप धारा का सेवन (क्षरण) लाभकर नहीं है। शिवांबुरूप अमरी का नासिका द्वारा पान करता हुआ मैथुन द्वारा वज्रोली का अभ्यास करे, परन्तु बिन्दु-पातन करे।

'शीतल मध्य धारा' का अभिप्राय चन्द्रामृत से है, उसे गोबर की भस्म में मिलाकर श्रेष्ठ अंगों में मलना चाहिये, निकृष्ट अंगों में मलने का निषेध समझे। उत्तमांगों में शिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ, हृदय और भुजा आदि माने जाते हैं। 'दिव्य दृष्टिः प्रजायते' का अर्थ है नेत्रों की दृष्टि तीव्र हो जाना,

उसे दूरदर्शन-शक्ति भी कह सकते हैं। इस प्रकार यह मुद्रा खण्ड कापालिक मत में अमरोली कहलाती है।

नारी की वज्रोली के साधन कथन

पुन्सो बिन्दुं समाकुंच्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या सापि योगिनी ॥९९
तस्याःकिंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्या शरीरेनादश्च बिंदुतामेव गच्छति ॥१००

टीका– सम्यक् अभ्यास के कौशल से जो नारी पुरुष के बिन्दु का आकर्षण करके वज्रोली मुद्राके द्वाराअपने रज की रक्षा करती है तो उसे भी योगिनी समझना चाहिए। उस नारी का रज किंचित् भी नाश को प्राप्त नहीं होता, इसमें सशय नहीं है। उसके शरीर में नाद भी बिन्दु रूप हो जाता है ॥९९--१००॥

व्याख्या– इसमें स्त्री के वज्रोली-साधन का वर्णन हुआ है इस साधन के करने से स्त्री का रज भी अपने स्थान से च्युत नहीं होता और मूलाधार से उठा हुआ नाद हृदय के ऊपर पहुँच कर बिन्दुरूप हो जाता है। स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य का शरीर से बाह्य संयोग होने से सन्तानोत्पत्ति होती है, परन्तु दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। उन दोनों में बिन्दु चन्द्रमय और रज सूर्यमय है, इनका योग होने से परम-पद की प्राप्ति हो जाती है।

स बिंदुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥
रक्षेदाकुंचनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

टीका—यदि इसका अभ्यास करने वाला साधक यदि अल्प आहार करता है तो प्रदीप्त जठराग्नि उसके शरीर को उसी समय भस्म कर देती है। प्रथम दिन के अभ्यास में क्षण भर के लिए नीचे शिर और ऊपर पांव करने चाहिए। फिर दिनों दिन अभ्यास को एक-एक क्षण करके बढ़ावे तो छः महीने में वली, पलित अदृश्य हो जाते हैं। यदि एक प्रहर नित्य अभ्यास करे तो काल को भी जीत सकता है ॥८१—८२॥

व्याख्या—अल्प भोजन करने से इस मुद्रा के अभ्यासी साधक की जठराग्नि उसके शरीर को नष्ट कर डालती है। इसलिए यथेच्छ भोजन कर सके तो ही इस मुद्रा का अभ्यास करे।

इसमें नीचे शिर और ऊपर पाँव करके एक-एक क्षण नित्य बढ़ाते हुए अभ्यास करना चाहिए। इससे केशों का श्वेत होना, झड़ना आदि नष्ट होता है तथा तीन घण्टे नित्य अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो सकती है।

इस सब से यह भी प्रकट होता है कि योग की महिमा प्रारब्ध कर्म से भी बढ़कर है, क्योंकि योग के द्वारा प्रारब्ध के फल को भी नष्ट किया जा सकता है। इसलिए साधक को योगाभ्यास में प्रयत्नशील रहना ही श्रेयस्कर है।

वज्रोली मुद्रा

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलिं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥८४॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥८५॥
यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥८६॥

टीका—जो योगी वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता है, वह योग-शास्त्र के नियमों का पालन न करके स्वेच्छा पूर्वक व्यवहार करे तो सिद्धिभाजन होता है। वज्रोली के साधक के लिए जो दो दुर्लभ वस्तुएं हैं, उन्हें मैं बताता हूँ। उनमें एक तो दूध है और दूसरी वश में रहने वाली स्त्री है। पुरुष हो या नारी बिन्दु को झरने से रोकने या आकुंचन करने का धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो सकती है। शीशे की बनी हुई नली से धीरे-धीरे उपस्थ के छिद्र में वायु के संचारार्थ प्रयत्नपूर्वक इस प्रकार फूत्कार करे, जिस प्रकार कि अग्नि को प्रज्वलित करने के लिए फूंक मारते हैं ॥८३—८६॥

व्याख्या—वज्रोली मुद्रा का ज्ञाता पुरुष शास्त्र के नियमों की उपेक्षा करके भी किसी प्रकार वज्रोली मुद्रा का साधन करता है, उसे भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इसका अभ्यास करने वाले के लिए दूध और स्त्री दुर्लभ वस्तु हैं। अर्थात् साधक को इनसे बचना चाहिए। कुछ लोगों का मत है कि अभ्यास काल में दुग्ध पान उचित है, परन्तु कुछ विद्वान् इसे ठीक नहीं मानते और यह कहते है कि स्त्री-संसर्ग के पश्चात निर्बलता को प्राप्त हुई इन्द्रियों की प्रबलता के लिए तो दुग्ध-पान हितकर है, परन्तु वज्रोली के साधक के लिए अयोग्य है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि किस प्रकार हो ? इस पर कहते हैं कि पुरुष या स्त्री कोई भी हो बिन्दु को झरने से रोकने के

लिए उसके ऊपर आकुंचन का अभ्यास करना चाहिए। योगतत्वोपनिषत् में कहा है—

> वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धि भाजनम्।
> लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
> अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्॥

अर्थात्—जो वज्रोली का अभ्यास करे वह सिद्धि का पात्र होता है। यदि वज्रोली की सिद्धि प्राप्त करले तो योग की सिद्धि उसके हाथ में ही समझो। वह भूत, भविष्य का भी ज्ञाता हो जाता है और उसे आकाश-गमन की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

शीशे की चौदह अंगुल लम्बी और उपस्थ के छिद्र में प्रविष्ट होने योग्य मोटी सलाई बनवाकर उसे उपस्थ में प्रवेश करने का अभ्यास करे। प्रथम दिन केवल एक अंगुल घुसावे, फिर क्रमशः एक-एक अंगुल नित्य बढ़ाता हुआ बारह अंगुल तक ले जाय। बस बारह अंगुल सलाई के प्रवेश से ही उपस्थ का मार्ग शुद्ध हो जायगा।

तदनन्तर चौदह अंगुल लम्बी एक सलाई और बनवाये जो कि टेढी और ऊपर की ओर मुख वाली हो। उसे भी क्रमशः बारह अंगुल ही प्रविष्ट करे, उस टेढे और ऊध्वमुख वाले भाग को बाहर रखे। फिर स्वर्णकार की धौंकनी के नल के समान नलका लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट टेढ़ी और ऊर्ध्वमुख की सलाई के मध्य में घुसाकर फूत्कार करने से उपस्थ-मार्ग का शोधन हो जाता है।

इसके पश्चात् जल के आकर्षण का अभ्यास करे और जब वह सिद्ध होजाय तब बिन्दु के ऊर्ध्व आकर्षण का अभ्यास करना चाहिए। बस, इसकी सिद्धि होने पर ही वज्रोली मुद्रा सिद्ध हो जाती है।

नारीभगे पतद्बिंदुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥८७॥
एवं संरक्षयेद्बिंदुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥८८॥
सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिंदुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥८९॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥९०॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित् ॥९१॥

टीका—योनि में पतित होते हुए बिन्दु का अभ्यास करता हुआ ऊर्ध्व आकर्षण करे। यदि बिन्दु चलित हो जाय तो भी उसका ऊपर को आकर्षण करके रक्षा करनी चाहिए। इस प्रकार जो योगविद् बिन्दु की रक्षा सम्यक् प्रकार करता है, वह मृत्यु को भी जीत लेता है। क्योंकि बिन्दु के पतन से मृत्यु और बिन्दु की रक्षा से ही जीवन है। मनुष्यों का शुक्र चित्त के आश्रित है और जीवन शुक्र के आश्रित है, इसलिए शुक्र और मन दोनों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। ऋतुमती स्त्री के रज की और अपने बिन्दु की भी उक्त प्रकार के अभ्यास से रक्षा करे। योगवेत्ता पुरुष मेढ़ द्वारा रज और बिन्दु के ऊपर की ओर आकर्षण से रक्षा कर सकता है ॥८७—९१॥

व्याख्या—पतित हुआ बिन्दु भी उक्त मुद्रा के अभ्यास के द्वारा आकर्षित करके अपने पूर्व स्थान पर स्थापित किया

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ।।१०३।।

टीका—वज्रोली के अभ्यास से वह बिन्दु और रज दोनों एक होकर अपने शरीर में ही स्थित हो जाँय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। जो स्त्री योनि-संकोच द्वारा ऊर्ध्व ले जाकर रज की रक्षा करे वह योगिनी है। उसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान हो जाता तथा निश्चय ही खेचरी सिद्ध हो जाती है। वज्रोली के अभ्यास से अवश्य ही देह सिद्धि होती है। यह पुण्योत्पादक योग भोगों के भोगने पर भी मुक्तिदायक होता है ।।१०१—१०३।।

व्याख्या—उक्त प्रकार से अभ्यास सिद्ध करने वाली स्त्री को त्रिकाल का ज्ञान होता है। रूप-लावण्य की प्राप्ति होकर शरीर में दिव्यता का समावेश होता है। अथवा जो सिद्धियाँ सिद्ध पुरुष को प्राप्त होनी कही हैं, सभी वज्रोली की साधिका योगिनी को प्राप्त हो जाती हैं—

कुण्डलिनी के पर्याय कथन

कुटिलांगी कुंडलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुंडल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ।।१०४।।

टीका—कुटिलांगी, कुण्डलिनी, भुंजगी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती यह सब पर्यायवाचक हैं ।।१०४।।

व्याख्या—यहाँ कुण्डलिनी शक्ति के सात पर्यायवाचक नामों का वर्णन किया है, जिससे जिज्ञासु को यह समझने में कठिनाई न हो कि यह सभी नाम कुण्डलिनी के ही हैं। क्योंकि स्थलभेद से ग्रन्थों में कुण्डलिनी के अर्थ में उक्त में से कोई भी नाम मिल सकता है।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुंचिकया हठात् ।
कुंडलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥
येन मार्गेण गंतव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥१०६॥
कंदोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बंधनाय च मूढ़ानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

टीका—जिस प्रकार कुंजी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोले जाते हैं, उसी प्रकार योगी कुण्डलिनी के द्वारा मोक्ष के द्वार को खोलते हैं। जिस मार्ग से निरामय ब्रह्मस्थान को जाते हैं, उसी द्वार के मुख को ढककर वह परमेश्वरी सोती है। कन्द ऊर्ध्व भाग में सोती हुई कुण्डलिनी योगियों के लिए मोक्ष के निमित्त होती है, परन्तु मूढ़ों के लिए बन्धन-प्रद हो जाती है, जोउसे जानता है वही योग का जानने वाला है ॥१०५—१०७॥

व्याख्या—कुण्डलिनी शक्ति मोक्ष के द्वार को खोल सकती है ; परन्तु वह निरामय ब्रह्मपद को जाने वाले मार्ग को ढककर सोती रहती है। वह मूर्खों या अज्ञानियों के लिए बन्धन में डालने वाली है, जब कि योगाभ्यासियों को उससे मोक्ष प्राप्त हो सकती। इसलिए अभ्यास से पूर्व इसके विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और इसके रहस्य को भले प्रकार समझ लेना चाहिए।

कुण्डलिन्यां समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥
—योगचूडामन्युपनिषत्

अर्थात्—प्राणधारिणी गायत्री कुण्डलिनी से ही उत्पन्न होती है। यही प्राणविद्या और महाविद्या है, जो इस विद्या को जानते हैं वही वेद के जानने वाले हैं।

कुंडली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरंडां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥
इडा भगवती गङ्गा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये बालरंडा च कुण्डली ॥११०॥

टीका—कुण्डलिनी का आकार कुटिल, सर्प के समान कहा जाता है, जो इस शक्ति का चालन करता है, वह मुक्त है, इसमें संशय नहीं है। गंगा, यमुना के मध्य में तपस्विनी बालरंडा है, उसे बलपूर्वक ग्रहण करना ही परमपद है। इडा भगवती गंगा और पिंगला यमुना नदी है तथा इडा-पिंगला के मध्य में जो कुण्डली है, वही बालरण्डा है ॥१०८—११०॥

व्याख्या—कुण्डलिनी का आकार सर्पिणी जैसा होता है वह साढ़े तीन कुण्डल मारे हुए रहती है। इस शक्ति को चालन करने वाला साधक अवश्य मुक्त हो जाता है। गंगा, यमुना कहकर यहाँ इडा और पिंगला नाड़ियों का माहात्म्य वर्णन किया है। अर्थात् इडा नाड़ी गंगा के समान और पिंगला नाड़ी यमुना के समान पवित्र हैं। इनके मध्य में तपस्विनी बालरण्डा के नाम से स्वयं कुण्डलिनी शक्ति विद्यमान रहती है। यहाँ बालरण्डा का अर्थ कुछ न खाने वाली कहा है, इसका तात्पर्य हुआ प्रसुप्ता, उस सोती हुई कुण्डलिनी को हठयोग के द्वारा जगाकर परमपद प्राप्त करने का उपदेश है।

शक्तिचालन मुद्रा

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य
नित्यं परिचालनीया ॥११२॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरंगुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टितांबरलक्षणम् ॥११३॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥११४॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुंडलीम् ।
कुर्यादनंतरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥११५॥

टीका - सोती हुई भुजंगी की पूंछ को पकड़कर प्रबोधन करने से वह शक्ति निद्रा छोड़कर ऊपर उठकर स्थित हो जाती है। वह फणावती प्रातःकाल, सायकाल में आधे प्रहर तक सूर्य से परित परिधान से ग्रहण करके नित्य चलानी चाहिए। मूल स्थान से विलाँद भर ऊपर चार अंगुल विस्तार वाले कोमल, श्वेत और वेष्टित किये वस्त्र के समान कहा जाता है। वज्रासन में स्थित होकर दोनों पाँवों को एड़ियों के पास से हाथों द्वारा दृढ़ता से धारण कर उस कन्द का प्रपीडन करे। वज्रासन में स्थित हुआ योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडली को जाग्रत् करे ॥१११--११५॥

व्याख्या—पूंछ पकड़ कर कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय यह है कि प्राणनिरोध के अभ्यास से वायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है, उस अभ्यास को सिद्ध करना चाहिए। इसका चालन करने के लिए प्रातः, सायं दोनों समय डेढ़-डेढ़ घंटे नित्य प्रति अभ्यास करना चाहिए।

मूल स्थान से बिलांद भर ऊपर यानी नाभि स्थान और उपस्थ के मध्य में कन्द स्थान कहलाता है। गोरक्षसहिता में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है कि नाभि के नीचे कन्द की जो योनि है, वह पक्षी के अण्डे समान के समान है, जिसमें से बहत्तर नाड़ियाँ उत्पन्न होकर शरीर के सभी अंगों में गई हैं। वह कन्दस्थान कोमल और उज्वल वस्त्र के समान एक बिलांद भर लम्बा और चार अंगुल चौड़ा होता है।

वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पाँवों को पकड़ कर नाभि के नीचे के भाग में कन्द को पीड़ित करे। इस प्रकार करता हुआ साधक शक्तिचालन मुद्रा के साथ भस्त्रा कुम्भक के द्वारा कुंडलिनी को जाग्रत् करना चाहिए। परन्तु इससे यह प्रकट होता है कि भस्त्रा कुम्भक के साथ वज्रासन ही करे. अन्य आसन न करे।

भानोराकुंचनं कुर्यात्कुंडलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥११६॥
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥११७॥
तेन कुंडलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥११८॥

टीका—सूर्य का आकुंचन करने से कुंडली का चालन होता है। इस क्रिया को करने वाले योगी को मृत्यु के मुख में जाने पर भी मृत्यु का भय कहाँ है? इसका चालन निर्भय रूप से दो घड़ी पर्यन्त करे तो सुषुम्ना गई हुई यह शक्ति ऊपर खिंचती है। वैसा होने पर वह कुंडलिनी सुषुम्ना के मुख में चली जाती है, इसलिए प्राण भी स्वतः सुषुम्ना में चला जाता है ॥११६—११८॥

व्याख्या—नाभिदेश के आकुंचन से वहाँ स्थित सूर्य (अग्नि) का आकुंचन हो जाता है और सूर्य का आकुंचन होने पर ही शक्ति का चालन होता है। इस प्रकार का चालन दो मुहूर्त्त तक करने से ही कुण्डलिनी सुषुम्ना में जाकर ऊपर की ओर खिंचती है उसके द्वारा सुषुम्ना का मुख छोड़कर ऊपर जाने के कारण प्राण के लिए सुषुम्ना का मुख खुला मिलता है, इसलिए वह भी बाधा-रहित रूप से उसमें घुसकर ऊपर की ओर चढ़ता है। 'कुण्डलीं चालयन्प्राणान्भेदयन्शशिमण्डलम्' (ब्र. वि उ.) के अनुसार कुण्डली और प्राण का चालन करके चन्द्रमण्डल का भेदन करे। योगकुण्डल्युपनिषत् में कहा है—

अधस्तात्कुंचनेनाशु कण्ठ संकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥

अर्थात्—अधोभाग में गुदा का आकुंचन, ऊर्ध्वभाग में कण्ठ का सकोचन और मध्य में पश्चिमतान से प्राण का आकर्षण करे तो (सब ओर से रोका हुआ) प्राण ब्रह्मनाडी अर्थात् सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुंधतीम्।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥११६॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥१२०॥

टीका—इसलिए नित्यप्रति के अभ्यास द्वारा सुखपूर्वक सोती हुई अरुन्धती का चालन करे, उसके चालन करने मात्र से ही योगी सब रोगों से मुक्त हो जाता है। जिसने शक्ति का चालन कर लिया वह योगी सिद्धि का पात्र हो गया। बहुत क्या कहें ? वह लीलापूर्वक काल को भी जीत लेता है। ।११९–१२०।।

व्याख्या—व्याख्या सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर चालन करने वाला साधक सभी रोगों से रहित एवं पूर्ण स्वस्थ हो जाता है, मृत्यु भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। सभी विघ्न बाधाओं और व्याधियों को वह क्रीडा के समान उल्लंघन करने में समर्थ होता है। इस प्रकार शक्ति के चालन में कुशल योगी मृत्यु का भी विजेता हो जाता है।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मंडलाद्दृश्यते सिद्धिः कुंडल्याभ्यासयोगिनः ॥१२१॥
कुंडलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥१२२॥

टीका—जो साधक ब्रह्मचर्य परायण रहता हुआ नित्य मिताहार करता है, उस कुण्डलिनी के अभ्यासी योगी को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुण्डली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुम्भक ही विशेष रूप से करता है, उस अभ्यास परायण यमी को यम का भय भी कहाँ ? ॥१२१—१२२॥

व्याख्या— ब्रह्मचर्य-परायण अर्थात् इन्द्रिय संयम सदैव तत्पर योगी ही कुण्डलिनी के जागरण का अभ्यास कर सकता है। यदि अभ्यास करने के दिनों में ब्रह्मचर्य-रहित हो जाय तो तो बिन्दु का क्षय होने के कारण उसका शरीर रोगी होकर शनैः शनैः काल कवलित हो सकता है और सिद्धि तो उसे हो ही नहीं सकती।

'मन्डल' पद काल का वाचक है, चालीस दिन के परिमाण को मण्डल कहते हैं। विधि पूर्वक कुन्डलिनी-चालन का अभ्यास करने वाला योगी एक मन्डल के समय में ही सिद्धि का दर्शन कर लेते है अर्थात उन्हें सिद्धि मिल जाती है। परन्तु इसके लिए उन्हें भस्त्रा कुम्भक विशेष रूप से करना चाहिए।

यमी का अर्थ है 'यम' का पालन करने वाला। योगी को यम-नियमों का पालन आवश्यक होता है और इसीलिए वह यम-नियम-परायण रहता है. अतः 'यमी' शब्द का प्रयोग साधक के अर्थ में हुआ है। इससे यह प्रकट किया गया कि साधक मृत्यु से भी नहीं डरता। उसकी साधना में कितने ही विघ्न क्यों न आकर उपस्थित हो जाँय, वह धैर्य और साहस पूर्वक उनका उल्लंघन कर जाता है। परन्तु जो यमों का पालन नहीं करता, उसे जन्म-मरण के भय में पड़ना होता है।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोभने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुंडल्यभ्यसनादृते ॥१२३॥
इयं तु मध्यमा नाडी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरया भवेत् ॥१२४॥

टीका—कुन्डलिनी के अभ्यास विना बहत्तर हजार नाड़ियों मल-शोधनार्थ उनके प्रक्षालन का अन्य उपाय ही क्या

है ? यह मध्य नाड़ी योगियों के दृढ़ अभ्यास द्वारा आसन, प्राणायाम और मुद्रा से सरल होती है ॥१२३—१२४॥

व्याख्या—शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, सामान्य दशा में वे सभी मल से भरी रहती हैं। परन्तु कुन्डलिनी चालन का अभ्यास करने से वे नाड़ियाँ स्वयं धुल-धुल कर शुद्ध हो जाती हैं। इसलिए श्लोक में कुन्डलिनी चालन के अभ्यास का कर्त्तव्य रूप से संकेत है।

मध्य नाड़ी का अर्थ सुषुम्ना है, क्योंकि यही नाड़ी इडा और पिंगला के मध्य में रहती है। इसे सरल अर्थात् उपयोगी बनाने के लिए आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि साधनों की आवश्यकता होती है, क्योंकि उन्हीं साधनों के सिद्ध होने पर शक्ति प्रबुद्ध होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होती है।

अभ्याये तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना।
रुद्राणी वा यद्रा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२

टीका—अभ्यास काल में अनिद्रित रह कर जो साधक मन को समाधि में लीन कर लेते हैं, उन्हें रुद्राणी आदि मुद्राएं कल्याणमयी होकर सिद्धि के देने वाली होती हैं ॥१२५॥

व्याख्या--अभ्यास के समय साधक को आलस्य और निद्रा का परित्याग करना चाहिए, क्योंकि उनके होने पर समाधि में मन का लय नहीं होता, वरन् वह तो निद्रा-रहित अवस्था में ही हो सकता है। चित की एकाग्रता अनिद्रित अवस्था में ही बनती है और उसी को समाधि कहते हैं।

रुद्राणी मुद्रा का अभिप्राय शाम्भवी मुद्रा से है। 'लक्ष्येऽन्तर्वाह्ययां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा

भवति' (मन्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'लक्ष्य के भीतर और बाहर की दृष्टि जब निर्मिमेष रूप से स्थिर हो जाती है, तब यह शाम्भवी मुद्रा होती है।' और इस मुद्रा का फल उसी उपनिषत् में तज्ज्ञानेन संसार निवृत्तिः, तत्पूजनं मोक्षफलदम्' कह कर उसके ज्ञान से संसार की निवृत्ति और पूजन से मोक्ष की प्राप्ति बताया है ।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥१२६॥

टीका—राजयोद्व के बिना पृथिवी, निशा और मुद्रा विलक्षण हों तो भी शोभित नहीं होती ॥१२६॥

व्याख्या—इसमें राजयोग के बिना आसनादि अङ्गों की निष्फलता कही गई है। चित्तवृत्ति को अन्य विषयों से रोक कर आत्मा में निर्विकल्प रूप से योजित करना ही राजयोग है। जब तक साधक इस प्रकार की उपलब्धि में असमर्थ रहता है, तब तक पृथिवी अर्थात आसन, निशा अर्थात् कुम्भक, विचित्र मुद्रा अर्थात महामुद्रा आदि सभी निरर्थक हैं।

कुछ विद्वानों ने पृथिवी का अर्थ स्थिरता भी किया है, क्योंकि पृथिवी स्थिर रहती है और वैसी स्थिरता राजयोग अर्थात् चित्त वृत्ति के निरोध से ही हो सकती है। निशा का अर्थ कुम्भक इसलिये किया है कि जैसे रात्रि में राज पुरुषों का आवागमन नहीं रहता वैसे ही कुम्भक में प्राण का संचार रुका रहता है। परन्तु यह प्राणावरोध तब तक निष्फल है जब तक कि चित्त वृत्ति को आत्म-विषयक विचार में लीन न कर लिया जाय। यही बात महामुद्रा आदि पर भी लागू होती है कि वे कितनी भी महत्वपूर्ण क्यों न हो, चित्तवृत्ति असयमित है तो उसका महत्व किसी उपयोग का नहीं।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥१२७॥
इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

टीका—वायु-धारण की सम्पूर्ण विधि का अभ्यास मन लगा कर करे, उससे भिन्न किसी भी कार्य में मनीषी पुरुष को मनोवृत्ति नहीं लगानी चाहिए। आदिनाथ शिवजी ने यह दश मुद्रा बताई हैं। उनमें से कोई एक मुद्रा भी यमी (योगी) के लिए महासिद्धि के देने वाली हो सकती है ॥१२७—१२८॥

व्याख्या—प्राणायाम आदि की सभी विधियों को चंचल मन से न करे, वरन् मन को स्थिर करके उसी में लगा दे, तभी सफलता मिल सकती है। योगाभ्यासी पुरुष का कर्त्तव्य है कि वह मनो को किसी अन्य विषय की ओर न जाने दे। ऊपर जो दश मुद्राएं कही हैं वह आदि नाथ रूप शिवजी द्वारा वर्णित हैं। उनमें से कोई-सी भी मुद्रा अभ्यास से सिद्धिप्रद हो सकती है।

सद्गुरु प्रशंसा

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्री गुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥
तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
आणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवंचनम् ॥१३०॥

टीका—मुद्राओं के उपदेश को जो साम्प्रदायिक रूप से देता है, वही श्री गुरुदेव स्वामी और साक्षात् ईश्वर है। उसके

वाक्यों में तत्पर होकर जो साधक मुद्रा के अभ्यास में सावधान होने पर अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति और काल के वंचन की उपलब्धि प्राप्त कर सकते हैं ।।१२९—१३०।।

व्याख्या—सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ नाथ सम्प्रदाय है जो कि श्री आदि नाथजी से ही प्रारब्ध हुआ था। उस सम्प्रदाय के उपदेश को जो सद्‌गुरु प्रदान करे, वह निश्चय ही साक्षात् रूप से परमेश्वर है। अर्थात् सम्प्रदाय के अनुसार योग का उपदेश करने वाले गुरु के वचन में जिज्ञासु को श्रद्धा और विश्वास रखते हुये, उन्हीं के अनुसार चलना चाहिए। गुरु के वचनों में इस प्रकार परायण जिज्ञासु समाहित चित्त से योगाभ्यास में तत्पर हो जाय तो उसे अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ तो प्राप्त होती ही है, साथ ही वह मृत्यु के उल्लघन में भी समर्थ होता है।

।। हठयोग प्रदीपिका का तृतीयोपदेश समाप्त ।।

चतुर्थ उपदेश

समाधि वर्णन

नमः शिवाय गुरवे नादबिंदुकलात्मने ।
निरंजनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥१॥
अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥२॥

टीका—शिवरूप गुरु को नमस्कार है, जो कि नाद, बिन्दु कलारूप हैं। उनके नित्य परायण रहने से निरंजन पद को प्राप्त होता है। इस अवसर पर मैं समाधि के श्रेष्ठ क्रम को कहता हूँ, जो कि सुख का उपाय रूप मृत्यु का नाशक और परम ब्रह्मानन्द का कर्त्ता है ॥१—२॥

व्याख्या—गुरु अपनी प्रसन्नता और उपदेश के द्वारा सभी विघ्नों का हरण करने में समर्थ है। इसीलिए विघ्नों की आशंका करता हुआ ग्रन्थकार चतुर्थ उपदेश प्रारम्भ करने से पूर्व गुरु को ईश्वर रूप मानकर उनको नमस्कार करता है।

गुरु को नाद, बिन्दु, कला रूप से विद्यमान कहा है। काँसी के घण्टा के समान शब्द नाद, अनुस्वार के पश्चात् होने वाली ध्वनि बिन्दु और नाद का एक देश कला कहलाता है। यह तीनों ही शिवरूप माने गये हैं। इसलिए शिवरूप गुरु में परायण साधक नादानुसधान में परायण रहता हुआ मायोपाधि रूप निरंजन शुद्ध ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है।

द्वितीय श्लोक में समाधि के वर्णन की प्रतिज्ञा निहित है। यह समाधि क्रम आदिनाथ द्वारा वर्णित, समाधि के सभी भेदों में श्रेष्ठ है। इससे मृत्यु का निवारण होना व्यक्त किया है, जिसका अभिप्राय है कि शरीर त्यागने की इच्छा होने पर ही मृत्यु हो सकती है। अथवा उत्पत्ति और मन-वासना का नाश होने पर जीवन्मुक्तिरूप सुख की प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार 'मृत्युघ्न' कहना सार्थक है।

ब्रह्मानन्दकरं परम्' का आशय है कि प्रारब्ध कर्म का क्षय होने पर जब जीवात्मा-परमात्मा के अभेद का ज्ञान होने पर आत्यन्तिक ब्रह्मानन्द की प्राप्ति रूप मोक्ष हो जाता है, यही ब्राह्मनन्द है। श्रुतियों में भी यही कहा है कि आत्मज्ञान होने पर ज्ञानी जीवित रहता हुआ भी हर्ष-शोक से मुक्त रहता है। इस प्रकार निर्विकार रूप में अवस्थिति रूप जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

प्राप्त हुए भोगों के अनन्तर अन्त करण के गुणों की अधिकता होने पर औपाधिक रूप की अत्यन्त निवृत्ति हो जाती है। तब प्रति प्रसव से आत्यन्तिक रूप में अवस्थान सिद्ध होता है। तथा व्युत्थान का निरोध और समाधि का सस्कार मन में लीन हो जाते है, मन अस्मिता में लय को प्राप्त हो जाता है। अस्मिता महान् में लय होता और महान् का लय प्रधान में होता है। इस प्रकार अपने-अपने कारण में सभी कार्य लय को प्राप्त हो जाते हैं।

सम्प्रज्ञात समाधि में ज्ञात हुए आत्म तत्व का यथाथ निश्चय हाता है और अतात्विक अन्यथा भाव अधिकारिता का अप्रयोजक रहता है। मनुष्य को जो अन्तःकरण रूप उपाधि से मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय या वैश्य आदि हूँ, ऐसा व्यवहार

होता है, वह तात्विक नहीं है। इस प्रकार निज स्वरूप अवस्थिति के समान अन्तःकरण की सब वृत्तियों के निरोध से निज स्वरूपमें विद्यमानता की समाप्ति नहीं रह सकती इसका आशय यह है कि जीवन्मुक्ति की अवस्था होने पर साधक की स्थिति ब्रह्मरूप में रहती है और ग्रन्थकार के अनुसार यही परम गुरु ब्रह्मानन्द को उत्पन्न करने वाली अवस्था है जो शिवरूप की कृपा से ही प्राप्त हो सकती है।

शास्त्र का वचन है कि—

यथा घटश्च कलशः कुम्भश्चैकार्थ वाचकाः।
तथा मन्त्रो देवता च गुरुश्चैकार्थ वाचकाः॥

अर्थात्—जैसे घट, कलश और कुम्भ एक ही अर्थ के वाचक है, वैसे ही मन्त्र, देवता और गुरु भी एक ही तत्व के नाम हैं।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥३॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालंबं निरन्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥४॥

टीका—राजयोग, समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालंब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा और तुर्या—यह सब एक के ही वाचक हैं ॥३—४॥

व्याख्या—उपर्युक्त सभी नाम एक समाधि के ही हैं। आगे इन पर पूर्ण प्रकाश डाला जाता है—

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥५॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥६॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥७॥

टीका—जैसे जल और सैंधव मिलकर एक हो जाते हैं, वैसे ही आत्मा और मन का ऐक्य समाधि कहलाता है, जब प्राण समान रूप से क्षीण होता और मन भी लीन हो जाता है तब वह समरसता समाधि कही जाती है। उसी के समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों का ऐक्य होने पर सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं मन समाधि अवस्था कही जाती है ॥५—७॥

व्याख्या—जल में नमक डाल दें तो नमक घुलकर जल रूप हो जाता है और तब नमक का पृथक् अस्तित्व दिखाई नहीं देता, वैसे ही मनका आत्मा में लय हो जाने पर समाधि की अवस्था हो जाती है।

आत्मा में धारण किये मन का आत्मा से तादात्म्य होने पर आत्मा और मन का वह ऐक्य भी समाधि है। उसी प्रकार जीवात्मा-परमात्मा की तादात्म्यता में समाधि होती है। अन्नपूर्णोपनिषत् में भी यही कहा है—

समाधिः सविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति ।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥

अर्थात्—जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही समाधि है, क्योंकि आत्मा नित्य, सर्व व्यापी, कूटस्थ और निर्दोष है। समाधि में रहकर जब सर्वभूतों को नहीं

देखता, वरन् परमात्मा के साथ एक रस हो जाता है, तब वह केवल परब्रह्म ही हो जाता है।

इसका अभिप्राय यही हैकि जीव-ब्रह्म की एकता का भाव ही समाधि है।

राजयोग प्रशंसा

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥८॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥९॥
विविधैरासनैः कुंभैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥१०॥

टीका—राजयोग के माहात्म्य को तत्त्वरूप से कौन जानता है ? ज्ञान, मोक्ष, स्थिति और सिद्धि की प्राप्ति गुरु के उपदेश से ही होती है। जब तक सद्गुरु की कृपा न हो, तब तक विषयों का त्याग दुर्लभ है, तत्त्वज्ञान दुर्लभ है और सहज अवस्था भी दुर्लभ ही है। विविध प्रकार के आसन, विचित्र प्रकार के कुम्भक और करण आदि के द्वारा महाशक्ति के प्रबुद्ध होने पर प्राण शून्य में लीन हो जाता है ॥८—१०॥

व्याख्या—राजयोग की प्रशंसा करते हुए ही ग्रन्थकार ने 'को वा जानाति तत्त्वतः' कहा है। इसका आशय यह है कि राजयोग के माहात्म्य को कोई भी नहीं जानता, केवल गुरु ही जान सकते है क्योंकि आत्मज्ञान, विदेह मुक्ति, स्थिति अर्थात् निर्विकार रूप में अवस्थित रूप जीवन्मुक्ति और अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ गुरु के उपदेश से ही प्राप्त हो सकती हैं।

इन्द्रियों के विषय अत्यन्त प्रबल होते हैं, उनकी निवृत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है, परन्तु गुरु की कृपा हो तो उनके उपदेश से विषयों से विरक्ति हो सकती है। 'तत्त्व-दर्शन' का आशय है आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव, यह तो बहुत ही कठिन है, परन्तु सद्गुरु की कृपा से वह भी सुलभ हो जाता है।

सहजावस्था की प्राप्ति भी कोई सरल कार्य नहीं है। सहजावस्था का अर्थ है तुरीयावस्था। यदि सद्गुरु को प्रसन्न कर लिया जाय तो कोई कारण नहीं कि साधक को इस अवस्था की उपलब्धि न होजाय।

विविध प्रकार के आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि का अभ्यास गुरु की कृपा से ही सिद्ध होता है और उसके फल स्वरूप कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। उसके जागने पर ही प्राणवायु का शून्य में लय होना सम्भव है। शून्य का तात्पर्य ब्रह्मरन्ध से है और प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना सद्गुरु की कृपा से सुगम हो जाता है।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥११॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥१२॥

टीका—शक्ति-बोधकी उत्पत्ति और सर्व कर्मों का त्याग होने पर योगी को सहजावस्था की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है। जब प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होता और मन शून्य में चला जाता है, तब योग का ज्ञाता साधक अपने सब कर्मों को निर्मूल कर देता है ॥११—१२॥

व्याख्या—सब कर्मों का त्याग और कुण्डलिनी का जागरण सहजावस्था की प्राप्ति में सहायक होता है। साधक जब आसन लगाकर बैठता है तब शरीर के व्यापार का त्याग हो जाता है और उस व्यापार की विद्यमानता प्राण और इन्द्रियों में रही आती है। प्रत्याहारादि से मन का व्यापार भी छूट जाता है, परन्तु बुद्धि का व्यापार बना रहता है, जिसका अभाव श्रेष्ठ वैराग्य से ही हो सकता है। फिर भी कुछ रह जाता है तो समाधि के अभ्यास की प्रबलता उसे निर्मूल कर देती है और तब जिस निर्विकार स्वरूप में स्थिति होती है, वही सहजावस्था होती है।

जब कुण्डलिनी के सुषुम्ना में प्रविष्ट होने पर प्राणवायु भी सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है, तब मन का प्रवेश देश, काल और वस्तु के परिच्छेद आदि से शून्य ब्रह्म में होता है, जिससे योग का जानने वाला साधक चित्त का निरोध करता हुआ अपने सभी कर्मों को समूल नष्ट कर डालता है। यही इसका आशय है।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥१३॥
चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥१४॥

टीका—उस अमर को नमस्कार हैं, जिसने उस काल को भी जीत लिया है, जिसके मुख में यह चराचर जगत् पड़ा हुआ है। जब चित्त समत्व को प्राप्त हो जाता है और वायु सुषुम्ना में पहुँच जाता है, तब अमरोली, वज्रोली, सहजोली मुद्राएं सिद्ध होती हैं ॥१३—१४॥

व्याख्या—योगी पुरुष सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब अमर हो जाता है, वह दुःख के घोर कारण रूप काल को भी जीत लेता है। चराचर रूप यह सम्पूर्ण दृश्यमान जगत् उसी काल के मुख में पड़ा हुआ है, परन्तु योगी पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं है।

टीका—अमरोली, वज्रोली, सहजोली आदि मुद्राओं की सिद्धि समाधि के सिद्ध होने पर स्वयं ही सिद्ध हो जाती हैं। अन्तःकरण रूप चित्त ध्येय वस्तु के आकार प्रवाह को प्राप्त हो जाता है और प्राणवायु सुषुम्ना में घुसता है, तब चित्त की समता होने पर इन मुद्राओं की भले प्रकार सिद्धि हो जाती है।

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत्प्राणोऽपि
जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ।।१५।।

टीका—जब तक प्राण जीवित रहता है, तब तक मन भी नहीं मरता, फिर ज्ञान ही कहाँ से होगा। जो पुरुष प्राण और मन दोनों का लय कर देता है, वही मोक्ष को प्राप्त होता है, कोई अन्य पुरुष नहीं हो सकता ।।१५।।

व्याख्या—हठयोग के अभ्यास के बिना ज्ञान और मोक्ष की सिद्धि सम्भव नहीं है और हठ का अभ्यास तभी बन सकता है जब मनको वश में कर लिया जाय। परन्तु मन का वश होना तब तक असम्भव है, जब तक कि प्राण के साथ इन्द्रियाँ भी जीवित रहती हैं। इडा और पिंगला में जब तक प्राण बहता है तब तक उसका जीवित रहना मानते हैं, क्योंकि इडा, पिंगला को छोड़कर जब वह सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है तब मनुष्य की अवस्था मृतक जैसी हो जाती है।

इन्द्रियाँ जब तक अपने-अपने विषयों के ग्रहण में समर्थ रहती हैं, तब तक उनका जीवित रहना समझना चाहिए। उन विषयों की उत्पत्ति मन से होती है और जब तक मन उन विषयों को उत्पन्न करता रहता है, तब तक मनका जीवन रहता है। इस प्रकार इन्द्रिय और मन का अपने-अपने कार्य से निवृत्त हो जाना ही उनका मरण है।

इस प्रकार प्राण, मन और इन्द्रियों के चेष्टाशील रहने से आत्मसाक्षात्कार रूप अनुभव का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं। क्योंकि प्राण, मन और इन्द्रियों की वृत्ति ज्ञान में अवरोध स्वरूप होती हैं। इसलिए प्राण और मन का विशेष रूप से लय करने वाला योगी आत्यन्तिक स्वरूप में स्थिति रूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। 'सत्व पुरुषयो शुद्धि साम्ये कैवल्यमिति' (यो. द.) अर्थात् 'चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य होता है।'

प्राण का लय क्या है? व्यापार-रहित प्राण की ब्रह्म-रन्ध्र में स्थिति ही प्राण का लय माना गया है। यथा—

प्राण शक्तौ निरुद्धायां मनो राम विलीयते।
द्रव्यच्छायानुतद्द्रव्यं प्राणरूपं हि मानसम्॥
—योगवसिष्ठ ५।१३।८३

अर्थात्—हे राम! प्राणशक्ति का निरोध होने पर मन का लय हो जाता है। जैसे पदार्थों की छाया ही पदार्थ होता है, वैसे ही प्राण की छाया मन है।

इससे सिद्ध हुआ कि प्राण और मनमें अभेद है क्योंकि 'प्राणवृत्तौ विलीनायाँ मनोवृत्ति विलीयते' (बोधसार) अर्थात् 'प्राणवृत्ति के विलीन होने से मनोवृत्ति भी विलीन हो जाती है।' और प्राण का विलय होने का अर्थ उसकी वृत्ति का ब्रह्म-

रन्ध्र रूप शून्य में लय हो जाना ही है। यदि मन का लय नहीं होता तो प्राण का लय भी नहीं हो सकता, उस स्थिति में योगी हजारों उपायों के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता। यह मत सभी शास्त्रों का है।

अध्यात्म योग की प्राप्ति के लिए मन से हर्ष-शोक का त्याग करना आवश्यक है। उनके त्याग से श्रद्धा, भक्ति की उत्पत्ति के साथ योग के अष्टाङ्गों में प्रविष्ट हो सकती है। उस प्रवृत्ति की दृढ़ता होने पर साधक को आत्मदर्शन की अभूतपूर्व अनुभूति होती है, उस समय मन-सहित पंचज्ञानेन्द्रियों के विषयों से रहित होने पर साधक अप्रमत्त होकर आत्मतत्त्व के रूप में ब्रह्मतत्त्व'के दर्शन करता है,वही उसको परमपद की प्राप्ति मानी जाती है। इसीलिए ब्रह्मोपनिषत् का उपदेश है कि—

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥

अर्थात्—आत्मा को नीचे की अरणि और प्रणव को ऊपर की अरणि बनाकर ध्यान रूप मन्थन के अभ्यास द्वारा इस अप्रकट आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

और उस आत्म साक्षात्कार से ही मनुष्य संसार के सर्व बन्धनों से मुक्त हो सकता है। अनेक स्थानों पर आत्मा की उपासना ओंकार रूप से करने का उपदेश मिलता है। क्योंकि जो ओंकार है वही ब्रह्म है—

यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परंब्रह्म गीयते।
सोऽमृतत्वाय कल्पते सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

अर्थात्— जिसमें वह 'ओंकार' शब्द लीन होता है, वही पर-ब्रह्म कहा जाता है और वही अमृतत्व माना गया है,यह सत्य है।

इस प्रकार प्राण और मनके विलय से मोक्ष की प्राप्ति कही है, वह सन्देहास्पद नहीं मानी जा सकती। मोक्ष क्या है ?

इसका समाधान कुछ विद्वान् इतना ही करते हैं कि चित्त वृत्ति का निर्विकार हो जाना ही मोक्ष है ? क्योंकि शरीर में आत्म-भाव ही विकार है और वही विकार जीव के लिए बन्धन स्वरूप है। 'देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा (तेजोबिन्दु) अर्थात् 'सूक्ष्म, स्थूल और लिंग इन तीनों शरीरों को असत् समझना चाहिए, तीनों काल भी सदा असत् ही हैं' इसलिए साधक आत्मा को देह से भिन्न समझता हुआ आत्मा और परमात्मा में अभेद-दर्शन करे। तेजोबिन्दूपनिषत् के ही अनुसार-

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यान शब्देन विख्यातः परमानन्द दायकः॥

अर्थात्— मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी निराश्रय श्रेष्ठ वृत्ति में स्थित होना ही ध्यान शब्द से विख्यात परम आनन्द के देने वाली अवस्था है।

इन सबसे सिद्ध होता है कि प्राण और मनके लय होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' रूप जो आलम्ब-रहित श्रेष्ठ वृत्ति होती है, वह परमानन्द प्राप्त कराने वाली और सुख-दुःख से निवृत्त कराने वाली जीवन्मुक्ति रूपी मोक्ष है।

जीवन्मुक्ति का लक्षण

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरंध्रे निरोधयेत् ॥१६॥

टीका—श्रेष्ठ स्थान में रहकर और सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर साधक प्राणवायु का सुषुम्ना में सचार करे ॥१६॥

व्याख्या—इस श्लोक में प्राण के लय की विधि बताई गई है। साधक किसी श्रेष्ठ स्थान में जाकर योगाभ्यास करे। श्रेष्ठ स्थान के विषय में पहले बता चुके हैं कि उत्तम राज्य हो

और धार्मिक स्थान हो, वहाँ एकान्त में बैठकर साधना करनी चाहिए और गुरु के उपदेश से सुषुम्ना नाड़ी के भेदन की विधि जानकर प्राणवायु को उसमें प्रविष्ट करना चाहिए। वह प्राण सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, वहाँ उसका निरोध करे।

इस प्रकार प्राण का ब्रह्मरन्ध्र में लीन होना हो मन का लीन हो जाना है और मनके लीन होने से कोई विकार शेष नहीं रहता, निर्वाण ही शेष रहता है। यही साधक की श्रेष्ठ स्थिति है।

प्राणलय से कालजय कथन

सूर्याचंद्रमसौ धत्तः कालं रात्रिदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥१७॥

टीका—सूर्य, चन्द्रमा रात्रि-दिवसात्मक काल के धारण करने वाले हैं और उस कालको भोगने वाली सुषुम्ना है, यह गुह्य रहस्य प्रकट किया गया हैं ॥१७॥

व्याख्या—प्राण का लय हो जाने पर ही योगी काल को जीतने में समर्थ होता है। सूर्य और चन्द्रमा दिन-रात्रि स्वरूप काल को उत्पन्न करते हैं और सुषुम्ना नाड़ी उस दिन-रात्रि रूपी काल को भक्षण करती है। आशय यह है कि ढाई घड़ी अर्थात् एक घण्टा सूर्य स्वर और एक घण्टा चन्द्र स्वर के प्रवाहित रहता है। सूर्य स्वर के प्रवाह वाला समय दिन और चन्द्र स्वर के प्रवाह वाला समय रात्रि होता है। इस प्रकार दिन रात्रि रूप काल दो घण्टे में ही पूरा हो जाता है और इसके अनुसार चौबीस घण्टे में योगियों के बारह दिन-रात्रि व्यतीत हो जाते हैं।

जब सुषुम्ना-मार्ग से प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता तब उसके लिए दिन-रात्रि रूप काल का अभाव हो जाता है, इसी लिए सुषुम्ना को काल का भक्षण करने वाली कहा है। ब्रह्मरन्ध्र में प्राणवायु जितने समय तक स्थित रहता है, उतने ही समय के लिए योगी की आयु वृद्धि हो जाती है और इस प्रकार दीर्घकाल तक इसका अभ्यास सिद्धि कर लेने वाला योगी अपना मरण-काल निकट जानकर, यदि जीवन की इच्छा करता है तो प्राण-वायु को सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर निरुद्ध करता है तब उसकी मृत्यु नहीं होती। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि योगी की स्वेच्छा मृत्यु होती है।

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पंजरे।
सुषुम्ना शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

टीका—मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों के द्वार हैं, उनमें सुषुम्ना नाड़ी शाम्भवी शक्ति है और शेष सब नाड़ियाँ निरर्थक हैं ॥१८॥

व्याख्या—'पंजर' का अर्थ है अस्थि-नाड़ी से बंधा हुआ शरीर। मनुष्य शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ होती हैं, परन्तु वे शरीर में अन्न-रस वहन करने का ही कार्य करती हैं, जो कि देहासक्त व्यक्तियों के लिए तो उपयोगी होती हैं, परन्तु योगी के लिए उनका महत्व शरीर-यात्रा चलाने भरके लिए है, उसे उनसे मोह नहीं रहता। क्योंकि वह शरीर-परक न होकर आत्मा-परक होता है।

उन बहत्तर हजार नाड़ियों में एक सुषुम्ना नाड़ी ही ऐसी है, जो साधक के लिए विशेष रूप से उपकार करने वाली सिद्ध होती है। उसी को मध्य नाड़ी भी कहते हैं। विद्वानों ने उसे

शाम्भवी शक्ति भी कहा है, क्योंकि वही नाड़ी साधक को शिव की प्राप्ति कराने में सहायक होती है।

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुंडलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रवेशेदनिरोधतः ॥१९॥
सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥२०॥

टीका—परिचित हुआ वायु जठराग्नि के साथ कुण्डली को बोधित करके अविरोध रूप सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है। जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवाहित होता है, तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध हो जाती है। योगियों के इससे अन्य अभ्यास के जितने भी प्रयास हैं, वे सब व्यर्थ होते हैं ॥१९—२०॥

व्याख्या—परिचित का अर्थ है अभ्यस्त और अभ्यास किया हुआ वायु ही जठराग्नि के साथ मिल कर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत करने में समर्थ होता है। अधोगतिमपान वं ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्' इत्यादि (यो. कु. उ.) से अपान वायु ऊपर जाकर अग्नि मण्डल से मिलता है तब अग्नि की तीव्रता बहुत बढ़ जाती है, उस ताप से सन्तप्त हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होती है और सुषुम्ना के मुख में घुस जाती है।

जब कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्ना प्रविष्ट हो जाती है, तब सुषुम्ना का मुख खुला रहता है, जिससे प्राण के मार्ग में भी कोई रुकावट नहीं रहती और वह भी उसमें घुस कर ब्रह्मरन्ध्र में जा पहुँचता है, तो मनोन्मनी अवस्था हो जाती है। इसलिए योगियों के लिए इसी का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अन्य किसी प्रकार के अभ्यास से मनोन्मनी अवस्था नहीं हो सकती, इसलिए वैसे प्रयास निष्फल ही समझने चाहिए।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥२१॥
हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥२२॥
मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥२३॥

टीका—जिस अभ्यास से योगी वायु का बन्धन करता है, उसी से मन का बन्धन कर लेता है। इस प्रकार जिससे मन का बन्धन होता है, उसी से वायु का बन्धन हो जाता है। चित्त की प्रवृत्ति में दो हेतु होते हैं वासना और वायु। इनमें से एक का नाश होने पर दूसरे का भी नाश हो जाता है। जहाँ मन विलीन होता है, वहीं वायु विलीन होता है और जहाँ वायु लीन होता है, वहाँ मन भी लीन हो जाता है ॥२१--२३॥

व्याख्या—प्राणवायु के अभ्यास से योगी जब मन को वश में कर लेता है, तब उसकी चंचलता नष्ट हो जाती है। मन का धर्म है चिन्तन और मन के लय से चिन्तन का त्याग होकर निश्चिन्तता का उदय होता है। मन क्या है ? इस विषय में विद्वानों का मत है कि प्राण का स्पन्दन ही मन है, परन्तु प्राण के स्पन्दन-रहित होने पर मन की रक्षा होती है। इस प्रकार प्राण ही मन की रक्षा करता है क्योंकि सुषुम्ना में चढ़ता हुआ प्राण जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर लीन हो जाता है तब उसके साथ मन का भी लय हो जाता है। इससे समझा जा सकता है कि जिससे प्राण का बन्धन है उसी से मन का भी है और जिससे मन का बन्धन है, उसी से प्राण का बन्धन होता है।

चित्त की प्रवृत्ति दो कारणों से होती है, एक तो वासना से और दूसरे वायु से। इन दोनों में से एक नष्ट हो जाय तो वे दोनों ही नष्ट हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि वासना के नष्ट होने पर वायु और चित्त नष्ट होते हैं और वायु के क्षीण होने पर चित्त और वासना का नाश हो जाता है। इसका सीधा साधा अर्थ है कि चित्त से वासना का विकार दूर होते ही चित्त शान्त हो जाता है और चित्त के शान्त होने पर ही तत्त्वज्ञान की उपलब्धि हो सकती है।

कुछ विद्वानों के विचार में तत्वज्ञान होने पर ही चित्त के संयम से वासना का शमन हो सकता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि चित्त की प्रवृत्ति, वासना और प्राणवायु इन तीनों का बधन आवश्यक है, इसके बिना आत्मज्ञान अथवा ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए इन तीनों के बन्धन का अभ्यास योगी के लिए कर्त्तव्य है।

जहाँ मन का लय हो, वहीं वायु का लय होगा और जहाँ वायु का विलय हो, वहीं मन का विलय होता है। अर्थात् प्राण-वायु के साथ संयुक्त हुआ मन भी ब्रह्मरन्ध्र में ही जाकर लय को प्राप्त होता है। 'वायुं-बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव सम-भ्यसेत्' इत्यादि (यो. कु. उ.) अर्थात् 'प्राणवायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का उचित रूप से अभ्यास करके योगिजन ऐक्यरूपता की समाधि तक पहुँच जाते हैं।'

इस प्रकार साधक को प्राणवायु पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास करना चाहिए। उसी से मन पर भी विजय प्राप्त हो सकती है और मन-प्राण का जीता जाना ही तत्वज्ञान की उपलब्धि है।

दुग्धांबुवत्संमिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतोमरुत्तत्र मनःप्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥२४
तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेर परप्रवृत्तिः।
अध्वतयोश्चचेंद्रियवर्गवृत्तिप्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्यसिद्धि॥२५
रसस्य मनसश्चैव चंचलत्वं स्वभावतः।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्धयति भूतले ॥२६॥

टीका—दुग्ध और जल के समान संयुक्त मन और वायु तुल्य क्रिय हैं। जहाँ वायु की प्रवृत्ति है, वहाँ मन की प्रवृत्ति है और जहाँ मन की प्रवृत्ति है, वहीं वायु की प्रवृत्ति है वहाँ एक के नाश से दूसरे का नाश होता है, एक की प्रवृत्ति से दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब तक सब इन्द्रियों का अपने-अपने विषय में प्रवृत्त होना नहीं रुकता, तब तक मोक्षपद की सिद्धि भी सम्भव नहीं है। रस और मन स्वभावतः ही चपल होते हैं, रस और मन बद्ध हो जाँय तो भूतल पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? ॥२४—२६॥

व्याख्या—जैसे दूध और जल मिलकर एक हो जाते हैं, उनके रूप और क्रिया में कोई अन्तर नहीं रहता, वैसे ही मन और प्राणवायु के संयोग को समान समझना चाहिए। तुल्यक्रिय का अर्थ है दोनों की प्रवृत्ति का एक समान होना। जिस स्थान में मन की प्रवृत्ति होती है, उसी स्थान में प्राण की प्रवृत्ति होती है। मुण्डकोपनिषत् में कहा है—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो
यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥

अर्थात्—जिस शरीर में पाँच रूपों वाला प्राण स्थित है, शरीरधारियों का मन उसी प्राण से व्याप्त है। यह सूक्ष्म आत्मा मन के द्वारा जाना जाता है और उस मन के शुद्ध होने पर आत्मा सब प्रकार से सशक्त हो जाता है।

इस प्रकार मुण्डक में भी मन को प्राण से व्याप्त कहकर उनकी समानता ही प्रकट की गई है। एक-दूसरे का इतना तादात्म्य होने से यह कहना उचित ही है कि इनमें से एक के नाश से दूसरे का नाश हो जाता है और एक व्यापार नहीं करता तो दूसरा भी नहीं करता। सभी इन्द्रियाँ तभी तक अपने-अपने व्यापार में प्रवृत्त रहती हैं, जब तक कि मन या प्राण उन्हें उसके लिए प्रेरित करता। यह नहीं हो सकता कि मन किसी इन्द्रिय को उसकेविषय में प्रेरण करे और प्राण का सहयोग न मिले तो वह इन्द्रिय अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाय।

रस अर्थात् पारद की चंचलता सभी पर विदित है, जैसे वह किंचित् उष्णता पाकर ही अपने स्थान से चलायमान होकर अन्यत्र बढ़ता है, वैसे ही मन भी स्वभाव से ही चचल है, वह कभी कहीं और कभी कहीं उड़ान भरता है। इसीलिए साधक को उस मन के निरोध का कर्त्तव्य रूप से उपदेश दिया जाता है और ज्ञानी साधक तो सदा यही विश्वास रखता है—

लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्य निष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥

—संन्यासोपनिषत्

अर्थात्—चंचल मन और मन से संयुक्त जिह्वा से, द्रव्य से उत्पन्न तुच्छ स्पन्दन मैं नहीं हूँ।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥२७॥

टीका—आदिनाथ कहते हैं कि हे पार्वति ! मूर्च्छित रस और प्राण रोगों का हरण करता है और मारा हुआ रस एवं ब्रह्मरन्ध्र में लय को प्राप्त हुआ प्राण मनुष्य को जीवन देता और खेचरत्व प्राप्त कराता है ॥२७॥

व्याख्या—जैसे वनौषधियों के योग से घोटकर पारद की चपलता नष्ट कर दी जाती है, तब उसकी मूर्च्छित संज्ञा होती है, वैसे ही कुम्भक के पश्चात् रेचक से निवृत्ति को प्राप्त हुआ प्राणवायु भी मूर्च्छित कहलाता है। इस प्रकार मूर्च्छित अवस्था को प्राप्त हुआ पारद और प्राण सभी रोगों को दूर करने में समर्थ होता है।

पारद को भस्म कर लिया जाय तो वह मारा हुआ कहा जाता है और प्राणवायु का भी निरोध करके उसे सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा दिया जाय तो वह भी मृत कहलाता है, क्योंकि इडा-पिंगला से विलग होकर सुषुम्ना में प्रवेश करते ही मनुष्य की अवस्था मरे हुए के समान हो जाती है, इसलिए यह प्राण की मृतावस्था मानी गई है। इस प्रकार मरा हुआ पारद और प्राण दोनों ही मनुष्य को दीर्घजीवन प्राप्त कराने में समर्थ होते हैं।

'बद्धः खेचरतां धत्ते' का अभिप्राय यह है कि क्रिया-विशेष से बद्ध किया हुआ पारा गर्मी प्राप्त होते ही आकाश की ओर गति करता है और भौंहों के मध्य विशेष रूप से धारण किया हुआ प्राणवायु भी साधक को आकाशगति प्राप्त कराता

है। इस प्रकार बद्ध प्राण प्रभाव से योगी आकाश में पक्षियों के समान उड़ने में समर्थ होता है।

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिंदुः स्थरो भवेत् ।
बिंदुस्थैर्सात्सदा सत्त्वं पिंडस्थैर्यं प्रजायते ॥२८॥
इन्द्रियाणां मनो नाणो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥२९॥
सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापु मतांतरे ।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्ददः संप्रवर्तते ॥३०॥

टीका—मन के स्थिर होने पर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राण की स्थिरता से विन्दु स्थिर होता है। बिन्दु की स्थिरता से सदा सत्व रहता है और उससे शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामो प्राण है, प्राण का स्वामो लय है और लय नाद के आश्रित है। यही मोक्ष कहलाता है, मतान्तर से ऐसा नहीं भी है। मन और प्रण का लय होने पर अनिर्वचनीय आनन्द प्रकट होता है ॥२८—३०॥

व्याख्या—मन के स्थिर होने पर ही प्राण स्थिर होता है, क्योंकि मन चंचल होगा तो प्राण भी चंचल रहेगा। मन की स्थिरता से स्थिर हुआ प्राण वीर्य को चलित नहीं होने देगा और वीर्य को चलित नहीं होता, शरीर में विद्यमान रहता है तो शरीर की शक्ति बनी रहती है शक्ति है तो शरीर में स्थिरता रहना स्वाभाविक है।

श्रोत्रादि पंच इन्द्रियों का स्वामी मन ही है क्योंकि मन की प्रेरणा से ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों में प्रवृत्त होती हैं। उस मन का स्वामी प्राण है, क्योंकि प्राण के सहयोग के बिना

मन की प्रवृत्ति भी निष्फल होती है। परन्तु प्राण का स्वामी है मन का लय हो जाना, जो कि नाद का आश्रित होता है। क्योंकि नाद ही ब्रह्म है, यथा 'नादो ज्योतिर्मयः शिवः' (नाद बिन्दु) अर्थात् 'नाद ही ज्योतिर्मान शिव है।' इसीलिए मन का नाद में लय होना मोक्षरूप कहा गया है।

परन्तु, उक्त मत से भिन्न मत के कुछेक विद्वान् चित्त के लय होने को मोक्ष रूप नहीं मानते। उनके अनुसार चित्त का लय तो सुषुप्ति में भी हो जाता है। उनका यह मत प्रस्तुत प्रसंग में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि मन और प्राण के लय होने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है, उससे जीवन्मुक्ति की अवस्था रूप उपलब्धि का सुख अवश्य मिलता है। इसीलिए ग्रन्थकार ने चित्त का प्राण के साथ नाद में लय हो जाना मोक्ष स्वरूप कहा है।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥३१॥
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

टीका—श्वास-निश्वास-रहित, विषय के ग्रहण से उन्मुख चेष्टा-रहित और विकार-रहित योगियों का लय होता है। सर्व संकल्पों की उच्छिन्नता, अशेष चेष्टाओं से निवृत्ति, वाणी से न कहा जाने योग्य लय योगियों का होता है ॥३१—३२॥

व्याख्या—बाह्य वायु का भीतर पहुँचना श्वास और भीतर के वायु का बाहर निकलना निःश्वास होता है। जिसमें इनका और इन्द्रियों के द्वारा विषयों के ग्रहण का अभाव हो जाय, तथा चेष्टा और विकार भी नष्ट हो जाय, इसे लय का होना समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि

ध्येय वस्तु के आकार में अन्तःकरण की वृत्ति का हो जाना ही लय है।

लय के अन्य लक्षण में मन के कार्य रूप संकल्पों का नष्ट होना, चेष्टित अर्थात् अंग-संचालन व्यापार का निवृत्त हो जाना आदि का समावेश है। लय को वाणी से नहीं कहा जा सकता, वरन् स्वयं ही अनुभव के द्वारा जाना जा सकता है, ऐसे लय की उपलब्धि सर्वश्रेष्ठ मानी गई है।

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेंद्रियसनातनी।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥३३॥
लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम्।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥३४॥

टीका—जहाँ दृष्टि का लय होता है, वहाँ सनातन भूत और इन्द्रिय नहीं रहते। जीवों की शक्ति रूप विद्या, अविद्या दोनों ही अलक्ष्य में लय होती हैं। इस प्रकार लय कहा जाता है, परन्तु लय का लक्षण क्या है ? विषय की विस्मृति और वासनाओं का पुनः न उठना ही लय है ॥३३—३४॥

व्याख्या—ब्रह्मरूप अन्तःकरण वृत्ति में मन का लय होता है। जिसमें पृथिवी आदि पंच महाभूत और इन्द्रियाँ हों, वह अविद्या और जीवों की शक्ति रूप विद्या इन दोनों का लय अलक्ष्य ब्रह्म में ही होता है।

विद्या और अविद्या का फल विपरीत है। केनोपनिषत् में यम ने नचिकेता से कहा कि—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्या भीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥

अर्थात्—विद्या आवरणों के फल भिन्न होते हैं। हे केता! तुम्हें अनेकों भोग अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सके, इससे मैं समझता हूँ कि तुम विद्या की ही कामना करते हो।

इस प्रकार भिन्न फल वाली विद्या और अविद्या दोनों का ही पूर्ण रूप से त्याग करके ब्रह्म में चित्त का रम जाना लय है, वही श्रेष्ठ स्थिति है।

फिर भी कुछ लोग लय के विषय में पूछ सकते हैं कि उसका लक्षण क्या होता है? इसका समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं कि शब्दादि सभी विषयों की और साथ ही ध्येय विषय की भी विस्मृति हो जाय वही लय का लक्षण है। क्योंकि लय का अर्थ है आत्मसात् हो जाना और वासनाओं का पुनः उत्थान न करना आत्मसात् का प्रत्यक्ष लक्षण है। 'यदातमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न च सच्छिव एव केवलः' (श्वेताश्वर) अर्थात् 'जब अज्ञान का अन्धकार दूर हो जाता है तब दिन, रात्रि, सत्, असत् का बोध नहीं रहता, उस समय केवल एक शिव ही शेष रहता है।' यही अवस्था 'लय' समझनी चाहिए।

शाम्भवी मुद्रा वर्णन

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥३५॥
अंतर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥३६॥

टीका—वेद, शास्त्र और पुराण सभी सामान्य गणिका के समान और शांभवी मुद्रा ही कुल वधु के समान गोपनीय है। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य में निमेष और उन्मेष न हो, ऐसी यह शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्र में छिपी रहती है ॥३५-३६॥

व्याख्या—शाम्भवी मुद्रा का वर्णन आरम्भ करते हुए प्रथम उसका महत्व प्रकट किया है कि यह मुद्रा परम गोपनीय है। कुलवधु के समान कहने से, यहाँ कुलवधु अर्थात् सद्गृहस्थ की पत्नी की गरिमा स्वीकार की है और वेदादि के सर्व सुलभ होने के कारण उसे गणिका के समान बताकर शाम्भवी मुद्रा की श्रेष्ठता ही व्यक्त की है।

शरीर में जो मूलाधारादि षट्चक्र हैं, उनमें से जो अभीष्ट हो, उस चक्र में लक्ष्य बनाकर अन्तःकरण की वृत्ति और विषयों वाली दृष्टि जो निमेष-उन्मेष से रहित हो ऐसी यह मुद्रा ऋग्वेदादि और योग-दर्शनादि में छिपी है। इससे शंभु की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है, इसलिए इसका नाम शाम्भवी मुद्रा हुआ।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते।
दृष्टया निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद्गुरोः।
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥३७

टीका—जब योगी अपने चित्त और वायु को अन्तर्लक्ष्य में लय करके निश्चल तारे वाले दृष्टि से शरीर के बाहर देखता हुआ भी नहीं देखता, यह शाम्भवी मुद्रा गुरु के प्रसाद से प्राप्त होती है। इससे शून्य-अशून्य से भी विलक्षण शाम्भव रूप परम तत्व का स्फुरण होता है ॥३७॥

व्याख्या—इस श्लोक में शाम्भवी मुद्रा का स्वरूप बताया है। तत्त्वमसि आदि महावाक्यों से जीवात्मा-परमात्मा के अभेद रूप लक्ष्य में मन और प्राण का लय होने पर निश्चल दृष्टि खुली रह कर भी बाहर के विषयों को देख नहीं पाता। क्योंकि मन का लय होने पर इन्द्रियाँ अपने विषयों को ग्रहण नहीं कर

सकतीं। इस प्रकार ब्रह्म में लय को प्राप्त हुए मन और प्राण जब इस अवस्था में पहुँच जाते हैं, तब शाम्भवी मुद्रा होती है।

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः।
भवेच्चित्तलयानंदः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥३८॥

टीका—शाम्भवी और खेचरी मुद्राओं के द्वारा अवस्था और धाम के भेद से शून्य चित्त सुख स्वरूप चित्त के लय का आनन्द होता है ॥१८॥

व्याख्या—शाम्भवी और खेचरी दोनों ही मुद्रायें समान फल प्रदान करने वाली मानी गई हैं। इनमें से किस मुद्रा का अभ्यास किया जाय? यह साधक की अवस्था और देश काल को देख कर निश्चय करना चाहिए। अथवा इन दोनों मुद्राओं में देश-भेद यह है कि शाम्भवी मुद्रा में वाह्य दृष्टि होने से बहिः स्थिति और खेचरी मुद्रा में भौंहों के मध्य में दृष्टि रहने से वहीं स्थिति होती है। परन्तु इन दोनों से ही चिदानन्द रूप आत्मा में चित्त का जो लय होता है, उस परमानन्द की उपलब्धि होती है।

उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतिष संयोज्य किंचिदुन्नमयेद्भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युंजन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥३९॥
केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यंति नैव जानंति तारकम् ॥४०॥

टीका—तारों को ज्योति में युक्त करके भौंहों को कुछ ऊपर की ओर करे और पूर्वोक्त योग में मन को लगा दे तो क्षण

भर में उन्मनीकारक अवस्था होती है। किसी आगम के जाल से और किसी निगम के फलों से जो मोहित रहते हैं, वे तारक को नहीं जान सकते ॥३९--४०॥

व्याख्या—नेत्रों के तारों को नासिका के अग्रभाग में स्थिर करके प्रकाशमान ज्योति में योजित करे और भृकुटियाँ कुछ ऊपर की ओर उठाकर पूर्वोक्त अन्तर्लक्ष्य और वहिर्दृष्टि रूप योग में मन को लगा देना चाहिए। इससे उन्मनी अवस्था हो जाती है। यह उन्मनी अवस्था साधक को तारने वाली है, परन्तु आगम अर्थात् शास्त्रों और निगम अर्थात् वेदों में विभिन्न प्रकार की उपासनाओं और यज्ञों का वर्णन होने से उनमें विश्वास रखने वाले लोग योग का अभ्यास नहीं करते, वे संसार सागर से तारने वाली इस उन्मनी अवस्था को नहीं जान पाते।

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चंद्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्पंदभावेन यः।
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं।
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

टीका—अर्द्ध उन्मीलित नयन, स्थिर मन, और नासिका के अग्रभाग में दृष्टि वाला योगी चन्द्र-सूर्य को लीन करता हुआ, निस्पंद भावसे अत्यन्त देदीप्यमान, ज्योति स्वरूप, अशेष, अखिल विश्व के बीज रूप परम तत्व के पद को जाता है। इस विषय में अधिक क्या कहा जाय? ॥४१॥

व्याख्या—उन्मनी अवस्था में योगी के नेत्र आधे खुले, आधे बन्द रहते हैं। उस समय वह स्थिर चित्त से नासिका के अग्रभाग में दृष्टि रखता है। उसका मन इस प्रकार लय को

प्राप्त हो जाता है कि उसे अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती।

नासिका के अग्रभाग में जो स्वच्छ आकाश है, उसमें ज्ञान और दृष्टि दोनों सम्यक् प्रकार से लग जाँय तो प्राणों का स्पन्दन भी रुका हुआ प्रतीत होता है और प्राण के संचार के उस अवरोध में कारण होती है शरीर मन और इन्द्रियों की निश्चलता। ऐसी स्थिति में अवस्थित हुआ योगी तत्त्वस्वरूप परम पद को प्राप्त होता है।

उस परम पद का वर्णन करना बहुत कठिन है, अधिक तो क्या अल्प कथन भी नहीं हो पाता। योगतत्त्वोपनिषत् में कहा है—

अनिर्वाच्य पदं वक्तुं न शक्यं तै सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाश रूपं तत्किं शास्त्रेण प्रकाशते॥

अर्थात्—उस अनिर्वाच्य पद का वर्णन देवता भी नहीं कर सकते, तब शास्त्र ही उस स्वात्म प्रकाश रूप का वर्णन कैसे कर सकते हैं?

दिवा न पूजयेल्लिगं रात्रौ चैव न पूजयेत्।
सर्वदा पूजयेल्लिगं दिवारात्रिनिरोधतः॥४२॥

टीका—दिन में लिग का पूजन न करे, रात्रि में भी नहीं करना चाहिए। दिन-रात्रि के निरोध को करता हुआ सर्व काल में लिग-पूजन कर सकते हैं॥४२॥

व्याख्या—उन्मनी अवस्था में काल का कोई नियम नहीं रहता। दिन का अर्थ सूर्य और रात्रि का अर्थ चन्द्रमा, इन दोनों का सचार होने के समय लिग-पूजन का निषेध है। तात्पर्य यह है कि पिगला और इडा के स्वर-संचार काल में पूजन नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि सूर्य-चन्द्र स्वर के संचार काल

में चित्त की स्थिरता नहीं रह पाती, क्योंकि उस समय प्राणवायु चलायमान रहता है, इसलिए चित्त भी चलायमान रहेगा।

दिन-रात्रि को छोड़कर अन्य सभी कालों में पूजन करने का निर्देश है। क्योंकि सूर्य-चन्द्र का निरोध होने पर प्राण सुषुम्ना में चला जाता है, तब मन की भी स्थिरता हो जाती है। इस श्लोक में पूजन शब्द का प्रयोग ध्यान के लिए है, क्योंकि योगी के लिए बाह्य पूजन अपेक्षित नहीं उसके लिए तो ध्यान ही पूजन है। इसलिए लिंग अर्थात् आत्मा के ध्यान का ही निर्देश समझना चाहिए।

खेचरी मुद्रा का स्थैर्य कथन

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥४३॥
इडापिंगलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत्।
तिष्टते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥४४॥
सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालंबांतरं पुनः।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५॥

टीका—बाँयी-दाँयी नड़ियों में स्थित प्राणवायु जहाँ जाता है, वहीं खेचरी मुद्रा स्थित होती है, इसमें संशय नहीं। इडा और पिङ्गला के मध्य का शून्य प्राणवायु का ग्रास करले, उसी शून्य में खेचरी मुद्रा होती है, यह कथन बार-बार सत्य ही है। सूर्य और चन्द्र के मध्य जो निराश्रय अन्तर है, उस व्योम चक्र में ठीक प्रकार स्थित होने से उस मुद्रा का नाम खेचरी है ॥४३—४५॥

व्याख्या—बाँयी नाड़ी इडा है, इसे चन्द्र नाड़ी भी कहते है और दाँयी नाड़ी पिंगला है, जो कि सूर्य नाड़ी भी कहलाती है। उनमें स्थित प्राणवायु निकलकर जहाँ पहुँचता है, वहीं खेचरी मुद्रा का होना कहा है। इडा-पिंगला के मध्य में शून्य अर्थात् आकाश माना जाता है, उसमें प्राण का स्थिर होना ही प्राण का ग्रास कहलाता है। उसी शून्य रूप आकाश में खेचरी का स्थित होना निश्चित है। इडा-पिंगला के मध्य में जो आश्रय-रहित अन्तर है, वहाँ आकाशों का समुदाय रूप चक्र विद्यमान रहता है, क्योंकि भौंहों के मध्य में सभी आकाश मिलते हैं। उसी आकाश में ठीक प्रकार से स्थित होना ही खेचरी मुद्रा है। 'एवं सहजानन्दे यदा मनोलीयते तदा शाम्भवी भवति, तामेव खेचरीमाहुः (मण्डलब्राह्मणोपनिषत्) अर्थात् 'जब मन ऐसे सहजानन्द में लीन हो जाता है तब जीव को शान्ति मिलती है, यह शाम्भवी है जिसे खेचरी कहते हैं।'

सोमद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥४६॥
पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी संप्रजायते ॥४७॥

टीका—जिससे चन्द्रमा से अमृत की धारा प्रकट होती है, वह खेचरी मुद्रा साक्षात् शिव-वल्लभा है। अतुल और दिव्य सुषुम्ना को पश्चिम मुख में जिह्वा से पूर्ण करना चाहिए और यदि पूर्व मुख में भी पूर्ण करे तो निश्चय ही खेचरी मुद्रा होती है। इस प्रकार अभ्यास से सिद्ध हुई इस मुद्रा से उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है ॥४६—४७॥

व्याख्या—खेचरी मुद्रा शिवजी को अत्यन्त प्रिय है उसमें चन्द्रामृत की धारा उत्पन्न हो जाती है। इसलिए इसका अभ्यास साधक को दीर्घजीवी बनाता है।

सुषुम्ना नाड़ी के दो मुख होते हैं—पश्चिम और पूर्व। इन दोनों मुखों को प्राण से पूरित करे। इसका ठीक प्रकार से अभ्यास करने पर उन्मनी अवस्था होती है। परन्तु, सुषुम्ना के केवल पश्चिम मुख को ही पूरित करने और पूर्व मुख का पूरित न करने से जो खेचरी मुद्रा होती है, वह मूढ़ अवस्था को उत्पन्न करने वाली है।

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पद तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥४८॥
अभ्यत्सेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥४९॥
निरालंबं मनः कृत्वा न किंचिदपि चितयेत् ।
स बाह्याभ्यंतरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५०॥

टीका—भौंहों के मध्य में शिव का स्थान है, वहाँ मन का विलय होता है। उस पद को काल की विद्यमानता से रहित तुर्य पद जानना चाहिए। खेचरी का तब तक अभ्यास करे, जब तक योगी योग निद्रित हो और जब योग निद्रा की प्राप्ति हो जाती है, तव उसकी मृत्यु कभी नहीं होती। जो योगी मन को आश्रय-रहित करके कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वह वाह्याभ्यन्तर के आकाश में घट के समान टिक जाता है, यह निश्चय है ॥४८—५०॥

व्याख्या—दोनों भृकुटियों के बीच में शिव रूप आत्मा का स्थान माना गया है। वहाँ पहुँची हुई मन की वृत्ति शिवाकार हो जाती है। वह पद जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति के पश्चात् का अर्थात् चौथा तुरीय पद है, जहाँ काल तो रह ही नहीं सकता।

योग निद्रा में सभी वृत्तियों का निरोध होता है, यह अवस्था बहुत समय के अभ्यास से सिद्ध होती है। इसको प्राप्ति के लिए खेचरी का अभ्यास करना उचित है। इसके द्वारा मृत्यु भी विजित हो जाती है। इसलिए खेचरी का अभ्यास करता हुआ योगी मन को आश्रय-रहित करदे अर्थात् संयमित करे और अन्य किसी प्रकार का चिन्तन न करे। तब जैसे खाली घट बाहर-भीतर आकाश से पूर्ण होता है, वैसे ही खेचरी मुद्रा होने पर आलंबन छोड़े हुए योगी ब्रह्म में स्थित होता है।

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥५१॥
एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवनिशम्।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥५२॥
अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम्।
सिद्ध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥५३॥

टीका—जैसे बाह्य वायु लीन होता है, वैसे मध्य का भी लीन हो जाता है, इसमें संशय नहीं तथा मन के सहित प्राणवायु अपने स्थान में स्थिरता को प्राप्त होता है। इस प्रकार से वायु मार्ग में दिन-रात्रि अभ्यास करते हुए, जिसमें वायु लीन होता है। उसी में मन का भी लय हो जाता है। तलुओं से मस्तक पर्यन्त शरीर को चन्द्रामृत से सिंचित कर ले तो उस

योगी को महाबल, पराक्रम और महान् काया की सिद्धि होती है वही उसका अमृत से स्नान करना है ॥५१—५३॥

व्याख्या—खेचरी मुद्रा के अभ्यास काल में बाह्य वायु तो लीन होता ही है, क्योंकि उसका भीतर प्रवृत्त होना असम्भव है। इसी प्रकार शरीर के मध्य का वायु इसलिए लीन होता है कि उसकी बाह्य प्रवृत्ति नहीं हो सकती। परन्तु मन के सहित वह वायु अपनी स्थिरता के स्थान ब्रह्मरन्ध्र में जाकर स्थैर्य को प्राप्त होता है। प्राणवायु के मार्ग सुषुम्ना में सदा अभ्यास करने से वह वायु जीर्ण हो जाता है। उसका जीर्ण ही लय होना है। प्राणवायु लीन होता है, वहीं मन भी लीन हो जाता है। ऐसा होने पर ही चंद्रमा से स्रवित होते हुए अमृत से समचे शरीर का पोषण होता है, जिससे बल-पराक्रम बढ़ता और साधक दीर्घजीवी होजाता है।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्ति मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥५४॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५५॥

टीका - मन को शक्ति के मध्य में और शक्ति को मन के मध्य में करके तथा मन से मन को देख परमपद का धारण करे। ब्रह्म के मध्य आत्मा को और आत्मा के मध्य ब्रह्म को करके, सत को ब्रह्ममय करता हुआ किंचित् भी चिन्ता न करे। ॥५४—५५॥

व्याख्या—मन को कुण्डलिनी शक्ति में लगा कर उस शक्ति का मन में योजित करे। अर्थात् मन और शक्ति का ऐक्य करके मनन पूर्वक मन का अवलोकन करे, यह देखे कि मन

किधर जा रहा है ? यदि भटकता है तो उसे वश में करके परम पद की धारणा करे।

'ख मध्ये कुरु चात्मानं' से 'आकाश के समान व्यापक ब्रह्म में आत्मा को योजित करने का निर्देश है। अथवा आत्मा में ब्रह्म को संयुक्त करता हुआ सम्पूर्ण चराचर जगत् को ब्रह्ममय माने और ब्रह्म का ही चिन्तन करे, किसी अन्य का चिन्तन न करे। योगकुण्डल्युपनिषत् का भी ऐसा ही मत है—

अपर सन्त्यजेत्सर्वं यदिच्छेदात्मनो हितम्।
शक्तिमध्ये मनःकृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम्॥
मनसा मन आलोक्य मत्त्यजेत्परमं पदम्।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति स्थिति कारणम्॥

अर्थात्—यदि अपने हित की इच्छा हो तो अन्य सब मिथ्या विषयों को त्याग दे और शक्ति में प्रवेश करके उसी में स्थित हो जाय। मन के द्वारा मन को देखकर और समझ कर उसका त्याग करना ही परमपद है। क्योंकि उत्पत्ति और स्थिति का प्रधान बिन्दु मन ही है।

अन्तः शून्यो बहिःशून्यः शून्यः कुम्भ इवांबरे।
अन्तःपूर्णो बहिपूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे॥५६॥
बाह्यचिंता न कर्तव्या तथैवांतरचिंतनम्।
सर्वचिंतां परिज्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत्॥५७॥

टीका—भीतर भी शून्यहो,बाहर भी शून्य जैसेकि जल से रहित घटबाहर भीतर से शून्य होता हैपरन्तु समुद्र में डूबा हुआ घट जैसे बाहर भीतर जल से परिपूर्ण रहता है, वैसेही समाधि में योगी बाहर-भीतर दोनों ही ओर ब्रह्म से पूर्ण होता है। उसे बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और न आन्तरिक मन से

कल्पित पदार्थों का ही चिन्तन करे। सभी प्रकार की चिन्ताओं को छोड़कर, कुछ भी चिन्तन न करे ॥५६—५७॥

व्याख्या—इन श्लोकों में समाधि में अवस्थित योगी के अपने स्वरूप में स्थित होने का वर्णन करते हैं कि ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के न होने से अन्य की प्रतीति न हो और अन्य के न देखने से बाहर से भी, आकाश में स्थित घट के बाहर-भीतर जल से शून्य होने के समान योगी भी शून्य हो। इसी प्रकार समुद्र में डूबा हुआ कलश जैसे बाहर और भीतर सर्वत्र जल से परिपूर्ण रहता है, वैसे ही हृदय में ब्रह्माकार वृत्ति से और बाहर ब्रह्म से भिन्न वृत्ति के अभाव से योगी को पूर्ण रहना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय यही है कि योगी अपने भीतर तो ब्रह्ममय रहे ही, बाहर भी सर्वत्र ब्रह्ममय ही देखे और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी न देखे न सुने।

उसे बाह्य विषयों या पदार्थों का चिन्तन छोड़ देना चाहिए। जब आत्मज्ञान हो जाता है औपचारिक बाह्य पदार्थों की आवश्यकता नहीं रहती। माला, चन्दन, धूप, दीप आदि सब पूजन सामग्री भी उसके लिए निरर्थक रहती है। इसीलिए बाह्य पदार्थों का चिन्तन न करे और अन्तःकरण में मन से उत्पन्न विषयों या पदार्थों का चिन्तन भी छोड़ दे तथा सभी प्रकार के चिन्तनों को छोड़कर एक मात्र आत्मा का अर्थात् ब्रह्म का ही चिन्तन करे। ब्रह्म विद्योपनिषत् में कहा है—

तिलेषु च यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवास्थितः।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरे स्थितः॥

अर्थात्—जैसे तिलों में तैल और पुष्पों में गन्ध रहता है। वैसे ही पुरुष के शरीर में बाहर-भीतर वही ब्रह्म विद्यमान रहता है।

इस प्रकार श्लोक में साधक के लिए सर्वत्र ब्रह्ममय मानने और ब्रह्ममय देखने का उपदेश निहित है ।

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥५८॥

टीका—यह सम्पूर्ण जगत् संकल्प मात्र की कल्पना रूप है और यह मन का विलास भी संकल्प की कल्पना मात्र ही है । इसलिए हे राम ! संकल्प मात्र में जो मति है उसे त्याग कर और निर्विकल्प के आश्रित होकर निश्चय ही शान्ति को प्राप्त होओ ।।५८।।

व्याख्या—इस श्लोक में महर्षि वसिष्ठ द्वारा श्रीराम को दिया हुआ उपदेश है कि यह सम्पूर्ण दृश्यमान विश्व प्रपंच मन का विलास मात्र है और इसकी उत्पत्ति संकल्प की कल्पना से ही हुई है । अथवा यह जगत् मानसिक व्यापार रूप संकल्प की रचना है और आशा उत्पन्न करने वाले भवन, वाटिका, ऐश्वर्यादि के रूप में जो विषयों की कल्पना का विलास है, वह भी संकल्प से ही उत्पन्न होता है । इसलिए बाह्याभ्यन्तर असत्य प्रपंच में सत्यत्व बुद्धि का त्याग ही श्रेयस्कर होता है । मैत्रेय्युपनिषत् में भी कहा है—

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥

अर्थात्—चित्त ही संसार है, इसलिए प्रयत्न पूर्वक उसका शोधन करे । 'जैसा जिसका चित्त, वैसी उसकी गति' यह एक सनातन और गुह्य सिद्धान्त है ।

कर्पूरमनले यद्वत्सैंधवं सलिले यथा ।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ।।५९।।
ज्ञेयं सर्वं प्रतीत च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पंथा द्वितीयकः ।।६०।।

टीका—जैसे कर्पूर अग्नि में सैंधव जल में लीन होता है, वैसे ही तत्व मे संयुक्त हुआ मन भी विलीन हो जाता है। ज्ञेय और ज्ञान मन ही कहलाता है, क्योंकि ज्ञेय और ज्ञान के मन-सहित नष्ट हो जाने पर, दूसरा कोई मार्ग ही नहीं रहता ।।५९—६०।।

व्याख्या—कर्पूर को अग्नि में डाल दें तो वह अग्नि रूप ही हो जाता है, और नमक को जल मिला दें तो नमक भी आपा खोकर जल रूप हो जाता है। वैसे ही मन भी आत्मा में संयुक्त होने पर आत्माकार हो जाता है। ज्ञान के योग्य और ज्ञान यह मन की कल्पना मात्र हैं, इसलिए इन्हें भी मन ही कहते हैं। क्योंकि मन नहीं तो ज्ञय और ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं रहता। इसीलिए ज्ञेय और ज्ञान के टिके रहने का कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।६१।।
ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ।।६२।।
एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ।।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ।६३।।

टीका—यह दृश्यमान सम्पूर्ण चराचर जगत् मन से ही उत्पन्न है। मन के उक्त उन्मनी भाव में होने पर द्वैत की प्रतीति नहीं रहती। ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलय को प्राप्त होता है और जब मन का विलय जाता है, तब कैवल्य ही शेष रहता है। इस प्रकार समाधि-मार्ग के अनेक विधि के उपाय हैं, जो भली भाँति से अपने अनुभव में आने पर पूर्व आचार्यों और महात्माओं ने कहे हैं ॥६१—६३॥

व्याख्या—यह स्थावर जंगम जीवों के सहित जो विश्व प्रपंच दिखाई देता है, वह सब मन की कल्पना से ही उत्पन्न हुआ है और जब मन उस प्रपंच और उसके विषयों से हट जाता है, तब उन्मनी अवस्था होती है और उस समय एक मात्र अद्वैत ब्रह्म ही शेष रह जाता है अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा का ऐक्य स्पष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै: निर्विषयं स्मृतम् ॥
—शाट्यायनीयोपनिषद् १

अर्थात्—मन ही मनुष्यों के बन्धन मोक्ष का कारण है। जो मन विषयों में आसक्त होगा वह बन्धन का और जो विषयों से पराङ्मुख होगा वह मोक्ष का कारण होगा।

समाधि में मन विलय को प्राप्त हो जाता है जिसके बहुत-से उपाय हैं। अनेक ऋषि, मुनि, महात्माओं ने इन विधियों को अपने-अपने अनुभव के आधार पर कहा है।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥६४॥
अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम्।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥६५॥

श्रीं आदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयंति ।
नादानुसंधानमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।।६६

टीका—सुषुम्ना नाड़ी, कुण्डलिनी और चन्द्रमा से उत्पन्न होने वाले अमृत तथा मनोन्मनी अवस्था को नमस्कार है, जो चिद्रूप महाशक्ति है। जिसका तत्वबोध अशक्य मूढ़ों के लिए भी सम्मत है, उस नाद की उपासना गोरक्षनाथ ने कही है। श्री आदिनाथ ने लय के सवा करोड़ उपाय बताये है, उन सब में मैं तो एक मात्र नादानुसन्धान को ही मुख्यतम मानता हूँ ।।६४—६६।।

व्याख्या—षट्चक्र भेदन में सुम्षुना का प्रमुख कार्य रहता है, क्योंकि कुण्डलिनी शक्ति उसी में प्रविष्ट होकर चक्रों का भेदन करती हुई ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त होती है। वहीं चन्द्रामृत का स्राव होता है तथा मनोन्मनो अवस्था की भी प्राप्ति हो जातो है। इस प्रकार षट्चक्र भेदन और शिवशक्ति के मिलन में प्रमुख साधन रूप सुषुम्ना आदि के प्रति श्रद्धा-भाव रहने पर ही साधक को लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। चित्शक्ति चेतन आत्मा रूप है, इसलिए चेतन के सम्पादक सुषुम्ना आदि को और चित्शक्ति को भी साधक नस्मकार करता है। श्लोक में 'नमस्तुभ्यं' कहने का सम्बन्ध सभी से बनता है।

मूढ़ पुरुषों के लिए तत्वज्ञान की प्राप्ति अत्यन्त कठिन होती है, परन्तु गोरक्षनाथ द्वारा कहा हुआ नादानुसंधान का यह उपाय उनके लिए भी हितकर है। आदिनाथ जी ने चित्त के लय की सवा करोड़ विधियाँ कही हैं, परन्तु उन सब में अनाहत ध्वनि का सेवन ही सर्वश्रेष्ठ है।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमंतःस्थमेकधोः ॥६७॥
श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ ६८ ॥
आरंभश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥६९॥

टीका—मुक्तासन में स्थित हुआ योगी शाम्भवी मुद्रा का सन्धान करके एकाग्र बुद्धि के द्वारा दक्षिण कर्ण में नाद का श्रवण करे। कान, नेत्र और नासिका के दोनों छिद्र तथा मुख का निरोध करे, इससे मल-रहित सुषुम्ना-मार्ग से स्फुट, अमल नाद सुनाई देता है। चार अवस्थाएं आरम्भ, घट, परिचय और चित्तवृत्ति के निरोध रूप योगों में होती है ॥६७—६९॥

व्याख्या—यहाँ शाम्भवी मुद्रा के द्वारा नादानुसन्धान वर्णन हुआ है। मुक्तासन लगाकर बैठा हुआ योगी आन्तरिक्ष लक्ष्य और वाह्य दृष्टि आदि के रूप में वताई गई शाम्भवी मुद्रा को करता हुआ दाँये कान में नाद का श्रवण करे। नाद-बिन्दूपनिषत् में कहा है—

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥

अर्थात्—इस प्रकार किया गया नाद का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को ढक लेता और अकार, मकार रूप दोनों पक्षों को जीतकर प्रणव पर विजय प्राप्त करने से तुर्यपद की प्राप्ति होजाती है।

नाद के अनुसन्धान-कार्य में कान, नेत्र, घ्राण, और मुख को रोककर इन्द्रियों का निरोध करे, इससे सुषुम्ना मार्ग में

प्रत्यक्ष और स्पष्ट नाद सुनाई देता है। उस नाद को आरम्भ अवस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था के भेद से चार अवस्थाएँ होती हैं उन पर पृथक्-पृथक् प्रकाश डाला जाता है—

नाद की आरम्भावस्था

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानंदः शून्यसंभवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥७०॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगंधस्त्वरोगवान् ।
संपूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान्भवेत् ॥७१॥

टीका—ब्रह्म ग्रन्थि के भेदन से आनन्द का शून्य में उत्पादन होता है और शरीर में अद्भुत क्वणक् अनाहत ध्वनि सुनाई देती है। तब दिव्य देह होकर उसमें दिव्य गन्ध और आरोग्य होता है तथा शून्य रूप सम्पूर्ण हृदय योगयुक्त हो जाता है ॥७०—७१॥

व्याख्या—नाद की चार अवस्थाओं प्रथम आरम्भावस्था का वर्णन इस प्रकार है कि प्राणायाम के अभ्यास से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब आनन्द को उत्पन्न करने वाला क्वणक् रूप अनाहत नाद उत्पन्न हो जाता है, उससे योगी का शरीर दिव्य गन्ध से परिपूर्ण, रोगरहित एवं दिव्य हो जाता है।

नाद की घटावस्था

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥७२॥
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानंदसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥७३॥

टीका—दूसरी अवस्था में प्राणवायु मध्य नाड़ी में प्रवेश करता है तब दृढ़ आसन लगाकर बैठा हुआ वह योगी देवता के समान हो जाता है। फिर विष्णुग्रन्थि का भेदन होने पर परमानन्द का सूचन करने वाले अति शून्य में विमर्द और भेरी का शब्द सुनाई देता है ॥७२—७३॥

व्याख्या--नाद की दूसरी अवस्था घटावस्था है, जिसमें प्राण अपने साथ अपान, नाद और बिन्दु को मिलाकर कण्ठदेश में स्थित मध्य चक्र में जा पहुँचता है। उससे योगी रूप-लावण्य युक्त एवं निरोग रहता हुआ सम्पूर्ण रूप से देवताओं के समान हो जाता है। फिर कण्ठ में विद्यमान विष्णुग्रंथि का प्राणायाम के अभ्यास से भेदन कर लेने पर परमानन्द प्राप्ति के सूचक विमर्द नामक वाद्य विशेष अथवा भेरी का शब्द अतिशून्य रूप कण्ठदेश में सुनाई देने लगता है। वह शब्द अत्यन्त आनन्द युक्त होता है, जिसमें योगी नितान्त रूप से रम जाता है।

नाद की परिचयावस्था

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥७४॥
चित्तानंदं तदा जित्वा सहजानंदसंभवः।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥
पुद्रग्रन्थि यदा भित्त्वा शर्वसीठगतोऽनिलः ॥७६॥

टीक—तीसरी अवस्था में मर्दल की ध्वनि को जाने और महाशून्य में वायु का संयम करे तो सर्वसिद्धि प्राप्त होती हैं। चित्त के आनन्द को जीतने पर सहज आनन्द होता है, तब वह दुःख, जरा, रोग, क्षुधा निद्रा आदि दोषों से रहित हो

जाता है तथा रुद्रग्रन्थि का जब भेदन होता है, तब वायु शर्व-पीठ को प्राप्त होता है ।।७४—७६।।

व्याख्या—परिचयावस्था में मर्दल संज्ञक वाद्य विशेष की ध्वनि सुनाई देती है। उस समय भौंहों के मध्य आकाश स्वरूप एवं अणिमादि सिद्धियों के आश्रय स्थान महाशून्य में प्राणवायु जा पहुँचता है। इससे साधक अणिमादि आठों सिद्धियाँ और सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राप्त हो जाते हैं तथा आज्ञाचक्र में विद्यमान रुद्रग्रन्थि का भेदन करता हुआ प्राण रुद्र के धाम रूप भौंहों के मध्य में स्थित हो जाता है।

नाद की निष्पत्ति अवस्था

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ।
एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ।।७७।।

टीका—नाद की चौथी अवस्था निष्पत्ति अवस्था है। उसमें प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है तब वेणु का शब्द करती हुई तथा क्वणत् रूप में वीणा का शब्द होता है। उस समय चित्त एकाग्रता होने पर राजयोग सिद्ध हो जाता है और योगी सृष्टि-सहार करने में भी समर्थ ईश्वर के समान हो जाता है ।।७७।।

व्याख्या—चतुर्थ अवस्था निष्पन्ति में जब प्राण ब्रह्म-रन्ध्र को प्राप्त हो जाता है, तब साधक को वंशी और वीणा के शब्द सुनाई देने लगते है और चित्त में एकाग्रता हो जाने से राजयोग की प्राप्ति होती है, क्योंकि चित्त की एकग्रता ही राजयोग है। ऐसा साधक ईश्वर के समान शक्तिवान् और ऐश्वर्यवान् और सब प्रकार समर्थ हो जाता है।

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखंडितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ।। ७८ ।।
राजयोगमजानंतः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ।।७९।।

टीका— और कुछ हो या न हो अर्थात् मुक्ति हो या न हो, नाद के अनुसन्धान में अखण्ड सुख है और लय से उत्पन्न हुआ यह सुख राजयोग से ही प्राप्त होता है। राजयोग को न जानकर केवल हठयोग की क्रिया में ही लगे रहने वाले अभ्यासी के परिश्रम को मैं निष्फल समझता हूँ ।।७८—७९।।

व्याख्या—पहले भी इस पर प्रकाश डाल चुके हैं कि किसी भी अवस्था में नादानुसन्धान करने में जो अखण्ड सुख होता है, उसकी प्राप्ति राजयोग से ही है और राजयोग के बिना हठयोग का प्रयास व्यर्थ रहता है।

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ।।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ।।८० ।।

टीका —उन्मनी अवस्था और राजयोग के पद की शीघ्र प्राप्ति के लिए भौंहों के मध्य में ध्यान ही मेरे मत में अल्प बुद्धि वालों के लिए सुखोपाय है तथा नाद से उत्पन्न चित्त का लय शीघ्र ही प्रत्यय का सन्धान करने वाला होता है ।।८०।।

व्याख्या—भौंहों के मध्य में ध्यान करने से नाद उत्पन्न होकर चित्त का लय हो जाता है, जिससे राजयोग का पद और उन्मनी अवस्था की प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। अल्प बुद्धि वाले साधकों के लिए यह उपाय अत्यन्त ही सरल है।

नादानुसंधानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ॥
आनंदमेकं वचसामगम्यं
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्रचित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

टीका—नाद के अनुसन्धान से जो समाधि होती है, उसके कर्ता योगीश्वरों के हृदय में बढ़ता हुआ एक आनन्द होता है, जो कि वाणी से अगम्य है । उसे एक मात्र श्री गुरुनाथ ही जानते हैं । हाथों से कानों को ढककर जो मुनि ध्वनि का श्रवण करता है, वह वहाँ चित्त को स्थिर करके, स्थिरपद को प्राप्त हो जाता है ॥८१--८२॥

व्याख्या—अनाहत ध्वनि रूप नाद के अनुसन्धान से चित्त की एकाग्रता रूप समाधि के करने वाले योगीश्वरों को जिस आनन्द की प्राप्ति होती है, वह श्रीगुरु ही जान सकते हैं और उनकी कृपा से साधक भी उसे जान सकता है । वह ध्वनि अंगूठों के द्वारा कानों को ढककर दाँये कान में सुनी जाती है । उससे चित्त एकाग्र हो जाता और योगी स्थिर अविनाशी पद को प्राप्त कर लेता है ।

विक्षेपजय से सुख प्राप्ति कथन

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥८३॥

टीका—अभ्यास किया हुआ यह नाद बाह्य शब्द का आवरण करता है, जिससे योगी पक्षभर में सब विक्षेपों को जीतकर सुखी हो जाता है ॥८३॥

व्याख्या—अभ्यास से सिद्ध हुए इस नाद के द्वारा बाहरी शब्द भीतर नहीं जा पाता, इससे सभी विक्षेप नष्ट हो जाते हैं।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः ॥ ८४ ॥

नाना नाद वर्णन

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ।
मध्ये मर्दलशंखोत्था घंटाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥
अंते तु किंकिणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादा श्रूयंते देहमध्यगा ॥८६॥

टीका—प्रथम अभ्यास में साधक को अनेक प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं और फिर अभ्यास बढ़ते जाने पर सूक्ष्म से सूक्ष्म शब्द सुनने में आ जाते हैं। प्रारम्भ में समुद्र, फिर मेघ, फिर भेरी, झर्झरी के और मध्य में मर्दल, शख तथा घण्टा के शब्द सुने जाते हैं। अन्त में किकणी, वंशी, वीणा और भौंरों के गुंजन आदि अनेक प्रकार के नाद शरीर में सुनाई देते हैं ॥८४—८६॥

व्याख्या—नादानुसन्धान का अभ्यास करने वाले साधक को पहले अनेक प्रकार के शब्दों के श्रवण का अन[illegible] है और फिर सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्द सुनने की क्षमता आ जाती है। इसी प्रकार समुद्र, मेघ, भेरी आदि के श्रवण का अभ्यास बढ़ने पर अन्त में वंशी, वीणा, भ्रमर-गुंजनादि सुनाई देने लगता [illegible]

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥८७॥
घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्म सूक्ष्मेमुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥८८॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥८९॥
मकरंदं पिबन्भृंगो गंधं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि काँक्षते ॥९०॥

टीका—मेघ, भेरी आदि जैसी महती ध्वनि सुनने पर भी वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म भी नाद का चिन्तन करना चाहिए। महाननाद को छोड़ कर सूक्ष्म नाद में और सूक्ष्मनाद को छोड़ कर महान् नाद में रमण करते हुए चित्त को अन्यत्र न जाने दे। जिस किसी भी नाद में पहले मन लगे, वहाँ ही स्थिर करने से उसका लय हो जाता है। जैसे मकरन्द का पान करता हुआ भौंरा पुष्प की गन्ध से अनपेक्ष रहता है, वैसे ही नादासक्त चित्त भी विषयों की आकांक्षा नहीं करता ॥८७—९०॥

व्याख्या—जब मेघ-गर्जनादि जैसी महान् ध्वनि सुनाई देने लगे, तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म ध्वनि के सुनने का अभ्यास करे और जब वह भी दृढ़ हो जाय तब सूक्ष्मनाद को छोड़कर महान् नाद के और महान् नाद को छोड़ कर सूक्ष्मनाद के श्रवण का अभ्यास करे। इस प्रकार विभिन्न नादों को सुनते-सुनते जिस नाद में मन लगे, उसी में चित्त को लगा ले और फिर किसी अन्य नाद में चित्त न लगावे तो चित्त का लय उसी नाद में हो

जाता है और फिर वह अन्यत्र किसी विषय की ओर आकर्षित नहीं होता।

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशितांकुशः ॥९१॥

मन का चापल्य नाश

बद्धं तु नादबंधेन मनः संत्यक्तचापलम्।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥६२॥
सर्वचिंतां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥६३॥

टीका—विषय रूपी उद्यान में मदोन्मत्त गजेन्द्र के समान विचरण करते हुए मन को वश करने में नाद रूप तीक्ष्ण अंकुश ही समर्थ हो सकता है। नाद के बन्धन में बँधा हुआ मन अपनी चपलता का भले प्रकार से त्याग करके पर कटे पक्षी के समान अत्यन्त निश्चलता को प्राप्त हो जाता है। सब चिन्ताओं को छोड़ कर सावधान चित्त से जो योगी योग साम्राज्य की इच्छा करता है उसे नाद का अनुसन्धान करना चाहिए ॥६१—६३॥

व्याख्या—शब्दादि विषयों के महान उद्यान में मद से उन्मत्त हुआ जो मन हाथी के समान स्वच्छन्द विचरण करता है, उसका वश में आना बहुत कठिन है। परन्तु नादरूपी अंकुश द्वारा उसे वश में किया जा सकता है। फिप वह मन विषयों की ओर न दौड़ कर स्थिर हो जाता है। इसलिए योग रूपी साम्राज़्य की आकांक्षा करने वाले साधक को नाद के अनुसंधान में तत्पर होना चाहिए।

नादोंतरंगसारंगबंधने वागुरायते ।
अन्तरंगकुरंगस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥६४॥
अन्तरंगस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥६५॥
बद्धं विमुक्तचांचल्यं नादगंधकजारणात् ।
मनः पादमाप्नोति निरालंबाख्यखेऽटनम् ॥६६॥

टीका—मन रूप अन्तरङ्ग मृग के बन्धन में नाद वागुरा के समान है तथा नाद ही अन्तरङ्ग मृग के वध में व्याध के समान होता है। यमी का जो अन्तरङ्ग मन रूप अश्व हैं, उसके परिघ में अवरोधक नाद ही है। इसलिए योगियों को नाद की ही नित्य वृद्धि करनी चाहिए। नाद रूप गन्धक के जारण से बँधा हुआ मन रूप पारद अपनी विमुक्त चपलता को छोड़ देता है, और निरालम्ब पद को प्राप्त होकर आकाश गमन में समर्थ होता है ॥६४—६६॥

व्याख्या—यहाँ मन को मृग की और नाद को जाल की उपमा दी गई है। जैसे मृग के बन्धन में जाल का उपयोग है, वैसे ही मन के बन्धन में नाद का उपयोग व्यक्त किया गया है। जैसे व्याध मृग को मार सकता है, वैसे ही नाद मन को मारने अथवा उसे निश्चल करने में समर्थ होता है।

यमी का अर्थ है 'यमों' का पालन करने वाला साधक। उसके भीतर जो मन है, वह अश्व के समान तथा नाद परिघ के समान है। इस प्रकार नाद की समर्थता व्यक्त की गई और योगाभ्यासी को नाद की सिद्धि का उपदेश दिया गया है।

क्योंकि वागुरा अर्थात् जाल रूप नाद ही मन रूप मृग की चंचलता दूर करने में अवरोधक सिद्ध हो सकता है।

गन्धक-जारण के संयोग से चंचलता हरण होने से पारद गुटिका रूप हो जाता है, वैसे ही नाद के संयोग से मन विषयाकार परिणाम रूप चंचलता से हटकर स्थैर्य रूप ब्रह्माकार वृत्ति के प्रवाह को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार नाद कीसिद्धि होने पर मन चांचल्य को त्याग कर निरालम्ब संज्ञक आकाश रूप अपरिच्छिन्न ब्रह्मपद में गमन करता है। कुछ विद्वानोंके मत में श्लोक में साधक को धरती से उठ कर आश्रय-रहित आकाश में गमन करने की सामर्थ्य-प्राप्ति का फल-कथन हुआ है। परन्तु कुछ भी अर्थ करें, उपलब्धि यही है कि नाद में बंधा हुआ मन ब्रह्माकार वृत्ति को प्राप्त होता है।

नादश्रवणतः क्षिप्रमंतरङ्गभुजङ्गमः ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥९७॥
काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥९८॥
घंटादिनादसक्तस्तब्धांतः करणहरिणस्य ।
प्रहरणमपि सुकरं शरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥९९॥

टीका—नाद के श्रवण से अन्तरग भुजंग शीघ्र ही सब कुछ भूलकर एकाग्र हो जाता और फिर कहीं नहीं दौड़ता। जैसे काष्ठ में प्रवृत्त हुई अग्नि काष्ठ के सहित ही शमन होती है, वैसे ही नाद में प्रवृत्त हुआ चित्त नाद के सहित लीन होता है। घण्टा आदि के शब्द में आसक्त और स्तब्ध हुए अन्तःकरण रूपी हरिण पर प्रहार करना तभी श्रेष्ठ है,जबकि शर-सन्धान करने में प्रवीणता हो ॥९७—९९॥

व्याख्या—यहाँ मन को सर्प की उपमा देते हुए कहा है कि मन एकाग्र होने पर, विषयों की ओर नड़ी दौड़ता। परन्तु वह एकाग्रता नाद में प्रवृत्त होने पर ही हो सकती है। इसलिए साधक को नादानुसन्धान में प्रवृत्त होना चाहिए। इस प्रकार ग्रन्थकार ने यहाँ समाधि के एक रूप का वर्णन किया है। 'वितर्क विचारानन्दा स्मितानुरूपागमात् सम्प्रज्ञातः' (योग दर्शन १।१७) अर्थात् 'वितक, विचार, और आनन्द अस्मिता के सम्बन्ध से संप्रज्ञात योग होता है।' यह जो चार भेद कहे हैं उनमें विचारानुगत भेद को इस प्रकार से समझे कि स्थूल पादार्थों का साक्षात करने के पश्चात् सूक्ष्म पदार्थों और सूक्ष्म तन्मात्राओं के भावनात्मक विचार के माध्यम से समाधि होती है।

काष्ठ में लगी हुई अग्नि की ज्वालाएं काष्ठ को भस्म करके स्वयं शान्त होती हैं, वैसे ही नाद में युक्त हुआ चित्त नाद में संयुक्त होकर नाद के साथ ही लय को प्राप्त होता है। नाद में आसक्त मनको तभी छेड़ना चाहिए, जब कि प्राणवायु रूप बाण का सन्धान करना जानता हो। आशय यह है कि अन्तः करण रूपी मृग के नाद में आसक्त और निश्चल होने में भी हित देखे और उसे प्राण में तभी योजित करे, जबकि प्राणवायु का सुषुम्ना में प्रविष्ट करने में प्रवीणता प्राप्त करले। इस प्रकार मन-प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचा देना ही अन्तःकरण रूपी मृग पर शर-सन्धान करना है।

व्यापक आत्मा का परम पद वर्णन

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्लते।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यांतर्गतं मनः।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१००॥

टीका—अनाहत शब्द की जिस ध्वनि की प्रतीति होती है, उसी के अन्तर्गत ज्ञेय है और ज्ञेय के अन्तर्गत मन है। वह जहाँ लय को प्राप्त होता है, वह विष्णु का परम पद है ॥१००॥

व्याख्या—ज्ञेय रूप प्रकाशमान चैतन्य बिना ताड़न के उत्पन्न होने वाली शब्द-ध्वनि में रहता है और ज्ञेय में अन्तःकरण रूपी मन का निवास है अर्थात् मन का लय ज्ञेय में होता है और वह ज्ञेय ही सर्व वृत्तियों से शून्य होकर संस्कार मात्र शेष रहने वाला विष्णु का परमपद है।

विष्णु का अर्थ है व्यापक। यहाँ जो परम पद बताया, उसे व्यापक आत्मा का ही परम स्थान समझना चाहिए। इस प्रकार नाद में ज्ञेय रूप चैतन्य आत्मा और ज्ञेय में मन का विलय कहने का अभिप्राय यही है मन का लय आत्मा में ही होता है।

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते।
निःशब्द तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥१०१॥
यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वांतो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥१०२॥

टीका—आकाश की तब तक कल्पना होती है, जब तक कि शब्दों का प्रवर्तन होता है तथा शब्द से ही निःशब्द परब्रह्म परमात्मा का मान होता है। नाद रूप से जहाँ जो कुछ सुना जाता है, वह सब शक्ति ही है। जिसमें तत्वों का अन्त होता है, वही निराकार परमेश्वर है ॥१०१—१०२॥

अर्थात्—अनाहत ध्वनि स्वरूप शब्द जब तक श्रवण में आते हैं, तब तक आकाश की कल्पना की जाती है, क्योंकि शब्द

स्वयं ही आकाश स्वरूप है। जब मन के सहित शब्द लय को प्राप्त होता है, तब शब्द-रहित परब्रह्म को ही 'परमात्मा' शब्द से पुकारते हैं। अभिप्राय यह है कि सभी वृत्तियाँ जब विलय को प्राप्त हो जाती है, तब जो स्वरूप से विद्यमान रहे उसी को परमात्मा समझना चाहिए।

नादरूप से अनाहत ध्वनि के रूप में जो कुछ भी सुनाई देता है, वह शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अर्थात् नाद शक्ति है और जहाँ तत्व लय होते हैं, वह निराकार अर्थात् रूप-रहित ब्रह्म है। क्योंकि सभी तत्वों का लय परब्रह्म परमेश्वर में ही होता है।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।
राजयोगसमारूढ़ः पुरुषः कालवंचकः ॥१०३॥
तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्य जलं त्रिभिः।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥१०४॥

टीका—हठ और लय के सभी उपाय राजयोग से सिद्ध हो सकते हैं और जो पुरुष राजयोग पर समारूढ़ हो जाता है, वह काल की वचना करने में समर्थ होता है। तत्व बीज है और हठ क्षेत्र है तथा उदासीनता जल है, इन तीनों से उन्मनी कल्पलता शीघ्र उत्पन्न होकर प्रवृत्त होती है ॥१०३—१०४॥

व्याख्या—यहाँ तत्व का अर्थ चित्त है, उसी को बीज कहा गया है। क्योंकि उन्मनी अस्वथा रूपी अंकुर के आकार द्वारा चित्त ही परिणाम को प्राप्त हो सकता है। हठ की क्रिया है प्राण-अपान ऐक्य होना, उसी हठयोग को क्षेत्र की संज्ञा दी गई है, क्योंकि क्षेत्र के समान जो प्राणायाम होता है, उसी में उन्मनी अवस्था रूपी कल्पना की उत्पत्ति होती है। विषयों से

उदासीनता रूपी परम वैराग्य को जल के समान माना है, क्योंकि उन्मनी रूपी कल्पलता की उत्पत्ति और वृद्धि उदासीनता अर्थात् वैराग्य रूपी जल से हो हो सकती है। इस प्रकार वैराग्य रूपी जल का हेतु चित्त का विशेष संस्कार साधक की तन्मयता रूप समाधि का ही स्वरूप समझना चाहिए। अभिप्राय यह है कि क्रमशः चित्त, हठ और उदासीनता रूपी बीज, क्षेत्र (खेत) और जल इन तीनों के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि रूपी उन्मनी कल्पलता की उत्पत्ति शीघ्र हो जाती है। 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार शेषोऽन्यः' (योग दर्शन १।१८) अर्थात्—'जिसकी पूर्व अवस्था विराम प्रत्यय है और जिसमें चित्त की स्थिति संस्कार मात्र में शेष रह जाती है वह असंप्रज्ञात समाधि है।'

परन्तु पूर्व श्लोक में ग्रन्थकार का यह कथन भी अल्प महत्व का नहीं है कि हठ और लय के सभी उपायों की सिद्धि राजयोग से ही सम्भव है, क्योंकि राजयोग का साधक मृत्यु को भी जीत लेता है।

सदा नादानुसंधानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः ।
निरन्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥१०५॥

टीका—नाद के अनुसन्धान से सदा संचित पापों का क्षय होता है और चित्त तथा वायु दोनों अवश्य ही लय को प्राप्त होते हैं ॥१०५॥

व्याख्या—जो योगी नाद के अनुसन्धान में लगा रहता है उसके सब प्रकार के पाप निर्मूल होकर चित्त और प्राणवायु दोनों ही ब्रह्मरन्ध्र में विलीन हो जाते हैं। इस कथन से नाद की महिमा और उत्कृष्टता व्यक्त होती है।

उन्मनी अवस्था में चेष्टा रहितता

शंखदुन्दुभिनाद च न शृणोति कदाचन ।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ॥१०६॥

टीका—वह योगी शंख, दुन्दुभी के नाद को कभी नहीं सुनता तथा उन्मनी अवस्था के कारण शरीर काष्ठ के समान हो जाता है, यह निश्चय है ॥१०६॥

व्याख्या—नाद के अनुसन्धान में लगा हुआ योगी जब उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है तब वह काष्ठ के साथ चेष्टा-रहित हो जाता है, क्योंकि उस अवस्था में मन और प्राण का लय होने पर किसी प्रकार की चेष्टा या संज्ञा नहीं रहती और न उसे शंख, दुंदुभी आदि किसी प्रकार का भी शब्द सुनाई नहीं देता। यहाँ शख, दुंदुभी आदि का तात्पर्य शब्द मात्र से है, इसलिए किसी प्रकार का भी शब्द न सुनाई देना समझना चाहिए।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिंताविवर्जितः ।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥१०७॥

टीका—उस समय वह सभी अवस्थाओं से मुक्त और सभी चिन्ताओं से रहित हो जाता है तथा मृतक के समान अव-स्थित रहता हुआ मुक्त ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ॥१०७॥

व्याख्या—व्युत्थानावस्था पाँच मानी जाती हैं—जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण, साधक उन सभी अवस्थाओं से छुटकारा प्राप्त कर लेता है, तथा उसे किसी भी प्रकार की

चिन्ता न रहने से सभी वृत्तियों के निरोध रूप योग में स्थिति हो जाती है। तब वह मृतक के समान निश्चेष्ट होकर जीवन्मुक्त हो जाता है। 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगदर्शन १।३) अर्थात् 'उस समय द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में ही अवस्थिति हो जाती है।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी मुक्तः समाधिना ॥१०८॥

टीका—उसको काल भी नहीं खा सकता, उसे कर्म की भी बाधा नहीं होती। समाधि में अवस्थित वह योगी किसी प्रकार भी साध्य नहीं होता ॥१०८॥

व्याख्या— मृत्यु भी समाधि में युक्त हुए योगी का भक्षण नहीं कर सकती। उसे किसी प्रकार का शुभ-अशुभ कर्म बाधा नहीं पहुँचा सकता और न उस योगी को पुरुष यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, आयुध आदि किसी उपाय से साध्य कर सकता है अर्थात् दवा नहीं सकता। इस प्रकार समाधिस्थ योगी सभी क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

न गंधं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०९॥

टीका—उस समाधि में युक्त योगी के लिए गंध, रस, रूप स्पर्श, नाद तथा अपने-पराये का ज्ञान भी नहीं रहता ॥१०९॥

व्याख्या— गन्ध दो प्रकार की है—सुगन्ध और दुर्गन्ध। रस छः प्रकार का है—मधुर, अम्ल, कटु, तिक्त, कषाय और लवण। रूप के सात प्रकार हैं—शुक्ल, पीत, नील हरित, लोहित कपिश और चित्र। स्पर्श के तीन भेद हैं—शीत, उष्ण

और अनुष्णाशीत और शब्द के शंख, दुन्दुभी, वीणा, मेघ, समुद्र आदि बाह्य शब्द और नाद रूप आन्तरिक शब्द, इनमें से किसी का भी ज्ञान समाधि में स्थित पुरुष को नहीं रहता। यही नहीं, उस समय वह अपने पराये को भी नहीं जानता।

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥११०॥

टीका—जिसका चित्त न सोता है, न जागता और न उसमें स्मृति या विस्मृति ही रहती है तथा उसमें वृत्ति का भाव-अभाव ही हो, वह योगी निश्चय ही मुक्त है ॥११०॥

व्याख्या—चित्त के सोने का अभिप्राय आच्छादक तमोगुण का अभाव होना है, क्योंकि त्रिगुणात्मक अन्त.करण मे जब सत्व, रज की न्यूनता और तमोगुण की अधिकता होती है, तब अन्तःकरण का परिणामरूप विकार न होने से सुप्तावस्था होती है तथा इन्द्रियों के द्वारा बिषयों का ग्रहण होता है वह जाग्रत अवस्था है। योगी के चित्त पर इन दोनों में से किसी भी अवस्था का प्रभाव नहीं रहता, इसीलिए उसका सुप्त और जाग्रत अवस्थाओं से रहित होना कहा है।

सम्पूर्ण वृत्तियों का अभाव अथवा उद्बोध का भाव से स्मृति-राहित्य और स्मृति के जनक सस्कार का अभाव विस्मृति-राहित्य होता है। यह दोनों भी समाधि में स्थित योगी के चित्त में नहीं होते तथा शेष रहे संस्कारों के कारण न उसके चित्त का नाश होता है और न वृत्तियों की उत्पत्ति के अभाव से चित्त का उदय ही होता है, और ऐसा होने से वह योगी मुक्त ही माना जाता है।

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं तापमानं च योगी युक्तः समाधिना ।।१११।।

टीका—समाधि में स्थित योगी शीत, उष्ण, दुःख, सुख, मान, अपमान को भी नहीं जानता ।।१११।।

व्याख्या—समाधि की अवस्था में अवस्थित हुए योगी को शीतादि का मान नहीं होता। वह किसी प्रकार के दुःख से दुःखी और सुख से सुखी नहीं होता। उसे इसकी भी चिन्ता नहीं होती कि कोई उसका सम्मान करता है अथवा अपमान। उसकी ऐसी विकार रहित स्थिति होती है ।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः।।११२।।

टीका—जो योगी स्वस्थ अवस्था में और जाग्रत अवस्था में भी सुप्त के समान अवस्थित रहता हुआ श्वास-उच्छवास से भी रहित हो जाता है, वह निश्चित रूप से मुक्त ही है ।।११२।।

व्याख्या—स्वस्थ अवस्था में इन्द्रियों और अन्तःकरण में प्रसन्नता रहती है तथा जाग्रत अवस्थामें जो इन्द्रियोंका व्यापार होता है, उस सबको त्याग देने के कारण वह योगी सोते हुए के समान हो जाता है और तब न तो वह श्वास लेता और न श्वास छोड़ता है। इस प्रकार निश्चल रूप से स्थित हुआ योगी मुक्त ही है। योगचूडामण्युपनिषत् में भी कहा है—

समाधौ परमंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ।।

अर्थात्—समाधि होने पर जो परमज्योति, अनन्त और विश्वतोमुख का भाव होता है, उससे योगी क्रिया, कर्म और आवागमन से छूट जाता है ।

योगी की सर्वथा अवध्यता वर्णन

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मंत्रयंत्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥११३॥

टीका—समाधि में युक्त योगी सब प्रकार के शस्त्रों से अवध्य तथा सभी शरीर धारियों के सामर्थ्य से बाहर होता है । वह किसी मन्त्र और यन्त्र से भी ग्रहण करने के योग्य नहीं होता ॥११३॥

व्याख्या—समाधि में अवस्थित हुए योगी को कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार के शस्त्र से नहीं मार सकता और न उसे कोई शरीर धारी अपने वश में ही कर सकता है । वह वह यन्त्र, मन्त्र, मारण, उच्चाटन, वशीकरण आदि के द्वारा भी प्रभावित नहीं किया जा सकता । अभिप्राय यह है कि उसके लिए कोई विघ्न बाधा स्वरूप नहीं हो सकता ।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिंदुर्न भवति दृढ़प्राणवातप्रबंधात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं ॥
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दंभमिथ्याप्रलापः ॥११४॥

टीका—जब तक मध्य मार्ग से चढ़ता हुआ प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर नहीं होता, जब तक प्राणवायु के दृढ़ बन्धन से बिन्दु स्थिर नहीं होता और जब तक ध्यान में सहज रूप से तत्त्वरूपता प्राप्त नहीं होती तब तक ज्ञान के दम्भ का प्रलाप मिथ्या ही है ॥११४॥

व्याख्या—मध्य मार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हुआ प्राणावायु जब ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच कर स्थिर होता है, तभी साधक का बिन्दु भी स्थिरता को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि सुषुम्ना में न पहुँचा हुआ प्राणवायु असिद्ध होता है। बिन्दु की स्थिरता भी कुम्भक के दृढ़ करने से ही सिद्ध हो सकती है। इसे पहले बता चुके हैं और अब पुनः बताते हैं कि मन की स्थिरता से वायु स्थिर होता है, वायु की स्थिरता से बिन्दु की स्थिरता होती है और इनकी अस्थिरता हो तो योगसिद्धि सम्भव नहीं।

इससे समझना चाहिए कि प्राण और बिन्दु के स्थिर होने पर ही ध्यान में एक रूपता हो सकती है और वह एकरूपता ही तत्व रूपता अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य में सिद्धि प्राप्त करा सकती है। महर्षि पतंजलि का कथन है—'पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति-शक्तेरिति' (यो. द. ४।३४) अर्थात् 'पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय हो जाना अथवा चितिशक्ति का अपने रूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है।'

श्लोक में 'यावद्ध्याने सहज सदृशं जायते नैव तत्वं' इत्यादि कह कर ध्यान के अनन्तर सहज रूप से तत्व अर्थात् आत्मा की प्राप्ति नहीं हो जाती' तब तक ज्ञान हुआ कहना दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र माना है और यह ठीक भी है, क्योंकि मनको विषयों से खींच चैतन्य में स्थिर करना ध्यान और ध्यान को भी भूल जाना समाधि है। यथा 'सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ध्यान विस्मृतिः समाधिः' (मण्डलब्राह्मणोपनिषत् १)।

इस प्रकार ध्यान को भी भूल जाने से आत्मतत्व का दर्शन हो सकता है। जब तक वैसी स्थिति न हो तब तक ज्ञान का दम्भ करना व्यर्थ का प्रलाप ही है।

॥ हठयोग प्रदीपिका का चतुर्थ उपदेश समाप्त ॥

॥ हठयोग प्रदीपिका सम्पूर्ण ॥

T. P. H. Oriental Series No. 15

हठयोगप्रदीपिका

HAṬHA-YOGA-PRADĪPIKĀ

स्वात्मारामयोगीन्द्रविरचिता

ब्रह्मानन्दकृतज्योत्स्नाभिधया टीकया समलंकृता

PART II

THEOSOPHICAL PUBLISHING HOUSE

ADYAR, MADRAS, INDIA

1933

श्रीः

हठयोगप्रदीपिका

सटीका ।

प्रथमोपदेशः ।

श्रीगणेशाय नमः ।

गुरुं नत्वा शिवं साक्षाद्ब्रह्मानन्देन तन्यते ।
हठप्रदीपिकाज्योत्स्ना योगमार्गप्रकाशिका ॥ १ ॥
इदानींतनानां सुबोधार्थमस्याः
सु विज्ञाय गोरक्षसिद्धान्तहार्दम् ।
मया मेरुशास्त्रिप्रमुख्याभियोगा-
त्स्फुटं कथ्यतेऽत्यन्तगूढोऽपि भावः ॥ २ ॥

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै
येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोग-
मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ १ ॥

मुमुक्षुजनहितार्थं राजयोगद्वारा कैवल्यफलां हठप्रदीपिकां विधित्सुः परमकारुणिकः स्वात्मारामयोगीन्द्रस्तत्प्रत्यूहनिवृत्तये हठयोगप्रवर्तकश्रीमदादिनाथनमस्कारलक्षणं मङ्गलं तावदाचरति— श्रीआदिनाथायेत्यादिना । तस्मै श्रीआदिनाथाय नमोऽस्त्वित्यन्वयः । आदिश्चासौ नाथश्च आदिनाथः, सर्वेश्वरः शिव इत्यर्थः । श्रीमान् आदिनाथः तस्मै श्रीआदिनाथाय । श्रीशब्द आदिर्यस्य स श्रीआदिः, श्रीआदिश्चासौ नाथश्च श्रीआदिनाथः, तस्मै श्रीआदिनाथाय, श्रीनाथाय विष्णव इति वाऽर्थः । श्रीआदिनाथायेत्यत्र यणभावस्तु ‘ अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभङ्गं त्यजेद्गिराम् ’ इति च्छन्दोविदां संप्रदायादुच्चारणसौष्ठवाच्चेति बोध्यम् । वस्तुतस्तु, असंहितपाठस्वीकारापेक्षया श्रीआदिनाथायेति पाठस्वीकारेऽप्रवृत्तनित्यविध्युद्देश्यतावच्छेदकानाक्रान्तत्वेन परिनिष्ठितत्वसंभवात् , संप्रत्युदाहृतदृष्टान्तद्वयस्यापीदृग्विषयवैषम्यात् , नित्यसाहित्यभङ्गजनितदोषस्य शाब्दिकाननुमतत्वाच्चासंमृष्टविधेयांशतारूपदोषस्य साहित्यकारैरुक्तत्वेऽपि क्वचित्तैरपि स्वीकृतत्वेन शाब्दिकाचार्यैरेकाजित्यादौ

कर्मधारयस्वीकारेण सर्वथाऽनादृतत्वाच्च लाघवातिशय इति सुधियो विभावयन्तु । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् । तस्मै कस्मै इत्यपेक्षायामाह—येनेति । येन आदिनाथेन उपदिष्टा गिरिजायै हठयोगविद्या हश्च ठश्च हठौ सूर्यचन्द्रौ, तयोर्योगो हठयोगः । एतेन हठशब्दवाच्ययोः सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोग इति हठयोगस्य लक्षणं सिद्धम् । तथा चोक्तं गोरक्षनाथेन सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ—"हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते । सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥" इति । तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या, हठयोगशास्त्रमिति यावत् । गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । प्रकर्षेण उन्नतः प्रोन्नतः । मन्त्रयोगहठयोगादीनामधरभूमीनामुत्तरभूमित्वाद्राजयोगस्य प्रोन्नतत्वम् । राजयोगश्च सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणोऽसंप्रज्ञातयोगः । तमिच्छोर्मुमुक्षोरधिरोहिणीव, अधिरुह्यतेऽनयेत्यधिरोहिणी, निःश्रेणीव विभ्राजते विशेषेण भ्राजते शोभते । यथा प्रोन्नतसौधमारोढुमिच्छोरधिरोहिण्यनायासेन सौधप्रापिका भवति, एवं हठदीपिकाऽपि प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरनायासेन राजयोगप्रापिका भवतीति । उपमालंकारः । इन्द्रवज्राख्यं वृत्तम् ॥ १ ॥

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥

एवं परमगुरुनमस्कारलक्षणं मङ्गलं कृत्वा विघ्नबाहुल्ये मङ्गलबाहुल्यस्याप्यपेक्षितत्वात्स्वगुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरन्नस्य ग्रन्थस्य विषयप्रयोजनादीन्प्रदर्शयति— प्रणम्येति । श्रीमन्तं गुरुं श्रीगुरुं नाथं श्रीगुरुनाथम् , स्वगुरुमिति यावत् । प्रणम्य प्रकर्षेण भक्तिपूर्वकं नत्वा स्वात्मारामेण योगिना योगोऽस्यास्तीति तेन । केवलं राजयोगाय केवलं राजयोगार्थं हठविद्योपदिश्यत इत्यन्वयः । हठविद्याया राजयोग एव मुख्यं फलं न सिद्धय इति केवलपदस्याभिप्रायः । सिद्धयस्त्वानुषङ्गिक्यः । एतेन राजयोगफलसहितो हठयोगोऽस्य ग्रन्थस्य विषयः । राजयोगद्वारा कैवल्यं चास्य फलम् । तत्कामश्चाधिकारी । ग्रन्थविषययोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः संबन्धः । ग्रन्थस्य कैवल्यस्य च प्रयोज्यप्रयोजकभावः संबन्धः । ग्रन्थाभिधेयस्य सफलयोगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः संबन्ध इत्युक्तम् ॥ २ ॥

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ ३ ॥

ननु मन्त्रयोगसगुणध्याननिर्गुणध्यानमुद्रादिभिरेव राजयोगसिद्धौ किं हठविद्योपदेशेनेत्याशङ्क्य व्युत्थितचित्तानां

मन्त्रयोगादिभिः राजयोगासिद्धेर्हठयोगादेव राजयोगसिद्धिं वदन् ग्रन्थं प्रतिजानीते—भ्रान्त्येति । मन्त्रयोगादिबहुमतरूपे ध्वान्ते गाढान्धकारे या भ्रान्तिर्भ्रमस्तया । तैस्तैरुपायै राजयोगार्थं प्रवृत्तस्य तत्र तत्र तदलाभात् । वक्ष्यति च—'राजयोगं विना-' इत्यादिना । तथा राजयोगमजानतां न जानन्तीत्यजानन्तः तेषामजानतां पुंसाम्, राजयोगज्ञानमिति शेषः । करोतीति करः कृपायाः करः कृपाकरः कृपाया आकर इति वा तादृशः । अनेन हठप्रदीपिकाकरणे अज्ञानुकम्पैव हेतुरित्युक्तम् । स्वात्मन्यारमत इति स्वात्मारामः । हठस्य हठयोगस्य प्रदीपिकेव प्रकाशकत्वात् हठप्रदीपिका ताम् । अथ वा हठ एव प्रदीपिका राजयोगप्रकाशकत्वात्, तां धत्ते विधत्ते, करोतीति यावत् । स्वात्माराम इत्यनेन ज्ञानस्य सप्तमभूमिकां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युक्तम् । तथा च श्रुतिः—'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः' इति । सप्त भूमयश्चोक्ता योगवासिष्ठे—"ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया स्यात्तृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । परार्थाभाविनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥" इति । अस्यार्थः—शुभेच्छा इत्याख्या यस्याः सा शुभेच्छाख्या । विवेकवैराग्ययुता शमादिपूर्विका तीव्र-

मुमुक्षा प्रथमा ज्ञानस्य भूमिः भूमिका उदाहृता कथिता, योगिभिरिति शेषः । १ । विचारणा श्रवणमननात्मिका द्वितीया ज्ञानभूमिः स्यात् । २ । अनेकार्थग्राहकं मनो यदाऽनेकार्थान्परित्यज्य सदेकार्थवृत्तिप्रवाहवद्भवति तदा तनु मानसं यस्यां सा तनुमानसा निदिध्यासनरूपा तृतीया ज्ञानभूमिः स्यादिति शेषः । ३ । इमास्तिस्रः साधन-भूमिकाः । आसु भूमिषु साधक इत्युच्यते । तिसृ-भिर्भूमिकाभिः शुद्धसत्त्वेऽन्तःकरणेऽहं ब्रह्मास्मीत्याकारिकाऽप-रोक्षवृत्तिरूपा सत्त्वापत्तिनामिका चतुर्थी ज्ञानभूमिः स्यात् । चतुर्थीयं फलभूमिः । अस्यां योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । इयं संप्रज्ञातयोगभूमिका । ४ । वक्ष्यमाणास्तिस्रोऽसंप्रज्ञात-योगभूमयः । सत्त्वापत्तेरनन्तरा सत्त्वापत्तिसंज्ञिकायां भूमा-वुपस्थितासु सिद्धिषु असंसक्तस्यासंसक्तिनामिका पञ्चमी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते । एतां भूमिं प्राप्तो ब्रह्मविद्वर इत्युच्यते । ५ । परब्रह्मातिरि-क्तमर्थं न भावयति यस्यां सा परार्थाभाविनी षष्ठी ज्ञानभूमिः स्यात् । अस्यां योगी परप्रबोधित एव व्युत्थितो भवति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरीयानित्युच्यते । ६ । तुर्यगा नाम सप्तमी भूमिः स्मृता । अस्यां योगी स्वतः परतो वा न व्युत्थानं प्राप्नोति । एतां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इत्युच्यते । ७ ।

तत्र प्रमाणभूता श्रुतिरत्रैवोक्ता । पूर्वमयमेव जीवन्मुक्त इत्युच्यते, स एवात्र स्वात्मारामपदेनोक्त इत्यलं बहूक्तेन ॥ ३ ॥

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ।
स्वात्मारामोऽथ वा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥४॥

महत्सेवितत्वाद्धठविद्यां प्रशंसन्स्वस्यापि महत्सकाशाद्धठविद्यालाभाद्गौरवं द्योतयति—हठविद्यां हीति । हीति प्रसिद्धम् । मत्स्येन्द्रश्च गोरक्षश्च तौ आद्यौ येषां ते मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्याः । आद्यशब्देन जालंधरनाथभर्तृहरिगोपीचन्दप्रभृतयो ग्राह्याः । ते हठविद्यां हठयोगविद्यां विजानते विशेषेण साधनलक्षणभेदफलैर्जानन्तीत्यर्थः । स्वात्मारामः स्वात्मारामनामा । अथ वा शब्दसमुच्चये । योगी योगवान् तत्प्रसादतः गोरक्षप्रसादाज्जानीत इत्यन्वयः । परममहता ब्रह्मणाऽपीयं विद्या सेवितेत्यत्र योगियाज्ञवल्क्यस्मृतिः—'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः' इति । वक्तृत्वं च मानसव्यापारपूर्वकं भवतीति मानसो व्यापारोऽर्थादागतः । तथा च श्रुतिः---'यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति' इति । भगवतेयं विद्या भागवतानुद्धवादीन्प्रत्युक्ता । शिवस्तु योगी प्रसिद्ध एव । एवं च सर्वोत्तमैर्ब्रह्मविष्णुशिवैः सेवितेयं विद्या । न च ब्रह्मसूत्रकृता व्यासेन योगी निराकृत इति

शङ्कनीयम् । प्रकृतिस्वातन्त्र्यविद्भिर्भेदांशमात्रस्य निराकरणात् । न तु भावनाविशेषरूपयोगस्य । भावनायाश्च सर्वसंमतत्वात्तां विना सुखस्याप्यसंभवात् । तथोक्तं भगवद्गीतासु—'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना । न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥' इति । नारायणतीर्थैरप्युक्तम्—
"स्वातन्त्र्यसत्यत्वमुखं प्रधाने सत्यं च चिद्भेदगतं च वाक्यैः ।
व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः ॥"
इति । 'अपि चात्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्स्वयम् । भाषादिषु ततस्तत्र आचार्यप्रमुखैर्मतः ॥ मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः । कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र सन्तोऽतिसादराः ॥' इति । 'वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् । अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥' इति भगवदुक्तेः । किं बहुना ? 'जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते' इति वदता भगवता योगजिज्ञासोरप्यौत्कृष्ट्यं वर्णितं किमुत योगिनः । नारदादिभक्तश्रेष्ठैर्याज्ञवल्क्यादिज्ञानिमुख्यैश्चास्याः सेवनाद्भक्तज्ञानिनामप्यविरुद्धेत्युपरम्यते ॥ ४ ॥

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ।

हठयोगे प्रवृत्तिं जनयितुं हठविद्यया प्राप्तैश्वर्यान्सिद्धानाह— श्रीआदिनाथेत्यादिना। आदिनाथः शिवः सर्वेषां नाथानां प्रथमो नाथः। ततो नाथसंप्रदायः प्रवृत्त इति नाथसंप्रदायिनो वदन्ति। मत्स्येन्द्राख्यश्च आदिनाथशिष्यः। अत्रैवं किंवदन्ती— कदाचिदादिनाथः कस्मिंश्चिद् द्वीपे स्थितः तत्र विजनमिति मत्वा गिरिजायै योगमुपदिष्टवान्। तीरसमीपनीरस्थः कश्चन मत्स्यः तं योगोपदेशं श्रुत्वा एकाग्रचित्तो निश्चलकायोऽवतस्थे। तं तादृशं दृष्ट्वाऽनेन योगः श्रुत इति तं मत्वा कृपालुरादिनाथो जलेन प्रोक्षितवान्। स च प्रोक्षणमात्राद्दिव्यकायो मत्स्येन्द्रः सिद्धोऽभूत्। तमेव मत्स्येन्द्रनाथ इति वदन्ति। शाबरनामा कश्चित्सिद्धः, आनन्दभैरवनामाऽन्यः। एतेषामितरेतरद्वन्द्वः। छिन्नहस्तपादं पुमांसं हिन्दुस्थानभाषायां चौरङ्गीति वदन्ति। कदाचिदादिनाथाल्लब्धयोगस्य भुवं पर्यटतो मत्स्येन्द्रनाथस्य कृपावलोकनमात्रात्कुत्रचिदरण्ये स्थितश्चौरङ्गचङ्कुरितहस्तपादो बभूव। स च तत्कृपया संजातहस्तपादोऽहमिति मत्वा तत्पादयोः प्रणिपत्य ममानुग्रहं कुर्विति प्रार्थितवान्। मत्स्येन्द्रोऽपि तमनुगृहीतवान्। तस्यानुग्रहाच्चौरङ्गीति प्रसिद्धः सिद्धः सोऽभूत्। मीनो मीननाथः, गोरक्षो गोरक्षनाथः, विरूपाक्षनामा, बिलेशयनामा च। चौरङ्गीप्रभृतीनां द्वन्द्वसमासः॥ ५॥

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः ।
कोरण्टकः सुरानन्दः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ ६ ॥

मन्थानः, भैरवः, योगीति मन्थानप्रभृतीनां सर्वेषां विशेषणम् ॥ ६ ॥

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥ ७ ॥

काकचण्डीश्वर इत्याह्वयो नाम यस्य स तथा । अन्ये स्पष्टाः ॥ ७ ॥

अल्लमप्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिण्टिणिः ।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥ ८ ॥

तथाशब्दः समुच्चये ॥ ८ ॥

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ ९ ॥

इति पूर्वोक्ता आदयो येषां ते तथा । आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः । महान्तश्च ते सिद्धाश्च अप्रतिहतैश्वर्या इत्यर्थः । हठयोगस्य प्रभावात्सामर्थ्यादिति हठयोगप्रभावतः । पञ्चम्यास्तसिल् । कालो मृत्युः तस्य दण्डनं

मृत्युं जित्वेत्यर्थः। ब्रह्माण्डमध्ये विचरन्ति विशेषेणाव्याहतगत्या चरन्तीत्यर्थः। तदुक्तं भागवते—'योगेश्वराणां गतिमाहुरन्तर्बहिस्त्रिलोक्याः पवनान्तरात्मनाम्' इति ॥ ९ ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ १० ॥

हठस्याशेषतापनाशकत्वमशेषयोगसाधकत्वं च मठकमठरूपकेणाह—अशेषेति। अशेषाः आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकभेदेन त्रिविधाः। तत्राध्यात्मिकं द्विविधं शारीरं मानसं च। तत्र शारीरं दुःखं व्याधिजम्। मानसं दुःखं कामादिजम्। आधिभौतिकं व्याघ्रसर्पादिजनितम्। आधिदैविकं ग्रहादिजनितम्। ते च ते तापाश्च तैस्तप्तानां संतप्तानां पुंसां हठो हठयोगः सम्यगाश्रीयत इति समाश्रयः आश्रयः आश्रयभूतो मठः मठ एव। तथा हठः अशेषयोगयुक्तानाम्, अशेषयोगयुक्ताः मन्त्रयोगकर्मयोगादियुक्तास्तेषामाधारभूतः कमठः। एवं त्रिविधतापतप्तानां पुंसामाश्रयो हठः। यथा च विश्वाधारः कमठः एवं निखिलयोगिनामाधारो हठ इत्यर्थः ॥ १० ॥

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ॥ ११ ॥

अथाखिलविद्यापेक्षया हठविद्याया अतिगोप्यत्वमाह—हठविद्येति। सिद्धिमणिमाद्यैश्वर्यमिच्छता, यद्वा सिद्धिं कैवल्यसिद्धिमिच्छता वाञ्छता योगिना हठयोगविद्या परमत्यन्तं गोप्या गोपनीया गोपनार्हाऽस्तीति। तत्र हेतुमाह—यतो गुप्ता हठविद्या वीर्यवत्यप्रतिहतैश्वर्यजननसमर्था स्यात्। कैवल्यजननसमर्था कैवल्यसिद्धिजननसमर्था वा स्यात्। अथ योगाधिकारी। 'जिताक्षाय शान्ताय सक्ताय मुक्तौ विहीनाय दोषैरसक्ताय मुक्तौ। अहीनाय दोषेतरैरुक्तकर्त्रे प्रदेयो न देयो हठश्चेतरस्मै'। याज्ञवल्क्यः—'विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः। यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसङ्गविवर्जितः'। 'कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः। गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः। स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः' इति। 'शिश्नोदररतायैव न देयं वेषधारिणे' इति कुत्रचित्। अत्र योगचिन्तामणिकाराः—यद्यपि 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्। शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये॥' इत्यादिपुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते, तथाऽपि मोक्षरूपकं फलं योगविरक्तस्यैव भवति। अतस्तस्यैव योगाधिकार उचितः। तथा च वायुसंहितायाम्—'दृष्टे तथाऽऽनुश्रविके विरक्तं विषये मनः। यस्य तस्याधि-

कारोऽस्मिन्योगे नान्यस्य कस्यचित्' । सुरेश्वराचार्याः— 'इहामुत्र विरक्तस्य संसारं प्रजिहासतः । जिज्ञासोरेव कस्यापि योगेऽस्मिन्नधिकारिता' इत्याहुः । वृद्धैरप्युक्तम्— 'नैतद्देयं दुर्विनीताय जातु ज्ञानं गुप्तं तद्धि सम्यक्फलाय । अस्थाने हि स्थाप्यमानैव वाचां देवी कोपान्निर्दहेन्नो चिराय ॥' इति ॥ ११ ॥

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ॥ १२ ॥

अथ हठाभ्यासयोग्यं देशमाह सार्धेन—सुराज्य इति । राज्ञः कर्म भावो वा राज्यं तच्छोभनं यस्मिन्स सुराज्यस्तस्मिन्सुराज्ये । 'यथा राजा तथा प्रजाः' इति महदुक्तेः राज्ञः शोभनत्वात्प्रजानामपि शोभनत्वं सूचितम् । धार्मिके धर्मवति । अनेन हठाभ्यासिनोऽनुकूलाहारादिलाभः सूचितः । सुभिक्ष इत्यनेनानायासेन तल्लाभः सूचितः । निरुपद्रवे चौरव्याघ्राद्युपद्रवरहिते । एतेन देशस्य दीर्घकालवासयोग्यता सूचिता । धनुषः प्रमाणं धनुःप्रमाणं चतुर्हस्तमात्रं तत्पर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते शिला प्रस्तरः अग्निर्वह्निः जलं तोयं तैर्वर्जिते रहिते । यत्रासनं ततश्चतुर्हस्तमात्रे शिलाग्निजलानि

न स्युरित्यर्थः। तेन शीतोष्णादिविकाराभावः सूचितः। एकान्ते विजने। अनेन जनसमागमाभावात्कलहाद्यभावः सूचितः। जनसंमर्दे तु कलहादिकं स्यादेव। तदुक्तं भागवते—'वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि' इति। तादृशे मठिकामध्ये। अल्पो मठो मठिका। अल्पीयसि कन्। तस्या मध्ये हठयोगिना हठाभ्यासी योगी हठयोगी तेन। शाकपार्थिवादिवत्समासः। स्थातव्यं स्थातुं योग्यम्। मठिकामध्य इत्यनेन शीतातपादिजनितक्लेशाभावः सूचितः। अत्र 'युक्ताहारविहारेण हठयोगस्य सिद्धये' इत्यर्धं केनचित्क्षिप्तत्वान्न व्याख्यातम्, मूलश्लोकानामेव व्याख्यानात्। एवमग्रेऽपि ये मया न व्याख्याताः श्लोका हठप्रदीपिकाया-मुपलभ्येरंस्ते सर्वे क्षिप्ता इति बोद्धव्यम्॥ १२ ॥

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजन्तूज्झितम्।
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥

अथ मठलक्षणमाह—अल्पद्वारमिति। अल्पं द्वारं यस्मि-स्तत्तादृशम्। रन्ध्रो गवाक्षादिः गर्तो निम्नप्रदेशः विवरो मूषकादिबिलं ते न सन्ति यस्मिंस्तत्तादृशम्। अत्युच्चं

च तन्नीचं चात्युच्चनीचं तच्च तदायतं चात्युच्चनीचायतम् । 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' इत्यत्र बहुलग्रहणाद्विशेषणानां कर्मधारयः । ननूच्चनीचायतशब्दानां भिन्नार्थकानां कथं कर्मधारयः 'तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः' इति तल्लक्षणादिति चेन्न । मठे तेषां सामानाधिकरण्यासंभवात् । न चात्युच्चनीचायतं नात्युच्चनीचायतं नशब्देन समासान्नलोपाभावः, नेति पृथक्पदं वा । अत्युच्चे आरोहणे श्रमः स्यादतिनीचेऽवरोहणे श्रमो भवेत् । अत्यायते दूरं दृष्टिर्गच्छेत्तन्निराकरणार्थमुक्तं नात्युच्चनीचायतमिति । सम्यक्समीचीनतया गोमयेन गोपुरीषेण सान्द्रं यथा भवति तथा लिप्तम् । अमलं निर्मलं निःशेषा निखिला ये जन्तवो मशकमत्कुणाद्यास्तैरुज्झितं त्यक्तं रहितम् । बाह्ये मठाद्बहिःप्रदेशे मण्डपः शालाविशेषः, वेदिः परिष्कृता भूमिः, कूपो जलाशयविशेषः, तै रुचिरं रमणीयम् । प्राकारेण वरणेन सम्यग्वेष्टितं परितो भित्तियुक्तमित्यर्थः । हठाभ्यासिभिः हठयोगाभ्यसनशीलैः सिद्धैः । इदं पूर्वोक्तमल्पद्वारादिकं योगमठस्य लक्षणं स्वरूपं प्रोक्तं कथितम् । नन्दिकेश्वरपुराणे त्वेवं मठलक्षणमुक्तम्—'मन्दिरं रम्यविन्यासं मनोज्ञं गन्धवासितम् । धूपामोदादिसुरभि कुसुमोत्करमण्डितम् ॥ मुनितीर्थनदीवृक्षपद्मिनीशैलशोभितम् । चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेदविचित्रितम् ॥

कुर्याद्योगगृहं धीमान्सुरम्यं शुभवर्त्मना । दृष्ट्वा चित्रगताञ्शान्तान्मुनीन्याति मनः शमम् ॥ सिद्धान्दृष्ट्वा चित्रगतान्मतिरभ्युद्यमे भवेत् । मध्ये योगगृहस्याथ लिखेत्संसारमण्डलम् ॥ श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत्क्वचित् । तान्दृष्ट्वा भीषणाकारान्संसारे सारवर्जिते ॥ अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः । पश्यंश्च व्याधिताञ्जन्तून्नतान्मत्तांश्चलद्व्रणाम् " ॥ १३ ॥

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव सदाऽभ्यसेत् ॥ १४ ॥

मठलक्षणमुक्त्वा मठे यत्कर्तव्यं तदाह—एवंविध इति । एवं पूर्वोक्ता विधा प्रकारो यस्य स तथा पूर्वोक्तलक्षण इत्यर्थः । तस्मिन् स्थित्वा स्थितिं कृत्वा सर्वा याश्चिन्तास्ताभिर्विशेषेण वर्जितो रहितोऽशेषचिन्तारहितः । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः हठाभ्यासप्रकाररूपस्तेन सदा नित्यं योगमेवाभ्यसेत् । एवशब्देनाभ्यासान्तरस्य योगे विघ्नकरत्वं सूचितम् । तदुक्तं योगभीजे—"मरुज्जयो यस्य सिद्धस्तं सेवेत गुरुं सदा । गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात्प्राणजयं बुधः" । राजयोगे—"वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च । ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिन्तामणिर्ह्येकगुरुं

विहाय "। स्कन्दपुराणे—"आचार्याद्योगसर्वस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम्। यथोक्तं लभते तेन प्राप्नोत्यपि च निर्वृतिम्" ॥ सुरेश्वराचार्यः—"गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गसंयुतम्। शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम्" ॥ श्रुतिश्च—"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" इति, 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' इति च ॥ १४ ॥

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥१५॥

अथ योगाभ्यासप्रतिबन्धकानाह—अत्याहार इति। अतिशयित आहारोऽत्याहारः, क्षुधापेक्षयाऽधिकभोजनम्। प्रयासः श्रमजननानुकूलो व्यापारः। प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पो बहुभाषणम्। शीतोदकेन प्रातःस्नाननक्तभोजनफलाहारादिरूपनियमस्य ग्रहणं नियमग्रहः। जनानां सङ्गो जनसङ्गः। कामादिजनकत्वात्। लोलस्य भावः लौल्यं चाञ्चल्यम्। षड्भिरत्याहारादिभिरभ्यासप्रतिबन्धात् योगो विनश्यति विशेषेण नश्यति ॥ १५ ॥

उत्साहात्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात्।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिध्यति ॥ १६ ॥

अथ योगसिद्धिकरानाह—उत्साहादिति। विषयप्रवणं चित्तं निरोत्स्याम्येवेत्युद्यम उत्साहः। साध्यत्वासाध्यत्वे अपरिभाव्य सहसा प्रवृत्तिः साहसम्। यावज्जीवनं सेत्स्यत्येवेत्यखेदो धैर्यम्। विषया मृगतृष्णाजलवदसन्तः ब्रह्मैव सत्यमिति वास्तविकं ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्, योगानां वास्तविकं ज्ञानं वा। शास्त्रगुरुवाक्येषु विश्वासो निश्चयः श्रद्धेति यावत्। जनानां योगाभ्यासप्रतिकूलानां यः सङ्गस्तस्य परित्यागात्। षड्भिरेभिर्योगः प्रकर्षेणाविलम्बेन सिध्यतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

[अथ यमनियमाः—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयाऽऽर्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम्।
नियमा दश संप्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥]
हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ॥ १७ ॥

आदावासनकथने संगतिं सामान्यतस्तत्फलं चाह—हठस्येति। हठस्य "आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा। अथ नादानुसंधानम्" इति वक्ष्यमाणानि चत्वार्यङ्गानि।

प्रत्याहारादिसमाध्यन्तानां नादानुसंधानेऽन्तर्भावः । तन्मध्ये आसनस्य प्रथमाङ्गत्वात्पूर्वमासनमुच्यत इति संबन्धः । तदासनं स्थैर्यं देहस्य मनसश्चाञ्चल्यरूपरजोधर्मनाशकत्वेन स्थिरतां कुर्यात् । 'आसनेन रजो हन्ति' इति वाक्यात् । आरोग्यं चित्तविक्षेपकरोगाभावः । रोगस्य चित्तविक्षेपकत्वमुक्तं पातञ्जलसूत्रे—'व्याधिरुत्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः' इति । अङ्गानां लाघवं लघुत्वम् । गौरवरूपतमोधर्मनाशकत्वमप्येतेनोक्तम् । चकारात्क्षुद्वृद्ध्यादिकमपि बोध्यम् ॥ १७ ॥

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ॥१८॥

वसिष्ठादिसंमतासनमध्ये श्रेष्ठानि मयोच्यन्त इत्याह—वसिष्ठाद्यैरिति । वसिष्ठ आद्यो येषां याज्ञवल्क्यादीनां तैर्मुनिभिर्मननशीलैः । चकारान्मन्त्रादिपरैः । मत्स्येन्द्र आद्यो येषां जालंधरनाथादीनां तैः । योगिभिः हठाभ्यासिभिः । चकारान्मुद्रादिपरैः । अङ्गीकृतानि चतुरशीत्यासनानि तन्मध्ये कानिचित् श्रेष्ठानि मया कथ्यन्ते । यद्यप्युभयोरपि मननहठाभ्यासौ स्तस्तथाऽपि वसिष्ठादीनां मननं मुख्यं मत्स्येन्द्रादीनां हठाभ्यासो मुख्य इति पृथग्ग्रहणम् ॥ १८ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥ १९ ॥

तत्र सुकरत्वात्प्रथमं स्वस्तिकासनमाह—जानूर्वोरिति । जानु च ऊरुश्च । अत्र जानुशब्देन जानुसंनिहितो जङ्घाप्रदेशो ग्राह्यः । जङ्घोर्वोरिति पाठस्तु साधीयान् । तयोरन्तरे मध्ये उभे पादयोस्तले तलप्रदेशौ कृत्वा ऋजुकायः समकायः यत्र समासीनो भवेत्तदासनं स्वस्तिकं स्वस्तिकाख्यं प्रचक्षते वदन्ति, योगिन इति शेषः । श्रीधरेणोक्तम्—"ऊरुजङ्घान्तराधाय प्रपदे जानुमध्यगे । योगिनो यदवस्थानं स्वस्तिकं तद्विदुर्बुधाः" ॥ १९ ॥

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥२०॥

गोमुखासनमाह—सव्य इति । सव्ये वामे पृष्ठस्य पार्श्वे संप्रदायात्कटेरधोभागे दक्षिणं गुल्फं नितरां योजयेत् । गोमुखस्याकृतिर्यस्य तत्तादृशं गोमुखसंज्ञकमासनं भवेत् ॥२०॥

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ २१ ॥

वीरासनमाह—एकमिति । एकं दक्षिणं पादम् । तथा पादपूरणे । एकस्मिन्वामोरुणि स्थितं विन्यसेत् । इतर-

स्मिन्वामे पादे ऊरुं दक्षिणं विन्यसेत् । तद्वीरासनमितीरितं कथितम् ॥ २१ ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ २२ ॥

कूर्मासनमाह—गुदमिति । गुल्फाभ्यां गुदं निरुध्य नियम्य व्युत्क्रमेण यत्र सम्यगाहितः स्थितो भवेत् , एतत्कूर्मासनं भवेत् , इति योगविदो विदुरित्यन्वयः ॥ २२ ॥

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥

कुक्कुटासनमाह—पद्मासनं त्विति । पद्मासनं तु ऊर्वोरुपरि उत्तानचरणस्थापनरूपं सम्यक् स्थापयित्वा । जानुपदेन जानुसंनिहितो जङ्घाप्रदेशः । तच्च ऊरुश्च जानूरू, तयोरन्तरे मध्ये करौ निवेश्य भूमौ संस्थाप्य । करावित्यत्रापि संबध्यते । व्योमस्थं खस्थं पद्मासनसदृशं यत्तत्कुक्कुटासनम् ॥ २३ ॥

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां संबध्य कंधराम् ।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ २४ ॥

उत्तानकूर्मासनमाह—कुक्कुटासनेति । कुक्कुटासनस्य यो बन्धः पूर्वश्लोकोक्तस्तस्मिन् स्थितः दोर्भ्यां बाहुभ्यां कंधरां

ग्रीवां संबध्य कूर्मवदुत्तानो यस्मिन्भवेदेतदासनमुत्तानकूर्मकं नाम ॥ २४ ॥

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

धनुरासनमाह—पादाङ्गुष्ठौ त्विति । पाणिभ्यां पादयोरङ्गुष्ठौ गृहीत्वा श्रवणावधि कर्णपर्यन्तं धनुष आकर्षणं यथा भवति तथा कुर्यात् । गृहीताङ्गुष्ठमेकं पाणिं प्रसारितं कृत्वा गृहीताङ्गुष्ठमितरं पाणिं कर्णपर्यन्तमाकुञ्चितं कुर्यादित्यर्थः । एतद्धनुरासनमुच्यते ॥ २५ ॥

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥

मत्स्येन्द्रासनमाह—वामोरुमूलेऽर्पितः स्थापितो यो दक्षपादः तं संप्रदायात्पृष्ठतोगतवामपाणिना गुल्फस्योपरिभागे परिगृह्य । जानोर्दक्षिणपादजानोर्बहिःप्रदेशे वेष्टितो यो वामपादस्तं वामपादजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षिणपाणिनाऽङ्गुष्ठे प्रगृह्य । परिवर्तिताङ्गः वामभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तितं परावर्तितमङ्गं येन स तथा तादृशो यत्र तिष्ठेत् स्थितिं कुर्यात्तदासनं मत्स्येन्द्रनाथेनोदितं कथितं स्यात् । तदुदि-

तत्वात्तन्नामकमेव वदन्ति । एवं दक्षोरुमूलार्पितवामपादं पृष्ठतोगतदक्षिणपाणिना प्रगृह्य वामजानोर्बहिर्वेष्टितदक्षपादं दक्षिणपादजानोर्बहिर्वेष्टितवामपाणिना प्रगृह्य दक्षभागेन पृष्ठतो मुखं यथा स्यादेवं परिवर्तिताङ्गश्चाभ्यसेत् ॥ २६ ॥

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं
प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ।
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं
चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥ २७ ॥

मत्स्येन्द्रासनस्य फलमाह—मत्स्येन्द्रेति । प्रचण्डं दुःसहं रुजां रोगाणां मण्डलं समूहः तस्य खण्डने च्छेदनेऽस्त्रमस्त्रमिव तादृशं मत्स्येन्द्रपीठं मत्स्येन्द्रासनम् अभ्यासतः प्रत्यहमावर्तनरूपादभ्यासात् पुंसां जठरस्य जठराग्नेः प्रकृष्टां दीप्तिं वृद्धिं ददाति । तथा कुण्डलिन्या आधारशक्तेः प्रबोधं निद्राभावं तथा चन्द्रस्य तालुन उपरिभागे स्थितस्य नित्यं क्षरतः स्थिरत्वं क्षरणाभावं च ददातीत्यर्थः ॥ २७ ॥

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
दोर्भ्यां पदग्रद्वितयं गृहीत्वा ।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो
वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ २८ ॥

पश्चिमतानासनमाह— प्रसार्येति । भुवि भूमौ दण्डस्य रूपमिव रूपं ययोस्तौ दण्डाकारौ श्लिष्टगुल्फौ प्रसार्य प्रसारितौ कृत्वा । दोर्भ्यामाकुञ्चिततर्जनीभ्यां भुजाभ्यां पदोः पदयोश्चाग्रेऽग्रभागौ तयोर्द्वितयं द्वयमङ्गुष्ठप्रदेशयुग्मं बलादाकर्षणपूर्वकं यथा जान्वधोभागस्य भूमेरुत्थानं न स्यात्तथा गृहीत्वा जानोरुपरि न्यस्तो ललाटदेशो येन तादृशो यत्र वसेत् इदं पश्चिमताननामकमासनमाहुः ॥ २८ ॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं
पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।
उदयं जठरानलस्य कुर्या-
दुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥ २९ ॥

अथ तत्फलम्—इतीति । इति पूर्वोक्तमासनेष्वग्र्यं मुख्यं पश्चिमतानं पवनं प्राणं पश्चिमवाहिनं पश्चिमेन पश्चिममार्गेण सुषुम्णामार्गेण वहतीति पश्चिमवाही तं तादृशं करोति । जठरानलस्य जठरे योऽनलोऽग्निस्तस्योदयं वृद्धिं कुर्यात् । उदरे मध्यप्रदेशे कार्श्यं कृशत्वं कुर्यात् । अरोगतामारोग्यं चकारान्नाडीवलनादिसाम्यं कुर्यात् ॥ २९ ॥

धरामवष्टभ्य करद्वयेन

उच्चासनो दण्डवदुत्थितः स्या-
न्मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥ ३० ॥

अथ मयूरासनमाह—धरामिति । करद्वयेन करयोर्द्वयं युग्मं तेन धरां भूमिमवष्टभ्यावलम्ब्य, प्रसारिताङ्गुली भूमिसंलग्नतलौ संनिहितौ करौ कृत्वेत्यर्थः । तस्य करद्वयस्य कूर्परयोर्भुजमध्यसंधिभागयोः स्थापिते धृते नाभेः पार्श्वे पार्श्वभागौ येन स उच्चासन उच्चमुन्नतमासनं यस्यैतादृशः खे शून्ये दण्डवद्दण्डेन तुल्यमुत्थित ऊर्ध्वं स्थितो यत्र भवति तन्मायूरं मयूरस्येदं तत्संबन्धित्वात्तन्नामकं प्रवदन्ति । योगिन इति शेषः ॥ ३० ॥

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादी-
नभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं
जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ ३१ ॥

मयूरासनगुणानाह—हरतीति । गुल्मो रोगविशेषः उदरं जलोदरं ते आदी येषां प्लीहादीनां ते तथा तान्सकलरोगान् सकला ये रोगास्तानाशु झटिति हरति नाशयति । श्रीमयूरमासनमिति सर्वत्र संबध्यते । दोषान्वातपित्तकफानालस्यदांश्चाभिभवति तिरस्करोति । बह्वतिशयितं कदशनं कदन्नं

यद्भुक्तं तदशेषं समस्तं भस्म कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः । जठराग्निं जठरानलं जनयति प्रादुर्भावयति । कालकूटं विषम् । कालकूटशब्दः कालकूटवदपकारकान्नपरः । तं जारयेज्जीर्णं कुर्यात्पाचयेदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ॥ ३२ ॥

शवासनमाहार्धेन—उत्तानमिति । शवेन मृतशरीरेण तुल्यं शववदुत्तानं भूमिसंलग्नं पृष्ठं यथा स्यात्तथा शयनं निद्रायामिव संनिवेशो यत्तच्छवासनं शवाख्यमासनम् । शवासनप्रयोजनमाह—उत्तरार्धेन । शवासनं श्रान्तिहरं श्रान्तिं हठाभ्यासश्रमं हरतीति श्रान्तिहरं चित्तस्य विश्रान्तिर्विश्रामस्तस्याः कारकम् ॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ ३३ ॥

वक्ष्यमाणासनचतुष्टयस्य श्रेष्ठत्वं वदन्नाह—चतुरशीतीति । शिवेनेश्वरेण चतुरधिकाशीतिसंख्याकान्यासनानि कथितानि, चकाराच्चतुरशीतिलक्षाणि च । तदुक्तं गोरक्षनाथेन—"आसनानि च तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः । एतेषामखिलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥ चतुरशीतिलक्षाणि एकैकं समुदाहृतम् । ततः शिवेन पीठानां षोडशोनं शतं कृतम् " इति ॥

तेभ्यः शिवोक्तं चतुरशीतिलक्षासनानां मध्ये प्रशस्तानि यानि चतुरशीत्यासनानि तेभ्य आदाय गृहीत्वा सारभूतं श्रेष्ठभूतं चतुष्कमहं ब्रवीमीत्यन्वयः ॥ ३३ ॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ ३४ ॥

तदेव चतुष्कं नाम्ना निर्दिशति—सिद्धमिति । सिद्धं सिद्धासनम् । पद्मं पद्मासनम् । सिंहं सिंहासनम् । भद्रं भद्रासनम् । इति चतुष्टयं श्रेष्ठमतिशयेन प्रशस्यम्, तत्रापि चतुष्टये सुखे सुखकरे सिद्धासने सदा तिष्ठेत् । एतेन सिद्धासनं चतुष्टयेऽप्युत्कृष्टमिति सूचितम् ॥ ३४ ॥

तत्र सिद्धासनम्—

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥३५॥

आसनचतुष्टयेऽप्युत्कृष्टत्वात्प्रथमं सिद्धासनमाह—योनिस्थानकमिति । योनिस्थानमेव योनिस्थानकम् । स्वार्थे कप्रत्ययः । गुदोपस्थयोर्मध्यमप्रदेशे पदं योनिस्थानं तत् ।

अङ्घ्रिर्वामश्चरणस्तस्य मूलेन पार्ष्णिभागेन घटितं संलग्नं कृत्वा । स्थानान्तरम् एकं पादं दक्षिणं पादं मेढ्रेन्द्रियस्योपरिभागे दृढं यथा स्यात्तथा विन्यसेत् हृदये हृदयसमीपे हनुं चिबुकं सुस्थिरं सम्यक् स्थिरं कृत्वा हनुहृदययोश्चतुरङ्गुलमन्तरं यथा भवति तथा कृत्वेति रहस्यम् । संयमितानि विषयेभ्यः परावृत्तानीन्द्रियाणि येन स तथा । अचला या दृक् दृष्टिस्तया भ्रुवोरन्तरं मध्यं पश्येत् । हि प्रसिद्धं मोक्षस्य यत्कपाटं प्रतिबन्धकं तस्य भेदं नाशं जनयतीति तादृशं सिद्धानां योगिनाम् । आस्तेऽत्रास्यतेऽनेनेति वा आसनं सिद्धासननामकमिदं भवेदित्यर्थः ॥ ३५ ॥

मतान्तरे तु—

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ ३६ ॥

मत्स्येन्द्रसंमतं सिद्धासनमुक्त्वाऽन्यसंमतं वक्तुमाह—मतान्तरे त्विति । तदेव दर्शयति—मेढ्रादिति । मेढ्रादुपस्थादुपर्यूर्ध्वभागे सव्यं वामगुल्फं विन्यस्य तथा सव्यवदुपरि मुख्यपादस्योपरि न तु सव्यगुल्फस्य । गुल्फान्तरं दक्षिणगुल्फं च निक्षिप्य वसेदिति शेषः । इदं सिद्धासनं मतान्तराभिमतमित्यभेद इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ।
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ ३७ ॥

तत्र प्रथमं महासिद्धसंमतमिति स्पष्टीकर्तुमस्यैव मतभेदान्नामभेदानाह—एतदिति । एतत्पूर्वोक्तं सिद्धासनं सिद्धासननामकं प्राहुः । केचिदित्यध्याहारः । अन्ये वज्रासनं वज्रासनसंज्ञकं विदुः जानन्ति । एके मुक्तासनं मुक्तासनाभिधं वदन्ति । परे गुप्तासनं गुप्तासनाख्यं प्राहुः । अत्रासनाभिज्ञाः । यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेढ्रादुपरि स्थाप्यते तत्सिद्धासनम् । यत्र वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणपादपार्ष्णिर्मेढ्रादुपरि स्थाप्यते तद्वज्रासनम् । यत्र तु दक्षिणसव्यपार्ष्णिद्वयमुपर्यधोभागेन संयोज्य योनिस्थानेन संयोज्यते तन्मुक्तासनम् । यत्र च पूर्ववत्संयुक्तं पार्ष्णिद्वयं मेढ्रादुपरि निधीयते तद्गुप्तासनमिति ॥ ३७ ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ ३८ ॥

अथ सप्तभिः श्लोकैः सिद्धासनं प्रशंसति—यमेष्वित्यादिभिः । यमेषु मिताहारमिव । मिताहारो वक्ष्यमाणः 'सुस्निग्धमधुराहारः' इत्यादिना । नियमेषु अहिंसामिव ।

सर्वाणि यान्यासनानि तेषु सिद्धाः एकं सिद्धासनं मुख्यं विदुरिति संबन्धः ॥ ३८ ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाऽभ्यसेत् ।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ ३९ ॥

चतुरशीतीति । चतुरधिकाशीतिसंख्याकानि यानि पीठानि तेषु सिद्धमेव सिद्धासनमेव सदा सर्वदाऽभ्यसेत् । सिद्धासनस्य सदाऽभ्यासे हेतुगर्भं विशेषणं द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनं शोधकम् ॥ ३९ ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥४०॥

आत्मध्यायीति । आत्मानं ध्यायतीत्यात्मध्यायी मिताहारोऽस्यास्तीति मिताहारी यावन्तो द्वादश वत्सराः यावद्द्वादशवत्सरम् । 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभावः समासः । द्वादशवत्सरपर्यन्तमित्यर्थः । सदा सर्वदा सिद्धासनस्याभ्यासाद्योगी योगाभ्यासी निष्पत्तिं योगसिद्धिमाप्नयात्प्राप्नुयात् । योगान्तराभ्यासमन्तरेण सिद्धासनाभ्यासमात्रेण सिद्धिं प्राप्नुयादित्यर्थः ॥ ४० ॥

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ ४१ ॥

किमन्यैरिति । सिद्धासने सिद्धे सत्यन्यैर्बहुभिः पीठैरासनैः किम् ? न किमपीत्यर्थः । सावधाने प्राणानिले प्राणवायौ केवलकुम्भके बद्धे सति ॥ ४१ ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे बद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ ४२ ॥

उन्मनी उन्मन्यवस्था । सा कलेवाह्लादकत्वाच्चन्द्रलेखेव निरायासादनायासात्स्वयमेवोत्पद्यत उदेति । तथेति । तथोक्त-प्रकारेणैकस्मिन्नेव सिद्धासने दृढे बद्धे सति बन्धत्रयं मूलबन्धोड्डीयानबन्धजालंधरबन्धरूपम् अनासायात् 'पार्ष्णि-मार्गेण संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्' इत्यादिवक्ष्यमाणमूल-बन्धादिष्वायासस्तं विनैव स्वयमेवोपजायते स्वत एवोत्पद्यत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ ४३ ॥

नासनमिति । सिद्धेन सिद्धासनेन सदृशमासनं नास्तीति शेषः । केवलेन केवलकुम्भकेनोपमीयत इति केवलोपमः कुम्भः कुम्भको नास्ति । खेचरीमुद्रासमा मुद्रा नास्ति । नादसदृशो लयो लयहेतुर्नास्ति ॥ ४३ ॥

अथ पद्मासनम्—

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥

अथासनं वक्तुमुपक्रमते—अथेति । पद्मासनमाह—वामोरूपरीति । वामो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणम् । चकारः पादपूरणे । संस्थाप्य सम्यगुत्तानं स्थापयित्वा वामं सव्यं चरणं तथा दक्षिणचरणवद्दक्षो दक्षिणो य ऊरुस्तस्योपरि संस्थाप्य पश्चिमेन भागेन पृष्ठभागेनेति । विधिर्विधानं करयोरित्यर्थात् । तेन कराभ्यां हस्ताभ्यां दृढं यथा स्यात्तथा पादाङ्गुष्ठौ धृत्वा गृहीत्वा । दक्षिणं करं पृष्ठतः कृत्वा । वामोरुस्थितदक्षिणचरणाङ्गुष्ठं गृहीत्वा वामकरं पृष्ठतः कृत्वा । दक्षिणोरुस्थितवामचरणाङ्गुष्ठं गृहीत्वेत्यर्थः । हृदये हृदयसमीपे । सामीपिकाधारे सप्तमी । चिबुकं हनुं निधायोरसश्चतुरङ्गुलान्तरे चिबुकं निधायेति रहस्यम् । नासाग्रं नासिकाग्रमालोकयेत्पश्येद्यत्रैतद्यमिनां योगिनां व्याधेर्विनाशं करोतीति व्याधिविनाशकारि पद्मासनमेतन्नामकं प्रोच्यते । सिद्धैरिति शेषः ॥ ४४ ॥

मतान्तरे—

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ ४५ ॥

मत्स्येन्द्रनाथाभिमतं पद्मासनमाह—उत्तानाविति । उत्तानौ ऊरुसंलग्नपृष्ठभागौ चरणौ पादौ प्रयत्नतः प्रकृष्टाद्यत्नादूरुसंस्थावूर्वोः सम्यक् तिष्ठत इत्यूरुसंस्थौ तादृशौ कृत्वा । ऊर्वोर्मध्ये ऊरुमध्ये । तथा चार्थे । पाणी करावुत्तानौ कृत्वा । ऊरुसंस्थोत्तानपादोभयपार्ष्णिसंलग्नपृष्ठं सव्यं पाणिमुत्तानं कृत्वा तदुपरि दक्षिणं पाणिं चोत्तानं कृत्वेत्यर्थः । ततस्तदनन्तरं दृशौ दृष्टी ॥ ४५ ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ।
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ ४६ ॥

नासाग्रे नासिकाग्रे विन्यसेद्विशेषेण निश्चलतया न्यसेदित्यर्थः । राजदन्तानां दंष्ट्राणां सव्यदक्षिणभागे स्थितानां मूले उभे मूलस्थाने जिह्वया उत्तम्भ्य ऊर्ध्वं स्तम्भयित्वा । गुरुमुखादवगन्तव्योऽयं जिह्वाबन्धः । चिबुकं वक्षसि निधायेति शेषः । शनैर्मन्दं मन्दं पवनं वायुमुत्थाप्य । अनेन मूलबन्धः प्रोक्तः । मूलबन्धोऽपि गुरुमुखादेवावगन्तव्यः । वस्तुतस्तु जिह्वाबन्धेनैवायं चरितार्थ इति हठरहस्यविदः ॥४६॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ ४७ ॥

एवं यत्रास्यते तदिदं पद्मासनं पद्मासनाभिधानं प्रोक्तम् । आसनज्ञैरिति शेषः । कीदृशम् ? सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनं येनकेनापि भाग्यहीनेन दुर्लभम् । धीमता भुवि भूमौ लभ्यते प्राप्यते ॥ ४७ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि संनिधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥४८॥

एतच्च महायोगिसंमतमिति स्पष्टयितुमन्यदपि पद्मासने कृत्यविशेषमाह—कृत्वेति । संपुटितौ संपुटीकृतौ करावुत्सङ्गस्थाविति शेषः । दृढतरमतिशयेन दृढं सुस्थिरं पद्मासनं बद्ध्वा कृत्वेत्यर्थः । चिबुकं हनुं गाढं दृढं यथा स्यात्तथा वक्षसि वक्षःसमीपे संनिधाय संनिहितं कृत्वा चतुरङ्गुलान्तरेणेति योगिसंप्रदायाज्ज्ञेयम् । जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः । तत्स्वस्वेष्टदेवतारूपं ब्रह्म वा, 'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः' इति भगवदुक्तेः । चेतसि चित्ते ध्यायन् चिन्तयन् । अपानमनिलमपानवायुमूर्ध्वं प्रोत्सारयन्मूलबन्धं

कृत्वा सुषुम्णामार्गेण प्राणमूर्ध्वं नयन् पूरितं पूरकेण अन्तर्धारितं प्राणं न्यञ्चन्नीचैरधोऽञ्चन् गमयन् । अन्तर्भावितण्यर्थोऽञ्चतिः । प्राणापानयोरैक्यं कृत्वेत्यर्थः । नरः पुमानतुलं बोधं निरुपमज्ञानं शक्तिप्रभावाच्छक्तिराधारशक्तिः कुण्डलिनी तस्याः प्रभावात्सामर्थ्यादुपैति प्राप्नोति । प्राणापानयोरैक्ये कुण्डलिनीबोधो भवति । कुण्डलिनीबोधे सुषुम्णामार्गेण प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति । तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवति । चित्तस्थैर्ये संयमादात्मसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ।
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ ४९ ॥

पद्मासन इति । पद्मासने स्थितो यो योगी योगाभ्यासी पूरितं पूरकेणान्तर्नीतं मारुतं वायुम्, सुषुम्णामार्गेण मूर्धानं नीत्वेति शेषः । धारयेत्स्थिरीकुर्यात्स मुक्तः, अत्र संशयो नास्तीत्यन्वयः ॥ ४९ ॥

अथ सिंहासनम्—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ ५० ॥

सिंहासनमाह—गुल्फौ चेति । वृषणस्याधः अधोभागे सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयभागयोः क्षिपेत्प्रेरयेत्, स्था-

पयेदिति यावत् । गुल्फस्थापनप्रकारमेवाह—दक्षिण इति । सीवन्या दक्षिणे भागे सव्यगुल्फं स्थापयेत् । सव्यके सीवन्याः सव्यभागे दक्षिणगुल्फं स्थापयेत् ॥ ५० ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः संप्रसार्य च ।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ ५१ ॥

हस्ताविति । जान्वोरुपरि हस्तौ तु संस्थाप्य सम्यग् जानुसंलग्नतलौ यथा स्यातां तथा स्थापयित्वा । स्वाङ्गुलीः हस्ताङ्गुलीः संप्रसार्य सम्यक् प्रसार्य व्यात्तवक्त्रः संप्रसारितलल्जिह्वमुखः सुसमाहितः एकाग्रचित्तः नासाग्रं नासिकाग्रं यस्मिन्निरीक्षेत ॥ ५१ ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुंगवैः ।
बन्धत्रितयसंधानं कुरुते चासनोत्तमम् ॥ ५२ ॥

एतत्सिंहासनं भवेत् । कीदृशम्? योगिपुंगवैः योगिश्रेष्ठैः पूजितं प्रस्तुतमासनेषूत्तमं सिंहासनं बन्धानां मूलबन्धादीनां त्रितयं तस्य संधानं संनिधानं कुरुते ॥ ५२ ॥

अथ भद्रासनम्—

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ ५३ ॥

भद्रासनमाह—

गुल्फाविति । वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः सीवन्या उभयतः गुल्फौ पादग्रन्थी क्षिपेत् । क्षेपणप्रकारमेवाह—सव्यगुल्फमिति । सव्ये सीवन्याः पार्श्वे सव्यगुल्फं क्षिपेत् । तथा पादपूरणे । दक्षगुल्फं तु दक्षिणे सीवन्याः पार्श्वे क्षिपेत् ॥ ५३ ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ ५४ ॥

पार्श्वपादौ च पार्श्वसमीपगतौ पादौ पाणिभ्यां भुजाभ्यां दृढं बद्ध्वा । परस्परसंलग्नाङ्गुलिभ्यामुदरसंलग्नतलाभ्यां पाणिभ्यां बद्ध्वेत्यर्थः । एतद्भद्रासनं भवेत् । कीदृशम्? सर्वेषां व्याधीनां विशेषेण नाशनम् ॥ ५४ ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ।
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ ५५ ॥

गोरक्षेति । सिद्धाश्च ते योगिनश्च सिद्धयोगिनः इदं भद्रासनं गोरक्षासनमित्याहुः । गोरक्षेण प्रायशोऽभ्यस्तत्वाद्गोरक्षासनमिति वदन्ति । आसनान्युक्तानि । तेषु यत्कर्तव्यं तदाह—एवमिति । एवमुक्तेष्वासनबन्धेषु बन्धनप्रकारेषु विगतः

श्रमो यस्य स विगतश्रम आसनानां बन्धेषु श्रमरहितः । योगिनामिन्द्रो योगीन्द्रः ॥ ५५ ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ।
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ ५६ ॥

नाडिकानां नाडीनां शुद्धिम् । 'प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितम्' इति वक्ष्यमाणरूपा मुद्रा आदिर्यस्याः सूर्यभेदादेस्तादृशीम् । पवनस्य प्राणवायोः क्रियां प्राणायामरूपां चाभ्यसेत् । अथ हठाभ्यसनक्रममाह—आसनमिति । आसनमुक्तलक्षणं चित्रं नानाविधं कुम्भकम् 'सूर्यभेदनमुज्जायी' इत्यादि वक्ष्यमाणम् । मुद्रा इत्याख्या यस्य तन्मुद्राख्यम् । महामुद्रादिरूपं करणं हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकम् । तथा चार्थे ॥ ५६ ॥

अथ नादानुसंधानमभ्यासानुक्रमो हठे ।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ५७ ॥

अथैतत्त्रयानुष्ठानानन्तरं नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिन्तनं हठे हठयोगेऽभ्यासोऽभ्यसनं तस्यानुक्रमः पौर्वापर्यक्रमः । हठसिद्धेरवधिमाह—ब्रह्मचारीति । ब्रह्मचर्यवान् मिताहारो वक्ष्यमाणः सोऽस्यास्तीति मिताहारी त्यागी

दानशीलो विषयपरित्यागी वा योगपरायणः योगाभ्यसनपरः । अब्दादूर्षादूर्ध्वं सिद्धः सिद्धहठो भवेत् । अत्रोक्तेऽर्थे विचारणा स्यान्न वेति संशयप्रयुक्ता न कार्या । एतन्निश्चितमेवेत्यर्थः ॥ ५७ ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥ ५८ ॥

पूर्वश्लोके मिताहारीत्युक्तं तत्र योगिनां कीदृशो मिताहार इत्यपेक्षायामाह—सुस्निग्धेति । सुस्निग्धोऽतिस्निग्धः स चासौ मधुरश्च तादृश आहारश्चतुर्थांशविवर्जितश्चतुर्थभागरहितः । तदुक्तमभियुक्तैः—"द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत् । वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥" इति । शिवो जीवः ईश्वरो वा, 'भोक्ता देवो महेश्वरः' इति वचनात् । तस्य संप्रीत्यै सम्यक्प्रीत्यर्थं यो भुज्यते स मिताहार इत्युच्यते ॥ ५८ ॥

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ॥ ५९ ॥

अथ योगिनामपथ्यमाह द्वाभ्याम्—कट्विति । कटु कारवेल्ल इत्यादि, अम्लं चिञ्चाफलादि, तीक्ष्णं मरीचादि, लवणं प्रसिद्धम्, उष्णं गुडादि, हरीतशाकं पत्रशाकम्, सौवीरं काञ्जिकम्, तैलं तिलसर्षपादिस्नेहः, तिलाः प्रसिद्धाः, सर्षपाः सिद्धार्थाः, मद्यं सुरा, मत्स्यो झषः । एषामितरेतरद्वन्द्वः । एतानपथ्यानाहुः । अजस्येदमाजं तदादिर्यस्य सौकरादेस्तदाजादि तच्च तन्मांसं चाजादिमांसम्, दधि दुग्धपरिणामविशेषः, तक्रं गृहीतसारं दधि, कुलत्थो द्विदलविशेषः, कोलं कोल्याः फलं बदरम् । 'कर्कन्धूर्बदरी कोलिः' इत्यमरः । पिण्याकं तिलपिण्डम्, हिङ्गु रामठम्, लशुनम् । एषामितरेतरद्वन्द्वः । एतान्याद्यानि यस्य तत्तथा । आद्यशब्देन पलाण्डुगृञ्जनमादकद्रव्यमाषान्नादिकं ग्राह्यम् । अपथ्यमहितम् । योगिनामिति शेषः । आहुर्योगिन इत्यध्याहारः ॥ ५९ ॥

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रूक्षम् ।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ॥ ६० ॥

भोजनमिति । पश्चादग्निसंयोगेनोष्णीकृतं यद्भोजनं सूपौदनरोटिकादि रूक्षं घृतादिहीनम् अतिशयितं लवणं यस्मिंस्तदतिलवणं यद्वा लवणमतिक्रान्तमतिलवणं चाकूवा इति लोके प्रसिद्धं शाकं यवक्षारादिकं च । लवणस्य सर्वथा वर्जनी-

यत्वादुत्तरपक्षः साधुः । तथा च दत्तात्रेयः—“ अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च । लवणं सर्षपं चाम्लमुग्रं तीक्ष्णं च रूक्षकम् । अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्राऽतिभाषणम् ॥ ” इति ॥ स्कन्दपुराणेऽपि—“ त्यजेत्कट्वम्ललवणं क्षीरभोजी सदा भवेत् ” इति । अम्लयुक्तमम्लद्रव्येण युक्तमपि त्याज्यं किमुत साक्षादम्लम् । अत्र तृतीयपादम् ‘ पललं वा तिलपिण्डम् ’ इति केचित्पठन्ति । तस्यायमर्थः—पललं मांसं तिलपिण्डं पिण्याकं कदशनं कदन्नं यावनालकोद्रवादि शाकं विहितेतरशाकमात्रम् उत्कटं विदाहि मिरचीति लोके प्रसिद्धम् । मिरचा इति हिन्दुस्थानभाषायाम् । कदशनादीनां समाहारद्वन्द्वः । अतिलवणादिकं वर्ज्यं वर्जनार्हम् । दुष्टमिति पाठे दुष्टं पूतिपर्युषितादि । अहितमिति योजनीयम् ॥ ६० ॥

वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ।

तथा हि गोरक्षवचनम्—

वर्जयेद् दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ॥ ६१ ॥

एवं योगिनां सदा वर्ज्यान्युक्त्वाऽभ्यासकाले वर्ज्यान्याहार्धेन—वह्नीति । वह्निश्च स्त्री च पन्थाश्च तेषां सेवा वह्निसेवनस्त्रीसङ्गतीर्थयात्रागमनादिरूपास्तासां वर्जनमादावभ्यास-

काल आचरेत् । सिद्धेऽभ्यासे तु कदाचित् । शीते वह्निसेवनं गृहस्थस्य ऋतौ स्वभार्यागमनं तीर्थयात्रादौ मार्गगमनं च न निषिद्ध-मित्यादिपदेन सूच्यते । तत्र प्रमाणं गोरक्षवचनमवतारयति—तथा हीति । तत्पठति—वर्जयेदिति । दुर्जनप्रान्तं दुर्जनसमीप-वासम् । 'दुर्जनप्रीतिम्' इति क्वचित्पाठः । वह्निस्त्रीपथिसेवनं व्याख्यातम्, प्रातःस्नानमुपवासश्चादिर्यस्य फलाहारादेः तच्च तयोः समाहारद्वन्द्वः । प्रथमाभ्यासिनः प्रातःस्नाने शीतविकारोत्पत्तेः, उपवासादिना पित्ताद्युत्पत्तेः । कायक्लेशविधिं कायक्लेशकरं विधिं क्रियां बहुसूर्यनमस्कारादिरूपां बहुभारोद्वहनादिरूपां च । तथा समुच्चये । अत्र प्रतिपदं वर्जयेदिति क्रियासंबन्धः ॥ ६१ ॥

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।
शुण्ठीपटोलकफलादिकपञ्चशाकं
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥ ६२ ॥

अथ योगिपथ्यमाह—गोधूमेत्यादिना । गोधूमाश्च शाल-यश्च यवाश्च षाष्टिकाः षष्ट्या दिनैर्ये पच्यन्ते तन्दुल-विशेषास्ते शोभनमन्नं पवित्रान्नं श्यामाकनीवारादि तच्चैतेषां समाहारद्वन्द्वः । क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं खण्डः शर्करा नवनीतं मथितदधिसारः सिता तीव्रपदी खण्डशर्करेति लोके प्रसिद्धा,

मिसरीति हिन्दुस्थानभाषायाम्। मधु क्षौद्रम्, एषामितरेतरद्वन्द्वः। शुण्ठी प्रसिद्धा पटोलकफलं परवर इति भाषायां प्रसिद्धं शाकं तदादिर्यस्य कोशातक्यादेस्तत्पटोलकफलादिकम्। 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः। पञ्चानां शाकानां समाहारः पञ्चशाकम्। तदुक्तं वैद्यके—"सर्वशाकमचाक्षुष्यं चाक्षुष्यं शाकपञ्चकम्। जीवन्तीवास्तुमूल्याक्षी मेघनादपुनर्नवा॥" इति। मुद्गा द्विदलविशेषा आदिर्यस्य तन्मुद्गादि। आदिपदेन आढकी ग्राह्या। दिव्यं निर्दोषमुदकं जलम्। यम एषामस्तीति यमिनः तेष्विन्द्रो देवश्रेष्ठो यो योगीन्द्रस्तस्य पथ्यं हितम्॥ ६२॥

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम्।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत्॥ ६३॥

अथ योगिनो भोजननियममाह—पुष्टमिति। पुष्टं देहपुष्टिकरमोदनादि सुमधुरं शर्करादिसहितं स्निग्धं सघृतं गव्यं गोदुग्धघृतादियुक्तं गव्यालाभे माहिषं दुग्धादि ग्राह्यम्। धातुप्रपोषणं लड्डुकापूपादि। मनोभिलषितं पुष्टादिषु यन्मनोरुचिकरं तदेव योगिना भोक्तव्यम्। मनोभिलषितमपि किमविहितं भोक्तव्यं नेत्याह—योग्यमिति। विहितमेवेत्यर्थः। योगी भोजनं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टमाचरेत्कुर्यादित्यर्थः। न तु सक्तुभर्जितान्नादिना निर्वाहं कुर्यादिति भावः॥ ६३॥

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ॥६४॥

योगाभ्यासिनो वयोविशेषारोग्याद्यपेक्षा नास्तीत्याह—युवेति । युवा तरुणः वृद्धो वृद्धावस्थां प्राप्तः अतिवृद्धोऽतिवार्द्धकं गतो वा । अभ्यासादासनकुम्भकादीनामभ्यसनात्सिद्धिं समाधितत्फलरूपामाप्नोति । अभ्यासप्रकारमेव वदन्विशिनष्टि—सर्वयोगेष्विति । सर्वेषु योगेषु योगाङ्गेष्वतन्द्रितोऽनलसः । योगाङ्गाभ्यासात्सिद्धिमाप्नोतीत्यर्थः । जीवनसाधने कृषिवाणिज्यादौ जीवनशब्दप्रयोगवत्साक्षात्परम्परया वा योगसाधनेषु योगाङ्गेषु योगशब्दप्रयोगः ॥ ६४ ॥

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ॥ ६५ ॥

अभ्यासादेव सिद्धिर्भवतीति द्रढयन्नाह द्वाभ्याम्—क्रियायुक्तस्येति । क्रिया योगाङ्गानुष्ठानरूपा तया युक्तस्य सिद्धिर्योगसिद्धिः स्यात् । अक्रियस्य योगाङ्गानुष्ठानरहितस्य कथं भवेन्न कथमपीत्यर्थः । ननु योगशास्त्राध्ययनेन योगसिद्धिः स्यान्नेत्याह—नेति । शास्त्रस्य योगशास्त्रस्य पाठमात्रेण केवलेन पाठेन योगस्य सिद्धिर्न प्रजायते नैव जायत इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ॥ ६६ ॥

नेति । वेषस्य काषायवस्त्रादेः धारणं सिद्धेर्योगसिद्धेः कारणं न । तस्य योगस्य कथा वा कारणं न । किं तर्हि सिद्धेः कारणमित्यत आह—क्रियैवेति ॥ ६६ ॥

पीठानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ॥ ६७ ॥

योगाङ्गानुष्ठानस्यावधिमाह—पीठानीति । पीठान्यासनानि चित्रा अनेकविधाः कुम्भकाः सूर्यभेदादयः दिव्यान्युत्कृष्टानि करणानि महामुद्रादीनि । हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकत्वं करणत्वम् । हठाभ्यासे सर्वाणि पीठकुम्भककरणानि राजयोगफलावधि राजयोग एव फलं तदवधि तत्पर्यन्तं कर्तव्यानीति शेषः ॥ ६७ ॥

इति श्रीसहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायामासनविधिकथनं नाम प्रथमोपदेशः ।

इति श्रीहठप्रदीपिकायां ज्योत्स्नाभिधायां ब्रह्मानन्दकृतायां प्रथमोपदेशः ।

द्वितीयोपदेशः ।

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ १ ॥

अथासनोपदेशानन्तरं प्राणायामान्वक्तुमुपक्रमते—अथेति । अथेति मङ्गलार्थः । आसने दृढे सति वशी जिताक्षः हितं पथ्यं च तन्मितं च पूर्वोपदेशोक्तलक्षणं तत्तादृशमशनं यस्य स हितमिताशनः गुरुणोपदिष्टो यो मार्गः प्राणायामाभ्यासप्रकारस्तेन प्राणायामान् वक्ष्यमाणान्सम्यगुत्साहसाहसधैर्यादिभिरभ्यसेत् । दृढे स्थिरे कुक्कुटादिविवर्जिते सिद्धासनादाविति वा योजना ॥ १ ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ २ ॥

'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति महदुक्तेः प्रयोजनाभावे प्रवृत्त्यभावात्प्राणायामप्रयोजनमाह—चले वात इति । वाते चले सति चित्तं चलं भवेत्, निश्चले वाते

निश्चलं भवेत्, चित्तमित्यत्रापि संबध्यते। वाते चित्ते च निश्चले योगी स्थाणुत्वं स्थिरदीर्घजीवित्वमिति यावत्। ईशत्वं वाऽऽप्नोति। ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निरोधयेत्कुम्भयेत् ॥ २ ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

यावदिति। देहे शरीरे यावत्कालं वायुः प्राणः स्थितः तावत्कालपर्यन्तं जीवनमुच्यते लोकैः, देहप्राणसंयोगस्यैव जीवनपदार्थत्वात्। तस्य प्राणस्य निष्क्रान्तिर्देहाद्वियोगो मरणमुच्यते। ततस्तस्माद्वायुं निरोधयेत् ॥ ३ ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ ४ ॥

मलशुद्धेर्हठसिद्धिजनकत्वं व्यतिरेकेणाह—मलाकुलास्विति। नाडीषु मलैराकुलासु व्याप्तासु सतीषु मारुतः प्राणो मध्यगः सुषुम्णामार्गवाही नैव स्यात्। अपि तु शुद्धमलास्वेव मध्यगो भवतीत्यर्थः। उन्मनीभाव उन्मन्या भावो भवनं कथं स्यान्न कथमपीत्यर्थः। कार्यस्य कैवल्यरूपस्य सिद्धिर्निष्पत्तिः कथं भवेन्न कथं चिदपीत्यर्थः ॥ ४ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ ५ ॥

अन्वयेनापि मलशुद्धेर्हठसिद्धिहेतुत्वमाह—शुद्धिमेतीति। यदा यस्मिन्काले मलैराकुलं व्याप्तं सर्वं समस्तं नाडीनां चक्रं समूहः शुद्धिं मलराहित्यमेति प्राप्नोति तदैव तस्मिन्नेव काले योगी योगाभ्यासी प्राणस्य संग्रहणे क्षमः समर्थो जायते ॥ ५ ॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ।
यथा सुषुम्णानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ॥ ६ ॥

मलशुद्धिः कथं भवतीत्याकाङ्क्षायां तच्छोधकं प्राणायाममाह—प्राणायाममिति। यतो मलशुद्धिं विना प्राणसंग्रहणे क्षमो न भवति ततस्तस्मादीश्वरप्रणिधानोत्साहसाहसादिप्रयत्नाभिभूतविक्षेपालस्यादिराजसतामसधर्मया सात्त्विकया प्रकाशप्रसादशीलया धिया बुद्ध्या नित्यं प्राणायामं कुर्यात्। यथा येन प्रकारेण सुषुम्णानाड्यां स्थिता मलाः शुद्धिमपगमं प्रयान्ति नश्यन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ७ ॥

मलशोधकप्राणायामप्रकारमाह द्वाभ्याम्—बद्धपद्मासन इति। बद्धं पद्मासनं येन तादृशो योगी प्राणं प्राणवायुं चन्द्रेण चन्द्रनाड्येडया पूरयेत्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति

धारयित्वा कुम्भयित्वा । भूयः पुनः सूर्येण सूर्यनाड्या पिङ्गलया रेचयेत् । बाह्यवायोः प्रयत्नविशेषादुपादानं पूरकः । जालंधरादिबन्धपूर्वकं प्राणनिरोधः कुम्भकः । कुम्भितस्य वायोः प्रयत्नविशेषाद्गमनं रेचकः । प्राणायामाङ्गरेचकपूरकयोरेवेमे लक्षणे इति । 'भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ' इति गौणरेचकपूरकयोर्नाव्याप्तिः, तयोर्लक्ष्यत्वाभावात् ॥ ७ ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ ८ ॥

प्राणमिति । सूर्येण सूर्यनाड्या पिङ्गलया प्राणमाकृष्य गृहीत्वा शनैर्मन्दमन्दमुदरं जठरं पूरयेत् । विधिवद्बन्धपूर्वकं कुम्भकं कृत्वा पुनर्भूयश्चन्द्रेणेडया रेचयेत् ॥ ८ ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ।
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ ९ ॥

उक्ते प्राणायामे विशेषमाह—येनेति । येन चन्द्रेण सूर्येण वा त्यजेद्रेचयेत्तेन पीत्वा तेनैव पूरयित्वा । अतिरोधतोऽतिशयितेन रोधेन स्वेदकम्पादिजननपर्यन्तेन । सार्वविभक्तिकस्तसिल् । येन पूरकस्ततोऽन्येन शनै रेचयेन्न तु वेगतः । वेगाद्रेचने बलहानिः स्यात् । येन पूरकः कृतस्तेन रेचको न

कर्तव्यः । येन रेचकः कृतस्तेनैव पूरकः कर्तव्य इति भावः ॥ ९ ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचये-
त्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाऽभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१०॥

बद्धपद्मासन इत्याद्युक्तमर्थं पिण्डीकृत्यानुवदन् प्राणायामस्यावान्तरफलमाह—प्राणमिति । चेदिडया वामनाड्या प्राणं पिबेत्पूरयेत्तर्हि नियमितं कुम्भितं प्राणं भूयः पुनरन्यया पिङ्गलया रेचयेत् । पिङ्गलया दक्षनाड्या समीरणं वायुं पीत्वा पूरणानन्तरं बद्ध्वा कुम्भयित्वा वामयेडया त्यजेद्रेचयेत् । सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ तयोः । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । अनेनोक्तेन विधिना प्रकारेण सदा नित्यमभ्यासं चन्द्रेणापूर्य कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयेत्सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण रेचयेदित्याकारकं तन्वतां विस्तारयतां यमिनां यमवतां नाडीगणा नाडीसमूहा मासत्रयादूर्ध्वतो मासानां त्रयं तस्मादुपरि शुद्धा मलरहिता भवन्ति ॥ १० ॥

प्रातर्मध्यंदिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ ११ ॥

अथ प्राणायामाभ्यासकालं तदवधिं चाह—प्रातरिति । प्रातररुणोदयमारभ्य सूर्योदयाद्धटिकात्रयपर्यन्ते प्रातःकाले मध्यंदिने मध्याह्ने पञ्चधा विभक्तस्य दिनस्य मध्यभागे सायंसंध्या त्रिनाडीप्रमितार्कास्तादधस्तादूर्ध्वं चेत्युक्तलक्षणे संध्याकाले रात्रेरर्धमर्धरात्रं तस्मिन्नर्धरात्रे रात्रेर्मध्ये मुहूर्तद्वये च शनैरशीतिपर्यन्तमशीतिसंख्यावधि चतुर्वारं वारचतुष्टयम् । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । चतुर्षु कालेष्वेकैकस्मिन्कालेऽशीतिप्राणायामाः कार्याः । अर्धरात्रे कर्तुमशक्तश्चेत्त्रिसंध्यं कर्तव्या इति संप्रदायः । चतुर्वारं कृताश्चेद्दिने दिने (३२०) विंशत्यधिकशतत्रयपरिमिताः प्राणायामा भवन्ति । वारत्रयं कृताश्चेत् (२४०) चत्वारिंशदधिकशतद्वयपरिमिता भवन्ति ॥ ११ ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ १२ ॥

कनिष्ठमध्यमोत्तमानां प्राणायामानां क्रमेण व्यापकविशेषमाह—कनीयसीति । कनीयसि कनिष्ठे प्राणायामे स्वेदः प्रस्वेदो भवेद्भवति । स्वेदानुमेयः कनिष्ठः । मध्यमे प्राणायामे कम्पो भवति । कम्पानुमेयो मध्यमः । उत्तमे प्राणायामे स्थानं ब्रह्मरन्ध्रमाप्नोति । स्थानप्राप्त्यनुमेय उत्तमः ।

ततस्तस्माद्वायुं प्राणं निबन्धयेन्नितरां बन्धयेत् । कनिष्ठादीनां लक्षणमुक्तं लिङ्गपुराणे—"प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः ॥ मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥ प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम् । आनन्दो जायते चात्र निद्रा धूमस्तथैव च ॥ रोमाञ्चो ध्वनिसंविञ्चिरङ्गमोटनकम्पनम् । श्रवणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्च्छा जयेद्यदा । तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः ॥" इति । धूमश्चित्तान्दोलनम् । गोरक्षोऽपि—"अधमे द्वादश प्रोक्ता मध्यमे द्विगुणाः स्मृताः । उत्तमे त्रिगुणा मात्राः प्राणायामे द्विजोत्तमैः" । उद्धातलक्षणं तु—"प्राणेनोत्सार्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणम्' । मात्रामाह याज्ञवल्क्यः—"अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं त्रिस्त्रिर्जानुपरिमार्जनम् । तालत्रयमपि प्राज्ञा मात्रासंज्ञां प्रचक्षते" । स्कन्दपुराणे—"एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निगद्यते" । एतद्व्याख्यातं योगचिन्तामणौ—'निद्रावशं गतस्य पुंसो यावता कालेनैकः श्वासो गच्छत्यागच्छति च तावत्कालः प्राणायामस्य मात्रेत्युच्यते' इति । अर्धश्वासाधिकद्वादशश्वासावच्छिन्नः कालः प्राणायामकालः । षड्भिः श्वासैरेकं पलं भवति । एवं च सार्धश्वासपलद्वयात्मकः

कालः प्राणायामकालः सिद्धः। सार्धद्वादशमात्रामितः प्राणायामो यः स एवोत्तमः प्राणायाम इत्युच्यते। न च पूर्वोदाहृतलिङ्गपुराणगोरक्षवाक्यविरोधः, तत्र द्वादशमात्रकस्य प्राणायामस्याधमत्वोक्तेरिति शङ्कनीयम्। "जानुं प्रदक्षिणीकुर्यान्न द्रुतं न विलम्बितम्। प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते" इति स्कन्दपुराणात्। "अङ्गुष्ठाङ्गुलिमोक्षं च जानोश्च परिमार्जनम्। प्रदद्याच्छोटिकां यावत्तावन्मात्रेति गीयते॥" इति च स्कन्दपुराणात्। अङ्गुष्ठो मात्रा संख्यायते तदेति दत्तात्रेयवचनाच्च। लिङ्गपुराणगोरक्षादिवाक्येष्वेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षितत्वात्। याज्ञवल्क्यादिवाक्येषु च्छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वेन विवक्षणात् त्रिगुणस्याधमस्योत्तमत्वं तत्राप्युक्तमित्यविरोधः। सर्वेषु योगसाधनेषु प्राणायामो मुख्यस्तत्सिद्धौ प्रत्याहारादीनां सिद्धेः, तदसिद्धौ प्रत्याहाराद्यसिद्धेश्च। वस्तुतस्तु प्राणायाम एव प्रत्याहारादिशब्दैर्निगद्यते। तथा चोक्तं योगचिन्तामणौ—'प्राणायाम एवाभ्यासक्रमेण वर्धमानः प्रत्याहारध्यानधारणासमाधिशब्दैरुच्यते' इति। तदुक्तं स्कन्दपुराणे — "प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः। प्रत्याहारद्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता॥ भवेदीश्वरसंगत्यै ध्यानं द्वादशधारणम्। ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्डयातायातं निवर्तते ॥" इति, तथा "धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् । दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात् ॥" इति च । गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम् । अत्रैवं व्यवस्था । किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः । अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः । किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः । पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः । अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रकः कालः । छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव । बन्धपूर्वकं पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलपर्यन्तं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति, तदा प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति । ब्रह्मरन्ध्रं गतः प्राणो यदा पञ्चविंशतिपलपर्यन्तं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः । यदा पञ्चघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा धारणा । यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम् । यदा द्वादशदिनपर्यन्तं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह—जलेनेति। श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यङ्गवदाचरेत्कुर्यात्। तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ् नियमग्रहः॥ १४ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम्। शाकपार्थिवादिवत्समासः। केवले कुम्भके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति। स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह—यथेति। यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेन्द्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा यथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत्। अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हन्ति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं स्वप्रकाशकम्। तस्मिन्दृष्टे क्रियाकाण्डयातायातं निवर्तते ॥" इति, तथा "धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम्। दिनद्वादशकेन स्यात्समाधिः प्राणसंयमात्॥" इति च। गोरक्षादिभिरप्येवमेवोक्तम्। अत्रैवं व्यवस्था। किंचिदूनद्विचत्वारिंशद्विपलात्मकः कनिष्ठप्राणायामकालः। अयमेवैकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया द्वादशमात्रकः कालः। किंचिदूनचतुरशीतिविपलात्मको मध्यमप्राणायामकालः। अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया चतुर्विंशतिमात्रकः। पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलात्मक उत्तमः प्राणायामकालः। अयमेकच्छोटिकावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया षट्त्रिंशन्मात्रकः कालः। छोटिकात्रयावच्छिन्नस्य कालस्य मात्रात्वविवक्षया तु द्वादशमात्रक एव। बन्धपूर्वकं पञ्चविंशत्युत्तरशतविपलपर्यन्तं यदा प्राणायामस्थैर्यं भवति, तदा प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति। ब्रह्मरन्ध्रं गतः प्राणो यदा पञ्चविंशतिपलपर्यन्तं तिष्ठति तदा प्रत्याहारः। यदा पञ्चघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा धारणा। यदा षष्टिघटिकापर्यन्तं तिष्ठति तदा ध्यानम्। यदा द्वादशदिनपर्यन्तं तिष्ठति तदा समाधिर्भवतीति सर्वं रमणीयम् ॥१२॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ १३ ॥

प्राणायामानभ्यसतः स्वेदे जाते विशेषमाह—जलेनेति। श्रमात्प्राणायामाभ्यासश्रमाज्जातं तेन जलेन प्रस्वेदेन गात्रस्य शरीरस्य मर्दनं तैलाभ्यङ्गवदाचरेत्कुर्यात्। तेन मर्दनेन गात्रस्य दृढता दार्ढ्यं लघुता जाड्याभावो जायते प्रादुर्भवति ॥ १३ ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ् नियमग्रहः॥ १४ ॥

अथ प्रथमोत्तराभ्यासयोः क्षीरादिनियमानाह—अभ्यासकाल इति। क्षीरं दुग्धमाज्यं घृतं तद्युक्तं भोजनं क्षीराज्यभोजनम्। शाकपार्थिवादिवत्समासः। केवले कुम्भके सिद्धेऽभ्यासो दृढो भवति। स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ १५ ॥

सिंहादिवच्छनैरेव प्राणं वशयेन्न सहसेत्याह—यथेति। यथा येन प्रकारेण सिंहो मृगेन्द्रो गजो वनहस्ती व्याघ्रः शार्दूलः शनैः शनैरेव वश्यः स्वाधीनो भवेन्न सहसा यथैव तेनैव प्रकारेण सेवितोऽभ्यस्तो वायुः प्राणो वश्यो भवेत्। अन्यथा सहसा गृह्यमाणः साधकमभ्यासिनं हन्ति सिंहादिवत् ॥ १५ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ १६ ॥

युक्तायुक्तयोः फलमाह—प्राणायामेनेति । आहारादियुक्तिपूर्वको जालंधरादिबन्धयुक्तिविशिष्टः प्राणायामो युक्त इत्युच्यते । तेन सर्वरोगक्षयः सर्वेषां रोगाणां क्षयो नाशो भवेत् । अयुक्त उक्तयुक्तिरहितो योऽभ्यासस्तद्युक्तेन प्राणायामेन सर्वरोगसमुद्भवः सर्वेषां रोगाणां सम्यगुद्भव उत्पत्तिर्भवेत् ॥ १६ ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ १७ ॥

अयुक्तेन प्राणायामेन के रोगा भवन्तीत्यपेक्षायामाह—हिक्केति । हिक्काश्वासकासा रोगविशेषाः । शिरश्च कर्णौ चाक्षिणी च शिरःकर्णाक्षि शिरःकर्णाक्षिणि वेदनाः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः । विविधा नानाविधा रोगा ज्वरादयः । पवनस्य वायोः प्रकोपतो भवन्ति ॥ १७ ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१८॥

यतः पवनस्य प्रकोपतो विविधा रोगा भवन्त्यतः । युक्तं युक्तमिति । वायुं प्राणं युक्तं युक्तं त्यजेत् । रेचनकाले

शनैः शनैरेव रेचयेन्न वेगत इत्यर्थः । युक्तं युक्तं च न चाल्पं नाधिकं च पूरयेत् । युक्तं युक्तं च जालंधरबन्धादियुक्तं बध्नीयात्कुम्भयेत् । एवमभ्यसेच्चेत्सिद्धिं हठसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ १८ ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥

युक्तं प्राणायाममभ्यसतो जायमानाया नाडीशुद्धेर्लक्षणमाह द्वाभ्याम्—यदा त्विति । यदा तु यस्मिन्काले तु नाडीनां शुद्धिर्मलराहित्यं स्यात्तदा बाह्यतो बाह्यानि । सार्वविभक्तिकस्तसिः । चिह्नानि लक्षणानि तथाशब्देनान्तराण्यपि चिह्नानि भवन्तीत्यर्थः । तान्येवाह—कायस्येति । कायस्य देहस्य कृशता कार्श्यं कान्तिः सुरुचिर्निश्चितं जायेत ॥ १९ ॥

यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥२०॥

वायोः प्राणस्य यथेष्टं बहुवारं धारणं कुम्भकेषु । अनलस्य जठराग्नेः प्रदीपनं प्रकृष्टा दीप्तिर्नादस्य ध्वनेरभिव्यक्तिः प्राकट्यमारोग्यमारोगता नाडिशोधनान्नाडीनां शोधनान्मलराहित्याज्जायते ॥ २० ॥

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ २१ ॥

मेदआद्याधिक्ये उपायान्तरमाह—मेदःश्लेष्माधिक इति। मेदश्च श्लेष्मा च मेदःश्लेष्माणौ तावधिकौ यस्य स तादृशः पुरुषः। पूर्वं प्राणायामाभ्यासात्प्राङ् न तु प्राणायामाभ्यासकाले षट् कर्माणि वक्ष्यमाणानि समाचरेत्सम्यगाचरेत्। अन्यस्तु मेदःश्लेष्माधिक्यरहितस्तु तानि षट् कर्माणि नाचरेत्। तत्र हेतुमाह—दोषाणां वातपित्तकफानां समस्य भावः समभावः समत्वं तस्माद्दोषाणां समत्वादित्यर्थः ॥ २१ ॥

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ २२ ॥

षट्कर्माण्युपदिशति—धौतिरिति। स्पष्टम् ॥ २२ ॥

कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम्।
विचित्रगुणसंधायि पूज्यते योगिपुंगवैः ॥ २३ ॥

इदं रहस्यमित्याह—कर्मषट्कमिति। घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारकमिदमुद्दिष्टं कर्मणां षट्कं धौत्यादिकं गोप्यं गोपनीयम्। यतः। विचित्रगुणसंधायीति। विचित्रं विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं संधातुं कर्तुं शीलमस्येति विचित्रगुणसंधायि योगिपुंगवैर्योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते। गोपनाभावे तु षट्कर्मकमन्यैरपि विहितं स्यादिति योगिनः पूज्यत्वाभावः प्रसज्येतेति भावः। एतेनेदमेव कर्म-

षट्कस्य मुख्यं फलमिति सूचितम्, मेदःश्लेष्मादिनाशस्य प्राणायामैरपि संभवात्। तदुक्तम्—'षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः' इति, पूर्वोत्तरग्रन्थस्याप्येवमेव स्वारस्याच्च ॥२३॥

तत्र धौतिः—

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥ २४ ॥

धौतिकर्माह—चतुरङ्गुलेति । चतुर्णामङ्गुलानां समाहारश्चतुरङ्गुलं विस्तारो यस्य तादृशं हस्तानां पञ्चदशैरायतं दीर्घं सिक्तं जलार्द्रं किंचिदुष्णं वस्त्रं पटं तच्च सूक्ष्मं नूतनोष्णीषादेः खण्डं ग्राह्यम् । गुरुणोपदिष्टो यो मार्गो वस्त्रग्रसनप्रकारस्तेन शनैर्मन्दं मन्दं किंचित्किंचिद् ग्रसेत् । द्वितीये दिने हस्तद्वयं तृतीये दिने हस्तत्रयम् । एवं दिनवृद्ध्या हस्तमात्रमधिकं ग्रसेत् । तस्य प्रान्तं राजदन्तमध्ये हठे संलग्नं कृत्वा नौलिकर्मणोदरस्थवस्त्रं सम्यक् चालयित्वा । पुनः शनैः प्रत्याहरेच्च तद्वस्त्रमुद्गिरेन्निष्कासयेच्च । तद्धौतिकर्मोदितं कथितं सिद्धैः ॥ २४ ॥

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥ २५ ॥

धौतिकर्मणः फलमाह—कासश्वासेति । कासश्च श्वासश्च प्लीहश्च कुष्ठं च । समाहारद्वन्द्वः । कासादयो रोगविशेषाः विंशतिसंख्याकाः कफरोगाश्च धौतिकर्मणः प्रभावेण गच्छन्त्येव न संशयः, निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ २५ ॥

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥ २६ ॥

अथ वस्तिकर्माह—नाभिदघ्नेति । नाभिपरिमाणं नाभिदघ्नम् । परिमाणे दघ्नच् प्रत्ययः । तस्मिन्नाभिदघ्ने नाभिपरिमाणे जले नद्यादितोये पायुर्गुदं तस्मिन्न्यस्तो नालो वंशनालो येन कनिष्ठिकाप्रवेशयोग्यरन्ध्रयुक्तं षडङ्गुलदीर्घं वंशनालं गृहीत्वा चतुरङ्गुलं पायौ प्रवेशयेत् । अङ्गुलिद्वयमितं बहिः स्थापयेत् । उत्कटमासनं यस्य स उत्कटासनः । पार्ष्णिद्वये स्फिचौ विन्यस्य पादाङ्गुलिभिः स्थितिरुत्कटासनम् । आधारस्याकुञ्चनं यथा जलमन्तः प्रविशेत्तथा संकोचनं कुर्यात् । अन्तः प्रविष्टं जलं नौलिककर्मणा चालयित्वा त्यजेत् । क्षालनं वस्तिकर्मोच्यते । धौतिवस्तिकर्मद्वयं भोजनात्प्रागेव कर्तव्यम् । तदनन्तरं भोजने विलम्बोऽपि न कार्यः । केचित्तु पूर्वं मूलाधारेण वायोराकर्षणमभ्यस्य जले स्थित्वा पायौ नालप्रवेशनमन्तरेणैव वस्तिकर्माभ्यसन्ति । तथा करणे सर्वं जलं

बहिर्नायाति । अतो नानारोगधातुक्षयादिसंभवाच्च तथा वस्तिकर्म नैव विधेयम् । किमन्यथा स्वात्मारामः पायौ न्यस्तनाल इति ब्रूयात् ॥ २६ ॥

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
वस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥ २७ ॥

वस्तिकर्मगुणानाह द्वाभ्याम्—गुल्मप्लीहोदरमिति । गुल्मश्च प्लीहश्च रोगविशेषावुदरं जलोदरं च तेषां समाहारद्वन्द्वः । वातश्च पित्तं च कफश्च तेभ्य उद्भवा एकैकस्माद्द्वाभ्यां सर्वेभ्यो वा जाताः सकलाः सर्वं आमया रोगा वस्तिकर्मणः प्रभावः सामर्थ्यं तेन क्षीयन्ते नश्यन्ति ॥ २७ ॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म ॥ २८ ॥

धात्विति । अभ्यस्यमानमनुष्ठीयमानं जले वस्तिकर्म जलवस्तिकर्म कर्तृ दद्यादनुष्ठातुरिति शेषः । धातवः 'रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः' इत्युक्ताः, इन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च, अन्तःकरणानि मनोबुद्धि-

चित्ताहंकाररूपाणि, तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरण-दैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विक-धर्माविर्भावः प्रसादस्तं कान्तिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च। तथा। अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम्। एतदपचयस्याप्युपलक्षणम्। उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात्। दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः॥ २८॥

अथ नेतिः—

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते॥ २९॥

अथ नेतिकर्माह—सूत्रमिति। वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि। यावता सूत्रेण सम्यङ् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यम्। सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रन्थ्यादि-रहितं सूत्रम्। तच्च नवधा दशधा पञ्चदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यम्। नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वा-त्तस्मिन्प्रवेशयेत्। मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत्। तत्प्रकारस्त्वेवम्—सूत्रप्रान्तं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्। पुनश्च मुखेन रेचयेत्। पुनः पुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रान्तमायाति। तत्सूत्रप्रान्तं नासाबहिःस्थसूत्रप्रान्तं च

गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तम् । तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रान्तं प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रान्तमायाति । तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तम्—" अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः " इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ ३० ॥

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति । कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया । जत्रुणोः स्कन्धसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः, स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहन्ति—चकारः पादपूरणे । 'स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणी' इत्यमरः ॥ ३० ॥

चित्ताहंकाररूपाणि, तेषां परितापविक्षेपशोकमोहगौरवावरण-दैन्यादिराजसतामसधर्मविनिवर्तनेन सुखप्रकाशलाघवादिसात्त्विक-धर्माविर्भावः प्रसादस्तं कान्तिं द्युतिं दहनस्य जठराग्नेः प्रदीप्तिं प्रकृष्टां दीप्तिं च । तथा । अशेषाः समस्ता ये दोषा वातपित्तकफास्तेषामुपचयम् । एतदपचयस्याप्युपलक्षणम् । उपचयापचयौ निहन्यान्नितरां हन्यात् । दोषसाम्यरूपमारोग्यं कुर्यादित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ नेतिः—

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥ २९ ॥

अथ नेतिकर्माह—सूत्रमिति । वितस्ति वितस्तिमितं वितस्तिरित्युपलक्षणमधिकस्यापि । यावता सूत्रेण सम्यङ् नेतिकर्म भवेत्तावद् ग्राह्यम् । सुस्निग्धं सुष्ठु स्निग्धं ग्रन्थ्यादि-रहितं सूत्रम् । तच्च नवधा दशधा पञ्चदशधा वा गुणितं सुदृढं ग्राह्यम् । नासा नासिका सैव नालः सच्छिद्रत्वा-त्तस्मिन्प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेन्निष्कासयेत् । तत्प्रकारस्त्वेवम्—सूत्रप्रान्तं नासानाले प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात् । पुनश्च मुखेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वतो मुखे सूत्रप्रान्तमायाति । तत्सूत्रप्रान्तं नासाबहिःस्थसूत्रप्रान्तं च

गृहीत्वा शनैश्चालयेदिति । चकारादेकस्मिन्नासानाले प्रवेश्येतरस्मिन्निर्गमयेदित्युक्तम् । तत्प्रकारस्त्वेकस्मिन्नासानाले सूत्रप्रान्तं प्रवेश्येतरनासापुटमङ्गुल्या निरुध्य पूरकं कुर्यात्पश्चादितरनासानालेन रेचयेत् । पुनः पुनरेवं कुर्वत इतरनासानाले सूत्रप्रान्तमायाति । तस्य पूर्ववच्चालनं कुर्यादिति । अयं प्रकारस्तु बहुवारं कुर्वतः कदाचिद्भवति । एषोक्ता सिद्धैरणिमादिगुणसंपन्नैः । तदुक्तम्—“ अवाप्ताष्टगुणैश्वर्याः सिद्धाः सद्भिर्निरूपिताः ” इति । नेतिर्निगद्यते नेतिरिति कथ्यते ॥ २९ ॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥ ३० ॥

नेतिगुणानाह—कपालशोधिनीति । कपालं शोधयति शुद्धं मलरहितं करोतीति कपालशोधिनी । चकारान्नासानालादीनामपि । एवशब्दोऽवधारणे । दिव्यां सूक्ष्मपदार्थग्राहिणीं दृष्टिं प्रकर्षेण ददातीति दिव्यदृष्टिप्रदायिनी नेतिक्रिया । जत्रुणोः स्कन्धसंध्योरूर्ध्वमुपरिभागे जातो जत्रूर्ध्वजातः, स चासौ रोगाणामोघश्च तमाशु झटिति निहन्ति—चकारः पादपूरणे । ‘ स्कन्धो भुजशिरोंऽसोऽस्त्री संधी तस्यैव जत्रुणी ’ इत्यमरः ॥ ३० ॥

अथ त्राटकम्—

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥ ३१ ॥

त्राटकमाह—निरीक्षेदिति । समाहितः एकाग्रचित्तः निश्चला चासौ दृक् च दृष्टिस्तया सूक्ष्मं च तल्लक्ष्यं च सूक्ष्मलक्ष्यमश्रूणां सम्यक् पातः पतनं तत्पर्यन्तम् । अनेन निरीक्षणस्यावधिरुक्तः । निरीक्षेत्पश्येत् । आचार्यैर्मत्स्येन्द्रादिभिरिदं त्राटकं त्राटककर्म स्मृतं कथितम् ॥ ३१ ॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥ ३२ ॥

त्राटकगुणानाह—मोचनमिति । नेत्रस्य रोगा नेत्ररोगास्तेषां मोचनं नाशकम्, तन्द्रा आदिर्येषामालस्यादीनां तेषां कपाटकं कपाटवदन्तर्धायकमभिभावकमित्यर्थः । तन्द्रा तामसश्चित्तवृत्तिविशेषः । त्राटकं त्राटकाख्यं कर्म यत्नतः प्रयत्नतः प्रयत्नाद्गोप्यं गोपनीयम् । गोपने दृष्टान्तमाह—यथेति । हाटकस्य सुवर्णस्य पेटकं पेटी इति लोके प्रसिद्धं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् ॥ ३२ ॥

अथ नौलिः—

अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥३३॥

नौलिकर्माह—अमन्देति । नतौ नम्रीभूतावंसौ स्कन्धौ यस्य स नतांसः पुमानमन्दोऽतिशयितो य आवर्तस्तस्येव जलभ्रमस्येव वेगो जवस्तेन तुन्दमुदरम् । 'पिचण्डकुक्षी जठरोदरं तुन्दं स्तनौ कुचौ' इत्यमरः । सव्यं चापसव्यं च सव्यापसव्ये दक्षिणवामभागौ तयोः सव्यापसव्यतः । सप्तम्यर्थे तसिः । भ्रामयेद् भ्रमन्तं प्रेरयेत् । सिद्धैरेषा नौलिः प्रचक्ष्यते कथ्यते ॥ ३३ ॥

मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि-
संधापिकाऽऽनन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च
हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥ ३४ ॥

नौलिगुणानाह—मन्दाग्नीति । मन्दश्चासावग्निर्जठराग्निस्तस्य संदीपनं सम्यग् दीपनं च पाचनं च भुक्तान्नपरिपाकश्च मन्दाग्निसंदीपनपाचने ते आदिनी यस्य तन्मन्दाग्निसंदीपनपाचनादि तस्य संधापिका विधात्री । आदिशब्देन मलशुद्ध्यादि । सदैव सर्वदैवानन्दकरी सुखकरी । अशेषाः

समस्ताश्च ते दोषाश्च वातादय आमयाश्च रोगास्तेषां शोषणी शोषणकर्त्री हठस्य क्रियाणां धौत्यादीनां मौलिर्मौलिरिवोत्तमा धौतिवस्त्योर्नौलिसापेक्षत्वात् । इयमुक्ता नौलिः ॥ ३४ ॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥ ३५ ॥

कपालभातिं तद्गुणं चाह—भस्त्रावदिति । लोहकारस्य भस्त्राऽग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म तद्वत्संभ्रमेण सह वर्तमानौ ससंभ्रमावमन्दौ यौ रेचपूरौ रेचकपूरकौ कपालभातिरिति विख्याता । कीदृशी ? कफदोषविशोषणी । कफस्य दोषा विंशतिभेदभिन्नाः । तदुक्तं निदाने—'कफरोगाश्च विंशतिः' इति । तेषां विशोषणी विनाशिनी ॥ ३५ ॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ॥ ३६ ॥

षट्कर्मणां प्राणायामत्वोपकारकत्वमाह—षट्कर्मेति । षट्कर्मभिर्धौतिप्रभृतिभिर्निर्गताः । स्थौल्यं स्थूलस्य भावः स्थूलत्वम् । कफदोषा विंशतिसंख्याकाः, मलादयश्च यस्य स तथा । 'शेषाद्विभाषा' इति कप्रत्ययः । आदिशब्देन पित्तादयः । प्राणायामं कुर्यात् । ततस्तस्मात्षट्कर्मपूर्वकात्प्राणा-

ादनायासेनाश्रमेण सिध्यति योग इति शेषः । षट्कर्मा-
णे तु प्राणायामे श्रमाधिक्यं स्यादिति भावः ॥ ३६ ॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।
आचार्याणां तु केषांचिदन्यत्कर्म न संमतम् ॥३७॥

मतभेदेन षट्कर्मणामनुपयोगमाह—प्राणायामैरिति । प्रा-
ामैरेव । एवशब्दः षट्कर्मव्यवच्छेदार्थः । सर्वे मलाः
ुष्यन्ति । मला इत्युपलक्षणं स्थौल्यकफपित्तादीनाम् । इति
ः केषांचिदाचार्याणां याज्ञवल्क्यादीनामन्यत्कर्म षट्कर्म
संमतं नाभिमतम् । आचार्यलक्षणमुक्तं वायुपुराणे—
आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयेदपि । स्वयमाचरते
ादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥" इति ॥ ३७ ॥

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति
पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा
गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥ ३८ ॥

गजकरणीमाह—उदरगतमिति । अपानं पवनमपानवायुं
ठनाले कण्ठो नाल इव कण्ठनालस्तस्मिन्नुदीर्योत्क्षिप्योदरे
प्राप्तः स चासौ पदार्थश्च भुक्तपीतान्नजलादिस्तं
ोद्वमन्त्युद्गिरन्ति यया योगिन इत्यध्याहारः । क्रमेण

यः परिचयोऽभ्यासस्तेनावश्यं स्वाधीनं नाडीनां चक्रं यस्यां सा तथा । सा क्रिया हठज्ञैर्हठयोगाद्यभिज्ञैर्गजकरणीति निगद्यते कथ्यते । 'क्रमपरिचयवश्यनाडिमार्गा' इति क्वचित्पाठः । तस्यायमर्थः—क्रमपरिचयेन वश्यो नाड्याः शङ्खिन्या मार्गः कण्ठपर्यन्तो यस्यां सा तथा ॥ ३८ ॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

प्राणायामोऽवश्यमभ्यसनीयः सर्वोत्तमैरभ्यस्तत्वान्महाफलत्वाच्चेति सूचयन्नाह चतुर्भिः—ब्रह्मादय इति । ब्रह्मा आदिर्येषां ते ब्रह्मादयस्तेऽपि किमुतान्य इत्यर्थः । त्रिदशा देवाः अन्तयतीत्यन्तकः कालस्तस्माद्भयमन्तकभयं तस्मात्पवनस्य प्राणवायोरभ्यासो रेचकपूरककुम्भकभेदभिन्नप्राणायामानुष्ठानरूपस्तस्मिंस्तत्परा अवहिता अभूवन्नासन् । तस्मात्पवनमभ्यसेत्प्राणमभ्यसेत् ॥ ३९ ॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ४० ॥

यावदिति । यावद्यावत्कालपर्यन्तं मरुत्प्राणानिलो देहे शरीरे बद्धः श्वासोच्छ्वासक्रियाशून्यः । यावच्चित्तमन्तःकरणं निराकुलमविक्षिप्तं समाहितम् । यावद्भ्रुवोर्मध्ये दृष्टिरन्तः-

करणवृत्तिः । दृशिरत्र ज्ञानसामान्यार्थः । तावत्कालपर्यन्तं कलयतीति कालोऽन्तकस्तस्माद्भयं कुतः न कुतोऽपीत्यर्थः । तथा च वक्ष्यति—"खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा । साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥" इति । स्वाधीनो भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्णावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥ ४१ ॥

विधिवदिति । विधिवत्प्राणसंयामैरासनजालंधरबन्धादिविधियुक्तप्राणायामैर्नाडीचक्रे नाडीनां चक्रं समूहस्तस्मिन्विशोधिते निर्मले सति मारुतो वायुः सुषुम्णा इडापिङ्गलयोर्मध्यस्था नाडी तस्या वदनं मुखं भित्त्वा सुखादनायासाद्विशति सुषुम्णान्तरिति शेषः ॥ ४१ ॥

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥४२॥

मारुत इति । मध्ये सुषुम्णामध्ये संचारः सम्यक् चरणं गमनं मूर्धपर्यन्तं यस्य स मध्यसंचारस्तस्मिन्सति मनसः स्थैर्यं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहो जायते प्रादुर्भवति । यो मनसः सुस्थिरीभावः सुष्ठु स्थिरीभवनं सैव मनोन्मन्यवस्था । मनोन्मनीशब्द

उन्मनीपर्यायः । तथाऽग्रे वक्ष्यति—'राजयोगः समाधिश्च' इत्यादिना ॥ ४२ ॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् ।
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥

विचित्रेषु कुम्भकेषु प्रवृत्तिं जनयितुं तेषां मुख्यफलमवान्तरफलं चाह— तत्सिद्धय इति । विधानं कुम्भकानुष्ठानप्रकारस्तज्जानन्तीति विधानज्ञास्तत्सिद्धय उन्मन्यवस्थासिद्धये चित्रान्सूर्यभेदनादिभेदेन नानाविधान्कुम्भकान्कुर्वन्ति विचित्राश्च ते कुम्भकाश्च विचित्रकुम्भकास्तेषामभ्यासादनुष्ठानाद्विचित्रामणिमादिभेदेन नानाविधां विलक्षणां वा जन्मौषधिमन्त्रतपोजाताम् । तदुक्तं भागवते—"जन्मौषधितपोमन्त्रैर्यावतीरिह सिद्धयः । योगेनाप्नोति ताः सर्वा नान्यैर्योगगतिं व्रजेत् ॥" इति । आप्नुयात्प्रत्याहारादिपरम्परयेति भावः ॥ ४३ ॥

अथ कुम्भकभेदाः—

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥

अथाष्ट कुम्भकान्नामभिर्निर्दिशति — सूर्यभेदनमिति । स्पष्टम् ॥ ४४ ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥ ४५ ॥

अथ हठसिद्धावनन्यसिद्धां पारमहंसीं सर्वकुम्भकसाधारणयुक्तिमाह त्रिभिः—पूरकान्त इति । जालंधर इत्यभिधा नाम यस्य स जालंधराभिधो बन्धो बध्नाति प्राणवायुमिति बन्धः कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चिबुकस्य हृदि स्थापनं जालंधरबन्धः पूरकान्ते पूरकस्यान्ते पूरकानन्तरं झटिति कर्तव्यः । तुशब्दात्कुम्भकादावुड्डियानकस्तु कुम्भकान्ते कुम्भकस्यान्ते किंचित्कुम्भकशेषे रेचकस्यादौ रेचकादौ रेचकात्पूर्वं कर्तव्यः । प्रयत्नविशेषेण नाभिप्रदेशस्य पृष्ठत आकर्षणमुड्डियानबन्धः ॥ ४५ ॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ४६ ॥

अधस्तादिति । कण्ठस्य संकोचनं कण्ठसंकोचनं तस्मिन्कृते सति जालंधरबन्धे कृते सतीत्यर्थः । आश्वव्यवहितोत्तरमेवाधस्तादधःप्रदेशादाकुञ्चनेनाधाराकुञ्चनेन मूलबन्धेनेत्यर्थः । मध्ये नाभिप्रदेशे पश्चिमतः पृष्ठतस्तानंताननमाकर्षणं तेनोड्डियानबन्धेनेत्यर्थः । उक्तरीत्या कृतेन बन्धत्रयेण प्राणो वायुर्ब्रह्मनाडीं सुषुम्णां गच्छतीति ब्रह्मनाडिगः सुषुम्णानाडिगामी स्यादित्यर्थः । अत्रेदं रहस्यम् । यदि श्रीगुरुमुखाज्जिह्वाबन्धः

सम्यक्परिज्ञातस्तर्हि जिह्वाबन्धपूर्वकेण जालंधरबन्धेनैव प्राणायामः सिध्यति। वायुप्रकोपेनैवमधातुवपुःकृशत्वं ? वदने प्रसन्नतेत्यादीनि सर्वाणि लक्षणानि जायन्त इति मूलबन्धोड्डियानबन्धौ नोपयुक्तौ। तयोर्जिह्वाबन्धपूर्वकेण जालंधरबन्धेनान्यथा सिद्धत्वात्। जिह्वाबन्धो न विदितश्चेत् 'अधस्तात्कुञ्चनेन' इति श्लोकोक्तरीत्या प्राणायामाः कर्तव्याः। त्रयोऽपि बन्धा गुरुमुखाज्ज्ञातव्याः। मूलबन्धस्तु सम्यगज्ञातो नानारोगोत्पादकः। तथा हि—यदि मूलबन्धे कृते धातुक्षयो विष्टम्भोऽग्निमान्द्यं नादमान्द्यं गुटिकासमूहाकारमजस्येव पुरीषं स्यात्तदा मूलबन्धः सम्यङ् न ज्ञात इति बोध्यम्। यदि तु धातुपुष्टिः सम्यङ् मलशुद्धिरग्निदीप्तिः सम्यङ् नादाभिव्यक्तिश्च स्यात्तदा ज्ञेयं मूलबन्धः सम्यग्जात इति ॥ ४६ ॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत्।
योगी जराविमुक्तः सन्षोडशाब्दवया भवेत् ॥ ४७॥

अपानमिति। अपानमपानवायुमूर्ध्वमुत्थाप्याधाराकुञ्चनेन प्राणं प्राणवायुं कण्ठादधः अधोभागे नयेत्प्रापयेद्यः स योगी योगोऽस्यास्ति अभ्यस्यत्वेनेति योगी योगाभ्यासी जरया वार्धकेन विमुक्तो विशेषेण मुक्तः सन्। षोडशानामब्दानां समाहारः षोडशाब्दं षोडशाब्दं वयो यस्य स तादृशो भवेत्।

यद्यपि ‘पूरकान्ते तु कर्तव्यः’ इत्यादिना त्रयाणां श्लोकानामेक एवार्थः पर्यवस्यति तथाऽपि ‘पूरकान्ते तु कर्तव्यः’ इत्यनेन बन्धानां काल उक्तः। अधस्तात्कुञ्चनेनेत्यनेन बन्धानां स्वरूपमुक्तम्। अपानमूर्ध्वमुत्थाप्येत्यनेन बन्धानां फलमुक्तमिति विशेषः। जालंधरबन्धे मूलबन्धे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बन्ध उड्डियानबन्धो भवत्येवेत्यस्मिञ्श्लोके नोक्तः। तथा चोक्तं ज्ञानेश्वरेण गीताषष्ठाध्यायव्याख्यायाम्— ‘मूलबन्धे जालंधरबन्धे च कृते नाभेरधोभाग आकर्षणाख्यो बन्धः स्वयमेव भवति’ इति ॥ ४७ ॥

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥ ४८ ॥

“योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये। उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथ वा बुधः ॥ १ ॥ गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम्। शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद्भस्मधारणम् ॥ २ ॥ शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु। तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ ३ ॥ देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम्। अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधितत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान्प्राणायामादीन्

मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वंभरामण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः। ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम्। अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥ ५ ॥ करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत्। जालंधरप्रसादार्थं कुम्भकात्पूर्वयोगतः ॥ ६ ॥ विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम्। योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्माच्च शिववाक्यतः ॥ ७ ॥" कूर्मपुराणे शिववाक्यम्—"नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान्सशिष्यांश्च विनायकम्। गुरुं चैवाथ मां योगी युञ्जीत सुसमाहितः ॥ ८ ॥ बद्ध्वाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम्। प्रथमे दश कर्तव्याः पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ॥ ९ ॥ कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः। योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ॥ १० ॥ अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः। सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ॥ ११ ॥ उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः। भस्त्रिकां च समभ्यस्य कुर्यादन्यान्न वा परान् ॥ १२ ॥ मुद्राः समभ्यसेद्बुद्ध्वा गुरुवक्त्राद्यथाक्रमम्। ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ॥ १३ ॥ अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः। अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥ १४ ॥ स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः। मध्याह्नेऽपि तथाऽभ्यस्य किंचिद्विश्रम्य भोजनम् ॥ १५ ॥ कुर्वीत योगिना

पथ्यमपथ्यं न कदाचन । एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्न च भक्षयेत् ॥ १६ ॥ केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा । चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥ १७ ॥ इति चिन्तामणेर्वाक्यं स्वारस्यं भजते न हि । केचित्पदेन यस्मात्तु तयोः शीतोष्णहेतुना ॥ १८ ॥ भोजनानन्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् । पुराणश्रवणं वाऽपि नामसंकीर्तनं विभोः ॥१९॥ सायंसंध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् । यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ २० ॥ अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसंध्या सदा बुधैः । अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥ २१ ॥ विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः । नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ” ॥ २२ ॥ अथोद्देशानुक्रमणं कुम्भकान्विवक्षुस्तत्र प्रथमोदितं सूर्यभेदनं तद्गुणांश्चाह त्रिभिः—आसन इति । सुखं ददातीति सुखदं तस्मिन्सुखदे । “ शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ” इत्युक्तलक्षणे विविक्तदेशे सुखासनस्थः शुचिः ‘ समग्रीवशिरःशरीरः ’ इति श्रुतेश्च चैलाजिनकुशोत्तर आसने । आस्तेऽस्मिन्नित्यासनम् , आस्यतेऽनेनेति वा तस्मिन् योगी योगाभ्यासी । आसनं स्वस्तिकवीरसिद्धपद्माद्यन्यतमं मुख्यत्वात्सिद्धासनमेव वा बद्ध्वैव बन्धनेन संपाद्यैव कृत्वैवेत्यर्थः । तत आसनबन्धानन्तरं दक्षा

दक्षिणभागस्था या नाडी पिङ्गला तया बहिःस्थं देहाद्बहिर्वर्तमानं पवनं वायुं शनैर्मन्दं मन्दमाकृष्य पिङ्गलया मन्दं मन्दं पूरकं कृत्वेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥ ४९ ॥

आ केशादिति । केशाना मर्यादीकृत्याकेशं तस्मान्नखाग्राना मर्यादीकृत्येत्यानखाग्रं तस्माच्च निरोधस्य वायोरवरोधस्यावधिर्मर्यादा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा कुम्भयेत् । केशपर्यन्तं नखाग्रपर्यन्तं च वायोर्निरोधो यथा भवेत्तथाऽतिप्रयत्नेन कुम्भकं कुर्यादित्यर्थः । ननु "हठान्निरुद्धः प्राणोऽयं रोमकूपेषु निःसरेत् । देहं विदारयत्येष कुष्ठादि जनयत्यपि । ततः प्रत्यापितव्योऽसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् । वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् । करोति शास्तृनिर्देशान्न च तं परिलङ्घयेत् । तथा प्राणो हृदिस्थोऽयं योगिनां क्रमयोगतः । गृहीतः सेव्यमानस्तु विस्रम्भमुपगच्छति ॥" इति वाक्यविरुद्धमिति प्रयत्नेन कुम्भकं कुर्यादिति कथमुक्तमिति चेन्न । 'हठान्निरुद्धः प्राणोऽयम्' इति वाक्यस्य बलादचिरेण प्राणजयं करिष्यामीति बुद्ध्याऽऽरम्भः । एवं च बह्वभ्यासासक्तपरत्वात्क्रमेणारण्यहस्तिवदिति दृष्टान्तस्वारस्याच्च । अत

एव सूर्याचन्द्रमसोरभ्यासे धारयित्वा यथाशक्ति निधारयेदिति निरोधत इति चोक्तं संगच्छते । तस्मात्कुम्भकस्त्वतिप्रयत्नपूर्वकं कर्तव्यः । यथा यथाऽतियत्नेन कुम्भकः क्रियते तथा तथा तस्मिन्गुणाधिक्यं भवेत् । यथा यथा च शिथिलः कुम्भकः स्यात्तथा तथा गुणाल्पत्वं स्यात् । अत्र योगिनामनुभवोऽपि मानम् । पूरकस्तु शनैः शनैः कार्यः, वेगाद्वा कर्तव्यः, वेगादपि कृते पूरके दोषाभावात् । रेचकस्तु शनैः शनैरेव कर्तव्यः । वेगात्कृते रेचके बलहानिप्रसङ्गात् । ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्न तु वेगतः । इत्याद्यनेकधा ग्रन्थकारोक्तेश्च । ततो निरोधावधिकुम्भकानन्तरं शनैः शनैर्मन्दं मन्दं सव्ये वामभागे स्थिता नाडी सव्यनाडी तया सव्यनाड्या इडया पवनं वायुं रेचयेद्बहिर्निःसारयेत् । पुनः शनैरित्युक्तिस्तु शनैरेव रेचयेदित्यवधारणार्था । तदुक्तम्—“ विस्मये च विषादे च दैन्ये चैवावधारणे । तथा प्रसादने हर्षे वाक्यमेकं द्विरुच्यते ॥ ” इति ॥४९॥

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥ ५० ॥

कपालशोधनमिति । कपालस्य मस्तकस्य शोधनं शुद्धिकरं वातजा दोषा वातदोषा अशीतिप्रकारास्तान्हन्तीति वातदोषघ्नं कृमीणामुदरे जातानां दोषो विकारस्तं हरतीति कृमिदोषहृत् ।

पुनः पुनर्भूयो भूयः कार्यम् । सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण रेचनमिति रीत्येदमुत्तममुत्कृष्टं सूर्यभेदनं सूर्यभेदनाख्यमुक्तं योगिभिरिति शेषः ॥ ५० ॥

अथोज्जायी—

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ ५१ ॥

उज्जायिनमाह सार्धेन—मुखमिति । मुखमास्यं संयतं कृत्वा मुद्रयित्वेत्यर्थः । कण्ठात्तु कण्ठादारभ्य हृदयावधि हृदयमवधिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा स्वनेन सहितं यथास्यात्तथा । उभे क्रियाविशेषणे । लगति श्लिष्यति पवन इत्यर्थात् । तथा तेन प्रकारेण नाडीभ्यामिडापिङ्गलाभ्यां पवनं वायुं शनैर्मन्दमाकृष्याकृष्टं कृत्वा पूरयित्वेत्यर्थः । प्राणं पूर्ववत्पूर्वेण सूर्यभेदनेन तुल्यं पूर्ववत् । 'आ केशादा नखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत्' इत्युक्तरीत्या कुम्भयेद्रोधयेत् । ततः कुम्भकानन्तर-मिडया वामनाड्या रेचयेत्त्यजेत् ॥ ५१ ॥

श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ।
नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥

उज्जायिगुणानाह सार्धश्लोकेन—श्लेष्मदोषहरमिति । कण्ठे कण्ठप्रदेशे श्लेष्मणो दोषाः श्लेष्मदोषाः कासादयस्तान् हरतीति श्लेष्मदोषहरस्तं देहानलस्य देहे मध्यगतानलस्य जाठरस्य विवर्धनं विशेषेण वर्धनं दीपनमित्यर्थः । नाडीति । नाडी सिरा जलं पीतमुदकमुदरं तुन्दमा समन्ताद्देहे वर्तमाना धातव आधातवः । एषामितरेतरद्वन्द्वः । तेषु गतः प्राप्तो यो दोषो विकारस्तं विशेषेण नाशयतीति नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् । गच्छता गमनं कुर्वता तिष्ठता स्थितेन वाऽपि पुंसा उज्जाय्याख्यमुज्जायीत्याख्या यस्य तत् । तु इत्यनेनास्य वैशिष्ट्यं द्योतयति । कार्यं कर्तव्यम् । उज्जापीति क्वचित्पाठः । गच्छता तिष्ठता तु बन्धरहितः कर्तव्यः । कुम्भकशब्दस्त्रिलिङ्गः । पुंलिङ्गपाठे तु विशेषणेष्वपि पुंलिङ्गः पाठः कार्यः ॥ ५२ ॥

अथ सीत्कारी—

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ ५३ ॥

सीत्कारीकुम्भकमाह—सीत्कामिति । वक्त्रे मुखे सीत्कां सीदेव सीत्का सीदिति शब्दः सीत्कारस्तां कुर्यात् । ओष्ठयोरन्तरे संलग्नया जिह्वया सीत्कारपूर्वकं मुखेन पूरकं

कुर्यादित्यर्थः । घ्राणेनैव नासिकयैवेत्यनेनोभाभ्यां नासापुटाभ्यां रेचकः कार्य इत्युक्तम् । एवशब्देन वक्त्रस्य व्यवच्छेदः । वक्त्रेण वायोर्निःसारणं त्वभ्यासानन्तरमपि न कार्यम्, बलहानिकरत्वात् । विजृम्भिकां रेचकं कुर्यादित्यत्रापि संबध्यते । कुम्भकस्त्वनुक्तोऽपि सीत्कार्याः कुम्भकत्वादेवावगन्तव्यः । अथ सीत्कार्याः प्रशंसा— एवमुक्तप्रकारेणाभ्यासः पौनःपुन्येनानुष्ठानं स एव योगः योगसाधनत्वात्तेन द्वितीय एव द्वितीयकः कामदेवः कंदर्पः । रूपलावण्यातिशयेन कामदेवसादृश्यात् ॥ ५३ ॥

योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ ५४ ॥

योगिनीनां चक्रं योगिनीचक्रं योगिनीसमूहः । तस्य सामान्यः संसेव्यः । सृष्टिः प्रपञ्चोत्पत्तिः संहारस्तल्लयः तयोः कारकः कर्ता । क्षुधा भोक्तुमिच्छा न । तृषा जलपानेच्छा न । निद्रा सुषुप्तिर्न । आलस्यं कायचित्तगौरवात्प्रवृत्त्यभावः । कायगौरवं कफादिना चित्तगौरवं तमोगुणेन । नैव प्रजायते नैव प्रादुर्भवति । एवमभ्यासयोगेनेति प्रजायत इति च प्रतिवाक्यं संबध्यते ॥ ५४ ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥५५॥

भवेदिति । देहस्य शरीरस्य सत्त्वं बलं च भवेत् । अनेनोक्तेन विधिनाऽभ्यासविधिना योगीन्द्रो योगिनामिन्द्र इव योगीन्द्रो भूमिमण्डले सर्वैरुपद्रवैर्वर्जितः सर्वोपद्रववर्जितो भवेत्सत्यम् , 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात् । यदुक्तं फलं तत्सत्यमेवेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अथ शीतली—

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ।
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ ५६ ॥

शीतलीकुम्भकमाह—जिह्वयेति । जिह्वयोष्ठयोर्बहिर्निर्गतया विहंगमाधरचञ्चुसदृशया वायुमाकृष्य शनैः पूरकं कृत्वेत्यर्थः । पूर्ववत्सूर्यभेदनवत्कुम्भस्य कुम्भकस्य साधनं विधानं कृत्वेत्यध्याहारः । सुधीः शोभना धीर्यस्य सः घ्राणस्य रन्ध्रे ताभ्यां नासापुटविवराभ्यां शनकैः शनैरेव । 'अव्ययसर्वनाम्नाम्—' इत्यकच् । पवनं वायुं रेचयेत् ॥ ५६ ॥

गुल्मप्लीहादिकान्रोगाञ्ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ॥५७॥

शीतलीगुणानाह—गुल्मश्च प्लीहश्च गुल्मप्लीहौ रोगविशेषावादी येषां ते गुल्मप्लीहादिकास्तान् रोगानामयान् ज्वरं

ज्वराख्यं रोगं पित्तं पित्तविकारं क्षुधां भोक्तुमिच्छां तृषां जलपानेच्छां विषाणि सर्पादिविषजनितविकारान्। शीतली नामेति प्रसिद्धार्थकमव्ययम्। इयमुक्ता कुम्भिका निहन्ति नितरां हन्ति। कुम्भशब्दः स्त्रीलिङ्गोऽपि। तथा च श्रीहर्षः—'उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाः' इति॥ ५७॥

अथ भस्त्रिका—

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम्॥ ५८॥

भस्त्राकुम्भकस्य पद्मासनपूर्वकमेवानुष्ठानात्तदादौ पद्मासनमाह—ऊर्वोरिति। उपर्युत्ताने शुभे शुद्धे उभे द्वे पादयोस्तले अधःप्रदेशौ ऊर्वोः संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा वसेत्। एतत्पद्मासनं भवेत्। कीदृशम्? सर्वेषां पापानां प्रकर्षेण नाशनम्। अत्रोपरीत्यव्ययमुत्तानवाचकम्। तथा च कारकेषु मनोरमायाम् 'उपर्युपरिबुद्धीनाम्' इत्यत्रोपरिबुद्धीनामित्यस्योत्तानबुद्धीनामिति व्याख्यानं कृतम्॥ ५८॥

सम्यक्पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरं सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत्॥ ५९॥

भस्त्रिकाकुम्भकमाह—सम्यगिति। ग्रीवा च उदरं च ग्रीवोदरम्। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। समं ग्रीवोदरं यस्य स

समग्रीवोदरः सुस्थिता धीर्यस्य स सुधीः पद्मासनं सम्यक् स्थिरं बद्ध्वा मुखं संयम्य संयतं कृत्वा यत्नेन प्रयत्नेन घ्राणेन घ्राणस्यैकतरेण रन्ध्रेण प्राणं शरीरान्तः स्थितं वायुं रेचयेत् ॥ ५९ ॥

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ ६० ॥

रेचकप्रकारमाह—यथेति । हृच्च कण्ठश्च हृत्कण्ठं तस्मिन् हृत्कण्ठे । समाहारद्वन्द्वः । कपालावधि कपालपर्यन्तं स्वनेन सहितं सस्वनं यथा स्यात्तथा येन प्रकारेण लगति प्राण इति शेषः । तथा रेचयेत् । हृत्पद्ममवधिर्यस्मिन् कर्मणि तत् हृत्पद्मावधि वेगेन तरसा मारुतं वायुं पूरयेत् । चापीति पादपूरणार्थम् ॥ ६० ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ ६१ ॥

पुनरिति । तद्वत्पूर्ववत्पुनर्विरेचयेत्पुनः पुनः पूरयेच्चेत्यन्वयः । उक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह—यथैवेति । लोहकारेण लोहविकाराणां कर्त्रा भस्त्राऽग्नेर्धमनसाधनीभूतं चर्म यथैव येन प्रकारेण वेगेन चाल्यते ॥ ६१ ॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ।
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ ६२ ॥
यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।

तथैव तेनैव प्रकारेण स्वशरीरस्थं स्वशरीरे स्थितं पवनं प्राणं धिया बुद्ध्या चालयेत् । रेचकपूरकयोर्निरन्तरावर्तनेन चालनस्यावधिमाह—यदा श्रम इति । यदा यस्मिन्काले देहे शरीरे श्रमो रेचकपूरकयोर्निरन्तरावर्तनेनायासो भवेत्तदा तस्मिन्काले । यथा येन प्रकारेण पवनेन वायुना लघु क्षिप्रमेवोदरं पूर्णं भवेत्तथा तेन प्रकारेण सूर्यनाड्या पूरयेत् । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः ॥ ६२ ॥

धारयेन्नासिकां मध्यातर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥६३॥

पूरकानन्तरं यत्कर्तव्यं तदाह—धारयेदिति । मध्यातर्जनीभ्यां मध्यमातर्जनीभ्यां विनाऽङ्गुष्ठानामिकाकनिष्ठिकाभिर्नासिकां दृढं धारयेत् । अङ्गुष्ठेन दक्षिणनासापुटं निरुध्यानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासापुटं निरुध्य नासिकां दृढं गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ६३ ॥

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयाऽनिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ ६४ ॥

विधिवदिति। बन्धपूर्वकं कुम्भकं कृत्वेडया चन्द्रनाड्याऽनिलं वायुं रेचयेत्। भस्त्राकुम्भकस्येयं परिपाटी। वामनासिकापुटं दक्षिणभुजानामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य दक्षिणनासिकापुटेन भस्त्रावद्वेगेन रेचकपूरकाः कार्याः। श्रमे जाते तेनैव नासापुटेन पूरकं कृत्वाऽङ्गुष्ठेन दक्षिणं नासापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुम्भकं धारयेत्। पश्चादिडया रेचयेत्। पुनर्दक्षिणनासापुटमङ्गुष्ठेन निरुध्य वामनासिकापुटेन भस्त्रावज्झटिति रेचकपूरकाः कर्तव्याः। श्रमे जाते तेनैव नासिकापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां वामनासिकापुटं निरुध्य यथाशक्ति कुम्भकं कृत्वा पिङ्गलया रेचयेदित्येका रीतिः। वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां दक्षिणनासिकापुटेन पूरकं कृत्वा झटित्यङ्गुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन रेचयेत्। एवं शतधा कृत्वा श्रमे जाते तेनैव पूरयेत्। बन्धपूर्वकं कृत्वेडया रेचयेत। पुनर्दक्षिणनासापुटमङ्गुष्ठेन निरुध्य वामनासापुटेन पूरकं कृत्वा झटिति वामनासिकापुटमनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां निरुध्य पिङ्गलया रेचयेद्भस्त्रावत्। पुनः पुनरेवं कृत्वा रेचकपूरकावृत्तिश्रमे जाते वामनासापुटेन पूरकं कृत्वाऽनामिकाकनिष्ठिकाभ्यां धृत्वा कुम्भकं कृत्वा पिङ्गलया रेचयेदिति द्वितीया रीतिः। भस्त्रिकागुणानाह—वातपित्तेति। वातश्च पित्तं च श्लेष्मा च वातपित्तश्लेष्माणस्तान्

हरतीति तादृशं शरीरे देहे योऽग्निर्जठरानलस्तस्य विशेषेण वर्धनं दीपनम् ॥ ६४ ॥

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखेसंस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ ६५ ॥

क्षिप्रं शीघ्रं कुण्डल्याः सुप्ताया बोधकं बोधकर्तृ पुनातीति पवनं पवित्रकारकं सुखं ददातीति सुखदं हितं त्रिदोष-हरत्वात्सर्वेषां हितं सर्वदा च हितं सर्वेषां कुम्भकानां सर्वदा हितत्वेऽपि सूर्यभेदनोज्जायिनावुष्णौ प्रायेण शीते हितौ । सीत्कारीशीतल्यौ शीतले प्रायेणोष्णे हिते । भस्त्राकुम्भकः समशीतोष्णः सर्वदा हितः सर्वेषां कुम्भकानां सर्वरोगहरत्वेऽपि सूर्यभेदनं प्रायेण वातहरम् । उज्जायी प्रायेण श्लेष्महरः । सीत्कारीशीतल्यौ प्रायेण पित्तहरे । भस्त्राख्यः कुम्भकः त्रिदोषहर इति बोध्यम् । ब्रह्मनाडी सुषुम्णा ब्रह्मप्रापकत्वात् । तथा च श्रुतिः—“ शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धान-मभि निःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ” । तस्य मुखेऽग्रभागे संस्थः सम्यक् स्थितो यः कफादि-रूपोऽर्गलः प्राणगतिप्रतिबन्धकस्तस्य नाशनं नाशकर्तृ ॥ ६५ ॥

सम्यग्गात्रसमद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥६६॥

सम्यग्दृढीभूतं गात्रं गात्रमध्ये सुषुम्णायामेव सम्यगुद्भूतं समुद्भूतं जातं यद्ग्रन्थीनां त्रयं ग्रन्थित्रयं ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थिरूपं तस्य विशेषेण भेदजनकम्। अत एव इदं भस्त्रा इत्याख्या यस्येति भस्त्राख्यं कुम्भकं तु विशेषेणैव कर्तव्यम्, अवश्यकर्तव्यमित्यर्थः। सूर्यभेदनादयस्तु यथासंभवं कर्तव्याः ॥ ६६ ॥

अथ भ्रामरी—

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगा-
च्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥ ६७ ॥

भ्रामरीकुम्भकमाह—वेगादिति। वेगात्तरसा घोषं सशब्दं यथा स्यात्तथा भृङ्गस्य भ्रमरस्य नाद इव नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा पूरकं कृत्वा। भृङ्ग्यो भ्रमर्यस्तासां नाद इव नादो यस्मिंस्तत्तथा मन्दं मन्दं रेचकं कुर्यात्। पूरकानन्तरं कुम्भकस्तु भ्रामर्याः कुम्भकत्वादेव सिद्धो विशेषाच्च नोक्तः। पूरकरेचकयोस्तु विशेषोऽस्तीति तावेवोक्तौ। एवमुक्तरीत्याऽभ्यसनमभ्यासस्तस्य योगो युक्तिस्तस्माद्योगीन्द्राणां चित्ते काचिदनिर्वाच्या आनन्दे लीला क्रीडा आनन्दलीला जातोत्पन्ना भवति ॥ ६७ ॥

अथ मूर्च्छा—

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालंधरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ ६८ ॥

मूर्च्छाकुम्भकमाह—पूरकान्त इति । पूरकस्यान्तेऽवसानेऽतिशयेन गाढतरं जालंधराख्यं बन्धं बद्ध्वा शनैर्मन्दं मन्दं रेचयेत् । इयं कुम्भिका मूर्च्छनाख्या मूर्च्छना इत्याख्या यस्या इति मूर्च्छनाख्या । कीदृशी ? मनो मूर्च्छयतीति मनोमूर्च्छा । एतेन मूर्च्छनाया विग्रहदर्शनपूर्वकं फलमुक्तम् । पुनः कीदृशी ? सुखप्रदा सुखं प्रददातीति सुखप्रदा ॥ ६८ ॥

अथ प्लाविनी—

अन्तःप्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ ६९ ॥

प्लाविनीकुम्भकमाह—अन्तरिति । अन्तः शरीरान्तः प्रवर्तितः पूरित उदारोऽतिशयितो यो मारुतः समीरस्तेना समन्तात्पूरितमुदरं येन स पुमानगाधेऽप्यतलस्पर्शेऽपि पयसि जले पद्मपत्रवत्पद्मपत्रेण तुल्यं सुखादनायासात् प्लवते तरति गच्छति ॥ ६९ ॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥ ७० ॥

अथ प्राणायामभेदानाह—प्राणायाम इति। प्राणस्य शरीरान्तःसंचारिवायोरायमनं निरोधनमायामः प्राणायामः। प्राणायामलक्षणमुक्तं गोरक्षनाथेन—'प्राणः स्वदेहजो वायुरायामस्तन्निरोधनम्' इति। रेचकश्च पूरकश्च कुम्भकश्च तैर्भेदैस्त्रिधा त्रिप्रकारकः रेचकप्राणायामः पूरकप्राणायामः कुम्भकप्राणायामश्चेति। रेचकलक्षणमाह याज्ञवल्क्यः—'बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः' इति। रेचकप्राणायामलक्षणम्—'निष्क्रम्य नासाविवरादशेषं प्राणं बहिः शून्यमिवानिलेन। निरुध्य संतिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः'। पूरकलक्षणम्—'बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः'। पूरकप्राणायामलक्षणम्—'बाह्ये स्थितं प्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्। नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः'। कुम्भकलक्षणम्—'संपूर्य कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्'। अयं कुम्भकस्तु पूरकप्राणायामादभिन्नः। भिन्नस्तु—'न रेचको नैव च पूरकोऽत्र नासापुटे संस्थितमेव वायुम्। सुनिश्चलं धारयते क्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः'। अथ प्रकारान्तरेण प्राणायामं विभजते—सहित इति। कुम्भको द्विविधः सहितः केवलश्चेति। मतोऽभिमतो योगिनामिति शेषः। तत्र सहितो द्विविधः—रेचकपूर्वकः कुम्भकपूर्वकश्च। तदुक्तम्—'आरे-

च्यापूर्य वा कुर्यात्स वै सहितकुम्भकः'। तत्र रेचकपूर्वको रेचकप्राणायामादभिन्नः। पूरकपूर्वकः कुम्भकः पूरकप्राणायामादभिन्नः। केवलकुम्भकः कुम्भकप्राणायामादभिन्नः। प्रागुक्ताः सूर्यभेदनादयः पूरकपूर्वकस्य कुम्भकस्य भेदा ज्ञातव्याः ॥७०॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ ७१ ॥

सहितकुम्भकाभ्यासस्यावधिमाह—यावदिति। केवलस्य केवलकुम्भकस्य सिद्धिः केवलसिद्धिर्यावत्पर्यन्तं स्यात्तावत्पर्यन्तं सहितकुम्भकं सूर्यभेदादिकमभ्यसेदनुतिष्ठेत्। सुषुम्णाभेदानन्तरं यदा सुषुम्णान्तर्घटशब्दा भवन्ति तदा केवलकुम्भकः सिध्यति। तदनन्तरं सहितकुम्भका दश विंशतिर्वा कार्याः। अशीतिसंख्यापूर्तिः केवलकुम्भकैरेव कर्तव्या। सति सामर्थ्ये केवलकुम्भका अशीतेरधिकाः कार्याः। केवलकुम्भकस्य लक्षणमाह—रेचकमिति। रेचकं पूरकं मुक्त्वा त्यक्त्वा सुखमनायासं यथा स्यात्तथा वायोर्धारणं वायुधारणं यत् ॥ ७१ ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ ७२ ॥

स वा इति। मिश्रितः केवलकुम्भकः प्राणायाम इत्ययमुक्तः। केवलं प्रशंसन्ति—केवल इति। रेचो रेचकः रेचश्च

पूरकश्च रेचपूरकौ ताभ्यां वर्जिते रहिते केवले कुम्भके सिद्धे सति ॥ ७२ ॥

न तस्य दुर्लभं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ ७३ ॥

नेति । तस्य योगिनस्त्रिषु लोकेषु दुर्लभं दुष्प्रापं किंचित्किमपि यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं वाऽपि न विद्यते तस्य सर्वं सुलभमित्यर्थः । शक्त इति । केवलकुम्भकेन कुम्भकाभ्यासेन शक्तः समर्थो यथेष्टं यथेच्छं वायोर्धारणं तस्माद्वायुधारणात् ॥ ७३ ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ ७४ ॥

राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं लभते । अत्र संशयो न । निश्चितमेतदित्यर्थः । कुम्भकाभ्यासस्य परम्परया कैवल्यहेतुत्वमाह—कुम्भकादिति । कुम्भकात्कुम्भकाभ्यासात्कुण्डल्याधारशक्तिस्तस्या बोधो निद्राभङ्गो भवेत् । कुण्डल्या बोधः कुण्डलीबोधस्तस्मात्कुण्डलीबोधतः ॥ ७४ ॥

अनर्गला सुषुम्णा च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं विना हठः ।
न सिध्यति ततो युग्ममा निष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ ७५ ॥

सुषुम्णा मध्यनाड्यनर्गला कफाद्यर्गलरहिता भवेत् । हठस्य हठाभ्यासस्य सिद्धिः प्रत्याहारादिपरम्परया कैवल्यरूपा सिद्धिर्जायते । हठयोगराजयोगसाधनयोः परस्परोपकार्योपकारकत्वमाह—हठं विनेति । हठं हठयोगं विना राजयोगो न सिध्यति राजयोगं विना हठो न सिध्यति ततोऽन्यतरस्य सिद्धिर्नास्ति । तस्मान्निष्पत्तिं राजयोगसिद्धिमा मर्यादीकृत्य या निष्पत्तिस्तस्या राजयोगसिद्धिपर्यन्तं युग्मं हठयोगराजयोगद्वयमभ्यसेदनुतिष्ठेत् । हठातिरिक्ते साक्षात्परम्परया वा राजयोगसाधनेऽत्र राजयोगशब्दः, जीवनसाधने लाङ्गले जीवनशब्दप्रयोगवत् । राजयोगसाधनं चतुर्थोपदेशे वक्ष्यमाणमुन्मनीशांभवीमुद्रादिरूपमपरोक्षानुभूतावुक्तं पञ्चदशाङ्गरूपं दशाङ्गरूपं च, वाक्यसुधायामुक्तं दृश्यानुविद्धादिरूपं च ॥ ७५ ॥

कुम्भकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ ७६ ॥

हठाभ्यासाद्राजयोगप्राप्तिप्रकारमाह—कुम्भकेति । कुम्भकेन प्राणस्य यो रोधस्तस्यान्ते मध्ये चित्तमन्तःकरणं निराश्रयं कुर्यात् । संप्रज्ञातसमाधौ जातायां ब्रह्माकारस्थितेः परं वैराग्येण विलयं कुर्यादित्यर्थः । एवमुक्तरीत्याऽभ्यासस्य योगो युक्तिस्तेन ।

'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इति कोशः। राजयोगपदं राजयोगात्मकं पदं व्रजेत्प्राप्नुयात् ॥ ७६ ॥

वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता
नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं
नाडीविशुद्धिर्हठसिद्धिलक्षणम् ॥ ७७ ॥

हठसिद्धिज्ञापकमाह—वपुःकृशत्वमिति। वपुषो देहस्य कृशत्वं कार्श्यं वदने मुखे प्रसन्नता प्रसादो नादस्य ध्वनेः स्फुटत्वं प्राकट्यं नयने नेत्रे सुष्ठु निर्मले अरोगस्य भावोऽरोगता आरोग्यं बिन्दोर्धातोर्जयः क्षयाभावरूपः अग्नेरुदर्यस्य दीपनं दीप्तिर्नाडीनां विशेषेण शुद्धिर्मलापगमः एतद्धठस्य हठाभ्याससिद्धेर्भाविन्या लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् ॥ ७७ ॥

इति हठप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ज्योत्स्नाभिधायां
ब्रह्मानन्दकृतायां द्वितीयोपदेशः ॥ २ ॥

P.V.S.

तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाऽऽधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाऽऽधारो हि कुण्डली ॥ १ ॥

अथ कुण्डल्याः सर्वयोगाश्रयत्वमाह—सशैलेति । शैलश्च वनानि च शैलवनानि तैः सह वर्तमानाः सशैलवनास्ताश्च ता धात्र्यश्च भूमयस्तासाम् । धात्र्या एकत्वेऽपि देशभेदाद्भेदमादाय बहुवचनम् । अहीनां सर्पाणां नायको नेताऽहिनायकः शेषो यथा यद्वदाधार आश्रयस्तथा तद्वत् सर्वेषां योगस्य तन्त्राणि योगतन्त्राणि योगोपायास्तेषां कुण्डल्याधारशक्तिराश्रयः । कुण्डलीबोधं विना सर्वयोगोपायानां वैयर्थ्यादिति भावः ॥ १ ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥२॥

कुण्डलीबोधस्य फलमाह द्वाभ्याम्—सुप्तेति । सुप्ता कुण्डली गुरोः प्रसादेन यदा जागर्ति बुध्यते तदा सर्वाणि

पद्मानि षट्चक्राणि भिद्यन्ते भिन्नानि भवन्ति। ग्रन्थयोऽपि च ब्रह्मग्रन्थिविष्णुग्रन्थिरुद्रग्रन्थयो भिद्यन्ते भेदं प्राप्नुवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ ३ ॥

प्राणस्येति। तदा शून्यपदवी सुषुम्णा प्राणस्य वायो राज्ञां पन्था राजपथं राजपथमिवाचरति राजपथायते राजमार्गायते। सुखेन गमनसंभवात्। तदा चित्तमालम्बनमाश्रयस्तस्मान्निर्गतं निरालम्बं निर्विषयं भवति। तदा कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं भवति ॥ ३ ॥

सुषुम्णा शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः।
श्मशानं शांभवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

सुषुम्णापर्यायानाह—सुषुम्णेति। इत्युक्ताः शब्दा एकस्य एकार्थस्य वाचकाः एकवाचकाः। पर्याया इत्यर्थः। स्पष्टः श्लोकार्थः ॥ ४ ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ ५ ॥

तस्मादिति। यस्मात्कुण्डलीबोधेनैव षट्चक्रभेदादिकं भवति तस्मात्सर्वप्रयत्नेन सर्वेण प्रयत्नेन ब्रह्म सच्चिदानन्दलक्षणं तस्य

द्वारं प्राप्त्युपायः सुषुम्णा तस्या मुखेऽग्रभागे मुखेन सुषुम्णाद्वारं पिधाय सुप्तामीश्वरीं कुण्डलीं प्रबोधयितुं प्रकर्षेण बोधयितुं मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासमावृत्तिं समाचरेत्सम्यगाचरेत् ॥५॥

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालंधराभिधः ॥ ६ ॥
करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।

मुद्रा उद्दिशति—महामुद्रेत्यादिना सार्धेन । सार्धार्थः स्पष्टः ॥ ६ ॥

इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशकम् ॥ ७ ॥

मुद्राफलमाह सार्धद्वाभ्याम्—इदमिति । इदमुक्तं मुद्राणां दशकं जरा च मरणं च जरामरणे तयोर्नाशनं निवारकम् ॥७॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ ८ ॥

आदिनाथेन शंभुनोदितं कथितम् । दिवि भवं दिव्यमुत्तमम् अष्टौ च तान्यैश्वर्याणि चाष्टैश्वर्याणि अणिममहिमगरिमलघिमप्राप्तिप्राकाम्येशतावशिताख्यानि । तत्राणिमा संकल्पमात्रेण प्रकृत्यपगमे परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता । १ । महिमा प्रकृत्यापूरेणाकाशादिवन्महद्भावः । २ । गरिमा

लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद्गुरुभावः । ३ । लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलादिवल्लघुभावः । ४ । प्राप्तिः सर्वभावसांनिध्यम् । यथा भूमिस्थ एवाङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम् । ५ । प्राकाम्यमिच्छानभिघातः । यथा उदक इव भूमौ निमज्जत्युन्मज्जति च । ६ । ईशता भूतभौतिकानां प्रभवाप्ययसंस्थानविशेषसामर्थ्यम् । ७ । वशित्वं भूतभौतिकानां स्वाधीनकरणम् । ८ । तेषां प्रदायकं प्रकर्षेण ददातीति तथा तं सर्वे च ते सिद्धाश्च कपिलादयस्तेषां वल्लभं प्रियं मरुतां देवानामपि दुर्लभं दुष्प्रापं किमुतान्येषामित्यर्थः ॥ ८ ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ ९ ॥

गोपनीयमिति । प्रयत्नेन प्रकृष्टेन यत्नेन गोपनीयम् । गोपनीयत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । रत्नानां हीरकादीनां करण्डकं रत्नकरण्डकं यथा येन प्रकारेण गोप्यते तद्वत् । कस्यापि जनमात्रस्य यद्वा कस्यापि ब्रह्मणोऽपि नैव वाच्यं किमुतान्यस्य । तत्र दृष्टान्तः—कुलस्त्रियाः सुरतं कुलस्त्रीसुरतं संगमनं यथा यद्वत् ॥

अथ महामुद्रा—

पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥१०॥

मुद्रादिषु प्रथमोद्दिष्टत्वेन महामुद्रां तावदाह—पादमूलेनेति। वामेन सव्येन पादस्य मूलं पादमूलं पार्ष्णिस्तेन पादमूलेन वामपादपार्ष्णिनेत्यर्थः। योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्याकुञ्चितवामपादपार्ष्णिना योनिस्थानं दृढं संयोज्येत्यर्थः। दक्षिणं सव्येतरं पदं चरणं प्रसारितं भूमिसंलग्नपार्ष्णिकमूर्ध्वाङ्गुलिकं दण्डवत्कृत्वा कराभ्यां संप्रदायाकुञ्चितकरतर्जनीभ्यां दृढं गाढं धारयेदङ्गुष्ठप्रदेशे गृह्णीयात् ॥ १० ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः।
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ ११ ॥

कण्ठे कण्ठदेशे बन्धनं सम्यगारोप्य कृत्वा। जालंधरबन्धं कृत्वेत्यर्थः। वायुं पवनमूर्ध्वत उपरि सुषुम्णायां धारयेत्। अनेन मूलबन्धः सूचितः। स तु योनिसंपीडनेन जिह्वाबन्धनेन चरितार्थ इति सांप्रदायिकाः। यथा दण्डेन हतस्ताडितो दण्डहतः सर्पः कुण्डली दण्डाकारः दण्डस्याकार इवाकारो यस्य स तादृशः। कुण्डलाकारं त्यक्त्वा सरल इत्यर्थः। प्रकर्षेण जायते भवति ॥ ११ ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ १२ ॥

तथा कुण्डल्याधारशक्तिः सहसा शीघ्रमेव ऋज्वी संपद्यते तथाभूता ऋज्वीभूता सरला भवेत् । तदा सेति । द्वे पुटे इडापिङ्गले आश्रयो यस्याः सा मरणावस्था जायते । कुण्डलीबोधे सति सुषुम्णायां प्रविष्टे प्राणे द्वयोः प्राणवियोगात् ॥ १२ ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ।
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ १३ ॥

ततस्तदनन्तरं शनैः शनैरेव रेचयेत् । वायुमिति संबध्यते । वेगतस्तु वेगान्न रेचयेत् । वेगतो रेचने बलहानिप्रसङ्गात् । खल्विति वाक्यालंकारे । इयं महामुद्रा महासिद्धैरादिनाथादिभिः प्रदर्शिता प्रकर्षेण दर्शिता ॥ १३ ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ १४ ॥

महामुद्राया अन्वर्थत्वमाह—महान्तश्च ते क्लेशाश्च महाक्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च त आदयो येषां ते तत्कार्याणां शोकमोहादीनां ते दोषाः क्षीयन्ते । मरणमादिर्येषां जरादीनां तेऽपि च क्षीयन्ते नश्यन्ति । यतस्तेनैव हेतुना विशिष्टा बुधा विबुधास्तेषूत्तमा विबुधोत्तमा महामुद्रां वदन्ति । महाक्लेशान्मरणादींश्च दोषान्मुद्रयति शमयतीति महामुद्रेति व्युत्पत्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१५॥

महामुद्राभ्यासक्रममाह—चन्द्राङ्ग इति । चन्द्रेण चन्द्रनाड्योपलक्षितमङ्गं चन्द्राङ्गं तस्मिन् चन्द्राङ्गे वामाङ्गे । तुशब्दः पादपूरणे । सम्यगभ्यस्य सूर्येण पिङ्गलयोपलक्षितमङ्गं सूर्याङ्गं तस्मिन् सूर्याङ्गे दक्षाङ्गे पुनर्वामाङ्गाभ्यासानन्तरं यावद्यावत्कालपर्यन्तं तुल्या वामाङ्गे कुम्भकाभ्याससंख्यासमा संख्या भवेत्तावदभ्यसेत् । ततः संख्यासाम्यानन्तरं मुद्रां महामुद्रां विसर्जयेत् । अत्रायं क्रमः—आकुञ्चितवामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितदक्षिणपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो वामाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्वामाङ्गे तिष्ठति । आकुञ्चितदक्षपादपार्ष्णिं योनिस्थाने संयोज्य प्रसारितवामपादाङ्गुष्ठमाकुञ्चिततर्जनीभ्यां गृहीत्वाऽभ्यासो दक्षाङ्गेऽभ्यासः । अस्मिन्नभ्यासे पूरितो वायुर्दक्षाङ्गे तिष्ठति ॥ १५ ॥

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥ १६ ॥

महामुद्रागुणानाह त्रिभिः—न हीति । हि यस्मान्महामुद्राभ्यासिन इत्यध्याहारः । पथ्यमपथ्यं वा न । पथ्यापथ्य-

विचारो नास्तीत्यर्थः। तस्मात्सर्वे भुक्ता रसाः कट्वम्लादयो जीर्यन्त इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः। नीरसा निर्गतो रसो येभ्यस्ते यातयामाः पदार्था जीर्यन्ते। घोरमिति दुर्धरं भुक्तमन्नं विषं क्ष्वेडमपि पीयूषमिवामृतमिव जीर्यति जीर्णं भवति। किमुतान्यदिति भावः॥ १६॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्॥

यः पुमान् महामुद्रामभ्यसेत्तस्य क्षयो राजरोगः कुष्ठगुदावर्तगुल्मा रोगविशेषाः। अजीर्णं भुक्तान्नापरिपाकस्तानि पुरोगमान्यग्रेसराणि येषां महोदरज्वरादीनां तथा तादृशा दोषा दोषजनिता रोगाः क्षयं नाशं यान्ति प्राप्नुवन्ति॥ १७॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्॥ १८॥

महामुद्रामुपसंहरन् तस्या गोप्यत्वमाह—कथितेति। इयमेषा महामुद्रा कथितोक्ता। मयेति शेषः। कीदृशी? नृणामभ्यसतां नराणां महत्यश्च ताः सिद्धयश्चाणिमाद्यास्तासां करी कर्त्रीयम्। प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तेन प्रयत्नेन गोपनीया गोपनार्हा यस्य कस्यचिद्यस्य कस्याप्यनधिकारिणः। संबन्धसामान्ये षष्ठी। न देया दातुं योग्या न भवतीत्यर्थः॥ १८॥

अथ महाबन्धः—

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ १९ ॥

महाबन्धमाह—पार्ष्णिमिति । वामस्य सव्यस्य पादस्य चरणस्य पार्ष्णिं गुल्फयोरधोभागम् । 'तद्ग्रन्थी गुल्फौ पुमान् पार्ष्णिस्तयोरधः' इत्यमरः । योनिस्थाने गुदमेढ्रयोरन्तराले नियोजयेन्नितरां योजयेत् । वामः सव्यो य ऊरुस्तस्योपरि दक्षिणं चरणं पादं संस्थाप्य सम्यक् स्थापयित्वा । तथाशब्दः पादपूरणे ॥ १९ ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥२०॥

पूरयित्वेति । ततस्तदनन्तरं वायुं पूरयित्वा हृदये चुबुकं दृढं निष्पीड्य गाढं संस्थाप्य । एतेन जालंधरबन्धः प्रोक्तः । योनिं गुदमेढ्रयोरन्तरालमाकुञ्च्य । अनेन मूलबन्धः सूचितः । स तु जिह्वाबन्धेन गतार्थत्वान्न कर्तव्यः । मनः स्वान्तं मध्ये मध्यनाड्यां नियोजयेत्प्रवर्तयेत् ॥ २० ॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥ २१ ॥

धारयित्वेति । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति धारयित्वा कुम्भयित्वा शनैर्मन्दं मन्दमनिलं वायुं रेचयेत् । सव्याङ्गे वामाङ्गे समभ्यस्य सम्यगावर्त्य दक्षाङ्गे दक्षिणाङ्गे पुनर्यावत्तुल्यामेव संख्यां तावदभ्यसेत् ॥ २१ ॥

मतमत्र तु केषांचित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ॥ २२ ॥

अथ जालंधरबन्धे कण्ठसंकोचस्यानुपयोगमाह—मतमिति । केषांचित्त्वाचार्याणामिदं मतम् । किं तदित्याह—अत्र जालंधरबन्धे कण्ठस्य बन्धनं बन्धः । संकोचस्तं विवर्जयेद्विशेषेण वर्जयेत् । कुतः ? यतो दन्तानां राजानो दन्तराजाः राजदन्ताः, राजदन्तेषु तिष्ठन्तीति राजदन्तस्था राजदन्तस्था चासौ जिह्वा च तस्यां राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तदुपरिभागस्य संबन्धः शस्तः । कण्ठाकुञ्चनापेक्षया प्रशस्तो भवेदिति हेतोः ॥ २२ ॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः ।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ॥ २३ ॥

अयं त्विति । अयं तु राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धस्तु सर्वाश्च ता नाड्यश्च सर्वनाड्यो द्वासप्ततिसहस्रसंख्याकास्तासां सुषुम्णातिरिक्तानामूर्ध्वमुपरि वायोर्गतिरूर्ध्वगतिस्तस्या निरोधकः प्रतिबन्धकः । एतेन 'बध्नाति हि सिराजालम्' इति जालंधरोक्तं

फलमनेनैव सिद्धमिति सूचितम् । महाबन्धस्य फलमाह—अयं खल्विति । अयमुक्तः खलु प्रसिद्धः महासिद्धीः प्रकर्षेण ददातीति तथा ॥ २३ ॥

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।
त्रिवेणीसंगमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥ २४ ॥

कालस्य मृत्योः पाशो वागुरा तेन यो महाबन्धो बन्धनं तस्य विशेषेण मोचने मोक्षणे विचक्षणः प्रवीणः । तिसृणां नदीनां वेणी समुदायः स एव संगमः प्रयागस्तं धत्ते विधत्ते । केदारं भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं केदारशब्दवाच्यम् । तं मनः स्वान्तं प्रापयेत् । 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणौ कर्तुर्मनसो णौ कर्मत्वम् ॥ २४ ॥

रूपलावण्यसंपन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥ २५ ॥

महावेधं वक्तुमादौ तस्योत्कर्षं तावदाह—रूपेति । रूपं सौन्दर्यं चक्षुःप्रियो गुणो,लावण्यं कान्तिविशेषः । तदुक्तम्— 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरम् । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति । ताभ्यां संपन्ना विशिष्टा स्त्री युवती पुरुषं भर्तारं विना यथा यादृशी निष्फला तथा महामुद्रा च महाबन्धश्च तौ वेधेन महावेधेन, विनाऽपि

"प्रत्ययपूर्वोत्तरपदयोर्लोपो वक्तव्यः" इति भाष्यकारोक्तेर्महच्छब्दस्य लोपः। वर्जितौ रहितौ निष्फलौ व्यर्थावित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ महावेधः—

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ॥ २६ ॥

महावेधमाह—महाबन्धेति। महाबन्धे महाबन्धमुद्रायां स्थितो महाबन्धस्थितः, एका एकाग्रा धीर्यस्य स एकाग्रधीर्योगी योगाभ्यासी पूरकं नासापुटाभ्यां वायोर्ग्रहणं कृत्वा कण्ठे मुद्रा कण्ठमुद्रा तया जालंधरमुद्रया वायूनां प्राणादीनां गतिमूर्ध्वाधोगमनादिरूपां निभृतं निश्चलं यथा भवति तथाऽऽवृत्य निरुध्य कुम्भकं कृत्वेत्यर्थः ॥ २६ ॥

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ संताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ॥ २७ ॥

समहस्तेति। भूमौ भुवि हस्तयोर्युगं हस्तयुगं समं हस्तयुगं यस्य स समहस्तयुगः भूमिसंलग्नतलौ सरलौ हस्तौ यस्य तादृशः सन्नित्यर्थः। स्फिचौ कटिप्रोथौ। 'स्त्रियां स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः। भूमिसंलग्नतलयोर्हस्तयोरवलम्बनेन

योनिस्थानसंलग्नपार्ष्णिना वामपादेन सह भूमेः किंचिदुत्थापितौ शनैर्मन्दं संताडयेत्सम्यक्ताडयेत् । भूमावेव पुटयोर्द्वयमिडापिङ्गलयोर्युग्ममतिक्रम्योल्लङ्घ्य मध्ये सुषुम्णामध्ये गच्छतीति मध्यगो वायुः स्फुरति ॥ २७ ॥

सोमसूर्याग्निसंबन्धो जायते चामृताय वै ।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ॥ २८ ॥

सोमश्च सूर्यश्चाग्निश्च सोमसूर्याग्नयः सोमसूर्याग्निशब्दैस्तदधिष्ठिता नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्णा ग्राह्यास्तेषां संबन्धः । तद्वायुसंबन्धात्तेषां संबन्धः, अमृताय मोक्षाय जायते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । मृतस्य प्राणवियुक्तस्यावस्था मृतावस्था समुत्पन्ना भवति । इडापिङ्गलयोः प्राणसंचाराभावात् । ततस्तदनन्तरं वायुं विरेचयेन्नासिकापुटाभ्यां शनैस्त्यजेत् ॥ २८ ॥

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ॥ २९ ॥

महावेध इति । अयं महावेधोऽभ्यासात्पुनः पुनरावर्तनान्महासिद्धयोऽणिमाद्यास्तासां प्रदायकः प्रकर्षेण समर्पकः । वली जरया चर्मसंकोचः पलितं जरसा केशेषु शौक्ल्यं वेपः

कम्पस्तान्हन्तीति वलीपलितवेपघ्नः। अत एव साधकेष्वभ्यासिषूत्तमाः साधकोत्तमास्तैः सेव्यतेऽभ्यस्यत इत्यर्थः ॥२९॥

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ॥ ३० ॥

महामुद्रादीनां तिसृणामतिगोप्यत्वमाह—एतदिति। एतत्त्रयं महामुद्रादित्रयं महागुह्यमतिरहस्यम्। अत्र हेतुगर्भाणि विशेषणानि—हि यस्माज्जरा वार्द्धकं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगः तयोर्विशेषेण नाशनं वह्नेर्जाठरस्य वृद्धिर्दीप्तिस्तस्याः करं कर्तृ अणिमा आदिर्येषां तेऽणिमादयस्ते च ते गुणाश्च तान्प्रकर्षेण ददातीत्यणिमादिगुणप्रदम्। चकार आरोग्यबिन्दुजयादिसमुच्चयार्थः। एवशब्दोऽवधारणार्थः ॥ ३० ॥

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने।
पुण्यसंभारसंधायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ॥ ३१ ॥

अथैतत्त्रयस्य पृथक्साधनविशेषमाह—अष्टधेति। दिने दिने प्रतिदिनम्। यामे यामे प्रहरे प्रहरे। पौनःपुन्ये द्विर्वचनम्। अष्टभिः प्रकारैरष्टधा क्रियते। चशब्दोऽवधारणे। एतत्त्रयमित्यत्रापि संबध्यते। कीदृशम्? पुण्यानां संभारः समूहस्तस्य

संधायि विधायि। पुनः कीदृशम्? पापानामोघः पूरः समूह इति यावत्। तस्य भिदुरं कुलिशमिव नाशनं सदा सर्वदा यदाऽभ्यस्तं तदैव पापनाशनम्। सम्यक् सांप्रदायिकी शिक्षा गुरूपदेशो विद्यते येषां ते तथा। एवं दिने दिने यामे यामेऽष्टधेत्युक्त-रीत्या पूर्वसाधनं स्वल्पस्वल्पमेव कार्यम् ॥ ३१ ॥

अथ खेचरी—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ३२ ॥

खेचरीं विवक्षुरादौ तत्स्वरूपमाह—कपालेति। कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन्कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरीमुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम् ॥ ३२ ॥

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणाथ वर्धयेत्तावत्।
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ॥

खेचरीसिद्धेर्लक्षणमाह—छेदनेति। छेदनमनुपदमेव वक्ष्य-माणम्। चालनं हस्तयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां रसनां गृहीत्वा

सव्यापसव्यतः परिवर्तनम् । दोहः करयोरङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां गोदोहनवत्तद्दोहनम् । तैः कलां जिह्वां तावद्वर्धयेद्दीर्घां कुर्यात् । तावत् । कियत् ? यावत्सा कला भ्रूमध्यं बहिर्भ्रुवोर्मध्यं स्पृशति । यदा तदा खेचर्याः सिद्धिः खेचरीसिद्धिर्भवति ॥३३॥

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३४ ॥

तत्साधनमाह—स्नुहीति । स्नुही गुडा तस्याः पत्रं दलं स्नुहीपत्रेण सदृशं स्नुहीपत्रनिभं सुतीक्ष्णमतितीक्ष्णं स्निग्धं च तन्निर्मलं च स्निग्धनिर्मलं शस्त्रं छेदनसाधनं समादाय सम्यगादाय गृहीत्वा ततः शस्त्रग्रहणानन्तरं तेन शस्त्रेण रोमप्रमाणं रोममात्रं समुच्छिनेत्सम्यगुच्छिनेच्छिन्द्यात् । रसना-मूलसिरामिति कर्माध्याहारः । 'मिश्रेयाऽप्यथ सीहुण्डो वज्रः स्नुक् स्त्री स्नुही गुडा' इत्यमरः ॥ ३४ ॥

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

ततश्छेदनानन्तरं चूर्णिताभ्यां चूर्णीकृताभ्यां सैन्धवं सिन्धु-देशोद्भवं लवणं पथ्यं हरीतकी ताभ्यां प्रघर्षयेत्प्रकर्षेण घर्षये-च्छिन्नं सिराप्रदेशम् । सप्तदिनपर्यन्तं छेदनं सैन्धवपथ्याभ्यां घर्षणं च सायंप्रातर्विधेयम् । योगाभ्यासिनो लवणनिषे-

धात्वदिरपथ्याचूर्णं गृह्णन्ति । मूले सैन्धवोक्तिस्तु हठाभ्यासात्पूर्वं खेचरीसाधनाभिप्रायेण । सप्तानां दिनानां समाहारः सप्तदिनं तस्मिन् प्राप्ते गते सति अष्टमे दिन इत्यर्थात् । ये प्राप्त्यर्थास्ते गत्यर्थाः । पूर्वं छेदनापेक्षयाऽधिकं रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३५ ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलसिराबन्धः प्रणश्यति ॥ ३६ ॥

एवमिति । एवं क्रमेण पूर्वं रोममात्रच्छेदनं सप्तदिनपर्यन्तं तावदेव सायंप्रातश्छेदनं घर्षणं च । अष्टमे दिनेऽधिकं छेदनमित्युक्तक्रमेण षण्मासं षण्मासपर्यन्तं नित्यं युक्तः सन् समाचरेत्सम्यगाचरेत् । छेदनघर्षणे इति कर्माध्याहारः । षण्मासादनन्तरं रसना जिह्वा तस्या मूलमधोभागो रसनामूलं तत्र या सिरा कपालकुहररसनासंयोगप्रतिबन्धकीभूता नाडी तया बन्धो बन्धनं प्रणश्यति प्रकर्षेण नश्यति ॥ ३६ ॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥ ३७ ॥

छेदनादिना जिह्वावृद्धौ यत्कर्तव्यं तदाह—कलामिति । कलां जिह्वां पराङ् मुखमास्यं यस्याः सा तथा तां पराङ्मुखीं

प्रत्यङ्मुखीं कृत्वा तिसृणां नाडीनां पन्थाः त्रिपथस्तस्मिन् त्रिपथे कपालकुहरे परियोजयेत्संयोजयेत् । सा त्रिपथे परियोजनरूपा खेचरी मुद्रा तद्व्योमचक्रमित्युच्यते व्योम-चक्रशब्देनोच्यते ॥ ३७ ॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥ ३८ ॥

अथ खेचरीगुणाः—रसनामिति । ऊर्ध्वं तालूपरि विवरं गच्छतीति तां तादृशीं रसनां जिह्वां कृत्वा क्षणार्धं क्षणस्य मुहूर्तस्य अर्धं क्षणार्धं घटिकामात्रमपि खेचरी मुद्रा तिष्ठति चेत्तर्हि योगी विषैः सर्पवृश्चिकादिविषैर्विमुच्यते विशेषेण मुच्यते । व्याधिर्धातुवैषम्यं मृत्युश्चरमः प्राणदेहवियोगो जरा वृद्धावस्था ता आदयो येषां वल्यादीनां तैश्च विमुच्यते । 'उत्सवे च प्रकोष्ठे च मुहूर्ते नियमे तथा । क्षणशब्दो व्यवस्थायां समयेऽपि निगद्यते ॥' इति नानार्थः ॥ ३८ ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

न रोग इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति तस्य रोगो न मरणं न तन्द्रा तामसान्तःकरणवृत्तिविशेषः न निद्रा न

क्षुधा न तृषा पिपासा न मूर्च्छा चित्तस्य तमसाऽभिभूतावस्थाविशेषश्च न भवेत् ॥ ३९ ॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यत इति । यः खेचरीं मुद्रां वेत्ति स रोगेण ज्वरादिना न योज्यते ॥ ४० ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥ ४१ ॥

चित्तमिति । यस्माद्धेतोश्चित्तमन्तःकरणं खे भ्रुवोरन्तरवकाशे चरति जिह्वा खे तत्रैव गता सती चरति । तेन हेतुना एषा कथिता मुद्रा खेचरी नाम खेचरीति प्रसिद्धा । नामेति प्रसिद्धावव्ययम् । सिद्धैः कपिलादिभिर्निरूपिता । खे भ्रुवोरन्तर्व्योम्नि चरति गच्छति चित्तं जिह्वा च यस्यां सा खेचरीत्यवयवशः सा व्युत्पादिता । उक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु व्याध्यादीनां पुनरुक्तिस्तु तेषां श्लोकानां संगृहीतत्वान्न दोषाय ॥ ४१ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याऽऽश्लेषितस्य च ॥

खेचर्येति । येन योगिना खेचर्या मुद्रया लम्बिकाया ऊर्ध्वमिति लम्बिकोर्ध्वतः । 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' । लम्बिका तालु तस्या ऊर्ध्वत उपरिभागे स्थितं विवरं छिद्रं मुद्रितं पिहितम् । कामिन्या युवत्याऽऽश्लेषितस्यालिङ्गितस्यापि । चशब्दोऽप्यर्थे । तस्य बिन्दुर्वीर्यं न क्षरते न स्खलति ॥ ४२ ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः संप्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥४३॥

चलित इति । चलितोऽपि स्खलितोऽपि बिन्दुर्यदा यस्मिन् काले योनिमण्डलं योनिस्थानं संप्राप्तः संगतस्तदैव योनिमुद्रया मेढ्राकुञ्चनरूपया । एतेन वज्रोली मुद्रा सूचिता । निबद्धो नितरां बद्धः शक्त्याऽऽकर्षणशक्त्या हृतः प्रकृष्ट ऊर्ध्वं व्रजति । सुषुम्णामार्गेण बिन्दुस्थानं गच्छति ॥ ४३ ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न संदेहो मृत्युं जयति योगवित् ॥ ४४ ॥

ऊर्ध्वजिह्व इति । ऊर्ध्वा लम्बिकोर्ध्वविवरोन्मुखा जिह्वा यस्य स ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो निश्चलो भूत्वा । सोमस्य लम्बिकोर्ध्वविवरगलितचन्द्रामृतस्य पानं सोमपानं यः पुमान् करोति । योगं वेत्तीति योगवित् स मासस्यार्धं मासार्धं तेन मासार्धेन

पक्षेण मृत्युं मरणं जयति अभिभवति । न संदेहः, निश्चितमेतदित्यर्थः ॥ ४४ ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥ ४५ ॥

नित्यमिति । यस्य योगिनः शरीरं नित्यं प्रतिदिनं सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतपूर्णं तस्य तक्षकेण सर्पविशेषेणापि दष्टस्य दंशितस्य योगिनः शरीरे विषं गरलं तज्जन्यं दुःखं न सर्पति न प्रसरति ॥ ४५ ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥ ४६ ॥

यथा वह्निः इन्धनानि काष्ठादीनि न मुञ्चति दीपको दीपः तैलवर्त्तिं च तैलयुक्तां वर्त्तिं न मुञ्चति । तथा सोमकलापूर्णं चन्द्रकलामृतापूर्णं देहं शरीरं देही जीवो न मुञ्चति न त्यजति ॥ ४६ ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्य इतरे कुलघातकाः ॥ ४७ ॥

गोमांसमिति । गोमांसं पारिभाषिकं वक्ष्यमाणं यो भक्षयेन्नित्यं प्रतिदिनममरवारुणीमपि वक्ष्यमाणां पिबेत्तं योगिनम् । अहमिति ग्रन्थकारोक्तिः । कुले जातः कुलीनः तं

सत्कुलोत्पन्नं मन्ये। तदुक्तं ब्रह्मवैवर्ते—'कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत्। जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत्॥ दृष्टः संभाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्योर्विवेकवान्। भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम्'। ब्रह्माण्डपुराणे—'गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च। ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते'। राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम्—'राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः। तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम्॥ दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः। अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः॥ अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः। त्वया मयाऽप्यसौ बन्धः शेषैर्वंद्यस्तु किं पुनः॥' इति। कूर्मपुराणे—'एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा। ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः॥' इति। इतरे वक्ष्यमाणगोमांसभक्षणामरवारुणीपानरहिता अयोगिनस्ते कुलघातकाः कुलनाशकाः, सत्कुले जातस्य जन्मनो वैयर्थ्यात्॥ ४७॥

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥ ४८॥

गोमांसशब्दार्थमाह—गोशब्देनेति। गोशब्देन गोइत्याकारकेण शब्देन गोपदेनेत्यर्थः। जिह्वा रसनोदिता कथिता।

तालुनीति सामीपिकाधारे सप्तमी । तालुसमीपोर्ध्वविवरे तस्या जिह्वायाः प्रवेशो गोमांसभक्षणं गोमांसभक्षणशब्दवाच्यं तत्तु तादृशं गोमांसभक्षणं तु महापातकानां स्वर्णस्तेयादीनां नाशनम् ॥ ४८ ॥

जिह्वाप्रवेशसंभूतवह्निनोत्पादितः खलु ।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः सा स्यादमरवारुणी ॥ ४९ ॥

अमरवारुणीशब्दार्थमाह—जिह्वेति । जिह्वायाः प्रवेशो लम्बिकोर्ध्वविवरे प्रवेशनं तस्मात्संभूतो यो वह्निरूष्मा तेनोत्पादितो निष्पादितः । अत्र वह्निशब्देनौष्ण्यमुपलक्ष्यते । यः सारः चन्द्राद् भ्रुवोरन्तर्वामभागस्थात्सोमात्स्रवति गलति सा अमरवारुणी स्यादमरवारुणीपदवाच्या भवेत् ॥ ४९ ॥

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्यन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदुग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥५०॥

चुम्बन्तीति । यदि चेल्लम्बिकाग्रं लम्बिकोर्ध्वविवरं चुम्बन्ती स्पृशन्ती । अनिशं निरन्तरम् । अत एव रसस्य सोमकलामृतस्य स्यन्दः स्यन्दनं प्रस्रवणमस्यामस्तीति रसस्यन्दिनी यस्य जिह्वा । क्षारेण लवणरसेन सहिता सक्षारा कटुकं मरिचादि

अम्लं चिञ्चाफलादि दुग्धं पयस्तैः सदृशी समाना। मधु क्षौद्रमाज्यं घृतं ताभ्यां तुल्या समा। तथाशब्दः समुच्चये। एतैर्विशेषणै रसस्यानेकरसत्वान्मधुरत्वात्स्निग्धत्वाच्च जिह्वाया अपि रसस्यन्दने तथात्वमुक्तम्। तर्हि तस्य व्याधीनां रोगाणां हरणमपगमो जराया वृद्धावस्थाया अन्तकरणं नाशनं शस्त्राणामायुधानामागमः स्वाभिमुखागमनं तस्योदीरणं निवारणम्। अष्टौ गुणा आणिमादयस्ते अस्य संजाता इत्यष्टगुणितममरत्वममरभावः सिद्धानामङ्गनाः सिद्धाङ्गनाः सिद्धाश्च ता अङ्गनाश्चेति वा तासामाकर्षणमाकर्षणशक्तिः स्यात्॥ ५०॥

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठा-
दूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन्।
उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबे-
न्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति॥

मूर्ध्न इति। रसनां जिह्वां विवरे कपालकुहरे नियम्य संयोज्य। उर्ध्वमुत्तानमास्यं यस्य सः। ऊर्ध्वास्य इत्यनेन विपरीतकरणी सूचिता। परां शक्तिं कुण्डलिनीं चिन्तयन् ध्यायन्सन् प्राणात्साधनभूतात्। षोडश पत्राणि दलानि यस्य तत् षोडशपत्रं तच्च तत्पद्मं कण्ठस्थाने वर्तमानं तस्मिन् गलितं हठाद्धठयोगादवाप्तं प्राप्तं विमलं निर्मलं धारामयं

धारारूपमुत्कल्लोलमुत्तरङ्गं च तत्कलाजलं सोमकलारसं यः पुमान् पिबेत् धयेत्स योगी निर्गता व्याधयो ज्वरादयो यस्मात्स निर्व्याधिः सन् यद्वा निर्गता विविधा आधिर्मानसी व्यथा यस्मात्स तादृशः सन् मृणालं बिसमिव कोमलं मृदु वपुः शरीरं यस्य स मृणालकोमलवपुश्च सन् चिरं दीर्घकालं जीवति प्राणान्धारयति। हठाद्धठयोगात्। प्राणात्साधनभूताद्वाप्तमिति वा योजना। प्राणैरिति क्वचित्पाठः ॥ ५१ ॥

यत्प्रालेयप्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमतो नान्यथा कायसिद्धिः ॥५२॥

यत्प्रालेयेति। मेरुवत्सर्वोन्नता सुषुम्णा मेरुस्तस्य मूर्धोपरिभागस्तस्यान्तरे मध्ये तिष्ठतीति मेरुमूर्धान्तरस्थं यत्प्रालेयं सोमकलाजलं प्रहितं निहितं यस्मिंस्तत्तथा तच्च तत्सुषिरं विवरम्, तस्मिन्विवरे सुधीः शोभना रजस्तमोभ्यामनभिभूतसत्त्वा धीर्बुद्धिर्यस्य सः। तत्त्वमात्मतत्त्वं प्रवदति प्रकर्षेण वदति। 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः। आत्मनो विभुत्वे खेचरीमुद्रायां तत्राभिव्यक्तिस्तस्मिंस्तत्त्वमित्युक्तम्। निम्नगानां गङ्गायमुनासरस्वतीनर्मदादिशब्दवाच्या-

नामिडापिङ्गलासुषुम्णागांधारीप्रभृतीनां तत्तस्मिन्विवरे तत्समीपे मुखमग्रमस्ति चन्द्रात्सोमाद्वपुषः शरीरस्य सारः स्रवति क्षरति तेन चन्द्रसारक्षरणेन नराणां मनुष्याणां मृत्युर्मरणं भवति । अतो हेतोस्तत्पूर्वोदितं सुकरणं शोभनं करणं खेचरीमुद्राख्यं बध्नीयात् । सुकरणे बद्धे चन्द्रसारस्रवणाभावान्मृत्युर्न स्यादिति भावः । अन्यथा सुकरणबन्धनाभावे कायस्य देहस्य सिद्धी रूपलावण्यबलवज्रसंहननरूपा न स्यात् ॥ ५२ ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिञ्शून्ये निरञ्जने ॥ ५३ ॥

सुषिरमिति । पञ्च यानि स्रोतांसीडादीनां प्रवाहास्तैः समन्वितं सम्यगनुगतम् । सप्तस्रोतःसमन्वितमिति क्वचित्पाठः । ज्ञानजनकमलौकिकबोधितात्मसाक्षात्कारजनकं यत्सुषिरं विवरं तस्मिन्सुषिरेऽञ्जनमविद्या तत्कार्यं शोकमोहादि च निर्गतं यस्मात्त-न्निरञ्जनं तस्मिन्निरञ्जने शून्ये सुषिरावकाशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरीभवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् ॥५३॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्ब एकाऽवस्था मनोन्मनी ॥५४॥

एकमिति । सृष्टिमयं सृष्टिरूपं प्रणवाख्यं बीजमेकं मुख्यम् । तदुक्तं माण्डूक्योपनिषदि—'ओमित्येतदक्षरमिदं

सर्वम्' इति। खेचरी मुद्रा एका मुख्या। निरालम्ब आलम्बनशून्य एको मुख्यो देवः, आलम्बनपरित्यागेनात्मनः स्वरूपावस्थानात्। उन्मन्यवस्थैका मुख्या। 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः। बीजादिषु प्रणवादिवन्मुद्रासु खेचरी मुख्येत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अथोड्डीयानबन्धः—

बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ॥५५॥

उड्डीयानबन्धं विवक्षुस्तावदुड्डीयानशब्दार्थमाह—बद्ध इति। यतो यस्माद्धेतोर्येन बन्धेन बद्धो निरुद्धः प्राणः सुषुम्णायां मध्यनाड्यामुड्डीयते सुषुम्णां विहायसा गच्छति तस्मात्कारणादयं बन्धो योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिरुड्डीयनमाख्याऽभिधा यस्य स उड्डीयनाख्यः समुदाहृतः सम्यग्व्युत्पत्त्योदाहृतः कथितः। सुषुम्णायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इत्युड्डीयनम्। उत्पूर्वात् 'डीङ् विहायसा गतौ' इत्यस्मात्करणे ल्युट् ॥ ५५ ॥

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥ ५६ ॥

उड्डीनमिति । महांश्चासौ खगश्च महाखगः प्राणः । सर्वदा देहावकाशे गतिमत्त्वात् । यस्माद्बन्धादविश्रान्तं यथा स्यात्तथोड्डीनं विहंगमगतिं कुरुते । सुषुम्णायामित्यध्याहार्यम् । तदेव बन्धविशेषमुड्डीयाननामकं स्यात् । तत्र तस्मिन्विषये बन्धोऽभिधीयते बन्धस्वरूपं कथ्यते मयेति शेषः ॥ ५६ ॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ५७ ॥

उड्डीयानबन्धमाह—उदर इति । उदरे तुन्दे नाभेरूर्ध्वं चकारादधः उपरिभागेऽधोभागे च पश्चिमं तानं पश्चिममाकर्षणं नाभेरूर्ध्वाधोभागौ यथा पृष्ठसंलग्नौ स्यातां तथा तानंताननं नामाकर्षणं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । असौ नाभेरूर्ध्वाधोभागयोस्ताननरूप उड्डीयान उड्डीयानाख्यो बन्धः । कीदृशः ? मृत्युरेव मातङ्गो गजस्तस्य केसरी सिंहः सिंह इव निवर्तकः ॥ ५७ ॥

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ।
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥ ५८ ॥

उड्डीयानं त्विति । गुरुर्हितोपदेष्टा तेन गुरुणा उड्डीयानं

सर्वदा सर्वस्यैव जायमानत्वात् । यस्तु यः पुरुषस्तु सततं निरन्तरमभ्यसेत् । उड्डीयानमित्यत्रापि संबध्यते । स तु वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि तरुणायते तरुण इवाचरति तरुणायते ॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥ ५९ ॥

नाभेरिति । नाभेरूर्ध्वमुपरिभागेऽधश्चाप्यधोभागेऽपि प्रयत्नतः प्रकृष्टो यत्नः प्रयत्नस्तस्मात्प्रयत्नतः । यत्नविशेषात्तानं पश्चिमतानं कुर्यात् । पूर्वार्धेनोड्डीयानस्वरूपमुक्तम् । अथ तत्प्रशंसा । षण्मासं षण्मासपर्यन्तम् । उड्डीयानमित्यध्याहारः । अभ्यसेत्पुनः पुनरनुतिष्ठेत् । स मृत्युं जयत्येव संशयो न । अत्र संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥६०॥

सर्वेषामिति । सर्वेषां बन्धानां मध्ये उड्डियानकः उड्डियानबन्ध एव । स्वार्थे कप्रत्ययः । उत्तमः उत्कृष्टः हि यस्मादुड्डियाने बन्धे दृढे सति स्वाभाविकी स्वभावसिद्धैव मुक्तिर्भवेत् । उड्डियानबन्धे कृते विहंगमगत्या सुषुम्णायां प्राणस्य मूर्ध्नि गमनात् ‘ समाधौ मोक्षमाप्नोति ’ इति वाक्यात्सहजैव मुक्तिः स्यादिति भावः ॥ ६० ॥

अथ मूलबन्धः—

पार्ष्णिभागेन संपीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥ ६१ ॥

मूलबन्धमाह—पार्ष्णिभागेनेति । पार्ष्णेर्भागो गुल्फयोरधःप्रदेशस्तेन योनिं योनिस्थानं गुदमेढ्रयोर्मध्यभागं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा गुदं पायुमाकुञ्चयेत् । अपानमधोगतिं वायुमूर्ध्वमुपर्याकृष्याकृष्टं कृत्वा मूलबन्धोऽभिधीयते कथ्यते । पार्ष्णिभागेन योनिस्थानसंपीडनपूर्वकं गुदस्याकुञ्चनं मूलबन्ध इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ६१ ॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥ ६२ ॥

अधोगतिमिति । यः अधोगतिमधोऽर्वाग्गतिर्यस्य स तथा तमपानमपानवायुमाकुञ्चनेन मूलाधारस्य संकोचनेन बलाद्धठादूर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तमूर्ध्वगं सुषुम्णायामूर्ध्वगमनशीलं कुरुते । वै इति निश्चयेऽव्ययम् । योगिनो योगाभ्यासिनस्तं मूलबन्धं मूलस्य मूलस्थानस्य बन्धनं मूलबन्धस्तं मूलबन्धमित्यन्वर्थं प्राहुः । अनेन मूलबन्धशब्दार्थ उक्तः । पूर्वश्लोकेन तु तस्य बन्धनप्रकार

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥ ६३ ॥

अथ योगबीजोक्तरीत्या मूलबन्धमाह—गुदमिति । पार्ष्ण्यो-र्गुल्फयोरधोभागेन गुदं वायुं संपीड्य सम्यक् पीडयित्वा संयोज्येत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वस्मादस्य विशेषत्वद्योतकः । यथा येन प्रकारेण समीरणो वायुरूर्ध्वं सुषुम्णाया उपरिभागे याति गच्छति तथा तेन प्रकारेण बलाद्धठाद्वारं वारं पुनःपुनर्वायुम-पानमाकुञ्चयेद्गुदस्याकुञ्चनेनाकर्षयेत् । अयं मूलबन्ध इति वाक्याध्याहारः ॥ ६३ ॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥६४॥

अथ मूलबन्धगुणानाह—प्राणापानाविति । प्राणश्चापानश्च प्राणापानावूर्ध्वाधोगती वायू । नादोऽनाहतध्वनिः बिन्दुरनु-स्वारस्तौ मूलबन्धेनैकतां गत्वैकीभूय योगस्य संसिद्धिः सम्यक् सिद्धिस्तां योगसिद्धिं यच्छतो ददतः । अभ्यासिन इति शेषः । अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न, संदेहो नास्तीत्यर्थः । अयं भावः—मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्णायां प्रविशति । ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति । ततो नादेन सह

प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यं बिन्दुनाऽऽधाय मूर्ध्नि गच्छतः । ततो योगसिद्धिः ॥ ६४ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ६५ ॥

अपानप्राणयोरिति । सततं मूलबन्धनान्मूलबन्धमुद्राकरणादपानप्राणयोरैक्यं भवति । मूत्रपुरीषयोः संचितयोः क्षयः पतनं भवति । वृद्धोऽपि स्थविरोऽपि युवा तरुणो भवति ॥ ६५ ॥

अपान ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ।
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥६६॥

अपान इति । मूलबन्धनादपाने अधोगमनशीले वायौ ऊर्ध्वगे ऊर्ध्वं गच्छतीत्यूर्ध्वगस्तस्मिंस्तादृशे सति वह्निमण्डलं वह्नेर्मण्डलं त्रिकोणं नाभेरधोभागेऽस्ति । तदुक्तं याज्ञवल्क्येन— 'देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् । त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥ मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते । तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥' इति । तदा तस्मिन् काले वायुना अपानेनाहता संगता सत्यनलशिखा जठराग्निशिखा दीर्घा आयता जायते ।

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ६७ ॥

तत इति । ततस्तदनन्तरं वह्निश्चापानश्च वह्न्यपानौ । उष्णं स्वरूपं यस्य स तथा तमनलं शिखादैर्घ्यादुष्णस्वरूपं प्राणमूर्ध्वगतिमनिलं यातो गच्छतः । ततोऽनलशिखादैर्घ्या-दुष्णस्वरूपकादिति वा योजना । तेन प्राणसंगमनेन देहे जातो देहजो ज्वलनोऽग्निरत्यन्तमधिकं दीप्तो भवति । तथेति पादपूरणे । अपानस्योर्ध्वगमने दीप्त एव ज्वलनः प्राण-संगत्याऽत्यन्तं प्रदीप्तो भवतीत्यर्थः ॥ ६७ ॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता संप्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजंगीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥ ६८ ॥

तेनेति । तेन ज्वलनस्यात्यन्तं प्रदीपनेन संतप्ता सम्यक् तप्ता सती सुप्ता निद्रिता कुण्डलिनी शक्तिः संप्रबुध्यते सम्यक् प्रबुद्धा भवति । दण्डेनाहता दण्डाहता चासौ भुजंगीव सर्पिणीव निःश्वस्य निःश्वासं कृत्वा ऋजुतां सरलतां व्रजेद्गच्छेत् ॥ ६८ ॥

बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥

बिलं प्रविष्टेति । ततः ऋजुताप्राप्त्यनन्तरं बिलं विवरं प्रविष्टा भुजंगीव ब्रह्मनाडी सुषुम्णा तस्या अन्तरं मध्यं

गच्छेत्तस्माद्धेतोर्योगिभिर्योगाभ्यासिभिर्मूलबन्धो नित्यं प्रतिदिनं सदा सर्वस्मिन्काले कर्तव्यः कर्तुं योग्यः ॥ ६९ ॥

अथ जालंधरबन्धः—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चुबुकं दृढम् ।
बन्धो जालंधराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥ ७० ॥

जालंधरबन्धमाह—कण्ठमिति । कण्ठे गले बिलमाकुञ्च्य हृदये वक्षःसमीपे चतुरङ्गुलान्तरितप्रदेशे चुबुकं हनुं दृढं स्थिरं स्थापयेत् स्थितं कुर्यात् । अयं कण्ठाकुञ्चनपूर्वकं चतुरङ्गुलान्तरितहृदयसमीपेऽधोनमनयत्नपूर्वकं चुबुकस्थापनरूपो जालंधर इत्याख्या यत इति जालंधराख्यो जालंधरनामा बन्धः । कीदृशः ? जरा वृद्धावस्था मृत्युर्मरणं तयोर्विनाशको विशेषेण नाशयतीति विनाशको विनाशकर्ता ॥ ७० ॥

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालंधरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥ ७१ ॥

जालंधरपदस्यार्थमाह—बध्नातीति । हि यस्मात्सिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति । अधो गन्तुं शीलमस्येत्यधोगामी नभसः कपालकुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति । ततस्तस्माज्जालंधरो जालंधरनामकोऽन्वर्थो बन्धः जालं दशाजालं जलानां समूहो जालं धरतीति जालंधरः । कीदृशः ?

कण्ठे गलप्रदेशे यो दुःखौघो विकारजातो दुःखसमूहस्तस्य नाशनो नाशकर्ता ॥ ७१ ॥

जालंधरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥ ७२ ॥

जालंधरगुणानाह—जालंधर इति । कण्ठस्य गलबिलस्य संकोचनं संकोच आकुञ्चनं तदेव लक्षणं स्वरूपं यस्य स कण्ठसंकोचलक्षणः तस्मिन् तादृशे जालंधरे जालंधरसंज्ञके बन्धे कृते सति पीयूषममृतमग्नौ जाठरेऽनले न पतति न सरति । वायुश्च प्राणश्च न कुप्यति नाड्यन्तरे वायोर्गमनं प्रकोपस्तं न करोतीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥ ७३ ॥

कण्ठसंकोचनेनेति । दृढं गाढं कण्ठसंकोचनेनैव कण्ठसंकोचनमात्रेण द्वे नाड्यौ इडापिङ्गले स्तम्भयेदयं जालंधर इति कर्तृपदाध्याहारः । इदं कण्ठस्थाने स्थितं विशुद्ध्याख्यं चक्रं मध्यचक्रं मध्यमं चक्रं ज्ञेयम् । कीदृशम् ? षोडशाधारबन्धनं षोडशसंख्याका ये आधारा अङ्गुष्ठाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तास्तेषां बंन्धनं बन्धनकारकम् । 'अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीलिङ्गनाभयः । हृद् ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥

भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् । एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुंगवैः ' ॥ तेष्वाधारेषु धारणायाः फलविशेषस्तु गोरक्षसिद्धान्तादवगन्तव्यः ॥ ७३ ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥७४॥

उक्तस्य बन्धत्रयस्योपयोगमाह—मूलस्थानमिति । मूलस्थानमाधारभूतमाधारस्थानं समाकुञ्च्य सम्यगाकुञ्च्य उड्डियानं नाभेः पश्चिमतानरूपं बन्धं कारयेत्कुर्यात् । णिजर्थोऽविवक्षितः । इडां पिङ्गलां गङ्गां यमुनां च बद्ध्वा । जालंधरबन्धेनेत्यर्थः, ' कण्ठसंकोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेत् ' इत्युक्तेः । पश्चिमे पथि सुषुम्णामार्गे वाहयेद्गमयेत्प्राणमितिशेषः ॥ ७४ ॥

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥ ७५ ॥

अनेनेति । अनेनैवोक्तेनैव विधानेन पवनः प्राणो लयं स्थैर्यं प्रयाति । गत्यभावपूर्वकं रन्ध्रे स्थितिः प्राणस्य लयः । ततः प्राणस्य लयान्मृत्युर्जरारोगादिकम् । तथा चार्थे । न जायते नोद्भवति । आदिपदेन वलीपलिततन्द्रालस्यादिकं ग्राह्यम् ॥ ७५ ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥ ७६ ॥

बन्धत्रयमिति । इदं पूर्वोक्तं बन्धत्रयं श्रेष्ठं षोडशाधारबन्धेऽतिप्रशस्तं महासिद्धैर्मत्स्येन्द्रादिभिश्चकाराद्वसिष्ठादिमुनिभिः सेवितं सर्वेषां हठतन्त्राणां हठोपायानां साधनं सिद्धिजनकं योगिनो गोरक्षाद्या विदुर्जानन्ति ॥ ७६ ॥

यत्किंचित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥ ७७ ॥

विपरीतकरणीं विवक्षुस्तदुपोद्धातत्वेन पिण्डस्य जराकरणं तावदाह—यत्किंचिदिति । दिव्यमुत्कृष्टं सुधामयं रूपं यस्य स तथा तस्माद्दिव्यरूपिणश्चन्द्रात्सोमात्तालुमूलस्थाद्यत्किंचिद्यत्किमप्यमृतं पीयूषं स्रवते पतति सत्सर्वं सर्वं तत्पीयूषं सूर्यो नाभिस्थोऽनलात्मकः ग्रसते ग्रासीकरोति। तदुक्तं गोरक्षनाथेन—'नाभिदेशे स्थितो नित्यं भास्करो दहनात्मकः । अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥ वर्षत्यधोमुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वमुखो रविः । करणं तच्च कर्तव्यं येन पीयूषमाप्यते ॥' इति । तेन सूर्यकर्तृकामृतग्रसनेन पिण्डो देहो जरायुतः जरसा युक्तो भवति ॥ ७७ ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ ७८ ॥

तत्रेति । तत्र तद्विषये सूर्यस्य नाभिस्थानलस्य मुखं वञ्च्यतेऽनेनेति तादृशं दिव्यमुत्तमं करणं वक्ष्यमाणमुद्राख्यमस्ति । तद्गुरूपदेशतः गुरूपदेशाज्ज्ञेयं ज्ञातुं शक्यम् । शास्त्रार्थानां कोटिभिः न तु नैव ज्ञातुं शक्यम् ॥ ७८ ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥ ७९ ॥

विपरीतकरणीमाह—ऊर्ध्वनाभेरिति । ऊर्ध्वमुपरिभागे नाभिर्यस्य स ऊर्ध्वनाभिस्तस्योर्ध्वनाभेरधः अधोभागे तालु तालुस्थानं यस्य सोऽधस्तालुस्तस्याधस्तालोर्योगिन ऊर्ध्वमुपरिभागे भानुर्दहनात्मकः सूर्यो भवति । अधः अधोभागे शश्यमृतात्मा चन्द्रो भवति । प्रथमान्तपाठे तु यदा ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुर्योगी भवति तदोर्ध्वं भानुरधः शशी भवति । यदातदापदयोरध्याहारेणान्वयः । इयं विपरीताख्या विपरीतनामिका करणी ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरधऊर्ध्वकरणेनान्वर्था गुरुवाक्येन गुरोर्वाक्येनैव लभ्यते प्राप्यते नान्यथा ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ॥ ८० ॥

नित्यमिति । नित्यं प्रतिदिनमभ्यासोऽभ्यसनं तस्मिन् युक्तस्यावहितस्य जठराग्निरुदराग्निस्तस्य विवर्धिनी विशेषेण वर्धिनीति विपरीतकरणीविशेषणम् । तस्य साधकस्य विपरीतकरण्यभ्यासिन आहारो भोजनं बहुलो यथेच्छः संपाद्यः संपादनीयः । च पादपूरणे ॥ ८० ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥ ८१ ॥

अल्पाहार इति । यद्यल्पाहारः अल्पो भोक्तुमिष्टान्नस्याहारो भोजनं यस्य तादृशो भवेत्स्यात्तदाऽग्निर्जठरानलो देहं क्षणमात्राद्दहेत् । शीघ्रं दहेदित्यर्थः । ऊर्ध्वाधःस्थितयोश्चन्द्रसूर्ययोरध-ऊर्ध्वकरणक्रियामाह—अधःशिरा इति । अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठभागशिरःपृष्ठभागाभ्यां च भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत् । ऊर्ध्वमुपर्यन्तरिक्षे पादौ यस्य स ऊर्ध्वपादः प्रथमदिने आरम्भदिने क्षणं क्षणमात्रं स्यात् ॥ ८१ ॥

क्षणाच्च किंचिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।

दिने दिने प्रतिदिनं क्षणात्किंचिदधिकं द्विक्षणं त्रिक्षणं एकदिनवृद्ध्याऽभ्यसेदभ्यासं कुर्यात्। विपरीतकरणीगुणानाह— वलितमिति। वलितं चर्मसंकोचः पलितं केशेषु शौक्ल्यं च, षण्णां मासानां समाहारः षण्मासं तस्मादूर्ध्वमुपरि नैव दृश्यते नैवावलोक्यते। साधकस्य देह इति वाक्याध्याहारः। यस्तु साधको याममात्रं प्रहरमात्रं नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्कालं मृत्युं जयतीति कालजिन्मृत्युजेता भवेत्। एतेन योगस्य प्रारब्धकर्मप्रतिबन्धकत्वमपि सूचितम्। तदुक्तं विष्णुधर्मे— 'स्वदेहारम्भकस्यापि कर्मणः संक्षयावहः। यो योगः पृथिवीपाल शृणु तस्यापि लक्षणम्॥' इति। विद्यारण्यैरपि जीवन्मुक्तावुक्तम्—'यथा प्रारब्धकर्म तत्त्वज्ञानात्प्रबलं तथा तस्मादपि कर्मणो योगाभ्यासः प्रबलः। अत एव योगिनामुद्दालकवीतहव्यादीनां स्वेच्छया देहत्याग उपपद्यते' इति। भागवतेऽप्युक्तम्—'देहं जह्यात्समाधिना' इति॥ ८२॥

अथ वज्रोली—

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम्॥

वज्रोल्यां प्रवृत्तिं जनयितुमादौ तत्फलमाह—स्वेच्छयेति। योऽभ्यासी वज्रोलीं वज्रोलीमुद्रां विजानाति विशेषेण

स्वानुभवेन जानाति स योगी योगे योगशास्त्रे उक्ता योगोक्तास्तैर्योगोक्तैर्नियमैर्ब्रह्मचर्यादिभिर्विना ऋते स्वेच्छया निजेच्छया वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि सिद्धिभाजनं सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति ॥ ८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

तत्साधनोपयोगि वस्तुद्वयमाह—तत्रेति । तत्र वज्रोल्यभ्यासे वस्तुनोर्द्वयं वक्ष्ये कथयिष्ये । कीदृशं वस्तुद्वयम्? यस्य कस्यचित् यस्य कस्यापि धनहीनस्य दुर्लभं दुःखेन लब्धुं शक्यं दुःखेनापि लब्धुमशक्यमिति वा, 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशात् । किं तद्वस्तुद्वयमित्यपेक्षायामाह—क्षीरमिति । एकं वस्तु क्षीरं पानार्थं मेहनानन्तरमिन्द्रियनैर्बल्यात्तद्बलार्थं क्षीरपानं युक्तम् । केचित्तु अभ्यासकाले आकर्षणार्थमित्याहुः । तस्यान्तर्गतस्य घनीभावे निर्गमनासंभवात्तदयुक्तम् । द्वितीयं तु वस्तु वशवर्तिनी स्वाधीना नारी वनिता ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथ वा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥

वज्रोलीमुद्राप्रकारमाह—मेहनेनेति । मेहनेन स्त्रीसङ्गानन्तरं बिन्दोः क्षरणेन साधनभूतेन पुरुषः पुमानथ वा नार्यपि

योषिदपि शनैर्मन्दं सम्यक् यत्नपूर्वकमूर्ध्वाकुञ्चनमूर्ध्वमुपर्याकुञ्चनं मेढ्राकुञ्चनेन बिन्दोरुपर्याकर्षणमभ्यसेद्वज्रोलीमुद्रासिद्धिमाम्नया-त्सिद्धिं गच्छेत् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकंदरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

अथ वज्रोल्याः पूर्वाङ्गप्रक्रियामाह—यत्नत इति । शस्तः प्रशस्तो यो नालस्तेन शस्तनालेन सीसकादिनिर्मितेन नालेन शनैः शनैर्मन्दं मन्दं यथाऽग्नेर्धमनार्थं फूत्कारः क्रियते तादृशं फूत्कारं वज्रकंदरे मेढ्रविवरे वायोः संचारः सम्यग्वज्रकंदरे चरणं गमनं तत्कारणात्तद्धेतोः प्रकुर्वीत प्रकर्षेण पुनः पुनः कुर्वीत । अथ वज्रोलीसाधनप्रक्रिया—सीसकनिर्मितां स्निग्धां मेढ्रप्रवेशयोग्यां चतुर्दशाङ्गुलमात्रां शलाकां कारयित्वा तस्या मेढ्रे प्रवेशनमभ्यसेत् । प्रथमदिने एकाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । द्वितीयदिने द्व्यङ्गुलमात्रां तृतीयदिने त्र्यङ्गुलमात्राम् । एवं क्रमेण वृद्धौ द्वादशाङ्गुलमात्रप्रवेशे मेढ्रमार्गः शुद्धो भवति । पुनस्तादृशीं चतुर्दशाङ्गुलमात्रां द्व्यङ्गुलमात्रव-क्रामूर्ध्वमुखां कारयित्वा तां द्वादशाङ्गुलमात्रां प्रवेशयेत् । वक्रमूर्ध्वमुखं द्व्यङ्गुलमात्रं बहिः स्थापयेत् । ततः सुवर्णकारस्य अग्निधमनसाधनीभूतनालसदृशं नालं गृहीत्वा तदग्रं मेढ्र-

प्रवेशितद्वादशाङ्गुलस्य नालस्य वक्रोर्ध्वमुखद्व्यङ्गुलमध्ये प्रवेश्य फूत्कारं कुर्यात् । तेन सम्यक् मार्गशुद्धिर्भवति । ततो जलस्य मेढ्रेणाकर्षणमभ्यसेत् । जलाकर्षणे सिद्धे पूर्वोक्तश्लोकरीत्या बिन्दोरूर्ध्वाकर्षणमभ्यसेत् । बिन्द्वाकर्षणे सिद्धे वज्रोलीमुद्रासिद्धिः । इयं जितप्राणस्यैव सिध्यति नान्यस्य । खेचरीमुद्राप्राणजयोभयसिद्धौ तु सम्यग् भवति ॥ ८६ ॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं वज्रोल्यभ्यासे सिद्धे तदुत्तरं साधनमाह—नारीभग इति । नारीभगे स्त्रीयोनौ पततीति पतन् पतंश्चासौ बिन्दुश्च पतद्बिन्दुस्तं पतद्बिन्दुं रतिकाले पतन्तं बिन्दुमभ्यासेन वज्रोलीमुद्राभ्यासेनोर्ध्वमुपर्याहरेदाकर्षयेत् । पतनात्पूर्वमेव । यदि पतनात्पूर्वं बिन्दोराकर्षणं न स्यात्तर्हि पतितमाकर्षयेदित्याह—चलितं चेति । चलितं नारीभगे पतितं निजं स्वकीयं बिन्दुं चकारात्तद्रजः ऊर्ध्वमुपर्याकृष्याहृत्य रक्षयेत् स्थापयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयेद्बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

वज्रोलीगुणानाह—एवमिति । एवमुक्तरीत्या बिन्दुं यः संरक्षयेत् सम्यग् रक्षयेत् स योगविद्योगाभिज्ञो मृत्युं

जयत्यभिभवति । यतो बिन्दोः शुक्रस्य पातेन पतनेन मरणं भवति । बिन्दोर्धारणं बिन्दुधारणं तस्माद्बिन्दुधारणाज्जीवनं भवति । तस्माद्बिन्दुं संरक्षयेदित्यर्थः ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥ ८९ ॥

सुगन्ध इति । योगिनो वज्रोल्यभ्यासिनो देहे बिन्दोः शुक्रस्य धारणं बिन्दुधारणं तस्मात्सुगन्धः शोभनो गन्धो जायते प्रादुर्भवति । देहे यावद्बिन्दुः स्थिरस्तावत्कालभयं मृत्युभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ८९ ॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

चित्तायत्तमिति । हि यस्मान्नृणां शुक्रं वीर्यं चित्तायत्तं चित्ते चले चलत्वाच्चित्ते स्थिरे स्थिरत्वाच्चित्ताधीनम् । जीवितं जीवनं शुक्रायत्तं शुक्रे स्थिरे जीवनाच्छुक्रे नष्टे मरणाच्छुक्राधीनम् । तस्माच्छुक्रं बिन्दुं मनश्च मानसं च प्रकृष्टाद्यत्नादिति प्रयत्नतः रक्षणीयमेव । अवश्यं रक्षणीयमित्यर्थः । एवशब्दो भिन्नक्रमः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं बीजं बिन्दुं च रक्षयेत् ।

ऋतुमत्या इति । एवं पूर्वोक्तेनाभ्यासेन ऋतुर्विद्यते यस्याः सा ऋतुमती तस्या ऋतुमत्या ऋतुस्नातायाः स्त्रियो रेतः निजं स्वकीयं बिन्दुं च रक्षयेत् । पूर्वोक्ताभ्यासं दर्शयति—मेढ्रेणेति । अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगो योगसाधनत्वात्तं वेत्तीत्यभ्यासयोगवित् मेढ्रेण गुह्येन्द्रियेण सम्यग्यत्नपूर्वकमूर्ध्वमुपर्याकर्षयेत् । रजो बिन्दुं चेति कर्माध्याहारः । अयं श्लोकः क्षिप्तः ॥ ९१ ॥

अथ सहजोली—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसंभवम् ॥ ९२ ॥

सहजोल्यमरोल्यौ विवक्षुस्तयोर्वज्रोलीविशेषत्वमाह—सहजोलिश्चेति । वज्रोल्या भेदो विशेषः सहजोलिरमरोलिश्च । तत्र हेतुः एकतः एकत्वादेकफलत्वादित्यर्थः । एकशब्दाद्भावप्रधानात्पञ्चम्यास्तसिः । सहजोलिमाह—जलेष्विति । गोः पुरीषाणि गोमयानि दग्धानि च तानि गोमयानि च दग्धगोमयानि तेषु संभव उत्पत्तिर्यस्य तद्दग्धगोमयसंभवं शोभनं भस्म विभूतिः तत् जले तोये निक्षिप्य तोयमिश्रं कृत्वोत्तर उत्तरश्लोकेनान्वेति ॥ ९२॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनम् ।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात् ॥९३॥

वज्रोलीति । वज्रोलीमुद्रार्थं मैथुनं तस्मादूर्ध्वमनन्तरं सुखेनैवानन्देनैवासीनयोरुपविष्टयोः क्षणाद्रत्युत्सवान्मुक्तस्त्यक्तो व्यापारो रतिक्रिया याभ्यां तौ मुक्तव्यापारौ तयोर्मुक्तव्यापारयोः स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ तयोः स्त्रीपुंसोः स्वङ्गलेपनं शोभनान्यङ्गानि स्वङ्गानि मूर्धललाटनेत्रहृदयस्कन्धभुजादीनि तेषु लेपनम् ॥ ९३ ॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥९४॥

सहजोलिरिति । इयमुक्ता क्रिया सहजोलिरिति प्रोक्ता कथिता योगिभिर्मत्स्येन्द्रादिभिः । कीदृशी ? सदा श्रद्धेया सर्वदा श्रद्धातुं योग्या । अयं सहजोल्याख्यो योग उपायः शुभकरः शुभं श्रेयः करोतीति शुभकरः, 'योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु' इत्यभिधानात् । कीदृशो योगः ? भोगेन युक्तोऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ ९४ ॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥९५॥

अयं योग इति। अयमुक्तो योगः पुण्यं विद्यते येषां ते पुण्यवन्तः सुकृतिनस्तेषां पुण्यवतां धीराणां धैर्यवतां तत्त्वं वास्तविकं पश्यन्तीति तत्त्वदर्शिनस्तेषां तत्त्वदर्शिनां मत्सरान्निष्क्रान्ता निर्मत्सरास्तेषां निर्मत्सराणामन्यगुणद्वेषरहितानाम्। 'मत्सरोऽन्यगुणद्वेषः' इत्यमरः। तादृशानां पुंसां सिध्येत सिद्धिं गच्छेत्। मत्सरशालिनां मत्सरवतां तु न सिध्येत् ॥९५॥

अथामरोली—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां
विहाय निःसारतयाऽन्त्यधाराम्।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा
कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥ ९६ ॥

अमरोलीमाह—पित्तोल्बणत्वादिति। पित्तेनोल्बणोत्कटा पित्तोल्बणा तस्या भावः पित्तोल्बणत्वं तस्मात्। यथा प्रथमा पूर्वा याऽम्बुनः शिवाम्बुनो धारा तां विहाय शिवाम्बुनिर्गमनसमये किंचित्पूर्वां धारां त्यक्त्वा। निर्गतः सारो यस्याः सा निःसारा तस्या भावो निःसारता तया निःसारतया निःसारत्वेनान्त्यधारा अन्त्या चरमा या धारा तां विहाय किंचिदन्त्यां धारां त्यक्त्वा। शीतला पित्तादिदोषसारत्वरहिता या मध्यधारा मध्यमा धारा सा निषेव्यते नितरां सेव्यते।

खण्डो योगविशेषो मतोऽभिमतो यस्य स खण्डमतस्तस्मिन् खण्डमते कापालिकस्यायं कापालिकस्तस्मिन् कापालिके खण्डकापालिकसंप्रदाय इत्यर्थः । अमरोली प्रसिद्धेति शेषः ॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यक्साऽमरोलीति कथ्यते ॥ ९७ ॥

अमरीमिति । अमरीं शिवाम्बु यः पुमान् नित्यं पिबेत् । नस्यं कुर्वन् श्वासेनामर्या घ्राणान्तर्ग्रहणं कुर्वन् सन् दिने दिने प्रतिदिनं वज्रोलीम् 'मेहनेन शनैः' इति श्लोकेनोक्तां सम्यगभ्यसेत्साऽमरोलीति कथ्यते । कापालिकैरिति शेषः । अमरी पीताऽमरी । नस्यपूर्विका वज्रोल्यमरोलीशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥ ९८ ॥

अभ्यासादिति । अभ्यासादमरोल्यभ्यासान्निःसृतां निर्गतां चान्द्रीं चन्द्रस्येयं चान्द्री तां चान्द्रीं सुधां विभूत्या भस्मना सह साकं मिश्रयेत्संयोजयेत् । उत्तमाङ्गेषु शिरःकपालनेत्रस्कन्धकण्ठहृदयभुजादिषु धारयेत् । भस्ममिश्रितां चान्द्रीमिति शेषः । दिव्या अतीतानागतवर्तमानव्यवहितविप्रकृष्टपदार्थदर्शनयोग्या दृष्टिर्यस्य स दिव्यदृष्टिर्दिव्यदृक् प्रजायते प्रकर्षेण जायते । अमरीसेवनप्रकारविशेषाः शिवाम्बुकल्पादवगन्तव्याः ॥

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात् ।
यदि नारी रजो रक्षेद्वज्रोल्या साऽपि योगिनी ॥

पुंसो वज्रोलीसाधनमुक्त्वा नार्यास्तदाह—पुंसो बिन्दुमिति । सम्यगभ्यासस्य सम्यगभ्यसनस्य पाटवं पटुत्वं तस्मात्पुंसः पुरुषस्य बिन्दुं वीर्यं समाकुञ्च्य सम्यगाकृष्य नारी स्त्री यदि रजो वज्रोल्या वज्रोलीमुद्रया रक्षेत्, सापि नारी योगिनी प्रशस्तयोगवती ज्ञेया । पुंसो बिन्दुसमायुक्तमिति पाठे तु एतद्रजसो विशेषणम् ॥ ९९ ॥

तस्याः किंचिद्रजो नाशं न गच्छति न संशयः ।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति ॥१००॥

नारीकृताया वज्रोल्याः फलमाह—तस्या इति । तस्या वज्रोल्यभ्यसनशीलाया नार्या रजः किंचित् किमपि स्वल्पमपि नाशं न गच्छति नष्टं न भवति पतनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र संशयो न संदेहो न । तस्या नार्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति मूलाधारादुत्थितो नादो हृदयोपरि बिन्दुभावं गच्छति । बिन्दुना सहैकीभवतीत्यर्थः । अमृतसिद्धौ—'बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम् । अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिः संजायते नृणाम् ॥ यदाऽभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते । बिन्दुश्चन्द्रमयः प्रोक्तो रजः

सूर्यमयं तथा ॥ अनयोः संगमादेव जायते परमं पदम् । स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुर्धर्मदोऽधर्मदस्तथा । तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः ॥' इति ॥ १०० ॥

स बिन्दुस्तद्रजश्चैव एकीभूय स्वदेहगौ ।
वज्रोल्यभ्यासयोगेन सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः ॥१०१॥

बिन्दुरिति । स पुंसो बिन्दुस्तद्रजो नार्या रजश्चैव वज्रोलीमुद्राया अभ्यासो वज्रोल्यभ्यासः स एव योगस्तेनैकीभूय मिलित्वा स्वदेहगौ स्वदेहे गतौ सर्वसिद्धिं प्रयच्छतः दत्तः ॥ १०१ ॥

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥१०२॥

रक्षेदिति । या नार्याकुञ्चनाद्योनिसंकोचनादूर्ध्वमुपरि स्थाने नीत्वा रजो रक्षेत् । हीति प्रसिद्धं योगशास्त्रे । सा योगिन्यतीतानागतं भूतं भविष्यं च वस्तु वेत्ति जानाति ध्रुवमिति निश्चितं खेऽन्तरिक्षे चरतीति खेचर्यन्तरिक्षचरी भवेत् ॥ १०२॥

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं पुण्यकरो योगो भोगे भुक्तेऽपि मुक्तिदः ॥१०३॥

देहसिद्धिमिति । वज्रोल्या अभ्यासस्य योगो युक्तिस्तस्माद्देहस्य सिद्धिं रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वरूपां लभते ।

अयं योगो वज्रोल्यभ्यासयोगः पुण्यकरोऽदृष्टविशेषजनकः । कीदृशो योगः ? भुज्यत इति भोगो विषयस्तस्मिन् भुक्तेऽपि मुक्तिदो मोक्षदः ॥ १०३ ॥

अथ शक्तिचालनम्—

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१०४॥

शक्तिचालनं विवक्षुस्तदुपोद्धाततया कुण्डलीपर्यायान् तया मोक्षद्वारविभेदनादिकं चाह सप्तभिः—कुटिलाङ्गीति । कुटिलाङ्गी १ कुण्डलिनी २ भुजंगी ३ शक्तिः ४ ईश्वरी ५ कुण्डली ६ अरुन्धती ७ चैते सप्त शब्दाः पर्यायवाचका एकार्थवाचकाः ॥ १०४ ॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥१०५॥

उद्घाटयेदिति । यथा येन प्रकारेण पुमान् कुञ्चिकया कपाटार्गलोत्सारणसाधनीभूतया हठाद्बलात्कपाटमररमुद्घाटये-दुत्सारयेत् । हठादिति देहलीदीपन्यायेनोभयत्र संबध्यते । तथा तेन प्रकारेण योगी हठाद्धठाभ्यासात्कुण्डलिन्या शक्त्या मोक्षद्वारं मोक्षस्य द्वारं प्रापकं सुषुम्णामार्गं विभेदयेद्विशेषेण भेदयेत् , 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०५ ॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ १०६ ॥

येनेति । आमयो रोगजन्यं दुःखं दुःखमात्रोपलक्षणं तस्मान्निर्गतं निरामयं दुःखमात्ररहितं ब्रह्मस्थानं ब्रह्माविर्भावजनकं स्थानं ब्रह्मस्थानं ब्रह्मरन्ध्रम्, 'तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः' इति श्रुतेः । येन मार्गेण सुषुम्णामार्गेण गन्तव्यं गमनार्हमस्ति तद्द्वारं तस्य मार्गस्य द्वारं प्रवेशमार्गं मुखेनास्येनाच्छाद्य रुद्ध्वा परमेश्वरी कुण्डलिनी प्रसुप्ता निद्रिताऽस्ति ॥ १०६ ॥

कंदोर्ध्वे कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥१०७॥

कंदोर्ध्व इति । कुण्डली शक्तिः कंदोर्ध्वे कंदस्योपरिभागे योगिनां मोक्षाय सुप्ता, मूढानां बन्धनाय सुप्ता । योगिनस्तां चालयित्वा मुक्ता भवन्ति, मूढास्तदज्ञानाद्बद्धास्तिष्ठन्तीति भावः । तां कुण्डलिनीं यो वेत्ति स योगवित् । सर्वेषां योगतन्त्राणां कुण्डल्याश्रयत्वादित्यर्थः ॥ १०७ ॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्चालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥१०८॥

कुण्डलीति। कुण्डली शक्तिः सर्पवद्भुजंगवत्कुटिल आकारः स्वरूपं यस्याः सा कुटिलाकारा परिकीर्तिता कथिता योगिभिः। सा कुण्डली शक्तिर्येन पुंसा चालिता मूलाधारादूर्ध्वं नीता स मुक्तोऽज्ञानबन्धान्निवृत्तः। अत्रास्मिन्नर्थे संशयो न संदेहो नास्तीत्यर्थः, 'तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति' इति श्रुतेः ॥ १०८ ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१०९॥

गङ्गायमुनयोरिति। गङ्गायमुनयोराधाराधेयभावेन तयोर्भावनाद्गङ्गायमुनयोरभेदेन भावनाद्वा गङ्गायमुने इडापिङ्गले तयोर्मध्ये सुषुम्णामार्गे तपस्विनीं निरशनस्थितेः, बालरण्डां बालरण्डाशब्दवाच्यां कुण्डलीं बलात्कारेण हठेन गृह्णीयात्। तत्तस्या गङ्गायमुनयोर्मध्ये ग्रहणं विष्णोर्हरेर्व्यापकस्यात्मनो वा परमं पदं परमपदप्रापकम् ॥ १०९ ॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥ ११० ॥

गङ्गायमुनादिपदार्थमाह—इडेति। इडा वामनिःश्वासा नाडी भगवत्यैश्वर्यादिसंपन्ना गङ्गा गङ्गापदवाच्या, पिङ्गला दक्षिणनिःश्वासा यमुना यमुनाशब्दवाच्या नदी। इडापिङ्गलयोर्मध्ये

मध्यगता या कुण्डली सा बालरण्डा बालरण्डाशब्द-वाच्या ॥ ११० ॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥१११॥

शक्तिचालनमाह—पुच्छ इति । सुप्तां निद्रितां भुजगीं तां कुण्डलिनीं पुच्छे प्रगृह्योद्बोधयेत्प्रबोधयेत्सा शक्तिः कुण्डली निद्रां विहाय हठादूर्ध्वं तिष्ठत इत्यन्वयः । एतद्रहस्यं तु गुरुमुखादवगन्तव्यम् ॥ १११ ॥

अवस्थिता चैव फणावती सा
प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या
प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥ ११२ ॥

अवस्थितेति । अवस्थिताऽवाक् स्थिता मूलाधारस्थिता फणावती भुजंगी सा कुण्डली सूर्यादापूर्य सूर्यात्पूरणं कृत्वा परिधाने युक्तिस्तया परिधानयुक्त्या प्रगृह्य गृहीत्वा । सायं सूर्यास्तसमये प्रातः सूर्योदयवेलायां नित्यमहरहः प्रहरस्य यामस्यार्धं प्रहरार्धं प्रहरार्धमेव प्रहरार्धमात्रं मुहूर्तद्वयमात्रं परिचालनीया परितश्चालयितुं योग्या । परिधानयुक्तिर्देशिका-द्बोध्या ॥ ११२ ॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥ ११३ ॥

कंदसंपीडनेन शक्तिचालनं विवक्षुरादौ कंदस्य स्थानं स्वरूपं चाह—ऊर्ध्वमिति । मूलस्थानाद्वितस्तिमात्रं वितस्तिप्रमाणमूर्ध्वमुपरि नाभिमेढ्रयोर्मध्ये । एतेन कंदस्य स्थानमुक्तम् । तथा चोक्तं गोरक्षशतके—'ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कंदयोनिः खगाण्डवत् । तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ॥' इति । याज्ञवल्क्यः—'गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः । देहमध्यं तनोर्मध्यं मनुजानामितीरितम् ॥ कंदस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम् । चतुरङ्गुलविस्तारमायामं च तथाविधम् ॥ अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः । चतुष्पदां तिरश्चां च द्विजानां तुन्दमध्यगम् ॥' इति । गुदाद् द्व्यङ्गुलोपर्येकाङ्गुलं मध्यं तस्मान्नवाङ्गुलं कंदस्थानं मिलित्वा द्वादशाङ्गुलप्रमाणं वितस्तिमात्रं जातम् । चतुर्णामङ्गुलीनां समाहारश्चतुरङ्गुलं चतुरङ्गुलप्रमाणं विस्तारम् । विस्तारो दैर्घ्यस्याप्युपलक्षणम् । चतुरङ्गुलं दीर्घं च मृदुलं कोमलं धवलं शुभ्रं वेष्टितं वेष्टनाकारीकृतं यदम्बरं वस्त्रं तस्य लक्षणं स्वरूपमिव लक्षणं स्वरूपं यस्य तादृशं प्रोक्तं कथितम् । कंदस्वरूपं योगिभिरिति शेषः ॥ ११३ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कंदं तत्र प्रपीडयेत् ॥ ११४ ॥

सतीति । वज्रासने कृते सति कराभ्यां हस्ताभ्यां गुल्फौ पादग्रन्थी तयोर्देशौ प्रदेशौ तयोः समीपे गुल्फाभ्यां किंचिदुपरि । 'तद्ग्रन्थी घुटिके गुल्फौ' इत्यमरः । पादौ चरणौ दृढं गाढं धारयेत् गृह्णीयात् । चकाराद्धृताभ्यां पादाभ्यां तत्र कंदस्थाने कंदं प्रपीडयेत्प्रकर्षेण पीडयेत् । गुल्फादूर्ध्वं कराभ्यां पादौ गृहीत्वा नाभेरधोभागे कंदं पीडयेदित्यर्थः ॥ ११४ ॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥ ११५ ॥

वज्रासन इति । वज्रासने स्थितो योगी कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनमुद्रां कृत्वेत्यर्थः । अनन्तरं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात् । एवंरीत्या कुण्डलीं शक्तिमाशु शीघ्रं बोधयेत्प्रबुद्धां कुर्यात् । वज्रासने शक्तिचालनस्य पूर्वं विधानेऽपि पुनर्वज्रासनोपपादनं शक्तिचालनानन्तरं भस्त्रायां वज्रासनमेव कर्तव्यमिति नियमार्थम् ॥ ११५ ॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥ ११६ ॥

भानोरिति । भानोर्नाभिदेशस्थस्य सूर्यस्याकुञ्चनं कुर्यात् । नाभेराकुञ्चनेनैवास्याकुञ्चनं भवति । ततो भानोराकुञ्चनात्कुण्डलीं शक्तिं चालयेत् । मृत्योर्वक्त्रं मुखं गतस्यापि प्राप्तास्यापि तस्य पुंसो मृत्युभयं कालभयं कुतः । न कुतोऽपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किंचित्सुषुम्णायां समुद्गता ॥११७॥

मुहूर्तद्वयमिति । मुहूर्तयोर्द्वयं युग्मं घटिकाचतुष्टयात्मकं तत्पर्यन्तं तदवधि निर्भयं निःशङ्कं चालनादसौ शक्तिः सुषुम्णायां समुद्गता सती किंचिदूर्ध्वमाकृष्यते आकृष्टा भवति ॥ ११७ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्णाया मुखं ध्रुवम् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्णां व्रजति स्वतः ॥११८॥

तेनेति । तेनोर्ध्वमाकर्षणेन कुण्डलिनी तस्याः प्रसिद्धायाः सुषुम्णाया मुखं प्रवेशमार्गं ध्रुवं निश्चितं जहाति त्यजति । तस्मान्मार्गत्यागादयं प्राणवायुः स्वतः स्वयमेव सुषुम्णां व्रजति गच्छति । सुषुम्णामुखात्प्रागेव कुण्डलिन्या निर्गतत्वादिति भावः ॥ ११८ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।
तस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ ११९ ॥

तस्मादिति । यस्माच्छक्तिचालनेन प्राणः सुषुम्णां व्रजति तस्मात्सुखेन सुप्ता सुखसुप्ता तां सुखसुप्तामरुन्धतीं शक्तिं नित्यं प्रतिदिनं संचालयेत्सम्यक् चालयेत् । तस्याः शक्तेः संचालनेनैव संचालनमात्रेण योगी रोगैः कासश्वासजरादिभिः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुक्तो भवति ॥ ११९ ॥

येन संचालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥ १२० ॥

येनेति । येन योगिना शक्तिः कुण्डली संचालिता स योगी सिद्धीनामणिमादीनां भाजनं पात्रं भवति । अत्रास्मिन्नर्थे बहुनोक्तेन बहुप्रशंसनेन किम् ? न किमपीत्यर्थः । कालं मृत्युं लीलया क्रीडयाऽनायासेनैव जयत्यभिभवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः ॥

ब्रह्मचर्येति । ब्रह्मचर्यं श्रोत्रादिभिः सहोपस्थसंयमस्तस्मिन् रतस्य तत्परस्य नित्यं सर्वदा हितं पथ्यं मितं चतुर्थांशवर्जितमश्नातीति तस्य कुण्डल्यभ्यासः शक्तिचालनाभ्यासः स एव योगः सोऽस्यास्तीति स तथा, तस्य मण्डलाच्चत्वारिंशद्दिनात्मकादनन्तरं सिद्धिः प्राणायामसिद्धिर्दृश्यते । 'नासादक्षिणमार्गवाहिपवनात्प्राणोऽतिदीर्घीकृतश्चन्द्राभः परिपूरितामृत-

तनुः प्राग्घण्टिकायास्ततः। छित्त्वा कालविशालवह्निवशगं भ्रूरन्ध्रनाडीगतं तत्कायं कुरुते पुनर्नवतरं छिन्नं ध्रुवं स्कन्धवत्' ॥ १२१ ॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥ १२२॥

कुण्डलीमिति। कुण्डलीं चालयित्वा शक्तिचालनं कृत्वा। अथानन्तरमेव भस्त्रां भस्त्राख्यं कुम्भकं कुर्यात्। नित्यं प्रतिदिनम्। एवमुक्तप्रकारेणाभ्यसतो यमिनो योगिनो यमभीर्यमाद्भयं कुतः? न कुतोऽपीत्यर्थः। योगिनो देहत्यागस्य स्वाधीनत्वादिति तात्पर्यम् ॥ १२२ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥ १२३ ॥

द्वासप्ततीति। द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि द्वासप्ततिसहस्राणि तेषां तत्संख्याकानां नाडीनां मलशोधने कर्तव्ये सति कुण्डल्यभ्यसनाच्छक्तिचालनाभ्यासादृते विना कुतः प्रक्षालनोपायः? न कुतोऽपि। शक्तिचालनाभ्यासेनैव सर्वासां नाडीनां मलशोधनं भवतीत्यभिप्रायः ॥ १२३ ॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥ १२४ ॥

इयं त्विति । इयं मध्यमा नाडी सुषुम्णा योगिनां दृढाभ्यासेनासनं स्वस्तिकादि प्राणसंयामः प्राणायामः मुद्रा महामुद्रादिका तैः सरला ऋज्वी भवेत् ॥ १२४ ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥१२५॥

अभ्यास इति । समाधिनेतरवृत्तिनिरोधरूपेणैकाग्र्येण मनो धृत्वाऽन्तःकरणं धारणानिष्ठं कृत्वाऽभ्यासे मनःस्थितौ यत्ने विगता निद्रा येषां ते तथा तेषाम् । निद्रापदमालस्योपलक्षणम् । अनलसानामित्यर्थः । रुद्राणी शांभवी मुद्रा वा अथ वा पराऽन्या उन्मन्यादिका भद्रा शुभां सिद्धिं योगसिद्धिं प्रयच्छति ददाति । एतेन हठयोगोपकारको राजयोगः प्रोक्तः ॥ १२५ ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥१२६॥

राजयोगं विना आसनादीनां वैयर्थ्यमौपचारिकश्लेषेणाह—राजयोगमिति । वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्वि-

कल्पकवृत्ती राजयोगः। हठं विना राजयोग इत्यत्र सूचितस्तत्साधनाभ्यासो वा तं विना तमृते। पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुणः राजयोगादासनं लक्ष्यते। राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धेरिति हेतुरग्रेऽपि योजनीयः। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते निशायां प्रायेण राजजनसंचाराभावात्। निशाशब्देन प्राणसंचाराभावलक्षणः कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना मुद्रा महामुद्रादिरूपा विचित्राऽपि विविधाऽपि विलक्षणाऽपि वा न राजते न शोभते। पक्षान्तरे। राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो राजसंबन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते, शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसंभवात्। राजा चन्द्रः, 'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा, इति श्रुतेः। तस्य योगं संबन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजयोगं विना नृपसंबन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्राऽपि। पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणाऽपि, निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्राऽपि, मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते ॥ १२६ ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥ १२७ ॥

मारुतस्येति । मारुतस्य वायोः सर्वं विधिं कुम्भकमुद्राविधानं मनोयुक्तं मनसा युक्तं समभ्यसेत्सम्यगभ्यसेत् । मनीषिणा बुद्धिमता पुंसा इतरत्र मारुतस्य विधेरन्यस्मिन्विषये मनोवृत्तिर्मनसो वृत्तिः प्रवृत्तिर्न कर्तव्या न कार्या ॥ १२७ ॥

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शंभुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ॥१२८॥

मुद्रा उपसंहरति—इतीति । आदिनाथेन सर्वेश्वरेण शंभुना शं सुखं भवत्यस्मादिति शंभुस्तेन । इत्युक्तरीत्या दश दशसंख्याका मुद्राः प्रोक्ताः कथिताः । तासु मुद्रासु मध्ये एकैकाऽपि प्रत्येकमपि या काचन मुद्रा यमिनां यमवतां योगिनां महासिद्धिप्रदायिन्यणिमादिप्रदात्री वा ॥ १२८ ॥

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते सांप्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ॥१२९॥

मुद्रोपदेष्टारं गुरुं प्रशंसति—उपदेशमिति । यः पुमान्मुद्राणां महामुद्रादीनां संप्रदायाद्योगिनां गुरुपरम्परारूपादागतं सांप्रदायिकमुपदेशं दत्ते ददाति, स एव स पुमानेव श्रीगुरुः श्रीमान् गुरुः सर्वगुरुभ्यः श्रेष्ठ इत्यर्थः । स्वामी प्रभुः स एव साक्षात्प्रत्यक्ष ईश्वर एव सः । ईश्वराभिन्न एव

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ॥१३०॥

तस्येति । तस्य मुद्राणामुपदेष्टुर्गुरोर्वाक्यपरो वाक्यमासनकुम्भकाद्यनुष्ठानविषयकं युक्ताहारविहारचेष्टादिविषयकं च तस्मिन् परस्तत्परः तत्परश्चादरवान् । आदरश्च विहिततपःकरणम् । भूत्वा संभूय मुद्राणां महामुद्रादीनामभ्यासः पौनःपुन्येनावर्तनं तस्मिन् मुद्राभ्यासे समाहितः सावधानः पुरुषोऽणिमादिगुणैरणिमादिसिद्धिभिः सार्धं साकं कालस्य मृत्योर्वञ्चनं प्रतारणं लभते प्राप्नोति ॥ १३० ॥

इति श्रीस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां
मुद्राविधानं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां ज्योत्स्नाभिधायां
मुद्राकथनं नाम तृतीयोपदेशः ॥ ३ ॥

P.V.S

चतुर्थोपदेशः ।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥ १ ॥

प्रथमद्वितीयतृतीयोपदेशोक्तानामासनकुम्भकमुद्राणां फलभूतं राजयोगं विवक्षुः स्वात्मारामः श्रेयांसि बहुविघ्नानीति तत्र विघ्नबाहुल्यस्य संभवात्तन्निवृत्तये शिवाभिन्नगुरुनमस्कारात्मकं मङ्गलमाचरति—नम इति । शिवाय सुखरूपायेश्वराभिन्नाय वा । तदुक्तम्—'नमस्ते नाथ भगवञ्शिवाय गुरुरूपिणे' इति । गुरवे देशिकाय, यद्वा गुरवे सर्वान्तर्यामितया निखिलोपदेष्ट्रे शिवायेश्वराय । तथा च पातञ्जलसूत्रम्—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' इति । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु । कीदृशाय शिवाय? गुरवे नादबिन्दुकलात्मने । कांस्यघण्टानिर्ह्रादवदनुरणनं नादः । बिन्दुरनुस्वारोत्तरभावी ध्वनिः । कला नादैकदेशः ता आत्मा स्वरूपं यस्य स तथा तस्मै । नादबिन्दुकलात्मना वर्तमानायेत्यर्थः । तत्र नादबिन्दुकलात्मनि शिवे गुरौ नित्यं प्रतिदिनं परायणोऽवहितः पुमान् ।

एतेन नादानुसंधानपरायण इत्युक्तम् । पूर्वपादेन गुरुशिवयोरभेदश्च सूचितः । अञ्जनं मायोपाधिस्तद्रहितं निरञ्जनं शुद्धं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं ब्रह्म याति प्राप्नोति । तथा च वक्ष्यति—नादानुसंधानसमाधिभाजमित्यादिना ॥ १ ॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥ २ ॥

समाधिक्रमं प्रतिजानीते—अथेति । अथासनकुम्भकमुद्राकथनानन्तरमिदानीमस्मिन्नवसरे समाधिक्रमं प्रत्याहारादिरूपं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण विविच्य वक्ष्यामीत्यन्वयः । कीदृशं समाधिक्रमम् ? उत्तमं श्रीआदिनाथोक्तसंपादनकोटिसमाधिप्रकारेषूत्कृष्टम् । पुनः कीदृशम् ? मृत्युं कालं हन्ति निवारयतीति मृत्युघ्नं स्वेच्छया देहत्यागजनकं तत्त्वज्ञानोदयमनोनाशवासनाक्षयैः सुखस्य जीवन्मुक्तिसुखस्योपायं प्राप्तिसाधनम् । पुनः कीदृशम् ? परं ब्रह्मानन्दकरं प्रारब्धकर्मक्षये सति जीवब्रह्मणोरभेदेनात्यन्तिकब्रह्मानन्दप्राप्तिरूपविदेहमुक्तिकरम् । तत्र निरोधः समाधिना चित्तस्य ससंस्काराशेषवृत्तिनिरोधे शान्तघोरमूढावस्थानिवृत्तौ ‘ जीवन्नेवेह विद्वान् हर्षशोकाभ्यां विमुच्यते ’ इत्यादिश्रुत्युक्तनिर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति । परममुक्तिस्तु प्राप्तभोगान्तेऽन्तःकरणगुणानां प्रतिप्रसवेनौपाधिक-

रूपात्यन्तिकनिवृत्तावात्यन्तिकं स्वरूपावस्थानं प्रतिप्रसवसिद्धम् । व्युत्थाननिरोधसमाधिसंस्कारा मनसि लीयन्ते । मनोऽस्मितायामस्मिता महति महान् प्रधान इति चित्तगुणानां प्रतिप्रसवः प्रतिसर्गः स्वकारणे लयः । ननु जीवन्मुक्तस्य व्युत्थाने ब्राह्मणोऽहं मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारदर्शनाच्चित्तादिभिरौपाधिकभावजननादम्लेन दुग्धस्येव स्वरूपच्युतिः स्यादिति चेन्न । संप्रज्ञातसमाधावनुभूतात्मसंस्कारस्य तात्त्विकत्वनिश्चयात् । अतात्त्विकान्यथाभावस्याविकारित्वाप्रयोजकत्वात् । अम्लेन दुग्धस्य दधिभावस्तु तात्त्विक इति दृष्टान्तवैषम्याच्च । पुरुषस्य त्वन्तःकरणोपाधिकोऽहं ब्राह्मण इत्यादिव्यवहारः स्फटिकस्य जपाकुसुमसंनिधानोपाधिरूपक एव न तात्त्विकः । जपाकुसुमापगमे स्फटिकस्य स्वस्वरूपस्थितिवदन्तःकरणस्य सकलवृत्तिनिरोधे स्वरूपावस्थितिरच्युतैव पुरुषस्य ॥ २ ॥

राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

समाधिपर्यायान्विशेषेणाह—राजयोग इत्यादिना श्लोकद्वयेन । स्पष्टम् ॥ ३, ४ ॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ ५ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥ ६ ॥
तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रणष्टसर्वसंकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥ ७ ॥

त्रिभिः समाधिमाह—सलिल इति । यद्वद्यथा सैन्धवं सिन्धुदेशोद्भवं लवणं सलिले जले योगतः संयोगात्साम्यं सलिलसाम्यं सलिलैक्यं भजति प्राप्नोति, तथा तद्वदात्मा च मनश्चात्ममनसी तयोरात्ममनसोरैक्यमेकाकारता । आत्मनि धारितं मन आत्माकारं सदात्मसाम्यं भजति तादृशमात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते समाधिशब्देनोच्यत इत्यर्थः ॥ ५—७ ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

अथ राजयोगप्रशंसा—राजयोगस्येति । राजयोगस्यानन्तरमेवोक्तस्य माहात्म्यं प्रभावं तत्त्वतो वस्तुतः को वा जानाति ? न कोऽपि जानातीत्यर्थः । तत्त्वतो वक्तुमशक्यत्वेऽप्येकदेशेन राजयोगप्रभावमाह—ज्ञानं स्वस्वरूपापरो-

क्षानुभवो मुक्तिर्विदेहमुक्तिः स्थितिर्निर्विकारस्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिः सिद्धिरणिमादिर्गुरुवाक्येन गुरुवचसा लभ्यते। राजयोगादिति शेषः ॥ ८ ॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ ९ ॥

दुर्लभ इति। विशेषेण सिण्वन्त्यवबध्नन्ति प्रमातारं स्वसङ्गेनेति विषया ऐहिका दारादय आमुष्मिकाः सुधादयस्तेषां त्यागो भोगेच्छाभावो दुर्लभः। तत्त्वदर्शनमात्मापरोक्षानुभवः दुर्लभं सहजावस्था तुर्यावस्था सद्गुरोः 'दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यम्' इति वक्ष्यमाणलक्षणस्य करुणां दयां विनेति सर्वत्र संबध्यते। दुर्लभा लब्धुमशक्या। 'दुः स्यात्कष्टनिषेधयोः' इति कोशः। गुरुकृपया तु सर्वं सुलभमिति भावः ॥ ९ ॥

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥ १० ॥

विविधैरिति। विविधैरनेकविधैरासनैर्मत्स्येन्द्रादिपीठैर्विचित्रैर्नानाविधैः कुम्भकैः। विचित्रैरिति काकाक्षिगोलकन्यायेनोभयत्र संबध्यते। विचित्रैरनेकप्रकारकैः करणैर्हठसिद्धौ प्रकृष्टोपकारकैर्महामुद्रादिभिर्महाशक्तौ कुण्डलिन्यां प्रबुद्धायां गत-

निद्रायां सत्यां प्राणो वायुः शून्ये ब्रह्मरन्ध्रे प्रलीयते प्रलयं प्राप्नोति । व्यापाराभावः प्राणस्य प्रलयः ॥ १० ॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥ ११ ॥

उत्पन्नेति । उत्पन्नो जातः शक्तिबोधः कुण्डलीबोधो यस्य तस्य त्यक्तानि परिहृतानि निःशेषाणि समग्राणि कर्माणि येन तस्य योगिनः । आसनेन कायिकव्यापारे त्यक्ते प्राणेन्द्रियेषु व्यापारस्तिष्ठति । प्रत्याहारधारणाध्यानसंप्रज्ञातसमाधिभिर्मानसिकव्यापारे त्यक्ते बुद्धौ व्यापारस्तिष्ठति । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' इति श्रुतेरपरिणामी शुद्धपुरुषः सत्त्वगुणात्मिका परिणामिनी बुद्धिरिति ॥ ११ ॥

सुषुम्णावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥१२॥

परवैराग्येण दीर्घकालसंप्रज्ञाताभ्यासेनैव वा बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति । सैव सहजावस्था तुर्यावस्था जीवन्मुक्तिः स्वयमेव प्रयत्नान्तरं विनैव प्रजायते प्रादुर्भवति, 'येन त्यजसि तत्त्यज' इति 'निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्' इति च श्रुतेः । सुषुम्णेति । प्राणे वायौ सुषुम्णावाहिनि मध्यनाडीप्रवाहिनि सति मानसेऽन्तःकरणे शून्ये देशकालवस्तु-

परिच्छेदहीने ब्रह्मणि विशति सति तदा तस्मिन् काले योगविच्चित्तवृत्तिनिरोधज्ञः सर्वाणि कर्माणि समारब्धानि निर्मूलानि करोति निर्मूलयति । निर्मूलशब्दात् 'तत्करोति' इति णिच् ॥ १२ ॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥ १३ ॥

समाध्यभ्यासेन प्रारब्धकर्मणोऽप्यभिभवाज्जितकालं योगिनं नमस्करोति—अमरायेति । न म्रियत इत्यमरः तस्मा अमराय चिरंजीविने तुभ्यं योगिने नमः । सोऽपि दुर्वारोऽपि कालो मृत्युस्त्वया योगिना जितोऽभिभूतः । इदं वाक्यं नमस्करणे हेतुः । स कः ? यस्य कालस्य वदने मुखे एतद् दृश्यमानं चराचरं स्थावरजङ्गमं जगत्संसारः पतितः । सोऽपि जगद्भक्षकोऽपीत्यर्थः ॥ १३ ॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥ १४ ॥

पूर्वोक्तममरोल्यादिकं समाधिसिद्धावेव सिध्यतीति समाधिनिरूपणानन्तरं समाधिसिद्धौ तत्सिद्धिरित्याह—चित्त इति । चित्तेऽन्तःकरणे समत्वं ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहत्वम् आपन्ने प्राप्ते सति वायौ प्राणे मध्यमे सुषुम्णायां व्रजति सतीति चित्तसमत्वे

हेतुः । तदा तस्मिन् काले अमरोली वज्रोली सहजोली च पूर्वोक्ताः प्रजायन्ते । नाजितप्राणस्य न चाजितचित्तस्य सिध्यन्तीति भावः ॥ १४ ॥

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह ताव-
त्प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथंचिदन्यः ॥ १५ ॥

हठाभ्यासं विना ज्ञानं मोक्षश्च सिध्यतीत्याह—ज्ञानमिति । यावत्प्राणो जीवति । अपि शब्दादिन्द्रियाणि जीवन्ति न तु म्रियन्ते । यावन्मनो न म्रियते किं तु जीवत्येव । इडापिङ्गलाभ्यां वहनं प्राणस्य जीवनं स्वस्वविषयग्रहणमिन्द्रियाणां जीवनं नानाविषयाकारवृत्त्युत्पादनं मनसो जीवनं तत्तद्भावतत्तन्मरणमत्र विवक्षितम् । ननु स्वरूपतस्तेषां नाशस्तावन्मनस्यन्तःकरणे ज्ञानमात्मापरोक्षानुभवः कुतः संभवति न । कर्ताऽपि प्राणेन्द्रियमनोवृत्तीनां ज्ञानप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । प्राणो मनः इदं द्वयं यो योगी विलयं नाशं नयेत्स मोक्षमात्यन्तिकस्वरूपावस्थानलक्षणं गच्छति प्राप्नोति । ब्रह्मरन्ध्रे निर्व्यापारस्थितिः प्राणस्य लयः, ध्येयाकारावेशात् । विषयान्तरेणापारेण मनसो लयोऽन्यः । अलीनप्राणोऽलीन-

मनाश्च कथंचिदुपायशतेनापि न मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः । तदुक्तं योगबीजे—'नानाविधैर्विचारैस्तु न साध्यं जायते मनः । तस्मात्तस्य जयः प्रायः प्राणस्य जय एव हि ॥' इति, नानामार्गैः सुखदुःखप्रायं कैवल्यं परमं पदं सिद्धमार्गेण लभ्येत नान्यथा शिवभाषितमिति च । सिद्धमार्गो योगमार्गः । एतेन योगं विना ज्ञानं मोक्षश्च न सिध्यतीति सिद्धम् । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु चेदं प्रसिद्धम् । तथा हि—'अथ तद्दर्शनाभ्युपायो योगः' इति । तद्दर्शनमात्मदर्शनम् । 'अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' इति । 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति । 'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् । तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् । अप्रमत्तस्तदा भवति' इति । 'यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दयोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् । अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः' । 'ब्रह्मणे त्वा महस ओमित्यात्मानं युञ्जीत' इति । 'त्रिरुन्नतः स्थाप्य समशरीरः हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य । ब्रह्माहृयेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांऽसि सर्वाणि भयावहानि' इति । 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' इत्याद्याः श्रुतयः । यतिधर्मप्रकरणे मनुः—'भूतभाव्यानवेक्षेत योगेन परमात्मनः । देहद्वयं विहायाशु मुक्तो भवति बन्धनात्' । याज्ञ-

वल्क्यस्मृतौ—‘ इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ’ । महर्षिमातङ्गः—‘ अग्निष्टोमादिकान्सर्वान्विहाय द्विजसत्तमः । योगाभ्यासरतः शान्तः परं ब्रह्माधिगच्छति ’ । ‘ ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम् । शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये ’ । दक्षस्मृतौ व्यतिरेकमुखेणोक्तम्—‘ स्वसंवेद्यं हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा । अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम् ’ इत्याद्याः स्मृतयः । महाभारते योगमार्गे व्यासः—‘ अपि वर्णावकृष्टस्तु नारी वा धर्मकाङ्क्षिणी । तावप्येतेन मार्गेण गच्छेतां परमां गतिम् ॥ यदि वा सर्वधर्मज्ञो यदि वाऽप्यकृती पुमान् । यदि वा धार्मिकः श्रेष्ठो यदि वा पापकृत्तमः ॥ यदि वा पुरुषव्याघ्रो यदि वा क्लैब्यधारकः । नरः सेव्य महादुःखं जरामरणसागरम् । अपि जिज्ञासमानोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ’ इति । भगवद्गीतायाम्—‘ युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः । शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति । यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् ’ इत्यादि च । आदित्यपुराणे—‘ योगात्संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता ’ । स्कान्दपुराणे—‘ आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि । स च योगश्चिरं कालमभ्यासादेव सिध्यति ’ । कूर्मपुराणे शिववाक्यम्—‘ अतः परं प्रवक्ष्यामि

योगं परमदुर्लभम् । येनात्मानं प्रपश्यन्ति भानुमन्तमिवेश्वरम् ॥ योगाग्निर्दहति क्षिप्रमशेषं पापपञ्जरम् । प्रसन्नं जायते ज्ञानं ज्ञानान्निर्वाणमृच्छति' । गरुडपुराणे—'तथा यतेत मतिमान्यथा स्यान्निर्वृत्तिः परा । योगेन लभ्यते सा तु न चान्येन तु केनचित् ॥ भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् । परावरप्रसक्ता धीर्यस्य निर्वेदसंभवा ॥ स च योगाग्निना दग्धसमस्तक्लेशसंचयः । निर्वाणं परमं नित्यं प्राप्नोत्येव न संशयः ॥ संप्राप्तयोगसिद्धिस्तु पूर्णो यस्त्वात्मदर्शनात् । न किंचिद् दृश्यते कार्यं तेनैव सकलं कृतम् ॥ आत्मारामः सदा पूर्णः सुखमात्यन्तिकं गतः । अतस्तस्यापि निर्वेदः परानन्दमयस्य च ॥ तपसा भावितात्मानो योगिनः संयतेन्द्रियाः । प्रतरन्ति महात्मानो योगेनैव महार्णवम्' ॥ विष्णुधर्मेषु—'यच्छ्रेयः सर्वभूतानां स्त्रीणामप्युपकारकम् । अपि कीटपतङ्गानां तन्नः श्रेयः परं वद ॥ इत्युक्तः कपिलः पूर्वं देवैर्देवर्षिभिस्तथा । योग एव परं श्रेयस्तेषामित्युक्तवान् पुरा' ॥ वासिष्ठे—'दुःसहा राम संसारविषवेगविषूचिका । योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशाम्यति' ॥ ननु तत्त्वमस्यादिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमाणं भवतीति किमर्थमतिश्रमसाध्ये योगे प्रयासः कार्यः । न च वाक्यजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वे प्रमाणासंभव

अपरोक्षविषयकत्वात् चाक्षुषघटादिप्रत्यक्षवदित्यनुमानस्य प्रमाणत्वात् । न च विषयगतापरोक्षत्वस्य नीरूपत्वाद्धेत्वसिद्धिरिति वाच्यम् । अज्ञानविषयचित्त्वतत्तादात्म्यापन्नत्वान्यतररूपस्य तस्य सुनिरूपत्वात् । यथा हि घटादौ चक्षुःसंनिकर्षेणान्तःकरणवृत्तिदशायां तदधिष्ठानचैतन्यज्ञाननिवृत्तौ तच्चैतन्यस्याज्ञानविषयता तद्धटस्याज्ञानविषयचैतन्यतादात्म्यापन्नत्वं चापरोक्षत्वम्, तथा तत्त्वमस्यादिवाक्येन शुद्धचैतन्याकारान्तःकरणवृत्त्युत्थापने सति तदज्ञानस्य निवृत्तत्वेनैव तत्त्वस्याज्ञानविषयत्वाच्चैतन्यस्यापरोक्षत्वमिति न हेत्वसिद्धिः । न चाप्रयोजकत्वं ज्ञानगम्यत्वापरोक्षत्वं प्रत्यक्षपरोक्षविषयकत्वेन प्रयोजकत्वात् । न त्विन्द्रियजन्यत्वं मनस इन्द्रियत्वाभावेन सुखादिपरत्वे व्यभिचारात् । अथ वाऽभिव्यक्तचैतन्याभिन्नतयाऽऽभासमानत्वं विषयस्यापरोक्षत्वम् । अभिव्यक्तत्वं च निवृत्तावरणकत्वं परोक्षवृत्तिस्थले वाऽऽवरणनिवृत्त्यभावान्नातिव्याप्तिः । सर्पादिभ्रमजनकदोषवतस्तु नायं सर्पः किं तु रज्जुरिति वाक्येन जायमाना वृत्तिस्तु नावरणं निवर्तयतीति तत्र परोक्ष एव विषयः । वेदान्तवाक्यजन्यं च ज्ञानमावरणनिवर्तकत्वादपरोक्षमेव । तन्मननादेः पूर्वमुत्पन्नम्, ज्ञाननिवर्तकप्रमाणासंभावनादिदोषसामान्याभावविशिष्टस्यैव तस्याज्ञाननिवर्तकत्वात् । किं च 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं

पृच्छामि' इति श्रुतिप्रतिपन्नमुपनिषन्मात्रगम्यत्वं योगगम्यत्वेनोपपन्नं स्यात्। तस्मात्तत्त्वमस्यादिवाक्यादेवापरोक्षमिति चेन्न। अनुमानस्याप्रयोजकत्वात्। न च प्रत्यक्षं प्रति निरुक्ताक्षसामान्यं प्रतीन्द्रियत्वेन कारणतया तज्जन्यत्वस्यैव प्रयोजकत्वान्नित्यानित्यसाधारणप्रत्यक्षत्वे तु न किंचित्प्रयोजकत्वमिति तन्मते तु प्रत्यक्षविशेषे इन्द्रियं कारणं तद्विशेषे च शब्दविशेष इत्येवं कार्यकारणभावद्वयं स्यात्। न च मनसोऽनिन्द्रियत्वं मनस इन्द्रियत्वे बाधकाभावादिन्द्रियाणां मनो नाथ इति मनुष्यमिवोद्दिश्य मनुष्याणामयं राजेत्यादिवदिन्द्रियेष्वेव किंचिदुत्कर्षं ब्रवीति। न तु तस्याप्यनिन्द्रियत्वं तत्त्वं च षट्स्वखण्डोपाधिविशेष एव। अत एव 'कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादि धीन्द्रियम्' इति 'प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रियम्' इति च शक्तिप्रमाणभूतकोशेऽपीन्द्रियाप्रमाणकज्ञानस्याप्रत्यक्षत्वं वदन् मनस इन्द्रियत्वज्ञापकत्वं संगच्छते। 'इन्द्रियाणि दशैकं च' इति गीतावचनं मनस इन्द्रियत्वे प्रमाणम्। किं च तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यं ज्ञानं शाब्दम्, शब्दजन्यत्वाद्यजेतेत्यादिवाक्यज्ञानवदित्यनेनापरोक्षविरोधिशाब्दत्वसाधकत्वे सत्प्रतिपक्षः। न चेदमप्रयोजकम्, शाब्दं प्रत्येव शब्दस्य जनकत्वेन लाघवमूलकानुकूलतर्कात्। त्वन्मते तु शब्दादपि प्रत्यक्षस्वीकारेण

कार्यकारणभावद्वयकल्पने गौरवम् । अपि च मननिदिध्यासनाभ्यां पूर्वमप्युत्पन्नम् । तव मते परोक्षमपि नाज्ञाननिवर्तकमित्यज्ञाननिवृत्तिं प्रति बाधज्ञानत्वेनैव हेतुत्वमिति गौरवम् । मम तु समाध्यभ्यासपरिपाकेणासंभावनादिसकलमलरहितेनान्तःकरणेनात्मनि दृष्टे सति दर्शनमात्रादेवाज्ञाने निवृत्ते न कश्चिद्गौरवावकाशः । 'एषु सर्वेषु भूतेषु गूढोऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' ॥ 'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः' इत्यारभ्याज्ञाननिवृत्त्यर्थकेन 'मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' इत्यन्तेन कठवल्लीस्थमृत्यूपदेशेन संमतोऽयमर्थ इति न कश्चिदत्र विवाद इति । यदि तु मननादेः पूर्वमुत्पन्नं ज्ञानं परोक्षमेवेति न प्रतिबद्धत्वकृतगौरवमिति मतमाद्रियते तदपि श्रवणादिभिर्मनःसंस्कारे सिद्धेऽव्यवहितोत्तरमात्मदर्शनसंभवात्तदुत्तरं वाक्यस्मरणादिकल्पनं महद्गौरवापादकमेव । ननु न वयं केवलेन तर्केण शब्दजन्यज्ञानस्यापरोक्षत्वं वदामः किं तु श्रुत्याऽपि । तथा हि— तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' इति श्रुत्या चौपनिषदत्वं पुरुषस्य नोपनिषज्जन्यबुद्धिविषयत्वमात्रं प्रत्यक्षादिगम्येऽप्यौपनिषदत्वव्यवहारापत्तेः । यथा हि द्वादशकपालेऽष्टानां कपालानां सत्त्वेऽपि द्वादशकपालसंस्कृते नाष्टाकपालादिव्यवहारः यथा द्विपुत्रादावेकपुत्रादिव्यहारः, तथाऽत्रापि नान्यत्र तथा

व्यवहार इति। उपनिषन्मात्रगम्यत्वमेव प्रत्ययार्थः। तच्च मनोगम्यत्वेऽनुपपन्नमिति चेन्न। न हि प्रत्ययेनोपनिषद्भिन्नं सर्वं कारणत्वेन व्यावर्त्यते। शब्दापरोक्षवादिना त्वयाऽप्यात्मापरोक्षे मनआदीनां करणत्वस्याङ्गीकारात्। किं तु पुराणादिशब्दान्तरमेव 'श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः' इति स्मरणात्स चार्थो ममापि संमत इति न किंचिदेतत्। प्रमाणान्तरव्यावृत्तौ तात्पर्यकल्पनं चात्मापरोक्षे शब्दस्य प्रमाणत्वे सिद्ध एव वक्तुमुचितम्। शब्दान्तरव्यावृत्तितात्पर्यं तु श्रुत्यादिसंमतत्वात्कल्पयितुमुचितमेव। एवं स्थिते 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' इत्यादिश्रुतयोऽप्याञ्जस्येन प्रतिपादिता भवेयुः। यत्तु कैश्चिदुक्तं दर्शनवृत्तिं प्रति मनोमात्रस्योपादानत्वपरायत्ताः श्रुतयो न विरुध्यन्त इति तदतीव विचारासहम्। यतः प्रमाणाकाङ्क्षायां प्रवृत्तास्ताः कथमुपादानपरा भवेयुः। 'कामः संकल्पो विचिकित्सा—' इत्यादिश्रुत्या सावधारणया सर्वासां वृत्तीनां मनोमात्रोपादानकत्वे बोधिते आकाङ्क्षाभावेनोपादानतात्पर्यकत्वेन वर्णयितुं कथं शक्येरन्। पूर्वं द्वितीयवल्ल्यां प्रणवस्य ब्रह्मबोधकत्वेनोक्तेस्तस्याप्यपरोक्षहेतुत्वमिति शङ्कां निवारयितुं मनसैवानुद्रष्टव्यमित्यादि सावधारणवाक्यानीत्येव वर्णयितुं शक्यानि स्युरित्यलमतिवाग्जालेन। वस्तुतस्तु योगिनां समाधौ दूरविप्रकृष्टपदार्थज्ञानं सर्वशास्त्रप्रसिद्धं न परोक्षम्,

तदानीं परोक्षसामग्र्यभावात् । नापि स्मरणं तेषां पूर्वं विशिष्यानुभवात् । नापि सुखादिज्ञानवत्साक्षिरूपम् , अपसिद्धान्तात् । नाप्यप्रमाणकं प्रमासामान्ये कारणनियमात् । नापि चक्षुरादिजन्यं तेषामसंनिकर्षात् । तस्मान्मानसिकी प्रमैव सा वाच्येति मनस इन्द्रियत्वं प्रमाणत्वं च दुरापह्नवमेवेति । येऽपि योगश्रुत्योः समुच्चयं कल्पयन्ति तेषामपि पूर्वोक्तदूषणगणस्तदवस्थ एव । तस्माद्योगजन्यसंस्कारसचिवमनोमात्रगम्य आत्मेति सिद्धम् । न च कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमाणत्वप्रसङ्गः, अबाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाभावाच्च । कामिनीसाक्षात्कारस्य तु बाधितविषयत्वाद्दोषजन्यत्वाच्चाप्रामाण्यं न भावनाजन्यत्वात् । न च भावनासमाधेर्ज्ञापकत्वे प्रमाणान्तरापातः । तस्या मनःसहकारित्वात्प्रमाणनिरूपणानिपुणैर्नैयायिकादिभिरपि योगजप्रत्यक्षस्यालौकिकप्रत्यक्षेऽन्तर्भावः कृतः । योगजालौकिकसंनिकर्षेण योगिनो व्यवहितविप्रकृष्टसूक्ष्मार्थमात्मानमपि यथार्थं पश्यन्ति । तथा च पातञ्जले सूत्रे—‘ ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा । श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।’ तत्र समाधौ या प्रज्ञाऽस्याः श्रुतं श्रवणं शाब्दबोधः, अनुमननमनुमानं यौक्तिकज्ञानं तद्रूपप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विषयाः । कुतः ? विशेषार्थत्वात् । विशेषो निर्वि-

कल्पोऽर्थो विषयो यस्याः सा तथा तस्या भावस्तथात्वं तस्माच्छब्दस्यापदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैवानुमानस्य व्यापकत्वावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणे योग्यविशेष्यमात्रपरत्वादित्यर्थः । अत्र बादरायणकृतं भाष्यम्— श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं न ह्यागमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मान्न हि विशेषेण कृतसंकेतः शब्द इत्यारभ्य समाधिप्रज्ञानिर्ग्राह्य एव सविशेषो भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वेति । योगबीजे—'ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः । विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये' ॥ किं च, 'तदेव सक्तः सह कर्मणेति । लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य' इति श्रुतेः, 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' इति स्मृतेश्च देहावसानसमये यत्र रागाद्युद्बुद्धो भवति तामेव योनिं जीवः प्राप्नोतीति योगहीनस्य जन्मान्तरं स्यादेव मरणसमये समुद्भूतवैक्लब्यस्यायोगिना वारायितुमशक्यत्वात् । तदुक्तं योगबीजे—'देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् । तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥ देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः । तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जपश्च केवलं श्रमः ॥ पिपीलिका यदा लग्ना देहे ज्ञानाद्विमुच्यते । असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो

ध्यात्मभावनया मोक्ष एवेति न स्याज्जन्मान्तरम्। तदुक्तं भगवता—'प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव' इत्यादिना। 'शतं चैका च हृदयस्य नाड्यः' इत्यादि श्रुतेश्च। न च तत्त्वमस्यादिवाक्यस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वे तद्विचारस्य वैयर्थ्यमेवेति शङ्क्यम्, वाक्यविचारजन्यज्ञानस्य योगद्वाराऽपरोक्षज्ञानसाधनत्वात्। अत्र च योगबीजे गौरीश्वरसंवादो महानस्ति ततः किंचिल्लिख्यते। देव्युवाच—'ज्ञानिनस्तु मृता ये वै तेषां भवति कीदृशी। गतिः कथय देवेश कारुण्यामृतवारिधे'॥ ईश्वर उवाच—'देहान्ते ज्ञानिना पुण्यात्पापात्फलमवाप्यते। यादृशं तु भवेत्तत्तद्भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत्॥ पश्चात्पुण्येन लभते सिद्धेन सह सङ्गतिम्। ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा॥ ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम्'॥ देव्युवाच—'ज्ञानादेव हि मोक्षं च वदन्ति ज्ञानिनः सदा। न कथं सिद्धयोगेन योगः किं मोक्षदो भवेत्'॥ ईश्वर उवाच—'ज्ञानेनैव हि मोक्षो हि तेषां वाक्यं तु नान्यथा। सर्वे वदन्ति खड्गेन जयो भवति तर्हि किम्॥ विना युद्धेन वीर्येण कथं जयमवाप्नुयात्। तथा योगेन रहितं ज्ञानं मोक्षाय नो भवेत्'। ननु जनकादीनां योगमन्तरेणाप्यप्रतिबद्धज्ञानमोक्षयोः श्रवणात्कथं योगादेवाप्रति-

बद्धज्ञानं मोक्षश्चेति चेत्। उच्यते—तेषां पूर्वजन्मानुष्ठितयोगजसंस्काराज्ज्ञानप्राप्तिरिति पुराणादौ श्रूयते। तथा हि—
'जैगीषव्यो यथा विप्रो यथा चैवासितादयः। क्षत्रिया जनकाद्यास्तु तुलाधारादयो विशः॥ संप्राप्ताः परमां सिद्धिं पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः। धर्मव्याधादयः सप्त शूद्राः पैलवकादयः॥ मैत्रेयी सुलभा शार्ङ्गी शाण्डिली च तपस्विनी। एते चान्ये च बहवो नीचयोनिगता अपि। ज्ञाननिष्ठां परां प्राप्ताः पूर्वाभ्यस्तस्वयोगतः॥' इति। किं च पूर्वजन्मानुष्ठितयोगाभ्यासपुण्यतारतम्येन केचिद्ब्रह्मत्वं केचिद्ब्रह्मपुत्रत्वं केचिद्देवर्षित्वं केचिद्ब्रह्मर्षित्वं केचिन्मुनित्वं केचिद्भक्तत्वं च प्राप्ताः सन्ति। तत्रोपदेशमन्तरेणैवात्मसाक्षात्कारवन्तो भवेयुः। तथा हि—हिरण्यगर्भवसिष्ठनारदसनत्कुमारवामदेवशुकादयो जन्मसिद्धा इत्येव पुराणादिषु श्रूयते। यत्तु ब्राह्मण एव मोक्षाधिकारीति श्रूयते पुराणादौ तदयोगिपरम्। तदुक्तं गरुडपुराणे—'योगाभ्यासो नृणां येषां नास्ति जन्मान्तराहृतः। योगस्य प्राप्तये तेषां शूद्रवैश्यादिकक्रमः॥ स्त्रीत्वाच्छूद्रत्वमभ्येति ततो वैश्यत्वमाप्नुयात्। ततश्च क्षत्रियो विप्रः क्रुपाहीनस्ततो भवेत्॥ अनूचानः स्मृतो यज्वा कर्मन्यासी ततः परम्। ततो ज्ञानित्वमभ्येति योगी मुक्तिं क्रमाल्लभेत्॥' इति।

योगे सर्वाधिकारश्रवणाद्योगोत्पन्नतत्त्वज्ञानेन सर्व एव मुच्यन्त इति सिद्धम्। योगिनस्तु भ्रष्टस्यापि न शूद्रादिक्रमः। 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते। अथ वा योगिनामेव' इत्यादिभगवद्वचनादित्यलम् ॥ १५ ॥

ज्ञात्वा सुषुम्णासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम्।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥१६॥

प्राणमनसोर्लयं विना मोक्षो न सिध्यतीत्युक्तम्। तत्र प्राणलयेन मनसोऽपि लयः सिध्यतीति तल्लयरीतिमाह—ज्ञात्वेति। सदैव सर्वदैव सुस्थाने शोभने स्थाने 'सुराज्ये धार्मिके देशे' इत्याद्युक्तलक्षणे स्थित्वा स्थितिं कृत्वा वसतिं कृत्वेत्यर्थः। सुषुम्णा मध्यनाडी तस्याः सद्भेदं शोभनं भेदनप्रकारं ज्ञात्वा गुरुमुखाद्विदित्वा वायुं प्राणं मध्यगं मध्यनाडीसंचारिणं कृत्वा ब्रह्मरन्ध्रे मूर्धावकाशे निरोधयेन्नितरां रुद्धं कुर्यात्। प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रे निरोधो लयः प्राणलये जाते मनोऽपि लीयते। तदुक्तं वासिष्ठे—'अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते। मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥' इति। प्राणमनसोर्लये सति भावनाविशेषरूपसमाधिसहकृतेनान्तःकरणेनाबाधितात्मसाक्षात्कारो भवति, तदा जीवन्नेव मुक्तः पुरुषो भवति ॥ १६ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिंदिवात्मकम् ।
भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥ १७ ॥

प्राणलये कालजयो भवतीत्याह—सूर्याचन्द्रमसाविति। सूर्यश्च चन्द्रमाश्च सूर्याचन्द्रमसौ । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ् । रात्रिश्च दिवा च रात्रिंदिवम् । 'अचतुर—' इत्यादिना निपातितः । रात्रिंदिवमात्मा स्वरूपं यस्य स रात्रिंदिवात्मकस्तं रात्रिंदिवात्मकं कालं समयं धत्तो विधत्तः कुरुतः । सुषुम्णा सरस्वती कालस्य सूर्याचन्द्रमोभ्यां कृतस्य रात्रिंदिवात्मकस्य समयस्य भोक्त्री भक्षिका विनाशिका । एतद्गुह्यं रहस्यमुदाहृतं कथितम् । अयं भावः—सार्धं घटिकाद्वयं सूर्यो वहति सार्धं घटिकाद्वयं चन्द्रो वहति । यदा सूर्यो वहति तदा दिनमुच्यते । यदा चन्द्रो वहति तदा रात्रिरुच्यते । पञ्चघटिकामध्ये रात्रिंदिवात्मकः कालो भवति । लौकिकाहोरात्रमध्ये योगिनां द्वादशाहोरात्रात्मकः कालव्यवहारो भवति । तादृशकालमानेन जीवानामायुर्मानमस्ति । यदा सुषुम्णामार्गेण वायुर्ब्रह्मरन्ध्रे लीनो भवति तदा रात्रिंदिवात्मकस्य कालस्याभावादुक्तं भोक्त्री सुषुम्णा कालस्येति । यावद्ब्रह्मरन्ध्रे वायुर्लीयते तावद्योगिन आयुर्वर्धते । दीर्घकालाभ्यस्तसमाधिर्योगी पूर्वमेव मरणकालं ज्ञात्वा ब्रह्मरन्ध्रे वायुं नीत्वा कालं निवारयति स्वेच्छया देहत्यागं च करोतीति ॥ १७ ॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ।
सुषुम्णा शांभवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थकाः ॥१८॥

द्वासप्ततीति । पञ्जरे पञ्जरवत्सिरास्थिभिर्बद्धे शरीरे द्वाभ्यामधिका सप्ततिः द्वासप्ततिः द्वासप्ततिसंख्याकानि सहस्राणि नाडीनां सिराणां द्वाराणि वायुप्रवेशमार्गाः सन्ति । सुषुम्णा मध्या नाडी शांभवी शक्तिरस्ति । शं सुखं भवत्यस्माद्भक्तानामिति शंभुरीश्वरस्तस्येयं शांभवी, ध्यानेन शंभुप्रापकत्वात् , शंभोराविर्भावजनकत्वाद्वा शांभवी । यद्वा शं सुखरूपो भवति तिष्ठतीति शंभुरात्मा तस्येयं शांभवी । चिदभिव्यक्तिस्थानत्वाद्ध्यानेनात्मसाक्षात्कारहेतुत्वाच्च । शेषा इडापिङ्गलादयस्तु निरर्थका एव निर्गतोऽर्थः प्रयोजनं यासां ता निरर्थकाः, पूर्वोक्तप्रयोजनाभावात् ॥ १८ ॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।
बोधयित्वा सुषुम्णायां प्रविशेदनिरोधतः ॥ १९ ॥

वायुरिति । यस्मात्परिचितोऽभ्यस्तो वायुस्तस्मादग्निना जठराग्निना सह कुण्डलीं शक्तिं बोधयित्वा अनिरोधतोऽप्रतिबन्धात्सुषुम्णायां सरस्वत्यां प्रविशेत् वायोः सुषुम्णाप्रवेशार्थमभ्यासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

सुषुम्णावाहिनि प्राणे सिध्यत्येव मनोन्मनी ।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥

सुषुम्णेति । प्राणे सुषुम्णावाहिनि सति मनोन्मनी उन्मन्यवस्था सिध्यत्येव । अन्यथा प्राणे सुषुम्णावाहिन्यसति तु इतराभ्यासाः सुषुम्णेतराभ्यासाः योगिनां योगाभ्यासिनां प्रयासायैव श्रमायैव भवन्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥ २१ ॥

पवन इति । येन योगिना पवनः प्राणवायुर्बध्यते बद्धः क्रियते तेनैव योगिना मनो बध्यते । येन मनो बध्यते तेन पवनो बध्यते । मनःपवनयोरेकतरे बद्धे उभयं बद्धं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तौ द्वावपि विनश्यतः ॥ २२ ॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्येति । चित्तस्य प्रवृत्तौ हेतुद्वयं कारणद्वयमस्ति, किं तदित्याह । वासना भावनाख्यः संस्कारः समीरणः प्राणवायुश्च तयोर्वासनासमीरणयोरेकस्मिन्विनष्टे सति क्षीणे सति तौ द्वावपि विनश्यतः । अयमाशयः—वासनाक्षये समीरणचित्ते क्षीणे भवतः । समीरणे क्षीणे चित्त-

वासने क्षीणे भवतः। चित्ते क्षीणे समीरणवासने क्षीणे भवतः। तदुक्तं वासिष्ठे—'द्वे बीजे राम चित्तस्य प्राणस्पन्दनवासने। एकस्मिंश्च तयोर्नष्टे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः॥' तत्रैव व्यतिरेकेणोक्तम्—'यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः। न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति॥ न यावद्याति विज्ञानं न तावच्चित्तसंक्षयः। यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्॥ यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः। यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः॥ तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च। मिथः कारणतां गत्वा दुःसाध्यानि स्थितान्यतः॥ त्रय एते समं यावन्न स्वभ्यस्ता मुहुर्मुहुः। तावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्भवत्यपि समाश्रितैः'॥ २२॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते॥ २३॥

मन इति। यत्र यस्मिन्नाधारे मनो लीयते तत्र तस्मिन्नाधारे पवनो विलीयत इत्यन्वयः॥ २३॥

दुग्धाम्बुवत्संमिलिताबुभौ तौ
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत्तत्र मनःप्रवृत्ति-
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः॥ २४॥

दुग्धाम्बुवदिति । दुग्धाम्बुवत्क्षीरनीरवत्संमिलितौ सम्यक् मिलितौ तावुभौ द्वावपि मानसमारुतौ मानसं च मारुतश्च मानसमारुतौ चित्तप्राणौ तुल्यक्रियौ तुल्या समा क्रिया प्रवृत्तिर्ययोस्तादृशौ भवतः । तुल्यक्रियत्वमेवाह—यत इति । यतः यत्र । सार्वविभक्तिकस्तसिः । यस्मिन् चक्रे मरुद्वायुः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मनःप्रवृत्तिः मनसः प्रवृत्तिर्भवति । यतो यस्मिन् चक्रे मनः प्रवर्तते तत्र तस्मिन् चक्रे मरुत्प्रवृत्तिः वायोः प्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः । तदुक्तं वासिष्ठे—'अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी । कुसुमामोदवन्मिश्रे तिलतैले इवास्थिते । कुरुतश्च विनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥' इति ॥ २४ ॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश
एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः
प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥ २५ ॥

तत्रेति । तत्र तयोर्मानसमारुतयोर्मध्ये एकस्य मानसस्य मारुतस्य वा नाशाल्लयादपरस्यान्यस्य मारुतस्य मानसस्य वा नाशो लयो भवति । एकप्रवृत्तेरेकस्य मानसस्य मारुतस्य वा प्रवृत्तेर्व्यापारादपरप्रवृत्तिरपरस्य मारुतस्य मानसस्य वा प्रवृत्ति-

र्व्यापारो भवति । अध्वस्तयोरलीनयोर्मानसमारुतयोः सतो-रिन्द्रियवर्गवृत्तिरिन्द्रियसमुदायस्य स्वस्वविषये प्रवृत्तिर्भवति । प्रध्वस्तयोः प्रलीनयोस्तयोः सतोर्मोक्षपदस्य मोक्षाख्यपदस्य सिद्धिर्निष्पत्तिर्भवति । तयोर्लये पुरुषस्य स्वरूपेऽवस्थानादि-त्यर्थः । 'तत्रापि साध्यः पवनस्य नाशः षडङ्गयोगादिनि-षेवणेन । मनोविनाशस्तु गुरोः प्रसादान्निमेषमात्रेण सुसाध्य एव ॥' योगबीजे मूलश्लोकस्यायमुत्तरः श्लोकः ॥ २५ ॥

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिध्यति भूतले ॥२६॥

रसस्येति । रसस्य पारदस्य मनसो मानसस्य स्वभावतः स्वभावाच्चञ्चलत्वं चाञ्चल्यमस्ति । रसः पारदो बद्धश्चेन्मनश्चित्तं बद्धं भवति । ततो भूतले पृथिवीतले किं न सिध्यति ? सर्वं सिध्यतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥ २७ ॥

तदेवाह—मूर्च्छित इति । ओषधिविशेषयोगेन गतचापलो रसो मूर्च्छितः कुम्भकान्ते रेचकनिवृत्तो वायुर्मूर्च्छित इत्युच्यते । हे पार्वतीति पार्वतीसुबोधायेश्वरवाक्यम् । मूर्च्छितो रसः पारदो वायुः प्राणश्च व्याधीन् रोगान् हरते नाशयति ।

भस्मीभूतो रसो ब्रह्मरन्ध्रे लीनो वायुश्च मृतः स्वयमात्मना स्वसामर्थ्येनेत्यर्थः। जीवयति दीर्घकालं जीवनं करोति। क्रियाविशेषेण गुटिकाकारकृतो रसः बद्धो भ्रूमध्यादौ धारणाविशेषेण धृतो वायुश्च बद्धः खेचरतामाकाशगतिं धत्ते विधत्ते करोतीत्यर्थः। तदुक्तं गोरक्षकशतके—'यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसंनिभमिदं वृत्तं भ्रुवोरन्तरे तत्त्वं वायुमयं पकारसहितं तत्रेश्वरो देवता। प्राणं तत्र विलाप्य पञ्चघटिकं चित्तान्वितं धारयेदेषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायुना धारणा॥' इति ॥२७॥

मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते॥ २८॥

मनःस्थैर्य इति। मनसः स्थैर्ये सति वायुः प्राणः स्थिरो भवेत्। ततो वायुस्थैर्याद्बिन्दुर्वीर्यं स्थिरो भवेत्। बिन्दोः स्थैर्यात्सदा सत्त्वं बलं पिण्डस्थैर्यं देहस्थैर्यं प्रजायते॥ २८॥

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः॥२९॥

इन्द्रियाणामिति। इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां मनोऽन्तःकरणं नाथः प्रवर्तकः। मनोनाथो मनसो नाथो मारुतः प्राणः। मारुतस्य प्राणस्य लयो मनोविलयो नाथः। स लयो मनोलयः नादमाश्रितो नादे मनो लीयत इत्यर्थः॥ २९॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो माऽस्तु वाऽपि मतान्तरे ।
मनःप्राणलये कश्चिदानन्दः संप्रवर्तते ॥ ३० ॥

सोऽयमिति । सोऽयमेव चित्तलय एव मोक्षाख्यो मोक्षपदवाच्यः । मतान्तरेऽन्यमते माऽस्तु वा । चित्तलयस्य सुषुप्तावपि सत्त्वान्मनःप्राणयोर्लये सति कश्चिदनिर्वाच्य आनन्दः संप्रवर्तते सम्यक् प्रवृत्तो भवति । अनिर्वाच्यानन्दाविर्भावे जीवन्मुक्तिसुखं भवत्येवेति भावः ॥ ३० ॥

प्रणष्टश्वासनिःश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥३१॥

प्रणष्टेति । श्वासश्च निःश्वासश्च श्वासनिःश्वासौ प्रणष्टौ लीनौ श्वासनिःश्वासौ यस्मिन् स तथा बाह्यवायोरन्तः प्रवेशनं श्वासः अन्तः स्थितस्य वायोर्बहिर्निःसरणं निःश्वासः । प्रध्वस्तः प्रकर्षेण ध्वस्तो नष्टो विषयाणां शब्दादीनां ग्रहो ग्रहणं यस्मिन् निर्गता चेष्टा कायक्रिया यस्मिन् निर्गतो विकारोऽन्तःकरणक्रिया यस्मिन् एतादृशो योगिनां लयोऽन्तःकरणवृत्तेर्ध्येयाकारा वृत्तिर्जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तते ॥ ३१ ॥

उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥३२॥

उच्छिन्नेति । उच्छिन्ना नष्टाः सर्वे संकल्पा मनःपरिणामा यस्मिन् स तथा, निर्गतः शेषो यस्मात्तानि निःशेषाण्यशेषाणि चेष्टितानि यस्मिन् स तथा, स्वेनैवावगन्तुं बोद्धुं शक्यः स्वावगम्यः वाचामगोचरोऽविषयः कोऽपि विलक्षणो लयः जायते योगिनां प्रादुर्भवति ॥ ३२ ॥

यत्र दृष्टिर्लयस्तत्र भूतेन्द्रियसनातनी ।
सा शक्तिर्जीवभूतानां द्वे अलक्ष्ये लयं गते ॥ ३३ ॥

यत्र दृष्टिरिति । यत्र यस्मिन्विषये ब्रह्मणि दृष्टिरन्तःकरण-वृत्तिस्तत्रैव लयो भवति । भूतानि पृथिव्यादीनि इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि सनातनानि शाश्वतानि यस्यां सा सत्कार्यवादेऽविद्यायां कार्यजातस्य सत्त्वात् । जीवभूतानां प्राणिनां शक्तिर्विद्या इमे द्वे अलक्ष्ये ब्रह्मणि लयं गते योगिनामिति शेषः ॥ ३३ ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ ३४ ॥

लय इति । लय इति प्राहुर्वदन्ति बहवः । लयस्य लक्षणं लयस्वरूपं कीदृशमिति प्रश्नपूर्वकं लयस्वरूपमाह—अपुनरिति । अपुनर्वासनोत्थानात्पुनर्वासनोत्थानाभावाद्विषय-विस्मृतिर्विषयाणां शब्दादीनां ध्येयाकारस्य विषयस्य वा विस्मृ-

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।
एकैव शांभवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ ३५ ॥

वेदेति । वेदाश्चत्वारः शास्त्राणि षट् पुराणान्यष्टादश सामान्या गणिका इव वेश्या इव, बहुपुरुषगम्यत्वात् । एका शांभवी मुद्रैव कुलवधूरिव कुलस्त्रीव गुप्ता, पुरुषविशेष-गम्यत्वात् ॥ ३५ ॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।
एषा सा शांभवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ ३६ ॥

चित्तलयाय प्राणलयसाधनीभूतां मुद्रां विवक्षुस्तत्र शांभवीं मुद्रामाह—अन्तर्लक्ष्यमिति । अन्तः आधारादिब्रह्मरन्ध्रा-न्तेषु चक्रेषु मध्ये स्वाभिमते चक्रे लक्ष्यमन्तःकरण-वृत्तिः । बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे दृष्टिः ? चक्षुःसंबन्धः । कीदृशी दृष्टिः ? निमेषोन्मेषवर्जिता निमेषः पक्ष्मसंयोगः उन्मेषः पक्ष्मसंयोगविश्लेषः ताभ्यां वर्जिता रहिता चित्तस्य ध्येयाकारावेशे निमेषोन्मेषवर्जिता दृष्टिर्भवति । सोक्तैषा मुद्रा शांभवी शंभोरियं शांभवी शिवप्रिया शिवाविर्भावजनिका वा भवति । कीदृशी ? वेदशास्त्रेषु गोपिता वेदेषु ऋगादिषु शास्त्रेषु सांख्यपातञ्जलादिषु गोपिता रक्षिता ॥ ३६ ॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।
मुद्रेयं खलु शांभवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शांभवम् ॥३७॥

शांभवीं मुद्रामभिनीय दर्शयति—अन्तर्लक्ष्येति । यदा यस्यामवस्थायामन्तः अनाहतपद्मादौ यल्लक्ष्यं सगुणेश्वर-मूर्त्यादिकं तत्त्वमस्यादिवाक्यलक्ष्यं जीवेश्वराभिन्नमहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थभूतं ब्रह्म वा तस्मिन्विलीनौ विशेषेण लीनौ चित्तपवनौ मनोमारुतौ यस्य स तथा योगी वर्तते निश्चलतारया निश्चला स्थिरा तारा कनीनिका यस्यां तादृश्या दृष्ट्या बहिर्देहाद्बहिःप्रदेशे पश्यन्नपि चक्षुःसंबन्धं कुर्वन्नपि अपश्यन् बाह्यविषयग्रहणमकुर्वन् वर्तते आस्ते । खल्विति वाक्यालंकारे । इयमुक्ता शांभवी मुद्रा शांभवी-नामिका मुद्रयति क्लेशानिति मुद्रा गुरोर्देशिकस्य प्रसादात्प्रीति-पूर्वकादनुग्रहाल्लब्धा प्राप्ता चेत्तदिदमिति वक्तुमशक्यं शांभवं शांभवीमुद्रायां भासमानं पदं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदमात्मस्वरूपं शून्याशून्यविलक्षणं ध्येयाकारवृत्तेः सद्भावाच्छून्य-विलक्षणं तस्या अपि भानाभावादशून्यविलक्षणं तत्त्वं वास्तविकं वस्तु स्फुरति प्रतीयते । तथा चोक्तम्—‘ अन्तर्लक्ष्यमनन्य-

धीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छांभवी । गुप्तेयं गिरिशेन तन्त्रविदुषा तन्त्रेषु तत्त्वार्थिनामेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा । १ । ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरूर्ध्ववेधो ह्यधःशिराः । राधायन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ ' । २ । ॥ ३७ ॥

श्रीशांभव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ ३८ ॥

श्रीशांभव्या इति । श्रीशांभव्याः श्रीमत्याः शांभवीमुद्रायाः खेचरीमुद्रायाश्चावस्थाधामभेदतः अवस्थाऽवस्थितिर्धाम स्थानं तयोर्भेदाच्छांभव्यां बहिर्दृष्ट्या बहिःस्थितिः खेचर्यां भ्रूमध्यदृष्ट्याऽवस्थितिः । शांभव्यां हृदयं भावनादेशः खेचर्यां भ्रूमध्य एव देशः । तयोर्भेदाभ्यां शून्ये देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्ये या चित्सुखरूपिणि चिदानन्दस्वरूपिण्यात्मनि चित्तलयानन्दो भवेत्स्यात् । श्रीशांभवीखेचर्योरवस्थाधामरूपसाधनांशे भेदः न तु चित्तलयानन्दरूपफलांश इति भावः ॥ ३८ ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयेद् भ्रुवौ ।
पूर्वयोगं मनोयुञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ ३९ ॥

उन्मनीमुद्रामाह—तारे इति । तारे नेत्रयोः कनीनिके ज्योतिषि तारयोर्नासाग्रे योजनात्प्रकाशमाने तेजसि संयोज्य संयुक्ते कृत्वा भ्रुवौ किंचित्स्वल्पमुन्नयेदूर्ध्वं नयेत् । पूर्वः पूर्वोक्तोऽन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिरित्याकारको योगो युक्तिर्यस्मिन् तत्तादृशं मनोऽन्तःकरणं युञ्जन् युक्तं कुर्वन् योगी क्षणान्मुहूर्तादुन्मनीकारक उन्मन्यवस्थाकारको भवति ॥ ३९ ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसंकुलैः ।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ ४० ॥

उन्मनीमन्तराऽन्यस्तरणोपायो नास्तीत्याह—केचिदिति । केचिच्छास्त्रतन्त्रादिविदः आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्त्यर्था एभ्य इत्यागमाः शास्त्रतन्त्रादयस्तेषां जालैर्जालवद्बन्धनसाधनैस्तदुक्तैः फलैर्मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति । तत्रासक्ता बध्यन्त इति भावः । केचिद्वैदिका निगमसंकुलैर्निगमानां निगमोक्तानां संकुलैः फलबाहुल्यैर्मुह्यन्ति । केचिद्वैशेषिकादयस्तर्केण स्वकल्पितयुक्तिविशेषेण मुह्यन्ति । तारयतीति तारकस्तं तारकं तरणोपायं नैव जानन्ति । उक्तोन्मन्येव तरणोपायस्तं न जानन्तीत्यर्थः ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निःस्पन्दभावेन यः ।

ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥४१॥

अर्धोन्मीलितेति । अर्धमुन्मीलिते अर्धोन्मीलिते अर्धोन्मीलिते लोचने येन स अर्धोद्घाटितलोचन इत्यर्थः । स्थिरं निश्चलं मनो यस्य स स्थिरमनाः, नासाया नासिकाया अग्रेऽग्रभागे नासिकायां द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते वा दत्ते प्रहिते ईक्षणे येन स नासाग्रदत्तेक्षणः । तथाऽऽह वसिष्ठः—'द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे । संविद्दृशोः प्रशाम्यन्त्योः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥' इति । निःस्पन्दस्य निश्चलस्य भावो निःस्पन्दभावः कायेन्द्रियमनसां निश्चलत्वं तेन चन्द्रार्कौ चन्द्रसूर्यावपि लीनतां लीनस्य भावो लीनता लयस्तमुपनयन्प्रापयन् कायेन्द्रियमनसां निश्चलत्वेन प्राणसंचारमपि स्तम्भयन्नित्यर्थः । तदुक्तं प्राक् । मनो यत्र विलीयेतेत्यादिपूर्वोक्तविशेषणसंपन्नो योगी ज्योतिरिवाखिलप्रकाशकं रूपं यस्य स तथा तमशेषबीजमाकाशाद्युत्पत्तिद्वारा सर्वकारणमखिलं पूर्णं देदीप्यमानमतिशयेन दीप्यत इति देदीप्यमानं तत्तथा स्वप्रकाशं परं कायेन्द्रियमनसां साक्षिणं तत्त्वमनारोपितं वास्तविकमित्यर्थः । तदिदमिति वक्तुमशक्यं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं परमं सर्वोत्कृष्टं वस्तु आत्मस्वरूपम् एति प्राप्नोति । उन्मन्य-

वस्थायां स्वस्वरूपावस्थितो योगी भवतीत्यर्थः । अत्राधिकं किं वाच्यम् ? अपरं वस्तु प्राप्नोतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥४१॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ।
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ ४२ ॥

उन्मनीभावनायाः कालनियमाभावमाह—दिवा नेति । दिवा सूर्यसंचारे लिङ्गं सर्वकारणमात्मानम्, 'एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इत्यादिश्रुतेः । न पूजयेत् न भावयेत् । ध्यानमेवात्मपूजनम् । तदुक्तं वासिष्ठे—'ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानमस्य महार्चनम् । विना तेनेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो ॥' इति । रात्रौ चन्द्रसंचारे च नैव पूजयेन्नैव भावयेत्, चन्द्रसूर्यसंचारे चित्तस्थैर्याभावात् । 'चले वाते चलं चित्तम्' इत्युक्तत्वात् । दिवारात्रिनिरोधतः सूर्यचन्द्रौ निरुध्य । ल्यब्लोपे पञ्चमी । तस्यास्तसिल् । सर्वदा सर्वस्मिन् काले लिङ्गम् आत्मानं पूजयेद्भावयेत् । सूर्यचन्द्रयोर्निरोधे कृते सुषुम्णान्तर्गते प्राणे मनःस्थैर्यात् । तदुक्तम्—'सुषुम्णान्तर्गते वायौ मनःस्थैर्यं प्रजायते' इति ॥ ४२ ॥

अथ खेचरी—

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन्स्थाने न संशयः ॥ ४३ ॥

खेचरीमाह—सव्येति । सव्यदक्षिणनाडिस्थो वामतदितरनाडिस्थो मारुतो वायुर्यत्र मध्ये चरति यस्मिन्मध्यप्रदेशे गच्छति तस्मिन् स्थाने तस्मिन् प्रदेशे खेचरी मुद्रा तिष्ठते स्थिरा भवति । 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इत्यात्मनेपदम् । न संशयः उक्तेऽर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ ४४ ॥

इडापिङ्गलयोरिति । इडापिङ्गलयोः सव्यदक्षिणनाड्योर्मध्ये यच्छून्यं खं कर्तृ अनिलं प्राणवायुं यत्र ग्रसेत् । शून्ये प्राणस्य स्थिरीभाव एव ग्रासः । तत्र तस्मिन् शून्ये खेचरी मुद्रा तिष्ठते । पुनः पुनः सत्यमिति योजना ॥ ४४ ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालम्बान्तरे पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥४५॥

सूर्याचन्द्रमसोरिति । सूर्याचन्द्रमसोरिडापिङ्गलयोर्मध्ये निरालम्बं यदन्तरमवकाशस्तत्र । पुनः पादपूरणे । व्योम्नां खानां चक्रे समुदाये । भ्रूमध्ये सर्वखानां समन्वयात् । तदुक्तं पञ्चस्रोतःसमन्वित इति । या संस्थिता सा मुद्रा खेचरी नाम ॥ ४५ ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ।
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्णां पश्चिमे मुखे ॥ ४६ ॥

सोमादिति । सोमाच्चन्द्राद्यत्र यस्यां खेचर्यां धाराऽमृतधारा उदितोद्भूता सा खेचरी साक्षाच्छिववल्लभा शिवस्य प्रियेति पूर्वेणान्वयः । अतुलां निर्मलां निरुपमां दिव्यां सर्वनाडच्युत्तमां सुषुम्णां पश्चिमे मुखे पूरयेत् । जिह्वयेति शेषः ॥ ४६ ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राऽप्युन्मनी संप्रजायते ॥ ४७ ॥

पुरस्ताच्चैवेति । पुरस्ताच्चैव पूर्वतोऽपि पूर्येत । सुषुम्णां प्राणेनेति शेषः । यदि तर्हि निश्चिताऽसंदिग्धा खेचरी खेचर्याख्या मुद्रा भवेदिति । यदि तु पुरस्तात्प्राणेन न पूर्येत जिह्वामात्रेण पश्चिमतः पूर्येत तर्हि मूढावस्थाजनिका । न निश्चिता खेचरी स्यादिति भावः । खेचरीमुद्राऽप्यभ्यस्ता सती उन्मनी संप्रजायते चित्तस्य ध्येयाकारावेशात्तुर्याऽवस्था भवतीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते ॥ ४८ ॥

भ्रुवोरिति । भ्रुवोर्मध्ये भ्रुवोरन्तराले शिवस्थानं शिवस्येश्वरस्य स्थानं शिवस्य सुखरूपस्यात्मनोऽवस्थानमिति शेषः । तत्र तस्मिन् शिवे मनो लीयते । शिवाकारवृत्तिप्रवाहवद्भवति तच्चित्तलयरूपं तुर्यं पदं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभ्यश्चतुर्थकाख्यं

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ॥५१॥

बाह्येति । बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यान्तः प्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिः प्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्णायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयते इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥
इति खेचरी ।

ज्ञातव्यम् । तत्र तस्मिन् पदे कालो मृत्युर्न विद्यते । यद्वा सूर्यचन्द्रयोर्निरोधादायुःक्षयकारकः कालः समयो न विद्यत इत्यर्थः । तदुक्तम्—'भोक्त्री सुषुम्णा कालस्य' इति ॥४८॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
संप्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ ४९ ॥

अभ्यसेदिति । तावत्खेचरीं मुद्रामभ्यसेत् । यावद्योगनिद्रितः, योगः सर्ववृत्तिनिरोधः सैव निद्रा योगनिद्राऽस्य संजाता इति योगनिद्रितः तादृशः स्यात् । संप्राप्ता योगनिद्रा येन स संप्राप्तयोगनिद्रस्तस्य कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये कालो मृत्युर्नास्ति ॥ ४९ ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥५०॥

निरालम्बमिति । यो निरालम्बमालम्बशून्यं मनः कृत्वा किंचिदपि न चिन्तयेत् खेचरीमुद्रायां जायमानायां ब्रह्माकारामपि वृत्तिं परवैराग्येण परित्यजेदित्यर्थः । स योगी बाह्यभ्यन्तरे बाह्ये बहिर्भवे आभ्यन्तरेऽभ्यन्तर्भवे च व्योम्नयाकाशे घटवत्तिष्ठति । ध्रुवं निश्चितमेतत् । यथाऽऽकाशे घटो बहिरन्तश्चाकाशपूर्णो भवति तथा खेचर्यामालम्बनपरित्यागेन योगी ब्रह्मणा पूर्णस्तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ५० ॥

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्यो न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ ॥५१॥

बाह्येति । बाह्यो देहाद्बहिर्भवो वायुर्यथा लीनो भवति खेचर्याम् । तस्यान्तः प्रवृत्त्यभावात् । तथा मध्यो देहमध्यवर्ती वायुर्लीनो भवति । तस्य बहिः प्रवृत्त्यभावात् । न संशयः । अस्मिन्नर्थे संदेहो नास्तीत्यर्थः । स्थीयते स्थिरीभूयतेऽस्मिन्निति स्थानं स्वस्य प्राणस्य स्थानं स्थैर्याधिष्ठानं ब्रह्मरन्ध्रं तत्र मनसा चित्तेन सह पवनः प्राणः स्थिरतां निश्चलतामेति प्राप्नोति ॥ ५१ ॥

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ ५२ ॥

एवमुक्तप्रकारेण वायुमार्गे प्राणमार्गे सुषुम्णायामित्यर्थः । दिवानिशं रात्रिंदिवमभ्यसमानस्याभ्यासं कुर्वतो योगिनोऽभ्यासाद्यत्र यस्मिन्नाधारे वायुः प्राणो जीर्यते क्षीयते लीयते इत्यर्थः । तत्रैव वायोर्लयाधिष्ठाने मनश्चित्तं लीयते जीर्यत इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ ५३ ॥
इति खेचरी ।

अमृतैरिति । अमृतैः सुषिरनिर्गतैः पादतलं च मस्तकं च पादतलमस्तकम् । ‘ द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् ’ इत्येकवद्भावः । पादतलमस्तकमभिव्याप्येत्यापादतलमस्तकं देहमाप्लावयेदाप्लावितं कुर्यात् । महानुत्कृष्टः कायो यस्य स महाकायः महान्तौ बलपराक्रमौ यस्येत्येतादृशो योगी सिध्यत्येव । अमृताप्लावनेन सिद्धो भवत्येव ॥ ५३ ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ ५४ ॥

शक्तिरिति । शक्तिः कुण्डलिनी तस्या मध्ये मनः कृत्वा तस्यां मनो धृत्वा तदाकारं मनः कृत्वेत्यर्थः । शक्तिं मानसमध्यगां कृत्वा । शक्तिध्यानावेशाच्छक्तिं मनस्येकीकृत्य तेन कुण्डलीं बोधयित्वेति यावत् । ‘ प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ’ इति गोरक्षोक्तेः । मनसाऽन्तःकरणेन मनः आलोक्य बुद्धिं मनसाऽवलोकनेन स्थिरीकृत्येत्यर्थः । परमं पदं सर्वोत्कृष्टं स्वरूपं धारयेद्धारणाविषयं कुर्यादित्यर्थः ॥ ५४ ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५५॥

खमध्य इति । खमिव पूर्णं ब्रह्म खं तन्मध्ये आत्मानं स्वस्वरूपं कुरु । ब्रह्माऽहमिति भावयेत्यर्थः । आत्ममध्ये

स्वस्वरूपे च खं पूर्णं ब्रह्म कुरु। अहं ब्रह्मेति च भावयेत्यर्थः। सर्वं च खमयं कृत्वा ब्रह्ममयं विभाव्य किमपि न चिन्तयेत्। अहं ब्रह्मेति ध्यानमपि परित्यजेदित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥५६॥

एवं समाहितस्य स्वरूपे स्थितिमाह—अन्तः शून्य इति। अन्तः अन्तःकरणे शून्यः। ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्द्वितीयशून्यः। बहिरन्तःकरणाद्बहिरपि शून्यः, द्वितीयादर्शनात्। अम्बरे आकाशे कुम्भो घटो यथाऽन्तर्बहिःशून्यस्तद्वदन्तःकरणे हृदाकाशे वायुपूर्णः ब्रह्माकारवृत्तेः सद्भावाद्ब्रह्मवासत्वाद्वा। बहिः पूर्णोऽन्तःकरणाद्बहिर्हृदवकाशाद्बहिर्वा पूर्णः। सत्तया ब्रह्मातिरिक्तवृत्तेरभावाद्ब्रह्मपूर्णत्वाद्वा। अर्णवे समुद्रे कुम्भो घटो यथा सर्वतो जलपूर्णो भवत्येवं समाधिनिष्ठो योगी ब्रह्मपूर्णो भवतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम्।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥५७॥

बाह्यचिन्तेति। समाहितेन योगिनेत्यध्याहारः। बाह्यचिन्ता बाह्यविषया चिन्ता न कर्तव्या। तथैव बाह्यचिन्ताकरणवदान्तरचिन्तनमान्तराणां मनसा परिकल्पितानामाशामोदक-

सौधवाटिकादीनां चिन्तनं न कर्तव्यमिति लिङ्गविपरिणामेनान्वयः। सर्वचिन्तां बाह्याभ्यन्तरचिन्तनं परित्यज्य किंचिदपि न चिन्तयेत्परवैराग्येणात्माकारवृत्तिमपि परित्यजेत्। तत्त्यागे स्वरूपावस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति भावः ॥ ५७ ॥

संकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
संकल्पमात्रकलनैव मनोविलासः।
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥५८॥

बाह्याभ्यन्तरचिन्तापरित्यागे शान्तिश्च भवतीत्यत्र वसिष्ठवाक्यं प्रमाणयति—संकल्पेति। संकल्पो मानसिको व्यापारः स एव संकल्पमात्रं तस्य कलनैव रचनैवेदं दृश्यमानं समग्रं जगत्। बाह्यप्रपञ्चो मनोमात्रकल्पित इत्यर्थः। मनसो मानसस्य विलासो नानाविषयाकारकल्पना आशामोदकसौधवाटिकादिकल्पनारूपो विलासः संकल्पमात्रकलनैव। मानसः प्रपञ्चोऽपि संकल्पमात्ररचनैवेत्यर्थः। संकल्पमात्रे बाह्याभ्यन्तरप्रपञ्चे या मतिः सत्यत्वबुद्धिस्तामुत्सृज। तर्हि किं कर्तव्यमित्यत आह—निर्विकल्पेति। विशिष्टः कल्पो विकल्पः। आत्मनि कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखित्वसजातीयविजातीयस्वगतभेददेशकालवस्तुपरिच्छेदकल्पनारूपः, तस्मान्निष्क्रान्तो निर्विकल्पस्त-

मात्मानमाश्रित्य धारणादिविषयं कृत्वा हे राम निश्चयमसंदिग्धं शान्तिं परमोपरतिमवाप्नुहि । ततः सुखमपि प्राप्स्यसीति भावः । तदुक्तं भगवता व्यतिरेकेण—'न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्' इति ॥ ५८ ॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा ।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ ५९ ॥

कर्पूरमिति । यद्वद्यथाऽनलेऽग्नौ संधीयमानं संयोज्यमानं कर्पूरं विलीयते विशेषेण लीयते लीनं भवति अग्न्याकारं भवति । यथा सलिले जले संधीयमानं सैन्धवं लवणं विलीयते लवणाकारं परित्यज्य जलाकारं भवति तथा तद्वत्तत्त्वे आत्मनि संधीयमानं कार्यमाणं मनो विलीयते आत्माकारं भवति ॥ ५९ ॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥६०॥

मनसो विलये जाते द्वैतमपि लीयत इत्याह त्रिभिः—ज्ञेयमिति । सर्वं सकलं ज्ञेयं ज्ञानार्हं प्रतीतं च ज्ञातं च ज्ञानं च इदं सर्वं मन उच्यते । सर्वस्य मनःकल्पनामात्रत्वान्मनःशब्देनोच्यते । ज्ञानं ज्ञेयं च समं मनो विलीयते मनसा सार्धं नष्टं यदि तर्हि द्वितीयकः द्वितीय एव द्वितीयकः पन्था मनोविषयो नास्ति । द्वैतं नास्तीति फलितार्थः ॥ ६० ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ६१ ॥

मनोदृश्यमिति । इदमुपलभ्यमानं यत्किंचिद्यत्किमपि चरं जङ्गममचरं स्थावरं चरं चाचरं च चराचरे ताभ्यां सह वर्तत इति सचराचरं यज्जगत्तत्सर्वं मनोदृश्यं मनसा दृश्यम् । मनःसंकल्पमात्रमित्यर्थः । मनःकल्पनासत्त्वे प्रतीतेस्तदभावे चाप्रतीतेर्भ्रम एव सर्वं जगत्, भ्रमस्य प्रातीतिकशरीरत्वात् । न च बौद्धमतप्रसङ्गः, भ्रमाधिष्ठानस्य ब्रह्मणः सत्यत्वाभ्युपगमात् । मनस उन्मनीभावाद्विलयाद् द्वैतं भेदः नैवोपलभ्यते नैव प्रतीयते, द्वैतभ्रमहेतोर्मनःसंकल्पस्याभावात् । हि तद्धेतावव्ययम् ॥ ६१ ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ ६२ ॥

ज्ञेयेति । ज्ञेयं ज्ञानविषयो यद्वस्तु सर्वं चराचरं यद्दृश्यं तस्य परित्यागान्नामरूपात्मकस्य तस्य परिवर्जनाद्विलयं याति सच्चिदानन्दरूपात्माकारं भवति । मनसो विलये जाते सति कैवल्यं केवलस्यात्मनो भावः कैवल्यमवशिष्यते । अद्वितीयात्मस्वरूपमेव शिष्टं भवतीत्यर्थः ॥ ६२ ॥

एवं नानाविधोपायाः सम्यक्स्वानुभवान्विताः ।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ ६३ ॥

एवमिति । एवमन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्याद्युक्तप्रकारेण महान् समाधिपरिशीलनशुद्ध आत्माऽन्तःकरणं येषां ते महात्मानस्तैर्महात्मभिः पूर्वे च ते आचार्याश्च पूर्वाचार्या मत्स्येन्द्रादयस्तैः समाधेश्चित्तवृत्तिनिरोधस्य मार्गाः प्राप्त्युपायाः कथिताः । कीदृशाः समाधिमार्गाः ? नानाविधोपायाः नानाविधा उपायाः साधनानि येषां ते तथा सम्यक् समीचीनतया संशयविपर्ययराहित्येन यः स्वानुभव आत्मानुभवस्तेनान्विता युक्ताः ॥ ६३ ॥

सुषुम्णायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ ६४ ॥

सुषुम्णादिभ्यः कृतकृत्यस्ताः प्रणमति—सुषुम्णायै इति । सुषुम्णा मध्यनाडी तस्यै कुण्डलिन्यै आधारशक्त्यै चन्द्राद्भ्रूमध्यस्थाज्जन्म यस्यास्तस्यै सुधायै पीयूषायै मनोन्मन्यै तुर्यावस्थायै चिच्चैतन्यमात्मा स्वरूपं यस्याः सा तथा तस्यै महति जडानां कायेन्द्रियमनसां चैतन्यसंपादकत्वात्सर्वोत्तमा या शक्तिश्चिच्छक्तिः पुरुषरूपा तस्यै । तुभ्यमिति प्रत्येकं संबध्यते । नमः प्रह्वीभावोऽस्तु ॥ ६४ ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि संमतम् ।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ ६५ ॥

नानाविधान् समाध्युपायानुक्त्वा नादानुसंधानरूपं मुख्योपायं प्रतिजानीते—अशक्येति । अव्युत्पन्नत्वादशक्यस्तत्त्वबोधस्तत्त्वज्ञानं येषां ते तथा तेषां मूढानामनधीतानां संमतम् । अपिशब्दात्किमुताधीतानामिति गम्यते । गोरक्षनाथेन प्रोक्तमित्यनेन महदुक्तत्वादुपादेयत्वं गम्यते । नादस्यानाहतध्वनेरुपासनेऽनुसंधानरूपं सेवनमुच्यते कथ्यते ॥ ६५ ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटि-
लयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ६६ ॥

श्रीआदिनाथेनेति । श्रीआदिनाथेन शिवेन कथिताः प्रोक्ताः पादेन चतुर्थांशेन सह वर्तमानाः कोटिसंख्याका लयप्रकाराश्चित्तलयसाधनभेदा जयन्त्युत्कर्षेण वर्तन्ते । वयं तु नादानुसंधानकं नादानुचिन्तनमेव एकं केवलं लयानां लयसाधनानां मध्ये मुख्यतममतिशयेन मुख्यं मन्यामहे जानीमहे । उत्कृष्टानां लयसाधनानां मध्ये उत्कृष्टतमत्वाद्गोरक्षाभिमतत्वाच्च नादानुसंधानमेव अवश्यं विधेयमिति भावः ॥ ६६ ॥

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां संधाय शांभवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तःस्थमेकधीः ॥ ६७ ॥

शांभवीमुद्रया नादानुसंधानमाह—मुक्तासन इति। मुक्तासने सिद्धासने स्थितो योगी शांभवीं मुद्रामन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिरित्यादिनोक्तां संधाय कृत्वा। एकधीरेकाग्रचित्तः सन् दक्षिणे कर्णेऽन्तःस्थसुषुम्णानाड्यां सन्तमेव नादं शृणुयात्। तदुक्तं त्रिपुरासारसमुच्चये—'आदौ मत्तालिमालाजनितरवसमस्तारसंस्कारकारी नादोऽसौ वांशिकस्यानिलभरितलसद्वंशनिःस्वानतुल्यः। घण्टानादानुकारी तदनु च जलधिध्वानधीरो गभीरो गर्जन्पर्जन्यघोषः पर इह कुहरे वर्तते ब्रह्मनाड्याः॥' इति॥६७॥

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।
शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः॥६८॥

पराङ्मुखीमुद्रया नादानुसंधानमाह—श्रवणेति। श्रवणपुटे नयनयोर्नेत्रयोर्युगलं युग्मं घ्राणशब्देन घ्राणपुटे मुखमास्यम्। एषां द्वन्द्वे प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावे प्राप्तेऽपि सर्वस्यापि द्वन्द्वैकवद्भावस्य वैकल्पिकत्वान्न भवति। तेषां निरोधनं कराङ्गुलिभिः कार्यम्। निरोधनं चेत्थम्—'अङ्गुष्ठाभ्यामुभौ कर्णौ तर्जनीभ्यां च चक्षुषी। नासापुटौ तथाऽनाम्न्या प्रच्छाद्य करणानि च॥' इति। चकारात्तदन्याभ्यां मुखं प्रच्छाद्येति समुच्चीयते। शुद्धा प्राणायामैर्मलरहिता या सुषुम्णासरणिः सुषुम्णापद्धतिस्तस्याममलो नादः स्फुटं व्यक्तं श्रूयते॥ ६८॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ ६९ ॥

अथ नादस्य चतस्रोऽवस्थाः प्राह—आरम्भश्चेति । आरम्भावस्था घटावस्था परिचयावस्था निष्पत्त्यवस्था इति सर्वयोगेषु सर्वेषु चित्तवृत्तिनिरोधोपायेषु शांभव्यादिषु व्यवस्था-चतुष्टयं स्यात् । चचैवतथापिचाः पादपूरणार्थाः ॥६९ ॥

अथारम्भावस्था—

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसंभवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ ७० ॥

तत्रारम्भावस्थामाह—ब्रह्मग्रन्थेरिति । ब्रह्मग्रन्थेरनाहतचक्रे वर्तमानाया भेदः प्राणायामाभ्यासेन भेदनं यदा भवेत्तदेति यत्तदोरध्याहारः । आनन्दयतीत्यानन्दः आनन्दजनकः शून्ये हृदाकाशे संभवतीति शून्यसंभवो हृदाकाशोत्पन्नो विचित्रो नानाविधः क्वणो भूषणनिनदः स एव क्वणकः । भूषणनिनद-सदृश इत्यर्थः । ‘भूषणानां तु शिञ्जितम्’ ‘निक्वाणो निक्वणः क्वाणः क्वणः क्वणनमित्यपि’ इत्यमरः । अनाहतो ध्वनिरनाहतो निर्ह्रादो देहे देहमध्ये श्रूयते श्रवणविषयो भवतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
संपूर्णहृदयः शून्य आरम्भे योगवान्भवेत् ॥ ७१ ॥

दिव्यदेह इति। शून्ये हृदाकाशे य आरम्भो नादारम्भस्तस्मिन्सति हृदाकाशविशुद्ध्याकाशभ्रूमध्याकाशाः शून्यातिशून्यमहाशून्यशब्दैर्व्यवह्रियन्ते योगिभिः। संपूर्णहृदयः प्राणवायुना सम्यक् पूर्णं हृदयं यस्य स तथा आनन्देन पूर्णे हृदये योगवान् योगी दिव्यो रूपलावण्यबलसंपन्नो देहो यस्य स दिव्यदेहः तेजस्वी प्रतापवान् दिव्यगन्धः दिव्य उत्तमो गन्धो यस्य स तथा अरोगवान् रोगरहितो भवेदिति संबन्धः ॥ ७१ ॥

अथ घटावस्था—

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥ ७२ ॥

घटावस्थामाह—द्वितीयायामिति। द्वितीयायां घटावस्थायां वायुः प्राणः घटीकृत्य आत्मना सहापानं नादबिन्दू चैकीकृत्य मध्यगो मध्यचक्रगतः कण्ठस्थाने मध्यचक्रम्। तदुक्तमत्रैव जालंधरबन्धे—'मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्' इति। यदा भवेदित्यध्याहारः। तदाऽस्यामवस्थायां योगी योगाभ्यासी दृढमासनं यस्य स दृढासनः स्थिरासनो ज्ञानी पूर्वापेक्षया कुशलबुद्धिर्देवसमो रूपलावण्याधिक्याद्देवतुल्यो भवेत्। तदुक्तमीश्वरोक्ते राजयोगे—'प्राणापानौ नादबिन्दू जीवात्मपरमात्मनोः। मिलित्वा घटते यस्मात्तस्मात्स घट उच्यते ॥' इति ॥ ७२ ॥

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ ७३ ॥

विष्णुग्रन्थेरिति । ततो ब्रह्मग्रन्थिभेदनानन्तरं विष्णुग्रन्थेः कण्ठे वर्तमानाया भेदात्कुम्भकैर्भेदनात्परमानन्दस्य भाविनो ब्रह्मानन्दस्य सूचको ज्ञापकः अतिशून्ये कण्ठावकाशे विमर्दोऽनेकनादसंमर्दो भेर्याः शब्द इव शब्दो भेरीशब्दो भेरीनादश्च तदा तस्मिन्काले भवेत् ॥ ७३ ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ ७४ ॥

परिचयावस्थामाह सार्धद्वाभ्याम्—तृतीयायां परिचयावस्थायां विहायोमर्दलध्वनिर्विहायसि भ्रूमध्याकाशे मर्दलस्य वाद्यविशेषस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्विज्ञेयो विशेषेण ज्ञानार्हो भवति । तदा तस्यामवस्थायां सर्वसिद्धिसमाश्रयं सर्वासां सिद्धीनामणिमादीनां समाश्रयं स्थानम् । तत्र संयमादणिमादिप्राप्तेः महाशून्यं भ्रूमध्याकाशं याति गच्छति प्राण इति शेषः ॥७४॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसंभवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ ७५ ॥

चित्तानन्दमिति । चित्तानन्दं नादविषयान्तःकरणवृत्तिजन्यसुखं जित्वाऽभिभूय सहजानन्दसंभवः सहजानन्दः स्वाभावि-

कात्मसुखं तस्य संभव आविर्भावः स दोषा वातपित्तकफा दुःखं तज्जन्या वेदना आध्यात्मिकादि च जरा वृद्धावस्था व्याधिर्ज्वरादिः क्षुधा बुभुक्षा निद्रा स्वाप एतैर्विवर्जितो रहितस्तदा योगी भवतीति ॥ ७५ ॥

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्त्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥७६॥

तदा, कदेत्यपेक्षायामाह—रुद्रेति । यदा रुद्रग्रन्थिं भित्त्वा । आज्ञाचक्रे रुद्रग्रन्थिः शर्वस्येश्वरस्य पीठं स्थानं भ्रूमध्यं तत्र गतः प्राप्तोऽनिलः प्राणो भवति तदा निष्पत्त्यवस्थामाह—निष्पत्ताविति । निष्पत्तौ निष्पत्त्यवस्थायाम् । ब्रह्मरन्ध्रे गते प्राणे निष्पत्त्यवस्था भवति । वैणवः वेणोरयं वैणवो वंशसंबन्धी शब्दो निनादः क्वणन्ती शब्दायमाना या वीणा तस्याः क्वणः शब्दो भवेत् ॥ ७६ ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्ताऽसौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ ७७ ॥

तदा तस्यामवस्थायां चित्तमन्तःकरणमेकीभूतमेकविषयीभूतम् । विषयविषयिणोरभेदोपचारात् । तद्राजयोगाभिधानकं राजयोग इत्यभिधानं यस्य तद्राजयोगाभिधानकं चित्तस्यैकाग्रतैव राजयोग इत्यर्थः । सृष्टिसंहारेति । असौ नादानुसंधानपरो

योगी सृष्टिसंहारकर्ता सृष्टिं संहारं च करोतीति तादृशः । अत एवेश्वरसम ईश्वरतुल्यो भवेत् ॥ ७७ ॥

अस्तु वा माऽस्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ ७८ ॥
राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥

अस्तु वेति । राजयोगमिति । उभौ प्राग्व्याख्यातौ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम संमतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तुं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ।
सद्यः प्रत्ययसंधायी जायते नादजो लयः ॥ ८० ॥

उन्मन्यवाप्तय इति । शीघ्रं त्वरितमुन्मन्या उन्मन्यवस्थाया अवाप्तये प्राप्त्यर्थं भ्रूध्यानं भ्रुवोर्ध्यानं भ्रूमध्ये ध्यानं मम स्वात्मारामस्य संमतम् । राजयोगो योगानां राजा तदेव पदं राजयोगपदं तुर्यावस्थाख्यं प्राप्तुं लब्धुं पूर्वोक्तभ्रूध्यानरूपः सुखोपायः सुखसाध्य उपायः सुखोपायः अल्पचेतसामल्पबुद्धीनामपि । किमुतान्येषामित्यभिप्रायः । नादजः नादाज्जातो लयश्चित्तविलयः सद्यः शीघ्रं प्रत्ययं प्रतीतिं संदधातीति प्रत्ययसंधायी प्रतीतिकरो जायते प्रादुर्भवति ॥ ८० ॥

नादानुसंधानसमाधिभाजां
योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं
जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ ८१ ॥

नादानुसंधानेति । नादस्यानाहतध्वनेरनुसंधानमनुचिन्तनं तेन समाधिश्चित्तैकाग्र्यं तं भजन्तीति नादानुसंधानसमाधिभाजस्तेषां योगिषु योगयुक्तेष्वीश्वराः समर्थास्तेषां हृदि हृदये वर्धत इति वर्धमानस्तं वर्धमानं वचसां वाचामगम्यम् इदमिति वक्तुमशक्यं तं योगशास्त्रप्रसिद्धमेकं मुख्यमानन्दमाह्लादमेकोऽनन्यः श्रीगुरुनाथः श्रीमान् गुरुरेव नाथो जानाति वेत्ति । एतेन नादानुसंधानानन्दो गुरुगम्य एवेति सूचितम् ॥ ८१ ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ ८२ ॥

नादानुसंधानात्प्रत्याहारादिक्रमेण समाधिमाह— कर्णावित्यादिभिः । मुनिर्मननशीलो योगी हस्ताभ्यामित्यनेन हस्ताङ्गुष्ठौ लक्ष्येते । ताभ्यां कर्णौ श्रोत्रे पिधाय । हस्ताङ्गुष्ठौ श्रोत्रविवरयोः कृत्वेत्यर्थः । यं ध्वनिमनाहतनिःस्वनं शृणोत्याकर्णयति तत्र तस्मिन्ध्वनौ चित्तं स्थिरीकुर्यादस्थिरं स्थिरं संपद्यमानं कुर्यात् । यावत्स्थिरं पदं स्थिरपदं तुर्याख्यं गच्छेत् ।

तदुक्तम् —'तुर्यावस्थाचिदभिव्यञ्जकनादस्य वेदनं प्रोक्तम्' इति नादानुसंधानेन वायुस्थैर्यमणिमादयोऽपि भवन्ति। उक्तं च त्रिपुरासारसमुच्चये—'विजितो भवतीह तेन वायुः सहजो यस्य समुत्थितः प्रणादः। अणिमादिगुणा भवन्ति तस्यामितपुण्यं च महागुणोदयस्य॥ सुरराजतनूजवैरिरन्ध्रे विनिरुध्य स्वकराङ्गुलिद्वयेन। जलधेरिव धीरनादमन्तः प्रसरन्तं सहसा शृणोति मर्त्यः॥' इति। सुरराज इन्द्रस्तस्य तनूजोऽर्जुनस्तस्य वैरी कर्णस्तद्रन्ध्रे। स्पष्टमन्यत्॥ ८२॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥८३॥

अभ्यस्यमान इति। अभ्यस्यमानोऽनुसंधीयमानोऽयं नादोऽनाहताख्यो बाह्यं ध्वनिं बहिर्भवं शब्दमावृणुते श्रुत्योर्विषयम्। योगी नादाभ्यासी पक्षान्मासार्धादखिलं सर्वं विक्षेपं चित्तचाञ्चल्यं जित्वाऽभिभूय सुखी स्वानन्दो भवेत्॥ ८३॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः॥ ८४॥

श्रूयत इति। प्रथमाभ्यासे पूर्वाभ्यासे नानाविधोऽनेकविधो महान् जलधिजीमूतभेर्यादिसदृशो नादोऽनाहतस्वनः श्रूयते आकर्ण्यते। ततोऽनन्तरमभ्यासे नादानुसंधानाभ्यासे वर्धमाने

सति सूक्ष्मसूक्ष्मकः सूक्ष्मः सूक्ष्म एव श्रूयते श्रवणविषयो भवति ॥ ८४ ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसंभवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥ ८५ ॥

नानाविधं नादमाह द्वाभ्याम्——आदाविति । आदौ वायोर्ब्रह्मरन्ध्रगमनसमये जलधिः समुद्रो जीमूतो मेघो भेरी वाद्यविशेषः । 'भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्' इत्यमरः । झर्झरो वाद्यविशेषः । 'वाद्यप्रभेदा डमरुमड्डुडिण्डिमझर्झराः । मर्दलः पणवोऽन्येऽपि' इत्यमरः । जलधिप्रमुखेभ्यः संभव इव संभवो येषां ते तथा मध्ये ब्रह्मरन्ध्रे वायोः स्थैर्यानन्तरं मर्दलो वाद्यविशेषः शङ्खो जलजस्ताभ्यामुत्था इव मर्दलशङ्खोत्थाः । घण्टाकाहलौ वाद्यविशेषौ ताभ्यां जाता इव घण्टाकाहलजाः ॥

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥ ८६ ॥

अन्ते त्विति । अन्ते तु प्राणस्य ब्रह्मरन्ध्रे बहुस्थैर्यानन्तरं तु किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका वंशो वेणुः वीणा तन्त्री भ्रमरो मधुपः तेषां निःस्वना इति पूर्वोक्ता नानाविधा अनेकप्रकारका देहस्य मध्ये गताः प्राप्ताः श्रूयन्ते ॥ ८६ ॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ ८७ ॥

महतीति । मेघश्च भेरी च ते आदी यस्य स मेघभेर्यादिकस्तस्मिन् । मेघभेरीशब्दौ तज्जन्यनिर्घोषपरौ । महति बहुले ध्वनौ निनादे श्रूयमाणे आकर्ण्यमाने सत्यपि तत्र तेषु नादेषु सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरमतिसूक्ष्मं नादमेव परामृशेच्चिन्तयेत् । सूक्ष्मस्य नादस्य चिरस्थायित्वात्तत्रासक्तचित्तश्चिरं स्थिरमतिर्भवेदिति भावः ॥ ८७ ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ ८८ ॥

घनमिति । घनं महान्तं नादं मेघभेर्यादिकमुत्सृज्य घने वा नादे रममाणं घनसूक्ष्मान्यतरनादग्रहणपरित्यागाभ्यां क्रीडन्तमपि क्षिप्तं रजसाऽत्यन्तचञ्चलं मनोऽन्यत्र विषयान्तरे न चालयेन्न प्रेरयेत् । क्षिप्तं मनो विषयान्तरासक्तं न समाधीयते, नादेषु रममाणं तु समाधीयत इति भावः ॥ ८८ ॥

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ ८९ ॥

यत्रेति । वा अथ वा यत्र कुत्रापि नादे यस्मिन्कस्मिंश्चिद्धने सूक्ष्मे वा नादे प्रथमं पूर्वं मनो लगति लग्नं भवति

तत्रैव तस्मिन्नेव नादे सुस्थिरीभूय सम्यक् स्थिरं भूत्वा तेन नादेन सार्धं साकं विलीयते लीनं भवतीत्यर्थः । अत्र पूर्ववाक्येन प्रत्याहारो द्वितीयेन धारणा तृतीयेन ध्यानद्वारा समाधिरुक्तः ॥ ८९ ॥

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्न हि काङ्क्षते ॥९०॥

मकरन्दमिति । मकरन्दं पुष्परसं पिबन् धयन् भृङ्गो भ्रमरो गन्धं यथा नापेक्षते नेच्छति तथा नादासक्तं नाद आसक्तं चित्तमन्तःकरणं विषयान् विषिण्वन्त्यवबध्नन्ति प्रमातारं स्वसङ्गेनेति विषयाः स्रक्चन्दनवनितादयस्तान् न काङ्क्षते नेच्छति । हीति निश्चये ॥ ९० ॥

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियमेन समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥ ९१ ॥

मन इति । विषयः शब्दादिरेवोद्यानं वनं तत्र चरतीति विषयोद्यानचारी तस्य मन एव मत्तगजेन्द्रो दुर्निवारत्वात् । तस्य निनाद एवानाहतध्वनिरेव निशिताङ्कुशः तीक्ष्णाङ्कुशः नियमेन परावर्तने समर्थः शक्तः । एतैः श्लोकैः । 'चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः

प्रकीर्तितः ' ॥ इन्द्रियाणां विषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहार इत्युक्तलक्षणः प्रत्याहारः प्रोक्तः ॥ ९१ ॥

बद्धं तु नादबन्धेन मनः संत्यक्तचापलम् ।
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ ९२ ॥

बद्धं त्विति । नाद एव बन्धः बध्यतेऽनेनेति बन्धः बन्धनसाधनं तेन स्वशक्त्या स्वाधीनकरणेन बद्धं बन्धनमिव प्राप्तम् । नादधारणादावासक्तमित्यर्थः । अत एव सम्यक् त्यक्तं चापलं क्षणे क्षणे विषयग्रहणपरित्यागरूपं येन तत्तथा मनः सुतरां स्थैर्यं प्रयाति नितरां धारणामेति । तत्र दृष्टान्तमाह— छिन्नौ पक्षौ यस्य तादृशः खे गच्छतीति खगः पक्षी यथा । एतेन । ' प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्याच्चित्तस्थैर्यं शुभाश्रये ' ॥ शुभाश्रये चित्तस्थापनं धारणेत्युक्तलक्षणा धारणा प्रोक्ता ॥ ९२ ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसंधेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ ९३ ॥

सर्वचिन्तामिति । सर्वेषां बाह्याभ्यन्तरविषयाणां या चिन्ता चिन्तनं तां परित्यज्य त्यक्त्वा सावधानेनैकाग्रेण चेतसा योगानां साम्राज्यं सम्राजो भावः । योगशब्दोऽर्शआद्यजन्तः । राज-

योगित्वमिति यावत् । इच्छता वाञ्छता पुंसा नाद एवानाहतध्वनिरेवानुसंधेयोऽनुचिन्तनीयः । नादाकारवृत्तिप्रवाहः कर्तव्य इत्यर्थः । एतेन । 'तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसंततिश्चान्यनिस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप' ॥ 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' इत्युक्तलक्षणं ध्यानमुक्तम् ॥ ९३ ॥

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ।
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ ९४ ॥

नादोऽन्तरङ्गेति । नादः अन्तरङ्गं मन एव सारङ्गो मृगस्तस्य बन्धने चाञ्चल्यहरणे वागुरायते वागुरेवाचरति । वागुरा जालम् । यथा वागुरा बन्धनेन सारङ्गस्य चाञ्चल्यं हरति तथा नादोऽन्तरङ्गस्य स्वशक्त्या चाञ्चल्यं हरतीत्यर्थः । अन्तरङ्गं मन एव सारङ्गो हरिणस्तस्य बन्धने नानावृत्त्युत्पादनापनयनमेव मनसो बन्धस्तस्मिन् व्याधायते व्याध इवाचरति । यथा व्याधो वागुराबद्धं मृगं हन्ति एवं नादोऽपि स्वासक्तं मनो हन्तीत्यर्थः ॥ ९४ ॥

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ।
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥९५॥

अन्तरङ्गस्येति । यमिनो योगिनोऽन्तरङ्गं मनस्तस्य चपलत्वाद्वाजिनोऽश्वस्य परिघायते वाजिशालाद्वारपरिघ इवा-

चरति नाद इति शेषः । यथा वाजिशालापरिघो वाजिनोऽन्यत्र गतिं रुणद्धि तथा नादोऽन्तरङ्गस्येत्यर्थः । अन्तःकरणाद्योगिना नादस्योपास्तिरुपासना नित्यं प्रत्यहमवधार्याऽवधारणीया । हीति निश्चयेऽव्ययम् ॥ ९५ ॥

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ।
मनःपारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेऽटनम् ॥ ९६ ॥

बद्धमिति । नाद एव गन्धक उपधातुविशेषस्तेन जारणं जारणीकरणं नादगन्धकसंबन्धेन चाञ्चल्यहरणं तस्माद्बद्धं नादैकासक्तं पक्षे गुटिकाकृतिं प्राप्तम् अत एव विमुक्तं त्यक्तं चाञ्चल्यमनेकविषयाकारपरिणामरूपं येन । पक्षे विमुक्त-लौल्यं मनःपारदं मन एव पारदं चञ्चलं निरालम्बं ब्रह्म तदेवाख्या यस्य तन्निरालम्बाख्यं तदेव खमपरिच्छिन्नत्वा-त्तस्मिन्नटनं गमनं तदाकारवृत्तिप्रवाहम् । पक्षे आकाशगमनं प्राप्नोति । यथा बद्धं पारदमाकाशगमनं करोति एवं बद्धं मनो ब्रह्माकारवृत्तिप्रवाहमविच्छिन्नं करोतीत्यर्थः ॥ ९६ ॥

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ।
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥ ९७ ॥

नादेति । नादस्यानाहतस्वनस्य श्रवणतः श्रवणात् क्षिप्रं द्रुतमन्तरङ्गं मन एव भुजङ्गमः सर्पश्चपलत्वान्नादप्रियत्वाच्च

भुजङ्गमरूपत्वं मनसः। सर्वं विश्वं विस्मृत्य विस्मृतिविषयं कृत्वैकाग्रो नादाकारवृत्तिप्रवाहवान् सन्कुत्रापि विषयान्तरे न हि धावति नैव धावनं करोति। ध्यानोत्तरैः श्लोकैः 'तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्। मनसा ध्याननिष्पाद्यः समाधिः सोऽभिधीयते ॥' इति विष्णुपुराणोक्त-लक्षणः 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति पातञ्जलसूत्रोक्तलक्षणेन च संप्रज्ञातलक्षणः समाधिरुक्तः ॥९७॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति।
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ ९८ ॥

काष्ठ इति। काष्ठे दारुणि प्रवर्तितः प्रज्वालितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ज्वालारूपं परित्यज्य तन्मात्ररूपेणावतिष्ठते यथा तथा नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते। राजसतामस-वृत्तिनाशात्सत्त्वमात्रावशेषं संस्कारशेषं च भवति। तत्र च मैत्रा-यणीयमन्त्रः—'यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥' इति ॥ ९८ ॥

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य।
प्रहरणमपि सुकरं स्याच्छरसंधानप्रवीणश्चेत् ॥९९॥

घण्टादीति। घण्टा आदिर्येषां शङ्खमर्दलझर्झरदुन्दुभिजी-मूतादीनां ते घण्टादयस्तेषां नादस्तेषु सक्तः। अत एव

स्तब्धो निश्चलो योऽन्तःकरणमेव हरिणो मृगस्तस्य प्रहरणं नानावृत्तिप्रतिबन्धनमन्तःकरणपक्षे । हरिणपक्षे तु प्रहरणं हननमपि शरवद् द्रुतगामिनो वायोः संधानं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मरन्ध्रे निरोधनम्, पक्षे शरस्य बाणस्य संधानं धनुषि योजनं तस्मिन् प्रवीणः कुशलश्चेत्सुकरं सुखेन कर्तुं शक्यं स्यात् ॥ ९९ ॥

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ १०० ॥

अनाहतस्येति । अनाहतस्य शब्दस्यानाहतस्वनस्य यो ध्वनिर्निर्ह्राद उपलभ्यते श्रूयते तस्य ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्योतिः स्वप्रकाशचैतन्यं ज्ञेयस्यान्तर्गतं ज्ञेयाकारतामापन्नं मनोऽन्तःकरणं तत्र ज्ञेये मनो विलयं याति परवैराग्येण सकलवृत्तिशून्यं संस्कारशेषं भवति । तद्विष्णोर्विभोरात्मनः परममन्तःकरणवृत्त्युपाधिराहित्यान्निरुपाधिकं पद्यते गम्यते योगिभिरिति पदं स्वरूपम् ॥ १०० ॥

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ १०१ ॥

तावदिति । यावच्छब्दोऽनाहतध्वनिः प्रवर्तते श्रूयते तावदाकाशस्य सम्यक्कल्पनं भवति । शब्दस्याकाशगुणत्वाद्गुण-

गुणिनोर्भेदाद्वा मनसा सह शब्दस्य विलयान्निःशब्दं शब्दरहितं यत्परं ब्रह्म परब्रह्मशब्दवाच्यं परमात्मेति गीयते परमात्मशब्देन स उच्यते । सर्ववृत्तिविलये यः स्वरूपेणावस्थितः स एव परब्रह्मपरमात्मशब्दाभ्यामुच्यत इति भावः ॥ १०१ ॥

यत्किंचिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ १०२ ॥
इति नादानुसंधानम् ।

यत्किंचिदिति । नादरूपेणानाहतध्वनिरूपेण यत्किंचिच्छ्रूयते आकर्ण्यते सा शक्तिरेव यस्तत्त्वान्तस्तत्त्वानामन्तो लयो यस्मिन् सः तथा निराकार आकाररहितः स एव परमेश्वरः सर्ववृत्तिक्षये स्वरूपावस्थितो यः स आत्मेत्यर्थः । 'काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः' इत्यादिभिः श्लोकैः राजयोगापरपर्यायोऽसंप्रज्ञातः समाधिरुक्तः ॥ १०२ ॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥ १०३ ॥

सर्वे इति । हठश्च लयश्च हठलयौ तयोरुपाया हठलयोपाया हठोपाया आसनकुम्भकमुद्रारूपा लयोपाया नादानुसंधानशांभवीमुद्रादयः । राजयोगस्य मनसः सर्ववृत्तिनिरोधलक्षणस्य

सिद्धये निष्पत्तये प्रोक्ता इति शेषः । राजयोगसमारूढः सम्यगारूढः प्राप्तवान् यः पुरुषः स कालवञ्चकः कालं मृत्युं वञ्चयति जयतीति तादृशः स्यादिति शेषः ॥ १०३ ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ १०४ ॥

तत्त्वमिति । तत्त्वं चित्तं बीजं बीजवदुन्मन्यवस्थाङ्कुराकारेण परिणममानत्वात् । हठः प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामः क्षेत्रं क्षेत्रे इव प्राणायामे उन्मनीकल्पलतिकोत्पत्तेः । औदासीन्यं परवैराग्यं जलं तस्या उत्पत्तिकारणत्वात् । 'परवैराग्यहेतुकः संस्कारविशेषश्चित्तस्यासंप्रज्ञातः' इति तल्लक्षणात् । एतैस्त्रिभिरुन्मन्यसंप्रज्ञातावस्था सैव कल्पलतिका सकलेष्टसाधनत्वात्सद्य एव शीघ्रमेव प्रवर्तते प्रवृत्ता भवति उत्पन्ना भवति ॥ १०४ ॥

सदा नादानुसंधानात्क्षीयन्ते पापसंचयाः ।
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ १०५ ॥

सदेति । सदा सर्वदा नादानुसंधानान्नादानुचिन्तनात्पापसंचयाः पापसमूहाः क्षीयन्ते नश्यन्ति । निरञ्जने निर्गुणे चैतन्ये निश्चितं ध्रुवं चित्तमारुतौ मनःप्राणौ विलीयेते विलीनौ भवतः ॥ १०५ ॥

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्याऽवस्थया ध्रुवम् ॥१०६॥

उन्मन्यवस्थां प्राप्तस्य योगिनः स्थितिमाहाष्टभिः—शङ्खदुन्दुभीति। शङ्खो जलजो दुन्दुभिर्वाद्यविशेषस्तयोर्नादं घोषं कदाचन कस्मिंश्चिदपि समये न शृणोति। शङ्खदुन्दुभीत्युपलक्षणं नादमात्रस्य। उन्मन्याऽवस्थया देहो ध्रुवं काष्ठवज्जायते। निश्चेष्टत्वादित्यर्थः ॥ १०६ ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ १०७॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणलक्षणाः पञ्च व्युत्थानावस्थाः। ताभिर्विशेषेण मुक्तो रहितः सर्वा याश्चिन्ताः स्मृतयस्ताभिर्विवर्जितो विरहितो यः योगः सकलवृत्तिनिरोधोऽस्यास्तीति योगी तुर्यावस्थावान् स मुक्तो जीवन्नेव मुक्तः। सकलवृत्तिनिरोधे आत्मनः स्वरूपावस्थानात्। तदुक्तं पातञ्जले सूत्रे—'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' इति। स्पष्टमन्यत् ॥ १०७ ॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥१०८॥

खाद्यत इति। समाधिना युक्तो योगी कालेन मृत्युना न खाद्यते न भक्ष्यते न हन्यत इत्यर्थः। कर्मणा कृतेन

शुभेनाशुभेन वा न बाध्यते जन्ममरणादिजननेन न क्लेश्यते। तथा च समाधिप्रकरणे पातञ्जलसूत्रम्—'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' इति। केनापि पुरुषान्तरेण यन्त्रमन्त्रादिना वा न साध्यते साधयितुं शक्यते ॥ १०८ ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम्।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥१०९॥

न गन्धमिति। समाधिना युक्तो योगी न गन्धं सुरभिमसुरभिं वा न रसं मधुराम्ललवणकटुकषायतिक्तभेदात् षड्विधं न रूपं शुक्लनीलपीतरक्तहरितकपिशचित्रभेदात्सप्तविधं न स्पर्शं शीतमुष्णमनुष्णाशीतं वा न निःस्वनं शङ्खदुन्दुभिजलधिजीमूतादिनिनादं बाह्यमाभ्यन्तरं वा न आत्मानं देहं न परं पुरुषान्तरं वेत्तीति सर्वत्रान्वेति। 'आत्मा देहे धृतौ जीवे स्वभावे परमात्मनि' इत्यमरः ॥ १०९ ॥

चित्तं न सुप्तं नो जाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम्।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ ११० ॥

चित्तमिति। यस्य योगिनश्चित्तमन्तःकरणं न सुप्तम्। आवरकस्य तमसोऽभावात्त्रिगुणेऽन्तःकरणे यदा सत्त्वरजसी अभिभूय समस्तकरणावरकं तम आविर्भवति तदाऽन्तःकरणस्य विषयाकारपरिणामाभावात्तत्सुप्तमित्युच्यते। नो जाग्रत् इन्द्रियै-

रर्थग्रहणाभावात् । स्मृतिश्च विस्मृतिश्च स्मृतिविस्मृती ताभ्यां विवर्जितम् । वृत्तिसामान्याभावादुद्बोधकाभावाच्च स्मृतिवर्जितम् । विस्मृत्यनुकूलसंस्काराभावाद्विस्मृतिवर्जितम् । न चास्तं नाशमेति प्राप्नोति । संस्कारशेषस्य चित्तस्य सत्त्वात् । नोदेत्युद्भवति । वृत्त्यनुत्पादनात् । सोऽसौ मुक्त एव जीवन्मुक्त एव ॥ ११० ॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ १११ ॥

न विजानातीति । समाधिना युक्तो योगी शीतं च उष्णं च शीतोष्णम् । समाहारद्वन्द्वः । शीतमुष्णं वा पदार्थं न दुःखं दुःखजनकं परकृतं ताडनादिकं न सुखं सुखसाधनं सुरभिचन्दनाद्यनुलेपनादिकम् । तथा चार्थे । मानं परकृतं सत्कारं न अपमानमनादरं च न विजानातीति क्रियापदं प्रतिवाक्यमन्वेति ॥ १११ ॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ॥ ११२ ॥

स्वस्थ इति । स्वस्थः प्रसन्नेन्द्रियान्तःकरणः । एतेन तन्द्रा-मूर्च्छादिव्यावृत्तिः । जाग्रदवस्थायामित्यनेन स्वप्नसुषुप्त्योर्निवृत्तिः । सुप्तवत् सुप्तेन तुल्यं कायेन्द्रियव्यापारशून्यो यो योगी

अवतिष्ठते स्थितो भवति । 'समवप्रविभ्यः स्थः' इत्यात्मनेपदम् । निःश्वासोच्छ्वासहीनः बाह्यवायोः कोष्ठे ग्रहणं निःश्वासः, कोष्ठस्थितस्य वायोर्बहिर्निःसारणमुच्छ्वासस्ताभ्यां हीनश्चावतिष्ठत इत्यत्रापि संबध्यते । स निश्चितं निःसंदिग्धं मुक्त एव । जीवन्मुक्तस्वरूपमुक्तं दत्तात्रेयेण—'निर्गुणध्यानसंपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् । दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् । वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥' इति ॥ ११२ ॥

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ॥११३॥

अवध्य इति । समाधिना युक्तो योगी । सर्वशस्त्राणामिति संबन्धसामान्ये षष्ठी । सर्वशस्त्रैरित्यर्थः । अवध्यो हन्तुमशक्य इत्यर्थः । सर्वदेहिनामित्यत्रापि संबन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी । अशक्यः सर्वदेहिभिः बलेन शक्यो न भवतीत्यर्थः । मन्त्रयन्त्राणां वशीकरणमारणोच्चाटनादिफलैर्मन्त्रयन्त्रैरग्राह्यः वशीकर्तुमशक्यः । एवं प्राप्तयोगस्य योगिनो विघ्ना बहवः समायान्ति । तन्निवारणार्थं तज्ज्ञानस्यापेक्षितत्वात्तेऽपि प्रदर्श्यन्ते । दत्तात्रेयः 'आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते । पूर्वोक्तधूर्तगोष्ठी च तृतीयो मन्त्रसाधनम् । चतुर्थो धातुवादः स्यादिति योगविदो विदुः ॥' इति । मार्कण्डेयपुराणे—'उपसर्गाः प्रवर्तन्ते

दृष्टा ह्यात्मनि योगिनः । ये तांस्ते संप्रवक्ष्यामि समासेन निबोध मे ॥ काम्याः क्रियास्तथा कामान्मनुष्यो योऽभिवाञ्छति । स्त्रियो दानफलं विद्यां मायां कुप्यं धनं वसु ॥ देवत्वममरेशत्वं रसायनवयःक्रियाम् । मेरुं प्रयतनं यज्ञं जलाग्न्यावेशनं तथा ॥ श्राद्धानां शक्तिदानानां फलानि नियमास्तथा । तथोपवासात्पूर्ताच्च देवपित्रर्चनादपि ॥ अतिथिभ्यश्च कर्मभ्य उपसृष्टोऽभिवाञ्छति । विघ्नमित्थं प्रवर्तेत यत्नाद्योगी निवर्तयेत् । ब्रह्मासङ्गि मनः कुर्वन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥ ' इति । पद्मपुराणे—' यदैभिरन्तरायैर्न क्षिप्यतेऽस्य हि मानसम् । तदाऽग्रे समवाप्नोति परं ब्रह्मातिदुर्लभम् ' । योगभास्करे—' सात्त्विकीं धृतिमालम्ब्य योगी सत्त्वेन सुस्थिरः । निर्गुणं मनसा ध्यायन्नुपसर्गैः प्रमुच्यते ॥ एवं योगमुपासीनः शक्रादिपदनिःस्पृहः । सिद्ध्यादिवासनात्यागी जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥ ' इति । ' विस्तरस्य भिया नोक्ताः सन्ति विघ्ना ह्यनेकशः । ध्यानेन विष्णुहरयोर्वारणीया हि योगिना ॥ ' इति ॥ ११३ ॥

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥११४॥

अयोगिनां ज्ञानं निराकुर्वन् योगिनामेव ज्ञानं भवतीत्याह—यावदिति। मध्यमार्गे सुषुम्णायां चरन् गच्छन् मारुतः प्राणवायुः यावत् यावत्कालपर्यन्तं न प्रविशति प्रकर्षेण ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं न विशति। ब्रह्मरन्ध्रं गतस्य स्थैर्याद्ब्रह्मरन्ध्रं गत्वा न स्थिरो भवतीत्यर्थः। सुषुम्णायामसंचरन् वायुरसिद्ध इत्युच्यते। तदुक्तममृतसिद्धौ—'यावद्धि मार्गगो वायुर्निश्चलो नैव मध्यगः। असिद्धं तं विजानीयाद्वायुं कर्मवशानुगम्॥' इति। प्राणयति जीवयतीति प्राणः स चासौ वातश्च प्राणवातः तस्य प्रबन्धात्कुम्भकेन स्थिरीकरणाद्बिन्दुर्वीर्यं दृढः स्थिरो न भवति प्राणवातस्थैर्ये बिन्दुस्थैर्यमुक्तमत्रैव प्राक्—'मनःस्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्' इति। तदभावे त्वसिद्धत्वं योगिनः। उक्तममृतसिद्धौ—'तावद्बद्धोऽप्यसिद्धोऽसौ नरः सांसारिको मतः। यावद्भवति देहस्थो रसेन्द्रो ब्रह्मरूपकः॥ असिद्धं तं विजानीयान्नरमब्रह्मचारिणम्। जरामरणसंकीर्णं सर्वक्लेशसमाश्रयम्॥' इति। यावत्तत्त्वं चित्तं ध्याने ध्येयचित्तं न सहजसदृशं स्वाभाविकध्येयाकारवृत्तिप्रवाहान्नैव जायते नैव भवति प्राणवातप्रबन्धादिति देहलीदीपन्यायेनात्रापि संबध्यते। वायुस्थैर्ये चित्तस्थैर्यमुक्तममृतसिद्धौ—'यदाऽसौ म्रियते वायुर्मध्यमां मध्ययोगतः। तदा बिन्दुश्च चित्तं च म्रियते वायुना सह'। तदभावे

ह्यसिद्धत्वमुक्तममृतसिद्धौ—'यावत्प्रस्यन्दते चित्तं बाह्याभ्यन्तरवस्तुषु। असिद्धं तद्विजानीयाच्चित्तं कर्मगुणान्वितम्॥' इति। तावद्यज्ज्ञानं शाब्दं वदति कश्चित् तदिदं ज्ञानं कथं दम्भमिथ्याप्रलापः दम्भेन ज्ञानकथनेनाहं लोके पूज्यो भविष्यामीति धिया मिथ्याप्रलापो मिथ्याभाषणं दम्भपूर्वकं मिथ्याभाषणमित्यर्थः। प्राणबिन्दुचित्तानां जयाभावे ज्ञानस्याभावात्संसृतिर्दुर्वारा। तदुक्तममृतसिद्धौ—'चलत्येष यदा वायुस्तदा बिन्दुश्चलः स्मृतः। बिन्दुश्चलति यस्याङ्गे चित्तं तस्यैव चञ्चलम्॥ चले बिन्दौ चले चित्ते चले वायौ च सर्वदा। जायते म्रियते लोकः सत्यं सत्यमिदं वचः॥' इति। योगबीजेऽप्युक्तम्—'चित्तं प्रणष्टं यदि भासते वै तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः। न वा यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः॥' इति। एतेन प्राणबिन्दुमनसां जये तु ज्ञानद्वारा योगिनो मुक्तिः स्यादेवेति सूचितम्। तदुक्तममृतसिद्धौ—'यामवस्थां व्रजेद्वायुर्बिन्दुस्तामधिगच्छति। यथा हि साध्यते वायुस्तथा बिन्दुप्रसाधनम्॥ मूर्च्छितो हरति व्याधिं वृद्धः खेचरतां नयेत्। सर्वसिद्धिकरो लीनो निश्चलो मुक्तिदायकः। यथाऽवस्था भवेद्बिन्दोश्चित्तावस्था तथा तथा॥' ननु 'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया। ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च

नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥' इति भगवदुक्तास्त्रयो मोक्षोपायाः, तेषु सत्सु कथं योग एव मोक्षोपायत्वेनोक्त इति चेन्न, तेषां योगाङ्गेष्वन्तर्भावात् । तथा हि—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुत्या परमपुरुषार्थसाधनात्मसाक्षात्कारहेतुतया श्रवणमनननिदिध्यासनान्युक्तानि । तत्र श्रवणमनने नियमान्तर्गते स्वाध्यायेऽन्तर्भवतः । स्वाध्यायश्च मोक्षशास्त्राणामध्ययनम् । स च तात्पर्यार्थनिर्णयपर्यवसायो ग्राह्यः । तात्पर्यार्थनिर्णयश्च श्रवणमननाभ्यां भवतीति श्रवणमननयोः स्वाध्यायेऽन्तर्भावः । नियमविवरणे याज्ञवल्क्येन 'सिद्धान्तश्रवणं प्रोक्तं वेदान्तश्रवणं बुधैः' इति स्पष्टमेव श्रवणस्य नियमान्तर्गतिरुक्ता । 'अधीतवेदं सूत्रं वा पुराणं सेतिहासकम् । पदेष्वध्ययनं यश्च सदाभ्यासो जपः स्मृतः' इति युक्तिभिरनवरतमनुचिन्तनलक्षणस्य सदाभ्यासरूपस्य मननस्यापि नियमान्तर्गतिरुक्ता । विजातीयप्रत्ययनिरोधपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपस्य निदिध्यासनस्य उक्तलक्षणे ध्यानेऽन्तर्भावः । तस्यापि तत्परिपाकरूपसमाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वमीश्वरार्पणबुद्ध्या निष्कामकर्मानुष्ठानलक्षणस्य कर्मयोगस्य 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' इति पतञ्जलिप्रोक्ते नियमान्तर्गते क्रियायोगेऽन्तर्भावः । तत्र तप उक्तमीश्वर-

गीतायाम्—'उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्॥' इति। स्वाध्यायोऽपि तत्रोक्तः—'वेदान्तशतरुद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः। सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते॥' इति। ईश्वरप्रणिधानं च तत्रोक्तम्—'स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः। सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम्॥' इति। क्रियायोगश्च परम्परया समाधिनाऽऽत्मसाक्षात्कारद्वारैव मोक्षहेतुरिति समाधिभावनार्थः। 'क्लेशतनूकरणार्थश्च' इत्युत्तरसूत्रेण स्पष्टीकृतं पतञ्जलिना। भज्यते सेव्यते भगवदाकारमन्तःकरणं क्रियतेऽनयेति भक्तिरिति करणव्युत्पत्त्या 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥' इति नवधोक्ता साधनभक्तिरभिधीयते। तस्या ईश्वरप्रणिधानरूपे नियमेऽन्तर्भावः। तस्याश्च समाधिहेतुत्वं चोक्तं पतञ्जलिना—'ईश्वरप्रणिधानाद्वा' इति। ईश्वरविषयकात्प्रणिधानाद्भक्तिविशेषात्समाधिलाभः समाधिफलं भवतीति सूत्रार्थः। भजनमन्तःकरणस्य भगवदाकारतारूपं भक्तिरिति भावव्युत्पत्त्या फलभूता भक्तिरभिधीयते। सैव प्रेमभक्तिरित्युच्यते। तल्लक्षणमुक्तं नारायणतीर्थैः—'प्रेमभक्तियोगस्तु ईश्वरचरणारविन्दविषयकैकान्तिकात्यन्तिकप्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्नः' इति। मधुसूदनसरस्वतीभिस्तु 'द्रवीभावपूर्विका मनसो भगव-

दाकारतारूपा सविकल्पकवृत्तिर्भक्तिः' इति। तस्यास्तु 'श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि' इति श्रुतेः, 'भक्त्या मामभिजानाति' इति स्मृतेश्च आत्मसाक्षात्कारद्वारा मोक्षहेतुत्वम्। भक्तास्तु सुखस्यैव पुरुषार्थत्वाद्दुःखासंभिन्ननिरतिशयसुखधारारूपा प्रेमभक्तिरेव पुरुषार्थ इत्याहुः। तस्यास्तु संप्रज्ञातसमाधावन्तर्भावः। एवं च अष्टाङ्गयोगातिरिक्तं किमपि परमपुरुषार्थसाधनं नास्तीति सिद्धम् ॥ ११४ ॥

इति श्रीसहजानन्दसंतानचिन्तामणिस्वात्मारामयोगीन्द्रविरचितायां हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥
मूलश्लोकसंख्या ॥ ३९३ ॥ श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥

ग्राह्यमेव विदुषां हितं यतो भाषणं समयदर्श्यसंस्कृतम्।
रक्ष गच्छति पयो न लेहितं ह्यम्ब इत्यभिहितं शिशोर्यथा ॥ १ ॥
सदर्थद्योतनकरी तमःस्तोमविनाशिनी।
ब्रह्मानन्देन ज्योत्स्नेयं शिवाङ्घ्रियुगलेऽर्पिता ॥ २ ॥

इति श्रीहठप्रदीपिकाव्याख्यायां ब्रह्मानन्दकृतायां समाधिनिरूपणं नाम चतुर्थोपदेशः ॥ ४ ॥ टीकाग्रन्थसंख्या ॥ २४५० ॥

Printed by A. K. Sitarama Shastri, at the Vasanta Press, Adyar, Madras, India.

THE T.P.H. ORIENTAL SERIES

Sri Bhagavad-Gita: Sanskrit Text and English Translation by Dr. Annie Besant and S'rī Bhagavān Dās, M.A. This Edition contains a word for word translation and an introduction to Sanskrit Grammar. Indian Edition Rs. 2-8; Foreign Edition Rs. 3-8; Presentation Edition—Superior Leather Gilt Rs. 8.

The Yoga Sutras of Patanjali: Sanskrit Text and English Translation by Prof. M. N. Dvivedī. It contains also notes drawn from various authoritative sources, *viz.*, the Bhāṣyas of Vyāsa, Vācaspatimis'ra, Bhoja and Rāmānanda Sarasvatī, and the Yogavārttika of Vijñāna Bhikṣu; besides there is an introduction to its study by George C. Williams. Indian Edition Re. 1-4; Foreign Edition Re. 1-12.

The Twelve Principal Upanishads: Sanskrit Text, English Translation and notes from the commentaries of S'rī S'aṅkarācārya and the gloss of Ānandagiri in THREE Volumes.

Vol. I: Contains nine Upaniṣads, *viz.*, Īs'a, Kena, Kaṭha, Pras'na, Muṇḍaka, Māṇḍūkya, Taittirīya, Aitareya, and S'vetās'vatara Upaniṣads, translated by that eminent Orientalist, Dr. E. Roer. Prof. M. N. Dvivedī has contributed a scholarly preface to these volumes. Indian Edition Rs. 4; Foreign Edition Rs. 5.

Vol. II: Bṛhadāraṇyakopaniṣad, translated by Dr. E. Roer. Indian Edition Rs. 6; Foreign Edition Rs. 7.

Vol. III: Chāndogya and Kauṣītaki-Brāhmaṇa Upaniṣads: Text, translated by Rāja Rājendralāl Mitra and Prof. E. B. Cowell, M.A., respectively. Indian Edition Rs. 5; Foreign Edition Rs. 6.

Yogasarasangraha of Vijñānabhikṣu. Text in Devanāgarī, English Translation by Mahāmahopādhyāya Dr. Gaṅgānātha Jha, M.A., F.T.S. Revised Indian Edition Rs. 2-8; Ex. Edition Rs. 3-8.

Gheranda Samhita: A treatise on Haṭha Yoga. Text and Translation by Sris Candra Vasu. Indian Edition Rs. 2; Ex. Edition Rs. 2-8.

Brahmasutrabhashya of S'rī S'aṅkarācārya with Bhamati of Vācaspati Mis'ra for the Catussutri. (The first four of the Vedānta-sūtras of Bādarāyaṇa.) Text in Devanāgarī, English Translation with Introduction and Notes by Prof. S. S. Sūryanārāyaṇa S'āstrī, M.A., B.Sc. (Oxon.), Bar-at-Law, and Prof. C. Kunhan Rājā, M.A., D.Phil. (Oxon.) Indian Edition Rs. 8; Ex. Edition Rs. 10.

Hatha-Yoga Pradipika of Svātmārāma Svāmin with the commentary of Brahmānanda. Text and translation with Notes by Yogī Srinivasa Iyengar, B.A. Indian Edition Rs. 3; Ex. Edition Rs. 4.

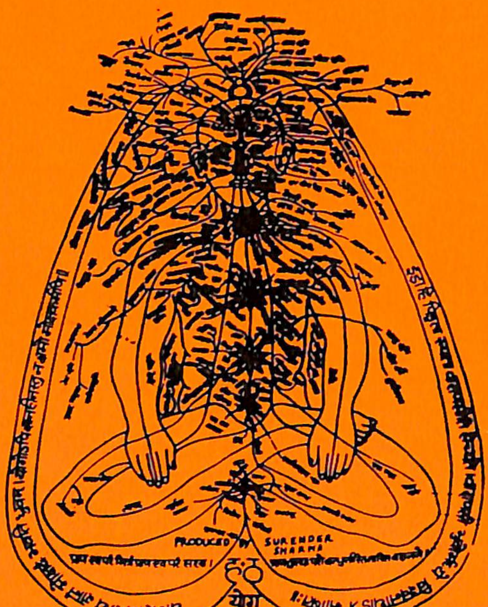
Manameyodaya: A Primer on Mīmāṁsā by Nārāyaṇa Bhaṭṭa; Text in Devanāgarī, English translation, with Introduction and Notes by Prof. C. Kunhan Rājā, M.A., D.Phil. (Oxon.), Head of the Department of Sanskrit and Prof. S. S. Sūryanārāyaṇa S'āstrī, M.A., B.Sc. (Oxon.), Bar-at-Law, Head of the Department of Philosophy, University of Madras. Indian Edition Rs. 5; Ex. Edition Rs. 6.

THEOSOPHICAL PUBLISHING HOUSE

Adyar, Madras, India

हठयोग

एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका



सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं
हठयोगप्रदीपिका

—सुरेन्द्र कुमार शर्मा

हठयोग—आत्मस्थिति रूप परम स्वरूप को प्राप्त करने के लिए भारत की प्राचीनतम साधना-पथ का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण भारतीय दर्शन परम्परा में इसका अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि कायाघट के हठयोगाग्नि में तापन को परमशिवरूप जल की प्राप्ति का साधन माना गया है। इसी यौगिक प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों (षट् कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि) का विशद विश्लेषण हठयोग-प्रदीपिका का विषय है। प्रस्तुत पुस्तक महायोग और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए हठयोगसम्बन्धी भ्रान्तियों को निरस्त करने का प्रयास है। हठयोग के घटक तत्त्वों का पर्यालोचन तथा मूल ग्रन्थ को उपस्थापित करने से पूर्व इस पर विकासात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

मूल्य : रु० ५०.००

हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका

हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
एवं
हठयोगप्रदीपिका

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007

प्रथम संस्करण : 1985
मूल्य : रु० 50.00

मुद्रक :
रूबी प्रिंटिंग सर्विस,
मोहन मार्किट, रोहतास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-3

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ।।
(ब्रह्माण्ड पुराण)

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।
(भगवान् शङ्कर)

पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय विशाल होने के साथ ही साथ इतना विविध है कि इसमें न केवल मानव जीवन अपितु स्थावर जङ्गमात्मक इस विश्व का कोई भी अङ्ग इसके विवेचन से वञ्चित नहीं रहा है। इसके महनीय कलेवर में विकसित विद्याओं एवं कलाओं की संख्या अपरिगणनीय है। जीवन को बहुत सूक्ष्मता से देखने, समझने एवं उसको यथा-सम्भव परिपूर्ण बनाने के लिए प्राचीन भारतीय मनीषियों का योगदान सर्वथा अक्षुण्ण है। विद्याओं एवं कलाओं की विविधता में भी एकसूत्रता पाई जाती है और वह है अध्यात्मप्रवणता जहाँ आकर ही सभी स्रोतों का पर्यवसान होता है। सबका परम लक्ष्य यही है कि हम कौन हैं, हमारा स्वार्थ और परमार्थ क्या है तथा उनकी प्राप्ति हम किस प्रकार कर सकते हैं।

भारतीय वाङ्मय एक वृक्ष के समान है जिसके मूल तो वेद हैं तथा व्याकरण एवं धर्म, अर्थ, कामादि विषयक शास्त्र शाखा प्रशाखाएँ तथा पत्र-पुष्प हैं, पर इसका फल तो दर्शन शास्त्र ही है। इस शास्त्र की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं सांख्य और योग। संख्या चर्चा विचारण की व्युत्पत्ति से सांख्य पद सिद्धान्त पक्ष को निरूपित करता है तो 'युज्यते अनुभवपथ मानीयते अनेन' की व्युत्पत्ति से योग का अभिप्राय ज्ञान का अनुभवात्मक अनुष्ठान ही है। वस्तुतः सांख्य और योग ये दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह दार्शनिक तत्त्वों के दो अनिवार्य पक्ष हैं जिनके बिना दर्शन की दृश्यते अनेन की व्युत्पत्ति समुचित नहीं बनती।

योग को महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है, जिसे गीता में दुर्निग्रह एवं सुदुष्कर माना है। किन्तु वहीं यह बताया गया है कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा मनोनिग्रह सर्वथा सरल हो जाता है। इसी को योग की परम्परा में हठयोग कहते हैं। जिसमें विविध मुद्राओं एवं आसनों के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके चित्त की वृत्तियों का आनायास निरोध सम्पादित हो जाता है। यहाँ यह बात बताना नितराम आवश्यक है कि हठयोग का भी लक्ष्य अन्य दर्शनों की ही भाँति आत्मसाक्षात्कार ही है जिसकी चरम परिणति मोक्ष में होती है।

अपने अन्तेवासी सुरेन्द्रकुमार शर्मा की कृति हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका को स्थालीपुलाकन्याय से ही अवलोकन कर मुझे प्रसन्नता हुई है कि ग्रन्थकार ने हठयोग की उपर्युक्त चेतना को आत्मसात् कर प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका सम्यक् निर्वाह किया है। हठयोग के इतिहास का विवेचन अपने आप में एक बहुत ही जटिल कार्य है क्योंकि उसके सूत्र विविध एवं परस्पर विरुद्ध परम्पराओं में उलझे पड़े हैं जिन्हें सुलझाकर एकरूपता में लाना ही परमश्लाघ्य कार्य है जिसे यहाँ कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया गया है। साथ ही हठयोगप्रदीपिका को आधार बनाकर कतिपय उत्कृष्ट आसनों, मुद्राओं और प्राणायाम के प्रकारों का सुस्पष्ट एवं प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

अन्त में नादानुसन्धान सहित समाधि की अवस्था का निरूपण भी यहाँ सुबोध शैली में हुआ है। इन सबके प्रायोगिक दिग्दर्शन हेतु आयुर्वेद के ग्रन्थों के समुद्धरण कृति की महत्ता को और उत्कृष्ट बना देते हैं। अपनी प्रथम रचना में ही इतनी सफलता के लिए मैं सुरेन्द्र को बधाई देना चाहता हूँ और कामना करना चाहता हूँ कि वे निरन्तर एक के बाद एक ग्रन्थ के प्रणयन में लगे रहें तथा इस क्षेत्र में यशस्वी हों।

डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7

भूमिका

सप्त सिन्धु के निवासी प्राचीन ऋषियों व मुनियों की ज्ञानवर्धक, उर्वर एवं कल्पना विचार प्रधान ऋतम्भरा प्रज्ञा ने जिस ज्ञानार्जन की प्रशस्त परम्परा का परिवर्धन कर एक ऐसे दर्शनाङ्कुर को मानव मानस भूमि पर प्रतिष्ठापित किया, जो कालान्तर में विभिन्न धर्म शाखाओं एवं साम्प्रदायिक पत्रों से युक्त महान् दर्शन वृक्ष के रूप में उपस्थापित हुआ, फलस्वरूप समस्त मानव जन को जिससे आध्यात्मिक फल प्राप्त हुआ।

इस प्रकार की विभिन्न मर्त्य कल्पना अभौतक सत्ता से सम्बद्ध होकर एक नवीन मार्ग की ओर अग्रसर हुई, जिसे अखण्ड सत्ता के नाम से अभिहित करते हैं और इसकी प्राप्ति ही मानव जीवन की उदात्त भावना का चरम एवं अन्तिम लक्ष्य है, क्योंकि क्लेशमय भौतिक सत्ता से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय यही है। दर्शन शब्द के मूल में भी यही सिद्धान्त दृष्टिगत होता है। 'दर्शन' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। क्या? अखण्ड तत्त्व का वास्तविक तात्त्विक स्वरूप। अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति ही मोक्ष का नामान्तर है। तच्च्युति—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।

संसृति का मुख्य हेतु है। अत एव सिसृक्षा से उत्पन्न त्रिगुणात्मिक ("जगदाभास") असत्य अथवा प्रातिभासिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह माया नामक एक सामान्य वस्तु के द्रव्य से बना है, जो बाद में भिन्न प्रकार के सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक कार्य करते हुए अनुमान किया जाता है। माया तत्त्व समग्र कर्मों का कोष है)।[1] माया का यथार्थ ज्ञान दर्शन का ध्येय है। क्योंकि "प्राचीन भारत में पूर्णत्व के अन्वेषण के परिणामस्वरूप द्वैत तथा अनैकान्तिक दृष्टियों के साथ-साथ अद्वैत-दृष्टि का भी विकास हुआ था। दार्शनिक विचार के क्रम विकास की दृष्टि से वैदिक संहिता तथा उपनिषदों का अद्वैतवाद

1. भारतीय दर्शन का इतिहास—भाग पञ्चम, पृ०-30

यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी बहुसंख्यक दार्शनिक समीक्षकों में अद्वैत-चिन्तन का प्रभाव दिखाई देता है। प्राचीन मीमांसा शास्त्रों में जिस प्रकार अद्वैत-तत्त्व का अनुसन्धान मिलता है, वह शाङ्करमत से अत्यन्त प्राचीन है। भर्त्तृहरि तथा मण्डनमिश्र का ब्रह्मवाद आचार्य शंकर-प्रचारित अद्वैत से भिन्न होने पर भी, अद्वैतवाद ही है। प्राचीनकाल में शब्दाद्वैतवाद का विद्वत्समाज में अत्यधिक प्रचार रहा। जयन्त की न्यायमञ्जरी में, शान्तरक्षित तथा कमलशील के तत्त्वसंग्रह तथा उसकी टीका में, जैनसाहित्य में, सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य की शिवदृष्टि और उसकी टीका आदि ग्रन्थों में, पूर्वपक्ष के रूप में इस मत की चर्चा की गई है। बौद्ध-दार्शनिक समाज में योगाचार-मत अद्वैतवाद है और माध्यमिक मत भी उसी प्रकार का है, उनमें एक है विज्ञानाद्वैतवाद और दूसरा है शून्याद्वैतवाद। प्रसिद्धि है कि कालक्रम से बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ गया था। नैयायिकों के अद्वैतवादी न होने पर भी नैयायिकशिरोमणि उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व-विवेक में अद्वैतवाद के ऊपर विशेष श्रद्धा प्रकट की है। शैव तथा शाक्त आगमों में भी अद्वैत की महिमा ही घोषित हुई है। इन्हें तान्त्रिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है। ईश्वराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द-साहित्य के माध्यम से प्रचारित हुआ था।··· अद्वैतवाद विभिन्न प्रकार का होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन सब में किसी-न-किसी अंश में सोपान-परम्परागत एक क्रम विद्यमान है।''[1] इसी प्रकार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में योग परक वैचित्र्य दृष्टिगत होने पर भी मूलतः एवं विशेष रूप से अन्तर्निहित एक ही तत्त्व का बोध होता है और उसी महायोग के चार प्रमुख अङ्गों (मन्त्र, लय, हठ और राज) का विवेचन योग-शास्त्रों में किया गया है।

महायोग के उपर्युक्त अङ्गों में क्रमशः श्रेष्ठता को प्राप्त कर अन्तिम योग राजयोग ही उत्तमोत्तम है तथा इसके तीन प्रकार—(सांख्य, तारक और अमनस्क) निर्दिष्ट हैं। पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान सांख्य, बहिर्मुद्रा का ज्ञान तारक और अन्तर्मुद्रा के परिज्ञान से अमनस्क योग होता है। इस प्रकार सांख्य से तारक और तारक से अमनस्क योग श्रेष्ठ है।[2] परन्तु तत्त्व की दृष्टि से शिवयोग और राजयोग एक ही हैं और साधकों का

---

1. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—डा० गोपीनाथ कविराज, पृ०-1-2, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन्-1978
2. मन्त्रो लयो हठो राजा चेति योगाश्चतुर्विधाः। 1/4
   उत्तरोत्तरवैशिष्ट्याद्योगाश्चत्वार एव हि।
   तेष्वेक एव मुख्योऽसौ राजयोगोत्तमोत्तमः॥
   सोऽपि त्रिधा भवेत्सांख्यस्तारकश्चामना इति।
   पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानं यत्सांख्यमुच्यते॥
   बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते।
   अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः॥
   श्लाघ्यः सांख्यात्तारकोऽयममनस्कोऽपि तारकात्।
   राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः॥ 1/9-12

   शिवयोगदीपिका, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः। ग्रन्थाङ्क-139, सन्-1978

साध्य शिवयोग तथा उसका साधन हठयोग कहलाता है। योग (योगाङ्गप्रक्रिया) से ज्ञान और ज्ञान से योग (समाधि) प्रवर्तित होता है तथा बुद्धिमान् पुरुष को इन दोनों की सिद्धि हेतु शरीर की रक्षा करनी चाहिये। महाकवि कालिदास के अनुसार भी—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।

अतएव शरीर को कफ रहित एवं सुस्थैर्य हेतु हठयोग का ही अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि शरीरियों का कफ केवल हठयोग द्वारा ही नष्ट होता है।[1]

इस प्रकार की प्राचीन भावाभिव्यक्तियों पर अन्वेषकों का दृष्टिपात क्यों नहीं हुआ यह अपने आप में एक रहस्य ही तो है। विचारकों की दृष्टि से प्राचीन हठयोग वास्तव में अस्पृष्ट है। जबकि हठयोग का प्रचलन तान्त्रिक ग्रन्थों के प्रणयन से कई शताब्दी पूर्व था ऐसा कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं क्योंकि यह सर्वविदित है कि प्रत्येक सिद्ध को सर्वप्रथम हठयोग का अभ्यास करना चाहिए अथवा हठयोग का अभ्यास उसे तब करना चाहिये जबकि वह अन्य साधनों से अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सकता हो, इसलिए सुस्पष्ट है कि तन्त्र वहाँ से प्रारम्भ होते हैं, जहाँ हठयोग समाप्त होता है[2] (प्रकृत् शब्द हठयोग की प्राचीनता के द्योतक हैं)।

वस्तुतः तात्पर्य यह है कि तन्त्र के भव्य भवन के निर्माण में हठयोग ने सबल नींव प्रदान की तथा इसी भवन की प्रशंसा में प्राचीन आचार्यों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन तो किया लेकिन इसके मूल कारण हठयोग के यथार्थ स्वरूप की उपेक्षा के साथ। जिसके फलस्वरूप विभिन्न दर्शनों की विविध विश्लेषणात्मक असङ्गतियों में घृष्ट होता हुआ प्राचीन हठयोग का यथार्थ स्वरूप अपनी मूलस्थिति से अपभ्रष्ट होता रहा। अनेक साम्प्रदायिक आचार्यों ने हठयोग निर्दिष्ट विशिष्ट मुद्राओं के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर मुद्रा, मैथुन इत्यादि जैसे गर्हित अर्थों में उपस्थापित किया। इन परिस्थितियों में जबकि हठयोग दर्शन सूर्य को सघन प्रतिक्रिया मेघ ने आच्छन्न कर लिया था कि तभी आदि शंकराचार्य जैसे अद्वितीय, महिमा एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्वयुक्त गोरक्षनाथ रूप चन्दनानिल का आविर्भाव हुआ जिसके तीव्र वेग ने उस असामयिक दुर्दिन को दिग्लीन

---

1. शरीरं कफनाशेन सुस्थैर्यं याति निश्चितम् ।
स कफो हठयोगेन विनश्यति शरीरिणाम् ।। शिवयोगप्रदीपिका—2/3

2. It means that every worshipper should practice first Hathayoga or that he should do so only when he fails to achieve his end by other means......It is therefore clear that Tantras begin where Hathayoga ends.—Guhyasamāja Tantra, edited by Benoytosh Bhattacharya, p. xvi-xvii.

कर दिया तथा उसकी सुगन्ध केवल इस मर्त्यभूमि पर ही नहीं प्रत्युत इस विज्ञान प्रधान युग में भी श्री शिव के मस्तकस्थ चन्द्रमण्डल पर विराजित हुई,* क्योंकि उसने सभी धर्मों का समन्वय 36 तत्त्वों में कर, पञ्चभूत निर्मित इस देह में इतने देवी-देवताओं का वास दिखाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इस प्रकार से पिण्डस्थ कर दिया कि कायज्ञान एक ऐसे चरमबिन्दु को प्राप्त कर गया जो स्वयं सिद्धियों से युक्त, अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय था। उनकी रचनाओं पर वेद और उपनिषदों के तात्त्विक विचारों, बौद्ध, सांख्य, योग, तन्त्र, अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा कश्मीर शैव सम्प्रदाय के मूल तत्त्वों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में परिलक्षित होता है। दर्शन प्रधान ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में परमशिव का ज्ञान बुद्धि ज्ञान से भिन्न व समस्त मानवजन के बाह्य एवं आन्तरिक अनुभूति का एकमात्र आधार है।

इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार का मुख्यतम श्रेय आगे चलकर श्री स्वात्माराम योगीन्द्र प्रणीत हठयोगप्रदीपिका को जाता है. क्योंकि उन्होंने गोरक्षनाथ के मूल सिद्धान्त (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की शरीर में विद्यमानता) को चरितार्थ करने के उद्देश्य से काया योग साधना पद्धति का अवलम्बन कर, उससे प्राप्त मुक्ति का संचार किया। "मुक्ताई से अपने उपदेश में अल्लम प्रभु कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को माँ के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक, भक्त को बाह्य प्रकार की पूजा में ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद में उनको छुड़वा देता है, जिससे अन्त में वह सब प्रकार के कर्तव्यों से विरक्त हो जाता है तथा सत्य-ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यहाँ अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ट उपयोग नहीं परन्तु सबका शिव से तादाम्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।"[1] अतएव यह सुस्पष्ट है कि हठयोग साधना पद्धति का मुख्यतम उद्देश्य मुक्ति है ऐसा महान् हठयोगी अल्लम प्रभु ने भी स्वीकार किया है तथा इसी तत्त्व की उद्घोषणा करते हुए स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं कि जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल आलाप मात्र है।[2] इस प्रकार परम साध्य के साधनाङ्गों का युक्तिपूर्ण वर्णन हठयोगप्रदीपिका में परिलक्षित होता है।

इस प्रसङ्ग में यह कथन असङ्गत नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोग के सभी अंगों (विशेष रूप से प्राणायाम) का सविस्तर एवं सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, क्योंकि प्राणायाम श्वास की वह साधन क्रिया है जिसके द्वारा साध्यद्वय सिद्ध होते हैं। प्रथम असाध्य रोगों का नाश एवं द्वितीय कुण्डलिनी शक्ति जागरण द्वारा मुक्ति। प्राणायाम सम्बन्धी

---

* चन्द्रमा पर किए गए सफल प्राणायाम प्रयोग।

1. प्रभु लिङ्ग लीला, पृ०-57-58, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-5, एस० एन० दास गुप्ता, पृ०-51

2. हठयोगप्रदीपिका—4/113

विवेचनान्तर्गत यह बताना अत्यावश्यक हो जाता है कि प्राणायाम का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन एवं पाश्चात्य जगत् में भी प्रचलित था।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोगप्रदीपिका के तुलनात्मकाध्ययनाभावाभाव व सिद्धासन और प्राणायाम को अत्यधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से चित्र भी उपस्थापित किये गए हैं। सिद्धासन की महत्ता को हठयोगमार्गानुगामी आचार्यों ने ही नहीं अपितु अद्वैतवाद के प्रचारक श्री आदिशङ्कराचार्य ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि—जिस (आसन) में सुखपूर्वक, अविच्छिन्न ब्रह्मचिन्तन हो, उसे ही आसन जानो तथा अन्य केवल सुखनाशक ही हैं। जो समस्त भूतों का आदिकारण, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं उसे सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[2]

प्रकृत ग्रन्थ सामान्य ज्ञान विवेचन के अतिरिक्त शोध के उद्देश्य से भी लिखा गया है। प्रेरणा स्रोत विषयक प्रसङ्ग में सर्वप्रथम मैं यह बताना चाहूँगा कि सन् 1981-

---

1. The Science of breathing is as old as the world. It is practised not merely for health but for evolving certain occult powers which are latent in all of us. The Chinese, two thousand years before the Christian era, had this science; the Greeks and Romans also practised it. Some of the Roman writers mentioned the practice of holding the breath for medical purposes, because it was believed that thereby they could induce heat in the internal regions of the body and also could strengthen the internal regions. Plato refers to the custom of resorting to breathing in certain ways, and later on, in mediaeval ages, writers have made mention of this science. Kant wrote a work on the power of the mind to control sickness by the mere force of the will, and there is one chapter on this matter alone, that is, treating certain diseases by the holding of the breath. This science therefore must be deeply important not only for the curing of disease but for other more important purposes.—Speeches and writings of Virchand R. Gandhi. The Yoga philosophy—Published by the Trustees Devchand Lalbhai Pustakoddhar Fund, Bombay, 1912.

2. सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम्॥
सिद्धं यत् सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥ अपरोक्षानुभूति—112, 113

82 में **अपर्णा आश्रम मानतलाई** से योगशिक्षा प्राप्त कर, मानव जीवन में योग के महत्त्व का बोध हुआ। परिणामस्वरूप यह निश्चय किया कि भविष्य में योगपरक विशेषानुसन्धानिकाध्ययन एवं आश्रम में दिये गये उपदेशानुसार योग का प्रचार एवं प्रसार का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए मैं वहाँ के समस्त शिक्षकों का आभारी हूँ। सहायक ग्रन्थों के सम्बन्ध में (प्राणायाम के चित्र हेतु) कल्याण का योगाङ्क तथा कैवल्य धाम की हठप्रदीपिका ने समय-समय पर मेरा दिशा निर्देश किया।

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का मैं अत्यन्त ऋणी एवं कृतज्ञता का पात्र हूँ जिन्होंने हठयोगप्रदीपिका की अतिप्राचीन टीका उपलब्ध कराई तथा स्वयं अत्यन्त व्यस्त होने पर भी अपने अमूल्य विचारों द्वारा मेरा दिशा निर्देशन किया।

मैं अपने लघु शोध निर्देशक पूज्य गुरु रीडर डा० बलदेवराज शर्मा संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समयाभाव होने पर भी मेरी सहायता की। पुस्तक का शुद्ध व परिमार्जित रूप उन्हीं के अथक प्रयास असीम कृपा व अगाध प्यार का ही फल है।

प्राणायाम के बाहरी चित्र हेतु मित्र सुरेन्द्र सिह ने जो मेरी मदद की वह अकथनीय है। इस विषय में मैं कुमारी किरण शर्मा का ऋणी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कार्यरत श्री कल्याण सिह, श्री हरमन्दिर पाल, श्री रघुबीर सिह और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अल्प समय में ही इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की कृपा की है। इस पुस्तक के निर्माण एवं प्रकाशन में मित्रवर श्री हरीश कौशिक, श्री भगवती प्रसाद, श्री रमण कुमार तथा श्री रमाकान्त तिवारी आदि मित्रों का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि इनके सतत सहयोग व प्रोत्साहन के द्वारा ही यह कार्य पूर्ण हो रहा है।

अन्त में केवल यही कहना चाहूँगा कि—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्नहि॥

—**सुरेन्द्र कुमार शर्मा**

विषयानुक्रमणी

संकेत-सूची

कठ उ०	—	कठोपनिषद्
घे० सं०	—	घेरण्ड-संहिता
पा० यो० द०	—	पातञ्जल योगदर्शन
भा० पु०	—	भागवत पुराण
म० स्मृ०	—	मनुस्मृति
मै० उ०	—	मैत्रायण्युपनिषद्
यो० कु० उ०	—	योगकुण्डल्युपनिषद्
यो० चू० उ०	—	योगचूडामण्युपनिषद्
यो० तत्त्व० उ०	—	योगतत्त्वोपनिषद्
शा० उ०	—	शाण्डिल्योपनिषद्
शि० सं०	—	शिव-संहिता
शि० स्व०	—	शिवस्वरोदय
ह० प्र०	—	हठप्रदीपिका
ह० यो० प्र०	—	हठयोगप्रदीपिका

अध्याय 1

हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

दर्शन परम्परा के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन प्रारम्भ से ही आस्तिक एवं नास्तिक[1] रूपी दो विचारप्रधान धाराओं में विभक्त रहा है। जहाँ एक ओर नास्तिक शब्द रूपी मणिमुकुट धारण करनेवाले जैन, बौद्ध और चार्वाक प्रभृति दर्शनों ने अपनी तर्कपूर्ण शैली से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हम सब उस ईश्वर की देन नहीं, वहीं दूसरी ओर ईश्वरीयसत्ताविषयक ज्ञानाऽमृतरस की गागर को धारण करने वाले वेदान्त, न्याय वैशेषिक, अर्वाचीन सांख्य और योग प्रभृति आस्तिक दर्शनों ने अपनी बाण सदृश अकाट्य लेखनी की जिह्वा से प्रस्फुटित तर्कों से यह सिद्ध किया है कि हम सब निरीह प्राणी ईश्वर की देन तथा उसी के वशीभूत केवल कठपुतली मात्र ही हैं। इसी कारण से अनुप्रेरित इन आस्तिक दर्शनों का भारतीय दर्शन साहित्य में ही नहीं अपितु समस्त विश्व दर्शन साहित्य में अनूठा एवं विशिष्ट योगदान रहा है, जिनमें योगदर्शन का अपना अलग एवं उच्चतम स्थान है, क्योंकि योगदर्शन में निर्दिष्ट ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा ही प्राचीन भारतीय मनीषियों को वैदिक मन्त्रों का बोध हुआ था।[2]

योग दर्शन में प्रतिपाद्य 'योग' का वर्णन आस्तिक, नास्तिक एवं अन्य संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में बहुलता से प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ वैदिक विचारधारा में इसका अर्थ संयोग हेतु हुआ है, गणित शास्त्र में इसका अर्थ मिलाना दृष्टिगोचर होता है। वैयाकरण दृष्टिकोण के अनुसार योग शब्द 'युज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

---

1. आस्तिक शब्द भारतीय दर्शन परम्परा में वेदों की प्रामाणिकता मानने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते वे नास्तिक कहलाते हैं, क्योंकि वेद ईश्वरवादी ग्रन्थ हैं, इसलिए कालान्तर में आस्तिक शब्द ईश्वर में विश्वास करने वालों के लिए तथा जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते उनके लिए नास्तिक शब्द का प्रयोग होने लगा।
2. (क) सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।

ऋग्वेद-10/129/4

'युजिर् योगे' धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ संयुक्त होना अथवा मिलाना है। पातञ्जल योगदर्शन में 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न योगपद का उल्लेख किया गया है, किन्तु भाष्यकार भगवान् व्यास के मन्तव्यानुसार योग एवं समाधि पर्यायवाची हैं।[1]

योग शब्द की व्युत्पत्ति—इस प्रकार शुद्ध तर्क की कसौटी पर परखने से यह प्रतीत होता है कि 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[2] फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है उसमें प्रकार भेद होने पर भी कुछ अंश में मूलतः सामञ्जस्य प्राप्त होता है उसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग,

---

(ख) ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्—1/3

1. (क) व्यास भाष्य, पृ०. 1
(ख) योगः समाधि, पृ०. 3

2. "योगः—1 सम्बन्धः। 2 (क) समुदायशब्दस्य अवयवशक्तिः (त०दी०) (नील० 4 पृ०31) (सि० च० 4, 31)। यथा पाचकादिपदेषु योगः अत्र च पाचकादिपदात् पचति इति व्युत्पत्त्या पाककर्ता बुद्ध्यते इति बोध्यम्। अत्र योगबलं समाख्या इति मीमांसका वदन्ति (वाच०)। (ख) वैयाकरणास्तु शास्त्रकल्पितावयवार्थमात्रबोध-प्रयोजको योगः (शक्तिः)। यथा पाचकादौ इत्याहुः (ल०म० आकांक्षादिवि० पृ० 12) 3 (क) चित्तवृत्तिनिरोधः इति योगिन आहुः (पा० पा० 1 सू० 2) (ख) क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः (सर्व०सं०पृ० 132 पात०) अत्रेदं बोध्यम्। विषयेष्वलंप्रत्ययवत उदासीनस्य बहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदा आत्ममात्रनिष्ठं भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात्कर्म मनसि नोत्पद्यते स्थिरतरं मनो भवति स एव योगः (वै० उ० 5/2/16)। अथवा आत्मस्थे मनसि षडङ्गयोगेन इन्द्रियादिकं परित्यज्य मनो यदा आत्ममात्रे तिष्ठति तदा मनःकर्मणोनुत्पादः तदा मनो निश्चलं भवति। तदवस्थायां शरीरावच्छेदेन दुःखं न जायते। स आत्मना बाह्यव्यावृत्त-मनसः संयोगो योग उच्यते। षडङ्गानि स्कन्दपुराणे उक्तानि यथा-आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ (वै० सू० 5/2-16) (वै० वि०) इति। यद्वा इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहृत्येन्द्रियेभ्यो मनः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनः प्रणिधानं योगः (नील०) इति। स च योगो द्विविधः। राजयोगः हठयोगश्च। तत्र राजयोगः पतञ्जलिनोक्तः। हठयोगस्तु तन्त्रशास्त्रोक्तः प्रकारान्तरेणापि। योगो द्विविधः सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातश्चेति। तथा योगस्त्रिविधः

चन्द्र और सूर्य का मिलन रज और बिन्दु का मिलन, शिव शक्ति का सामञ्जस्य, चित्त-वृत्ति का निरोध अथवा पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी में निर्दिष्ट किसी अन्य प्रकार से भी उसका लक्षण किया जाये परन्तु मूलमें विशेष भेद नहीं है।[1] स्कन्दपुराण के अनुसार जहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का जो समान रूपत्व है, वही सर्वसंकल्परहित समाधि कहा

ज्ञान-योगः कर्मयोगः भक्तियोगश्च (भाग० स्क० 11 अ० 20 श्लो० 6) इति। इदं च बोध्यम् 'षष्ठभगवदवतारो दत्तात्रेयः' स च आन्वीक्षिकीमलकार्य प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् (भाग० 1 / 3 / 12)। तेन च स्वसंहितायां योगोनुशिष्टः इति 4 उपायः (5) युक्तिः (6) जीवात्मपरमात्मनोः सम्बन्धः इति केचिद्वेदान्तिन आहुः तदुक्तम् योगं संयोगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः इति (वाच०)। (7) देवतानुसंधानं योगः इति रामानुजीयाः नारद-पञ्चरात्रविदः आहुः (सर्व० पृ० 117 रामा०)। (8) अप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। यथा योगाचारः इत्यादौ इति बौद्धा आहुः। (9) शब्दादीनां प्रयोगः इति वैयाकरणा आहुः (10) भेषजम् इति भिषज आहुः। (11) योगः कर्मसु कौशलम्, इति कर्मकर्तारोङ्गीचक्रुः (12) छलम् (उपाधि) इति व्यवहारशास्त्रज्ञा आहुः। अत्र स्मृतिः योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यस्य वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत् ।। (याज्ञ० अ०2 श्लो० 181टी० मिता० पृ०94) इति। योगः कपटम् इति मनुः (8/165) (13) रविचन्द्रयोगाधीना विष्कम्भादयः सप्तविंशति पदार्थाः इति ज्योतिषज्ञा आहुः। (14)तिथिवारनक्षत्राणां सम्बन्धविशेषः। यथा सिद्धियोगः अमृतसिद्धियोगः अर्धोदययोगः दग्धयोगः इत्यादिः इति मौहूर्तिका आहुः (15) लग्नादिगृहविशेषे स्थितो ग्रहविशेषः। यथा राजयोगः नाभसंयोगः इत्यादिः इति कार्तान्तिका आहुः। (16) यात्रायाम् आलग्नात्केन्द्रत्रिकोणस्थितो बुधजीवशुक्राद्यन्यतमः इति ज्योतिःशास्त्रज्ञा आहुः। तदुक्तम् एको ज्ञज्यसितेषु पञ्चमतपः केन्द्रेषु योगस्तथा द्वौ चेत्तेष्वधियोग एषु सकला योगाधियोगः स्मृतः योगे क्षेममथाधियोगगमने क्षेमं रिपूणां वधः (मु० चि०) इति। (17) कामुककामिनीसंमेलनं योगः इत्यालंकारिका वदन्ति। (18) चित्तद्वारेणात्मेश्वरसंबन्धो योगः (सर्व० सं० पृ० 169 नकुली०) (न्याय कोश-पृ० 670 से उद्धृत)

1. योऽपानप्राणयोश्चैव रजसो रेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते ।। योगशिखोपनिषद्—1/68

जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की अविभागरूप एकता ही परमयोग है।[1] याज्ञवल्क्य-संहिता में जीवात्मा और परमात्मा का संयोग योग कहा गया है।[2] गीता के अनुसार समत्व ही योग है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध ही योग कहा गया है।[4] कठोपनिषद् के अनुसार इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का नाम योग है।[5] मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार प्राण, मन और इन्द्रियों का एकत्व तथा सर्वभाव का परित्याग ही योग कहलाता है।[6]

अग्निपुराण[7], आदित्यपुराण[8], कूर्मपुराण[9] और लिङ्गपुराण[10] आदि में चित्तवृत्ति के निरोध से ही योग की सम्भावना की अभिव्यक्ति की गई है। उपाध्याय यशोविजय ने द्वात्रिंशिका में कहा है कि सर्वकर्म मल का नाश तथा मोक्ष के साथ संयोग ही योग है[11] आचार्य हेमचन्द्र ने चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ मानकर योग को उसका कारण माना है।[12] महाभारत के शान्तिपर्व में योग द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति बताई गई है।[13]

---

1. यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
   स नष्ट-सर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
   जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तप।
   स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥—स्कन्द पुराण अध्याय-29
2. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः—याज्ञवल्क्यस्मृति—2/44
3. समत्वं योग उच्यते।—गीता-2/48
4. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—पा० योग दर्शन-1/2
5. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्—कठोपनिषद्—2/3/11
6. एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
   सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते॥ मैत्रायण्युपनिषद्—6/25
7. चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।—अग्निपुराण-372
8. योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।—आदित्य पुराण
9. मय्येकचित्तता योगो वृत्यन्तरनिरोधतः।—कूर्म पुराण -11
10. योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः—लिङ्ग पुराण-8
11. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते—द्वात्रिंशिका-10/1
12. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
    ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥ योगशास्त्र (1/15)।
13. शान्तिपर्व-232/32

महायोग—इन सब परिभाषाओं को देखने पर यह प्रतीत होता है कि स्वाभाविक योग एक ही है अनेक नहीं। यह महायोग के नाम से श्रेष्ठ साधकों में प्रसिद्ध है तथा अवस्था भेद के कारण ही यह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग रूपी अंगों से प्रकट होता है जैसा कि योगतत्त्वोपनिषद् एवं शिवसंहिता में कहा गया है।[1] इसी कारण से उसे महायोग कहा जाता है।[2]

लिङ्ग पुराण में योग के मन्त्र, स्पर्श, भाव, अभाव एवं महायोग रूपी पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं[3] जबकि बोधसार ग्रन्थ में लिखा है कि लय, मन्त्र, हठ, राज, सांख्य और भक्ति योग इन (षट्) सब योगों के अन्दर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधों ने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।[4] भारतीय संस्कृत साहित्य में योग (अष्टांग, लय, मन्त्र, हठ, राज, कर्म, सांख्य, ध्यान, भक्ति, तारक, विचार, शब्द, जप, पाशुपत, शैव, अहोरात्र, माहेश्वर, पातञ्जल, भृगु शिव और कापालिकयोग) इत्यादि नामों से जाना जाता रहा है[5] किन्तु मुख्य रूप से इसके केवल चार भेद (मन्त्र, हठ, लय और राजयोग) ही स्वीकार किए गए हैं क्योंकि 'योगाचार्य महर्षियों ने कहा है कि अध्यात्म, आधिदैव और आधिभूत इन भावत्रयों के अनुसार मन, वायु व वीर्य ये तीनों ही एक हैं, इसीलिए मन को वशीभूत करने से वीर्य ओर वायु अपने आप वशीभूत हो जाते हैं। वायु को वशीभूत करने से मन व वीर्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं। और

---

1. (क) योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः॥ योगतत्त्वोपनिषद्-19
(ख) मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः॥ शिवसंहिता-5/14
2. मन्त्रो लयो हठो राजयोगोथभूमिकाः क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते॥ योगशिखोपनिषद्-1/129
3. लिङ्ग पुराण-75
4. लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः॥ बोधसार
5. "राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, जपयोग, लययोग, मन्त्रयोग शब्दयोग, प्रणवयोग, हंसयोग, तन्त्रयोग, स्वरयोग, ध्यानयोग, भृगुयोग, शिवयोग, पाशुपतयोग, प्रेमयोग, अनासक्तयोग, समाधियोग, ब्रह्मयोग, नामकीर्तनयोग, स्पर्शयोग, बुद्धियोग, अस्पर्शयोग, पुरुषोत्तमयोग, प्रकृति-पुरुषयोग, भावयोग, अभावयोग, क्रियायोग, विज्ञानयोग, गृहस्थयोग, पतिव्रतयोग, सांख्ययोग, कुण्डलिनीयोग, सुषुप्तियोग, स्वप्नयोग, चित्तयोग, इच्छायोग, मानसयोग, अहङ्कार योग, ज्ञानेन्द्रिययोग, कर्मेन्द्रिययोग, पूर्णयोग, कबीरपंथीयोग, स्वामी नारायण योग, बौद्धयोग, जैनयोग, पारसी मत-योग, ईसाई मत योग" इत्यादि
योगदर्शन सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, पृष्ठ-17 से उद्धृत।

सुकौशल पूर्ण क्रियाओं के द्वारा वीर्य को वशीभूत करके उर्द्ध्वरेता हो जाने से मन व प्राणवायु अनायास उस योगी के वश में आ जाते हैं। राजयोग में बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं से अधिक सम्बन्ध रखा गया है। और मन्त्र, हठ व लय इन तीन प्रकार की योगप्रणालियों में मन, वायु तथा वीर्य इन तीनों का सम्बन्ध अधिक रूप से है। इनमें से लययोग में मन की क्रिया का आधिक्य और मन्त्र व हठयोग में वायु धारण तथा रेतोधारण सम्बन्धी क्रियाओं की अधिकता देखी जाती है। शास्त्रों में मन्त्रयोगी के लिए वे सब तो चाहिए, उपरान्त प्राणायामसिद्धि व वायुनिरोध के लिए विशेष व्यवस्था रखी गई है।[1]

हठ—'हठ' में प्रयुक्त हकार और ठकार से अभिप्राय क्रमशः सूर्य नाड़ी और चन्द्र-नाड़ी प्रोक्त है। इस प्रकार सूर्य चन्द्र की एक रूपता ही हठ कहलाती है और इसके द्वारा सर्वदोष उत्पन्न जड़ता नष्ट होती है[1] तथा क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता होती है।[2] अतः सूर्य और चन्द्र नाड़ी के परस्पर संयोग को ही 'हठयोग' कहते हैं।[3] यहाँ सूर्य और चन्द्र से अभिप्राय क्रमशः पिङ्गला और इडा नाड़ी है तथा जिनका वास शरीर के दक्षिण एवं वाम भाग में माना गया है।[4] हठयोग के अन्य ग्रन्थों में हकार और ठकार निम्नलिखित पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी जाना जाता है—

ह—सूर्य, रवि, यमुना, शक्ति, रज, प्राण, पवन, अधः और
पिङ्गला नाड़ी।

ठ—चन्द्र, शशि, गंगा, शिव, बिन्दु, अपान, मन, ऊर्ध्व और इडा नाड़ी।

हठ = परस्पर मिलाना जिससे हठात् सिद्धि मिल जाये। गुह्य—समाज में ज्ञान

---

1. श्री धम्मकल्पद्रुम खण्ड 4, पृ०-1131
2. हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
   हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोष समुद्भवम्
   क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्—योगशिखोपनिषद् 1/133,34
3. हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्हठयोगो निगद्यते॥ हठयोगप्रदीपिका
   —ज्योत्स्ना टीका—1/1
4. (क) मेरोर्वामे स्थिता नाड़ी इड़ा चन्द्रामृता शिवे।
   दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः॥
   (ख) इड़ा वामे स्थिता नाड़ी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी॥
   शक्तिरूपा तु सा नाड़ी साक्षादमृतविग्रहा।
   दक्षिणे या पिङ्गलाख्या पुंरूपा सूर्यविग्रहा॥ षट्चक्रविवृतिः पृष्ठ-78

प्राप्ति हेतु हठयोग को एक साधन के रूप में स्वीकार किया है।[1] और यह सिद्धों के द्वारा सेवित है।[2]

इस हठयोग की व्याख्या हम इस प्रकार से भी कर सकते हैं कि प्राणायाम आदि क्रिया के अभ्यास से उत्पन्न राजयोग के बिना ही परमात्मा का साक्षात्कार रूप चित्त की वृत्ति का निरोध करना ही हठयोग कहलाता है और वह तन्त्र प्रसिद्ध है।[3] जबकि 'अमर' इत्यादि कोषों में हठ शब्द बलात्कार हेतु प्रयुक्त हुआ है।[4] हठ एवं हठयोग शब्दार्थ हेतु शब्दकल्पद्रुम में इनकी व्याख्या अत्यधिक विस्तार एवं भली-प्रकार से निर्दिष्ट है, जिसमें हठयोग की दो प्रकार की विधियों पर प्रकाश डाला गया है।[5]

---

1. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
   यदा न सिध्यते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥ गुह्यसमाज तन्त्र 18/162

2. एवं ध्यात्वा चिरायुस्स्याद् अङ्गजननवर्जितः।
   शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसङ्गतः॥
   हठज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
   अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥
   योगकर्णिका-12/25-26

2. **हठयोग**—प्राणायामादिक्रियाभ्यासजन्यः राजयोगं विनैव परमात्मसाक्षात्कार-रूपश्चित्तवृत्तिनिरोधः। स च तन्त्रप्रसिद्धः तत्प्रकारस्तु हठदीपिकादावुक्तो द्रष्टव्यः। अत्र विग्रहः हठेन बलात्कारेण योगः चित्तवृत्तिनिरोधः इति।
   न्यायकोश पृ०-1064

3. (क) प्रसभं तु बलात्कारो हठः। अमरकोश पृष्ठ-393
   (ख) हठः स्यात् प्रसभे पृश्न्यां हेठो बाधापि हेठयोः।
   अपष्ठुः पुंसि काले च वामे स्यादन्यलिङ्गकः॥ मेदिनी—पृ०-39

4. हठ, कीलबन्धे। बलात्कृतौ। प्लुतौ। इति कवि-कल्पद्रुमः॥ (भा०-पर०-भक-प्लुतौ अक०-सेट्।) कीले बन्धः कीलबन्धः। हठति छागं कीले बध्नाति इत्यर्थः। कातन्त्रादौ बलात्कारमात्रे। हठति परचक्रं बली। इति दुर्गादासः॥ हठः पुं० (हठ + पुंसीति घः।) बलात्कारः। इत्यमरः। प्रश्नी। इति मेदिनी॥
   हठयोगः। यथा, हठयोगप्रदीपिकायाम्। १/१०।
   "अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः। अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः" ॥)
   हठपर्णी, स्त्री, (हठति प्लवते। इति हठ + अच्। तादृशं पर्णमस्याः। ङीष्।) शैवालः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

5. हठयोगः पुं, (हठेन योगः) योगविशेषः। यथा—
   "इदानीं हठयोगस्तु कथ्यते हठसिद्धिदः। कृत्वासनं पवनाशं शरीरे रोगहारकम्॥
   पूरकं कुम्भकञ्चैव रेचकं वायुना भजेत्। इत्थं क्रमोत्क्रमं ज्ञात्वा पवनं साधयेत् सदा॥

'हकार' और 'ठकार' रूपी द्वन्दों को परस्पर मिलाना ही हठ योग कहलाता है क्योकि "हठयोगी लोगों का विचार है कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है, जिससे जगत् प्रकट होता है। वह जब तक समावस्था में विद्यमान रहता है, तब तक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। साम्यभंग होने पर ही वैषम्य, द्वन्द्व अथवा द्वैत भाव का उदय होता है, यही सृष्टि का बीज है। जो दो विरुद्ध शक्तियाँ एक दूसरे का उपमर्दन कर स्थिति-रूप से निष्क्रिय भाव में विद्यमान रहती हैं, वे जब समत्व का त्याग करती हैं, अर्थात् जब उनमें गुण-प्रधान भाव जग उठता है, तब सृष्टि और संहार के व्यापार सूचित होते हैं।

बहिःशक्ति की प्रधानता से सृष्टि और अन्तःशक्ति की प्रधानता से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों की समानता का निदर्शन है। इन दोनों शक्तियों के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पारिभाषिक नाम रखे गए हैं। शिव-शक्ति तथा पुरुष प्रकृति मूलतः इस आदिद्वन्द्व के ही वाचक हैं। जीव-देह में प्राण और अपान के रूप में इस विरुद्ध अथवा परस्पर-सम्बद्ध शक्तियुगल का ही विकास हमें दिखाई पड़ता है।[1]

इस "हठयोग की साधना से सिद्ध देह की प्राप्ति होती है। इससे प्राप्त शरीर वज्र-लौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त एवं दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर के साथ जीवन और मृत्यु का भी स्वामी होता है। उसमें युवावस्था का तेज होता है। उसे इच्छामृत्यु सिद्ध होती है। संहार-मुद्रा धारण करके वह जीवन-त्याग करता है।"[2]

हठ एवं राजयोग में सम्बन्ध—इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि इन सब भेदों में राजयोग (समाधि) ही श्रेष्ठ है[3] और इस राजयोग की प्राप्ति का एकमात्र

धौत्यादिकर्म्मषट्कञ्च संस्कुर्याद्हठसाधकः। एतन्नाड्यान्तु देवेशि !
वायुपूर्णं प्रतिष्ठितम् ॥
ततो मनो निश्चलं स्यात्तत आनन्द एव हि। हठयोगान्न कालः स्यान्मनः शून्ये
भवेद्यदि ॥

इदानीं हठयोगस्य द्वितीयं भेदवत् श्रृणु।
आकाशे नासिकाग्रे तु सूर्यकोटिसमं स्मरेत् ॥
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमित्यादिरूपतः।
एवं ध्यात्वा चिरायुः स्यादङ्गाजननवर्जितः ॥
शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसादतः।
हठाज्ज्योतिर्म्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ॥
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥" इति। योगस्वरोदय ॥

शब्दकल्पद्रुम भाग पञ्चम पृ०-50।

1. भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 255
2. संत काव्य में योग का स्वरूप, पृष्ठ 201
3. "राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।"

उपाय केवल हठयोग ही है तथा ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग अपने आप में अपूर्ण है।[1] पातञ्जल योगदर्शन के आठ अंगों में से पूर्व के चार अंगों को हठयोग एवं बाद के चार अंगों को राजयोग की श्रेणी में रखकर दोनों को अन्योन्याश्रित कह सकते हैं क्योंकि जिस प्रकार राजयोग अपने आप में साधन ही नहीं अपितु साध्य भी है। उसी प्रकार हठयोग भी अपने आप में पूर्ण लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्तःकरण के चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरण रूपी कारण दृश्य से जगत् रूपी कार्यदृश्य का कार्यकारण सम्बन्ध है। दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्त वृत्ति का चाञ्चल्य ही इसका कारण है। **वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूप का प्रकाश करना ही राजयोग कहलाता है।** राजयोग में विचारबुद्धि का प्राधान्य रहता है। विचार शक्ति की पूर्णता द्वारा राजयोग का साधन होता है। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान कहते हैं। इसकी समाधि ही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। राजयोग से सिद्धिप्राप्त महात्मा का नाम जीवन्मुक्त है। महाभावप्राप्त योगी महाबोधप्राप्त योगी वा महालय प्राप्त योगी तत्त्व ज्ञान की सहायता से राजयोगभूमि में अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योग साधनों में श्रेष्ठ है और साधन की चरम सीमा है, इसी कारण इसको राजयोग कहते हैं।[2] जबकि

---

1. हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
   न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/76
2. सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
   तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
   अन्तः करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
   चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
   तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
   विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
   दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
   चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
   वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
   विचार बुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
   ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
   तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
   उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
   महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः॥
   योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते।
   योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥ श्री धर्मकल्पद्रुम भाग-4 से उद्धृत

यह देखा जाता है कि 'सूक्ष्म शरीर के तीव्र संस्कार से उत्पन्न हुए कर्म्मों के भोग के आश्रय रूपी जीव का स्थूल शरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर के भाव के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संगठन होता है और सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं तब इसमें क्या सन्देह है कि स्थूल शरीर के कार्यों के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता है ? फलतः अधिकारी विशेष के लिए स्थूल शरीर प्रधान योग क्रियाओं का आविष्कार योग शास्त्र में किया गया है । जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्था में स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ स्थूल शरीर पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है और इसी योग प्रणाली को हठयोग कहते हैं ।''[1] "प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा व परमात्मा के मेल से उत्पन्न होने के कारण स्थूल शरीर का नाम घट है। जलमध्य स्थिति आम कुम्भ की तरह शरीर रूपी यह घट सदा ही जीर्ण रहा करता है। इसलिए योगरूपी अनल के द्वारा दग्ध करके इस घट की शुद्धि करनी चाहिए । जीर्ण भावयुक्त स्थूल शरीर को हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीर का ही परिणाम मात्र है। इसलिए जिस प्रकार ककारादि वर्णों के अभ्यास द्वारा क्रमशः शास्त्र ज्ञान लाभ होता है उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओं के द्वारा प्रथमतः स्थूल शरीर को वश में लाकर क्रमशः सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध किया जा सकता है उन साधनों की हठसंज्ञा होती है।[2] श्री गोरक्षनाथ विरचित 'अमरौघप्रबोध' के अनुसार प्रभञ्जन विधान में रत ही हठयोग कहलाता है।[3] संक्षेप में इतना कहना मात्र ही पर्याप्त होगा कि आत्मसाक्षात्कार हेतु राजयोग से निम्न द्वितीय श्रेणी की क्रिया का नाम ही हठयोग है एवं इसका उपदेश

---

1. श्री धर्मकल्पद्रुम—भाग-4—पृष्ठ 1129-30

2. प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम् ।
मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ।।
आमकुम्भमिवाऽम्भःस्थं जीर्यमाणं सदा घटम् ।
योगानलेन सन्दह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ।।
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम् ।
द्रढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुजं पुनः ।।
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः ।
कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम् ।।
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः ।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्त्तितः ।। श्री धर्म्मकल्पद्रुम से उद्धृत—4/पृ0-1127-28

3. यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्सः—अमरौघप्रबोध-4

केवल राजयोग हेतु हुआ है।[1] किन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त इस हेतु को भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि राजयोग रूपी परम लक्ष्य के साथ-साथ इसका अव्यवहित उद्देश्य देह शुद्धि है और जिसको योगियों की पारिभाषिक भाषा में घट शुद्धि भी कहते हैं।

हठयोग एवं पातञ्जल योग में अन्तर—महायोग (लय, मन्त्र, हठ और राज) के सभी अंगों में महर्षि पातञ्जल की ही प्रणाली प्रचलित है किन्तु प्रत्येक में योग के किसी विशिष्ट स्वरूप का ही निदर्शन है। वास्तव में योग की केवल दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं, एक वह जो योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित है और जिसका भाष्य व्यास ने किया तथा दूसरी प्रणाली वह है जो गोरक्षनाथ रचित गोरक्षशतक तथा स्वात्मारामयोगी की हठ-योगप्रदीपिका में वर्णित है। संक्षेप में दोनों योग प्रणालियों में यह अन्तर है कि जहाँ पातञ्जल योग चित्तानुशासन पर ही सारा प्रयास लगाते हैं वहाँ हठयोग का प्रमुख सम्बन्ध है शरीर उसके स्वास्थ्य शुद्धता एवं रोगरहितता से। इस तथ्य का उद्घाटन इसी से हो जाता है कि जहाँ पातञ्जल ने आसन की परिभाषा किसी ऐमी शरीरावस्थिति से की है जो स्थिरसुख हो (स्थिरसुखमासनम्) वहाँ हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत से आसनों का उल्लेख करते हैं, यथा—मयूरासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, इत्यादि जिनसे शरीरस्थ रोगों का निवारण होता है। जहां पातञ्जल योग दर्शन विचारप्रधान दर्शन ग्रन्थ है वहीं हठयोग के ग्रन्थ प्रक्रिया प्रधान होने के साथ-साथ उन पर ज्ञान का भी प्रभाव है। इसके अतिरिक्त हठयोग में कुछ क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें हठयोग की पारिभाषिक भाषा में षट्कर्म कहते हैं यथा नेति, धौति, बस्ति, त्राटक इत्यादि जिनके विषय में पातञ्जल मौन हैं।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा एवं बन्धों का सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर है तथा मुद्राओं की संख्या पाँच से पच्चीस तक भी मानी गई है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन में इन मुद्राओं एवं बन्धों की चर्चा तक नहीं मिलती। हठयोग तथा पातञ्जलयोग में एक यह अन्तर भी है कि जहाँ हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम एवं नादानुसन्धान की विधि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर इनके

---

1. (क) श्रीमद्गोरक्षनाथेन सदामरौधवर्तिना।
   लयमन्त्रहठाः प्रोक्ता राजयोगाय केवलम्।। वहीं-73
   (ख) केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठयोगप्रदीपिका-1/2
   (ग) मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
   पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः।। योगशास्त्र
2. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-5 पृ0-276
3. (क) पाँच मुद्राएँ—गोरक्षसंहिता-1/56
   (ख) दस मुद्राएँ—हठयोगप्रदीपिका-3/6-7
   (ग) पच्चीस मुद्राएँ—घेरण्ड संहिता-3/1-3

महत्त्व को स्वीकार किया है वही पातञ्जल योग में केवल प्राणायाम का अल्पमात्र ही वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद यह भी कहा जा सकता है कि हठयोग के ग्रन्थों में आसन, प्राणायाम और (विशेषकर) मुद्राओं का प्रमुख उद्देश्य है कुण्डलिनी अर्थात् व्यक्ति की वह मार्मिक शक्ति जो सुषुम्ना के मूल में सर्प के समान कुण्डली लगाये रहती है को जगाना और उसे कतिपय (षट्) चक्रों से पार कराकर ब्रह्म-द्वार तक ले जाकर स्थिर करना,[1] जबकि योगदर्शन में चक्रों एवं नाड़ियों का वर्णन यदा-कदा ही दृष्टिगोचर होता है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग दर्शन में जहाँ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग के आठ अंगों के रूप में स्वीकार किया है[2] वहीं पर हठयोग के ग्रन्थ योगांगों की दृष्टि से एकमत नहीं हैं। दतात्रेय-संहिता,[3] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्,[4] जाबालदर्शनोपनिषद्[5] वराहोपनिषद्,[6] सिद्धसिद्धान्त संग्रह[7]ने जहाँ योग के आठ अंग स्वीकार किए हैं वहीं पर योगतत्त्वोपनिषद् ने इन्हीं आठ अंगों को हठ-योग के अंग कहा है— "पूर्वोक्त लययोग के बाद अब हठयोग सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रूमध्य हरि का ध्यान और समाधि को अष्टांग योग कहते हैं।"[8] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपनिषदों के रचनाकारों ने पातञ्जल योग प्रणाली का ही अनुगमन किया है, क्योंकि अन्य हठयोग के ग्रन्थों में हठयोग के छः[9] एवं

---

1. हठयोगप्रदीपिका-3/1-4
2. पातञ्जलयोगदर्शन-2/29
3. दत्तात्रेय-संहिता—श्लोकार्धसंख्या-52-56
4. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्-1/1
5. जाबालदर्शनोपनिषद्-4-5
6. वराहोपनिषद्-5/11-12
7. सिद्धसिद्धान्त संग्रह-2/49-50
8. स एव लययोगः स्याद्हठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्ये हरिम्।
समाधिसमताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥

योगतत्त्वोपनिषद्—24-25

9. (क) अमृतनादोपनिषद्-6
(ख) क्षुरिकोपनिषद्—सम्पूर्ण
(ग) योगचूडामण्युपनिषद्-2
(घ) ध्यानबिन्दूपनिषद्-41
(ङ) गोरक्ष-संहिता-1/6
(च) योगमार्त्तण्ड-2

सात[1] अंगों की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है। हठयोग के सात (षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान व समाधि) ही मानना उपयुक्त प्रतीत होता है[2] क्योंकि बिना षट्कर्म किए शरीर का शोधन एवं आसन के लिए सुखपूर्वक बैठना दुष्कर प्रतीत होता है। अत हठयोग के कुछ शास्त्रों में यम-नियम की परिकल्पना का परित्याग कर षट् कर्मों की महत्ता को स्वीकार कर उनका सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि हठयोगियों का लक्ष्य (कलियुग में असम्भव मानी जाने वाली) शारीरिक शक्तियों का विकास कर अद्वैतसिद्धि प्राप्त करना था। जैसा कि भगवान् शंकराचार्य अपने अद्वैत-वेदान्तीय-प्रकरण ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में राजयोग तथा हठयोग विषयक भेद प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूर्णतया सभी प्रकार से क्षीण कलमष साधकों को ज्ञान मार्ग से मोक्ष प्राप्ति राजयोग के अन्तर्गत आती है। परन्तु जिन साधकों अथवा मुमुक्षुओं के पाप-कषाय आदि अवशिष्ट हैं, उन्हें हठयोग के अनुपालन से ही मोक्ष मार्ग में सफलता मिल सकती है। अद्वैत-वेदान्तीय-राजयोग के सन्दर्भ में व्यापक व्याख्या देते हुए आदि शंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धिमन्दता विषयासक्ति रूपी रस्सी से जकड़े होने के कारण ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन में असमर्थ मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे चिरकाल तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना पद्धति का अभ्यास करते रहें।[3]

(१) यम (2) नियम (3) त्याग (4) मौन (5) देश (6) काल (7) आसन (8) मूलबन्ध (9) देहसाम्य (10) दृक् स्थिति (11) प्राणसंयम (12) प्रत्याहार (13) धारणा (14) आतमध्यान और (15) समाधि रूपी (निदि-ध्यासन हेतु) राजयोग के पन्द्रह अंगों[4] का (पतञ्जलि ने जो अष्टांग योग का वर्णन

---

1. शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य्यं धैर्य्यं च लाघवम्।
   प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्तसाधनम्॥
   षट्कर्मणां शोधनञ्च आसनेन भवेद् दृढम्।
   मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
   प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
   समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः॥ घेरण्ड-संहिता 1/9-11
2. षट्कर्मासनमुद्रा प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
   ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥ योगशास्त्र
3. नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
   तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥ अपरोक्षानुभूति-101
4. यमो हि नियमत्यागो मौनं देशश्च कालता।
   आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
   प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
   आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥ वही, 102-103

किया है उससे विलक्षण है क्योंकि पतंजलि अमान्य है अवैदिक होने से) सविस्तर वर्णन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इन अंगों से युक्त योग का नाम ही राजयोग है। जिनके कषाय स्वल्प क्षीण हुए हों उन्हें यह हठयोग के सहित और जिनका चित्त परिपक्व हो उन्हें यह राजयोग अकेला ही मोक्षसिद्धि देने वाला है। यह गुरु और इष्ट-देवता के भक्तों को, सभी को सुगमता से शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है।[1]

हठयोग की प्राचीनता—इस प्रक्रिया प्रधान योग की प्राचीनता के विषय में अगर ऐतिहासिक दृष्टिकोण निकाल दिया जाए तो जब से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तब से ही मनुष्य एवं समस्त जीव-जन्तु किसी-न-किसी रूप में आसन का प्रयोग अवश्य करते रहे हैं क्योंकि जिसमें सुखपूर्वक बैठा जाए वही आसन कहलाता है। यहाँ तक कि गर्भावस्था में भी मनुष्य किसी-न-किसी आसन में अवश्य ठहरता है। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि संसार में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है।[2]

यह प्रक्रिया प्रधान "योग भारतीय परम्परा की एक विशेष देन है। इसका इतिहास भारत के प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में उपलब्ध मुद्राओं एवं पद्मासन की स्थिति में उत्कीर्ण किसी देव विशेष का चित्र"[3] इस बात का परिचायक है कि यह प्रक्रिया प्रधान परम्परा प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान एवं भारतीय ऋषियों की अक्षय सम्पत्ति थी।

इस योग की प्राचीनता के विषय की चर्चा करते हुए एस०एन० दास गुप्ता के शब्दों को देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस प्रकार लिखा है कि "योग-क्रियाओं में अलग-अलग सम्प्रदायों ने अलग-अलग परिवर्तनों का समावेश किया, लेकिन इन सम्प्रदायों का सांख्य दर्शन की ओर कोई विशेष झुकाव न था। इस प्रकार योग-क्रियाएँ शैव तथा शाक्त सिद्धान्तों के अनुसार भी विकसित हुईं···वे एक दूसरी दिशा में विकसित हुईं जिसे हठयोग कहते हैं। जिनके बारे में यह कल्पना की गई कि वह लगातार किए जाने वाले स्नायविक व्यायामों के द्वारा—जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के द्वारा···जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के साथ भी

---

1. एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
   किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः॥
   परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः।
   गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात्॥ वही—143-144
2. आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः घेरण्ड-संहिता, 2/1
3. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन सुरिन्द्रकौर—लघु शोध प्रबन्ध पृ०2

जोड़ा गया—रहस्यात्मक तथा जादुई करामातों को जन्म देता है।…तन्त्र तथा दूसरी उपासना पद्धति के विकास पर भी इन क्रियाओं का प्रभाव अधिक था।…सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कदाचित् पतञ्जलि थे, क्योंकि उन्होंने न केवल अनेक प्रकार की योग-क्रियाओं का संग्रह किया तथा उन विभिन्न मन्तव्यों को बटोरा जिनका सम्बन्ध योग से था या जोड़ा जा सकता था, बल्कि इन सबको सांख्य दर्शन पर कलम भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह रूप प्राप्त हुआ जिनमें वे हमें आज उपलब्ध हैं। वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु इस बात से सहमत हैं कि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक नहीं थे बल्कि एक संग्रहकर्ता थे"[1] अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रक्रिया प्रधान(हठ)योग के प्रवर्तक कौन थे ? सामान्यत: योगशास्त्रों में हठयोग के प्रवर्तक के रूप में मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु व विश्वामित्र आदि पूज्यपाद महर्षियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है तथा इन्हीं महर्षियों की अगाध अनुकम्पा से संसार में प्रत्येक युग में हठयोग का विकास होता गया है।[2] दत्तात्रेयसंहिता के अनुसार कपिल आदि मुनि और इनके शिष्यों ने हठयोग किया था। जिसके अन्तर्गत महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी मुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी और वज्रोलि के तीन प्रकार वज्रोलि, अमरोलि और सहजोलि आते हैं।[3]

---

1. (क) भारतीय दर्शन का इतिहास…एस०एन० दास गुप्ता, पृ० 237 (भाग 1)
   (ख) भारतीय दर्शन सरल परिचय…देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय-181

2. मार्कण्डेयो भरद्वाजो मरीचिरथ जैमिनि: ।
   पराशरो भृगुश्चापि विश्वामित्रादयस्तथा ।।
   एषां पूज्याङ्घ्रिपद्मानामृषीणां कृपयाऽनिशम् ।
   हठयोगविकाशो वै जगत्यत्र विजृम्भते ।। योगशास्त्र

3. कपिलाद्यास्तु शिष्याश्च हठं कुर्युस्ततो यथा ।
   तद्यथा च महामुद्रा महाबन्धस्तथैव च ।
   तत: स्यात्खेचरी मुद्रा बन्धो जालन्धरस्तथा ।
   उड्डियाणं मूलबन्धो विपरीतकरणी तथा ।
   वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता । दत्तात्रेय संहिता श्लोकार्ध संख्या 57-61

हठयोग प्रदीपिकाकार ने वसिष्ठ आदि ऋषियों[1] एवं मत्स्येन्द्रनाथ आदि योगियों के साथ-साथ बत्तीस (32) ऐसे महासिद्धों का नामोल्लेख किया है, जिन्होंने हठयोग विद्या के प्रभाव से मृत्यु रूपी काल दण्ड को काटकर मृत्युञ्जयी की पदवी प्राप्त की है।[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—"एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्ती जिसका उल्लेख मृकण्डपुत्र या मार्कण्डेय आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट।[3] किन्तु यह एक गहन अन्वेषण का विषय है कि हठयोग की कौनसी प्रणाली गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती थी क्योंकि स्वयं गोरक्षनाथ लिखते हैं कि 'वायु' और 'बिन्दु' भेद से 'हठ' दो प्रकार का है।[4] ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार इस हठयोग (चक्र एवं नाड़ी वर्णन युक्त होने के कारण यहाँ हठयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है) का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से हुआ है। इस पुराण के अनुसार एक बार देवादिदेव ब्रह्मा इड़ा आदि छः नाड़ियों को निरुद्ध कर मूलाधार आदि छः चक्रों का लंघन करके प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापितोपरान्त योगस्थ हो गये।[5] परन्तु हठपरम्परा के अनुसार इसके प्रवर्तक भगवान् शिव हैं। गोरक्षसंहिता में

---

1. वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः। हठयोगप्रदीपिका-1/20
2. श्री आदिनाथमत्स्येन्द्रशावरानन्दभैरवाः।
   चौरङ्गीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥
   मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः।
   कोरण्डकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥
   कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः।
   कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥
   अल्लामः प्रभुदेवस्य घोडाचोली च टिण्टिणिः।
   भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥
   इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।
   खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ हठयोग प्र०-1/5-9
3. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
   अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥ नाथ सम्प्रदाय-पृ०-1/138
4. हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दुनिषेवणात्—अमरौघ प्रबोध-5
5. सुखं योगासनं कृत्वा बभूव संपुटाञ्जलिः,
   इड़ां सुषुम्नां मेध्यां च पिङ्गलां नलिनीं धुराम्।
   नाड़ीषट्कं च योगेन निरुध्य च प्रयत्नतः,
   मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
   विशुद्धं परमाज्ञाख्यं षट्चक्रं सन्निरुध्य च।
   लंघनं कारयित्वा च तं षट्चक्रं क्रमाद् विधिः।
   ब्रह्मरन्ध्रं समानीय वायुबद्धं चकार ह। ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्ण खण्ड अध्याय 20

कहा गया है कि यह शास्त्र साक्षात् स्वयं श्री आदिनाथ शिव के मुखारविन्द से ही निकला है।[1] हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार उन सर्वशक्तिमान् श्री आदिनाथ को नमस्कार है जिन्होंने हठयोग विद्या का उपदेश किया।[2] पादुकापञ्चक और सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति में भी सम्बन्धित प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण भगवान् शिव को माना है।[3]

इस हठयोग की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव के द्वारा हुई। इस प्रकार के उपर्युक्त सन्दर्भों को यह कह कर भले ही टाल दिया जाए कि पौराणिक अथवा नाथ परम्परा से सम्बन्धित प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक विद्या एवं इन ग्रन्थों में वर्णित प्रत्येक सन्दर्भों आदि की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव से मानने की एक अव्यवस्थ परम्परा रही है किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग के प्रमुख अंग के रूप में प्रतिष्ठित आसनों का उल्लेख सिन्धु घाटी की सभ्यता में विद्यमान था तथा उन आसनों को मुद्राओं पर अंकित करने की भी एक सुदृढ़ परम्परा थी। 1922 में हुए अन्वेषणों से यह सिद्ध किया गया है कि मोहनजोदड़ो के समय इस परम्परा का विकास अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था। इस तथ्य के सन्दर्भ में श्री नीलकण्ठ शास्त्री के शब्द द्रष्टव्य हैं।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि "सचमुच ये क्रियाएँ बहुत प्राचीन थीं। सिन्धु सभ्यता के ठोस ध्वंसावशेष उदाहरण के लिए पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरों पर अंकित चित्र अकाट्य रूप से इस बात का सूचन करते हैं कि ये क्रियाएँ इस देश में 3000 ई० पूर्व तक भी प्रचलित थीं। कालक्रम से ये क्रियाएँ बहेतु सामग्री जैसी हो गई जिन्हें तरह-तरह के धार्मिक सम्प्रदायों ने ही नहीं अपितु दार्शनिक सम्प्रदायों तक ने भी अपना लिया था।[5]

---

1. योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
   यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥ गोरक्ष-संहिता, 2/100
2. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या—ह०प्र०, 1/1
3. (क) पादुकापञ्चकस्तोत्रं पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम्।
   षडाम्नायफलप्राप्तं प्रपञ्चे चातिदुर्लभम्॥ पादुकापञ्चक-7
   (ख) शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा। सिद्धसिद्धान्तपद्धति 25/22
4. The deer throne of the God and his yogic posture are the most unequivocal features left, and these prove nothing more than the antiquity of yoga, a system of physical discipline and mental magic. It should be observed that the yogic posture of our God is not unique in Mohen Jodaro finds.
   (The cultural Heritage of India—Vol, IV pp. 66-67
5. भारतीय दर्शन सरल परिचय—श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय पृ०-180

श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व तथा उससे भी प्राचीन भारत वर्ष में प्रचलित योग साधना को पाशुपत योग साधना का ही प्रारम्भिक रूप मानते हैं।[1] ईसवी सन् से अति प्राचीन सिन्धु सभ्यता के ध्वंसावशेषों, **वेदों और उपनिषदों के[2] अतिरिक्त** यदि सूक्ष्म दृष्टि से प्राचीन वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थों का पर्यालोचन किया जाय तो उनमें भी हठयोग विषयक सामग्री की उपलब्धि हो सकती है। यह एक अलग चिन्तनीय विषय है कि केचित् अर्वाचीन हठयोगपरम्परानुगामी आचार्यों ने आयुर्वेद ग्रन्थों को अनुपयोगी एवं व्यर्थ बताया है।[3] औषध शास्त्रों की वमन क्रिया तथा अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के षट्कर्मों की प्रमुख गजकरणी क्रिया[4] एवं वमन धौति[5] रूपी उपाङ्ग क्रिया में प्रकार भेद होने पर भी मौलिक सामञ्जस्य है क्योंकि दोनों की क्रिया पद्धतियों का एक मात्र लक्ष्य है, शरीर को कफ, पित्त इत्यादि रोगों से दूर करके शरीर को स्वच्छ एवं निरोग बनाना। चरक-संहिता के अध्याय बीस में वर्णित है कि "कफ में वैद्य सम्पूर्ण उपक्रमों में से वमन को प्रधानतम मानते हैं क्योंकि वह आदि से ही आमाशय में अनुप्रविष्ट होकर विकार-सम्बन्धी कफ की जड़ को अशेषत: ऊपर खींच लाता है। वहाँ पर कफ के जीते जाने पर शरीर के अन्तर्गत कफ के विकार शान्त हो जाते हैं जैसे खेत की क्यारी के बन्ध के टूट जाने पर जल से सींचे न जाने के कारण शालि जौ तथा षष्टिक आदि धान्य सूख जाते हैं। पूर्व में कहा गया है कि छाती विशेषत: श्लेष्मा का स्थान है, और यहाँ आमाशय को मुख्य माना है। आमाशय भी यद्यपि कफ स्थानों में गिना गया है परन्तु वह मुख्य नहीं। सुश्रुत में आमाशय को मुख्य माना गया है।

---

1. कल्याण का योगाङ्क—पृ०-237
2. वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध हठयोग विषयक ज्ञान की समीक्षा आगे की गई है।
3. चरकानुचरणचतुराश्चटुलधिय: सुश्रुतश्रवणलोला: ।
   अमनस्कौषधि···वा···ज्या कथमखिलंगतं तत्क्षयो भवति ।।
   बिन्दुनादौ महोषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु ।
   तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिता: ।। अमरौघप्रबोध 12-13,
4. उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।
   क्रमपरिचयकेश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञै: ।। हठयोगप्रदीपिका 2/38
5. भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठपूरितं सुधी: ।
   ऊर्ध्वंदृष्टिक्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुन: ।
   नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत् ।। घेरण्ड-संहिता-1/39

टीकाकार आमाशय से आमाशय का ऊर्ध्वभाग लेते हैं। योगीन्द्रनाथ ने इस सन्दर्भ की टीका करते हुए यहाँ पर भी 'तत्र आमाशयस्य ऊर्ध्वभागे उरोलक्षणे' ऐसा कहा है। अर्थात् वह वहाँ उरस् (छाती) का ही ग्रहण करते हैं। परन्तु यदि आमाशय ही ग्रहण किया जाए तो भी कोई हानि नहीं। आमाशय क्लेदक श्लेष्मा का स्थान है। वमन से क्लेदक श्लेष्मा बाहर निकल जाती है।"[1] वैद्यक शास्त्र के एक अन्य प्रमुख ग्रन्थ योग-तरंगिणी में वमन क्रिया को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यवागू को कण्ठपर्यन्त पीकर अथवा दूध, छाछ, दही इनको कण्ठपर्यन्त पीकर तथा उस प्राणी को अप्रिय भोजन तथा कफकारी भोजन कराय दोषों को उत्क्लेशित कर और जिसको स्नेहन स्वेदन कर चुके हैं ऐसे मनुष्य को वमन करावे तो वमन उत्तम होता है।[2] इसी भाव को काश्यप-संहिता में इस प्रकार कहा गया है कि पूर्व की ओर मुख कराकर उत्तम आसन में रोगी को बिठाकर वैद्य उस कषाय को जो न अत्यन्त गाढ़ा हो, न अत्यन्त उष्ण तथा न ही अत्यन्त शीत हो···आलोडन कर पूर्वोक्त ग्रहघ्नी आदि के कल्क के साथ कण्ठपर्यन्त पिलावे।···पार्श्वों को सिकोड़ कर थोड़ा आगे को झुक कर वमन हेतु बैठना चाहिए।[3]

जहाँ घेरण्ड-संहिता एवं हठयोगप्रदीपिका सदृश हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वमन हेतु जल किस प्रकार का होना चाहिए इसको स्पष्ट नहीं किया गया है, वहीं आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रसंगवश इसकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि 'कफ रोगों में पीपल, मैनफल और सेंधा नमक इनके चूर्ण को गरम जल में, पित्त रोगों में परवल अडूसा और नीम इनको शीतल जल में तथा अजीर्ण रोगों में गरम जल में सेंधा नमक

---

1. ···वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, **तद्ध्यादित** एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावर्जिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—
भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा
प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ।। चरक-संहिता—अध्याय 20/18

2. पीत्वा यवागूमाकण्ठं क्षीरतक्रदधीनि च ।
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः ।।
स्निग्धस्विन्नायवमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्तते ।। योगतरङ्गिणी—6/10-11

3. उपविष्टमासने प्राङ्मुखो भिषगालोड्य तं कषायं ग्रहघ्न्यादिकल्कैर्नातिघनोष्ण-शीतमाकण्ठात् पाययेत्,···उपसंगृहीतपार्श्वः स्यादीषन्न्युब्जः ।"
काश्यपसंहिता वा वृद्धजीवकीय तन्त्र, अध्याय-3

डालकर वमन करना चाहिए।[1] और इन सब वमनों में सेंधा नमक सहित देना हितकर माना गया है।[2]

उपर्युक्त वमन हेतु आयुर्वेद ग्रन्थों में जहाँ कण्ठ को ऐरण्ड[3] की कोमल नाल से या "जिनके नख भली प्रकार कटे हुए हैं ऐसी दो अंगुलियों (मध्यमा + तर्जनी) से अथवा नीलोत्पल, कुमुद, सौगन्धिक, इनमें से किसी एक के नाल से स्पर्श करते हुए सुखपूर्वक वमन करने का विधान है[4] वहीं घेरण्ड-संहिता में रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड और वेत्रदण्ड का विधान किया गया है।[5]

इसी प्रकार आयुर्वेद की नस्तक्रिया,[6] अनुवासन बस्ति[7] और उत्तरबस्ति[8] क्रिया को हठयोग की क्रमश: नेति क्रिया, बस्ति क्रिया और वज्रोलि मुद्रा के समकक्ष ही समझना चाहिये क्योंकि इन क्रियाओं की विधियों एवं उनसे प्राप्त लाभों में कोई विशेष भेद नहीं है, यदि आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित क्रियाओं में औषधी विषयक ज्ञान का उल्लंघन कर लिया जाये। इसके अतिरिक्त हठयोगप्रदीपिका में स्पष्ट कहा गया है कि चर्बी प्रधान और श्लेष्म प्रधान व्यक्तियों को ही षट्कर्म (गजकरणी वमनधौति इत्यादि) करने चाहिए। और इन दोषों से रहित व्यक्ति को इन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है तथा षट्कर्मों से कफ इत्यादि दोषों की निवृत्ति अवश्यमेव होती है।[9] इसी भाव की

---

1. कृष्णाराठफलं सिंधुंकफे कोष्णजलैः पिबेत्।
   पटोलवासानिम्बैश्चपित्ते शीतं जलं पिबेत्॥
   सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत्।
   अजीर्णे कोष्णपानीयं सिंधु पीत्वा वमेत्सुधीः॥

   योगतरंगिणी-6/19-20
2. वमनेषु च सर्वेषु सैंधवं मधुना हितम्। वही 6।12
3. कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक्। वही 6।21
4. नखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन्।

   चरक संहिता-15/13
5. रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च। घेरण्ड-संहिता-1/37
6. काश्यपसंहिता—अध्याय 4
7. योगतरङ्गिणी—8/8-12
8. वही—8/24-30
9. (क) मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
   अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः॥ हठयोगप्रदीपिका 2/21
   (ख) षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः। वही 2/36

अभिव्यक्ति औषधशास्त्रों में भी की गई है।[1] इन क्रियाओं के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में किसी ऐसे आसन का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध जानूओं से था।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के रूप में प्रतिष्ठित षट् कर्मों को ईसवी शताब्दी से पूर्व तथा उसके कुछ समय बाद के आयुर्वेद ग्रन्थों में आये हुये पञ्चकर्मों[3] में स्थान मिल चुका था। इसी भाव को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईसवी शताब्दी से पूर्व षट्क्रमों[4] (हठयोग के प्रथम अंग) का तथा आसनों का प्रयोग सामान्य जन किया करते थे क्योंकि आयुर्वेद के ग्रन्थों का भी यही लक्ष्य था कि ऐसी क्रियाओं एवं औषधियों का प्रयोग करना जिससे सामान्य जन को शारीरिक लाभ एवं मानसिक सुख की प्राप्ति हो सके। सम्भवतः इसी लक्ष्य से प्रभावित होकर गोरक्षनाथ से कई शताब्दी पूर्ववर्त्ती काकचण्डीश्वर-कल्पतन्त्र' में भी जल नेति क्रिया का महत्त्व समझ कर उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रातः काल उठ कर दो पसर जल नासिका छिद्र से जो मनुष्य पान करता है वह

---

1. (क) कफाधिकाश्च ये रोगाः·····················॥
काश्यप-संहिता अध्याय-7

(ख) य एते कफजा रोगा एते सन्तर्पणोद्भवाः।
ते चापतर्पणीयाः स्युर्लङ्घनीयास्त एव च॥ वही अ०-7

(ग) बलवंतं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्।
तथावमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत्॥ योगतरङ्गिणी 6/2

(घ) अतिबालोऽतिवृद्धो गुल्फप्लीहोर्ध्वरक्तलोम······। काश्यपसंहिता-अ०-7

(ङ) सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत्॥ योगतरङ्गिणी-6/10

2. (क) वामनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम्। वही-6/21

(ख) जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः···। सुश्रुत चिकित्सा-अ० 33

(ग) उपविष्टमासने············उपसंगृहीतपार्श्वः—
स्यादीषन्युब्जः। काश्यपसंहिता-अध्याय-3, पृ०-155

3. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः॥ योगतरङ्गिणी-9/36

4. धौतिबस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते॥ ह० प्र०-2/22

बुद्धिमान, नेत्रों में गरुड़ के सदृश, वली और पलित से रहित सभी रोगों से मुक्त होता है।[1] हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार इस क्रिया के द्वारा श्लेष्म विकार नष्ट होता है।[2]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से ई० शताब्दी के पूर्ववर्त्ती आयुर्वेद के अतिरिक्त ग्रन्थों को देखा जाये तो उन ग्रन्थों में भी आसन से पूर्व कुछ ऐसी क्रियाओं की ओर संकेत किया गया है जिसे परवर्त्ती साहित्य में स्पष्ट शब्दों में षट्कर्म कहते हैं। पातञ्जल योग दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता एवं सुख की प्राप्ति हो उसे आसन कहते हैं और साधक का शरीर प्रयत्न की शिथिलता (देह कम्पादि न होना) और अनन्त समापत्तियों (अनन्त विध आसनों को विचार कर उसमें से श्रेष्ठ एवं लाभकारी आसन को स्वीकार करना) के द्वारा ही आसन स्थिर और सुखकर होता है।[3] भोजवृत्ति टीका के अनुसार वह आसन जब स्थिर अर्थात् निष्कम्प सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है तब वह योगाङ्गता को प्राप्त होता है।[4] जैन आगमों में आसन सम्बन्धी विचार करते हुये स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि इन आसनों के अभ्यास के प्रारम्भिक काल में किञ्चित् कष्ट का अनुभव होने के कारण ये 'कायक्लेश' है।[5] आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट

---

1. प्रसृतियुगलमात्रं प्रातरुत्थाय नित्यं पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
   स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः॥
   काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम् उदककल्प 3

2. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
   पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत्॥ घेरण्ड-संहिता-1/58

3. (क) स्थिरसुखमासनम्। पा० यो० दर्शन 2/46

   (ख) प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। वही 2/47

   (ग) "अनन्तसमापत्तिभ्याम्' से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पातञ्जल योग दर्शन के काल से पूर्व ही बहुत आसनों का प्रचलन था जिनका नामोल्लेख करना सम्भवतः पातञ्जल को स्वीकार्य इसलिए नहीं था, क्योंकि अनन्तविध आसनों के नामोल्लेख एवं उनकी प्रक्रिया बताने से उनका दर्शन प्रधान ग्रन्थ केवल प्रक्रिया प्राधान मात्र होकर रह जाता।

4. तद्यदास्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते॥ भोजवृत्ति टीका 2/46

5. उ० सू०—30/27

उक्त है कि शरीर का कम्पायमान एवं शिथिल होना वात, पित्त एवं कफ विकार के लक्षण है।[1]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस मनुष्य का शरीर वात-पित्त-कफ त्रिविध दोषों से दूषित रहता है क्या वह आसन में सुखपूर्वक नहीं बैठ सकता ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि (पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्)[2] अर्थात् पहले षट्कर्म करने चाहिएँ इसके अतिरिक्त घेरण्ड-संहिता में भी आसनों से पूर्व षट्कर्म का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार यह निर्द्वन्द्व सिद्ध होता है कि जब तक शरीर रूपी घट को दावाग्नि रूपी षट्कर्म में दग्ध नहीं किया जायेगा, तब तक यह शरीर रूपी घट स्थिर सुख आसन रूपी जल हेतु व्यर्थ ही है क्योंकि आसनों से पूर्व अगर षट्कर्म कर लिए जाए तो शरीर किञ्चित् अभ्यास मात्र से ही आसनानुकूल बन जाता है और जिससे साधक को शीघ्र ही आसन सुखदायी होने लगता है।

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि षट्कर्म की क्रियाओं का चाहे वह आयुर्वेद से सम्बन्धित ही क्यों न हो ईसवी शताब्दी से बहुत पहले प्रचलन था।

हठयोग विषयक ज्ञान एवं उसकी प्राचीनता बिषयक सन्दर्भ की चर्चा करते हुए डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य लिखते हैं कि "बौद्ध धर्म ने योग के सिद्धान्तों को चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर (राज) योग एवं हठयोग दोनों प्रकार के योगों की साधना किया करता था और उन लोगों ने अपने सामूहिक उन साधनाओं को शास्त्र का रूप देकर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो पातञ्जलयोग पद्धति से बहुत कुछ मिलती है, बल्कि यों कहना चाहिए कि दोनों में बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोग की मूलभित्ति पर तन्त्रों का निर्माण हुआ और तन्त्रों की सहायता से यह शास्त्र सर्वाङ्ग-पूर्ण बन गया।[4] सेनार्ट का तो यह विचार है कि योग ही बौद्धमत का मूल कारण है

---

1. (क) विषादविजृम्भाविनामवेपथु········वातज्वरानिलाङ्गानि स्युः ॥
(चरक-संहिता, निदानस्थान-1/15-21)
(ख) वेपथुर्विषमो वेगः·······················च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥
योगतरङ्गिणी-21/16-17
2. हठ० प्र० 2/21,
3. घे० स० 1/10,
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 281,

और पुसें बौद्धमत को योग की ही एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं।[1]

हठयोग सम्बन्धी साधनाओं एवं उसकी निर्धारित क्रियाओं का स्पष्ट दिग्दर्शन इंसवी सन् की तृतीय शताब्दी के गुह्य समाज तन्त्र में उपलब्ध होता है। इस तन्त्र ग्रन्थ में षडाङ्ग योग का वर्णन किया गया है।[2]

11वीं शताब्दी से पूर्व हठयोग के प्रचार का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि "नरपतिजयचर्यास्वरोदय"' शास्त्र में स्वरोदय ज्ञान का सविस्तार वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इस स्वरोदय शास्त्र का ज्ञान राजा के लिये ही नहीं अपितु देवताओं के लिये भी आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ में स्पष्ट निर्देश है कि जिस राजा के पास स्वर शास्त्र का पारंगत एक भी दैवज्ञ नहीं होता और कदाचित् वह विजय प्राप्त कर भी ले तो उसकी वह विजय घुणों से बनाये हुए अक्षरों के और अंधे से गृहीत पक्षी चटक के समान होती है। उसका राज्य केले के खम्भे के समान निस्सार होता है। स्वर-शास्त्र का अभ्यास करने वाला, सत्यवादी और जितेन्द्रिय दैवज्ञ की आज्ञा पालन करने वाले राजा को निरन्तर विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है।[3]

सम्भवत: ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्राचीन प्रक्रिया प्रधान योग की परम्परा रूपी ज्ञान गंगा का प्रवाह अनादि काल से ही अनवरत बहता आया था जिससे केवल बौद्ध ही नहीं अपितु जैन दर्शन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका था। इतिहास स्वयं साक्षी है कि भगवान् महावीर स्वयं यौगिक तथा ध्यान-क्रियाओं में लीन रहे थे और उन्हें उत्कटिकासन में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।[4] इसके अतिरिक्त वह स्वयं प्रक्रिया प्रधान योगी थे तथा उन्होंने इस प्रक्रिया प्रधान योग का प्रचार और प्रसार भी किया

---

1. संतकाव्य में योग का स्वरूप, पृ० 124,
2. सेवाषडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्।
   साधयेदन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा॥
   प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्रणायामोऽथ धारणा।
   अनुस्मृति: समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ गुह्यसमाजतन्त्र 18/139-40
3. कथञ्चिद्विजयी युद्धे स्वरज्ञेन बिना नृप:।
   घुणवर्णोपमं तत्तु यथान्धचटकग्रह:॥
   यस्यैकोऽपि गृहे नास्ति स्वरशास्त्रस्य पारग:।
   रम्भास्तम्भोपमं राज्यं निश्चितं तस्य भूपते:॥
   स्वरशास्त्रे सदाभ्यासी सत्यवादी जितेन्द्रिय:।
   तस्यादेशस्य य: कर्त्ता जयश्रीस्तं नृपं भजेत्॥

   नरपतिजयचर्यास्वरोदय-1/10-12
4. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला—पृ०-142

था ।[1] औपपातिकसूत्र में जहाँ वीर, कमल, दण्ड, वज्र इत्यादि आसनों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं आगम शास्त्रों में प्राणायाम विषयक सन्दर्भ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है ।[2]

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व हठयोग के महत्त्वपूर्ण अंग षट् कर्म, आसन और प्राणायाम अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुके थे और अति प्राचीन एवं जन सामान्य प्रिय इन क्रियाओं को विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और दर्शन ग्रन्थों में भी निबद्ध कर दिया गया था, क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी शास्त्र का प्रणयन अपने समय में पराकाष्ठा को प्राप्त उपलब्ध मान्यताओं को लेकर ही हुआ करता है । यह एक अलग चिन्तन का विषय है कि महर्षि पातंजल इन क्रियाओं से कितना कुछ ग्रहण कर सके तथा उन्होंने किस प्रकार से इस प्रक्रिया प्रधान योग को दर्शन प्रधान ग्रन्थ के रूप में परिष्कृत एवं परिमार्जित किया जो आज हमें वर्तमान रूप में उपलब्ध होता है ।

यद्यपि हठयोग के सिद्धान्त, ग्रन्थ रूप में पर्याप्त परवर्त्ती हैं, किन्तु जैसाकि हम अपने अध्ययन में स्पष्ट कर चुके हैं कि इसके चिह्न हमें निर्विवाद रूप से सिन्धुघाटी के प्रागैतिहासिक अवशेषों में उपलब्ध होते हैं और वहीं से सम्भवतः वेदों तथा उपनिषदों में यत्र-तत्र अवतरित होकर वेदोत्तर काल में पल्लवित होते हैं ।

---

1. "Mahavira and Gautama were conteporaneous and both of them were undoubtedly great practical yogins and not only their respective traditions, but even their opponents recognise them to be so. As already noted by this time, yoga was not only well-established as a practical discipline and as a system of thought, but it had also become very much popular and already influenced not only religious but also other fields of Indian life. Mahavira and especially Gautama tried to make it even more popular." (Yoga-Historical background Dr. Kenghe pp. 123-24)

2. (क) औपपातिक सूत्र, बाह्यतपोधिकार-30

   (ख) उत्तराध्ययन सूत्र—29/73

क्योंकि 'इसी हठयोग के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध व शान्तिलाभ होता है,[1] इत्यादि प्रमाणों के द्वारा श्रुति ने हठयोग का समर्थन किया है एवं स्मृतियों और परवर्ती कालीन धर्मग्रन्थों ने इसका अनुसरण।

हठयोग परम्परा के मुख्य विषय के रूप में प्रचलित प्राणायाम का प्रयोग वैदिक परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी अवलोकनीय है। शाब्दिक रूप में प्राणायाम का अर्थ 'प्राण का नियन्त्रण अथवा विराम' माना गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। एक जगह प्रयुक्त हुआ है कि "प्राणाद्वायुरजायत' अर्थात् आदि पुरुष के प्राण से वायु प्रकट हुई।[2] सम्भवतः ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'अपान' की ओर भी निर्देश है।[3] तैत्तिरीय संहिता में प्राणों के पाँच प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है।[4] जिस पर टिप्पणी करते हुए सायणाचार्य ने उन प्राणों का स्थान निर्धारित करते हुए कहा है कि हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और व्यान की सम्पूर्ण शरीर में विद्यमानता है।[5]

अथर्ववेद में 'प्राणा' एवं 'अपाना' का बहुवचन में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[6] और एक जगह "अष्टायोग" तथा 'षड्योग' का प्रयोग किया गया है।[7] इसके अतिरिक्त एक जगह शरीर में आठ चक्रों की विद्यमानता बताते हुए कहा गया है कि आठ चक्रों वाला तथा नवदरवाजों (छिद्र) वाला यह शरीर ही देवों की अयोध्यापुरी है। उसी इस शरीर पुरी के शिरोभाग में सुनहले वर्ण का एक कोश (ब्रह्मगुहा) अत्यन्त सुखमय है। वह

---

1. "हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः" (श्री धर्मकल्पद्रुम, भाग चार पृ० 1127 से उद्धृत)

2. ऋग्वेद, 10/90/13

3. 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती' (10/189/2)

4. प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे पाहि उदानव्यानौ मे पाहि। (1/6।3।3)

5. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः। सायणाचार्य

6. प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्। अथर्ववेद-8/1/1

7. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषु।
तेना ते तन्वो ३ रपोऽपाचीनमप व्यये॥ वहीं-6/91/1

ज्योति से समाच्छादित है।[1] यजुर्वेद और सामवेद संहिता में भी 'प्राण' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है।[2] गौतम धर्म सूत्र (1।61) तथा बौधायन धर्मसूत्र में भी प्राणायाम का निर्देश प्राप्त है। उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही प्राणायाम का इतना विकास हो चुका था कि धार्मिक कृत्यों अथवा प्रायश्चित्तों के रूप में भी इस क्रिया का उपयोग किया जाता था।[3]

उपनिषदों में तो इस योग की चर्चा प्रसंगवश अनेक स्थलों पर हुई है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगी के लिए कौन-सा स्थान योगाभ्यास हेतु उत्तम है—इसी चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'योगी को समतल, शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित शब्द, जल और आश्रय की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल नेत्रों को पीड़ा न देने वाले, गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए।[4] इसके अतिरिक्त इस क्रियात्मक योग की चर्चा करते हुए एक जगह षडङ्ग योग की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है। सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ हठयोग सम्बन्धी (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) अंगों का वर्णन अत्यन्त विशिष्ट रूप से दर्शाया गया है।[5] हठयोग का स्पष्ट संकेत देते हुए अन्यत्र कहा गया है कि 'शरीर का हल्का होना, आरोग्य, अलोलुपता, नेत्रों की प्रसन्नतावर्धक शरीर कांति, मधुर स्वर, शुभ गन्ध, इत्यादि योगप्रवृत्ति के प्रथम लक्षणान्तर्गत आते हैं।[6] इसी भाव को हठयोगप्रदीपिका में भी स्पष्ट

---

1. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ वही-10/2/31

2. वैदिक कोश—पं० भगवद्दत्त, प्रथम भाग, पृ०-337-351

3. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे, भाग पञ्चम।

4. समे शुचौ शर्करावह्निबालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥ श्वेता० 2/10

5. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रापीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताह प्रमत्तः॥ वही, 2/8-9

6. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदन्ति॥ वही, 2/13

करते हुए इनको हठयोग के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[1] इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित योग प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण ही हठयोग के ही लक्षण हैं क्योंकि यह सर्वविदित है कि राजयोग से पहले हठयोग में नैपुण्य परमावश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद्[2] तैत्तिरीय,[3] छान्दोग्य,[4] कौषीतकि,[5] इत्यादि उपनिषदों में भी इस योग का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। हठयोग के घटक तत्त्वों में नाड़ी ज्ञान का अपना एक अलग एवं विशिष्ट स्थान है और इसका वर्णन हमें कठोपनिषद् में भी प्राप्त होता है जहाँ वर्णित है कि हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँ से सब ओर फैली हुई हैं। उनमें से एक नाड़ी, जिसको सुषुम्ना[6] कहते हैं, हृदय से मस्तक की ओर गयी है। भगवान् के परमधाम में जाने का अधिकारी उस नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोक में अर्थात् भगवान् के परमधाम में जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकाल में दूसरी नाड़ियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासना के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।[7] इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से उपनिषदों में वर्णित तथ्यों का अन्वेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि मोक्ष हेतु प्रक्रियात्मक योग को एक प्रमुख साधन के रूप में जाना जाने लगा था।

---

1. वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥
हठयोग प्र०—2/78

2. कठोपनिषद्, 2/6 11,/1/2/12
3. तैत्तिरीय, 2/4, 3/1/9,
4. छान्दोग्य, 7/6/1-2
5. कौषीतकि, 3/2, 3, 4
6. सुषुम्णा चर्व्यवल्लीव मेरुश्लिष्टा पुरोगता।
ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता वरानने।
शङ्खिनीनालमालम्ब्य गता सा ब्रह्मसादनम्॥ निगमतत्त्वसारवचन
7. (क) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
कठोपनिषद्—2/3/16

(ख) हृदयस्य नाड्यः प्राधान्येन शतम्, एका च। एकाधिकशतसङ्ख्याकाः प्रधाननाड्य इति यावत्। तासां मध्ये या मूर्धानमभिनिःसृता तया सुषुम्णाख्यया नाड्याऽन्तकाले ऊर्ध्वमुद्गच्छन्नमृतत्वम्—परमां मुक्तिमधिगच्छति···।
श्रीगोपालानन्दस्वामि विरचित भाष्य पृ०—124

प्राचीन ऋषियों ने सूत्रग्रन्थों की रचना के समय इस योग के महत्त्व को स्वीकारा जिसका प्रबल प्रमाण महर्षि गौतम का न्यायदर्शन[1] तथा महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन[2] है। देवल धर्मसूत्र में प्राणायाम का उल्लेख एवं परिभाषा प्राप्त होती है, जिसमें प्राणायाम को तीन प्रकार का माना गया है, कुम्भ, रेचन और पूरण।[3] महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन में आसन, ध्यान आदि का वर्णन प्राप्त होता है।[4] वेदों, उपनिषदों में सूचित तथा दर्शन साहित्य में वर्णित योग साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप हमें गीता में भी दृष्टिगोचर होता है, जिसमें योगाभ्यासी का स्थान निश्चित किया गया है[5] तथा योगांग के रूप में प्रतिष्ठित ध्यान का वर्णन प्राप्त होता है।[6]

मनुस्मृति में जहाँ यम और नियम की चर्चा करते हुए यह निर्दिष्ट है कि जो व्यक्ति यमों का सेवन न करते हुए केवल नियमों का ही पालन करता है, वह पतित होता है।[7] वहाँ याज्ञवल्क्यस्मृति में पद्मासन का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जबकि श्री विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा व्याख्या में इसे बद्धपद्मासन की संज्ञा दी गई है।[8] इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में भी एक ऐसी नाड़ी का वर्णन प्राप्त होता है जो सूर्यमंडल का

---

1. समाधि-विशेषाभ्यासात्। अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः।
तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः॥
न्याय दर्शन—4/2/38, 4/2/42

2. अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदानप्रोक्षणदिग्-नक्षत्रमन्त्रकाल-नियमाश्चादृष्टाय। वैशेषिक दर्शन, 6/2/2

3. त्रिविधः प्राणायामः। कुम्भो रेचनं पूरणमिति। देवल धर्मसूत्र कृत्यकल्प। मोक्षकाण्ड

4. ब्रह्मसूत्र, 4,1, 7-11
5. गीता, 6।11-14
6. वही, 18।52

7. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्॥
आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥
मनुस्मृति 2/204

8. (क) ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम्।
उत्तानं किञ्चिदुन्नाम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/198
(ख) ऊरुस्थावुत्तानौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः। मिताक्षरा

भेदन कर ब्रह्मलोक के भी पार पहुंचती है तथा जिसके द्वारा जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।[1] इस नाड़ी को कालान्तर में सुषुम्ना के नाम से भी पुकारा गया है।[2] इस नाड़ी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में हमारे शरीर में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है,[3] जैसाकि अर्वाचीन हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित है।[4]

प्राय: हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में षट्कर्म की त्राटक क्रिया का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इस क्रिया में किसी वस्तु पर अपना ध्यान लगाकर अश्रुपात पर्यन्त एकटक देखते रहना चाहिए।[5] सम्भवत: अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो महाकवि कालिदास ने भी इस क्रिया के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि पार्वती ग्रीष्मऋतु में अपने चारों ओर आग जलाकर सूर्य की ओर एकटक देखती रहती थी[6] और जिसका मुख्य ध्येय हठक्रिया द्वारा शिव की प्राप्ति था। इसके अतिरिक्त कालिदास के अन्य ग्रन्थों में हठयोग सम्बन्धी आसन विशिष्ट मुद्राओं का भी वर्णन दृष्टिगत होता है।[7]

पुराण-कालीन युग में भी इन क्रियाओं का महत्त्व बढ़ने लग गया था, जिसका प्रमुख उदाहरण सर्वशिरोमणि भागवत-पुराण है, जिसमें वर्णित है कि मूलाधार से कुण्ड-

---

1. ऊर्ध्वमेक: स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥ याज्ञवल्क्य-3/167

2. इड़ा वामे स्थिता नाड़ी पिङ्गला दक्षिणे मता।
तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्ना वंशमाश्रिता॥
पादाङ्गुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुन:।
ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ शारदातिलक

3. द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनि:सृता:।
हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/108

4. तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
प्रधाना: प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥ योगमार्तण्ड-17

5. (क) निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहित:।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/31

(ख) निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधै:॥ घेरण्ड-संहिता-1/53

6. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टि: सवितारमैक्षत॥ कुमारसम्भव 5/20

7. द्रष्टव्य—रघुवंश/13वां सर्ग एवं वीरासन हेतु-13/52

लिनी शक्ति को उठाकर सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए। इसकेअतिरिक्त अन्य हठयोग सम्बन्धी क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

गरुड़ पुराण[2] के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण[3] में भी क्रियात्मक योग का वर्णन उपलब्ध होता है तथा इसमें योगाभ्यास का फल भी दर्शाया गया है। शिवमहापुराण में यम नियम सहित आठ अंगों का उल्लेख कर संक्षेप में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही वास्तव में योग के षडङ्ग माने गए हैं।[4] इसके अतिरिक्त उपरोक्त पुराण में आठ आसनों का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है।[5] अग्निपुराण में आसनों के अतिरिक्त युक्त प्राणायाम से लाभ एवं अयुक्त प्राणायाम से होने वाली हानियों की भी चर्चा की गई है।[6]

कालोपरान्त हठयोग की इन क्रियाओं को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि जिससे तान्त्रिक सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। अनेक तन्त्रग्रन्थों में इन क्रियाओं का महत्त्व प्रकट किया गया है, जिनमें महानिर्वाण तन्त्र इत्यादि मुख्य ग्रन्थ हैं। 11वीं शती के शारदातिलक तन्त्रशास्त्र में नाद, बिन्दु, नाड़ी इत्यादि का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ षड्चक्र निरूपण एवं कुण्डलिनी शक्ति पर भी प्रकाश डाला गया है।[7]

हठयोग के अन्तर्गत आने वाले शिव तथा शक्ति तत्त्व का निरूपण करते हुए तान्त्रिक ग्रन्थ इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि 'शिव' का स्थान सहस्रचक्र है जो कपाल प्रदेश में स्थित है तथाशक्ति का स्थान मूलाधार चक्र है जो कि गुदेन्द्रिय में स्थित हैं।[8]

---

1. भागवतपुराण—स्कन्ध 3 अ॰ 28, स्कन्ध 11 अ॰ 15, स्कन्ध 11, अ॰ 8
2. गरुडपुराण—अध्याय-8
3. ब्रह्मपुराण—योगविधिनिरूपण
4. शिवपुराण—7/2/37-14-16
5. स्वस्तिकं पद्ममध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्।
   पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा॥ वही—7/2/37-20
6. अग्निपुराण—अध्याय-372, 373
7. शारदातिलक—1/50-57, 25/65
8. Yogic and Tantric Medicine—O.P. Jaggi, p. 121

हठयोग का अर्वाचीन काल

परवर्ती युग में ज्ञान-विज्ञान का ऐसा प्रवाह प्रवाहित हुआ कि मनुष्य को इस तथ्य पर चिन्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि इस दुःखमय संसार रूपी सागर को किस प्रक्रिया रूपी नौका के द्वारा शीघ्रता से पार किया जा सकता है। इसी चिन्तन रूपी गंगा का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारों ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा तथा उसने समस्त धर्मो, दर्शनों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक परम्पराओं का समावेश लिए हुई थी। जिसके फलस्वरूप हठयोग की सत्ता नाथ सम्प्रदाय के दर्शन सिद्धान्तों में अन्तर्भूत होकर नूतन रूप में प्रकट हुई और जिसने आसन, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी, जागरण एवं धौति, बस्ति, नेति, कुन्जल इत्यादि षट्कर्म रूपी योग के बाह्य अंगों पर इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से सभी सम्प्रदाय प्रभावित हुए। नाथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के काल (10वीं श० से 11वीं शती के मध्य)[1] में तथा उनके परवर्ती काल में शैव तथा शाक्त साधनाएँ परस्पर एक दूसरे में समा गई थीं। शिव शक्ति में अभेद सम्बन्ध स्थापित हो गया था। स्वयं गोरक्षनाथ के अनुसार पिण्ड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है, जिसका उद्‌बोधन ही हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। हठयोग के अनुयायी ऐसा विश्वास करते थे कि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, दोनों में अविभाग रूप एकता अर्थात् दोनों एकमेव होकर अनुस्यूत हैं। चन्द्रमा तथा उसकी चन्द्रिका की भाँति शिव और शक्ति अभिन्न हैं।[2]

---

1. (क) गोरक्ष का जन्म 1100 ई० में या इसके कुछ समय बाद हुआ था।—द्रष्टव्य श्री आर०सी० घेरे कृत मराठी ग्रन्थ 'गोरक्षनाथ की जीवनी एवं शिष्यों की परम्परा' (पृष्ठ 224)—धर्मशास्त्र से उद्धृत पृ०-276
   (ख) श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरक्षनाथ का जन्म दसवीं शताब्दी के लगभग ठहराया है—देखिए 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० 71
   (घ) गोरक्षनाथ का समय यदि दसवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य मान लिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी।
   (ग) विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में—उत्तरी भारत की संत परम्परा-चतुर्वेदी पृ० 56

2. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
   अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
   नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः।
   पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥ सिद्धसिद्धान्त संग्रह 4/37-38

यहाँ यह विचारणीय है कि नाथ से तात्पर्य क्या है ? नाथ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है क्योंकि नाथ के 'ना' शब्द से अनादि रूप अर्थ प्रकटित होता है तथा 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। श्री गोरक्षनाथ को इसी कारण से नाथ कहा जाता है।[1] क्योंकि "संतों के पूर्व का धार्मिक वातावरण भी विशृंखल था। जैन धर्म का शुद्धाचार धीरे-धीरे तन्त्र एवं योग को स्वीकार कर चुका था। बौद्धों का सम्प्रदाय बदलते-बदलते महायान, वज्रयान एवं सहजयान तक पहुंच चुका था। इन वज्रयानी एवं सहजयानी साधकों में योग की प्रमुखता थी, किन्तु इन्होंने आचरण का एक ऐसा मानदण्ड रखा था, जिसका बाहरी रूप अत्यन्त ही घृणित था। निम्न वर्ग को अपने महायान पर सवार कराकर पार उतारने वाली इनकी क्रान्ति धीरे-धीरे कुण्ठित हो गई थी। सहजयानी सिद्धों में आकर साधना बहुत कुछ लोक-धरातल पर पहुंच गई थी, पर उसका मुद्रा-मैथुन का रूप गर्हित था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथपन्थियों का शुद्धतावादी शैव-सम्प्रदाय संगठित हुआ, जिसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधक गोरक्ष-नाथ हुए। गोरक्षनाथ ने साधना में वज्रदेह की सिद्धि का आदर्श स्वीकार किया और सिद्धों की साधना में शुद्धता का संचार किया।"[2] श्री "गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत से ग्रन्थ चलते हैं, जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सन्देहास्पद हैं। सब मिलाकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ न कुछ गोरक्षनाथ की वाणी अवश्य रह गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं। गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर अनेक प्रकार से प्रचलित काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामञ्जस्य से चक्रों की संख्या नियत की तथा उन्होंने लोक भाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया।[3] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्री गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों का ब्यौरा इस प्रकार से दिया है।

1. अमनस्क 2. अमरौधशासनम् 3. अवधूतगीता 4. गोरक्षकल्प 5. गोरक्षकौमुदी 6. गोरक्षगीता 7. गोरक्षचिकित्सा 8. गोरक्षपञ्चक 9. गोरक्षपद्धति 10. गोरक्षशतक

---

1. नाकारोऽनादिरूपं हिथकार: स्थाप्यते सदा।
भुवनत्रयमेवैक: श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते॥ (राजगुह्य) नाथ सम्प्रदाय पृ०-3
2. संतकाव्य में योग का स्वरूप—पृ०-89
3. नाथ-सम्प्रदाय—107-108

11. गोरक्षशास्त्र 12. गोरक्ष-संहिता 13. चतुरशीत्यासन 14. ज्ञानप्रकाशशतक 15. ज्ञानशतक 16. ज्ञानामृतयोग 17. नाड़ीज्ञानप्रदीपिका 18. महार्थमञ्जरी 19. योगचिन्तामणि 20. योगमार्तण्ड 21. योगबीज 22. योगशास्त्र 23. योगसिद्धान्तपद्धति 24. विवेकमार्तण्ड 25. श्रीनाथसूत्र 26. सिद्धसिद्धान्तपद्धति 27. हठयोग 28. हठसंहिता। इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्त्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।[1] इसके अतिरिक्त आज भी हठयोग से सम्बन्धित ग्रन्थ अप्रकाश्य ही पड़े हुए हैं।[2]

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हठयोग विषयक उपनिषदों का भी निर्माण कम नहीं हुआ है। इन उपनिषदों से सम्बन्धित काल के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इनमें से कुछ 11 वीं शताब्दी से पूर्व एवं कुछ 11वीं शताब्दी के बाद रची गईं।

आचार्य महादेव शास्त्री ने सन् 1920 में मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से 'योग उपनिषद्' नामक ग्रन्थ में 20 उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया। जिनका नाम इस प्रकार है—

1. अद्वयतारकोपनिषद्
2. अमृतनादोपनिषद्
3. अमृतबिन्दूपनिषद्
4. क्षुरिकोपनिषद्
5. तेजोबिन्दूपनिषद्
6. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
7. दर्शनोपनिषद्
8. ध्यानबिन्दूपनिषद्
9. नादबिन्दूपनिषद्
10. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्
11. ब्रह्मविद्योपनिषद्
12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
13. महावाक्योपनिषद्
14. योगकुण्डल्युपनिषद्
15. योगचूडामण्युपनिषद्
16. योगतत्त्वोपनिषद्
17. योगशिखोपनिषद्
18. वाराहोपनिषद्
19. शाण्डिल्योपनिषद्
20. हंसोपनिषद्[3]

इन उपनिषदों में चतुर्विधयोग एवं उनके घटक तत्त्वों के अन्तर्गत कुण्डलिनी, चक्र, नाड़ी, नाद, बिन्दु विभिन्न आसन और प्राणायाम इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया

---

1. इन पुस्तकों से सम्बन्धित ज्ञान हेतु द्रष्टव्य-वही-पृ० 109-111
2. "To-day, due to popularity of the Subject, innumerable books have been published on Hathayoga, but very few can be said to have been based on a sound study of the tradition and literature. Vast traditional literature on the subject is still lying unpublished" Yoga : Historical Background—Dr. Kenghe P.-189
3. कल्याण का योगाङ्क

गया है। अत एव यह निर्विवाद सिद्ध है कि 11वीं शताब्दी एवं उसके परवर्त्ती काल में हठयोग अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर चुका था तथा उसके प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ रूप में निबद्ध हो गये थे। इस हठयोग की परम्परागत ज्ञान गंगा का परम्परा रूपी प्रवाह अनादि काल से ही प्रवाहित होता आया है। सम्भवत. सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन, यह एक अलग विषय है कि इसका सम्बन्ध किस मत से रहा होगा। इस परम्परा का प्रवाह ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व कुछ कम होने लगा था कि तभी ऐसी विभूति (पातञ्जल) का भारतभूमि में प्रादुर्भाव हुआ, जिसने न केवल प्राचीन ऋषियों एवं योगियों के उद्गारों का संकलन किया अपितु उनके उद्गारों को दर्शन का ऐसा रूप दिया जो आज समस्त विश्व में पूजनीय है। इसके अनन्तर सम्प्रदाय-ग्रन्थों, पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों में भी इस प्रक्रिया-प्रधान योग का उत्थान एवं पतन जुड़ा हुआ है। प्राचीन सभ्यता का यह पौधा बाहरी आक्रमणों के बावजूद 11 वीं शताब्दी के बाद ऐसे महान् वट वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित हुआ कि जिसकी शारीरिक एवं मानसिक रोग निवारणार्थ तथा अलौकिक सिद्धि प्रदायक और आत्मानुभूति रूपी छत्र-छाया के नीचे सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं दर्शनों ने आश्रय लिया।

अर्वाचीन काल में लिखे गए हठयोग से सम्बन्धित घेरण्ड-संहिता, शिव-संहिता, षट्चक्रनिरूपण, शिवस्वरोदय और हठयोगप्रदीपिका इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं—इन ग्रन्थों में 14वीं शताब्दी के लगभग की हठयोगप्रदीपिका का अपना अलग एवं विशिष्ट स्थान है।

हठयोगप्रदीपिका

प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्धित आचार्य स्वात्माराम योगीन्द्र के इस ग्रन्थ में समस्त हठयोग विषयक तत्त्व का सार है। यह ग्रन्थ चार उपदेशों में विभक्त है जिसकी कुल श्लोक संख्या (383) है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—

प्रथम उपदेश—प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए 69 श्लोकात्मक प्रथम उपदेश श्री आदिनाथ एवं गुरु गोरक्षनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त हठयोग के 33 सिद्धों के नाम कीर्तन से प्रारम्भ होता है। एतदनन्तर हठाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करके 15 प्रमुख आसनों का लाभ सहित वर्णन तथा योगी के लिए पथ्यकारी और अपथ्यकारी भोजन नियम का सविस्तर विवेचन उपलब्ध होता है। इस उपदेश में यह द्रष्टव्य है कि आसन को हठयोग के प्रथम अंग[1] के रूप में स्वीकार करके ग्रन्थकार

---

1. हठ० प्र०—1/19

ने पातञ्जल योग दर्शन,[1] योगतत्त्वोपनिषद्,[2] एवं जाबालदर्शनोपनिषद्[3], की परम्परा का परित्याग करके किसी अन्य (सम्भवतः पौराणिक अथवा किसी विशिष्ट उपनिषद्) हठ परम्परा का अनुगमन किया है। किन्तु यहाँ यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि हठयोगप्रदीपिकाकार ने यम और नियम की उपेक्षा की है। जहाँ पातञ्जल योग दर्शन का आरम्भ यम, नियम से होता है, वहाँ इस ग्रन्थ का आरम्भ आसन से करके यम और नियम की अवहेलना नहीं की गई, अपितु उनका भी वर्णन किया है।

द्वितीय उपदेश—इस उपदेश में श्लोकों की संख्या 78 है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें प्राणायाम प्रयोजन, षट् कर्म, आहार की उपयोगिता, प्राणायाम का समय, प्राणायाम के आठ प्रकार एवं उनसे प्राप्त होने वाले लाभों का सविस्तर विवेचन और हठयोग एवं राजयोग में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बताते हुए हठसिद्धि का लक्षण स्पष्ट किया गया है।

तृतीय उपदेश—123 श्लोकों से युक्त इस उपदेश में कुण्डलिनी को जीव की मार्मिक शक्ति बताकर उसे सम्पूर्ण योग का आधार बताया गया है।[4] और कुण्डलिनी जागरण के उपाय स्वरूप दस मुद्राओं तथा उनकी सिद्धि पर्यन्त प्राप्त लाभों का सविस्तर विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

चतुर्थ उपदेश—इस उपदेश में समाधि, कुण्डली जागरण, लय आदि की परिभाषा का परिणाम सहित वर्णन करने के उपरान्त शाम्भवी और खेचरी मुद्रा की सिद्धि का स्पष्ट विवेचन किया गया है। अन्त में नादानुसन्धान की चारों अवस्थाओं का निर्देश कर नादश्रवण के परिणामस्वरूप समाधि प्राप्ति एवं उसकी अवस्था का निर्देश 113 श्लोकों में किया गया है।

संक्षेप में यही कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि आजकल के समाज में उत्पन्न विविध रोगों के उपशमन हेतु और हठयोग सम्बन्धी समस्त विश्व में व्याप्त भ्रान्तियों को निरस्त करने में प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा क्योंकि भारतीयदर्शनों में बहुधा भौतिक खण्ड सत्ताओं के पीछे एक अभौतिक, परमार्थ, अद्वय, परम लक्ष्य, परमशिवरूपी अखण्ड सत्ता की कल्पना की गई और उपर्युक्त प्रमाणों के मूल में भी यही दर्शाया गया है कि बाह्य योग को चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाये, मूलतः उसका एक ही लक्ष्य होता है।

—परमार्थतत्त्व

---

1. पा० यो० द०—2/29
2. यो० तत्त्व० उ०—25
3. जा० द० उ०—1/4-6
4. ह० प्र०—3/1

अध्याय-2

हठयोग के लिए स्थान तथा हठयोग के बाधक और साधक तत्त्व

हठविद्या का प्रयोजन

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र सर्वशक्तिमान् भगवान् श्री आदिनाथ को प्रणाम कर बताते हैं कि यह हठविद्या राजयोग रूपी उच्चतम शिखर पर चढ़ने वालों के लिए सीढ़ी के समान है।[1] इसी विद्या हेतु इस ग्रन्थ की रचना की गई है। हठयोग जहां साधन है वहीं राजयोग साध्य बन जाता है।

सिद्ध परम्परा

हठाभ्यास हेतु स्थान निर्धारण से पूर्व ग्रन्थकार ने अपने पूर्वज सिद्धों का नाम-स्मरण परमावश्यक माना जो आज भी हठयोगसिद्धि की शक्ति से मृत्युञ्जयी होकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। वे सिद्ध हैं—सर्वश्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबर, आनन्द भैरव, चौरङ्गी, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, बिलेशय मन्थान, भैरवयोगी, सिद्धि, बुद्ध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिण्टिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक आदि।[2]

'आदि' पद पर टीका करते हुए ज्योत्स्नाटीकाकार लिखते हैं कि आदि पद

---

1. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।—ह० प्र०, 1/1
2. ह० प्र०, 1/5-9

तारानाथ इत्यादि अन्य सिद्धों के लिए प्रयुक्त हुआ है ।[1] इन आचार्यों द्वारा प्रदत्त यह विद्या सर्वदुःखनिवारणार्थ एकमात्र आश्रय रूपी मठ है ।

हठयोगाधिकारी

इस विद्या के सन्दर्भ में कहा गया है कि इस विद्या को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए क्योंकि गुप्त रहने पर यह विद्या अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती है और प्रकट होने पर शक्तिहीन । शिव-संहिता में भी इसी भाव को किंचित् पाठभेद से व्यक्त किया गया है ।[2]

अधिकारी के सन्दर्भ में हठयोगप्रदीपिका पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि जितेन्द्रिय, शान्त, भोगों में अनासक्त, निर्दोष और मुमुक्षु आज्ञाकारी अधिकारी को ही इस विद्या का उपदेश देना चाहिए । याज्ञवल्क्य स्मृति उद्धृत करते हुए आगे कहा गया है कि शास्त्रोक्त कर्मों से युक्त, कामना और संकल्प रहित, यम और नियमों से युक्त, निस्संग, विद्यायुक्त, क्रोधरहित, सत्य, धर्मपरायण, गुरुसेवारत, मातृपितृभक्त, गृहस्थादि आश्रम में स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानों ने जिसको भली प्रकार शिक्षा दी गई हो, ऐसा पुरुष योग का अधिकारी होता है ।[3]

हठयोग हेतु स्थान का निर्धारण

एतदनन्तर योगाभ्यासी के योगाभ्यास हेतु उत्तम स्थान की चर्चा की गई है, क्योंकि इस परम्परा के अभ्यासी को सर्वप्रथम स्थान, तदुपरान्त क्रमशः काल, आहार, नाड़ी शुद्धि और प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए । इसके विपरीत आचरण करने पर अर्थात् दूरदेश में, अरण्य में और राजधानी में बैठकर योगाभ्यास करने से सिद्धि की हानि होती है ।[4]

स्थान निर्धारित करते हुए कहा गया है कि हठयोगी को अच्छे राज्य में, धार्मिक देश में, जहाँ से अच्छी भिक्षा उपलब्ध हो सके, उपद्रवों से रहित, ऐसी कुटिया में वास

---

1. आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः ।
2. शिवसंहिता, 207
3. विद्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ।
   यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः ।।
   कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः ।
   गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः ।।
   स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः ।।—ज्योत्स्ना-1/11
4. घे० स०-5/23

करना चाहिए, जो एकान्त में हो, तथा जिसके चार हाथ प्रमाण पर्यन्त पत्थर, अग्नि और जल न हो। पुनः कुटिया के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसका द्वार छोटा हो, छिद्र अथवा बिल रहित हो, भूमि समतल हो, अधिक विस्तृत न हो, गोमय लिप्त, कीटरहित, बाहर का मण्डप वेदी और कूपयुक्त हो तथा जो चारदीवारी से युक्त हो।[1]

स्थान के विषय में प्राचीन कालीन श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि ऊंचे-नीचे स्थान से रहित शुद्ध, पत्थरों से रहित, अग्नि और बालू से वर्जित इत्यादि निर्वात एकान्त गुफा को साधक योगाभ्यास हेतु अपना आश्रय बनाए।[2]

इस प्रकार के भाव योगतत्त्वोपनिषद् और घेरण्डसंहिता में भी दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

हठयोग में बाधक और साधक तत्व

स्थान निर्धारण के पश्चात् योग के बाधक तत्त्वों की चर्चा कर इनके परित्याग का निर्देश दिया गया है, जिनमें अधिक भोजन, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, नियम पालन में आग्रह, अधिक लोकसंगति और मन की चंचलता है।[4] योग में बाधक तथा साधक तत्त्वों का भगवद्गीता में भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें वर्णित है कि अति अशन करने वाले, न बिल्कुल अशन रहित, न अधिक सोने वाले और न अधिक जागने वालों के लिए योग लाभकारी होता है, अपितु युक्त आहार-विहार, युक्त चेष्टा करने वाले और युक्त सोने और जागने वाले को ही योग लाभकारी होता है।[5] शिव-संहिता में (भोगरूप, धर्मरूप, और ज्ञानरूप) मुख्य तीन विघ्न मानकर गौणों की संख्या अधिक बताकर उनका अन्तर्भाव मुख्यों में कर दिया है।[6] कुलार्णवतन्त्र में इनकी संख्या आठ बताकर इन्हें क्रमशः घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुलशील और जाति रूपी पाश कहा गया है।[7]

---

1. ह० प्र०-1/12-13
2. श्वे० उ०—2/10
3. (क) यो० त० उ०, 32-35
   (ख) घे० स०, 5/6-7
4. ह० प्र०, 1/15
5. भग० गी०, 6/16/17
6. शि० सं०—5/3-5
7. Principles of Tantra, 639

ज्योत्स्ना टीका के अनुसार इन (हठप्रदीपिका में वर्णित) छः विघ्नों का परित्याग इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये विघ्न काम और चंचलता की वृद्धि के हेतु हैं तथा इनसे योग विशेषकर नष्ट होता है।[1]

एतदनन्तर उत्साह, साहस, धैर्य यथार्थज्ञान, संकल्प और लोकसंग का परित्याग इन छः तत्त्वों को योग में सहायक माना है।[2] क्योंकि इनके द्वारा योग सिद्धि शीघ्र एवं सुनिश्चित हो जाती है। इस पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि विषयों में लगे चित्त को भी रोकना यह उद्यम रूप साहस, साध्य-असाध्य को विचार कर शीघ्र प्रवृत्ति रूप साहस, धैर्य जैसे कि जीवन पर्यन्त में तो सिद्ध होगा ही इस खेद के अभाव को धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णा के जल तुल्य विषय मिथ्या हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है, यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान, निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरु के वाक्यों में विश्वास, श्रद्धा, और योगाभ्यास के विरोधी जनों का परित्याग इन छः वस्तुओं से योग शीघ्र सिद्ध होता है।[3]

इस प्रकार आसनों से पूर्व ग्रन्थकार ने योगी का स्थान निर्धारित करके योग में बाधक एवं साधक तत्त्वों का निरूपण करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका, 1/15
2 ह० प्र०, 1/16
3. ज्योत्स्ना, 1/16

अध्याय-3

आसन

आसनों की संख्या

हठयोगप्रदीपिकाकार ने पातंजल योग प्रणाली का अनुसरण न करते हुए गोरक्ष संहिता,[1] योगचूडामण्युपनिषद्[2] और विष्णुपुराण[3] का अनुसरण किया है। इन्होंने आसन को प्रथम अंग के रूप में स्वीकार करके इसको शरीर में स्थिरता, आरोग्यता और लघुत्व प्रदान करने वाला बताया है।[4] किन-किन आसनों को विशेष मानकर उनका निरूपण करना चाहिए, इस प्रसंग में कहा गया है कि वसिष्ठ आदि मुनियों तथा मत्स्येन्द्रनाथ अदि योगियों द्वारा स्वीकृत कुछ आसनों का ही वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार आसनों की कुल संख्या का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन नहीं करते परन्तु गोरक्ष-संहिता एवं घेरण्ड-संहिता के अनुसार आसन उतने हैं, जितने इस नश्वर जगत् में जीवजन्तु। उन चौरासी लाख आसनों में से चौरासी श्रेष्ठ हैं तथा उनमें भी बत्तीस विशिष्ट हैं।[5] किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने 15 आसनों[6] का और सर्वप्रथम

---

1. गो० सं०, 1/6
2. यो० चू० उ०, 2
3. वि० पु०, 37/16
4. ह०प्र०, 1/19
5. सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
   सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च।।
   मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
   गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा।।
   मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
   उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम्।।
   शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
   द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके हि सिद्धिदम्।। घेरण्ड संहिता, प्र।-16
6. स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनु, मत्स्येन्द्र, पश्चिमतान, मयूर, शव, सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्र।

स्वस्तिक आसन का उल्लेख किया है। वैसे भी स्वस्ति शब्द भारतीय समाज में कल्याण-कारी माना गया है, यहाँ यह प्रतीत होता है कि इन आसनों के द्वारा समस्त संसार का कल्याण हो, इसी आशय से अभिभूत होकर ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम इस आसन का उल्लेख किया है।

1. स्वस्तिकासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के तलुवों को घुटने और जंघा के मध्य में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके, शरीर को सीधा रखकर सन्तुलित बैठना ही स्वस्तिकासन कहलाता है।[1]

इस आसन का उल्लेख अन्य हठयोग के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। घेरण्ड-संहिता में इस आसन को पाँच आसनों के अनन्तर किंचित् पाठभेद से प्रस्तुत किया गया है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन किया गया है, किन्तु शण्डिल्योपनिषद् में इस आसन को प्रथम स्थान प्रदान कर इस आसन की महत्ता को स्वीकारा है।

यह आसन पैरों के तलवों के लिए बहुत उपयोगी है। जिन व्यक्तियों के पैरों में दुर्गन्ध, पसीना और दर्द की शिकायत रहती है, उन व्यक्तियों को यह आसन प्रातःकाल अवश्य करना चाहिए। इस आसन का चालीस दिन पर्यन्त अभ्यास करने से पैरों के तलवों को असीम बल मिलता है। इसके अभ्यासी को चलने में हल्कापन महसूस होता है। जिन व्यक्तियों के पैरों में ज्यादा दर्द होता है, उनको इस आसन का अभ्यास कम से कम 15 मिनट तक अवश्य करना चाहिए।

2. गोमुखासन

दाहिने गुल्फ को वाम भाग की कटिप्रदेश में तथा वाम गुल्फ को दाहिने भाग

---

1. ह० प्र०, 1।21
2. घे० स०, 2।12
3. त्रि० ब्रा० उ०, 35
4. शा० उ०, 3।1

के कटिप्रदेश में सम्यक् प्रकार से स्थापित करने से जो गोमुखाकृति बनती है, उसे गोमुखासन कहते हैं।[1]

इस आसन का वर्णन हमें जाबालदर्शनोपनिषद्[2], त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और घेरण्ड-संहिता[4] इत्यादि हठयोग के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। केवल घेरण्ड संहिता में शब्दसाम्य को छोड़कर अन्य दोनों ग्रन्थों में यह श्लोक किंचित् पाठ-भेद से प्रयुक्त हुआ है। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों में अवश्य पूर्ववर्ती का उत्तरवर्ती ग्रन्थ पर प्रभाव पड़ा होगा।

इस आसन का अभ्यास करते समय यह अवश्य ध्यान देना चाहिए कि मेरुदण्ड बिल्कुल सीधा हो जिससे फेफड़ों में प्राणवायु का सम्यक् प्रकार से संचार हो सके। इसी कारण से यह आसन फेंफड़ों से सम्बन्धित समस्त रोगों का नाश करके, फेफड़ों में विद्यमान वायुग्रन्थियों को अधिक खोलता है, जिससे ज्यादा-से-ज्यादा वायु-ग्रंथियां श्वास का आधिक्य प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त यह आसन समस्त शरीर के साथ-साथ पैरों, घुटनों और दोनों जंघाओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध है। इस आसन का ब्रह्ममुहूर्त में अभ्यास करने से रक्तशुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस आसन के निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनुष्य को कभी भी क्षय और दमा जैसे रोगों की सम्भावना नहीं हो सकती। यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से परम उपयोगी माना गया है।

(3) वीरासन

एक पांव को विपरीत जंघा से स्पर्श कराते हुए तथा दूसरे पांव को विपरीत जंघा के ऊपर स्थापित करने को वीरासन कहते हैं।[5]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार एक जंघा पर एक पांव तथा दूसरे पांव को पीछे की ओर बढ़ा देना ही वीरासन कहलाता है।[6] जबकि जाबालदर्शनोपनिषद् के मन्तव्यानुसार

---

1. हठयोगप्रदीपिका, 1।22
2. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3।3-4
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 3
4. घेरण्ड-संहिता, 2/14
5. हठयोगप्रदीपिका, 1/23
6. घेरण्ड-संहिता, 2/15

बाएं पैर को दक्षिण जंघा पर रखकर देह को सीधा करके बैठना ही वीरासन कहलाता है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार एक चरण को बांयी जांघ पर और दूसरे को दाहिनी जांघ पर रखने से वीरासन होता है।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है।[3]

ऐसी कथा प्रचलित है कि इस आसन में लक्ष्मण जी सिद्धहस्त थे और अक्सर वे इसी आसन का उपयोग किया करते थे। इसी कारण से आधुनिक योगविद् इसे लक्ष्मणासन भी कहते हैं। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से जंघाओं, पिण्डलियों को तो असीम लाभ मिलता ही है साथ में इससे चित्त में एकाग्रता भी बढ़ती है। कुछ आधुनिक योगियों के द्वारा यह खड़े होकर भी लगाया जाता है क्योंकि खड़े होकर वीरासन के अभ्यास से शरीर को अत्यधिक लाभ मिलता है। किन्तु श्लोक के अन्वयार्थ हेतु इसे बैठकर ही सिद्ध किया जा सकता है। शिकारी अथवा लक्ष्यार्थ भेदन में निपुणता हेतु यह आसन परमावश्यक माना गया है। इसके साथ-साथ इस आसन के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य के शरीर में ही नहीं अपितु मस्तिष्क को भी असीम बल मिलता है।

(4) कूर्मासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पांवों की एड़ियों से गुदा के विपरीत (दाएं टखने से गुदा के वाम भाग तथा वाम टखने से गुदा के दायें) भाग को दबाकर बैठने को योग के जानकार कूर्मासन कहते हैं।[4]

घेरण्ड संहिता में इसी भाव को इस प्रकार से व्यक्त किया गया है कि दोनों अण्डकोषों के नीचे एड़ियों का अतिक्रमण कराकर सीधा बैठना ही कूर्मासन कहलाता है।[5]

यह आसन पेट, घुटने, जंघा संबंधी समस्त रोगों का निवारण करता है। इस आसन के अभ्यासी को बवासीर जैसे कष्टदायी रोगों की तो सम्भावना ही नष्ट हो जाती है, इसके साथ-साथ यह आसन ब्रह्मचर्य के लिए अति उत्तम माना गया है क्योंकि इसमें बैठने से वीर्य ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इस आसन में श्वास-प्रश्वास की स्थिति सामान्य एवं दृष्टि भ्रूमध्य रखनी चाहिए। इसका सबसे अधिक लाभ यह भी

---

1. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3/6
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिद्, 37
3. शाण्डिल्योपनिषद्, 3/4
4. हठयोग प्र०—1/24
5. घेरण्ड-संहिता, 2/27

है कि इस आसन का अभ्यास यदि कोई व्यक्ति शीतकालीन ऋतु में भी करता है, तो उसे शरीर में उष्णता महसूस होगी। इन सब लाभों के अतिरिक्त यह अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करने में सहायक सिद्ध होता है। यदि इसी आसन में पीछे की ओर झुक जाए तो मेरुदण्ड में लचीलापन आता है और आगे की ओर झुकने से जठराग्नि की अभिवृद्धि के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

(5) कुक्कुटासन

इसकी विधि निर्धारित करते हुए कहा है कि सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से दोनों हाथों को निकाल कर, समस्त शरीर को हाथों से उठाकर, आकाश में स्थित रहना ही कुक्कुटासन कहलाता है।[1]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[2] और घेरण्ड-संहिता[3] में इसी भाव को व्यक्त किया गया है कि आकाश में दोनों भुजाओं को दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से निकालकर, उस पर सम्पूर्ण शरीर का भार वहन करना ही कुक्कुटासन कहलाता है।

इस आसन में योगी की स्थिति मुर्गे सदृश हो जाती है अतएव इस आसन को कुक्कुटासन कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह आसन 15-20 मिनट साधने से योगी को उतनी शक्ति प्राप्त होती है, जितनी सामान्य जन को कुक्कुट खाने से प्राप्त होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से हाथों, जंघाओं, घुटनों और पिण्डलियों को तो असीम बल मिलता ही है साथ में वक्षःस्थल पुष्ट होकर फैलता है। इस आसन से जठराग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तथा सम्पूर्ण शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। जिन व्यक्तियों के हाथ कांपते हों उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिए क्योंकि इस आसन में मनुष्य की हथेलियां मजबूत, अंगुलियां पुष्ट एवं मणिबन्ध सुदृढ़ होता है। सम्पूर्ण भुजा में उत्पन्न किसी भी विकृति के निवारणार्थ यह आसन परम उपयोगी माना जाता है।

(6) उत्तानकूर्मासन

पूर्वोक्त बताये गये कुक्कुटासन की अवस्था में दोनों हाथों से ग्रीवा को पकड़ने पर अभ्यासी की जो आकृति बनती है उसे उत्तानकूर्मासन कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०, 1/25
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 41
3. घेरण्ड संहिता, 2/26
4. ह० प्र०, 1/26

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[1] और घेरण्ड-संहिता[2] में इसी आसन को इन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है कि कुक्कुटासन लगाकर दोनों भुजाओं से दोनों बन्धों को बांधकर कछुए के समान सीधा हो जाना ही उत्तानकूर्मासन कहलाता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कमर पतली, सीना चौड़ा तथा मेरुदण्ड में लचीलापन आता है। कुक्कुटासन से प्राप्त होने वाले लाभों के अतिरिक्त इस आसन के द्वारा नाभिविकृति से उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण शीघ्रता से हो जाता है। जिस प्रकार कछुआ समय पर अपने बाह्य अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार इस आसन के द्वारा योगी बाह्य विषयों से अपना चित्त हटाकर भ्रूमध्य में लगाता है। यह आसन रक्तशोधन करने वाला भी माना गया है। ग्रीवा में उत्पन्न किसी भी विकार को दूर करने में यह परम उपयोगी आसन है। ब्रह्ममुहूर्त में इस आसन का अभ्यास करने से शरीर की दुर्गन्ध जाती रहती है और यदि इस आसन में निर्विकार भाव से शून्य आकाश को देखा जाये तो उससे नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। अतएव यह आसन अन्य कई आसनों से ज्यादा महत्वपूर्ण आसन कहा जाता है।

(7) धनुरासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के दोनों अंगूठों को हाथों से पकड़कर कानों तक खींचकर धनुष के समान स्थापित करना ही धनुरासन कहलाता है।[3]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़कर धनुष के आकार में कानों तक धनुष के समान खींचना ही धनुरासन कहलाता है।[4] जबकि घेरण्ड-संहिता में इसकी विधि इस प्रकार से बताई गई है कि दोनों पांवों को भूमि पर सीधे स्थापित करे तथा दोनों हाथों को पीठ की ओर करके पांवों को पकड़ लेने से शरीर जब धनुष के समान बन जाता है तब धनुरासन कहलाता है।[5]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यदि किसी कारणवश किसी की नाभि अपने स्थान

---

1. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 42
2. घेरण्डसंहिता, 2/28
3. ह० प्र० 1/27
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 43
5. घेरण्डसंहिता, 2/16

से हट जाये, तो उसे इस आसन का अभ्यास 4 से 6 मिनट अवश्य करना चाहिए। ऐसा करने से हटी हुई नाभि अपने स्थान को प्राप्त करती है तथा नाभि स्थान से उत्पन्न होने वाली समस्त नाड़ियां इस आसन के द्वारा अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं। यह आसन मोटे पेट वालों के लिए अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन का अभ्यास करने वालों का मेरुदण्ड अत्यधिक लचीला एवं ग्रीवा सुन्दर बन जाती है। हृदय रोगी को यह आसन वर्जित है।

(8) मत्स्येन्द्रासन

दाहिने पैर को वामजंघा के मूल में स्थापित करके, बायें पैर को घुटने के ऊपर से लाकर भूमि पर स्थापित करने के पश्चात् शरीर को इतना मोड़ें कि विपरीत हाथों से दोनों पांवों को अर्थात् दायें हाथ से बायां पैर और बायें हाथ से दायां पैर पकड़ कर स्थिर रहें। इसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं तथा यह श्री मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा बताया गया है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् और घेरण्ड संहिता में भी इस आसन का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

इस आसन के अभ्यासी की जठराग्नि प्रदीप्त होती है। वह साधक अनेक प्रकार के प्रचण्ड रोगों से मुक्ति पा जाता है, इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और योगी का चन्द्ररस अपनी चंचलता का त्याग कर स्थिरता को पाता है।[3]

कुण्डलिनी शक्ति हठयोग का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह एक ऐसी शक्ति है, जिसके जागृत होने पर ही योगी की मुक्ति सम्भव है। कुण्डलिनी पद्मतन्तु सदृश और कमल के कन्द के समान ही मूलकन्द की फणाग्र से देखकर, अपनी पूंछ को मुख में दबाकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढककर सोई रहती है।[4]

इस शक्ति पर स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि मेरुदण्ड के तल में जो मूलाधार चक्र है,वह बहुत काम की वस्तु है। यही जगह प्रजनन-शक्ति का बीज या वीर्य का आधार है। इस त्रिकोण स्थान में एक छोटा-सा सांप कुण्डली लगाये बैठा है, योगी लोग उसको

1. ह० प्र० 1/28
2. (क) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 48-49
   (ख) घेरण्डसंहिता, 2/21
3. ह० प्र० 1/29
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—1/82-83

इस तरह से व्यक्त करते हैं। यह निद्रित सांप ही कुण्डलिनी है, इसको जागृत करना ही समस्त राजयोग का उद्देश्य है।[1]

चन्द्ररस एक ऐसा अमृत है जो मनुष्य के तालु-मूल से स्रवित होता रहता है। उसको नाभि स्थित अग्निस्वरूप सूर्य के द्वारा ग्रसते रहने के कारण ही मनुष्य की आयु क्षीण होती रहती है। अतएव उसकी रक्षा परमावश्यक मानी गई है।[2]

इसके अतिरिक्त यह आसन गुल्फ, प्लीहा यकृत् और पेट के कीटाणु आदि रोगों को नष्ट करता है। भुजबन्ध, जानु, और जंघा सम्बन्धी रोगों में भी लाभकारी है। यह आसन हठयोग प्रवर्त्तक आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से इसलिए प्रसिद्ध है, क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ इसी आसन का प्रायः प्रयोग करते थे। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से नाद श्रवण और समाधि भी लग सकती है।

(9) पश्चिमतानासन

दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड की भाँति सामने फैलाकर, दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को भली प्रकार से पकड़कर, घुटनों पर मस्तक लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[3]

इसी भाव को त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि दोनों पैरों को जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अंगुठों को पकड़कर सिर को घुटनों पर लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[4]

यह आसन पूर्वोक्त आसनों में अग्रगण्य माना गया है क्योंकि इससे साधक का प्राणवायु मेरुदण्ड स्थित, सुषुम्नावाही हो जाता है। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त, उदर पतला और शरीर रोगरहित होता है।[5] प्राणवायु से तात्पर्य मुख्य वायु से है क्योंकि मुख्य वायुओं की संख्या पाँच मानी गई है[6] और इन मुख्य वायुओं में प्राणवायु को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

---

1. सरल राजयोग, पृ० 20
2. ह० प्र०, 3/76
3. ह० प्र०—1/30
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 50-51
5. ह० प्र०—1/31
6. प्राणाऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। शिवस्वरोदय-42

यह आसन समस्त शरीर के लिए ही उपयोगी माना गया है क्योंकि इससे सम्पूर्ण शरीर के सभी अङ्ग प्रभावित होते हैं। स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को दर्शाया है कि इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्नावाही हो जाता है। सुषुम्नावाही से अभिप्राय समाधि की प्रथम अवस्था अगर मान लिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह आसन जितना उदर के लिए लाभकारी माना गया है उतना ही मेरुदण्ड के लिए भी। इस आसन के सिद्ध होने पर शरीर की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है तथा शरीर से भीनी-भीनी सुगन्ध का आविर्भाव होता है। इस आसन को यथाशक्तिपूर्वक लगाना ही श्रेयस्कर माना गया है।

10. मयूरासन

दोनों हाथों को भूमि पर भली प्रकार स्थापित करके दोनों कोहनियों को नाभि प्रदेश के दोनों ओर लगाकर दण्ड के समान सीधा अधर में उठने को मयूरासन कहते हैं।[1]

जिस प्रकार मयूर दो पैरों के सहारे अपने सम्पूर्ण शरीर को आकाश में साधे रखता है, उसी प्रकार इस आसन के अभ्यासी को भी दोनों हाथों से ऊपर सम्पूर्ण शरीर को अधर में साधे रखना पड़ता है। इसी कारण इस आसन को मयूरासन कहते हैं। जाबाल-दर्शनोपनिषद् में इस आसन की विधि को भली प्रकार से बताते हुए कहा गया है कि अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में रखे, फिर सिर और पांवों को ऊंचा उठाकर आकाश में दण्ड के समान स्थित हो, यह मयूर आसन सब पातकों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों के नाभि के दोनों तरफ दबा कर बैठना फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रखना यह मायूरासन है जो सर्वपापों का नाश करने वाला है।

कहीं-कहीं मयूर शब्द की जगह मयूर शब्द प्राप्त होता है।[5] यह आसन कठिन अवश्य है किन्तु इसके लाभ उतने ही अधिक माने गए हैं। स्वयं हठयोग प्रदीपिकाकार ने

---

1. ह० प्र०—1/32
2. जाबालदर्शनोपनिषद्—1/10-11
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—47-48
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/10-11
5. घेरण्डसंहिता—2/25

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मयूरासन के निरन्तर अभ्यास से शीघ्र ही गुल्म, जलोदर आदि सभी रोगों का नाश होता है, यह आसन त्रिदोषों (वात, पित्त कफ) को दूर करता है। इसका निरन्तर अभ्यास अधिक एवं कुपथ्य को भी अच्छी तरह से पचाता है। तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करके विष को भी मस्त करने की सामर्थ्य रखता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कोहनियों, हथेलियों और मणिबन्धों को असीम बल की प्राप्ति होती है। इससे उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण हो जाता है। शरीर का कंपायमान होना बन्द हो जाता है। शरीर में रक्त का प्रवाह ठीक प्रकार से होने लगता है। फेफड़ों तथा नेत्रों के लिए यह अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन के अभ्यासी पर विष का प्रभाव नहीं होता। अतएव इस आसन को समस्त हठयोग के ग्रन्थों सें अग्रगण्य स्थान प्राप्त होता है।

11. शवासन

मेरुदण्ड को सीधा करके पीठ के बल भूमि पर शव के समान लेट जाना ही शवासन कहलाता है। यह आसन शारीरिक थकान दूर करने के साथ-साथ मानसिक शान्ति प्रदायक माना गया है।[1]

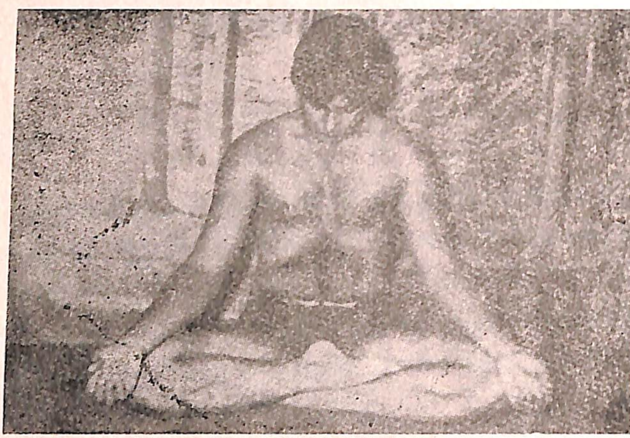
घेरण्डसंहिता में भी इन शब्दों के साथ इस आसन का वर्णन किया गया है कि शव के समान पृथ्वी पर सीधा लेट जाना ही शवासन कहलाता है तथा इसको श्रम का हरण करने वाला बताया गया है।[2]

यह आसन जितना आसान है उतना ही कठिन भी माना गया है। समस्त आसनों, प्राणायामों एवं मुद्राओं से उत्पन्न थकान इसी आसन से दूर हो जाती है। प्राय: योगी लोग इसी आसन का प्रयोग आसनों के उपरान्त करते हैं। यदि अपनी चित्तवृत्ति को बाह्य विषयों से हठाकर चक्रों पर इस आसन में केन्द्रित किया जाय तो शीघ्र ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर, चक्रों का भेदन कर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से अनाहत नाद का भी श्रवण किया जा सकता है। हृदयरोगी के लिए यह आसन परमोपयोगी माना जा सकता है।

शीर्षासन के बाद इस आसन का प्रयोग अवश्य ही करना पड़ता है अन्यथा हानि की ही सम्भावना उत्पन्न हो सकती है।

---

1. ह० प्र०—1/34
2. घेरण्डसंहिता—2/17



12. सिद्धासन

गुदा तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग में एक चरण की एड़ी को दृढतापूर्वक लगाकर, दूसरे पैर की एड़ी को लिंगेन्द्रिय के ऊपर दृढ़ता से रखकर, ठोड़ी को हृदय के ऊपरी भाग पर अच्छी प्रकार स्थापित कर उपरान्त इन्द्रियों को वश में करके, भ्रूमध्य भाग को एक-टक दृष्टि से देखें। मोक्ष द्वार का भेदन करने वाला यह सिद्धासन कहा गया है। इस आसन को कुछ विद्वान् लोग सिद्धासन, अन्य वज्रासन, कुछ मुक्तासन और कोई इसे गुप्तासन के नाम से पुकारते हैं।[1]

इस आसन की चर्चा करते हुए आगे कहा गया है कि जिस प्रकार यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा का स्थान है वैसे ही समस्त आसनों में सिद्धासन मुख्य है। यदि कोई योगी केवल इसी आसन का अभ्यास करता है तो उसके शरीर की 72 सहस्त्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[2] हठयोग के ग्रन्थों में ऐसा माना गया है कि हमारे शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ विद्यमान हैं।[3]

इस आसन के सिद्ध होने के पश्चात् अन्य किसी भी आसन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस आसन को सावधानी पूर्वक करने से प्राणवायु केवल कुम्भक में बन्ध जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से उन्मनी कला स्वयमेव जागृत हो जाती है और तीनों बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयानबन्ध) स्वयं ही लग जाते हैं। यह आसन समस्त आसनों में मुख्य माना जाता है।[4]

13. पद्मासन

बायीं जंघा के ऊपर दाहिना पांव तथा दाहिनीं जंघा पर वाँयाँ पाँव रखकर दोनों हाथों को कमर के पीछे से लाकर दाहिने हाथ में दायें पैर के अंगूठे को तथा बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर ठुड्डी के कण्ठकूप से लगाये। इसके पश्चात् अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिर रखे, तो सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने

---

1. ह० प्र०—1/37-39
2. वही—1/40-41
3. (क) शिवस्वरोदय—32
   (ख) ध्यानबिन्दूपनिषद्—51
4. ह० प्र०—1/43

वाला यह पद्मासन कहलाता है। तथा दूसरे मत के अनुसार दोनों चरणों को यत्नपूर्वक विपरीत जंघाओं पर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करके ठुड्डी को कण्ठकूप से लगायें तत्पश्चात् नाभि के नीचे वाम हथेली पर दक्षिण हथेली को रखकर अंजलि मुद्रा बनाकर बैठें, प्राणवायु को धीरे-धीरे ऊपर उठाकर, नासाग्रदृष्टि रखते हुए जिह्वा को तालु के अग्रभाग पर स्थापित करें। इसे पद्मासन कहते हैं जो सब प्रकार के रोगों का नाशक है। कोई बुद्धिमान् विरला पुरुष ही इसे प्राप्त करता है, सब लोग इसे सिद्ध नहीं कर सकते।[1]

प्रथम के स्वरूप को देखते हुए उसे बद्धपद्मासन की ही संज्ञा देना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार के पद्मासन का उल्लेख सर्वमान्य नहीं है। पद्मासन के स्वरूप को बताते हुए दूसरा लक्षण सही होता है। योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार दोनों जाँघों पर एक दूसरे पैर के तलवों को सीधा रखने से पद्मासन कहलाता है जो सब पापों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] के अनुसार दोनों जाँघों पर दोनों पैर के तलवों को रखकर बैठने से पद्मासन होता है जो सब व्याधियों और विषों का नाशक बताया गया है। पद्मासन पर अच्छी तरह से बैठकर दाहिने हाथ से बाएं पैर के अंगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना बद्ध-पद्मासन कहलाता है। जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दोनों जंघाओं पर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को उल्टी रीति से पकड़ कर रखना, सर्वमान्य पद्मासन है।[4] जाबालदर्शनोपनिषद् ने भी दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को पीठ के पीछे से लाकर पकड़ने को ही पद्मासन कहा है।[5]

किन्तु बद्ध-पद्मासन के यदि शाब्दिक तत्त्व का अनुशीलन किया जाये तो यही अर्थ निकलता है कि जिस आसन में शरीर बाँधा जाये वही बद्ध-पद्मासन कहलाता है। इसके लाभों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो योगी इस आसन में स्थित होकर नासिका द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर रोकता है, वह मुक्त है।[6] प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठहरना ही समाधि की अवस्था का द्योतक है। प्राण की प्रशंसा करते हुए शिवस्वरोदय में कहा गया है कि 'प्राण ही परम मित्र है। प्राण ही परम सखा है और प्राण के सदृश श्रेष्ठ बन्धु कोई नहीं है।[7] प्राणायाम के सिद्ध होने के पश्चात् पद्मासन में ही

---

1. ह० प्र०—1।46-49
2. योगकुण्डल्युपनिषद्—1।5
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—39-40
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/3
5. जाबालदर्शनोपनिषद्—3/5
6. ह० प्र०—1/51
7. शिवस्वरोदय—219

योगी भूमि से ऊपर उठने लगता है।[1] यह आसन पैरों, घुटनों और जंघाओं के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इस आसन के सिद्ध होने पर योगी की समाधि स्वयमेव लगने लग जाती है।

14. सिंहासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों और अर्थात् बाँयी ऐड़ी को दाहिने पार्श्व में तथा दायीं एड़ी को वाम पार्श्व में स्थापित कर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रख तथा सभी अंगुलियों को फैला कर मुख को यथाशक्ति खोलकर अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिति करना सिंहासन कहलाता है।

यह आसन उत्तम योगियों द्वारा पूजित है, क्योंकि इस आसन में तीनों बन्ध स्वयमेव लग जाते हैं।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दाहिने गुल्फ के साथ बाएँ गुल्फ को और बायें गुल्फ के साथ दायें गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों बाजुओं पर रखना, दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर, भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख में नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखना, सिंहासन कहलाता है। योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं।[4]

सीवनी नाड़ी पर दबाव पड़ने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। अत: ब्रह्मचर्य हेतु यह आसन सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। मुख को यथाशक्ति खोलने से यह गले तथा जिह्वा के लिए उपयोगी माना जा सकता है। इससे नेत्रज्योति तो बढ़ती ही है, इसके निरंतर अभ्यास से शरीर में असीम बल, सिंह सदृश साहस भी उत्पन्न होता है। तीनों बन्ध लग जाने से योगी की आयु में वृद्धि, कामदेव सदृश देह की प्राप्ति के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी आसन सहायक सिद्ध हो सकता है।

15. भद्रासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के पार्श्व भाग में इस प्रकार

---

1. योगतत्त्वोपनिषद्—55
2. ह० प्र०—1/52-54
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—44
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/5-6

से स्थापित करें कि वाम एड़ी सीवनी नाड़ी के वाम और दाहिनी एड़ी सीवनी नाड़ी के दायें भाग पर आये तत्पश्चात् अपने दोनों हाथों से पैरों को भली प्रकार पकड़कर स्थिर रहें। वह भद्रासन सभी रोगों को दूर करने वाला कहा गया है। कुछ सिद्धयोगी इसे गोरक्षासन भी कहते हैं। योगियों को इस प्रकार के हल्के आसनों से उत्पन्न श्रम को दूर करना चाहिए।[1]

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार लिंगेन्द्रिय के नीचे की सीवनी पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को दृढता पूर्वक पकड़ कर निश्चित बैठने से भद्रासन होता है, जो समस्त रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है।[2] जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार दोनों घुटनों को अण्डकोष के नीचे, पार्श्वों में रखने और दोनों हाथों से पार्श्वभाग तथा पाँवों को दृढ़ता से बाँधकर बैठने को भद्रासन कहते हैं, यह भद्रासन विष से उत्पन्न हुए रोगों का नाश करने वाला है।[3] घेरण्ड-संहिता में इस आसन को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखें तथा पीठ की ओर पद्मासन के समान दोनों अंगूठों को पकड़ लें, जालन्धर बन्ध की स्थिति करके नासिका के अग्रभाग को देखें, यह भद्रासन कहलाता है।[4]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी तथा मूत्र सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। "ब्रह्मचर्य के लिए यह बहुत उपयोगी माना जाता है।" नितम्ब प्रदेश में उत्पन्न सभी दर्दों को यह दूर करता है। इसे बच्चों, युवाओं और वृद्धों के लिए सबसे सरल और उपयोगी माना जा सकता है। यह आसन घुटनों, जंघाओं और पिण्डलियों के लिए भी उपयोगी है।

शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि ये आसन समस्त रोगों के निवारक और विष का शमन करने वाले हैं अशक्य व्यक्ति को भी इन्हें सुखपूर्वक धारण करने का अभ्यास करना चाहिए। इन आसनों की सिद्धि त्रिलोक की सिद्धि के समान है।[5]

---

1. ह० प्र०—1/55-56
2. शा० उ०—3/8
3. जा० द० उ०—3/7
4. घे० सं०—2/9
5. शाण्डिल्योपनिषद्—3

अध्याय-4

नाड़ी-शोधन प्राणायाम

आसनों के पश्चात् हठयोग के सभी ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है कि वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल होता है तथा वायु के स्थिर हो जाने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है और तभी योगी स्थिरता को प्राप्त होता है।[1] जब तक शरीर में वायु की विद्यमानता रहती है तब तक ही जीवन कहलाता है, उसका शरीर से निकल जाना ही मरण है। अत: प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। किन्तु मलयुक्त नाड़ियों में प्राणवायु का गमन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता और जब तक प्राणवायु का गमन नहीं होता तब तक उन्मनी अवस्था की प्राप्ति असंभव है। उन्मनी अवस्था को स्पष्ट करते हुए हठयोगप्रदीपिकाकार स्वयं लिखते हैं कि जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब मन में स्थिरता आ जाती है। मन का सम्यक् रूप से स्थिर रहना ही उन्मनी अवस्था कहलाती है।[2] मलों से व्याप्त सभी नाड़ियां जब निर्मल हो जाती हैं तब साधक समुचित रूप से प्राणवायु को नियंत्रित करने में समर्थ होता है। इसीलिए प्रतिदिन सात्त्विक बुद्धि से नाड़ी-शोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि कुश का आसन, मृगछाला या सिंह छाला कम्बल अथवा स्थल में से किसी प्रकार के आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके, नाड़ी शुद्ध होने पर प्राणायाम का साधन करना चाहिए।[3] गोरक्षसंहिता के अनुसार प्राण-अपान को संयुक्त करके प्रणव की बारह मात्राओं से पूरक[4] करना चाहिए। इससे सभी दोषों का शोधन

---

1. (क) गोरक्ष-संहिता—1/89
   (ख) ह०प्र०—2/2
2. वही—2/42
3. घेरण्ड-संहिता, 5/32
4. (क) पूरक—श्वास वायु को नासिका द्वारा उदर में भरना पूरक कहलाता है।
   (ख) रेचक—नासिका द्वारा श्वास को निकालना।
   (ग) कुम्भक—श्वास को उदर में रोके रखना कुम्भक कहलाता है।

हो जाता है। यह योगियों के लिए सदा ज्ञातव्य है।[1]

नाड़ी शोधन की प्रक्रिया को निरूपित करते हुए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पद्मासन में बैठकर साधक को चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को ग्रहण करके अपनी शक्ति के अनुसार श्वास को रोककर सूर्य नाड़ी (दायीं नासिका) से श्वास को छोड़ना चाहिए और पुनः प्राणवायु को सूर्यनाड़ी द्वारा खींचकर धीरे-धीरे करके फिर विधिवत् श्वास को उदर में रोककर चन्द्रनाड़ी से छोड़ देना चाहिए जिससे श्वास का त्याग किया हो उसी नासिकारन्ध्र से श्वास का ग्रहण कर श्वास को तब तक रोकें जब तक श्वास छोड़ने की संवेदना न हो। और तब श्वास को धीरे-धीरे दूसरे नासिका-रन्ध्र से छोड़ें। यदि प्राणवायु को इड़ा से पूरित करें तो उसे कुम्भक कर पुनः दूसरे से छोड़ देना चाहिए और बाद में पिंगला से वायु ग्रहण करके, कुम्भक कर, बायें से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बायें और दाहिने नासिकारन्ध्र से लगातार प्राणायाम का अभ्यास करने से योगसाधकों के नाड़ी-समूह तीन मास से कुछ अधिक समय में निर्मल हो जाते हैं।[2] उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है किन्तु प्राणायाम के गलत अभ्यास से वायु के प्रकोप से हिचकी, दमा, खांसी, सिर, कान और आंखों में पीड़ा तथा अन्य प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।[3] और जब नाड़ियां निर्मल हो जाती हैं तब उसके बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे शरीर निश्चित रूप से पतला और कान्तिमान् हो जाता है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अन्तः प्रवर्तित नाद का अनुभव होता है तथा आरोग्य लाभ होता है।[4]

षट् कर्म

षट्कर्म उन छः क्रियाओं का नाम है, जिनके द्वारा शरीर का शोधन माना गया है। यह छः शोधन क्रियाएं स्थूलता और कफ वाले व्यक्ति को सबसे पहले करनी चाहिए। किन्तु जिन व्यक्तियों में त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उन्हें इन क्रियाओं के अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। ये छः शोधन क्रियाएं इस प्रकार से हैं—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[5]

---

1. गोरक्ष-संहिता—2/3
2. ह० प्र०—2/7-10
3. वही—2/16-17
4. वही—2/19-20
5. (क) वही—2/22
   (ख) घेरण्ड-संहिता—1/12

1. धौति

चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा कपड़ा, जल में भिगोकर गुरु के निर्देश के अनुसार धीरे-धीरे निगलना चाहिए। पुन: इसे धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए—इसे धौति-क्रिया कहते हैं।[1] जबकि घेरण्ड-संहिता के अनुसार अन्तधौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्वारा योगी स्वशरीर को स्वच्छ एवं सुन्दर बनाते हैं।[2] इस धौतिक्रिया के फलस्वरूप खांसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य बीस प्रकार के कफ-सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।[3] इसके साथ ही क्रमश: नाड़ी समूहों पर नियन्त्रण पाकर साधकगण अपानवायु को ऊपर उठाकर कण्ठनली में लाकर, उदरस्थित पदार्थों (अन्न आदि) का वमन करते हैं। हठ-योग के जानकार इसे गजकरणी कहते हैं।[4]

2. बस्ति

नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर गुदा में एक नली का प्रवेश कराकर उत्कटासन में साधक गुदा का संकोचन कर जल द्वारा अन्दर के भाग का शोधन करे। इसी क्रिया को बस्ति क्रिया कहते हैं।[5] घेरण्ड-संहिता में बस्तिकर्म दो प्रकार का बताया गया है—(1) जलबस्ति और (2) शुष्कबस्ति। जलबस्ति जल में और शुष्कबस्ति स्थल में की जाती है।[6]

इस बस्ति-क्रिया के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, इससे त्रिदोषों का पूर्णत: निवारण हो जाता है, धातु, इन्द्रिय तथा अन्त:करण की प्रसन्नता होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर कामदेव के समान सुन्दर व आकर्षक बन जाता है।

3. नेति

चिकनी और लगभग नौ इंच लम्बी सूत से बनी सूत्र नेति को नासिका में डाल-

---

1. ह०प्र०—2/24
2. घेरण्ड-संहिता—1/13
3. ह० प्र०—2/25
4, वही—2/38
5. वही—2/27
6· घेरण्ड-संहिता—1/45

कर उसे मुख से बाहर निकालना ही नेति कर्म कहलाता है।[1]

इस क्रिया के अभ्यास से कपालप्रदेश की शुद्धि होती है। यह दिव्यदृष्टिप्रदायिनी है। इससे स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोगसमूहों का नाश होता है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार आधे हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में डालकर मुख के द्वारा बाहर निकालना नेति कर्म कहलाता है। इसके साधन से खेचरी मुद्रा की सिद्धि कफ-दोषों की निवृत्ति और दिव्यदृष्टि उपलब्ध होती है।[2]

4. त्राटक

स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना जब तक आंख से आंसू न आ जाय। आचार्यों द्वारा यह त्राटक कर्म कहा गया है।[3]

इस त्राटक के द्वारा नेत्र रोगों का नाश होता है तथा तन्द्रा आदि की निवृत्ति होती है। अतः इस त्राटक को सोने की पेटी के समान महत्त्व देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए।[4]

इस क्रिया में अपनी दृष्टि को किसी भी सूक्ष्म पदार्थ पर केन्द्रित करना चाहिए। यदि किसी वृक्ष के पत्तों पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया जाये तो नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इसका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। इसके सिद्ध होने पर मनुष्य की एकाग्रता बढ़ती है तथा वह किसी भी प्राणी को वशीभूत कर सकता है।

5. नौलि

स्कन्ध प्रदेश को (60 डिग्री) आगे की ओर झुकाकर तीव्र वेग वाले भंवर के समान उदर के दायें भाग को वाम भाग तथा वाम भाग को दाहिनी तरफ वेग से घुमाना चाहिए। सिद्धों ने इसे ही नौलिकर्म कहा है।[5]

नौलि क्रिया करने से पूर्व उड्डीयान बन्ध अवश्य लगाना चाहिए। इस क्रिया को करने से पहले सीधे खड़े होकर, दोनों पांवों में एक फुट के लगभग दूरी रख कर, दोनों

---

1. ह० प्र०—2/29
2. घेरण्ड-संहिता—1/50-51
3. ह० प्र०—2/31
4. वही—2/32
5. वही—2/33

हाथों से दोनों पांवों के घुटनों को दबाते हुए वायु का रेचक करके पेट को पिचका कर मेरुदण्ड से लगाना चाहिए। इस क्रिया के पश्चात् नल तथा नाभि प्रदेश को ऊपर उठाने का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया के चालीस दिन अभ्यास करने के बाद नल तथा नाभि अपने स्थल से ऊपर की ओर आ जाता है। तत्पश्चात् उस प्रदेश को उदर में भंवर के समान घुमाना चाहिए। इसी क्रिया को नौलि कर्म कहते हैं।

सदा प्रसन्नतावर्धक इस नौलि कर्म के प्रभाव से मन्द हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा पाचन शक्ति में वृद्धि होती है। हठक्रिया में अग्रणी यह अनेक प्रकार के रोगों की नाशक है।[1]

6. कपालभाति

लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक श्वास का रेचक तथा पूरक करने को कपालभाति कहते हैं। इससे कफ आदि रोगों की निवृत्ति होती है।[2]

घेरण्ड-संहिता में इस क्रिया के तीन भेद बताये गये हैं—

(क) **वातक्रम**—इड़ा नाड़ी से वायु का पूरक और पिंगला से रेचन तत्पश्चात्, पिंगला से पूरक तथा इड़ा से रेचक।

(ख) **व्युत्क्रम**—दोनों नासारन्ध्रों से जल को खींचकर मुख से निकालना तथा मुख से पीकर दोनों नासारन्ध्रों से जल को निकालना।

(ग) **शीत्क्रम**—शीत्कार के साथ जल को मुख के द्वारा ग्रहण करके दोनों नासारन्ध्रों से निकालना।

उपर्युक्त निर्दिष्ट षट्क्रियाओं द्वारा मुटापा, कफ, पित्त और वात सम्बन्धी रोग तथा मल इत्यादि दोषों का निवारण करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना चाहिए क्योंकि इससे प्राणायाम अनायास ही सिद्ध होता है।

कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि सभी प्रकार के मलों का केवल प्राणायाम से ही नाश हो जाता है। अतः वे अन्य क्रियाओं की आवश्यकता नहीं समझते।[3] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इन षट् कर्मों की उपयोगिता को समझ कर उन षट् कर्मों का सविस्तार विवेचन किया है तथा उन्होंने पहले ही कह दिया है कि "इन षट् क्रियाओं को करने के बाद प्राणायाम अनायास ही सिद्ध हो जाता है।[4]

---

1. ह० प्र०—2/34
2. वही—2/35
3. वही—2/37
4. वही—2/36

प्राणायाम

प्राणायाम द्वारा स्वास्थ्य-सम्पादन की विधि दैवी चिकित्सा है। शरीरस्थ च्यवनप्रक्रिया को अश्विनीकुमार या प्राणायाम ही सम्यक् रोककर पुन: स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि कर सकते हैं। शरीरस्थ रसों को फिर से यविष्ट बनाने वाली विधि भी प्राणायाम ही है। प्राचीन ऋषियों ने प्राणविद्या के रहस्य को जानकर जिस योगविधि का आविष्कार किया, अनन्तकाल तक यही विधि अमृततत्त्व और दीर्घ आयुष्म की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट मानी जाती रहेगी। प्राण की प्रतिष्ठा ही अमृततत्त्व है, प्राण की उत्क्रान्ति ही मृत्यु है। ब्रह्मचर्य ही प्राणप्रतिष्ठा का सर्वोत्तम मार्ग है। सर्व प्रकार की निर्विकारिता ही प्राणों को प्रकृतिस्थ क्षोभरहित रखती है।[1] साधारणत: हमारा चित्त जब संसारमुखी होता है तब श्वास भी बाहर की ओर विचरण करता है। इस श्वास की गति की ओर योगियों ने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिका से चलता है तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवों का श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटों से प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियों ने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहर की ओर गमनागमन न करे। बाहर की ओर गमनागमन करने का पथ इड़ा और पिंगला नाड़ी हैं और साधारणत: अज्ञानी की ज्ञाननाड़ी-सुषुम्ना-पथ बन्द रहता है। योगी इसीलिए इड़ा और पिंगला नाड़ी का द्वार बन्द करके सुषुम्ना मार्ग से प्राण को चलाने की चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्य के अन्दर वास्तविक ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं। हमें समस्त ज्ञान नाड़ी-पथ से होता है। ब्रह्मज्ञान भी नाड़ी-पथ से ही होता है, वह ब्रह्मज्ञान प्रवाहिका नाड़ी सुषुम्ना है। उसी से प्राण को चलाना ही प्राणायाम का वास्तविक उद्देश्य है।[2]

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है···'प्राणस्य आयामो गतिरोध:' अर्थात् प्राण वायु अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम कहलाता है। आचार्य पातंजल के अनुसार आसन के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने का ही नाम प्राणायाम है।[3]

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, अपितु दशों वायु वश में आ जाते हैं। परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आ जाने

---

1. कल्याण योगांक—पृ० 658
2. कल्याणांक—720
3. पातंजल योगदर्शन—2/49

के सत्र मार्ग बन्द कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाड़ी मुखों का अन्त है, जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है। इसी कारण कुछ योग-पन्थों में भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारों को बन्द रखना नाथपन्थी भाषा में 'वायुभक्षण' के लिए आवश्यक है। इस प्रकार जब वायु शरीर में व्याप्त हो जाता है तो बिन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता है और अनाहत नाद सुनाई देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं।[1] कुम्भक के समय-भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है उत्तम मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम प्राणायाम में कुम्भक 50 सेकण्ड का होता है, मध्यम 33 सेकण्ड का और कनिष्ठ प्राणायाम 16 सेकण्ड का होता है।

प्राणायाम	पूरक	कुम्भक	रेचक	बाह्य कुम्भक
कनिष्ठ	4	16	8	1
मध्यम	6	33	10 से 12	2
उत्तम	8	50	12 से 16	3

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने के पश्चात् प्राणतत्त्व सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ने लगता है। आरम्भ में वह पिपीलिका (चींटी) के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिमाण में ऊपर चढ़ता है। पश्चात् तीनों ग्रन्थिभाग के आगे नाड़ी के शेष भाग की शुद्धि होने पर मेढक की गति से कूदकर ऊपर चढ़ने लगता है और भस्त्रा प्राणायाम द्वारा कुम्भक बढ़ने से ग्रन्थियों के भेदन होने पर विहङ्गम (पक्षी) की तरह उड़कर शीघ्र प्राणतत्त्व सहस्रदलकमल में प्रवेश करता है। जब प्राणतत्त्व मस्तिष्क में जाने लगता है तब मस्तिष्क का शोधन हो जाता है और सहनशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे कष्ट मालूम नहीं होता। एकाध वर्ष बाद जब प्राणतत्त्व अधिक वेग से गति करने लगता है तब मन की एकाग्रता होकर आनन्द का अनुभव होने लगता है।[2]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम के सम्बन्ध में कहा गया है कि विधिपूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से समस्त नाड़ी समूहों के निर्मल होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख का भेदन कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट हो जाता है, इसका सुषुम्ना में प्रवेश होने पर मन में स्थिरता उत्पन्न होती है। मन का भली प्रकार से स्थिर हो जाना ही मनोन्मनी अवस्था कहलाता है।[3]

---

1. कल्याण का योगांक—पृ० 703
2. वही—पृ० 553
3. ह० प्र०—2/41-42

इसके अनन्तर हठयोगप्रदीपिका में कुम्भक भेद का निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक होते हैं।[1] गोरक्ष-संहिता के अनुसार प्राणायाम तीन प्रकार का है।[2] योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार प्राणायाम चार प्रकार का है—सूर्यभेदी, उज्जायी शीतली और भस्त्रिका।[3] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है।[4]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम करने से पूर्व कुछ बातों को आवश्यक माना है कि पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए और कुम्भक के अन्त तथा रेचक के प्रारम्भ में उड्डियान बन्ध करना चाहिए। जालन्धर बन्ध के पश्चात् नीचे के प्रदेश (गुदा) का शीघ्रता से आकुञ्च करना चाहिए इसी को मूलबन्ध भी कहते हैं। मूलबन्ध होने से तथा मध्यभाग (उदर) को पीछे की ओर दबाने से अर्थात् उड्डियान बन्ध लगाने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है।[5]

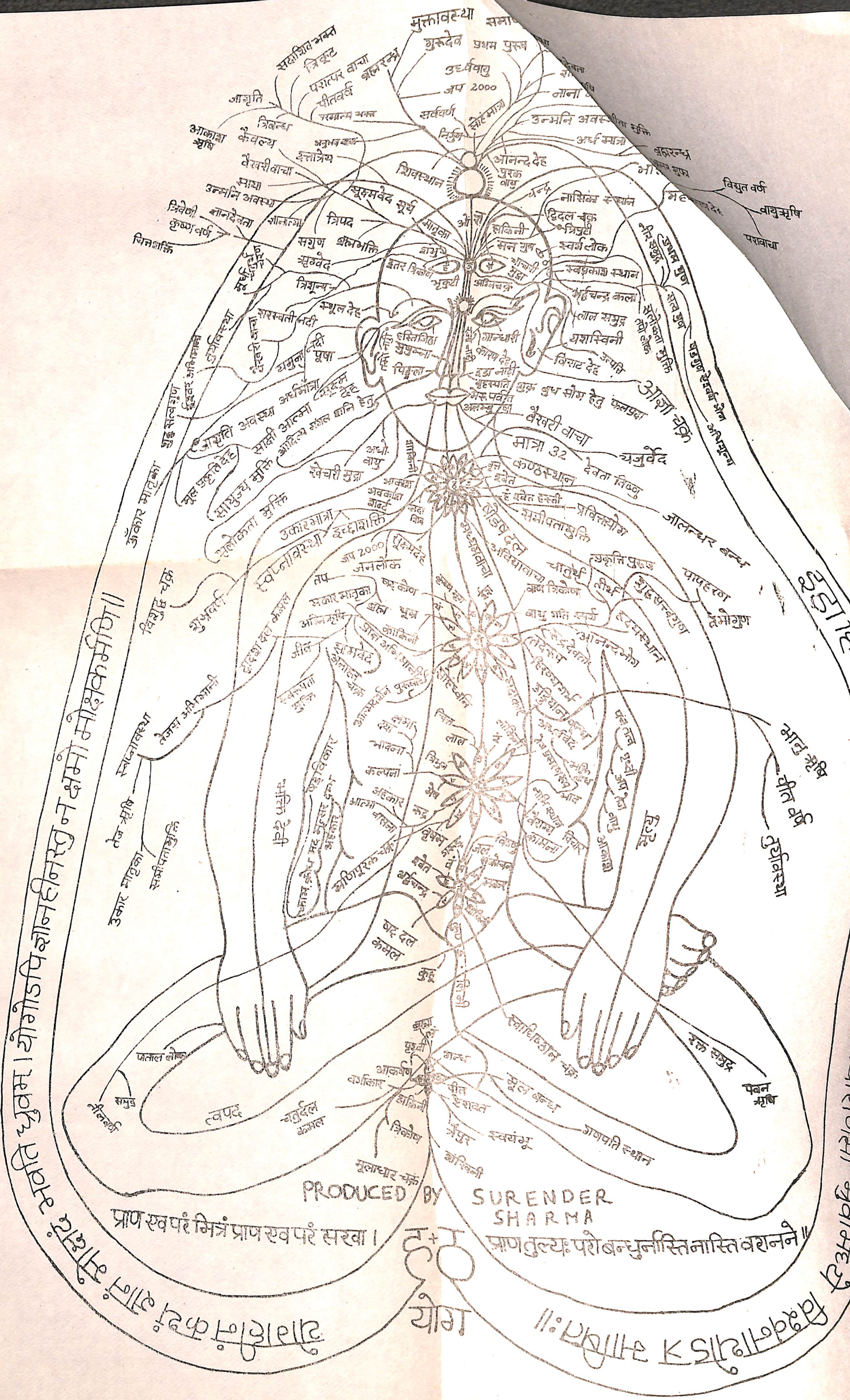
प्राणायाम के भेदों का निरूपण

1. सूर्यभेदन

योगाभ्यासी को सर्व प्रथम किसी भी प्रकार का आसन बिछाकर, उस पर सुखपूर्वक (कोई भी) आसन लगाना चाहिए। तदनन्तर दाहिने नथुने से बाहरी वायु को धीरे धीरे अन्दर खींचकर, उसे जब तक सम्भव हो सके अधिकाधिक रोककर बायें नथुने से धीरे-धीरे श्वास को छोड़ना चाहिए। इसी को सूर्यभेदी प्राणायाम कहते हैं। यह अभ्यास मस्तकप्रदेश को शुद्ध करता है, वात-सम्बन्धी रोगों का नाशक है, उदर में

---

1. (क) ह० प्र०—2/44
   (ख) घेरण्ड संहिता—5/55
2. गोरक्ष-संहिता—2/4-6
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—21
4. शाण्डिल्योपनिषद्, षष्ठ खण्ड
5. (क) ह० प्र०—2/45-46
   (ख) मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धरबन्ध के लिए मुद्रा निरूपण अध्याय द्रष्टव्य है।



मुक्तावस्था
गुरूदेव प्रथम पुरुष
उर्ध्ववायु
जप 2000
सर्ववर्ण
उन्मनि अवस्था
अर्ध मात्रा
आनन्द देह
शिवस्थान
सूक्ष्मवेद सूर्य
त्रिपद
सगुण
ऋग्वेद
स्थूल देह
सरस्वती नदी
यमुना नदी
पूषा
पिंगला
गान्धारी
यशस्विनी
विराट देह
द्विदल चक्र
स्वर्ग लोक
आज्ञा चक्र
बैखरी वाचा
मात्रा 32
यजुर्वेद
कण्ठस्थान
देवता विष्णु
जालन्धर बन्ध
सामीपता मुक्ति
उकार मात्रा
इच्छाशक्ति
स्वप्नावस्था
जनलोक
विशुद्ध चक्र
ऊँकार मातृका
पापहरण
तमोगुण
सामवेद
अनाहत चक्र
कल्पना
अहंकार
मणिपूरक चक्र
तेजस अभिमानी
पवन ऋषि
मूलाधार चक्र
स्वयंभू
गणपति स्थान
चतुर्दल कमल
त्वपद
पाताल लोक
PRODUCED BY SURENDER SHARMA
प्राण एव परं मित्रं प्राण एव परं सखा।
प्राणतुल्यः परो बन्धुर्नास्तिनास्ति वरानने॥
हठ
योग
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि॥

उत्पन्न कृमि दोषों को दूर करने वाला है। अतः इस सूर्यभेदन नामक प्राणायाम का उत्तम अभ्यास पुनः पुनः करना चाहिए।[1]

इस प्राणायाम को ग्रीष्म ऋतु में तथा अधिक पित्त वाले व्यक्तियों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस प्राणायाम के प्रभाव से कपाल प्रदेश में उत्पन्न श्लेष्म, वातवहा नाड़ियों के विकार, रक्तदोष, उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। सूर्य अग्नि स्वरूप है। उसी पर इस प्राणायाम का नामकरण हुआ है क्योंकि इस प्राणायाम को करने से शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। घेरण्डसंहिता के अनुसार यह सूर्यभेद संज्ञक कुम्भक वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है। इससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है।[2]

2. उज्जायी

मुख को बन्द कर दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे इस प्रकार श्वास लेना चाहिए कि जिससे शब्द उत्पन्न हो, तथा जिससे कण्ठ से लेकर हृदय प्रदेश पर्यन्त उसके स्पर्श का अनुभव हो। पूर्ववत् कुम्भक करने के उपरान्त श्वास का इड़ा नाड़ी से रेचक कर देना चाहिए। इससे कण्ठ में उत्पन्न होने वाले कफ दोष दूर होते हैं तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाड़ी सम्बन्धी, जलोदर और धातु सम्बन्धी रोगों का निराकरण होता है। अतः इस प्राणायाम का अभ्यास चलते हुए तथा बैठते हुए भी करना चाहिए।[3]

योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं और देह की अग्नि की वृद्धि होती है।[4] इस प्राणायाम के प्रभाव से उदर सम्बन्धी रोगों का निवारण होता है। हृदय की धड़कन न्यून होती है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार इससे पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं, कफरोग, क्रूर वायु और अजीर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। आमवात, क्षय. कांस, ज्वर, प्लीहा आदि रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। यहां तक कि इस प्राणायाम के सिद्ध होने पर जरा-मरण का भी नाश हो जाता है।[5]

---

1. ह० प्र०—2/48-50
2. घेरण्ड संहिता—5/67
3. ह०प्र०—2/51-53
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—28
5. घेरण्ड-संहिता—5/70-71

3. सीत्कारी

जिह्वा को दोनों ओष्ठों के मध्य रखकर मुख से सीत्कार करते हुए वायु का पूरक करना चाहिए तथा (वायु का) रेचक केवल नासारन्ध्र से ही करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से अभ्यासी कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है।

वह योगाभ्यासी योगिनी समूहों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता है, वह सृष्टि और संहार करने में भी समर्थ होता है, और उसे कभी भी भूख-प्यास, निद्रा तथा आलस्य नहीं सताता। इस (प्राणायाम) का अभ्यासी बलयुक्त होकर शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करके सभी प्रकार के उपद्रवों से बचा रहता है और इस भूमिमण्डल में एक विख्यात योगी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।[1]

इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से रक्त की शुद्धि, उदर के रोगों का नाश, आलस्य का निवारण तथा मानसिक स्थिरता की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यास से मुख पर पड़ने वाली झाईयां, झुरियाँ तथा पीलापन दूर होता है। यह प्राणायाम पित्तप्रकोप का शमन करके शरीर को सुन्दर बनाता है। भूख, प्यास और गर्मी के समय में यह अत्यन्त लाभकारी प्राणायाम माना जाता है।

4. शीतली

काकचंचुवत् जिह्वा को गोल बनाकर उसे दोनों ओष्ठों के मध्य स्थापित करके श्वास का पूरक करने के पश्चात् कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे बुद्धिमान् योगाभ्यासी को दोनों नासारन्ध्रों के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए।

इस शीतली कुम्भक के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा आदि अनेक रोग, ज्वर, पित्त, भूख, प्यास इत्यादि विकार तथा विष का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है।[2]

घेरण्ड-संहिता एवं योगकुण्डल्युपनिषद् में भी इसके लाभों का वर्णन उपलब्ध होता है कि इस प्राणायाम के अभ्यास से अजीर्ण, कफ-पित्त, गुल्म, प्लीहा, तृषा, ज्वर तथा विष सदृश रोगों का नाश होता है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/54-56
2. ह० प्र०—2/57-58
3. (क) घेरण्ड-संहिता—5/73
   (ख) योगकुण्ड०—31

इसके अतिरिक्त इससे शरीर में तेजस्विता तथा सुन्दरता की वृद्धि होती है और इससे उदर के कीड़ों का नाश एवं जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह प्राणायाम उच्च-रक्तचाप वालों के लिए बहुत अच्छा माना गया है। किन्तु सर्दी, जुकाम आदि से पीड़ित जनों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

5. भस्त्रिका

सम्यक् प्रकार से पद्मासन लगाकर, मेरुदण्ड तथा गर्दन को सीधा कर बुद्धिमान् को चाहिए कि मुख को बन्द करके उदरस्थ वायु को किसी भी एक नासारन्ध्र से यत्नपूर्वक इस प्रकार से बाहर निकाल दे कि शब्द करती हुई वायु हृदय, कण्ठ, तथा कपाल प्रदेश का स्पर्श करे। रेचक करने के उपरान्त शीघ्र ही वेगपूर्वक पुनः वायु का हृदय कमल पर्यन्त ग्रहण करना चाहिए। पुनः उपर्युक्त रीति से वायु का रेचक और पूरक करे। इस क्रिया को बार-बार उसी प्रकार से करना चाहिए जिस प्रकार लुहार के द्वारा वेगपूर्वक धौंकनी चलायी जाती है। इसका अभ्यास तब-तक करना चाहिए जब तक शरीर में थकान न आ जाये। थकावट होने पर साधक को दायें नासारन्ध्र से श्वास का ग्रहण करना चाहिए, जब वायु द्वारा उदर पूर्णरूप से भर जाये तब नासिका को मध्यमा तथा तर्जनी अँगुलियों से दृढ़ता रहित धारणा कर विधिपूर्वक कुम्भक कर वामनासारन्ध्र से वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार यह भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ इत्यादि रोगों का निवारण करता है तथा इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से सुषुम्ना के मुख पर जमें हुए कफ आदि दोषों का नाश होता है फलस्वरूप सुखदायी तथा हितकारी प्राणवायु शीघ्र ही कुण्डली को जगाता है।

इसके अतिरिक्त यह भस्त्रिका प्राणायाम शरीर की तीनों ग्रन्थियों का सम्यक् प्रकार से भेदन करता है। अतः इसका अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।[1] आरम्भिक काल में इस प्राणायाम का अधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक करने पर फुफ्फुसकोष पर ज्यादा दबाव पड़ने का भय रहता है।

6. भ्रामरी

इस प्राणायाम में वेगपूर्वक भ्रमर के समान आवाज करते हुए दोनों नासारन्ध्रों

---

1. ह० प्र०—2/59-67

से श्वास का पूरक कर भ्रमरी के समान शब्द करते हुए ही श्वास को बाहर निकाल देना चाहिए। यह रेचक क्रिया धीरे-धीरे करनी चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से श्रेष्ठ साधकों के चित्त आनन्दयुक्त हो जाते है।[1]

स्वामी श्री कृष्णानन्द जी 'प्राणायामविषयक मेरा अनुभव' में लिखते हैं कि "सिद्धासन लगाकर नेत्र बन्द कर लें और भ्रू में लक्ष्य रखें तथा जालन्धर बन्ध लगा हो। इस प्राणायाम के समय जालन्धर बन्ध बराबर लगा रहना चाहिए।" फिर दोनों नासा-पुटों से भ्रमर के नाद के समान स्वरसहित पूरक करें। पश्चात् 3 सेकण्ड कुम्भक करके शनैः शनैः आवाज सहित रेचक करें। इस प्रकार 144 प्राणायाम करें। सुनते हैं कि भ्रामरी और मूर्छा कुम्भक का बौद्ध सम्प्रदाय में अधिक प्रचार था। इस कुंभक की पाँच अवस्थाएं हैं। प्रथमावस्था में कुछ दिन पूरक करके पश्चात् कुम्भक के समय महामुद्रा की जाती है। नियमपूर्वक तीन सेकण्ड का कुम्भक होने पर पुनः सिद्धासन लगा कर रेचक किया जाता है। पहले बायें पैर से, पीछे दाहिने पैर से, पश्चात् दोनों पैर फैला-कर महामुद्रा करके इस प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। दूसरे प्राणायामों के साथ की जाने वाली महामुद्रा में और भ्रामरी के साथ की इस महामुद्रा को कोई-कोई साधक 48 से 72 तक करते हैं। इसलिए एक वर्ष के पश्चात् जानु से 6 इंच आगे और गुल्फ से 10 इंच ऊपर के भाग में कपाल लग जाता है।

पहली अवस्था की सिद्धि होने के बाद दूसरी अवस्था में खेचरी करके 6 सेकण्ड का कुम्भक होता है और एक समय विधि के अनुसार मस्तिष्क को बायें से दाहिनी तरफ घुमाकर जालन्धर बन्ध लगाकर रेचक किया जाता है। इस रीति से 144 कुम्भक में 144 बार मस्तिष्क के घुमाने की क्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवीं अवस्था में कुम्भक बढ़ाया जाता है, तथा मस्तिष्क भी अधिक समय घुमाया जाता है। मस्तिष्क घुमाने की क्रिया से मस्तिष्क में प्राणतत्त्व चारों और चक्कर लगता हुआ प्रतीत होता है। इस प्राणायाम की क्रिया के बाद नाद बहुत जोर से उठता है। इस-लिए मन की एकाग्रता शीघ्र होती है।[2]

7. मूर्च्छा

श्वास का पूरक करने के बाद दृढ़तापूर्वक जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। पुनः श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह मूर्च्छना नामक प्राणायाम मस्तिष्क में मूर्च्छा उत्पन्न करने वाला तथा सुखदायी है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/68
2. कल्याण का योगांक—पृ० 560-61
3. ह० प्र०—2/69

इस प्राणायाम को एक बार साध लेने पर भ्रामरी वाले सिद्धासन में तथा दूसरे अन्य प्राणायामों को सिद्ध करने वाले शवासन में भी नादानुसन्धान कर सकते हैं। वैसे इस प्राणायाम का अभ्यास भ्रामरी प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर ही करना श्रेयस्कर माना जाता है। इसके सिद्ध होने पर रेचक के समय जब नेत्रों को बन्द कर भ्रूमध्य में ध्यान लगाया जाता है तब वहाँ से प्राण तत्त्व का हल्का नीला (हल्के नीलम नग जैसा) प्रकाश दिखाई देता है। इसके निरंतर अभ्यास से मन शांत होता है। बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति हटकर ध्येय विषय पर केन्द्रित होती है और मन आत्मा में रमण करने लगता है। इसके निरंतर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा योगी समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह समाधि की प्रथमावस्था कही गई है। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि उच्च रक्तचाप वालों के लिए यह प्राणायाम विवर्जित है।

घेरण्ड-संहिता के अनुसार पूर्वोक्त कुम्भक को करके विषयों से हटाकर मन को भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में लगावें और इस पद्‌म में विद्यमान परमात्मा में लीन कर दें। इस मूर्च्छा कुम्भक की सिद्धि से आनन्द की प्राप्ति होती है, यह सत्य है।[1]

8. प्लाविनी

दोनों नासारन्ध्रों से उदर को पर्याप्त मात्रा में श्वास द्वारा पूर्ण रूप से भर लें, फिर धीरे-धीरे उसका रेचक करें। इसका अभ्यासी अथाह जल में भी कमलपत्र के समान आसानी से उतर सकता है।[2]

यह प्राणायाम उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण करता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर सम्बन्धी अनावश्यक कीटों का नाश, कब्ज का निवारण तथा वायु सम्बन्धी समस्त रोग इससे दूर होते हैं। इस प्राणायाम में मन की परमात्मा में लीनता, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण तथा सिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ यह प्राणायाम समाधि में भी अत्यन्त सहायक होता है। इसके अतिरिक्त इस प्राणायाम का चालीस दिन अभ्यास करने से शरीर हल्का, वीर्य की वृद्धि तथा रक्त की शुद्धि होती है। उदर में वायु के विद्यमान रहने पर, साधक पानी में कमल पत्र की भाँति विचरण कर सकता है।

घेरण्ड-संहिता में प्राणायाम का आठवाँ भेद 'प्लाविनी' न मानकर 'केवली' प्राणायाम माना है। केवली कुम्भक में श्वास और प्रश्वास के साथ सोऽहं का उच्चारण

---

1. घेरण्ड-संहिता—5/82
2. ह० प्र०—2/70

आवश्यक है[1] जबकि हठयोग प्रदीपिकाकार ने कुम्भक के दो भेद सहित कुम्भक और केवल कुम्भक माने हैं।[2]

(क) **सहित कुम्भक**—जब प्राणायाम रेचक और पूरक के साथ किया जाए तब वह सहित कुम्भक कहलाता है और जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाए तब तक सहित कुम्भक का ही अभ्यास करना चाहिए।

(ख) **केवल कुम्भक**—रेचक-पूरक के बिना अपने आप जो उदर में वायु का धारण होता है, वह केवल कुम्भक कहा जाता है। इस केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर उस साधक के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। इसका साधक अपनी इच्छानुसार वायु धारण करने में सक्षम होकर राजयोग पद की प्राप्ति करता है। इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी का जागरण तथा उससे सुषुम्ना नाड़ी मल रहित होती है और हठयोग में सिद्धि की प्राप्ति होती है।[3]

प्राणायाम की समाप्ति कर ग्रन्थकार हठयोग सिद्धि का लक्षण देते हुए कहते हैं कि शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव, नयन की तेजस्विता, रोग का अभाव, बिन्दु पर नियंत्रण, जठराग्नि की प्रदीप्ति तथा नाड़ियों की विशुद्धि, ये सब हठसिद्धि के लक्षण हैं।[4]

1. घेरण्ड-संहिता—5/83-86
2. ह० प्र०—2/71
3. ह० प्र०—2/72-75
4. वही—2/78

अध्याय-5

मुद्रा-निरूपण

प्राणायाम के सिद्ध होने पर मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण हेतु परमावश्यक है। मुद्राओं के निरूपण से पूर्व मुद्राओं के महत्त्व तथा प्रयोजन की चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है। शास्त्रों में तो स्पष्ट उक्त है कि बिना प्रयोजन के तो मंद भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव इनका प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु सब प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[1]

योग तन्त्रों में कुण्डलिनी कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है, इसका दूसरा नाम आधार शक्ति है और वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उन सबकी मूल सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं तथा उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करके अमरता की उपलब्धि कराती है। अन्यों से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।[2] यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जाएगी तो समस्त संसार की वस्तुएं भी आधारहीन होकर नष्ट हो जायेंगी। ग्रन्थकार के शब्दों में जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग यन्त्रों का आधार कुण्डली है।[3] और जब गुरु के प्रसाद से यह प्रसुप्त कुण्डली जग जाती है, तब

---

1. (क) ह० प्र०—3/5
   (ख) शिव-संहिता—4/14
2. छान्दोग्योपनिषद्—8/6/6
3. ह० प्र०—3/1

सभी पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) तथा सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[1] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[2] इसके जागरण पर सुषुम्ना मार्ग प्राण हेतु राजपथ के समान सुखदायी हो जाता है। चित्तविषयों से हट जाता है तथा मृत्युभय नष्ट हो जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के कई पर्यायवाची शब्द हैं जैसे शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग।[3]

अतः इसी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। इन मुद्राओं की संख्या दस है—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान-बन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन।[4]

जबकि घेरण्ड संहिता में इनकी संख्या पच्चीस और गोरक्ष-संहिता में इनकी संख्या पाँच बताई गई है।[5] शिव-संहिता में मुद्राओं की संख्या दस बताते हुए इनको क्रमशः उत्तमोत्तम कहा है।[6]

हठयोग के अतिरिक्त मुद्राओं का उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी प्राप्त होता है। इनका नाम क्रमशः डोम्बि, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डाली है तथा इनकी संख्या पाँच मानी गई है।[7]

1. महामुद्रा

वाम पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा

---

1. (क) वही—3/2
   (ख) शिव-संहिता—4/13
2. घेरण्ड-संहिता—3/50
3. ह० प्र०—3/3-4
4. वही—3/6-7
5. (क) घेरण्ड-संहिता—3/1-3
   (ख) गोरक्ष-संहिता—1/56
6. शिव-संहित—4/58
7. Studies in the Tantras Part I by Prabodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939

सीधी हो जाती है और तब इड़ा और पिंगला मृतवत् हो जाती हैं तथा वायु सुषुम्ना मार्गी हो जाता है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्रता से नहीं। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसी कारण विद्वानों में श्रेष्ठों ने इसे महामुद्रा कहा है।

चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने के पश्चात् सूर्य नाड़ी से अभ्यास एवं जब दोनों की संख्या समान हो जाए तब इस मुद्रा को विसर्जित करना चाहिए। इस महामुद्रा के अभ्यासी के लिए पथ्य भोजन तथा अपथ्य भोजन नहीं रह जाता, रसहीन वस्तु भी रसयुक्त हो जाती है तथा विषतुल्य कुत्सितान्न भी अमृत के समान बन जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी के क्षय, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अजीर्ण तथा अनेक प्रकार के उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। इस महामुद्रा को जो कि मनुष्य को महासिद्धि प्रदायक है, प्रयत्नपूर्वक गुप्त तथा किसी अधर्मी को नहीं बतानी चाहिए।[1]

गोरक्ष-संहिता[2] तथा घेरण्ड-संहिता[3] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

2. महाबन्ध

वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगायें तथा दक्षिण चरण को वाम-जङ्घा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए।

कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जालन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा-बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

यह महाबन्ध निश्चित ही महान् सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से

---

1. ह० प्र०—3/10-18
2. गोरक्ष-संहिता, प्रथम शतक
3. घेरण्ड-संहिता—3/6-7

सभी नाड़ियों की ऊर्ध्वगामिता रुक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोड़ने में सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों धाराओं (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[1] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी सङ्गम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[2]

3. महावेध

महावेध की महत्ता का वर्णन हठयोगप्रदीपिका[3] तथा घेरण्डसंहिता[4] में इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार रूपयौवनसम्पन्ना स्त्री पुरुष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध ये दोनों ही महावेध के बिना व्यर्थ ही हैं। इसके अनन्तर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए।

तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे-धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिङ्गला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए।

इस महावेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, बालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध) को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इनके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा ये अणिमा आदि सिद्धियों की प्रदाता मानी जाती हैं।

प्रतिदिन तीन घंटे तक आठ बार इनका अभ्यास करना चाहिए। ये (साधक को) सभी द्रव्यों को देने वाली और सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाली हैं। अच्छे

1. ह० प्र०—3/19-24
2. योगकर्णिका—8/38
3. ह० प्र०—3/25
4. घेरण्ड-संहिता—3/21

जानकार साधकों को भी इनका अभ्यास प्रारम्भ काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए ।[1]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय पाता है ।[2]

4. खेचरी

योग-विज्ञान में यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे तालुमूल में एक विवर से चन्द्र-रसरूपी अमृत स्रवित होता रहता है तथा जो नाभि प्रदेश पर पहुंच कर भस्म हो जाता है, उसका नष्ट होना ही मृत्यु का हेतु है। अतः उसको यत्नपूर्वक नाभि प्रदेश तक न पहुंचने देना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा की प्रक्रिया में जिह्वा को इतना दीर्घ करना चाहिए कि वह भृकुटि प्रदेश का स्पर्श करने लगे। तब उसको वापिस मुख में उलट कर उस विवर तक ले जाकर उससे स्रवित होने वाले सार को जिह्वा द्वारा ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करने से मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार जिह्वा को उलटकर कपाल-छिद्र में प्रवेश कराने के पश्चात् दृष्टि को भृकुटि पर स्थापित करने से खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं को तब तक करते रहना चाहिए जब तक जिह्वा का स्पर्श भृकुटि पर न हो जाए। जिह्वा की छेदन, चालन और दोहन प्रक्रिया बताते हुए आगे कहा गया है कि स्नुही के पत्ते के समान धार वाले चिकने और निर्मल शस्त्र के द्वारा जिह्वा को रोममात्रा में काट दें। तत्पश्चात् सैन्धव नमक तथा हरड़ के चूर्ण को सात दिन तक कटे हुए भाग पर मलना चाहिए। सात दिन पश्चात् पुनः रोम मात्रा में काट दें। साधक इसी क्रम का षट्मास पर्यन्त प्रति दिन अभ्यास करता रहे। छः मास तक इसी क्रिया को करने से जिह्वा मूल का आवरण हट जाता है।

तदनन्तर जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र में लगाना चाहिए, इसी को खेचरी मुद्रा तथा इसी को व्योमचक्र भी कहते हैं।

जो साधक आधे क्षण भी जिह्वा को विपरीत कर कपाल छिद्र में लगाता है, वह शीघ्र ही विष, रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था आदि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी मुद्रा को जान जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास तथा मूर्च्छा आदि से मुक्ति

---

1. ह० प्र०--3/26-31
2. शिव-संहिता—4/28

मिल जाती है । वह कर्मों में लिप्त तथा काल से भी बाधित नहीं होता । इसमें चित्त भृकुटि रूपी शून्य में विचरण करता है तथा जिह्वा कपाल-कुहर रूपी आकाश में स्थित रहती है, इसी कारण से सिद्ध लोग इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं, इस के द्वारा जिस योगी ने जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु कामिनी के द्वारा आलिङ्गित होने पर भी स्खलित नहीं होता अर्थात् उसके बिन्दु की रक्षा होती है । यदि वह बिन्दु कदाचित् स्खलित हो जाए तथा योनि-मण्डल को प्राप्त कर ले तो भी वह बिन्दु योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध होने पर भी शक्ति से खींचकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है । जो योगवित् स्थिर रहकर जिह्वा को उलटाकर सोमपान करता है वह अर्धमास में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं क्योंकि जिस योगी का शरीर प्रतिदिन सोमद्रव्य से पूर्ण रहता है उसको सर्पदंश का विष नहीं चढ़ता तथा जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को और दीपक तेल तथा बाती को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सोमद्रव्य से पूर्ण देही को आत्मा नहीं त्यागती । जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न अग्नि से जो चन्द्रद्रव्य स्रवित होता है, उसी को अमरवारुणी कहते हैं और यदि जिह्वा का अग्रभाग सदा कपालछिद्र का चुम्बन कर, उससे स्रवित होने वाले स्राव का ग्रहण करता रहे, तो जिह्वा को क्रमश: लवण, तीखा, खट्टा, दुग्ध, मधु तथा घृत के समान रसों का आस्वादन होने लगेगा ।[1] उसके समस्त रोगों का नाश, वृद्धावस्था का निवारण, शस्त्र का प्रभाव नष्ट तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ उसके प्रति सिद्धांगनाएँ आर्कषित होती हैं ।

जिह्वा को कपाल छिद्र में स्थिर करके ऊर्ध्व स्थित पराशक्ति का चिन्तन करते हुए, प्राणायाम के द्वारा षोडशदल-कमल से स्रवित निर्मल धारा की तरङ्गों के समान चन्द्ररस का जो साधक पान करता है, वह कमल डण्ठल के समान कोमलकाय प्राप्त कर व्याधि रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है ।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है । जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एकमात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एकमात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है ।[2]

5. उड्डीयान बन्ध

इसके नामकरण विषयक प्रसङ्ग के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी में निरुद्ध प्राण-वायु

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/31-32
2. ह० प्र०—3/32-53

इस बन्ध के द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, क्योंकि इससे प्राणवायु रूपी पक्षी निरन्तर क्सुषुम्नामार्ग से शून्य में उड़ान भरता रहता है, इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि साधक को रेचक करने के उपरान्त नाभिस्थल को ऊपरी की ओर तथा उदर को नीचे और पीछे की ओर खींचकर मेरुदण्ड के साथ लगाना चाहिए। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी गज हेतु सिंह के समान है।

योगकुण्डल्युपनिषद् में इसको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान पर रखा गया है।[1]

यदि कोई वृद्ध भी गुरु निर्दिष्ट मार्ग से एवं निरन्तर स्वाभाविक रूप से उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है तो वह भी युवक सदृश बन जाता है। इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास से साधक की मृत्यु पर विजय तथा उसको निश्चित ही मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

इसके निरन्तर अभ्यास से नाभिचक्र की गति ठीक होती है, उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, फेफड़ों को असीम बल की प्राप्ति, वीर्य ऊर्ध्वगामी जठराग्नि प्रदप्ति होती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बन्ध सहायक सिद्ध होता है।

6. मूलबन्ध

दोनों पावों की किसी भी एक एड़ी से गुदेन्द्रिय तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् अधोगामी अपानवायु को जो साधक गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुंचन के द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी कर लेता है, उसे ही योगीजन मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया में गुदेन्द्रिय प्रदेश को दबाकर बलपूर्वक बार-बार योनि का आकुंचन तब तक करते रहना चाहिए जब तक अपान वायु ऊर्ध्वगामी न हो जाए।[3]

घेरण्ड-संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाए और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है तथा इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन)में

---

1. योगकुण्डल्युपनिषद्—41
2. ह० प्र०—3/54-59
3. ह० प्र०—3/60-62

छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[1]

इसके लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण तथा अपान वायु की एकता एवं नाद और बिन्दु में ऐक्य स्थापित होकर योगसिद्धि की प्राप्ति होती है। प्राण और अपान की एकता से मल और मूत्र की अल्पता होती है। यहाँ तक कि वृद्ध भी युवक सदृश बन जाता है।

जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब वह वह्नि-मण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को उष्ण बना देते हैं। इससे देह की अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

जब प्राणवायु और अपान वायु का घर्षण होता है, तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की भांति फुन्कारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी में उसी प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार सर्पिणी अपने बिल में प्रवेश करती है। अतएव योगियों को प्रति दिन मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[2]

इस प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इसके अतिरिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

7. जालन्धर बन्ध

सभी हठयोग के ग्रन्थों में इस बन्ध की चर्चा की गई है। कुछ प्राचीन योगियों के मतानुसार इस की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि उनके मतानुसार जिह्वा बन्ध होने पर जालन्धर बन्ध के समस्त लाभ योगी को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव जालन्धर बन्ध की विशेष उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को समझ कर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा है कि 'कण्ठ को संकुचित करने के

1. घेरण्ड-संहिता—3/14-17
2. ह० प्र०—3/63-68
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—43-45

उपरान्त ठोड़ी को हृदय-प्रदेश (कण्ठ-कूप) में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहते हैं, जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है।[1]

शिव-संहिता में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है।[2]

इससे प्राप्त लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह बन्ध समस्त नाड़ी जाल को बांधता है जिससे निम्नगामी चन्द्ररस का बाध होने पर कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है।

शिव-संहिता में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष इस बन्ध के द्वारा अमरवारुणी को पीकर अमरत्व तथा भुवनत्रय में प्रसन्नता को प्राप्त करता है।[3] कण्ठ-सङ्कोच वाले इस बन्ध को लगाने से चन्द्ररस जठराग्नि में नहीं गिरता तथा इससे वायु के विकार भी नहीं होते। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्यचक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। सोलह आधारों के नाम इस प्रकार हैं—(1) अंगुष्ठ (2) गुल्फ (3) जानु (4) ऊरू (5) सीवनी (6) लिङ्ग (7) नाभि (8) ग्रीवा (9) हृदय (10) कण्ठदेश (11) लम्बिका (12) नासिका (13) भ्रू मध्य (14) मस्तक (15) मूर्धा और (16) ब्रह्मरन्ध्र।

इन आधारों का बन्ध परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त इस बन्ध से मन में स्थिरता, मस्तिष्क सन्तुलित एवं विशुद्ध रहता है। कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का नाश तथा नेत्र, कर्ण, नासिका और ग्रीवा के लिए भी यह बन्ध उपयोगी है।

महासिद्धों के द्वारा इन तीनों बन्धों (मूलवन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध) का सेवन श्रेष्ठ है तथा योगियों के मतानुसार ये सभी बन्ध हठतन्त्रों के साधन स्वरूप हैं।[4]

8. विपरीतकरणी मुद्रा

दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है, उस सबको

---

1. ह० प्र०—3/69
2. शिव-संहिता—4/38
3. शिव-संहिता—4/39
4. ह० प्र०—3/75

नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से। नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्र-मण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त है।[1]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीत-करणी मुद्रा कहलाती है।[2]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरणी मुद्रा है।[3] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

प्रारम्भकाल में एकक्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पांवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षणमात्रा में ही करनी चाहिए।

इस मुद्रा के छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियां तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[4]

9- वज्रोली

योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो

1. ह० प्र०—3/78
2. घेरण्ड-संहिता—3/33-34
3. शिव-संहिता—4/45
4. ह० प्र०—3/79-81

वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

इस प्रकार स्वबिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मृत्यु पर विजय पाता है क्योंकि बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। बिन्दु को शरीर में धारण करने वाले साधक के शरीर से सुगन्ध उत्पन्न होती है।

सहजोली और अमरोली भेदों से यह दो प्रकार की है। सहज़ोली क्रिया में साधक वज्रोली के उपरान्त गोबर के उत्तम भस्म को जल में मिलाकर अपने सम्पूर्ण अंगों पर लगाते हैं। यह शुभकारी सहजोली क्रिया भोगयुक्त होते हुए भी मुक्ति-दायिनी है।

वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्रवित होने वाले स्राव का पान ही अमरोली है। ज्योत्स्ना टीका के अनुसार जो पुरुष शिवाम्बुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है अर्थात् नासिकाछिद्र द्वारा अमरी को अंतर्गत करता है और प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिका के छिद्र से पान की अमरी वज्रोली के अनन्तर अमरोली कहलाती है।[1]

यदि कोई साधिका भी इस क्रिया को जानती है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाली, आकाशगामिनी एवं उसे कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

10 शक्तिचालन

भारतीय दर्शनों में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीन सामान्य जन के लिए जहां सुलभ हैं वहीं चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि केवल योगियों को ही होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में कुण्डलिनी (जीव की मार्मिक शक्ति) प्रायः सुप्तावस्था में रहती है और तुरीयावस्था में यह जागृत हो उठती है तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका—3/97
2. ह० प्र०—3/82-96

घेरण्ड-संहिता के अनुसार यह शक्ति मूलाधार से 4 अंगुल ऊपर 3/1-2 लपेटे खाकर सोई रहती है और जब तक यह सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है तब तक जीव पशु के समान इस मर्त्यलोक में विचरण करता है, कोटियोग का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।[1]

जिस प्रकार कोई सामान्य जन चाभी से अवरोधक कपाट को खोलता है, उसी प्रकार योगी इस शक्ति के द्वारा मोक्षद्वार का भेदन करता है। डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्र-योगादि—यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्त्तृत्वाभिमानजन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है।[2]

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'प्राणायाम से पहले त्रिकोण-मण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन-ही-मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचे—वह जग गयी है और इड़ा तथा पिंगला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर देकर उनको सुषुम्ना पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।'[3]

1. घेरण्ड-संहिता—3/49/60
2. भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज
3. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० 21

हठयोगप्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, यह कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग को मुख के द्वारा ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गङ्गा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिङ्गला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरुषार्थ से ही जगाना चाहिए, क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर स्थित इस शक्ति को प्रात: और सायं आधे प्रहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़ कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। आगे कन्दस्थान का लक्षण देते हुए कहा है कि लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊंचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तदनन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है। अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वही राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[1]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महा-सिद्धि प्रदान करने वाली हैं। और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण-ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[2]

---

1. ह० प्र०—3/97-116
2. शिव-संहिता—4/58

अध्याय-6

समाधि

ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है, चित्त के ध्येयस्वरूपाविष्ट हो जाने के कारण 'अहमिदं चिन्तयामि' (मैं इसका चिन्तन करता हूँ) इत्यादि ज्ञानाकारक वृत्तियों का उदयन होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य-सा हो जाता है, तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाए और ज्ञानाकार रूप से उसका अलग निर्भास न हो, तब ध्यान ही समाधि है।[1]

ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग-अलग ज्ञान रहता है और समाधि में इनका पृथक्-पृथक् भान नहीं रहता, केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यान में विभिन्नता है।[2]

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य परमात्मा को परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।[3]

इस प्रकार एक समय में ब्रह्म के एक रूप का ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्म के अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप का ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूप का अपलाप करते हैं।[4]

सब प्रकार के सङ्कल्पों से सर्वथा शून्य हो जाने का नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधि में मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट

---

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (पा० यो०—3/3)
2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 441
3. जाबालदर्शनोपनिषद्, 10 /12
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 421

जाता है। जीवात्मा का प्रत्यक् चैतन्य में सर्वव्यापी अन्तरात्मा में ब्रह्म के अतीन्द्रिय रूप में स्थित होना ही समाधि है। जीवात्मा के अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा जिसे निर्विकल्प 'परम अह' भी कहते हैं, क्षुद्र अहम् प्रत्यय से आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमान का कारण है। इस क्षुद्र अहम् बुद्धि के निवृत्त हो जाने पर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम ब्रह्म' का उदय होता है। अत: समाधिलाभ के लिए क्षुद्र अहं बुद्धि की निवृत्ति अवश्य है और वही समाधि है।[1]

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही 'समाधि' कहते हैं।[2]

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 'मुनियों द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमें न तो मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार है, जो आत्मज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है'।[3]

अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार 'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मा से भिन्न देखने वाले तत्त्वदर्शी पुरुष की आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न स्थिति का नाम समाधि है।'[4]

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक पानी में मिल जाने से उसकी उसके साथ एकरूपता हो जाती है, वैसे ही आत्मा और मन की एकरूपता समाधि कही गई है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों की एकरूपता और समता हो जाने पर इच्छामात्र का अभाव हो जाता है और वही समाधि कही जाती है।[5]

हठयोगप्रदीपिकाकार ने कुण्डली जागरण तथा उसके परिणाम, लय, शाम्भवी और खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए इन सभी को समाधि के मार्ग के रूप में निरूपित किया है और अन्त में नादानुसन्धान तथा नादश्रवण के परिणाम स्वरूप समाधि की अवस्था का सविस्तार विवेचन किया है।

कुण्डली

विविध आसन, कुम्भक, और विचित्र मुद्राओं का अभ्यास कुण्डली जागरण

1. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 422
2. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—16
3. मुक्तिकोपनिषद्—2/55
4. अन्नपूर्णोपनिषद्—1/29
5. ह० प्र०—4/1-7

हेतु किया जाता है क्योंकि इसके जागने पर प्राण शून्य अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में लीन हो जाता है और जब प्राण शून्य में गमन करता है तो उसके फलस्वरूप चित्त भी शून्य में प्रवेश कर जाता है। तभी साधक क्रिया-कलापों से मुक्त हो जाता है। इसी कारण से नित्यप्रति स्वच्छ स्थान पर बैठकर सुषुम्ना के यथार्थ भेदन को जानकर और प्राण को उसमें प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र में उसका निरोध करना चाहिए अतएव जब सुषुम्ना में प्राण चलने लगता है तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध होती है।[1]

लय

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी वायु है, वायु का स्वामी लय है और लय नाद पर आश्रित है। यह लय मत-मतान्तर में मोक्ष नाम से कही जाने वाली वस्तु हो या न हो, किन्तु यह सत्य ही है कि मन और प्राण के लय होने से किसी अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस लय की प्राप्ति श्वास-प्रश्वास के निरुद्ध, विषय ग्रहण के बन्द, चेष्टारहित और विकाररहित साधकों को ही होती है। जहाँ मन एकाग्र हो वहीं लय होता है। उसी स्थान पर मस्तिष्क और जीवमात्र की शाश्वतशक्ति दोनों उस ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। क्योंकि विषय की विस्मृति ही लय है और उस स्थिति में वासनाओं का सदा अभाव रहता है।[2]

योगतत्त्वोपनिषद् में इस लय योग को अनेक प्रकार का बताया गया है और कहा गया है कि चित्त का लय योग है, यह बहुत तरह का कहा गया है। चलते, बैठते, सोते, खाते निष्कल परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[3]

घेरण्ड-संहिता में लयसिद्धियोगसमाधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि योनिमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। पुनः ऐसी भावना करे कि मुझ में और परमात्मा में शक्ति और पुरुष रूप में विहार हो रहा है। फिर आनन्दमय ऐक्य स्थापित करता हुआ यह चिन्तन करे कि 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ' इससे जो समाधि होती है उसे लयसिद्धि योग कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०—4/8-20
2. ह० प्र०—4/21-33
3. (क) योगतत्त्वोपनिषद्—23
   (ख) योगकर्णिका—12/4
4. घेरण्ड-संहिता—7/12-13

खेचरी

खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में पहले भी चर्चा की जा चुकी है किन्तु यह मुद्रा समाधि का भी मार्ग है अतः इसका स्थान पुनः निरूपित किया जा रहा है।

जब प्राणवायु इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में संचरण करता है तो उसी स्थान पर खेचरी मुद्रा रहती है क्योंकि इन दोनों नाड़ियों के मध्य रहने वाला शून्य प्राणवायु को ग्रसता रहता है, इस मध्य को व्योमचक्र भी कहा है।

योगचूडामण्युपनिषद् में कहा गया है कि खे का तात्पर्य आकाश है और जिस मुद्रा के द्वारा चित्त आकाशगामी हो जाता है उसको खेचरी मुद्रा कहते हैं।[1]

चन्द्रमण्डल से स्रवित होने वाले अमृत को शिव की प्रिया (गङ्गा) भी कहते हैं। उसको मेरुदण्ड स्थित दिव्य और अनुपम सुषुम्ना के द्वारा पूरित करना चाहिए और जब सुषुम्ना पूर्व की ओर से भी पूरित हो जाए अर्थात् प्राणवायु जब भृकुटि के ऊपर के भाग में गमन करने लगता है, तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है और इस सिद्धि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि भृकुटि के मध्य शिव का स्थान है और वहीं मन लीन हो जाता है और वहीं यह अंतिम स्थान है क्योंकि वहाँ मृत्यु नहीं होती।

मन को निरालम्ब करके किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिए, इससे वह साधक बाह्य और आभ्यन्तर से घट के समान होकर आकाश में स्थित हो जाता है। जैसे-जैसे बाहर की वायु मन्द होकर गति करता है वैसे-वैसे प्राण भी लीन होता जाता है और तब मध्य प्राणवायु मन के साथ (ब्रह्मरन्ध्र में) स्थिरता को प्राप्त होती है।

इस मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से साधक को चाहिए कि वह सिर से पैर तक समस्त शरीर को चन्द्ररस रूपी अमृत से भर देवे, इससे साधक महाकाय, महाबल तथा पराक्रम से युक्त हो जाएगा और साधक आकाश में शून्य कुम्भ की भाँति अन्दर से शून्य तथा बाहर से भी शून्य हो जाए तथा समुद्र में भरे हुए कुम्भ की भाँति अन्दर से तथा बाहर से भी पूर्ण हो जाए क्योंकि यह समस्त संसार मन की ही रचना मात्र है तथा समस्त मनोविलास भी मन की ही रचना मात्र है अतएव मन को समस्त काल्पनिक रचनाओं से अलग कर निर्विकल्प (ब्रह्म) का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि इससे निश्चित ही शान्ति प्राप्त होगी।

इस खेचरी मुद्रा का तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए जब तक योगनिद्रा

---

1. योग० चू० उ०—55

प्राप्त न हो, क्योंकि योगनिद्रा अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर कभी कालभय नहीं रहता है। इस समाधि में सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलीन हो जाता है और मन के विलीन होते ही कैवल्य अर्थात् ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[1]

नादानुसन्धान

अब लय से समाधि के ही अङ्गरूप नादानुसन्धान प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि जिस काल में योगाभ्यास के बल से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभाव को प्राप्त हो जाती है, उसको परमगति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मी स्थिति निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसी को कहते हैं। यही बात शिवसंहिता में भी कही गई है 'जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है मन दृश्य का चिन्तन छोड़कर वृत्ति-रहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। यानी 'उपाधि-विलयात् विष्णो' के अनुसार, अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जीव ब्रह्म का स्वरूप से तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। यही बात दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कही है—

"न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।" अर्थात् जीव ब्रह्म का स्फुरण रूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण, दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य जी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थ में नीचे के श्लोकों में बताया है कि 'योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं, उन सब में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है आप परमपद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परमपद में लय हो जाएंगे। योगसाम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्यागकर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।

---

1. ह० प्र०—4/42-61

2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 271

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके ।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ।।
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महेतुत्वपदं लयानाम् ।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे ।।
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ।।[1]

शिव-संहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है ।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य की भाँति श्री स्वात्माराम योगीन्द्र भी यही मानते हैं कि श्री आदिनाथ के द्वारा प्रोक्त लय के सवा करोड़ विद्यमान प्रकारों में से एक नादानुसन्धान ही मुख्यतम लय है ।[3] नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार बादलों के चले जाने पर सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार प्रारब्ध के समाप्त होने पर तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता का चिन्तन करने पर कल्याणकारी, ज्योतिर्मय परमात्मा का नादरूप में साक्षात्कार होता है ।[4]

योगी को मुक्तासन में बैठकर, शाम्भवी मुद्रा को सिद्ध करके, एकाग्रचित्त होकर दक्षिण कर्ण से अन्तस्थ नाद को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए ।[5] जबकि नादबिन्दूपनिषद् में वैष्णवी मुद्रा की ओर संकेत दिया गया है और मुक्तासन की जगह सिद्धासन का उल्लेख है ।[6]

इस नाद की चार अवस्थाएँ सभी योगों में मान्य हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ।

1. आरम्भावस्था—इस अवस्था में जब ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब योगी का मन शून्य होकर उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् शरीर में से विचित्र प्रकार की क्वणक रूपी अनाहत ध्वनि सुनाई देती है जिससे साधक दिव्य शरीर वाला तेजस्वी, दिव्य गन्ध युक्त, अरोगी, आह्लादक हृदय तथा शून्य से युक्त हो जाता है।

2. घटावस्था—इस अवस्था में वायु निरुद्ध होकर सुषुम्नावाही हो जाता है,

---

1. कल्याण का योगाङ्क—271
2. शिव-संहिता—5/30
3. ह० प्र०—4/65
4. नादबिन्दूपनिषद्—30
5. ह० प्र०—4/67
6. नादबिन्दूपनिपद्—31

तब योगी दृढ़ासन होकर, अधिक ज्ञानी और देवतासदृश बन जाता है। इससे साधक की विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है, जिससे अतिशून्य में परमानन्द की सूचक भेरी के आघात सदृश शब्द उत्पन्न होने लगते हैं।

शिव-संहिता में कहा गया है कि यह अवस्था प्राणायाम के द्वारा ही संभव है तथा इस अवस्था में प्राण-अपान, नादबिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं।[1]

3. परिचयावस्था—इस अवस्था की प्राप्ति में जीव को शून्य में मर्दल ध्वनि का श्रवण होता है और तब सब प्रकार की सिद्धियों का आश्रय लेकर प्राण महाशून्य में गमन करता है। तब चित्त आनन्द को प्राप्त कर दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा और निद्रा आदि से रहित होकर सहजानन्द को प्राप्त करता है।

शिव-संहिता में वर्णित है कि इस अवस्था में योगी का प्राणवायु चन्द्र और सूर्य नाड़ी को त्याग कर सुषुम्नावाही होकर निश्चल हो जाता है तथा योगी त्रिकुट कर्मों को देखता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है।[2]

4. निष्पत्त्यवस्था—इस अवस्था की प्राप्ति में प्राणवायु रुद्रग्रन्थि का भेदन कर शिवस्थान को प्राप्त करता है और तब योगी को मिश्रित शब्दों वाली वीणा का स्वर सुनाई देता है। तभी योगी का चित्त एकाग्र होकर राजयोग समाधि हेतु बनता है और योगी ईश्वर सदृश सृष्टि का संहारक और कर्त्ता बन जाता है।

शिव-संहिता में इस अवस्था के द्वारा जीवन्मुक्त होना बताया है।[3]

इस प्रकार ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मोक्ष हो या न हो, किन्तु यहाँ पर ही एक अखण्ड सुख प्राप्त होता है, लय से उत्पन्न वह सुख राजयोग अर्थात् समाधि के द्वारा प्राप्त होता है। और जो जन राजयोग को नहीं जानते हुए केवल हठ-प्रक्रिया का ही अभ्यास करते हैं, वे साधक फलहीन प्रयास ही करते हैं।

इस नादानुसन्धान से समाधि प्राप्त करने वाले योगीश्वरों के हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है।[4] इस नादानुसन्धान की प्रथमावस्था में अनेक प्रकार के महान् नाद सुनाई देते हैं, और बाद में अभ्यास के दृढ़ होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं।

प्रथमकाल में समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झर ध्वनिसदृश, मध्य में ढोल, शङ्ख, घण्टा तथा घड़ियाल की ध्वनि के समान और अन्त में किङ्किणी, वेणु, वीणा तथा भ्रमर

1. शिव-संहिता—3/55-56
2. वही—3/60-65
3. वही—3/67,
4. ह० प्र०—4/68-80

निःस्वन की ध्वनि के समान नाना प्रकार के नादों का श्रवण शरीर के अन्दर से होता है। मेघ, भेरी आदि सुनाई देने वाले महान् ध्वनि वाले नादों में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद का ही श्रवण करना चाहिए और जिस किसी भी नाद में सर्वप्रथम मन लग जाए, उसमें ही स्थिर होकर उसके साथ ही लीन हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार भ्रमर फूलों के रस का पान करता हुआ गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार नादासक्त चित्त बाह्य-विषयों की भी उपेक्षा नहीं करता। विषय-उद्यान में विचरण करने वाले मत्त गजेन्द्र रूपी मन को वश में करने के लिए यह नाद तीक्ष्ण अंकुश के समान है। क्योंकि नाद-बन्धन से बांधा गया (चंचल) मन अपनी चंचलता को त्याग कर छिन्न पंखों वाले पक्षी की भाँति शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करता है।[1]

नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि यदि हम मन को हिरण और तरंग की संज्ञा प्रदान करें तो यह नाद उस हिरण को फांसने के लिए जाल का और तरंग को रोकने के लिए तट का काम देता है।[2]

जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ के साथ ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार नाद में प्रवर्तित चित्त भी नाद के साथ लीन हो जाता है। इस प्रकार सभी हठ और लय के उपाय राजयोग की सिद्धि के लिए हैं। राजयोग से युक्त पुरुष मृत्युंजय हो जाता है। इस नादानुसन्धान से सदा पापों के संचय का नाश होता है और तब चित्त और वायु निश्चित रूप में उस निरंजन में विलीन हो जाते हैं और तब शङ्ख और दुंदुभि नाद कभी सुनाई नहीं देते अपितु उन्मनी-अवस्था की उत्पत्ति पर शरीर काष्ठवत् हो जाता है तथा वह साधक सभी अवस्थाओं से मुक्त और चिन्ताओं से रहित होकर मृतवान् रहता है।

समाधि फल

समाधि से युक्त योगी काल के द्वारा खाया नहीं जा सकता, कर्मों के द्वारा बांधा नहीं जा सकता तथा वह गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और न ही शब्द इन सबसे लिप्त होता है। उसका चित्त न तो सोया हुआ और न ही जागा हुआ रहता है। वह स्मृति तथा विस्मृति से दूर हो जाता है। वह योगी शीत-उष्ण, दुःख-सुख, मान-अपमान को नहीं जानता अर्थात् इन सब द्वन्द्वों से निर्लिप्त रहता है। इस अवस्था की प्राप्ति में योगी सब

---

1. ह० प्र०—4/83-91
2. नादबिन्दूपनिषद्—45

शास्त्रों से अबध्य रहता है। सब देहधारियों से वह अशक्य (बलवान्) और यन्त्र-मन्त्रों से अग्राह्य होता है तथा वह निश्चित रूप में मुक्त हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि जब तक सुषुम्ना में प्राणवायु का संचार नहीं हो जाता, जब तक प्राणवायु के नियन्त्रण से चन्द्ररस स्थिर नहीं हो जाता और जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र ही है[1]। इसी अवस्था की प्राप्ति ही हठयोग का परम उद्देश्य ह।

1. ह० प्र०—4/97-113

उपसंहार

अनवरत प्रवाहित हो रही हठयोग की प्रशस्त प्रक्रिया-प्रधान परम्परा से प्रभावित होकर ऋतम्भराप्रज्ञायुक्त जिन भारतीय मनीषियों ने क्रिया एवं अध्यात्मचिन्तन की जिस उत्कृष्ट ज्ञानराशि के द्वारा समस्त मानव जीवन को अत्यधिक उदात्त बनाने की धारणा की, उसी के सङ्कल्प रूपी ज्ञानकण प्राचीन काल से ही भारत भूविमण्डल में आकाश और दिशा के साथ परमाणुओं के शाश्वत संयोग की भाँति इस तरह संयुक्त हुए कि यही प्रक्रिया-प्रधान योग बौद्ध, जैन, तन्त्र इत्यादि योगों के रूप में प्रकटित हुआ। प्राचीन भारतीय संस्कृति रूपी गङ्गा के हठयोग रूपी तीव्रप्रवाही जल ने सभी धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों एवं मतों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसा मुक्तिमार्ग प्रशस्त किया कि जिसका अनुगमन कर विभिन्न दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु सामान्य जनों ने भी अपने आपको कृतार्थ किया। इस हठयोग की समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक मतों का चरम लक्ष्य, परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसे हम मिथ्या भेद से उत्पन्न अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा, परमात्मा, जीव, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि की कल्पना रूपी कल्मषता से कलङ्कित करते हैं।

किन्तु शोचनीय विषय यह है कि हठयोग की इतनी महत्त्वपूर्ण प्रणाली का निश्चयात्मक ज्ञान अद्यावधि नहीं हो पाया है। हमारे देश में योग की कई प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीनतम प्रणाली सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं के माध्यम से होती है। दूसरी प्रणाली बौद्ध योग की है। तीसरी प्रणाली पातञ्जल योग दर्शन के अन्तर्गत आती है। चतुर्थ प्रणाली के रूप में तन्त्र ग्रन्थों में योग सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। एतदनन्तर गोरक्ष प्रचलित पद्धति का दिग्दर्शन होता है। इस पद्धति के समय "भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्धजीवन, सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुंच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।"[1]

---

1. नाथसम्प्रदाय—229

योग की इन सब प्रणालियों में क्या-क्या सम्बन्ध रहा है तथा सिन्धु घाटी में उपलब्ध योग की प्रणाली किस प्रकार से उत्तरवर्त्ती प्रणालियों को प्रस्फुटित तथा पल्लवित करने में उत्तरदायी रही है तथा पातञ्जल योग, तन्त्रीय योग और हठयोग का परस्पर कितना अटूट सम्बन्ध रहा है......इस पर मूल स्रोतों के आधार पर गम्भीर इतिहास-परक गवेषणा की अत्यधिक आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निस्संकोच सिद्ध किया जा सकता है कि प्रस्तुत 'हठयोगप्रदीपिका' श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र की अनुपम प्रक्रिया प्रधान कृति होने के साथ-साथ दर्शन ग्रन्थों से भी अत्यधिक प्रभावित है। अनेक जटिल प्रसङ्गों यथा प्राणायाम, कुण्डलिनी, आसनों व नादानुसन्धान से प्राप्त लाभों का सविस्तर वर्णन और वज्रोली मुद्रा के द्वारा योगसिद्धि की प्राप्ति जैसे तार्किक विवेचनों के कारण हठयोगप्रदीपिका समस्त प्रक्रिया-प्रधान एवं साधना-प्रधान शास्त्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

पूर्व के अध्यायों में हठयोग के मूल ग्रन्थों उपनिषदों और विभिन्न हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों के द्वारा हठयोग के विभिन्न पक्षों पर किये गए चिन्तन का तुलनात्मक चित्र उपस्थापित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

हठयोग वास्तव में स्वास्थ्यवर्धक है और इसके फलस्वरूप जीवन में निर्वाह सुखपूर्वक होता है, यह इसका इहलौकिक लाभ है। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा यह मानव दुःख के कारण कर्तृत्व भाव का नाशक है और अन्त में जीव की समाधि अवस्था में स्थित परमार्थ सुख और पारलौकिक सुख की प्राप्ति करवाता है। अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मोह मुग्ध जो जीव विपरीत ज्ञानकारिणी अविद्या के चक्र में पड़ कर संसार के यथार्थ स्वरूप से भटक रहे थे, उन्हें यह प्रस्तुत ग्रन्थ एक नई दिशा की प्रेरणा प्रदान करेगा। यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अथर्ववेद-संहिता—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
2. अथर्ववेद-संहिता—श्रीकण्ठशास्त्री, माधवपुस्तकालय, कमला नगर, दिल्ली।
3. अपरोक्षानुभूतिः—(क) स्वामी विमुक्तानन्द (ख) पं० मनोहरलाल शर्मा।
4. कल्याणयोगाङ्क—गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1992
5. कुमारसम्भव—व्याख्याकार श्री जगदीशलाल शास्त्री, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, सन् 1965
6. काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्—सम्पादक, श्री कैलाशपति पाण्डेय, प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039
7. गोरक्ष-संहिता—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली (उत्तर प्रदेश) सन् 1982
8. गुह्य समाज तन्त्र—सम्पादक श्री एस. बाग्ची, मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, 1965
9. घेरण्ड-संहिता—वही 6, सन् 1981
10. घेरण्ड-संहिता—सम्पादक, श्रीश चन्द्र वसु, अड़यार मद्रास, 1933
11. जयेन्द्र योग प्रयोग—डा० रमेश कुमार, सम्पादक डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, मेघप्रकाशन ब्रह्मपुरी, दिल्ली, सन् 1982
12. दत्तात्रेय-योगशास्त्र—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, रूप नगर, दिल्ली
13. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग पंचम—डा० पाण्डुरंग काणे, अनुवाद अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1973
14. नरपतिजयचर्यास्वरोदय—सम्पादक पण्डित गणेशदत्त पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1971
15. नाथ और संत साहित्य—डा० नगेन्द्र नाथ उपाध्याय, शोध-प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन
16. नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन, 1966

17. पातञ्जल योग दर्शन—सम्पादक पं० तुलसीराम, प्रकाशक स्वामी प्रेस, मेरठ, सन् 1977
18. पातञ्जल योग दर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित—अनुवादक श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास चंडक, अजमेर नगर, सम्वत् 2018
19. पातञ्जल योगशास्त्र: एक अध्ययन—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली सन् 1978
20. प्रायोगिक योगशिक्षा—कुमारी अरुणा आनन्द, आनन्द प्रकाशन, नौरोजी नगर, दिल्ली, सन् 1982
21. ब्रह्मपुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, प्रकाशक संस्कृति संस्थान, बरेली सन् 1971
22. ब्रह्मसूत्र—श्री सत्यानन्द सरस्वती, प्रकाशन गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत् 2035
23. भगवद् गीता—डा० राधाकृष्णन्, प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन् 1962
24. भागवतपुराण—प्रकाशक पंडित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, काशी, सन् 1952
25. भारतीय दर्शन—श्री एस० एन० दास गुप्ता प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर, 4
26. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1965
27. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1983
28. मनुस्मृति—प्रकाशक हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता, संस्करण 6, सम्वत् 1993
29. याज्ञवल्क्यस्मृति—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी—1 सन् 1967
30. योगकर्णिका—नाथ अघोरानन्द—सम्पादक श्री एन० एन० शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7, सन्, 1981
31. योग दर्शन—श्री वेदमूर्ति तपोनिष्ठ वही 20—तृतीय संस्करण 1969
32. योगप्रदीपिका—ब्रह्मचारी याज्ञवल्क्य—मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1981
33. योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाशक ऋषभ जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, सन् 1663
34. विष्णु-पुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, वही-20 सन् 1967
35. वैदिक कोष—श्री भगवद्दत्त—एँग्लो ओरियण्टल, विक्रम सम्वत् 1982
36. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक हरिशंकर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, 1975

37. शिव-संहिता—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक श्री सत्गुरु प्रकाशन, एम० एस० पी० सन् 1981
38. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक ठाकुर दास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन्-1980
39. श्री धर्म्मकल्पद्रुम—चतुर्थ खण्ड—श्री स्वामी दयानन्द—प्रथम संस्करण नारायण प्रेस, बनारस, सन्-1917
40. षट्चक्र निरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक बी०घोष, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता सन्-1941
41. सन्त काव्य में योग का स्वरूप—डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह—प्रकाशन—अनुपम प्रकाशन पटना 1977
42. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशन श्री रामकृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश
43. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—सम्पादिका—श्रीमती कल्याणी मलिक, प्रकाशन—पूना ओरियण्टल बुक हाउस, पूना 1954
44. सिद्धसिद्धान्त संग्रह—सम्पादक—श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—श्री जयकृष्ण दास गुप्ता, गोपाल मन्दिर, बनारस, सन्-1925
45. हठयोगप्रदीपिका—संस्करणकर्ता स्वामी दिगम्बर जी, डा० पीताम्बर झा, कैवल्य-धाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला (पूना), सम्वत् 2035
46. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान वेदनगर, बरेली, उत्तर प्रदेश सन्-1982
47. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक पंचम सिंह, इण्डियन बुक सेन्टर, शक्तिनगर, दिल्ली, एस० एस० पी० सन् 1979
48. हठयोगप्रदीपिका—ब्रह्मानन्द रचित ज्योत्स्ना टीका सहित—सम्पादक श्री खेमराज, श्री वैङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, सम्वत्-1968
49. अन्नपूर्णोपनिषद्—उपनिषत् संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोती-लाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1980
50. अमृतनादोपनिषद्—वही
51. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-2010
52. कठोपनिषद्—वही—48
53. कौषीतकि उपनिषद्—वही—48
54. छान्दोग्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2023
55. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही—48
56. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
57. ध्यानविन्दूपनिषद्—वही
58. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही

59. मैत्रायण्युपनिषद्—वही
60. मुक्तिकोपनिषद्—वही
61. योगकुण्डल्युपनिषद्—वही
62. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
63. योगतत्त्वोपनिषद्—वही
64. योगसाधना—वही—45
65. योगशिखोपनिषद्—वही—48
66. शाण्डिल्योपनिषद्—वही
67. श्वेताश्वतरोपनिषद्—वही
68. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—वही

आयुर्वेदग्रन्थ—

69. काश्यप-संहिता—प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी—1976
70. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०-1993
71. योगतरंगिणी—सम्पादक श्री खेमराज श्री कृष्णदास, "श्री वेङ्कटेश्वर" स्टीम प्रेस, बम्बई
72. सुश्रुतसंहिता—सम्पादक श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर, प्रकाशक–जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं०-2007

अप्रकाशित—

73. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन—कुमारी सुरिन्द्र कौर, लघु शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन्-1983
74. Guhyasamaja Tantra or Tathagata guhyaka—Edited—Sh. Benoytosh Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda-1967
75. Studies in Tantras Part-1—Prabhodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939.
76. The Cultural Heritage of India—Vol. IV—Published by Swami Lokeswarananda, Secretary, The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta—1975.
77. Yoga—Historical background—Dr. C. T. Kenghe. Published by Bhattacharya, Bharata Manisha, Pande Haveli, Varanasi-1975.
78. Yogic and Tantric Medicine—Vol. II by O. P. Jaggi, Atma Ram and Sons, Delhi—1979.

प्रथमोपदेशः

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ।। 1 ।।

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वत्मारामेण योगिना ।।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।। 2 ।।

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।।
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्माराम: कृपाकरः ।। 3 ।।

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ।।
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ।। 4 ।।

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ।।
चौरङ्गी मीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ।। 5 ।।

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः ।।
कोरन्टकः सुरानन्दः सिद्धपादश्च चर्पटिः ।। 6 ।।

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ।।
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ।। 7 ।।

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिन्टिणिः ।।
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ।। 8 ।।

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ।।
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ।। 9 ।।

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ।।
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ।। 10 ।।

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ।। 11 ।।

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।। 12 ।।

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजंन्तूज्झितम् ।।
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।। 13 ।।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ।।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ।। 14 ।।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ।। 15 ।।

उत्साहोत्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ।। 16 ।।

अथ यमनियमाः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।। 17 ।।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ।।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।। 18 ।।

अथ आसनम्

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ।। 19 ।।

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ।।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ।। 20 ।।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।। 21 ।।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ।। 22 ।।

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ।।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ।। 23 ।।

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।।
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ।। 24 ।।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ।। 25 ।।

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम् ।।
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ।। 26 ।।

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।।
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ।। 27 ।।

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ।।
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ।। 28 ।।

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ।।
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ।।29।।

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ।।
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ।। 30 ।।

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ।।
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् 31 ।।

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ।।
उच्चासनो दण्डतदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ।। 32 ।।

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ।।
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ।। 33 ।।

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ।।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ।। 34 ।।

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ।।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ।। 35 ।।

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ।। 36 ।।

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ।।
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजननं सिद्धासनं प्रोच्यते ।। 37 ।।

मतान्तरे तु

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ।।
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ।। 38 ।।

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ।।
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ।। 39 ।।

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ।।
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ।। 40 ।।

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ।।
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ।। 41 ।।

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ।।
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ।। 42 ।।

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ।।
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ।। 43 ।।

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ।। 44 ।।

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ।।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ।। 45 ।।

अथ पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ।। 46 ।।

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ।। 47 ।।

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ॥
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ 48 ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ 49 ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ 50 ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ 51 ॥

अथ सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ 52 ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ 53 ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ॥
बन्धत्रितयसन्धानां कुरुते चासनोत्तमम् ॥ 54 ॥

अथ भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ 55 ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ 56 ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ 57 ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ 58 ॥

अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ 59 ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।। 60 ।।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ।।61।।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम् ।।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ।।
वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ।। 62 ।।

तथा हि गोरक्षवचनम्

वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।। 63 ।।

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।।
शुंठीपटोलकफलादिक पञ्च शाकम्
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ।। 64 ।।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।। 65 ।।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ।। 66 ।।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ।। 67 ।।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ।। 68 ।।

पीटानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ।। 69 ।।

इति हठयोगप्रदीपिकायां प्रथमोपदेशः ।।

द्वितीयोपदेशः ॥

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ 1 ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ 2 ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निश्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ 3 ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ 4 ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ 5 ॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ॥ 6 ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ 7 ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ 8 ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ 9 ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥10॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ॥
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ 11 ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ॥
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ 12 ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ 13 ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यसेद् दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ 14 ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ 15 ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ 16 ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ 17 ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ 18 ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ 19 ॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनम् ॥ 20 ॥

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ 21 ॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ 22 ॥

कर्माष्टकमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
विचित्रगुणसन्धायि पूज्यते योगपुङ्गवैः ॥ 23 ॥

तत्र धौतिः

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥ 24 ॥

कासश्वासप्लीहकुष्टं कफरोगांश्च विंशतिः ।।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः ।।25।।

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ।।26।।

बस्तिकर्म

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।।
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ।।27।।

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ।।
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ।।28।।

अथ नेतिः

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ।।29।।

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ।।30।।

अथ त्राटकम्

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।31।।

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।।32।।

अथ नौलिः

अमदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ।।33।।

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिका नन्दकरी सदैव ।।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ।।34।।

अथ कपालभातिः

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ।।35।।

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ।।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ।।36।।

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ।।
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ।।37।।

अथ गजकरणी

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ।।
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ।।38।।

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ।।
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ।।39।।

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ।।
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।।40।।

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ।।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ।।41।।

अथ मनोन्मनी

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ।।42।।

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् ।।
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ।।43।।

अथ कुम्भकभेदाः

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ।।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ।।44।।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ।।45।।

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।।46।।

आपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् ।।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ।।47।।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः । शिवसंहितायाम् अ० 3 श्लो० 7 ।

अथ सूर्यभेदनम्

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ।।48।।

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ।।49।।

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ।।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ।।50।।

योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये ।
उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ।। 1 ।।

गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् ।
शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद् भस्मधारणम् ।। 2 ।।

शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ।
तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ।। 3।।

देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् ।
अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधि-
तत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये ।
अनन्तं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ।।4 ।।

मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वम्भरा-
मण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः ।
ततोभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् ।
अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ।।5।।

करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत् ।
जालन्धरप्रसादार्थं कुम्भकात्पूर्वयोगतः ।।6।।

विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम् ।
योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्मीञ्च शिववाक्यतः ।।7।। कूर्मपुराणे ।

नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान् सच्छिष्यांश्च विनायकम्।
गुरुं चैवाथवा योगी युञ्जीत सुसमाहितः ॥8॥

बद्धाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम् ।
प्रथमे दश कर्तव्या पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ॥ 9 ॥

कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः।
योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ॥10॥

अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः ।
सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ॥11॥

उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः ।
भस्त्रिकाञ्च समभ्यस्य कुर्यादन्यन्नवापरान् ॥12॥

मुद्राः समभ्यसेद्बद्धगुरुवक्त्राद् यथाक्रमम् ।
ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ॥13॥

अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः ।
अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥14॥

स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः ।
मध्याह्नेऽपि तथाभ्यस्य किञ्चिद्विश्रम्य भोजनम् ॥15॥

कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यन्न कदाचन ॥
एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्तं च भक्षयेत् ॥16॥

केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा ।
चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥17॥

भोजनानन्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम् ।
पुराणश्रवणं वापि नाम सङ्कीर्तनं विभोः ॥18॥

सायं सन्ध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ।
यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ 19 ॥

अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसन्ध्या सदा बुधैः ॥
अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥20।

विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः ।
नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ 21 ॥

अथोज्जायी ।।

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।। 51 ।।

पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ।।
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ।। 52 ।।

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ।।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ।। 53 ।।

अथ सीत्कारी ।।

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।। 54 ।।

योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ।।
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ।। 55 ।।

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ।।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ।। 56 ।।

अथ शीतली ।।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ।।
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ।। 57 ।।

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ।।58।।

अथ भस्त्रिका ।।

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ।। 59 ।।

सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ।।
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ।। 60 ।।

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ।।
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ।। 61 ।।

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ।।
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ।। 62।।

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ 63 ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ 64 ॥

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ 65 ॥

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ 66 ॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ 67 ॥

अथ भ्रामरी ॥

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ॥
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥68॥

अथ मूर्च्छा

पूरकान्ते गाढतरं बध्वा जालन्धरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ 69 ॥

अथ प्लाविनी ॥

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥70॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥71॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ 72 ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ 73 ॥

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ 74 ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ 75 ॥

अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते ।
हठं विना राजयोगो राजयोगं बिना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ 76 ॥

कुंभकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ 77 ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥78॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ 2 ॥

तृतीयोपदेश: ।

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ 1 ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥2॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ 3 ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचका: ॥ 4 ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ 5 ॥

अथ मुद्राभेदा:

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥ 6 ॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ 7 ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ 8 ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ 9 ॥

अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ 10 ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ 11 ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ 12 ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ 13 ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ 14 ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ 15 ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ 16 ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥17॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥18॥

अथ महाबन्धः ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ 19 ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥20॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥21॥

मतमत्र तु केषाञ्चित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ॥
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥22॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।।23।।

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।24।।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।।25।।

अथ महावेधः ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।26।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।।27।।

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।28।।

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।।
वलीपलितवेपन्नः सेव्यते साधकोत्तमैः 29 ।।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यिणमादिगुणप्रदम् ।।30।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ।।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।31।।

अथ खेचरी ।।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतिगा ।।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।32।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।33।।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।34।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।35।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।।
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति ।।36।।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ।।
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ।।37।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ।।38।।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।।39।।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ।।40।।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ।।41।।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ।।42।।

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ।।43।।

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ।।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ।।44।।

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ।।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ।।45।।

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ।।46।।

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ।।
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुम्प्रकृत्या विवेकवान् ।
पञ्चकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ।।
ब्रह्मवैवर्ते

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ।।
ब्रह्माण्डे

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र सन्देशःपुण्यभाजनम् ।।
दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ।।
अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः
त्वया मयाप्यसौ बन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु का पुनः ।।
राजयोग, कूर्म्मपुराणे

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।
ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ।।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।।47।।

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ।।48।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।।49।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।। उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।।50।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। 51।।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ।।52।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ।।53।।

अथोड्डीयानबन्धः ।।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।।54।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥55॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥56॥

उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥57॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥58॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥59।

अथ मूलबन्धः ॥

पार्ष्णि भागेन सम्पीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥60॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥61॥

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥
वारंबारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥62॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥63॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥64॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽऽहता ॥65॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥

याज्ञवल्क्ये—

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥66॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥67॥

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥68॥

अथ जालन्धरबन्धः ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥69॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥70॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥71॥

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥72॥

अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीकण्ठलिङ्गनाभयः ।
हृद्ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् ।
एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुङ्गवैः ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥73॥

अनेनेन विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥74॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥75॥

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥76॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥77॥

अथ विपरीतकरणी ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥78॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।।79।।

अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ।।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।।80।।

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ।। 81।।

अथ वज्रोली ।।

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ।।82।।

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ।।83।।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ।।84।।

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ।।85।।

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।।86।।

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ।।87।।

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ।।88।।

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ।।89।।

अथ सहजोलिः ।।

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः ।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ।।90।।

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ।।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापकयोः क्षणात् ।।91।।

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ।।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ।।92।।

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ।।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ।।93।।

अथामरोली ।।

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली ।।94।।

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ।।
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ।।95।।

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ।।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।96।।

अथ शक्तिचालनम् ।।

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।।
कुंडल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ।।97।।

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ।।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ।।98।।

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ।।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।।99।।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ।।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ।।100।।

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ।।
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ।।101।।

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी ।।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ।।102।।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ।।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ।।103।।

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ।।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ।।104।।

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ।।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ।।105।।

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ।।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ।।106।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।।107।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ।।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।।108।।

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ।।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ।।109।।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ।।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्नायां समुद्गता ।।110।।

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ।।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ।।111।।

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ।।
तस्माः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ।।112।।

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ।।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।।113।।

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ।।
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः ।।114।।

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ।।
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ।।115।।

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ।।116।।

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ।।117।।

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्राभद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ।।118।।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ।।119।।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।।120।।

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।।121।।

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।।122।।

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ।।123।।

इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ।।3।।

चतुर्थोपदेशः ।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ।।1।।

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ।।2।।

राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ।।3।।

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ।।4।।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ।।5।।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ।।6।।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ।।7।।

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ।।8।।

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ।।9।।

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ।।10।।

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ।।11।।

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ।।12।।

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ।।13।।

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ।।14।।

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ।।15।।

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ।।
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ।।16।।

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिन्दिवात्मकम् ।।
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ।।17।।

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ।।
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थका ।।18।।

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ।।
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ।।19।।

सुषुम्ना वाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ।।
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ।।20।।

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ।।
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ।।21।।

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ।।
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्तौ द्वावपि नश्यतः ।।22।।

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ।।
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ।।23।।

दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ।।
यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ।।24।।

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ।।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ।।25।।

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।।
रसो बद्धो मनो बद्धं किन्न सिद्ध्यति भूतले ।।26।।

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ।।
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ।।27।।

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ।।
विन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ।।28।।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ।। 29 ।।

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे ।।
मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ।। 30 ।।

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ।।
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ।। 31 ।।

उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ।। 32 ।।

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ।।
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ।। 33 ।।

अथ शाम्भवी मुद्रा

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ।।
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ।। 34 ।।

अन्तर्लक्ष्यं वहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ।।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ।। 35 ।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ।।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शाम्भवम् ।। 36 ।।

श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ।।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ।। 37 ।।

अथोन्मनी ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ 38 ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ 39 ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्दभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ 40 ॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ 41 ॥

अथ खेचरी ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ 42 ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ 43 ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालवान्तरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ 44 ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ 45 ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते ॥ 46 ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते । 47 ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ 48 ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ।। 49

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ।। 50

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ।। 51 ।।

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ।। 52 ।।

इति खेचरी ।।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ।। 53 ।।

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। 54 ।।

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ।।
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ।। 55 ।।

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।। 56 ।।

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ।।57।।

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ।। 58 ।।

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ।। 59 ।।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ।। 60 ।।

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ।। 61 ।।

एवं नानाविधोपायाः सम्यक् स्वानुभवान्विताः ।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ।। 62 ।।

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ।। 63 ।।

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् ।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ।। 64 ।।

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ।। 65 ।।

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्ध्याय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ।। 66 ।।

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ।।
शुद्धासुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ।। 67 ।।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ।। 68 ।।

अथारम्भावस्था ।।

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदोत्थानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ।। 69 ।।

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत् ।। 70

अथ घटावस्था ।।

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ।।71।।

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ।। 72 ।।

अथ परिचयावस्था ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ 73 ॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ 74 ॥

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ 75 ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ 76 ॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ 77 ॥

राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ 78 ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नादजो लयः ॥ 79 ॥

नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ 80 ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ 81 ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ 82 ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते बहुसूक्ष्मकः ॥ 83 ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥ 84 ॥

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः 85 ॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ 86 ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ 87 ॥

यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ 88 ॥

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते ॥ 89 ॥

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियमने समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥ 90 ॥

बद्धं तु नादबन्धेन मनः सन्त्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ 91 ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ 92 ॥

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ 93 ॥

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ 94 ॥

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ॥
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेटनम् ॥ 95 ॥

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥ 96 ॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ 97 ॥

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य ।।
प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत् ।।98।।

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ।।
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। 99 ।।

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ।। 100 ।।

यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ।।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ।। 101 ।।

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ।। 102 ।।

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ।।
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ।। 103 ।।

सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसञ्चयाः ।।
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ।। 104 ।।

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ।।
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यवस्थया ध्रुवम् ।। 105 ।।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ।।
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ।। 106 ।।

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ।।
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ।। 107 ।।

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।।
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ।। 108 ।।

चित्तं न सुप्तं नोजाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ।।
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ।। 109 ।।

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ।।
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ।। 110 ।।

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ।। 111 ।।

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ।। 112 ।।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्विन्दुर्न भवति दृढप्राणवानप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ।। 113 ।।

इति हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ।। 4 ।।

नोट—मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के क्रम

क्रम संख्या 9 में 6 के स्थान पर 7
,, ,, 31 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 34 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 64 में 45 के स्थान पर 46
,, ,, 65 में 48 के स्थान पर 49 पाठ पढ़ा जाये।

श्लोकानुक्रमणी

(भ)

(म)

(य)

(ह)

अनुक्रमणी

सांख्य-दर्शन का इतिहास

अनु०—डॉ० शिव कुमार

प्रस्तुत पुस्तिका ए० बी० कीथ की **The Sāṁkhya System** नामक पुस्तक का अनुवाद है। कीथ की यह पुस्तक प्राचीनता, सारगर्भितता, विशदता एवं सर्वाङ्गीण विवेचन के उपरान्त भी आङ्गल भाषा में होने के कारण सांख्य दर्शन के अध्येताओं का यथोचित ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। अतः इसका हिन्दी अनुवाद आवश्यक समझा गया।

विषय की विविधता के आधार पर पुस्तक को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** में उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य का वर्णन है। **दूसरे अध्याय** में सांख्य और बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन है। **तीसरे अध्याय** में विकसनशील महाकाव्यों में सांख्य के स्वरूप का विवेचन है। **चतुर्थ अध्याय** में सांख्य और योग का काल-क्रम की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन है। **पांचवें अध्याय** में सांख्य के एक प्राचीन परन्तु अनुपलब्ध ग्रन्थ षष्टितन्त्र का विवेचन है। **छठे अध्याय** में ग्रीक और सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन है। **सातवें अध्याय** में सांख्य-कारिका और **अन्तिम आठवें अध्याय** में उत्तरवर्ती सांख्य-दार्शनिकों के योगदान का विवेचन है। आशा है प्रस्तुत अनुवाद कीथ के विचारों को हिन्दी माध्यम से सांख्य दर्शन के अध्येताओं तक सुगमता से प्रेषित कर सकेगा।

मूल्य : रु० ५०.००